हिन्दू धर्मकोश

सम्पादक

डा० राजबली पाण्डेय

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान हिन्दी समिति प्रभाग
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ

पुस्तकालय

परिग्रहण क्रमाङ्क 8476

वर्गाङ्क 230·3

पुस्तकाङ्क पाण्डे / श / हि

हिन्दू धर्मकोश

हिन्दी समिति प्रभाग ग्रंथमाला—२४८

हिन्दू धर्मकोश

'उत्तर प्रदेश भाषानिधि के सौजन्य से'

डॉ० राजबली पाण्डेय

एम० ए०, डी० लिट्०, विद्यारत्न
भूतपूर्व कुलपति, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

हिन्दू धर्मकोश

230'3
पाण्डे।श।हि

प्रथम संस्करण 1978
द्वितीय संस्करण 1988

मूल्य रु० 125

मुद्रक :-
ज्ञान सिक्योरिटी प्रेस (प्रा०) लि०
बी० एन० रोड चौलक्खी
लखनऊ 2260001

प्रकाशकीय

स्वर्गीय डॉ० राजबली पाण्डेय जी द्वारा लिखित ''हिन्दू धर्मकोश'' का प्रथम संस्करण सन् 1978 ई० में प्रकाशित हुआ था। अब उसका दूसरा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

इस अवसर पर डॉ० राजबली पाण्डेय जी की ''प्रस्तावना'' तथा इस संस्थान के तत्कालीन कार्यकारी उपाध्यक्ष आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के ''प्रकाशकीय'' को पुनः अविकल रूप से प्रकाशित किया जा रहा है, ताकि इस ग्रन्थ के महत्व पर पूरा प्रकाश पड़ सके।

यह हम सब के लिए बहुत दुर्भाग्य की बात है कि इस ग्रन्थ के मूल लेखक डॉ० राजबली पाण्डेय का प्रथम संस्करण के प्रकाशन से पहले ही स्वर्गवास हो गया था और अब इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है, तब इस संस्थान के प्रथम कार्यकारी उपाध्यक्ष आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी भी निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं।

अतः मै उक्त दोनों सम्मानीय गुरुजनों की पवित्र स्मृति में इस संस्थान की ओर से भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ के दुबारा प्रकाशित हो जाने से उन दोनों महान आत्माओं को कुछ शान्ति मिलेगी।

मुझे यह भी भरोसा है कि इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण की तरह इस द्वितीय संस्करण का भी सर्वत्र स्वागत होगा तथा सभी वर्गों के पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

भक्त दर्शन
कार्यकारी उपाध्यक्ष
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
हिन्दी भवन, लखनऊ।

लखनऊ।
5 अप्रैल, सन् 1988 ई०

प्रस्तावना

शास्त्रीय वाङ्मय का विस्तार जितनी मात्रा में होता है उतनी ही मात्रा में ज्ञान की परिधि बढ़ती जाती है। विषयों के वर्गीकरण तथा विशेष वर्गों में पुनः आन्तरिक अध्ययन से ज्ञान और अगाध होता जाता है। कुछ बहुश्रुत विशेषज्ञ तो इस ज्ञानसागर का आंशिक अवगाहन कर पाते हैं, परन्तु अधिकांश शिक्षित समुदाय के लिए उसमें उतरना संभव नहीं हो पाता। उसके लिए किसी और प्रकार का सोपान चाहिए जिससे वह ज्ञानसमुद्र में उतर सके। अतः सामान्य शिक्षित लोगों की सहायता के लिए सन्दर्भ और कोश ग्रंथों की आवश्यकता होती है। इनके द्वारा सामान्य शिक्षित व्यक्ति अपने संकीर्ण अध्ययनक्षेत्र के बाहर से भी संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रायः सभी विकसित भाषाओं में कोश और विश्वकोश निर्मित करने के प्रयास होते रहे हैं। सम्पूर्ण वाङ्मय के कोश और शब्दकोश बनते आये हैं। अंग्रेजी तथा अन्य समृद्ध भाषाओं में इस प्रकार का प्रचुर साहित्य निर्मित हो चुका है।

भारतीय वाङ्मय में भी शब्दकोश तथा विश्वकोश बनाने की परम्परा रही है। संस्कृत में अनेक प्रकार तथा आकार के शब्दकोश एवं पर्यायकोश पाये जाते हैं। संग्रह, निबंध, सार आदि विषयगत कोश भी संस्कृत में मिलते हैं। महाभारत, पुराणादि विश्वकोश शैली के आकर ग्रन्थ हैं। इनमें विविध विषयों पर प्रचुर सामग्री का संकलन पाया जाता है। अमरकोश वर्गीकृत पर्यायकोश है। लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु, मित्रमिश्र का वीरमित्रोदय, हेमाद्रि पन्त का चतुर्वर्ग-चिन्तामणि आदि निबन्ध ग्रंथ विश्वकोश शैली के ही हैं, यद्यपि ये अक्षरक्रम में न होकर विषयक्रम से लिखे गये हैं। माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह आदि मिलते-जुलते प्रयत्न हैं। इन सभी का उद्देश्य यही था कि किसी या किन्हीं विषयों के विस्तृत ज्ञान की सामग्री एकत्र उपलब्ध हो सके।

हिन्दी भाषा में भी कोश और विश्वकोश बनाने के प्रयत्न पहले से प्रारम्भ हो चुके हैं। कुछ छिटपुट शब्दकोशों के पश्चात् काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'हिन्दी शब्दसागर' तथा 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' प्रसिद्ध कोश हैं। कलकत्ते से डॉ० नगेन्द्रनाथ वसु द्वारा छब्बीस भागों में रचित एवं प्रकाशित 'हिन्दी विश्वकोश' एक विराट् कृति है। मुख्यतः एक व्यक्ति का यह प्रयास वास्तव में आश्चर्यजनक और सराहनीय है। इस ग्रन्थ का प्रणयन १९१६ ई० में प्रारम्भ हुआ था। डॉ० वसु ने इस ग्रन्थ की भूमिका में कहा है कि यह किसी अन्य ग्रन्थ का अनुवाद न होकर स्वतंत्र रचना है और हिन्दी में इसका प्रणयन इसलिए किया गया कि हिन्दी आगे चलकर राष्ट्रभाषा बनेगी। वास्तव में विश्वकोश किसी भी राष्ट्रभाषा के गौरवग्रन्थ हैं। इनसे ही राष्ट्र की ज्ञानगरिमा का परिचय एकत्र मिलता है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'हिन्दी विश्वकोश' इसी दिशा में एक दूसरा प्रशंसनीय प्रयास है। लखनऊ से प्रकाशित 'विश्व भारती' और जामिया मिल्लिया, दिल्ली से प्रकाशित 'ज्ञानगंगा' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। ज्ञानमण्डल, वाराणसी से प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य कोश' विषयगत कोश की दिशा में पहला मूल्यवान् प्रयास है। फिर भी हिन्दी में विषयगत कोशों का प्रायः अभाव ही है। हिन्दी में धर्मसाहित्य का भी कोई कोश अथवा विश्वकोश नहीं बन पाया है। ज्ञानमण्डल, वाराणसी से प्रकाशित 'हिन्दुत्व' हिन्दू धार्मिक साहित्य का संक्षिप्त विवरणात्मक परिचय है, कोश नहीं। उसकी संग्रथन शैली भी अक्षरक्रमिक न होकर ऐतिहासिक तिथिक्रमिक है। अतः हिन्दी में 'हिन्दू धर्मकोश' की वांछनीयता बनी रही और इसके अभाव का अनुभव हो रहा था। प्रस्तुत प्रयास इसी दिशा में प्रथम चरण है। हेस्टिंग्ज् द्वारा सम्पादित 'धर्म-नीति विश्वकोश' (इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन ऐण्ड ईथिक्स) के सम्मुख तो यह बाल प्रथम चरण है। यदि राष्ट्र का सामूहिक साहस जगा तो इस प्रकार का महाप्रयास भी संभव हो सकेगा। आज से दस वर्ष पूर्व मैंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के लिए 'धर्म-नीति विश्वकोश' की योजना प्रस्तुत की थी। परन्तु यह कार्य कई कारणों से आगे नहीं बढ़ा। अभी भविष्य उसकी प्रतीक्षा में है।

संकेत-सारणी

अ० का० धे०	अहल्याकामधेनु (पत्रात्मक)	जै० उप०	जैमिनीय उपनिषद्
अ० स्मृ०	अत्रिस्मृति	जै० गृ०	जैमिनीय गृह्यसूत्र
अ० वे०	अथर्ववेद	जै० पू० मी०	जैमिनीय पूर्वमीमांसा
अ०	अध्याय	ता० ब्रा०	ताण्ड्य ब्राह्मण
अ० परि०	अथर्ववेद परिशिष्ट	तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
अन्त्य० प०	अन्त्येष्टिपद्धति	तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
आ० गृ० सू०	आपस्तम्बगृह्यसूत्र	तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
आ० ध० सू०	आपस्तम्बधर्मसूत्र	त्रि० से०	त्रिस्थलीसेतु
आ० श्रौ० सू०	आपस्तम्बश्रौतसूत्र	द० स्मृ०	दक्षस्मृति
आ० गृ० सू०	आश्वलायन गृह्यसूत्र	दे० स्मृ०	देवलस्मृति
आ० श्रौ० सू०	आश्वलायन श्रौतसूत्र	दे०	देखिए
ऋ० वे०	ऋग्वेद	ध० सि०	धर्मसिन्धु
ए० इं०	एपिग्राफिया इंडिका	ध० सू०	धर्मसूत्र
ऐ० आ०	ऐतरेय आरण्यक	ना० पु०	नारदपुराण
ऐ० उप०	ऐतरेय उपनिषद्	ना० स्मृ०	नारदस्मृति
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण	नि० सि०	निर्णयसिन्धु
क० व० नि०	कलिवर्ज्यनिर्णय	नी० पु०	नीलमतपुराण
का० श्रौ० सू०	कात्यायन श्रौतसूत्र	प० पु०	पद्मपुराण
का० स्मृ०	कात्यायनस्मृति	प० मा०	पराशरमाधवीय
कृ० क० त०	कृत्यकल्पतरु	प० स्मृ०	पराशरस्मृति
कृ० र०	कृत्यरत्नाकर	पा० गृ० सू०	पारस्कर गृह्यसूत्र
कौ० अ०	कौटिल्य अर्थशास्त्र	पु० चि०	पुरुषार्थचिन्तामणि
कौ० ब्रा० उ०	कौशीतकि ब्राह्मण उपनिषद्	पू० प्र०	पूजाप्रकाश
कौ० सू०	कौशिकसूत्र	पू० मी० सू०	पूर्वमीमांसासूत्र
खा० गृ० सू०	खादिर गृह्यसूत्र	प्रा० त०	प्रायश्चित्ततत्त्व
ग० पु०	गरुडपुराण	प्रा० प्र०	प्रायश्चित्तप्रकाश
ग० प०	गदाधरपद्धति	प्रा० म०	प्रायश्चित्तमयूख
गृ० सू०	गृह्यसूत्र	प्रा० वि०	प्रायश्चित्तविवेक
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण	बृ० उप०	बृहदारण्यक उपनिषद्
गो० गृ० सू०	गोभिल गृह्यसूत्र	बृ० सं०	बृहत्संहिता
गौ० ध० सू०	गौतम धर्मसूत्र	बृ० स्मृ०	बृहस्पतिस्मृति
चतु० चि०	चतुर्वर्गचिंतामणि	बौ० गृ० सू०	बौधायन गृह्यसूत्र
छा० उप०	छान्दोग्य उपनिषद्	बौ० ध० सू०	बौधायन धर्मसूत्र
जीमूत०	जीमूतवाहन	बौ० श्रौ० सू०	बौधायन श्रौतसूत्र

ब्रह्म० पु०	ब्रह्मपुराण
ब्रह्मा० पु०	ब्रह्माण्डपुराण
भ० गीता	भगवद्गीता
भ० पु०	भविष्यपुराण
भा० पु०	श्रीमद्भागवतपुराण
भा० गृ० सू०	भारद्वाज गृह्यसूत्र
म० पु०	मत्स्यपुराण
म० पारि०	मदनपारिजात
म० स्मृ०	मनुस्मृति
म० भा०	महाभारत
मा० गृ० सू०	मानवगृह्यसूत्र
मा० पु०	मार्कण्डेयपुराण
मिता०	मिताक्षरा (विज्ञानेश्वर की याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका)
मी० कौ०	मीमांसाकौस्तुभ
मेधा०	मेधातिथि (मनुस्मृति पर)
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता
य० वे०	यजुर्वेद
य० ध० सं०	यतिधर्मसंग्रह
या० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
रा० ध० कौ०	राजधर्मकौस्तुभ
व० कृ० दी०	वर्षकृत्यदीपिका
व० पु०	वराहपुराण
व० ध० सू०	वसिष्ठधर्मसूत्र
व० स्मृ०	वसिष्ठस्मृति
वाम० पु०	वामनपुराण
वा० पु०	वायुपुराण
वा० ग० सू०	वाराहगृह्यसूत्र
वा० सं०	वाजसनेयी संहिता
वि० पु०	विष्णुपुराण
वि० ध० सू०	विष्णुधर्मसूत्र
वि० धर्म०	विष्णुधर्मोत्तरपुराण
वी० मि०	वीरमित्रोदय
वे० सू०	वेदान्तसूत्र
श० ब्राह्मण	शतपथ ब्राह्मण
शा० गृ० सू०	शाङ्खायन गृह्यसूत्र
शा० श्रौ० सू०	शाङ्खायन श्रौतसूत्र
शा० प०	शान्तिपर्व (महा०)
शु० क०	शुद्धिकल्पतरु
शु० कौ०	शुद्धिकौमुदी
शु० प्र०	शुद्धिप्रकाश
शु० क्रि०	शुद्धिक्रियाकौमुदी
शू० क०	शूद्रकमलाकर
श्वे० उप०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
श्रा० क०	श्राद्धकल्पतरु
श्रा० क्रि०	श्राद्धक्रियाकौमुदी
स० प्र०	समयप्रदीप
सं० कौ०	संस्कारकौस्तुभ
सं० च०	संस्कारचन्द्रिका
सं० प्र०	संस्कारप्रकाश
सं० म०	संस्कारमयूख
सा० वि० ब्रा०	सामविधानब्राह्मण
स० रत्न०	संस्काररत्नमाला
सा० वे०	सामवेद
स्क० पु०	स्कन्दपुराण
स्मृ० च०	स्मृतिचन्द्रिका
स्मृ० मु०	स्मृतिमुक्ताफल
हा० ध० सू०	हारीतधर्मसूत्र
हा० स्मृ०	हारीतस्मृति
हि० गृ० सू०	हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र
हि० ध० सू०	हिरण्यकेशिधर्मसूत्र
हेमाद्रि०	हेमाद्रि, चतुर्वर्गचिन्तामणि

■

हिन्दू धर्मकोश

अ

अ—स्वरवर्ण का प्रथम अक्षर। कामधेनुतन्त्र में इसके धार्मिक प्रतीकत्व का निम्नांकित वर्णन पाया जाता है :

शृणु तत्त्वमकारस्य अतिगोप्यं वरानने ।
शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पञ्चकोणमयं सदा ॥
पञ्चदेवमयं वर्णं शक्तित्रयसमन्वितम् ।
निर्गुणं त्रिगुणोपेतं स्वयं कैवल्यमूर्तिमत् ॥
बिन्दुतत्त्वमयं वर्णं स्वयं प्रकृतिरूपिणी ॥

[शिव पार्वती से कहते हैं, हे सुमुखी ! अकार के अतिगोपनीय तत्त्व को सुनो। यह शरच्चन्द्र के समान प्रकाशमान और सदा पञ्चकोणमय है। यह वर्ण पञ्चदेवमय तथा तीनों शक्तियों से समन्वित है। निर्गुण होते हुए भी तीनों गुणों से संयुक्त तथा स्वयं मूर्तिमान् कैवल्य है। यह वर्ण बिन्दुतत्त्वमय और स्वयं प्रकृतिरूपिणी शक्ति है।]

वर्णाभिधानतन्त्र में इसके निम्नलिखित अभिधान दिये हुए हैं :

अः श्रीकण्ठः सुरेशश्च ललाटश्चैकमात्रिकः ।
पूर्णोदरी सृष्टिमेधी सारस्वतं प्रियंवदा ॥
महाब्राह्मी वासुदेवो धनेशः केशवोऽमृतम् ।
कीर्तिर्निवृत्तिर्वागीशो नरकारिर्हरो मरुत् ॥
ब्रह्मा वामाद्यजो ह्रस्वः करसुः प्रणवाद्यकः ॥
× ×
ब्रह्माणी कामरूपश्च कामेशी वासिनी वियत् ।
विश्वेशः श्रीविष्णुकण्ठी प्रतिपत्तिथिरंशिनी ॥
अर्कमण्डलवर्णाद्यौ ब्राह्मण कामकर्षिणी ॥

इस अक्षर के आकार-संयोजन में 'वर्णोद्धारतन्त्र' के अनुसार कई देवताओं का निवास बतलाया गया है :

दक्षतः कुण्डलीभूत्वा कुञ्चिता वामतो गता ।
ततोऽर्द्धसंगता रेखा दक्षोर्द्धा तासु शङ्करः ॥
विधिर्नारायणश्चैव सन्तिष्ठेत् क्रमशः सदा ।
अर्द्धमात्रा शक्तिरूपा ध्यानमस्य च कथ्यते ॥

अं—(१) स्वरवर्ण का पञ्चदश अक्षर (किन्हीं के मत में यह अनुस्वार मात्र है। महेश्वर के चतुर्दश सूत्रों में इसका पाठ नहीं है)। कामधेनतन्त्र में इसका माहात्म्य इस प्रकार है :

अंकारं बिन्दुसंयुक्तं पीतविद्युत्समप्रभम् ।
पञ्चप्राणात्मकं वर्णं ब्रह्मादिदेवतामयम् ॥
सर्वज्ञानमयं वर्णं बिन्दुत्रयसमन्वितम् ।

तन्त्रशास्त्र में इसके निम्नांकित नाम हैं :

अंकारश्चक्षुषो दन्तो घटिका समगुह्यकः ।
प्रद्युम्नः श्रीमुखी प्रीतिर्बीजयोनिर्वृषध्वजः ॥
परं शशी प्रमाणीशः सोमबिन्दुः कलानिधिः ।
अक्रूरश्चेतना नादपूर्णा दुःखहरः शिवः ॥
शिवः शम्भुर्नरेशश्च सुखदुःखप्रवर्तकः ।
पूर्णिमा रेवती शुद्धः कन्याक्षरवियद् हविः ॥
अमृताकर्षिणी शून्यं विचित्रा व्योमरूपिणी ।
केदारो रात्रिनाशश्च कुब्जिका चैव बुद्बुदः ॥

(२) एकाक्षर कोश में इसका अर्थ परब्रह्म किया गया है। महाभारत (१२.१७.१२६) में महेश्वर के अर्थ में इसका प्रयोग है :

'बिन्दुर्विसर्गः सुमुखः शरः सर्वायुधः सहः ।'

[बिन्दु, विसर्ग, सुमुख, शर, सर्वायुध और सह ये महेश्वर के नाम हैं।]

अंश—(१) द्वादश आदित्यों में से एक। महाभारत में इनकी गणना इस प्रकार है :

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च ।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरेव च ।
जघन्यस्त्वेष सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥

(२) पुराणों के अनुसार यदुवंश के एक राजा का नाम है : 'ततः कुरुवत्सः। ततश्च अनुरथः। ततः पुरुहोत्रो जज्ञे। ततश्च अंश इति।' (श्रीमद्भागवत)

(३) धर्मशास्त्र के अनुसार पैतृक रिक्थ का विभागाङ्क :

'द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पिता।'

(४) भगवद्गीता में जीवात्मा को ईश्वर का अंश कहा गया है :

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'

अंशक (अंशभाक्)—धर्मशास्त्र के अनुसार पैतृक सम्पत्ति में अंश (भाग) पाने वाला दायाद :

स्रवन्तीष्वनिरुद्धासु त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवर्षिपितृतर्पणम् ॥
निरुद्धासु न कुर्वीरन्नंशभाक् तत्र सेतुकृत् ॥
(प्रायश्चित्ततत्त्व)

पारिवारिक, दैव तथा पितृकार्य करने का उसी को अधिकार होता है जिसे पैतृक सम्पत्ति में अंश मिलता है ।

अंशी—पैतृक सम्पत्ति में अंश (भाग) पाने वाला दायाद :

विभागञ्चेत् पिता कुर्यात् स्वेच्छया विभजेत् सुतान् ।
ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः ॥
(याज्ञवल्क्य स्मृति)

[पिता अपनी सम्पत्ति का विभाग करते हुए स्वेच्छा से पुत्रों में विभाजन कर दे । ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्ठ भाग दे अथवा सभी पुत्र समानांशी हों ।]

अंशुमान्—सूर्य का एक पर्याय (अंशवो विद्यन्ते अस्य इति) । वंशावली के अनुसार सूर्यवंश के राजा असमञ्ज के पुत्र का नाम :

सगरस्यासमञ्जस्तु असमञ्जादथांशुमान् ।
दिलीपोंऽशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥
(रामायण, बालकाण्ड)

[सगर का पुत्र असमञ्ज, असमञ्ज का अंशुमान्, अंशुमान् का दिलीप और दिलीप का पुत्र भगीरथ हुआ ।] ब्रह्मवैवर्त-पुराण (प्रकृति खण्ड, अष्टम अध्याय) में गङ्गावतरण के सन्दर्भ में अंशुमान् की कथा मिलती है ।

अंशुमाली—सूर्य का पर्याय (अंशूनां माला अस्ति यस्य इति) । विष्णुपुराण में आदित्य और अंशुमाली की अभिन्नता बतायी गयी है : 'आदित्य इवांशुमाली चचार ।'

अः—स्वर वर्ण का षोडश अक्षर (किन्हीं के मत में यह 'अयोगवाह' है । माहेश्वर सूत्रों मेंइसका योग (पाठ) नहीं है) । कामधेनुतन्त्र में इसका माहात्म्य निम्नांकित है :

अःकारं परमेशानि विसर्गसहितं सदा ।
अःकारं परमेशानि रक्तविद्युत्प्रभामयम् ॥
पञ्चदेवमयो वर्णः पञ्चप्राणमयः सदा ।
सर्वज्ञानमयो वर्ण आत्मादि तत्त्वसंयुतः ॥
बिन्दुत्रयमयो वर्णः शक्तित्रयमयः सदा ।
किशोरवयसः सर्वे गीतवाद्यादितत्पराः ॥
शिवस्य युवती एषा स्वयं कुण्डलिनी मता ॥

तन्त्रशास्त्र में इसके निम्नांकित नाम हैं :

अः कण्ठको महासेनः कालापूर्णामृता हरिः ।
इच्छा भद्रा गणेशश्च रतिर्विद्यामुखी सुखम् ॥
द्विबिन्दुरसना सोमोऽनिरुद्धो दुःखसूचकः ।
द्विजिह्वः कुण्डलं वक्रं सर्गः शक्तिर्निशाकरः ॥
सुन्दरी सुयशानन्ता गणनाथो महेश्वरः ॥

एकाक्षर कोशमें इसका अर्थ महेश्वर किया गया है । महाभारत (१३.१७.१२६) में कथन है :

'बिन्दुर्विसर्गः सुमुखः शरः सर्वायुधः सहः ।'

अकल—अखण्ड, एक मात्र परब्रह्म, जिसकी कला (अंश) या कलना (गणना, माप) नहीं है ।

अकाली—सिक्खों में 'सहिजधारी' और 'सिंह' दो विभाग हैं । सहिजधारी वे हैं जो विशेष रूप या बाना नहीं धारण करते । इनकी नानकपंथी, उदासी, हन्दाली, मीन, रामरंज और सेवापन्थी छः शाखाएँ हैं । सिंह लोगों के तीन पंथ हैं—(१) खालसा, जिसे गुरु गोविन्दसिंह ने चलाया, (२) निर्मल, जिसे वीरसिंह ने चलाया और (३) अकाली, जिसे मानसिंह ने चलाया । अकाली का अर्थ है 'अमरणशील' जो 'अकाल पुरुष' शब्द से लिया गया है । अकाली सैनिक साधुओं का पंथ है, जिसकी स्थापना सन् १६९० में हुई । उपर्युक्त नवों सिक्ख सम्प्रदाय नानकशाही 'पंजग्रंथी' से प्रार्थना आदि करते हैं । 'जपजी', 'रहरास', 'सोहिला', 'सुखमनी' एवं 'आसा-दी-वार' का संग्रह ही 'पंजग्रंथी' है ।

अकाली सम्प्रदाय दूसरे सिक्ख सम्प्रदायों से भिन्न है, क्योंकि नागा तथा गोसाँइयों की तरह इनका यह सैनिक संगठन है । इसके संस्थापक मूलतः स्वयं गुरु गोविन्दसिंह थे । अकाली नीली धारीदार पोशाक पहनते हैं, कलाई पर लोहे का कड़ा, ऊँची तिकोनी नीली पगड़ी में तेज धारवाला लोहचक्र, कटार, छुरी तथा लोहे की जंजीर धारण करते हैं ।

सैनिक की हैसियत से अकाली 'निहंग' कहे जाते हैं जिसका अर्थ है 'अनियंत्रित' । सिक्खों के इतिहास में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है । सन् १८१८ में मुट्ठीभर अकालियों ने मुलतान पर घेरा डाला तथा उस पर विजय प्राप्त की । फूलसिंह का चरित्र अकालियों के पराक्रम पर प्रकाश डालता है । फूलसिंह ने पहले-पहल अकालियों के नेता के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की जब उसने लार्ड मेट्कॉफ के अंगरक्षकों पर हमला बोल दिया था । फिर वह रणजीतसिंह की सेवा में आ गया । फूलसिंह के नेतृत्व में अकालियों ने सन् १८२३ में यूसुफजइयों (पठानों) पर रणजीतसिंह को विजय दिलवायी । इस युद्ध में फूलसिंह को वीरगति

प्राप्त हुई। उसका स्मारक नौशेरा में बना हुआ है, जो हिन्दू एवं मुसलमान तीर्थयात्रियों के लिए समान श्रद्धा का स्थान है।

अकालियों का मुख्य कार्यालय अमृतसर में 'अकाल बुंगा' है जो सिक्खों के कई पूज्य सिंहासनों में से एक है। अकाली लोग धार्मिक कृत्यों का निर्देश वहीं से ग्रहण करते हैं। ये अपने को खालसों का नेता समझते हैं। रणजीतसिंह के राज्यकाल में इनका मुख्य कार्यालय आनन्दपुर हो गया था, किन्तु अब इनका प्रभाव बहुत कम पड़ गया है।

अकाली संघ के सदस्य ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। उनका कोई नियमित मुखिया या शिष्य नहीं होता, किन्तु फिर भी वे अपने गुरु की आज्ञा का पालन करते हैं। गुरु की जूठन चेले (शिष्य) प्रसाद रूप में खाते हैं। वे दूसरे सिक्खों की तरह मांस एवं मदिरा का सेवन नहीं करते, किन्तु भाँग का सेवन अधिक मात्रा में करते हैं। दे० सिक्ख।

अक्रूरघाट—वृन्दावन से मथुरा जाते समय श्री कृष्ण ने अक्रूर को यमुनाजल में दिव्य दर्शन कराया था। इसीलिए इसका महत्त्व है। इसको 'ब्रह्महृद' भी कहते हैं। यह मथुरा-वृन्दावन के बीच कछार में स्थित है। समीप में गोपीनाथजी का मन्दिर है। वैशाख शुक्ल नवमी को यहाँ मेला होता है।

अक्षमाला—(१) अक्षों (रुद्राक्ष आदि) की माला, सुमिरनी या जपमाला। इसको अक्षसूत्र भी कहते हैं।

(२) वसिष्ठ की पत्नी का एक नाम भी अक्षमाला है। मनु ने कहा है :

'अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताधमयोनिजा।'

[नीच योनि में उत्पन्न अक्षमाला का वसिष्ठ के साथ विवाह हो गया।]

अक्षयचतुर्थी—मंगल के दिन पड़ने वाली चतुर्थी, जो विशेष पुण्यदायिनी होती है। इस दिन उपवास करने से अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है।

अक्षयफलावाप्ति (अक्षयतृतीया)—वैशाख शुक्ल तृतीया को विष्णुपूजा अक्षय फल प्राप्ति के लिए की जाती है। यदि कृत्तिका नक्षत्र इस तिथि को हो तब यह पूजा विशेष पुण्यप्रदायिनी होती है। दे० निर्णयसिन्धु, पृ० ९२-९४।

विष्णुमन्दिरों में इस पर्व पर विशेष समारोह होता है, जिसमें सर्वांग चन्दन की अर्चना और सत्तू का भोग लगाया जाता है।

अक्षयनवमी—कार्तिक शुक्ल नवमी। इस दिन भगवान् विष्णु ने कूष्माण्ड नामक दैत्य का वध किया था। दे० व्रतराज, ३४।

अक्षयवट—प्रयाग में गङ्गा-यमुना संगम के पास किले के भीतर अक्षयवट है। यह सनातन विश्ववृक्ष माना जाता है। असंख्य यात्री इसकी पूजा करने जाते हैं। काशी और गया में भी अक्षयवट हैं जिनकी पूजा-परिक्रमा की जाती है। अक्षयवट को जैन भी पवित्र मानते हैं। उनकी परम्परा के अनुसार इसके नीचे ऋषभदेवजी ने तप किया था।

अक्षर—(१) जो सर्वत्र व्याप्त हो। यह शिव तथा विष्णु का पर्याय है :

'अव्ययः पुरुषः साक्षी क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च।' (महाभारत)

अज (जन्मरहित) जीव को भी अक्षर कहते हैं।

(२) जो क्षीण नहीं हो :

'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्
प्रोवाच तं तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।'
(वेदान्तसार में उद्धृत उपनिषद्)

[जिससे सत्य और अविनाशी पुरुष का ज्ञान होता है उस ब्रह्मविद्या को उसने यथार्थ रूप से कहा।] और भी कहा है :

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता)

[संसार में क्षर और अक्षर नाम के दो पुरुष हैं। सभी भूतों को क्षर कहते हैं। कूटस्थ को अक्षर कहते हैं।] ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक के शरीर को क्षर कहा गया है। अविवेकी लोग शरीर को ही पुरुष मानते हैं। भोक्ता को चेतन कहते हैं। उसे ही अक्षर पुरुष कहते हैं। वह सनातन और अविकारी है।

(३) 'न क्षरति इति अक्षरः' इस व्युत्पत्ति से विनाशरहित, विशेषरहित, प्रणव नामक ब्रह्म को भी अक्षर कहते हैं। कूटस्थ, नित्य आत्मा को भी अक्षर कहते हैं :

क्षराद्विरुद्धधर्मत्वादक्षरं ब्रह्म भण्यते।
कार्यकारणरूपं तु नश्वरं क्षरमुच्यते॥
यत्किञ्चिद्वस्तु लोकेस्मिन् वाचो गोचरतां गतम्।
प्रमाणस्य च तत्सर्वमक्षरे प्रतिषिध्यते॥
यदप्रबोधात् कार्पण्यं ब्राह्मण्यं यत्प्रबोधतः।
तदक्षरं प्रबोद्धव्यं यथोक्तेश्वरवर्त्मना॥

[क्षर के विरोधी धर्म से युक्त होने के कारण अक्षर को ब्रह्म कहा गया है। कार्य-कारण रूप नश्वर को क्षर कहते हैं। इस विश्व में जो कुछ भी वस्तु वाणी से व्यवहृत होती है और जो प्रमेय है वह सब क्षर कहलाती है। जिसके अज्ञान से कृपणता और जिसके ज्ञान से ब्राह्मण्य है, उसे अक्षर जानना चाहिए।]

(४) अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त ५१ वर्ण होते हैं, ऐसा मेदिनीकोश में कहा गया है। उक्त वर्ण निम्नांकित हैं :

स्वर—

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ऐ ओ औ अं अः। (१५)

व्यञ्जन—

क वर्ग से लेकर प वर्ग पर्यन्त। (२५)

अन्तःस्थ, ऊष्म तथा संयुक्त—

य र ल व, श ष स ह, क्ष त्र ज्ञ। (११)

षाण्मासिके तु सम्प्राप्ते भ्रान्तिः संजायते यतः।
धात्राक्षराणि सृष्टानि पत्रारूढान्यतः पुरा॥
(बृहस्पति)

[किसी घटना के छः मास बीत जाने पर भ्रम उत्पन्न हो जाता है, इसीलिए ब्रह्मा ने अक्षरों को बनाकर पत्रों में निबद्ध कर दिया है।]

लिपि पाँच प्रकार की है :

मुद्रालिपिः शिल्पलिपिर्लिपिर्लेखनीसम्भवा।
गुण्डिका घूर्णसम्भूता लिपयः पञ्चधा स्मृताः॥

[मुद्रालिपि, शिल्पलिपि, लेखनीसम्भव लिपि, गुण्डिकालिपि, घूर्णसम्भूत लिपि, ये पाँच प्रकार की लिपियाँ कही गयी हैं।] (वाराहीतन्त्र) दे० 'वर्ण'।

अक्षसूत्र—तान्त्रिक भाषा में 'अ' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त वर्णमाला को अक्षसूत्र कहा गया है। यथा गौतमीय तन्त्र में :

पञ्चाशल्लिपिभिर्माला विहिता जपकर्मसु।
अकारादिक्षकारान्ता अक्षमाला प्रकीर्तिता॥
क्षर्णं मेरुमुखं तत्र कल्पयेन्मुनिसत्तम।
अनया सर्वमन्त्राणां जपः सर्वसमृद्धिदः॥

[मुनिश्रेष्ठ! जप कर्म में पचास लिपियों (अक्षरों) द्वारा माला बनायी जाती है। अकार से लेकर क्षकार तक को अक्षमाला कहा गया है। अक्षमाला में 'क्ष' को मेरुमुख बनाना चाहिए। इस माला से सब प्रकार की समृद्धियाँ प्राप्त होती हैं।] दे० 'माला' और 'वर्णमाला'।

अखण्ड द्वादशी—(१) आश्विन शुक्ल एकादशी को यह व्रत प्रारम्भ होता है। उस दिन उपवास किया जाता है और द्वादशी को विष्णु-पूजा की जाती है। एक वर्ष के लिए तिथिव्रत होता है।

(२) मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशी को भी अखण्ड द्वादशी कहते हैं। यह यज्ञों, उपवासों और व्रतों में वैकल्य दूर करती है। दे० हेमाद्रि, व्रतकाण्ड, पृ० १११७-११२४।

अगम्या—समागम के अयोग्य स्त्री। गम्या और अगम्या का विवरण यम ने इस प्रकार किया है :

या अगम्या नृणामेव निबोध कथयामि ते।
स्वस्त्री गम्या च सर्वेषामिति वेदे निरूपिता॥
अगम्या च तदन्या या इति वेदविदो विदुः।
सामान्यं कथितं सर्वं विशेषं शृणु सुन्दरि॥
अगम्याश्चैव या याश्च निबोध कथयामि ताः।
शूद्राणां विप्रपत्नी च विप्राणां शूद्रकामिनी॥
अस्त्यगम्या च निन्द्या च लोके वेदे पतिव्रते।
शूद्रश्च ब्राह्मणीं गच्छेद् ब्रह्महत्याशतं लभेत्॥
तत्समं ब्राह्मणी चापि कुम्भीपाकं व्रजेद् ध्रुवम्।
यदि शूद्रां व्रजेद् विप्रो वृषलीपतिरेव सः॥
स भ्रष्टो विप्रजातेश्च चाण्डालात् सोऽधमः स्मृतः।
विष्ठासमश्च तत्पिण्डो मूत्रं तस्य च तर्पणम्॥
तत् पितॄणां सुराणाञ्च पूजने तत्समं सति।
कोटिजन्मार्जितं पुण्यं सन्ध्यया तपसार्जितम्॥
द्विजस्य वृषलीभोगान्नश्यत्येव न संशयः।
ब्राह्मणश्च सुरापीतो विड्भोजी वृषलीपतिः॥
हरिवासरभोजी च कुम्भीपाकं व्रजेद् ध्रुवम्।
गुरुपत्नीं राजपत्नीं सपत्नीमातरं प्रसूम्॥
सुतां पुत्रवधूं श्वश्रूं सगर्भां भगिनीं सति।
सोदरभ्रातृजायाश्च भगिनीं भ्रातृकन्यकाम्॥
शिष्याञ्च शिष्यपत्नीञ्च भागिनेयस्य कामिनीम्।
भ्रातृपुत्रप्रियाश्चैवात्यगम्यामाह पद्मजः॥
एतास्वेकामनेकां वा यो व्रजेन्मानवाधमः।
स मातृगामी वेदेषु ब्रह्महत्याशतं लभेत्॥
अकर्मार्होऽपि सोऽस्पृश्यो लोके वेदेऽतिनिन्दितः।
स याति कुम्भीपाकं च महापापी सुदुष्करम्॥
(ब्रह्म पु०, प्रकृतिखण्ड, अ० २७)

[पुरुषों के लिए अगम्या स्त्री के सम्बन्ध में मैं कहता हूँ, सुनो। सबके लिए अपनी स्त्री गम्या है, ऐसा वेद

में कहा है। दूसरे की भार्या अगम्या है ऐसा वेदज्ञों ने कहा है। हे सुन्दरी! सामान्य नियम कह दिया है, अब विशेष नियम सुनो। जो जो स्त्रियाँ समागम के योग्य नहीं हैं उनके विषय में कहता हूँ। सुनो—पतिव्रते! शूद्रों का ब्राह्मणपत्नी के साथ और ब्राह्मण का शूद्र स्त्री के साथ सगम वर्जित है। ऐसा करने वाला लोक और वेद में निन्द्य कहा गया है। ब्राह्मणी के साथ समागम करनेवाला शूद्र सौ ब्रह्महत्याओं का फल पाता है। शूद्र के साथ समागम करने वाली ब्राह्मणी शीघ्र कुम्भीपाक नरक को जाती है। शूद्रा के साथ संभोग करने वाला ब्राह्मण शूद्रापति कहलाता है। वह जातिभ्रष्ट हो जाता है। उसे चाण्डाल से भी अधम कहते हैं। उसके द्वारा किया गया पिण्डदान विष्ठा के समान और तर्पण मूत्र के सदृश होता है। पितरों और देवताओं के पूजन में भी यही होता है। सन्ध्या, पूजा और तप द्वारा करोड़ों जन्मों में सञ्चित ब्राह्मण का पुण्य शूद्रा स्त्री के साथ सम्भोग करने से नष्ट हो जाता है इसमें संशय नहीं है। मदिरा पीने वाला, वेश्यागामी के गृह में भोजन करने वाला, शूद्रा का पति तथा एकादशी के दिन भोजन करने वाला ब्राह्मण निश्चित ही कुम्भीपाक नरक प्राप्त करता है।

गुरु-स्त्री, राजा की स्त्री, सौतेली माता तथा उसकी कन्या, पुत्री, पुत्र की स्त्री, गर्भवती स्त्री, सास, बहिन, भाई की पत्नी, शिष्या, भतीजी, शिष्य की पत्नी, भांजी, भतीजे की स्त्री, इन्हें ब्रह्मा ने सर्वथा समागम के अयोग्य कहा है। जो अधम पुरुष इनमें से किसी एक अथवा अनेक के साथ समागम करता है वह मातृगामी कहा गया है और उसे सौ ब्रह्महत्याओं का पाप होता है। वह किसी प्रकार धर्मकार्य नहीं कर सकता। वह अस्पृश्य है और लोक-वेद में निन्दित माना गया है। वह कुम्भीपाक नरक को जाता है और महापापी है।]

अगस्ति (अगस्त्य)—कुछ वैदिक ऋचाओं के द्रष्टा ऋषि (ऋग्वेद १.१६५. १९१)। ऋग्वेद में कहीं-कहीं इनका उल्लेख है, विशेष कर इनके आश्चर्यजनक प्रादुर्भाव एवं पत्नी लोपामुद्रा के सम्बन्ध के बारे में चर्चा है। ये दक्षिण भारत के संरक्षक ऋषि थे, जहाँ आज भी इनसे सम्बन्धित अनेक पवित्र स्थान हैं। प्रयाग के समीप यमुना-तट पर इनकी कुटी का स्मृति-अवशेष है।

इनकी उत्पत्ति मित्र एवं वरुण के द्वारा कुम्भ (कलश) से मानी जाती है। दो पिताओं के कारण इन्हें 'मैत्रावरुणि' कहते हैं एवं कलश से उत्पन्न होने के कारण ये 'कुम्भसम्भव' तथा 'घटयोनि' कहलाते हैं। अगस्त्य का एक वैदिक नाम 'मान्य' भी है क्योंकि कुम्भ से जन्म लेने के बाद वे 'मान' से 'मित' (मापे गये) हुए थे।

संन्यासी के रूप में वृद्धावस्था में अपनी और पितरों की नरक से रक्षा करने के लिए अगस्त्य को एक पुत्र उत्पन्न करने की कामना हुई। अतएव उन्होंने तपोबल से एक स्त्री लोपामुद्रा की सृष्टि सभी जीवों के सर्वोत्तम भागों से की तथा उसे विदर्भ के राजा को कन्या के रूप में सौंप दिया। अलौकिक सौन्दर्य होते हुए भी राजा के भय से किसी का साहस उसका पाणिग्रहण करने का नहीं हुआ। अन्त में अगस्त्य ने उस कन्या के साथ विवाह करने का प्रस्ताव राजा से किया, मुनि के क्रोध के भय से राजा ने उसे मान लिया। लोपामुद्रा अगस्त्य मुनि की पत्नी बनी। गङ्गाद्वार में तपस्या करने के उपरान्त जब अगस्त्य ने अपनी पत्नी का आलिंगन करना चाहा तो उसने तब तक अस्वीकार किया जब तक उसे उसके पिता के घर के समान रत्नाभूषणों से न विभूषित किया जाय। लोपामुद्रा की इस इच्छापूर्ति के लिए अगस्त्य कई राजाओं के पास धन के लिए गये, किन्तु उनके कोषों में आय-व्यय समान था और वे सहायता न दे सके। तब वे मणिमती के दानव राजा इल्वल के यहाँ गये, जो अपने धन के लिए प्रसिद्ध था। इल्वल ब्राह्मणों का शत्रु था। उसका वातापी नामक भाई था। किसी ब्राह्मण के आगमन पर इल्वल अपने भाई वातापी को मारकर उसका मांस ब्राह्मण को खिलाता था। जब ब्राह्मण भोजन कर चुकता तो वह जादू की शक्ति से वातापी को पुकारता जो ब्राह्मण का पेट फाड़कर निकल आता। इस प्रकार अपने शत्रु ब्राह्मणों का वह नाश किया करता था। दानव ने अपना प्रयोग अगस्त्य पर भी किया किन्तु उसकी जादूशक्ति वातापी को जीवित न कर सकी। अगस्त्य उसको पहले ही पचा चुके थे। इल्वल ने क्रोधित होने के कारण अगस्त्य को धन देने से इनकार किया। ऋषि ने अपने नेत्रों से अग्नि उत्पन्न कर उसको भस्म कर दिया। अन्ततोगत्वा ऋषि को लोपामुद्रा से एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ जिसका नाम 'दृधस्यु इध्मवाह' पड़ा। दे० 'इल्वल'।

अगस्त्य का दूसरा प्रसिद्ध कार्य नहुष को अभिशप्त कर

सर्प बनाना था । नहुष इन्द्र का पद प्राप्त करके शची को ग्रहण करना चाहता था । शची की शर्त पूरी करने के लिए वह सात ऋषियों द्वारा ढोयी जाने वाली पालकी पर बैठ शची के पास जा रहा था । उसने रास्ते में अगस्त्य के सिर पर पैर रख दिया और शीघ्रता से चलने के लिए 'सर्प-सर्प' कहा । इस पर ऋषियों ने उसे 'सर्प' हो जाने का उस समय तक के लिए शाप दिया, जब तक युधिष्ठिर उसका उद्धार न करें । महाभारत का नहुषोपाख्यान इसी पुराकथा के आधार पर लिखा गया है ।

संस्कृत ग्रन्थों में अगस्त्य का नाम विन्ध्य पर्वत-माला की असामान्य वृद्धि को रोकने एवं महासागर को पी जाने के सम्बन्ध में लिया जाता है । ये दक्षिणावर्त में आर्य संस्कृति के प्रथम प्रचारक थे ।

शरीर-त्याग के बाद अगस्त्य को आकाश के दक्षिणी भाग में एक अत्यन्त प्रकाशमान तारे के रूप में प्रतिष्ठित किया गया । इस नक्षत्र का उदय सूर्य के हस्त नक्षत्र में आने पर होता है, जब वर्षा ऋतु समाप्ति पर होती है । इस प्रकार अगस्त्य प्रकृति के उस रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं जो मानसून का अन्त करता है एवं विश्वास की भाषा में महासागर का जल पीता है (जो फिर से उस चमकीले सूर्य को लाता है, जो वर्षा काल में बादलों से छिप जाता है और पौराणिक भाषा में विन्ध्य की असामान्य वृद्धि को रोककर सूर्य को मार्ग प्रदान करता है) ।

दक्षिण भारत में अगस्त्य का सम्मान विज्ञान एवं साहित्य के सर्वप्रथम उपदेशक के रूप में होता है । वे अनेक प्रसिद्ध तमिल ग्रन्थों के रचयिता कहे जाते हैं । प्रथम तमिल व्याकरण की रचना अगस्त्य ने ही की थी । वहाँ उन्हें अब भी जीवित माना जाता है जो साधारण आँखों से नहीं दीखते तथा त्रावनकोर की सुन्दर अगस्त्य पहाड़ी पर वास करते माने जाते हैं, जहाँ से तिन्नेवेली की पवित्र पोरुनेई अथवा ताम्रपर्णी नदी का उद्भव होता है ।

हेमचन्द्र के अनुसार उनके पर्याय हैं (१) कुम्भसम्भव, (२) मित्रावरुणि, (३) अगस्ति, (४) पीताब्धि, (५) वातापिद्विट्, (६) आग्नेय, (७) और्वशेय, (८) आग्निमारुते, (९) घटोद्भव ।

अगस्त्यदर्शन-पूजन—सूर्य जब राशि-चक्र के मध्य में अवस्थित होता है उस समय अगस्त्य तारे को देखने के पश्चात् रात्रि में उसका पूजन होता है । (नीलमत पु०, श्लोक ९३४ से ९३९ ।)

अगस्त्यार्घ्यदान—इस व्रत में अगस्त्य को अर्घ्य प्रदान किया जाता है। दे० मत्स्य पु०, अ० ६१; अगस्त्योत्पत्ति के लिए दे० ग० पु०, भाग १; ११९, १-६ । भिन्न-भिन्न प्रदेशों में अगस्त्य तारा भिन्न-भिन्न कालों में उदय होता है । सूर्य के कन्या राशि में प्रवेश करने से तीन दिन और बीस घटी पूर्व अर्घ्य प्रदान किया जाना चाहिए । दे० भोज का राजमार्तण्ड ।

अग्नायी—अग्नि की पत्नी का एक नाम, परन्तु यह प्रसिद्ध नहीं है ।

अग्नि—(१) हिन्दू देवमण्डल का प्राचीनतम सदस्य, वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है । अग्नि के तीन स्थान और तीन मुख्य रूप हैं—(१) व्योम में सूर्य, (२) अन्तरिक्ष (मध्याकाश) में विद्युत् और (३) पृथ्वी पर साधारण अग्नि । ऋग्वेद में सबसे अधिक सूक्त अग्नि की स्तुति में ही अर्पित किये गये हैं । अग्नि के आदिम रूप संसार के प्रायः सभी धर्मों में पाये जाते हैं । वह 'गृहपति' है और परिवार के सभी सदस्यों से उसका स्नेहपूर्ण घनिष्ठ सम्बन्ध है (ऋ०, २. १. ९; ७. १५. १२; १. १. ९; ४. १. ९; ३. १. ७) । वह अन्धकार, निशाचर, जादू-टोना, राक्षस और रोगों को दूर करने वाला है (ऋ०, ३. ५. १; १. ९४. ५; ८. ४३. ३२; १०. ८८. २) । अग्नि का यज्ञीय स्वरूप मानव सभ्यता के विकास का लम्बा चरण है । पाचन और शक्ति-निर्माण की कल्पना इसमें निहित है । यज्ञीय अग्नि वेदिका में निवास करता है (ऋ० १. १४०. १) । वह समिधा, घृत और सोम से शक्तिमान् होता है (ऋ० ३. ५. १०; १. ९४. १४); वह मानवों और देवों के बीच मध्यस्थ और सन्देशवाहक है (ऋ० वे० १. २६. ९; १. ९४. ३; १. ५९. ३; १. ५९. १; ७. २. १; १. ५८. १; ७. २. ५; १. २७. ४; ३. १. १७; १०. २. १; १. १२. ४ आदि) । अग्नि की दिव्य उत्पत्ति का वर्णन भी वेदों में विस्तार से पाया जाता है (ऋ० ३. ९. ५; ६. ८. ४) । अग्नि दिव्य पुरोहित है (ऋ० २. १. २; १. १. १; १. ९४. ६) । वह देवताओं का पौरोहित्य करता है । वह यज्ञों का राजा है (राजा त्वमध्वराणाम्; ऋ० वे० ३. १. १८; ७. ११. ४; २. ८. ३; ८. ४३. २४ आदि) ।

नैतिक तत्त्वों से भी अग्नि का अभिन्न सम्बन्ध है ।

अग्नि सर्वदर्शी है । उसकी १०० अथवा १००० आँखें हैं जिनसे वह मनुष्य के सभी कर्मों को देखता है (ऋ० १०. ७९. ५) । उसके गुप्तचर हैं । वह मनुष्य के गुप्त जीवन को भी जानता है । वह ऋत का संरक्षक है (ऋ० १०. ८. ५) । अग्नि पापों को देखता और पापियों को दण्ड देता है (ऋ० ४. ३. ५-८; ४. ५. ४-५) । वह पाप को क्षमा भी करता है (ऋ० ७. ९३. ७) ।

अग्नि की तुलना बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति से भी की गयी है । वह मन्त्र, धी (बुद्धि) और ब्रह्म का उत्पादक है । इस प्रकार का अभेद सूक्ष्मतम तत्त्व से दर्शाया गया है । वैदिक साहित्य में अग्नि के जिस रूप का वर्णन है उससे विश्व के वैज्ञानिक और दार्शनिक तत्त्वों पर काफी प्रकाश पड़ता है ।

जैमिनि ने मीमांसासूत्र के 'हविःप्रक्षेपणाधिकरण' में अग्नि के छः प्रकार बताये हैं : (१) गार्हपत्य, (२) आहवनीय, (३) दक्षिणाग्नि, (४) सभ्य, (५) आवसथ्य और औपासन ।

'अग्नि' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ इस प्रकार है : जो 'ऊपर की ओर जाता है' (अगि गतौ, अंगेर्नलोपश्च, अंग् + नि और नकार का लोप) ।

अग्नि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पौराणिक गाथा इस प्रकार है—सर्वप्रथम धर्म की वसु नामक पत्नी से अग्नि उत्पन्न हुआ । उसकी पत्नी स्वाहा से उसके तीन पुत्र हुए—(१) पावक, (२) पवमान और (३) शुचि । छठे मन्वन्तर में अग्नि की वसुधारा नामक पत्नी से द्रविणक आदि पुत्र हुए, जिनमें ४५ अग्नि-संतान उत्पन्न हुए । इस प्रकार सब मिलकर ४९ अग्नि हैं । विभिन्न कर्मों में अग्नि के भिन्न-भिन्न नाम हैं । लौकिक कर्म में अग्नि का प्रथम नाम 'पावक' है । गृहप्रवेश आदि में निम्नांकित अन्य नाम प्रसिद्ध हैं :

अग्नेस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने विधीयते ।
पुंसवने चन्द्रनामा शुङ्गाकर्मणि शोभनः ॥
सीमन्ते मङ्गलो नाम प्रगल्भो जातकर्मणि ।
नाम्नि स्यात्पार्थिवो ह्यग्निः प्राशने च शुचिस्तथा ॥
सत्यनामाथ चूडायां व्रतादेशे समुद्भवः ।
गोदाने सूर्यनामा च केशान्ते ह्यग्निरुच्यते ॥
वैश्वानरो विसर्गे तु विवाहे योजकः स्मृतः ।
चतुर्थ्यान्तु शिखी नाम धृतिरग्निस्तथा परे ॥
प्रायश्चित्ते विधुश्चैव पाकयज्ञे तु साहसः ।
लक्षहोमे तु वह्निः स्यात् कोटिहोमे हुताशनः ॥
पूर्णाहुत्यां मृडो नाम शान्तिके वरदस्तथा ।
पौष्टिके बलदश्चैव क्रोधाग्निश्चाभिचारिके ॥
वश्यर्थे शमनो नाम वरदानेऽभिदूषकः ।
कोष्ठे तु जठरो नाम क्रव्यादो मृतभक्षणे ॥

(गोभिलपुत्रकृत संग्रह)

[गर्भाधान में अग्नि को 'मारुत' कहते हैं । पुंसवन में 'चन्द्रमा', शुङ्गाकर्म में 'शोभन', सीमन्त में 'मङ्गल', जातकर्म में 'प्रगल्भ', नामकरण में 'पार्थिव', अन्नप्राशन में 'शुचि', चूड़ाकर्म में 'सत्य', व्रतबन्ध (उपनयन) में 'समुद्भव', गोदान में 'सूर्य', केशान्त (समावर्तन) में 'अग्नि', विसर्ग (अर्थात् अग्निहोत्रादिक्रियाकलाप) में 'वैश्वानर', विवाह में 'योजक', चतुर्थी में 'शिखी', धृति में 'अग्नि', प्रायश्चित्त (अर्थात् प्रायश्चित्तात्मक महाव्याहृतिहोम) में 'विधु', पाकयज्ञ (अर्थात् पाकाङ्ग होम, वृषोत्सर्ग, गृहप्रतिष्ठा आदि में) 'साहस', लक्षहोम में 'वह्नि', कोटिहोम में 'हुताशन', पूर्णाहुति में 'मृड', शान्ति में 'वरद', पौष्टिक में 'बलद', आभिचारिक में 'क्रोधाग्नि', वशीकरण में 'शमन', वरदान में 'अभिदूषक', कोष्ठ में 'जठर' और मृत-भक्षण में 'क्रव्याद' कहा गया है ।]

अग्नि के रूप का वर्णन इस प्रकार है :

पिङ्गभ्रूश्मश्रुकेशाक्षः पीनाङ्गजठरोऽरुणः ।
छागस्थः साक्षसूत्रोऽग्निः सप्तार्चिः शक्तिधारकः ॥

(आदित्यपुराण)

[भौंहें, दाढ़ी, केश और आँखें पीली हैं, अङ्ग स्थूल है और उदर लाल है । बकरे पर आरूढ है, अक्षमाला लिये है । इसकी सात ज्वालाएँ हैं और शक्ति को धारण करता है ।]

होम योग्य अग्नि के शुभ लक्षण निम्नांकित हैं :

अर्चिष्मान् पिण्डितशिखः सर्पिःकाञ्चनसन्निभः ।
स्निग्धः प्रदक्षिणश्चैव वह्निः स्यात् कार्यसिद्धये ॥

(वायुपुराण)

[ज्वालायुक्त, पिण्डितशिख, घी एवं सुवर्ण के समान, चिकना और दाहिनी ओर गतिशील अग्नि सिद्धिदायक होता है ।]

देहजन्य अग्नि में शब्द-उत्पादन की शक्ति होती है, जैसा कि 'सङ्गीतदर्पण' में कहा है :

आत्मना प्रेरितं चित्तं वह्निमाहन्ति देहजम् ।
ब्रह्मग्रन्थिस्थितं प्राणं स प्रेरयति पावकः ॥
पावकप्रेरितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन् ।
अतिसूक्ष्मध्वनिं नाभौ हृदि सूक्ष्मं गले पुनः ॥
पुष्टं शीर्षे त्वपुष्टञ्च कृत्रिमं वदने तथा ।
आविर्भावयतीत्येवं पञ्चधा कीर्त्यते बुधैः ॥
नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः ।
जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते ॥

[आत्मा के द्वारा प्रेरित चित्त देह में उत्पन्न अग्नि को आहत करता है । ब्रह्मग्रन्थि में स्थित प्राणवायु को वह अग्नि प्रेरित करता है । अग्नि के द्वारा प्रेरित वह प्राण क्रम से ऊपर चलता हुआ नाभि में अत्यन्त सूक्ष्म ध्वनि करता है तथा गले और हृदय में भी सूक्ष्म ध्वनि करता है । सिर में पुष्ट और अपुष्ट तथा मुख में कृत्रिम प्रकाश करता है । विद्वानों ने पाँच प्रकार का अग्नि बताया है । नकार प्राण का नाम है, दकार अग्नि का नाम है । प्राण और अग्नि के संयोग से नाद की उत्पत्ति होती है ।]

सब देवताओं में इसका प्रथम आराध्यत्व ऋग्वेद के सर्वप्रथम मन्त्र "अग्निमीले पुरोहितम्" से प्रकट होता है ।

(२) योगाग्नि अथवा ज्ञानाग्नि के रूप में भी 'अग्नि' का प्रयोग होता है । गीता में कथन है :

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।'
'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥'

अग्नितीर्थ—श्री बदरीनाथ मन्दिर के सिंहद्वार से ४-५ सीढ़ी उतरकर शङ्कराचार्य मन्दिर है । इसमें लिङ्गमूर्ति है । उससे ३-४ सीढ़ी नीचे आदि केदार का मन्दिर है । केदारनाथ से नीचे तप्तकुण्ड है । उसे 'अग्नितीर्थ' कहा जाता है ।

अग्निदग्ध—अग्नि से जला हुआ । यह संज्ञा उनकी है जो मृतक चिता पर जलाये जाते हैं । साधारणतः शव की विसर्जन क्रिया में मृतकों के दो प्रकार थे, पहला अग्निदग्ध, दूसरा अनग्निदग्ध (जो अग्नि में न जलाया गया हो) । अथर्ववेद दो और प्रकार प्रस्तुत करता है, यथा (१) परोप्त (फेंका हुआ) तथा (२) उद्धृत (लटकाया हुआ) । इनका ठीक अर्थ बोधगम्य नहीं है । जिमर प्रथम का अर्थ उस ईरानी प्रणाली के सदृश बतलाता है, जिसमें शव को पशु-पक्षिथों के भोज्यार्थ फेंक दिया जाता था तथा दूसरे के लिए उसका कथन है कि वृद्ध व्यक्ति असहाय होने पर वैसे ही छोड़ दिये जाते थे । किन्तु दूसरे के लिए ह्विटने का मत है कि मृतक को किसी प्रकार के चबूतरे पर छोड़ दिया जाता था ।

ऋग्वेद-काल में शव को भूगर्भ में गाड़ने की भी प्रथा थी । एक पूरे मन्त्र में इसकी विधि का वर्णन है । अग्निदाह का भी समान रूप से प्रचार था । यह प्रणाली दिनोंदिन बढ़ती ही गयी । छान्दोग्य उपनिषद् में मृतक के शरीर की सजावट के उपादान आमिक्षा (दही), वस्त्र एवं आभूषण को, जो पूर्ववर्त्ती काल में स्वर्ग प्राप्ति के साधन समझे जाते थे, व्यर्थ बतलाया गया है । बाजसनेयी संहिता में दाह क्रिया के मन्त्रों में केवल अग्निदाह को प्रधानता दी गयी है एवं शव की राख को श्मशान भूमि में गाड़ने को कहा गया है । ऋग्वेद में मृतक शरीर पर घी लेपने एवं मृतक के साथ एक छाग (बकरे) को जलाने का वर्णन है, जो दूसरे लोक का पथप्रदर्शक समझा जाता था । अथर्ववेद में एक बोझ ढोने वाले बैल के जलाने का वर्णन है, जो दूसरे लोक में सवारी के काम आ सके । यह आशा की जाती थी कि मृतक अपने सम्पूर्ण शरीर, सभी अङ्गों से युक्त (सर्वतनुसङ्ग) पुनर्जन्म ग्रहण करेगा, यद्यपि यह भी कहा गया है कि आँख सूर्य में, श्वास पवन में चले जाते हैं । गाड़ने या जलाने के पूर्व शव को नहलाया जाता था तथा पैर में कूड़ी बाँध दी जाती थी ताकि मृतक फिर लौटकर पृथ्वी पर न आ जाय ।

अग्निपुराण—विष्णुपुराण में पुराणों की जो सूची पायी जाती है उसमें अग्निपुराण आठवाँ है । अग्नि की महिमा का इसमें विशेष रूप से वर्णन है, और अग्नि ही इसके वक्ता हैं । अतः इसका नाम अग्निपुराण पड़ा । इसमें सब मिलाकर ३८३ अध्याय हैं । अठारह विद्याओं का इसमें संक्षेप रूप से वर्णन है । रामायण, महाभारत, हरिवंश आदि ग्रन्थों का सार इसमें संगृहीत है । इसमें वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष) तथा उपवेदों (अर्थशास्त्र, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा आयुर्वेद) का वर्णन भी पाया जाता है । दर्शनों के विषय भी इसमें विवेचित हुए हैं । काव्यशास्त्र का भी समावेश है । कौमार-व्याकरण, एकाक्षर कोश तथा नामलिङ्गानुशासन भी इसमें समाविष्ट हैं । पुराण के पञ्चलक्षणों (सर्ग, प्रति-

सर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित) के अतिरिक्त इसमें विविध सांस्कृतिक विषयों का भी वर्णन है । अतः यह पुराण एक प्रकार का विश्वकोश बन गया है । अन्य पुराणों में इसकी श्लोकसंख्या पन्द्रह सहस्र बतायी गयी है और वास्तव में है भी पन्द्रह सहस्र से कुछ अधिक । इस पुराण का दावा है : 'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वा विद्याः प्रदर्शिताः' अर्थात् इस अग्निपुराण में समस्त विद्याएँ प्रदर्शित हैं ।

अग्निपुराण का एक दूसरा नाम 'वह्निपुराण' भी है । डॉ० हाजरा को इसकी एक प्रति मिली थी । निबन्ध ग्रन्थों में अग्निपुराण के नाम से जो वचन उद्धृत किये गये हैं वे प्रायः सब इसमें पाये जाते हैं, जबकि 'अग्निपुराण' के नाम से मुद्रित संस्करणों में वे नहीं मिलते । इसलिए कतिपय विद्वान् 'वह्निपुराण' को ही मूल अग्निपुराण मानते हैं । वह्निपुराण नामक संस्करण में शिव की जितनी महिमा गायी गयी है उतनी अग्निपुराण नामक संस्करण में नहीं । इस कारण भी वह्निपुराण प्राचीन माना जाता है ।

अग्निवेश्यायन—एक आचार्य, जिनका उल्लेख यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में मिलता है ।

अग्निव्रत—इस व्रत में फाल्गुन कृष्ण चतुर्थी को उपवास करना चाहिए । इसमें एक वर्ष तक वासुदेव-पूजा नियमित रूप से करने का विधान है । दे० विष्णुधर्मोत्तर, जिल्द ३, पृ० १४३ ।

अग्निशाला—यज्ञमण्डप का एक भाग, जिसका अर्थ अथर्ववेद में साधारण गृह का एक भाग, विशेष कर मध्य का बड़ा कक्ष किया गया है । यहाँ अग्निकुण्ड होता था ।

अग्निष्टोम—एक विशिष्ट यज्ञ । स्वर्ग के इच्छुक व्यक्ति को अग्निष्टोम यज्ञ करना चाहिए । ज्योतिष्टोम यज्ञ का विस्तार अग्निष्टोम है । इसका समय वसन्त ऋतु है । नित्य अग्निहोत्रकर्त्ता इस यज्ञ के अधिकारी हैं । इसमें सोम मुख्य द्रव्य और इन्द्र, वायु आदि देवता हैं । १६ ऋत्विजों के चार गण होते हैं—(१) होतृगण, (२) अध्वर्युगण, (३) ब्रह्मगण और (४) उद्गातृगण । प्रत्येक गण में चार-चार व्यक्ति होते हैं : होतृगण में (१) होता, (२) प्रशास्ता, (३) अच्छावाक् (४) ग्रावस्तोता । अध्वर्युगण में (१) अध्वर्यु, (२) प्रतिप्रस्थाता, (३) नेष्टा, (४) उन्नेता । ब्रह्मगण में (१) ब्रह्मा, (२) ब्राह्मणाच्छशी, (३) आग्नीध्र और (४) होता । उद्गातृगण में (१) उद्गाता, (२) प्रस्तोता, (३) प्रतिहर्ता और (४) सुब्रह्मण्य । यह यज्ञ पाँच दिनों में समाप्त होता था ।

प्रथम दिन दीक्षा, उसके दीक्षणीय आदि अङ्गों का अनुष्ठान; दूसरे दिन प्रायणीय याग और सोमलता का क्रय; तीसरे एवं चौथे दिनों में प्रातः काल और सायं काल में प्रवर्ग्य उपसन्न नामक यज्ञ का अनुष्ठान और चौथे दिन में प्रवर्ग्य उद्वासन के अनन्तर अग्निषोमीय पशुयज्ञ का अनुष्ठान किया जाता था । जिस यजमान के घर में पिता, पितामह और प्रपितामह से किसी ने वेद का अध्ययन नहीं किया अथवा अग्निष्टोम याग भी नहीं किया हो उसे इस यज्ञ में दुर्ब्राह्मण कहा जाता था । जिस यजमान के पिता, पितामह अथवा प्रपितामह में से किसी ने सोमपान नहीं किया हो तो इस दोष के परिहारार्थ ऐन्द्राग्न्य पशुयज्ञ करना चाहिए । तीनों पशुओं को एक साथ मारने के लिए एक ही स्तम्भ में तीनों को बाँधना चाहिए ।

चौथे दिन अथवा तीसरी रात्रि के भोर में तीसरे पहर उठकर प्रयोग का आरम्भ करना चाहिए । वहाँ पर पात्रों को फैलाना चाहिए । यज्ञ में ग्रहपात्र वितस्तिमात्र उलूखल के आकार का होना चाहिए । ऊर्ध्वपात्र, चमस पात्र परिमित मात्रा में एवं तिरछे आकार के होने चाहिऐ । ये चार कोणयुक्त एवं पकड़ने के लिए दण्ड युक्त होने चाहिये । थाली मिट्टी की बनी हुई होनी चाहिए । आरम्भ में सोमलता के डंठलों से रस निकाल कर ग्रह और चमसों के द्वारा होम करना चाहिए । सूर्योदय के पश्चात् आग्नेय पशुयाग करना चाहिए । इस प्रकार सामगान करने के अनन्तर प्रातःसवन की समाप्ति होती है । इसके पश्चात् मध्याह्न का सवन होता है, तब दक्षिणा दी जाती है । दक्षिणा में एक सौ बारह गायें होती हैं । फिर तीसरा सवन होता है । इस प्रकार प्रातः सवन, मध्यन्दिन सवन, तृतीय (सायं) सवन रूप सवनत्रयात्मक अग्निष्टोम नामक प्रधान याग करना चाहिए ।

दूसरे यज्ञ इसके अङ्ग हैं । तृतीय सवन की समाप्ति के पश्चात् अवभृथ नामक याग होता है । जल में वरुण देवता के लिए पुरोडाश का होम किया जाता है । इसके पश्चात् अनुबन्ध्य नामक पशुयज्ञ किया जाता है । वहाँ गाय को ही पशु माना जाता है । किन्तु कलियुग में गोबलि का निषेध होने के कारण यज्ञ के नाम से गाय को

छोड़ दिया जाता है। इसके अनन्तर उदयनीय और उदवसनीय (४१) कार्य किये जाते हैं। इन्हें पाँचवें दिन पूरी रात्रि तक करना चाहिए। इनके समाप्त होने पर अग्निष्टोम याग की भी समाप्ति हो जाती है।

अग्निस्वामी (भाष्यकार)—मनु-रचित 'मानव श्रौतसूत्र' पर भाष्य के लेखक। मानव श्रौतसूत्र के दूसरे भाष्यकार हैं बालकृष्ण मिश्र एवं कुमारिल भट्ट।

अग्निहोत्र—एक दैनिक यज्ञ। यह दो प्रकार का होता है—एक महीने की अवधि तक करने योग्य और दूसरा जीवन पर्यन्त साध्य। दूसरे की यह विशेषता है कि अग्नि में जीवन पर्यन्त प्रतिदिन प्रातः-सायं हवन करना चाहिए। यज्ञ करने वाले का इसी अग्नि से दाह संस्कार भी होता है। इसका क्रम स्मृति में इस प्रकार है: विवाहित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, जो काने, बहरे, अन्धे एवं पङ्गु नहीं हैं, उन्हें वर्ण-क्रम से वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतु में अग्नि का आधान करना चाहिए। अग्नि संख्या में तीन हैं—(१) गार्हपत्य, (२) दक्षिणाग्नि और (३) आहवनीय, इनकी स्थापना निश्चित वेदी पर विभिन्न मन्त्रों द्वारा हो जाने पर सायं तथा प्रातः अग्निहोत्र करना चाहिए। अग्निहोत्र होम का ही नाम है। इसमें दस द्रव्य होते हैं—(१) दूध, (२) दही, (३) लप्सी, (४) घी, (५) भात, (६) चावल, (७) सोमरस, (८) मांस, (९) तेल और (१०) उरद। कलियुग में दूध, चावल, लप्सी के द्वारा एक ऋत्विज अथवा यजमान के माध्यम से प्रतिदिन होम का विधान है। अमावस की रात्रि में लप्सी द्वारा यजमान को होम करना चाहिए। जिस दिन अग्नि की स्थापना की जाती है उसी दिन प्रथम होम प्रातः-सायं आरम्भ करना चाहिए। उस दिन प्रातः सौ आहुतियों के होम का देवता सूर्य एवं सायं-काल अग्नि होता है।

अग्न्याधान के पश्चात् प्रथम अमावस्या को दर्श और पूर्णमासी को पौर्णमास याग का आरम्भ करना चाहिए। इसमें छः प्रकार के याग होते हैं: पूर्णमासी के दिन तीन और अमावस के दिन तीन। पूर्णमासी के (१) आग्नेय, (२) अग्निषोमीय और (३) उपांशु याग हैं। अमावस के (१) आग्नेय, (२) ऐन्द्र और (३) दधिपय याग होते हैं। दर्श-पूर्णमास यज्ञ भी जीवनपर्यन्त करना चाहिए। इसमें भी यज्ञ के प्रतिबन्धक दोषों से रहित तीन वर्णों को सपत्नीक होकर यज्ञ करने का अधिकार है। सामान्यतः पर्व की प्रतिपदा को यज्ञ का आरम्भ करना चाहिए।

जिस यजमान ने सोमयाग नहीं किया हो उसे पूर्णमासी के दिन अग्निकोण में पुरोडाश याग और ऐन्द्र याग करना चाहिए। जो यजमान सोमयाग कर चुका है उसे पूर्णमासी के दिन अग्निकोण मे घृतउपांशु याग और अग्निषोमीय पुरोडाश याग करना चाहिए। अमावस्या के दिन आग्नेय-पुरोडाश-याग, ऐन्द्र-पयो-याग, ऐन्द्र-दधि-याग ये तीन याग करने चाहिए। इसमें चार ऋत्विज होते हैं: (१) अध्वर्यु, (२) ब्रह्मा, (३) होता और (४) आग्नीध्र। यजुर्वेद-कर्म करने वाला 'अध्वर्यु', ऋक्, यजु, साम इन तीनों का कर्म करनेवाला 'ब्रह्मा' और ऋग्वेद के कर्म करनेवाला 'होता' है। आग्नीध्र प्रायः अध्वर्यु का ही अनुयायी होता है, उसी की प्रेरणा से कार्य करता है। पुरोडाश चावल अथवा यव का बनाना चाहिए। अग्निहोत्र के समान यहाँ भी जिस द्रव्य से यज्ञ का आरम्भ करे उसी द्रव्य से जीवनपर्यन्त करते रहना चाहिए।

अग्निहोत्री—(१) नियमित रूप से अग्निहोत्र करनेवाला। ब्राह्मणों की एक शाखा की उपाधि भी अग्निहोत्री है।

(२) कात्यायन सूत्र के एक भाष्यकार, जिनका पूरा नाम अग्निहोत्री मिश्र है।

अग्न्याधान—(अग्नि के लिए आधान)। वेदविहित अग्निसंस्कार, अग्निरक्षण, अग्निहोत्र आदि इसके पर्याय हैं।

प्राचीन भारत में जब देवताओं की पूजा प्रत्येक गृहस्थ अग्निस्थान में करता था तब यह उसका पवित्र कर्त्तव्य होता था कि वेदी पर पवित्र अग्नि की स्थापना करे। यह कर्म 'अग्न्याधान' अर्थात् पवित्र अग्निस्थापना के दिन से प्रारम्भ होता था। अग्न्याधान करने वाला गृहस्थ चार पुरोहित चुनता था तथा गार्हपत्य एवं आहवनीय अग्नि के लिए वेदिकाएँ बनवाता था। गार्हपत्य अग्नि के लिए वृत्त एवं आहवनीय के लिए वर्ग चिह्नित किया जाता था। दक्षिणाग्नि के लिए अर्द्धवृत्त खींचा जाता था, यदि उसकी आवश्यकता हुई। तब अध्वर्यु घर्षण द्वारा या गाँव से तात्कालिक अग्नि प्राप्त करता था। फिर पञ्च भूसंस्कारों से पवित्र स्थान पर गार्हपत्य अग्नि रखता था तथा सायंकाल 'अरणी' नामक लकड़ी के दो टुकड़े यज्ञ करनेवाले गृहस्थ एवं उसकी स्त्री को देता था, जिसके घर्षण से आगामी प्रातः वे आहवनीय अग्नि उत्पन्न करते थे।

अगोचरी—हठयोग की एक मुद्रा । 'गोरखबानी' की अष्ट-मुद्राओं में इसकी गणना है :

> करण मध्ये अगोचरी मुद्रा सबद कुसबद ले उतपनी ।
> सबद कुसबद समो कृतवा मुद्रा तौ भई अगोचरी ॥

इस मुद्रा का अधिष्ठान कान माना जाता है । इसके द्वारा बाहरी शब्दों से कान को हटाकर अन्तःकरण के शब्दों की ओर लगाने का अभ्यास किया जाता है। वास्तव में गोचर (इन्द्रिय-विषय) से प्रत्याहार करके आत्मनिष्ठ होने का नाम ही अगोचरी मुद्रा है ।

अग्रदास स्वामी—रामोपासक वैष्णव सन्त कवि । नाभाजी (नारायणदास), जो रामानन्दी वैष्णव थे, अग्रदास के ही शिष्य थे एवं इन्हीं के कहने से नाभाजी ने 'भक्तमाल' की रचना की ।

गलता (जयपुर, राजस्थान) की प्रसिद्ध गद्दी के ये अधिष्ठाता थे । इनका जीवन-काल सं० १६३२ वि० के लगभग है । स्वामी रामानन्द के शिष्य स्वामी अनन्तानन्द और स्वामी अनन्तानन्द के शिष्य कृष्णदास पयहारी थे । ये वल्लभाचार्य के शिष्य और अष्टछाप के कवि कृष्णदास अधिकारी से भिन्न और उनके पूर्ववर्त्ती थे । इनके शिष्य स्वामी अग्रदास थे । ये धार्मिक कवि थे, इनकी निम्नांकित रचनाएँ पायी जाती हैं :

(१) हितोपदेश उपखाणाँ बावनी, (२) ध्यानमञ्जरी, (३) रामध्यानमञ्जरी और (४) कुंडलिया ।

अघमर्षण—सन्ध्योपासन के मध्य एक विशेष प्रकार की क्रिया। इसका अर्थ है 'सब पापों का नाश करनेवाला जाप ।' उत्पन्न पाप को नाश करने के लिए, जैसे यज्ञों के अङ्गभूत अवभृथ-स्नानमन्त्र 'द्रुपदादिव' आदि हैं वैसे ही वैदिक सन्ध्या के अन्तर्गत मन्त्र के द्वारा शोधे गये जल को फेंकना पापनाशक क्रिया अघमर्षण है । तान्त्रिक सन्ध्या में भी इसका विधान है :

> षडङ्गन्यासमाचर्य्य वामहस्ते जलं ततः ।
> गृहीत्वा दक्षिणेनैव संपुटं कारयेद् बुधः ॥
> शिव-वायु-जल-पृथ्वी-वह्नि-वीजैस्त्रिधा पुनः ।
> अभिमन्त्र्य च मूलेन सप्तधा तत्त्वमुद्रया ॥
> निःक्षिपेत् तज्जलं मूर्ध्नि शेषं दक्षे निधाय च ।
> इत्याकृष्य देहान्तःक्षालितं पापसञ्चयम् ।
> कृष्णवर्णं तदुदकं दक्षनाड्या विरेचयेत् ॥
> दक्षहस्ते च तन्मन्त्री पापरूपं विचिन्त्य च ।
> पुरतो वज्रपाषाणे निःक्षिपेद् अस्त्रमुच्चरन् ॥

(तन्त्रसार)

[छः अङ्गन्यास करके बायें हाथ में जल लेकर दक्षिण हाथ से सम्पुट करे । शिव, वायु, जल, पृथ्वी और अग्नि-बीजों के द्वारा तीन बार फिर से अभिमन्त्रित करके और सात बार तत्त्व मुद्रा से मूलमन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित करके उस जल को सिर पर छोड़े और शेष जल को दक्षिण हाथ में रखकर इडा नाड़ी के द्वारा संचित पाप को शरीर के भीतर धोकर काले वर्ण वाले उस जल को दक्षिण नाड़ी से विरेचन करे । दक्षिण हाथ में उस पापरूप जल को साधक विचार कर मन्त्ररूप अस्त्र का उच्चारण करते हुए सामने के पत्थर पर गिरा दे ।]

अघमर्षणतीर्थ—मध्य प्रदेश, सतना की रघुराजनगर तहसील के अमुवा ग्राम में धार, कुण्डी तथा बेधक ये तीन स्थान पास-पास हैं । तीनों मिलाकर 'अभरखन' (अघमर्षण) कहे जाते हैं । धार में सिद्धेश्वर महादेव का मन्दिर, कुण्डी में तीर्थकुण्ड और बेधक में प्रजापति की यज्ञवेदी है । इन तीन स्थानों की यात्रा पापनाशक मानी जाती है ।

अघोर—शिव का एक पर्याय । इसका शाब्दिक अर्थ है न + घोर (भयानक नहीं=सुन्दर) । श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव का 'अघोर' विशेषण मिलता है :

> 'या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी ।'

परन्तु कालान्तर में शिव के इस रूप की उपासना के अन्तर्गत बीभत्स एवं घृणात्मक आचरण प्रचलित हो गया । इस रूप के उपासकों का एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय अघोर पंथ कहलाता है ।

अघोरघण्ट—एक कापालिक सन्यासी । आठवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भवभूति द्वारा रचित 'मालतीमाधव' नाटक का अघोरघण्ट एक मुख्य पात्र है और राजधानी में देवी चामुण्डा के पुजारी का काम करता है । वह आन्ध्र प्रदेश के एक बड़े शैव क्षेत्र श्रीशैल से सम्बन्धित है । कपालकुण्डला संन्यासिनी देवी चामुण्डा की उपासिका एवं अघोरघण्ट की शिष्या है । दोनों योग के अभ्यास द्वारा आश्चर्यजनक शक्ति अर्जित करते हैं । उनके विश्वास शाक्त विचारों से भरे हैं । नरमेध यज्ञ उनकी क्रियाओं में से एक है । अघोरघण्ट नाटक की नायिका मालती को

बलि देवी चामुण्डा को देने की योजना करता है, किन्तु अन्त में नायक के द्वारा मारा जाता है।

अघोर पंथ—अघोर पंथ को कापालिक मत भी कहते हैं। इस पंथ को माननेवाले तन्त्रिक साधु होते हैं, जो मनुष्य की खोपड़ी लिये रहते हैं और मद्य, मांसादि का सेवन करते हैं। ये लोग भैरव या शक्ति को बलि चढ़ाते हैं। पहले ये नर-बलि भी किया करते थे। गृहस्थों में इस मत का प्रचार प्रायः नहीं देखा जाता। ये स्पष्ट ही वाममार्गी शैव होते हैं और श्मशान में रहकर बीभत्स रीति से उपासना करते हैं। इनमें जाति-पांति का कोई विवेचन नहीं होता। इन्हें औघड़ भी कहते हैं। ये देवताओं की मूर्तिपूजा नहीं करते। अपने शवों को समाधि में गाड़ते हैं।

इस पंथ को 'अवधूत' अथवा 'सरभंग' मत भी कहते हैं। आजकल इसका सम्बन्ध नाथ पंथ के हठयोग तथा तान्त्रिक वाममार्ग से है। इसका मूलस्थान आबू पर्वत माना जाता है। किसी समय में बड़ोदा में अघोरेश्वरमठ इसका बहुत बड़ा केन्द्र था। काशी में क्रमिकुंड भी इसका बहुत बड़ा संस्थान है। इस पंथ का सिद्धान्त निर्गुण अद्वैतवाद से मिलता-जुलता है। साधना में यह हठयोग तथा लययोग को विशेष महत्त्व देता है। आचार में, जैसा कि लिखा जा चुका है, यह वाममार्गी है। समत्व साधना के लिए विहित-अविहित, उचित-अनुचित आदि के विचार का त्याग यह आवश्यक मानता है। अघोरियों की वेश-भूषा में विविधता है। किन्हीं का वेश श्वेत और किन्ही का रंगीन होता है। इनके दो वर्ग हैं—(१) निर्वाणी (अवधूत) तथा (२) गृहस्थ। परन्तु गृहस्थ प्रायः नहीं के बराबर हैं। अघोर पंथ के साहित्य का अभी पूरा संकलन नहीं हुआ है। किनाराम का 'विवेकसार', 'भिनक-दर्शनमाला' तथा टेकमनराम कृत 'रत्नमाला' आदि ग्रन्थ इस सम्प्रदाय में प्रचलित हैं।

अघोर शिवाचार्य—श्रीकण्ठ-मत के अनुयायी। उन्होंने 'मृगेन्द्रसंहिता' की व्याख्या लिखी है। शैवमत में इनका ग्रन्थ प्रामाणिक माना जाता है। विद्यारण्य स्वामी ने सर्वदर्शनसंग्रह में शैव दर्शन के प्रसंग में अघोर शिवाचार्य के मत को उद्धृत किया है। श्रीकण्ठ ने पाँचवीं शताब्दी में जिस शैव मत को नव जीवन प्रदान किया था, उसी को पुष्ट करने की चेष्टा अघोर शिवाचार्य ने ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में की।

अघोरा—जिसकी मूर्ति भयानक नहीं है। ('अति भयानक' ऐसा इस व्युत्पत्ति का व्यंग्यार्थ है।) भाद्रपद कृष्णा चतुर्दशी अघोरा है :

भाद्रे मास्यसिते पक्षे अघोराख्या चतुर्दशी।
तस्यामाराधितः स्थाणुर्नयेच्छिवपुरं ध्रुवम्॥

[भाद्रपद के कृष्णपक्ष की अघोरा नामक चतुर्दशी के दिन शंकर की आराधना करने पर उपासक अवश्य ही शिवपुरी को प्राप्त करता है।]

अघोरी—अघोरपंथ का अनुयायी। प्राचीन पाशुपत संप्रदाय का सम्प्रति लोप सा हो गया है। किन्तु कुछ अघोरी मिलते हैं, जो पुराने कापालिक हैं। अघोरी ही कबीर के प्रभाव से औघड़ साधु हुए। (विशेष विवरण के लिए दे० 'अघोर पंथ'।)

अङ्गद—(१) सिक्ख संप्रदाय में गुरु नानक के पश्चात् नौ गुरु हुए, उनमें प्रथम गुरु अङ्गद थे। इन्होंने गुरुमुखी लिपि चलायी जो अब पंजाबी भाषा की लिपि समझी जाती है। इनके लिखे कुछ पद भी पाये जाते हैं। इनके बाद गुरु अमरदास व गुरु रामदास हुए।

(२) रामायण का एक पात्र जो किष्किन्धा के राजा बाली का पुत्र था। राम का यह परम भक्त था। राम की ओर से रावण की सभा में इसका दौत्य-कर्म प्रसिद्ध है।

अङ्गमन्त्र—नरसिंह सम्प्रदाय की दो उपनिषदों में से प्रथम। 'नृसिंह-पूर्वतापनीय' के प्रथम भाग में नृसिंह के मन्त्रराज का परिचय दिया गया है तथा उसकी आराधना विधि दी गयी है। साथ ही चार 'अङ्गमन्त्रों' का भी विवेचन एवं परिचय दिया गया है।

अङ्गारक चतुर्थी—(१) किसी भी मास के मङ्गलवार को आनेवाली चतुर्थी मत्स्यपुराण के अनुसार 'अङ्गारक चतुर्थी' है। इसे जीवन में आठ बार, चार बार अथवा जीवन पर्यन्त करना चाहिए। इसमें मङ्गल की पूजा की जाती है। 'अग्निर्मूर्धा' (ऋ० वे० ८. ४४. १६) इसका मन्त्र है। शूद्रों को केवल मङ्गल का स्मरण करना चाहिए। कुछ पुराणों में इसको सुखव्रत भी कहा गया है। इसका ध्यानमन्त्र है :

'अवन्तीसमुत्थं सुमेषासनस्थं
धरानन्दनं रक्तवस्त्रं समीडे।'

दे० कृ० क०, व्रतकाण्ड, ७७-७९; हेमाद्रि, व्रतखण्ड, जिल्द १, ५०८-५०९।

(२) यदि मंगलवार को चतुर्थी या चतुर्दशी पड़े तो वह एकशत सूर्यग्रहणों की अपेक्षा अधिक पुण्य तथा फलप्रदायिनी होती है। दे० गदाधर प०, कालसार भाग, ६१० ।

अङ्गिरस्—आङ्गिरसों का उद्भव ऋग्वेद में अर्द्ध पौराणिक कुल के रूप में दृष्टिगोचर होता है। उन परिच्छेदों को, जो अङ्गिरस् को एक कुल का पूर्वज बतलाते हैं, ऐतिहासिक मूल्य नहीं दिया जा सकता। परवर्ती काल में आङ्गिरसों के निश्चित ही परिवार थे, जिनका याज्ञिक क्रियाविधियों (अयन, द्विरात्र आदि) में उद्धरण प्राप्त होता है।

अङ्गिरा—अथर्ववेद के रचयिता अथर्वा ऋषि अङ्गिरा एवं भृगु के वंशज माने जाते हैं। अङ्गिरा के वंशवालों को जो मन्त्र मिले उनके संग्रह का नाम 'अथर्वाङ्गिरस' पड़ा। भृगु के वंशवालों को जो मन्त्र मिले उनके संग्रह का नाम 'भृग्वाङ्गिरस' एवं दोनों संग्रहों की संहिता का संयुक्त नाम अथर्ववेद हुआ। पुराणों के अनुसार यह मुनिविशेष का नाम है जो ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं। इनकी पत्नी कर्दम मुनि की कन्या श्रद्धा और पुत्र (१) उतथ्य तथा (२) बृहस्पति; कन्याएँ (१) सिनीवाली, (२) कुहू, (३) राका और (४) अनुमति हुईं।

अङ्गिराव्रत—कृष्ण पक्ष की दशमी को एक वर्षपर्यन्त दस देवों का पूजन 'अङ्गिराव्रत' कहलाता है। दे० विष्णुधर्म० पु०, ३. ११७.१-३।

अचल—ईश्वर का एक विशेषण।

न स्वरूपान् न सामर्थ्यान् नच ज्ञानादिकाद् गुणात्।
चलनं विद्यते यस्येत्यचलः कीर्त्तितोऽच्युतः॥

[जिसका स्वरूप, सामर्थ्य और ज्ञानादि गुण से चलन नहीं होता उसे अचल अर्थात् अच्युत (विष्णु) कहा गया है।]

अचला सप्तमी—माघ शुक्ला सप्तमी। इस दिन सूर्यपूजन होता है। इसकी विधि इस प्रकार है: व्रत करनेवाला षष्ठी को एक समय भोजन करता है, सप्तमी को उपवास करता है और रात्रि के उपरान्त खड़े होकर सिर पर दीपक रखे हुए सूर्य को अर्घ्य देता है। दे० हेमाद्रि, व्रत खण्ड, ६४३-६४८।

अचलेश्वर—अमृतसर-पठानकोट रेलमार्ग में बटाला स्टेशन से चार मील पर यह स्थान है। मन्दिर के समीप सुविस्तृत सरोवर है। यहाँ मुख्य मन्दिर में शिव तथा स्वामी कार्तिकेय एवं पार्वतीदेवी की मूर्तियाँ हैं। सरोवर के मध्य में भी शिवमन्दिर है। मन्दिर तक जाने के लिए पुल बना है। उत्तर भारत में यह कार्तिकेय का एक ही मन्दिर है। कहा जाता है कि एक बार परस्पर श्रेष्ठता के बारे में गणेशजी तथा कार्तिकेय में विवाद हो गया। भगवान् शङ्कर ने पृथ्वी-प्रदक्षिणा करके निर्णय कर लेने को कहा। गणेशजी ने माता-पिता की परिक्रमा कर ली और वे विजयी मान लिये गये। पृथ्वी-परिक्रमा को निकले कार्तिकेय को मार्ग में ही यह समाचार मिला। यात्रा स्थगित करके वे वहीं अचल रूप से स्थित हो गये। यहाँ वसुओं तथा सिद्ध गणों ने यज्ञ किया था। गुरु नानकदेव ने भी यहाँ कुछ काल तक साधना की थी। कार्तिक शुक्ला नवमी-दशमी को यहाँ मेला होता है।

अचिन्त्य भेदाभेद—अठारहवीं शती के आरम्भ में बलदेव विद्याभूषण ने चैतन्य सम्प्रदाय के लिए ब्रह्मसूत्रों पर 'गोविन्दभाष्य' लिखा, जिसमें 'अचिन्त्य भेदाभेद' मत (दर्शन) का दृष्टिकोण रखा गया है। इसमें प्रतिपादन किया गया है कि ब्रह्म एवं आत्मा का सम्बन्ध अन्तिम विश्लेषण में अचिन्त्य है। दोनों को भिन्न और अभिन्न दोनों कहा जा सकता है। इसके अनुसार ईश्वर शक्तिमान् तथा जीव-जगत् उसकी शक्ति हैं। दोनों में भेद अथवा अभेद मानना तर्क की दृष्टि से असंगत अथवा व्याघातक है। शक्तिमान् और शक्ति दोनों ही अचिन्त्य हैं। अतः उनका सम्बन्ध भी अचिन्त्य है।

इस सिद्धान्त का दूसरा पर्याय चैतन्यमत है। इसे गौडीय वैष्णव दर्शन भी कहते हैं। चैतन्य महाप्रभु इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक होने के साथ सम्प्रदाय के उपास्य देव भी हैं। इस सम्प्रदाय का विश्वास है कि चैतन्य भगवान् श्री कृष्ण के प्रेमावतार हैं। चैतन्य वल्लभाचार्य के समसामयिक थे और उनसे मिले भी थे। इनका जन्म नवद्वीप (वंगदेश) में सं० १५४२ विक्रम में और शरीरत्याग सं० १५९० विक्रम में प्रायः ४८ वर्ष की अवस्था में हुआ था।

चैतन्य ने जिस मत का प्रचार किया उस पर कोई ग्रन्थ स्वयं नहीं लिखा और न उनके सहकारी अद्वैत एवं नित्यानन्द ने ही कोई ग्रन्थ लिखा। उनके शिष्य रूप एवं सनातन गोस्वामी के कुछ ग्रन्थ मिलते हैं। उनके बाद जीव गोस्वामी दार्शनिक क्षेत्र में उतरे। इन्हीं तीन आचार्यों ने अचिन्त्य भेदाभेद मत का वर्णन किया है। परन्तु इन्होंने भी न तो वेदान्तसूत्र का कोई भाष्य लिखा और न वेदान्त के किसी प्रकरण ग्रन्थ की रचना की।

अठारहवीं शताब्दी में बलदेव विद्याभूषण ने पहले-पहल अचिन्त्य भेदाभेद वाद के अनुसार ब्रह्मसूत्र पर गोविन्दभाष्य जयपुर (राजस्थान) में लिखा । रूप, सनातन आदि आचार्यों के ग्रन्थों में भक्तिवाद की व्याख्या और वैष्णव साधना की पर्यालोचना की गयी है । फिर भी जीव गोस्वामी के ग्रन्थ में अचिन्त्य भेदाभेदवाद की स्थापना की चेष्टा हुई है । बलदेव विद्याभूषण के ग्रन्थ में ही चैतन्य का दार्शनिक मत स्पष्ट रूप में पाया जाता है ।

इस मत के अनुसार हरि अथवा भगवान् परम तत्त्व अथवा अन्तिम सत् हैं । वे ही ईश्वर हैं । हरि की अङ्गकान्ति ही ब्रह्म है । उसका एक अंश मात्र परमात्मा है जो विश्व में अन्तर्यामी रूप से व्याप्त है । हरि में षट् ऐश्वर्यों का ऐक्य है, वे हैं—(१) पूर्ण श्री, (२) पूर्ण ऐश्वर्य, (३) पूर्ण वीर्य, (४) पूर्ण यश, (५) पूर्ण ज्ञान और (६) पूर्ण वैराग्य । इनमें पूर्ण श्री की प्रधानता है; शेष गौण हैं । राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति में हरि का पूर्ण प्राकट्य है । राधा-कृष्ण में प्रेम और भक्ति का अनिवार्य बन्धन है ।

हरि की अचिन्त्य शक्तियों में तीन प्रमुख हैं—(१) स्वरूप शक्ति, (२) तटस्थ शक्ति तथा (३) माया शक्ति । स्वरूप शक्ति को चित् शक्ति अथवा अन्तरङ्गा शक्ति भी कहते हैं । यह त्रिविध रूपों में व्यक्त होती है—(१) संधिनी, (१) संवित् तथा (३) ह्लादिनी । संधिनी शक्ति के आधार पर हरि स्वयं सत्ता ग्रहण करते हैं तथा दूसरों को सत्ता प्रदान कर उनमें व्याप्त रहते हैं । संवित् शक्ति से हरि अपने को जानते तथा अन्य को ज्ञान प्रदान करते हैं । ह्लादिनी शक्ति से वे स्वयं आनन्दित होकर दूसरों को आनन्दित करते हैं । तटस्थ शक्ति को जीवशक्ति भी कहते हैं । इसके द्वारा परिच्छिन्न स्वभाव वाले अणुरूप जीवों का प्रादुर्भाव होता है । हरि की माया शक्ति से दृश्य जगत् और प्रकृति का उद्भव होता है । इन तीन शक्तियों के समवाय को परा शक्ति कहते हैं ।

जीवों के अज्ञान और अविद्या का कारण माया शक्ति है । इसी के द्वारा जीव ईश्वर से अपना सम्बन्ध भूलकर संसार के बन्धन में पड़ जाता है । हरि से जीव का पुनः सम्बन्ध स्थापन ही मुक्ति है । मुक्ति का साधन हरिभक्ति है । भक्ति हरि की संवित् तथा ह्लादिनी शक्ति के मिश्रण से उत्पन्न होती है । ये दोनों शक्तियाँ भगवद्रूपा हैं । अतः भक्ति भी भगवत्स्वरूपिणी ही है ।

अच्चान दीक्षित—प्रसिद्ध आलंकारिक, वैयाकरण एवं दार्शनिक अप्पय्य दीक्षित के लघु भ्राता । इनके पितामह आचार्य दीक्षित एवं पिता रङ्गराजाध्वरी थे ।

अच्युत—(१) विभिण्डुकियों द्वारा परिचालित सत्र में इन्होंने प्रतिहर्ता का काम किया था, जिसका वर्णन 'जैमिनीय ब्राह्मण' में है । (२) विष्णु ।

अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ—अप्पय्य दीक्षित कृत 'सिद्धान्तलेश' के टीकाकार । इन्होने छायावन निवासी स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती से विद्या प्राप्त की थी । ये कावेरी तीरवर्त्ती नीलकण्ठेश्वर नामक स्थान में रहते थे और भगवान् कृष्ण के भक्त थे । इनके ग्रन्थों में कृष्णभक्ति की ओर इनकी यथेष्ट अभिरुचि मिलती है । 'सिद्धान्तलेश' की टीका का नाम 'कृष्णालङ्कार' है, जिसमें इन्हें अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है । विद्वान् होने के साथ ही ये अत्यन्त विनयशील भी थे । कृष्णालङ्कार के आरम्भ में इन्होंने लिखा है :

आचार्यचरणद्वन्द्व-स्मृतिर्लेखकरूपिणम् ।
मां कृत्वा कुरुते व्याख्यां नाहमत्र प्रभुर्यतः ॥

[गुरुदेव के चरणों की स्मृति ही मुझे लेखक बनाकर यह व्याख्या करा रही है, क्योंकि मुझमें यह कार्य करने की सामर्थ्य नहीं है ।]

इससे इनकी गुरुभक्ति और निरभिमानिता सुस्पष्ट है । कृष्णालंकार के सिवा इन्होंने शाङ्करभाष्य के ऊपर 'वनमाला' नामक टीका भी लिखी है । इससे भी इनकी कृष्णभक्ति का परिचय मिलता है ।

अच्युतपक्षाचार्य—ये अद्वैतमत के संन्यासी एवं मध्वाचार्य के दीक्षागुरु थे । मध्वाचार्य ने ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही सनककुलोद्भव अच्युतपक्षाचार्य (नामान्तर शुद्धानन्द) से दीक्षा ली थी । संन्यास लेकर इन्होंने गुरु के पास वेदान्त पढ़ना आरम्भ किया, किन्तु गुरु की व्याख्या से इन्हें संतोष न होता था और उनके साथ ये प्रतिवाद करने लगते थे । कहते हैं कि मध्वाचार्य के प्रभाव से इनके गुरु अच्युतपक्षाचार्य भी बाद में द्वैतवादी वैष्णव हो गये ।

अच्युतव्रत—पौष कृष्णा प्रतिपदा को यह व्रत किया जाता है । तिल तथा घृत के होम द्वारा अच्युतपूजा होती है । इस दिन 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' मंत्र द्वारा तीस सपत्नीक ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए । दे० अहल्याका० धे० (पत्रात्मक), पृ० २३० ।

अच्युतशतक—एक स्तोत्रग्रन्थ । इसके रचयिता वेदान्ताचार्य वेङ्कटनाथ थे । रचनाकाल लगभग सं० १३५० विक्रमीय है ।

अच्युतावास—'अच्युत (विष्णु) का आवास (स्थान),' अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष ।

अज—(१) ईश्वर का एक विशेषण। इसका अर्थ है अजन्मा ।

नहि जातो न जायेऽहं न जनिष्ये कदाचन ।
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः ।। महाभारत ।

[मैं न उत्पन्न हुआ, न होता हूँ और न होऊँगा । सर्व प्राणियों का क्षेत्रज्ञ हूँ । इसीलिए मुझे लोग अज कहते हैं ।]

ब्रह्मा, विष्णु, शिव और कामदेव को भी अज कहते हैं।

अज—(२) ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में यह साधारणतः बकरे का पर्याय है। इसके दूसरे नाम हैं—बस्त, छाग, छगल आदि । बकरे एवं भेड़ (अजावयः) का वर्णन प्रायः साथ-साथ हुआ है। शव-क्रिया में अज का महत्त्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि वह पूषा का प्रतिनिधि और प्रेत का मार्गदर्शक माना जाता था। दे० अथर्ववेद का अन्त्येष्टि सूक्त ।

अजगर—यह नाम अथर्ववेद में उद्धृत अश्वमेध यज्ञ के पशुओं की तालिका में आता है। पञ्चविंश-ब्राह्मण में वर्णित सर्पयज्ञ में इससे एक व्यक्ति का बोध होता है।

अजपा—जिसका उच्चारण नहीं किया जाता अपितु जो श्वास-प्रश्वास के गमन और आगमन से सम्पादित किया (हं-सः) जाता है, वह जप 'अजपा' कहलाता है। इसके देवता अर्धनारीश्वर हैं :

उद्यद्भानुस्फुरिततडिदाकारमर्द्धाम्बिकेशम्
पाशाभीतिं वरदपरशं संदधानं कराब्जैः ।
दिव्याकल्पैर्नवमणिमयैः शोभितं विश्वमूलम्
सौम्याग्नेयं वपुरवतु नश्चन्द्रचूडं त्रिनेत्रम् ।

[उदित होते हुए सूर्य के समान तथा चमकती हुई बिजली के तुल्य जिनकी अंगशोभा है, जो चार भुजाओं में अभय मुद्रा, पाश, वरदान मुद्रा तथा परशु को धारण किये हुए हैं, जो नूतन मणिमय दिव्य वस्तुओं से सुशोभित और विश्व के मूल कारण हैं, ऐसे अम्बिका के अर्ध भाग से संयुक्त, चन्द्रचूड़, त्रिनेत्र शंकरजी का सौम्य और आग्नेय शरीर हमारी रक्षा करे ।]

स्वाभाविक निःश्वास-प्रश्वास रूप से जीव के जपने के लिए हंस-मन्त्र निम्नांकित है :

अथ वक्ष्ये महेशानि प्रत्यहं प्रजपेन्नरः ।
मोहबन्धं न जानाति मोक्षस्तस्य न विद्यते ।।
श्रीगुरोः कृपया देवि ज्ञायते जप्यते यदा ।
उच्छ्वासनिःश्वासतया तदा बन्धक्षयो भवेत् ।।
उच्छ्वासैरेव निःश्वासैर्हंस इत्यक्षरद्वयम् ।
तस्मात् प्राणश्च हंसाख्य आत्माकारेण संस्थितः ।।
नाभेरुच्छ्वासनिःश्वासाद् हृदयाग्रे व्यवस्थितः ।
षष्टिश्वासैर्भवेत् प्राणः षट् प्राणा नाडिका मता ।।
षष्टिनाड्या ह्यहोरात्रं जपसंख्याक्रमो मतः ।
एकविंशति साहस्रं षट्शताधिकमीश्वरि ।।
जपते प्रत्यहं प्राणी सान्द्रानन्दमयीं पराम् ।
उत्पत्तिर्जपमारम्भो मृत्युस्तत्र निवेदनम् ।।
विना जपेन देवेशि जपो भवति मन्त्रिणः ।
अजपेयं ततः प्रोक्ता भवपाशनिकृन्तनी ।।
(दक्षिणामूर्तिसंहिता)

[हे पार्वती ! अब एक उत्तम मन्त्र कहता हूँ, जिसका मनुष्य नित्य जप करे । इसका जप करने से मोह का बन्धन नहीं लगता और मोक्ष की आवश्यकता नहीं पड़ती है। हे देवी, श्री गुरु की कृपा से जब ज्ञान हो जाता है तथा जब श्वास-प्रश्वास से मनुष्य जप करता है उस समय बन्धन का नाश हो जाता है। श्वास लेने और छोड़ने में ही "हं-सः" इन दो अक्षरों का उच्चारण होता है। इसीलिए प्राण को हंस कहते हैं और वह आत्मा के रूप में नाभि स्थान से उच्छ्वास-निश्वास के रूप में उठता हुआ हृदय के अग्रभाग में स्थित रहता है। साठ श्वासों का एक प्राण होता है, छः प्राणों की एक नाड़ी होती है, साठ नाड़ियों का एक अहोरात्र होता है। यह जपसंख्या का क्रम है। हे ईश्वरी, इस प्रकार इक्कीस हजार छः सौ श्वासों के रूप में आनन्द देने वाली पराशक्ति का प्राणी प्रतिदिन जप करता है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त यह जप माना जाता है। हे देवी, मन्त्रज्ञ के बिना जप करने से भी श्वास के द्वारा जप हो जाता है। इसीलिए इसे अजपा कहते हैं और यह भव (संसार) के पाश को दूर करने वाला है।] और भी कहा है :

षट्शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।।
(महाभारत)

[रात-दिन इक्कीस हजार छः सौ संख्या तक मन्त्र को प्राणी सदा जप करता है ।]

सिद्ध साहित्य में 'अजपा' की पर्याप्त चर्चा है। गोरख-पंथ में भी एक दिन-रात में आने-जाने वाले २१६०० श्वास-प्रश्वासों को 'अजपा जप' कहा गया है :

'इकबीस सहस षटसा आदू पवन पुरिष जप माली।
इला प्यङ्गुला सुषमन नारी अहनिसि बसै प्रनाली ॥

गोरखपंथ का अनुसरण करते हुए कबीर ने श्वास को 'ओहं' तथा 'प्रश्वास' को 'सोहं' बतलाया है। इन्हीं का निरन्तर प्रवाह अजपाजप है। इसी को 'निःअक्षर' ध्यान भी कहा है :

निह अक्षर जाप तहँ जापै।
उठत धुन सुन्न से आयै ॥ (गोरखबानी)

अजा—अजा का अर्थ है 'जिसका जन्म न हो'। प्रकृति अथवा आदि शक्ति के अर्थ में इसका प्रयोग होता है। 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में कहा गया है : 'रक्त, शुक्ल और कृष्ण-वर्ण की एक अजा (प्रकृति) को नमस्कार करता हूँ।' पुराणों में माया के लिए इस शब्द प्रयोग हुआ है। उपनिषदों में अजा का निम्नांकित वर्णन है :

अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाम्।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्त-भोगामजोऽन्यः ॥ (श्वेताश्वतर ४.५)

[रक्त-शुक्ल-कृष्ण वर्ण वाली, बहुत प्रजाओं का सर्जन करनेवाली, सुन्दर स्वरूप युक्त अजा का एक पुरुष सेवन करता है तथा दूसरा अज पुरुष इसका उपभोग करके इसे छोड़ देता है।]

अजातशत्रु—काशी का एक प्राचीन राजा, जिसका बृहदारण्यक एवं कौषीतकि उपनिषद् में उल्लेख है। उसने आत्मा के सच्चे स्वरूप की शिक्षा अभिमानी ब्राह्मण बालाकि को दी थी। यह अग्निविद्या में भी परम प्रवीण था।

अजा शक्ति—एक ही अज पुरुष की अजा नामक महाशक्ति तीन रूपों में परिणत होकर सृष्टि, पालन और प्रलय की अधिष्ठात्री बनती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् की (४.५) पंक्तियों में उसी अजा शक्ति के तीन रूपों की चर्चा है। प्रकारान्तर से ऋषियों ने इस सृष्टिविद्या को तीन भागों में बाँटा है। वे महाशक्तियाँ महासरस्वती, महालक्ष्मी एवं महाकाली हैं। इनसे ही क्रमशः सृष्टि, पालन एवं प्रलय की क्रियाएँ होती हैं।

अजिर—पञ्चविंश ब्राह्मण में वर्णित सर्पोत्सव में अजिर सुब्रह्मण्य पुरोहित का उल्लेख पाया जाता है।

अजैकपात्—एकादश रुद्रों के अन्तर्गत एक नाम। इसका शाब्दिक अर्थ है 'अज के समान जिसका एक पाँव है।'

अज्ञात (पाप)—पाप दो प्रकार के होते हैं, पहला अज्ञात दूसरा ज्ञात। अज्ञात पाप का प्रायश्चित्त यज्ञादि से किया जा सकता है। प्रायश्चित्तकार्य यदि निष्काम भाव से किये गये हैं तो ये ईश्वर तक पहुँचते हैं तथा अक्षय फल प्रदान करते हैं। ज्ञात पाप के सम्बन्ध में कहा गया है कि जब कोई भक्त निष्काम भक्ति में लगा हो तो वह ऐसा पाप करता ही नहीं, और यदि दैवात् उससे पापकर्म हो भी जाय तो ईश्वर उसे बुरे कर्मों के पाप से क्षमा प्रदान करता है।

अज्ञातवाद—जगत् और सृष्टि के सम्बन्ध में वेदान्तियों ने नैयायिकों के 'आरम्भवाद' (अर्थात् ईश्वर सृष्टि उत्पन्न करता है) और सांख्यों के 'परिणामवाद' (अर्थात् सृष्टि का विकास उत्तरोत्तर विकार या परिणाम द्वारा अव्यक्त प्रकृति से आप ही आप होता है) के स्थान पर 'विवर्तवाद' की स्थापना की है, जिसके अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त या कल्पित रूप है। रस्सी को यदि हम सर्प समझें तो रस्सी सत्य वस्तु है और सर्प उसका विवर्त या भ्रान्तिजन्य प्रतीति है। इसी प्रकार ब्रह्म तो नित्य और वास्तविक सत्ता है और नामरूपात्मक जगत् उसका विवर्त है। यह विवर्त अध्यास के द्वारा होता है। जो नाम-रूपात्मक दृश्य हम देखते हैं वह न तो ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है, न कार्य या परिणाम ही है, क्योंकि ब्रह्म निर्विकार और अपरिणामी है।

अध्यास के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि सर्प कोई अलग पदार्थ अवश्य है, तभी तो उसका आरोप होता है। अतः इस विषय को और स्पष्ट करने के लिए 'दृष्टि-सृष्टिवाद' उपस्थित किया जाता है, जिसके अनुसार माया अथवा नाम-रूप मन की वृत्ति हैं। इनकी सृष्टि मन ही करता है और मन ही देखता है। ये नाम-रूप उसी प्रकार मन या वृत्तियों के बाहर नहीं हैं, जिस प्रकार जड़-चित् के बाहर की कोई वस्तु नहीं है। इन वृत्तियों का शमन ही मोक्ष है।

इन दोनों वादों में त्रुटि देखकर कुछ वेदान्ती 'अवच्छेदवाद' का आश्रय लेते हैं। वे कहते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् की जो प्रतीति होती है, वह एकरस अथवा अनवच्छिन्न सत्ता के भीतर माया द्वारा अवच्छेद

या परिमिति के आरोप के कारण होती है। कुछ 'अन्य वेदान्ती इन तीनों वादों के स्थान पर 'बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद' उपस्थित करते हैं और कहते हैं कि ब्रह्म प्रकृति अथवा माया के बीच अनेक प्रकार से प्रतिबिम्बित होता है जिससे नाम-रूपात्मक दृश्यों की प्रतीति होती है। अन्तिम वाद 'अज्ञातवाद' है, जिसे 'प्रौढिवाद' भी कहते हैं। यह सब प्रकार की उत्पत्ति को, चाहे वह विवर्त्त के रूप में कही जाय चाहे दृष्टि-सृष्टि, अवच्छेद अथवा प्रतिबिम्ब के रूप में; अस्वीकार करता है और कहता है कि जो जैसा है वह वैसा ही है और सब ब्रह्म है। ब्रह्म अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन शब्दों द्वारा हो ही नहीं सकता, क्योंकि हमारे पास जो भाषा है वह द्वैत की ही है। अर्थात् जो कुछ भी हम कहते हैं, वह भेद के आधार पर ही। अतः मूल तत्त्व अज्ञात ही रहता है।

अज्ञान—ज्ञान का अभाव अथवा ज्ञान के विरुद्ध। अज्ञान के पर्याय हैं अविद्या, अहंमति आदि। श्रीमद्भागवत के अनुसार जगत के उत्पत्तिकाल में ब्रह्मा ने पाँच प्रकार के अज्ञान को बनाया: (१) तम, (२) मोह,(३) महामोह, (४) तामिस्र और (५) अन्धतामिस्र। वेदान्त के मत से अज्ञान सत् और असत् से अनिर्वचनीय और त्रिगुणात्मक भावरूप है। जो कुछ भी ज्ञान का विरोधी है उसे अज्ञान कहते हैं। मनु ने कहा है:

अज्ञानाद् वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुद्ध्यति।

[जो अज्ञान से मदिरा पी लेता है वह संस्कार करने पर ही शुद्ध होता है।]

अज्ञानाद् बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते।

[अज्ञान अथवा बालभाव के कारण जो भी साक्षी दी जाती है वह सब झूठ होती है।]

अणिमा—अष्ट सिद्धियों में से एक। अष्ट सिद्धियों के नाम ये हैं: अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामावसायिता। अणिमा का अर्थ है अणु (सूक्ष्म) का भाव, जिसके प्रभाव से देवता, सिद्ध आदि सूक्ष्म रूप धारण करके सर्वत्र विचरण करते हैं और जिन्हें कोई भी नहीं देख सकता। आगमों में सिद्धियों की गणना इस प्रकार है:

अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा।
ईशित्वञ्च वशित्वञ्च तथा कामावसायिता॥

दे० 'सिद्धि'।

अणु—(१) सबसे प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थ उपनिषदों में अणुवाद अथवा अणु का उल्लेख अप्राप्य है। इसी कारण अणुवाद का उल्लेख वेदान्तसूत्रों में भी नहीं हुआ है, क्योंकि उनकी दार्शनिक उद्गम-भूमि उपनिषद् ही हैं। अणुवाद का उल्लेख सांख्य एवं योग में भी नहीं मिलता। अणुवाद वैशेषिक दर्शन का एक प्रमुख अङ्ग है एवं न्याय ने भी इसे मान्यता प्रदान की है। जैनों ने भी इसे स्वीकार किया है एवं अभिधर्मकोश-व्याख्या के अनुसार आजीवकों ने भी। प्रारम्भिक बौद्धधर्म इससे परिचित नहीं है। पालि बौद्ध ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक इसको पूर्ण रूपेण मानने वाले थे।

न्याय-वैशेषिक शास्त्र के अनुसार प्रथम चार द्रव्य वस्तुओं का सबसे छोटा अन्तिम कण, जिसका आगे विभाजन नहीं हो सकता, अणु (परमाणु) कहलाता है। इसमें गन्ध, स्पर्श, परिमाण, संयोग, गुरुत्व, द्रवत्व, वेग आदि विभिन्न गुण समाये रहते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने से इसका इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष नहीं होता। इसकी सूक्ष्मता का आभास कराने के लिए कुछ स्थूल दृष्टान्त दिये जाते हैं, यथा—

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्टितमो भागः परमाणुः स उच्यते॥

× × ×

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

[घर के भीतर छिद्रों से आते हुए सूर्यप्रकाश के बीच में उड़ने वाले कण का साठवाँ भाग; अथवा रोयें के अन्तिम सिरे का हजारवाँ भाग परमाणु कहा जाता है।] व्यवहारतः वैशेषिकों की शब्दावली में 'अणु' सबसे छोटा आकार कहलाता है। अणुसंयोग से द्व्यणुक, त्रसरेणु आदि बड़े होते चले जाते हैं।

जैन मतानुसार आत्मा एवं देश को छोड़कर सभी वस्तुएँ पुद्गल से उत्पन्न होती हैं। सभी पुद्गलों के परमाणु अथवा अणु होते हैं। प्रत्येक अणु एक प्रदेश अथवा स्थान घेरता है। पुद्गल स्थूल या सूक्ष्म रूप में रह सकता है। जब यह सूक्ष्म रूप में रहता है तो अगणित अणु एक स्थूल अणु को घेरे रहते हैं। अणु शाश्वत हैं। प्रत्येक अणु में एक प्रकार का रस, गन्ध, रूप और दो प्रकार का स्पर्श होता है। ये विशेषताएँ स्थिर नहीं हैं और न बहुत से अणुओं के लिए निश्चित हैं। दो अथवा अधिक अणु जो चिकनाहट या खुरदरापन के गुण में भिन्न होते हैं आपस

में मिलकर 'स्कन्ध' बनाते हैं। प्रत्येक वस्तु एक ही प्रकार के अणुसमूह से निर्मित होती है। अणु अपने अन्दर गति का विकास कर सकता है एवं यह गति इतनी तीव्र हो सकती है कि एक क्षण में वह विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच सके।

अणु—(२) काश्मीर शैव सम्प्रदाय के शैव आगमों और शिवसूत्रों का दार्शनिक दृष्टिकोण अद्वैतवादी है। 'प्रत्यभिज्ञा' (मनुष्य की शिव से अभिन्नता का अनवरत ज्ञान) मुक्ति का साधन बतायी गयी है। संसार को केवल माया नहीं समझा गया है। यह शिव का ही शक्ति के द्वारा प्रस्तुत स्वरूप है। सृष्टि के विकास की प्रणाली सांख्यमत के सदृश है, किन्तु इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। इस प्रणाली को 'त्रिक' कहते हैं, क्योंकि यह तीन सिद्धान्तों को व्यक्त करती है। वे सिद्धान्त हैं—शिव, शक्ति एवं अणु, अथवा पति, पाश एवं पशु। अणु का ही नाम पशु है।

अतिथि—हिन्दू धर्म में अतिथि पूजनीय व्यक्ति होता है। अथर्ववेद का एक मन्त्र आतिथ्य के गुणों का वर्णन करता है: 'आतिथेय को अतिथि के खा चुकने के बाद भोजन करना चाहिए। अतिथि को जल देना चाहिए' इत्यादि। तैत्तिरीय उपनिषद् भी आतिथ्य पर जोर देती हुई 'अतिथि देव' (अतिथि देवता) है की घोषणा करती है। ऐतरेय आरण्यक में कहा गया है कि केवल सज्जन ही आतिथ्य के पात्र हैं। अतिथियज्ञ दैनिक गृहस्थजीवन का नियमित अङ्ग था। इसकी गणना पञ्च महायज्ञों में की जाती है।

पुराणों और स्मृतियों में अतिथि के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन पाये जाते हैं: जो निरन्तर चलता है, ठहरता नहीं उसे अतिथि कहते हैं (अत् + इथिन्)। घर पर आया हुआ, पहले से अज्ञात व्यक्ति भी अतिथि कहलाता है। इसके पर्याय हैं आगन्तुक, आवेशिक, गृहागत आदि। इसका लक्षण निम्नांकित है:

यस्य न ज्ञायते नाम नच गोत्रं नच स्थितिः।
अकस्माद् गृहमायाति सोऽतिथिः प्रोच्यते बुधैः॥

[जिसका नाम, गोत्र, स्थिति नहीं ज्ञात है और जो अकस्मात् घर में आता है, उसे अतिथि कहा जाता है।] उसके विमुख लौट जाने पर गृहस्थ को दोष लगता है:

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति॥

[जिसके घर से अतिथि निराश होकर चला जाता है वह उस गृहस्थ को पाप देकर और उसके पुण्य लेकर चला जाता है।] गौ के दुहने में जितना समय लगता है उतने समय तक घर के आँगन में अतिथि की प्रतीक्षा करनी चाहिए। अपनी इच्छा से वह कई दिन भी रुक सकता है (विष्णु पुराण)। मुहूर्त का अष्टम भाग गोदोहन काल कहलाता है, उस समय में देखा गया व्यक्ति अतिथि कहलाता है (मार्कण्डेय पुराण)। अतिथि मूर्ख है अथवा विद्वान् यह विचार नहीं करना चाहिए:

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पतित एव वा।
सम्प्राप्ते वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः॥

[चाहे प्रिय, विरोधी, मूर्ख, पतित कोई भी हो वैश्वदेव के अन्त में जो आता है वह अतिथि है और स्वर्ग को ले जाता है।] अतिथि से वेदादि नहीं पूछना चाहिए:

स्वाध्यायगोत्रचरणमपृष्ट्वापि तथा कुलम्।
हिरण्यगर्भबुद्ध्या तं मन्येताभ्यागतं गृही॥

[स्वाध्याय, गोत्र, चरण, कुल बिना पूछे ही गृहस्थ अतिथि को विष्णु रूप माने।] (विष्णुपुराण)। उससे देश आदि पूछने पर दोष लगता है:

देशं नाम कुलं विद्यां पृष्ट्वा योऽन्नं प्रयच्छति।
न स तत्फलमाप्नोति दत्त्वा स्वर्गं न गच्छति॥

[देश, नाम, विद्या, कुल पूछकर जो अन्न देता है उसे पुण्यफल नहीं मिलता और फिर वह स्वर्ग को भी नहीं प्राप्त करता।] अतिथि को शक्ति के अनुसार देना चाहिए:

भोजनं हन्तकारं वा अग्रं भिक्षामथापि वा।
अदत्त्वा नैव भोक्तव्यं यथा विभवमात्मनः॥

[भोजन, हन्तकार, अग्र ग्रास अथवा भिक्षा बिना दिये भोजन नहीं करना चाहिए। यथाशक्ति पहले देकर खाना चाहिए।] भिक्षा आदि का लक्षण इस प्रकार है:

ग्रासप्रमाणा भिक्षा स्यादग्रं ग्रासचतुष्टयम्।
अग्राच्चतुर्गुणं प्राहुर्हन्तकारं द्विजोत्तमाः॥
(मार्कण्डेय पुराण)

[ग्रास भर को भिक्षा, ग्रास से चौगुने को अग्र, अग्र से चौगुने को हन्तकार कहते हैं।]

अतिविजयैकादशी—पुनर्वसु नक्षत्र से युक्त शुक्ल पक्षीय एकादशी। इस तिथि को एक वर्षपर्यन्त तिलों के प्रस्थ का दान किया जाता है। इस दिन विष्णु का व्रत किया जाता है। दे० हेमाद्रि; व्रत खण्ड, १।१४७।

अतीन्द्रिय—नैयायिकों के मत से परमाणु अतीन्द्रिय हैं; ऐन्द्रिय नहीं। उन्हें ज्ञानेन्द्रियों से नहीं देखा अथवा जाना जा सकता है। वे केवल अनुमेय हैं। आत्मा, परमात्मा अथवा परम तत्त्व भी अतीन्द्रिय हैं।

अत्याश्रमी—प्रथम तीनों आश्रमों से श्रेष्ठ आश्रम में रहने वाला—संन्यासी। वह आत्मा को पूर्णतः जानता है तथा अपने व्यक्तिगत जीवन से मुक्त है; परिवार, सम्पदा एवं संसार से सम्बन्ध-विच्छेद कर चुका है एवं वह उसे प्राप्त कर चुका है जिसकी केवल परिव्राजक योगी ही इच्छा रखते हैं।

अत्रि—ऋग्वेद का पञ्चम मण्डल अत्रि-कुल द्वारा संगृहीत है। कदाचित् अत्रि-परिवार का प्रियमेध, कण्व, गोतम एवं काक्षीवत कुलों से निकट सम्बन्ध था। ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल के एक मन्त्र में परुष्णी एवं यमुना के उल्लेख से अनुमान लगाया जा सकता है कि यह परिवार विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ था। अत्रि गोत्रप्रवर्तक ऋषि भी थे। मुख्य स्मृतिकारों की तालिका में भी अत्रि का नाम आता है।

अत्रिस्मृति—यह ग्रन्थ प्राचीन स्मृतियों में है। इसका उल्लेख मनुस्मृति (३.१३) में हुआ है। 'आत्रेय धर्मशास्त्र', 'अत्रिसंहिता' तथा अत्रिस्मृति नाम के ग्रन्थ भी पाये जाते हैं।

अथर्वा—वेदकालीन विभिन्न पुरोहितकुलों की तरह ही यह एक कुल था। एकवचन में अथर्वा नाम परिवार के अध्यक्ष का सूचक है, किन्तु बहुवचन में 'अथर्वाणः' शब्द से सम्पूर्ण परिवार का बोध होता है। कुछ स्थानों में एक निश्चित परिवार का उद्धरण प्राप्त होता है। दानस्तुति में इन्हें अश्वत्थ की दया का दान ग्रहण करने वाला कहा गया है एवं यज्ञ में इनके द्वारा मधुमिश्रित पय का प्रयोग करने का विवरण है।

अथर्व-प्रातिशाख्य—भिन्न-भिन्न वेदों के अनेक प्रकार के स्वरों के उच्चारण, पदों के क्रम और विच्छेद आदि का निर्णय शाखा के जिन ग्रन्थों द्वारा होता है, उन्हें 'प्रातिशाख्य' कहते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में ऋषियों ने वेदाध्ययन के स्वरादि का विशेषता से निश्चय करके अपनी अपनी शाखा की परम्परा चलायी थी। जिस व्यक्ति ने जिस शाखा से वेदपाठ सीखा वह उसी शाखा की वंश-परम्परा का सदस्य कहलाया। ब्राह्मणों की गोत्र-प्रवर-शाखा आदि की परम्परा इसी तरह चल पड़ी। बहुत काल बीतने पर इस भेद को स्मरण रखने के लिए और अपनी-अपनी रीति की रक्षा के लिए प्रातिशाख्य ग्रन्थ बनाये गये। इन्हीं प्रातिशाख्यों में शिक्षा और व्याकरण दोनों पाये जाते हैं। 'अथर्व-प्रातिशाख्य' दो मिलते हैं, इनमें एक 'शौनकीय चतुरध्यायिका' है जिसमें (१) ग्रन्थ का उद्देश्य, परिचय और वृत्ति, (२) स्वर और व्यञ्जन-संयोग, उदात्तादि लक्षण, प्रगृह्य, अक्षर विन्यास, युक्त वर्ण, यम, अभिनिधान, नासिक्य, स्वरभक्ति, स्फोटन, कर्षण और वर्णक्रम, (३) संहिताप्रकरण, (४) क्रम-निर्णय, (५) पद-निर्णय और (६) स्वाध्याय की आवश्यकता के सम्बन्ध में उपदेश, ये छः विषय बताये जाते हैं।

अथर्ववेद—चारों वेदों के क्रम में अथर्ववेद का नाम सबसे अन्त में आता है। यह प्रधानतः नौ संस्करणों में पाया जाता है—पैप्पलाद, शौनकीय, दामोद, तोत्रायन, जामल, ब्रह्मपालाश, कुनखा, देवदर्शी और चरणविद्या। अन्य मत से उन संस्करणों के नाम ये हैं—पैप्पलाद, आन्ध्र, प्रदात्त, स्नात, श्नौत, ब्रह्मदावन, शौनक, देवदर्शती और चरणविद्या। इनके अतिरिक्त तैत्तिरीयक नाम के दो प्रकार के भेद देख पड़ते हैं, यथा औरव्य और काण्डिकेय। काण्डिकेय भी पाँच भागों में विभक्त हैं—आपस्तम्ब, बौधायन, सत्यावाची, हिरण्यकेशी और औघेय।

अथर्ववेद की संहिता अर्थात् मन्त्रभाग में बीस काण्ड हैं। काण्डों को अड़तीस प्रपाठकों में विभक्त किया गया है। इसमें ७६० सूक्त और ६००० मन्त्र हैं। किसी-किसी शाखा के ग्रन्थ में अनुवाक विभाग भी पाये जाते हैं। अनुवाकों की संख्या ८० है।

यद्यपि अथर्ववेद का नाम सब वेदों के बाद आता है तथापि यह समझना भूल होगी कि यह वेद सबसे पीछे बना। वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी 'आथर्वण' शब्द आया है और पुरुषसूक्त में छन्द शब्द से अथर्ववेद ही अभिप्रेत जान पड़ता है। कुछ लोगों का कहना है कि ऋक्, यजु और साम ये ही त्रयी कहलाते हैं और अथर्ववेद त्रयी से बाहर है। पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि अथर्ववेद अन्य वेदों से पीछे बना। परन्तु ऋक्, यजु और साम तीनों अलग ग्रन्थ नहीं मन्त्र-रचना की प्रणाली मात्र हैं। इनसे वेद के तीन संहिता विभागों की सूचना नहीं होती। यज्ञ-कार्य को अच्छे प्रकार से चलाने के लिए ही चार संहिताओं का विभाग किया गया है। ऋग्वेद होता के लिए है,

यजुर्वेद अध्वर्यु के लिए, सामवेद उदगाता के लिए और अथर्ववेद ब्रह्मा के लिए है।

इस वेद का साक्षात्कार अथर्वा नामक ऋषि ने किया। इसीलिए इसका नाम अथर्ववेद पड़ा। ब्रह्मा पुरोहित के लिए यह वेद काम में आता है इसलिए जैसे यजुर्वेद को आध्वर्यव कहते हैं, वैसे ही इसे ब्रह्मवेद भी कहते हैं। कहते हैं कि इस वेद में सब वेदों का सार तत्त्व निहित है, इसीलिए यह सब में श्रेष्ठ है। गोपथ ब्राह्मण में लिखा है :

श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो
ब्रह्मज्ञानं हृदये संबभूव। (१।९)
एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वंगिरसः।
येऽङ्गिरसः स रसः। येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्।
यद् भेषजम् तदमृतम्। यदमृतं तद् ब्रह्म।। (३।४)

ग्रिफिथ ने अपने अंग्रेजी पद्यानुवाद की भूमिका में लिखा है कि अथर्वा अत्यन्त पुराने ऋषि का नाम है, जिसके सम्बन्ध में ऋग्वेद में लिखा है कि इसी ऋषि ने सङ्घर्षण द्वारा अग्नि को उत्पन्न किया और पहले-पहल यज्ञों के द्वारा वह मार्ग तैयार किया जिससे मनुष्यों और देवताओं में सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसी ऋषि ने पारलौकिक तथा अलौकिक शक्तियों के द्वारा विरोधी असुरों को वश में कर लिया। इसी अथर्वा ऋषि से अङ्गिरा और भृगु के वंश वालों को जो मन्त्र मिले उन्हीं की संहिता का नाम 'अथर्ववेद', 'भृग्वङ्गिरस वेद' अथवा 'अथर्वाङ्गिरस वेद' पड़ा। इसका नाम, जैसा कि पहले कहा गया है, ब्रह्मवेद भी है। ग्रिफिथ ने इस नामकरण के तीन कारण बताये हैं, जिनमें से एक का उल्लेख ऊपर हो चुका है। दूसरा कारण यह है कि इस वेद में मन्त्र हैं, टोटके हैं आशीर्वाद हैं, और प्रार्थनाएँ हैं, जिनसें देवताओं को प्रसन्न किया जा सकता है, उनका संरक्षण प्राप्त किया जा सकता है, मनुष्य, भूत-प्रेत, पिशाच आदि आसुरी शत्रुओं को शाप दिया जा सकता है और नष्ट किया जा सकता है। इन प्रार्थनात्मक स्तुतियों को 'ब्रह्माणि' कहा गया है। इनका ज्ञान-समुच्चय होने से इसका नाम ब्रह्मवेद है। ब्रह्मवेद होने की तीसरी युक्ति यह है कि जहाँ तीनों वेद इस लोक और परलोक में सुखप्राप्ति के उपाय बताते हैं और धर्मपालन की शिक्षा देते हैं, वहाँ यह वेद ब्रह्मज्ञान भी सिखाता है और मोक्ष के उपाय बताता है।

अथर्ववेद के कम प्राचीन होने की युक्तियाँ देते हुए ग्रिफिथ यह मत प्रकट करते हैं कि जहाँ ऋग्वेद में जीवन के स्वाभाविक भाव हैं और प्रकृति के लिए प्रगाढ़ प्रेम है, वहाँ अथर्ववेद में प्रकृति के पिशाचों और उनकी अलौकिक शक्तियों का भय दिखाई पड़ता है। जहाँ ऋक् में स्वतन्त्र कर्मण्यता और स्वतन्त्रता की दशा है वहाँ अथर्ववेद में अन्धविश्वास दिखाई देता है। किन्तु उनकी यह युक्ति पाश्चात्य दृष्टि से उलटी जँचती है, क्योंकि अन्धविश्वास का युग पहले आता है, बुद्धि-विवेक का पीछे। अतः अथर्ववेद तीन वेदों से अपेक्षाकृत अधिक पुराना होना चाहिए।

अथर्ववेद में लगभग सात सौ साठ सूक्त हैं जिनमें छः हजार मन्त्र हैं। पहले काण्ड से लेकर सातवें तक किसी विषय के क्रम से मन्त्र नहीं दिये गये हैं। केवल मन्त्रों की संख्या के अनुसार सूक्तों का क्रम बाँधा गया है। पहले काण्ड में चार-चार मन्त्रों का क्रम है, दूसरे में पाँच-पाँच का, तीसरे में छः-छः का, चौथे में सात-सात का, परन्तु पाँचवें में आठ से अठारह मन्त्रों का क्रम है। छठे में तीन-तीन का क्रम है। सातवें में बहुत से अकेले मन्त्र हैं और ग्यारह-ग्यारह मन्त्रों तक का भी समावेश है। आठवें काण्ड से लेकर बीसवें तक लम्बे-लम्बे सूक्त हैं जो संख्या में पचास, साठ, सत्तर और अस्सी मन्त्रों तक चले गये हैं। तेरहवें काण्ड तक विषयों का कोई क्रम नहीं रखा गया है, विविध विषय मिले-जुले हैं। उनमें विशेष रूप से प्रार्थना है, मन्त्र हैं और प्रयोग तथा विधियाँ हैं, जिनसे सब तरह के भूत-प्रेत, पिशाच, असुर, राक्षस, डाकिनी, शाकिनी, वेताल आदि से रक्षा की जा सके। जादू-टोना करने वालों, सर्पों, नागों और हिंसक जन्तुओं से तथा रोगों से बचाव होता रहे, ऐसी विधियाँ हैं। सन्तान, सर्व-साधारण की रक्षा, विशेष प्रकार की ओषधियों में विशेष गुणों के आवाहन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि प्रयोगों, सौख्य, सम्पत्ति, व्यापार और जुए आदि की सफलता के लिए प्रार्थनाएँ भी हैं और मन्त्र भी हैं। चौदहवें से अठारहवें तक पाँच काण्डों में विषयों का क्रम निश्चित है। चौदहवें काण्ड में विवाह की रीतियों का वर्णन है। पन्द्रहवें, सोलहवें और सत्रहवें काण्ड में कुछ विशेष मन्त्र हैं। अठारहवें में अन्त्येष्टि क्रिया की विधियाँ और पितरों के श्राद्ध की रीतियाँ हैं। उन्नीसवें मे विविध

मन्त्रों का संग्रह है । बीसवें में इन्द्र सम्बन्धी सूक्त हैं जो ऋग्वेद में भी प्रायः आते हैं । अथर्ववेद के बहुत से सूक्त, लगभग सप्तमांश, ऋग्वेद में भी मिलते हैं । कहीं-कहीं तो ज्यों-के-त्यों मिलते हैं और कहीं-कहीं महत्त्व के पाठांतर भी । सृष्टि और ब्रह्मविद्या के भी अनेक रहस्य इस वेद में जहाँ-तहाँ आये हैं जिनका विस्तार और विकास ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में आगे चलकर हुआ है ।

इस संहिता में अनेक स्थल दुरूह हैं । ऐसे शब्द समूह हैं जिनके अर्थ का पता नहीं लगता । बीसवें काण्ड में, एक सौ सत्ताईसवें से लेकर एक सौ छत्तीसवें सूक्त तक 'कुन्ताप' नामक विभाग में, विचित्र तरह के सूक्त और मन्त्र हैं जो ब्राह्मणाच्छंसी के द्वारा गाये जाते हैं । इसमें कौरम्, रुशम्, राजि, रौहिण, ऐतश, प्रातिसुत्व, मण्डूरिका आदि ऐसे नाम आये हैं जिसका ठीक-ठीक अर्थ नहीं लगता ।

अथर्वशिरस्-उपनिषद् (अ)—एक पाशुपत उपनिषद्। इसका रचनाकाल प्रायः महाभारत में उल्लिखित पाशुपत मत सम्बन्धी परिच्छेदों के रचनाकाल के लगभग है । इसमें पशुपति रुद्र को सभी तत्त्वों में प्रथम तत्त्व माना गया है तथा इन्हें ही अन्तिम गन्तव्य अथवा लक्ष्य भी बताया गया है । इसमें पति, पशु और पाश का भी उल्लेख है । 'ओम्' के पवित्र उच्चारण के साथ ध्यान करने की योगप्रणाली को इसमें मान्यता दी गयी है । शरीर पर भस्म लगाना पाशुपत मत का आदेश बताया गया है ।

अथर्वशिरस्-उपनिषद् (आ)—यह एक स्मार्त उपनिषद् है, जो पञ्चायतनपूजा के देवों (विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य, गणेश) पर लिखे गये पाँच प्रकरणों का संग्रह है । पञ्चायतनपूजा कब प्रारम्भ हुई, इसकी तिथि निश्चित नहीं की जा सकती । किन्तु इस पूजा में ब्रह्मा के स्थान न पाने से ज्ञात होता है कि उस समय तक ब्रह्मा का प्रभाव समाप्त हो चुका था तथा उनका स्थान गणेश ने ले लिया था । कुछ विद्वानों का मत है कि पञ्चायतन पूजा का प्रारम्भ शङ्कराचार्य ने किया, कुछ लोग कुमारिल भट्ट से इसका प्रारम्भ बताते हैं, जबकि अन्य विचारकों के अनुसार यह बहुत प्राचीन है । कुछ भी हो, अथर्वशिरस् उपनिषद् की रचना अवश्य पञ्चायतन पूजा के प्रचार के पश्चात् हुई ।

अथर्वाऋषि—अथर्ववेद के द्रष्टा ऋषि । इन्हीं के नाम पर इस वेद का नाम अथर्ववेद पड़ा । अथर्वा-ऋषि के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती भी है कि पूर्व काल में स्वयंभू ब्रह्मा ने सृष्टि के लिए दारुण तपस्या की । अन्त में उनके रोमकूपों से पसीने की धारा बह चली । इसमें उनका रेतस् भी था । यह जल दो धाराओं में विभक्त हो गया । उसकी एक धारा से भृगु महर्षि उत्पन्न हुए । अपने उत्पन्न करने वाले ऋषिप्रवर को देखने के लिए जब भृगु उत्सुक हुए, तब एक देववाणी हुई जो गोपथब्राह्मण (१।४) में दी हुई है : 'अथर्ववाग्' एवं 'एतग स्वेदाय स्वन्निच्छ' । इस तरह उनका नाम अथर्वा पड़ा । दूसरी धारा से अङ्गिरा नामक महर्षि का जन्म हुआ । उन्हीं से अथर्वाङ्गिरसों की उत्पत्ति हुई ।

अथर्वज्योतिष—संस्कारों और यज्ञों की क्रियाएँ निश्चित मुहूर्तों पर निश्चित समयों में और निश्चित अवधियों के भीतर होनी चाहिए । मुहूर्त, समय और अवधि का निर्णय करने के लिए ज्योतिष शास्त्र का ही एक अवलम्ब है । इसलिए प्रत्येक वेद के सम्बन्ध का ज्योतिषाङ्ग अध्ययन का विषय होता है । ज्योतिर्वेदाङ्ग पर तीन पुस्तकें बहुत प्राचीन काल की मिलती हैं । पहली ऋक्-ज्योतिष, दूसरी यजुः-ज्यौतिष और तीसरी अथर्व-ज्यौतिष । अथर्व-ज्यौतिष के लेखक पितामह हैं । वराहमिहिर की लिखी पञ्चसिद्धान्तिका, जिसे पं० सुधाकर द्विवेदी और डा० थीबो ने मिलकर सम्पादित करके प्रकाशित कराया था, 'पैतामह-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है । हिन्दुस्तान रिव्यू' के १९०६ ई०, नवम्बर के अंक में पृष्ठ ४१८ पर किसी अज्ञातनामा लेखक ने 'पितामह-ज्यौतिष' के १६२ श्लोक बतलाये हैं ।

अथर्वशीर्ष—शाक्त मत का एक ग्रन्थ, जिसमें शक्ति के ही स्तवन हैं ।

अथर्वाणः—अथर्ववेद के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग 'अङ्गिरसः' के समास के साथ होता है । इस प्रकार दोनों का यौगिक रूप 'अथर्वाङ्गिरसः' भी अथर्ववेद के ही अर्थ में व्यवहृत है ।

अथर्वाङ्गिरसः—परवर्ती ब्राह्मणों के अनेक परिच्छेदों में अथर्ववेद के इस सामूहिक नाम का उल्लेख है । एक स्थान पर स्वयं अथर्ववेद में भी इसका उल्लेख है, जबकि सूत्र काल के पहले 'अथर्ववेद' शब्द नहीं पाया जाता । ब्लूमफील्ड के मत से यह समास दो तत्त्वों का निरूपण करता

है, जो अथर्ववेद की विषयवस्तु के निर्माणकर्ता हैं । इसका प्रथम भाग प्राणियों के शुभ कार्यों (भेषजानि) का निरूपण करता है, इसके विपरीत दूसरा जादू-टोना (यातु वा अभिचार) का । इस मत की पुष्टि दो पौराणिक व्यक्तियों 'घोर-आङ्गिरस' एवं 'भिषक्-आङ्गिरस' के नाम से एवं पञ्चविंश ब्राह्मण में उद्धृत 'अथर्वाणः' तथा 'आथर्वणानि' के भेषज के साथ सम्बन्ध निर्देश से होती है । अथर्ववेद में भेषज का तात्पर्य अथर्ववेद के अर्थ में एवं शतपथब्राह्मण में यातु का तात्पर्य अथर्ववेद लगाया गया है ।

अथर्वोपनिषद्—इसका बहुभाषित नाम 'याज्ञिकी' तथा 'नारायणीयोपनिषद्' है । 'अथर्वोपनिषद्' नाम द्रविड देश, आन्ध्र प्रदेश, कर्णाटक आदि में प्रचलित है । तैत्तिरीय-आरण्यक का सातवाँ, आठवाँ, नवाँ एवं दसवाँ प्रपाठक ब्रह्मविद्या सम्बन्धी होने से 'उपनिषद्' कहलाता है । यह उपनिषद् दसवाँ प्रपाठक है । सायणाचार्य ने इस पर भाष्य लिखा है एवं विज्ञानात्मा ने एक स्वतन्त्र वृत्ति और 'वेद-शिरोभूषण' नाम की एक अलग व्याख्या लिखी है । याज्ञिकी 'नारायणीय-उपनिषद्' में ब्रह्मतत्त्व का विवरण है । शङ्कराचार्य ने भी इसका भाष्य लिखा है ।

अदारिद्र्य षष्ठी—स्कन्द पुराण के अनुसार एक वर्ष तक प्रत्येक षष्ठी को यह व्रत करना चाहिए । इसमें भास्कर (सूर्य) की पूजा की जाती है । व्रती को तेल एवं लवण त्यागना चाहिए तथा ब्राह्मण को खीर (दूध और चीनी में पका चावल) खिलाना चाहिए । इस व्रत से परिवार में न कोई दरिद्र उत्पन्न होता है और न दरिद्र बनता है ।

अदिति—वरुण, मित्र एवं अर्यमा की माता अथवा देवमाता । इसको स्वाधीनता तथा निरपराधिता का स्वरूप कहा गया है । बारह आदित्य अदिति के पुत्र माने जाते हैं । अदिति का भौतिक आधार असीमित क्षितिज है जिसके और आकाश के बीच में बारहों आदित्य भ्रमण करते हैं । पुराणों में इस कल्पना का विस्तार से वर्णन है । कश्यप की दो पत्नियाँ थीं—अदिति और दिति । अदिति से देव और दिति से दैत्य उत्पन्न हुए । ऋग्वेद (१.८९.१०) के अनुसार अदिति निस्सीम है । वही आकाश, वही वायु, वही माता, वही पिता, वही सर्वदेवता, वही सर्व मानव, वही भूत, वर्तमान और भविष्य है ।

अदितिकुण्ड तथा सूर्यकुण्ड—कुरुक्षेत्र से पाँच मील दूर दिल्ली-अम्बाला रेलवे लाइन पर अमीनग्राम के पूर्व में दो सरोवर हैं, जिनमें एक तो सूखा रहता है परन्तु दूसरे में जल भरा रहता है । इनमें पहला अदितिकुण्ड और दूसरा सूर्यकुण्ड कहलाता है । यहीं पर महर्षि कश्यप तथा उनकी पत्नी अदिति का आश्रम था और माता अदिति ने वामन भगवान् को पुत्र रूप में पाया था ।

अदुःखनवमी—सबके लिए, विशेषतः स्त्रियों के लिए, भाद्र शुक्ला नवमी को इस व्रत का विधान है । इसमें पार्वती का पूजन किया जाता है । दे० व्रतराज, ३३२, ३३७; स्क० पु० । बंगाली महिलाएँ अवैधव्य के लिए इस व्रत का अनुष्ठान करती हैं ।

अदृष्ट—ईश्वर की इच्छा, जो प्रत्येक आत्मा में गुप्त रूप से विराजमान है, अदृष्ट कहलाती है । भाग्य को भी अदृष्ट कहते हैं । मीमांसा दर्शन को छोड़ अन्य सभी हिन्दू दर्शन प्रलय में आस्था रखते हैं। न्याय-वैशेषिक मतानुसार ईश्वर प्राणियों को विश्राम देने के लिए प्रलय उपस्थित करता है । आत्मा में, शरीर, ज्ञान एवं सभी तत्त्वों में विराजमान अदृष्ट शक्ति उस काल में काम करना बन्द कर देती है (शक्ति-प्रतिबन्ध) । फलतः कोई नया शरीर, ज्ञान अथवा अन्य सृष्टि नहीं होती । फिर प्रलय करने के लिए अदृष्ट सभी परमाणुओं में पार्थक्य उत्पन्न करता है तथा सभी स्थूल पदार्थ इस क्रिया से परमाणुओं के रूप में आ जाते हैं । इस प्रकार अलग हुए परमाणु तथा आत्मा अपने किये हुए धर्म, अधर्म तथा संस्कार के साथ निष्प्राण लटके रहते हैं ।

पुनः सृष्टि के समय ईश्वर की इच्छा से फिर अदृष्ट लटके हुए परमाणुओं एवं आत्माओं में आन्दोलन उत्पन्न करता है । वे फिर संगठित होकर अपने किये हुए धर्म, अधर्म एवं संस्कारानुसार नया शरीर तथा रूप धारण करते हैं ।

अदेश (आदेश)—इस शब्द का सम्बन्ध केशवचन्द्र सेन तथा ब्रह्मसमाज से है । केशवचन्द्र ब्रह्मसमाज के प्रमुख नेता थे, किन्तु तीन कारणों से समाज ने उनका विरोध किया—उनकी अहम्मन्यता, आदेश का सिद्धान्त एवं स्त्रियों को पूर्ण स्वाधीनता देने की नीति । उनके आदेश का अर्थ था ईश्वर का सीधा आदेश, जो उन्हें जीवन की विभिन्न घड़ियों में ईश्वर से विशेष रूप में प्राप्त होता था । अपने अनुयायियों द्वारा इन आदेशों का पालन वे आवश्यक समझते थे ।

अद्भुत—शुभाशुभ शकुन का एक प्रकार । वैदिक विचारप्रणाली में छः शुभाशुभ शकुन अथवा लक्षण उल्लिखित हैं—(१) अशुभ रूप तथा पशुओं के कृत्य, (२) अद्भुत, अर्थात् प्रकृति के सामान्य रूप के साथ विभिन्न दूसरे उग्र रूप, (३) भौतिक चिह्न (लक्षण), (४) ज्योतिषिक प्रकृति सम्बन्धी, (५) यज्ञ की घटनाओं से सम्बन्ध रखने वाले तथा (६) स्वप्न ।

अद्भुत गीता—एक संस्कृत ग्रन्थ का नाम, जो सिक्ख गुरु नानकदेव (१४६९–१५३८) द्वारा रचित माना जाता है ।

अद्भुत ब्राह्मण—अद्भुत ब्राह्मण का सम्बन्ध सामवेद से है । इसमें अपशकुन तथा उनके निवारण का वर्णन है ।

अद्भुत रामायण—रामभक्ति शाखा का एक ग्रन्थ । इसकी रचना अध्यात्मरामायण के पूर्व की मानी जाती है, क्योंकि अध्यात्मरामायण का रचयिता अद्भुत रामायण, भुसुण्डिरामायण, योगवासिष्ठ आदि रामभक्ति विषयक ग्रन्थों से परिचित था । अद्भुत रामायण में अखिल विश्व की जननी सीताजी के परात्परा शक्ति वाले रूप की बहुत सुन्दर स्तुति की गयी है ।

अद्वयवादी—भारतीय दार्शनिकों को मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में रखा गया है : (१) आस्तिक, (२) नास्तिक और (३) अद्वयवादी । अद्वयवादी वे दार्शनिक हैं जो अद्वैत वाद में विश्वास रखते हैं । दे० 'अद्वैतवाद' ।

अद्वैत—यह शब्द अ + द्वैत से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है द्वैत (दो के भाव) का अभाव । दर्शन में इसका प्रयोग 'मूल सत्ता' के निर्देश के लिए हुआ है । इसके अनुसार वस्तुतः एक ही सत्ता 'ब्रह्म' है । आत्मा और जगत् अथवा आत्मा और प्रकृति में जो द्वैत दिखाई पड़ता है वह वास्तविक नहीं है; वह माया अथवा अविद्या का परिणाम है । सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च अपने बदलते हुए दृश्यों के साथ मिथ्या है, केवल ब्रह्म सत्य है । अंतिम विश्लेषण में आत्मा और ब्रह्म भी एक ही हैं । इस सिद्धान्त का पोषण जो दर्शन करता है वह अद्वैत है । दे० 'वेदान्त' और 'शङ्कराचार्य' ।

अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ—अद्वैतवादी सिद्धान्त पर महादेव सरस्वती द्वारा लिखित 'तत्त्वानुसन्धान' के ऊपर उन्हीं के द्वारा लिखी गयी टीका । इस ग्रन्थ का रचनाकाल अंठारहवीं शताब्दी है ।

अद्वैतदीपिका—अद्वैत वेदान्त का एक युक्तिप्रधान ग्रन्थ । इसके रचयिता नृसिंहाश्रम सरस्वती अद्वैत सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों में गिने जाते हैं । इसका रचनाकाल सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध होना चाहिए ।

अद्वैतब्रह्मसिद्धि—अद्वैत मत का एक प्रामाणिक ग्रन्थ । इसके रचयिता काश्मीरक सदानन्द यति कश्मीरदेशीय थे । रचनाकाल १७वीं शताब्दी है । इसमें प्रतिबिम्बवाद एवं अवच्छिन्नवाद सम्बन्धी मतभेदों की विशेष विवेचना में न पड़कर 'एकब्रह्मवाद' को ही वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त बतलाया गया है । जब तक प्रबल साधना के द्वारा जिज्ञासु ऐकात्म्य का अनुभव नहीं कर लेता तब तक वह इस वाग्जाल में फँसा रहता है, अन्यथा 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ।'

अद्वैतरत्न—मल्लनाराध्य कृत सोलहवीं शताब्दी का एक प्रकरण ग्रन्थ । इसके ऊपर 'तत्त्वदीपन' नामक टीका स्वयं ग्रन्थकार ने लिखी है । मल्लनाराध्य ने द्वैतवादियों के मत का खण्डन करने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की थी ।

अद्वैतरत्नलक्षण—मधुसूदन सरस्वती रचित यह ग्रन्थ द्वैतवाद का खण्डन करते हुए अद्वैतवाद की स्थापना करता है । यह १७वीं शताब्दी में रचा गया था ।

अद्वैतरसमञ्जरी—सदाशिवेन्द्र सरस्वती द्वारा अठारहवीं शताब्दी में लिखी गयी, यह सरल एवं भावपूर्ण रचना है । यह प्रकाशित हो चुकी है । सदाशिवेन्द्र महान् योगी और अद्वैतनिष्ठ महात्मा थे । उनके उत्कृष्ट जीवन की छाप इस ग्रन्थ में परिलक्षित होती है ।

अद्वैतवाद—विश्व के मूल में रहनेवाली सत्ता की खोज दर्शन का प्रमुख विषय है । यह सत्ता है अथवा नहीं अर्थात् यह सत् है या असत्, भावात्मक है या अभावात्मक, एक है अथवा दो या अनेक ? ये सब प्रश्न दर्शन में उठाये गये हैं । इन समस्याओं के अन्वेषण तथा उत्तर के अनेक मार्ग और मत हैं, जिनसे अनेक दार्शनिक वादों का उदय हुआ है । जो सम्प्रदाय मूल सत्ता को एक मानते हैं उनको एकत्ववादी कहते हैं । जो मूल सत्ता को अनेक मानते हैं वे अनेकत्ववादी, बहुत्ववादी, वैपुल्यवादी आदि नामों से अभिहित हैं । दर्शन का इनसे भिन्न एक सम्प्रदाय है जिसको 'अद्वैतवाद' कहा जाता है । इसके अनुसार 'सत्' न एक है और न अनेक । वह अगम, अगोचर, निर्गुण, अचिन्त्य तथा अनिर्वचनीय है । इसका नाम अद्वैतवाद

इसलिए है कि यह एकत्ववाद और द्वैतवाद दोनों का प्रत्याख्यान करता है। इसका सिद्धान्त है कि सत् का निर्वचन संख्या—एक, दो, अनेक-से नहीं हो सकता। इसलिए उपनिषदों में उसे 'नेति नेति' ('ऐसा नहीं', 'ऐसा नहीं') कहा गया है।

वह अद्वैत सत्ता क्या है? इसके भी विभिन्न उत्तर हैं। माध्यमिक बौद्ध इसे 'शून्य'; विज्ञानवादी बौद्ध 'विज्ञान'; शब्दाद्वैतवादी वैयाकरण 'स्फोट' अथवा 'शब्द'; शैव 'शिव'; शाक्त 'शक्ति' और अद्वैतवादी वेदान्ती 'अद्वैत' (आत्मतत्त्व) कहते हैं। इन सभी सम्प्रदायों में सबसे प्रसिद्ध आचार्य शङ्कर का आत्माद्वैत अथवा ब्रह्माद्वैत वाद है। इसके अनुसार 'ब्रह्म' अथवा 'आत्मा' एकमात्र सत्ता है। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं (सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।) अविद्या के कारण दृश्य जगत् ब्रह्म में आरोपित है। माया द्वारा वह ब्रह्म से विवर्तित होता है, उसी में स्थित रहता है और पुनः उसी में लीन हो जाता है। शाङ्कर अद्वैतवाद रामानुज के विशिष्टाद्वैत और वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत से भिन्न है।

अद्वैतवाद का उद्गम वेदों में ही प्राप्त होता है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सत् और असत् से विलक्षण सत्ता का स्पष्ट निर्देश पाया जाता है। उपनिषदों में तो विस्तार से अद्वैतवाद का निरूपण किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में केवल आत्मा और ब्रह्म को ही वास्तविक माना गया है और जगत् के समस्त प्रपञ्च को वाचारम्भण (निरर्थक शब्द मात्र) विकार कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में नानात्व का खण्डन करके (नेति नेति) केवल एकमात्र आत्मा को ही सत्य सिद्ध किया गया है। माण्डूक्य उपनिषद् में भी आत्म-ब्रह्माद्वैत प्रतिपादित किया गया है। उपनिषदों के पश्चात् बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' में प्रथम बार अद्वैतवाद का क्रमबद्ध एवं शास्त्रीय प्रतिपादन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने आत्मानुभूति के आधार पर अद्वैत का सारगर्भित विवेचन किया है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता ये ही तीन अद्वैतवाद के प्रस्थान हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य शङ्कर के दादागुरु गौडपादाचार्य ने अपने माण्डूक्योपनिषद् के भाष्य में अद्वैतमत का समर्थन किया है। स्वयं शङ्कराचार्य ने तीनों प्रस्थानों—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता पर भाष्य लिखा। ब्रह्मसूत्र पर शङ्कर का 'शारीरक भाष्य' अद्वैतवाद का सर्वप्रसिद्ध प्रामाणिक ग्रन्थ है। अद्वैतवाद का जो निखरा हुआ रूप है वास्तव में उसके प्रवर्तक शङ्कराचार्य ही हैं। दे० 'शङ्कराचार्य'।

अद्वैतविद्यामुकुर—रङ्गराजाध्वरी लिखित 'अद्वैतविद्यामुकुर' न्याय-वैशेषिक एवं सांख्यादि मतों का खण्डन करके अद्वैतमत की स्थापना करता है। इसका रचनाकाल सोलहवीं शती है।

अद्वैतविद्याविजय—दोद्दयाचार्य द्वारा, जिनका पूरा नाम दोद्दयमहाचार्य रामानुजदास है, यह ग्रन्थ सोलहवीं शताब्दी में रचा गया था।

अद्वैतविद्याविलास—सदाशिव ब्रह्मेन्द्र रचित एक ग्रन्थ।

अद्वैतसिद्धि—मधुसूदन सरस्वती-विरचित सत्रहवीं शताब्दी का एक अत्यन्त उच्च कोटि का दार्शनिक ग्रन्थ। इसमें दस परिच्छेद हैं। ब्रह्मानन्द सरस्वती ने इसके ऊपर 'लघुचन्द्रिका' नाम की व्याख्या लिखी है। डॉ० गङ्गानाथ झा द्वारा इसका अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है। यह ग्रन्थ अद्वैत सम्प्रदाय का अमूल्य रत्न है।

अद्वैताचार्य—श्री चैतन्य देव के सहयोगी एक वैष्णव विद्वान्। इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता किन्तु आदर के साथ इनका कतिपय रचनाओं में उल्लेख हुआ है। इससे लगता है कि ये अद्वैत तत्त्व के प्रमुख प्रवक्ता थे।

अद्वैतानन्द—'ब्रह्मविद्याभरण'-कार स्वामी अद्वैतानन्द का उल्लेख सदाशिव ब्रह्मेन्द्र रचित 'गुरुरत्नमालिका' नामक ग्रन्थ में हुआ है। स्वामी अद्वैतानन्द काञ्चीपीठ के शंकराचार्यपदासीन अधीश्वर थे।

अधर्म—'धर्म का अभाव' अथवा धर्मविरोधी तत्त्व। भागवत पुराण के अनुसार यह ब्रह्मा के पृष्ठ से उत्पन्न हुआ है। वेद और पुराण के विरुद्ध आचार को अधर्म कहते हैं। इससे कुछ समय तक उन्नति होती है, परन्तु अन्त में अधर्मी नष्ट हो जाता है:

अधर्मेणैधते राजन् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति।।

[हे राजन्! मनुष्य अधर्म से बढ़ता है तब सम्पत्ति को पाता है। पश्चात् शत्रुओं को जीतता है। अन्त में समूल नष्ट हो जाता है।]

अधार्मिक—अधर्मी, अधर्मात्मा अथवा पापी:

यस्तु पञ्चमहायज्ञविहीनः स निराकृतः।
अधार्मिकः स्याद् वृषलः अवकीर्णी क्षतव्रती।।

[जो पञ्च महायज्ञ नहीं करता वह पतित हो जाता है; अधार्मिक, वृषल, निन्दित और व्रत से क्षीण हो जाता है ।] स्मृतियों के अनुसार अधार्मिक ग्राम में नहीं रहना चाहिए ।

अधिमास—दो रविसंक्रान्तियों के मध्य में होने वाला चन्द्रमास । रविसंक्रान्ति से शून्य, शुक्ल प्रतिपदा से लेकर महीने की पूर्णिमा तक इसकी अवधि है । इसके पर्याय हैं अधिकमास, असंक्रान्तिमास, मलमास, मलिम्लुच और विनामक (मलमासतत्त्व) । इसको पुरुषोत्तममास भी कहा जाता है । इसमें कथा, वार्ता, धार्मिक क्रियाएँ की जाती हैं ।

अधिवास—अन्यत्र जाकर रहना । धूपदानादि संस्कार द्वारा भावित करना भी अधिवास कहलाता है । उसके द्रव्य हैं : (१) मिट्टी, (२) चन्दन, (३) शिला, (४) धान्य, (५) दूर्वा, (६) पुष्प, (७) फल, (८) दही, (९) घी, (१०) स्वस्तिक, (११) सिन्दूर, (१२) शङ्ख, (१३) कज्जल, (१४) रोचना, (१५) श्वेत सर्षप, (१६) स्वर्ण, (१७) चाँदी, (१८) ताँबा, (१९) चमर, (२०) दर्पण, (२१) दीप और (२२) प्रशस्त पादप । किन्हीं ग्रन्थों में श्वेत सर्षप के स्थान पर तथा कहीं चमर के स्थान पर पका हुआ अन्न कहा गया है ।

अध्यग्नि—विवाह के अवसर पर अग्नि के समीप पत्नी के लिए दिया गया धन :

विवाहकाले यत् स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसन्निधौ ।
तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनन्तु प्रकीर्तितम् ।।
(दायभाग में कात्यायन)

[विवाह के समय अग्नि के समीप स्त्री के लिए जो धन दिया जाता है उसे अध्यग्निकृत स्त्रीधन कहते हैं ।]

अध्ययन—गुरु के मुख से यथाक्रम शास्त्रवचन सुनना । ब्राह्मणों के छः कर्मों के अन्तर्गत अध्ययन आता है । अन्य वर्णों के लिए भी अध्ययन कर्तव्य है ।

अध्यात्मकल्पद्रुम—मुनिसुन्दरकृत 'अध्यात्मकल्पद्रुम' १३८०-१४४७ ई० के मध्य की रचना है । इसमें दार्शनिक प्रश्नों का सुन्दर विवेचन किया गया है ।

अध्यात्म—यह शब्द अधि + आत्मन् दो शब्दों के योग से बना है । भगवद्गीता में इसका प्रयोग एकान्तिक सत्ता के लिए हुआ है (अ० ८ श्लोक ३) । अमेरिकी वेदान्ती इमर्सन ने इसका अर्थ , अधीश्वर आत्मा (ओवर सोल) किया है । वास्तव में जो पदार्थ क्षर अथवा नश्वर जगत् से ऊपर अर्थात् परे है उसको अध्यात्म कहते हैं ।

अनात्मवाद—आत्मा की सत्ता को स्वीकार न करना, अथवा शरीरान्त के साथ आत्मा का भी नाश मान लेना । जिस दर्शन में 'आत्मा' के अस्तित्व का निषेध किया गया हो उसको अनात्मवादी दर्शन कहते हैं । चार्वाक दर्शन आत्मा के अस्तित्व का सर्वथा विरोध करता है । अतः वह पूरा उच्छेदवादी है । परन्तु गौतम बुद्ध का अनात्मवाद इससे भिन्न है । वह वेदान्त के शाश्वत आत्मवाद और चार्वाकों के उच्छेदवाद दोनों को नहीं मानता है । शाश्वत आत्मवाद का अर्थ है कि आत्मा नित्य, कूटस्थ, चिरन्तन तथा एक रूप है । उच्छेदवाद के अनुसार आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है । यह एक प्रकार का भौतिक आत्मवाद है । बुद्ध ने इन दोनों के बीच एक मध्यम मार्ग चलाया । उनका अनात्मवाद अभौतिक अनात्मवाद है । उपनिषदों का 'नेति नेति' सूत्र पकड़ कर उन्होंने कहा, "रूप आत्मा नहीं है । वेदना आत्मा नहीं है । संज्ञा आत्मा नहीं है । संस्कार आत्मा नहीं है । विज्ञान आत्मा नहीं है । ये पाँच स्कन्ध हैं, आत्मा नहीं ।" भगवान् बुद्ध ने आत्मा का आत्यन्तिक निषेध नहीं किया, किन्तु उसे अव्याकृत प्रश्न माना ।

अध्यात्मरामायण—वाल्मीकिरामायण के अतिरिक्त एक 'अध्यात्मरामायण' भी प्रसिद्ध है, जो शिवजी की रचना कही जाती है । कुछ विद्वान् इसे वेदव्यास की रचना बतलाते हैं । अठारहों पुराणों में रामायण की कथा आयी है । कहा जाता है कि ब्रह्माण्ड पुराण में जो रामायणी कथा है वही अलग करके 'अध्यात्मरामायण' के नाम से प्रकाशित की गयी है ।

अध्यात्मोपनिषद्—हेमचन्द्ररचित 'योगशास्त्र' अथवा 'अध्यात्मोपनिषद्' ग्यारहवीं शताब्दी का दार्शनिक ग्रन्थ है ।

अध्यापन—पाठन (विद्यादान या पढ़ाना) । यह ब्राह्मणों के छः कर्मों के अन्तर्गत एक है :

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ।।
(मनुस्मृति)

[अध्यापन, अध्ययन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना ये छः ब्राह्मणों के कर्म हैं ।] यह ब्राह्मण का विशिष्ट कर्म है । अन्य वर्णों को इसका अधिकार नहीं है, यद्यपि ब्राह्मणेतर सन्त-महात्माओं को उपदेश का अधिकार है ।

अध्यारोप—वस्तु में अवस्तु का आरोप । सच्चिदानन्द,

अनन्त, अखण्ड ब्रह्म में अज्ञान और उसके कार्य समस्त जड़ समूह का आरोप करना अध्यारोप कहलाता है। सर्प न होते हुए भी रस्सी में सर्प का आरोप करने के समान यह प्रक्रिया है (वेदान्तसार)।

अध्यासवाद—आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखते समय सबसे पहले आत्मा और अनात्मा का विवेचन किया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो सम्पूर्ण प्रपञ्च को दो प्रधान भागों में विभक्त किया जा सकता है—द्रष्टा और दृश्य। एक वह तत्त्व जो सम्पूर्ण प्रतीतियों का अनुभव करनेवाला है और दूसरा वह जो अनुभव का विषय है। इनमें समस्त प्रतीतियों के चरम साक्षी का नाम 'आत्मा' है और जो कुछ उसका विषय है वह सब 'अनात्मा' है। आत्मतत्त्व नित्य, निश्चल, निर्विकार, असङ्ग, कूटस्थ, एक और निर्विशेष है। बुद्धि से लेकर स्थूलभूत पर्यन्त जितना भी प्रपञ्च है उसका आत्मा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अज्ञान के कारण ही देह और इन्द्रियादि से अपना तादात्म्य स्वीकार कर जीव अपने को अन्धा, काना, मूर्ख, विद्वान्, सुखी-दुःखी तथा कर्त्ता-भोक्ता मानता है। इस प्रकार बुद्धि आदि के साथ जो आत्मा का तादात्म्य हो रहा है उसे आचार्य ने 'अध्यास' शब्द से निरूपित किया है। आचार्य के सिद्धान्तानुसार सम्पूर्ण प्रपञ्च की सत्यत्व-प्रतीति अध्यास अथवा माया के कारण होती है। इसी से अद्वैतवाद को अध्यासवाद अथवा मायावाद भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि जितना भी दृश्यवर्ग है वह सब माया के कारण ही सत्य-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः एक, अखण्ड, शुद्ध, चिन्मात्र ब्रह्म ही सत्य है।

अध्वर—अध्व = सन्मार्ग, र = देनेवाला, अर्थात् यज्ञकर्म। अथवा जहाँ हिंसा, क्रोध आदि कुटिल कर्म न हों (न + ध्वर = (अध्वर) सरल, स्वच्छ, शुभ कर्म :

'तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशम्' (रघु०)।
'इमं यज्ञमवतादध्वरं नः' (यजुः)।

अध्वर्यु—यज्ञों में देवताओं के स्तुतिमन्त्रों को जो पुरोहित गाता था उसे 'उद्‌गाता' कहते थे। जो पुरोहित यज्ञ का प्रधान होता था वह 'होता' कहलाता था। उसके सहायतार्थ एक तीसरा पुरोहित होता था जो हाथ से यज्ञों की क्रियाएँ होता के निर्देशानुसार किया करता था। यही सदस्य 'अध्वर्यु' कहलाता था।

अनग्नि—जो श्रौत और स्मार्त अग्नियों में होम न करता हो। श्रौत और स्मार्त कर्महीन पुरुष को अनग्नि कहते हैं। संन्यासी को भी अनग्नि कहा गया है, जो गृहस्थ के लिए विहित कर्म को छोड़ देता है और केवल आत्मचिन्तन में रत रहता है :

अग्नीनात्मनि वैतानान् समारोप्य यथाविधि।
अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः॥

(मनुस्मृति)

[वैतानादि अग्नियों को आत्मा में विधिपूर्वक स्थापित करके अग्निरहित तथा घररहित होकर मुनि मूल-फल का सेवन करे।]

अनघाष्टमीव्रत—मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। दर्भों के बने हुए अनघ तथा अनघी का पूजन, जो वासुदेव तथा लक्ष्मी के प्रतीक हैं, 'अतो देवा…… ' (ऋक् २२-१६) मन्त्र के साथ किया जाता है। शूद्रों के द्वारा नमस्कार मात्र किया जाता है। दे० भविष्योत्तर पुराण, ५८, १; हेमाद्रि, व्रतखण्ड, १. ८१३-१४।

अनङ्ग—अङ्गरहित, कामदेव का पर्याय है। काम का जन्म चित्त या मन में माना जाता है। उसे आत्मभू एवं चित्तजन्मा भी कहते हैं। साहित्य में काम को प्रेम का देवता कहा गया है। इसके मन्मथ, मदन, कन्दर्प, स्मर, अनङ्ग आदि पर्याय हैं। प्रारम्भ में काम का अर्थ 'इच्छा' लिया जाता था, वह भी न केवल शारीरिक अपितु साधारणतया सभी अच्छी वस्तुओं की इच्छा। अथर्ववेद (९.२) में काम को इच्छा के मानुषीकरण रूप में मानकर जगाया गया है। किन्तु उसी वेद के दूसरे मन्त्र में (३.२५) उसे शारीरिक प्रेम का देवता माना गया है और इसी क्रिया के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग पुराणादि ग्रन्थों में हुआ है। उसके माता-पिता का विविधता से वर्णन है, किन्तु प्रायः उसे धर्म एवं लक्ष्मी की सन्तान कहा गया है। उसकी पत्नी का नाम 'रति' है जो शारीरिक भोग का प्रतीक है। उसका मित्र 'मधु' है जो वसन्त का प्रथम मास है। काम के दो पुत्रों का भी उल्लेख आता है, वे हैं हर्ष एवं यश।

काम सम्बन्धी सामग्री की पुष्टि उसके अस्त्र-शस्त्रों से भली-भाँति हो जाती है : वह पुष्पनिर्मित धनुष धारण करता है (पुष्पधन्वा)। इस धनुष की डोरी भ्रमरों की बनी होती है और बाण भी पुष्पों के ही होते हैं (कुसुम-शर)। ये बाण प्रेम के देवता के 'शोषण' एवं 'मोहन'

आदि कर्मों के प्रतीक हैं। उसके ध्वज पर मत्स्य (मकर अथवा मत्स्यकेतु) है, जो 'प्रजनन' का प्रतीक है।

अनङ्ग की एक दूसरी पौराणिक व्याख्या कालिदास के 'कुमारसंभव' काव्य में पायी जाती है। कामदेव पहले अङ्गवान् (सशरीर) था। शिव को जीतने के लिए पार्वती के समक्ष जब वह अपना बाण उन पर छोड़ना चाहता था, तब शिव के तीसरे नेत्र की क्रोधाग्नि से वह जलकर भस्म हो गया :

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावद्हि वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार।।

इसके पश्चात् मदन (कामदेव) अनङ्ग (शरीररहित) हो गया। परन्तु उसकी शक्ति पहले से अधिक हो गयी। वह अब सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो गया।

अनङ्गत्रयोदशी—(१) मार्गशीर्ष शुक्ल त्रयोदशी से प्रारम्भ कर एक वर्षपर्यन्त यह व्रत किया जाता है। इसमें शम्भु की पूजा होती है, उनको पञ्चामृत से स्नान कराया जाता है। अनङ्ग को शिवजी का स्वरूप माना जाता है और भिन्न-भिन्न नामों से, भिन्न-भिन्न पुष्पों तथा नैवेद्य से उसका भी पूजन किया जाता है।

(२) किसी आचार्य के अनुसार चैत्र और भाद्र शुक्ल त्रयोदशी को यह व्रत होता है। एक बार अथवा वर्ष भर प्रत्येक मास बारह भिन्न-भिन्न नामों से चित्रफलक पर पूजा होती है। दे० हेमाद्रि का व्रतखण्ड, २. ८-९: पुरुषार्थचिन्तामणि, २२३; निर्णयसिन्धु, ८८।

अनङ्गदानव्रत—वेश्या के लिए हस्त, पुष्य अथवा पुनर्वसु नक्षत्र युक्त रविवासरीय व्रत। इसमें विष्णु तथा कामदेव का पूजन होता है। दे० कामदेव की स्तुति के लिए आपस्तम्बस्मृति, श्लोक १३: मत्स्यपुराण, अध्याय ७०: पद्मपुराण, २३, ७४. १४६।

अनन्त—जिसका विनाश और अन्त नहीं होता। इसका पर्याय शेष भी है। बलदेव को भी अनन्त कहा गया है। अव्यक्त प्रकृति का नाम भी अनन्त है, जिस पर विष्णु भगवान् शयन करते हैं। इसीलिए उनको 'अनन्तशायी' भी कहते हैं।

अनन्तचतुर्दशी—भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी। भविष्य पुराण के अनुसार इसका व्रत १४ वर्ष तक करना चाहिए। अग्निपुराण, भविष्योत्तर पुराण एवं तिथितत्त्व आदि में अनन्तपूजा का विवरण है। पूजा में सर्वप्रथम संकल्प, फिर 'सर्वतोभद्र मण्डल' का निर्माण, उस पर कलश की स्थापना, जिस पर एक नाग जिसके सात फण हों और जो दर्भ का बना हो, रखा जाता है। इसके समक्ष १४ गाँठों से युक्त डोरक रखा जाता है। कलश के ऊपर डोरक की पौराणिक मन्त्रों एवं पुरुषसूक्त के पाठ के साथ १६ उपचारों से पूजा की जाती है। डोरक के चतुर्दश देवता, विष्णु से लेकर वसु तक, जगाये जाते हैं। फिर अङ्गों की पूजा की जाती है, जो पाद से आरम्भ होकर ऊपर तक पहुँचती है। मन्त्र यह है : 'अनन्ताय नमः पादौ पूजयामि'। फिर एक अञ्जलि पुष्प विष्णु के मन्त्र के साथ चढ़ाये जाते हैं। फिर अनन्त की प्रार्थना सहित 'डोरक' को बाहु पर बाँधना, पुराने 'डोरक' को त्यागना आदि क्रियाएँ की जाती हैं।

इस व्रत में नमक का परित्याग करना पड़ता है। विश्वास किया जाता है कि इस व्रत को १४ वर्ष करने से 'विष्णुलोक' की प्राप्ति होती है।

अनन्तज्ञान—गौतमलिखित 'पितृमेधसूत्र' पर अनन्तज्ञान ने टीका लिखी है। कुछ विद्वानों के अनुसार ये गौतम न्यायसूत्र के रचने वाले महर्षि गौतम ही हैं।

अनन्त तृतीया—भाद्रपद, वैशाख अथवा मार्गशीर्ष शुक्ल की तृतीया से प्रारम्भ कर एक वर्ष पर्यन्त इसका व्रत किया जाता है। प्रत्येक मास में विभिन्न पुष्पों से गौरीपूजन होता है। दे० हेमाद्रि का व्रतखण्ड, ४२२-४२६; पद्मपुराण; कृत्यरत्नाकर, २६५-२७०।

अनन्त द्वादशी—इसके व्रत में भाद्र शुक्ल द्वादशी से प्रारम्भ कर एक वर्ष पर्यन्त हरिपूजा की जाती है। दे० विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ३-२१४-१-५; हेमाद्रि, व्रतखण्ड १, १२००-१२०१ (विष्णुरहस्य)।

अनन्तदेव—जीवनकाल १७वीं शताब्दी। इनके पिता 'आपदेव' थे जिन्होंने 'मीमांसान्यायप्रकाश' (दूसरा नाम आपोदेवी) की रचना की थी। अनन्तदेव रचित 'स्मृतिकौस्तुभ' प्रकरण ग्रन्थ है, जो मीमांसा के सिद्धान्तों का प्रयोग बतलाता है। देश के विभिन्न भागों में इस ग्रन्थ का प्रचार है।

अनन्तदेव (भाष्यकार)—'वाजसनेयी संहिता' के भाष्यकारों में अनन्तदेव भी एक हैं।

अनन्तनाग—कश्मीर का एक तीर्थ, जो पहलगाँव से सात मील पर स्थित है। यहाँ डाकबँगला है किन्तु मेले के

दिनों में भीड़ अधिक होती है। उस समय तम्बू लगाकर ठहरना पड़ता है। तम्बू पहलगाँव से किराये पर ले जाना होता है। आगे चन्दनवाड़ी से शेषनाग की तीन मील कड़ी चढ़ाई है। शेषनाग झील का सौन्दर्य अद्भुत है।

अनन्तफला सप्तमी—इस व्रत में भाद्र शुक्ल सप्तमी से प्रारम्भ कर एक वर्षपर्यन्त सूर्य का पूजन किया जाता है। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड १, ७४१; भविष्यपुराण; कृत्यकल्पतरु; व्रतकाण्ड १४८-१४९।

अनन्त मिश्र—उड़िया भाषा में महाभारत का भाषान्तर करने वाले लोकप्रिय विद्वान्। आज से एक हजार वर्ष पहले लोगों को यह आवश्यकता प्रतीत हो चुकी थी कि सद्धर्म एवं सदाचार तथा ज्ञान-विज्ञान की जो विधि संस्कृत में निहित है उसे उस काल की प्राकृत भाषाओं में जनता के लिए सुलभ बनाया जाय। यह काम भारत में सर्वत्र होने लगा। इस आन्दोलन के फलस्वरूप तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, बँगला, मराठी आदि भाषाओं में संस्कृतग्रन्थों का अनुवाद हुआ। उड़िया प्राकृत में महाभारत का रूपान्तर कई लेखकों ने किया। इनमें अनन्त मिश्र एक प्रसिद्ध भाषान्तरकार थे।

अनन्त व्रत—अनन्त देवता का व्रत। भाद्रपद की शुक्ल चतुर्दशी को अनन्तदेव का व्रत करना चाहिए। माहात्म्य निम्नाङ्कित है :

अनन्तव्रतमेतद्धि सर्वपापहरं शुभम्।
सर्वकामप्रदं नृणां स्त्रीणाञ्चैव युधिष्ठिर ।।
तथा शुक्लचतुर्दश्यां मासि भाद्रपदे भवेत्।
तस्यानुष्ठानमात्रेण सर्वपापं प्रणश्यति ।।

[यह अनन्त व्रत सब पापों का विनाश करने वाला तथा शुभ है। हे युधिष्ठिर! यह पुरुषों तथा स्त्रियों को सब कामों की सिद्धि देता है। भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को व्रत करने मात्र से सब पाप नष्ट हो जाते हैं।]

एक अन्य मतानुसार यह मार्गशीर्ष मास में तब प्रारम्भ किया जाता है, जिस दिन मृगशिरा नक्षत्र हो। एक वर्ष पर्यन्त इसका अनुष्ठान होता है। प्रत्येक मास में भिन्न भिन्न नक्षत्रानुसार पूजन होता है। यथा, पौष में पुष्य नक्षत्र में तथा माघ में मघा नक्षत्र में। इसी तरह अन्य मासों में भी समझना चाहिए। यह व्रत पुत्रदायक है। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, २, पृष्ठ ६६७-६७१; विष्णुधर्मोत्तर पुराण १७३, १-३०।

अनन्ताचार्य—ये यादवगिरि के समीप मेलकोट में रहते थे तथा 'श्रुतप्रकाशिका' के रचयिता सुदर्शनसूरि के पश्चात् लगभग सोलहवीं शताब्दी में हुए थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'ब्रह्मलक्षण निरूपण' में 'श्रुतप्रकाशिका' का उल्लेख किया है। इन्होंने रामानुज मत का समर्थन करने के लिए बहुत से ग्रन्थों की रचना कर अक्षय कीर्ति का अर्जन किया। इनके ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—ज्ञानयथार्थवाद, प्रतिज्ञावादार्थ, ब्रह्मपदशक्तिवाद, ब्रह्मलक्षणनिरूपण, विषयतावाद, मोक्षकारणतावाद, शरीरवाद, शास्त्रारम्भ-समर्थन, शास्त्रैक्यवाद, संविदेकत्वानुमाननिरासवादार्थ, समासवाद, समानाधिकरणवाद और सिद्धान्तसिद्धाञ्जन। इन सब ग्रन्थों से आचार्य की दार्शनिकता एवं पाण्डित्य का पूरा परिचय मिलता है।

अनन्दानवमी व्रत—इस व्रत में फाल्गुन शुक्ल नवमी से प्रारम्भ कर एक वर्षपर्यन्त देवी-पूजा की जाती है। दे० कृत्यकल्पतरु; व्रतकाण्ड, २९९-३०१; हेमाद्रि, व्रतखण्ड, १, ९४८-९५०।

अनन्य—(१) परमात्मा अथवा विश्वजनीन चेतना से व्यक्तिगत आत्मा के अभेद के सिद्धान्त को अनन्यता कहते हैं।

(२) यह भक्ति का भी एक प्रकार है, जिसके अनुसार भक्त एक भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी पर अवलम्बित नहीं होता है।

अनन्यानुभव—एक सिद्ध संन्यासी महात्मा। इनका जीवनकाल दसवीं शताब्दी के पश्चात् तथा तेरहवीं शताब्दी के पहले माना जा सकता है। इनको ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ था—ऐसा इनके शिष्य प्रकाशात्मयति के अद्वैतवादी ग्रन्थ 'पञ्चपादिका-विवरण' से ज्ञात होता है। प्रकाशात्मयति ने लिखा है कि गुरु से ब्रह्मविद्या प्राप्त करके ग्रन्थ-रचना की है।

अनर्क व्रत—मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा को यह ऋतुव्रत किया जाता है। इसका अनुष्ठान दो ऋतुओं (हेमन्त तथा शिशिर) में होता है। इसमें केशवपूजा की जाती है। 'ओं नमः केशवाय' मन्त्र का १०८ बार जप किया जाता है। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, २, ८३९-४२; विष्णुरहस्य।

अनशन—(१) भोजन का अभाव, इसे उपवास भी कहते हैं। यह एक धार्मिक क्रिया है जो शरीर और मन की

शुद्धि के लिए की जाती है। व्रत अथवा अनुष्ठान में अनशन किया जाता है। बहुत-से लोग मरने के कुछ दिन पूर्व से अनशन करते हैं। मरणान्त अनशन को 'प्रायोपवेशन' भी कहते हैं। यह जैन सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित है।

(२) पुरुषसूक्त के चौथे मन्त्र में (ततो विश्वङ् व्यक्रामत्, अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है) इस शब्द का उल्लेख है एवं इस जगत् के दो विभाग किये गये हैं: 'साशन' (चेतन) जो भोजनादि के लिए चेष्टा करता है और जीव से युक्त है और दूसरा 'अनशन' (जड़) जो अपने भोजन के लिए चेष्टा नहीं करता और स्वयं दूसरे का अशन (भोजन) है।

(३) आजकल राजनीतिक अथवा सामाजिक साधन के रूप में भी इसका उपयोग होता है। अपनी बात अथवा आग्रह मनवाने के जब अन्य साधन असफल हो जाते हैं तब इसका प्रयोग किया जाता है।

अनसूया—(१) एक धार्मिक गुण, असूया का अभाव। इसका लक्षण बृहस्पति ने दिया है:

न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि।
नान्यदोषेषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता॥
(एकादशी तत्त्व)

[गुणियों के गुणों का विरोध न करना, अल्प गुण वालों की भी प्रशंसा करना, दूसरों के दोषों को न देखना अनसूया है।]

(२) अत्रि मुनि की पत्नी का नाम भी अनसूया है। भागवत के अनुसार ये कर्दम मुनि की कन्या थीं। वाल्मीकि-रामायण में सीता और अनसूया का अत्रि-आश्रम में संवाद पाया जाता है।

अन्नकूटोत्सव—कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा या द्वितीया को यह उत्सव मनाया जाता है। यह गोवर्धन पूजन का ही एक अङ्ग है। इस दिन मिष्ठान्न अथवा विविध पकवानों का कूट (पर्वत) प्रस्तुत कर उसका भगवान् को समर्पण किया जाता है।

अनादि—आदिरहित (अन् + आदि)। प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि कहा गया है:

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्धयनादी उभावपि। (गीता)

अनामा (अनामिका)—ब्रह्मा का सिर छेदन कर देने पर भी जिसका नाम निन्दित नहीं है उसे अनामा कहते हैं। पुराणों के अनुसार इस अंगुलि से शिव ने ब्रह्मा का शिरश्छेद किया था। यह पवित्र मानी जाती है, धार्मिक कृत्य करते समय इसी अंगुलि में पवित्री धारण की जाती है।

अनाहत—(१) जिस वस्त्र का खण्ड, धुलना और भोग नहीं हुआ है, कोरा। धार्मिक कृत्यों में ऐसे ही वस्त्र को धारण करने का विधान है।

(२) तन्त्रोक्त छः चक्रों के अन्तर्गत चतुर्थ चक्र, जो हृदय में स्थित, क से लेकर ठ तक के वर्णों से युक्त, उदित होते हुए सूर्य के समान प्रकाशमान, बारह पँखुड़ियों वाले कमल के आकार वाला, मध्य में हजारों सूर्यों के तुल्य प्रकाशमान और ब्रह्मध्वनि से शब्दायमान है:

शब्दो ब्रह्ममयः शब्दोऽनाहतो यत्र दृश्यते।
अनाहताख्यं तत्पद्मं मुनिभिः परिकीर्तितम्॥

[जहाँ पर शब्द ब्रह्ममय है और अनाहत दिखाई देता है, उस पद्म को मुनियों ने अनाहत कहा है।]

हठयोग में जब साधक कुण्डलिनी को जागृत कर उसे ऊर्ध्वमुखी कर लेता है, उसके उद्‌गमन के समय जो विस्फोट होता है वह नाद कहलाता है। यह नाद अनाहत रूप से समस्त विश्व में व्याप्त है। यह पिण्ड में भी वर्तमान रहता है, किन्तु मूढ अज्ञानी पुरुष उसको सुन नहीं सकता। जब हठयोग की क्रिया से सुषुम्ना नाड़ी का मार्ग खुल जाता है तब यह नाद सुनाई पड़ने लगता है जो कई प्रकार से सुनाई देता है, जैसे समुद्रगर्जन, मेघगर्जन, शङ्खध्वनि, घण्टाध्वनि, किङ्किणी, वंशी, भ्रमरगुञ्जन आदि। उपाधि युक्त होने के कारण यह नाद सात स्वरों में विभक्त हो जाता है, जिनके द्वारा जगत् के विविध शब्द सुनाई पड़ते हैं। यह निरुपाधि होकर 'प्रणव' अथवा 'ओंकार' का रूप धारण करता है। इसी को शब्दब्रह्म भी कहते हैं। सन्तों ने इसको 'सोहं' कहा है।

अनिरुद्ध—(१) प्रद्युम्न (कामदेव) का पुत्र। इसका पर्याय है उषापति। यह भगवान् के चार व्यूहों के अन्तर्गत एक व्यूह है। इससे सृष्टि होती है:

तमसो ब्रह्मसम्भूतं तमोमूलामृतात्मकम्।
तद् विश्वभावसंज्ञान्तं पौरुषीं तनुमाश्रितम्॥
सोऽनिरुद्ध इति प्रोक्तस्तत् प्रधानं प्रचक्षते।
तदव्यक्तमिति ज्ञेयं त्रिगुणं नृपसत्तम॥
विद्यासहायवान् देवो विष्वक्सेनो हरिः प्रभुः।
अप्स्वेव शयनञ्चक्रे निद्रायोगमुपागतः॥

जगतश्चिन्तयन् सृष्टिं महानात्मगुणः स्मृतः ॥
(महाभारत, मोक्षधर्म०)

[तमोगुण के द्वारा ब्रह्म से उत्पन्न, तमोगुण मूलक, अमृत से युक्त, विश्व नामक वह पुरुष के शरीर में स्थित है। उसे अनिरुद्ध कहते हैं। उससे त्रिगुणात्मक अव्यक्त की उत्पत्ति हुई। विद्याओं के बल से युक्त देव विष्वक्सेन प्रभु हरि ने संसार के सर्जन की चिन्ता करते हुए जल में शयन किया और वे योगनिद्रा को प्राप्त हुए। यह महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व) आत्मा का गुण है।]

(२) महाभारत, मोक्षधर्म पर्व के नारायणीय खण्ड में व्यूह (प्रसार) सिद्धान्त का वर्णन है। इस सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव (विष्णु) से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध तथा अनिरुद्ध से ब्रह्मा का उद्भव हुआ है। संकर्षण तथा अन्य तीन का सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टितत्त्व के रूप में निरूपण होता है। वासुदेव को परम सत्य (परमात्मा), संकर्षण को प्रकृति, प्रद्युम्न को मनस्, अनिरुद्ध को अहंकार एवं ब्रह्मा को पंचभूतों के रूप में ग्रहण किया गया है।

यह कहना कठिन है कि इस सिद्धान्त के पीछे क्या अर्थ छिपा है। वासुदेव कृष्ण हैं, बलराम या संकर्षण उनके भाई हैं, प्रद्युम्न उनके पुत्र तथा अनिरुद्ध उनके पौत्र हैं। हो सकता है कि ये तीनों देवों के रूप में पूजे जाते रहे हों और पीछे इनका सम्बन्ध कृष्ण से स्थापित कर व्यूह-सिद्धान्त का निर्माण कर लिया गया हो। ऐतिहासिक पुरुषों के दैवीकरण का यह एक उदाहरण है।

अनिरुद्धवृत्ति—अनिरुद्ध रचित 'सांख्यसूत्रवृत्ति' का ही अन्य नाम 'अनिरुद्धवृत्ति' है। इसका रचनाकाल १५०० ई० के लगभग है।

अनिर्वचनीय—निर्वचन के अयोग्य, अनिर्वाच्य अथवा वाक्यागम्य। वेदान्तसार में कथन है :

'सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं भावरूपं ज्ञानविरोधि यत् किञ्चिदिति वदन्ति।'

[सत्-असत् के द्वारा अकथनीय, त्रिगुणात्मक भावरूप, ज्ञान का विरोधी जो कुछ है उसे अनिर्वचनीय कहते हैं।]

वेदान्त दर्शन में परमतत्त्व ब्रह्म को भी अनिर्वचनीय कहा गया है, जिसका निरूपण नहीं हो सकता। इस सिद्धान्त को अनिर्वचनीयतावाद कहते हैं। माध्यमिक बौद्धों के शून्यतासिद्धान्त से यह मिलता-जुलता है। इसीलिए आचार्य शङ्कर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाने लगा।

अनिर्वचनीयतासर्वस्व- -नैषधचरित महाकाव्य के रचयिता श्रीहर्ष द्वारा रचित 'खण्डनखण्डखाद्य' का ही अन्य नाम 'अनिर्वचनीयतासर्वस्व' है। इसमें अद्वैत वेदान्तमत के सिवा न्याय, सांख्य आदि सभी दर्शनों का खण्डन हुआ है, विशेष कर उदयनाचार्य के न्यायमत का। स्वामी शङ्कराचार्य का मायावाद अनिर्वचनीय ख्याति के ऊपर ही अवलम्बित है। उनके सिद्धान्तानुसार कार्य और कारण भिन्न, अभिन्न तथा भिन्नाभिन्न भी नहीं हैं, अपितु अनिर्वचनीय हैं। श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में इस मत के सभी विपक्षों का बड़ी सफलता के साथ खण्डन किया है। साथ ही जिन प्रमाणों द्वारा वे लोग अपना पक्ष सिद्ध करते हैं उन प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी खण्डन करते हुए अप्रमेय, अद्वितीय एवं अखण्ड वस्तु की स्थापना उन्होंने की है।

अनीश्वरवाद (सांख्य का)—योगदर्शनकार पतञ्जलि ने आत्मा और जगत् के सम्बन्ध में सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन एवं समर्थन किया है। उन्होंने भी वे ही पचीस तत्त्व माने हैं जो सांख्यकार ने माने हैं। इसलिए योग एवं सांख्य दोनों दर्शन मोटे तौर पर एक ही समझे जाते हैं, किन्तु योगदर्शनकार ने कपिल की अपेक्षा एक और छब्बीसवाँ तत्त्व 'पुरुष विशेष' अथवा ईश्वर भी माना है। इस प्रकार ये सांख्य के अनीश्वरवाद से बच गये हैं। सांख्यदर्शन सत्कार्यवाद सिद्धान्त को मानता है। तदनुसार ऐसी कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती, जो पहले से अस्तित्व में न हो। कारण का अर्थ केवल फल को स्पष्ट रूप देना है अथवा अपने में स्थित कुछ गुणों के रूप को व्यक्त करना है। परिणाम की उत्पत्ति केवल कारण के भीतरी परिवर्तन से, उसके परमाणुओं की नयी व्यवस्था के कारण होती है। केवल कारण एवं परिणाम के मध्य की एक साधारण बाधा दूर करने मात्र से मनोवांछित फल प्राप्त होता है। कार्य सत् है, वह कारण में पहले से उपस्थित है, परिणाम लाने की चेष्टा के पूर्व भी परिणाम कारण में उपस्थित रहता है, यथा अलसी में तेल, पत्थर में मूर्त्ति, दूध में दही एवं दही में मक्खन। 'कारक व्यापार' केवल फल को आविर्भूत करता है, जो पहले तिरोहित था।

सांख्यमतानुसार सभी प्रवृत्तियाँ स्वार्थ (अपने वास्ते) होती हैं, या परार्थ (दूसरे के वास्ते)। प्रकृति तो जड़ है। इसको अपने प्रयोजन और दूसरे के प्रयोजन का कुछ ज्ञान नहीं है। तब इसकी प्रवृत्ति किस तरह होगी। यदि कहें कि चेतन जीवात्मा अधिष्ठाता होकर प्रवृत्ति करा देगा तो यह भी नहीं बनता, क्योंकि जीवात्मा प्रकृति के सम्पूर्ण रूप को जानता नहीं, फिर उसका अधिष्ठाता कैसे हो सकता है? इसलिए प्रकृति की प्रवृत्ति के लिए सर्वज्ञ अधिष्ठाता ईश्वर मानना चाहिए। किन्तु इस तर्क से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि पूर्णकाम ईश्वर का अपना कुछ प्रयोजन नहीं है, फिर वह अपने वास्ते, या दूसरे के लिए जगत् को क्यों रचेगा? बुद्धिमान् पुरुष की प्रवृत्ति निज प्रयोजनार्थ, अपने ही लिए संभव है, अन्य के लिए नहीं। यदि कहें कि दया से निष्प्रयोजन प्रवृत्ति भी हो जाती है, तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सृष्टि से पहले कोई प्राणी नहीं था, फिर किसके दुःख को देखकर करुणा हुई होगी? यदि ईश्वर ने करुणा के वश होकर सृष्टि की होती तो वह सबको सुखी ही बनाता, दुःखी नहीं। पर ऐसा देखने में नहीं आता, अपितु जगत् की सृष्टि विचित्र देखी जाती है। यदि कहें कि जीवों के कर्माधीन होकर ईश्वर विचित्र सृष्टि करता है, तो कर्म की प्रधानता हुई, फिर बकरी के गले के निष्प्रयोजन स्तन की तरह ईश्वर मानने की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार सांख्य का सिद्धान्त है कि ईश्वर की सत्ता में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, अतः उसकी सिद्धि नहीं हो सकती (ईश्वरासिद्धेः)।

अनुक्रमणिका (कात्यायन की)—वेदों के विषयगत विभाजन को अनुक्रमणिका कहा जाता है। ऋग्वेद का दस मण्डलों में विभाजन ऐतरेय आरण्यक और आश्वलायन तथा शांखायन के गृह्यसूत्रों में सबसे पहले देखने में आता है। कात्यायन की अनुक्रमणिका में मण्डल विभाजन का उल्लेख नहीं है। कात्यायन ने दूसरे प्रकार के विभाजन का अनुसरण करके अष्टकों और अध्यायों में ऋग्वेद को विभक्त माना है।

अनुक्रमणिका और संहिता—अनुक्रमणिका में संहिता और ब्राह्मणग्रन्थों में कोई भेद नहीं किया गया है। किसी-किसी शाखा में जिन बातों का उल्लेख संहिता में नहीं है, ब्राह्मणग्रन्थों में उनका उल्लेख हुआ है। जैसे, नरमेध यज्ञ का उल्लेख संहिता में नहीं है, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में है।

अनुक्रमणी—वैदिक साहित्य के अन्तर्गत एक तरह का ग्रन्थ। इससे छन्द, देवता और मन्त्र-द्रष्टा ऋषि का पर्यायक्रम से पता लगता है। ऋक्संहिता की अनुक्रमणियाँ अनेक हैं जिनमें शौनक की रची अनुवाकानुक्रमणी और कात्यायन की रची सर्वानुक्रमणी अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्हीं दो पर बहुत विस्तृत एवं सुलिखित टीकाएँ हैं। एक टीकाकार का नाम षड्गुरुशिष्य है। यह पता नहीं कि इनका वास्तविक नाम क्या था और इन्होंने कब यह ग्रन्थ लिखा।

अनुगीता—महाभारत में श्रीमद्भगवद्गीता के अतिरिक्त अनुगीता भी पायी जाती है। यह गीता का सीधा अनुकरण है। इसके परिच्छेदों में अध्यात्म सम्बन्धी विज्ञान की कोई विशेषता परिलक्षित नहीं होती, किन्तु शेष, विष्णु, ब्रह्मा आदि के पौराणिक चित्रों के दर्शन यहाँ होते हैं। विष्णु के छः अवतारों—वराह, नृसिंह, वामन, मत्स्य, राम एवं कृष्ण का भी वर्णन पाया जाता है।

अनुग्रह—शिव की कृपा का नाम। पाशुपत सिद्धान्तानुसार पशु (जीव) पाश (बन्धन) में बँधा हुआ है। यह पाश तीन प्रकार का है—आणव (अज्ञान), कर्म (कार्य के परिणाम) और माया (जो इस सृष्टि के स्वरूप का कारण है)। शाङ्कर मत में जो माया वर्णित है उससे यह माया भिन्न है। यहाँ दृश्य जगत् के यथार्थ प्रभाव को दर्शाने, सत्य को ढँकने एवं धोखा देने के अर्थ में यह प्रयुक्त हुई है। इन बन्धनों में जकड़ा हुआ पशु सीमित है, अपने शरीर (आवरण) से घिरा हुआ है। 'शक्ति' इन सभी बन्धनों में व्याप्त है और इसी के माध्यम से पति का आत्मा को अन्धकार में रखने का व्यापार चलता है। शक्ति का व्यापकत्व पति की दया अथवा अनुग्रह में भी है। इस अनुग्रह से ही क्रमशः बन्धन कटते हैं तथा आत्मा की मुक्ति होती है।

अनुपदसूत्र (चतुर्थ साम)—इस ग्रन्थ में दस प्रपाठक हैं। इन सूत्रों का संग्रहकार ज्ञात नहीं है। पञ्चविंश ब्राह्मण के बहुत-से दुर्बोध वाक्यों की इसमें व्याख्या की गयी है। इसमें षड्विंश ब्राह्मण की भी चर्चा है। इस ग्रन्थ से बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्री और प्राचीन ग्रन्थों के नाम भी ज्ञात होते हैं। जान पड़ता है कि इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से सामवेद के श्रौतसूत्रों के कई ग्रन्थ संगृहीत हुए थे।

अनुपातक—जो कृत्य निम्न मार्ग की ओर प्रेरित करता है वह पाप है। उसके समान कर्म अनुपातक हैं। वेदनिन्दा आदि से उत्पन्न पाप को भी अनुपातक कहते हैं। उन पापों की गणना विष्णुस्मृति में की गयी है। यज्ञ में दीक्षित क्षत्रिय अथवा वैश्य, रजस्वला, गर्भवती, अविज्ञातगर्भ एवं शरणागत का वध करना ब्रह्महत्या के अनुपातक माने गये हैं। इनके अतिरिक्त ३५ प्रकार के अनुपातक होते हैं, यथा—

(१) उत्कर्ष में मिथ्यावचन कहना। यह दो प्रकार का है, आत्मगामी और निन्दा (असूया) पूर्वक परगामी।

(२) राजगामी पैशुन्य (शासक से किसी की चुगली करना)।

(३) पिता के मिथ्या दोष कहना।

[ये तीनों ब्रह्महत्या के समान हैं।]

(४) वेद का त्याग (पढ़े हुए वेद को भूल जाना तथा वेदनिन्दा)।

(५) झूठा साक्ष्य देना। यह दो प्रकार का है, ज्ञात वस्तु को न कहना और असत्य कहना।

(६) मित्र का वध।

(७) ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य जाति के मित्र का वध।

(८) ज्ञानपूर्वक बार-बार निन्द्य अन्न भक्षण करना।

(९) ज्ञानपूर्वक बार-बार निन्दित छत्राक आदि का भक्षण करना।

[ये छः मदिरा पीने से उत्पन्न पातक के समान हैं।]

(१०) किसी की धरोहर का हरण।

(११) मनुष्य का हरण।

(१२) घोड़े का हरण।

(१३) चाँदी का हरण।

(१४) भूमि का हरण।

(१५) हीरे का हरण।

(१६) मणि का हरण।

[ये सात सोने की चोरी के समान हैं।]

(१७) परिवार की स्त्री के साथ गमन।

(१८) कुमारी-गमन।

(१९) नीच कुल की स्त्री के साथ गमन।

(२०) मित्र की स्त्री के साथ गमन।

(२१) अन्य वर्ण की स्त्री से उत्पन्न पुत्र की स्त्री के साथ गमन।

(२२) पुत्र की असवर्ण जाति वाली स्त्री के साथ गमन।

[ये छः विमातृ-गमन के समान हैं।]

(२३) माता की बहिन के साथ गमन।

(२४) पिता की बहिन के साथ गमन।

(२५) सास के साथ गमन।

(२६) मामी के साथ गमन।

(२७) शिष्य की स्त्री के साथ गमन।

(२८) बहिन के साथ गमन।

(२९) आचार्य की भार्या के साथ गमन।

(३०) शरणागत स्त्री के साथ गमन।

(३१) रानी के साथ गमन।

(३२) संन्यासिनी के साथ गमन।

(३३) धात्री के साथ गमन।

(३४) साध्वी के साथ गमन।

(३५) उत्कृष्ट वर्ण की स्त्री के साथ गमन।

[ये तेरह गुरु—पत्नी-गमन के समान अनुपातक हैं।]

अनुब्राह्मणग्रन्थ—ऐतरेय ब्राह्मण के पूर्व भाग में श्रौत विधियाँ हैं। उत्तर भाग में अन्य विधियाँ हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी ऐसी ही व्यवस्था देखी जाती है। उसके पहले भाग में श्रौत विधियाँ हैं। दूसरे में गृह्यमन्त्र एवं उपनिषद् भाग है। इस श्रेणीविभाग की कल्पना करने वालों के मत में साम-विधि का 'अनुब्राह्मण' नाम है। वे लोग कहते हैं कि पाणिनिसूत्र में अनुब्राह्मण का उल्लेख है (४।२।६२)। किन्तु सायण की विभाग-कल्पना में अनुब्राह्मण का उल्लेख नहीं है। साथ ही अनुब्राह्मण नाम के और किसी ग्रन्थ की कहीं चर्चा भी नहीं है। 'विधान' ग्रन्थों को 'अनुब्राह्मण ग्रन्थ' कहना सङ्गत जान पड़ता है।

अनुभवानन्द—अद्वैतमत के प्रतिपादक वेदान्तकल्पतरु, शास्त्रदर्पण, पञ्चपादिकादर्पण आदि के रचयिता आचार्य अमलानन्द के ये गुरु थे। इनका जीवनकाल तेरहवीं शताब्दी है।

अ(नु)णुभाष्य—ब्रह्मसूत्रों पर वल्लभाचार्य का रचा हुआ भाष्य। वल्लभाचार्य का मत शङ्कराचार्य एवं रामानुज से बहुत अंशों में भिन्न तथा मध्वाचार्य के मत से मिलता-जुलता है। आचार्य वल्लभ के मत में जीव अणु और परमात्मा का सेवक है। प्रपञ्चभेद (जगत्) सत्य है। ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। गोलोकाधिपति श्री कृष्ण ही परब्रह्म हैं, वही जीव के सेव्य हैं। जीवात्मा

और परमात्मा दोनों शुद्ध हैं। इसी से इस मत का नाम शुद्धाद्वैत पड़ा है। वल्लभ के मतानुसार सेवा द्विविध है—फलरूपा एवं साधनरूपा। सर्वदा श्री कृष्ण की श्रवण-चिन्तन रूप मानसी सेवा फलरूपा एवं द्रव्यार्पण तथा शारीरिक सेवा साधनरूपा है। गोलोकस्थ परमानन्दसन्दोह श्री कृष्ण को गोपीभाव से प्राप्त करके उनकी सेवा करना ही मोक्ष है। ('अनुभाष्य' नाम के लिए द्रष्टव्य 'अनुव्याख्यान'।)

अनुभूतिप्रकाश—माधवाचार्य अथवा स्वामी विद्यारण्य रचित 'अनुभूतिप्रकाश' में उपनिषदों की आख्यायिकाएँ श्लोकबद्ध कर संग्रह की गयी हैं। यह चौदहवीं शताब्दी का ग्रन्थ है।

अनुभूतिस्वरूपाचार्य—एक लोकप्रिय व्याकरण ग्रन्थकार। सरस्वतीप्रक्रिया नामक इनका लिखा 'सारस्वत' उपनामक ग्रन्थ पुराने पाठकों में अधिक प्रचलित रहा है। सिद्धान्तचन्द्रिका इसकी टीका है। इसमें सात सौ सूत्र हैं। कहते हैं कि सरस्वती के प्रसाद से यह ग्रन्थ इन आचार्य को प्राप्त हुआ था।

अनुमरण—पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी का मरण। पति के मर जाने पर उसकी खड़ाऊँ आदि लेकर जलती हुई चिता में बैठ पत्नी द्वारा प्राण त्याग करना अनुमरण कहलाता है:

देशान्तरमृते पत्यौ साध्वी तत्पादुकाद्वयम्।
निधायोरसि संशुद्धा प्रविशेत् जातवेदसम्॥
(ब्रह्मपुराण)

[देशान्तर में पति के मृत हो जाने पर स्त्री उसकी दोनों खड़ाऊँ हृदय पर रखकर पवित्र हो अग्नि में प्रवेश करे।]

ब्राह्मणी के लिए अनुमरण वर्जित है:

'पृथक्चितिं समारुह्य न विप्रा गन्तुमर्हति।'

[ब्राह्मणी को अलग चिता बनाकर नहीं मरना चाहिए।] उसके लिए सहमरण (मृत पति के साथ जलती हुई चिता में बैठकर मरण) विहित है—

भर्त्रनुसरणं काले याः कुर्वन्ति तथाविधाः।
कामात्क्रोधाद् भयान्मोहात् सर्वाः पूता भवन्ति ताः॥

[जो समय पर विधिपूर्वक काम, क्रोध, भय अथवा लोभ से पति के साथ सती होती हैं वे सब पवित्र हो जाती हैं।] दे० 'सती'।

अनुमान—ज्ञान-साधन प्रमाणों में से एक। न्याय (तर्क) का मुख्य विषय प्रमाण है। प्रमा यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। यथार्थ ज्ञान का जो करण हो अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो उसे प्रमाण कहते हैं। गौतम ने चार प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। वस्तु के साथ इन्द्रिय-संयोग होने से जो उसका ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है। लिङ्ग-लिङ्गी के प्रत्यक्ष ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति तथा उसके करण को अनुमान कहते हैं। जैसे, हमने बराबर देखा कि जहाँ धुआँ रहता है वहाँ आग रहती है। इसी को व्याप्ति-ज्ञान कहते हैं जो अनुमान की पहली सीढ़ी है। कहीं धुआँ देखा गया, जो आग का लिङ्ग (चिह्न) है और मन में ध्यान आ गया कि 'जिस धुएँ के साथ सदा आग रहती है वह यहाँ है'—इसी को परामर्श ज्ञान या 'व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता' कहते हैं। इसके अनन्तर यह ज्ञान या अनुमान उत्पन्न हुआ कि 'यहाँ आग है'। अपने समझने के लिए तो उपर्युक्त तीन खण्ड पर्याप्त हैं, परन्तु नैयायिकों का कार्य है दूसरे के मन में ज्ञान कराना। इससे वे अनुमान के पाँच खण्ड करते हैं जो 'अवयव' कहलाते हैं:

(१) प्रतिज्ञा—साध्य का निर्देश करने वाला, अर्थात् अनुमान से जो बात सिद्ध करनी है उसका वर्णन करने वाला वाक्य—जैसे, 'यहाँ पर आग है'। (२) हेतु—जिस लक्षण या चिह्न से बात प्रमाणित की जाती है—जैसे, 'क्योंकि यहाँ धुआँ है।' (३) उदाहरण—सिद्ध की जानेवाली वस्तु अपने चिह्न के साथ जहाँ देखी गयी है उसे बतलाने वाला वाक्य—जैसे, 'जहाँ-जहाँ धुआँ रहता है वहाँ-वहाँ आग रहती है', जैसे, 'रसोईघर में।' (४) उपनय—जो वाक्य बतलाये हुए चिह्न या लिङ्ग का होना प्रकट करे—जैसे, 'यहाँ पर धुआँ है।' (५) निगमन—सिद्ध की जानेवाली बात सिद्ध हो गयी, यह कथन। अतः अनुमान का पूरा रूप यों हुआ—

१. यहाँ पर अग्नि है (प्रतिज्ञा)।
२. क्योंकि यहाँ धुआँ है (हेतु)।
३. जहाँ-जहाँ धुआँ रहता है वहाँ-वहाँ अग्नि रहती है—जैसे रसोई घर में (उदाहरण)।
४. यहाँ पर धुआँ है (उपनय)।
५. इसलिए यहाँ पर अग्नि है (निगमन)।

साधारणतः इन पाँच अवयवों से युक्त वाक्य को 'न्याय' कहते हैं। नवीन नैयायिक इन पाँचों अवयवों का मानना

आवश्यक नहीं समझते। वे अनुमान प्रमाण के लिए प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन्हीं तीनों को पर्याप्त समझते हैं।

अनुराधा—अश्विनी से सत्रहवाँ नक्षत्र, जो विशाखा के बाद आता है। उसका रूप सर्पाकार सात ताराओं से युक्त और अधिदेवता मित्र है। इस नक्षत्र में उत्पन्न शिशु के लक्षण निम्नोक्त हैं—

सत्कीर्तिकान्तिश्च सदोत्सवः स्यात्
जेता रिपूणाञ्च कलाप्रवीणः।
स्यात्सम्भवे यस्य किलानुराधा
सम्पत्प्रमोदौ विविधौ भवेताम्॥

[जिसके जन्मकाल में अनुराधा नक्षत्र हो वह यशस्वी, कान्तिमान्, सदा उत्सव से युक्त, शत्रुओं का विजेता, कलाओं में प्रवीण, सम्पत्तिशाली और अनेक प्रकार से प्रमोद करने वाला होता है।]

अनुलोम विवाह—उच्च वर्ण के वर तथा निम्न वर्ण की कन्या का विवाह। आजकल की अपेक्षा प्राचीन समाज अधिक उदार था। जातिबन्धन इतना जटिल नहीं था। विवाह अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार के होते थे। अनुलोम के विपरीत निम्न वर्ण के पुरुष का उच्च वर्ण की कन्या से विवाह करना प्रतिलोम विवाह कहलाता था। आगे चलकर उत्तरोत्तर समाज में इस प्रकार के विवाह बन्द होते गये। इस प्रकार के सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तान की गणना वर्णसंकर (मिश्र वर्ण) में होती थी और समाज में वह नीची दृष्टि से देखा जाता था।

अनुवाकानुक्रमणी—ऋक्संहिता की अनेक अनुक्रमणियों में से एक। यह शौनक की रची हुई है तथा इस पर षड्गुरुशिष्य द्वारा विस्तृत टीका लिखी गयी है।

अनुव्याख्यान—वेदान्तसूत्र पर लिखी गयी आचार्य मध्व की दो प्रमुख रचनाओं में से एक। यह तेरहवीं शताब्दी में रची गयी छन्दोबद्ध रचना है।

अनुव्रजन—शिष्ट अभ्यागतों के वापस जाने के समय कुछ दूर तक उनके पीछे पीछे जाने का शिष्टाचार :

'आयान्तमग्रतो गच्छेद् गच्छन्तं तमनुव्रजेत्।'
(निगमकल्पद्रुम)

[कोई शिष्ट घर में आता हो तो उसकी अगवानी के लिए आगे चलना चाहिए। वह जब वापस जा रहा हो तो विदाई के लिए उसके पीछे जाना चाहिए।]

अनुशिख—पञ्चविंश ब्राह्मण में उल्लिखित नागयज्ञ के एक पोता (पुरोहित) का नाम।

अनुस्तरणी—प्राचीन हिन्दू शवयात्रा की विविध सामग्रियों के अन्तर्गत एक गौ। अनुस्तरणी गौ बूढ़ी, बिना सींग की तथा बुरी आदतों वाली होनी चाहिए। जब यह गाय मृतक के पास लायी जाय तो मृतक के अनुचरों को तीन मुट्ठी धूल अपने कन्धों पर डालनी चाहिए। शवयात्रा में सर्वप्रथम गृह्य अग्नि का पात्र, फिर यज्ञ-अग्नि, फिर जलाने की सामग्री तथा उसके पीछे अनुस्तरणी गौ रहनी चाहिए और ठीक उसके पीछे मृत व्यक्ति विमान पर हो। फिर सम्बन्धियों का दल आयु के क्रम से हो। चिता तैयार हो जाने पर इस गौ को शव के आगे लाते तथा उसको मृतक के सम्बन्धी इस प्रकार घेर लेते थे कि सबसे छोटा पीछे और वय के क्रम से दूसरे आगे हों। फिर इस गाय का वध किया जाता या छोड़ दिया जाता था। मृतक ने जीवन में पशु यज्ञ नहीं किया है तो उसे छोड़ना ही उचित होता था। क्रमशः छोड़ने के पूर्व गौ को अग्नि, चिता एवं शव की परिक्रमा कराते थे तथा कुछ मन्त्रों के पाठ के साथ उसे मुक्त कर देते थे।

अनुस्तोत्र सूत्र—ऋग्वेद के मन्त्र को सामगान में परिणत करने की विधि के सम्बन्ध में सामवेद के बहुत से सूत्र ग्रन्थ हैं। अनुस्तोत्र सूत्र उनमें से एक है।

अनूचान—जिसने वेद का अनुवचन किया हो। विनयसम्पन्न के अर्थ में इसका प्रयोग होता है। अङ्गों सहित वेदों के ज्ञाता को भी अनूचान कहते हैं :

'अनूचानो विनीतः स्याद् साङ्गवेदविचक्षणः।'
× × ×
इदमूचुरनूचानाः प्रीतिकण्टकितत्वचः।
(कुमारसम्भव)

[प्रेम से पुलकित शरीर वाले अनूचान ऋषियों ने ऐसा कहा।] मनु ने ने भी कहा है :

ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्।

[ऋषियों ने यह धर्म बनाया कि वेदज्ञ व्यक्ति हमसे श्रेष्ठ है।]

अनृत—इसका शाब्दिक अर्थ है 'मिथ्या' अथवा 'झूठ'। जिस कर्म में असत्य अथवा हिंसा हो उसे भी अनृत कहते हैं। विवाह आदि पाँच कार्यों में झूठ बोलना पाप नहीं माना जाता है :

विवाहकाले रतिसंप्रयोगे
प्राणात्यये सर्वधनापहारे ।
विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेत
पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ।।
(महाभारत, कर्णपर्व)

[यदि विवाह, रति, प्राण संकट, सम्पूर्ण धनापहरण के समय और ब्राह्मण के अर्थ के लिए असत्य बोलो तो ये पाँच अनृत पाप में नहीं गिने जाते ।]

अन्तःकथासंग्रह—भक्तिविषयक कथाओं का संग्रह ग्रन्थ । इसके रचयिता 'प्रबन्धकोष' के लेखक राजशेखर हैं। रचनाकाल है चौदहवीं शताब्दी का मध्य ।

अन्तःकरण—भीतर की ज्ञानेन्द्रिय । इसका पर्याय मन है । कार्यभेद से इसके चार नाम हैं :

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम् ।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी ।।
(वेदान्तसार)

[मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त ये चार अन्तःकरण हैं । संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण ये चार क्रमशः इनके विषय हैं ।] इन सबको मिलाकर एक अन्तःकरण कहलाता है । पाँच महाभूतों में स्थित सूक्ष्म तन्मात्राओं के अंशों से अन्तःकरण बनता है ।

अन्तःकरणप्रबोध—वल्लभाचार्य द्वारा रचित सोलहवीं शताब्दी का एक पुष्टिमार्गीय दार्शनिक ग्रन्थ ।

अन्तक—यम का पर्याय, अन्त (विनाश) करने वाला ।

अन्तरात्मा—सर्वप्रथम उपनिषदों में आभ्यन्तरिक चेतन (आत्मा) के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है । इसका समानार्थी शब्द है 'अन्तर्यामी' । यह अतिरेकी सत्ता का दूसरा छोर है जो घट-घट में व्याप्त है ।

अन्तर्यामी—(१) 'श्रीसम्प्रदाय' भागवत सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग है । शङ्कराचार्य के वेदान्तसिद्धान्त का तिरस्कार करता हुआ यह मत उपनिषदों के प्राचीन ब्रह्मवाद पर विश्वास रखता है । इसके अनुसार सगुण भगवान् को वैष्णव लोग उपनिषदों के ब्रह्मतुल्य बतलाते हैं और कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व उसी में है तथा वह सभी अच्छे गुणों से युक्त है । सभी पदार्थ तथा आत्मा उसी से उत्पन्न हुए हैं तथा वह अन्तर्यामी रूप में सभी वस्तुओं में व्याप्त है ।

(२) यह ईश्वर का एक विशेषण है । हृदय में स्थित होकर जो इन्द्रियों को उनके कार्य में लगाता है वह अन्तर्यामी है । 'वेदान्तसार' के अनुसार विशुद्ध सत्त्वप्रधान ज्ञान से उपहित चैतन्य अन्तर्यामी कहलाता है :

अन्तराविश्य भूतानि यो बिभर्त्यात्मकेतुभिः ।
अन्तर्यामीश्वरः साक्षात् पातु नो यद्वशे स्फुटम् ।।

[प्राणियों के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर जो अपने ज्ञानरूपी केतु के द्वारा उनकी रक्षा करता है, वह साक्षात् ईश्वर अन्तर्यामी है । वह हम लोगों की रक्षा करे, जिसके वश में पूरा संसार है ।]

अन्तेवासी—वेदाध्ययनार्थ गुरु के समीप रहने वाला छात्र । अन्तेवासी ब्रह्मचारी गुरुगृह में रहकर विद्याभ्यास करता था और उसके योग-क्षेम की पूरी व्यवस्था गुरु अथवा आचार्य को करनी पड़ती थी ।

छान्दोग्य उपनिषद् (२.२३.१) के अनुसार ब्रह्मचारी को अन्तेवासी की तरह गुरुगृह में रहना पड़ता था । रुचिसाम्य एवं बुद्धिवैचित्र्य में आचार्य के तुल्य हो जाने पर बहुत से ब्रह्मचारी गुरुगृह में आजीवन रह जाते थे । उन्हें गुरुसेवा, गुरु-आज्ञाओं का पालन, समिधा जुटाना, गौओं को चराना आदि काम करने पड़ते थे ।

अन्त्यज—अन्त्य में उत्पन्न । संस्कृत (सभ्य) उपनिवेशों के बाहर जंगली और पर्वतीय प्रदेशों को अन्त्य कहते थे और वहाँ बसने वालों को अन्त्यज । धीरे-धीरे समाज की निम्नतम जातियों में ये लोग मिलते जाते थे । इनमें से कुछ की गणना इस प्रकार है :

रजकश्चर्मकारश्च नटो वरुड एव च ।
कैवर्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते अन्त्यजाः स्मृताः ।।

[धोबी, चर्मकार, नट, वरुड, कैवर्त, मेद, भिल्ल ये सात अन्त्यज कहे गये हैं ।]

आचार-विचार की अपवित्रता के कारण अन्त्यज अस्पृश्य भी माने जाते थे । इनके समाजीकरण का एक क्रम था, जिसके अनुसार इनका उत्थान होता था । सम्पर्क द्वारा पहले ये समाज में शूद्रवर्ण में प्रवेश पाते थे । शूद्र से सच्छूद्र, सच्छूद्र से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय और क्षत्रिय से ब्राह्मण—इस प्रकार अनेक पीढ़ियों में ब्राह्मण होने की प्रक्रिया वर्णोत्कर्ष के सिद्धान्त के अनुसार प्राचीन काल में मान्य थी । मध्ययुग में संकीर्णता तथा वर्जनशीलता के कारण इस प्रक्रिया में जड़ता आ गयी । अब नये ढंग से समतावादी सिद्धान्तों के आधार पर अन्त्यजों का समाजीकरण हो रहा है ।

अन्त्येष्टिसंस्कार—हिन्दू जीवन के प्रसिद्ध सोलह संस्कारों में से यह अंतिम संस्कार है, जिसके द्वारा मृत व्यक्ति की दाहक्रिया आदि की जाती है। अन्त्येष्टि का अर्थ है 'अंतिम यज्ञ'। दूसरे शब्दों में जीवन-यज्ञ की यह अन्तिम प्रक्रिया है। प्रथम पन्द्रह संस्कार ऐहिक जीवन को पवित्र और सुखी बनाने के लिए हैं। बौधायनपितृमेधसूत्र (३.१.४) में कहा गया है : 'जातसंस्कारेणेमं लोकमभिजयति मृतसंस्कारेणामुं लोकम्।' [जातकर्म आदि संस्कारों से मनुष्य इस लोक को जीतता है; मृतकसंस्कार (अन्त्येष्टि) से परलोक को।]

यह अनिवार्य संस्कार है। रोगी को मृत्यु से बचाने के लिए अथक प्रयास करने पर भी समय अथवा असमय में उसकी मृत्यु होती ही है। इस स्थिति को स्वीकार करते हुए बौधायन (पितृमेध सूत्र, ३३) ने पुनः कहा है :

जातस्य वै मनुष्यस्य ध्रुवं मरणमिति विजानीयात्।
तस्माज्जाते न प्रहृष्येन्मृते च न विषीदेत्।
अकस्मादागतं भूतमकस्मादेव गच्छति।
तस्माज्जातं मृतञ्चैव सम्पश्यन्ति सुचेतसः।

[उत्पन्न हुए मनुष्य का मरण ध्रुव है, ऐसा जानना चाहिए। इसलिए किसी के जन्म लेने पर न तो प्रसन्नता से फूल जाना चाहिए और न किसी के मरने पर अत्यन्त विषाद करना चाहिये। यह जीवधारी अकस्मात् कहीं से आता है और अकस्मात् कहीं चला जाता है। इसलिए बुद्धिमान् को जन्म और मरण को समान रूप से देखना चाहिए।]

तस्मान्मातरं पितरमाचार्यं पत्नीं पुत्रं शिष्यमन्तेवासिनं पितृव्यं मातुलं सगोत्रमसगोत्रं वा दायमुपयच्छेद्दहनं संस्कारेण संस्कुर्वन्ति॥

[इसलिए यदि मृत्यु हो ही जाय तो माता, पिता, आचार्य, पत्नी, पुत्र, शिष्य (अन्तेवासी), पितृव्य (चाचा), मातुल (मामा), सगोत्र, असगोत्र का दाय (दायित्व) ग्रहण करना चाहिए और संस्कारपूर्वक उसका दाह करना चाहिए।]

अन्त्येष्टिक्रिया की विधियाँ कालक्रम से बदलती रही हैं। पहले शव को वैसा ही छोड़ दिया जाता था या जल में प्रवाहित कर दिया जाता था। बाद में उसे किसी वृक्ष की डाल से लटका देते थे। आगे चलकर समाधि (गाड़ने) की प्रथा चली। वैदिक काल में जब यज्ञ की प्रधानता हुई तो मृत शरीर भी यज्ञाग्नि द्वारा ही दग्ध होने लगा और दाहसंस्कार की प्रधानता हो गयी ('ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः'—अथर्ववेद, १८.२.३४)। हिन्दुओं में शव का दाह संस्कार ही बहुप्रचलित है, यद्यपि किन्हीं-किन्हीं अवस्थाओं में अपवाद रूप से जल-प्रवाह और समाधि की प्रथा भी अभी जीवित है।

सम्पूर्ण अन्त्येष्टिसंस्कार को निम्नांकित खण्डों में बाँटा जा सकता है :

१. मृत्यु के आगमन के पूर्व की क्रिया
    क. सम्बन्धियों से अंतिम विदाई
    ख. दान-पुण्य
    ग. वैतरणी (गाय का दान)
    घ. मृत्यु की तैयारी
२. प्राग्-दाह के विधि-विधान
३. अर्थी
४. शवोत्थान
५. शवयात्रा
६. अनुस्तरणी (राजगवी : श्मशान की गाय)
७. दाह की तैयारी
८. विधवा का चितारोहण (कलि में वर्जित)
९. दाहयज्ञ
१०. प्रत्यावर्तन (श्मशान से लौटना)
११. उदककर्म
१२. शोकातों को सान्त्वना
१३. अशौच (सामयिक छूत : अस्पृश्यता)
१४. अस्थिसञ्चयन
१५. शान्तिकर्म
१६. श्मशान (अवशेष पर समाधिनिर्माण)। आजकल अवशेष का जलप्रवाह और उसके कुछ अंश का गङ्गा अथवा अन्य किसी पवित्र नदी में प्रवाह होता है।
१७. पिण्डदान (मृत के प्रेत जीवन में उसके लिए भोजन-दान)
१८. सपिण्डीकरण (पितृलोक में पितरों के साथ प्रेत को मिलाना)। यह क्रिया बारहवें दिन, तीन पक्ष के अन्त में अथवा एक वर्ष के अन्त में होती है। ऐसा विश्वास है कि प्रेत को पितृलोक में पहुँचने में एक वर्ष लगता है।

असामयिक अथवा असाधारण स्थिति में मृत व्यक्तियों

के अन्त्येष्टिसंस्कार में कई अपवाद अथवा विशेष क्रियाएँ होती हैं। आहिताग्नि, अनाहिताग्नि, शिशु, गर्भिणी, नवप्रसूता, रजस्वला, परिव्राजक-संन्यासी-वानप्रस्थ, प्रवासी और पतित के संस्कार विभिन्न विधियों से होते हैं।

हिन्दुओं में जीवच्छ्राद्ध की प्रथा भी प्रचलित है। धार्मिक हिन्दू का विश्वास है कि सद्‌गति (स्वर्ग अथवा मोक्ष) की प्राप्ति के लिए विधिपूर्वक अन्त्येष्टिसंस्कार आवश्यक है। यदि किसी का पुत्र न हो, अथवा यदि उसको इस बात का आश्वासन न हो कि मरने के पश्चात् उसकी सविधि अन्त्येष्टि क्रिया होगी, तो वह अपने जीतेजी अपना श्राद्धकर्म स्वयं कर सकता है। उसका पुतला बनाकर उसका दाह होता है। शेष क्रियाएँ सामान्य रूप से होती हैं। बहुत से लोग संन्यास आश्रम में प्रवेश के पूर्व अपना जीवच्छ्राद्ध कर लेते हैं।

अन्धक—(१) एक यदुवंशी व्यक्ति का नाम। यादवों के एक राजनीतिक गण का भी नाम अन्धक था। वृष्णिएक गणसंघ था :

सुदंष्ट्रं च सुचारुञ्च कृष्णमित्यन्धकास्त्रयः।
(हरिवंश)

[सुदंष्ट्र, सुचारु और कृष्ण ये तीन अन्धक गण के सदस्य कहे गये हैं।]

(२) एक असुर का नाम, जिसका वध शिव ने किया था।

अन्धकरिपु—अन्धक दैत्य के शत्रु अर्थात् शिव। श्लेष आदि अलंकारों में अन्धकार का नाश करने वाले सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा को भी अन्धकरिपु कहा गया है।

अन्नकूट—कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को अन्नकूट और गोवर्धन पूजा होती है। घरों और देवालयों में छप्पन प्रकार (अनेकों भाँति) के व्यञ्जन बनते हैं और उनका कूट (शिखर या ढेर) भगवान् को भोग लगता है। यह त्यौहार भारतव्यापी है। दूसरे दिन यमद्वितीया होती है। यमद्वितीया को सबेरे चित्रगुप्तादि चौदह यमों की पूजा होती है। इसके बाद ही बहिनों के घर भाइयों के भोजन करने की प्रथा भी है जो बहुत प्राचीन काल से चली आती है।

अन्नपूर्णा—शिव की एक पत्नी अथवा शक्ति, जो अपने उपासकों को अन्न देकर पोषित करती है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'अन्न अथवा खाद्यसामग्री से पूर्ण।' काशी में अन्नपूर्णा का प्रसिद्ध मंदिर है। ऐसा विश्वास है कि अन्नपूर्णा के आवास के कारण काशी में कोई व्यक्ति भूखा नहीं रहता।

अन्नप्राशन—एक संस्कार, जिसमें शिशु को प्रथम बार अन्न चटाया जाता है। छठे अथवा आठवें महीने में बालक का, पाँचवें अथवा सातवें महीने में बालिका का अन्नप्राशन होता है। प्रायः इसी समय शिशु को दाँत निकलते हैं, जो इस बात के द्योतक हैं कि अब वह ठोस अन्न खाकर पचा सकता है। सुश्रुत (शारीर स्थान, १०.६४) के अनुसार छठे महीने में शिशु को लघु (हलका) तथा हित (पोषणकारी) अन्न खिलाना चाहिए। मार्कण्डेय पुराण (वीरमित्रोदय, संस्कार काण्ड में उद्धृत) के अनुसार प्रथम बार शिशु को मधु-घी से युक्त खीर सोने के पात्र में खिलाना चाहिए (मध्वाज्यकनकोपेतं प्राशयेत् पायसन्तु तम्।)। संभवतः श्रीमन्तों के लिए यह विधान है।

अन्नप्राशन संस्कार के दिन सबसे पहले यज्ञीय पदार्थ वैदिक मन्त्रों के साथ पकाये जाते हैं। उनके तैयार होने पर अग्नि में एक आहुति निम्नांकित मन्त्र से डाली जाती है :

"देवताओं ने वाग्देवी को उत्पन्न किया है। उससे बहुसंख्यक पशु बोलते हैं। यह मधुर ध्वनि वाली अति प्रशंसित वाणी हमारे पास आये। स्वाहा

(पारस्कर गृह्यसूत्र, १.१९.२)

द्वितीय आहुति ऊर्ज्जा (शक्ति) को दी जाती है :

"आज हम ऊर्ज्जा प्राप्त करें।"

इन आहुतियों के पश्चात् शिशु का पिता चार आहुतियाँ निम्नलिखित मन्त्र से अग्नि में छोड़ता है :

"मैं उत्प्राण द्वारा भोजन का उपभोग कर सकूँ, स्वाहा! अपान द्वारा भोजन का उपभोग कर सकूँ, स्वाहा! नेत्रों द्वारा दृश्य पदार्थों का उपभोग कर सकूं, स्वाहा! श्रवणों द्वारा यश का उपभोग कर सकूँ, स्वाहा!"

(पारस्कर गृह्यसूत्र, १.१९.३)

इसके पश्चात् 'हन्त' शब्द के साथ शिशु को भोजन कराया जाता है।

अन्नम् भट्ट—न्याय-वैशेषिक का मिश्रित बालबोध ग्रन्थ रचनेवालों में अन्नम् भट्ट का नाम सादर लिया जाता है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'तर्कसंग्रह' बहुत प्रसिद्ध है।

अन्नमय कोष—उपनिषदों के अनुसार शरीर में आत्मतत्त्व पाँच आवरणों से आच्छादित है, जिन्हें 'पञ्चकोष' कहते हैं। ये है अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। यहाँ 'मय' का प्रयोग विकार अर्थ में किया गया है। अन्न (भुक्त पदार्थ) के विकार अथवा संयोग से बना हुआ कोष 'अन्नमय' कहलाता है। यह आत्मा का सबसे बाहरी आवरण है। पशु और अविकसित-मानव भी, जो शरीर को ही आत्मा मानता है, इसी धरातल पर जीता है। दे० 'कोष' तथा 'पञ्चकोष'।

अन्नाद्य—अथर्ववेद तथा ऐतरेय ब्राह्मण में उद्धृत 'वाजपेय यज्ञ' एक प्रकार के राज्यारोहण का ही अङ्ग बताया गया है। किन्तु इसके उद्देश्य के बारे में विविध मत हैं। इसके विविध उद्देश्यों में से एक 'अन्नाद्य' है, जैसा कि शाङ्खायन के मत से प्रकट है। अधिक भोजन (अन्न) की इच्छा वाला इस यज्ञ को करता है। 'वाजपेय' का अर्थ उन्होंने भोजन-पान माना है।

अन्यपूर्वा—जिसके पूर्व में अन्य है वह कन्या। वचन आदि के द्वारा एक को विवाहार्थ निश्चित किये जाने के बाद किसी अन्य के साथ विवाहित स्त्री को अन्यपूर्वा कहते हैं। ये सात प्रकार की होती हैं :

सप्तपौनर्भवाः कन्या वर्जनीयाः कुलाधमाः।
वाचा दत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमङ्गला ॥
उदकस्पर्शिता या च या च पाणिगृहीतिका।
अग्निं परिगता या तु पुनर्भू प्रसवा च या ॥
इत्येताः काश्यपेनोक्ता दहन्ति कुलमग्निवत् ॥

(उद्वाहतत्त्व)

[सात पुनर्भवा कन्याएँ कुल में अधम मानी गयी हैं। इनके साथ विवाह नहीं करना चाहिए। वचन से, मन से, विवाह मङ्गल रचाकर, जलस्पर्श पूर्वक, हाथ पकड़ कर, अग्नि की प्रदक्षिणा करके पहले किसी को दी गयी तथा एक पति को छोड़कर दुबारा विवाह करने वाली स्त्री से उत्पन्न कन्या—ये अग्नि के समान कुल को जला देती हैं। ऐसा काश्यप ने कहा है।

अन्वयार्थप्रकाशिका—यह 'संक्षेप शारीरक' के ऊपर स्वामी रामतीर्थ लिखित टीका है। इसका रचनाकाल सत्रहवीं शताब्दी है।

अपराजितासप्तमी—भाद्र शुक्ल सप्तमी को इसका व्रत प्रारम्भ किया जाता है। इसमें एक वर्ष तक सूर्य-पूजन होता है। भाद्र शुक्ल की सप्तमी को अपराजिता कहा जाता है। चतुर्थी को एक समय भोजन पञ्चमी को रात्रि में भोजन तथा षष्ठी को उपवास करके सप्तमी को पारण होना है। दे० कृत्यकल्पतरु, व्रतकाण्ड, १३२-१३५, हेमाद्रि का व्रतखण्ड, ६६७-६६८।

अपराजिता—युद्ध में अपराजिता अर्थात् दुर्गा। दशमी (विशेष कर आश्विन शुक्ल पक्ष की दशमी) को अपराजिता की पूजा का विधान है :

दशम्यां च नरैः सम्यक् पूजनीयापराजिता।
मोक्षार्थं विजयार्थञ्च पूर्वोक्त विधिना नरैः ॥
नवमी शेष युक्तायां दशम्यामपराजिता।
ददाति विजयं देवी पूजिता जयवर्द्धिनी ॥

[मोक्ष अथवा विजय के लिए मनुष्य पूर्वोक्त विधि से दशमी के दिन अपराजिता देवी की अच्छे प्रकार से पूजा करे। वह दशमी नवमी से युक्त होनी चाहिए। इस प्रकार करने पर जय को बढ़ाने वाली देवी विजय प्रदान करती है।]

अपराजिता दशमी—आश्विन शुक्ल दशमी को यह व्रत होता है। विशेषतः राजा के लिए इसका विधान है। हेमाद्रि तथा स्मृतिकौस्तुभ के अनुसार श्री राम ने उसी दिन लंका पर आक्रमण किया था। उस दिन श्रवण नक्षत्र था। इसमें देवीपूजा होती है। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, पृष्ठ ९६८ से ९७३।

अपराधशत व्रत—मार्गशीर्ष द्वादशी से इसका प्रारम्भ होता है। इसमें विष्णु की पूजा होती है। सौ अपराधों की गणना भविष्योत्तर पुराण (१४६.६-२१) में पायी जाती है। उपर्युक्त अपराध इस व्रत से नष्ट हो जाते हैं।

अपरोक्षानुभूति—(१) बिना किसी बौद्धिक माध्यम के साक्षात् ब्रह्मज्ञान हो जाने को ही अपरोक्षानुभूति कहते हैं।

(२) 'अपरोक्षानुभूति' शङ्कराचार्य के लिखे फुटकर ग्रन्थों में से एक है। इस पर माधवाचार्य ने बहुत सुन्दर टीका लिखी है जिसका नाम अपरोक्षानुभूतिप्रकाश है।

अपर्णा—जिसने तपस्या के समय में पत्ते भी नहीं खाये, वह पार्वती अपर्णा कही गयी है। यह दुर्गा का ही पर्याय है :

स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।

तदप्यपाकीर्णमितः प्रियंवदाम् ।
वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ॥

(कुमारसम्भव)

[स्वयं गिरे हुए पत्तों का भक्षण करना, यह तपस्वियों के लिए तपस्या की अन्तिम सीमा है। किन्तु पार्वती ने उन गिरे हुए पत्तों का भी भक्षण नहीं किया। अतः उसे विद्वान् लोग अपर्णा कहते हैं ।]

अपवर्ग—(१) संसार से मुक्ति मानवजीवन के चार पुरुषार्थों-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-में से अन्तिम मोक्ष अपवर्ग कहलाता है।

(२) इसका एक अर्थ फलप्राप्ति या समाप्ति भी है :
क्रियापवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः ।

(किरातार्जुनीय)

[क्रिया की सफल समाप्ति हो जाने पर पुरस्कार रूप में सेवकों को दी गयी सम्पत्ति दुर्योधन की कृतज्ञता को प्रकट करती है ।]

अपविद्ध—धर्मशास्त्र में वर्णित बारह प्रकार के पुत्रों में एक। स्मृतियों ने इसकी स्थिति एवं अधिकार के बारे में प्रकाश डाला है। मनु (९.१७१) कहते हैं कि अविपद्ध अपने माता-पिता द्वारा त्यागा हुआ पुत्र है। मनु के पुराने भाष्यकार मेधातिथि का कथन है कि इस पुत्रत्याग का कारण परिवार की अधिक गिरी दशा अथवा पुत्र के द्वारा किया हुआ कोई जघन्य अपराध होता था। ऐसे त्यागे हुए बालक पर द्रवित हो यदि कोई उसे पालता था तो उसका स्थान दूसरी श्रेणी के पुत्रों जैसा घटकर होता था। आजकल का पालित पुत्र उन्हीं प्राचीन प्रयोगों की स्मृति दिलाता है।

अपात्र—दान देने के लिए अयोग्य व्यक्ति। इसको कुपात्र अथवा असत्पात्र भी कहते हैं :

'अपात्रे पातयेद्दत्तं सुवर्णं नरकार्णवे'

(मलमासतत्त्व)

[अपात्र को दिया गया सुवर्णदान दाता को नरकरूपी समुद्र में गिरा देता है ।]

अपापसङ्क्रान्ति व्रत—यह व्रत संक्रान्ति के दिन प्रारम्भ होकर एक वर्षपर्यन्त चलता है। इसके देवता सूर्य हैं। इसमें श्वेत तिल का समर्पण किया जाता है। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, २.७२८-७४० ।

अपुनर्भव—पुनर्जन्म न होने की स्थिति। इसको मुक्ति, कैवल्य अथवा पुनर्जन्म का अभाव भी कहते हैं। मानव के चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में यह अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

अपूर्व—जो यज्ञादिक क्रियाएँ की जाती हैं, शास्त्रों में उनके बहुत से फल भी बतलाये गये हैं। किन्तु ये फल क्रिया के अन्त के साथ ही दृष्टिगोचर नहीं होते। कृत कर्म आत्मा में उस अदृश्य शक्ति को उत्पन्न करते हैं जो समय आने पर वेदविहित फल देती है। इस विचार की व्याख्या करते हुए पूर्वमीमांसा में कहा गया है कि धर्म आत्मा में अपूर्व नामक गुण उत्पन्न करता है जो स्वर्गीय सुख एवं मोक्ष का कारण है। कर्म और उसके फल के बीच में अपूर्व एक अदृश्य कड़ी है। विशेष विवरण के लिए दे० 'मीमांसादर्शन' ।

अप्नवान—ऋग्वेद (यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुः ।४.७.१) में अप्नवान का उल्लेख भृगुओं के साथ हुआ है। लुडविग अप्नवान के भृगुकुल में उत्पन्न होने का अनुमान लगाते हैं।

अप्पण्णाचार्य—एक प्रसिद्ध वेदान्ती टीकाकार। तैत्तिरीयोपनिषद् के बहुत से भाष्य एवं वृत्तियाँ हैं। इनमें शङ्कराचार्य का भाष्य तो प्रसिद्ध है ही; आनन्दतीर्थ, रङ्गरामानुज, सायणाचार्य ने भी इस उपनिषद् के भाष्य लिखे हैं। अप्पण्णाचार्य, व्यासतीर्थ और श्रीनिवासाचार्य ने आनन्दतीर्थकृत भाष्य की टीका की है।

अप्पय दीक्षित—स्वामी शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित अद्वैत सम्प्रदाय की परम्परा में जो उच्च कोटि के विद्वान् हुए हैं उनमें अप्पय दीक्षित भी बहुत प्रसिद्ध हैं। विद्वत्ता की दृष्टि से इन्हें वाचस्पति मिश्र, श्रीहर्ष एवं मधुसूदन सरस्वती के समकक्ष रखा जा सकता है। ये एक साथ ही आलङ्कारिक, वैयाकरण एवं दार्शनिक थे। इन्हें 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

इनका जीवन काल सं० १६०८-१६८० वि० है। इनके पितामह आचार्य दीक्षित एवं पिता रङ्गराजाध्वरि थे। ऐसे पण्डितों का वंशधर होने के कारण इनमें अद्भुत प्रतिभा का विकास होना स्वाभाविक ही था। पिता और पितामह के संस्कारानुसार इन्हें अद्वैतमत की शिक्षा मिली थी। तथापि ये परम शिवभक्त थे। अतः शैवसिद्धान्त के लिए ग्रन्थ रचना करने में भी इनकी रुचि थी। तदनुसार

इन्होंने 'शिवतत्त्वविवेक' आदि पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। इसी समय नर्मदा तीरनिवासी नृसिंहाश्रम स्वामीने इन्हें अपने पिता के सिद्धान्त का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने परिमल, न्यायरक्षामणि एवं सिद्धान्तलेश नामक ग्रन्थों की रचना की।

अप्पय दीक्षित अपने पितामह के समान ही विजयनगर के राजाओं के सभापण्डित थे। कुछ काल तक भट्टोजि-दीक्षित के साथ इन्होंने काशी में निवास किया था। अप्पय दीक्षित शिवभक्त थे एवं भट्टोजि वैष्णव, तो भी दोनों का सम्बन्ध अतिमधुर था। दोनों ही शास्त्रज्ञ थे। अतः उनकी दृष्टि में वस्तुतः शिव और विष्णु में कोई भेद नही था। शिवभक्त होते हुए भी इनकी रचनाओं में विष्णुभक्ति का प्रमाण मिलता है। कई स्थानों पर इन्होंने भक्तिभाव से विष्णु की वन्दना की है।

इनके ग्रन्थों से सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है। मीमांसा के तो ये धुरन्धर पण्डित थे। इनकी 'शिवार्कमणिदीपिका' नाम की पुस्तक में इनका मीमांसा, न्याय, व्याकरण एवं अलङ्कार शास्त्र सम्बन्धी प्रगाढ़ पाण्डित्य पाया जाता है। इन्होंने अद्वैतवादी होकर भी श्रीकण्ठसम्प्रदायानुसार 'शिवार्कमणिदीपिका' में विशिष्टाद्वैत के पक्ष का पूर्णतया समर्थन किया है। इसी प्रकार शांकर सम्प्रदाय के समर्थन में विरचित 'सिद्धान्तलेश' में अद्वैत सिद्धान्त की पूर्णतया रक्षा की है तथा अद्वैतवादी, आचार्यों के मतभेदों का दिग्दर्शन कराया है। आचार्यों के एकजीववाद, नाना जीववाद, विम्ब प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद एवं साक्षित्व आदि विषयों में बहुत मतभेद हैं। उन सबका स्पष्टतया अनुभव कर दीक्षितजी ने अपना विचार प्रकट किया है। इनके लिखे हुए ग्रन्थों के नाम यहाँ दिये जाते हैं—

१. कुवलयानन्द २. चित्रमीमांसा ३. वृत्तिवार्तिक ४. नामसंग्रहमाला (व्याकरण) ५. नक्षत्रवादावली वा पाणिनितन्त्रवादनक्षत्रमाला ६. प्राकृतचन्द्रिका (मीमांसा) ७. चित्रपुट ८. विधिरसायन ९. सुखोपजीवनी १०. उपक्रमपराक्रम ११. वादनक्षत्रमाला (वेदान्त) १२. परिमल १३. न्यायरक्षामणि १४. सिद्धान्तलेश १५. मतसारार्थसंग्रह (शाङ्कर सिद्धान्त) १६. न्यायमञ्जरी (माध्वमत) १७. न्यायमुक्तावली (रामानुजमत) १८. नियमयूथमालिका (श्रीकण्ठमत) १९. शिवार्कमणिदीपिका २०. रत्नत्रयपरीक्षा (शैवमत) २१. मणिमालिका २२. शिखरिणीमाला २३. शिवतत्त्वविवेक शिवतर्कस्तव २५. ब्रह्मतर्कस्तव २६. शिवार्चनचन्द्रिका २७. शिवध्यानपद्धति २८. आदित्यस्तवरत्न २९. मध्वतन्त्रमुखमर्दन ३०. यादवाभ्युदय व्याख्या। इसके अतिरिक्त शिवकर्णामृत, रामायणतात्पर्यसंग्रह, शिवाद्वैतविनिर्णय, पञ्चरत्नस्तव और उसकी व्याख्या, शिवानन्दलहरी, दुर्गाचन्द्रकलास्तुति और उसकी व्याख्या, कृष्णध्यानपद्धति और उसकी व्याख्या तथा आत्मार्पण आदि निबन्ध भी इनकी उत्कृष्ट कृतियाँ है।

अप्पर—सातवीं, आठवीं तथा नवीं शताब्दियों में तमिल प्रदेश में शैव कवियों का अच्छा प्रचार था। सबसे पहले तीन के नाम आते हैं, जो प्रत्येक दृष्टि से वैष्णव आलवारों के समानान्तर ही समझे जा सकते है। इन्हें दूसरे धार्मिक नेताओं की तरह 'नयनार' कहते है, किन्तु अलग से उन्हें 'तीन' की संज्ञा से जाना जाता है। उनके नाम हैं—नान सम्बन्धर, अप्पर एवं सुन्दरमूर्ति। पहले दो का उद्भव सप्तम शताब्दी में तथा अन्तिम का आठवीं या नवीं शताब्दी में हुआ। आलवारों के समान ये भी गायक कवि थे जो शिव की भक्ति में पगे हुए थे। ये एक मन्दिर से दूसरे में घूमा करते थे, अपनी रची स्तुतियों को गाते थे तथा नटराज व उनकी प्रिया उमा की मूर्ति के चारों ओर आत्मविभोर हो नाचते थे। इनके पीछे-पीछे लोगों का दल भी चला करता था। इन्होंने पुराणों के परम्परागत शैव सम्प्रदाय की भक्ति का अनुसरण किया है।

अप्रतिरथ—विपक्ष के महारथियों को हरानेवाला पराक्रमी वीर, जिसके रथ के सामने दूसरे का रथ न ठहर सके अर्थात् युद्ध में जिसका कोई जोड़ न हो। यह एक ऋषि का भी नाम है। ऐतरेय (८.१०) तथा शतपथब्राह्मण (९.२.३.१५) में इन्हें ऋग्वेद के एक सूक्त (१०.१०३) का द्रष्टा बतलाया गया है, जिसमें इन्द्र की स्तुति अजेय योद्धा के रूप में की गयी है।

अप्सरा—अप्सरस् शब्द का सम्बन्ध जल से है (अप्‌जल)। किन्तु गन्धर्वों की स्त्रियों को अप्सरा कहते हैं, जो अपने अलौकिक सौन्दर्य के कारण स्वर्ग की नृत्यांगना कहलातीं हैं। वे इन्द्र की सभा से भी सम्बन्धित थीं। जो ऋषि

अपनी घोर तपस्या के कारण इन्द्र के सिंहासन के अधिकार की चेष्टा करते थे, उन्हें इन्द्र इन्हीं अप्सराओं के द्वारा पथभ्रष्ट किया करता था । स्वर्ग की प्रधान अप्सराओं के कुछ नाम हैं तिलोत्तमा, रम्भा, उर्वशी, वृताची, मेनका आदि ।

अपान—श्वास से सम्बन्ध रखने वाले सभी शब्द 'अन्' धातु से बनते हैं जिनका अर्थ है श्वास लेना अथवा प्राणवायु का नासिकारन्ध्रों से ग्रहण-विसर्जन करना । इसका लैटिन समानार्थक 'अनिमस' तथा गाथ समानार्थक 'उसनन' है । श्वास-क्रिया का प्रधान शब्द जो उपर्युक्त धातु से बना है, वह है 'प्राण' (प्रपूर्वक अन) । इसके अन्तर्गत पाँच शब्द आते हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान । 'प्राण' दो प्रणालियों का द्योतक है, वायु का ग्रहण करना तथा निकालना । किन्तु प्रधानतया इसका अर्थ ग्रहण करना ही है, तथा 'अपान' का अर्थ वायु का छोड़ना 'निश्वास' है । प्राण तथा अपान द्वन्द्वसमास के रूप में अधिकतर व्यवहृत होते हैं । कहीं-कहीं अपान का अर्थ श्वास लेना एवं प्राण का अर्थ निश्वास है । विश्व की किसी भी जाति ने श्वासप्रणाली की भौतिक एवं आध्यात्मिक उपादेयता पर उतना ध्यान नहीं दिया जितना प्राचीन भारतवासियों ने दिया । उन्होंने इसे एक विज्ञान माना तथा इसका प्रयोग यौगिक एवं याज्ञिक कर्मों में किया । आज भी यह कला भारतभू पर प्राणवान् है । दे० 'प्राण' ।

अपान्तरतमा—महाभारत से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तत्त्वज्ञान के पहले आचार्य अपान्तरतमा थे । यथा—

'अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते ।' यहाँ वेद का अर्थ वेदान्त है । अपान्तरतमा की कथा इस प्रकार है :

नारायण के आह्वान करने पर सरस्वती से उत्पन्न हुआ अपान्तरतमा नाम का पुत्र सामने आ खड़ा हुआ । नारायण ने उसे वेद की व्याख्या करने की आज्ञा दी । उसने आज्ञानुसार स्वायम्भुव मन्वन्तर में वेदों का विभाग किया । तब भगवान् ने उसे वर दिया कि 'वैवस्वत मन्वन्तर में भी वेद के प्रवर्तक तुम ही होगे । तुम्हारे वंश में कौरव उत्पन्न होंगे । उनकी आपस में कलह होगी और वे संहार के लिए तैयार होंगे । तब तुम अपने तपोबल से वेदों का विभाग करना । वसिष्ठ के कुल में पराशर ऋषि से तुम्हारा जन्म होगा ।' इस कथा से स्पष्ट है कि इस ऋषि ने वेदों का विभाग किया । वेदान्तशास्त्र के आदि प्रवर्तक भी यही ऋषि हैं । वेदान्तशास्त्र पर इनका पहले कोई ग्रन्थ रहा हो, ऐसा भी सम्भव है । भगवद्गीता में कहा हुआ 'ब्रह्मसूत्र' इन्हीं का हो सकता है, क्योंकि बादरायण के ब्रह्मसूत्र गीता के बहुत बाद के हैं । उनकी चर्चा तो गीता में हो ही नहीं सकती ।

अपांनपात्—ऋग्वेद के सूक्तों (७.४७, ४.९७ एवं १०.९,३०) में आपः अथवा आकाश के जल की स्तुति है । किन्तु कदाचित् पृथ्वी के जल को भी इसमें सम्मिलित समझा गया है । आपः का स्थान सूर्य के पार्श्व में है । वरुण उसके बीच घूमते हैं । इन्द्र ने अपने वज्र से खोदकर उनकी नहर तैयार की है । 'अपांनपात्' जल का पुत्र है, जो अग्नि का विद्युत्रूप है, क्योंकि वह बिना ईंधन के चमकता है ।

अपूप—हवन-सामग्री की एक वस्तु, जिसका ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में प्रायः उल्लेख हुआ है । प्राचीन काल में रोट, मिठाइयों, भुने व तले अन्नों का यज्ञों में हवन किया जाता था । वेदों में देवों को यज्ञ में अपूप (पूप) देने का निर्देश है । आज भी छोटे-छोटे ग्रामदेवालयों में रोट, दूध व फूल देवता पर चढ़ाये जाते हैं । शिव को रोट व पिण्ड दिया जाता है । प्राचीन हिन्दुओं के पाक्षिक यज्ञों में चावल को पकाकर उसका गोला बनाया जाता था, फिर उसे कई टुकड़ों में काटकर उस पर घी छिड़ककर अग्नि में हवन किया जाता था । ये पिण्ड के टुकड़े भिन्न-भिन्न देवों के नाम पर अग्नि में दिये जाते थे जिनमें अग्नि भी एक देवता होता था । यह सारी क्रिया परिवार का स्वामी करता था । अवशेष टुकड़ों को परिवार के सदस्य श्रद्धापूर्वक (प्रसाद के रूप में) ग्रहण करते थे ।

अभङ्ग—महाराष्ट्र के प्रधान तीर्थ पण्ढरपुर में विष्णु की पूजा बिट्ठल अथवा बिठोबा के नाम से की जाती है । वहाँ मन्दिर में जाने वाले यात्री एक प्रकार के पद गाते हैं जिन्हें अभङ्ग कहते हैं । ये अभङ्ग लोकभाषा में रचे गये हैं, संस्कृत में नहीं । मुक्ताबाई (१३०० ई०), तुकाराम तथा नामदेव (१४२५ ई०) के अभङ्ग प्रसिद्ध हैं ।

अभय—भय का अभाव, अथवा जिसे भय नहीं है । राजा के लिए अभयदान सबसे बड़ा धर्म कहा गया है :

नातः परतरो धर्मो नृपाणां यद् रणार्जितम् ।
विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाभयं सदा ॥
(याज्ञवल्क्य)

[राजाओं के लिए इससे बढ़कर कोई धर्म नहीं है कि वे युद्ध में प्राप्त धन ब्राह्मणों को दें तथा प्रजा को सदा के लिए अभय दान दे दें ।]

अभयतिलक—न्यायदर्शन के एक आचार्य । इन्होंने 'न्याय-वृत्ति' की रचना की है ।

अभिक्रोशक—पुरुषमेध का एक बलि पुरुष । कदाचित् इसका अर्थ 'दूत' है । भाष्यकार महीधर ने इसका अर्थ 'निन्दक' बताया है ।

अभिचार—शत्रु को मारने के लिए किया जानेवाला प्रयोग । अथर्ववेद में कहे गये मन्त्र-यन्त्र आदि द्वारा किया गया मारण, उच्चाटन आदि हिंसात्मक कार्य अभिचार कहलाता है । वह छः प्रकार का है : (१) मारण, (२) मोहन, (३) स्तम्भन, (४) विद्वेषण, (५) उच्चाटन और (६) वशीकरण । यह एक उपपातक है । श्येन आदि यज्ञों से अनपराधी को मारना पाप है ।

अभिनवनारायण—शङ्कराचार्य द्वारा ऐतरेय एवं कौषीतकि उपनिषदों पर लिखे गये भाष्यों पर अनेक पण्डितों ने टीकाएँ लिखी हैं, जिनमें से एक अभिनवनारायण भी हैं ।

अभिनिवेश—मन का संयोग-विशेष । इसके कई अर्थ हैं—मनोनिवेश, आवेश, शास्त्र आदि में प्रवेश आदि । मरण की आशंका से उत्पन्न भय के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है । इसकी गणना पञ्च क्लेशों में है :

अविद्यास्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ।
(योगदर्शन) ।

आसक्ति, अनुराग और अभिलाष के लिए भी यह शब्द प्रयुक्त होता है । 'बलीयान् खलु मे अभिनिवेशः ।'
(अभिज्ञानशाकुन्तल)

[मेरा अनुराग बहुत बलवान् है ।] दे० 'पञ्चक्लेश' ।

अभिप्रश्नी—तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं वाजसनेयी संहिता में वर्णित पुरुषमेध यज्ञ की बलिसूची में 'अभिप्रश्नी' का उल्लेख हुआ है । यह शब्द 'प्रश्नी' के बाद एवं 'प्राश्नविवेक' के पहले उद्धृत है । भाष्यकार सायण एवं महीधर ने इसे केवल जिज्ञासु के अर्थ में लिया है । किन्तु यहाँ इस शब्द से कुछ वैधानिकता का बोध होता है । न्यायालय में वाद उपस्थित करने वाले को प्रश्नी (प्रश्निन्), प्रतिवादी को अभिप्रश्नी (अभिप्रश्निन्) और न्यायाधीश को प्राश्नविवेक कहा जाता था ।

अभिशाप—किसी अपराध के लिए क्रोध उत्पन्न होने पर रुष्ट व्यक्ति द्वारा अनिष्ट कथन करना । ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध एवं सिद्धों के अनिष्टकारक वचनों को शाप कहा जाता है :

यस्याभिशापाद् दुःखार्तो दुःखं विन्दति नैषधः ।
(नलोपाख्यान)

[जिसके शाप से दुःखपीडित नल कष्ट पा रहा है ।]

अभिश्री—यह शब्द उस दूध का बोध कराता है जो यज्ञ में सोमरस के साथ आहुति देने के पूर्व मिलाया जाता था ।

अभिषेक—मन्त्रपाठ के साथ पवित्र जल-सिंचन या स्नान । यजुर्वेद, अनेक ब्राह्मणों एवं चारों वेदों की श्रौत क्रियाओं में हम अभिषेचनीय कृत्य को राजसूय के एक अंग के रूप में पाते हैं । ऐतरेय ब्राह्मण में तो अभिषेक ही मुख्य विषय है । धार्मिक अभिषेक व्यक्ति अथवा वस्तुओं की शुद्धि के रूप में विश्व की अति प्राचीन पद्धति है । अन्य देशों में अनुमान लगाया जाता है कि अभिषेक रुधिर से होता था जो वीरता का सूचक समझा जाता था । शतपथ ब्राह्मण (५.४.२.२) के अनुसार इस क्रिया द्वारा तेजस्विता एवं शक्ति व्यक्ति विशेष में जागृत की जाती है ।

ऐतरेय ब्राह्मण का मत है कि यह धार्मिक कृत्य साम्राज्य-शक्ति की प्राप्ति के लिए किया जाता था । महाभारत में युधिष्ठिर का अभिषेक दो बार हुआ था, पहला सभापर्व की (३३.४५) दिग्विजयों के पश्चात् अधिकृत राजाओं की उपस्थिति में राजसूय के एक अंश के रूप में तथा दूसरा भारत युद्ध के पश्चात् । महाराज अशोक का अभिषेक राज्यारोहण के चार वर्ष बाद एवं हर्ष शीलादित्य का अभिषेक भी ऐसे ही विलम्ब से हुआ था । प्रायः सम्राटों का ही अभिषेक होता था । इसके उल्लेख बृहत्कथा, क्षेमेन्द्र (१७), सोमदेव (१५.११०) तथा अभिलेखों में (एपिग्राफिया इंडिका, १.४.५.६) पाये जाते हैं । साधारण राजाओं के अभिषेक के उदाहरण कम ही प्राप्त हैं, किन्तु स्वतन्त्र होने की स्थिति में ये भी अपना अभिषेक कराते थे । महाभारत (शा० प०) राजा के अभिषेक को किसी भी देश के लिए आवश्यक बतलाता है । युवराजों के अभिषेक के उदाहरण भी पर्याप्त प्राप्त होते हैं, यथा राम के 'यौवराज्यभिषेक' का रामायण में विशद वर्णन है, यद्यपि

यह राम के अन्तिम राज्यारोहण के समय ही पूर्ण हुआ है। यह पुष्याभिषेक का उदाहरण है। अथर्ववेद परिशिष्ट (४), वराहमिहिर की बृहत्संहिता (४८) एवं कालिकापुराण (८९) में बताया गया है कि यह संस्कार चन्द्रमा तथा पुष्य नक्षत्र के संयोग काल (पौषमास) में होना चाहिए।

अभिषेक मन्त्रियों का भी होता था। हर्षचरित में राजपरिवार के सभासदों के अभिषेक (मूर्धाभिषिक्ता अमात्या राजानः) एवं पुरोहितों के लिए 'बृहस्पतिसव' का उल्लेख है। मूर्त्तियों का अभिषेक उनकी प्रतिष्ठा के समय होता था। इसके लिए दूध, जल (विविध प्रकार का), गाय का गोबर आदि पदार्थों का प्रयोग होता था।

बौद्धों ने अपनी दस भूमियों में से अन्तिम का नाम 'अभिषेकभूमि' अथवा पूर्णता की अवस्था कहा है। अभिषेक का अर्थ किसी भी धार्मिक स्नान के रूप में अग्निपुराण में किया गया है।

अभिषेक की सामग्रियों का वर्णन रामायण, महाभारत, अग्निपुराण एवं मानसार में प्राप्त है। रामायण एवं महाभारत से पता चलता है कि वैदिक अभिषेक संस्कार में तब यथेष्ट परिवर्तन हो चुका था। अग्निपुराण का तो वैदिक क्रिया से एकदम मेल नहीं है। तब तक बहुत से नये विश्वास इसमें भर गये थे, जिनका शतपथब्राह्मण में नाम भी नहीं है। अभिषेक के एक दिन पूर्व राजा की शुद्धि की जाती थी, जिसमें स्नान प्रधान था। यह निश्चय ही वैदिकी दीक्षा के समान था, यथा (१) मन्त्रियों की नियुक्ति, जो पहले अथवा अभिषेक के अवसर पर की जाती थी; (२) राज्य के रत्नों का चुनाव, इसमें एक रानी, एक हाथी, एक श्वेत अश्व, एक श्वेत वृषभ, एक अथवा दो; श्वेत छत्र, एक श्वेत चमर (३) एक आसन (भद्रासन, सिंहासन, भद्रपीठ, परमासन) जो सोने का बना होता था तथा व्याघ्रचर्म से आच्छादित रहता था; (४) एक या अनेक स्वर्णपात्र जो विभिन्न जलों, मधु, दुग्ध, घृत, उदुम्बरमूल तथा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं से परिपूर्ण होते थे। मुख्य स्नान के समय राजा रानी के साथ आसन पर बैठता था और केवल राजपुरोहित ही नहीं अपितु अन्य मन्त्री, सम्बन्धी एवं नागरिक आदि भी उसको अभिषिक्त करते थे। संस्कार इन्द्र की प्रार्थना के साथ पूरा होता था जिससे राजा को देवों के राजा इन्द्र के तुल्य समझा जाता था। राज्यारोहण के पश्चात् राजा उपहार वितरण करता था एवं पुरोहित तथा ब्राह्मण दक्षिणा पाते थे। अग्निपुराण एवं मानसार के अनुसार राजा नगर की प्रदक्षिणा द्वारा इस क्रिया को समाप्त करता था। अग्निपुराण इस अवसर पर बन्दियों की मुक्ति का भी वर्णन करता है, जैसा कि दूसरे शुभ अवसरों पर भी होता था।

अभिषेचनीय—दे० 'अभिषेक'।

अभीष्ट तृतीया—यह व्रत मार्गशीर्ष शुक्ल तृतीया को प्रारंभ होता है। इसमें गौरीपूजन किया जाता है। दे० स्कन्द पुराण, काशीखण्ड, ८३. १-१८।

अभीष्ट सप्तमी—किसी भी मास की सप्तमी को यह व्रत किया जा सकता है। इसमें पाताल, पृथ्वी, द्वीपों तथा सागरों का पूजन होता है। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, १. ७९१।

अभेदरत्न—वेदान्त का एक प्रकरण-ग्रन्थ जिसकी रचना सोलहवीं शताब्दी में दाक्षिणात्य विद्वान् श्री मल्लनाराध्य ने की थी।

अ(भ्य)व्यङ्गसप्तमी—श्रावण शुक्ल सप्तमी। इसका कृत्य प्रत्येक वर्ष मनाया जाता है, जिसमें सूर्य को 'अव्यङ्ग' समर्पित किया जाता है। कृत्यकल्पतरु के व्रतकाण्ड (पृ० १५०) में अव्यङ्ग की व्याख्या इस प्रकार की गयी है : ''सफेद सूत के धागे से साँप की केंचुली के समान पोला अव्यङ्ग बनाया जाय। इसकी लम्बाई अधिक से अधिक १२२ अंगुल, मध्यम रूप से १२० अथवा कम से कम १०८ अंगुल होनी चाहिए।'' इसकी तुलना आधुनिक पारसियों द्वारा पहनी जाने वाली 'कुस्ती' से की जा सकती है। दे० भविष्यपुराण (ब्राह्मपर्व), १११. १-८ (कृत्यकल्पतरु के व्रतकाण्ड में उद्धृत); हेमाद्रि, व्रत-खण्ड, जिल्द प्रथम, ७४१-७४३; व्रतप्रकाश (पत्रात्मक ११६)। भविष्यपुराण (ब्राह्म०) १४२. १-२९ में हमें अव्यङ्गोत्पत्ति की कथा दृष्टिगोचर होती है। इसके अठारहवें पद्य में 'सारसनः' शब्द आता है जो हमें 'सारचेन' (एक बाहरी जाति) की स्मृति दिलाता है। 'अव्यङ्गाख्य व्रत' के लिए दे० नारदपुराण १. ११६, २९-३१।

लगता है कि संस्कृत का अव्यङ्ग शब्द पारसी 'अवेस्ता' के 'ऐव्यङ्घन' का परिवर्तित रूप है। अवेस्ता के शब्द का अर्थ है 'कटिसूत्र', मेखला या करधनी। भविष्य पुराण के १६वें श्लोक में जो 'जदि राना' के प्रसंग में अव्यङ्ग शब्द आया है, वह लगता है, उन पारसी लोगों का कटि-

सूत्र ही है जो स्थानान्तरित होकर भारत आये थे और अपनी कमर पर ऊनी 'कुश्ती' सद्र नाम के वस्त्र पर बाँधते थे। पारसियों की 'कुश्ती' के दोनों छोर सर्प की मुखाकृति के होते हैं जिसमें बराबर की दूरी रखते हुए गाँठें लगायी जाती हैं। दे० एम० एम० मुरजबान की 'पारसीज इन इण्डिया', प्रथम जिल्द, पृष्ठ ९३। प्रतीत होता है कि सूर्य की यह पूजा यहाँ पर ईरान से आयी अथवा पारसियों की दैनिक चर्या से गृहीत हुई। वराहमिहिर की बृहत्संहिता (५९. १९) में लिखा है कि सूर्य के पुजारी या तो मग लोग हों अथवा शाकद्वीपीय ब्राह्मण। दे० इण्डियन एण्टिक्विटी, जिल्द आठवीं, पृ० ३२८ तथा कृष्णदास मिश्र का 'मग व्यक्ति'।

अभ्युत्थान—किसी अतिथि के आगमन पर संमानार्थ उठने की क्रिया :

> अलमलमभ्युत्थानेन, ननु सर्वस्याभ्यागतो गुरुरिति भवानेवास्माकं पूज्यः। (नागानन्द)
>
> [आप न उठिए। अभ्यागत निश्चय ही सबका गुरु होता है, आप ही हम लोगों के पूज्य हैं।]

अमङ्गल—जिससे शुभ नहीं होता। बहुत से अशुभसूचक पदार्थ अमाङ्गलिक माने जाते हैं। विवाह आदि उत्सव, यात्रा तथा किसी भी कार्यारम्भ के समय अमङ्गल को बचाया जाता है।

अमरकण्टक—मध्य प्रदेश का एक पवित्र और प्रसिद्ध तीर्थ स्थान। इसका शाब्दिक अर्थ है (अमर + कण्टक) 'देवताओं का शिखर'। यह विलासपुर जिले में मेकल की शृंखला पर स्थित है। यहीं पर नर्मदा का उद्गम है, जिसके कारण नर्मदा 'मेकल सुता' कहलाती है। प्रतिवर्ष सहस्रों तीर्थयात्री अमरकण्टक से चलकर नर्मदा के किनारे-किनारे खंभात की खाड़ी तक परिक्रमा करने जाते हैं जहाँ नर्मदा समुद्र में मिलती है।

अमरकण्टक मध्यभारत का जलविभाजक है। यहाँ से सोन उत्तरपूर्व की ओर, महानदी पूर्व की ओर और नर्मदा पश्चिम की ओर बहती है। आज भी अमरकण्टक जनाकीर्ण प्रदेशों से अलग एकान्त में स्थित है। अतः इसकी पवित्रता अधिक सुरक्षित है। कुछ विद्वानों के अनुसार मेघदूत (१. १७) का आम्रकूट यही है। मार्कण्डेय पुराण (अ० १७) में इसको सोम पर्वत अथवा सुरथाद्रि कहा गया है। मत्स्यपुराण (२२-२८) कुरुक्षेत्र से भी अधिक पवित्रता अमरकण्टक को प्रदान करता है। दे० 'नर्मदा'।

अमरदास—सिक्खों के दस गुरुओं में इनका तीसरा क्रम है। ये गुरु अङ्गद के पश्चात् गद्दी पर बैठे। इन्होंने बहुत से भजन लिखे हैं जो 'गुरुग्रन्थ साहब' में संगृहीत हैं।

अमरनाथ—कश्मीर का प्रसिद्ध शैव तीर्थ, जो हिमालय की भैरव घाटी शृंखला में स्थित है। समुद्रस्तर से १६००० फुट की ऊँचाई पर पर्वत में यहाँ लगभग १६ फुट लम्बी, २५ से ३० फुट चौड़ी और १५ फुट ऊँची प्राकृतिक गुफा है। उसमें हिम के प्राकृतिक पीठ पर हिमनिर्मित प्राकृतिक शिवलिङ्ग है। यह धारणा सच नहीं है कि यह शिवलिङ्ग अमावस्या को नहीं रहता और शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से बनता हुआ पूर्णिमा को पूर्ण हो जाता है तथा कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से क्रमशः घटता है। पूर्णिमा से भिन्न तिथियों में यात्रा करके इसे देख लिया गया है कि ऐसी कोई बात नहीं है। हिमनिर्मित शिवलिङ्ग जाड़ों में स्वतः बनता है और बहुत मन्दगति से घटता है परन्तु कभी पूर्ण लुप्त नहीं होता। अमरनाथगुफा में एक गणेशपीठ तथा एक पार्वतीपीठ हिम से बनता है। अवश्य ही अमरनाथ की एक अद्भुत विशेषता है कि यह हिमलिङ्ग तथा पीठ ठोस पक्की बरफ का होता है, जबकि गुफा के बाहर मीलों तक सर्वत्र कच्ची बरफ मिलती है।

अमरनाथगुफा से नीचे सिन्धु की एक सहायक नदी अमरगंगा का प्रवाह है। यात्री इसमें स्नान करके गुफा में जाते हैं। सवारी के घोड़े अधिकतर एक या आध मील दूर ही रुक जाते हैं। अमरगङ्गा से लगभग दो फर्लांग ऊपर गुफा में जाना पड़ता है। गुफा में जहाँ-तहाँ बूँद-बूँद करके जल टपकता है। कहा जाता है कि गुफा के ऊपर पर्वत पर रामकुण्ड है और उसी का जल गुफा में टपकता है। गुफा के पास एक स्थान से सफेद भस्म-जैसी मिट्टी निकलती है, जिसे यात्री प्रसाद स्वरूप लाते हैं। गुफा में वन्य कबूतर भी दिखाई देते हैं। यदि वर्षा न होती हो, बादल न हों, धूप निकली हो तो गुफा में शीत का कोई भी अनुभव नहीं होता। प्रत्येक दशा में इस गुफा में यात्री अनिर्वचनीय अद्भुत सात्विकता तथा शान्ति का अनुभव करता है।

अमरलोक खण्डधाम—स्वामी चरणदास कृत 'अमरलोक

खण्डधाम' अठारहवीं शताब्दी का एक वैष्णव योगमत का ग्रन्थ है।

अमलानन्द—आचार्य अमलानन्द का प्रादुर्भाव दक्षिण भारत में हुआ। वे यादव राजा महादेव और रामचन्द्र के समसामयिक थे। देवगिरि के राजा महादेव ने वि० सं० १३१७-१३२८ तक शासन किया। वि० सं० १३५४ में रामचन्द्र पर अलाउद्दीन ने आक्रमण किया था। अमलानन्द ने अपने ग्रन्थ 'वेदान्तकल्पतरु' में ग्रन्थ रचना के काल के विषय में जो कुछ लिखा है, उससे मालूम होता है कि दोनों राजाओं के समय में ग्रन्थ लिखा गया था। जान पड़ता है कि अमलानन्द तेरहवीं शताब्दी के अन्त में हुए और उनका ग्रन्थ वि० सं० १३५४ के पूर्व लिखा गया था, क्योंकि उसमें अलाउद्दीन के आक्रमण का उल्लेख नहीं मिलता। वे देवगिरि राज्य के अन्तर्गत किसी स्थान में रहते थे। उनके जन्मस्थान आदि के विषय में कुछ नहीं मालूम होता। उनके गुरु का नाम अनुभवानन्द था।

अमलानन्द अद्वैतमत के समर्थक थे। उनके लिखे तीन ग्रन्थ मिलते हैं : पहला 'वेदान्तकल्पतरु' है जिसमें वाचस्पति मिश्र की 'भामती' टीका की व्याख्या की गयी है। यह भी अद्वैत मत का प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है और बाद के आचार्यों ने इससे भी प्रमाण ग्रहण किया है। दूसरा है 'शास्त्रदर्पण'। इसमें ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों की व्याख्या की गयी है। तीसरा ग्रन्थ है 'पञ्चपादिका दर्पण'। यह पद्मपादाचार्य की 'पञ्चपादिका' की व्याख्या है। इन तीनों ग्रन्थों की भाषा प्राञ्जल और भाव गम्भीर हैं।

अमरावती—(१) जिस नगरी में देवता लोग रहते हैं। इसे इन्द्रपुरी भी कहते हैं। इसके पर्याय हैं—(१) पूषभासा, (२) देवपूः, (३) महेन्द्रनगरी, (४) अमरा और (५) सुरपुरी।

(२) सीमान्त प्रदेश (पाकिस्तान) में जलालाबाद से दो मील पश्चिम नगरहार। फाहियान इसको 'नेकिये-लोहो' कहता है। पालि साहित्य की अमरावती यही है। कोण्डण्ण बुद्ध के समय में यह नगर अठारह 'ली' विस्तृत था। यहीं पर उनका प्रथम उपदेश हुआ था।

(३) अमरावती नामक स्तूप, जो दक्षिण भारत के कृष्णा जिले में बेजवाड़ा से पश्चिम और धरणीकोट के दक्षिण कृष्णा के दक्षिण तट पर स्थित है। हुयेनसांग का पूर्व शैल संघाराम यही है। यह स्तूप ३७०-३८० ई० में आन्ध्रभृत्य राजाओं द्वारा निर्मित हुआ था। दे० जर्नल ऑफ् रायल एशियाटिक सोसायटी, जिल्द ३, पृ०, १३२०।

अमा—चन्द्रमण्डल की सोलहवीं कला :

> अमा षोडशभागेन देवि प्रोक्ता महाकला।
> संस्थिता परमा माया देहिनां देहधारिणी॥
>
> (स्कन्द पुराण, प्रभास खण्ड)

[हे देवी, चन्द्रमा की सोलह कलाओं से युक्त आधारशक्ति रूप, क्षय एवं उदय से रहित, नित्य फूलों की माला के समान सबमें गुँथी हुई अमा नाम की महाकला कही गयी है।]

अमावस्या—कृष्ण पक्ष की अन्तिम तिथि। इस तिथि में चन्द्रमा तथा सूर्य एक साथ रहते हैं। यह चन्द्रमण्डल की पन्द्रहवीं कला रूप है अथवा उस क्रिया से उपलक्षित काल है। सूर्य और चन्द्रमा का जो परस्पर मिलन होता है उसे अमावस्या कहते हैं (गोभिल)। उसके पर्याय हैं : अमावास्या, दर्श, सूर्यचन्द्र-संगम, पञ्चदशी, अमावसी, अमावासी, अमामसी, अमामासी। जिस अमावस्या की चन्द्रकला दिखाई दे वह 'सिनीवाली' और जिसकी चन्द्रकला न दिखाई दे वह 'कुहू' कहलाती है।

अमावस्यापयोव्रत—यह व्रत प्रत्येक अमावस्या को केवल दुग्ध पान के साथ किया जाता है और एक वर्ष तक चलता है। इसमें विष्णु-पूजन होता है। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, २, २५४।

अमावस्याव्रत—कूर्मपुराण के अनुसार यह शिवजी का व्रत है। पुराणों के अनुसार अमावस्या यदि सोम, मङ्गल या गुरु को पड़े, साथ ही अनुराधा, विशाखा एवं स्वाति नक्षत्रों के साथ हो, तो विशेष पवित्र समझी जाती है। अमावस्या एवं प्रतिपदा के योग से अमावस्या तथा चतुर्दशी का योग अच्छा समझा जाता है।

अमृत—जिससे मरण नहीं होता। इसके पीने वालों की मृत्यु नहीं होती, इसीलिए इसे अमृत कहते हैं। यह समुद्र से निकला हुआ, देवताओं के पीने योग्य तथा अमरत्व प्रदान करने वाला द्रव्य विशेष है। महाभारत में अमृत की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार है : "जिस समय राजा पृथु के भय से पृथ्वी गो बन गयी उस समय देवताओं ने इन्द्र को बछड़ा बनाकर सोने के पात्र में अमृत रूप दूध दुहा। वह दुर्वासा के शाप से समुद्र में चला गया। इसके अनन्तर समुद्र के मन्थन द्वारा अमृत से पूर्ण कलश को

लेकर धन्वन्तरि बाहर आये।" उसके पर्याय हैं पीयूष, सुधा, निर्जर, समुद्रनवनीतक। जल, घृत, यज्ञशेष द्रव्य, अयाचित वस्तु, मुक्ति और आत्मा को भी अमृत कहते हैं।

मध्ययुगीन तान्त्रिक साधनाओं में अमृत की पर्याप्त खोज हुई। वह रसरूप माना गया। पीछे उसके हठयोग-परक अर्थ किये गये। सिद्धों ने उसे महासुख अथवा सहजरस माना। तान्त्रिक क्रियाओं में वारुणी (मदिरा) इसका प्रतीक है। चन्द्रमा से जो अमृत झरता है उसे हठयोग में सच्चा अमृत कहा गया है। सन्तों ने तान्त्रिकों की वारुणी का निषेध कर हठयोगियों के सोमरस को स्वीकार किया। वैष्णव भक्तों ने भक्ति को ही रसायन अथवा अमृत माना।

अमृतबिन्दु उपनिषद्—परवर्ती छोटी उपनिषदें, जो प्रायः दैनन्दिन जीवन की आचार नियमावली सदृश हैं, दो समूहों में बाँटी जा सकती हैं—एक संन्यासपरक और दूसरा योगपरक। अमृतबिंदु उपनिषद् दूसरी श्रेणी में में आती है तथा चूलिका का अनुसरण करती है।

अमृतसर—भारत के प्रसिद्ध तीर्थों में इसकी गणना है। सिक्ख संप्रदाय का तो यह प्रमुख तीर्थ और नगर है। यह वर्तमान पंजाब के पश्चिमोत्तर में लाहौर से बत्तीस मील पूर्व स्थित है। अमृतसर का अर्थ है 'अमृत का सरोवर।' यह प्राचीन पवित्र स्थल था, परन्तु सिक्ख गुरुओं के संपर्क से इसका महत्त्व बहुत बढ़ा। यहाँ सरोवर के बीच में सिक्ख धर्म का स्वर्णमंदिर है। सिक्ख परम्परा के अनुसार सर्वप्रथम गुरु नानक (१४६९-१५३८ ई०) ने यहाँ यात्रा की। तृतीय गुरु अमरदास भी यहाँ पधारे। सरोवर का विस्तार चतुर्थ गुरु रामदास के समय में हुआ। पंचम गुरु अर्जुन (१५८८ ई०) के समय देवालयों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। परवर्ती गुरुओं का ध्यान इधर आकृष्ट नहीं हुआ। बीच-बीच में मुसलमान आक्रमणकारियों ने इस स्थान को कई बार ध्वस्त और भ्रष्ट किया। किन्तु सिक्ख धर्मावलम्बियों ने इसकी पवित्रता सुरक्षित रखी और इसका पुनरुद्धार किया। १७६६ ई० में वर्तमान मंदिर का पुनः निर्माण हुआ। फिर इसका उत्तरोत्तर शृंगार और विस्तार होता गया।

नगर में पाँच सरोवर हैं—अमृतसर, संतोषसर, रायसर, विवेकसर तथा कमलसर (कौलसर)। इनमें अमृतसर प्रमुख है, जिसके बीच में स्वर्णमंदिर स्थित है। इस मंदिर को 'दरबार साहब' (गुरु का दरबार) भी कहते हैं। दशम गुरु गोविंदसिंह ने गुरु का पद समाप्त कर उसके स्थान पर 'ग्रन्थ साहब' की प्रतिष्ठा की। 'ग्रन्थ साहब' ही इसमें पधराये जाते है। प्रतिदिन अकालबुंगा से 'ग्रन्थ साहब' यहाँ विधिवत् लाये जाते और रात्रि को वापस किये जाते है। इस तीर्थ में हरि की पौड़ी, अड़सठ तीर्थ, दुखभंजन बेरो आदि अन्य पवित्र स्थान है। जलियान वाला बाग में जनरल ओडायर द्वारा किये गये नरमेध के कारण अमृतसर राष्ट्रीय तीर्थ भी बन गया है। गुरु नानक विश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात् यह प्रसिद्ध शिक्षाकेन्द्र के रूप में भी विकसित हो रहा है।

अमृतानुभव—महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त और नाथ सम्प्रदाय के आचार्य श्री ज्ञानेश्वर कृत त्रयोदश शताब्दी का मराठी पद्य में रचित, यह अद्वैत शैव दर्शन का अनूठा ग्रन्थ है।

अमृताहरण—गरुड़। वे अपनी माता विनता को सपत्नी की दासता से मुक्त करने के लिए सब देवताओं को जीतकर और अमृत की रक्षा करने वाले यन्त्रों को भी लाँघकर स्वर्ग से अमृत ले आये थे। पुराणों में यह कथा विस्तार से वर्णित है।

अम्बरनाथ—कोङ्कण प्रदेश स्थित शैव तीर्थ। यहाँ शिलाहार नरेश माम्बाणि का बनवाया, कोङ्कण प्रदेश का सबसे प्राचीन, मंदिर है। इस मन्दिर की कला उत्कृष्ट है। अम्बरनाथ शिव का दर्शन करने दूर-दूर से बहुत लोग आते हैं।

अम्बुवाची—वर्षा के सूचक लक्षणों से युक्त भूमि। पृथ्वी के दैवी रूप के दो पहलू हैं; एक उदार दूसरा विकराल। उदार पक्ष में देवी सभी जीवधारियों की माता और भोजन देने वाली कही जाती है। इस पक्ष में वह अनेकों नामों से पुकारी जाती है, यथा भूदेवी, धरतीमाता, वसुन्धरा, अम्बुवाची, वसुमती, ठकुरानी आदि।

अम्बा भवानी—अम्बा भवानी की पूजा महाराष्ट्र में १७ वीं शताब्दी में अधिक प्रचलित थी। गोन्धल नामक नृत्य देवी के सम्मान में होता था तथा देवी सम्बन्धी गीत भी साथ साथ गाये जाते थे।"

अम्बिका—शिवपत्नी पार्वती के अनेकों नाम तथा स्वरूप हैं। हिन्दू विश्वासों में उनका स्थान शिव से कुछ ही घटकर है, किन्तु अर्धनारीश्वर रूप में हम उन्हें शिव की

समानता के पद पर पाते हैं। देवी, उमा, पार्वती, गौरी, दुर्गा, भवानी, काली, कपालिनी, चामुण्डा आदि उनके विविध गुणों के नाम हैं। इनका 'कुमारी' नाम कुमारियों का प्रतिनिधित्व करता है। वैसे ही इनका 'अम्बिका' (छोटी माता) नाम भी प्रतिनिधित्वसूचक ही है।

अम्बिकेय—अम्बिका का अपत्य पुरुष। कार्तिकेय, गणेश, धृतराष्ट्र। (पाणिनि के अनुसार आम्बिकेय।)

अम्बुवाचीव्रत—सौर आषाढ़ में जब सूर्य आर्द्रा नक्षत्र के प्रथम चरण में हो इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है। दे० वर्षकृत्यकौमुदी, २८३; भोज का राजमार्त्तण्ड।

अयम् आत्मा ब्रह्म—'यह आत्मा ही ब्रह्म है'—सिद्धान्त वाक्य। यह बृहदारण्यकोपनिषद् (२.५.१९) का मन्त्र है और उन महावाक्यों में से एक है जो उपनिषदों के केन्द्रीय विषय आत्मा और परमात्मा के अभेद पर प्रकाश डालते हैं।

अयन—काल-विभाजन में 'अवसर्पिणी' एवं 'उपसर्पिणी' अर्थ दो अयनों का है। यह सूर्य के छः मास उत्तर रहने से (उत्तरायण) तथा छः मास दक्षिण रहने से (दक्षिणायन) बनता है। प्रत्येक भाग के छः मासों का अर्थ एक अयन होता है।

अयनव्रत—अयन सूर्य की गति पर निर्भर होते हैं। इनमें अनेक व्रतों का विधान है। अयन दो हैं—उत्तरायण तथा दक्षिणायन। ये क्रमशः शान्त तथा क्रूर धार्मिक पूजाओं के लिए उपयुक्त हैं। दक्षिणायन में मातृदेवताओं की प्रतिमाओं के अतिरिक्त भैरव, वराह, नरसिंह, वामन तथा दुर्गादेवी की प्रतिमाओं की स्थापना होती है। दे० कृत्यरत्नाकर, २१८; हेमाद्रि, चतुर्वर्गचिन्तामणि, १६; समयमयूख, १७३।

अयास्य आङ्गिरस—इस ऋषि का नाम ऋग्वेद के दो परिच्छेदों में उल्लिखित है तथा इन्हें अनुक्रमणी में अनेक मन्त्रों (९.४४.६; १०.६७-६८) का द्रष्टा कहा गया है। ब्राह्मण-परम्परा में ये उस राजसूय के उद्गाता थे, जिसमें शुनःशेप की बलि दी जानेवाली थी। इनके उद्गीथ (सामगान) दूसरे स्थानों में उद्धृत हैं। कई ग्रन्थों में इन्हें यज्ञक्रियाविधान का मान्य अधिकारी (पञ्चविंश ब्रा० १४.३, २२;१२, ४; ११.८, १०; बृ० उ० १.३. ८, १९, २४; कौ० ब्रा० ३०.६) बतलाया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् की वंशावली में अयास्य-आङ्गिरस को आभूति त्वाष्ट्र का शिष्य बताया गया है।

अयोगू—वाजसनेयी संहिता में उद्धृत शिल्पकारों के साथ यह शब्द आया है, जिसका अर्थ संभवतः लोहार है। यह मिश्रित जाति (शूद्र पिता व वैश्य माता से उत्पन्न) का सदस्य हो सकता है। वेबर ने इसका अर्थ दुश्चरित्र स्त्री लगाया है, जब कि जिमर इसे भ्रातृहीन लड़की मानते हैं।

अयोध्या—सरयूतट पर बसी अति प्राचीन नगरी। यह इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की राजधानी एवं भगवान् राम का जन्मस्थान है। भारतवर्ष की सात पवित्र पुरियों में इसका प्रथम स्थान है :

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥
(ब्रह्मपुराण, ४.४०.९१; अग्निपुराण, १०९.२४)

यह मुख्यतः वैष्णव तीर्थ है। तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस की रचना लोकभाषा अवधी में यहीं प्रारम्भ की थी। यहाँ अनेक वैष्णव मन्दिर हैं, जिनमें रामजन्मस्थान, कनकभवन, हनुमानगढ़ी आदि प्रसिद्ध हैं।

स्कन्दपुराण (१.५४.६५) के अनुसार इसका आकार मत्स्य के समान है। इसका विस्तार एक योजन पूर्व, एक योजन पश्चिम, एक योजन सरयू के दक्षिण और एक योजन तमसा के उत्तर है। तीर्थकल्प (अ० ३४) के अनुसार यह बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी है। योगिनीतन्त्र (२४ पृ०, १२८-२९) में भी इसका उल्लेख है। इसके अनुसार यह बारह योजन लम्बी और तीन योजन चौड़ी है। यह प्राचीन कोसल की राजधानी थी, जिसकी स्थापना मनु ने की थी।

जैन तीर्थङ्कर आदिनाथ का जन्म यहों हुआ था। बौद्ध साहित्य का साकेत यही है। टालेमी ने 'सुगद' और हुयेनसांग ने 'अयुते' नाम से इसका उल्लेख किया है (वैटर्स : युवा-च्वांग्स् ट्रैवेल्स इन इण्डिया, पृ० ३५४)। विस्तृत वर्णन के लिए दे० डॉ० विमलचरण लाहा का अयोध्या पर निबन्ध (जेर्नल ऑफ गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, जिल्द १, पृ० ४२३-४४३)।

अरणि—यज्ञाग्नि उत्पन्न करने के लिए मन्थन करने वाली लकड़ी। घर्षण से उत्पन्न अग्नि को यज्ञ के लिए पवित्र माना जाता है। वास्तव में पार्थिव अग्नि भी मूल में वनों में घर्षण के द्वारा ही उत्पन्न हुई थी। यह मूल घटना अब तक यज्ञों के रूपक में सुरक्षित है।

अरण्य—आचार्य शङ्कर जैसे समर्थ दार्शनिक थे वैसे ही

वेदान्तमत के संन्यासियों के सम्प्रदाय के योग्य व्यवस्थापक भी। उन्होंने संन्यासियों को दस श्रेणियों में बाँटा था। इनमें से 'अरण्य' एक श्रेणी है। प्रत्येक श्रेणी का नाम उसके नेता के नाम से उन्होंने रखा था। एक श्रेणी के नेता अरण्य थे।

अरण्यद्वादशी—मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी अथवा कार्तिक, माघ, चैत्र अथवा श्रावण शुक्ल एकादशी को प्रातःकाल स्नान-ध्यान से निवृत्त होकर यह व्रतारम्भ किया जाता है। यह व्रत एक वर्षपर्यन्त चलता है। इसके देवता गोविन्द हैं। किन्हीं बारह सपत्नीक ब्राह्मणों, यतियों अथवा गृहस्थों को, जो सद्व्यवहारकुशल हों, उनकी पत्नियों सहित, अत्यन्त स्वादिष्ठ भोजन कराना चाहिए। दे० हेमाद्रि १, १०९१-१०९४। कुछ हस्तलिखित पोथियों में इसे 'अपरा द्वादशी' कहा गया है।

अरण्य-शिष्यपरम्परा—आचार्य शङ्कर की शिष्य परम्परा में एक उपनाम अरण्य है। उनके चार प्रधान शिष्य थे—पद्मपाद, हस्तामलक, सुरेश्वर और त्रोटक। इनमें प्रथम के दो शिष्य थे; तीर्थ और आश्रम। हस्तामलक के दो शिष्य थे; वन और अरण्य। सुरेश्वर के तीन शिष्य थे; गिरि, पर्वत और सागर। इसी प्रकार त्रोटक के तीन शिष्य थे; सरस्वती, भारती एवं पुरी। इस प्रकार चार मुख्य शिष्यों के सब मिलाकर दस शिष्य थे। इन्हीं दस शिष्य संन्यासियों के कारण इनका सम्प्रदाय 'दसनामी' कहलाया। शङ्कराचार्य ने चार मुख्य शिष्यों के चार मठ स्थापित किये, जिनमें उनके दस प्रशिष्यों की शिष्यपरम्परा चली आती है। चार मुख्य शिष्यों के प्रशिष्य क्रमशः शृंगेरी, शारदा, गोवर्द्धन और ज्योतिर्मठ के अधिकारी हैं। प्रत्येक दसनामी संन्यासी इन्हीं में से किसी न किसी मठ से सम्बन्धित रहता है। यद्यपि दसनामी ब्रह्म या निर्गुण उपासक प्रसिद्ध हैं पर उनमें से बहुतेरे शैव मत की दीक्षा लेते हैं। शङ्कर स्वामी के शिष्य संन्यासियों ने बौद्ध संन्यासियों की तरह भ्रमण कर सनातन धर्म के जागरण में बड़ी सहायता पहुँचायी।

अरण्यषष्ठी—जेष्ठ शुक्ल षष्ठी को इसका व्रत किया जाता है। राजमार्त्तण्ड (श्लोक सं० १३३६) के अनुसार स्त्रियाँ हाथों में पंखे तथा तीर लेकर जंगलों में घूमती हैं। गदाधरपद्धति, पृष्ठ ८३ के अनुसार यह व्रत ठीक वैसे ही है जैसे स्कन्दषष्ठी। इस तिथि पर विन्ध्यवसिनी देवी तथा स्कन्द भगवान् की पूजा की जाती है। व्रती लोगों को अपनी संतति के स्वास्थ्य की आशा से कमलदण्डों अथवा कन्द-मूलों का आहार करना चाहिए। दे० कृत्यरत्नाकर, १८४; वर्षकृत्यकौमुदी, २७९।

अरण्यानी—अरण्यानी (वनदेवी) का वर्णन ऋग्वेद (१०. १४६) में प्राप्त होता है। वहाँ वनदेवी या वनकुमारी को, जो वन की निःशब्दता तथा एकान्त का प्रतीक है, सम्बोधित किया गया है। वह लज्जालु एवं भयभीत है तथा वन की भूलभुलैया में अपना पथ खो चुकी है। वह तबतक हानिप्रद नहीं है, जब तक कि कोई वन के बाहड़ प्रदेशों में प्रवेश करने तथा देवी के बच्चों (जंगली जन्तुओं) को छेड़ने का दुस्साहस न करे। वन में रात को जो एक हजार एक भयावनी ध्वनियाँ होती हैं उनका यहाँ विविधता से वर्णन है।

अरुण—सूर्य का सारथि। यह विनता का पुत्र और गरुड का जेष्ठ भ्राता है।

पौराणिक कल्पना के अनुसार यह पंगु (पाँवरहित) है। प्रायः सूर्यमन्दिरों के सामने अरुण-स्तम्भ स्थापित किया जाता है।

इसका भौतिक आधार है सूर्योदय के पूर्व अरुणिमा (लाली)। इसी का रूपक है अरुण।

अरुण औपवेशि गौतम—तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् में अरुण औपवेशि गौतम को सर्वगुण सम्पन्न अध्यापक (आचार्य) बतलाया गया है। इनका पुत्र प्रसिद्ध उद्दालक आरुणि था। वह उपवेश का शिष्य तथा राजकुमार अश्वपति का समसामयिक था, जिसकी संगति द्वारा उसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ।

अरुणोदय—रात्रि के अन्तिम प्रहर का अर्ध भाग। दे० हेमाद्रि, काल पर चतुर्वर्गचिन्ताणणि, २५९, २७२; कालनिर्णय, २४१। इस काल का उपयोग सन्ध्या, भजन, पूजन आदि में करना चाहिए।

अरुन्धती—वसिष्ठपत्नी, इसका पर्याय है अक्षमाला। भागवत के अनुसार अरुन्धती कर्दममुनि की महासाध्वी कन्या थी। आकाश में सप्तर्षियों के मध्य वसिष्ठ के पास अरुन्धती का तारा रहता है। जिसकी आयु पूर्ण हो चुकी है, वह इसको नहीं देख पाता :

दीपनिर्वाणगन्धञ्च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम् ।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ।।

[दीपक बुझने की गन्ध, मित्रों के वचन और अरुन्धती तारे को व्यतीत आयु वाले न सूँघते, न सुनते और न देखते हैं ।]

विवाह में सप्तपदी गमन के अनन्तर वर मन्त्र का उच्चारण करता हुआ बधू को अरुन्धती का दर्शन कराता है । अरुन्धती स्थायी विवाह सम्बन्ध का प्रतीक है ।

अरुन्धतीव्रत—इसका विधान केवल महिलाओं के लिए है । वैधव्य से मुक्ति तथा सन्तान की प्राप्ति के लिएं यह व्रत किया जाता है । इसमें वसन्त ऋतु प्रारम्भ होने के तीसरे दिन व्रतारम्भ और तीन रात्रि तक उपवास होता है । अरुन्धती देवी का पूजन इसमें मुख्य क्रिया है । दे० हेमाद्रि, व्रत काण्ड, २, ३१२-३१५, व्रतराज, ८९-९३ ।

अर्कव्रत—मास के दोनों पक्षों में षष्ठी तथा सप्तमी के दिन केवल रात्रि में भोजन किया जाता है । यह व्रत एक वर्ष पर्यन्त चलता है । इसमें अर्क (सूर्य) का पूजन करना चाहिए । दे० कृत्यकल्पतरु, ३८७; हेमाद्रि, २.५०९ ।

अर्कसप्तमी—यह तिथिव्रत है । दो वर्ष पर्यन्त यह व्रत चलता है, सूर्य देवता है । केवल अर्क के पौधे के पत्तों के बने दोनों में जलपान करना चाहिए । दे० हेमाद्रि, ७८८-७८९; पद्मपुराण, ७५, ८६-१०६ । यह व्रत सूर्य के उत्तरायण होने पर शुक्ल पक्ष में किसी रविवार को किया जाना चाहिए । पंचमी को एक समय और षष्ठी को रात्रि में भोजन, सप्तमी को उपवास तथा अष्टमी को व्रत का पारण करना चाहिए ।

अर्कसम्पुट सप्तमी—फाल्गुन शुक्ल सप्तमी को व्रतारम्भ । एक वर्ष पर्यन्त व्रत का पालन । इसमें सूर्य की पूजा का विधान है । दे० भविष्य पुराण, २१०, २–८१ ।

अर्काष्टमी—शुक्ल पक्ष की रविवासरीय अष्टमी को यह व्रत आचरणीय है । उमा तथा शिव की पूजा इसमें होनी चाहिए, जिनकी आँखों में सूर्य विश्राम करता है । दे० हेमाद्रि, ८३५-८३७ ।

अर्गलास्तोत्र—एक छोटा-सा दुर्गा स्तोत्र है । स्मार्तों की दक्षिणमार्गी शाखा के अनुयायी अपने घरों में साधारणतः यन्त्र के रूप में या कलश के रूप में देवी की स्थापना और पूजा करते हैं । पूजा में यन्त्र पर कुङ्कुम तथा पत्र-पुष्प चढ़ाते हैं । किन्तु देवी की पूजा का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है 'चण्डीपाठ' करना तथा उसके पूर्व एवं पश्चात् दूसरे पवित्र स्तोत्रों का पढ़ा जाना । उनके नाम हैं कीलक, कवच तथा अर्गलास्तोत्र । 'अर्गलास्तोत्र' मार्कण्डेय तथा वाराह पुराण से लिया गया है ।

अर्घ—वस्तुमूल्य और पूजाविधि । मनु के अनुसार :

कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ।
मणिमुक्ताप्रवालानां लौहानां तान्तवस्य च ।
गन्धानाञ्च रसानाञ्च विद्यादर्घबलाबलम् ।।

[क्रेय वस्तु के अनुसार मूल्य निश्चित करे । मूल्य का बीसवाँ भाग राजा ग्रहण कर ले । मणि, मोती, मूँगा, लोहे, तन्तु से निर्मित वस्तु, गन्ध एवं रसों के घटते-बढ़ते मूल्यों के अनुसार अपना भाग ले ।]

इस शब्द को साम के उद्गाता सर्वत्र गान में यकार सहित नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग करें । अन्य वेदों के लोगों को यकाररहित पुंल्लिङ्ग में प्रयोग करना चाहिए (श्राद्धतत्त्व) । दूर्वा, अक्षत, सर्षप, पुष्प आदि से रचित, देव तथा ब्राह्मण आदि के सम्मानार्थ पूजा-उपचार का यह एक भेद है । यथा उत्तररामचरित में :

'अये वनदेवतेयं फलकुसुमपल्लवार्घेण मामुपतिष्ठते ।'

[यह वनदेवता फल, पुष्प, पत्तों के अर्घ से मेरी पूजा कर रही है ।] इसी प्रकार मेघदूत में :

स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै ।

[कुटज के ताजे फूलों से उसने उसे अर्घ दिया ।]

अर्घ्य—पूजा के योग्य ('अर्घमर्हति' इस अर्थ में यत् प्रत्यय) । इसका सामान्य अर्थ है पूजार्थ दूर्वा, अक्षत, चन्दन, पुष्प जल आदि (अमरकोश) ।

मध्यकाल के धर्मग्रन्थों में इसका बड़ा विशद वर्णन मिलता है । वर्षकृत्यकौमुदी (पृ० १४२) के अनुसार समस्त देवी-देवताओं के लिए चन्दन लेप, पुष्प, अक्षत, कुशाओं के अग्रभाग, तिल, सरसों, दूर्वा का अर्घ्य में प्रयोग करना चाहिए । दे० हेमाद्रि, १४८; कृत्यरत्नाकर, २९६ ।

अर्चक—मन्दिरों में देवप्रतिमा की सेवा-पूजा करनेवाला पुजारी ।

अर्चन—पूजन । इसका माहात्म्य इस प्रकार कहा गया है :

धनधान्यकरं नित्यं गुरुदेवद्विजार्चनम् ।

[नित्यप्रति गुरु, देव, ब्राह्मण की पूजा धन-धान्य को देने वाली है ।]

यह नवधा भक्ति-प्रदर्शन का एक प्रकार है ।

अर्चा—देवता आदि की पूजा :

अर्चा चेद् विधितश्च ते वद तदा किं मोक्षलाभक्लमैः ।
(शिवशतक)

[हे शिव ! यदि आपकी विधिवत् पूजा की जाय तो फिर मोक्षप्राप्ति के लिए कष्ट उठाने से क्या लाभ है ।]

अर्चिष्मान्—अग्नि, सूर्य, प्रदीप्त, तेजविशिष्ट, प्रभावान्, स्वनामख्यात देवऋषिविशेष ।

अर्जुन (गुरु)—सिक्खों के गुरु अर्जुन अकबर के समकालीन थे । ये कवि एवं व्यावहारिक भी थे । इन्होंने अमृतसर का स्वर्णमन्दिर बनवाया और कबीर आदि अन्य भक्तों के भजनों का संग्रह कर ग्रन्थसाहब को पूरा किया । इसमें 'जपजी' का प्रथम स्थान है, तत्पश्चात् 'सोदरू' का । फिर रागों के अनुसार शेष रचना के विभाग किये गये हैं । इस प्रकार ग्रन्थसाहब ही नानकपंथियों का वेद बन गया है । दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने ''सब सिक्खन कूँ हुकुम है, गुरु मानियों ग्रन्थ'' यह फरमान निकाल कर गुरु नानक से चली आ रही गुरुपरम्परा अपने बाद समाप्त कर दी । अकबर के बाद जहाँगीर ने गुरु अर्जुन को बड़ी यातना दी, जिससे सिक्ख-मुसलमान संघर्ष की परम्परा प्रारम्भ हो गयी ।

अर्थ—विषय, याच्ञा, धन, कारण, वस्तु, शब्द से प्रतिपाद्य, निवृत्ति, प्रयोजन, प्रकार आदि । यह धन के अर्थ में विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है और त्रिवर्ग के अन्तर्गत दूसरा पुरुषार्थ है :

कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि
सिन्धोस्तटावोघवतः प्रवृद्धः ।
(कुमारसम्भव)

[नदी का वेग जैसे अपने दोनों तटों को काट देता है वैसे ही कहो किसके धर्म-अर्थ को नष्ट कर दूँ ।]

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठमेषां यथोत्तरम् ॥
(मनुस्मृति)

[तम का लक्षण काम है । रज का लक्षण अर्थ है । सत्त्व का लक्षण धर्म है । ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं ।]

अर्थ मानवजीवन का आवश्यक पुरुषार्थ है, किन्तु इसका अर्जन धर्मपूर्वक करना चाहिए ।

अर्थपञ्चक—पाँच निर्णयों का संग्रह, संक्षिप्त, संस्कृतगर्भ, तमिल में लिखा गया तेरहवीं शताब्दी के अन्त वा चौदहवीं के प्रारम्भ का एक ग्रन्थ । इसे श्रीवैष्णवसिद्धान्त का संक्षिप्त सार कहा जा सकता है । इसके रचयिता श्रीरङ्गम् शाखा के प्रमुख पिल्लई लोकाचार्य थे ।

अर्थवाद—प्राचीन काल में वेद अध्ययन करते समय विद्यार्थी अपने आचार्य से और भी व्यावहारिक शिक्षाएँ लेता था । जैसे वेदी की रचना, हविनिर्माण, याज्ञिककर्म आदि । इन क्रियाओं के आदेशवचन विधि कहलाते थे तथा उनकी व्याख्या करना अर्थवाद । बाद में अर्थवाद शब्द का व्यवहार प्रशंसा अथवा अतिरञ्जना के अर्थ में होने लगा । तब इसका तात्पर्य हुआ—लक्षणा के द्वारा स्तुति तथा निन्दा के अर्थ का वाद । वह तीन प्रकार का है—१. गुणवाद, २. अनुवाद तथा ३. भूतार्थवाद । कहा गया है :

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानावर्थवादस्त्रिधा मतः ॥

[विरोध में गुणवाद, अवधारित में अनुवाद, उनके अभाव में भूतार्थवाद, इस प्रकार अर्थवाद तीन प्रकार का होता है ।]

तत्त्वसम्बोधिनी के मत में यह सात प्रकार का है : १. स्तुति-अर्थवाद, २. फलार्थवाद, ३. सिद्धार्थवाद, ४. निन्दार्थवाद, ५. परकृति, ६. पुराकल्प तथा ७. मन्त्र । इनके उदाहरण वेद में पाये जाते हैं ।

विशेष्य-विशेषण के विरोध में समानाधिकरण न होने पर गुणवाद होता है । अर्थात् इसमें अङ्गरूप कथन से विरोध का परिहार किया जाता है । जैसे 'यजमान प्रस्तर है', यहाँ प्रस्तर का अर्थ मुट्ठीभर कुश है । उसका यजमान के साथ अभेदान्वय नहीं हो सकता, अतः यहाँ यजमान का कुशमुष्टि धारणरूप अर्थवाद का प्रकार गुणवाद माना जाता है । अन्य प्रमाण द्वारा सिद्ध अर्थ का पुनः कथन अवधारित कहलाता है । जैसे 'अन्तरिक्ष में अग्नि का चयन नहीं करना चाहिए', अन्तरिक्ष में अग्नि का चयन नहीं हो सकता यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, तो भी यहाँ उसका पुनः अनुवाद कर दिया गया है ।

विरोध और अवधारण के अभाव में भूतार्थवाद होता है, जैसे 'इन्द्र वृत्र का घातक है ।' भूतार्थवाद भी दो प्रकार का है—१. स्तुति-अर्थवाद और २. निन्दार्थवाद । जैसे, 'वह स्वर्ग को जाता है जो सन्ध्या-पूजन करता है' यह स्तुति-अर्थवाद है । 'पर्व के दिन मांस आदि का सेवन करने

वाला मल-मूत्र से भरे हुए नरक में जाता है' यह निन्दार्थवाद हुआ। दे० श्राद्धविवेक-टीका में श्रीकृष्ण तर्कालङ्कार।

अर्थशास्त्र—प्राचीन हिन्दू राजनीति का प्रसिद्ध ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र। यद्यपि यह धार्मिक ग्रन्थ नहीं है, किन्तु स्थान-स्थान पर इसमें तत्कालीन धर्म एवं नैतिकता का वर्णन विशद रूप से प्राप्त होता है। राज्य, विधान, अपराध एवं उसके दण्ड, सामाजिक एवं आर्थिक दशा (जो उस समय देश में व्याप्त थी) का इसमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण वर्णन है। तत्कालीन धर्माचरण का भी यह ग्रन्थ सर्वोत्तम प्रमाण है।

'अर्थशास्त्र' बहुत व्यापक शब्द है। इसमें समाजशास्त्र, दण्डनीति और सम्पत्तिशास्त्र तीनों का समावेश है। वार्ता अर्थात् व्यापार सन्बन्धी सभी बातें सम्पत्तिशास्त्र के विषय हैं। राजनीति सम्बन्धी सभी बातें दण्डनीति के विषय हैं। त्रयी में वर्णाश्रम विभाग और उनके सम्बन्ध में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विचार समाजशास्त्र का विषय है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इन सभी विषयों का समाहार है।

अर्धनारीश—अर्धाङ्गिनी पार्वती और उनके ईश शंकर का संयुक्त रूप। उनका ध्यान इस प्रकार बताया गया है :

नीलप्रवालरुचिरं विलसत्त्रिनेत्रं
पाशारुणोत्पलकपालकशूलहस्तम्।
अर्धाम्बिकेशमनिशं प्रविभक्तभूषम्
बालेन्दुबद्धमुकुटं प्रणमामि रूपम्॥

[नीले प्रवाल के समान सुन्दर, तीन नेत्रों से सुशोभित, हाथ में पाश, लाल कमल, कपाल और त्रिशूल लिये हुए, अङ्गों में भूषण धारण किये हुए, बालचन्द्रमा रूपी मुकुट पहने हुए शिव-पार्वती को मैं नमस्कार करता हूँ।]

अर्धनारीश्वर—आधे-आधे रूप से एक देह में संमिलित गौरी-शकर। यह शिव का एक रूप है। तिथ्यादितत्त्व में कथन है :

अष्टमी नवमीयुक्ता नवमी चाष्टमीयुता।
अर्धनारीश्वरप्राया उमामाहेश्वरी तिथिः॥

[अष्टमी नवमी से युक्त अथवा नवमी अष्टमी से युक्त हो, उसे अर्धनारीश्वरी या उमामाहेश्वरी तिथि कहते हैं।]

यह रूप शिव और शक्ति के मिलन का प्रतीक है। इसमें आधे पुरुष और आधी स्त्री का मिलन है। इससे आनन्द की उत्पत्ति होती है, और फिर सम्पूर्ण विश्व में इसकी अभिव्यक्ति।

अर्धलक्ष्मीहरि—आधे लक्ष्मी के आकार में तथा आधे हरि के आकार में जो हरि भगवान् हैं वे अर्धलक्ष्मीहरि हैं। यह विष्णु का एक स्वरूप है। गौतमीय तन्त्र में कथन है :

ऋषिः प्रजापतिश्छन्दो गायत्री देवता पुनः।
अर्धलक्ष्मीहरिः प्रोक्तः श्रीबीजेन षडङ्गकम्॥

[प्रजापति ऋषि, छन्द गायत्री, देवता अर्धलक्ष्मीहरि कहे गये हैं। श्री बीज के द्वारा षडङ्गन्यास होता है।]

यह प्रतीक अर्धनारीश्वर (शिव) के समानान्तर है। यह भी सत् और चित् के मिलन का रूपक है, जिससे आनन्द की सृष्टि होती है।

अर्धश्रावणिका व्रत—श्रावण शुक्ल प्रतिपदा को व्रतारम्भ करके एक मास पर्यन्त उसका अनुष्ठान करना चाहिए। पार्वती की, जिन्हें अर्द्धश्रावणी भी कहा जाता है, पूजा होनी चाहिए। व्रती को एक मास तक एक समय अथवा दोनों समय विधि से आहार करना चाहिए। दे० हेमाद्रि, २. ७५३-७५४।

अर्धोदय व्रत—स्कन्दपुराण के अनुसार माघ मास की अमावस्या के दिन यदि रविवार, व्यतीपात योग और श्रवण नक्षत्र हो तो अर्धोदय योग होता है। इस योग के दिन यह व्रत किया जाता है। कदाचित् ही इन सबका मिलन संभव होता है और इसे पवित्रता में करोड़ों सूर्यग्रहणों के तुल्य समझा जाता है। अर्धोदय के दिन प्रयाग में प्रातः गंगा-स्नान का बड़ा माहात्म्य है। किन्तु कहा गया है कि इस दिन सभी नदियाँ गङ्गातुल्य हो जाती हैं। इस व्रत के तीन देवता हैं—ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर और वे इसी क्रम में पूजनीय होते हैं। पौराणिक मन्त्रों के अनुसार अग्नि में घृत का हवन करते हैं तथा 'प्रजापते' (ऋ० वे० १०. १२१.१०) ब्रह्मा के लिए, 'इदम् विष्णुः'(ऋ० वे० १.१२. १७) विष्णु के लिए एवं 'त्र्यम्बकम्'(ऋ० वे० ७.५९.१२) महेश्वर के लिए, तीन मन्त्रों का प्रयोग करते हैं।

व्रतार्क (पत्रात्मक, ३४८ अ—३५० ब) में कथित है कि भट्ट नारायण के 'प्रयागसेतु' के अनुसार यह योग पौष मास में पड़ता है जब कि अमान्त का परिगणन किया गया हो, तथा पूर्णिमान्त का परिगणन किया गया हो तब माघ में। भुजबलनिबन्ध (पृ० ३६४-३६५) के अनुसार सूर्य उस समय मकर राशि पर होना चाहिए। तिथितत्त्व, १७७, एवं व्रतार्क के अनुसार यह योग तभी मान्य होगा जब दिन में पड़े; रात में नहीं। कृत्यसारसमुच्चय (पृ० ३०)

के अनुसार यदि उपर्युक्त समूह में से कोई एक (जैसे, पौष अथवा माघ, अमावस्या, व्यतीपात, श्रवण नक्षत्र, रविवार) अनुपस्थित हो तो यह महोदय पर्व कहलाता है। अर्द्धोदय के अवसर पर ब्राह्ममुहूर्त में नदी स्नान अत्यन्त पुण्यदायक होता है।

अर्पण—भक्तिभाव से पूजा की सामग्री देवता के समक्ष निवेदन करना। गीता के अष्टम अध्याय में कथन है :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददाति यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

[हे अर्जुन, जो काम करते, भोजन करते, हवन करते, दान देते, तप करते हो उसे मेरे प्रति अर्पण करो।]

विन्यास के अर्थ में भी वह शब्द प्रयुक्त हुआ है :

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः
पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्॥ (रघुवंश)

[कैलास के समान गौर वर्णवाले नन्दी के ऊपर चढ़ने के लिए उद्यत शंकरजी के पैर रखने के कारण मेरी पीठ पवित्र हो गयी है।]

अर्बुद—(१) पञ्चविंश ब्राह्मण में वर्णित सूर्ययज्ञ में ग्रावस्तुत् पुरोहित के रूप में अर्बुद का उल्लेख है। स्पष्टतया इन्हें ऋषि अर्बुद काद्रवेय समझना चाहिए, जिनका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण (६.१) एवं कौशीतकि ब्राह्मण (२९.१) में मन्त्रद्रष्टा के रूप में हुआ है।

(२) यह पर्वतविशेष (आबू) का नाम है। भारत के प्रसिद्ध तीर्थों में इसकी गणना है। सनातनी हिन्दू और जैन सम्प्रदाय वाले दोनों इसे पवित्र मानते हैं। यह राजस्थान में स्थित है।

अर्य—यह शब्द साहित्य में विशेष व्यवहृत नहीं है। वेदभाष्यकार महीधर इसका अर्थ वैश्य लगाते हैं, साधारणतः 'आर्य' नहीं लगाते। यद्यपि 'अर्य' का अर्थ वैश्य परवर्ती काल में प्रचलित रहा है, किन्तु यह निश्चित नहीं है कि यह मौलिक अर्थ है। फिर भी इसका बहुप्रचलित अर्थ 'वैश्य' ही है। वाजसनेयी संहिता में इसका प्रयोग इस अर्थ में मिलता है :

यथेमां वाचं कल्याणीमा वदानि जनेभ्यः
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च।

[इस कल्याणी वाणी को मैं सम्पूर्ण जनता के लिए बोलता हूँ—ब्राह्मण, राजन्य, शूद्र और अर्य (वैश्य) के लिए।]

अर्यक—पञ्चविंश ब्राह्मण में उल्लिखित वह परिवार जिसके सर्पयज्ञ में अर्यक गृहपति एवं आरुणि होता थे।

अर्यमा—वैदिक देवमण्डल का एक देवता। यह सूर्य का ही एक रूप है। वैदिक काल में अनेक आदित्य वर्ग के देवता थे। परवर्ती काल में उन सबका अवसान एक देवता सूर्य में हो गया, जो बिना किसी भेद के उन्हीं के नामों, यथा सूर्य, सविता, मित्र, अर्यमा, पूषा से कहे जाते हैं। आदित्य, विवस्वान् एवं विकर्तन आदि भी उन्हीं के नाम हैं।

काव्यों में भी अर्यमा का प्रयोग सूर्य के पर्याय के रूप में हुआ है :

प्रोषितार्यमणं मेरोरन्धकारस्तटीमिव। (किरात०)

[जिस प्रकार अर्यमा के अस्त होने पर अन्धकार मेरु की तटी में भर जाता है।]

अर्हन्—सम्मान्य, योग्य, समर्थ, अर्हता प्राप्त। प्रचलित अर्थ क्षपणक, बुद्ध, जिन भी है।

अलकनन्दा—(अलति = चारों ओर बहती है, अलका, अलका चासौ नन्दा च) कुमारी (त्रिकाण्डशेष)। भारतवर्ष की गङ्गा (शब्दमाला)। श्रीनगर (गढ़वाल) के समीप भागीरथी गङ्गा के साथ मिली हुई यह स्वनामख्यात नदी है। इसके किनारे कई पवित्र संगमस्थल हैं। जहाँ मन्दाकिनी इसमें मिलती है वहाँ नन्दप्रयाग है; जहाँ पिण्डर मिलती है वहाँ कर्णप्रयाग; जहाँ भागीरथी मिलती है वहाँ देवप्रयाग। इसके आगे यह गङ्गा कहलाने लगती है। यद्यपि अलकनन्दा का विस्तार अधिक है, फिर भी गङ्गा का उद्‌गम भागीरथी से ही माना जाता है। दे० 'गङ्गा'।

8726

अलक्ष्मी—दरिद्रा देवी, लक्ष्मी की अग्रजा, जो लक्ष्मी नहीं है। यहाँ पर 'नञ्' विरोध अर्थ में है। यह नरकदेवता निर्ऋति, जेष्ठादेवी आदि भी कही जाती है (पद्मपुराण, उत्तर खण्ड)। उसका विवरण 'जेष्ठा' शब्द में देखना चाहिए। दीपावली की रात्रि को उसका विधिपूर्वक पूजन कर घर में से विदा कर देना चाहिए।

अलक्ष्मीनाशक स्नान—पौष मास की पूर्णिमा के दिन जब पुष्य नक्षत्र हो, श्वेत सर्षप का तेल मर्दन कर मनुष्यों को यह स्नान करना चाहिए। इस प्रकार स्नान करने से दारिद्र्य दूर भागता है। तब भगवान् नारायण की मूर्ति का पूजन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इन्द्र, चन्द्रमा,

बृहस्पति तथा पुष्य की प्रतिमाओं का भी सर्वौषधि युक्त जल से स्नान कराकर पूजन करना चाहिए। दे० स्मृति-कौस्तुभ (तिथि तथा संवत्सर)।

अलवण तृतीया—किसी भी मास की शुक्ल पक्ष की तृतीया, किन्तु वैशाख शुक्ल पक्ष, भाद्रपद अथवा माघ शुक्ल पक्ष की तृतीया इस व्रत में विशेष महत्त्वपूर्ण होती है। स्त्रियाँ ही इसका मुख्यतः आचरण करती हैं। द्वितीया को उपवास, तृतीया को नमक रहित भोजन, गौरी देवी का पूजन जीवन पर्यन्त भी किया जा सकता है। दे० कृत्यकल्पतरु का व्रतकाण्ड ४८–५१।

अलवार—दक्षिण भारत की उपासक-परम्परा से ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से उस प्रदेश में हरिभक्ति का प्रचार था। कहा जाता है कि उस प्रदेश में कलियुग के प्रारम्भ में प्रसिद्ध अलवार भक्त गण उत्पन्न हुए थे। इनमें तीन आचार्य हुए—पोंहिये, पूदत्त एवं पे। पोंहिये का जन्म काञ्ची नगर में हुआ था। इनकी ध्यानावस्थित मूर्ति काञ्ची के एक मन्दिर में है, जो वहाँ के सरोवर के बीच जल में बना है। पूदत्त का जन्म तिरुवन्न मामलयि नामक स्थान में, जिसे पहले मल्ला पुरी कहते थ, हुआ था। पे का जन्म मद्रास के मलयपुर नामक स्थान में हुआ। ये सदा श्री हरि के प्रेम में उन्मत्त रहा करते थे। इसी से इनका नाम 'पे' अर्थात् उन्मत्त पड़ गया।

तदनन्तर पाण्ड्य देश में 'तिकमिडिशि' और 'शठारि' का जन्म हुआ, जिन्हें शठरिपु या शठकोप भी कहते हैं। शठरिपु के शिष्य मधुर कवि का जन्म शठरिपु के जन्मस्थान के पास ही हुआ था। वे बड़ी मधुर भाषा में कविता किया करते थे, इसी से उनका नाम 'मधुर कवि' पड़ा। केरल प्रान्त के प्रसिद्ध राजा 'कुलशेखर' भी एक प्रधान अलवार हो गये हैं। उन्होंने 'मुकुन्दमाला' नामक एक स्तोत्र की रचना की। इनके पश्चात् 'पेरिया अलवार' अर्थात् सर्वश्रेष्ठ भक्त का जन्म हुआ। उनकी पुत्री अण्डाल बहुत बड़ी भक्त थी। बहुत ही मधुरभाषिणी होने के कारण उसे गोदा कहते हैं। उसने तमिलभाषा में 'स्तोत्ररत्नावली' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें तीन सौ स्तोत्र हैं। इन स्तोत्रों का भक्तों में बड़ा आदर है। इस तरह अनेक अलवारों का विवरण मिलता है।

इस प्रकार जहाँ एक ओर दार्शनिक विद्वान् विशिष्टाद्वैत मत की परम्परा बनाये हुए थे, वहाँ ये प्राचीन अलवार भी भक्ति-गङ्गा बहा रहे थे। दसवीं शताब्दी में इस मत को अपनी प्रतिभा से यामुनाचार्य ने पुनः उद्दीप्त किया था, रामानुजाचार्य ने इसका सर्वतोमुखी प्रचार किया।

इस प्रकार तमिल देश में भक्तिमार्गी कवि-गायकों की एक श्रृंखला वर्तमान थी। ये गायक एक से दूसरे मन्दिर तक घूमा करते थे, स्तुतियाँ बनाते और आनन्दातिरेक में उनका गायन अपने आराध्य देव की प्रतिमा के सम्मुख किया करते थे। बारह वैष्णव गायकों के नाम मिलते हैं, जिन्हें अलवार के नाम से पुकारा जाता है। उनका धर्माचरण सबसे बढ़कर उन्मादपूर्ण भावना था। उनका सबसे बड़ा आनन्द था अपने आराध्य की मूर्ति की आँखों की ओर एकटक देखना तथा उनकी प्रशंसा संगीत में करना। गाते-गाते आत्मविभोर होकर देवालय की भूमि पर गिर जाना, रात भर देवता के अदर्शन के कारण रुग्ण तथा प्रातःकाल देवालय का द्वार खुलते ही देवदर्शन कर स्वास्थ्य लाभ करना आदि उनकी भक्ति के मधुर उदाहरण हैं। ये जाति से बहिष्कृत लोगों को शिक्षा देते थे तथा इनमें से कुछ अलवार स्वयं जातिबहिष्कृत थे। इनकी रचनाओं में स्थानीय कथाओं, देवालय के देव की स्तुति, मूर्ति के आकार-प्रकार के अतिरिक्त रामायण-महाभारत एवं पुराणों का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। ये अलवार श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के शिक्षक माने जाते हैं। इनकी स्तुतियों का सामाजिक पूजा तथा विद्वानों की शिक्षाविधि आदि के अर्थ में बड़ा सम्माननीय स्थान है।

अलीक—(१) मिथ्या; अवास्तविक; शशश्रृंग, आकाशपुष्प के सदृश, कल्पना मात्र; मृषा : 'ज्ञातेऽलीकनिमीलिते नयनयोः' (अमरुशतक)।

(२) अप्रिय : 'तद्यथा स महाराजो नालीकमधिगच्छति।'
(रामायण)

अलौकिक—लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं, अथवा लोकव्यवहार में प्रचलित नहीं। स्वर्ग या दिव्य लोक की वस्तु। श्रीमद्भागवत में कहा गया है :

'उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।'

[हे विश्वात्मन्, अपने इस अलौकिक रूप को हटा लो।] भगवान् के नाम, रूप, लीला और धाम सभी अलौकिक हैं।

अवगाहन—स्नान करना, गोता लगाना। इसके पर्याय हैं—

अवगाह, वगाह, मज्जन। जल में मज्जन (डुबकी लगाने) की विधि इस प्रकार है :

अङ्गुलीभिः पिधायैवं श्रोत्रदृङ्नासिकामुखम् ।
निमज्जेत प्रतिस्रोतस्त्रिः पठेदघमर्षणम् ॥

[कान, आँख, नाक, मुख को अङ्गुली से दबाकर जल में प्रवाह के सामने स्नान करना तथा तीन वार अघमर्षण मन्त्र पढ़ना चाहिए।]

अवच्छेदवाद—इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् की जो प्रतीति होती है, वह एकरस वा अनवच्छिन्न सत्ता के भीतर माया द्वारा अवच्छेद अथवा परिमिति के आरोप के कारण होती है।

अवतार—ईश्वर का पृथ्वी पर अवतरण अथवा उतरना। हिन्दुओं का विश्वास है कि ईश्वर यद्यपि सर्वव्यापी, सर्वदा सर्वत्र वर्तमान है, तथापि समय-समय पर आवश्यकतानुसार पृथ्वी पर विशिष्ट रूपों में स्वयं अपनी योगमाया से उत्पन्न होता है। परमात्मा या विष्णु के मुख्य अवतार दस हैं : मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि। इनमें मुख्य, गौण, पूर्ण और अंश रूपों के और भी अनेक भेद हैं। अवतार का हेतु ईश्वर की इच्छा है। दुष्कृतों के विनाश और साधुओं के परित्राण के लिए अवतार होता है (भगवद्गीता ४।८)। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि कच्छप का रूप धारण कर प्रजापति ने शिशु को जन्म दिया। तैत्तिरीय ब्राह्मण के मतानुसार प्रजापति ने शूकर के रूप में महासागर के अन्तस्तल से पृथ्वी को ऊपर उठाया। किन्तु बहुमत में कच्छप एवं वराह दोनों रूप विष्णु के हैं। यहाँ हम प्रथम बार अवतारवाद का दर्शन पाते हैं, जो समय पाकर एक सर्वस्वीकृत सिद्धान्त बन गया। सम्भवतः कच्छप एवं वराह ही प्रारम्भिक देवरूप थे, जिनकी पूजा बहुमत द्वारा की जाती थी (जिसमें ब्राह्मणकुल भी सम्मिलित थे)। विशेष रूप से मत्स्य, कच्छप, वराह एवं नृसिंह ये चार अवतार भगवान् विष्णु के प्रारम्भिक रूप के प्रतीक हैं। पाँचवें अवतार वामनरूप में विष्णु ने विश्व को तीन पगों में नाप लिया था। इसकी प्रशंसा ऋग्वेद एवं ब्राह्मणों में है, यद्यपि वामन नाम नहीं लिया गया है। भगवान् विष्णु के आश्चर्य से भरे कार्य स्वाभाविक रूप में नहीं किन्तु अवतारों के रूप में ही हुए हैं। वे रूप धार्मिक विश्वास में महान् विष्णु से पृथक् नहीं समझे गये।

अन्य अवतार हैं—राम जामदग्न्य, राम दाशरथि, कृष्ण एवं बुद्ध। ये विभिन्न प्रकार एवं समय के हैं तथा भारतीय धर्मों में वैष्णव परम्परा का उद्घोष करते हैं। आगे चलकर राम और कृष्ण की पूजा वैष्णवों की दो शाखाओं के रूप में मान्य हुई। बुद्ध को विष्णु का अवतार मानना वैष्णव धर्म की व्याप्ति एवं उदारता का प्रतीक है।

विभिन्न ग्रन्थों में अवतारों की संख्या विभिन्न है। कहीं आठ, कहीं दस, कहीं सोलह और कहीं चौबीस अवतार बताये गये हैं, किन्तु दस अवतार बहुमान्य हैं। कल्कि अवतार जिसे दसवाँ स्थान प्राप्त है वह भविष्य में होने वाला है। पुराणों में जिन चौबीस अवतारों का वर्णन है उनकी गणना इस प्रकार है : १. नारायण (विराट् पुरुष), २. ब्रह्मा ३. सनक-सनन्दन-सनत्कुमार-सनातन ४. नर-नारायण ५. कपिल ६. दत्तात्रेय ७. सुयश ८. हयग्रीव ९. ऋषभ १०. पृथु ११. मत्स्य १२. कूर्म १३. हंस १४. धन्वन्तरि १५. वामन १६. परशुराम १७. मोहिनी १८. नृसिंह १९. वेदव्यास २०. राम २१. बलराम २२. कृष्ण २३. बुद्ध २४. कल्कि।

किसी विशेष केन्द्र द्वारा सर्वव्यापक परमात्मा की शक्ति के प्रकट होने का नाम अवतार है। अवतार शब्द द्वारा अवतरण अर्थात् नीचे उतरने का भाव स्पष्ट होता है, जिसका तात्पर्य इस स्थल पर भावमूलक है।

परमात्मा की विशेष शक्ति का माया से सम्बन्धित होना एवं सम्बद्ध होकर प्रकट होना ही अवतरण कहा जा सकता है। कहीं से कहीं आ जाने अथवा उतरने का नाम अवतार नहीं होता।

इस अवतारवाद के सम्बन्ध में सर्वप्रथम वेद ही प्रामाण्य रूप में सामने आते हैं। यथा—

'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।'

[परमात्मा स्थूल गर्भ में उत्पन्न होते हैं, कोई वास्तविक जन्म न लेते हुए भी वे अनेक रूपों में उत्पन्न होते हैं।]

ऋग्वेद भी अवतारवाद प्रस्तुत करता है, यथा "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश।"

[भगवान् भक्तों के प्रार्थनानुसार प्रख्यात होने के लिए माया के संयोग से अनेक रूप धारण करते हैं। उनके शत-शतरूप हैं।] इस प्रकार निखिल-शास्त्रस्वीकृत अवतार ईश्वर

के होते हैं, जो कि अपनी कुछ कलाओं से सुशोभित होते हैं, जिन्हें आंशिक अवतार एवं पूर्णावतार की संज्ञा दी जाती है । पूर्ण परमात्मा षोडशकला सम्पन्न माना जाता है ।

परमात्मा की षोडश कलाशक्ति जड़-चेतनात्मक समस्त संसार में व्याप्त है । एक जीव जितनी मात्रा में अपनी योनि के अनुसार उन्नत होता है, उतनी ही मात्रा में परमात्मा की कला जीवाश्रय के माध्यम से विकसित होती है । अतः एक योनिज जीव अन्य योनि के जीव से उन्नत इसलिए है कि उसमें अन्य योनिज जीवों से भगवत्कला का विकास अधिक मात्रा में होता है । चेतन सृष्टि में उद्भिज्ज सृष्टि ईश्वर की प्रथम रचना है, इसलिए अन्नमयकोष-प्रधान उद्भिज्ज योनि में परमात्मा की षोडश कलाओं में से एक कला का विकास रहता है । इसमें श्रुतियाँ भी सहमत हैं, यथा

'षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाभूत् साऽन्नेनोपसमाहिता प्रज्वालीत् ।'

8476

[परमात्मा की सोलह कलाओं में एक कला अन्न में मिलकर अन्नमश कोष के द्वारा प्रकट हुई ।] अतः स्पष्ट है, उद्भिज्ज योनि द्वारा परमात्मा की एक कला का विकास होता है । इसी क्रम से परवर्ती जीवयोनि स्वेदज में ईश्वर की दो कला, अण्डज में तीन और जरायुज के अन्तर्गत पशु योनि में चार कलाओं का विकास होता है । इसके अनन्तर जरायुज मनुष्ययोनि में पाँच कलाओं का विकास होता है । किन्तु यह साधारण मनुष्य तक ही सीमित है । जिन मनुष्यों में पाँच से अधिक आठ कला तक का विकास होता है वे साधारण मनुष्यकोटि में न आकर विभूति कोटि में ही परिगणित होते हैं । क्योंकि पाँच कलाओं से मनुष्य की साधारण शक्ति का ही विकास होता है, और इससे अधिक छः से लेकर आठ कलाओं का विकास होने पर विशेष शक्ति का विकास माना जाता है, जिसे विभूति कोटि में रखा गया है ।

इस प्रकार एक कला से लेकर आठ कला तक शक्ति का विकास लौकिक रूप में होता है । नवम कला से लेकर षोडश कला तक का विकास अलौकिक विकास है, जिसे जीवकोटि नहीं अपितु अवतारकोटि कहते हैं । अतः जिन केन्द्रों द्वारा परमात्मा की शक्ति नवम कला से लेकर षोडश कला तक विकसित होती है, वे सभी केन्द्र जीव न कहला कर अवतार कहे जाते हैं । इनमें नवम कला से पन्द्रहवों कला तक का विकास अंशावतार कहलाता है एवं षोडश कलाकेन्द्र पूर्ण अवतार का केन्द्र है । इसी कला-विकास के तारतम्य से चेतन जीवों में अनेक विशेषताएँ देखने में आती हैं । यथा पाँच कोषों में से अन्नमय कोष का उद्भिज्ज योनि में अपूर्व रूप से प्रकट होना एक कला विकास का ही प्रतिफल है । अतः ओषधि, वनस्पति, वृक्ष तथा लताओं में जो जीवों की प्राणाधायक एवं पुष्टिप्रदायक शक्ति है, यह सब एक कला के विकास का ही परिणाम है ।

स्वेदज, अण्डज, पशु और मनुष्य तथा देवताओं तक की तृप्ति अन्नमय-कोष वाले उद्भिज्जों द्वारा ही होती है और इसी एक कला के विकास के परिणाम स्वरूप उनकी इन्द्रियों की क्रियाएँ दृष्टिगोचर होती हैं । यथा महाभारत (शान्ति पर्व) में कथन है :

ऊष्मतो म्लायते वर्णं त्वक्फलं पुष्पमेव च ।
म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥

[ग्रीष्मकाल में गर्मी के कारण वृक्षों के वर्ण, त्वचा, फल, पुष्पादि मलिन तथा शीर्ण हो जाते हैं, अतः वनस्पति में स्पर्शेन्द्रिय की सत्ता प्रमाणित होती है ।] इसी प्रकार प्रवात, वायु, अग्नि, वज्र आदि के शब्द से वृक्षों के फल-पुष्प नष्ट हो जाते हैं । इससे उनकी श्रवणेन्द्रिय की सत्ता सत्यापित की जाती है । लता वृक्षों को आधार बना लेती है एवं उनमें लिपट जाती है, यह कृत्य बिना दर्शनेन्द्रिय के सम्भव नहीं । अतः वनस्पतियाँ दर्शनेन्द्रिय शक्तिसम्पन्न मानी जाती हैं । अच्छी बुरी गन्ध तथा नाना प्रकार की धूपों की गन्ध से वृक्ष निरोग तथा पुष्पित फलित होने लगते हैं । इससे वृक्षों में घ्राणेन्द्रिय की भी सत्ता समझी जाती है । इसी प्रकार वे रस अपनी टहनियों द्वारा ऊपर खींचते हैं, इससे उनकी रसनेन्द्रिय की सत्ता मानी जाती है । उद्भिज्जों में सुख-दुःख के अनुभव करने की शक्ति भी देखने में आती है । अतः निश्चित है कि ये चेतन शक्तिसम्पन्न हैं । इस सम्बन्ध में मनु का भी यही अभिमत है :

तमसा बहुरूपेण वेष्टिता कर्महेतुना ।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥

[वृक्ष अनेक प्रकार के तमोभावों द्वारा आवृत रहते हुए भी भीतर ही भीतर सुख-दुख का अनुभव करते हैं ।] अधिक दिनों तक यदि किसी वृक्ष के नीचे हरे वृक्षों को लाकर चीरा जाय तो वह वृक्ष कुछ दिनों के अनन्तर सूख

जाता है । इससे वृक्षों के सुख-दुःखानुभव स्पष्ट हैं । वृक्षों का श्वासोच्छ्वास वैज्ञानिक जगत् में प्रत्यक्ष मान्य ही है । वे दिन-रात को आक्सिजन तथा कार्बन गैस का क्रम से त्याग-ग्रहण करते हैं । इसी प्रकार अफ्रीका आदि के पशु-पक्षी-कीट-भक्षी लताएँ वृक्ष प्रख्यात ही हैं । अतः ये सभी क्रियाएँ भगवान् की एक कला मात्र की प्राप्ति से वनस्पति योनि में देखी जाती हैं ।

इसके अनन्तर स्वेदज योनि में दो कलाओं का विकास माना जाता है, जिससे इस योनि में अन्नमय और प्राणमय कोषों का विकास देखने में आता है । इस प्रकार प्राणमय कोष के ही कारण स्वेदज गमनागमन व्यापार में सफल होते हैं । अण्डज योनि में तीन कलाओं के कारण अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय कोषों का विकास होता है । इस योनि में मनोमय कोष के विकास के परिणामस्वरूप इनमें प्रेम आदि अनेक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं । इसी प्रकार जरायुज योनि के अन्तर्गत चार कलाओं के विद्यमान रहने के कारण इनमें अन्नमय, प्राणमय मनोमय कोषों के साथ ही साथ विज्ञानमय कोष का भी विकास होता है । उत्कृष्ट पशुओं में तो बुद्धि का भी विकास देखने में आता है, जिससे वे अनेक कर्म मनुष्यवत् करते हैं । यथा अश्व, श्वान, गज आदि पशु स्वामिभक्त होते हैं, एवं समय आने पर उनके प्राणरक्षक के रूप में भी देखे जाते हैं ।

जरायुज योनि के ही द्वितीय प्रभेद मनुष्ययोनि में चार से अधिक एक आनन्दमय कोष का भी विकास है । पञ्चकोषों के विकास के कारण ही मनुष्य में कर्म की स्वतन्त्रता होती है । मनुष्य यदि चाहे तो पुरुषार्थ द्वारा पाँचों कोषों का विकास कर पूर्ण ज्ञानसम्पन्न मानव भी हो सकता है । इसी प्रकार कर्मोन्नति द्वारा मनुष्य जितना-जितना उन्नत होता जाता है, उसमें ईश्वरीय कलाओं का विकास भी उतना ही होता जाता है । इस कला विकास में ऐश्वर्यमय शक्ति का सम्बन्ध अधिक है, अज्ञेय ब्रह्मशक्ति का नहीं । विष्णु भगवान् के साथ ही भगवदवतार का प्रधान सम्बन्ध रहता है । क्योंकि विष्णु ही इस सृष्टि के रक्षक एवं पालक हैं । यद्यपि सृष्टि, स्थिति एवं संहार के असाधारण कार्यों की निष्पन्नता के लिए ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवों के अवतार हुआ करते हैं, पर जहाँ तक रक्षा का प्रश्न है, इसके लिए विष्णु के ही अवतार माने जाते हैं ।

अवतार-तिथिव्रत—अवतारों की वे सब जन्मतिथियाँ जो जयन्तियों के नाम से विख्यात हैं, व्रत के लिए विहित हैं । कृत्यसारसमुच्चय (पृ० १३) के अनुसार ये तिथियाँ निम्नलिखित हैं : मत्स्य चैत्र शुक्ल ३; कूर्म वैशाख पूर्णिमा; वराह भाद्र शुक्ल ३; नरसिंह वैशाख शुक्ल १४; वामन भाद्र शुक्ल १२; परशुराम वैशाख शुक्ल ३; राम चैत्र शुक्ल ९; बलराम भाद्र शुक्ल ६; कृष्ण भाद्र कृष्ण ८; बुद्ध ज्येष्ठ शुक्ल २ या वैशाखी पूर्णिमा । कुछ ग्रन्थों के अनुसार कल्कि अवतार अभी होना शेष है जबकि कुछ ने श्रावण शुक्ल ६ को कल्किजयन्ती का उल्लेख किया है । कुछ ग्रन्थों में इन जयन्तियों अथवा जन्मतिथियों में अन्तर है ।

अवधूत—सम्यक् प्रकार से धूत (परिष्कृत), निर्मुक्त । इस शब्द का प्रयोग शैव एवं वैष्णव दोनों प्रकार के साधुओं के अर्थ में होता है । शैव अवधूत वे संन्यासी हैं जो तपस्या का कठोर जीवन बिताते हैं, जो कम से कम कपड़े पहनते हैं और कपड़े की पूर्ति भस्म से करते हैं तथा अपने केश जटा के रूप में बढ़ाते हैं । वे मौन रहते हैं, हर प्रकार से उनका जीवन बड़ा क्लेशसाध्य होता है । योगी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोरखनाथ को इस श्रेणी के विचित्र अवधूत के नाम से पुकारा जाता है ।

वैष्णव सम्प्रदाय में भी अवधूत का महत्त्व है । जब स्वामी रामानन्द ने सामान्य जनों को वैष्णवों में दीक्षित करने के लिए अपने धार्मिक सम्प्रदाय से जातिभेद हटा दिया तब उन्होंने अपने शिष्यों को 'अवधूत' नाम दिया, जिसका अर्थ था कि उन्होंने अपने पुराने रूप (पूर्ववर्ती स्वेच्छाचार) को त्याग दिया है, उन्होंने धार्मिक जीवन स्वीकार कर अपनी व्यक्तिगत आदतों को त्याग दिया है, और इस प्रकार समाज एवं प्रकृति के बन्धनों को तोड़ दिया है । ऐसे रामानन्दी साधु दसनामी संन्यासियों से अधिक कड़ा अनुशासनमय धार्मिक जीवन यापन करते हैं ।

अवध्य—वध के अयोग्य :

'अवध्याश्च स्त्रियः प्राहुस्तिर्यग्योनिगता अपि ।' (स्मृति)

[निम्न योनि की स्त्रियाँ भी अवध्य कही गयी हैं ।]

ब्राह्मण भी अवध्य (वधदण्ड के अयोग्य) माना गया है ।

अवनेजन—(१) चरण प्रक्षालन करना, पग धोना :

'न कुर्याद् गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ।' (मनु)

[गुरुपुत्र के पैर नहीं धोने चाहिए ।]

(२) पिण्डदान के लिए बिछे हुए कुशों पर जल सींचना । ब्रह्मपुराण में लिखा है :

सपुष्प जलमादाय तेषां पृष्ठे पृथक् पृथक् ।
अप्रदक्षिणं नेनिज्याद् गोत्रनामानुमन्त्रितम् ॥

[फूल-सहित जल लेकर पिण्डों के पृष्ठ भाग पर अलग-अलग बायीं ओर जल सींचना चाहिए ।]

अवन्तिका—मालव देश की प्राचीन राजधानी । उज्जयिनी (उज्जैन) का वास्तव में यही मूल नाम था। यहीं से शिव ने त्रिपुर पर विजय प्राप्त की थी। तब से इसका नाम उज्जयिनी (विजय वाली) पड़ा । इसकी गणना भारत की सप्त पवित्र मोक्षदायिनी पुरियों में है :

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥
(स्कन्दपुराण)

[(१) अयोध्या, (२) मथुरा, (३) माया, (४) काशी, (५) काञ्ची, (६) अवन्तिका और (७) द्वारावती ये सातों पुरी मोक्षदायिका हैं ।]

इसके पर्याय विशाला और पुष्पकरण्डिनी भी हैं।

'संस्कारतत्त्व' में कहा गया है :

उत्पन्नोर्कः कलिङ्गे तु यमुनायाञ्च चन्द्रमाः ।
अवन्त्यां च कुजो जातो मागधे च हिमांशुजः ॥

[कलिङ्ग में सूर्य की, यमुना में चन्द्रमा की, अवन्ती में मङ्गल की और मगध में बुध की उत्पत्ति हुई ।]

अवभृथ—दीक्षान्तस्नान; प्रधान यज्ञ समाप्त होने पर सामूहिक नदीस्नान; यज्ञादि के न्यूनाधिक दोष की शांति के निमित्त शेष कर्त्तव्य होम । स्नान इसका एक मुख्य अङ्ग है :

ततश्चकारावभृथं विधिदृष्टेन कर्मणा । (महाभारत)

[शास्त्रोक्त विधान के अनुसार उसने अवभृथ स्नान किया ।]

भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि । (रघुवंश)

[कुण्ड भर दूध देने वाली गौ ने अवभृथ से भी पवित्र अपने दूध से भूमि को सिंचित किया ।]

अवमदिन—सप्ताह का ऐसा दिन, जिसमें दो तिथियों का अन्त हो । इस दिन की दूसरी तिथि की गणना नहीं की जाती और उसका क्षय होना कहा जाता है । प्रथम बार व्रत आचरण करने में इसको त्यक्त समझा जाता है ।

अवरोधन—रोक, बाधा, किसी क्रिया की रुकावट । पाण्डवगीता में कथन है :

कृष्ण त्वदीयपदपंकजपिञ्जरान्ते
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥

[हे कृष्ण ! तुम्हारे चरणरूपी कमल के पिंजड़े के भीतर मेरा मनरूपी राजहंश आज ही प्रविष्ट हो जाय । क्योंकि प्राण-प्रयाण के समय कफ, वात और पित्त से कण्ठ के अवरुद्ध हो जाने पर तुम्हारा स्मरण कैसे हो सकता है ?]

राजाओं के अन्तःपुर को अवरोध कहते हैं, जहाँ उनकी रानियाँ निवास करती हैं ।

अवलिप्त—धन आदि से गर्वित मनुष्य । मनु (४।७९) के अनुसार इसका साथ वर्जित है :

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुक्कसैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैः नान्त्यावसायिभिः ॥

[पतित, चाण्डाल, पुक्कस, मूर्ख, धन से गर्वित, अन्त्यज और अन्त्यजों के पड़ोसियों के साथ नहीं रहना चाहिए ।]

अविकृत परिणामवाद—वैष्णव भक्तों का एक दार्शनिक सिद्धान्त । ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध-निरूपण में इसका विकास हुआ । ब्रह्म की निर्विकारता तथा निरपेक्षता और जीव-जगत् की सत्यता सिद्ध करने के लिए इस मत का प्रतिपादन किया गया । यद्यपि ब्रह्म-जीव-जगत् का वास्तविक अद्वैत है परन्तु ब्रह्म में बिना विकार उत्पन्न हुए उसी से जीव और जगत् का प्रादुर्भाव होता है । अतः यह प्रक्रिया अविकृत परिणाम है । इसी मत को अविकृत परिणामवाद कहते हैं।

सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति में जब परिणाम (परिवर्तन) होता है तब जगत् की उत्पत्ति होती है । इस मत को प्रकृतिपरिणामवाद कहते हैं । वेदान्तियों के अनुसार ब्रह्म का परिणाम ही जगत् है । इसे ब्रह्मपरिणामवाद कहते हैं । किन्तु वेदान्तियों के कई विभिन्न सांप्रदायिक मत हैं । शङ्कराचार्य ब्रह्म की निर्विकारता की रक्षा के लिए जगत् को ब्रह्म का परिणाम न मानकर उसको ब्रह्म का विवर्त मानते हैं । किन्तु इससे जगत् मिथ्या मान

लिया गया। यह सिद्धान्त रामानुजाचार्य को मान्य नहीं था। अतः उन्होंने जीव और जगत् (चित् और अचित्) को ब्रह्म के अन्तर्गत उसका विशेषण (गुणभूत) माना। मध्वाचार्य ने ब्रह्म को केवल निमित्त माना और प्रकृति को जगत् का उपादान कारण माना।

इस द्वैत दोष से बचने के लिए निम्बार्क ने प्रकृति को ब्रह्म की शक्ति माना, जिससे जगत् का प्रादुर्भाव होता है। इस मान्यता से ब्रह्म में विकार नहीं होता, परन्तु जगत् प्रक्षेप मात्र अथवा मिथ्या ही बन जाता है।

वल्लभाचार्य ने उपर्युक्त मतों की अपूर्णता स्वीकार करते हुए कहा कि जीव-जगत् ब्रह्म का परिणाम है, किन्तु एक विचित्र परिणाम है। इससे ब्रह्म में विकार नहीं उत्पन्न होता। उनके अनुसार जीव और जगत् ब्रह्म के वैसे ही परिणाम हैं, जैसे अनेक प्रकार के आभूषण सोने के, अथवा अनेक प्रकार के भाण्ड मृत्तिका के। अपने मत के समर्थन में इन्होंने उपनिषदों से बहुत से प्रमाण प्रस्तुत कियें हैं। इस मत में ब्रह्म सच्चिदानन्द (सत् + चित् + आनन्द) है जिससे जीव-जगत् प्रादुर्भूत होता है। सत् से जगत्; सत् और चित् से जीव और सत्, चित् और आनन्द से ईश्वर का आविर्भाव होता है। इस प्रकार अविकृत ब्रह्म से यह सम्पूर्ण जगत् उद्भूत होता है।

अविघ्नविनायक अथवा अविघ्नव्रत—(१) फाल्गुन, चतुर्थी तिथि से चार मासपर्यन्त गणेशपूजन। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, जिल्द १, ५२४-५२५।

(२) मास के दोनों पक्षों की चतुर्थी, तीन वर्षपर्यन्त व्रत-अवधि और गणेश देवता। दे० निर्णयामृत, ४३, भविष्योत्तर पुराण।

अविज्ञेय—जानने योग्य नहीं, दुर्ज्ञेय। मनु का कथन है :

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

[यह ब्रह्माण्ड अन्धकारपूर्ण, अप्रज्ञात, लक्षणहीन, अतर्कनीय, न जानने योग्य, सर्वत्र सोये हुए के समान था।]

मूल तत्त्व (ब्रह्म) भी अविज्ञेय कहा गया है। वह ज्ञान का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है। वास्तव में वह विषय मात्र नहीं है; अनिर्वचनीय है।

अविद्या—अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। आत्मा एवं विश्व, आत्मा एवं पदार्थ में द्वैत की स्थापना माया अथवा अविद्या का कार्य है। अविद्या का अर्थ है मानवबुद्धि की सीमा, जिसके कारण वह देश और काल के भीतर देखती और सोचती है। अविद्या वह शक्ति है जो मानव के लिए सम्पूर्ण दृश्य जगत् का सर्जन या भान कराती है। सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् अविद्या का साम्राज्य है। जब मनुष्य इससे ऊपर उठकर अन्तर्दृष्टि और अनुभव में प्रवेश करता है तब अविद्या का आवरण हट जाता है और अद्वैत सत्य ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

अविद्या के पर्याय अज्ञान, माया, अहङ्कारहेतुक अज्ञान, मिथ्या ज्ञान, विद्याविरोधिनी अयथार्थ बुद्धि आदि हैं। कथन है :

अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम्।
यत्प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्॥

[अविद्या का लक्षण अविद्यात्व ही है। वह प्रमाण से सिद्ध नहीं होती, अन्यथा वह वस्तु सत्ता हो जायगी।]

अविधि—अविधान, अथवा शास्त्र के विरुद्ध आचरण। गीता (९।२३) में कथन है :

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

[हे अर्जुन ! जो लोग अन्य देवताओं की श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं, वे भी अविधि पूर्वक मेरा ही यजन करते हैं।] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है :

वसेत् स नरके घोरे दिनानि पशुरोमभिः।
अमितानि दुराचारो यो हन्त्यविधिना पशून्॥

[जो दुष्ट मनुष्य विना विधि के पशुओं का वध करता है वह पशु के रोम के बराबर असंख्य दिनों तक घोर नरक में वास करता है।]

अविनय—विनय का अभाव अथवा दुःशीलता। मनु (७.४०-४१) का कथन है :

बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात् प्रतिपेदिरे॥

[विनय से रहित बहुत से राजा परिवार सहित नष्ट हो गये। विनय युक्त राजाओं ने वन में रहते हुए भी राज्य को प्राप्त किया।]

अविनीत—विनयरहित (व्यक्ति), समुद्धत। रामायण में कहा है :

न चापि प्रतिकूलेन नाविनीतेन रावण ।
राज्यं पालयितुं शक्यं राज्ञा तीक्ष्णेन वा पुनः ॥

[हे रावण ! कोई राजा प्रतिकूल, अविनीत, तीक्ष्ण आचरण के द्वारा राज्य का पालन नहीं कर सकता ।]

अविमुक्त—वाराणसी क्षेत्र । काशीखण्ड (अ० २६) में लिखा है :

मुने प्रलयकालेपि नतत् क्षत्र कदाचन ।
विमुक्तं स्यात् शिवाभ्यां यदविमुक्तं ततो विदुः ॥
अविमुक्तं तदारभ्य क्षेत्रमेतदुदीर्यते ।
अस्यानन्दवनं नाम पुराऽकारि पिनाकिना ॥
क्षेत्रस्यानन्दहेतुत्वादविमुक्तमनन्तरम् ।
आनन्दकन्द बीजानामङ्कुराणि यतस्ततः ॥
ज्ञेयानि सर्वलिङ्गानि तस्मिन्नानन्दकानने ।
अविमुक्तमिति ख्यातमासीदित्थं घटोद्भव ॥

[हे मुने ! प्रलय काल में भी शिव-पार्वती वाराणसी क्षेत्र को नहीं छोड़ते । इसीलिए इसे अविमुक्त कहते हैं । शिव ने पहले इसका नाम आनन्दवन रखा, क्योंकि यह क्षेत्र आनन्द का कारण है । इसके अनन्तर अविमुक्त नाम रखा । इस आनन्दवन मे असंख्य शिवलिंगों के रूप में आनन्दकन्द बीजों के अङ्कुर इधर उधर बिखरे हुए हैं । हे अगस्त्य ! इस प्रकार यह वाराणसी अविमुक्त नाम से विख्यात हुई ।]

पद्मपुराण में काशी के चार विभाग किये गये हैं—

काशी, वाराणसी, अविमुक्त और अन्तर्गृही । विश्वनाथ मन्दिर के चारों ओर दो सौ धन्वा (एक धन्वा = ४ हाथ) का वृत्त अविमुक्त कहलाता है । दे० 'काशी' और 'वाराणसी' ।

अवियोगद्वादशी—भाद्र शुक्ल १२ तिथि । इस दिन शिव तथा गौरी, ब्रह्मा तथा सावित्री, विष्णु और लक्ष्मी, सूर्य तथा उनकी पत्नी विक्षुब्धा का पूजन होना चाहिए । दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, ११७७-११८० ।

अवियोगव्रत अथवा अवियोगतृतीया—स्त्रियों के लिए विशेष व्रत । मार्गशीर्ष शुक्ल तृतीया को प्रारम्भ होता है । तृतीया के दिन शर्करा मिश्रित खीर का सेवन, शम्भु तथा गौरी का पूजन विहित है । एक वर्ष पर्यन्त आटा तथा चावल की बनी हुई शम्भु तथा गौरी की मूर्तियों का बारहों महीनों में भिन्न-भिन्न नामों से भिन्न-भिन्न फूलों से पूजन करना चाहिए । दे० कृत्यकल्पतरु का व्रत काण्ड, ७०-७५; हेमाद्रि, व्रतखण्ड, ४३९-४४४ ।

अविवाह्या—विवाह के अयोग्य । सुमन्तु के अनुसार माता-पिता से सम्बद्ध सात पीढ़ी तक की कन्याएँ अविवाह्य होती हैं । दूसरों के मत में दोनों पक्षों की पाँच पीढ़ियों तक की कन्याओं के साथ विवाह नहीं करना चाहिए । नारद का भी मत है :

आ सप्तमात् पञ्चमाच्च बन्धुभ्यः पितृमातृतः ।
अविवाह्या सगोत्रा च समानप्रवरा तथा ॥
सप्तमे पञ्चमे वापि येषां वैवाहिकी क्रिया ।
ते च सन्तानिनः सर्वे पतिताः शूद्रतां गताः ॥

[पिता एवं माता की सात एवं पाँच पीढ़ियों तक की कन्याओं के साथ विवाह नहीं करना चाहिए । वे कन्याएँ अविवाह्य हैं । समान प्रवर और समान गोत्र वाली कन्याओं के साथ भी विवाह नहीं करना चाहिए । पाँच अथवा सात पीढ़ियों में विवाह करनेवाले लोग सन्तान सहित पतित होकर शूद्र हो जाते हैं ।]

अवीचिमान्—एक नरक का नाम । उसके अन्य नाम हैं वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि, अयःपान । जो इस लोक में साक्ष्य, द्रव्य की अदला-बदली, दान आदि में किसी प्रकार का झूठ बोलता है वह मरकर अवीचिमान् नरक में नीचे सिर करके खुले स्थान में सौ योजन ऊँचे पर्वत से गिराया जाता है । यहाँ पर पापी मनुष्य गिराये जाने से तिल के समान विच्छिन्नशरीर हो जाता है । (भागवत, ५.२६)

अवेस्ता—पारसी (ईरानी) लोगों का मूल धर्मग्रन्थ, जिसका वेद से घनिष्ठ सम्बन्ध है । अनेक देवताओं एवं धार्मिक कृत्यों का अवेस्ता एवं वेद के पाठों में साम्य है, जैसे अहुरमज्द का वरुण से, सोम का हओम से, ऋत का अश से । ये देवतानाम एवं धार्मिक विचारसाम्य भारतीय एवं ईरानी आर्यों की एकता के द्योतक हैं । सम्भवतः ये एक ही मूल स्थान के रहने वाले भाई-भाई थे ।

अवैधव्य शुक्लैकादशी—चैत्र शुक्ल एकादशी । दे० हेमाद्रि, व्रत खण्ड, जिल्द १, ११५ ।

अव्यक्त—वेदान्त में 'ब्रह्म' और सांख्य में 'प्रकृति' दोनों के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है । इसका शाब्दिक अर्थ है 'जो व्यक्त (प्रकट) नहीं है ।' यह जगत् का वह मौलिक रूप है जो दृश्य अथवा प्रतीयमान नहीं है ।

अभ्यङ्ग—इसका शाब्दिक अर्थ है पूर्ण । यह एक पूजा-उपा-

दान है, जिसे सूर्यमन्दिर का मग (अथवा शाकद्वीपीय ब्राह्मण) पुरोहित धारण करता है। भविष्यपुराण में उद्धृत है कि कृष्ण के पुत्र साम्ब ने सूर्योपासना से अपना कुष्ठ रोग निवारण किया तथा देवता के प्रति कृतज्ञ हो उन्होंने चन्द्रभागा तीर्थ में एक सूर्यमन्दिर बनवाया। फिर वे नारद के शिक्षानुसार शकद्वीप की आश्चर्यजनक यात्रा कर वहाँ से एक मग पुरोहित लाये। यह मग पुरोहित अन्य पूजा-सामग्रियों के साथ 'अव्यङ्ग' नामक उपादान पूजा के समय अपने हाथ में धारण करता था।

अव्यय—जिसका व्यय नहीं हो, अविनाशी, नित्यपुरुष। यह विष्णु का पर्याय है। मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है :

नमस्कृत्य सुरेशाय विष्णवे प्रभविष्णवे।
पुरुषायाप्रमेयाय शाश्वतायाव्ययाय च॥

[सुरेश, विष्णु, प्रभविष्णु, पुरुष, अप्रमेय, शाश्वत, अव्यय को नमस्कार करके।]

तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः।
(रघुवंश)

[योग समाधि के द्वारा रघु तम से परे अव्यय पुरुष को प्राप्त हुआ।]

अशून्य व्रत—इस व्रत में श्रावण मास से प्रारम्भ करके चार मासपर्यन्त प्रत्येक मास के कृष्ण पक्ष की द्वितीया के दिन अक्षत, दही तथा फलों सहित चन्द्रमा को अर्घ्यदान किया जाता है। यदि द्वितीया तिथि तृतीया से विद्ध हो तो उसी दिन व्रत का आयोजन किया जाता है। दे० पुरुषार्थ-चिन्तामणि, पृ० ८३।

अशून्यशयन व्रत—श्रावण मास से प्रारम्भ करके प्रत्येक मास के कृष्ण पक्ष की द्वितीया को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। यह तिथिव्रत है। इसमें लक्ष्मी तथा हरि का पूजन होता है। इसका उल्लेख विष्णुधर्मोत्तर, मत्स्य (७१, २-२०), पद्मपुराण, विष्णुपुराण (२४, १-१९) आदि में हुआ है। स्त्रियों के अवैधव्य तथा पुरुषों के अवियोग (पत्नी से अवियोग) के लिए यह व्रत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें भगवान् से यह प्रार्थना की जाती है :

लक्ष्म्या न शून्यं वरद यथा ते शयनं सदा।
शय्या ममाप्यशून्यास्तु तथात्र मधुसूदन॥

[हे वरद, जैसे आपकी शेषशय्या लक्ष्मीजी से कभी भी सूनी नहीं होती, वैसे ही मेरी शय्या अपने पति या पत्नी से सूनी न हो।]

, कृत्यरत्नाकर (पृष्ठ २२८) में लिखा है कि जब यह कहा गया है कि व्रत श्रावण कृष्ण पक्ष से आरम्भ होता है तो प्रयोग से सिद्ध है कि मास पूर्णिमान्त है।

अशोकत्रिरात्र—ज्येष्ठ, भाद्र अथवा मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी से लेकर तीन रात्रिपर्यन्त एक वर्ष के लिए यह व्रत किया जाता है। चाँदी के अशोक वृक्ष का पूजन तथा ब्रह्मा और सावित्री की प्रतिमाओं का प्रथम दिन पूजन, उमा तथा महेश्वर का द्वितीय दिन, लक्ष्मी तथा नारायण का तृतीय दिन पूजन होता है। इसके पश्चात् प्रतिमाएँ दान कर दी जाती हैं। यह व्रत पापशामक, रोगनिवारक तथा दीर्घायुष्य, यश, समृद्धि, पुत्र तथा पौत्र आदि प्रदान करता है। दे० हेमाद्रि, व्रत खण्ड, २.२७१-२८३; व्रतार्क (पत्रात्मक २६१ ब-२६४)। यद्यपि साधारणतः यह व्रत महिलाओं के लिए निर्दिष्ट है किन्तु पुत्रों की समृद्धि के इच्छुक पुरुष भी इस व्रत का आचरण कर सकते हैं।

अशोकद्वादशी—विशोक द्वादशी की ही भाँति, आश्विन मास से एक वर्षपर्यन्त यह व्रत किया जाता है। दशमी के दिन हलका भोजन ग्रहण कर एकादशी को पूर्ण उपवास करके द्वादशी को व्रत की पारणा होती है। इसमें केशव का पूजन होता है। इसका फल है सुन्दर स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा शोक से मुक्ति। दे० मत्स्य पुराण, ८१.१-२८; कृत्य-कल्पतरु, व्रत काण्ड (पृ० ३६०-३६३)।

अशोकपूर्णिमा—फाल्गुन मास की पूर्णिमा को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। यह तिथिव्रत है। एक वर्षपर्यन्त इसका अनुष्ठान होना चाहिए। प्रथम चार मासों में तथा उसके बाद के चार मासों में पृथ्वी का पूजन कर चन्द्रमा को अर्घ्य दिया जाता है। प्रथम चार मासों में पृथ्वी को 'धरणी' मानते हुए पूजन होता है। बाद के चार मासों में 'मेदिनी' नाम से तथा अन्तिम चार मासों में 'वसुन्धरा' नाम से पूजन होता है। दे० अग्निपुराण, १९४.१; हेमाद्रि, व्रत-खण्ड, २.१६२-१६४।

अशोकाष्टमी—(१) चैत्र शुक्ल अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। यदि कहीं उस दिन बुधवार तथा पुनर्वसु नक्षत्र हो तो उसका पुण्य बहुत बढ़ जाता है। इसमें अशोक के पुष्पों से दुर्गा का पूजन होता है। अशोक की आठ कलियों से युक्त जल ग्रहण किया जाना चाहिए। अशोक वृक्ष का मन्त्र बोलते हुए पूजन करना चाहिए :

त्वामशोक कराभीष्टं मधुमाससमुद्भवम्।
पिवामि शोकसन्तप्तो मामशोकं सदा कुरु॥

दे० कालविवेक, पृ० ४२२; हेमाद्रि का चतुर्वर्ग चिन्तामणि, काल अंश, पृ० ६२६ ।

चैत्र शुक्ल पक्ष की अष्टमी के दिन सभी तीर्थ तथा नदियों का जल ब्रह्मपुत्र नदी में आ जाता है । इस दिन का ब्रह्मपुत्र में स्नान उन सभी पुण्यों को प्रदान करता है, जो वाजपेय यज्ञ करने से प्राप्त होते हैं ।

अशोकिकाष्टमी—इस व्रत में उमा का पूजन होता है । नीलमत पुराण (पृष्ठ, ७४, श्लोक ९०५-९०७) बतलाता है कि अशोक वृक्ष स्वयं देवी है ।

अश्रद्धा—शास्त्र के अर्थ में अदृढ विश्वास । श्राद्धतत्त्व में कथन है :

विधिहीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत् ।
तद्धरन्त्यसुरास्तस्य मूढस्य दुष्कृतात्मनः ।।

[मूढ एवं दुष्टात्मा पुरुष के विधिहीन, भावदूषित तथा अश्रद्धापूर्वक किये गये कार्य को असुर हर लेते हैं ।] मानसिक वृत्तिभेद को भी अश्रद्धा कहते हैं :

कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा
धृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव ।

[काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, लज्जा, बुद्धि, भय ये सब मन ही हैं ।]

गीता में कथन है :

'अश्रद्धया च यद्दत्तं तत्तामसमुदाहृतम्'

[जो दान विना श्रद्धा के दिया जाता है उसे तामस कहा है ।]

अश्राद्धभोजी—श्राद्ध में भोजन न करने वाला, प्रशंसनीय ब्राह्मण । श्राद्ध का अन्न न खाने वाला ब्राह्मण पवित्र आचारवान् या त्यागी माना जाता है । कुछ श्राद्धों में भोजन करने के बदले प्रायश्चित्त करने का आदेश स्मृतियों में पाया जाता है ।

अश्वग्रीव—विष्णु से द्वेष करनेवाला असुर । महाभारत में कहा है :

'अश्वग्रीवश्च सूक्ष्मश्च तुहुण्डश्च महाबलः ।'

[अश्वग्रीव, सूक्ष्म, तुहुण्ड, महाबल ये दैत्य हैं ।]

वृष्णिवंशज चित्रक का एक पुत्र, जो राजा हो गया :

'अश्वग्रीव इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।'

अश्वत्थ—हिन्दुओं का पूज्य पीपल वृक्ष । इसे विश्ववृक्ष भी कहते हैं । इसका एक नाम वासुदेव भी है । ऐसा विश्वास है कि इसके पत्ते-पत्ते में देवताओं का वास है ।

काम-कर्मरूपी वायु के द्वारा प्रेरित, नित्य प्रचलित स्वभाव एवं शीघ्र विनाशी होने के कारण तथा कल भी रुकेगा ऐसा विश्वास न होने के कारण, मायामय संसार-वृक्ष को भी अश्वत्थ कहते हैं ।

इसके पर्याय हैं—(१) बोधिद्रुम, (२) चलदल, (३) पिप्पल, (४) कुञ्जराशन, (५) अच्युतावास, (६) चलपत्र, (७) पवित्रक, (८) शुभद, (९) बोधिवृक्ष, (१०) याज्ञिक, (११) गजभक्षक, (१२) श्रीमान्, (१३) क्षीरद्रुम, (१४) विप्र, (१५) मङ्गल्य, (१६) श्यामल, (१७) गुह्यपुष्प, (१८) सेव्य, (१९) सत्य, (२०) शुचिद्रुम और (२१) धनवृक्ष ।

ऋग्वेद में अश्वत्थ की लकड़ी के पात्रों का उल्लेख है । परवर्ती काल के ग्रन्थों में इस वृक्ष का अत्यधिक उल्लेख किया गया है । इसकी कठोर लकड़ी अग्नि जलाते समय शमी की लकड़ी कें ऊपर रखी जाती थी । यह अपनी जड़ों को दूसरे वृक्ष के तने में स्थापित कर उन्हें नष्ट कर देता है, विशेष कर खदिर नामक वृक्ष को । इसी कारण इसे वैबाध भी कहते हैं । इसके फलों को मिष्टान्न के अर्थ में उद्धृत किया गया है, जिसे पक्षी खाते हैं (ऋ० १.१६४, २०) । देवता लोग इस वृक्ष के नीचे तीसरे स्वर्ग में निवास करते हैं (अ० वे० ५.४, ३; छा० उ० ८.५, २; कौ० उ० ९.३) ।

अश्वत्थ एवं न्यग्रोध को शिखण्डी भी कहते हैं । इस वृक्ष की लकड़ी के पात्र यज्ञों में काम में लाये जाते हैं ।

इस वृक्ष का धार्मिक महत्त्व अधिक है । गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि 'वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ ।' विश्ववृक्ष से इसकी तुलना की गयी है ।

इसको चैत्यवृक्ष भी कहते हैं । इसके नीचे पूजा-अर्चा आदि होती हैं ।

अश्वत्थव्रत—अपशकुन, आक्रमण, संक्रामक बीमारियों, जैसे कुष्ठ आदि के फैलने, के समय अश्वत्थ का पूजन किया जाता है । दे० व्रतार्क, पत्रात्मक, पृ० ४०६, ४०८ ।

अश्वदीक्षा—आश्विन शुक्ल पक्ष में जब स्वाति नक्षत्र का चन्द्रमा हो उस दिन यह व्रत किया जाता है । इन्द्र के घोड़े (उच्चैःश्रवा) तथा अपने घोड़ों का इस समय सम्मान करना चाहिए । यदि नवमी तिथि हो तो शान्तिपाठ के साथ चार भिन्न रंगों में रंगे हुए धागों को घोड़ों की

गर्दनों में बाँधना चाहिए । दे० नीलमत पुराण, पृष्ठ ७७, पद्य ९४३-९४७ ।

अश्वपूजा—आश्विन शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से नवमी पर्यन्त यह व्रत किया जाता है । दे० 'आश्विन' ।

अश्वमुख—घोड़े के समान मुख वाला, किन्नर (स्त्री अश्वमुखी, किन्नरी) । किम्पुरुष इसका एक अन्य पर्याय है ।

अश्वमेध—वैदिक यज्ञों में अश्वमेध यज्ञ का महत्त्वपूर्ण स्थान है । यह महाक्रतुओं में से एक है । ऋग्वेद में इससे सम्बन्धित दो मन्त्र हैं । शतपथ ब्राह्मण (१३.१-५) में इसका विशद वर्णन प्राप्त होता है । तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.८-९), कात्यायनीय श्रौतसूत्र (२०), आपस्तम्ब (२०), आश्वलायन (१०.६), शांखायन (१६) तथा दूसरे समान ग्रन्थों में इसका वर्णन प्राप्त होता है । महाभारत (१०.७१.१४) में महाराज युधिष्ठिर द्वारा कौरवों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् पाप मोचनार्थ किये गये अश्वमेध यज्ञ का विशद वर्णन है । अश्वमेध मुख्यतः राजनीतिक यज्ञ था और इसे वही सम्राट् कर सकता था, जिसका आधिपत्य अन्य सभी नरेश मानते थे । आपस्तम्ब ने लिखा है : 'राजा सार्वभौमः अश्वमेधेन यजेत् । नाप्यसार्वभौमः' [सार्वभौम राजा अश्वमेध यज्ञ करे असार्वभौम कदापि नहीं ।] यह यज्ञ उसकी विस्तृत विजयों, सम्पूर्ण अभिलाषाओं की पूर्ति एवं शक्ति तथा साम्राज्य की वृद्धि का द्योतक होता था । दिग्विजय-यात्रा के पश्चात् साफल्यमण्डित होने पर इस यज्ञ का अनुष्ठान होता था । ऐतरेय ब्राह्मण (८.२०) इस यज्ञ के करनेवाले महाराजों की सूची प्रस्तुत करता है, जिन्होंने अपने राज्यारोहण के पश्चात् पृथ्वी को जीता एवं इस यज्ञ को किया । इस प्रकार यह यज्ञ सम्राट् का प्रमुख कर्तव्य समझा जाने लगा । जनता इसमें भाग लेने लगी एवं इसका पक्ष धार्मिक की अपेक्षा अधिक सामाजिक होता गया । वाक्चातुर्य, शास्त्रार्थ आदि के प्रदर्शन का इसमें समावेश हुआ । इस प्रकार इस यज्ञ ने दूसरे श्रौत यज्ञों से भिन्न रूप ग्रहण कर लिया ।

यज्ञ का प्रारम्भ वसन्त अथवा ग्रीष्म ऋतु में होता था तथा इसके पूर्व प्रारम्भिक अनुष्ठानों में प्रायः एक वर्ष का समय लगता था । सर्वप्रथम एक अयुक्त अश्व चुना जाता था । यह शुद्ध जाति का, मूल्यवान् एवं विशिष्ट चिह्नों से युक्त होता था । यज्ञ स्तम्भ में बाँधने के प्रतीकात्मक कार्य से मुक्त कर इसे स्नान कराया जाता था तथा एक वर्ष तक अबन्ध दौड़ने तथा बूढ़े घोड़ों के साथ खेलने दिया जाता था । इसके पश्चात् इसकी दिग्विजय यात्रा प्रारम्भ होती थी । इसके सिर पर जयपत्र बाँधकर छोड़ा जाता था । एक सौ राजकुमार, एक सौ राजसभासद, एक सौ उच्चाधिकारियों के पुत्र तथा एक सौ छोटे अधिकारियों के पुत्र इसकी रक्षा के लिए सशस्त्र पीछे-पीछे प्रस्थान करते थे । इसके स्वतन्त्र विचरण में कोई बाधा उपस्थित नहीं होने देते थे । इस अश्व के चुराने या इसे रोकने वाले नरेश से युद्ध होता था । यदि यह अश्व खो जाता तो दूसरे अश्व से यह क्रिया आरम्भ से पुनः की जाती थी ।

जब यह अश्व दिग्विजय-यात्रा पर जाता था तो स्थानीय लोग इसके पुनरागमन की प्रतीक्षा करते थे । मध्यकाल में अनेकों प्रकार के उत्सव मनाये जाते थे । सवितृदेव को नित्य उपहार दिया जाता था । राजा के सम्मुख पुरोहित उत्सव के मध्य मन्त्रगान करता था । इस मन्त्रगान का चक्र प्रत्येक ग्यारहवें दिन दुहराया जाता था । इसमें गान, वंशीवादन तथा वेद के विशेष अध्यायों का पाठ होता था । इस अवसर पर राजकवि राजा की प्रशंसा में रचित गीतों को सुनाता था । मन्त्रगान नाटक के रूप में विविध प्रकार के पात्रों, वृद्ध, नवयुवक, सँपेरों, डाकू, मछुवा, आखेटक एवं ऋषियों के माध्यम से प्रस्तुत होता था । जब वर्ष समाप्त होता और अश्व वापस आ जाता, तब राजा की दीक्षा के साथ यज्ञ प्रारम्भ होता था ।

वास्तविक यज्ञ तीन दिन चलता था, जिसमें अन्य पशुयज्ञ होते थे एवं सोमरस भी निचोड़ा जाता था । दूसरे दिन यज्ञ का अश्व स्वर्णाभरण से सुसज्जित कर, तीन अन्य अश्वों के साथ एक रथ में नाधा जाता था और उसे चारों ओर घुमाकर फिर स्नान कराते थे । फिर वह राजा की तीन प्रमुख रानियों द्वारा अभिषिक्त एवं सुसज्जित किया जाता था, जब कि होता एवं प्रमुख पुरोहित ब्रह्मोद्य करते थे । पुनः अश्व एक बकरे के साथ यज्ञस्तम्भ में बाँध दिया जाता था । दूसरे पशु जो सैकड़ों की संख्या में होते थे, बलि के लिए स्तम्भों में बाँधे जाते थे । कपड़ों से ढककर इनका श्वास फुलाया जाता था । पुनः मुख्य रानी अश्व के साथ वस्त्रावरण के भीतर प्रतीकात्मक रूप से लेटती थी । पुरोहितादि ब्राह्मण महिलाओं के साथ प्रमोदपूर्वक प्रश्नोत्तर करते थे (वाजसनेयी-संहिता, २३,२२) । ज्यों ही मुख्य

रानी उठ खड़ी होती, त्यों ही चातुरीपूर्वक यज्ञ-अश्व काट दिया जाता था। अनेकों अबोधगम्य कृत्यों के पश्चात्, जिसमें सभी पुरोहित एवं यज्ञ करनेवाले सम्मिलित होते थे, अश्व के विभिन्न भागों को भूनकर प्रजापति को आहुति दी जाती थी। तीसरे दिन यज्ञकर्त्ता को विशुद्धि-स्नान कराया जाता, जिसके बाद वह यज्ञ कराने वाले पुरोहितों तथा ब्राह्मणों को दान देता था। दक्षिणा जीते हुए देशों से प्राप्त धन का एक भाग होती थी। कहीं-कहीं दासियों सहित रानियों को भी उपहार सामग्री के रूप में दिये जाने का उल्लेख पाया जाता है।

अश्वमेध ब्रह्महत्या आदि पापक्षय, स्वर्ग प्राप्ति एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए भी किया जाता था।

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद अश्वमेध प्रायः बन्द ही हो गया। इसके परवर्ती उल्लेख प्रायः परम्परागत हैं। इनमें भी इस यज्ञ के बहुत से श्रौत अङ्ग संपन्न नहीं होते थे।

अश्वमेधिक—अश्वमेध याग के उपयुक्त घोड़ा। देखिए 'अश्वमेध'।

अश्वयुज् (क्)—अश्विनी नक्षत्र; आश्विन मास।

अश्वल—विदेहराज जनक का पुरोहित जो बृहदारण्यक उपनिषद् में एक प्रामाणिक विद्वान् कहा गया है। ऋग्वेद के श्रौत सूत्रों में सबसे प्रथम आश्वलायनश्रौतसूत्र समझा जाता है, जो बारह अध्यायों में विभक्त है। कुछ लोगों का कहना है कि अश्वल ऋषि ही उस सूत्रग्रन्थ के रचयिता हैं। ऐतरेय आरण्यक के चौथे काण्ड के प्रणेता का नाम भी आश्वलायन है।

अश्वव्रत—यह संवत्सर व्रत है। इसका इन्द्र देवता है। द्रे० मत्स्य पुराण, १०१.७१ तथा हेमाद्रि, व्रत खण्ड।

अश्विनौ (अश्विन्)—ये वैदिक आकाशीय देवता हैं और दो भाई हैं तथा इनका 'उषा' से समीपी सम्बन्ध है, क्योंकि तीनों का उदय एक साथ ही प्रातः काल होता है। निश्चय ही यह दिन-रात्रि का सन्धि काल है क्योंकि अग्नि, उषा एवं सूर्य के उदय काल का अश्विन् के उदय-काल से साम्य है (ऋ० १.१५७)। 'सूर्य की पुत्री तीन बैठकों से युक्त अश्विनौ के रथ में सवार होती है' (ऋ० १.२४.५ आदि)। आशय यह है कि उषा (पौ फटना) एवं सन्धिकालीन धीमा प्रकाश (प्रातःकालीन नक्षत्र अश्विनौ) दोनों एक ही काल में प्रकट होते हैं। इस प्रकार साथ-साथ उदय से उषा एवं अश्विनौ भाइयों में प्रेम का आरोपण किया गया गया है और उषा देवी ने दोनों अश्वारोहियों को अपना सहयोगी चुना है। समस्या और भी उलझ जाती है जब कि सूर्यपुत्री को अश्विनौ की बहिन तथा पत्नी दोनों कहा जाता है (ऋ० १.१८०.२)। वास्तव में यह सम्पूर्ण वर्णन आलंकारिक और रूपकात्मक है।

अश्विनौ के वाहन अश्व ही नहीं, अपितु पक्षी भी कहे गये हैं। उनका रथ मधु हाँकता है। उसके हाथ में मधु का ही कोड़ा है। ओल्डेनवर्ग ने इसका अर्थ प्रातःकालीन ओस-बूँदें तथा ग्रिफिथ ने जीवनदायक प्रभात वायु लगाया है। उनके वाहन पक्षी रक्त वर्ण के हैं। उनका पथ रक्तवर्ण एवं स्वर्णवर्ण है। अश्विनौ का जो भी भौतिक आधार हो, वे स्पष्टतः उषा एवं दिन के अग्रदूत हैं।

इनका दूसरा पक्ष है दुःख से मुक्ति देना एवं आश्चर्यजनक कार्य करना। अश्विनौ विपत्ति में सहायता करते हैं। वे देवताओं के चिकित्सक हैं जो प्रत्येक रोग से मुक्ति देते हैं, खोयी हुई दृष्टि दान करते हैं, शारीरिक क्षतों को पूरते हैं और अस्वास्थ्यकारी एवं पीड़क बाणों से बचाते हैं। वे गौ एवं अश्व-धन से परिपूर्ण हैं एवं उनका रथ धन एवं भोजन से भरा रहता है। इनके दुःख से मुक्ति देने के चार उदाहरण ऋग्वेद (७.७१.५) में दिये हुए हैं : उन्होंने बूढ़े महर्षि च्यवन को युवक बना दिया, उनके जीवन को बढ़ा दिया तथा उन्हें अनेक कुमारियों का पति होने में समर्थ बनाया। इन्होंने जलते हुए अग्निकुण्ड से अत्रि का उद्धार किया।

अश्विनौ के वंश का विविधता से वर्णन मिलता है। कई बार उन्हें द्यौ की सन्तान कहा गया है। एक स्थान पर सिन्धु को उनकी जननी कहा गया है (निःसन्देह यह आकाशीय सिन्धु है और इसका सम्भवतः अर्थ है आकाश का पुत्र)। एक स्थान पर उन्हें विवस्वान् की जुड़वाँ सन्तान कहा गया है। अश्विनौ का निकट सम्बन्ध प्रेम, विवाह, पुरुषत्व एवं संतान से है। वे सोम एवं सूर्या के विवाह में वर के मध्यस्थ के रूप से प्रस्तुत किये गये हैं। वे सूर्या को अपने रथ पर लाये। इस प्रकार वे नवविवाहिताओं को वरगृह में लाने का कार्य करते हैं। वे

सन्तान के निमित्त पूजित होते हैं (ऋ० १०.१८४.२) ।

पौराणिक पुराकथाओं में अश्विनौ का उतना महत्व नहीं है, जितना वैदिक साहित्य में । फिर भी अश्विनीकुमार के नाम से इनकी बहुत सी कथाएँ प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होती हैं । दे० 'अश्विनीकुमार' ।

अश्विनी—सत्ताईस नक्षत्रों के अन्तर्गत प्रथम नक्षत्र । अश्विनी से लेकर रेवती तक सत्ताईस तारागण दक्ष की कन्या होने के कारण 'दाक्षायणी' कहलाते हैं । अश्विनी चन्द्रमा की भार्या तथा नव-पादात्मक मेषराशि के आदि चार पाद रूप हैं, इसके स्वामी देवता अश्वारूढ अश्विनीकुमार हैं ।

अश्विनीकुमार—आयुर्वेद के आचार्यों में अश्विनीकुमारों की गणना होती है । सुश्रुत ने लिखा है कि ब्रह्मा ने पहले पहल एक लाख श्लोकों का आयुर्वेद (ग्रन्थ) बनाया जिसमें एक सहस्र अध्याय थे । उसको प्रजापति ने पढ़ा प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने और अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने पढ़ा । इन्द्र से धन्वन्तरि ने और धन्वन्तरि से सुनकर सुश्रुत मुनि ने आयुर्वेद की रचना की । अश्विनीकुमारों ने च्यवन ऋषि को यौवन प्रदान किया । अश्विनीकुमार वैदिक अश्विनौ ही हैं, जो पीछे पौराणिक रूप में इस नाम से चित्रित होने लगे ।

ये अश्वरूपिणी संज्ञा नामक सूर्यपत्नी के युगल पुत्र तथा देवताओं के वैद्य हैं । हरिवंश पुराण में लिखा है :

विवस्वान् कश्यपाज्जज्ञे दाक्षायण्यामरिन्दम ।
तस्य भार्याभवत्संज्ञा त्वाष्ट्री देवी विवस्वतः ।।
देवौ तस्यामजायेतामश्विनौ भिषजां वरौ ।

[हे अरिन्दम ! कश्यप से दक्ष प्रजापति की कन्या द्वारा विवस्वान् नामक पुत्र हुआ । उसकी पत्नी त्वष्टा की पुत्री संज्ञा थी । उससे अश्विनीकुमार नामक दो पुत्र हुए जो श्रेष्ठ वैद्य थे ।] दे० 'अश्विन्' ।

अष्टक—आठ का समूह, अष्ट संख्या से विशिष्ट । यथा

गङ्गाष्टकं पठति यः प्रयतः प्रभाते
वाल्मीकिना विरचितं सुखदं मनुष्यः ।।

[जो मनुष्य प्रभात समय में प्रेमपूर्वक सुख देने वाला, वाल्मीकि मुनि द्वारा रचित गङ्गाष्टक पढ़ता है ।]

अच्युतं केशवं विष्णुं हरिं सत्यं जनार्दनम् ।
हंसं नारायणञ्चैव एतन्नामाष्टकं शुभम् ।।

[अच्युत, केशव, विष्णु, हरि, सत्य, जनार्दन, हंस, नारायण, ये आठ नाम शुभदायक हैं ।]

अष्टका—श्राद्ध के योग्य कुछ अष्टमी तिथियाँ । आश्विन, पौष, माघ, फाल्गुन मासों की कृष्णाष्टमी अष्टका कहलाती हैं । इनमें श्राद्ध करना आवश्यक है ।

अष्टगन्ध—आठ सुगन्धित द्रव्य, जिनको मिलाकर देवपूजन, यन्त्रलेखन आदि के लिए सुगन्धित चन्दन तैयार किया जाता है । विभिन्न देवताओं के लिए इनमें कुछ वस्तुएँ अलग-अलग होती हैं । साधारणतया इनमें चन्दन, अगर, देवदारु, केसर, कपूर, शैलज, जटामांसी और गोरोचन माने जाते हैं ।

अष्टछाप—पुष्टिमार्गीय आचार्य वल्लभ के काव्यकीर्तनकार चार प्रमुख शिष्य थे तथा उनके पुत्र विट्ठलनाथ के भी ऐसे ही चार शिष्य थे । आठों व्रजभूमि (मथुरा के चारों ओर के समीपी गाँवों) के निवासी थे और श्रीनाथजी के समक्ष गान रचकर गाया करते थे । उनके गीतों के संग्रह को 'अष्टछाप' कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ आठ मुद्राएँ है । उन्होंने व्रजभाषा में श्री कृष्ण विषयक भक्तिरसपूर्ण कविताएँ रचीं । उनके बाद सभी कृष्णभक्त कवि व्रजभाषा में ही कविता लिखने लगे । अष्टछाप के कवि निम्नलिखित हुए हैं—

(१) कुम्भनदास (१४६८-१५८२ ई०)
(२) सूरदास (१४७८-१५८० ई०)
(३) कृष्णदास (१४९५-१५७५ ई०)
(४) परमानन्ददास (१४९१-१५८३ ई०)
(५) गोविन्ददास (१५०५-१५८५ ई०)
(६) छीतस्वामी (१४८१-१५८५ ई०)
(७) नन्ददास (१५३३-१५८६ ई०)
(८) चतुर्भुजदास

इनमें सूरदास प्रमुख थे । अपनी निश्छल भक्ति के कारण ये लोग भगवान् कृष्ण के 'सखा' भी माने जाते हैं । परम भागवत होने के कारण ये 'भगवदीय' भी कहलाते हैं । ये लोग विभिन्न वर्णों के थे । परमानन्द कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे । कृष्णदास शूद्रवर्ण के थे । कुम्भनदास क्षत्रिय थे किन्तु कृषक का काम करते थे । सूरदास जी किसी के मत में सारस्वत ब्राह्मण और किसी के मत में ब्रह्मभट्ट थे । गोविन्ददास सनाढ्य ब्राह्मण और छीतस्वामी माथुर चौबे थे । नन्ददास भी सनाढ्य ब्राह्मण थे । अष्टछाप के भक्तों में बड़ी उदारता पायी जाती है । 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में इनका जीवनवृत्त विस्तार से पाया जाता है ।

अष्टमङ्गल—आठ प्रकार के मङ्गलद्रव्य या शुभकारक वस्तुएँ । नन्दिकेश्वर पुराणोक्त दुर्गोत्सवपद्धति में कथन है :

मृगराजो वृषो नागः कलशो व्यजनं तथा ।
वैजयन्ती तथा भेरी दीप इत्यष्टमङ्गलम् ॥

[सिंह, बैल, हाथी, कलश, पंखा, वैजयन्ती, ढोल तथा दीपक ये आठ मङ्गल कहे गये हैं ।]

शुद्धितत्त्व में भिन्न प्रकार से कहा गया है :

लोकेस्मिन् मङ्गलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशनः ।
हिरण्यं सर्पिरादित्य आपो राजा तथाष्टमः ॥

[इस लोक में ब्राह्मण, गौ, अग्नि, सोना, घी, सूर्य, जल तथा राजा ये आठ मङ्गल कहे गये हैं ।]

अष्टमी—आठवीं तिथि, यह चन्द्रमा की आठ कला-क्रियारूप है । शुक्ल पक्ष में अष्टमी नवमी से युक्त ग्रहण करनी चाहिए । कृष्ण पक्ष की अष्टमी सप्तमी से युक्त ग्रहण करनी चाहिए, यथा :

कृष्णपक्षेऽष्टमी चैव कृष्णपक्षे चतुर्दशी ।
पूर्वविद्धैव कर्तव्या परविद्धा न कुत्रचित् ॥
उपवासादिकार्येषु एष धर्मः सनातनः ॥

[उपवास आदि कार्यों में कृष्ण पक्ष की अष्टमी तथा कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी पूर्वविद्धा ही लेनी चाहिए न कि परविद्धा । यही परम्परागत रीति है ।]

अष्टमीव्रत—लगभग तीस अष्टमीव्रत हैं, जिनका उचित स्थानों पर उल्लेख किया गया है । सामान्य नियम यह है कि शुक्ल पक्ष की नवमीविद्धा अष्टमी को प्राथमिकता प्रदान की जाय तथा कृष्ण पक्ष में सप्तमीसंयुक्त अष्टमी ली जाय । दे० तिथितत्त्व, ४०, धर्मसिन्धु, १५; हेमाद्रि, व्रतखण्ड, १.८११-८८६ ।

अष्टमूर्ति—शिव का एक नाम । उनकी आठ मूर्तियों के निम्नांकित नाम हैं :

(१) क्षितिमूर्ति शर्व, (२) जलमूर्ति भव, (३) अग्निमूर्ति रुद्र, (५) वायुमूर्ति उग्र, (५) आकाशमूर्ति भीम, (६) यजमानमूर्ति पशुपति, (७) चन्द्रमूर्ति महादेव और (८) सूर्यमूर्ति ईशान । शरभरूपी शिव के ये आठ चरण भी कहे गये हैं । दे० कालिकापुराण और तन्त्रशास्त्र । शिव की आठ मूर्तियाँ इस प्रकार भी कही गयी हैं :

अथाग्निः रविरिन्दुश्च भूमिरापः प्रभञ्जनः ।
यजमानः खमष्टौ च महादेवस्य मूर्तयः ॥

[अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, भूमि, जल, वायु, यजमान, आकाश ये आठ महादेव की मूर्तियाँ हैं ।]

अष्टश्रवा—जिनके आठ कान हैं; ब्रह्मा का एक उपनाम । चार मुख वाले ब्रह्मा के प्रत्येक मुख के दो दो कान होने के कारण उनको आठ कानों वाला कहते हैं ।

अष्टाकपाल—आठ कपालों (मिट्टी के तसलों) में पका हुआ होमान्न । यह एक यज्ञकर्म भी है, जिसमें आठ कपालों में पुरोडाश (रोट) पकाकर हवन किया जाता है ।

अष्टाङ्ग—देवदर्शन की एक विधि, जिसमें शरीर के आठ अंगों से परिक्रमा या प्रणाम किया जाता है । आत्मउद्धार अथवा आत्मसमर्पण की रीतियों में 'अष्टाङ्ग प्रणिपात' भी एक है । इसका अर्थ है (१) आठों अङ्गों से (पेट के बल) गुरु या देवता के प्रसन्नतार्थ सामने लेट जाना। (२) इसी रूप में पुनः पुनः लेटते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना । इसके अनुसार किसी पवित्र वस्तु की परिक्रमा या दण्डवत् प्रणाम उपर्युक्त रीति से किया जाता है । अष्टाङ्ग-परिक्रमा बहुत पुण्यदायिनी मानी जाती है । साधारण जन इसको 'डंडौती देना' कहते हैं । इसका विवरण यों है :

उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा ।
पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यां प्रणामोऽष्टांग उच्यते ॥

[छाती, मस्तक, नेत्र, मन, वचन, पैर, जंघा और हाथ—आठ अंगों से झुकने पर अष्टांग प्रणाम होता है ।]

(स्त्रियों को पञ्चांग प्रणाम करने का विधान है ।)

अष्टाङ्गयोग—(१) पतञ्जलि के निर्देशानुसार आठ अंगों की योग साधना । इसके आठ अङ्ग निम्नांकित हैं :

१. यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह)
२. नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान)
३. आसन (स्थिरता तथा सुख से बैठना)
४. प्राणायाम (श्वास का नियमन—रेचक, पूरक तथा कुम्भक)
५. प्रत्याहार (इन्द्रियों का अपने विषयों से प्रत्यावर्तन)
६. धारणा (चित्त को किसी स्थान में स्थिर करना)
७. ध्यान (किसी स्थान में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एक प्रवाह में संलग्न है, तब उसे ध्यान कहते हैं ।

८. समाधि (जब ध्यान अपना स्वरूप छोड़कर ध्येय के आकार में भासित होता है तब उसे समाधि कहते हैं।) समाधि की अवस्था में ध्यान और ध्याता का भान नहीं रहता, केवल ध्येय रह जाता है। ध्येय के ही आकार को चित्त धारण कर लेता है। इस स्थिति में ध्यान, ध्याता और ध्येय की एक समान प्रतीति होती है।

(२) 'अष्टाङ्गयोग' नामक दो ग्रन्थों का भी पता चलता है। एक तो श्री चरनदास रचित है, जो चरनदासी पंथ के चलाने वाले थे। इस पंथ में योग की प्रधानता है, यद्यपि ये उपासना राधा-कृष्ण की करते हैं। रचनाकाल अठारहवीं शती है। दूसरा 'अष्टाङ्गयोग' गुरु नानक का रचा बताया जाता है।

धारणा, ध्यान और समाधि योग के इन तीन अङ्गों को संयम कहते हैं। इनमें सफल होने से प्रज्ञा का उदय होता है। (योगसूत्र)

अष्टाङ्गार्घ्य—आठ द्रव्यों से बनाया गया पूजा का एक उपकरण। तन्त्र में कथन है :

आपः क्षीरं कुशाग्राणि दधि सर्पिः सतण्डुलाः।
यवाः सिद्धार्थकश्चैव अष्टाङ्गार्घ्यः प्रकीर्तितः॥

[जल, दूध, कुश का अग्रभाग, दही, घी, चावल, जौ, सरसों ये मिलाकर अष्टाङ्गार्घ्य कहे गये हैं।]

स्कन्दपुराण (काशीखण्ड) में कथन है :

आपः क्षीरं कुशाग्राणि घृतं मधु तथा दधि।
रक्तानि करवीराणि तथा रक्तं च चन्दनम्॥
अष्टाङ्ग एष अर्घ्यो वै मानवे परिकीर्तितः॥

[जल, दूध, कुश का अग्रभाग, घी, मधु, दही, करवीर के रक्तपुष्प तथा लालचन्दन सूर्य के लिए यह अष्टाङ्ग अर्घ्य कहा गया है।]

अष्टादशरहस्य—आचार्य रामानुजरचित एक ग्रन्थ।

अष्टादशलीलाकाण्ड—चैतन्यदेव के शिष्य एवं प्रकाण्ड विद्वान् रूप गोस्वामी का रचा हुआ एक ग्रन्थ।

अष्टादशस्मृति—इस नाम का एक प्रसिद्ध स्मृतिसंग्रह। इसमें मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ नहीं हैं। इन दो के अतिरिक्त जिन स्मृतियों का संग्रह इसमें किया गया है, वे हैं :

१. अत्रिस्मृति, २. विष्णुस्मृति, ३. हारीतस्मृति, ४. औशनसस्मृति, ५. आङ्गिरसस्मृति, ६. यमस्मृति, ७. आपस्तम्बस्मृति, ८. संवर्तस्मृति, ९. कात्यायनस्मृति, १०. वृहस्पतिस्मृति, ११. पराशरस्मृति, १२. व्यासस्मृति, १३. शङ्ख-लिखितस्मृति, १४. दक्षस्मृति, १५. गौतमस्मृति, १६. शातातपस्मृति, १७. वसिष्ठस्मृति और १८. स्मृतिकौस्तुभ।

इस संग्रह में विष्णुस्मृति भी सम्मिलित है, किन्तु उसके केवल पाँच अध्याय ही दिये गये हैं, जब कि वङ्गवासी प्रेस की छपी विष्णुसंहिता में कुल मिलाकर एक सौ अध्याय हैं।

अष्टाध्यायी—पाणिनिरचित संस्कृत व्याकरण का प्रसिद्ध ग्रन्थ। इसमें आठ अध्याय हैं। इसका भारतीय भाषाओं पर बहुत बड़ा प्रभाव है। साथ ही इसमें यथेष्ट इतिहास विषयक सामग्री भी उपलब्ध है। वैदिक भाषा को ज्ञेय, विश्वस्त, बोधगम्य एवं सुन्दर बनाने की परम्परा में पाणिनि अग्रणी हैं। संस्कृत भाषा का तो यह ग्रन्थ आधार ही है। उनके समय तक संस्कृत भाषा में कई परिवर्त्तन हुए थे, किन्तु अष्टाध्यायी के प्रणयन से संस्कृत भाषा में स्थिरता आ गयी तथा यह प्रायः अपरिवर्त्तनशील बन गयी।

अष्टाध्यायी में कुल सूत्रों की संख्या ३९९६ है। इसमें सन्धि, सुबन्त, कृदन्त, उणादि, आख्यात, निपात, उपसंख्यान, स्वरविधि, शिक्षा और तद्धित आदि विषयों का विचार है। अष्टाध्यायी के पारिभाषिक शब्दों में ऐसे अनेक शब्द हैं जो पाणिनि के अपने बनाये हैं और बहुत से ऐसे शब्द हैं जो पूर्वकाल से प्रचलित थे। पाणिनि ने अपने रचे शब्दों की व्याख्या की है और पहले के अनेक पारिभाषिक शब्दों की भी नयी व्याख्या करके उनके अर्थ और प्रयोग का विकास किया है। आरम्भ में उन्होंने चतुर्दश सूत्र दिये हैं। इन्हीं सूत्रों के आधार पर प्रत्याहार बनाये गये हैं, जिनका प्रयोग आदि से अन्त तक पाणिनि ने अपने सूत्रों में किया है। प्रत्याहारों से सूत्रों की रचना में अति लाघव आ गया है। गणसमूह भी इनका अपना ही है। सूत्रों से ही यह भी पता चलता है कि पाणिनि के समय में पूर्व-अञ्चल और उत्तर-अञ्चलवासी दो श्रेणी वैयाकरणों की थीं जो पाणिनि की मण्डली से अतिरिक्त रही होंगी।

अष्टावक्र—एक ज्ञानी ऋषि । इनका शरीर आठ स्थानों में वक्र (टेढ़ा) था, अतः इनका नाम 'अष्टावक्र' पड़ा । पुराकथा के अनुसार ये एक बार राजा जनक की सभा में गये । वहाँ सभासद् इनको देखकर हँस पड़े । अष्टावक्र क्रुद्ध होकर बोले, 'यह चमारों की सभा है । मैं समझता था कि पण्डितों की सभा होगी ।'' जनक ने पूछा, भगवन् ! ऐसा क्यों कहा गया ? अष्टावक्र ने उत्तर दिया, ''आपकी सभा में बैठे लोग केवल चमड़े को पहचानते हैं, आत्मा और उसके गुण को नहीं ।'' इस पर सभासद् बहुत लज्जित हुए । तब अष्टावक्र ने आत्मतत्त्व का निरूपण किया ।

यह एक पण्डित का नाम भी है, जिन्होंने मानव गृह्यसूत्र पर वृत्ति लिखी है ।

अष्टारचक्रवान्—जागृत अष्टकोण चक्रवाला, समाधिसिद्ध योगी, जिसकी कुण्डलिनी का अष्टदल कमल विकसित हो गया हो । एक जैन आचार्य, जिनके पर्याय हैं—(१) मञ्जुश्री, (२) ज्ञानदर्पण, (३) मञ्जुभद्र, (४) मञ्जुघोष, (५) कुमार, (६) स्थिरचक्र, (७) वज्रधर, (८) प्रज्ञाकाय, (९) वादिराज, (१०) नीलोत्पली, (११) महाराज, (१२) नील, (१३) शार्दूलवाहन, (१४) धियाम्पति, (१५) पूर्वजिन, (१६) खड्गी, (१७) दण्डी, (१८) विभूषण, (१९) बालव्रत, (२०) पञ्चचीर, (२१) सिंहकेलि, (२२) शिखावर, (२३) वागीश्वर ।

अष्टाविंशतितत्त्व—वङ्ग प्रदेशवासी रघुनन्दन भट्टाचार्य कृत 'अष्टाविंशतितत्त्व' सोलहवीं शताब्दी का ग्रन्थ है, जिसको प्राचीनतावादी हिन्दू बड़े ही आदर की दृष्टि से देखते हैं । इस ग्रन्थ में हिन्दुओं के धार्मिक कर्त्तव्यों का विशद वर्णन किया गया है ।

असती—दुराचारिणी, स्वैरिणी, व्यभिचारिणी । उसके पर्याय हैं—(१) पुंश्चली, (२) धर्षिणी, (३) बन्धकी, (४) कुलटा, (५) इत्वरी, (६) पांसुला, (७) धृष्टा, (८) दुष्टा, (९) धर्षिता, (१०) लङ्का, (११) निशांचरी, (१२) त्रपारण्डा ।

असत्पथ—कुमार्ग, जो अच्छा मार्ग नहीं है, पाप का रास्ता । (१) कुपथ, (२) कापथ, (३) दुरध्व, (४) अपथ, (५) कदध्वा, (६) विपथ और (७) कुत्सितवर्त्म ।

असाध्वी—जो साध्वी नहीं, अपतिव्रता ।

असि—जो स्नान से पापों को दूर करती है [अस् + इन्] । नदी विशेष । यह काशी की दक्षिण दिशा में स्थित बरसाती नदी है । जहाँ गङ्गा और असि का संगम होता है वह अस्सीघाट कहलाता है :

> असिश्च वरणा यत्र क्षेत्ररक्षाकृतौ कृते ।
> वाराणसीति विख्याता तदारभ्य महामुने ॥

[असि और वरणा को नगरी की सीमा पर रख दिया गया, उनका सङ्गम प्राप्त करके काशिका उस समय से वाराणसी नाम से विख्यात है ।]

असित—प्राचीन वेदान्ताचार्यों में एक, जो गीता के अनुसार व्यासजी के समकक्ष माने गये हैं : ''असितो देवलो व्यासः'' (गीता १०,१३) ।

असितमृग—ऐतरेय ब्राह्मण में इसे कश्यप परिवार की उपाधि बताया गया है । ये जनमेजय के एक यज्ञ में सम्मिलित नहीं किये गये थे, किन्तु राजा ने जिस पुरोहित को यज्ञ करने के लिए नियुक्त किया, उस भूतवीर से असितमृग ने यज्ञ की परिचालना ले ली थी । जैमिनीय तथा षड्विंश ब्राह्मणों में असितमृगों को कश्यपों का पुत्र कहा गया है और उनमें से एक को 'कुसुरबिन्दु औद्दालकि' संज्ञा दी गयी है ।

असिधाराव्रत—तलवारों की धार पर चलने के समान अति सतर्कता के साथ की जाने वाली साधना । इसमें व्रतकर्ता को आश्विन शुक्ल पूर्णिमा से लेकर पाँच अथवा दस दिनों तक अथवा कार्तिकी पूर्णिमा तक अथवा चार मास पर्यन्त, अथवा एक वर्ष पर्यन्त, अथवा बारह वर्ष तक बिछावन रहित भूमिशयन करना, गृह से बाहर स्नान, केवल रात्रि में भोजन तथा पत्नी के रहते हुए भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए । क्रोधमुक्त होकर जप में निमग्न तथा हरि के ध्यान में तल्लीन रहना चाहिए । भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को दान-पुण्य में दिया जाय । यह क्रम दीर्घ काल तक चले । बारह वर्ष पर्यन्त इस व्रत का आचरण करने वाला विश्वविजयी अथवा विश्वपूज्य हो सकता है । दे० विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ३.२१८, १.२५ ।

असिधारा शब्द के अर्थानुसार इस व्रत का उतना कठिन तथा तीक्ष्ण होना है, जितना तलवार की धार पर चलना । कालिदास ने रघुवंश (७७.१३) में रामवनवास के समय भरत द्वारा समस्त राजकीय भोगों का परित्याग कर देने को इस उग्र व्रत का आचरण करना बतलाया है :

'इयन्ति वर्षाणि तथा सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ।'

युवा युवत्या सार्धं यन्मुग्धभर्तृवदाचरेत् ।
अन्तर्विविक्तसंगः स्यादसिधाराव्रतं स्मृतम् ।।

[युवती स्त्री के साथ एकान्त में किसी युवक का मन से भी असंग रहकर भोला आचरण करना असिधाराव्रत कहा गया है ।—मल्लिनाथ]

असिपत्रवन—असि (तलवार) के समान जिसके तीक्ष्ण पत्ते हैं, ऐसा वन—एक नरक, जहाँ पर तीक्ष्ण पत्तों के द्वारा पापियों के शरीर का विदारण किया जाता है (मनु) । जो इस लोक में विना विपत्ति के ही अपने मार्ग से विचलित हो जाता है तथा पाखण्डी है उसे यमदूत असिपत्रवन में प्रविष्ट करके कोड़ों से मारते हैं । वह जीव इधर-उधर दौड़ता हुआ दोनों ओर की धारों से तालवन के खङ्गसदृश पत्तों से सब अंगों में छिद जाने के कारण "हा मैं मारा गया" इस प्रकार शब्द करता हुआ मूर्च्छित होकर पग पग पर गिरता है और अपने धर्म से पतित होकर पाखंड करने का फल भोगता है । दे० भागवत पुराण । मार्कण्डेय पुराण में भी इसका वर्णन पाया जाता है :

असिपत्रवनं नाम नरकं शृणु चापरम् ।
योजनानां सहस्रं वै ज्वलदग्न्यास्तृतावनि ।।
तप्तसूर्यकरैश्चण्डैः कल्पकालाग्नि दारुणैः ।
प्रतपन्ति सदा तत्र प्राणिनो नरकौकसः ।।
तन्मध्ये च वनं शीतं स्निग्धपत्रं विभाव्यते ।
पत्राणि यत्र खङ्गानि फलानि द्विजसत्तम ।।

[हे ब्राह्मण ! दूसरा असिपत्र नाम का नरक सुनो । वहाँ एक हजार योजन तक विस्तृत पृथ्वी पर आग जलती है, ऊपर भयङ्कर सूर्य की किरणों से तथा नीचे प्रलयकालीन अग्नि से प्राणी तपाया जाता है, उसके मध्य भाग में चिकने पत्तों वाला शीतवन है, जिसके पत्ते एवं फल खङ्ग के समान हैं ।]

असुनीति—असु = प्राण या जीवन की नीति = मार्गदर्शक उक्ति । ऋग्वेद (१०.५९.५६) में असुनीति को मनुष्य की मृत्यु पर आत्मा की पथप्रदर्शक माना गया है । असुनीति की स्तुतियों से स्पष्टतया प्रकट होता है कि वे या तो इस लोक में शारीरिक स्वास्थ्य कामनार्थ अथवा स्वर्ग में शरीर एवं इसके दूसरे सुखों की प्राप्ति के लिए की गयी हैं ।

असुर—असु = प्राण, र = वाला (प्राणवान् अथवा शक्तिमान्) । बाद में धीरे-धीरे यह भौतिक शक्ति का प्रतीक हो गया । ऋग्वेद में 'असुर' वरुण तथा दूसरे देवों के विशेषण रूप में व्यवहृत हुआ है, जिससे उनके रहस्यमय गुणों का पता लगता है । किन्तु परवर्ती युग में असुर का प्रयोग देवों (सुरों) के शत्रु रूप में प्रसिद्ध हो गया । असुर देवों के बड़े भ्राता हैं एवं दोनों प्रजापति के पुत्र हैं । असुरों ने लगातार देवों के साथ युद्ध किया और प्रायः विजयी होते रहे । उनमें से कुछ ने तो सारे विश्व पर अपना साम्राज्य स्थापित किया, जब तक कि उनका संहार इन्द्र, विष्णु, शिव आदि देवों ने नहीं किया । देवों के शत्रु होने के कारण उन्हें दुष्ट दैत्य कहा गया है, किन्तु सामान्य रूप से वे दुष्ट नहीं थे । उनके गुरु भृगुपुत्र शुक्र थे जो देवगुरु बृहस्पति के तुल्य ही ज्ञानी और राजनयिक थे ।

महाभारत एवं प्रचलित दूसरी कथाओं के वर्णन में असुरों के गुणों पर प्रकाश डाला गया है । साधारण विश्वास में वे मानव से श्रेष्ठ गुणों वाले विद्याधरों की कोटि में आते हैं । कथासरित्सागर की आठवीं तरङ्ग में एक प्रेमपूर्ण कथा में किसी असुर का वर्णन नायक के साथ हुआ है । संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों में असुर, दैत्य एवं दानव में कोई अन्तर नहीं दिखाया गया है, किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में 'दैत्य एवं दानव' असुर जाति के दो विभाग समझे गये थे । दैत्य 'दिति' के पुत्र एवं दानव 'दनु' के पुत्र थे ।

देवताओं के प्रतिद्वन्द्वी रूप में 'असुर' का अर्थ होगा—जो सुर नहीं है (विरोध में नञ्-तत्पुरुष); अथवा जिसके पास सुरा नहीं है; जो प्रकाशित करता है (सूर्य, उरन् प्रत्यय) । सुरविरोधी । उनके पर्याय हैं :

(१) दैत्य, (२) दैतेय, (३) दनुज, (४) इन्द्रारि, (५) दानव, (६) शुक्रशिष्य, (७) दितिसुत, (८) पूर्वदेव, (९) सुरद्विट्, (१०) देवरिपु, (११) देवारि ।

रामायण में असुर की उत्पत्ति और प्रकार से बतायी गयी है :

सुराप्रतिग्रहाद् देवाः सुरा इत्यभिविश्रुताः ।
अप्रतिग्रहणात्तस्या दैतेयाश्चासुराः स्मृताः ।।

[सुरा = मादक तत्त्व का उपयोग करने के कारण देवता लोग सुर कहलाये, किन्तु ऐसा न करने से दैतेय लोग असुर कहलाये ।]

असुरविद्या—शाङ्खायन एवं आश्वलायन श्रौत-सूत्रों में असुरविद्या को शतपथ ब्राह्मण में प्रयुक्त 'माया' के अर्थ में लिया गया है । इसका प्रचलित अर्थ 'जादूगरी' है । परन्तु

आश्चर्यजनक सभी भौतिक विद्याओं का समावेश इसमें हो सकता है। आसुरी (शुद्ध भौतिक) प्रवृत्ति से उत्पन्न सभी ज्ञान-विज्ञान असुरविद्या हैं। इसमें सुरविद्या अथवा दैवी विद्या (आध्यात्मिकता) को स्थान नहीं है।

अस्थिकुण्ड—हड्डियों से भरा एक नरक। ब्रह्मवैवर्तपुराण (प्रकृतिखण्ड, अध्याय २७) में कहा गया है :

पितॄणां यो विष्णुपदे पिण्डं नैव ददाति च।
स च तिष्ठत्यस्थिकुण्डे स्वलोमाब्दं महेश्वरि ॥

[हे पार्वति, जो विष्णुपद (गया) में पिता-प्रपितामहों को पिण्ड नहीं देता है वह व्यक्ति अपने रोमों के बराबर वर्षों तक अस्थिकुण्ड नामक नरक में रहता है।]

अस्थिधन्वा—हड्डियों से बना धनुष धारण करने वाला, शंकर। महर्षि दधीचि की हड्डियों से तीन धनुष बने, उनमें से शिव के लिए निर्मित धनुष का नाम 'पिनाक' था।

अस्थिमाली—हड्डियों (मुण्डों) की माला पहनने वाला। शंकर। दे० शिवशतक।

अस्पृहा—इच्छा या लालसा न होना, वितृष्णा। एकादशीतत्त्व में कथन है :

यथोत्पन्नेन सन्तोषः कर्तव्योऽत्यल्पवस्तुना।
परस्याचिन्तयित्वार्थं सास्पृहा परिकीर्तिता ॥

[मनुष्य को अत्यन्त स्वल्प वस्तु से संन्तोष कर लेना चाहिए। दूसरे के धन की कामना नहीं करनी चाहिए। उसे (इस स्थिति को) अस्पृहा कहा गया है।]

अस्वाध्याय—जिस काल में वेदाध्ययन नहीं होता। विधिपूर्वक वेद-अध्ययन न होना। अध्ययन के लिए निषिद्ध दिन। यथा, ग्रहणों का दिन। धर्मसूत्रों और स्मृतियों में अस्वाध्याय (अनध्याय) की लम्बी सूचियाँ दी हुई हैं। तदनुसार यदि सूर्य ग्रस्त दशा में अस्त हो जाय तो तीन दिन अनध्याय, अन्यथा एक दिन। सन्ध्या को मेघ गर्जन में एक दिन। माघ महीने से लेकर चार महीनों तक केवल मेघ गर्जन के दिन में। भूकम्प होने पर एक दिन। उल्कापात में एक दिन। महा-उल्कापात होने पर अकालिक अनध्याय। एक वेद समाप्ति के पश्चात् एक दिन। आरण्यक भाग की समाप्ति के पश्चात् एक दिन। पाँच वर्षों तक अध्ययन के बाद पाँच दिन। चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, श्रावण शुक्ल प्रतिपदा तथा आग्रहायण शुक्ल प्रतिपदा को एक दिन। ये प्रतिपदाएँ नित्य हैं। अन्य प्रतिपदाओं में इच्छानुसार अध्ययन किया जा सकता है। चौदह मन्वन्तर की चौदह तिथियों, चार युगों के आदि के चार दिनों ('मन्वादि' तथा 'युगादि' तिथि) तथा माघ के दोनों पक्षों की द्वितीया को दो दिन। चैत्र कृष्णपक्ष की द्वितीया को केवल एक दिन। कार्तिक के दोनों पक्षों की द्वितीया को दो दिन। अगहन महीने के दोनों पक्षों की द्वितीया को दो दिन। फाल्गुन महीने के दोनों पक्ष की द्वितीया को दो दिन अनध्याय होता है। सभी उत्सव दिनों में और अक्षय तृतीया को भी अस्वाध्याय होता है।

अस्वामिक—जिसका उत्तराधिकारी कोई न हो। स्वामिरहित वस्तु। अकर्तृक। यम ने कहा है :

अटव्यः पर्वताः पुण्या नद्यस्तीर्थानि यानि च।
सर्वाण्यस्वामिकान्याहुर्न हि तेषु परिग्रहः ॥

[अटवी, पर्वत, पुण्य नदी, जो भी तीर्थ स्थान हैं इन सबको अस्वामिक कहा गया है। इनका दान नहीं किया जा सकता।]

'पुण्य' इस विशेषण से अटवी नैमिषारण्य आदि; पर्वत हिमालय आदि; नदी गङ्गा आदि; तीर्थ पुरुषोत्तम आदि; क्षेत्र वाराणसी आदि आते हैं। स्वामी (मालिक) के अभाव में इनका परिग्रह (कब्जा) नहीं किया जा सकता।

अस्वामिविक्रय—अनधिकारी के द्वारा किया गया विक्रय। अस्वामिकर्तृक विक्रय। अस्वामिविक्रय नामक व्यवहार-पद (अभियोग, मुकदमा) का लक्षण नारद ने कहा है :

निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहृत्य च।
विक्रीयतेऽसमक्षं यत्स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः ॥

[गिरवी रखा हुआ दूसरे का धन, गिरा हुआ प्राप्त धन, अपहरण किया हुआ धन; इस प्रकार का धन यदि उसके स्वामी के समक्ष नहीं बेचा जाता तो उसे 'अस्वामिविक्रय' कहते हैं।]

अहंता—'मैं हूँ' ऐसी चेतना, मैं पने का अभिमान। ज्ञान की प्रक्रिया में 'जानने वाले' की स्थिति के लिए इसका प्रयोग होता है। अहंकार से जीवात्मा की तन्मयता को ही 'अहंता' कहा गया है।

अहं ब्रह्मास्मि—'मैं ब्रह्म हूँ' यह उपनिषद् का महावाक्य है, जो सर्वप्रथम बृहदारण्यकोपनिषद् (१.४.१०) में आया है। यह आत्मा तथा ब्रह्म के अभेद का द्योतक है।

अहङ्कार—चित्त का एक घटक योग। दर्शन के अनुसार मन, बुद्धि और अहङ्कार से चित्त बनता है। अहङ्कार के द्वारा अहं का ज्ञान किया जाता है। यह तीन प्रकार का कहा

गया है—(१) सात्त्विक, (२) राजस और (३) तामस। सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता और मन की उत्पत्ति हुई। राजस अहङ्कार से दस इन्द्रियाँ हुई। तामस अहङ्कार से सूक्ष्म पञ्चभूत उत्पन्न हुए। वेदान्त के मत में यह अभिमानात्मक अन्तःकरण की वृत्ति है। अहं यह अभिमान शरीरादि विषयक मिथ्या ज्ञान कहा गया है।

व्यूह सिद्धान्त में विष्णु के चार रूपों में अनिरुद्ध को अहङ्कार कहा गया है। सांख्य दर्शन में दो मूल तत्त्व हैं जो बिल्कुल एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं—१. पुरुष (आत्मा) और २. प्रकृति (मूल प्रकृति अथवा प्रधान)। प्रकृति तीन गुणों से युक्त है—तमस्, रजस् एवं सत्त्व। ये तीनों गुण प्रलय में संतुलित रूप में रहते हैं, किन्तु जब इनका सन्तुलन भंग होता है (पुरुष की उपस्थिति के कारण) तो प्रकृति से 'महान्' अथवा बुद्धि की उत्पत्ति होती है, जो सोचने वाला तत्त्व है और जिसमें 'सत्त्व' की मात्रा विशेष होती है। बुद्धि से 'अहङ्कार' का जन्म होता है, जो 'व्यक्तिगत विचार' को जन्म देता है। अहङ्कार से मनस् एवं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। फिर पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है।

अहः (अहन्)—दिन, दिवस। इसके विभागों के भिन्न-भिन्न मत हैं—उदाहरण के रूप में द्विधा, त्रिधा, चतुर्धा, पञ्चधा, अष्टधा अथवा पञ्चदशधा। दो तो मुख्य हैं: पूर्वाह्ण तथा अपराह्ण (मनुस्मृति, ३.२७८)। तीन विभाग भी प्रचलित हैं। चार भागों में भी विभाजन गोभिल गृह्यसूत्र में वर्णित है—१. पूर्वाह्ण (१½ पहर), २. मध्याह्न (एक पहर), ३. अपराह्ण (तीसरे पहर के अन्त तक और इसके पश्चात्), ४. सायाह्न (दिन के अन्त तक)। दिवस का पञ्चधा विभाजन देखिए ऋग्वेद (७६.३ युतायातं सङ्गवे प्रातराह्नो)। पाँच में से तीन नामों, यथा प्रातः, सङ्गव तथा मध्यन्दिन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। दिवस का आठ भागों में विभाजन कौटिल्य (१.१९), दक्षस्मृति (अध्याय २) तथा कात्यायन ने किया है। कालिदास कृत विक्रमोर्वशीय (२.१) के प्रयोग से प्रतीत होता है कि उन्हें यह विभाजन ज्ञात था। दिवस तथा रात्रि के १५,१५ मुहूर्त होते हैं। देखिए बृहद्योगयात्रा, ४.२-४ (पन्द्रह मुहूर्तों के लिए)।

भूमध्य रेखा को छोड़कर भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न स्थानों में जैसे-जैसे रात्रि-दिवस घटते-बढ़ते हैं, वैसे-वैसे उन्हीं स्थानों पर मुहूर्त का काल भी घटता-बढ़ता है। इस प्रकार यदि दिन का विभाजन दो भागों में किया गया हो तब पूर्वाह्ण अथवा प्रातःकाल ७½ मुहूर्त का होगा। यदि पाँच भागों में विभाजन किया गया हो तो प्रातः या पूर्वाह्ण तीन मुहूर्त का ही होगा। माधव के कालनिर्णय (पृ० ११२) में इस बात को बतलाया गया है कि दिन को पाँच भागों में विभाजित करना कई वैदिक ऋचाओं तथा स्मृतिग्रन्थों में विहित है, अतः यही विभाजन मुख्य है। यह विभाजन शास्त्रीय विधिवाचक तथा निषेधार्थक कृत्यों के लिए उल्लिखित है। दे० हेमाद्रि, चतुर्वर्गचिन्तामणि, काल भाग, ३२५–३२९; वर्षकृत्यकौमुदी, पृ० १८–१९; कालतत्त्वविवेचन, पृ० ६, ३६७।

अहल्या—गौतम मुनि की भार्या, जो महासाध्वी थी। प्रातःकाल उसका स्मरण करने से महापातक दूर होना कहा गया है—

अहल्या द्रौपदी कुन्ती तारा मन्दोदरी तथा।
पञ्च कन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्॥

[अहल्या, द्रौपदी, कुन्ती, तारा, मन्दोदरी इन पाँच कन्याओं (महिलाओं) का प्रातःकाल स्मरण करने से महापातक का नाश होता है।]

कृतयुग में इन्द्र ने गौतम मुनि का रूप धारण कर अहल्या के सतीत्व को नष्ट कर दिया। इसके बाद गौतम के शाप से वह पत्नी शिला हो गयी। त्रेतायुग में श्री रामचन्द्र के चरण स्पर्श से शापविमुक्त होकर पुनः पहले के समान उसने मानुषी रूप धारण किया। दे० वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड।

अहल्या मैत्रेयी—व्यावहारिक रूप में यह एक रहस्यात्मक संज्ञा है, जिसका उद्धरण अनेक ब्राह्मणों (शतपथ ब्राह्मण, ३.३,४,१८, जैमिनीय ब्रा०, २.७९, षड्विंश ब्रा०, १.१) में पाया जाता है। यह उद्धरण इन्द्र की गुणावलि में से, जिसमें इन्द्र को अहल्याप्रेमी (अहल्यायै जार) कहा गया है, लिया गया है।

अहिंसा—सभी सजीव प्राणियों को मनसा, वाचा, कर्मणा दुःख न पहुँचाने का भारतीय सिद्धान्त। इसका सर्वप्रथम प्रतिपादन छान्दोग्य उपनिषद् (३.१७) में हुआ है एवं अहिंसा को यज्ञ के एक भाग के समकक्ष कहा गया है। वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र दया और दान देव और मानव

दोनों के विशेष गुण बतलाये गये हैं । जैन धर्म ने अहिंसा को अपना प्रमुख सिद्धान्त बनाया । पञ्च महाव्रतों; अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह में इसको प्रथम स्थान दिया गया है । योगदर्शन के पञ्च यमों में भी अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया गया है :

'तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।'

यह सिद्धान्त सभी भारतीय सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य था, किन्तु रूप इसके भिन्न-भिन्न थे । जैन धर्म ने ऐकान्तिक अहिंसा को स्वीकार किया, जिससे उसमें कृच्छ्राचार बढ़ा । प्रारम्भिक बौद्धों ने भी इसे स्वीकार किया, किन्तु एक सीमारेखा खींचते हुए, जिसे हम साधारण की संज्ञा दे सकते हैं, अर्थात् तर्कसंगत एवं मानवता संगत अहिंसा । अशोक ने अपने प्रथम व द्वितीय शिलालेख में अहिंसा सिद्धान्त को उत्कीर्ण कराया तथा इसका प्रचार किया । उसने मांसभक्षण का क्रमशः परित्याग किया और विशेष पशुओं का तथा विशेष अवसरों पर सभी पशुओं का वध निषिद्ध कर दिया । कस्सप ने (आमगन्धसुत्त) में कहा है कि मांस भक्षण से नहीं, अपितु बुरे कार्यों से मनुष्य बुरा बनता है । बौद्धधर्म के एक लम्बे शासन के अन्त तक यज्ञों में पशुवध बन्द हो चुका था । एक बार फिर उसे सजीव करने की चेष्टा 'पशुयाग' करने वालों ने की, किन्तु वे असफल रहे ।

वैष्णव धर्म पूर्णतया अहिंसावादी था । उसके आचार, आहार और व्यवहार में हिंसा का पूर्ण त्याग निहित था । इसके विधायक अंग थे क्षमा, दया, करुणा, मैत्री आदि । धर्माचरण की शुद्धतावश मांसभक्षण का भारत के सब वर्णों ने प्रायः त्याग किया है । विश्व के किसी भी देश में इतने लम्बे काल तक अहिंसा सिद्धान्त का पालन नहीं हुआ है, जैसा कि भारतभू पर देखा गया है ।

अहिंसाव्रत—इस व्रत में एक वर्ष के लिए मांसभक्षण निषिद्ध है, तदुपरान्त एक गौ तथा सुवर्ण मृग के दान का विधान है । यह संवत्सर व्रत है । दे० कृत्यकल्पतरु, व्रत खण्ड ४४४; हेमाद्रि, व्रत खण्ड २.८६५ ।

अहिंस्र—अवध्य, जो मारने के योग्य नहीं है । वैदिक साहित्य में गौ (गाय) के लिए इस शब्द का तथा 'अघ्न्या' शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है ।

अहिच्छत्र (रामनगर)—(१) अर्जुन द्वारा जीता गया एक देश, जो उन्होंने द्रोणाचार्य को भेंट कर दिया था । एक नगर; उक्त देश की वनी शक्कर; छत्राक पौधा; एक प्रकार का मोती ।

(२) उत्तर रेलवे के आँवला स्टेशन से छः मील रामनगर तक पैदल या बैलगाड़ी से जाना पड़ता है, यहाँ पार्श्वनाथजी पधारे थे । जब वे ध्यानस्थ थे तब धरणेन्द्र तथा पद्मावती नामक नागों ने उनके मस्तक पर अपने फणों से छत्र लगाया था । यहाँ की खुदाई में प्राचीन जैन मूर्तियाँ निकली हैं । यहाँ जैन मन्दिर है तथा कार्तिक में मेला लगता है ।

अहिच्छत्रा—एक प्राचीन नगरी, इसके अवशेष उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में पाये जाते हैं । ज्योतिषतत्त्व में कथन है : "केशव, आनर्तपुर, पाटलिपुत्र, अहिच्छत्रा पुरी, दिति, अदिति—इनका क्षौर के समय स्मरण करने से कल्याण होता है ।" इससे इस पुरी का धार्मिक महत्त्व प्रकट है । दे० अहिच्छत्र ।

अहिर्बुध्न्य—निकटवर्ती आकाश का यह एक सर्प कहा गया है । ऋग्वेदोक्त देवता प्रकृति के विविध उपादानों के प्रतिरूप एवं उनके कार्यों के संचालक माने गये हैं । आकाशीय विद्युत् एवं झंझावात के नियंत्रण के लिए एवं उनके प्रतीकस्वरूप जिन देवों की कल्पना की गयी है उनमें इन्द्र, त्रित आप्त्य, अपांनपात्, मातरिश्वा, अहिर्बुध्न्य, अज-एक-पाद, रुद्र एवं मरुतों का नाम आता है । विद्युत् के विविध नामों एवं झंझा के विविध वेशों का इन नामों के माध्यम से बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है । विद्युत् जो आकाशीय गौओं की मुक्ति के लिए योद्धा का रूप धारण करती है उसे 'इन्द्र' कहते हैं । यही तृतीय या वायवीय अग्नि है, अतएव इसे 'त्रित आप्त्य' कहते हैं । आकाशीय जल से यह उत्पन्न होती है, अतएव इसे 'अपांनपात्' कहते हैं । यह मेघमाता से उत्पन्न हो पृथ्वी पर अग्नि लाती है, अतएव मातरिश्वा एवं पृथ्वी की ओर तेजी से चलने के समय इसका रूप सर्पाकार होता है इसलिए इसे अहिर्बुध्न्य कहते हैं ।

अहिर्बुध्न्यस्नान—हेमाद्रि, व्रत खण्ड, पृष्ठ ६५४-६५५ (विष्णुधर्मोत्तर पुराण से उद्धृत) के अनुसार जिस दिन उत्तरा भाद्रपदा नक्षत्र हो, उस दिन दो कलशों के जल से स्नान किया जाय, जिसमें उदुम्बर (गूलर) वृक्ष की पत्तियाँ, पञ्च गव्य (गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत, गोमूत्र तथा गोमय), कुश तथा घिसा हुआ चन्दन भी मिला हो । अहिर्बुध्न्य के पूजन के साथ सूर्य, वरुण, चन्द्र, रुद्र तथा

विष्णु का पूजन भी विहित है। अहिर्बुध्न्य उत्तरा भाद्रपदा नक्षत्र का देवता है। इससे गोधन की वृद्धि तथा समृद्धि होती है। 'अहिर्बुध्न्य' ही इसका शुद्ध तथा पुरातन रूप है। ऋग्वेद की दस ऋचाओं में 'अहिर्बुध्न्य' शब्द (कदाचित् अग्नि या रुद्र) किसी देवता के लिए प्रयुक्त हुआ है। दे० ऋग्वेद १.१८६; २.३१,६; ५.४१,१६; ६.४९, १४; ६.५०.१४; ७.३४.१७; ७.३५.१३; ७.३८.५ इत्यादि तथा निर्णयसिन्धु १०.४४।

अहि-वृत्र—वृत्ररूपी सर्प। वृत्र इन्द्र का सबसे बड़ा शत्रु है तथा यह उन बादलों का प्रतिनिधि या प्रतीक है जो गरजते बहुत किन्तु बरसते कम हैं या एकदम नहीं बरसते। वृत्र को 'नवन्तम् अहिम्' कहा गया है (ऋ० वे० ५.१७.१०)। उसकी माता 'दनु' है जो वर्षा के उन बादलों का नाम है जो कुछ ही बूँदें बरसाते हैं। ऋग्वेद (१०.१२०.६) के अनुसार दनुगौ के सात पुत्र हैं जो अनावृष्टि के दानव कहलाते हैं और आकाश के विविध भागों में छाये रहते हैं। वृत्र आकाशीय जल को नष्ट करने वाला कहा गया है। इस प्रकार वृत्र झूठे बादल का रूप है जो पानी नहीं बरसाता। इन्द्र विद्युत् का रूप है जिसकी उपस्थिति के पश्चात् प्रभूत जलवृष्टि होती है। वृत्र को अहि भी कहते हैं, जैसा कि बाइबिल में शैतान को कहा गया है। यहाँ हम 'अहि-वृत्र' एवं 'अहि-र्बुध्न्य' की तुलना कर सकते हैं। दोनों का निवास आकाशीय सिन्धु में है। ऐसा जान पड़ता है कि दोनों एक ही समान हैं, केवल अन्तर यह है कि गहराई का साँप (अहि-र्बुध्न्य) इन्द्र का द्योतक है इसलिए देव है, किन्तु अवरोधक साँप (अहि-वृत्र) दानव है। अहि-वृत्र के पैर, हाथ, नाक नहीं हैं (ऋ० वे० १.३२. ६-७; ३.३०.८), किन्तु बादल, विद्युत् एवं माया जैसे आयुधों से युक्त वह भयंकर प्रतिद्वन्द्वी है। इन्द्र की सबसे बड़ी वीरता इसके वध एवं इस पर विजय प्राप्त करने में मानी गयी है। इन्द्र अपने वज्र से वृत्र द्वारा उपस्थित की गयी बाधा की दीवार चीरकर आकाशीय जल की धारा को उन्मुक्त कर देता है।

अहीन—अहः = एक या अनेक दिन तक होने वाला यज्ञ।

अहीना-आस्वस्थ्य—एक ऋषि, जिन्होंने सावित्र (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०,.९.१०) व्रत या क्रिया द्वारा अमरता प्राप्त की थी। नाम का पूर्वार्ध अहीना (अ + हीना) उपर्युक्त उपलब्धि का द्योतक है एवं उत्तरार्ध की तुलना अश्वत्थ से की जा सकती है।

आ

आ—स्वर वर्णों का द्वितीय अक्षर कामधेनुतन्त्र में इसका तान्त्रिक महत्त्व निम्नांकित बतलाया गया है :

> आकारं परमाश्चर्यं शङ्खज्योतिर्मयं प्रिये।
> ब्रह्म (विष्णु) मयं वर्णं तथा रुद्रमयं प्रिये॥
> पञ्चप्राणमयं वर्णं स्वयं परमकुण्डली॥

[हे प्रिये ! आ अक्षर परम आश्चर्यमय है। यह शङ्ख के समान ज्योतिर्मय तथा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रमय है। यह पाँच प्राणों से संयुक्त तथा स्वयं परम कुण्डलिनी शक्ति है।] वर्णाभिधान तन्त्र में इसके अनेक नाम बतलाये गये हैं—

> आकारो विजयानन्तो दीर्घच्छायो विनायकः।
> क्षीरोदधिः पयोदश्च पाशो दीर्घास्यवृत्तकौ॥
> प्रचण्ड एकजो रुद्रो नारायण इनेश्वरः।
> प्रतिष्ठा मानदा कान्तो विश्वान्तकगजान्तकः॥
> पितामहो दिगन्तो भूः क्रिया कान्तिश्च सम्भवः।
> द्वितीया मानदा काशी विघ्नराजः कुजो वियत्॥

आकाश—वैशेषिक दर्शन में नौ द्रव्य—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन माने गये हैं। इनमें पाँचवाँ द्रव्य आकाश है, यह विभु अर्थात् सर्वव्यापी द्रव्य है और सब कालों में स्थित रहता है। इसका गुण शब्द है तथा यह उसका समवायी कारण है।

आकाशदीप—कार्तिक मास में घी अथवा तेल से भरा हुआ दीपक देवता को उद्देश्य करते हुए किसी मन्दिर अथवा चौरस्ते पर खम्भे के सहारे आकाश में जलाया जाता है। दे० अपरार्क, ३७०,३७२; भोज का राजमार्त्तण्ड, पृष्ठ ३३०; निर्णयसिन्धु, १९५।

आकाशमुखी—एक प्रकार के शैव साधु, जो गरदन को पीछे झुकाकर आकाश में दृष्टि तब तक केन्द्रित रखते हैं, जब तक मांसपेशियाँ सूख न जायँ। आकाश की ओर मुख करने की साधना के कारण ये साधु 'आकाशमुखी' कहलाते हैं।

आगम—परम्परानुसार शिवप्रणीत तन्त्रशास्त्र तीन भागों में विभक्त है—आगम, यामल और मुख्य तन्त्र। वाराहीतन्त्र के अनुसार जिसमें सृष्टि, प्रलय, देवताओं की पूजा, सब कार्यों के साधन, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन और चार प्रकार के ध्यानयोग का वर्णन हो उसे आगम कहते हैं। महानिर्वाणतन्त्र में महादेव ने कहा है :

कलिकल्मषदीनानां द्विजातीनां सुरेश्वरि ।
मेध्यामेध्यविचाराणां न शुद्धिः श्रौतकर्मणा ।।
न संहिताभिः स्मृतिभिरिष्टसिद्धिर्नृणां भवेत् ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यं सत्यं ह्यथोच्यते ।।
विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये ।
श्रुतिस्मृतिपुराणादौ मयैवोक्तं पुरा शिवे ।
आगमोक्तविधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः ।।

[कलि के दोष से दीन ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य को पवित्र-अपवित्र का विचार न रहेगा । इसलिए वेदविहित कर्म द्वारा वे किस तरह सिद्धि लाभ करेंगे ? ऐसी अवस्था में स्मृति-संहितादि के द्वारा भी मानवों की इष्टसिद्धि नहीं होगी । मैं सत्य कहता हूँ, कलियुग में आगम मार्ग के अतिरिक्त कोई गति नहीं है । मैंने वेद-स्मृति-पुराणादि में कहा है कि कलियुग में साधक तन्त्रोक्त विधान द्वारा ही देवों की पूजा करेंगे ।]

आगमों की रचना कब हुई, यह निर्णय करना कठिन है । अनुमान किया जाता है कि वेदों की दुरूहता और मंत्रों के कीलित होने से महाभारत काल से लेकर कलि के आरम्भ तक अनेक आगमों का निर्माण हुआ होगा । आगम अति प्राचीन एवं अति नवीन दोनों प्रकार के हो सकते हैं ।

आगमों से ही शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदायों के आचार, विचार, शील, विशेषता और विस्तार का पता लगता है । पुराणों में इन सम्प्रदायों का सूत्र रूप से कहीं-कहीं वर्णन हुआ है, परन्तु आगमों में इनका विस्तार से वर्णन है । आजकल जितने सम्प्रदाय हैं प्रायः सभी आगम ग्रन्थों पर अवलम्बित हैं ।

मध्यकालीन शैवों को दो मोटे विभागों में बाँटा जा सकता है—पाशुपत एवं आगमिक । आगमिक शैवों की चार शाखाएँ हैं, जो बहुत कुछ मिलती-जुलती और आगमों को स्वीकार करती हैं । वे हैं—(१) शैव सिद्धान्त की संस्कृत शाखा, (२) तमिल शैव, (३) कश्मीर शैव और (४) वीर शैव । तमिल एवं वीर शैव अपने को माहेश्वर कहते हैं, पाशुपत नहीं, यद्यपि उनका सिद्धान्त महाभारत में वर्णित पाशुपत सिद्धान्तानुकूल है ।

आगमों की रचना शैवमत के इतिहास की बहुत ही महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना है । आगम अट्ठाईस हैं जो दो भागों में विभक्त हैं । इनका क्रम निम्नांकित है :

(१) शैविक—कामिक, योगज, चिन्त्य, करण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमान् और सप्रभ (सुप्रभेद) ।

(२) रौद्रिक—विजय, निश्वास, स्वायम्भुव, आग्नेयक, भद्र, रौरव, मकुट, विमल, चन्द्रहास (चन्द्रज्ञान), मुख्य, युगबिन्दु (मुखबिम्ब), उद्गीता (प्रोद्गीता), ललित, सिद्ध, सन्तान, नारसिंह (सवोक्त या सवोत्तर), परमेश्वर, किरण और पर (वातुल) ।

प्रत्येक आगम के अनेक उपागम हैं, जिनकी संख्या १९८ तक पहुँचती है ।

प्राचीनतम आगमों की तिथि का ठीक पता नहीं चलता, किन्तु मध्यकालीन कुछ आगमो की तिथियों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है । तमिल कवि तिरमूलर (८०० ई०), सुन्दर्र (लगभग ८०० ई०) तथा माणिक्क वाचकर (९०० ई० के लगभग) ने आगमों को उद्धृत किया है । श्री जगदीशचन्द्र चटर्जी का कथन है कि शिव-सूत्रों की रचना कश्मीर में वसुगुप्त द्वारा ८५० ई० के लगभग हुई, जिनका उद्देश्य अद्वैत दर्शन के स्थान पर आगमों की द्वैतशिक्षा की स्थापना करना था । इस कथन की पुष्टि मतङ्ग (परमेश्वर-आगम का एक उपागम) एवं स्वायम्भुव द्वारा होती है । नवीं शताब्दी के अन्त के कश्मीरी लेखक सोमानन्द एवं क्षेमराज के अनेक उद्धरणों से उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है । किरण आगम की प्राचीनतम पाण्डुलिपि ९२४ ई० की है ।

आगमों के प्रचलन से शैवों में शाक्त विचारों का उद्भव हुआ है एवं उन्हीं के प्रभाव से उनकी मन्दिर-निर्माण, मूर्तिनिर्माण तथा धार्मिक क्रिया सम्बन्धी नियमावली भी तैयार हुई । मृगेन्द्र आगम (जो कामिक आगम का प्रथम अध्याय है) के प्रथम श्लोक में ही सबका निचोड़ रख दिया गया है : "शिव अनादि हैं, अवगुणों से मुक्त हैं, सर्वज्ञ हैं; वे अनन्त आत्माओं के बन्धनजाल काटने वाले हैं । वे क्रमशः एवं एकाएक दोनों प्रकार से सृष्टि कर सकते हैं; उनके पास इस कार्य के लिए एक अमोघ साधन है 'शक्ति', जो चेतन है एवं स्वयं शिव का शरीर है; उनका शरीर सम्पूर्ण 'शक्ति' है ।"........इत्यादि ।

सनातनी हिन्दुओं के तन्त्र जिस प्रकार शिवोक्त हैं उसी प्रकार बौद्धों के तन्त्र या आगम बुद्ध द्वारा वर्णित हैं । बौद्धों के तन्त्र भी संस्कृत भाषा में रचे गये हैं । क्या सनातनी और क्या बौद्ध दोनों ही सम्प्रदायों में तन्त्र अतिगुह्य तत्त्व

समझा जाता है। माना जाता है कि यथार्थतः दीक्षित एवं अभिषिक्त के अतिरिक्त अन्य किसी के सामने यह शास्त्र प्रकट नहीं करना चाहिए। कुलार्णवतन्त्र में लिखा है कि धन देना, स्त्री देना, अपने प्राण तक देना पर यह गुह्य शास्त्र अन्य किसी अदीक्षित के सामने प्रकट नहीं करना चाहिए।

शैव आगमों के समान वैष्णव आगम भी अनेक हैं, जिनको 'संहिता' भी कहते हैं। इनमें नारदपंचरात्र अधिक प्रसिद्ध है।

आगमप्रकाश—गुजराती भाषा में विरचित 'आगमप्रकाश' तान्त्रिक ग्रन्थ है। इसमें लिखा है कि हिन्दुओं के राज्य काल में वङ्ग के तान्त्रिकों ने गुजरात के डभोई, पावागढ़, अहमदाबाद, पाटन आदि स्थानों में आकर कालिकामूर्ति की स्थापना की। बहुत से हिन्दू राजाओं ने उनसे दीक्षा ग्रहण की थी, (आ० प्र० १२)। आधुनिक युग में प्रचलित मन्त्रगुरु की प्रथा वास्तव में तान्त्रिकों के प्राधान्य काल से ही आरम्भ हुई।

आगमप्रामाण्य—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के यामुनाचार्य द्वारा विरचित यह ग्रन्थ वैष्णव आगम अथवा संहिताओं के अधिकारों पर प्रकाश डालता है। यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में है। इसका रचनाकाल ग्यारहवीं शताब्दी है।

आगस्त्य—ऐतरेय (३.१.१) एवं शाङ्खायन आरण्यक (७.२) में उल्लिखित यह एक आचार्य का नाम है।

आग्नेयक—शैव-आगमों में एक रौद्रिक आगम है।

आग्नेय व्रत—इस व्रत में केवल एक बार किसी भी नवमी के दिन पुष्पों से भगवती विन्ध्यवासिनी का पूजन (पाँच उपचारों के साथ) होता है। दे० हेमाद्रि, व्रत खण्ड, ९५८-५९ (भविष्योत्तर पुराण से उद्धृत)।

आङ्गिरस—यह अङ्गिरस्-परिवार की उपाधि है, जिसे बहुत से आचार्यों ने ग्रहण किया था। इस उपाधि के धारण करने वाले कुछ आचार्यों के नाम हैं कृष्ण, आजीगर्ति, च्यवन, अयास्य, सुधन्वा इत्यादि।

आङ्गिरस कल्पसूत्र—अथर्ववेद का एक वेदांग। इसमें अभिचारकर्मकाल में कर्त्ता और कारयिता सदस्यों की आत्मरक्षा करने की विधि बतायी गयी है। उसके पश्चात् अभिचार के उपयुक्त देशकाल, मंडप रचना, साधक के दीक्षादि धर्म, समिधा और आज्यादि के संरक्षण का निरूपण है। फिर अभिचार-कर्मसमूह तथा प्राकृताभिचार-निवारण और अन्यान्य कर्मों का उल्लेख है।

आङ्गिरसस्मृति—पं० जीवानन्द द्वारा प्रकाशित स्मृति-संग्रह (भाग १, पृ० ५५७-५६०) में ७२ श्लोकों की यह एक संक्षिप्त स्मृति संगृहीत है। इसमें चार वर्णों और चार आश्रमों के कर्त्तव्यों, प्रायश्चित्तविधि आदि का निरूपण है। अन्त्यजों के हाथ से भोजन और पेय ग्रहण करने, गौ को मारने और आघात पहुँचाने आदि के विस्तृत प्रायश्चित्तों का विधान और नीलवस्त्र-धारण के नियम भी इसमें पाये जाते हैं। स्त्रीधन का अपहरण इसके मत से निषिद्ध है

याज्ञवल्क्यस्मृति में जिन धर्मशास्त्रकारों के नाम दिये गये हैं, उनमें अङ्गिरा भी हैं। उसके टीकाकार विश्वरूप ने कई स्थलों पर अङ्गिरा का मत उद्धृत किया है। यथा, अङ्गिरा के अनुसार परिषद् के सदस्यों की संख्या १२१ होनी चाहिए (या० स्मृ० १.९)। इसी प्रकार अङ्गिरा के मत में शास्त्र के विरुद्ध 'आत्मतुष्टि' का प्रमाण अमान्य है। (या० स्मृ० १.५०)। याज्ञवल्क्यस्मृति के दूसरे टीकाकार अपरार्क ने अङ्गिरा के अनेक वचनों को उद्धृत किया है। मनु के टीकाकार मेधातिथि ने सतीप्रथा पर अङ्गिरा का अवतरण देकर उसका विरोध किया है (म० स्मृ० ५.१५१)। मिताक्षरा आदि अन्य टीकाओं और निबन्ध ग्रन्थों में अङ्गिरा के अवतरण पाये जाते हैं। लगता है कि कभी धर्मशास्त्र का आङ्गिरस सम्प्रदाय बहुप्रचलित था जो धीरे धीरे लुप्त होता गया।

आचार—शिष्ट व्यक्तियों द्वारा अनुमोदित एवं बहुमान्य रीति-रिवाजों को 'आचार' कहते हैं। स्मृति या विधि सम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थों में आचार का महत्त्व भली भाँति दर्शाया गया है। मनुस्मृति (१.१०९) में कहा गया है कि आचार, आत्म अनुभूतिजन्य एक प्रकार की विधि है एवं द्विजों को इसका पालन अवश्य करना चाहिए। धर्म के स्रोतों में श्रुति और स्मृति के पश्चात् आचार का तीसरा स्थान है। कुछ विद्वान् तो उसको प्रथम स्थान देते हैं; क्योंकि उनके विचार में धर्म आचार से ही उत्पन्न होता है—'आचारप्रभवो धर्मः'। इस प्रकार के लोकसंग्राहक धर्म को तीन भागों में बाँटा गया है—'आचार', 'व्यवहार' और 'प्रायश्चित्त'। (याज्ञवल्क्यस्मृति का प्रकरण-विभाजन

इन्ही तीन रूपों में है) । याज्ञवल्क्य ने आचार के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय सम्मिलित किया है : (१) संस्कार (२) वेदपाठी ब्रह्मचारियों के चारित्रिक नियम (३) विवाह एवं पत्नी के कर्त्तव्य (४) चार वर्ण एवं वर्णसंकर (५) ब्राह्मण गृहपति के कर्त्तव्य (६) विद्यार्थी-जीवन समाप्ति के बाद कुछ पालनीय नियम (७) विधिसंमत भोजन एवं निषिद्ध भोजन के नियम (८) वस्तुओं की धार्मिक पवित्रता (९) श्राद्ध (१०) गणपति की पूजा (११) ग्रहों की शान्ति के नियम एवं (१२) राजा के कर्त्तव्य आदि ।

स्मृतियों में आचार के तीन विभाग किये गये हैं : (१) देशाचार (२) जात्याचार और (३) कुलाचार । दे० 'सदाचार' । देश विशेष में जो आचार प्रचलित होते हैं उनको देशाचार कहते हैं, जैसे दक्षिण में मातुलकन्या से विवाह । इसी प्रकार जातिविशेष में जो आचार प्रचलित होते हैं उन्हें जात्याचार कहा जाता है, जैसे कुछ जातियों में सगोत्र विवाह । कुल विशेष में प्रचलित आचार को कुलाचार कहा जाता है । धर्मशास्त्र में इस बात का राजा को आदेश दिया गया है कि वह आचारों को मान्यता प्रदान करे । ऐसा न करने से प्रजा क्षुब्ध होती है ।

आचार्यकारिका—महाप्रभु वल्लभाचार्य रचित यह ग्रन्थ सोलहवीं शताब्दी का है ।

आचार्यपद—हिन्दू संस्कृति में मौखिक व्याख्यान द्वारा बड़े जनसमूह के सामने प्रचार करने की प्रथा न थी । यहाँ के जितने आचार्य हुए हैं सबने स्वयं के व्यक्तिगत कर्तव्य पालन द्वारा लोगों पर प्रभाव डालते हुए आदर्श आचरण अथवा चरित्र के ऊपर बहुत जोर दिया है । समाज का प्रकृत सुधार चरित्र के सुधार से ही संभव है । विचारों के कोरे प्रचार से आचार संगठित नहीं हो सकता । इसी कारण आचार का आदर्श स्थापित करने वाले शिक्षक आचार्य कहलाते थे । उपदेशक उनका नाम नहीं था । इनकी परिभाषा निम्नाङ्कित है :

आचिनोति हि शास्त्रार्थान् आचरते स्थापयत्यपि ।
स्वयं आचरते यस्तु आचार्यः स उच्यते ॥

[जो शास्त्र के अर्थों का चयन करता है और (उनका) आचार के रूप में कार्यान्वय करता है तथा स्वयं भी उनका आचरण करता है, वह आचार्य कहा जाता है ।]

आचार्यपरिचर्या—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य रामानुज स्वामी की जीवनी, जिसे काशी के पं० राममिश्र शास्त्री ने लिखा है ।

आजकेशिक—'जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण' (१.९.३) के अनुसार एक परिवार का नाम, जिसके एक सदस्य बक ने इन्द्र पर आक्रमण किया था ।

आचार(सप्त)—कुछ तन्त्र ग्रन्थों में वेद, वैष्णव, शैव, दक्षिण, वाम, सिद्धान्त और कुल ये सात प्रकार के आचार बतलाये गये हैं । ये सातों आचार तीनों यानों (देवयान, पितृयान एवं महायान) के अन्तर्गत माने जाते हैं । महाराष्ट्र के वैदिकों में वेदाचार, रामानुज और इतर वैष्णवों में वैष्णवाचार, शङ्करस्वामी के अनुयायी दाक्षिणात्य शैवों में दक्षिणाचार, वीर शैवों में शैवाचार और वीराचार तथा केरल, गौड, नेपाल और कामरूप के शाक्तों में क्रमशः वीराचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार एवं कौलाचार, चार प्रकार के आचार देखे जाते हैं । पहले तीन आचारों के प्रतिपादक थोड़े ही तन्त्र हैं, पर पिछले चार आचारों के प्रतिपादक तन्त्रों की तो गिनती नहीं है । पहले तीनों के तन्त्रों में पिछले चारों आचारों की निन्दा की गयी है ।

आजि—अथर्ववेद (११ ७.७), ऐतरेय ब्राह्मण एवं श्रौत सूत्रों में वर्णित वाजपेय यज्ञ के अन्तर्गत तीन मुख्य क्रियाएँ होती थीं—१. आजि (दौड़), २. रोह (चढ़ना) और ३. संख्या । अन्तिम दिन दोपहर को एक धावनरथ यज्ञमण्डष में घुमाया जाता था, जिसमें चार अश्व जुते होते थे, जिन्हें विशेष भोजन दिया जाता था । मण्डप के बाहर अन्य सोलह रथ सजाये जाते, सत्रह नगाड़े बजाये जाते तथा एक गूलर की शाखा निर्दिष्ट सीमा का बोध कराती थी । रथों की दौड़ होती थी, जिसमें यज्ञकर्त्ता विजयी होता था । सभी रथों के घोड़ों को भोजन दिया जाता था एवं रथ घोड़ों सहित पुरोहितों को दान कर दिये जाते थे ।

आज्यकम्बल विधि—भुवनेश्वर की चौदह यात्राओं में से एक । जिस समय सूर्य मकर राशि में प्रविष्ट हो रहा हो उस समय यह विधि की जाती है । दे० गदाधरपद्धति, कालसारभाग, १९१ ।

आज्ञा—योगसाधना के अन्तर्गत कुण्डलिनी उत्थापन का छठा स्थान या चक्र, जिसकी स्थिति भ्रूमध्य में मानी गयी है । दक्षिणाचारी विद्वान् लक्ष्मीधर ने 'सौन्दर्यलहरी' के ३१ वें श्लोक की टीका में ६४ तन्त्रों की चर्चा करते हुए

८ मिश्रित एवं ५ समय या शुभ तन्त्रों की भी गणना की है। मिश्रित तन्त्रों के अनुसार देवी की अर्चना करने पर साधक के दोनों उद्देश्य (भोग एवं मोक्ष, पार्थिव सुख एवं मुक्ति) पूरे होते हैं, जब कि समय या शुभ तन्त्रानुसारी अर्चना से ध्यान एवं योग की उन क्रियाओं तथा अभ्यासों की पूर्णता होती है, जिनके द्वारा साधक 'मूलाधार' चक्र से ऊपर उठता हुआ चार दूसरे चक्रों के माध्यम से 'आज्ञा' एवं आज्ञा से 'सहस्रार' की अवस्था को प्राप्त होता है। इस अभ्यास को 'श्रीविद्या' की उपासना कहते हैं। दुर्भाग्यवश उक्त पाँचों शुभ तन्त्रों का अभी तक पता नहीं चला है और इसी कारण यह साधना रहस्यावृत बनी हुई है।

आज्ञासंक्रान्ति—संक्रान्ति व्रत। यह किसी भी पवित्र संक्रान्ति के दिन आरम्भ किया जा सकता है। इसका देवता सूर्य है। व्रत के अन्त में अरुण सारथि तथा सात अश्वों सहित सूर्य की सुवर्ण की मूर्ति का दान विहित है। दे० हेमाद्रि, व्रत खण्ड, २.७३८ (स्कन्द पुराण से उद्धृत)।

आडम्बर—(१) धौंसा या नगाड़ा बजाने का एक प्रकार। एक आडम्बराघात का उल्लेख वाजसनेयी संहिता (३०. १९) के पुरुषमेधयज्ञ की बलि के प्रसंग में हुआ है।

(२) साररहित धर्म के बाह्याचार (दिखावट) को भी आडम्बर कहते हैं।

आणव—जीवात्मा का एक प्रकार का बन्धन, जिसके द्वारा वह संसार में फँसता है। यह अज्ञानमूलक है। आगमिक शैव दर्शन में शिव को पशुपति तथा जीवात्मा को 'पशु' कहा गया है। उसका शरीर अचेतन है, वह स्वयं चेतन है। पशु स्वभावतः अनन्त, सर्वव्यापी चित् शक्ति का अंश है किन्तु वह पाश से बँधा हुआ है। यह पाश (बन्धन) तीन प्रकार का है—आणव (अज्ञान), कर्म (क्रियाफल) तथा माया (दृश्य जगत् का जाल)। दे० 'अणु'।

आत्मा—'आत्मन्' शब्द की व्युत्पत्ति से इस (आत्मा) की कल्पना पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यास्क ने इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—

"आत्मा 'अत्' धातु से व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ है 'सतत चलना,' अथवा यह 'आप्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ 'व्याप्त होना' है।" आचार्य शङ्कर 'आत्मा' शब्द की व्याख्या करते हुए लिङ्ग पुराण (१.७०.९६) से निम्नाङ्कित श्लोक उद्धृत करते हैं :

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

[जो व्याप्त करता है; ग्रहण करता है; सम्पूर्ण विषयों का भोग करता है; और जिसकी सदैव सत्ता बनी रहती है उसको आत्मा कहा जाता है।]

'आत्मा' शब्द का प्रयोग विश्वात्मा और व्यक्तिगत आत्मा दोनों अर्थों में होता है। उपनिषदों में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से आत्मतत्त्व पर विचार हुआ है। ऐतरेयोपनिषद् में विश्वात्मा के अर्थ में आत्मा को विश्व का आधार और उसका मूल कारण माना गया है। इस स्थिति में अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म से उसका अभेद स्वीकार किया गया है। 'तत्त्वमसि' वाक्य का यही तात्पर्य है। 'अहं ब्रह्मास्मि' भी यही प्रकट करता है।

'आत्मा' शब्द का अधिक प्रयोग व्यक्तिगत आत्मा के लिए ही होता है। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में इसकी विभिन्न कल्पनाएँ हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार यह अणु है। न्याय के अनुसार यह कर्म का वाहक है। उपनिषदों में इसे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहा गया है। अद्वैत वेदान्त में यह सच्चिदानन्द और ब्रह्म से अभिन्न है।

आचार्य शङ्कर ने आत्मा के अस्तित्व के समर्थन में प्रबल प्रमाण उपस्थित किया है। उनका सबसे बड़ा प्रमाण है 'आत्मा की स्वयं सिद्धि' अर्थात् आत्मा अपना स्वतः प्रमाण है; उसको सिद्ध करने के लिए किसी बाहरी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वह प्रत्यगात्मा है अर्थात् उसी से विश्व के समस्त पदार्थों का प्रत्यय होता है; प्रमाण भी उसी के ज्ञान के विषय हैं; अतः उसको जानने में बाहरी प्रमाण असमर्थ हैं। परन्तु यदि किसी प्रमाण की आवश्यकता हो तो इसके लिए ऐसा कोई नहीं कहता कि 'मैं नहीं हूँ।' ऐसा कहने वाला अपने अस्तित्व का ही निराकरण कर बैठेगा। वास्तव में जो कहता है कि 'मैं नहीं हूँ' वही आत्मा है ('योऽस्य निराकर्ता तदस्य तद्रूपम्')।

आत्मा वास्तव में ब्रह्म से अभिन्न और सच्चिदानन्द है। परन्तु माया अथवा अविद्या के कारण वह उपाधियों में लिप्त रहता है। ये उपाधियाँ हैं :

(१) मुख्य प्राण (अचेतन श्वास-प्रश्वास)
(२) मन (इन्द्रियों की संवेदना को ग्रहण करने का केन्द्र या माध्यम)
(३) इन्द्रियाँ (कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय)
(४) स्थूल शरीर और
(५) इन्द्रियों का विषय स्थूल जगत् ।

ज्ञान के द्वारा बाह्य जगत् का मिथ्यात्व तथा ब्रह्म से अपना अभेद समझने पर उपाधियों से आत्मा मुक्त होकर पुनः अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेता है ।

आत्मा (सोपाधिक) पाँच आवरणों से वेष्टित रहता है, जिन्हें कोष कहते हैं । उपनिषदों में इनका विस्तृत वर्णन है । ये निम्नाङ्कित हैं :

(१) अन्नमय कोष (स्थूल शरीर)
(२) प्राणमय कोष (श्वास-प्रश्वास जो शरीर में गति उत्पन्न करता है)
(३) मनोमय कोष (संकल्प-विकल्प करने वाला),
(४) विज्ञानमय कोष (विवेक करने वाला) और
(५) आनन्दमय कोष (दुःखों से मुक्ति और प्रसाद उत्पन्न करने वाला) ।

आत्मचेतना में आत्मा की गति स्थूल कोषों से सूक्ष्म कोषों की ओर होती है । किन्तु वह सूक्ष्मतम आनन्दमय कोष में नहीं, बल्कि स्वयं आनन्दमय है । इसी प्रकार चेतना की दृष्टि से आत्मा की 'चार' अवस्थाएँ होती हैं :

(१) जाग्रत् (जागने की स्थिति, जिसमें सब इन्द्रियाँ अपने विषयों में रमण करती रहती हैं)
(२) स्वप्न (वह स्थिति जिसमें इन्द्रियाँ तो सो जाती हैं, किन्तु मन काम करता रहता है और अपने संसार की स्वयं सृष्टि कर लेता है)
(३) सुषुप्ति (वह स्थिति, जिसमें मन भी सो जाता है, स्वप्न नहीं आता किन्तु जागने पर यह स्मृति बनी रहती है कि नींद अच्छी तरह आयी) और
(४) तुरीया (वह स्थिति, जिसमें सोपाधिक अथवा कोषावेष्टित जीवन की सम्पूर्ण स्मृतियाँ समाप्त हो जाती हैं ।)

आत्मा की तीन मुख्य स्थितियाँ हैं—(१) बद्ध, (२) मुमुक्षु और (३) मुक्त । बद्धावस्था में वह संसार से लिप्त रहता है । मुमुक्षु की अवस्था में वह संसार से विरक्त और मोक्ष की ओर उन्मुख रहता है । मुक्तावस्था में वह अविद्या और अज्ञान से छूटकर अपने स्वरूप की उपलब्धि कर लेता है । किन्तु मुक्तावस्था की भी दो स्थितियाँ हैं—(१) जीवन्मुक्ति और (२) विदेहमुक्ति । जब तक मनुष्य का शरीर है वह प्रारब्ध कर्मों का फल भोगता है, जब तक भोग समाप्त नहीं होते, शरीर चलता रहता है । इस स्थिति में मनुष्य अपने सांसारिक कर्तव्यों का अनासक्ति के साथ पालन करता रहता है; ज्ञानमूलक होने से वे आत्मा के लिए बन्धन नहीं उत्पन्न करते ।

सगुणोपासक भक्त दार्शनिकों की माया, बन्ध और मोक्ष सम्बन्धी कल्पनाएँ निर्गुणोपासक ज्ञानमार्गियों से भिन्न हैं । भगवान् से जीवात्मा का वियोग बन्ध है । भक्ति द्वारा जब भगवान् का प्रसाद प्राप्त होता है और जब भक्त का भगवान् से सायुज्य हो जाता है तब बन्ध समाप्त हो जाता है । वे सायुज्य, सामीप्य अथवा सालोक्य चाहते हैं, अपना पूर्णविलय नहीं, क्योंकि विलय होने पर भगवान् के सायुज्य का आनन्द कौन उठायेगा ? उनके मत में भगवन्निष्ठ होना ही आत्मनिष्ठ होना है ।

आत्मपुराण—परिव्राजकाचार्य स्वामी शङ्करानन्दकृत यह ग्रन्थ अद्वैत साहित्य-जगत् का अमूल्य रत्न है । इसमें अद्वैतवाद के प्रायः सभी सिद्धान्त और श्रुति-रहस्य, योग-साधनरहस्य आदि बातें बड़ी सरल और श्लोकबद्ध भाषा में संवाद रूप से समझायी गयी हैं । सुप्रसिद्ध 'पंचदशी' ग्रन्थ के आरम्भ में विद्यारण्य स्वामी गुरु रूप में जिनका स्मरण करते हैं, संभवतः ये वही महात्मा शंकरानन्द हैं । आत्मपुराण में कावेरी तट का उल्लेख है, अतः ये दाक्षिणात्य रहे होंगे । इस रोचक ग्रन्थ की विशद व्याख्या भी काशी के प्रौढ़ विद्वान् पं० काकाराम शास्त्री (कश्मीरी) ने प्रायः सवा सौ वर्ष पूर्व रची थी ।

आत्मबोध—स्वामी शङ्कराचार्यरचित एक छोटा सा प्राथमिक अद्वैतवादी ग्रन्थ ।

आत्मबोधोपनिषद्—इस उपनिषद् में अष्टाक्षर 'ओम् नमो नारायणाय' मन्त्र की व्याख्या की गयी है । आत्मानुभूति की सभी प्रक्रियाओं का विशद वर्णन इसमें पाया जाता है ।

आत्मविद्याविलास—श्री सदाशिवेन्द्र सरस्वती-रचित अठारहवीं शताब्दी का एक ग्रन्थ । इसकी भाषा सरल एवं भावपूर्ण है । अध्यात्मविद्या का इसमें विस्तृत और विशद विवेचन किया गया है ।

आत्मस्वरूप—नरसिंहस्वरूप के शिष्य तथा प्रसिद्ध दार्शनिक

आचार्य । इन्होंने पद्मपादकृत 'पञ्चपादिका' के ऊपर 'प्रबोधपरिशोधिनी' नामक टीका लिखी, जो अपनी तार्किक युक्तियों के लिए प्रसिद्ध है ।

आत्मानन्द—ये ऋक्संहिता के एक भाष्यकार हैं ।

आत्मानात्मविवेक—शङ्कराचार्य के प्रथम शिष्य पद्मपादाचार्य की रचनाओं में एक । इसमें आत्मा तथा अनात्मा के भेद को विशद रूप से समझाया गया है ।

आत्मार्पण—अप्पय दीक्षित रचित उत्कृष्ट कृतियों में से एक निबन्ध । इसमें आत्मानुभूति का विशद विवेचन है ।

आत्मोपनिषद्—एक परवर्ती उपनिषद् । इसमें आत्मतत्त्व का निरूपण किया गया है ।

आत्रेय—बृहदारण्यक उपनिषद् (२.६.३) में वर्णित माण्टि के एक शिष्य की पैतृक उपाधि । ऐतरेय ब्राह्मण में आत्रेय अङ्ग के पुरोहित कहे गये हैं । शतपथ ब्राह्मण में एक आत्रेय को कुछ यज्ञों का नियमतः पुरोहित कहा गया है । उसी में अन्यत्र एक अस्पष्ट वचन के अन्तर्गत आत्रेयी शब्द का भी प्रयोग हुआ है ।

आत्रेयी—गर्भिणी या रजस्वला महिला । प्रथम अर्थ के लिए 'अत्र' (यहाँ है) से इस शब्द की व्युत्पत्ति होती है; द्वितीय अर्थ के लिए 'अ-त्रि' (तीन दिन स्पर्श के योग्य नहीं) से इसकी व्युत्पत्ति होती है । अत्रि गोत्र में उत्पन्न भी आत्रेयी कही गयी है, जैसा कि उत्तररामचरित में भवभूति ने एक वेदपाठिनी ब्रह्मचारिणी आत्रेयी का वर्णन किया है ।

आत्रेय ऋषि—कृष्ण यजुर्वेद के चरक सम्प्रदाय की बारह शाखाओं में से एक शाखा मैत्रायणी है । पुनः मैत्रायणी की सात शाखाएँ हुईं, जिनमें 'आत्रेय' एक शाखा है ।

आचार्य आत्रेय के मत का उल्लेख (ब्र० सू० ३.४.४४) करके ब्रह्मसूत्रकार ने उसका खण्डन किया है । उनका मत है कि यजमान को ही यज्ञ की अङ्गभूत उपासना का फल प्राप्त होता है, ऋत्विज् को नहीं । अतएव सभी उपासनाएँ स्वयं यजमान को करनी चाहिए, पुरोहित के द्वारा नहीं करानी चाहिए । इसके विरोध में सूत्रकार ने आचार्य औडुलोमि के मत को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है । मीमांसादर्शन में जैमिनि ने वेदान्ती आचार्य कार्ष्णाजिनि के मत के विरुद्ध सिद्धान्त रूप से आत्रेय के मत का उल्लेख किया है । फिर कर्म के सर्वाधिकार मत का खण्डन करने के लिए भी जैमिनि ने आत्रेय का प्रमाण दिया है । इससे ज्ञात होता है कि ये पूर्वमीमांसा के आचार्य थे ।

आथर्वण—अथर्वा ऋषि द्वारा संगृहीत वेद; उक्त वेद का मंत्र; आथर्वण का पाठक, परम्परागत अध्येता अथवा विधि विधान ।

आथर्वण उपनिषदें—दूसरे वेदों की अपेक्षा अथर्ववेदीय उपनिषदों की संख्या अधिक है । ब्रह्मतत्त्व का प्रकाश ही इनका उद्देश्य है । इसलिए अथर्ववेद को 'ब्रह्मवेद' भी कहते हैं । विद्यारण्य स्वामी ने 'अनुभूतिप्रकाश' नामक ग्रन्थ में मुण्डक, प्रश्न और नृसिंहोत्तरतापनीय इन तीन उपनिषदों को ही प्रारम्भिक अथर्ववेदीय उपनिषद् माना है । किन्तु शङ्कराचार्य माण्डूक्य को भी इनके अन्तर्गत मानते हैं, क्योंकि बादरायण ने वेदान्तसूत्र में इन्हीं चारों के प्रमाण अनेक बार दिये हैं । जो संन्यासी प्रायः सिर मुड़ाये रहते हैं, उन्हें मुण्डक कहते हैं । इसी से पहली रचना का 'मुण्डकोपनिषद्' नाम पड़ा । ब्रह्म क्या है, उसे किस प्रकार समझा जाता है, इस उपनिषद् में इन्हीं बातों का वर्णन है । प्रश्नोपनिषद् गद्य में है । ऋषि पिप्पलाद के छः ब्रह्मजिज्ञासु शिष्यों ने वेदान्त के मूल छः तत्त्वों पर प्रश्न किये हैं । उन्हीं छः प्रश्नोत्तरों पर यह प्रश्नोपनिषद् आधारित है । माण्डूक्योपनिषद् एक बहुत छोटा गद्यसंग्रह है, परन्तु सबसे प्रधान समझा जाता है । नृसिंहतापिनी पूर्व और उत्तर दो भागों में विभक्त है । इन चारों के अतिरिक्त मुक्तिकोपनिषद् में अन्य ९३ आथर्वण उपनिषदों के भी नाम मिलते हैं ।

आदि उपदेश—'साधमत' के संस्थापक बीरभान अपनी शिक्षाएँ कबीर की भाँति दिया करते थे । वे दोहे और भजन के रूप में हुआ करती थीं । उन्हीं के संग्रह को 'आदि उपदेश' कहते हैं ।

आदिकेदार—उत्तराखण्ड में स्थित मुख्य तीर्थों में से एक । बदरीनाथ मन्दिर के सिंहद्वार से ४-५ सीढ़ी नीचे शङ्कराचार्य का मन्दिर है । उससे ३-४ सीढ़ी उतरने के बाद आदिकेदार मन्दिर स्थित है ।

आदिग्रन्थ—सिक्खों का यह धार्मिक ग्रन्थ है, जिसमें गुरु नानक तथा दूसरे गुरुओं के उपदेशों का संग्रह है । इसका पढ़ना तथा इसके बताये मार्ग पर चलना प्रत्येक सिक्ख अपना कर्त्तव्य समझता है । 'आदिग्रन्थ' को 'गुरु ग्रन्थ साहब' या केवल 'ग्रन्थ साहब' भी कहा जाता है, क्योंकि दसवें गुरु गोन्विदसिंह ने सिक्खों की इस गुरुप्रणाली को

अनुपयुक्त समझा एवं उन्होंने 'खड्ग-दी-पहुल' (खड्ग-संस्कार) के द्वारा 'खालसा' दल बनाया, जो धार्मिक जीवन के साथ तलवार का व्यवहार करने में भी कुशल हुआ। गुरु गोविन्दसिंह के बाद सिक्ख 'आदिग्रन्थ' को ही गुरु मानने लगे और यह 'गुरु ग्रन्थ साहब' कहलाने लगा।

आदित्य उपपुराण—अठारह महापुराणों की तरह ही कम से कम उन्नीस उपपुराण भी प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक उपपुराण किसी न किसी महापुराण से निकला हुआ माना जाता है। बहुतों का मत है कि उपपुराण बाद की रचनाएँ हैं, परन्तु अनेक उपपुराणों से यह प्रकट होता है कि वे अतिप्राचीन काल में संगृहीत हुए होंगे। 'आदित्य उपपुराण' एक प्राचीन रचना है, जिसका उद्धरण अलबीरूनी (सखाऊ, १.१३०), मध्व के ग्रन्थों एवं वेदान्तसूत्र के भाष्यों में प्राप्त होता है।

आदित्यदर्शन—अन्नप्राशन संस्कार के पश्चात् शिशु का 'निष्क्रमण' (पहली बार घर से निकालना) संस्कार होता है। इसी संस्कार का अन्य नाम आदित्यदर्शन भी है, क्योंकि सूर्य का दर्शन बालक उस दिन पहली ही बार करता है। दे० 'निष्क्रमण'।

आदित्यमण्डलविधि—इस व्रत में रक्त चन्दन अथवा केसर से बनाये हुए वृत्त पर गेहूँ अथवा जौ के आटे का घी-गुड़ से संयुक्त खाद्य पदार्थ रखा जाता है। लाल फूलों से सूर्य का पूजन होता है। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, ७५३, ७५४ (भविष्योत्तर पुराण ४४.१-९ से उद्धृत)।

आदित्यवार—सूर्य के व्रत का दिन। जब यह कुछ तिथियों, नक्षत्रों एवं मासों से युक्त होता है तो इसके कई नाम (कुल १२) होते हैं। माघ शु० ६ को यह 'नन्द' कहलाता है, जब व्यक्ति केवल रात्रि में खाता है (नक्त), सूर्य प्रतिमा पर घी से लेप करता है और अगस्ति वृक्ष के फूल, श्वेत चन्दन, गुग्गुल धूप एवं अपूप (पूआ) का नैवेद्य चढ़ाता है (हे०, व्र० २, ५२२-२३)। भाद्रपद शुक्ल में यह रविवार 'भद्र' कहलाता है, उस दिन उपवास या केवल रात्रि में भोजन किया जाता है, दोपहर को मालतीपुष्प, चन्दन एवं विजयधूप चढ़ायी जाती है, (हे०, व्र०, २, ५२३-२४); कृत्यकल्पतरु (व्र० १२-१३)। रोहिणी नक्षत्र से युक्त रविवार 'सौम्य' कहलाता है। अन्य नाम हैं 'कामद' (मार्गशीर्ष शु० ६); 'जय' (दक्षिणायन का रविवार); 'जयन्त' (उत्तरायण का रविवार); 'विजय' (शु० ७ को रोहिणी के साथ रविवार); 'पुत्रद' (रोहिणी या हस्त के साथ रविवार, उपवास एवं पिण्डों के साथ श्राद्ध हेतु); 'आदित्याभिमुख' (माघ कृ० ७ को रविवार, एकभक्त, प्रातः से सायं तक महाश्वेता मंत्र का जप हेतु); 'हृदय' (संक्रान्ति के साथ रविवार, नक्त, सूर्यमन्दिर में सूर्याभिमुख होना, आदित्य-हृदय मन्त्र का १०८ बार जप); 'रोगपा' (पूर्वाफाल्गुनी को रविवार, अर्क के दोने में एकत्र किये हुए अर्कफूलों से पूजा); 'महाश्वेताप्रिय' (रविवार एवं सूर्य ग्रहण, उपवास, महाश्वेता का जप)। महाश्वेता मन्त्र है—'ह्रां ह्रीं सः' इति, दे० हे० (व्रत २, ५२१)। अन्तिम दस के लिए दे० कृत्यकल्पतरु (व्रत १२-२३), हे० (व्र० २,५२४-२८)।

आदित्यवार नक्तव्रत—हस्त नक्षत्र से युक्त रविवार को इस व्रत का आचरण होता है, यह रात्रि अथवा वार व्रत है, जिसका देवता सूर्य है। एक वर्षपर्यन्त इसका अनुष्ठान होता है। दे० हेमाद्रि, व्रत खण्ड २.५३८-५४१; कृत्यरत्नाकर, पृ० ६०८-६१०।

आदित्यवारव्रत—इसमें मार्गशीर्ष मास से एक वर्षपर्यन्त सूर्य का पूजन होता है। भिन्न-भिन्न मासों में सूर्य का भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण करते हुए भिन्न-भिन्न फल अर्पित किये जाते हैं। जैसे, मार्गशीर्ष में सूर्य का नाम होगा 'मित्र' और उन्हें नारिकेल अर्पित किया जायगा। पौष में 'विष्णु' नाम से सम्बोधित होंगे तथा 'बीजपूर' फल अर्पित किया जायगा। इसी प्रकार अन्य मासों में भी। दे० व्रतार्क, पत्रात्मक (३७५ ब —३७७ अ)। इस व्रत के पुण्य से समस्त रोगों का निवारण होता है।

आदित्यव्रत—पुरुषों और महिलाओं के लिए आश्विन मास से प्रारम्भ कर एक वर्ष तक रविवार को यह व्रत चलता है। सूर्य देवता का पूजन होता है। व्रतार्क (पत्रात्मक, पृ० ३७८ अ) में स्कन्द पुराण से एक कथा लेकर इस बात का उल्लेख किया गया है कि किस प्रकार साम्ब श्री कृष्ण के शाप से कोढ़ी हो गया था और अन्त में इसी व्रत के आचरण से पूर्णरूप से स्वस्थ हुआ।

आदित्यस्तव—अप्पय दीक्षित कृत शैव मत का एक ग्रन्थ। इसके अनुसार सूर्य के माध्यम से अन्तर्यामी शिव का ही जप किया जाता है।

आदित्यशयन—हस्त नक्षत्र युक्त रविवासरीय सप्तमी, अथवा

सूर्य की संक्रान्ति से युक्त रविवासरीय सप्तमी हो, उस दिन उमा तथा शङ्कर की प्रतिमाओं का पूजन विहित है (सूर्य शिव से भिन्न नहीं हैं)। इसमें देवताओं के चरणों से प्रारम्भ कर ऊपर के अङ्गों का नामोच्चारण करते हुए हस्त नक्षत्र से प्रारम्भ कर आगे के नक्षत्रों को अङ्गों के नाम के साथ जोड़ते हुए नमस्कार किया जाता है। पाँच चादरों तथा एक तकिया से युक्त शय्या तथा एक सौ मुद्राओं का दान होता है। दे० पद्मपुराण ५.२४,६४-९६ (हेमाद्रि, व्रत खण्ड, २.६८०—६८४ से उद्धृत)।

आदित्यशान्तिव्रत—हस्त नक्षत्र युक्त रविवार को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। आक वृक्ष की लकड़ियों से सूर्य का पूजन विहित है (संख्या में १०८ या २८)। इन्हीं लकड़ियों से हवन किया जाता है, जिसमें प्रथम मधु तथा घी अथवा दधि और घी की सात आहुतियाँ दी जाती हैं। दे० हेमाद्रि का व्रतखण्ड ५३७—३८ (भविष्य पुराण से)।

आदित्यहृदय-विधि—रविवार को जब संक्रान्ति हो, उस दिन सूर्य के मन्दिर में बैठकर १०८ बार आदित्यहृदय-मन्त्र का जप और नक्त-भोजन का आचरण करना चाहिए। रामायण (युद्ध काण्ड, १०७) में अगस्त्य ऋषि ने राम के पास आकर उपदेश दिया कि वे सूर्य की पद्यात्मक 'आदित्यहृदय' नामक स्तुति करें, जिससे रावण के साथ होने वाले युद्ध में विजयी हो सकें। कृत्यकल्पतरु (व्रत-काण्ड, १९—२०) में उपर्युक्त कथा का उल्लेख है। एक बात स्पष्ट है कि यदि रविवार को संक्रान्ति हो तो 'आदित्यहृदय' का पाठ करना चाहिए।

आदित्याभिमुख-विधि—प्रातःकालीन स्नानोपरान्त व्रतेच्छु को उदित सूर्य की ओर मुँह करके खड़ा होना चाहिए, तदुपरान्त जैसे जैसे सूर्य पश्चिमाभिमुख हो, वह भी उसके घूमने के साथ सूर्यास्तपर्यन्त स्वयं घूमता जाय। फिर एक स्तम्भ के सम्मुख महाश्वेता का जप करके गन्ध, पुष्प तथा अक्षत इत्यादि से सूर्य का पूजन कर दक्षिणा दे। सबके पश्चात् स्वयं भोजन ग्रहण करे।

आदिबदरी—(१) बदरीनाथजी की मूर्ति पहले तिब्बतीय क्षेत्र में थी। उस स्थान को आदि बदरी माना जाता है। वर्तमान बदरीनाथपुरी से माना घाटी होकर उस स्थान का रास्ता जाता है, जो बहुत ही कठिन है। कैलास जाने के लिए नीती घाटी से उसकी ओर जाते हैं। उस मार्ग से शिवचुलम् जाकर वहाँ से थुलिंग-मठ (आदिबदरी) जा सकते हैं। यह स्थान अब भी बड़ा रमणीक है। तिब्बती उसे थुलिंगमठ कहते हैं। कहा जाता है कि वहाँ से उक्त मूर्ति को आदि शंकराचार्य ने वर्तमान पुरी में लाकर स्थापित किया था।

(२) कपालमोचन तीर्थ से १२ मील पर दूसरा आदि-बदरी मन्दिर है। कहते हैं कि यहाँ दर्शन करना बदरीनाथ-दर्शन करने के बराबर है। पैदल का मार्ग है। यह मंदिर पर्वत पर है,। यहाँ ठहरने की व्यवस्था नहीं है।

(३) श्यामसुन्दर ने भी गोपों को आदिबदरी नारायण के दर्शन कराये थे। वह स्थान व्रजमंडल के कामवन क्षेत्र में है।

आदियामलतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में जो चौंसठ तन्त्रों की नामावली दी हुई है, उसमें आदियामल तन्त्र भी एक है।

आदि रामायण—(१) ऐसा प्रवाद है कि वाल्मीकि रामायण आदि रामायण नहीं है और आदि रामायण भगवान् शंकर का रचा हुआ बहुत बृहत् ग्रन्थ था, जो अब उपलब्ध नहीं है। इसका नाम महारामायण भी बतलाया जाता है। कहते हैं कि इसको स्वायम्भुव मन्वतर के पहले सतयुग में भगवान् शङ्कर ने पार्वती को सुनाया था।

(२) एक दूसरा आदि रामायण उपलब्ध हुआ है जो अवश्य ही परवर्ती है। अयोध्या के एक मठ से भुशुण्डि-रामायण अथवा आदि रामायण प्राप्त हुआ है। इस पर कृष्णभक्ति के माधुर्य भाव का गहरा प्रभाव प्रतीत होता है।

आधिपत्यकाम—यह वाजपेय यज्ञ के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य है, जिसका उल्लेख आश्वलायन श्रौतसूत्र (९.९.१) में आता है। इसके अनुसार आधिपत्य की कामना रखने वाले नरेश को वाजपेय यज्ञ करना चाहिए।

आध्वर्यव—यज्ञक्रिया के मध्य किये जानेवाले यजुर्वेदानुसारी कर्म; यजुर्वेद। यज्ञ के चार पुरोहितों के लिए चार अलग अलग वेद हैं। ऋग्वेद होता के लिए, यजुर्वेद अध्वर्यु के लिए, सामवेद उद्गाता के लिए एवं अथर्ववेद ब्रह्मा के लिए है। इसलिए यजुर्वेद को आध्वर्यव भी कहते हैं।

आनर्तीय—शांखायन सूत्र के एक व्याख्याकार। आनर्तीय

(सौराष्ट्रदेशवासी) वरदपुत्र पण्डित ने शाङ्खायन सूत्र की जो टीका रची, उसमें से नवें, दसवें और ग्यारहवें अध्याय का भाग लुप्त हो गया है ।

आनन्तर्यव्रत—यह व्रत मार्गशीर्ष शुक्ल तृतीया को प्रारम्भ होता है । फिर प्रत्येक मास के दोनों पक्षों की द्वितीया की रात्रि तथा तृतीया के दिन उपवास एक वर्ष तक करना होता है । भगवती उमा का प्रत्येक तृतीया को भिन्न-भिन्न नामों से पूजन विहित है । नैवेद्य भी परिवर्तित होते रहने चाहिए । व्रती को भिन्न-भिन्न भोज्य पदार्थों से व्रत की पारणा करनी चाहिए । यह व्रत स्त्रियोपयोगी है । इसका यह नाम इसलिए पड़ा कि यह कर्ता के लिए पुत्रों एवं निकटसम्बन्धियों का अन्तर (वियोग) नहीं होने देता । दे० हेमाद्रि, व्रत खण्ड, १.४०५–४१३ ।

आनन्द—आत्मा अथवा परमात्मा के अनिवार्य गुणों (सत् + चित् + आनन्द) में से एक। इसका शाब्दिक अर्थ है सम्यक् प्रकार से प्रसन्नता (आ + नन्द) । यह पूर्णता अथवा मोक्ष की अवस्था का द्योतक है । जिन कोषों में आत्मा वेष्टित होता है उनमें से एक 'आनन्दमय कोष' भी है, परन्तु पूर्ण आनन्द तो कोष से परे है ।

आनन्दगिरि—शङ्कराचार्यकृत भाष्य ग्रन्थों के प्रसिद्ध टीकाकार । वेदान्तसूत्र के शाङ्कर भाष्य वाली इनकी टीका का नाम 'न्यायनिर्णय' है । भाष्य के भाव को हृदयङ्गम कराने में यह बहुत ही सहायक है । इनकी टीका में भामती, विवरण, कल्पतरु आदि टीकाओं की छाया दिखाई पड़ती है तथा इन्होंने स्वयं भी अन्य टीकाओं का आश्रय लेने की बात लिखी है । इन्होंने 'शङ्करदिग्विजय' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना भी की, जो विद्यारण्य स्वामी के 'शङ्करदिग्विजय' के बाद लिखा गया । इससे सिद्ध होता है कि ये विद्यारण्य स्वामी के परवर्त्ती और अप्पय दीक्षित के पूर्ववर्त्ती थे, क्योंकि अप्पय दीक्षित ने 'सिद्धान्तलेश' में 'न्यायनिर्णय' टीका का उल्लेख किया है । विद्यारण्य स्वामी का काल चौदहवीं शताब्दी है और अप्पय दीक्षित का सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी का पूर्व भाग है । आनन्दगिरि का काल पन्द्रहवीं शताब्दी है ।

आनन्दगिरि का दूसरा नाम आनन्दज्ञान भी है। इनके पूर्वाश्रम और जीवन चरित्र के विषय में किसी प्रकार का परिचय नहीं मिलता । इन्होंने शङ्कराचार्यकृत उपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य, शारीरकभाष्य और शतश्लोकी पर तथा सुरेश्वराचार्य कृत तैत्तिरीयोपनिषद्वार्तिक एवं बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक पर भी टीकाएँ लिखी हैं ।

आनन्दतारतम्यखण्डन—श्रीनिवासाचार्य (द्वितीय) ने मध्वाचार्य के मत में दोष दिखलाने के उद्देश्य से 'आनन्दतारतम्यखण्डन' नामक प्रबन्ध की रचना की । इसमें मध्वाचार्य प्रतिपादित द्वैत मत की आलोचना है ।

आनन्दतीर्थ—प्रसिद्ध द्वैतवादी आचार्य मध्व का दूसरा नाम । इन्होंने वेदान्त के प्रस्थानत्रय (उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र-गीता) पर तर्कपूर्ण भाष्य रचना की है । इनका जीवन-काल बारहवीं शताब्दी और उडूपी (कर्नाटक) निवास स्थान माना जाता है । वैष्णवों के चार संप्रदायों में एक 'माध्व संप्रदाय' आनन्द तीर्थ से ही प्रचारित हुआ ।

आनन्दनवमी—यह व्रत फाल्गुन शुक्ल नवमी के दिन प्रारम्भ होकर एक वर्षपर्यन्त चलता है । पञ्चमी को एकभक्त, षष्ठी को नक्त, सप्तमी को अयाचित, अष्टमी तथा नवमी के दिन उपवास और देवी का पूजन होना चाहिए । वर्ष को तीन भागों में विभाजित कर पुष्प, नैवेद्य, देवी के नाम इत्यादि का चार-चार मास के प्रत्येक भाग में परिवर्तन कर देना चाहिए । दे० कृत्यकल्पतरु, व्रत काण्ड, २९९–३०१; हेमाद्रि, व्रत खण्ड, १.९४८–९५० में इसका नाम 'अनन्दा' है ।

आनन्दपञ्चमी—नागों को पञ्चमी तिथि अत्यन्त प्रिय है । इस तिथि को नागप्रतिमाओं का पूजन होता है । दूध में स्नान करती हुई ये प्रतिमाएँ भय से मुक्ति प्रदान करती हैं । दे० हेमाद्रि, व्रत खण्ड, जिल्द १, पृ०.५५७. ५६० ।

आनन्दबोधाचार्य—श्री आनन्दबोध भट्टारकाचार्य बारहवीं शताब्दी में वर्तमान थे । उन्होंने अपने न्यायमकरन्द ग्रन्थ में वाचस्पति मिश्र का नामोल्लेख किया है तथा विवरणाचार्य प्रकाशात्म यति के मत का अनुवाद भी किया है । वाचस्पति मिश्र दसवीं शताब्दी में और प्रकाशात्म यति ग्यारहवीं शताब्दी में हुए थे । चित्सुखाचार्य ने, जो तेरहवीं शताब्दी में वर्तमान थे, 'न्यायमकरन्द' की व्याख्या की । इससे ज्ञात होता है कि आनन्दबोध बारहवीं शताब्दी में हुए होंगे । वे संन्यासी थे । इससे अधिक उनके जीवन की कोई घटना नहीं मालूम होती ।

उनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं—१. न्यायमकरन्द, २. प्रमाणमाला और ३. न्यायदीपावली। इन तीनों में उन्होंने अद्वैत मत का विवेचन किया है। दे० 'अद्वैतानन्द'।

आनन्द भट्ट—वाजसनेयी संहिता के एक भाष्यकार।

आनन्दभाष्य—वेदान्त दर्शन का एक वैष्णव भाष्य, जो आचार्य स्वामी रामानन्द के सांप्रदायिक सिद्धांतों के अनुरूप सगुण ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन करता है। यह उत्तम कोटि की गम्भीर तार्किक रचना है, जिससे भाष्यकार का अनुपम पाण्डित्य प्रकट होता है।

आनन्दलहरी—शंकराचार्य द्वारा विरचित महामाया दुर्गादेवी की स्तुति एक ललित शिखरिणी छन्द में रची गयी, भक्तिपूर्ण कृति है। सामान्यतया इसके निर्माता आद्य शंकराचार्य माने जाते हैं। किन्तु आलोचकगण पश्चाद्भावी शंकराचार्य पदासीन किसी अन्य महात्मा को इसका रचयिता मानते हैं। ४१ पद्यात्मक आनन्दलहरी गहन सिद्धान्तपूर्ण तांत्रिक स्तोत्र सौन्दर्यलहरी का पूर्वार्ध मानी जाती है।

आनन्दलिङ्ग जङ्गम—उत्तराखण्ड के श्री केदारनाथ धाम में स्थित बहुत प्राचीन मठ। इसकी प्राचीनता का प्रमाण एक ताम्रशासन है, जो इस मठ में वर्तमान बताया जाता है। उसके अनुसार हिमवान् केदार में महाराज जनमेजय के राजत्वकाल में स्वामी आनन्दलिङ्ग जङ्गम वहाँ के मठ के अधिष्ठाता थे। उन्हीं के नाम जनमेजय ने मन्दाकिनी, क्षीरगङ्गा, मधुगङ्गा, स्वर्गद्वार गङ्गा, सरस्वती और मन्दाकिनी के बीच जितना भूक्षेत्र है, सबका दान इस उद्देश्य से किया कि ऊखीमठ के आचार्य आनन्दलिङ्ग जङ्गम के शिष्य ज्ञानलिङ्ग जङ्गम इसकी आय से भगवान् केदारेश्वर की पूजा-अर्चा किया करें।

आनन्दवल्ली—तैत्तिरीयोपनिषद् के तीन भाग हैं। पहला भाग संहितोपनिषद् अथवा शिक्षावल्ली है, दूसरे भाग को आनन्दवल्ली कहते हैं और तीसरे को भृगुवल्ली। इन दोनों (दूसरी और तीसरी) का इकट्ठा नाम वारुणी उपनिषद् भी है। आनन्दवल्ली में ब्रह्म के आनन्दतत्त्व की व्याख्या है।

आनन्दव्रत—इस व्रत में चैत्र मास से चार मासपर्यन्त बिना किसी के याचना करने पर भी जल का वितरण किया जाता है। व्रत के अन्त में जल से पूर्ण कलश, भोज्य पदार्थ, वस्त्र, एक अन्य पात्र में तिल तथा सुवर्ण का दान विहित है। दे० कृत्यकल्परु, व्रत काण्ड, ४४३: हेमाद्रि, व्रत खण्ड १, पृष्ठ ७४२-४३।

आनन्दसफल सप्तमी—यह व्रत भाद्र शुक्ल सप्तमी के दिन प्रारम्भ होता है। एक वर्षपर्यन्त इस तिथि को उपवास विहित है। दे० भविष्य पुराण, १.११०,१–८; कृत्यकल्पतरु, व्रतकाण्ड, १४८–१४९। कुछ हस्तलिखित ग्रन्थों में इसे 'अनन्त फल' कहा गया है।

आनन्दाधिकरण—वल्लभाचार्य रचित सोलहवीं शताब्दी का एक ग्रन्थ। इसमें पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है।

आन्दोलक महोत्सव—वसन्त ऋतु में यह महोत्सव मनाया जाता है। दे० भविष्योत्तर पुराण, १३३-२४। इसमें दोला (झूला), संगीत और रंग आदि का विशेष आयोजन रहता है।

आन्दोलन व्रत—इस व्रत में चैत्र शुक्ल तृतीया को शिवपार्वती की प्रतिमाओं का पूजन तथा एक पालने में उनको झुलाना होता है। दे० हेमाद्रि, व्रत खण्ड, २.७४५–७४८, जिसमें ऋग्वेद, दशम मण्डल के इक्यासीवें सूक्त के तीसरे मन्त्र का उल्लेख है: 'विश्वतश्चक्षुरुत।'

आन्ध्र ब्राह्मण—देशविभाग के अनुसार ब्राह्मणों के दो बड़े वर्ग हैं—पञ्चगौड और पञ्चद्रविड। नर्मदा के दक्षिण के ब्राह्मण आन्ध्र, द्रविड, कर्णाटक, महाराष्ट्र और गुर्जर हैं। इन्हें पञ्चद्रविड कहा गया है और उधर के ब्राह्मण इन्हीं पाँच नामों से प्रसिद्ध हैं। आन्ध्र या तैलङ्ग में तिलघानियन, वेल्लनाटी, वेगिनाटी, मुर्किनाटी, कासलनाटी, करनकम्मा, नियोगी और प्रथमशाखी ये आठ विभाग हैं। दे० 'पञ्च द्रविड।'

आन्वीक्षिकी—सामान्यतः इसका अर्थ तर्क शास्त्र अथवा दर्शन है। इसीलिए इसका न्याय शास्त्र से गहरा सम्बन्ध है। 'आन्वीक्षिकी', 'तर्कविद्या', 'हेतुवाद' का निन्दापूर्वक उल्लेख रामायण और महाभारत में मिलता है। अर्थशास्त्र में उल्लिखित चार प्रकार की विद्याओं (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति) में से 'आन्वीक्षिकी' महत्त्वपूर्ण विद्या मानी गयी है, जिसकी शिक्षा प्रत्येक राजकुमार को दी जानी चाहिए। उसमें (२.१.१३) इसकी उपयोगिता निम्नलिखित बतलायी गयी है:

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

[आन्वीक्षिकी सदा सभी विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों का उपाय और सभी धर्मों का आश्रय मानी गयी है ।] इस प्रकार आन्वीक्षिकी विद्या त्रयी, वार्ता, दण्डनीति आदि विद्याओं के बलाबल को युक्तियों से निर्धारित करती हुई संसार का उपकार करती है, विपत्ति और समृद्धि में बुद्धि को दृढ रखती है और प्रज्ञा, वाक्य एवं क्रिया में कुशलता उत्पन्न करती है ।

आपः—ऋग्वेद के (७.४७.४९;१०.९,३०) जैसे मन्त्रों में आपः (जलों) के विविध गुणों की अभिव्यक्ति हुई है । यहाँ आकाशीय जलों की स्तुति की गयी है, उनका स्थान सूर्य के पास है ।

'इन दिव्य जलों को स्त्रीरूप माना गया है । वे माता हैं, नवयुवती हैं, अथवा देवियाँ हैं । उनका सोमरस के साथ संयोग होने से इन्द्र का पेय प्रस्तुत होता है । वे धनवान् हैं, धन देनेवाली हैं, वरदानों की स्वामिनी हैं तथा घी, दूध एवं मधु लाती हैं ।'

इन गुणों को हम इस प्रकार मानते हैं कि जल पृथ्वी को उपजाऊ बनाता है, जिससे वह प्रभूत अन्न उत्पन्न करती है ।

जल पालन करनेवाला, शक्ति देनेवाला एवं जीवन देनेवाला है । वह मनुष्यों को पेय देता है एवं इन्द्र को भी । वह ओषधियों का भी भाग है एवं इसी कारण रोगों से मुक्ति देनेवाला है ।

आपदेव—सुप्रसिद्ध मीमांसक । उनका 'मीमांसान्यायप्रकाश' पूर्वमीमांसा का एक प्रामाणिक परिचायक ग्रन्थ है । मीमांसक होते हुए भी उन्होंने सदानन्दकृत वेदान्तसार पर 'बालबोधिनी' नाम की टीका लिखी है, जो नृसिंह सरस्वतीकृत 'सुबोधिनी' और रामतीर्थ कृत 'विद्वन्मनोरञ्जिनी' की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट समझी जाती है ।

आपदेवी—आपदेव रचित 'मीमांसान्यायप्रकाश' को अधिकांश लोग 'आपदेवी' कहते हैं । इसकी रचना १६३० ई० के लगभग हुई थी । यह अति सरल संस्कृत भाषा में है और इसका अध्ययन बहुत प्रचलित है ।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र—गृह्यसूत्र कुल १४ हैं। ऋग्वेद के तीन, साम के तीन, शुक्ल यजुः का एक, कृष्ण यजुर्वेद के छः एवं आथर्वण का एक । गृह्यसूत्रों में आपस्तम्ब का स्थान महत्त्व पूर्ण है । इसमें तथा अन्य गृह्यसूत्रों में मुख्यतः गृह्ययज्ञों का वर्णन है, जिन के नाम हैं—(१) पितृयज्ञ, (२) पार्वणयज्ञ, (३) अष्टकायज्ञ, (४) श्रावणीयज्ञ, (५) आश्वयुजीयज्ञ, (६) आग्रहायणीयज्ञ और (७) चैत्रीयज्ञ । इनके अतिरिक्त पञ्चमहायज्ञों का भी वर्णन पाया जाता है—(१) ब्रह्मयज्ञ, (२) देवयज्ञ, (३) पितृयज्ञ, (४) अतिथियज्ञ और (५) भूतयज्ञ । इसमें सोलह गृह्य संकारों का भी विधान है । निम्नांकित मुख्य हैं :

१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. चौल, ९. उपनयन, १०. समावर्तन, ११. विवाह, १२. अन्त्येष्टि आदि ।

आठ प्रकार के विवाहों—१. ब्राह्म, २. दैव, ३. आर्ष, ४. प्राजापत्य, ५. आसुर, ६. गान्धर्व, ७. राक्षस और पैशाच—का वर्णन भी इसमें पाया जाता है ।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र—वैदिक संप्रदाय के धर्मसूत्र केवल पाँच उपलब्ध हैं: (१) आपस्तम्ब, (२) हिरण्यकेशी, (३) बौधायन, (४) गौतम और (५) वसिष्ठ । चरणव्यूह के अनुसार आपस्तम्ब कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के खाण्डिकीय वर्गीय पाँच उपविभागों में से एक है । यह सबसे प्राचीन धर्मसूत्र है । यह दो प्रश्नों, आठ पटलों और तेईस खण्डों में विभक्त है ।

आपद्धर्म—सभी वर्णों तथा आश्रमों के धर्म वृति तथा अवस्था भेद से स्मृतियों में वर्णित हैं । क्हिन्हीं विशेष परिस्थितियों में जब अपने वर्ण और आश्रम के कर्तव्यों का पालन संभव नहीं होता तो धर्मशास्त्र में उनके विकल्प बताये गये हैं । शास्त्रों से विहित होने के कारण इनका पालन भी धर्म ही है । उदाहरण के लिए, यदि ब्राह्मण अपने वर्ण के विशिष्ट कर्तव्यों (पाठन, याजन और प्रतिग्रह) से निर्वाह नहीं कर सकता तो वह क्षत्रिय अथवा वैश्य के विशिष्ट कर्तव्यों (शस्त्र, कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य) को अपना सकता है । किन्तु इन कर्तव्यों में भी ब्राह्मण के लिए सीमा बाँध दी गयी है कि संकटकालीन स्थिति बीत जाने पर आपद्धर्म का त्याग कर उसे अपने वर्णधर्म का पालन करना चाहिए ।

आपद्धर्मपर्वाध्याय—महाभारत के १८ पर्व हैं और इन पर्वों के अवान्तर भी १०० छोटे पर्व हैं, जिन्हें पर्वाध्याय कहते हैं । ऐसे ही छोटे पर्वों में से आपद्धर्म भी एक है । इसकी विषयसूची इस प्रकार है :

राजर्षि वृत्तान्त कीर्तन । कायव्य-दस्यु संवाद । नकुलोपाख्यान । मार्जार-मूषिक संवाद । ब्रह्मदत्त-पूजनोसंवाद । कणिक उपदेश । विश्वामित्र-निषादसंवाद । कपोत-लुब्धकसंवाद । भार्याप्रशंसा कीर्तन । इन्द्रोत-परीक्षित्-संवाद । गृध्र-गोमायुसंवाद । पवन-शाल्मलिसंवाद । आत्मज्ञान कीर्तन । दम गुणवर्णन । तपः कीर्तन । सत्य कथन । लोभोपाख्यान। नृशंसप्रायश्चित्तकथन । खड्गोत्पत्ति कीर्तन । षड्जगीता । कृतघ्नोपाख्यान ।

आपस्तम्ब यजुःसंहिता—कृष्ण यजुर्वेद के एक सम्प्रदाय ग्रन्थ का नाम 'आपस्तम्ब यजुःसंहिता' है। इसमें सात अष्टक हैं । इन अष्टकों में ४४ प्रश्न हैं । इन ४४ प्रश्नों में ६५१ अनुवाक् हैं । प्रत्येक अनुवाक् में दो सहस्र एक सौ अट्ठानवे कण्डिकाएँ हैं । साधारणतः एक कण्डिका में ५०-५० शब्द हैं ।

आपस्तम्ब शुल्वसूत्र—कल्पसूत्रों की परम्परा में शुल्वसूत्र भी आते हैं । शुल्वसूत्रों की भूमिका १८७५ ई० में थिबो द्वारा लिखी गयी थी (जर्नल ऑफ् एशियाटिक सोसायटी ऑफ् बेंगाल) । शुल्वसूत्र दो हैं : पहला बौधायन एवं दूसरा आपस्तम्ब । जर्मन में इसका अनुवाद श्री बर्क ने प्रस्तुत किया था । शुल्वसूत्रों का सम्बन्ध श्रौत यज्ञों से है । शुल्व का अर्थ है मापने का तागा या डोरा । यज्ञवेदिकाओं के निर्माण में इसका काम पड़ता था । यज्ञस्थल, उसके विस्तार, आकार आदि का निर्धारण शुल्वसूत्रों के अनुसार होता था । भारतीय ज्यामिति के ये प्राचीन आदिम ग्रन्थ माने जाते हैं ।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र—श्रौतसूत्र अनेक आचार्यों ने प्रस्तुत किये हैं । इनकी संख्या १३ है । कृष्ण यजुर्वेद के छः श्रौत सूत्र हैं, जिनमें से 'आपस्तम्ब श्रौतसूत्र' भी एक है । इस का जर्मन अनुवाद गार्बे द्वारा १८७८ में और कैलेंड द्वारा १९१० ई० में हुआ । श्रौतसूत्रों की याज्ञिक क्रियाओं पर हिल्लेब्रैण्ट ने विस्तृत ग्रन्थ लिखा है ।

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन यज्ञों का वर्णन है उनको श्रौतसूत्रों में पद्धतिबद्ध किया गया है । वैदिक हवि तथा सोम यज्ञ सम्बन्धी धार्मिक अनुष्ठानों का इसमें प्रतिपादन है । श्रुतिप्रतिपादित चौदह यज्ञों का इसमें विधान है । दे० 'श्रौतसूत्र' ।

आपस्तम्बस्मृति—अवश्य ही यह परवर्ती स्मृतियों में से है । आपस्तम्बधर्मसूत्र से इसकी विषयसूची बहुत भिन्न है ।

आपस्तम्बीय मण्डनकारिका—मीमांसा शास्त्र का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ । सुरेश्वराचार्य अथवा मण्डन मिश्र ने, जो पाण्डित्य के अगाध सागर थे और जिन्हें शाङ्करमत के आचार्यों में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है, अपने संन्यास ग्रहण करने के पूर्व 'आपस्तम्बीय मण्डनकारिका' की रचना की थी ।

आपिशलि—एक प्रसिद्ध प्राचीन व्याकरणाचार्य । इनका नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्रों में (वा सुप्यापिशलेः । ६. १. ९२) आया है ।

आप्तोपदेश—न्यायदर्शन में वर्णित चौथा प्रमाण । न्यायसूत्र में लिखा है कि आप्तोपदेश अर्थात् 'आप्त पुरुष का वाक्य' शब्द प्रमाण माना जाता है । भाष्यकार ने आप्त पुरुष का लक्षण बतलाया है कि जो 'साक्षात्कृतधर्मा' हो अर्थात् जैसा देखा, सुना, अनुभव किया हो ठीक-ठीक वैसा ही कहने वाला हो, वही आप्त है, चाहे वह आर्य हो या म्लेच्छ । गौतम ने आप्तोपदेश के दो भेद किये हैं—'दृष्टार्थ' एवं 'अदृष्टार्थ' । प्रत्यक्ष जानी हुई बातों को बताने वाला 'दृष्टार्थ' एवं केवल अनुमान से जानने योग्य बातों को (जैसे स्वर्ग, अपवर्ग, पुनर्जन्म इत्यादि को) बताने वाला 'अदृष्टार्थ' कहलाता है । इस पर वात्स्यायन ने कहा है कि इस प्रकार लौकिक वचन और ऋषि वचन या वेद-वाक्य का विभाग हो जाता है। अदृष्टार्थ में केवल वेदवाक्य ही प्रमाण माना जा सकता है । नैयायिकों के मत से वेद ईश्वरकृत हैं । इससे उसके वाक्य सत्य और विश्वसनीय हैं । पर लौकिक वाक्य तभी सत्य माने जा सकते हैं, जब उनका वक्ता प्रामाणिक मान लिया जाय ।

आबू (अर्बुद)—प्रसिद्ध पर्वत तथा तीर्थस्थान, जो राजस्थान के सिरोही क्षेत्र में स्थित है । यह मैदान के बीच में द्वीप की तरह उठा हुआ है । इसका संस्कृत रूप अर्बुद है जिसका अर्थ फोड़ा या सर्प भी है । इसे हिमालय का पुत्र कहा गया है । यहाँ वसिष्ठ का आश्रम था और राजा अम्बरीष ने भी तपस्या की थी । इसका मुख्य तीर्थ गुरुशिखर ५६५३ फुट ऊँचा है । यहाँ एक गुहा में दत्तात्रेय और गणेश की मूर्तियाँ और पास में अचलेश्वर (शिव) का मन्दिर भी है । यहाँ शक्ति की पूजा अधरादेवी तथा अर्बुदमाता के रूप में होती है । यह प्रसिद्ध जैन तीर्थ भी है और देलवाड़ा में जैनियों के बहुत सुन्दर कलात्मक मन्दिर बने हुए हैं ।

आभास—कश्मीरी शैव मत का एक सिद्धान्त। कश्मीरी शैवों की साहित्यिक परम्परा में सोमानन्द कृत 'शिवदृष्टि' ग्रन्थ शैव मत के दार्शनिक विचारों को स्पष्टरूप में प्रस्तुत करता है। यह एकेश्वरवाद को मानता है एवं इसके अनुसार मोक्ष मनुष्य को सतत प्रत्यभिज्ञा (मनुष्य का शिव के साथ तादात्म्य भाव) के अनुशासन से प्राप्त हो सकता है। यहाँ सृष्टि को केवल माया नहीं, अपितु शिव का शक्ति के माध्यम से व्यक्तीकरण माना गया है। सम्पूर्ण सृष्टि शिव का 'आभास' (प्रकाश) है। आभास का शाब्दिक अर्थ है 'सम्यक् प्रकार से भासित होना'। यह एक प्रकार की विश्व-मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा परम शिव (अन्तिम तत्त्व) विश्व के विविध रूपों में भासित होता है।

आमर्दकीव्रत—किसी मास की शुक्ल पक्ष की द्वादशी, विशेष रूप से फाल्गुन मास की, आमर्दकी अथवा धात्री (आँवला फल अथवा हर्र) कहलाती है। विभिन्न नक्षत्रों से युक्त द्वादशी के विभिन्न नाम ये हैं। जैसे विजया (श्रवण नक्षत्र के साथ), जयन्ती (रोहिणी के साथ), पापनाशिनी (पुष्य नक्षत्र के साथ)। अन्तिम द्वादशी के दिन उपवास करने से एक सहस्र एकादशियों का पुण्य प्राप्त होता है। विष्णु की पूजा करते हुए व्रती को आमलक वृक्ष के नीचे जागरण करना चाहिए। दे० हेमाद्रि, १, २१४-२२२।

आमलक्येकादशी—फाल्गुन शुक्ल एकादशी। इस तिथि को आमलक वृक्ष के नीचे हरि भगवान् का पूजन करना चाहिए, क्योंकि इस वृक्ष में विष्णु और लक्ष्मी का वास है। दे० पद्मपुराण, ६. ४७. ३३; स्मृतिकौस्तुभ, ३६४-३६६। आँवले के वृक्ष के नीचे बैठकर कार्तिक पूर्णिमा अथवा कार्तिक मास के किसी भी दिन पूजन और भोजन करना चाहिए।

आमेर (अम्बानगर)—राजस्थान का एक प्रसिद्ध शाक्त पीठ। यह जयपुर से ५ मील दूर है जो इस राज्य की प्राचीन राजधानी थी। यहाँ काली का एक प्रसिद्ध मन्दिर है। एक अन्य पहाड़ी पर गलता (झरना) टीला है, जिसको लोग गालव ऋषि की तपोभूमि मानते हैं। टीले के ऊपर सात कुण्ड हैं। इनके पास ही शंकरजी का मन्दिर है। झरनों से बराबर जल प्रवाहित होता रहता है जिसमें यात्री स्नान करके अपने को पुण्य का भागी समझते हैं।

आम्रपुष्पभक्षण—इस व्रत का सम्बन्ध कामदेव-पूजन से है। आम्रमञ्जरी कामदेव का प्रतीक है, क्योंकि इसकी मदगन्ध काम को उद्दीप्त करती है। कामदेव की तुष्टि के लिए चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को आम्रमञ्जरियों को खाना चाहिए। दे० स्मृतिकौस्तुभ, ५१९; वर्षकृत्यकौमुदी, ५१६-५१७।

आयतन—छान्दोग्य उपनिषद् (७.२४.२) में यह निवास स्थान के अर्थ में केवल एक स्थान पर आया है। किन्तु काव्यों में इसे पवित्र स्थान, विशेष कर मन्दिर माना गया है, जैसे देवायतन, शिवायतन आदि।

विष्णु भगवान् को मङ्गल का आयतन माना गया है :

मङ्गलं भगवान् विष्णुः मङ्गलं गरुडध्वजः ।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षः मङ्गलायतनं हरिः ।।

आयन्त दीक्षित—आयन्त दीक्षित वेङ्कटेश के शिष्य थे। इन्होंने 'व्यासतात्पर्यनिर्णय' नामक एक अद्भुत ग्रन्थ की रचना की थी। वेङ्कटेश सदाशिवेन्द्र सरस्वती के समकालीन थे, उन्होंने 'अक्षयषष्टि' और 'दायशतक' नामक दो ग्रंथ रचे हैं। उनके शिष्य होने के कारण आयन्त दीक्षित का जीवन काल भी अठारहवीं शताब्दी ही सिद्ध होता है। 'व्यासतात्पर्यनिर्णय' में आयन्त दीक्षित ने व्यास के वेदान्तसूत्रों को अद्वैतवादी माना है। अद्वैत सिद्धांतप्रेमियों के लिए यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

आयुर्वेद--परम्परा के अनुसार आयुर्वेद एक उपवेद है तथा धर्म और दर्शन से इसका अभिन्न सम्बन्ध है। चरणव्यूह के अनुसार यह ऋग्वेद का उपवेद है परन्तु सुश्रुतादि आयुर्वेद ग्रन्थों के अनुसार यह अथर्ववेद का उपवेद है। सुश्रुत के मत से "जिसमें या जिसके द्वारा आयु प्राप्त हो, आयु जानी जाय उसको आयुर्वेद कहते हैं।" भावमिश्र ने भी ऐसा ही लिखा है। चरक में लिखा है--'यदि कोई पूछने वाला प्रश्न करे कि ऋक्, साम, यजु, अथर्व इन चारों वेदों में किस वेद का अवलम्ब लेकर आयुर्वेद के विद्वान् उपदेश करते हैं, तो उनसे चिकित्सक चारों में अथर्ववेद के प्रति अधिक भक्ति प्रकट करेगा। क्योंकि स्वस्त्ययन, बलि, मङ्गल, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास और मन्त्रादि अथर्ववेद से लेकर ही वे चिकित्सा का उपदेश करते हैं।'

सुश्रुत में लिखा है कि ब्रह्मा ने पहले-पहल एक लाख श्लोकों का 'आयुर्वेद शास्त्र' बनाया, जिसमें एक सहस्र अध्याय थे । उनसे प्रजापति ने पढ़ा । प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने और अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने, इन्द्रदेव से धन्वन्तरि ने और धन्वन्तरि से सुनकर सुश्रुत मुनि ने आयुर्वेद की रचना की । ब्रह्मा ने आयुर्वेद को आठ भागों में बाँटकर प्रत्येक भाग का नाम तन्त्र रखा । ये आठ भाग निम्नांकित हैं : (१) शल्य तन्त्र, (२) शालाक्य तन्त्र, (३) काय चिकित्सा तन्त्र, (४) भूत विद्या तन्त्र, (५) कौमारभृत्य तन्त्र, (६) अगद तन्त्र, (७) रसायन तन्त्र और (८) वाजीकरण तन्त्र ।

इस अष्टाङ्ग आयुर्वेद के अन्तर्गत देहतत्त्व, शरीर-विज्ञान, शस्त्रविद्या, भेषज और द्रव्य गुण तत्त्व, चिकित्सा तत्त्व और धात्री विद्या भी है । इसके अतिरिक्त उसमें सदृश चिकित्सा (होम्योपैथी), विरोधी चिकित्सा (एलोपैथी) और जलचिकित्सा (हाइड्रो पैथी) आदि आजकल के अभिनव चिकित्साप्रणालियों के विधान भी पाये जाते हैं ।

आयुधव्रत—इस व्रत में श्रावण से चार मासपर्यन्त शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म का पूजन करना चाहिए । ये आयुध वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के प्रतीक हैं । दे० विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ३.१४८,१-६; हेमाद्रि, व्रत खण्ड, २.८३१ ।

आयुर्व्रत—(१) इस व्रत में एक वर्ष तक शम्भु तथा केशव (विष्णु) का चन्दन से लेपन करना चाहिए । व्रत के अन्त में जलपूर्ण कलश तथा गौ का दान विहित है । दे० कृत्यकल्पतरु, व्रत काण्ड, ४४२ ।

(२) पूर्णिमा के दिन भगवान् विष्णु तथा लक्ष्मी का पूजन, उपवास, कुछ उपहार ब्राह्मण तथा सद्यः विवाहित स्त्रियों को देना चाहिए । दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, २.२२५-२२९ (गरुड पुराण से) ।

आयुःसंक्रान्तिव्रत—इस व्रत में संक्रान्ति के दिन सूर्य का पूजन, काँसे के पात्र, दूध, घी तथा सुवर्ण का दान विहित है । इसका उद्यापन धान्य संक्रान्ति के समान होना चाहिए । दे० हेमाद्रि, व्रत खण्ड, २.७६७; व्रतार्क, पृ० ३८९ ।

आरणीय विधि—तैत्तिरीय ब्राह्मण का शेषांश तैत्तिरीय आरण्यक है । इसमें दस काण्ड हैं । काठक में बतायी हुई 'आरणीय विधि' का भी इस ग्रन्थ में विचार हुआ है । इसके पहले और तीसरे प्रपाठक में यज्ञाग्नि स्थापन के नियम लिखे हैं । दूसरे प्रपाठक में स्वाध्याय के नियम हैं । चौथे, पाँचवें और छठे में दर्श-पूर्णमासादि और पितृमेधादि विषयों पर विचार है ।

आरण्यक—ब्राह्मणों और उपनिषदों का मध्यवर्ती साहित्य आरण्यक है, अतः यह श्रुति का ही एक भाग है । कहा जा सकता है कि आरण्यक ब्राह्मणों की ही भाषा और शैली में लिखे गये उनके पूरक हैं । इनके अध्यायों का प्रारम्भ ब्राह्मणों जैसा ही है, किन्तु सामग्री में सामान्य अन्तर दिखाई पड़ता है, जो क्रमशः रहस्यात्मक दृष्टान्तों या रूपकों के माध्यम से दार्शनिक चिन्तन में बदल गया है । साधारणतः धार्मिक क्रियाकलापों एवं रूपक वाले भाग को ही आरण्यक कहते हैं, एवं दार्शनिक भाग उपनिषद् कहलाता है । इन आरण्यक ग्रन्थों के भाग धार्मिक क्रियाओं का वर्णन करते हैं तथा यत्र-तत्र उनकी रहस्यपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । इस प्रकार ये ब्राह्मणशिक्षाओं से अभिन्न दिखाई पड़ते हैं । किन्तु कुछ अध्यायों में कुछ कड़े नियमों की स्थापना हुई, जिसके अनुसार कुछ क्रियाओं को गुप्त रखने की आज्ञा है और उन्हें कुछ विशेष पुरुषों के निमित्त ही करने योग्य बतलाया गया है । ऐसे रहस्यात्मक स्थल उपनिषदों में भी दृष्टिगोचर होते हैं । इसके साथ ही कुछ ऐसे अध्याय हैं जिनमें केवल क्रियाओं के रूपक ही दिये गये हैं, पर वे धार्मिक क्रियाओं के सम्पादनार्थ नहीं, किन्तु ध्यान करने के लिए दिये गये हैं । इनमें से किसी भी रूपकात्मक अथवा याज्ञिक अध्याय में पुनर्जन्म अथवा कर्मवाद की शिक्षा नहीं है ।

आरण्यकों का अध्ययन अरण्य (वन) में ही करना चाहिए । किन्तु वे कौन थे जो उनका अध्ययन करते थे ? ब्राह्मणों के निर्माण-काल में ही विरक्त यति, मुनियों का एक सम्प्रदाय प्रकट हुआ, जो सांसारिकता का त्याग कर चुका था और जिसने अपने जीवन को धार्मिक लक्ष्य की ओर लगा दिया था । उनके अभ्यासों के तीन प्रकार थे : (१) तपस्या, (२) यज्ञ और (३) ध्यान । किन्तु नियम विभिन्न थे, इसलिए अभ्यासों में विभिन्नता थी । कुछ लोगों ने यज्ञों को एकदम छोड़ दिया । बड़े एवं विस्तृत यज्ञ वैसे भी असम्भव होते थे । ऊपर जो कुछ अरण्यवासी साधुओं के सम्बन्ध में कहा गया है, उसका बड़ा ही सजीव वर्णन रामायण में उपस्थित है । जब विद्यार्थी अपनी शिक्षा

समाप्त कर लेता तो उसके लिए तीन मार्ग हुआ करते थे, अपने गुरु के साथ आजन्म रहना, गृहस्थ बनना और अरण्यवासी साधु बनना। ऐसे साधु का प्रारम्भिक नाम 'वैखानस' था किन्तु बाद में वानप्रस्थ (वनवासी) का प्रयोग होने लगा।

सायणाचार्य का कहना है कि आरण्यक साधुओं का पाठ्य 'ब्राह्मण ग्रन्थ' था। इस मत का डायसन ने समर्थन किया है। आरण्यक के विषयों के विभिन्न अध्यायों—धार्मिक क्रियाओं की रहस्यात्मक व्याख्या, दृष्टान्त, आन्तरिक यज्ञ आदि का वनवासो साधुओं के विभिन्न प्रकार के अभ्यासों से मेल भी खाता है। किन्तु ओल्डेनबर्ग एवं बेरिडेल कीथ का कथन है कि आरण्यक वे रहस्यात्मक ग्रन्थ हैं, जिनका अध्ययन एकांत में ही हो सकता है। प्रो० कीथ का कथन है कि ब्राह्मणों की तरह आरण्यक भी पुरोहितों को पढ़ाया जाता था। दोनों में अन्तर केवल रहस्यों का था, जो आरण्यकग्रन्थों में है। आरण्यकों में वे ही अध्याय महत्त्वपूर्ण हैं जो अपने रूपक, रहस्य, ध्यान आदि पर जोर डालने के कारण ब्राह्मणों से तथा दार्शनिक उपनिषदों से भिन्न हैं। मुख्य आरण्यक ग्रन्थ निम्नांकित हैं :

ऋग्वेद के आरण्यक—

१. ऐतरेय आरण्यक—इसके पाँच ग्रन्थ पाये जाते हैं। दूसरे और तीसरे आरण्यक स्वतन्त्र उपनिषद् हैं। दूसरे के उत्तरार्द्ध के शेष चार परिच्छेदों में वेदान्त का प्रतिपादन है। इसलिए उनका नाम ऐतरेय उपनिषद् है। चौथे आरण्यक का संकलन शौनक के शिष्य आश्वलायन ने किया है।

२. कौषीतकि आरण्यक—इसके तीन खण्ड हैं। प्रथम दो खण्ड कर्मकाण्ड से भरे हैं। तीसरा खण्ड कौषीतकि उपनिषद् कहलाता है। यह बहुत सारगर्भित है। आनन्दधाम में प्रवेश करने की विधि इसमें प्रतिपादित है।

यजुर्वेद के आरण्यक—

१. तैत्तिरीय आरण्यक कृष्ण यजुर्वेद का है। इस आरण्यक में दस काण्ड हैं। आरणीय विधि का इसमें प्रतिपादन हुआ है।

२. बृहदारण्यक शुक्लयजुर्वेद का है।

सामवेद का आरण्यक—

१. छान्दोग्य आरण्यक। यह आरण्यक छः प्रपाठकों में विभाजित है। यह आरण्यक आरण्यगान भी कहलाता है।
(कॉवेल, कीथ, विंटरनित्ज)

आरण्यगान—जिस प्रकार आरण्यकों के पढ़ने अथवा अध्ययन के लिए वन में निवास किया जाता था, उसी प्रकार सामवेद के 'आरण्यगान' के लिए भी विधान था, अर्थात् उसे भी अरण्य (वन) में ही गाया जाता था।

आरम्भवाद—जगत् अथवा सृष्टि की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में वैशेषिकों तथा नैयायिकों का मत है कि ईश्वर सृष्टि को उत्पन्न करता है। इसी सिद्धान्त को आरम्भवाद कहते हैं। नित्य परमाणु एक दूसरे से विभिन्न प्रकार से मिलकर जगत् के अनन्त पदार्थों की रचना (आरम्भ) करते हैं। यह एक प्रकार का सर्जनात्मक विकासवाद है।

आराध्य ब्राह्मण—'आराध्य ब्राह्मण' अर्ध-लिङ्गायतों की दो शाखाओं में से एक है। इन अर्ध-लिङ्गायतों में लिङ्गायत-प्रथाएँ अपूर्ण एवं जातिभेद का भाव संकीर्ण है। आराध्य ब्राह्मण विशेषकर कर्णाटक एवं तैलंग प्रदेश में पाये जाते हैं। ये अर्ध परिवर्तित स्मार्त हैं जो पवित्र यज्ञोपवीत एवं शिवलिङ्ग धारण करते हैं। अपनी व्यक्तिगत पूजा में वे लिङ्गायत हैं, किन्तु स्मार्तों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करते हैं। उनके लिए कोई स्मार्त व्यक्ति वैवाहिक उत्सव सम्पन्न करता है, किन्तु वे दूसरे लिङ्गायतों के घर भोजन नहीं करते।

दूसरा अर्ध-लिङ्गायत दल जातिबहिष्कृत है, जिसके लिए कोई भी जङ्गम संस्कारोत्सव नहीं करता और वे किसी भी अर्थ में लिङ्गायत समाज में प्रवेश नहीं पा सकते।

आरुणि—यह एक पितृपरक नाम है। अरुण औपवेशि के पुत्र उद्दालक के अर्थ में यह व्यवहृत होता है। आरुणि यशस्वी से भी उद्दालक का बोध होता है, जो जैमिनीय ब्राह्मण (२।८०) में सुब्रह्मण्या के आचार्य हैं। आरुणि का प्रयोग जैमिनीय उपनिषद्, ब्राह्मण, काठक संहिता एवं ऐतरेय आरण्यक में भी हुआ है।

आरुणेयोपनिषद्—निवृत्तिमार्गी उपनिषदों में इसकी गणना की जाती है।

आरोग्यद्वितीया—पौष शुक्ल द्वितीया को अथवा शुक्ल पक्ष की प्रत्येक द्वितीया को उदयकालीन चन्द्र के पूजन का विधान है। चन्द्रमा का पूजन करने के पश्चात् वस्त्रों का

जोड़ा, सुवर्ण तथा एक तरल पदार्थ से भरा हुआ कलश दान करना चाहिए। दे० हेमाद्रि, व्रत खण्ड, १.३८९-९१ (विष्णुधर्मोत्तर पुराण, २.५८ से उद्धृत)।

आरोग्यप्रतिपदा—वर्ष की समाप्ति के पश्चात् प्रथम तिथि को व्रतारम्भ होता है। यह एक वर्षपर्यन्त चलता है। प्रत्येक प्रतिपदा को सूर्य की छपी हुई प्रतिमा का पूजन विहित है। दान पूर्व व्रत के समान है। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, १.३४१-४२; व्रतराज, ५३।

आरोग्यव्रत—(१) इस व्रत का अनुष्ठान भाद्रपद शुक्ल पक्ष के पश्चात् आश्विन कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से लेकर शरद्-पूर्णिमा तक होता है। दिन में कमल तथा जाति-जाति के पुष्पों से अनिरुद्ध की पूजा, हवन आदि होता है। व्रत की समाप्ति से पूर्व तीन दिन का उपवास विहित है। इससे स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा समृद्धि की उपलब्धि होती है। दे० विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ३.२०५,१-७।

(२) यह दशमीव्रत है। नवमी को उपवास तथा दशमी को लक्ष्मी और हरि का पूजन होना चाहिए। हेमाद्रि, व्रतखण्ड, १.९६३-९६५।

आरोग्यसप्तमी—इस व्रत में मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी से प्रत्येक सप्तमी को एक वर्ष तक उपवास, सूर्य के पूजन आदि का विधान है। दे० वाराह पुराण, ६२.१-५।

आर्चिक (१)—सामवेदीय मन्त्रों की स्तुतियों का संग्रह, जो उद्गाता को कण्ठस्थ करना पड़ता था। सोमयज्ञ के विविध अवसरों पर कौन मन्त्र किस स्वर में और किस क्रम में गाया जायगा, आदि की शिक्षा आचार्य अपने शिष्यों को देते थे। 'कौथुमी शाखा' में उद्गाता को ५८५ गान सिखाये जाते थे। इस पूरे संग्रह को आर्चिक कहते हैं। इसमें दो प्रकार के गान होते हैं—पहला 'ग्रामगेय गान' तथा दूसरा 'आरण्य गान'। पहला बस्तियों में गाया जाता था, किन्तु दूसरा इतना पवित्र माना जाता था कि उसके लिए केवल वनस्थली का एकान्त ही उपयुक्त समझा जाता था।

आर्चिक (२)—सामवेद में आये हुए ऋग्वेद के मन्त्र 'आर्चिक' कहे जाते हैं और यजुर्वेद के मन्त्र (गद्यात्मक) 'स्तोम' कहलाते हैं। सामवेदीय आर्चिक ग्रन्थ अध्यापक भेद, देश भेद, कालक्रम भेद, पाठक्रम भेद और उच्चारण आदि भेद से अनेक शाखाओं में विभक्त हैं। सब शाखाओं में मन्त्र एक से ही हैं, उनकी संख्या में व्यतिक्रम है। प्रत्येक शाखा के श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और प्रातिशाख्य भिन्न-भिन्न हैं। आर्चिक ग्रन्थ तीन हैं—छन्द, आरण्यक और उत्तरा। उत्तरार्चिक में एक छन्द की, एक स्वर की और एक तात्पर्य की तीन-तीन ऋचाओं को लेकर एक-एक सूक्त कर दिया गया है। इन सूक्तों का 'त्रिक्' नाम है। इसी के समान भावापन्न दो दो ऋचाओं की समष्टि का नाम 'प्रगाथ' है। चाहे त्रिक् हो या प्रगाथ, इनमें से प्रत्येक पहली ऋचा का छन्द आर्चिक में से लिया गया है। इसी छन्द-आर्चिक से एक ऋचा और सब तरह से उसी के अनुरूप दो और ऋचाओं को मिलाकर त्रिक् बनता है। इसी प्रकार प्रगाथ भी हैं। इन्हीं कारणों से इनमें जो पहली ऋचाएँ हैं वे सब 'योनि-ऋक्' कहलाती हैं और आर्चिक योनि-ग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं।

योनि-ऋक् के पश्चात् उसी के बराबर की दो या एक ऋचा जिसके उत्तर दल में मिले उसी का नाम उत्तरार्चिक है। इसी कारण तीसरे का नाम उत्तरा है।

एक ही अध्याय का बना हुआ ग्रन्थ जो अरण्य में ही अध्ययन करने के योग्य हो 'आरण्यक' कहलाता है। सब वेदों में एक-एक आरण्यक है। योनि, उत्तरा और आरण्यक इन्हीं तीन ग्रन्थों का साधारण नाम आर्चिक अर्थात् ऋक्-समूह है। छन्द ग्रन्थों में जितने साम हैं उनके गाने वाले 'छन्दोग' कहलाते हैं।

आर्त भक्ति—श्रीमद्भगवद्गीता (७.१६) में भक्तों के चार प्रकार बतलाये गये हैं :

१. अर्थार्थी (अर्थ अथवा लाभ की आशा से भजन करने वाला)

२. आर्त (दुःख निवारण के लिए भजन करने वाला)

३. जिज्ञासु (भगवान् के स्वरूप को जानने के लिए भजन करने वाला)

४. ज्ञानी (भगवान् के स्वरूप को जानकर उनका चिन्तन करने वाला)।

यद्यपि आर्त भक्ति का स्थान अन्य प्रकार की भक्ति से निचली श्रेणी का है, तथापि आर्त भक्त को भी भगवान् सुकृती कहते हैं। आर्त होकर भी भगवान् की ओर उन्मुख होना श्रेयस्कर है। भक्तिशास्त्र के सिद्धांतग्रन्थों में भक्ति दो प्रकार की बतलायी गयी है—(१) परा भक्ति (जिसका उद्देश्य केवल भक्ति है और उसके बदले में कुछ

नहीं चाहिए, और (२) अपरा भक्ति (साधनरूप भक्ति)। आर्त भक्ति अपरा भक्ति का ही एक उप प्रकार है।

आर्द्रादर्शन अथवा आर्द्राभिषेक—यह व्रत मार्गशीर्ष पूर्णिमा को होता है। दक्षिण भारत में नटराज (नृत्यमुद्रा में भगवान् शिव) के दर्शनार्थ जनसमूह चिदम्बरम् में उमड़ पड़ता है। दक्षिण भारत का यह एक महान् व्रत है।

आर्द्रानन्दकरी तृतीया—हस्त एवं मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़ अभिजित् नक्षत्रों के दिन वाली शुक्ल पक्ष की तृतीया। वर्ष को तीन भागों में विभाजित कर एक वर्ष तक इस व्रत का आचरण करना चाहिए। इस व्रत में शिव तथा भवानी का पूजन होता है। भवानी के चरणों से प्रारम्भ कर मुकुट तक शरीर के प्रत्येक अवयव को नमस्कार किया जाता है। दे० हेमाद्रि, व्रत खण्ड, १.४७१-४७४।

आर्य—आर्यावर्त का निवासी, सभ्य, श्रेष्ठ, सम्मान्य। वैदिक साहित्य में उच्च वर्गों के लिए व्यवहृत साधारण उपाधि। कहीं-कहीं 'आर्य' (अथवा 'अर्य') वैश्यों के लिए ही सुरक्षित समझा गया है (अथर्व १९.३२, ८ तथा ६२,१)। आर्य शब्द से मिश्रित उपाधियाँ ब्राह्मण और क्षत्रियों की भी हुआ करती थीं। किन्तु 'शूद्रार्यौ' यौगिक शब्द का अर्थ अस्पष्ट है। आरम्भ में इसका अर्थ सम्भवतः शूद्र एवं आर्य था, क्योंकि महाव्रत उत्सव में तैत्तिरीय-ब्राह्मण में ब्राह्मण एवं शूद्र के बीच (कृत्रिम) युद्ध करने को कहा गया है, यद्यपि सूत्र इसे वैश्य (अर्य) एवं शूद्र का युद्ध बतलाता है। कतिपय विद्वानों के मत में यह युद्ध और विरोध प्रजातीय न होकर सांस्कृतिक था। वस्तुतः यह ठीक भी जान पड़ता है, क्योंकि शूद्र तथा दास बृहत् समाज के अभिन्न अङ्ग थे।

'आर्य' शब्द (स्त्रीलिंग आर्या) आर्य जातियों के विशेषण, नाम, वर्ण, निवास के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह श्रेष्ठता सूचक भी माना गया हैं :

'योऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा ज्येष्ठेन भामिनि।'
(रामायण, द्वितीय काण्ड)

इस प्रकार महर्षि बाल्मीकि ने आर्य शब्द को श्रेष्ठ या सम्मान्य के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। स्मृति में आर्य का निम्नलिखित लक्षण किया गया है :

कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्राकृताचारे स तु आर्य्य इति स्मृतः॥

बर्णाश्रमानुकूल कर्त्तव्य में लीन, अकर्त्तव्य से विमुख आचारवान् पुरुष ही आर्य है। अतः यह सिद्ध है कि जो व्यक्ति या समुदाय सदाचारसम्पन्न, सकल विषयों में अध्यात्म लक्ष्य युक्त, दोषरहित और धर्मपरायण है, वही आर्य कहलाता है।

आर्यभट—गुप्तकाल के प्रमुख ज्योतिर्विद। ये गणित और खगोल ज्योतिष के आचार्य माने जाते हैं। इनके बाद के ज्योतिर्विदों में वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, द्वितीय आर्यभट, भास्कराचार्य, कमलाकर जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थकार हुए हैं। इनका जन्मकाल सन् ४७६ ई० और निवासस्थान पाटलिपुत्र (पटना) कहा जाता है। गणित ज्योतिष का 'आर्य सिद्धांत' इन्हीं का प्रचलित किया हुआ है, जिसके अनुसार भारत में इन्होंने ही सर्वप्रथम पृथ्वी को चल सिद्ध किया। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आर्यभटीय' है।

आर्यसमाज—प्राचीन ऋषियों के वैदिक सिद्धांतों की पक्षपाती प्रसिद्ध संस्था, जिसके प्रतिष्ठाता स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म गुजरात के भूतपूर्व मोरवी राज्य के एक गाँव में सन् १८२४ ई० में हुआ था। इनका प्रारंभिक नाम मूलशङ्कर तथा पिता का नाम अम्बाशङ्कर था। ये बाल्यकाल में शङ्कर के भक्त थे। इनके जीवन को मोटे तौर से तीन भागों में बाँट सकते हैं : (१८२४-१८४५) घर का जीवन, (१८४५-१८६३) भ्रमण तथा अध्ययन एवं (१८६३-१८८३) प्रचार तथा सार्वजनिक सेवा।

इनके प्रारम्भिक घरेलू जीवन की तीन घटनाएँ धार्मिक महत्त्व की हैं : १. चौदह वर्ष की अवस्था में मूर्तिपूजा के प्रति विद्रोह (जब शिवचतुर्दशी की रात में इन्होंने एक चूहे को शिव की मूर्ति पर चढ़ते तथा उसे गन्दा करते देखा), २. अपनी बहिन की मृत्यु से अत्यन्त दुःखी होकर संसार त्याग करने तथा मुक्ति प्राप्त करने का निश्चय और ३. इक्कीस वर्ष की आयु में विवाह का अवसर उपस्थित जान, घर से भागना। घर त्यागने के पश्चात् १८ वर्ष तक इन्होंने संन्यासी का जीवन बिताया। बहुत से स्थानों में भ्रमण करते हुए इन्होंने कतिपय आचार्यों से शिक्षा प्राप्त की। प्रथमतः वेदान्त के प्रभाव में आये तथा आत्मा एवं ब्रह्म की एकता को स्वीकार किया। ये अद्वैत मत में दीक्षित हुए एवं इनका नाम 'शुद्ध चैतन्य' पड़ा। पश्चात् ये संन्यासियों की चतुर्थ श्रेणी में दीक्षित हुए एवं यहाँ इनकी प्रचलित उपाधि दयानन्द सरस्वती हुई। फिर इन्होंने योग को अपनाते हुए वेदान्त के सभी सिद्धान्तों को छोड़ दिया। दयानन्द सरस्वती के मध्य जीवन काल में जिस महापुरुष ने सबसे बडा धार्मिक

प्रभाव डाला, वे थे मथुरा के प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द, जो वैदिक साहित्य के माने हुए विद्वान् थे। उन्होंने इन्हें वेद पढ़ाया। वेद की शिक्षा दे चुकने के बाद उन्होंने इन शब्दों के साथ दयानन्द को छुट्टी दी "मैं चाहता हूँ कि तुम संसार में जाओ और मनुष्यों में ज्ञान की ज्योति फैलाओ।" संक्षेप में इनके जीवन को हम पौराणिक हिन्दुत्व से आरम्भ कर दार्शनिक हिन्दुत्व के पथ पर चलते हुए हिन्दुत्व की आधार शिला वैदिक धर्म तक पहुँचता हुआ पाते हैं। इन्होंने शैवमत एवं वेदान्त का परित्याग किया, सांख्ययोग को अपनाया जो उनका दार्शनिक लक्ष्य था और इसी दार्शनिक माध्यम से वेद की भी व्याख्या की। जीवन के अन्तिम बीस वर्ष इन्होंने जनता को अपना संदेश सुनाने में लगाये। दक्षिण में बम्बई से पूना, उत्तर में कलकत्ता से लाहौर तक इन्होंने अपनी शिक्षाएँ घूम-घूम कर दीं। पण्डितों, मौलवियों एवं पादरियों से इन्होंने शास्त्रार्थ किया, जिसमें काशी का शास्त्रार्थ महत्त्वपूर्ण था। इस बीच इन्होंने साहित्यकार्य भी किये। चार वर्ष की उपदेश यात्रा के पश्चात् ये गङ्गा-तट पर स्वास्थ्य सुधारने के लिए फिर बैठ गये। ढाई वर्ष के बाद पुनः जनसेवा का कार्य आरम्भ किया।

१० अप्रैल सन् १८७५ में बम्बई में इन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। १८७७ में दिल्ली दरबार के अवसर पर दिल्ली जाकर पंजाब के कुछ भद्रजनों से भी मिले, जिन्होंने इन्हें पंजाब आने का निमन्त्रण दिया। यह उनकी पंजाब की पहली यात्रा थी, जहाँ इनका मत भविष्य में खूब फूला-फला। १८७८-१८८१ के मध्य आर्यसमाज एवं थियोसॉफिकल सोसाइटी का बड़ा ही सुन्दर भाईचारा रहा। किन्तु शीघ्र ही दोनों में ईश्वर के व्यक्तित्व के ऊपर मतभेद हो गया।

स्वामी दयानन्द भारत के अन्य धार्मिक चिन्तकों, जैसे देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन (ब्रह्मसमाज), मैडम ब्लौवाट्स्की एवं कर्नल आल्कॉट (थियोसॉफिकल सोसाइटी), भोलानाथ साराभाई (प्रार्थनासमाज), सर सैयद (रिफार्म्ड इस्लाम) एवं डॉ० टी० जे० स्काट तथा रे० जे० ग्रे (ईसाई प्रतिनिधि) से भी मिले। जीवन के अन्तिम दिनों में स्वामीजी राजस्थान में थे। आपने महाराज जोधपुर तथा अन्य राजाओं पर अच्छा प्रभाव डाला। कुछ दिनों बाद स्वामीजी बीमार पड़े एवं ३० अक्तूबर सन् १८८३ में अजमेर में इनकी इहलीला समाप्त हुई। कहा जाता है कि रसोइए ने इनको विष दे दिया।

आर्यसमाज के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

१. सभी सत्य ज्ञान का प्रारम्भिक कारण ईश्वर है।

२. ईश्वर ही सर्वस्व सत्य है, सर्वज्ञान है, सर्व सौन्दर्य है, अशरीरी है, सर्व शक्तिमान् है, न्यायकारी है, दयालु है, अजन्मा है, अनन्त है, अपरिवर्तनशील है, अनादि है, अतुलनीय है, सबका पालनकर्त्ता एवं सबका स्वामी है, सर्वव्याप्त है, सर्वज्ञ है, अजर व अमर है, भयरहित है, पवित्र है एवं सृष्टि का कारण है। केवल उसी की पूजा होनी चाहिए।

३. वेद ही सच्चे ज्ञानग्रन्थ हैं तथा प्रत्येक आर्य का सबसे पुनीत कर्तव्य है उन्हें पढ़ना या सुनना एवं उनकी शिक्षा दूसरों को देना।

४. प्रत्येक प्राणी को सत्य को ग्रहण करने एवं असत्य के त्याग के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए।

५. प्रत्येक काम नेकीपूर्ण होना चाहिए तथा उचित एवं अनुचित के चिन्तन के बाद ही उसे करना चाहिए।

६. आर्यसमाज का प्राथमिक कर्तव्य है मनुष्य मात्र की शारीरिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति द्वारा विश्व-कल्याण करना।

७. हर एक के प्रति न्याय, प्रेम एवं उसकी योग्यता के अनुसार व्यवहार करना चाहिए।

८. अन्धकार को दूर कर ज्ञान ज्योति को फैलाना चाहिए।

९. किसी को भी केवल अपनी ही भलाई से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए अपितु अपनी उन्नति का सम्बन्ध दूसरों की उन्नति से जोड़ना चाहिए।

१०. साधारण समाजोन्नति या समाज कल्याण के सम्बन्ध में मनुष्य को अपना मतान्तर त्यागना तथा अपनी व्यक्तिगत बातों को भी छोड़ देना चाहिए। किन्तु व्यक्तिगत विश्वासों में मनुष्य को स्वतन्त्रता बरतनी चाहिए।

ऊपर के दस सिद्धान्तों में से प्रथम तीन जो ईश्वर के अस्तित्व, स्वभाव तथा वैदिक साहित्य के सिद्धान्त को दर्शाते हैं, धार्मिक सिद्धान्त हैं। अन्तिम सात नैतिक सिद्धांत हैं। आर्य समाज का धर्मविज्ञान वेद के ऊपर

अवलम्बित है। स्वामीजी वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे और धर्म के सम्बन्ध में अन्तिम प्रमाण।

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने देखा कि देश में अपने ही विभिन्न मतों व सम्प्रदायों के अतिरिक्त विदेशी इस्लाम एवं ईसाई धर्म भी जड़ पकड़ रहे हैं। दयानन्द के समाने यह समस्या थी कि कैसे भारतीय धर्म का सुधार किया जाय। किस प्रकार प्राचीन एवं अर्वाचीन का तथा पश्चिम एवं पूर्व के धर्म व विचारों का समन्वय किया जाय, जिससे भारतीय गौरव फिर स्थापित हो सके। इसका समाधान स्वामी दयानन्द ने 'वेद' के सिद्धान्तों में खोज निकाला, जो ईश्वर के शब्द हैं।

स्वामी दयानन्द के वैदिक सिद्धान्त को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—'वेद' शब्द का अर्थ ज्ञान है। यह ईश्वर का ज्ञान है इसलिए पवित्र एवं पूर्ण है। ईश्वर का सिद्धान्त दो प्रकार से व्यक्त किया गया है—१. चार वेदों के रूप में, जो चार ऋषियों (अग्नि, वायु, सूर्य एवं अङ्गिरा) को सृष्टि के आरम्भ में अवगत हुए। २. प्रकृति या विश्व के रूप में, जो वेदविहित सिद्धान्तों के अनुसार उत्पन्न हुआ। वैदिक साहित्य-ग्रन्थ एवं प्रकृति-ग्रन्थ से यहाँ साम्य प्रकट होता है। स्वामी दयानन्द कहते हैं, "मैं वेदों को स्वतः प्रमाणित सत्य मानता हूँ। ये संशयरहित हैं एवं दूसरे किसी अधिकारी ग्रन्थ पर निर्भर नहीं रहते। ये प्रकृति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो ईश्वर का साम्राज्य है।

वैदिक साहित्य के आर्य सिद्धान्त को यहाँ संक्षेप में दिया जाता है—१. वेद ईश्वर द्वारा व्यक्त किये गये हैं जैसा कि प्रकृति के उनके सम्बन्ध से प्रमाणित है। २. वेद ही केवल ईश्वर द्वारा व्यक्त किये गये हैं क्योंकि दूसरे ग्रन्थ प्रकृति के साथ यह सम्बन्ध नहीं दर्शाते। ३. वे विज्ञान एवं मनुष्य के सभी धर्मों के मूल स्रोत हैं। आर्यसमाज के कर्तव्यों में से सिद्धान्ततः दो महत्त्वपूर्ण हैं : १. भारत को (भूले हुए) वैदिक पथ पर पुनः चलाना और २. वैदिक शिक्षाओं को सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित करना।

स्वामी दयानन्द ने अपने सिद्धान्तों को व्यावहारिकता देने, अपने धर्म को फैलाने तथा भारत व विश्व को जाग्रत करने के लिए जिस संस्था की स्थापना की उसे 'आर्य समाज' कहते हैं। 'आर्य' का अर्थ है भद्र एवं 'समाज' का अर्थ है सभा। अतः आर्यसमाज का अर्थ है 'भद्रजनों का समाज' या 'भद्रसभा'। आर्य प्राचीन भारत का देशप्रेमपूर्ण एवं धार्मिक नाम है जो भद्र पुरुषों के लिए प्रयोग में आता था। स्वामीजी ने देशभक्ति की भावना जगाने के लिए यह नाम चुना। यह धार्मिक से भी अधिक सामाजिक एवं राजनीतिक महत्त्व रखता है। इस प्रकार यह अन्य धार्मिक एवं सुधारवादी संस्थाओं से भिन्नता रखता है, जैसे—ब्रह्मसमाज (ईश्वर का समाज), प्रार्थना-समाज आदि।

स्वामी दयानन्द की मृत्यु से अब तक की घटनाओं में समाज का दो दलों में बँटना एक मुख्य परिवर्तन है। इस विभाजन के दो कारण थे : (क) भोजन में मांस के उपयोग पर मतभेद और (ख) उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में उचित नीति सम्बन्धी मतभेद। पहले कारण से उत्पन्न हुए दो वर्ग 'मांसभक्षी दल' एवं 'शाकाहारी दल' कहलाते हैं तथा दूसरे कारण से उत्पन्न दो दल 'कॉलेज पार्टी' एवं 'महात्मा पार्टी' (प्राचीन पद्धति पर चलने वाले) कहलाते हैं। ये मतभेद एक और भी गहरा मतभेद उपस्थित करते हैं जिसका सम्बन्ध स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं की मान्यता के परिणाम से है। इस दृष्टि से कॉलेज पार्टी अधिक आधुनिक और उदार है, जबकि महात्मा पार्टी का दृष्टिकोण अधिक प्राचीनतावादी है। कॉलेज पार्टी ने लाहौर में एक महाविद्यालय 'दयानन्द ऐंग्लोवैदिक कॉलेज' की स्थापना की, जबकि महात्मा पार्टी नें हरिद्वार में 'गुरुकुल' स्थापित किया, जिसमें प्राचीन सिद्धान्तों तथा आदर्शों पर विशेष वल दिया जाता रहा है।

संघटन की दृष्टि से इसमें तीन प्रकार के समाज हैं—१. स्थानीय समाज, २. प्रान्तीय समाज और ३. सार्वदेशिक समाज। स्थानीय समाज की सदस्यता के लिए निम्नलिखित नियमावली है—१. आर्य समाज के दस नियमों में विश्वास, २. वेद की स्वामी दयानन्द द्वारा की हुई व्याख्यादि में विश्वास, ३. सदस्य की आयु कम से कम १८ वर्ष होनी चाहिए, ४. द्विजों के लिए विशेष दीक्षा संस्कार की आवश्यकता नहीं है किन्तु ईसाई तथा मुसलमानों के लिए एक शुद्धि संस्कार की व्यवस्था है। स्थानीय सदस्य दो प्रकार के हैं—प्रथम, जिन्हें मत देने का अधिकार नहीं, अर्थात् अस्थायी सदस्य; द्वितीय, जिन्हें

मत देने का अधिकार प्राप्त है, जो स्थायी सदस्य होते हैं। अस्थायित्व काल एक वर्ष का होता है। सहानुभूति दर्शाने वालों की भी एक अलग श्रेणी है।

स्थानीय समाज के निम्नांकित पदाधिकारी होते हैं—सभापति, उपसभापति, मंत्री, कोशाध्यक्ष और पुस्तकालयाध्यक्ष। ये सभी स्थायी सदस्यों द्वारा उनमें से ही चुने जाते हैं। प्रान्तीय समाज के पदाधिकारी इन्हीं समाजों के प्रतिनिधि एवं भेजे हुए सदस्य होते हैं। स्थानीय समाज के प्रत्येक बीस सदस्य के पीछे एक सदस्य को प्रान्तीय समाज में प्रतिनिधित्व करने का अधिकार है। इस प्रकार इसका गठन प्रतिनिधिमूलक है।

पूजा पद्धति—साप्ताहिक धार्मिक सत्संग प्रत्येक रविवार को प्रातः होता है, क्योंकि सरकारी कर्मचारी इस दिन छुट्टी पर होते हैं। यह सत्संग तीन या चार घण्टे का होता है। भाषण करने वाले के ठीक सामने पूजास्थान में वैदिक अग्निकुण्ड रहता है। धार्मिक पूजा हवन के साथ प्रारम्भ होती है। साथ ही वैदिक मन्त्रों का पाठ होता है। पश्चात् प्रार्थना होती है। फिर दयानन्द-साहित्य का प्रवचन होता है, जिसका अन्त समाजगान से होता है। इसमें स्थायी पुरोहित या आचार्य नहीं होता। योग्य सदस्य अपने क्रम से प्रधान वक्ता या पूजा-संचालक का स्थान ग्रहण करते हैं।

कार्यप्रणाली—आर्य समाज दूसरे प्रचारवादी धर्मों के समान भाषण, शिक्षा, समाचार पत्र आदि की सहायता से अपना मत-प्रचार करता है। दो प्रकार के शिक्षक हैं, प्रथम वेतनभोगी और द्वितीय, अवैतनिक। अवैतनिक में स्थानीय वकील, अध्यापक, व्यापारी, डाक्टर आदि लोग होते हैं, जबकि वेतनभोगी सम्पूर्ण समय देने वाले शास्त्रज्ञ और विद्वान् प्रचारक होते हैं। पहला दल शिक्षा पर जोर देता है; दूसरा दल उपदेश और संस्कार पर बल देता है। आर्यसमाज का प्रत्येक संगठन कुछ हाईस्कूल, गुरुकुल, अनाथालय आदि की व्यवस्था करता है।

यह मुख्यतः उत्तर भारतीय धार्मिक आन्दोलन है यद्यपि इसके कुछ केन्द्र दक्षिण भारत में भी हैं। बरमा तथा पूर्वी अफ्रीका, मारीशस, फीजी आदि में भी इसकी शाखाएँ हैं जो वहाँ बसे हुए भारतीयों के बीच कार्य करती हैं। आर्य समाज का केन्द्र एवं धार्मिक राजधानी लाहौर में थी, यद्यपि अजमेर में स्वामी दयानन्द की निर्वाणस्थली एवं वैदिक-यन्त्रालय (प्रेस) होने से वह लाहौर का प्रतिद्वन्द्वी था। लाहौर के पाकिस्तान मे चले जाने के पश्चात् आर्यसमाज का मुख्य केन्द्र आजकल दिल्ली है।

जहाँ तक इसके भविष्य का प्रश्न है, कुछ ठीक नही कहा जा सकता। यह उत्तर भारत की सबसे मूल सुधारवादी एवं लोकप्रिय संस्था है। स्त्रीशिक्षा, हरिजनसेवा, अस्पृश्यता-निवारण एवं दूसरे सुधारों मे यह प्रगतिशील है। वेदों को सभी धर्म का मूल आधार एवं विश्व के विज्ञान का स्रोत बताते हुए, यह देशभक्ति की भी स्थापना, करता है। इसके सदस्यों में से अनेक ऐसे हैं जो वास्तविक देशहितैषी एवं देशप्रेमी हैं। शिक्षा तथा सामाजिक सुधार द्वारा यह भारत का खोया हुआ पूर्व-गौरव लाना चाहता है।

आर्यावर्त—इसका शाब्दिक अर्थ है 'आर्या आवर्तन्तेऽत्र' = आर्य जहाँ सम्यक् प्रकार से बसते हैं। इसका दूसरा अर्थ है 'पुण्यभूमि'। मनुस्मृति (२.२२) में आर्यावर्त की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है :

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥

[पूर्व में समुद्र तक और पश्चिम में समुद्र तक, (उत्तर दक्षिण में हिमालय, विन्ध्याचल) दोनों पर्वतों के बीच अन्तराल (प्रदेश) को विद्वान् आर्यावर्त कहते हैं।] मेधातिथि मनुस्मृति के उपर्युक्त श्लोक का भाष्य करते हुए लिखते हैं :

"आर्या आवर्तन्ते तत्र पुनः पुनरुद्भवन्ति। आक्रम्याक्रम्यापि न चिरं तत्र म्लेच्छाः स्थातारो भवन्ति।"

[आर्य वहाँ बसते हैं, पुनः पुनः उन्नति को प्राप्त होते हैं। कई बार आक्रमण करके भी म्लेच्छ (विदेशी) स्थिर रूप से वहाँ नहीं बस पाते।]

आजकल यह समझा जाता है कि इसके उत्तर में हिमालय शृंखला, दक्षिण मे विन्ध्यमेखला, पूर्व में पूर्वसागर (वंग आखात) और पश्चिम में पश्चिम पयोधि (अरब सागर) है। उत्तर भारत के प्रायः सभी जनपद इसमें सम्मिलित हैं। परन्तु कुछ विद्वानों के विचार में हिमालय का अर्थ है पूरी हिमालय शृङ्खला, जो प्रशान्त महासागर से भूमध्य महासागर तक फैली हुई है और जिसके दक्षिण में सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया और दक्षिण-

पूर्व एशिया के प्रदेश सम्मिलित थे । इन प्रदेशों में सामी और किरात प्रजाति बाद में आकर बस गयी ।

आर्षानुक्रमणी—शौनक ऋषि प्रणीत एक वैदिक अनुक्रमणी ग्रन्थ । ऋग्वेद के समस्त सूक्त संख्या में १०२८ हैं। इनमें से 'वालखिल्य' नामक ११ सूक्तों पर सायणाचार्य का भाष्य है । शौनक ऋषि की आर्षानुक्रमणी में उनका उल्लेख पाया जाता है ।

आर्षेय ब्राह्मण—सामवेद की जैमिनीय संहिता का एक ब्राह्मण । सायणाचार्य ने इसका भी भाष्य किया है । इस ग्रन्थ में ऋषि सम्बन्धी उपदेश हैं, अर्थात् सामों के ऋषि, छन्द, देवता इत्यादि पर व्याख्या और विचार है । साथ ही कई धार्मिक तथा पौराणिक कथाएँ पायी जाती हैं । संस्कृत के कथा-साहित्य की प्राचीन परम्परा इसमें सुरक्षित हैं ।

आलेख्यसर्पपञ्चमी (नागपञ्चमी)—उत्तर भारत में श्रावण शुक्ल पञ्चमी को तथा दक्षिण भारत में (अमान्त गणना के अनुसार) भाद्र शुक्ल पंचमी को यह व्रत होता है । रंगीन चूर्णों से किसी स्थान पर नागों की आकृतियाँ बनाकर उनका पूजन करना चाहिए । परिणामस्वरूप नागों के भय से मुक्ति होती है । दे० भविष्यत् पुराण (ब्राह्म पर्व, ३७.१-३) ।

आवसथ—इसका ठीक अर्थ अतिथि-स्वागतशाला अथवा स्थान है (अथर्व० ९.६,५) । इसका सम्बन्ध विशेष रूप से ब्राह्मण एवं दूसरों से था, जो भोज तथा यज्ञों के अवसर पर आते थे । यह प्रायः आधुनिक धर्मशाला अथवा यात्रीनिवास के समान था । इसका प्रयोग निवासस्थान के साधारण अर्थ में भी होता जान पड़ता है (ऐ० उप० ३.१२) ।

आशादशमी व्रत—किसी मास के शुक्ल पक्ष की दशमी को प्रारम्भ कर छः मास, एक वर्ष अथवा दो वर्ष तक गृह के प्राङ्गण में दस कोष्ठक खींचकर उनमें भगवान् का पूजन करना चाहिए । इससे व्रती की समस्त आशाओं तथा कामनाओं की पूर्ति होती है । दे० हेमाद्रि, व्रत खण्ड १. ९७७-९८१; व्रतराज ३५६-७ ।

आशादित्य व्रत—आश्विन मास के रविवार को व्रत का अनुष्ठान प्रारम्भ कर एक वर्षपर्यन्त सूर्य का उसके बारह विभिन्न नामों से पूजन होना चाहिए । दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, ५३३-३७ ।

आश्मरथ्य आचार्य—वेदान्त के व्याख्याता प्राचीन आचार्य । वेदान्तसूत्र (१ । २ । २१; १ । ४ । २०) में जो इनके मत का उल्लेख आया है उससे आचार्य शङ्कर तथा भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इन्हें विशिष्टाद्वैतवादी सिद्ध किया है । अतः ये वेदव्यास और जैमिनि से पहले हुए थे । इनका मत है कि परमेश्वर अनन्त होने पर भी उपासक के ऊपर अनुग्रह करने के लिए प्रादेशमात्र स्थान में आविर्भूत होते हैं और विज्ञानात्मा एवं परमात्मा में परस्पर भेदाभेद-सम्बन्ध है । कहा जाता है कि आश्मरथ्य के इस भेदाभेद की ही आगे चलकर यादवप्रकाश के द्वारा पुष्टि हुई है । इसके अनुसार आत्मा न तो एकान्ततः ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न है । स्वामी निम्बार्काचार्य तथा भास्कराचार्य द्वारा प्रस्तुत वेदान्तसूत्र के भाष्य में भी आश्मरथ्य के भेदाभेदवाद का पोषण हुआ है ।

आश्रम—जिन दो संस्थाओं के ऊपर हिन्दू समाज का संगठन हुआ है वे हैं वर्ण और आश्रम। वर्ण का आधार मनुष्य की प्रकृति अथवा उसकी मूल प्रवृत्तियाँ हैं, जिसके अनुसार वह जीवन में अपने प्रयत्नों और कर्तव्यों का चुनाव करता है । आश्रम का आधार संस्कृति अथवा व्यक्तिजत जीवन का संस्कार करना है । मनुष्य जन्मना अनगढ़ और असंस्कृत होता है; क्रमशः संस्कार से वह प्रबुद्ध और संस्कृत बन जाता है । सम्पूर्ण मानवजीवन मोटे तौर पर चार विकासक्रमों में बाँटा जा सकता है—(१) बाल्य और किशोरावस्था, (२) यौवन, (३) प्रौढावस्था और (४) वृद्धावस्था । इन्हीं के अनुरूप चार आश्रमों की कल्पना की गयी थी, जो (१) ब्रह्मचर्य, (२) गार्हस्थ्य, (३) वानप्रस्थ और संन्यास कहलाते हैं। आश्रमों के नाम और क्रम में कहीं कहीं अन्तर पाया जाता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२.९.२१,१) के अनुसार गार्हस्थ्य, आचार्यकुल (ब्रह्मचर्य), मौन और वानप्रस्थ चार आश्रम थे । गौतमधर्मसूत्र (३.२) में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस चार आश्रमों के नाम हैं । वसिष्ठधर्मसूत्र (७.१-२) ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक का उल्लेख करता है ।

आश्रमों का सम्बन्ध विकास कर्म के साथ-साथ जीवन के मौलिक उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से भी था—ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध मुख्यतः धर्म अर्थात् संयम-नियम से, गार्हस्थ्य का सम्बन्ध अर्थ-काम से, वानप्रस्थ का सम्बन्ध उपराम और मोक्ष की तैयारी से और संन्यास का सम्बन्ध

मोक्ष से था। इस प्रकार उद्देश्यों अथवा पुरुषार्थों के साथ आश्रम का अभिन्न सम्बन्ध है।

जीवन की इस प्रक्रिया के लिए 'आश्रम' शब्द का चुनाव बहुत ही उपयुक्त था। यह शब्द 'श्रम्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है "श्रम करना, अथवा पौरुष दिखलाना" (अमरकोश, भानुजी दीक्षित)। सामान्यतः इसके तीन अर्थ प्रचलित हैं—(१) वह स्थिति अथवा स्थान जिसमें श्रम किया जाता है, (२) स्वयं श्रम अथवा तपस्या और (३) विश्रामस्थान।

वास्तव में आश्रम जीवन की वे अवस्थाएँ हैं जिनमें मनुष्य श्रम, साधना और तपस्या करता है और एक अवस्था की उपलब्धियों को प्राप्त कर तथा इनसे विश्राम लेकर जीवन के आगामी पड़ाव की ओर प्रस्थान करता है।

मनु के अनुसार मनुष्य का जीवन सौ वर्ष का होना चाहिए (शतायुर्वै पुरुषः) अतएव चार आश्रमों का विभाजन २५-२५ वर्ष का होना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में चार अवस्थाएँ स्वाभाविक रूप से होती हैं और मनुष्य को चारों आश्रमों के कर्तव्यों का यथावत् पालन करना चाहिए। परन्तु कुछ ऐसे सम्प्रदाय प्राचीन काल में थे और आज भी हैं जो नियमतः इनका पालन करना आवश्यक नहीं समझते। इनके मत को "बाध" कहा गया है। कुछ सम्प्रदाय आश्रमों के पालन में विकल्प मानते हैं अर्थात् उनके अनुसार आश्रम के क्रम अथवा संख्या में हेरफेर हो सकता है। परन्तु सन्तुलित विचारधारा आश्रमों के समुच्चय में विश्वास करती आयी है। इसके अनुसार चारों आश्रमों का पालन क्रम से होना चाहिए। जीवन के प्रथम चतुर्थांश में ब्रह्मचर्य, द्वियीय चतुर्थांश में गार्हस्थ्य, तृतीय चतुर्थांश में वानप्रस्थ और अन्तिम चतुर्थांश में संन्यास का पालन करना चाहिए। इसके अभाव में सामाजिक जीवन का सन्तुलन भंग होकर मिथ्याचार अथवा भ्रष्टाचार की वृद्धि होती है।

विभिन्न आश्रमों के कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन आश्रम-धर्म के रूप से स्मृतियों में पाया जाता है। संक्षेप में मनुस्मृति से आश्रमों के कर्तव्य नीचे दिये जा रहे हैं—ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरुकुल में निवास करते हुए विद्यार्जन और व्रत का पालन करना चाहिए (मनुस्मृति, ४.१)। दूसरे आश्रम गार्हस्थ्य में विवाह करके घर बसाना चाहिए; सन्तान उत्पत्ति द्वारा पितृऋण, यज्ञ द्वारा देवऋण और नित्य स्वाध्याय द्वारा ऋषिऋण चुकाना चाहिए (मनुस्मृति, ५.१६९)। वानप्रस्थ आश्रम में सांसारिक कार्यों से उदासीन होकर तप, स्वाध्याय, यज्ञ, दान आदि के द्वारा वन में जीवन बिताना चाहिए (मनुस्मृति ६. १-२)। वानप्रस्थ समाप्त करके संन्यास आश्रम में प्रवेश करना होता है। इसमें सांसारिक सम्बन्धों का पूर्णतः त्याग और परिव्रजन (अनागारिक होकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहना) विहित है (मनु०-६.३३)। दे० पृथक्-पृथक् विभिन्न आश्रम।

वर्ण और आश्रम मनुष्य के सम्पूर्ण कर्तव्यों का समाहार करते हैं। परन्तु जहाँ वर्ण मनुष्य के सामाजिक कर्तव्यों का विधान करता है वहाँ आश्रम उसके व्यक्तिगत कर्तव्यों का। आश्रम व्यक्तिगत जीवन की विभिन्न विकास-सरणियों का निदेशन करता है और मनुष्य को इस बात का बोध कराता है कि उसके जीवन का उद्देश्य क्या है, उसको प्राप्त करने के लिए उसको जीवन का किस प्रकार संघटन करना चाहिए और किन किन साधनों का उपयोग करना चाहिये। वास्तव में जीवन की यह अनुपम और उच्चतम कल्पना और योजना है। अन्य देशों के इतिहास में इस प्रकार की जीवन-योजना नहीं पायी जाती है। प्रसिद्ध विद्वान् डॉयसन ने इसके सम्बन्ध में लिखा है :

"हम यह कह नहीं सकते कि मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों में वर्णित जीवन की यह योजना कहाँ तक व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित हुई थी। परन्तु हम यह स्वीकार करने में स्वतन्त्र हैं कि हमारे मत में मानव जाति के सम्पूर्ण इतिहास में ऐसी कोई विचारधारा नहीं है जो इस विचार की महत्ता की समता कर सके।" (दे० 'आश्रम' शब्द, 'इनसाइक्लोपीडिया, रेलिजन और ईथिक्स' में।)

आश्रमव्रत—चैत्र शुक्ल चतुर्थी को प्रारम्भ कर वर्ष को चार-चार महीनों के तीन भागों में विभाजित करके पूरे वर्ष इस व्रत का आचरण करना चाहिए। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध का वर्ष के प्रत्येक भाग में क्रमशः पूजन होना चाहिए। दे० विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ३.१४२, १-७।

आश्रमोपनिषद्—एक परवर्ती उपनिषद्, जिसमें संन्यासी की पूर्वावस्था का विशद वर्णन है। इससे संन्यासी की सांसा-

रिक जीवन से विदाई, उसकी वेशभूषा, दूसरी आवश्यकताएँ, भोजन, निवास, एवं कार्यादि पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है । संन्यास सम्बन्धी उपनिषदों, यथा ब्रह्म संन्यास, आरुणेय, कठश्रुति, परमहंस तथा जाबाल में भी ऐसा ही पूर्ण विवरण प्राप्त होता है ।

आश्वलायनगृह्यसूत्र—ऋग्वेद के गृह्यसूत्रों में एक । इसकी रचना करने वाले ऋषि अश्वल अथवा आश्वलायन थे, । इसमें गृह्यसंस्कारों, ऋतु यज्ञों तथा उत्सवों का सविस्तर वर्णन है ।

आश्वलायनगृह्यपरिशिष्ट—आश्वलायन द्वारा रचित ऋग्वेद के अनुपूरक कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखनेवाला यह परिशिष्ट ग्रन्थ है ।

आश्वलायनश्रौतसूत्र— सूत्रों की रचना कर्मकाण्ड विषयक है । इन्हें कल्पसूत्र भी कहते हैं । ऋग्वेद के श्रौतसूत्रों में सबसे पहला 'आश्वलायनसूत्र' समझा जाता है । यह बारह अध्यायों में है । ऐतरेय ब्राह्मण के साथ आश्वलायन का घनिष्ठ सम्बन्ध है । अश्वल ऋषि विदेहराज जनक के ऋत्विजों में 'होता' थे । किसी किसी का कहना है कि ये ही इन सूत्रों के प्रवर्तक थे, इसीलिए इनका आश्वलायन नाम पड़ा । कुछ लोग आश्वलायन को पाणिनि का समकालीन बतलाते हैं । भारतीय विद्वान् इस दूसरी कल्पना को नहीं मानते । ऐतरेय आरण्यक के चौथे काण्ड के प्रणेता का नाम भी आश्वलायन है । आश्वलायन के गुरु 'प्रातिशाख्यसूत्र' के रचयिता शौनक कहे जाते हैं ।

आश्विनकृत्य—आश्विन मास में अनेक व्रत तथा उत्सव होते हैं, जिनमें से मुख्य कृत्यों का उल्लेख यथास्थान किया जायगा । यहाँ कुछ का ही उल्लेख होगा । विष्णुधर्मसूत्र (९०.२४.२५) में स्पष्ट कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति इस मास में प्रतिदिन घृत का दान करे तो वह न केवल अश्विनी को सन्तुष्ट करेगा अपितु सौन्दर्य भी प्राप्त करेगा । ब्राह्मणों को गोदुग्ध अथवा गोदुग्ध से बनी अन्य वस्तुओं सहित भोजन कराने से उसे राज्य की प्राप्ति होगी । इसी मास की शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को पौत्र द्वारा, जिसके पिता जीवित हों, अपने पितामह तथा पितामही के श्राद्ध का विधान है । उसी दिन नवरात्र प्रारम्भ होता है । शुक्ल पक्ष की चतुर्थी को सती (भगवती पार्वती) का पूजन करना चाहिए । अर्घ्य, मधुपर्क, पुष्प इत्यादि वस्तुओं द्वारा धार्मिक, पतिव्रता तथा सधवा स्त्रियों के प्रति क्रमशः, जिनमें माता-बहिन तथा अन्य पूज्य सभी स्त्रियाँ आ जाती हैं, सम्मान प्रदर्शित किया जाना चाहिए । पञ्चमी के दिन कुश के बनाये हुए नाग तथा इन्द्राणी का पूजन करना चाहिए । शुक्ल पक्ष की किसी शुभ तिथि तथा कल्याणकारी नक्षत्र और मुहूर्त में सुधान्य से परिपूरित क्षेत्र में जाकर संगीत तथा नृत्य का विधान है । वहीं पर हवन इत्यादि करके नव धान्य का दही के साथ सेवन करना चाहिए । नवीन अंगूर भी खाने का विधान है ।

शुक्ल पक्ष में जिस समय स्वाति नक्षत्र हो उस दिन सूर्य तथा घोड़े की पूजा की जाय, क्योंकि इसी दिन उच्चैः-श्रवा सूर्य को ढोकर ले गया था । शुक्ल पक्ष में उस दिन जिसमें मूल नक्षत्र हो, सरस्वती का आवाहन करके, पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में ग्रन्थों में उसकी स्थापना करके, उत्तराषाढ़ में नैवेद्यादि की भेंटकर, श्रवण में उसका विसर्जन कर दिया जाय । उस दिन अनध्याय रहे; लिखना पढ़ना, अध्यापनादि सब वर्जित है । तमिल नाडु में आश्विन शुक्ल नवमी के दिन ग्रन्थों में सरस्वती की स्थापना करके पूजा की जाती है । तुला मास (आश्विन मास) कावेरी में स्नान करने के लिए बड़ा पवित्र माना गया है । अमावस्या के दिन भी कावेरी नदी में एक विशेष स्नान का आयोजन किया जाता है। दे० निर्णयसिन्धु, पुरुषार्थचिन्तामणि, स्मृतिकौस्तुभ आदि ।

आषाढ़कृत्य—आषाढ़ मास के धार्मिक कृत्यों तथा प्रसिद्ध व्रतों का उल्लेख यथास्थान किया गया है । यहाँ कुछ छोटे व्रतों का उल्लेख किया जायगा । मास के अन्तर्गत एकभक्त व्रत तथा खड़ाऊँ, छाता, नमक तथा आवलों का ब्राह्मण को दान करना चाहिए । इस दान से वामन भगवान् की निश्चय ही कृपादृष्टि होगी । यह कार्य या तो आषाढ़ मास के प्रथम दिन हो अथवा सुविधानुसार किसी भी दिन । आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को यदि पुष्य नक्षत्र हो तो कृष्ण, बलराम तथा सुभद्रा का रथोत्सव निकाला जाय । शुक्ल पक्ष की सप्तमी को वैवस्वत सूर्य की पूजा होनी चाहिए, जो पूर्वाषाढ़ को प्रकट हुआ था । अष्टमी के दिन महिषासुरमर्दिनी भगवती दुर्गा को हरिद्रा, कपूर तथा चन्दन से युक्त जल में स्नान कराना चाहिए । तदनन्तर कुमारी कन्याओं और ब्राह्मणों को सुस्वादु मधुर भोजन कराया जाय । तत्पश्चात् दीप जलाना चाहिए । दशमी के दिन वरलक्ष्मी व्रत तमिलनाडु में अत्यन्त प्रसिद्ध है ।

एकादशी तथा द्वादशी के दिन भी उपवास, पूजन आदि का विधान है। आषाढी पूर्णिमा का चन्द्रमा बड़ा पवित्र है। अतएव उस दिन दानपुण्य अवश्य होना चाहिए। यदि संयोग से पूर्णिमा के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र हो तो दस विश्वेदेवों का पूजन किया जाना चाहिए। पूर्णिमा के दिन खाद्य का दान करने से कभी न भ्रान्त होने वाला विवेक तथा बुद्धि प्राप्त होती है। दे० विष्णुधर्मोत्तर पुराण।

आसन—(१) आसन शब्द का अर्थ है बैठना अथवा शरीर की एक विशेष प्रकार की स्थिति। हस्त-चरण आदि के विशेष संस्थान से इसका रूप बनता है। 'अष्टाङ्गयोग' का यह तीसरा अङ्ग है। पतञ्जलि के अनुसार आसन की परिभाषा है 'स्थिरसुखमासनम्' अर्थात् जिस शारीरिक स्थिति से स्थिर सुख मिले। परन्तु आगे चलकर आसनों का बड़ा विकास हुआ और इनकी संख्या ८४ तक पहुँच गयी। इनमें दो अधिक प्रयुक्त हैं: 'एकं सिद्धासनं नाम द्वितीयं कमलासनम्'। ध्यान की एकाग्रता के लिए आसन तथा प्राणायाम साधन मात्र हैं, किन्तु क्रमशः इनका महत्व बढ़ता गया और ये प्रदर्शन के उपकरण बन गये।

तन्त्रसार में निम्नांकित पाँच आसन प्रसिद्ध हैं:

पद्मासनं स्वस्तिकाख्यं भद्रं वज्रासनं तथा।
वीरासनमिति प्रोक्तं क्रमादासनपञ्चकम्॥

[पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन वज्रासन तथा वीरासन ये क्रमशः पाँच आसन कहे जाते हैं।]

इनकी विधि इस प्रकार है:

ऊर्वोरुपरि विन्यस्य सम्यक् पादतले उभे।
अङ्गुष्ठौ च निबध्नीयाद् हस्ताभ्यां व्युत्क्रमात्तथा॥
पद्मासनमिति प्रोक्तं योगिनां हृदयङ्गमम्॥१॥
जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायो विशेन्मन्त्री स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते॥२॥
सीमन्याः पार्श्वयोर्न्यस्य गुल्फयुग्मं सुनिश्चलम्।
वृषणाधः पादपार्ष्णि पाणिभ्यां परिबन्धयेत्।
भद्रासनं समुद्दिष्टं योगिभिः सारकल्पितम्॥३॥
ऊर्वोः पादौ क्रमान्न्यस्येत् कृत्वा प्रत्यङ्मुखाङ्गुली।
करौ निदध्यादाख्यातं वज्रासनमनुत्तमम्॥४॥
एकपादमधः कृत्वा विन्यस्योरौ तथेतरम्।
ऋजुकायो विशेन्मन्त्री वीरासनमितीरितम्॥५॥

(२) गोरखनाथी सम्प्रदाय, जो एक नयी प्रणाली के योग का उत्थान था, भारत के कुछ भागों में प्रचलित हुआ। किन्तु यह प्राचीन योगप्रणाली से मिल नहीं सका। इसे हठयोग कहते हैं तथा इसका सबसे महत्वपूर्ण अङ्ग है—शरीर की कुछ क्रियाओं द्वारा शुद्धि, कुछ शारीरिक व्यायाम तथा मस्तिष्क का महत् केन्द्रीकरण (समाधि)। इनमें बहुसंख्यक शारीरिक आसनों का प्रयोग कराया जाता है।

(३) उपवेशन के आधार पीठादि को भी आसन कहा जाता है। यह सोलह प्रकार के पूजा-उपचारों में से है। कालिकापुराण (अ० ६७) में इन आसनों का विधान और विस्तृत वर्णन पाया जाता है:

उपचारान् प्रवक्ष्यामि शृणु षोडश भैरव।
यैः सम्यक् तुष्यते देवी देवोऽप्यन्यो हि भक्तितः॥
आसनं प्रथमं दद्यात् पौष्पं दारुजमेव वा।
वास्त्रं वा चार्मणं कौशं मण्डलस्योत्तरे सृजेत्॥

[हे भैरव, सुनो। मैं सोलह उपचारों का वर्णन कर रहा हूँ जिनसे देवी तथा अन्य देव प्रसन्न होते हैं। इनमें आसन प्रथम है जिसका अर्पण करना चाहिए। आसन कई प्रकार के होते हैं, जैसे पौष्प (पुष्प का बना हुआ), दारुज (काष्ठ का बना हुआ), वास्त्र (वस्त्र का बना हुआ), चार्मण (चमड़े, यथा अजिन आदि का बना हुआ), कौश (कुशनिर्मित)। इन आसनों को मण्डल के उत्तर में बनाना (रखना) चाहिए।]

आसुर—(१) असुरभाव संयुक्त अथवा असुर से सम्बन्ध रखनेवाला। ब्राह्म आदि आठ प्रकार के विवाहों में से भी एक का नाम आसुर है। मनुस्मृति (३.३१) में इसकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है:

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते॥

[कन्या की जातिवालों (माता, पिता, भाई, बन्धु आदि) को अथवा स्वयं कन्या को ही धन देकर स्वच्छन्दतापूर्वक कन्याप्रदान (विवाह) करना आसुर (धर्म) कहलाता है।]

इस प्रकार के विवाह को भी धर्मसंमत कहा गया है, क्योंकि यह पैशाच विवाह की पाशविकता, राक्षस विवाह की हिंसा और गान्धर्व विवाह की कामुकता से मुक्त है। परन्तु फिर भी यह अप्रशस्त कहा गया है। कन्यादान एक प्रकार का यज्ञ माना गया है, जिसमें कन्या का पिता अथवा उसका अभिभावक ही यजमान है। उसके द्वारा

किसी प्रकार का भी प्रतिग्रह निन्दनीय है। इसलिए जब कन्यादान का यज्ञ के रूप में महत्व बढ़ा तो आसुर विवाह कन्याविक्रय के समान दूषित समझा जाने लगा। अन्य अप्रशस्त विवाहों की तरह केवल गणना के लिए इसका उल्लेख होता है। दे० 'विवाह'।

(२) श्रीमद्भगवद्गीता (अ० १६) में समस्त जीवधारी (भूतसर्ग) दो भागों में विभक्त हैं। वे हैं दैव और आसुर। आसुर का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्तः आसुरं पार्थ मे शृणु॥
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्त्यत्कामहेतुकम्॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्यबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ आदि

आसुरि—बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम दो वंशों (आचार्यों की तालिका) में भरद्वाज के शिष्य एवं औपङ्घनि के आचार्य रूप में इनका उल्लेख है, किन्तु तीसरे में याज्ञवल्क्य के शिष्य तथा आसुरायण के आचार्य रूप में उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण के प्रथम चार अध्यायों में याज्ञिक अधिकारी एवं सत्य पर अटल रहने वाले पुरुषों का उल्लेख हुआ है, जिनमें इनकी गणना है।

सांख्यशास्त्र के आचार्य, कपिल के शिष्य भी आसुरि हुए हैं :

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥
(भागवत, १.३.१०)

आस्तिक—(१) वेद के प्रामाण्य (और वर्णाश्रम व्यवस्था) में आस्था रखने वाले को आस्तिक कहते हैं। आस्तिक के लिए ईश्वर में विश्वास रखना अनिवार्य नहीं है किन्तु वेद में विश्वास रखना आवश्यक है। सांख्य और पूर्वमीमांसा दर्शन के अनुयायी ईश्वर की आवश्यकता सृष्टिप्रक्रिया में नहीं मानते, फिर भी वे आस्तिक हैं। शङ्कराचार्य ने आस्तिक्य की परिभाषा इस प्रकार की है :

"आस्तिक्यं श्रद्धानता परमार्थेष्वागमेषु।"

[परमार्थ (मोक्ष) और आगम (वेद) में श्रद्धा रखना आस्तिक्य है।]

(२) साधारण अर्थ में आस्तिक वह है जो ईश्वर और परमार्थ में विश्वास रखता है।

आस्तिकदर्शन—वेदोक्त प्रमाणों को मानने वाले आस्तिक एवं न मानने वाले नास्तिक दर्शन कहलाते हैं। चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक एवं अर्हत् ये छः नास्तिक दर्शन हैं : तथा वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवं वेदान्त ये छः आस्तिक दर्शन कहलाते हैं।

आस्तिकवर्ग—दर्शनों में छः आस्तिक तथा छः नास्तिक गिने जाते हैं। हिन्दू साहित्य इन नास्तिक दर्शनों को भी अपना अङ्ग समझता है। विपरीतमतसहिष्णु भारतवर्ष में आस्तिक और नास्तिक दोनों तरह के विचारों का अनादि काल से विकास होता चला आया है। भारतीय उदारता के अंक में आस्तिक एवं नास्तिक दोनों वर्गों की परम्परा और संस्कृति समान सुरक्षित बनी रही है। आस्तिक वर्ग का अर्थ है आस्तिक दर्शनों का अनुयायी।

आस्तीकपर्व—महाभारत के 'आस्तीकपर्व' में गरुड और सर्पों की उत्पत्ति का वर्णन है। समुद्रमन्थन, उच्चैःश्रवा की उत्पत्ति और महाराज परीक्षित् के पुत्र जनमेजय के सर्पानुष्ठान का वर्णन भी किया गया है। भरतवंशीय महात्माओं के पराक्रम का वृत्तान्त भी इसमें वर्णित है।

जरत्कारु ऋषि के पुत्र आस्तीक की इस पर्व में अधिक प्रधानता होने के कारण यह 'आस्तीक पर्व' कहा गया है। इनके नाम पर सर्प को भगाने का यह श्लोक प्रचलित है :

सर्पापसर्प भद्रं ते दूरं गच्छ वनान्तरम्।
जनमेजयस्य यज्ञान्ते आस्तीकवचनं स्मर॥

आहवनीय—यज्ञोपयोगी एक अग्नि। धार्मिक यज्ञ कार्यों में यज्ञवेदी का बड़ा महत्त्व है। यह वेदी कुश से आच्छादित ऊँचे चबूतरे की होती थी, जो यज्ञसामग्री देने अथवा यज्ञ सन्बन्धी पात्रों के रखने के लिए बनायी जाती थी। मुख्य अग्निवेदी कुण्ड के समान विभिन्न आकार की होती थी, जिसमें यज्ञाग्नि रखी रहती थी। प्राचीन भारत में जब देवों की पूजा प्रत्येक गृहस्थ अपने घर के अग्निस्थान में करता था, उसका यह पुनीत कर्त्तव्य होता था कि पवित्र अग्नि वेदी में स्थापित रखे रहे। यह कार्य प्रत्येक गृहस्थ अग्न्याधान या यज्ञाग्नि के आरम्भिक उत्सवदिन से ही प्रारम्भ करता था। इस अवसर पर यज्ञकर्ता

अपने चार पुरोहितों का चुनाव करता था। गार्हपत्य एवं आहवनीय अग्नि (दो प्रकार की अग्नि) के लिए एक वृत्ताकार एवं दूसरा वर्गाकार स्थान होता था। आवश्यकता समझी गयी तो दक्षिणाग्नि के लिए एक अर्धवृत्त कुण्ड भी बनाया जाता था। पश्चात् अध्वर्यु घर्षण द्वारा अथवा ग्राम से संग्रह कर गार्हपत्य अग्नि स्थापित करता था। सन्ध्याकाल में वह दो लकड़ियाँ जिन्हें अरणी कहते हैं, यज्ञकर्ता एवं उसकी स्त्री को देता था, जिससे घर्षण द्वारा वे दूसरे प्रातःकाल आहवनीय अग्नि उत्पन्न करते थे।

आहार—हिन्दू धर्म में आहार की शुद्धि-अशुद्धि का विस्तृत विचार किया गया है। इसका सिद्धान्त यह है कि आहार-शुद्धि से सत्त्वशुद्धि होती है और सत्त्वशुद्धि से बुद्धि शुद्ध होती है। शुद्ध बुद्धि से ही सद् विचार और धर्म में रुचि उत्पन्न हो सकती है। आहार दो प्रकार का होता है—(१) हित और (२) अहित। सुश्रुत के अनुसार हित आहार का गुण है :

आहारः प्रीणनः सद्यो बलकृद्देहधारकः।
आयुस्तेजःसमुत्साहस्मृत्योजोऽग्निवर्द्धनः ॥

भगवद्गीता (अ० १७ श्लोक ८–१०) के अनुसार वह तीन प्रकार—सात्विक, राजस तथा तामस–का होता है :

आयुः-सत्त्व-बलारोग्य-सुख-प्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहारा सात्त्विकप्रियाः ॥
कट्वम्ल लवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

[आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसाल, स्निग्ध, स्थिर और प्रिय लगने वाले भोजन सात्विक लोगों को प्रिय होते हैं। कटु, अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), अति उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, दाह करने वाले तथा दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करने वाले भोजन राजस व्यक्ति को इष्ट होते हैं। एक याम से पड़े हुए, नीरस, सड़े, बासी, उच्छिष्ट (जूठे) और अमेध्य (अपवित्र = मछली, मांस आदि) आहार तामसी व्यक्ति को अच्छे लगते हैं।] इसलिए साधक को सात्विक आहार ही ग्रहण करना चाहिए।

आहिताग्नि—जो गृहस्थ विधिपूर्वक अग्नि स्थापित कर नियमपूर्वक नित्य हवन करता है उसे 'आहिताग्नि' कहा जाता है। इसका एक पर्याय 'अग्निहोत्री' है।

आहुति—यज्ञकुण्ड में देवता के उद्देश्य से जो हवि का प्रक्षेप किया जाता है उसे 'आहुति' कहते हैं। आहुति द्रव्य को 'मृगी मुद्रा' (शिशु के मुख में कौर देने की अँगुलियों के आकार) से अग्नि में डालना चालना चाहिए।

आह्निक—(१) नित्य किया जाने वाला धार्मिक क्रिया-समूह। धर्मशास्त्र ग्रन्थों में दैनिक धार्मिक कर्मों का पूरा विवरण पाया जाता है। रघुनन्दन भट्टाचार्यकृत 'आह्निकाचार तत्त्व' में दिन-रात के आठों यामों के कर्तव्यों का वर्णन मिलता है।

(२) कुछ प्राचीन ग्रन्थों के प्रकरणसमूह को भी, जिसका अध्ययन दिन भर में हो सके, आह्निक कहते हैं।

इ

इ—स्वर वर्ण का तृतीय अक्षर। कामधेनुतन्त्र में इसका तान्त्रिक मूल्य निम्नांकित है :

इकारं परमानन्दं सुगन्धकुसुमच्छविम् ।
हरिब्रह्ममयं वर्णं सदा रुद्रयुतं प्रिये ॥
सदा शक्तिमयं देवि गुरुब्रह्ममयं तथा ।
सदा शिवमयं वर्णं परं ब्रह्मसमन्वितम् ॥
हरिब्रह्मात्मकं वर्णं गुणत्रयसमन्वितम् ।
इकारं परमेशानि स्वयं कुण्डली मूर्तिमान् ॥

[हे प्रिये ! इकार ('इ' अक्षर) परम आनन्द की सुगन्धि वाले पुष्प की शोभा धारण करने वाला है। यह वर्ण हरि तथा ब्रह्ममय है। सदा रुद्र से संयुक्त रहता है। सदा शक्तिमान् तथा गुरु और ब्रह्ममय है। सदा शिवमय है। परम तत्त्व है। ब्रह्म से समन्वित है। हरि-ब्रह्मात्मक है और तीनों गुणों से समन्वित है।] वर्णाभिधानतन्त्र में इसके निम्नलिखित नाम हैं :

इः सूक्ष्मा शाल्मली विद्या चन्द्रः पूषा सुगुह्यकः ।
सुमित्रः सुन्दरो वीरः कोटरः काटरः पयः ॥
भ्रूमध्यो माधवस्तुष्टिर्दक्षनेत्रञ्च नासिका ।
शान्तः कान्तः कामिनी च कामो विघ्नविनायकः ॥
नेपालो भरणी रुद्रो नित्या क्लिन्ना च पावका ॥

इक्ष्वाकु—पुराणों के अनुसार वैवस्वत मनु का पुत्र और सूर्य-वंश (इक्ष्वाकुवंश) का प्रवर्तक। इसकी राजधानी **अयोध्या**

और सौ पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र विकुक्षि अयोध्या का राजा हुआ, दूसरे पुत्र निमि ने विदेह (मिथिला) में एक राजवंश प्रचलित किया। अन्य पुत्रों ने अन्यत्र उपनिवेश तथा राज्य स्थापित किये।

इज्या—यज्ञकर्म अथवा यजन का एक पर्याय। दे० 'यज्ञ' 'सोहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलतः।' (रघु० १.६८)

[मैं इज्या (यज्ञ) से विशुद्ध चित्तवाला और प्रजालोप (संतानहीनता) से निमीलित (कुम्हलाया हुआ) हूँ।]

इसके अन्य अर्थ पूजा, सङ्गम, गौ, कुट्टनी आदि हैं।

इडा—(१) वाणी, सरस्वती, पृथ्वी, गौ। वैदिक साहित्य में 'इडा' शब्द मूलतः अन्न, स्फूर्ति, दुग्धाहुति आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पुनः, वाग्देवता के अर्थ में इसका प्रचलन हो गया। कई मन्त्रों में यह मनु की उपदेशिका कही गयी है। यज्ञानुष्ठान के नियमों की प्रवर्तिका भी यह मानी गयी है। सायण ने इसको पृथ्वी की अधिष्ठात्री देवी माना है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मनु ने संतान प्राप्ति के लिए यज्ञ किया, जिससे इडा आविर्भूत हुई। मनु और इडा के संयोग से ही मानवों की उत्पत्ति हुई। हरिवंश के अनुसार इडा की गणना देवियों में है :

श्रुतिः प्रीतिरिडा कान्तिः शान्तिः पुष्टिः क्रिया तथा।

(२) यौगिक साधना की आधार एक नाड़ी। हठयोग या स्वरोदय के अभ्यासार्थ नासिका के वाम या चन्द्र स्वर के नाम से इस नाड़ी का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। षट्चक्रभेद नामक ग्रन्थ (श्लोक २) में इसका निम्नांकित संकेत है :

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्लै।
मध्ये नाडी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा॥

उपर्युक्त श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया गया है :

"मेरोर्मेरुदण्डस्य बाह्यप्रदेशे बहिर्भागे सव्यदक्षे वामदक्षिणपार्श्वे शशिमिहिरशिरे चन्द्रसूर्यात्मके नाड्यौ इडापिङ्गलानाडीद्वयमिति फलितार्थः। निषण्णे वर्तेत्।"

[मेरुदण्ड के बाह्य प्रदेश में वाम और दक्षिण पार्श्व में चन्द्र-सूर्यात्मक (इडा तथा पिङ्गला) नाडियों के बीच में सुषुम्ना नाडी वर्तमान है।]

ज्ञानसङ्कलनीतन्त्र (खण्ड) में इडा का और भी वर्णन पाया जाता है :

इडा नाम सैव गङ्गा यमुना पिङ्गला स्मृता।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥
एतासां सङ्गमो यत्र त्रिवेणी सा प्रकीर्तिता।
तत्र स्नातः सदा योगी सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

[इडा नामक नाडी ही गङ्गा है। पिङ्गला को यमुना कहा गया है। गङ्गा-यमुना के बीच में सुषुम्ना नाड़ी सरस्वती है। इन तीनों का जहाँ सङ्गम (भ्रूमध्य में) होता है वही त्रिवेणी प्रसिद्ध है। वहाँ स्नान (ध्यान) करनेवाला योगी सदा के लिए सब पापों से मुक्त हो जाता है।]

इडा नाडी सकाम कर्म के अनुष्ठान की सहायिका है। इडा और पिङ्गला के बीच में वर्तमान सुषुम्ना नाडी ब्रह्मनाडी है। इस नाडी में यह सम्पूर्ण विश्व प्रतिष्ठित है। उत्तरगीता (अध्याय २) में इसका निम्नलिखित वर्णन है :

इडा च वामनिश्वासः सोममण्डलगोचरा।
पितृयानमिति ज्ञेया वाममाश्रित्य तिष्ठति॥
गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन् वीणादण्डस्य देहभृत्।
दीर्घास्थि मूर्ध्निपर्यन्तं ब्रह्मदण्डेति कथ्यते॥
तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं ब्रह्मनाडीति सूरिभिः।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना सूक्ष्मरूपिणी।
सर्वं प्रतिष्ठितं यस्यां सर्वगं सर्वतोमुखम्॥

इन नाडियों के शोधन के बिना योगी को आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

इतिहास—छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि इतिहास-पुराण पाँचवाँ वेद है। इससे इतिहास एवं पुराण की धार्मिक महत्ता स्पष्ट होती है। अधिकांश विद्वान् इतिहास से रामायण और महाभारत समझते हैं और पुराण से अठारह वा उससे अधिक पुराण ग्रन्थ और उपपुराण समझे जाते हैं। अनेक विद्वान् इस मान्यता से सहमत नहीं हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती का कहना है कि इस स्थल पर इतिहास-पुराण का तात्पर्य ब्राह्मण भाग में उल्लिखित कथाओं से है।

अठारह विद्याओं की गिनती में इतिहास का नाम कहीं नहीं आया है। इन अठारह विद्याओं की सूची में पुराण के अतिरिक्त और कोई विद्या ऐसी नहीं है जिसमें इतिहास का अन्तर्भाव हो सके। इसीलिए प्रायश्चित्ततत्त्वकार ने इतिहास को पुराण के अन्तर्गत समझकर उसका नाम अलग नहीं गिनाया। ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है कि वेद के अन्तर्गत देवासुर युद्धादि का वर्णन इतिहास कहलाता है और "यह असत् था और कुछ न था" इत्यादि जगत् की प्रथमावस्था से लेकर सृष्टि-

क्रिया का वर्णन पुराण कहलाता है। बृहदारण्यक के भाष्य में शङ्कराचार्य ने भी लिखा है कि उर्वशी-पुरूरवा आदि संवाद स्वरूप ब्राह्मणभाग को इतिहास कहते हैं और "पहले असत् ही था" इत्यादि सृष्टि-प्रकरण को पुराण कहते हैं। इन बातों से स्पष्ट है कि सर्गादि का वर्णन पुराण कहलाता था और लौकिक कथाएँ इतिहास कही जाती थीं।

इदावत्सर—वाजसनेयी संहिता (२७.४५) के अनुसार एक विशेष संवत्सर है :

"संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसि
इदावत्सरोऽसि इद्वत्सरोऽसि।"

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार इस संवत्सर में अन्न और वस्त्र का दान पुण्यकारक होता है।

ज्योतिष की गणना में 'पंचवर्षात्मक युग' मान्यता के अनुसार वर्ष का एक प्रकार इदावत्सर है।

इन्दु—चन्द्रमा। इसकी व्युत्पत्ति है : 'उनत्ति अमृतधारया भुवं क्लिन्नां करोति इति' [अमृत की धारा से पृथ्वी को भिगोता है, इसलिए 'इन्दु' कहलाता है।]

इन्दुव्रत—साठ संवत्सरव्रतों में से अट्ठावनवाँ व्रत। व्रती को किसी सपत्नीक सद्गृहस्थ का सम्मान करना चाहिए तथा वर्ष के अन्त में उसे गौ का दान करना चाहिए। दे० कृत्यकल्पतरु का व्रतकाण्ड; हेमाद्रि, व्रत खण्ड, २. ८८३।

इन्द्र—ऋग्वेद के प्रायः २५० सूक्तों में इन्द्र का वर्णन है तथा ५० सूक्त ऐसे हैं जिनमें दूसरे देवों के साथ इन्द्र का वर्णन है। इस प्रकार लगभग ऋग्वेद के चतुर्थांश में इन्द्र का वर्णन पाया जाता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन्द्र वैदिक युग का सर्वप्रिय देवता था। इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ अस्पष्ट है। अधिकांश विद्वानों की सम्मति में इन्द्र झंझावात का देवता है जो बादलों में गर्जन एवं बिजली की चमक उत्पन्न करता है। किन्तु हिलब्रैण्ट के मत से इन्द्र सूर्य देवता है। वैदिक भारतीयों ने इन्द्र को एक प्रबल भौतिक शक्ति माना जो उनकी सैनिक विजय एवं साम्राज्यवादी विचारों का प्रतीक है। प्रकृति का कोई भी उपादान इतना शक्तिशाली नहीं जितना विद्युत्-प्रहार। इन्द्र को अग्नि का जुड़वाँ भाई (ऋ ६.५९.२) कहा गया है जिससे विद्युतीय अग्नि एवं यज्ञवेदीय अग्नि का सामीप्य प्रकट होता है।

इन्द्र की चरितावली में वृत्रवध का बड़ा महत्त्व है। (अधिकांश वैदिक विद्वानों का मत है कि वृत्र सूखा (अनावृष्टि) का दानव है और उन बादलों का प्रतीक है जो आकाश में छाये रहने पर भी एक बूँद जल नहीं बरसाते। इन्द्र अपने वज्र प्रहार से वृत्ररूपी दानव का वध कर जल को मुक्त करता है और फिर पृथ्वी पर वर्षा होती है। ओल्डेनबर्ग एवं हिलब्रैण्ट ने वृत्र-वध का दूसरा अर्थ प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि पार्थिव पर्वतों से जल की मुक्ति इन्द्र द्वारा हुई है। हिलब्रैण्ट ने सूर्यरूपी इन्द्र का वर्णन करते हुए कहा है : वृत्र शीत (सर्दी) एवं हिम का प्रतीक है, जिससे मुक्ति केवल सूर्य ही दिला सकता है। ये दोनों ही कल्पनाएँ इन्द्र के दो रूपों को प्रकट करती हैं, जिनका प्रदर्शन मैदानों के झंझावात और हिमाच्छादित पर्वतों पर तपते हुए सूर्य के रूप में होता है। वृत्र से युद्ध करने की तैयारी के विवरण से प्रकट होता है कि देवों ने इन्द्र को अपना नायक बनाया तथा उसे शक्तिशाली बनाने के लिए प्रभूत भोजन-पान आदि की व्यवस्था हुई। इन्द्र प्रभूत सोमपान करता है। इन्द्र का अस्त्र वज्र है जो विद्युत्प्रहार का ही एक काल्पनिक नाम है।

ऋग्वेद में इन्द्र को जहाँ अनावृष्टि के दानव वृत्र का वध करने वाला कहा गया है, वहीं उसे रात्रि के अन्धकार रूपी दानव का वध करनेवाला एवं प्रकाश का जन्म देने वाला भी कहा गया है। ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के वर्णनानुसार विश्वामित्र के प्रार्थना करने पर इन्द्र ने विपाशा (व्यास) तथा शतद्रु (सतलज) नदियों के अथाह जल को सुखा दिया, जिससे भरतों की सेना आसानी से इन नदियों को पार कर गयी।

इन्द्र और वृत्र के आकाशीय युद्ध की चर्चा हो चुकी है। इन्द्र के इस युद्ध कौशल के कारण आर्यों ने पृथ्वी के दानवों से युद्ध करने के लिए भी इन्द्र को सैनिक नेता मान लिया। इन्द्र के पराक्रम का वर्णन करने के लिए शब्दों की शक्ति अपर्याप्त है। वह शक्ति का स्वामी है, उसकी एक सौ शक्तियाँ हैं। चालीस या इससे भी अधिक उसके शक्तिसूचक नाम हैं तथा लगभग उतने ही युद्धों का विजेता उसे कहा गया है। वह अपने उन मित्रों एवं भक्तों को भी वैसी विजय एवं शक्ति देता है, जो उस को सोमरस अर्पण करते हैं।

नौ सूक्तों में इन्द्र एवं वरुण का संयुक्त वर्णन है। दोनों एकता धारण कर सोम का पान करते हैं, वृत्र पर विजय

प्राप्त करते हैं, जल की नहरें खोदते हैं और सूर्य का आकाश में नियमित परिचालन करते हैं। युद्ध में सहायता, विजय प्रदान करना, धन एवं उन्नति देना, दुष्टों के विरुद्ध अपना शक्तिशाली वज्र भेजना तथा रज्जुरहित बन्धन से बाँधना आदि कार्यों में दोनों में समानता है। किन्तु यह समानता उनके सृष्टिविषयक गुणों में क्यों न हो, उनमें मौलिक छः अन्तर हैं : वरुण राजा है, असुरत्व का सर्वोत्कृष्ट सत्ताधारी है तथा उसकी आज्ञाओं का पालन देवगण करते हैं, जबकि इन्द्र युद्ध का प्रेमी एवं वैर-धूलि को फैलाने वाला है। इन्द्र वज्र से वृत्र का वध करता है, जबकि वरुण साधु (विनम्र) है और वह सन्धि की रक्षा करता है। वरुण शान्ति का देवता है, जबकि इन्द्र युद्ध का देव है एवं मरुतों के साथ सम्मान की खोज में रहता है। इन्द्र शत्रुतावश वृत्र का वध करता है, जब कि वरुण अपने व्रतों की रक्षा करता है।

पौराणिक देवमण्डल में इन्द्र का वह स्थान नहीं है जो वैदिक देवमण्डल में है। पौराणिक देवमण्डल में त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु और शिव—का महत्त्व बढ़ जाता है। इन्द्र फिर भी देवाधिराज माना जाता है। वह देव-लोक की राजधानी अमरावती में रहता है, सुधर्मा उसकी राजसभा तथा सहस्र मन्त्रियों का उसका मन्त्रिमण्डल है। शची अथवा इन्द्राणी पत्नी, ऐरावत हाथी (वाहन) तथा अस्त्र वज्रअथवा अशनि है। जब भी कोई मानव अपनी तपस्या से इन्द्रपद प्राप्त करना चाहता है तो इन्द्र का सिंहासन संकट में पड़ जाता है। अपने सिंहासन की रक्षा के लिए इन्द्र प्रायः तपस्वियों को अप्सराओं से मोहित कर पथभ्रष्ट करता पाया जाता है। पुराणों में इस सम्बन्ध की अनेक कथाएँ मिलती हैं। पौराणिक इन्द्र शक्तिमान्, समृद्ध और विलासी राजा के रूप में चित्रित है।

इन्द्रध्वज—महान् वैदिक देवता इन्द्र का स्मारक काष्ठस्तम्भ। यह विजय, सफलता और समृद्धि का प्रतीक है। प्राचीन काल में भारतीय राजा विधिवत् इसकी स्थापना करते थे और उस अवसर पर उत्सव मनाया जाता था; संगीत, नाट्य आदि का आयोजन होता था। भरत के नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख पाया जाता है :

अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते ।
अथेदानीमयं वेदः नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम् ॥

इस ध्वज की उत्पत्ति की कथा बृहत्संहिता में पायी जाती है। एक बार देवतागण असुरों से पीडित होकर उनके अत्याचार से मुक्त होने के लिए ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने उनको विष्णु के पास भेजा। विष्णु उस समय क्षीर सागर में शेषनाग के ऊपर शयन कर रहे थे। उन्होंने देवताओं की विनय सुनकर उनको एक ध्वज प्रदान किया, जिसको लेकर एक बार इन्द्र ने असुरों को परास्त किया था। इसीलिए इसका नाम इन्द्रध्वज पड़ा।

इन्द्रध्वजोत्थानोत्सव—यह इन्द्र की ध्वजा को उठाकर जलूस में चलने का उत्सव है। यह भाद्र शुक्ल अष्टमी को मनाया जाता है। ध्वज के लिए प्रयुक्त होने वाले दण्ड के लिए इक्षुदण्ड (गन्ना) काम में आता है, जिसकी सभी लोग इन्द्र के प्रतीक रूप में अर्चना करते हैं। तदनन्तर किसी गम्भीर सरोवर अथवा नदी के जल में उसे विसर्जित किया जाता है। ध्वज का उत्तोलन श्रवण, धनिष्ठा अथवा उत्तराषाढ़ नक्षत्र में तथा उसका विसर्जन भरणी नक्षत्र में होना चाहिए। इसका विशद वर्णन बराहमिहिर की बृहत्संहिता (अध्याय ४३), कालिका पुराण (९०) तथा भोज के राजमार्त्तण्ड (सं० १०६० से १०९२ तक) में है। यह व्रत राजाओं के लिए विशेष रूप से आचरण करने योग्य है। बुद्धचरित में भी इसका उल्लेख है। रघुवंश (४.३), मृच्छकटिक (१०.७), मणिमेखलाई के प्रथम भाग, सिलप्पदिकारम् के ५ वें भाग तथा एक शिलालेख (एपिग्राफिया इंडिका, १०.३२०; मालव संवत् ४६१) में भी इसका उल्लेख हुआ है। कालिकापुराण, ९०; कृत्यकल्पतरु (राजधर्म, पृष्ठ १८४-१९०); देवीपुराण तथा राजनीतिप्रकाश (वीरमित्रोदय, पृष्ठ ४२१-४२३) में भी इसका वर्णन मिलता है।

इन्द्रप्रस्थ—पाण्डवों की राजधानी, जिसको उन्होंने खाण्डववन जलाकर बसाया था। नयी दिल्ली के दक्षिण में इसकी स्थिति थी, जिसके एक सीमान्त भाग को आज भी इस नाम से पुकारते हैं। बारहवीं शती तक उत्तर भारत के पाँच पवित्र तीर्थों में इन्द्रप्रस्थ (इन्द्रस्थानीय) की गणना थी। गहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र के अभिलेखों में इसका उल्लेख है। कुतुबमीनार के पास का गाँव मिहरौली 'मिहिरावली' (सूर्यमण्डल) का अपभ्रंश है। इसके पास के ध्वंसावशेष अब भी इसके धार्मिक स्वरूप को व्यक्त करते हैं। कुशिक (कान्यकुब्ज) के साथ इन्द्र-

प्रस्थ (दिल्ली) का धार्मिक स्वरूप बाद में तुर्कों ने पूर्णतः नष्ट कर दिया ।

इन्द्रपौर्णमासी—हेमाद्रि, व्रतखण्ड २.१९६ में इसका उल्लेख है । भाद्रपद मास की पूर्णिमा को उपवास रखना चाहिए । इसके पश्चात् तीस सपत्नीक सद्गृहस्थों को अलंकारों से सम्मानित करना चाहिए । इस व्रत के आचरण से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

इन्द्रव्रत—साठ संवत्सर व्रतों में से सैंतालीसवाँ व्रत । कृत्यकल्पतरु के व्रतकाण्ड, पृष्ठ ४४९ पर इस व्रत का उल्लेख है । व्रती को चाहिए कि वह वर्षा ऋतु में खुले आकाश के नीचे शयन करे । अन्त में दूधवाली गौ का दान करे ।

इन्द्रव्याकरण—छहों अङ्गों में व्याकरण वेद का प्रधान अङ्ग समझा जाता है । जो लोग वेदमन्त्रों को अनादि मानते हैं उनके अनुसार तो बीजरूप से व्याकरण भी अनादि है । पतञ्जलि वाली जनश्रुति से पता चलता है कि सबसे पुराने वैयाकरण देवताओं के गुरु बृहस्पति हैं और इन्द्र की गणना उनके बाद होती है । एक प्राचीन पद्य ''इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नः''''''''जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः'' के अनुसार पाणिनिपूर्व काल में इन्द्रव्याकरण प्रचलित रहा होगा ।

इन्द्रसावर्णि—चौदहवें मनु का नाम इस मन्वन्तर में बृहद्भानु का अवतार होगा, शुचि इन्द्र होंगे, पवित्र चाक्षुष आदि देवता होंगे, अग्नि, बाहु, शुचि, शुद्ध, मागध आदि सप्तर्षि होंगे । भागवत पुराण, विष्णु पुराण (२।३) एवं मार्कण्डेय पुराण (अध्याय १००) में यह वर्णन पाया जाता है ।

इन्द्राणी—इन्द्र की पत्नी, जो प्रायः शची अथवा पौलोमी भी कही गयी है । यह असुर पुलोमा की पुत्री थी, जिसका वध इन्द्र ने किया था । शाक्त मत में सर्वप्रथम मातृका पूजा होती है । ये माताएँ विश्वजननी हैं, जिनका देवस्त्रियों के रूप में मानवीकरण हुआ है । इसका दूसरा अभिप्राय शक्ति के विविध रूपों से भो हो सकता है, जो आठ हैं, तथा विभिन्न देवताओं से सम्बन्धित हैं । वैष्णवी व लक्ष्मी का विष्णु से, ब्राह्मी या ब्रह्माणी का ब्रह्मा से, कार्तिकेयी का युद्धदेवता कार्तिकेय से, इन्द्राणी का इन्द्र से, यमी का मृत्यु के देवता यमसे, वाराही का वराह से, देवी व ईशानी का शिव से सम्बन्ध स्थापित है । इस प्रकार इन्द्राणी अष्टमातृकाओं में से भी एक है ।

अमरकोश में सप्त मातृकाओं का (ब्राह्मीत्याद्यास्तु मातरः) उल्लेख है :

ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ।
वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्तमातरः ॥

इन्द्रियाँ—पूर्वजन्म के किये हुए कर्मों के अनुसार शरीर उत्पन्न होता है । पञ्चभूतों से पाँचों इन्द्रियों की उत्पत्ति कही गयी है । घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का ग्रहण होता है, इससे वह पृथ्वी से बनी है । रसना जल से बनी है, क्योंकि रस जल का गुण है । चक्षु इन्द्रिय तेज से बनी है, क्योंकि रूप तेज का गुण है । त्वक् वायु से बनी है, क्योंकि स्पर्श वायु का गुण है । श्रोत्र इन्द्रिय आकाश से बनी है, क्योंकि शब्द आकाश का गुण है ।

बौद्धों के मत में शरीर में जो गोलक देखे जाते हैं उन्हीं को इन्द्रियाँ कहते हैं, (जैसे आँख की पुतली जीभ इत्यादि) । परन्तु नैयायिकों के मत से जो अङ्ग दिखाई पड़ते हैं वे इन्द्रियों के अधिष्ठान मात्र हैं, इन्द्रियाँ नहीं हैं । इन्द्रियों का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता । कुछ लोग एक ही त्वक् इन्द्रिय मानते हैं । न्याय में उनके मत का खण्डन करके इन्द्रियों का नानात्व स्थापित किया गया है । सांख्य में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन को लेकर ग्यारह इन्द्रियाँ मानी गयी हैं । न्याय में कर्मेन्द्रियाँ नहीं मानी गयी हैं, पर मन एक आन्तरिक करण और अणुरूप माना गया है । यदि मन सूक्ष्म न होकर व्यापक होता तो युगपत् कई प्रकार का ज्ञान सम्भव होता, अर्थात् अनेक इन्द्रियों का एक क्षण में एक साथ संयोग होते हुए उन सबके विषयों का एक साथ ज्ञान हो जाता । पर नैयायिक ऐसा नहीं मानते । गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाँचों गुण इन्द्रियों के अर्थ या विषय हैं ।

इन्द्रोत—ऋग्वेद (८.६८) की एक दानस्तुति में दाता के रूप में इन्द्रोत का दो बार उल्लेख हुआ है । द्वितीय मण्डल में उसका एक नाम आतिथिग्व है जिससे प्रकट होता है कि यह अतिथिग्व का पुत्र था ।

इन्द्रोतदैवापशौनक—इस ऋषि का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (१३:५,३,५;४,१) में जनमेजय के अश्वमेध यज्ञ के

पुरोहित के रूप में हुआ है, यद्यपि यह सम्माननीय पद ऐतरेय ब्राह्मण (८.२१) में तुरकावषेय को प्राप्त है। जैमिनीय उपनिषद्ब्राह्मण (३.४०.१) में इन्द्रोत दैवाप शौनक श्रुत के शिष्य के रूप में उल्लिखित है तथा वंश-ब्राह्मण में भी इसका उल्लेख है। किन्तु ऋग्वेद में उल्लिखित देवापि से इसका सम्बन्ध किसी भी प्रकार नहीं जोड़ा जा सकता।

इरा—कश्यप की एक पत्नी। दे० गरुडपुराण, अध्याय ६

धर्मपत्न्यः समाख्याता कश्यपस्य वदाम्यहम्।
अदितिर्दितिर्दनुः काला अमायुः सिंहिका मुनिः।।
कद्रुः प्राधा इरा क्रोधा विनता सुरभिः खशा।।

इरा से वृक्ष, लता, वल्ली तथा तृण जाति की उत्पत्ति हुई।

इरावती—भारत की देवनदियों में इसकी गणना है:

विपाशा च शतद्रुश्च चन्द्रभागा सरस्वती।
इरावती वितस्ता च सिन्धुर्देवनदी तथा।।
(महाभारत)

[विपाशा (व्यास), शतद्रु (सतलज), चन्द्रभागा (चिनाव), सरस्वती (सरसुती), इरावती (रावी), वितस्ता (झेलम) तथा सिन्धु (अपने नाम से अब भी प्रसिद्ध) ये देवनदियाँ हैं।]

इल—दे० 'उमावन'।

इला—पौराणिक कथा के अनुसार इला मूलतः मनु का पुत्र इल था। इल भूल से इलावर्त में भ्रमण करते हुए शिवजी के काम्यकवन में चला गया। शिवजी ने शाप दिया था कि जो पुरुष काम्यकवन में आयेगा वह स्त्री हो जायगा। अतः इल स्त्री इला में परिवर्तित हो गया। इला का विवाह सोम (चन्द्रमा) के पुत्र बुध से हुआ। इस सम्बन्ध से पुरूरवा का जन्म हुआ, जो ऐल कहलाया। इससे ऐल अथवा चन्द्रवंश की परम्परा आरम्भ हुई, जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान (वर्तमान झूसी, अरैल, प्रयाग) थी। विष्णु की कृपा से इला पुनः पुरुष हो गयी जिसका नाम सुद्युम्न था।

इलावृत (इलावर्त)—इसका शाब्दक अर्थ है इला के आवर्तन (परिभ्रमण) का स्थान। यह जम्बू द्वीप के नव वर्षों (देशों) के अन्तर्गत एक वर्ष है जो सुमेरु पर्वत (पामीर) को घेर कर स्थित है। इसके उत्तर में नील पर्वत, दक्षिण में निषध, पश्चिम में माल्यवान् तथा पूर्व में गन्धमादन पर्वत है (दे० भागवतपुराण)। अग्नीध्र (पञ्चाल के राजा) के प्रसिद्ध पुत्र का नाम भी इलावृत था, जिसको पिता से राज्य रिक्थ में मिला। दे० विष्णुपुराण, २.१.१६-१८।

इल्वल—सिंहिका का पुत्र एक दैत्य, जो वातापी का भाई था। यह ब्राह्मणों का विनाश करने के लिए अपने भाई वातापी को मायारूपी मेष (भेड़) बनाकर और ब्राह्मणों को भोज में निमन्त्रण देकर खिला देता था। पुनः वातापी को बुलाता था। वातापी उनका पेट फाड़कर निकल आता था। इससे सहस्रों ब्राह्मणों की मृत्यु हुई। अगस्त्य ऋषि को अपने पितरों की इस दशा से बहुत कष्ट हुआ। वे उस दिशा को गये (दे० 'अगस्ति')। इल्वल ने उनको भी निमन्त्रण दिया और वातापी को मेष बनाकर उसका मांस उनको खिलाया। उसके बाद उसने वातापी को पुकारा। किन्तु अगस्त्य के पेट से केवल अपना वायु निकला। उन्होंने हँसते हुए कहा कि वातापी तो जीर्ण (पक्व) हो गया; अब निकल नहीं सकता। दे० महाभारत, वनपर्व, अगस्त्योपाख्यान, ९६ अध्याय।

इष्ट—वेदी या मण्डप के अन्दर करने लायक धार्मिक कर्म; होम, यज्ञ; अभीष्ट देवता, आराधित देवता; किसी घटना का घड़ी-पलों में निर्धारित समय। दे० 'यज्ञ'

इष्टजात्यवाप्ति—विष्णुधर्मोत्तर (३.२००.१-५) के अनुसार इस व्रत का अनुष्ठान चैत्र तथा कार्तिक के प्रारम्भ में करना चाहिए, ऋग्वेद के दशम मण्डल के ९०.१-१६ मन्त्रों से हरि का षोडशोपचार के साथ पूजन होना चाहिए। व्रत के अन्त में गौ का दान विहित है।

इष्टसिद्धि—इस नाम के दो ग्रन्थों का पता चलता है। प्रथम सुरेश्वराचार्य अथवा मण्डन मिश्र कृत है, जिसको उन्होंने संन्यास लेने के पश्चात् लिखा और जिसमें शाङ्कर मत का ही समर्थन है। द्वितीय, अविमुक्तात्मा द्वारा कृत है, जिसमें शब्दाद्वैत मत का उल्लेख मिलता है।

इष्टापूर्त—धार्मिक कर्मों के दो प्रमुख विभाग हैं—(१) इष्ट और (२) पूर्त। इष्ट का सम्बन्ध यज्ञादि कृत्यों से है, जिनका फल अदृष्ट है। पूर्त का सम्बन्ध लोकोपकारी कार्यों से है, जिनका फल दृष्ट है। मलमासतत्त्व में उद्धृत जातूकर्ण्य का कथन है:

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानाञ्चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च इष्टमित्यभिधीयते।।

वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

[अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदों के आदेशों का पालन, आतिथ्य, वैश्वदेव (आदि) इष्ट कहलाते हैं । वापी, कूप, तडाग, धर्मशाला, पाठशाला, देवालयों का निर्माण, अन्न का दान, आराम (वाटिका आदि का लगवाना) को पूर्त कहा जाता है ।]

इष्टिका—आजकल की 'ईंट' । वास्तव में यह यज्ञ (इष्टि) वेदी के चयन (चुनाव) में काम आती थी, अतः इसका नाम इष्टिका पड़ गया । बाद में इससे गृहनिर्माण भी होने लगा । चाणक्य ने इष्टिकानिर्मित भवन का गुण इस प्रकार बतलाया है :

कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री इष्टिकालयम् ।
शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले तु शीतलम् ॥

ईंटों से निर्मित स्थान में पितृकर्म का निषेध है । श्राद्ध-तत्त्व में उद्धृत शङ्खलिखित । इष्टिका (ईंट) द्वारा देवालयों के निर्माण का महाफल बतलाया गया है :

मृन्मयात्कोटिगुणितं फलं स्याद् दारुभिः कृते ।
कोटिकोटिगुणं पुण्यं फलं स्यादिष्टिकामये ॥
द्विपरार्ध गुणं पुण्यं शैलजे तु विदुर्बुधाः ॥
(प्रतिष्ठातत्त्व)

इहामुत्र-फलभोगविराग—'इह' इस संसार को और 'अमुत्र' (वहाँ) स्वर्ग को कहते हैं । सांसारिक भोग तथा स्वर्ग के भोग दोनों मोक्षार्थी के लिए त्याज्य हैं । दे० वेदान्त-सार ।

ई

ई—स्वरवर्ण का चतुर्थ अक्षर । कामधेनुतन्त्र में इसका तान्त्रिक मूल्य निम्नांकित है :

ईकारं परमेशानि स्वयं परमकुण्डली ।
ब्रह्मविष्णुमयं वर्णं तथा रुद्रमयं सदा ॥
पञ्चदेवमयं वर्णं पीतविद्युल्लताकृतिम् ।
चतुर्ज्ञानमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा ॥

वर्णोद्धारतन्त्र में इसके नाम निम्नलिखित हैं :

ई स्त्रीमूर्तिर्महामाया लोलाक्षी वामलोचनम् ।
गोविन्दः शेखरः पुष्टिः सुभद्रा रत्नसंज्ञकः ॥
विष्णुर्लक्ष्मीः प्रहासश्च वाग्विशुद्धः परात्परः ।
कालोत्तरीयो भेरुण्डा रतिश्च पौण्ड्रवर्द्धनः ॥
शिवोत्तमः शिवा तुष्टिश्चतुर्थी विन्दुमालिनी ।
वैष्णवी वैन्दवी जिह्वा कामकला सनादका ॥
पावकः कोटरः कीर्तिर्मोहिनी कालकारिका ।
कुचद्वन्द्वं तर्ज्जनी च शान्तिस्त्रिपुरसुन्दरी ॥

[हे देवि ! ईकार ('ई' अक्षर) स्वयं परम कुण्डली है । यह वर्ण ब्रह्मा और विष्णुमय है । यह सदा रुद्रमय है । यह वर्ण पञ्चदेवमय है । पीली बिजली की रेखा के समान इसकी प्रकृति है । यह वर्ण चतुर्ज्ञानमय तथा सर्वदा पञ्चप्राणमय है ।]

ई—कामदेव का एक पर्याय । दे० 'कामदेव' ।

ईति—कृषि के छः प्रकार के उपद्रव, यथा

अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषिकाः खगाः ।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥
(मनुस्मृति)

[अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभ (टिड्डी) मूषक, पक्षी, प्रत्यासन्न (आक्रमणकारी) राजा ये छः प्रकार की ईतियाँ कही गयी हैं ।]

ये बाहरी भय हैं, जबकि 'भीति' आन्तरिक भय है । महाभारत आदि ग्रन्थों में (और स्मृतियों में भी) इस बात का उल्लेख है । बाहरी भयों के लिए अधार्मिक राजा ही उत्तरदायी है । धार्मिक राज्य में ईतियाँ नहीं होतीं । 'निरातङ्का निरीतयः ।' (रघुवंश, १.६३) ।

ईश्वर—सर्वोच्च शक्तिमान्; सर्वसमर्थ; विश्वाधिष्ठाता; स्वामी; परमात्मा । वेदान्त की परिभाषा में विशुद्ध सत्त्व-प्रधान, अज्ञानोपहित चैतन्य को ईश्वर कहते हैं । यह अन्तिम अथवा पर तत्त्व नहीं है; अपितु अपर अथवा सगुण ब्रह्म है । परम ब्रह्म तो निर्गुण तथा निष्क्रिय है । अपर ईश्वर सगुण रूप में सृष्टि का कर्ता और नियामक है, भक्तों और साधकों का ध्येय है । सगुण ब्रह्म ही पुरुष (पुरुषोत्तम) अथवा ईश्वर नाम से सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता के रूप से पूजित होता है । वही देवाधिदेव है और समस्त देवता उसी की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं । संसार के सभी महत्त्वपूर्ण कार्य उसी के नियन्त्रण में होते हैं । परन्तु जगत् में वह चाहे जिस रूप में दिखाई पड़े, अन्ततोगत्वा वह शुद्ध निष्कल ब्रह्म है । अपनी योग-माया से युक्त होकर ईश्वर विश्व पर शासन करता है और कर्मों के फल-पुरस्कार अथवा दण्ड का निर्णय करता है, यद्यपि कर्म अपना फल स्वयं उत्पन्न करते हैं ।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर सगुण है और सृष्टि का निमित्त कारण है । जैसे कुम्हार मिट्टी के लोंदे से मृद्भाण्ड तैयार करता है, वैसे ही ईश्वर प्रकृति का उपादान लेकर सृष्टि की रचना करता है । योगदर्शन में ईश्वर पुरुष है और मानव का आदि गुरु है । सांख्यदर्शन के अनुसार सृष्टि के विकास के लिए प्रकृति पर्याप्त है; विकास-प्रक्रिया में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं । पूर्वमीमांसा भी कर्मफल के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं मानती । उसके अनुसार वेद स्वयम्भू हैं; ईश्वरनिःश्वसित नहीं । आर्हत, बौद्ध और चार्वाक दर्शनों में ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की गयी है ।

भक्त दार्शनिकों की मुख्यतः दो श्रेणियाँ हैं—१. द्वैतवादी आचार्य मध्व आदि ईश्वर का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं और उसकी उपासना में ही जीवन का साफल्य देखते हैं । २. अद्वैतवादियों में ईश्वर को लेकर कई सूक्ष्म भेद हैं । रामानुज उसको गुणोपेत विशिष्ट अद्वैत मानते हैं । वल्लभाचार्य ईश्वर में अपूर्व शक्ति की कल्पना कर जगत् का उससे विकास होने पर भी उसे शुद्धाद्वैत ही मानते हैं । ऐसे ही भेदाभेद, अचिन्त्य भेदाभेद आदि कई मत हैं । दे० 'निम्बार्क' तथा 'चैतन्य' ।

ईश्वरगणगौरीव्रत—चैत्र कृष्ण प्रतिपदा से चैत्र शुक्ल तृतीया तक लगातार १८ दिनों तक इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है । यह केवल सधवा स्त्रियों के लिए है । इसमें गौरी-शिव की पूजा होती है । मालव प्रदेश में यह बहुत प्रसिद्ध है ।

ईश्वरव्रत—किसी मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । इसमें शिवजी की पूजा होती है । दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, २.१४८ ।

ईश्वरा—पार्वती का एक पर्याय, यथा—

विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः
स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण पाणिः ।। (किरातार्जुनीय)

[शङ्करजी ने पार्वती के मङ्गलमय कंकण पहने हुए हाथ को अपने हाथ से सर्पों को ऊपर उठाकर ग्रहण किया ।]

लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है ।

ईश्वराभिसन्धि—कवितार्किक श्रीहर्ष रचित अद्वैतमत का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ ।

ईश्वर कृष्ण—'सांख्यकारिका' के रचयिता । चीनी विद्वानों के अनुसार इनका अन्य नाम विन्ध्यवासी था और ये वसुबन्धु से कुछ समय पूर्व हुए थे । विद्वानों ने इनका समय चतुर्थ शताब्दी का प्रारम्भ माना है । परम्परानुसार 'सांख्यकारिका' 'षष्टितन्त्र' का पुनर्लेखन है, जो ईश्वरवादी सांख्यों का प्रामाणिक ग्रन्थ है । सांख्यकारिका में कुल सत्तर आर्या पद्य (कारिकाएँ) हैं, जिनको रचना की दृष्टि से बहुत ही उत्तम कहा जा सकता है । मीमांसा के दुरूह वेदान्तसूत्र एवं जैमिनिसूत्र ग्रन्थों से भिन्न प्रसाद गुण की यह कृति पूर्णतया बोधगम्य है, किन्तु प्रारम्भिक ज्ञानार्थी के लिए अवश्य दुरूह है । दे० 'सांख्यकारिका' ।

ईश्वरगीता—दक्षिणमार्गी शाक्त मत का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ । इसके ऊपर भास्करानन्दनाथ ने, जिन्हें भास्कर राय भी कहते हैं और जो अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में तंजौर के राजपण्डित थे, सुन्दर टीका लिखी है ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका—काश्मीर शैव मत के साहित्यिक विकास में और विशेष कर इसके दार्शनिक पक्ष में सोमानन्द के 'शिवदृष्टि' ग्रन्थ का प्रमुख स्थान है । सोमानन्द के ही शिष्य उत्पलाचार्य ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' की रचना की । इस कारिका की व्याख्या सोमानन्द के एक दूसरे शिष्य अभिनवगुप्त (१००० ई०) ने की ।

ईश्वरसंहिता—वैष्णव अथवा पाञ्चरात्र मत के उदय एवं विस्तारात्मक इतिहास में संहिताओं का प्रमुख स्थान है । यह अनिश्चित है कि ये कब और कहाँ लिखी गयीं । संख्या में ये १०८ कही जाती हैं ।

ईश्वरसंहिता तमिल (दक्षिण) देश में लिखी गयी, जब कि अधिकांश संहिताएँ उत्तर भारत में ही रची गयीं । ईश्वरसंहिता में वैष्णवसंत शठकोप का वर्णन है ।

ईश्वरी—दुर्गा देवी का पर्याय । देवीमाहात्म्य-स्तुति में कथन है :

'त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य ।'

[हे देवि ! तुम चर-अचर सब प्राणियों की समर्थ स्वामिनी हो ।]

ईश—ईश्वर, परमात्मा (उपनिषदों के अनुसार) । ब्रह्मा, विष्णु, शिव (पुराणों के अनुसार) । परवर्ती काल में 'ईश' का प्रयोग प्रायः 'शिव' के अर्थ में ही अधिक हुआ ।

ईशान—शिव का एक पर्याय, यथा—

तत्रेशानं समभ्यर्च्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।

[शिव का पूजन करके मनुष्य को तीन रात्रि तक व्रत करना चाहिए ।]

ग्यारह रुद्रों के अन्तर्गत एक रुद्र ।

ईशानव्रत—शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी तथा पूर्णिमा के दिन जब गुरुवार हो, इस व्रत का आचरण किया जाता है । पाँच वर्षों तक विष्णु भगवान् के साथ लिङ्ग के वाम भाग का पूजन तथा खखोल्क (सूर्य) के साथ दक्षिण भाग का पूजन होता है । एक वर्ष के पश्चात् एक गौ का दान, दो वर्ष के बाद दो गौओं का, तीन वर्ष के बाद तीन गौओं का, चार वर्ष के बाद चार गौओं का और पाँच वर्ष के बाद पाँच गौओं का दान करना चाहिए । दे० कृत्यकल्पतरु, व्रतकाण्ड ३८३-३८५; हेमाद्रि, व्रतखण्ड, २.१७९-१८० ।

ईशोपनिषद्—ईशावास्य उपनिषद् का संक्षिप्त नाम । यह १८ मन्त्रों का एक दार्शनिक सङ्कलन है । इसका सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा से है । यजुर्वेद के अन्तिम (चालीसवें) अध्याय में यह उपनिषद् संगृहीत है । इसे यजुर्वेद का उपसंहार समझना चाहिए । यह कर्मयोगवादी उपनिषद् है और इसमें कर्म और ज्ञान का समन्वय स्वीकार किया गया है । संक्षेप में हिन्दुत्व के मूलभूत सिद्धान्त इसमें आ गये हैं । इसका प्रथम मन्त्र इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज् जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

[यह सम्पूर्ण विश्व ईश (ईश्वर) से आवास्य (ओत प्रोत) है । जगत् में जो कुछ है वह चलायमान (परिवर्तनशील = नश्वर) है । इसलिए त्यागपूर्वक जागतिक पदार्थों का भोग करना चाहिए । किसी दूसरे के स्वत्व का लोभ नहीं करना चाहिए । धन-सम्पत्ति किसकी है ? अर्थात् किसी की नहीं है अथवा किसी एक व्यक्ति की नहीं, अपितु ईश्वर की है ।] दूसरा मन्त्र है :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः ।

[कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की कामना करनी चाहिए । इस प्रकार (त्यागभाव से) कर्म करने से मनुष्य पर कर्म के बन्धन का लेप नहीं होता ।]

ईर्ष्या—दूसरे की उन्नति में असहिष्णुता रखना । धार्मिक साधन में यह बहुत बड़ी बाधा है । इसका पर्याय है अक्षान्ति । मनुस्मृति (७.२८) का कथन है :

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजश्च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणाष्टकः ॥

[पिशुनता, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थदूषण तथा वाग्दण्ड से उत्पन्न पारुष्य ये क्रोध से उत्पन्न आठ दुर्गुण कहे गये हैं ।]

ईहा—वाञ्छा, इच्छा, चेष्टा :

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य श्रेयो न स्पर्शनं नृणाम् ॥
(महाभारत)

[धर्म के लिए धन की इच्छा की अपेक्षा निरीहता (निश्चेष्टता) ही श्रेष्ठ है, क्योंकि कीचड़ को धोने की अपेक्षा उसे न छूना ही अच्छा है ।]

उ

उ—स्वरवर्ण का पञ्चम अक्षर । कामधेनुतन्त्र में इसका तान्त्रिक महत्त्व निम्नांकित है :

उकारः परमेशानि अधः कुण्डली स्वयम् ।
पीतचम्पकसंकाशं पञ्चदेवमयं सदा ॥
पञ्चप्राणमयं देवि चतुर्वर्गप्रदायकम् ॥

[हे देवी ! उकार (उ अक्षर) स्वयं अधः कुण्डली है । पीले चम्पक के समान इसका रंग है । सर्वदा पञ्चदेवमय है । पञ्चप्राणमय तथा चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) का देनेवाला है ।] वर्णोद्धारतन्त्र में इसके नाम इस प्रकार हैं :

उः शङ्करो वर्तुलाक्षी भूतः कल्याणवाचकः ।
अमरेशो दक्षः कर्णः षड्वक्त्रो मोहनः शिवः ॥
उग्रः प्रभुर्धृतिर्विष्णुर्विश्वकर्मा महेश्वरः ।
शत्रुघ्नश्चरिका पुष्टिः पञ्चमी वह्निवासिनी ॥
कामघ्नः कामना चेशो मोहिनी विघ्नहृन्मही ।
उढसूः कुटिला श्रोत्रं पारदीपो वृषो हरः ॥

उक्थ—वेदमन्त्रात्मक स्तोत्र; यज्ञ का एक भेद; सामगान का एक प्रकार, सामवेद : 'विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति ।'

[बुद्धिमान् ब्राह्मण सामवेद के द्वारा स्तुति करते हैं ।]

अथ योसावन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क् तत्साम तद् यजुः तद् उक्थं तद् ब्रह्म । (छान्दोग्योपनिषद्)

[यह जो आँख के भीतर पुरुष (आकार) दिखाई देता है वही ऋग्वेद, वही सामवेद, वही स्तोत्र (सामवेद का सूक्त), वही यजुर्वेद और वही ब्रह्म है ।]

उखा—यज्ञों से सम्बन्धित हविष्य राँधने का बड़ा पात्र। यह मिट्टी का बना होता था (मृन्मयी)। दे० वाजसनेयी संहिता, ११ ५९, तैत्तिरीय संहिता, ४.१.५४।

उग्र—(१) शंकर का एक नाम; एकादश रुद्रों में से एक। वायुपुराण के अनुसार यह वायुमूर्ति है। (२) क्षत्रिय के द्वारा शूद्र स्त्री में उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति। इस सम्बन्ध में मनु का कथन है :

क्षत्रियात् शूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान्।
क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते ॥

[क्षत्रिय और शूद्रकन्या से उत्पन्न क्रूर-आचार-विहारवान् व्यक्ति उग्र कहा जाता है।] इसका कार्य बिलों में रहने वाले गोधा आदि को मारना अथवा पकड़ना है।

उग्रचण्डा—दुर्गा देवी का एक विरुद। महिषासुर के प्रति भगवती का कथन है :

उग्रचण्डेति या मूर्तिर्भद्रकाली ह्यहं पुनः।
यया मूर्त्या त्वां हनिष्ये सा दुर्गेति प्रकीर्तिता ॥
एतासु मूर्तिषु सदा पादलग्नो नृणां भवान्।
पूज्यो भविष्यसि त्वं वै देवानामपि रक्षसाम् ॥

[उग्रचण्डा नाम से प्रसिद्ध जो मूर्ति है वह मैं भद्रकाली हूँ। जिस मूर्ति से मैं तुम्हें मारूँगी वह दुर्गा नाम से विख्यात है। इन मूर्तियों में सदा मेरे पाँव के नीचे दबे हुए तुम मनुष्यों, राक्षसों तथा देवताओं के द्वारा पूजित होगे।]

उग्रतारा (१)—दुर्गा देवी का एक स्वरूप। जो उग्र भय से भक्तों की रक्षा करती है उसे उग्रतारा कहते हैं।

उग्रतारा (२)—देवी का एक प्रसिद्ध पीठ। यह सहरसा स्टेशन (दरभंगा) के पास वनगामहिसी नामक गाँव के समीप है। कुछ लोग इसे 'शक्तिपीठ' मानते हैं। सतीदेह का नेत्रभाग यहाँ गिरा था। यहाँ एक यन्त्र पर तारा, एकजटा तथा नीलसरस्वती की मूर्तियाँ अङ्कित हैं। इनके अतिरिक्त दुर्गा, काली, त्रिपुरसुन्दरी, तारकेश्वर तथा तारानाथ की भी मूर्तियाँ हैं।

उग्र नक्षत्र—तीनों पूर्वा (पूर्वाषाढ, पूर्वाभाद्रपदा और पूर्वाफाल्गुनी), मघा तथा भरणी उग्र नक्षत्र कहलाते हैं। दे० नृहत्संहिता (९७-९८)। इनकी शान्ति के लिए धार्मिक कृत्यों का विधान है।

उग्रशेखरा—गङ्गा का एक पर्याय। (उग्र अर्थात् शंकर के शेखर अर्थात् मस्तक पर गंगा रहती है।)

उग्रश्रवा—महाभारत का प्रवचन करने वाले एक ऋषि, जो सूत नामक निम्न जाति में उत्पन्न हुए थे।

उच्चाटन—मन्त्र प्रयोग से किसी को भगाना। मारण-मोहन आदि षट् कर्मों के अन्तर्गत इस अभिचार कर्म की गणना है। इसकी देवी दुर्गा है, तिथि कृष्णचतुर्दशी तथा अष्टमी भी है। दिन शनिवार है। जप करने वाले को बालों का सूत्र बनाकर घोड़े के दाँतों से बनी हुई माला इसमें पिरोनी चाहिए और जप के समय उसे धारण करना चाहिए। फल इसका उच्चाटन है अर्थात् शत्रु को अपने देश तथा स्थान से भगा देना। विशेष विवरण के लिए देखिए 'शारदातन्त्र'।

उच्छिष्ट—भुक्त भोजन का बचा हुआ भाग। इसे फिर खाना तामसिक भोजन के प्रकार में आता है और इसको त्याज्य बताया गया है।

भोजन करने के बाद बिना हाथ-मुँह धोया हुआ व्यक्ति कहीं न जाय (न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्—मनु।)।

उच्छिष्ट-गणपति—'शङ्करदिग्विजय' में गाणपत्यों के छः भेद कहे गये हैं जो गणपति के विभिन्न रूपों तथा गुणों की अर्चा किया करते थे। ये छः रूप हैं : महागणपति, हरिद्रागणपति, उच्छिष्टगणपति, नवनीतगणपति, स्वर्णगणपति एवं सन्तानगणपति। उच्छिष्ट गाणपत्यों का एक वर्ग हेरम्ब गणपति की उपासना किया करता था।

उच्चैःश्रवा—इसके कई अर्थ हैं, यथा—जिसका यश ऊँचा हो, जिसके कान ऊँचे हों अथवा जो ऊँचा सुनता हो। मुख्य अर्थ इन्द्र का घोड़ा है। यह श्वेत वर्ण का है। पुराणों में इसकी गिनती उन चौदह रत्नों में है, जो समुद्रमन्थन के पश्चात् क्षीरसागर से निकले थे। अमृत से इसका पोषण होता है। यह अश्वों का राजा है। इसीलिए श्वेत वर्ण के अश्व महत्त्वपूर्ण और पूजनीय माने जाते हैं।

उज्जैन—भारत का प्रसिद्ध शैव तीर्थ, जिसका सम्बन्ध ज्योतिर्लिङ्ग महाकाल से है। इस नगर को उज्जयिनी अथवा अवन्तिका भी कहते हैं। यहीं से शिव ने त्रिपुर पर विजय प्राप्त की थी, अतः इसका नाम उज्जयिनी पड़ा। इसका प्राचीनतम नाम अवन्तिका अवन्ति नामक राजा के नाम पर था। दे० स्कन्द पुराण। इस देश को पृथ्वी का नाभिदेश कहा गया है। द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में प्रसिद्ध महाकाल का मन्दिर यहीं है। ५१ शक्तिपीठों में

यहाँ भी एक पीठ है । हरसिद्धि देवी का मन्दिर ही सिद्ध पीठ है । महर्षि सान्दीपनि का आश्रम भी यहीं था । उज्जयिनी महाराज विक्रमादित्य की राजधानी थी । भारतीय ज्योतिष शास्त्र में देशान्तर की शून्य रेखा उज्जयिनी से प्रारम्भ हुई मानी जाती है । यहाँ बारह वर्ष में एक बार कुम्भ मेला लगता है । इसकी गणना सात पवित्र पुरियों में है :

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥

उज्ज्वलनीलमणि—रूप गोस्वामी कृत अलङ्कारशास्त्र का एक प्रामाणिक एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ । रूप गोस्वामी महाप्रभु चैतन्य के शिष्य थे । अलङ्कारशास्त्र में प्रायः सामान्य पार्थिव प्रेम का ही चित्रण पाया जाता है । रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' में भगवद्-माधुर्य और रति (निष्काम प्रेम) का ही निरूपण किया है । वास्तव में उनके 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के सिद्धान्तों का ही इसमें प्रदर्शन है । इस ग्रन्थ में साध्यभक्ति के भावों में तीन और जोड़े गये हैं—मान, अनुराग और महाभाव ।

उज्ज्वल रस—साहित्य में श्रृङ्गार का वर्ण श्याम कहा गया है । किन्तु भक्तिशास्त्र का श्रृंगार उज्ज्वल है । रूप गोस्वामी द्वारा रचित 'उज्ज्वलनीलमणि' में इस शब्द का प्रयोग अलौकिक रागानुगा भक्ति के लिए हुआ हैं, जिसमें श्रृङ्गार रस का पूर्ण अन्तर्भाव है । वास्तव में माधुर्य भक्तिवादी लोग भक्ति को ही रस मानते हैं, जो लौकिक श्रृंगार से भिन्न है, क्योंकि इसके अवलम्बन स्वयं भगवान् हैं । इसलिए लौकिक राग से मुक्त होने के कारण इसका वर्ण उज्ज्वल है ।

उञ्छ—खेत से अन्न उठा लेने के पश्चात् शेष अन्न के दाने चुनने को उञ्छ कहा जाता है । गेहूँ, धान आदि की खेत में गिरी मञ्जरियाँ चुनने को 'शिल' कहते हैं और एक-एक दाना चुनने को 'उञ्छ' । उञ्छ-शिल या शिलोञ्छ वृत्ति शब्द प्रायः एक साथ प्रयोग में आते हैं । उञ्छ-वृत्ति ब्राह्मणों के लिए श्रेष्ठ कही गयी है । सिद्धान्त यह है कि जो बिना माँगे मिलता है वह 'अमृत' है और जो माँगने से मिलता है वह 'मृत' है । ब्राह्मण को अमृत पर ही निर्वाह करना चाहिए ।

उत्कोच—शाब्दिक अर्थ 'जो शुभ का नाश करता है' (उत् + कुच् + क)। इसके लिए घूस शब्द प्रसिद्ध है । इसके पर्याय है : (१) प्राभृत, (२) ढौकन, (३) लम्चा, (४) कौशलिक, (५) आमिष, (६) उपाचार, (७) प्रदा, (८) आनन्दा, (९) हार, (१०) ग्राह्य, (११) अयन, (१२) उपदानक और (१३) अपप्रदान ।

याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३३८) में कथन है :

उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनान् कृत्वा विवासयेत् ।

[घूस लेने वालों को धन छीनकर देश से निर्वासित कर देना चाहिए ।]

उत्तराभाद्रपदा—अश्विनी आदि सत्ताईस नक्षत्रों के अन्तर्गत इक्कीसवाँ नक्षत्र; प्रौष्ठपदा । इसका रूप सर्पाकार चार ताराओं से युक्त है । इसका अधिदेवता अहिर्बुध्न है ।

उत्तर मीमांसा—छः हिन्दू चिन्तन प्रणालियाँ प्रचलित है । वे 'दर्शन' कहलाती है, क्योंकि वे विश्व को देखने और समझने की दृष्टि या विचार प्रस्तुत करती है । उनके तीन युग्म हैं, क्योंकि प्रत्येक युग्म में कुछ विचारों का साम्य परिलक्षित होता है । पहला युग्म मीमांसा कहलाता है, जिसका सम्बन्ध वेदों से है । मीमांसा का अर्थ है खोज, छानबीन अथवा अनुसन्धान । मीमांसायुग्म का पूर्व भाग, जिसे पूर्व मीमांसा कहते हैं, वेद के याज्ञिक रूप (कर्मकाण्ड) के विवेचन का शास्त्र है । दूसरा भाग, जिसे उत्तर मीमांसा या वेदान्त भी कहते हैं, उपनिषदों से सम्बन्धित है तथा उनके ही दार्शनिक तत्त्वों की छानबीन करता है । ये दोनों सच्चे अर्थ में सम्पूर्ण हिन्दू दार्शनिक एवं धार्मिक प्रणाली का रूप खड़ा करते हैं ।

उत्तर मीमांसा का सम्बन्ध भारत के सम्पूर्ण दार्शनिक इतिहास से है । उत्तर मीमांसा के आधारभूत ग्रन्थ को 'वेदान्तसूत्र', 'ब्रह्मसूत्र' एवं 'शारीरकसूत्र' भी कहते हैं, क्योंकि इसका विषय परब्रह्म (आत्मा = ब्रह्म) है ।

'वेदान्तसूत्र' बादरायण के रचे कहे जाते हैं जो चार अध्यायों में विभक्त हैं । इस दर्शन का संक्षिप्त सार निम्नलिखित है :

ब्रह्म निराकार है, वह चेतन है, वह श्रुतियों का उद्गम है एवं सर्वज्ञ है तथा उसे केवल वेदों द्वारा जाना जा सकता है । वह सृष्टि का मौलिक एवं अन्तिम कारण है । उसकी कोई इच्छा नहीं है । एतदर्थ वह अकर्मण्य है, दृश्य जगत् उसकी लीला है । विश्व, जो ब्रह्म द्वारा समय समय पर उद्भूत होता है, उसका न आदि है न अन्त है ।

वेद भी अनन्त हैं, देवता हैं, जो वेदविहित यज्ञों द्वारा पोषण प्राप्त करते हैं ।

जीव या व्यक्तिगत आत्मा आदि-अन्तहीन है, चेतनायुक्त है, सर्वव्यापी है । यह ब्रह्म का ही अंश है; यह स्वयं ब्रह्म है । इसका व्यक्तिगत रूप केवल एक झलक है । अनुभव द्वारा मनुष्य ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकता है । ब्रह्म केवल 'ज्ञानमय' है जो मनुष्य को मुक्ति दिलाने में समर्थ है । ब्रह्मचर्यपूर्वक ब्रह्म का चिन्तन, जैसा कि वेदों (उपनिषदों) में बताया गया है, सच्चे ज्ञान का मार्ग है । कर्म से कार्य का फल प्राप्त होता है और इसके लिए पुनर्जन्म होता है । ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है । दे० 'ब्रह्मसूत्र' ।

उत्तराडी साधु—दादूपंथी साधुओं के पाँच प्रकार हैं—(१) खालसा, (२) नागा, (३) उत्तराडी, (४) विरक्त और (५) खाकी । उत्तराडी साधुओं की मण्डली पञ्जाब में बनवारीदास ने बनायी थी । इनमें बहुत से विद्वान् साधु होते थे, जो अन्य साधुओं को पढ़ाते थे । कुछ वैद्य होते थे । दादूपंथी साधुओं की प्रथम तीन श्रेणियों के सदस्य जो व्यवसाय चाहें कर सकते हैं, किन्तु चौथी श्रेणी, अर्थात् विरक्त न कोई पेशा कर सकते हैं न द्रव्य को छू सकते हैं । खाकी साधु भभूत (भस्म) लपेटे रहते हैं और भाँति-भाँति की तपस्या करते हैं । तीनों श्रेणियों के साधु ब्रह्मचारी होते हैं और गृहस्थ लोग 'सेवक' कहलाते हैं ।

उत्तरायण—भूमध्य रेखा के उत्तर तथा दक्षिण में सूर्य की स्थिति के क्रम से दो अयन—उत्तरायण और दक्षिणायन होते हैं । धार्मिक विश्वासों तथा क्रियाओं में इनका बहुत महत्त्व है । ऋतुओं का परिवर्तन भी इन्हीं के कारण होता है । प्रत्येक अयन (उत्तरायण या दक्षिणायन) के प्रारम्भ में दान की महत्ता प्रतिपादित की गयी है । अयन के प्रारम्भ में किया गया दान करोड़ों पुण्यों को प्रदान करता है, जबकि अमावस्या के दान केवल एक सौ पुण्य प्रदान करते हैं । दे० भोज का राजमार्त्तण्ड, वर्षकृत्यकौमुदी, पृ० २१४ ।

उत्तरार्चिक—यह चार सौ सूक्तों का एक सामवेदी संग्रह है, जिसमें से प्रत्येक में लगभग तीन-तीन ऋचाएँ हैं । सब मिलाकर इसमें लगभग १२२५ छन्द हैं । उत्तरार्चिक स्तुतिग्रन्थ है । 'आर्चिक' शब्द का अर्थ ही है ऋचाओं का 'स्तुतिग्रन्थ' । आर्चिक के छन्द विभिन्न वर्गों में विभिन्न देवों के अनुसार बँटे हुए हैं । फिर ये प्रत्येक छन्दसमूह दस-दस की संख्या में बँटे होते हैं । फिर सोमयज्ञ में व्यवहृत होने वाले सूक्त उस गानक्रम में व्यवस्थित होते हैं, जिस क्रम में उद्गाता छात्रों को ये सिखलाये जाते हैं ।

उत्तरार्चिक (राणायनीय)—सामवेद में जो ऋचाएँ आयी हैं, उन्हें 'आर्चिक' कहा गया है । साम-आर्चिक ग्रन्थ अध्यापकभेद, देशभेद, कालभेद, पाठ्यक्रमभेद और उच्चारण आदि भेद से अनेक शाखाओं में विभक्त हैं । सब शाखाओं में मन्त्र एक जैसे ही हैं, उनकी संख्या में व्यतिक्रम है । प्रत्येक शाखा के श्रौत एवं गृह्यसूत्र और प्रातिशाख्य भिन्न-भिन्न हैं । सामवेद की शाखाएँ कही तो जाती हैं एक सहस्र, पर प्रचलित हैं केवल तेरह । कुछ लोगों के मत से वास्तव में तेरह ही शाखाएँ हैं, क्योंकि जो "सहस्रतमा गीत्युपायाः" के प्रमाण से सहस्र शाखाएँ बतायी जाती हैं, उसका अर्थ "हजारों तरह से गाने के उपाय" है । उन तेरह शाखाओं में से भी आज केवल दो प्रचलित हैं । उत्तर भारत में 'कौथुमी शाखा' और दक्षिण में 'राणायनीय शाखा' प्रचलित हैं । उत्तरार्चिक में एक छन्द की, एक स्वर की और एक तात्पर्य की तीन-तीन ऋचाओं को लेकर एक-एक सूक्त कर दिया गया है । इस प्रकार के सूक्तों का सामवेदीय संग्रह जो दक्षिण में प्रचलित है 'उत्तरार्चिक राणायनीय संहिता' के नाम से पुकारा जाता है ।

उत्पल—उत्पल अथवा उत्पलाचार्य दशम शताब्दी के एक शैव आचार्य थे, जिन्होंने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' की रचना की तथा इस पर एक भाष्य भी लिखा । यह ग्रन्थ सोमानन्दकृत 'शिवदृष्टि' की शिक्षाओं का सारसंग्रह है ।

उत्पल वैष्णव—'स्पन्दप्रदीपिका' के रचयिता उत्पल वैष्णव का जीवनकाल दसवीं शती का उत्तरार्ध था । 'स्पन्दप्रदीपिका' कल्लटरचित 'स्पन्दकारिका' की व्याख्या है ।

उत्पात—प्राणियों के शुभ-अशुभ का सूचक महाभूत-विकार, भूकम्प आदि । इसका शाब्दिक अर्थ है 'जो अकस्मात् आता है ।' इसके पर्याय हैं—(१) अजन्य और (२) उपसर्ग । वह तीन प्रकार का है—(१) दिव्य, जैसे बिना पर्व में चन्द्र एवं सूर्य का ग्रहण आदि, (२) अन्तरीक्ष्य, जैसे उल्कापात और मेघगर्जन आदि और (३) भौम, जैसे भूकम्प, तूफान आदि । इन उत्पातों की शान्ति के लिए बहुत सी धार्मिक क्रियाओं का विधान किया गया है ।

उत्सर्जन—छोड़ देना, त्याग देना । इसके पर्याय हैं (१) दान, (२) विसर्जन, (३) विहापित, (४) विश्राणन, (५)

वितरण, (६) स्पर्शन.(७) प्रतिपादन, (८) प्रादेशन, (९) (१०) अपवर्जन। इसका अर्थ कर्त्तव्य क्रियाविशेष को रोक देना भी है, जैसा मनु का कथन है :

पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद् बहिरुत्सर्जनं द्विजः।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥

[माघ शुक्लपक्ष के प्रथम दिन के पूर्व भाग में ब्राह्मण पुष्य नक्षत्र में वेदों का घर से बाहर विसर्जन करे।] इस प्रकार वैदिक अध्ययन-सत्र की समाप्ति का नाम उत्सर्जन है।

उत्सव—आनन्ददायक व्यापार। इसके पर्याय हैं—(१) क्षण, (२) उद्धव, (३) उद्धर्ष, (४) मह। मनुस्मृति (३.५९) में कथन है :

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥

[इसलिए सत्कार तथा उत्सवों में लक्ष्मी के इच्छुक मनुष्यों द्वारा भूषण, वस्त्र तथा भोजन के द्वारा स्त्रियों का सम्मान करना चाहिए।]

व्रत-ग्रन्थों तथा पुराणों में असंख्य उत्सवों का उल्लेख है। उनमें होलिका, दुर्गोत्सव विशेष प्रसिद्ध हैं, जिनका उल्लेख अन्यत्र किया गया है। 'उत्सव' शब्द ऋग्वेद (१.१००.८ तथा १.१०१.२) में मिलता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति उत्पूर्वक 'सु' धातु से है, जिसका सामान्य अर्थ है "ऊपर उफन कर बहना" अर्थात् आनन्द का अतिरेक। उत्सव के दिन सामूहिक रूप से आनन्द उमड़ कर प्रवाहित होने लगता है। इसीलिए उत्सवों के दिन प्रसाधन, गान, भोजन, मिलन, दान-पुण्य आदि का प्राविधान है।

उतथ्य—महर्षि अंगिरा का पुत्र तथा देवगुरु बृहस्पति का ज्येष्ठ भ्राता, यथा

त्रयस्त्वङ्गिरसः पुत्रा लोके सर्वत्र विश्रुताः।
बृहस्पतिरुतथ्यश्च संवर्तश्च धृतव्रतः ॥

[अङ्गिरा के तीन पुत्र संसार में प्रसिद्ध हैं--(१) बृहस्पति, (१) उतथ्य और (३) व्रतधारी संवर्त्त।] महाभारत और पुराणों में इनकी कथा विस्तार से कही गयी है।

उत्तम—(१) स्वायंभुव मनु के पुत्र महाराज उत्तानपाद और महारानी सुरुचि का पुत्र। उत्तानपाद की छोटी रानी सुनीति का पुत्र ध्रुव था।

(२) स्वायंभुव मनु के दूसरे पुत्र प्रियव्रत और उसकी दूसरी रानी का पुत्र भी उत्तम नामक था जो आगे चलकर तीसरे मन्वन्तर का अधिपति हुआ।

उत्तमभर्त्तृप्राप्तिव्रत—वसन्त ऋतु में शुक्ल पक्ष की द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। विष्णु इसका देवता है। दे० वाराह पुराण, ५४.१-१९।

उत्तमसाहस—एक ऊँचा अर्थदण्ड (जुर्माना)। जैसे

'साशीतिपणसाहस्रो दण्ड उत्तमसाहसः।'
(याज्ञवल्क्य स्मृति)

[१०८० पणों का दण्ड उत्तमसाहस कहलाता है।] अन्यत्र भी कथन है :

पणानां द्वे शते सार्द्धे प्रथमः साहसः स्मृतः।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥

[दो सौ पचास पणों का प्रथमसाहस दण्ड, पाँच सौ पणों का मध्यमसाहस दण्ड और हजार पणों का उत्तमसाहस दण्ड होता है।]

उत्तरकाशी—उत्तराखण्ड का प्रमुख तीर्थ स्थल। यहाँ अनेक प्राचीन मन्दिरों में विश्वनाथजी का मन्दिर तथा देवासुरसंग्राम के समय छूटी हुई शक्ति (मन्दिर के सामने का त्रिशूल) दर्शनीय हैं। पास ही गोपेश्वर, परशुराम, दत्तात्रेय, भैरव, अन्नपूर्णा, रुद्रेश्वर और लक्षेश्वर के मन्दिर हैं। दक्षिण में शिव-दुर्गा मन्दिर और पूर्व में जड़भरत का मन्दिर है। इसके पूर्व में वारणावत पर्वत पर विमलेश्वर महादेव का मन्दिर है। पूर्व-काशी के समान यह भी भागीरथी गंगा के तट पर असि और वरणा नदियों के मध्य में बसी हुई है। कहा जाता है कि कलियुग में विश्वनाथजी वास्तविक रूप में यहीं निवास करते हैं।

उत्तरक्रिया—पितरों के वार्षिक श्राद्ध आदि की क्रिया, जैसे

प्रेतपितृत्वमापन्ने सपिण्डीकरणादनु।
क्रियन्ते याः क्रियाः पित्र्यः प्रोच्यन्ते ता नृपोत्तराः ॥
(विष्णुपुराण)

[सपिण्डीकरण के पश्चात् जब प्रेत पितर संज्ञा को प्राप्त हो जाता है तब उसके बाद की जानेवाली क्रिया को 'उत्तर क्रिया' कहते हैं।]

उत्तरगीता—'उत्तरगीता' महाभारत का ही एक अंश माना जाता है। प्रसिद्धि है कि पाण्डवों की विजय और राज्यप्राप्ति के पश्चात् श्री कृष्ण के सत्संग का सुअवसर

पाकर एक बार अर्जुन ने कहा कि भगवन् ! युद्धारम्भ में आपने जो गीता-उपदेश मुझको दिया था, युद्ध की मार-काट और भाग-दौड़ के बीच उसे मैं भूल गया हूँ । कृपा कर वह ज्ञानोपदेश मुझको फिर से सुना दीजिए । श्री कृष्ण बोले कि अर्जुन, उक्त उपदेश मैंने बहुत ही समाहितचित्त (योगस्थ) होकर दिव्य अनुभूति के द्वारा दिया था, अब तो मैं भी उसको आनुपूर्वी रूप में भूल गया हूँ । फिर भी यथास्मृति उसे सुनाता हूँ । इस प्रकार श्री कृष्ण का बाद में अर्जुन को दिया गया उपदेश ही 'उत्तर गीता' नाम से प्रसिद्ध है । स्वामी शंकराचार्य के परमगुरु गौडपादाचार्य की व्याख्या इसके ऊपर पायी जाती है, जिससे इस ग्रन्थ का गौरव और भी बढ़ गया है ।

उत्तरपक्ष—पूर्व पक्ष का विलोम । विवाद के मध्य प्रतिपक्षी के सिद्धान्तों का खण्डन करने के पश्चात् किसी विचारक का अपना जो मत होता है उसे उत्तरपक्ष कहते हैं ।

उत्तराफाल्गुनी—अश्विनी आदि सत्ताईस नक्षत्रों के अन्तर्गत बारहवाँ नक्षत्र । इसमें पर्यङ्क के आकार के दो तारे हैं । इसका अधिष्ठाता देवता अर्यमा है ।

उद्वह—आकाशमण्डल के स्तरों में छाये हुए सात प्रकार के वायुओं के अन्तर्गत एक वायु । इसकी स्थिति ऊपर की ओर होती है । 'सिद्धान्तशिरोमणि' में कथन है :

आवहः प्रवहश्चैव विवहश्च समीरणः ।
परवहः संवहश्चैव उद्वहश्च महाबलः ।।
तथा परिवहः श्रीमानुत्पातभयशंसिनः ।
इत्येते क्षुभिताः सप्त मारुता गगनेचराः ।।

[आवह, प्रवह विवह, परवह, संवह, उद्वह तथा परिवह; आकाशगामी ये सात पवन परस्पर टकराते हुए उपद्रव होने की सूचना देते हैं ।]

उद्वाह—विवाह, एक स्त्री को पत्नी बनाकर स्वीकार करना । यह आठ प्रकार का होता है (मनु० ३.२१) : (१) वर को बुलाकर शक्ति के अनुसार कन्या को अलंकृत करके जब दिया जाता है, उसे 'ब्राह्म विवाह' कहते हैं । (२) जहाँ यज्ञ में स्थित ऋत्विक् वर को कन्या दी जाती है, उसे 'दैव विवाह' कहते हैं । (३) जहाँ वर से दो बैल लेकर उसी के साथ कन्या का विवाह कर दिया जाता है उसे 'आर्ष' विवाह कहते हैं । (४) जहाँ "इसके साथ धर्म का आचरण करो" ऐसा नियम करके कन्यादान किया जाता है उसे 'प्राजापत्य' विवाह कहते हैं । (५) जहाँ धन लेकर कन्यादान किया जाता है वह 'आसुर विवाह' कहलाता है । (६) जहाँ कन्या और वर का परस्पर प्रेम हो जाने के कारण "तुम मेरी पत्नी हो", "तुम मेरे पति हो" ऐसा निश्चय कर लिया जाता है वह 'गान्धर्व विवाह' कहलाता है । (७) जहाँ पर बलपूर्वक कन्या का अपहरण कर लिया जाता है उसे 'राक्षस विवाह' कहते हैं । (८) जहाँ सोयी हुई, मत्त अथवा प्रमत्त कन्या के साथ निर्जन में बलात्कार किया जाता है, वह 'पैशाच विवाह' कहलाता है । विवाह का शाब्दिक अर्थ है 'उठाकर ले जाना' । क्योंकि विवाह के अन्तर्गत कन्या को उसके पिता के घर से पतिगृह को उठा ले जाते हैं, इसलिए इस क्रिया को 'उद्वाह' कहा जाता है । विशेष विवरण के लिए दे० 'विवाह' ।

उद्दालकव्रत—यह व्रत 'पतितसावित्रीक' (उपनयन संस्कारहीन) लोगों के लिए है । ऐसा बतलाया गया है कि उष्ण दुग्ध तथा 'आमिक्षा' पर ही व्रती को दो मास तक निर्भर रहना चाहिए । आठ दिन तक दही पर तथा तीन दिन घी पर जीवन-यापन करना चाहिए । अन्तिम दिन पूर्ण उपवास का विधान है ।

उद्दालक आरुणि—अरुण का पुत्र उद्दालक आरुणि वैदिक काल के अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्यों में से था । वह शतपथ ब्राह्मण (११.४.१.२) में कुरुपञ्चाल का ब्राह्मण कहा गया है । वह अपने पिता अरुण तथा मद्रदेशीय पतञ्चल काप्य का भी शिष्य (बृहदा० उप०) तथा प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ऋषि का गुरु था (बृहदा० उप०) । तैत्तिरीय संहिता में अरुण का नाम तो आता है, आरुणि का नहीं । उद्दालक का वास्तविक पुत्र श्वेतकेतु था, जिसका समर्थन आपस्तम्ब ने अपने समय के अवर व्यक्ति के रूप में किया है ।

उदककर्म—मृतक के लिए जलदान की क्रिया । यह कई प्रकार से सम्पन्न होती है । एक मत से सभी सम्बन्धी (७ वीं या १० वीं पीढ़ी तक) जल में प्रवेश करते हैं । वे केवल एक ही वस्त्र पहने रहते हैं और यज्ञसूत्र दाहिने कन्धे पर लटकता रहता है । वे अपना मुख दक्षिण की ओर करते हैं, मृतक का नाम लेते हुए एक-एक अञ्जलि पानी देते हैं । फिर पानी से बाहर आकर अपने भीगे कपड़े निचोड़ते हैं ।

स्नान के बाद सम्बधी एक साफ घास के मैदान में बैठते हैं जहाँ उनका मनबहलाव कथाओं अथवा यम-गीत द्वारा किया जाता है। घर के द्वार पर वे पिचुमण्ड की पत्ती चबाते हैं, मुख धोते हैं, पानी, अग्नि तथा गोबर आदि का स्पर्श करते हैं, एक पत्थर पर चढ़ते हैं और तब घर में प्रवेश करते हैं।

उदकपरीक्षा—जल के द्वारा अपराध के सत्यासत्य की परीक्षा। दिव्य प्रमाणों में यह आता है। वाद उत्पन्न होने पर चार प्रमाणों के आधार पर न्याय किया जाता है। वे हैं—(१) लिखित, (२) भुक्ति, (३) साक्षी और (४) दिव्य। उदकपरीक्षा दिव्य का ही एक प्रकार है। जल के प्रयोग से यह परीक्षा होती है, क्योंकि हिन्दू धर्म में जल को बहुत पवित्र माना जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि जलस्पर्श करते समय कोई झूठ नहीं बोलेगा। आजकल प्रायः गङ्गाजल इसके लिए प्रयुक्त होता है।

प्राचीन रीति में दोषी व्यक्ति को निर्धारित समय तक जल में डुबकी लगानी होती थी। समय से पूर्व ऊपर उठ आने वाला व्यक्ति अपराधी मान लिया जाता था।

उदकसप्तमी—इसमें सप्तमी को एक अञ्जलि पानी पीकर व्रत रखने का विधान है। इससे आनन्द की प्राप्ति होती है। दे० कृत्यकल्पतरु का व्रतकाण्ड, १८४, हेमाद्रि, व्रतखण्ड ७२६।

उद्गाता—सामगान करने वाला याजक 'उद्गाता' कहलाता है। हरिवंश में कथन है :

ब्रह्माणं परमं वक्त्रादुद्गातारञ्च सामगम्।
होतारमथ चाध्वर्युं बाहुभ्यामसृजत्प्रभुः॥

[प्रजापति ने ब्रह्मा को तथा सामगान करने वाले उद्गाता को अपने मुख से और होता तथा अध्वर्यु को बाहुओं से उत्पन्न किया।]

वैदिक यज्ञों, विशेष कर सोमयज्ञ में, सामवेद के मन्त्रों का गान होता था। गाने वाले पुरोहित को 'उद्गाता' कहते थे। उद्गाता को दो प्रकार की शिक्षा लेनी पड़ती थी। पहली शिक्षा थी—शुद्ध एवं शीघ्र मन्त्रों का गायन, तथा उन सभी स्वरों की जानकारी जो विशेष कर सोमयज्ञों में प्रयुक्त होते थे। दूसरी शिक्षा से इस बात का स्मरण रखना होता था कि किस सोमयज्ञ में कौन सा सूक्त या मन्त्र गान करना पड़ेगा।

उदपान—जिसमें से जल पिया जाता है। अमरकोश के अनुसार इसका अर्थ कूप है। अन्यत्र भी कहा है :

निर्जलेषु च देशेषु खनयामासुरुन्नमान्।
उदपानान् बहुविधान् वेदिकापरिमण्डितान्॥

[जल रहित प्रदेशों में अनेक प्रकार की वेदिकाओं से सुसज्जित उत्तम कुएँ खोदे गये।]

यह 'इष्टापूर्त' नामक पुण्यकर्मों में 'पूर्त' के अन्तर्गत विशेष कृत्य है। इसको खुदवाने से बड़ा भारी पुण्य होता है।

उदमय आतरेय—ऐतरेय ब्राह्मण (८.२२) में उदमय आतरेय को अङ्ग वैरोचन का पारिवारिक पुरोहित कहा गया है।

उदयगिरि-खण्डगिरि—भुवनेश्वर से सात मील पश्चिम उदयगिरि तथा खण्डगिरि नामक पहाड़ियाँ हैं। यह प्रधानतः जैन तीर्थ है, परन्तु सभी हिन्दू इसको पवित्र मानते हैं। यहाँ कलिङ्ग देश के ५०० मुनि मोक्ष प्राप्त कर गये हैं। दोनों पहाड़ियाँ समीप हैं। उदयगिरि का नाम कुमारगिरि है। महावीर स्वामी यहाँ पधारे थे। इसमें अनेक गुफाएँ हैं। उनमें अनेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। खण्डगिरि के शिखर पर एक जैन मन्दिर है। दो मन्दिर और हैं। पास ही आकाशगङ्गा नामक कुण्ड है। आगे गुप्तगङ्गा, श्यामकुण्ड तथा राधाकुण्ड हैं। एक गुफा में २४ तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। उदयगिरि तथा खण्डगिरि की प्राचीन गुफाओं तथा वहाँ की शिल्प की कला को देखने के लिए दूर-दूर से लोग आते हैं।

उदयन—न्यायदर्शन के आचार्यों में उदयन का स्थान बड़ा ही ऊँचा है। इनके द्वारा विरचित 'कुसुमाञ्जलि' में ईश्वर की सत्ता को भली भाँति प्रमाणित किया गया है। यह ग्रन्थ दूसरे ईश्वरवादी दार्शनिकों को भी प्रिय है। उदयन ने इसमें भास्कर (भास्कराचार्य) पर आक्षेप किया है, जो वेदान्त के आचार्य थे और जिन्होंने अपने भाष्य (भास्करभाष्य) में शाङ्कर मत का खण्डन किया है। उदयनाचार्य ने 'न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि' की भी रचना की है। यह ग्रन्थ वाचस्पति की टीका का ही स्पष्टीकरण है।

कहते हैं कि आचार्य उदयन जब जगन्नाथजी के दर्शन करने गये उस समय मन्दिर के पट बन्द थे। इससे आचार्य ने व्यंग्यवचनपूर्वक उनकी इस प्रकार स्तुति की :

ऐश्वर्यमदमत्तोसि मामवज्ञाय वर्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

[जगत् के नाथ (ईश्वर) होने से मत्त होकर

आप मेरा तिरस्कार कर छिप गये हैं। किन्तु बौद्धों (नास्तिकों) का सामना होने पर आपकी सत्ता मेरे तर्कों से ही सिद्ध हो सकती है ।]

उदसेविका—यह उत्सव ठीक उसी प्रकार मनाया जाता है जैसे भूतमातृ उत्सव होता है । यह एक शाक्त तान्त्रिक प्रक्रिया है । इन्द्रध्वजोत्सव के अवसर पर ध्वज को उतार लेने के पश्चात् इसका आचरण किया जाना चाहिए । यह भाद्रपद शुक्ल पक्ष त्रयोदशी को मनाया जाता था । इसकी समानता कुछ अंशों में रोम की रहस्यात्मक 'बैकानेलिया' (होली जैसी रागात्मक चेष्टाओं) से की जा सकती है । स्कन्द पुराण में थोड़ी भिन्नता के साथ इस व्रत का वर्णन किया गया है । इस विषय में मतभेद है कि उत्सव कब और कहाँ आयोजित किया जाय । प्रायः यह पूर्णिमान्त में होता था । अब इसका प्रचार प्रायः बन्द है ।

उदासी—सिक्खों के मुख्य दो सम्प्रदाय हैं : (१) सहिजधारी और (२) सिंह । सहिजधारियों एवं सिंहों के भी कई उपसम्प्रदाय हैं । उदासी (संन्यासमार्गी) सहिजधारी शाखा के हैं। इस मत (उदासीन) के प्रवर्तक नानक के पुत्र श्रीचन्द्र थे । इस मत का प्रारम्भ लगभग १४३९ ई० में हुआ । श्रीचन्द्र ने नानक के मत को कुछ व्यापक रूप देकर यह नया मत चलाया, जो सनातनी हिन्दुओं के निकट है ।

उद्गीथ—ओंकारसंपुटित सामगान की विशेष रीति : 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ।' (छान्दोग्य उ०)
अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखा प्रदेशे महान्त उद्गीथविदो वसन्ति ।
(उत्तर चरित)

उद्गीता आगम—आगमों का प्रचलन शैव सम्प्रदाय के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना है । परम्परा के अनुसार २८ आगम हैं, जिन्हें शैविक एवं रौद्रिक दो वर्गों में बाँटा गया है । 'उद्गीता' अथवा 'प्रोद्गीता आगम' रौद्रिक आगम है ।

उद्योतकर—न्यायदर्शन के विख्यात व्याख्याता । गौतम ऋषि के न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन का भाष्य है । इस भाष्य पर उद्योतकर ने वार्तिक लिखा है । वार्तिक की व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' के नाम से लिखी है । इस टीका की भी टीका उदयनाचार्यकृत 'तात्पर्यपरिशुद्धि' है । वासवदत्ताकार सुबन्धु ने मल्लनाग, न्यायस्थिति, धर्मकीर्ति और उद्योतकर इन चार नैयायिकों का उल्लेख करते हुए इन्हें ईसा की छठी शताब्दी में उत्पन्न बताया है । उद्योतकर ने प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग के 'प्रमाणसमुच्चय' नामक ग्रन्थ का खण्डन करके वात्स्यायन का मत स्थापित किया है । इनका एक नाम भरद्वाज भी है तथा इन्हें पाशुपताचार्य भी कहा गया है, जिससे इनके पाशुपत शैव होने का अनुमान लगाया जाता है ।

उन्मत्तभैरवतन्त्र—तन्त्रशास्त्र के मौलिक ग्रन्थ शिवोक्त कहे गये हैं । 'तन्त्र' अतिगुह्य तत्त्व समझा जाता है । यथार्थतः दीक्षित और अभिषिक्त के सिवा किसी के सामने यह शास्त्र प्रकट नहीं करना चाहिए । 'आगमतत्त्वविलास' में ६४ तन्त्रों की सूची दी हुई है, जिसमें 'उन्मत्त भैरव' चौतीसवाँ है । आगमतत्त्वविलास की सूची के सिवा अन्य बहुत से स्थानों पर इस तन्त्र का उल्लेख हुआ है ।

उन्मनी—हठयोग की मुद्राओं में से एक मुद्रा । इसका शाब्दिक अर्थ है 'विरक्त अथवा उदासीन होना' । संसार से विरक्ति के लिए इस मुद्रा का अभ्यास किया जाता है । इसमें दृष्टि को नासाग्र पर केन्द्रित करते हैं और भृकुटि (भौंह) का ऊपर की ओर प्रक्षेप करते हैं । गोरख, कबीर आदि योगमार्गी सन्तों ने साधना के लिए इस मुद्रा को बहुत उपयोगी माना है । 'गोरखबानी' में निम्नांकित वचन पाये जाते हैं :

तूटी डोरी रस कस बहै ।
उन्मनी लागा अस्थिर रहै ।।
उन्मनि लागा होइ अनन्द ।
तूटी डोरी विनसै कन्द ।।

कबीर ने भी कहा है (कबीरसाखीसंग्रह) :
हँसै न बोलै उन्मनी, चंचल मेल्या भार ।
कह कबीर अन्तर बिंधा, सतगुर का हथियार ।।

उन्मैविलक्कम्—शैव सिद्धान्त का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ । तमिल शैवों में मेयकण्ड देव की प्रचुर प्रसिद्धि है । इन्होंने तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तर भारत में रचे गये बारह संस्कृत सूत्रों का तमिल पद्य में अनुवाद किया । ये संमान्य आचार्य भी थे और इनके अनेक शिष्य थे जिनमें से एक शिष्य मान वाचकम कण्डदान की प्रसिद्धि 'उन्मैविलक्कम्' नामक भाष्य के कारण बहुत अधिक

हैं । यह रचना ५४ पद्यों में शैव सिद्धान्त को प्रश्नोत्तर के रूप में प्रस्तुत करती है ।

उपक्रमपराक्रम—अप्पय दीक्षित रचित पूर्वमीमांसादर्शन का एक ग्रन्थ । उपक्रम एवं उपसंहारादि षड्विध लिङ्गों से शास्त्र का निर्णय किया जाता है । इस ग्रन्थ में यह दिखलाया गया है कि उपक्रम ही सबसे अधिक प्रबल है और ग्रन्थ का प्रतिपाद्य सिद्धान्त इसी से स्पष्ट हो जाता है ।

उपकुर्वाण—ब्रह्मचर्य आश्रम पूर्ण करने के अनन्तर जो स्नातक गृहस्थ होता है उसको उपकुर्वाण कहते हैं । स्नातक दो प्रकार के होते हैं—(१) उपकुर्वाण और (२) नैष्ठिक । अधिकांश स्नातक उपकुर्वाण होते हैं जो आचार्य की अनुज्ञा लेकर गार्हस्थ्य आश्रम में प्रवेश करते हैं । उपकुर्वाण का अर्थ है 'कर्मनिष्ठ' । नैष्ठिक का अर्थ है 'ज्ञाननिष्ठ' । कुछ स्नातक ऐसे होते थे जो गार्हस्थ्य में नहीं आना चाहते थे । वे गुरुकुल में ही आजीवन ब्रह्मचारी रहकर ज्ञानार्जन करते थे ।

उपकूपजलाशय—कुँए के पास बनाया गया जलाशय । कुँए के पास पशुओं के पीने के लिए पत्थर आदि के द्वारा बाँधा गया पानी रखने का स्थान । यह पूर्त कर्म माना जाता है । इसके बनवाने से अदृष्ट पुण्य होता है ।

उपक्षेपणधर्म—उपक्षेपण रूप धर्म । शूद्र का अन्न, जिसे ब्राह्मण के घर पकाने के लिए दिया गया हो, उपक्षेपण कहलाता है ।

उपग्रन्थसूत्र—सामवेदीय सूत्रग्रन्थों में से एक सूत्रग्रन्थ । ऋग्वेदीय अनुक्रमणिकाकार षड्गुरुशिष्य ने लिखा है कि 'उपग्रन्थसूत्र' कात्यायन द्वारा निर्मित हुआ है ।

उपग्रहण—उपाकरण का पर्याय । संस्कारपूर्वक गुरु से वेदों का ग्रहण करना उपग्रहण कहलाता है । श्रावणी पूर्णिमा को यह कृत्य किया जाता है । दे० 'उपाकर्म' ।

उपज्ञा—सर्वप्रथम उत्पन्न ज्ञान, उपदेश के विना हृदय में स्वतः उद्भूत प्रथम ज्ञान । जैसे वाल्मीकि को श्लोक निर्माण करने का ज्ञान प्राप्त हो गया था :

'अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः ।'
(रघुवंश १५,६३)

[इसके पश्चात् वाल्मीकि ने रामायण का स्वतः ज्ञान प्राप्त किया ।]

उपतन्त्र—तन्त्रशास्त्र शिवप्रणीत कहा जाता है । ऐसे तन्त्र संख्या में सौ से भी अधिक हैं । वाराही तन्त्र से यह भी पता चलता है कि जैमिनि, कपिल, नारद, गर्ग, पुलस्त्य, भृगु, शुक्र, बृहस्पति आदि ऋषियों ने भी कई उपतन्त्र रचे हैं जिनकी गिनती नहीं हो सकती । (दे० आगम)

उपदेवता—जो देवता की समानता को प्राप्त हो, यक्ष, भूत आदि । उपदेवता दस हैं, जैसा कि अमरकोश में बताया गया है :

विद्याधराऽप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥

[(१) विद्याधर, (२) अप्सरा, (३) यक्ष, (४) राक्षस, (५) गन्धर्व, (६) किन्नर, (७) पिशाच, (८) गुह्यक, (९) सिद्ध और (१०) भूत । ये देवयोनियाँ हैं ।]

उपदेश—मन्त्र आदि का शिक्षण या कथन । उसका पर्याय है दीक्षा । यथा :

सूर्यचन्द्रग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये ।
मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेशः स उच्यते ॥
(रामार्चनचन्द्रिका)

[चन्द्र-सूर्यग्रहण, तीर्थ, सिद्धक्षेत्र, शिवालय में मन्त्र कहने को उपदेश कहते हैं ।] हितकथन को भी उपदेश कहा जाता है । हितोपदेश के विग्रह खण्ड में कहा है :

'उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।'

[मूर्खों को हितकर वचन से क्रोध ही आता है, शान्ति नहीं ।]

शिक्षण के अर्थ में भी यह शब्द प्रयुक्त होता है, मनु (८.२७२) ने इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया है ।

हिन्दू संस्कृति में मौखिक उपदेश द्वारा भारी जनसमूह के सामने प्रचार करने की प्रथा नहीं थी । यहाँ के सभी आचार्यों ने आचरण अथवा चरित्र के ऊपर बड़ा जोर दिया है । समाज का प्रकृत सुधार चरित्र के सुधार में ही निहित है । कोरे विचार के प्रचार से आचार संगठित नहीं होता । इसलिए आचार का आदर्श स्थापित करने वाले शिक्षक 'आचार्य' कहलाते थे । उपदेशक उनका नाम न था । जहाँ तक पता चलता है, भारी जनसमूह के सामने मौखिक व्याख्यान द्वारा विचारों के प्रचार करने की पद्धति की नींव सर्वप्रथम महात्मा गौतम बुद्ध और उनके अनुयायियों ने डाली । तब से इस रूप में धर्म के प्रचार की रीति चल पड़ी ।

उपदेशरत्नमाला—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ, जो तमिल भाषा में लिखा गया है। इसके रचयिता गोविन्दाचार्य का जन्म पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में माना जाता है।

उपदेशसाहस्री—शङ्कराचार्य द्वारा रचित अद्वैत वेदान्त का एक प्रधान ग्रन्थ। महात्मा रामतीर्थ ने इस ग्रन्थ पर 'पदयोजनिका' नामक टीका का निर्माण किया। शङ्कराचार्य के वेदान्त सम्बन्धी सिद्धान्तों का इसमें एक सहस्र श्लोकों में संक्षिप्त सार है।

उपदेशामृत—जीव गोस्वामी (सोलहवीं शताब्दी के अन्त में उत्पन्न) द्वारा रचित ग्रन्थों में से एक। यह ग्रन्थ इनके अचिन्त्यभेदाभेदवाद (चैतन्यमत) के अनुसार लिखा गया है। ग्रन्थकर्ता प्रसिद्ध भक्त और गौड़ीय वैष्णवाचार्य रूप और सनातन गोस्वामी के भतीजे थे। चैतन्यदेव के अन्तर्धान के बाद जीव गोस्वामी वृन्दावन चले आये और यहीं पर इनकी प्रतिभा का विकास हुआ। फलतः इन्होंने भक्तिमार्ग के अनेक ग्रन्थ प्रस्तुत कर बंगाल में वैष्णव धर्म का प्रचार करने के लिए श्रीनिवास आदि को उधर भेजा था।

उपदेष्टा—उपदेश देने वाला। यह गुरुवत् पूज्य है :

तथोपदेष्टारमपि पूजयेच्च ततो गुरुम्।
न पूज्यते गुरुर्यत्र नरैस्तत्राफला क्रिया॥

(बृहस्पति)

[उपदेशक गुरु की वैसी ही पूजा करनी चाहिए जैसे गुरु की। जहाँ मनुष्य गुरु की पूजा नहीं करते वहाँ क्रिया विफल होती है।]

उपधर्म—हीन धर्म अथवा पाखण्ड। मनुस्मृति (२.३३७) में कथन है :

एष धर्मः परः साक्षाद् उपधर्मोऽन्य उच्यते।

[यह साक्षात् परम धर्म है और अन्य (इससे विरुद्ध) उपधर्म कहा गया है।]

उपधा—राजाओं द्वारा गुप्त रूप से मन्त्रियों के चरित्र की परीक्षा। प्राचीन राजशास्त्र में उपधाशुद्ध मन्त्रीगण श्रेष्ठ या विश्वस्त माने जाते थे।

उपधि—छल, धोखा, कपट :

'यत्र वाप्युपधिं पश्येत् तत्सर्वं विनिवर्तयेत्।'

(मनु)

[जहाँ कपटपूर्वक कोई वस्तु बेंची या दी गयी हो वह सब लौटवा देनी चाहिए।]

किरात० (१,४५) में भी कहा गया है :

अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा
विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि।

[विजय का इच्छुक राजा कपटपूर्वक शत्रुओं के साथ की हुई सन्धि को भङ्ग कर देता है।]

उपनय—विशेष कर्मानुष्ठान के साथ गुरु के समीप में ले जाना। यथा :

गृह्योक्तकर्मणा येन समीपं नीयते गुरोः।
बालो वेदाय तद्योगाद् बालस्योपनयं विदुः॥

(स्मृति)

[वेदज्ञान के लिए गृह्यसूत्र में कहे गये कर्म के द्वारा बालक को जो गुरु के पास लाया जाता है उसे उपनय कहते हैं।]

तर्कशास्त्र में हेतु के बल से किसी निश्चय पर पहुँचना भी उपनय कहलाता है।

उपनयन—एक धार्मिक कृत्य, जिसके द्वारा बालक को आचार्य के पास विद्याध्ययन के लिए ले जाते हैं। इसके कई पर्याय हैं—(१) वटूकरण, (२) उपनाय, (३) उपनय, (४) आनय आदि। संसार की सभी जातियों में बालक को जाति की सांस्कृतिक सम्पत्ति में प्रवेश कराने के लिए कोई न कोई संस्कार होता है। हिन्दुओं में इसके लिए उपनयन संस्कार है। ऐसा माना जाता है कि इससे बालक का दूसरा जन्म होता है और इसके पश्चात् वह सूक्ष्म ज्ञान और संस्कार को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। माता-पिता से जन्म शारीरिक जन्म है। आचार्यकुल (गुरुकुल) में ज्ञानमय जन्म बौद्धिक जन्म है। मनुस्मृति (२.१७०) में कथन है :

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥

[मूँज की करधनी से चिह्नित बालक का जो ब्रह्म-(ज्ञान) जन्म है, उसमें उसकी माता सावित्री (गायत्री मन्त्र) और पिता आचार्य कहा जाता है।] इस संस्कार से बालक 'द्विज' (दो जन्म वाला) होता है। जो जड़ता अथवा मूढ़ता से यह संस्कार नहीं कराता वह व्रात्य अथवा वृषल है।

उपनयन का उद्देश्य है बालक के ज्ञान, शौच और

आचार का विकास करना । इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य-स्मृति (१.१५) का कथन है :

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् ।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत् ॥

[गुरु को महाव्याहृति (भूः भुवः स्वः) के साथ शिष्य का उपनयन करके उसको वेदाध्ययन कराना तथा शौच और आचार की शिक्षा देनी चाहिए ।] विभिन्न वर्ण के बालकों के उपनयनार्थ विभिन्न आयु का विधान है; ब्राह्मणबालक का उपनयन आठवें वर्ष में, क्षत्रियबालक का ग्यारहवें वर्ष में, वैश्यबालक का बारहवें वर्ष में होना चाहिए । दे० पारस्करगृह्यसूत्र, २.२; मनुस्मृति, २.३६; याज्ञवल्क्यस्मृति, १.११ । इस अवधि के अपवाद भी पाये जाते हैं । प्रतिभाशाली बालकों का उपनयन कम आयु में भी हो सकता है । ब्रह्मवर्चस् की कामना करने वाले ब्राह्मण बालक का उपनयन पाँचवें वर्ष में हो सकता है । उपनयन की अन्तिम अवधि ब्राह्मण बालक के लिए सोलह वर्ष, क्षत्रिय बालक के लिए बाईस वर्ष और वैश्य बालक के लिए चौबीस वर्ष है । यदि कोई व्यक्ति निर्धारित अंतिम अवधि के पश्चात् भी अनुपनीत रह जाय तो वह सावित्री-पतित, आर्यधर्म से विगर्हित, व्रात्य हो जाता है । मनु (२.३९) का कथन है :

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥

परन्तु व्रात्य हो जाने के पश्चात् भी आर्य समाज (शिष्ट समाज) में लौटने का रास्ता बन्द नहीं हो जाता, व्रात्यस्तोम नामक प्रायश्चित्त करके पुनः उपनयनपूर्वक समाज में लौटने का विधान है :

तेषां संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीत ।
(पारस्करगृह्यसूत्र २.५.५४)

इसके लिए आचार्य का निर्वाचन बड़े महत्त्व का है । उपनयन का उद्देश्य ज्ञान की प्राप्ति और चरित्र का निर्माण है । यदि आचार्य ज्ञानसम्पन्न और सच्चरित्र न हो तो वह शिष्य के जीवन का निर्माण नहीं कर सकता । 'जिसको अविद्वान् आचार्य उपनीत करता है वह अन्धकार से अन्धकार में प्रवेश करता है । अतः कुलीन, विद्वान् तथा आत्मसंयमी आचार्य की कामना करनी चाहिए ।' दे० 'उपनिषद्' । स्मृतियों में आचार्य के गुणों पर विशेष बल दिया गया है :

कुमारस्योपनयनं श्रुताभिजनवृत्तवान् ।
तपसा धूतनिःशेषपाप्मा कुर्याद् द्विजोत्तमः ॥ शौनक
सत्यवाग् धृतिमान् दक्षः सर्वभूतदयापरः ।
आस्तिको वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते ॥
वेदाध्ययनसम्पन्नो वृत्तिमान् विजितेन्द्रियः ।
दक्षोत्साही यथावृत्तजीवनेहस्तु वृत्तिमान् ॥ यम

संस्कार सम्पन्न करने के लिए किसी उपयुक्त समय का चुनाव किया जाता है । प्रायः उपनयन जब सूर्य उत्तरायण में (भूमध्य रेखा के उत्तर) रहता है तब किया जाता है । परन्तु वैश्य बालक का उपनयन दक्षिणायन में भी हो सकता है । विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न ऋतुएँ निश्चित हैं । ब्राह्मण बालक के लिए वसन्त, क्षत्रिय बालक के लिए ग्रीष्म, वैश्य बालक के लिए शरद तथा रथकार के लिए वर्षा ऋतु निर्धारित हैं । ये विभिन्न ऋतुएँ विभिन्न वर्णों के स्वभाव तथा व्यवसाय की प्रतीक हैं ।

संस्कार के आरम्भ में क्षौरकर्म (मुण्डन) और स्नान के पश्चात् बालक को गुरु की ओर से ब्रह्मचारी के अनुकूल परिधान दिये जाते हैं । उनमें प्रथम कौपीन है जो गुप्त अङ्गों को ढकने के लिए होता है । शरीर के सम्बन्ध में यह सामाजिक चेतना का प्रारम्भ है । मन्त्र के साथ आचार्य कौपीन तथा अन्य वस्त्र देता है । इसके साथ ही ब्रह्मचारी को मेखला प्रदान की जाती है । इसकी उपयोगिता शारीरिक स्फूर्ति और आन्त्रजाल की पुष्टि के लिए होती है ।

मेखला के पश्चात् ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत पहनाया जाता है । यह इतना महत्त्वपूर्ण है कि आजकल उपनयन संस्कार का नाम ही यज्ञोपवीत संस्कार हो गया है । यज्ञ-उपवीत का अर्थ है 'यज्ञ के समय पहना हुआ ऊपरी वस्त्र ।' वास्तव में यह यज्ञवस्त्र ही था जो संक्षिप्त प्रतीक के रूप में तीन सूत्र मात्र रह गया है ।

इसी प्रकार मृगचर्म, दण्ड आदि भी उपयुक्त मन्त्रों के साथ प्रदान किये जाते हैं ।

ब्रह्मचारी को परिधान समर्पित करने के पश्चात् कई एक प्रतीकात्मक कर्म किये जाते हैं । पहला है आचार्य द्वारा अपनी भरी हुई अञ्जलि से ब्रह्मचारी की अञ्जलि में जल डालना, जो शुचिता और ज्ञान-प्रदान का प्रतीक है ।

दूसरा है ब्रह्मचारी द्वारा सूर्यदर्शन। यह नियम, व्रत और उपासना का प्रतीक है।

इन प्रतीकात्मक क्रियाओं के बाद आचार्य बालक को ब्रह्मचारी के रूप में स्वीकार करता है और पूछता है, "तू किसका विद्यार्थी है?" वह उत्तर देता है, "आपका।" आचार्य संशोधन करते हुए कहता है, "तू इन्द्र का ब्रह्मचारी है। अग्नि तेरा आचार्य है। मैं तेरा आचार्य हूँ।"

यज्ञोपवीत के समान सावित्री (गायत्री) मन्त्र भी उपनयन संस्कार का एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। यह शैक्षणिक तथा बौद्धिक जीवन का मूलमन्त्र है। सावित्री को ब्रह्मचारी की माता कहा गया है। आचार्य सावित्री-मन्त्र का उच्चारण ब्रह्मचारी के सामने करता है:

भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्,
भर्गो देवस्य धीमहि,
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

[यह है (अस्ति)। यह समृद्धि और प्रकाशस्वरूप है। हम सविता (समस्त सृष्टि को उत्पन्न करने वाले) देव के शुभ्र तेज को धारण करते हैं। वह हमारी बुद्धि को प्रदीप्त करे।]

सावित्री के उपदेश के पश्चात् आहवनीय अग्नि में आहुति, भिक्षाचरण, त्रिरात्र व्रत, मेधाजनन आदि व्रतों का ब्रह्मचारी के लिए विधान है। ये सभी शैक्षणिक एवं बौद्धिक महत्त्व के हैं। उपनयन संस्कार के सभी अङ्ग मिलकर एक ऐसा वातावरण तैयार करते हैं जिससे ब्रह्मचारी अनुभव करता है कि उसके जीवन में एक नवयुग का प्रादुर्भाव हो रहा है, जहाँ उसके बौद्धिक एवं भावनात्मक विकास की अनन्त सम्भावना है।

उपन्यास—वाक्योपक्रम, परिचयात्मक वचन, आरम्भिक वस्तुवर्णन, यथा

'ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन।' (शारीरक भाष्य)

[ब्रह्मजिज्ञासा के प्राथमिक उल्लेख द्वारा।] इसका दूसरा अर्थ 'विचार' है, जैसा कि मनु ने कहा है:

विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत।

[कहे जा रहे, सर्वजनहितकारी पवित्र विचार को सुनो।]

उपनिषद्—यह शब्द 'उप + नि + सद् + क्विप्' से बना है, जिसका अर्थ है (गुरु) के निकट (रहस्यमय ज्ञान की प्राप्ति के लिए) बैठना।' अर्थात् उपनिषद् वह साहित्य है जिसमें जीवन और जगत् के रहस्यों का उद्‌घाटन, निरूपण तथा विवेचन है। वैदिक साहित्य के चार भाग हैं—(१) मन्त्र अथवा संहिता, (२) ब्राह्मण, (३) आरण्यक तथा (४) उपनिषद्। उपनिषद् वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग अथवा चरम परिणति है। मन्त्र अथवा संहिताओं में मूलतः कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासना का प्रतिपादन हुआ है। इन्हीं विषयों का ब्राह्मणों और उपनिषदों में विस्तार तथा व्याख्यान हुआ है। ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड का विस्तार एवं व्याख्यान है, आरण्यक एवं उपनिषदों में ज्ञान और उपासना का। वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग होने से उपनिषदें वेदान्त (वेद + अन्त) भी कहलाती हैं, क्योंकि वेदों के अन्तिम ध्येय ब्रह्म का उनमें निरूपण है। वेदान्तदर्शन के तीन प्रस्थान हैं—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता। इनमें उपनिषद् का प्रथम स्थान है।

प्रत्येक वेद की संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् भिन्न-भिन्न होती हैं। ऐसा कहा जाता है कि चारों वेदों की एक सहस्र एक सौ अस्सी उपनिषदें हैं—परन्तु इस समय सभी उपलब्ध नहीं हैं। प्रमुख बारह उपनिषदें हैं—(१) ईशावास्य (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरय (९) छान्दोग्य (१०) बृहदारण्यक (११) कौषीतकि और (१२) श्वेताश्वतर। इन पर आचार्य शङ्कर के प्रामाणिक भाष्य हैं। अन्य आचार्यों—रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि ने भी अपने-अपने साम्प्रदायिक भाष्य इन पर लिखे हैं। सभी सम्प्रदाय अपने मत का मूल उपनिषदों में ही ढूँढ़ते हैं। अतः अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए प्रत्येक आचार्य को उपनिषदों पर भाष्य लिखना आवश्यक हो गया था। मुख्य उपनिषदों का परिचय नीचे दिया जा रहा है:

१. ईशावास्य—इस उपनिषद् का यह नाम इस लिए है कि इसका प्रथम मन्त्र 'ईशावास्यमिदं सर्वम्....' से प्रारम्भ होता है। यह यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। इसमें सब मिलाकर केवल अठारह मन्त्र हैं। परन्तु संक्षेप से इनमें उपनिषदों के सभी विषयों का बहुत

प्रभावशाली ढंग से निरूपण हुआ है। अतः यह बहुत लोकप्रिय है।

२. केनोपनिषद्—इसके नामकरण का कारण यह है कि इसका प्रारम्भ 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' वाक्य से होता है। यह सामवेद की जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण-ग्रन्थ का नवम अध्याय है। इसको 'ब्राह्मणोपनिषद्' भी कहते हैं। इसका प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मतत्त्व है। इसके अनुसार जो ब्रह्मतत्त्व जान लेता है वह सभी बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

३. कठोपनिषद्—कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा के अन्तर्गत यह उपनिषद् आती है। इसमें दो अध्याय और छः वल्लियाँ हैं। इसका प्रारम्भ नचिकेता की कथा से होता है, जिसमें श्रेय और प्रेय का सुन्दर विवेचन है।

४. प्रश्नोपनिषद्—अथर्ववेद की पिप्पलाद संहिता के ब्राह्मणग्रन्थ का एक अंश प्रश्नोपनिषद् कहलाता है। इसमें प्रश्नोत्तर के रूप में ब्रह्मतत्त्व का निरूपण किया गया है। इसीलिए इसका यह नामकरण हुआ।

५. मुण्डकोपनिषद्—अथर्ववेद की शौनक शाखा का एक अंश मुण्डकोपनिषद् है। इसमें तीन मुण्डक और प्रत्येक मुण्डक में दो-दो अध्याय हैं। सृष्टि की उत्पत्ति तथा ब्रह्मतत्त्व इसके विचारणीय विषय हैं।

६. माण्डूक्योपनिषद्—यह अथर्ववेद की एक संक्षिप्त उपनिषद् है। इसमें केवल बारह मन्त्र हैं। इसमें 'ओंकार' के महत्त्व का निरूपण है।

७. तैत्तिरीयोपनिषद्—यह यजुर्वेदीय उपनिषद् है। कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के ब्राह्मणग्रन्थ के अन्तिम भाग को 'तैत्तिरीय आरण्यक' कहते हैं। यह आरण्यक दस प्रपाठकों में विभाजित है। इनमें से सात से नौ तक के प्रपाठकों को तैत्तिरीय उपनिषद् कहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रपाठकों के क्रमशः शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली नाम हैं। प्रथम वल्ली में शिक्षा का माहात्म्य, दूसरी में ब्रह्मतत्त्व का निरूपण तथा तीसरी में वरुण द्वारा अपने पुत्र को उपदेश है।

८. ऐतरेयोपनिषद्—यह ऋग्वेदीय उपनिषद् है। ऋग्वेद के 'ऐतरेय ब्राह्मण' के पाँच भाग हैं जिनको पाँच आरण्यक की संज्ञा दी गयी है। इसके द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ से षष्ठ—तीन अध्यायों को ऐतरेयोपनिषद् कहते हैं। इन तीन अध्यायों में क्रमशः सृष्टि, जीवात्मा और ब्रह्मतत्त्व का निरूपण है।

९. छान्दोग्य उपनिषद्—सामवेद की कौथुमी शाखा के तीन ब्राह्मण हैं—(१) ताण्ड्य, (२) षड्विंश और (३) मन्त्र। इन्हीं के अन्तिम आठ अध्याय छान्दोग्य ब्राह्मण अथवा छान्दोग्य उपनिषद् कहलाते हैं। ये आठ अध्याय बहुत विस्तृत हैं अतः यह उपनिषद् बहुत विशाल है।

१०. बृहदारण्यकोपनिषद्—शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं। उन दोनों का ब्राह्मणग्रन्थ 'शतपथ' है। इसके अन्तिम छः अध्यायों को बृहदारण्यक या बृहदारण्यकोपनिषद् कहते हैं। इसका 'बृहत्' नाम अन्वर्थ है, क्योंकि आकार में यह सबसे बड़ी उपनिषद् है। इसमें भी सृष्टि और ब्रह्म का विस्तार से निरूपण किया गया है।

११. कौषीतकि उपनिषद्—यह ऋग्वेदीय उपनिषद् है। ऋग्वेद के कौषीतकि ब्राह्मण का एक भाग आरण्यक कहा जाता है, जिसमें पन्द्रह अध्याय हैं। इनमें से तीसरे और छठे अध्याय को मिलाकर कौषीतकि उपनिषद् कही जाती है। कुषीतक नामक ऋषि ने इसका उपदेश किया था, अतः इसका नाम 'कौषीतकि' पड़ा। इसका एक दूसरा नाम कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् भी है। यह भी एक बृहदाकार उपनिषद् है।

१२. श्वेताश्वतरोपनिषद्—यह कृष्ण यजुर्वेद की उपनिषद् है और इस वेद के श्वेताश्वतर ब्राह्मण का एक भाग है। इसमें छः अध्याय हैं जिनमें ब्रह्मविद्या का बहुत हृदयग्राही विवेचन पाया जाता है।

इन उपनिषदों के अतिरिक्त बहुसंख्यक परवर्ती उपनिषदें हैं। एक परवर्ती उपनिषद् मुक्तिकोपनिषद् में १०८ उपनिषदों की सूची है। इन सभी उपनिषदों का संग्रह निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से गुटका के रूप में प्रकाशित है। अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से प्रकाशित उपनिषद् संग्रह में १७९ उपनिषदें हैं। बम्बई के गुजराती प्रिंटिंग प्रेस से प्रकाशित 'उपनिषद्वाक्यमहाकोश' में २२३ उपनिषद्ग्रन्थों का नामोल्लेख है। उपनिषदों को कालक्रम के आधार पर दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) प्राचीन उपनिषद् और (२) परवर्ती उपनिषद्। प्राचीन वैदिक शाखाओं पर आधारित हैं; परवर्ती साम्प्रदायिक हैं। मध्य युग में धार्मिक सम्प्रदायों ने अपनी

प्राचीनता सिद्ध करने के लिए अनेक उपनिषदों की रचना की ।

उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय उपासना और ज्ञान है । जैसा कि लिखा जा चुका है, ब्राह्मणों में संहिताओं के कर्मकाण्ड का विस्तार और व्याख्यान हुआ है । इसी प्रकार उपनिषदों में संहिताओं के उपासना और ज्ञानकाण्ड का विस्तार और विकास हुआ है । ब्राह्मण और उपनिषद् एक दूसरे के पूरक हैं । उपनिषदों (ईशावास्य और मुण्डक) में ही दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख है—(१) परा और (२) अपरा । 'परा' विद्या ब्रह्मविद्या है, जिसका उपनिषदों में मुख्य रूप से विवेचन है । परन्तु 'अपरा' विद्या के बारे में कहा गया है कि लोकयात्रा के लिए यह आवश्यक है और संहिताओं, ब्राह्मणों तथा वेदाङ्गों में इसका निरूपण हुआ है । 'परा' अथवा ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत आत्मा, ब्रह्म, जगत्, बन्ध, मोक्ष, मोक्ष के साधन आदि का सरल, सुबोध किन्तु रहस्यमय शैली में उपनिषदें निरूपण करती हैं ।

उपनिषत्प्रस्थान—मध्वाचार्य रचित एक ग्रन्थ । इसमें उपनिषदों के आधार पर द्वैत मत का प्रतिपादन किया गया है ।

उपनिषद्ब्राह्मण—'उपनिषद्ब्राह्मण' और 'आर्षेयब्राह्मण' दोनों ही 'जैमिनीय' अथवा 'तलवकारब्राह्मण' में सम्मिलित हैं, जो सामवेद की तलवकार शाखा से सम्बन्धित हैं ।

उपनिषद्भाष्य—शङ्कराचार्य के रचे हुए ग्रन्थों में 'उपनिषद्भाष्य' प्रसिद्ध हैं । जिन उपनिषदों का भाष्य उन्होंने लिखा है वे हैं : ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, नृसिंहपूर्वतापनीय तथा श्वेताश्वतर । शङ्कराचार्य के समान ही मध्वाचार्य ने भी दस उपनिषदों (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक) पर भाष्य लिखा है । इसी प्रकार रामानुजाचार्य आदि महानुभावों के भी उपनिषद्भाष्य प्रसिद्ध हैं ।

उपनिषन्मङ्गलदीपिका—दोड्डय भट्टाचार्य के रचे नौ ग्रन्थों में से एक । दोड्डय भट्टाचार्य रामानुज मतानुयायी एवं अप्पय दीक्षित के समसामयिक थे । उनका काल सोलहवीं शताब्दी माना जाता है । इस ग्रन्थ में उपनिषदों के आधार पर विशिष्टाद्वैत मत का निरूपण किया गया है ।

उपनिषदालोक—'श्वेताश्वतर' एवं 'मैत्रायणीयोपनिषद्' यजुर्वेद की ही उपनिषदें कही जाती हैं । इन पर आचार्य विज्ञानभिक्षु ने 'उपनिषदालोक' नाम की विस्तृत टीका लिखी है ।

उपनीत—जिसका उपनयन संस्कार हो चुका है । उपनीत होने के पूर्व बालक के शौचाचार के नियम सरल होते हैं । उपनयन के पश्चात् उसको ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का पालन करना होता है । स्मृतियों में अनुपनीत की छूटों और उपनीत के नियमों की विस्तृत सूचियाँ पायी जाती हैं ।

उपपति—अवैध या गुप्त पति, जार, आचारहानि का कारण पति । उपपति की निन्दा की गयी है और परस्त्रीगमन के लिए उसको प्रायश्चित्ती बतलाया गया है ।

उपपत्ति—किसी नियम की सङ्गति अथवा समाधान । सिद्धान्तप्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थ की सिद्धि के लिए कही जाने वाली युक्ति को भी उपपत्ति कहते हैं । वेदान्तसार में कहा है :

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।

[आत्मा को वेदवाक्यों से सुनना चाहिए, युक्तियों से मानना चाहिए ।]

उपपातक—पतन करने वाला कर्म, जो नरक में गिराता है, अथवा पाप के साथ जिसकी उपमा की जाय । विशेष पापों को भी उपपातक कहते हैं, ये उनंचास प्रकार के हैं : (१) गोधनहरण, (२) अयाज्ययाजन, (३) परदारगमन, (४) आत्मविक्रय, (५) गुरुत्याग, (६) पितृत्याग आदि उपपातक होते हैं ।

उपपुराण—अठारह पुराणों के अतिरिक्त अनेक उपपुराण भी हैं, जिनकी वर्णनसामग्री एवं विषय पुराणों के सदृश ही हैं । निम्नाङ्कित उपपुराण प्रसिद्ध हैं :

१. सनत्कुमार
२. नरसिंह
३. बृहन्नारदीय
४. शिव अथवा शिवधर्म
५. दुर्वासा
६. कापिल
७. मानव
८. औशनस
९. वारुण
१०. कालिका
११. साम्ब
१२. नन्दिकेश्वर
१३. सौर
१४. पाराशर
१५. आदित्य
१६. ब्रह्माण्ड
१७. माहेश्वर
१८. भागवत

१९. वासिष्ठ
२०. कौर्म
२१. भार्गव
२२. आदि
२३. मुद्गल
२४. कल्कि
२५. देवी
२६. बृहद्धर्म
२७. परानन्द
२८. पशुपति
२९. हरिवंश

वैष्णव लोग भागवत पुराण को उपपुराण न मानकर महापुराण मानते हैं ।

व्यासप्रणीत अठारह महापुराणों के सदृश अनेक मुनियों द्वारा प्रणीत अठारह उपपुराण भी कहे गये हैं :

अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कथितान्यपि ।
आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहं ततः परम् ॥
तृतीयं वायवीयञ्च कुमारेण च भाषितम् ।
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम् ॥
दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदीयमतः परम् ।
नन्दिकेश्वरयुग्मञ्च तथैवोशनसेरितम् ॥
कापिलं वारुणं साम्बं कालिकाह्वयमेव च ।
माहेश्वरं तथा कल्कि दैवं सर्वार्थसिद्धिदम् ॥
पराशरोक्तमपरम् मारीचं भास्कराह्वयम् ।

[मुनियों के द्वारा कहे गये अन्य उपपुराण हैं । सनत्कुमार द्वारा कहा गया प्रथम, नरसिंह द्वारा द्वितीय, कुमार द्वारा कहा गया वायवीय, साक्षात् नन्दीश द्वारा कहा गया शिवधर्माख्य, दुर्वासा द्वारा कहा गया आश्चर्य, नारदीय, नन्दिकेश्वर, औशनस, कापिल, वारुण, साम्ब, कालिका, माहेश्वर, कल्कि, दैव, पाराशर, मारीच और सौरपुराण ये अष्टादश उपपुराण कहे गये हैं ।] दे० कूर्मपुराण, मलमासतत्त्व में उद्धृत ।

उपभोग—भोजन के अतिरिक्त भोग्यवस्तु । इसका पर्याय है निवेश ।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
(मनु २.९४)

[कभी भी काम की शान्ति कामों के उपभोग से नहीं हो सकती ।]

उपमाता—माता के समान, धात्री । यह स्मृति में छः प्रकार की कही गयी है :

मातुःष्वसा मातुलानी पितृव्यस्त्री पितृष्वसा ।
श्वश्रूः पूर्वजपत्नी च मातृतुल्याः प्रकीर्तिताः ॥

[माता की बहिन, मामी, चाची, पिता की बहिन, सास, बड़े भाई की पत्नी ये माता के समान होती हैं ।] ये माता के तुल्य ही पूजनीय हैं । इनका अनादर करने से पाप होता है ।

उपमान—न्यायदर्शन के अनुसार तीसरा प्रमाण । गौतम ने चार प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द । किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य से न जानी हुई वस्तु का ज्ञान जिस प्रमाण से होता है, वही उपमान है । जैसे, "नीलगाय गाय के सदृश होती है ।"

उपयम—विवाह, पाणिग्रहण । दे० 'विवाह' ।

उपयाचित—इष्टसिद्धि के प्रयोजन से देवता के लिए देय वस्तु । उसका पर्याय है 'दिव्यदोहद ।' प्रार्थित वस्तु को भी उपयाचित कहते हैं ।

उपरतस्पृह—निःस्पृह, निष्काम, जिसकी धन आदि की इच्छा समाप्त हो गयी है । धन रहने पर भी धन की इच्छा से रहित व्यक्ति उपरतस्पृह कहा जाता है । यह साधक का एक विशिष्ट गुण है ।

उपरति—विरक्त होना, विरति । जैसे, मार्कण्डेय पुराण (९१.८) में कहा है :

'विश्वस्योपरतौ शक्ते नारायणि ! नमोस्तु ते ।'

[विश्व की विरति में समर्थ हे नारायणि, तुमको नमस्कार है ।] जितेन्द्रियों की विषयों से उपरति एक साधन माना जाता है ।

उपराग—एक ग्रह पर दूसरे ग्रह की छाया, राहुग्रस्त चन्द्र, अथवा राहुग्रस्त सूर्य आदि । निकट में होने के कारण अपने गुणों का अन्य के गुणों में आरोप भी उपराग है । जैसे स्फटिकमणि के खम्भों में लाल फूलों के लाल रंग का आरोप । दुर्नय, व्यसन आदि भी इसके अर्थ हैं ।

उपरिचर वसु—पाञ्चरात्र धर्म का प्रथम अनुयायी उपरिचर वसु था । इसकी कथा नारायणीय आख्यान में आयी है । यह शान्तिपर्व के ३१४ वें अध्याय से ३५१ वें अध्याय के अन्त तक वर्णित है । नारायणीयाख्यान शान्तिपर्व का अन्तिम प्रतिपाद्य विषय है । वह वेदान्त आदि मतों से भिन्न और अन्तिम ही माना गया है । इस मत के मूल आधार नारायण हैं । स्वायम्भुव मन्वन्तर में सनातन विश्वात्मा नारायण से नर, नारायण, हरि और कृष्ण चार मूर्तियाँ उत्पन्न हुईं । नर-नारायण ऋषियों ने बदरिकाश्रम में तप किया । नारद ने वहाँ जाकर उनसे प्रश्न किया । उत्तर में उन्होंने यह पाञ्चरात्र धर्म सुनाया । इस धर्म का पहला अनुयायी राजा उपरिचर वसु था । इसी ने पाञ्चरात्र विधि से नारायण की पूजा की ।

उपलेख—ऋक्संहिता का एक प्रातिशाख्य सूत्र शौनक का बनाया कहा जाता है। प्रातिशाख्य सूत्र के आधार पर निर्मित 'उपलेख' नामक एक संक्षिप्त ग्रन्थ है। इसको प्रातिशाख्य सूत्र का परिशिष्ट भी कहते हैं।

उपलेखसूत्र—शौनक के ऋक्प्रातिशाख्य का परिशिष्ट रूप 'उपलेखसूत्र' नाम का एक ग्रन्थ भी मिलता है। पहले विष्णुपुत्र ने इसका भाष्य रचा था, उसको देखकर उव्वटाचार्य ने एक विस्तृत भाष्य लिखा है।

उपवर्ष—आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहीं-कहीं उपवर्ष नामक एक प्राचीन वृत्तिकार के मत का उल्लेख किया है। इस वृत्तिकार ने दोनों ही मीमांसा शास्त्रों पर वृत्तिग्रन्थ बनाये थे, ऐसा प्रतीत होता है। पण्डित लोग अनुमान करते हैं कि ये 'भगवान् उपवर्ष' वे ही हैं जिनका उल्लेख शबर भाष्य (मी० सू० १.१.५) में स्पष्टतः किया गया है। शङ्कर कहते हैं (ब्र० सू० ३.३.५.३) कि उपवर्ष ने अपनी मीमांसा वृत्ति में कहीं-कहीं पर 'शारीरक सूत्र' पर लिखी गयी वृत्ति की बातों का उल्लेख किया है। ये उपवर्षाचार्य शबर स्वामी से पहले हुए होंगे, इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु कृष्णदेवनिर्मित 'तन्त्रचूडामणि' ग्रन्थ में लिखा है कि शबर भाष्य के ऊपर उपवर्ष की एक वृत्ति थी। कृष्णदेव के वचन का कोई मूल्य है या नहीं यह कहना कठिन है। यदि उनका वचन प्रामाणिक माना जाय, तो इस उपवर्ष को प्राचीन उपवर्ष से भिन्न मानना पड़ेगा।

वेदान्तदेशिक (श्रीवैष्णव) ने अपनी तत्त्वटीका में बोधायनाचार्य का द्वितीय नाम उपवर्ष प्रतिपादित किया है। शबर स्वामी ने भी बोधायनाचार्य का उल्लेख उपवर्ष नाम से किया है।

उपवसथ—निवास स्थान, जहाँ पर आकर बसते हैं। शतपथ ब्राह्मण (११.१.७) में कथन है

'तेऽस्य विश्वेदेवा गृहानागच्छन्ति तेऽस्य गृहेषूपवसन्ति स उपवसथः।'

[विश्वेदेव इसके घर में आते हैं, वे उसके घर में रहते हैं, उसे उपवसथ कहते हैं।] याग का पूर्वदिन भी उपवसथ कहलाता है। इस दिन यम-नियम (उपवास आदि) के द्वारा यज्ञ की तैयारी की जाती है।

उपवास—एक धार्मिक व्रत, रात-दिन भोजन न करना। इसके पर्याय हैं उपवस्त, उपोषित, उपोषण, औपवस्त आदि। इसकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है:

उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह।
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः॥

[पाप से निवृत्त होकर गुणों के साथ रहने को उपवास कहते हैं, जिसमें सभी विषयों का उपभोग वर्जित है।]

इसका शाब्दिक अर्थ है (उप+वास) अपने आराध्य के समीप वास करना। इसमें भोजन-पान का त्याग सहायक होता है, अतः इसे उपवास कहते हैं।

उपवीत (यज्ञोपवीत)—एक यज्ञपरक धार्मिक प्रतीक, बायें कन्धे पर रखा हुआ यज्ञसूत्र यज्ञ, सूत्र मात्र। देवल ने कहा है:

'यज्ञोपवीतकं कुर्यात् सूत्राणि नवतन्तवः।'

[यज्ञोपवीत-सूत्र को नौ परतों का बनाना चाहिए।]

यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्म्मणि।
तृतीयमुत्तरीयार्थे वस्त्रालाभेऽति दिश्यते॥

[श्रौत और स्मार्त कर्मों में दो यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए। उत्तरीय वस्त्र के अभाव में तीन यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए।]

वर्णभेद से मनु (२. ४४) ने सूत्रभेद भी कहा है:

कार्पासमुपवीतं स्याद् विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्॥

[ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास के सूत्र का, क्षत्रिय का शण के सूत्र का, और वैश्य का भेड़ के ऊन का होना चाहिए।]

आगे चलकर कपास के सूत्र का यज्ञोपवीत सभी वर्णों के लिए विहित हो गया। दे० 'यज्ञोपवीत'।

उपवेद—'चरणव्यूह' में वेदों के चार उपवेद कहे गये हैं। ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्ववेद और अथर्ववेद का अर्थशास्त्र। परन्तु सुश्रुत, भावप्रकाश तथा चरक के अनुसार आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है। यह मत सुसंगत जान पड़ता है, क्योंकि अथर्ववेद में आयुर्वेद के तत्त्व भरे पड़े हैं। परिणामस्वरूप अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्र को ऋग्वेद का उपवेद मानना पड़ेगा।

उपवेदों का अध्ययन भी प्रत्येक वेद के साथ-साथ वेद के ज्ञान की पूर्णता के लिए आवश्यक है। चारों उपवेद चार विज्ञान हैं। अर्थशास्त्र में वार्ता अर्थात् लोकयात्रा

का सारा विज्ञान है और समाजशास्त्र के सङ्गठन और राष्ट्रनीति का कथन है। धनुर्वेद में सैन्यविज्ञान, युद्ध-क्रिया, व्यक्ति एवं समष्टि सबकी रक्षा के साधन और उनके प्रयोग की विधियाँ दी हुई हैं। गान्धर्ववेद में संगीत का विज्ञान है जो मन के उत्तम से उत्तम भावों को उद्दीप्त करने वाला और उसकी चञ्चलता को मिटाकर स्थिररूप से उसे परमात्मा के ध्यान में लगा देने वाला है। लोक में यह कला कामशास्त्र के अन्तर्गत है, परन्तु वेद में मोक्ष के उपायों में यह एक प्रधान साधन है। आयुर्वेद में रोगी शरीर और मन को स्वस्थ करने के साधनों पर साङ्गोपाङ्ग विचार किया गया है। इस प्रकार ये चारों विज्ञान चारों वेदों के आनुषङ्गिक सहायक हैं।

उपशम—अन्तःकरण की स्थिरता। इसके पर्याय हैं शम, शान्ति, शमथ, तृष्णाक्षय, मानसिक विरति।

प्रबोधचन्द्रोदय में कहा गया है:

'तथायमपि कृतकर्तव्यः संप्रति परमामुपशमनिष्ठां प्राप्तः।'

[यह भी कृतकृत्य होकर इस समय अत्यन्त तृष्णाक्षय को प्राप्त हो गया है।]

उपश्रुति—प्रश्नों के दैवी उत्तर को सुनना। हारावली में कहा है:

नक्तं निर्गत्य यत् किञ्चिच्छुभाशुभकरं वचः।
श्रूयते तद्विदुर्धीरा दैवप्रश्नमुपश्रुतिम्॥

[रात्रि में घर से बाहर जाकर जो कुछ भी शुभ या अशुभ वाक्य सुना जाता है, उसे विद्वान् लोग प्रश्न का दैवी उत्तर उपश्रुति कहते हैं। यह एक प्रकार का एकान्त में चिन्तन से प्राप्त ज्ञान अथवा अनुभूति है। इसलिए श्रुति अथवा शब्दप्रमाण के साथ ही इसको भी उपश्रुति-प्रमाण (यद्यपि गौण) मान लिया गया है।

उपसद्—अग्निविशेष। अग्निपुराण के गणभेद नामक अध्याय में कथन है:

गार्ह्यपत्यो दक्षिणाग्निस्तथैवाहवनीयकः।
एतेऽग्नयस्त्रयो मुख्याः शेषाश्चोपसदस्त्रयः॥

[गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तथा आहवनीय ये तीन अग्नियाँ मुख्य हैं।

यह एक यज्ञभेद भी है। आश्वलायनश्रौतसूत्र (४.८.१) में उपसद नामक यज्ञों में इसका प्रचरण बतलाया गया है।

उपसम्पन्न—यज्ञ के लिए मारा गया पशु। उसके पर्याय हैं प्रमीत, प्रोक्षित, मृत आदि। पाक क्रिया द्वारा रूप, रस आदि से सम्पन्न व्यञ्जन भी उपसम्पन्न कहा जाता है। उसके पर्याय हैं प्रणीत, पर्याप्त, संस्कृत। मनु (५.८१) में मृत के अर्थ में ही इसका प्रयोग हुआ है:

श्रोत्रिये तूपसम्पन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।

[श्रोत्रिय ब्राह्मण के मर जाने पर तीन दिन तक अपवित्रता रहती है।]

उपाकरण—संस्कारपूर्वक वेदों का ग्रहण। इसका अर्थ 'संस्कारपूर्वक पशुओं को मारना' भी है। आश्वलायन श्रौ० सू० (१०.४) में कथन है:

"उपाकरण कालेऽश्वमानीय।"

[संस्कार के समय में घोड़े को (बलिदानार्थ) लाकर।]

उपाकृत—संस्कारित बलिपशु, यज्ञ में अभिमन्त्रित करके मारा गया पशु। धर्मशास्त्र में कथन है:

'अनुपाकृतामांसानि देवान्नानि हवींषि च।'

[अनभिमंत्रित मांस, देव-अन्न तथा हविष् (अग्राह्य हैं)।]

उपागम—शैव आगमों में से प्रत्येक के कई उपागम हैं। आगम अट्ठाईस हैं और उपागमों की संख्या १९८ है।

उपाग्रहण—उपाकरण, संस्कारपूर्वक गुरु से वेद ग्रहण (अमर-टीका में रायमुकुट)।

उपाङ्ग—वेदों के उपांगों में प्राचीन प्रमाणानुसार पहला उपाङ्ग इतिहास-पुराण है, दूसरा धर्मशास्त्र, तीसरा न्याय और चौथा मीमांसा। इनमें न्याय और मीमांसा की गिनती दर्शनों में है, इसलिए इनको अलग-अलग दो उपाङ्ग न मानकर एक उपाङ्ग 'दर्शन' के नाम से रखा गया और चौथे की पूर्ति तन्त्रशास्त्र से की गयी। मीमांसा और न्याय ये दोनों शास्त्र शिक्षा, व्याकरण और निरुक्त के आनुषङ्गिक (सहायक) हैं। धर्मशास्त्र श्रौतसूत्रों का आनुषङ्गिक है और पुराण ब्राह्मणभाग के ऐतिहासिक अंशों का पूरक है।

चौथा उपाङ्ग तन्त्र शिवोक्त है। प्रधानतः इसके तीन विभाग है—आगम, यामल और तन्त्र। तन्त्रों में प्रायः उन्हीं विषयों का विस्तार है, जिनपर पुराण लिखे गये हैं। साथ ही साथ इनके अन्तर्गत गुह्यशास्त्र भी है जो दीक्षित और अभिषिक्त के सिवा और किसी को बताया नहीं जाता।

उपाङ्गललिताव्रत—यह आश्विन शुक्ल पञ्चमी को किया

जाता है। इसमें ललितादेवी (पार्वती) की पूजा होती है। यह दक्षिण में अधिक प्रचलित है।

उपाध्याय—जिसके पास आकर अध्ययन किया जाता है। अध्यापक, वेदपाठक। मनु० (२.१४५) का कथन है :

> एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
> योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥

[वेद के एक देश अथवा अङ्ग को जो वृत्ति के लिए अध्ययन कराता है उसे उपाध्याय कहते हैं।] ऐसा भविष्य पुराण के दूसरे अध्याय में भी कहा है। चूँकि शुल्क ग्रहण करके जीविका के लिए उपाध्याय अध्यापन करते थे, इसलिए ब्राह्मणो में उनका स्थान ऊँचा नहीं था। कारण यह है कि ज्ञान विक्रय को भी वणिक्-वृत्ति माना गया है :

> यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।

[जिसका आगम (शास्त्र-ज्ञान) केवल जीविका के लिए है, उसे (विद्वान् लोग) ज्ञान की दुकान करने वाला वणिक् कहते हैं।]

उपाध्याया—महिला अध्यापिका। यह अपने अधिकार से 'उपाध्याया' होती है, उपाध्याय की पत्नी होने के कारण नहीं। उपाध्याय की पत्नी को 'उपाध्यायानी' कहते हैं।

उपाध्यायानी—उपाध्याय की पत्नी। महाभारत (१।९.९६) में कथन है :

> 'स एवमुक्त उपाध्यायेनोपाध्यायानीमपृच्छत्।'

[उपाध्याय से इस प्रकार कहे जाने पर उसने उपाध्यायानी से पूछा।]

गृहासक्त होने से इसको अध्यापन का अधिकार नहीं होता।

उपाध्यायी—उपाध्याय की पत्नी, अध्यापकभार्या।

उपाधि—धर्मचिन्ता, धर्मपालनार्थ सावधानी, कुटुम्बव्यापृत, आरोप, छल, उपद्रव। रामायण (२.१११.२९) में कथन है :

> उपाधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः।

[वनवास में मैं छल, कपट नहीं करूँगा।] तर्कशास्त्र में इसका अर्थ है 'साध्यव्यापकत्व होने पर हेतु का अव्यापकत्व होना।' जैसे अग्नि धूमयुक्त है, यहाँ काष्ठ का गीला होना उपाधि है। इसका प्रयोजन व्यभिचार (लक्ष्य-अतीत) का अनुमान शुद्ध करना है।

पाधिखण्डन—आचार्य मध्व ने 'उपाधिखण्डन' नामक ग्रन्थ में सिद्ध किया है कि ईश्वर और आत्मा का भेद पारमार्थिक है। औपाधिक भेदवाद श्रुतिविरुद्ध और युक्तिहीन है। जयतीर्थाचार्य ने 'उपाधिखण्डन' की टीका लिखी है। इस ग्रन्थ में द्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

उपाय—कार्यसिद्धि का साधन। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के अनुसार उपाय चार हैं—साम, दान, भेद और दण्ड।

राजनय में इन्हीं उपायों का प्रयोग किया जाता है। हिन्दू धर्म के अनुसार युद्ध के परिणाम जय और पराजय दोनों ही अनित्य हैं। अतः युद्ध का आश्रय कम से कम लेना चाहिए। जब प्रथम तीन उपाय—साम, दान और भेद असफल हो जायँ तभी दण्ड अथवा युद्ध का अवलम्बन करना चाहिए। इन उपायों का साधारणतः क्रमशः प्रयोग करना चाहिए। परन्तु विशेष परिस्थिति में चारों का साथ-साथ प्रयोग हो सकता है।

उपायपद्धति—शुक्ल यजुर्वेद के प्रातिशाख्यसूत्र और उसकी अनुक्रमणी भी कात्यायन की रचना के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रातिशाख्यसूत्र में शाकटायन, शाकल्य, गार्ग्य, कश्यप, दाल्भ्य जातुकर्ण्य, शौनक और औपशिवि के नाम भी पाये जाते हैं। इस अनुक्रमणी की एक 'उपायपद्धति' नामक व्याख्या श्रीहल की बनायी हुई है।

उपासक—पूजक; जो सेवा करता है; उपासना करनेवाला; पूज्य के समीप बैठकर उसका चिन्तन करने वाला। द्विजों का सेवक होने के कारण शूद्र को भी उपासक कहा गया है। साधारणतः किसी भी प्रकार की उपासना (ध्येय के निकट आसन) करने वाले को उपासक कहा जाता है। बौद्ध धर्म में बुद्ध के गृहस्थ अनुयायी को उपासक कहा जाता है।

उपासन—गोरखनाथी मत के योगियों में हठयोग की प्रणाली अधिक प्रचलित है। इसके अनुसार शरीर की कुछ कायिक परिशुद्धि एवं निश्चित किये गये शारीरिक व्यायामों द्वारा 'समाधि' अर्थात् मस्तिष्क की सर्वोत्कृष्ट एकाग्रता प्राप्त की जा सकती है। इन्हीं शारीरिक व्यायामों को 'आसन' कहते हैं। पश्चात्कालीन योगी जबकि 'आसन' पर विश्वास करते थे, प्राचीन योगी 'उपासन' पर विश्वास करते थे। 'उपासन' उपासना का ही पर्याय है। इसका अर्थ है 'अपने आराध्य अथवा ध्येय के सान्निध्य में बैठना।' इसके लिए भावात्मक अनुभूति

मात्र आवश्यक है; किसी शारीरिक अथवा बौद्धिक प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं है।

उपासना—(१) वेद का अधिकांश भाग कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड है, शेष ज्ञानकाण्ड है। कर्मकाण्ड कनिष्ठ अधिकारी के लिए है। उपासना और कर्म दोनों काण्ड मध्यम के लिए। कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों काण्ड उत्तम के लिए हैं। पर उत्तम अधिकारी कर्म और उपासना को निष्काम भाव से करता है। उपासना व्यक्ति का ब्रह्म के साथ व्यक्तिगत सान्निध्य है। अतः व्यक्तिगत योग्यता और अधिकार भेद से इसके अनेक मार्ग प्रचलित हैं। सभी उपासनापद्धतियों में कुछ बातें सामान्य रूप से सर्वनिष्ठ हैं, जैसे अपने उपास्य का भावात्मक बोध, उपास्य के सान्निध्य में जाने की उत्कण्ठा, सान्निध्य-भावना से आनन्द की अनुभूति, अपने कल्याण के सम्बन्ध में आश्वासन। गीता (९.२२) में भगवान् कृष्ण ने कहा है :

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

[जो भक्तजन अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य उपासना में रत पुरुषों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।]

(२) ईश्वर अथवा किसी अन्य देवता की सेवा का नाम भी उपासना है। उसके पर्याय हैं—(१) वरिवस्या, (२) शुश्रूषा, (३) परिचर्या और (४) उपासन। देवीभागवत में शक्ति-उपासना की प्रशंसा में कहा गया है :

न विष्णूपासना नित्या वेदेनोक्ता तु कस्यचित्।
न विष्णुदीक्षा नित्यास्ति शिवस्यापि तथैव च॥
गायत्र्युपासना नित्या सर्ववेदैः समीरिता।
यया विना त्वधः पातो ब्राह्मणस्यास्ति सर्वथा॥

[विष्णु की नित्य उपासना करना वेदों में कहीं नहीं कहा गया। न विष्णु की दीक्षा और न शिव की दीक्षा ही नित्य है। किन्तु गायत्री की नित्य उपासना सब वेदों में कही गयी है, जिसके बिना ब्राह्मण का अधःपतन हो सकता है।]

उपासनाकाण्ड—वेदों के सभी भाष्यकार इस बात से सहमत हैं कि चारों वेदों में समुच्चय रूप से प्रधानतः तीन विषयों का प्रतिपादन है—(१) कर्मकाण्ड, (२) ज्ञानकाण्ड एवं (३) उपासनाकाण्ड। उपासनाकाण्ड ईश्वर-आराधना से सम्बन्ध रखता है, जिससे मनुष्य ऐहिक, पारलौकिक और पारमार्थिक अभीष्टों का सम्पादन कर सकता है।

ऋग्वेद के सूक्तों में विशेष रूप से स्तुतियों की अधिकता है। ये स्तुतियाँ विविध देवताओं की हैं। जो लोग देवताओं की अनेकता नहीं मानते वे इन सब नामों (देवनामों) का अर्थ परब्रह्म परमात्मा का वाचक लगाते हैं। जो लोग अनेक देवता मानते हैं वे भी इन सब स्तुतियों को परमात्मापरक मानते हैं और कहते हैं कि ये सभी देवता और समस्त सृष्टि परमात्मा की विभूति है। इसलिए वे वरुण को जल के देवता, अग्नि को तेज के देवता, द्यौः को आकाश के देवता इत्यादि रूप से विश्व की शक्तियों के अधिपति परमात्मा की विभूति ही मानते हैं। जहाँ पृथिवी की स्तुति है, वहाँ पृथिवी के ही गुणों का वर्णन है। पृथिवी परमात्मा की सृष्टि और उसी की विभूति है। पृथिवी की स्तुति के व्याज से परमात्मा की ही स्तुति की जाती है। ये स्तुतियाँ तथा उसके सम्बन्ध की प्रार्थनाएँ उपासनाकाण्ड के अन्तर्गत हैं।

उपेन्द्र—वामन (विष्णु), इन्द्र के छोटे भाई। 'इन्द्र के पश्चात् उत्पन्न होने वाला।' कश्यप ऋषि एवं अदिति माता से वामन रूप में इन्द्र के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण विष्णु का नाम उपेन्द्र पड़ा।

उपेन्द्रस्तोत्र—इसे कुछ विद्वान् तमिल देश में रचा गया मानते हैं, परन्तु समझा जाता है कि 'उपेन्द्रस्तोत्र' उत्तर की ही रचना है। किन्तु इसके रचयिता के बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

उपोषण—उपवास; आहारत्याग। तिथितत्त्व में लिखा है :

उपोषणं नवम्याञ्च दशम्याञ्चैव पारणम्।

[नवमी के दिन उपवास और दशमी के दिन पारण करना चाहिए।] दे० 'उपवास'।

उपोषित—उपवास का ही एक पर्याय। मनु (५.१५५) ने कहा है :

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।

[स्त्रियों के लिए यज्ञ, व्रत, उपवास, ये अलग नहीं हैं।]

उब्बटाचार्य—यजुर्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार निघण्टु के टीकाकार देवराज और भट्टभास्कर मिश्र ने अपने ग्रन्थों में माधवदेव, भवस्वामी, गुहदेव, श्रीनिवास और उब्बट आदि भाष्यकारों के नाम लिखे हैं। यह पता नहीं है कि

उब्बट ने ऋक्संहिता का कोई भाष्य किया है या नहीं, परन्तु उब्बट का शुक्ल यजुर्वेद संहिता पर एक भाष्य पाया जाता है । इसके सिवा इन्होंने ऋक्प्रातिशाख्य और शुक्ल यजुर्वेदप्रातिशाख्य पर भी भाष्य लिखे हैं ।

उभयद्वादशी—यह व्रत मार्गशीर्ष कृष्ण द्वादशी को प्रारम्भ होता है । इसके पश्चात् पौष शुक्ल से द्वादशी एक वर्षपर्यन्त कुल चौबीस द्वादशियों को इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है । इन तिथियों को विष्णु के चौबीस अवतारों (केशव, नारायण आदि) का पूजन किया जाता है । दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड ।

उभयनवमी—यह व्रत पौष शुक्ल नवमी को प्रारम्भ होता है । इसमें एक वर्ष पर्यन्त चामुण्डा का पूजन होता है । प्रत्येक मास में भिन्न भिन्न उपकरणों से देवी की प्रतिमा का निर्माण करके भिन्न भिन्न नामों से उनकी पूजा की जाती है । कतिपय दिवसों में महिष का मांस समर्पित करते हुए रात्रि में पूजन करने तथा प्रत्येक नवमी को कन्याओं को भोजन कराने का विधान है । दे० कृत्यकल्पतरु का व्रतकाण्ड, २७४-२८२ ।

उभयसप्तमी—यह व्रत शुक्ल पक्ष की किसी सप्तमी में प्रारम्भ होता है । एक वर्षपर्यन्त प्रत्येक पक्ष में सूर्य देवता के पूजन का विधान है । एक मत के अनुसार यह व्रत माघ शुक्ल सप्तमी से प्रारम्भ होना चाहिए । एक वर्ष पर्यन्त प्रत्येक मास में सूर्य का भिन्न-भिन्न नामों से पूजन करने का विधान है । दे० भविष्योत्तर पुराण, ४७.१.२४

उभयैकादशी—यह व्रत मार्गशीर्ष की शुक्ल एकादशी से आरम्भ होता है । एक वर्षपर्यन्त प्रत्येक पक्ष में विष्णु का भिन्न भिन्न नामों (जैसे केशव, नारायण आदि) से पूजन होता है । दे० व्रतार्क, २३३ ब-२३७ अ । गुर्जरों में इस व्रत का नाम केवल 'उभय' है ।

उमा—शिव की पत्नी, पार्वती । उमा का शाब्दिक अर्थ है 'प्रकाश' । सर्वप्रथम केन उपनिषद् में उमा का उल्लेख हुआ है । यहाँ ब्रह्मा तथा दूसरे देवताओं के बीच माध्यम के रूप में इनका आविर्भाव हुआ है । इस स्थिति में वाक् देवी से इनका अभेद जान पड़ता है ।

उमा शब्द की व्युत्पत्ति कुमारसम्भव में इस प्रकार दी हुई है :

उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यांसुमुखी जगाम ।

[''उ'', ''मा'' यह कहकर माता (मेनका) ने उसे तपस्या से रोका । इसके अनन्तर उसका नाम ही उमा हो गया ।]

उमागुरु—पार्वती का पिता हिमालय । दक्ष प्रजापति के यज्ञ में शिव की निन्दा सुनने से योग के द्वारा शरीर त्यागने वाली सती हिमालय से मेनका के गर्भ में उत्पन्न हुई । इस कथानक का पुराणों में विस्तृत वर्णन है ।

उमाचतुर्थी—माघ शुक्ल चतुर्थी को इस व्रत का आचरण होता है । इसमें उमा के पूजन का विधान है । पुरुष और विशेष रूप से स्त्रियाँ कुन्द के पुष्पों से भगवती उमा का पूजन करती तथा उस दिन व्रत भी रखती हैं ।

उमानन्द नाथ—दक्षिणमार्गी शाक्तों में तीन आचार्यों का नाम उनकी देवीभक्ति की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है । ये हैं नृसिहानन्द नाथ, भास्करानन्द नाथ एवं उमानन्द नाथ, जो एक छोटी गुरुपरम्परा उपस्थित करते हैं । तीनों में सबसे अधिक प्रसिद्ध भास्करानन्द नाथ थे जिनके शिष्य उमानन्द नाथ हुए । उमानन्द नाथ ने 'परशुराम-भार्गवसूत्र' पर एक व्यावहारिक भाष्य लिखा है ।

उमापति—उमा के पति शिव । महाभारत में कथन है :

तप्यते तत्र भगवान् तपो नित्यमुमापतिः ।

[वहाँ पर भगवान् शिव नित्य तपस्या करते हैं ।]

उमापतिधर—कृष्णभक्ति शाखा के कवियों में उमापतिधर का नाम भी उल्लेखनीय है । इन्होंने मैथिली एवं बंगला भाषा में कृष्ण-सम्बन्धी गीत लिखे हैं । ये तिरहुतनिवासी और विद्यापति के समकालीन थे ।

उमापति शिवाचार्य—तमिल शैवों में 'चार संतान आचार्य,' नाम प्रसिद्ध हैं । ये हैं मेयकण्ड देव, अरुलनन्दी, मरइ ज्ञानसम्बन्ध एवं उमापति शिवाचार्य । उमापति ब्राह्मण थे एवं चिदम्बर मन्दिर के पुजारी थे । ये मरइ ज्ञानसम्बन्ध के शिष्य बन गये, जो शूद्र थे । उमापति उनका उच्छिष्ट खाने के कारण जाति से बहिष्कृत हुए । किन्तु अपने सम्प्रदाय के ये बहुत बड़े आचार्य बन गये एवं बहुत से ग्रन्थों का इन्होंने प्रणयन किया । इनमें से आठ ग्रन्थ सिद्धान्तशास्त्रों में परिगणित हैं । वे हैं (१) शिव—प्रकाश, (२) तिरुअकुलपयन, (३) विनावेण्वा, (४) पोत्रपक्रोदइ, (५) कोडिकवि, (६) नेंचुविडुतूतु, (७) उण्मैनेऋविलक्कम औरं (८) संकल्पनिराकरण ।

उमामहेश्वरव्रत—(१) इसे प्रारम्भ करने की तिथि के बारे में कई मत हैं । इसे भाद्रपद की पूर्णिमा से प्रारम्भ

करना चाहिए, किन्तु चतुर्दशी को ही संकल्प कर लेना चाहिए। इसमें स्वर्ण अथवा रजत की शिव तथा पार्वती की प्रतिमाओं के पूजन का विधान है। यह कर्णाटक में अत्यन्त प्रसिद्ध है।

(२) पूर्णिमा, अमावस्या, चतुर्दशी अथवा अष्टमी को इसे प्रारम्भ करना चाहिए। उमा तथा शिव का पूजन होना चाहिए। हविष्यान्न के साथ नक्त का भी विधान है।

(३) अष्टमी अथवा चतुर्दशी तिथियों को प्रारम्भ करना चाहिये। व्रती को अष्टमी तथा चतुर्दशी को एक वर्षपर्यन्त उपवास रखना चाहिये।

(४) मार्गशीर्ष मास की प्रथम तिथि, वही देवता।

(५) मार्गशीर्ष शुक्ल तृतीया को इस व्रत का आरम्भ होना चाहिए। एक वर्षपर्यन्त। वही देवता। दे० भविष्योत्तरपुराण, २३.१-२८; लिङ्गपुराण, पूर्वार्द्ध ८४। व्रतार्क, हेमाद्रि, व्रतखंड।

उमायामलतन्त्र—शाक्त साहित्य के 'कुलचूडामणि' एवं 'वामकेश्वर' तन्त्रों में तन्त्रों की तालिका है, जिसमें तीन प्रकार के तन्त्र उल्लिखित हैं—आठ भैरव, आठ बहुरूप एवं आठ यामल। यामल के अन्तर्गत ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, लक्ष्मी, उमा, स्कन्द, गणेश एवं ग्रह यामल तन्त्र हैं। **यामल** शब्द यमल से बना है, जिसका अर्थ है 'जोड़ा'। इसका सन्दर्भ एक देवता तथा उसकी शक्ति के युगल सहयोग से है।

उमावन—उमा के विहार का काम्यक वन। पुरविशेष। उसके पर्याय हैं— (१) देवीकोट, (२) कोटिवर्ष, (३) बाणपुर, (४) शोणितपुर। उमावन (काम्यकवन) में ही शिव-पार्वती (उमा) का विवाहोत्तर विहार हुआ था। इस वन के सम्बन्ध में शिव का शाप था कि जो कोई पुरुष इसमें प्रवेश करेगा वह स्त्री हो जायेगा। मनु के पुत्र इल भूल से इस वन में चले गये। वे शाप के कारण तुरन्त स्त्री 'इला' बन गये।

उमासंहिता—शिवपुराण की रचना में कुल सात खण्ड हैं। इसका पाचवाँ खण्ड 'उमासंहिता' है।

उमासुत—उमा के पुत्र, कार्तिकेय या गणेश।

उमा हैमवती—जिस प्रकार शिव (गिरीश) पर्वतों के स्वामी कहे जाते हैं, वैसे ही उनकी पत्नी पार्वती (पर्वतों की पुत्री) कहलाती हैं। शिव ने हिमालय की पुत्री उमा से विवाह किया। केनोपनिषद् (३.२५) में वे प्रथम बार उमा हैमवती कही गयी हैं, जिससे एक स्वर्गीय (दिव्य) महिला का बोध होता है, जो ब्रह्मज्ञानसम्पन्ना हैं। स्पष्टतः, ये प्रथमतः एक स्वतन्त्र देवी थीं अथवा कम से कम एक दैवी शक्ति थीं, जो हिमालय का चक्कर लगाया करती थीं और पश्चात् उन्हें रुद्र की पत्नी समझा जाने लगा। केनोपनिषद् में उमा हैमवती ने देवताओं की शक्ति का उपहास करते हुए सभी शक्तियों के स्रोत ब्रह्म का प्रतिपादन किया है।

उमेश—उमा के पति, महादेव।

उर्वरा—कृषि योग्य भूमि को व्यक्त करने के लिए क्षेत्र के साथ उर्वरा शब्द का प्रयोग ऋग्वेद तथा परवर्ती साहित्य में होता आया है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में सिंचाई की सहायता से गहरी कृषि का उल्लेख मिलता है। खाद देने का भी वर्णन है। ऋग्वेद के अनुसार क्षेत्र भलीभाँति मापे जाते थे जिससे खेतों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का पता चलता है। क्षेत्रों की विजय उर्वरा-सा 'उर्वराजित्', 'क्षेत्र-सा' का भी उल्लेख है, साथ ही 'क्षेत्रपति' नामक एक देवता की कल्पना में 'उर्वरापति' एक मानवीय उपाधि का आरोप है। ऋग्वेद में क्षेत्रों का उल्लेख संतान के उल्लेख के साथ ही हुआ है तथा संहिताओं में 'क्षेत्राणिसंजि' अर्थात् क्षेत्रों की विजय का उल्लेख है।

पिशेल के मतानुसार क्षेत्र घास के क्षेत्रों से सीमित होता था, जिसे खिल्ल या खिल्य कहते थे। वेदों में साम्प्रदायिक खेती का उल्लेख या सामूहिक सह स्वामित्व का उल्लेख नहीं मिलता। व्यक्तिगत स्वामित्व भी उत्तरकालीन है। छान्दोग्य उप० में धन को व्यक्त करने वाले पदार्थों में क्षेत्र एवं घर कहे गये (आयतनानि) हैं। यवन लेखकों के उद्धरणों से भी व्यक्तिगत स्वामित्व का पता लगता है। प्रायः एक परिवार के सदस्य एक भूभाग में बिना विभाजन के सह स्वामित्व रखते थे। स्वामित्व के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों का सूत्रों के पूर्व अस्तित्व नहीं था। शतपथ ब्राह्मण में पुरोहित को पारिश्रमिक रूप में भूमि दान करने का उल्लेख है। फिर भी भूमि एक विशेष धन थी जिसे आसानी से किसी को न तो दिया जा सकता था और न उसे त्यागा जा सकता था।

उर्वशी—(१) स्वर्गीय अप्सरा, जिसका उल्लेख संस्कृत साहित्य में अनेक स्थलों पर हुआ है। सर्वप्रथम ऋग्वेद

में पुरूरवा-उर्वशी आख्यान में इसका वर्णन पाया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में उर्वशी के ऊपर कई आख्यान हैं। कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशीय' में तो वह नायिका ही है। इन्द्र अपने किसी भी प्रतिद्वन्द्वी की तपस्या भङ्ग करने के लिए मेनका, उर्वशी आदि अप्सराओं का उपयोग करता था।

(२) महान् व्यक्तियों को भी जो वश में कर ले, अथवा नारायण महर्षि के ऊरु (जंघा) स्थान में वास करे उसे उर्वशी कहते हैं। इसकी उत्पत्ति हरिवंश में कही गयी है। उसके अनुसार वह नारायण की जंघा का विदारण करके उत्पन्न हुई थी।

उर्वशीकुण्ड (चरणपादुका)—बदरीनाथ मन्दिर के पीछे पर्वत पर सीधे चढ़ने पर चरणपादुका का स्थान आता है। यहीं से नल लगाकर बदरीनाथ मन्दिर में पानी लाया गया है। चरणपादुका के ऊपर उर्वशीकुण्ड है, जहाँ भगवान् नारायण ने उर्वशी को अपनी जङ्घा से प्रकट किया था। किन्तु यहाँ का मार्ग अत्यन्त कठिन है। इसी पर्वत पर आगे कूर्मतीर्थ, तैमिंगिलतीर्थ तथा नरनारायण आश्रम है। यदि कोई सीधा चढ़ता जाय तो वह इसी पर्वत के ऊपर से 'सत्पथ' पहुँच जायेगा। किन्तु यह मार्ग दुर्गम है।

उरुगाय—ऋग्वेद के विष्णुसूक्त में कथित विष्णु का एक विरुद, जिसका अर्थ है 'जो बहुत लोगों द्वारा गाया जाय।' भगवान् विष्णु अथवा कृष्ण की यह पदवी है:

जिह्वा सती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः।

[हे सूत ! जो बहुगेय भगवान् की कथा नहीं कहता-सुनता उसकी जिह्वा दादुर के समान व्यर्थ है।]

विस्तीर्ण गति के लिए भी इसका प्रयोग हुआ है, जैसे कठोपनिषद् (२.११) में कहा है:

स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।

[हे नचिकेता ! तुमने स्तुत्य और बड़ी ऐश्वर्ययुक्त, विस्तृत गति तथा प्रतिष्ठा को देखकर भी उसे धैर्यपूर्वक त्याग दिया।

उल्कानवमी—एक प्रकार का अभिचार व्रत, जो आश्विन शुक्ल पक्ष की नवमी को किया जाता है। इस तिथि से प्रारम्भ करके एक वर्षपर्यन्त इसमें महिषासुरमर्दिनी की निम्नलिखित मन्त्र से पूजा करनी चाहिए: "महिषघ्नि महामाये०" (भविष्योत्तर पुराण)। इस व्रत का उल्का नाम होने का कारण यह है कि व्रती अपने शत्रु को उल्का जैसा भयंकर प्रतीत होता है। स्त्री यदि यह व्रत करे तो वह अपनी सपत्नी (सौत) के लिए उल्का सी प्रतीत होगी।

उलूक—उल्लू पक्षी, जो लक्ष्मी का वाहन माना गया है। सांसारिक ऐश्वर्य बन्धन का कारण है, जो उसका स्वेच्छा से वरण करता है, वह पारमार्थिक दृष्टि से उलूक (मूर्ख) है। लक्ष्मीप्राप्ति की मन्त्रसाधना में इस पक्षी का सहयोग लिया जाता है। दे० 'उलूकतन्त्र'।

यह पक्षी अपनी उग्र बोली के लिए प्रसिद्ध है तथा इसे नैर्ऋत्य (दुर्भाग्य का सूचक) भी कहते हैं। पूर्व काल में जंगली वृक्षों को अश्वमेधयज्ञ में उलूक दान किये जाते थे, क्योंकि वे वहीं वास करने लगते थे।

उशती—उत्तम वाणी, कल्याणमयी वाणी, वेदवाणी; कामनाशील, स्नेहमयी महिला:

"शूद्रस्येवोशितां गिरम्।" (भागवत), "जायेव पत्य उशती सुवासाः।" (महाभाष्य), "उशतीरिव मातरः।" (आर्जन मन्त्र)।

व्यामिश्र या मोहक वचन: "वर्जयेद् उशतीं वाचम्।" (महाभारत)

उशनस् उपपुराण—अठारह महापुराणों की तरह कम से कम उन्तीस उपपुराण ग्रन्थ हैं। प्रत्येक उपपुराण किसी न किसी महापुराण से निर्गत माना जाता है। उनमें औशनस उपपुराण भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसके रचयिता उशना अर्थात् शुक्राचार्य कहे जाते हैं।

उशनस् काव्य—एक भृगु (कवि) वंशज प्राचीन ऋषि, शुक्राचार्य। ऋग्वेद में इनका सम्बन्ध कुत्स एवं इन्द्र से दिखलाया गया है। पश्चात् इन्होंने असुरों का पुरोहित-पद ग्रहण किया, उन्होंने देवों से प्रतिद्वंद्विता कर ली।

इनके नाम से राजनीति का सम्प्रदाय विकसित हुआ, जिसको कौटिल्य ने औशनस कहा है। दे० अर्थशास्त्र। इसके अनुसार केवल दण्डनीति मात्र ही विद्या है, जबकि अन्य लोग आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता को मिलाकर चार विद्यायें मानते थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनेक स्थलों पर उशना का उल्लेख हुआ है। ये घोर राजनीतिवादी थे। चरकसंहिता (८.५४) में भी 'औशनस अर्थशास्त्र' का उल्लेख है। महाभारत के शान्तिपर्व (५६, ४०—४२; १८०,१०)

में उशना के राजनीतिक विचारों का उद्धरण मिलता है। परम्परा के अनुसार उशना ने बृहस्पतिप्रणीत विशाल ग्रन्थ का एक संक्षिप्त संस्करण तैयार किया था, जो कालक्रम से लुप्त हो गया। कुछ लोगों का मत है कि 'शुक्रनीतिसार' उसी का लघु संस्करण है।

उशना (स्मृतिकार)—यद्यपि मुख्य स्मृतियाँ अठारह हैं, किन्तु इनकी संख्या २८ तक पहुँच जाती है। स्मृतिकारों में उशना भी एक हैं। इस स्मृति में जाति एवं वृत्ति का विधान और अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न संकरजातियों का विचार किया गया है।

उशना—यह नाम शतपथ ब्राह्मण (३.४; ३.१३;४.२; ५.१५) में उस क्षुप (पौधे) के अर्थ में व्यवहृत हुआ है जिससे सोमरस तैयार किया जाता था।

उषा—यह शब्द 'वस्' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'चमकना' है। इसकी दूसरी व्युत्पत्ति है 'ओषंति नाशयत्यन्धकारम्' (अन्धकार को नाशती है)। प्रकृति के एक अत्यन्त मनोरम दृश्य अरुणोदय के रूप में उषा का वर्णन एक युवती महिला के रूप में कवियों ने किया है। वैदिक सूक्तों के अन्तर्गत उषा का निरूपण सुन्दरतम रचना मानी जाती है, जहाँ इन्द्र का गुण बल, अग्नि का गुण पौरोहित्य-ज्ञान तथा वरुण का गुण नैतिक शासन है। उषा का गुण उसका स्त्रीसुलभ आकर्षक स्वरूप है। उषा का वर्णन २१ ऋचाओं में हुआ है।

एक ही उषा देवी का प्रातःकालीन बेलाओं में देखा जाने वाला विविध शोभामय रूप है। वह सुन्दर युवती है, सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत है तथा सुजाता है। वह मुस्कराती, गाती एवं नाचती है तथा अपने मनमोहक रूप को दिखाती है। यदि इन्द्र राजा का प्रतिनिधित्व करता है तो उषा तदनुरूप महिला रानी की प्रतिनिधि है।

उषा रात्रि के काले वस्त्रों को दूर करती है, बुरे स्वप्नों को भगाती, बुरी आत्माओं (भूत-प्रेतादि) से रक्षा करती है। वह स्वर्ग का द्वार खोल देती, आकाश के छोर को प्रकाशित करती तथा प्रकृति के भण्डारों को, जिन्हें रात छिपाये रखती है, स्पष्ट कर देती है तथा सभी के लिए सदयता से उन्हें बिखेर देती है।

उषा वरदान की देवी है। जब उसका प्रातः उदय होता है, प्रार्थना की जाती है—"दानशीलता का उदय करो, प्राचुर्य का उदय करो।" वह क्षण-क्षण रूप बदलने वाली महिला है, क्योंकि हर क्षण वह अपना नया आकर्षण सभी के लिए उपस्थित करती है। हर प्रातःकाल वह अपने इस रूप के भण्डार को लुटाती तथा हर एक को उसका 'भाग' प्रदान करती है।

उषा का नियमित रूप से पूर्व में उदय उसे 'ऋत' का रूप प्रमाणित करता है। वह 'ऋत' में उत्पन्न हुई तथा ऋत की रक्षा करने वाली है। वह ऋत की उपेक्षा न करते हुए नित्य उसी स्थान पर आती है। उषा का पूर्व में उदय प्रत्येक उपासक को जगाता है कि वह अपने यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करे।

उषा का सूर्य से निकट का सम्बन्ध है। सूर्य के पूर्व उदित होने के कारण, इसे सूर्य की माता कहा गया है। किन्तु सूर्य उषा का पीछा उसी प्रकार करता है, जैसे नवयुवक युवती का। इस दृष्टिबिन्दु से उषा सूर्य की पत्नी कहलाती है। इन्द्र का प्रकटीकरण बादल की गरज एवं विद्युत्-ध्वनि में होता है। उषा अपनी प्रातःकालीन पूर्वी लालिमा (सुनहरे रंग) के रूप में उसी प्रकार सुकुमार स्त्री रूपिणी है, जैसे इन्द्र कठोर एवं पुरुष रूपी। अग्नि वैदिक पुरोहित, इन्द्र वैदिक योद्धा एवं उषा वैदिक नारी है। पौराणिक कल्पना में उषा सूर्य की पत्नियों—संज्ञाछाया, उषा और प्रत्यूषा—में से एक है। सूर्य की परिवार मूर्तियों में इसका अंकन होता है और सूर्य के पार्श्व में यह अन्धकार रूपी राक्षसों पर बाणप्रहार करती हुई दिखायी जाती है।

[दे० ऋ० ४.५१; १.११३; ७.७९; १.२४; ४.५४; १.११५; १०.५८।]

उषःकाल—(१) सूर्योदय से पाँच घड़ी पूर्व का काल अथवा पूर्व दिवसीय सूर्योदय से ५५ घड़ी बाद का समय। यथा

पञ्च पञ्च उषःकालः सप्त पञ्चारुणोदयः।
अष्ट पञ्च भवेत् प्रातः शेषः सूर्योदयो मतः॥

[पहले दिन की ५५ घड़ी बीतने पर उषःकाल, ५७ घड़ी बीतने पर अरुणोदय और ५८ घड़ी के बाद सूर्योदय काल माना गया है।] (कृत्यसारसमुच्चय)। उषःकाल का धार्मिक कृत्यों के लिए बड़ा महत्त्व है।

(२) रात्रि का अवसान भी उषःकाल कहलाता है। वह नक्षत्रों के प्रकाश की मन्दता से लेकर सूर्य के अर्धोदय तक रहता है। तिथितत्त्व में वराह का कथन है :

अर्धास्तमयात् संध्या व्यक्तीभूता न तारका यावत् ।
तेजःपरिहानिरुषा भानोरर्धोदयं यावत् ॥

[सूर्य के अर्धास्तमन से लेकर जब तक तारे न दिखाई दें इस बीच के समय को सन्ध्या कहते हैं तथा ताराओं के तेज के मन्द होने से लेकर सूर्य के अर्धोदय तक के समय को उषःकाल कहते हैं ।]

उषापति—उषा का पति अनिरुद्ध । यह कामदेव के अवतार प्रद्युम्न यादव का पुत्र माना जाता है । उषा बाणासुर की पुत्री थी । पहले दोनों का गान्धर्व विवाह हुआ था, पुनः कृष्ण-बलराम आदि ने युद्ध में बाणासुर को पराजित कर उसे धूम-धाम के साथ विवाह करने को विवश कर दिया । (आधुनिक विचारकों के अनुसार बाणासुर असीरिया देश का प्रतापी शासक था ।)

उष्णीष—शिरोवेष्टन, वैदिक भारतीयों द्वारा व्यवहृत पगड़ी, जिसे पुरुष अथवा स्त्री समान रूप से व्यवहार करते थे । दे० ऐ० ब्रा०, ६.१; शत० ब्रा०, ३.३; २. ३; ४. ५. २. ७;२.१.८ (इन्द्राणी का उष्णीष) आदि एवं काठक संहिता, १३.१० । व्रात्यों के उष्णीष का अथर्ववेद (१५.२.१) एवं पञ्चविंश ब्रा० (१७. १.१४;१६. ६. १३) में प्रचुर उल्लेख मिलता है । वाजपेय (शतपथ ब्रा० ५. ३. ५. ३३) तथा राजसूय (मैत्रायणी सं० ४. ४. ३) यज्ञों में राजपद के चिह्न रूप में राजा द्वारा उष्णीष धारण किया जाता था । शिरोभूषा के रूप में देवताओं को भी उष्णीष दिखलाया जाता है । भावप्रकाश में कथन है :

उष्णीषं कान्तिकृत् केश्यं रजोवातकफापहम् ।
लघु चेच्छस्यते यस्माद् गुरु पित्ताक्षिरोगकृत् ॥

[पगड़ी शोभा बढ़ाती है और बालों का हित करती है । वात, पित्त, कफ सम्बन्धी रोगों से बचाती है । छोटी पगड़ी अच्छी होती है, बड़ी पगड़ी पित्त तथा आँखों के रोगों को बढ़ाती है ।]

उष्णीष धारण माङ्गलिक माना जाता है । शुभ अवसरों पर इसका धारण शिष्टाचार का एक आवश्यक अङ्ग है ।

ऊ

ऊ—स्वरवर्ण का षष्ठ अक्षर । कामधेनुतन्त्र में इसका तन्त्रात्मक महत्त्व निम्नांकित है :

शङ्खकुन्दसमाकारं ऊकारं परमकुण्डली ।
पञ्चप्राणमयं वर्णं पञ्चदेवमयं सदा ॥
पञ्चप्राणयुतं वर्णं पीतविद्युल्लता तथा ।
धर्मार्थकाममोक्षञ्च सदा सुखप्रदायकम् ॥

[ऊ अक्षर शङ्ख तथा कुन्द के समान श्वेतवर्ण का है । परम कुण्डलिनी (शक्ति का अधिष्ठान) है । यह पञ्च प्राणमय तथा पञ्च देवमय है । पाँच प्राणों से संयुक्त यह वर्ण पीत विद्युत् की लता के समान है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और सुख को सदा देनेवाला है ।] वर्णोद्धारतन्त्र में इसके निम्नलिखित नाम हैं :

ऊः कण्ठको रातः शान्तः क्रोधनो मधुसूदनः ।
कामराजः कुजेशश्च महेशो वामकर्णकः ॥
अर्घीशो भैरवः सूक्ष्मो दीर्घघोषा सरस्वती ।
विलासिनी विघ्नकर्ता लक्ष्मणो रूपकर्षिणी ॥
महाविद्येश्वरी षष्ठा षण्ढो भूः कान्यकुब्जकः ॥

ऊर्णा—ऊन; भेड़ आदि के रोम । भौंहों का मध्यभाग भी ऊर्णा कहलाता है । दोनों भौंहों के मध्य में मृणालतन्तुओं के समान सूक्ष्म सुन्दर आकार की उठी हुई रेखा महापुरुषों का लक्षण है । यह चक्रवर्ती राजा तथा महान् योगियों के ललाट में भी होती है । योगमूर्तियों के ललाट में ऊर्णा अङ्कित की जाती है । वह ध्यान का प्रतीक है ।

ऊर्णनाभ—एक प्राचीन निरुक्तकार, जिनका उल्लेख यास्क ने निघण्टु की व्याख्या में किया है ।

ऊर्ध्वपुण्ड्र—चन्दन आदि के द्वारा ललाट पर ऊपर की ओर खींची गयी पत्राकार रेखा । यथा :

ऊर्ध्वपुण्ड्रं द्विजः कुर्याद्वारिमृद्भस्मचन्दनैः ।

[ब्राह्मण जल, मिट्टी, भस्म और चन्दन से ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक करे ।]

ऊर्ध्वपुण्ड्रं द्विजः कुर्यात् क्षत्रियस्तु त्रिपुण्ड्रकम् ।
अर्द्धचन्द्रन्तु वैश्यश्च वर्तुलं शूद्रयोनिजः ॥

[ब्राह्मण ऊर्ध्वपुण्ड्र, क्षत्रिय त्रिपुण्ड्र, वैश्य अर्धचन्द्र, शूद्र वर्तुलाकार चन्दन लगाये ।]

विविध आकारों में सभी सनातनधर्मी व्यक्तियों द्वारा तिलक लगाया जाता है । किन्तु ऊर्ध्वपुण्ड्र वैष्णव सम्प्रदाय का विशेष चिह्न है । वासुदेव तथा गोपीचन्दन उपनिषदों (भागवत ग्रन्थों) में इसका प्रशंसात्मक वर्णन पाया जाता है । यह गोपीचन्दन से ललाट पर एक, दो या तीन खड़ी लम्ब रेखाओं के रूप में बनाया जाता है ।

देवप्रसादी चन्दन, रोली, गंगा की या तुलसीमूल की रज या आरती की भस्म से भी ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक किया जाता है। प्रसादी कुंकुम या रोली से मस्तक के मध्य एक रेखा बनाना लक्ष्मी या श्री का रूप कहा जाता है। पत्राकार दो रेखाएँ बनाना भगवान् का चरणचिह्न माना जाता है। ॐकार की चौथी मात्रा अर्धचन्द्र और बिन्दु के लम्ब रूप में भी वह होता है।

ऊर्ध्वमेढ़्—शिव का एक पर्याय। इसका शाब्दिक अर्थ है जिसका मेढ़ (लिङ्ग) ऊपर की ओर हो। लिङ्ग निर्वात स्थान में स्थिर दीपशिखा के समान निश्चित ज्ञान का प्रतीक है। शिव ज्ञान के सन्दोह हैं। स्कन्द पुराण आदि कई ग्रन्थों में ऊर्ध्वमेढ़् शिव की कथाएँ पायी जाती हैं।

ऊर्ध्वरेता—अखण्ड ब्रह्मचारी; जिसका वीर्य नीचे पतित न होकर देह के ऊपरी भाग में स्थिर हो जाय। सनकादि, शुकदेव, नारद, भीष्म आदि। भीष्म ने पिता के अभीष्ट विवाह के लिए अपना विवाह त्याग दिया। अतः वे आजीवन ब्रह्मचारी रहने के कारण ऊर्ध्वरेता नाम से ख्यात हो गये।

यह शंकर का भी एक नाम है :

ऊर्ध्वरेता ऊर्ध्वलिङ्ग ऊर्ध्वशायी नभःस्थलः।

[ऊर्ध्वरेता, ऊर्ध्वलिङ्ग, ऊर्ध्वशायी, नभस्थल।]

ऊषीमठ—हिमालय प्रदेश का एक तीर्थ स्थल। जाड़ों में केदारक्षेत्र हिमाच्छादित हो जाता है। उस समय केदारनाथजी की चल मूर्ति यहाँ आ जाती है। यहीं शीतकाल भर उनकी पूजा होती है। यहाँ मन्दिर के भीतर बदरीनाथ, तुङ्गनाथ, ओंकारेश्वर, केदारनाथ, ऊषा, अनिरुद्ध, मान्धाता तथा सत्ययुग-त्रेता-द्वापर की मूर्तियाँ एवं अन्य कई मूर्तियाँ हैं।

ऋ

ऋ—स्वरवर्ण का सप्तम अक्षर। कामधेनुतन्त्र में इसका तान्त्रिक माहात्म्य अधोलिखित है :

ऋकारं परमेशानि कुण्डली मूर्तिमान् स्वयम्।
अत्र ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्रश्चैव वरानने॥
सदा शिवयुतं वर्णं सदा ईश्वर संयुतम्।
पञ्च वर्णमयं वर्णं चतुर्ज्ञानमयं तथा॥
रक्तविद्युल्लताकारं ऋकारं प्रणमाम्यहम्॥

[हे देवी ! ऋ अक्षर स्वयं मूर्तिमान् कुण्डली है। इसमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सदा वास करते हैं। यह सदा शिवयुत और ईश्वर से संयुक्त रहता है। यह पञ्चवर्णमय तथा चतुर्ज्ञानमय है, रक्त विद्युत् की लता के समान है। इसको प्रणाम करता हूँ।]

वर्णोद्धार तन्त्र में इसके निम्नांकित नाम बतलाये गये हैं :

ऋः पूर्दोपमुखी रुद्रो देवमाता त्रिविक्रमः।
भावभूतिः क्रिया क्रूरा रेचिका नाशिका धृतः॥
एकपाद शिरो माला मण्डला शान्तिनी जलम्।
कर्णः कामलता मेधा निवृत्तिर्गणनायकः॥
रोहिणी शिवदूती च पूर्णगिरिश्च सप्तमे॥

ऋक्—प्राचीन वैदिक काल में देवताओं के सम्मानार्थ उनकी जो स्तुतियाँ की जाती थीं, उन्हें ऋक् या ऋचा कहते थे। ऋग्वेद ऐसी ही ऋचाओं का संग्रह है। इसीलिए इसका यह नाम पड़ा। दे० 'ऋग्वेद'।

अथर्वसंहिता के मत से यज्ञ के उच्छिष्ट (शेष) में से यजुर्वेद के साथ-साथ ऋक्, साम, छन्द और पुराण उत्पन्न हुए। बृहदारण्यक उ० और शतपथ ब्राह्मण में लिखा है : 'गीली लकड़ी में से निकलती हुई अग्नि से जैसे अलग-अलग धुआँ निकलता है, उसी तरह उस महाभूत के निःश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान निकलते हैं : ये सभी इसके निःश्वास हैं।'

ऋक् ज्यौतिष—ज्योतिर्वेदाङ्ग पर तीन ग्रन्थ बहुत प्राचीन काल के मिलते हैं। पहला ऋक् ज्यौतिष, दूसरा यजुःज्यौतिष और तीसरा अथर्व ज्यौतिष। ऋक् ज्यौतिष के लेखक लगध हैं। इसको 'वेदाङ्गज्योतिष' भी कहते हैं।

ऋक्थ—पैतृक धन, सुवर्ण :

हिरण्यं द्रविणं द्युम्नं विक्थमृक्थं धनं वसु।
(शब्दार्णव)

'ऋक्थमूलं हि कुटुम्बम्।' (याज्ञवल्क्य)

[पैतृक सम्पत्ति ही कुटुम्ब का मूल है।]

तात्पर्य यह है कि कुटुम्ब उन सदस्यों से बना है जिनका ऋक्थ पाने का अधिकार है। उन्हीं को इसका अधिकार होता है जो कौटुम्बिक धार्मिक क्रियाओं को करने के अधिकारी हैं। इसीलिए धर्मपरिवर्तन करने वालों को ऋक्थ पाने का अधिकार नहीं था। अब धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था में धर्मपरिवर्तन ऋक्थ प्राप्ति में बाधक नहीं है।

ऋक्प्रातिशाख्य—वेदों के अनेक प्रकार के स्वरों, उच्चारण,

पदों के क्रम और विच्छेद आदि का निर्णय शाखा के जिन विशेष ग्रन्थों द्वारा होता है उन्हें प्रातिशाख्य कहते हैं। वेदाध्ययन के लिए अत्यन्त पूर्वकाल में ऋषियों ने पढ़ने की ध्वनि, अक्षर, स्वरादि विशेषता का निश्चय करके अपनी-अपनी शाखा की परम्परा निश्चित कर दी थी। इस विभेद को स्मरण रखने और अपनी परम्परा की रक्षा के लिए प्रातिशाख्य ग्रन्थ बने। इन्हीं प्रातिशाख्यों में शिक्षा तथा व्याकरण दोनों पाये जाते हैं।

एक समय था जब वेद की सभी शाखाओं के प्रातिशाख्यों का प्रचलन था और सभी उपलब्ध भी थे। परन्तु अब केवल ऋग्वेद की शाकल शाखा का शौनकरचित ऋक्-प्रातिशाख्य, यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, वाजसनेयी शाखा का कात्यायनरचित वाजसनेय प्रातिशाख्य, सामवेद का पुष्यमुनि रचित सामप्रातिशाख्य और अथर्वप्रातिशाख्य वा शौनकीय चतुरध्यायी उपलब्ध हैं। शौनक के ऋक्प्रातिशाख्य में तीन काण्ड, छः पटल और १०३ कण्डिकाएँ हैं। इस प्रातिशाख्य का परिशिष्ट रूप 'उपलेख सूत्र' नामक एक ग्रन्थ मिलता है। पहले विष्णुपुत्र ने इसका भाष्य रचा था। इसको देखकर उव्वटाचार्य ने इसका विस्तृत भाष्य लिखा है।

ऋक्ष—रीछ या भालू। ऋग्वेद में ऋक्ष शब्द एक बार तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में कदाचित् ही प्रयुक्त हुआ है। स्पष्टतः यह जन्तु वैदिक भारत में बहुत कम पाया जाता था। इस शब्द का बहुवचन में प्रयोग 'सप्त ऋषियों' के अर्थ में भी कम ही हुआ है। ऋग्वेद में दानस्तुति के एक मन्त्र में 'ऋक्ष' एक संरक्षक का नाम है, जिसके पुत्र आर्क्ष का उल्लेख दूसरे मन्त्र में आया है।

परवर्ती काल में नक्षत्रों के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। रामायण तथा पुराणों की कई गाथाओं में ऋक्ष एक जाति विशेष का नाम है। ऋक्षों ने रावण से युद्ध करने में राम की सहायता की थी।

ऋग्विधान—इस ग्रन्थ की गणना ऋग्वेद के पूरक साहित्य में की जाती है। इसके रचयिता शौनक थे।

ऋग्भाष्य—ऋग्वेद के ऊपर लिखे गये भाष्यसाहित्य का सामूहिक नाम ऋग्भाष्य है। ऋग्वेद के अर्थ को स्पष्ट करने के सम्बन्ध में दो ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन समझे जाते हैं। एक निघण्टु है और दूसरा यास्क का निरुक्त। देवराज यज्वा निघण्टु के टीकाकार हैं। दुर्गाचार्य ने निरुक्त पर अपनी सुप्रसिद्ध वृत्ति लिखी है। निघण्टु की टीका वेदभाष्य करने वाले एक स्कन्दस्वामी के नाम से भी पायी जाती है। सायणाचार्य वेद के परवर्ती भाष्यकार हैं। यास्क के समय से लेकर सायण के समय तक विशेष रूप से कोई भाष्यकार प्रसिद्ध नहीं हुआ।

वेदान्तमार्गी लोग संहिता की व्याख्या की ओर विशेष रुचि नहीं रखते, फिर भी वैष्णव संप्रदाय के एक आचार्य आनन्द तीर्थ (मध्वाचार्य स्वामी) ने ऋग्वेदसंहिता के कुछ अंशों का श्लोकमय भाष्य किया था। फिर रामचन्द्र तीर्थ ने उस भाष्य की टीका रची थी। सायण ने अपने विस्तृत 'ऋग्भाष्य' में भट्टभास्कर मिश्र और भरतस्वामी—वेद के दो भाष्यकारों का उल्लेख किया है। कतिपय अंश चण्डू पण्डित, चतुर्वेद स्वामी, युवराज रावण और वरदराज के भाष्यों के भी पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त मुद्गल, कपर्दी, आत्मानन्द और कौशिक आदि कुछ भाष्यकारों के नाम भी सुनने में आते हैं।

ऋग्वेद—वेद चार हैं, उनमें से ऋग्वेद सबसे प्रमुख और मौलिक है। क्योंकि सम्पूर्ण सामवेद और यजुर्वेद का पद्यात्मक अंश तथा अथर्ववेद के कतिपय अंश ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। पातञ्जल महाभाष्य (पस्पशाह्निक) के अनुसार ऋग्वेद की इक्कीस संहिताएँ थीं। किन्तु आजकल केवल एक ही शाकल संहिता उपलब्ध है जिसमें १०२८ सूक्त (११ वालखिल्यों को लेकर) हैं। शाकल संहिता का दो प्रकार से विभाजन किया गया है। प्रथमतः यह मण्डल, अनुवाक और वर्ग में विभाजित है, जिसके अनुसार इसमें १० मण्डल, ८५ अनुवाक और २००८ वर्ग हैं। दूसरे विभाजन के अनुसार इसमें ८ अष्टक, ६४ अध्याय और १०२८ सूक्त हैं। प्रत्येक सूक्त के ऋषि, देवता और छन्द विभिन्न हैं। ऋषि वह है जिसको मन्त्र का प्रथम साक्षात्कार हुआ था। (आधुनिक भाषा में ऋषि वह था जिसने उस सूक्त की रचना की अथवा परम्परा से उसे ग्रहण किया था।) सूक्त का वर्णनीय विषय देवता होता है। छन्द विशेष प्रकार का पद्य होता है जिसमें सूक्त की रचना हुई है।

व्याख्यान और अध्यापन के क्रम से ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ बतलायी गयी हैं—(१) शाकल, (२) वाष्कल, (३) आश्वलायन, (४) शाङ्खायन और

(५) माण्डूकेय । कुछ विद्वानों के अनुसार इसकी सत्ताईस शाखाएँ थीं, जिनके नाम निम्नाङ्कित हैं :

१. मुद्गल
२. गालव
३. शालीय
४. वात्स्य
५. रौशिरि
६. बोध्य
७. अग्निमाठर
८. पराशर
९. जातूकर्ण्य
१०. शाङ्खायन
११. आश्वलायन
१२. कौषीतकि
१३. महाकौषीतकि
१४. शाम्व्य
१५. माण्डूक्य
१६. बह्वृच
१७. पैङ्ग्य
१८. उद्दालक
१९. शतबलाक्ष
२०. गज
२१. वाष्कलि
२२. ,,
२३. ,,
२४. ऐतरेय
२५. वसिष्ठ
२६. सुलभ
२७. शौनक

दे० पं० भगवद्दत्त : वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १. पृ० १३१ ।

ऋग्वेद के ऋषियों के नाम निम्नाङ्कित हैं :

मधुच्छन्दा
जेत
मेधातिथि
शुनःशेप
हिरण्यस्तूप
कण्व
प्रस्कण्व
सव्य
नोधा·
पराशर
गोतम
कुत्स
कश्यप
ऋज्राश्व
त्रित
कक्षीवान्
भावयव्य
रोमश
परुच्छेय
बुध
अवस्यु
प्रगाथकण्व
ययाति
अपाला

दीर्घतमा
अगस्त्य
इन्द्र
मरुत्
लोपामुद्रा
गृत्समद
सोमहूति
कूर्म
विश्वामित्र
ऋषभ
उत्कल
कट
देवश्रवा
देवव्रत
प्रजापति
वामदेव
अदिति
त्रसदस्यु
पुरुमिल्ल
बभ्रु
गतु
द्युम्निक
संवरण
नहुष

कुमार
ईश
सुतम्भरा
धरुण
वव्रि
पुरु
द्वित
त्रैतन
शश
विश्वसाम
द्युम्न
विश्वचर्षणि
गोपपणि
वसुयु
त्र्यारुण
अश्वमेध
अत्रि
विश्ववर
गौरवीति
गविष्ठिर
प्रभु
पुनर्वत्स
नृमेध
पृथु

वसु
चक्षुः
सप्तर्षि
कवि
पूतदक्ष
प्रतिक्षत्र
ऊर्ध्वसद्म
अमहीयु
रेहजमदग्नि
पुरुहन
शिशु
वैखानस
त्रिशिरा
पुष्टिगु
हर्यश्व
शङ्ख
हरिमन्थ
वेन
मातरिश्वा
कुरुस्तुत्
मथित
गृत्समद
प्रतर्दन
असित
कुसीदी
अभितया
अम्बरीष
इध्मवाह
विश्वक्
सप्तगु
यज्ञ
भूतांश
गौपवन
कपोत
ऋष्यशृङ्ग
जुहु
जरत्कारु
विभ्राजा

रहूगण
क्षुतकक्ष
सुकक्ष
अत्रिभूय
गौरी
उतथ्य
तिरश्चि
प्रतिरथ
कृशाश्व
निध्रुवि
नेम
सुदीति
अत्रि
पवित्र
श्रुष्टिगु
गोपवन
दमन
देवश्रवा
अकृष्टपच्या
कृष
कृत्नु
च्यवन
वसुक्र
व्याघ्रपात्
देवल
उशना काव्य
घोषा
ऋजिश्वा
श्यावाश्व
वैकुण्ठ
विवृहा
सुदास
सरमा
नाभानेदिष्ट
अनिला
विषाणक
राम
स्यूमरश्मि

शिखण्डिनी
बृहन्मति
अयास्य
विन्दु
आवत्सार
रीति
आवत्सारक्ष
द्युतान
प्रतिभानु
ऋणञ्चय
भृगु
पुरुमीढ
यम
यमी
रेणु
आयु
सप्तवध्रि
विरूप
संसुक
अजा
पृषध्र
सुपर्ण
एकत
लुभ
कर्णश्रुत
दृढच्युत
कृष्ण
सुहस्त्य
नेमसूनु
अप्रतिरथ
बृहत्कथ
प्रचेता
मान्धाता
पणि
सुमित्र
शबरा
विप्रजूति
उष्ट्रदंश

व्यङ्ग
नभप्रभेदन
मूर्धन्वान्
ध्रुव
अग्नितापस
धर्म
अर्बुद
पतङ्ग
पृथुबन्धु
भिक्षु
सर्वहरि
सप्तधृति
श्रद्धा
इन्द्रमाता
शिरिम्बिठ
केतु
बाभ्रव्य
स्वस्ति
यक्ष्मनाशन
विहव्य
रातहव्य
यजत
उरुचक्रि
बहुवृक्त
पौर
अवस्यु
देवापि
भरद्वाज
नारद
शुनहोत्र
इरिम्बिठ
गर्ग
वैवस्वत मनु
वसिष्ठ
सहस्रवसु
शक्ति

इत
विश्वावसु
शतप्रभेदन
शर्याति
अभीवर्त
द्रोण
उपस्तुत्
पुरूरवा
अरिष्टनेमि
सुवेद
उरुक्षय
भिषक्
श्येन
सार्पराज्ञि
अघमर्षण
सवन
कुलमल
दुवस्यु
नाभाग
रक्षोहा
मेधातिथि
असङ्ग
शश्वति
देवातिथि
ब्रह्मातिथि
वत्स
यवापमरुत्
शशकर्ण
सुहोत्र
अश्वसूक्ति
शंयु
विश्वमना
पायु
निपतिथि
वशिष्ठ
वाशिष्ठ

विश्वकर्मा
संवर्त
अग्निपावक
साधि
तान्व
ऊर्ध्वग्रीव
साम्बमित्र
अग्निपूत
उर्वशी
शिबि
मण्डूक
लव
बृहद्दिव
हिरण्यगर्भ
चित्रमहा
प्रतिप्रभ
भुवन
बर्हिष
मुद्गल
श्रुतविद्
त्रिशंकु
भर्ग
कलि
मत्स्य
मान्य
मन्यु
साध्वस
वीतहव्य
गोषूक्ति
नर
सौभरि
ऋजिस्वा
कश्यप
मैत्रावरुणि
रोचिशा
श्यावाश्व

जिन देवताओं की स्तुति ऋग्वेद में की गयी है उनकी सूची निम्नलिखित है :

अग्नि
वायु
धेनु
पृथ्वी
वरुण
वास्तोष्पति
सरस्वान्
सविता
अश्विनौ
पितर
सरमापुत्र
सोमक
रुद्र
आप्त्य
आप्री
वैकुण्ठ
दधिक्रा
सिन्धु
त्वष्टा
ज्ञान
रोमशा
दक्षिणा
अरण्यानी
अत्रि
काले
वरुणानी
पर्जन्य

अग्नायी
इन्द्र
अन्न
वनस्पति
विष्णु
पूषा
इन्द्रावरुण
चित्र
कपिञ्जल
उषा
अर्यमा
विश्वेदेव
मृत्यु
वामदेव
सूर्य
ऋतु
आत्मा
क्षेत्रपति
स्वनय
ब्रह्मणस्पति
घृत
बृहस्पति
ऋभु
श्रद्धा
देवी
साध्य
तार्क्ष्य

रति
द्यौ
प्रस्तोक
पृश्णि
राका
सिनीवाली
आयु
मित्रावरुण
सोम पितृमान्
यूप
पर्वत
आदित्य
सरस्वती
धाता
उच्चैःश्रवा
वैश्वानर
मरुत्
निर्ऋति
सीता
सोम
ओषधि
उशना
वाक्
इन्द्राणी
शची
मायाभेद

ऋग्वेद में आये हुए छन्दों के नाम अधोलिखित हैं :

अभिसारिणी
अनुष्टुप्
अष्टि
अस्तारपङ्क्ति
अतिधृति
अतिजगती
अतिनिचृत्
अत्यष्टि

मध्येज्योतिष्मती
महाबृहती
महापदपङ्क्ति
महापङ्क्ति
सतोबृहती
महासतोबृहती
नष्टरूपा
न्यङ्कुसारिणी

पुरौष्णिक्
स्कन्धोग्रीवी
तनुशिरा
त्रिष्टुप्
उपरिष्टाद्बृहती
उपरिष्टाज्ज्योति
ऊर्ध्वबृहती
उरोबृहती

बृहती
विष्टारपङ्क्ति
उष्णिग्गर्या
उष्णिक्
वर्धमाना
विपरीता
विराड्रूपा
विराट्
विराट्पूर्वा
विराट्स्थाना
विष्टारबृहती
पादनिचृत्
चतुर्विंशतिक
द्विपदी
धृति
द्विपदाविराट्
एकपदात्रिष्टुप्
एकपदाविराट्
गायत्री
जगती
ककुप्
कृति
पदपङ्क्ति
पङ्क्ति
पङ्क्त्युत्तरा
पिपीलिकमध्या
प्रगाथ
प्रस्तारपङ्क्ति
प्रतिष्ठा
पुरस्ताद्
बृहती
यवमध्या

ऋग्वेद में देवतातत्त्व के अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का वर्णन हुआ है। सम्पूर्ण विश्व का किसी न किसी 'दैवत' के रूप में ग्रहण है। मुख्य देवताओं को स्थानक्रम से तीन वर्गों—(१) भूमिस्थानीय, (२) अन्तरिक्षस्थानीय तथा (३) व्योमस्थानीय में बाँटा गया है। इसी प्रकार परिवारक्रम से देवताओं के तीन वर्ग हैं—(१) आदित्यवर्ग (सूर्य परिवार), (२) वसुवर्ग तथा (३) रुद्रवर्ग। इनके अतिरिक्त कुछ भावात्मक देवता भी हैं, जैसे श्रद्धा, मन्यु, वाक् आदि। बहुत से ऋषिपरिवारों का भी देवीकरण हुआ है, जैसे ऋभु आदि। नदी, पर्वत, यज्ञपात्र, यज्ञ के अन्य उपकरणों का भी देवीकरण किया गया है।

ऋग्वेद के देवमण्डल को देखकर अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इसमें बहुदेववाद का ही प्रतिपादन किया गया है। परन्तु यह मत गलत है। वास्तव में देवमण्डल के सभी देवता एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं हैं; अपितु वे एक ही मूल सत्ता के दृश्य जगत् में व्यक्त विविध रूप हैं। सत्ता एक ही है। स्वयं ऋग्वेद में कहा गया है :

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति.
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।'

[मूल सत्ता एक ही है। उसी को विप्र (विद्वान्) अनेक प्रकार से (अनेक रूपों में) कहते हैं। उसी को अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि कहा गया है।] वरुण, इन्द्र, सोम, सविता, प्रजापति, त्वष्टा आदि भी उसी के नाम हैं।

एक ही सत्ता से सम्पूर्ण विश्व का उद्भव कैसे हुआ है, इसका वर्णन ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०.९०) में विराट् पुरुष के रूपक से बहुत सुन्दर रूप में हुआ है। इसके कुछ मन्त्र नीचे दिये जाते हैं :

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥

[पुरुष (विश्व में पूर्ण होने वाली अथवा व्याप्त सत्ता) सहस्र (असंख्यात अथवा अनन्त) सिर वाला, सहस्र आँख वाला तथा सहस्र पाँव वाला है। वह भूमि (जगत्) को सभी ओर से घेरकर भी इसका अतिक्रमण दस अंगुल से किये हुए है। अर्थात् पुरुष इस जगत् में समाप्त न होकर इसके भीतर और परे दोनों ओर है।]

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

[जितना भी विश्व का विस्तार है वह सब इसी विराट्-पुरुष की महिमा है। यह पुरुष अनन्त महिमा वाला है। इसके एक पाद (चतुर्थांश = कियदंश) में ही सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। इसके अमृतमय तीन पाद (अधिकांश) प्रकाशमय लोक को आलोकित कर रहे हैं।]

तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥७॥

[उसी सर्वहुत यज्ञ (विश्व के लिए पूर्ण रूपेण अर्पित सत्ता) से ऋक् और साम उत्पन्न हुए। उसी से छन्द (स्वतन्त्र ध्वनि) उत्पन्न हुए और उसी से यजुः भी।]

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किम्बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥

[जिस पुरुष का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है उसका मुख क्या था, बाहु क्या, जंघा क्या और पाँव क्या थे ?]

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥११॥

[ब्राह्मण इसका मुख था, राजन्य (क्षत्रिय) इसकी भुजाएँ थीं, जो वैश्य (सामान्य जनता) है वह इसकी जंघा थी; इसके पाँवों से शूद्र उत्पन्न हुआ। अर्थात् सम्पूर्ण समाज विराट् पुरुष से ही उत्पन्न हुआ और उसी का अङ्गभूत है।]

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः
सन्ति देवाः ॥१६॥

[देवों (दिव्य शक्तिवाले पुरुषों) ने यज्ञ से ही यज्ञ का अनुष्ठान किया, अर्थात् विश्वकल्याणी मूल सत्ता का ही विश्वहित में विस्तार किया । यज्ञ के जो नियम बने वे ही प्रथम धर्म हुए । जो इस विराट् पुरुष की उपासना करनेवाले लोग हैं वे ही आदरणीय देवता हैं ।]

ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' (अष्टक ८, अध्याय ७, वर्ग १७) में गूढ़ दार्शनिक प्रश्न उठाये गये हैं :

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमाऽपरो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्-
नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद् धान्यन्न परः किञ्चनास ॥२॥
तम आसीत् तमसा गूढमग्रे
ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्यपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्
अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्
स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥५॥
को अद्धा वेद क इह प्रावोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा
को वेद यत आबभूव ॥६॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्
सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

[उस समय न तो असत् (शून्य रूप आकाश) था और न सत् (सत्त्व, रज तथा तम मिलाकर प्रधान) था । उस समय रज (परमाणु) भी नहीं थे और न विराट व्योम (सबको धारण करने वाला स्थान) था । यह जो वर्तमान जगत् है वह अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढँक सकता और न उससे अधिक अथाह हो सकता है, जैसे कुहरे का जल न तो पृथ्वी को ढँक सकता है और न नदी में उससे प्रवाह चल सकता है । जब यह जगत् नहीं था तो मृत्यु भी न थी और न अमृत था । न रात थी और न दिन था । एक ही सत्ता थी, जहाँ वायु की गति नहीं है । वह सत्ता स्वयं अपने प्राण से प्राणित थी । उस सत्ता के अतिरिक्त कुछ नहीं था । तम था । इसी तम से ढँका हुआ वह सब कुछ था—चिह्न और विभाग रहित । वह अदेश और अकाल में सर्वत्र सम और विषय भाव से नितान्त एक में मिला और फैला हुआ था । जो कुछ सत्ता थी वह शून्यता से ढँकी थी—आकारहीन । तब तपस् की महान् शक्ति से सर्वप्रथम एक की उत्पत्ति हुई । सबसे पहले (विश्व के विस्तार की) कामना उठ खड़ी हुई । जब ऋषियों ने विचार और जिज्ञासा की तो उनको पता लगा कि यही कामना सत् और असत् को बाँधने का कारण हुई । सत् और असत् की विभाजक रेखा तिर्यक् रूप से फैल गयी । इसके नीचे और ऊपर क्या था ? अत्यन्त शक्तिशाली बीज था । इधर जहाँ स्वतन्त्र क्रिया थी उधर परा शक्ति थी । वास्तव में कौन जानता है और कह सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से हुई ? देवताओं की उत्पत्ति इस सृष्टि से पीछे की है । फिर कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कब हुई । वेद ने जो सृष्टिक्रम का वर्णन किया है वह उसको कैसे ज्ञात हुआ ? जिससे यह सृष्टि प्रकट हुई उसी ने इसको रचा अथवा नहीं रचा है (और यह स्वतः आविर्भूत हो गयी है ?) । परम आकाश में इस सृष्टि का जो अध्यक्ष (निरीक्षण करनेवाला) है, वही इसको जानता है, अथवा शायद वह भी नहीं जानता ।]

ऋग्वेद में जिस पूजापद्धति का विधान है उसमें देवस्तुति प्रथम है । मन्त्रोच्चारण द्वारा साधक अपने साध्य से सांनिध्य स्थापित करना चाहता है । इसके साथ ही यज्ञ का विधान है, जिसका उद्देश्य है अपनी सम्पत्ति और जीवन को देवार्थ (लोकहिताय) समर्पित करना । देव और मनुष्य का साक्षात्कार सीधा-सुगम है । अतः प्रतिमा की आवश्यकता नहीं । जिनका देव और यज्ञ में विश्वास नहीं वे शिश्नदेव (शिश्नोदरपरायण) हैं । इस प्रकार इसमें

देवपूजन और अतिथिपूजन पर बल दिया गया है। पितरों के प्रति आदर-श्रद्धा का आदेश है।

ऋग्वेद में ऋत की महती कल्पना है, जो सम्पूर्ण विश्व में व्यवस्था बनाये रखने में समर्थ है। यही कल्पना नीति का आधार है। वरुणसूक्त (ऋ० वे० ५.८५.७) में सुन्दर नैतिक उपदेश पाये जाते हैं। ऋत के साथ सत्य, व्रत और धर्म की महत्त्वपूर्ण कल्पनाएँ तथा मान्यताएँ हैं।

हिन्दू धर्म के सभी तत्त्व मूलरूप से ऋग्वेद में वर्तमान हैं। वास्तव में ऋग्वेद हिन्दू धर्म और दर्शन की आधारशिला है। भारतीय कला और विज्ञान दोनों का उदय यहीं पर होता है। विश्व के मूल में रहनेवाली सत्ता के अव्यक्त और व्यक्त रूप में विश्वास, मन्त्र, यज्ञ, अभिचार आदि से उसके पूजन और यजन आदि मौलिक धार्मिक तत्त्व ऋग्वेद में पाये जाते हैं। इसी प्रकार तत्त्वों को जानने की जिज्ञासा, जानने के प्रकार, तत्त्वों के रूपकात्मक वर्णन, मानवजीवन की आकांक्षाओं, आदर्शों तथा मन्तव्य आदि प्रश्नों पर ऋग्वेद से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। दर्शन की मूल समस्याओं; ब्रह्म, आत्मा, माया, कर्म, पुनर्जन्म आदि का स्रोत भी ऋग्वेद में पाया जाता है। देववाद, एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, अद्वैतवाद, सन्देहवाद आदि दार्शनिक वादों का भी प्रारम्भ ऋग्वेद में ही दिखाई पड़ता है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों का स्वतन्त्र भाष्य किया है। उनका 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' अति प्रभावशाली ग्रन्थ है, जो वेदभाष्य की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें निम्नांकित विषयों पर विचार हुआ है :

१. वेदों का उद्गम
२. वेदों का अपौरुषेयत्व और सनातनत्व
३. वेदों का विषय
४. वेदों का वेदत्व
५. ब्रह्मविद्या
६. वेदों का धर्म
७. सृष्टिविज्ञान
८. सृष्टिचक्र
९. गुरुत्व और आकर्षण शक्ति
१०. प्रकाशक और प्रकाशित
११. गणितशास्त्र
१२. मोक्षशास्त्र
१३. नौ-निर्माण तथा वायुयान निर्माण कला
१४. बिजली और ताप
१५. आयुर्वेद विज्ञान
१६. पुनर्जन्म
१७. विवाह
१८. नियोग
१९. शासक तथा शासित के धर्म
२०. वर्ण और आश्रम
२१. विद्यार्थी के कर्तव्य
२२. गृहस्थ के कर्तव्य
२३. वानप्रस्थ के कर्तव्य
२४. संन्यासी के कर्तव्य
२५. पञ्च महायज्ञ
२६. ग्रन्थों का प्रामाण्य
२७. योग्यता और अयोग्यता
२८. शिक्षण और अध्ययनपद्धति
२९. प्रश्नों और सन्देहों का समाधान
३०. प्रतिज्ञा
३१. वेद सम्बन्धी प्रश्नोत्तर
३२. वैदिक शब्दों के विशेष नियम—निरुक्त
३३. वेद और व्याकरण के नियम
३४. अलंकार और रूपक

पाश्चात्य विद्वानों के मन्तव्यों के परिष्कारार्थ इस प्रकार का वेदार्थविचार अत्युपयोगी है।

ऋजिश्वा—ऋजिश्वा का उल्लेख ऋग्वेद (१.५१,५;५.३, ८; १०.१.१;६.२०.७) में अनेकों बार आया है, किन्तु अस्पष्ट रूप से, जैसे कि यह अति प्राचीन नाम हो। यह पिप्रु तथा कृष्णगर्भा आदि दैत्यों से युद्ध करने में इन्द्र की सहायता करता है। लुड्विग के अनुसार यह औशिज का पुत्र है, किन्तु यह सन्देहात्मक धारणा है। वह दो बार स्पष्ट रूप से वैदथिन अथवा विदथी का वंशज कहा गया है (ऋ० ४.१६.१३; ५.२९.११)।

ऋजुकाम—कश्यप मुनि का एक पर्याय। इसका शब्दार्थ है, 'जिसकी कामना सरल हो।' ऋजुकामता एक धार्मिक गुण माना जाता है।

ऋजुविमला—पूर्वमीमांसा सूत्र पर लिखा हुआ व्याख्याग्रन्थ। इसका रचनाकाल ७०० ई० के लगभग और

रचनाकार हैं प्रभाकरशिष्य शालिकनाथ पण्डित ।

ऋणमोचनतीर्थ—सहारनपुर-अम्बाला के बीच जगाधरी के समीप एक पुण्यस्थान । यहाँ भीष्मपञ्चमी को मेला लगता है । 'ऋणमोचन तीर्थ' नामक सरोवर है । इसमें स्नान करने के लिए दूर-दूर से यात्री आते हैं । यह सरोवर जंगल में है ।

ऋत—स्वाभाविक व्यवस्था, भौतिक एवं आध्यात्मिक निश्चित दैवी नियम । यह विधि, जिसे 'ऋत' कहते हैं, अति प्राचीन काल में व्यवस्थित हुई थी । ऋत का पालन सभी देवता, प्रकृति आदि नियमपूर्वक करते हैं । ईरानी भाषा में यह नियम १६०० ई० पू० 'अर्त' के नाम से और अवेस्ता में 'अश' के नाम से पुकारा जाता था । ऋत की सभी शक्तियों को धारण करने वाला देवता वरुण है (ऋ० ५.८५.७) । प्रकृति के सभी उपादान उसके विषय हैं एवं वह देखता है कि मनुष्य उसके नियमों का पालन करते हैं या नहीं । वह नैतिकों को पुरस्कार एवं अनैतिकों को दण्ड देता है । वरुण के अतिरिक्त अन्य देवताओं का भी ऋत से सम्बन्ध है । उसी के माध्यम से देवगण अपना कार्य नियमित रूप से करते हैं ।

ऋत के तीन क्षेत्र हैं—(१) विश्वव्यवस्था, जिसके द्वारा ब्रह्माण्ड के सभी पिण्ड अपने क्षेत्र में नियमित रूप से कार्य करते हैं, (२) नैतिक नियम, जिसके अनुसार व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध का निर्वाह होता है । (३) कर्मकाण्डीय व्यवस्था, जिसके अन्तर्गत धार्मिक क्रियाओं के विधि-निषेध, कार्यपद्धति आदि आते हैं । दे० ऋग्वेद, १. २४. ७-८-१०; ७.८६.१; ७. ८७.१-२ । सृष्टि प्रक्रिया में बतलाया गया है कि तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए; फिर इनसे क्रमश रात्रि, समुद्र, अर्णव, संवत्सर, सूर्य, चन्द्र आदि उत्पन्न हुए ।

फसल कटने के बाद खेत में पड़ी हुई बालियों के दानों को चुनने वाली उञ्छवृत्ति को भी ऋत कहते हैं । मनुस्मृति (४.४.५) में कहा है :

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ।।
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतन्तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ।।

[ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत, सत्य-अनृत इनके द्वारा जीवन निर्वाह कर ले, किन्तु कुत्ते की वृत्ति (नौकरी आदि) से कभी भी जीवन-यापन न करे ।

शिल-उच्छ को ऋत, भिक्षा न माँगने को अमृत, भीख माँगने को मृत, हल जोतने को प्रमृत कहा गया है ।]

ऋतधामा—जिसका सत्य धाम (तेज) है; अग्नि, विष्णु, एक भावी इन्द्र । यजुर्वेद (५.३२) में कथन है :

'हव्यसूदन ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः ।'

ऋतधामा रुद्रसावर्णि मनु के काल में इन्द्र होगा; यह भागवत (८.१३.२८) में कहा गया है :

भविता रुद्रसावर्णिः राजन् द्वादशमो मनुः ।
ऋतधामा च देवेन्द्रो देवाश्च हरितादयः ।।

ऋत्विक् (ऋत्विज्)—जो ऋतु में यज्ञ करता है, याज्ञिक, पुरोहित । मनु (२.१४३) में कथन है :

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ।।

[अग्नि की स्थापना, पाकयज्ञ, अग्निष्टोम आदि यज्ञ जो यजमान के लिए करता है वह उसका ऋत्विक् कहा जाता है ।] उसके पर्याय हैं—(१) याजक, (२) भरत, (३) कुरु, (४) वाग्यत, (५) वृक्तवर्हिष, (६) यतश्रुच, (७) मरुत्, (८) सबाध और (९) देवयव ।

यज्ञकार्य में योगदान करने वाले सभी पुरोहित ब्राह्मण होते हैं । पुरातन श्रौत यज्ञों में कार्य करने वालों की निश्चित संख्या सात होती थी । ऋग्वेद की एक पुरानी तालिका में इन्हें होता, पोता, नेष्टा, आग्नीध्र, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मा कहा गया है । सातों में प्रधान 'होता' माना जाता था जो ऋचाओं का गान करता था । वह प्रारम्भिक काल में ऋचाओं की रचना भी (ऊह विधि से) करता था । अध्वर्यु सभी यज्ञकार्य (हाथ से किये जाने वाले) करता था । उसकी सहायता मुख्य रूप से आग्नीध्र करता था, ये ही दोनों छोटे यज्ञों को स्वतन्त्र रूप से कराते थे । प्रशास्ता जिसे उपवक्ता तथा मैत्रावरुण भी कहते हैं, केवल बड़े यज्ञों में भाग लेता था और होता को परामर्श देता था । कुछ प्रार्थनाएँ इसके अधीन होती थीं । पोता, नेष्टा एवं ब्रह्मा का सम्बन्ध सोमयज्ञों से था । बाद में ब्रह्मा को ब्राह्मणाच्छंसी कहने लगे जो यज्ञों में निरीक्षक का कार्य करने लगा ।

ऋग्वेद में वर्णित दूसरे पुरोहित साम गान करते थे ।

उद्गाता तथा उसके सहायक प्रस्तोता एवं दूसरे महायक प्रतिहर्ता के कार्य यज्ञों के परवर्ती काल की याद दिलाते हैं। ब्राह्मण काल में यज्ञों का रूप जब और भी विकसित एवं जटिल हुआ तब सोलह पुरोहित होने लगे, जिनमें नये ऋत्विक् थे अच्छावाक्, ग्रावस्तुत्, उन्नेता तथा सुब्रह्मण्य, जो औपचारिक तथा कार्यविधि के अनुसार चार-चार भागों में बटे हुए थे—होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक् तथा ग्रावस्तुत्; उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता तथा सुब्रह्मण्य; अध्वर्यु, प्रतिस्थाता, नेष्टा तथा उन्नेता और ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र तथा पोता।

इनके अतिरिक्त एक पुरोहित और होता था जो राजा के सभी धार्मिक कर्तव्यों का आध्यात्मिक परामर्शदाता था। यह पुरोहित बड़े यज्ञों में ब्रह्मा का स्थान ग्रहण करता था तथा सभी याज्ञिक कार्यों का मुख्य निरीक्षक होता था। यह पुरोहित प्रारंभिक काल में होता होता था तथा सर्वप्रथम मन्त्रों का गान करता था। पश्चात् यही ब्रह्मा का स्थान लेकर यज्ञनिरीक्षक का कार्य करने लगा।

ऋतुमती—ऋतुयुक्त स्त्री। उसके पर्याय हैं (१) रजस्वला, (२) स्त्रीधर्मिणी, (३) अवी, (४) आत्रेयी, (५) मलिनी, (६) पुष्पवती और (७) उदक्या। धर्मशास्त्र में ऋतुमती के कर्तव्यों का वर्णन है। उसे इस काल में सब कार्यों से अलग होकर एकान्त में रहना चाहिए। पति के लिए भी यह नियम है कि वह प्रथम चार दिन पत्नी का स्पर्श न करे। पत्नी का यह कर्तव्य है कि वह स्नान के पश्चात् पति की कामना करे। पति के लिए ऋतुकाल के चार दिन बाद पत्नी के पास जाना अनिवार्य है :

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति।
घोरायां ब्रह्महत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥
(मनु० ४.१५)

ऋतुस्नान—रजस्वला स्त्री का चौथे दिन किया जाने वाला स्नान। इस स्नान के पश्चात् पति का मुख देखना चाहिए। पति के समीप न होने पर पति का मन में ध्यान करके सूर्य का दर्शन कर लेना चाहिए ऐसा धर्मशास्त्र में विधान है।

ऋतुव्रत—हेमाद्रि, व्रतखण्ड (२.८५८-८६१) में पाँच ऋतुव्रतों का उल्लेख है जिनका निर्देश यथा स्थान किया गया है।

ऋभु—उच्च देव, वायुस्थानीय देवगण। ऋग्वेद (९.२१.६) में कथन है :

'ऋभुर्न रथ्यं नवं दधता केतुमादिशे।'

महाभारत के वनपर्व में ऋभुओं को देवताओं का भी देवता कहा गया है :

ऋभवो नाम तत्रान्ये देवानामपि देवताः।
तेषां लोकाः परतरे यान्यजन्तीह देवताः॥

[ऋभु देवताओं के भी देव हैं। उनके लोक बहुत परे हैं, जिनके लिए यहाँ देवता लोग यज्ञ करते हैं।]

ऋष्यशृङ्ग—विभाण्डक ऋषि के पुत्र, एक ऋषि। उनकी पत्नी राजा लोमपाद की कन्या शान्ता थी।

वीर शैव या लिङ्गायतों के ऋष्यशृङ्ग नामक एक प्राचीन आचार्य भी थे।

ऋषभध्वज—शिव का एक पर्याय, उनकी ध्वजा में ऋषभ (बैल) का चिह्न रहता है।

ऋषि—वेद; ज्ञान का प्रथम प्रवक्ता; परोक्षदर्शी, दिव्य दृष्टि वाला। जो ज्ञान के द्वारा मन्त्रों को अथवा संसार की चरम सीमा को देखता है वह ऋषि कहलाता है। उसके सात प्रकार हैं—(१) व्यास आदि महर्षि, (२) भेल आदि परमर्षि, (३) कण्व आदि देवर्षि, (४) वसिष्ठ आदि ब्रह्मर्षि, (५) सुश्रुत आदि श्रुतर्षि, (६) ऋतुपर्ण आदि राजर्षि, (७) जैमिनि आदि काण्डर्षि। रत्नकोष में भी कहा गया है :

सप्त ब्रह्मर्षि-देवर्षि-महर्षि-परमर्षयः।
काण्डर्षिश्च श्रुतर्षिश्च राजर्षिश्च क्रमावराः॥

[ब्रह्मर्षि, देवर्षि, महर्षि, परमर्षि, काण्डर्षि, श्रुतर्षि, राजर्षि ये सातों क्रम से अवर हैं।]

सामान्यतः वेदों की ऋचाओं का साक्षात्कार करने वाले लोग ऋषि कहे जाते थे (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः)। ऋग्वेद में प्रायः पूर्ववर्ती गायकों एवं समकालीन ऋषियों का उल्लेख है। प्राचीन रचनाओं को उत्तराधिकार में प्राप्त किया जाता था एवं ऋषिपरिवारों द्वारा उनको नया रूप दिया जाता था। ब्राह्मणों के समय तक ऋचाओं की रचना होती रही। ऋषि, ब्राह्मणों में सबसे उच्च एवं आदरणीय थे तथा उनकी कुशलता की तुलना प्रायः त्वष्टा से की गयी है जो स्वर्ग से उतरे माने जाते थे। निस्सन्देह ऋषि वैदिककालीन कुलों, राजसभाओं तथा सम्भ्रान्त लोगों से सम्बन्धित होते थे। कुछ राजकुमार

भी समय-समय पर ऋचाओं की रचना करते थे, उन्हें राजन्यर्षि कहते थे। आजकल उसका शुद्ध रूप राजर्षि है। साधारणतया मन्त्र या काव्यरचना ब्राह्मणों का ही कार्य था। मन्त्र रचना के क्षेत्र में कुछ महिलाओं ने भी ऋषिपद प्राप्त किया था।

परवर्ती साहित्य में ऋषि ऋचाओं के साक्षात्कार करने वाले माने गये हैं, जिनका संग्रह संहिताओं में हुआ। प्रत्येक वैदिक सूक्त के उल्लेख के साथ एक ऋषि का नाम आता है। ऋषिगण पवित्र पूर्व काल के प्रतिनिधि हैं तथा साधु माने गये हैं। उनके कार्यों को देवताओं के कार्य के तुल्य माना गया है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर उन्हें सात के दल में उल्लिखित किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में उनके नाम गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप एवं अत्रि बताये गये हैं। ऋग्वेद में कुत्स, अत्रि, रेभ, अगस्त्य, कुशिक, वसिष्ठ, व्यश्व तथा अन्य नाम ऋषिरूप में आते हैं। अथर्ववेद में और भी बड़ी तालिका है, जिसमें अङ्गिरा, अगस्ति, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, वसिष्ठ, भरद्वाज, गविष्ठिर, विश्वामित्र, कुत्स, कक्षीवन्त, कण्व, मेधातिथि, त्रिशोक, उशना काव्य, गोतम तथा मुद्गल के नाम सम्मिलित हैं।

वैदिक काल में कवियों की प्रतियोगिता का भी प्रचलन था। अश्वमेध यज्ञ के एक मुख्य अङ्ग 'ब्रह्मोद्य' (समस्यापूर्ति) का यह एक अङ्ग था। उपनिषद्-काल में भी यह प्रतियोगिता प्रचलित रही। इस कार्य में सबसे प्रसिद्ध थे याज्ञवल्क्य जो विदेह राजा जनक की राजसभा में रहते थे।

ऋषिगण त्रिकालज्ञ माने गये हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये साहित्य को आर्षेय कहा जाता है। यह विश्वास है कि कलियुग में ऋषि नहीं होते, अतः इस युग में न तो नयी श्रुति का साक्षात्कार हो सकता है और न नयी स्मृतियों की रचना। उनकी रचनाओं का केवल अनुवाद, भाष्य और टीका ही सम्भव हैं।

ऋषिकुल्या—एक पवित्र नदी। महाभारत (तीर्थयात्रा पर्व, ३.८४.४६) में इसका उल्लेख है :

ऋषिकुल्यां समासाद्य नरः स्नात्वा विकल्मषः।
देवान् पितॄन् चार्चयित्वा ऋषिलोकं प्रपद्यते ॥

[मनुष्य ऋषिकुल्या नदी में स्नान कर पापरहित होकर तथा देवताओं और पितरों का पूजन करके ऋषिलोक को प्राप्त होता है।]

ऋषिकेश—दे० 'हृषीकेश'।

ऋषिपञ्चमी व्रत—ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार ऋषिपञ्चमी का वर्णन करते हुए हेमाद्रि कहते हैं कि यह व्रत भाद्र शुक्ल पञ्चमी को मनाया जाता है। यह सभी वर्णों के लिए है, किन्तु प्रायः स्त्रियाँ ही यह व्रत वर्ष भर की अपवित्रता एवं छूत के प्रायश्चित्तार्थ करती हैं। नदी के स्नानोपरान्त व्रत करने वाले को दैनिक कर्तव्यों से मुक्त हो अग्निहोत्रमण्डप में आना चाहिए, वहाँ सप्तर्षियों की कुश से बनी मूर्ति को पञ्चामृत में नहलाना चाहिए, फिर उन्हें चन्दन तथा कपूर लगाना चाहिए। उनकी पूजा फूल, सुगन्धित पदार्थ, धूप, दीप, श्वेतवस्त्र, यज्ञोपवीत, नैवेद्य से करके अर्घ्य देना चाहिए। इस व्रत को करने से सभी पापों से मुक्ति, तीनों प्रकार की बाधाओं से त्राण तथा भाग्योदय होता है। इस व्रत को करनेवाली स्त्री आनन्दोपभोग व सुन्दर शरीर, पुत्र, पौत्र आदि प्राप्त करती है।

ऋष्यमूक पर्वत—रामायण की घटनाओं से सम्बद्ध दक्षिण भारत का पवित्र गिरि। विरूपाक्ष मन्दिर के पास से ऋष्यमूक तक मार्ग जाता है। यहाँ तुङ्गभद्रा नदी धनुषाकार बहती है। नदी में चक्रतीर्थ माना जाता है। पास ही पहाड़ी के नीचे श्रीराममन्दिर है। पास की पहाड़ी को 'मतङ्ग पर्वत' मानते हैं। इसी पर्वत पर मतङ्ग ऋषि का आश्रम था। पास ही चित्रकूट और जालेन्द्र नाम के शिखर हैं। यहीं तुङ्गभद्रा के उस पार दुन्दुभि पर्वत दीख पड़ता है, जिसके सहारे सुग्रीव ने श्री राम के बल की परीक्षा करायी थी। इन स्थानों में स्नान-ध्यान करने का विशेष महत्त्व है।

ॠ

ॠ—स्वर वर्ण का अष्टम अक्षर। कामधेनुतन्त्र में इसका तान्त्रिक माहात्म्य निम्नांकित है :

ॠकारं परमेशानि स्वयं परमकुण्डलम्।
पीतविद्युल्लताकारं पञ्चदेवमयं सदा ॥
चतुर्ज्ञानमयं वर्णं पञ्चप्राणयुतं सदा।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं प्रणमामि सदा प्रिये ॥

वर्णोद्धारतन्त्र में इसके नाम इस प्रकार हैं :

ॠः क्रोधोऽतिथिशो वाणी वामनो गोऽथ श्रीर्धृतिः ।
ऊर्ध्वमुखी निशानाथः पद्ममाला विनवृधीः ॥
शशिनी मोचिका श्रेष्ठा दैत्यमाता प्रतिष्ठिता ।
एकदन्ताह्वयो माता हरिता मिथुनोदया ॥
कोमलः श्यामला मेधी प्रतिष्ठा पतिरष्टमी ।
ब्रह्मण्यमिव कीलाले पादको गन्धकर्षिणी ॥

ऌ

लृ—स्वर वर्ण का नवम अक्षर । कामधेनुतन्त्र में इसकी तान्त्रिक महिमा इस प्रकार है :

ऌकारं चञ्चलापाङ्गि कुण्डली परदेवता ।
अत्र ब्रह्मादयः सर्वे तिष्ठन्ति सततं प्रिये ॥
ब्रह्मदेवमयं वर्णं चतुर्ज्ञानमयं सदा ।
पञ्चप्राणयुतं वर्णं तथा गुणत्रयात्मकम् ॥
विन्दुत्रयात्मकं वर्णं पीतविद्युल्लता तथा ॥

तन्त्रशास्त्र में इसके निम्नलिखित नाम बतलाये गये हैं :

ऌः स्थाणुः श्रीधरः शुद्धो मेधा धूम्रावको वियत् ।
देवयोनिर्दक्षगण्डो महेशः कौन्तरुद्रकौ ॥
विश्वेश्वरो दीर्घजिह्वा महेन्द्रो लाङ्गलिः परा ।
चन्द्रिका पार्थिवो धूम्रा द्विदन्तः कामवर्द्धनः ॥
शुचिस्मिता च नवमी कान्तिरायतकेश्वरः ।
चित्ताकर्षिणी काशश्च तृतीयकुलसुन्दरी ॥

लृ—देवमाता का एक पर्याय (मेदिनीकोश) ।

लॄ

लॄ—स्वरवर्ण का दशम अक्षर । कामधेनुतन्त्र में इसका तान्त्रिक माहात्म्य निम्नांकित है :

लॄकारं परमेशानि पूर्णचन्द्र समप्रभम् ।
पञ्चदेवात्मकं वर्णं पञ्चप्राणात्मकं सदा ॥
गुणत्रयात्मकं वर्णं तथा बिन्दुत्रयात्मकम् ।
चतुर्वर्गप्रदं देवि स्वयं परम कुण्डली ॥

तन्त्रशास्त्र में इसके निम्नलिखित नाम पाये जाते हैं :

लॄकारः कमला हर्षा हृषीकेशो मधुव्रतः ।
सूक्ष्मा कान्तिर्वामिगण्डो रुद्रा कामोदरी सुरा ॥
शान्तिकृत् स्वस्तिका शक्रो मायावी लोलुपो वियन् ।
कुशमी सुस्थिरो माता नीलपीतो गजाननः ॥
कामिनी विश्वपा कालो नित्या शुद्धः शुचिः कृती ।
सूर्यो धैर्योत्कर्षिणी च एकाकी दनुजप्रसूः ॥

लॄ—देवनगरी (मेदिनीकोश); दैत्यस्त्री, दनुजमाता, कामधेनुमाता । शर्व, महादेव । इन एकाक्षर शब्दों का तान्त्रिक क्रियाओं में उपयोग होता है ।]

ए

ए—स्वरवर्ण का एकादश अक्षर । कामधेनुतन्त्र में इसका धार्मिक माहात्म्य वर्णित है :

एकारं परमं दिव्यं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।
रञ्जिनी कुसुमप्रख्यं पञ्चदेवमयं सदा ॥
पञ्चप्राणात्मकं वर्णं तथा बिन्दुत्रयात्मकम् ।
चतुर्वर्गप्रदं देवि स्वयं परमकुण्डली ॥

तन्त्रशास्त्र में एकार के कई नाम दिये हुए हैं :

एकारो वास्तवः शक्तिर्झिण्टी सोष्ठो भगं मरुत् ।
सूक्ष्मा भूतोर्जकेशी च ज्योत्स्ना श्रद्धा प्रमर्दनः ॥
भयं ज्ञानं कृशा धीरा जङ्घा सर्वसमुद्भवः ।
वह्निर्विष्णुर्भगवती कुण्डली मोहिनी रुरुः ॥
योपिदाधारशक्तिश्च त्रिकोणा ईशसंज्ञकः ।
सन्धिरेकादशी भद्रा पद्मनाभः कुलाचलः ॥

एककुण्डल—जिसके कान में एक ही कुण्डल है; बलराम । मेदिनीकोश के अनुसार यह कुबेर का भी पर्याय है ।

एकचक्र—एक नगरी, इसके पर्याय हैं—हरिगृह, शुम्भपुरी । सूर्य का रथ, असहायचारी । ऋग्वेद (१.१६४.२) में कथन है :

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेकोऽश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥

एक राजा । हरिवंश (३.८४) में कहा गया है :

एकचक्रो महावाहुस्तारकश्च महाबलः ।

इस नाम का एक असुर भी था :

एकचक्र इति ख्यात आसीद् यस्तु महासुरः ।
प्रतिविन्ध्य इति ख्यातो बभूव प्रथितः क्षितौ ॥

[जो एकचक्र नाम का महान् असुर था, वह 'प्रतिविन्ध्य' नाम से पृथ्वी में विख्यात हुआ ।]

एकजन्मा—शूद्र; द्विजातिभिन्न; जिसका दूसरा जन्म नहीं हो । जब मनुष्य का दूसरा जन्म (उपनयन संस्कार) होता

है तब वह द्विज अर्थात् द्विजन्मा होता है । शूद्र का यह संस्कार नहीं होता ।

एकतीर्थी—जिसका समान तीर्थ (गुरु) हो, सतीर्थ्य, सहपाठी, गुरुभाई । धर्मशास्त्र में एकतीर्थी होने के अधिकारों और दायित्वों का वर्णन है ।

एकदन्त—जिसके एक दाँत हो, गणेश । परशुराम के द्वारा इनके उखाड़े गये दाँत की कथा ब्रह्मवैवर्तपुराण में इस प्रकार है—एक समय एकान्त में बैठे हुए शिव-पार्वती के द्वारपाल गणेशजी थे । उसी समय उनके दर्शन के लिए परशुराम आये । शिवदर्शन के लिए लालायित होने पर भी गणेशजी ने उन्हें भीतर नहीं जाने दिया । इस पर गणेशजी के साथ उनका तुमुल युद्ध हुआ । परशुराम के द्वारा फेंके गये परशु से गणेशजी का एक दाँत टूट गया । उस समय से गणेशजी एकदन्त कहलाने लगे ।

एकदण्डी—शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित दसनामी संन्यासियों में से प्रथम तीन (तीर्थ, आश्रम एवं सरस्वती) विशेष सम्मान्य माने जाते हैं । इनमें केवल ब्राह्मण ही सम्मिलित हो सकते हैं । शेष सात वर्गों में अन्य वर्णों के लोग भी आ सकते हैं, किन्तु दण्ड धारण करने के अधिकारी ब्राह्मण ही हैं । इसका दीक्षाव्रत इतना कठिन होता है कि बहुत से लोग दण्ड के बिना ही रहना पसन्द करते हैं । इन्हीं संन्यासियों को 'एकदण्डी' कहते हैं । इसके विरुद्ध श्रीवैष्णव संन्यासी (जिनमें केवल ब्राह्मण ही सम्मिलित होते हैं) त्रिदण्ड धारण करते हैं । दोनों सम्प्रदायों में अन्तर स्पष्ट करने के लिए इन्हें 'एकदण्डी' तथा 'त्रिदण्डी' नामों से पुकारते हैं ।

एकदंष्ट्र—दे० 'एकदन्त' ।

एकनाथ—मध्ययुगीन भारतीय सन्तों में एकनाथ का नाम बहुत प्रसिद्ध है । महाराष्ट्रीय उच्च भक्तों में नामदेव के पश्चात् दूसरा नाम एकनाथ का ही आता है । इनकी मृत्यु १६०८ ई० में हुई । ये वर्ण से ब्राह्मण थे तथा पैठन में रहते थे । इन्होंने जातिप्रथा के विरुद्ध आवाज उठायी तथा अनुपम साहस के कारण कष्ट भी सहा । इनकी प्रसिद्धि भागवतपुराण के मराठी कविता में अनुवाद के कारण हुई । इसके कुछ भाग पंढरपुर के मन्दिर में संकीर्तन के समय गाये जाते हैं । इन्होंने 'हरिपद' नामक छब्बीस अभंगों का एक संग्रह भी रचा । दार्शनिक दृष्टि से ये अद्वैतवादी थे ।

एकनाथी भागवत—एकनाथजी द्वारा भागवतपुराण का मराठी भाषा में रचा गया छन्दोबद्ध रूपान्तर । यह अपनी भावपूर्ण अभिव्यक्ति, रहस्य भेदन तथा हृदयग्राहकता के लिए प्रसिद्ध है ।

एकपाद—एक प्रकार का व्रत । योग के अनेक आत्मशोधक तथा मन को बाह्य वस्तुओं से हटाकर एकाग्र करने के साधनों में से यह भी एक शारीरिक क्रिया है । इसमें लम्बी अवधि (कई सप्ताह) तक एक पाँव पर खड़े रहने का विधान है ।

एकपिङ्ग—यक्षराज कुबेर । उनके पिङ्गल नेत्र की कथा स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में कही गयी है ।

एकभक्त व्रत—जिसमें एक बार भोजन का विधान हो उसको एकभक्त व्रत कहते हैं । रात्रि में भोजन न करके केवल दिन में भोजन करना भी एकभक्त कहलाता है । स्कन्दपुराण में लिखा है :

दिनार्धसमयेऽतीते भुज्यते नियमेन यत् ।
एकभक्तमिति प्रोक्तं रात्रौ तन्न कदाचन ।।

[दिन का आधा समय व्यतीत हो जाने पर नियम से जो भोजन किया जाय उसे एकभक्त कहा जाता है । वह भोजन रात्रि में पुनः नहीं होता ।] इस व्रत का नियम और फल विष्णुधर्मोत्तर में कहा गया है ।

एकलिङ्ग—एक ही देवमूर्ति वाला स्थान । यह शिव का पर्याय है । आगम में लिखा है :

पञ्चक्रोशान्तरे यत्र न लिङ्गान्तरमीक्ष्यते ।
तदेकलिङ्गमाख्यातं तत्र सिद्धिरनुत्तमा ।।

[पाँच कोश के भीतर जहाँ पर एक ही लिङ्ग हो दूसरा न हो, उसे एकलिङ्ग स्थान कहा गया है । वहाँ तप करने से उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है ।]

एकलिङ्गजी—राजस्थान का प्रसिद्ध शैव तीर्थस्थान । उदयपुर से नाथद्वारा जाते समय मार्ग में हल्दीघाटी और एकलिङ्गजी का मन्दिर पड़ता है । उदयपुर से यह १२ मील है । एकलिङ्गजी की मूर्ति में चारों ओर मुख हैं अर्थात् यह चतुर्मुख लिङ्ग है । एकलिङ्गजी मेवाड़ के महाराणाओं के आराध्य देव हैं । पास में इन्द्रसागर नामक सरोवर है । आस-पास में गणेश, लक्ष्मी, डुटेश्वर धारेश्वर आदि कई देवताओं के मन्दिर हैं । पास में ही वनवासिनी देवी का मन्दिर भी है ।

एकश्टङ्ग—विष्णु के अवतार मत्स्य का एक सींग होने के कारण उसको एकश्टङ्ग कहते हैं। स्वायम्भुव मन्वन्तर में असमय में ही प्रलय हो जाने के कारण मत्स्यरूप धारण करनेवाले विष्णु के सींग में मनु ने नाव बाँधी थी। दे० कालिका पुराण, अ० ३२ दे०।

एका—अद्वितीया, दुर्गा :

एकागुणार्था त्रैलोक्ये तस्मादेका च सोच्यते।

[समस्त गुणों की तीनों लोकों में वह एक ही मूर्ति है, इसलिए उसे "एका" कहते हैं।]

मार्कण्डेय पुराण (९०.७) में कथन है :

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।

[इस संसार में मैं एक ही हूँ; मुझसे अतिरिक्त और दूसरा कोई नहीं है।]

एकाक्षरोपनिषद्—यह परवर्ती उपनिषद् है। इसमें अद्वैत अक्षर तत्त्व का निरूपण किया गया है।

एकादशी—प्रसिद्ध एवं पवित्र तिथि। यह शुक्ल पक्ष में सूर्यमण्डल से चन्द्रमण्डल की निर्गम रूप एकादश कला-क्रिया है। कृष्ण पक्ष में सूर्यमण्डल में चन्द्रमण्डल की प्रवेश रूप एकादश कला-क्रिया है। इसके पर्याय हैं—(१) हरिवासर, (२) हरिदिन। इस दिन अन्न त्याग, व्रत, उपवास आदि किये जाते हैं। वैष्णवों के लिए इसका विशेष महत्त्व है।

एकादशीव्रत—सभी वैष्णव तथा बहुत से अन्य सम्प्रदाय वाले हिन्दू भी प्रत्येक एकादशी का व्रत करते हैं। इसका माहात्म्य प्रसिद्ध है। वैसे तो सभी मासों की एकादशी पवित्र हैं, किन्तु कार्तिक शुक्ल एकादशी का विशेष महत्त्व है। इसको प्रबोधिनी एकादशी कहते हैं। इसी दिन विष्णु अपनी निद्रा से जागते हैं। दे० 'प्रबोधिनी एकादशी'। इसका पारमार्थिक भाव है अन्नत्याग के समान ही एकादश इन्द्रियों के विषयों—संसारी वस्तुओं का त्यागरूप एकादशी-व्रत।

एकानङ्गापूजा—इस व्रत का अनङ्ग (कामदेव) से सम्बन्ध है। कार्तिक शुक्ल ४, ८, ९ अथवा चतुर्दशी को महिलाएँ किसी फलदार वृक्ष के नीचे एकानङ्गा का पूजन करें। तत्पश्चात् बाज अथवा अन्य किसी पक्षी से कहें कि उनके उत्तम खाद्य तथा नैवेद्य में से वह चोंच भरकर भगवती के पास कुछ थोड़ा-सा नैवेद्य ले जाये। उस दिन पत्नी पति से पूर्व ही भोजन कर ले। तदनन्तर वह पति को भोजन कराये। दे० कृत्यरत्नाकर, ४१३-४१४ (ब्रह्मपुराण से उद्धृत)। सम्भवतः एका-अनङ्गा देवी का व्रत पति के आकर्षण अथवा वशीकरण के लिए किया जाता है।

एकान्तरहस्य—वल्लभाचार्य द्वारा रचित एक ग्रन्थ। इसमें सम्पूर्ण प्रपत्तियोग पर आधारित पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है।

एकान्तद रामाय्य (एकान्त रामाचार्य)—आलोचक विद्वानों के अनुसार वीरशैव मत के संस्थापक बसव कहे जाते है, जो कलचुरी राजा बिज्जल के प्रधान मंत्री थे। बिज्जल ११५६ ई० में कल्याण में राज्य करता था। किन्तु डा० फ्लीट का मत है कि अब्लुर के एकान्तद रामाय्य ही वीरशैव मत के प्रवर्तक थे, जिनका चरित्र एक प्राचीन अभिलेख में प्राप्त है। वे पूर्णतया धर्मपरायण थे, जबकि बसव को राजनीतिक एवं सैनिक जीवन में भी लिप्त रहना पड़ता था। 'एकान्तद रामाय्य' का संस्कृत रूप 'एकान्त रामार्य्य' अथवा 'एकान्त रामाचार्य' है।

एकान्न—एकभक्त व्रत, अर्थात् एक बार ही भोजन करने का व्रत। ऐसा व्रत जिसमें एक ही अन्न खाया जाय। स्कन्द पुराण के काशीखण्ड में कथन है :

ऊर्ज्जे यवान्नमश्नीयादेकान्नमथवा पुनः।

[कार्तिक मास में एक अन्न अथवा जौ खाना चाहिए।]

कई रसोंवाली भोज्य वस्तुओं को एकमएक मिला देना भी एकान्न है। संन्यासियों के लिए ऐसे स्वादरहित भोजन करने का नियम है। गांधीजी का 'अस्वादव्रत' यही है।

एकान्ती—एक मात्र परमात्मा पर अवलम्बित रहने वाला। इस प्रकार के भक्त का अटल विश्वास होता है कि परमेश्वर की पूजा-भक्ति ही केवल मोक्ष का मार्ग है। अतएव ईश्वर तथा उसके अवतारों की ही भक्ति एवं पूजा होनी चाहिए। इस प्रकार यह सम्प्रदाय एकेश्वरवादी है। भागवत साहित्य बार-बार इस बात पर जोर देता है कि सच्चा विश्वासी 'एकान्ती' ही होगा और वह केवल एक ईश्वर की आराधना करेगा।

गरुडपुराण के १३१ वें अध्याय में लिखा है :

एकान्तेनासमो विष्णुर्यस्मादेषां परायणः।
तस्मादेकान्तिनः प्रोक्तास्तद्भावगतचेतसः॥

[क्योंकि ये एकान्त भाव से महान् विष्णु की भक्ति करते हैं, अतः इन्हें एकान्ती कहा गया है। इनका मन भगवान् की ओर ही रहता है।]

एकायन—मुख्य आश्रय, एक मात्र गन्तव्य मार्ग, एकनिश्चय। छान्दोग्य उपनिषद् में उद्धृत अध्ययन का एक विषय; संभवतः नीतिशास्त्र। सेंट पीटर्सवर्ग डिक्शनरी में इसका अर्थ 'ऐक्य का सिद्धान्त' अर्थात् 'एकेश्वरवाद' बतलाया गया है। मैक्समूलर इसका अर्थ 'आचरण शास्त्र' तथा मोनियर विलियम अपने शब्दकोश में 'सांसारिक ज्ञान' बतलाते हैं।

एकाष्टका—अथर्ववेद (१५. १६. २; शतपथ ब्राह्मण ६, २, २, २३; ४, २, १०) के अनुसार पूर्णमासी के पश्चात् अष्टम दिन एकाष्टका कहलाता है। एकाष्टका या अष्टका का अर्थ सभी अष्टमी नहीं, अपितु कोई विशेष अष्टमी प्रतीत होता है। अथर्व० (३.१०) में सायण ने एकाष्टका को माघ मास का कृष्णपक्षीय अष्टम दिन बतलाया है। तैत्तिरीय संहिता में यह दिन उन लोगों की दीक्षा के लिए निश्चित किया गया है, जो एक वर्ष की अवधि का कोई यज्ञ करने जा रहे हों।

एकेश्वरवाद—बहुत-से देवताओं की अपेक्षा एक ही ईश्वर को मानना। इस धार्मिक अथवा दार्शनिक वाद के अनुसार कोई एक सत्ता है जो विश्व का सर्जन और नियन्त्रण करती है; जो नित्य ज्ञान और आनन्द का आश्रय है; जो पूर्ण और सभी गुणों का आगार है और जो सबका ध्यान-केन्द्र और आराध्य है। यद्यपि विश्व के मूल में रहने वाली सत्ता के विषय में कई भारतीय वाद हैं, जिनमें एकत्ववाद और अद्वैतवाद बहुत प्रसिद्ध हैं, तथापि एकेश्वरवाद का उदय भारत में, ऋग्वेदिक काल से ही पाया जाता है। अधिकांश यूरोपवासी प्राच्यविद्, जो भारतीय दैवततत्त्व को समझने में असमर्थ हैं और जिनको एक-अनेक में बराबर विरोध ही दिखाई पड़ता है, ऋग्वेद के सिद्धान्त को बहुदेववादी मानते हैं। भारतीय विचार-धारा के अनुसार विविध देवता एक ही देव के विविध रूप हैं। अतः चाहे जिस देव की उपासना की जाय वह अन्त में जाकर एक ही देव को अर्पित होती है। ऋग्वेद में वरुण, इन्द्र, विष्णु, विराट् पुरुष, प्रजापति आदि का यही रहस्य बतलाया गया है।

उपनिषदों में अद्वैतवाद के रूप में एकेश्वरवाद का वर्णन पाया जाता है। उपनिषदों का सगुण ब्रह्म ही ईश्वर है, यद्यपि उसकी सत्ता व्यावहारिक मानी गयी है, पारमार्थिक नहीं। महाभारत में (विशेष कर भगवद्गीता में) ईश्वरवाद का सुन्दर विवेचन पाया जाता है। षड्दर्शनों में न्याय, वैशेषिक, योग और वेदान्त एकेश्वर-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। पुराणों में तो ईश्वर के अस्तित्व का ही नहीं, किन्तु उसकी भक्ति, साधना और पूजा का अपरिमित विकास हुआ। विशेष कर विष्णु-पुराण और श्रीमद्भागवतपुराण ईश्वरवाद के प्रबल पुरस्कर्ता हैं। वैष्णव, शैव तथा शाक्त सम्प्रदायों में भी एकेश्वरवाद की प्रधानता रही है। इस प्रकार ऋग्वेद-काल से लेकर आज तक भारत में एकेश्वरवाद प्रतिष्ठित है।

व्यावहारिक जीवन में एकेश्वरवाद की प्रधानता होते हुए भी पारमार्थिक और आध्यात्मिक अनुभूति की दृष्टि से इसका पर्यवसान अद्वैतवाद में होता है—अद्वैतवाद अर्थात् मानव के व्यक्तित्व का विश्वात्मा में पूर्ण विलय। जागतिक सम्बन्ध से एकेश्वरवाद के कई रूप हैं। एक है सर्वेश्वरवाद। इसका अर्थ यह है कि जगत् में जो कुछ भी है वह ईश्वर ही है और ईश्वर सम्पूर्ण जगत् में ओत-प्रोत है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में सर्वेश्वरवाद का रूपक के माध्यम से विशद वर्णन है। उपनिषदों में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।' में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन है। परन्तु भारतीय सर्वेश्वरवाद पाश्चात्य 'पैनथिइज्म' नहीं है। पैनथिइज्म में ईश्वर अपने को जगत् में समास्त कर देता है। भारतीय सर्वेश्वर जगत् को अपने एक अंश से व्याप्त कर अनन्त विस्तार में उसका अतिरेक कर जाता है। वह अन्तर्यामी और अतिरेकी दोनों है। एकेश्वरवाद का दूसरा रूप है 'ईश्वर कारणतावाद'। इसके अनुसार ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है। जगत् का उपादान कारण प्रकृति है। ईश्वर जगत् की सृष्टि करके उससे अलग हो जाता है और जगत् अपनी कर्मश्रृङ्खला से चलता रहता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन इसी मत को मानते हैं। एकेश्वरवाद का तीसरा रूप है 'शुद्ध ईश्वरवाद'। इसके अनुसार ईश्वर सर्वेश्वर और ब्रह्म के स्वरूप को भी अपने में आत्मसात् कर लेता है। वह सर्वत्र व्याप्त, अन्तर्यामी तथा अतिरेकी और जगत् का कर्ता, धर्ता, संहर्ता, जगत् का सर्वस्व और आराध्य है। इसी को श्रीमद्भगवद्गीता में पुरुषोत्तम कहा गया है। सगुणोपासक वैष्णव तथा शैव भक्त इसी ईश्वरवाद में विश्वास करते हैं। एकेश्वरवाद का चौथा रूप है 'योगेश्वरवाद'। इसके अनुसार ईश्वर वह पुरुष है

जो कर्म, कर्मफल तथा कर्माशय (कर्मफल के संस्कार) से मुक्त रहता है: उसमें ऐश्वर्य और ज्ञान की पराकाष्ठा होती है, जो मानव का आदि गुरु और गुरुओं का भी गुरु है। दे० पातञ्जल योगसूत्र, १.२४। योगसूत्र की भोजवृत्ति (२.४५) के अनुसार ईश्वर योगियों का सहायक है। उनकी सावना के मार्ग में जो विघ्न वाधा उपस्थित होती हैं उन्हें वह दूर करता है और उनकी समाधि-सिद्धि में सहायता करता है। तारक ज्ञान का वही दाता है। परन्तु इस वाद में ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं और न प्रकृति और पुरुषों में सर्वत्र व्याप्त; वह केवल उपदेष्टा और गुरु है।

एकेश्वरवाद में ईश्वरकारणतावाद (ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है) के समर्थन में नैयायिकों ने वहुत से प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उदयनाचार्य ने जो प्रमाण दिये हैं, उनमें तीन मुख्य हैं—प्रथम है, 'जगत् की कार्यता।' इसका अर्थ यह है कि जगत् कार्य है अतः इसका कोई न कोई कारण होना चाहिए और उसे कार्य-कारण-शृङ्खला से परे होना चाहिए। वह है ईश्वर। दूसरा प्रमाण है 'जगत् का आयोजनत्व', अर्थात् जगत् के सम्पूर्ण कार्यों में एक क्रम अथवा योजना दिखाई पड़ती है। यह योजना जड़ से नहीं उत्पन्न हो सकती। इसकी संयोजक कोई चेतन सत्ता ही होनी चाहिए। वह सत्ता ईश्वर के अतिरिक्त दूसरी नहीं हो सकती। तीसरा प्रमाण है 'कर्म और कर्मफल का सम्वन्ध', अर्थात् दोनों में एक प्रकार का नैतिक सम्वन्ध। इस नैतिक सम्वन्ध का कोई विधायक होना चाहिए। एक स्थायी नियन्ता की कल्पना के विना इस व्यवस्था का निर्वाह नहीं हो सकता। यह नियन्ता ईश्वर ही हो सकता है। योगसूत्र में ईश्वर की सिद्धि के लिए एक और प्रमाण मिलता है। वह है सृष्टि में ज्ञान का तारतम्य (अनेक प्राणियों में ज्ञान की न्यूनाधिक मात्रा)। इस ज्ञान की कहीं न कहीं पराकाष्ठा होनी चाहिए। वह ईश्वर में ही संभव है। सवसे वड़ा प्रमाण है सन्त और महात्माओं, ऋषि-मुनियों का साक्षात् अनुभव, जिन्होंने स्वतः ईश्वरानुभूति की है।

एकोद्दिष्ट श्राद्ध—एक मृत व्यक्ति की शान्ति और तृप्ति के लिए किया गया श्राद्ध। यह परिवार के पितरों के वार्षिक श्राद्ध से भिन्न है। किसी व्यक्ति के दुर्दशाग्रस्त होकर मरने, डूवकर मरने, वूरे दिन पर मरने, मूलतः हिन्दू पर वाद में मुसलमान या ईसाई हो जाने वाले एवं जाति-वहिष्कृत की मृत्यु पर 'नारायणवलि' नामक कर्म करते हैं। यह भी एकोद्दिष्ट का ही रूप है।

इसके अन्तर्गत शालग्राममूर्ति की विशेष पूजा के साथ वीच-वीच में प्रेत का भी संस्कार किया जाता है। यह श्राद्धकर्म समस्त भारत में सनातन हिन्दू धर्मावलम्वियों में सामान्य अन्तर के साथ प्रचलित है।

एकोराम—वीरशैव मत के संस्थापकों में से एक आचार्य। वीरशैव मत को लिंगायत वा जंगम भी कहते हैं। इसके संस्थापक पाँच संन्यासी माने जाते हैं, जो शिव के पाँच सिरों से उत्पन्न दिव्य रूपधारी माने गये हैं। कहा जाता है कि पाँच संन्यासी अतिप्राचीन युग में प्रकट हुए थे, वाद में वसव ने उनके मत को पुनर्जीवन दिया। किन्तु प्राचीन साहित्य के पर्यालोचन से पता चलता है कि ये लोग वसव के समकालीन अथवा कुछ आगे तथा कुछ पीछे के समय के हैं। ये पाँचों महात्मा वीरशैव मत से सम्वन्ध रखने वाले पाँच मठों के महन्त थे। एकोराम भी उन्हीं में से एक थे और ये केदारनाथ (हिमालय) मठ के अध्यक्ष थे।

एकोरामाराध्य शिवाचार्य—कलियुग में उत्पन्न वीरशैव मत के एक आचार्य। दे० 'एकोराम'।

ऐ

ऐ—स्वर वर्ण का द्वादश अक्षर। कामधेनुतन्त्र में इसका तान्त्रिक माहात्म्य निम्न प्रकार है :

ऐकारं परमं दिव्यं महाकुण्डलिनी स्वयम्।
कोटिचन्द्र प्रतीकाशं पञ्च प्राणमयं सदा॥
ब्रह्मविष्णुमयं वर्णं तथा रुद्रमयं प्रिये।
सदाशिवमयं वर्णं बिन्दुत्रय समन्वितम्॥

तन्त्रशास्त्र में इसके निम्नांकित नाम पाये जाते हैं :

ऐर्लज्जा भौतिकः कान्ता वायवी मोहिनी विभुः।
दक्षा दामोदरः प्रज्ञोऽधरो विकृतमुख्यपि॥
क्षमात्मको ज्ञगद्योनिः परः परनिबोधकृत्।
ज्ञानामृता कपर्दिश्रीः पीठेशोऽग्निः समातृकः॥
त्रिपुरा लोहिता राज्ञी वाग्भवो भौतिकासनः।
महेश्वरो द्वादशी च विमलश्च सरस्वती॥
कामकोटो वामजानुरंशुमान् विजयो जटा॥

ऐक्य—वीरशैव भक्ति या साधना के मार्ग की छः अवस्थाएँ शिव के ऐक्य की ओर ले जाती हैं। वे हैं भक्ति, महेश, प्रसाद, प्राणलिङ्ग, शरण एवं ऐक्य। ऐक्य भक्ति की चरम परिणति है, जिसमें शिव और भक्त का भेद मिट जाता है।

ऐङ्—देवी का एक बीजमन्त्र। रहस्यमय शाक्त मन्त्रों में अधिकांश गूढ़ार्थक ध्वनिसमूह हैं, यथा ह्लीङ्, ह्रूङ्, हुम्, फट्। 'ऐङ्' भी शाक्त मन्त्र की एक ध्वनि है। इस ध्वनि के जप से अद्भुत शक्ति का उदय माना जाता है।

ऐतरेय आरण्यक—आरण्यक शब्द की व्याख्या पूर्ववर्ती पृष्ठों में हो चुकी है। ऐतरेय आरण्यक ऋग्वेद के ऐसे ही दो ग्रन्थों में से एक है। इसके पाँच अध्याय हैं, दूसरे और तीसरे में वेदान्त का प्रतिपादन है अतः वे स्वतन्त्र उपनिषद् माने जाते हैं। इन दो अध्यायों का संकलन महीदास ऐतरेय ने किया था। प्रथम के संकलक का पता नहीं, चौथे-पाँचवें का संकलन शौनक के शिष्य आश्वलायन ने किया। दे० 'आरण्यक'।

ऐतरेय ब्राह्मण—ऋक् साहित्य में दो ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। पहले का नाम ऐतरेय ब्राह्मण तथा दूसरे का शाङ्खायन अथवा कौषीतकि ब्राह्मण है। दोनों ग्रन्थों का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, यत्र-तत्र एक ही विषय की व्याख्या की गयी है, किन्तु एक ब्राह्मण में दूसरे ब्राह्मण से विपरीत अर्थ प्रकट किया गया है। कौषीतकि ब्राह्मण में जिस अच्छे ढंग से विषयों की व्याख्या की गयी है उस ढंग से ऐतरेय ब्राह्मण में नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण के पिछले दस अध्यायों में जिन विषयों की व्याख्या की गयी है वे कौषीतकि में नहीं हैं, किन्तु इस अभाव को शाङ्खायनसूत्रों में पूरा किया गया है। आजकल जो ऐतरेय ब्राह्मण उपलब्ध है उसमें कुल चालीस अध्याय हैं। इनका आठ पञ्चिकाओं में विभाग हुआ है। शाङ्खायनब्राह्मण में तीस अध्याय हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम दस अध्याय ऐतिहासिक आख्यानों से भरे हैं। इसमें बहुत से भौगोलिक विवरण भी मिलते हैं। इन ब्राह्मणों में 'आख्यान' हैं, 'गाथाएँ' हैं, 'अभियज्ञ गाथाएँ' भी हैं जिनमें बताया गया है कि किस मन्त्र का किस अवसर पर किस प्रकार आविर्भाव हुआ है।

ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता महीदास ऐतरेय माने जाते हैं। ये इतरा नामक दासी से उत्पन्न हुए थे, इसलिए इनका नाम ऐतरेय पड़ा। इसका रचनाकाल बहुत प्राचीन है। इसमें जनमेजय का उल्लेख है, अतः इसको कुछ विद्वान् परवर्ती मानते हैं, किन्तु यह कहना कठिन है कि यह जनमेजय महाभारत का परवर्ती है अथवा अन्य कोई पूर्ववर्ती राजा।

ऐतरेय ब्राह्मण पर गोविन्द स्वामी तथा सायण के महत्त्वपूर्ण भाष्य हैं। सायणभाष्य के आजकल चार संस्करण उपलब्ध हैं। आधुनिक युग में इसका पहला संस्करण अंग्रेजी अनुवाद के साथ मार्टिन हाग ने १८६३ ई० में प्रकाशित किया था। दूसरा संस्करण थियोडोर आडफरेस्टन ने १८७९ ई० में प्रकाशित किया। पण्डित काशीनाथ शास्त्री ने १८९६ में इसका तोसरा संस्करण निकाला और चौथा संस्करण ए० बी० कीथ द्वारा प्रकाशित किया गया।

ऐतरेयोपनिषद्—एक ऋग्वेदीय उपनिषद्। ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक में पाँच अध्याय और सात खण्ड हैं। इनमें से चौथे, पाँचवें तथा छठे खण्डों का संयुक्त नाम ऐतरेयोपनिषद् है। इन तीनों में क्रमशः जगत्, जीव तथा ब्रह्म का निरूपण किया गया है। इसकी गणना प्राचीन उपनिषदों में की जाती है।

ऐतरेयोपनिषद्दीपिका—माधवाचार्य अथवा विद्यारण्यस्वामी द्वारा रचित ऐतरेयोपनिषद् की शाङ्करभाष्यानुसारिणी टीका।

ऐतिह्यतत्त्वसिद्धान्त—स्वामी निम्बार्काचार्य द्वारा रचित माना गया एक ग्रन्थ। इसका उल्लेख अन्य ग्रन्थों में पाया जाता है। उक्त आचार्य के किसी पश्चाद्भावी अनुयायी द्वारा इसका निर्माण सम्भव है। (इसकी एक ताड़पत्रित प्रतिलिपि 'ऐतिह्यतत्त्वराद्धान्त' नाम से 'निम्बार्कपीठ, प्रयाग' के जगद्गुरुपुस्तकालय में सुरक्षित है।)

ऐन्द्रमहाभिषेक—ऐतरेय ब्राह्मण में दो विभिन्न राजकीय यज्ञों का विवरण प्राप्त होता है। वे हैं—पुनरभिषेक (८. ५-११) एवं ऐन्द्रमहाभिषेक (८. १२-२०)। प्रथम कृत्य का राज्यारोहण से सम्बन्ध नहीं है। यह कदाचित् राजसूय यज्ञ से सम्बन्धित है। ऐन्द्रमहाभिषेक का सिंहासनारोहण से सम्बन्ध है। इसका नाम ऐन्द्रमहाभिषेक इसलिए पड़ा कि इसमें वे क्रियाएँ की जाती हैं, जो इन्द्र के स्वर्गराज्यारोहण के लिए की गयी मानी जाती हैं। पुरोहित इस अवसर पर राजा के शरीर में इन्द्र के गुणों की

स्थापना मन्त्र एवं प्रतिज्ञाओं द्वारा करता है । दे० 'अभिषेक' और 'राज्याभिषेक' ।

ऐन्द्रि—इन्द्र का पुत्र जयन्त । वाली नामक वानरराज को भी ऐन्द्रि कहा गया है, अर्जुन का भी एक पर्याय ऐन्द्रि है, क्योंकि इन दोनों का जन्म इन्द्र से हुआ था ।

ऐन्द्री—इन्द्र की पत्नी । मार्कण्डेयपुराण (८८. २२) में कथन है :

'वज्रहस्ता तथैवैन्द्री गजराजोपरि स्थिता ।'

दुर्गा का भी एक नाम ऐन्द्री है । पूर्व दिशा, इन्द्र देवता के लिए पढ़ी गयी ऋचा, ज्येष्ठा नक्षत्र भी ऐन्द्री कहे जाते हैं ।

ऐयनार—एक ग्रामदेवता, जिसकी पूजा दक्षिण भारत में व्यापक रूप से होती है । इसका मुख्य कार्य है खेतों को किसी भी प्रकार की हानि, विशेष कर दैवी विपत्तियों से बचाना । प्रायः प्रत्येक गाँव में इसका चबूतरा पाया जाता है । मानवरूप में इसकी मूर्ति बनायी जाती है । यह मुकुट धारण करता है और घोड़े पर सवार होता है । इसकी दो पत्नियों पूरणी और पुद्कला की मूर्तियाँ इसके साथ पायी जाती हैं जो रक्षण कार्य में उसकी सहायता करती हैं । कृषि परिपक्व होने के समय इनकी पूजा विशेष प्रकार से की जाती है । ऐयनार की उत्पत्ति हरि-हर के संयोग से मानी जाती है । जब हरि (विष्णु) ने मोहिनी रूप धारण किया था उस समय हर (शिव) के तेज से ऐयनार की उत्पत्ति हुई थी । इसका प्रतीकत्व यह है कि इस देवता में रक्षण और संहार दोनों भावों का मिश्रण है ।

ऐरावत—पूर्व दिशा का दिग्गज; इन्द्र का हाथी, यह श्वेतवर्ण, चार दाँत वाला, समुद्र के मन्थन से निकला हुआ स्वर्ग का हाथी है । इसके पर्याय हैं—अभ्रमातङ्ग, अभ्रमुवल्लभ, श्वेतहस्ती, चतुर्दन्त, मल्लनाग, इन्द्रकुञ्जर, हस्तिमल्ल, सदादान, सुदामा, श्वेतकुञ्जर, गजाग्रणी, नागमल्ल ।

महाभारत, भीष्मपर्व के अष्टम अध्याय में भारतवर्ष से उत्तर के भूभाग को उत्तर कुरु के बदले 'ऐरावत' कहा गया है । जैनसाहित्य में भी यही नाम आया है । इस भाग के निवासियों के विलास एवं यहाँ के सौन्दर्यादि का वर्णन भीष्मपर्व के पूर्व अध्यायों में वर्णित 'उत्तरकुरु' देश के अनुरूप ही हुआ है ।

ऐल—इला का पुत्र पुरूरवा । इसीसे ऐल अथवा चन्द्रवंश का आरम्भ हुआ था । महाभारत (१. ७५. १७) में कथन है :

पुरूरवास्ततो विद्वानिलायां समपद्यत ।
सा वै तस्याभवन्माता पिता चैवेति नः श्रुतम् ॥

[पश्चात् पुरूरवा इला से उत्पन्न हुआ । वही उसकी माता तथा पिता हुई ऐसा सुना जाता है ।]

ऐल अथवा चन्द्रवंश भारतीय इतिहास का बहुत प्रसिद्ध राजवंश है । इसमें पुरूरवा, आयु, ययाति आदि विख्यात राजा हुए । ययाति के पुत्र यदु, पुरु, अनु आदि थे । यदु के वंश का विपुल प्रसार भारत में हुआ ।

ऐश्वर्य—स्वामित्वसूचक सामग्री; वैभव; ईश्वर का भाव । उसके पर्याय हैं—विभूति, भूति, प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व, कामावसायिता । छः भगों में भी इसकी गणना है :

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना ॥

[सम्पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, शोभा, ज्ञान और वैराग्य इन छः को भग कहते हैं ।]

ऐश्वर्यतृतीया—तृतीया के दिन ब्रह्मा, विष्णु अथवा शिव की पूजा का विधान है । ऐश्वर्य की अभिवृद्धि के लिए तीनों लोकों के साथ तीनों देवताओं का नाम तथा मन्त्रोच्चारण करना चाहिए । दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, १.४९८ ।

ओ

ओ—स्वरवर्ण का त्रयोदश अक्षर । कामधेनु तन्त्र में इसका धार्मिक माहात्म्य इस प्रकार है :

ओकारं चञ्चलापाङ्गि पञ्चदेवमयं सदा ।
रक्तविद्युल्लताकारं त्रिगुणात्मानमीश्वरम् ॥
पञ्चप्राणमयं वर्णं नमामि देवमातरम् ।
एतद् वर्णं महेशानि स्वयं परमकुण्डली ॥

तन्त्रशास्त्र में इसके निम्नांकित नाम हैं :

सद्योजातो वासुदेवो गायत्री दीर्घजङ्घकः ।
आप्यायनी चोर्ध्वदन्तो लक्ष्मीर्वाणी मुखी द्विजः ॥
उद्देश्यदर्शकस्तीव्रः कैलासो वसुधाक्षरः ।
प्रणवांशो ब्रह्मसूत्रमजेशः सर्वमङ्गला ॥
त्रयोदशी दीर्धनासा रतिनाथो दिगम्बरः ।
त्रैलोक्यविजया प्रज्ञा प्रीतिबीजादिकर्षिणी ॥

ओम्—प्रणव, ओंकार; परमात्मा । यह नाम अकार, उकार तथा मकार तीन वर्णों से बना हुआ है । कहा भी है :

अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः ।
मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः ॥

[अकार से विष्णु उकार से महेश्वर, मकार से ब्रह्मा का बोध होता है । इस प्रकार प्रणव से तीनों का बोध होता है ।]

यथा पर्ण पलाशस्य शङ्कुनैकेन धार्य्यते ।
तथा जगदिदं सर्वमोंकारेणैव धार्य्यते ॥
(याज्ञवल्क्य)

[जैसे पलाश का पत्ता एक तिनके से उठाया जा सकता है, उसी प्रकार यह विश्व ओंकार से धारण किया जाता है ।]

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान् माङ्गलिकावुभौ ॥

[ओंकार और अथ शब्द ये दोनों ब्रह्मा के कण्ठ को भेदन करके निकले हैं; इसीलिए इन्हें माङ्गलिक कहा गया है ।]

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥
(गीता, अ० १७)

[इसलिए 'ॐ' का उच्चारण करके ब्रह्मवादी लोग विधिपूर्वक निरन्तर यज्ञ, दान, तप की क्रिया आरम्भ करते हैं ।]

'ओम्' स्वीकार, अंगीकार, रोष अर्थों में भी प्रयुक्त होता है ।

योगी लोग ओंकार का उच्चारण दीर्घतम घंटाध्वनि के समान बहुत लम्बा या अत्यन्त प्लुत स्वर से करते हैं, उसका नाम 'उद्गीथ' है । प्लुत के सूचनार्थ ही इसके बीच में '३' का अंक लिखा जाता है । इसकी गुप्त चौथी मात्रा का उच्चारण या चिन्तन ब्रह्मज्ञानी जन करते हैं ।

ओङ्कारेश्वर—प्रसिद्ध शैव तीर्थ । द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में 'ओङ्कारेश्वर' की गणना है । यहाँ दो ज्योतिर्लिङ्ग हैं; ओङ्कारेश्वर और अमलेश्वर । नर्मदा नदी के बीच में मान्धाता द्वीप पर ओङ्कारेश्वर लिङ्ग है । यहीं पर सूर्यवंश के चक्रवर्ती राजा मान्धाता ने शङ्कर की तपस्या की थी । इस द्वीप का आकार प्रणव से मिलता जुलता है । विन्ध्य पर्वत की आराधना से प्रसन्न होकर भगवान् शिव यहाँ ओङ्कारेश्वर रूप में विराजमान हुए हैं ।

ओगण—पश्चिमी पंडितों के विचार से ऋग्वेद (१०.८९.१५) में यह शब्द केवल बहुवचन में उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो वैदिक ऋषियों के शत्रु थे । लुड्विग के अनुसार (ऋग्वेद, ५.२०९) यह शब्द एक व्यक्ति विशेष का बोधक है । पिशेल (वेदिके स्टुडिअन, पृ० २, १९१, १९२) इसे एक विशेषण बतलाते हैं, जिसका अर्थ 'दुर्बल' है ।

ओङ्कारवादार्थं—तृतीय श्रीनिवास (अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में उत्पन्न) द्वारा रचित एक ग्रन्थ । इसमें विशिष्टाद्वैत मत का समर्थन किया गया है ।

ओषधिप्रस्थ—ओषधि-वनस्पतियों से भरपूर पर्वतीय भूमि; ऐसे स्थान पर बसी हुई नगरी, जो हिमालय की राजधानी थी । इसका कुमारसम्भव में वर्णन है :

तत्प्रयातौषधिप्रस्थं सिद्धये हिमवत्पुरम् ।

[कार्यसिद्धि के लिए हिमालय के ओषधिप्रस्थ नामक नगर को जाइए ।]

उपासना और यौगिक क्रियाओं के लिए यह स्थान उपयुक्त माना गया है ।

औ

औ—स्वर वर्ण का चतुर्दश अक्षर । कामधेनुतन्त्र में इसका माहात्म्य इस प्रकार दिया हुआ है :

रक्तविद्युल्लताकारं औकारं कुण्डली स्वयम् ।
अत्र ब्रह्मादयः सर्वे तिष्ठन्ति सततं प्रिये ॥
पञ्चप्राणमयं वर्णं सदाशिवमयं सदा ।
सदा ईश्वरसंयुक्तं चतुर्वर्गप्रदायकम् ॥

तन्त्रशास्त्र में इसके निम्नलिखित नाम हैं :

औकारः शक्तिको नादस्तेजसो वामजङ्घकः ।
मनुरर्द्धग्रहेशश्च शङ्कुकर्णः सदाशिवः ॥
अधोदन्तश्च कण्ठ्योष्ठ्यौ सङ्कर्षणः सरस्वती ।
आज्ञा चोर्ध्वमुखी शान्तो व्यापिनी प्रकृतः पयः ॥
अनन्ता ज्वालिनी व्योमा चतुर्दशी रतिप्रियः ।
नेत्रमात्मकर्षिणी च ज्वाला मालिनिका भृगुः ॥

औघड़—प्राचीन पाशुपत सम्प्रदाय प्रायः लुप्त हो गया है । उसके कुछ विकृत अनुयायी अघोरी अवश्य देखे जाते हैं ।

वे पुराने कापालिक हैं एवं गोरख और कबीर के प्रभाव से परिवर्तित रूप में दीख पड़ते हैं।

तान्त्रिक एवं कापालिक भावों का मिश्रण इनकी चर्या में देखा जाता है, अतः ये किसी बन्धन या नियम से अवघटित—अघटित (नहीं गढ़े हुए) मस्त, फक्कड़ पड़े रहते हैं, इसी से ये औघड़ कहलाते हैं। दे० 'अघोर पंथ'।

औडुलोमि—एक पुरातन वेदान्ताचार्य। वेदान्ती दार्शनिक आत्मा एवं ब्रह्म के सम्बन्ध की प्रायः तीन प्रकार से व्याख्या करते हैं। आश्मरथ्य के अनुसार आत्मा न तो ब्रह्म से भिन्न है न अभिन्न। इनके सिद्धान्त को भेदाभेदवाद कहते हैं। दूसरे विचारक औडुलोमि हैं। इनका कथन है कि आत्मा ब्रह्म से तब तक भिन्न है, जब तक यह मोक्ष पाकर ब्रह्म में मिल नहीं जाता। इनके सिद्धान्त को सत्यभेद या द्वैत सिद्धान्त कहते हैं। तीसरे विचारक काशकृत्स्न हैं। इनके उनुसार आत्मा ब्रह्म से बिल्कुल अभिन्न है। इनका सिद्धान्त अद्वैतवाद है।

आचार्य औडुलोमि का नाम केवल वेदान्तसूत्र (१.४.२१;३.४.४५;४.४.६) में ही मिलता है, मीमांसासूत्र में नहीं मिलता। ये भी बादरायण के पूर्ववर्ती जान पड़ते हैं। ये वेदान्त के आचार्य और आत्मा-ब्रह्म भेदवाद के समर्थक थे।

औद्गात्रसारसंग्रह—सामवेदी विधियों का संग्रहरूप एक निबन्धग्रन्थ है। सामवेद का अन्य श्रौतसूत्र 'द्राह्यायण' है। 'लाट्यायन श्रौतसूत्र' से इसका बहुत थोड़ा भेद है। यह सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बन्ध रखता है। मध्वस्वामी ने इसका भाष्य लिखा है तथा रुद्रस्कन्द स्वामी ने 'औद्गात्रसारसंग्रह' नाम के निबन्ध में उस भाष्य का संस्कार किया है।

और्ध्वदेहिक—शरीर त्याग के बाद आत्मा की सद्गति के लिए किया हुआ कर्म। मृत शरीर के लिए उस दिन प्रदत्त दान और संस्कार का नाम भी यही है। जिस दिन व्यक्ति मरा हो उस दिन से लेकर सपिण्डीकरण के पूर्व तक प्रेत की तृप्ति के लिए जो पिण्ड आदि दिया जाता है, वह सब और्ध्वदेहिक कहलता है। दे० 'अन्त्येष्टि'।

मनु (११.१०) में कहा गया है :

भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम्।
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च ॥

[अपने आश्रित रहने वालों को कष्ट देकर जो मृतात्मा के लिए दान आदि देता है वह दान जीवन मे तथा मरने के पश्चात् भी दुःखकारक होता है।]

औणंनाभ—ऋग्वेद (१०.१२०.६) में दनु के सात पुत्र दानवों के नाम आते हैं। ये अनावृष्टि (सूखा) के दानव हैं और सूखे मौसम में आकाश की विभिन्न अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें वृत्र आकाशीय जल को अवरुद्ध करने वाला है जो सारे आकाश में छाया रहता है। दूसरा शुश्न है जो सस्य को नष्ट करता है। यह वर्षा (मानसून) के पहले पड़ने वाली प्रचंड गर्मी का प्रतिनिधि है। तीसरा और्णनाभ (मकड़ी का पुत्र) है। कदाचित् इसका ऐसा नाम इसलिए पड़ा कि सूखे मौसम में आकाश का दृश्य फैले हुए ऊन या मकड़े जैसा हो जाता है।

औरस—अपने अंश से धर्मपत्नी के द्वारा उत्पन्न सन्तान। याज्ञवल्क्य के अनुसार :

स्वक्षेत्रे संस्कृतायान्तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम्।
तमौरसं विजानीयात् पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥

[संस्कारपूर्वक विवाहित स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न किया जाता है उसे सर्वश्रेष्ठ औरस पुत्र जानना चाहिए।]

धर्मशास्त्र में औरस पुत्र के अधिकारों और कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

अः

अः—यह एकाक्षरकोश के अनुसार महेश्वर का प्रतीक है। महाभारत में भी इसकी पुष्टि हुई है :

बिन्दुर्विसर्गः सुमुखः शरः सर्वायुधः सहः।
(१३.१७.१२६)

कामधेनुतन्त्र में इसका प्रतीकत्व वर्णित है :

अःकारं परमेशानि विसर्ग सहितं सदा।
अःकारं परमेशानि रक्तविद्युत्प्रभामयम् ॥
पञ्चदेवमयो वर्णः पञ्चप्राणमयः सदा।
सर्वज्ञानमयो वर्णः आत्मादितत्त्वसंयुतः ॥
बिन्दुत्रयमयो वर्णः शक्तित्रयमयः सदा।
किशोरवयसः सर्वे गीतवाद्यादि तत्पराः ॥
शिवस्य युवती एताः स्वयं कुण्डली मूर्तिमान् ॥

क

क—व्यञ्जनवर्ण के कवर्ग का प्रथम अक्षर। कामधेनुतन्त्र में

इसका प्रतीकात्मक रहस्य निम्नलिखित बतलाया गया है :

अधुना संप्रवक्ष्यामि ककारतत्त्वमुत्तमम् ।
रहस्यं परमाश्चर्यं त्रैलोक्यानाञ्च संश्रृणु ॥
वामरेखा भवेद् ब्रह्मा विष्णुर्दक्षिणरेखिका ।
अधोरेखा भवेद् रुद्रो मात्रा साक्षात्सरस्वती ॥
कुण्डली अंकुशाकारा मध्ये शून्यः सदाशिवः ।
जवायावकसंकाशा वामरेखा वरानने ॥
शरच्चन्द्रप्रतीकाशा दक्षरेखा च मूर्तिमान् ।
अधोरेखा वरारोहे महामरकतद्युतिः ॥
शङ्खकुन्दसमा कीर्तिर्मात्रा साक्षात् सरस्वती ।
कुण्डली अङ्कुशा या तु कोटिविद्युल्लताकृतिः ॥
कोटिचन्द्रप्रतीकाशो मध्ये शून्यः सदाशिवः ।
शून्यगर्भे स्थिता काली कैवल्यपददायिनी ॥
ककाराज्जायते सर्वं कामं कैवल्यमेव च ।
अर्थश्च जायते देवि तथा धर्मश्च नान्यथा ॥
ककारः सर्ववर्णानां मूलप्रकृतिरेव च ।
ककारः कामदा कामरूपिणी स्फुरदव्यया ॥
कमनीया महेशानि स्वयं प्रकृति सुन्दरी ।
माता सा सर्वदेवानां कैवल्य पददायिनी ॥
ऊर्ध्वकोणे स्थिता कामा ब्रह्मशक्तिरितीरिता ।
वामकोणे स्थिता ज्येष्ठा विष्णुशक्तिरितीरिता ॥
दक्षकोणे स्थिता विन्दू रौद्री संहाररूपिणी ।
ज्ञानात्मा स तु चार्वङ्गि कलाचतुष्टयात्मकः ॥
इच्छाशक्तिर्भवेद् ब्रह्मा विष्णुश्च ज्ञानशक्तिमान् ।
क्रियाशक्तिर्भवेद् रुद्रः सर्वप्रकृतिमूर्तिमान् ॥
आत्मविद्या शिवस्तत्र सदा मन्त्रः प्रतिष्ठितः ।
आसनं त्रिपुरादेव्याः ककारं पञ्चदैवतम् ॥
ईश्वरो यस्तु देवेशि त्रिकोणे तस्य संस्थितिः ।
त्रिकोणमेतत् कथितं योनिमण्डलमुत्तमम् ॥
केवलं प्रपदे यस्याः कामिनी सा प्रकीर्तिता ।
जवायावकसिन्दूर सदृशीं कामिनीं पराम् ॥
चतुर्भुजां त्रिनेत्राञ्च बाहुवल्ली विराजिताम् ।
कदम्ब कोरकाकारस्तनद्वय विभूषिताम् ॥

तान्त्रिक क्रियाओं में इस अक्षर का बड़ा उपयोग होता है ।

कक्षीवान्—ऋचाओं के द्रष्टा एक ऋषि । ऋग्वेद (१.१८, १;५१,१३;११२,१६;११६,७;११७,६;१२६,३;४.२६,१; ८.९,१०;९.७४,८;१०.२५,१०;६१,१६) में अनेकों बार कक्षीवान् ऋषि का नाम उद्धृत है । वे उशिज नामक दासी के पुत्र और परिवार से 'पज्र' थे, क्योंकि उनकी एक उपाधि पज्रिय (ऋ०वे० १.११६,७;११७,६) है । ऋग्वेद (१.१२६) में उन्होंने सिंधुतट पर निवास करने वाले स्वनय भाव्य नामक राजकुमार की प्रशंसा की है, जिसने उनको सुन्दर दान दिया था । वृद्धावस्था में उन्होंने वृचया नामक कुमारी को पत्नी रूप में प्राप्त किया । वे दीर्घजीवी थे । ऋग्वेद (४.२६,१) में पुराकथित कुत्स एवं उशना के साथ इनका नाम आता है । परवर्ती साहित्य में इन्हें आचार्य माना गया है ।

इनका नाम ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों के संकलनकार नौ ऋषियों की तालिका में आता है । ये नौ ऋषि हैं—सव्य नोधस, पराशर, गोतम, कुत्स, कक्षीवान्, परुच्छेप, दीर्घतमा एवं अगस्त्य । ये पूर्ववर्त्ती छः ऋषियों से या उनके कुलों से भिन्न हैं ।

कङ्कतीय—शतपथ ब्राह्मण में उद्धृत एक परिवार का नाम, जिसने शाण्डिल्य से 'अग्निचयन' सीखा था । आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में 'कङ्कतिब्राह्मण' ग्रन्थ का उद्धरण है । बौधायन-श्रौतसूत्र में उद्धृत छागलेयब्राह्मण एवं कङ्कतिब्राह्मण सम्भवतः एक ही ग्रन्थ के दो नाम हैं ।

कंस—पुराणों के अनुसार यह अन्धक-वृष्णि संघ के गणमुख्य उग्रसेन का पुत्र था । इसमें स्वच्छन्द शासकीय या अधिनायकवादी प्रवृत्तियाँ जागृत हुईं और पिता को अपदस्थ करके यह स्वयं राजा बन बैठा । इसकी बहिन देवकी और बहनोई वसुदेव थे । इनको भी इसने कारागार में डाल दिया । यहीं पर इनसे कृष्ण का जन्म हुआ अतः कृष्ण के साथ उसका विरोध स्वाभाविक था । कृष्ण ने उसका वध कर दिया । अपनी निरंकुश प्रवृत्तियों के कारण कंस का चित्रण राक्षस के रूप में हुआ है ।

कच्छ—शीघ्र गति और सन्नद्धता के लिए पहना गया जाँघिया, जो सिक्खों के लिए आवश्यक है । गुरु गोविन्दसिंह ने मुगल साम्राज्य से युद्ध करने के लिए एक शक्तिशाली सेना बनायी । अपने सैनिकों पर पूर्णरूप से धार्मिक प्रभाव डालने के लिए उन्होंने अपने हाथ से उन्हें 'खड्ग दी पहुल' तलवार का धर्म दिया तथा उनसे बहुत सी प्रतिज्ञाएँ करायीं । इन प्रतिज्ञाओं में 'क' से प्रारम्भ होने वाले पाँच पहनावों का ग्रहण करना भी था । कच्छ

(कच्छा) उन पाँचों में से एक है। पाँच पहनावे हैं—कच्छ, कड़ा, कृपाण, केश एवं कंघा।

कज्जली—भाद्र कृष्ण तृतीया को इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। इसमें विष्णुपूजा का विधान है। निर्णयसिन्धु के अनुसार यह मध्य देश (बनारस, प्रयाग आदि) में अत्यन्त प्रसिद्ध है।

कठरुद्रोपनिषद्—उत्तरकालीन एक उपनिषद्। जैसा कि नाम से प्रकट है, यह कठशाखा तथा रुद्र देवता से सम्बद्ध उपनिषद् है। इसमें रुद्र की महिमा तथा आराधना बतलायी गयी है।

कठश्रुति उपनिषद्—यह संन्यासमार्गीय एक उपनिषद् है। इसका रचनाकाल मैत्रायणी उपनिषद् के लगभग है।

कठोपनिषद्—कृष्ण यजुर्वेद की कठशाखा के अन्तर्गत यह उपनिषद् है। इसमें दो अध्याय और छः वल्लियाँ हैं। इसके विषय का प्रारम्भ उद्दालकपुत्र वाजश्रवस ऋषि के विश्वजित् यज्ञ के साथ होता है। इसमें नचिकेता की प्रसिद्ध कथा है, जिसमें श्रेय और प्रेय का विवेचन किया गया है। नचिकेता ने यमराज से तीन वर माँगे थे, जिनमें तीसरा ब्रह्मज्ञान का वर था। यमराज द्वारा नचिकेता के प्रति वर्णित ब्रह्मविद्या का उपदेश इसका प्रतिपाद्य मुख्य विषय है।

कण्टकोद्धार—आचार्य रामानुज (विक्रमाब्द प्रायः ११९४) ने अपने मत की पुष्टि, प्रचार एवं शाङ्करमत के खण्डन के लिए अनेकों ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से 'कण्टकोद्धार' भी एक है। इसमें अद्वैतमत का निराकरण करके विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया गया है।

कटदानोत्सव—यह उत्सव भाद्रपद शुक्ल एकादशी, द्वादशी, पूर्णिमा को जब भगवान् विष्णु दो मास के और शयन के लिए करवट बदलते हैं, मनाया जाता है। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, २.८१३; स्मृतिकौस्तुभ, १५३।

कणाद—वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ऋषि। इनका वैशेषिकसूत्र इस दर्शन का मूल ग्रन्थ है। प्रशस्तपाद का 'पदार्थधर्मसंग्रह' नामक ग्रन्थ ही वैशेषिक दर्शन का भाष्य कहलाता है। परन्तु यह भाष्य नहीं है और सूत्रों के आधार पर प्रणीत स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ में कणाद ने धर्म का लक्षण इस प्रकार बतलाया है:

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

[जिससे अभ्युदय (ऐहलौकिक सुख) तथा निःश्रेयस (पारमार्थिक मोक्ष) की सिद्धि हो वह धर्म है।]

इसके पश्चात् सब पदार्थों के प्रकार, लक्षण तथा स्वरूप का परिचय दिया गया है। उनके मतानुसार नाना भेदों से भिन्न अनन्त पदार्थ हैं। इन समस्त पदार्थों की अवगति हजार युग बीत जाने पर भी एक-एक को पकड़कर नहीं हो सकती। अतः श्रेणीविभाग द्वारा विश्व के सभी पदार्थों का ज्ञान इस दर्शन के द्वारा कराया गया है। इसमें विशेषताओं के आधार पर पदार्थों का वर्णन किया गया है, अतः इसका नाम वैशेषिक दर्शन है।

प्रसिद्ध है कि कश्यप गोत्र के ऋषि कणाद ने उग्र तप किया और इन्होंने शिलोञ्छ बीनकर अपना जीवन बिताया इसीलिए ये कणाद (कण = दाना खाने वाले) कहलाये। अथवा कण = अणु के सिद्धान्तप्रवर्तक होने से ये कणाद कहे गये। इनके शुद्ध अन्तःकरण में इसीलिए पदार्थों के तत्त्वज्ञान का उदय हुआ।

कणाद ने प्रमेय के विस्तार के साथ अपने सूत्रों में आत्मा और अनात्मा पदार्थों का विवेचन किया है। परन्तु शास्त्रार्थ की विधि और प्रमाणों के विस्तार के साथ इन वस्तुओं के विवेचन की आवश्यकता थी। इसकी पूर्ति गौतम के 'न्यायदर्शन' में की गयी है। दे० 'वैशेषिक दर्शन'।

कण्व—ऋग्वेद के प्रथम सात मण्डलों के सात प्रमुख ऋषियों में कण्व का नाम आता है। आठवें मण्डल की ऋचाओं की रचना भी कण्व परिवार की ही है, जो पहले मण्डल के रचयिता हैं।

ऋग्वेद तथा परवर्त्ती साहित्य (ऋ० १.३६,८,१०, ११,१७,१९,३९,७,९;४७, ५;११२,५;११७,८; ११८, ७; १३९,९; ५.४१,४;८.५,२३,२५;७-१८; ८, २०; ४९, १०; ५०,१०;१०.७१,११;११५,५;१५०,५; अथर्व वेद ४.३७, १;७.१५,१;१८.३,१५; वाजसनेयी सं० १७.७४; पञ्चविंश ब्रा० ८.२,२; ९.२,९; कौ० ब्रा० २८ ८) में कण्व का नाम बार-बार आता है। उनके पुत्र तथा वंशजों का उद्धरण, विशेष कर ऋग्वेद के आठवें मण्डल में कण्वाः, कण्वस्य सूनवः, काण्वायनाः एवं काण्व नामों से आया है। कण्व के एक वंशज का एकवचन में अकेले वा पैतृक पदवी के साथ 'कण्व नार्षद' (ऋ० १.४८,४;८.३४,१) रूप मे तथा

'कण्व-श्रायस' (तैत्ति० सं० ५.४,७,५; काठक सं० २१.८, मैत्रा० सं० ३.३,९) के रूप में तथा वहुवचन में 'कण्वाः सौश्रवसः' के रूप में उद्धरण है। कण्वपरिवार का अत्रि-परिवार से सम्बन्ध प्रतीत होता है, किन्तु विशेष महत्त्व-पूर्ण नहीं। अथर्ववेद के एक परिच्छेद में दोनों परिवारों में प्रतियोगिता परिलक्षित है (अ० २.२५)।

महाभारत में कण्व शकुन्तला के धर्मपिता के रूप में उद्धृत हैं। किन्तु यह कहना कठिन है कि ये वही ऋषि हैं, जिनका उल्लेख वैदिक संहिताओं में हुआ है।

कण्वाश्रम—बिजनौर जिले के अन्तर्गत अथवा मतान्तर से कोटद्वार से छः मील दूर मालिनी नदी के तट पर कण्वाश्रम है। दुष्यन्त और शकुन्तला का मिलन यहाँ हुआ था।

कथासारामृत—मराठा भक्तों की परम्परा में अठारहवीं शताब्दी के महीपति नामक भागवत धर्मावलम्बी सन्त ने 'कथासारामृत' की रचना की। इसमें भगवत्कथाओं का संग्रह है।

कदलीव्रत—यह व्रत भाद्र शुक्ल की चतुर्दशी को किया जाता है। इसमें केले के वृक्ष की पूजा होती है, जिससे सौन्दर्य तथा सन्तति की वृद्धि होती है। गुर्जरों में यह व्रत कार्तिक, माघ अथवा वैशाख मास की पूर्णिमा के दिन समस्त उपचारों तथा पौराणिक मन्त्रों के साथ किया जाता है। इस व्रत का उद्यापन उसी तिथि को उसी मास में अथवा अन्य किसी शुभ मास में किया जाना चाहिए। यदि केले का वृक्ष अप्राप्य हो तो उसकी स्वर्णप्रतिमा का पूजन किया जाता है। दे० अहल्याकामधेनु, ६११ अ।

कनकदास—इनका उद्भव काल १६वीं शती है। ये मध्व-मतावलम्बी वैष्णव एवं कन्नड़ भजनों के रचयिताओं में मुख्य हैं।

कनखल—हरिद्वार की पंच पुरियों में एक पुरी। नीलधारा तथा नहर वाली गंगा की धारा दोनों यहाँ आकर मिल जाती हैं। सभी तीर्थों में भटकने के पश्चात् यहाँ पर स्नान करने से एक खल की मुक्ति हो गयी थी (ऐसा कौन खल है जो यहाँ नहीं तर जाता), इसलिए मुनियों ने इसका नामकरण "कनखल" किया। हरि की पौड़ी से कनखल तीन मील दक्षिण है। यहाँ दक्ष प्रजापति का स्मारक दक्षेश्वर शिवमन्दिर प्रतिष्ठित है।

कनफटा योगी—गोरखपन्थी साधु, जो अपने दोनों कानों के मध्य के रिक्त स्थान में बड़ा छिद्र कराते हैं जिससे वे उसमें वृत्ताकार कुंडल (शीशा, काठ अथवा सींग का बना हुआ) पहन सकें। वे अनेकों मालाएँ पहनते हैं और उनमें से किसी एक में छोटी चाँदी की सीटी लटकती है, जिसे 'सिंगीनाद' कहते हैं। मालाओं में एक श्वेत पत्थर की गुरियों की माला प्रायः रहती है, जिसका अभिप्राय है कि धारण करने वाले ने हिंगुलाज (बलूचिस्तान) स्थित शक्तिपीठ के मन्दिर का दर्शन किया है। वे लोग शाक्त एवं शैव दोनों के मन्दिरों का दर्शन करते हैं। उनका मन्त्र है 'शिव-गोरक्ष'। वे गोरखनाथ की पूजा करते हैं तथा उन्हें अति प्राचीन मानते हैं। योगमार्ग का अधिक आचरण भी इनमें नहीं पाया जाता, क्योंकि आधुनिक संन्यासी साधु जैसे ये भी साधारण हो गये हैं। इनके अनेकों ग्रन्थ हैं। 'हठयोग' तथा 'गोरक्षशतक' गोरखनाथ प्रणीत कहे जाते हैं। आधुनिक ग्रन्थों में 'हठयोगप्रदीपिका', स्वात्माराम रचित 'घेरण्डसंहिता' तथा 'शिवसंहिता' हैं। प्रथम सबसे प्राचीन है। प्रदीपिका तथा घेरण्ड के एक ही विषय हैं, किन्तु शिवसंहिता का एक भाग ही हठयोग पर है, शेष शाक्तयोग के भाष्य के सदृश है। दे० 'गोरख पंथ'।

कन्दपुराणम्—शैव सम्प्रदाय की तमिल शाखा के साहित्य में कन्दपुराण का प्रमुख स्थान है। यह स्कन्दपुराण का तमिल अनुवाद है, जिसे द्वादश शताब्दी में 'काञ्ची अय्यर' नामक शैव सन्त ने प्रस्तुत किया। ये काञ्चीवरम् के निवासी थे।

कन्याकुमारी—भारत के दक्षिणांचल के अन्तिम छोर पर समुद्रतटवर्ती एक देवीस्थान। 'छोटे नारायण' से, कन्याकुमारी बावन मील है। यह अन्तरीप भूमि है। एक ओर बंगाल का आखात, दूसरी ओर पश्चिम सागर तथा सम्मुख हिंद महासागर है। महाभारत (वनपर्व ८५.२३) में इसका उल्लेख है :

ततस्तीरे समुद्रस्य कन्यातीर्थमुपस्पृशेत्।
तत्तोयं स्पृश्य राजेन्द्र सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

पद्मपुराण (३८.२३) में इसका माहात्म्य दिया हुआ है। स्वामी विवेकानन्द ने यहाँ एक समुद्रवेष्टित शिला पर कुछ समय तक भजन-ध्यान किया था। इस घटना की स्मृति में उक्त शिला पर भव्य भवन निर्मित है, जो ध्यान-चिन्तन के लिए रमणीक स्थल बन गया है।

कपर्द—'कपर्द' शब्द सिर के केशों को चोटी के रूप में बाँधने की वैदिक प्रथा का बोधक है। इस प्रकार एक

कुमारी को चार चोटियों में केशों को बाँधने वाली 'चतुष्कपर्दा' (ऋ० वे १०.११४,३) कहा गया है तथा 'सिनीवाली' को सुन्दर चोटी वाली 'सुकपर्दा' कहा गया है (वाजसनेयी सं० ११.५९)। पुरुष भी अपने केशों को इस भाँति सजाते थे, क्योंकि 'रुद्र' (ऋ० वे० १.११४,१, ५; वाज० सं० १६.१०,२९, ४३, ४८, ५९) तथा 'पूषा' को ऐसा करते कहा गया है (ऋ० वे० ६.५३,२;९.६७, ११)। वसिष्ठों को दाहिनी ओर जूड़ा बाँधने से पहचाना जाता था एवं उन्हें 'दक्षिणातस्कपर्द' कहते थे। कपर्दी का प्रतिलोम शब्द पुलस्ति है अर्थात् केशों को बिना चोटी किये रखना।

कपर्दी—(१) शंकर का एक उपनाम, क्योंकि उनके मस्तक पर विशाल जटाजूट बँधा रहता है।

(२) ऋग्वेद और आपस्तम्बधर्मसूत्र के एक भाष्यकार भी 'कपर्दी स्वामी' नाम से प्रसिद्ध हैं।

कपर्दिक (वेदान्ताचार्य)—स्वामी रामानुजकृत **'वेदान्तसंग्रह'** (पृ० १५४) में प्राचीन काल के छः वेदान्ताचार्यों का उल्लेख मिलता है। इन आचार्यों ने रामानुज से पहले वेदान्त शास्त्र के प्रचार के लिए ग्रन्थनिर्माण किये थे। आचार्य रामानुज के सम्मानपूर्ण उल्लेख से प्रतीत होता है कि ये लोग सविशेष ब्रह्मवादी थे। कपर्दिक उनमें से एक थे। दूसरे पाँच आचार्यों के नाम हैं—भारुचि, टङ्क, बोधायन, गुहदेव एवं द्रविडाचार्य।

कपर्दीश्वर विनायकव्रत—श्रावण शुक्ल चतुर्थी को गणेशपूजन का विधान है। दे० व्रतार्क, ७८ व ८४ अ.; व्रतराज १६०–१६८. दोनों ग्रन्थों में विक्रमार्कपुर का उल्लेख है और कहते हैं कि महाराज विक्रमादित्य ने इस व्रत का आचरण किया था।

कपालकुण्डला [illegible] का शाब्दिक अर्थ है 'कपालों (खोपड़ियों) का [illegible] धारण करनेवाली (साधिका)।' कापालिक पंथ में साधक और साधिकाएँ दोनों कपालों के कुण्डल (माला) धारण करते थे। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखे गये 'मालतीमाधव' नाटक में एक मुख्य पात्र अघोरघण्ट कापालिक संन्यासी है। वह चामुण्डा देवी के मन्दिर का पुजारी था, जिसका सम्बन्ध तेलुगुप्रदेश के श्रीशैल नामक शैव मन्दिर से था। कपालकुण्डला अघोरघण्ट की शिष्य थी। दोनों योग की साधना करते थे। वे पूर्णरूपेण शैव विचारों के मानने वाले थे, एवं नरबलि भी देते थे। संन्यासिनी कपालकुण्डला मुण्डों की माला पहनती तथा एक भारी डण्डा लेकर चलती थी, जिसमें घण्टियों की रस्सी लटकती थी। अघोरघण्ट मालती को पकड़कर उसकी बलि देना चाहता था, किन्तु वह उससे मुक्त हो गयी।

कपालमोचन तीर्थ—सहारनपुर से आगे जगाधारी से चौदह मील दूर एक तीर्थ। यहाँ कपालमोचन नामक सरोवर है, इसमें स्नान करने के लिए यात्री दूर दूर से आते हैं। यह स्थान जंगल में स्थित और रमणीक है।

कपाली—शब्दार्थ है 'कपाल (हाथ में) धारण करने वाला' अथवा 'कपाल (मुण्ड) की माला धारण करने वाला।' यह शिव का पर्याय है। किन्तु 'चर्यापद' में इसका एक दूसरा ही अर्थ है। कपाली की व्युत्पत्ति उसमें इस प्रकार बतायी गयी है : 'कम् महासुखं पालयति इति कपाली। अर्थात् जो 'क' महासुख का पालन करता है वह कपाली है। इस साधना में 'डोम्बी' (नाड़ी) के साधक को कपाली कहते हैं।

कपालेश्वर—शिव का पर्याय। कापालिक एक सम्प्रदाय की अपेक्षा साधकों का पंथ कहला सकता है, जो विचारों में वाममार्गी शाक्तों का समीपवर्ती है। सातवीं शताब्दी के एक अभिलेख में कपालेश्वर (देवता) एवं उनके संन्यासियों का उल्लेख पाया जाता है। मुण्डमाला धारण किये हुए शिव ही कपालेश्वर हैं।

कपिल—सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महामुनि। कपिल के 'सांख्यसूत्र' जो सम्प्रति उपलब्ध हैं, छः अध्यायों में विभक्त हैं और संख्या में कुल ५२४ हैं। इनके प्रवचन के बारे में पञ्चशिखचार्य ने लिखा है :

> "निर्माणचित्तमधिष्ठाय भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।"

[सृष्टि के आदि में भगवान् विष्णु ने योगबल से 'निर्माण चित्त' (रचनात्मक देह) का आधार लेकर स्वयं उसमें प्रवेश करके, दयार्द्र होकर कपिल रूप से परम तत्त्व की जिज्ञासा करते वाले अपने शिष्य आसुरि को इस तन्त्र (सांख्यसूत्र) का प्रवचन किया।]

पौराणिकों ने चौबीस अवतारों में इनकी गणना की है। भागवत पुराण में इनको विष्णु का पञ्चम अवतार बतलाया गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'तत्त्वसमास-

सूत्र' नामक एक संक्षिप्त सूत्ररचना को कपिल का मूल उपदेश मानना चाहिए ।

इनकी जन्मभूमि गुजरात का सिद्धपुर और तपःस्थल गंगा-सागरसंगम तीर्थ कहा जाता है ।

कपिल-उपपुराण—यह उन्तीस प्रसिद्ध उपपुराणों में से एक है ।

कपिलादान—श्राद्धकर्म के सम्बन्ध में ग्यारहवें दिन 'कपिला धेनु दान' तथा वृषोत्सर्ग मृतक के नाम पर किया जाता है । यह दान महाब्राह्मण को दिया जाता है ।

कपिष्ठलकठसंहिता—यजुर्वेद की पाँच शाखाओं में से कपिष्ठल-कठ एक शाखा है । 'कपिष्ठलकठसंहिता' इसी शाखा की है ।

कपिलवस्तु—अब तक यह मान्य था कि पिपरहवा से नौ मील उत्तर-पश्चिम नेपाल राज्य में तिलौरा नामक स्थान ही गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोदन की राजधानी था । यहाँ विशाल भग्नावशेष हैं । यह स्थान लुम्बिनी से पन्द्रह मील पश्चिम है । किंतु नवीन खोजों से प्रमाणित होता है कि बस्ती जिला, उत्तर प्रदेश का पिपरहवा नामक स्थान ही प्राचीन कपिलवस्तु है ।

बौद्ध परम्परा (दीग्घनिकाय) के अनुसार यहाँ पर प्राचीन काल में कपिल मुनि का आश्रम था । अयोध्या से निष्कासित इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारों ने यहाँ पहुँचकर शाक (शाक) वन के बीच शाक्य जनपद की स्थापना की । सम्भवतः कापिल सांख्य के अनीश्वरवादी दर्शन का प्रभाव शाक्यों (विशेष कर गौतम बुद्ध) पर इसी परम्परा से पड़ता रहा होगा ।

कपिलाषष्ठीव्रत—भाद्र कृष्ण को षष्ठी (अमान्त गणना) अथवा आश्विन कृष्ण की षष्ठी (पूर्णिमान्त गणना), भौमवार, व्यतीपात योग, रोहिणी नक्षत्रयुक्त दिन में इस व्रत का अनुष्ठान होता है। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, १.५७८। यदि उपर्युक्त संयोगों के अतिरिक्त कहीं सूर्य भी हस्त नक्षत्र से युक्त हो तो इस व्रत का पुण्य और अधिक होता है । इसमें भास्कर की पूजा तथा कपिला गौ के दान का विधान है । कपिलपरम्परा के अनुयायी संन्यासी गण इस दिन कपिल मुनि का जन्मोत्सव मनाते हैं । इस पर्व में रोहिणी का संयोग अनुमान पर ही आधारित है । इतने योगों का एक साथ पड़ जाना दुर्लभ बात है । साधारणतः ऐसा योग ६० वर्षों में कहीं एकाध बार पड़ता है ।

कबीर तथा कबीरपंथ—धार्मिक सुधारकों में कबीर का नाम अग्रगण्य है । इनका चलाया हुआ सम्प्रदाय कबीरपंथ कहलाता है । इनका जन्म १५०० ई० के लगभग उस जुलाहा जाति में हुआ जो कुछ ही पीढ़ी पहले हिन्दू से मुसलमान हुई थी, किन्तु जिसके बीच बहुत से हिन्दू संस्कार जीवित थे । ये वाराणसी में लहरतारा के पास रहते थे । इनका प्रमुख धर्मस्थान 'कबीरचौरा' आज तक प्रसिद्ध है । यहाँ पर एक मठ और कबीरदास का मन्दिर है, जिसमें उनका चित्र रखा हुआ है । देश के विभिन्न भागों से सहस्रों यात्री यहाँ दर्शन करने आते हैं । इनके मूल सिद्धान्त ब्रह्मनिरूपण, ईसमुक्तावली, कबीरपरिचय की साखी, शब्दावली, पद, साखियाँ, दोहे, सुखनिधान, गोरखनाथ की गोष्ठी, कबीरपञ्जी, बलक्क की रमैनी, रामानन्द की गोष्ठी, आनन्द रामसागर, अनाथमङ्गल, अक्षरभेद की रमैनी, अक्षरखण्ड की रमैनी, अरिफनामा कबीर का, अर्जनामा कबीर का, आरती कबीरकृत, भक्ति का अङ्ग, छप्पय, चौकाघर की रमैनी, मुहम्मदी बानी, नाम माहात्म्य, पिया पहिचानवे को अङ्ग, ज्ञानगूदरी, ज्ञानसागर, ज्ञानस्वरोदय, कबीराष्टक, करमखण्ड की रमैनी, पुकार, शब्द अनलहक, साधकों के अङ्ग, सतसङ्ग को अङ्ग, स्वासगुञ्जार, तीसा जन्म, कबीर कृत जन्मबोध, ज्ञानसम्बोधन, मुखहोम, निर्भयज्ञान, सतनाम या सतकबीर बानी, ज्ञानस्तोत्र, हिण्डोरा, सतकबीर, बन्दीछोर, शब्द वंशावली, उग्रगीता, बसन्त, होली, रेखता, झूलना, खसरा, हिण्डोला, बारहमासा, चाँचरा, चौतीसा, अलिफनामा, रमैनी, बीजक, आगम, रामसार, सोरठा कबीरजी कृत, शब्द पारखा और ज्ञानबतीसी, विवेकसागर, विचारमाला, कायापञ्जी, रामरक्षा, अठपहरा, निर्भयज्ञान, कबीर और धर्मदास की गोष्ठी आदि ग्रन्थों में पाये जाते हैं ।

कबीरदास ने स्वयं ग्रन्थ नहीं लिखे, केवल मुख से भाखे हैं । इनके भजनों तथा उपदेशों को इनके शिष्यों ने लिपिबद्ध किया । इन्होंने एक ही विचार को सैकड़ों प्रकार से कहा है और सबमें एक ही भाव प्रतिध्वनित होता है । ये रामनाम की महिमा गाते थे, एक ही ईश्वर को मानते थे और कर्मकाण्ड के घोर विरोधी थे । अवतार, मूर्ति, रोजा, ईद, मसजिद, मन्दिर आदि को नहीं मानते थे । अहिंसा, मनुष्य मात्र की समता तथा संसार की असारता

को इन्होंने बार-बार गाया है। ये उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म को मानते थे और साफ कहते थे कि वही शुद्ध ईश्वर है चाहे उसे राम कहो या अल्ला। ऐसी दशा में इनकी शिक्षाओं का प्रभाव शिष्यों द्वारा परिवर्तन से उलटा नहीं जा सकता था। थोड़ा सा उलट-पुलट करने से केवल इतना फल हो सकता है कि रामनाम अधिक न होकर सत्यनाम अधिक हो। यह निश्चित बात है कि ये रामनाम और सत्यनाम दोनों को भजनों में रखते थे। प्रतिमापूजन इन्होंने निन्दनीय माना है। अवतारों का विचार इन्होंने त्याज्य बताया है। दो-चार स्थानों पर कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनसे अवतार महिमा व्यक्त होती है।

कबीर के मुख्य विचार उनके ग्रन्थों में सूर्यवत् चमक रहे हैं, किन्तु उनसे यह नहीं जान पड़ता कि आवागमन सिद्धान्त पर वे हिन्दूमत को मानते थे या मुसलमानी मत को। अन्य बातों पर कोई वास्तविक विरोध कबीर की शिक्षाओं में नहीं दीख पड़ता। कबीर साहब के बहुत से शिष्य उनके जीवन काल में ही हो गये थे। भारत में अब भी आठ-नौ लाख मनुष्य कबीरपंथी हैं। इनमें मुसलमान थोड़े ही हैं और हिन्दू बहुत अधिक। कबीरपंथी कण्ठी पहनते हैं, बीजक, रमैनी आदि ग्रन्थों के प्रति पूज्य भाव रखते हैं। गुरु को सर्वोपरि मानते हैं।

निर्गुण-निराकारवादी कबीरपंथ के प्रभाव से ही अनेक निर्गुणमार्गी पंथ चल निकले। यथा—नानकपंथ पञ्जाब में, दादूपंथ जयपुर (राजस्थान) में, लालदासी अलवर में, सत्यनामी नारनौल में, बाबालाली सरहिन्द में, साधपंथ दिल्ली के पास, शिवनारायणी गाजीपुर में, गरीबदासी रोहतक में, मलूकदासी कड़ा (प्रयाग) में, रामसनेही (राजस्थान) में। कबीरपंथ को मिलाकर इन ग्यारहों में समान रूप से अकेले निर्गुण निराकार ईश्वर की उपासना की जाती है। मूर्तिपूजा वर्जित है, उपासना और पूजा का काम किसी भी जाति का व्यक्ति कर सकता है। गुरु की उपासना पर बड़ा जोर दिया जाता है। इन सबका पूरा साहित्य हिन्दी भाषा में है। रामनाम, सत्यनाम अथवा शब्द का जप और योग इनका विशेष साधन है। व्यवहार में बहुत से कबीरपंथी बहुदेववाद, कर्म, जन्मान्तर और तीर्थ इत्यादि भी मानते हैं।

कबीरपंथी—कबीर साहब द्वारा प्रचारित मत को मानने वाले भक्त। भारत में इनकी पर्याप्त संख्या है। परन्तु कबीरपंथ धार्मिक साधना और विचारधारा के रूप में है। अपने सामाजिक तथा व्यापक धार्मिक जीवन में वे पूर्ण हिन्दू हैं। कबीरपंथी विरक्त साधु भी होते हैं। वे हार अथवा माला (तुलसी काष्ठ की) पहनते हैं तथा ललाट पर विष्णु का चिह्न अंकित करते हैं। इस प्रकार इस पंथ के भ्रमणशील या पर्यटक साधु उत्तर भारत में सर्वत्र पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं। ये अपने सामान्य, सरल एवं पवित्र जीवन के लिए प्रसिद्ध हैं।

कमलषष्ठी—यह व्रत मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमी से सप्तमी तक मनाया जाता और प्रतिमास एक वर्ष पर्यन्त चलता है। ब्रह्मा इसके देवता हैं। पञ्चमी के दिन व्रत के नियम प्रारम्भ होते हैं। षष्ठी को उपवास करना चाहिए। शर्करा से भरे सुवर्णकमल ब्रह्मा को चढ़ाने चाहिए। सप्तमी के दिन ब्रह्मा की प्रतिष्ठा करते हुए उन्हें खीर का भोग लगाना चाहिए। वर्ष के बारह महीनों में ब्रह्माजी की भिन्न-भिन्न नामों से पूजा करनी चाहिए। दे० भविष्योत्तरपुराण, ३९।

कमलसप्तमी—यह व्रत चैत्र शुक्ल सप्तमी को प्रारम्भ होकर एक वर्ष तक प्रतिमास चलता है। दिवाकर (सूर्य) इसके देवता हैं। दे० मत्स्यपुराण, ७८.१-११।

कमला—दस महाविद्याओं में से एक। दक्षिण और वाम दोनों मार्ग वाले दसों महाविद्याओं की उपासना करते हैं। कमला इनमें से एक है। उसके अधिष्ठाता का नाम 'सदाशिव विष्णु' है। 'शाक्तप्रमोद' में इन दसों महाविद्याओं के अलग-अलग तन्त्र हैं, जिनमें इनकी कथाएँ, ध्यान एवं उपासनाविधि वर्णित हैं।

कमलाकर—भारतीय ज्योतिर्विदों में आर्यभट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य, कमलाकर आदि प्रसिद्ध ग्रन्थकार हुए हैं। ये सभी फलित एवं गणित ज्योतिष के आचार्य माने जाते हैं। भारतीय गणित ज्योतिष के विकास में कमलाकर भट्ट का स्थान उल्लेखनीय है।

करकचतुर्थी (करवाचौथ)—केवल महिलाओं के लिए इसका विधान है। कार्तिक कृष्ण चतुर्थी को इसका अनुष्ठान होता है। एक वटवृक्ष के नीचे शिव, पार्वती, गणेश तथा स्कन्द की प्रतिकृति बनाकर षोडशोपचार के साथ पूजन किया जाता है। दस करक (कलश) दान दिये जाते हैं। चन्द्रोदय के पश्चात् चन्द्रमा को अर्घ्य देने का विधान है। दे० निर्णयसिन्धु, १९६; व्रतराज १७२।

कर्काचार्य—आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के भाष्यकार । इन्होंने कात्यायनसूत्र एवं पारस्कररचित गृह्यसूत्र पर भी भाष्य लिखा है ।

करकाष्टमी—कार्तिक कृष्ण अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । रात्रि को गौरीपूजन का विधान है । इसमें सुवासित जल से परिपूर्ण, मालाओं से परिवृत नौ कलशों का दान करना चाहिए । नौ कन्याओं को भोजन कराकर व्रती को भोजन करना चाहिए । यह व्रत महाराष्ट्र में बहुत प्रसिद्ध है ।

कर्तभज—हिन्दू-मुस्लिमवाद से मिश्रित एक उपासनामार्गी समुदाय । इसकी शिक्षा एवं नैतिकता सन्देहात्मक है । इस पर इस्लाम का प्रभाव भी परिलक्षित होता है तथा इसके अनुयायी अपना सम्बन्ध चैतन्य से जोड़ते हैं ।

कर्म—वैशेषिक दर्शन में इसका साधारण अर्थ क्रिया, गति, अथवा काम है । अन्य दर्शनों में यह एक आध्यात्मिक तत्त्व है, जिसको आत्मा संसार में वहन करता है । मनुष्य के मानस में यह संस्कार रूप से कार्य करता रहता है । इसका प्रयोग कार्य-कारण सम्बन्ध के अर्थ में भी होता है । इसी से शुभाशुभ कर्मफल उत्पन्न होता है । इसी के आधार पर मनुष्य के जमान्तर का भी निर्धारण होता है । इसके तीन प्रकार हैं—(१) प्रारब्ध, (२) सञ्चित और (३) क्रियमाण । प्रारब्ध वह है जो वर्तमान जीवन को चला रहा है और जिसका फल भोगना अनिवार्य है । सञ्चित वह है जो पहले से एकत्रित जमा है और प्रायश्चित्त से दूर किया जा सकता है, अथवा ज्ञान से जिसका निराकरण हो सकता है । क्रियमाण वह है जो वर्तमान में किया जाता है, जिसका फल साथ ही उत्पन्न होता जाता है और जो भविष्य का निर्धारण करता है ।

भक्ति सम्प्रदायों में यह विश्वास है कि भगवान् की दया, अनुग्रह अथवा प्रसाद से सब तरह के कर्मफल समूल कभी भी नष्ट हो सकते हैं ।

कर्मवाद—आवागमन तथा कर्म का सिद्धान्त सर्वप्रथम भली भाँति ब्राह्मण ग्रन्थों में स्थापित किया गया है । फिर भी उपनिषदों में ही प्रथम बार इसका सम्बन्ध नैतिक कार्य-कारण के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत हुआ है । इस प्रकार इस गुरुतम सिद्धान्त की सृष्टि आर्यों की ही देन है । किन्तु कुछ विद्वानों का विश्वास है कि आदिम जातियाँ ही, जो यह विश्वास करती थीं कि मरने के बाद उनका आत्मा पशु-शरीर में निवास करता है, उक्त सिद्धान्त को चलाने वाली हैं । यह बात अंशतः सत्य हो सकती है, क्योंकि आर्य लोग दैनिक जीवन में इनके संपर्क में रहते थे तथा धीरे-धीरे आर्यों ने इनसे सम्बन्ध भी आरम्भ कर दिया था। इनसे आर्येतरों ने वैज्ञानिक कार्य-कारण-सिद्धान्त 'कर्म' को सहज ही स्वीकार कर अपनी ओर से सामान्य लोगों में फैला दिया ।

इस सिद्धान्त के अनुसार कारण और कार्य में प्रकृत सम्बन्ध है । कारण के अनुसार ही कार्य होता है । जीवात्मा अपने कर्म के अनुसार बार-बार जन्म ग्रहण करता एवं मरता है । मनुष्य का इस जन्म का चरित्र उसके दूसरे जन्म की अवस्थाओं का निर्णायक होता है । अच्छे चरित्र का सत्फल एवं बुरे का दण्ड मिलता है । दे० छान्दोग्य उप० ५.१०.७) ।

काम के अर्थ में 'कर्म' शब्द एक अद्भुत शक्ति है जो सभी कर्मों को दूसरे जन्म के फल या कर्म के रूप में परिवर्त्तित कर कर देती है । इस सिद्धान्त का विकास होते होते निश्चित हुआ कि मनुष्य का मन, शरीर एवं चरित्र तथा उसके अनुभव उसके आगामी जन्म के कारणतत्त्व हैं । मनुष्य ने यह भी जाना कि जीवन पिछले कर्मों का फल है तथा एक जन्म के कर्म दूसरे जन्म में अच्छे फल एवं दण्ड की योजना करते हैं । इस प्रकार जन्म एवं मरण या संसार का आदि तथा अन्त नहीं है । इसी कारण आत्मा को आदि-अन्त रहित माना गया है ।

किन्तु कर्म का अर्थ भाग्यवाद नहीं है । मनुष्य केवल अतीत के कर्मफल से बद्ध है । वर्तमान में उसे अपने कर्मों के चुनाव में स्वातंत्र्य है । इसके द्वारा वह अपने भविष्य का निर्माण करने वाला है । भक्तों में तो यह भी विश्वास है कि भगवत्कृपा से अतीत के कर्म भी नष्ट हो जाते हैं ।

कर्मकाण्ड—(१) सम्पूर्ण वैदिक धर्म तीन काण्डों में विभक्त है—(१) ज्ञान काण्ड, (२) उपासना काण्ड और (३) कर्म काण्ड । कर्मकाण्ड का मूलतः सम्बन्ध मानव के सभी प्रकार के कर्मों से है, जिनमें धार्मिक क्रियाएँ भी सम्मिलित हैं । स्थूल रूप से धार्मिक क्रियाओं को ही 'कर्मकाण्ड' कहते हैं, जिससे पौरोहित्य का घना सम्बन्ध है । कर्मकाण्ड के भी दो प्रकार हैं—(१) इष्ट और (२) पूर्त । यज्ञ-यागादि, अदृष्ट और अपूर्व के ऊपर आधारित कर्मों को इष्ट कहते

हैं । लोक-हितकारी दृष्ट फल वाले कर्मों को पूर्त कहते हैं । इस प्रकार कर्मकाण्ड के अन्तर्गत लोक-परलोक-हितकारी सभी कर्मों का समावेश है ।

कर्मकाण्ड—(२) वेदों के सभी भाष्यकार इस बात से सहमत हैं कि चारों वेदों में प्रधानतः तीन विषयों; कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड एवं उपासनाकाण्ड का प्रतिपादन है । कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञकर्म वह है जिससे यजमान को इस लोक में अभीष्ट फल की प्राप्ति हो और मरने पर यथेष्ट सुख मिले । यजुर्वेद के प्रथम से उन्तालीसवें अध्याय तक यज्ञों का ही वर्णन है । अन्तिम अध्याय (४० वाँ) इस वेद का उपसंहार है, जो 'ईशावास्योपनिषद्' कहलाता है । वेद का अधिकांश कर्मकाण्ड और उपासना से परिपूर्ण है, शेष अल्प भाग ही ज्ञानकाण्ड है । कर्मकाण्ड कनिष्ठ अधिकारी के लिए है । उपासना और कर्म मध्यम के लिए । कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों उत्तम के लिए हैं । पूर्वमीमांसाशास्त्र कर्मकाण्ड का प्रतिपादक है । इसका नाम 'पूर्वमीमांसा' इस लिए पड़ा कि कर्मकाण्ड मनुष्य का प्रथम धर्म है, ज्ञानकाण्ड का अधिकार उसके उपरान्त आता है । पूर्व आचरणीय कर्मकाण्ड से सम्बन्धित होने के कारण इसे पूर्वमीमांसा कहते हैं । ज्ञानकाण्ड-विषयक मीमांसा का दूसरा पक्ष 'उत्तरमीमांसा' अथवा वेदान्त कहलाता है ।

कर्मधारा—हिमालय का एक तीर्थस्थल । वराह भगवान् पाताल से पृथ्वी का उद्धार और हिरण्याक्ष का वध करने के पश्चात् यहाँ शिलारूप में स्थित हो गये थे । अलकनन्दा की धारा में यह उच्च शिला है । यहाँ गङ्गाजी के तट पर कर्मधारा तथा कई तीर्थ हैं ।

कर्मनिर्णय—मध्वाचार्य द्वारा रचित एक दार्शनिक ग्रन्थ ।

कर्मप्रदीप—सामवेद के गोभिल गृह्यसूत्र पर कात्यायन ने परिशिष्ट लिखा है, जिसे 'कर्मप्रदीप' कहते हैं । यद्यपि यह गोभिलगृह्यसूत्र के पूरक रूप में लिखा गया है, तो भी इसका आदर स्वतन्त्र गृह्यसूत्र और स्मृतिशास्त्र की तरह होता आया है । आशादित्य शिवराम ने इस ग्रन्थ की टीका की है ।

कर्ममार्ग—धार्मिक साहित्य में मोक्ष के तीन मार्ग ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग तथा भक्तिमार्ग बतलाये गये हैं । उपनिषदों, सांख्यदर्शन, बौद्ध एवं जैन दर्शनों के विकसित रूप में जिस मार्ग का अवलम्बन बताया गया है, उसे ज्ञानमार्ग कहते हैं । दूसरा मार्ग कर्ममार्ग है । हिन्दुत्व में सबसे प्राचीन पवित्र धारणा कर्त्तव्यों के पालन की है जिसका धर्म शब्द में अन्तर्भाव हुआ है । कर्त्तव्यों में सबसे प्रमुख प्रारम्भ में 'यज्ञ' थे, किन्तु वर्ण, आश्रम, परिवार एवं समाज-सम्बन्धित कर्तव्य भी इसमें निहित थे । गीता का कर्मसिद्धान्त जिसे 'कर्मयोग' कहते हैं, यह बतलाता है कि वेदों में बताये गये कर्म केवल उतना ही फल इस लोक में या स्वर्ग में देते हैं जितना उन कर्मों (यज्ञों) के लिए निश्चित है, किन्तु जो मनुष्य इन्हें बिना इच्छा के (निष्काम) करता है, उसे मोक्ष प्राप्त होता है । योग शब्द का प्रयोग गीता में अनेक अर्थों में हुआ है । इसका कौन सा अर्थ 'कर्मयोग' है, इसका निश्चय करना कठिन है । किन्तु सम्भवतः यहाँ इसका अर्थ निग्रह है, अर्थात् आसक्तिरहित कर्म ।

कर्ममहिमा (विश्वव्यापिनी)—विश्व कर्मप्रधान है । कर्म का संस्कार ही मानव की मूल शक्ति है । इसी के अनुसार मनुष्य के भाग्य का निर्णय होता है । कर्मभेद से ही मनुष्य अनेक योनियों—देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि—में भ्रमण करता है । इसी के अनुसार वह लोक-लोकान्तर में जाता है । सत्त्वगुणात्मक कर्म पुण्य तथा तमोगुणात्मक कर्म पाप माना गया है । सत्त्वगुण के मार्ग पर चलनेवाला मनुष्य अपना अन्तःकरण शुद्ध करके परमानन्द मोक्ष को प्राप्त करता है । तमोगुणी और पापकर्म करनेवाला मानव अज्ञान और कर्मबन्धन में पड़ा रहता है । इसलिए कर्म के क्षेत्र में मनुष्य को पूर्णतः सावधान रहना चाहिए । कर्ममहिमा विस्तार से, शास्त्र के आधार पर नीचे दी जाती है :

कर्म की महिमा इस बात से ही जानी जा सकती है कि वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तथा चराचर विश्व को व्याप्त किये हुए है । प्रलय के उपरान्त चतुर्दश लोकों में नवीन जीवनसृष्टि समष्टि जीवों के पूर्वकर्म के अनुसार होती है । समस्त देवताओं द्वारा संसार की नियमानुसार रक्षा कर्मचक्र का ही परिणाम है । इसी के आधार पर देवतागण अपनी-अपनी नियमित गतियों को प्राप्त करते हैं । निष्कर्ष यह है कि निखिल ब्रह्माण्ड में देव, ग्रह-नक्षत्र तथा चराचर सभी कर्म के कारण स्थित और गतिमान् हैं । सात्त्विक कर्म के तारतम्य से जीव को ऊर्ध्व सप्तलोकों

तथा तामसिक कर्म के तारतम्य से अधः सप्तलोकों की प्राप्ति होती है। ऊर्ध्वलोक में आनन्द तथा अधोलोक में दुःख भोग का विधान है। धर्म से पुण्य और अधर्म से पाप होता है। सोमरस पान करने वाला यज्ञकर्मी पुण्यात्मा है। वह इन्द्रलोक में जाकर देवभोग्य दिव्य वस्तुओं को प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

इसी प्रकार अधर्म के क्रमानुसार अधोलोक में निम्न और निम्नतर योनियों की प्राप्ति हुआ करती है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार पुण्य कर्म के अनुष्ठान से ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य आदि उत्तम योनियों की प्राप्ति होती है तथा निम्न या पाप कर्म के अनुष्ठान से कुक्कुर, सूकर और चाण्डाल आदि योनियों की प्राप्ति होती है। स्वर्ण चुरानेवाले, मदिरा सेवन करनेवाले, गुरुपत्नीगामी तथा ब्रह्मघाती एवं इनके साथ सम्बन्ध रखनेवाले सभी अधोगामी होते हैं। योगदर्शन के अनुसार कर्म ही सम्पूर्ण अविद्या और अस्मिता रूपी क्लेशों का मूल कारण है। कर्मसंस्कार ही जन्म और मरण-रूप चक्र में जीव के परिभ्रमण का कारण है। उसके पाप-पुण्य का फल भी इसी चक्र में भोगने को मिल जाता है।

महाभारत के अनुसार कर्मसंस्कार प्रत्येक अवस्था में जीव के साथ रहता है। जीव पूर्व जन्म में जैसा कर्म करता है पर जन्म में वैसा ही फल भोगता है। अपने प्रारब्ध कर्म का भोग उसे मातृगर्भ से ही मिलना आरम्भ हो जाता है। जीवन की तीन अवस्थाओं—बाल, युवा और वृद्ध में से जिस अवस्था में जैसा कर्म किया जाता है उसी अवस्था में उसका फल भी भोगने को मिलता है। जिस शरीर को धारण कर जीव कर्म करता है उसका फल भी उसी काया से प्राप्त होता है। इस तरह प्रारब्ध कर्म सदा कर्त्ता का अनुगामी होता है।

योगदर्शन के अनुसार कर्म के मूल में जाति, आयु और भोग तीनों निहित रहते हैं। कर्म के अनुसार उच्चवर्ग या निम्नवर्ग में जीव का जन्म होता है। प्रारब्ध कर्म आयु का भी निर्धारक है। अर्थात् जिस शरीर में जिस प्राक्तन कर्म के भोग का जितने दिन तक विधान होगा वह शरीर उतने ही दिन तक स्थित रह सकता है। तदुपरान्त दूसरे नवीन कर्म की भोगस्थिति दूसरे शरीर में होती है। कर्म के भोग पक्ष का भी वही विधान है। संसार में सुख और दुःख भी कर्म के अनुसार ही होते हैं। शरीर के अंगों का निर्माण भी पूर्व कर्म के अनुसार होता है। शरीर की रचना और गुण का तारतम्य भी प्राक्तन कर्म का परिणाम है। उसमें दोष और गुण का संचार धर्माधर्म रूपी कर्म का संस्कार है।

वेदों में कर्म की महिमा का सबसे अधिक वर्णन है। वेद के इस प्रकरण को कर्मकाण्ड कहते हैं। वहाँ तीन प्रकार के कर्मों का विधान है—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नित्य कर्म करने से कोई विशेष फल तो नहीं मिलता पर न करने से पाप अवश्य होता है। जैसे त्रिकाल-सन्ध्या और पाँच महायज्ञादि हैं। पूर्व कर्म के अनुसार वर्तमान समय में मनुष्य प्रकृति की जिस कक्षा पर चल रहा है उसी पर पुनः बने रहने के लिए नित्य कर्म अत्यावश्यक है। ऐसा न करने से मनुष्य अपनी वर्तमान कक्षा से च्युत हो जाता है। जैसे पञ्च महायज्ञ आत्मोन्नति के एक साधन हैं, इनकी उपयोगिता पञ्च-सूना दोष दूर करने के लिए ही है। संसार में जीने के लिए मनुष्य प्रकृतिप्रवाह को आघात पहुँचाता है। उसे अपने जीवन-यापन के लिए नित्य सहस्रों प्राणियों की हत्या करनी पड़ती है। मनुष्य के श्वास-प्रश्वास तक से असंख्य प्राणियों की हत्या होती है। इस पाप को दूर करने के लिए भारतीय शास्त्रों में पञ्च महायज्ञों की व्यवस्था की गयी है।

मनु के अनुसार सामान्य गृहस्थ से भी कम से कम पाँच स्थलों पर जीवहत्या होती है—चूल्हा, पेषणी (चक्की), उपस्कर (सफाई), कण्डनी (ऊखल) और उदकुम्भ (जलघड़ा)। इन पाँच चीजों का उपयोग जीवहिंसा का कारण होता है। इन नित्यहिंसाजनित पापों से मुक्ति पाने के लिए मनुष्य को पञ्चमहायज्ञ रूपी नित्यकर्म करना आवश्यक है।

यही कारण है कि नित्यकर्म करने से पुण्य नहीं होता, पर न करने से पाप अवश्य होता है। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार निर्धारित कर्म भी इस व्यवस्था के अन्तर्गत हैं। सभी जातियों की कर्मवृत्तियाँ उनके नित्यकर्म के अन्तर्गत आती हैं। जब तक मनुष्य अपने वर्ण और आश्रम धर्म के अनुसार कार्य न करेगा तब तक अपनी वर्तमान जाति में नहीं रह सकेगा। वह उच्चवर्ग को तो नहीं ही प्राप्त कर सकेगा; अपितु वर्तमान वर्ग से भी च्युत होकर अधोगामी हो जायगा। ब्राह्मण का स्वाध्याय तथा वैश्यों के गोरक्षा आदि उनके नित्यकर्म हैं। इनके न करने से उन्हें

पाप होता है और करने से वे अपनी भूमि पर स्थित रहते हुए उच्च पद को प्राप्त करते हैं। यही बात राजा के प्रजापालन के सम्बन्ध में भी है। संसार की अराजकता को दूर कर प्रजा के भय को दूर करना ही राजा का काम है, ऐसा मनुसंहिता से स्पष्ट है। शुक्रनीतिसार के अनुसार धार्मिक और प्रजारञ्जक राजा देवांश होता है, अन्यथा उसे राक्षसांश समझना चाहिए; ऐसा राजा अधर्मी और प्रजापीड़क होता है; इससे अशान्ति का विस्तार होता है और सारी प्रजा भी पापी हो जाती है। राजा के पाप से प्रजा भी पापी होती है। इससे प्रजा में वर्णसंकरता आती है, जिससे ऋतुविपर्यय, अपग्रहों का अत्याचार तथा प्रजा का नाश आरम्भ होता है और अन्त में राज्य ही समूल नष्ट हो जाता है। अतएव प्रजापालन राजा का नित्यकर्म है।

जिन कर्मों के न करने से पाप नहीं होता अपितु करने से पुण्यफल की प्राप्ति होती है उनको 'नैमित्तिक कर्म' की संज्ञा दी गयी है। उदाहरणार्थ, तीर्थदर्शनादि। तीर्थों के दर्शन न करने से पाप नहीं होता पर दर्शन करने से पुण्य फल की प्राप्ति अवश्य होती है। जिस प्रकार एक विषयी व्यक्ति साधु-महात्मा के पास पहुँच कर कुछ समय के लिए अपने विषय भाव को भूल जाता है, उसी प्रकार तीर्थों में जाकर व्यक्ति कुछ समय के लिए अपने सांसारिक मोह से मुक्ति पा जाता है। जिन दैवी शक्तियों के प्रभाव से तीर्थों की महिमा प्रतिष्ठित होती है उनकी सीमा में आने पर मनुष्य का मन पवित्र हो जाता है। वह अपने विषम भाव को भूलकर सद्भावना से युक्त हो जाता है। यही तीर्थाटन का फल है। इसी प्रकार पूजा, दान, स्नान, देवस्थान दर्शन, साधु का दर्शन आदि भी नैमित्तिक कर्म हैं।

किसी विशेष कामना से किये गये कर्म 'काम्य कर्म' कहे जाते हैं। इनके मूल में स्वार्थ निहित रहता है। एक ही कार्य भावभेद से नैमित्तिक कर्म हो सकता है और काम्य कर्म भी। उदाहरणार्थ केवल तीर्थदर्शन के ध्येय से किया गया तीर्थाटन नैमित्तिक कर्म होगा। पर यदि वह किसी विशेष कामना की सिद्धि के लिए किया जाय तो उसे काम्य कर्म कहा जायगा। निष्कर्ष यह है कि नैमित्तिक कर्म के मूल में व्यक्ति की सामान्य धर्मभावना का योग रहता है, पर काम्य कर्म किसी विशेष कामना का प्रतिफलन है।

केवल भावभेद से ही कर्म की शक्ति में अन्तर आ जाता है। इसीलिए भावना के तारतम्य से कर्मों को तीन भागों में विभक्त किया गया है—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। आत्मोन्नति के साथ मनुष्य की भावना उदारतापूर्ण और विचारमूलक हो जाती है, इसलिए उसके कर्मभाव में भी परिवर्तन हो जाता है। सामान्यतः आधिभौतिक कर्म विश्वभूतों से सम्बद्ध है। जिसमें भूतों के द्वारा मनुष्य की सम्पूर्ण मनोकामना फलवती हो उसे अधिभूत कर्म कहते हैं। ब्राह्मण भोजन और साधु भोजन आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं, इन कार्यों से व्यक्ति इन लोगों की मानसिक शक्ति द्वारा कुछ आशीर्वाद प्राप्त करने का प्रयास करता है। यही मनोकामना जब व्यक्तिगत सुखकामना और पर-सुखकामना से मिलकर सार्वभौमिक और लोकमंगलकारी हो जाती है तो उसे आधिभौतिक कर्म की संज्ञा दी जाती है। दरिद्रों को भोजन देना, अनाथालय स्थापित करना, चिकित्सालय की सहायता करना आदि इसी प्रकार के कार्य हैं। इनसे व्यक्ति को विशेष पुण्यलाभ होता है।

आधिदैविक कर्म दैविक शक्तियों को अनुकूल करके फल प्राप्त करने का साधन है। शास्त्रीय दृष्टि से प्रबल कर्म दुर्बल कर्म को दबा देते हैं। यदि कोई व्यक्ति दैवी शक्ति से प्राप्त प्रबल संस्कार से अपने प्रतिकूल संस्कारों को दबा दे तो यह उसका आधिदैविक कर्म कहा जायगा। ऐसा करके व्यक्ति अपने पुराने पापमय संस्कारों की पीड़ा से मुक्ति पा सकता है। आधिदैविक कर्म का अनुष्ठान स्वार्थसिद्धि के लिए भी होता है और विश्वमङ्गल की कामना से भी होता है। यदि देश में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष या महामारी आदि का विस्तार हो जाय तो उसे समग्र प्राणियों के पाप का परिणाम समझना चाहिए। इनको दूर करने के लिए परोपकारी व्यक्ति द्वारा किये गये देवयज्ञ आदि दैवी संस्कार आधिदैविक कर्म कहे जायेंगे।

आध्यात्मिक कर्म बौद्धिक होते हैं। इसीलिए स्वदेश तथा स्वधर्म रक्षार्थ किये गये कार्य या ज्ञानविस्तारक कर्मों

को आध्यात्मिक कर्म की संज्ञा दी गयी है । अहंकार के विकासक्रम में प्रकृति के निम्नतर स्तर से लेकर उच्चतर स्तर तक जाने के विविध सोपान हैं । जीव अपनी साधना के बल से क्रमशः निम्न स्तरों से ऊर्ध्व स्तरों को प्राप्त करता है । वासना के भिन्न-भिन्न स्तर हैं । उद्भिज और स्वेदज योनियों में वासना के प्राकृतिक और आत्मरक्षात्मक रूप मिलते हैं । मनोमय कोष के विकास के अभाव में उन्हें परसुख से स्वसुख के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है । अण्डज योनि में इस ओर थोड़ा विकास हुआ है । अपने बच्चों पर प्रेम, दाम्पत्य प्रेम, अपत्य प्रेम आदि इस वासना के विस्तार के ही रूप हैं । मनुष्ययोनि में इसका सर्वाधिक विस्तार है । सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य समाज के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर ध्यान रखता है । मनुष्य स्वार्थ से परमार्थ की ओर क्रमशः बढ़ता रहता है । व्यष्टिकेन्द्र से समष्टि की ओर बढ़ना उसका स्वभाव है । इसीलिए बाल्यावस्था के व्यष्टिसुख से वह क्रमशः परिवारसुख और फिर समाजसुख और देशसुख की ओर उन्मुख होता है । इस प्रकार मनुष्य का अहंकार क्रमशः उदारता में परिणत हो जाता है । यहाँ तक कि वह संसार के सुख के लिए भी कष्ट सहने को तैयार हो जाता है । उस समय उसकी व्यक्तिगत सत्ता का इतना अधिक विस्तार हो जाता है कि उसकी स्वार्थबुद्धि नष्ट हो जाती है और परार्थबुद्धि का विकास होता है । ऐसा पवित्रात्मा आध्यात्मिक प्रगति अधिक करता है । वह ज्ञान और धर्म की उन्नति में अत्यधिक योग देता है । ऐसा महात्मा अपनी सत्ता का विस्तार करके 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को भाव रूप में अपना लेता है । वह विश्वजीवन और विश्वप्राण हो जाता है । उसके सभी कर्म जगत्कल्याण के हेतु होते हैं, अतः वह पूर्ण साधुता को प्राप्त हो जाता है । आध्यात्मिक कर्म ही उसकी योगसाधना है ।

भागवत के अनुसार सम्पूर्ण चराचर प्राणियों में ब्रह्म की सत्ता प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विद्यमान है । अतः उनकी अवज्ञा करके परमेश्वर की पूजा करना गर्हणीय है । सब अनेक होकर भी एक हैं । अतः प्राणियों के प्रति बैरभाव को त्यागकर मित्रभाव से सर्वव्यापी परमात्मा का पूजन करना चाहिए । सर्वभूतों में परमात्मा की सत्ता की अनुभूति ही श्रेयस्कर है । हमारे प्राचीन ऋषियों का जीवन ऐसा ही था । समष्टि जीव के अज्ञानान्धकार को दूर करना और समस्त संसार का कल्याण करना उनका कर्तव्य था ।

उपर्युक्त त्रिविध भेदों के साथ कर्म के दो भेद अन्य प्रकार से भी किये गये हैं । वे हैं—सकाम कर्म और निष्काम कर्म । सकाम कर्म वासनामूलक होता है । जिस कामना या वासना से कर्म किया जाता है उसी के अनुकूल फल की प्राप्ति होती है । शास्त्रों में इन कर्मों की विधि और फल वर्णित हैं । सकाम कर्म से मनुष्य को धूमयान गति और निष्काम कर्म से देवयान गति मिलती है । श्रीमद्भगवद्गीता में इन दो गतियों का वर्णन है । इन गतियों को क्रमशः कृष्णगति और शुक्लगति कहते हैं । पहली से पुनर्जन्म और दूसरी से अपुनरावृत्ति मिलती है । भोगकामना से किये गये कर्मों का परिणाम जन्म-मरण होता है । इस प्रकार सकाम कर्म के द्वारा पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्ति नहीं मिलती ।

सकाम कर्मी व्यक्ति अष्टादश फल प्रदायक कर्मों का अनुष्ठान करते हैं । ऐसे व्यक्तियों को जरा-मरण के बन्धन से मुक्ति कभी नहीं मिल सकती । इनमें आसक्ति का प्राधान्य होता है इसलिए पुण्य के बल पर ये स्वर्ग में सुख भोगकर पुण्य क्षय होने पर पुनः मृत्युलोक में आ जाते हैं । ऐसे सकाम कर्मी हीन लोक को भी प्राप्त हो सकते हैं । इसलिए सकाम कर्म की अनित्यता तथा तुच्छता को जानते हुए मनुष्य को निष्काम कर्म और वैराग्य का ही अनुष्ठान करना चाहिए ।

सकाम कर्म से प्राप्त स्वर्ग में मनुष्य के पुण्य का क्षय होता है । इसलिए मर्त्यलोक के मिथ्यात्व को जानकर तत्त्वज्ञानी व्यक्ति वैराग्य का आश्रय ग्रहण करता है । इस प्रकार श्रुति के अनुसार ज्ञानी व्यक्ति पुत्र, धन और यश की सभी भौतिक इच्छाओं से विरत हो पूर्ण संन्यास ग्रहण करता है । निष्काम कर्मयोग से वह पूर्णतः वासनाशून्य हो जाता है और अन्ततः उत्तरायण गति को प्राप्त होता है ।

इसके अतिरिक्त एक तीसरी सहज गति है जिसके अनुसार मनुष्य को इहलोक में ही मुक्ति मिल जाती है । ज्ञानी पुरुष परमात्मा की सत्ता से विज्ञ होकर उसी विराट् सत्ता में अपनी सत्ता को विलीन कर देते हैं और परितृप्त, वीतराग तथा प्रशान्त हो विदेह लाभ करते हैं । अतएव निष्काम कर्मयोगी ज्ञानी होकर मुक्तिपद को प्राप्त करता है ।

तीन गुणों के भेद से कर्म के भी तीन भेद निर्धारित किये गये हैं। इसीलिए गीता में भी कृष्ण ने गुणों के क्रमानुसार त्रिविध यज्ञ, त्रिविध कर्म और त्रिविध कर्त्ता की व्यवस्था की है।

आसक्तिविहीन, रागद्वेषरहित, वर्णाश्रम के अनुसार किया गया कर्म सात्त्विक; फलासक्ति, अहंकार तथा आशा से अनुष्ठित कर्म राजसिक तथा भावी आपत्ति का ध्यान न करके मोहवश किया गया कर्म तामसिक होता है।

निष्काम कर्मयोगी आसक्तिविहीन, धैर्यवान् और उत्साही होता है इसलिए वह सात्त्विक कर्त्ता है। विषयासक्त और फलासक्त, लोभी तथा हर्ष-विषाद से युक्त सकाम कर्ता राजसिक होता है। दूसरों के मानापमान की चिन्ता न करनेवाला, अविवेकी तथा अविनयी, शठ, आलसी और दीर्घसूत्री कर्त्ता तामसिक होता है।

मनु के अनुसार शारीरिक, मानसिक और वाचनिक सत-असत् कर्मों के अनुसार ही मनुष्य को फल की प्राप्ति होती है। इनमें उत्तम, मध्यम और अधम गतियाँ कर्म के अवान्तर उपक्रम हैं। इन तीनों प्रकार के कर्मों के निम्नांकित दस लक्षण बताये गये हैं—परधन हरण की इच्छा, मन में अनिष्ट चिन्तन तथा परलोक का मिथ्यात्व सिद्ध कर शरीर को ही आत्मा मानना; ये तीन मानसिक अशुभ कर्म हैं। वाणी में कटुता, अनृत भाषण, किसी व्यक्ति की परोक्ष-निन्दा, असम्बद्ध प्रलाप; ये चार वाचिक अशुभ कर्म हैं। इसके अतिरिक्त न दिये गये धन को हड़प लेना, अवैध हिंसा तथा परस्त्रीगमन; ये तीन शारीरिक अशुभ कर्म हैं।

मन से किये गये सुकर्म या दुष्कर्म का फल मानसिक सुख-दुःख होता है, वाणी के कर्म का फल वाणी से मिलता है तथा शारीरिक कर्मों का परिणाम शारीरिक सुख-दुःख होता है। मनुष्य को शारीरिक अशुभ कर्म से स्थावर योनि, वाणीगत अशुभ कर्म से पशु-पक्षी की योनि तथा मानसिक अशुभ कर्मों से चाण्डाल योनि की प्राप्ति होती है।

मनुष्य धर्म अधिक और अधर्म कम करने पर स्वर्गलोक में सुख पाता है। इसके विपरीत अधर्म का आधिक्य होने पर निधनोपरान्त यमलोक में यातना पाता है। पाप का फल भोगने पर निष्पाप हो वह पुनः मनुष्यशरीर धारण करता है।

सत्त्व, रज और तम आत्मा के तात्त्विक गुण हैं। संसार के प्रत्येक प्राणी में ये गुण न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं। जिस प्राणी में जिस गुण का आधिक्य होता है उसमें उसी के लक्षण अधिक मिलते हैं। सत्त्वगुण ज्ञानमय है, तमोगुण अज्ञानमय तथा रजोगुण रागद्वेषमय होता है। सत्त्वगुण में प्रति-प्रकाशरूप शान्ति होती है, रजोगुण में आत्मा की अप्रीतिकर दुःखकातरता तथा विषय-भोग की लालसा के लक्षण विद्यमान होते हैं। तमोगुण मोहयुक्त, विषयात्मक, अविचार और अज्ञानकोटि में आता है। इसके अतिरिक्त इन गुणों के उत्तम, मध्यम और अधम फल के कुछ अन्य लक्षण भी हैं। यथा सत्त्वगुणी प्रवृत्ति के मनुष्य में वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, जितेन्द्रियता, धर्मानुष्ठान, परमात्म-चिन्तन के लक्षण मिलते हैं; रजोगुणी प्रवृत्ति के व्यक्ति में सकाम कर्म में रुचि, अधैर्य, लोकविरुद्ध तथा अशास्त्रीय कर्मों का आचरण तथा अत्यधिक विषयभोग के लक्षण मिलते हैं। तमोगुणी व्यक्ति लोभी, आलसी, अधीर, क्रूर, नास्तिक, आचारभ्रष्ट, याचक तथा प्रमादी होता है।

अतीत, वर्तमान और आगमी के क्रमानुसार भी सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के शास्त्रों में लक्षण बताये गये हैं। जो कार्य पहले किया गया हो, अब भी किया जा रहा हो पर जिसे आगे करने में लज्जा का अनुभव हो उसे तमोगुणी कर्म कहते हैं। लोकप्रसिद्धि के लिए जो कर्म किये जाते हैं उनके सिद्ध न होने पर मनुष्य को दुःख होता है, इन्हें रजोगुणी कर्म कहते हैं। जिस कार्य को करने की मनुष्य में सदा इच्छा बनी रहे और वह सन्तोषदायक हो तथा जिसे करने में ममुष्य को किसी प्रकार की लज्जा की अनुभूति न हो उसे सत्त्वगुणी कर्म कहा जाता है। प्रवृत्ति के विचार से तमोगुण काममूलक, रजोगुण अर्थमूलक तथा सत्त्वगुण धर्ममूलक होता है। सत्त्वगुणसम्पन्न व्यक्ति देवत्व को, रजोगुणी मनुष्यत्व को तथा तमोगुणी तिर्यक् योनियों को प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त तीन गतियाँ भी कर्म और ज्ञान के भेद से तीन-तीन प्रकार की हैं; जैसे अधम सात्त्विक, मध्यम सात्त्विक, उत्तम सात्त्विक; अधम राजसिक, मध्यम राजसिक, उत्तम राजसिक; अधम तामसिक, मध्यम तामसिक, उत्तम तामसिक आदि।

मनु के अनुसार इन्द्रियगत कार्यों में अतिशय आसक्ति तथा धर्मभावना के अभाव में मनुष्य को अधोगति प्राप्त होती है। जिस विषय की ओर इन्द्रियों का अधिक झुकाव होता है उसी में उत्तरोत्तर आसक्ति बढ़ती जाती है।

इससे मनुष्य का वर्तमान लोक तो बिगड़ता ही है परलोक में भी अति दुःख और नरकपीड़ा का अनुभव करना पड़ता है, निम्न कोटि की योनियों में पुनः जन्म होता है और अपार यातना सहनी पड़ती है। जिन भावनाओं से जो-जो कर्म किये जाते हैं उन्हीं के अनुसार शरीर धारण करके कष्ट भोगना पड़ता है। संक्षेप में प्रवृत्तिमार्गी कर्मों के यही परिणाम हैं।

निवृत्तिमार्गी कर्मों के विचार से वेदाध्ययन, तप, ज्ञान, अहिंसा और गुरुसेवा आदि कर्म मोक्ष के साधक हैं। इनमें आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। यही मुक्ति का सर्वप्रथम साधन है। ऊपर बताये गये सभी कर्म वेदाध्ययन या वेदाभ्यास के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। वैदिक कर्म मूलतः दो तरह के हैं—प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक। परलोकसुखकामना से कृत कर्म प्रवृत्तिमूलक तथा ज्ञानार्जन के प्रयोजन से कृत निष्काम कर्म निवृत्तिमूलक हैं। प्रवृत्तिमूलक कर्म का सम्यक् अनुष्ठान मनुष्य को देवयोनि में प्रवेश दिलाता है और निवृत्तिमूलक कर्म से निर्वाण (मोक्ष) मिलता है। आत्मज्ञानी सर्वभूतों में आत्मा को तथा आत्मा में सर्वभूतों को देखता है, इससे उसे ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है। यही कर्मयज्ञ की पूर्णता है।

कर्ममीमांसा—'पूर्व मीमांसा' को ही कर्ममीमांसा कहते हैं। इसका उद्देश्य है धर्म के विषय में निश्चय को प्राप्त करना अथवा सभी धार्मिक कर्त्तव्यों को बताना। किन्तु वास्तव में यज्ञकर्मों की विवेचना ने इसमें इतना अधिक महत्त्व प्राप्त किया है कि दूसरे कर्म उसकी ओट में छिप जाते हैं। ऋचाओं तथा ब्राह्मणों में सभी आवश्यक निर्देश हैं, किन्तु वे नियमित नहीं हैं इस कारण पुरोहित को यज्ञों के अनुष्ठान में नाना कठिनाइयाँ पड़ती हैं। मीमांसा ने इन समस्याओं के समाधान के लिए अपने सिद्धान्त उपस्थित किये तथा वैदिक संहिताओं के समझने में निर्देशक का कार्य किया है।

वेदों में बताये गये यज्ञों के बहुत से फल कहे गये हैं, किन्तु वे कार्य के साथ ही तुरन्त नहीं देखे जा सकते। इसलिए यह विश्वास करना आवश्यक है कि यज्ञ से 'अपूर्व' फल प्राप्त होता है, जो अदृश्य है और जिसे केवल अनुभव किया जा सकता है और जो समय आने पर कहे गये फल को देगा।

पूर्व मीमांसा अध्यात्म मार्ग की शिक्षा नहीं देती, फिर भी किसी-किसी स्थान पर उसमें आध्यात्मिक विचार आ ही गये हैं। ईश्वर की सत्ता का विरोध यहाँ इस आधार पर हुआ है कि एक सर्वज्ञ की धारणा नहीं की जा सकती। विश्व की प्रामाणिक अनुभवगत धारणा यहाँ उपस्थित हुई है। सृष्टि की अनन्तता को वस्तुओं के नाश एवं पुनः उत्पत्ति के विश्वास की भूमिका में समझा गया है एवं कर्म के सिद्धान्त पर इतना जोर दिया गया है कि आवागमन से मुक्ति पाना कठिन ही जान पड़ता है।

यह चिन्तनप्रणाली वैदिक याज्ञिकों, पुरोहितों की सहायता के लिए स्थापित हुई। आज भी यह गृहस्थों के दैनन्दिन जीवन में निर्देशक का कार्य करती है। वेदान्त, सांख्य तथा योग के समान यह संन्यास की शिक्षा नहीं देती और न संन्यासियों से इसका सम्बन्ध ही रहा है।

कर्मयोग—भारतीय जीवन के तीन मार्ग माने गये हैं—(१) कर्ममार्ग, (२) ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग। इन्हीं तीनों को क्रमशः कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग भी कहते हैं। वास्तव में ये समानान्तर नहीं, किन्तु समवेत मार्ग हैं। पूर्ण जीवन के लिए तीनों का समन्वय आवश्यक है। कर्ममार्ग के विरुद्ध कर्मसंन्यासियों का सबसे बड़ा आक्षेप यह था कि कर्म से बन्धन होता है; अतः मोक्ष के लिए कर्मसंन्यास आवश्यक है। भगवद्गीता में यह मत प्रतिपादित किया गया कि जीवन में कर्म का त्याग असम्भव है। कर्म से केवल बन्ध का दंश तोड़ देना चाहिए। जो कर्म ज्ञानपूर्वक भक्तिभाव से अनासक्ति के साथ किया जाता है उससे बन्ध नहीं होता। इसमें तीनों मार्गों का समुच्चय और समन्वय है। इसी को गीता में कर्मयोग कहा गया है। इसका प्रतिपादन निम्नलिखित प्रकार से किया गया है (गीता, ३.३-९):

> लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
> ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥
>
> न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
> न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥
>
> न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥
>
> कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
> इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।७।।
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ।।८।।
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।।९।।

[हे निष्पाप अर्जुन ! इस संसार में दो प्रकार की निष्ठाएँ मेरे द्वारा पहले कही गयी हैं—ज्ञानियों की ज्ञानयोग से और योगियों (कर्मयोगियों) की (निष्काम) कर्मयोग से । मनुष्य केवल कर्म के अनारम्भ से निष्कर्मता को प्राप्त नहीं होता है और न केवल कर्मों के त्याग से सिद्धि को प्राप्त करता है । क्योंकि कोई भी पुरुष किसी काल में क्षणमात्र भी विना कर्म किये नहीं रहता है । निश्चयपूर्वक सभी प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा विवश होकर कर्म करते हैं । जो कर्मेन्द्रियों को बाहर से रोककर भीतर से मन के द्वारा इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करता रहता है वह विमूढात्मा मिथ्याचारी कहा जाता है । किन्तु हे अर्जुन ! (इसके विपरीत) मन द्वारा भीतर से इन्द्रियों का नियन्त्रण करके कर्मेन्द्रियों से अनासक्त होकर जो कर्मयोग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ माना जाता है । तुम शास्त्रविहित कर्म को करो । क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है । तुम्हारे कर्म न करने से तुम्हारी शरीरयात्रा भी संभव न होगी । (सभी कर्मों से बन्ध नहीं होता) यज्ञार्थ (लोकहित) के अतिरिक्त कर्म करने से लोक में मनुष्य कर्मबन्धन में फँसता है । इसलिए हे अर्जुन ! आसक्ति से मुक्त होकर यज्ञार्थ (समष्टि के कल्याण के लिए कर्म का सम्यक् प्रकार से आचरण करो ।]

कर्मविभाग—यह वर्णविभाग का पर्याय है । मानवसमूह की जितनी आवश्यकताएँ हैं उनके विचार से विधाता ने सत्ययुग में चार बड़े विभाग किये। शिक्षा की पहली आवश्यकता थी । इसीलिए सबसे पहले—देव-दानव-यज्ञादि से भी पहले—बड़े तेजस्वी, प्रतिभाशाली, सर्वदर्शी ब्राह्मणों की सृष्टि की । इन्हीं से सारी पृथ्वी के लोगों ने सब कुछ सीखा । राष्ट्र की रक्षा, प्रजा की रक्षा, व्यक्ति की रक्षा दूसरी आवश्यकता थी । इस काम में कुशल, बाहुबल को विवेक से काम में लाने वाले क्षत्रिय हुए । शिक्षा और रक्षा से भी अधिक आवश्यक वस्तु थी जीविका । अन्न के बिना प्राणी जी नहीं सकता था। पशुओं के बिना खेती हो नहीं सकती थी । वस्तुओं की अदला-बदली बिना सबको सब चीजें मिल नहीं सकती थीं । चारों वर्णों को अन्न, दूध, घी, कपड़े-लत्ते आदि सभी वस्तुएँ चाहिए । इन वस्तुओं को उपजाना, तैयार करना, फिर जिसकी जिसे जरूरत हो उसके पास पहुँचाना; यह सारा काम प्रजा के एक बड़े समुदाय को करना ही चाहिए । इसके लिए वैश्यों का वर्ण हुआ । किसान, व्यापारी, ग्वाले, कारीगर, दूकानदार, बनजारे ये सभी वैश्य हुए । शिक्षक को, रक्षक को, वैश्य को छोटे-मोटे कामों में सहायक और सेवक की जरूरत थी । धावक तथा हरकारे की, हरवाहे की, पालकी ढोने वाले की, पशु चराने वाले की, लकड़ी काटने वाले की, पानी भरने वाले की, बासन माँजने वाले की, कपड़े धोने वाले की जरूरत थी । ये जरूरतें शूद्रों ने पूरी कीं । इस तरह जनसमुदाय की सारी आवश्यकताएँ प्रजा में पारस्परिक कर्मविभाग से पूरी हुईं । यही कर्मविभाग अंग्रेजी के भ्रमोत्पादक उल्थे से आज 'श्रमविभाग' बन गया है । प्रजा में यह कर्मविभाग तथा समाज में यह श्रमविभाग सनातन है । "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" गीता ने इसी कर्मसाङ्कर्य से बचने की शिक्षा दी है । ऐसा कर्मविभाग हिन्दू-दण्डनीति अथवा समाजशास्त्र में है । ऐसा अद्भुत संगठन संसार में दूसरा नहीं है ।

चारों वर्णों का कर्मविभाग मनु आदि के धर्मशास्त्रों में इस प्रकार बतलाया गया है :

ब्राह्मण—पठन-पाठन, यजन-याजन, दान-प्रतिग्रह;
क्षत्रिय—पठन, यजन, दान; रक्षण, पालन, रंजन;
वैश्य—पठन, यजन, दान; कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य;
शूद्र—पठन, यजन (मन्त्ररहित), दान; अन्य वर्णों की सेवा (सहायता) ।

इन्हीं कर्मों से जीवन में सिद्धि प्राप्त होती है :

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।
(गीता १८. ४६)

[जिस परमात्मा से सभी जीवधारियों की उत्पत्ति हुई है और जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण विश्व का वितान तना गया है, अपने स्वाभाविक कर्मों से उसकी अर्चना करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है ।]

कर्मसंन्यास—स्वामी शङ्कराचार्य ने अपने भाष्यों में स्थान-

स्थान पर कर्मों के स्वरूप से त्याग करने पर जोर दिया है। वे जिज्ञासु और ज्ञानी दोनों के लिए सर्व कर्मसंन्यास की आवश्यकता बतलाते हैं। उनके मत में निष्काम कर्म केवल चित्तशुद्धि का हेतु है। परमपद की प्राप्ति कर्मसंन्यासपूर्वक श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त होने पर ही हो सकती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में इससे भिन्न मत प्रकट किया गया है। इसके अनुसार काम्य कर्मों का त्याग तथा नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अनासक्तिपूर्वक सम्पादन ही कर्मसंन्यास है; यज्ञार्थ अथवा भगवदर्पण बुद्धि से कर्म करने से बन्ध नहीं होता। गीता (३. १५-२५) में यज्ञार्थ कर्म के सम्बन्ध में निम्नांकित कथन है :

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

× × × ×

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥

इसी प्रकार (४.३१ में) कहा है :

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥

गीता (६.१ में) पुनः कथन है :

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

कर्मसाङ्कर्य—अपने स्वभावज कर्म को छोड़कर लोभ अथवा भयवश दूसरे के कर्म को जीविकार्थ करना कर्मसाङ्कर्य कहलाता है। प्राचीन काल में प्रत्येक वर्ण एवं आश्रम के अलग-अलग निर्धारित नियम एवं कर्म थे। (दे० 'वर्ण' और 'आश्रम'।) ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश का अधिकार प्रथम तीन वर्णों को, गृहस्थाश्रम में सभी वर्णों को, वानप्रस्थ में केवल प्रथम दो को था एवं संन्यास में प्रवेश एकमात्र ब्राह्मण कर सकता था। कालान्तर में आश्रम के नियम ढीले पड़े। ब्रह्मचर्याश्रम के कतिपय संस्कारों को न पूरा कर ब्राह्मण भी अपने बालकों को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करा देते थे। वानप्रस्थ और संन्यास तो अत्यन्त त्यागपूर्ण आश्रम थे। इनकी अवहेलना स्वाभाविक थी ही। इस प्रकार गृहस्थाश्रम ही प्रधान आश्रम रहा एवं एक आश्रम में रहकर भी अन्य आश्रमों के नियम व कर्मों का (सुविधा के अनुसार) पालन होता रहा।

उधर भिन्न वर्णों के लिए जो भिन्न-भिन्न कार्य निश्चित किये गये थे, इस नियम में भी शिथिलता आने लगी। ब्राह्मण शस्त्रोपजीवी होने लगे। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि इसके उदाहरण हैं। ययाति के पुत्र यदु आदि को राज्याधिकार नहीं मिला तो वे पशुपालनादि करने लगे। समाज की आवश्यकता के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय भी अधिकांश अपने-अपने काम छोड़कर वैश्यवत् गार्हस्थ्य-धर्म पालन करने लगे थे। इस प्रकार प्राचीन काल में ही कर्मसाङ्कर्य प्रारम्भ हो गया था। वर्तमान काल में तो यह साङ्कर्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है। अनेक सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं का यह एक बहुत बड़ा कारण है।

कर्मेन्द्रिय—मनुष्य की दस इन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ सबका स्वामी मन होता है। दस इन्द्रियों में पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। वाक्, हस्त, पाद, गुदा और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं जिनका शरीर के हितार्थ कार्यात्मक उपयोग होता है।

कर्मेन्द्रियों का संयम धार्मिक साधना का प्रथम चरण है। किन्तु इनका संयम भी आन्तरिक मन से होना चाहिए; बाहरी हठपूर्वक नहीं। जो बाहर से अपनी इन्द्रियों को रोकता है किन्तु भीतर से उनके विषयों का ध्यान करता है, वह मूढात्मा और मिथ्याचारी है। गीता (३.६,७) में कथन है :

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥

कर्णप्रयाग—यह तीर्थस्थल गढ़वाल जिले के अन्तर्गत है। यहाँ भागीरथी और अलकनन्दा का संगम है।

कर्णश्रवा (आङ्गिरस)—पञ्चविंश ब्राह्मण (१३.११,१४) में इन्हें साम गान का ऋषि बताया गया है। यही बात दावसु के बारे में भी कही गयी है।

करण ग्रन्थ—वर्तमान चान्द्र मास, तिथि आदि पञ्चाङ्ग की विधि अत्यन्त प्राचीन है और वैदिक काल से चली आयी

है। बीच-बीच में कालानुसार बड़े-बड़े ज्योतिषियों ने करण-ग्रन्थ लिखकर और संस्कार द्वारा संशोधन करके इसकी कालविषमता को ठीक कर रखा है। करण ग्रन्थों के द्वारा ज्योतिष में बराबर संशोधन होते चले आये हैं। संप्रति मकरन्दीय, ग्रहलाघव जैसे करण ग्रन्थ अधिक प्रचलित हैं।

करम्भ—जौ के सत्तू को दही में मिलाकर बनाया गया एक होमद्रव्य। यह कृषि के देवता पूषा का प्रिय यज्ञभाग है। दक्षयज्ञध्वंस के समय वीरभद्र ने पूषा के दाँत तोड़ दिये थे, तब से वे कोमल पिष्ट (करम्भ) की हवि ग्रहण करते हैं। करम्भ जुआर आदि से भी बनाया जाता है।

करविन्दस्वामी—आपस्तम्ब शुल्वसूत्र के ये एक भाष्यकार हुए हैं।

करवीरप्रतिपदाव्रत—ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपदा को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। किसी देवालय के उद्यान में खड़े हुए करवीर वृक्ष का पूजन करना चाहिए। तमिलनाडु में यह व्रत वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन मनाया जाता है।

कलश—धार्मिक कृत्यों मे कलश की स्थापना एक महत्त्व-पूर्ण कर्तव्य है। इसमें वरुण की पूजा होती है। विवाह, मूर्तिस्थापना, जयप्रयाण, राज्याभिषेक आदि के समय एक कलश अथवा कई कलशों की अथवा अधिक से अधिक १०८ कलशों की स्थापना की जाती है। कलश की परिधि १५ अंगुल से ५० अंगुल तक; ऊँचाई १६ अंगुल तक; तली १२ अंगुल और मुँह ८ अंगुल चौड़ा होना चाहिए। हेमाद्रि, व्रतखण्ड, १.६०८ में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी हुई है :

कलां कलां गृहीत्वा च देवाना विश्वकर्मणा।
निर्मितोऽयं सुरैर्यस्मात् कलशस्तेन उच्यते॥

ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में 'पात्र' या 'घट' के लिए व्यवहृत शब्द 'कलश' था, जो कच्ची या पक्की मिट्टी का बना होता था। दोनों प्रकार के पात्र व्यवहार में आते थे। सोमरस के काष्ठनिर्मित द्रोणकलश का उल्लेख प्रायः यज्ञों में हुआ है।

कलस—इसकी व्युत्पत्ति 'क (जल) से लस सुशोभित होता है' (केन लसतीति) की गयी है। कालिकापुराण (पुष्पाभिषेक, अध्याय ८७) में इसकी उत्पत्ति और धार्मिक माहात्म्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

"देवता और असुरों द्वारा अमृत के लिए जब सागर का मन्थन हो रहा था तो अमृत (पीयूष) के धारणार्थ विश्वकर्मा ने कलस का निर्माण किया। देवताओं की पृथक्-पृथक् कलाओं को एकत्र करके यह बना था, इसलिए कलस कहलाया। नव कलस हैं, जिनके नाम है गोह्य, उपगोह्य, मरुत्, मयूख, मनोहा, कृषिभद्र, तनुशोधक, इन्द्रियघ्न और विजय। हे राजन्, इन नामों के क्रमशः नौ नाम और हैं उनको सुनो, जो सदैव शान्ति देने वाले हैं। प्रथम क्षितीन्द्र, द्वितीय जलसम्भव, तीसरा पवन, चौथा अग्नि, पाँचवाँ यजमान, छठा कोशसम्भव, सातवाँ सोम, आठवाँ आदित्य और नवाँ विजय। कलस को पञ्चमुख भी कहा गया है, वह महादेव के स्वरूप को धारण करनेवाला है। कलस के पाँच मुखों में पञ्चानन महादेव स्वयं निवास करते हैं, इसलिए सम्यक् प्रकार से वामदेव आदि नामों से मण्डल के पद्मासन में पञ्चवक्त्रघट का न्यास करना चाहिए। क्षितीन्द्र को पूर्व में, जलसम्भव को पश्चिम में, पवन को वायव्य में, अग्निसम्भव को अग्निकोण में, यजमान को नैऋत्य में, कोशसम्भव को ईशान में, सोम को उत्तर में और आदित्य को दक्षिण में रखना चाहिए। कलस के मुख में ब्रह्मा और ग्रीवा में शङ्कर स्थित हैं। मूल में विष्णु और मध्य में मातृगण का निवास है। दिक्पाल देवता दसों दिशाओं से इसका मध्य में वेष्टन करते हैं और उदर में सप्तसागर तथा सप्त द्वीप स्थित हैं। नक्षत्र, ग्रह, सभी कुलपर्वत, गङ्गा आदि नदियाँ, चार वेद, सभी कलस में स्थित हैं। कलस में इनका चिन्तन करना चाहिए। रत्न, सभी बीज, पुष्प, फल, वज्र, मौक्तिक, वैदूर्य, महापद्म, इन्द्रस्फटिक, बिल्व, नागर, उदुम्बर, बीजपूरक, जम्बीर, आम्र, आम्लातक, दाडिम, यव, शालि, नीवार, गोधूम, सित सर्षप, कुंकुम, अगुरु, कर्पूर, मदन, रोचन, चन्दन, मांसी, एला, कुष्ठ, कर्पूरपत्र, चण्ड, जल, निर्यासक, अम्बुज, शैलेय, बदर, जाती, पत्रपुष्प, कालशाक, पृक्का, देवी, पर्णक, वच, धात्री, मञ्जिष्ठ, तुरुष्क, मङ्गलाष्टक, दूर्वा, मोहनिका, भद्रा, शतमूली, शतावरी, पर्णी में शवल, क्षुद्रा, सहदेवी, गजाङ्कुश, पूर्णकोषा, सिता, पाठा, गुञ्जा, सुरसी, कालस, व्यामक, गजदन्त, शतपुष्पा, पुनर्णवा, ब्राह्मी, देवी, सिता, रुद्रा और सर्वसन्धानिका, इन सभी शुभ वस्तुओं को लाकर कलस में निधापन करना चाहिए। कलस के देवता विधि, शम्भु, गदाधर (विष्णु) का यथाक्रम पूजन करना चाहिए। विशेष करके शम्भु का। प्रासादमन्त्र और शम्भुतन्त्र से शङ्कर का प्रथम पूजन

करना चाहिए। इसके पश्चात् नानाविधि से दिक्पालों का पूजन करना चाहिए। पहले स्थापित कलसों में नवग्रहों की और मातृघटों में मातृकाओं की पूजा करनी चाहिए। घट में सभी देवताओं की पृथक्-पृथक् पूजा होती है। मुख्यतया पूर्वोक्त नव देवताओं की। भक्ष्य, माल्य, पेय, पुष्प, फल, यावक, पायस आदि यथासम्भव आयोजनों से राजा को सभी देवताओं का पूजन करना चाहिए।

कला—शिव की शक्ति का एक रूप। शिव द्वारा विश्व की क्रमिक सृष्टि अथवा विकास की प्रक्रिया का ही नाम कला है। सभी कलाओं में शक्ति की अभिव्यक्ति है। शैव तन्त्रों में चौसठ कलाओं का उल्लेख पाया जाता है। उनकी सूची निम्नांकित है :

१. गीत
२. वाद्य
३. नृत्य
४. नाट्य
५. आलेख्य
६. विशेषकच्छेद्य
७. तण्डुलकुसुमबलिविकार
८. पुष्पास्तरण
९. दशन-वसनाङ्गराग
१०. मणिभूमिका कर्म
११. शयनरचना
१२. उदकवाद्यम्
१३. पानकरसरागासवयोजन
१४. सूचीवापकर्म
१५. सूत्रक्रीडा
१६. प्रहेलिका
१७. प्रतिमाला
१८. दुर्वचकयोग
१९. पुस्तकवाचन
२०. नाटिकाख्यायिकादर्शन
२१. काव्यसमस्यापूरण
२२. पट्टिका-वेत्र-बाण-विकल्प
२३. तर्कु-कर्म
२४. तक्षण
२५. वास्तुविद्या
२६. रूप्यान्तरपरीक्षा
२७. धातुवाद
२८. मणिरागज्ञान
२९. आकरज्ञान
३०. वृक्षायुर्वेदयोग
३१. मेष-कुक्कुट-लावक-युद्ध
३२. शुकसारिकाप्रलापन
३३. उदकघात
३४. चित्रायोग
३५. माल्यग्रथनविकल्प
३६. शेखरापीडयोजन
३७. नेपथ्यायोग
३८. कर्णपत्रभङ्ग
३९. गन्धयुक्ति
४०. भूषणयोजन
४१. ऐन्द्रजाल
४२. कौचुमारयोग
४३. हस्तलाघव
४४. चित्रशाक-पूप-भक्ष्य-विकल्पक्रिया
४५. केशमार्जनकौशल
४६. अक्षरमुष्टिकाकथन
४७. म्लेच्छित-कविकर्म
४८. देशभाषाज्ञान
४९. पुष्पशकटिका: निमित्र-ज्ञान
५०. यन्त्रमातृका
५१. धारणमातृका
५२. सम्पाठ्य
५३. मानसीकाव्यक्रिया
५४. क्रियाविकल्प
५५. छलितकयोग
५६. अभिधानकोषछन्दोज्ञान
५७. वस्त्रगोपन
५८. द्यूतविशेष
५९. आकर्षक्रीडा
६०. बालकक्रीडन
६१. वैनायिकीविद्याज्ञान
६२. वैजयिकीविद्याज्ञान
६३. वैतालिकीविद्याज्ञान
६४. उत्सादन

भागवत की श्रीधरी टीका में भी इन कलाओं की सूची दी गयी है।

कला का एक अर्थ जिह्वा भी है। हठयोगप्रदीपिका (३.३७) में कथन है :

> कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।

[जिह्वा को उलटी करके तीन नाडियों के मार्ग कपाल-गह्वर में लगाना चाहिए।]

आकार या शक्ति का माप भी कला कहा जाता है, यथा चन्द्रमा की पंद्रहवीं कला, सोलह कला का अवतार (षोडशकलोऽयं पुरुषः।)। राशि के तीसवें अंश के साठवें भाग को भी कला कहते हैं।

कलानिधितन्त्र—एक मिश्रित तन्त्र। मिश्रित तन्त्रों में देवी की उपासना दो लाभों के लिए बतायी गयी है; पार्थिव सुख तथा मोक्ष, जबकि शुद्ध तन्त्र केवल मोक्ष के लिए मार्ग दर्शाते हैं। 'कलानिधितन्त्र' में कलाओं के माध्यम से तान्त्रिक साधना का मार्ग बतलाया गया है।

कलि—यह शब्द ऋग्वेद में अश्विनों द्वारा रक्षित किसी व्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में कलि (बहुवचन) का प्रयोग गन्धर्वों के वर्णन के साथ हुआ है। विवाद, कलह; बहेड़े के वृक्ष और कलियुग के स्वामी असुर का नाम भी कलि है।

कलियुग—विश्व की आयु के सम्बन्ध में हिन्दू सिद्धान्त तीन प्रकार के समयविभाग उपस्थित करता है। वे हैं—युग, मन्वन्तर एवं कल्प। युग चार हैं—कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि। ये प्राचीनोक्त स्वर्ण, रूपा, पीतल एवं लौह युग के समानार्थक हैं। उपर्युक्त नाम जुए के पासे के पक्षों के आधार पर रखे गये हैं। कृत सबसे भाग्यवान् माना जाता है जिसके पक्षों पर चार बिन्दु हैं, त्रेता पर तीन, द्वापर पर दो एवं कलि पर मात्र एक बिन्दु है। ये ही सब सिद्धान्त युगों के गुण एवं आयु पर भी घटते हैं। क्रमशः इन युगों में मनुष्य के अच्छे गुणों का

ह्रास होता है तथा युगों की आयु भी क्रमशः ४८०० वर्ष, ३६०० वर्ष, २४०० वर्ष १२०० वर्ष है। सभी के योग को एक महायुग कहते हैं जो १२००० वर्ष का है। किन्तु ये वर्ष दैवी हैं और एक दैवी वर्ष ३६० मानवीय वर्ष के तुल्य होता है, अतएव एक महायुग ४३,२०,००० वर्ष का होता है। कलि का मानवीय युगमान ४,३२,००० वर्ष है।

कलि (तिष्य) युग में कृत (सत्ययुग) के ठीक विपरीत गुण आ जाते हैं। वर्ण एवं आश्रम का साङ्कर्य, वेद एवं अच्छे चरित्र का ह्रास, सर्वप्रकार के पापों का उदय, मनुष्यों में नानाव्याधियों की व्याप्ति, आयु का क्रमशः क्षीण एवं अनिश्चित होना, बर्बरों द्वारा पृथ्वी पर अधिकार, मनुष्यों एवं जातियों का एक दूसरे से संघर्ष आदि इसके गुण हैं। इस युग में धर्म एकपाद, अधर्म चतुष्पाद होता है, आयु सौ वर्ष की। युग के अन्त में पापियों के नाश के लिए भगवान् कल्कि-अवतार धारण करेंगे।

युगों की इस कालिक कल्पना के साथ एक नैतिक कल्पना भी है, जो ऐतरेय ब्राह्मण तथा महाभारत में पायी जाती है :

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतः सम्पद्यते चरन् ॥

[सोनेवाले के लिए कलि, अँगड़ाई लेनेवाले के लिए द्वापर, उठनेवाले के लिए त्रेता और चलने वाले के लिए कृत (सत्ययुग) होता है।]

कल्किपुराण (प्रथम अध्याय) में कलियुग की उत्पत्ति का वर्णन निम्नांकित है :

"संसार के बनानेवाले लोकपितामह ब्रह्मा ने प्रलय के अन्त में घोर मलिन पापयुक्त एक व्यक्ति को अपने पृष्ठ भाग से प्रकट किया। वह अधर्म नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसके वंशानुकीर्तन, श्रवण और स्मरण से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। अधर्म की सुन्दर विडालाक्षी (बिल्ली के जैसी आँखवाली) भार्या मिथ्या नाम की थी। उसका परमकोपन पुत्र दम्भ नामक हुआ। उसने अपनी बहिन माया से लोभ नामक पुत्र और और निकृति नामक पुत्री को उत्पन्न किया, उन दोनों से क्रोध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने अपनी हिंसा नामक बहिन से कलि महाराज को उत्पन्न किया। वह दाहिने हाथ से जिह्वा और वाम हस्त से उपस्थ (शिश्न) पकड़े हुए, अंजन के समान वर्णवाला, काकोदर, कराल मुखवाला और भयानक था। उससे सड़ी दुर्गन्ध आती थी और वह द्यूत, मद्य, हिंसा, स्त्री तथा सुवर्ण का सेवन करने वाला था। उसने अपनी दुरुक्ति नामक बहिन से भय नामक पुत्र और मृत्यु नामक पुत्री उत्पन्न किये। उन दोनों का पुत्र निरय हुआ। उसने अपनी यातना नामक बहिन से सहस्रों रूपों वाला लोभ नामक पुत्र उत्पन्न किया। इस प्रकार कलि के वंश में असंख्य धर्मनिन्दक सन्तान उत्पन्न होती गयीं।"

गरुडपुराण (युगधर्म, ११७ अ०) में कलिधर्म का वर्णन इस प्रकार है :

"जिसमें सदा अनृत, तन्द्रा, निद्रा, हिंसा, विवाद, शोक, मोह भय और दैन्य बने रहते हैं, उसे कलि कहा गया है। उसमें लोग कामी और सदा कटु बोलनेवाले होंगे। जनपद दस्युओं से आक्रान्त और वेद पाखण्ड से दूषित होगा। राजा लोग प्रजा का भक्षण करेंगे। ब्राह्मण शिश्नोदरपरायण होंगे। विद्यार्थी व्रतहीन और अपवित्र होंगे। गृहस्थ भिक्षा माँगेंगे। तपस्वी ग्राम में निवास करने वाले, धन जोड़ने वाले और लोभी होंगे। क्षीण शरीर वाले, अधिक खाने वाले, शौर्यहीन, मायावी, दुःसाहसी भृत्य (नौकर) अपने स्वामी को छोड़ देंगे। तापस सम्पूर्ण व्रतों को छोड़ देंगे। शूद्र दान ग्रहण करेंगे और तपस्वी वेश से जीविका चलायेंगे, प्रजा उद्विग्न, शोभाहीन और पिशाच सदृश होगी। विना स्नान किये लोग भोजन, अग्नि, देवता तथा अतिथि का पूजन करेंगे। कलि के प्राप्त होने पर पितरों के लिए पिण्डोदक आदि क्रिया न होगी। सम्पूर्ण प्रजा स्त्रियों में आसक्त और शूद्रप्राय होगी। स्त्रियाँ भी अधिक सन्तानवाली और अल्प भाग्यवाली होंगी। खुले सिर वाली (स्वच्छन्द) और अपने सत्पति की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाली होंगी। पाखण्ड से आहत लोग विष्णु की पूजा नहीं करेंगे, किन्तु दोष से परिपूर्ण कलि में एक गुण होगा—कृष्ण के कीर्तन मात्र से मनुष्य बन्धनमुक्त हो परम गति को प्राप्त करेंगे। जो फल कृतयुग में ध्यान से, त्रेता में यज्ञ से और द्वापर में परिचर्या से प्राप्त होता है वह कलियुग में हरि-कीर्तन से सुलभ है। इसलिए हरि नित्य ध्येय और पूज्य हैं।"

भागवत पुराण (द्वादश स्कन्ध, तीन अध्याय) में कलिधर्म का वर्णन निम्नांकित है :

"कलियुग में धर्म के तप, शौच, दया, सत्य इन चार पाँवों में केवल चौथा पाँच (सत्य) शेष रहेगा। वह भी

अधार्मिकों के प्रयास से क्षीण होता हुआ अन्त में नष्ट हो जायेगा। उसमें प्रजा लोभी, दुराचारी, निर्दय, व्यर्थ वैर करनेवाली, दुर्भगा, भूरितर्ष (अत्यन्त तृषित) तथा शूद्र-दासप्रधान होगी। जिसमें माया, अनृत, तन्द्रा, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय, दैन्य अधिक होगा वह तामसप्रधान कलियुग कहलायेगा। उसमें मनुष्य क्षुद्रभाग्य, अधिक खानेवाले, कामी, वित्तहीन और स्त्रियाँ स्वैरिणी और असती होंगी। जनपद दस्युओं से पीड़ित, वेद पाखण्डों से दूषित, राजा प्रजाभक्षी, द्विज शिश्नोदरपरायण, विद्यार्थी अव्रत और अपवित्र, कुटुम्बी भिक्षाजीवी, तपस्वी ग्रामवासी और संन्यासी अर्थलोलुप होंगे। स्त्रियाँ ह्रस्वकाया, अतिभोजी बहुत सन्तानवाली, निर्लज्ज, सदा कटु बोलनेवाली, चौर्य, माया और अतिसाहस से परिपूर्ण होंगी। क्षुद्र, किराट और कूटकारी व्यापार करेंगे। लोग बिना आपदा के भी साधु पुरुषों से निन्दित व्यवसाय करेंगे। भृत्य द्रव्यरहित उत्तम स्वामी को भी छोड़ देंगे। पति भी विपत्ति में पड़े कुलीन भृत्य को त्याग देंगे। लोग दूध न देनेवाली गाय को छोड़ देंगे। कलि में मनुष्य माता-पिता, भाई, मित्र, जाति को छोड़कर केवल स्त्री से प्रेम करेंगे, साले के साथ संवाद में आनन्द लेंगे, दीन और स्त्रैण होंगे। शूद्र दान लेंगे और तपस्वी वेश से जीविका चलायेंगे। अधार्मिक लोग उच्च आसन पर बैठकर धर्म का उपदेश करेंगे। कलि में प्रजा नित्य उद्विग्न मनवाली, दुर्भिक्ष और कर से पीड़ित, अन्न-रहित भूतल में अनावृष्टि के भय से आतुर; वस्त्र, अन्न, पान, शयन, व्यवसाय, स्नान, भूषण से हीन; पिशाच के सदृश दिखाई पड़नेवाली होगी। लोग कलि में आधी कौड़ी के लिए भी विग्रह करके मित्रों को छोड़ देंगे, प्रियों का त्याग करेंगे और अपने प्राणों का भी हनन करेंगे। मनुष्य अपने से बड़ों और माता-पिता, पुत्र और कुलीन भार्या की रक्षा नहीं करेंगे। लोग क्षुद्र और शिश्नोदर परायण होंगे। पाखण्ड से छिन्न-भिन्न बुद्धि वाले लोग जगत् के परम गुरु, जिनके चरणों पर तीनों लोक के स्वामी आनत हैं, उन भगवान् अच्युत की पूजा प्रायः नहीं करेंगे।''

''द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) व्रात्य (सावित्री-पतित) और राजा लोग शूद्रप्राय होंगे। सिन्धु के तट, चन्द्रभागा (चिनाव) की घाटी, काञ्ची और कश्मीरमण्डल में शूद्र, व्रात्य, म्लेच्छ तथा ब्रह्मवर्चस से रहित लोग शासन करेंगे। ये सभी राजा समसामयिक और म्लेच्छ-प्राय होंगे। ये सभी अधार्मिक और असत्यपरायण होंगे। ये बहुत कम दान देनेवाले और तीव्र क्रोध वाले, स्त्री, बालक, गौ, ब्राह्मण को मारनेवाले और दूसरे की स्त्री तथा धन का अपहरण करेंगे। ये उदित होते ही अस्त तथा अल्प शक्ति और अल्पायु होंगे। असंस्कृत, क्रियाहीन, रजस्तमोगुण से घिरे, राजा रूपी ये म्लेच्छ प्रजा को खा जायेंगे। इनके अधीन जनपद भी इन्हीं के समान आचार वाले होंगे और वे राजाओं द्वारा तथा स्वयं परस्पर पीडित होकर क्षय को प्राप्त होंगे।''

''इसके पश्चात् प्रतिदिन धर्म, सत्य, शौच, क्षमा, दया, आयु, बल और स्मृति कलिकाल के द्वारा क्षीण होंगे। कलि में मनुष्य धन के कारण ही जन्म से गुणी माना जायेगा। धर्म-न्याय-व्यवस्था में बल ही कारण होगा। दाम्पत्य सम्बन्ध में केवल अभिरुचि हेतु होगी और व्यवहार में माया। स्त्रीत्व और पुंस्त्व में रति और विप्रत्व में सूत्र कारण होगा। आश्रम केवल चिह्न से जाने जायेंगे और वे परस्पर आपत्ति करनेवाले होंगे। अवृत्ति में न्याय-दौर्बल्य और पाण्डित्य में वचन की चपलता होगी। असाधुत्व में दरिद्रता और साधुत्व में दम्भ प्रधान होगा। विवाह में केवल स्वीकृति और अलंकार में केवल स्नान शेष रहेगा। दूर घूमना ही तीर्थ और केश धारण करना ही सौन्दर्य समझा जायेगा। स्वार्थ में केवल उदर भरना, दक्षता में कुटुम्ब पालन, यश में अर्थसंग्रह होगा। इस प्रकार दुष्ट प्रजा द्वारा पृथ्वी के आक्रान्त होने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में जो बली होगा वही राजा बनेगा। लोभी, निर्घृण, डाकू, अधर्मी राजाओं द्वारा धन और स्त्री से रहित होकर प्रजा पहाड़ों और जंगलों में चली जायेगी। दुर्भिक्ष और कर से पीड़ित, शाक, मूल, आमिष, क्षौद्र, फल, पुष्प भोजन करनेवाली प्रजा वृष्टि के अभाव में नष्ट हो जायेगी। बात, तप, प्रावृट्, हिम, क्षुधा, प्यास, व्याधि, चिन्ता आदि से प्रजा सन्तप्त होगी। कलि में परमायु तीस बीस वर्ष होगी। कलि के दोष से मनुष्यों का शरीर क्षीण होगा। मनुष्यों का वर्णाश्रम और वेदपथ नष्ट होगा। धर्म में पाखण्ड की प्रचुरता होगी और राजाओं में दस्युओं की, वर्णों में शूद्रों की, गौओं में बकरियों की, आश्रमों में गार्हस्थ्य की, बन्धुओं में यौन सम्बन्ध की, ओषधियों में अनुपाय की, वृक्षों में शमी की, मेघों में विद्युत् की, घरों

में शून्यता की प्रधानता होगी । इस प्रकार खरधर्मी मनुष्यों के बीच गतप्राय कलियुग में धर्म की रक्षा करने के लिए अपने सत्त्व से भगवान् अवतार लेंगे ।"

कलिसंतरणोपनिषद्—एक परवर्ती उपनिषद् । इसमें कलि से उद्धार पाने का दर्शन प्रतिपादित है, जो केवल भगवान् के नामों का जप ही है । जप का मुख्य मन्त्र :

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

यही माना गया है ।

कल्प— विश्व की आयु के सम्बन्ध में युग के साथ समय के दो और वृहत् मापों का वर्णन आता है । वे हैं मन्वन्तर एवं कल्प । युग चार हैं—कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि । इन चार युगों का एक महायुग होता है । १००० महायुग मिलकर एक कल्प बनाते हैं । इस प्रकार कल्प एक विश्व की रचना से उसके नाश तक की आयु का नाम है ।

कल्प का अर्थ कल्पसूत्र भी है । कल्प छः वेदाङ्गों में से एक है । कौन-सा यज्ञ किसलिए, किस विधि-विधान से करना चाहिए यह कल्पसूत्रों के अनुशीलन से ज्ञात हो सकता है ।

कल्कि—भगवान् विष्णु के दस अवतारों में से अन्तिम अवतार, जो कलियुग के अन्त में होगा । कल्कि-उपपुराण (अध्याय २, कल्किजन्मोपनयन) में इसका विस्तृत वर्णन पाया जाता है । दे० 'अवतार' ।

कल्किद्वादशी—भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी । कल्कि इसके देवता हैं । वाराह पुराण (४८.१.२४) में इसका विस्तृत वर्णन है ।

कल्पतरु—एक अद्वैतवेदान्तीय उपटीका ग्रन्थ, जिसका पूर्ण नाम 'वेदान्तकल्पतरु' है । इसके रचयिता स्वामी अमलानन्द का आविर्भाव दक्षिण भारत में हुआ था । यह ग्रन्थ संवत् १३५४ वि० से पूर्व लिखा जा चुका था । इस ग्रन्थ में शांकरभाष्य पर लिखित वाचस्पति मिश्र की 'भामती' टीका की व्याख्या की गयी है ।

इसी प्रकार के उपनाम वाला दूसरा ग्रन्थ 'कृत्यकल्पतरु' धर्मशास्त्र पर मिलता है । इसके रचयिता बारहवीं शती में उत्पन्न लक्ष्मीधर थे जो गहडवार राजा गोविन्दचन्द्र के सान्धिविग्रहिक (मन्त्रियों में से एक) थे ।

कल्पपादपदान—कल्पवृक्ष की सुवर्णप्रतिमा का दान । इसकी गणना महादानों में है ।

वंगदेशीय वल्लालसेन विरचित दानसागर के महादानदानावर्त में इसका विस्तृत वर्णन पाया जाता है ।

कल्पवृक्ष—यह वह वृक्ष है जो मनुष्य की सभी कामनाओं की पूर्ति करता है । इसको कल्पतरु भी कहते हैं ।

जैन विश्वासों के अनुसार विश्व की प्रथम सृष्टि में मनुष्य युग्म (जोड़े) में उत्पन्न हुए तथा एक जोड़े ने दो जोड़ों को जन्म दिया, जो आपस में विवाह कर द्विगुणित होते गये । जीविका के लिए ये कोई व्यवसाय नहीं करते थे । दस प्रकार के कल्पतरु थे जो इन मनुष्यों की सभी इच्छाओं को पूरा करते थे ।

कल्पतरु एक माङ्गलिक प्रतीक भी है ।

कल्पवृक्षव्रत—साठ संवत्सर व्रतों में से एक । दे० मत्स्य पुराण, १०१; कृत्यकल्पतरु, व्रतकाण्ड, ४४६ ।

कल्पसूत्र—छः वेदाङ्गों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष-में कल्प दूसरा अङ्ग है । जिन सूत्रों में कल्प संगृहीत हैं उनको कल्पसूत्र कहते हैं । इनके तीन विभाग हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र (शुल्वसूत्र भी) । प्रथम दो में श्रौत और गृह्य यज्ञों की विस्तृत व्याख्या की गयी है । इनका मुख्य विषय है धार्मिक कर्मकाण्ड का प्रतिपादन, यज्ञों का विधान और संस्कारों की व्याख्या । श्रौतयज्ञ दो प्रकार के हैं—सोमसंस्था और हविःसंस्था । गृह्ययज्ञ को पाकसंस्था कहा गया है । इन तीनों प्रकार के यज्ञों के सात-सात उपप्रकार हैं । सोमसंस्था के प्रकार हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम । हविःसंस्था के प्रकार हैं—अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य और पशुबन्ध । पाकसंस्था के प्रकार हैं—सायंहोत्र, प्रातर्होत्र, स्थालीपाक, नवयज्ञ, वैश्वदेव, पितृयज्ञ और अष्टका । सब मिलाकर कल्पसूत्रों में ४२ कर्मों का पतिपादन है : १४ श्रौतयज्ञ, ७ गृह्ययज्ञ, ५ महायज्ञ और १६ संस्कारयज्ञ । परिभाषासूत्र में इनका विस्तृत वर्णन पाया जाता है । वेदसंहिताओं के समान कल्पसूत्रों की संख्या भी ११३० होनी चाहिए थी किन्तु इनमें से अधिकांश लुप्त हो गये; संप्रति केवल ४० कल्पसूत्र ही उपलब्ध हैं । दे० 'सूत्र' ।

कल्पसूत्रतन्त्र—एक तन्त्र ग्रन्थ । आगमतत्त्वविलास में उल्लिखित तन्त्रों की तालिका में इस तन्त्र का नाम आया है ।

कल्पादि—मत्स्यपुराण में ऐसी सात तिथियों का उल्लेख है जिनसे कल्प का प्रारम्भ होता है। उदाहरणतः वैशाख शुक्ल ३, फाल्गुन कृष्ण ३, चैत्र शुक्ल ५, चैत्र कृष्ण ५ (अथवा आमावस्या), माघ शुक्ल १३, कार्तिक शुक्ल ७ और मार्गशीर्ष शुक्ल ९। दे० हेमाद्रि, कालखण्ड ६७०-१; निर्णयसिन्धु, ८२; स्मृतिकौस्तुभ, ५-६। ये श्राद्धतिथियाँ हैं। हेमाद्रि के नागर खण्ड में ३० तिथियाँ ऐसी बतलायी गयी हैं जैसे कि वे सब कल्पादि हों। मत्स्यपुराण (अध्याय २९०.७-११) में ३० कल्पों का उल्लेख है, किन्तु वे नागर खण्ड में उल्लिखित कल्पों से भिन्न प्रकार के हैं।

कल्पानुपदसूत्र—ऋचाओं को साम में परिणत करने की विधि के सम्बन्ध में सामवेद के बहुत से सूत्र ग्रन्थ हैं। 'कल्पानुपदसूत्र' भी इनमें से एक सामवेदीय सूत्र है।

कल्याणसप्तमी—किसी भी रविवार को पड़ने वाली सप्तमी के दिन यह व्रत किया जा सकता है। उस तिथि का नाम कल्याणिनी अथवा विजया होगा। एक वर्ष पर्यन्त इसका अनुष्ठान होना चाहिए। इसमें सूर्य के पूजन का विधान है। १३ वें मास में १३ गायों का दान या समान करना चाहिए। दे० मत्स्यपुराण, ७४.५२०; कृत्यकल्पतरु, व्रतकाण्ड, २०८-२११।

कल्याणश्री (भाष्यकार)—आश्वलायन श्रौतसूत्र के ११ व्याख्याग्रन्थों का पता लगा है। इनके रचयिताओं में से कल्याणश्री भी एक हैं।

कल्लट—कश्मीर के प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक। इनका जीवनकाल नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। 'काश्मीर शैव साहित्यमाला' में प्रसिद्ध 'स्पन्दकारिका' ग्रन्थ की रचना कल्लट द्वारा हुई थी। इसमें स्पन्दवाद (एक शैवसिद्धान्त) का प्रतिपादन किया गया है।

कल्हण—कल्हण पण्डित कश्मीर के राजमन्त्रियों में से थे। इन्होंने 'राजतरङ्गिणी' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें कश्मीर के राजवंशों का इतिहास संस्कृत श्लोकों में वर्णित है। कश्मीर के प्राचीन इतिहास पर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है।

कलाप व्याकरण—प्राचीन व्याकरण ग्रन्थ। इसका प्रचार बङ्गाल की ओर है, इसको 'कातन्त्र व्याकरण' भी कहते हैं। कलाप व्याकरण के आधार पर अनेक व्याकरण ग्रन्थ बने हैं, जो बङ्गाल में प्रचलित हैं। बौद्धों में इस व्याकरण का अधिक प्रचार था, इसीलिए इसको 'कातन्त्र' (कुत्सित ग्रन्थ) ईर्ष्यावश कहा गया है, अथवा कार्तिकेय के वाहन कलापी (मोर पक्षी) ने इसको प्रकट किया था इससे भी इसका 'कातन्त्र' नाम चल पड़ा।

कलापी—पाणिनि के सूत्रों में जिन वैयाकरणों का उल्लेख किया गया है, उनमें कलापी (४.३.१०४) भी एक हैं।

कल्लिनाथ—गान्धर्व वेद (संगीत) के चार आचार्य प्रसिद्ध हैं; सोमेश्वर, भरत, हनुमान् और कल्लिनाथ। इनमें से कइयों के शास्त्रीय ग्रन्थ मिलते हैं।

कवच—देवपूजा के प्रमुख पंचाग स्तोत्रों में प्रथम अंग (अन्य चार अंग अर्गला, कीलक, सहस्रनाम आदि हैं)। स्मार्तों के गृहों में देवी की दक्षिणमार्गी पूजा की सबसे महत्वपूर्ण स्तुति चण्डीपाठ है जिसे दुर्गासप्तशती भी कहते हैं। इसके पूर्व एवं पीछे दूसरे पवित्र स्तोत्रों का पाठ होता है। ये कवच कीलक एवं अर्गलास्तोत्र हैं, जो मार्कण्डेय एवं वराह पुराण से लिये गये हैं। कवच में कुल ५० पद्य हैं तथा कीलक में १४। इसमें शस्त्ररक्षक लोहकवच के तुल्य ही शरीर के अंगों की रक्षात्मक प्रार्थना की गयी है।

किसी धातु की छोटी डिबिया को भी कवच कहते हैं, जिसमें भूर्जपत्र पर लिखा हुआ कोई तान्त्रिक यन्त्र या मन्त्र बन्द रहता है। पृथक्-पृथक् देवता तथा उद्देश्य के पृथक्-पृथक् कवच होते हैं। इसको गले अथवा बाँह में रक्षार्थ बाँधते हैं। मलमासतत्त्व में कहा है :

> यथा शस्त्रप्रहाराणां कवचं प्रतिवारणम्।
> तथा दैवोपघातानां शान्तिर्भवति वारणम्॥

[जैसे शस्त्र के प्रहार से चर्म अथवा धातु का बना हुआ कवच (ढाल) रक्षा करता है, उसी प्रकार दैवी आघात से (यान्त्रिक शान्ति) कवच रक्षा करता है।]

कवि कर्णपूर—वंगदेशीय भक्त कवि। सन् १५७० के आसपास बङ्गाल में धार्मिक साहित्य के सर्जन की ओर विद्वानों की अधिक रुचि थी। इसी समय चैतन्य महाप्रभु के जीवन पर लगभग पाँच विशिष्ट ग्रन्थ लिखे गये; दो संस्कृत तथा शेष बँगला में। इनमें पहला है संस्कृत नाटक 'चैतन्यचन्द्रोदय' जिसकी रचना कवि कर्णपूर ने की थी। इसमें चैतन्य महाप्रभु के उपदेशों का काव्यमय विवेचन है।

कवितावली—सोलहवीं शताब्दी में रची गयी कविताबद्ध

श्रीराम की कथा, जो कवित्त और सवैया छन्दों में है। इसके रचयिता गोस्वामी तुलसीदास हैं। भक्ति भावना से भीना हुआ यह ब्रजभाषा का ललित काव्य है।

कवीन्द्राचार्य—शतपथ ब्राह्मण के तीन भाष्यकारों में से एक कवीन्द्राचार्य भी हैं।

कश्मीरशैवमत—शैवमत की एक प्रसिद्ध शाखा कश्मीरी शैवों की है। यहाँ 'शैव आगमों' को शिवोक्त समझा गया एवं इन शैवों का यही धार्मिक आधार बन गया। ८५० ई० के लगभग 'शिवसूत्रों' को रहस्यमय एवं नये शब्दों में शिवोक्त ठहराया गया एवं इससे प्रेरित हो दार्शनिक साहित्य की एक परम्परा यहाँ स्थापित हो गयी, जो लगभग तीन शताब्दियों तक चलती रही। 'शिवसूत्र' एवं 'स्पन्दकारिका' जो यहाँ के शैवमत के आधार थे, प्रायः दैनिक चरितावली पर ही विशेष रूप से प्रकाश डालते हैं। किन्तु ९०० ई० के लगभग सोमानन्द की 'शिवदृष्टि' ने सम्प्रदाय के लिए एक दार्शनिक रूप उपस्थित किया। यह दर्शन अद्वैतवादी है एवं इसमें मोक्ष प्रत्यभिज्ञा (शिव से एकाकार होने के ज्ञान) पर ही आधारित है। फिर भी विश्व को केवल माया नहीं बताया गया, इसे शक्ति के माध्यम से शिव का आभास कहा गया है। विश्व का विकास सांख्य दर्शन के ढंग का ही है, किन्तु इसकी बहुत कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। यह प्रणाली 'त्रिक' कहलाती है, क्योंकि इसके तीन सिद्धान्त हैं—शिव, शक्ति एवं अणु; अथवा पति, पाश एवं पशु। इसका सारांश माधवकृत 'सर्वदर्शनसंग्रह' अथवा चटर्जी के 'कश्मीर शैवमत' में प्राप्त हो सकता है। आगमों की शिक्षाओं से भी यह अधिक अद्वैतवादी है, जबकि नये साहित्यिक इसे आगमों के अनुकूल सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। इस मत परिवर्त्तन का क्या कारण हो सकता है? आचार्य शङ्कर ने अपनी दिग्विजय के समय कश्मीर भ्रमण किया था, इसलिए हो सकता है कि उन्होंने वहाँ के शैव आचार्यों को अद्वैतवाद के [illegible] में लाने का उपक्रम किया हो!

कश्यप—प्राचीन वैदिक ऋषियों में प्रमुख ऋषि, जिनका उल्लेख एक बार ऋग्वेद में हुआ है। अन्य संहिताओं में भी यह नाम बहुप्रयुक्त है। इन्हें सर्वदा धार्मिक एवं रहस्यात्मक चरित्र वाला बतलाया गया है एवं अति प्राचीन कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इन्होंने 'विश्वकर्मभौवन' नामक राजा का अभिषेक कराया था। ऐतरेय ब्राह्मण में कश्यपों का सम्बन्ध जनमेजय से बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति को कश्यप कहा गया है: ''स यत्कूर्मो नाम। प्रजापतिः प्रजा असृजत्। यदसृजत् अकरोत् तद् यदकरोत् तस्मात् कूर्मः कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः।''

महाभारत एवं पुराणों में असुरों की उत्पत्ति एवं वंशावली के वर्णन में कहा गया है कि ब्रह्मा के छः मानस पुत्रों में से एक 'मरीचि' थे जिन्होंने अपनी इच्छा से कश्यप नामक प्रजापति पुत्र उत्पन्न किया। कश्यप ने दक्ष प्रजापति की १७ पुत्रियों से विवाह किया। दक्ष की इन पुत्रियों से जो सन्तान उत्पन्न हुई उसका विवरण निम्नांकित है:

१. अदिति से आदित्य (देवता)
२. दिति से दैत्य
३. दनु से दानव
४. काष्ठा से अश्वादि
५. अनिष्टा से गन्धर्व
६. सुरसा से राक्षस
७. इला से वृक्ष
८. मुनि से अप्सरागण
९. क्रोधवशा से सर्प
१०. सुरभि से गौ और महिष
११. सरमा से श्वापद (हिंस्र पशु)
१२. ताम्रा से श्येन-गृध्र आदि
१३. तिमि से यादोगण (जलजन्तु)
१४. विनता से गरुड और अरुण
१५. कद्रू से नाग
१६. पतङ्गी से पतङ्ग
१७. यामिनी से शलभ।

दे० भागवत पुराण। मार्कण्डेय पुराण (१०४.३) के अनुसार कश्यप की तेरह भार्याएँ थीं। उनके नाम हैं—१. दिति, २. अदिति, ३. दनु, ४. विनता, ५. खसा, ६. कद्रु, ७. मुनि, ८. क्रोधा, ९. रिष्टा, १०. इरा, ११. ताम्रा, १२. इला और १३. प्रधा। इन्हीं से सब सृष्टि हुई।

कश्यक एक गोत्र का भी नाम है। यह बहुत व्यापक गोत्र है। जिसका गोत्र नहीं मिलता उसके लिए कश्यप

गोत्र की कल्पना कर ली जाती है, क्योंकि एक परम्परा के अनुसार सभी जीवधारियों की उत्पत्ति कश्यप से हुई ।

काँगड़ा—हिमाचल प्रदेश का एक शक्तिपीठ, जो पठानकोट से ५९ मील पर काँगडा और उससे एक मील आगे काँगड़ामन्दिर स्टेशन के समीप है । रास्ता मोटरबस और पैदल दोनों है । यात्रियों के ठहरने के लिए धर्मशालाएँ हैं । यहाँ पर ज्वालामुखी या ज्वालाजी के नाम से दुर्गा महामाया का मन्दिर है । दोनों नवरात्रों में मेला लगता है । प्राकृतिक अग्निज्वालाओं के रूप में देवीजी दर्शन देती हैं ।

काञ्चनपुरीव्रत—यह प्रकीर्णक (फुटकर) व्रत है । शुक्ल पक्षीय तृतीया, कृष्ण पक्षीय एकादशो, पूर्णिमा, अमावस्या, अष्टमी अथवा संक्रान्ति को सुवर्ण की पुरी, जिसकी दीवारें भी सुवर्ण की हों अथवा चाँदी या जस्ता की हों तथा खम्भे सुवर्ण के हों, दान में दी जाय । उस पुरी के अन्दर विष्णु तथा लक्ष्मी की प्रतिमाएँ विराजमान करनी चाहिए । दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, २.८६८-८७६; भविष्योत्तर पुराण १४७ । भगवती का यह व्रत गौरी और भगवान् शिव, राम तथा सीता, दमयन्ती तथा नल, कृष्ण तथा पाण्डवों के द्वारा आचरित था । इस व्रत के आचरण से समस्त वस्तुएँ सुलभ, कामनाएँ पूर्ण तथा पापों का प्रक्षालन होता है ।

काञ्ची (काञ्चीवरम्)—यह तीर्थपुरी दक्षिण की काशी मानी जाती है, जो मद्रास से ४५ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है । ऐसी अनुश्रुति है कि इस क्षेत्र में प्राचीन काल में ब्रह्मा ने देवी के दर्शन के लिए तप किया था । मोक्षदायिनी सप्त पुरियों—अयोध्या, मथुरा, द्वारका, माया (हरिद्वार), काशी, काञ्ची और अवन्तिका (उज्जैन) में इसकी गणना है । काञ्ची हरिहरात्मक पुरी है । इसके शिवकाञ्ची, विष्णुकाञ्ची दो भाग हैं । सम्भवतः कामाक्षीमन्दिर ही यहाँ का शक्तिपीठ है । दक्षिण के पञ्चतत्त्वलिङ्गों में से भूतत्त्वलिङ्ग के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है । कुछ लोग काञ्ची के एकाम्रेश्वर लिङ्ग को भूतत्त्वलिङ्ग मानते हैं, और कुछ लोग तिरुवारूर की त्यागराजलिङ्गमूर्ति को । इसका माहात्म्य निम्नाङ्कित है :

रहस्यं सम्प्रवक्ष्यामि लोपामुद्रापते शृणु ।
नेत्रद्वयं महेशस्य काशीकाञ्चीपुरीद्वयम् ।।
विख्यातं वैष्णवं क्षेत्रं शिवसांनिध्यकारकम् ।
काञ्चीक्षेत्रे पुरा धाता सर्वलोकपितामहः ।।
श्रीदेवीदर्शनार्थाय तपस्तेपे सुदुष्करम् ।
प्रादुरास पुरो लक्ष्मीः पद्महस्तपुरस्सरा ।।
पद्मासने च तिष्ठन्ती विष्णुना जिष्णुना सह ।
सर्वश्रृङ्गारवेषाढ्या सर्वाभरणभूषिता ।।
(ब्रह्माण्डपु० ललितोपाख्यान ३५)

काञ्ची आधुनिक काल में काञ्जीवरम् के नाम से प्रसिद्ध है । यह ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में महत्त्वपूर्ण नगर था । सम्भवतः यह दक्षिण भारत का नहीं तो तमिलनाडु का सबसे बड़ा केन्द्र था । बुद्धघोष के समकालीन प्रसिद्ध भाष्यकार धर्मपाल का जन्मस्थान यहीं था, इससे अनुमान किया जाता है कि वह बौद्धधर्मीय जीवन का केन्द्र था । यहाँ के सुन्दरतम मन्दिरों की परम्परा इस बात को प्रमाणित करती है कि यह स्थान दक्षिण भारत के धार्मिक क्रियाकलाप का अनेकों शताब्दियों तक केन्द्र रहा है । छठी शताब्दी में पल्लवों के संरक्षण से प्रारम्भ कर पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी तक विजयनगर के राजाओं के संरक्षणकाल के मध्य १००० वर्ष के द्राविड़ मन्दिरशिल्प के विकास को यहाँ एक ही स्थान में देखा जा सकता है । 'कैलासनाथ' मन्दिर इस कला के चरमोत्कर्ष का उदाहरण है । एक दशाब्दी पीछे का बना 'वैकुण्ठ पेरुमल' इस कला के सौष्ठव का सूचक है । उपर्युक्त दोनों मन्दिर पल्लव नृपों के शिल्पकला प्रेम के उत्कृष्ट उदाहरण हैं ।

काञ्चीपुराणम्—अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'काञ्ची अपार' एवं उनके गुरु 'शिवज्ञानयोगी' द्वारा काञ्चीवरम् में प्रचलित स्थानीय धार्मिक आख्यानों के सङ्कलन के रूप में 'काञ्चीपुराणम्' ग्रन्थ तमिल भाषा में रचा गया है ।

काठक—कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाओं में से एक शाखा का नाम । उपर्युक्त वेद की चार संहिताएँ ऐसी हैं, जिनमें ब्राह्मणभाग की सामग्री भी मिश्रित है । इनमें से एक 'काठक संहिता' भी है । तैत्तिरीय आरण्यक में अंशतः काठक ब्राह्मण सुरक्षित है ।

काठक गृह्यसूत्र—काठक गृह्यसूत्र कृष्ण यजुर्वेद शाखा का ग्रन्थ है एवं इस पर देवपाल की वृत्ति है । इसमें गृह्य संस्कारों और पाक यज्ञों का कृष्ण यजुर्वेद के अनुसार वर्णन पाया जाता है ।

काठक ब्राह्मण—कृष्ण यजुर्वेद की काठक शाखा का ब्राह्मण, जो सम्पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं है। इसका कुछ भाग तैत्तिरीय आरण्यक में उपलब्ध हुआ है।

काठक संहिता—कृष्ण यजुर्वेद की चार संहिताओं में से एक। इस वेद की संहिताओं एवं ब्राह्मणों का पृथक् विभाजन नहीं है। संहिताओं मे ब्राह्मणों की सामग्री भी भरी पड़ी है। इसके कृष्ण विशेषण का आशय यही है कि मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग का एक ही ग्रन्थ में मिश्रण हो जाने से दोनों का आपाततः पृथक् वर्गीकरण नहीं हो पाता। इस प्रकार शिष्यों को जो व्यामोह या अविवेक होता है वही इस वेद की 'कृष्णता' है।

काठकादिसंहिता—कृष्ण यजुर्वेद की काठकादि चारों संहिताओं का विभाग दूसरी संहिताओं से भिन्न है। इनमें पाँच भाग हैं, जिनमें से पहले तीन में चालीस स्थानक हैं। पाँचवें भाग में अश्वमेध यज्ञ का विवरण है।

काण्व—कात्यायन के वाजसनेय प्रातिशाख्य में जिन पूर्वाचार्यों की चर्चा है उनमें काण्व का भी नाम है। स्पष्टतः ये कण्व के वंशधर थे।

काण्वशाखा—शुक्ल यजुर्वेद की एक शाखा। इस शाखा के शतपथ ब्राह्मण में सत्रह काण्ड हैं। उसके पहले, पाँचवें और चौदहवें काण्ड के दो-दो भाग हैं। इस ब्राह्मण के एक सौ अध्याय हैं इसलिए यह 'शतपथ' कहलाता है। दे० 'शतपथ'।

कातन्त्रव्याकरण—वंग देश की ओर कलाप व्याकरण प्रसिद्ध है। इसे 'कातन्त्रव्याकरण' भी कहते हैं। उस प्रदेश में इसके आधार पर अनेक सुगम व्याकरण ग्रन्थ बनकर प्रचलित हो गये हैं। शर्ववर्मा नामक किसी कार्तिकेयभक्त विद्वान् ने इस ग्रन्थ की रचना की है।

कात्यायन—पाणिनिसूत्रों पर वार्तिक ग्रन्थ रचने वाले एक मुनि। इन्हें निरुक्तकार यास्क एवं महाभाष्यकार पतञ्जलि के मध्यकाल का माना जाता है। कात्यायन ने गायत्री, उष्णिक् आदि सात छन्दों के और भी भेद स्थिर किये हैं। इस छन्दःशास्त्र पर कात्यायनरचित सर्वानुक्रमणिका पठनीय है। कात्यायन वाजसनेय प्रातिशाख्य के रचयिता भी हैं। इसके अतिरिक्त कात्यायन मुनि ने कात्यायनश्रौतसूत्र एवं कात्यायनस्मृति नामक दो और ग्रन्थों की भी रचना की है। यह नहीं कहा जा सकता कि ये विभिन्न रचनाएँ एक ही ऋषिकृत हैं या अन्यान्य ऋषियों की। कात्यायन गोत्रनाम भी सम्भव है, इस प्रकार उक्त ग्रन्थकर्ता कात्यायन वंशपरम्परा मे अनेक हुए होंगे।

कात्यायनस्मृति—(१) हिन्दू विधि और व्यवहार के ऊपर कात्यायन एक प्रमुख प्रमाण और अधिकारी शास्त्रकार है। इनका सम्पूर्ण स्मृति ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। भाष्यों और निबन्धों (विश्वरूप से लेकर वीरमित्रोदय तक) में इनके उद्धरण पाये जाते हैं। शङ्ख-लिखित, याज्ञवल्क्य और पराशर ने भी कात्यायन को स्मृतिकार के रूप मे स्मरण किया है। कात्यायनस्मृति अपने विषय प्रतिपादन में नारद और बृहस्पति से मिलती-जुलती है। यथा नारद के समान कात्यायन भी 'वाद' के चार पाद—(१) धर्म, (२) व्यवहार, (३) चरित्र और (४) राजशासन मानते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि परवर्ती पाद पूर्ववर्ती का बाधक है (पराशरमाधवीय, खण्ड ३, भाग १, पृ० १६-१७; वीरमित्रोदय, व्यवहार, ९-१०, १२०-१२१)। कात्यायन ने स्त्रीधन के ऊपर विस्तार से विचार किया है और उसके विभिन्न प्रकारों की व्याख्या की है। प्रायः सभी निबन्धकारों ने स्त्रीधन पर कात्यायन को उद्धृत किया है। लगभग एक दर्जन निबन्धकारों ने कात्यायन के ९०० श्लोकों को उद्धृत किया है। इन उद्धरणों में कात्यायन ने बीसों बार भृगु का उल्लेख किया है, भृगु के विचार स्पष्टतः मनुस्मृति से मिलते-जुलते हैं।

नारद और बृहस्पति के समान ही व्यवहार पर कात्यायन के विचार विकसित हैं, कहीं-कहीं तो उनसे भी आगे। स्त्रीधन पर कात्यायन के विचार बहुत आगे हैं। कात्यायन ने व्यवहार, प्राड्विवाक, स्तोभक, धर्माधिकरण, तीरित, अनुशिष्ट, सामन्त आदि पदों की नयी परिभाषाएँ भी की हैं। कात्यायन ने पश्चात्कार और जयपत्र में भेद किया है; पश्चात्कार वादी के पक्ष में वह निर्णय है जो प्रतिवादी के घोर प्रतिवाद के पश्चात् दिया जाता है, जबकि जयपत्र प्रतिवादी की दोषस्वीकृति अथवा अन्य सरल आधारों पर दिया जाता है।

(२) जीवानन्द के स्मृतिसंग्रह (भाग १, पृ० ६०३-६४४) में कात्यायन नाम की एक स्मृति पायी जाती है। इसमें तीन प्रपाठक, उन्तीस खण्ड और लगभग ५०० श्लोक हैं। आनन्दाश्रम के स्मृतिसंग्रह में यही ग्रन्थ प्रकाशित है। इसको कात्यायन का 'कर्मप्रदीप' कहा गया

इससे बहुत सी धार्मिक क्रियाओं पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है । इसके मुख्य विषय हैं—

यज्ञोपवीत, आचमन, अङ्गस्पर्श, गणेशपूजा, चतुर्दश मातृपूजा, कुश, श्राद्ध, अग्निसंस्कार, अरणि, स्रुक्, स्रुव, स्नान, दन्तधावन, सन्ध्या, प्राणायाम, मन्त्रपाठ, तर्पण, पञ्चमहायज्ञ, अशौच, स्त्रीधर्म आदि । निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि व्यावहारिक (विधिक) और कर्मकाण्डीय कात्यायन दोनों एक ही व्यक्ति हैं । परन्तु यह सत्य है कि बहुत से भाष्यकार और निबन्धकार कर्मप्रदीप के अवतरण कात्यायन के नाम से उद्धृत करते हैं ।

कात्यायन का काल चतुर्थ और षष्ठ शती ई० के बीच रखा जा सकता है । कात्यायन मनु और याज्ञवल्क्य का अनुसरण करते हैं और नारद और बृहस्पति को प्रमाण मानते हैं । अतः कात्यायन इनके परवर्ती हुए । इसलिए तीसरी-चौथी शती के पश्चात् ही इनको रखा जा सकता है । विश्वरूप, मेधातिथि आदि निबन्धकार कात्यायन को उद्धृत करते हैं । जिससे लगता है कि उनके समय में कात्यायनस्मृति प्रसिद्ध और प्रचलित हो चुकी थी । इसलिए इन निबन्धकारों से २-३ सौ वर्ष पूर्व ही कात्यायन का काल माना जा सकता है ।

कात्यायनश्रौतसूत्र—शुक्ल यजुर्वेद के श्रौतसूत्रों में कात्यायनश्रौतसूत्र सबसे प्रसिद्ध है । इसके २६ अध्याय हैं । शतपथ ब्राह्मण के पहले नौ काण्डों में जिन सब क्रियाओं का विचार है, कात्यायनश्रौतसूत्र के पहले अठारह अध्यायों में भी उन्हीं सब क्रियाओं पर विचार किया गया है । उन्नीसवें अध्याय में सौत्रामणी, बीसवें में अश्वमेध, इक्कीसवें में पुरुषमेध, पितृमेध और सर्वमेध, बाईसवें, तेईसवें, और चौबीसवें अध्यायों में एकाह, अहीन और सत्र आदि याज्ञिक क्रियाएँ वर्णित हैं । पचीसवें अध्याय में प्रायश्चित्त पर और छब्बीसवें में प्रवर्ग पर विचार है ।

कात्यायनसूत्र के अनेक भाष्यकार एवं वृत्तिकार हुए हैं । उनमें से यशोगोपी, पितृभूति, कर्क, भर्तृयज्ञ, अनन्त, गङ्गाधर, गदाधर, गर्ग, पद्मनाभ, मिश्र अग्निहोत्री, याज्ञिक देव, श्रीधर, हरिहर और महादेव के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।

कात्यायनीव्रत—भागवत के दशम स्कन्ध के २२वें अध्याय में श्लोक १ से ७ तक इस व्रत का उल्लेख है । कथा यह है कि एक बार नन्दव्रज में कुमारियों ने मार्गशीर्ष मास भर भगवती कात्यायनी की प्रतिमा का पूजन इसलिए किया था कि उन्हें भगवान् कृष्ण पति के रूप में प्राप्त हों । इसलिए धार्मिक आदर्श पति प्राप्त करने के लिए कुमारियाँ और अन्य महिलाएँ भक्तिभाव से इस व्रत का अनुष्ठान करती हैं ।

कातीयगृह्यसूत्र—इसके रचयिता पारस्कर हैं और इसमें तीन काण्ड हैं । इसकी पद्धति वासुदेव ने लिखी है । उस पर जयराम की एक टीका है । शङ्कर गणपति की टीका (जिनका प्रसिद्ध नाम रामकृष्ण था) भी बहुत पाण्डित्यपूर्ण है । इसकी भूमिका बड़ी खोज से लिखी गयी है । इन्होंने काण्वशाखा को ही श्रेष्ठ ठहराया है । इनके अतिरिक्त चरक, गदाधर, जयराम, मुरारिमिश्र, रेणुकाचार्य, वागीश्वरीदत्त और वेदमिश्र आदि के भाष्यों का भी प्रचार है ।

कान्तारदीपदानविधि—आश्विन पूर्णिमा तक बलिदान के लिए प्रयुक्त होने वाले वृक्ष पर आठ दीपक प्रज्वलित करने चाहिए अथवा तीन रात्रियों (आश्विन अमावस्या और पूर्णिमा तथा कार्त्तिक पूर्णिमा) को अथवा केवल कार्तिक पूर्णिमा को ही । इसके देवता हैं धर्म, रुद्र तथा दामोदर । यह पूजाविधि प्रेतों तथा पितरों की तृप्ति के लिए है ।

कान्तिव्रत—कार्तिक शुक्ल द्वितीया को इसका अनुष्ठान होता है । एक वर्ष पर्यन्त इसका आचरण करना चाहिए । इसमें बलराम तथा केशव के पूजन का विधान है । साथ ही द्वितीया के चन्द्रमा की भी पूजा होती है । कार्तिक मास से चार मास तक तिल तथा घी से हवन करना चाहिए । वर्ष के अन्त में रजत से निर्मित चन्द्रमा का दान करना चाहिए ।

कान्यकुब्ज (कन्नौज)—इसे अश्वतीर्थ कहा जाता है और एक नाम 'कुशिकतीर्थ' भी है । महर्षि ऋचीक ने यहाँ के राजा गाधि की कन्या सत्यवती से विवाह किया था । गाधि ने पहले इनसे शुल्क रूप में एक सहस्र श्यामकर्ण अश्व माँगे, जो ऋषि ने वरुणदेव से कहकर यहीं प्रकट कर दिये । गाधि के पुत्र विश्वामित्र हुए और ऋचीक के पुत्र जमदग्नि ऋषि । जमदग्नि के पुत्र परशुराम थे । यहाँ गौरीशंकर, क्षेमकरी देवी, फूलमती देवी तथा सिंहवाहिनी देवी के मन्दिर हैं । पहले कन्नौज वैभवपूर्ण नगर रह चुका है । गङ्गा इसके पास बहती थी । किन्तु अब धारा चार मील दूर चली गयी है । कन्नौज में अब भी कुछ प्राचीन अवशेष रह गये हैं । यह स्थान कानपुर से पचास मील पर है ।

कान्यकुब्ज ब्राह्मण—भौगोलिक आधार पर ब्राह्मणों के दो बड़े विभाग हैं—पञ्चगौड (उत्तर भारत के) तथा पञ्चद्रविड (दक्षिण भारत के)। पञ्चगौड़ों की ही एक शाखा कान्यकुब्ज है। गौड़ों का उद्गमस्थल कुरुक्षेत्र है। इस प्राचीन गौड़भूमि के निवासी होने के कारण इस प्रदेश के ब्राह्मण गौड़ कहलाये। पञ्जाब और कश्मीर के ब्राह्मण सारस्वत हैं। प्रयाग के पास से कान्यकुब्ज तक फैले हुए ब्राह्मण कान्यकुब्ज कहलाये। कान्यकुब्जों में सरयूपारीण, जुझौतिया और बङ्गाली भी सम्मिलित हैं। पंच गौड़ों में मैथिल और उत्कल ब्राह्मण भी माने जाते हैं।

कापालिक—पाशुपत शैवों का एक सम्प्रदाय। इसका शाब्दिक अर्थ है 'कपाल (खोपड़ी) धारण करने वाला'। कपाल मृतक अथवा मृत्यु का प्रतीक है, जिसका सम्बन्ध शिव के विध्वंसक, घोर अथवा रौद्र रूप से है। कापालिकों का आचार-व्यवहार वाममार्गी शाक्तों से मिलता-जुलता है। इनकी संख्या कभी भी अधिक नहीं थी। वास्तव में एक संघटित सम्प्रदाय की अपेक्षा कुछ साधकों का ही यह एक समुदाय रहा है।

कापालिक मत के उद्गम के विषय में पुराणों में अद्भुत कथाएँ दी हुई हैं। इनमें से एक के अनुसार शिव ने ब्रह्मा का वध किया था। इसका प्रायश्चित्त करने के लिए उन्होंने कपाली व्रत धारण किया और ब्रह्मा का कपाल उनके हाथ में पड़ा रह गया। कपाली व्रत एक प्रकार का उन्मत्तव्रत था, जिसके द्वारा शिव ब्रह्महत्या से मुक्ति पा सके। ब्रह्माण्डपुराण तथा नीलमत-पुराण में इससे भिन्न शिवताण्डव की कथा दी हुई है। शिव का घोर ताण्डव संसार के विध्वंसक भीषण भार को स्वयं वहन करने के लिए है, जिससे विश्व इसकी विभीषिका से सुरक्षित रहे। कापालिक साधकों का भी यही उद्देश्य है। उनके घोर रूप के भीतर महती करुणा छिपी रहती है। परन्तु कभी-कभी पथभ्रष्ट कापालिक भ्रमवश शिव का अनुकरण करते हुए मानव-शिर काटने का अभिनय भी करते थे। ऐसी घटनाएँ कभी-कभी बीच में सुनाई पड़ती हैं। 'शंकरदिग्विजय' काव्य में आचार्य शंकर के साथ घटी एक ऐसी ही दुर्घटना का उल्लेख हैं। ये जटाजूट धारण करते हैं, जूट में नवचन्द्र की प्रतिमा प्रतिष्ठित रहती है, इनके हाथ में नरकपाल का कमण्डलु रहता है, ये कपालपात्र में मदिरा-मांस का भी सेवन करते हैं।

कापालिकों का प्राचीनतम उल्लेख महाभारत में पाया जाता है। परन्तु वहाँ शैव रूप में ही वे चित्रित है, बीभत्स रूप में नही। चालुक्य नागवर्धन (सातवीं शती) के कपालेश्वर मंदिर के अभिलेख में कापालिकों का वर्णन महाव्रती के रूप में मिलता है। इसके अनन्तर आठवीं शताब्दी के भवभूतिरचित 'मालतीमाधव' नाटक में कापालिक साधक अघोरघण्ट का उल्लेख आता है, जिसका सम्बन्ध श्रीशैल पर्वत (आन्ध्र) से था।

ग्यारहवीं शताब्दी के चन्देल राजाओं के राजपण्डित कृष्णमिश्र द्वारा रचित 'प्रबोधचन्द्रोदय' में भी कापालिकों की चर्चा है। इस ग्रन्थ के अनुसार कापालिकों का सम्बन्ध नरबलि, श्रीचक्र, योगसाधन तथा अनेक घोर असामाजिक क्रियाओं से था। योगदीपिका (१.८, ३.९६) में कापालिकों का उल्लेख मिलता है:

'निषेव्यते शीतलमद्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली।'

किसी समय कश्मीर में कापालिक-उत्सव मनाया जाता था। कृष्ण चतुर्दशी के दिन नृत्य, गीत, सामूहिक यौन-विहार के साथ यह उत्सव सम्पन्न होता था। आजकल यह सम्प्रदाय प्रायः लुप्त है।

कापाली—शिव का एक विरुद, क्योंकि वे अपने घोर वेश में नरकपाल धारण करते हैं। महाभारत (१३.१७.१०२) में कथन है:

अजैकपाच्च कापाली त्रिशङ्कुरजितः शिवः।

कापेय—'कपि' गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति। काठकसंहिता और पञ्चविंश ब्राह्मण में कापेयों को चित्ररथ का पुरोहित कहा गया है। दे० 'शौनक'।

कामतानाथ (कामदगिरि)—बाँदा जिले में चित्रकूट के अन्तर्गत सीताकुण्ड से डेढ़ मील दूर कामतानाथ या कामदगिरि नामक पहाड़ी, जो परम पवित्र मानी जाती है। इस पर ऊपर नही चढ़ा जाता, इस की परिक्रमा की जाती है। परिक्रमा तीन मील की है। रामचन्द्रजी ने बनवास काल में यहीं अधिक समय व्यतीत किया था।

कामधेनुतन्त्र—शाक्त साहित्य के अन्तर्गत 'कामधेनुतन्त्र' की रचना सोलहवीं शती में हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद मुनरो द्वारा हुआ है।

'कामधेनु' नामक एक व्याकरण ग्रन्थ भी किसी परवर्ती शाकटायन द्वारा लिखा बताया जाता है।

कामत्रिव्रत—इस व्रत में कुछ देवियों, यथा उमा, मेधा, भद्रकाली, कात्यायनी, अनसूया, वरुणपत्नी का पूजन होता है। इनके पूजन से मनोवांछित अभिलाषाओं की पूर्ति होती है।

कामदविधि—इस व्रत में मार्गशीर्ष मास के रविवार के दिन चन्दन से चर्चित करवीर पुष्पों से भगवान् सूर्य की पूजा करनी चाहिए।

कामदासप्तमी—फाल्गुन शुक्ल सप्तमी को इस व्रत का प्रारम्भ होता है। इसमें एक वर्ष पर्यन्त सूर्य का पूजन होना चाहिए। इसको चार-चार मास के वर्ष के तीन खण्ड करके फाल्गुन मास से प्रारम्भ किया जाता है। इसमें भिन्न-भिन्न फूलों, भिन्न-भिन्न धूप तथा भिन्न-भिन्न नैवेद्यों के अर्पण का विधान है।

कामदेवपूजा—चैत्र शुक्ल द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इस तिथि को भिन्न-भिन्न पुष्पों से कपड़े पर चित्रित कामदेव की पूजा होती है। यह चित्रफलक शीतल जल से परिपूर्ण तथा पुष्पों से युक्त कलश के सम्मुख रखा जाना चाहिए। इस दिन पतियों द्वारा अपनी पत्नियों का सम्मान वांछनीय है। दे० कृत्यकल्पतरु का नैत्यकालिक काण्ड, ३८४।

कामधेनुव्रत—कार्तिक कृष्ण एकादशी से प्रारम्भ होकर लगातार पाँच दिन यह व्रत चलता है। इस तिथि को श्री तथा विष्णु की पूजा होती है। रात्रि में दीपों को घर, गोशाला, चैत्य, देवालय, सड़क, श्मशान भूमि तथा सरोवर में प्रज्वलित करना चाहिए। एकादशी के दिन उपवास करना चाहिए तथा भगवान् विष्णु की प्रतिमा को गौ के घी या दूध में चार दिन स्नान कराना चाहिए। इसके पश्चात् कामधेनु का दान करना चाहिए। यह व्रत समस्त पापों के प्रायश्चित्तस्वरूप भी किया जाता है।

कामदेवत्रयोदशी (मदनत्रयोदशी)—चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को कामदेव त्रयोदशी कहते हैं। इस तिथि को कामदेव के प्रतीक स्वरूप दमनक वृक्ष की पूजा की जाती है। दे० 'अनङ्गत्रयोदशी'।

कामन्दकीय नीतिसार—राजनीति का प्रसिद्ध ग्रन्थ। इसके प्रणेता कामन्दक नाम से प्रसिद्ध हैं। ये कौटिल्यपरम्परा के अनुयायी हैं। इस ग्रन्थ में राजनीति के विविध विषयों पर अति सारगर्भित विवरण उपस्थित किया गया है। विशेष कर राजा के कर्त्तव्य (धर्म), राजकर्मचारियों का चुनाव एवं उनका धर्म, युद्धनीति, मण्डल-व्यवस्था एवं राज्य के सप्त अंगों का वर्णन अभिनव रूप में प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र का छन्दोबद्ध रूपान्तर है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। कामन्दक ने एक पण्डित की भाँति युग एवं आवश्यकता के अनुसार इसके रूप को छोटा कर दिया है एवं पद्यों में रचना कर कंठस्थ करने की सुविधा उपस्थित की है। इसमें कौटिल्य से भिन्न विचार भी हैं एवं अतिप्राचीन आचार्यों के मतों का भी उपयोग हुआ है। इसमें ग्रन्थकार की सबसे बड़ी विशेषता साहित्यिक प्रतिभा का चमत्कार है। उपमा आदि अलङ्कारों की सहायता से राजनीति के रूखे तथ्यों को अति रोचक एवं हृदयग्राही रूप दे दिया गया है। प्रजा द्वारा वर्णाश्रम-धर्म पालन कराना राजा का परम कर्तव्य है, इस सिद्धान्त पर कामन्दक ने बहुत बल दिया है।

काममहोत्सव—चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। त्रयोदशी की रात्रि के समय किसी उद्यान में रति तथा मदन की प्रतिमा की स्थापना करके चतुर्दशी को उनका पूजन किया जाता है। यह उत्सव शृंगारिक गीतों के साथ, कुछ वाद्य यन्त्रों के साथ गाते-बजाते हुए मनाना चाहिए। दूसरे दिन एक पहर तक मृत्तिका से खेलना चाहिए। शैव आगम में यही व्रत चैत्रावली तथा मदनभञ्जी भी कहलाता है। दे० कृत्यकल्पतरु का व्रतकाण्ड, १९०; 'चैत्रविहित अशोकाष्टमी'।

कामरूप—असम प्रदेश का प्राचीन नाम। इसके नामकरण का कारण इस प्रकार बताया गया है : "मूल प्रकृति भगवती कामरूपिणी सती (दक्षकन्या, शिवपत्नी) जिस देश में विराजमान हैं वह देश उनके नाम से प्रसिद्ध है।" यहाँ कामगिरि (गोहाटी के पास) के योनिपीठ में कामाख्या देवी का मन्दिर है। तन्त्रचूडामणि का कथन है :

योनिपीठं कामगिरौ कामाख्या तत्र देवता।
सर्वत्र विरला चाहं कामरूपे गृहे गृहे॥

[कामगिरि में योनिपीठ है। वहाँ कामाख्या नामक देवी है। सर्वत्र मैं विरला हूँ, किन्तु कामरूप में घर-घर।]

यह प्रदेश गणेशगिरि के शिखर पर स्थित है, ऐसा तन्त्रग्रन्थों में लिखा है :

कालेश्वरं श्वेतगिरिं त्रैपुरं नीलपर्वतम् ।
कामरूपाभिधो देशो गणेशगिरि मूर्द्धनि ॥

कामरूपी—इच्छानुकूल वेशधारी । अर्धदेवों में गन्धर्व एवं विद्याधरों का नाम आता है । विद्याधरों का विशेष गुण आकाश में उड़ना है, जिसके कारण इन्हें 'खेचर' (आकाश में चलने वाला) कहा जाता है । ये वेश बदलने अथवा मनोवांछित रूप धारण करने की विद्या (जादू) जानते हैं, जिसके कारण इन्हें कामरूपी कहते हैं ।

कामवन—जिसमें शिव पार्वती एकान्तवास करते हैं । इसे कुछ लोग काम्यकवन भी कहते हैं । शिव का शाप था कि जो कोई पुरुष इसमें प्रवेश करेगा वह तुरन्त स्त्री बन जायेगा । मनु का पुत्र इल भूल से इसमें प्रविष्ट होकर स्त्री इला बन गया था ।

व्रजमण्डल के भरतपुर जिले में भी कामवन है, जहाँ गोविन्ददेवजी के मन्दिर में वृन्दा देवी का महल है । यहाँ चौरासी तीर्थों की उपस्थिनि मानी जाती है ।

कामव्रत—(१) केवल महिलाओं के लिए इसका विधान है । यह कार्तिक में प्रारम्भ होकर एक वर्ष पर्यन्त चलता है । इसमें सूर्य का पूजन होता है । हेमाद्रि के अनुसार यह स्त्रीपुत्रकामावाप्ति-उत्सव है ।

(२) पौष शुक्ल त्रयोदशी को प्रारम्भ होकर तदनन्तर एक वर्ष तक इसका अनुष्ठान होता है । प्रत्येक त्रयोदशी को नक्त (रात्रिभोजन) करना चाहिए । चैत्र में सुवर्ण का अशोक वृक्ष तथा १० अंगुल लम्बा इक्षुदण्ड इस मन्त्र के साथ दान करना चाहिए : 'प्रद्युम्नः प्रसीदतु ।'

(३) किसी भी महीने की सप्तमी को यह व्रत किया जा सकता है । सुवर्चला (सूर्य की पत्नी) को इसमें पूजा होती है । मनोवांछित पदार्थों की इससे उपलब्धि होती है ।

(४) पौष शुक्ल पञ्चमी को यह व्रत प्रारम्भ होता है । इसमें कार्तिकेय के रूप में भगवान् विष्णु की पूजा होती है । पञ्चमी को नक्त करना चाहिए । षष्ठी के दिन केवल एक समय का आहार, सप्तमी को पारण । ऐसा एक वर्ष पर्यन्त करना चाहिए । स्वामी कार्तिकेय की सुवर्ण-प्रतिमा तथा दो वस्त्र दान में देने चाहिए । इससे मनुष्य जीवन में समस्त कामनाओं को प्राप्त करता है । हेमाद्रि (व्रतखण्ड) के अनुसार यह 'कामषष्ठी' व्रत है ।

कामाख्या देवी—कामाख्या शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गयी है : "जो भक्तों की कामना को पूर्ण करती है अथवा भक्त साधकों द्वारा जिसकी कामना की जाती है वह 'कामा' है । जिसका 'कामा' नाम है वह 'कामाख्या' है ।" कालिकापुराण (अ० ६१) में इसका विस्तृत वर्णन पाया जाता है ।

कामाख्या पीठ—यह भारत का प्रसिद्ध शक्तिपीठ तीर्थ असम प्रदेश में है । कामाख्या देवी का मन्दिर पहाड़ी पर है, अनुमानतः एक मील ऊँची इस पहाड़ी को 'नील पर्वत' भी कहते हैं । इस प्रदेश का प्रचलित नाम कामरूप है । तन्त्रों में लिखा है कि करतोया नदी से लेकर ब्रह्मपुत्र नद तक त्रिकोणाकार कामरूप प्रदेश माना गया है । किन्तु अब वह रूपरेखा नहीं है । इस देश में सौभारपीठ, श्रीपीठ, रत्नपीठ, विष्णुपीठ, रुद्रपीठ तथा ब्रह्मपीठ आदि कई सिद्धपीठ हैं, 'कामाख्यापीठ' सबसे प्रधान है । देवी का मन्दिर कूचविहार के राजा विश्वसिंह और शिवसिंह का बनवाया हुआ है । इसके पहले के मन्दिर को बंगाली आक्रामक काला पहाड़ ने तोड़ डाला था । सन् १५६४ ई० तक प्राचीन मन्दिर का नाम 'आनन्दाख्या' था, जो वर्तमान मन्दिर से कुछ दूरी पर है । पास में छोटा सा सरोवर है ।

देवीभागवत (७ स्कन्ध, अ० ३८) में कामाख्या देवी के माहात्म्य का वर्णन है । इसका दर्शन, भजन, पाठ-पूजा करने से सर्व विघ्नों की शान्ति होती है । पहाड़ी से उतरने पर गोहाटी के सामने ब्रह्मपुत्र नदी के मध्य में उमानन्द नामक छोटे चट्टानी टापू में शिवमन्दिर है । आनन्दमूर्ति को भैरव (कामाख्यारक्षक) कहते हैं । कामाख्यापीठ के सम्बन्ध में कालिकापुराण (अ० ६१) में निम्नांकित वर्णन पाया जाता है :

"शिव ने कहा, प्राणियों की सृष्टि के पश्चात् बहुत समय व्यतीत होने पर मैंने दक्षतनया सती को भार्यारूप में ग्रहण किया, जो स्त्रियों में श्रेष्ठ थी । वह मेरी अत्यन्त प्रेयसी भार्या हुई ।.....अपने पिता द्वारा यज्ञ के अवसर पर मेरा अपमान देखकर उसने प्राण त्याग किया । मैं मोह से व्याकुल हो उठा और सती के मृत शरीर को कन्धे पर रखकर समस्त चराचर जगत् में भ्रमण करता रहा । इधर-उधर घूमते हुए इस श्रेष्ठ पीठ (तीर्थस्थल) को प्राप्त हुआ । पर्याय से जिन-जिन स्थानों पर सती के अंगों का पतन हुआ, योगनिद्रा (मेरी शक्ति = सती) के प्रभाव से वे पुण्यतम स्थल बन गये । इस कुब्जिकापीठ (कामाख्या)

में सती के योनिमण्डल का पतन हुआ। यहाँ महामाया देवी विलीन हुई। मुझ पर्वत रूपी शिव में देवी के विलीन होने से इस पर्वत का नाम नीलवर्ण हुआ। यह महातुङ्ग (ऊँचा) पर्वत पाताल के तल में प्रवेश कर गया···।"

इस तीर्थस्थल के मन्दिर में शक्ति की पूजा योनिरूप में होती है। यहाँ कोई देवीमूर्ति नहीं है। योनि के आकार का शिलाखण्ड है, जिसके ऊपर लाल रंग की गेरू के घोल की धारा गिरायी जाती है और वह रक्तवर्ण के वस्त्र से ढका रहता है। इस पीठ के सम्मुख पशुबलि भी होती है।

कामावासिव्रत—कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को यह व्रत किया जाता है। इस तिथि में महाकाल (शिव) का पूजन समस्त मनोवाञ्छाओं को पूरा करता है।

कामिकागम—शैव आगमों में सबसे पहला आगम 'कामिक' है। इसमें समस्त शैव पूजा पद्धतियों का विस्तृत वर्णन है।

कामिकाव्रत—मार्गशीर्ष कृष्ण द्वितीया को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इस तिथि को सुवर्ण अथवा रजत-प्रतिमा का, जिस पर चक्र अंकित हो, पूजन करना चाहिए। पूजन करने के पश्चात् उसे दान कर देना चाहिए।

काम्पिल—यह स्थान बदायूँ जिले में है। पूर्वोत्तर रेलवे की आगरा-कानपुर लाइन पर कायमगंज रेलवे स्टेशन है। कायमगंज से छः मील दूर काम्पिल तक पक्की सड़क जाती है। किसी समय काम्पिल (ल्य) महानगर था। यहाँ रामेश्वरनाथ और कालेश्वरनाथ महादेव के प्रसिद्ध मन्दिर हैं और कपिल मुनि की कुटी है।

जैनों के अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर का समवशरण भी यहाँ आया था। यहाँ प्राचीन जैनमन्दिर है, जिसमें विमलनाथजी की तीन प्रतिमाएँ हैं। एक जैनधर्मशाला है। चैत्र और आश्विन में यहाँ मेला लगता है।

काम्पील—यजुर्वेदसंहिता के एक मन्त्र में 'काम्पीलवासिनी' सम्भवतः राजा की प्रधान रानी को कहा गया है, जिसका कर्तव्य अश्वमेध यज्ञ के समय मेधित पशु के पास सोना था। बिल्कुल ठीक अर्थ अनिश्चित है। वेबर एवं जिमर दोनों काम्पील एक नगर का नाम बतलाते हैं, जो परवर्ती साहित्य में काम्पिल्य कहलाया एवं जो मध्यदेश (आज के उत्तर प्रदेश) में दक्षिण पञ्चाल की राजधानी था।

काम्यकतीर्थ या काम्यक वन—कुरुक्षेत्र के सात पवित्र वनों में से एक। यह सरस्वती के तट पर स्थित है। यहीं पर पाण्डवों ने अपने प्रवास के कुछ दिन बिताये थे। यहाँ वे द्वैतवन से गये थे। ज्योतिसर से पेहवा जाने वाली सड़क के दक्षिण में लगभग ढाई मील पर कमोधा ग्राम है। काम्यक का अपभ्रंश ही कमोधा है। यहाँ ग्राम के पश्चिम में काम्यक तीर्थ है। सरोवर के एक ओर प्राचीन पक्का घाट है तथा भगवान् शिव का मन्दिर है। चैत्र शुक्ल सप्तमी को प्रति वर्ष यहाँ मेला लगता है।

कायव्यूह—योगदर्शन में अनेक शारीरिक क्रियाओं द्वारा मन को केन्द्रित करने का निर्देश है। जब योगशास्त्र से तन्त्रशास्त्र का मेल हो गया तो इस 'कायव्यूह' (शारीरिक यौगिक क्रियाओं) का और भी विस्तार हुआ, जिसके अनुसार शरीर में अनेक प्रकार के चक्र आदि कल्पित किये गये। क्रियाओं का भी अधिक विस्तार हुआ और हठयोग की एक स्वतन्त्र शाखा विकसित हुई, जिसमें नेति, धौति, वस्ति आदि षट्कर्म तथा नाडीशोधन आदि के साधन बतलाये गये हैं।

काया (गोरखपंथ के मत से)—गोरखनाथ पंथी का साधक काया को परमात्मा का आवास मानकर उसकी उपयुक्त साधना करता है। काया उसके लिए वह यन्त्र है, जिसके द्वारा वह इसी जीवन में मोक्षानुभूति कर लेता है; जन्म-मरण-जीवन पर पूरा अधिकार कर लेता है; जरा, मरण, व्याधि और काल पर विजय पा जाता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह पहले कायाशोधन करता है। इसके लिए वह यम, नियम के साथ हठयोग के षट्कर्म (नेति, धौति, वस्ति, नौलि, कपालभाति और त्राटक) करता है जिससे काया शुद्ध हो जाय। हठयोग पर घेरण्ड ऋषि की लिखी 'घेरण्डसंहिता' एक प्राचीन ग्रन्थ है और परम्परा से इसकी शिक्षा बराबर चली आयी है। नाथपन्थियों ने उसी प्राचीन सात्त्विक प्रणाली का उद्धार किया है।

कायारोहण—लाट (गुर्जर) प्रान्त में एक स्थानविशेष है। वायुपुराण के एक परिच्छेद में लकुलीश उपसम्प्रदाय (पाशुपत सम्प्रदाय के एक अङ्ग) के वर्णन में उद्धृत है कि शिव प्रत्येक युग में अवतरित होंगे और उनका अन्तिम अवतार तब होगा जब कृष्ण वासुदेव रूप में अवतरित

होंगे। शिव योगशक्ति से कायारोहण स्थान पर एक मृतक शरीर में, जो वहाँ अरक्षित पड़ा होगा, प्रवेश करेंगे तथा लकुलीश नामक संन्यासी के रूप में प्रकट होंगे। कुशिक, गार्ग्य, मित्र एवं कौरुश्य उनके शिष्य होंगे जो शरीर पर भस्म मलकर पाशुपत योग का अभ्यास करेंगे।

उदयपुर से १४ मील दूर स्थित एकलिङ्गजी के एक पुराने मन्दिर के लेख से इस बात की पुष्टि होती है कि भगवान् शिव भड़ौंच प्रान्त में कायारोहण स्थान पर अवतरित हुए एवं अपने हाथ में एक लकुल धारण किये हुए थे। चित्रप्रशस्ति में भी उपर्युक्त कथानक प्राप्त होता है कि शिव पाशुपत धर्म के कड़े नियमों के पालनार्थ लाट प्रान्त के करोहन (सं० कायारोहण) में अवतरित हुए। यह स्थान गुजरात में आजकल 'करजण' (कायारोहण का विकृत रूप) कहलाता है। यहाँ अब भी लकुलीश का एक मन्दिर है, जिसमें उनकी प्रतिमा स्थापित है।

कार्तिक—यह बड़ा पवित्र मास माना जाता है। यह समस्त तीर्थों तथा धार्मिक कृत्यों से भी पवित्रतर है। इसके माहात्म्य के लिए देखिए स्कन्द पुराण के वैष्णव खण्ड का नवम अध्याय; नारदपुराण (उत्तरार्द्ध), अध्याय २२; पद्मपुराण, ४.९२।

कार्तिकस्नानव्रत—सम्पूर्ण कार्तिक मास में गृह से बाहर किसी नदी अथवा सरोवर में स्नान करना चाहिए। गायत्री मन्त्र का जप करते हुए हविष्यान्न केवल एक बार ग्रहण करना चाहिए। व्रती इस व्रत के आचरण से वर्ष भर के समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। दे० विष्णुधर्मोत्तर, ८१,१-४; कृत्यकल्पतरु, ४१८ द्वारा उद्धृत; हेमाद्रि, २.७६२।

कार्तिक मास में समस्त त्यागने योग्य वस्तुओं में मांस विशेष रूप से त्याज्य है। श्रीदत्त के समयप्रदीप (४६) तथा कृत्यरत्नाकर (पृ० ३९७-३९९) में उद्धृत महाभारत के अनुसार कार्तिक मास में मांसभक्षण, विशेष रूप से शुक्ल पक्ष में, त्याग देने से इसका पुण्य शत वर्ष तक के तपों के बराबर हो जाता है। साथ ही यह भी कहा गया है कि भारत के समस्त महान् राजा, जिनमें ययाति, राम तथा नल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, कार्तिक मास में मांस भक्षण नहीं करते थे। इसी कारण उनको स्वर्ग की प्राप्ति हुई। नारदपुराण (उत्तरार्द्ध, २१-५८) के अनुसार कार्तिक मास में मांस खानेवाला चाण्डाल हो जाता है। दे० 'बकपञ्चक'।

शिव, चण्डी, सूर्य तथा अन्यान्य देवों के मन्दिरों में कार्तिक मास में दीप जलाने तथा प्रकाश करने की बड़ी प्रशंसा की गयी है। समस्त कार्तिक मास में भगवान् केशव का मुनि (अगस्त्य) पुष्पों से पूजन किया जाना चाहिए। ऐसा करने से अश्वमेध यज्ञ का पुण्य प्राप्त होता है। दे० तिथितत्त्व १४७।

कार्तिकपूर्णिमा—यह शरद ऋतु की अन्तिम तिथि है जो बहुत पवित्र और पुण्यदायिनी मानी जाती है। इस अवसर पर कई स्थानों पर मेले लगते हैं। सोनपुर में हरिहरक्षेत्र का मेला तथा गढ़मुक्तेश्वर (मेरठ), बटेश्वर (आगरा), पुष्कर (अजमेर) आदि के विशाल मेले इसी पर्व पर [illegible] हैं। व्रजमण्डल और कृष्णोपासना से प्रभावित अन्य प्रदेशों में इस समय रासलीला होती है।

इस तिथि पर किसी को भी बिना स्नान और दान के नहीं रहना चाहिए। स्नान पवित्र स्थान एवं पवित्र नदियों में एवं दान अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिए। न केवल ब्राह्मण को अपितु निर्धन सम्बन्धियों, बहिन, बहिन के पुत्रों, पिता की बहिनों के पुत्रों, फूफा आदि को भी दान देना चाहिए। पुष्कर, कुरुक्षेत्र तथा [illegible] के तीर्थस्थान इस कार्तिकी स्नान और दान के लिए आत महत्त्वपूर्ण हैं।

कार्तिकेयव्रत—षष्ठी को इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है। स्वामी कार्तिकेय इसके देवता हैं। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, १.६०५, ६०६; व्रतकालविवेक, पृष्ठ २४।

कार्तिकेयषष्ठी—मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इस दिन सुवर्णमयी, रजतमयी, काष्ठमयी अथवा मृन्मयी कार्तिकेय की प्रतिमा का पूजन होता है। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, १.५९६—६००।

कार्ष्णाजिनि—आचार्य कार्ष्णाजिनि के नाम का उल्लेख ब्रह्मसूत्र (३.१.९) और मीमांसासूत्र (४.३.१७; ६.७.३५) दोनों में हुआ है। ये भी व्यासदेव और जैमिनि के पूर्व-[illegible] आचार्य हैं। इनका उल्लेख व्यासदेव ने अपने मत [illegible]र्थन में और जैमिनि ने इनका खण्डन करने के लिए किया है। इससे मालूम होता है कि ये वेदान्त के ही

आचार्य थे। ये प्रायः बादरि के मत के समर्थक प्रतीत होते हैं।

कारिका—स्मरणीय छन्दोबद्ध पद्यों के संकलन को कारिका कहते हैं। हिन्दू दार्शनिकों ने अपने दर्शन के सारविषय को या तो सूत्रों के रूप में या कारिका के रूप में अपने अनुगामियों के लाभार्थ प्रस्तुत किया, ताकि वे इसे कंठस्थ कर लें। उनके अनुगामियों ने उन सूत्रों या कारिकाओं के ऊपर भाष्य आदि लिखे। उदाहरण के लिए सांख्य-दर्शन पर ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसका अनुवाद अति प्राचीन काल में चीनी भाषा में उस देश की राजाज्ञा से हुआ था।

कारिकावाक्यप्रदीप—पाणिनि पर अवलम्बित अनेक व्याकरणसिद्धान्त ग्रन्थों में एक कारिकावाक्यप्रदीप है। इससे सम्बन्धित चार अन्य टीकाग्रन्थ—व्याकरण-भूषण, भूषणसारदर्पण, व्याकरणभूषणसार एवं व्याकरण-सिद्धान्तमञ्जूषा हैं। 'वाक्यप्रदीप' व्याकरण का दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें भी कारिकाएँ हैं।

कारिणनाथ—नाथ सम्प्रदाय में नौ नाथ मुख्य कहे गये हैं; गोरखनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, कारिणनाथ आदि। कारिणनाथ उनमें तीसरे हैं। गोरखपंथी कनफट्टा योगियों के अन्तर्गत कारिणनाथ के विचारों का समावेश होता है।

कारुणिकसिद्धान्त—कारुणिक सिद्धान्त को 'कालमुख शैव सिद्धान्त' भी कहते हैं। महीशूर (कर्नाटक) के समीप 'दक्षिण केदारेश्वर' का मन्दिर प्रसिद्ध है। वहाँ की गुरु-परम्परा में श्रीकण्ठाचार्य वेदान्त के भाष्यकार हुए हैं। वे आचार्य रामानुज की तरह विशिष्टाद्वैतवादी थे और कालमुख शैव 'लकुलागम समय' सम्प्रदाय के अनुयायी थे। श्रीकण्ठ शिवाचार्य ने वायवीय संहिता के आधार पर सिद्ध किया है कि भगवान् महेश्वर अपने को उमा शक्ति से विशिष्ट कर लेते हैं। इस शक्ति में जीव और जगत्, चित् और अचित्, दोनों का बीज वर्तमान रहता है। उसी शक्ति से भगवान् महेश्वर चराचर की सृष्टि करते हैं। इसी सिद्धान्त को 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' कहते हैं, यही कारुणिक सिद्धान्त भी कहलाता है। वीर-शैव अथवा लिङ्गायत इस शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को भी अपनाते हैं। दक्षिण का लकुलीश सम्प्रदाय भी प्राचीन और नवीन दो रूपों में बँटा हुआ है और कदाचित् इस सम्प्रदाय के अनुयायी कालमुख अथवा कारुणिक सिद्धान्त को मानते हैं।

कारोहन—दे० 'कायारोहण'।

काल—वैशेषिक दर्शन के अनुसार कुल नौ द्रव्य हैं। इनमें छठा द्रव्य 'काल' है। यह सभी क्रिया, गति एवं परिवर्तन को उत्पन्न करनेवाली शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है और इस प्रकार दो समयों के अन्तर को प्रकट करने का आधार है। सातवाँ द्रव्य दिक् (दिशा) काल को सन्तुलित करता है। तन्त्रमत से अन्तरिक्ष में काल की अवस्थिति है और इस काल से ही जरा की उत्पत्ति होती है। भाषापरिच्छेद के अनुसार काल के पाँच गुण हैं—१. संख्या, २. परिमाण, ३. पृथक्त्व, ४. संयोग, ५. विभाग।

विष्णुपुराण (१.२.१४) में काल को परब्रह्म का रूप माना गया है :

परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज।
व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम्॥

तिथ्यादितत्त्व में काल की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है :

अनादिनिधनः कालो रुद्रः संकर्षणः स्मृतः।
कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः॥

[काल आदि और निधन (विनाश) रहित, रुद्र और संकर्षण कहा गया है। समस्त भूतों की कलना (गणना) करने के कारण यह काल ऐसा प्रसिद्ध है।]

हारीत (प्रथम स्थान, अ० ४) के द्वारा काल का विस्तृत वर्णन किया गया है :

कालस्तु त्रिविधो ज्ञेयोऽतीतोऽनागत एव च।
वर्तमानस्तृतीयस्तु वक्ष्यामि शृणु लक्षणम्॥
कालः कलयते लोकं कालः कलयते जगत्।
कालः कलयते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते॥
कालस्य वशगाः सर्वे देवर्षिसिद्धकिन्नराः।
कालो हि भगवान् देवः स साक्षात्परमेश्वरः॥
सर्गपालनसंहर्ता स कालः सर्वतः समः।
कालेन कल्प्यते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते॥
येनोत्पत्तिश्च जायेत येन वै कल्प्यते कला।
सोऽन्तवच्च भवेत्कालो जगदुत्पत्तिकारकः॥
यः कर्माणि प्रपश्येत प्रकर्षे वर्तमानके।
सोऽपि प्रवर्तको ज्ञेयः कालः स्यात् प्रतिपालकः॥

येन मृत्युवशं याति कृतं येन जयं व्रजेत् ।
संहर्ता सोऽपि विज्ञेयः कालः स्यात् कलनापरः ।।
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः स्वपिति जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।।

[काल तीन प्रकार का जानना चाहिए; अतीत (भूत), अनागत (भविष्य) और वर्तमान । इसका लक्षण कहता हूँ, सुनो । काल लोक की गणना करता है, काल जगत् की गणना करता है, काल विश्व की गणना करता है, इसलिए यह काल कहलाता है । सभी देव, ऋषि, सिद्ध और किन्नर काल के वश हैं । काल स्वयं ही भगवान् देव है; वह साक्षात् परमेश्वर है । वह सृष्टि, पालन और संहार करनेवाला है । वह काल सर्वत्र समान है । काल से ही विश्व की कल्पना होती है, इसलिए वह काल कहलाता है । जिससे उत्पत्ति होती है, जिससे कला की कल्पना होती है, वही जगत् की उत्पत्ति करनेवाला काल जगत् का अन्त करनेवाला भी होता है । जो सभी कर्मों को बढ़ते हुए और होते हुए देखता है, उसी काल को प्रवर्तक जानना चाहिए । वही प्रतिपालक भी होता है । जिसके द्वारा किया हुआ विनाश को प्राप्त होता है, अथवा जय को प्राप्त होता है, वही काल संहर्ता और कलना में संलग्न है । काल ही सम्पूर्ण भूतों को उत्पन्न करता है, काल ही प्रजा का संहार करता है, काल ही सोता और जागता है । काल दुरतिक्रम है अर्थात् उसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता ।]

भागवत पुराण (९.९.२) में काल मृत्यु का पर्याय माना गया है । मेदिनीकोश में काल को ही महाकाल कहा गया है और दीपिका में शनि ।

कालका—(१) कालकेय नामक असुरगण की माता । भागवत पुराण (६.६.३२) के अनुसार यह वैश्वानर की कन्या है :

वैश्वानरसुता याश्च चतस्रश्चारुदर्शनाः ।
उपदानवी हयशिरा पुलोमा कालका तथा ।।

यजुर्वेदसंहिता के अनुसार कालका अश्वमेध यज्ञ का बलिपशु कहा गया है, जिसे अधिकांश उद्धरणों में एक प्रकार का पक्षी समझा जाता है ।

(२) अम्बाला (पंजाब) से ४० मील दूर कालका स्टेशन है । यहीं कालका देवी का मन्दिर है परम्परा के अनुसार पार्वती के शरीर से कौशिकी देवी के प्रकट हो जाने पर पार्वती का शरीर श्यामवर्ण हो गया, तब वे उस स्थान से आकर कालका में स्थित हुईं ।

कालक्षेपम्—मराठा भक्तों की 'हरिकथा' नामक एक संस्था है, जिसमें वक्ता गीतों में उपदेश देता है तथा बीच-बीच में 'जय राम कृष्ण हरि' का उच्च स्वर से कीर्तन करता है । इसके साथ वह अनेक श्लोक पढ़ता हुआ उनकी व्याख्या करता है । यही गीत एवं गद्य भाषण की उपदेश प्रणाली पूरे दक्षिण भारत में है । वहाँ गायक को भागवत तथा उसके गीतबद्ध उपदेश को 'कालक्षेपम्' कहते हैं । इसका शाब्दिक अर्थ है 'भगवन्नाम-कीर्तन में काल (समय) बिताना ।'

कालज्ञानतन्त्र—एक तन्त्र ग्रन्थ । शाक्त साहित्य से सम्बन्धित इस तन्त्र की रचना आठवीं शती में हुई । स्वर्गीय म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने इसका विस्तृत विश्लेषण किया है ।

कालपी—झाँसी से ९२ मील दूर कालपी नगर यमुना के दक्षिण तट पर स्थित है । कालपी में जौंधर नाला के पास वेदव्यास ऋषि का जन्मस्मारक व्यासटीला है । इसके पास ही नृसिंहटीला है । यहाँ के निवासियों का विश्वास है कि प्रलयकाल आने पर जौंधर नाले से मोटी जलधारा निकल कर विश्व को जलमग्न कर देगी । यहीं कालप्रिय (कालपी) नाथ का स्थान है जो तीर्थरूप में प्रसिद्ध है ।

कालभैरवाष्टमी—मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमी को कालभैरवाष्टमी कहते हैं । इस तिथि के कालभैरव देवता हैं, जिनका पूजन, दर्शन इस दिन करना चाहिए । दे० व्रतकोश, ३१६-३१७; वर्षकृत्यदीपक, १०६ ।

कालमाधव—माधवाचार्य रचित एक धर्मशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ । इसका दूसरा नाम 'कालनिर्णय' है । इस पर मिश्र-मोहन तर्कतिलक की एक टीका भी है जो सं० १६७० में लिखी गयी थी । इसकी कई व्याख्याएँ उपलब्ध हैं । इनमें नारायण भट्ट का कालनिर्णयसंग्रह श्लोकविवरण, मथुरानाथ की कालमाधव चन्द्रिका, रामचन्द्राचार्य की दीपिका, लक्ष्मीदेवी की लक्ष्मी (भाष्य) आदि प्रसिद्ध हैं ।

कालमुखशाखा—दे० 'कारुणिक सिद्धान्त' ।

कालरात्रिव्रत—आश्विन शुक्ल अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है । लगभग सभी वर्णों के लिए दिन, तीन दिन अथवा शरीर की शक्ति के अनुसार केवल एक दिन का उपवास विहित है । पहले श्री गणेश, मातृदेवों, स्कन्द तथा शिवजी का पूजन होता है, तद-

नन्तर एक शैव ब्राह्मण अथवा मग ब्राह्मण या किसी पारसी द्वारा हवनकुण्ड में हवन कराना चाहिए। आठ कन्याओं को भोजन कराने तथा आठ ही ब्राह्मणों को निमन्त्रित करने का विधान है। दे० हेमाद्रि, व्रतखण्ड, २.३२६-३३२ (कालिका पुराण से)।

कालाग्नि—काल का वह स्वरूप, जो प्रलय के समय समस्त सृष्टि का विनाश करता है। यह 'प्रलयाग्नि' भी कहलाता है। महाभारत (१.५४.२५) में कथन है :

ब्रह्मदण्डं महाघोरं कालाग्निसमतेजसम्।
नाशयिष्यामि मात्र त्वं भयं कार्षीः कथञ्चन॥

पञ्चमुख रुद्राक्ष का नाम भी कालाग्नि है। स्कन्दपुराण में उल्लेख है :

पञ्चवक्त्रः स्वयं रुद्रः कालाग्निर्नाम नामतः।
अगम्यागमनाच्चैव अभक्ष्यस्य च भक्षणात्॥
मुच्यते सर्वपापेभ्यः पञ्चवक्त्रस्य धारणात्।

कालाग्निरुद्र—जगत् का संहार करनेवाले कालाग्नि के अधिष्ठातृदेव। देवीपुराण में कालाग्निरुद्र का वर्णन पाया जाता है :

कालाग्निरुद्ररूपो यो बहुरूपसमावृतः॥
अनन्तपद्मरूपश्च धाता यः कारणेश्वरः।
दारुणाग्निश्च रुद्रश्च यमहन्ता क्षमान्तकः॥
लोहितः क्रूरतेजात्मा घनो वृष्टिर्बलाहकः।
विद्युतश्चलशीलश्च प्रसन्नः शान्तसौम्यदृक्॥
सर्वज्ञो विविधो बुद्धो द्युतिमान् दीप्तिसुप्रभः।
एते रुद्रा महात्मानः कालिकाशक्तिवृंहिताः॥
संहरन्ति समन्तेदं ब्रह्माद्यं सचराचरम्।

कालाग्निरुद्रोपनिषद्—एक शैव सांप्रदायिक उपनिषद्, जिसमें त्रिपुण्ड्र धारण और रहस्यमय ढंग से ध्यान करने का विवरण प्राप्त होता है।

कालाष्टमीव्रत—मृगशिरा नक्षत्र युक्त भाद्रपद की अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। एक वर्ष पर्यन्त यह क्रम चलना चाहिए। मान्यता है कि इस दिन शिवजी विना नन्दीगण अथवा गणेश के अपने मन्दिर में विराजते हैं। व्रती विभिन्न वस्तुओं से शिवजी को स्नान कराता है, भिन्न-भिन्न पुष्प समर्पित करता है तथा प्रत्येक महीने में पृथक्-पृथक् नामों से पूजन करता है।

कालिका—काले (कृष्ण) वर्णवाली। यह चण्डिका का ही एक रूप है। इसके नामकरण तथा स्वरूप का वर्णन कालिकापुराण (उत्तरतन्त्र, अ० ६०) में निम्नांकित प्रकार से पाया जाता है :

सर्वे सुरगणाः सेन्द्रास्ततो गत्वा हिमाचलम्।
गङ्गावतारनिकटे महामायां प्रतुष्टुवुः॥
अनेकैः संस्तुता देवी तदा सर्वामरोत्करैः।
मातङ्गवनितामूर्तिर्भूत्वा देवानपृच्छत॥
युष्माभिरमरैरत्र स्तूयते का च भाविनी।
किमर्थमागता यूयं मातङ्गस्याश्रमं प्रति॥
एवं ब्रुवन्त्या मातङ्ग्यास्तस्यास्तु कायकोषतः।
समुद्भूताब्रवीद्देवी मां स्तुवन्ति सुरा इति॥
शुम्भो निशुम्भो ह्यसुरौ बाधेते सकलान् सुरान्।
तस्मात्तयोर्वधायाहं स्तूयेऽद्य सकलैः सुरैः॥
विनिःसृतायां देव्यान्तु मातङ्ग्याः कायतस्तदा।
भिन्नाञ्जननिभा कृष्णा साभूद् गौरी क्षणादपि॥
कालिकाख्याऽभवत्सापि हिमाचलकृताश्रया।
तामुग्रतारां ऋषयो वदन्तीह मनीषिणः॥
उग्रादपि भयात्त्राति यस्माद् भक्तान् सदाम्बिका॥

[इन्द्र के साथ सभी देवतागण हिमालय में गङ्गावतरण के पास महामाया को प्रसन्न करने लगे। उनके द्वारा स्तुति किये जाने पर देवी ने मातङ्गवनिता की मूर्ति धारण करके देवताओं से पूछा, "तुम अमरों द्वारा किस भाविनी की स्तुति की जा रही है? किस प्रयोजन के लिए तुम लोग मातङ्ग-आश्रम में आये हो?" ऐसा बोलती हुई उस मातङ्गी के शरीर से एक देवी उत्पन्न हुई। उसने कहा, "देवगण मेरी स्तुति कर रहे हैं। शुम्भ और निशुम्भ नामक दो असुर सभी देवताओं को पीड़ित कर रहे हैं। इसलिए उनके वध के लिए समस्त देवताओं द्वारा मेरी स्तुति हो रही है।" मातङ्गी की काया से उसके निकल जाने पर वह घोर काजल सदृश कृष्णा (काली) हो गयी। वही कालिका कहलायी, जो हिमालय के आश्रय में रहने लगी। उसी को ऋषि लोग उग्रतारा कहते हैं। क्योंकि वह उग्र भय से भक्तों का सदा त्राण करती है।]

कालिका उपपुराण—उन्तीस उपपुराणों में से एक। इसमें देवी दुर्गा की महिमा तथा शाक्तमत का प्रतिपादन किया गया है।

कालिकापुराण—कालिकापुराण को ही 'कालिकातन्त्र' भी कहते हैं। यह बंगाल में प्रचलित शाक्तमत का नियामक ग्रन्थ है। इसमें चण्डिका को पशु अथवा मनुष्य की

बलि देने का निर्देश भी है। बलिपशुओं की तालिका बहुत बड़ी है। वे हैं—पक्षी, कच्छप, घड़ियाल, मत्स्य, वन्य पशुओं के नौ प्रकार, भैंसा, बकरा, जंगली सूअर, गैंडा, काला हिरन, बारहसिंगा, सिंह एवं व्याघ्र इत्यादि। भक्त अथवा साधक अपने शरीर के रक्त का भी अर्पण कर सकता है। रक्तबलि का प्रचार क्रमशः कम होने से यह पुराण भी आजकल बहुत लोकप्रिय नहीं है।

कालिंजर (कालञ्जर)—बुन्देलखण्ड में स्थित एक प्रसिद्ध शैव तीर्थ। मानिकपुर-झाँसी रेलवे लाइन पर करवी से बीस मील आगे बटौसा स्टेशन है। यहाँ से अठारह मील दूर पहाड़ी पर कालिंजर का दुर्ग है। यहाँ नीलकंठ का मंदिर है। यह पुराना शाक्तपीठ है। महाभारत के वनपर्व, वायुपुराण (अ० ७७) और वामनपुराण (अ० ८४) में इसका उल्लेख पाया जाता है। चन्देल राजाओं के समय में उनकी तीन राजधानियों—खर्जूरवाह (खजुराहो), कालञ्जर और महोदधि (महोबा)—में से यह भी एक था। आइने-अकबरी (भाग २, पृ० १५९) में इसको गगनचुम्बी पर्वत पर स्थित प्रस्तरदुर्ग कहा गया है। यहाँ पर कई मन्दिर हैं। एक में प्रसिद्ध कालभैरव की १८ बालिश्त ऊँची मूर्त्ति है। इसके सम्बन्ध में बहुत सी आश्चर्यजनक कहानियाँ प्रचलित हैं। कई झरने और सरोवर भी बने हुए हैं।

काली—शाक्तों में शक्ति के आठ मातृकारूपों के अतिरिक्त काली की अर्चा का भी निर्देश है। प्राचीन काल में शक्ति का कोई विशेष नाम न लेकर देवी या भवानी के नाम से पूजा होती थी। भवानी से शीतला का भी बोध होता था। धीरे-धीरे विकास होने पर किसी न किसी कार्य का सम्बन्ध किसी विशेष देवता या देवी से स्थापित होने लगा। काली की पूजा भी इसी विकासक्रम में प्रारम्भ हुई। त्रिपुरा एवं चटगाँव के निवासी काला बकरा, चावल, केला तथा दूसरे फल काली को अर्पण करते हैं। उधर काली की प्रतिमा नहीं होती, केवल मिट्टी का एक गोल मुण्डाकार पिण्ड बनाकर स्थापित किया जाता है।

मन्दिर में काली का प्रतिनिधित्व स्त्री-देवी की प्रतिमा से किया जाता है, जिसकी चार भुजाओं में, एक में खड्ग, दूसरी में दानव का सिर, तीसरी वरद मुद्रा में एवं चतुर्थ अभय मुद्रा में फैली हुई रहती है। कानों में दो मृतकों के कुण्डल, गले में मुण्डमाला, जिह्वा ठुड्डी तक बाहर लटकी हुई, कटि में अनेक दानवकरों की करधनी लटकती हुई तथा मुक्त केश एड़ी तक लटकते हुए होते हैं। यह युद्ध में हराये गये दानव का रक्तपान करती हुई दिखायी जाती है। वह एक पैर अपने पति शिव की छाती पर तथा दूसरा जंघा पर रखकर खड़ी होती है।

आजकल काली को कबूतर, बकरों, भैंसों की बलि दी जाती है। पूजा खड्ग की अर्चना से प्रारम्भ होती है। बहुत से स्थानों में काली अब वैष्णवी हो गयी है। दे० 'कालिका'।

कालीघाट—शक्ति (काली) के मन्दिरों में दूसरा स्थान कालीघाट (कलकत्ता) के कालीमन्दिर का है, जबकि प्रथम स्थान कामरूप के कामाख्या मन्दिर को प्राप्त है। यहाँ नरबलि देने की प्रथा भी प्रचलित थी, जिसे आधुनिक काल में निषिद्ध कर दिया गया है।

कालीतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में दी गयी तन्त्रों की सूची के क्रम में 'कालीतन्त्र' का सातवाँ स्थान है। इसमें काली के स्वरूप और पूजापद्धति का वर्णन है।

कालीव्रत—कालरात्रि व्रत के ही समान इसका अनुष्ठान होता है। दे० कृत्यकल्पतरु का व्रतकाण्ड, २६३,२६९।

कालोत्तरतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' की सूची में उल्लिखित एक तन्त्र ग्रन्थ। यह दशम शताब्दी के पहले की रचना है।

काशकृत्स्न—एक वेदान्ताचार्य। आत्मा (व्यक्ति) एवं ब्रह्म के सम्बन्धों के बारे में तीन सिद्धान्त उपस्थित किये गये हैं। प्रथम आश्मरथ्य का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार आत्मा न तो बिल्कुल ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न ही। दूसरा औडुलोमि का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार मुक्ति के पूर्व आत्मा ब्रह्म से बिल्कुल भिन्न है। तीसरा काशकृत्स्न का सिद्धान्त है जिसके अनुसार आत्मा बिल्कुल ब्रह्म से अभिन्न है। काशकृत्स्न अद्वैतमत का सिद्धान्त उपस्थित करते हैं।

काशिकावृत्ति—पाणिनि के अष्टाध्यायीस्थित सूत्रों की व्याख्या। पतञ्जलि के महाभाष्य के पश्चात् वामन और जयादित्य की 'काशिकावृत्ति' का अच्छा प्रचार हुआ। हरिदत्त ने 'पदमञ्जरी' नामक काशिकावृत्ति की टीका भी लिखी है। महाभाष्य के समान काशिकावृत्ति से भी सामाजिक जीवन पर आनुषंगिक प्रकाश पड़ता है। इसका रचनाकाल पाँचवीं शताब्दी के समीप है।

काशी—संसार के इतिहास में जितनी अधिक प्राक्कालिकता, नैरन्तर्य और लोकप्रियता काशी को प्राप्त है उतनी किसी भी नगर को नहीं यह लगभग ३००० वर्षों से भारत के हिन्दुओं का पवित्र तीर्थस्थान तथा उसकी सम्पूर्ण धार्मिक भावनाओं का केन्द्र रही है । यह परम्परागतधार्मिक पवित्रता तथा शिक्षा का केन्द्र है । हिन्दूधर्म की विचित्र विषमता, संकीर्णता तथा नानात्व और अन्तर्विरोधों के बीच यह एक सूक्ष्म शृंखला है जो सबको समन्वित करती है । केवल सनातनी हिन्दुओं के लिए ही नहीं, बौद्धों और जैनों के लिए भी यह स्थान बड़े महत्त्व का है । भगवान् बुद्ध ने बोधगया में ज्ञान प्राप्त होने पर सर्वप्रथम यहीं उसका उपदेश किया था । जैनियों के तीन तीर्थंकरों का जन्म यहीं हुआ था ।

इसे वाराणसी अथवा बनारस भी कहा जाता है । पिछले सैकड़ों वर्षों से इसके माहात्म्य पर विपुल साहित्य की सर्जना हुई है । पुराणों में इसका बहुत विस्तृत विवरण मिलता है । पुराख्यानों से पता चलता है कि काशी प्राचीन काल से ही एक राज्य रहा जिसकी राजधानी वाराणसी थी । पुराणों के अनुसार ऐल (चन्द्रवंश) के क्षत्रवृद्ध नामक राजा ने काशीराज्य की स्थापना की । उपनिषदों में यहाँ के राजा अजातशत्रु का उल्लेख है, जो ब्रह्मविद्या और अग्निविद्या का प्रकाण्ड विद्वान् था । महाभारत के अनुशासनपर्व (३०.१०) के अनुसार अति प्राचीन काल में काशी में धन्वन्तरि के पौत्र दिवोदास ने आक्रामक भद्रश्रेण्य के १०० पुत्रों को मार डाला और वाराणसी पर अधिकार कर लिया । इससे क्रुद्ध होकर भगवान् शिव ने अपने गण निकुम्भ को भेजकर उसका विनाश करवा दिया । हजारों वर्षों तक काशी खण्डहर के रूप में पड़ी रही । तदुपरान्त भगवान् शिव स्वयं आकर काशी में निवास करने लगे । तब से इसकी पवित्रता और बढ़ गयी ।

बौद्धधर्म के ग्रन्थों से पता चलता है कि काशी बुद्ध के युग में राजगृह, श्रावस्ती तथा कौशाम्बी की तरह एक बड़ा नगर था । वह राज्य भी था । उस युग में यहाँ वैदिक धर्म का पवित्र तीर्थस्थान तथा शिक्षा का केन्द्र भी था । काशीखण्ड (२६.३४) और ब्रह्मपुराण के (२०७) के अनुसार वाराणसी शताब्दियों तक पाँच नामों से जानी जाती रही है । वे नाम हैं—वाराणसी, काशी, अविमुक्त, आनन्दकानन और श्मशान अथवा महाश्मशान । पिनाकपाणि शम्भु ने इसे सर्वप्रथम आनन्दकानन और तदनन्तर अविमुक्त कहा (स्कन्द०, काशी०, २६.३४) । काशी 'काश्' धातु से निष्पन्न है । 'काश्' का अर्थ है ज्योतित होना अथवा करना । इसका नाम काशी इसलिए है कि यह मनुष्य के निर्वाणपथ को प्रकाशित करती है, अथवा भगवान् शिव की परमसत्ता यहाँ प्रकाश करती है (स्कन्द०, काशी २६.६७) । ब्रह्म० (३३.४९) और कूर्म पुराण (१.३१.६३) के अनुसार वरणा और असी नदियों के बीच स्थित होने के कारण इसका नाम वाराणसी पड़ा । जाबालोपनिषद् में कुछ विपरीत मत मिलते हैं । वहाँ अविमुक्त, वरणा और नासी का अलौकिक प्रयोग है । अविमुक्त को वरणा और नासी के मध्य स्थित बताया गया है । वरणा को त्रुटियों का नाश करने वाली तथा नासी को पापों का नाश करनेवाली बताया गया है और इस प्रकार काशी पाप से मुक्त करने वाली नगरी है । लिङ्गपुराण (पूर्वार्ध, ९२.१४३) के अनुसार 'अवि' का अर्थ पाप है और काशी नगरी पापों से मुक्त है इसलिए इसका नाम 'अविमुक्त' पड़ा है । काशीखण्ड (३२.१११) तथा लिङ्गपुराण (१.९१.७६) के अनुसार भगवान् शंकर को काशी (वाराणसी) अत्यन्त प्रिय है इसलिए उन्होंने इसे आनन्दकानन नाम से अभिहित किया है । काशी का अन्तिम नाम 'श्मशान' अथवा महाश्मशान इसलिए है कि वह निधनोपरान्त मनुष्य को संसार के बन्धनों से मुक्त करने वाली है । वस्तुतः श्मशान (प्रेतभूमि) शब्द अशुद्धि का द्योतक है, किन्तु काशी की श्मशानभूमि को संसार में सर्वाधिक पवित्र माना गया है । दूसरी बात यह है कि 'श्म' का तात्पर्य है 'शव' और 'शान' का तात्पर्य है 'लेटना' (स्कन्द०, काशी० ३०, १०३.४) । प्रलय होने पर महान् आत्मा यहाँ शव या प्रेत के रूप में निवास करते हैं, इसलिए इसका नाम महाश्मशान है । पद्मपुराण (१३३.१४) के अनुसार भगवान् शङ्कर स्वयं कहते हैं कि अविमुक्त प्रसिद्ध प्रेतभूमि है । संहारक के रूप में यहाँ रहकर मैं संसार का विनाश करता हूँ ।

यद्यपि सामान्य रूप से काशी, वाराणसी और अविमुक्त तीनों का प्रयोग समान अर्थ में ही किया गया है, किन्तु पुराणों में कुछ सीमा तक इनके स्थानीय क्षेत्रविस्तार में अन्तर का भी निर्देश है । वाराणसी उत्तर से दक्षिण तक वरणा और असी से घिरी हुई है । इसके पूर्व में गङ्गा

तथा पश्चिम में विनायकतीर्थ है । इसका विस्तार धनुषाकार है, जिसका गङ्गा अनुगमन करती है । मत्स्यपुराण (१८४.५०-५२) के अनुसार इसका क्षेत्रविस्तार ढाई योजन पूर्व से पश्चिम और अर्द्ध योजन उत्तर से दक्षिण है । इसका प्रथम वृत्त सम्पूर्ण काशीक्षेत्र का सूचक है । पद्मपुराण (पातालखण्ड) के अनुसार यह एक वृत्त से घिरी हुई है, जिसकी त्रिज्यापंक्ति मध्यमेश्वर से आरम्भ होकर देहलीविनायक तक जाती है ! यह दूरी दो योजन तक है (मत्स्यपुराण, अध्याय १८१.६१-६२) ।

अविमुक्त उस पवित्र स्थल को कहते हैं, जो २०० धनुष व्यासार्ध (८०० हाथ या १२०० फुट) में विश्वेश्वर के मन्दिर के चतुर्दिक् विस्तृत है । काशीखण्ड में अविमुक्त को पंचकोश तक विस्तृत बताया गया है । पर वहाँ यह शब्द काशी के लिए प्रयुक्त हुआ है । पवित्र काशीक्षेत्र का सम्पूर्ण अन्तर्वृत्त पश्चिम में गोकर्णेश से लेकर पूर्व में गङ्गा की मध्यधारा तथा उत्तर में भारभूत से दक्षिण में ब्रह्मेश तक विस्तृत है ।

काशी का धार्मिक माहात्म्य बहुत अधिक है । महाभारत (वनपर्व ८४.७९.८०) के अनुसार ब्रह्महत्या का अपराधी अविमुक्त में प्रवेश करके भगवान् विश्वेश्वर की मूर्ति का दर्शन करने मात्र से ही पापमुक्त हो जाता है और यदि वहाँ मृत्यु को प्राप्त होता है तो उसे मोक्ष मिलता है । अविमुक्त में प्रवेश करते ही सभी प्रकार के प्राणियों के पूर्वजन्मों के हजारों पाप क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं । धर्म में आसक्ति रखने वाला व्यक्ति काशी में मृत्यु होने पर पुनः संसार को नहीं देखता । संसार में योग के द्वारा मोक्ष (निर्वाण) की प्राप्ति नहीं हो सकती, किन्तु अविमुक्त में योगी को मोक्ष सिद्ध हो जाता है (मत्स्य० १८५.१५-१६) । कुछ स्थलों पर वाराणसी तथा वहाँ की नदियों के सम्बन्ध में रहस्यात्मक संकेत भी मिलते हैं । उदाहरणार्थ, काशीखण्ड में असी को 'इडा', वरणा को 'पिङ्गला', अविमुक्त को 'सुषुम्ना' तथा इन तीनों के सम्मिलित स्वरूप को काशी कहा गया है (स्कन्द, काशीखण्ड ५१५) । परन्तु लिंगपुराण का इससे भिन्न मत है । वहाँ असी, वरणा तथा गंगा को क्रमशः पिंगला, इडा तथा सुषुम्ना कहा गया है ।

पुराणों में कहा गया है कि काशीक्षेत्र के एक-एक पग में एक-एक तीर्थ की पवित्रता है (स्कन्द, काशी० ५९, ११८) और काशी की तिलमात्र भूमि भी शिवलिङ्ग से अछूती नहीं है । जैसे काशीखण्ड के दसवें अध्याय में ही ६४ लिङ्गों का वर्णन है । ह्वेनसांग के अनुसार उसके समय में काशी में सौ मन्दिर थे और एक मन्दिर में भगवान् महेश्वर की १०० फुट ऊँची ताँबे की मूर्ति थी । किन्तु दुर्भाग्यवश विधर्मियों द्वारा काशी के सहस्रों मन्दिर विध्वस्त कर दिये गये और उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण किया गया । औरंगजेब ने तो काशी का नाम मुहम्मदाबाद रख दिया था । परन्तु यह नाम चला नहीं और काशी में मन्दिर फिर बनने लगे ।

भगवान् विश्वनाथ काशी के रक्षक हैं और उनका मन्दिर सर्वप्रमुख है । ऐसा विधान है कि प्रत्येक काशीवासी को नित्य गङ्गास्नान करके विश्वनाथ का दर्शन करना चाहिए । पर औरंगजेब के बाद लगभग १०० वर्षों तक यह व्यवस्था नहीं रही । शिवलिङ्ग को तीर्थयात्रियों के सुविधानुसार यत्र-तत्र स्थानान्तरित किया जाता रहा (त्रिस्थलीसेतु, पृ० २०८) । वर्तमान मन्दिर अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में रानी अहल्याबाई होल्कर द्वारा निर्मित हुआ । अस्पृश्यता का जहाँ तक प्रश्न है, त्रिस्थलीसेतु (पृष्ठ १८३) के अनुसार अन्त्यजों (अस्पृश्यों) के द्वारा लिङ्गस्पर्श किये जाने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि विश्वनाथजी प्रतिदिन प्रातः ब्रह्मवेला में मणिकर्णिका घाट पर गङ्गास्नान करके प्राणियों द्वारा ग्रहण की गयी अशुद्धियों को धो डालते हैं ।

काशी में विश्वनाथ के पूजनोपरान्त तीर्थयात्री को पाँच अवान्तर तीर्थों—दशाश्वमेध, लोलार्क, केशव, बिन्दुमाधव तथा मणिकर्णिका का भी परिभ्रमण करना आवश्यक है (मत्स्य०) । आधुनिक काल में काशी के अवान्तर पाँच तीर्थ 'पञ्चतीर्थी' के नाम से अभिहित किये जाते हैं और वे हैं गङ्गा-असी-संगम, दशाश्वमेध घाट, मणिकर्णिका, पञ्चगङ्गा तथा वरणासंगम । लोलार्क तीर्थ असीसंगम के पास वाराणसी की दक्षिणी सीमा पर स्थित है । वाराणसी के पास गङ्गा की धारा तो तीव्र है और वह सीधे उत्तर की ओर बहती है, इसलिए यहाँ इसकी पवित्रता का और भी अधिक माहात्म्य है । दशाश्वमेध घाट तो शताब्दियों से अपनी पवित्रता के लिए ख्यातिलब्ध है । काशीखण्ड (अध्याय ५२, ५६, ६८) के अनुसार दशाश्वमेध का पूर्व नाम 'रुद्रसर' है । किन्तु जब ब्रह्मा

ने यहाँ दस अश्वमेध यज्ञ किये, उसका नाम दशाश्वमेध पड़ गया। मणिकर्णिका (मुक्तिक्षेत्र) काशी का सर्वाधिक पवित्र तीर्थ तथा वाराणसी के धार्मिक जीवनक्रम का केन्द्र है। इसके आरम्भ के सम्बन्ध में एक रोचक कथा है :

विष्णु ने अपने चिन्तन से यहाँ एक पुष्करिणी का निर्माण किया और लगभग पचास हजार वर्षों तक वे यहाँ घोर तपस्या करते रहे। इससे शङ्कर प्रसन्न हुए और उन्होंने विष्णु के सिर को स्पर्श किया और उनका एक मणिजटित कर्णभूषण सेतु के नीचे जल में गिर पड़ा। तभी से इस स्थल को 'मणिकर्णिका' कहा जाने लगा। काशीखण्ड के अनुसार निधन के समय यहाँ सज्जन पुरुषों के कान में भगवान् शङ्कर 'तारक मन्त्र' फूँकते हैं। इसलिए यहाँ स्थित शिवमन्दिर का नाम 'तारकेश्वर' है।

यहाँ पञ्चगङ्गा घाट भी है। इसे पञ्चगङ्गा घाट इसलिए कहा जाता है कि पुराणों के अनुसार यहाँ किरणा, धूतपापा, गङ्गा, यमुना तथा सरस्वती का पवित्र सम्मेलन हुआ है, यद्यपि इनमें से प्रथम दो अब अदृश्य हैं। काशीखण्ड (५९.११८-१३३) के अनुसार जो व्यक्ति इस पञ्चनद-संगम स्थल पर स्नान करता है वह इस पाञ्चभौतिक पदार्थों से युक्त मर्त्यलोक में पुनः नहीं आता। यह पाँच नदियों का संगम विभिन्न युगों में विभिन्न नामों से अभिहित किया गया था। सत्ययुग में धर्ममय, त्रेता से धूतपातक, द्वापर में बिन्दुतीर्थ तथा कलियुग में इसका नाम 'पञ्चनद' पड़ा है।

काशी में तीर्थयात्री के लिए पञ्चक्रोशी की यात्रा बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है। पञ्चक्रोशी मार्ग की लम्बाई लगभग ५० मील है और इस मार्ग पर सैकड़ों मन्दिर हैं। मणिकर्णिका केन्द्र से यात्री वाराणसी की अर्द्धवृत्ताकार में परिक्रमा करता है जिसका अर्द्धव्यास पंचक्रोश है, इसीलिए इसे 'पंचक्रोशी' कहते हैं (काशीखण्ड, अध्याय २६, श्लोक ८० और ११४ तथा अध्याय ५५-४४)। इसके अनुसार यात्री मणिकर्णिका घाट से गंगा के किनारे किनारे चलना आरम्भ करके अस्सीघाट के पास मणिकर्णिका से ६ मील दूर खाण्डव (कंदवा) नामक गाँव में रुकता है। वहाँ से दूसरे दिन धूपचण्डी के लिए (१० मील) प्रस्थान करता है। वहाँ धूपचण्डी देवी का मन्दिर है। तीसरे दिन वह १४ मील की यात्रा पर रामेश्वर नामक गाँव के लिए प्रस्थान करता है। चौथे दिन वहाँ से ८ मील दूर शिवपुर पहुँचता है और पाँचवें दिन वहाँ से ६ मील दूर कपिलधारा जाता है और वहाँ पितरों का श्राद्ध करता है। छठे दिन वह कपिलधारा से वरणासंगम होते हुए लगभग ६ मील की यात्रा करके मणिकर्णिका आ जाता है। कपिलधारा से मणिकर्णिका तक वह यव (देवान्न) बिखेरता हुआ आता है। तदुपरान्त वह गङ्गास्नान करके पुरोहितों को दक्षिणा देता है। फिर साक्षीविनायक के मन्दिर में जाकर अपनी पञ्चक्रोशी यात्रा की पूर्ति की साक्षी देता है।

इसके अतिरिक्त काशी के कुछ अन्य तीर्थ भी प्रमुख हैं। इनमें ज्ञानवापी का नाम उल्लेखनीय है। यहाँ भगवान् शिव ने शीतल जल में स्नान करके यह वर दिया था कि यह तीर्थ अन्य तीर्थों से उच्चतर कोटि का होगा। इसके अतिरिक्त दुर्गाकुण्ड पर एक विशाल दुर्गामन्दिर भी है। काशीखण्ड (श्लोक ३७, ६५) में इससे सम्बद्ध दुर्गास्तोत्र का भी उल्लेख है। विश्वेश्वरमन्दिर से एक मील उत्तर भैरवनाथ का मन्दिर है। इनको काशी का कोतवाल कहा गया है। इनका वाहन कुत्ता है। साथ ही गणेशजी के मन्दिर तो काशी में अनन्त हैं। त्रिस्थलीसेतु (पृ० ९८-१००) से यह पता चलता है कि काशी में प्रवेश करने मात्र से ही इस जीवन के पापों का क्षय हो जाता है और विविध पवित्र स्थलों पर स्नान करने से पूर्व जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं।

कुछ पुराणों के अनुसार काशी में रहकर तनिक भी पाप नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसके लिए बड़े ही कठोर दण्ड का विधान है। तीर्थस्थान होने के कारण यहाँ पूर्वजों अथवा पितरों का श्राद्ध और पिण्डदान किया जा सकता है, किन्तु तपस्वियों द्वारा काशी में मठों का निर्माण अधिक प्रशंसनीय है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि प्रत्येक काशीवासी को प्रतिदिन मणिकर्णिका घाट पर गङ्गा स्नान करके विश्वेश्वर का दर्शन करना चाहिए। त्रिस्थलीसेतु (पृ० १६८) में कहा गया है कि किसी अन्य स्थल पर किये गये पाप काशी आने पर नष्ट हो जाते हैं। किन्तु काशी में किये गये पाप दारुण यातनादायक होते हैं। जो काशी में रहकर पाप करता है वह पिशाच हो जाता है। वहाँ इस अवस्था में सहस्रों वर्षों तक रहकर परमज्ञान को प्राप्त होता है, तदुपरान्त उसे मोक्ष

मिलता है। काशी में रहकर जो पाप करते हैं उन्हें यमयातना नहीं सहनी पड़ती, चाहे वे काशी में मरें या अन्यत्र। जो काशी में रहकर पाप करते हैं वे कालभैरव द्वारा दण्डित होते हैं। जो काशी में पाप करके कहीं अन्यत्र मरते हैं वे राम नामक शिव के गण द्वारा सर्वप्रथम यातना सहते हैं, तत्पश्चात् वे कालभैरव द्वारा दिये गये दण्ड को सहस्रों वर्षों तक भोगते हैं। फिर वे नश्वर मानवयोनि में प्रविष्ट होते हैं और काशी में मरकर निर्वाण (मोक्ष या संसार से मुक्ति) पाते हैं।

स्कन्दपुराण के काशीखण्ड (८५, ११२-११३) में यह उल्लेख है कि काशी से कुछ उत्तर में स्थित धर्मक्षेत्र (सारनाथ) विष्णु का निवासस्थान है, जहाँ उन्होंने बुद्ध का रूप धारण किया था। यात्रियों के लिए सामान्य नियम यह है कि उन्हें आठ मास तक संयत होकर स्थान-स्थान पर भ्रमण करना चाहिए। फिर दो या चार मास तक एक स्थान पर निवास करना चाहिए। किन्तु काशी में प्रविष्ट होने पर वहाँ से बाहर भ्रमण नहीं होना चाहिए और काशी छोड़ना ही नहीं चाहिए, क्योंकि वहाँ मोक्ष प्राप्ति निश्चित है।

भगवान् शिव के श्रद्धालु भक्त के लिए महान् विपत्तियों में भी उनके चरणों के जल के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र स्थान नहीं है। बाह्याभ्यन्तर असाध्य रोग भी भगवान् शङ्कर की प्रतिमा पर पड़े जल के आस्थापूर्ण स्पर्श से दूर हो जाते हैं (काशीखण्ड, ६७, ७२-८३)। दे० 'अविमुक्त'।

काशीखण्ड—स्कन्दपुराण का एक भाग, जिसमें तीर्थ के तीन प्रकार कहे गये हैं—(१) जङ्गम, (२) मानस और (३) स्थावर। पवित्रस्वभाव, सर्वकामप्रद ब्राह्मण और गौ जङ्गम तीर्थ हैं। सत्य, क्षमा, शम, दम, दया, दान, आर्जव, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, धैर्य, तपस्या आदि मानस तीर्थ हैं। गङ्गादि नदी, पवित्र सरोवर, अक्षय वटादि पवित्र वृक्ष, गिरि, कानन, समुद्र, काशी आदि पुरी स्थावर तीर्थ हैं। पद्मपुराण में इस धरती पर साढ़े तीन करोड़ तीर्थों का उल्लेख है। जहाँ कहीं कोई महात्मा प्रकट हो चुके हैं, या जहाँ कहीं किसी देवी या देवता ने लीला की है, उसी स्थान को हिन्दुओं ने तीर्थ मान लिया है। भारतभूमि में इस प्रकार के असंख्य स्थान हैं। तीर्थाटन करने तथा देश में घूमने से आत्मा की उन्नति होती है, बुद्धि का विकास होता है और बहुदर्शिता आती है। इसलिए तीर्थयात्राओं को हिन्दू धर्म पुण्यदायक मानता है। तीर्थों में सत्सङ्ग और अनुभव से ज्ञान बढ़ता है और पापों से बचने की भावना उत्पन्न होती है।

'काशीखण्ड' में काशी के बहुसंख्यक तीर्थों और उनके इतिहास एवं माहात्म्य का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। काशीखण्ड वास्तव में काशीप्रदर्शिका है।

काशीमोक्षनिर्णय—मण्डन मिश्र ने इस ग्रन्थ का प्रणयन संन्यास ग्रहण करने के पूर्व किया था। काशी में निवास करने से मोक्ष कैसे प्राप्त होता है, इसका इसमें युक्तियुक्त विवेचन है।

काशीविश्वनाथ—काशी को विश्वनाथ (शिव) की नगरी कहा गया है। यहाँ पर शिवलिङ्गमूर्ति की अर्चा प्रचलित है। मन्दिर के गर्भ भाग में प्रवेश कर दर्शन करते हैं और काशीविश्वनाथ के लिङ्ग का पूजन भी करते हैं, बिल्वपत्र-पुष्पादि चढ़ाते हैं। काशी का विश्वनाथमन्दिर उत्तर भारत के शैव मन्दिरों में सर्वोच्च स्थान रखता है। इसका निर्माण अठारहवीं शती के अन्तिम चरण में महारानी अहल्याबाई होल्कर ने कराया था। इसके शिखर पर लगा हुआ सोना महाराज रणजीतसिंह द्वारा प्रदत्त है।

काश्मीरक सदानन्दयति—'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' नामक प्रकरणग्रन्थ के प्रणेता। इनका जीवनकाल सत्रहवीं शताब्दी है। इनके नाम के साथ 'काश्मीरक' शब्द का व्यवहार होने से जान पड़ता है कि ये कश्मीर देशीय थे। इनकी 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' अद्वैतमत का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें प्रतिबिम्बवाद एवं अवच्छिन्नवाद सम्बन्धी मतभेदों की विशेष विवेचना में न पड़कर 'एकब्रह्मवाद' को ही वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त बताया गया है। जब तक प्रबल साधना के द्वारा जिज्ञासु ऐकात्म्य का अनुभव नहीं कर लेता तभी तक वह इस वाग्जाल में फँसा रहता है। अन्यथा 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' (ज्ञान होने पर द्वैत समाप्त हो जाता है)।

काश्य—उज्जयिनीनिवासी एक विद्वान् कुलाचार्य (अध्यापक), जो बलराम और कृष्ण के गुरु हुए। इनके पिता संदीपन और पूर्वनिवास काशी रहा होगा :

अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः।
काश्यं सान्दीपिनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम्॥
(भागवत पु०, १०.४५.३१)

काश्यप—एक प्राचीन वेदान्ताचार्य । प्राचीन काल में काश्यप का भी एक सूत्रग्रन्थ था । शाण्डिल्य ने अपने सूत्रग्रन्थ में काश्यप तथा बादरायण के मत का उल्लेख करके अपना सिद्धान्त स्थापित किया है । उनके मत में काश्यप भेदवादी तथा बादरायण अभेदवादी थे ।

शुक्ल यजुर्वेद के प्रातिशाख्यसूत्र में काश्यप का उल्लेख है । कात्यायन के वाजसनेय प्रातिशाख्य में काश्यप का शिक्षा (वेदाङ्ग) के पूर्वाचार्य के रूप में उल्लेख हुआ है । काश्यप मानुषी बुद्ध के एक अवतार भी माने जाते हैं ।

किनाराम बाबा—महात्मा किनाराम का जन्म बनारस जिले के क्षत्रिय कुल में विक्रम सं० १७५८ के लगभग हुआ । द्विरागमन के पूर्व ही पत्नी का देहान्त हो गया । उसके कुछ दिन बाद उदास होकर घर से निकल गये और गाजीपुर जिले के कारो नामक गाँव के संयोगी वैष्णव महात्मा शिवादास कायस्थ की सेवा-टहल में रहने लगे और कुछ दिनों के बाद उन्हीं के शिष्य हो गये । कुछ वर्ष गुरुसेवा करके उन्होंने गिरनार पर्वत की यात्रा की । वहाँ भगवान् दत्तात्रेय का दर्शन किया और उनसे अवधूत वृत्ति की शिक्षा लेकर उनकी आज्ञा से काशी लौटे । यहाँ उन्होंने बाबा कालूराम अघोरपन्थी से अघोर मत का उपदेश लिया । दे० 'अघोर मत' अथवा 'कापालिक'। वैष्णव भागवत और फिर अघोरपन्थी होकर किनाराम ने उपासना का एक अद्‌भुत सम्मिश्रण किया । वैष्णव रीति से ये रामोपासक हुए और अघोर पन्थ की रीति से मद्य-मांसादि के सेवन में इन्हें कोई आपत्ति न हुई । साथ ही इनके समक्ष जाति-पाँति का कोई भेदभाव न था । इनका पन्थ अलग ही चल पड़ा । इनके शिष्य हिन्दू-मुसलमान सभी हुए ।

जीवन में अपने दोनों गुरुओं की मर्यादा निवाहने के लिए इन्होंने वैष्णव मत के चार स्थान मारुफपुर, नयी डीह, परानापुर और महुपुर में और अघोर मत के चार स्थान रामगढ़ (बनारस), देवल (गाजीपुर), हरिहरपुर (जौनपुर) और कृमिकुण्ड (काशी) में स्थापित किये । ये मठ अब तक चल रहे हैं । इन्होंने भदैनी में कृमिकुण्ड पर स्वयं रहना आरम्भ किया । काशी में अब भी इनकी प्रधान गद्दी कृमिकुण्ड पर है । इनके अनुयायी सभी जाति के लोग हैं । रामावतार की उपासना इनकी विशेषता है । ये तीर्थयात्रा आदि मानते हैं, इन्हें औघड़ भी कहते हैं । ये देवताओं की मूर्ति की पूजा नहीं करते । अपने शवों को समाधि देते हैं, जलाते नहीं । किनाराम बाबा ने संवत् १८०० वि० में १४२ वर्ष की अवस्था में समाधि ली ।

किनारामी (अघोरपन्थी)—दे० 'किनाराम' ।

किमिच्छाव्रत—मार्कण्डेय पुराण के अनुसार इस व्रत में अतिथि से पूछा जाता है कि वह क्या चाहता है ? इसके विषय में करन्धम के पुत्र अवीक्षित की एक कथा आती है, जिसके अनुसार उसकी माता ने इस व्रत का आचरण किया था तथा उसने अपनी माता को सर्वदा इस व्रत का आचरण करने का वचन दिया था । अवीक्षित ने घोषणा की थी :

> शृण्वन्तु मेऽर्थिनः सर्वे प्रतिज्ञातं मया तदा ।
> किमिच्छथ ददाम्येष क्रियमाणे किमिच्छके ।।
> (मार्कण्डेय पुराण, १२२.२०)

[मेरे सब याचक सुन लें, किमिच्छक व्रत करते हुए मैंने प्रतिज्ञा की है—आप क्या चाहते हैं, मैं वही दान करूँगा ।]

किरण—रौद्रिक आगमों में से यह एक आगम है । 'किरणागम' की सबसे पुरानी हस्तलिखित प्रति ९२४ ई० (हरप्रसाद शास्त्री, २, १२४) की उपलब्ध है ।

किरणावली—वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थलेखक आचार्यों में उदयन का महत्त्वपूर्ण स्थान है । उनका वैशेषिक मत पर पहला ग्रन्थ है 'किरणावली', जो प्रशस्तपाद के भाष्य का व्याख्यान है । यह दशम शताब्दी की रचना है ।

किरणावलीप्रकाश—वर्धमान उपाध्याय द्वारा रचित द्वादश शताब्दी का यह ग्रन्थ उदयन कृत 'किरणावली' की व्याख्या है ।

कीर्तन सोहिला—सिक्खों की एक प्रार्थनापुस्तक । सिक्खों की मूल प्रार्थनापुस्तिका का नाम 'पञ्जग्रन्थी' है । इसके पाँच भाग हैं—(१) जपजी, (२) रहिरासु, (३) कीर्तन सोहिला, (४) सुखमनी और (५) आसा दी वार । इनमें से प्रथम तीनों का खालसा सिक्खों को नित्य पाठ करना चाहिए।

कीर्तनीय—चैतन्य सम्प्रदाय में सामूहिक कीर्तन के प्रमुख को कीर्तनीय कहते हैं । इस सम्प्रदाय के मन्दिरों में प्रायः राधा-कृष्ण की मूर्तियों के साथ ही चैतन्य, अद्वैत एवं नित्यानन्द की मूर्तियाँ भी स्थापित रहती हैं । केवल

चैतन्य महाप्रभु की ही मूर्ति किसी-किसी मन्दिर में पायी जाती है । पूजा में प्रधानता संकीर्तन की रहती है । 'कीर्तनीय' (प्रधान संकीर्तक) तथा उसके दल वाले जगमोहन (प्रधान मन्दिर के सामने के भाग) में बैठते हैं तथा झाल एवं मृदंग बजाकर कीर्तन करते हैं । कीर्तनीय बीच-बीच में आत्मविभोर हो नाच भी उठता है । एक या अधिक बार 'गौरचन्द्रिका' के गायन का नियम है ।

कीर्तिव्रत—यह संवत्सरव्रत है । इसमें व्रती पीपल वृक्ष, सूर्य तथा गङ्गा को प्रणाम करता है, इन्द्रियों का निग्रह कर एक स्थान पर निवास करता है, केवल मध्याह्न में एक बार भोजन करता है । इस प्रकार का आचरण एक वर्ष तक किया जाता है । व्रत की समाप्ति के पश्चात् व्रती किसी अच्छे सपत्नीक ब्राह्मण का पूजन करता है तथा उसे तीन गौओं के साथ एक सुवर्णवृक्ष दान में देता है । इस व्रत के आचरण से मनुष्य यश तथा भूमि प्राप्त करता है ।

कीर्तिसंक्रान्तिव्रत—संक्रान्ति के दिन धरातल पर सूर्य की आकृति खींचकर उस पर सूर्य की प्रतिमा स्थापित करके पूजन किया जाता है । एक वर्ष पर्यन्त यह अनुष्ठान होना चाहिए । इसके फलस्वरूप मनुष्य को यश, दीर्घायु, राज्य तथा स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है ।

कीलक—किसी अनुष्ठान में मुख्य मन्त्र के पूर्व जो पाठ किया जाता है उसको कीलक कहते हैं । इसका शाब्दिक अर्थ है 'कील ठोंक कर दृढ़ता से गाड़ना' । कील दृढ़ता का प्रतीक है । कीलकस्तोत्र का उदाहरण दुर्गासप्तशती में देखा जा सकता है, जिसमें चण्डीपाठ के पूर्व कुछ अन्य पवित्र स्तोत्र पढ़े जाते हैं, जैसे कवच, कीलक एवं अर्गला स्तोत्र जो मार्कण्डेय एवं वराह पुराण के उद्धरण हैं ।

कीलाल—ऋग्वेद के सिवा अन्य संहिताओं में 'कीलाल' शब्द का प्रयोग 'मीठे पेय' अर्थ में हुआ है । पुरुषमेध यज्ञ की बलिसूची में सुराकार का नाम भी कीलाल के रूप में आया है, इसलिए इस पेय की प्रकृति भी निश्चय ही सुरा के समान रही होगी ।

कुंकुम—केसर, जो सुगन्ध और रक्त-पीत रंग के लिए प्रसिद्ध अलंकरण द्रव्य है । देवपूजा में चन्दन के साथ मिलाकर इसका उपयोग होता है । लक्ष्मी, दुर्गा आदि देवियों की पूजा में कुंकुम अलग से भी चढ़ाई जाती है । यह कश्मीर में उपजती है, अतः दुर्लभता के कारण इसके स्थान पर रोली का उपयोग होता है इसलिए अब रोली ही कुंकुम नाम से प्रचलित है । रोली हल्दी से बनती है अतः यह भी मांगलिक प्रतीक है, जो स्मार्तों के द्वारा देवी की पूजा में यन्त्र (देवी की प्रतिमासूचक वस्तु) पर चढ़ाया जाता है ।

कुक्कुटी-मर्कटीव्रत—भाद्र शुक्ल सप्तमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । प्रत्येक सप्तमी को व्रत करते हुए एक वर्ष तक यह क्रम चलाना चाहिए । सप्तमी चाहे कृष्णपक्षीय हो या शुक्लपक्षीय । अष्टमी के दिन तिल, चावल (गुड़ से युक्त) ब्राह्मण को दान में देना चाहिए । एक वृत्त में भगवान् शिव तथा अम्बिका की आकृतियाँ बनाकर उनका पूजन करें । 'तिथितत्त्व' (पृ० ३७) में इसे कुक्कुटीव्रत कहा गया है । व्रत करने वाले को जीवन पर्यन्त भुजा में सुवर्ण अथवा रजततार से युक्त सूत के धागे बाँधे रहना चाहिए । कथा है कि एक रानी तथा राजपुरोहित की पत्नी मर्कटी अर्थात् वानरी तथा कुक्कुटी अर्थात् मुर्गी हो गयी थीं, क्योंकि वे इस धागे को बाँधना भूल गयी थीं । इस कथा का वर्णन कृष्ण ने युधिष्ठिर से किया है ।

कुक्कुटेश्वरतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में लिखित तन्त्रों की सूची में सोलहवाँ स्थान 'कुक्कुटेश्वर तन्त्र' को प्राप्त है ।

कुण्डलिया—(गिरिधर कविराय कृत) नैतिक उपदेशों से भरी एवं सामाजिक उपयोगितापूर्ण कुण्डलियों की रचना, जो अठारहवीं शताब्दी के एक सुधारवादी हिन्दी कवि गिरिधर कविराय ने की है । हिन्दी नीति साहित्य में गिरिधर कविराय की कुण्डलियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं ।

कुण्डिकोपनिषद्—त्याग-वैराग्य प्रतिपादक एक उपनिषद् । संन्यास धर्म की निदर्शक उपनिषदों में यह प्रमुख मानी जाती है ।

कुत्स—ऋग्वेदीय मन्त्रों के साक्षात्कर्ता ऋषियों में से एक ऋषि । अष्टाध्यायी (पाणिनि) के सूत्रों में जिन पूर्वाचार्यों के नाम आये हैं उनमें कुत्स भी हैं । पौराणिक कथाओं के अनुसार इन्द्र ने इन्हें बहुत ताडित किया, किन्तु फिर प्रसन्न होकर सुष्ण दैत्य से इनकी रक्षा की । एक बार इन्द्र इनको अमरावती में अपने प्रासाद में ले गया । इन्द्र और कुत्स दोनों आकार और सौन्दर्य में समान थे । इन्द्र

की पत्नी शची पहचान न सकी कि उसका पति इन्द्र कौन सा है ।

कुत्स औरव—पञ्चविंश ब्राह्मण के अनुसार कुत्स औरव ने अपने पारिवारिक पुरोहित उपगु सौश्रवस का वध इस लिए कर डाला था कि सौश्रवस के पिता इन्द्र की पूजा के अधिक पक्षपाती थे । इस तथ्य का समर्थन ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में कुत्स एवं इन्द्र की प्रतियोगिता के वर्णन से प्राप्त होता है ।

कुन्दचतुर्थी—माघ शुक्ल चतुर्थी । इस तिथि को देवीपूजा होती है । कुन्दपुष्प, शाक, सब्जी, नमक, शक्कर, जीरा आदि वस्तुएँ कन्याओं को दान में दी जाती हैं । चतुर्थी के दिन उपवास का विधान है । यह गौरीचतुर्थी के नाम से भी प्रसिद्ध है । चतुर्थी को उपवास ही इस व्रत का मुख्य अङ्ग है । उस दिन उक्त दान देने से सौभाग्य की उपलब्धि होती है ।

कुब्जिकातन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' की तन्त्रसूची में ५५वाँ स्थान 'कुब्जिकातन्त्र' का है । इसमें निगूढ़ तान्त्रिक क्रियाओं का वर्णन है ।

कुब्जिकामततन्त्र—एक प्राचीन तन्त्रग्रन्थ । गुप्तकालीन भाषाशैली में लिखित होने के कारण इसका रचनाकाल लगभग सातवीं शताब्दी प्रतीत होता है ।

कुबेरतीर्थ—कुरुक्षेत्र के समीप यह स्थान भद्रकाली मन्दिर से थोड़ी दूर सरस्वती नदी के तट पर स्थित है । यहाँ कुबेर ने यज्ञों का अनुष्ठान किया था । इसी प्रकार नर्मदातट पर भी एक कुबेरतीर्थ विख्यात है ।

कुबेरव्रत—तृतीया तिथि को इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है । इसमें कुबेर की पूजा होती है ।

कुमार-वाल्मीकि—माध्व मतावलम्बी किसी कुमार-वाल्मीकि नामक कवि ने रामायण का कन्नड भाषा में अनुवाद किया है । इसी अनुवाद को 'कुमार-वाल्मीकि' कहते हैं । धार्मिक होने की अपेक्षा यह अनुवाद विनोदपूर्ण अधिक है । मध्वमत के प्रचार में इसने यथेष्ट सहायता पहुँचायी है । कर्णाटक में यह बहुत लोकप्रिय है ।

कुमारषष्ठी—चैत्र शुक्ल षष्ठी को इस व्रत का आरम्भ होता है और यह एक वर्ष पर्यन्त चलता है । मिट्टी की द्वादश भुजा वाली स्कन्द की मूर्ति का पूजन इसमें किया जाता है ।

कुमारिल—कर्ममीमांसा शास्त्र के उत्कर्ष काल में इसके दो महान् आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें पहले हैं प्रभाकर, जिन्हे 'गुरु' भी कहते हैं तथा दूसरे हैं कुमारिल, जिन्हें भट्ट भी कहते हैं । दोनों ने शबर के भाष्य की व्याख्या की है किन्तु दोनों की व्याख्या में अन्तर है । दोनों ने दो प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदायों को जन्म दिया । प्रभाकर का काल अज्ञात है किन्तु यह निश्चित है कि वे कुमारिल के पूर्व हुए । प्रभाकर का ग्रन्थ 'बृहती' शाबरभाष्य का स्पष्टीकरण मात्र है; उसमें कुछ आलोचना नहीं है । कुमारिल आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए, उन्होंने शाबरभाष्य पर एक विस्तृत व्याख्या की रचना की जिसके तीन भाग हैं, और उनमें शबर से यथेष्ट अन्तर परिलक्षित होता है ।

कुमारिल की रचना के तीन भाग हैं : (१) श्लोकवार्तिक (पद्य), जो प्रथम अध्याय के प्रथम पाद पर हैं; (२) तन्त्रवार्तिक (गद्य) जो प्रथम अध्याय के अवशेष तथा अध्याय दो और तीन पर है और (३) टुप्टीका (गद्य) अध्याय ४ से १२ पर संक्षिप्त टिप्पणी है । कुमारिल की प्रणाली पर मण्डन मिश्र ने, जो बाद में शङ्कर के शिष्य (सुरेश्वराचार्य) हो गये थे, अनेकों ग्रन्थों की रचना की ।

प्रभाकर एवं कुमारिल दोनों ने अनीश्वरवाद का निर्वाह प्रकृति के सृष्टिक्रम में दैवी कार्य की अनावश्यकता बताते हुए किया है । दोनों इस विषय पर यथार्थवादी दृष्टिकोण रखते हैं । किन्तु दोनों का आत्मा की विशुद्ध चेतनता, प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि तार्किक तत्त्वों में मतान्तर है । कुमारिल ने कर्ममीमांसा एवं उसके बाहर के दर्शनों पर भी सक्रिय प्रभाव डाला । वे बौद्ध मत के कठोर आलोचक थे तथा जब कभी वे विजययात्रा में निकले, उन्होंने इस मत के प्रत्याख्यान करने का यत्न किया ।

कुमारिल के अनुसार वेद के शब्द, वाक्य और क्रम नित्य हैं । कुमारिल ने शब्द को द्रव्य माना है । शब्द तो नित्य है ही, उसका अर्थ भी नित्य है और शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है । शब्द की नित्यता पर जो युक्तियाँ उन्होंने प्रस्तुत की हैं, वे बहुत प्रौढ और वैज्ञानिक हैं । कुमारिल ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव ये पाँच पदार्थ माने हैं । पूर्व मीमांसा के अन्य सिद्धान्त उन्हें मान्य हैं, यद्यपि शबरभाष्य की आलोचना यत्र-तत्र उनके द्वारा हुई है ।

कुमारिल का आधुनिक हिन्दूत्व की स्थापना में बहुत बड़ा हाथ है। उनकी प्रणाली वेदों एवं ब्राह्मणों पर आधृत है। वे उसके बाहर के सभी पक्षों का निराकरण करते हैं।

कर्ममीमांसा में प्रभाकर एवं कुमारिल ने ही प्रथम बार मुक्ति का वर्णन किया है। उनका कथन है कि मुक्तिलाभ धर्म एवं अधर्म दोनों के समाप्त हो जाने पर ही हो सकता है और जो मुक्ति चाहता है उसे केवल आवश्यक कर्तव्यों का पालन करना चाहिए।

कुमारी—(१) शिवपत्नी पार्वती के अनेकों नाम एवं गुण शिव के समान ही हैं। उनका एक नाम 'कुमारी' भी है। तैत्तिरीय आरण्यक (१०.१.७) में उन्हें कन्या कुमारी कहा गया है। स्कन्दपुराण के कुमारीखण्ड में कुमारी का चरित्र और माहात्म्य विस्तार से वर्णित है। भारत का दक्षिणान्त अन्तरीप (कुमारी अन्तरीप) उन्हीं के नाम से सम्बन्धित है।

(२) 'कुमारी' नाम 'कुमार' का युग्म (जोड़ा) या समकोटिक भी है। यह ऐसी उग्र कुमारिका ग्रहों का सूचक है, जो शिशुओं का भक्षण करती हैं।

(३) स्मृतियों में द्वादश वर्षीया कन्या का नाम भी कुमारी कहा गया है:

अष्टवर्षा भवेद् गौरी दशवर्षा च रोहिणी।
सम्प्राप्ते द्वादशे वर्षे कुमारीत्यभिधीयते॥

[अष्ट वर्ष की कन्या गौरी और दस वर्ष की रोहिणी होती है। बारह वर्ष प्राप्त होने पर वह कुमारी कहलाती है।]

'अन्नदाकल्प' आदि आगम ग्रन्थों में कुमारीपूजन के प्रसंग में कुमारी अजातपुष्पा (जिसको रजोधर्म न होता हो) कन्या को कहा गया है। सोलह वर्ष पर्यन्त वह कुमारी रह सकती है। वयभेद से उसके कई नाम बतलाये गये हैं:

एकवर्षा भवेत् सन्ध्या द्विवर्षा च सरस्वती।
त्रिवर्षा तु त्रिधामूर्तिश्चतुर्वर्षा तु कालिका॥
सुभगा पञ्चवर्षा च षड्वर्षा च उमा भवेत्।
सप्तभिर्मालिनी साक्षादष्टवर्षा च कुब्जिका॥
नवभिर्कालसङ्कर्षा दशभिश्चापराजिता।
एकादशे तु रुद्राणी द्वादशाब्दे तु भैरवी॥
त्रयोदशे महालक्ष्मीर्द्विसप्ता पीठनायिका।
क्षेत्रज्ञा पञ्चदशभिः षोडशे चान्नदा मता॥
एवं क्रमेण सम्पूज्या यावत् पुष्पं न जायते।
पुष्पितापि च सम्पूज्या तत्पुष्पादानकर्मणि॥

कुमारीपूजन की विधि निम्नलिखित प्रकार से बतायी गयी है:

अथान्यत्साधनं वक्ष्ये महाचीनक्रमोद्भवम्।
येनानुष्ठितमात्रेण शीघ्रं देवी प्रसीदति॥
अष्टम्याञ्च चतुर्दश्यां कुह्वां वा रविसंक्रमे।
कुमारीपूजनं कुर्यात् यथा विभवमात्मनः॥
वस्त्रालङ्करणाद्यैश्च भक्ष्यभोज्यैः सुविस्तरैः।
पञ्चतत्त्वादिभिः सम्यग् देवीबुद्धया सुसाधकः॥

कुमारीतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' की तन्त्रसूची में 'कुमारी-तन्त्र' का छठा क्रमिक स्थान है। इसमें कुमारीपूजन का विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

कुमारीपूजा—नवरात्र में इस व्रत का अनुष्ठान होता है। दे० समयमयूख, २२। विशेष विवरण के लिए दे० 'कुमारी'।

कुम्भपर्व—बारह-बारह वर्ष के अन्तर से चार मुख्य तीर्थों में लगनेवाला स्नान-दान का ग्रहयोग। इसके चार स्थल प्रयाग, हरिद्वार, नासिक-पंचवटी और अवन्तिका (उज्जैन) हैं। (१) जब सूर्य तथा चन्द्र मकर राशि पर हों, गुरु वृषभ राशि पर हो, अमावस्या हो; ये सब योग जुटने पर प्रयाग में कुम्भयोग पड़ता है। इस अवसर पर त्रिवेणी में स्नान करना सहस्रों अश्वमेध यज्ञों, सैकड़ों वाजपेय यज्ञों तथा एक लाख बार पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने से भी अधिक पुण्य प्रदान करता है। कुम्भ के इस अवसर पर तीर्थयात्रियों को मुख्य दो लाभ होते हैं; गंगास्नान तथा सन्तसमागम।

(२) जिस समय गुरु कुम्भ राशि पर और सूर्य मेष राशि पर हो तब हरिद्वार में कुम्भपर्व होता है। (३) जिस समय गुरु सिंह राशि पर स्थित हो तथा सूर्य एवं चन्द्र कर्क राशि पर हों तब नासिक में कुम्भ होता है। (४) जिस समय सूर्य तुला राशि पर स्थित हो और गुरु वृश्चिक राशि पर हो तब उज्जैन में कुम्भपर्व मनाया जाता है।

कुम्भ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराणों में मनोरंजक कथाएँ हैं। इनका सम्बन्ध समुद्रमन्थन से उत्पन्न अमृतघट से है। इस अमृतघट को असुर गण उठा ले गये थे,

जिसको गरुड़ पुनः पृथ्वी पर ले आये । जिन-जिन स्थानों पर यह अमृतघट (कुम्भ) रखा गया वहाँ अमृत-बिन्दुओं के छलक जाने से वे सभी प्रदेश पुण्यस्थल हो गये । वहाँ निश्चित समय पर स्नान-दान-पुण्य करने से अमृत-पद (मोक्ष) की प्राप्ति होती है । प्राचीन धर्मशास्त्रग्रन्थों में उक्त कुम्भयोगों का उल्लेख नहीं पाया जाता है ।

कुरुक्षेत्र—अम्बाला से २५ मील पूर्व स्थित एक प्राचीन तीर्थ । ब्राह्मणयुग में कुरुक्षेत्र बहुत ही पवित्र स्थल माना जाता था । शतपथ ब्राह्मण (४.१.५.१३) के अनुसार देवताओं ने कुरुक्षेत्र में यज्ञाहुति दी थी । मैत्रायणी संहिता में भी यही बात कही गयी है । इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणयुग के वैदिक लोग कुरुक्षेत्र में यज्ञ करने को सर्वाधिक महत्त्व देते थे : यह वैदिक संस्कृति का केन्द्र था, इसलिए यहाँ अधिक यज्ञ होना स्वाभाविक है और इसी कारण इसे 'धर्मक्षेत्र' भी कहा गया है । तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार देवताओं ने कुरुक्षेत्र में एक सत्र पूरा किया था । इसकी वेदी कुरुक्षेत्र में ही थी । इसके दक्षिणी भाग को खाण्डव तथा उत्तरी भाग को तूर्घ्न, मध्यभाग को परीण तथा मरु को उत्कर कहा गया है । इससे यह ज्ञात होता है कि खाण्डव, तूर्घ्न तथा परीण कुरुक्षेत्र के सीमान्त प्रदेश थे और मरु प्रदेश कुरुक्षेत्र से कुछ दूर था । महाभारत में कुरुक्षेत्र के पवित्र गुणों का उल्लेख किया गया है । ऐसा ज्ञात होता है कि इसकी सीमा दक्षिण में सरस्वती तथा उत्तर में दृषद्वती नदी तक थी । वनपर्व (८६.६) में कुरुक्षेत्र को 'ब्रह्मावर्त' कहा गया है । यही बात वामन पुराण तथा मनुस्मृति में भी किञ्चित् परिवर्तन के साथ कही गयी है । इस प्रकार आर्यावर्त में ब्रह्मावर्त सर्वाधिक पवित्र माना गया है और कुरुक्षेत्र ऐसा ही स्थल है ।

ब्राह्मणयुग में सर्वाधिक पवित्र सरस्वती कुरुक्षेत्र से ही होकर बहती थी और मरु भूमि को भी, जहाँ वह अदृश्य हो जाती है, पवित्र स्थल माना गया था । मूलतः कुरुक्षेत्र ब्रह्मा की वेदी कहलाता था, तदुपरान्त इसे समन्तपञ्चक तब कहा गया जब परशुराम ने पिता की हत्या के बदले में क्षत्रियों के रक्त से पाँच सरोवरों का निर्माण किया । फिर उनके पितरों के वरदान से यह पवित्र स्थल हो गया । बाद में महाराज कुरु के नाम पर इसका नाम कुरुक्षेत्र पड़ा ।

वामनपुराण के अनुसार कुरुक्षेत्र का अर्धव्यास पाँच योजन तक है । पुराणों में कुरुक्षेत्र को कई नामों से अभिहित किया गया है । इनमें कुरुक्षेत्र, समन्तपञ्चक, विनशन, सन्निहत्य, ब्रह्मसर और रामह्रद नाम प्रमुख हैं । अत्यन्त प्राचीन काल में कुरुक्षेत्र वैदिक संस्कृति का केन्द्र था । धीरे-धीरे यह केन्द्र पूर्व तथा दक्षिण की ओर खिसकता गया और अन्ततः मध्यदेश (गङ्गा और यमुना के बीच का प्रदेश) भारतीय संस्कृति का केन्द्र हो गया ।

महाभारत के वनपर्व (अ० ८३) के अनुसार जो लोग कुरुक्षेत्र में रहते हैं वे सभी पापों से मुक्त हैं । इसके अतिरिक्त जो यह कहता है कि मैं कुरुक्षेत्र जाऊँगा और वहाँ रहूँगा, वह भी पापमुक्त हो जाता है । संसार में इससे अधिक पवित्र स्थल दूसरा कोई नहीं है । कुरुक्षेत्र की धूलि का कण भी यदि कोई महान् पापी स्पर्श करे तो वह कण ही उसके लिए स्वर्ग हो जाता है । अन्यत्र ग्रह, नक्षत्र और तारों के भी पतन का भय बना रहता है, परन्तु जो कुरुक्षेत्र में मृत्यु को प्राप्त होते हैं वे पुनः मर्त्यलोक में नहीं आते (नारदीय पुराण, ११.६४.२३-२४) ।

नारदीय पुराण (उत्तरार्ध, अ० ६५) में कुरुक्षेत्र के लगभग सौ तीर्थों का नामाङ्कन किया गया है । इनमें से कुछ का ही विवरण यहाँ दिया जा सकता है । सर्वप्रथम ब्रह्मसर या पवनह्रद का नाम आता है, जहाँ राजा कुरु योगी के रूप में निवास करते थे । इस झील की लम्बाई पूर्व से पश्चिम ३५४६ फुट तथा चौड़ाई उत्तर से दक्षिण १९०० फुट है । वामन पुराण का मत है कि इसकी सीमा अर्ध योजन थी । चक्रतीर्थ की भूमि पर कृष्ण ने भीष्म पर आक्रमण करने के लिए चक्र धारण किया था । व्यासस्थली थानेश्वर से १७ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित आधुनिक वनस्थली है । अस्थिपुर थानेश्वर के पश्चिम तथा औजसघाट के दक्षिण में स्थित है । यहाँ महाभारतयुद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए सैनिकों का अन्तिम संस्कार किया गया था । कनिंघम के भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के अनुसार चक्रतीर्थ ही अस्थिपुर है और अलबीरूनी के युग में यह कुरुक्षेत्र का सबसे प्रसिद्ध मन्दिर था । सरस्वती-तट पर स्थित पृथूदक वनपर्व में बहुत ही उच्च स्तर का तीर्थ माना गया है । उसमें कहा गया है कि कुरुक्षेत्र

पवित्र स्थल है और सरस्वती उससे भी अधिक पवित्र है। सरस्वतीतट पर स्थित तीर्थ सरस्वती से भी अधिक पवित्र हैं और पृथूदक सरस्वती पर स्थित तीर्थों में भी सबसे अधिक पवित्र है। इससे उत्तम कोई तीर्थ नहीं है। शल्यपर्व (३९.३३-३४) में कहा गया है कि जो व्यक्ति सरस्वती के उत्तरी तट पर पृथूदक में पवित्र ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए जीवन का उत्सर्ग करता है वह निर्वाण को प्राप्त होता है तथा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। वामन पुराण (३९.२० और २३) में इसे ब्रह्मयोनि तीर्थ कहा गया है। पृथूदक थानेश्वर से १४ मील पश्चिम कर्नाल जिले में स्थित आधुनिक पिहोवा है।

वामन (३४.३) और नारदीय पुराण (उत्तरार्द्ध, ६५.४.७) में कुरुक्षेत्र के सात वनों—काम्यकवन, अदितिवन, व्यासवन, फलकीवन, सूर्यवन, मधुवन और सीतावन का उल्लेख है जो बहुत पवित्र हैं और पाप का नाश करने वाले हैं। तीर्थों की सूची में कुरुक्षेत्र को सन्तिहती या सन्निहत्य के नाम से अभिहित किया गया है। वामन पुराण (३२.३-४) के अनुसार सरस्वती का उद्गम प्लक्ष वृक्ष से हुआ है। वहाँ से कई पहाड़ियों को वेधते हुए वह द्वैतवन में प्रवेश करती है। वामन पुराण (३२.६-२२) में मार्कण्डेय द्वारा सरस्वती की प्रशंसा की गयी है।

कुलचूडामणितन्त्र—एक महत्त्वपूर्ण तन्त्र ग्रन्थ। इसमें ६४ तन्त्रों की सूची दी हुई है, जो 'वामकेश्वरतन्त्र' की सूची से मिलती-जुलती है।

कुलशेखर—तमिल वैष्णवों में बारह आलवारों (भक्त-कवियों) के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। कुलशेखर इनमें ही हुए हैं। दे० आलवार। स्थानीय परम्परा के अनुसार कुलशेखर का जन्म कलि के आरम्भ में मलावीर के चात्मपट्टन या तिरुमञ्जिक्कोलम् नामक स्थान में हुआ था। उन्होंने 'मुकुन्दमाला' नामक सरस स्तोत्र की रचना की है।

कुलसारतन्त्र—'कुलचूडामणितन्त्र' की सूची में उद्धृत एक ग्रन्थ। इसमें कौल सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

कुलार्णव—बहुप्रचलित तन्त्र ग्रन्थ। इसके अनुसार तान्त्रिक गण कई प्रकार के आचारों में विभक्त हैं। उनमें वेदाचार सामान्यतः श्रेष्ठ है, वेदाचार से वैष्णवाचार महान् है, वैष्णवाचार से शैवाचार उत्कृष्ट है, शैवाचार से दक्षिणाचार उत्तम है, दक्षिणाचार से वामाचार प्रशंसनीय है, वामाचार से सिद्धान्ताचार श्रेष्ठ है और सिद्धान्ताचार की अपेक्षा कौलाचार उत्तम है। कौलाचार से उत्तम और कोई आचार नहीं है। इस ग्रन्थ में इन्हीं कौल आचारों और सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

कुलालिकाम्नाय—इस तन्त्र ग्रन्थ में भारत के तीन यानों का उल्लेख है :

> दक्षिणे देवयानं तु पितृयानं तु उत्तरे।
> मध्ये तु महायानं शिवसंज्ञा प्रगीयते ॥

[दक्षिण में देवयान, उत्तर में पितृयान और मध्यदेश में महायान प्रचलित हैं।] इन यानों की विशेषता तो ठीक ठीक मालूम नहीं है, परन्तु महायानो श्रेष्ठ तन्त्र 'तथागतगुह्यक' से पता लगता है कि रुद्रयामलादि में जिसे वामाचार अथवा कौलाचार कहा गया है वही महायानियों का अनुष्ठेय आचार है। इसी सम्प्रदाय से क्रमशः 'कालचक्रयानं' या 'कालोत्तरमहायान' तथा वज्रयान की उत्पत्ति हुई। नेपाल के सभी शाक्त-बौद्ध वज्रयान सम्प्रदाय के हैं।

कुलीनवाद—'कुलीन' का मूल अर्थ है श्रेष्ठ परिवार का व्यक्ति। कुलीनवाद का अर्थ हुआ 'पारिवारिक श्रेष्ठता का सिद्धान्त'। इसके अनुसार श्रेष्ठ परिवार में ही उत्तम गुण होते हैं। अतः विवाहादि सम्बन्ध भी उन्हीं के साथ होना चाहिए। धर्मशास्त्र के अनुसार जिस परिवार में लगातार कई पीढ़ियों तक वेद-वेदाङ्ग का अध्ययन होता हो, वह कुलीन कहलाता है। शैक्षणिक प्रतिष्ठा के साथ विवाह सम्बन्ध में इस प्रकार के परिवार बंगाल में श्रेष्ठ माने जाते थे। सेनवंश के शासन काल में कुलीनता का बहुत प्रचार हुआ। विवाह सम्बन्ध में कुलीन परिवारों की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी। इस पर बहुत ध्यान दिया जाता था कि पुत्री अपने से उच्च कुल के वर से ब्याही जाय। फल यह हुआ कि कुलीन वरों की माँग अधिक हो गयी और इससे अनेक प्रकार की कुरीतियाँ उत्पन्न हुईं। बंगाल में यह कुलीन प्रथा खूब बढ़ी तथा वहाँ एक-एक कुलीन ब्राह्मण ने बहुत ही ऊँचा दहेज लेकर सौ-सौ से अधिक कुमारियों का पाणिग्रहण करते हुए उनका 'उद्धार' कर डाला। शिशुहत्या भी इस प्रथा का एक कुपरिणाम थी, क्योंकि विवाह को लेकर कन्या एक समस्या बन जाती थी। अंग्रेजों ने इस शिशुहत्या को

बन्द कर दिया तथा आधुनिक काल के अनेक सुधारवादी समाजों की चेष्टा से कुलीनवाद का ढोंग कम होता गया और आज यह प्रथा प्रायः समाप्त हो चुकी है ।

कुलदीपिका नामक ग्रन्थ में कुल की परिभाषा और कुलाचार का वर्णन निम्नाङ्कित प्रकार से पाया जाता है :

आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थदर्शनम् ।
निष्ठाऽवृत्तिस्तपो दानं नवधा कुललक्षणम् ।।

[आचार, विनय, विद्या, प्रतिष्ठा, तीर्थदर्शन, निष्ठा, वृत्ति का अत्याग, तप और दान ये नौ प्रकार के कुल के लक्षण हैं ।]

कुलीनस्य सुतां लब्ध्वा कुनीनाय सुतां ददौ ।
पर्यायक्रमतश्चैव स एव कुलदीपकः ।।

[वही कुल को प्रकाशित करनेवाला है जो कुल से कन्या ग्रहण करके पर्यायक्रम से कुल को ही कन्या देता है ।] चार प्रकार के कुलकर्म बताये गये हैं :

आदानञ्च प्रदानञ्च कुशत्यागस्तथैव च ।
प्रतिज्ञा घटकाग्रं च कुलकर्म चतुर्विधम् ।।

[आदान, प्रदान, कुशत्याग, प्रतिज्ञा और घटकाग्र ये कुलकर्म कहे गये हैं ।] राजा वल्लालसेन ने पञ्चगोत्रीय राढीय बाईस कुलों को कुलीन घोषित किया था । बंगाल में इनकी वंशपरम्परा अभी तक चली आ रही है ।

कुलेश्वरीतन्त्र—यह मिश्र तन्त्रों में से एक तन्त्र है ।

कुलजम साहेब—अठारहवीं शताब्दी में विरचित सन्त साहित्य का एक ग्रन्थ । इसके रचयिता स्वामी प्राणनाथ ने इसमें बतलाया है कि भारत के सभी धर्म एक ही पुरुष (ईश्वर) में समाहित हैं । ईसाइयों के मसीहा, मुसलमानों के महदी एवं हिन्दुओं के निष्कलंकावतार सभी एक ही व्यक्ति के रूप हैं । दे० 'प्राणनाथ' ।

कुल्लू—हिमाचल प्रदेश में ब्यास नदी के तट पर कुल्लू नगर स्थित है । यह बहुत सुन्दर स्थान है । यहाँ पठानकोट से सीधा मोटरमार्ग भी मण्डी होकर आता है । पठानकोट से कुल्लू एक सौ पचहत्तर मील पड़ता है । यह नगर बाजार, रघुनाथ-मन्दिर, धर्मशाला, थाना, पोस्ट आफिस, बिजली आदि से सम्पन्न है । तुषारमण्डित गगनचुम्बी भूधरों से वेष्टित यह स्थल समुद्रतल से ४७०० फुट ऊँचाई पर है । विजयादशमी को यहाँ की विशेष यात्रा होती है और दस दिन तक मेला रहता है ।

कुल्लूकभट्ट—मनुस्मृति की प्रसिद्ध टीका के रचयिता । इनका काल बारहवीं शताब्दी है । मेधातिथि और गोविन्दराज के मनुभाष्यों का इन्होंने प्रचुर उपयोग किया है । इनके अन्य ग्रन्थ हैं—स्मृतिविवेक, अशौचसागर, श्राद्धसागर और विवादसागर । पूर्वमीमांसा के ये प्रकाण्ड पण्डित थे । अपनी टीका 'मन्वर्थमुक्तावली' में इन्होंने लिखा है—"वैदिकी तान्त्रिकी चैव द्विविधा श्रुतिः कीर्तिता ।" [वैदिकी एवं तान्त्रिकी ये दो श्रुतियाँ मान्य हैं ।] इसलिए कुल्लूकभट्ट के मत से तन्त्र को भी श्रुति कहा जा सकता है । कुल्लूक ने कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियाँ जो क्रियाहीनता के कारण जातिच्युत हुई हैं, चाहे वे म्लेच्छभाषी हों चाहे आर्यभाषी, सभी दस्यु कहलाती हैं । इस प्रकार के कतिपय मौलिक विचार कुल्लूकभट्ट के पाये जाते हैं ।

मन्वर्थमुक्तावली की भूमिका में कुल्लूकभट्ट ने अपना संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया है :

गौडे नन्दनवासिनाम्नि सुजनैर्वन्द्ये वरेन्द्रयां कुले
श्रीमद्भट्टदिवाकरस्य तनयः कुल्लूकभट्टोऽभवत् ।
काश्यामुत्तरवाहिजह्नुतनयातीरे समं पण्डितैस्
तेनेयं क्रियते हिताय विदुषां मन्वर्थमुक्तावली ।।

[गौडदेश के नन्दन ग्रामवासी, सुजनों से वन्दनीय वारेन्द्र कुल में श्रीमान् दिवाकर भट्ट के पुत्र कुल्लूक हुए । काशी में उत्तरवाहिनी गङ्गा के किनारे पण्डितों के साहचर्य में उनके (कुल्लूकभट्ट के) द्वारा विद्वानों के हित के लिए मन्वर्थमुक्तावली (नामक टीका) रची जा रही है।] मेधा तिथि तथा गोविन्दराज के अतिरिक्त अन्य शास्त्रकारों का भी उल्लेख कुल्लूकभट्ट ने किया है, जैसे गर्ग (मनु. २.६), धरणीधर, भास्कर (मनु, १.८,१५), भोजदेव (मनु, ८.१८४), वामन (मनु, १२.१०६), विश्वरूप (मनु, २.१८९) । निबन्धों में कुल्लूक कृत्यकल्पतरु का प्रायः उल्लेख करते हैं । आश्चर्य इस बात का है कि मन्वर्थमुक्तावली में कुल्लूक ने बंगाल के प्रसिद्ध निबन्धकार जीमूतवाहन के दायभाग की कहीं चर्चा नहीं की है । संभवतः वाराणसी में रहने के कारण वे जीमूतवाहन के ग्रन्थ से परिचित नहीं थे । अथवा जीमूतवाहन अभी प्रसिद्ध नहीं हो पाये थे ।

कुल्लूक भट्ट ने अन्य भाष्यकारों की आलोचना करते हुए अपनी टीका की प्रशंसा की है (दे० पुष्पिका) :

सारासारवचः प्रपञ्चनविधौ मेधातिथेश्चातुरी
स्तोकं वस्तु निगूढमल्पवचनाद् गोविन्दराजो जगौ।
ग्रन्थेऽस्मिन्धरणीधरस्य बहुशः स्वातन्त्र्यमेतावता
स्पष्टं मानवधर्मतत्त्वमखिलं वक्तुं कृतोऽयं श्रमः ।।

[मेधातिथि की चातुरी सारगर्भित तथा सारहीन वचनों (पाठों) के विवेचन की शैली में दिखाई पड़ती है। गोविन्दराज ने शास्त्रों के गूढ़ अर्थों की व्याख्या संक्षेप में की है। धरणीधर ने परम्परा से स्वतन्त्र होकर शास्त्रों का अर्थ किया है। (परन्तु मैंने 'मन्वर्थमुक्तावली' में) मानव धर्म (शास्त्र) के सम्पूर्ण तत्त्व को स्पष्ट रूप से कहने का श्रम किया है।]

सर विलियम जोन्स ने कुल्लूक भट्ट की प्रशंसा में लिखा है : "इन्होंने कष्टसाध्य अध्ययन कर बहुत सी पाण्डुलिपियों की तुलना से ऐसा ग्रन्थ प्रस्तुत किया, जिसके विषय में सचमुच कहा जा सकता है कि यह लघुतम किन्तु अधिकतम व्यञ्जक, न्यूनतम दिखाऊ किन्तु पाण्डित्यपूर्ण, गम्भीरतम किन्तु अत्यन्त ग्राह्य है। प्राचीन अथवा नवीन किसी लेखक की ऐसी सुन्दर टीका दुर्लभ है।" दे० पेद्दा रमप्पा बनाम बंगरी शेषम्मा, इण्डियन ला रिपोर्टर (२, मद्रास, २८६, पृ० २९१)।

कुबेर—उत्तर दिशा के अधिष्ठाता देवता। मार्कण्डेय तथा वायुपुराण में 'कुबेर' शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार से दी हुई है :

कुत्सायां क्विति शब्दोऽयं शरीरं बेरमुच्यते।
कुबेरः कुशरीरत्वान् नाम्ना तेनैव सोऽङ्कितः ।।

['कु' का प्रयोग कुत्सा (निन्दा) में होता है। 'बेर' शरीर को कहते हैं। इसलिए कुत्सित शरीर धारण करने के कारण वे 'कुबेर' नाम से विख्यात हुए।]

भागवत पुराण के अनुसार विश्रवा मुनि की इडविडा (इलविला) नामक भार्या से कुबेर उत्पन्न हुए थे। ये घन, यज्ञ और उत्तर दिशा के स्वामी हैं। ये तीन चरणों और आठ दाँतों के साथ उत्पन्न हुए थे।

कुश (यज्ञीय तृण)—यह एक पवित्र घास है। इसका प्रयोग यज्ञों के विविध कर्मकाण्डों तथा सभी हिन्दू संस्कारों में होता है। इसकी नोक बड़ी तेज होती है। इसीसे कुशाग्रबुद्धि का मुहावरा प्रचलित हुआ। इसकी उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार है :

बर्हिष्मती नाम पुरी सर्वसम्पत्समन्विता।
न्यपतन् यत्र रोमाणि यज्ञस्याङ्गं विधुन्वतः ।।
कुशकाशास्त एवासन् शश्वद् हरितवर्चसः।
ऋषयो वै पराभाव्य यज्ञघ्नान् यज्ञमीजिरे ।।

[सब संपत्तियों से भरपूर बर्हिष्मती नगरी में पहले यज्ञस्वरूपी वराह भगवान् के शरीरकम्पन से जो रोम गिरे, वे ही हरे-भरे कुश और कास हो गये। ऋषियों ने उनको हाथ में धारण कर यज्ञविरोधियों को मार भगाया और अपना अनुष्ठान पूरा किया। (भागवत)]

कुश (राजा)—सूर्यवंशी भगवान् राम के ज्येष्ठ पुत्र। रामायण में इनकी उत्पत्ति का वर्णन मिलता है कि सीताजी के बड़े पुत्र का मार्जन ऋषि ने पवित्र कुशों से किया था इसलिए उसका नाम कुश हो गया।

कुश (द्वीप)—पौराणिक भुवनकोश (भूगोल) के अनुसार सात द्वीपों में एक कुश द्वीप भी है। यह घृत के समुद्र से घिरा हुआ है जहाँ देवनिर्मित अग्नि के समान कुशस्तम्ब वर्तमान हैं। इसीलिए इसका नाम 'कुश' पड़ा। इसके राजा प्रियव्रत के पुत्र हिरण्यरेता थे। इन्होंने इस द्वीप को सात भागों में विभक्त कर अपने सात पुत्रों को दे दिया।

कुशकण्डिका—होम कर्म में कुश बिछाने तथा वस्तु शुद्ध करने की विधि का ज्ञापक लम्बा गद्यमन्त्र। इसके अनुसार कुशों के द्वारा सभी प्रकार के होम के लिए सम्पादित अग्निसंस्कार की क्रिया को भी कुशकण्डिका कहते हैं। कर्मकाण्ड में यह क्रिया सर्वप्रथम की जाती है।

कुशिक—(१) कान्यकुब्ज (कन्नौज) के पौराणिक राजाओं में से एक, जिसके नाम से कौशिक वंश चला। कुशिकतीर्थ कान्यकुब्ज का एक पर्याय है। यह राजधानी ही नहीं, मध्ययुग तक प्रसिद्ध तीर्थ भी था, जिसकी गणना गहडवाल अभिलेखों के अनुसार उत्तर भारत के पञ्चतीर्थों में होती थी।

(२) लकुली (लकुलीश, जो शिव के एध अवतार समझे जाते हैं) के शिष्यों में से एक कुशिक हैं। उनके कुशिक आदि चार शिष्यों ने पाशुपत योग का पूर्ण अभ्यास किया था।

कुशीनगर—उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में कसया नामक कसबे के पास प्राचीन कुशीनगर है। अति प्राचीन काल में यह कुशावती नगरी (कुश की राजधानी) थी। पीछे यह मल्ल गणतन्त्र की राजधानी बनी। यहीं पर बुद्ध ने परिनिर्वाण प्राप्त किया था, अतएव यह स्थान बुद्धधर्मानुयायियों का प्रमुख तीर्थस्थान हो गया है। गोरखपुर से पूर्वोत्तर कसया (कुशीनगर) छत्तीस मील दूर है। खुदाई से

निकली मूर्तियों के अतिरिक्त यहाँ माथाकुँवर का कोटा, परिनिर्वाणस्तूप तथा परिनिर्वाणचैत्य, रामभारस्तूप आदि दर्शनीय हैं ।

परिनिर्वाणस्तूप में भगवान् बुद्ध की अस्थियाँ प्रतिष्ठापित की गयी थीं । मूल स्तूप कुशीनगर के मल्लों ने ही बनवाया था, परन्तु उसके बाद भग्न होने पर अत्यन्त पवित्र होने के कारण इस स्तूप का कई बार पुनर्निर्माण और संस्कार हुआ । परिनिर्वाणचैत्य में भगवान् बुद्ध की परिनिर्वाण-मुद्रा में (लेटी हुई) विशाल लाल पत्थर की प्रतिमा है जिसके आसन के सामने भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण का पूरा दृश्य अङ्कित है । इसी पर एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि भिक्षु बल ने इस प्रतिमा का दान किया था । रामभारस्तूप उस स्थान पर बना है, जहाँ मल्लों का अभिषेक होता था और भगवान् बुद्ध का दाह-संस्कार हुआ था । माथाकुँवर के कोट में पालकालीन भगवान् बुद्ध की बैठी हुई एक सुन्दर प्रतिमा है ।

कुश्रि वाजश्रवस—शतपथ ब्राह्मण (१०. ५. ५. १) में पवित्र अग्नि के सूक्तों के आचार्य के रूप में तथा बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तिम वंश (शिक्षकों की सूची) में ये वाजश्रवा के शिष्य कहे गये हैं । यह स्पष्ट नहीं है कि बृहदारण्यक के अन्तिम वंश में उद्धृत कुश्रि तथा शतपथ के दशम अध्याय के वंश में उद्धृत कुश्रि, जिसे यज्ञवचस राजस्तम्बायन का शिष्य कहा गया है, दोनों एक हैं अथवा भिन्न-भिन्न ।

कुषीतक सामश्रवा—पञ्चविंश ब्राह्मण में इन्हें एक गृहपति कहा गया है । ये कौषीतकियों के एक यज्ञसत्र के समय गृहपति बनाये गये थे ।

कुसुमाञ्जलि—न्यायाचार्य उदयन की रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध कुसुमाञ्जलि है, जिसमें कुल ७२ स्मरणीय श्लोकों में ईश्वर की सत्ता प्रमाणित की गयी है । नैयायिकों में यह ग्रन्थ बहुत प्रचलित है । इसकी अन्तिम भावपूर्ण और तर्कमयी शुभाशंसा है :

> इत्येवं श्रुतिशास्त्रसप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
> येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसारोपमाः ।
> किन्तु प्रोद्यतविप्रतीपविधयाप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
> काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते तारणीया जनाः ।।

[हे करुणामय प्रभो, इस ग्रन्थ में मैंने श्रुति-स्मृति-तर्क-युक्तियों के बहुत तीव्र प्रखर जल से नास्तिकों के हृदय को बड़ी मात्रा में धो डाला है, फिर भी पत्थर से भी कठोर उन लोगों के मन में आप स्थान ग्रहण न कर सके । किन्तु "ईश्वर नहीं है", "ईश्वर नहीं है" इस प्रकार उलटे रूप में बड़े वेग से वे सब तत्परतापूर्वक आपका ही चिन्तन करते हैं, अतः अन्त समय पर उनका भी उद्धार करने की कृपा कीजियेगा ।]

कूटसन्दोह—आचार्य रामानुज ने अपने मत की पुष्टि और प्रचार के लिए 'श्रीभाष्य' के अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों की रचना की । इन ग्रन्थों में इन्होंने शाङ्कर मत का प्रबल शब्दों में खण्डन किया है । रामानुजरचित ग्रन्थों की लम्बी सूची में एक ग्रन्थ 'कूटसन्दोह' भी है ।

कूटस्थ पुरुष—(१) शाक्त प्रणाली में यह धारणा है कि सर्वोच्च अन्तिम अवस्था में विष्णु वा शिव तथा उनकी शक्ति एक ही परमात्मा है, जिनमें कोई अन्तर नहीं है । केवल सृष्टिकाल में दोनों भिन्न होते हैं । सृष्टि की आरम्भिक प्रथम अवस्था में शक्ति जागृत होती है, जैसे नींद से उठी हो । उसके दो रूप होते हैं : क्रिया तथा भूति । पुनः उसके स्वामी के छः गुणों का उदय होता है, यथा ज्ञान, शक्ति, प्रतिभा, बल, शौर्य एवं सौन्दर्य । उनकी शक्ति लक्ष्मी छहों जोड़े बनकर संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध (द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ व्यूह) तथा उनकी शक्ति के रूप में प्रकट होती है । व्यूहों से १२ अर्धव्यूह तथा १२ विद्येश्वर उदित होते हैं । सृष्टि की इस अवस्था में विभवों (विष्णु के अवतारों) का उदय होता है, जो संख्या में ३९ हैं । साथ ही बैकुण्ठ और उसके निवासियों का उदय होता है ।

सृष्टि के आरम्भ की दूसरी अवस्था में शक्ति का भूतिरूप ठोस आकार धारण करता है, जिसे 'कूटस्थ पुरुष' तथा 'माया शक्ति' कहते हैं । कूटस्थ पुरुष व्यक्तिगत आत्माओं (जीवों) का समष्टिगत रूप है (जैसे अनेकों मधुमक्खियों का एक छत्ता होता है), जबकि माया सृष्टि का भौतिक उपादान है ।

(२) सांख्य दर्शन का कूटस्थ पुरुष निर्लिप्त, केवल और द्रष्टा मात्र है । इसका शाब्दिक अर्थ है 'कूट (चोटी) पर बैठा हुआ' ।

(३) पञ्चदशी (६.२२-२७) में परमात्मा के लिए इसका प्रयोग हुआ है :

अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्न चेतनः ।
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ॥
कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिविम्बकः ।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥
जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः ।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते ॥
अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन ।
अनादिरविवेकोऽयं मूलाविद्येति गम्यताम् ॥
विक्षेपावृत्तिरूपाभ्यां द्विधाविद्या प्रकल्पिता ।
न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यापादनमावृतिः ॥
अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रवुध्यते ।
न भाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्ध्वा वदत्यपि ॥

श्रीमद्भगवद्गीता (१५.१६-१७) में सच्चिदानन्द-स्वरूप पुरुषोत्तम को कूटस्थ कहा गया है :

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

कूटसाक्षी—धर्मशास्त्र में (व्यवहारतत्त्व के अनुसार) मायावी अथवा मिथ्यावादी साक्षी को कूटसाक्षी कहा गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति में कूटसाक्षी का लक्षण निम्नांकित है :

द्विगुणा वान्यथा ब्रूयुः कूटाः स्युः पूर्वसाक्षिणः ।
न ददाति तु यः साक्ष्यं जानन्नपि नराधमः ।
स कूटसाक्षिणां पापैस्तुल्यो दण्डेन चैव हि ॥

[वे पूर्व साक्षी कूट कहे जाते हैं जो दूना (बढ़ाकर) अथवा अन्यथा (असत्य) बोलते हैं । जो मनुष्य जानता हुआ भी साक्ष्य नहीं देता है वह भी कूटसाक्षी के समान ही अधम और दण्डच है ।]

कूर्म—विष्णु का एक अवतार, जिसने भूमण्डल को अपनी पीठ पर धारण कर रखा है। कूर्म या कच्छप जलजन्तु है । धार्मिक रूपक, माङ्गलिक प्रतीक, तान्त्रिक उपचारादि के रूप में इसका उपयोग होता है । बृहत्संहिता (अ० ६४) के अनुसार मन्दिर में स्थापित कूर्म की प्रतिमा मङ्गलकारिणी होती है :

वैदूर्यत्विट् स्थूलकण्ठस्त्रिकोणो
गूढच्छिद्रश्चारुवंशश्च शस्तः ।
क्रीडावाप्यां तोयपूर्णे मणौ वा
कार्यः कूर्मो मङ्गलार्थं नरेन्द्रैः ॥

शतपथ ब्राह्मण में कूर्म प्रजापति का अवतार माना गया है :

'स यत् कूर्मो नाम एतद्वा रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत । यदसृजदकरोत्तद् यदकरोत् तस्मात् कूर्म्मः कश्यपो वै कूर्म्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप इति ।

(शतपथ ब्राह्मण, ७. ५. १-५)

दे० 'कूर्मावतार' । पद्मपुराण के अनुसार सत्ययुग में देव और असुरों द्वारा समुद्रमन्थन के अवसर पर मन्दर पर्वत को धारण करने के लिए भगवान् विष्णु ने कूर्म का रूप ग्रहण किया (क्षीरोदमध्ये भगवान् कूर्मरूपी स्वयं हरिः ।) भागवतपुराण में भी यही बात कही गयी है ।

तन्त्रसार में यह एक मुद्रा का नाम है। इसका वर्णन इस प्रकार है :

वामहस्तस्य तर्जन्यां दक्षिणस्य कनिष्ठया ।
तथा दक्षिण तर्जन्यां वामाङ्गुष्ठे न योजयेत् ॥
उन्नतं दक्षिणाङ्गुष्ठं वामस्य मध्यमादिकाः ।
अङ्गुलीर्योजयेत् , पृष्ठे दक्षिणस्य करस्य च ॥
वामस्य पितृतीर्थेन मध्यमानामिके तथा ।
अधोमुखे च ते कुर्याद्दक्षिणस्य करस्य च ॥
कूर्मपृष्ठसमं कुर्याद्दक्षपाणिं च सर्वशः ।
कूर्ममुद्रेयमाख्याता देवताध्यानकर्मणि ॥

हठयोग में एक आसन का नाम कूर्मासन है :

गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ।
कूर्म्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥

तन्त्रों में एक चक्र का नाम भी कूर्मचक्र है ।

कूर्मतीर्थ—हिमालय में स्थित एक तीर्थ । बदरीनाथ मन्दिर के पीछे पर्वत पर सोधे चढ़ने से चरणपादुका का स्थान आता है । उसके ऊपर उर्वशीकुण्ड तथा इसी पर्वत पर आगे कूर्मतीर्थ पड़ता है । यहाँ भगवान् विष्णु का कूर्म (कच्छप) के रूप में पूजन होता है । कूर्म भूपृष्ठ का प्रतीक है, जो सभी जीवधारियों को धारण करता है ।

कूर्मद्वादशी—पौष शुक्ल द्वादशी । इस तिथि को कूर्म अवतार हुआ था, इसलिए विष्णु-नारायण की पूजा होती है । दे० वराह पुराण, अध्याय ४०; कृत्यरत्नाकर, ४८२-४८४ । घृत से परिपूर्ण ताम्रपात्र में एक कूर्म (कछुए) की मूर्ति स्थापित करके उसके ऊपर मन्दराचल रखकर किसी सुपात्र को दान दिया जाता है । इस अनुष्ठान से भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं ।

कूर्मद्वादशीव्रत—भविष्य पुराण के अनुसार यह पौष शुक्ल द्वादशी का व्रत है। इस व्रत में घृत भरे ताँबे के पात्र पर मन्दर पर्वत सहित कच्छप की मूर्ति रखकर पूजा की जाती है।

कूर्मपुराण—साधारणतया यह शैवपुराण है तथा इसमें 'लकुलीश-पाशुपतसंहिता' की कुछ सामग्री उद्धृत है, जो वायुपुराण में भी दृष्टिगोचर होती है। यह कुछ आगमों एवं तन्त्रों की शिक्षा को व्यक्त करता है। वायुपुराण से कुछ न्यूनाधिक यह शिव के अट्ठाईस अवतारों तथा उनके शिष्यों का वर्णन भी प्रस्तुत करता है। इसमें कुछ शाक्त तन्त्रों के भी उद्धरण हैं तथा शक्तिपूजा पर बल दिया गया है। यह अब भी निश्चित रूप से विदित नहीं है कि किस शैव सम्प्रदाय के वर्णन इसमें प्राप्त हैं (केवल अवतारों को छोड़कर, जो लकुलीश मत से सम्बन्धित हैं)।

कूर्मपुराण के पूर्वार्द्ध में तिरपन अध्याय तथा उत्तरार्ध में छियालीस अध्याय हैं। नारदपुराण आदि प्रायः सभी पुराणों में जहाँ कूर्मपुराण की चर्चा आयी है, बराबर सत्रह हजार श्लोक बताये गये हैं। परन्तु प्रचलित प्रतियों में केवल छः हजार के लगभग ही श्लोक पाये जाते हैं। नारदपुराण में जो विषयसूची दी हुई है उसकी आधी से कम ही सूची छपी पुस्तकों में पायी जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि कूर्मपुराण के कुछ अंश तन्त्र ग्रन्थों में मिला दिये गये हैं, क्योंकि नारदपुराणोक्त सूची के छूटे हुए विषय डामर, यामल आदि तन्त्रों में पाये जाते हैं।

मूलतः इस पुराण का रूप विशाल था। इसके उपलब्ध अंश से पता लगता है कि इसमें चार संहिताएँ थीं—(१) ब्राह्मी, (२) भागवती, (३) सौरी और (४) वैष्णवी। इस समय केवल 'ब्राह्मी संहिता' ही मिलती है। इसी का नाम कूर्मपुराण है। मत्स्य और भागवत पुराणों के अनुसार मूल कूर्मपुराण में १८००० श्लोक थे, परन्तु वर्तमान कूर्मपुराण में केवल ६००० श्लोक पाये जाते हैं। इसके कूर्म नाम पड़ने का कारण यह है कि भगवान् विष्णु ने कूर्मावतार धारण कर इस पुराण का उपदेश इन्द्रद्युम्न नामक राजा को दिया था। इस पुराण में शिव ही प्रधान आराध्य देवता के रूप में वर्णित हैं। इसमें यह मत प्रतिपादित किया गया है कि त्रिमूर्तियाँ—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव एक ही मूल सत्ता ब्रह्म के विभिन्न रूप हैं। शिव के साथ ही शाक्तपूजा का भी इसमें विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

कूर्मावतार—अवतारवाद का निरूपण पुराणों का प्रधान अङ्ग है। शैव पुराणों में शिव के अवतार तथा वैष्णव पुराणों में विष्णु के अगणित अवतारों का वर्णन पाया जाता है। इसी प्रकार अन्य पुराणों में अन्य देवों के अवतारों की चर्चा है। ये वर्णन निराधार नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ब्राह्मण तथा उपनिषदों में भी विविध अवतारों की चर्चा है। शतपथ ब्राह्मण (१.४.३.५) में कूर्मावतार का वर्णन है। अधिकांश वैदिक ग्रन्थों के मत से कूर्म, वराह आदि अवतारों की जो कथा कही गयी है, वह प्रजापति (ब्रह्मा) के अवतार की प्रकारान्तर में कथा है। वैष्णव पुराण इन्हीं अवतारों को विष्णु का अवतार बतलाते हैं।

कूष्माण्डदशमी—आश्विन शुक्ल दशमी। इस दिन शिव, दशरथ तथा लक्ष्मी का कूष्माण्ड (कुम्हड़ा) के फूलों से पूजन किया जाता है। चन्द्रमा को अर्घ्य दान करते हैं। दे० गदाधरपद्धति, कालसार भाग, पृ० १२५।

कूष्माण्डी—अम्बिका अथवा दुर्गा का एक पर्याय। कूष्माण्ड की बलि से प्रसन्न होने के कारण दुर्गा कूष्माण्डी कही जाती हैं। पवित्र मन्त्रों का नाम, जैसा वसिष्ठस्मृति में कथन है:

सर्ववेदपवित्राणि वक्ष्याम्यहमतः परम्।
येषां जपैश्च होमैश्च पूयन्ते नात्र संशयः॥
अघमर्षणं देवकृतः शुद्धवत्यस्तरत् समाः।
कूष्माण्डयः पावमान्यश्च दुर्गासावित्र्यथैव च॥

कूष्माण्डी एक लता भी है, जिसके फलों की बलि देने से पाप दूर होते हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार,

त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा कूष्माण्डीभिर्घृतं शुचि।
सुरापः स्वर्णहारी च रुद्रजापी जले स्थितः॥

[तीन दिन उपवास करने के बाद कूष्माण्डी के फलों के साथ घृत का सेवन करने से और जल में बैठकर रुद्र-जप करने से मद्यपान एवं सुवर्णचोरी का पाप कट जाता है।]

कृकलास—कृकलास (गिरगिट) का उल्लेख यजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता, ५. ५. १९. १; मैत्रायणी सं०, ३. १४. २१ तथा वाजसनेयी सं०, २४. ४०) में अश्वमेध यज्ञ की बलिपशुतालिका में हुआ है। 'कृकलासी' का भी ब्राह्मणों में उल्लेख है। 'त्रिकाण्डशेष' के अनुसार यह सूर्य का प्रतीक है, क्योंकि क्रमशः यह सूर्य के सभी रंगों को धारण करता (बदलता) है, महाभारत (१३.७०) के अनुसार सूर्यवंशी

राजा नृग को ब्राह्मण की गौ का अपहरण करने के कारण कृकलास योनि में जन्म धारण करना पड़ा था ।

कृच्छ्रव्रत—मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थी को इस व्रत का प्रारम्भ होता है । चार वर्ष तक इसका आचरण करना चाहिए । इसके देवता गणेशजी हैं । एक वर्ष तक चतुर्थी को एक समय आहार करके जीवनयापन करना चाहिए, द्वितीय वर्ष रात्रि में भोजन करना चाहिए । तृतीय वर्ष बिना माँगे जो मिल जाय उसे खाना चाहिए तथा चौथे वर्ष चतुर्थी के दिन पूर्णोपवास करना चाहिए । दे० हेमाद्रि, १.५०१-५०४, स्कन्दपुराण ।

यह पापों को दूर करता है, इसलिए 'कृच्छ्र' कहलाता है । याज्ञवल्क्य का कथन है :

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
जग्ध्वा परेऽह्न्युपवसेत् कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ।।

कृच्छ्रव्रतानि—कुछ व्रत कृच्छ्र माने जाते हैं । जैसे सौमायन, तप्तकृच्छ्र, कृच्छ्रातिकृच्छ्र, सान्तपन । यद्यपि ये प्रायश्चित्त हैं तथापि हेमाद्रि में इनकी गणना व्रतों में की गयी है । शूद्रों के लिए इन व्रतों का निषेध है । कुछ अन्य कृच्छ्र व्रतों का भी वर्णन मिलता है, जैसे कार्तिक कृष्ण सप्तमी से पैताम्भ कृच्छ्र । इसमें चार दिन तक क्रमशः केवल जल, दुग्ध, दधि तथा घृत ही लेना चाहिए, एकादशी को उपवास तथा हरिपूजन का विधान है । वैष्णव कृच्छ्र व्रत के समय 'मुन्यन्न' (नीवार के समान एक धान्य) को तीन दिन तक खाना चाहिए । तदनन्तर तीन दिन तक यावक तथा तीन दिन तक उपवास करना चाहिए ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्र—कृच्छ्र का अर्थ है कष्ट अथवा कठिन । कठिन से कठिन व्रत को 'कृच्छ्रातिकृच्छ्र' कहते हैं । वसिष्ठ के अनुसार :

अब्भक्षस्तृतीयः कृच्छ्रातिकृच्छ्रो यावत् सकृदादीत । यावदेकवारमुदकं हस्तेन गृहीतुं शक्नोति तावन्नवसु दिवसेषु भक्षयित्वा त्र्यहमुपवासः कृच्छ्रातिकृच्छ्रः ।

[जिसमें केवल एक बार जल पिया जाता है वह कृच्छ्रातिकृच्छ्र है । अथवा जिसमें प्रतिदिन एक बार हाथ से जल ग्रहण कर नौ दिनों तक ऐसे ही रहा जाय और तीन दिन पूर्ण (जलरहित) उपवास किया जाय वह कृच्छ्रातिकृच्छ्र है ।] सुमन्तु के अनुसार :

द्वादशरात्रं निराहारः स कृच्छ्रातिकृच्छ्रः । एतत्कृच्छ्रातिकृच्छ्रद्वयं द्वादशाहसाध्यमशक्तविषयम् ।

[बारह दिन निराहार व्रत करने को कृच्छ्रातिकृच्छ्र कहते हैं । यह व्रत असमर्थों के लिए बारह दिन का है ।] प्रायश्चित्तविवेक में ब्रह्मपुराण से निम्नांकित श्लोक उद्धृत है, जिसके अनुसार यह व्रत इक्कीस दिन का होता है :

चरेत् कृच्छ्रातिकृच्छ्रञ्च पिबेत्तोयञ्च शीतलम् ।
एकविंशतिरात्रन्तु कालेष्वेतेषु संयतः ।।

घोर पापों के प्रायश्चित्त स्वरूप इस व्रत का विधान किया गया है ।

कृतकोटि—(१) जिसने शास्त्रों की कोटि (सीमा अथवा श्रेष्ठता) प्राप्त कर ली है उसको कृतकोटि कहते हैं । 'त्रिकाण्डशेष' के अनुसार यह काश्यप अथवा उपवर्ष का पर्याय है । यह शङ्कराचार्य की पदवी भी है ।

(२) प्रसिद्ध है कि ब्रह्मसूत्र पर बौधायन (एक वेदान्ताचार्य) ने वृत्ति लिखी थी जिसको आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में उद्धृत किया है । जर्मन पण्डित याकोबी का मत है कि बौधायन ने मीमांसासूत्र पर भी वृत्ति लिखी है । प्रपञ्चहृदय नामक ग्रन्थ से यह बात सिद्ध होती है और प्रतीत होता है कि बौधायननिर्मित वेदान्तवृत्ति का नाम 'कृतकोटि' था (प्रपञ्चहृ०, पृ० ३९) । पुलवर पुराण, मणिमेखलै आदि द्रविड भाषा के प्रबन्धों में बौधायनकृत मीमांसावृत्ति का कृतकोटि नाम से निर्देश है ।

कृतक्रिय—धार्मिक क्रिया सम्पन्न करनेवाला व्यक्ति । इसका सांकेतिक रूप किसी कर्म को समाप्त करना है । मनुस्मृति (५.९९) के अनुसार :

विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् ।
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन् वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ।।

[कृतक्रिय ब्राह्मण जल स्पर्श करके, क्षत्रिय वाहन अथवा अस्त्र-शस्त्र छूकर, वैश्य कोड़ा अथवा लगाम छूकर और शूद्र यष्टि (लाठी) स्पर्श करके शुद्ध होता है ।]

कृतयुग—वैदिक धर्मावलम्बी हिन्दू विश्व की चार सीमाएँ मानते हैं, जिन्हें 'युग' कहते हैं । ये हैं कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि । ये नाम पासे के पहलुओं (पक्ष) के अनुसार रखे गये हैं । कृत सर्वोत्कृष्ट है, जिसके पहलू पर चार बिन्दु होते हैं, त्रेता पर तीन, द्वापर पर दो एवं कलि

पर एक बिन्दु होता है, अर्थात् क्रम से प्रत्येक में एक-एक बिन्दु कम होता जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों, रामायण-महाभारत एवं पुराणों में उपर्युक्त पासों के पक्षबिन्दुओं के अनुसार इनके नाम रखने का अर्थ यह है कि कृत सबसे चौगुना लम्बा एवं सर्वगुणसम्पन्न युग है तथा क्रम से युगों में गुण एवं आयु का ह्रास होता जाता है। कृत की आयु ४४०० दिव्य वर्ष है, त्रेता की ३३००, द्वापर की २२०० तथा कलि की ११०० दिव्य वर्ष है। एक दिव्य वर्ष १००० मानव-वर्ष के बराबर होता है।

कृतयुग हमारे सामने मनुष्यजाति की सबसे सुखी अवस्था को प्रस्तुत करता है। मनुष्य इस युग में ४००० वर्ष जीता था। न तो युद्ध होते थे न झगड़े। वर्णाश्रमधर्म तथा वेद की शिक्षाओं का पूर्णरूपेण पालन होता था। अच्छे गुणों का दृढ शासन था। कलि ठीक इसके विपरीत गुणों का बोधक युग है। दे० 'कलियुग।'

कृत्ति—मरुत् देवता के एक अस्त्र का नाम। ऋग्वेद में उद्धृत (१.१६८.३) मरुतों को 'कृत्ति' धारण करने वाला कहा गया है। जिमर ने इस शब्द का अर्थ 'खड्ग' लगाया है, जिसे युद्ध में धारण किया जाता था। किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है कि उस समय कृत्ति एक मानवीय अस्त्र था।

कृत्तिवासा—कृत्ति अथवा गजचर्म को वस्त्र के रूप में धारण करने वाले। यह शिव का पर्याय है। स्कन्दपुराण के काशीखण्ड (अध्याय ६४) में गजासुरवध तथा शिव के कृत्तिवासत्व की कथा दी हुई है, यथा

"महिषासुर का पुत्र गजासुर सर्वत्र अपने बल से उन्मत्त होकर सभी देवताओं का पीडन कर रहा था। यह दुस्सह दानव जिस-जिस दिशा में जाता था वहाँ तुरन्त सभी दिशाओं में भय छा जाता था। ब्रह्मा से वर पाकर वह तीनों लोकों को तृणवत् समझता था। काम से अभिभूत स्त्री-पुरुषों द्वारा यह अवध्य था। इस स्थिति में उस दैत्यपुङ्गव को आता हुआ देखकर त्रिशूलधारी शिव ने मानवों से अवध्य जानकर अपने त्रिशूल से उसका वध किया। त्रिशूल से आहत होकर और अपने को छत्र के समान टँगा हुआ जानकर वह शिव की शरण में गया और बोला—हे त्रिशूलपाणि! हे देवताओं के स्वामी! मैं आपको कामदेव को भस्म करने वाला जानता हूँ। हे पुरान्तक! आपके हाथों मेरा वध श्रेयस्कर है। कुछ मैं कहना चाहता हूँ। मेरी कामना पूरी करें। हे मृत्युञ्जय! मैं आपके ऊपर स्थित होने के कारण धन्य हूँ। त्रिशूल के अग्र भाग पर स्थित होने के कारण मैं कृतकृत्य और अनुगृहीत हूँ। काल से तो सभी मरते हैं, परन्तु इस प्रकार की मृत्यु कल्याणकारी है। कृपानिधि शंकर ने हँसते हुए कहा—हे गजासुर! मैं तुम्हारे महान् पौरुष से प्रसन्न हूँ। हे असुर, अपने अनुकूल वर माँगो, तुमको अवश्य दूँगा। उस दैत्य ने शिव से पुनः निवेदन किया, हे दिग्वास! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे सदा धारण करें। यह मेरी कृत्ति (चर्म) आपकी त्रिशूलाग्नि से पवित्र हो चुकी है। यह अच्छे आकार वाली, स्पर्श करने में सुखकर और युद्ध में पणीकृत है। हे दिगम्बर! यदि यह मेरी कृत्ति पुण्यवती नहीं होती तो रणाङ्गण में इसका आपके अंग के साथ सम्पर्क कैसे होता? हे शंकर! यदि आप प्रसन्न हैं तो एक दूसरा वर दीजिए। आज के दिन से आपका नाम कृत्तिवासा हो। उसके वचन को सुनकर शंकर ने कहा, ऐसा ही होगा। भक्ति से निर्मल चित्त वाले दैत्य से उन्होंने पुनः कहा :

हे पुण्यनिधि दैत्य! दूसरा वर अत्यन्त दुर्लभ है। अविमुक्त (काशी) में, जो मुक्ति का साधन है, तुम्हारा यह पुण्यशरीर मेरी मूर्ति होकर अवतरित होगा, जो सबके लिए मुक्ति देनेवाला होगा। इसका नाम 'कृत्तिवासेश्वर' होगा। यह महापातकों का नाश करेगा। सभी मूर्तियों में यह श्रेष्ठ और शिरोभूत होगा।"

कृत्तिकाव्रत—यह व्रत कार्तिकी पूर्णिमा के दिन प्रारम्भ होता है। इसमें किसी पवित्र स्थान पर स्नान करना चाहिए, जैसे प्रयाग, कुरुक्षेत्र, पुष्कर, नैमिषारण्य, मूलस्थान और गोकर्ण, अथवा किसी भी नगर अथवा ग्राम में स्नान किया जा सकता है। सुवर्ण, रजत, रत्न, नवनीत तथा आटे की छः कृत्तिका नक्षत्रों की मूर्तियों का पूजन करना चाहिए। मूर्तियाँ चन्दन, आलक्तक तथा केसर से चर्चित तथा सज्जित होनी चाहिए। पूजा में जाती पुष्पों का प्रयोग करना चाहिए।

कृत्तिकास्नान—इस व्रत में भरणी नक्षत्र के दिन उपवास करना चाहिए। कृत्तिका नक्षत्र वाले दिन पुरोहित द्वारा यजमान तथा उसकी पत्नी को सोने के कलश अथवा पवित्र जल तथा वनस्पतियों से परिपूर्ण मिट्टी के कलश द्वारा स्नान कराना चाहिए। इसमें अग्नि, स्कन्द, चन्द्र, कृपाण तथा वरुण के पूजन का विधान है।

कृत्यकल्पतरु—धर्मशास्त्र का एक निबन्ध-ग्रन्थ। इसके रचयिता गहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र के सान्धिविग्रहिक लक्ष्मीधर थे। रचनाकाल बारहवीं शताब्दी है। यह विशाल ग्रन्थ था किन्तु इसकी पूरी पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं है। यह बारह काण्डों में विभक्त था। उपलब्ध पाण्डुलिपियों से ज्ञात है कि इसका ग्यारहवाँ काण्ड राजधर्म और बारहवाँ व्यवहार है। पूरे ग्रन्थ का नाम तो कृत्यकल्पतरु है किन्तु इसके अन्य नाम कल्पतरु, कल्पद्रुम, कल्पवृक्ष आदि भी प्रचलित हैं। इसकी सर्वाधिक पूर्ण पाण्डुलिपि महाराणा उदयपुर के ग्रन्थालय में सुरक्षित है। इसमें बारह काण्ड और ११०८ पन्ने हैं। इसके बारह काण्ड निम्नाङ्कित हैं :

१. ब्रह्मचारी
२. गृहस्थ
३. नैयत काल
४. श्राद्ध
५. प्रतिष्ठा
६. प्रतिष्ठा
७. ×
८. तीर्थ
९. ×
१०. शुद्धि
११. राजधर्म
१२. व्यवहार।

दो और काण्ड पाये जाते हैं : १३. शान्तिक और १४. मोक्ष। मनमोहन चक्रवर्ती (जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, १९१५, पृ० ३५८-५९) का सुझाव है कि लुप्त सातवाँ काण्ड पूजा तथा नवाँ प्रायश्चित्त था।

कृष्ण—ऋग्वेद की एक ऋचा (८.८५.३-४) में 'कृष्ण' किसी ऋषि का नाम है। उन्हें अथवा उनके पुत्र को (ऋग्वेद, ८.२६) मन्त्रद्रष्टा कहा गया है। 'कृष्णीय' शब्द गोत्रवाचक है जो ऋग्वेद की दो ऋचाओं में उद्धृत है, जहाँ विश्वक् कृष्णीय के लिए विष्णापू को अश्विनौ ने किसी रोग से मुक्ति देकर बचाया था। इस अवस्था में कृष्ण, विष्णापू के पितामह प्रतीत होते हैं। कौषीतकि ब्राह्मण (३०.९) में उद्धृत कृष्ण आंगिरस एवं उपर्युक्त कृष्ण एक ही जान पड़ते हैं।

कृष्ण देवकीपुत्र—छान्दोग्य उपनिषद् में कृष्ण देवकीपुत्र घोर आङ्गिरस के शिष्य के रूप में उद्धृत हैं। परम्परा तथा आधुनिक विद्वान् ग्रियर्सन, गार्वे आदि ने इन्हें महाभारत के नायक कृष्ण के रूप में माना है, जिन्हें आगे चलकर देवत्व प्राप्त हो गया।

कृष्ण हारीत—ऐतरेय आरण्यक में इन्हें एक आचार्य कहा गया है।

कृष्णदत्त लौहित्य—(लौहित्य के वंशज) : जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३.४२.१) की एक गुरुशिष्य-सूची में इन्हें श्याम सुजयन्त लौहित्य का शिष्य कहा गया है।

कृष्ण—(महाभारत तथा भागवत के :) इनके ऐतिहासिक स्वरूप का वर्णन उपस्थित करना एक ग्रन्थ रचना का विषय है। महाभारत में कृष्ण एक स्थान पर मानवीय नायक, दूसरे स्थान पर अर्धदेव (विष्णु के अंशावतार) एवं अन्य स्थान पर पूर्णावतार (एक मात्र ईश्वर) के रूप में देख पड़ते हैं, जिन्हें आगे चलकर ब्रह्म अथवा परमात्मा कहा गया।

कृष्ण का जन्म द्वापर के अन्त में मथुरा में अन्धकवृष्णि गणसंघ में हुआ था। इनके पिता का नाम वसुदेव तथा माता का नाम देवकी था। उन दिनों इनके नाना देवक के भाई उग्रसेन इस संघ के गणमुख्य थे। उनका पुत्र कंस एकतन्त्रवादी था। वह उग्रसेन को उनके पद से हटाकर स्वयं राजा बन बैठा। कृष्ण उसके विरोधी थे। कंस ने कृष्ण को मारने की बड़ी चेष्टा की, जिसकी अतिरञ्जित कहानियाँ भागवत-पुराण में वर्णित हैं। इनसे कृष्ण के अद्भुत पुरुषार्थ का परिचय मिलता है। अन्त में उन्होंने कंस का वध कर उग्रसेन को पुनः गणमुख्य बनाया। कंस के वध से उसका सहायक और श्वशुर, मगध का शासक जरासंध बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने चेदिराज शिशुपाल और यवन कालनेमि की सहायता से मथुरा पर सत्रह बार आक्रमण किया। कृष्ण को विवश होकर मथुरा छोड़ द्वारका जाना पड़ा। कृष्ण के नेतृत्व में यादवों ने सुराष्ट्र में एक नये राज्य की स्थापना की। कृष्ण ने अपनी योग्यता के बल पर अखिल भारतीय राजनीति में प्रमुख स्थान ग्रहण किया।

इसी बीच हस्तिनापुर के कौरवों और पाण्डवों में राज्य के बँटवारे के लिए संघर्ष प्रारम्भ हुआ। कृष्ण पाण्डवों के सहायक थे। पहले इन्होंने प्रयत्न किया कि शान्ति के साथ पाण्डवों को अधिकार मिल जाय। कौरवों के दुराग्रह के कारण युद्ध हुआ। इसी युद्ध का नाम महाभारत है। वास्तव में महाभारत के कथाकार व्यास और सूत्रधार कृष्ण थे। महाभारत के प्रारम्भ में पाण्डव अर्जुन को कुलक्षय की आशंका से जो व्यामोह हुआ उसका निराकरण कृष्ण ने भगवद्गीता के उपदेश से किया, जो नीतिदर्शन की उत्कृष्ट कृति है। कृष्ण बहुत बड़े दार्शनिकनीक

भी थे। इसीलिए इनको योगेश्वर एवं जगद्गुरु (कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्) की उपाधि मिली। इनकी सहायता से पाण्डव विजयी हुए और युधिष्ठिर (पाण्डवों में श्रेष्ठ) की अध्यक्षता में पाण्डवराज्य की स्थापना हुई। कृष्ण इसके पश्चात् द्वारका लौट आये। गृहयुद्ध से उनके यदुवंश का विध्वंस हुआ। जंगल में एक व्याध के बाण से स्वयं उनका भी निधन हुआ।

कृष्ण का व्यक्तित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली था। वे राजनीति के बहुत बड़े ज्ञाता और दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। धार्मिक जगत् में भी वे नेता और प्रवर्त्तक थे। उन्होंने समुच्चयवादी (ज्ञान-कर्म-भक्ति-समन्वयी) भागवत धर्म का प्रवर्तन किया। अपनी योग्यताओं के कारण वास्तव में वे युगपुरुष थे, जो आगे चल कर युगावतार के रूप में स्वीकार किये गये।

पुराणों में कृष्ण का वर्णन ईश्वर के पूर्णावतार के रूप में है। पूर्णावतार का साङ्गोपाङ्ग रूपक भागवत पुराण में पाया जाता है। दुष्टों का अत्याचार, अवतार का उद्देश्य, कारागार में जन्म, योगमाया का जन्म, गोचारण, गोप तथा गोपियाँ, उनका अनन्य प्रेम, दुष्टदलन, कंसवध, रास, वेदान्त शिक्षण आदि का विस्तृत वर्णन और निरूपण इस पुराण तथा अन्य पुराणों में उपलब्ध है। हरिवंश (महाभारत के परिशिष्ट) में कृष्ण की कथा दुबारा कही गयी है।

कृष्ण ने जिस भागवत धर्म का प्रवर्तन किया था, आगे चलकर उसमें वे स्वयं उपास्य मान लिये गये। दर्शन में इतिहास का उदात्तीकरण हुआ और कृष्ण के ईश्वरत्व और ब्रह्मपद की प्रतिष्ठा हुई। भागवत-वैष्णव धर्म आज भारत का बहुमानित और प्रतिष्ठित धर्म है। भारत में इसके सम्प्रदायों तथा उपसम्प्रदायों का व्यापक प्रचार हुआ है। दे० 'अवतार'।

कृष्णकर्णामृत—विष्णु स्वामी मत के अनुयायी बिल्वमङ्गल द्वारा रचित एक संस्कृत काव्य, जिसके विषय राधा तथा कृष्ण हैं। कानों में अमृत सींचने के समान यह बड़ी मधुर श्रव्य रचना है।

कृष्णचतुर्दशी (शिवरात्रि)—(१) फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। शिव इसके देवता हैं। भगवान् शिव के चौदह नामों के जप का विधान है। चौदह वर्षपर्यन्त इसका आचरण करना चाहिए।

(२) केवल महिलाओं के लिए इसका विधान है। कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को उपवास करना चाहिए। शिव इसके देवता हैं। एक वर्षपर्यन्त इसका आचरण करना चाहिए।

(३) माघ मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को भगवान् शिव की बिल्वपत्रों से पूजा करनी चाहिए। इस दिन भगवान् शङ्कर की प्रतिमा के सम्मुख गुग्गुल जलाना चाहिए।

कृष्णचरित—वैष्णव पुराणों में कृष्ण के विविध चरितों का वर्णन कई दृष्टियों से हुआ है। कृष्ण पूर्णावतार अथवा षोडशकला-अवतार माने गये हैं। अतः इनके जीवन में विविधता और जीवन के सभी वैषम्य समन्वित हैं। कृष्ण का बाह्यतः विरोधात्मक चरित्र बहुतों को भ्रम में डाल देता है। परन्तु इसके मूल में समन्वयात्मक एकता वर्तमान है। अतः इनके भक्तों के लिए वैषम्य प्रतीयमान है; वास्तविक नहीं। कृष्ण के पूर्णावतार में समग्र जीवन का चित्रण है। भागवत और महाभारत में कृष्णचरित का पूरा विकास पाया जाता है।

कृष्ण चैतन्य—सोलहवीं शती के प्रारम्भ में दो नये सम्प्रदाय चैतन्य एवं वल्लभ उत्पन्न हुए। इनमें चैतन्य का मत प्रथम है तथा इसकी शिक्षाएँ तथा अन्य धार्मिक विधियाँ पूर्व के अन्य सम्प्रदायों के समीप हैं।

कृष्ण चैतन्य का बालनाम विश्वम्भर था। ये बङ्गाल के नदिया (नवद्वीप) नामक प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र में उत्पन्न हुए थे। बचपन में ही ये तर्क एवं व्याकरण के ज्ञान के लिए प्रसिद्ध हो गये। १५०७ ई० में ईश्वर पुरी (माध्व संन्यासी) से प्रभावित होकर भागवत पुराण में वर्णित भक्ति को इन्होंने अपने जीवन में गम्भीरता से ग्रहण किया। इसके पश्चात् इन्होंने अपना उपदेश आरम्भ किया तथा इनके अनेक शिष्य हो गये, जिनमें अद्वैताचार्य (एक वृद्ध एवं सम्माननीय वैष्णव विद्वान्) एवं नित्यानन्द (जो बहुत दिन तक माध्व थे) उल्लेखनीय हैं। इसी समय इन पर निम्बार्कों एवं विष्णुस्वामियों का बड़ा प्रभाव पड़ा तथा ये जयदेव, चण्डीदास एवं विद्यापति के गीतों में आनन्द लेने लगे। इस प्रकार इन्होंने अपने माध्व शिक्षक से विलग होकर राधा को अपने विचार एवं आराधना में प्रधानता दी। ये अधिकांश समय शिष्यों के साथ मिलकर राधा-कृष्ण की

स्तुतियाँ (संकीर्तन) गाने में व्यतीत करने लगे । प्रायः ये शिष्यों को लेकर नगर कीर्तन किया करते । ये नये मार्ग आगे चलकर बड़े ही लोकप्रिय सिद्ध हुए ।

१५०९ ई० में इन्होंने केशव भारती से संन्यास की दीक्षा ली एवं 'कृष्ण चैतन्य' नाम धारण किया । फिर उड़ीसा में जगन्नाथमन्दिर, पुरी, चले गये । कुछ वर्षों तक अपना सम्पूर्ण समय उत्तर तथा दक्षिण भारत की यात्रा में बिताया । वृन्दावन इनको बहुत प्रिय था, जो राधा की रासभूमि थी । ये इस समय नवद्वीपवासियों द्वारा कृष्ण के अवतार माने जाने लगे तथा इनका सम्प्रदाय प्रसिद्ध हो गया । १५१६ ई० से ये पुरी में रहने लगे । यहाँ पर इनके कई शिष्य हुए । इनमें सार्वभौम, प्रतापरुद्र (उड़ीसा के राजा) तथा रामानन्द राय (प्रतापरुद्र के मन्त्री) प्रसिद्ध हैं । दो बड़े विद्वान् शिष्य इनके और हुए जिन्होंने आगे चलकर चैतन्य सम्प्रदाय के धार्मिक नियमों एवं दर्शनों के स्थापनार्थ ग्रन्थों की रचना की । ये थे रूप एवं सनातन । और भी दूसरे शिष्यों ने राधा-कृष्ण तथा चैतन्य की प्रशंसा में गीत लिखे । इनमें से नरहरि सरकार, वासुदेव घोष एवं वंशीवादन प्रमुख थे ।

चैतन्य न तो व्यवस्थापक थे और न लेखक । इनके सम्प्रदाय की व्यवस्था का कार्य सँभाला नित्यानन्द ने तथा धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की रूप एवं सनातन ने । इनका कुछ नया सिद्धान्त नहीं था । किन्तु सम्भवतः चैतन्य ने ही मध्व के द्वैत की अपेक्षा निम्बार्क के भेदाभेद को अपने सम्प्रदाय का दर्शन माना । इनके आधार ग्रन्थ थे भागवत पुराण (श्रीधरी व्याख्या सहित), चण्डीदास, जयदेव एवं विद्यापति के गीत, ब्रह्मसंहिता तथा कृष्णकर्णामृत काव्य । लोगों पर इनके प्रभाव का मुख्य कारण था धार्मिक अनुभव, प्रभावशाली भावावेश (जब ये कृष्ण की मूर्ति की ओर देखते तथा उनके प्रेम पर भाषण करते थे) तथा कृष्णभक्ति की संस्पर्शयुक्त एवं हार्दिक प्रशंसा की नयी प्रणाली । राधा-कृष्ण की कथा को ही इन्होंने अपनी आराधना का माध्यम बनाया, क्योंकि इनका कहना था कि हमारे पास मनुष्यों का सबसे अधिक हृदय स्पर्श करने वाली कोई और गाथा नहीं है । इनका मत 'गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय' कहा जाता है । बँगला भाषा में चैतन्य के ऊपर बहुत बड़ा साहित्य विकसित हुआ है, जो जनता में बहुत लोकप्रिय है ।

कृष्णजन्मखण्ड—ब्रह्मवैवर्तपुराण का एक अंश । एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में वैष्णवों में इसका बहुत आदर है । निम्बार्क सम्प्रदाय का यह प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है ।

कृष्णजयन्ती—देवताओं के जन्मोत्सव उनकी अवतरण की तिथियों पर मनाये जाते हैं । इनमें रामजयन्ती, कृष्णजयन्ती एवं विनायकजयन्ती (गणेशचतुर्थी) विशेष प्रसिद्ध हैं । कृष्णजयन्ती विष्णु के अवतार के रूप में मनायी जाती है । कृष्ण का जन्म भाद्रपद कृष्ण अष्टमी को हुआ था । इस दिन भगवान् की मूर्ति को सजाते हैं, झूले पर झुलाते हैं, संकीर्तन व भजन करते एवं व्रत रखते हैं तथा जन्मकाल (१२ बजे रात) व्यतीत हो जाने पर प्रसाद ग्रहण करते हैं । इस समय भागवत पुराण का पाठ किया जाता है, जिसमें भगवान् कृष्ण की जन्मकथा वर्णित है ।

अर्ध रात्रि में अष्टमी तिथि और रोहिणी नक्षत्र होने पर यह पर्व कृष्णजयन्ती कहा जाता है, इस योग में कुछ हेरफेर होने पर इसको कृष्णजन्माष्टमी कहते हैं ।

कृष्णदास कविराज—चैतन्य साहित्यमाला में अति प्रख्यात ग्रन्थ 'चैतन्यचरितामृत' की रचना कृष्णदास कविराज ने वृन्दावन के समीप राधाकुण्ड में सात वर्ष के अनवरत परिश्रम से १५८२ ई० में पूरी की थी । इसमें सम्प्रदाय के नेता कृष्णचैतन्य का सम्पूर्ण जीवन बड़ी अच्छी शैली में वर्णित है । दिनेशचन्द्र सेन के शब्दों में 'बँगला भाषा में रचित यह ग्रन्थ चैतन्य तथा उनके अनुयायियों की शिक्षाओं को प्रस्तुत करनेवाला सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है ।'

कृष्णदास (माध्व)—सोलहवीं शती के एक वैष्णव आचार्य । इन्होंने कन्नड भाषा में पद्यात्मक रचना की है, जिसका विषय माध्वसम्प्रदाय तथा दर्शन है ।

कृष्णदास अधिकारी—वल्लभाचार्य के अष्टछाप साहित्यनिर्माताओं में से एक भक्त कवि । इनका जन्म गुजरात के पाटीदार वंश में सोलहवीं शती के मध्य हुआ था ।

वल्लभाचार्य के प्रभावशाली पुत्र गुसाँई विट्ठलनाथजी का संरक्षण और श्रीनाथजी की पूजा-अर्चा का प्रबन्धभार कुछ वर्ष इनके अधीन था । सम्प्रदायसेवा के साथ ही ये भक्तिपूर्ण पदरचना भी करते थे । उत्सवों के समय इन

पदों का शास्त्रीय गायन पुष्टिमार्गीय मन्दिरों में अब भी प्रचलित है ।

कृष्णद्वादशी—आश्विन कृष्ण द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । द्वादशी के दिन उपवास तथा वासुदेव के पूजन का विधान है । वासुदेवद्वादशी के नाम से भी यह प्रसिद्ध है ।

कृष्णदेव—विजयनगर के एक यशस्वी राजा (१५०९-२९ ई०) । ये विद्या और कला के प्रसिद्ध आश्रयदाता थे । इनके समय में दक्षिण में हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हुआ । इनके राजपण्डितों ने कर्ममीमांसा का उद्धार किया, वेदों का भाष्य लिखा एवं दर्शन तथा स्मृतियों का संग्रह किया । इनकी राजसभा के दो महान् आचार्य थे दो भाई सायण (वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार) और माधव (दार्शनिक तथा धर्मशास्त्री) ।

कृष्ण द्वैपायन—वेदान्त दर्शन अथवा ब्रह्मसूत्र के मान्य लेखक बादरायण थे । भारतीय परम्परा इन्हें वेदव्यास तथा कृष्ण द्वैपायन भी कहती है । किन्तु इनके जीवन के बारे में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है । महाभारत के अनुसार ये ऋषि पराशर तथा धीवरकन्या सत्यवती से उत्पन्न हुए थे । माता ने संकोचवश इनको एक द्वीप में रख दिया था, जहाँ इनका पालन-पोषण हुआ । इसीलिए ये द्वैपायन (द्वीप में पालित) कहलाये । भारतीय परम्परा के अनुसार ये वैदिक संहिताओं के संकलनकर्ता एवं सम्पादक एवं अठारह पुराणों तथा महाभारत के रचयिता थे । भारतीय साहित्य के इतिहास में इनका स्थान अद्वितीय है । इनके ग्रन्थ परवर्ती भारतीय साहित्य के उपजीव्य हैं । दे० 'व्यास' ।

कृष्णदोलोत्सव—चैत्र शुक्ल पक्ष की एकादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । भगवान् कृष्ण की प्रतिमा (लक्ष्मी सहित) किसी झूले में विराजमान करके उसका दमनक नामक पत्तियों से पूजन करना चाहिए । रात्रि में जागरण का विधान है । दे० स्मृतिकौस्तुभ, १०१ ।

कृष्णध्यानपद्धति—अप्पय दीक्षित कृत 'कृष्णध्यानपद्धति' एवं उसकी व्याख्या एक उत्कृष्ट रचना है । यह वैष्णवों में अति प्रिय और प्रसिद्ध ग्रन्थ है ।

कृष्णप्रेमामृत—वल्लभ संप्रदाय का एक मान्य ग्रन्थ । इसका निर्माणकाल १५३१ ई० के लगभग है । विट्ठलनाथजी ने इसकी रचना की थी । अत्यन्त ललित छन्दों में कृष्ण-भक्ति की अभिव्यक्ति इसमें की गयी है ।

कृष्ण-बलरामावतार—भगवान् विष्णु का कृष्णावतार अष्टम पूर्णावतार के रूप में माना जाता है । कहा भी गया है : 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।' सभी अवतार अंशावतार हैं, किन्तु कृष्ण-अवतार पूर्णावतार होने के कारण साक्षात् भगवत्स्वरूप है । कृष्ण के अवतार के साथ उनके बड़े भाई बलराम अंशावतार के रूप में अवतरित हुए थे ।

बलराम और कृष्ण की उत्पत्ति के पूर्व पृथ्वी असुरभार से पीड़ित होकर गौ के रूप में रोती हुई ब्रह्मा के पास गयी एवं ब्रह्मादि सभी देवताओं ने मिलकर पृथ्वी की रक्षा के लिए भगवान् की प्रार्थना की । उस समय कंस एवं जरासन्ध आदि बलवान् असुरों से संसार पीड़ित था । धर्म पतन की ओर जा रहा था । दूसरी ओर दुर्योधन आदि कौरववंशीय राजाओं के अत्याचारों से राजा और प्रजा दोनों में ही भयंकर पापवृद्धि हो रही थी । इधर शिशुपाल, दन्तवक्र, के द्वारा भी संसार अत्यधिक पीड़ित था । इस प्रकार इस भयंकर भार से पृथ्वी के उद्धार के लिएं तथा धर्मरक्षणार्थ भगवान् का पूर्णावतार हुआ ।

कृष्णभट्ट—आपस्तम्ब गृह्यसूत्र पर जिन भाष्यकारों ने भाष्य लिखे हैं उनमें एक कृष्णभट्ट भी हैं ।

कृष्णमिश्र—जेजाकभुक्ति के चन्देल राजा कीर्तिवर्मा (११२९-११६३ ई०) के राजकवि और गुरु । इन्होंने प्रबोधचन्द्रोदय नामक प्रतीकातमक नाटक की रचना की । जनश्रुति के अनुसार जब कीर्तिवर्मा ने चेदिराज कर्ण पर विजय प्राप्त की तो युद्ध में रक्तपात देखकर उसके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ । उसी समय कृष्णमिश्र ने कीर्तिवर्मा के मनोरञ्जन के लिए बड़ी पटुता से इस नाटक की रचना की । यह दार्शनिक नाटक है और इसमें अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है । इसकी शैली रूपकात्मक है । इसके पात्र विवेक, प्रबोध, साधन और उनके विरोधी मनोविकार हैं । इसमें दर्शाया गया है कि किस प्रकार मानव सांसारिक विकारों और प्रपञ्चों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है । इसमें विरोधी मतों और पाखण्डों का खण्डन किया गया है । दे० प्रबोधचन्द्रोदय ।

कृष्णलीलाभ्युदय—भागवत पुराण के दशम स्कन्ध का यह कन्नड अनुवाद १५९० ई० के लगभग वेङ्कट आर्य नामक

एक आचार्य ने किया था। यह कर्णाटक में उसी प्रकार लोकप्रिय है, जिस प्रकार हिन्दी क्षेत्र में प्रेमसागर और सुखसागर।

कृष्णषष्ठी—(१) मार्गशीर्ष कृष्ण षष्ठी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। एक वर्षपर्यन्त इसका आचरण करना चाहिए। सूर्य का प्रत्येक मास में भिन्न-भिन्न नामों से पूजन होना चाहिए।

(२) मास के दोनों पक्षों की षष्ठी को एक वर्षपर्यन्त इस व्रत का अनुष्ठान होना चाहिए। नक्त भोजन करना चाहिए तथा स्वामी कार्तिकेय को अर्घ्य देना चाहिए।

कृष्णस्तवराज—निम्बार्काचार्य द्वारा रचित एक छोटा स्तोत्र ग्रन्थ। यह निम्बार्कसम्प्रदाय में बहुत लोकप्रिय है। किन्तु यह निश्चित नहीं है कि यह आद्य आचार्य की रचना है या वाद के किसी आचार्य की।

कृष्णानन्द—तैत्तिरीयोपनिषद् पर अनेक भाष्य और वृत्तियाँ हैं। कृष्णानन्द स्वामी की भी एक वृत्ति इस पर है।

कृष्णानन्द वागीश—शाक्त साहित्य के उन्नीसवीं शती के प्रमुख आचार्य। इन्होंने 'तन्त्रसार' नामक ग्रन्थ की रचना की है।

कृष्णामृतमहार्णव—मध्वाचार्य रचित एक ग्रन्थ। इसकी एक टीका आचार्य श्रीनिवास तीर्थ ने १८ वीं शती में लिखी है।

कृष्णार्चनदीपिका—सोलहवीं शती में चैतन्यमत के प्रसिद्ध आचार्य जीव गोस्वामी द्वारा विरचित ग्रन्थ। इसमें श्री कृष्ण की सेवा-पूजा का विधान भली भाँति वर्णित है।

कृष्णालङ्कार—अप्पय दीक्षित कृत 'सिद्धान्तलेश' पर अच्युत कृष्णानन्दतीर्थ कृत टीका। टीका की रचना में इन्हें अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है।

कृष्णावतार—दे० 'कृष्ण' तथा 'कृष्ण-बलरामावतार'।

कृष्णाष्टमीव्रत—मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। एक वर्षपर्यन्त इसका आचरण होना चाहिए। शिव इसके देवता हैं। प्रत्येक मास में भगवान् शिव का भिन्न-भिन्न नामों से पूजन तथा प्रत्येक मास में भिन्न-भिन्न नैवेद्य पदार्थों का अर्पण करना चाहिए।

कृष्णोपनिषद्—एक परवर्ती उपनिषद्, जिसमें कृष्ण का दार्शनिक रूप व्याख्यात हुआ है। वैष्णव सम्प्रदाय में इसका विशेष आदर है।

कृष्णपिङ्गला—दुर्गा का एक पर्याय (कृष्ण-पिङ्गल वर्ण-युक्ता)। कहीं-कहीं शिव को भी कृष्ण-पिङ्गल रूप में सम्बोधित किया गया है :

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्।
ऊर्ध्वलिङ्गं विरूपाक्षं विश्वरूपं नतोऽस्म्यहम्॥

कृष्ण यजुर्वेद—यजुर्वेद का प्राचीन पाठ, जिसमें मन्त्रों के साथ ब्राह्मण भाग भी मिला हुआ है। मन्त्र-ब्राह्मण के पार्थक्य के समझने में दुरूहता होने के कारण इसको कृष्ण यजुर्वेद कहा जाने लगा। इसके पाठविवेचन में याज्ञवल्क्य ऋषि का गुरु से मतभेद हो गया था, तब गुरु ने उनसे अपना वेद उगलवा लिया (छीन लिया)। बाद में याज्ञवल्क्य मन्त्र-ब्राह्मण का 'शुक्ल यजुर्वेद' के नाम से अलगाव कर पाये।

कृष्णसार मृग—काली पीठ वाला पुराना हिरन। धर्मशास्त्र के अनुसार ऐसे मृग जिस क्षेत्र में स्वच्छन्द घूमते हैं, वह तपस्या के योग्य पवित्र माना गया है। शिकारियों के क्रूर हिंसाकर्म से बचे रहने पर हिरन काले पड़ जाते हैं, अतः ऐसा निष्पाप स्थान शुद्ध समझा जाता है।

कृष्णा—कालिन्दी या यमुना नदी का एक नाम।
पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी का नाम भी कृष्णा है।
काली देवी भी कृष्णा कही जाती है।

कृष्णा नदी—दक्षिण भारत की पुण्यसलिला नदी। इसके पर्याय हैं कृष्णवेण्या, कृष्णगङ्गा आदि। महाभारत (६.९.३३) में इसका निम्नाङ्कित उल्लेख है :

सदा निरामयां कृष्णां मन्दगां मन्दवाहिनीम्।

[कृष्णा सदा पवित्र, मन्द गति और मन्द प्रवाह वाली' है।] राजनिघण्टु के अनुसार इसके जल के गुण स्वच्छत्व, रुच्यत्व, दीपनत्व तथा पाचकत्व हैं।

केतु—नव ग्रहों में से अन्तिम। इसकी गणना दुष्ट ग्रहों में है। यह राहु (ग्रसने वाले ग्रह) का शरीर (धड़) माना जाता है। ज्योतिषतत्त्व में इसकी रिष्टि (कुफल) का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है :

केतुर्यस्मिन्नृक्षेऽभ्युदितस्तस्मिन् प्रसूयते जन्तुः।
रौद्रे सर्पमुहूर्ते वा प्राणैः संत्यजत्याशु॥

[आर्द्रा, आश्लेषा अथवा केतु जिस नक्षत्र में हो, इन नक्षत्रों में जन्म लेने वाले व्यक्ति को प्राणसंकट होता है।] इसके दशाफल का पूर्ण वर्णन केरलीयजातक नामक ग्रन्थ में पाया जाता है। दूरसंचारी धूमकेतु नामक उपग्रह भी केतु कहे गये हैं। ज्योतिष ग्रन्थों के केतुचाराध्याय

में उनकी गति और क्रूर फल का विस्तृत वर्णन मिलता है। दे० गर्गसंहिता, बृहत्संहिता आदि ग्रन्थ। आधुनिक ग्रन्थकारों में मथुरानाथ विद्यालङ्कार ने अपने समयामृत नामक ग्रन्थ में केतु के उत्पातों का सविस्तार विवरण किया है।

ऋग्वेद (१०.८.१) में सूर्य और उसकी रश्मियों के लिए 'केतु' शब्द का प्रयोग हुआ है (देवं वहन्ति केतवः)।

केदार-गौरीव्रत—कार्तिकी अमावस्या के दिन इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इस तिथि को गौरी तथा केदार शिव के पूजन का विधान है। 'अहल्याकामधेनु' के अनुसार यह व्रत दाक्षिणात्यों में विशेष प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में पद्मपुराण से एक कथा भी उद्धृत की गयी है।

केदारनाथ—शिव का एक पर्याय। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बतायी गयी है: 'के' (मस्तक में) 'दारा' (जटा के भीतर गङ्गारूपिणी पत्नी) हैं जिनकी। केदारनाथ एक तीर्थ भी है जो उत्तराखण्ड के शैव तीर्थों में यह अत्यन्त पवित्र माना गया है। इसके लिए यात्रा प्रारम्भ करने मात्र से सब पापों का क्षय हो जाता है।

हठयोग में भ्रूमध्य के स्थानविशेष को केदार कहा गया है। हठयोगदीपिका (३.२४) में कथन है:

> कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः।
> त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः॥

इस टीका में स्पष्ट किया गया है:

दोनों भौंहों के बीच में शिव का स्थान है। वह केदार शब्द से वाच्य है। उसी पर अपना मन केन्द्रित करना चाहिए।

वीर शैवमत की व्यवस्था के अन्तर्गत प्रारम्भिक पाँच मठ मुख्य थे। इनमें केदारनाथ (हिमालय प्रदेश) का स्थान प्रथम है। इसके प्रथम महन्त एकोरामाराध्य कहे जाते हैं। भक्तों का विश्वास है कि श्री केदारजी के रामनाथ लिङ्ग से, जो भगवान् शिव के अघोर रूप हैं, एकोरामाराध्य प्रकट हुए थे।

उत्तराखण्ड का केदारेश्वर मठ बहुत प्राचीन है। इसकी प्राचीनता का महत्त्वपूर्ण प्रमाण एक ताम्रशासनपत्र से होता है जो उसी मठ में कहीं सुरक्षित है। इसके अनुसार महाराज जनमेजय के राजत्व काल में स्वामी आनन्दलिङ्ग जङ्गम इस मठ के गुरु थे। उन्हीं के नाम जनमेजय ने क्षीरगङ्गा, स्वर्गद्वारगङ्गा, सरस्वती और मन्दाकिनी के सङ्गम के बीच के भूक्षेत्र का दान इस उद्देश्य से किया कि आनन्दलिङ्ग जङ्गम के शिष्य केदारक्षेत्रवासी ज्ञानलिङ्ग जङ्गम इसकी आय से भगवान् केदारेश्वर की पूजा-अर्चा किया करें। अभिलेख के अनुसार यह दान उन्होंने मार्गशीर्ष अमावस्या सोमवार को युधिष्ठिर के राज्यारोहण के नवासी वर्ष बीतने पर प्लवङ्गम नामक संवत्सर में किया था। भूतपूर्व टिहरी राज्य के राजा इस पीठ के शिष्य हैं और भारत के तेरह नरेश (जिनमें नेपाल, कश्मीर और उदयपुर भी हैं) प्रति वर्ष अपनी ओर से पूजा और भेंट करते रहे हैं। इस मठ के अधीन अनेक शाखामठ हैं।

केनोपनिषद्—सामवेदीय उपनिषद् ग्रन्थों में छान्दोग्य एवं केनोपनिषद् प्रसिद्ध हैं। इस उपनिषद् का दूसरा नाम तलवकार है। यह तलवकार ब्राह्मण के अन्तर्गत है। कहा जाता है कि डाक्टर बारनेल ने तंजौर में इस तलवकार ब्राह्मण ग्रन्थ को पाया था। इसके १३५ से लेकर १४५वें खण्ड तक को 'तलवकार उपनिषद्' अथवा 'केनोपनिषद्' माना जाता है। छान्दोग्य एवं केन पर शङ्कराचार्य के भाष्य हैं तथा अन्य आचार्यों ने अनेक वृत्तियाँ और टीकाएँ लिखी हैं। उपनिषद् का 'केन' नाम इसलिए पड़ा कि इसका प्रारम्भ 'केन' (किसके द्वारा) शब्द से होता है। इसमें उस सत्ता का अन्वेषण किया गया है जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व का धारण और सञ्चालन होता है।

केरलोत्पत्ति—शङ्कर के आविर्भावकाल के निर्णायक प्रमाण ग्रन्थों में केरलोत्पत्ति का भी एक प्रमुख स्थान है। इसके अनुसार शङ्कर का कलिवर्ष ३०५७ में आविर्भाव हुआ। शङ्कर का जीवनकाल भी इसमें ३२ वर्ष के स्थान पर ३८ वर्ष लिखा है। किन्तु यह परम्परा प्रामाणिक नहीं जान पड़ती। आचार्य शङ्कर की प्राचीनता प्रदर्शित करने के लिए यह मत प्रचलित किया गया लगता है।

केरेय पद्मरस—कन्नड वीरशैव साहित्य में पद्मराज नामक पुराण का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसमें 'केरेय पद्मरस' की कथा लिखी गयी है। इस पुराण की रचना सन् १३८५ ई० में पद्मनाङ्क ने की थी।

केवल—भक्तिमार्ग में आत्मा को चार श्रेणियों में बाँटा गया है: बद्ध, मुमुक्षु, केवल एवं मुक्त। केवल अवस्था को

'भक्त' भी कहते हैं। केवल का हृदय पवित्र होता है। केवल आराध्य में ही तल्लीन रहता है और भक्ति के साथ मुक्ति के पथ पर अग्रसर होता है।

सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष और प्रकृति के पार्थक्य की स्थिति 'कैवल्य' कहलाती है। इस स्थिति में रहनेवाला मुक्त आत्मा 'केवल' कहलाता है। जैन धर्म में जिसे शुद्ध (केवल) ज्ञान प्राप्त हो गया हो, ऐसे जिन विशेष को 'केवली' कहा जाता है।

हठयोगदीपिका (२.७१) के अनुसार 'केवल' कुम्भक का एक भेद है :

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेच-पूरक-कुम्भकैः ।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ॥

[प्राणायाम तीन प्रकार का कहा गया है : रेचक, पूरक और कुम्भक । कुम्भक भी दो प्रकार का माना गया है : सहित और केवल ।]

केश—धार्मिक आज्ञानुसार सिक्खों के धारण करने के पाँच उपादानों में पहला केश है। ये कभी कटाये नहीं जाते। पाँच उपादान पाँच 'ककार' (क वर्ण से प्रारम्भ होने वाले शब्द) कहलाते हैं : केश, कृपाण, कड़ा, कच्छ और कंघा। पूर्ण केश रखने की प्रथा को दशम गुरु गोविन्दसिंह ने प्रारम्भ किया था। खालसा सिक्खों का यह प्रमुख चिह्न है, जो नानकपंथियों से उनको पृथक् करता है।

केशव—विष्णु का एक नाम। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है : 'क (जल) में जो सोता है (के जले शेते इति)।' भागवत पुराण के अनुसार परब्रह्मशक्ति को ही केशव कहा गया है : 'ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-संज्ञाः शक्तयः केश-संज्ञिताः।' सुन्दर लम्बे केश (बाल) रखने के कारण भी विष्णु को केशव कहते हैं। अथवा क ब्रह्मा, ईश रुद्र इन दोनों को अपने स्वरूप में लीन कर जो परमात्मा रूप से एक मात्र अवस्थित रहता है वह 'केशव' है। हरिवंश-पुराण (८०.६६) के अनुसार केशी नामक असुर का वध करने के कारण विष्णु का नाम केशव पड़ा (केशं केशिनं वाति हन्ति इति) :

यस्मात्त्वया हतः केशी तस्मान्मच्छासनं शृणु ।
केशवो नाम नाम्ना त्वं ख्यातो लोके भविष्यसि ॥

केशव काश्मीरी—निम्बार्कों का इतिहास १३५० ई० से १५०० ई० तक अज्ञात है। किन्तु १५०० से इसका पुनरुन्मेष होता है। इसके आचार्य दो प्रकार के हुए : गृहस्थ तथा संन्यासी। इन आचार्यों में केशव काश्मीरी का नाम सर्वप्रमुख रूप से आता है। पुनर्विकासकाल के आरम्भिक नेताओं का युग केशव काश्मीरी (निम्बार्कों में अग्रणी) तथा उनके भगिनीपति हरिव्यास देव (निम्बार्कों के अन्य नेता) का था। ये कृष्णचैतन्य एवं वल्लभाचार्य के समकालीन थे। केशव काश्मीरी प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् एवं निम्बार्कदर्शन के भाष्यकार थे। उपासना के क्षेत्र में उनकी 'क्रमदीपिका' की विशेष प्रतिष्ठा है जो विशेषकर गौतमीय तन्त्र के आधार पर निर्मित हुई है।

केशवचन्द्र सेन—भारतीय पुनर्जागरण के आन्दोलन में 'ब्रह्मसमाज' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह आन्दोलन १८२८ ई० में राजा राममोहन राय द्वारा आरम्भ हुआ। आन्दोलन का प्रथम चरण १८४१ में समाप्त हुआ। दूसरे चरण के नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा उनके एक नवयुवक सहयोगी केशवचन्द्र सेन थे। दूसरे चरण में समाज काफी प्रगति पर था एवं केशव के सहयोग ने इसे और भी गति दी। ये सम्भ्रान्त वैद्यकुल के व्यक्ति थे तथा इन्होंने आधुनिक उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। १८५७ ई० में समाज की सदस्यता ग्रहण कर १८५९ से इन्होंने अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा समाजोन्नति में लगाना आरम्भ किया। देवेन्द्रनाथ ठाकुर इन्हें बहुत पसन्द करते थे। पाँच वर्ष तक दोनों ने साथ-साथ कार्य किया। इसी समय 'ब्राह्म विद्यालय' खोला गया जिसमें केशवचन्द्र ने अंग्रेजी में तथा देवेन्द्रनाथ ने मातृभाषा में अपने सिद्धान्तों को समझाया। इसके फलस्वरूप अनेक नवयुवक समाज में सम्मिलित हुए। इस बीच केशव ने 'बैंक आफ बंगाल' में नौकरी कर ली किन्तु उसे उन्होंने १८६१ में त्याग दिया तथा अपना संपूर्ण समय समाज के लिए देने लगे। 'संगति सभा' के अनेक अनुयायियों ने केशव का अनुगमन किया, जिनमें प्रतापचन्द्र मजुमदार प्रधान थे। एक पत्रिका "इण्डियन मिरर" निकाली जाने लगी।

१८६२ ई० में देवेन्द्रनाथ ने केशवचन्द्र को नया सम्मान दिया। समाज के आचार्य केवल ब्राह्मण हुआ करते थे। देवेन्द्रनाथ स्वयं समाज के आचार्य थे एवं

दो और काम उपाचार्य करने वाले थे। देवेन्द्रनाथ ने केशव को आचार्य पद प्रदान किया।

इस समय केशवचन्द्र ने हिन्दू समाज का विरोध सहन करते हुए अपनी स्त्री को समाजसेवा में लगाया। इससे बड़ा लाभ हुआ। ब्राह्मों ने अपनी स्त्रियों को अधिक स्वाधीनता प्रदान करना आरम्भ किया जो आगे चलकर स्त्रीस्वाधीनता आन्दोलन में बहुत ही सहायक हुआ।

दो वर्ष बाद केशव ने बंबई एवं मद्रास में भी 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना करायी। जब केशव यात्रा पर थे तभी देवेन्द्रनाथ को कुछ प्राचीन विचारों ने प्रभावित किया तथा उन्होंने केशव के स्थान पर उपाचार्यों को कार्य करने की अनुमति दे दी। केशव के दल ने इसका विरोध किया और इस प्रकार दो समाजों की स्थापना हुई। देवेन्द्रनाथ का समाज 'आदिसमाज' तथा केशव का 'नव ब्रह्मसमाज' कहलाया।

यहाँ से समाज का तीसरा चरण या युग आरम्भ होता है। देवेन्द्रनाथ का साथ छूट जाने पर केशवचन्द्र ने ईश्वर पर भरोसा रखा तथा उन्हें नयी प्रेरणा व स्फूर्ति प्राप्त हुई। उन्होंने अनेक प्रचारक एवं भक्त प्राप्त किये और प्रार्थना में इनको विशेष शान्ति मिली। घर पर ही सदस्यों की भीड़ जमती तथा धार्मिक सेवाओं एवं प्रार्थना में लोग खूब हाथ बटाते। वैष्णव धर्म से, जो इनका पारिवारिक धर्म था, केशव ने इस समय बहुत कुछ लिया। भक्ति, जो हिंदू धर्म में ईश्वरप्रेम एवं उसमें विश्वास का प्रतीक है, इस आन्दोलन का प्रधान अङ्ग बन गयी। २२ अगस्त १८६९ को मछुआ बाजार (कलकत्ता) में केशवचन्द्र ने एक भवन बनवाया जिसे मन्दिर की संज्ञा दी गयी। यहाँ अनेकों प्रतिष्ठित लोग आने लगे तथा समाज के सदस्य हुए। मन्दिर के निर्माण के कुछ ही दिन बाद इन्होंने बिलायत की यात्रा की। वहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ। इंगलैण्ड में बहुसंख्यक लोगों के बीच केशव ने भाषण किया। ब्रिटेन की महारानी ने भी इनसे भेंट की। ब्रिटिश क्रिश्चियन होम ने इन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया।

कलकत्ता लौटकर केशव ने अनेक प्रकार के सुधार प्रारम्भ किये। एक नया समाज 'इण्डियन रिफार्म एसोसिएशन' बनाया, जिसके पाँच विभाग थे—सस्ता साहित्य, दान, स्त्री विकास, शिक्षा और आत्मनिग्रह। अनेक कार्य और संस्थायें इस समय प्रारम्भ की गईं, यथा

नार्मल स्कूल फ्वार गर्ल्स, विक्टोरिया इन्स्टीट्यूशन फ्वार वीमेन, इन्डस्ट्रियल स्कूल फार ब्वायेज एवं भारत आश्रम, जिसमें स्त्रियों एवं शिशुओं को शिक्षा दी जाती थी।

इस समय तक केशव अपने को ईश्वर के आदेश लोगों तक पहुँचानेवाला समझने लगे तथा दूसरों को उन्होंने आदेश देना आरम्भ किया। अतएव समाज के अन्दर केशव का विरोध आरम्भ हो गया। फिर एक बार केशव के जीवन में उदासी आयी, किन्तु ईश्वराराधना में लीन हो इन्होंने सब भुला दिया। केशव ने मृत्यु के पहले फिर एक बार पश्चिम की यात्रा की। इनके अन्तिम समय तक १७३ ब्रह्मसमाज की शाखाएँ हो गयी थीं, १५०० पक्के सदस्य तथा ५०० अनुयायी थे। इनके द्वारा संचालित आन्दोलन ने बंगाल में सुधार और नवजीवन की एक लहर सी फैला दी।

केशवप्रयाग—माणा ग्राम के पास अलकनन्दा में जहाँ सरस्वती की धारा मिलती है उस स्थान को केशवप्रयाग कहते हैं। उत्तराखण्ड के तीर्थों में यह प्रसिद्ध है।

केशव भट्ट—निम्बार्काचार्य की परंपरा के उत्तरार्द्ध में उनके दो शिष्य बहुत प्रसिद्ध हुए; एक केशव भट्ट तथा दूसरे हरिव्यास। इन्हीं दो शिष्यों से दो श्रेणियाँ निकली हैं। गृहस्थ और संन्यासी जो आपसी भेदों के होते हुए भी बड़े आदृत थे। दे० 'केशव काश्मीरी'।

केशव मिश्र—न्यायवैशेषिक दर्शन के आचार्य। इनका उदयकाल १३वीं शती है। इन्होंने तर्कभाषा नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसका अंग्रेजी अनुवाद महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा ने किया।

केशवस्वामी गोपाल—इन्होंने बौधायन श्रौतसूत्र पर भाष्य लिखा है।

केशवाचार्य—निम्बार्काचार्य के शिष्य श्रीनिवास द्वारा कृत ब्रह्मसूत्रभाष्य के व्याख्याता। ये पन्द्रहवीं शती में हुए थे और चैतन्य महाप्रभु के समय में जीवित थे। निम्बार्काचार्य के 'वेदान्तपरिजातसौरभ' का भाष्य 'वेदान्तकौस्तुभ' नाम से श्रीनिवासाचार्य ने लिखा और 'वेदान्तकौस्तुभ' की टीका केशवाचार्य ने लिखी। निम्बार्काचार्य

की परंपरा में ये अत्यन्त प्रौढ़ विद्वान् माने जाते हैं। दे० 'केशव भट्ट'।

कैयट—शब्दाद्वैतवाद के सबसे प्रथम दार्शनिक व्याख्याता भर्तृहरि थे। उनके पश्चात् भर्तृमित्र हुए, जिनका स्फोट पर 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रन्थ अब उपलब्ध हो गया है। इनके बाद इस सिद्धान्त का पूर्ण वर्णन पुण्यराज एवं कैयट के व्याख्यानिबन्धों में पाया जाता है, जो क्रमशः 'वाक्यपदीय' और 'पातञ्जलि महाभाष्य' पर हैं। कैयट का समय ११वीं शताब्दी है और ये कश्मीरदेशीय थे। इनकी टीका के बल पर ही पश्चात्कालीन विद्वान् महाभाष्य को समझने में समर्थ हो सके। टीका के उपक्रम में इनका कहना है :

भाष्याब्धिः क्वातिगम्भीरः क्वाहं मन्दमतिस्तथा।
तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना।
क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तास्मि पंगुवत्॥

महाभाष्य की दुर्बोधता को लेकर श्री हर्ष जैसे महाकवि ने 'नैषधचरित' में एक अद्भुत उपमा दी है। उन्होंने नल की राजधानी शत्रुओं के लिए वैसी ही अभेद्य बतलायी है जैसी पंडितों के लिए महाभाष्य की फक्किकाएँ अबोध्य थीं। कैयट ने इन्हें सुबोध्य बना दिया।

कैलास—हिमालय का सर्वाधिक पवित्र शिखर। मानसरोवर से कैलास लगभग २० मील दूर है। पूरे कैलास की आकृति विराट् शिवलिङ्ग जैसी है, जो मानों पर्वतों के एक षोडशदल कमल के मध्य स्थित है। कैलास शिखर आस-पास के समस्त शिखरों से ऊँचा है। इसकी परिक्रमा ३२ मील की है जिसे यात्री प्रायः तीन दिनों में पूरी करते हैं। कैलास का ऊर्ध्व भाग तो प्रायः अगम्य है, उसका स्पर्श यात्रामार्ग से लगभग डेढ़ मील सीधी चढ़ाई पार करके किया जा सकता है और यह चढ़ाई पर्वतारोहण की विशिष्ट तैयारी के विना शक्य नहीं है। कैलास के शिखर की ऊँचाई समुद्रस्तर से १९,००० फुट कही जाती है। कैलास के दर्शन एवं परिक्रमा करने पर जो अद्भुत शान्ति एवं पवित्रता का अनुभव होता है वह स्वयं अनुभव की वस्तु है।

कैलास शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गयी है : क अर्थात् जल में जिसका लसन अथवा लास्य हो (के जले लासो लसनं दीप्तिरस्य) वह कैलास कहलाता है। दूसरी व्युत्पत्ति है : केलियों का समूह कैल; 'कैल' के साथ यहाँ 'आस' निवास किया जाता है (केलीनां समूहः कैलम्, कैलेनास्यते अत्र)। यहाँ शिव पार्वती के साथ निवास करते हैं और उनके गण इतस्ततः किलोल किया करते हैं।

भागवत पुराण में सुमेरु पर्वत के पूर्व में जठर और देवकूट, पश्चिम में पवन और पारियात्र तथा दक्षिण में कैलास और करवीर पर्वत स्थित कहे गये हैं।

कैलासनाथ—कैलास क्षेत्र के स्वामी, कुबेर, जो यक्षों के राजा और धन के देवता हैं। इनकी राजधानी अलकापुरी कैलास की द्रोणी में बसी हुई और मानवों के लिए अगोचर है। कैलास के शिरोभाग पर शंकरजी का निवास है, अतः वे भी कैलासनाथ कहलाते हैं।

कैलाससंहिता—शिवपुराण के सात खण्ड हैं : १. विश्वेश्वरसंहिता, २. रुद्रसंहिता, ३. शतरुद्रसंहिता, ४. कोटिरुद्रसंहिता, ५. उमासंहिता, ६. कैलाससंहिता एवं ७. वायवीय संहिता (पूर्व एवं उत्तर दो खण्ड युक्त)। कैलाससंहिता में कुल २३ अध्याय हैं। दे० 'शिवपुराण'।

कैवल्यदीपिका—यह मानभाउ संप्रदाय का एक ग्रन्थ है, जो संस्कृत में रचा गया है। 'मानभाउ' या महानुभाव मत महाराष्ट्र की ओर प्रचलित है।

कैवर्त—एक वर्णसंकर जाति। ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न संतान इस जाति की होती है। इसके पर्याय हैं दाश, धीवर, दाशेरक, जालिक। मनुस्मृति (१०.३४) में भी कैवर्त की गणना संकर जातियों में की गयी है :

निषादो मार्गवं सूते दाशं नौकर्मजीविनम्।
कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः॥

कैवल्य—सब उपाधियों से रहित केवल (शुद्ध मात्र) की अवस्था (भाव)। यह मोक्ष अथवा मुक्ति का पर्याय है। पातञ्जलि योगसूत्र के कैवल्य पाद में कहा गया है :

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। (सूत्र ३३)

[जब सभी गुणों—सत्त्व, रज और तम का पुरुषार्थ (कार्य) समाप्त हो जाता है और उससे जो स्थिति उत्पन्न होती है वही सभी विकारों से रहित स्थिति कैवल्य है। अथवा अपने स्वरूप (शुद्ध ज्ञानरूप) में प्रतिष्ठा (सम्यक् स्थिति) कैवल्य है।]

कैवल्यसार—वीरशैव मत का पन्द्रहवीं शती में रचित एक ग्रन्थ। इसके रचयिता मरितोण्टदार्य नामक आचार्य हैं।

कैवल्योपनिषद्—एक शैव उपनिषद्, जो अथर्वशिरस् उपनिषद् की ही समकालीन है ।

कोकिलाव्रत—मुख्यतः महिलाओं के लिए इस व्रत का विधान है । आश्विन पूर्णिमा की सन्ध्या को इसका संकल्प करना चाहिए, आषाढ़ी पूर्णिमा के पश्चात् एक मास तक सुवर्ण अथवा तिलों की कोकिला के रूप में गौरी बनाकर उसका पूजन करना चाहिए । एक मास तक नक्त भोजन का विधान है । मासान्त में एक ताम्रपात्र में रत्नों की आँखें, चाँदी की चोंच तथा पैर बनवाकर कोकिला का दान करना चाहिए । ऐसा कहा जाता है कि भगवान् शिव ने दक्ष के यज्ञ का विध्वंस करने के बाद गौरी को कोकिला हो जाने का शाप दिया था । सुवर्ण की एक कोकिला बनाकर, जिसकी आँखें मोतियों की हों तथा पैर चाँदी के हों, षोडशोपचारपूर्वक पूजन करना चाहिए । सुख, समृद्धि के लिए यह व्रत वांछनीय है । तमिलनाडु के पंचाङ्गों में इसका अनुष्ठान ज्येष्ठ १४ (मिथुन) को बतलाया गया है ।

कोजागर (कौमुदीमहोत्सव)—आश्विन पूर्णिमा के दिन इसका अनुष्ठान होता है । इसमें लक्ष्मी तथा ऐरावतारूढ़ इन्द्र का पूजन रात्रि में करना चाहिए । घी अथवा तिल के तेल के बहुसंख्यक दीपक मुख्य सड़कों पर, मन्दिरों में, बागों में तथा घरों में प्रज्वलित करने चाहिए । दूसरे दिन प्रातःकाल इन्द्र की पूजा होनी चाहिए । ब्राह्मणों को अत्यन्त स्वादिष्ठ भोजन कराना चाहिए । लिङ्गपुराण के अनुसार दयालुता की मूर्ति लक्ष्मी मध्य रात्रि के समय परिभ्रमण करती हुई कहती है : "कौन जाग रहा है ?" मनुष्यों को नारियल में भरा हुआ पानी (रस) पीना चाहिए तथा पासों से खेलना चाहिए । 'को जागर्ति' इन दो शब्दों में 'कोजागर' व्रत की ध्वनि विद्यमान है । इसे 'कौमुदीमहोत्सव' भी कहा जाता है । सम्भवतः 'कोजागर' शब्द 'कौमुदीजागर' का ही संकेतात्मक तथा संक्षिप्त रूप है । कौमुदीमहोत्सव के लिए दे० कृत्यकल्पतरु (राजधर्म), पृ० १८२-१८३; राजनीतिप्रकाश (वीरमित्रोदय), पृ० ४१९-४२१ ।

कोटिमाहेश्वरी—हिमालय स्थित एक तीर्थस्थान । यह स्थान कालीमठ से दो मील दूर है । यहाँ कोटिमाहेश्वरी देवी का मन्दिर है । यात्री यहाँ पितृतर्पण तथा पिण्डदान करते हैं ।

कोटिरुद्रसंहिता—शिवपुराण के सात खण्डों में से चौथे खण्ड का नाम । इसमें कुल ४३ अध्याय हैं । दे० 'शिवपुराण ।'

कोटिहोम—मत्स्यपुराण (९३.५-६) के अनुसार नवग्रहहोम उस समय अयुतहोम कहलाता है जब आहुतियों की संख्या दस सहस्र हो । इसी क्रम से बढ़ते हुए एक अन्य प्रकार का होम लक्षहोम है तथा तीसरा कोटिहोम है । वस्तुतः नवग्रहमख अशुभ शकुनों तथा क्रूर ग्रहों के प्रशमनार्थ होता है । मत्स्यपुराण (९३) में उपर्युक्त तीनों होमों का वर्णन है । बाणभट्ट के हर्षचरित के अनुसार जिस समय प्रभाकरवर्द्धन मृत्युशय्या पर था उस समय कोटिहोम का आयोजन किया गया था ।

कोटीश्वरीव्रत—भाद्र शुक्ल तृतीया को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । चार वर्ष तक इसका आचरण करना चाहिए । इस दिन उपवास का विधान है । एक लाख अक्षत अथवा तिल दूध में डालने चाहिए । तदनन्तर देवी पार्वती की एक स्थूल प्रतिमा बनाकर उसका पूजन करना चाहिए । इस पूजन से न तो दारिद्रय रहेगा न कोई अन्य विपत्ति, आठ सन्तान और सुन्दर पति की प्राप्ति होगी । इसका नाम लक्षेश्वरी भी है ।

कोटितीर्थ या कोटीश्वर या शिवकोटि शंकरजी की एक करोड़ मूर्तियों का भी नाम है । ऐसा एक तीर्थ प्रयागराज में गंगाजी के बड़े रेल पुल के पास है । यहाँ लंकाविजय कर लौटते समय रामचन्द्रजी एक करोड़ शिवमूर्तियों का एकतन्त्र में पूजन कर रावणवध के पाप से मुक्त हुए थे ।

कोटेश्वर—हिमालय में स्थित एक तीर्थस्थान । देवप्रयाग से खर्साड़ा १० मील और यहाँ से कोटेश्वर ४ मील दूर है । यहाँ कोटेश्वर महादेव का मन्दिर है ।

कोणार्क—भुवनेश्वर से लगभग ४२ मील दक्षिणपूर्व उड़ीसा का यह एक सौर तीर्थ है । स्थानीय जनश्रुति के अनुसार एक बार भगवान् श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब को कुष्ठ रोग हो गया था । भगवान् की आज्ञा से इस स्थान पर कोणादित्य की आराधना करने से उनका कुष्ठ दूर हुआ । पश्चात् साम्ब ने यहाँ सूर्यमूर्ति स्थापित की थी (यह मूर्ति अब पुरी में है) । यह उपाख्यान सूर्यपूजा सम्बन्धी पौराणिक कथा का रूपान्तर है । वास्तव में मूल सूर्यमन्दिर पंजाब में चन्द्रभागा (चेनाव) और सिन्धुनद के संगम पर मुलतान = मूलस्थान में था । तुर्कों द्वारा उसके नष्ट होने पर

कोणार्क वाला सूर्यमन्दिर सन् १२५० में बना और नया चन्द्रभागातीर्थ स्थापित हुआ।

इस मन्दिर में भास्कर्य कला-परम्परा का सम्पूर्ण वैभव दृष्टिगोचर होता है। किन्तु यह आज भग्नावस्था में है। भारत के लगभग सभी सूर्यमन्दिरों की यही अवस्था है। वास्तव में सौर मत का प्रभाव समाप्त होता गया और उचित संरक्षण न मिलने से यह मन्दिर भी ध्वस्त हो गया है। इसका जगमोहन मात्र आज खड़ा है। वर्ष में एक बार यहाँ देश के कोने-कोने से बचे-खुचे सूर्योपासक इकट्ठे होकर इस स्थान, मन्दिर एवं वातावरण को प्राणवान् कर देते हैं। यह तीर्थ भी चन्द्रभागा के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर चन्द्रभागा नदी समुद्र में मिलती है। परन्तु स्पष्टतः यह पुराने तीर्थ (चन्द्रभागा या चेनाव और सिन्धु के संगम) का स्थानान्तरण है।

कोणार्क का सूर्यमन्दिर अपनी वास्तुकला लिए प्रसिद्ध है। यहाँ पर सूर्य की अनेक सर्जनात्मक क्रियाएँ प्रतीकात्मक रूप से विविध आकारों में अंकित हैं।

कोयिलपुराण—यह शैव सिद्धान्त की तमिलशाखा का चौदहवीं शती में निर्मित एक ग्रन्थ है।

कोलाहल पण्डित—यामुनाचार्य के समसामयिक पाण्डयराज का सभापण्डित। राजा इसके प्रति अत्यन्त श्रद्धाभाव रखता था। जो पण्डित कोलाहल से शास्त्रार्थ में हार जाते थे, उन्हें राजा की आज्ञा के अनुसार दण्डस्वरूप कुछ वार्षिक कर कोलाहल पण्डित को देना पड़ता था। कोलाहल सम्राट् की तरह अधीनस्थ पण्डितों से कर वसूलता था। यामुनाचार्य के गुरु भाष्याचार्य भी उसे कर दिया करते थे। एक बार भाष्याचार्य ने दो तीन वर्ष तक कर नहीं दिया। कोलाहल का एक शिष्य कर माँगने आकर भाष्याचार्य को अनुपस्थित पा अनाप-शनाप बकने लगा। ऐसी स्थिति में यामुन ने, जो १२ वर्ष के बालक थे, कोलाहल से शास्त्रार्थ करने को कहा। शिष्य ने जाकर कोलाहल से कहा। उधर राजा-रानी को भी पता चला। दोनों में तर्क हुआ। रानी ने कहा कि यामुन जीतेगा; यदि न जीतेगा तो मैं आपकी क्रीतदासी की दासी होकर रहूँगी।

राजा ने कहा कोलाहल जीतेगा; यदि न जीतेगा तो मैं अपना आधा राज्य यामुन को दे दूंगा। रानी की बात रह गयी, यामुन जीत गये। कोलाहल पण्डित हार गया। यामुन को राजा ने सिहासन पर बैठा दिया। दे० 'यामुनाचार्य'।

कोष—उपनिषदों में आत्मा के पाँच कोष बताये गये हैं :

१. अन्नमय कोष (स्थूल शरीर, जो अन्न से बनता है)
२. प्राणमय कोष (शरीर के अन्तर्गत वायुतत्त्व)
३. मनोमय कोष (मन की संकल्प-विकल्पात्मक क्रिया)
४. विज्ञानमय कोष (बुद्धि की विवेचनात्मक क्रिया)
५. आनन्दमय कोष (आनन्द की स्थिति)।

ये आत्मा के आवरण माने गये हैं। इनके क्रमशः भेदन से जीवात्मा अपना स्वरूप पहचानता है। आत्मा इन सबका आधार और इनसे परे है। दे० 'आत्मा'।

पञ्चदशी (३.१-११) में इन कोषों का विस्तृत वर्णन है।

कोसल (कोशल)—जनपद का नाम, जिसकी राजधानी अयोध्या थी (दे० 'अयोध्या')। वाल्मीकि रामायण (१.४.५) में इसका उल्लेख है :

कोसलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूत धनधान्यवान्॥

[कोसल नामक महान् जनपद विस्तृत और सुखी था। यह सरयू के किनारे स्थित और प्रभूत धन-धान्य से युक्त था।] कहीं-कहीं अयोध्या नगरी के लिए ही इसका प्रयोग हुआ है।

कौकूस्त—शतपथ ब्राह्मण (४.६.१.१३) में 'कौकूस्त' एक यज्ञ में पुरोहितों को दक्षिणा देनेवाला कहा गया है। काण्व शाखा इस शब्द का पाठ 'कौक्थस्त' के रूप में करती है।

कौत्स—यह एक प्रसिद्ध ऋषि का नाम है।

कौथुमी—सामवेद की एक शाखा। सामसंहिता के सभी मन्त्र गेय हैं। जिन यज्ञों में सोमरस काम में लाया जाता था उनमें (अर्थात् सोमयागों में) उद्‌गाताओं का यह कर्तव्य था कि वे सामगान करें। ब्रह्मचारियों को आचार्य इस संहिता के छन्दों के सस्वर पाठ करने की विधि सिखाते थे, तथा वे इसे बार-बार गाकर कंठस्थ भी कर लेते थे। उन्हें यह भी शिक्षा दी जाती थी कि किस यज्ञ में किस ऋचा या छन्द का गान होगा। कौथुमीसंहिता सामवेद की तीन शाखाओं में से एक है। यह शाखा उत्तर भारत में प्रचलित है, जबकि 'जैमिनीय'

एवं 'राणायनीय' का प्रचार कर्णाटक एवं महाराष्ट्र में है। कौथुमी शाखा के आचार्य अपने ब्रह्मचारियों (उद्गाता की शिक्षा लेने वालों) को ५८५ स्वरों की शिक्षा देते थे, जिनका सम्बन्ध उतने ही छन्दों से होता था। वैसे तो सामवेद की १००० शाखाएँ कही जाती हैं, किन्तु प्रचलित हैं केवल तेरह। इन तेरहों में भी आजकल दो ही प्रधान हैं —कौथुमी (उत्तर भारत में काशी, कान्यकुब्ज, गुजरात और वङ्ग) तथा राणायनीय (दक्षिण में)।

कौटिल्य—कौटिल्य चाणक्य एवं विष्णुगुप्त नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनका व्यक्तिवाचक नाम विष्णुगुप्त, स्थानीय नाम चाणक्य (चणकावासी) और गोत्रनाम कौटिल्य (कुटिल से) था। ये चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमन्त्री थे। इन्होंने 'अर्थशास्त्र' नामक एक ग्रन्थ की रचना की, जो तत्कालीन राजनीति, अर्थनीति, इतिहास, आचरण शास्त्र, धर्म आदि पर भली भाँति प्रकाश डालता है। 'अर्थशास्त्र' मौर्य काल के समाज का दर्पण है, जिसमें समाज के स्वरूप को सर्वाङ्ग देखा जा सकता है। अर्थशास्त्र से धार्मिक जीवन पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। उस समय बहुत से देवताओं तथा देवियों की पूजा होती थी। न केवल बड़े देवता-देवी अपितु यक्ष, गन्धर्व, पर्वत, नदी, वृक्ष, अग्नि, पक्षी, सर्प, गाय आदि की भी पूजा होती थी। महामारी, पशुरोग, भूत, अग्नि, बाढ़, सूखा, अकाल आदि से बचने के लिए भी बहुतेरे धार्मिक कृत्य किये जाते थे। अनेक उत्सव, जादू टोने आदि का भी प्रचार था। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार राजा का मुख्य कर्तव्य था प्रजा द्वारा वर्णाश्रम धर्म और नैतिक आचरण का पालन कराना। दे० 'अर्थशास्त्र'।

कौतुकव्रत—इसमें नौ वस्तुओं के उपयोग का विधान है, यथा दूर्वा, अंकुरित यव, बालक नामक पौधा, आम्रदल, दो प्रकार की हल्दी, सरसों, मोर के पंख तथा साँप की केंचुली। विवाह के समय उपर्युक्त वस्तुएँ वर-वधू के कङ्कण में बाँधी जाती हैं। दे० हेमाद्रि, १.४९; व्रतराज, १६। कालिदास कृत रघुवंश के अष्टम सर्ग के प्रथम श्लोक में 'विवाहकौतुक' शब्द आया है। ये सभी मांगलिक वस्तुएँ हैं तथा अनुराग, काम और सर्जन क्रिया को इंगित करती हैं।

कौमुदी—संस्कृत व्याकरण के ग्रन्थों में कौमुदी का प्रचार अधिक देखा जाता है। इसके तीन संस्करण हैं—सिद्धान्त, मध्य एवं लघु। भट्टोजिदीक्षित ने 'सिद्धान्तकौमुदी' लिखी जिसके प्रचार से अष्टाध्यायी की पठनप्रणाली उठ सी गयी। सिद्धान्तकौमुदी पर भट्टोजिदीक्षित ने ही 'प्रौढमनोरमा' नाम की टीका लिखी। मध्यकौमुदी एवं लघुकौमुदी वरदराज ने लिखीं। कौमुदी पाणिनिसूत्रों पर ही अवलम्बित है। संस्कृत भाषा के अध्ययन में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कहावत है ''कौमुदी कण्ठलग्ना चेद् वृथा भाष्ये परिश्रमः।''

कौमुदीव्रत—आश्विन शुक्ल एकादशी से यह व्रत किया जाता है। उपवास तथा जागरण का इसमें विधान है। द्वादशी को विभिन्न प्रकार के कमलों से वासुदेव की पूजा की जाती है। वैष्णवों द्वारा त्रयोदशी को यात्रोत्सव, चतुर्दशी को उपवास तथा पूर्णिमा को वासुदेव की पूजा की जाती है। 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्र के जप का इसमें विशेष महत्त्व है। हेमाद्रि के अनुसार इस व्रत को भगवान् विष्णु के जागरण तक अर्थात् कार्तिक शुक्ल एकादशी तक जारी रखना चाहिए।

कौरष्य—एक शैव संप्रदायाचार्य। शिव के लकुलीश (संन्यासी रूप में शिव) अवतार के चार शिष्य थे—कुशिक, गार्ग्य, मित्र (मैत्रेय) एवं कौरष्य। इन्होंने चार उपसम्प्रदायों की स्थापना की।

कौर्म उपपुराण—यह उन्तीस उपपुराणों में से एक उपपुराण है।

कौल—शाक्तों के वाममार्गी संप्रदाय में कौल एक शाखा है। इसका आधारभूत साहित्य है कौलोपनिषद् तथा परशुराम-भार्गवसूत्र। दूसरे ग्रन्थ में कौल प्रणाली की सभी शाखाओं का सम्पूर्ण विवरण है। दिव्य, घोर और पशु इन तीन भावों में से दिव्य भाव में लीन ब्रह्मज्ञानी को 'कौल' कहते हैं। कुलार्णवतन्त्र में 'कौल' की निम्नांकित परिभाषा पायी जाती है :

'दिव्यभावरतः कौलः सर्वत्र समदर्शनः।'

[दिव्य भाव में रत, सर्वत्र समान रूप से देखनेवाला 'कौल' होता है।] महानीलतन्त्र में कथन है :

पशोर्वक्त्राल्लब्धमन्त्रः पशुरेव न संशयः।
वीराल्लब्धमनुर्वीरः कौलाच्च ब्रह्मविद् भवेत्॥

[पशु के मुख से मन्त्र प्राप्त कर मनुष्य निश्चय ही पशु रहता है, वीर से मन्त्र पाकर वीर और कौल के मुख से मन्त्र पाकर ब्रह्मज्ञानी होता है।] दे० 'कौलाचार'।

कौलाचार—तान्त्रिक गण सात प्रकार के आचारों में विभक्त हैं। कुलार्णवतन्त्र के अनुसार वेद, वैष्णव, शैव, दक्षिण, वाम, सिद्धान्त एवं कौल ये सात आचार हैं। कौलाचार सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। किन्तु प्रथम तीन अन्तिम चार की निन्दा भी करते हैं। प्रत्येक आचार के अनेक तन्त्र हैं। तन्त्रों में कौलाचार का वर्णन इस प्रकार है :

दिक्कालनियमो नास्ति तिथ्यादिनियमो न च।
नियमो नास्ति देवेशि महामन्त्रस्य साधने॥
क्वचित् शिष्टः क्वचिद् भ्रष्टः क्वचिद् भूतपिशाचकः।
नानावेशधराः कौला विचरन्ति महीतले॥
कर्दमे चन्दनेऽभिन्नं मित्रे शत्रौ तथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवि तथैव काञ्चने तृणे॥
न भेदो यस्य देवेशि स कौलः परिकीर्तितः॥
(नित्यातन्त्र)

[देश एवं काल का नियम नहीं है, तिथि आदि का भी नियम नहीं है। हे देवेशि! महामन्त्र-साधन का भी नियम नहीं है। कभी शिष्ट, कभी भ्रष्ट और कभी भूत-पिशाच के समान, इस तरह नाना वेषधारी कौल महीतल पर विचरण करते हैं। कर्दम और चन्दन में, मित्र और शत्रु में, श्मशान और गृह में, स्वर्ण और तृण में जिनका भेदज्ञान नहीं, उन्हें ही 'कौल' कहा जा सकता है।]

कौलों के विषय में और भी कथन है :

अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः सभामध्ये तु वैष्णवाः।
नाना रूपधराः कौला विचरन्ति महीतले॥

[भीतर से शाक्त, बाहर से शैव, सभा में वैष्णव; नाना रूप धारण करके कौल लोग पृथ्वी पर विचरण करते हैं।]

कौलाचार में जो वस्तुएँ मूल में रूपकात्मक थीं वे आगे चलकर व्यवहार में अपने भौतिक रूप में प्रयुक्त होने लगीं। कौलों की साधना में पञ्च मकार (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन) का उन्मुक्त प्रयोग होता है। इन पञ्च मकारों से जगदम्बिका का पूजन होता है। काली अथवा तारा का मन्त्र ग्रहण करके जो पञ्च मकार का सेवन नहीं करता वह कलियुग में पतित है; वह जप, होम आदि कार्यों में अनधिकारी होता है तथा मूर्ख कहलाता है। उसका पितृतर्पण श्वानमूत्र के समान है। काली और तारा का मन्त्र पाकर जो वीराचार नहीं करता वह शूद्रत्व को प्राप्त होता है। सुरा सभी कार्यों में प्रशस्त मानी जाती है। पृथ्वी में यह एक मात्र मुक्तिदायिनी समझी जाती है। इसका नाम ही तीर्थ है।

कौलोपनिषद्—कौलमार्ग (शाक्तों की एक शाखा) का यह आधारग्रन्थ है। यह संक्षिप्त ग्रन्थ है और सरल गद्य में संकेतों के साथ लिखा गया है। अतः पहेली के समान सरलता से समझ में न आने वाला है तथा इसका निर्देश अस्पष्ट है। इसका कथन है कि पूजा-पाठ एवं यज्ञादि से मुक्ति नहीं मिलती। इसे प्राप्त करने के लिए सामाजिक परम्परा से चले आ रहे अन्धविश्वासी बन्धनों से मुक्ति पानी चाहिए। कौल धर्म वीरों का मार्ग है, कायरों का नहीं।

कौशाम्बी—प्राचीन प्रसिद्ध वत्स जनपद की राजधानी, जो प्रयाग से दक्षिण है। इसका गौतम बुद्ध के जीवन तथा बौद्ध धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह इतिहासप्रसिद्ध राजा उदयन की राजधानी थी। इस स्थान का नाम अब कोसम है। यहाँ भूखनन से बहुत-सी मूर्तियाँ, स्थापत्य के भग्न खण्ड और अन्य वस्तुएँ निकली हैं। यह जैनों का भी तीर्थस्थल है।

वाल्मीकिरामायण (१.३२.५) के अनुसार कुशाम्ब नामक एक पौरव राजा ने इसकी स्थापना की थी :

'कुशाम्बस्तु महातेजा कौशाम्बीमकरोत् पुरीम्।'

गंगा की बाढ़ से जब हस्तिनापुर नष्ट हो गया तो वहाँ से हटकर पौरव राज वत्स जनपद में आ गया था।

कौशिक—इन्द्र का एक नाम, जिसे कुशिकों से सम्बन्धित कहा गया है। विश्वामित्र को भी कौशिक (कुशिक के पुत्र) कहते हैं। बृहदारण्यक उनिषद् के प्रारम्भिक दो वंशों में कौशिक नामक आचार्य का नाम कौण्डिन्य के शिष्य के रूप में आया है। पुराणों में बतलाया गया है कि किस प्रकार इन्द्र ने राजा कुशिक की तपस्या से भयभीत होकर उसका पुत्रत्व स्वीकार किया। हरिवंश (२७.१३-१६) में यह कथा इस प्रकार है :

कुशिकस्तु तपस्तेपे पुत्रमिन्द्रसमं विभुः।
लभेयमिति तं शक्रस्त्रासादभ्येत्य जज्ञिवान्॥
पूर्णे वर्षसहस्रे वै तन्तु शक्रो ह्यपश्यत।
अत्युग्रतपसं दृष्ट्वा सहस्राक्षः पुरन्दरः॥
समर्थं पुत्रजनने स्वमेवांशमवासयत्।
पुत्रत्वे कल्पयामास स देवेन्द्रः सुरोत्तमः॥
स गाधिरभवद्राजा मघवान् कौशिकः स्वयम्॥

कौशिकसूत्र—यह अथर्ववेद से सम्बन्धित प्रथमतः गृह्यसूत्र है। इसमें ऐन्द्रजालिक उत्सवों का वर्णन भी विशद रूप से मिलता है तथा जो बातें अथर्ववेद में अस्पष्ट हैं वे सुस्पष्ट कर दी गयी हैं।

गोपथब्राह्मण के अनुसार अथर्ववेदसंहिता के पाँच सूत्रग्रन्थ हैं—कौशिकसूत्र, वैतानसूत्र, नक्षत्रकल्पसूत्र, आङ्गिरसकल्पसूत्र एवं शान्तिकल्पसूत्र। कौशिकसूत्र को ही 'संहिताविधिसूत्र' भी कहते हैं। बहुत से सूत्रग्रन्थों में अथर्ववेद के प्रतिपाद्य कर्मों का विधान अत्यन्त सूक्ष्म रूप से किया गया है, जिससे वे दुर्बोध हो गये हैं। इन्हें ही सुबोध कर देने के लिए कौशिकसूत्र का संग्रह हुआ है। कौशिकसूत्र में १. स्थालीपाकविधान में दर्शपूर्णमास विधि २. मेधाजनन ३. ब्रह्मचारीसम्पद् ४. ग्राम-दुर्ग-राष्ट्रादि-लाभ विषय ५. पुत्र-पशु-धन-धान्य-प्रजा-स्त्री-करि-तुरग-रथ-दोलकादि सर्वसम्पत्साधक समूह ६. मानवगण में ऐकमत्य सम्पादक सौमनस्यादि विषयों का वर्णन है।

कौषीकाराम—आपस्तम्ब सूत्र के भाष्यकारों में से एक कौशिकाराम भी है।

कौषीतकि आरण्यक—वेद के चार भाग हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्। ऋग्वेद का यह आरण्यक भाग है। आरण्यकों में ऋषियों का निर्जन अरण्यों में रहकर ब्रह्म-विद्या अध्ययन तथा उनके द्वारा अनेक गम्भीर अनुभूत विचार लोककल्याणार्थ दिये हुए हैं। कौषीतकि आरण्यक के तीन खंड हैं, जिनमें दो खंड प्रधान हैं, जो कर्मकांड से भरे पड़े हैं। तीसरा खंड कौषीतकि उपनिषद् कहलाता है। यह एक सारगर्भ उपादेय ग्रन्थ है। आनन्दमय धाम में कैसे प्रवेश किया जाय और उस आनन्द का उपभोग किस प्रकार किया जाय इस बात पर अनेक अध्यायों में विचार हुआ है। गृह्यकृत्य, पारिवारिक बन्धन आदि में बँधे हुए लोगों के मन के भीतर उस समय में अत्यन्त कोमल हृदय की वृत्तियों ने किस प्रकार विकास किया है, इसका बहुत ही सुन्दर चित्र दूसरे अध्याय में मिलता है। तीसरे अध्याय में ऐतिहासिक वृत्तान्त और इन्द्र के युद्धादि के उपाख्यान दिये गये हैं। चौथा अध्याय भी आख्यानों से भरा है। काशिराज वीरेन्द्रकेशरी ने एक ज्ञानी ब्राह्मण को जो उपदेश दिया था वह भी इस अध्याय में वर्णित है। इसमें भौगोलिक बातें भी हैं। हिमवान् और विन्ध्यादि पर्वतों के नाम और पहाड़ियों के नाम भी पाये जाते हैं। सायणाचार्य ने ऐतरेय एवं कौषीतकि दोनों आरण्यकों के भाष्य लिखे हैं।

कौषीतकि उपनिषद्—ऋग्वेद के कौषीतकि नामक ब्राह्मण के इसी नाम वाले आरण्यक का तीसरा खण्ड 'कौषीतकि उपनिषद्' कहलाता है। विशेष विवरण के लिए दे० 'कौषीतकि आरण्यक'।

कौषीतकिब्राह्मण—ऋग्वेद की दो शाखाओं—ऐतरेय एवं कौषीतकि के इन्हीं नामों के दो ब्राह्मण हैं। कौषीतकि को शाङ्खायन भी कहते हैं। कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण भाग के अतिरिक्त सामान्ययज्ञादि विषयक महत्त्वपूर्ण छः ब्राह्मणग्रन्थ हैं। ये हैं—ऐतरेय; कौषीतकि, पञ्चविंश, तलवकार, तैत्तिरीय एवं शतपथ। कौषीतकि ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद प्रो० कीथ द्वारा एवं विश्लेषण डॉयसन द्वारा हुआ है।

क्रतुरत्नमाला—शाङ्खायन श्रौतसूत्र पर लिखा गया एक भाष्य क्रतुरत्नमाला के नाम से प्रसिद्ध है। इसके रचयिता श्रीपति के पुत्र विष्णु कहे जाते हैं।

क्रमदीपिका—केशव काश्मीरी निम्बार्कों के एक दिग्विजयी नेता, विद्वान् एवं भाष्यकार हो गये हैं। उनकी क्रमदीपिका नामक पुस्तक यज्ञ, पूजार्चन आदि पर एक गौरवपूर्ण रचना है, जो गौतमीय तन्त्र की चुनी हुई सामग्रियों का संग्रह है। इसकी रचना १६वीं शती के प्रारम्भ में हुई थी।

क्रमपूजा—कृत्यरत्नाकर में (१४१—१४४, देवीपुराण से उद्धृत) लिखा है कि चैत्र शुक्ल पक्ष में दुर्गा का पूजन होना चाहिए। कुछ विशेष तिथियों तथा नक्षत्रों के अवसर पर इससे पुण्य, सुख, समृद्धि की प्राप्ति होती है।

क्रममुक्ति—क्रमशः मुक्ति प्राप्त करने का सिद्धान्त। इस विषय पर शङ्कर द्वारा वेदान्तसूत्र (३.३.२९) पर व्याख्यान प्राप्त होता है। उनका कहना है कि देवयान और पितृयान दो मार्ग हैं। पितृयान जन्म-मरण का मार्ग है। देवयान से क्रममुक्ति का मार्ग प्रारम्भ होता है। परन्तु निर्गुण ब्रह्म का सर्वोच्च ज्ञान रखने वाले संत तो पहले ही ब्रह्म के साथ एकत्व की प्राप्ति कर चुकते हैं तथा उनके लिए किसी देवयान (देवपथ) पर चलने की आवश्यकता नहीं है। जो लोग केवल सगुण ब्रह्म का ही ज्ञान रखते हैं, वे इस पथ पर अग्रसर होते हैं। वे ब्रह्म को प्राप्त कर पुनः लौटते नहीं। सगुण ब्रह्म से एकत्व प्राप्त कर अन्त में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रतीक्षाकाल तथा अपूर्ण ज्ञान के काल में आत्मा को पूर्ण आनन्द एवं अजेय इच्छाशक्ति प्राप्त होती है (यही ऐश्वर्य कहलाता है)। जब वह सर्वोच्च प्रकाश के

समीप पहुँचता है उसे नया स्वरूप प्राप्त होता है तथा वास्तव में वह मुक्त हो जाता है। इसे 'क्रममुक्ति' का सिद्धान्त कहते हैं।

क्रमसंदर्भ—चैतन्य महाप्रभु के संप्रदाय में जीव गोस्वामी के रचे ग्रंथों का प्रमुख स्थान है। 'क्रमसंदर्भ' भागवत पुराण का उन्हीं के द्वारा संस्कृत में किया गया भाष्य है। रचना १५८०-१६१० ई० के मध्य की है। इस प्रकार की सैद्धांतिक रचनाओं के जीव गोस्वामीकृत छः निबन्ध हैं, जिनकी भाषा अत्यन्त प्रौढ और प्रांजल है। ये 'षट्संदर्भ' वैष्णवों के आकर ग्रंथ (निधि) माने जाते हैं।

क्रवण—ऋग्वेद में एक स्थान (५. ४४. ९) पर उल्लिखित यह शब्द लुडविग के मत से एक होता (पुरोहित) का नाम है। राथ इसे विशेषण मानकर 'कायर' अर्थ करते हैं। सायण इसका अर्थ 'पूजा करता हुआ' और ओल्डेनबर्ग इसका अर्थ अनिश्चित बताते हैं, किन्तु सम्भवतः वे इसका अर्थ 'बलिपशु का वधिक' लगाते हैं।

क्रव्याद—क्रव्य = कच्चा मांस + अद = भक्षक अर्थात् दानव। शव दहन करने वाले अग्नि का भी यह नाम है। महाभारत (१.६.७) में कथा है कि भृगु ने पुलोमा के अपहरण पर अग्नि को शाप दिया कि वह सर्वभक्षी हो जाय। सर्वभक्षी होने पर मांसादि सभी अमेध्य वस्तुओं को अग्नि को ग्रहण करना पड़ा। परन्तु प्रश्न यह उपस्थित हो गया कि अशुद्ध अग्निमुख से देव और पितर किस प्रकार आहुति ग्रहण करेंगे। देवताओं के अनुरोध से ब्रह्मा ने अपने प्रभाव को अग्नि पर प्रकट करते हुए अपने आहुत भाग को स्वीकार किया। इसके पश्चात् देव-पितरों ने भी अपना-अपना भाग अग्निमुख से लेना प्रारम्भ किया।

शान्तिकर्म आदि में क्रव्याद अग्नि का अपसारण (दूरीकरण) ऋग्वेद (१०.१६.९) के मन्त्र से किया जाता है।

क्रिया—सृष्टि-विकास के प्रथम चरण को 'क्रिया' कहते हैं। प्रारंभिक सृष्टि की पहली अवस्था में शक्ति का जागरण दो चरणों में होता है—१. 'क्रिया' और २. 'भूति' तथा उनके छः गुणों का विकास होता है।

शिक्षा, पूजा, चिकित्सा और सामान्य धार्मिक विधियों के लिए भी 'क्रिया' शब्द का प्रयोग होता है :

आरम्भो निष्कृतिः शिक्षा पूजानं सम्प्रधारणम्।
उपायः कर्मचेष्टा च चिकित्सा च नवक्रियाः॥
(भावप्रकाश)

धर्मशास्त्र में व्यवहारपाद (न्यायविधि) का एक पादविशेष क्रिया कहलाता है। वह दो प्रकार की होती है—मानुषी और दैवी। प्रथम साक्ष्य, लेख्य और अनुमान भेद से तीन प्रकार की होती है। दूसरी घट, अग्नि, उदक, विष, कोष, तण्डुल, तप्तमाषक, फाल, धर्म भेदों से नौ प्रकार की होती है। दे० 'व्यवहरतत्त्व' में बृहस्पति।

क्रियापाद—शैव आगमों के समान ही वैष्णव संहिताओं के चार भाग हैं—१. ज्ञानपाद, २. योगपाद, ३. क्रियापाद और ४. चर्यापाद। क्रियापाद के अन्तर्गत मन्दिरों तथा मूर्तियों के निर्माण का विधान और वर्णन पाया जाता है।

धर्मशास्त्र में व्यवहार (न्याय) का तीसरा पाद क्रिया कहलाता है—

पूर्वपक्षः स्मृतः पादो द्वितीयश्चोत्तरः स्मृतः।
क्रियापादस्तथा चान्यश्चतुर्थो निर्णयः स्मृतः॥
(बृहस्पति, व्यवहारतत्त्व)

[व्यवहार का प्रथम पाद पूर्वपक्ष, द्वितीय पाद उत्तर, तृतीय क्रियापाद और चतुर्थ निर्णयपाद कहलाता है।]

क्रियायोग—देवाराधन तथा उनके पूजन के लिए मन्दिर निर्माण आदि पुण्यकर्मों को क्रियायोग कहते हैं। अग्निपुराण के वैष्णव क्रियायोग के यमानुशासन अध्याय में इसका विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

पातञ्जलि योगसूत्र के अनुसार तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग के अन्तर्गत सम्मिलित हैं (तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिक्रियायोगाः)।

क्रियासार—आगमिक शैवों में नीलकंठ रचित क्रियासार का व्यवहार अधिक होता है। यह श्रीकंठशिवाचार्य-रचित शैव ब्रह्मसूत्रभाष्य का संक्षिप्त सार है। यह संस्कृत ग्रन्थ लिङ्गायती द्वारा प्रयुक्त होता है, जो सत्रहवीं शती की रचना है।

क्रुञ्च आङ्गिरस—सामवेद के क्रौञ्च नामक गान के ध्वनिकार ऋषि पञ्चविंश ब्राह्मण (१३. ९, ११; ११, २०) में उक्त नाम यह सिद्ध करने के लिए दिया हुआ है कि साम के गानों का नाम स्वररचयिता के नामानुसार रखा गया है इस नियम के अनेक अपवाद भी मिलते हैं।

क्षत्र—राष्ट्र, शक्ति, सार्वभौमता। ऋग्वेद में इसका अर्थ शासक है (१. १५७. २; ८. ३५. १७) तथा परवर्ती ग्रन्थों में भी यही अर्थ माना गया है। किन्तु ऋग्वेद में

इसका आशय उस शासक (शासक जाति) से निश्चयपूर्वक नहीं है, जैसा परवर्ती ग्रन्थों में माना गया है। क्षत्रपति से सदा राजा का बोध हुआ है। आगे चलकर इसका अर्थ क्षत्रिय वर्ग ही प्रचलित हो गया। इसका शाब्दिक अर्थ है 'क्षत (आघात) से त्राण देनेवाला (रक्षा करनेवाला)' [क्षतात् त्रायते इति क्षत्त्रः]।

क्षत्री—संहिताओं एवं ब्राह्मणों में यह बहुप्रयुक्त शब्द है, जिसका अर्थ राजसेवकों में से एक सदस्य होता है। किन्तु अर्थ अनिश्चित है। ऋग्वेद (६.१३.२) में इसका अर्थ वह देवता है, जो याजकों को अच्छी वस्तुएँ प्रदान करता है। अथर्ववेद (३.२४,७;५.१७.४) तथा अन्य स्थानों में (शतपथ ब्राह्मण १४.५.४.६) तथा शां० श्रौ० सू० (१६ ९,१६) में यही अर्थ है। वाजसनेयीसंहिता में महीधर द्वारा इसका अर्थ द्वारपाल लगाया गया है। सायण ने इसका अर्थ अन्तःपुराध्यक्ष (शत० ब्रा० ५.३.१.७) लगाया है। दूसरे परिच्छेदों में इसे रथवाहक कहा गया है। बाद में क्षत्री शब्द से एक वर्णसंकर जाति का बोध होने लगा।

क्षत्रिय—संहिता तथा ब्राह्मणों में 'क्षत्रिय' समाज का एक प्रमुख अंग माना गया है, जो पुरोहित, प्रजा एवं सेवक (ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र) से भिन्न है। राजन्य क्षत्रिय का पूर्ववर्त्ती शब्द है, किन्तु दोनों की व्युत्पत्ति एक है, (राजा सम्बन्धी अथवा राजकुल का)। वैदिक साहित्य में क्षत्रिय का प्रारम्भिक प्रयोग राज्याधिकारी या दैवी अधिकारी के अर्थ में हुआ है। पुरुषसूक्त (ऋ० वे० १०.९०) के अनुसार राजन्य (क्षत्रिय) विराट् पुरुष के बाहुओं से उत्पन्न हुआ है।

क्षत्रिय एवं ब्राह्मणों (ब्रह्म-क्षत्र) का सम्बन्ध सबसे समीपवर्त्ती था। वे एक दूसरे पर भरोसा रखते तथा एक दूसरे का आदर करते थे। एक के बिना दूसरे का काम नहीं चलता था। ऋषिजन राजाओं को अनुचित आचरण पर अपने प्रभाव से राज्यच्युत तक कर देते थे।

वैदिक काल में छोटे राज्यों के क्षत्रियों का मुख्य कर्त्तव्य युद्ध के लिए सदैव तत्पर रहना होता था। क्षत्रियों के प्रायः तीन वर्ग होते थे—(१) राजकुल, (२) प्रशासक वर्ग और (३) सैनिक। वे दार्शनिक भी होते थे, जैसे विदेह के जनक, जिन्हें ब्रह्मा कहा गया है। इस काल के और भी ज्ञानी क्षत्रिय थे, यथा, प्रवाहण जैवलि, अश्वपति कैकेय एवं अजातशत्रु। इन्होंने एक उपासना का नया मार्ग चलाया, जिसका विकसित रूप भक्ति मार्ग है। राजऋषियों को राजन्यर्षि भी कहते थे। किन्तु यह साधारण क्षत्रिय का धर्म नहीं था। वे कृषि भी नहीं करते थे। शासन का कार्य एवं युद्ध ही उनका प्रिय आचरण था। उनकी शिक्षा का मुख्य विषय था युद्ध कला, धनुर्वेद तथा शासनव्यवस्था, यद्यपि साहित्य, दर्शन तथा धर्मविज्ञान में भी वे निष्णात होते थे।

जातकों में 'खत्तिय' शब्द आर्यराजन्यों के लिए व्यवहृत हुआ है जिन्होंने युद्धों में विजय दिलाने का कार्य किया, अथवा वे प्राचीन जातियों के वर्ग जो विजित होने पर भी राजसी अवस्थाओं का निर्वाह कर सके थे, क्षत्रिय कहलाते थे। रामायण-महाभारत में भी क्षत्रिय का यही अर्थ है, किन्तु जातकों के खत्तिय से इसके कुछ अधिक मूल्य हैं, अर्थात् सम्पूर्ण राजकार्य सैनिक वर्ग, सामन्त आदि। परन्तु जातक अथवा महाभारत किसी में क्षत्रिय का अर्थ सम्पूर्ण सैनिक वर्ग नहीं है। सेना में क्षत्रियों के सिवा अन्य वर्गों के पदाधिकारी (साधारण सैनिक से उच्च श्रेणी के) होते थे।

धर्मसूत्रों और स्मृतियों में क्षत्रिय की उत्पत्ति और कर्त्तव्यों का समुचित वर्णन है। मनु (१.३१) ने पुरुषसूक्त के वर्णन को दुहराया है :

> लोकानां तु विवृद्धयर्थ मुखबाहूरु पादतः।
> ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रञ्च निरवर्तयात्॥

[लोक की वृद्धि के लिए विराट् के मुख, बाहु, जंघा और पैरों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र बनाये गये।] स्मृतियों के अनुसार क्षत्रिय का सामान्य धर्म पठन (अध्ययन), यजन (यज्ञ करना) और दान है। क्षत्रिय का विशिष्ट धर्म प्रजारक्षण, प्रजापालन तथा प्रजारञ्जन है। आपात्, काल में वह वैश्यवृत्ति से अपना निर्वाह कर सकता है, किन्तु शूद्रवृत्ति उसे कभी स्वीकार नहीं करनी चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता (८.४३) के अनुसार क्षत्रिय के निम्नांकित स्वाभाविक हैं :

> शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
> दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

[शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में अपलायन, दान और ऐश्वर्य स्वाभाविक क्षात्र कर्म हैं।]

श्रीमद्भागवत पुराण (द्वादश स्कन्ध, अ० १ और ब्रह्मवैवर्तपुराण (श्रीकृष्णजन्म खण्ड, ८३ अध्याय) में क्षत्रिय

के लक्षण और कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन पाया जाता है जो मनु आदि स्मृतियों से मिलता-जुलता है ।

क्षपणक—जैन अथवा बौद्ध संन्यासी । जटाधर के अनुसार यह बुद्ध का ही एक प्रकार अथवा भेद है । क्षपणक प्रायः नग्न रहा करते थे ! महाभारत (१.३.१२) में क्षपणक का उल्लेख है :

सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणक मागच्छन्तम् ।

क्षपावन—क्षपा = रात्रि में, अवन = रक्षक—राजा । इस शब्द से राजा के एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य—रात्रि में रक्षण का ज्ञान होता है । रात्रि में निशाचरों, चोरों और हिंस्र जानवरों का भय अधिक होता है । इनसे प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है । इसलिए उसका एक विरुद 'क्षपावन' है ।

क्षीरधाराव्रत—दो मासों की प्रतिपदा तथा पञ्चमी के दिन व्रती को केवल दुग्धाहार करना चाहिए । इस प्रकार के आचरण से अश्वमेध यज्ञ के फल की प्राप्ति होती है । दे० लिङ्गपुराण, ८३.६ ।

क्षीरधेनु—क्षीरधेनु का दान धार्मिक कृत्य है । दान के लिए क्षीर (दुग्धादि) से निर्मित गाय को क्षीरधेनु कहते हैं । वराहपुराण के श्वेतोपाख्यान के क्षीरधेनु महात्म्य नामक अध्याय में इसका वर्णन पाया जाता है ।

क्षीरप्रतिपदा—वैशाख अथवा कार्तिक की प्रतिपदा के दिन इस व्रत का अनुष्ठान होता है । एक वर्षपर्यन्त इसका आचरण होना चाहिए । ब्रह्मा इसके देवता हैं । निम्नांकित शब्दों का उच्चारण करते हुए व्रती को अपने सामर्थ्यानुसार दुग्ध समर्पित करना चाहिए : "ब्रह्मन् प्रसीदतु माम् ।" कुछ धार्मिक ग्रन्थों के पाठ का भी इसमें विधान है ।

क्षुद्रसूत्र—ऋचाओं को साम में परिणत करने की विधि के सम्बन्ध में सामवेद के बहुत से सूत्रग्रन्थ हैं । इनमें एक 'क्षुद्रसूत्र' भी हैं । इसमें तीन प्रपाठक हैं ।

क्षुरिकोपनिषद्—योग सम्बन्धी उपनिषदों में से एक । इसमें योग की प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया है । मनोविकारों को यह उपनिषद् (चिन्तन) छुरी की तरह काट देती है ।

क्षेत्रपाल—खेत अथवा भूमिखण्ड का रक्षक देवता । गृहप्रवेश या शान्तिकर्मों में क्षेत्रपाल को बलि देकर प्रसन्न किया जाता है । सिन्दूर, दीपक, दही, भात आदि सजाकर चौराहे पर क्षेत्रपाल के लिए रखने की विधि है ।

क्षेमराज—अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज का जन्म ११वीं शती में कश्मीर में हुआ । कश्मीरी शैवमत के आचार्यों में इनकी गणना होती है । इन्होंने वसुगुप्त रचित 'शिवसूत्र' पर 'शिवसूत्रविमर्शिनी नामक व्याख्या लिखी है । इस ग्रन्थ में अनेकों आगमों के उद्धरण पाये जाते हैं ।

क्षेमव्रत—चतुर्दशी के दिन यह व्रत किया जाता है । इसमें यक्ष-राक्षसों के पूजन का विधान है । दे० हेमाद्रि, २.१५४। चतुर्दशी तिथि ऐसे ही प्राणियों के पूजनार्थ निश्चित है ।

क्षौरकर्म—सामान्यतः क्षौरकर्म शारीरिक प्रसाधन है, जिसमें केश, दाढ़ी-मँछ, नखों को कतर कर देह सजा दी जाती है । परन्तु व्रतों और संस्कारों में इसका धार्मिक महत्त्व भी है । व्रतादि में क्षौरकर्म न करने से दोष होता है :

व्रतानामुपवासानां श्रद्धादीनाञ्चं संयमे ।
न करोति क्षौरकर्म अशुचिः सर्वकर्मसु ।।
(ब्रह्मवैवर्त, प्रकृतिखण्ड, २७ अध्याय)

[जो व्रत, उपवास, श्राद्ध, संयम आदि में क्षौरकर्म नहीं करता है वह सभी कर्मों में अपवित्र रहता है ।] 'शुद्धितत्त्व' में क्षौर का विधान इस प्रकार है : 'केशश्मश्रुलोमनखानि वापयीत शिखावर्जम्' । [शिखा छोड़कर केश (सिर के बाल), दाढ़ी, रोयें और नख को कटाना चाहिए ।] निम्नांकित तिथियों और कर्मों में क्षौर कर्म निषिद्ध है :

रोहिण्याञ्च विशाखायां मैत्रे चैवोत्तरासु च ।
मघायां कृत्तिकायाञ्च द्विजैः क्षौरं विवर्जितम् ।।
कृत्वा तु मैथुनं क्षौरं यो दवान् तर्पये पितॄन् ।
रुधिरं तद्भवेत्तोयं दाता च नरकं व्रजेत् ।।
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

'कर्मलोचन' नामक पद्धति में क्षौर कर्म सम्बन्धी और भी निषेध पाये जाते हैं :

नापितस्य गृहे क्षौरं शक्रादपि हरेत् श्रियम् ।
रवौ दुःखं सुखं चन्द्रे कुजे मृत्युर्बुधे धनम् ।।
मानं हन्ति गुरोर्वारे शुक्रे शुक्रक्षयो भवेत् ।
शनौ च सर्वदोषाः स्युः क्षौर मत्र विवर्जयेत् ।।

[नापित के घर में जाकर क्षौरकर्म कराना इन्द्र की शोभा को भी हर लेता है । रविवार को क्षौरकर्म दुःख, चन्द्रवार को सुख, मंगल को मृत्यु, और बुध को धन उत्पन्न करता है । गुरुवार को मान का हनन करता है । शुक्र को क्षौरकर्म से शुक्रक्षय होता है । शनिवार को क्षौर से सभी

दोष होते हैं, अतः इन दिनों में क्षौर वर्जित है।] किन्तु नट, भाण, भृत्य, राजसेवक आदि के लिए तथा व्रत, तीर्थ आदि में निषेध नहीं है। भोजन के पश्चात् क्षौर नहीं कराना चाहिए। शिशु के प्रथम क्षौरकर्म को 'चूडाकरण' कहते हैं। दे० 'चूडाकरण'।

ख

ख—व्यञ्जन वर्णों के अन्तर्गत कवर्ग का द्वितीय अक्षर। वर्णाभिधानतन्त्र में इसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है :

खः प्रचण्डः कामरूपी शुद्धिर्वह्निः सरस्वती।
आकाश इन्द्रियं दुर्गा चण्डी सन्तापिनी गुरुः॥
शिखण्डी दन्तो जातीशः कफोणिर्गरुडो गदी।
शून्यं कपाली कल्याणी सूर्पकर्णोऽजरामरः॥
शुभाग्नेयश्चण्डलिंगे जनो झंकारखड्गकौ॥

वर्णोद्धारतन्त्र में इसका ध्यान इस प्रकार बतलाया गया है :

बन्धूकपुष्पसंकाशां रत्नालङ्कारभूषिताम्।
वराभयकरी नित्यां ईषद्हास्यमुखीं पराम्।
एवं ध्यात्वा खस्वरूपां तन्मन्त्रं दशधा जपेत्॥

मातृकान्यास में यह अक्षर बाहु में स्थापित किया जाता है।

ख के अर्थ हैं इन्द्रिय, शून्य, आकाश, सूर्य, परमात्मा।

खखोल्क—काशीपुरी में स्थित एक सूर्य देवता। इनका माहात्म्य काशीखण्ड में वर्णित है :

काशीवासिजनानेकरूपपापक्षयंकरः।
विनतादित्य इत्याख्यः खखोल्कस्तत्र संस्थितः॥
काश्यां पैलंगिले तीर्थे खखोल्कस्य विलोकनात्।
नरश्चिन्तितमाप्नोति नीरोगो जायते क्षणात्॥

कहते हैं कि नागमाता कद्रू और गरुडमाता विनता (दोनों सौतें) लड़ती हुई सूर्य की ओर गयीं तो कद्रू ने घबड़ाहट में सूर्य को उल्का समझा और 'ख, ख, उल्का' ऐसा कह दिया। विनता ने इसी को सूर्य का नाम मानकर प्रतिष्ठित कर दिया।

खगासन—खग = गरुड है आसन जिसका, विष्णु। विष्णु का आसन गरुड कैसे हुआ, इसका वर्णन महाभारत (१.३३.१२-१८) में पाया जाता है :

तमुवाचाव्ययो देवो वरदोऽस्मीति खेचरम्।
स वव्रे तव तिष्ठेयमुपरीत्यन्तरीक्षगः॥
उवाच चैनं भूयोऽपि नारायगमिदं वचः।
अजरश्चामरश्च स्याममृतेन विनाप्यहम्॥
एवमस्त्विति तं विष्णुरुवाच विनतासुतम्।
प्रतिगृह्य वरौ तौ च गरुडो विष्णुमब्रवीत्॥
भवतेऽपि वरं दद्यां वृणोतु भगवानपिं।
तं वव्रे वाहनं विष्णुर्गरुत्मन्तं महाबलम्॥
ध्वजञ्च चक्रे भगवानुपरि स्थास्यसीति तम्।
एवमस्त्विति तं देवमुक्त्वा नारायणं खगः।
वव्राज तरसा वेगाद् वायुं स्पर्द्धन् महाजवः॥

[भगवान् (विष्णु) ने आकाश में उड़ने वाले गरुड़ से कहा, मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ। आकाशगामी गरुड ने वर माँगते हुए कहा, आपके ऊपर मैं बैठूँ। उसने फिर नारायण से यह वचन कहा, अमृत के विना मैं अजर और अमर हो जाऊँ। विष्णु ने गरुड़ से कहा, ऐसा ही हो। उन दोनों वरों को ग्रहण कर गरुड़ ने विष्णु से कहा, मैं आपको वर देना चाहूँगा, वरण कीजिए। विष्णु ने कहा, मैं तुम्हें वाहनरूप में ग्रहण करता हूँ। उन्होंने ध्वज बनाया और कहा, तुम इसके ऊपर स्थित होगे। गरुड़ ने भगवान् नारायण से कहा, ऐसा ही होगा। इसके पश्चात् अत्यन्त गति वाला गरुड़ वायु से स्पर्द्धा करता हुआ अत्यन्त वेग से प्रस्थान कर गया।] दे० 'विष्णु' और 'गरुड़'।

खगेन्द्र—खग (पक्षियों) का इन्द्र (राजा), गरुड़। महाभारत (१.३१.३१) में कथन है :

'पतत्रिणाञ्च गरुड इन्द्रत्वेनाभ्यषिच्यत।'

[गरुड का पक्षियों के इन्द्र के रूप में अभिषेक हुआ।] दे० 'गरुड़'।

खजुराहो (खर्जूरवाह)—यह स्थान मध्य प्रदेश में छतरपुर के पास स्थित है। प्राचीन काल में चन्देल राजाओं की यहाँ राजधानी थी। अपने समय में यह तीर्थस्थल था। आर्य शैली (नागर शैली) के मन्दिरों में भारतीय वास्तुकला का सुन्दरतम विकास खजुराहो के मन्दिरों में पाया जाता है। इनका निर्माण चन्देल राजाओं के संरक्षण में ९५० ई० से १०५० ई० के मध्य हुआ, जो संख्या में लगभग ३० हैं तथा वैष्णव, शैव और जैन मतोंसे सम्बन्धित हैं। प्रत्येक मन्दिर लगभग एक वर्गमील के क्षेत्रफल में स्थित है। कन्दरीय महादेव का मन्दिर इस समुदाय में सर्वश्रेष्ठ है। मन्दिरों में गर्भगृह, मण्डप,

अर्द्धमण्डप, अन्तराल एवं महामण्डप पाये जाते हैं । गर्भगृह के चतुर्दिक् प्रदक्षिणापथ भी है । वैष्णव तथा शैव मन्दिरों की बाहरी दीवारों पर मिथुन मूर्तियों का अङ्कन प्रचुर मात्रा में पाया जाता है, जो शिव-शक्ति के ऐक्य अथवा शिव-शक्ति के योग से सृष्टि की उत्पत्ति का प्रतीक है । यहाँ पर चौंसठ योगिनियों का एक मन्दिर भी था जो अब भग्नावस्था में है ।

अध्यात्म उपदेश सम्बन्धी संस्कृत नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' की रचना कृष्णमिश्र नामक एक ज्ञानी पंडित द्वारा यहीं पर १०६५ ई० में सम्पन्न हुई, जो कीर्तिवर्मा नामक चन्देल राजा की सभा में अभिनीत हुआ था । इस नाटक से तत्कालीन धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदायों पर प्रकाश पड़ता है । दे० 'प्रबोधचन्द्रोदय' तथा 'कृष्णमिश्र' ।

खट्वाङ्ग—शिव का विशेष शस्त्र । इसकी आकृति खट्वा (चारपाई) के अङ्ग (पाये) के समान होती थी । यह दुर्लङ्घ्य और अमोघ होता है । महिम्नस्तोत्र में वर्णन है :

महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम् ।

[बूढ़ा बैल, खाट का पाया, फरसा, चमड़ा, राख, साँप और खोपड़ी—वरदाता प्रभु की यही साधनसामग्री है ।]

एक इक्ष्वाकुवंशज राजर्षि, जो मृत्यु सन्निकट जानकर केवल घड़ी भर ध्यान करते हुए मोक्ष पा गये ।

खङ्गधाराव्रत—दे० असिधाराव्रत, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ३.२१८.२३-२५ ।

खङ्गसप्तमी—वैशाख शुक्ल सप्तमी को गङ्गासप्तमी कहते हैं । इस व्रत में गंगापूजन होता है । कहा जाता है कि जह्नु ऋषि क्रोध में आकर गङ्गाजी को पी गये थे तथा इसी दिन उन्होंने अपने दाहिने कान से गङ्गाजी को बाहर निकाला था ।

खण्डदेव—प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् । पूर्वमीमांसा के दार्शनिक ग्रन्थों में खण्डदेव (मृत्युकाल १६६५ ई०) द्वारा रचित 'भट्टदीपिका' का बहुत सम्मानित स्थान है । इसकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण इसकी तार्किकता है । यह ग्रन्थ कुमारिल भट्ट के सिद्धान्तों का पोषक है ।

खदिर—यज्ञोपयोगी पवित्र वृक्ष । इसका यज्ञयूप (यज्ञस्तम्भ) बनता है । इसकी शाखाओं में छोटे-छोटे चने जैसे काँटे भरे रहते हैं और लकड़ी दृढ होती है । इसमें से कत्था भी निकलता है ।

खण्डनकुठार—अद्वैत वेदान्तमत के उद्भट लेखक वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित एक ग्रन्थ । वेदान्तबाह्य सिद्धान्तों की इसमें तीव्र आलोचना की गयी है ।

खण्डनखण्डखाद्य—वेदान्त का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ । पण्डितरत्न श्रीहर्ष कृत 'खण्डनखण्डखाद्य' का अन्य नाम 'अनिर्वचनीयतासर्वस्व' है । शङ्कराचार्य का मायावाद अनिर्वचनीय ख्याति के ऊपर ही अवलम्बित है । उनके सिद्धान्तानुसार कार्य और कारण भिन्न, अभिन्न अथवा भिन्नाभिन्न भी नहीं हैं, अपितु अनिर्वचनीय हैं । इस अनिर्वचनीयता के आधार पर ही कारण सत् है और कार्य मायामात्र है । श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य में सब प्रकार के विपक्षों का बड़ी तीक्ष्णता के साथ खण्डन किया गया है तथा उनके सिद्धान्त का ही नहीं अपितु जिनके द्वारा वे सिद्ध होते हैं उन प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी खण्डन कर अद्वितीय, अप्रमेय एवं अखण्ड वस्तु की स्थापना की गयी है ।

ग्रन्थ का शब्दार्थ है : 'खण्डनरूपी खाँड़ की मिठाई' ।

खाकी साधु—दादूपन्थी साधुओं की पाँच श्रेणियाँ हैं । उनमें खाकी साधु भी एक हैं । ये भस्म लपेटे रहते हैं और भाँति भाँति की तपस्या करते हैं । भस्म अथवा खाक शरीर पर लपेटने के कारण ही ये खाकी कहलाते हैं ।

दादूपन्थियों के अतिरिक्त शैव-वैष्णवों में भी ऐसे संन्यासी होते हैं ।

खाविरगृह्यसूत्र—यह गृह्यसूत्र शुक्लयजुर्वेद का है । ओल्डेनवर्ग द्वारा इसका अंग्रेजी अनुवाद 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, सिरीज में प्रस्तुत किया गया है । इसमें गृह्य संस्कारों और ऋतुयज्ञों का वर्णन पाया जाता है ।

खाण्डकीय—यह कृष्ण यजुर्वेद का एक सम्प्रदाय है ।

खाण्डववन—अग्नि के द्वारा खाण्डववन जलाने की कथा महाभारत की मुख्य कथा से सम्बन्धित है । राजा श्वेतकि के द्वादश वर्षीय यज्ञ में अग्नि ने घृत का बड़ी मात्रा में भोजन किया और इससे उनको अजीर्ण रोग हो गया । पश्चात् दूसरे यजमानों की यज्ञवस्तुओं के भक्षण की सामर्थ्य उनको न रही । परिणामस्वरूप अग्निदेव बहुत क्षीण हो गये तथा इस सम्बन्ध में उन्होंने ब्रह्मा से पार्थना

की । ब्रह्मा ने अग्नि को खाण्डव वन जलाकर उसके ऐसे जन्तुओं का भक्षण करने की अनुमति दी, जो देवों को कष्ट पहुँचाते थे । अग्नि ने ब्राह्मण का वेष धारण कर अर्जुन एवं कृष्ण के पास जाकर खाण्डव वन को जलाने में सहायता माँगी, क्योंकि खाण्डव वन इन्द्र द्वारा सुरक्षित था । कृष्ण और अर्जुन ने होकर वन के दो सिरों पर खड़े पशुओं को वन से भागने से रोकते हुए इन्द्र को अग्नि के कार्य में बाधा देने से रोकने का कार्य सँभाला । इस प्रकार सारा वन जल गया । अग्नि पन्द्रह दिन तक प्रज्वलित रहा । कहा गया है कि अग्नि ने इसे एक बार और जलाया था । यह पौराणिक कथा प्रतीत होती है । इसके पीछे यह अर्थ स्पष्ट है कि पाण्डवों ने इस वन को जलाकर 'खाण्डवप्रस्थ' (इन्द्रप्रस्थ) नाम की अपनी राजधानी बसायी ।

खशा—दक्ष की कन्या और कश्यप की एक पत्नी । गरुड-पुराण (अध्याय ६) में इसका उल्लेख है :

धर्मपत्न्यः समाख्याताः कश्यपस्य वदाम्यहम् ।
अदितिर्दितिदर्नुः काला अनायुः सिंहिका मुनिः ।।
कद्रुः प्राधा इरा क्रोधा विनता सुरभिः खशा ।।

खालसा—सिक्ख धर्म की एक शाखा 'खालसा' (शुद्ध) कहलाती है । गुरु गोविन्दसिंह ने देखा कि उन्हें मुगलों से अवश्य लड़ना पड़ेगा । इस कारण उन्होंने एक ऐसा सैनिक दल तैयार किया, जिसको धार्मिक आधार प्राप्त हो । उन्होंने अपने सैनिकों को 'खड्ग दी पहुल' (खड्ग संस्कार) तथा अन्य अनेक प्रतिज्ञाओं के पालन करने के लिए तैयार किया । इन प्रतिज्ञाओं में पाँच वस्तुओं (केश, कच्छा, कृपाण, कड़ा तथा कंघा) का धारण, नियमित ईश्वराराधना, एक साथ भोजन करना तथा मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, सती होने, शिशुवध, तम्बाकू एवं मादक द्रव्यों के सेवन से दूर रहने की प्रतिज्ञाएँ थीं । हर एक की उपाधि 'सिंह' रखी गयी । इनमें जातिभेद न रहा और इस प्रकार ये खालसा (शुद्ध) कहलाये ।

खिलपर्व—उन्तीस उपपुराणों के अतिरिक्त महाभारत का खिलपर्व, जिसे हरिवंश भी कहते हैं, उपपुराणों में गिना जाता है । इसमें विष्णु भगवान् के चरित्र का कीर्त्तन है और विशेष रूप से कृष्णावतार की कथा है ।

खेचर—(आकाश में चलने वाले) विद्याधर । इन्हें कामरूपी भी कहते हैं, अर्थात् ये जैसा रूप चाहें धारण कर सकते हैं । ऐसा विश्वास किया जाता है कि आकाश में विचरण करने वाली यक्ष, गन्धर्व आदि कई देवयोनियाँ हैं, उन्हीं में विद्याधर भी हैं । पक्षी और नक्षत्र भी खेचर कहलाते हैं ।

खेचरी—आकाशचारिणी, देवी । आकाश में चलने की एक सिद्धि, जो योगियों को प्राप्त होती है; हठयोग की एक मुद्रा (शारीरिक स्थिति), जिसमें जीभ को उलटकर तालुमूल में लगाते हैं । इसकी पहेली प्रसिद्ध है :

गोमांसं खादयेद् यस्तु पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ।।

खेमदास—महात्मा दादूदयाल (दादूपन्थ चलाने वाले) के एक शिष्य कवि खेमदास थे । इनके रचे हुए भजन या पद जनता में खूब प्रचलित हैं ।

ख्याति—दार्शनिक सिद्धान्तवाद, यथा अनिर्वचनीय ख्याति, असत्ख्याति, सत्ख्याति आदि । सांख्यदर्शन के अनुसार अन्तिम ज्ञानरूपा वृत्ति । इस मत में तीन प्रकार के तत्त्व हैं—(१) व्यक्त (२) अव्यक्त और ज्ञ । मूल प्रकृति को अव्यक्त कहा जाता है । मूल प्रकृति के परिणाम को व्यक्त कहा जाता है । इसके तेईस भेद हैं जो कार्य-कारण परम्परा से परिणत होते हैं । ज्ञ चेतन है । सांख्यसिद्धान्त में ये ही पचीस तत्त्व अथवा प्रमेय हैं । इन्हीं तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान अर्थात् प्रकृति-पुरुष के पार्थक्य के बोध से दुःख की निवृत्ति होती है । सांख्यकारिका (२) में कथन है :

'व्यक्ताव्यक्त-ज्ञ-विज्ञानात् ।'

[व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ के विज्ञान से दुःख निवृत्ति ।] इस ज्ञान को ही ख्याति कहते हैं । परन्तु यह भी एक प्रकार की चित्तवृत्ति (अक्लिष्टा) का परिणाम है । रज और तम से रहित सत्त्वगुणप्रधान प्रशान्तवाहिनी प्रज्ञा ख्याति है । इसमें वृत्तिसंस्कार का चक्र बना रहता है । चित्तनिरोध की अवस्था में यह संस्काररूप से चलता रहता है । अभ्यास के द्वारा संस्कारों का भी क्षय होकर विदेह कैवल्य प्राप्त होता है, जिसमें ख्याति भी निवृत्त हो जाती है । दे० शिशुपालवध (४.५५) ।

ग

ग—व्यञ्जनों के कवर्ग का तृतीय वर्ण । कामधेनुतन्त्र में इसके स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है :

गकारं परमेशानि पञ्चदेवात्मकं सदा ।
निर्गुणं त्रिगुणोपेतं निरीहं निर्मलं सदा ।।
पञ्चप्राणमयं वर्णं सर्वशक्त्यात्मकं प्रिये ।
अरुणादित्यसंकाशां कुण्डलीं प्रणमाम्यहम् ।।

[हे परमेश्वरी देवी ! ग वर्ण सदा पञ्चदेवात्मक है । तीन गुणों से संयुक्त होते हुए भी सदा निर्गुण, निरीह और निर्मल है । यह वर्ण पञ्च प्राणों से युक्त और सभी शक्तियों से संपन्न है । लालवर्ण सूर्य के समान शोभा वाले कुण्डलिनीशक्ति स्वरूप इस वर्ण को प्रणाम करता हूँ ।]

वर्णोद्धारतन्त्र के अनुसार इसके ध्यान की विधि इस प्रकार है :

ध्यानमस्य प्रवक्ष्यामि शृणुष्व वरवर्णिनी ।
दाडिमीपुष्पसंकाशां चतुर्बाहुसमन्विताम् ।।
रक्ताम्बरधरां नित्यां रत्नालङ्कारभूषिताम् ।
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।।

तन्त्रों में इसके निम्नलिखित नाम पाये जाते हैं :

गो-गौरी गौरवो गङ्गा गणेशो गोकुलेश्वरः ।
शार्ङ्गी पञ्चात्मको गाथा गन्धर्वः सर्वगः स्मृतिः ।।
सर्वसिद्धिः प्रभा धूम्रा द्विजाख्यः शिवदर्शनः ।
विश्वात्मा गौः पृथग्रूप बालबन्धुस्त्रिलोचनः ।।
गीतं सरस्वती विद्या भोगिनी नन्दिनी धरा ।
भोगवती च हृदयं ज्ञानं जालन्धरी लवः ।।

गङ्गा—भारत की सर्वाधिक पवित्र पुण्यसलिला नदी। राजा भगीरथ तपस्या करके गङ्गा को पृथ्वी पर लाये थे । यह कथा भागवत पुराण में विस्तार से है । आदित्य पुराण के अनुसार पृथ्वी पर गङ्गावतरण वैशाख शुक्ल तृतीया को तथा हिमालय से गङ्गानिर्गमन ज्येष्ठ शुक्ल दशमी (गङ्गादशहरा) को हुआ था । इसको दशहरा इसलिए कहते हैं कि इस दिन का गङ्गास्नान दस पापों को हरता है । कई प्रमुख तीर्थस्थान-हरिद्वार, गढ़मुक्तेश्वर, सोरों, प्रयाग, काशी आदि इसी के तट पर स्थित हैं । ऋग्वेद के नदीसूक्त (१०.७५.५-६) के अनुसार गङ्गा भारत की कई प्रसिद्ध नदियों में से सर्वप्रथम है । महाभारत तथा पद्मपुराणादि में गङ्गा की महिमा तथा पवित्र करनेवाली शक्तियों की विस्तारपूर्वक प्रशंसा की गयी है । स्कन्दपुराण के काशीखण्ड (अध्याय २९) में इसके सहस्र नामों का उल्लेख है । इसके भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों रूपों की ओर विद्वानों ने संकेत किये हैं । अतः गङ्गा का भौतिक रूप के साथ एक पारमार्थिक रूप भी है। वनपर्व के अनुसार यद्यपि कुरुक्षेत्र में स्नान करके मनुष्य पुण्य को प्राप्त कर सकता है, पर कनखल और प्रयाग के स्नान में अपेक्षाकृत अधिक विशेषता है । प्रयाग के स्नान को सबसे अधिक पवित्र माना गया है । यदि कोई व्यक्ति सैंकड़ों पाप करके भी गङ्गा (प्रयाग) में स्नान कर ले तो उसके सभी पाप धुल जाते हैं । इसमें स्नान करने या इसका जल पीने से पूर्वजों की सातवीं पीढ़ी तक पवित्र हो जाती है । गङ्गाजल मनुष्य की अस्थियों को जितनी ही देर तक स्पर्श करता है उसे उतनी ही अधिक स्वर्ग में प्रसन्नता या प्रतिष्ठा प्राप्त होती है । जिन-जिन स्थानों से होकर गङ्गा बहती है उन स्थानों को इससे संबद्ध होने के कारण पूर्ण पवित्र माना गया है ।

गीता (१०.३१) में भगवान् कृष्ण ने अपने को नदियों में गङ्गा कहा है । मनुस्मृति (८.९२) में गङ्गा और कुरुक्षेत्र को सबसे अधिक पवित्र स्थान माना गया है । कुछ पुराणों में गङ्गा की तीन धाराओं का उल्लेख है—स्वर्गङ्गा (मन्दाकिनी), भूगङ्गा (भागीरथी) और पातालगङ्गा (भोगवती) । पुराणों में भगवान् विष्णु के बायें चरण के अँगूठे के नख से गङ्गा का जन्म और भगवान् शङ्कर की जटाओं में उसका विलयन बताया गया है ।

विष्णुपुराण (२.८.१२०-१२१) में लिखा है कि गङ्गा का नाम लेने, सुनने, उसे देखने, उसका जल पीने, स्पर्श करने, उसमें स्नान करने तथा सौ योजन से भी 'गङ्गा' नाम का उच्चारण करने मात्र से मनुष्य के तीन जन्मों तक के पाप नष्ट हो जाते हैं । भविष्यपुराण (पृष्ठ ९, १२ तथा १९८) में भी यही कहा है । मत्स्य, गरुड और पद्मपुराणों के अनुसार हरिद्वार, प्रयाग और गङ्गा के समुद्र-संगम में स्नान करने से मनुष्य मरने पर स्वर्ग पहुँच जाता है और फिर कभी उत्पन्न नहीं होता । उसे निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है । मनुष्य गङ्गा के महत्त्व को मानता हो या न मानता हो यदि वह गङ्गा के समीप लाया जाय और वहीं मृत्यु को प्राप्त हो तो भी वह स्वर्ग को जाता है और नरक नहीं देखता । वराहपुराण (अध्याय ८२) में गङ्गा के नाम को 'गाम् गता' (जो पृथ्वी को चली गयी है) के रूप में विवेचित किया गया है ।

पद्मपुराण (सृष्टिखंड, ६०.३५) के अनुसार गङ्गा सभी

प्रकार के पतितों का उद्धार कर देती है। कहा जाता है कि गङ्गा में स्नान करते समय व्यक्ति को गङ्गा के सभी नामों का उच्चारण करना चाहिए। उसे जल तथा मिट्टी लेकर गङ्गा से याचना करनी चाहिए कि आप मेरे पापों को दूर कर तीनों लोकों का उत्तम मार्ग प्रशस्त करें। बुद्धिमान् व्यक्ति हाथ में दर्भ लेकर पितरों की सन्तुष्टि के लिए गङ्गा से प्रार्थना करे। इसके बाद उसे श्रद्धा के साथ सूर्य भगवान् को कमल के फूल तथा अक्षत इत्यादि समर्पण करना चाहिए। उसे यह भी कहना चाहिए कि वे उसके दोषों को दूर करें।

काशीखण्ड (२७.८०) में कहा गया है कि जो लोग गङ्गा के तट पर खड़े होकर दूसरे तीर्थों की प्रशंसा करते हैं और अपने मन में उच्च विचार नहीं रखते, वे नरक में जाते हैं। काशीखण्ड (२७.१२९-१३१) में यह भी कहा गया है कि शुक्ल प्रतिपदा को गङ्गास्नान नित्यस्नान से सौगुना, संक्रान्ति का स्नान सहस्रगुना, चन्द्र-सूर्यग्रहण का स्नान लाखगुना लाभदायक है। चन्द्रग्रहण सोमवार को तथा सूर्यग्रहण रविवार को पड़ने पर उस दिन का गङ्गास्नान असंख्यगुना पुण्यकारक है।

भविष्यपुराण में गङ्गा के निम्नांकित रूप का ध्यान करने का विधान है:

सितमकरनिषण्णां शुक्लवर्णां त्रिनेत्राम्
करधृतकमलोद्यत्सूत्पलाऽभीत्यभीष्टाम्।
विधिहरिहररूपां सेन्दुकोटीरचूडाम्
कलितसितदुकूलां जाह्नवीं तां नमामि॥

गङ्गा के स्मरण और दर्शन का बहुत बड़ा फल बतलाया गया है:

दृष्टा तु हरते पापं स्पृष्टा तु त्रिदिवं नयेत्।
प्रसङ्गेनापि या गङ्गा मोक्षदा त्ववगाहिता॥

गङ्गाजयन्ती—ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को गङ्गाजयन्ती मनायी जाती है। इस तिथि को गङ्गादशहरा भी कहते हैं। इस दिन गङ्गास्नान का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसी दिन हिमालय से गङ्गा का निर्गमन हुआ था। इस तिथि का गङ्गास्नान दसों प्रकार के पापों का हरण करता है। दस पापों में तीन मानसिक, तीन वाचिक और चार कायिक हैं।

गङ्गादास सेन—महाभारत ग्रन्थ को उड़िया भाषा में अनूदित करने वालों में गङ्गादास सेन भी एक हैं। उत्कल प्रदेश में इनका महाभारत बहुत लोकप्रिय है।

गङ्गाधर—शिव का एक पर्याय। शिवजी गङ्गा को अपने सिर पर धारण करते हैं, इसलिए इनका यह नाम पड़ा। वाल्मीकि रामायण (१.४३.१-११) में शिव द्वारा गङ्गा धारण की कथा दी हुई है।

गङ्गाधर (भाष्यकार)—कात्यायनसूत्र (यजुर्वेदीय) के भाष्यकारों में गङ्गाधर का भी नाम उल्लेखनीय है।

गङ्गाधर (कवि)—ऐतिहासिक गया अभिलेख के रचयिता, जिनका समय ११३७ ई० है। गङ्गाधर नामक गीतगोविन्दकार जयदेव के प्रतिस्पर्धी एक कवि भी थे।

गङ्गासागर—वह तीर्थ, जहाँ गङ्गा नदी सागर में मिलती है (गङ्गा और सागर का संगम)। सभी संगम पवित्र माने जाते हैं, यह संगम औरों से विशेष पवित्र है।

यात्री कलकत्ता से प्रायः जहाज द्वारा गंगासागर जाते हैं। कलकत्ता से ३८ मील दक्षिण 'डायमण्ड हारबर' है, वहाँ से लगभग ९० मील गंगासागर के लिए नाव या जहाज द्वारा जाना होता है। द्वीप में थोड़े से साधु रहते हैं, वह अब वन से ढका तथा प्रायः जनहीन है। जहाँ गंगासागर का मेला होता है, वहाँ से उत्तर वामनखल स्थान में एक प्राचीन मन्दिर है। उसके पास चन्दनपीड़ि वन में एक जीर्ण मन्दिर है और बुड-बुडीर तट पर विशालाक्षी का मन्दिर है। इस समय गङ्गासागर का मेला जहाँ लगता है पहले वहाँ पूरी गङ्गा समुद्र में मिलती थी। अब सागरद्वीप के पास एक छोटी धारा समुद्र में मिलती है। यहाँ कपिल मुनि का आश्रम था, जिनके शाप से राजा सगर के साठ हजार पुत्र जल गये थे और जिनको तारने के लिए भगीरथ गङ्गा को यहाँ लाये। संक्रान्ति के दिन समुद्र की प्रार्थना की जाती है, प्रसाद चढ़ाया जाता है और स्नान किया जाता है। दोपहर को फिर स्नान तथा मुण्डन कर्म होता है। श्राद्ध, पिण्डदान भी किया जाता है। मीठे जल का कच्चा सरोवर है जिसका जल पीकर लोग अपने को पवित्र मानते हैं।

गङ्गेश उपाध्याय—न्यायदर्शन के एक नवीन शैली प्रवर्तक आचार्य। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' त्रयोदश शताब्दी में रचा गया था। ये मिथिला के निवासी थे। जब मैथिलों ने नवद्वीप विद्यापीठ के पक्षधर पण्डित को उक्त ग्रन्थ की प्रतिलिपि नहीं करने दी, तब उन्होंने सुनकर हो उसे पूरा कण्ठस्थ कर लिया और नवद्वीप के प्रकाण्ड विद्वान् जगदीश तर्कालंकार, मथुरानाथ भट्टाचार्य

आदि को पढ़ाकर नव्य न्याय का दिगन्त में प्रसार किया ।

गङ्गोत्तरी—गङ्गाजी का उद्‌गम तो हिममण्डित गोमुख तीर्थ से हुआ है, किन्तु गंगोत्तरी धाम उससे १८ मील नीचे है । गंगोत्तरी में स्नान के पश्चात् गंगाजी का पूजन करके गंगाजल लेकर यात्री नीचे उतरते हैं । यह स्थान समुद्रस्तर से १०,०२० फुट की ऊँचाई पर गंगा के दक्षिण तट पर है । आस-पास देवदारु तथा चीड़ के वन हैं । यहाँ मुख्य मन्दिर गङ्गाजी का है । शीत काल में यह स्थान हिमाच्छादित हो जाता है । गङ्गोत्तरी से नीचे केदारगंगा का संगम है । वहाँ से एक फर्लांग पर बड़ी ऊँचाई से गंगाजी शिवाकार गोल शिलाखण्ड के ऊपर गिरती हैं । इस स्थान को गौरीकुण्ड कहते हैं ।

गजच्छाया—ज्योतिष का एक योग । मिताक्षरापरिभाषा में इसका लक्षण दिया हुआ है :

यदेन्दुः पितृदैवत्ये हंसश्चैव करे स्थितः
याम्या तिथिर्भवेत् सा हि गजच्छाया प्रकीर्तिता ।।

[चन्द्र मघा में और सूर्य हस्त नक्षत्र (आश्विन कृष्ण १३) में हो तब गजच्छाया योग कहलाता है ।] कृत्यचिन्तामणि के अनुसार यह योग श्राद्ध के लिए पुण्यकारक माना जाता है :

कृष्णपक्षे त्रयोदश्यां मघास्विन्दुः करे रविः ।
यदा तदा गजच्छाया श्राद्धे पुण्यैरवाप्यते ।।

वराहपुराण के अनुसार चन्द्र-सूर्यग्रहणकाल को भी गजच्छाया योग कहते हैं :

सैंहिकेयो यदा भानुं ग्रसते पर्वसन्धिषु ।
गजच्छाया तु सा प्रोक्ता तत्र श्राद्धं प्रकल्पयेत् ।।

गजच्छाया व्रत—आश्विन कृष्ण त्रयोदशी को यदि मघा नक्षत्र हो तथा सूर्य हस्त नक्षत्र पर हो तो इस व्रत का अनुष्ठान होता है । यह श्राद्ध का समय है । शातातप (हेमाद्रि, काल पर चतुर्वर्गचिन्तामणि) के अनुसार यदि इस अमावस को सूर्यग्रहण हो तो उसको गजच्छाया कहते हैं । इस समय का श्राद्ध अक्षय होता है ।

गजनीराजनाविधि—आश्विन पूर्णिमा के दिन मध्याह्नोत्तर काल में गजों (हाथियों) के सामने लहरों में जलते हुए दीपकों को आवर्तित करने को गजनीराजनाविधि कहते हैं । यह राजाओं के लिए मांगलिक कृत्य माना जाता है ।

गजपूजाविधि—आश्विन पूर्णिमा के दिन सुख-समृद्धि के अभिलाषियों के लिए इस व्रत का विधान है । दे० हेमाद्रि, २.२२२-२५ । इसमें गज की पूजा होती है ।

गजानन—गणेश का पर्याय । गणेश गजानन कैसे हुए यह कथा ब्रह्मवैवर्त (गणेशखण्ड, अध्याय ६) तथा स्कन्दपुराण (गणेशखण्ड, अध्याय ११) में विभिन्न रूपों में कही गयी है । ब्रह्मवैवर्त में कहा गया है :

शनिदृष्ट्या शिरश्छेदाद् गजवक्त्रेण योजितः ।
गजाननः शिशुस्तेन नियतिः केन बाध्यते ।।

[शनिदेव की दृष्टि पड़ने से गणेशजी का मस्तक कट गया, तब हाथी का मस्तक लगा देने पर वे गजानन कहे गये । भाग्य प्रबल है ।] दे० 'गणेश' ।

गजायुर्वेद—आयुर्वेद का यह एक पशुचिकित्सीय विभाग है । गाय, हाथी, घोड़े आदि पशुओं के सम्बन्ध में आयुर्वेद ग्रन्थ अवश्य रहे होंगे, क्योंकि अग्निपुराण (२८१-२९१ अध्याय तक) में इन विविध आयुर्वेदों की चर्चा की गयी है । गजायुर्वेद में गज (हाथी) के प्रकार तथा तत्सम्बन्धी चिकित्सा का विस्तृत विधान है । 'शालिहोत्र' भी पशुचिकित्सा का प्रमुख ग्रन्थ है ।

गढ़मुक्तेश्वर—मेरठ से २६ मील दक्षिण-पूर्व गङ्गा के दाहिने तट पर यह नगर है । यहाँ तक मोटर बसें जाती हैं । प्राचीन काल में विस्तृत हस्तिनापुर नगर का यह एक खण्ड था । यहाँ मुक्तेश्वर शिव का मन्दिर है । कई अन्य प्राचीन मन्दिर भी हैं । कार्तिक पूर्णिमा को यहाँ विशाल मेला लगता है ।

गण—गण का अर्थ 'समूह' है । रुद्र के अनुचरों को भी गण कहा गया है । कुछ देवता गण (समुदाय) रूप में प्रसिद्ध हैं :

आदित्य-विश्व-वसवः, तुषिताभास्वरानिलाः ।
महाराजिक-साध्याश्च रुद्राश्च गणदेवताः ।।

[आदित्य (१२), विश्वेदेव (१०), वसु (८), तुषित, आभास्वर, मरुत (४९), महाराजिक, साध्य और रुद्र (११) गणदेवता हैं ।]

मरुतों के गण, इन्द्र और रुद्र दोनों के सैनिक हैं । ज्योतिषरत्नमाला में अश्विनी आदि जन्मनक्षत्रों के अनुसार देव, मानुष और राक्षस तीन गण माने गये हैं ।

गणगौरीव्रत—चैत्र शुक्ल तृतीया को विशेष रूप से सधवा स्त्रियों के लिए गौरीपूजन का विधान है। कुछ लोग इसे गिरिगौरीव्रत कहते हैं। दे० अहल्याकामधेनु, पत्रात्मक २५७। भारत के मध्य भाग, राजस्थान आदि में यह बहुत प्रचलित है।

गणपति (गणेश)—गणपति का प्रथम उल्लेख ऋग्वेद (२.२३.१) में मिलता है :

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणा ब्रह्मणस्पत आनः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम् ।।

शुक्ल यजुर्वेद के अश्वमेधाध्याय में भी गणपति शब्द आया है। ऐसा लगता है कि प्रारम्भिक गणराज्यों के गणपतियों के सम्बन्ध में जो भावना थी उसी के आधार पर देवमण्डल के गणपति की कल्पना की गयी। परन्तु यह शब्द देवताओं के एक विरुद के रूप में प्रयुक्त हुआ है, स्वतन्त्र देवता के रूप में नहीं। किन्तु रुद्र (वैदिक शिव) के गणों से गणपति का सम्बन्ध स्वतन्त्र देवता रूप में ही है।

पुराणों में रुद्र के मरुत् आदि असंख्य गण प्रसिद्ध हैं। इनके नायक अथवा पति को विनायक या गणपति कहते हैं। समस्त देवमण्डल के नायक भी गणपति ही हैं, यद्यपि शिवपरिवार से इनका सम्बन्ध बना हुआ है। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने अपने ग्रन्थों-'गणेश' तथा 'हिन्दू देवपरिवार का विकास' में गणेश को आर्येतर देवता माना है, जिसका क्रमशः प्रवेश और आदर हिन्दू देवमण्डल में हो गया। बहुतेरे लोगों का कहना है कि हिन्दू लघु देवमण्डल, अर्धदेवयोनि तथा भूत-पिशाच परिवार में बहुत से आर्येतर तत्त्व मिलते हैं। परन्तु गणपति अथवा गणेश में आर्येतर तत्त्व ढूँढ़ना कल्पना मात्र है। गणपति का सम्बन्ध प्रारम्भ से ही आर्य गणों, रुद्रगण तथा शिवपरिवार से है। उनको विघ्नकारी और भयंकर गुण ऋक्थ में रुद्र से मिले हैं तथा सिद्धिकारी और माङ्गलिक गुण शिव से।

पुराणों में रूपकों की भरमार है इसलिए गणपति की उत्पत्ति और उनके विविध गुणों का आश्चर्यजनक रूपकों में अतिरंजित वर्णन है। अधिकांश कथाएँ ब्रह्मवैवर्तपुराण में पायी जाती हैं। गणपति कहीं शिव-पार्वती के पुत्र माने गये हैं और कहीं केवल पार्वती के ही। इनके विग्रह की कल्पना भी विचित्र है। इनका रक्त रंग अथवा मोटा शरीर और लम्बा उदर है। इनके चार हाथ और हाथी का सिर है, जिसमें एक ही दाँत है, इनके एक हाथ में शंख, दूसरे में चक्र, तीसरे में गदा अथवा अंकुश तथा चौथे में कुमुदिनी है। इनकी सवारी मूषक है।

गणेश के गजानन और एकदन्त होने के सम्बन्ध में पुराणों में अनेक कथाएँ दी हुई हैं। दे० 'गजानन'। एक कथा के अनुसार पार्वती को अपने शिशु गणेश पर बड़ा गर्व था। उन्होंने शनिग्रह से उसको देखने को कहा। शनि की दृष्टि पड़ते ही गणेश का सिर जलकर भस्म हो गया। पार्वती बहुत दुखी हुईं। ब्रह्मा ने उनसे कहा कि जो भी प्रथम सिर मिले उसको गणेश के ऊपर रख दिया जाय। पार्वती को सबसे पहले हाथी का ही सिर मिला, जिसको उन्होंने गणेश के ऊपर रख दिया। इस प्रकार गणेश गजानन हो गये। दूसरी कथा के अनुसार एक बार पार्वती स्नान करने गयीं और गणेश को दरवाजे पर बैठा गयीं। शिव आकर पार्वती के भवन में प्रवेश करना चाहते थे। गणेश ने रोका। शिव ने क्रोध में आकर गणेश का सिर काट दिया, परन्तु पार्वती को सन्तुष्ट करने के लिए हाथी का सिर लाकर गणेश के शरीर में जोड़ दिया। तीसरी कथा के अनुसार पार्वती ने स्वयं अपनी कल्पना से गणेश का सिर हाथी का बनाया। एकदन्त होने की कथा इस प्रकार है कि एक बार परशुराम कैलास में शिवजी से मिलने गये। पहरे पर बैठे गणेश ने उनको रोका। दोनों में युद्ध हुआ। परशुराम के परशु (फर्से) से गणेश का एक दाँत टूट गया। ये सब कथाएँ काल्पनिक हैं। इनका प्रतीकात्मक अर्थ यह है कि गणपति का सिर हाथी के समान बड़ा होना चाहिएं जो बुद्धिमानी और गम्भीरता का द्योतक है। इनके आयुध भी दण्डनायक के प्रतीक हैं। गणपति विघ्ननाशक, मंगल और ऋद्धि-सिद्धि के देने वाले, विद्या और बुद्धि के आगार हैं। प्रत्येक मङ्गलकार्य के प्रारम्भ में इनका आवाहन किया जाता है। प्रत्येक शिवमन्दिर में गणेश की मूर्ति पायी जाती है। गणेश के स्वतन्त्र मन्दिर दक्षिण में अधिक पाये जाते हैं। गणपति की पूजा का विस्तृत विधान है। इनको मोदक (लड्डू) विशेष प्रिय हैं। गणेश की मूर्ति का ध्यान निम्नांकित है :

खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लम्बोदरं सुन्दरम्
प्रस्यन्दन्मदगन्धलुब्धमधुपव्यालोलगण्डस्थलम्।
दन्ताघातविदारितारिरुधिरैः सिन्दूरशोभाकरम्

वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं सिद्धिप्रदं कामदम् ॥

तन्त्रसार में एक दूसरा ध्यान वर्णित है :

सिन्दूराभं त्रिनेत्रं पृथुतरजठरं हस्तपद्मैर्दधानं
दन्तं पाशाङ्कुशेष्टान्युरुकरविलसद्बीजपूराभिरामम् ।
बालेन्दुद्योतिमौलिं करिपतिवदनं दानपूरार्द्रगण्डम्
भोगीन्द्रावद्धभूषं भजत गणपतिं रक्तवस्त्राङ्गरागम् ॥

पूजापद्धति में गणपतिनमस्कार की विधि इस प्रकार है :

देवेन्द्रमौलिमन्दारमकरन्दकणारुणाः ।
विघ्नं हरन्तु हेरम्बचरणाम्बुजरेणवः ॥

राघवभट्ट कृत शारदातिलक की टीका के अनुसार इकावन (५१) गणपति और उतनी ही उनकी शक्तियाँ हैं।

गणपति उपनिषद्—गाणपत्य साहित्य का उदय गणपति-पूजा से होता है । गणपति तापनीय उपनिषद् एवं गणपति उपनिषद् में गाणपत्य धर्म वा दर्शन प्राप्त होता है । गणपति उपनिषद् अथर्वशिरस् का ही एक भाग है । इसका अंग्रेजी अनुवाद केनेडी ने प्रस्तुत किया है ।

गणपति-उपासना—महाभारत, अनुशासन पर्व के १५१वें अध्याय में गणेश्वरों और विनायकों का स्तुति से प्रसन्न हो जाना और पातकों से रक्षा करना वर्णित है । इस नाते गजानन एवं षडानन दोनों गणाधीश हैं और भगवान् शंकर के पुत्र हैं । परन्तु गजानन तो परात्पर ब्रह्म के अवतार माने जाते हैं और परात्पर ब्रह्म का नाम "महागणाधिपति" कहा गया है । भाव यह है कि महागणाधिपति ने ही अपनी इच्छा से अनन्त विश्व और प्रत्येक विश्व में अनन्त ब्रह्माण्डों की रचना की और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अपने अंश से त्रिमूर्तियाँ प्रकट कीं । इसी दृष्टि से सभी सम्प्रदायों के हिन्दुओं में सभी मगल कार्यों के आरम्भ में गौरी-गणेश की पूजा सबसे पहले होती है । यात्रा के आरम्भ में गौरी-गणेश का स्मरण किया जाता है । पुस्तक, पत्र, बही आदि किसी भी लेख के आरम्भ में पहले "श्रीगणेशाय नमः" लिखने की पुरानी प्रथा चली आती है । महाराष्ट्र में गणपतिपूजा भाद्र शुक्ल चतुर्थी को बड़े समारोह से हुआ करती है और गणेशचतुर्थी के व्रत तो सारे भारत में मान्य हैं । गणपति विनायक के मन्दिर भी भारतव्यापी हैं और गणेशजी आदि और अनादि देव माने जाते हैं । इन्हीं के नाम से गाणपत्य सम्प्रदाय प्रचलित हुआ ।

गणपतिकुमारसम्प्रदाय—'शङ्करदिग्विजय' में आनन्दगिरि और धनपति ने गाणपत्य सम्प्रदाय की छः शाखाओं का वर्णन किया है । इनमें एक शाखा 'गणपतिकुमारसम्प्रदाय' है । इस सम्प्रदाय वाले हरिद्रा-गणपति को पूजते हैं । वे भी अपने उपास्य देव को परब्रह्म परमात्मा कहते हैं और ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के २३वें सूक्त को प्रमाण मानते हैं । दे० 'गणपति' ।

गणपतिचतुर्थी—भविष्यपुराण के अनुसार प्रत्येक चतुर्थी का व्रत गणपतिचतुर्थीव्रत कहलाता है । जब गणेश की पूजा भाद्र शुक्ल चतुर्थी को होती है तो इस तिथि को शिवाचतुर्थी, यदि माघ शुक्ल चतुर्थी को हो तो शान्ता चतुर्थी और यदि शुक्ल चतुर्थी को मंगल का दिन पड़े तो उसे सुखा चतुर्थी कहते हैं । आजकल यह पूजा डेढ़ दिन, पाँच दिन, सात दिन अथवा अनन्तचतुर्दशी तक चलती है । अन्तिम दिन मूर्ति कूप, तालाब, नदी अथवा समुद्र में गाजे-बाजे के साथ बिसर्जित की जाती है ।

दो मास की चतुर्थियों के दिनों में व्रती को निराहार रहने का विधान है । उस दिन ब्राह्मण को तिल से बने पदार्थ खिलाने चाहिए । वही पदार्थ रात्रि में स्वयं भी खाने चाहिए । दे० हेमाद्रि, १.५१९-५२० ।

गणपतितापनीयोपनिषद्—नृसिंहतापनीयोपनिषद् की बहुग्राहकता वा प्रचार देख अन्य सम्प्रदायों ने भी इसी ढंग के उपनिषद्ग्रन्थ प्रस्तुत किये । राम, गणपति, गोपाल, त्रिपुरा आदि तापनीय उपनिषदें प्रस्तुत हुईं । गणपतितापनीयोपनिषद् में गाणपत्य मत के दर्शन का विवेचन किया गया है ।

गणेश उत्सव—महाराष्ट्र प्रदेश में यह उत्सव उसी उल्लास से मनाया जाता है जैसे बंगाल में दुर्गोत्सव, उड़ीसा में रथयात्रा तथा द्रविड देश में पोंगल मास । मध्ययुग में मराठा शक्ति के उदय के साथ गणेशपूजन का महत्त्व बढ़ा । उस समय गणेश (जननायक) की विशेष आवश्यकता थी । गणेश उसके धार्मिक प्रतीक थे । आधुनिक युग में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने इस उत्सव का पुनरुद्धार किया । इसमें लगभग एक सप्ताह का कार्यक्रम बनता है । इसमें पूजन, कथा, व्याख्यान, मनोरञ्जन आदि का आयोजन किया जाता है । यह उत्सव बड़े सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय महत्त्व का है ।

गणेश उपपुराण—गाणपत्य सम्प्रदाय का उपपुराण । इसमें

भगवान् गणपति की अनेक कथाएँ दी गयी हैं ।

गणेशकुण्ड—करवी स्टेशन से चित्रकूट जाते समय मार्ग में करवी संस्कृत पाठशाला मिलती है । यहाँ से लगभग ढ़ाई मील दक्षिण-पूर्व पगडण्डी के रास्ते जाने पर गणेशकुण्ड नामक सरोवर तथा प्राचीन मन्दिर मिलते हैं । अब ये सरोवर तथा मन्दिर जीर्ण दशा में अरक्षित हैं ।

गणेशखण्ड—ब्रह्मवैवर्तपुराण के चार खण्डों—ब्रह्मखण्ड, प्रकृतिखण्ड, गणेशखण्ड और कृष्णजन्मखण्ड में से एक । गणेशखण्ड में गणेश के जन्म, कर्म तथा चरित का विस्तृत वर्णन है । इसमें गणेश कृष्ण के अवतार के रूप में वर्णित हैं ।

गणेशचतुर्थीव्रत—भाद्र शुक्ल चतुर्थी को इस व्रत का प्रारम्भ होता है । एक वर्षपर्यन्त इसका आचरण होना चाहिए । इसमें गणेशपूजन का विधान है । हेमाद्रि, १.५१० के अनुसार चतुर्थी के दिन गणेशपूजन का विधान वैश्वानर-प्रतिपदा की तरह ही होना चाहिए । दे० 'गणपतिचतुर्थी' ।

गणेशयामलतन्त्र—कुलचूडामणितन्त्र में उद्धृत ६४ तन्त्रों की सूची में आठ यामल तन्त्र सम्मिलित हैं । 'यामल' शब्द यमल (युग्म) से गठित है तथा विशेष देवता तथा उसकी शक्ति के ऐक्य का सूचक है । गणेशयामलतन्त्र उन आठों में से एक है ।

गणेशस्तोत्र—वैष्णवसंहिताओं की तालिका में गणेशसंहिता का उल्लेख पाया जाता है, जो गाणपत्य सम्प्रदाय से सम्बन्धित है । गणेशस्तोत्र इसी का एक अंश है, जिसमें गणेश की स्तुतियों का संग्रह है ।

गणोद्देशदीपिका—यह चैतन्य सम्प्रदाय के आचार्य रूप गोस्वामी कृत १६वीं शती का एक संस्कृत ग्रन्थ है । इसमें चैतन्य महाप्रभु के साथियों को गोपियों का अवतार कहा गया है ।

गण्डकी—हिमालय से प्रवाहित होनेवाली उत्तर भारत की एक प्रसिद्ध नदी । इसका प्राचीन नाम सदानीरा था । दूसरा नाम नारायणी भी है, क्योंकि इसके प्रवाहवेग द्वारा गोलाकार होनेवाले पाषाणखण्डों से नारायण (शालग्राम) निकलते हैं । परवर्ती स्मृतियों के अनुसार,

गण्डक्याश्चैकदेशे च शालग्रामस्थलं स्मृतम् ।
पाषाणं तद्भवं यत्तत् शालग्राममिति स्मृतम् ।।

वराहपुराण (सोमेश्वरादि लिङ्गमहिमा, अविमुक्तक्षेत्र, त्रिवेण्यादिमहिमा नामाध्याय) में शालग्राम-उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन पाया जाता है :

गण्डक्यापि पुरा तप्तं वर्षाणामयुतं विधो ।
शीर्णपर्णाशिनं कृत्वा वायुभक्षाप्यनन्तरम् ।।
दिव्यं वर्षशतं तेपे विष्णुं चिन्तयती सदा ।
ततः साक्षाज्जगन्नाथो हरिर्भक्तजनप्रियः ।।
उवाच मधुरं वाक्यं प्रीतः प्रणतवत्सलः ।
गण्डकि त्वां प्रसन्नोऽस्मि तपसा विस्मितोऽनघे ।।
अनवच्छिन्नया भक्त्या वरं वरय सुव्रते ।
ततो हिमांशो सा देवी गण्डकी लोकतारिणी ।।
प्राञ्जलिः प्रणता भूत्वा मधुरं वाक्यमब्रवीत् ।
यदि देव प्रसन्नोऽसि देयो मे वांछितो वरः ।।
मम गर्भगतो भूत्वा विष्णो मत्पुत्रतां व्रज ।
ततः प्रसन्नो भगवान् चिन्तयामास गोपते ।।
गण्डकीमवदत् प्रीतः शृणु देवि वचो मम ।
शालग्रामशिलारूपी तव गर्भगतः सदा ।।
तिष्ठामि तव पुत्रत्वे भक्तानुग्रहकारणात् ।
मत्सान्निध्याद् नदीनां त्वमतिश्रेष्ठा भविष्यसि ।।
दर्शनात् स्पर्शनात् स्नानात् पानाच्चैवावगाहनात् ।
हरिष्यसि महापापं वाङ्मनःकायसम्भवम् ।।

[गण्डकी ने दीर्घकाल तक विष्णु की आराधना की, विष्णु ने उसको दर्शन देकर वर माँगने को कहा । गंडकी ने वर माँगा कि आप मेरे गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ करें । भगवान् बोले कि शालग्राम शिलारूप में मैं तुमसे उत्पन्न होता रहूँगा; इससे तुम सभी नदियों में पवित्र एवं दर्शन-पान-स्नान से अमित पुण्यदायिनी हो जाओगी ।]

गदाधर (भाष्यकार)—गदाधर ने कात्यायनसूत्र (यजुर्वेदीय) तथा पारस्करगृह्यसूत्र (यजु०) पर भाष्य लिखे हैं । पारस्करगृह्यसूत्र वाला गदाधर का भाष्य कर्मकाण्ड पर प्रमाण माना जाता है । भाष्य और निबन्ध का यह मिश्रण है ।

गद्यत्रय—आचार्य रामानुजकृत एक ग्रन्थ, जिसकी टीका वेङ्कटनाथ ने लिखी है । इसमें विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त (तत्त्वत्रय, चित्-अचित-ईश्वर) का प्रतिपादन किया गया है ।

गन्धव्रत—पूर्णिमा के दिन इस व्रत का आरम्भ होकर एक वर्षपर्यन्त आचरण होता है । पूर्णिमा को उपवास का विधान है । वर्ष की समाप्ति के पश्चात् सुगन्धित पदार्थों से निर्मित देवप्रतिमा किसी ब्राह्मण को दान की जाती है । दे० हेमाद्रि, २.२४१ ।

गन्धर्व—यह अर्धदेव योनि है। स्वर्ग का गायक है। इसकी व्युत्पत्ति है : 'गन्ध' अर्थात् सङ्गीत, वाद्य आदि से उत्पन्न प्रमोद को 'अव' प्राप्त करता है जो। स्तुतिरूप तथा गीतरूप वाक्यों अथवा रश्मियों का धारण करने वाला गन्धर्व है। उसकी विद्या गान्धर्व विद्या वा गान्धर्व उपवेद है। गन्धर्व उन देववर्गों का नाम है जो नाचते, गाते और बजाते हैं। गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का आनुषङ्गिक सम्बन्ध है। गाने का अनुसरण वाद्य करता है और वाद्य का नृत्य। साधारणतः लौकिक सङ्गीतशास्त्र के प्रवर्त्तक भरत समझे जाते हैं और दिव्य के भगवान् शङ्कर। परलोक में किन्नर, गन्धर्व आदि सङ्गीतकला का व्यवसाय करने वाले समझे जाते हैं। इनकी गणना शङ्कर के गणों में है।

जटाधर के अनुसार गन्धर्वों के निम्नलिखित भेद हैं :

हाहा हूहूश्चित्ररथो हंसो विश्वावसुस्तथा।
गोमायुस्तुम्बुरुर्नन्दिरेवमाद्याश्च ते स्मृताः॥

अग्निपुराण के गणभेद नामक अध्याय में गन्धर्वों के ग्यारह गण अथवा वर्ग बताये गये हैं :

अभ्राजोऽङ्गारिवम्भारि सूर्यवर्चास्तथा कृधः।
हस्तः सुहस्तः स्वाङ्गेव मूर्द्धन्वांश्च महामनाः॥
विश्वावसुः कृशानुश्च गन्धर्वैर्द्वादशा गणाः॥

शब्दार्थचिन्तामणि के अनुसार दिव्य और मर्त्य भेद से गन्धर्वों के दो भेद हैं। दिव्य गन्धर्व तो स्वर्ग और आकाश में रहते हैं, मर्त्य गन्धर्व पृथ्वी पर जन्म लेते हैं। दिव्य गन्धर्व का उल्लेख ऋग्वेद (१०.१३९. :५) में मिलता है :

विश्वावसुरभि तन्नो गृणातु
दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमानः।

इसी प्रकार महाभारत (३. १६१.२६) में :

स तमास्थाय भगवान् राजराजो महारथम्।
प्रययौ देवगन्धर्वैः स्तूयमानो महाद्युतिः॥

मर्त्य गन्धर्व की चर्चा इस प्रकार है :

अस्मिन् कल्पे मनुष्यः सन् पुण्यपाकविशेषतः।
गन्धर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगन्धर्व उच्यते॥

स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में गन्धर्वलोक का सविस्तर वर्णन है। यह लोक गुह्यकलोक के ऊपर और विद्याधरलोक के नीचे है।

गन्धर्ववेद—शौनक के चरणव्यूह के अनुसार सामवेद का उपवेद गन्धर्ववेद है। दे० 'उपवेद'। गन्धर्वसम्बन्धित सङ्गीतरूप कला अथवा विद्या जिससे जानी जाय वह गन्धर्ववेद है।

गन्धाष्टक—आठ सुगन्धित पदार्थों का समूह। सभी व्रतों में गन्ध से परिपूर्ण अष्ट द्रव्यों का सम्मिश्रण थोड़ी भिन्नता के साथ पृथक्-पृथक् देवताओं को अर्पित करना चाहिए। देवताओं में शक्ति, विष्णु, शिव तथा गणेशादि की गणना है। 'शारदातिलक' के अनुसार देवताभेद से गन्धाष्टक निम्नलिखित प्रकार के हैं :

चन्दनागुरु-कर्पूर-चोर-कुङ्कुम-रोचनाः ।
जटामांसी कपियुता शक्तेर्गन्धाष्टकं विदुः॥
चन्दनागुरु-ह्रीवेर-कुष्ठ-कुङ्कुम-सेव्यकाः ।
जटामांसी सुरमिति विष्णार्गन्धाष्टकं विदुः॥
चन्दनागुरु-कर्पूर-तमाल-जलकुङ्कुमम् ।
कुशीदं कुष्ठसंयुक्तं शैवं गन्धाष्टकं शुभम्॥
स्वरूपं चन्दनं चोरं रोचनागुरुमेव च।
मदं मृगद्वयोद्भूतं कस्तूरी चन्द्रसंयुतम्॥
गन्धाष्टकं विनिर्दिष्टं गणेशस्य महेशि तु॥

गया—हिन्दुओं के पितरों की श्राद्धभूमि। इसके ऐतिहासिक, पौराणिक तथा शिल्पकला सम्बन्धी अवशेषों के वर्णन से ग्रन्थों के सैकड़ों पृष्ठ भरे पड़े हैं। किन्तु गया के सम्बन्ध में दिये गये प्रायः सभी मत कुछ न कुछ सीमा तक विवादास्पद हैं। गया के पुरोहित मध्वाचार्य द्वारा स्थापित वैष्णव सम्प्रदाय में आस्था रखते हैं और प्रायः महन्तों का जैसा आचरण करते हैं। कहा जाता है कि गया भगवान् विष्णु का पवित्र स्थल है। परन्तु वनपर्व में यह संकेत है कि गया यम (धर्मराज), ब्रह्मा तथा शिव का भी एक प्रमुख पवित्र स्थान है।

वेदों और पुराणों में 'गया' शब्द विभिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयुक्त हुआ है। गय नाम ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं के रचयिता के लिए प्रयुक्त हुआ है। वेदसंहिताओं में तो यह नाम असुरों और राक्षसों के लिए भी आया है। इनमें गयासुर का नाम उल्लेखनीय है। निरुक्त (१२.१९) में गयशिर नाम आया है, जिस पर भगवान् विष्णु पाँव रखते थे। महाभारत, विष्णुधर्मसूत्र तथा वामनपुराण (२२.२०) में गयशिर नाम के स्थल को ब्रह्मा की पूर्वी वेदी माना गया है और बौद्ध ग्रन्थों में भी यह नाम गया के प्रमुख स्थल के लिए आया है। अश्वघोष के बुद्धचरित से प्रकट है कि महात्मा बुद्ध एक राजर्षि के आश्रम (गया) में गये और वहाँ उन्होंने नयरंजना (निरंजना) नदी

के तट पर अपना निवासस्थान बनाया। वहाँ यह भी बताया गया है कि बुद्धगया में वे कश्यप ऋषि के उरुविल्व नामक आश्रम में गये थे, जहाँ उन्हें सम्बोधि की प्राप्ति हुई। विष्णुधर्मसूत्र (८५.४०) के अनुसार विष्णुपद गया में ही स्थित है। वह श्राद्ध के लिए सबसे पवित्र स्थल है। इसी प्रकार उससे यह भी पता चलता है कि 'समारोहण' नाम का भी कोई स्थल गया में फल्गु नदी के तट पर स्थित है।

अनुशासनपर्व में अश्मपृष्ठ (प्रेतशिला), निरविन्द पर्वत तथा क्रौञ्चपदी तीनों को गया का पवित्र स्थल माना गया है, किन्तु वनपर्व में इनका उल्लेख नहीं है। फिर भी इनको वनपर्व में वर्णित विष्णुपद, गयशिर तथा समारोहण स्थलों से अतिरिक्त समझना चाहिए। अश्मपृष्ठ में पहली ब्रह्महत्या का अपराधी शुद्ध हो जाता है, निरविन्द पर दूसरी का तथा क्रौञ्चपदी पर तीसरी ब्रह्महत्या का अपराधी भी विशुद्ध हो जाता है।

डा० कीलहार्न के अनुसार राजकुमार यक्षपाल ने भगवान् मौलादित्य तथा अन्य देवताओं की मूर्तियों के लिए मन्दिर बनवाये। वहीं एक उत्तरमानस नामक पुष्कर अथवा झील का भी निर्माण कराया। उसने गया के अक्षयवट के पास एक सत्र (भोजनालय) भी बनवाया था। डा० वेणीमाधव बरुआ के अनुसार पालशासक नयपाल के अभिलेखों से यह पता चलता है कि उत्तर मानस का निर्माण १०४० ई० के आसपास हुआ था। इस प्रकार अनुमानतः गया का माहात्म्य ११वीं शताब्दी के बाद ही अधिक बढ़ा होगा। किन्तु वायुपुराण (७७.१०८) से लगता है कि उत्तरमानस का निर्माण ८वीं या ९वीं शताब्दी तक अवश्य हो गया होगा। वस्तुतः गया का माहात्म्य कब से बढ़ा यह विवादास्पद प्रश्न है। महाभारत और स्मृतियाँ भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों से युक्त हैं। वनपर्व (८७) में यह उल्लेख है कि आठ पुत्रों में से यदि कोई एक भी गया जाकर पितृपिण्ड यज्ञ करे तो पितर लोग प्रतिष्ठित और कृतज्ञ होते हैं। उसमें आगे यह भी कहा गया है कि फल्गु नामक पवित्र नदी, गयशिर पर्वत तथा अक्षयवट ऐसे स्थल हैं जहाँ पितरों को पिण्ड दिया जाता है। गया में पूर्वजों या पितरों का श्राद्ध करने से पितृगण प्रसन्न होते हैं। फलतः उस व्यक्ति को भी जीवन में सुख मिलता है। अत्रिस्मृति (५५.५८) के अनुसार पुत्र अपने पितरों के हित के लिए ही गया जाता है और फल्गु नदी में स्नान करके उनका तर्पण करता है। इस सन्दर्भ में गया के गदाधर (विष्णु) और गयशिर का दर्शन उसके लिए आवश्यक है। लिखितस्मृति के अनुसार यदि कोई भी किसी व्यक्ति के नाम से गयशिर में पिण्डदान करे तो नरक में स्थित व्यक्ति स्वर्ग को और स्वर्गस्थित व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है। कूर्मपुराण में युक्ति तो यह है कि मनुष्य को कई संतानों की कामना करनी चाहिए जिससे उनमें से यदि कोई एक भी गया जाकर श्राद्ध करे तो पितरों को मुक्ति मिल जायेगी और वह स्वयं मोक्ष को प्राप्त होगा। मत्स्यपुराण (२२. ४. ६) में गया को पितृतीर्थ कहा गया है।

गयामाहात्म्य—वायुपुराण में गयामाहात्म्य का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसके अन्तिम आठ अध्याय गयामाहात्म्य पर ही हैं। यह अलग ग्रन्थ के रूप में भी प्रसिद्ध है, जो वायुपुराण से ही लिया गया है। दे० 'गया'।

गरीबदास—ये महात्मा (१७१७-८२ ई०) छीड़ानी या चुरनी (रोहतक जिला) गाँव में रहते थे। इनके 'गुरुग्रन्थ' में २४,००० पंक्तियाँ हैं। इनका सम्प्रदाय आज भी प्रचलित है, किन्तु इनका एक ही मठ है तथा साधारण जनता इनकी शिष्यता या सदस्यता नही प्राप्त कर सकती। इनके साधु केवल द्विज ही हो सकते हैं। इनके मतावलम्बियों को गरीबदासी कहते हैं। निर्गुण-निराकार-उपासक यह पंथ भी अनेक पंथों की तरह कबीरपंथ से प्रभावित है।

गरुड—एक पुराकल्पित पक्षी, जिसका आधा शरीर पक्षी और आधा मनुष्य का है। पुराणकथाओं में गरुड विष्णु के वाहन के रूप में वर्णित है। विष्णु सूर्य के ही सर्वव्यापी रूप हैं जो अनन्त आकाश का तीव्रता से चक्कर लगाते हैं। इसलिए इनके लिए एक शक्तिमान् और द्रुतगामी वाहन की आवश्यकता थी। विष्णु के वाहन के रूप में गरुड की कल्पना इसी का प्रतीक है। इस सम्बन्ध में उल्लेख करना अनुचित न होगा कि स्वयं सूर्य का सारथि अरुण (लालिमा) है, जो गरुड का अग्रज है।

पौराणिक कथाओं के अनुसार गरुड दक्षकन्या विनता और कश्यप के पुत्र हैं, इसीलिए 'वैनतेय' कहलाते हैं। विनता का अपनी सपत्नी कद्रू से वैर था, जो सर्पों की माता है। अतः गरुड भी सर्पों के शत्रु हैं। गरुड जन्म से ही इतने तेजस्वी थे कि देवताओं ने उनका अग्नि

समझ कर पूजन प्रारम्भ कर दिया । इनका सिर, पक्ष और चोंच तो पक्षी के हैं और शेष शरीर मानव का । इनका सिर श्वेत, पक्ष लाल और शरीर स्वर्ण वर्ण का है । इनकी पत्नी उन्नति अथवा विनायका है । इनके पुत्र का नाम सम्पाति है । ऐसा कहा जाता है कि अपनी माता विनता को कद्रू की अधीनता से मुक्त करने के लिए गरुड ने देवताओं से अमृत लेकर अपनी विमाता को देने का प्रयत्न किया था । इन्द्र को इसका पता लग गया । दोनों में युद्ध हुआ । इन्द्र को अमृत तो मिल गया, किन्तु युद्ध में उसका वज्र टूट गया । गरुड के अनेक नाम हैं, यथा काश्यपि (पिता से), वैनतेय (माता से), सुपर्ण, गरुत्मान् आदि ।

गरुडाग्रज—गरुड के बड़े भाई अरुण । महाभारत (१.३१.२४-३४) में अरुण के गरुडाग्रज होने की कथा दी हुई है ।

गरुडोपनिषद्—एक अथर्ववेदीय उपनिषद् । इसमें विष निवारण की धार्मिक विधि है ।

गरुडपञ्चशती—वेदान्ताचार्य वेङ्कटनाथ द्वारा तिरुपाहिन्द्रपुर में रचित यह ग्रन्थ तमिल लिपि में लिखा गया है । इसमें भगवान् विष्णु के मुख्य पार्षद या वाहन गरुड की स्तुति की गयी है ।

गरुडध्वज—विष्णु की ध्वजा में गरुड का चिह्न या आवास रहता है, इससे वे गरुडध्वज कहलाते हैं ।

गरुडपुराण—गरुड और विष्णु का सवादरूप पुराण ग्रन्थ । नारदपुराण के पूर्वांश के १०८वें अध्याय में गरुडपुराण की विषयसूची दी गयी है । मत्स्यपुराण के अनुसार गरुडपुराण में अठारह हजार श्लोक हैं और रेवामाहात्म्य, श्रीमद्भागवत, नारदपुराण तथा ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अनुसार यह संख्या उन्नीस हजार है । जो गरुडपुराण हिन्दी विश्वकोशकार श्री नगेन्द्रनाथ वसु को उपलब्ध हुआ था, उसकी उन्होंने (पूर्वखण्ड के दो सौ तैंतालीस अध्यायों की और उत्तरखण्ड की पैंतालीस अध्यायों की) सूची दी है । यह सूची नारदीय पुराण के लक्षणों से मिलती है परन्तु श्लोकसंख्या में न्यूनता है ।

यह पुराण हिन्दुओं में बहुत लोकप्रिय है, विशेषकर अन्त्येष्टि के सम्बन्ध में इसके एक भाग को पुण्यप्रद समझा जाता है । इस पुराण भाग का श्रवण श्राद्धकर्म का एक अङ्ग माना जाता है । इसमें प्रेतकर्म, प्रेतयोनि, प्रेतश्राद्ध, यमलोक, यमयातना, नरक आदि विशेष रूप से वर्णित हैं ।

त्रिवेणीस्तोत्र, पञ्चपर्वमाहात्म्य, विष्णुधर्मोत्तर, वेङ्कटगिरिमाहात्म्य, श्रीरङ्गमाहात्म्य, सुन्दरपुरमाहात्म्य इत्यादि अनेक छोटे ग्रन्थ गरुडपुराण से उद्धृत बताये जाते हैं ।

गरुडस्तम्भ—श्रीरङ्गम् शैली के विष्णुमन्दिरों में सभामण्डप के बाहर और भगवान् की दृष्टि के सम्मुख एक ऊँचा स्तम्भ बनाया जाता है । नीचे कई कोणों का उसका वप्र और नसेनी जैसा शिखर होता है । स्तम्भकाष्ठ पर धातु (प्रायः सोने) का पत्र चढ़ा रहता है । इस पर गरुड का आवास माना जाता है । हेलियोडोरस नामक यूनानी क्षत्रप द्वारा ईसापूर्व प्रथम शती में स्थापित बेसनगर का गरुडस्तम्भ इतिहास में बहुत विख्यात है ।

गर्ग—एक ऋषि का नाम, जिनका उल्लेख किसी भी संहिता में नहीं पाया जाता किन्तु उनके वंशजों 'गर्गाः प्रावरेयाः' का काठक संहिता में उल्लेख है । कात्यायनसूत्र के भाष्यकार के रूप में गर्ग का नाम उल्लेखनीय है । ज्योतिष साहित्य में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है । आगे चलकर गोत्र ऋषियों में गर्ग की गणना होने लगी ।

यादवों के पुरोहित रूप में भी गर्गाचार्य प्रसिद्ध हैं ।

गर्भ—जीव के सञ्चित कर्म के फलदाता ईश्वर के आदेशानुसार प्रकृति द्वारा माता के जठरगह्वर में पुरुष के शुक्रयोग से गर्भ स्थापित किया जाता है । गरुडपुराण (अ० २२९) में गर्भस्थिति की प्रक्रिया लिखी हुई है ।

गर्भाधान—यह स्मार्त गृह्य संस्कारों में से प्रथम संस्कार है । धार्मिक क्रिया के साथ पुरुष धर्मपत्नी के जठरगह्वर में वीर्य स्थापित करता है जो गर्भाधान कहा जाता है । शौनक (वीरमित्रोदय, संस्कारप्रकाश में उद्धृत) ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है :

निषिक्तो यत्प्रयोगेण गर्भः संधार्यते स्त्रिया ।
तद्गर्भालम्भनं नाम कर्म प्रोक्तं मनीषिभिः ॥

गर्भाधान के लिए उपयुक्त समय पत्नी के ऋतुस्नान की चौथी रात्रि से लेकर सोलहवीं रात्रि तक है (मनुस्मृति, ३.२, याज्ञवल्क्यस्मृति, १.७९) । उत्तरोत्तर रात्रियाँ रजस्राव से दूर होने के कारण अधिक पवित्र मानी जाती हैं । गर्भाधान रात्रि में होना चाहिए, वह दिन में निषिद्ध

है (आश्वलायनस्मृति)। एक आथर्वणिक श्रुति में निषेध का यह कारण दिया हुआ है :

नार्तवे दिवा मैथुनमर्जयेत्। अल्पभाग्या अल्पवीर्याश्च दिवा प्रसूयन्तेऽल्पायुषश्च।

[ऋतुकाल और दिन में स्त्रीसंग नहीं करना चाहिए। इससे अल्पभाग्य, अल्पवीर्य और अल्पायु बालक उत्पन्न होते हैं।]

गर्भाधान की रात्रिसंख्या के अनुसार सन्तति का लिङ्ग निश्चित माना जाता है (मनुस्मृति, २.४८)। परन्तु मनुस्मृति (३.४९) के अनुसार सन्तति के लिङ्ग में माता-पिता के रक्त-वीर्य का आधिक्य भी कारण होता है। मास की तिथियों में ८,१४,१५,३० और सम्पूर्ण पर्व गर्भाधान के लिए निषिद्ध हैं। गर्भाधान संस्कार पति ही कर सकता है। प्राचीन काल में पति के अभाव अथवा असमर्थता में देवर अथवा नियोगप्रथा के अनुसार कोई नियुक्त व्यक्ति भी ऐसा कर सकता था (दे० 'नियोग')। परन्तु कलियुग में नियोग वर्जित है।

गर्भाधान तभी तक अनिवार्य है जब तक पुत्र न उत्पन्न हो; इसके पश्चात् गर्भाधान में विकल्प है :

ऋतुकालाभिगामी स्याद्यावत्पुत्रोऽभिजायते।
ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः।
पितॄणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति॥

निश्चित मांगलिक धर्मकृत्य के पश्चात् पति द्वारा पत्नी का आलिङ्गन करके निम्नलिखित मन्त्रों से गर्भाधान करने का विधान है :

अहमस्मि सा त्वं द्यौरहं पृथ्वी त्वं
रेतोऽहं रेतोभृत् त्वम्।
(बौ० गृ० सू० १.७.१-१८)

(यह मैं हूँ। वह तुम हो। मैं आकाश हूँ। तुम पृथ्वी हो। मैं रेतस् हूँ। तुम रेतस् को धारण करने वाली हो।]

तां पूषन् शिवतमामेरयस्व
यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति।
या न ऊरू उशती विशु याति
यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्॥
(ऋग्वेद, १०.८५.३७)

गर्भिणीधर्म—धर्मशास्त्र में गर्भिणी स्त्री के विशेष धर्म का विधान किया गया है। पद्मपुराण (५.७.४१-४७) तथा मत्स्यपुराण में कश्यप तथा अदिति के संवादरूप में गर्भिणी के निम्नांकित कर्तव्य बतलाये गये हैं :

गर्भिणी कुञ्जराश्वादि-शैल-हर्म्यादिरोहणम्।
व्यायामं शीघ्रगमनं शकटारोहणं त्यजेत्॥
शोकं रक्तविमोक्षञ्च साध्वसं कुक्कुटासनम्।
व्यवायञ्च दिवास्वप्नं रात्रौ जागरणं त्यजेत्॥

[गर्भिणी को हाथी, घोड़े, पर्वत, अट्टालिका आदि पर चढ़ना, व्यायाम, शीघ्रगमन, बैलगाडी-रोहण का त्याग करना चाहिए। इसी प्रकार शोक, रक्तोत्सर्ग, शीघ्रता से कुक्कुटासन से बैठना, अधिक श्रम, दिन में सोना, रात्रि में जागरण आदि का त्याग करना चाहिए।]

स्कन्दपुराण (मदनरत्न में उद्धृत) के अनुसार :

हरिद्रां कुङ्कुमञ्चैव सिन्दूरं कज्जलं तथा।
कूर्पासकञ्च ताम्बूलं माङ्गल्याभरणं शुभम्॥
केश संस्कारकवरीकरकर्ण विभूषणम्।
भर्तुरायुष्यमिच्छन्ती वर्जयेद् गर्भिणी नहि॥

[हल्दी, कुंकुम, सिन्दूर, काजल, कूर्पास, पान, सुहाग-वस्तु, आभूषण, वेणी-केशसंस्कार को पति की मंगल-कामना के लिए पत्नी अवश्य धारण करे।]

गर्भिणीधर्म के साथ-साथ गर्भिणीपति के धर्म का भी विधान पाया जाता है :

वपनं मैथुनं तीर्थं वर्जयेद् गर्भिणीपतिः।
श्राद्धञ्च सप्तमान्मासादूर्ध्वं चान्यत्र वेदवित्॥
क्षौरं शवानुगमनं नखकृन्तनञ्च
युद्धं च वास्तुकरणं त्वतिदूरयानम्।
उद्वाहमम्बुधिजलं स्पृशनोपयोगम्
आयुःक्षयो भवति गर्भिणिकापतीनाम्॥
(कलिविधान)

[मुण्डन, संभोग, यात्रा, श्राद्धकर्म गर्भ के सातवें महीने से न करना चाहिए। क्षौर, श्मशान जाना, नख केश काटना, युद्ध, निर्माण, दूरयात्रा, विवाह, समुद्रयात्रा—इन्हें भी नहीं करना श्रेयस्कर है।]

गवाक्षतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उल्लिखित चौसठ तन्त्रों की सूची में 'गवाक्षतन्त्र' का ४६वाँ स्थान है।

गवायुर्वेद—आयुर्वेद के कई विभागों में गवायुर्वेद भी एक है। यह गायों की चिकित्सा के सम्बन्ध में है। गाय का आधार लेकर प्रायः सभी पालतू पशुओं की चिकित्सा का विज्ञान इस शास्त्र में प्राप्त होता है।

गवाशिर—'गवाशिर' का ऋग्वेद (१.१३७.१;१८७,९; २.४१.३;३.३२.२;४२.१,७;७.५२.१०;१०१.१०) में अनेक बार सोम के पर्याय के रूप में वर्णन हुआ है।

गहवर (गह्वर) वन—यह ब्रजयात्रा के प्रमुख स्थलों में बहुत ही रमणीक वन है। शंख का चिह्न, महाप्रभु वल्लभाचार्य की बैठक, दानघाटी तथा गाय के स्तनों का चिह्न आदि यहाँ के मुख्य दर्शनीय स्थान हैं। यहाँ जयपुर के महाराज माधवसिंह का बनवाया हुआ विशाल एवं भव्य मन्दिर है। इसमें पत्थर की शिल्पकला देखने योग्य है।

गहिनीनाथ—नाथ सम्प्रदाय के नौ नाथ प्रसिद्ध हैं। गहिनीनाथ इनमें चतुर्थ हैं।

गाजीदास—निर्गुणधारा के सुधारक पन्थों में सतनामी पन्थ उल्लेखनीय है। इस पन्थ का प्रारम्भ किसने कब किया, इसका ठीक पता नहीं है। इसके पुनरुद्धारकों में महात्मा जगजीवन दास (सं० १८००), उनके शिष्य दूलनदास तथा कुछ काल पीछे गाजीदास हुए। गाजीदास छत्तीसगढ़ के चमार जाति के थे। आज से लगभग सौ सवा सौ वर्ष पहले इन्होंने इस पन्थ की पुनर्रचना की। गाजीदास ने चमार जाति के सामाजिक सुधार के लिए छत्तीसगढ़ प्रान्त के चमारों में इसका प्रचार किया। दे० 'सतनामी सम्प्रदाय'।

गाणपत्य—डॉ० भण्डारकर ने अपने ग्रन्थ (वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर सेक्ट्स ऑव इण्डिया) में इस मत के प्रारम्भिक विकास पर अच्छा प्रकाश डाला है। इस सम्प्रदाय का उदय छठी शताब्दी में हुआ कहा जाता है, किन्तु यह तिथि अनिश्चित ही है। गणपति देव की पूजा (स्तुति) का उल्लेख याज्ञवल्क्यस्मृति, मालतीमाधव तथा ८वीं व ९वीं शती के अभिलेखों में प्राप्त होता है। किन्तु इस मत का दर्शन 'वरदतापनीय' अथवा 'गणपतितापनीय' उपनिषदों में प्रथम उपलब्ध होता है। गणेश को अनन्त ब्रह्म कहा गया है तथा उनके सम्मान में एक राजसी मन्त्र नृसिंहतापनीय उप० में दिया गया है। इस मत की दूसरी उपनिषद् गणपति-उपनिषद् है, जो स्मार्तों के अथर्वशिरस् का एक भाग है। वैष्णव संहिताओं की तालिका में गणेश-संहिता का उल्लेख है जो इसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। अग्नि तथा गरुड पुराणों में इस देव की पूजा के निर्देश प्राप्त हैं, जो इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित न होकर भागवतों या स्मार्तों की पञ्चायतनपूजा से सम्बन्धित हैं।

ईसा की दशम अथवा एकादश शताब्दी तक यह सम्प्रदाय पर्याप्त प्रचलित था तथा चौदहवीं शती में अवनत होने लगा। इस सम्प्रदाय का मन्त्र 'श्रीगणेशाय नमः' है तथा ललाट पर लाल तिलक का गोल चिह्न इस मत का प्रतीक है। सम्प्रदाय की उपनिषदों के सिवा इस मत का प्रतिनिधि एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'गणेशपुराण' जिसमें गणेश की विभूतियों का वर्णन है और उनके कोढ़ विमोचन की चर्चा है। इस मत के धार्मिक आचरणों के अतिरिक्त गणेश के हजारों नाम इसमें उल्लिखित हैं। रहस्यमय ध्यान से गणेशरूपी सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही मूर्तिपूजा की हिन्दू प्रणाली भी यहाँ दी हुई है। 'मुद्गलपुराण' भी एक गाणपत्य पुराण है।

'शङ्करदिग्विजय' में गाणपत्य मत के छः विभाग कहे गये हैं—१. महागणपति २. हरिद्रा गणपति ३. उच्छिष्ट गणपति ४. नवनीत गणपति ५. स्वर्ण गणपति एवं ६. सन्तान गणपति। उच्छिष्ट गणपति सम्प्रदाय की एक शाखा हेरम्ब गणपति की गुह्य प्रणाली (हेरम्ब बौद्धों की तरह) का अनुसरण करती है। गाणपत्य सम्प्रदाय की अनेक शाखाएँ हैं, इनमें से अनेक शाखाएँ मुद्गलपुराण में भी उल्लिखित हैं तथा उनमें से अनेकों का स्वरूप दक्षिण भारत की मूर्तियों में आज भी दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यह सम्प्रदाय आज अस्तित्वहीन है।

इस सम्प्रदाय का ह्रास होते हुए भी इस देवता का स्थान आज भी लघु देवों में प्रधानता प्राप्त किये हुए है। इनकी पूजा आज भी विघ्नविनाशक एवं सिद्धिदाता के रूप में प्रत्येक माङ्गलिक अवसर पर सर्वप्रथम होती है। स्कन्दपुराण में इनके इसी रूप (लघु देव) का वर्णन प्राप्त है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के गणेशखण्ड में इनके जन्म तथा गजवदन होने का वर्णन है। दे० 'गणपति' तथा 'गणेश'।

ात्रहरिद्रा—गात्रहरिद्रा का प्रयोग हिन्दुओं में अनेक अवसरों पर किया जाता है। बालिकाओं के रजोदर्शन

के अवसर पर, ब्राह्मण कुमारों के यज्ञोपवीत के अवसर पर तथा विवाह संस्कार के दिन या एक दिन पूर्व ही वर तथा कन्या दोनों का गात्रहरिद्रा उत्सव होता है। शरीर पर हरिद्रालेपन नये जन्म अथवा जीवन में किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन का प्रतीक है। इससे शरीर की कान्ति बढ़ती है। दक्षिण भारत में यह अंगराग की तरह प्रचलित है।

गाधि—कान्यकुब्ज के चन्द्रवंशी राजा कुशिक के पुत्र तथा विश्वामित्र के पिता का नाम। महाभारत (३.११५.१९) में इनका उल्लेख है :

कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थिवः स महाबलः।
गाधीति विश्रुतो लोके वनवासं जगाम ह॥

[कान्यकुब्ज (कन्नौज) देश में गाधि नाम का महाबली राजा हुआ, जो तपस्या के लिए वनवासी हो गया था।] हरिवंश (२७.१३-१६) में इनकी उत्पत्ति की कथा दी हुई है :

कुशिकस्तु तपस्तेपे पुत्रमिन्द्रसमं विभुः।
लभेयमिति तं शक्रस्त्रासादभ्येत्य जज्ञिवान्॥
पूर्णे वर्षसहस्रे वै तं तु शक्रो ह्यपश्यत।
अत्युग्रतपसं दृष्ट्वा सहस्राक्षः पुरन्दरः॥
समर्थं पुत्रजनने स्वमेवांशमवासयत्।
पुत्रत्वे कल्पयामास स देवेन्द्रः सुरोत्तमः॥
स गाधिरभवद्राजा मघवान् कौशिकः स्वयम्।
पौरकुत्स्यभवद्भार्या गाधिस्तस्यामजायत॥

× × ×

गाधेः कन्या महाभागा नाम्ना सत्यवती शुभा।
तां गाधिः काव्यपुत्राय ऋचीकाय ददौ प्रभुः॥

[राजा कुशिक ने इन्द्र के समान पुत्र पाने के लिए तपस्या की, तब इन्द्र स्वयं अपने अंश से राजा का पुत्र बनकर गाधि नाम से उत्पन्न हुआ। गाधि की कन्या सत्यवती थी, जो भृगुवंश के ऋचीक की पत्नी हुई।]

गान्धर्वतन्त्र—आगमतत्त्वविलास में उद्धृत चौसठ तन्त्रों की सूची में गान्धर्वतन्त्र का क्रम ५७वाँ है। इसमें आगमिक क्रियाओं में गन्धर्वों के महत्त्व तथा उनकी संगीत विद्या का विवरण है।

गान्धर्ववेद—सामवेद का उपवेद। सामवेद की १००० शाखाओं में आजकल केवल १३ पायी जाती हैं। वार्ष्णेय शाखा का उपवेद गान्धर्व उपवेद के नाम से प्रसिद्ध है। गान्धर्व वेद के चार आचार्य प्रसिद्ध हैं। सोमेश्वर, भरत, हनुमान् और कल्लिनाथ। आजकल हनुमान् का मत प्रचलित है।

गान्धर्ववेद अन्य उपवेदों की तरह सर्वथा व्यवहारात्मक है। इसलिए आधुनिक काल में इसके जो अंश लोप होने से बचे हुए हैं वे ही प्रचलित समझे जाने चाहिए। सामवेद का 'अरण्यगान' एवं 'ग्रामगेयगान' आजकल प्रचार से उठ गया है, इसलिए सामगान की वास्तविक विधि का लोप हो गया है। ऋषियों के मध्य जो विद्या गान्धर्ववेद कहलाती थी, वही सर्वसाधारण के व्यवहार में आने पर संगीत विद्या कहलाने लगी। ऋषियों की विद्या ग्रन्थों में मर्यादित होने के कारण अत्र आधुनिक काल में सर्वसाधारण को उपलब्ध नहीं है। दे० 'उपवेद'।

गान—वैदिक काल में गेय मन्त्रों का संग्रह तथा याज्ञिक विधि सम्बन्धी शिक्षा विशेष गुरुकुलों में हुआ करती थी। ऐसे सामवेद के गुरुकुल थे जहाँ मन्त्रों का गान करना तथा छन्दों का उच्चारण मौखिक रूप में सिखाया जाता था। जब लेखन प्रणाली का प्रचार हुआ तो अनेक स्वरग्रन्थों की, जिन्हें 'गान' कहते थे, रचना हुई। इस प्रकार गान की उत्पत्ति सामवेद से हुई।

गान के दो भेद हैं—(१) मार्ग और देशी। संगीतदर्पण (३.६) के अनुसार।

मार्ग-देशीविभागेन सङ्गीतं द्विविधं स्मृतम्।
द्रुहिणेन यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च॥
महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम्॥
तत्तद्देशस्थया रीत्या यत्स्याल्लोकानुरञ्जनम्।
देशे देशे तु सङ्गीतं तद्देशीत्यभिधीयते॥

[मार्ग और देशी भेद से संगीत दो प्रकार का है। ब्रह्मा ने जिसे निर्धारित कर भरत को प्रदान किया और भरत ने शंकर के समक्ष प्रयुक्त किया वह मार्ग संगीत है। जो विभिन्न देशों के अनुसार लोकरंजन में लिए अनेक रीतियों में प्रचलित है वह देशी संगीत है।]

गान्धर्व—(१) विष्णुपुराण के अनुसार भारतवर्ष के नव उपद्वीपों में से एक गान्धर्वद्वीप भी है :

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निबोधत।
इन्द्रद्वीपः कशेरुमांस्ताम्रपर्णी गभस्तिमान्॥
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वस्त्वथ वारुणः।
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः॥

[इन्द्र, कशेरु, ताम्रपर्णी, गभस्तिमान्, नाग, सौम्य, गान्धर्व, वारुण तथा भारत, ये नौ द्वीप हैं ।]

(२) आठ प्रकार के विवाहों में से एक प्रकार का विवाह गान्धर्व कहलाता है । जिस विवाह में कन्या और वर परस्पर अनुराग से एक दूसरे को पति-पत्नी के रूप में वरण करते हैं उसे गान्धर्व कहते हैं । मनुस्मृति (३.३२) में इसका लक्षण निम्नांकित है :

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ।।

[जिसमें कन्या और वर की इच्छा से परस्पर संयोग होता है और जो मैथुन्य और कामसम्भव है उसे गान्धर्व जानना चाहिए ।] दे० 'विवाह' ।

गायत्री—ऋग्वेदीय काल में सूर्योपासना अनेक रूपों में होती थी । सभी द्विजों की प्रातः एवं सन्ध्या काल की प्रार्थना में गायत्री मन्त्र को स्थान प्राप्त होना सूर्योपासना को निश्चित करता है ।

'गायत्री' ऋग्वेद में एक छन्द का नाम है । सावित्र (सविता अथवा सूर्य-सम्बन्धी) मन्त्र इसी छन्द में उपलब्ध होता है (ऋग्वेद,३.६२.१०) । गायत्री का अर्थ है 'गायन्तं त्रायते इति ।' 'गाने वाले की रक्षा करने वाली ।' पूरा मन्त्र है—भूः । भुवः । स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात् । [हम सविता देव के वरणीय प्रकाश को धारण करते हैं । वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे ।]

गायत्री का एक नाम 'सावित्री' भी है । उपनयन-संस्कार के अवसर पर आचार्य गायत्री अथवा सावित्री मन्त्र उपनीत ब्रह्मचारी को प्रदान करता है । सन्ध्योपासना में इस मन्त्र का जप तथा मनन अनिवार्य माना गया है । जो ऐसा नहीं करते वे 'सावित्रीपतित' समझे जाते हैं । गायत्री त्रिपदा, छन्दोयुक्ता, मन्त्रात्मिका और वेदमाता कही गयी है । मनुस्मृति (२.७७-७८; ८१-८३) में इसका महत्त्व बतलाया गया है ।

पद्मपुराण में गायत्री को ब्रह्मा की पत्नी कहा गया है । यह पद गायत्री को कैसे प्राप्त हुआ, इसकी कथा विस्तार से दी हुई है । इसका ध्यान इस प्रकार बताया गया है :

श्वेता त्वं श्वेतरूपासि शशाङ्केन समा मता ।
बिभ्रती विपुलावूरू कदलीगर्भकोमलौ ।।
एणशृङ्गं करे गृह्य पङ्कजं च सुनिर्मलम् ।
वसाना वसने क्षौमे रक्ते चाद्भुतदर्शने ।।

गायत्रीव्रत—शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । इसमें सूर्यपूजन का विधान है । गायत्री (ऋग्वेद ३.६२.१०) का जप शत बार, सहस्र बार, दस सहस्र बार करने से अनेक रोगों का नाश होता है । दे० हेमाद्रि, २.६२-६३ (गरुडपुराण से उद्धृत) । इस ग्रन्थ में गायत्री की प्रशंसा तथा पवित्रता के विषय में बहुत कुछ कहा गया है ।

गार्ग्य—शुक्ल यजुर्वेद के प्रातिशाख्यसूत्र (कात्यायन कृत) तथा कात्यायन के ही वाजसनेय प्रातिशाख्य में गार्ग्य का नाम आया है । परवर्ती काल में एक पाशुपत आचार्य के रूप में भी इनका उल्लेख है । चित्रप्रशस्ति में कहा गया है कि शिव ने कारोहण (लाट देश) में अवतार लिया तथा पाशुपत मत के ठीक-ठीक पालनार्थ उनके चार शिष्य हुए—कुशिक, गार्ग्य, कौरुष्य एवं मैत्रेय ।

पाणिनिसूत्रों में प्राचीन व्याकरण-आचार्य के रूप में भी गार्ग्य का उल्लेख हुआ है ।

गार्हपत्य—एक यज्ञिय अग्नि । भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक काल में देवताओं की पूजा प्रत्येक आर्य अपने गृह में स्थापित अग्निस्थान में करता था । गृहस्थ का कर्त्तव्य होता था कि वह यज्ञवेदी में प्रथम अग्नि की स्थापना करे । इस उत्सव को 'अग्न्याधान' कहते थे । ऐसे अवसर पर गृहस्थ चार पुरोहितों के साथ 'गार्हपत्य' तथा 'आहवनीय' अग्नियों के लिए यज्ञवेदियों का निर्माण करता था । गार्हपत्य अग्नि के लिए वृत्ताकार, आहवनीय अग्नि के लिए वर्गाकार तथा 'दक्षिणाग्नि' के लिए अर्द्ध वृत्ताकार (यदि इसकी भी आवश्यकता हुई) स्थान निर्मित होता था । तब अध्वर्यु घर्षण द्वारा या गाँव से अस्थायी अग्नि प्राप्त करता था तथा 'गार्हपत्य अग्नि' की स्थापना करता था । गार्हपत्य का आवाहन निम्नांकित वैदिक मन्त्र से किया जाता था :

इह प्रियं प्रजया मे समृध्यताम्
अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि । (ऋग्वेद,१०.८५.२७)

मनुस्मृति में पिता को भी गार्हपत्य अग्निरूप माना गया है :

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
(३.३३१)

[पिता गार्हपत्य अग्नि और माता दक्षिणाग्नि कहे गये हैं ।]

गालव—अष्टाध्यायी के सूत्रों में जिन पूर्ववर्ती वैयाकरणों का नाम आया है, गालव उनमें एक हैं । ऋषियों(७.१.७४) की सूची में भी गालव की गणना है ।

गिरनार (गिरिनगर)—सौराष्ट्र (पश्चिम भारत) का एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान । प्राचीन काल से यह योगियों और साधकों को आकृष्ट करता रहा है । काठियावाड़ का प्राचीन नगर जूनागढ़ गिरनार की उपत्यका में बसा हुआ है । नगर का एक द्वार गिरनारदरवाजा कहलाता है । द्वार के बाहर एक ओर बावेश्वरी देवी का मन्दिर है । वहीं वामनेश्वर शिवमन्दिर भी है । यहाँ अशोक का शिलालेख लगा हुआ है । आगे मुचकुन्द महादेव का मन्दिर है । ये स्थान पहाड़ के दातार शिखर के नीचे की ओर हैं । यहाँ पर कई देवालय बने हुए हैं । महाप्रभु वल्लभाचार्य के वंशजों की हवेली (आवास) भी है ।

प्राचीन काल में यह पर्वत 'ऊर्जयन्त' अथवा 'उज्जयन्त' कहलाता था (दे० स्कन्दगुप्त का गिरनार अभिलेख) । इस पर्वत की एक पहाड़ी पर दत्तात्रेय की पादुका के चिह्न बने हुए हैं । अशोक के शिलालेख से प्रकट है कि तृतीय शती ई० पू० में यह तीर्थ रूप में प्रसिद्ध हो चुका था । रुद्रदामा के जूनागढ़ अभिलेख के प्रारम्भ में ही इसका उल्लेख है (एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ३६-४२) वस्त्रापथ क्षेत्र का यह केन्द्र माना जाता था (स्कन्दपुराण, २.२.१-३) । यहाँ सुवर्णरेखा नामक पवित्र नदी बहती है ।

गिरि—(१) गिरि अथवा पर्वत हिन्दू धर्म में पूजनीय माने गये हैं । पूजा का आधार धारणशक्ति अथवा गुरुत्व है (गिरति धारयति पृथ्वीं, ग्रियते स्तूयते गुरुत्वाद्वा) । पर्वतों में कुलपर्वत विशेष पूजनीय हैं :

मेरु मन्दर कैलास मलया गन्धमादनः ।
महेन्द्रः श्रीपर्वतश्च हेमकूटस्तथैव च ।
अष्टावेते तु सम्पूज्या गिरयः पूर्वदिक्क्रमात् ।।

× × ×

महेन्द्रो मलयः सह्य सानुयानृक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ।।

गिरिजा—गिरि (पर्वत) हिमालय अथवा हिमालयाधिष्ठित देवता से जन्मी हुई पार्वती । दे० 'उमा', 'पार्वती' ।

गिरितनयाव्रत—इस व्रत का अनुष्ठान भाद्रपद, वैशाख अथवा मार्गशीर्ष शुक्ल तृतीया को होता है । एक वर्ष पर्यन्त इसमें गौरी अथवा ललिता का पूजन होना चाहिए । द्वादश मासों में गौरी के भिन्न भिन्न नामों का स्मरण करते हुए भिन्न-भिन्न पुष्पों से पूजा करनी चाहिए ।

गिरिधर—(१) श्रीकृष्ण का एक पर्याय । गोवर्धन पर्वत (गिरि) धारण करने के कारण उनका यह नाम पड़ा ।

(२) एक वैष्णव सन्त कवि का नाम भी गिरधर है । मराठा भक्तों ने मानभाऊ लोगों की सर्वदा उपेक्षा की है । मानभाऊ भी मराठी भाषाभाषी एक प्रकार के पाञ्चरात्र वैष्णव हैं । जिन-जिन मराठी लेखकों तथा कवियों की रचनाओं से यह उपेक्षा का भाव परिलक्षित होता है, उनमें गिरिधर, एकनाथ आदि हैं । सम्भवतः अपनी परम्परावादी स्मार्त प्रवृत्तियों के कारण ही ये मानभाऊ सन्तों की उपेक्षा करते थे ।

गिरिधरजी—वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गीय साहित्य में 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' का विशिष्ट स्थान है । इसके रचयिता गिरिधरजी १६०० ई० के आसपास हुए थे । ये अपने समय में वल्लभीय अनुयायियों के अध्यक्ष थे । नाभाजी एवं तुलसीदास भी इनके समसामयिक थे ।

गिरिनगर—दे० गिरनार ।

गिरिशिष्यपरम्परा—शङ्कराचार्य के चार प्रधान शिष्यों में से सुरेश्वराचार्य (मण्डन) प्रमुख थे तथा उन चारों के दस शिष्य थे, जो 'दसनामी' के नाम से प्रसिद्ध हैं । ये चार गुरुओं के नाम पर चार मठों में बँटकर रहने लगे । सुरेश्वर के तीन शिष्य—गिरि, पर्वत और सागर ज्योतिःमठ (जोशीमठ) के अन्तर्गत थे । इस प्रकार गिरि-शिष्यपरम्परा जोशी मठ में सुरक्षित हैं ।

गीतगोविन्द—शृंगार रस प्रधान संस्कृत का गीतकाव्य । इसके रचयिता लक्ष्मणसेन के राजकवि जयदेव थे । इसमें राधा-कृष्ण के विहार का ललित वर्णन है ।

राधा का नाम सर्वप्रथम 'गोपालतापिनी उपनिषद्' में आता है । राधापूजक सम्प्रदायों द्वारा यह ग्रन्थ अति सम्मानित है । जिन सम्प्रदायों में राधा की आराधना होती है उनमें विष्णुस्वामी एवं निम्बार्कों का नाम प्रथम आता है । राधा की पूजा एवं गीतों द्वारा प्रशंसा उत्तर भारत में माध्वकाल के पूर्व प्रचलित थी, क्योंकि जयदेवरचित गीतागोविन्द बारहवीं शती के अन्त की

रचना है। बंगाल में जयदेव को निम्बार्क मतावलम्बी कहते हैं, किन्तु गीतगोविन्द की राधा प्रेयसी हैं, पत्नी नहीं, जबकि निम्बार्कों के मतानुसार राधा कृष्ण की पत्नी हैं।

गीता—दे० 'श्रीमद्भगवद्गीता'। महाभारत के भीष्मपर्व में यह पायी जाती है। महाभारतयुद्ध के पूर्व अर्जुन का व्यामोह दूर करने के लिए कृष्ण ने इसका उपदेश किया था। इसमें कर्म, उपासना और ज्ञान का समुच्चय है। नीलकण्ठ ने अपनी टीका में इसके विषय में कहा है :

भारते सर्ववेदार्थो भारतार्थञ्च कृत्स्नशः।
गीतायामस्ति तेनेयं सर्वशास्त्रमयी मता ॥
इयमष्टादशाध्यायी क्रमात् षट्कत्रयेण हि।
कर्मोपास्तिज्ञानकाण्ड-त्रितयात्मा निगद्यते ॥

मधुसूदन सरस्वती ने अपनी टीका गीतागूढार्थदीपिका में गीता के उद्देश्य का विशद विवेचन किया है :

सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमात्मकम्।
परं निःश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम् ॥ आदि

भगवद्गीता के अतिरिक्त और भी गीताएँ हैं, जैसे भागवतपुराण में गोपीगीता, अध्यात्मरामायण में रामगीता, आश्वमेधिक पर्व में ब्राह्मणगीता, अनुगीता, देवीभागवत में भगवतीगीता आदि।

अनेक आचार्यों ने गीता पर साम्प्रदायिक टीकाएँ तथा भाष्य लिखे हैं। इनमें शाङ्करभाष्य बहुत प्रसिद्ध है। यह अद्वैतवादी तथा निवृत्तिमार्गी भाष्य है। आधुनिक टीकाकारों तथा निबन्धकारों में लोकमान्य तिलक का 'गीतारहस्य', श्री अरविन्द का 'एसेज ऑन दी गीता' तथा महात्मा गान्धी का 'अनासक्तियोग' उल्लेखनीय हैं।

गीतातात्पर्यनिर्णय—गीता पर स्वामी मध्वाचार्यरचित एक निबन्ध ग्रन्थ। इसमें द्वैतवादी दर्शन तथा कृष्ण भक्ति का प्रतिपादन किया गया है।

गीताधर्म—भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को राजयोग का उपदेश करके भागवत धर्म का पुनरारम्भ किया। इसका तात्पर्य यह है कि गीताधर्म सृष्टि के आरम्भ से चला आ रहा था। बीच में उसका लोप हो जाने पर श्री कृष्ण द्वारा उसका पुनरारम्भ हुआ। गीताधर्म अध्यात्म पर आधारित समुच्चयवादी धर्म था। मनुष्य की मुक्ति का मार्ग त्रिविध माना जाता था—ज्ञान, कर्म और भक्ति समन्वित। एकान्तवादी सम्प्रदायों ने इन तीन विद्याओं को वैकल्पिक मान लिया। इससे जीवन एकाङ्गी हो गया। भगवान् कृष्ण ने तीनों के समन्वयमार्ग की पुनः प्रतिष्ठा की।

गीताभाष्य—गीताभाष्य ग्रन्थ कई आचार्यों द्वारा रचे गये हैं। वे आचार्य हैं—शङ्कर, रामानुज, मध्व, केशव काश्मीरी, बलदेव विद्याभूषण आदि। इन भाष्यों में साम्प्रदायिक दर्शन एवं धर्म का प्रतिपादन किया गया है।

गीतार्थसंग्रह—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के यामुनाचार्य द्वारा रचित संस्कृत ग्रन्थ 'गीतार्थसंग्रह' भगवद्गीता की व्याख्या उपस्थित करता है। इसमें विशिष्टाद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया गया है।

गीतार्थसंग्रहरक्षा—आचार्य वेङ्कटनाथ ने तमिल में लगभग १०८ ग्रंथों की रचना है। 'गीतार्थसंग्रहरक्षा' उनमें से एक है। इसमें भगवद्भक्ति कूट-कूट कर भरी है। जनता में यह बहुत प्रिय है।

गीतावली (१)—चैतन्य सम्प्रदाय के आचार्यों में सनातन गोस्वामी प्रमुख हैं। उन्हीं की यह पद्यमयी रचना है। श्लोकों में भगवान् कृष्ण का चरित्र वर्णित है।

गीतावली (२)—राम भक्ति सम्बन्धी साहित्यभंडार में गोस्वामी तुलसीदास का प्रमुख योगदान है। गीतावली में तुलसीदास ने रामकथा को गीतों में कहा है। इसके गीत गेय तो हैं ही, साहित्यिक दृष्टि से बड़े उच्चकोटि के हैं।

गीताविवृत—मध्वमतावलम्बी श्री राघवेन्द्र स्वामीकृत एक ग्रन्थ। इसकी भाषा सरल है, रचना १७वीं शताब्दी की है।

गीतासार—भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश किया है वह गरुड पुराण (अध्याय २३३) में 'गीतासार' के नाम से प्रसिद्ध है। मोक्ष के लिए समस्त योग, ज्ञान आदि के प्रतिपादक शास्त्रों का सार इसमें संक्षेप से संगृहीत है।

गुटका—कबीरपंथी सम्प्रदाय की यह प्रार्थना पुस्तिका है। कबीर के अनुयायी नित्य पाठ में इसका उपयोग करते हैं।

गुडतृतीया—इस व्रत का अनुष्ठान भाद्र शुक्ल तृतीया को होता है। पार्वती इसकी देवता हैं। पुष्पों को गुड़ अथवा पायस (खीर) के साथ भगवती को समर्पण करना चाहिए।

गुण—वैशेषिक दर्शन के अनुसार पदार्थ छः हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। अभाव भी एक पदार्थ कहा गया है। इस प्रकार पदार्थ सात हुए।

द्रव्याश्रयी (द्रव्य में रहने वाला), कर्म से भिन्न और सत्तावान् जो हो, वह गुण है। गुण के चौबीस भेद हैं : १. रूप २. रस ३. गन्ध ४. स्पर्श ५. संख्या ६. परिमाण ७. पृथक्त्व ८. संयोग ९. विभाग १०. परत्व ११. अपरत्व १२. बुद्धि १३. सुख १४. दुःख १५. इच्छा १६. द्वेष १७. यत्न १८. गुरुत्व १९. द्रवत्व २०. स्नेह २१. संस्कार २२. धर्म २३. अधर्म और २४. शब्द। दे० भाषापरिच्छेद।

शाक्त मतानुसार प्राथमिक सृष्टि की प्रथम अवस्था में शक्ति का जागरण दो रूपों में होता है, क्रिया एवं भूति तथा उसके आश्रित छः गुणों का प्रकटीकरण होता है। वे गुण हैं—ज्ञान, शक्ति, प्रतिभा, बल, पौरुष एवं तेज। ये छहों मिलकर वासुदेव के प्रथम व्यूह तथा उनकी शक्ति लक्ष्मी का निर्माण करते हैं। छः गुणोंमें युग्मों के बदलकर संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध (द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ व्यूह) एवं उनकी शक्तियों का जन्म होता है आदि।

सांख्य दर्शन के अनुसार गुण प्रकृति के घटक हैं। इनकी संख्या तीन हैं। सत्त्व का अर्थ प्रकाश अथवा ज्ञान, रज का अर्थ गति अथवा क्रिया और तम का अर्थ अन्धकार अथवा जडता है। जिस प्रकार तीन धागों से रस्सी बँटी जाती है उसी प्रकार सारी सृष्टि तीन गुणों से घटित है। दे० सांख्यकारिका।

गुणरत्नकोष—आचार्य रामानुजरचित यह एक ग्रन्थ है।

गुणावाप्तिव्रत—यह फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को प्रारम्भ होता है। एक वर्षपर्यन्त इसका अनुष्ठान होना चाहिए। शिव तथा क्रमशः चार दिनों तक आदित्य, अग्नि, वरुण और चन्द्रदेव की (शिव रूप में) पूजा होनी चाहिए। प्रथम दो रुद्र रूप में तथा अन्तिम दो कल्याणकारी शङ्कर रूप में अर्चित होने चाहिए। इन दिनों पवित्र द्रव्यों से युक्त जल से स्नान करना चाहिए। चारों दिन गेहूँ, तिल तथा यवादि धान्यों से होम का विधान है। आहार रूप में केवल दुग्ध ग्रहण करना चाहिए। दे० विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ३.१३७. १-१३ (हेमाद्रि, २.४९९-५०० में उद्धृत)।

गुप्तकाशी—उत्तराखंड में रुद्रप्रयाग से २१ मील की दूरी पर स्थित। पूर्वकाल में ऋषियों ने भगवान् शङ्कर की प्राप्ति के लिए यहाँ तप किया था। कहते हैं बाणासुर की कन्या ऊषा का भवन यहाँ था। यहीं ऊषा की सखी अनिरुद्ध को द्वारका से उठा लायी थी। गुप्तकाशी में नन्दी पर आरूढ, अर्धनारीश्वर शिव की सुन्दर मूर्ति है। एक कुंड में दो धाराएँ गिरती हैं, जिन्हें गङ्गा-यमुना कहते हैं। यहाँ यात्री स्नान करके गुप्त दान करते हैं।

गुप्तप्रयाग—उत्तराखंड का एक प्रसिद्ध तीर्थस्थल। यह हरसिल (हरिप्रयाग) से दो मील की दूरी पर स्थित है। झाला से आध मील पर श्यामप्रयाग (श्याम गङ्गा और भागीरथी का संगम) है। यहाँ से दो मील पर गुप्तप्रयाग है।

गुप्तगोदावरी—चित्रकूट के अन्तर्गत अनसूयाजी से छः मील तथा बाबूपुर से दो मील की दूरी पर गुप्त गोदावरी है। एक अँधेरी गुफा में १५-१६ गज भीतर सीताकुण्ड है। इसमें सदा झरने से जल गिरता रहता है। यात्री इसमें स्नान करके गोदावरी के स्नानपुण्य का अनुभव करते हैं।

गुप्तारघाट—एक वैष्णव तीर्थ। शुद्ध नाम 'गोप्रतारतीर्थ'। अयोध्या से नौ मील पश्चिम सरयूतट पर है। फैजाबाद छाँवनी होकर यहाँ सड़क जाती है। यहाँ सरयूस्नान का बहुत माहात्म्य माना जाता है। घाट के पास गुप्त हरि का मन्दिर है।

गुरदास—एक मध्य कालीन सन्त का नाम। सुधारवादी साहित्यमाला में १६वीं शती के अन्त में भाई गुरदास ने एक और पुष्प पिरोया, जिसका नाम है 'भाई गुरदास की वार'। इस ग्रन्थ का आंशिक अंग्रेजी अनुवाद मेकालिफ ने किया है।

गुरु—गुरु उसको कहते हैं जो वेद-शास्त्रों का गृणन (उपदेश) करता है अथवा स्तुत होता है (गृणाति उपदिशति वेदशास्त्राणि यद्वा गीर्यते स्तूयते शिष्यवर्गैः)। मनुस्मृति (२.१४२) में गुरु की परिभाषा निम्नांकित है :

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते।

[जो विप्र निषेक (गर्भाधान) आदि संस्कारों को यथा विधि करता है और अन्न से पोषण करता है वह गुरु कहलाता है।] इस परिभाषा से पिता प्रथम गुरु है, तत्पश्चात् पुरोहित, शिक्षक आदि। मन्त्रदाता को भी गुरु कहते हैं। गुरुत्व के लिए वर्जित पुरुषों की सूची कालिकापुराण (अध्याय ५४) में इस पकार दी हुई है :

अभिशप्तमपुत्रञ्च सन्नद्धं कितवं तथा।
क्रियाहीनं कल्पाङ्गं वामनं गुरुनिन्दकम्॥

सदा मत्सरसंयुक्तं गुरुमन्त्रेषु वर्जयेत् ।
गुरुर्मन्त्रस्य मूलं स्यात् मूलशद्धौ सदा शुभम् ॥

कूर्मपुराण (उपविभाग, अध्याय ११) में गुरुवर्ग की एक लम्बी सूची मिलती है :

उपाध्यायः पिता ज्येष्ठभ्राता चैव महीपतिः ।
मातुलः श्वशुरस्त्राता मातामहपितामहौ ॥
बन्धुर्ज्येष्ठः पितृव्यश्च पुंस्येते गुरवः स्मृताः ।
मातामही मातुलानी तथा मातुश्च सोदरा ॥
श्वश्रूः पितामही ज्येष्ठा धात्री च गुरवः स्त्रीषु ।
इत्युक्तो गुरुवर्गोऽयं मातृतः पितृतो द्विजाः ॥

इनका शिष्टाचार, आदर और सेवा करने का विधान है। युक्तिकल्पतरु में अच्छे गुरु के लक्षण निम्नांकित कहे गये हैं :

सदाचारः कुशलधीः सर्वशास्त्रार्थपारगः ।
नित्यनैमित्तिकानाञ्च कार्याणां कारकः शुचिः ॥
अपर्वमैथुनपरः पितृदेवार्चने रतः ।
गुरुभक्तोजितक्रोधो विप्राणां हितकृत् सदा ॥
दयावान् शीलसम्पन्नः सत्कुलीनो महामतिः ।
परदारेषु विमुखो दृढसंकल्पको द्विजः ॥
अन्यैश्च वैदिकगुणैर्युक्तः कार्यो गुरुर्नृपैः ।
एतैरेव गुणैर्युक्तः पुरोधाः स्यान्महीभुजाम् ॥

मन्त्रगुरु के विशेष लक्षण बतलाये गये हैं :

शान्तो दान्तः कुलीनश्च विनीतः शुद्धवेशवान् ।
शुद्धाचारः सुप्रतिष्ठः शुचिर्दक्षः सुबुद्धिमान् ॥
आश्रमी ध्याननिष्ठश्च मन्त्र-तन्त्र-विशारदः ।
निग्रहानुग्रहे शक्तो गुरुरित्यभिधीयते ॥
उद्धर्तुञ्चैव संहर्तुं समर्थो ब्राह्मणोत्तमः ।
तपस्वी सत्यवादी च गृहस्थो गुरुरुच्यते ॥

सामान्यतः द्विजाति का गुरु अग्नि, वर्णों का गुरु ब्राह्मण, स्त्रियों का गुरु पति और सबका गुरु अतिथि होता है :

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां बाह्मणो गुरुः ।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वेषामतिथिर्गुरुः ॥
(चाणक्यनीति)

उपनयनपूर्वक आचार सिखाने वाला तथा वेदाध्ययन कराने वाला आचार्य ही यथार्थतः गुरु है :

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यञ्चसन्ध्योपासनमेव च ॥
अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रिययातया ॥
षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्द्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥
(मनु० २.६९;२.१४९;३.१)

वीर शैवों में यह प्रथा है कि प्रत्येक लिङ्गायत गाँव में एक मठ होता है जो प्रत्येक पाँच प्रारम्भिक मठों से सम्बन्धित रहता है। प्रत्येक लिङ्गायत किसी न किसी मठ से सम्बन्धित होता है। प्रत्येक का एक गुरु होता है। जङ्गम इनकी एक जाति है जिसके सदस्य लिङ्गायतों के गुरु होते हैं।

जब लिङ्गायत अपने गुरु का चुनाव करता है तब एक उत्सव होता है, जिसमें पाँच पात्र, पाँच मठों के महन्तों के प्रतिनिधि के रूप में, रखे जाते हैं। चार पात्र वर्गाकार आकृति में एवं एक केन्द्र में रखा जाता है। यह केन्द्र का पात्र उस लिङ्गायत के गुरु के मठ का प्रतीक होता है। जब गुरु किसी लिङ्गायत के घर जाता है, उस अवसर पर 'पादोदक' संस्कार (गुरु का चरण धोना) होता है, जिसमें सारा परिवार तथा मित्रमण्डली उपस्थित रहती है। गृहस्वामी द्वारा गुरु की षोडशोपचार पूर्वक पूजा की जाती है।

धार्मिक गुरु के प्रति भक्ति की परम्परा भारत में अति प्राचीन है। प्राचीन काल में गुरु का आज्ञापालन शिष्य का परम धर्म होता था। गुरु शिष्य का दूसरा पिता माना जाता था एवं प्राकृतिक पिता से भी अधिक आदरणीय था। आधुनिक काल में गुरुसंमान और भी बढ़ा चढ़ा है। नानक, दादू, राधास्वामी आदि संतों के अनुयायी जिसे एक बार गुरु ग्रहण करते हैं, उसकी बातों को ईश्वरवचन मानते हैं।

बिना गुरु की आज्ञा के कोई हिन्दू किसी सम्प्रदाय का सदस्य नहीं हो सकता। प्रथम वह एक जिज्ञासु बनता है। बाद में गुरु उसके कान में एक शुभ बेला में दीक्षा-मन्त्र पढ़ता है और फिर वह सदस्य बन जाता है।

गुरु (प्रभाकर)—छठी शती से आठवीं शती के बीच कर्म-मीमांसा के दो प्रसिद्ध विद्वान् हुए; एक प्रभाकर जिन्हें गुरु भी कहते हैं एवं दूसरे कुमारिल, जिन्हें भट्ट कहा जाता है। इन दोनों से मीमांसा के दो सम्प्रदाय चले।

गुरुकुलजीवन—द्विज या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों को जीवन की पहली अवस्था में अच्छे गृहस्थजीवन की शिक्षा लेना अनिवार्य था। यह शिक्षा गुरुकुलों में जाकर प्राप्त की जाती थी, जहाँ वेदादि शास्त्रों के अतिरिक्त क्षत्रिय शस्त्रास्त्र विद्या और वैश्य कारीगरी, पशुपालन एवं कृषि का कार्य भी सीखता था। गुरुकुल का जीवन अति त्यागपूर्ण एवं तपस्या का जीवन था। गुरु की सेवा, भिक्षाटन पर जीविका, गुरु के पशुओं का चारण, कृषिकर्म करना, समिधा जुटाना आदि कर्म करने के पश्चात् अध्ययन में मन लगाना पड़ता था। धनी. निर्धन सभी विद्यार्थियों का एक ही प्रकार का जीवन होता था। इस तपस्थलों से निकलने पर स्नातक समाज का सम्माननीय सदस्य के रूप में आदृत होता एवं विवाह कर गृहस्थाश्रम का अधिकारी बनता था।

गुरुग्रन्थसाहब—(१) सिक्ख संप्रदाय का सर्वोत्तम धार्मिक ग्रन्थ, जिसकी पूजा गुरुमूर्ति के रूप में की जाती है। इस पवित्र ग्रन्थ का अखण्ड पाठ करने की रीति सिक्खों ने ही प्रचलित की। इसमें सिक्खों के दस गुरुओं की वाणी के साथ.ही कबीर, नामदेव, रविदास, मीरा, तुलसी आदि भक्तों की चुनी हुई वाणियाँ भी संकलित हैं और यह गुरुमुखी लिपि में लिखा गया है।

(२) इसी नाम का गरीबदासी सम्प्रदाय का भी एक धार्मिक ग्रन्थ है, जिसे संत गरीबदास (१७१७-८२ ई०) ने में रचा। इसमें २४,००० पद हैं। दे० 'गरीबदास'।

गुरुदेव—पन्द्रहवी शती के वीरशैव सम्प्रदाय के एक आचार्य, जिन्होंने 'वीरशैव आचार प्रदीपिका' की रचना की।

गुरुदेव स्वामी—ये 'आपस्तम्ब सूत्र' के एक भाष्यकार थे।

गुरुद्वारा—सिक्खों का पूजास्थान गुरुद्वारा कहलाता है। पूजा में 'ग्रन्थ साहब' के कुछ निश्चित भागों का पाठ तथा ग्रन्थ की पूजा होती है। सिक्ख गुरुद्वारों में अमृतसर का स्वर्णमन्दिर प्रमुख और दर्शनीय है। गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले प्रमुख स्थानों पर गुरुद्वारे बने हुए हैं, जो सिक्खों के तीर्थस्थान हैं।

गुरुप्रदीप—वेदान्ताचार्य अद्वैतानन्द स्वामी (सं० १२०६ से १२५५) के तीन ग्रन्थों में एक ग्रन्थ का नाम 'गुरुप्रदीप' है।

गुरुमुखी—उस लिपि का नाम जिसमें सिक्खों का धर्मग्रन्थ 'ग्रन्थ साहब' लिखा हुआ है। गुरु नानक के उत्तराधिकारी गुरु अङ्गद ने नानक के पदों के लिए उस लिपि को स्वीकार किया जो ब्राह्मी से निकली थी और पंजाब में उनके समय में प्रचलित थी। गुरुवाणी उसमें लिखी गयी, इसलिए इसका नाम 'गुरुमुखी' पड़ा। गया। वास्तव में 'गुरुमुखी' लिपि का नाम है, परन्तु भूल से लोग इसे भाषा भी समझ लेते हैं। इसकी वही वर्णमाला है जो संस्कृत और भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं की। इस समय पंजाबी भाषा को सिक्ख लोग इसी लिपि में लिखते हैं।

गुरुरत्नमालिका—यह सदाशिव ब्रह्मेन्द्र द्वारा रचित एक ग्रन्थ है।

गुरुव्रत—अनुराधा नक्षत्र युक्त गुरुवार को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। सुवर्ण पात्र में रखी हुई बृहस्पति ग्रह की सुवर्णमूर्ति के पूजन का विधान है। इसमें सात नक्तों का आचरण किया जाता है। दे० देमाद्रि, २.५०९।

गुरुस्थल जङ्गम—'जङ्गम' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है—पहला प्रयोग जाति के सदस्य के लिए एवं दूसरा अभ्यासी के अर्थ में। अभ्यासी अर्थवाचक जङ्गम पूज्य होता है। ऐसे जङ्गम लिङ्गायतों के गुरु होते हैं तथा किसी न किसी मठ से सम्प्रदाय की शिक्षा व दीक्षा ग्रहण करते हैं। इन्हें आजीवन ब्रह्मचारी रहना चाहिए। ये दो प्रकार के होते हैं—गुरुस्थल जङ्गम और विरक्त जङ्गम। गुरुस्थलों को सभी पारिवारिक संस्कारों (उत्सवों) एवं गुरु का कार्य करने की शिक्षा दी जाती है।

गुर्वष्टमी व्रत—गुरुवारयुक्त भाद्रपद मास की अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। सुवर्ण अथवा रजत की गुरु अर्थात् बृहस्पति देवता की प्रतिमा की पूजा का विधान है।

गुह—(१) कार्तिकेय का एक पर्याय। महाभारत (३.२२८) में शिव (रुद्र) के पुत्र को गुह कहा गया है :

> रुद्रसूनुं ततः प्राहुर्गुहं गुरुमतांवर।
> अथैनमभ्ययुः सर्वा देवसेनाः सहस्रशः।
> अस्माकं त्वं पतिरिति ब्रुवाणाः सर्वतो दिशः।'

[रुद्र के पुत्र का नाम गुह हुआ और देवताओं की समस्त सेना ने इनको अपना नायक मान लिया।]

(२) वाल्मीकि रामायण के अनुसार भगवान् राम के सखा निषादराज का नाम गुह था। यह श्रृङ्गवेरपुर के मुख्य गंगातट का शासक था। राम और भरत का इसने बड़ा आतिथ्य किया था।

(३) कहीं-कहीं विष्णु को भी गुह कहा गया है :

'करणं कारणं कर्ता विकर्ता गहनो गुहः ।' (महा० १३. १४९-५४) इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है : 'गुहते संवृणोति स्वरूपादीनि मायया' [जो अपनी माया से स्वरूप आदि का संवरण करता है ।]

गुहदेव—वेदान्त के एक आचार्य । निघण्टु के टीकाकार देवराज और भट्ट भास्कर ने माधवदेव, भवस्वामी, गुहदेव, श्रीनिवास, उव्वट आदि भाष्यकारों के नाम लिखे हैं । ब्रह्मसूत्र रचना के बाद और स्वामी शङ्कराचार्य के पूर्व भी वेदान्त के आचार्यों की परम्परा अक्षुण्ण रही है । इन आचार्यों का उल्लेख दार्शनिक साहित्य एवं शङ्कर के भाष्य में हुआ है । रामानुजकृत वेदार्थसंग्रह (पृ० १५४) में प्राचीन काल के छः वेदान्ताचार्यों का उल्लेख मिलता है, इनमें गुहदेव भी हैं ।

गुह्य—गम्भीर आध्यात्मिक तत्त्व को गुह्य कहते हैं । गीता (९.१) में भगवान् ने ज्ञान को गुह्यतम कहा है :

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।

[तुमको श्रद्धालु समझकर मैं इस अति गुह्य ज्ञान का उपदेश करूँगा, विज्ञान के साथ इसको समझकर तुम कष्ट से छूट जाओगे ।]

बुद्धि अथवा हृदयाकाश रूपी गहरी गुहा में स्थित होने कारण इस तत्त्व को गुह्य कहा गया है । कहीं-कहीं विष्णु और शिव को भी गुह्य कहा गया है । विष्णुसहस्रनाम (महाभारत, १३.१४९.७१) में गुह्य विष्णु का एक नाम है :

गुह्यो गंभीरो गहनो गुप्तश्चक्रगदाधरः ।

इसी प्रकार महाभारत (१३.१७.९१) में शिव (महादेव) गुह्य कहे गये हैं :

यजुः पादभुजो गुह्यः प्रकाशो जंगमस्तथा ।

गुह्यक—अर्ध देवयोनियों में गुह्यक भी हैं । कुबेर के अनुचरों का यह एक भेद है । धार्मिक तक्षणकला के अलङ्करण में इसका प्रतीकात्मक उपयोग किया गया है ।

निधिं रक्षन्ति ये यक्षास्ते स्युर्गुह्यकसंज्ञकाः ।

[देवताओं की निधि के रक्षक यक्षगण गुह्यक कहलाते हैं ।]

अजन्ता की भित्ति-चित्रकला में जहाँ पर्वतीय दृश्य चित्रित हैं, उनमें पक्षी, वानर एवं काल्पनिक जङ्गली जातियों-गुह्यक, किरात एवं किन्नरों के चित्र पाये जाते हैं । यक्षों के बहुत कुछ सदृश ही गुह्यक भी होते हैं । भरहुत और साँची की मूर्तिकला में इनका अङ्कन बौने के रूप में शालभञ्जिकाओं के पैरों के नीचे हुआ है । अनङ्गपरवश व्यक्ति कामिनियों के चरणतल में कैसे दब जाता है, इसका यह प्रतीक है ।

गुह्यकद्वादशी—द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । व्रती को इस दिन उपवास करना चाहिए तथा गुह्यकों (यक्षों) की तिल और अक्षतों से पूजा करनी चाहिए । इस व्रत में किसी ब्राह्मण को सुवर्ण दान करने से समस्त पापों का क्षय हो जाता है ।

गुह्यसमाज—एक धार्मिक संघटन, जो वामाचारी तान्त्रिक साधकों का वह समाज है जिसमें बहुत सी गुह्य (गोपनीय) क्रियाएँ होती हैं । इसमें वे ही साधक प्रवेश पाते हैं जो इस साधना में विधिवत् दीक्षित होते हैं । कन्दराओं, गुहाओं और गुप्त स्थानों में इस समाज द्वारा साधना की जाती है।

गूढज (गूढोत्पन्न)—धर्मशास्त्र के अनुसार बारह प्रकार के पुत्रों में से एक । पत्नी अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष से प्रच्छन्न रूप में जो पुत्र उत्पन्न करती है उसे गूढ़ज कहा जाता है । मनुस्मृति (९,१७०) में इसकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है :

उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः ।
स गृहे गूढ़ उत्पन्नस्तस्य स्याद् यस्य तल्पजः ।।

यह दायभागी बन्धु माना गया है (मनु. ९,१५९) ।

याज्ञवल्क्यस्मृति (२.३२) में इसकी यही परिभाषा मिलती है :

'गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढजस्तु सुतो मतः ।'

वर्तमान हिन्दू-विधि में गूढ़ज पुत्र की स्वीकृति नहीं है।

गृहस्थ—गृह में पत्नी के साथ रहनेवाला । पत्नी का गृह में रहना इसलिए आवश्यक है कि बहुत से शास्त्रकारों ने पत्नी को ही गृह कहा है : 'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।' गृहस्थ द्वितीय आश्रम 'गार्हस्थ्य' में रहता है । इसलिए इसको ज्येष्ठाश्रमी, गृहमेधी, गृही, गृहपति, गृहाधिपति आदि भी कहा गया है । धर्मशास्त्र में ब्राह्मण को प्रमुखता देते हुए गृहस्थधर्म का विस्तार से वर्णन किया गया है । (दे० मनुस्मृति, अध्याय ४) ।

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ।।

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ।।
यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धर्मसञ्चयम् ।।
ऋतानृताभ्याज्जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्या कदाचन ।।
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।।
मृतं तु याचितं भैक्ष्यं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ।
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीयते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ।।

द्विज आयु के प्रथम-चतुर्थ भाग को गुरुगृह में व्यतीत कर द्वितीय-चतुर्थ भाग में विवाह कर पत्नी के साथ घर में वास करे । सम्पूर्ण जीवधारियों के अद्रोह अथवा अल्पद्रोह से अपनी वृत्ति की स्थापना कर विप्र को आपत्तिरहित अवस्था में जीवन व्यतीत करना चाहिए । अपनी जीवनयात्रा की सिद्धि मात्र के लिए अपने अनिन्दनीय कर्मों द्वारा शरीर को क्लेश दिये बिना उसे धनसञ्चयन करना चाहिए। उसे ऋत और अनृत से जीना चाहिए अथवा मृत और प्रमृत से अथवा सत्यानृत से, किन्तु श्वान-वृत्ति (नौकरी) से कभी नहीं । ऋत उञ्छशिल (खेत में पड़े हुए दानों को चुनना) को, अमृत अयाचित (बिना मागे प्राप्त) को, मृत याचित भिक्षा को, प्रमृत कर्षण (बलात् प्राप्त) को कहा गया है । सत्यानृत वाणिज्य है । उससे भी जीवन व्यतीत किया जा सकता है । श्वानवृत्ति सेवा नाम से प्रसिद्ध है । इसलिए इसका त्याग करना चाहिए ।]

गरुडपुराण (४९ अध्याय) में गृहस्थधर्म का वर्णन सामान्यतः इस प्रकार से किया गया है :

सर्वेषामाश्रमाणान्तु दैविध्यन्तु चतुर्विधम् ।
ब्रह्मचार्युपकुर्वाणो नैष्ठिको ब्रह्मतत्परः ।।
योऽधीत्य विधिवद्वेदान् गृहस्थाश्रममाव्रजेत् ।
उपकुर्वाणको ज्ञेयो नैष्ठिको मरणान्तकः ।।
अग्नयोऽतिथिशुश्रूषा यज्ञो दानं सुरार्चनम् ।
गृहस्थस्य समासेन धर्मोऽयं द्विजसत्तमाः ।।
उदासीनः साधकश्च गृहस्थो द्विविधो भवेत् ।
कुटुम्बभरणे युक्तः साधकोऽसौ गृही भवेत् ।।
ऋणानि त्रीण्युपाकृत्य त्यक्त्वा भार्याधनादिकम् ।
एकाकी विचरेद्यस्तु उदासीनः स मौक्षिकः ।।

[ब्रह्मचारी (स्नातक) के दो प्रकार होते हैं—उपकुर्वाण और नैष्ठिक । जो वेदों का विधिवत् अध्ययन कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है यह उपकुर्वाण और जो आमरण गुरुकुल में रहता है वह नैष्ठिक है । अग्न्याधान, अतिथिसेवा, यज्ञ, दान, देवपूजन ये संक्षेप में गृहस्थ के धर्म हैं । उदासीन और साधक-गृहस्थ दो प्रकार का होता है । कुटुम्बभरण में नियमित लगा हुआ गृहस्थ साधक होता है । ऋणों—ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण से मुक्त होकर, भार्या और धन आदि को छोड़कर मोक्ष की कामना से जो एकाकी विचरता है वह उदासीन है ।]

प्रत्येक गृहस्थ को तीन ऋणों से मुक्त होना आवश्यक है । वह नित्य के स्वाध्याय द्वारा ऋषिऋण से, यज्ञ द्वारा देवऋण से और सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से मुक्त होता है । उसके नित्य कर्मों में पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान अनिवार्य है । ये यज्ञ हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय) (२) देवयज्ञ (यज्ञादि) (३) पितृयज्ञ (पितृतर्पण और पितृसेवा) (४) अतिथियज्ञ (संन्यासी, ब्रह्मचारी, अभ्यागत की सेवा) और भूतयज्ञ अर्थात् जीवधारियों की सेवा । दे० 'आश्रम' और 'गार्हस्थ्य' ।

गूढार्थदीपिका—स्वामी मधुसूदन सरस्वती कृत श्रीमद्भगवद्गीता की टीका । इसे गीता की सर्वोत्तम व्याख्या कह सकते हैं । शंकराचार्य के मतानुसार रचित यह व्याख्या विद्वानों में अत्यन्त आदर के साथ प्रचलित है । इसका रचनाकाल सोलहवीं शताब्दी है ।

गृत्समद—एक वैदिक ऋषि । ऋग्वेद की ऋचाएँ सात वर्गों में विभक्त हैं एवं वे सात ऋषिकुलों से सम्बन्धित हैं । इनमें प्रथम ऋषिकुल के ऋषि का नाम गृत्समद है । सर्वानुक्रमणिका, ऐतरेय ब्राह्मण (५.२.४) एवं ऐतरेय आरण्यक (२.२.१) में गृत्समद को ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का साक्षात्कार करने वाला कहा गया है । कौषीतकिब्राह्मण (२२.४) में गृत्समद को भार्गव भी कहा गया है ।

गृहपञ्चमी—पञ्चमी के दिन इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसमें ब्रह्मा के पूजन का विधान है । सुर्खी, चूना, सूप, धान्य साफ करने का यन्त्र, रसोई के बर्तन, (गार्हस्थ्य की पाँच आवश्यक वस्तुएँ) तथा जलकलश का दान किया जाता है । दे० हेमाद्रि, १.५७४; कृत्यरत्नाकर, ९८ (सात

वस्तुओं का उल्लेख करता है, जिनमें एक है चूल्हा तथा दूसरा है जलकलश) ।

गृह्यसूत्र—धार्मिक जीवन के कर्तव्यनिर्धारक ग्रन्थों में चार प्रकार के सूत्रों का सर्वोपरि महत्त्व है। वे हैं श्रौत, गृह्य, धर्म एवं इन्द्रजालिक ग्रन्थ । गृह्यसूत्रों को 'गृह्य' इसलिए कहा गया है कि वे घरेलू (पारिवारिक) यज्ञों तथा परिवार के लिए आवश्यक धार्मिक कृत्यों का वर्णन उपस्थित करते हैं ।

गृह्यसूत्रों के तीन भाग हैं। पहले भाग में छोटे यज्ञों का वर्णन है, जो प्रत्येक गृहस्थ अपने अग्निस्थान में पुरोहित द्वारा (या ब्राह्मण होने पर स्वतः) करता है। ये यज्ञ तीन प्रकार के हैं : (अ) घृत, तैल, दुग्ध को अग्नि में देना, (आ) पका हुआ अन्न देना तथा (इ) पशुयज्ञ । दूसरे भाग में सोलह संस्कारों का वर्णन है, यथा जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, यज्ञोपवीत, विवाहादि, जो जीवन की विशिष्ट अवस्थाओं से सम्बन्धित कर्म हैं । तीसरे में मिश्रित विषय हैं, जैसे गृहनिर्माण-सम्बन्धी कर्म, श्राद्ध कर्म, पितृयज्ञ तथा अन्य लधु क्रियाएँ । कौशिक गृ० सू० में चिकित्सा तथा दैवी विपत्तियों को दूर करने के मन्त्र भी पाये जाते हैं। सभी वेदशाखाओं के उपलब्ध गृह्यसूत्रों की सूची देना आवश्यक प्रतीत होता है। ये हैं : (ऋक् सम्बन्धी) १. शाङ्खायन २. शाम्बव्य ३. आश्वलायन; (साम सम्बन्धी) ४. गोभिल ५. खादिर ६. जैमिनि; (शुक्लयजुर्वेद सम्बन्धी) ७. पारस्कर; (कृष्णयजुर्वेद सम्बन्धी) ८. आपस्तम्ब ९. हिरण्यकेशी १०. बौधायन ११. भारद्वाज, १२. मानव १३. वैखानस; (अथर्ववेद सम्बन्धी) १४. कौशिक । दे० 'सूत्र' ।

गो (गौ)—गौ हिन्दुओं का पवित्र पशु है। अनेक यज्ञिय पदार्थ—घी, दुग्ध, दधि इसी से प्राप्त होते हैं। यह स्वयं पूजनीय एवं पृथ्वी, ब्राह्मण और वेद का प्रतीक है। भगवान् कृष्ण के जीवन से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनको गोपाल, गोविन्द आदि विरुद इसी से प्राप्त हुए । गोरक्षा और गोसंवर्धन हिन्दू का आवश्यक कर्तव्य है। वैदिक कालीन भारतीयों के धन का प्रमुख उपादान गाय अथवा बैल है। गौ के क्षीर का पान या उसका उपभोग घृत या दधि बनाने के लिए होता था । क्षीर यज्ञों में सोमरस के साथ मिलाया जाता था, अथवा अन्न के साथ क्षीरोदन तैयार किया जाता था । ऋग्वेद की दानस्तुति में गौओं के बड़े-बड़े समूहों का उल्लेख किया गया है। पुरोहितों को गौओं के दान एवं गोपालन अथवा इनके स्वामित्व को विशेष महत्त्वपूर्ण ढंग से दर्शाया गया है। वैदिक कालीन गौएँ रोहित, शुक्ल, पृश्नि, कृष्ण आदि रङ्गों के नाम से पुकारी जाती थीं । बैल हल तथा गाड़ी खींचते थे। ये व्यक्तिगत स्वामित्व के विषय थे एवं वस्तुओं के विनिमय एवं मूल्यांकन के भी साधन थे।

गो शब्द का प्रयोग गौ से उत्पन्न वस्तुओं के लिए भी किया जाता है। प्रायः इसका अर्थ दुग्ध ही लगाया जाता है, किन्तु पशु का मांस बहुत कम । इससे पशुचर्म का बोध भी होता है जिसे अनेक कामों में लाया जाता है। 'चर्मन्' शब्द कभी-कभी गो का पर्याय भी समझा जाता है ।

गोदान अनेक प्रकार के दानों में महत्त्वपूर्ण है । स्वतन्त्र रूप से गौ का दान पुण्यकारक तो समझा ही जाता है, अन्य धार्मिक कार्यों के साथ—विवाह, श्राद्ध आदि में—भी इसका विधान है ।

गो-उपचार—युगादि तथा युगान्त्य नामक तिथियों के दिन इस व्रत का विधान है। इसमें एक गौ का सम्मान तथा पूजन होना चाहिए । षडशीतिमुख, उत्तरायण, दक्षिणायन विषुव (समान रात्रि तथा दिवस), प्रत्येक मास की संक्रान्तियों, पूर्णिमा, चतुर्दशी,; पञ्चमी, नवमी, सूर्य तथा चन्द्र ग्रहण के दिन भी इस व्रत का आचरण करना चाहिए। दे० कृत्यरत्नाकर, ४३३-४३४; स्मृतिकौस्तुभ २७५-२७६ ।

गोकर्णक्षेत्र—कर्नाटक प्रदेश में गोवा के समीप में स्थित एक शैवतीर्थ । यह रावण द्वारा स्थापित कहा जाता है। उत्तर प्रदेश के खीरी जिले में 'गोला गोकर्णनाथ' भी उत्तर का गोकर्ण तीर्थ कहलाता है। गोकर्णक्षेत्र के आसपास कई तीर्थ हैं—१. माण्डव्यकुण्ड (गोकर्ण से चार मील पश्चिम) २. कोणार्क कुण्ड ३. भद्रकुण्ड (गोकर्ण मन्दिर से आध मील) ४. पुनर्भूकुण्ड और ५. गोकर्णतीर्थ (मन्दिर के समीप) । इस क्षेत्र में गोकर्णनाथ को मिलाकर पञ्चलिङ्ग माने जाते हैं, जिनमें मुख्य लिङ्ग गोकर्णजी का है। दूसरा देवकली के पास सरोवर के किनारे देवेश्वर महादेव, तीसरा भीटा स्टेशन के पास गदेश्वर, चौथा गोकर्णनाथ

से दक्षिण बावर गाँव में वटेश्वर और पाँचवाँ सुनेसर गाँव के पश्चिम स्वर्णेश्वर। इनके दर्शनों के लिए बहुसंख्यक यात्री आते हैं। श्रीमद्भागवत में गोकर्ण का उल्लेख है :

ततोऽभिव्रज्य भनवान् केरलांस्तु त्रिगर्तकान्।
गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः ॥

[तदनन्तर बलरामजी केरल देश में गये, पुनः त्रिगर्त में पहुँचे जहाँ गोकर्ण नामक शंकरजी विराजते हैं।] देवीभागवत (७.३०.६०) में शाक्त पीठों में इसकी गणना को गयी है :

केदारपीठे सम्प्रोक्ता देवी सन्मार्गदायिनी।
मन्दा हिमवतः पृष्ठे गोकर्णे भद्रकर्णिका ॥

इसके अनुसार गोकर्ण में भद्रकर्णिका देवी का निवास है।

गोकुल—यह वैष्णव तीर्थ है। विश्वास किया जाता है कि भगवान् कृष्ण ने यहाँ गौएँ चरायी थीं। मथुरा से दक्षिण छः मील दूर यह यमुना के दूसरे तट पर स्थित है। कहा जाता है, श्री कृष्ण के पालक पिता नन्दजी का यहाँ गोष्ठ था। संप्रति वल्लभाचार्य, उनके पुत्र गुसाँई बिट्ठलनाथजी एवं गोकुलनाथजी की बैठकें हैं। मुख्य मन्दिर गोकुलनाथ जी का है। यहाँ वल्लभकुल के चौबीस मन्दिर बतलाये जाते हैं।

महालिङ्गेश्वर तन्त्र में शिवशतनाम स्तोत्र के अनुसार महादेव गोपीश्वर का यह स्थान है :

गोकुले गोपिनीपूज्यो गोपीश्वर इतीरितः।

गोकुलनाथ—ब्रजभाषा के गद्यलेखक रूप में गोकुलनाथ वल्लभसम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रन्थकार हुए हैं। इनकी 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' ब्रजभाषा की तत्कालीन टकसाली रचना बहुत ही आदरणीय है। इन्होंने पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तग्रन्थों की व्याख्या भी लिखी है।

गोचर—इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होनेवाला विषय। जितना दृश्य जगत् है अथवा जहाँ तक मन की गति है वह सब गोचर माया का साम्राज्य है। परमतत्त्व इससे परे है। वेदान्तसार में कथन है 'अखण्डे सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्।'

गोचर्म—(१) गौ का चमड़ा। कई धार्मिक कृत्यों में गोचर्म के आसन का विधान है। समयाचारतन्त्र (पटल २) में विविध कर्मों में विविध आसन निम्नांकित प्रकार से बतलाये गये हैं :

शान्तौ मृगाजिनं शस्तं मोक्षार्थं व्याघ्रचर्म च।
गोचर्म स्तम्भने देवि सम्भवे वाजिचर्म च ॥

इसके अनुसार स्तम्भन क्रिया (शत्रु के जडीकरण) में गोचर्म काम आता है। पारस्कर आदि गृह्यसूत्रों के अनुसार विवाह संस्कार की एक क्रिया में वर को वृषभचर्म पर बैठने का विधान है। यहाँ पर वृषभचर्म वृष्यता अथवा सर्जनशक्ति का प्रतीक है।

(२) भूमि का एक माप :

दशहस्तेन वंशेन दश वंशान् समन्ततः।
पंच चाभ्यधिकान् दद्याद् एतद् गोचर्म उच्यते ॥
(वसिष्ठ)

[दस हाथ लम्बे बाँस द्वारा पंद्रह-पंद्रह वर्गाकार में नापी गयी भूमि गोचर्म कहलाती है।]

गोतम—गोतम का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक बार हुआ है, किन्तु किसी ऋचा के रचयिता के रूप में नहीं। यह स्पष्ट है कि उनका सम्बन्ध आङ्गिरसों से था, क्योंकि गोतम प्रायः उनका उल्लेख करते हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा में इनका पितृवाचक 'रहुगण' (१.७८.५) शब्द आया है। शतपथ ब्राह्मण में इन्हें 'माथ्व विदेस' का पारिवारिक पुरोहित तथा वैदिक सभ्यता के वाहक समझा गया है (१.१४.१.१०)। उसी ब्राह्मण में इन्हें विदेह जनक एवं याज्ञवल्क्य का समकालीन एवं एक सूक्त का रचयिता कहा गया है। अथर्ववेद के दो परिच्छेदों में भी इनका उल्लेख है। वामदेव तथा नोधस इनके पुत्र थे। उनमें वाजश्रवस् भी सम्मिलित हैं।

गोत्र—इसकी व्युत्पत्ति कई प्रकार से बतायी गयी है। पूर्व पुरुषों का यह उद्घोष करता है, इसलिए गोत्र कहलाता है। इसके पर्याय हैं सन्तति, कुल, जनन, अभिजन, अन्वय, वंश, सन्तान आदि। कुछ विद्वानों के अनुसार 'गोत्र' शब्द का अर्थ 'गोष्ठ' है। आदिम काल में जितने कुटुम्बों की गायें एक गोष्ठ में रहती थीं उनका एक गोत्र होता था। परन्तु इसका सम्बन्ध प्रायः वंशपरम्परा से ही है। वास्तविक अथवा कल्पित आदि पुरुष से वंशपरम्परा प्रारम्भ होती है। मनु के अनुसार निम्नांकित मूल गोत्र ऋषि थे :

जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रात्रिगौतमाः।
वसिष्ठ काश्यपागस्त्या मुनयो गोत्रकारिणः।
एतेषां यान्यपत्यानि तानि गोत्राणि मन्यते ॥

किन्तु अन्यत्र मनु ने ही चौबीस गोत्रों का उल्लेख किया है :

शाण्डिल्यः काश्यपश्चैव वात्स्यः सावर्णकस्तथा ।
भरद्वाजो गौतमश्च सौकालीनस्तथापरः ॥
कल्किपञ्चाग्निवेश्यश्च कृष्णात्रेयवसिष्ठकौ ।
विश्वामित्रः कुशिश्च कौशिकश्च तथापरः ॥
घृतकौशिकमौद्गल्यौ आलम्यान पराशरः ।
सौपायनस्तथात्रिश्च वासुकी रोहितस्तथा ॥
वैयाघ्रपद्यकश्चैव जामदग्न्यस्तथापरः ।
चतुर्विंशतिर्वै गोत्रा कथिताः पूर्वपण्डितैः ॥

कुलदीपिका में उद्धृत धनञ्जयकृत धर्मप्रदीप के अनुसार चालीस गोत्र निम्नांकित हैं :

सौकालीनकमौद्गल्यौ पराशरवृहस्पती ।
काञ्चनो विष्णुकौशिक्यौ कात्यायनात्रेयकाण्वकाः ॥
कृष्णात्रेयः साङ्कृतिश्च कौडिन्यो गर्गसंज्ञकः ।
आङ्गिरस इति ख्यातः अनावृकाख्यसंज्ञितः ॥
अव्यजैमिनिवृद्धाख्या शाण्डिल्यो वात्स्य एव च ।
सावर्ण्यालम्यानवैयाघ्रपद्यश्च घृतकौशिकः ॥
शक्तिः काण्वायनश्चैव वासुकी गौतमस्तथा ।
शुनकः सौपायनश्चैव मुनयो गोत्रकारिणः ॥
एतेषां यान्यपत्यानि तानि गोत्राणि मन्यते ॥

गोत्रों के आदि पुरुष ब्राह्मण ऋषि थे । इसलिए ब्राह्मणों के जो गोत्र हैं वे ही पौरोहित्य परम्परा से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के भी गोत्र हैं । अग्निपुराण के वर्णसङ्करोपाख्यान में इस मत का उल्लेख किया गया है :

क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राणां गोत्रं च प्रवरादिकम् ।
तथान्यवर्णसङ्कराणां येषां विप्राश्च याजकाः ॥

जिनकी पौरोहित्य परम्परा छिन्न हो गयी है और जिनके गोत्र का पता नहीं लगता उनकी गणना काश्यप गोत्र में की जाती है, क्योंकि कश्यप सबके पूर्वज माने जाते हैं । दे० गोत्रप्रवरमञ्जरी ।

गोत्रिरात्र व्रत—(१) यह व्रत आश्विन कृष्ण त्रयोदशी को आरम्भ होता है । तीन दिन तक इसका आचरण किया जाता है। इसके गोविन्द देवता हैं । गोशाला अथवा पर्णशाला में वेदिका का निर्माण कर उस पर मण्डल बनाकर भगवान् कृष्ण की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिए, जिसकी दाहिनी और बायीं ओर चार-चार पटरानियाँ हों । चौथे दिन होम, गौओं को अर्घ्यदान तथा उनका पूजन होना चाहिए। इस व्रत के आचरण से सन्तान की वृद्धि होती है ।

(२) भाद्र शुक्ल द्वादशी अथवा कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को इस व्रत का प्रारम्भ करना चाहिए । तीन दिन तक उपवास, लक्ष्मी, नारायण तथा कामधेनु का पूजन होना चाहिए। इसके अनुष्ठान से सुख-सौभाग्य की प्राप्ति होती है ।

(३) यह व्रत भाद्र शुक्ल त्रयोदशी को आरम्भ करना चाहिए । तीन दिन पर्यन्त इसका आचरण होना चाहिए । कामधेनु तथा लक्ष्मीनारायण की पूजा का इसमें विधान है । दे० हेमाद्रि, व्रतखंड, ३०३-३०८ (भविष्योत्तर पुराण से); व्रतप्रकाश (पत्रात्मक १६१) ।

गोदा—दक्षिण भारत की प्रेमानुरागवती एक विष्णुभक्त महिला । आलवार भक्तों में पेरिया आलवार अर्थात् 'सर्वश्रेष्ठ भक्त' का जन्म परम्परा के अनुसार कलिसंवत्सर ४५ में हुआ था । उनकी पुत्री अण्डाल, जो कलिसंवत् ९६ में उत्पन्न हुई थी, बहुत बड़ी भक्त थी । बहुत ही मधुरभाषिणी होने के कारण उसे गोदा कहते थे । उसने तमिल भाषा में 'स्तोत्र रत्नावली' पुस्तक की रचना की है, जिसमें तीन सौ स्तोत्र हैं । तमिल भक्तों में इनका बड़ा आदर है । (इनकी जन्मतिथि आदरार्थ अत्यन्त प्राचीन काल में मानी गयी है।)

गोदान—गो = केशों का दान = खण्डन करने वाला संस्कार, जो दाढ़ी-मूछों के मुण्डन रूप में होता है । इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में इसका अर्थ 'क्षौरकर्म' है । गोदान विधि (सिर का मुण्डन) पूर्ण युवावस्था की प्राप्ति पर तथा विवाह के अवसर पर होती है । अथर्ववेद में इस विधि का उल्लेख है, किन्तु यह नाम नहीं है । बाद में केशान्त संस्कार का यह पर्याय हो गया, क्योंकि प्रथम बार दाढ़ी-मूछ साफ करने के समय गोदान किया जाता था । दे० 'केशान्त' ।

गोदावरी—दक्षिण भारत की गङ्गा । भारत की पवित्र नदियों में इसका तीसरा स्थान है । स्नान करने के समय इसका ध्यान और आवाहन किया जाता है :

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
कावेरि नर्मदे सिन्धो जलेऽस्मिन्सन्निधिं कुरु ॥

वैदिक साहित्य में गोदावरी का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु रामायण के समय से इसकी चर्चा प्रारम्भ हो जाती है । अरण्यकाण्ड (१३.१३.२१) में कथन है कि पञ्चवटी नामक प्रदेश गोदावरी के निकट और अगस्त्य आश्रम से दो योजन की दूरी पर स्थित है ।

महाभारत के वनपर्व (८८.२) में गोदावरी का निम्नांकित वर्णन पाया जाता है :

यस्यामाख्यायते पुण्या दिशि गोदावरी नदी ।
बह्वारामा बहुजला तापसाचरिता शिवा ।।

ब्रह्मपुराण (७०.१७५) में गोदावरी और उसके तटवर्ती तीर्थों का विस्तार से वर्णन पाया जाता है । ब्रह्मपुराण गोदावरी को प्रायः गौतमी कहता है :

विन्ध्यस्य दक्षिणे गङ्गा गौतमी सा निगद्यते ।
उत्तरे साऽपि विन्ध्यस्य भागीरथ्यभिधीयते ।। (७८.७७)
(तीर्थसार में उद्धृत)

गोदावरी द्वारा सिञ्चित प्रदेश को अत्यन्त पवित्र और धर्म तथा मुक्ति का बीज कहा गया है :

धर्मबीजं मुक्तिबीजं दण्डकारण्यमुच्यते ।
विशेषाद् गौतमीश्लिष्टो देशः पुण्यतमोऽभवत् ।।
(वही, १६१.७३)

कई पुराणों में गोदावरी घाटी के ऊपरी अञ्चल की बड़ी प्रशंसा की गयी है :

सह्यस्यान्तरे चैते तत्र गोदावरी नदी ।
पृथिव्यामपि कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः ।।
यत्र गोवर्धनो नाम मन्दरो गन्धमादनः ।।
(मत्स्यपुराण ११४.३७-३८)

गोदावरी की उत्पत्ति के विषय में पुराणों में कई कथाएँ दी हुई हैं । ब्रह्मपुराण (७४.७६) के अनुसार गौतम ऋषि शिव की जटा से गङ्गा को ब्रह्मगिरि में अपने आश्रम के पास ले आये थे । कुछ परिवर्तन के साथ यही कथा नारदपुराण (उत्तरार्द्ध, ७२) तथा वराहपुराण (७१.३७-४४) में पायी जाती है । ब्रह्मगिरि में आकर गङ्गा ही गोदावरी बन गयी । कूर्मपुराण (२.२०.२९-३५) के अनुसार गोदावरी के तट पर किया हुआ श्राद्ध बहुत ही पुण्यकारक होता है ।

गोदावरी के किनारे स्थित तीर्थों की संख्या बहुत बड़ी है । ब्रह्मपुराण में लगभग एक सौ तीर्थों का वर्णन पाया जाता है, जिनमें त्र्यम्बक, कुशावर्त, जनस्थान, गोवर्धन, प्रवरासंगम, निवासपुर, बज्जरासंगम, आदि मुख्य हैं । गोदावरी के किनारे सर्वप्रसिद्ध तीर्थ हैं नासिक, गोवर्धन, पञ्चवटी और जनस्थान । प्राचीन काल में इन तीर्थों में बहुत बड़ी संख्या में मन्दिर थे । परन्तु मुसलमानी काल में उनमें से अधिकांश ध्वस्त हो गये । फिर मराठों के उत्थान के पश्चात् पेशवाओं के शासनकाल में अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ । पञ्चवटी में रामजीमन्दिर एवं गोदावरी के बायें किनारे पर नासिक में नारोशङ्कर मन्दिर प्रसिद्ध है । पञ्चवटी में सीतागुफा यात्रियों के विशेष आकर्षण का स्थान है । सीतागुफा के ही पास कालाराम का मन्दिर है, जिसकी गणना दक्षिण-पश्चिम भारत के सर्वोत्तम मन्दिरों में की जा सकती है । गोवर्धन और तपोवन के बीच कई पवित्र घाट और कुण्ड हैं । नासिक में सबसे पवित्र स्थान रामकुण्ड और सबसे प्रसिद्ध धार्मिक पर्व रामनवमी है । बृहस्पति के सिंहस्थ होने के अवसर पर गोदावरी का स्नान अत्यन्त पुण्यकारक माना जाता है जिसका बारह वर्ष में एक बार यहाँ विशाल धार्मिक समारोहपूर्वक मेला लगता है ।

गोधूमव्रत—सत्ययुग में नवमी के दिन भगवान् जनार्दन (विष्णु) द्वारा दुर्गा, कुबेर, वरुण तथा वनस्पतियों का निर्माण किया गया । वनस्पति भी एक चेतन देवता है, जिसमें गोधूम प्रमुख है । इस व्रत में गेहूँ के आटे के बने पदार्थों से उपर्युक्त पाँच देवताओं का पूजन करना चाहिए । दे० कृत्य रत्नाकर, २८५-२८६ ।

गोपथ ब्राह्मण—अथर्ववेद से सम्बन्धित एक ब्राह्मणग्रन्थ । इसके विषयों में विविधता है । यह ग्रन्थ 'वैतानसूत्र' पर आधारित है । इसमें दो काण्ड हैं, जिनका ११ अध्यायों में विभाजन हुआ है । पहले काण्ड में पाँच तथा दूसरे में छः अध्याय हैं । अध्याय प्रपाठक भी कहलाते हैं । इस ब्राह्मण का मुख्यतः सम्बन्ध ब्रह्मविद्या से है । इसके कुछ अंश शतपथ और ताण्ड्य ब्राह्मण से लिये गये हैं और कुछ स्पष्टतः परवर्ती प्रक्षेप जान पड़ते हैं ।

गोपदत्रिरात्र (गोष्पदत्रिरात्र)—इस व्रत को भाद्र शुक्ल तृतीया या चतुर्थी को अथवा कार्तिक मास में प्रारम्भ करना चाहिए । तीन दिन तक गौओं तथा लक्ष्मीनारायण के पूजन का इसमें विधान है । सूर्योदय के समय व्रत की स्वीकृति तथा उसी दिन उपवास करना चाहिए । गौ के सींग और पूँछ को दही तथा घी से अभिषिञ्चित करना चाहिए । व्रती को चूल्हे में न पकाया हुआ खाद्य ग्रहण करना चाहिए । तैल तथा लवण वर्जित हैं। दे० हेमाद्रि २.३२३-३२६ (भविष्योत्तर पुराण १९.१-१६ से) । हेमाद्रि के अनुसार पूजन के समय 'माता रुद्राणाम्', (ऋग्वेद, अष्टम मण्डल, १०१.१५.१) मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए ।

गोपद्मव्रत—आश्विन मास की पूर्णिमा, अष्टमी, एकादशी अथवा द्वादशी को व्रत प्रारम्भ कर चार मास पर्यन्त तब तक किया जाय जब तक कृष्ण पक्ष की वही तिथि न आ जाय । इस व्रत को सभी कर सकते हैं, किन्तु विशेष रूप से इस व्रत का विधान नव विवाहितों के लिए है । गौ के पैर की प्रतिमा अपने गृह में, गोशाला में, विष्णुमन्दिर में, शिवालय में अथवा तुलसी के थाले के पास ३३ बार अंकित कर पाँच वर्ष तक इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए । इसके विष्णु देवता हैं । तदनन्तर उद्यापन का विधान है । व्रत के अन्त में गोदान करना चाहिए । दे० स्मृतिकौस्तुभ, ४१८-४२४; व्रतराज, ६०४-६०८ ।

गोपाल—(१) भगवान् कृष्ण का एक लोकप्रिय नाम । भागवत धर्म में कृष्ण या वासुदेव के ईश्वरीकरण के विषय में विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं । रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर वासुदेव एवं कृष्ण में अन्तर बतलाते हैं । उनका कहना है कि वासुदेव प्रारम्भ में सात्वत कुल के प्रमुख व्यक्ति थे, जो छठी। शती ई० पू० में या इससे पूर्व हुए थे । उन्होंने अपने कुल के लोगों को एकेश्वरवाद की शिक्षा दी । तदनन्तर उनके अनुयायियों ने उन्हें व्यक्तिगत ईश्वर मानकर उनकी ही आराधना प्रारम्भ की । उन्हें पहले नारायण, फिर विष्णु और अन्त में मथुरा के गोपदेवता 'गोपाल कृष्ण' के रूप में माना गया । इस सम्प्रदाय में प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ भगवद्गीता की रचना की गयी जो सैद्धान्तिक ग्रन्थ है । दे० उनका ग्रन्थ 'वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड अदर माइनर रेलिजस सेक्ट्स ऑफ् इण्डिया ।' इस कथन में कल्पना का पुट अधिक है । 'गोविन्द', 'गोपाल' आदि कृष्ण के पर्याय बहुत पुराने हैं ।

(२) व्रजमंडल में बसने वाले गोपों को भी गोपाल कहा गया है, जो वैकुंठवासी देवों के अवतार थे :

गोपाला मुनयः सर्वे वैकुण्ठानन्दमूर्तयः ।

गोपालचम्पू—महात्मा जीव गोस्वामी द्वारा रचित कृष्णलीलासम्बन्धी काव्यग्रन्थ । गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय में यह बहुत लोकप्रिय है ।

गोपालतापनीयोपनिषद्—इसमें गोपाल कृष्ण के ब्रह्मत्व का निरूपण किया गया है । कृष्णोपासक वैष्णवों की यह विश्वस्त एवं प्रामाणिक उपनिषद् है ।

गोपालनवमी—इस व्रत का अनुष्ठान नवमी के दिन करना चाहिए । समुद्रगामिनी नदी में स्नान करने का इसमें विधान है । कृष्ण भगवान् की पूजा होनी चाहिए ।

गोपाल भट्ट—चैतन्यसम्प्रदाय के एक आचार्य । ये इस सम्प्रदाय के प्रारम्भिक छः गोस्वामियों में से एक थे । 'हरिभक्तिविलास' इस सम्प्रदाय का प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसकी रचना सनातन गोस्वामी ने की । परन्तु यह गोपाल द्वारा भी रचित माना जाता है । भट्टजी दक्षिण देश के निवासी थे, बाद में चैतन्य महाप्रभु की आज्ञा से वृन्दावन में आकर आजीवन भगवान् की आराधना एवं ग्रन्थरचना करते रहे ।

गोपालसहस्रनाम—सभी कृष्णभक्त सम्प्रदायों का धार्मिक स्तोत्र ग्रन्थ । इसमें भगवान् कृष्ण के एक सहस्र नामों का कीर्तन है ।

गोपाष्टमी—कार्तिक शुक्ल अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । इसी दिन भगवान् कृष्ण गोप बने थे । इसके देवता भी वे ही हैं । इसमें गौओं के पूजन का विधान है (दे० निर्णयामृत, ७७ (कूर्म पुराण से)) ।

गोपिनी—वीराचार (तान्त्रिक) सम्प्रदाय के पश्वाचारी साधकों की पूजनीय नायिकाओं का एक प्रकार गोपिनी कहलाता है । कुलार्णवतन्त्र में 'गोपिनी' शब्द की व्युत्पत्ति बतलायी गयी है :

आत्मानं गोपयेद् या च सर्वदा पशुसङ्कटे ।
सर्ववर्णोद्भवा रम्या गोपिनी सा प्रकीर्तिता ॥

गोपी—वैष्णव वाङ्मय में भागवतपुराण, हरिवंश एवं विष्णुपुराण का प्रमुख स्थान है । तीनों में कृष्ण के जीवनकाल का वर्णन मिलता है । भागवत में उनके परवर्ती जीवन की अपेक्षा बाल्य एवं युवा काल का वर्णन अति सुन्दर हुआ है । इसमें गोपियों के बीच उनकी क्रीडा का वर्णन प्रमुख हो गया है । गोपियाँ अनन्य भक्ति की प्रतीक हैं । गोपीभाव का अर्थ है अनन्यभक्ति । दार्शनिक दृष्टि से गोपियाँ 'गोपाल-विष्णु' की ह्लादिनी शक्ति की अनेक रूपों में अभिव्यक्ति हैं, जो उनके साथ नित्य विहार अथवा रास करती हैं ।

गोपीतत्त्व और गोपीभाव के उद्गम और विकास का इतिहास बहुत लम्बा और मनोरञ्जक है । सर्वप्रथम ऋग्वेद के विष्णुसूक्त (१.१५५.५) में विष्णु के लिए 'गोप', 'गोपति', 'गोपा' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है । यह भी कहा गया है कि विष्णुलोक में मधु का उत्स है और उसमें भूरिशृंगा गौएँ चरती हैं । ये शब्द निश्चित

रूप से विष्णु का सम्बन्ध, चाहे प्रतीकात्मक ही क्यों न हो, गो, गोप और गोपियों से जोड़ते हैं। यहाँ पर गो, गोप आदि शब्द यौगिक हैं, व्यक्तिवाचक अथवा जातिवाचक नहीं। इनका सम्बन्ध है गमन, विक्रम, समृद्धि, माधुर्य और आनन्द से। इसी मूल वैदिक कल्पना के आधार पर वैष्णव साहित्य में कृष्ण के गोपस्वरूप, उनके गोपसखा, गोपी, गोपी भाव की सारी कल्पनाएँ और भावनाएँ विकसित हुईं। यह कहना कि कृष्ण का मूलतः सम्बन्ध केवल गोप-प्रजाति से था, वैष्णव धर्म के इतिहास को बीच में खण्डित रूप से देखना है। हाँ, यह कहना ठीक है कि विष्णु का गोप रूप गोचारण करने वाले गोपों और गोपियों में अधिक लोकप्रिय हुआ।

महाभारत में कृष्ण और विष्णु का ऐक्य तो स्थापित हो गया था, परन्तु उसमें कृष्ण की बाललीला की चर्चा न होने से गोपियों का कोई प्रसंग नहीं है। किन्तु पुराणों में गोप-गोपियों का वर्णन (रूपकात्मक) मिलना प्रारम्भ हो जाता है। भागवत (१०.१.२३) पुराण में तो स्पष्ट कथन है कि गोपियाँ देवपत्नियाँ थीं, भगवान् कृष्ण का अनुरञ्जन करने के लिए वे गोपी रूप में अवतरित हुईं। ब्रह्मवैवर्त और पद्मपुराण में गोपीकल्पना और गोपीभावना का प्रचुर विस्तार हुआ है। इनमें गोलोक, नित्य वृन्दावन, नित्य रासक्रीडा, कृष्ण के ब्रह्मत्व, राधा की आह्लादिका शक्ति आदि का सरहस्य वर्णन पाया जाता है।

मध्ययुगीन कृष्णभक्त सन्तों ने गोपीभाव को और अधिक प्रोत्साहन दिया और गोपियों की अनन्त कल्पनाएँ हुईं। सनकादि अथवा हंस सम्प्रदाय के आचार्य निम्बार्क ने गोपीभाव की दार्शनिक तथा रहस्यात्मक व्याख्या की है। इनके अनुसार कृष्ण ब्रह्म हैं। इनकी दो शक्तियाँ हैं—(१) ऐश्वर्य और (२) माधुर्य। उनकी ऐश्वर्यशक्ति में रमा, लक्ष्मी, भू आदि की गणना है। उनकी माधुर्य शक्ति में राधा तथा अन्य गोपियों की गणना है। गोपियाँ कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति हैं। निम्बार्क ने कहा :

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥
(दशश्लोकी)

स्पष्टतः यहाँ राधा की कल्पना शक्तिरूप में हुई है।

गौडीय वैष्णव (चैतन्य) सम्प्रदाय के द्वारा गोपीभाव का सबसे अधिक विस्तार और प्रसार हुआ। पुष्टिमार्ग ने इसे और पुष्ट किया। इन दोनों सम्प्रदायों के अनुसार गोपियाँ भगवान् कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति हैं। लीला में कृष्ण के साथ उनका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में नित्य साहचर्य है। वृन्दावन की प्रत्यक्ष रासलीला में वे भगवान् की गुह्य ह्लादिनी शक्ति का प्रवर्तन करती हैं। वे नित्यसिद्धा मानी गयी हैं। चैतन्य मत के आचार्यों ने गोपियों का सूक्ष्म किन्तु विस्तृत वर्गीकरण किया है। दे० रूप गोस्वामीकृत 'उज्ज्वलनीलमणि', कृष्णवल्लभा अध्याय। गोपियों के स्वरूप और नाम के विषय में अन्यत्र भी कथन है :

गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेयाः स्वाधिजा गोपकन्यका।
देवकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कथञ्चन॥

[गोपियों को श्रुति (वेद अथवा मधुस्वर) समझना चाहिए। ये गोपकन्यका अपनी अधिष्ठान शक्ति से उत्पन्न हुई हैं। हे राजेन्द्र! ये देवकन्याएँ हैं; किसी प्रकार ये मानुषी नहीं हैं।] ब्रजबाला के रूप में इनके निम्नांकित नाम हैं : पूर्णरसा, रसमन्थरा, रसालया, रससुन्दरी, रसपीयूषधामा, रसतरङ्गिणी, रसकल्लोलिनी, रसवापिका, अनङ्गमञ्जरी, अनङ्गमानिनी, मदयन्ती, रङ्गविह्वला, ललितयौवना, अनङ्गकुसुमा, मदनमञ्जरी, कलावती, ललिता, रतिकला, कलकण्ठी आदि।

श्रुतिगण के रूप में इनके निम्नलिखित नाम हैं : उद्गीता, रसगीता, कलगीता, कलस्वरा, कलकण्ठिता, विपञ्ची, कलपदा, बहुमता, कर्मसुनिष्ठा, बहुहरि, बहुशाखा, विशाखा, सुप्रयोगतमा, विप्रयोगा, बहुप्रयोगा, बहुकला, कलावती, क्रियावती आदि।

मुनिगण के रूप में गोपियों के नाम अधोलिखित हैं :

उग्रतपा, सुतपा, प्रियव्रता, सुरता, सुरेखा, सुपर्वा, बहुप्रदा, रत्नरेखा, मणिग्रीवा, अपर्णा, सुपर्णा, मत्ता, सुलक्षणा, मुदती, गुणवती, सौकालिनी, सुलोचना, सुमना, सुभद्रा, सुशीला, सुरभि, सुखदायिका आदि।

गोपबालाओं के रूप में उनकी संज्ञा नीचे लिखे प्रकार की है :

चन्द्रावली, चन्द्रिका, काञ्चनमाला, रुक्ममाला, चन्द्रानना, चन्द्ररेखा, चान्द्रवापी, चन्द्रमाला, चन्द्रप्रभा, चन्द्रकला, सौवर्णमाला, मणिमालिका, वर्णप्रभा, शुद्ध काञ्चनसन्निभा, मालती, यूथी, वासन्ती, नवमल्लिका, मल्ली, नवमल्ली, शेफालिका, सौगन्धिका, कस्तूरी, पद्मिनी, कुमुद्वती; गोपाली, रसाला, सुरसा, मधुमञ्जरी, रम्भा, उर्वशी, सुरेखा, स्वर्णरेखिका, वसन्ततिलका आदि। दे० पद्मपुराण, पातालखण्ड ।

गोपीचन्दन—यह एक प्रकार की मिट्टी है जो द्वारका के पास गोपीतालाब में मिलती है। कहा जाता है कि यह गोपियों की अंगधूलि है जहाँ उन्होंने कृष्ण के स्वरूप में अपने को लीन कर दिया था। गोपीचन्दन से बनाया हुआ 'ऊर्द्धपुण्ड्र' तिलक भागवत सम्प्रदाय का चिह्न है। इसको धारण करनेवाले गोपीभाव की उपासना करते हैं।

गोपीचन्दन उपनिषद्—वासुदेव तथा गोपीचन्दन-उपनिषद् वैष्णवों के परवर्ती युग की रचनायें हैं। दोनों में गोपीचन्दन से ललाट पर ऊर्द्धपुण्ड्र लगाने का निर्देश है। इनमें गोपीचन्दन और गोपीभाव का तात्त्विक विवेचन किया गया है।

गोपीचंद्रनाथ—नाथ सम्प्रदाय के नौ नाथों में से अन्तिम गोपीचन्द्रनाथ थे। गुरु गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, भर्तृनाथ, गोपीचन्द्रनाथ, सभी अब तक जीनित एवं अमर समझे जाते हैं। कहते हैं कि साधकों को कभी-कभी इनके दर्शन भी हो जाते हैं। इन योगियों को चिरजीवन ही नहीं प्राप्त है, इन्हें चिरयौवन भी प्राप्त है। ये योगबल से नित्य किशोर रूप या सनकादिक की तरह बालरूप में रहते हैं। गोपीचन्द (गोपीचन्द्रनाथ) के गीत आज भी भिक्षुक योगी गाते फिरते हैं।

गोपुर—धार्मिक भवनों का एक अङ्ग। मन्दिरप्राकार के मुख्य द्वारशिखर को गोपुर कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति है 'गोपन अर्थात् रक्षण करता है जो' (गोपायति रक्षति इति)। महाभारत (१.२०८.३१) में एक विशाल गोपुर का उल्लेख पाया जाता है :

> द्विपक्षगरुडप्रख्यैर्द्वारैः सौधैश्च शोभितम् ।
> गुप्तमभ्रचयप्रख्यैर्गोपुरैर्मन्दरोपमैः ॥

दक्षिण के द्राविड शैली के मन्दिरों में बृहत्काय गोपुर पाये जाते हैं।

गोभिलगृह्यसूत्र—इस गृह्यसूत्र में चार प्रपाठक हैं। कात्यायन ने इस पर एक परिशिष्ट लिखा है। गोभिलगृह्यसूत्र सामवेद की कौथुमी शाखा वालों और राणायनी शाखा वालों का है। इसका अंग्रेजी अनुवाद ओल्डेनबर्ग ने प्रस्तुत किया है। दे० सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द ३०। इस पर अनेक संस्कृतभाष्य लिखे गये हैं, यथा भट्टनारायण का भाष्य (रघुनन्दन के 'श्राद्धतत्त्व' में उद्‌धृत); यशोधर का भाष्य (गोविन्दानन्द की 'क्रियाकौमुदी' में उद्‌धृत); सरला नाम की टीका ('श्राद्धतत्त्व' में उद्‌धृत)।

इसमें गृहस्थजीवन से सम्बद्ध सभी धार्मिक क्रियाओं की विधि सविस्तर वर्णित है। गृह्ययज्ञों में सात मुख्य हैं, यथा पितृयज्ञ, पार्वणयज्ञ, अष्टकायज्ञ, श्रावणीयज्ञ, आश्वयुजीयज्ञ, आग्रहायणीयज्ञ तथा चैत्रीयज्ञ। इनके अतिरिक्त पाँच नित्य महायज्ञ हैं, यथा ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ तथा भूतयज्ञ। जिन शरीरसंस्कारों का वर्णन इसमें है, उनकी सूची इस प्रकार है—१. गर्भाधान २. पुंसवन ३. सीमन्तोन्नयन ४. जातकर्म ५. नामकरण ६. निष्क्रमण ७. चूडाकर्म ८. उपनयन ९. वेदारम्भ १०. केशान्त ११. समावर्तन १२. विवाह १३. अन्त्येष्टि आदि।

गोभिलस्मृति—कात्यायन के 'कर्मप्रदीप' से यह अभिन्न है। दे० आनन्दाश्रम स्मृतिसंग्रह, पृ० ४९-७१। कर्मप्रदीप ही गोभिलस्मृति के नाम से उद्‌धृत होता है। इसकी प्रस्तावना में कहा गया है :

> अथातो गोभिलोक्तानामन्येषां चैव कर्मणाम् ।
> अस्पष्टानां विधिं सम्यग्दर्शयिष्ये प्रदीपवत् ॥

इसके मुख्य विषय हैं—यज्ञोपवीतधारण विधि, आचमन और अङ्गस्पर्श, गणेश तथा मातृका पूजन, कुश, श्राद्ध, अग्न्याधान, अरणि, स्रुक्, स्रुव, दन्तधावन, स्नान, प्राणायाम, मन्त्रोच्चारण, देव-पितृ-तर्पण, पञ्चमहायज्ञ, श्राद्धकर्म, अशौच, पत्नीधर्म, श्राद्ध के प्रकार आदि।

गोभिलीय श्राद्धकल्प—यह रघुनन्दन के 'श्राद्धतत्त्व' में उद्‌धृत है। महायशस् ने इसकी टीका की है, जिसका दूसरा नाम यशोधर भी है। इसके दूसरे टीकाकार समुद्रकर भी हैं, जिनका उल्लेख भवदेवकृत 'श्राद्धकला' में हुआ है।

गोमती—ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 'नदीसूक्त' में एक नदी के रूप में उद्‌धृत। उक्त ऋचा में इसका सिन्धु की सहायक नदी के रूप में उल्लेख हुआ है। सिन्धु में पश्चिम से

आकर मिलने वाली गोमल नदी से यह निश्चय ही अभिन्न समझी जा सकती है। गेल्डनर का मत है कि गुमती या इसकी चार ऊपरी शाखाओं (क्योंकि यह शब्द बहुवचन में है) से ही उपर्युक्त नदी का साम्य है। परवर्ती साहित्य में इस नदी को कुरुक्षेत्र में स्थित तथा वैदिक सभ्यता का केन्द्रस्थल कहा गया है। आजकल इस नाम की गङ्गा की सहायक नदी उत्तर प्रदेश में प्रवाहित होती है। इसके किनारे लखनऊ, जौनपुर आदि नगर हैं।

महाभारत (६.९.१७) में एक पवित्र नदी के रूप में इसका उल्लेख है, जिसके किनारे त्र्यम्बक महादेव का स्थान है :

गोमतीं धूतपापां च चन्दनाञ्च महानदीम्।
अस्यास्तीरे महादेवस्त्र्यम्बकमूर्त्या विराजते॥

महालिङ्गेश्वरतन्त्र के शिवशतनाम स्तोत्र में भी कथन है :

त्र्यम्बको गोमतीतीरे गोकर्णे च त्रिलोचनः।

स्कन्दपुराण के काशीखण्ड (२९.५१) में गोमती का गङ्गा के पर्याय के रूप में उल्लेख है :

'गोमती गुह्यविद्या गौर्गोप्त्री गगनगामिनी।'

देवीभागवत (७.३०.५७) के अनुसार गोमती एक देवी का नाम है :

'गोमन्तं गोमती देवी मन्दरे कामचारिणी।'

प्रायश्चित्ततत्त्व में उद्धृत शातातप के अनुसार गोमती एक प्रकार का वैदिक मन्त्र है :

पञ्चगव्येन गोघाती मासैकेन विशुध्यति।
गोमतीञ्च जपेद् विद्यां गवां गोष्ठे च संवसेत्॥

गोमय—गाय का पुरीष (गोबर)। पञ्चगव्य (गाय के पाँच विकारों) में से यह एक है। महाभारत के दानधर्म में इसका माहात्म्य वर्णित है :

शतं वर्षसहस्राणां तपस्तप्तं सुदुष्करम्।
गोभिः पूर्वं विष्ताभिर्गच्छेम श्रेष्ठतामिति॥
अस्मत्पुरीषस्नानेन जनः पूयेत सर्वदा।
सकृता च पवित्रार्थं कुर्वीरन् देवमानुषाः॥
ताभ्यो वरं ददौ ब्रह्मा तपसोऽन्ते स्वयं प्रभुः।
एवं भवत्विति विभुर्लोकांस्तारयतेति च॥

मनुस्मृति (११.२१२) के अनुसार कृच्छ्रसान्तपन व्रत में गोमयभक्षण का विधान है :

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम्॥

बुड्ढी, वन्ध्या, रोगार्त, सद्यः प्रसूता गाय का गोमय वर्जित है :

अत्यन्तजीर्णदेहाया वन्ध्यायाश्च विशेषतः।
रोगार्तायाः प्रसूताया न गोर्गोमयमाहरेत्॥
(चिन्तामणि में उद्धृत)

गोमयादिसप्तमी—चैत्र शुक्ल सप्तमी को इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। एक वर्षपर्यन्त इसका आचरण होता है। इसके सूर्य देवता हैं। प्रत्येक मास में भगवान् भास्कर का भिन्न-भिन्न नामों से पूजन, व्रती को पञ्चगव्य, यावक, अपने आप गिरी हुई पत्तियाँ अथवा दुग्धाहार ही ग्रहण करना चाहिए। दे० कृत्यकल्पतरु, १३५-१३६; हेमाद्रि, १.७२४–७२५।

गोमांस—गोमांसभक्षण हिन्दू मात्र के लिए निषिद्ध है। अज्ञान से अथवा ज्ञानपूर्वक गोमांस भक्षण करने पर प्रायश्चित्त करना आवश्यक है। अज्ञानपूर्वक प्रथम वार भक्षण के लिए पराशर ने निम्नांकित प्रायश्चित्त का विधान किया है :

अगम्यागमने चैव मद्य-गोमांस-भक्षणे।
शुद्धौ चान्द्रायणं कुर्यान्नदीं गत्वा समुद्रगाम्॥
चान्द्रायणे ततश्चीर्णे कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम्।
अनुडुत्सहितां गाञ्च दद्याद् विप्राय दक्षिणाम्॥

[अगम्यागमन (अयोग्य स्त्री से संयोग), मद्यसेवन तथा गोमांसभक्षण के पाप से शुद्ध होने के लिए समुद्रगापिनी नदी में स्नान करके चान्द्रायणव्रत करना चाहिए। चान्द्रायण-व्रत के समाप्त होने पर ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिए और ब्राह्मण को दान में बैल के साथ गाय देनी चाहिए।]

ज्ञानपूर्वक गोमांसभक्षण में संवत्सरव्रत का विधान है :

गामश्वं कुञ्जरोष्ट्रौ च सर्वं पञ्चनखं तथा।
क्रव्यादं कुक्कुटं ग्राम्यं कुर्यात् संवत्सरं व्रतम्॥

दुबारा गोमांसभक्षण के लिए संवत्सरव्रत के साथ पन्द्रह गायों का दान तथा पुनः उपनयन का विधान है (विष्णुस्मृति)। विशेष विवरण के लिए देखिए 'प्रायश्चित्त विवेक'।

हठयोगप्रदीपिका (३.४७.४८) में गोमांसभक्षण प्रतीकात्मक है :

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ।।
गोशब्देनोच्यते जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।।

[जो नित्य गोमांस भक्षण और अमर वारुणी का पान करता है उसको कुलीन मानता हूँ; ऐसा न करने वाले कुलघातक होते हैं । यहाँ गो-शब्द का अर्थ जिह्वा है । तालु में उसके प्रवेश को गोमांसभक्षण कहते हैं । यह महापातकों का नाश करने वाला है ।]

गोमुख—(१) हिमालय पर्वत के जिस सँकरे स्थान से गङ्गा का उद्‌गम होता है उसे 'गोमुख' कहते हैं । यह पवित्र तीर्थस्थल माना जाता है । गङ्गोत्तरी से लगभग दस मील पर देवगाड़ नामक नदी गङ्गा में मिलती है । वहाँ से साढ़े चार मील पर चीड़ोवास (चीड़ के वृक्षों का वन) है । इस वन से चार मील पर गोमुख है । यहीं हिमधारा (ग्लेशियर) के नीचे से गङ्गाजी प्रकट होती हैं । गोमुख में इतना शीत है कि जल में हाथ डालते ही वह सूना हो जाता है । गोमुख से लौटने में शीघ्रता करनी पड़ती है । धूप निकलते ही हिमशिखरों से भारी हिमचट्टानें टूट-टूटकर गिरने लगती हैं । अतः धूप चढ़ने के पहले लोग चीड़ोवास के पड़ाव पर पहुँच जाते हैं ।

(२) यह एक प्रकार का आसन है । हठयोगप्रदीपिका (१.२०) में इसका वर्णन इस प्रकार पाया जाता है :

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ।।

[बायें पीठ के पार्श्व में दाहिनी एड़ी और दायें पृष्ठ-पार्श्व में बायीं एड़ी लगानी चाहिए । इस प्रकार गोमुख आकृति वाला गोमुख आसन बनता है ।]

(३) जपमाला के गोपन के लिए निर्मित वस्त्र की झोली को गोमुखी कहते हैं । दे० मुण्डमालातन्त्र ।

गोयुग्मव्रत—रोहिणी अथवा मृगशिरा नक्षत्र को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । इसमें एक साँड़ तथा एक गौ का शृङ्गार कर उनका दान करना चाहिए । दान से पूर्व उमा तथा शङ्कर का पूजन करना चाहिए । इस व्रत का आचरण करने से कभी पत्नी अथवा पुत्र की मृत्यु नहीं देखनी पड़ती, ऐसा इस व्रत का माहात्म्य कहा गया है ।

गोरक्ष—प्रसिद्ध योगी गोरक्षनाथजी १२०० ई० के लगभग हुए एवं इन्होंने अपने एक स्वतन्त्र मत का प्रचार किया । इनके समाधिस्थ होने के बाद गोरक्ष की कहानियाँ तथा नाथों की कहानियाँ इन्हीं के नाम से चल पड़ी । कहते हैं कि इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की । हठयोगप्रदीपिका (२.५) में इनकी गणना सिद्धयोगियों में की गयी है :

श्रीआदिनाथ-मत्स्येन्द्र-शावरानन्द-भैरवाः ।
चौरङ्गी-मीन-गोरक्ष-विरूपाक्ष-बिलेशयाः ।।

इनकी समाधि गोरखपुर (उ. प्र.) में है जो गोरखपंथियों का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है । दे० 'गोरखनाथ' और 'गोरखनाथी' ।

गोरखनाथजी का यह संस्कृत नाम है । 'गोरक्ष' शिव का भी पर्याय है ।

गोरखनाथ—नाथ सम्प्रदाय का उदय यौगिक क्रियाओं के उद्धार के लिए हुआ, जिनका रूप तान्त्रिकों और सिद्धों ने विकृत कर दिया था । नाथ सम्प्रदाय के नवें नाथ प्रसिद्ध हैं । इस सम्प्रदाय की परम्परा में प्रथम नाम आदिनाथ (विक्रम की ८वीं शताब्दी) का है, जिन्हें सम्प्रदाय वाले भगवान् शङ्कर का अवतार मानते हैं । आदिनाथ के शिष्य मत्स्येन्द्रनाथ एवं मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरखनाथजी हुए । नौ नाथों में गोरखनाथ का नाम सर्वप्रमुख एवं सबसे अधिक प्रसिद्ध है । उत्तर प्रदेश में इनका मुख्य स्थान गोरखपुर में है । गोरक्षनाथजी का मन्दिर प्रसिद्ध है । यहाँ नाथपंथी कनफटे योगी साधु रहते हैं । इस पन्थ वालों का योगसाधन पातञ्जलि विधि का विकसित रूप है । नेपाल के निवासी गोरखनाथ को पशुपतिनाथजी का अवतार मानते हैं । नेपाल के भोगमती, भातगाँव, मृगस्थली, चौधरी, स्वारीकोट, पिडठान आदि स्थानों में नाथ पन्थ के योगाश्रम हैं । राज्य के सिक्कों पर 'श्रीगोरखनाथ' अंकित रहता है । उनकी शिष्यता के कारण ही नेपालियों में गोरखा जाति बन गयी है और एक प्रान्त का नाम गोरखा कहलाता है । गोरखपुर में उन्होंने तपस्या की थी जहाँ वे समाधिस्थ हुए ।

गोरखनाथकृत हठयोग, गोरक्षशतक, ज्ञानामृत, गोरक्षकल्प, गोरक्षसहस्रनाम आदि ग्रन्थ हैं । काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में चतुरशीत्यासन, योगचिन्तामणि, योगमहिमा, योगमार्त्तण्ड, योगसिद्धान्तपद्धति, विवेकमार्त्तण्ड और सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति आदि संस्कृत

ग्रन्थ और मिले हैं। सभा ने गोरखनाथ के ही लिखे हिन्दी के ३७ ग्रन्थ खोज निकाले हैं, जिनमें मुख्य ये हैं :

(१) गोरखबोध (२) दत्त-गोरखसंवाद (३) गोरखनाथजीरा पद (४) गोरखनाथजी के स्फुट ग्रन्थ (५) ज्ञानसिद्धान्त योग (६) ज्ञानतिलक (७) योगेश्वरी-साखी (८) नरवैबोध (९) विराटपुराण और (१०) गोरखसार आदि।

गोरखनाथी—गोरखनाथ के नाम से सम्बद्ध और उनके द्वारा प्रचारित एक सम्प्रदाय। गोरखनाथी (गोरक्षनाथी) लोगों का सम्बन्ध कापालिकों से अति निकट का है। गोरखनाथ की पूजा उत्तर भारत के अनेक मठ-मन्दिरों में, विशेष कर पंजाब एवं नेपाल में, होती है। फिर भी इस धार्मिक सम्प्रदाय की भिन्नतासूचक कोई व्यवस्था नहीं है। संन्यासी, जिन्हें 'कनफटा योगी' कहते हैं, इस सम्प्रदाय के वरिष्ठ अंग हैं। सम्भव है (किन्तु ठीक नहीं कहा जा सकता है) गोरखनाथ नामक योगी ने ही इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया हो। इसका संगठन १३वीं शताब्दी में हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि गोरखनाथ का नाम सर्वप्रथम मराठा भक्त ज्ञानेश्वररचित 'अमृतानुभव' (ई० १२९०) में उद्धृत है।

गोरखनाथ ने एक नयी योगप्रणाली को जन्म दिया, जिसे हठयोग कहते हैं। इसमें शरीर को धार्मिक कृत्यों एवं कुछ निश्चित शारीरिक क्रियाओं से शुद्ध करके मस्तिष्क की सर्वश्रेष्ठ एकाग्रता (समाधि), जो प्राचीन योग का रूप है, प्राप्त की जाती है। विभिन्न शारीरिक प्रणालियों के शोधन और दिव्य शक्ति पाने के लिए विभिन्न आसन प्रक्रियाओं, प्राणायाम तथा अनेक मुद्राओं के संयोग से आश्चर्यजनक सिद्धि लाभ इनका लक्ष्य होता है।

गोरखपुर—उत्तर प्रदेश के पूर्वाञ्चल में नाथपन्थियों का यहाँ प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। यहाँ गोरखनाथजी की समाधि के ऊपर सुन्दर मन्दिर बना हुआ है। गर्भगृह में समाधिस्थल है, इसके पीछे काली देवी की विकराल मूर्ति है। यहाँ अखण्ड दीप जलता रहता है। गोरखपंथ का साम्प्रदायिक पीठ होने के कारण यह मठ और इसके महन्त भारत में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यहाँ के महंत सिद्ध पुरुष होते आये हैं।

गोरत्नव्रत—यह गोयुग्म का वैकल्पिक व्रत है। इसमें उन्हीं मन्त्रों का उच्चारण होता है, जिनका प्रयोग गोयुग्म व्रत में किया जाता है।

गोला गोकर्णनाथ—उत्तर प्रदेश के लखीमपुर खीरी से बाईस मील पर गोला गोकर्णनाथ नामक नगर है। यहाँ एक सरोवर है, जिसके समीप गोकर्णनाथ महादेव का विशाल मन्दिर है। वराहपुराण में कथा है कि भगवान् शङ्कर एक बार मृगरूप धारण कर यहाँ विचरण कर रहे थे। देवता उन्हें ढूँढ़ते हुए आये और उनमें से ब्रह्मा, विष्णु तथा इन्द्र ने मृगरूप में शङ्कर को पहचान कर ले चलने के लिए उनकी सींग पकड़ी। मृगरूपधारी शिव तो अन्तर्धान हो गये, केवल उनके तीन सींग देवताओं के हाँथ में रह गये। उनमें से एक शृङ्ग देवताओं ने गोकर्णनाथ में स्थापित किया, दूसरा भागलपुर जिले (बिहार) के शृङ्गेश्वर नामक स्थान में और तीसरा देवराज इन्द्र ने स्वर्ग में। पश्चात् स्वर्ग की वह लिङ्गमूर्ति रावण द्वारा दक्षिण भारत के गोकर्ण तीर्थ में स्थापित कर दी गयी। देवताओं द्वारा स्थापित मूर्ति गोला गोकर्णनाथ में है। इसलिए यह पवित्र तीर्थ माना जाता है।

गोलोक—इसका शाब्दिक अर्थ है ज्योतिरूप विष्णु का लोक (गौर्ज्योतिरूपो ज्योतिर्मयपुरुषः तस्य लोकः स्थानम्)। विष्णु के धाम को गोलोक कहते हैं। यह कल्पना ऋग्वेद के विष्णुसूक्त से प्रारम्भ होती है। विष्णु वास्तव में सूर्य का ही एक रूप है। सूर्य की किरणों का रूपक भूरिशृंगा (बहुत सींग वाली) गायों के रूप में बाँधा गया है। अतः विष्णुलोक को गोलोक कहा गया है। ब्रह्मवैवर्त एवं पद्मपुराण तथा निम्बार्क मतानुसार राधा कृष्ण तित्य प्रेमिका हैं। वे सदा उनके साथ 'गोलोक' में, जो सभी स्वर्गों से ऊपर है, रहती हैं। अपने स्वामी की तरह ही वे भी वृन्दावन में अवतरित हुईं एवं कृष्ण की विवाहिता स्त्री बनीं। निम्बार्कों के लिए कृष्ण केवल विष्णु के अवतार ही नहीं, वे अनन्त ब्रह्म हैं, उन्हीं से राधा तथा असंख्य गोप एवं गोपी उत्पन्न होते हैं, जो उनके साथ 'गोलोक' में भाँति-भाँति की लीला करते हैं।

तन्त्र-ग्रन्थों में गोलोक का निम्नांकित वर्णन पाया जाता है :

वैकुण्ठस्य दक्षभागे गोलोकं सर्वमोहनम्।
तत्रैव राधिका देवी द्विभुजो मुरलीधरः॥

यद्रूपं गोलकं धाम तद्रूपं नास्ति मामके ।
ज्ञाने वा चक्षुषो किंवा ध्यानयोगे न विद्यते ॥
शुद्धतत्त्वमयं देवि नाना देवेन शोभितम् ।
मध्यदेशे गोलोकाख्यं श्रीविष्णोर्लोभमन्दिरम् ॥
श्रीविष्णोः संत्वरूपस्य यत् स्थलं चित्तमोहनम् ।
तस्य स्थानस्य माहात्म्यं किं मया कथ्यतेऽधुना ॥ आदि

ब्रह्मवैवर्तपुराण (ब्रह्मखण्ड, २८ अध्याय) में भी गोलोक का विस्तृत वर्णन है ।

गोवत्सद्वादशी—कार्तिक कृष्ण द्वादशी से आरम्भ कर एक वर्ष पर्यन्त इस व्रत का आचरण करना चाहिए। इसके हरि देवता हैं । प्रत्येक मास में भिन्न भिन्न नामों से हरि का पूजन करना चाहिए । इससे पुत्र की प्राप्ति होती है । दे० हेमाद्रि, १.१०८३-१०८४ ।

गोवर्धन—व्रजमण्डल के एक पर्वत का नाम । जैसा इसके नाम से ही प्रकट है, इससे व्रज (चरागाह) में गायों का विशेष रूप से वर्धन (वृद्धि) होता था । भागवत की कथा के अनुसार भगवान् कृष्ण ने इन्द्रपूजा के स्थान पर गोवर्धनपूजा का प्रचार किया। इससे क्रुद्ध होकर इन्द्र ने अतिवृष्टि के साथ व्रज पर आक्रमण किया और ऐसा लगा कि व्रज जलप्रलय से नष्ट हो जायेगा । भगवान् कृष्ण ने व्रज की रक्षा के लिए गोवर्धन को एक अँगुली पर उठाकर इन्द्र द्वारा किये गये अतिवर्षण के प्रभाव को रोक दिया । तब से कृष्ण का विरुद गोवर्धनधारी हो गया और गोवर्धन की पूजा होने लगी ।

यह पर्वत मथुरा से सोलह मील और बरसाने से चौदह मील दूर है, जो एक छोटी पहाड़ी के रूप में है । लम्बाई लगभग चार मील है, ऊँचाई थोड़ी ही है, कहीं कहीं तो भूमि के बराबर है । पर्वत की पूरी परिक्रमा चौदह मील की है। एक स्थान पर १०८ बार दण्डवत् प्रणाम करके तब आगे बढ़ना और इसी क्रम से लगभग तीन वर्ष में इस पर्वत की परिक्रमा पूरी करना बहुत बड़ा तप माना जाता है । गोवर्धन बस्ती प्रायः मध्य में है । पद्मपुराण के पातालखण्ड में गोवर्धन का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है :

अनादिर्हरिदासोऽयं भूधरो नात्र संशयः ।

[इसमें सन्देह नहीं कि यह पर्वत अनादि और भगवान् का दास है ।]

गोवर्धनपूजा—पद्मपुराण (पाताल खण्ड) और हरिवंश (२.१७) में गोवर्धनपूजा का विस्तारसे वर्णन पाया जाता है :

प्रातर्गोवर्द्धनं पूज्य रात्रौ जागरणं चरेत् ।
भूषणीयास्तथा गावः पूज्याश्च दोहवाहनाः ॥
श्रीकृष्णदासवर्योऽयं श्रीगोवर्द्धनभूधरः ।
शुक्लप्रतिपदि प्रातः कार्तिकेऽर्च्योऽत्र वैष्णवैः ॥

पूजन विधि निम्नांकित है :

मथुरायां तथान्यत्र कृत्वा गोवर्द्धनं गिरिम् ।
गोमयेन महास्थूलं तत्र पूज्यो गिरिर्यथा ॥
मथुरायां तथा साक्षात् कृत्वा चैव प्रदक्षिणम् ।
वैष्णवं धाम सम्प्राप्य मोदते हरिसन्निधौ ॥

गोवर्द्धन पूजा का मन्त्र इस प्रकार है :

गोवर्द्धन धराधार गोकुलत्राणकारक ।
विष्णुबाहुकृतोच्छ्रायो गवां कोटिप्रदो भव ॥

कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को अन्नकूट एवं गोवर्धनपूजा होती है । गोबर का विशाल मानवाकार गोवर्धन बनाकर ध्वजा-पताकाओं से सजाया जाता है । गाय-बैल रंग, तेल, मोर पंख आदि से अलंकृत किये जाते हैं । सबकी पूजा होती है । घरों में और देवालयों में छप्पन प्रकार के व्यञ्जन बनते हैं और भगवान् को भोग लगता है । यह त्योहार भारतव्यापी है, परन्तु मथुरा-वृन्दावन में यह विशेष रूप से मनाया जाता है ।

गोवर्धनमठ—शंकराचार्य द्वारा स्थापित चार मठों में जगन्नाथपुरीस्थित मठ। इन मठों को आचार्य ने अद्वैत-विद्याध्ययन एवं उसके प्रभाव के प्रसार के लिए स्थापित किया था । शङ्कर के प्रमुख चार शिष्यों में से एक आचार्य पद्मपाद इस मठ के प्रथम अध्यक्ष थे । सम्भवतः १४०० ई० में यहाँ के महन्त श्रीधर स्वामी ने भागवत पुराण की टीका लिखी ।

गोविन्द—श्री कृष्ण का एक नाम । भगवद्गीता। (१.३२) में अर्जुन ने कृष्ण का संबोधन किया है :

'किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।'

इसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति इस प्रकार है : 'गां धेनुं पृथिवीं वा विन्दति प्राप्नोति वा' (जो गाय अथवा पृथ्वी को प्राप्त करता है) । किन्तु विष्णुतिलक नामक ग्रन्थ में दूसरी ही व्युत्पत्ति पायी जाती है :

गोभिरेव यतो वेद्यो गोविन्दः समुदाहृतः ।

[गो (वेदवाणी) से जो जाना जाता है वह गोविन्द कहलाता है ।] हरिवंश के विष्णुपर्व (७५.४३-४५) में कृष्ण के गोविन्द नाम पड़ने की निम्नलिखित कथा है :

अद्यप्रभृति नो राजा त्वमिन्द्रो वै भव प्रभो ।
तस्मात्त्वं काञ्चनैः पूर्णैर्दिव्यस्य पयसो घटैः ॥
एभिरद्याभिषिच्यस्व मया हस्तावनामितैः ।
अहं किलेन्द्रो देवानां त्वं गवामिन्द्रतां गतः ॥
गोविन्द इति लोकास्त्वां स्तोष्यन्ति भुवि शाश्वतम् ॥

गोपालतापिनी उपनिषद् (पूर्व विभाग, ध्यान प्रकरण, ७-८) में गोविन्द का उल्लेख इस प्रकार है :

तान् होचुः कः कृष्णो गोविन्दश्च कोऽसाविति गोपीजनवल्लभः कः का स्वाहेति । तानुवाच ब्राह्मणः पापकर्षणो गोभूमिवेदविदितो विदिता गोपीजना विद्याकलाप्रेरकस्तन्माया चेति ।'

महाभारत (१.२१.१२) में भी गोविन्द नाम की व्युत्पत्ति पायी जाती है :

गां विन्दता भगवता गोविन्देनामितौजसा ।
वराहरूपिणा चान्तर्विक्षोभितजलाविलम् ॥

पुनः महाभारत (५.७०.१३) में ही :

विष्णुर्विक्रमाद्देवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते ।
शाश्वतत्वादनन्तेश्च गोविन्दो वेदनाद् गवाम् ॥

ब्रह्मवैवर्त पुराण (प्रकृतिखण्ड, २४ वाँ अ०) में भी यही बात कही गयी है :

युगे युगे प्रणष्टां गां विष्णो ! विन्दसि तत्त्वतः ।
गोविन्देति ततो नाम्ना प्रोच्यसे ऋषिभिस्तथा ॥

[हे विष्णु ! आप युग युग में नष्ट हुई गौ (वेद) को तत्त्वतः प्राप्त करते हैं, अतः आप ऋषियों द्वारा गोविन्द नाम से स्तुत होते हैं ।]

गोविन्दद्वादशी—फाल्गुन शुक्ल द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । एक वर्षपर्यन्त इसका आचरण किया जाता है । प्रत्येक मास की द्वादशी को गौओं को विधिवत् चारा खिलाना चाहिए । घृत, दधि अथवा दुग्ध मिश्रित खाद्य पदार्थों को मिट्टी के पात्रों में रखकर आहार करना चाहिए । क्षार तथा लवण वर्जित हैं । हेमाद्रि, १.१०९६.९७ (विष्णुरहस्य से) तथा जीमूतवाहन के कालविवेक, ४६८ के अनुसार द्वादशी के दिन पुष्य नक्षत्र आवश्यक है ।

गोविन्ददास—ये चैतन्य सम्प्रदाय के एक भक्त कवि थे । सत्रहवीं शती के प्रारम्भिक चालीस वर्षों में चैतन्य सम्प्रदाय का आन्दोलन पर्याप्त बलिष्ठ था एवं इस काल में बँगला में उत्कृष्ट काव्यरचना (सम्प्रदाय सम्बन्धी) करने वाले कुछ कवि और लेखक हुए । इस दल में सबसे बड़ी प्रतिभा गोविन्ददास की थी ।

गोविन्दप्रबोध—कार्तिक शुक्ल एकादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । कुछ ग्रन्थों में द्वादशी तिथि है ।

गोविन्द भगवत्पादाचार्य—आचार्य गोविन्द भगवत्पाद गौडपादाचार्य के शिष्य तथा शङ्कराचार्य के गुरु थे । इनके विषय में विशेष कोई बात नहीं मिलती । शङ्कराचार्य को जीवनी से ऐसा मालूम होता है कि ये नर्मदा तट पर कहीं रहा करते थे । शङ्कराचार्य का उनका शिष्य होना ही यह बतलाता है कि वे अपने समय के उद्भट विद्वान्, अद्वैत सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य एवं सिद्ध योगी रहे होंगे । उनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता । किसी का कहना है कि ये गोविन्द पादाचार्य ही पतञ्जलि थे । परन्तु यह मत प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि पतञ्जलि का समय दूसरी शती ई० पू० का प्रथम चरण है । उनका कोई अद्वैत सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थ नहीं मिलता है ।

गोविन्दभाष्य—अठारहवीं शती में बलदेव विद्याभूषण ने चैतन्य सम्प्रदाय के लिए 'वेदान्तसूत्र' पर एक व्याख्या लिखी, जिसे 'गोविन्दभाष्य' कहते हैं । इस ग्रन्थ में 'अचिन्त्य भेदाभेद' का दार्शनिक मत दर्शाया गया है कि ब्रह्म एवं आत्मा का सम्बन्ध अन्तिम विश्लेषण में भी अचिन्त्य है ।

गोविन्दराज—तैत्तिरीयोपनिषद् के एक वृत्तिकार । मनुस्मृति की टीका करनेवाले भी एक गोविन्दराज हुए हैं ।

गोविन्दविरुदावली—महाप्रभु चैतन्य के शिष्य रूप गोस्वामी द्वारा रचित एक ग्रन्थ ।

गोविन्दशयनव्रत—आषाढ़ शुक्ल एकादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । किसी शय्या पर अथवा क्यारी में विष्णु भगवान् की प्रतिमा स्थापित की जानी चाहिए । चार मास तक व्रत के नियमों का आचरण किया जाना चाहिए । चातुर्मास्यव्रत भी इसी तिथि को आरम्भ होता है । गोविन्दशयन के बाद समस्त शुभ कर्म, जैसे उपनयन, विवाह, चूडाकर्म, प्रथम गृहप्रवेश इत्यादि चार मास तक निषिद्ध हैं ।

गोविन्दसिंह—सिक्खों के दसवें गुरु । ये गुरु तेगबहादुर के

पुत्र थे । इन्होंने ही 'खालसा' दल की स्थापना (१६९० ई० में) की तथा पञ्च 'ककार' (केश, कंघा, कड़ा, कच्छ तथा कृपाण) धारण करने की प्रथा चलायी । इनके समय में सिक्ख सम्प्रदाय सैनिक जत्थे के रूप में संगठित हो गया । गोविन्दसिंह ने गुरुप्रथा को समाप्त कर दिया, जो नानक के काल से चली आ रही थी । दे० 'ग्रंथ साहब' ।

हिन्दू धर्म की रक्षा, प्रतिष्ठा और उद्धार के लिए विगत गुरुओं के समान ही दृढ़ संगठन बनाकर ये आजीवन मुगलों से मोर्चा लेते रहे । अन्त तक इन्होंने भारी त्याग, बलिदान और संघर्ष झेलते हुए अध्यात्म वृत्ति को भी परिनिष्ठित किया । इनकी काव्यरचना ओजस्वी और कोमल, दोनों रूपों में मिलती है ।

गोविन्दार्णव—एक धर्मशास्त्रीय निबन्धग्रन्थ । इसकी रचना काशी के राजा गोविन्दचन्द्र गहडवाल के प्रश्रय में रामचन्द्र के पुत्र शेष नृसिंह ने की थी । इसका दूसरा नाम 'धर्मसागर' अथवा 'धर्मतत्त्वालोक' भी है । इसमें छः वीचियाँ हैं—१. संस्कार २. आह्निक ३. श्राद्ध ४. शुद्धि ५. काल और ६. प्रायश्चित्त । इसका उल्लेख 'निर्णयसिन्धु' और लक्ष्मण भट्ट के 'आचाररत्न' में हुआ है । दे० अलवर संस्कृत ग्रन्थसूची ।

गोलतिका व्रत—इस व्रत में ग्रीष्म ऋतु में कलश से पवित्र जल की धारा भगवान् शिव की प्रतिमा पर डाली जाती है । विश्वास किया जाता है कि इससे ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है । दे० हेमाद्रि, २.८६१ (केवल एक श्लोक) ।

गोविन्द स्वामी—गोविन्द स्वामी 'ऐतरेय ब्राह्मण' के एक प्रसिद्ध भाष्यकार हुए हैं ।

'अष्टछाप' के एक भक्त कवि भी इस नाम से प्रसिद्ध हैं, जो संगीताचार्य भी थे ।

गोविन्दानन्द—आचार्य गोविन्दानन्द शङ्कराचार्य द्वारा प्रणीत 'शारीरक भाष्य' के टीकाकार हैं । उनकी लिखी हुई 'रत्नप्रभा' सम्भवतः शाङ्करभाष्य की टीकाओं में सबसे सरल है । इसमें भाष्य के प्रायः प्रत्येक पद की व्याख्या है । सर्वसाधारण के लिए भाष्य को हृदयंगम कराने में यह बहुत ही उपयोगी है । जो लोग विस्तृत और गंभीर टीकाओं के समझने में असमर्थ हैं उन्हीं के लिए यह व्याख्या लिखी गयी है ।

गोविन्दानन्दजी ने 'रत्नप्रभा' में अपने गुरु के सम्बन्ध में जो श्लोक लिखा है उसके एक पद के साथ ब्रह्मानन्द सरस्वती कृत 'लघुचन्द्रिका' की समाप्ति के एक श्लोक का कुछ सादृश्य देखा जाता है । इन दोनों से सिद्ध होता है कि गोविन्दानन्द तथा ब्रह्मानन्द के विद्यागुरु श्री शिवराम थे । इससे इन दोनों का समकालीन होना भी सिद्ध होता है । ब्रह्मानन्द मधुसूदन सरस्वती के समकालीन थे । अतः गोविन्दानन्द का स्थितिकाल भी सत्रहवीं शताब्दी होना चाहिये ।

गोविन्दानन्द सरस्वती—योगदर्शन के एक आचार्य । इनके शिष्य रामानन्द सरस्वती (१६वीं शती के अंत) ने पतञ्जलि के योगसूत्र पर 'मणिप्रभा' नामक टीका लिखी । नारायण सरस्वती इनके दूसरे शिष्य थे, जिन्होंने १५९२ ई० में एक ग्रन्थ (योग विषयक) लिखा । इनके शिष्यों के काल को देखते हुए अनुमान किया जा सकता है कि ये अवश्य १६वीं शती के प्रारम्भ में हुए होंगे ।

गोष्ठाष्टमी—कार्तिक शुक्ल अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । इसमें गौओं के पूजन का विधान है । गौओं को घास खिलाना, उनकी परिक्रमा करना तथा उनका अनुसरण करना चाहिए ।

गोष्ठीपूर्ण—स्वामी रामानुज के दूसरे दीक्षागुरु । इनसे पुनः श्रीरङ्गम् में रामानुज ने दीक्षा ली । गोष्ठीपूर्ण ने इन्हें योग्य समझकर मन्त्ररहस्य समझा दिया और यह आज्ञा दी कि दूसरों को यह मन्त्र न सुनायें । परन्तु जब उन्हें ज्ञात हुआ कि इस मन्त्र के सुनने से ही मनुष्यों का उद्धार हो सकता है, तब वे एक मंदिर की छत पर चढ़कर सैकड़ों नर-नारियों के सामने चिल्ला-चिल्ला कर मन्त्र का उच्चारण करने लगे । गुरु यह सुनकर बहुत क्रोधित हुए और उन्होंने शिष्य को बुलाकर कहा—'इस पाप से तुम्हें अनन्तकाल तक नरक की प्राप्ति होगी ।' इस पर रामानुज ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया—'गुरुदेव ! यदि आपकी कृपा से सब स्त्री-पुरुष मुक्त हो जायेंगे और मैं अकेला नरक में पड़ूँगा तो मेरे लिए यही उत्तम है ।' गोष्ठीपूर्ण रामानुज की इस उदारता पर मुग्ध हो गये और उन्होने प्रसन्न होकर कहा—'आज से विशिष्टाद्वैत मत तुम्हारे ही नाम पर 'रामानुज सम्प्रदाय' के नाम से विख्यात होगा ।'

गोस्वामी—(१) एक धार्मिक उपाधि । इसका अर्थ है 'गो (इन्द्रियों) का स्वामी (अधिकारी)' । जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है वही वास्तव में

'गोस्वामी' है। इसलिए वीतराग सन्तों और वल्लभकुल के गुरुओं को भी इस उपाधि से विभूषित किया जाता है।

(२) चैतन्य सम्प्रदाय के धार्मिक नेता, विशेष कर रूप, सनातन, उनके भतीजे जीव, रघुनाथदास, गोपाल भट्ट तथा रघुनाथ भट्ट 'गोस्वामी' कहलाते हैं। ये इस सम्प्रदाय के अधिकारी नेता थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं तथा प्रचारार्थ कार्य किये हैं। चैतन्य के साथी अनुयायियों एवं उनसे सम्बन्धित अनुयायियों (भाई, भतीजे आदि) को भी गोस्वामी कहा जाता है।

(३) गौण रूप में गोस्वामी (गुसाँई) उन गृहस्थों को भी कहते हैं जो पुनः विवाह कर लेने वाले विरक्त साधु-संतों के वंशज हैं।

गोस्वामी पुरुषोत्तमजी—वल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख विद्वानों में गोस्वामी पुरुषोत्तमजी विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी अनेक गंभीर रचनाओं से पुष्टिमार्गीय साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है।

गौडपाव—'सांख्यकारिका व्याख्या' के रचयिता एवं अद्वैत सिद्धान्त के प्रसिद्ध आचार्य। सांख्यकारिका के पद्यों एवं सिद्धान्तों की ठीक-ठीक व्याख्या करने में इनकी टीका महत्त्वपूर्ण है। गौडपादाचार्य के जीवन के बारे में कोई विशेष बात नहीं मिलती। आचार्य शङ्कर के शिष्य सुरेश्वराचार्य के 'नैष्कर्म्यसिद्धि' ग्रन्थ से केवल इतना पता लगता है कि वे गौड देश के रहने वाले थे। इससे प्रतीत होता है कि उनका जन्म बङ्गाल प्रान्त के किसी स्थान में हुआ होगा। शङ्कर के जीवनचरित से इतना ज्ञात होता है कि गौडपादाचार्य के साथ उनकी भेंट हुई थी। परन्तु इसके अन्य प्रमाण नहीं मिलते।

गौडपादाचार्य का सबसे प्रधान ग्रन्थ है 'माण्डूक्योपनिषत्कारिका'। इसका शङ्कराचार्य ने भाष्य लिखा है। इस कारिका की 'मिताक्षरा' नामक टीका भी मिलती है। उनकी अन्य टीका है 'उत्तर गीता-भाष्य'। उत्तर गीता (महाभारत) का एक अंश है। परन्तु यह अंश महाभारत की सभी प्रतियों में नहीं मिलता।

गौडपाद अद्वैतसिद्धान्त के प्रधान उद्घोषक थे। इन्होने अपनी कारिका में जिस सिद्धान्त को वीजरूप में प्रकट किय, उसी को शङ्कराचार्य ने अपने ग्रन्थों में विस्तृत रूप से समझाकर संसार के सामने रखा। कारिकाओं में उन्होंने जिस मत का प्रतिपादन किया है उसे 'अजातवाद' कहते हैं। सृष्टि के विषय में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई काल से सृष्टि मानते हैं और कोई भगवान् के संकल्प से इसकी रचना मानते हैं। इस प्रकार कोई परिणामवादी हैं और कोई आरम्भवादी। किन्तु गौडपाद के सिद्धान्तानुसार जगत् की उत्पत्ति ही नहीं हुई, केवल एक अखण्ड चिद्घन सत्ता ही मोहवश प्रपञ्चवत् भास रही है। यही बात आचार्य इन शब्दों में कहते हैं :

मनोदृश्यमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥

[यह जितना द्वैत है सब मन का ही दृश्य है। परमार्थतः तो अद्वैत ही है, क्योंकि मन के मननशून्य हो जाने पर द्वैत की उपलब्धि नहीं होती।] आचार्य ने अपनी कारिकाओं में अनेक प्रकार की युक्तियों से यही सिद्ध किया है कि सत्, असत् अथवा सदसत् किसी भी प्रकार से प्रपञ्च की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। अतः परमार्थतः न उत्पत्ति है, न प्रलय है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त ही है :

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

बस, जो समस्त विरुद्ध कल्पनाओं का अधिष्ठान, सर्वगत, असङ्ग, अप्रमेय और अविकारी आत्मतत्त्व है, एक मात्र वही सद्वस्तु है। माया की महिमा से रज्जू में सर्प, शुक्ति में रजत और सुवर्ण में आभूषणादि के समान उस सर्वसङ्गशून्य निर्विशेष चित्तत्त्व में ही समस्त पदार्थों की प्रतीति हो रही है।

गौड़ीय वैष्णवसमाज—बङ्गाल के चैतन्य सम्प्रदाय का दूसरा नाम 'गौडीय वैष्णव समाज, है, जिसके दार्शनिक मत का नाम 'अचिन्त्य भेदाभेद वाद' है। विशेष विवरण के लिए 'चैतन्य सम्प्रदाय' अथवा 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' देखें।

गौतम—न्यायदर्शन के रचयिता का नाम। यह एक गोत्र-नाम भी है। शाक्यगण इसी गोत्र का था। अतः बुद्ध गौतम भी कहलाते हैं। दे० 'न्याय दर्शन'।

गौतमधर्मसूत्र—प्रारम्भिक धर्मसूत्रों में से यह सामवेदीय धर्मसूत्र है। इसमें दैनिक एवं व्यावहारिक जीवन सम्बन्धी विधि संकलित है। इसमें सामाजिक जीवन, राजधर्म तथा विधि अथवा व्यवहार (न्याय) का विधान है। हरदत्त

के अनुसार इसमें कुल २८ अध्याय हैं। इसके कलकत्ता संस्करण में एक अध्याय और 'कर्मविपाक' पर जोड़ दिया गया है।

गौतम बुद्ध—५६२ ई० पू० शाक्य गण में इनका जन्म हुआ था। इन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। सनातनी हिन्दू इन्हें भगवान् विष्णु का नवाँ अवतार मानते हैं। नित्य के संकल्प में प्रत्येक हिन्दू बुद्ध को वर्तमान अवतार के रूप में स्मरण करता है। बोधगया में इनका मन्दिर है जिसके बारे में सनातनियों का विश्वास है कि भगवान् विष्णु ने यह नवाँ अवतार असुरों को माया-मोह में फँसाने के लिए लिया, वेदप्रतिपादित यज्ञविधि की निन्दा की और अहिंसा एवं प्रव्रज्या का प्रचार किया कि असुर लोग, जो उस समय बहुत प्रबल थे, शान्त और संसार से विरत रहें। विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत, अग्निपुराण, वायुपुराण, स्कन्दपुराण एवं बाद के ग्रन्थों में ये ही भाव गौतम बुद्ध के प्रति प्रकट किये गये हैं। वल्लभाचार्य्य ने ब्रह्मसूत्र, द्वितीय पाद, छब्बीसवें सूत्र की व्याख्या में एक आख्यायिका दी है, जो सनातनियों के उपर्युक्त विचारों की पोषिका है।

गौतमस्मृति—अष्टाविंशति स्मृतियों में एक मुख्य स्मृति।

गौतमीयतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उल्लिखित चौसठ तन्त्रों की सूची में 'गौतमीय तन्त्र' एवं 'बृहत्-गौतमीय तन्त्र' नामक दो तन्त्रों का उल्लेख है।

गौरचन्द्र—अधिक सुन्दर एवं शुभ्र वर्ण होने के कारण चैतन्य को अनेक भक्त गौरचन्द्र कहा करते थे। उनकी प्रशंसा में 'गौरचन्द्रिका' नामक पुस्तक भी लिखी गयी है।

गौर चन्द्रिका—चैतन्य के रूपगुणों की प्रशंसा में उनके शिष्यों ने यह ग्रन्थ रचा। दे० 'गौरचन्द्र'।

गौराङ्गाष्टक—चैतन्य साहित्य में गौराङ्गाष्टक नामक संस्कृत ग्रन्थ का भी नाम आता है। इसका उस सम्प्रदाय में नित्य पाठ किया जाता है।

गौरीकुण्ड—केदारनाथ मन्दिर से आठ मील नीचे यह एक पवित्र कुण्ड (जलाशय) है। यहाँ दो कुण्ड हैं—एक गरम पानी का और दूसरा ठंडे पानी का। शीतल जल का कुण्ड अमृतकुण्ड कहा जाता है। कहते हैं, भगवती पार्वती ने इसी में प्रथम स्नान किया था। गौरीकुण्ड का जल काफी उष्ण है। जनविश्वास के अनुसार माता पार्वती का जन्म यहाँ हुआ था। यहाँ पार्वती का मन्दिर भी है।

गौरीगणेशचतुर्थी—किसी भी चतुर्थी के दिन इस व्रत का अनुष्ठान हो सकता है। इसमें गौरी तथा गणेश के पूजन का विधान है। इससे सफलता तथा सौभाग्य सुरक्षित रहते हैं।

गौरीगणेशपूजा—सभी सम्प्रदायों के हिन्दुओं में मङ्गल कार्यों के आरम्भ में गौरी-गणेश की पूजा सबसे पहले होती है। यात्रा के आरम्भ में गौरी-गणेश का स्मरण किया जाता है।

गौरीचतुर्थी—माघ शुक्ल चतुर्थी को गौरीपूजन का विधान सर्वसाधारण के लिए है। किन्तु विशेष रूप से महिलाओं द्वारा कुछ पुष्पों से विदुषी ब्राह्मणस्त्रियों तथा विधवाओं की प्रतिष्ठा करनी चाहिए।

गौरीतपोव्रत—इस व्रत का विधान केवल महिलाओं के लिए है। मार्गशीर्ष अमावस्या को इसका अनुष्ठान होता है। अर्द्धरात्रि के समय शिव तथा पार्वती की किसी शिव-मन्दिर में पूजा करनी चाहिए। सोलह वर्षपर्यन्त इसका आचरण करना चाहिए। तदनन्तर मार्गशीर्ष मास की पूर्णिमा को इसका उद्यापन होना चाहिए। यह 'महाव्रत' भी कहा जाता है।

गौरीतृतीयाव्रत—चैत्र शुक्ल, भाद्र शुक्ल अथवा माघ शुक्ल तृतीया को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। गौरी की पूजा उनके विभिन्न नामों से होती है। महादेव तथा गौरी की पूजा का इसमें विधान है। पार्वती के ये आठ नाम हैं: पार्वती, ललिता, गौरी, गायत्री, शाङ्करी, शिवा, उमा तथा सती।

गौरीविवाह—चैत्र मास की तृतीया, चतुर्थी अथवा पञ्चमी को इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। शिव तथा गौरी की सुवर्ण, रजत, नीलम की प्रतिमाएँ धनी लोग बनवाकर उनका विवाह करें। सामान्य लोग चन्दन, अर्क पौधे की, अशोक अथवा मधूक नामक वृक्ष की प्रतिमाएँ बनाकर उनका विवाह करायें। दे० कृत्यरत्नाकर, १०८-११० (देवी पुराण से)।

गौरीव्रत—(१) आश्विन मास से चार मास तक इस व्रत का आचरण होता है। व्रती को दुग्ध अथवा दुग्ध की बनी वस्तुओं, दधि, घृत तथा गन्ने का रस नहीं ग्रहण करना चाहिए, अपितु इन्हीं वस्तुओं को पात्रों में रखकर दान करना चाहिए। दान देते समय निम्न शब्दों का उच्चारण करना चाहिए, "गौरि, प्रसीदतु माम्।"

(२) केवल महिलाओं के लिए शुक्ल पक्ष में तृतीया से तथा चैत्र मास में कृष्ण पक्ष से एक वर्षपर्यन्त गौरी के भिन्न-भिन्न नामों से पूजन का विधान है। प्रत्येक तृतीया को भिन्न-भिन्न प्रकार का भोग भी विहित है।

(३) तृतीया के दिन केवल महिलाओं के लिए भविष्यत् पुराण (१.२१.१) में इस व्रत का विधान है। लवणविहीन

भोजन का उस दिन आहार करना चाहिए। विशेष रूप से वैशाख, भाद्रपद तथा माघ की तृतीया पवित्र है।

(४) ज्येष्ठ की चतुर्थी को उमा का पूजन करना चाहिए, क्योंकि उसी दिन उनका जन्म हुआ था।

ग्रन्थ साहब—गुरु नानक, अन्य सिक्ख-गुरुओं तथा सन्त कवियों के वचनों का इसमें संग्रह है। पाँचवे गुरु अर्जुन देव स्वयं कवि थे एवं व्यावहारिक भी। उन्होंने अमृतसर का स्वर्णमन्दिर बनवाया और 'ग्रन्थ साहब' को पूर्ण किया।

ग्रह—यज्ञकर्म का सोमपानपात्र (प्याला)। ग्रह का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (४.६.५.१) में परवर्ती ग्रह के अर्थ में न होकर ऐन्द्रजालिक शक्ति के अर्थ में हुआ है। परवर्ती साहित्य में ही प्रथम बार इसका प्रयोग खेचर पिण्डों के अर्थ में हुआ है, जैसा कि मैत्रायणी उपनिषद् (६.१६) से ज्ञात है। वैदिक भारतीयों को ग्रहों का ज्ञान था। ओल्डेनवर्ग ग्रहों को आदित्यों की संज्ञा देते हैं जो सात हैं—सूर्य, चन्द्र एवं पाँच अन्य ग्रह। दूसरे पाश्चात्य विद्वानों ने इसका विरोध किया है। हिलब्राण्ट ने पाँच अध्वर्युओं (ऋग्वेद ३.७.७) को ग्रह कहा है। यह भी केवल अनुमान ही है। 'पञ्च उक्षाणः' को ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में उसी अनिश्चिततापूर्वक ग्रह कहा गया है। निरुक्त के भाष्य में दुर्गाचार्य ने 'भूमिज' को मङ्गल ग्रह कहा है। परवर्त्ती तैत्तिरीय आरण्यक (१.७) में वर्णित सप्तसूर्यों को ग्रहों के अर्थ में लिया जा सकता है। लुड्विग ने सूर्य व चन्द्र के साथ पाँच ग्रहों एवं सत्ताईस नक्षत्रों को ऋग्वेदोक्त चौंतीस ज्योतियों एवं यज्ञरूपी घोड़े की पसलियों का सूचक बताया है।

ग्रह-नक्षत्रों और हिन्दुओं के धार्मिक कृत्यों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रत्येक धार्मिक कार्य के लिए शुभ मुहूर्त की आवश्यकता होती है। इसीलिए प्राचीन काल में वेद के षडङ्गों में 'ज्योतिष' का विकास हुआ था। यज्ञों का समय ज्योतिष्पिण्डों की गतिविधि के अनुसार निश्चित होता था। सूर्य-उपासना में सौरमण्डल के नव ग्रहों का विशिष्ट स्थान है। नव ग्रहों में शुभ और दुष्ट दोनों प्रकार के ग्रह होते हैं। प्रत्येक माङ्गलिक कार्य के पूर्व नवग्रह-पूजन होता है। दुष्ट ग्रहों की शान्ति की विधि भी कर्मकाण्डीय पद्धतियों में विस्तार से वर्णित है।

ग्रहयाग—निबन्धों और पद्धतियों के शान्ति वाले विभाग में नवग्रह याग प्रकरण मिलता है। हेमाद्रि (२.८०-५९२) जहाँ तिथि तथा नक्षत्रों के सन्दर्भानुसार भिन्न-भिन्न ग्रहों के संयोगों का निर्देश करते हैं, वहाँ ग्रहों तथा अन्य देवों के सम्मानसूचक कुछ विशेष यागों का भी संकेत करते हैं। इन यज्ञ-यागों द्वारा थोड़े से व्यय में ही अनन्त पुण्य की उपलब्धि होती है। इस विषय में एक उदाहरण पर्याप्त होगा। यदि किसी रविवार को षष्ठी तिथि हो और संयोग से उसी दिन पुष्य नक्षत्र भी हो, तो स्कन्दयाग का आयोजन किया जाना चाहिए। इस व्रत के आयोजन से मनुष्य की समस्त मनोवांछाएँ पूर्ण होती हैं। लगभग एक दर्जन 'याग' हेमाद्रिकृतव्रतखण्ड में बतलाये गये हैं। तीन प्रकार के ग्रहयज्ञों के लिए देखिए : स्मृतिकौस्तुभ, ४५५-४७९ जो हेमाद्रि २.५९०-५९२ से नितान्त भिन्न है।

ग्रहयामलतन्त्र—'वामकेश्वरतन्त्र' में चौसठ तन्त्रों की सूची दी हुई है, इसमें आठ यामलतन्त्र हैं। ये यामल (जोड़े) विशेष देवता एवं उसकी शक्ति के युग्मीय एकत्व के प्रतीक का वर्णन करते हैं। ग्रहयामलतन्त्र भी उनमें से एक है।

ग्रामगेयगान—आर्चिक (सामवेदसम्बन्धी ग्रन्थ) में दो प्रकार के गान हैं, प्रथम ग्रामगेयगान, द्वितीय अरण्यगान। अरण्यगान अपने रहस्यात्मक स्वरूप के कारण वन में गाये जाते हैं। ग्रामगेयमान नित्य स्वाध्याय, यज्ञ आदि के समय ग्राम में गाये जाते हैं।

घ

घट—धार्मिक साधनाओं में 'घट' का कई प्रकार से उपयोग होता है। शुभ कृत्यों में वरुण (जल तथा नीति के देवता) के अधिष्ठान के रूप में घट की स्थापना होती है। घट घटिकायन्त्र अथवा काल का भी प्रतीक है जो सभी कृत्यों का साक्षी माना जाता है। नवरात्र के दुर्गापूजनारम्भ में घट की स्थापना कर उसमें देवी को विराजमान किया जाता है।

शाक्त लोग रहस्यमय रेखाचित्रों का 'यन्त्र' एवं 'मण्डल' के रूप में प्रचुरता से प्रयोग करते हैं। इन यन्त्रों एवं मण्डलों को वे धातु की स्थालियों, पात्रों एवं पवित्र घटों पर अंकित करते हैं। मद्यपूर्ण घट की पूजा और उसका प्रसाद लिया जाता है।

घटपर्यसन (घटस्फोट)—किसी पतित अथवा जातिच्युत व्यक्ति का जो श्राद्ध (अन्त्येष्टि) उसके जीवनकाल में ही कुटुम्बियों द्वारा किया जाता है, उसे 'घटपर्यसन' कहते हैं।

घटयोनि—अगस्त्य या कुम्भज ऋषि । पुरा कथा के अनुसार अगस्त्य का जन्म कुम्भ अथवा घट से हुआ था । इसलिए उनको कुम्भज अथवा घटयोनि कहते हैं । दे० 'अगस्त्य' ।

घर्म—यज्ञीय पात्र, जो एक तरह की बटलोई जैसा होता था । ऋग्वेद तथा वाज० सं०, ऐ० ब्रा० इत्यादि में 'घर्म' से उस पात्र का बोध होता है जिसमें दूध गर्म किया जाता था, विशेषकर अश्विनौ को देने के लिए । अतएव इस शब्द से गर्म दूध एवं किसी गर्म पेय का भी अर्थ प्रायः लगाया जाने लगा ।

घृत—यज्ञ की सामग्री में से एक मुख्य पदार्थ । अग्नि में इसकी स्वतन्त्र आहुति दी जाती है । हवन कर्म में सर्वप्रथम 'आघार' एवं 'आज्यभाग' आहुतियों के नाम से अग्नि में घृत टपकाने का विधान है । साफ किये हुए मक्खन का उल्लेख ऋग्वेद में यज्ञ-उपादान घृत के अर्थ में हुआ है । ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य में सायण ने घृत एवं सर्पि का अन्तर करते हुए कहा है कि सर्पि पिघलाया हुआ मक्खन है, और घृत जमा हुआ (घनीभूत) मक्खन है । किन्तु यह अन्तर उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि मक्खन अग्नि में डाला जाता था । अग्नि को 'घृतप्रतीक', 'घृतपृष्ठ', 'घृतप्रसह' एवं 'घृतश्री' कहा गया है । जल का व्यवहार मक्खन को शुद्ध करने के लिए होता था, एतदर्थ उसे 'घृतपू' कहा जाता था । ऐतरेय ब्राह्मण में आज्य, घृत, आयुत तथा नवनीत को क्रमशः देवता, मानव, पितृ एवं शिशु का प्रतीक माना गया है । श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों, स्मृतियों तथा पद्धतियों में घृत के उपयोग का विस्तृत वर्णन पाया जाता है ।

घृतकम्बल—माघ शुक्ल चतुर्दशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । इसमें उपवास करने का विधान है । पूर्णिमा को एक स्थूल कम्बल के समान जमा हुआ घृत शिव मूर्ति पर वेदी पर्यन्त लपेटा जाना चाहिए । तदनन्तर कृष्ण वर्ण वाले साँड़ों का जोड़ा दान करना चाहिए । इसके परिणामस्वरूप व्रती असंख्य वर्षों तक शिवलोक में वास करता है । यह शान्तिकर्म भी है । इसके अनुसार व्रती को एक वस्त्र उढ़ाकर उसका घी से अभिषिञ्चन करना चाहिए । दे० आथर्वण परिशिष्ट, अड़तीसवाँ भाग, २०४-२१२; राजनीतिप्रकाश (वीरमित्रोदय), पृष्ठ ४५९-४६४ ।

घृतभाजनव्रत—पूर्णिमा के दिन इस व्रत का अनुष्ठान होता है । शिवजी की पूजा इस व्रत में की जाती है । ब्राह्मण को घृत तथा मधु का भोजन, एक प्रस्थ तिल (आढक का चौथाई) तथा दो प्रस्थ धान का दान करना चाहिए ।

घृतस्नापनविधि—इस व्रत में ग्रहण के दिन अथवा पौष में किसी भी पवित्र दिन शिवपूजा का विधान है । एक रात तथा एक दिन शिवमूर्ति के ऊपर घृत की अनवरत धारा पड़नी चाहिए । रात्रि को नृत्य-गान करते हुए जागरण रखना चाहिए ।

घृताची—सरस्वती का एक पर्याय । एक अप्सरा का भी यह नाम है । इन्द्रसभा की अप्सराओं में इसकी गणना है । इसने कई ऋषियों तथा राजाओं को पथभ्रष्ट किया । पौर वंश के कुशनाभ अथवा रौद्राश्व के द्वारा इसके दस पुत्र हुए । ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार कई वर्णसंकर जातियों के पूर्वज इससे विश्वकर्मा के द्वारा उत्पन्न हुए थे । हरिवंश के अनुसार कुशनाभ से इसके दस पुत्र तथा दस कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं ।

दूसरी कथा के अनुसार कुशनाभ से इसकी एक सौ कन्याएँ उत्पन्न हुईं । वायु उनको स्वर्ग में ले जाना चाहते थे, परन्तु उन्होंने जाना अस्वीकार कर दिया । वायु के शाप से उनका रूप विकृत (कुबड़ा) हो गया । परन्तु पुनः उन्होंने अपना स्वाभाविक रूप प्राप्त करके काम्पिल के राजा ब्रह्मदत्त से विवाह किया । कुबड़ी कन्याओं के नाम पर ही उस देश का नाम 'कन्याकुब्ज' कान्यकुब्ज हो गया ।

घंटाकर्ण—पाशुपत सम्प्रदाय के एक आचार्य । शैव परम्परा के पौराणिक साहित्य से पता लगता है कि अगस्त्य, दधीचि, विश्वामित्र, शतानन्द, दुर्वासा, गौतम, ऋष्यशृङ्ग, उपमन्यु एवं व्यास आदि महर्षि शैव थे । व्यासजी के लिए कहा जाता है कि उन्होंने केदारक्षेत्र में 'घण्टाकर्ण' से पाशुपत दीक्षा ली थी, जिनके साथ बाद में वे काशी में रहने लगे । व्यासकाशी में घंटाकर्ण तालाब वर्तमान है । वहीं घंटाकर्ण की मूर्ति भी हाथ में शिवलिङ्ग धारण किये विराजमान है । वर्तमान काशी के नीचीबाग मुहल्ले में घंटाकर्ण (कर्णघण्टा) का तालाब है और उसके तट पर व्यासजी का मन्दिर है । मुहल्ले का नाम भी 'कर्णघंटा' है ।

कहा गया है कि घंटाकर्ण इतने कट्टर शिवभक्त थे कि शंकर के नाम के अतिरिक्त कान में दूसरा शब्द पड़ते ही सिर हिला देते थे जहाँ कानों के पास दो घण्टे लटके रहते थे । घण्टों की ध्वनि में दूसरा शब्द विलीन हो जाता था ।

घेरण्ड ऋषि—घेरण्ड ऋषि की लिखी 'घेरण्डसंहिता' प्राचीन ग्रन्थ है । यह हठयोग पर लिखा गया है तथा परम्परा से इसकी शिक्षा बराबर होती आयी है । नाथपंथियों ने उसी प्राचीन सात्त्विक योग प्रणाली का प्रचार किया है, जिसका विवेचन 'घेरण्डसंहिता' में हुआ है ।

घेरण्डसंहिता—दे० 'घेरण्ड ऋषि' ।

घोटकपञ्चमी—आश्विन कृष्ण पञ्चमी को इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए । यह व्रत राजाओं के लिए निर्धारित है जो अश्वों की अभिवृद्धि अथवा सुस्वास्थ्य के लिए अनुष्ठित होता है । यह एक प्रकार का शान्तिकर्म है ।

घोर आङ्गिरस्—एक पुराकथित आचार्य का नाम, जो कौषीतकि ब्राह्मण एवं छान्दोग्य उपनिषद् में उल्लिखित हैं । इनको कृष्ण (देवकीपुत्र) का शिक्षक कहा गया है । यह आंशिक नाम है, क्योंकि आंगिरसों के घोरवंशज 'भिषक् अथर्वा' भी कहे गये हैं । ऋग्वेदीय सूक्तों में 'अथर्वाणो वेदाः' का सम्बन्ध 'भेषजम्' एवं 'आंगिरसो वेदाः' का 'घोरम्' के साथ है । अतएव घोर आङ्गिरस् अथर्ववेदी कर्मकाण्ड के कृष्णपक्षपाती लगते हैं । इनका उल्लेख काठक संहिता के अश्वमेधखण्ड में भी हुआ है ।

घोषा—ऋग्वेद की गहिला ऋषि । वहाँ दो मन्त्रों में घोषा को अश्विनों द्वारा संरक्षित कहा गया है । सायण के मतानुसार उसका पुत्र सुहस्त्य ऋग्वेद के एक अस्पष्ट मन्त्र में उद्धृत है । ओल्डेनवर्ग यहाँ घोषा का ही प्रसंग पाते हैं, किन्तु पिशेल घोषा को संज्ञा न मानकर क्रियाबोधक मानते हैं ।

अश्विनों की स्तुति में कहा गया है कि उन्होंने वृद्धा कुमारी घोषा को एक पति दिया । ऋग्वेद (१०.३९.४०) की ऋचा घोषा नाम्नी ऋषि (स्त्री) की रची कही गयी है । कथा यों है कि घोषा कक्षीवान् की कन्या थी । कुष्ठ रोग से ग्रस्त होने के कारण बहुत दिनों तक वह अविवाहित रही । अश्विनों (देवताओं के वैद्यों) ने उसको स्वास्थ्य, सौन्दर्य और यौवन प्रदान किया, जिससे वह पति प्राप्त कर सकी ।

ङ

ङ—व्यञ्जन वर्णों के कवर्ग का पञ्चम अक्षर । तान्त्रिक विनियोग के लिए कामधेनुतन्त्र में इसके स्वरूप का निम्नांकित वर्णन है :

ङकारं परमेशानि स्वयं परमकुण्डली ।
सर्वदेवमयं वर्णं त्रिगुणं लोललोचने ।।
पञ्चप्राणमयं वर्णं ङकारं प्रणमाम्यहम् ।

तन्त्रशास्त्र में इसके अनेक नाम पाये जाते हैं, यथा

ङ शक्तो भैरवश्चण्डो विन्दूत्तंसः शिशुप्रियः ।
एकरुद्रो दक्षनखः खर्परो विषयस्पृहा ।।
कान्तिः श्वेताह्वयो धीरो द्विजात्मा ज्वालिनी वियत् ।
मन्त्रशक्तिश्च मदनो विघ्नेशो चात्मनायकः ।।
एकनेत्रो महानन्दो दुर्द्धरश्चन्द्रमा यतिः ।
शिवयोषा नीलकण्ठः कामेशीच मयाशुकौ ।।

वर्णोद्धारतन्त्र में इसके ध्यान की विधि निम्नलिखित है :

धूम्रवर्णां महाघोरां लंलज्जिह्वां चतुर्भुजाम् ।
पीताम्बरपरीधानां साधकाभीष्टसिद्धिदाम् ।।
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।।

च

चक्र—(१) विष्णु के चार आयुधों—शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म में से एक आयुध । यह उनका मुख्य अस्त्र है । इसका नाम सुदर्शन है । चक्रनेमि (पहिया का घेरा) के मूल अर्थ में यह अव गति अथवा प्रगति का प्रतीक है । दर्शन में भवचक्र अथवा जन्ममरणचक्र के प्रतीक के रूप में भी इसका प्रयोग होता है ।

(२) शाक्तमत में देवी की चार प्रकार की आराधना होती है । प्रथम मन्दिर में देवी की जनपूजा, द्वितीय में चक्रपूजा, तृतीय में साधना एवं चतुर्थ में अभिचार (जादू) द्वारा, जैसा कि तन्त्रों में बताया गया है ।

चक्रपूजा एक महत्त्वपूर्ण तान्त्रिक साधना है । इसे आजकल वामाचार कहते हैं । बराबर संख्या के पुरुष एवं स्त्रियाँ जो किसी भी जाति के हों अथवा समीपी सम्बन्धी हों, यथा पति पत्नी, माँ, बहिन, भाई—एक गुप्त स्थान में मिलते तथा वृत्ताकार बैठते हैं । देवी की प्रतिमा या यन्त्र सामने रखा जाता है एवं पञ्चमकार—मदिरा, मांस, मत्स्य, मुद्रा एवं मैथुन का सेवन होता है ।

चक्रधर—(१) विष्णु का एक पर्याय है । वे चक्र धारण करते हैं, अतः उनका यह नाम पड़ा ।

(२) एक सन्त का नाम । इनका जीवनकाल तेरहवीं शती का मध्य है । ये ही मानभाऊ सम्प्रदाय के संस्थापक थे । इनके अनुयायी यादवराजा रामचन्द्र (१२७१-

१३०९ ई०) के समकालीन नागदेव भट्ट एवं ज्ञानेश्वरी के रचयिता ज्ञानेश्वर हुए । इनका परवर्ती इतिहास अज्ञात है । इनका वैष्णवमत बड़ा उदार था । इसमें जाति अथवा वर्णभेद नहीं माना जाता था । इसलिए रूढ़िवादियों द्वारा इस मत का तीव्र विरोध हुआ । चक्रधर करहाद ब्राह्मण थे तथा मानभाऊ (सं० महानुभाव) सम्प्रदाय वाले इन्हें अपने देवता दत्तात्रेय का अवतार मानते हैं ।

चक्रधरचरित—यह मानभाऊ (सं० महानुभाव) सम्प्रदाय का एक ग्रन्थ है जो मराठी भाषा में लिखा गया है । सम्प्रदाय के संस्थापक के जीवनचरित का विवरण इसमें पाया जाता है ।

चक्रपूजा—दे० 'चक्र' ।

चक्रवर्ती—(१) जिस राजा का (रथ) चक्र समुद्रपर्यन्त चलता था, उसको चक्रवर्ती कहते थे । उसको अश्वमेध अथवा राजसूय यज्ञ करने का अधिकार होता था । भारत के प्राचीन साहित्य में ऐसे राजाओं की कई सूचियाँ पायी जाती हैं । मान्धाता और ययाति प्रथम चक्रवर्तियों में से थे । समस्त भारत को एक शासनसूत्र में बाँधना इनका प्रमुख आदर्श होता था ।

(२) शास्त्रों में प्रकाण्ड योग्यता प्राप्त करने पर विद्वानों को भी यह उपाधि दी जाती थी ।

चक्रवाक्—चकवा नामक एक पक्षी । यह नाम ध्वन्यात्मक है । इसका उल्लेख ऋग्वेद एवं यजुर्वेद में अश्वमेध के बलिपशुओं की तालिका में आता है । अथर्ववेद एवं परवर्त्ती साहित्य में सच्चे दाम्पत्य का उदाहरण इससे दिया गया है ।

चक्रायुध (चक्री)—विष्णु का पर्याय । इसका अर्थ है 'चक्र है आयुध (अस्त्र) जिसका ।' मूर्तिकला में विष्णु के आयुधों का आयुधपुरुष के रूप में अंकन हुआ है ।

चक्रोल्लास—आचार्य रामानुज कृत एक ग्रन्थ । विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में इसका बड़ा आदर है ।

चक्षुर्व्रत—नेत्रव्रत के समान इस व्रत में चैत्र शुक्ल द्वितीया को अश्विनीकुमारों (देवताओं के वैद्य) की पूजा की जाती है, एक वर्ष तक अथवा बारह वर्ष तक । उस दिन व्रती को दधि अथवा घृत का आहार करना चाहिए । इस व्रत के आचरण से व्रती के नेत्र अच्छे रहते हैं और बारह वर्ष तक व्रत करने से वह राजयोगी बन जाता है ।

चण्डमारुत—श्रीवैष्णव संप्रदाय का एक तार्किक ग्रन्थ, जिसके रचयिता चण्डमारुताचार्य थे । यह ग्रन्थ 'शतदूषणी' नामक ग्रन्थ का व्याख्यान है । चण्डमारुताचार्य को दोद्दयाचार्य रामानुजदास भी कहते हैं ।

चण्डमारुतटीका—दे० 'चण्डमारुत' ।

चण्डमारुत महाचार्य—विशिष्टाद्वैत सम्बन्धी 'चण्डमारुत' नामक टीका के रचयिता । यह टीका वेदान्तदेशिकाचार्य वेङ्कटनाथ की 'शतदूषणी' के ऊपर रचित है ।

चण्डा—भयंकर अथवा क्रुद्ध । यह दुर्गा का एक विरुद है । असुरदलन में दुर्गा यह रूप धारण करती हैं ।

चण्डाल (चाण्डाल)—वर्णसंकर जातियों में से निम्न कोटि की एक जाति । चण्डाल शूद्र पिता और ब्राह्मण माता से उत्पन्न माना जाता है । परन्तु वास्तव में यह अन्त्यज जाति है जिसका सभ्य समाज के साथ पूरा सपिण्डीकरण नहीं हुआ । अतः यह बस्तियों के बाहर रहती और नगर के कूड़े-कर्कट, मल-मूत्र आदि साफ करती है । इसमें भक्ष्याभक्ष्य और शुचिता का विचार नहीं है । चण्डालों की घोर आकृति, कृष्ण वर्ण और लाल नेत्रों का वर्णन साहित्यिक ग्रन्थों में पाया जाता है । मृत्युदण्ड में अपराधी का बध इन्हीं के द्वारा होता था ।

चण्डी (चण्डिका)—दुर्गा देवी । काली के समान ही दुर्गा देवी का सम्प्रदाय है । वे कभी-कभी दयालु रूप में एवं प्रायः उग्र रूप में पूजी जाती हैं । दयालु रूप में वे उमा, गौरी, पार्वती अथवा हैमवती, जगन्माता तथा भवानी कहलाती हैं; भयावने रूप में वे दुर्गा, काली अथवा श्यामा, चण्डी अथवा चण्डिका, भैरवी आदि कहलाती हैं । आश्विन और चैत्र के नवरात्र में दुर्गापूजा विशेष समारोह से मनायी जाती है । देवी की अवतारणा मिट्टी के एक कलश में की जाती है । मन्दिर के मध्य का स्थान गोबर व मिट्टी से लीपकर पवित्र बनाया जाता है । घट में पानी भरकर, आम्रपल्लव से ढककर उसके ऊपर मिट्टी का ही एक ढकना, जिसमें जौ और चावल भरा रहता है तथा जो एक पीले वस्त्र से ढका होता है, रखा जाता है । पुरोहित मन्त्रोचारण करता हुआ, कुश से जल उठाकर कलश पर तथा उसके उपादानों पर छिड़कता है तथा देवी का आवाहन घट में करता है । उनके आगमन को मान्यता देते हुए एक प्रकार की लाल-धूलि (रोली) घट के बाहर

चारों ओर छिड़कते हैं। इस पूजाविधि के मध्य में पुरोहित केवल फल-मूल ही ग्रहण करता है। पूजा का अन्त अग्नि में यज्ञ (होम) से होता है, जिसमें जौ, चीनी, घृत एवं तिल का व्यवहार होता है। यह हवन घट के सामने होता है, जिसमें देवी का वास समझा जाता है। यज्ञ की राख एवं कलश की लाल धूलि पुजारी यजमान के घर लाता है तथा उनके सदस्यों के ललाट पर लगाता है और इस प्रकार वे देवी के साथ एकाकारता प्राप्त करते हैं। भारत के विभिन्न भागों में चण्डी की पूजा प्रायः इसी प्रकार से होती है।

चण्डिकाव्रत—कृष्ण तथा शुक्ल पक्षों की नवमी को इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है। एक वर्ष तक इसका आचरण होना चाहिए। इसमें चण्डिका के पूजन का विधान है। इस दिन उपवास करना चाहिए।

चण्डीदास—बङ्गाल में चण्डीदास भगवद्भक्त कवि हो गये हैं। बँगला में इनके रचे भक्तिरसपूर्ण भजन तथा कीर्त्तन बहुत व्यापक और प्रचलित हैं। इनका जीवनकाल लगभग १३८० से १४२० ई० तक माना जाता है। बँगला भाषा में राधा-कृष्ण विषयक अनेक सुन्दर भजन इनके रचे हुए पाये जाते हैं।

चण्डीमङ्गल—मुकुन्दराम द्वारा बँगला में लिखित 'चण्डीमङ्गल' चण्डीपूजा की एक काव्यमय पद्धति देता है। यह शाक्तों में बहुत प्रचलित है।

चण्डीमाहात्म्य—चण्डीमाहात्म्य को देवीमाहात्म्य भी कहते हैं। हरिवंश के कुछ श्लोकों एवं मार्कण्डेयपुराण के एक अंश से यह माहात्म्य गठित है। इसका रचना काल छठी शताब्दी है, क्योंकि बाणरचित चण्डीशतक इसी ग्रन्थ पर आधारित है। चण्डीमाहात्म्य के अनेक अनुवाद तथा इस पर आधारित अनेक भजन बँगला शाक्तों द्वारा लिखे गये हैं।

चण्डीशतक—बाणभट्ट द्वारा रचित चण्डीशतक सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का साहित्यिक ग्रन्थ है। यह 'चण्डीमाहात्म्य' पर आधारित है। इसमें देवी की स्तुति १०० श्लोकों में हुई है। विविध भारतीय भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है।

चतुरशीत्यासन—यह ग्रन्थ गोरखनाथप्रणीत है तथा नागरी प्रचारणी सभा काशी की खोज से प्राप्त हुआ है। इसमें हठयोग के चौरासी (चतुरशीति) आसनों का विवरण पाया जाता है।

चतुर्थीव्रत—गणेशचतुर्थी, गौरीचतुर्थी, नागचतुर्थी, स्कन्दचतुर्थी तथा बहुला चतुर्थी के अतिरिक्त इस चतुर्थीव्रत का विधान है। इसके लिए पञ्चमी से विद्ध चतुर्थी होनी चाहिए। लगभग २५ व्रत ऐसे हैं जो चतुर्थी के दिन होते हैं। यमस्मृति के अनुसार यदि चतुर्थी तिथि शनिवार को पड़े तथा उसी दिन भरणी नक्षत्र हो तो उस दिन स्नान तथा दान से अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है। चतुर्थी तीन प्रकार की होती है—शिवा, शान्ता तथा सुखा (भविष्य पुराण ३१.१-१०)। वे क्रमशः हैं भाद्रपद शुक्ल पक्ष की चतुर्थी, माघ कृष्ण की चतुर्थी तथा भौमवासरीय चतुर्थी।

चतुर्थीजागरण व्रत—कार्तिक शुक्ल चतुर्थी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। पाँच अथवा बारह वर्ष तक इसका आचरण करना चाहिए। शिवजी का घृत स्नान कराते हुए पूजन करना चाहिए। असंख्य कलशों से स्नान कराने का विधान है। कलश सौ तक हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त षोडशोपचार पूजन पूर्वक रात्रि में जागरण करना चाहिए। इससे व्रती को दिव्यानन्दों की उपलब्धि तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

चतुर्दशीव्रत—धर्मग्रन्थों में लगभग तीस चतुर्दशीव्रतों का उल्लेख मिलता है। कृत्यकल्पतरु केवल एक व्रत का उल्लेख करता है और वह है शिवचतुर्दशी।

चतुर्दश्यष्टमी—मास के दोनों पक्षों की अष्टमी तथा चतुर्दशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसमें भोजन नक्त पद्धति से करना चाहिए। एक वर्ष तक इसका आचरण होता है। इसमें शिवपूजन का विधान है।

चतुर्मूर्तिव्रत—विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तृतीय अध्याय, श्लोक १३७-१५१ में १५ चतुर्मूर्ति व्रतों का उल्लेख है। हेमाद्रि, व्रतखण्ड १.५०५ में भी कुछ वर्णन मिलता है।

चतुर्युगव्रत—चैत्र मास के प्रथम चार दिनों में चारों युगों—कृत, त्रेता, द्वापर तथा तिष्य (कलि) का पूजन होता है। एक वर्ष तक अनुवर्ती मासों में भी इन्हीं तिथियों में इस व्रत का आचरण करना चाहिए। इसमें केवल दुग्धाहार का विधान है।

चतुर्वर्गचिन्तामणि—धर्मशास्त्र का विख्यात निबन्ध ग्रन्थ। हेमाद्रि तेरहवीं शती के अन्त में यादव (महाराष्ट्र के) राजाओं के मंत्री थे। उन्होंने धर्मशास्त्रीय विषयों का एक

विश्वकोश तैयार किया, जिसे 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' कहते हैं। लेखक की योजना के अनुसार इसके पाँच खण्ड हैं—(१) व्रत (२) दान (३) तीर्थ (४) मोक्ष तथा (५) परिशेष। परिशेष खण्ड के चार भाग हैं—(१) देवता (२) काल-निर्णय (३) कर्मविपाक तथा (४) लक्षण-समुच्चय। 'विब्लियोथिका इंडिका' सीरीज में इसका प्रकाशन चार भागों तथा ६००० पृष्ठों में हुआ है। दूसरी और तीसरी जिल्द में दो दो भाग हैं। चौथी जिल्द प्रायश्चित्त पर है। यह सन्देह किया जाता है कि यह हेमाद्रि की रचना है अथवा नहीं। अभी सम्पूर्ण ग्रन्थ का मुद्रण नहीं हो पाया है। यह धर्मशास्त्र का एक विशाल एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। दे० पा० वा० काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १।

चतुर्वेद स्वामी—ये ऋक्संहिता के एक भाष्यकार हैं, जिनका उल्लेख सायण ने अपने विस्तृत ऋग्वेदभाष्य में किया है।

चतुःश्लोकी भागवत—महाराष्ट्र भक्त एकनाथ (१६०८ ई०) द्वारा लिखित भागवत का अत्यन्त संक्षिप्त रूप। इसके भीतर चार श्लोकों में ही भागवत की सम्पूर्ण कथा वर्णित है।

मूल संस्कृत में चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश नारायण ने ब्रह्मा को सुनाया था, जो भागवत पुराण के द्वितीय स्कन्ध में उद्धृत है।

चन्द्र—चन्द्र या चन्द्रमा सौर मण्डल में पृथ्वी का उपग्रह है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के अनुसार यह विराट् पुरुष के मन से उत्पन्न हुआ। इसलिए यह मन का स्वामी है।

चन्द्रकलातन्त्र—दक्षिणाचार के अनुयायी विद्यानाथ ने, जिन्हें लक्ष्मीधर भी कहते हैं, 'सौन्दर्य लहरी' के ३१ वें श्लोक की टीका में ६४ तन्त्रों की तालिका के साथ-साथ दो और सूचियाँ दी हैं। प्रथम में ८ मिश्र तथा द्वितीय में ५ शुभ तन्त्र हैं। उनके अन्तर्गत 'चन्द्रकलातन्त्र' मिश्र तन्त्र है।

चन्द्रकूप—कुरुक्षेत्रान्तर्गत ब्रह्मसर सरोवर के मध्य में बड़े द्वीप पर यह अति प्राचीन पवित्र स्थान है। यह कूप कुरुक्षेत्र के चार पवित्र कुओं में गिना जाता है। कूप के साथ एक मन्दिर है। कहा जाता है कि युधिष्ठिर ने महाभारत युद्ध के बाद यहाँ पर एक विजयस्तम्भ बनवाया था। वह स्तम्भ अब यहाँ नहीं है।

चन्द्रज्ञान आगम—चन्द्रज्ञान को चन्द्रहास भी कहते हैं। यह एक रौद्रिक आगम है।

चन्द्रग्रहण—पृथ्वी की छाया (रूपक अर्थ में छाया राक्षसी का पुत्र राहु अर्थात् अन्धकार) जब चन्द्रमा पर पड़ती है तब उसे चन्द्रग्रहण कहते हैं। इस पर्व पर नदीस्नान तथा विशेष जप-दान-पुण्य करने का विधान है। यह धार्मिक कृत्य नैमित्तिक माना गया है।

चन्द्रनक्षत्रव्रत—सोमवार युक्त चैत्र को पूर्णिमा को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। यह वार व्रत है। इसमें चन्द्रपूजन का विधान है। आरम्भ से सातवें दिन चन्द्रमा की रजतप्रतिमा किसी काँसे के बर्तन में रखकर उसकी पूजा की जाती है। चन्द्रमा का नामोच्चारण करते हुए २८ या १०८ पलाश की समिधाओं से घी तथा तिल के साथ होम करना चाहिए।

चन्द्रभागा—एक नदी और तीर्थ प्राचीन काल में चिनाव नदी (पंजाब) को चन्द्रभागा कहते थे। जहाँ यह सिन्धु में मिलती थी वहाँ चन्द्रभागातीर्थ था। यहाँ पर कृष्ण के पुत्र साम्ब ने सूर्यमन्दिर की स्थापना की थी। मुसलमानों द्वारा इस तीर्थ के नष्ट कर देने पर उत्कल में इस तीर्थ का स्थानान्तरण हुआ। इस नाम की एक छोटी नदी समुद्र (बंगाल की खाड़ी) में मिलती है। वहीं नवीन चन्द्रभागा तीर्थ स्थापित हुआ और कोणार्क का सूर्यमन्दिर बना। कोणार्क का सूर्यमन्दिर धार्मिक स्थापत्य का अद्भुत नमूना है।

चन्द्रमा—पृथ्वी का उपग्रह। वेद में इसकी उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है :

> चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
> श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥

[चन्द्रमा उस पुरुष के मनस् अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से, तथा उसके चक्षुओं अर्थात् तेजस्वरूप से सूर्य उत्पन्न हुआ। ....]

चन्द्रव्रत—वराहपुराण के अनुसार यह व्रत प्रत्येक पूर्णिमा को पन्द्रह वर्ष तक किया जाता है। इसके अनुष्ठान से विशेष पुण्य प्राप्त होता है।

चन्द्रषष्ठी—भाद्र कृष्ण षष्ठी को चन्द्रषष्ठी कहते हैं। कपिला षष्ठी के समान इसका अनुष्ठान किया जाता है। षष्ठी के दिन उपवास का विधान है।

चन्द्रहास आगम—दे० 'चन्द्रज्ञान आगम'।

चन्द्रार्घ्यदान—प्रथम दिवस के चन्द्रमा के साथ जब रोहिणी नक्षत्र हो, विशेष रूप से कार्तिक मास में, चन्द्रमा को अर्घ्य देने से विशेष पुण्यों तथा सुखों की उपलब्धि होती है।

चन्द्रावती—इसका प्राचीन नाम चन्द्रपुरी है। यह जैन तीर्थ है। जैनाचार्य चन्द्रप्रभ का जन्म यहाँ हुआ था। यह स्थान वाराणसी से १३ मील दूर पड़ता है। यहाँ पहुँचने के लिए पूर्वोत्तर रेलवे के कादीपुर स्टेशन पर उतर कर लगभग चार मील चलना पड़ता है। यहाँ अन्य सम्प्रदाय के हिन्दू भी दर्शनार्थ जाते हैं।

चन्द्रिका—माध्व संप्रदायाचार्य स्वामी जयतीर्थ की दार्शनिक कृति 'तत्त्वप्रकाशिका' की सुप्रसिद्ध टीका। इसके रचयिता स्वामी व्यासतीर्थ १६ वीं शती ई० में हुए थे।

चन्द्रिका—(२) अनुभूतिस्वरूपाचार्य नामक विद्वान् का रचा हुआ एक संस्कृत व्याकरण। पाणिनिव्याकरण की अपेक्षा यह कुछ सरल है। कहते हैं कि सरस्वती देवी की कृपा से इस ग्रन्थ को उक्त पंडितजी ने एक रात में ही रच दिया था। इसलिए इसका 'सारस्वत व्याकरण' नाम पड़ गया।

चम्पकचतुर्दशी—शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी तिथि को इस व्रत का अनुष्ठान होता है, जब सूर्य वृषभ राशि पर स्थित हो। इसमें शिवजी के पूजन का विधान है।

चम्पकद्वादशी—ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसमें चम्पा के फूलों से भगवान् गोविन्द का पूजन करना चाहिए।

चम्पाषष्ठी—भाद्र शुक्ल षष्ठी को, जब वैधृति योग, भौमवार तथा विशाखा नक्षत्र भी हो, चम्पाषष्ठी कहते हैं। इस दिन उपवास करना चाहिए। इसके सूर्य देवता हैं। मार्गशीर्ष मास की षष्ठी भी चम्पाषष्ठी कही गयी है, जब उस दिन रविवार तथा वैधृति योग हो। स्मृतिकौस्तुभ ४३० तथा अहल्याकामधेनु के अनुसार दोनों तिथियाँ ठीक हैं। मदनरत्न के अनुसार यह मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी रविवार को पड़ती है जब शतभिषा नक्षत्र हो। प्रायः ३० वर्ष बाद यह योग आता है। कुछ धर्मग्रन्थों के अनुसार इस दिन भगवान् विश्वेश्वर का दर्शन करना चाहिए। निर्णयसिन्धु, पृष्ठ २०९, के अनुसार महाराष्ट्र प्रान्त में मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी को चम्पाषष्ठी का व्रत किया जाता है।

चम्पू—पद्य एवं गद्य मिश्रित संस्कृत काव्य रचना। १७वीं शती के मध्य शिवगुण योगी ने विवेकचिन्तामणि नामक एक चम्पू की रचना की। यह वीरशैव सम्प्रदाय से सम्बन्धित ग्रन्थ है। संस्कृत साहित्य में रामायणचम्पू, नलचम्पू, गोपालचम्पू, वृन्दावनचम्पू आदि उच्च कोटि के सरस और धार्मिक काव्य हैं।

चम्बा—एक वैष्णव तीर्थ। हिमाचल प्रदेश में यह भूतपूर्व रियासत है, जो डलहौजी से २० मील दूर रावी नदी के तट पर बसी हुई है। नगर में लक्ष्मीनारायण का मन्दिर है। यहाँ भगवान् नारायण की श्वेत संगमरमर की प्रतिमा अति विशाल तथा कलापूर्ण है।

चमस—एक पात्र, जो यज्ञों के अवसर पर सोमरस वितरण के काम आता था। यह घृत की आहुति देने में भी प्रयुक्त होता है। यह पवित्र काष्ठ, उदुम्बर, खदिर आदि से बनता है।

चरक—(१) सर्वप्रथम इसका अर्थ भ्रमणशील विद्वान् अथवा विद्यार्थी था, जैसा बृहदारण्यकोपनिषद् में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। इस नाम से विशेषतया कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा का बोध होता है।

(२) महाराज कनिष्क के समकालीन वैद्य चरक थे, जिनके द्वारा 'चरकसंहिता' की रचना हुई।

चरक शाखा—कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं में अकेले चरक सम्प्रदाय की ही बारह शाखाएँ थीं। चरक, आह्वरक, कठ, प्राच्य कठ, कपिष्ठल कठ, आष्ठल कठ, चारायणीय, वारायणीय, वार्त्तान्तिरेय, श्वेताश्वतर, औपमन्यव और मैत्रायण। चरक शाखा के पहले तीन भागों के नाम ईथिमिका, मध्यमिका और अरिमिका हैं।

चरणपादुकातीर्थ—बदरीनाथ मन्दिर के पीछे पर्वत पर सीधे चढ़ने पर चरणपादुका नामक स्थान आता है। यहीं से नल लगाकर बदरीनाथ पुरी और मन्दिर में जल लाया जाता है। यह जल भगवान् के चरणोदक के समान पवित्र माना जाता है। भारत के अन्य स्थानों में भी भगवान्, देवता एवं ऋषि-मुनियों की चरणपादुकायें (पदचिह्न) विद्यमान हैं। दत्तात्रेय की चरणपादुकायें काशी के मणिकर्णिका घाट और गिरनार पर्वत पर स्थित हैं।

चरु—चावल, यव, माष आदि से दूध में पकाकर बने हुए हविष्य को 'चरु' कहते हैं, जो देवताओं तथा पितरों को अर्पित किया जाता है।

चरण—वैदिक पाठशैली के भेद से कर्मकाण्ड की विभिन्न शाखाओं अथवा पद्धतियों को चरण कहते हैं। उत्तर भारत के अधिकांश मन्दिरों में स्मार्त ब्राह्मण मूर्ति के पास जाकर अपने चरण के गृह्यसूत्र के निर्देशानुसार स्वतः पूजा कर सकते हैं।

चरणव्यूह—वेदों की शाखाओं के क्रमानुसार उनके ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्र तथा उपवेद आदि का निर्देशक ग्रन्थ। यथा चरणव्यूह में कथन है :

> द्वे सहस्रे शतन्यूने मन्त्रा वाजसनेयके।
> तावत्त्वन्येन संख्यातं वालखिल्यं सयुक्तिकम्।
> ब्राह्मणस्य समाख्यातं प्रोक्तमानाच्चतुर्गुणम्॥

[वाजसनेय अर्थात् शुक्ल यजुर्वेदसंहिता में १९०० मंत्र हैं। वालखिल्य शाखा का भी यही परिमाण है। इन दोनों से चार गुना अधिक इनके ब्राह्मणों का परिमाण है।] चरणव्यूह के अनुसार वेदों के चार उपवेद हैं। ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्ववेद और अथर्ववेद का अर्थशास्त्र उपवेद है। परन्तु सुश्रुत और चरक से अवगत होता है कि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है और अर्थवेद ऋग्वेद का।

चरनदास—एक योग-ध्यानसाधक संत। १७३० ई० के लगभग इन्होंने एक सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसे 'चरनदासी' सम्प्रदाय कहते हैं। इस सम्प्रदाय का आधार कबीरपन्थ के समान है। इन्होंने धर्मोपदेशमय अनेक हिन्दी कविता ग्रन्थों की रचना की है।

चरनदास भार्गव ब्राह्मण तथा अलवर के रहने वाले थे। बाद में ये दिल्ली में रहने लगे। इनकी दो शिष्याएँ थीं; सहजोबाई और दयाबाई। दोनों ने पद्य में योग सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे हैं। चरनदास का जन्मसमय नागरीप्रचारिणी सभा की खोज के अनुसार संवत् १७६० है और ७८ वर्ष की अवस्था में संवत् १८३८ में इनका देहावसान हुआ। खोज में इनके निम्न ग्रन्थ मिले हैं—

(१) अष्टांगयोग (२) नरसाकेत (३) सन्देहसागर (४) भक्तिसागर (५) हरिप्रकाश टीका (६) अमरलोक खण्डधाम (७) भक्तिपदारथ (८) शब्द (९) दानलीला (१०) मनविरक्तकरन गुटका (११) राममाला और (१२) ज्ञानस्वरोदय।

चरनदासी—यह योगमार्गी धार्मिक पन्थ है। नाथ सम्प्रदाय जैसे शैव है, वैसे ही चरनदासी पन्थ वैष्णव समझा जाता है। परन्तु इसका मुख्य साधन हठयोगसंवलित राजयोग है। उपासना में ये राधा-कृष्ण की भक्ति करते हैं, परन्तु योग की मुख्यता होने से इसे योगमत का ही एक पन्थ मानना चाहिए। इस पन्थ के प्रथमाचार्य शुकदेव जी कहे जाते हैं। चरनदास लिखते हैं कि मुझको शुकदेवजी के दर्शन हुए और उन्होंने मुझे अपना शिष्य बनाया और योग की शिक्षा दी।

चर्पटनाथ—नाथ सम्प्रदाय के नव नाथ प्रसिद्ध हैं। चर्पटनाथ उनमें से एक हैं।

चर्मण्वती—एक नदी का नाम, जो मध्य प्रदेश में बहती हुई इटावा (उ० प्र०) के निकट यमुना में मिलती है। पुराणों और महाभारत में इसके किनारे पर राजा रन्तिदेव द्वारा अतिथियज्ञ करने का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि बलिपशुओं के चमड़ों के पुंज से यह नदी बह निकली, इसीलिए इसका नाम चर्मण्वती (आधुनिक चम्बल) पड़ा। किन्तु यह पुराणों की गुप्त या सांकेतिक भाषाशैली की उक्ति है, जिससे बड़े-बड़े लोग भ्रमित हो गये हैं। यहाँ रन्तिदेव की पशुबलि और चर्मराशि का अर्थ केला (कदली) स्तम्भों को काटकर उनके फलों से होम एवं अतिथिसत्कार करना है। केलों के पत्तों-छिलकों को भी चर्म कहा जाता था। ऐसे कदलीवन से उक्त नदी निर्गत हुई थी।

चर्यापाद—वैष्णव या शैव संहिताओं के चार खण्ड हैं : (१) ज्ञानपाद (२) योगपाद (३) क्रियापाद एवं (४) चर्यापाद। चर्यापाद में धार्मिक क्रियाओं का वर्णन है। शैवागमों में इसका विस्तृत उल्लेख पाया जाता है।

चषाल—यज्ञयूप (स्तम्भ) के ऊपर पहनाये गये लकड़ी के ढक्कन को चषाल कहते हैं।

चाक्षुष मनु—चौदह मनुओं में से एक मनु का नाम। इनके नाम से चाक्षुष मन्वन्तर की कल्पना हुई।

चाणक्य—राजनीतिशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' के रचयिता एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री। इनको कौटिल्य, विष्णुगुप्त आदि नामों से भी पुकारते हैं। ये चणक नामक स्थान के रहने वाले थे, अतः चाणक्य कहलाये। अर्थशास्त्र राजनीति का उत्कट ग्रन्थ है, जिसने परवर्ती राजधर्म को प्रभावित किया। चाणक्य के

नाम से प्रसिद्ध एक नीतिग्रन्थ 'चाणक्यनीति' भी प्रचलित है। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में वार्ता (अर्थशास्त्र) तथा दण्डनीति (राज्यशासन) के साथ आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र) तथा त्रयी (वैदिक ग्रन्थों) पर भी काफी बल दिया है। अर्थशास्त्र के अनुसार यह राज्य का धर्म है कि वह देखे कि प्रजा वर्णाश्रम धर्म का उचित पालन करती है कि नहीं। दे० 'कौटिल्य' और 'अर्थशास्त्र'।

चातुर्मास्य—चातुर्मास्य से उन वैदिक यज्ञों का बोध होता है, जो प्रत्येक ऋतु (ग्रीष्म, वर्षा, शीत) के आरम्भ में होते थे। ये मौसम चार मासों के होते थे, अतएव ये उत्सव चार महीनों के अन्तर पर किये जाते थे। प्रथम 'वैश्व-देव' फाल्गुनी पूर्णिमा को, द्वितीय 'वरुण-प्रघास' आषाढ़ी पूर्णिमा को तथा तीसरा 'शाकमेध' कार्तिकी पूर्णिमा को मनाया जाता था। इन उत्सवों की क्रमशः दो और तिथियाँ भी हो सकती हैं—चैत्री, श्रावणी एवं आग्रहायणी पूर्णिमा, या वैशाखी, भाद्रपदी एवं पौषी पूर्णिमा।

चातुर्मास्यव्रत—वर्षा के चार महीनों का संयुक्त नाम चातुर्मास्य है। इसमें जो व्रत किया जाता है उसको भी चातुर्मास्य कहा जाता है। इस व्रत में विभिन्न नियमों (भोजन तथा कुछ आचार-व्यवहारों के निषेध) का पालन होता है। तैल का सेवन तथा मर्दन, उद्वर्तन, ताम्बूल तथा गुड़ का सेवन निषिद्ध है। मांसाहार, मधु तथा कुछ मद्य जैसी उत्तेजक वस्तुएँ त्याज्य बतलायी गयी हैं। दे० हेमाद्रि, २.८००-८६१ (कुछ ऐसे व्रतों का यहाँ उल्लेख है जो वस्तुतः चातुर्मास्य व्रतों के अन्तर्गत नहीं आते); समयमयूख, १५०-१५२।

चातुराश्रमिक—चार आश्रमों में से किसी एक में रहने वाला 'चातुराश्रमिक' कहलाता है। इससे बाहर के व्यक्ति अनाश्रमी, आश्रमेतर कहलाते हैं।

चान्द्र तिथि—वर्तमान चान्द्र मास, तिथि आदि पञ्चाङ्ग की विधि अति प्राचीन है और वैदिक काल से चली आयी है। कालानुसार बीच-बीच में बड़े-बड़े ज्योतिषियों ने करण-ग्रन्थ लिखकर और संस्कार द्वारा संशोधन करके इस गणना को ठीक और शुद्ध कर रखा है। छः ऋतुओं का विभाजन उसी तरह सुभीते के लिए हुआ, जिस तरह चान्द्र मास ३० तिथियों में बाँट दिया गया। वेदांगज्योतिष में उसी काल विभाग का अनुसरण किया गया है जो उस समय प्रचलित था और आज भी प्रचलित है।

चान्द्र व्रत—धर्मशास्त्र में इसकी कई विधियाँ पायी जाती हैं :

(१) अमावस्या के दिन इस व्रत का प्रारम्भ होता है। एक वर्षपर्यन्त इसका आचरण करना चाहिए। दो कमल-पुष्पों पर सूर्य तथा चन्द्रमा की प्रतिमाओं का पूजन करना चाहिए।

(२) मार्गशीर्ष पूर्णिमा से आरम्भ करके एक वर्षपर्यन्त इसका अनुष्ठान करना चाहिए। प्रत्येक पूर्णिमा के दिन उपवास तथा चन्द्रमा के पूजन का विधान है।

(३) किसी भी पूर्णिमा के दिन इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। १५ वर्षपर्यन्त इसका आचरण होता है। इस दिन नक्त भोजन करना चाहिए। इस व्रत के आचरण से एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ तथा सौ राजसूय यज्ञों का पुण्य प्राप्त होता है।

(४) इसके अनुष्ठान में चान्द्रायण व्रत का आचरण करना चाहिए। चन्द्रमा की सुवर्णमयी प्रतिमा के दान का इसमें विधान है। दे० हेमाद्रि, २.८८४; मत्स्य पुराण १०१.७५; कृत्यकल्पतरु का व्रतकाण्ड, ४५०।

चान्द्रायण व्रत—(१) ब्रह्मपुराणोक्त यह व्रत पौष मास की शुक्ल चतुर्दशी को मनाया जाता है। शास्त्र में एक और चान्द्रायण व्रत का विधान है। चन्द्रमा के ह्रास के साथ आहार के ग्रासों में ह्रास और वृद्धि के साथ वृद्धि करके एक महीने में यह व्रत पूरा किया जाता है। उद्देश्य पापमोचन है। घोर अपराधों के प्रायश्चित्त रूप में यह व्रत किया जाता है।

(२) यह व्रत पूर्णिमा के दिन आरम्भ होता है। एक मास तक इसका आचरण करना चाहिए। प्रत्येक दिन तर्पण तथा होम का विधान है।

चामुण्डा—(१) शिवपत्नी रुद्राणी के अनेक नाम हैं, यथा देवी, उमा, गौरी, पार्वती, दुर्गा, भवानी, काली, कपालिनी एवं चामुण्डा। दूसरे देवों की देवियों (पत्नियों) के विपरीत इन्हें धार्मिक आचारों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है तथा शिव से कुछ ही कम महत्त्व इनका है। इनको पति के समान स्थान शिव के युगल (अद्वैत) रूप अर्द्धनारीश्वर में प्राप्त होता है, जिसमें दक्षिण भाग शिव

का एवं वाम देवी का है। देवी के अनेक नामों एवं गुणों (दयालु, भयानक, क्रूर एवं अदम्य) से यह प्रतीत होता है कि शिव के समान ये भी अनेक दैवी शक्तियों के संयोग से बनी हैं।

(२) मैसूर (कर्नाटक) में चामुण्डा का प्रसिद्ध मन्दिर है जहाँ बहुसंख्यक यात्री पूजा के लिए जाते हैं।

(३) चण्ड और मुण्ड नामक राक्षसों के वध के लिए दुर्गा से चामुण्डा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इसका वर्णन मार्कण्डेयपुराण में इस प्रकार पाया जाता है: अम्बिका (दुर्गा) के क्रोध से कुञ्चित ललाट से एक काली और भयंकर देवी उत्पन्न हुई। इसके हाथ में खड्ग और पाश तथा नरमुण्ड से अलंकृत विशाल गदा थी। वह शुष्क, जीर्ण तथा भयानक हस्तिचर्म पहने हुए थी। मुख फैला हुआ और जिह्वा लपलपाती थी। उसकी आँखें रक्तिम और उसके भयंकर शब्द से आकाश भर रहा था।' इस देवी ने दोनों राक्षसों का वध करके उनके शिरों को दुर्गा के सम्मुख अर्पित किया। दुर्गा ने कहा, "तुम दोनों राक्षसों के संकुचित समस्त नाम 'चामुण्डा' से प्रसिद्ध होगी।"

चामुण्डातन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उद्धृत तन्त्रों में से एक तन्त्र 'चामुण्डातन्त्र' है। इसमें चामुण्डा के स्वरूप तथा पूजाविधि का सविस्तर वर्णन है।

चारायणीय काठकधर्मसूत्र—कृष्ण यजुर्वेद की एक प्राचीन शाखा 'चारायणीय काठक' है। इस शाखा के धर्मसूत्र से विष्णुस्मृति के गद्यसूत्रों की सामग्री ली गयी ज्ञात होती है। किन्तु कुछ नियम बदले और कुछ नये भी जोड़े गये हैं।

चार्वाक—नास्तिक (वेदबाह्य) दर्शन छः हैं—चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक एवं आर्हत। इन सबमें वेद से असम्मत सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। इनमें से चार्वाक अवैदिक और लोकायत (भौतिकवादी) दोनों है।

चार्वाक केवल प्रत्यक्षवादी है, वह अनुमान आदि अन्य प्रमाणों को नहीं मानता। उसके मत से पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार ही तत्त्व हैं, जिनसे सब कुछ बना है। उसके मत में आकाश तत्त्व की स्थिति नहीं है। इन्हीं चारों तत्त्वों के मेल से यह देह बनी है। इनके विशेष प्रकार के संयोजन मात्र से देह में चैतन्य उत्पन्न हो जाता है, जिसको लोग आत्मा कहते हैं। शरीर जब विनष्ट हो जाता है तो चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जीव इन भूतों से उत्पन्न होकर इन्हीं भूतों में नष्ट हो जाता है। अतः चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है। देह से अतिरिक्त आत्मा होने का कोई प्रमाण नहीं है। उसके मत से स्त्री-पुत्रादि के आलिङ्गन से उत्पन्न सुख पुरुषार्थ है। संसार में खाना, पीना और सुख से रहना चाहिए :

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

[जब तक जीना चाहिए सुखपूर्वक जीना चाहिए; यदि अपने पास साधन नहीं है तो दूसरों से ऋण लेकर भी मौज करना चाहिए। श्मशान में शरीर के जल जाने पर किसने उसको लौटते हुए देखा है?] परलोक वा स्वर्ग आदि का सुख पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि ये प्रत्यक्ष नहीं हैं। इसके अनुसार जो लोग परलोक के स्वर्गसुख को अमिश्र शुद्ध सुख मानते हैं वे आकाश में प्रासाद रचते हैं, क्योंकि परलोक तो है ही नहीं। फिर उसका सुख कैसा? उसे प्राप्त करने के यज्ञादि उपाय व्यर्थ हैं। वेदादि धूर्तों और स्वार्थियों की रचनायें हैं (त्रयो वेदस्य कर्तारः धूर्त-भाण्ड-निशाचराः), जिन्होंने लोगों से धन पाने के लिए ये सब्जबाग दिखाये हैं। यज्ञ में मारा हुआ पशु यदि स्वर्ग को जायेगा तो यजमान अपने पिता को ही उस यज्ञ में क्यों नहीं मारता? मरे हुए प्राणियों की तृप्ति का साधन यदि श्राद्ध होता है तो विदेश जाने वाले पुरुषों के राह-खर्च के वास्ते वस्तुओं को ले जाना भी व्यर्थ है। यहाँ किसी ब्राह्मण को भोजन करा दे या दान दे दे, जहाँ रास्ते में आवश्यक होगा वहीं वह वस्तु उसको मिल जायगी।

जगत् में मनुष्य प्रायः दृष्ट फल के अनुरागी होते हैं। नीतिशास्त्र और कामशास्त्र के अनुसार अर्थ व काम को ही पुरुषार्थ मानते हैं। पारलौकिक सुख को प्रायः नहीं मानते। कहते हैं कि किसने परलोक वा वहाँ के सुख को देखा है? यह सब मनगढ़न्त बातें हैं, सत्य नहीं हैं। जो प्रत्यक्ष है वही सत्य है। इस मत का एक दूसरा नाम, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, लोकायत भी है। इसका अर्थ है 'लोक में स्थित'। लोकों-जनों में आयत फैला हुआ मत ही लोकायत है। अर्थात अर्थ-

काम को ही पुरुषार्थ मानने वाले मनुष्यों में यह मत फैला हुआ है।

यद्यपि चार्वाक का नाम प्रसिद्ध नहीं है तथापि उसका मत और उसका तर्क बहुत फैले हुए, व्यापक हैं। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार का तर्क मानने वाले बहुत लोग हैं। यह मत आधुनिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से मिलता जुलता है, केवल तर्क और युक्ति पर आधारित है। परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों के ऊपर इसके आघात का यह प्रभाव हुआ कि इन सम्प्रदायों ने अपने तर्कपक्ष को पर्याप्त विकसित किया, जिससे वे इसके आक्षेपों का उत्तर दे सकें और इसका खण्डन कर सकें। चार्वाकदर्शन सम्प्रदाय के रूप में भारत में बहुत प्रचलित नहीं हुआ। (पूर्ण विवरण के लिए दे० 'सर्वदर्शनसंग्रह', प्रथम अध्याय।)

चार्वाकदर्शन—दे० 'चार्वाक'।

चित्त—पतञ्जलि के अनुसार मन, बुद्धि और अहंकार तीनों से मिलकर चित्त बनता है। चित्त की पाँच वृत्तियाँ होती हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। चित्त की क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, निरुद्ध एवं एकाग्र ये पाँच प्रकार की भूमियाँ होती हैं। आरम्भ की तीन चित्तभूमियों में योग नहीं हो सकता, केवल अन्तिम दो में हो सकता है।

चित्तवृत्तियों के निरोध का ही नाम योग है। पतञ्जलि ने अष्टाङ्गयोग का वर्णन किया है। ये आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। योग का अंतिम चरण समाधि है। इसका उद्देश्य है चित्त के निरोध से आत्मा का अपने स्वरूप में लय।

चित्तौड़गढ़—इसका प्राचीन नाम चित्रकूट था। यहाँ पहले पाशुपत पीठ था। मेदपाट के सिसौदिया वंश के राणाओं के समय में इसकी बड़ी प्रतिष्ठा बढ़ी। पुराने उदयपुर राज्य का यह यशस्वी दुर्ग है। यह भारत का महान् ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक तीर्थ है। यहाँ का कण-कण मातृभूमि की रक्षा के लिए तथा हिन्दुत्व के गौरव की रक्षा के लिए रक्तसिञ्चित है। दुर्ग के भीतर महाराणा प्रताप का जन्मस्थान, रानी पद्मिनी, पन्ना धाय तथा मीराबाई के महल, कीर्तिस्तम्भ, जयस्तम्भ, जटाशंकर महादेव का मन्दिर, गोमुख कुण्ड, रानी पद्मिनी तथा अन्य राजपूत वीराङ्गनाओं की विस्तृत चिताभूमि, काली माता का मन्दिर आदि दर्शनीय स्थान हैं।

चित्रकूट—यह उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले में करवी स्टेशन के पास पयस्विनी के तट पर स्थित अति रम्य स्थान है। चित्रकूट का सबसे बड़ा माहात्म्य यह है कि भगवान् राम ने वनवास के समय यहाँ निवास किया था। चित्रकूट सदा से तपोभूमि रहा है। महर्षि अत्रि-अनसूया का यहाँ आश्रम है, जहाँ से मध्य प्रदेश लग जाता है। यहाँ तपस्वी, भगवद्भक्त, विरक्त महापुरुष सदा रहते आये हैं।

चित्रगुप्तपूजा—यमद्वितीया को प्रातःकाल सवेरे चित्रगुप्त आदि चौदह यमों की पूजा होती है। इसके बाद बहिनों के घर भाई के भोजन करने की प्रथा बहुत पुरानी है। इस दिन बहिनें शाप के व्याज से भाई को आशीर्वाद देती हैं। शाप देने का उद्देश्य यमराज को धोखा देना है। शाप से भाई को मरा हुआ जानकर वह उस पर आक्रमण नहीं करता।

कायस्थों का यह विश्वास है कि चित्रगुप्त उनके पूर्वज हैं। अतः इस दिन वे उनकी विधिवत् पूजा करते हैं। चित्रगुप्त यमराज के लेखक माने जाते हैं, अतः उनकी कलम-दावात की भी पूजा होती है।

चित्रदीप—विद्यारण्य स्वामी द्वारा विरचित **पञ्चदशी** अद्वैत वेदान्त का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके **चित्रदीप** नामक प्रकरण में उन्होंने चेतन के विषय में कहा है कि घटाकाश, महाकाश, जलाकाश एवं मेघाकाश के समान कूटस्थ, ब्रह्म, जीव और ईश्वर-भेद से चेतन चार प्रकार का है। व्यापक आकाश का नाम महाकाश है, घटावच्छिन्न आकाश को घटाकाश कहते हैं, घट में जो जल है उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाले आकाश को जलाकाश कहते हैं और मेघ के जल में प्रतिबिम्बित होनेवाले आकाश का नाम मेघाकाश है। इन्हीं के समान जो अखण्ड और व्यापक शुद्ध चेतन है उसका नाम ब्रह्म है, देहरूप उपाधि से परिच्छिन्न चेतन को कूटस्थ कहते हैं, देहान्तर्गत अविद्या में प्रतिबिम्बित चेतन का नाम जीव है और माया में प्रतिबिम्बित चेतन को ईश्वर कहते हैं।

चित्रपुट—अप्पय दीक्षितकृत मीमांसाविषयक ग्रन्थों में से एक चित्रपुट है। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है।

चित्रभानुव्रत—शुक्ल पक्ष की सप्तमी को इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है। रक्तिम सुगन्धित पुष्पों से तथा

घृतधारा से सूर्य का पूजन होता है । इससे अच्छे स्वास्थ्य की उपलब्धि होती है ।

चित्रभानुपदद्वयव्रत—उत्तरायण के प्रारम्भ से अन्त तक इस का अनुष्ठान होता है । यह अयन व्रत है । इसमें सूर्य की पूजा होती है ।

चित्रमीमांसा—अप्पय दीक्षितकृत अलङ्कार शास्त्र-विषयक ग्रन्थ ।.इसमें अर्थचित्र का विचार किया गया है । इसका खण्डन करने के लिए पण्डितराज जगन्नाथ ने 'चित्रमीमांसा-खण्डन' नामक ग्रन्थ की रचना की की ।

चित्रमीमांसाखण्डन—पण्डितराज जगन्नाथकृत यह ग्रन्थ अप्पय दीक्षित कृत 'चित्रमीमांसा' नामक अलङ्कार शास्त्र विषयक ग्रन्थ के खण्डनार्थ लिखा गया है ।

चित्रशिखण्डी ऋषि—सप्त ऋषियों का सामूहिक नाम। पाञ्चरात्र शास्त्र सात चित्रशिखण्डी ऋषियों द्वारा सङ्कलित है, जो संहिताओं का पूर्ववर्ती एवं उनका पथप्रदर्शक है । इन ऋषियों ने वेदों का निष्कर्ष निकालकर पाञ्चरात्र नाम का शास्त्र तैयार किया । ये सप्तर्षि स्वायम्भुव मन्वन्तर के मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ हैं । इस शास्त्र में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष चारों पुरुषार्थों का विवेचन है । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अङ्गिरा ऋषि के अथर्ववेद के आधार पर इस ग्रन्थ में प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों की चर्चा है । दोनों मार्गों का यह आधारस्तम्भ है । नारायण का कथन है—"हरिभक्त वसुराज उपरिचर इस ग्रन्थ को बृहस्पति से सीखेगा और उसके अनुसार चलेगा, परन्तु इसके पश्चात् यह ग्रन्थ नष्ट हो जायगा ।" चित्रशिखण्डी ऋषियों का यह ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं है ।

चित्सुखाचार्य—आचार्य चित्सुख का प्रादुर्भाव तेरहवीं शताब्दी में हुआ था । उन्होंने 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक वेदान्त ग्रन्थ में न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्य के मत का खण्डन किया है, जो बारहवीं शताब्दी में हुए थे । उस खण्डन में उन्होंने श्रीहर्ष के मत को उद्धृत किया है, जो इस शताब्दी के अन्त में हुए थे । उनके जन्मस्थान आदि के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता । उन्होंने 'तत्त्वप्रदीपिका' के मङ्गलाचरण में अपने गुरु का नाम ज्ञानोत्तम लिखा है ।

जिन दिनों इनका आविर्भाव हुआ था, उन दिनों न्यायमत (तर्कशास्त्र) का जोर बढ़ रहा था । द्वादश शताब्दी में श्रीहर्ष ने न्यायमत का खण्डन किया था । तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में गङ्गेश ने श्रीहर्ष के मत को खंडित कर न्यायशास्त्र को पुनः प्रतिष्ठिन किया । दूसरी ओर द्वैतवादी वैष्णव आचार्य भी अद्वैत मत का खण्डन कर रहे थे । ऐसे समय में चित्सुखाचार्य ने अद्वैतमत का समर्थन और न्याय आदि मतों का खण्डन करके शाङ्कर मत की रक्षा की । उन्होंने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'तत्त्वप्रदीपिका', 'न्यायमकरन्द' की टीका और 'खण्डनखण्डखाद्य' की टीका लिखी । अपनी प्रतिभा के कारण चित्सुखाचार्य ने थोड़े ही समय में बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली । चित्सुख भी अद्वैतवाद के स्तम्भ माने जाते हैं । परवर्ती आचार्यों ने उनके वाक्यों को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है ।

चित्सुखी—चित्सुखाचार्य द्वारा रचित 'तत्त्वप्रदीपिका' का दूसरा नाम 'चित्सुखी' है । यह अद्वैत वेदान्त का समर्थक, उच्चकोटि का दार्शनिक ग्रन्थ है ।

चिता—मृतक के दाहसंस्कार के लिए जोड़ी हुई लकड़ियों का समूह । गृह्यसूत्रों में चिताकर्म का पूरा विवरण पाया जाता है ।

चिदचिदीश्वरतत्त्वनिरूपण—विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का दार्शनिक ग्रन्थ । वरदनायक सूरिकृत (१६वीं शताब्दी का) यह ग्रन्थ जीव, जगत् और ईश्वर के सम्बन्ध में विचार उपस्थित करता है ।

चिदम्बरम्—यह सुदूर दक्षिण भारत का अति प्रसिद्ध शैव तीर्थ है । यह मद्रास-धनुषकोटि मार्ग में विल्लुपुरम् से ५० मील दूर अवस्थित है । सुप्रसिद्ध 'नटराज शिव' यहीं विराजमान हैं। शङ्करजी के पञ्चतत्त्व लिङ्गों में से आकाशलिङ्ग चिदम्बरम् में ही माना जाता है । मन्दिर का घेरा १०० बीघे का है । पहले घेरे के पश्चात् दूसरे घेरे में उत्तुङ्ग गोपुर है, जो नौ मंजिल का है, उस पर नाट्यशास्त्र के अनुसार विभिन्न नृत्यमुद्राओं की मूर्तियाँ बनी हैं । मन्दिर में नृत्य करते हुए भगवान् शङ्कर की बहुत सुन्दर स्वर्णमूर्ति है । इसके सम्मुख सभामण्डप है । कई प्रकोष्ठों के भीतर भगवान् शङ्कर की लिङ्गमय मूर्ति है । यही चिदम्बरम् का मूल विग्रह है । महर्षि व्याघ्रपाद तथा पतञ्जलि ने इसी मूर्ति की अर्चा की थी, जिससे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्कर ने ताण्डवनृत्य किया । उसी नृत्य के स्मारक रूप में नट-

राज की यहाँ स्थापना हुई, ऐसी अनुश्रुति है। धार्मिक विस्तार और कला की अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से यह मन्दिर अपूर्व है।

इसी चिदम्बरपुर के निवासी उमापति नामक एक ब्राह्मण शूद्र सन्त मरई ज्ञानसम्बन्ध के शिष्य हो गये थे, जिसके कारण उनको जाति से निकाल दिया गया। किन्तु गुरु की कृपा से उमापति बहुत बड़े सैद्धान्तिक ग्रन्थों के प्रणेता हुए। उन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे जिनमें से आठ तो सिद्धान्त शास्त्रों में से हैं। आगे चलकर इनका नाम उमापति शिवाचार्य हुआ।

चिदानन्द—माध्व वैष्णवों के इतिहास में अठारहवीं शती के मध्य कई अनन्य भगवत्प्रेमी कवि हुए, जिन्होंने भगवान् कृष्ण की स्तुति के गीत कन्नड़ भाषा में लिखे थे। इनमें एक थे चिदानन्द दास, जिनका कन्नड़ ग्रन्थ 'हरिभक्तिरसायन' अति प्रसिद्ध है। इनका 'हरिकथासार' नामक अन्य कन्नड़ ग्रन्थ भी सैद्धान्तिक ग्रन्थ समझा जाता है।

चिन्तामणितन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में दी गयी ६४ तन्त्रों की सूची में इसका ३३वाँ क्रम है। तन्त्र के विभिन्न अङ्गों पर इससे प्रकाश पड़ता है।

चिन्त्य—(१) अट्ठाईस आगमों में से एक शैव आगम 'चिन्त्य' नामक भी है।

(२) बुद्धि का विषय सम्पूर्ण स्थूल विश्व चिन्त्य (चिन्ता का विषय) कहलाता है। इससे विपरीत ब्रह्म तत्त्व अचिन्त्य है।

चुनार—वाराणसी से पश्चिम गंगातटवर्ती 'चरणाद्रि' नामक एक पहाड़ी किला। यह मिर्जापुर जिले में गंगा के दाहिने तट पर स्थित पवित्र तीर्थस्थल माना जाता है। इसकी स्थिति (भगवान् के) चरण के आकार की है, अतः इसका नाम चरणाद्रि पड़ा। स्थानीय परम्परा के अनुसार इसका देशज नाम चरणाद्रि से चुनार हो गया है। लोग इसे राजा भर्तृहरि की तपोभूमि और दुर्ग में स्थित मन्दिर को राजा विक्रमादित्य का बनवाया मानते हैं। मन्दिर इतना प्राचीन नहीं जान पड़ता। परन्तु गहड़वाल राजवंश के समय तक कंतित (कान्तिपुरी) और चरणाद्रि दोनों महत्त्वपूर्ण स्थान थे। चुनार दुर्ग का महत्त्व तो पूरे मध्यकाल तक बना रहा। प्रायः प्रत्येक दुर्ग एक प्रकार का शाक्तपीठ माना जाता था।

यहाँ की रम्य एकान्त स्थली में वल्लभाचार्यजी ने भगवान् की आराधना की थी। उसकी स्मृति में 'महाप्रभुजी की बैठक' स्थापित है। इससे वैष्णव भी इसे अपना तीर्थ मानते हैं।

चूलिकोपनिषद्—इस उपनिषद् में सेश्वर सांख्ययोग सिद्धान्त सरलता से प्रस्तुत किया गया है। चूलिका का सांख्य मत मैत्रायणी के निकट प्रतीत होता है, अतएव ये दोनों उपनिषदें (चूलिका एवं मैत्रायणी) लगभग एक ही काल की रचनायें हैं।

चेतन—आत्मा का एक पर्याय। इसका अर्थ है 'चेतना रखने वाला।' चिद्रूप होने से आत्मा का यह नाम हुआ। पुरुषसूक्त के चतुर्थ मन्त्र में पुरुष के रूप एवं कार्यों के वर्णन में कथित है 'ततो विश्वं व्यक्रामत्', अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है। वह दो प्रकार का है; एक 'साशन' अर्थात् चेतन, जो कि भोजनादि के लिए चेष्टा करता है और जीवसंयुक्त है। दूसरा 'अनशन', अर्थात् जो जड है और भोज्य होने के लिए बना है, क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है, वह अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता। आत्मा सभी दर्शनों में चेतन माना गया है। चैतन्य उसका गुण है।

चैतन्य (१)—आस्तिक दर्शनों के अनुसार चैतन्य आत्मा का गुण है। चार्वाक तथा अन्य नास्तिक मतों के अनुसार चैतन्य आत्मा का गुण न होकर प्राकृतिक तत्त्वों के संघात से उत्पन्न होता है। जड़वाद के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार ही तत्त्व हैं जिनसे विश्व में सब कुछ बना है। इन्हीं चारों तत्त्वों के मेल से देह बनती है। जिन वस्तुओं के मेल से मदिरा बनायी जाती है उनको पृथक्-पृथक् करने से नशा नहीं होता, किन्तु संयोग से निर्मित मदिरा से ही मादकता उत्पन्न होती है। उसी तरह चारों तत्त्वों की पृथक् स्थिति में चैतन्य नहीं मालूम होता, किन्तु इनके एक में मिल जाने से ही शरीर में चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। शरीर जब विनष्ट हो जाता है तो उसके साथ-साथ चैतन्य गुण भी नष्ट हो जाता है।

चैतन्य (२)—दे० 'कृष्ण चैतन्य'।

संन्यास आश्रम के 'दसनामी' वर्ग के अन्तर्गत दीक्षित होने वाले शिष्य का यह एक उपनाम भी है।

चैतन्यचन्द्रोदय—सं० १६२५ वि० के लगभग बङ्गाल में धार्मिक नवजागरण हुआ तथा महाप्रभु कृष्ण चैतन्य के

जीवनवृत्तान्त पर भी कतिपय ग्रन्थ कुछ वर्षों में रचे गये । 'चैतन्यचन्द्रोदय' उनमें से एक है । यह कवि कर्णपूर द्वारा रचित संस्कृत नाटक है । इसका नाम 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक आध्यात्मिक नाटक के अनुसार रखा गया प्रतीत होता है ।

चैतन्यचरित—मुरारि गुप्त रचित यह महाप्रभु कृष्ण चैतन्य की जीवनलीला का संस्कृत में वर्णन है । इसकी रचना सं० १६२९ वि० में हुई थी ।

चैतन्यचरितामृत—बँगला भाषा में कृष्णदास कविराज कृत महाप्रभु कृष्ण चैतन्य के जीवन से सम्बन्धित यह एक काव्य ग्रन्थ है । रचनाकाल सं० १६३८ वि० है । इसे कविराज ने नौ वर्षों के परिश्रम से उत्तर प्रदेशस्थ वृन्दावन (राधाकुण्ड) में तैयार किया था । यह ग्रन्थ बड़ा शिक्षापूर्ण है तथा चैतन्यजीवन पर सर्वोत्तम लोकप्रिय रचना है । इसे सम्प्रदाय के अनेक भक्त लोग कंठस्थ कर लेते हैं । श्री दिनेशचन्द्र सेन के मत से चैतन्य सम्प्रदाय के लिए यह ग्रन्थ बहुत प्रामाणिक और अति महत्त्व का है ।

चैतन्यदेव—दे० 'कृष्ण चैतन्य' ।

चैतन्यभागवत—महात्मा वृन्दावनदास रचित यह ग्रन्थ बँगला काव्य में चैतन्यदेव का सुन्दर जीवनचरित है । इसकी रचना सं० १६३० वि० में हुई ।

चैतन्यमङ्गल—कविवर लोचनदास कृत यह ग्रन्थ भी चैतन्य-जीवन का ही वंग भाषा में वर्णन करता है । इसकी रचना सं० १६३२ वि० में हुई ।

चैतन्यसम्प्रदाय—(कृष्ण चैतन्य शब्द की व्याख्या में चैतन्य का जीवनवृत्तान्त देखिए ।) चैतन्य की परमपद-प्राप्ति सं० १५९० वि० में हुई तथा १५९० से १६१७ वि० तक बंगाल का वैष्णव सम्प्रदाय चैतन्य के वियोग से शोकाकुल रहा । साहित्यरचना तथा संगीत मृतप्राय से हो गये, किन्तु चैतन्य सम्प्रदाय जीवित रहा । नित्यानन्द ने इसकी व्यवस्था सँभाली एवं चरित्र की नियमावली सबके समक्ष रखी । उनकी मृत्यु पर उनके पुत्र वीरचन्द्र ने पिता के कार्य को हाथ में लिया तथा एक ही दिन में २५०० बौद्ध संन्यासी तथा संन्यासिनियों को चैतन्य सम्प्रदाय में दीक्षित कर डाला । चैतन्य की मृत्यु के कुछ पूर्व से ही रूप, सनातन तथा दूसरे कई भक्त वृन्दावन में रहने लगे थे तथा चैतन्य सम्प्रदाय की सीमा बँगाल से बाहर बढ़ने लगी थी । चैतन्य के छः साथी—रूप, सनातन, उनके भतीजे जीव, रघुनाथदास, गोपाल भट्ट एवं रघुनाथ भट्ट 'गोस्वामी' कहलाते थे । 'गोस्वामी' से धार्मिक नेता का बोध होता था । ये लोग शिक्षा देते, पढ़ाते और दूसरे मतावलम्बियों को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित करते थे । इन्होंने अपने सम्प्रदाय के धार्मिक नियमों से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ लिखे । भक्ति, दर्शन, उपासना, भाष्य, नाटक, गीत आदि विषयों पर भी उन्होंने रचना की । ये रचनाएँ सम्प्रदाय के दैनिक जीवन, पूजा एवं विश्वास आदि पर ध्यान रखते हुए लिखी गयी थीं ।

उक्त गोस्वामियों के लिए यह बड़ा ही शुभ अवसर था कि उनके वृन्दावन-वास काल में अकबर बादशाह भारत का शासक था तथा उसकी धार्मिक उदारता के कारण इन्होंने अनेक मन्दिर वृन्दावन में बनवाये और अनेक राजपूत राजाओं से आर्थिक सहायता प्राप्त की ।

सत्रहवीं शती के प्रारम्भिक ४० वर्षों में चैतन्य आन्दोलन ने बंगाल में अनेक गीतकार उत्पन्न किये । उनमें सबसे बड़े गोविन्ददास थे । ज्ञानदास, बलरामदास, यदुनन्दन दास एवं राजा वीरहम्बीर ने भी अच्छे ग्रन्थों की रचना की ।

अठारहवीं शती के आरम्भ में बलदेव विद्याभूषण ने वेदान्तसूत्र पर सम्प्रदाय के लिए भाष्य लिखा, जिसे उन्होंने 'गोविन्दभाष्य' नाम दिया तथा 'अचिन्त्य भेदाभेद' उसके दार्शनिक सिद्धान्त का नाम रखा ।

चैतन्य सम्प्रदाय में जाति-पाँति का भेद नहीं है । कोई भी व्यक्ति इसका सदस्य हो सकता है, पूजा कर सकता है तथा ग्रन्थ पढ़ सकता है । फिर भी विवाह के नियम एवं ब्राह्मण के पुजारी होने का नियम अक्षुण्ण था । केवल प्रारम्भिक नेताओं के वंशज ही गोस्वामी कहलाते थे । इन्हीं नियमों से अनेक मठ एवं मन्दिरों की व्यवस्था होती थी ।

चैतन्य दसनामी संन्यासियों में से भारती शाखा के संन्यासी थे । उनके कुछ साथियों ने भी संन्यास ग्रहण किया । किन्तु नित्यानन्द तथा वीरचन्द्र ने आधुनिक साधुओं के सरल अनुशासन को जन्म दिया, जिसके अन्तर्गत वैष्णव साधु वैरागी तथा वैरागिनी कलहाने लगे । ऐसा ही पहले स्वामी रामानन्द ने किया था । इस सम्प्रदाय में हजारों भ्रष्ट शाक्त, और बौद्ध आकर दीक्षित हुए । फलतः बहुत बड़ी अशुद्धता सम्प्रदाय में भी आ गयी । आजकल इस साधुशाखा का आचरण सुधर गया है ।

इनके मन्दिरों में मुख्य मूर्तियाँ कृष्ण तथा राधा की होती हैं, किन्तु चैतन्य, अद्वैत तथा नित्यानन्द की मूर्तियों की भी प्रत्येक मन्दिर में स्थापना होती है । कहीं-कहीं तो केवल चैतन्य की ही मूर्ति रहती है । संकीर्तन इनका मुख्य धार्मिक एवं दैनिक कार्य है । कीर्तनीय (प्रधान गायक) मन्दिर के जगमोहन में करताल एवं मृदंग वादकों के बीच नाचता हुआ कीर्तन करता है । अधिकतर 'गौरचन्द्रिका' का गायन एक साथ किया जाता है । संकीर्तन-दल व्यक्तिगत घरों में भी संकीर्तन करता है ।

चैत्र—इस मास के सामान्य कृत्यों के लिए देखिए कृत्यरत्नाकर, ८३-१४४; निर्णयसिन्धु, ८१-९० । कुछ महत्त्वपूर्ण व्रतों का अन्यत्र भी परिगणन किया गया है । शुक्ल प्रतिपदा कल्पादि तिथि है । इस दिन से प्रारम्भ कर चार मास तक जलदान करना चाहिए । शुक्ल द्वितीया को उमा, शिव तथा अग्नि का पूजन होना चाहिए । शुक्ल तृतीया मन्वादि तिथि है । उसी दिन मत्स्यजयन्ती मनानी चाहिए । चतुर्थी को गणेशजी का लड्डुओं से पूजन होना चाहिए । पञ्चमी को लक्ष्मीपूजन तथा नागों के पूजन का भी विधान है । षष्ठी के लिए देखिए 'स्कन्दषष्ठी ।' सप्तमी को दमनक पौधे से सूर्यपूजन की विधि है । अष्टमी को भवानीयात्रा होती है । इस दिन ब्रह्मपुत्र नदी में स्नान का महत्त्व है । नवमी को भद्रकाली की पूजा होती है । दशमी को दमनक पौधे से धर्मराज की पूजा का विधान है । शुक्ल एकादशी को कृष्ण भगवान् का दोलोत्सव तथा दमनक से ऋषियों का पूजन होता है । महिलाएँ कृष्णपत्नी रुक्मिणी का पूजन भी करती हैं तथा सन्ध्या काल में सभी दिशाओं में पञ्चगव्य फेंकती हैं । द्वादशी को दमनकोत्सव मनाया जाता है । त्रयोदशी को कामदेव की पूजा चम्पा के पुष्पों तथा चन्दन लेप से की जाती है । चतुर्दशी को नृसिंहदोलोत्सव मनाया जाता है । दमनक पौधे से एकवीर, भैरव तथा शिव की पूजा की जाती है । पूर्णिमा को मन्वादि, हनुमज्जयन्ती तथा वैशाख स्नानारम्भ किया जाता है ।

चौरासी पद—राधावल्लभ सम्प्रदाय के संस्थापक गोस्वामी हरिवंशजी ने तीन ग्रन्थ लिखे थे—'राधासुधानिधि', 'चौरासी पद' एवं 'स्फुट पद' । चौरासी पद का अन्य नाम 'हित चौरासी' भी है । हरिवंशजी का उपनाम 'हित' था जिसे उन्होंने इस ग्रन्थ के आरम्भ में जोड़ दिया है । इनका समय १५३६ वि० के लगभग है । हितचौरासी तथा स्फुट पद दोनों ही व्रजभाषा में रचे गये हैं । 'हितजी' की उक्त रचनाएँ बड़ी मधुर एवं राधाकृष्ण के प्रेमरस से परिपूर्ण हैं ।

चौरासी वैष्णवन की वार्ता—वल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत व्रजभाषा में कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं, जो कृष्णचरित्र सम्बन्धी कथाओं के प्रेमतत्त्व पर अधिक बल देते हैं । इनमें सबसे मुख्य गोस्वामी गोकुलनाथजी की संग्रहरचना "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" है जो १६०८ वि० सं० में लिखी गयी । इन वार्ताओं से अनेक भक्त कवियों के ऐतिहासिक कालक्रम निर्धारण में सहायता मिलती है ।

चौरासी सिद्ध—बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा के अन्तर्गत चौरासी सिद्ध बहुत प्रसिद्ध हैं । इनमें कुछ हठयोग के अभ्यासी शैव सन्त भी गिने जाते हैं । इनके समय तक बौद्ध सन्त धर्म, प्रज्ञा, शील तथा समाधि का मार्ग छोड़कर चमत्कारिक सिद्धियों की प्राप्ति में लग गये थे । नीति और औचित्य का विचार इनकी साधना में नहीं था । सिद्धों में सभी वर्णों के लोग सम्मिलित थे । अतः इनमें ब्राह्मणों के आचार-विचार का पालन नहीं होता था । इनमें से बहुत से सुरापी और परस्त्रीसेवी थे । ये मांस आदि का भी सेवन करते थे । रजकी, भिल्लनी, डोमिनी आदि इनकी साधिकाएँ थीं । सिद्ध इनमें से किसी एक को माध्यम बनाकर और उसके सहयोग से वाममार्गीय उपचार करके यक्षिणी, डाकिनी, कर्णपिशाचिनी आदि को सिद्ध करते थे । यह सकाम साधना थी । इनमें से कुछ निष्काम निर्गुण ब्रह्म के भी उपासक थे, जो ध्यान द्वारा शून्यता में लीन हो जाते थे । इन सिद्धों में नारोपा, तिलोपा, मीनपा, जालन्धरपा आदि प्रसिद्ध हैं । सिद्धों के चमत्कार लोक में प्रचलित थे । सिद्धों ने अपभ्रंश अथवा प्रारम्भिक हिन्दी में अपने प्रिय विषयों पर प्रारम्भिक पद्यरचना भी की है ।

चौल (चूड़ाकरण)—प्रथम मुण्डन या चूड़ाकरण संस्कार को चौल कहते हैं । यह बालक के जन्म के तीसरे वर्ष अथवा जन्म के एक वर्ष के भीतर किया जाता है । आश्वलायन गृह्यसूत्र (१.४) के अनुसार यह संस्कार शुभ मुहूर्त में विषम वर्ष में होना चाहिए । इसमें ब्राह्मण पुरोहित, नाई एवं दूसरे सम्बन्धी आमंत्रित किये जाते हैं । बालक माता-

पिता द्वारा मंडप में लाया जाता है तथा दोनों के बीच बैठता है। पुरोहित बालक के पिता से संकल्प तथा नवग्रह-होम कराता है। पुनः वह बालक के निकट एक वर्गाकार चिह्न बनाता तथा लाल मिट्टी से उसे चिह्नित करके उस पर चावल छिड़कता है। बालक फिर उस वर्गाकार चिह्न के पास बैठता तथा नाई उसके केश, अपने अस्तुरे की पूजा होने के पश्चात् उतारता है। बीच में केवल वह एक केशसमूह छोड़ देता है जो कभी नहीं काटा जाता और जिसे शिखा कहते हैं। उत्सव का अन्त भोज एवं ब्राह्मणों को दान देकर किया जाता है।

इस संस्कार का प्रयोजन केशपरिष्कार एवं केश अलंकरण है। आयुर्वेद में इस बात का उल्लेख है कि जहाँ शिखा रखी जाती है उसके नीचे मनुष्यशरीर का मर्मस्थल है। अतः उसकी रक्षा के लिए उसके ऊपर केशसमूह का रखना आवश्यक है।

च्यवन, च्यवान—एक प्राचीन ऋषि के नाम च्यवन एवं च्यवान हैं। ऋग्वेद (१.११६.१०—१३;११८,६; ५.७४,५;७.६८,६;७१,५;१०.४९,४) में वे वृद्ध एवं बलहीन पुरुष के रूप में वर्णित हैं, जिन्हें अश्विनों ने यौवन तथा बल प्रदान किया। शतपथ ब्राह्मण में कथा दूसरे ढंग से दी गयी है। यहाँ च्यवन के शर्याति की पुत्री सुकन्या से विवाह करने की कथा है। उन्हें भृगु अथवा आङ्गिरस कहा गया है। जैमिनीय ब्राह्मण में लिखा है कि भृगु के दूसरे पुत्र विदन्वन्त ने इन्द्र के विरुद्ध च्यवन की सहायता की, जबकि इन्द्र इनसे अश्विनों के प्रति यज्ञ करने से रुष्ट था। यह भी उल्लेखनीय है कि शतपथ-ब्राह्मण में सुकन्या के परामर्श पर अश्विनीकुमार यज्ञ में अपना भाग लेने आते हैं। किन्तु इन्द्र और च्यवन में समझौता हो गया होगा, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण के एक उद्धरण से पता चलता है कि च्यवन ने शर्याति के ऐन्द्र महाभिषेक का शुभारम्भ कराया था। पञ्चविंश ब्राह्मण (११.५,१२;१९.३,६;१४.६,१०;११.८,११) में च्यवन को सामवेद का ऋषि कहा गया है। इन्हीं वैदिक सन्दर्भों के आधार पर पुराणों में च्यवन-सम्बन्धी कई कथाएँ पायी जाती हैं।

छ

छठमाता—कार्तिक शुक्ल षष्ठी को 'छठमाता' कहते हैं और इस दिन सूर्य की पूजा होती है। आजकल सूर्यपूजा का वैदिक काल की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण रह गयी है। फिर भी सूर्यपूजा का प्रभाव है। उड़ीसा में पुरी के समीप कोणार्क तथा गया में सूर्यमन्दिर हैं। प्रत्येक रविवार को सूर्योपासक मांस, मछली नहीं खाते तथा इस दिन को अति पवित्र मानते हैं। कार्त्तिक मास के रविवार विहार एवं बंगाल में सूर्योपासना के लिए अति महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

सूर्यदेव के सम्मान में बिहार में कार्त्तिक शुक्ल षष्ठी के दिन एक पर्व मनाया जाता है। उस दिन सूर्योपासक लोग व्रत करते हैं तथा अस्त होते हुए सूर्य को अर्घ्य देते हैं, पुनः दूसरे दिन प्रातः उदय होते हुए सूर्य को अर्घ्य देते हैं। यह कार्य किसी नदी के जल में या तालाब के जल में खड़े होकर स्नानोपरान्त करते हैं। श्वेत पुष्प, चन्दन, सुपारी, चावल, दूध, केला आदि भी सूर्य को चढ़ाते हैं। पुरोहित के बदले इस पूजा की क्रिया परिवार का सबसे बड़ा वृद्ध (विशेष कर बुढ़िया) करता है। कहीं-कहीं मुसलमान भी यह पूजा करते हैं।

छठी—गृह्यसूत्रों में षष्ठी एक शिशुघातिनी यक्षिणी मानी गयी है। इसको जन्म के छठे दिन तुष्ट करके विदा किया जाता है तथा शिशु के दीर्घायुष्य की कामना की जाती है।

अन्य शुभ रूप में शिशु के जन्म के छठे दिन की रात को माता षष्ठी या छठी माता की पूजा करती है तथा जौ के आटे के रोट व चावल चीनी के साथ पकाकर देवी को चढ़ाती है। यह प्रथा विशेष कर चमारों में पायी जाती है। दुसाध जाति में भी इस पूजा का महत्त्व है। वे भी छठी माँ की पूजा करते हैं। छठी की पूजा के पहले पूजा करने वाले उपवास से अपने को पवित्र करते हैं तथा गान करते हुए नदी के तट पर जाते हैं। वहाँ नदी में पूर्व दिशा की ओर मुख करके चलते रहते हैं जब तक सूर्योदय नहीं होता है। सूर्योदय के समय वे हाथ जोड़कर खड़े होते हैं तथा रोट व फल सूर्य को चढ़ाते तथा स्वयं उसे प्रसाद स्वरूप खाते हैं।

छत्र—देवताओं के अलङ्करण के लिये जो उपादान काम में लाये जाते हैं उनमें एक छत्र भी है। यह राजत्व अथवा अधिकार का द्योतक है। राजपदसूचक उपकरणों में भी छत्र प्रधान है जो राज्याभिषेक के समय से ही राजा के ऊपर लगाया जाता है। इसीलिए उसकी छत्रपति पदवी

है। देवमूर्तियों के ऊपर प्रायः प्रभामण्डल और छत्र का अङ्कन होता है।

बौद्ध स्तूपों की हर्म्यिका के ऊपर भी छत्र अथवा छत्रावलि (कई छत्रों का समूह) पायी जाती है।

छन्द (वेदाङ्ग)—वेद के छः अङ्ग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द। जैसे मनुष्य के अङ्ग आँख, कान, नाक, मुँह, हाथ और पाँव होते हैं, वैसे ही वेदों की आँख ज्योतिष है, कान निरुक्त हैं, नाक शिक्षा है, मुख व्याकरण है, हाथ कल्प हैं तथा पाँव छन्द हैं। शिक्षा और छन्द से ठीक-ठीक रीति से उच्चारण और पठन का ज्ञान होता है। इस प्रकार वैदिक साहित्य का छठा अङ्ग छन्द है। ऋग्वेद सम्पूर्ण पद्यमय है। सामवेद एवं अथर्ववेद भी पद्यमय ही हैं। केवल यजुर्वेद में पद्य और गद्य दोनों हैं। पद्य अथवा छन्दों की संख्या एवं प्रकार अगणित हैं।

छन्द का प्रधान प्रयोजन भाषा का लालित्य है। गद्य को सुनकर कान और मन को वह तृप्ति नहीं होती जो पद्य को सुनकर होती है। पद्य याद भी जल्दी होते हैं और बहुत काल तक स्मरण रहते हैं। साथ ही वे गम्भीर से गम्भीर भाव संक्षेप में व्यक्त कर देते हैं। यह तो छन्दों का साधारण गुण हुआ, परन्तु वेदाध्ययन में छन्द का ज्ञान अनिवार्य है। छन्दों को जाने विना वेदाध्ययन पाप माना जाता है।

छन्दों को वेद का चरण बताया जाता है। जिन छन्दों का प्रयोग संहिताओं में हुआ है वे और किसी ग्रन्थ में नहीं पाये जाते। वेद के ब्राह्मण एवं आरण्यक खण्ड में वैदिक छन्दों के विषय में बहुत सी कथाएँ आयी हैं पर उनसे छन्द के विषय का विशेष ज्ञान नहीं होता। कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणिका' में सात छन्दों का उल्लेख है : (१) गायत्री (२) उष्णिक् (३) अनुष्टुप्, (४) बृहती (५) पंक्ति (६) त्रिष्टुप् और (७) जगती। गायत्री छन्द में सब मिलाकर सस्वर २४ अक्षर होते हैं। वैदिक गायत्री छन्द त्रिपदा अर्थात् तीन चरणों का होता है। इसी प्रकार २८ अक्षरों का उष्णिक् छन्द होता है। अनुष्टुप् में ३२ अक्षर होते हैं। बृहती में ३६, पंक्ति में ४०, त्रिष्टुप् में ४४ और जगती में ४८ अक्षर होते हैं। जान पड़ता है. जगती से बड़े छन्द वैदिक काल में नहीं बनते थे। वेद का बहुत भारी मन्त्रभाग इन्हीं सात छन्दों में है और इनमें से सबसे अधिक गायत्री छन्द का व्यवहार हुआ है। कात्यायन ने इन सात छन्दों के अनेक भेद स्थिर किये हैं। उन सब भेदों को जानने के लिए कात्यायन की रची सर्वानुक्रमणिका देखनी चाहिए।

इन्हीं सात छन्दों को मूल मानकर व्यावहारिक भाषा में अनन्त छन्दों का निर्माण हुआ है। उत्तररामचरित में लिखा है कि पहले-पहल , आदिकवि वाल्मीकि के मुख से लौकिक अनुष्टुप् छन्द की रचना हुई थी। इसके कुछ ही दिन बाद आत्रेयी ने वनदेवता से बातों-बातों में इसकी चर्चा की। इस पर वनदेवता बोली, "क्या आश्चर्य की बात है! यह तो वेद से अतिरिक्त किसी नये छन्द का आविष्कार हो गया है।" इस कथा से जान पड़ता है कि भवभूति के अनुसार पहला लौकिक छन्द अनुष्टुप् है और पहले लौकिक कवि वाल्मीकि थे। वाल्मीकिरामायण में भी इस तरह की कथा दी हुई है। परन्तु वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, दूसरे सर्ग के १५वें श्लोक की टीका करते हुए रामानुज स्वामी यह प्रकट करते हैं कि लौकिक छन्दों का प्रयोग वाल्मीकि से पहले चल चुका था।

कात्यायन की सर्वानुक्रमणिका के बाद छन्दशास्त्र के सबसे प्राचीन निर्माता महर्षि पिङ्गल हुए। इन्होंने १,६१,६६,२१६ प्रकार के वर्णवृत्तों का उल्लेख किया है। संस्कृत साहित्य में इस भारी संख्या में से लगभग ५० प्रकार के छन्द व्यवहार में आते हैं। अन्य लौकिक भाषाओं में संस्कृत की अपेक्षा बहुत प्रकार के छन्दों का व्यवहार हुआ है। परन्तु उनकी गिनती वेदाङ्ग में नहीं है।

छन्दस्—वेद अथवा वेदों के सूक्तों के पवित्र पाठ को छन्दस् कहते हैं। किन्हीं विद्वानों के मत में छन्दस् वेदों का प्राक्-संहिता रूप था जो संकलित न होकर केवल गान में सुरक्षित था। परन्तु सामान्यतः सम्पूर्ण वेद को ही छन्दस् कहते हैं। वैदिक भाषा को भी छन्दस् कहा जाता था। बौद्धों ने इसके प्रयोग का विरोध किया। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में कहा गया है कि जो छन्दस् का प्रयोग करेगा वह दुष्कृत (पाप) करेगा।

छन्दोग—सामवेद संहिता के मन्त्रों को गाने वाले छन्दोग कहलाते हैं। इन्हीं छन्दोगों के कर्मकाण्ड के लिए जो आठ ब्राह्मण ग्रन्थ व्यवहार में आते हैं वे छान्दोग्य कहे जाते हैं। ये सब आरण्यक ग्रन्थ 'छान्दोग्यारण्यक' नाम से प्रसिद्ध हैं।

छागमुख—स्वामी कार्तिकेय का एक पर्याय ।

छागरथ (छागवाहन)—अग्नि का पर्याय । अग्नि की मूर्तियों के अङ्कन में छाग (बकरी या भेड़) उनका वाहन दिखाया जाता है ।

छागहिंसा—यज्ञ में जो छागवलि होती थी उसको छागहिंसा कहते थे । वैष्णव प्रभाव के कारण छागहिंसा कैसे बन्द हुई इस सम्बन्ध में महाभारत और पुराणों में कई कथाएँ पायी जाती हैं । पाञ्चरात्र मत का प्रथम अनुयायी राजा वसु था । उसने जो यज्ञ किया उसमें पशुवध नहीं हुआ । ऋषियों ने देवों को अप्रसन्न जानकर छागहिंसा के सम्बन्ध में जब वसु से प्रश्न किया, तब उसने देवों के अनुकूल ही कहा कि छागवलि देनी चाहिए । इससे ऋषियों ने उसे शाप दिया और वह भूविवर में घुस गया । वहाँ उसने अनन्य भक्ति पूर्वक नारायण की सेवा की, जिससे वह मुक्त हुआ और नारायण की कृपा से ब्रह्मलोक को पहुँचा ।

छान्दोग्य—दे० 'छन्दोग' ।

छान्दोग्योपनिषद्—सामवेदीय उपनिषद् ग्रन्थों में छान्दोग्योपनिषद् और केनोपनिषद् प्रसिद्ध हैं । छान्दोग्य में आठ अध्याय हैं । छान्दोग्य ब्राह्मण का यह एक विशेषांश है । उसमें दस अध्याय हैं, परन्तु पहले दो अध्यायों में ब्राह्मणोपयुक्त विषयों पर विचार है । शेष आठ अध्याय उपनिषद् के हैं । छान्दोग्य ब्राह्मण के पहले अध्याय में आठ सूक्त आये हैं । ये सब सूक्त जन्म और विवाह की मंगल-प्रार्थना के लिए हैं । यह उपनिषद् ब्रह्मतत्त्व के सम्बन्ध में सर्वप्रधान समझी जाती है । साथ ही यह छः प्राचीन उपनिषदों में से एक है ।

छान्दोग्योपनिषद्दीपिका—यह माधवाचार्य द्वारा विरचित छान्दोग्योपनिषद् की शाङ्करभाष्यानुसारिणी टीका है ।

छान्दोग्यब्राह्मण—सामवेदीय ताण्डच शाखा के तीन ब्राह्मण ग्रन्थ हैं—'पञ्चविंश', 'षड्विंश' एवं 'छान्दोग्य' । छान्दोग्य ब्राह्मण में गृह्य यज्ञकर्मों के प्रायः सभी मन्त्र संगृहीत हैं । इसे उपनिषद्, संहितोपनिषद्, ब्राह्मण अथवा छान्दोग्य ब्राह्मण भी कहते हैं । इसमें सामवेद पढ़ने वालों की रुचि उत्पादन के लिए सम्प्रदायप्रवर्तक ऋषियों की कथा लिखी गयी है । इस ब्राह्मण के आठवें से लेकर दसवें प्रपाठक तक के अंश का नाम 'छान्दोग्योपनिषद्' प्रसिद्ध है । इसे 'मन्त्रब्राह्मण' भी कहते हैं ।

छान्दोग्यसूत्रदीप—'ब्राह्मायण' अथवा 'वसिष्ठसूत्र' (सामवेद के तीसरे श्रौतसूत्र) की 'छान्दोग्यसूत्रदीप' नामक वृत्ति या टीका पायी जाती है, जिसके लेखक धन्वी नामक विद्वान् थे ।

छिन्नमस्तकगणपति—उत्तराखण्ड में जहाँ सोम नदी मन्दाकिनी में मिलती है, वहाँ से पुल पार एक मील पर छिन्नमस्तक गणपति का मन्दिर है । यात्री इनके दर्शन के लिए आते रहते हैं । यह गणपति का वह रूप है जिसमें उनका सिर कटा हुआ दिखाया जाता है । इसकी कथा पुराणों में मिलती है । पार्वती ने अपने देहांश से गणपति का निर्माण किया था । एक बार पार्वती स्नानगृह में थीं, जिसकी रखवाली गणपति कर रहे थे । उसी बीच में शङ्करजी आये । गणपति ने उनको गृहप्रवेश करने से रोका । शङ्कर ने क्रुद्ध होकर गणपति का सिर काट दिया, जिससे वे छिन्नमस्तक हो गये ।

ज

जगजीवनदास—सं० १८०७ वि० के लगभग जगजीवनदास ने सतनामी (सत्यनामी) पंथ का पुनरुद्धार किया । ये बाराबंकी जिले के कोटवा नामक स्थान के रहने वाले योगाभ्यासी एवं कवि थे । इनकी शिक्षाएँ इनके रचे हिन्दी पद्यों में प्राप्त हैं । इनके एक शिष्य दूलनदासजी भी कवि थे ।

जगत्—पुरुषसूक्त के प्रथम मन्त्र के अनुसार पुरुष इस सब जगत् में व्याप्त हो रहा है अर्थात् उसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रखा है । पुरुषसूक्त के ही १७वें मन्त्र के अनुसार जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब ईश्वर की सामर्थ्य में यह कारण रूप से वर्तमान था । ईश्वर की इच्छानुसार उससे यह उत्पन्न होकर स्थूल नामरूपों में दिखाई पड़ता है ।

आचार्य शंकर के अनुसार परमार्थतः जगत् मायिक और मिथ्या है । परन्तु इसकी व्यावहारिक सत्ता है । जब तक मनुष्य संसार में लिप्त है तब तक संसार की सत्ता है । जब मोह नष्ट हो जाता है तब संसार भी नष्ट हो जाता है ।

आचार्य रामानुज ने ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध बताते हुए कहा है कि जड़ जगत् ब्रह्म का शरीर है । ब्रह्म ही

जगत् का उपादान और निमित्त कारण है। ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ है, फिर भी वह विकाररहित है। जगत् सत् है, मिथ्या नहीं है। आचार्य मध्व के मतानुसार जगत् सत्, जड़ और अस्वतन्त्र है। भगवान् जगत् के नियामक हैं। जगत् काल की दृष्टि से असीम है। इन्होंने भी जगत् की सत्यता को सिद्ध किया है। वल्लभाचार्य के मतानुसार ब्रह्म कारण और जगत् कार्य है। कार्य और कारण अभिन्न हैं। कारण सत् है, कार्य भी सत् है, अतएव जगत् सत् है। हरि की इच्छा से ही जगत् का तिरोधान होता है। लीला के लिए अपनी इच्छा से ब्रह्म जगत् रूप में परिणत हुआ है। जगत् ब्रह्मात्मक है, प्रपञ्च ब्रह्म का ही कार्य है। आचार्य वल्लभ अविकृत परिणामवादी हैं। उनके मत से जगत् मायिक नहीं है और न भगवान् से भिन्न ही है। उसकी न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। जगत् सत्य है, पर उसका आविर्भाव एवं तिरोभाव होता है। जगत् का जब तिरोभाव होता है तब वह कारण रूप से और जब आविर्भाव होता है तब कार्य रूप से स्थित रहता है। भगवान् की इच्छा से ही सब कुछ होता है। क्रीडा के लिए ही उन्होंने जगत् की सृष्टि की। अकेले क्रीडा सम्भव नहीं, अतएव भगवान् ने जीव और जगत् की सृष्टि की है।

आचार्य बलदेव विद्याभूषण के मतानुसार ब्रह्म जगत् का कर्त्ता एवं निमित्तकारण है। वही उपादान कारण है। ब्रह्म अविचिन्त्य शक्ति वाला है। इसी शक्ति से वह जगत् रूप में परिणत होता है।

जगदीश—जगत् का ईश (स्वामी), ईश्वर। ऐश्वर्य परमात्मा का एक गुण है जिससे सम्पूर्ण विश्व का वह शासन करता है।

जगन्नाथ—उड़ीसा प्रदेश के अन्तर्गत पुरी स्थान में कृष्ण भगवान् का एक मन्दिर है, जिसका नाम है जगन्नाथ-मन्दिर। 'जगन्नाथ' (विश्व के स्वामी) कृष्ण का ही एक नाम है। उपर्युक्त मन्दिर में जगन्नाथ की मूर्ति के साथ बलराम एवं सुभद्रा की भी मूर्तियाँ हैं। आषाढ़ में रथयात्रा के दिन भगवान् जगन्नाथ की सवारी रथ में निकलती है और जनता का अपार मेला लगता है। यह चार धामों में से एक धाम है। प्रत्येक आस्तिक हिन्दू भगवान् जगन्नाथ का दर्शन करना अपना पवित्र कर्तव्य समझता है। दे० 'पुरी'।

जगन्नाथमाहात्म्य—यह ब्रह्मपुराण का एक अंश है। ब्रह्मपुराण को आरम्भ में ब्रह्माजी का माहात्म्यसूचक बताया गया है। स्कन्दपुराण में इसका प्रमाण भी दिया गया है। परन्तु अन्त में २४५वें अध्याय के २०वें श्लोक में इसी पुराण में लिखा है कि यह वैष्णव पुराण है। इस पुराण में वैष्णव अवतारों की कथा की विशेषता और विशेष रूप से उत्कलवर्ती जगन्नाथजी के माहात्म्य का कथन इस बात को परिपुष्ट करता है।

जगन्नाथाश्रम स्वामी—अद्वैत सम्प्रदाय के एक प्रमुख वेदान्ताचार्य। जगन्नाथाश्रम स्वामीजी सुप्रसिद्ध नृसिंहाश्रम स्वामी के गुरु थे।

जगमोहन—उत्तर भारतीय मंदिर निर्माण कला (नागर शैली) के अन्तर्गत एवं विशेष कर उड़ीसा के मन्दिरों में गर्भगृह के सामने एक मण्डप होता है, जिसे जगमोहन कहते हैं। इस मण्डप में कीर्त्तन-भजन करने वाली मंडली आरती के समय या अन्य अवसरों पर गायन-वादन करती है।

जङ्गम—'जङ्गम' का व्यवहार दो अर्थों में होता है; प्रथम जङ्गम जाति के सदस्य के रूप में और द्वितीय एक अभ्यासी जङ्गम के अर्थ में। केवल दूसरी कोटि वाले ही पूजनीय होते हैं। अधिकांश जङ्गम विवाह करते एवं जीविका उपार्जित करते हैं। किन्तु जिन्हें अभ्यासी या आचार्य का कार्य करना होता है, वे आजन्म ब्रह्मचारी रहते हैं। उन्हें किसी मठ में रहकर शिक्षा तथा दीक्षा लेनी पड़ती है। सम्पूर्ण लिंगायत सम्प्रदाय इन जङ्गमों के अधीन होता है। जङ्गमों की दो श्रेणियाँ भी होती हैं—गुरुस्थल एवं विरक्त। गुरुस्थल का वर्णन पहले हो गया है, विरक्तों का वर्णन आगे किया जायगा। दे० 'लिङ्गायत' और 'वीरशैव'।

जङ्गमबाड़ी—काशी में भगवान् विश्वाराध्य का स्थान 'जङ्गमबाड़ी' (वाटिका) मठ के नाम से प्रसिद्ध है। यह मठ बहुत प्राचीन है। सर्वप्रथम मल्लिकार्जुन जङ्गम नामक शिवयोगी को काशिराज जयनन्ददेव ने विक्रम सं० ६३१ में प्रबोधिनी एकादशी के दिन इस मठ के लिए भूमिदान किया था। इस तरह यह ताम्रशासन लगभग पौने चौदह सौ बरसों का हुआ। इस मठ के पास १२ गाँव हैं। इनके सिवा गोदौलिया से लेकर दक्षिण में बंगाली टोला के डाकघर तक एवं पूर्व में अगस्त्यकुण्ड से पश्चिम में रामा-

पुरा तक सारा स्थान 'जङ्गमबाड़ी' मुहल्ला कहलाता है, जो अधिकांश मठ की ही जागीर है। इसके सिवा मानसरोवर, धनकामेश्वर, मनःकामेश्वर एवं साक्षीविनायक के सामने का स्थान इसी मठ के अधीन है। यह मठ शिवलिङ्गमय है। इसके अधीन हरिश्चन्द्रपुत्र रोहिताश्व को जहाँ साँप ने काटा था वह बगीचा भी है। यह मठ काशी में सबसे पुराना, ऐतिहासिक और दर्शनीय है।

जटायु—रामचन्द्रजी के वनवास का सहायक एक गरुडवंशज पक्षी, जो गृध्रराज कहलाता था। सीताहरण का विरोध करने पर रावण ने इसके पंख काट दिये थे। रामचन्द्रजी ने अपने हाथों इस पक्षी का अन्तिम संस्कार किया था।

जन्मतिथिकृत्य—प्रति वर्ष जन्मतिथि वाले दिन स्नान-ध्यान के पश्चात् पुरुष को गुरु, देवगण, अग्नि, ब्राह्मण, माता-पिता तथा प्रजापति का पूजन सम्मान आदि करना चाहिए। अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमानजी, विभीषण, कृपाचार्य, परशुराम, मार्कण्डेय (इन सबको चिरंजीवी माना गया है) का पूजन करना चाहिए। मार्कण्डेय की निम्नलिखित मन्त्र से प्रार्थना करनी चाहिए :

मार्कण्डेय महाभाग सप्तकल्पान्तजीवन।
चिरंजीवी यथा त्वं भो भविष्यामि तथा मुने॥

जन्मतिथि का उत्सव मनाने वाले को मिष्ट खाद्यपदार्थ खाना चाहिए किन्तु मांस वर्जित है। उस दिन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए तिलमिश्रित जल पीना चाहिए। दे० वर्षकृत्यकौमुदी, ५५३-५६४; तिथितत्त्व, २०-२६; समयमयूख, १७५।

जन्माष्टमी—दे० 'कृष्णजन्माष्टमी'।

जनक (विदेहराज)—मिथिला के राजा, जिनको शतपथ ब्राह्मण एवं बृहदारण्यकोपनिषद् में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जैमिनीय ब्राह्मण एवं कौषीतकि उपनिषद् में भी इन्हें सम्मान्य स्थान प्राप्त है। ये याज्ञवल्क्य वाजसनेय एवं श्वेतकेतु आरुणेय आदि ऋषियों के समकालीन थे। अपनी उदारता एवं ब्रह्मसम्बन्धी विवादों में दिलचस्पी के कारण ये प्रसिद्ध हैं। ये काशी के राजा अजातशत्रु के भी समकालीन कहे जाते हैं। ये कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मणों से समीपी सम्बन्ध रखते थे, जैसा कि याज्ञवल्क्य एवं श्वेतकेतु के उदाहरण से प्रकट है। उस समय दर्शन का विद्यापीठ कुरु-पञ्चाल था। शतपथ ब्राह्मण में जनक के ब्रह्मज्ञानी होने का उल्लेख है। इससे उनके जातिपरिवर्तन का बोध न होकर उनके ब्रह्मतत्त्वज्ञान का बोध होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं शांखायन श्रौतसूत्र में भी उनका उल्लेख है। कुछ विद्वानों के अनुसार उनका समय ६०० ई० पू० माना गया है। किन्तु यह तिथि सन्देहात्मक है, क्योंकि अजातशत्रु नाम के दो राजा थे, मगध एवं काशी के।

विदेह के राजा जनक एवं सीता के पिता की एकता कम सन्देहात्मक है, किन्तु इसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। सूत्रों में जनक अति प्राचीनकालीन राजा माने गये हैं एवं उनके समय में पत्नी का वह सम्मानित स्थान नहीं था जैसा आगे चलकर हुआ। भारतीय साहित्यिक और धार्मिक-दार्शनिक परम्परा में जनक विदेहराज और सीता के पिता के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, जो वाल्मीकिरामायण के प्रमुख पात्रों में से हैं।

जनक (सप्तरात्र यज्ञ)—पञ्चविंशब्राह्मण शाखा का एक श्रौतसूत्र है एवं एक गृह्यसूत्र। पहले श्रौतसूत्र का नाम माशक है। लाट्यायन ने इसे मशकसूत्र लिखा है। इस ग्रन्थ में 'जनक सप्तरात्र यज्ञ' की चर्चा है, किन्तु सप्तरात्र यज्ञ जनक कौन थे, यह बतलाना कठिन है।

जनकपुर—विहार का एक वैष्णव तीर्थ। उपनिषत्कालीन ब्रह्मज्ञान तथा रामावत वैष्णव सम्प्रदाय दोनों से इसका सम्बन्ध है। जनकपुर तीर्थ का प्राचीन नाम मिथिला तथा विदेहनगरी है। सीतामढ़ी अथवा दरभंगा से जनकपुर २४ मील दूर नेपाल राज्य के अन्तर्गत है, जिसके चारों ओर पूर्वक्रम से शिलानाथ, कपिलेश्वर, कूपेश्वर, कल्याणेश्वर, जलेश्वर, क्षीरेश्वर तथा मिथिलेश्वर रक्षक देवताओं के रूप में शिवमन्दिर अब भी विद्यमान हैं। इसके चारों ओर विश्वामित्र, गौतम, बाल्मीकि और याज्ञवल्क्य के आश्रम थे, जो अब भी किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। महाभारत काल में यह जंगल के रूप में था, जहाँ साधु-महात्मा तपस्या किया करते थे। अक्षयवट के तल से श्रीरामपंचायतन मूर्ति प्राप्त हुई थी, वह यहाँ पधरायी गयी है। लोगों का विश्वास है कि इससे जनकपुर की ख्याति और बढ़ गयी।

जनमसाखी—सिक्ख धर्म की प्रसिद्ध पुस्तक। इसमें गुरु नानक के जीवन की कथाएँ प्राप्त होती हैं। ये जनमसाखियाँ अनेक हैं। किन्तु कथाएँ काल्पनिक हैं एवं

उनके आधार पर नानक के जीवन के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है ।

जनमेजय—कुरुवंश का एक राजा, जो ब्राह्मण काल के अन्त में हुआ था । शतपथ ब्राह्मण में इसको अनेक अश्वों का स्वामी कहा गया है, जो थकने पर मीठे पेय से ताजे किये जाते थे । शतपथ ब्राह्मण में उद्धृत गाथा एवं ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उसकी राजधानी आसन्दीवन्त में थी । उसके उग्रसेन, भीमसेन एवं श्रुतसेन नामक भाइयों ने अश्वमेध यज्ञ द्वारा अपने को पापमुक्त कर पवित्र बनाया था । उसके अश्वमेध यज्ञ के पुरोहित थे इन्द्रोत देवापि शौनक । ऐतरेय ब्राह्मण उसके पुरोहित का नाम तुर कावशेय बताता है ।

महाभारत के अनुसार जनमेजय परीक्षित का पुत्र था । परीक्षित को तक्षक (नागों) ने मार डाला था । अपने पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए जनमेजय ने नागयज्ञ (नागों के साथ संहारकारी युद्ध) का आयोजन कर नागों का विध्वंस किया ।

जन्माष्टमीव्रत—भाद्र कृष्ण अष्टमी को श्रीकृष्णजन्मोत्सव के उपलक्ष्य में आधी रात तक निर्जल व्रत किया जाता है । इस अवसर पर प्रत्येक वैष्णव मन्दिर तथा घरों में श्री कृष्ण की झाँकी सजायी जाती है, कीर्त्तन होता है तथा अन्य मङ्गलोत्सव होते हैं ।

जपसाहेब—'जपसाहेब' कुछ प्रार्थनाओं का संग्रह ग्रंथ है । यह हिन्दी में है एवं इसकी रचना गुरु गोविन्दसिंह ने की थी । सिक्खों में इसका पारायण बहुत पुण्यकारी और पवित्र माना जाता है ।

जपजी—यह सिक्ख धर्म का प्रसिद्ध नित्यपाठ का ग्रन्थ है । इसमें पद्य एवं भजनों का संग्रह है । इन पदों को गुरु नानक ने भगवान् की स्तुति एवं अपने अनुयायियों की दैनिक प्रार्थना के लिए रचा था । गुरु अर्जुन ने अपने कुछ भजनों को इसमें जोड़ा तथा अन्य ग्रन्थ भी तैयार किये । 'जपजी' सिक्खों की पाँच प्रार्थनापुस्तकों में से प्रथम है तथा प्रातःकालीन प्रार्थना के लिए व्यवहृत होता है ।

जबलपुर (जाबालिपुर)—प्राचीन त्रिपुरी नगरी का परवर्ती और उत्तराधिकारी नगर । आजकल यह मध्य प्रदेश का प्रशासकीय, न्यायिक तथा शैक्षणिक केन्द्र है । स्थानीय परम्परा के अनुसार यहाँ जाबालि ऋषि का आश्रम था । जो जाबालिपुर चाहमान अभिलेखों में उल्लिखित है, वह इससे भिन्न (जालोर) है । यहाँ प्राचीन आश्रम के कोई चिह्न नहीं पाये जाते, परन्तु इसके पास का पनागर (पर्णागार = पर्णकुटी) प्राचीन ऋषि-आश्रमों का स्मरण दिलाता है । आस-पास बहुत से पवित्र स्थान हैं, जैसे देवताल, जहाँ एक प्राकृतिक सरोवर के चारों ओर अनेक मन्दिर बने हुए हैं और बैजनत्था जो तान्त्रिकों का प्रसिद्ध मन्दिर है । वास्तव में नर्मदा ही यहाँ की पवित्र नदी है, जिसके किनारे कई पवित्र घाट हैं । इनमें ग्वारी घाट, तिलवारा घाट, लमेटा घाट, रामनगर, भेड़ाघाट आदि प्रसिद्ध हैं । भेड़ाघाट पर नर्मदा और वानगंगा का संगम है । इन दोनों के बीच में एक पहाड़ी के ऊपर गौरीशङ्कर और चौसठ योगिनियों के प्रसिद्ध मन्दिर हैं । यहाँ पर कार्तिक पूर्णिमा को विशाल मेला लगता है ।

जमदग्नि—ऋग्वेद में उल्लिखित धार्मिक ऋषियों में जमदग्नि का नाम आता है । कुछ मन्त्रों में इनका नाम मन्त्ररचयिता के रूप में तथा एक मन्त्र में विश्वामित्र के सहयोगी के रूप में उल्लिखित है । अथर्ववेद, यजुर्वेद एवं ब्राह्मणों में प्रायः इनका उल्लेख है । इनकी उन्नति तथा इनके परिवार की सफलता का कारण चतुरात्र यज्ञ बताया गया है । अथर्ववेद में इनका सम्बन्ध अत्रि, कण्व, असित एवं वीतहव्य से बताया गया है । शुनःशेप के प्रस्तावित यज्ञ के ये अध्वर्यु पुरोहित थे ।

पौराणिक गाथाओं के अनुसार जमदग्नि परशुराम के पिता थे । हैहयों ने इनको अपमानित कर इनकी कामधेनु गाय छीन ली थी । इसका प्रतिशोध परशुराम ने लिया और उत्तर भारत के क्षत्रिय राजाओं को मिलाकर हैहयों को परास्त और ध्वस्त किया ।

जमदग्निकुण्ड (जमैथा)—अयोध्या से १६ मील दूर जमैथा ग्राम गोंडा जिले में है । यहाँ जमदग्निकुण्ड नामक प्राचीन सरोवर है, जिसका जीर्णोद्धार किया गया है । सरोवर के पास शिवमन्दिर तथा देवीमन्दिर है । पास में एक धर्मशाला है । यहाँ यमद्वितीया को मेला लगता है । कहा जाता है कि यहाँ कभी महर्षि जमदग्नि का आश्रम था ।

जम्भ—अथर्ववेद में 'जम्भ' का नाम एक रोग अथवा रोग के राक्षस के रूप में आता है । एक सूक्त में 'जङ्गिड' के पौधे से इसके अच्छा होने की चर्चा है । अन्यत्र इसे

'संहनु' कहा गया है। वेबर ने इसे बच्चों के दाँत निकलने के समय की वेदना का रोग कहा है। ब्लूमफील्ड एवं व्हिटने ने इसे शरीर के टूटने एवं अकड़ने की बीमारी कहा है।

जय—यह शब्द इतिहास, पुराण, महाभारत और रामायण के लिए प्रयुक्त हुआ है। ये ग्रन्थ जय नाम से पुकारे जाते हैं, क्योंकि इन ग्रन्थों के अनुसार आचरण करनेवाला संसार से ऊपर उठ जाता है। दे० तिथितत्त्व, पृष्ठ ७१ पर उद्धृत 'जयति अनेन संसारम्·········'।

जयतीर्थ—आचार्य मध्व के तिरोधान के ५० वर्ष बाद जयतीर्थ माध्व सम्प्रदाय के नेता हुए। संस्थापक के ग्रन्थों के ऊपर रचे गये इनके भाष्य सम्प्रदाय के मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनके रचे ग्रन्थ हैं—'तत्वप्रकाशिका' एवं 'न्यायसुधा', जो क्रमशः मध्वरचित ब्रह्मसूत्रभाष्य (वेदान्तसूत्र) एवं 'अनुव्याख्यान' के भाष्य हैं।

जयदासप्तमी—रविवासरीय शुक्ल पक्ष की सप्तमी जया अथवा जयदा नाम से प्रसिद्ध है। इस दिन विभिन्न फल तथा फूलों से सूर्य का पूजन करने का विधान है। इस दिन उपवास, रात्रि को या एक समय अथवा अयाचित भोजन ग्रहण करना चाहिए।

जयद्वादशी—पुष्य नक्षत्रयुक्त फाल्गुन शुक्ल द्वादशी को जयद्वादशी कहा जाता है। इस दिन किया गया दान तथा तप करोड़ों गुना पुण्य प्रदान करता है।

जयदेव—संस्कृत गीतिकाव्य 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव का भक्त कवियों में, विशेष कर राधा के भक्तों में, मुख्य स्थान है। ये तेरहवीं शती वि० में हुए थे और बंगाल (गौड) के राजा लक्ष्मणसेन के राजकवि थे। बंगाल में इन्हें निम्बार्क मत का अनुयायी माना जाता है। चैतन्य महाप्रभु जयदेव, चण्डीदास एवं विद्यापति के गीतों को बड़े प्रेम से गाते थे। 'राधाकृष्णगीत' नामक बंगला गीतों का संग्रह भी इन्हीं की रचना बताया जाता है।

जयदेव मिश्र—तेरहवीं शती वि० में इनका उदय हुआ था। ये न्यायदर्शन के आचार्य एवं 'तत्त्वालोक' नामक भाष्य के रचयिता थे। यह भाष्य गङ्गेश उपाध्याय रचित 'तत्त्वचिन्तामणि' पर है।

जयन्त—न्यायदर्शन के एक आचार्य। जीवनकाल ९५७ वि० के लगभग। इनकी 'न्यायमञ्जरी' न्यायदर्शन का विश्वकोश है। जैमिनीय उपनिषद्ब्राह्मण में 'जयन्त' नाम अनेक आचार्यों का बताया गया है :

(१) जयन्त पाराशर्य (पराशर के वंशज) विपश्चित् के शिष्य थे तथा इनका उल्लेख एक वंशावली में हुआ है।

(२) जयन्त वारक्य (वरक के वंशज) उसी वंश में कुबेर वारक्य के शिष्य थे। उनके पितामह भी उसी वंश में कंस वारक्य के शिष्य कहे गये हैं।

(३) जयन्त वारक्य, सुयज्ञ शाण्डिल्य, सम्भवतः पूर्वोक्त से अभिन्न थे, किन्तु इनका उल्लेख दूसरी वंशावली में हुआ है।

(४) जयन्त यशस्वी लौहित्य का भी नाम पाया जाता है।

जयन्तव्रत—इस दिन इन्द्रपुत्र जयन्त का पूजन होता है। इससे व्रती स्वस्थ तथा सुखी रहता है।

जयन्तविधि—उत्तरायण में रविवार को सूर्य पूजन करना चाहिए। इसको जयन्तविधि कहते हैं।

जयन्ती—(१) महापुरुषों के जन्मदिन के उत्सव को 'जयन्ती' कहते हैं। दे० 'अवतार'।

(२) भाद्र कृष्ण अष्टमी को रोहिणी नक्षत्र होने पर 'जयन्ती' कहते हैं। दुर्गा देवी का नाम भी जयन्ती है। इन्द्र की पुत्री भी जयन्ती कहलाती है।

जयन्तीकल्प—मध्वाचार्य रचित एक ग्रन्थ का नाम है।

जयपौर्णमासी—इस व्रत में एक वर्ष तक प्रत्येक पूर्णिमा के दिन किसी वस्त्रादि पर अंकित नक्षत्रों सहित चन्द्रमा की पूजा होती है।

जयव्रत—युद्ध में सफलता प्राप्त करने के लिए किये जाने वाले अनुष्ठान को 'जयव्रत' कहते हैं। हेमाद्रि व्रतकाण्ड, २.१५५ में विष्णुधर्मपुराण से एक श्लोक उद्धृत करते हुए कहते हैं कि पाँच गन्धर्वों की पूजा से विजय प्राप्त होती है।

जयविधि—दक्षिणायन के रविवार को यह वारव्रत किया जाता है। उपवास, नक्त और इसी दिन एकभक्त करने से करोड़ों गुने पुण्यों की प्राप्ति होती है।

जयरथ—काश्मीर शैव मतावलम्बी जयरथ १२वीं शती वि० में हुए थे। इन्होंने अभिनवगुप्त रचित 'तन्त्रालोक' का भाष्य किया है।

जयराम—पारस्कर रचित 'कातीय गृह्यग्रन्थ' पर जयराम की एक टीका बहुत प्रसिद्ध है।

जयापञ्चमी—हेमाद्रि, १.५४३-५४६ के अनुसार विष्णु का पूजन ही इस व्रत में कर्त्तव्य है। मास का उल्लेख नहीं मिलता। इसका अर्थ है कि प्रत्येक मास में यह व्रत करना चाहिए।

जयापार्वतीव्रत—आश्विन शुक्ल त्रयोदशी को आरम्भ करके कार्तिक कृष्ण तृतीया को इस व्रत की समाप्ति की जाती है। इसमें उमा तथा महेश्वर की पूजा का विधान है। २० वर्षपर्यन्त यह व्रत किया जाता है। प्रथम पाँच वर्षों में लवण निषिद्ध है। चावल का सेवन विहित है किन्तु गन्ने की बनी शक्कर, गुड़ अथवा अन्य कोई भी मिष्ट वस्तु निषिद्ध है। यह व्रत गुर्जरों में अत्यन्त प्रसिद्ध है।

जयावाप्ति—आश्विन की समाप्ति के पश्चात् प्रथम तिथि से पूर्णिमा (कार्तिकी पूर्णिमा) तक यह व्रत होता है। विशेष कर कार्तिकी पूर्णिमा से पहले वाले तीन दिन विष्णु की पूजा होती है। इससे कठिन प्रकार के काम्य कर्मों में सफलता मिलती है, जैसे विवाद, न्यायिक झगड़े, प्रणय सम्बन्ध आदि।

जया तिथि—तृतीया, अष्टमी तथा त्रयोदशी जया तिथियाँ हैं। निर्णयामृत, ३९ कहता है कि युद्ध के अवसरों की तैयारियों के लिए ये तिथियाँ उपयुक्त हैं और इन दिनों शक्ति प्रदर्शन अवश्य सफल होते हैं।

जया सप्तमी—(१) शुक्ल पक्ष की सप्तमी को रोहिणी, आश्लेषा, मघा, हस्त नक्षत्र होने पर इस व्रत का अनुष्ठान होना चाहिए। इसमें सूर्य की पूजा होती है। एक वर्षपर्यन्त यह चलना चाहिए। मास को तीन भागों में विभाजित करके प्रत्येक भाग में भिन्न-भिन्न पुष्प, धूप तथा नैवेद्यों से पूजा करनी चाहिए।

जरा—(१) तान्त्रिक सिद्धान्तानुसार पाताल में शक्ति की अवस्थिति है, ब्रह्माण्ड में शिव निवास करते हैं, अन्तरिक्ष में काल की अवस्थिति है और इस काल से ही 'जरा' की उत्पत्ति होती है। गीता के अनुसार जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि जीव के चार दुःख हैं, जिनका अनुदर्शन मनुष्य को करना चाहिए (जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम्। गीता १३.८)।

(२) पुराणों में जरा नाम की राक्षसी का भी वर्णन मिलता है। महाभारत में जरासन्ध की कथा प्रसिद्ध है।

जराबोध—ऋग्वेद में केवल एक बार यह शब्द आया है तथा इसका अर्थ सन्देहात्मक है। लुडविग ने इसको ऋषि का नाम बताया है। ओल्डेनबर्ग इसे व्यक्तिवाचक बताते हैं तथा इसका शाब्दिक अर्थ 'वृद्धावस्था में सावधानी' लगाते हैं।

जराबोध शरीर की एक स्थिति है। इसके कई लक्षण हैं, जैसे कान के सम्पुट पर के बालों का श्वेत होना। यह इस बात की चेतावनी है कि गार्हस्थ्य जीवन से मनुष्य को विरक्त होकर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना चाहिए।

जर्तिल—'जर्तिल' (जंगली तिल) का उल्लेख तैत्तिरीय संहिता (५.४.३.२) में अयोग्य यज्ञसामग्री के रूप में हुआ है। शतपथ ब्राह्मण (९.१.१.३) में जर्तिल के बीजों में ग्रहण करने के गुण के साथ ही अग्रहणीय (क्योंकि वे अकर्षित भूमि पर उगते हैं) गुण बताया गया है।

जर्वर—पञ्चविंश ब्राह्मण में वर्णित सर्पोत्सव में 'जर्वर' गृहपति थे।

जरिता—वैदिक संहिता में 'जरिता' का उल्लेख एक सारङ्ग पक्षी के रूप में हुआ है। इससे संबन्धित मन्त्र का आशय महाभारत के ऋषि मन्दपाल की कथा से जोड़ा जाता है, जिन्होंने 'जरिता' नामक सारङ्ग पक्षी (मादा) से विवाह किया, तथा उनके चार पुत्र हुए। उन पुत्रों को ऋषि ने त्याग दिया तथा दावानल को सौंप दिया। साथ ही मन्दपाल ने ऋग्वेद (१०.१४२) के अनुसार अग्नि की प्रार्थना की। यह पौराणिक अर्थ सन्देहात्मक है, यद्यपि सायण ने इसे ही ग्रहण किया है।

जरूथ—यह शब्द ऋग्वेद की तीन ऋचाओं में उद्धृत है। इससे एक दानव का बोध होता है जिसे अग्नि ने हराया था। लुडविग तथा ग्रिफिथ ने 'जरूथ' को देवशत्रु बताया है, जो उस युद्ध में मारा गया, जिसमें ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के परम्परागत रचयिता वसिष्ठ पुरोहित थे।

जल—पुरुषसूक्त के १३वें मन्त्र (पद्भ्यां भूमिः) के अनुसार पृथ्वी के परमाणुकारणस्वरूप से विराट् पुरुष ने स्थूल पृथिवी उत्पन्न की तथा जल को भी उसी कारण से उत्पन्न किया। १७वें मंत्र में कहा गया है कि उस परमेश्वर ने अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिलाकर जल को रचा।

धार्मिक क्रियाओं में जल का विशेष स्थान है। जल वरुण देवता का निवास और स्वयं भी देवता होने से पवित्र

करने वाला माना जाता है। इसलिए प्रत्येक धार्मिक कृत्य में स्नान, अभिषेक अथवा आचमन के रूप में इसका उपयोग होता है।

जलकृच्छ्र व्रत—कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को इस कृच्छ्र व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। इसमें विष्णु पूजन का विधान है। जल में रहते हुए उपवास करना चाहिए। इससे विष्णुलोक की प्राप्ति होती है।

जल जातूकर्ण्य—जातूकर्ण्य के वंशज। इनका शांखायन श्रौत्रसूत्र (१६.२९.७) में काशी, विदेह एवं कोसल के राजाओं के पुरोहित अथवा गृहपुरोहित के रूप में उल्लेख हुआ है।

जहका—यह यजुर्वेद में अश्वमेध के एक बलिपशु के रूप में उद्धृत किया गया है। सायण ने इसे 'विलवासी क्रोष्टा' बिल में रहने वाला श्रृगाल कहा है।

जाग्रद्गौरीपञ्चमी—श्रावण शुक्ल पञ्चमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इससे सर्पभय दूर होता है। इसमें रात्रिजागरण का विधान है। गौरी इसकी देवता हैं।

जातकर्म—गृह्य संस्कारों में से एक संस्कार। यह जन्म के समय नाल काटने के पहले सम्पन्न होना चाहिए। इसमें रहस्यमय मन्त्र पढ़े जाते हैं तथा शिशु को मधु और मक्खन चटाया जाता है। इसके तीन प्रमुख अङ्ग हैं: प्रज्ञाजनन (बुद्धि को जागृत करना), आयुष्य (दीर्घ आयु के लिए प्रार्थना) और शक्ति के लिए कामना। यह संस्कार शिशु का पिता ही करता है। वह शिशु को सम्बोधित करते हुए कहता है:

> अङ्गाद् अङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे।
> आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥

[अङ्ग-अङ्ग से तुम्हारा जन्म हुआ है, हृदय से तुम उत्पन्न हो रहे हो। पुत्र नाम से तुम मेरे ही आत्मा हो। सौ वर्ष तक जीवित रहो।] फिर शिशु की शक्ति वृद्धि के लिए कामना करता है:

> अश्मा भव, परशुर्भव, हिरण्यमस्तुतं भव।

[पत्थर के समान दृढ हो, परशु के समान शत्रुओं के लिए ध्वंसक बनो, शुद्ध सोने के समान पवित्र रहो।]

जातरूप—जाति के सौन्दर्य को रखनेवाला, स्वर्ण का एक नाम, जिसका उल्लेख परवर्ती ब्राह्मणों एवं सूत्रों में हुआ है। धार्मिक क्रियाओं में इसका प्रायः उपयोग होता है। बहुमूल्य होने के साथ यह पवित्र धातु भी है।

जाति—इसका मूल अर्थ है जन्म अथवा उत्पत्ति की समानता। कहीं-कहीं प्रजाति, परिवार अथवा वंश के लिए भी इसका प्रयोग होता है। हिन्दुओं की यह एक विशेष संस्था है, जो वर्णव्यवस्था (समाज के चार वर्गों में विभाजन) से भिन्न है। इसके आधार जन्म और व्यवसाय हैं तथा समान भोजन, विवाह आदि प्रथाएँ हैं; जब कि वर्ण का आधार प्रकृति के आधार पर कर्तव्य का चुनाव और तदनुकूल वृत्ति (शील और आचार) है। प्रत्येक जाति का आचार परम्परा से निश्चित है जिसको धर्मशास्त्र और विधि मान्यता देते हैं। तीन प्रकार के आचारों—देशाचार, जात्याचार तथा कुलाचार—में से एक जात्याचार भी है।

महाभारत में 'जाति' शब्द का प्रयोग मनुष्य मात्र के अर्थ में किया गया है। नहुषोपाख्यान में युधिष्ठिर का कथन है:

> जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
> संकरत्वात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥
> सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
> तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥

[हे महामति सर्प (यक्ष = नहुष)! 'जाति' का प्रयोग यहाँ मनुष्यत्व मात्र में किया गया है। सभी वर्णों (जातियों) का इतना संकर (मिश्रण) हो चुका है कि किसी व्यक्ति की (मूल) जाति की परीक्षा कठिन है। सभी जातियों के पुरुष सभी (जाति की) स्त्रियों से सन्तान उत्पन्न करते आये हैं। इसीलिए तत्त्वदर्शी पुरुषों ने शील को ही प्रधान माना है (जाति को नहीं)।]

जातित्रिरात्रव्रत—ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी से तीन दिन तक इस व्रत का अनुष्ठान होता है। द्वादशी को एकभक्त (एक समय भोजन) रहना चाहिए। त्रयोदशी के बाद तीन दिन उपवास का विधान है। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवजी की गणों सहित भिन्न-भिन्न पुष्पों तथा फलों से पूजा करनी चाहिए। यव, तिल तथा अक्षतों से होम करना चाहिए। सती अनसूया ने इसका आचरण किया था, अतएव तीनों देवताओं ने शिशु रूप से उनके यहाँ जन्म लिया।

जातूकर्ण्य—शुक्ल यजुर्वेद का प्रातिशाख्य सूत्र और उसकी अनुक्रमणी भी कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रातिशाख्य में अनेक आचार्यों के नामों के साथ जातूकर्ण्य का भी नामोल्लेख हुआ है।

जानकीकुण्ड—चित्रकूट में कामदगिरि की परिक्रमा में पयस्विनी नदी के बायें तट पर पहले प्रमोदवन मिलता

है। इसके चारों ओर पक्की दीवार और कोठरियाँ बनी हैं। बीच में दो मन्दिर हैं। प्रमोदवन से आगे पयस्विनी के तट पर जानकीकुण्ड है। नदीतटवर्ती श्वेत पत्थरों पर यहाँ बहुत से चरणचिह्न बने हुए हैं। कहते हैं, वनवास काल में जानकीजी यहाँ स्नान किया करती थीं।

जाबाल—याज्ञवल्क्य के एक शिष्य का नाम, जिसने शुक्ल यजुर्वेद अथवा वाजसनेयी संहिता का दूसरे चौदह शिष्यों के साथ अध्ययन किया था।

जाबालि—(१) जाबालिसूत्र के रचयिता जाबालि मुनि थे। रामायण में जाबालि के कथन से यह प्रकट होता है कि रामायणकाल में भी नास्तिक बड़ी संख्या में होते थे।

(२) छान्दोग्य उपनिषद् में जाबालि की उत्पत्ति की कथा है। जब वे पढ़ने के लिए आचार्य के पास गये तो आचार्य ने पूछा, ''तुम्हारे पिता का क्या नाम है और तुम्हारा गोत्र कौन सा है?'' जाबालि को यह ज्ञात न था। वे लौटकर माता जबाला के पास गये और कहा, ''माँ, आचार्य ने पूछा है कि मेरे पिता का नाम क्या है और मेरा गोत्र कौन है?'' माता ने उत्तर दिया, ''पुत्र, तुम्हारे पिता का नाम ज्ञात नहीं। जब तुम गर्भ में आये तो मैं कई पुरुषों के यहाँ दासी का काम करती थी। मेरा नाम जबाला है। आचार्य से कह देना कि तुम मातृपक्ष से जाबालि हो।'' बालक ने आचार्य के पास जाकर ऐसा ही निवेदन किया। आचार्य ने कहा, ''तुम सत्यवादी हो, तुम्हारा नाम सत्यकाम होगा।''

जाबालोपनिषद्—यह संन्यासवर्ग की उपनिषदों में से एक लघु उपनिषद् है। इस वर्ग की उपनिषदें वेदान्त सम्प्रदाय के संन्यासियों की व्यावहारिक जीवन सम्बन्धी नियमावली के सदृश हैं। यह चूलिका एवं मैत्रायणी के पश्चात् काल की है, किन्तु वेदान्तसूत्र एवं योगसूत्र की पूर्ववर्ती अवश्य है। इसका प्रारम्भ बृहस्पति और याज्ञवल्क्य के संवाद के रूप में होता है।

जाम्बवान्—जाम्बवान् को 'जामवन्त' भी कहते हैं। ये रामायणवर्णित ऋक्षसेना के नायक हैं। इन्होंने सीता के अन्वेषण और रावण के साथ युद्ध में राम की सहायता की थी। ये राम के युद्धसचिव भी थे। इनकी गणना भी अर्द्ध देवयोनि में होती है। कहते हैं कि ये ब्रह्माजी के अंश से अवतरित हुए थे।

जामदग्न्यद्वादशी—वैशाख शुक्ल द्वादशी को इस तिथिव्रत का अनुष्ठान होता है। जामदग्न्य के रूप में भगवान् विष्णु की सुवर्णप्रतिमा का पूजन करना चाहिए (जामदग्न्य परशुरामजी हैं) राजा वीरसेन ने इसी व्रत के आचरण से नल की प्राप्ति की थी।

जाया—(१) पाणिग्रहण संस्कार से प्राप्त धर्मपत्नी। यह वैवाहिक प्रेम का विषय तथा जाति की परम्परा का स्रोत है।

(२) जाया का एक अर्थ 'माता' भी है, अर्थात् 'जिससे उत्पन्न हुआ जाय'। क्योंकि पुरुष अपनी पत्नी से संतान के रूप में स्वयं उत्पन्न होता है, इसलिए पत्नी एक अर्थ में अपने पति की माता है।

जालन्धर—(१) प्राचीन काल में यह एक सिद्धपीठ था। यह अमृतसर से उत्तर पंजाब के मुख्य नगरों में है। कहा जाता है कि जालन्धर दैत्य की राजधानी यही थी। जालन्धर भगवान् शंकर द्वारा मारा गया। यहाँ विश्वपुरी देवी का मन्दिर है। इसे प्राचीन 'त्रिगर्ततीर्थ' कहते हैं। वैसे काँगड़ा के आस-पास का प्रदेश त्रिगर्त है।

(२) जालन्धर एक दैत्य का नाम है। पुराणों में इसकी कथा प्रसिद्ध है। इसकी पत्नी वृन्दा थी, जिसके पातिव्रत से यह अमर था। वही आगे चलकर भगवान् विष्णु को अत्यन्त प्रिय हुई और तुलसी के रूप में उनको अर्पित की जाती है। दे० 'वृन्दा'।

जिज्ञासादर्पण—श्रीनिवास (तृतीय) आचार्य श्रीनिवास द्वितीय के पुत्र थे। इन्होंने 'जिज्ञासादर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह विशिष्टाद्वैत मत का तार्किक ग्रन्थ है।

जित्वा-शैली—बृहदारण्यक उपनिषद् (४.१.२) में 'जित्वा शैली' विदेहराज जनक तथा याज्ञवल्क्य के समकालीन एक आचार्य कहे गये हैं। उनके मतानुसार 'वाक्' ब्रह्म है।

जीव (जीवात्मा)—भारतीय दर्शन में जगत् को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया गया है—चेतन और जड़। चेतन को ही 'जीव' संज्ञा दी गयी है। जीवन, प्राण और चेतना के अर्थों में भी 'जीव' शब्द का प्रयोग होता है। जीव चेतन और भोक्ता है, जड़-जगत् उसके लिए उपभोग्य है। परन्तु यह विभाजन व्यावहारिक है। पारमार्थिक दृष्टि से विश्व में एक ही सत्ता है, वह है ब्रह्म। जीव उसी का अंश और तदभिन्न है। जड़-जगत् भी इसी का प्रतिबिम्ब अथवा स्फुलिङ्ग है। अध्यास अथवा अविद्या के कारण

वस्तुतः चिद्रूप ब्रह्मांश ही जगत् में जीवरूप धारण करता है। इसकी तीन अवस्थाएँ हैं—(१) नित्यशुद्ध, जब वह ब्रह्मीभूत रहता है, (२) मुक्त, जब वह संसार में लिप्त होकर पुनः मुक्त होता है और (३) बद्ध, जब वह संसार में बद्ध होकर सुख-दुःख भोगता है।

अद्वैत वेदान्त में सब कुछ एक ही है, जीवबहुत्व भ्रम मात्र है। ब्रह्म और जीव में तात्त्विक भेद नहीं है। सांख्य दर्शन पुरुष (जीव) बहुत्व मानता है। उसके अनुसार प्रत्येक पुरुष का बन्ध और मोक्ष पृथक्-पृथक् होता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन भी जीवबहुत्व के सिद्धान्त को मानते हैं।

निम्बार्क के मत से जीव अणु है, विभु नहीं है, मुक्तावस्था में भी वह जीव ही है। जीव का नित्यत्व चिरस्थायी है। मुक्त जीव भी अणु है। मुक्त एवं बद्ध जीव में यही भेद है कि बद्धावस्था में जीव ब्रह्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं कर सकता। वह दृश्य जगत् के साथ एकात्मकता को प्राप्त किये रहता है। किन्तु मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात् अनुभव करता है। वह अपने को और जगत् को ब्रह्ममय देखता है। चैतन्य के मतानुसार जीव अणु चेतन है। ईश्वर गुणी है, जीव गुण है। ईश्वर देही, जीव देह है। जीवात्मा बहु और नानावस्थापन्न है। ईश्वर की विमुखता ही उसके बन्धन का कारण है और ईश्वर के सम्मुख होने से उसके बन्धन कट जाते हैं और उसे स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। जीव नित्य है। ईश्वर, जीव, प्रकृति और काल ये चार पदार्थ नित्य हैं तथा जीव, प्रकृति और काल ईश्वर के अधीन हैं। जीव ईश्वर की शक्ति एवं ब्रह्म शक्तिमान् है।

जीव (गोस्वामी)—ये चैतन्यदेव के शिष्य रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी के छोटे भाई के पुत्र थे। इन्होंने ही वैष्णवमत का प्रचार करने के लिए श्रीनिवास आदि को ग्रन्थों के साथ वृन्दावन से वंगदेश में भेजा था। जीव के गुरु सनातन थे। रूप तथा सनातन दोनों का प्रभाव जीव पर पड़ा था। चैतन्यदेव के अन्तर्धान होने के बाद जीव वृन्दावन चले आये और यहीं पर उनकी प्रतिभा का विकास हुआ। जीव ने वृन्दावन में राधा-दामोदर के मन्दिर की प्रतिष्ठा की। वे वहीं भगवान् के भजन-पूजन में जीवन व्यतीत करने लगे।

जीव ने रूप गोस्वामी कृत भक्तिरसामृतसिन्धु की टीका, 'क्रमसन्दर्भ' के नाम से भागवत की टीका, 'षट्-सन्दर्भ', 'भक्तिसिद्धान्त', 'गोपालचम्पू' और 'उपदेशामृत' नामक ग्रन्थों की रचना की। जीव गोस्वामी ने अपने सब ग्रन्थ अचिन्त्यभेदाभेद मत के अनुसार लिखे हैं। जीव गोस्वामी अठारहवीं शती वि० के मध्य से उसके अन्त तक जीवित थे। 'चैतन्यचरितामृत' के रचयिता कृष्णदास कविराज पर इनका बड़ा प्रभाव था।

जीवदशा—सत्रहवीं शती वि० के उत्तरार्ध में राधावल्लभ सम्प्रदाय के एक आचार्य और कवि ध्रुवदास द्वारा रचित यह एक ग्रन्थ है।

जीवत्पुत्रिका—आश्विन कृष्ण अष्टमी को उन स्त्रियों का यह निरम्बु व्रत होता है, जिनके पुत्र जीवित हों या जो पुत्र के होने और जीते रहने की अभिलाषिणी हों। दे० 'जीवत्पुत्रिकाष्टमी'।

जीवत्पुत्रिकाष्टमी—आश्विन कृष्ण अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसमें महिलाओं को अपने सौभाग्य (पत्नीत्व) तथा संतान के लिए शालिवाहन के पुत्र जीमूतवाहन की पूजा करनी चाहिए।

जीवन्तिका व्रत—कार्तिकी अमावस्या के दिन दीवार पर जीवन्तिका देवी की प्रतिमा अङ्कित करके पूजा करनी चाहिए। यह व्रत विशेष रूप से महिलाओं के लिए है।

जीवन्मुक्त—शरीर के रहते हुए ही मोक्ष का अनुभव करनेवाला। जिसको तत्त्व का साक्षात्कार तो हो गया हो परन्तु प्रारब्ध कर्म का भोग शेष हो वह जीवन्मुक्त है। सञ्चित और क्रियमाण कर्म उसके लिए बन्धन नहीं उत्पन्न करते। जीवन्मुक्त की दो अवस्थाएँ होती हैं—(१) समाधि और (२) उत्थान। समाधि अवस्था में वह ब्रह्मलीन रहता है और शरीर को शववत् समझता है। उत्थान अवस्था में वह सभी व्यावहारिक कार्यों को अनासक्तभाव से करता है।

जीवन्मुक्तिविवेक—सुरेश्वराचार्य द्वारा रचित एक ग्रन्थ। इसमें ज्ञानियों की जीवित अवस्था के रहने पर भी उनकी मोक्ष की अवस्था का स्वरूप बतलाया गया है।

जुहू—एक यज्ञपात्र। ऋग्वेद तथा परवर्ती साहित्य में यह शब्द 'बड़े चमचे' के अर्थ में व्यवहृत हुआ है, जिससे देवों के लिए यज्ञ में घृत दिया जाता है।

ज्येष्ठाव्रत—भाद्र शुक्ल अष्टमी को ज्येष्ठा नक्षत्र होने पर इस व्रत का आचरण किया जाता है। इसमें ज्येष्ठा नक्षत्र की पूजा का विधान है। यह नक्षत्र उमा तथा लक्ष्मी का प्रतीक माना जाता है। इससे अलक्ष्मी (दारिद्र्य तथा दुर्भाग्य) दूर हो जाती है। उपर्युक्त योग के दिन रविवार होने पर यह नील ज्येष्ठा भी कहलाती है।

जैत्रायण सहोजित—काठक संहिता (१८.५) में वर्णित एक राजा का विरुद, जिसने राजसूय यज्ञ किया था। कुछ विद्वानों ने जैत्रायण को व्यक्तिवाचक बताया है जो पाणिनि के सन्दर्भ 'कर्णादि गण' के अनुसार बना है। किन्तु कपिष्ठल संहिता में पाठ भिन्न है तथा इससे किसी भी व्यक्ति का बोध नहीं होता। यहाँ कर्त्ता इन्द्र है। यह पाठ अधिक सम्भव है तथा इससे उन सभी राजाओं का बोध होता है जो इस यज्ञ को करते हैं।

जैन धर्म—वेद को प्रमाण न मानने वाला एक भारतीय धर्म, जो अपने नैतिक आचरण में अहिंसा, त्याग, तपस्या आदि को प्रमुख मानता है। जैन शब्द 'जिन' से बना है जिसका अर्थ है 'वह पुरुष जिसने समस्त मानवीय वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली है।' अर्हन् अथवा तीर्थङ्कर इसी प्रकार के व्यक्ति थे, अतः उनसे प्रवर्तित धर्म जैन धर्म कहलाया। जैन लोग मानते हैं कि उनका धर्म अनादि और सनातन है। किन्तु काल से सीमित है, अतः यह विकास और तिरोभाव-क्रम से दो चक्रों—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में विभक्त है। उत्सर्पिणी का अर्थ है ऊपर जाने वाली। इसमें जीव अधोगति से क्रमश : उत्तम गति को प्राप्त होते हैं। अवसर्पिणी में जीव और जगत् क्रमशः उत्तम गति से अधोगति को प्राप्त होते हैं। इस समय अवसर्पिणी का पाँचवाँ (अन्तिम से एक पहला) युग चल रहा है। प्रत्येक चक्र में चौबीस तीर्थङ्कर होते हैं। इस चक्र के चौबीसों तीर्थङ्कर हो चुके हैं। इन चौबीसों के नाम और वृत्त सुरक्षित हैं। आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव थे, जिनकी गणना सनातनधर्मी हिन्दू विष्णु के चौबीस अवतारों में करते हैं। इन्हीं से मानवधर्म (समाजनीति, राजनीति आदि) की व्यवस्था प्रचलित हुई। तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ हुए जिनका निर्वाण ७७६ ई० पू० में हुआ। चौबीसवें तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर हुए (दे० 'महावीर')। इन्हीं तीर्थङ्करों के उपदेशों और वचनों से जैन धर्म का विकास और प्रचार हुआ।

जैन धर्म की दो प्रमुख शाखाएँ हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। 'दिगम्बर' का अर्थ है 'दिक् (दिशा) है अम्बर (वस्त्र) जिसका' अर्थात् नग्न। अपरिग्रह और त्याग का यह चरम उदाहरण है। इसका उद्देश्य है सभी प्रकार के संग्रह का त्याग। इस शाखा के अनुसार स्त्रियों को मोक्ष नहीं मिल सकता, क्योंकि वे वस्त्र का पूर्णतः त्याग नहीं कर सकतीं। इनके तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ नग्न होती हैं। इसके अनुयायी श्वेताम्बरों द्वारा मानित अङ्ग साहित्य को भी प्रामाणिक नहीं मानते। 'श्वेताम्बर' का अर्थ है 'श्वेत (वस्त्र) है आवरण जिसका'। श्वेताम्बर नग्नता को विशेष महत्त्व नहीं देते। इनकी देवमूर्तियाँ कच्छ धारण करती हैं। दोनों सम्प्रदायों में अन्य कोई मौलिक अन्तर नहीं है। एक तीसरा उपसम्प्रदाय सुधारवादी स्थानकवासियों का है जो मूर्तिपूजा का विरोधी और आदिम सरल स्वच्छ व्यवहार तथा सादगी का समर्थक है। इन्हीं की एक शाखा तेरह पंथियों की है जो इनसे उग्र सुधारक हैं।

जैन धर्म के धार्मिक उपदेश मूलतः नैतिक हैं, जो अधिकतर पार्श्वनाथ और महावीर की शिक्षाओं से गृहीत हैं। पाश्वनाथजी के अनुसार चार महाव्रत हैं—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय और (४) अपरिग्रह। महावीर ने इसमें ब्रह्मचर्य को भी जोड़ा। इस प्रकार जैन धर्म के पाँच महाव्रत हो गये। इनका आत्यन्तिक पालन भिक्षुओं के लिए आवश्यक है। श्रावक अथवा गृहस्थ के लिए अणुव्रत व्यावहारिक है। वास्तव में जैन धर्म का मूल और आधार अहिंसा ही है। मनसा वाचा कर्मणा किसी को दुःख न पहुँचाना अहिंसा है, अप्राणिवध उसका स्थूल रूप किन्तु अनिवार्य है। जीवधारियों को इन्द्रियों की संख्या के आधार पर वर्गीकृत किया गया है। जिनकी इन्द्रियाँ जितनी कम विकसित हैं उनको शरीरत्याग में उतना ही कम कष्ट होता है। इसलिए एकेन्द्रिय जीवों (वनस्पति, कन्द, फूल, फल आदि) को ही जैनधर्मी ग्रहण करते हैं, जैनधर्म में आचारशास्त्र का बड़ा विस्तार हुआ है। छोटे से छोटे व्यवहार के लिए भी धार्मिक एवं नैतिक नियमों का विधान किया गया है।

जैनधर्म में धर्मविज्ञान का प्रायः अभाव है, क्योंकि यह जगत् के कर्ता-धर्ता-संहर्ता के रूप में ईश्वर को नहीं मानता। ईश्वर, देव, प्रेत, राक्षस आदि सभी का इसमें प्रत्याख्यान है। केवल तीर्थङ्कर ही अतिभौतिक पुरुष हैं, जिनकी

पूजा का विधान है। जैन धर्म आत्मा में विश्वास करता है और प्रकृति के प्रवाह को सनातन मानता है। इसका अध्यात्मशास्त्र काफी जटिल है। जैन दर्शन की ज्ञान-मीमांसा का आधार नय (अथवा न्याय = तर्क) है। यह आगमपरम्परा का है, निगमपरम्परा का नहीं। इसके सप्तभङ्गी नय को 'स्याद्वाद' कहते हैं। यह वस्तु को अनेक धर्मात्मक मानता है और इसके अनुसार सत्य सापेक्ष और बहुमुखी है। इसको 'अनेकान्तवाद' भी कहते हैं। इसके अनुसार एक ही पदार्थ में नित्यत्व और अनित्यत्व, सादृश्य और विरूपत्व, सत्त्व और असत्त्व आदि परस्पर भिन्न धर्मों का सापेक्ष अस्तित्व स्वीकार किया जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार विश्व है, बराबर रहा है और बराबर रहेगा। यह दो अन्तिम, सनातन और स्वतन्त्र पदार्थों में विभक्त है, वे हैं (१) जीव और (२) अजीव; एक चेतन और दूसरा जड़, किन्तु दोनों ही अज और अक्षर हैं। अजीव के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं :

(१) पुद्गल (प्रकृति) (२) धर्म (गति) (३) अधर्म (अगति अथवा लय) (४) आकाश (देश) और (५) काल (समय)। सम्पूर्ण जीवधारी आत्मा तथा प्रकृति के सूक्ष्म मिश्रण से बने हैं। उनमें सम्बन्ध जोड़ने वाली कड़ी कर्म है। कर्म के आठ प्रकार और अगणित उप प्रकार हैं। कर्म से सम्पृक्त होने के ही कारण आत्मा अनेक प्रकार के शरीर धारण करने के लिए विवश हो जाता है और इस प्रकार जन्म-मरण (जन्म-जन्मान्तर) के बन्धन में फँस जाता है।

जैन धर्म और दर्शन का उद्देश्य है आत्मा को पुद्गल (प्रकृति) के मिश्रण से मुक्त कर उसको कैवल्य (केवल = शुद्ध आत्मा) की स्थिति में पहुँचाना। कैवल्य की स्थिति में कर्म के बन्धन टूट जाते हैं और आत्मा अपने को पुद्गल के अवरोधक बन्धनों से मुक्त करने में समर्थ होता है। इसी स्थिति को मोक्ष भी कहते हैं, जिसमें वेदना और दुःख पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं और आत्मा चिरन्तन आनन्द की दशा में पहुँच जाता है। मोक्ष की यह कल्पना वेदान्ती कल्पना से भिन्न है। वेदान्त के अनुसार मोक्षावस्था में आत्मा का ब्रह्म में विलय हो जाता है, किन्तु जैन धर्म के अनुसार आत्मा का व्यक्तित्व कैवल्य में भी सुरक्षित और स्वतन्त्र रहता है। आत्मा स्वभावतः निर्मल और प्रज्ञ है, किन्तु पुद्गल के सम्पर्क के कारण उत्पन्न अविद्या से भ्रमित हो कर्म के बन्धन में पड़ता है। कैवल्य के लिए नय के द्वारा 'केवल ज्ञान' प्राप्त करना आवश्यक है। इसके साधन हैं—(१) सम्यक् दर्शन (तीर्थङ्करों में पूर्ण श्रद्धा) (२) सम्यक् ज्ञान (शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान) (३) सम्यक् चारित्र्य (पूर्ण नैतिक आचरण)। जैन धर्म बिना किसी बाहरी सहायता के अपने पुरुषार्थ द्वारा पारमार्थिक कल्याण प्राप्त करने का मार्ग बतलाता है। भारतीय धर्म और दर्शन को इसने कई प्रकार से प्रभावित किया। ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में अपने नय सिद्धान्त द्वारा न्याय और तर्कशास्त्र को पुष्ट किया। तत्त्वमीमांसा में आत्मा और प्रकृति को ठोस आधार प्रदान किया। आचारशास्त्र में नैतिक आचारण, विशेष कर अहिंसा को इससे नया बल मिला।

जैमिनि—स्वतन्त्र रूप से 'जैमिनि' का नाम सूत्रकाल तक नहीं पाया जाता, किन्तु कुछ वैदिक ग्रन्थों के विशेषण रूप में प्राप्त होता है। यथा सामवेद की 'जैमिनीय संहिता', जिसका सम्पादन कैलेण्ड द्वारा हुआ है, 'जैमिनीय ब्राह्मण' जिसका एक अंश जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण है।

इनका काल लगभग चतुर्थ अथवा पञ्चम शताब्दी ई० पू० है। ये 'पूर्वमीमांसा सूत्र' के रचयिता तथा मीमांसा दर्शन के संस्थापक थे। ये बादरायण के समकालीन थे क्योंकि मीमांसादर्शन के सिद्धान्तों का ब्रह्मसूत्र में और ब्रह्मसूत्र के सिद्धान्तों का मीमांसादर्शन में खण्डन करने की चेष्टा की गयी है। मीमांसादर्शन ने कहीं-कहीं पर ब्रह्मसूत्र के कई सिद्धान्तों को ग्रहण किया है। पुराणों में ऐसा वर्णन मिलता है कि जैमिनि वेदव्यास के शिष्य थे, इन्होंने वेदव्यास से सामवेद एवं महाभारत की शिक्षा पायी थी। मीमांसादर्शन के अतिरिक्त इन्होंने भारतसंहिता की, जिसे जैमिनिभारत भी कहते हैं, रचना की थी। इन्होंने द्रोणपुत्रों से मार्कण्डेय पुराण सुना था। इनके पुत्र का नाम सुमन्तु और पौत्र का नाम सत्वान था। इन तीनों पिता-पुत्र-पौत्र ने वेदमंत्रों की एक-एक संहिता (संस्करण) बनायी, जिनका अध्ययन हिरण्यनाभ, पौष्यञ्जि और आवन्त्य नाम के तीन शिष्यों ने किया।

जैमिनिभारत—जैमिनिभारत या जैमिनीयाश्वमेध मूलतः संस्कृत भाषा में है, जिसका एक अनुवाद कन्नड में लक्ष्मीशदेवपुर ने १७६० ई० में किया। इसमें युधिष्ठिर के

अश्वमेधयज्ञीय अश्व द्वारा भारत के एक राज्य से दूसरे राज्य में घूमने का वर्णन है। किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य भगवान् कृष्ण का यश वर्णन करना है।

जैमिनिश्रौतसूत्र—सामवेद से सम्बन्धित एक सूत्र ग्रन्थ, जो वैदिक यज्ञों का विधान करता है।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण—ताण्डच और तलवकार शाखाएँ सामवेद के अन्तर्गत हैं। उनमें जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण दूसरी शाखा से सम्बन्धित है। इसका अन्य नाम तलवकार उपनिषद् ब्राह्मण भी है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह ग्रन्थ प्रारम्भिक छः उपनिषदों में गिना जाना चाहिए।

जैमिनीय न्यायमालाविस्तर—जैमिनीय न्यायमाला तथा जैमिनीय न्यायमालाविस्तर एक ही ग्रन्थ है। इसे विजयनगर राज्य के मन्त्री माधवाचार्य ने रचा है। मीमांसा दर्शन की पूर्णरूपेण व्याख्या इस ग्रन्थ में हुई है। न्यायमाला जैमिनिसूत्रों के एक-एक प्रकरण को लेकर श्लोकबद्ध कारिकाओं के रूप में है, विस्तर उसकी विवरणात्मक व्याख्या है। यह पूर्व मीमांसा का प्रमुख ग्रन्थ है। इसकी उपादेयता इसके छन्दोबद्ध होने के कारण भी है।

जैमिनीय ब्राह्मण—कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण भाग मन्त्रसंहिता के साथ ही ग्रथित है। उसके अतिरिक्त छः ब्राह्मणग्रन्थ पृथक् रूप से यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओं के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। वे हैं ऐतरेय, कौषीतकि, पञ्चविंश, तलवकार अथवा जैमिनीय, तैत्तिरीय एवं शतपथ। इस प्रकार जैमिनीय ब्राह्मण कर्मकाण्ड का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

जैमिनीय शाखा—सामसंहिता की तीन मुख्य शाखाएँ बतायी जाती हैं—कौथुमीय, जैमिनीय एवं राणायनीय शाखा। जैमिनीय शाखा का प्रचार कर्णाटक में अधिक है।

जैमिनीय सूत्रभाष्य—सं० १५८२ वि० के लगभग 'जैमिनीय सूत्रभाष्य' नाम का ग्रन्थ वल्लभाचार्य ने जैमिनि के मीमांसासूत्र पर लिखा था।

जोशीमठ—बदरीनाथ धाम से २० मील नीचे जोशीमठ अथवा ज्योतिर्मठ स्थित है। यहाँ शीतकाल में छः महीने बदरीनाथजी की चलमूर्ति विराजमान रहती है। उस समय यहाँ पूजा होती है। ज्योतीश्वर महादेव तथा भक्तवत्सल भगवान् के दो मन्दिर हैं। ज्योतीश्वर शिवमन्दिर प्राचीन है। जोशीमठ से एक रास्ता नीती घाटी होकर मानसरोवर कैलास के लिए जाता है।

स्वामी शंकराचार्य द्वारा स्थापित उत्तराम्नाय ज्योतिष्पीठ पूर्व काल में यहाँ विद्यमान था। इसी का अपभ्रंश नाम जोशीमठ है। कालान्तर में शांकरमठ और उसकी परम्परा लुप्त हो गयी। केवल नाम रह गया है, जिसके आधार पर कुछ संत-महंत मैदान के नगरों में धर्म प्रचार करते रहते हैं।

ज्ञाति—मूल रूप में इस शब्द का अर्थ 'परिचित' है, किन्तु ऋग्वेद तथा परवर्ती साहित्य में इसका अर्थ 'पितापक्षीय रक्तसम्बन्धी लोग' समझा गया है। पितृसत्तात्मक वैदिक समाज के गठन से भी इस अर्थ की पुष्टि होती है। यह प्रायः जाति का पर्याय है।

ज्ञातपाप—भक्तिमार्ग में पाप दो प्रकार के कहे गये हैं—अज्ञात तथा ज्ञात। अज्ञात पापों को यज्ञों से दूर किया जा सकता है, यदि वे यज्ञ निष्काम भाव से किये गये हों। जहाँ तक ज्ञात पापों का प्रश्न है, जब मनुष्य भक्तिमार्ग में प्रविष्ट हो अथवा निष्काम कर्म में लीन हो, तो वह पापों को याद करता ही नहीं, और करता भी है तो भगवान् उसे क्षमा कर देते हैं। भगवत्कृपा ही ज्ञात पापमोचन का मार्ग है।

ज्ञान—जन्म से मनुष्य अपूर्ण होता है। ज्ञान के द्वारा ही उसमें पूर्णता आती है। ब्रह्मरूप परमात्मा की सत्ता में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों शक्तियाँ वर्तमान हैं। पादेन्द्रिय को अध्यात्म, गन्तव्य को अधिभूत और विष्णु को अधिदैव माना गया है। इसी प्रकार वागिन्द्रिय तथा चक्षुरिन्द्रिय को क्रमशः अध्यात्म, वक्तव्य और रूप को अधिभूत, अग्नि और सूर्य को अधिदैव कहते हैं। मन को अध्यात्म, मन्तव्य को अधिभूत और चन्द्रमा को अधिदैव कहा गया है। इसी क्रम से प्राणी के भी तीन भाव होते हैं—आधिभौतिक शरीर, आधिदैविक मन और आध्यात्मिक बुद्धि। इन तीनों के सामञ्जस्य से ही मनुष्य में पूर्णता आती है। इस पूर्णता की प्राप्ति के लिए ईश्वर से निःश्वसित वेद का अध्ययन और अभ्यास आवश्यक है, क्योंकि वेदमन्त्रों में मूल रूप से इसके उपाय निरूपित हैं। मनुष्य को आधिभौतिक शुद्धि कर्म के द्वारा, आधिदैविक शुद्धि उपासना के द्वारा तथा आध्यात्मिक शुद्धि ज्ञान के द्वारा प्राप्त होती है। आध्यात्मिक शुद्धि प्राप्त होने पर परमात्मा के स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है और मनुष्य को मोक्ष मिल जाता है।

वेद में जो कहा गया है कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती, वह ज्ञान की सर्वश्रेष्ठता का ही परिचायक है। ज्ञान तत्त्वज्ञानी गुरु की निःस्वार्थ सेवा तथा उसमें श्रद्धा रखने से प्राप्त होता है। तत्त्वज्ञानी गुरु अपने शिष्य की सेवा, जिज्ञासा तथा श्रद्धा से सन्तुष्ट होकर उसे ज्ञानोपदेश देते हैं। ज्ञान संसार में सर्वाधिक पवित्र वस्तु है। योगी को भी पूर्ण योगसिद्धि मिलने पर ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।

ज्ञानमार्ग में प्रवेश करने का अधिकार साधनचतुष्टय से सम्पन्न व्यक्ति को दिया गया है। नित्यानित्यवस्तु-विवेक, इहामुत्र फलभोगविराग, शमदमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व साधनचतुष्टय कहलाते हैं। प्रथम साधन में आत्मा की नित्यता और संसार की अनित्यता का विचार आता है। दूसरे के अन्तर्गत इहलोक और परलोक सुख-भोग के प्रति विरक्ति का भाव निहित है। तीसरे में शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान—षट् साधन सम्पत्तियों का संचय होता है। तत्त्वज्ञान को छोड अन्य विषयों के सेवन से विरक्ति होना शम है, इन्द्रियों का दमन दम है, भोगों से निवृत्ति उपरति, शीतोष्ण, सुख-दुःख आदि को सहन करने की शक्ति तितिक्षा, गुरु और शास्त्र में अटूट विश्वास श्रद्धा तथा परमात्मा के चिन्तन में एकाग्रता समाधान कहे जाते हैं। चौथा साधन मोक्ष प्राप्ति की इच्छा ही मुमुक्षुत्व है। ये चारों साधन ज्ञानमार्गी के लिए आवश्यक हैं, इनके अभाव में कोई भी व्यक्ति ज्ञान-प्राप्ति का अधिकारी नहीं है।

ज्ञानप्राप्ति के श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीन अंग हैं। गुरु से तत्त्वज्ञान सुनने का नाम श्रवण, उस पर चिन्तन करने का नाम मनन और मननकृत पदार्थ की उपलब्धि का नाम निदिध्यासन है। इनके सम्यक् और उचित अभ्यास से मनुष्य को ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है। इस तरह प्रकृति के सभी भागों पर चिन्तन करते हुए साधक स्थूल से लेकर सूक्ष्म भावों तक अपना अधिकार स्थापित कर लेता है।

सांख्यदर्शन के अनुसार पंच महाभूत, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच तन्मात्रा, मन, अहंकार, महत्तत्त्व और प्रकृति इन चौबीस तत्त्वों के आयाम में सृष्टि के प्राणी अर्थात् पुरुष प्रकृति का उपभोग करते हैं। पर वेदान्तप्रक्रिया में प्राणों की रचना के ज्ञानार्थ पंचकोषों का निरूपण होता है। तदनुसार चेतन जीव के माया से मोहित होने की स्थिति आनन्दमय कोष है। बुद्धि और विचार विज्ञानमय, ज्ञानेन्द्रिय और मन मनोमय, पंचप्राण और कर्मेन्द्रिय प्राणमय तथा पांचभौतिक शरीर अन्नमय कोष है। इन कोषों में बद्ध होकर मनुष्य या जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है, लेकिन गुरु का उपदेश मिलने पर जब उसे अपने वास्तविक सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप का अनुभव होता है तो उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। जीव को माया से मुक्त कर मोक्ष तक पहुँचाने वाली क्रमिक स्थिति की सप्त ज्ञान-भूमियाँ हैं। स्थूलदर्शी पुरुष के लिए सीधे आत्मा का ज्ञान हो जाना असम्भव है। इसलिए प्राचीन महर्षियों ने इन सप्त ज्ञानभूमियों के निरन्तर अभ्यास से क्रमोन्नति करते हुए विज्ञानमय सप्त दर्शनों के माध्यम से मोक्ष पाने का मार्ग बनाया। सप्त ज्ञानभूमियों के सप्त दर्शन हैं न्याय, वैशेषिक, पातञ्जल, सांख्य, पूर्वमीमांसा, दैवीमीमांसा और ब्रह्ममीमांसा। क्रमशः इनकी साधना करके जीव ज्ञानमय बुद्धि हो जाने से परम पद को प्राप्त होता है। ज्ञान प्राप्ति के ये ही मूल तत्त्व हैं।

ब्रह्ममीमांसा या वेदान्त विचार के द्वारा साधक को ब्रह्मज्ञान तब प्राप्त होता है जब वह देहात्मवाद से क्रमशः आस्तिकता की उच्चभूमि पर अग्रसर होता रहता है। अतः ऐसे साधक को एकाएक 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' का उपदेश नहीं देना चाहिए। ज्ञानमार्ग में प्रवेश चाहने वाले प्रथम अधिकारी के लिए अन्तःकरण के सुख-दुःख रूप आत्मतत्त्व के उपदेश का न्याय और वैशेषिक दर्शन में विधान है। देह को आत्मा समझने वाले व्यक्ति के लिए प्रथम कक्षा में देह और आत्मा की भिन्नता का ज्ञान ही पर्याप्त है। सूक्ष्म तत्त्व में सामान्य व्यक्ति का एकाएक प्रवेश नहीं हो सकता, इसलिए न्याय और वैशेषिक दर्शन में आत्मा और शरीर के केवल पार्थक्य का ही ज्ञान कराया जाता है। इससे साधक देहात्मवाद से विरत हो व्यावहारिक तत्त्वज्ञान की ओर अग्रसर होता है। इससे आगे बढ़ने पर सांख्य और पातञ्जल दर्शन आत्मा के और भी उच्चतर स्तर का दिग्दर्शन कराते हैं। इन दोनों दर्शनों के अनुसार सुख-दुःख आदि सब अन्तःकरण के धर्म हैं। पुरुष को वहाँ असंग और कूटस्थ माना गया है। पुरुष के अन्तःकरण में सुख-दुःखादि का भोक्तृभाव औपचारिक है; तात्त्विक इसलिए नहीं है कि आत्मा निर्लिप्त और

निष्क्रिय है। इससे यही निष्कर्ष निकला कि सांख्य और पातञ्जल दर्शन द्वारा आत्मा की असंगता तो सिद्ध होती है पर एकात्मवाद नहीं।

सांख्य में बहुपुरुषवाद की कल्पना की गयी है। उससे परमात्मा की अद्वितीय उपलब्धि नहीं होती अपितु वह प्रत्येक पिण्ड में अलग-अलग कूटस्थ चैतन्य के रूप में ज्ञात होता है। इस तरह सांख्य की ज्ञानभूमि पुरुषमूलक है। प्रकृति के अस्तित्व की स्वीकृति के कारण वहाँ प्रकृति को अनादि और अनन्त कहा गया है।

इससे आगे बढ़ने पर मीमांसात्रय का आरम्भ होता है। कर्ममीमांसा या पूर्वमीमांसा में जगत् को ही ब्रह्म मानकर अद्वितीयता की सिद्धि की गयी है। इससे जीव द्वैतमय जगत् से अद्वैतमय ब्रह्म की ओर जाता है। इसमें साधक की गति ब्रह्म के तटस्थ स्वरूप की ओर होती है। इसके अनन्तर दैवीमीमांसा आती है। यह उपासनाभूमि है जो ब्रह्म की अद्वितीयता को प्रकृति के साथ मिश्रित कर उसको शुद्ध स्वरूप की ओर से दिखाती है। वहाँ ब्रह्म को ही जगत् की संज्ञा दी जाती है। इसमें आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्रकृति के ज्ञान के साथ होता है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार ब्रह्मसत्ता अधः, ऊर्ध्व सर्वत्र व्याप्त है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्र और नक्षत्रादि को ब्रह्म का रूप माना गया है। वहाँ परमात्मा को ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण चराचर के रूप में वर्णित किया गया है और उसे स्त्री-पुरुष, बालक, युवक और वृद्ध सभी रूपों में देखा गया है। इस तरह दैवीमीमांसा दर्शन की ज्ञानभूमि में परमात्मा को व्यापक, निर्लिप्त, नित्य और अद्वितीय कार्यब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है।

ज्ञान की सप्तम भूमि ब्रह्ममीमांसा वेदान्त की है। इसमें निरूपित ब्रह्म निर्गुण और प्रकृति से परे है। उसमें माया अथवा प्रकृति का आभास भी नहीं है। माया उसके नीचे ब्रह्म के ईश्वर भाव से सम्बद्ध है। वेद के अनुसार परमात्मा के चार पादों में से एक पाद मायाच्छन्न और सृष्टिविलसित है और शेष तीन माया से परे अमृत हैं। ये तीनों ब्रह्मभाव हैं। यहाँ सांख्य दर्शन का मायागत पुरुषवाद नहीं है। यहाँ माया का लय है इसीलिए वेदान्त में माया को अनादि कहकर भी सान्त कहा गया है। माया का एकान्त अभाव होने से शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। निर्गुण ब्रह्म देश, काल और वस्तु से भी परे है। इसीलिए वह नित्य, विभु और पूर्ण है। राजयोगी इसी निर्गुण परब्रह्म भाव का अनुभव करता है। साधक इस दशा में निर्विकल्प समाधि धारण करता है।

परब्रह्म परमात्मा स्वयं प्रकाशमान हैं, वे सर्वातीत और निरपेक्ष हैं, उन्हीं के तेजोमय प्रकाश से सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और बिजली आदि प्रकाशमान हैं। इन सबका प्रतिपादन वेदान्तभूमि में है। इसी की उपलब्धि से साधक को निर्वाण की प्राप्ति होती है। यहीं जीवनयज्ञ का अवसान और ज्ञानयज्ञ की पूर्णाहुति है।

ज्ञानकाण्ड—वेदों में समुच्चय रूप से प्रधानतः तीन विषयों का प्रतिपादन हुआ है—कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड एवं उपासनाकाण्ड। ज्ञानकाण्ड वह है जिससे इस लोक, परलोक तथा परमात्मा के सम्बन्ध में वास्तविक रहस्य की बातें जानी जाती हैं। इससे मनुष्य के स्वार्थ, परार्थ तथा परमार्थ की सिद्धि हो सकती है।

वेदान्त, ज्ञानकाण्ड एवं उपनिषद् प्रायः समानार्थक शब्द हैं। वेद के ज्ञानकाण्ड के अधिकारी बहुत थोड़े से व्यक्ति होते हैं; अधिकांश कर्मकाण्ड के ही अधिकारी हैं।

ज्ञानचन्द्र—वैशेषिक दर्शन के एक आचार्य। लगभग ६६० वि० के लगभग ज्ञानचन्द्र ने 'दशपदार्थ' नामक ग्रन्थ लिखा जो अपने मूल रूप में आजकल प्राप्त तो नहीं है, किन्तु इसका चीनी भाषा में अनुवाद पाया जाता है। प्रसिद्धि है कि यह चीनी अनुवाद ६४८ ई० में बौद्ध यात्री ह्वेनसाँग के द्वारा किया गया था।

ज्ञानतिलक—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोजों से प्राप्त और गुरु गोरखनाथ द्वारा रचित ग्रन्थों में से यह एक है।

ज्ञानदास—सत्रहवीं शती वि० के मध्य ४० वर्षों में चैतन्य-संप्रदाय के भक्ति आन्दोलन ने बँगला भाषा के अनेक गीतकारों और काव्य रचयिताओं को जन्म दिया। ज्ञानदास भी उनमें से ऐसे ही साहित्यिक भक्त थे।

ज्ञानदेव—महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त, जो नाथ सम्प्रदाय के एक आचार्य माने जाते हैं। इनका एक नाम ज्ञानेश्वर भी है। मराठी भाषा में भगवद्गीता पर इन्होंने बड़ी उत्तम व्याख्या लिखी है जो 'ज्ञानेश्वरी' के नाम से प्रसिद्ध है। ये शुद्धाद्वैतवाद का प्रचार वल्लभाचार्य के लगभग तीन सौ वर्षों पहले कर चुके थे। इन्होंने अपने 'अमृतानुभव'

नामक वेदान्त ग्रन्थ में अपनी गुरुपरम्परा लिखी है। इन्हीं की परम्परा में प्रज्ञाचक्षु महाराज गुलाबराव जैसे प्रकाण्ड विद्वान् और महात्मा हुए।

ज्ञानपाद—शैव आगमों एवं संहिताओं के चार विभाग हैं—ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद एवं चर्यापाद। ज्ञानपाद में दार्शनिक तत्त्वों का निरूपण है।

ज्ञानप्रकाश—सुधारवादी या निर्गुणवादी साहित्य सम्बन्धी एक ग्रन्थ, जिसको १८०७ वि० के लगभग जगजीवनदास सन्त ने लिखा था।

ज्ञानयाथार्थ्यवाद—अनन्ताचार्य अथवा अनन्तार्य रचित विशिष्टाद्वैतवाद का एक ग्रन्थ। इसमें आचार्य की दार्शनिकता एवं पाण्डित्य का पूरा परिचय मिलता है।

ज्ञानरत्नप्रकाशिका—तृतीय श्रीनिवास द्वारा रचित एक ग्रन्थ। इसमें दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन किया गया है।

ज्ञानलिङ्गजङ्गम—वीरशैवों के पाँच बड़े मठों में केदारेश्वर मठ अति प्राचीन है! परम्परानुसार यह ५००० वर्षों से अधिक पुराना है। महाराज जनमेजय के राजत्व काल में यहाँ के महन्त स्वामी आनन्दलिङ्ग जङ्गम थे। इनके शिष्य ज्ञानलिङ्ग जङ्गम हुए। मठ में प्राप्त एक ताम्र शासन से पता लगता है कि महाराज जनमेजय ने एक बड़ा क्षेत्र इस मठ को इसलिए दान दिया था कि उसकी आय से आनन्दलिङ्ग के शिष्य ज्ञानलिङ्ग भगवान् केदारेश्वर की पूजा किया करें। उक्त जनमेजय पाण्डव परीक्षित् का पुत्र था, यह कहना कठिन है। यह कोई परवर्ती राजा हो सकता है।

ज्ञानवसिष्ठम्—स्मार्त साहित्य के अन्तर्गत अध्यात्मज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ 'योगवासिष्ठ रामायण' बहुत उपयोगी रचना है। तमिल भाषा के प्रौढ़ ग्रन्थकार अलनन्तर मदवप्पत्तर ने संवत् १६५७ वि० में योगवासिष्ठ का तमिल में पद्य अनुवाद किया है, जिसका नाम 'ज्ञानवसिष्ठम्' है।

ज्ञानसमुद्र—दादूपन्थी सन्त सुन्दरदास (सं० १६५५-१७४६ वि०) द्वारा रचित एक ग्रन्थ।

ज्ञानसागर—यह ग्रन्थ आचार्य यज्ञमूर्ति (देवराज) द्वारा तमिल भाषा में रचा गया है। इन्होंने स्वामी रामानुजाचार्य से १६ वर्षों तक शास्त्रार्थ किया, किन्तु अन्त में रामानुज ने यामुनाचार्य के 'मायावादखण्डनम्' का अध्ययन कर इस अद्वैतवादी संन्यासी को परास्त किया। अन्त में इन्होंने वैष्णवमत स्वीकार कर लिया।

ज्ञानसागर नाम के कई ग्रन्थ हिन्दी आदि अन्य लोकभाषाओं में भी उपलब्ध होते हैं। इनमें साम्प्रदायिक धर्म और दर्शन सम्बन्धी उपदेश पाये जाते हैं।

ज्ञानसिद्धान्तयोग—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने गुरु गोरखनाथ रचित ३७ ग्रन्थों की खोज की है। 'ज्ञानसिद्धान्तयोग' भी उनमें से एक है। गोरखपन्थ के अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है।

ज्ञानस्वरोदय—चरणदासी पन्थ के संस्थापक महात्मा चरणदास ने इस ग्रन्थ की रचना की है। इसमें पन्थ के धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा है।

ज्ञानानन्द—वेदान्ताचार्य प्रकाशानन्द के गुरु स्वामी ज्ञानानन्द थे। इनका जीवनकाल १५वीं और १६वीं शती का मध्य भाग होना चाहिए। स्वामी ज्ञानानन्द की गणना छान्दोग्य तथा केनोपनिषद् के वृत्तिकारों एवं टीकाकारों में की जाती है।

ज्ञानामृत—(१) माध्व संप्रदाय के एक ग्रन्थव्याख्याकार। आनन्दतीर्थ द्वारा तैत्तिरीयोपनिषद् पर लिखे गये भाष्य पर ज्ञानामृत एवं अन्य आचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं।

(२) 'ज्ञानामृत, गोरखनाथ लिखित एक ग्रन्थ भी है।

ज्ञानामृतसागर—भागवतसम्प्रदाय का एक ग्रन्थ। 'नारदपाञ्चरात्र' और 'ज्ञानामृतसार' से पता चलता है कि भागवत धर्म की परम्परा बौद्धधर्म के फैलने पर भी नष्ट नहीं हो पायी। इसके अनुसार हरिभजन ही मुक्ति का परम साधन है। 'ज्ञानामृतसार' में छः प्रकार की भक्ति कही गयी है: स्मरण, कीर्तन, वन्दन, पादसेवन, अर्चन और आत्मनिवेदन।

ज्ञानावाप्तिव्रत—चैत्र पूर्णिमा के उपरान्त एक वर्ष तक इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसमें नृसिंह भगवान् की प्रतिदिन पूजा का विधान है। सरसों से होम तथा ब्राह्मणों को मधु, घृत, शर्करा से युक्त भोजन कराना चाहिए। वैशाख पूर्णिमा से तीन दिन पूर्व उपवास तथा पूर्णिमा के दिन सुवर्णदान का विधान है। इससे मेधा की वृद्धि होती है।

ज्ञानी—परमात्मा के स्वरूप, गुण, शक्ति आदि को जाननेवाला व्यक्ति। प्रायः उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता इन तीन प्रस्थानों के अध्ययन-चिन्तन और स्वानुभव से परमात्मा का ज्ञान होता है। सांख्य, योग, वैशेषिक दर्शनों या अन्य

संत-महात्माओं के उपदेशों से भी आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक आदि का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार से अध्यात्मतत्त्ववेत्ता ही ज्ञानी कहे जाते हैं, जो भगवान् के सगुण या निर्गुण दोनों स्वरूपों के ज्ञाता हो सकते हैं।

ज्ञानेश्वर—प्राचीन भागवत संम्प्रदाय का अवशेष आज भी भारत के दक्षिण प्रदेश में विद्यमान है। महाराष्ट्र में इस सम्प्रदाय के पूर्वाचार्य सन्त ज्ञानेश्वर समझे जाते हैं। जिस तरह ज्ञानेश्वर नाथसम्प्रदाय के अन्तर्गत योगमार्ग के पुरस्कर्ता माने जाते हैं, उसी प्रकार भक्ति मार्ग में वे विष्णुस्वामी संप्रदाय के पुरस्कर्ता माने जाते हैं। फिर भी योगी ज्ञानेश्वर ने मराठी में 'अमृतानुभव' लिखा जो अद्वैतवादी शैव परम्परा में आता है। निदान, ज्ञानेश्वर सच्चे भागवत थे, क्योंकि भागवत धर्म की यही विशेषता है कि वह शिव और विष्णु में अभेद बुद्धि रखता है।

ज्ञानेश्वर ने भगवद्गीता के ऊपर मराठी भाषा में एक 'ज्ञानेश्वरी' नामक १०,००० पद्यों का ग्रन्थ लिखा है। इसका समय १३४७ वि० कहा जाता है। यह भी अद्वैतवादी रचना है किन्तु यह योग पर भी बल देती है। २८ अभंगों (छंदों) की इन्होंने 'हरिपाठ' नामक एक पुस्तिका लिखी है जिस पर भागवतमत का प्रभाव है। भक्ति का उद्गार इसमें अत्यधिक है। मराठी संतों में ये प्रमुख समझे जाते हैं। इनकी कविता दार्शनिक तथ्यों से पूर्ण है तथा शिक्षित जनता पर अपना गहरा प्रभाव डालती है। दे० 'ज्ञानदेव'।

ज्ञानेश्वरी—भगवद्गीता का मराठी पद्यबद्ध व्याख्यात्मक अनुवाद। 'ज्ञानेश्वरी' को चौदहवीं शती के मध्य में संत ज्ञानेश्वर ने प्रस्तुत किया। उनकी यह कृति इतनी प्रसिद्ध और सुन्दर हुई कि आज भी धार्मिक साहित्य का अनुपम रत्न बनी हुई है। इसमें गीता का अर्थ बहुत ही हृदयग्राही और प्रभावशाली ढंग से समझाया गया है। दे० 'ज्ञानदेव' तथा 'ज्ञानेश्वर'।

ज्योतिष—छः वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष) में से एक वेदाङ्ग ज्योतिष है। ज्योतिष सम्बन्धी किसी भी ग्रन्थ का प्रसंग संहिताओं अथवा ब्राह्मणों में नहीं आया है। किन्तु वेद के ज्योतिष विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना और अध्ययनपरम्परा स्वतन्त्र रूप से चलती रही है।

सूत्रकाल में ज्योतिष की गणना छः वेदाङ्गों में होने लगी थी। यहाँ तक कि यह वेद का नेत्र तक समझा जाने लगा। वैदिक यज्ञों और ज्योतिष का घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। यज्ञों के लिए उपयुक्त समय (नक्षत्रादि की गति आदि) का ज्योतिष ही निर्देश करता है।

ज्योतिषतन्त्र—'सौन्दर्यलहरी' के ३१वें श्लोक की व्याख्या में विद्यानाथ ने ६४ तन्त्रों की सूची लिखी है। ये दो प्रकार के हैं, मिश्र एवं शुद्ध। इनमें 'ज्योतिषतन्त्र' मिश्र तन्त्र है।

ज्योतिःसरतीर्थ—कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत भगवद्गीता की उपदेशभूमि ज्योतिःसर अति पवित्र स्थान है। यहाँ पर एक अति प्राचीन सरोवर 'ज्योतिःसर' अथवा 'ज्ञानस्रोत' के नाम से प्रसिद्ध है।

ज्योतीश्वर—एक वेदान्ताचार्य, जिनका उल्लेख श्रीनिवासदास ने विशिष्टाद्वैतवादी ग्रन्थ यतीन्द्रमतदीपिका में अन्य आचार्यों के साथ किया है।

ज्वालामुखी देवी—हिमाचल प्रदेश में स्थित एक तीर्थ, जो पंजाब के पठानकोट से आगे ज्वालामुखीरोड स्टेशन से लगभग १३ मील दूर पर्वत पर ज्वालामुखी मन्दिर कहलाता है। यह शाक्त पीठ है। ज्वाला के रूप में यहाँ शक्ति का प्राकट्य देखा जाता है।

ज्वालेन्द्रनाथ—नाथ सम्प्रदाय के नौ नाथों में से एक ज्वालेन्द्रनाथ हैं। इनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। संभवतः जालन्धरनाथ ही ज्वालेन्दु या ज्वालेन्द्रनाथ हो सकते हैं।

झ

व्यञ्जन वर्णों के चवर्ग का चतुर्थ अक्षर। कामधेनुतन्त्र में इसके स्वरूप का निम्नांकित वर्णन है :

झकारं परमेशानि कुण्डली मोक्षरूपिणी
रक्तविद्युल्लताकारं सदा त्रिगुणसंयुतम् ।।
पञ्चदेवमयं वर्णं पंञ्च प्राणात्मकं सदा।
त्रिबिन्दुसहितं वर्णं त्रिशक्तिसहितं तथा ।।

वर्णोद्धारतन्त्र में इसके अनेक नाम बतलाये गये हैं :

झो झङ्कारी गुहो झञ्झावायुः सत्यः षडुन्नतः।
अजेशो द्राविणी नादः पाशी जिह्वा जलं स्थितिः ।।
विराजेन्द्रो धनुर्हस्तः कर्कशो नादजः कुजः।
दीर्घबाहुबलो रूपमाकन्दितः सुचक्षणः ।।

दुर्मुखो नष्ट आत्मवान् विकटा कुचमण्डलः ।
कलहंसप्रिया वामा अङ्गुलीमध्यपर्वकः ॥
दक्षहासादृहासश्च पाथात्मा व्यञ्जनः स्वरः ॥

इसके ध्यान की विधि निम्नांकित है :

ध्यानमस्य प्रवक्ष्यामि श्रृणुष्व कमलानने ।
सन्तप्तहेमवर्णाभां रक्ताम्वरविभूषिताम् ॥
रक्तचन्दनलिप्ताङ्गीं रक्तमाल्यविभूषिताम् ।
चतुर्दशभुजां देवीं रत्नहारोज्ज्वलां पराम् ॥
ध्यात्वा ब्रह्मस्वरूपां तां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥

झषकेतन—कामदेव का एक विरुद । इसका अर्थ है 'झष (मकर अथवा मत्स्य) केतन (ध्वजा) है जिसका' । मकर और मत्स्य दोनों ही काम के प्रतीक हैं ।

झषाङ्क—दे० 'झषकेतन' । इसका अर्थ भी कन्दर्प अथवा कामदेव है । हेमचन्द्र के अनुसार अनिरुद्ध का भी यह पर्याय है ।

झूँसी (प्रतिष्ठानपुर)—प्रयाग से पूर्व गङ्गा के वाम तट पर यह एक तीर्थस्थल है । कहा जाता है कि यहाँ चन्द्रवंशी राजा पुरूरवा की राजधानी थी । वर्तमान झूँसी की बगल में त्रिवेणीसंगम के सामने पुराना दुर्ग है, जो अब कुछ टीला और गुफा मात्र रह गया है । वहीं 'समुद्रकूप' नामक कुआँ है, जो बड़ा पवित्र माना जाना है । हो सकता है कि इसका सम्बन्ध गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त से भी हो ।

ञ

ञ—व्यञ्जन वर्णों के चवर्ग का पञ्चम अक्षर । कामधेनुतन्त्र में इसके स्वरूप का निम्नांकित वर्णन है :

सदा ईश्वरसंयुक्तं ञकारं श्रृणु सुन्दरि ।
रक्तविद्युल्लताकारं या स्वयं परकुण्डली ॥
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्च प्राणात्मकं सदा ।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा ॥

तन्त्रशास्त्र में इसके अनेक नाम बतलाये गये हैं :

ञकारो बोधनी विश्वा कुण्डली वियत् ।
कौमारी नागविज्ञानी सव्याङ्गुलं मखो वकः ॥
सर्वेशचूर्णिता बुद्धिः स्वर्गात्मा घर्घरध्वनिः ।
धर्मैकपादः सुमुखो विरजा चन्दनेश्वरी ॥
गायनः पुष्पधन्वा च रागात्मा च वराक्षिणी ॥

एकाक्षरकोष में इसका अर्थ 'घर्घर ध्वनि' है । परन्तु मेदिनीकोष के अनुसार इसका अर्थ 'शुक्र' अथवा 'वामगति' है ।

ट

ट—व्यञ्जन वर्णों के टवर्ग का प्रथम अक्षर। कामधेनुतन्त्र में इसके स्वरूप का वर्णन निम्नाङ्कित है :

टकारं चञ्चलापाङ्गि स्वयं परमकुण्डली ।
कोटि विद्युल्लताकारं पञ्चदेवमयं सदा ॥
पञ्चप्राणयुतं वर्णं गुणत्रयसमन्वितम् ।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा ॥

तन्त्रशास्त्र में इसके अनेक नाम बतलाये गये है :

टङ्कारश्च कपाली च सोमधा खेचरी ध्वनिः ।
मुकुन्दो विनदा पृथ्वी वैष्णवी वारुणी नयः ॥
दक्षाङ्ककार्द्धचन्द्रश्च जरा भूति पुनर्भवः ।
बृहस्पतिर्धनुश्चित्रा प्रमोदा विमला कटिः ॥
राजा गिरिर्महाधनुर्प्राणात्मा सुमुखो मरुत् ॥

टिप्पणी—किसी ग्रन्थ के ऊपर यत्र-तत्र विशेष सूचनिका जैसे उल्लेख को 'टिप्पणी' कहते हैं । उदाहरण के लिए 'महाभाष्य' की टीका उपटीकाएँ कैयट और नागेश ने लिखी हैं, उन पर आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र वैद्यनाथ पायगुण्डे ने 'छाया' नामक टिप्पणी लिखी है । बहुत से ऐसे धार्मिक और दार्शनिक ग्रन्थ हैं जिन पर भाष्य, टीका, टिप्पणी आदि क्रमशः पाये जाते हैं ।

टीका—ग्रन्थों के भाष्य अथवा विवरण लेखों को टीका कहते हैं (टीक्यते गम्यते प्रविश्यते ज्ञायते अनया इति) । वास्तव में 'टीका' ललाट में लगायी जानेवाली कुंकुम आदि की रेखा को कहते हैं । इसी तरह प्राचीन हस्तलेखपत्र के केन्द्र या मध्यस्थल में मूल रचना लिखी जाती थी और ऊर्ध्व भाग में ललाट के तिलक की तरह मूल की व्याख्या लिखी जाती थी । मस्तकस्थ टीका के सादृश्य से ही ग्रन्थव्याख्या को भी टीका कहा जाने लगा । ग्रन्थ के ऊर्ध्व भाग में टीका के न अमाने पर उसे पत्र के निचले भाग में भी लिख लिया जाता था ।

टुप्टीका—पूर्वमीमांसा विषयक 'शबरभाष्य' पर अष्टम शती वि० के उत्तरार्द्ध में कुमारिल भट्ट ने एक अनुभाष्य लिखा, जिसके तीन भाग हैं—(१) श्लोकवार्तिक (पद्यमय, अध्याय एक के प्रथम पाद पर) (२) तन्त्रवार्तिक (गद्य, अध्याय एक के अवशेष तथा अध्याय दो व तीन पर) और (३) टुप्टीका (गद्य)। टुप्टीका अध्याय चार से बारह तक के ऊपर संक्षिप्त टिप्पणी है। (पूर्वमीमांसा दर्शन कुल बारह अध्यायों में है।)

ठ

ठ—व्यञ्जन वर्णों के टवर्ग का द्वितीय अक्षर। कामधेनुतन्त्र में इसका स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है :

ठकारं चञ्चलापाङ्गि कुण्डली मोक्षरूपिणी।
पीतविद्युल्लताकारं सदा त्रिगुण संयुतम् ॥
पञ्चदेवात्मकं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा।
त्रिबिन्दुसहितं वर्णं त्रिशक्तिसहितं सदा ॥

तन्त्रशास्त्र में इसके अनेक नामों का उल्लेख है :

ठः शून्यो मञ्जरी बीजः पाणिनी लाङ्गली क्षया।
वनगो नन्दजो जिह्वा सुनञ्जो घूर्णकः सुधा ॥
वर्तुलः कुण्डलो व्रह्निरमृतं चन्द्रमण्डलः।
दक्षजानूरुपादञ्च देवभक्षो बृहद्मुनिः ॥
एकपादो विभूतिश्च ललाटं सर्वमित्रकः।
वृषघ्नो नलिनी विष्णुर्महेशो ग्रामणी शशी ॥

ठ—यह शिव का एक विरुद है। एकाक्षरकोश में इसका अर्थ 'महाध्वनि' तथा 'चन्द्रमण्डल' है। दोनों ही शिव के प्रतीक हैं।

ठक्कुर—देवता का पर्याय। ब्राह्मणों (भूसुरों) के लिए भी इसका प्रयोग होता है। अनन्तसंहिता में इसी अर्थ में यह प्रयुक्त है :

'श्रीदामनामा गोपालः श्रीमान् सुन्दरठक्कुरः।'

प्रायः विष्णु के अवतार की देवमूर्ति को ठक्कुर कहते हैं। उच्च वर्ग के क्षत्रिय आदि की प्राकृत उपाधि 'ठाकुर' भी इसी से निकली है। किसी भी प्रसिद्ध व्यक्ति को ठक्कुर या ठाकुर कहा जा सकता है, जैसे 'काव्यप्रदीप' के प्रख्यात लेखक को गोविन्द ठक्कुर कहा गया है, बंगाल के देवेन्द्रनाथ, रवीन्द्रनाथ आदि महानुभाव ठाकुर कहे जाते थे।

ड

ड—व्यञ्जन वर्णों के टवर्ग का तृतीय अक्षर। इसके स्वरूप का वर्णन कामधेनुतन्त्र में निम्नांकित है :

डकारं चञ्चलापाङ्गि सदा त्रिगुण संयुतम्।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा ॥
त्रिशक्ति सहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा।
चतुर्ज्ञानमयं वर्णं आत्मादितत्त्व संयुतम् ॥
पीतविद्युल्लताकारं डकारं प्रणमाम्यहम् ॥

तन्त्रशास्त्र में इसके अनेक नाम पाये जाते हैं :

कौमारी शङ्करस्त्रासस्त्रिवक्रो मंगलध्वनिः।
दुरूहो जटिली भीमा द्विजिह्वः पृथिवी सती ॥
कोरगिरिः क्षमा कान्तिर्नाभिः स्वाती च लोचनम् ॥

डमरु—भगवान् शिव का वाद्य और मूल नाद (स्वर) का प्रतीक। यह 'आनद्ध' वर्ग का वाद्य है, जिसे कापालिक भी धारण करते हैं। 'सारसुन्दरी' (द्वितीय परिच्छेद) के अनुसार यह मध्य में क्षीण तथा दो गुटिकाओं पर आलम्बित होता है (क्षीणमध्यो गुटिकाद्वयालम्बितः)। सुप्रसिद्ध पाणिनीय व्याकरण के आरम्भिक चतुर्दश सूत्र शंकर के चौदह बार किये गये डमरुवादन से ही निकले माने जाते हैं। भगवान् की कृपा से पाणिनि मुनि को वह ध्वनि व्यक्त अक्षरों के रूप में सुनाई पड़ी थी।

डाकिनी—काली माता की गण-देवियाँ। ब्रह्मवैवर्तपुराण (प्रकृति खण्ड) में कथन है :

'सार्द्धञ्च डाकिनीनाञ्च विकटानां त्रिकोटिभिः।'

डाकिनो का शाब्दिक अर्थ है 'ड = भय उत्पन्न करने के लिए, अकिनी = वक्र गति से चलती है।'

डामर—भगवान् शिव द्वारा प्रणीत शास्त्रों में एक डामर (तन्त्र) भी है। इसका शाब्दिक अथं है 'चमत्कार।' इसमें भूतों के चमत्कार का वर्णन है। काशीखण्ड (२९.७०) में इसका उल्लेख है : "डामरो डामरकल्पो नवाक्षरदेवी-मन्त्रस्य प्रतिपादको ग्रन्थः।" [दुर्गा देवी के नौ अक्षर वाले मन्त्र का रहस्यविस्तारक ग्रन्थ डामर कहलाता है।] वाराहीतन्त्र में इसकी टीका मिलती है। इसके अनुसार डामर छः प्रकार का है :

(१) योग डामर, (२) शिव डामर, (३) दुर्गा डामर, (४) सारस्वत डामर, (५) ब्रह्म डामर और (३) गन्धर्व डामर।

कोटचक्र विशेष का नाम भी डामर है। 'समयामृत' ग्रन्थ में आठ प्रकार के कोटचक्रों का वर्णन है, जिनमें डामर भी एक है। दे० 'चक्र'।

ढ

ढक्का—एक आनद्ध वर्ग का वाद्य, जो देवमन्दिरों में विशेष अवसरों पर बजाने के लिए रखा रहता है : "ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।"

ढुण्ढिराजपूजा—माघ शुक्ल चतुर्थी को इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। व्रती को तिल के लड्डुओं का नैवेद्य

गणेशजी को अर्पण करना चाहिए तथा बाद में प्रसाद रूप में वही ग्रहण करना चाहिए। तिल तथा घृत की आहुतियों से होम का विधान है। 'ढुण्ढि' की व्युत्पत्ति के लिए दे० स्कन्दपुराण का काशीखण्ड, ५७.३२ तथा पुरुषार्थचि०, ९५।

ढौकन—किसी देवता के अर्पण के लिए प्रस्तुत नैवेद्य या उपहार को 'ढौकन' कहते हैं।

ण

ण—व्यञ्जनों का पन्द्रहवाँ तथा टवर्ग का पञ्चम अक्षर।

कामधेनुतन्त्र में इसके स्वरूप का निम्नांकित वर्णन है :

णकारं परमेशानि या स्वयं परकुण्डली।
पीतविद्युल्लताकारं पञ्चदेवमयं सदा॥
पञ्चप्राणमयं देवि सदा त्रिगुणसंयुतम्।
आत्मादितत्त्वसंयुक्तं महामोहप्रदायकम्॥

तन्त्रशास्त्र में इसके चौवीस नामों का उल्लेख पाया जाता है :

णो निर्गुणं रतिर्ज्ञानं जम्भनः पक्षिवाहनः।
जया शम्भो नरकजित् निष्कला योगिनीप्रियः॥
द्विमुखं कोटवी श्रोत्रं समृद्धिर्बोधिनी मता।
त्रिनेत्रो मानुषी व्योमदक्ष पादाङ्गुलेर्मुखः॥
माधवः शङ्खिनी वीरो नारायणश्च निर्णयः॥

णत्वदर्पण—तृतीय श्रीनिवास पण्डित द्वारा रचित ग्रन्थों में एक कृति। इसमें विशिष्टाद्वैत मत का समर्थन तथा अन्य मतों का खण्डन है। रचनाकाल अठारहवीं शती वि० का उत्तरार्ध है।

त

तक्षक वैशालेय—तक्षक वैशालेय (विशाला का वंशज) अप्रसिद्ध ऋत्विज् है, जिसे अथर्ववेद (७.१०,२९) में विराज का पुत्र कहा गया है। पञ्चविंश ब्राह्मण वर्णित सर्पयज्ञ में इसे ब्राह्मणाच्छंसी पुरोहित कहा गया है।

तक्षशिला—बृहत्तर भारत का एक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विद्या केन्द्र तथा गन्धार प्रान्त की राजधानी। रामायण में इसे भरत द्वारा राजकुमार तक्ष के नाम पर स्थापित बताया गया है, जो यहाँ का शासक नियुक्त किया गया था। जनमेजय का सर्पयज्ञ इसी स्थान पर हुआ था (महाभारत १.३.२०)। महाभारत अथवा रामायण में इसके विद्याकेन्द्र होने की चर्चा नहीं है, किन्तु ई० पू० सप्तम शताब्दी में यह स्थान विद्यापीठ के रूप में पूर्ण रूप से प्रसिद्ध हो चुका था तथा राजगृह, काशी एवं मिथिला के विद्वानों के आकर्षण का केन्द्र बन गया था। सिकन्दर के आक्रमण के समय यह विद्यापीठ अपने दार्शनिकों के लिए प्रसिद्ध था।

कोसल के राजा प्रसेनजित् के पुत्र तथा बिम्बिसार के राजवैद्य जीवक ने तक्षशिला में ही शिक्षा पायी थी। कुरु तथा कोसलराज्य निश्चित संख्या में यहाँ प्रति वर्ष छात्रों को भेजते थे। तक्षशिला के एक धनुःशास्त्र के विद्यालय में भारत के विभिन्न भागों से सैकड़ों राजकुमार युद्धविद्या सीखने आते थे। पाणिनि भी इसी विद्यालय के छात्र रहे होंगे। जातकों में यहाँ पढ़ाये जाने वाले विषयों में वेदत्रयी एवं अठारह कलाओं एवं शिल्पों का वर्णन मिलता है। सातवीं शती में जब ह्वेनसाँग इधर भ्रमण करने आया तब इसका गौरव समाप्त प्राय था। फाहियान को भी यहाँ कोई शैक्षणिक महत्त्व की बात नहीं प्राप्त हुई थी। वास्तव में इसकी शिक्षा विषयक चर्चा मौर्यकाल के बाद नहीं सुनी जाती। सम्भवतः बर्बर विदेशियों के आक्रमणों ने इसे नष्ट कर दिया, संरक्षण देना तो दूर की बात थी।

तंजौर—कर्नाटक प्रदेश में कावेरी नदी के तट पर बसा हुआ एक सांस्कृतिक नगर। चोलवंश के राजराजेश्वर नामक नरेश ने यहाँ बृहदीश्वर नाम से भगवान् शंकर के भव्य मन्दिर का निर्माण कराया था। इसकी स्थापत्य कला बहुत प्रशंसनीय है। मन्दिर का शिखर २०० फुट ऊँचा है और नन्दी की मूर्ति १६ फुट लम्बी, १३ फुट ऊँची तथा ७ फुट मोटी एक ही पत्थर की बनी है। इसका शिल्प कौशल देखने के लिए विदेश के यात्री भी आते हैं। तंजौर का दूसरा तीर्थ अमृतवापिका सरसी है। पुराणों के अनुसार यह पराशरक्षेत्र है। पूर्वकाल में यह तंजन नामक राक्षस का निवास स्थान था जिसको ऋषियों ने तीर्थ में परिवर्तित कर दिया।

तत्त्व—किसी वस्तु का निश्चित अस्तित्व या आन्तरिक भाव। सूक्ष्म अन्तरात्मा से लेकर मानव और भौतिक सम्बन्धों को सुव्यवस्थित करने वाले नियमों तक के लिए इसका प्रयोग होता है। सांख्य के अनुसार प्रकृति के विकास तथा पुरुष को लेकर छब्बीस तत्त्व हैं। त्रिक सिद्धान्त के अनुसार छत्तीस तत्त्व हैं, जिनका स्वरूप उस समय प्रकट होता है जब शिव की चिच्छक्ति के विलास

से प्रेरित होकर विश्व की सृष्टि होती है। इस प्रक्रिया को 'आभास' भी कहते हैं।

तत्त्वकौमुदी—आचार्य वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका पर तत्त्वकौमुदी नामक टीका की रचना की है।

तत्त्वकौमुदीव्याख्या—चौदहवीं शती वि० के उत्तरार्ध में भारती यति ने वाचस्पतिमिश्ररचित 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' पर 'तत्त्वकौमुदीव्याख्या' नामक टीका लिखी है।

तत्त्वकौस्तुभ—भट्टोजि दीक्षितकृत 'तत्त्वकौस्तुभ' नामक वेदान्त विषयक ग्रन्थ है। इसमें द्वैतवाद का खण्डन किया गया है।

तत्त्वचिन्तामणि—नव्य न्याय पर मैथिल विद्वान् गङ्गेशोपाध्याय रचित यह अति प्रसिद्ध ग्रन्थ है। अनेक आचार्यों ने इस पर टीका व भाष्य लिखे हैं।

तत्त्वचिन्तामणिव्याख्या—वासुदेव सार्वभौम (१५३३ वि०) ने गङ्गेशोपाध्याय रचित प्रसिद्ध न्यायग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' पर यह व्याख्या लिखी है।

तत्त्वटीका—वेदान्ताचार्य वेङ्कटनाथ (१३२५ वि०) ने तत्त्वटीका नामक ग्रन्थ तमिल भाषा में लिखा। भगवद्भक्ति इसमें कूट-कूटकर भरी है।

तत्त्वत्रय—(१) रामानुज स्वामी द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार सृष्टि के मूल में तीन तत्त्व हैं—(१) ईश्वर (सर्वात्मा) (२) चित् (आत्मा) और (३) अचित् (जड प्रकृति)। प्रथम तत्त्व ही वास्तव में तत्त्व है जो पिछले दो से विशिष्ट है। इन तीनों में सायुज्य सम्बन्ध है।

(२) लोकाचार्य दक्षिण के एक प्रसिद्ध वैष्णव विद्वान् हो चुके हैं। इनका काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी है, इन्होंने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को समझाने के लिए 'तत्त्वत्रय' एवं 'तत्त्वशेखर' नामक ग्रन्थ लिखे। दोनों ग्रन्थ सरल एवं सुबोध हैं। तत्त्वत्रय में चित्तत्त्व अथवा आत्मतत्त्व, अचित्तत्त्व अथवा जडतत्त्व और ईश्वरतत्त्व का निरूपण करते हुए रामानुजीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

तत्त्वत्रयचुलुकसंग्रह—पन्द्रहवीं शताब्दी में आचार्य वरदगुरु ने रामानुज मत की व्याख्या करते हुए 'तत्त्वत्रयचुलुकसंग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा है।

तत्त्वदीधिति—सं० १४५७ वि० में रघुनाथ शिरोमणि ने गङ्गेश उपाध्याय रचित 'तत्त्वचिन्तामणि' पर 'तत्त्वदीधिति' नामक व्याख्या लिखी है।

तत्त्वदीधितिटिप्पणी—जगदीश तर्कालङ्कार (१६६७ वि०) ने रघुनाथ शिरोमणि के ग्रन्थ 'तत्त्वदीधिति' पर 'तत्त्वदीधितिटिप्पणी' नामक उपटीका लिखी है।

तत्त्वदीपन—१५वीं शती में आचार्य अखण्डानन्द ने अद्वैत-वेदान्तीय शारीरकभाष्य सम्बन्धी ग्रन्थ 'पञ्चपादिका-विवरण' के ऊपर 'तत्त्वदीपन' नामक निबन्ध लिखा। यह प्रामाणिक रचना मानी जाती है।

तत्त्वदीपनिबन्ध—वल्लभाचार्य ने संस्कृत में अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से उनके सिद्धान्तों को संक्षेप में बतलाने वाली 'तत्त्वदीपनिबन्ध' पद्यमय रचना है। इसके साथ 'प्रकाश' नामक गद्य टीकाभाग तथा सत्रह संक्षिप्त पुस्तिकाओं का भाग भी जुड़ा हुआ है।

तत्त्वनिरूपण—पन्द्रहवीं शती में राम्य जामाता मुनि ने तत्त्वनिरूपण नामक निबन्ध लिखा। यह विशिष्टाद्वैतमत का समर्थक सम्मान्य ग्रन्थ है।

तत्त्वनिर्णय—श्रीवैष्णव मतावलम्बी वरदाचार्य (तेरहवीं शताब्दी विक्रमीय) ने 'तत्त्वनिर्णय' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें उन्होंने विष्णु को ही परब्रह्म सिद्ध किया है। यह ग्रन्थ सम्भवतः अप्रकाशित है।

तत्त्वप्रकाश—शिवज्ञान योगी ने, जो शैव सम्प्रदाय की तमिल शाखा के प्रसिद्ध आचार्य थे, तमिल में 'तत्त्वुव-पिरकाश' (सं० तत्त्वप्रकाश) नामक ग्रन्थ की रचना की थी। रचनाकाल १८वीं शती है।

तत्त्वप्रकाशिका—जयतीर्थ (सं० १३९७ वि०) ने आचार्य मध्वरचित 'वेदान्तसूत्रभाष्य' पर 'तत्त्वप्रकाशिका' नामक टीका लिखी है।

तत्त्वप्रदीपिका—(१) तेरहवीं शताब्दी में चित्सुखाचार्य ने अपने 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक ग्रन्थ में न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्य के मत का खण्डन किया है। तत्त्वप्रदीपिका का दूसरा नाम 'चित्सुखी' है।

(२) तेरहवीं शती के अन्तिम चरण में त्रिविक्रम ने मध्वाचार्य रचित 'वेदान्तसूत्रभाष्य' पर 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक टीका लिखी है।

तत्त्वबोधिनी—सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अद्वैत मत के प्रमुख आचार्य नृसिंहाश्रम स्वामी उद्भट दार्शनिक एवं

प्रौढ पण्डित हुए हैं। इनकी रची 'तत्त्वबोधिनी' सर्वज्ञात्ममुनिकृत 'संक्षेपशारीरक' की व्याख्या है।

तत्त्वमञ्जरी—सत्रहवीं शताब्दी में मध्व मतावलम्बी राघवेन्द्र स्वामी रचित यह एक ग्रन्थ है।

तत्त्वमसि—'तुम वह (ब्रह्म) हो' यह महावाक्य छान्दोग्य उपनिषद् में आया है। उद्दालक आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को इसका उपदेश किया है। यह सम्पूर्ण औपनिषदिक ज्ञान का सार है। इसका तात्पर्य है व्यक्तिगत आत्मा का विश्वात्मा (ब्रह्म) से अभेद।

तत्त्वमार्त्तण्ड—अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तृतीय श्रीनिवास द्वारा रचित 'तत्त्वमार्त्तण्ड' विशिष्टाद्वैत मत का समर्थन एवं अन्य मतों का खण्डन करता है।

तत्त्वमुक्ताकलाप—वेङ्कटनाथ वेदान्ताचार्य लिखित यह ग्रन्थ तमिल भाषा में है। इसकी रचना विक्रम की चौदहवीं या पन्द्रहवीं शती में हुई।

तत्त्वबिन्दु—वाचस्पति मिश्र ने भट्टमत पर 'तत्त्वबिन्दु' नामक टीका लिखी है।

तत्त्वविवेक—इस नाम के दो ग्रन्थ हैं। प्रथम के रचयिता अद्वैत सम्प्रदाय के आचार्य नृसिंहाश्रम हैं। यह ग्रन्थ प्रकाशित है। इसमें केवल दो परिच्छेद हैं। इसके ऊपर उन्होंने स्वयं ही 'तत्त्वविवेकदीपन' नाम की एक टीका लिखी है। दूसरा ग्रन्थ मध्वाचार्य रचित है।

तत्त्ववैशारदी—सं ९०७ वि० के लगभग योगसूत्र पर वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी' नामक टीका लिखी। दार्शनिक शैली में यह 'योगसूत्रभाष्य' से भी उत्तम ग्रन्थ है। इसमें विषयों का क्रम एवं शब्दयोजना श्रृंखलाबद्ध है।

तत्त्वशेखर—विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में वैष्णव आचार्यों में प्रसिद्ध लोकाचार्य ने रामानुजीय सिद्धान्त समझाने के लिए दो ग्रन्थों की रचना की—'तत्त्वत्रय' एवं 'तत्त्वशेखर'। प्रथम में तत्त्वों का वर्गीकरण और व्याख्या तथा द्वितीय में उनके उच्चतर दार्शनिक पक्षों का विवेचन है।

तत्त्वसमास—सांख्यदर्शन का संक्षिप्त सूत्रग्रन्थ। इसमें सांख्यसिद्धान्तों का निरूपण 'सांख्यकारिका' से भिन्न शैली में किया गया है। कहा जाता है कि कपिल मुनि की मुख्य रचना यही है।

तत्त्वसंख्यान—मध्वाचार्य के ग्रन्थों में से एक ग्रन्थ 'तत्त्वसंख्यान' है। जयतीर्थाचार्य ने इसकी टीका लिखी है। इसमें तत्त्वों की संख्या और व्याख्या दी गयी है।

तत्त्वसार—वरदाचार्य अथवा नडादुरम्मल ने 'तत्त्वसार' एवं 'मारार्थचतुष्टय' नामक दो ग्रन्थ लिखे। 'तत्त्वसार' पद्य में है और उसमें उपनिषदों के उपदेश तथा दार्शनिक मत का सारांश दिया गया है।

तत्त्वानुसन्धान—महादेव सरस्वती कृत 'तत्त्वानुसन्धान' प्रकरणग्रन्थ है। इसके ऊपर उन्होंने 'अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ' नाम की टीका भी लिखी है। 'तत्त्वानुसन्धान' बहुत सरल भाषा में लिखा गया है। इससे सहज में ही अद्वैतसिद्धान्त का ज्ञान हो सकता है। रचनाकाल अठारहवीं शताब्दी है।

तत्त्वालोक—तेरहवीं शती वि० के उत्तरार्ध में जयदेव मिश्र ने 'तत्त्वालोक' नामक भाष्य गङ्गेश उपाध्याय रचित 'तत्त्वचिन्तामणि' पर लिखा है।

तत्त्वालोकरहस्य—सत्रहवीं शती वि० के प्रारम्भ में मथुरानाथ ने 'तत्त्वालोकरहस्य' नामक ग्रन्थ लिखा। इसे माथुरी या मथुरानाथी भी कहते हैं। यह तत्त्वचिन्तामणि की एक टीका है।

तत्तुव रयर—सित्तर (चित्तर अथवा सिद्ध) शैवों की ही तमिल शाखा है, जो मूर्तिपूजा की विरोधिनी है। १८वीं शती वि० में इस मत के 'तत्तुव रयर' नामक आचार्य ने मूर्तिपूजाविरोधी एक ग्रन्थ लिखा, जिसका नाम 'अदङ्गन मुरइ' है।

तत्त्वोद्योत—मध्वाचार्य लिखित एक ग्रन्थ, जिसकी टीका जयतीर्थाचार्य ने लिखी है।

तन्त्र—तन्त्रशास्त्र शिवप्रणीत कहा जाता है। यह तीन भागों में विभक्त है: आगम, यामल एवं मुख्य तन्त्र। वाराहीतन्त्र के अनुसार जिसमें सृष्टि, प्रलय, देवताओं की पूजा, सत्कर्यों के साधन, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन और चार प्रकार के ध्यानयोग का वर्णन हो उसे आगम कहते हैं। जिसमें सृष्टितत्त्व, ज्योतिष, नित्य कृत्य, क्रम, सूत्र, वर्णभेद और युगधर्म का वर्णन हो उसे यामल कहते हैं। जिसमें सृष्टि, लय, मन्त्र निर्णय, तीर्थ, आश्रमधर्म, कल्प, ज्योतिषसंस्थान, व्रतकथा, शौच-अशौच, स्त्रीपुरुषलक्षण, राजधर्म, दानधर्म, युगधर्म, व्यवहार तथा आध्यात्मिक नियमों का वर्णन हो, वह मुख्य तन्त्र कहलाता है।

इस शास्त्र के सिद्धान्तानुसार कलियुग में वैदिक मन्त्रों, जपों और यज्ञों आदि का फल नहीं होता। इस युग में सब प्रकार के कार्यों की सिद्धि के लिए तन्त्रशास्त्र में वर्णित मन्त्रों और उपायों आदि से ही सफलता मिलती है। तन्त्रशास्त्र के सिद्धान्त बहुत गुप्त रखे जाते हैं और इसकी शिक्षा लेने के लिए मनुष्य को पहले दीक्षित होना पड़ता है। आजकल प्रायः मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि के लिए तथा अनेक प्रकार की सिद्धियों के लिए तन्त्रोक्त मंत्रों और क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है।

यह शास्त्र प्रधानतः शाक्तों (देवी-उपासकों) का है और इसके मन्त्र प्रायः अर्थहीन और एकाक्षरी हुआ करते हैं। जैसे—ह्रीं, क्लीं, श्रीं, ऐं, क्रूं आदि। तान्त्रिकों का पञ्च मकार सेवन (मद्य, मांस, मत्स्य आदि) तथा चक्र-पूजा का विधान स्वतंत्र होता है। अथर्ववेद में भी मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण आदि का विधान है। परन्तु कहते हैं कि वैदिक क्रियाओं और तन्त्र-मन्त्रादि विधियों को महादेवजी ने कीलित कर दिया है और भगवती उमा के आग्रह से कलियुग के लिए तन्त्रों की रचना की है। बौद्धमत में भी तन्त्र ग्रन्थ हैं। उनका प्रचार चीन और तिब्बत में है। हिन्दू तान्त्रिक उन्हें उपतन्त्र कहते हैं।

तन्त्रशास्त्र की उत्पत्ति कब से हुई इसका निर्णय नहीं हो सकता। प्राचीन स्मृतियों में चौदह विद्याओं का उल्लेख है किन्तु उनमें तन्त्र गृहीत नहीं हुआ है। इनके सिवा किसी महापुराण में भी तन्त्रशास्त्र का उल्लेख नहीं है। इसी तरह के कारणों से तन्त्रशास्त्र को प्राचीन काल में विकसित शास्त्र नहीं माना जा सकता। अथर्ववेदीय नृसिंहतापनीयोपनिषद् में सबसे पहले तन्त्र का लक्षण देखने में आता है। इस उपनिषद् में मन्त्रराज नरसिंह-अनुष्टुप् प्रसंग में तान्त्रिक महामन्त्र का स्पष्ट आभास सूचित हुआ है। शङ्कराचार्य ने भी जब उक्त उपनिषद् के भाष्य की रचना की है तब निस्सन्देह वह वि० की ८वीं शताब्दी से पहले की है। हिन्दुओं के अनुकरण से बौद्ध तन्त्रों की रचना हुई है। वि० की १०वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी के भीतर बहुत से बौद्ध तन्त्रों का तिब्बतीय भाषा में अनुवाद हुआ था। ऐसी दशा में मूल बौद्ध तन्त्र वि० की ८वीं शताब्दी के पहले और उनके आदर्श हिन्दू तन्त्र बौद्ध तन्त्रों से भी पहले प्रकटित हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं।

तन्त्रों के मत से सबसे पहले दीक्षा ग्रहण करके तान्त्रिक कार्यों में हाथ डालना चाहिए। बिना दीक्षा के तान्त्रिक कार्य में अधिकार नहीं है।

तान्त्रिक गण पाँच प्रकार के आचारों में विभक्त हैं, ये श्रेष्ठता के क्रम से निम्नोक्त हैं: वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार एवं कौलाचार। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने जाते हैं।

तन्त्रचूडामणि—कृष्णदेव निर्मित 'तन्त्रचूडामणि' प्रसिद्ध तान्त्रिक ग्रन्थ है।

तन्त्ररत्न—पार्थसारथि मिश्र रचित यह जैमिनिकृत 'पूर्व-मीमांसासूत्र' की टीका है। रचनाकाल लगभग १३०० ई० है।

तन्त्रराज—यह तान्त्रिक ग्रन्थ अधिक सम्मान्य है। इसमें लिखा है कि गौड़, केरल और कश्मीर इन तीनों देशों के लोग ही विशुद्ध शाक्त हैं।

तन्त्रवार्तिक—भट्टपाद कुमारिल रचित यह ग्रन्थ पूर्वमीमांसादर्शन के शाबर भाष्य का समर्थक तथा विवरणात्मक है। इसमें प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर द्वितीय और तृतीय अध्याय तक भाग की व्याख्या है। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद की व्याख्या 'श्लोकवार्तिक' में की गयी है।

तन्त्रसार—इसकी रचना संवत् १८६० वि० में मानी जाती है। इसमें दक्षिणमार्गीय आचारों का विधान है। सुन्दर श्लोकों से परिपूर्ण इसके पृष्ठों में अनेक यन्त्र, चक्र एवं मण्डल निर्मित हैं। इसका बङ्गाल में अधिक प्रचार है।

तन्त्रसारसंग्रह—यह मध्वाचार्य द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में से एक है।

तन्त्रामृत—'आगमतत्त्वविलास' में उल्लिखित तन्त्रसूची के अन्तर्गत यह तन्त्र ग्रन्थ है।

तन्त्रालोक—अभिनवगुप्त (कश्मीरी शैवों के एक आचार्य, ११वीं वि० शती) द्वारा लिखित 'तन्त्रालोक' शैवमत का पूर्ण रूप से दार्शनिक वर्णन उपस्थित करता है।

तन्मात्रा—'पञ्च तत्त्वों' वाला सिद्धान्त सांख्यदर्शन में भी ग्रहण किया गया है। यहाँ तत्त्वों का विकास दो विभागों

के रूप में दिखाया गया है । वे हैं 'तन्मात्रा' (सूक्ष्म तत्त्व) एवं 'महाभूत' (स्थूल तत्त्व) । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्राएँ तथा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी महाभूत हैं ।

तप (१)—उपभोग्य विषयों का परित्याग करके शरीर और मन को दृढतापूर्वक सन्तुलन और समाधि की अवस्था में स्थिर रखना ही तप है ।. इससे उनकी शक्ति उद्दीप्त होती है । तप की विशुद्ध शक्ति द्वारा मनुष्य असाधारण कार्य करने में समर्थ होता है । उसमें अद्भुत तेज उत्पन्न होता है । शास्त्र की दृष्टि से तेज (सामर्थ्य) दो प्रकार का है : (१) ब्रह्मतेज और (२) शास्त्रतेज । पहला तप के द्वारा और दूसरा त्याग के द्वारा समृद्ध होता है ।

साधन की दृष्टि से तप के तीन प्रकार हैं—शारीरिक, वाचिक और मानसिक । देव, ब्राह्मण, गुरु, ज्ञानी, सन्त और महात्मा की पूजा आदि शारीरिक तप में सम्मिलित हैं । वेद-शास्त्र का पाठ, सत्य, प्रिय और कल्याणकारी वाणी बोलना आदि वाचिक तप हैं । मन की प्रफुल्लता, अक्रूरता, मौन, वासनाओं का निग्रह आदि मानसिक तप के अन्तर्गत हैं । इन तीनों के भी अनेक भेद-उपभेद हैं ।

इस तरह शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप के द्वारा मनुष्य द्वन्द्वसहिष्णु हो जाता है । फलतः उसकी उन्नति होती है । इन त्रिविध तपरूपों में मानसिक तप सर्वश्रेष्ठ है । इससे चित्त में एकाग्रता आती है जिससे ब्राह्मण को ब्रह्मज्ञान और संन्यासी को कैवल्य की प्राप्ति होती है । जब तक सांसारिक मायाप्रसूत राग-द्वेष से मानवमन उद्वेलित रहता है तब तक उसे वास्तविक आनन्द की उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि इस स्थिति में चित्त एकाग्र नहीं हो सकता । सारांश यह है कि मानसिक तप चित्त की एकाग्रता और द्वन्द्वसहिष्णुता का साधन है । इससे चित्त शान्त होता है और मनुष्य प्रसन्नता को प्राप्त कर क्रमशः मुक्ति की ओर अग्रसर होता है ।

वाचनिक तप व्यक्तिगत और जातिगत दोनों प्रकार के उत्थान में सहायक होता है । मानवता के सेवक परोपकारी व्यक्ति का एक-एक शब्द मूल्यवान् और नपा-तुला होना आवश्यक है । इसके अभाव में निरर्थक वक्तव्य देने वाले उपदेशक की बातों का कोई प्रभाव श्रोता पर नहीं पड़ता । वाचनिक तप की सीमा का अतिक्रमण करने से उपदेशक की बात का समाज पर अनुचित प्रभाव पड़ता है । इससे हानिकारक कर्मों की प्रतिक्रिया होती है । फलतः समाज का अहित होता है और उपदेशक का भी अधःपतन होता है । शास्त्रीय दृष्टि से जो वचन देश, काल और पात्र के अनुसार सर्वभूतहितकारी है वही सत्य और धर्म के अनुकूल है ।

वाचनिक तप का मूल तात्पर्य वाणी पर नियंत्रण है । अतः मनुष्य को कभी ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए जिससे दूसरों को कष्ट हो । वाचनिक तप के साथ शारीरिक तप का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । शारीरिक तप के अभ्यास के बिना मनुष्य कोई कार्य करने में समर्थ नहीं हो पाता । प्राचीन काल में शारीरिक तप जीवन के आरम्भिक काल में ब्रह्मचर्याश्रम के द्वारा द्वन्द्वसहिष्णु होकर किया जाता था । तप के द्वारा मनुष्य कष्टसहिष्णु और परिश्रमी होता था । पर आजकल यह बात नहीं है, इसी कारण मनुष्य शक्तिहीन, आलसी तथा काम से दूर भागने वाला हो गया है ।

ब्रह्मचर्य द्वारा उच्चतर पद प्राप्त करनेवाले देवता की उपाधि से विभूषित किये जाते हैं । नैष्ठिक ब्रह्मचारी को निर्वाण का उत्तम पद प्राप्त होता है । पूर्ण ब्रह्मचारी असाधारण शक्तिमान् होता है । शरीर की सप्त धातुओं में वीर्य सर्वप्रधान सारभूत तत्त्व है । ब्रह्मचर्य द्वारा इसकी रक्षा होती है जिससे मन और शरीर दोनों बलिष्ठ होते हैं ।

ब्रह्मचर्य की भाँति अहिंसा भी 'परम धर्म' माना गया है । यह वह परम तप है जिससे व्यक्ति प्राणिमात्र को अभयदान देता है । प्रकृति के नियम के अनुकूल चलना धर्म और उसके प्रतिकूल चलना अधर्म है । अतः प्रकृति-प्रवाह के अनुकूल चलने वाले को कष्ट देना अधर्म या पाप है । बिना वैर के हिंसा नहीं होती । अतः किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए और मनुष्य को अहिंसा रूपी शारीरिक तप के द्वारा अपने कल्याणार्थ इहलोक और परलोक का सुधार करना चाहिए ।

उपर्युक्त त्रिविध तपरूपों के भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद के अनुसार तीन-तीन भेद हैं । बिना फल की इच्छा किये अनासक्त होकर श्रद्धासहित किया गया तप सात्त्विक होता है । सत्कार, सम्मान तथा पूजा

पाने के ध्येय से किया गया दाम्भिक तप राजसिक होता है। इसका परिणाम अस्थायी और अध्रुव होता है। अविचारित हठ द्वारा अपनी भावनाओं को दबाकर, अपने को कष्ट देकर या दूसरे किसी व्यक्ति की हानि या नाश करने की इच्छा से जो तप किया जाता है उसे तामसिक तप कहते हैं। इस विवरण को देखते हुए मनुष्य के लिए यह उचित है कि वह शारीरिक, वाचनिक और मानसिक त्रिविध तपों में से सबके सात्त्विक रूपों का ही अनुसरण करके परम सुख और शान्ति का लाभ करे।

तपश्चरणव्रत—मार्गशीर्ष कृष्ण सप्तमी को यह व्रत प्रारम्भ होता है। एक वर्ष पर्यन्त यह चलना चाहिए। इसके सूर्य देवता हैं।

तपस्—श्रम करना, कष्ट सहते हुए ताप (गर्मी) उत्पन्न करना। सामान्यतः तपस् का अर्थ आत्मशोधन एवं तपस्या है। सर्वप्रथम इसका व्यवहार आरण्यकों में पाया जाता है। आरण्यक वनों में पढ़े जाते थे। उन्हें पढ़ने वाला साधकों का दल था जो जंगल में निवास करता था। वे सभी सांसारिक व्यापारों का परित्याग कर धार्मिक जीवन व्यतीत करते थे। उनके अभ्यासों में तीन बातें मुख्य थीं—तपस्, यज्ञ एवं ध्यान। तपस् तीन प्रकार का होता है—मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक।

तपस्या—तप की स्थिति में रहने का भाव। दे० 'तप' और 'तपस्'। तन्त्रमत के अनुसार तप, तपस्या नहीं है, ब्रह्मचर्य ही तपस्या है। जो ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ऊर्ध्व-रेता होते हैं, वे ही तपस्वी हैं।

तप (व्रत)—यह शब्द कुछ धार्मिक कृत्यों, जैसे कृच्छ्र, चान्द्रायण, ब्रह्मचारियों तथा अन्यों के द्वारा स्वीकृत कठोर नियमों तथा आचरणों के लिए व्यवहृत होता है। आप० ध० सू० २.५.१ (नियमेषु तपश्शब्दः); मनु ११. २०३, २४४; वि० धर्म० ९५; वि० ध० तृ०, २६६ में तप की लम्बी प्रशंसा की गयी है। कृत्यरत्नाकर, १६ में तप की संयम के रूप में परिभाषा की गयी है। (शाब्दिक अर्थ है उपवास, कठोर आचरणों, व्रतों के द्वारा शरीर को सन्तप्त करना।) अनुशासनपर्व के अनुसार उपवास से अधिक अन्य कोई तप नहीं है।

तपोज—तपस्या से उत्पन्न हुआ 'तपोज' कहलाता है। उन सभी गुणों का इसमें समावेश है जिनका सम्बन्ध कलुष तथा पाप के विनाश से है।

तपोनित्य पौरुशिष्टि—तपोनित्य (तपस्या में नित्य स्थिर) पौरुशिष्टि (पुरुशिष्ट के वंशज) का उल्लेख तैत्तिरीय उपनिषद् में एक आचार्य के रूप में हुआ है, जो तपस् के महत्त्व में विश्वास करते थे।

तपोवन—हिमालय में स्थित एक तीर्थस्थल। जोशीमठ से छः मील दूर नीति घाटी होकर कैलास जाने वाले मार्ग में तपोवन है। यहाँ गर्म जल का कुण्ड है। बड़ा रमणीक स्थान है। इसमें स्नान करना पुण्यदायक माना जाता है।

तपोव्रत—माघ मास की सप्तमी को यह व्रत प्रारम्भ होता है। व्रती को रात्रि में एक छोटा सा वस्त्र धारण करना चाहिए। तदनन्तर एक गोदान करना चाहिए।

तप्तमुद्राधारण—आश्विन शुक्ल और कार्तिक शुक्ल एकादशी को शरीर पर रामानुज, माध्व तथा दूसरे वैष्णव सम्प्रदायों के द्वारा अग्नितप्त ताम्र अथवा ऐसी ही किसी अन्य धातु से शंख तथा चक्र अंकित कराये (दागे) जाते हैं। शंख तथा चक्र विष्णु के आयुध हैं। स्मृतिकौस्तुभ (पृ० ८६—८७) के अनुसार उपर्युक्त क्रिया में किसी धार्मिक ग्रन्थ का प्रमाण प्राप्त नहीं है। किन्तु निर्णयसिन्धु, १—७, १०८ तथा धर्मसिन्धु, ५५ के अनुसार मनुष्य को अपनी परम्परागत क्रियाओं का अनुष्ठान करना चाहिए।

तमस्—सांख्यमतानुसार प्रकृति तथा उससे उत्पन्न सभी तत्त्वों के तीन उपादान हैं—सत्त्व (प्रकाश), रजस् (शक्ति) तथा तमस् (जडता)। तमस् अवरोध करनेवाला उपादान है। उपर्युक्त तीनों गुण विभिन्न अनुपातों में मिलकर (अधिक सत्त्व गुण का कम रज एवं तम से संयोग, अथवा कम सत्त्व गुण का अधिक रज एवं तम के साथ संयोग) विभिन्न गुण वाले विभिन्न पदार्थ उत्पन्न करते हैं। दे० सांख्यकारिका।

तरनतारन—अमृतसर से बारह मील दक्षिण व्यास और सतलज नदियों के संगम से पूर्वोत्तर यह सिक्खों का पवित्र तीर्थ है। अमृतसर से तरनतारन तक पक्की सड़क जाती है। यहाँ भी एक सरोवर के मध्य गुरुद्वारा है। गुरु अर्जुनदेव ने इस स्थान की प्रतिष्ठा की थी। तरनतारन सरोवर अत्यन्त पवित्र माना जाता है। वैशाख की अमावस्या को यहाँ मेला लगता है।

तर्क—इसका शाब्दिक अर्थ है 'युक्ति'। न्याय शास्त्र के लिएं भी इसका प्रयोग होता है। न्याय के अनुसार तर्क से ज्ञान का सन्धान (लक्ष्य प्राप्त) होता है। परन्तु अन्तिम सत्ता की अनुभूति अथवा सत्यानृत, न्याय-अन्याय के निर्णय में इसकी क्षमता नहीं स्वीकार की गयी है। यह 'अप्रतिष्ठ' माना गया है। साधना में इसका महत्त्व प्राथमिक किन्तु गौण है।

तर्ककौमुदी—अठारहवीं शती वि० के आरम्भ में लौगाक्षि भास्कर ने 'तर्ककौमुदी' की रचना की। यह ग्रन्थ मीमांसा दर्शन से सम्बद्ध है।

तर्कचूडामणि—गङ्गेशोपाध्याय कृत 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक नव्य न्याय के ग्रन्थ पर 'तर्कचूडामणि' नाम की टीका धर्मराज अध्वरीन्द्र ने लिखी। इसमें इन्होंने अपने से पूर्ववर्त्तिनी दस टीकाओं के मतों का खण्डन किया है।

तर्कताण्डव—व्यासराज स्वामी (सोलहवीं शती वि०) कृत 'तर्कताण्डव' न्याय दर्शन की आलोचना प्रस्तुत करता है।

तर्कभाषा—एकादश शताब्दी के पश्चात् न्याय तथा वैशेषिक दर्शन मिलकर प्रायः एक ही संयुक्त दर्शन बन गये। अनेक ग्रन्थों ने इस एकरूपता को व्यक्त किया है। त्रयोदश शती का केशवमिश्र कृत 'तर्कभाषा' ऐसे ही ग्रन्थों में से एक है। इसका अंग्रेजी अनुवाद म० म० गङ्गानाथ झा द्वारा हुआ है। हिन्दी में इसके कई भाषान्तर तथा टीका हैं।

तर्कविद्या—न्यायदर्शन का एक पर्याय तर्कविद्या है। इससे यह न समझना चाहिए कि गौतम का न्याय केवल विचार वा तर्क के नियम निर्धारित करने वाला शास्त्र है; अपितु यह प्रमेयों का विचार करने वाला दर्शन भी है। पाश्चात्य लॉजिक (तर्कशास्त्र) से इसमें यही भेद है। लॉजिक (तर्कशास्त्र) दर्शन के अन्तर्गत नहीं लिया जाता, परन्तु न्याय शास्त्र दर्शन है। यह अवश्य है कि न्याय में प्रमाण अथवा तर्क की परीक्षा विशेष रूप से हुई है।

तर्कसंग्रह—सोलहवीं शताब्दी के अन्त में न्याय-वैशेषिक दर्शन विषयक यह ग्रन्थ अन्नम् भट्ट द्वारा प्रणीत हुआ। इसके देशी-विदेशी अनुवाद तथा अनेक टीकाएँ प्राप्त हैं।

तलवकार—सामवेद की अनेक शाखाओं में एक तलवकार भी है। तलवकार शाखा का एक ही ब्राह्मण ग्रन्थ है, जिसे जैमिनीय अथवा तलवकार कहते हैं। इसके अन्तर्गत उपनिषद् एवं ब्राह्मण आते हैं।

तलवकार ब्राह्मण—दे० 'तलवकार'।

ताण्ड—एक आचार्य का नाम, जिनकी शाखा से 'ताण्ड्य ब्राह्मण' का सम्बन्ध है। यह लाट्यायन श्रौतसूत्र में उद्धृत है।

ताण्डिन—सामवेद की एक शाखा, जिसके तीन ब्राह्मण हैं—पञ्चविंश, षड्विंश एवं छान्दोग्य।

ताण्ड्यलक्षणसूत्र—सामवेदीय सूत्र ग्रन्थों में से एक ग्रन्थ।

तान्त्रिक—तन्त्र से सम्बन्ध रखनेवाला। साहित्य और व्यक्ति दोनों के लिए इसका प्रयोग होता है। विचार और भावना की तीन प्रविधियाँ हैं—(१) मन्त्र (२) तन्त्र और (३) यन्त्र। उनका संघटनात्मक रूप तन्त्र है। जो संघटनात्मक रूप को प्रधान मानकर उपासना करते हैं वे तान्त्रिक कहलाते हैं।

तान्त्रिक पञ्चमकार—तन्त्र शास्त्र की वाममार्ग पद्धति के अनुसार उपासना के पाँच साधन, जिनका नाम 'म' अक्षर से आरम्भ होता है, यथा मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन। भौतिक रूप में ये तामस वस्तुएँ प्रतीत होती हैं, परन्तु परमार्थ दृष्टि से इनका अर्थ रहस्यात्मक है।

तात्पर्यचन्द्रिका—सत्रहवीं शती वि० के प्रारम्भ में आचार्य व्यासराज स्वामी ने यह ग्रन्थ लिखा। इनके कुल तीन ग्रन्थ हैं, जिनमें इन्होंने माध्वमत का प्रतिपादन किया है।

तात्पर्यदीपिका—सुदर्शन व्यास भट्टाचार्य (वि० संवत् १४२३ निधन काल) ने रामानुज स्वामी के 'वेदार्थसंग्रह' पर 'तात्पर्यदीपिका' नामक टीका लिखी है।

तात्पर्यपरिशुद्धि—उदयनाचार्य कृत तात्पर्यपरिशुद्धि वाचस्पति मिश्र के न्यायवार्तिकतात्पर्य की टीका है। इस परिशुद्धि पर वर्धमान उपाध्याय कृत 'प्रकाश' व्याख्या है।

ताप—आगम प्रणाली में द्विज वैष्णवों से आशा की जाती है कि वे योग्य गुरु का चुनाव कर उससे दीक्षा लें। दीक्षा-संस्कार में पाँच क्रियाएँ होती हैं, यथा ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र एवं याग। 'ताप' क्रिया में दीक्षा लेने वाले के शरीर पर साम्प्रदायिक सांकेतिक चिह्न अङ्कित किये जाते हैं। पिछले समय में द्वारका में सभी को तप्त शंख-चक्र लगाये जाते थे। लोगों का विश्वास था 'जो द्वारका जरे, सो कहीं मरे, वह अवश्य तरेगा।'

तापस—पञ्चविंश ब्राह्मण (२५.१५) में वर्णित सर्पयज्ञ में दत्त होता पुरोहित था । दत्त का ही नाम तापस है ।

तामिल वैष्णव—तामिल वैष्णवों को आलवार भी कहते हैं । विशेष विवरण के लिए दे० 'आलवार' ।

तामिल शैव—छठी से नवीं शताब्दी वि० के मध्य तमिल देश में उल्लेखनीय शैव भक्तों का जन्म हुआ, जो कवि भी थे । उनमें से तीन वैष्णव आलवारों के सदृश ही सुप्रसिद्ध हैं । अन्य धार्मिक नेताओं के समान वे 'नयनार' कहलाते थे । उनके नाम थे नान सम्बन्धर, अप्पर एवं सुन्दरमूर्ति । प्रथम दो सातवीं शती में तथा तृतीय नवीं शती में प्रकट हुए थे । आलवारों के समान ये भी गायक कवि थे, जिनमें शिव के प्रति अगाध भक्ति भरी थी । एक मन्दिर से दूसरे तक ये भ्रमण करते रहते थे तथा शिव की मूर्ति के सामने भावावेश में नाचते हुए स्वरचित भजनों को गाया करते थे । उनके पीछे दर्शकों एवं भक्तों की भीड़ लगी रहती थी । वे आगमों पर आश्रित नहीं थे, किन्तु रामायण-महाभारत तथा पुराणों का अनुसरण करते थे । उनके कुछ ही पद दूसरी भाषाओं में अनूदित हैं ।

तिरुमूलर (८०० ई०) इस सम्प्रदाय के सबसे पहले कवि हैं जिन्होंने अपने काव्य 'तिरुमन्त्रम्' में आगमों के धार्मिक नियमों का अनुसरण किया है । 'माणिक्कवाचकर' इस मत के दूसरे महापुरुष हैं, जिनके अगणित पद्यों का संकलन 'तिरुवाचकम्' के नाम में प्रसिद्ध है, जिसका अर्थ होता है 'पवित्र वचनावली' । ये मदुरा के निवासी एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति थे । गुरु के प्रभाव से अपना पद त्यागकर ये साधु बन गये । इन्होंने पुराणों, आगमों एवं पूर्ववर्ती तमिल रचनाओं का अनुसरण बहुत किया है । ये शङ्कर स्वामी के मायावाद के विरोधी थे ।

इसके द्वितीय विकासक्रम में (१०००-१३५० ई०) पट्टिपात्तु पिल्लई, नाम्बि अन्दर नाम्बि, मेयकण्ड देव, अरुलनन्दी, मरइ ज्ञानसम्बन्ध एवं उमापति का उद्भव हुआ । मेयकण्ड आदि अन्तिम चार सन्त आचार्य कहलाते हैं, क्योंकि ये क्रमशः एक दूसरे के शिष्य थे । इस प्रकार तामिल शैवों ने अपना अलग उपासनाविधान निर्माण किया, जिसे तामिल शैवसिद्धान्त कहते हैं । इनके सिद्धान्तग्रन्थ कुल १४ हैं ।

तीसरे विकासक्रम के अन्तर्गत उक्त सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन न हुआ । यह सम्प्रदाय पूर्ण रूपेण व्यवस्थित कभी न था । अधूरी साम्प्रदायिक व्यवस्था साहित्य के माध्यम से मठों के आसपास चलती रहती थी । महन्त लोग घूम घूमकर शिष्यों से संपर्क रखते थे । अधिकांश मठ अब्राह्मणों के हाथ में तथा कुछ ही ब्राह्मणों के अधीन थे । कारण यह कि तमिल देश के अधिकांश ब्राह्मण स्मार्त अथवा वैष्णव मतावलम्बी थे । इस काल के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् लेखक शिवज्ञान योगी हुए (१७८५ ई०) । इसी शताब्दी के तायुमानवर द्वारा रचित शैव गीतों का संग्रह सबसे बड़ा शैव ग्रन्थ माना जाता है । इसका दार्शनिक दृष्टिकोण शिवाद्वैत के नाम से विख्यात है, जो संस्कृत सिद्धान्त-शाखा से भिन्न है ।

तामिल शैव सिद्धान्त—दे० 'तामिल शैव' ।

ताम्बूलसंक्रान्ति—केवल महिलाओं के लिए इस व्रत का विधान है । एक वर्ष तक व्रती को प्रति दिन ब्राह्मणों को ताम्बूल खाने को देना चाहिए । वर्ष के अन्त में सुवर्ण-कमल तथा समस्त रसोई के पात्र ताम्बूल के साथ किसी ब्राह्मण दम्पति को दान करने और सुस्वादु भोजन खिलाने से अखण्ड सौभाग्य की प्राप्ति होती है एवं जीवन भर पति तथा पुत्रों के साथ व्रती सुखपूर्वक समय व्यतीत करती है ।

तायुमानवर—एक शिवभक्त गीतकार, जिन्होंने अठारहवीं शती में तामिल शैव गीतों का सबसे बड़ा ग्रन्थ प्रस्तुत किया ।

तारकद्वादशी—मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशी को यह व्रत प्रारम्भ होता है । एक वर्ष पर्यन्त चलता है । सूर्य तथा तारागण इसके देवता हैं । इस व्रत में प्रत्येक मास ब्राह्मणों को भिन्न भिन्न प्रकार का भोजन कराना चाहिए । तारों को रात्रि में अर्घ्य दिया जाता है । यह व्रत समस्त पापों का नाश करता है । इस विषय में एक राजा का आख्यान आता है कि उसने तपस्यारत एक तपस्वी को मृग समझकर मार डाला था, जिसके परिणामस्वरूप उसे बारह जन्मों में भिन्न-भिन्न पशु रूपों में जन्म लेना पड़ा । इस प्रकार के पाप भी इस व्रत के अनुष्ठान से नष्ट हो जाते हैं ।

तारसारोपनिषद्—यह एक परवर्ती उपनिषद् है ।

तारिणीतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उद्धृत ६४ तन्त्रों की तालिका में तारिणीतन्त्र का क्रमाङ्क नवाँ है ।

तार्क्ष्य—ऋग्वेद (१.८९;१०.१७८) में इसका अर्थ दैवी घोडा होता है । निश्चय ही यहाँ सूर्य को अश्व

समझा गया है। किन्तु कुछ विद्वान् तार्क्ष्य को तृक्षि का अपत्यबोधक बताते हैं, जो ऋग्वेद के पश्चात् त्रसद्दस्यु के वंशज कहलाते थे। ऋ०(२.४.१) में 'तार्क्ष्य' से एक पक्षी का बोध होता है (सम्भवतः वायस का) जो सूर्य का संकेतक है।

तालवन—यह तीर्थस्थान व्रज में है, इसे तारसी गाँव कहते हैं। यहाँ बलरामजी ने धेनुकासुर को मारा था। यहाँ बलभद्रकुण्ड और बलदेवजी का मन्दिर है।

तालवृन्तवासी—आपस्तम्बसूत्र के अनेक व्याख्याकारों में तालवृन्तवासी का भी नाम आता है। इनके सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञातव्य नहीं है।

तित्तिरि ऋषि—'तैत्तिरीय' शब्द कृष्ण यजुर्वेद के प्रातिशाख्यसूत्र में और सामसूत्र में मिलता है। पाणिनि के अनुसार 'तित्तिरि' एक ऋषि का नाम था, जिससे तैत्तिरीय शब्द बना है। आत्रेय शाखा की 'संहितानुक्रमणिका' में भी यही व्युत्पत्ति मिलती है। हो सकता है कि यह व्यक्तिवाचक नाम न होकर गोत्रनाम हो, क्योंकि बहुत से गोत्रनाम पक्षियों पर भी पड़े हैं। सम्बद्ध ऋषि का गोत्र-पक्षी 'तित्तिर' (तीतर) था।

तिन्दुकाष्टमी—ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष की अष्टमी को यह व्रत प्रारम्भ होता है। एक वर्ष पर्यन्त चलता है। इसमें कमल के फूलों से हरि का चार मास तक पूजन, आश्विन से पौष तक धतूरे के फूलों से पूजन और माघ से वैशाख तक शतपत्रों (दिवसकमल) से पूजन करना चाहिए।

तिरिन्दिर—ऋग्वेद (८.६.४६-४८) की दानस्तुति में 'पर्शु' के साथ तिरिन्दिर का नाम गायकों को दान करने के सम्बन्ध में आता है। शाङ्खायनश्रौतसूत्र में इसी बात को यों कहा गया है कि कण्व वत्स ने तिरिन्दिर पार्शव्य से एक दान प्राप्त किया। इस प्रकार तिरिन्दिर एवं पर्शु एकगोत्रज व्यक्ति के नाम हैं। ऋग्वेद के एक परिच्छेद में लुड्विग को तिरिन्दिर पर यदुओं की विजय का प्रमाण दृष्टिगोचर होता है, किन्तु जिमर इसे असंगत बताते हैं। यदु राजकुमार अवश्य ही तिरिन्दिर एवं पर्शु का समानार्थी है। वेबर यदुओं को राजकुमार न मानकर गायक मानते हैं।

तिरुक्कोवैयर—यह तामिल शैव साहित्य का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। रचनाकाल ९५० वि० के लगभग है। सम्भवतः यह माणिक्कवाचकर द्वारा रचित है।

तिरुमन्त्रम्—तिरुमूलर द्वारा रचित 'तिरुमन्त्रम्' के अनुवाद का नाम 'सिद्धान्तदीपिका' है। नम्बि के 'तिरुमुरई' नामक संग्रह में यह भी संमिलित है। यह तामिल शैवों के व्यावहारिक धर्म पर प्रकाश डालने वाला प्रथम एवं सफल काव्यग्रन्थ है। इसमें आगमों के धार्मिक नियमों का भी समावेश हुआ है।

तिरुवाचकम्—तिरुमूलर के पश्चात् तामिल शैवों में ९५० वि० के लगभग माणिक्कवाचकर का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने अपने छोटे एवं बड़े अनेक गेय पदों का संग्रह 'तिरुवाचकम्' नामक ग्रन्थ में किया है। 'तिरुमुरई' नामक संग्रह में इसे भी सम्मिलित किया गया है।

तिरुविरुत्तम्—द्राविड वेदों में से प्रथम तिरुविरुत्तम् ऋग्वेद का प्रतिनिधि है। नम्मालवार की रचनाओं को चारों वेदों का प्रतिनिधि कहा गया है। उनमें प्रथम तिरुविरुत्तम् है।

तिरुविलैय-आडतपुराणम्—तमिल प्रदेश में असाम्प्रदायिक शैव ग्रन्थ भी अनेक रचे गये। उनमें उपर्युक्त भी एक है। इसके रचयिता परञ्जीति हैं। रचनाकाल सत्रहवीं शती का प्रारम्भिक चरण है। इसमें स्थानीय धार्मिक कथाओं का संग्रह किया गया है।

तिलक—धार्मिक एवं शोभाकर चिह्न, जिसे पुरुष और स्त्रियाँ सभी अपने ललाट पर धारण करते हैं। राज्यारोहण, यात्रा, प्रस्थान तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर भी तिलक धारण किया जाता है। तिलक चन्दन, कस्तूरी, रोली आदि कई पदार्थों से किया जाता है।

धार्मिक ग्रन्थों की व्याख्या भी तिलक कही जाती है, क्योंकि पूर्व काल के पत्राकार हस्तलेखों में मूल ग्रन्थ मध्य भाग में और उसकी व्याख्या मस्तकतुल्य ऊपरी हाशिये पर लिखी जाती थी। मस्तक के तिलक की समानता से ऐसे व्याख्यालेख को भी तिलक या टीका कहने की रीति चल पड़ी।

तिलकव्रत—चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को यह व्रत प्रारम्भ होता है और एक वर्ष तक चलता है। सुगन्धित अगरु से संवत्सर के चित्र की पूजा करनी चाहिए। व्रती को अपने मस्तक पर श्वेत चन्दन का तिलक लगाना चाहिए।

तिलचतुर्थी—माघ शुक्ल चतुर्थी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसकी विधि कुन्दचतुर्थी अथवा ढुण्ढिराज-चतुर्थी के समान है। इसमें नक्त व्रत करना होता है।

ढुण्ढिराज (गणेश) की तिल के लड्डुओं से पूजा होती है ।

तिलबाही व्रत—पौष कृष्ण एकादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । इसके विष्णु देवता हैं । उस दिन उपवास किया जाता है, गौ के सूखे हुए उपले तथा पुष्य नक्षत्र में इकट्ठे किये हुए तिलों से होम होता है । इस व्रत से सौन्दर्य की अभिवृद्धि तथा मनोवाञ्छाएँ पूरी होती हैं ।

तिलद्वादशी—माघ कृष्ण द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए । इसके कृष्ण देवता हैं जिनकी विधिवत् पूजा इस व्रत में होनी चाहिए ।

तिलद्वादशीव्रत—माघ मास, कृष्ण पक्ष की द्वादशी तिथि को यदि पूर्वाषाढ़ या मूल नक्षत्र हो तो उस दिन यह व्रत किया जाता है । इसमें तिल से स्नान, हवन, तिल का ही मिष्टान्न सहित नैवेद्य, तिलतैल युक्त दीप, तिल युक्त जल का प्रयोग करते हैं तथा तिल का दान ब्राह्मणों को देते हुए वासुदेव की स्तुति ऋ० वे० (१.२२,२०) अथवा पुरुषसूक्त (ऋ० १०.९०) द्वारा करते हैं ।

तिल्वक—शतपथ ब्राह्मण (१३.८.१,१६) में इसे एक वृक्ष बताया गया है तथा इसके समीप समाधि बनाना अपवित्र कार्य कहा गया है । इससे ही 'तैल्वक' विशेषण बना है, जिसका अर्थ है तिल्वक की लकड़ी का बना हुआ, और जिससे मैत्रायणीसंहिता में यूप तथा यज्ञयष्टि का बोध षड्विंश ब्राह्मण के अनुसार होता है ।

तिष्य—ऋग्वेद (५.५४,१३;१०.६४,८) में यह एक नक्षत्र का नाम है, यद्यपि सायण इसका अर्थ सूर्य लगाते हैं । निस्सन्देह यह 'अवेस्ता' के तिस्त्र्य का समानार्थक है । परवर्त्ती ग्रन्थों में इसे चन्द्रस्थानों में से एक कहा गया है ।

परवर्ती साहित्य में तिष्य से एक नक्षत्र का बोध होता है जो पुष्य कहलाता है । इस नक्षत्र में उपवास एवं दान-पुण्य करना महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।

तिष्यव्रत—शुक्ल पक्ष में तिष्य (पुष्य) नक्षत्र को इस व्रत का आरम्भ होता है । इसका अनुष्ठान एक वर्ष तक चलता है । प्रतिमास पुष्य नक्षत्र में यह दुहराया जाता है । केवल प्रथम पुष्य नक्षत्र के दिन उपवास करने का विधान है । इसमें वैश्रवण (कुबेर) की पूजा होती है । पुष्टि तथा समृद्धि के लिए इसका अनुष्ठान होता है ।

तीर्थ—(१) तीर्थ का सामान्य अर्थ 'पवित्र स्थान' है, जिसका सम्बन्ध किसी देवता, महापुरुष, महान् घटना, पवित्र नदी, सरोवर आदि से होता है । इसका शाब्दिक अर्थ है 'नदी पार करने का स्थान (घाट) ।' विश्वास किया जाता है कि तीर्थ भवसागर पार करने का घाट है । अतः वहाँ जाकर यात्री को स्नान, दान-पुण्यादि करना तथा साधु-सन्तों का सत्संग प्राप्त करना चाहिए ।

मुख्य तीर्थों में सात पुरियाँ, चार धाम और भारत के असंख्य पवित्र स्थान हैं, जिनमें से कुछ का यथास्थान वर्णन हुआ है । सात पुरियाँ निम्नाङ्कित हैं :

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ।।

चार धाम हैं—द्वारका, जगन्नाथपुरी, बदरिकाश्रम और रामेश्वरम् ।

(२) शङ्कराचार्य की शिष्यपरम्परा में उनके चार प्रधान शिष्यों में से प्रथम पद्मपाद के तीर्थ एवं आश्रम नामक दो शिष्य थे । ये शारदामठ के अन्तर्गत हैं । शङ्कर के ऐसे दस प्रशिष्य उनके चार मुख्य शिष्यों के शिष्य थे तथा इनमें से प्रत्येक की शिष्यपरम्परा प्रचलित हुई जो दसनामी संन्यासी वर्ग की प्रणाली है । आचार्य मध्व तथा उनके अनेक अनुयायी भी तीर्थ परम्परा के अन्तर्गत माने जाते हैं ।

(३) वीर शैवों में जब बालक का जन्म होता है तो पिता अपने गुरु को आमंत्रित करता है तथा अष्टवर्ग नामक संस्कार होता है । ये आठ वर्ग हैं—गुरु, लिंग, विभूति, रुद्राक्ष, मन्त्र, जङ्गम, तीर्थ एवं प्रसाद । ये पाप से सुरक्षा प्रदान करते हैं ।

(४) गुरु को भी तीर्थ कहते हैं, भगवान् का चरणोदक भी तीर्थ कहलाता है ।

तीर्थफल का पात्र—जिसके हाथ, पैर और मन भली भाँति संयमित हैं, जो प्रतिग्रह नहीं लेता, जो अनुकूल अथवा प्रतिकूल जो कुछ भी मिल जाय उसी में संतुष्ट रहता है तथा जिसमें अहंकार का सर्वथा अभाव रहता है वह तीर्थ का फल प्राप्त करता है । जो पाखण्ड नहीं करता, नये कामों को आरम्भ नहीं करता, थोड़ा आहार करता है, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुका है, सब प्रकार की आसक्तियों से रहित है, जिसमें क्रोध नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्मल है, जो सत्य बोलता है, व्रत पालन में दृढ है और सब प्राणियों को अपने आत्मा के समान अनुभव करता है, वह तीर्थ के फल को प्राप्त करता है । जो

लोग अश्रद्धालु, पापात्मा, नास्तिक, संशयात्मा और केवल तर्क में ही डूबे रहते हैं ये पाँच प्रकार के मनुष्य तीर्थ के फल को नहीं प्राप्त करते ।

तीर्थयात्रा-उद्देश्य—भगवत्प्राप्ति के लिए तीर्थयात्रा की जाती है । तीर्थों में साधु सन्त मिलते हैं, भगवान् का ज्ञान काम-लोभवर्जित साधुसंग से होता है । ऐसे सज्जन जो उपदेश देते हैं उससे संसार का बन्धन छूट जाता है । तीर्थों में इनका दर्शन मनुष्यों की पापराशि को जला डालने के लिए अग्नि का काम करता है । जो संसारबन्धन से छूटना चाहते हैं उन्हें पवित्र जल वाले तीर्थों में, जहाँ साधु महात्मा लोग रहते हैं, अवश्य जाना चाहिए । दे० पद्मपुराण, पातालखण्ड, १९.१०-१२,१४-१७ ।

तीर्थयात्राविधि—तीर्थयात्रा का निश्चय होने पर सबसे पहले पत्नी, कुटुम्ब, घर आदि की आसक्ति त्याग देनी चाहिए । तब मन से भगवान् का स्मरण करते हुए तीर्थयात्रा आरम्भ करने के लिए घर से कोस भर दूर जाकर वहाँ पवित्र नदी, तालाब, कूएँ आदि में स्नान करे व क्षौर भी करा ले । उसके बाद बिना गाँठ का दण्ड अथवा बाँस की मोटी पुष्ट लाठी, कमण्डलु और आसन लेकर पूरी सादगी के साथ तीर्थ का उपयोगी वेष धारण कर, धन-मान-बड़ाई, सत्कार, पूजा आदि के लोभ का त्याग कर प्रस्थान आरम्भ कर दे । इस रीति से तीर्थयात्रा करने वाले को विशेष फल की प्राप्ति होती है ।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण भक्तवत्सल गोपते ।
शरण्य भगवन् विष्णो मां पाहि बहुसंसृतेः ।।

इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए तथा मन से भगवान् का स्मरण करते हुए पैदल ही तीर्थयात्रा करनी चाहिए । तभी विशेष फल प्राप्त होता है ।

तीर्थशिष्यपरम्परा—तीर्थ शिष्यपरम्परा शारदामठ के अन्तर्गत है । विशेष विवरण के लिए दे० 'तीर्थ' ।

तीव्रव्रत—पैरों को तोड़कर (बाँधकर) काशी में ही रहना, जिससे मनुष्य बाहर कहीं जा न सके, तीव्र व्रत कहलाता है । अपनी कठोरता के कारण इसका यह नाम है । दे० हेमाद्रि, २.९१६ ।

तुकाराम—तुकाराम (१६०८–४९ ई०) एक छोटे दूकानदार और बिठोवा के परम भक्त थे । उनके व्यक्तिगत धार्मिक जीवन पर उनके रचे गीतों (अभंगों) की पंक्तियाँ पूर्णरूपेण प्रकाश डालती हैं । उनमें तुकाराम की ईश्वर-भक्ति, निज तुच्छता, अयोग्यता का ज्ञान, असीम दीनता, ईश्वरविश्वास एवं सहायतार्थ ईश्वर से प्रार्थना एवं आवेदन कूट-कूट कर भरे हैं । उन्हें बिठोवा के सर्वव्यापी एवं आध्यात्मिक रूप का विश्वास था, फिर भी वे अदृश्य ईश्वर का एकीकरण मूर्ति से करते थे ।

उनके पद्य (अभंग) बहुत ही उच्चकोटि के हैं । महाराष्ट्र में सम्भवतः उनका सर्वाधिक धार्मिक प्रभाव है । उनके गीतों में कोई भी दार्शनिक एवं गूढ़ धार्मिक नियम नहीं है । वे एकेश्वरवादी थे । महाराष्ट्रकेसरी शिवाजी ने उन्हें अपनी राजसभा में आमन्त्रित किया था, किन्तु तुकाराम ने केवल कुछ छन्द लिखकर भेजते हुए त्याग का आदर्श स्थापित कर दिया । उनके भजनों को अभंग कहते हैं । इनका कई भाषाओं में अनुवाद हुआ है ।

तुग्र—ऋग्वेद (१.११६,३;११७,१४;६.६२६) में तुग्र को भुज्यु का पिता कहा गया है और भुज्यु को अश्विनों का संरक्षित । तुग्र को ही 'तुग्रच' वा तौग्रच कहते हैं । ऋग्वेद के एक अन्य सूक्त में (६.२०,८,२६;४.१०.४९,४) दूसरे 'तुग्र' का उल्लेख इन्द्र के शत्रु के रूप में किया गया है ।

तुङ्गनाथ—हिमालय के केदार क्षेत्र में स्थित एक तीर्थस्थान । तुङ्गनाथ पंचकेदारों में से तृतीय केदार हैं । इस मन्दिर में शिवलिङ्ग तथा कई और मूर्तियाँ हैं । यहाँ पातालगङ्गा नामक अत्यन्त शीतल जल की धारा है । तुङ्गनाथशिखर से पूर्व की ओर नन्दा देवी, पञ्चचूली तथा द्रोणाचल शिखर दीख पड़ते हैं । दक्षिण में पौड़ी, चन्द्रवदनी पर्वत तथा सुरखण्डा देवी के शिखर दिखाई देते हैं ।

तुमिञ्ज औपोदिति—तैत्तिरीय संहिता (१.६,२,१) में तुमिञ्ज औपोदिति को एक सत्र का होता पुरोहित कहा गया है तथा उन्हें सुश्रवा के साथ शास्त्रार्थरत भी वर्णित किया गया है ।

तुरगसप्तमी—चैत्र शुक्ल सप्तमी को तुरगसप्तमी कहते हैं । इस तिथि को उपवास करना चाहिए तथा सूर्य, अरुण, निकुम्भ, यम, यमुना, शनि तथा सूर्य की पत्नी छाया, सात छन्द, धाता, अर्यमा तथा दूसरे देवगण की पूजा करनी चाहिए । व्रत के अन्त में तुरग (घोड़े) के दान का विधान है ।

तुरायण—महाभारत के अनुशासनपर्व (१०३.३४) से प्रतीत होता है कि महाराज भगीरथ ने इस व्रत का तीस वर्ष तक आचरण किया था। पाणिनि की अष्टाध्यायी (५.१.७२) में भी यह नाम आया है। स्मृतिकौस्तुभ के अनुसार यह एक प्रकार का यज्ञ है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र (२.१४) में 'तुरायणेष्टि यज्ञ' बतलाया गया है। मनुस्मृति (६.१०) में चातुर्मास्य तथा आग्रयण के साथ इसे वैदिक इष्टि बतलाया गया है।

तुरीयातीतावधूत उपनिषद्—यह परवर्ती उपनिषद् है। इसमें अवधूतों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

तुलसी—भारत में जंगली वृक्ष, क्षुप एवं तृणों में भी दिव्य शक्ति मानी जाती है। जैसे बेल का वृक्ष शैवों के लिए पवित्र है, कुश, दूर्वा कर्मकाण्डियों के लिए; वैसे ही तुलसी वैष्णवों के लिए पवित्र है। लोग उसकी पूजा करते और उसे अपने घर के आँगन में रोपित करते हैं। प्रत्येक दिन स्नानोपरान्त इस वृक्ष को जल दिया जाता है। सन्ध्याकाल में वृक्ष के नीचे इसके चरणों के पास दीपक जलाते हैं। इसमें हरि (विष्णु) का निवास मानते हैं। विष्णु की पूजा के लिए इसकी पत्तियाँ अत्यावश्यक हैं।

तुलसी का एक नाम वृन्दा भी है। पुराणों के अनुसार वृन्दा जालन्धर की पत्नी थी। अपने पातिव्रत के कारण वह विष्णु के लिए भी वन्दनीय थी। इसलिए विष्णु के अवतार कृष्ण की लीलाभूमि का नाम ही वृन्दावन है।

इसकी पत्तियों में मलेरिया ज्वर की नाशक शक्ति है जिससे ग्रामीण वैद्य अधिकतर इसका व्यवहार करते हैं। परन्तु इसका प्रयोग अधिकांश धार्मिक भाव से ही होता है।

तुलसीकृत रामायण—दे० 'तुलसीदास'।

तुलसीत्रिरात्र—कार्तिक शुक्ल नवमी को यह व्रत प्रारम्भ होता है। तीन दिन तक व्रत रखना चाहिए। तत्पश्चात् तुलसी के उद्यान में विष्णु तथा लक्ष्मी की पूजा करनी चाहिए।

तुलसीदास (गोस्वामी)—तुलसीदास (१५३२-१६२३ ई०) के नाम, जीवनचरित्र एवं उनके ग्रन्थों से कौन ऐसा हिन्दू होगा जो अपरिचित होगा। इनका 'रामचरितमानस' झोपड़े से लेकर बड़े-बड़े प्रासादों तक में उत्तर भारत के हिन्दू मात्र के गले का हार है।

गोस्वामीजी श्रीसम्प्रदाय के आचार्य रामानन्द की शिष्यपरम्परा में थे। इन्होंने समय को देखते हुए लोकभाषा में 'रामायण' लिखा। इसमें व्याज से वर्णाश्रमधर्म, अवतारवाद, साकार उपासना, सगुणवाद, गो-ब्राह्मण रक्षा, देवादि विविध योनियों का यथोचित सम्मान एवं प्राचीन संस्कृति और वेदमार्ग का मण्डन और साथ ही उस समय के विधर्मी अत्याचारों और सामाजिक दोषों की एवं पन्थवाद की आलोचना की गयी है। गोस्वामीजी पन्थ वा सम्प्रदाय चलाने के विरोधी थे। उन्होंने व्याज से भ्रातृप्रेम, स्वराज्य के सिद्धान्त, रामराज्य का आदर्श, अत्याचारों से बचने और शत्रु पर विजयी होने के उपाय; सभी राजनीतिक बातें खुले शब्दों में उस कड़ी जासूसी के जमाने में भी बतलायीं, परन्तु उन्हें राज्याश्रय प्राप्त न था। लोगों ने उनको समझा नहीं। रामचरितमानस का राजनीतिक उद्देश्य सिद्ध नहीं हो पाया। इसीलिए उन्होंने झुँझलाकर कहा :

"रामायण अनुहरत सिख, जग भई भारत रीति।
तुलसी काठहि को सुनै, कलि कुचालि पर प्रीति।"

सच है, साढ़े चार सौ वर्ष बाद आज भी कौन सुनता है? फिर भी उनकी यह अद्भुत पोथी इतनी लोकप्रिय है कि मूर्ख से लेकर महापण्डित तक के हाथों में आदर से स्थान पाती है। उस समय की सारी शङ्काओं का रामचरितमानस में उत्तर है। अकेले इस ग्रन्थ को लेकर यदि गोस्वामी तुलसीदास चाहते तो अपना अत्यन्त विशाल और शक्तिशाली सम्प्रदाय चला सकते थे। यह एक सौभाग्य की बात है कि आज यही एक ग्रन्थ है, जो साम्प्रदायिकता की सीमाओं को लाँघकर सारे देश में व्यापक और सभी मत-मतान्तरों को पूर्णतया मान्य है। सबको एक सूत्र में ग्रथित करने का जो काम पहले शंकराचार्य स्वामी ने किया, वही अपने युग में और उसके पीछे आज भी गोस्वामी तुलसीदास ने किया। रामचरितमानस की कथा का आरम्भ ही उन शंकाओं से होता है जो कबीरदास की साखी पर पुराने विचार वालों के मन में उठती हैं।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, गोस्वामीजी स्वामी रामानन्द की शिष्यपरम्परा में थे, जो रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त है। परन्तु गोस्वामीजी की प्रवृत्ति साम्प्रदायिक न थी। उनके ग्रन्थों में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। इसी प्रकार वैष्णव, शैव, शाक्त आदि साम्प्रदायिक भाव-

नाओं और पूजापद्धतियों का समन्वय भी उनकी रचनाओं में पाया जाता है। वे आदर्श समुच्चयवादी सन्त कवि थे। उनके ग्रन्थों में रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली, दोहावली आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

तुलसीलक्षपूजा—माघ अथवा कार्तिक मास के विष्णुपूजन में एक लाख तुलसीदलों का अर्पण करना चाहिए। प्रति दिन एक सहस्र तुलसीदलों के अर्पण का विधान है। वैशाख, माघ अथवा कार्तिक मास में उद्यापन करना चाहिए। दे० स्मृतिकौस्तुभ, ४०८; वर्षकृत्यदीपिका, ४०४-४०८। इसी प्रकार बिल्वपत्र, दूर्वादल, कमल या चम्पा के फूलों को अन्यान्य देवों के लिए समर्पित किया जा सकता है।

तुलसीविवाह—कार्तिक मास में शुक्ल द्वादशी को तुलसी-विवाह करने का बड़ा माहात्म्य है। विवाहव्रती को नवमी के दिन सुवर्ण की भगवान् विष्णु तथा तुलसी की प्रतिमाएँ बनवाकर, तीन दिन तक लगातार उनकी पूजा करके बाद में उनका विवाह रचना चाहिए। इस व्रत के आचरण से कन्यादान का पुण्य प्राप्त होता है। दे० निर्णयसिन्धु, २०४; व्रतराज, ३४७-३५२; स्मृतिकौस्तुभ, ३६६। प्रत्येक हिन्दू के आँगन में तुलसी का थामला रहता है जिसको वृन्दावन कहते हैं। संध्या के समय हिन्दू नारियाँ तुलसी के वृक्ष की अर्घ्य, धूप, दीप, नैवेद्यादि से पूजा करती हैं। पौराणिक पुराकथा के अनुसार जालन्धर असुर की पत्नी का नाम वृन्दा था, जो लक्ष्मी के शाप से तुलसी में परिवर्तित हो गयी। पद्मपुराण (भाग ६, अध्याय ३-१९) में जालन्धर-वृन्दा का लम्बा आख्यान पाया जाता है। बाद में तुलसी रूप में उत्पन्न वृन्दा भगवान् की अनन्य सेविका हो गयी। उसके संमानार्थ यह विवाहव्रत का अनुष्ठान होता है।

तुष्टिप्राप्तिव्रत—श्रावण कृष्ण तृतीया (श्रवण नक्षत्र युक्त) को भगवान् गोविन्द का उन मन्त्रों से पूजन होता है, जिनका आरम्भ 'ओम्' से तथा अन्त 'नमः' से होता है। इसके आचरण से परम सन्तोष की उपलब्धि होती है।

तुला—तुला का उल्लेख वाजसनेयी संहिता (३०.१७) में हुआ है। शतपथ ब्राह्मण (११.२,७,३३) में मनुष्य के अच्छे एवं बुरे कर्मों को इस लोक तथा परलोक में तौले जाने के सिलसिले में इसका उल्लेख है। परवर्ती तुला-परीक्षा से इस तुला में भिन्नता है, जिसमें मनुष्य दो बार तौला जाता था एवं फलस्वरूप अपराधी या निरपराध घोषित होता था, जबकि दूसरी बार पहली तौल की अपेक्षा वह कम या अधिक भारी होता था। इस प्रकार इस परवर्ती दिव्य परीक्षा वाली प्रथा से पहले समय में प्रयुक्त तुला को एक नहीं ठहराया जा सकता।

तुलादान—यह एक प्रकार का धार्मिक कृत्य है। इसमें दानी बहुमूल्य वस्तुओं—स्वर्ण, चाँदी, अन्न, रत्नादि से तौला जाता है। इन वस्तुओं का दान कर दिया जाता है।

तेगबहादुर—सिक्खों के नवें गुरु। वृद्ध अवस्था में उन्हें सम्प्रदाय की अध्यक्षता सौंपी गयी। उन्होंने अनेक पद एवं स्तुतियाँ लिखी हैं। असहिष्णु मुगल सम्राट् औरंगजेब ने उन्हें पटना में कारावास में डाल दिया और अन्त में मरवा डाला। सिक्खों का कहना है कि उसके पहले ही गुरु तेगबहादुर यह भविष्यवाणी कर चुके थे कि यूरोपीय लोग भारत में आयेंगे और मुगल साम्राज्य को नष्ट कर देंगे। इस भविष्यवाणी ने सिक्खों एवं ब्रिटिश सरकार को मिलाने में यथेष्ट सहायता प्रदान की। गुरु तेगबहादुर के पुत्र दशम गुरु गोविन्दसिंह थे, जिनका जन्म पटना के कारागार में ही हुआ था।

तेजःसंक्रान्तिव्रत—प्रत्येक संक्रान्ति के दिन इसका अनुष्ठान होता है। एक वर्ष तक यह व्रत चलता है। इसमें सूर्य की पूजा होती है।

तेजोबिन्दु उपनिषद्—योगमार्गीय उपनिषदों में से यह एक उपनिषद् है।

तेवाराम—तमिल शिवस्तुतियों का एक संग्रह। सन्त नम्बि द्वारा संकलित ग्रन्थ 'तिरुमुरई' में शिव की स्तुतियों का संकलन है। इसमें पूर्ववर्ती सभी तामिल शैव कवियों की रचनाएँ प्रायः समाहित हो गयी हैं। यह ग्रन्थ ग्यारह भागों में विभाजित है। इसी का प्रथम भाग है 'तेवाराम'।

तैत्तिरीय—कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा। इसका वर्णन सूत्र काल तक नहीं पाया जाता। इस शाखा का प्रतिनिधित्व एक संहिता, एक ब्राह्मण, एक आरण्यक और एक उपनिषद् द्वारा होता है। उपनिषद् आरण्यक का ही एक अंश है।

तैत्तिरीय आरण्यक—तैत्तिरीय ब्राह्मण का शेषांश 'तैत्तिरीय आरण्यक' है। इसमें दस काण्ड हैं। काठक में बतायी हुई आरणीय विधि का भी इस ग्रन्थ में विचार हुआ है। इसके पहले और तीसरे प्रपाठक में यज्ञाग्नि प्रस्थापना के

नियम लिखे हैं। दूसरे प्रपाठक में अध्ययन के नियम हैं। चौथे, पाँचवें और छठे में दर्शपूर्णमासादि और पितृमेधादि विषयों का विचार है। सायण, भास्कर और वरदराज ने तैत्तिरीय आरण्यक के भाष्य लिखे हैं। इसके सातवें, आठवें और नवें प्रपाठक ब्रह्मविद्या सम्बन्धी होने से उपनिषद् कहलाते हैं। दसवाँ प्रपाठक 'याज्ञिकी' अथवा 'नारायणीयोपनिषद्' के नाम से विख्यात है।

तैत्तिरीयोपनिषद्—तैत्तिरीय आरण्यक के सातवें, आठवें और नवें प्रपाठक ब्रह्मविद्याविषयक होने से उपनिषद् कहलाते हैं। इन्हीं का संयुक्त नाम तैत्तिरीयोपनिषद् है। इसके बहुत से भाष्य एवं वृत्तियाँ हैं। इनमें शङ्कराचार्य का भाष्य प्रधान है। सायणाचार्य, रङ्गरामानुज और आनन्दतीर्थ ने भी इस उपनिषद् के भाष्य लिखे हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् के तीन भाग हैं, प्रथम भाग संहितोपनिषद् अथवा शिक्षावल्ली है। इसमें व्याकरण सम्बन्धी कुछ आलोचना के बाद अद्वैतवाद की श्रुति आदि का विचार है। दूसरे भाग को आनन्दवल्ली कहते हैं और तीसरे को भृगुवल्ली। इन तीनों वल्लियों का इकट्ठा नाम 'वारुणी उपनिषद्' है। उस उपनिषद् में औपनिषद ब्रह्मविद्या की पराकाष्ठा दिखायी गयी है।

तैत्तिरीयोपनिषद्दीपिका—माधवाचार्य (चौदहवीं शताब्दी) द्वारा रचित 'तैत्तिरीयोपनिषद्दीपिका' तैत्तिरीयोपनिषद् की शाङ्करभाष्यानुसारणी टीका है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य—यह यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का है। इसमें आत्रेय, स्थविर, कौडिन्य, भरद्वाज, वाल्मीकि, आग्निवेश्य, आग्निवेश्यायन, पौष्करसद आदि आचार्यों की चर्चा है। परन्तु इसमें किसी प्रसंग में भी तैत्तिरीय आरण्यक अथवा तैत्तिरीय ब्राह्मण की चर्चा नहीं है। आत्रेय, मारिषेय और वररुचि के लिखे इस पर भाष्य थे, परन्तु वे अब नहीं मिलते। इन पुराने भाष्यों को देखकर कार्त्तिकेय ने 'त्रिभाष्य' नाम का एक विस्तृत भाष्य इस पर लिखा है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण—यह आपस्तम्ब एवं आत्रेय शाखा का ब्राह्मण है। इस पर सायणाचार्य एवं भास्कर मिश्र का भाष्य है। भाष्य की भूमिका में संहिता और ब्राह्मण की पृथक्ता पर विचार किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से मन्त्र का उद्देश्य और व्याख्या रहती है। इस ब्राह्मण का शेषांश तैत्तिरीय आरण्यक है।

तैत्तिरीय श्रुतिवार्तिक—सुरेश्वराचार्य (मण्डन मिश्र) ने संन्यास लेने के बाद अनेक वेदान्त विषयक ग्रन्थ लिखे थे, तैत्तिरीय श्रुतिवार्तिक उनमें से एक है।

तैत्तिरीय संहिता—वैशम्पायन प्रवर्तित 'तैत्तिरीय संहिता' की २७ शाखाएँ हैं। महीधर ने इसके भाष्य में लिखा है कि वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य आदि शिष्यों को वेदाध्ययन कराया। तदनन्तर किसी कारण से क्रुद्ध होकर गुरु याज्ञवल्क्य से बोले कि जो कुछ वेदाध्ययन तुमने किया है उसे वापस करो। याज्ञवल्क्य ने विद्या को मूर्मिमती करके वमन कर दिया। उस समय वैशम्पायन के दूसरे शिष्य उपस्थित थे। वैशम्पायन ने उन्हें आज्ञा दी कि इन वान्त यजुओं को ग्रहण कर लो। उन्होंने तीतर बनकर मन्त्र-ब्राह्मण दोनों को मिश्रित रूप में एक साथ ही चुग लिया, इसीलिए उसका 'तैत्तिरीय संहिता' नाम पड़ा। बुद्धि की मलिनता के कारण यजुओं का रंग मन्त्र-ब्राह्मण रूप में अलग न हो सकने से काला हो गया, इसी से 'कृष्ण-यजुर्वेद' नाम चल पड़ा। इसमें मन्त्रों के संग-संग क्रियाप्रणाली (ब्राह्मण) भी बतायी गयी है और जिस उद्देश्य से मन्त्रों का व्यवहार होता है वह भी बताया गया है। पूरी संहिता ब्राह्मण भाग के ढंग पर चलती है। इस शाखा के अन्य उपलब्ध ब्राह्मण परिशिष्ट रूप के हैं।

त्रोटकाचार्य—शङ्कराचार्य के चार प्रमुख शिष्यों में से एक त्रोटकाचार्य थे। शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित बदरिकाश्रम-स्थित ज्योतिर्मठ के ये मठाधीश बनाये गये थे। त्रोटक के तीन शिष्य थे—सरस्वती, भारती और पुरी। पुरी, भारती और सरस्वती की शिष्यपरम्परा शृंगेरी मठ में है। त्रोटक के तीनों शिष्य दसनामी संन्यासियों में से हैं।

तोडलतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उल्लिखित ६४ तन्त्रों में से ४०वें क्रम में 'तोडल तन्त्र' है।

तोण्ड सिद्धेश्वर—वीरशैव मतावलम्बी एक आचार्य (१५वीं शताब्दी)। इन्होंने 'वीरशैवप्रदीपिका' नामक ग्रन्थ की रचना की है।

तोण्डर तिरुवन्तादि—तमिल शैवकवि नम्बि की कविताओं में से एक 'तोण्डर तिरुवन्तादि' है।

त्यागिनीतन्त्र—इसमें कोच राजवंश के प्रतिष्ठाता विशुसिंह का परिचय दिया गया है। इसके कारण इसे विक्रम की सोलहवीं शती के बाद का माना जाता है।

त्रयीविद्या—(१) पुराकाल में वेदों का वर्गीकरण चार संहिताओं में न होकर ऋक्, साम और यजुष् रचनाशैली के अन्तर्गत था, जिसमें समग्र वैदिक सामग्री आ जाती है। अतः त्रयी से सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का बोध हो जाता है।

(२) वेदों के अनुसरणकर्ता .धर्मशास्त्र और अन्य सामाजिक शास्त्रों के लिए भी इसका प्रयोग होता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में त्रयी की गणना चार प्रमुख विद्याओं में की गयी है: "आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।" उसमें आगे कहा गया है: "एष त्रयीधर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थापनादौपकारिकः।" (१.३.४)

[यह त्रयीधर्म चारों वर्णों तथा आश्रमों के स्वधर्मस्थापन में उपकारी होता है।]

'व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥'

[आर्य मर्यादा की व्यवस्था से युक्त, वर्णाश्रम धर्मसम्पन्न और त्रयी के द्वारा सुरक्षित प्रजा विशेष प्रकार से सुखी रहती है और कभी कष्ट नहीं पाती है।]

त्रयोदशपदार्थवर्जनसप्तमी—उत्तरायण की समाप्ति के पश्चात् रविवार के दिन शुक्ल पक्ष में सप्तमी को (पुरुषवाची नक्षत्रों, जैसै हस्त, पुष्य, मृगशिरा, पुनर्वसु, मूल, श्रवण के होने पर) इसका अनुष्ठान होता है। एक वर्ष तक यह व्रत चलता है। सूर्य का पूजन होता है। त्रयोदश पदार्थों, जैसे व्रीहि, यव, गेहूँ, तिल, माष, मूँग इत्यादि का निषेध है। केवल एक धान्य पर आश्रित रहना पड़ता है।

त्रयोदशीव्रत—किसी मास की त्रयोदशी के दिन इस व्रत का अनुष्ठान होता है। व्रती को कैथ फल के बराबर गौ के मक्खन को किसी सुवर्ण, रजत, ताम्र अथवा मिट्टी के पात्र में रखकर किसी को दान में देना चाहिए।

त्रागा—भाटों तथा चारणों की एक जाति। एक आश्चर्यजनक बात भाट एवं चारण जातियों के विषय में यह है कि वे अवध्य समझे गये हैं। इस विश्वास के पीछे उनके स्वभावतः दूत एवं कीर्तिगायक होने का गुण है। 'त्रागा' की कहानी पश्चिमी भारत में विशेष कर सुनी गयी है। त्रागा आत्महत्या या आत्मघात को कहते हैं जिसे इस जाति वाले (भाट या चारण) किसी कोश की रक्षा या अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यरत रहते समय, आक्रमण किये जाने पर किया करते थे। काठियावाड के सभी भागों में गाँवों के बाहर 'पालियाँ' दृष्टिगोचर होती हैं। ये रक्षक पत्थर हैं जो उपर्युक्त जाति के उन पुरुष एवं स्त्रियों के सम्मान में स्थापित हैं जिन्होंने पशुओं आदि के रक्षार्थ 'त्रागा' किया था। उन व्यक्तियों एवं घटनाओं का विवरण भी इन पत्थरों पर अभिलिखित है।

त्रिक—काश्मीर शैव दर्शन प्रणाली को 'त्रिक' कहते हैं, क्योंकि इसमें तीन ही मुख्य सिद्धान्तों—शिव, शक्ति एवं अणु अथवा पति, पाश एवं पशु का चिन्तन प्राप्त होता है। माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसंग्रह' तथा चटर्जी के 'काश्मीर शैववाद' में विस्तार से इसका वर्णन मिलता है।

त्रिकद्रुक—यह शब्द बहुवचन में ही केवल प्रयुक्त हुआ है तथा सोमरस रखने के किसी प्रकार के तीन पात्रों का वाचक है।

त्रिखर्व—पञ्चविंश ब्राह्मण (२.८.३) में उद्धृत पुरोहितों की एक शाखा का नाम, जिन्होंने एक विशेष यज्ञ सफलतापूर्वक किया था।

त्रिगतिसप्तमी—यह व्रत फाल्गुन शुक्ल सप्तमी को आरम्भ होता है, एक वर्ष पर्यन्त चलता है। 'हेलि' नाम (वस्तुतः यह ग्रीक शब्द 'हेलिओस' का भारतीय रूप है) से सूर्य की पूजा होती है। फाल्गुन मास से ज्येष्ठ मास तक सूर्य की 'हंस' नाम से, आषाढ़ से आश्विन तक 'मार्तण्ड' नाम से, कार्तिक से माघ तक 'भास्कर' नाम से पूजा करने से ऐहलौकिक तथा पारलौकिक प्रभुत्व प्राप्त होने के साथ-साथ इन्द्रलोक का आनन्द और सूर्यलोक में वास मिलता है। इन तीन गतियों के कारण इसे त्रिगतिसप्तमी कहते हैं। दे० हेमाद्रि, १.७३६-७३८; कृत्यरत्नाकर, ५२४-५२६, श्लोक है: 'जपन् हेलीति देवस्य नाम भक्त्या पुनः पुनः।'

त्रिचिनापल्ली एवं श्रीरङ्गम्—सुदूर दक्षिण का तीर्थस्थान। कावेरी इन नगरों को दो भागों में बाँटती है। त्रिचिनापल्ली को प्रायः लोग "त्रिची" कहते हैं। इसका शुद्ध

तमिल नाम 'तिरुचिरापल्ली' है, संस्कृत नाम 'त्रिशिरःपल्ली' है। ऐसी जनश्रुति है कि रावण के भाई त्रिशिरा नामक राक्षस ने इसे बसाया था। उसके विनाश के बाद यह वैष्णवतीर्थ के रूप में विकसित हुई।

त्रित—वैदिक साहित्य में स्पष्टतः यह एक देवता का नाम है। किन्तु निरुक्त (४.६) के एक परिच्छेद में यास्क ने त्रित को ऋषि का नाम बताया है।

त्रित आप्त्य—अपान्नपात्, त्रित आप्त्य, मातरिश्वा, अहिर्बुध्न्य एवं अज-एकपाद को इन्द्र एवं रुद्र के काल्पनिक पर्याय कहते हैं, जो आकाशीय विद्युत् के रूप में वर्णित हैं। 'अपांनपात्' एवं 'त्रित आप्त्य' का प्रारम्भ इण्डो-ईरानियन काल से पाया जाता है। इन दोनों एवं मातरिश्वा को कहीं-कहीं अग्नि (विशेष कर इसके आकाशीय रूप में) माना गया है।

ऋग्वेद में कोई पूरा सूक्त 'त्रित आप्त्य' को समर्पित नहीं है, किन्तु अन्य देवतापरक कई सूक्तों में इसका उल्लेख पाया जाता है। इन्द्र, अग्नि, मरुत् और सोम के साथ प्रायः इसका वर्णन मिलता है। वृत्र के ऊपर इसके आक्रमण और आघात के कई सन्दर्भ पाये जाते हैं। इसकी 'आप्त्य' उपाधि से लगता है कि इसकी उत्पत्ति 'अप्' (जल) से हुई। सायण ने इसको जल का पुत्र कहा है। इसके सम्पूर्ण वर्णन से अनुमान किया जा सकता है कि त्रित (आप्त्य) विद्युत् का देवता है। तीन प्रकार की अग्नि—पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्ष की अग्नि (विद्युत्) इन्द्र अथवा वायु और व्योम की अग्नि (सूर्य) में से यह अन्तरिक्ष की अग्नि है। धीरे-धीरे इन्द्र ने इसकी शक्ति को आत्मसात् कर लिया और देवताओं में इसका स्थान बहुत नगण्य हो गया। सायण ने त्रित आप्त्य की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार कही है: अग्नि ने घृताहुति के अवशेष को साफ करने के लिए आहुति की एक चिनगारी जल में फेंक दी। उससे एकत, द्वित और त्रित तीन पुरुष उत्पन्न हो गये। क्योंकि वे 'अप्' से उत्पन्न हुए थे अतः 'आप्त्य' कहलाये। एक दिन त्रित कूप से पानी लेने गया और उसमें गिर गया। असुरों ने कूप के मुँह पर भारी ढक्कन रख दिया, किन्तु त्रित उसको आसानी से तोड़कर निकल आया। 'नीतिमञ्जरी' में यह कथा भिन्न प्रकार से कही गयी है। एक बार त्रित आदि तीनों भाई जब यात्रा कर रहे थे तो उनको प्यास लगी। वे एक कूप के पास पहुँचे। त्रित ने कूप से जल निकाल कर अपने भाइयों को पिलाया। भाइयों के मन में लोभ आया। त्रित की सम्पत्ति हड़प लेने के विचार से उसको कूप में ढकेल कर उसके मुँह पर गाड़ी का चक्का रख दिया। त्रित ने अति भक्तिभाव से देवताओं की प्रार्थना की और उनकी कृपा से वह बाहर निकल आया।

त्रितपप्रवानसप्तमी—हस्त नक्षत्रयुक्त माघ शुक्ल सप्तमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। यह (तिथिव्रत कृत्यकल्पतरु द्वारा स्वीकृत तथा मासव्रत हेमाद्रि द्वारा स्वीकृत है।) एक वर्ष पर्यन्त चलता है। इसके सूर्य देवता हैं। व्रती को प्रत्येक मास घृत, धान, यव, सुवर्ण और आठ अन्य वस्तुएँ क्रमशः दान में देनी चाहिए तथा एक धान्य (भिन्न-भिन्न प्रकार का) और प्रत्येक मास क्रमशः गोमूत्र, जल तथा दस पृथक्-पृथक् वस्तुएँ ग्रहण करनी चाहिए। इससे तीन वस्तुएँ प्राप्त होती हैं: समृद्ध कुल में जन्म, सुस्वास्थ्य तथा धन। हेमाद्रि ने 'नयनप्रद सप्तमी' के नाम से इसे सम्बोधित किया है।

त्रिदण्डी—श्रीवैष्णव संन्यासी शङ्कर के दसनामी संन्यासियों से भिन्न हैं। इनके सम्प्रदाय में केवल ब्राह्मण ही ग्रहण किये जाते हैं जो त्रिदण्ड धारण करते हैं। दसनामी संन्यासी एकदण्डधारी होते हैं। दोनों वर्गों का क्रमशः त्रिदण्डी' एवं 'एकदण्डी' कहकर भेद किया गया है।

त्रिपादविभूतिमहानारायण उपनिषद्—यह परवर्त्ती उपनिषद् है।

त्रिपुण्ड्र—शैव सम्प्रदाय का धार्मिक चिह्न, जो भौंहों के समानान्तर ललाट के एक सिरे से दूसरे तक भस्म की तीन रेखाओं से अंकित होता है। त्रिपुण्ड्र का चिह्न छाती, भुजाओं एवं शरीर के अन्य भागों पर भी अंकित किया जाता है। 'कालाग्निरुद्र उप०' में त्रिपुण्ड्र पर ध्यान केन्द्रित करने की रहस्यमय क्रिया का वर्णन है। यह सांकेतिक चिह्न शाक्तों द्वारा भी अपनाया गया है। यह शिव एवं शक्ति के एकत्व (सायुज्य) का निर्देशक है।

त्रिपुर—ब्राह्मण ग्रन्थों में त्रिपुर का प्रयोग एक विश्वसनीय सुरक्षा के अर्थ में किया गया है। किन्तु यह प्रसंग क्लिष्ट कल्पना है। तीन दीवारों से घिरे हुए दुर्ग के अर्थ में इसको ग्रहण करना भी सन्दिग्ध ही है।

परवर्त्ती साहित्य में त्रिपुर बाणासुर की राजधानी थी जो स्वर्ण, रौप्य और लौह की बनी थी। शिव ने इसका

ध्वंस किया अतः वे 'त्रिपुरारि' कहलाये। स्कन्दपुराण के अवन्तिका और रेवा खण्ड में इसका विस्तृत वर्णन है। शिव ने अवन्तिका से त्रिपुर पर आक्रमण किया था इसलिए इस विजय के उपलक्ष्य में अवन्तिका का नाम 'उज्जयिनी' (विशेष विजय वाली) पड़ा। यह नगर आगे चलकर 'त्रिपुरी' भी कहलाया। इसका अवशेष जबलपुर से ६-७ मील पश्चिम तेवर गाँव और आस-पास के ढूहों के रूप में पड़ा हुआ है।

त्रिपुरसुन्दरी—यह जगदम्बा महाशक्ति का एक रूप है।

त्रिपुरसूदनव्रत—तीनों उत्तरा नक्षत्र युक्त रविवार को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। प्रतिमा को घृत, दुग्ध, गन्ने के रस में स्नान कराकर तत्पश्चात् केसर से उद्वर्तन तथा बाद में पूजन करना चाहिए।

त्रिपुरा—यह देवी का नाम है, जो भूः, भुवः, स्वः लोकों अथवा पृथ्वी, पाताल, स्वर्ग की स्वामिनी हैं। तन्त्रशास्त्र में त्रिपुरा का बड़ा महत्त्व वर्णित है।

बंगाल के पूर्व में स्थित एक प्रदेश का भी यह नाम है, जो महामाया त्रिपुरा की आराधना का पुराना केन्द्र था। जबलपुर के पास स्थित प्राचीन त्रिपुरी भी पहले शक्ति-उपासना का क्षेत्र था। लगता है कि इसके नष्ट होने पर यह पीठ स्थानान्तरित होकर (नये राजवंश के साथ) वंग देश के पार्वत्य और जाङ्गल प्रदेश में चला गया और इस प्रदेश को अपना उपर्युक्त नाम दिया।

त्रिपुरा उपनिषद्—यह शाक्त उपनिषद् है जिसकी रचना सं० ९५७-१४१७ के मध्य किसी समय मानी जाती है। इसमें १६ पद्य हैं तथा इसका सम्बन्ध ऋग्वेद की शाकल शाखा से जोड़ा जाता है। यह शाक्त मत के दार्शनिक आधार का संक्षिप्त वर्णन उपस्थित करती है। साथ ही यह अनेक प्रकार की व्यवहृत पूजा का भी वर्णन करती है। 'अथर्वशिरस् उपनिषद्' के अन्तर्गत पाँच उपनिषदों में से यह एक है।

त्रिपुरातन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उद्धृत ६४ तन्त्रों की तालिका में १४वाँ तन्त्र त्रिपुरातन्त्र है।

त्रिपुरातापनीय उपनिषद्—शाक्त उपनिषदों में से एक प्रमुख। यह 'नृसिंहतापनीय' की प्रणाली पर प्रस्तुत हुई है और 'अथर्वशिरस्' वर्ग की पाँच उपनिषदों के अन्तर्गत है। रचनाकाल 'त्रिपुरा उपनिषद्' के आस-पास है।

त्रिपुरोत्सव—इस व्रत के अनुष्ठान में कार्तिकी पूर्णिमा को सान्ध्य काल में शिवजी के मन्दिर में दीप प्रज्वलित करना चाहिए।

त्रिभाष्य—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर आत्रेय, मारिषेत्र और वररुचि के लिखे भाष्य थे, परन्तु वे अब नहीं मिलते। इन पुराने भाष्यों को देखकर कार्त्तिकेय ने 'त्रिभाष्य' नाम का एक विस्तृत ग्रन्थ रचा है।

त्रिमधुर—मधु, घृत तथा शर्करा को त्रिमधुर कहा जाता है। धार्मिक क्रियाओं में इसका नैवेद्य रूप में प्रचुर उपयोग होता है।

त्रिमूर्ति—मैत्रायणी उपनिषद् में त्रिमूर्ति का सिद्धान्त सर्वप्रथम दो अध्यायों में वर्णित है। एक ही सर्वश्रेष्ठ सत्ता के तीन रूप हैं—ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव। उपर्युक्त उपनिषद् के पहले परिच्छेद (४.५-६) में केवल इतना ही कहा गया है कि तीनों देव निराकार सत्ता के सर्वश्रेष्ठ रूप हैं। दूसरे में (५.२) इनके दार्शनिक पक्ष का यह वर्णन है कि ये प्रकृति के अदृश्य आधार सत्त्व, रजस् एवं तमस् हैं। एक ही सत्ता तीन देवों के रूप में निरूपित है—विष्णु सत्त्व हैं, ब्रह्मा रजस् हैं तथा शिव तमस् हैं। त्रिमूर्त्ति सिद्धान्त का यह वास्तविक रूप है, किन्तु प्रत्येक सम्प्रदाय अपने देवता को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है। अतएव प्रत्येक सम्प्रदाय में त्रिमूर्ति के विभिन्न रूप हैं। वैष्णवों में विष्णु ही ब्रह्म हैं तथा ब्रह्मा और शिव उनके आश्रित देव हैं। उसी प्रकार शैवों में शिव ब्रह्मस्वरूप हैं तथा विष्णु और ब्रह्मा उनके आश्रित हैं। यही भाव गाणपत्य एवं शाक्तों में भी है। निम्बार्क, वल्लभ तथा दूसरे वैष्णव मतावलम्बी कृष्ण को विष्णु से भिन्न एवं ब्रह्म का रूप मानते हैं। साहित्य, मूर्तिशिल्प एवं चित्रकला में त्रिमूर्ति के रूपों का विविध और विस्तृत चित्रण हुआ है।

त्रिमूर्तिव्रत—ज्येष्ठ शुक्ल तृतीया को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। यह तिथिव्रत है। तीन वर्ष पर्यन्त यह चलता है। इसमें विष्णु भगवान् की वायु, सूर्य तथा चन्द्रमा तीन दैवत मूर्तियों के रूप में पूजा होती है।

त्रियुग—ऋग्वेद (१०.९७,१), तैत्तिरीय सं० (४.२,६,१) तथा वाजसनेयी सं० (१२.७५) में इस शब्द का अर्थ लता-ओषधि-वनस्पतियों की क्रमिक उत्पत्ति का वह युग है, जब देवताओं की भी सृष्टि नहीं हुई थी (देवेभ्यस् त्रियुगम् पुरा)। निरुक्त के भाष्यकार (९.२८) का मत है

कि त्रियुग परवर्त्ती भारत के कालक्रम को कहते हैं तथा पौधों की उत्पत्ति उसमें से प्रथम युग में हुई । शतपथ ब्रा० (७.२,४,२६) में इससे तीन ऋतुओं—वसन्त, वर्षा एवं पतझड़ का अर्थ लगाया गया है ।

त्रियुगीनारायण—हिमालय स्थित एक तीर्थ स्थान । बदरीनाथ के मार्ग में पर्वतशिखर पर भगवान् नारायण भूदेवी तथा लक्ष्मी देवी के साथ विराजमान हैं । सरस्वती गङ्गा की धारा यहाँ है, जिससे चार कुण्ड बनाये गये हैं—ब्रह्मकुण्ड, रुद्रकुण्ड, विष्णुकुण्ड और सरस्वतीकुण्ड । रुद्रकुण्ड में स्नान, विष्णुकुण्ड में मार्जन, ब्रह्मकुण्ड में आचमन और सरस्वतीकुण्ड में तर्पण होता है । मन्दिर में अखण्ड धूनी जलती रहती है जो तीन युगों से प्रज्वलित मानी जाती है । कहते हैं शिव-पार्वती का विवाह यहीं हुआ था ।

त्रिरात्रव्रत—इस व्रत में अक्षारलवण भोजन तथा भूमिशयन का विधान है । तीन रात्रि इसका पालन करना पड़ता है, गृह्यसूत्रों में विवाह के पश्चात् पति-पत्नी द्वारा इसके पालन का आदेश है । बड़े अनुष्ठानों के साथ आनुषङ्गिक रूप में इसका प्रयोग होता है ।

त्रिलोकनाथ—शिव का एक नाम । इस नाम का एक शैव तीर्थ है । हिमाचल प्रदेश में रटांग जोत (व्यासकुण्ड) से उतरने पर चन्द्रा नदी के तट पर खोकसर आता है । यहाँ डाकबँगला और धर्मशाला है । चन्द्रभागा के किनारे-किनारे २८ मील त्रिलोकनाथ के लिए रास्ता जाता है । त्रिलोकनाथ का मन्दिर छोटा परन्तु बहुत सुन्दर बना हुआ है ।

त्रिलोचन—नामदेव के समकालीन एक मराठा भक्त गायक, जिनके बारे में बहुत कम ज्ञात है । ग्रन्थ साहब में उनकी तीन स्तुतियाँ मिलती हैं, किन्तु उनकी मराठी कविताएँ तथा स्मृति भी उनकी जन्मभूमि में ही खो गयी ज्ञात होती है । ये वैष्णव भक्त थे ।

त्रिलोचनयात्रा—(१) वैशाख शुक्ल तृतीया को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । इसमें शिवलिङ्ग (त्रिलोचन) का पूजन करना चाहिए । दे० काशीखण्ड ।

(२) त्रयोदशी के दिन प्रदोष काल में काशी में कामेश का दर्शन करना चाहिए । विशेष रूप से शनिवार के दिन कामकुण्ड में स्नान का विधान है । दे० पुरुषार्थचिन्तामणि, २३० ।

त्रिविक्रम—(१) त्रिविक्रम का शाब्दिक अर्थ है 'तीन चरण वाला' । यह विष्णु का ही एक नाम है । ऋग्वेद में विष्णु के (लम्बे) डगों से आकाश में चढ़ने का उल्लेख है । 'विष्णु' सूर्य का ही एक रूप है । वह अपने प्रातःकालीन, मध्याह्नकालीन तथा सायंकालीन लम्बे डगों से सम्पूर्ण आकाश को नाप लेता है । इसी लिए उसको ऋग्वेद में 'उरुक्रम' (लम्बे डगवाला) कहा गया है । इसी वैदिक कल्पना के आधार पर पुराणों में वामन की कथा की रचना हुई और उनको त्रिविक्रम कहा गया । पुराणों के अनुसार विष्णु के वामन अवतार ने अपने तीन चरणों से राजा बलि की सम्पूर्ण पृथिवी और उसकी पीठ नाप ली । इसलिए विष्णु त्रिविक्रम कहलाये ।

(२) १३वीं शती के उत्तरार्द्ध में वैष्णवाचार्य मध्वरचित वेदान्तसूत्रभाष्य पर त्रिविक्रम ने 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक व्याख्या लिखी ।

त्रिविक्रमत्रिरात्र व्रत—मार्गशीर्ष शुक्ल नवमी को यह व्रत प्रारम्भ होता है । प्रति मास दो त्रिरात्रव्रतों के हिसाब से चार वर्षों तथा दो मासों में, अर्थात् ५० महीनों में कुल १०० त्रिरात्रव्रत होते हैं । इसमें वासुदेव का पूजन होता है । अष्टमी को एकभक्त तथा उसके बाद तीन दिन तक उपवास का विधान है । कार्तिक में व्रत की समाप्ति होती है । दे० हेमाद्रि, २.३१८-३२० । त्रिविक्रम 'विष्णु' का ही एक विरुद है । ऋग्वेद के विष्णुसूक्त में विष्णु के तीन पदों (त्रिविक्रम) का उल्लेख है । पुराणों के अनुसार विष्णु ने वामन रूप में अपने तीन पदों से सम्पूर्ण त्रिलोकी को नाप लिया था । इस व्रत में इसी रूप का ध्यान किया जाता है ।

त्रिविक्रमव्रत—यह विष्णुव्रत है । कार्तिक से तीन मास तक अथवा तीन वर्ष तक इस व्रत का अनुष्ठान होता है । इसके अनुष्ठान से व्रती पापों से मुक्त हो जाता है । दे० हेमाद्रि, २.८५४-८५५ (विष्णुधर्म० से); कृत्यकल्पतरु, ४२९-४३० ।

त्रिवृत—दुग्ध, दधि तथा घृत समान भाग होने पर त्रिवृत कहलाते हैं (वैखानसस्मार्तसूत्र, ३.१०) । धार्मिक क्रियाओं में त्रिवृत का प्रायः उपयोग होता है ।

त्रिवेणी—तीन वेणियों (जलधाराओं) का सङ्गम । प्रयाग तीर्थराज का यह पर्याय है । गङ्गा और यमुना दो नदियाँ यहाँ मिलती हैं और विश्वास किया जाता है कि सरस्वती

भी, जो राजस्थान के मरुस्थल में लुप्त हो जाती है, पृथ्वी के नीचे-नीचे आकर उनसे मिल जाती है। हिन्दू धर्म में नदियाँ पवित्र मानी जाती हैं, दो नदियों का सङ्गम और अधिक पवित्र माना जाता है और तीन नदियों का सङ्गम तो और भी अधिक पवित्र समझा जाता है। यहाँ पर स्नान और दान का विशेष महत्त्व है।

त्रिवेन्द्रम्—यह तीर्थस्थान केरल प्रदेश में है। यह वैष्णव तीर्थ है। नगर का शुद्ध नाम 'तिरुअनन्तपुरम्' है। पुराणों में इस स्थान का नाम 'अनन्तवनम्' मिलता है। प्राचीन त्रावणकोर राज्य तथा वर्तमान केरल प्रदेश की यह राजधानी है। स्टेशन से आधे मील पर यहाँ के नरेश का राजप्रासाद है। भीतर पद्मनाभ भगवान् का मन्दिर है। पूर्व भाग में स्वर्णमंडित गरुडस्तम्भ है। दक्षिण भाग में शास्ता (हरिहरपुत्र) का छोटा मन्दिर है। उत्सवविग्रह के साथ श्रीदेवी, भूदेवी, लीलादेवी की मूर्तियाँ विराजमान हैं। शास्त्रीय विधि के अनुसार द्वादश सहस्र (१२०००) शालग्राम मूर्तियाँ भीतर रखकर "कटुशर्कर योग" नामक मिश्रण विशेष से भगवान् पद्मनाभ का वर्तमान विग्रह निर्मित हुआ है। पद्मनाभ ही त्रावणकोर (केरल) के अधिपति माने जाते हैं। राजा भी उनका प्रतिनिधि मात्र होता था।

त्रिशङ्कु—तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित एक आचार्य तथा वैदिक साहित्य के एक राजऋषि। परवर्त्ती साहित्य के अनुसार त्रिशङ्कु एक राजा का नाम है। विश्वामित्र ने इसको सदेह स्वर्ग भेजने की चेष्टा की, परन्तु वसिष्ठ ने अपने मन्त्रबल से उसको आकाश में ही रोक दिया। तब से त्रिशङ्कु एक तारा के रूप में अधर में ही लटका हुआ है।

त्रिशक्तितन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में दी गयी ६४ तन्त्रों की सूची में यह ४३वाँ तन्त्र है।

त्रिशिखिब्राह्मण उपनिषद्—यह एक परवर्ती उपनिषद् है।

त्रिशोक—एक पुराकालीन ऋषि, जिसका उल्लेख ऋग्वेद (१.११२,१३; ८.४५,३० तथा १०.२९,२) तथा अथर्ववेद (४.२९,६) में हुआ है। पञ्चविंश ब्राह्मण में उसके नाम से सम्बन्धित एक साम का प्रसंग है।

त्रिस्थली—भारत के तीन श्रेष्ठ तीर्थ प्रयाग, काशी और गया विद्वानों द्वारा 'त्रिस्थली' के नाम से अभिहित किये गये हैं। नारायण भट्ट ने १६३७ वि० में वाराणसी में 'त्रिस्थलीसेतु' नाम का एक ग्रन्थ लिखा था। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में उन्होंने मनुष्य के लिए इन्हीं तीन पवित्र तीर्थस्थानों की यात्रा का महत्त्व बतलाया है। वस्तुतः इन तीनों स्थलों का सम्यक् सुकृत समाहार ही किसी तीर्थयात्री की यात्रा का मूल उत्स है। यदि इन तीनों स्थलों की यात्रा उसने नही की तो उसकी तीर्थयात्रा व्यर्थ है। 'त्रिस्थलीसेतु' के आनन्दाश्रम संस्करण में प्रयाग का विवरण पृष्ठ १ से ७२ तक, काशी का विवरण पृष्ठ ७३ से ३१६ तक तथा गया का विवरण पृष्ठ ३१७ से ३७९ तक दिया गया है।

त्रिसम—दालचीनी, इलायची और पत्रक को त्रिसम कहा जाता है। दे० हेमाद्रि, १४३। इसका भैषज्य और धार्मिक क्रियाओं में उपयोग होता है।

त्रिसुगन्ध—दालचीनी, इलायची तथा पत्रक के समान भाग को त्रिसुगन्ध भी कहते हैं। धार्मिक क्रियाओं में इनका प्रायः व्यवहार होता है।

त्र्यणुक—वैशेषिक दर्शन अणुवादमूलक भौतिकवादी है। द्रव्यों के नौ प्रकार इसमें मान्य हैं। उनमें प्रथम चार परमाणुओं के प्रकार हैं। प्रत्येक परमाणु अपरिवर्तनशील एवं अन्तिम सत्ता है। ये चार प्रकार के गुण रखते हैं, यथा गंध, स्वाद, ताप, प्रकाश (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि के अनुसार)। दो परमाणु मिलकर 'द्व्यणुक' बनाते हैं तथा ऐसे दो अणुओं के मिलन से 'त्र्यणुक' बनते हैं। ये त्र्यणुक ही वह सबसे छोटी इकाई है, जिसमें विशेष गुण होता है और जो पदार्थ कहा जा सकता है।

त्र्यम्बक—तीन अम्बक (नेत्र) वाला (अथवा तीन माता वाला)। यह शिव का पर्याय है। 'महामृत्युञ्जय' मन्त्र के जप में शिव के इसी रूप का ध्यान किया जाता है।

त्र्यम्बकव्रत—चतुर्दशी तिथि को भगवान् शङ्कर के प्रीत्यर्थ यह व्रत किया जाता है। प्रत्येक वर्ष के अन्त में एक गोदान करते हुए मनुष्य शिवपद प्राप्त करता है। दे० हरिवंश, २.१४७।

त्र्यम्बकहोम—'साकमेध' के अन्तर्गत, जो चातुर्मास्ययज्ञ का तृतीय पर्व है उसमें पितृयज्ञ का विधान है। इसी यज्ञ का दूसरा भाग है 'त्र्यम्बकहोम' जो रुद्र के लिए किया जाता है। इसका उद्देश्य देवता को प्रसन्न करना तथा उन्हें दूसरे लोगों के पास भेजने के लिए तैयार करना है, जिससे यज्ञकर्त्ता को कोई हानि न हो। भौतिक उत्पात

के अवसर पर 'शतरुद्रिय होम' भी उपर्युक्त यज्ञ के ही समान शान्तिप्रदायक होता है।

त्र्यहःस्पृक्—विष्णुधर्म० १.६०.१४ के अनुसार जब एक तिथि (६० घड़ी से अधिक) तीन दिन तथा रात का स्पर्श करती है तब उसे त्र्यहःस्पृक् कहा जाता है। इसमें एक तिथि की वृद्धि हो जाती है।

त्रैलोक्यमोहनतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' की तन्त्रसूची में उद्धृत यह एक तन्त्र है।

त्रैलोक्यसारतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' की तन्त्रसूची में उद्धृत यह एक तन्त्र ग्रन्थ है।

त्वष्टा—वैदिक देवों में अति प्राचीन त्वष्टा शिल्पकार देवता है तथा देवों का निर्माणकार्य इसी के अधीन है। 'त्वष्टा' का शाब्दिक अर्थ है निर्माण करनेवाला, शिल्पकार, वास्तुकार। विश्वकर्मा भी यही है। यह 'द्यौ' का पर्याय भी हो सकता है। सभी वस्तुओं को निश्चित आकार में अलंकृत करना तथा गर्भावस्था में पिण्ड को आकृति प्रदान करना इसका कार्य है। मनुष्य एवं पशु सभी जीवित रूपों का जन्मदाता होने के कारण यह वंश एवं जननशक्ति का प्रतिनिधि है। यह मनुष्यजाति का पूर्वज है, क्योंकि प्रथम मनुष्य यम और उसकी पुत्री सरण्या का पुत्र है (ऋ० १०.१६.१)। वायु उसका जामाता है (८.२६.२१), अग्नि (१.९५.२) एवं अनुभाव से इन्द्र (६.५९.२; २.१७.६) उसके पुत्र हैं। त्वष्टा का एक पुत्र विश्वरूप है।

थ

थ—व्यञ्जन वर्णों के तवर्ग का द्वितीय अक्षर। कामधेनुतन्त्र में इसका तान्त्रिक महत्त्व निम्नलिखित प्रकार से बताया गया है :

थकारं चञ्चलापाङ्गि कुण्डलीमोक्षदायिनी।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा॥
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणात्मकं सदा।
अरुणादित्यसंकाशं थकारं प्रणमाम्यहम्॥

तन्त्रशास्त्र में इसके अनेक नाम बतलाये गये हैं :

थः स्थिरामी महाग्रन्थिर्ग्रन्थिग्राहो भयानकः।
शिलो शिरसिजो दण्डी भद्रकाली शिलोच्चयः॥
कृष्णो बुद्धिर्विकर्मा च दक्षनासाधिपोऽमरः।
वरदा योगदा केशो वामजानुरसोऽनलः॥
लोलौजज्जयिनी गुह्यः शरच्चन्द्रविदारकः।

इसके ध्यान की विधि निम्नांकित है :

नीलवर्णां त्रिनयनां षड्भुजां वरदां पराम्।
पीतवस्त्रपरीधानां सदा सिद्धिप्रदायिनीम्॥
एवं ध्यात्वा थकारन्तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत्।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा॥
तरुणादित्यसंकाशं थकारं प्रणमाम्यम्॥

थं—यह माङ्गलिक ध्वनि है (मेदिनी)। इसीलिए संगीत के ताल में इसका संकेत होता है। इसका तात्त्विक अर्थ है रक्षण। दे० एकाक्षरकोश।

थ—मेदिनीकोश के अनुसार इसका अर्थ है 'पर्वत'। तन्त्र में यह भय से रक्षा करने वाला माना जाता है। कहीं-कहीं इसका अर्थ 'भयचिह्न' भी है। शब्दरत्नावली में इसका अर्थ 'भक्षण' भी दिया हुआ है।

थानेसर(स्थाण्वीश्वर)तीर्थ—यह तीर्थस्थान हरियाणा प्रदेश में स्थित है और थानेसर शहर से लगभग दो फर्लांग की दूरी पर अत्यन्त ही पवित्र सरोवर है। इसके तट पर स्थाण्वीश्वर (स्थाणु—शिव) का प्राचीन मन्दिर है। कहा जाता है कि एक बार इस सरोवर के कुछ जलबिन्दुओं के स्पर्श से ही महाराज वेन का कुष्ठ रोग दूर हो गया था। यह भी कहा जाता है कि महाभारतीय युद्ध में पाण्डवों ने पूजा से प्रसन्न शंकरजी से यहीं विजय का आशीर्वाद ग्रहण किया था। पुष्यभूति वंश के प्रसिद्ध राजा हर्षवर्द्धन तथा उसके पूर्वजों की यह राजधानी थी। प्राचीन काल से यह प्रसिद्ध शैव तीर्थ है।

द

दक्ष—आदित्यवर्ग के देवताओं में से एक। कहा जाता है कि अदिति ने दक्ष को तथा दक्ष ने अदिति को जन्म दिया। यहाँ अदिति सृष्टि के स्त्रीतत्त्व एवं दक्ष पुरुषतत्त्व का प्रतीक है। दक्ष को बलशाली, बुद्धिशाली, अन्तर्दृष्टियुक्त एवं इच्छाशक्तिसम्पन्न कहा गया है। उसकी तुलना वरुण के उत्पादनकार्य, शक्ति एवं कला से हो सकती है। स्कन्दपुराण में दक्ष प्रजापति की विस्तृत पौराणिक कथा दी हुई है। दक्ष की पुत्री सती शिव से ब्याही गयी थी। दक्ष ने एक यज्ञ किया, जिसमें अन्य देवताओं को निमन्त्रण दिया किन्तु शिव को नहीं बुलाया। सती अनिमन्त्रित पिता के यहाँ गयी और यज्ञ में पति का भाग न देखकर

उसने अपना शरीर त्याग दिया । इस घटना से क्रुद्ध होकर शिव ने अपने गणों को भेजा जिन्होंने यज्ञ का विध्वंस कर दिया । शिव सती के शव को कन्धे पर लेकर विक्षिप्त घूमते रहे । जहाँ-जहाँ सती के शरीर के अंग गिरे वहाँ-वहाँ विविध तीर्थ बन गये ।

दक्ष नाम के एक स्मृतिकार भी हुए हैं, जिनकी धर्मशास्त्रीय कृति 'दक्षस्मृति' प्रसिद्ध है ।

दक्ष पार्वति—पर्वत के वंशज दक्ष पार्वति का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (२.४,४,६) में एक विशेष यज्ञ के सन्दर्भ में हुआ है, जिसे उसके वंशज दाक्षायण करते रहे तथा उसके प्रभाव से ब्राह्मणकाल तक वे राज्यपद के भागी बने रहे । इसका उल्लेख कौषीतकि ब्राह्मण (४.४) में भी है ।

दक्षिणतःकपर्द—वसिष्ठवंशजों का एक विरुद (ऋ० वे० ७.३३.६), क्योंकि वे केशों की वेणी या जटाजूट बनाकर उसे मस्तक के दक्षिण भाग की ओर झुकाये रखते थे ।

दक्षिणा—यज्ञ करने वाले पुरोहितों को दिये गये दान (शुल्क) को दक्षिणा कहते हैं । ऐसे अवसरों पर 'गाय' ही प्रायः शुल्क होती थी । दानस्तुति तथा ब्राह्मणों में इसका और भी विस्तार हुआ है, जैसे गाएँ, अश्व, भैंस, ऊँट, आभूषण आदि । इसमें भूमि का समावेश नहीं है, क्योंकि भूमि पर सारे कुटुम्ब का अधिकार होता था और बिना सभी सदस्यों की अनुमति के इसका दान नहीं किया जा सकता था । अतएव भूमि अदेय समझी गयी । किन्तु मध्य युग आते-आते भूमि भी राजा द्वारा दक्षिणा में दी जाने लगी । फिर भी इसका अर्थ था भूमि से राज्य को जो आय होती थी, उसका दान ।

प्रत्येक धार्मिक अथवा माङ्गलिक कृत्य के अन्त में पुरोहित, ऋत्विज् अथवा ब्राह्मणों को दक्षिणा देना आवश्यक समझा जाता है । इसके बिना शुभ कार्य का सुफल नहीं मिलता, ऐसा विश्वास है । ब्रह्मचर्य अथवा अध्ययन समाप्त होने पर शिष्य द्वारा आचार्य (गुरु) को दक्षिणा देने का विधान गृह्यसूत्रों में पाया जाता है ।

दक्षिणाचार—शैव मत के अनुरूप ही शाक्त मत भी निगमों पर आधारित है, तदनन्तर जब आगमों के विस्तृत आचार का शाक्त मत में और भी समावेश हुआ तब से निगमानुमोदित शाक्त मत का नाम दक्षिणाचार, दक्षिणमार्ग अथवा वैदिक शाक्तमत पड़ गया । आजकल इस दक्षिणाचार का भी एक विशिष्ट रूप बन गया है । इस मार्ग पर चलने वाला उपासक अपने को शिव मानकर पञ्चतत्त्व से शिवा (शक्ति) की पूजा करता है और मद्य के स्थान में विजयारस (भंग) का सेवन करता है । विजयारस भी पञ्च मकारों में गिना जाता है । इस मार्ग को वामाचार से श्रेष्ठ माना जाता है । दाक्षिणात्यों में शंकरस्वामी के अनुयायी शैवों में दक्षिणाचार का प्रचलन देखा जाता है ।

दक्षिणाचारी—दक्षिणाचार का आचरण करने वाले शाक्त उपासक । दे० 'दक्षिणाचार' ।

दक्षिणामूर्ति उपनिषद्—एक परवर्त्ती उपनिषद् ।

दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक—सुरेश्वराचार्य (मण्डन मिश्र) ने संन्यास लेने के बाद जिन अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया उनमें से एक यह ग्रन्थ भी है ।

दण्ड—मनुस्मृति में दण्ड को देवता का रूप दिया गया है जिसका रङ्ग काला एवं आँखें लाल हैं, जिसे प्रजापति ने धर्म के अवतार एवं अपने पुत्र के रूप में जन्म दिया । दण्ड ही विश्व में शान्ति का रक्षक है । इसकी अनुपस्थिति में शक्तिशाली निर्बलों को सताने लगते हैं एवं मात्स्य न्याय फैल जाता है (जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, उसी प्रकार बड़े लोग छोटे लोगों को मिटा डालते हैं) ।

दण्ड ही वास्तव में राजा तथा शासन है, यद्यपि इसका प्रयोग राजा अथवा उचित अधिकारी द्वारा होता है । अपराध से गुरुतर दण्ड देने पर प्रजा रुष्ट होती है तथा लघुतर दण्ड देने पर वह राजा का आदर नहीं करती । अतएव राजा को चाहिए कि वह अपराध को ठीक तौल कर दण्डविधान करे । यदि अपराधी को राजा दण्डित न करे तो वही उसके किये हुए अपराध एवं पापों का भागी होता है । मनु ने 'दण्ड' के माहात्म्य में कहा है :

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ।।

[दण्ड ही शासन करता है । दण्ड ही रक्षा करता है । जब सब सोते रहते हैं तो दण्ड ही जागता है । बुद्धिमानों ने दण्ड को ही धर्म कहा है ।]

दण्डनीति—राजशास्त्र का एक नाम । यह शास्त्र अति प्राचीन है । महाभारत, शान्तिपर्व के ५९वें अध्याय में लिखा है कि सत्ययुग में बहुत काल तक न राजा था, न

दण्ड । प्रजा कर्मानुगामिनी थी । फिर काम, क्रोध, लोभादि दुर्गुण उत्पन्न हुए । कर्त्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नष्ट हुआ एवं 'मात्स्य न्याय' का बोलबाला हुआ । ऐसी दशा में देवों की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने एक लाख अध्यायों वाला 'दण्डनीति' नाम का नीतिशास्त्र रच डाला । इसी के संक्षिप्त रूप आवश्यकतानुसार समय-समय पर 'वैशालाक्ष', 'बाहुदन्तक', बार्हस्पत्य शास्त्र', 'औशनसी नीति', 'अर्थशास्त्र', 'कामन्दकीय नीति' एवं 'शुक्रनीतिसार' हुए । दण्डनीति का प्रयोग राजा के द्वारा होता था । यह राजधर्म का ही प्रमुख अङ्ग है ।

कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' के विद्यासमुद्देश प्रकरण में विद्याओं की सूची में दण्डनीति की गणना की है :

'आन्वीक्षिकी-त्रयी-वार्ता-दण्डनीतिश्चेति विद्याः ।'

कौटिल्य ने कई राजनीतिक सम्प्रदायों में औशनससम्प्रदाय का उल्लेख किया है जो केवल दण्डनीति को ही विद्या मानता था । परन्तु उन्होंने स्वयं इसका प्रतिवाद किया है और कहा है कि चार विद्याएँ हैं (चतस्र एव विद्याः) और इनके सन्दर्भ में ही दण्डनीति का अध्ययन हो सकता है । 'अर्थशास्त्र' में दण्डनीति के निम्नांकित कार्य बताये गये हैं :

(१) अलब्धलाभार्था (जो नही प्राप्त है उसको प्राप्त कराने वाली),

(२) लब्धस्य परिरक्षिणी (जो प्राप्त है उसकी रक्षा करने वाली),

(३) रक्षितस्य विवर्धिनी (जो रक्षित है उसकी वृद्धि करने वाली) और

(४) वृद्धस्य पात्रेषु प्रतिपादिनी (बढ़े हुए का पात्रों में सम्यक् प्रकार से विभाजन करनेवाली) ।

दण्डी—चतुर्थ आश्रम के कर्तव्य व्यवहारों के प्रतीक रूप बाँस का दण्ड जो संन्यासी हाथ में धारण करते हैं, वे दण्डी कहे जाते हैं । आजकल प्रायः शङ्कर स्वामी के अनुगामी दण्डियों का विशेष प्रचलन है । यह उनके दसनामी संन्यासियों का एक आन्तरिक वर्ग है । इनके नियमानुसार केवल ब्राह्मण ही दण्ड धारण कर सकता है । इसकी क्रियाएँ इतनी कठिन हैं कि ब्राह्मणों में भी कुछ थोड़े ही उनका निर्वाह कर सकते हैं और अधिकांश इस अधिकार का उपयोग नहीं कर पाते ।

दत्तगोरखसंवाद—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने गुरु गोरखनाथ विरचित ३७ ग्रन्थ खोज निकाले हैं, जिनमें से 'दत्तगोरखसंवाद' भी प्रमुख ग्रन्थ है ।

दत्त तापस—पञ्चविंश ब्राह्मण (२५.१५.३) के वर्णनानुसार दत्त तापस तथाकथित सर्पयज्ञ में होता पुरोहित था ।

दत्त सम्प्रदाय—प्राचीन वैष्णवों के व्यापक भागवत सम्प्रदाय की अब तीन शाखाएँ पायी जाती हैं—वारकरी सम्प्रदाय, रामदासी पन्थ एवं दत्त सम्प्रदाय । ये तीनों सम्प्रदाय महाराष्ट्र में ही उत्पन्न हुए और वहीं से फैले । इन सम्प्रदायों में उच्च कोटि के सन्त, भक्त और कवि हो गये हैं । दत्त सम्प्रदाय तीनों में पुराना है । इसके आराध्य या आदर्श अवधूतराज दत्तात्रेय माने जाते हैं ।

दत्तहोम—दत्तक पुत्र ग्रहण करने के समय इस धार्मिक विधि का अनुष्ठान होता है । हिन्दुओं में पुत्रहीन पिता अपना उत्तराधिकारी एवं वंशपरम्परा स्थापित करने के लिए दूसरे के पुत्र को ग्रहण करता है । इस अवसर पर उसे दूसरी आवश्यक विधियों के करने के पश्चात् व्याहृतिहोम अथवा 'दत्तहोम' करना पड़ता है । इस होम का आशय देवों का साक्षित्व प्राप्त करना होता है कि उनकी उपस्थिति में पुत्रसंग्रह का कार्य सम्पन्न हुआ ।

दत्तात्रेय—आगमवर्ग की प्रत्येक संहिता प्रारम्भिक रूप में किसी न किसी सम्प्रदाय की पूजा या सिद्धान्त का वर्णन उपस्थित करती है । दत्तात्रेय की पूजा इस नाम की 'दत्तात्रेयसंहिता' में उपलब्ध है । दत्तात्रेय को मानभाउ सम्प्रदाय वाले अपने सम्प्रदाय का मुख्य आचार्य कहते हैं तथा उनकी पूजा करते हैं । दत्तात्रेय की अस्पष्ट मूर्तिपूजा छाया रूप में मानभाउ सम्प्रदाय के इतिहास के साथ संलग्न रही है ।

दत्तात्रेय को ऐतिहासिक संन्यासी मान लिया जाय तो अवश्य ही वे महाराष्ट्र प्रदेश में हुए होंगे तथा यादवगिरि (मेलकोट) से सम्बन्धित रहे होंगे । जैसा नारदपुराण में उल्लिखित है, उन्होंने मैसूरस्थित यादवगिरि की यात्रा की थी । संप्रति उनका प्रतिनिधित्व तीन मस्तक वाली एक संन्यासी मूर्ति से होता है और इस प्रकार वे त्रिमूर्ति भी समझे जाते हैं । उनके साथ चार कुत्ते एवं एक गाय होती है, जो क्रमशः चारों वेदों एवं पृथ्वी के प्रतीक हैं ।

किन्तु मानभाउ लोग उनको इस रूप में न मानकर कृष्ण का अवतार समझते हैं ।

दत्तात्रेय उपनिषद्—एक परवर्त्ती उपनिषद् है, जिसका सम्बन्ध दत्तात्रेय सम्प्रदाय अथवा मानभाउ सम्प्रदाय के आरम्भ से है ।

दत्तात्रेयजन्मव्रत—मार्गशीर्ष की पूर्णमासी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । महर्षि अत्रि की पत्नी अनसूया अपने पुत्र को 'दत्त' नाम से पुकारती थीं, क्योंकि भगवान् ने स्वयं को उन्हें पुत्र रूप में प्रदान कर दिया था । साथ ही वे अत्रि मुनि के पुत्र थे, इसलिए संसार में दत्त-आत्रेय के नाम से वे प्रसिद्ध हुए । दे० निर्णयसिन्धु, २१०; स्मृतिकौस्तुभ, ४३०; वर्षकृत्यदीपिका, १०७-१०८ । भगवान् दत्तात्रेय के लिए महाराष्ट्र में अपूर्व भक्ति देखी जाती है । उदाहरण के लिए, इनसे सम्बद्ध तीर्थ औदुम्बर, गाङ्गापारा, नरसोबा-वाडी इत्यादि महाराष्ट्र में ही हैं । दत्तात्रेय ने राजा कार्तवीर्य को वरदान दिया था (वनपर्व, ११५. १२) दत्तात्रेय विष्णु के अवतार बतलाये जाते हैं, उन्होंने अलर्क को योग का उपदेश दिया था । वे सह्याद्रि की कन्दराओं और घाटियों में निवास करते थे और अवधूत नाम से विख्यात थे । तमिलनाडु के पञ्चाङ्गों से प्रतीत होता है कि दत्तात्रेयजयन्ती तमिलनाडु में भी मनायी जाती है ।

दत्तात्रेय सम्प्रदाय—दत्तात्रेय को कृष्ण का अवतार मानकर पूजा करने वाले एक सम्प्रदाय का उदय महाराष्ट्र प्रदेश में हुआ । इसके अनुयायी वैष्णव हैं । ये मूर्तिपूजा के विरोधी हैं । इस सम्प्रदाय को 'मानभाउ', 'दत्त सम्प्रदाय', 'महानुभाव पन्थ' तथा 'मुनिमार्ग' भी कहते हैं ।

महाराष्ट्र प्रदेश, बरार के ऋद्धिपुर में इसके प्रधान महन्त का मठ है। परन्तु महाराष्ट्र में ही ये लोग लोकप्रिय न हो पाये । महाराष्ट्र के सन्तकवि एकनाथ, गिरिधर आदि ने अपनी कविताओं में इनकी निन्दा की है । सं० १८३९ में माधवराव पेशवा ने फरमान निकाला कि "मानभाउ पन्थ पूर्णतया निन्दित है । उन्हें वर्णबाह्य समझा जाय । न तो उनका वर्णाश्रम से सम्बन्ध है और न छहों दर्शनों में स्थान है । कोई हिन्दू उनका उपदेश न सुने, नहीं तो जातिच्युत कर दिया जायगा ।" समाज उन्हें भ्रष्ट कहकर तरह-तरह के दोष लगाता था । जो हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि यह सुधारक पन्थ वर्णाश्रम धर्म की परवाह नहीं करता था और इसका ध्येय केवल भगवद्भजन और उपासना मात्र था । यह भागवत मत की ही एक शाखा है । ये सभी सहभोजी हैं किन्तु मांस, मद्य का सेवन नहीं करते और अपने संन्यासियों को मन्दिरों से अधिक सम्मान्य मानते हैं । दीक्षा लेकर जो इस पन्थ में प्रवेश करता है, वह पूर्ण गुरु पद का अधिकारी हो जाता है । ये अपने शवों को समाधि देते हैं । इनके मन्दिरों में एक वर्गाकार अथवा वृत्ताकार सौध होता है, वही परमात्मा का प्रतीक है । यद्यपि दत्तात्रेय को ये अपना मार्गप्रवर्तक मानते हैं तो भी प्रति युग में एक प्रवर्त्तक के अवतीर्ण होने का विश्वास करते हैं । इस प्रकार इनके अब तक पाँच प्रवर्त्तक हुए हैं और उनके अलग-अलग पाँच मन्त्र भी हैं । पाचों मन्त्र दीक्षा में दिये जाते हैं । इनके गृहस्थ और संन्यासी दो ही आश्रम हैं । भगवद्गीता इनका मुख्य ग्रन्थ है । इनका विशाल साहित्य मराठी में है, परन्तु गुप्त रखने के लिए एक भिन्न लिपि में लिखा हुआ है । लीलासंवाद, लीलाचरित्र और सूत्रपाठ तथा दत्तात्रेय-उपनिषद् एवं संहिता इनके प्राचीन ग्रन्थ हैं ।

विक्रम की चौदहवीं शती के आरम्भ में सन्त चक्रधर ने इस सम्प्रदाय का जीर्णोद्धार किया था । जान पड़ता है, चक्रधर ने ही इस सम्प्रदाय में वे सुधार किये जो उस समय के हिन्दू समाज और संस्कृति के विपरीत लगते थे । इस कारय यह सम्प्रदाय सनातनी हिन्दुओं की दृष्टि में गिर गया और बाद को राज्य और समाज दोनों द्वारा निन्दित माना जाने लगा । सन्त चक्रधर के बाद सन्त नागदेव भट्ट हुए जो यादवराज रामचन्द्र और सन्त योगी ज्ञानेश्वर के समकालीन थे । यादवराज रामचन्द्र का समय सं० १३२८-१३६३ है । सन्त नागदेव भट्ट ने भी इस सम्प्रदाय का अच्छा प्रचार किया ।

मानभाउ सम्प्रदाय वाले भूरे रङ्ग के कपड़े पहनते हैं । तुलसी की कण्ठी और कुण्डल धारण करते हैं । अपना मत गुप्त रखते हैं और दीक्षा के पश्चात् अधिकारी को ही उपदेश देते हैं ।

दत्तात्रेयसंहिता—दत्त अथवा मानभाउ सम्प्रदाय का प्राचीन ग्रन्थ ।

दधि—वैदिक साहित्य में दधि का उद्धरण अनेक बार आया है । 'शतपथ ब्राह्मण (१.८.१.७) में घृत, दधि, मस्तु का

क्रम से उल्लेख है । दधि सोम में मिलाया जाता था । 'दध्याशिर' सोम का ही एक विरुद है । परवर्त्ती धार्मिक साहित्य में दधि को सिद्धि का प्रतीक मानते हैं और माङ्गलिक अवसरों पर अनेक प्रकार से इसका उपयोग करते हैं ।

दधीचि—एक अति प्राचीन ऋषि । सत्ययुग के दीर्घकाल में ही कई बार वेदों का संकोच-विकास हुआ है । महाभारत के शल्यपर्व में कथा है कि एक बार अवर्षण के कारण ऋषि लोग देश के बाहर बारह वर्ष तक रहने से वेदों को भूल गये थे । तब दधीचि ने और सरस्वती के पुत्र सारस्वत ऋषि ने अपने से कहीं अधिक बूढ़े ऋषियों को फिर से वेद पढ़ाये थे ।

दधीचि के त्याग की कथा भारत के उच्च आदर्श की द्योतक है । वृत्र नामक असुर को मारने के लिए जब देवों ने दधीचि से उनकी अस्थियाँ माँगीं तो उन्होंने योगबल से प्राण त्याग कर हड्डियाँ दे दीं, उनसे वज्र का निर्माण हुआ और उसका उपयोग करके इन्द्र ने वृत्त असुर का वध किया । विष्णु और शिव के धनुष भी इन्हीं हड्डियों से बनाये गये थे ।

दध्यङ् आथर्वण—एक ऋषि । ऋग्वेद में इनको एक प्रकार का देवता कहा गया है (१.८०, १६; ८४, १२, १४; ११६, १२; ११७, २२; ११९, ९), किन्तु परवर्त्ती संहिताओं (तैत्ति० सं० ५.१,४,४; ६,६,३; काठक सं० १९.४) एवं ब्राह्मणों (शतपथ ४.१,५,१८; ६.४,२,३; १४.१,१, १८;२०,२५,५,१३; बृहदा० उप० २.५,२२; ४,५.२८ आदि) में उन्हें अध्यापक का रूप दिया गया है । पञ्चविंश ब्राह्मण (१२.८,६) तथा गोपथ ब्राह्मण (१.५,२१) में अस्पष्ट रूप से उन्हें आङ्गिरस भी कहा गया है ।

दधिव्रत—श्रावण शुक्ल द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । व्रतकर्त्ता इस काल में दही का सेवन नहीं करता ।

दधिसंक्रान्तिव्रत—उत्तरायण की (मकर) संक्रान्ति से प्रारम्भ कर प्रत्येक संक्रान्ति को एक वर्ष तक इस व्रत का आचरण होता है । भगवान् नारायण तथा लक्ष्मी की प्रतिमाओं को दही में स्नान कराना चाहिए । मन्त्र या तो ऋग्वेद, १.२२.२० होगा या 'ओम् नमो नारायणाय' (वर्षकृत्यकौमुदी, २१८,२२२) होगा ।

दधीचितीर्थ—यह सरस्वती नदी के तट पर है, इस स्थान पर महर्षि दधीचि का आश्रम था । इन्होंने देवराज इन्द्र के माँगने पर राक्षसों का संहार करने के उद्देश्य से वज्र बनाने के लिए अपनी हड्डियों का दान किया था ।

दनु—वर्षा के बादल का नाम, जो केवल कुछ ही बूँद बरसाता है । दनु वृत्र (असुर) की माँ का नाम भी है । ऋग्वेद (१०.१२०.६) में सात दनुओं (दानवों) का वर्णन है, जो दनु के पुत्र हैं और जो आकाश के विभिन्न भागों को घेरे हुए हैं । वृत्र उनमें सबसे बड़ा है । ऋग्वेद (२.१२.११) में दनु के एक पुत्र शम्बर का वर्णन है जिसका इन्द्र ने ४०वें वसन्त में वध किया, जो बड़े पर्वत के ऊपर निवास करता था । पुराणों में दनु के वंशज दानवों की कथा विस्तार के साथ वर्णित है ।

दन्त—ऋग्वेद तथा परवर्ती ग्रन्थों में 'दन्त' शब्द का प्रयोग बहुलता से हुआ है । 'दन्तधाव' एक साधारण कर्म था, विशेष कर यज्ञ करने की तैयारी के समय स्नान, क्षौर (केश-श्मश्रु) कर्म, नख कटाना आदि के साथ इसे भी किया जाता था । अथर्ववेद में बालक के प्रथम उगने वाले दो दन्तों का वर्णन है, यद्यपि इसका ठीक आशय अस्पष्ट है । ऐतरेय ब्राह्मण में बच्चे के दूध के दाँतों के गिरने का वर्णन है । ऋग्वेद में इस शब्द का एक स्थान पर गजदन्त अर्थ लगाया गया है । दन्तचिकित्सा शास्त्र प्रचलित था या नहीं, यह सन्देहात्मक है । ऐतरेय आरण्यक में हिरण्यदन्त नामक एक मनुष्य का उल्लेख है, जिससे यह अनुमान किया जाता है कि दाँतों को गिरने से रोकने के लिए उन्हें स्वर्णजटित किया जाता था ।

दमनकपूजा—चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । इसमें कामदेव का पूजन किया जाता है । दमनक पौधा कामदेव का प्रतीक है अतः उसको माध्यम बनाकर पूजा होती है ।

दमनभञ्जी—चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को इस नाम से पुकारा जाता है, इसमें दमनक पौधे के (स्कन्ध, शाखा, मूल तथा पत्तों) प्रत्येक अवयव से कामदेव की पूजा की जाती है । दे० ई० आई०, जिल्द २३ पृ० १८६, जहाँ सं० १२९४ में विन्ध्येश्वर शिव के एक शिवालय निर्माण का उल्लेख किया गया है (गुरुवार १२ मार्च १२३७) ।

दमनकमहोत्सव—यह वैष्णवव्रत है । चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को

इस व्रत का अनुष्ठान होता है। भगवान् विष्णु की पूजा का इसमें विधान है। दमनक नामक पौधे को प्रतीक बनाकर पूजा होती है। साधारणतः दमनक 'काम' का प्रतीक है, परन्तु विष्णु भी प्रवृत्तिमार्गी (कामनाप्रधान) देवता हैं। अतः इनका प्रतीक भी दमनक बना लिया गया है। इसमें निम्नलिखित कामगायत्री का पाठ किया जाता है—

तत्पुरुषाय विद्महे कामदेवाय धीमहि ।
तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात् ॥

दमनकारोपण—इस व्रत में चैत्र प्रतिपदा से पूर्णिमा तक दमनक पौधे से भिन्न-भिन्न देवों की पूजा का विधान है। यथा उमा, शिव तथा अग्नि प्रतिपदा के दिन, द्वितीया को ब्रह्मा, तृतीया को देवी तथा शङ्कर, चतुर्थी से पूर्णिमा तक क्रमशः गणेश, नाग, स्कन्द, भास्कर, मातृदेवता, महिषमर्दिनी, धर्म, ऋषि, विष्णु, काम, शिव और शची सहित इन्द्र पूजित होते हैं।

दमनकोत्सव—यह शैव व्रत है। चैत्र शुक्ल चदुर्दशी को इसका अनुष्ठान होता है। किसी उद्यान में दमनक पौधे की पूजा की जाती है। अशोक वृक्ष के मूल में शिव की स्तुति की जाती है। दे० ईशानगुरुदेवपद्धति, २२वाँ पटल। इसमें एक लम्बा आख्यान है : जब कामदेव ने शिव पर अपना बाण छोड़ना चाहा तब उनके तृतीय नेत्र से भैरव नाम की अग्नि निकली। शिवजी ने उसका नाम दमनक रखा। किन्तु पार्वती ने उसे पृथ्वी पर एक पौधा हो जाने का वरदान दे दिया। तदनन्तर शिवजी ने उसे वरदान दिया कि यदि लोग केवल वसन्त तथा मदन के मन्त्रों से उसकी पूजा करेंगे तो उनकी समस्त मनोवाञ्छाएँ पूर्ण होंगी। इस दिन अनङ्गगायत्री का पाठ किया जाता है।

दयानन्द सरस्वती—आर्यसमाज के प्रवर्तक और प्रखर सुधारवादी संन्यासी। जिस समय केशवचन्द्र सेन ब्राह्मसमाज के प्रचार में संलग्न थे लगभग उसी समय दण्डी स्वामी विरजानन्द की मथुरापुरी स्थित कुटी से प्रचण्ड अग्निशिखा के समान तपोबल से प्रज्वलित, वेदविद्यानिधान एक संन्यासी निकला, जिसने पहले-पहल संस्कृतज्ञ विद्वत्संसार को वेदार्थ और शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। यह संन्यासी स्वामी दयानन्द सरस्वती थे।

विक्रम सं० १८८१ में इनका जन्म काठियावाड़ में एक शैव औदीच्य ब्राह्मणकुल में हुआ। इनका शैशव काल में मूलशङ्कर नाम था। ये बड़े मेधावी और होनहार थे। ब्रह्मचर्यकाल में ही ये भारतोद्धार का व्रत लेकर घर से निकल पड़े। भारत में घूम घूमकर खूब अध्ययन किया, बहुत काल तक हिमालय में रहकर योगाभ्यास एवं घोर तपस्या की, संन्यासाश्रम ग्रहण करके 'दयानन्द सरस्वती' नाम धारण किया। अन्त में सं० १९१७ में मथुरा आकर प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द से साङ्ग वेदाध्ययन किया। गुरुदक्षिणा में उनसे वेद प्रचार, मूर्तिपूजा खण्डन आदि की प्रतिज्ञा की और उसे पूरा करने को निकल पड़े। प्रतिज्ञा तो व्याज मात्र थी, हृदय में लगन बचपन से लग रही थी। स्वामीजी ने सारे भारत में वेद-शास्त्रों के प्रचार की धूम मचा दी। ब्राह्मसमाज एवं ब्रह्मविद्यासमाज (थियोसॉफिकल सोसायटी) दोनों को परखा। किसी में वह बात न पायी जिसे वे चाहते थे। पश्चात् सं० १९३२ वि० में 'आर्यसमाज' स्थापित किया। आठ वर्ष तक इसका प्रचार करते रहे। सं० १९४० वि० में दीपावली के दिन अजमेर में शरीर छोड़ा। इनके कार्यों के विवरण के लिए दे० 'आर्यसमाज'।

दयाबाई—चरणदासी पन्थ के प्रवर्तक स्वामी चरणदासजी की दो शिष्याएँ थीं, सहजोबाई और दयाबाई। दोनों शिष्याओं ने योग सम्बन्धी पद्य लिखे हैं। इनका समय लगभग १७वीं शती वि० का मध्य है।

दयाराम—गुजराती भाषा के सबसे बड़े कवियों में से एक (१७६२-१८५३ ई०)। ये वल्लभसम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनकी अधिकांश रचनाएँ कृष्णभक्ति एवं रागानुगा कृष्णलीला विषयक हैं।

दयाशङ्कर—आश्वलायनश्रौतसूत्र के एक व्याख्याकार। इन्होंने साममन्त्र की वृत्ति भी लिखी है।

दयाशङ्करगृह्यसूत्रप्रयोगदीप—शाङ्खायन गृह्यसूत्र की यह एक व्याख्या है।

दर्श—'दर्श' से सूर्य-चन्द्र के एक साथ दिखाई देने (रहने) का बोध होता है, जो पूर्णमासी का प्रतिलोम (अमावस्या) शब्द है। अधिकांशतया यह शब्द यौगिक रूप 'दर्श-पूर्णमास' (अमावस्या-पूर्णिमाकृत्य) के रूप में प्रयुक्त होता है तथा इस दिन विशेष यज्ञकर्म आदि करने का महत्त्व है। इससे वैदिक काल में अमान्त मास प्रचलित होना संभावित होता है, किन्तु यह पूर्णतया सिद्ध नहीं है। केवल 'दर्श' शब्द प्रथम आने से यह सम्भावना की जाती है।

दर्शन—इस शब्द की उत्पत्ति 'दृश्' (देखना) धातु से हुई है। यह अवलोकन बाहरी एवं आन्तरिक हो सकता है, सत्यों का निरीक्षण अथवा अन्वेषण हो सकता है, अथवा आत्मा की आन्तरिकता के सम्बन्ध में तार्किक अनुसन्धान हो सकता है। प्रायः दर्शन का अर्थ आलोचनात्मक अभिव्यक्ति, तार्किक मापदण्ड अथवा प्रणाली होता है। यह विचारों की प्रणाली है, जिसे आभ्यन्तरिक (आत्मिक) अनुभव तथा तर्कपूर्ण कथनों से ग्रहण किया जाता है। दार्शनिक तौर पर 'स्वयं के आन्तरिक अनुभव को प्रमाणित करना तथा उसे तर्कसंगत ढंग से प्रचारित करना' दर्शन कहलाता है। अखिल विश्व में चेतन और अचेतन दो ही पदार्थ हैं। इनके बाहरी और स्थूल भाव पर बाहर से विचार करने वाले शास्त्र को 'विज्ञान' और भीतरी तथा सूक्ष्म भाव पर भीतर से निर्णय करने वाले शास्त्र को 'दर्शन' कहते हैं।

भारत में बारह प्रमुख दर्शनों का उदय हुआ है, इनमें से छः नास्तिक एवं छः आस्तिक हैं। चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक और आर्हत ये छः दर्शन नास्तिक इसलिए कहे जाते हैं कि ये वेद को प्रमाण नहीं मानते (नास्तिको वेदनिन्दकः)। साथ ही अनीश्वरवादी कहलाने वाले सांख्य एवं मीमांसा दर्शन आस्तिक हैं। पूर्वोक्त को नास्तिक कहने का भाव यह है कि वे ऋग्वेदादि चारों वेदों का एक भी प्रमाण नहीं मानते, प्रत्युत जहाँ अवसर मिलता है वहाँ वेदों की निन्दा करने में नहीं चूकते। इसीलिए नास्तिक को अवैदिक भी कहा जाता है। आस्तिक दर्शन छः—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा एवं वेदान्त हैं। ये वेदों को प्रमाण मानते हैं इसलिए वैदिक अथवा आस्तिक दर्शन कहलाते हैं।

निस्सन्देह ये बारहों दर्शन विचार के क्रम-विकास के द्योतक हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारत की पुण्यभूमि से निकले हुए जितने धर्म-मत अथवा सम्प्रदाय संसार में फैले हैं उन सबके मूल आधार ये ही बारह दर्शन हैं। व्याख्याभेद से और आचार-व्यवहार में विविधता आ जाने से सम्प्रदायों की संख्या बहुत बढ़ गयी है। परन्तु जो कोई निरपेक्ष भाव से इन दर्शनों का परिशीलन करता है, अधिकारी और पात्रभेद से उसके क्रमविकास के अनुकूल आत्मज्ञान की सामग्री इनमें अवश्य मिल जाती है।

दर्शन उपनिषद्—यह एक परवर्त्ती उपनिषद् है।

दर्शनप्रकाश—यह मानभाउ साहित्य के अन्तर्गत **मराठी** भाषा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

दशग्व—ऋग्वेद (८.१२) की एक ऋचा में एक व्यक्ति का नाम 'दशग्व' आता है, जिसकी इन्द्र ने सहायता की थी। सम्भवतः इसका शाब्दिक अर्थ है 'यज्ञ में दस गौओं का दान करने वाला'।

दशन्—'दश' के ऊपर आधारित (दाशमिक) गणना पद्धति। वैदिक भारतीयों की अंकव्यवस्था का आधार दश था। भारत में अति प्राचीन काल में भी बहुत ही ऊँची संख्यानामावलियाँ थीं, जबकि दूसरे देशों का ज्ञान इस क्षेत्र में १००० से अधिक ऊँचा नहीं था। वाजसनेयी संहिता में १; १०; १००; १०००; १०००० (अयुत); १००००० (नियुत); १०००००० (प्रयुत); १००००००० (अर्वुद); १०००००००० (न्यर्बुद); १०००००००००० (समुद्र); १०००००००००० (मध्य); १०००००००००००० (अन्त); १००००००००००००० (परार्द्ध) की तालिका दी हुई है। काठक संहिता में भी उपर्युक्त तालिका है, किन्तु नियुत एवं प्रयुत एक दूसरे का स्थान ग्रहण किये हुए हैं तथा न्यर्बुद के बाद 'बद्व' एक नयी संख्या आ जाती है। इस प्रकार समुद्र का मान १०००,०००,००० और क्रमशः अन्य संख्याओं का मान भी इसी क्रम से बढ़ गया है। तैत्तिरीय संहिता में वाजसनेयी के समान ही दो स्थानों में संख्याओं की तालिका प्राप्त है। मैत्रायणी संहिता में अयुत, प्रयुत, फिर अयुत, अर्वुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त, परार्ध संख्याएँ दी हुई हैं। पञ्चविंश ब्राह्मण में वाजसनेयी संहिता वाली तालिका न्यर्बुद तक दी गयी है, फिर निखर्वक, बद्व, अक्षित तथा यह तालिका १,०००,०००,०००,००० तक पहुँचती है। जैमिनीय उपनिषद्-ब्राह्मण में निखर्वक के स्थान में निखर्व तथा बद्व के स्थान में पद्म तथा तालिका का अन्त 'अक्षिति व्योमान्त' में होता है। शाङ्खायन श्रौतसूत्र न्यर्बुद के पश्चात् निखर्वाद, समुद्र, सलिल, अन्त्य, अनन्त नामावली प्रस्तुत करता है।

किन्तु अयुत के बाद किसी भी ऊपर की संख्या का व्यवहार प्रायः नहीं के बराबर होता था। 'बद्व' ऐतरेय ब्राह्मण में उद्धृत है, किन्तु यहाँ इसका कोई विशेष सांख्यिक

अर्थ नहीं है तथा परवर्त्ती काल की ऊँची संख्याएँ अत्यन्त उलझनपूर्ण हो गयी हैं ।

दशनामी—आचार्य शङ्कर ने वेदान्ती संन्यासियों का एक सम्प्रदाय बनाया, उन्हें दस दलों में बाँटा तथा अपने एक-एक शिष्य के अन्तर्गत उन्हें रखा, जो 'दसनामी' अर्थात् दस उपनामों वाले संन्यासी कहलाते हैं । ये दस नाम हैं—तीर्थ, आश्रम, सरस्वती, भारती, वन, अरण्य, पर्वत, सागर, गिरि और पुरी ।

दशनामी (अलखनामी)—'अलखनामी' का संस्कृत रूप 'अलक्ष्यनामा' है, अर्थात् जो अलक्ष्य का नाम ही जपा करते हैं । ये एक प्रकार के शैव संन्यासी हैं जो अपने को दसनामी शिवसम्प्रदाय के पुरी वर्ग का एक विभाग बतलाते हैं ।

दशनामी दण्डी—आचार्य शङ्कर के दसनामी संन्यासियों में 'दण्ड' धारण करने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को है, किंतु इसकी क्रिया इतनी कठिन है कि सभी ब्राह्मण इसे धारण नहीं करते । ये दण्ड धारण करने वाले ब्राह्मण संन्यासी ही 'दसनामी दण्डी' कहलाते हैं ।

दशनामी संन्यासी—दे० 'दशनामी' ।

दशपदार्थ—वैशेषिक दर्शन विषयक एक ग्रन्थ, जो ज्ञानचंद्र-विरचित कहा जाता है । इसका मूल रूप अप्राप्त है किन्तु चीनी अनुवाद प्राप्त होता है, जिसे ह्वेनसाँग ने ६४८ ई० में प्रस्तुत किया था ।

दशपेय—एक याज्ञिक प्रक्रिया । वास्तविक राजसूय में सात प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं । इसमें 'दशपेय' चैत्र के सातवें दिन मनाया जाता है । इसमें एक सौ व्यक्ति, जिनमें राजा भी एक होता है, दस-दस के दल में दस प्यालों से सोमरस पीते हैं । इस अवसर पर वंशावली की परीक्षा होती है । इसकी योग्यता, प्रत्येक सदस्य को सोमपान करनेवाले अपने दस पूर्वजों का नाम गिनाना होती है ।

दशमी—अथर्ववेद (३.४.७) तथा पञ्चविंश ब्राह्मण (२२.१४) में ९० तथा १०० वर्ष के मध्य के जीवनकाल को 'दशमी' कहा गया है, जिसे ऋग्वेद (१.१५८.६) 'दशम युग' कहता है । वैदिक कालीन सुदीर्घ जीवन का बोध इस शब्द की व्याख्या से होता है । लोगों में 'शरदः शतम्' जीने की अभिलाषा होती थी । राज्याभिषेक में राजा के 'दशमी' तक जीवित रहकर राज्य करने की कामना की जाती थी । मनु का आदेश है कि 'दशमी' (९०वर्ष से अधिक) अवस्था के शूद्र को त्रिवर्ण के व्यक्ति भी प्रणाम किया करें ('शूद्रोऽपि दशमीं गतः' अभिवाद्यः) ।

दशरथचतुर्थी—कार्तिक कृष्ण चतुर्थी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । किसी मिट्टी के पात्र में राजा दशरथ की प्रतिमा का पूजन होता है । पश्चात् दुर्गाजी की भी पूजा होती है ।

दशरथतीर्थ—अयोध्या में रामघाट से आठ मील पूर्व सरयू-तट पर वह स्थान है जहाँ महाराज दशरथ का अन्तिम संस्कार हुआ था । इसलिए यह तीर्थ बन गया है ।

दशरथललिताव्रत—आश्विन शुक्ल दशमी को इसका अनुष्ठान होता है । दस दिन तक देवी के सम्मुख ललिता देवी की सुवर्णप्रतिमा तथा चन्द्रमा और रोहिणी की चाँदी की प्रतिमाओं का, जिनकी दायीं ओर शिवजी की प्रतिमा तथा बायीं ओर गणेशजी की प्रतिमा स्थापित होती हैं, पूजन करना चाहिए । दशरथ तथा कौसल्या ने यह व्रत किया था । दस दिन की इस पूजा में प्रत्येक दिन अलग-अलग पुष्प प्रयोग में लाये जाते हैं ।

दशव्रज—ऋग्वेद (८.८,२०,४९;१,५०,९) में दशव्रज अश्विनीकुमारों द्वारा संरक्षित एक व्यक्ति का नाम है ।

दशशिप्र—ऋग्वेद (८.५२,२) में यह एक यज्ञकर्त्ता का नाम है ।

दशश्लोकी—'वेदान्तकामधेनु' अथवा सिद्धान्तरत्न आचार्य निम्बार्क रचित एक संक्षिप्त ग्रन्थ है । इसके दस श्लोकों में द्वैताद्वैतमत के सिद्धान्त संक्षेप में कहे गये हैं । इसका रचनाकाल १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध संभवतः है ।

दशश्लोकीभाष्य—महात्मा हरिव्यासदेव रचित यह भाष्य निम्बार्काचार्य के 'दशश्लोकी' ग्रन्थ पर है ।

दशहरा—विजया दशमी का देशज नाम 'दसहरा' या 'दशहरा' है । इस दिन राजा लोग अपराजिता देवी की पूजा कर पर-राज्य की सीमा लाँघना आवश्यक मानते थे और प्रतापशाली राजा 'दसों' दिशाओं को जीतने (हराने) का अभियान आरम्भ करते थे । दे० 'विजया दशमी' । दस महाविद्यारूपिणी दुर्गाजी की पूजा आश्विन शुक्ल दशमी को पूर्ण होती है, इस आशय से भी यह पर्व दशहरा कहलाता है ।

दशावतारव्रत—मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशी को यह व्रत प्रारम्भ होता है । पुराणों के अनुसार भगवान् विष्णु इसी दिन

मत्स्य रूप में प्रकट हुए थे । प्रत्येक द्वादशी को व्रत करते हुए भाद्रपद मास तक विष्णु के दस अवतारों के, क्रमशः प्रत्येक मास में एक-एक स्वरूप के पूजन करने का विधान है ।

दशाश्वमेधघाट—गङ्गातट पर स्थित दशाश्वमेध घाट काशी की धार्मिक यात्रा के पाँच प्रधान स्थानों में से एक है, जहाँ परम्परानुसार ब्रह्मा ने दस अश्वमेध यज्ञ किये थे । इस घाट पर स्नान करने से दस अश्वमेधों का पुण्य प्राप्त होता है, ऐसा हिन्दुओं का विश्वास है । डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने यह मत प्रतिपादित किया था कि इसी घाट पर कुषाणों को पराजित करने वाले नागगण भारशिवों ने भारतीय साम्राज्य के पुनरुत्थान के प्रतीक रूप में दस अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था । इसलिए यह स्थान 'दशाश्वमेध' कहलाया । इसकी सम्पुष्टि एक वाकाटक अभिलेख से भी होती है (····भागीरथ्यमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां भारशिवानाम्) । दे० काशीप्रसाद जायसवाल का 'अन्धयुगीन भारत' ।

प्रयाग में भी गङ्गातट पर ऐसी घटना का स्मारक दशाश्वमेध तीर्थ है ।

दशोणि—यह ऋग्वेद (६.२०.४,८) के अनुसार इन्द्र का कृपापात्र और पणियों का विरोधी जान पड़ता है । लुड्विग के मत में यह पणियों का पुरोहित है जो असम्भव प्रतीत होता है । ऋग्वेद (१०.९६.१२) में यह सोम का विरुद प्रतीत होता है ।

दशोण्य—ऋग्वेद (८.५२.२) में यह एक यज्ञकर्त्ता का नाम है जो दशशिप्र और अन्य दूसरे नामों के साथ उद्धृत है । यह दशोणि के समान है या नहीं यह अनिर्णीत है ।

दशोपनिषद्भाष्य—अठारहवीं शती में आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने 'दशोपनिषद्भाष्य' की रचना की । यह गौड़ीय वैष्णवों के मत के अनुसार लिखा गया है ।

दसहरा—दे० 'दशहरा' और 'विजया दशमी' ।

दस्यु—ऋग्वेद में 'आर्य' और 'दस्यु' उसी तरह स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं, जैसे आज 'सभ्य' और 'असभ्य', 'सज्जन' और 'दुर्जन' शब्दों का परस्पर विपरीत अर्थ में प्रयोग होता है । इस शब्द की उत्पत्ति सन्देहात्मक है तथा ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर मानवेतर शत्रु के नाम से इसका वर्णन हुआ है । दूसरे स्थलों में दस्यु से मानवीय शत्रु, सम्भवतः आदिम स्थिति में रहने वाली असभ्य जातियों का बोध होता है । आर्य एवं दस्यु का सबसे बड़ा अन्तर उनके धर्म में है । दस्यु यज्ञ न करने वाले, क्रियाहीन, अनेक प्रकार की अद्भुत प्रतिज्ञा वाले, देवों से घृणा करने वाले आदि होते थे । दासों से तुलना करते समय इनका (दस्युओं का) कोई 'विश्' (जाति) नहीं कहा गया है । इन्द्र को 'दस्युहत्य' प्रायः कहा गया है किन्तु 'दासहत्य' कभी भी नहीं । अतएव दोनों एक नहीं समझे जा सकते । दस्यु एक जाति थी जिसका बोध उनके विरुद 'अनास' से होता है । इसका अर्थ निश्चित नहीं है । पदपाठ ग्रन्थ एवं सायण दोनों इसका अर्थ (अन = आस) 'मुखरहित' लगाते हैं ; किन्तु दूसरे इसका अर्थ (अ = नास) 'नासिकारहित' लगाते हैं जिसका अर्थ सानुनासिक ध्वनियों के उच्चारण करने में असमर्थ हो सकता है । यदि यह 'अनास' का ठीक अर्थ है तो दस्युओं का अन्य विरुद है 'मृध्नवाच्' जो 'अनास' के साथ आता है, जिसका अर्थ 'तुतलाने वाला' है । दस्यु का ईरानी भाषा में समानार्थक है 'पन्दु', 'दक्यु', जिसका अर्थ एक प्रान्त है । जिमर इसका प्रारम्भिक अर्थ 'शत्रु' लगाते हैं जबकि पारसी लोग इसका अर्थ 'शत्रुदेश', 'विजित देश', 'प्रान्त' लगाते हैं । कुछ व्यक्तिगत दस्युओं के नाम हैं 'चुमुरि', 'शम्बर' एवं 'शुष्ण' आदि । ऐतरेय ब्राह्मण में दस्यु से असभ्य जातियों का बोध होता है । परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिंए कि आर्य और दस्यु का भेद प्रजातीय नहीं, किन्तु सांस्कृतिक है ।

दात्यौह—यह शब्द यजुर्वेद में अश्वमेध के बलिपदार्थों की तालिका में उल्लिखित है । महाभारत तथा धर्मशास्त्रों में वर्णित शब्द 'दात्यूह' का ही यह एक रूप है । सम्भवतः यह यज्ञीय पदार्थों के समूह का द्योतक है ।

दादू—महात्मा दादू दयाल का जन्म सं० १६०१ वि० में हुआ और सं० १६६० में ये पञ्चत्व को प्राप्त हुए । ये सारस्वत ब्राह्मण थे । ये कभी क्रोध नहीं करते थे तथा सब पर दया रखते थे । इसीसे इनका नाम 'दयाल' पड़ गया । ये सबको दादा-दादा कहने के कारण दादू कहलाये । ये कबीरदास के छठी पीढ़ी के शिष्य थे । इन्होंने भी हिन्दू-मुस्लिम दोनों को मिलाने की चेष्टा की । ये बड़े प्रभावशाली उपदेशक थे और जीवन में ऋषितुल्य हो गये थे । दादूजी के बनाये हुए 'सबद' और 'बानी' प्रसिद्ध हैं, जिनमें इन्होंने संसार की असारता और ईश्वर (राम)-भक्ति के उपदेश सबल छन्दों में दिये हैं । इन्होंने भजन

भी बहुत बनाये हैं। कविता की दृष्टि से भी इनकी रचना मनोहर और यथार्थ भाषिणी है। इनके शिष्य निश्चलदास, सुन्दरदास आदि अच्छे वेदान्ती हो गये हैं। उनकी रचनाएँ भी उत्कृष्ट हैं। परन्तु सबका आधार श्रुति, स्मृति और विशेषतः अद्वैतवाद है। 'बानी' का पाठ केवल द्विज ही कर सकते हैं। चौबीस गुरुमन्त्र और चौबीस शब्दों का ही अधिकार शूद्रों को है।'

दादूदयाल—दे० 'दादू'।

दादूद्वार—दादू के बावन शिष्य थे जिनमें से प्रत्येक ने कम से कम एक पूजास्थान (मन्दिर) स्थापित किया। इन पूजास्थलों को 'दादूद्वार' कहते हैं। इनमें हाथ की लिखी 'वाणी' की पोथी की षोडशोपचार पूजा और आरती होती है, पाठ और भजन का गान होता है। साधु ही यह सब करते हैं और जहाँ साधु और उक्त पोथी हो, वही स्थान 'दादूद्वार' कहलाता है। 'नरायना' में दादू महाराज की चरणपादुका (खड़ाऊँ) और वस्त्र रखे हैं। इन वस्तुओं की भी पूजा होती है।

दादूपन्थ—महात्मा दादू के चलाये हुए धर्म को 'दादूपन्थ' कहते हैं, जो राजस्थान में अधिक प्रचलित है। दादूपन्थी या तो ब्रह्मचारी साधु होते हैं या गृहस्थ जो 'सेवक' कहलाते हैं। दादूपन्थी शब्द साधुओं के लिए ही व्यवहृत होता है। इन साधुओं के पाँच प्रकार हैं : (१) खालसा, इन लोगों का स्थान जयपुर से ४० मील पर नरायना में है, जहाँ दादूजी की मृत्यु हुई थी। इनमें जो विद्वान् हैं वे उपासना, अध्ययन और शिक्षण में व्यस्त रहते हैं। (२) नागा साधु (सुन्दरदास के बनाये), ये ब्रह्मचारी रहकर सैनिक का काम करते हैं। जयपुर राज्य की रक्षा के लिए ये रियासत की सीमा पर नव पड़ावों में रहते थे। इन्हें जयपुर दरबार से बीस हजार का खर्च मिलता था। (३) उत्तराडी साधुओं की मण्डली (पंजाब में बनवारीदास ने बनायी), इनमें प्रायः विद्वान् होते हैं जो साधुओं को पढ़ाते हैं। कुछ वैद्य भी होते हैं। ये तीनों प्रकार के साधु जो पेशा चाहें कर सकते हैं। (४) विरक्त, ये साधु न कोई पेशा कर सकते हैं न द्रव्य छू सकते हैं। ये घूमते-फिरते और लिखते-पढ़ते रहते हैं। (५) खाकी साधु, ये भस्म लपेटे रहते हैं और भाँति-भाँति की तपस्या करते हैं।

दादूपंथी—दे० 'दादू', 'दादूपंथ' एवं 'दादूद्वार'।

दान—इस शब्द का अर्थ है 'किसी वस्तु से अपना स्वत्व हटाकर दूसरे का स्वत्व उत्पन्न कर देना।' दान (अर्पण) का व्यवहार ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर याज्ञिक हविष्य के विनियोग के अर्थ में हुआ है, जिसमें देवता आमन्त्रित होते थे। एक दूसरे प्रसंग में इसका अर्थ सायण 'मद का जल' लगाते हैं (मदमाते हाथी के मस्तक से टपकता हुआ मद-बिन्दु)। एक अन्य मन्त्र में राथ महाशय इसका अर्थ चरागाह लगाते हैं।

परवर्ती धार्मिक साहित्य में दान का बड़ा महत्त्व वर्णित है। यह दो प्रकार का होता है। नित्य और नैमित्तिक; चारों वर्णों के लिए दान करना नित्य और अनिवार्य है। दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को है। विशेष अवसरों और परिस्थितियों में किसी भी दीन-दुखी, क्षुधार्त्त, रोगग्रस्त आदि को जो दान दिया जा सकता है वह भूतदया अथवा दीनरक्षण है। 'कृत्यकल्पतरु' (दान काण्ड) एवं बल्लालसेन द्वारा विरचित 'दानसागर' ग्रन्थों में अनेकों धार्मिक दानों की विधि और फल बतलाया गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (३.३१७) भी ऋतुओं, मासों, साप्ताहिक दिनों, नक्षत्रों में किये गये दानों के पुण्यों की व्याख्या करता है।

दानकेलिकौमुदी—रूप गोस्वामी कृत संस्कृत भाषा की भक्तिरस सम्बन्धी एक पुस्तक। इसका रचना काल सोलहवीं शती का उत्तरार्ध है।

दानलीला—सन्त चरणदास रचित ग्रन्थों में एक दानलीला भी है।

दानस्तुति—ऋग्वेद की लोकोपयोगी ऋचाओं में दानस्तुति का प्रकरण भी सम्मिलित है। यह सूक्त १.१२६ में प्रस्तुत है। अन्य ग्रन्थों में ऐसी दानस्तुतियाँ प्रशस्तिकारों की रचनाएँ हैं, जिन्हें उन्होंने अपने संरक्षकों के गुणगानार्थ बनाया था। ये कहीं-कहीं ऋषियों तथा उनके संरक्षकों की वंशावली भी प्रस्तुत करती हैं। साथ ही ये वैदिक कालीन जातियों के नाम तथा स्थान का भी बोध कराती हैं।

दाम्पत्याष्टमी—कार्तिक कृष्ण अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है। यह तिथिव्रत है। वर्ष को चार

भागों में विभाजित किया जाता है। दर्भों से भगवती उमा तथा महेश्वर की प्रतिमाएँ बनाकर पुष्प, नैवेद्य, धूप से प्रतिमास भिन्न-भिन्न नामों से उनका पूजन किया जाता है। वर्ष के अन्त में किसी ब्राह्मण को सपत्नीक भोजन कराकर रक्त वस्त्र तथा सोने की बनी हुई दो गायें दक्षिणा में दी जाती हैं। इससे व्रती पुत्र तथा विद्या प्राप्त करता हुआ शिवलोक को जाता है और मोक्ष की कामना हो तो वह भी प्राप्त होता है।

दाम—रस्सी अथवा पेटी जिसका उल्लेख, ऋग्वेद तथा परवर्त्ती साहित्य में हुआ है। इसका प्रारम्भिक अर्थ बन्धन ही है। ऋग्वेद (१.१६२.८) में इसका प्रयोग अश्वमेध के घोड़े को बाँधने वाली रस्सी के अर्थ में हुआ है। साथ ही बछड़े को बाँधने के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग (ऋ० २.२८.७) पाया जाता है।

दामोदर—कृष्ण का एक पर्याय। कृष्ण बड़े नटखट थे। यशोदा ने एक बार उनके उदर (पेट) को दाम (रस्सी) से बाँधकर ऊखल में लगा दिया था, जिससे वे बाहर न भाग जायँ। तब से वे दामोदर नाम से प्रसिद्ध हो गये।

दामोदरदास—राधावल्लभ सम्प्रदाय के एक भक्तकवि, जो सत्रहवीं शती के उत्तरार्ध में हो गये हैं। इनकी 'सेवकवानी' तथा अन्य रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इनका उपनाम 'सेवकजी' था।

दामोदर मिश्र—इनका उद्भव ग्यारहवीं शती में हुआ था। ये रामभक्त थे। इन्होंने 'हनुमन्नाटक' नामक एक नाटक लिखा जो संस्कृत के राम साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है।

दामोदराचार्य—तैत्तिरीयोपनिषद् पर लिखे गये 'आनन्दभाष्य' (आनन्दतीर्थ विरचित) पर दामोदराचार्य ने एक वृत्ति लिखी है। छान्दोग्य एवं केनोपनिषद् पर भी इनकी टीकाएँ और वृत्तियाँ हैं। मुण्डकोपनिषद् पर भी इनकी रची टीका या भाष्य था, ऐसा कहा जाता है।

दाय—ऋग्वेद (१०.११४.१०) म दाय का प्रयोग श्रमपारितोषिक के अर्थ में हुआ है, किन्तु आगे चलकर इसका अर्थ उत्तराधिकार हो गया। अर्थात् पिता की सम्पत्ति पुत्रों में उसके जीवनकाल या मरने पर विभाजित होगी और उस पर पुत्रों का उत्तराधिकार होगा। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि मनु ने अपनी सम्पत्ति पुत्रों को बाँट दी। ऐतरेय ब्राह्मण (५.१४) में कहा गया है कि मनु की सम्पत्ति उसके जीवन काल में ही पुत्रों ने बाँट ली तथा बूढ़े पिता को नाभानेदिष्ठ पर छोड़ दिया। जैमिनीय ब्राह्मण (२.१५६) में कहा गया है कि पिता के जीवन काल में ही चार पुत्रों ने बूढ़े अभिप्रतारित की सम्पत्ति बाँट ली थी। शुनःशेप की कथा से यह प्रकट होता है कि पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति के अधिकारी पिता के साथ-साथ होते थे, जब तक कि वे उसे बाँटने के लिए पिता को बाध्य न करें। शतपथ ब्राह्मण तथा निरुक्त के अनुसार स्त्री सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं होती थी। वह अपने भाइयों से पोषण पाती थी। उत्तराधिकारी दायाद कहलाता है।

परवर्ती धर्मशास्त्र में दाय का बहुत विस्तार किया गया है। दाय के लिए उपयुक्त सामग्री क्या है? दाय कब मिल सकता है? किसको मिल सकता है? किस अनुपात में मिलेगा? आदि प्रश्नों पर सविस्तार विचार हुआ है। मध्ययुग में इसके दो सम्प्रदायों का उदय हुआ—(१) मिताक्षरा सम्प्रदाय, जो याज्ञवल्क्यस्मृति के ऊपर विज्ञानेश्वर की टीका 'मिताक्षरा' पर आधारित था। यह 'जन्मनास्वत्व' सिद्धान्त को मानता था। इसके अनुसार पिता के जीवन काल में ही पुत्रों को दाय मिल सकता है; उसके जीतेजी पुत्र अपना भाग अलग करा सकते हैं। इसका प्रचार बंगाल को छोड़कर प्रायः समस्त भारत में है। (२) दायभाग सम्प्रदाय, जो जीमूतवाहन के निबन्ध ग्रन्थ 'दायभाग' के ऊपर आधारित है। यह 'उपरमस्वत्व' सिद्धान्त को मानता है। इसके अनुसार पिता की मृत्यु के पश्चात् ही पुत्रों को दाय मिल सकता है, उसके जीतेजी अनीश (अधिकाररहित) होते हैं। इसका प्रचार बंगाल में है।

दायशतक—वेङ्कटनाथ वेदान्ताचार्य (विक्रम की चतुर्दश शताब्दी) रचित उत्तराधिकार सम्बन्धी एक ग्रन्थ। आयन्न दीक्षित के गुरु वेङ्कटेश (१८वीं शताब्दी) ने भी 'दायशतक' नामक एक ग्रन्थ लिखा है।

दारिद्र्यहर षष्ठी—वर्ष भर प्रतिमास प्रत्येक षष्ठी को इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है। इसमें भगवान् गुह (स्कन्द) का पूजन होता है।

दाल्भ्य मुनि—शुक्ल यजुर्वेद के 'प्रातिशाख्य सूत्र' (कात्यायन कृत) में यह नाम उल्लिखित है। दाल्भ्य मुनि ने आयुर्वेदविषयक एक ग्रन्थ भी लिखा था जिसे 'दाल्भ्यसूत्र' कहते हैं।

दावसु आङ्गिरस—पञ्चविंश ब्राह्मण (२५.५,१२,१४) में वर्णित सामगान के रचयिता एक ऋषि ।

दाश—धीवर अर्थात् मछुवा, जो नाव के द्वारा शुल्क लेकर लोगों को नदी के पार ले जाता है । यजुर्वेद की पुरुषमेध वाली बलितालिका में इसका उल्लेख है ।

दास—(१) ऋग्वेद में दस्युओं के सदृश दासों को भी देवों का शत्रु कहा गया है, किन्तु कुछ परिच्छेदों में आर्यों के मानव शत्रुओं के लिए भी यह शब्द व्यवहृत हुआ है । ये पुरों (दुर्गों) के अधिकारी कहे गये हैं तथा इनके विशों (गणों) का वर्णन है । ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर आर्यों एवं दास व दस्युओं के धार्मिक मतभेदों की चर्चा हुई है । अनेक बार दासों को सेवा का काम करने पर बाध्य किया गया था, इसलिए इस शब्द का अर्थ आगे चलकर 'सेवक' समझा जाने लगा । साथ ही दास की स्त्रीलिंग दासी का भी प्रयोग आरम्भ हुआ । जो स्त्रियाँ पारिवारिक सेवाकार्य करती थीं वे 'दासी' कहलाती थीं ।

(२) धर्मशास्त्र में कई प्रकार के दासों का वर्णन है, इससे स्पष्ट है कि दासत्व विधितः मान्य था । 'दास' की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है : "जब कोई स्वतन्त्र व्यक्ति स्वेच्छा से अपने को दूसरे के लिए दान कर देता है तब वह उसका दास बन जाता है" ('स्वतन्त्रस्यात्मनो दानाद्दासत्वं दासवद् भृगुः ।' कात्यायन, 'व्यवहारमयूख' में उद्धृत) । इसके अतिरिक्त अन्य कारणों से भी दासत्व उत्पन्न हो जाता है । मनुस्मृति (८.४१५) के अनुसार सात प्रकार के दास होते हैं :

ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ ।
पैतृको दण्डदासश्च सप्तैता दासयोनयः ।।

[ध्वजाहृत (युद्ध में बन्दी बनाया हुआ), जीविका के लिए स्वयं समर्पित, अपने घर में दास से उत्पन्न, क्रय किया हुआ, दान में प्राप्त, उत्तराधिकार में प्राप्त और विधि से दण्डित ये दास के सात प्रकार हैं ।]

नारदस्मृति के अनुसार पन्द्रह प्रकार के दास होते थे । दासों के साथ व्यवहार करने और उनके मुक्त होने के नियम भी धर्मशास्त्रों में दिये हुए हैं ।

दासबोध—शिवाजी के गुरु समर्थ स्वामी रामदास द्वारा रचित एक आध्यात्मिक ग्रन्थ । मानवता के उद्बोधन के लिए इसमें सुन्दर और प्रभावशाली उपदेश हैं । महाराष्ट्र में इस ग्रन्थ का बहुत आदर है । हिन्दी भाषा में भी इसका अनुवाद प्रकाशित हो गया है ।

दास शर्मा—मलय देशवासी वादपुत्र पण्डित आतर्त्तीय ने शाङ्खायनसूत्र का भाष्य लिखा है । इसमें से नवें, दसवें और ग्यारहवें अध्याय का भाष्य नष्ट हो गया था । दास शर्मा ने 'मञ्जूषा' नामक टीका लिखकर इन तीन अध्यायों का भाष्य पूरा किया है ।

दिक्—वैशेषिक मतानुसार 'दिक्' या दिशा सातवाँ पदार्थ है । यह 'काल' को सन्तुलित करता है । यह वस्तुओं का स्थान निर्देश करता हुआ उन्हें नष्ट होने से बचाता है ।

दिग्विजयभाष्य—माधवाचार्य रचित 'शङ्करदिग्विजय' पर आनन्दगिरि एवं धनपति ने भाष्य लिखा है जो 'दिग्विजयभाष्य' नाम से प्रसिद्ध है ।

दिधिषु—ऋग्वेद में देवर को 'दिधिषु' कहा गया है, जो किसी स्त्री के पति के मरने पर अन्त्येष्टि के समय उसके पति का स्थान ग्रहण करता था । 'नियोग' में भी यह देवर ही होता था, जिसे पुत्रहीन स्त्री पति के मरने पर पुत्र प्राप्ति के लिए ग्रहण करती थी । यह शब्द पूषा देवता के लिए भी प्रयुक्त होता है, जिसने 'सूर्या' को पत्नी रूप में ग्रहण किया था ।

बड़ी बहिन से पहले विवाहित छोटी बहिन का पति भी दिधिषु कहलाता है ।

दिनक्षय–जब २४ घंटे के एक दिन में दो तिथियाँ समाप्त हों तो वह दिन (तिथि) क्षय होता है । दे० चतुर्वर्गचिन्तामणि, काल, ६२६ । कालनिर्णय (२६०) वसिष्ठ को उद्धृत करते हुए कहता है कि एक दिन में यदि तीन तिथियों का स्पर्श होता हो तो वह समय 'दिन का क्षय' कहा जाता है । उस दिन व्रत, उपवास निषिद्ध हैं । इस दिन किया हुआ दान सहस्रगुने पुण्यों की प्राप्ति कराता है ।

दिव्—संसार तीन भागों—पृथ्वी, वायु अथवा वायुमण्डल तथा स्वर्ग अथवा आकाश (दिव्) में विभाजित है । आकाश एवं पृथ्वी (द्यावा-पृथिवी) मिलकर विश्व बनाते हैं । वातावरण आकाश में सम्मिलित है । विद्युत् एवं सौरमण्डल अथवा इसी प्रकार के अन्य मण्डल आकाश में सम्मिलित हैं ।

विश्व के तीन विभाजन क्रमशः पृथ्वी (मिट्टी), वायु एवं आकाश नामक तीन तत्त्वों में प्रतिबिम्बित हैं । इसी प्रकार एक सर्वोच्च, एक मध्यम तथा एक निम्नतम तीन आकाश कहे गये हैं । अथर्ववेद में तीनों आकाशों का

अन्तर 'उदन्वती' (जलसम्पन्न), 'पीलुमती' (कणसम्पन्न) एवं प्रद्यौ विशेषणों से प्रकट होता है। आकाश को व्योम तथा रोचन भी कहते हैं।

दिवाकर—(१) सूर्य का पर्याय। इसका अर्थ है 'दिन उत्पन्न करने वाला'।

(२) दिवाकर नामक एक सूर्योपासक से सुब्रह्मण्य नामक ग्राम में स्वामी शङ्कराचार्य के मिलन की बात 'शङ्करदिग्विजय' में कही गयी है।

दिधिषुपति—धर्मसूत्रों में यह शब्द उन लोगों की तालिका में उद्दिष्ट है जो अनियमित विवाह किये हुए हों। परम्परागत इसका अर्थ द्वितीय बार विवाहित स्त्री का पति है। मनु के अनुसार यह शब्द देवर के लिए व्यवहृत है जो अपनी भाभी से भाई की मृत्यु के बाद सन्तानप्राप्ति के लिए वैवाहिक सम्बन्ध करता है। दिधिषु से विधवा का भी बोध होता है जो अन्य पति के चुनाव की इच्छा करती हो। दूसरी परम्परा में दिधिषु से उस बड़ी बहिन का बोध होता है जिसकी छोटी बहिन उसके पहले ब्याही गयी हो। इसकी पुष्टि 'अग्रेदिधिषुपति' शब्द अर्थात् अपने से पहले ब्याही छोटी बहिन का पति से होती है। विष्णु के अनुसार दिधिषु ऐसी बड़ी बहिन के लिए प्रयुक्त है जिसके विवाह की व्यवस्था उसके पिता-माता न कर सकें और जो अपना पति स्वयं चुने (कुर्यात् स्वयंवरम्)।

दिवाकरव्रत—हस्त नक्षत्र युक्त रविवार के दिन इस व्रत का **अनुष्ठान** किया जाता है। यह सात रविवारों तक किया जाना चाहिए। यह वारव्रत है। भूमि पर द्वादश दल वाले कमल को रखकर, द्वादश आदित्यों में से प्रत्येक को एक-एक दल पर स्थापित करके सूर्य का पूजन करना चाहिए। आदित्यों का क्रम यह होगा—सूर्य, दिवाकर, विवस्वान्, भग, वरुण, इन्द्र, आदित्य, सविता, अर्क, मार्तण्ड, रवि तथा भास्कर। वैदिक तथा अन्य मन्त्रों का पाठ करना चाहिए।

दिव्य—अपराध परीक्षा की कुछ कठोर सांकेतिक विधियाँ, जो अग्नि, जल आदि की सहायता से की जाती थीं। दिव्य विधि का प्रयोग परवर्ती साहित्य में बहुत पीछे हुआ है, किन्तु वैदिक साहित्य में इस प्रकार की परीक्षा का प्रसंग अनेक स्थानों में आया है। अथर्ववेद (२.१२) में उद्धृत अग्निपरीक्षा जिसे वेबर, लुडविग, जिमर तथा दूसरों ने मान्यता दी है, उसे ग्रिल, ब्लूमफील्ड तथा ह्विटने ने अमान्य ठहराया है। पञ्चविंश ब्राह्मण में भी एक ऐसी ही परीक्षा का वर्णन है। दहकती हुई कुल्हाणी वाली एक प्रकार की परीक्षा का भी उल्लेख छान्दोग्य उ० में है। लुडविग एवं ग्रिफिथ ऋग्वेद के एक अन्य परिच्छेद में दीर्घतमा की अग्नि एवं जल परीक्षा के प्रसंग का उल्लेख करते हैं। वेबर के कथनानुसार तुला-परीक्षा का शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है (११.२,७,३३)।

परवर्ती धर्मशास्त्र के व्यवहार काण्डों में जहाँ वादों (अभियोगों) के निर्णय के सम्बन्ध में प्रमाणों पर विचार किया गया है, वहाँ 'दिव्य' के विविध प्रकारों का वर्णन पाया जाता है।

दिव्य श्वान—दो दैवी श्वान मैत्रायणी सं० (१.६,९) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (१.१,२.४-६) में उल्लिखित सूर्य तथा चन्द्र हैं। अथर्व० में भी 'दिव्य श्वान' से सूर्य का बोध होता है।

दिव्याचार भाव—यह शाक्त साधना की मानसिक स्थिति है। शक्ति की साधना करने वाले तीन भावों का आश्रय लेते हैं, उनमें दिव्य भाव से देवता का साक्षात्कार होता है। वीर भाव से क्रियासिद्धि होती है, साधक साक्षात् रुद्र हो जाता है। पशु भाव से ज्ञानसिद्धि होती है। इन्हें क्रम से दिव्याचार, वीराचार और पश्वाचार भी कहते हैं। पशु भाव से ज्ञान प्राप्त करके साधक वीराचार द्वारा रुद्रत्व प्राप्त करता है। तब दिव्याचार द्वारा देवता की तरह क्रियाशील हो जाता है। इन भावों का मूल निस्सन्देह शक्ति है।

दिह, दिहवार—ग्रामदेवता को 'दिह' या 'दिहवार' कहते हैं। इनकी स्थापना गाँव के सीमान्तर्गत किसी वृक्ष (विशेष कर नीम वृक्ष) के तले की जाती है। उत्तर प्रदेश में इनकी पूजा होती है। ये ग्राम की रक्षा भूत-प्रेत एवं बीमारियों से करते हैं। कहीं-कहीं इसका उच्चारण 'डीह' भी पाया जाता है। मूलतः दिह यक्ष जान पड़ता है जो ग्राम और खेतों के रक्षक के रूप में पूजा जाता है। कुछ वर्षों के अन्तराल पर इसकी विस्तृत पूजा होती है जिसमें दिह (यक्ष) और यक्षिणी का विवाह एक मुख्य क्रिया है। इसमें नगाड़े के वादन के साथ 'पचड़ा' गाया जाता है, जिसमें अधिकांश 'दिह' का स्तुतिगान होता है।

दीक्षा—किसी सम्प्रदाय की सदस्यता प्राप्त करने के लिए उस सम्प्रदाय के गुरु से शुभ मुहूर्त में जो उपदेश लिया जाता है, वह दीक्षा कही जाती है। विभिन्न प्रकार की दीक्षाओं के लिए विविध प्रकार के मन्त्रों का विधान है।

इस शब्द का मूल सम्बन्ध वैदिक यज्ञों से है। वैदिक यज्ञ का अनुष्ठान करने के पूर्व उसकी दीक्षा लेनी पड़ती थी। दीक्षा लेने के पश्चात् लोग दीक्षित कहलाते थे, तभी वे अनुष्ठान के लिए अधिकारी माने जाते थे। इसका सामान्य अर्थ है किसी धार्मिक कृत्य में प्रवेश की योग्यता प्राप्त करना।

दीक्षित—(१) यज्ञानुष्ठान की दीक्षा लेने वाला।

(२) अप्पय दीक्षित के पितामह का नाम आचार्य दीक्षित था। आचार्य दीक्षित भी अद्वैत सम्प्रदाय के अनुयायियों में गिने जाते हैं। इन्होंने बहुत से यज्ञ किये थे इसी से ये 'दीक्षित' उपनाम से विभूषित हुए। इनका निवासस्थान काञ्चीपुरी था।

दीपमालिका (दीपावली, दिवाली)—हिन्दुओं के चार प्रमुख त्योहारों में से एक। विशेष कर यह वैश्यवर्ग का त्योहार है किन्तु सभी वर्ग वाले इसे उत्साहपूर्वक मनाते हैं। यह सारे भारत में प्रचलित है। दीपमालिका कार्तिक की अमावस्या को मनायी जाती है। इस अवसर पर मकानों की पहले से सफाई, सफेदी और सजावट हुई रहती है। रात को दीपदान होता है। दीपों की मालाएँ सजायी जाती हैं। इसीलिए इसका नाम 'दीपमालिका' है। इस दिन महालक्ष्मी तथा सिद्धिदाता गणेश की पूजा होती है। साधक लोग रात भर जागकर जप आदि करते हैं। इसी रात को जुआ खेलने की बुरी प्रणाली चल पड़ी है, जिसमें कुछ लोग अपने भाग्य की परीक्षा करते हैं।

दीपव्रत—मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसमें भगवती लक्ष्मी तथा नारायण का पञ्चामृत से स्नान कराकर वैदिक मन्त्रों तथा स्तुतियों से प्रणाम निवेदन करते हुए पूजन होता है। दोनों प्रतिमाओं के सम्मुख दीप प्रज्वलित किया जाता है।

दीप्त आगम—यह एक शैव आगम है।

दीप्तिव्रत—एक वर्ष तक प्रति दिन सायंकाल इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसमें व्रती को तेल निषिद्ध है। वर्ष के अन्त में स्वर्ण का दीपक, लघु स्थाली, त्रिशूल और एक जोड़ा वस्त्र का दान विहित है। इसके आचरण से मनुष्य इहलोक में मेधावी होता है तथा अन्त में रुद्रलोक प्राप्त करता है। यह संवत्सरव्रत है।

दीर्घनीथ—ऋग्वेद की एक ऋचा (८.५०.१०) में दीर्घनीथ को यज्ञकर्ता कहा गया है।

दीर्घश्रवा—शाब्दिक अर्थ है 'बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त'। यह एक राजर्षि का नाम है, जिन्होंने पञ्चविंश ब्राह्मण के अनुसार राज्य से निष्कासित होने पर भूख से पीड़ित होकर किसी विशेष साम मन्त्र का दर्शन और गान किया। इस प्रकार तब उनको भोजन प्राप्त हुआ। ऋग्वेद के एक परिच्छेद में औसिज (वणिक्) को 'दीर्घश्रवा' कहा गया है जो सायण के मतानुसार व्यक्तिवाचक नाम है तथा राथ के मतानुसार विशेषण है।

दीर्घायु—वैदिक भारतीयों (ऋ० वे० १०.६२,२; अ० वे० १.२२,२) की प्रार्थना का एक मुख्य विषय था 'दीर्घायु की कामना'। जीवन का आदर्श लक्ष्य १०० वर्ष जीना था। अथर्ववेद (२.१३,२८,२९; ७.३२) में अनेक क्रियाएँ दीर्घायु के लिए भरी पड़ी हैं जो 'आयुष्याणि' कहलाती हैं।

दीर्घायुष्य—दे० 'दीर्घायु'।

दुग्धव्रत—भाद्रपद की द्वादशी को दुग्ध का पूर्णरूप से परित्याग कर यह व्रतारम्भ किया जाता है। निर्णयसिन्धु, १४१ ने इस विषय में भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उसके अनुसार व्रती खीर अथवा दही ग्रहण कर सकता है किन्तु दुग्ध निषिद्ध है। दे० वर्षकृत्यदीपिका, ७७, स्मृतिकौस्तुभ, २५४।

दुग्धेश्वरनाथ—उत्तर प्रदेश, में देवरिया जिले के रुद्रपुर कसबा के पास दुग्धेश्वरनाथ महादेव का मन्दिर है। इन्हें महाकाल का उपलिङ्ग माना जाता है। यह स्थान बहुत प्राचीन है। नगर और दुर्ग के विस्तृत अवशेष तथा वैष्णव, शैव, जैन एवं बौद्ध मूर्तियाँ यहाँ पायी जाती हैं। इसकी चर्चा फाहियान ने अपने यात्रावर्णन में की है। पहले यहाँ पञ्चक्रोशी परिक्रमा होती थी, जिसमें अनेक तीर्थ पड़ते थे। शिवरात्रि तथा अधिक मास में यहाँ मेला लगता है। मुख्य मन्दिर के आसपास अनेक नवीन मन्दिर हैं।

दुन्दुभि—एक चर्मावृत आनद्ध प्रकार का बाजा, जो युद्ध एवं शान्ति दोनों में ध्रुवहृत होता था। ऋग्वेद तथा उसके परवर्ती साहित्य में प्रायः इसका उल्लेख हुआ है। भूमिदुन्दुभि एक विशेष प्रकार का नगाड़ा था, जो जमीन को खोदकर उसके गड्ढे को चमड़े से मढ़कर बनाया जाता था। इसका प्रयोग महाव्रत के समय सूर्य की वापसी के विरोधी प्रभावों को रोकने के लिए होता था। दुन्दुभिवादक भी पुरुषमेध की बलिवस्तुओं में सम्मिलित है।

दुर्गन्धदुर्भाग्यनाशनत्रयोदशी—ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। तीन वृक्षों, यथा श्वेत मन्दार अथवा अर्क, लाल करवीर तथा नीम का पूजन इसमें किया जाता है। यह व्रत सूर्य को बहुत प्रिय है। इसको प्रतिवर्ष करना चाहिए। इससे शरीर की दुर्गन्ध तथा दुर्भाग्य नष्ट हो जाता है।

दुर्गा—दुर्गति और दुर्भाग्य से बचाने वाली देवी। इनका उल्लेख सर्वप्रथम महाभारत में आता है। वहाँ उनकी स्तुति महिषमर्दिनी तथा कुमारी देवी के रूप में हुई है, जो विन्ध्य पर्वत में निवास करती हैं तथा मदिरा, मांस, पशुबलि से प्रसंन्न होती हैं। अपनी सुचरित्रता से वे स्वर्ग को धारण करती हैं। वे कृष्ण की बहिन भी हैं, उन्हीं की तरह घने नीले रङ्ग की तथा मयूरपंख की कलँगी धारण करती हैं। इनका शिव से कोई सम्बन्ध यहाँ नहीं दिखाया गया है।

महाभारत (६.२३) में ही एक और परिच्छेद में ये देवी कृष्णकथा से सम्बन्धित हैं तथा यहाँ उन्हें शिव की पत्नी उमा कहा गया है। उन्हें वेद, वेदान्त, सुचरित्रता तथा अन्य अनेक गुणों से संयुक्त बतलाया गया है। किन्तु वे कुमारी नहीं हैं।

हरिवंश के दो अध्यायों तथा मार्कण्डेय पुराण के एक अंश को 'देवीमाहात्म्य' कहते हैं। हरिवंश का रचनाकाल चौथी या पाँचवी शती ई० बताया जाता है, इसलिए देवीमाहात्म्य अधिक से अधिक छठी शताब्दी ई० का होना चाहिए, क्योंकि यह बाण कवि रचित 'चण्डीशतक' (७वीं शताब्दी का प्रारंभिक काल) की पृष्ठभूमि का काम करता है। हरिवंश के अध्यायों में दुर्गा के सम्प्रदाय के धार्मिक दर्शन का वर्णन पाया जाता है।

देवी के उपासकों का एक सम्प्रदाय है तथा वैष्णव और शैवों की तरह इस मत के अनुसार देवी ही उपनिषदों का ब्रह्म हैं। दैवी शक्ति का विचार यहाँ सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्म जब कर्म के नियमों से बाधित नहीं है, तो वह अवश्य निष्क्रिय होगा और जब ईश्वर निष्क्रिय है तो उसकी पत्नी ही उसकी शक्ति होगी। इसीलिए वे (शक्ति, देवी) और भी पूजा के योग्य हैं तथा व्यावहारिक मनुष्य की उनके प्रति और भी निष्ठा बढ़ जाती है।

देवीमाहात्म्य में ७०० श्लोक हैं अतएव यह 'सप्तशती' भी कहलाता है। इसमें देवों की रक्षा के लिए दुर्गा के द्वारा अनेक दानवों को मारने की चर्चा है। उनका रूप युद्ध के बीच बड़ा ही भयंकर हो गया है। यहाँ उनके सम्प्रदाय के नियमादि तो नहीं दिये जा रहे हैं किन्तु यह प्रकट है कि ग्रामीण सरलवृत्ति के लोग इनकी पूजा में मदिरा और मांस का प्रयोग करते थे। सम्भवतः उन दिनों देवी को नरबलि भी देते थे जो अब वर्जित है। धीरे-धीरे इस शाक्त पूजा पद्धति पर वैष्णव धर्म का प्रभाव पड़ा। दुर्गा अब बहुत अंश में वैष्णवी हो चुकी हैं। भागवत कृष्णसम्प्रदाय के साथ दुर्गा का सम्बन्ध इसी तथ्य को प्रकट करता है।

दुर्गा की मूर्ति का अंकन शक्ति के प्रतीक के रूप में हुआ है। वे अत्यन्त सुन्दरी (त्रिपुरसुन्दरी) परन्तु महती शक्तिशालिनी के रूप में दिखायी जाती हैं। उनकी आठ, दस, बारह अथवा अठारह भुजाएँ होती हैं, जिनमें अस्त्र-शस्त्र धारण किये जाते हैं। उनका वाहन सिंह है, जो स्वयं शक्ति का प्रतीक है। वे अपनी शक्ति (एक शस्त्र का नाम) से महिषासुर (तमोगुण के प्रतीक) का वध करती हैं। दुर्गापूजा अथवा दुर्गोत्सव आश्विन मास के शुक्ल पक्ष में मनाया जाता है। इसके प्रथम नौ दिनों को नवरात्र कहते हैं। इसमें अनेक प्रकार की धार्मिक क्रियाओं का अनुष्ठान किया जाता है।

दुर्गाचन्द्रकलास्तुति—व्याख्या समेत यह स्तुति कुवलयानन्द-कृत एक निबन्ध ग्रन्थ है जो शाक्त सम्प्रदाय में बहुत लोकप्रिय है।

दुर्गाशतनामस्तोत्र—विश्वसारतन्त्र में यह स्तोत्र पाया जाता है। इस तन्त्र में भी ६४ तन्त्रों की तालिका दी हुई है, जिसका उल्लेख 'आगमतत्त्वविलास' में है।

दुर्गोत्सव—दोनों नवरात्रों (शारदीय एवं वसन्तकालीन) में दुर्गा की पूजा होती है। किन्तु शारदीय पूजा का माहात्म्य बहुत बड़ा है, क्योंकि परम्परा के अनुसार भगवान् राम ने इस अवसर पर दुर्गापूजा की थी। यह भारत का सम्भवतः सबसे बड़ा व्यापक उत्सव है। षष्ठी से नवमी तक विशेष पूजा का आयोजन होता है तथा दशमी को श्रीमूर्ति का विसर्जन होता है। देवीमूर्ति के निर्माण एवं सजावट में लाखों रुपयों का खर्च होता है। भारतीय धर्म

एवं कला का इससे बड़ा कोई सार्वजनिक दृश्य नहीं उपस्थित किया जा सकता है ।

दुर्गानवमी—आश्विन शुक्ल नवमी को यह व्रत प्रारम्भ होकर एक वर्ष तक चलता है । इसमें पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य से दुर्गा का पूजन होता है । चार-चार मासों के तीन भाग करके प्रत्येक में भिन्न-भिन्न नामों से दुर्गा का पूजन किया जाता है, जैसे आश्विन में दुर्गा (जिसे मङ्गल्या तथा चण्डिका भी कहा जाता है) के नाम से ।

इस व्रत का एक और प्रकार यह है कि किसी भी नवमी को व्रतारम्भ हो सकता है । क्योंकि इसी दिन भद्रकाली को समस्त योगिनियों की अध्यक्ष बनाया गया था ।

दुर्गापूजा—यह भारत का प्रसिद्ध व्रतोत्सव है । बंगाल में इसका विशेष रूप से प्रचार है । आश्विन शुक्ल नवमी तथा दशमी को दुर्गा का विविध प्रकार से विधिवत् पूजन होता है । दे० दुर्गानवमी ।

दुर्गाव्रत—श्रावण शुक्ल अष्टमी को यह व्रत प्रारम्भ होता है । एक वर्ष तक चलता है । प्रति मास देवी के भिन्न-भिन्न नामों से उनका पूजन किया जाता है । व्रती को चाहिए कि वह भिन्न-भिन्न स्थानों की रज अपने शरीर पर मर्दन करे । नैवेद्य भी विभिन्न प्रकार का अर्पण करना चाहिए । कृत्यकल्पतरु (२२५-२३२) में इसे दुर्गाष्टमी के नाम से कहा गया है ।

दुर्गाष्टमी—दे० 'दुर्गाव्रत' ।

दुर्गोत्सव—दे० 'दुर्गापूजा' ।

दुःखान्त—पाशुपत शैवों के पाँच मुख्य तत्त्व हैं—(१) पति (कारण), (२) पशु (कार्य), (३) योगाभ्यास, (४) विधि (विभिन्न आवश्यक अभ्यास) और (५) दुःखान्त (दुःख से मुक्ति) । पाशुपत सम्प्रदाय में यह मोक्ष का समानार्थी शब्द है ।

दुर्वासा—पौराणिक साहित्य के ये प्रमुख चरित्रनायक हैं । अत्यन्त क्रोध और शाप देने की प्रवृत्ति के लिए ये प्रसिद्ध हैं । दुर्वासा का शाब्दिक अर्थ है 'वह व्यक्ति जो क्रोध में आकर अपने वासस् (कपड़े) आदि फाड़ दे ।' इनकी अनेक कहानियाँ पुराणों में पायी जाती हैं । अभिज्ञानशाकुन्तल में दुर्वासा का शाप प्रसिद्ध है । आतिथ्य में त्रुटि हो जाने के कारण इन्होंने शकुन्तला को शाप दिया था कि उसका पति दुष्यन्त उसको भूल जायेगा । एक बार ये स्वयं भगवान् विष्णु के शाप से पीड़ित हुए थे ।

दुर्वासा आश्रम—प्रयाग में त्रिवेणीसंगम से गङ्गा पार होकर गङ्गा किनारे पर लगभग छः मील चलने पर छतनगा (शङ्खमाधव) से चार मील दूर ककरा ग्राम पड़ता है । यहाँ दुर्वासा मुनि का मन्दिर है । श्रावण में मेला लगता है ।

दुर्वासा उपपुराण—उपपुराणों में एक 'दुर्वासा उपपुराण' भी है ।

दुर्वासातन्त्र—मिश्रित तन्त्रों में से यह एक तन्त्र ग्रन्थ है ।

दुर्वासाधाम—मऊ-शाहगंज (जौनपुर) लाइन पर खुरासो रोड स्टेशन से तीन मील दक्षिण गोमती के तट पर यह स्थान है । कहा जाता है कि यहाँ महर्षि दुर्वासा ने तपस्या की थी । यहाँ पर दुर्वासा का एक बड़ा मन्दिर है । कार्तिक पूर्णिमा को यहाँ मेला लगता है ।

दुल्हाराम—रामसनेही सम्प्रदाय के तीसरे गुरु । इन्होंने लगभग १०००० छन्द तथा ४००० दोहों की रचना की थी । इस सम्प्रदाय में इनकी रचना बहुत लोकप्रिय है ।

दूत—संवादवाहक के रूप में इस का उल्लेख ऋग्वेद तथा परवर्त्ती साहित्य में अनेक स्थानों पर हुआ है । दूत के कर्त्तव्यों और धर्मों का उल्लेख अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, रामायण एवं महाभारत आदि ग्रन्थों में हुआ है । दूत के कुछ विशेषाधिकार सर्वमान्य थे । वह अवध्य था और उसका वध करने से पाप होता था ।

दूर्वा—(१) एक प्रकार की माङ्गलिक घास, जिसकी गणना पूजा की शुभ सामग्रियों में है । यह गणपतिपूजन की आवश्यक वस्तु है ।

(२) भाद्र शुक्ल अष्टमी को दूर्वा अष्टमी नाम से पुकारा जाता है ।

दूर्वागणपतिव्रत— श्रावण अथवा कार्तिक मास की चतुर्थी को प्रारम्भ कर दो या तीन वर्ष तक इस व्रत का अनुष्ठान होता है । गणेशजी की मूर्ति का लाल फूलों, बिल्वपत्रों, अपामार्ग, शमी के पल्लव, दूर्वा तथा तुलसीदलों से तथा अन्यान्य उपचारों से पूजन होता है । ऐसे मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है जिनमें गणेशजी के दस नामों का उल्लेख हो । (सौरपुराण में शिवजी स्कन्द से कहते हैं कि इस व्रत का आचरण पार्वती ने किया था ।)

दूर्वात्रिरात्रव्रत—(१) यह व्रत विशेष कर महिलाओं के लिए है। भाद्र शुक्ल त्रयोदशी को इसका आरम्भ होता है। इसमें पूर्णिमा तक तीनों दिन उपवास करना चाहिए। उमा तथा महेश्वर की प्रतिमाओं का पूजन होता है। धर्म तथा सावित्री को दूर्वा के मध्य में विराजमान करके उनका पूजन करना चाहिए। नृत्य, गानादि मांगलिक कार्य करते हुए रात्रि में जागरण और सावित्री के आख्यान का पाठ करना चाहिए। प्रतिपदा को तिल, घी तथा समिधाओं से होम करने का विधान है। इससे सौख्य, समृद्धि तथा सन्तान की प्राप्ति होती है। कहा जाता है कि दूर्वा का आविर्भाव भगवान् विष्णु के केशों से हुआ है तथा कुछ अमृतबिन्दु इस पर गिर पड़े थे। दूर्वा अमरत्व का प्रतीक है।

(२) इसके अन्य प्रकारों में देवी के रूप में दूर्वा का ही पूजन बताया गया है। दूर्वा के पूजन में फूल, फल आदि का प्रयोग किया जाता है। दो मन्त्र बोले जाते हैं, जिनमें एक यह है : 'हे दूर्वे ! तू अमर है, तेरी देव तथा असुर प्रतिष्ठा करते हैं, मुझे सौभाग्य, सन्तान तथा सुख प्रदान कर।' ब्राह्मणों, मित्रों तथा सम्बन्धियों को पृथ्वी पर गिरे हुए तिलों तथा गेहूँ के आटे का बना पक्वान्न खिलाना चाहिए। यदि भाद्रपद मास की अष्टमी को ज्येष्ठा या मूल नक्षत्र हो तो यह व्रत नहीं करना चाहिए और न सूर्य के कन्या राशि पर स्थित होने और न अगस्त्योदय हो चुकने पर।

दूलनदास—सतनामी सम्प्रदाय के एक सन्त-महात्मा। इस सम्प्रदाय का आरम्भ कब और किसके द्वारा हुआ यह तो ठीक ज्ञात नहीं है, किन्तु सतनामियों और औरंगजेब के बीच की लड़ाई में हजारों सतनामी मारे गये थे। इससे प्रतीत होता है कि यह मत यथेष्ट प्रचलित था और स्थानविशेष में इसने सैनिक रूप धारण कर लिया था। सं० १८०० के लगभग जंगजीवन साहब ने इसका पुनरुद्धार किया। इनके शिष्य दूलनदास हुए जो कवि भी थे। ये जीवनभर रायबरेली में निवास करते रहे।

दृढस्यु (आगस्ति)—(अगस्त्य के वंशज) इनका उल्लेख जैमिनीय ब्राह्मण (३.२३३) में विभिन्दुकीयों के यज्ञकार्यकाल के उद्गाता पुरोहित के रूप में हुआ है।

दृभीक—ऋग्वेद (२.१४.३) में एक मनुष्य अथवा दैत्य का नाम, जिसका इन्द्र ने वध किया था।

दृशान भार्गव—भृगु का एक वंशज। इसका उल्लेख काठक संहिता (१६.८) में एक ऋषि के रूप में हुआ है।

दृषद्वती—एक नदी का नाम, जो आधुनिक हरियाणा में कुछ दूर तक सरस्वती के समानान्तर बहती हुई सरस्वती में मिल जाती है। भरत राजकुमारों के कार्यक्षेत्र के वर्णन में दृषद्वती का वर्णन सरस्वती एवं आपया के साथ हुआ है। पञ्चविंशब्राह्मण तथा परवर्ती ग्रन्थों में दृषद्वती एवं सरस्वती का तट यज्ञों के विशेष स्थल के रूप में वर्णित है। मनु ने मध्यदेश की पश्चिमी सीमा इन्हीं दो नदियों को बतलाया है। दृषद्वती और सरस्वती के बीच का प्रदेश मनु के अनुसार 'ब्रह्मावर्त' कहलाता था। दे० 'ब्रह्मावर्त'।

दृष्टिसृष्टिवाद—अद्वैतवेदान्तियों का एक सिद्धान्त 'विवर्तवाद' है, जिसके अनुसार ब्रह्म नित्य और वास्तविक सत्ता है तथा नामरूपात्मक जगत् उसका विवर्त है। इसी मत को और स्पष्ट करने के लिए 'दृष्टिसृष्टिवाद' का सिद्धान्त उपस्थित किया गया है, जिसके अनुसार माया अर्थात् नाम-रूप मन की वृत्ति है। इसकी सृष्टि मन ही करता है और मन ही देखता है। ये नाम-रूप उसी प्रकार मन अथवा वृत्तियों के बाहर की कोई वस्तु नहीं हैं, जिस प्रकार जड़ चित्त के बाहर की कोई वस्तु नहीं है। इन वृत्तियों का शमन ही मोक्ष है।

देव—यह हिन्दू धर्म का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसमें एक उच्चतम कल्पना निहित है। इसकी व्युत्पत्ति यास्क के निरुक्त के अनुसार 'दान, दीपन, द्योतन, द्यु-स्थान में होने' आदि के अर्थ पर है। इस प्रकार 'देव' शब्द विश्व की प्रकाशमय और कल्याणकारी शक्तियों का प्रतीक है। वास्तव में यह विश्व के मूल में रहने वाली अव्यक्त मूल सत्ता के विविध व्यक्त रूपों का प्रतीक है। वेदों में ईश्वरीय शक्ति के विभिन्न रूपों की कल्पना 'देव' के रूप में की गयी है। वेद की स्पष्ट उक्ति है "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः।" [सत्ता एक है। विद्वान् लोग उसको विविध प्रकार से अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि देवताओं के रूप में कहते हैं।]

पुरुषसूक्त के १७ वें मन्त्र "अद्भ्यः संभृतः…….. तन्मर्त्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे" के अनुसार परमेश्वर ने मनुष्यशरीर आदि को रचा है, अतः मनुष्य भी दिव्य कर्म करके देव कहलाते हैं और जब ईश्वर की उपासना से

विद्या, विज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं तब उन मनुष्यों का नाम भी देव होता है, क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम हैं। इसमें ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को लगाता है वह संसार में उत्तम सुख पाता है और जो परमेश्वर की प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है, वह उत्तम 'देव' कहलाता है।

भागवतों (वैष्णवों) द्वारा देव शब्द का अर्थ वही लगाया जाता है जो हिब्रू शब्द 'एलोहीम' का है। यह शब्द कभी-कभी तो सर्वश्रेष्ठ ईश्वर का अर्थ और कभी उनके मन्त्रवर्ग के देवों, जैसे ब्रह्मा आदि का अर्थ व्यक्त करता है। ये भी पूजा के पात्र होते हैं किन्तु इनकी पूजा श्रद्धामात्र है, उपासना नहीं है। भागवत अनन्य होते हैं, वे बहुदेवों की उपासना नहीं करते।

वैदिक देवमण्डल में बहुत से देवताओं की गणना है जो स्थानक्रम से तीन भागों में विभक्त हैं—(१) पृथ्वीस्थानीय, (२) अन्तरिक्षस्थानीय और (३) व्योमस्थानीय। इसी प्रकार परिवारक्रम से देवों के तीन वर्ग हैं—(१) द्वादश आदित्य, (२) एकादश रुद्र और (३) अष्ट वसु। इनमें द्यौ और पृथिवी दो और जोड़ने से तेतीस मुख्य देव होते हैं। पुनः वृद्धिक्रम से तेतीस कोटि देवता माने जाते हैं। जहाँ-जहाँ कोई विभूतितत्त्व पाया जाता है, वहाँ 'देव' की कल्पना की जाती है।

देवकी—कृष्ण की माता का नाम देवकी तथा पिता का नाम वसुदेव है। देवकी कंस की बहिन थी। कंस ने पति सहित उसको कारावास में बन्द कर रखा था, क्योंकि उसको ज्योतिषियों ने बताया था कि देवकी का कोई पुत्र ही उसका वध करेगा। कंस ने देवकी के सभी पुत्रों का वध किया, किन्तु जब कृष्ण उत्पन्न हुए तो वसुदेव रातों-रात उन्हें गोकुल ग्राम में नन्द-यशोदा के यहाँ छोड़ आये। देवकी के बारे में इससे अधिक कुछ विशेष वक्तव्य ज्ञात नहीं होता है। छा० उपनिषद् में भी देवकीपुत्र कृष्ण (घोर आङ्गिरस के शिष्य) का उल्लेख है।

देवकीपुत्र—कृष्ण का यह मातृपरक नाम छान्दोग्य उपनिषद् (३.१७,६) में पाया जाता है। महाभारत के अनुसार देवकी के पिता देवक थे।

कृष्ण का यह पर्याय भागवतों में बहुत प्रचलित है। 'ईश्वर' अथवा 'ब्रह्म' के रूप में इसका प्रयोग होता है: "एको देवो देवकीपुत्र एव।"

देवजनविद्या—शतपथ ब्राह्मण (१३.४,३,१०) तथा छान्दोग्य-उपनिषद् (७.१,२,४;२,१.७,१) में गिनाये गये विज्ञानों में से यह एक विज्ञान है। इसको देवविज्ञान अथवा धर्मविज्ञान कहा जा सकता है।

देवता—'देवता' शब्द देव का ही वाचक स्त्रीलिङ्ग है, हिन्दी में पुंलिङ्ग में इसका प्रयोग होता है। मूलतः ३३ देवता माने गये हैं—१२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र, द्यावा और पृथ्वी। किन्तु आगे चलकर देवमण्डल का विस्तार होता गया और संख्या ३३ करोड़ पहुँच गयी। देवताओं का वर्गीकरण कई प्रकार से हुआ है। पहले स्थानक्रम से—(१) द्युस्थानीय (ऊपरी आकाश में रहने वाले), (२) अन्तरिक्षस्थानीय (मध्य आकाश में रहने वाले) और (३) पृथ्वीस्थानीय (पृथ्वी पर रहने वाले); दूसरे परिवारक्रम से, यथा आदित्य, वसु, रुद्र आदि। तीसरे वर्गक्रम से, यथा इन्द्रावरुण, मित्रावरुण आदि। चौथे समूहक्रम से, जैसे सर्वदेवाः आदि।

ऋग्वेद के सूक्तों में विशेष रूप से देवताओं की स्तुतियों की अधिकता है। स्तुतियों में देवताओं के नाम अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, मित्रावरुण, अश्विनीकुमार, विश्वेदेवाः, सरस्वती, ऋतु, मरुत्, त्वष्टा, ब्रह्मणस्पति, सोम, दक्षिणा, ऋजु, इन्द्राणी, वरुणानी, द्यौ, पृथ्वी, पूषा आदि हैं। जो लोग देवताओं की अनेकता नहीं मानते वे इन सब नामों का अर्थ परब्रह्म परमात्मावाचक लगाते हैं। जो लोग अनेक देवता मानते हैं वे भी इन सब स्तुतियों को परमात्मापरक मानते हैं और कहते हैं कि ये सभी देवता और समस्त सृष्टि परमात्मा की विभूति है।

भारतीय गाथाओं और पुराणों में इन देवताओं का मानवीकरण अथवा पुरुषीकरण हुआ। फिर इनकी मूर्तियाँ बनने लगीं। इनके सम्प्रदाय बने और पूजा होने लगी। पहले सब देवता त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु और शिव में परिणत हुए थे, अनन्तर देवमण्डल और पूजापद्धति का विस्तार होता गया। निरुक्तकार यास्क के अनुसार देवताओं की उत्पत्ति आत्मा से ही मानी गयी है, यथा

"एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।"

अर्थात् एक अद्वय आत्मा के ही सब देवता प्रत्यंग रूप हैं। देवताओं के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि "तिस्रो देवताः" अर्थात् देवता तीन हैं, ब्रह्मा, विष्णु और महेश। किन्तु ये प्रधान देवता हैं, जो सृष्टि, स्थिति एवं संहार के नियामक हैं। इनके अतिरिक्त और भी देवताओं की कल्पना की गयी है और महाभारत (शान्तिपर्व) में इनका वर्णक्रम भी स्पष्ट किया गया है, यथा

आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा।
अश्विनौ तु स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समास्थितौ।।
स्मृतास्त्वङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः।
इत्येतत् सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्तितम्।।

[आदित्यगण क्षत्रिय देवता, मरुद्गण वैश्य देवता, अश्विन् गण शूद्र देवता तथा आंगिरसगण ब्राह्मण देवता हैं।] शतपथ ब्राह्मण में भी देवताओं का वर्णक्रम इसी प्रकार माना गया है।

देवताओं की संख्या के सम्बन्ध में तेतीस देवता प्रधान कहे गये हैं, शेष सभी देवता इनकी विभूतिरूप हैं। इनकी संख्या निर्धारण करते हुए कहा गया है :

तिस्रः कोट्यस्तु रुद्राणामादित्यानां दश स्मृताः।
अग्नीनां पुत्रपौत्रं तु संख्यातुं नैव शक्यते।।

[एकादश रुद्रों की विभूति तीन कोटि देवता हैं, द्वादश आदित्यों की विभूति दस कोटि देवता हैं। किन्तु अग्निदेव के पुत्र और पौत्रों की तो गणना करना असंभव है।] पुनः अक्षपाद ने इन की संख्या ३३ करोड़ तक मानी है। निरुक्त (दैवतकाण्ड) के अनुसार देवता तीन हैं : द्युस्थानीय, पृथ्वीस्थानीय एवं आन्तरिक्ष। इनमें अग्नि का स्थान पृथ्वी है, वायु एवं इन्द्र का स्थान अन्तरिक्ष है। सूर्य का स्थान द्युलोक है। इस प्रकार देवताओं की सख्या के सम्वन्ध में मतैक्य नहीं कहा जा सकता, अतः देवता असंख्य हैं।

देवता साक्षात् एवं परोक्ष शक्ति के कारण नित्य और नैमित्तिक दो प्रकार के होते हैं। इनमें नित्य देवता वे हैं जिनका पद नित्य एवं स्थायी रूप में माना जाता है, यथा वसु, रुद्र, इन्द्र, आदित्य एवं वरुण ये नित्य देवता हैं। इनके पदसमूह केवल अपने ब्रह्माण्ड में ही नित्य नहीं हैं, अपितु प्रत्येक ब्रह्माण्ड में इन पदों (स्थानों) की नित्य रूप से सत्ता आवश्यक मानी जाती है। ये पद तो नित्य होते हैं, पर कल्प-मन्वन्तरादि के परिवर्तन के अनन्तर कोई भी विशिष्ट देवता अपने पद से उन्नति कर उससे उच्च स्थान भी प्राप्त कर सकता है। कभी-कभी इन पदाधिकारी देवताओं का पतन भी हो जाता है। महाभारत के अनुसार राजा नहुष ने कठिन तपस्या के प्रभाव से इन्द्रपद प्राप्त कर लिया था, किन्तु इस पद की प्राप्ति के अनन्तर वह अहंकारी हो गया। ऋषियों से अपनी शिविका वहन कराते समय वह महर्षि भृगु द्वारा शापित होने पर सर्प हो गया।

इनमें नैमित्तिक देवता वे होते हैं, जिनका पद किसी निमित्त विशेष के कारण निर्मित होता है, और उस निमित्त के नष्ट हो जाने पर वह पद (स्थान) भी समाप्त हो जाता है। इस प्रकार ग्रामदेवता, वास्तुदेवता, वनदेवता आदि नैमित्तिक देवकोटि के अन्तर्गत आते हैं। जिस प्रकार गृहदेवता को स्थापना गृहनिर्माण के समय की जाती है, एवं उस गृहदेवता की स्थापना के समय से लेकर जब तक वह गृह बना रहता है, तब तक उस गृहदेवता का पद स्थायी रहता है। गृह नष्ट होने पर उस देवता का स्थान भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार उद्भिज, स्वेदज, अण्डज एवं जरायुज चतुर्विध जीवों की जिस देश में जिस प्रकार की श्रेणियाँ उत्पन्न होती हैं, उनके रक्षार्थ वैसा ही स्वतन्त्र देवता का पद बनाया जाता है।

स्थावर पदार्थों में भी नदी, पर्वत आदि तथा अनेक प्रकार के धातु आदि खनिज पदार्थों के चालक और रक्षक पृथक् देवता होते हैं।

इस तरह चौदहों भुवनों के विराट् पुरुष की विभूतिरूप होने के कारण इनके अन्तर्गत जितने भी पदार्थ हैं उन सभी की दैवी शक्तियाँ नियामिका हैं। इस प्रकार नित्य और नैमित्तिक भेदों से देवताओं के अनेक नाम और रूप सिद्ध होते हैं।

आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से भी देवता तीन प्रकार के माने जाते हैं, यथा उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम देवताओं में पार्थिव शरीरान्तर्गत अन्नमय, प्राणमय एवं मनोमय कोषों के अधिकारों की पूर्णता के साथ विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोषों के अधिकारों की मुख्यता रहती है। इसी प्रकार मध्यम श्रेणी के देवतावर्ग को भी प्रथम तीन (अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय) कोषों के अधिकार होते हैं परन्तु विज्ञानमय तथा आनन्दमय

कोषों के अधिकारों की गौणता रहती है । अधम श्रेणी के देवताओं के अधिकारों की तीव्रता केवल अन्नमय और प्राणमय कोषों में ही रहती है । सत्यलोकस्थ दैव रूपस्थ ऋषियों को पाँचों कोषों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है । वैतालिक क्षुद्र देवता एवं अनेक नैमित्तिक देवता इसी श्रेणी के समझे जाते हैं । इसी प्रकार प्रेतलोकगत जीव भी दैवी शक्तिसम्पन्न होते हैं, परन्तु इनकी दशा अधिक उन्नत नहीं होती । ये केवल एक भूलोक से ही संश्लिष्ट रहकर अन्नमय, प्राणमय एवं मनोमय कोषों को किञ्चित् संकुचित और विकसित करने में समर्थ होते हैं । ये अलक्षित रहकर भी प्राणमय कोष की सहायता से अनेक स्थूल पदार्थों को गिराने तथा उठाने के कार्य करते हैं । यह निश्चित है कि केवल मनुष्यों के समक्ष कुछ दैवी शक्तियाँ रखने के कारण प्रेत देवयोनि में परिगणित होते हैं । अन्यथा देवलोकों में इनकी गति नहीं होती है ।

ध्यान से देखा जाय तो समस्त दैवी जगत् के सम्बन्ध में अध्यात्म भावना के द्वारा पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । ज्ञानी के लिए समस्त सृष्टि देवमय है । दे० 'देव' ।

देवताध्याय—सामवेदीय पाँचवाँ ब्राह्मण 'देवताध्याय' कहलाता है । सायण ने इसका भाष्य लिखा है । इसमें देवता सम्बन्धी अध्ययन है । पहले अध्याय में सामवेदीय देवताओं का बहुत प्रकार से प्रकीर्तन है । दूसरे अध्याय में वर्ण और वर्णदेवताओं का विवरण है । तीसरे अध्याय में इन सबकी निरुक्ति का विचार है ।

देवताध्याय ब्राह्मण—दे० 'देवताध्याय' ।

देवतापारम्य—आचार्य रामानुज रचित एक ग्रन्थ । इसके रचनाकाल का ठीक ज्ञान नहीं होता, परन्तु रामानुज के जीवनकाल के उत्तरार्द्ध में यह रखा जा सकता है ।

देवतासरा—बंगाल से लेकर मिर्जापुर (उ० प्र०) तक के क्षेत्र में एक जनजाति भुइया या भुइयाँ (सं० भूमि) बसती है । उसके अपने पुरोहित होते हैं, जिन्हें देवरी कहते हैं तथा पूजास्थल को 'देवतासरा' कहते हैं । इनमें चार देवताओं की विशेष पूजा होती है । वे हैं—दासुम पात, बामोनी पात, कोइसर पात तथा बोराम ।

देवत्रात—आश्वलायन श्रौतसूत्र के ग्यारह भाष्यकारों में से देवत्रात भी एक हैं ।

देवदासी—वैभवशाली हिन्दू मन्दिरों में स्त्रियों का नर्त्तकी के रूप में रखा जाना भारत में प्रचलित था, जो देवमूर्ति के सामने नाचती गाती थीं । इन्हें देवदासी अथवा 'देवरतिआल' कहते थे । मानभाउ संप्रदायी लोगों के अपयश का सच्चा या झूठा कारण एक यह भी बतलाया जाता है कि वे छोटी-छोटी लड़कियों को खरीदकर उन्हें देवदासी बनाते थे । यह प्रथा अब विधि द्वारा निषिद्ध और बन्द है ।

देवनक्षत्र—तैत्तिरीय ब्राह्मण (१.५.२, ६७) में देवनक्षत्र चौदह चान्द्र स्थानों को कहते हैं । ये दक्षिण में हैं । दूसरे यमनक्षत्र कहलाते हैं, जो उत्तर में हैं ।

देवपाल—कृष्ण यजुर्वेदीय काठक गृह्यसूत्र पर इन्होंने एक वृत्ति लिखी है ।

देवप्रयाग—यहाँ भागीरथी (गङ्गोत्तरी से आने वाली गङ्गा की धारा) और अलकनन्दा (बदरीनाथ से आनेवाली गङ्गा की धारा) का संगम है । संगम से ऊपर रघुनाथजी, आद्य विश्वेश्वर तथा गङ्गा-यमुना की मूर्तियाँ हैं । यहाँ गृद्धाचल, नरसिंहाचल तथा दशरथाचल नामक तीन पर्वत हैं । इसे प्राचीन सुदर्शनक्षेत्र कहते हैं । यात्री यहाँ पितृश्राद्ध, पिण्डदान आदि करते हैं । यहाँ से बदरीनाथ को सीधा मार्ग जाता है ।

देवबन्द—सहारनपुर जिले में मुजफ्फरनगर से १४ मील दूर देवबन्द स्थान है । यहाँ पर दुर्गाजी का मन्दिर है, समीप ही देवीकुण्ड सरोवर है । चैत्र शुक्ल चतुर्दशी से आठ दस दिन तक यहाँ मेला लगता है । यहाँ पहले वन था, जिसे 'देवीवन' कहते थे । उसी से इस नगर का नाम देवबन्द पड़ा । यह एक शक्तितीर्थ है । अब यहाँ मुस्लिम धर्म और संस्कृति की विशेष शिक्षा देनेवाला महाविद्यालय भी स्थापित हो गया है ।

देवभाग श्रौतर्ष—शतपथ ब्राह्मण (२.४, ४, ५) में देवभाग श्रौतर्ष को सृञ्जयों एवं कुरुओं का पारिवारिक पुरोहित कहा गया है । ऐतरेय ब्राह्मण (७.१) में इन्हें गिरिज बाभ्रव्य को यज्ञीय बलिदान की विधि सिखलाने वाला कहा गया है (—पशोर्विभक्तिः) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में सावित्र अग्नि का अधिकारी विद्वान् बतलाया गया है ।

देवमुनि—पञ्चविंश ब्राह्मण (२५.१४, ५) में 'देवमुनि' तुर का एक विरुद है । अनुक्रमणी में ये एक ऋग्वेदीय ऋचा (१०.१४६) के रचयिता कहे गये हैं ।

देवयात्रोत्सव—दे० नीलमत पुराण, पृ० ८३-८४, पद्य १०१३-१०१७। देवालयों में कुछ निश्चित तिथियों को जाना चाहिए। जैसे विनायक के मन्दिर में चतुर्थी को, स्कन्द के मन्दिर में षष्ठी को, सूर्य के मन्दिर में सप्तमी को, दुर्गाजी के मन्दिर में नवमी को, लक्ष्मीजी के मन्दिर में पञ्चमी को, शिवजी के मन्दिर में अष्टमी को अथवा चतुर्दशी को, नागों के मन्दिर में पञ्चमी, द्वादशी अथवा पूर्णिमा को। पूर्णिमा को समस्त देवों के मन्दिरों में यात्रोत्सव मनाये जा सकते हैं। राजनीतिप्रकाश, पृ० ४१६-४१९ (ब्रह्मपुराण से उद्धृत) के अनुसार देवालयों में वैशाख मास से प्रारम्भ कर छः मास तक प्रतिवर्ष ये उत्सव किये जाने चाहिए, यथा प्रथम मास में ब्रह्माजी के लिए, द्वितीय में देवताओं के लिए तथा तृतीय में गणेशजी के लिए। इसी प्रकार अन्यान्यों के लिए भी जानना चाहिए।

देवयान—वैदिक साहित्य के अनुसार इस शब्द का अर्थ 'देवत्व का पथ दिखाने वाला मार्ग' है। इसका अन्य शाब्दिक अर्थ है 'किसी देवता का वाहन।' जैसे देवयान देवताओं का पथ दिखलाता है उसी प्रकार पितृयान पितरों का पथ दिखलाता है। ऋग्वेद की एक ऋचा में देवयान का सम्बन्ध अग्नि से जोड़ा गया है जो दैवी पुरोहित है तथा देवता और मनुष्यों के मिलन का माध्यम है। देवों के पथ या जिस पथ से यज्ञ पदार्थ आकाश को पहुँचता था, आगे चलकर वह यज्ञकर्त्ता का मार्ग बन जाता था, जिस पर चलकर वह देवों के लोक में पहुँचता था। यह विचार शव के दाहकर्म से लिया गया जान पड़ता है। आगे चलकर उपनिषदों में तथा अन्य साम्प्रदायिक मतों में देवयान के अनेक स्थल या विरामस्थान निर्णीत किये गये, जिन पर क्रमशः अग्रसर होता हुआ मनुष्य अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है।

कुलालिकाम्नायतन्त्र के अनुसार शाक्तों के तीन यान हैं :

दक्षिणे देवयानन्तु पितृयानन्तु उत्तरे।
मध्यमे तु महायानं शिवसंज्ञा प्रगीयते॥

इसके अनुसार देवयान का प्रचार दक्षिण में, पितृयान का उत्तर में और महायान का मध्यदेश में प्रतीत होता है।

देवव्रत—(१) चतुर्दशी के दिन गुरुवार हो तथा मघा नक्षत्र हो तो व्रती को उपवास रखते हुए भगवान महेश्वर का पूजन करना चाहिए। इससे दीर्घायु, धन और यश की वृद्धि होती है।

(२) आठ दिनों तक नक्त, दो वस्त्र सहित एक गौ, सुवर्ण के चक्र तथा त्रिशूल का दान करना चाहिए। उस समय यह मन्त्र उच्चरित होना चाहिए : "शिवकेशवौ प्रसीदेताम्।" यह संवत्सरव्रत है। इसके आचरण से घोर पापों का नाश हो जाता है।

(३) इस व्रत में वेदों का पूजन भी बताया गया है। ऋग्वेद (इसका आत्रेय गोत्र और अधिपति चन्द्रमा है), यजुर्वेद (इसका काश्यप गोत्र है और देवता रुद्र है), सामवेद (भारद्वाज गोत्र है, देवता इन्द्र है) का पूजन करना चाहिए। साथ ही अथर्ववेद का भी पूजन करना चाहिए। उनकी आकृतियों का भी निर्माण करना चाहिए। दे० हेमाद्रि, २.९१५-१६ (देवीपुराण से)।

देवराजाचार्य—एक विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य, जो विक्रम की लगभग तेरहवीं शताब्दी में हुए थे। सुदर्शनाचार्य के गुरु और वरदाचार्य के ये पिता थे। इन्होंने '**बिम्बतत्त्वप्रकाशिका**' नामक एक प्रबन्ध में अद्वैतवादियों के प्रतिबिम्बवाद का खण्डन किया है। यह पुस्तक अभी प्रकाशित नहीं हुई है।

देवल—(१) काठकसंहिता (१२.११) में देवल नामक एक ऋषि का उल्लेख है। इस नाम के एक प्राचीन वेदान्ताचार्य भी थे।

(२) देवल एक स्मृतिकार भी हुए हैं, जिनके नाम से देवलस्मृति प्रसिद्ध है। यह स्मृति आठवीं शती में लिखी गयी थी।

देवल(तीर्थ)—उत्तर प्रदेश के पीलीभीत नगर से २३ मील पर बीसलपुर बस्ती है। यहाँ से १० मील पूर्वोत्तर गढ़गजना तथा देवल के प्राचीन खँडहर हैं। इन खँडहरों से वराह भगवान् की एक प्राचीन मूर्ति मिली है जो देवल के मन्दिर में स्थापित है। स्थानीय किंवदन्ती के अनुसार महर्षि देवल का आश्रम यहीं था।

देवलऋषि—दे० 'देवल'।

देवलस्मृति—दे० 'देवल'।

देवशयनोत्थानमहोत्सव—जिस दिन भगवान् विष्णु सोते हैं अथवा जागते हैं उस दिन विशेष व्रत और महोत्सव करने का विधान है। आषाढ़ शुक्ल एकादशी (हरिशयनी) को विष्णु सोते और कार्तिक शुक्ल एकादशी (देवोत्थान)

को जागते हैं । वास्तव में यहाँ विष्णु सूर्य के एक रूप में पूजित होते हैं । वर्षा ऋतु में मेघाच्छन्न होने के कारण ये सोये हुए माने जाते तथा शरद् ऋतु आने पर और आकाश स्वच्छ होने पर जागृत समझे जाते हैं ।

देवसमाज—आधुनिक सुधारक ईश्वरवादी आन्दोलनों में 'देवसमाज' का भी उल्लेख किया जा सकता है । इसके संस्थापक ने पहले ईश्वरवादी 'ब्राह्मसमाज' की तरह अपना संप्रदाय आरम्भ कर पीछे ईश्वरवादिता का एकदम त्याग कर दिया । यह समाज बहुत लोकप्रिय नहीं हुआ ।

देवस्वामी—ये बौधायन श्रौतसूत्र के एक भाष्यकार हैं ।

देवहार—उत्तर भारत में आदिम देव-देवियों की पूजा आज भी प्रचलित है । इन देवता तथा देवियों का साधारण नाम 'ग्राम या ग्राम्य देवता' है, जिसे आधुनिक भाषा में 'गाँवदेवता' या 'गाँवदेवी' कहते हैं । कभी-कभी उन्हें 'दिह' कहते हैं तथा देवस्थान को 'देवहार' कहते हैं । 'देवहार' से कभी-कभी गाँव के सभी देव-देवियों का बोध होता है । लोकधर्म का यह आज भी आवश्यक अंग है ।

देवाचार्य—द्वैताद्वैतवादी वैष्णव संप्रदाय के आचार्य । इनका जन्म तैलङ्ग देश में हुआ था । वे सम्भवतः बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वर्तमान थे । निम्बार्कसम्प्रदाय का विश्वास है कि वे विष्णु के हाथ में स्थित कमल के अवतार थे । उन्होंने कृपाचार्य से वेदान्त की शिक्षा ली, परन्तु कृपाचार्य कौन थे, इसका कुछ पता नहीं लगता । देवाचार्य के ग्रन्थों से मालूम होता है कि उन्होंने शाङ्करमत तथा निम्बार्कमत का विस्तृत अध्ययन किया था । देवाचार्य के दो ग्रन्थ मिलते हैं—'वेदान्त-जाह्नवी' तथा 'भक्तिरत्नाञ्जलि', इन ग्रन्थों में देवाचार्य ने निम्बार्क मत तथा भक्ति का प्रतिपादन और शाङ्कर मत का खण्डन किया है । उनका मत वही है जो निम्बार्क का है ।

देवापि आर्ष्टिषेण–(ऋषिषेण का वंशज) इसका उल्लेख ऋग्वेद की एक ऋचा (१०.९८) तथा निरुक्त (२.१०) में हुआ है । अन्य ग्रन्थ के अनुसार देवापि तथा शन्तनु भाई थे जो कुरु राजकुमार थे । देवापि ज्येष्ठ था किन्तु उसके रोगार्त होने के कारण शन्तनु ने ही राज्याधिकार प्राप्त किया । फिर १२ वर्षों तक वर्षा न हुई, ब्राह्मणों ने इस अनावृष्टि का कारण बड़े भाई के होते छोटे का राज्यारोहण बताया और तब शन्तनु ने देवापि को राज्य दे दिया । देवापि ने इसे अस्वीकार किया तथा छोटे भाई के पुरोहित का कार्यभार ग्रहण कर वर्षा करायी । बृहद्देवता में भी यही कथा है (७.१४८), किन्तु इसमें बड़े भाई के राज्याधिकारी न होने का कारण इसका चर्मरोगी होना बताया गया है । रामायण, महाभारत तथा परवर्त्ती ग्रन्थ इस कथा का और भी विस्तार करते हैं । महाभारत (५.५०-५४) के अनुसार देवापि के राज्य न पाने का कारण उसका कुष्ठरोगी होना था जबकि दूसरी कथा में उसका युवावस्था से ही संन्यासी हो जाना कारण था । महाभारत में उसे प्रतीप का पुत्र कहा गया है तथा उसके भाइयों का नाम बाह्लीक एवं आर्ष्टिषेण ।

ऋग्वेद की ऋचा में देवापि द्वारा शन्तनु के लिए यज्ञ करने का वर्णन है । यहाँ शन्तनु को औलान कहा गया है । यहाँ दोनों का भ्रातृत्व सम्बन्ध नहीं जान पड़ता तथा यह भी नहीं जान पड़ता कि देवापि ब्राह्मण नहीं था । कुछ विद्वानों के मतानुसार, जिनका मत निरुक्त पर आधारित है, वह क्षत्रिय था, किन्तु इस अवसर पर बृहस्पति की कृपा से वह पुरोहित के कार्य करने का अधिकारी हो सका था ।

देवाराम—तमिल पद्यों का संग्रह (तीन ग्रन्थों का एक में संकलन) 'तेवाराम' या 'देवाराम' कहलाता है, जिसका अर्थ है 'दैवी उपवन' । इसके संकलनकर्त्ता का नाम था नम्बि-अण्डर-नम्बि जो वैष्णवाचार्य नाथमुनि तथा चोलनरेश रामराज (९८५-१०१८) के समकालीन थे । रामराज की सहायता से नम्बि ने 'देवाराम' के पद्यों को द्रविड गीतों में परिवर्तित कर दिया ।

देवासुरसंग्राम—(१) देवता और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान हैं । उन लोगों का आपस में युद्ध हुआ । देवता लोग हार गये । असुरों ने सोचा कि निश्चय ही यह पृथ्वी हमारी है । उन सब लोगों ने सलाह की—हम लोग पृथ्वी को आपस में बाँट लें और उसके द्वारा अपना निर्वाह करें । उन लोगों ने वृषचर्म (मानदण्ड, नपना) लेकर पूर्व-पश्चिम नापकर बाँटना शुरू किया । देवताओं ने जब सुना तो उन्होंने परामर्श किया और बोले कि असुर लोग पृथ्वी बाँट रहे हैं, हम भी उस स्थान पर पहुँचें । यदि हम लोग पृथ्वी का भाग नहीं पाते हैं तो हमारी क्या दशा होगी ? देवताओं ने विष्णु को आगे किया और जाकर

कहा कि हम लोगों को भी पृथ्वी का अधिकार प्रदान करो । असूयावश असुरों ने उत्तर दिया कि जितने परिमाण के स्थान में विष्णु व्याप सकें उतना ही हम देंगे । विष्णु वामन थे । देवताओं ने इस बात को स्वीकार किया । वे आपस में विवाद करने लगे कि असुरों ने हम लोगों को यज्ञ भर के लिए ही स्थान दिया है । फिर देवताओं ने विष्णु को पूर्व की ओर रखकर अनुष्टुप् छन्द से परिवृत किया तथा बोले, तुमको दक्षिण दिशा में गायत्री छन्द से, पश्चिम दिशा में त्रिष्टुप् छन्द से और उत्तर दिशा में जगती छन्द से परिवेष्टित करते हैं । इस तरह उनको चारों ओर छन्दों से परिवेष्टित करके उन्होंने अग्नि को सन्मुख रखा । छन्दों के द्वारा विष्णु दिशाओं को घेरने लगे और देवगण पूर्व दिशा से लेकर पूजा और श्रम करते-करते आगे चलने लगे । इस तरह उन्होंने समस्त पृथ्वी प्राप्त कर ली।

(२) देवासुर सग्राम क्रमशः अब नैतिक प्रतीक बन गया है । सत्य-असत्य अथवा न्याय-अन्याय के संघर्ष को भी देवासुर संग्राम कहा जाता है ।

देव्यान्दोलन—(देवी को झुलाना) यह व्रत चैत्र शुक्ल तृतीया को किया जाता है । उमा तथा शङ्कर की प्रतिमाओं को केसर आदि सुगन्धित वस्तुओं से चर्चित करके तथा दमनक पादप से विशेष रूप से पूजित करके झूले में झुलाना तथा रात्रि में जागरण करना चाहिए ।

देव्या रथयात्रा—पंचमी, सप्तमी, नवमी, एकादशी अथवा तृतीया तिथि को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । राजा लोग ईंटों या पाषाणों का एक ढाँचा अथवा मन्दिर आदि बनाकर उसमें देवी की प्रतिमा पधराते थे । फिर सुवर्णसूत्रों, हाथीदाँतों तथा घण्टियों की बन्दनवार से सजे हुए रथ के मध्य भाग में मूर्ति को स्थापित कर अपने प्रासाद की ओर शोभायात्रा के रूप में ले जाते थे । सम्पूर्ण नगर, मकान, दरवाजे, सुन्दर प्रकार से सजाये जाते थे । रात्रि को दीप प्रज्वलित किये जाते थे । इस प्रकार के आचरण से सुख, वैभव, ऋद्धि, सिद्धि तथा सन्तति का लाभ होता है, ऐसा लोग विश्वास करते थे ।

देवी—'देव' शब्द का स्त्रीलिङ्ग 'देवी' है । देवताओं की तरह अनेक देवियों की सत्ता मानी गयी है । शाक्तमत का प्रचार होने पर शक्ति के अनेक रूपों की अभिव्यक्ति देवियों के रूपों में प्रचलित होती चली गयी ।

महाभारत और पुराणों में देवी के विविध नामों और रूपों का वर्णन पाया जाता है । देवी, महादेवी, पार्वती, हैमवती आदि इसके साधारण नाम हैं । शिव की शक्ति के रूप में देवी के दो रूप हैं—(१) कोमल और (२) भयङ्कर । प्रायः दूसरे रूप में ही इसकी अधिक पूजा होती है । कोमल अथवा सौम्य रूप में वह उमा, गौरी, पार्वती, हैमवती, जगन्माता, भवानी आदि नामों से सम्बोधित होती है । भयङ्कर रूप में इसके नाम हैं—दुर्गा, काली, श्यामा, चण्डी, चण्डिका, भैरवी आदि । उग्र रूप की पूजा में ही दुर्गा और भैरवी की उपासना होती है, जिसमें पशुबलि तथा अनेक वामाचार की क्रियाओं का विधान है । दुर्गा के दस हाथ हैं, जिनमें वह शस्त्रास्त्र धारण करती है । वह परमसुन्दरी, स्वर्णवर्ण और सिंहवाहिनी है । वह महामाया रूप से सम्पूर्ण विश्व को मोहित रखती है । चण्डीमाहात्म्य के अनुसार इसके निम्नाङ्कित नाम हैं—१. दुर्गा २. दशभुजा ३. सिंहवाहिनी ४. महिषमर्दिनी ५. जगद्धात्री ६. काली ७. मुक्तकेशी ८. तारा ९. छिन्नमस्तका १०. जगद्गौरी । अपने पति शिव से देवी को अनेक नाम मिले हैं, जैसे बाभ्रवी, भगवती, ईशानी, ईश्वरी, कालञ्जरी, कपालिनी, कौशिकी, महेश्वरी, मृडा, मृडानी, रुद्राणी, शर्वाणी, शिवा, त्र्यम्बकी आदि । अपने उत्पत्तिस्थानों से भी देवी को नाम मिले हैं, यथा कुजा (पृथ्वी से उत्पन्न), दक्षजा (दक्ष से उत्पन्न) । अन्य भी अनेक नाम हैं—कन्या, कुमारी, अम्बिका, अवरा, अनन्ता, नित्या, आर्या, विजया, ऋद्धि, सती, दक्षिणा, पिङ्गा, कर्बुरी, भ्रामरी, कोटरी, कर्णमुक्ता, पद्मलांछना, सर्वमङ्गला, शाकम्भरी, शिवदूती, सिंहस्था । तपस्या करने के कारण इसका नाम अपर्णा तथा कात्यायनी है । उसे भूतनायकी, गणनायकी तथा कामाक्षी या कामाख्या भी कहते हैं । उसके भयङ्कर रूप के और भी अनेक नाम हैं—भद्रकाली, भीमादेवी, चामुण्डा, महाकाली, महामारी, महासुरी, मातङ्गी, राजसी, रक्तदन्ती आदि । दे० 'दुर्गा' तथा 'चण्डी' ।

देवी उपनिषद्—एक शाक्त उपनिषद् । यह अथर्वशिरस् उपनिषद् के पाँच भागों में से अन्तिम है ।

देवी उपपुराण—उन्तीस उपपुराणों में से पचीसवाँ स्थान देवी उपपुराण का है । इस पुराण में शक्ति का माहात्म्य दर्शाया गया है ।

देवीपाटन—यह एक शाक्त तीर्थ है । पूर्वी उत्तर प्रदेश में

बलरामपुर से १४ मील उत्तर गोंडा जिले में देवीपाटन स्थान है। यहाँ पाटेश्वरी देवी का मन्दिर है। कहा जाता है कि महाराज विक्रमादित्य ने यहाँ पर देवी की स्थापना की थी। यह भी कहा जाता है कि कर्ण ने परशुरामजी से यहीं ब्रह्मास्त्र प्राप्त किया था। नवरात्र के दिनों में यहाँ भारी मेला लगता है।

देवीभागवत—श्रीमद्भागवत और देवीभागवत के सम्बन्ध में इस बात का विवाद है कि इन दोनों में महापुराण कौन सा है? विषय के महत्त्व की दृष्टि से प्रायः दोनों ही समान कोटि के प्रतीत होते हैं। श्रीमद्भागवत में विष्णुभक्ति का उत्कर्ष है और देवीभागवत में पराशक्ति दुर्गा का उत्कर्ष दिखाया गया है। दोनों भागवतों में अठारह-अठारह हजार श्लोक हैं और बारह ही स्कन्ध हैं। देवीभागवत के पक्ष में यही निर्बलता है कि जिन प्रमाणों से उसका महापुराणत्व प्रतिपादित होता है वे वचन उपपुराणों और तन्त्रों से उद्धृत होते हैं। उधर श्रीमद्भागवत के लिए महापुराण ही प्रमाण उपस्थित करते हैं। दे० 'देवीभागवत उपपुराण'।

देवीभागवत उपपुराण—शाक्तों का धार्मिक-अनुशासन सम्बन्धी ग्रन्थ। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह उपपुराण है। देवीभक्तों का कहना है कि यह उपपुराण नहीं है, अपितु महापुराणों में इसे पाँचवाँ स्थान प्राप्त है। इसकी रचना, ऐसा लगता है, भागवत पुराण के पश्चात् तथा भागवत-व्याख्याकार श्रीधर स्वामी (१३४३ वि०) के पहले हुई थी।

देवीमाहात्म्य—'हरिवंश' की दो स्तुतियों एवं मार्कण्डेय पुराण के एक खण्ड से गठित यह ग्रन्थ देवी के शक्तिशाली कार्यों का विवरण एवं उनकी दैनिकी व वार्षिकी पूजा-विधियों का वर्णन उपस्थित करता है। इसका अन्य नाम 'चण्डीमाहात्म्य' है।

देवीयामलतन्त्र—शाक्त परम्परा की वाममार्गी शाखा का एक ग्रन्थ। कश्मीरी शैव विद्वान् अभिनवगुप्त एवं क्षेमराज ने देवीयामल तथा अन्य तन्त्रों से अपने ग्रन्थों में प्रचुर उद्धरण दिये हैं। ये दोनों विद्वान् ९४३ वि० के लगभग हुए थे, इसलिए देवीयामल तन्त्र इससे पहले की रचना है।

देवीसूक्त—देव्यथर्वशीर्ष, देवीसूक्त और श्रीसूक्त शक्ति के ही वैदिक स्तवन हैं। वैदिक शाक्तजन सिद्ध करते हैं कि दसों उपनिषदों मे दसों महाविद्याओं का ही वर्णन है। इस प्रकार शाक्तमत का आधार भी श्रुति ही सिद्ध होता है।

देवीस्तुति—प्राचीन इतिहासग्रन्थ महाभारत और रामायण में देवी की स्तुतियाँ हैं। इसी प्रकार अद्भुतरामायण में अखिल विश्व की जननी सीताजी का परात्पर शक्ति वाला रूप प्रत्यक्ष कराते हुए बहुत सुन्दर स्तुति की गयी है।

देवेश्वराचार्य—संक्षेपशारीरक ग्रन्थ के रचनाकार और शृंगेरी मठ के अध्यक्ष सर्वज्ञात्ममुनि ने अपने गुरु का नाम देवेश्वराचार्य लिखा है। टीकाकार मधुसूदन सरस्वती एवं रामतीर्थ ने देवेश्वराचार्य का अर्थ सुरेश्वराचार्य किया है। किन्तु इन दोनों के काल में बहुत अन्तर है।

देवोपासना—देवताओं की उपासना हिन्दू धर्म का एक विशिष्ट अंग है। साधारणतया प्रत्येक हिन्दू किसी न किसी इष्ट देवता की उपासना अथवा पूजा करता है। परन्तु हिन्दू देवकल्पना ईश्वर से भिन्न नहीं होती। प्रत्येक देव अथवा देवता ईश्वर की किसी न किसी शक्ति का प्रतीक मात्र है। इसलिए देवोपासना वास्तव में ईश्वरोपासना ही है। देवताओं की मूर्तियाँ होती हैं परन्तु देवोपासना मूर्तिपूजा नहीं है। मूर्ति तो एक माध्यम है। इसके द्वारा देवता का ध्यान किया जाता है। उपासना की पूरी अर्हता उस समय होती है जब देवत्व की पूरी अनुभूति के साथ देवता की अर्चना की जाती है : 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'।

देश—ऐतरेय ब्राह्मण के एक परिच्छेद एवं वाजसनेयी संहिता में इस शब्द का प्रयोग वहाँ पाया जाता है जहाँ सरस्वती की पाँच सहायक नदियों के नाम बताये गये हैं। ऋचाद्रष्टा ऋषि ने सरस्वती को मध्यदेश में स्थित बताया है। मध्यदेश की भौगोलिक स्थितियाँ यजुर्वेद में दी गयी हैं। मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश, आर्यावर्त आदि का देश रूप में निर्देश है।

धार्मिक अर्थ में यज्ञीय भूमि अथवा धार्मिक क्षेत्र को देश कहा जाता है।

दार्शनिक अर्थ में वैशेषिक के अनुसार नव द्रव्यों में से 'देश' एक है। इसका सामान्य अर्थ है गति अथवा प्रसार।

देहु—महाराष्ट्र के भागवत सम्प्रदाय में विष्णु का नाम वहाँ की बोली में विट्ठल या विठोबा है। इसके मुख्य केन्द्र

पण्ढरपुर, आलन्दी एवं देहु हैं, यद्यपि सारे प्रदेश में भागवतमन्दिर बिखरे पड़े हैं । 'देहु' भागवत सम्प्रदाय के प्रमुख तीर्थों में से है ।

दोद्दयाचार्य—वेदान्तदेशिक वेङ्कटनाथ की कृति 'शतदूषणी' के टोकाकार । 'चण्डमारुत' आदि टीकाएँ उनकी बनायी हुई हैं । वे रामानुज संप्रदाय के अनुयायी और अप्पय्य दीक्षित के समसामयिक थे । उनका काल सोलहवीं शताब्दी कहा जा सकता है । वाधूलकुलभूषण श्रीनिवासाचार्य उनके गुरु थे । गुरु से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उन्हें 'महाचार्य' की उपाधि मिली । उनका जन्मस्थान शोलिङ्कर है । वेदान्ताचार्य के प्रति उनकी प्रगाढ़ भक्ति थी । उनके ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—चण्डमारुत, अद्वैतविद्याविजय, परिकरविजय, पाराशर्यविजय, ब्रह्मविद्याविजय, ब्रह्मसूत्रभाष्योपन्यास, वेदान्तविजय, सद्विद्याविजय और उपनिषन्मङ्गलदीपिका ।

दोलोत्सव—यह उत्सव भिन्न-भिन्न तिथियों में भिन्न-भिन्न देवताओं के लिए मनाया जाता है । पद्मपुराण (४.८०. ४५-५०) के अनुसार कलियुग में फाल्गुन मास की चतुर्दशी के दिन आठवें पहर अथवा पूर्णिमा और प्रतिपदा के मिलन के समय यह व्रतोत्सव मनाया जाता है । कृष्ण भगवान् को झूले में दक्षिणाभिमुख बैठे हुए देखकर मनुष्य पापों के संघात से मुक्त हो जाता है । चैत्र शुक्ल तृतीया गौरी के दोलोत्सव का दिन है । रामचन्द्रजी का भी दोलोत्सव मनाया जाता है ।

मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या, द्वारका तथा कुछ अन्य स्थानों में भगवान् राम और कृष्ण का दोलोत्सव समारोह के साथ मनाया जाता है ।

द्वचणुक—वैशेषिक दर्शन का अणुवादी सिद्धान्त है, उसके अनुसार सृष्टि के आरम्भ में परमाणु क्रियाशील होते हैं और एक-दूसरे से मिलने लगते हैं । दो परमाणुओं के मिलने से एक द्वचणुक बनता है तथा तीन द्वचणुक मिलकर एक त्र्यणुक बनाते हैं । यही पदार्थ की लघुतम इकाई है ।

द्युतान मारुत—मरुत् के वंशज एक देवता का नाम । वाजसनेयी संहिता (५.२७) एवं तैत्तिरीय संहिता (५.५,९,४) में उसके आमन्त्रण करने का उल्लेख है । काठक संहिता में भी उसका उल्लेख आया है । शतपथ ब्राह्मण (३.६,१,१६) में उसके नाम का अर्थ वायु है, जबकि पञ्चविंश ब्राह्मण (६.१,७) में उसे साम का रचयिता कहा गया है । अनुक्रमणी उसे एक ऋषि तथा ऋग्वेद के एक सूक्त (८.९६) का रचनाकार बताती है ।

द्यौ—आकाशीय देवपरिवार की मान्यता, जिसका अधिष्ठान 'द्यौ' है, भारोपीय काल से आरम्भ होती है । 'द्यौ' की स्तुति ऋग्वेद में पृथ्वी के साथ 'द्यावापृथिवी' के रूप में की गयी है । पृथ्वी से अलग 'द्यौ' की एक भी स्तुति नहीं है, जबकि पृथ्वी की अलग एक स्तुति है । इन ऋचाओं में द्यौ एवं पृथ्वी को देवताओं के पितामाता कहा गया है (७.५३,१) एवं वे सत्रों में अपने बालकों के साथ ऋत के स्थान पर आसीन होने के लिए आमंत्रित किये जाते हैं । वे स्वर्गीय परिवार के घटक हैं (दैव्यजन, ७.५३.२) । वे सूर्य एवं विद्युत् रूपी अग्नि के पिता हैं (पितरा, ७.५३,२;१.१६०,३ या मातरा, १.१५९,३ एवं १.१६०,२) । पिता-माता के रूप में वे सभी जीवों की रक्षा करते हैं तथा धन, कीर्ति एवं राज्य का दान करते हैं । ऋग्वेद में द्यौ का जो चित्र अङ्कित है उसके अनुसार पिता द्यौ प्रेमपूर्वक माता पृथ्वी पर झुककर वर्षा के रूप में अपना बीज दान करता है, जिसके फलस्वरूप पृथिवी फलवती होती है । ऋग्वेद (६.७०,१-५) में वर्षा की उपमा मधु एवं दुग्ध से दी गयी है ।

द्रप्स—ऋग्वेद एवं परवर्ती ग्रन्थों में द्रप्स का अर्थ 'घूँट' है । सायण के अनुसार इसका अर्थ 'मोटी बूँद' है जिसका प्रतिलोम शब्द 'स्तोक' है । इस प्रकार प्रायः 'दधिद्रप्स' का उल्लेख आता है । इसका प्रयोग तैत्तिरीय संहिता (३.३,९१) में 'सोम की मोटी बूँद' के रूप में है । दो सन्दर्भों में, राथ के विचार से इसका अर्थ ध्वज है जबकि गोल्डनर इसका अर्थ धूल लगाते हैं । मैक्समूलर ने एक परिच्छेद में इसका अर्थ 'वर्षा की बूँद' लगाया है ।

द्रव्य—वैशेषिक मतानुसार नव द्रव्य हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा (असख्य) एवं मन । इन्हीं से मिलकर संसार के सारे पदार्थ बनते हैं ।

द्रमिळाचार्य (द्रविडाचार्य)—एक प्राचीन वेदान्ती । इन्होंने छान्दोग्य उपनिषद् पर अति बृहद् भाष्य लिखा था । बृहदारण्यक उपनिषद् पर भी इनका भाष्य था, ऐसा प्रमाण मिलता है । माण्डूक्योपनिषद् के (२.३२;

२.२०) भाष्य में शङ्कर ने इनका 'आगमविद्' कहकर उल्लेख किया है और बृहदारण्यक (पृ० २९७, पूना सं०) भाष्य में उनको 'सम्प्रदायविद्' कहा है । शंकर ने जहाँ भी द्रविडाचार्य का उल्लेख करना आवश्यक समझा वहाँ सम्मान के साथ किया है । उनके मत का खण्डन भी नहीं किया गया है । इससे प्रतीत होता है कि द्रविडाचार्य का सिद्धान्त उनके प्रतिकूल नहीं था । छान्दोग्य उपनिषद् में जो 'तत्त्वमसि' महावाक्य का प्रसंग आया है, उसकी व्याख्या में द्रविडाचार्य ने 'व्याधसंहिता' से राजपुत्र की आख्यायिका का वर्णन किया है । इस पर आनन्दगिरि कहते हैं कि ''तत्त्वमस्यादिवाक्य अद्वैत का समर्थक है'' यह मत आचार्य द्रविड को अङ्गीकृत है ।

रामानुज सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी द्रविडाचार्य नामक एक प्राचीन आचार्य का उल्लेख मिलता है । कुछ विद्वानों का मत है कि ये द्रविडाचार्य शङ्करोक्त द्रविडाचार्य से भिन्न थे । इन्होंने पाञ्चरात्रसिद्धान्त का अवलम्बन करके द्रविडभाषा में ग्रन्थ रचना की थी । यामुनाचार्य के 'सिद्धित्रय' में इन्हीं आचार्य के विषय में यह कहा गया है कि ''भगवता बादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि, विवृतानि च·········भाष्यकृता ।'' यहाँ पर 'भाष्यकृत्' शब्द से द्रविडाचार्य का ही उल्लेख है । किसी किसी का मत है कि द्रविडसंहिताकार आलवार शठकोप अथवा बकुलाभरण भी वैष्णव ग्रन्थों में द्रविडाचार्य नाम से प्रसिद्ध हैं । इन दोनों 'द्रविडों' की परस्पर भिन्नता के सम्बन्ध में अब तक कोई सिद्धान्त नहीं स्थिर हो सका है । सर्वज्ञात्ममुनि ने 'संक्षेपशारीरक' में (३.२२१) ब्रह्मनन्दि ग्रन्थ के द्रविडभाष्य से जिन वचनों को उद्धृत किया है, वे रामानुज द्वारा उद्धृत द्रविडभाष्यवचनों से अभिन्न दीख पड़ते हैं । इसीलिए, किसी-किसी के मत से शङ्कर सम्प्रदाय में प्रसिद्ध द्रविडाचार्य और रामानुजसम्प्रदाय में प्रसिद्ध द्रविडाचार्य एक ही व्यक्ति हैं, भिन्न नहीं ।

द्राक्षाभक्षण—द्राक्षाओं (अंगूर) का आश्विन मास में पहलेपहल सेवन द्राक्षाभक्षण उत्सव कहलाता है । कृत्यरत्नाकर (पृ० ३०३-३०४) ब्रह्मपुराण को उद्धृत करते हुए कहता है कि जिस समय समुद्रमन्थन हुआ उस समय क्षीरसागर से एक सुन्दरी कन्या प्रकट हुई, किन्तु शीघ्र ही वह लता में परिवर्तित हो गयी । उस समय देवगण पूछने लगे कि अरे, यह कौन है ? हम लोग प्रसन्नतापूर्वक इसे देखेंगे (हन्त ! द्रक्ष्यामहे वयम्) और उसी समय उन्होंने लता को 'द्राक्षा' नाम से सम्बोधित किया । यही इस शब्द की प्रसिद्ध व्युत्पत्ति है । जब अंगूर परिपक्व हों उस समय पुष्पों, सुगन्धित द्रव्यों तथा खाद्य पदार्थों से लता का पूजन करना चाहिए । पूजनोपरान्त दो बालक तथा दो वृद्ध पुरुषों का सम्मान किया जाना चाहिए । अन्त में नृत्य तथा गान का अनुष्ठान विहित है ।

द्रामिड—वेदान्तसूत्रों पर इनका भाष्य था । दे० 'द्रविडाचार्य' ।

द्राविडभाष्य—शिवज्ञानयोगी द्वारा रचित द्राविडभाष्य एक बृहद् ग्रन्थ है, जो तमिल भाषा में है और 'शिवज्ञानबोध' पर लिखा गया है । इस ग्रन्थ को 'द्राविडमहाभाष्य' भी कहते हैं ।

द्राविड वेद—नम्मालवार के ग्रन्थ वेदों के प्रतिनिधि माने जाते हैं । इनकी सूची निम्नांकित है :

(१) तिरुविरुत्तम : ऋग्वेद
(२) तिरुवोयमोलि : सामवेद
(३) तिरुवाशिरियम : यजुर्वेद
(४) पेरियतिरुवन्दादि : अथर्ववेद

उपर्युक्त चारों ग्रन्थ 'द्राविड वेद' कहे जाते हैं ।

द्राह्यायणश्रौतसूत्र—सामवेदीय चार श्रौतसूत्रों में से तीसरा । लाट्यायनश्रौतसूत्र से इसका भेद बहुत थोड़ा है । यह सूत्र सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बन्ध रखता है । इसका दूसरा नाम 'वसिष्ठसूत्र' है । मध्व स्वामी ने इसका भाष्य लिखा है । रुद्रस्कन्द स्वामी ने 'औद्गात्रसारसंग्रह' नामक निबन्ध में उस भाष्य का और परिष्कार किया है । धन्वी ने इस पर छान्दोग्यसूत्रदीप नाम की वृत्ति लिखी है ।

द्रु—यह एक काष्ठपात्र का नाम है, जिसका उपयोग विशेष कर सोमयज्ञों (ऋ० ९.१,२,६५;६.९८,२) में होता था । तैत्तिरीयब्राह्मण में इसका प्रयोग केवल 'काष्ठ' के अर्थ में हुआ है ।

द्रुपद—(१) काष्ठस्तम्भ अथवा स्तम्भ मात्र के अर्थ में ऋक् (१.२४,१३;४.३२,२३) तथा परवर्त्ती ग्रन्थों में (अ० वे० ६.६३,५;११५,२;१९.४७,९; वाज०सं० २०.२०) बहुधा यह प्रयुक्त है । इस प्रकार यज्ञयूपों (स्तम्भों) को भी द्रुपद कहते थे । शुनःशेप ऐसे ही तीन द्रुपदों से बाँधा गया था । कुछ उदाहरणों में, चोरों को दण्ड देने के लिए ऐसे ही स्तम्भों में बाँध दिया जाता था ।

(२) महाभारत के अनुसार पन्चाल देश के राजा का नाम द्रुपद था, जिसकी पुत्री द्रौपदी थी। यह महाभारत के प्रमुख पात्रों में है।

द्रोण—लकड़ी की नाँद, जिसका उपयोग विशेष कर सोमरस रखने के पात्र के रूप में (ऋक्० ९.३,१;१५,७;२८,४; ३०,४;६७,१४) बतलाया गया है। लड़की के बृहत् पात्र को द्रोणकलश (तै० सं० ३.२,१,२; वाज० सं० १८.२१; १९.२७; ऐ० ब्रा० ७.१७,३२; शत० ब्रा० १.६,३,१६ आदि) कहा जाता था। यज्ञवेदी कभी-कभी द्रोणकलश की आकृति की बनायी जाती थी।

द्वादशमासर्क्षव्रत—कार्तिकी पूर्णिमा (कृत्तिका नक्षत्र युक्त) को इस व्रत का आरम्भ होता है। इसमें नरसिंह भगवान् के पूजन का विधान है। मृगशिरा नक्षत्रयुक्त मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को भगवान् राम का पूजन होना चाहिए। पुष्य नक्षत्रयुक्त पौष की पूर्णिमा को बलरामजी का पूजन करना चाहिए। मघा नक्षत्रयुक्त माघी पूर्णिमा को वराह भगवान् का पूजन, फाल्गुनी नक्षत्रों से युक्त फाल्गुनपूर्णिमा को नर तथा नारायण का पूजन और इस प्रकार से अन्य पूर्णिमाओं को अन्य देवों का श्रावणी पूर्णिमा तक पूजन होना चाहिए।

द्वादशसप्तमीव्रत—चैत्र शुक्ल सप्तमी को प्रारम्भ कर प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी के दिन वर्ष भर भगवान् सूर्य का भिन्न-भिन्न नामों एवं षडक्षर मन्त्र 'ओं नमः सूर्याय' से पूजन होना चाहिए। इस व्रत के अनुष्ठान से अनेक गम्भीर रोगों, जैसे कुंष्ठ, जलोदर तथा रक्तामाशय से मुक्ति मिलती है तथा सुस्वास्थ्य प्राप्त हो जाता है।

द्वादशादित्यव्रत—मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशी को इस व्रत का आरम्भ होता है। इसमें द्वादश आदित्यों (धाता, मित्र, अर्यमा, पूषा, शक्र, वरुण, भग, त्वष्टा, विवस्वान्, सविता तथा विष्णु) का पूजन होता है। व्रत के अन्त में सुवर्ण का दान विहित है। इससे सवितृलोक की उपलब्धि होती है।

द्वादशाहसप्तमी—यह व्रत माघ शुक्ल सप्तमी को प्रारम्भ होता है। एक वर्ष तक सप्तमी को उपवास तथा भगवान् सूर्य के भिन्न-भिन्न नामों से पूजन का विधान है। माघ में वरुण नाम से, फाल्गुन में तपन नाम से, चैत्र में धाता नाम से तथा इसी प्रकार से अन्य मासों में विभिन्न नामों से पूजन करना चाहिए। आने वाली अष्टमी को ब्राह्मण-भोजन का विधान है। कृष्णपक्ष की सप्तमी को भी उपवास आदि करना पुण्यकारी है।

द्वादशीव्रत—यह व्रत मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशी को प्रारम्भ होता है और एक वर्ष तक अथवा जीवन पर्यन्त चलता है। इसमें एकादशी को उपवास तथा द्वादशी को विष्णु का पुष्पादि के उपचार सहित पूजन होता है। ऐसा विश्वास है कि यदि एक वर्ष तक इस व्रत का आचरण किया जाय तो पापों से शुद्धि होती है। यदि जीवन पर्यन्त इस व्रत का आचरण किया जाय तो मनुष्य श्वेतद्वीप प्राप्त करता है। यदि कृष्ण तथा शुक्ल दोनों पक्षों की द्वादशियों को व्रताचरण किया जाय तो स्वर्ग की उपलब्धि होती है। यदि जीवनपर्यन्त इस व्रत का आचरण किया जाय तो विष्णुलोक की प्राप्ति होती है।

द्वादशलक्षणी—मीमांसा शास्त्र में यज्ञों का विस्तृत विवेचन है, इस कारण इसे 'यज्ञविद्या' भी कहते हैं। बारह अध्यायों में विभक्त होने के कारण यह पूर्वमीमांसा शास्त्र 'द्वादशलक्षणी' भी कहलाता है।

द्वादशस्तोत्र---मध्वाचार्य रचित यह एक स्तोत्र ग्रन्थ का नाम है।

द्वापर—चतुर्युगी का तीसरा युग। इसका शाब्दिक अर्थ है 'विचारद्वन्द्व' अथवा 'दुविधा'। इस युग के अन्त में अनेक द्वन्द्व अथवा संघर्ष—सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, वैचारिक आदि उत्पन्न हो गये थे। युगपुरुष भगवान् कृष्ण ने उनका समाधान श्रीमद्-भगवद्गीता में प्रस्तुत किया। दे० 'कृतयुग'।

द्वारका—यह भारत की सात पवित्र पुरियों में से है, जिसकी सूची निम्नांकित है :

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ।।

भगवान् कृष्ण के जीवन से सम्बन्ध होने के कारण इसका विशेष महत्त्व है। महाभारत के वर्णनानुसार कृष्ण का जन्म मथुरा में कंस तथा दूसरे दैत्यों के वध के लिए हुआ। इस कार्य को पूरा करने के पश्चात् वे द्वारका (काठियावाड़) चले गये। आज भी गुजरात में स्मार्त ढंग की कृष्णभक्ति प्रचलित है। यहाँ के दो प्रसिद्ध मन्दिर 'रण-छोड़राय' के हैं, अर्थात् उस व्यक्ति से सम्बन्धित हैं जिसने ऋण (कर्ज) छुड़ा दिया। इसमें जरासंध से भय से कृष्ण द्वारा मथुरा छोड़कर द्वारका भाग जाने का अर्थ भी

निहित है । किन्तु वास्तव में 'बोढाणा' भक्त की प्रीति से कृष्ण का द्वारका से डाकौर चुपके से चला आना और पंडों के प्रति भक्त का ऋण चुकाना—यह भाव संनिहित है । ये दोनों मन्दिर डाकौर (अहमदाबाद के समीप) तथा द्वारका में हैं । दोनों में वैदिक नियमानुसार ही यजनादि किये जाते हैं ।

तीर्थयात्रा में यहाँ आकर गोपीचन्दन लगाना और चक्राङ्कित होना विशेष महत्त्व का समझा जाता है । यह आगे चलकर कृष्ण के नेतृत्व में यादवों की राजधानी हो गयी थी । यह चारों धामों में एक धाम भी है । कृष्ण के अन्तर्धान होने के पश्चात् प्राचीन द्वारकापुरी समुद्र में डूब गयी । केवल भगवान् का मन्दिर समुद्र ने नहीं डुबाया । यह नगरी सौराष्ट्र (काठियावाड़) में पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित है ।

द्वारकानाथ—(१) कृष्ण का एक पर्याय, 'द्वारका के स्वामी' । मथुरा से पलायन करने के बाद वृष्णि-यादवों ने द्वारका अपनी राजधानी बनायी थी । कृष्ण वृष्णिगण के मुख्य थे अतः वे द्वारकानाथ कहलाये ।

द्वारकामठ—शङ्कराचार्य भारतव्यापी धर्मप्रचारयात्रा करते हुए जब गुजरात आये तो द्वारका में एक मठ स्थापित कर अपने शिष्य हस्तामलकाचार्य को उसके आचार्यपद पर बैठाया । शृंगेरी तथा द्वारका मठों का शिष्यसम्प्रदाय 'भारती' के उपनाम से प्रसिद्ध है ।

द्वारप—इस शब्द का प्रयोग केवल उपमा के रूप में ऐतरेय ब्राह्मण (१.३०) में हुआ है, जहाँ विष्णु को देवों का द्वारप कहा गया है । छान्दोग्य उपनिषद् (३.१३,६) में भी 'द्वारप' का प्रयोग उपर्युक्त उपमावाचक अर्थ में हुआ है ।

द्विज—(१) प्रथम तीन वर्णों का एक विरुद 'द्विज' (द्विजन्मा) है, किन्तु यह शब्द विशेष कर ब्राह्मणों के लिए प्रयुक्त हुआ है । अथर्ववेद (१९.७१,१) के एक अस्पष्ट वर्णन को छोड़कर इसका प्रयोग वैदिक साहित्य में नहीं हुआ है । धर्मसूत्र और स्मृतियों में इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है । इसका शाब्दिक अर्थ है 'दो जन्म वाला' अर्थात् ऐसा व्यक्ति जिसके दो जन्म होते हैं : (१) शारीरिक और (२) ज्ञानमय । शारीरिक जन्म माता-पिता से होता है और ज्ञानमय जन्म गुरु अथवा आचार्य से । स्मृतियों के अनुसार उपनयन आदि संस्कार करने से मनुष्य द्विज होता है :

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।
वेदपाठाद् भवेद् विप्रः ब्रह्मज्ञानाच् च ब्राह्मणः ।।

[मनुष्य जन्म के समय शूद्र होता है, फिर संस्कार करने से द्विज कहलाता है । वेद पढ़ने से वह विप्र और ब्रह्म का ज्ञानी होने से ब्राह्मण होता है ।]

द्वितीयाभद्राव्रत—यह व्रत भद्रा या विष्टि नामक करण पर आश्रित है, यह मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थी को प्रारम्भ होता है । एक वर्ष तक भद्रा देवी की पूजा करने का इसमें विधान है । इसमें निम्नांकित मन्त्र का जप होता है :

भद्रे भद्राय भद्रं हि चरिष्ये व्रतमेव ते ।
निर्विघ्नं कुरु मे देवि ! कार्यसिद्धिञ्च भावय ।।

व्रती को भद्रा करण के आरम्भ में भद्रा देवी की लौहमयी, पाषाणमयी, काष्ठमयी अथवा रागरञ्जित प्रतिमा स्थापित कर पूजनी चाहिए । इसके परिणामस्वरूप मनुष्य की मनोभिलाषाएँ तथा करणीय कर्म उस समय भी पूर्ण होते हैं, जब कि वे भद्रा काल में आरम्भ किये गये हों । भद्रा अथवा विष्टि को अधिकांश अवसरों पर एक भयानक वस्तु के रूप में देखा अथवा समझा जाता है । दे० स्मृतिकौस्तुभ, ५६५-५६६ ।

द्विदलव्रत—कार्तिक मास में दो दलों वाले धान्य भोजन के लिए निषिद्ध हैं, जैसे अरहर (तूर), राजिका, माष (उड़द), मुद्ग, मसूर, चना तथा कुलित्थ । इनका भोजन में परित्याग 'द्विदलव्रत' कहलाता है । दे० निर्णयसिन्धु, १०४-१०५ ।

द्विराषाढ—विष्णु भगवान् आषाढ शुक्ल एकादशी को शयन करते हैं यह प्रसिद्ध है । जब सूर्य मिथुन राशि पर हों और अधिक मास के रूप में उस समय दो आषाढ़ हों तब विष्णु द्वितीय आषाढ के अन्त वाली एकादशी के उपरान्त ही शयन करेंगे । दे० जीमूतवाहन का कालविवेक, १६९-१७३; निर्णयसिन्धु, १९२; समयमयूख, ८३ ।

द्वीपव्रत—चैत्र शुक्ल से आरम्भ कर प्रत्येक मास में सात दिन व्रती को सप्त द्वीपों का क्रमशः पूजन करना चाहिए । क्रम यह होगा—(१) जम्बू, (२) शाक, (३) कुश, (४) क्रौञ्च, (५) शालमलि, (६) गोमेद और (७) पुष्कर । यह व्रत एक वर्ष तक आचरणीय है । व्रती को एक शाम भूमि पर शयन करना चाहिए । विश्वास किया जाता है

कि वर्ष के अन्त में रजत, फल आदि वस्तुओं के दान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है ।

द्वैत—बादरायण के पूर्व ही वेदान्त के अनेक आचार्यों ने आत्मा एवं ब्रह्म के सम्बन्ध में अपने मत प्रकाशित किये थे । इनमें से तीन सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं—द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत (भेदाभेद) । द्वैतमत के संस्थापक औडुलोमि हैं । उनके मतानुसार आत्मा ब्रह्म से बिल्कुल भिन्न है, जब तक कि वह मोक्ष प्राप्त कर ब्रह्म में विलीन नहीं हो जाता । वेदान्त के अतिरिक्त सांख्य, न्याय और वैशेषिक दर्शनों में आत्मा को प्रकृति अथवा ब्रह्म से स्वतन्त्र तत्त्व माना गया है और इस प्रकार द्वैत अथवा त्रैत मत का समर्थन हुआ है ।

द्वैताद्वैतमत—यह एक प्रकार का भेदाभेदवाद ही है । इस के अनुसार द्वैत भी सत्य है और अद्वैत भी । इस मत के प्रधान आचार्य निम्बार्क हो गये हैं । ब्रह्मसूत्र में भी द्वैताद्वैतवाद तथा उसके आचार्य का नाम मिलता है । दसवीं शताब्दी में आचार्य भास्कर ने भेदाभेदवाद के अनुसार वेदान्तसूत्र की व्याख्या की । यह व्याख्या ब्रह्मपरक है, शिव या विष्णुपरक नहीं । ग्यारहवीं शताब्दी में निम्बार्क स्वामी ने ब्रह्मसूत्र की विष्णुपरक व्याख्या करके द्वैताद्वैत मत अथवा भेदाभेदवाद की स्थापना की ।

आचार्य निम्बार्क के मतानुसार ब्रह्म जीव और जड़ अर्थात् चेतन और अचेतन से पृथक् और अपृथक् है । इस पृथक्त्व और अपृथक्त्व के ऊपर ही उनका दर्शन निर्भर है । जीव और जगत् दोनों ब्रह्म के परिणाम हैं । जीव ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न एवं अभिन्न है । जगत् भी इसी प्रकार भिन्न और अभिन्न है । द्वैताद्वैतवाद का यही सार है ।

द्वैताद्वैतसिद्धान्तसेतुका—सुन्दरभट्ट रचित 'द्वैताद्वैतसिद्धान्तसेतुका' देवाचार्य रचित वेदान्तव्याख्या 'सिद्धान्तजाह्नवी' का भाष्य है ।

ध

धनत्रयोदशी—कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी का एक नाम । व्यापारी लोग इस दिन वाणिज्य सामग्री को परिष्कृत, सुसज्जित कर धन के देवता की पूजा का त्रिदिनव्यापी उत्सव आरम्भ करते हैं, नये-पुराने आर्थिक वर्ष का लेखा-जोखा तैयार किया जाता है और इस दिन नयी वस्तु का क्रय-विक्रय शुभ माना जाता है ।

आयुर्वेद के देवता धन्वन्तरि का यह जन्मदिन है, इसलिए चिकित्सक वैद्य लोग आज धन्वन्तरिजयन्ती का उत्सव मनाते हैं ।

धनपति—ये 'शङ्करदिग्विजय' (माधवाचार्यकृत) के एक भाष्यकार थे ।

धनसंक्रान्तिव्रत—यह संक्रान्तिव्रत है, एक वर्ष पर्यन्त चलता है । इसके सूर्य देवता हैं । प्रतिमास जलपूर्ण कलश, जिसमें सुवर्णखण्ड पड़ा हो, निम्नांकित मन्त्र बोलते हुए दान करना चाहिए : 'हे सूर्य ! प्रसीदतु भवान् ।' व्रत के अन्त में एक सुवर्णकमल तथा धेनु दान में देनी चाहिए । विश्वास किया जाता है कि इससे व्रती जन्म-जन्मान्तरों तक सुख, समृद्धि, सुस्वास्थ्य तथा दीर्घायु प्राप्त करता है ।

धन्ना (धना)—वैष्णवाचार्य स्वामी रामानन्द के कुछ ऐसे भी शिष्य हो गये हैं, जिन्होंने किसी सम्प्रदाय की स्थापना या प्रचार नहीं किया, किन्तु कुछ पदरचना की है । धन्ना ऐसे ही उनके एक शिष्य थे ।

धनावाप्तिव्रत—(१) श्रावण पूर्णिमा के पश्चात् प्रतिपदा को यह व्रत आरम्भ होता है, एक मास तक चलता है, नील कमलों से विष्णु तथा संकर्षण की पूजा होती है । साथ ही घृत तथा सुन्दर नैवेद्य भगवच्चरणों में अर्पित करना चाहिए । भाद्रपद मास की पूर्णिमा से तीन दिन पूर्व उपवास रखना चाहिए । व्रत के अन्त में एक गौ का दान विहित है ।

(२) इसमें एक वर्ष पर्यन्त भगवान् वैश्रवण (कुबेर) की पूजा होती है । विश्वास है कि इसके परिणामस्वरूप अपार सम्पत्ति की प्राप्ति होती है ।

धनी धर्मदास—मध्ययुगीन सुधारवादी आन्दोलनों में जिन सन्त कवियों ने योगदान किया है, धनी धर्मदास उनमें से एक हैं । इनके रचे अनेक पद पाये जाते हैं ।

धन्यव्रत अथवा धन्यप्रतिपदाव्रत—मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा को इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है । उस दिन नक्त व्रत करना चाहिए तथा विष्णु भगवान् का (जिनका अग्नि नाम भी हैं) रात्रि को पूजन करना चाहिए । प्रतिमा के सम्मुख एक कुण्ड में हवन किया जाता है ।

तदनन्तर यावक तथा घृतमिश्रित खाद्य ग्रहण करना होता है। इसी प्रकार का आचरण कृष्ण पक्ष में भी करना चाहिए। चैत्र से आठ मास तक इसका अनुष्ठान होना चाहिए। व्रतान्त में अग्नि देव की सुवर्ण की प्रतिमा का दान किया जाता है। इस व्रत से दुर्भाग्यशाली व्यक्ति भी सुखी, धन-धान्यादि से समृद्ध तथा पापमुक्त हो जाता है।

धनुर्वेद—मधुसूदन सरस्वती ने अपने ग्रन्थ 'प्रस्थानभेद' में लिखा है कि यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है, इसमें चार पाद हैं, यह विश्वामित्र का बनाया हुआ है। पहला दीक्षा पाद है, दूसरा संग्रह पाद है, तीसरा सिद्ध पाद है और चौथा प्रयोग पाद। पहले पाद में धनुष का लक्षण और अधिकारी का निरूपण है। जान पड़ता है कि यहाँ धनुष शब्द का अभिप्राय चारों प्रकार के आयुधों से है, क्योंकि आगे चलकर आयुध चार प्रकार के कहे गये हैं: (१) मुक्त, (२) अमुक्त, (३) मुक्तामुक्त, (४) यन्त्रमुक्त। मुक्त आयुध चक्रादि हैं। अमुक्त खड्गादि हैं। मुक्तामुक्त शल्य और उस तरह के अन्य हथियार हैं। यन्त्रमुक्त बाण आदि हैं। मुक्त को अस्त्र कहते हैं और अमुक्त को शस्त्र। ब्राह्म, वैष्णव, पाशुपत, प्राजापत्य और आग्नेय आदि भेद से नाना प्रकार के आयुध हैं। साधिदैवत और समन्त्र चतुर्विध आयुधों पर जिनका अधिकार है वे क्षत्रियकुमार होते हैं और उनके अनुवर्ती जो चार प्रकार के होते हैं वे पदाति, रथी, गजारोही और अश्वारोही हैं। इन सब बातों के अतिरिक्त दीक्षा, अभिषेक, शकुन और मङ्गल आदि सभी का प्रथम पाद में वर्णन किया गया है।

आचार्य का लक्षण और सब तरह के अस्त्र-शस्त्रादि के विषय का संग्रह द्वितीय पाद में दिखाया गया है। तीसरे पाद में गुरु और विशेष-विशेष साम्प्रदायिक शस्त्र, उनका अभ्यास, मन्त्र, देवता और सिद्धिकरणादि वर्णित हैं। चौथे पाद में देवार्चना, अभ्यासादि और सिद्ध अस्त्र-शस्त्रादि के प्रयोगों का निरूपण है।

धनुष—ऋग्वेद में इसका उल्लेख अनेक बार हुआ है। वैदिक कालीन भारतीयों का यह प्रमुख आयुध रहा है। दाह क्रिया में अन्तिम कार्य मृतक के दायें हाथ से धनुष को हटाया जाना होता था।

धनुषतीर्थ—श्रीनगर (गढ़वाल) में जिस स्थान पर अलकनन्दा धनुषाकार हो गयी है वह धनुषतीर्थ कहा जाता है। यहाँ स्नान करना पुण्यकारक है।

धनुष्कोटि—सेतुबन्ध रामेश्वरम् क्षेत्र का एक तीर्थ। धनुष्कोटि के लिए रेल जाती है। यहाँ मीठे जल का अभाव है, छाया भी नहीं है। यहाँ से जहाज चार घंटे में लङ्का पहुँच जाते हैं। रेल के डब्बे जहाज पर चढ़ा दिये जाते हैं, जो उधर उतार लिये जाते हैं। इस अन्तरीप का एक सिरा बंगाल की खाड़ी तथा दूसरा सिरा महोदधि कहलाता है। यहाँ यात्री स्नान, श्राद्ध, पिण्डदान तथा स्वर्ण के बने धनुष का दान भी करते हैं। यहाँ ३६ बार स्नान करने को विधि है। हाथ में बालू का पिण्ड, कुश लेकर कृत्या नामक दानवी से समुद्रस्नान की अनुमति माँगी जाती है। बालू का पिण्ड समुद्र में डालकर स्नान किया जाता है।

धन्वन्तरि—ये विष्णु के २४ अवतारों में हैं और समुद्र-मंथन के समय अमृतकुम्भ लेकर उत्पन्न हुए थे। धन्वन्तरि आयुर्वेद के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। सुश्रुत संहिता में लिखा है कि ब्रह्मा ने पहले-पहल एक लाख श्लोकों का आयुर्वेद शास्त्र प्रकाशित किया था, जिसमें एक सहस्र अध्याय थे। उनसे प्रजापति ने पढ़ा। प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने पढ़ा, अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने पढ़ा और इन्द्रदेव से धन्वन्तरि ने पढ़ा। धन्वन्तरि से सुनकर सुश्रुत मुनि ने आयुर्वेद की रचना की। काशी पुरी में धन्वन्तरि नामक एक राजा भी हुए हैं, जिन्होंने आयुर्वेद का अच्छा प्रचार किया था।

धन्वी—एक वृत्तिकार का नाम। सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बन्धित द्राह्यायण श्रौतसूत्र अथवा वसिष्ठसूत्र पर मध्व स्वामी ने भाष्य रचा है। रुद्रस्कन्द स्वामी ने इस भाष्य का 'औद्गात्रसारसंग्रह' नाम के निबन्ध में संस्कार किया है। धन्वी ने इस पर छान्दोग्यसूत्रदीप नामका वृत्ति लिखी है।

धरणीधरतीर्थ—यह वैष्णव तीर्थ है और अलीगढ़ से २२ मील तथा मथुरा से १८ मील मध्य में अवस्थित है। इसका वर्तमान नाम बेसवाँ है। कहा जाता है कि यह पृथ्वी का नाभिस्थल है। महर्षि विश्वामित्र ने यहाँ यज्ञ किया था। सुना जाता है कि धरणीधरकुण्ड की खुदाई के समय बहुत-सी शालग्राम शिलाएँ निकली थीं जिससे अवश्य ही यह प्राचीन तीर्थस्थल सिद्ध होता है।

धरणीव्रत—कार्तिक शुक्ल एकादशी को उपवास करके इस व्रत का प्रारम्भ किया जाता है। इसमें भगवान् नारायण

का पूजन होता है । मूर्ति के सम्मुख चार कलश स्थापित होते हैं जो महासागरों के प्रतीक माने गये हैं । कलशों के केन्द्र में नारायण की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिए । रात्रि में जागरण करना चाहिए । इस व्रत का आचरण प्रजापति, अनेक राजा गण तथा पृथ्वी देवी ने किया था, इसीलिए इस व्रत का नाम धरणीव्रत पड़ा ।

धर्णा (धरना)—अनशन पूर्वक किसी उद्देश्य का आग्रह करना । किसी राजाज्ञा के विरोध में अथवा किसी महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए लोग 'धर्णा' करते थे । जब कोई ब्राह्मण धर्णा के फलस्वरूप मर जाता था तो वह ब्रह्मराक्षस (भूतों की एक योनि) होता था और उसकी यज्ञादि से पूजा की जाती थी । ऐसा ही एक ब्रह्म ससराम के निकट चयनपुर में है, नाम है 'हर्षू ब्रह्म' या हर्षू बाबा । कहा जाता है कि ये कनौजिया ब्राह्मण थे और सालिवाहन नामक राजा के पुरोहित थे । रानी उनको पसन्द नहीं करती थी, उसने राजा से यह कहकर कि यह ब्राह्मण आपको राज्य से वंचित करना चाहता है, उसकी भूमि आदि छिनवा ली । उसे राजा ने निष्कासित कर दिया । फलतः ब्राह्मण राजभवन के सामने धर्णा करके मरने के बाद ब्रह्म हुआ । क्योंकि तपस्या करके वह मरा था, इसलिए प्रेतयोनि में भी बहुत प्रभावशाली माना जाता है ।

धर्म—किसी वस्तु की विधायक आन्तरिक वृत्ति को उसका धर्म कहते हैं । प्रत्येक पदार्थ का व्यक्तित्व जिस वृत्ति पर निर्भर है वही उस पदार्थ का धर्म है । धर्म की कमी से उस पदार्थ का क्षय होता है । धर्म की वृद्धि से उस पदार्थ की वृद्धि होती है । बेले के फूल का एक धर्म सुवास है, उसकी वृद्धि उसकी कली का विकास है, उसकी कमी से फूल का ह्रास है । धर्म की यह कल्पना भारत की ही विशेषता है । वैशेषिक दर्शन ने धर्म की बड़ी सुन्दर वैज्ञानिक परिभाषा ''यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'' इस सूत्र से की है । धर्म वह है जिससे (इस जीवन का) अभ्युदय और (भावी जीवन में) निःश्रेयस की सिद्धि हो । परन्तु यह परिभाषा परिणामात्मिका है । इसकी सामान्य परिभाषा यह है :

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विध प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥
(मनु. २.१२)

[श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने आत्मा का सन्तोष यही साक्षात् धर्म के चार लक्षण (पहचान, कसौटी) कहे गये हैं ।] प्राचीन भारतीय इन चारों को धर्मानुकूल मार्ग का निदर्शक मानते हैं । इनमें से प्रथम दो किसी न किसी रूपान्तर से सभी धर्मों में प्रमाण माने जाते हैं । शेष दो, सदाचार और आत्मतुष्टि को सारा सभ्य संसार प्रमाण मानता है, परन्तु अपनी परिस्थिति के अनुकूल । भारतीय लोकवर्ग में भी जहाँ श्रुति-स्मृति से विरोध रहा है, जैसा चार्वाक सरीखे नास्तिक आचार्यों की प्रवृत्ति से प्रकट है, वहाँ जैनों की तरह अपनी-अपनी श्रुति और स्मृति का प्रमाण ग्रहण होता रहा है, उसमें केवल सदाचार और आत्मतुष्टि मूल में रहे हैं ।

स्मृतियों में धर्मोपदेश का साधारण क्रम यह है कि पहले साधारण धर्म वर्णन किया गया है, जिसे जगत् के सब मनुष्यों को निर्विवाद रूप से मानना उचित है, जिसके पालन से मनुष्यसमाज की रक्षा होती है । यह धर्म आस्तिक और नास्तिक दोनों पक्षों को मान्य होता है । फिर समाज की स्थिति के लिए जीवन के विविध व्यापारों और अवस्थाओं के अनुसार वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्यों का धर्म रूप से निर्देश किया जाता है । इसको विशिष्ट धर्म कहते हैं । इस विभाग में भी प्रत्येक वर्ण के भिन्न-भिन्न आश्रमों में प्रवेश करने और बने रहने के विधि और निषेध वाले नियम होते हैं । इन नियमों का आरम्भ गर्भाधान संस्कार से होता है और अन्त अन्त्येष्टि तथा श्राद्धादि से माना जाता है । थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ सारे भारत में इन संस्कारों के नियम निवाहे जाते हैं । संयमी जीवन संस्कारों को सम्पन्न करता है और संस्कार का फल होता है शरीर और जीवात्मा का उत्तरोत्तर विकास । धर्म संन्मार्ग का पहला उपदेश है, उन्नति के लिए नियम है, संयम उस उपदेश वा नियम का पालन है, संस्कार उन संयमों का सामूहिक फल है और किसी विशेष देश-काल और निमित्त में विशेष प्रकार की उन्नत अवस्था में प्रवेश करने का द्वार है । सब संस्कारों का अन्तिम परिणाम व्यक्तित्व का विकास है । ''संयम–संस्कार–विकास'' अथवा ''संयम–संस्कार–अभ्युदय–निश्रेयस'' यह धर्मानुकूल कर्त्तव्य का क्रियात्मक रूप है । ये सभी मिलकर संस्कृति का इतिहास बनाते हैं । धर्म यदि आत्मा और अनात्मा की विधायक वृत्ति है, तो

संस्कृति उसका क्रियात्मक रूप है; धर्मानुकूल आचरण का फल है ।

धर्म आत्मा और अनात्मा का, जीवात्मा और शरीर का विधायक है; संस्कार हर जीवात्मा और हर शरीर का विकास करने वाला है । धर्म व्यक्ति की तरह समाज का भी विधायक है : 'धर्मो धारयति प्रजाः' । संस्कार समाज का विकास करने वाला है, उसे ऊँचा उठाने वाला है । दोष, पाप, दुष्कृत अधर्म हैं; इन्हें दूर करने का साधन संस्कार है । अज्ञान अधर्म है, इसे दूर करने वाले शिक्षादि संस्कार हैं । भारत में धर्म और संस्कृति का अटूट सम्बन्ध रहा है ।

धर्म के अन्य वर्गीकरण भी पाये जाते हैं : नित्य, नैमित्तिक काम्य, आपद्धर्म आदि । नित्य वह धार्मिक कार्य है जिसका करना अनिवार्य है और जिसके न करने से पाप होता है । नैमित्तिक धर्म को विशेष अवसरों पर करना आवश्यक है । काम्यधर्म वह है जो किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए किया जाता है परन्तु जिसके न करने से कोई दोष नहीं होता । आपद्धर्म वह है जो संकट की स्थिति में सामान्य और विशिष्ट धर्म को छोड़कर करना पड़ता है । शास्त्र के नियमानुकूल आपद्धर्म का पालन करने से दोष नहीं होता है ।

धर्मघटदान—चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से प्रारम्भ कर चार मास तक इस व्रत का अनुष्ठान होता है । जो पुण्यों का इच्छुक हो उसे प्रति दिन वस्त्र से आच्छादित, शीतल जल से परिपूर्ण कलश का दान करना चाहिए ।

धर्मदास—कबीरपथ सम्प्रदाय के शिक्षक व पथ प्रदर्शक कबीरपंथी साधु ही होते हैं । ये साधु दो स्थानों के महन्तों से शासित होते हैं । एक की गद्दी कबीरचौरा मठ (वाराणसी, उ० प्र०) है तथा दूसरे की छत्तीसगढ़ (मध्य प्रदेश) । कबीरचौरा मठ वाले सन्त अपना प्रारम्भ महात्मा सुरतगोपाल से तथा छत्तीसगढ़ वाले 'धर्मदास' नामक महात्मा से मानते हैं । छत्तीसगढ़ (दक्षिण कोसल) में कबीरपन्थ के प्रसार का श्रेय धर्मदास को ही प्राप्त है ।

महात्मा धर्मदास पहले निम्बार्कीय वैष्णव थे । कबीर के उपदेशों से प्रभावित होकर इन्होंने 'धर्मदासी शाखा' का प्रचारात्मक नेतृत्व ग्रहण कर लिया, साथ ही वे वैष्णवचिह्न कण्ठी-तिलक आदि भी धारण करते रहे, जो शिष्य सन्तों में अब भी प्रचलित हैं ।

धर्मप्राप्ति व्रत—आषाढ़ी पूर्णिमा के पश्चात् प्रतिपदा से यह व्रत प्रारम्भ होता है । धर्म के रूप में भगवान् विष्णु की पूजा एक मास तक होती है । मासान्त में पूर्णिमा सहित तीन दिन तक उपवास तथा सुवर्ण का दान विहित है ।

धर्मराज अध्वरीन्द्र—'वेदान्तपरिभाषा' नामक लोकप्रिय ग्रन्थ के प्रणेता । सुप्रसिद्ध अद्वैतवादी ग्रन्थरचयिता नृसिहाश्रम स्वामी उनके परम गुरु थे । नृसिहाश्रम स्वामी के शिष्य वेङ्कटनाथ थे और वेङ्कटनाथ के शिष्य धर्मराज । नृसिहाश्रम सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे, इसलिए धर्मराज का स्थितिकाल सत्रहवीं शताब्दी होना सम्भव है । धर्मराज अध्वरीन्द्र के ग्रन्थों में वेदान्तपरिभाषा प्रधान है । यह अद्वैत सिद्धान्त का अत्यन्त उपयोगी प्रकरण ग्रन्थ है । इसके ऊपर बहुत-सी टीकाएँ हुई हैं । भिन्न-भिन्न स्थानों से इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं । अद्वैत वेदान्त का रहस्य समझने में इसका अध्ययन बहुत उपयोगी है । इसके सिवा उन्होंने गङ्गेशोपाध्याय कृत 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक नव्य न्याय के ग्रन्थ पर 'तर्कभूषामणि' नाम की टीका भी लिखी है । उसमें पूर्ववर्त्तिनी दस टीकाओं के मत का खण्डन किया गया है ।

धर्मराजपूजा—इस व्रत में दमनक पौधे से धर्म का पूजन होता है । इसके लिए दे० 'दमनकपूजा ।'

धर्मव्रत—मार्गशीर्ष शुक्ल दशमी को यह व्रत प्रारम्भ होता है । उस दिन उपवास करते हुए धर्म का पूजन करना चाहिए । घी से हवन का विधान है । एक वर्ष तक इसका अनुष्ठान होता है । व्रत के अन्त में गाय का दान विहित है । इससे सुस्वास्थ्य, दीर्घायु, यश की प्राप्ति तथा पापों से छुटकारा होता है ।

धर्मशास्त्र—साधारण बोलचाल में 'श्रुति' शब्द से समस्त वैदिक साहित्य का ग्रहण होता है । इसके साथ विभेदवाचक 'स्मृति' शब्द का प्रयोग होता है जिससे 'धर्मशास्त्र' का बोध होता है । वेद के चार उपाङ्गों में से धर्मशास्त्र एक है । धर्मशास्त्र वेदाङ्गीय सूत्रग्रन्थों का आनुषङ्गिक विस्तार है । इस अर्थ में ही धर्मसूत्र धर्मशास्त्र के प्राथमिक अङ्ग हैं । विशिष्ट अर्थ में स्मृति शब्द से धर्मशास्त्र के उन्हीं ग्रन्थों का बोध होता है जिनमें प्रजा के लिए

उचित आचार-व्यवहार-व्यवस्था और समाज के शासन के निमित्त नीति और सदाचार सम्बन्धी नियम स्पष्टतापूर्वक दिये रहते हैं। धर्मशास्त्र के विविध स्तरों की सूची में धर्मसूत्र, स्मृति, भाष्य, निबन्ध आदि सम्मिलित हैं। म० म० पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने अपने 'धर्मशास्त्र के इतिहास' (जि० १) में धर्मशास्त्र के अन्तर्गत शुद्ध राजनीति के ग्रन्थों (अर्थशास्त्र) को भी सम्मिलित कर लिया है।

धर्मषष्ठी—आश्विन कृष्ण षष्ठी को इसका प्रारम्भ होता है। इसमें धर्मराज की पूजा विहित है।

धर्मसूत्र—'कल्प' वेदाङ्ग के अन्तर्गत सूत्र ग्रन्थ चार प्रकार के हैं, जिनका धार्मिक तथा व्यावहारिक जीवन में बड़ा महत्त्व है। ये हैं श्रौत, गृह्य, धर्म तथा रचना विषयक। धर्मसूत्र पाँच हैं : (१) आपस्तम्ब, (२) हिरण्यकेशी, (३) बौधायन, (४) गौतम और (५) वसिष्ठ। ये धर्मसूत्र यज्ञों का वर्णन न कर आचार-व्यवहार आदि का वर्णन करते हैं। धर्मसूत्रों में धार्मिक जीवन के चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) तथा चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) का वर्णन है। साथ ही निम्नलिखित विशेष विषय भी हैं—राजा, व्यवहार के नियम, अपराध के नियम, विवाह, उत्तराधिकार, अन्त्येष्टि क्रियाएँ, तपस्या आदि। प्रारम्भ में विशेष धर्मसूत्रों का प्रयोग अपनी-अपनी शाखा के लिए ही किया जाता था, किन्तु पीछे उनमें से कुछ सभी द्विजों द्वारा प्रयुक्त होने लगे। आचारिक विधि का मूल आधार है वर्णव्यवस्था के अनुकूल कर्त्तव्यपालन। व्यवहार अथवा अपराध की विधियों पर भी इस वर्णव्यवस्था का प्रभाव है। विभिन्न वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्ड हैं। हिंसा के अपराधों में ब्राह्मण की अपेक्षा इतर वर्ण वालों को एक ही प्रकार के अपराध करने पर कड़ा दण्डविधान है। इसके विपरीत लोभ के अपराधों में वर्णोत्कर्षक्रम से ब्राह्मण के लिए अधिक कड़े दण्ड का विधान है।

धर्मावाप्तिव्रत—यह व्रत आषाढ़ी पूर्णिमा के उपरान्त प्रतिपदा से प्रारम्भ होकर एक मास तक चलता है। धर्म के रूप में भगवान् हरि का पूजन होता है। इससे समस्त कामनाओं की पूर्ति होती है।

धवित्र—यज्ञाग्नि को उद्दीप्त करने का उपकरण (व्यजन)। शतपथ ब्राह्मण (१४.१,३,३०; ३,१,२१) तथा तैत्तिरीय आरण्यक (५.४,३३) में धवित्र की चर्चा हुई है। इसका अर्थ यहाँ 'पंखा' है, जो चमड़े का बना होता था और यज्ञाग्नि को उद्दीप्त करने के लिए इसका प्रयोग होता था।

धात्रीनवमी—कार्तिक शुक्लपक्ष की नवमी। इस दिन आँवले के पेड़ का ब्रह्मा के रूप में पूजन होता है और उसके नीचे बैठकर भोजन करने का विधान है। आँवले (आमलक) का एक नाम 'धात्री फल' है। विश्वास यह है कि चाहे माता भले ही अप्रसन्न हो जाय किन्तु आमलकी नहीं अप्रसन्न होती। उसके दैवीकरण के आधार पर यह व्रत प्रचलित हुआ है।

धात्रीव्रत—फाल्गुन मास के दोनों पक्षों की एकादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसमें आमलक के फलों से स्नान का विधान है। दे० पद्मपुराण, ५.५८.१.११। भगवान् वासुदेव को धात्रीफल अत्यन्त प्रिय है। इसके भक्षण से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

धान्यसप्तक—सात प्रकार के धान्यों के संयोग को 'धान्यसप्तक' कहा गया है। इनमें जौ, गेहूँ, धान, तिल, कंगु (भयप्रद बीज), श्यामाक तथा चीनक की गणना है। दे० हेमाद्रि, १.४८। कृत्यरत्नाकर, ७० के अनुसार चीनक के स्थान पर 'देवधान्य' का उल्लेख है। गोभिलस्मृति (३.१०७) के अनुसार सात धान्यों के नाम भिन्न ही हैं। विष्णुपुराण, १.६.२१-२२; वायु, ८.१५०-१५२ तथा मार्कण्डेय, ४६.६७-६९ (वेंकटेश्वर संस्करण) ने सत्रह धान्यों के नाम गिनाये हैं तथा व्रतराज (पृ० १७) ने अठारह धान्य बतलाये हैं। धार्मिक कार्यों के लिए ये धान्य (अनाज) पवित्र माने जाते हैं।

धान्यसप्तमी—शुक्ल पक्षीय सप्तमी को धान्यसप्तमी कहा जाता है। इस तिथि को सूर्यपूजन, नक्त पद्धति का अनुसरण, सप्त धान्यों तथा रसोई के पात्र एवं नमक के दान का विधान है। इससे व्रती स्वयं की तथा सात पीढ़ियों तक की रक्षा कर लेता है।

धान्यसंक्रान्तिव्रत—दोनों अयन दिवसों अथवा विषुव दिवसों को इस व्रत का आरम्भ होता है। एक वर्ष पर्यन्त इसका अनुष्ठान किया जाता है। केसर से अष्टदल कमल की आकृति बनाकर प्रत्येक दल की, सूर्य के आठ नामों को लेकर, पूर्वाभिमुख बढ़ते हुए स्तुति की जाती है। इसमें सूर्य का पूजन होता है, तदनन्तर एक प्रस्थ धान्य

किसी ब्राह्मण को अर्पित किया जाता है (इसीलिए इसका नाम धान्यसंक्रान्ति है)। प्रतिमास इस व्रत की आवृत्ति होनी चाहिए।

धाना—इसका प्रयोग बहुवचन में ही होता है। ऋग्वेद (१.१६.२०; ३.३६, ३; ५२,५; ६.२९,४) तथा परवर्त्ती वैदिक साहित्य में इसका 'अन्न के दानों' के अर्थ में उल्लेख हुआ है। कभी-कभी वे भूने जाते थे (भृज्ज) तथा नियमित रूप से सोमरस के साथ मिलाये जाते थे।

धामव्रत—धाम का अर्थ है गृह। इसमें गृह का दान होता है इसलिए इसको धामव्रत कहते हैं। सूर्य इसका देवता है। इस व्रत में फाल्गुन की पूर्णमासी को प्रारम्भ करके तीन दिन उपवास करने का विधान है। इसके उपरान्त एक सुन्दर गृह का दान देना चाहिए। इससे दानी का सूर्यलोक में वास होता है।

धार (धारा)—मध्य प्रदेश का प्राचीन नगर और तीर्थस्थान। यह इतिहासप्रसिद्ध भोजराज की धारा नगरी है। यहाँ बहुत से प्राचीन ध्वंसावशेष पाये जाते हैं। कहा जाता है, गुरु गोरखनाथ के शिष्य राजा गोपीचन्द की राजधानी भी धारा ही थी। यहाँ जैन मन्दिर भी हैं, पार्श्वनाथजी की स्वर्णमूर्ति है। हिन्दू मन्दिर भी बहुत से हैं।

भोज परमार के समय यहाँ एक प्रसिद्ध 'सरस्वती-मन्दिर' का निर्माण हुआ था। इसका मुस्लिम आक्रमणकारियों ने मस्जिद में परिवर्तन कर दिया। मन्दिर का अभिलेख आज भी सुरक्षित है। भोज के समय इसकी बड़ी ख्याति थी। उनके दिवंगत होने पर यह श्रीहीन हो गयी :

> 'अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
> पण्डिता खण्डिता सर्वे भोजराजे दिवं गते ॥'

धारणपारणव्रतोद्यापन—चातुर्मास्य की एकादशी अथवा वर्षा के प्रथम मास अथवा अन्तिम मास में इस व्रत का आरम्भ होता है। उपवास (धारण) प्रथम मास में तथा पारण (भोजन) दूसरे मास में करने का विधान है। भगवान् नारायण तथा लक्ष्मीजी की प्रतिमाओं को एक जलपूर्ण कलश पर विराजमान करके रात्रि के समय उनका चरणामृत लेना चाहिए। पुष्प, तुलसीदलादि से पूजन तथा 'ओं नमो नारायणाय' नामक मन्त्र का १०८ बार जप करना चाहिए। अर्घ्य देने का विधान है। ऋग्वेद के दशम मण्डल, ११२.९ तथा १५५.१ के मन्त्रों द्वारा उबले हुए तिल तथा तंडुलों से होम करना चाहिए।

धाराव्रत—(१) समस्त उत्तरायण काल में इस व्रत का विधान है। इसमें दुग्धाहार विहित है। पृथ्वी की धातुप्रतिमा का दान करना चाहिए। इसके रुद्र देवता हैं। इस व्रत के आचरण से व्रती सीधा रुद्रलोक को जाता है। कृत्यकल्पतरु के अनुसार यह संवत्सरव्रत है। हेमाद्रि इसे फुटकर व्रतों में गिनते हैं।

(२) चैत्र के प्रारम्भ में ही इस व्रत का आरम्भ होता है। इसमें भगवन्नाम के साथ जल की धारा मुँह में गिरायी जाती है। एक वर्ष तक इसके अनुष्ठान का विधान है। व्रतान्त में नये जलपात्र का दान करना चाहिए। इस व्रत के आचरण से व्रती पराधीनता से मुक्त होकर सुख तथा अनेक वरदान प्राप्त करता है।

धिषणा—सोम तैयार करने में प्रयुक्त कोई पात्र तथा स्वतः सूखे हुए सोम का भी पर्याय। एक उपमा द्वारा यह द्विवाची शब्द दो लोक 'आकाश एवं भूमि' का वाचक है। हिलब्रैण्ट के मतानुसार इसका व्यक्तिवाची अर्थ पृथ्वी, द्विवाची अर्थ आकाश तथा पृथ्वी और त्रिवाची बहुबचन में इसका अर्थ पृथ्वी, वायुमण्डल एवं आकाश है। कुछ परिच्छेदों में इसका अर्थ 'वेदी' है। वाजसनेयी (७.२६) एवं तैत्तिरीय (३.१,१०,१) संहिताएँ इसका अर्थ 'लकड़ी का चिकना पटरा' (फलक) व्यक्त करती हैं जिस पर सोम को कूटा जाता था (अधिषवणफलके)। पिशेल के मतानुसार 'धिषणा' अदिति एवं पृथ्वी की तरह धन की देवी है।

धी—इसका प्रयोग ऋग्वेद (१.३, ५, १३५; ५, १५१, ६,१८५; ६.२.३; ८,४०, ५) में प्रार्थना या स्तुति के रूप में हुआ है। एक कवि अपने को ऐसी ही एक स्तुति (ऋ० २.२८,५) का बुनकर रचयिता कहता है। 'धी' की भी देवता के रूप में कल्पना की गयी है।

मनु के कहे हुए धर्म के दस लक्षणों में एक 'धी' भी है। इसका सामान्य अर्थ है तर्क, बुद्धि।

धीति—ऋग्वेद के अनेक परिच्छेदों में इसका प्रायः वही अर्थ है जो 'धी' (स्तुति) का है।

धूप—एक सुगन्धित काष्ठ एवं ग्रन्धद्रव्यों का मिश्रण। पूजा के षोडशोपचारों में इसकी गणना है। देवार्चन में

धूमदान (धूप जलाना) एक आवश्यक उपचार है। भविष्यपुराण में कुछ सुगन्धित पदार्थों के सम्मिश्रण से निर्मित धूपों का उल्लेख है, यथा अमृत, अनन्त, यक्ष, धूप, विजय धूप, प्राजापत्य आदि। इसके साथ-साथ दस भागों (दशांग) की धूप का भी उल्लेख मिलता है। कृत्यकल्पतरु के अनुसार विजय नामक धूप आठ भागों से बनती है। भविष्यपुराण (१,६८,२८-२९) के अनुसार विजय सर्वश्रेष्ठ धूप है, जाती सर्वोत्तम पुष्प, केसर सर्वोत्तम सुगन्धित द्रव्य, रक्त चन्दन सर्वोत्तम प्रलेप, मोदक अर्थात् लड्डू सर्वोत्तम मिष्टान्न है। धूप को मक्खियों तथा पिस्सुओं को नष्ट करने वाली एक रामबाण औषध के रूप में उद्धृत किया गया है, (गरुडपुराण, १,१७७,८८-८९)। धूप के विस्तृत विवरण के लिए देखिए कृत्यरत्नाकर, ७७-७८; स्मृतिचिन्ता०, १,२०३ तथा २,४,६५। बाण भट्ट की कादम्बरी (प्रथम भाग, अनुच्छेद ५२) में कथन है कि भगवती चण्डिका के मन्दिर में गुग्गुल की पर्याप्त मात्रा से युक्त धूप जलायी गयी थी।

धूमकेतु—अथर्ववेद (१९.९,१०) में धूमकेतु मृत्यु का एक विरुद वर्णित है। जिमर इसका अर्थ उल्का लगाते हैं जो ह्विटने के मत में असम्भव है। लैनमन इससे चिता के धुआँ का अर्थ करते हैं। ज्योतिष ग्रन्थों के अनुसार यह पुच्छल तारे का नाम है।

धूमावती—तन्त्रशास्त्र के अनुसार दस महाविद्याओं में से एक धूमावती हैं। ये विधवा कहलाती हैं। मूर्तियों में इनका इसी रूप में अङ्कन हुआ है।

धूर्तस्वामी—आपस्तम्ब सूत्र के एक भाष्यकार। इन्होंने बौधायन श्रौतसूत्र का भी भाष्य लिखा है।

धूलिवन्दन—होलिका दहन के दूसरे दिन चैत्र की प्रतिपदा को होलिकाभस्म का वन्दन होता है, जिसे धूलिवन्दन कहते हैं। इस दिन श्वपच (चाण्डाल) तक से गले मिलने की प्रथा है। लोग रङ्ग खेलते हैं, आम्रमञ्जरी का प्राशन करते हैं, परस्पर भोजन कराते हैं, गाना-बजाना, उत्सव, नाच आदि होता है। भली भाँति से मनोरञ्जन के उपाय किये जाते हैं। गालियाँ बकने और मद्य सेवन की कुप्रथा भी चल पडी थी, जो अब सुधारकों के प्रभाव से कम हो चली है। होली और फाग में वर्षों के वैर को जला देते हैं, धूल में उड़ा देते हैं। यह त्यौहार सब वर्णों को समान सम्मान देकर मिलाने वाला है, चारों वर्णों का, और विशेष कर शूद्रों का त्यौहार है।

धृतराष्ट्र—(१) एक सर्प-दैत्य, जिसका पितृबोधक नाम ऐरावत (इरावन्त का वंशज) है जिसका उल्लेख अथर्ववेद (१.१०,२९) तथा पञ्चविंश ब्राह्मण में हुआ है (२५.१५,३)। इसका शाब्दिक अर्थ है 'जिसका राष्ट्र दृढता से स्थिर हो अथवा जिसने राष्ट्र को दृढता से पकड़ा हो।'

(२) महाभारत के एक प्रमुख पात्र, दुर्योधन आदि कौरवों के पिता। ये पाण्डु के भाई थे। किन्तु पाण्डु के क्षय रोग से मृत होने के कारण पाण्डवों की अवयस्कता में ये ही राजा बने। इनके पुत्र दुर्योधन आदि पाण्डवों को राज्य लौटाने के पक्ष में नहीं थे। इसीलिए महाभारत युद्ध हुआ। धृतराष्ट्र और सञ्जय के संवाद के रूप में श्रीमद्भगवद्गीता का प्रणयन हुआ है, जो महाभारत का एक अंग है।

धृतिव्रत—इस व्रत में शिवजी की प्रतिमा को पंचामृत में प्रतिदिन स्नान कराया जाता है। पंचामृत में दधि, दुग्ध, घृत, मधु, गन्नें के रस अथवा शर्करा का मिश्रण होता है। एक वर्ष तक यह व्रत चलता है। व्रतान्त में एक धेनु का पञ्चामृत तथा शंख सहित दान करना चाहिए। यह संवत्सरव्रत है। इससे भगवान् शिव का लोक प्राप्त होता है। दे० कृत्यकल्पतरु, ४४४; हेमाद्रि, २.८६५ में पाठभेद है। इसके अनुसार शिव अथवा विष्णु की प्रतिमा को स्नान कराना चाहिए, इससे शिव अथवा विष्णु-लोक प्राप्त होता है।

धेनु—धेनु का अर्थ ऋग्वेद (१.३२,९ सहवत्सा) तथा परवर्त्ती साहित्य (अ० वे० ५.१७, १८; ७,१०४, १०; तै० सं० २.६,२,३; मैत्रायणी सं० ४.४,८; वाजस० सं० १८,२७; शत० ब्रा० २.२,१२१ आदि) में 'दूध देने वाली गाय' है। इसका पुरुषवाचक शब्द वृषभ है। धेनु का अर्थ केवल स्त्री है। सम्पत्तिसंग्रह और दान दोनों में धेनु का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

धेनुव्रत—जिस समय गौ वत्स को जन्म दे रही हो उस समय प्रभूत मात्रा में स्वर्ण एवं उस गौ का दान करे। व्रती यदि उस दिन केवल दुग्धाहार करे तो उच्चतम लोक को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

धैवर—धैवर का अर्थ मछुवा अथवा एक जाति का सदस्य है (धीवर का वंशज)। धैवर का उल्लेख यजुर्वेद (वाज० सं० ३०.१६; तै० ब्रा० ३.४,१५, १) के पुरुषमेध प्रकरण में उद्धृत बलिपशु की सूची में है।

धौतपाप (हत्याहरण)—नैमिषारण्य क्षेत्र का एक तीर्थ। नैमिषारण्य-मिषरिख से एक योजन (लगभग आठ मील) पर यह तीर्थ गोमती के किनारे है। यहाँ स्नान करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, ऐसा पुराणों में वर्णन मिलता है। ज्येष्ठ शुक्ल दशमी, रामनवमी तथा कार्तिकी पूर्णिमा को यहाँ मेला लगता है।

ध्यानबदरी—उत्तराखण्ड का एक वैष्णव तीर्थ। हेलंग स्थान से सड़क छोड़कर बायीं ओर अलकनन्दा को पुल से पार करके एक मार्ग जाता है। इस मार्ग से छः मील जाने पर कल्पेश्वर मन्दिर आता है, जो 'पञ्च केदारों' में से पञ्चम केदार माना जाता है। यही 'ध्यानबदरी' का मन्दिर है। इस स्थान का नाम उरगम है।

ध्यानबिन्दु उपनिषद्—योगसम्बन्धित उपनिषदों में से एक ध्यानबिन्दु उपनिषद् भी है। यह पद्यबद्ध है तथा चूलिका उपनिषद् की अनुगामिनी है।

ध्रुव—(१) सूत्र ग्रन्थों में ध्रुव से उस तारे का बोध होता है जिसका प्रयोग विवाह संस्कार में वधू को स्थिरता के प्रतीक के रूप में दर्शन कराने के लिए होता है। मैत्रायणी उपनिषद् में ध्रुव का चलना (ध्रुवस्य प्रचलनम्) उद्धृत है, किन्तु इसका 'ध्रुव तारे की चाल' अर्थ न होकर किसी विशेष घटना से अभिप्राय है।

(२) पौराणिक गाथाओं में ऐतिहासिक पुरुष उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव से इस तारे का सम्बन्ध जोड़ा गया है। भगवान् विष्णु ने अपने भक्त ध्रुव को स्थायी ध्रुवलोक प्रदान किया था।

ध्रुवक्षेत्र—एक तीर्थ का नाम, जो मथुरा के पास यमुना के तट पर स्थित 'ध्रुव टीला' कहलाता है। यहाँ निम्बार्क सम्प्रदाय की एक गुरुगद्दी है।

ध्रुवदास—राधावल्लभी वैष्णव सम्प्रदाय के एक भक्त कवि, जो १६वीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। इनके रचे अनेक ग्रन्थ (वाणियाँ) हैं, जिनमें 'जीवदशा' प्रधान है।

ध्वज—(१) ऋग्वेद (७.८५,२;१०.१०३,११) में यह शब्द पताका के अर्थ में दो बार आया है। वैदिक युद्धों का यह प्रधान चिह्न है। उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में बाणों के छूटने तथा ध्वज पर गिरने का वर्णन है।

(२) देवताओं के चिह्न (निशान) अर्थ में भी ध्वज का प्रयोग होता है। प्रायः उनके वाहन ही ध्वजों पर प्रतिष्ठित होते हैं, यथा विष्णु का गरुड़ध्वज, सूर्य का अरुणध्वज, काम का मकरध्वज आदि।

ध्वजनवमी—पौष शुक्ल नवमी को इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है। इस तिथि को 'सम्बरी' कहा जाता है। इसमें चण्डिका देवी का पूजन होता है जो सिंहवाहिनी हैं एवं कुमारी के रूप में ध्वज को धारण करती हैं। मालती के पुष्प तथा अन्य उपचारों के साथ राजा को भगवती चण्डिका के मन्दिर में ध्वजारोहण करना चाहिए। इसमें कन्याओं को भोजन कराने का विधान है। स्वयं उपवास करने अथवा एकभक्त रहने की भी विधि है।

ध्वजव्रत—गरुड़, तालवृक्ष, मकर तथा हरिण भगवान् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के क्रमशः ध्वजचिह्न हैं। उनके वस्त्र तथा ध्वजों का वर्ण क्रमशः पीत, नील, श्वेत तथा रक्त है। इस व्रत में चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ तथा आषाढ़ में प्रतिदिन क्रमशः गरुड़ आदि ध्वजचिह्नों का उचित वर्ण के वस्त्रों तथा पुष्पों से पूजन होता है। चौथे मास के अन्त में ब्राह्मणों का सम्मान तथा उचित रंगों से रंजित वस्त्र प्रदान किये जाते हैं। चार-चार मासों में इस प्रकार इस व्रत का तीन बार अनुष्ठान किया जाता है। इसके अनुष्ठान से विभिन्न लोकों की प्राप्ति होती है। व्रताचरण के समय के हिसाब से व्रतकर्ता का लोकों में निवास होता है। यदि किसी व्यक्ति ने बारह वर्ष तक व्रत किया हो तो विष्णु भगवान् के साथ सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। विष्णुधर्म०, ३, १४६१-१४ में इसे चतुर्मूर्तिव्रत बतलाया है, उसी प्रकार हेमाद्रि, २. ८२९-८३१ में भी।

न

नकुल—(१) नकुल (नेवला) का उल्लेख अथर्ववेद (६.१३.९,५) में साँप को दो टुकड़ों में काटने और फिर जोड़ देने में समर्थ जन्तु के रूप में किया गया है। इसके सर्पविष निवारण के ज्ञान का भी उल्लेख है (ऋग्वेद, ८.७,२३)। यजुर्वेदसंहिता में इस प्राणी का नाम अश्वमेधीय बलिपशुओं की तालिका में है।

(२) पाण्डवों में से चौथे भाई का नाम नकुल है ।

नकुलीश पाशुपत—(नकुलीश शब्द में 'ल' को 'न' वर्णादेश) माधवाचार्य (चौदहवीं शती वि० का पूर्वार्द्ध) अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में तीन शैव सम्प्रदायों का वर्णन करते हैं—नकुलीश पाशुपत, शैवसिद्धान्त एवं प्रत्यभिज्ञा । उनके अनुसार आचार्य नकुलीश शङ्कर द्वारा वर्णित पाँच तत्त्वों की शिक्षा देते हैं—कार्य, कारण, भोग, विधि तथा दुःखान्त, जैसा कि 'पञ्चार्थविद्या' नामक ग्रन्थ में बतलाया गया है । 'लकुलिन्' का अर्थ है जो लकुल (गदा) धारण करता हो । पुराणाख्यानों के अनुसार शिव योगशक्ति से एक मृतक में प्रवेश कर गये तथा यह उनका लकुलीश अवतार कहलाया । यह घटनास्थल कायावरोहण या कारोहण (कायारोहण) कहलाता है जो गुजरात के लाट प्रदेश में है । लकुली द्वारा (जो सम्भवतः प्रथम शताब्दी ई० में पञ्चाध्यायी के रचयिता थे) स्थापित सिद्धान्तों से ही परवर्त्ती 'शैवसिद्धान्त' का जन्म हुआ ।

इस प्रधान शाखा में माधवाचार्य के मतानुसार शिव के साथ जीवात्मा के एकत्व प्राप्त करने की साधना की जाती है । पवित्र मन्त्रोच्चारण, ध्यान तथा सभी कर्मों से मुक्ति द्वारा पहले 'संञिद्' (वेदना) प्राप्त की जाती है । साधक योगाभ्यास से फिर अनेक रूप धारण करने तथा शव से सन्देश प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त करता है । गीत, नृत्य, हास्य, प्रेम सम्बन्धी संकेतों को जगाने, विमोहितावस्था में बोलने, राख लपेटने तथा मन्दिरों के फूलों को धारण करने एवं पवित्र मन्त्र 'हुम्' के दीर्घ उच्चारण से धार्मिक भक्ति भावना जगायी जाती है । कालामुखों की विधि (आचार) नकुलीश पाशुपत विधि से मिलती-जुलती है ।

नक्कीरदेव—इनका जीवनकाल पाँचवीं या छठी शताब्दी है । इस काल के तमिल शैवों के बारे में बहुत ही कम ज्ञात हुआ है । उनका कोई साहित्य प्राप्त नहीं है । नक्कीरदेव तमिल लेखक थे, जिन्होंने केवल एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तिरुमुरुत्तुप्पदइ' लिखा है । यह पद्य में है तथा 'मुरुइ' अथवा 'सुब्रह्मण्य' नामक देवता के सम्मान में रचा गया है ।

नक्तचतुर्थी—मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थी को इस व्रत का प्रारम्भ होता है, इसके देवता विनायक हैं । व्रती को नक्त भोजन पर आश्रित रहना चाहिए, तदनन्तर तिलमिश्रित खाद्य पदार्थों से व्रत की पारणा एक वर्ष पर्यन्त करनी चाहिए ।

नक्तव्रत—एक दिवारात्रि का व्रत । उस तिथि को इसका आचरण करना चाहिए जिस दिन वह तिथि सम्पूर्ण दिन तथा रात्रि में व्याप्त रहे (निर्णयामृत, १६-१७) । नक्त का तात्पर्य है 'दिन में पूर्ण उपवास किन्तु रात्रि में भोजन ।' नक्तव्रत एक मास, चार मास अथवा एक वर्ष तक बढ़ाया जा सकता है । श्रावण से माघ तक नक्त व्रत के लिए दे० लिङ्गपुराण (१.८३.३-५४); एक वर्ष तक नक्त व्रत के लिए दे० नारदपुराण (२.२.४३) ।

नक्षत्र—नक्षत्रों का वैदिक यज्ञों और अन्य धार्मिक कृत्यों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए ज्योतिष शास्त्र को वेदाङ्ग माना जाता है । नक्षत्र शब्द की उत्पत्ति अस्पष्ट है । इसके प्राथमिक अर्थ के बारे में भारतीय विद्वानों के विभिन्न मत हैं । शतपथ ब्राह्मण (२.१, २,१८-१९) इसका विच्छेद 'न + क्षत्र' (शक्तिहीन) कर उसकी व्याख्या एक कथा के आधार पर करता है । निरुक्त इसकी उत्पत्ति नक्ष् (प्राप्ति करना) धातु से मानता है और इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण का अनुकरण करता है । ऑफ्रेख्ट तथा वेबर इसे 'नक्त + त्र' (रात्रि के संरक्षक) से बना मानते हैं तथा आधुनिक लोग 'नक् + क्षत्र' (रात्रि के ऊपर अधिकार) इसका अर्थ करते हैं, जो अधिक मान्य लगता है और इस प्रकार इसका वास्तविक अर्थ 'तारा' ज्ञात होता है ।

ऋग्वेद के सूक्तों में इसका प्रयोग 'तारा' के रूप में हुआ है । परवर्त्ती संहिताओं में भी इसका यही अर्थ है, जहाँ सूर्य और नक्षत्र एक साथ प्रयुक्त हैं, अथवा सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्र या चन्द्र तथा नक्षत्र अथवा नक्षत्र अकेले प्रयुक्त है । किन्तु इसका अर्थ कहीं भी आवश्यक रूप से 'चन्द्रस्थान' नहीं है । किन्तु ऋग्वेद में कम-से-कम तीन नक्षत्र 'चन्द्रस्थान' के अर्थ में प्रयुक्त हैं । तिष्य का प्रयोग चन्द्रस्थान के रूप में नहीं ज्ञात होता, किन्तु अघाओं (बहुवचन) तथा अर्जुनियों (द्विवचन) के साथ इसका दूसरा ही अर्थ होता है । हो सकता है कि यहाँ वे परवर्ती 'चन्द्रस्थान' हों जिन्हें मघा (बहुवचन) तथा फल्गुनी (द्विवचन) कहा जाता हो । नामों का परिवर्तन ऋग्वेद में स्वतंत्रता से हुआ है । लुड्विग तथा जिमर ने ऋग्वेद में नक्षत्रों के २७ सन्दर्भ देखे हैं, किन्तु यह असंभव जान

पड़ता है और न तो रेवती (सम्पन्न) तथा पुनर्वसु (पुनः सम्पत्ति लाने वाला) नाम ही, जो अन्य ऋचा में प्रयुक्त हैं, नक्षत्रबोधक हैं ।

नक्षत्र—चन्द्रस्थान के रूप में—परवर्ती संहिताओं में अनेक परिच्छेदों में चन्द्रमा तथा नक्षत्र वैवाहिक सूत्र में बाँधे गये हैं । काठक तथा तैत्तिरीय संहिता में नक्षत्र-स्थानों के साथ सोम के विवाह की चर्चा है, किन्तु उसका (सोम का) केवल रोहिणी के साथ ही रहना माना गया है । चन्द्रस्थानों की संख्या दोनों संहिताओं में २७ नहीं कही गयी है । तैत्तिरीय में ३३ तथा काठक में कोई निश्चित संख्या उद्धृत नहीं है । किन्तु तालिका में इनकी संख्या २७ ही जान पड़ती है, जैसा कि तैत्तिरीय संहिता या अन्य स्थानों पर कहा गया है । २८ की संख्या अच्छी तरह प्रमाणित नहीं है । तैत्तिरीय ब्राह्मणों में 'अभिजित्' नवागन्तुक है, किन्तु मैत्रायणी संहिता तथा अथर्ववेद की तालिका में इसे मान्यता प्राप्त है । सम्भवतः २८ ही प्राचीन संख्या है और अभिजित् को पीछे तालिका से अलग कर दिया गया है, क्योंकि वह अधिक उत्तर में तथा अति मन्द ज्योति का तारा है । साथ ही २७ अधिक महत्त्वपूर्ण संख्या (३ × ३ × ३) भी है । ध्यान देने योग्य है कि चीनी 'सीऊ' तथा अरबी 'मानासिक' (स्थान) संख्या में २८ हैं । वेबर के मत से २७ भारत की अति प्राचीन नक्षत्र-संख्या है ।

संख्या का यह मान तब सहज ही समझ में आ जाता है जब हम यह देखते हैं कि महीने (चान्द्र) में २७ या २८ दिन (अधिकतर २७) होते थे । लाट्यायन तथा निदानसूत्र में मास में २७ दिन, १२ मास का वर्ष तथा वर्ष में ३२४ दिन माने गये हैं । नाक्षत्र वर्ष में एक महीना और जुड़ जाने से ३५४ दिन होते हैं । निदानसूत्र में नक्षत्र का परिचय देते हुए सूर्य (सावन) वर्ष में ३६० दिनों का होना बताया गया है, जिसका कारण सूर्य का प्रत्येक नक्षत्र के लिए १३$\frac{१}{३}$ दिन व्यय करना है (१३$\frac{१}{३}$ × २७ × ३६०) ।

नक्षत्रों के नाम—कृत्तिका, रोहिणी, मृगशीर्ष या मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, तिष्य या पुष्य, आश्लेषा, मघा, फाल्गुनी, फल्गू या फल्गुन्य अथवा फल्गुन्यो (दो नक्षत्र, पूर्व एवं उत्तर), हस्त, चित्रा, स्वाती या निष्ट्या, विशाखा, अनुराधा, रोहिणी, ज्येष्ठाग्नि या ज्येष्ठा, विक्रुतौ या मूल, आषाढा (पूर्व एवं उत्तर), अभिजित्, श्रोणा या श्रवण, श्रविष्ठा या धनिष्ठा, शतभिषक् या शतभिषा, प्रोष्ठपदा या भाद्रपदा (पूर्व एवं उत्तर), रेवती, अश्वयुजौ तथा अप (अव)भरणी, भरणी या भरण्या ।

नक्षत्रों का स्थान—वैदिक साहित्य में यह कुछ निश्चित नहीं है, किन्तु परवर्ती ज्योतिष शास्त्र उनका निश्चित स्थान बतलाता है ।

नक्षत्र तथा मास—ब्राह्मणों में नक्षत्रों से मास की तिथियों का बोध होता है । महीनों के नाम भी नक्षत्रों के नाम पर बने हैं : फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, प्रौष्ठपद, आश्वयुज, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष (तैष्य), माघ । वास्तव में ये चान्द्र मास ही हैं । किन्तु चान्द्र वर्ष का विशेष प्रचलन नहीं था । तैत्तिरीय ब्राह्मण के समय से इन चान्द्र मासों को सूर्यवर्ष के १२ महीनों के (जो ३० दिन के होते थे) समान माना जाने लगा था ।

नक्षत्रकल्प—अथर्ववेद के एक शान्तिप्रकरण का नाम 'नक्षत्रकल्प' है । इस कल्प में पहले कृत्तिकादि नक्षत्रों की पूजा और होम होता है । इसके पश्चात् अद्भुत-महाशान्ति, निर्ऋतिकर्म और अमृत से लेकर अभय पर्यन्त महाशान्ति के निमित्तभेद से तीन तरह के कर्म किये जाते हैं ।

नक्षत्रकल्पसूत्र—नक्षत्रकल्प को ही नक्षत्रकल्पसूत्र भी कहते हैं । दे० 'नक्षत्रकल्प' ।

नक्षत्र-तिथि-वार-ग्रह-योगसम्बन्धी व्रत—हेमाद्रि (२.५८८-५९०, कालोत्तर से) संक्षेप में कुछ विशेष (लगभग १६) पूजाओं का उल्लेख करते हैं, जो किन्हीं विशेष नक्षत्रों का किन्हीं विशेष तिथियों, सप्ताह के विशेष दिनों के साथ योग होने से की जाती हैं । उनमें से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं : यदि रविवार को चतुर्दशी हो तथा रेवती नक्षत्र हो अथवा अष्टमी और मघा नक्षत्र एक साथ पड़ जायँ तो मनुष्य को भगवान् शिव की आराधना करनी चाहिए तथा स्वयं तिलान्न खाना चाहिए । यह आदित्यव्रत है, जिससे व्रती अपने पुत्र तथा बन्धु-बान्धवों के साथ सुस्वास्थ्य प्राप्त करता है । यदि चतुर्दशी को रोहिणी नक्षत्र हो, अथवा अष्टमी चन्द्र सहित हो तो वह चन्द्रव्रत कहलाता है । उस दिन भगवान् शिव का पूजन किया जा सकता है । उन्हें नैवेद्य के रूप में दुग्ध तथा दधि अर्पित किया जाना चाहिए । व्रती स्वयं भी दुग्धाहार करे । उससे उसे सुख, समृद्धि,

स्वास्थ्य तथा सन्तानोपलब्धि होती है। जब गुरुवार को रेवती नक्षत्र हो और चतुर्दशी हो अथवा अष्टमी पुष्य नक्षत्रयुक्त हो तो यह 'गुरुव्रत' होता है। व्रती को गुरुव्रत के समय कपिला गौ का दूध तथा ब्राह्मी नामक ओषधि का रस सेवन करना चाहिए। इससे मनुष्य वाग्मी, शूर होता है। विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय ९०.१-१५) उस समय के कृत्य बतलाता है जब मार्गशीर्ष मास से कार्तिक मास तक की पूर्णिमाओं को वही नक्षत्र हों जिनके नाम से मासारम्भ होता है। दे० दानसागर, पृ० ६२२-६२६, जहाँ बिष्णुधर्म० को उद्धृत किया गया है।

नक्षत्रदर्श—यजुर्वेद में उद्धृत पुरुषमेध की बलिसूची में 'नक्षत्रदर्श' नामक एक ज्योतिषाचार्य का उल्लेख है। शतपथब्राह्मण में इस शब्द से एक नक्षत्र के चुनाव करने का बोध होता है, जिसमें सुषुप्त यज्ञाग्नि को पुनः जागृत किया जाता था।

नक्षत्रपुरुषव्रत—यह व्रत चैत्र मास में आरम्भ होता है। इसमें भगवान् वासुदेव की प्रतिमा के पूजन करने का विधान है। कुछ नक्षत्र, जैसे मूल, रोहिणी, अश्विनी आदि का सम्मान करना चाहिए, जब भगवान् के चरण, जंघा तथा घुटनों का क्रमशः पूजन किया जा रहा हो। इसी प्रकार भगवान् के विग्रह के किस अङ्ग के साथ किस नक्षत्र का नामाल्लेख हो यह भी निश्चित किया गया है। व्रतान्त में भगवान् हरि की प्रतिमा को गुड़ से भरे हुए कलश में विराजमान करके दान में देना चाहिए। इसके साथ वस्त्रों से आवृत पलंग भी दान में देना चाहिए। व्रती को अपनी सहधर्मिणी की दीर्घायु तथा चिरसंग के लिए भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए। व्रती को चाहिए कि तैल तथा लवण रहित भोजन ग्रहण करे।

नक्षत्रपूजाविधि—इस व्रत में नक्षत्रों के स्वामियों के रूप में देवगण का कटी हुई फसल से पूजन होना चाहिए। अश्विनीकुमार, यम तथा अग्नि क्रमशः अश्विनी, भरणी तथा कृत्तिका नक्षत्रों के स्वामी हैं। इनके पूजन से व्रती दीर्घायु, स्वातन्त्र्य, दुर्घटनाजन्य मृत्यु से मुक्ति, सुख-समृद्धि प्राप्त करने में समर्थ होता है। दे० वायुपुराण, ८०.१-३९; हेमाद्रि, २.५९४-५९७; कृत्यरत्नाकर, ५५७-५६०। उपर्युक्त ग्रन्थ नक्षत्रों के स्वामियों, उन पुष्पों तथा अन्यान्य सुगन्धित पदार्थों का उल्लेख करते हैं, जिनसे उनकी पूजा की जानी चाहिए। इससे प्राप्त होने वाले पुण्य एवं फलों की भी चर्चा की गयी है।

नक्षत्रवादावली—यह अप्पय दीक्षित द्वारा रचित व्याकरण-ग्रन्थ है। इसे 'पाणिनितन्त्रनक्षत्रवादमाला' भी कहते हैं। यह ग्रन्थ क्रोडपत्र के समान है। इसमें सत्ताईस सन्दिग्ध विषयों पर विचार किया गया है।

नक्षत्रविधिव्रत—यह व्रत मृगशिरा नक्षत्र को प्रारम्भ होता है। इसमें पार्वती के पूजन का विधान है। उनके चरणों की समानता मूल नक्षत्र से की गयी है। उनकी गोद की रोहिणी तथा अश्विनी से, उनके घुटनों तथा अन्य अवयवों की अन्य नक्षत्रों से तुलना की गयी है। प्रत्येक नक्षत्र में व्रती को उपवास रखना चाहिए। उस नक्षत्र की समाप्ति के समय व्रत की पारणा का विधान है। पृथक्-पृथक् नक्षत्रों को पृथक्-पृथक् भोजन ब्राह्मणों को कराना चाहिए। देवताओं को भी विभिन्न नक्षत्रों के समय भिन्न-भिन्न नैवेद्य तथा पुष्प अर्पित किये जाने चाहिए। इसके फलस्वरूप व्रती सौन्दर्य तथा सौभाग्य उपलब्ध करता है।

नगरकीर्तन—गाते-बजाते हुए नगर में धार्मिक शोभायात्रा करने को नगरकीर्तन कहा जाता है। महाप्रभु चैतन्य पर मध्व, निम्बार्क तथा विष्णुस्वामी के मतों का बड़ा प्रभाव था। वे जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति के गीत (भजन) बड़े प्रेम से गाया करते थे। उन्होंने माध्व आचार्यों से भी आगे बढ़कर विचारों तथा पूजा में राधा को स्थान दिया। वे अधिक समय अपने अनुयायियों को साथ लेकर राधा-कृष्ण की स्तुति (कीर्त्तन) करने में बिताते थे। उसमें (कीर्त्तन में) वे भक्तिभावना का ऐसा रस मिलाते थे कि श्रोता भावविभोर हो जाते थे। प्रायः वे कीर्त्तनियों की टोली के साथ बाहर सड़क पर पंक्ति बाँधे गाते हुए निकल पड़ते थे तथा इस संकीर्त्तन को नगर-कीर्तन का रूप देते थे। इस विधि का उनके मत के प्रसार में बड़ा योग था। आज भी अनेक भक्तमण्डलियाँ नगर-कीर्तन करती देखी जा सकती हैं। दूसरे धार्मिक सम्प्रदाय भी अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए नगरकीर्तन का सहारा लेते हैं। वे भजन गाते हुए नगर की सड़कों पर निकलते हैं। आर्यसमाज जैसा सुधारवादी समाज भी नगरकीर्तन में विश्वास करता है।

नचिकेता—तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.२,८) की प्रसिद्ध कथा में उसे वाजश्रवस का पुत्र तथा गोतम (–गोत्रज) बताया गया है। कठोपनिषद् (१.१) में नचिकेता का उल्लेख है। इस उपनिषद् में उसे आरुणि औद्दालकि अथवा वाजश्रवस का पुत्र कहा गया है। कठोपनिषद् वाली नचिकेता की कथा में श्रेय और प्रेय के बीच श्रेय का महत्त्व स्थापित किया गया है।

नञ्जनाचार्य—वीरशैव मत के आचार्य। इनका उद्भव काल १८वीं शताब्दी था। इन्होंने 'वेदसारवीरशैवचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

नडाडुरम्मल आचार्य—वरदाचार्य अथवा नडाडुरम्मल आचार्य वरद गुरु के पौत्र थे। सुदर्शनाचार्य के गुरु तथा रामानुजाचार्य के शिष्य और पौत्र जो वरदाचार्य या वरद गुरु थे, उन्हीं के ये पौत्र थे। अतएव इनका समय चौदहवीं शताब्दी कहा जा सकता है। वरदाचार्य ने 'तत्त्वसार' और 'सारार्थचतुष्टय' नामक दो ग्रन्थ रचे। तत्त्वसार पद्य में है और उसमें उपनिषदों के धर्म तथा दार्शनिक मत का सारांश दिया गया है। सारार्थचतुष्टय विशिष्टाद्वैतवाद का ग्रन्थ है। इसमें चार अध्याय हैं और चारों में चार विषयों की आलोचना है। पहले में स्वरूपज्ञान, दूसरे में विरोधी ज्ञान, तीसरे में शेषत्व ज्ञान चौथे में फलज्ञान की चर्चा है।

नदीत्रिरात्रव्रत—इस व्रत का अनुष्ठान उस समय होता है जब आषाढ़ के महीने में नदी में पूरी बाढ़ हो। उस समय व्रती को चाहिए कि एक कृष्ण वर्ण के कलश में नदी का जल भर ले और घर ले आये, दूसरे दिन प्रातः नदी में स्नान कर उस कलश की पूजा करे। तीन दिन वह उपवास करे अथवा एक दिन अथवा एक समय; एक दीप सतत प्रज्वलित रखे, नदी का नामोच्चारण करते हुए वरुण देवता का भी नाम ले तथा उन्हें अर्घ्य, फल तथा नैवेद्य अर्पण करे, तदनन्तर भगवान् गोविन्द की प्रार्थना करे। इस व्रत का आचरण तीन वर्ष तक किया जाय। तदनन्तर गौ आदि का दान करने का विधान है। इससे सुख, सौभाग्य तथा सन्तान की प्राप्ति होती है।

नदीव्रत—(१) इस व्रत को चैत्र शुक्ल में प्रारम्भ करके नक्त पद्धति से सात दिन आहार करते हुए सात नदियों—ह्लदिनी (अथवा नलिनी), ह्लादिनी, पावनी, सीता, इक्षु, सिन्धु और भागीरथी का पूजन करना चाहिए। एक वर्ष तक इसका अनुष्ठान किया जाता है। प्रति मास सात दिन तक यह नियम अनवरत चलना चाहिए। जल में दूध मिलाकर समर्पण करना चाहिए तथा एक जलपात्र में दूध भरकर दान करना चाहिए। व्रतान्त में फाल्गुन मास में ब्राह्मण को एक पल चाँदी दान में देनी चाहिए। दे० हेमाद्रि, २.४६२ : उद्धृत करते हुए विष्णुधर्म०, ३.१६३, १-७ को; मत्स्यपुराण, १२१, १४०-४१; वायुपुराण, ४७.३८-३९। उपर्युक्त पुराणों में गङ्गा की सात धाराओं के पूजन का विधान है।

(२) हेमाद्रि, ५.१.७९२ (विष्णुधर्म० से एक श्लोक उद्धृत करते हुए) के अनुसार सरस्वती नदी की पूजा करने से सात प्रकार के ज्ञान प्राप्त होते हैं।

नदीस्तुति—दिव्य तथा पार्थिव दोनों जलों को ऋग्वेद में अलग नहीं किया गया है। दोनों की उत्पत्ति एवं व्याप्ति एक-दूसरे में मानी गयी है। प्रसिद्ध 'नदीस्तुति' (ऋग्वेद, १०.७५) में उत्तर प्रदेश, पंजाब और अफगानिस्तान की नदियों का उल्लेख है। तालिका गङ्गा से प्रारम्भ होती है एवं इसका अन्त सिन्धु तथा उसकी दाहिनी ओर से मिलने वाली सहायक नदियों से होता है। सम्भवतः इस ऋचा की रचना गङ्गा-यमुना के मध्य देश में हुई जहाँ आजकल उत्तर प्रदेश का सहारनपुर जिला है। सरस्वती तथा सिन्धु दो भिन्न नदियाँ हैं। पंजाब की नदीप्रणाली की सबसे बड़ी नदी सिन्धु की प्रशंसा उसकी सहायक नदियों के साथ की गयी है। सिन्धु को यहाँ एक राजा तथा उसकी सहायक नदियां को उसके दोनों ओर खड़े सैनिकों के रूप में वर्णन किया गया है, जो उनको आज्ञा देता है।

ऋग्वेद की तीन ऋचाओं में अकेले सरस्वती की स्तुति है, जिसे माता, नदी एवं देवी (असुर्या) का रूप दिया गया है। कुछ विद्वान् सरस्वती-ऋचाओं को सिन्धु सम्बन्धी बताते हैं, किन्तु यह सम्भव नहीं है। इसे धातु कहा गया है, जिसके किनारे सेनाध्यक्ष निवास करते थे, जो शत्रुविनाशक (पारावतों के घातक) थे। सरस्वती के पूजने वालों को अपराध की दशा में दूर देश के कारागार में जाने से छूट मिलती थी। इसके तटवर्ती ऋषियों के आश्रमों में

अनेक ऋचाओं की रचना हुई तथा अनेक यज्ञ हुए। सरस्वती को अच्छी ऋचाओं तथा अच्छे विचारों की प्रेरणादायी समझकर ही परवर्त्ती काल में इसे ज्ञान एवं कला की देवी माना गया। पंजाब की दूसरी नदियों से सम्बन्ध स्थापित करते हुए इसे 'सात बहिनों वाली' अथवा सातों में से एक कहा गया है।

पार्थिव नदी होते हुए भी सरस्वती की उत्पत्ति स्वर्ग से मानी गयी है। वह पर्वत (स्वर्गीय समुद्र) से निकलती है। स्वर्गीय सिन्धु ही उसकी माता है। उसे 'पावीरवी' (सम्भवतः विद्युत्पुत्री) भी कहा गया है तथा आकाश के महान् पर्वत से उसका यज्ञ में उतरना बताया गया है। सरस्वती की स्वर्गीय उत्पत्ति ही गङ्गा की स्वर्गीय उत्पत्ति की दृष्टिदायक है। अन्त में सरस्वती को सन्तान वाली तथा उत्पत्ति की सहायक कहा गया है। वध्र्यश्व को दिवोदास का दान सरस्वती ने ही किया था। 'नदी-स्तुति' सूक्त से पता लगता है कि वैदिक धर्म का प्रचार मध्यदेश से पंजाब होते हुए अफ़गानिस्तान तक हुआ था।

नदीस्नान—नदी में स्नान करना पुण्यदायक कृत्य माना गया है। पवित्र नदियों के स्नान के पुण्यों के लिए दे० तिथितत्त्व, ६२-६४; पुरुषार्थचिन्तामणि, १४४-१४५; गदाधरपद्धति, ६०९।

नन्दगाँव—व्रजमंडल का प्रसिद्ध तीर्थ। मथुरा से यह स्थान ३० मील दूर है। यहाँ एक पहाड़ी पर नन्द बाबा का मन्दिर है। नीचे पामरीकुण्ड नामक सरोवर है। यात्रियों के ठहरने के लिए धर्मशाला हैं। भगवान् कृष्ण के पालक पिता से सम्बद्ध होने के कारण यह स्थान तीर्थ बन गया है।

नन्दपण्डित—विष्णुस्मृति के एक टीकाकार। नन्दपण्डित ने विष्णुस्मृति को वैष्णव ग्रन्थ माना है, जो किसी वैष्णव सम्प्रदाय, सम्भवतः भागवतों द्वारा व्यवहृत होता रहा है।

नन्दरामदास—महाभारत के प्रसिद्ध बँगला अनुवादक काशीरामदास के पुत्र। काशीरामदास के पीछे उनके पुत्र नन्दरामदास सहित दर्जनों नाम हैं, जिन्होंने महाभारत के अनुवाद की परम्परा जारी रखी थी।

नन्दा—प्रतिपदा, षष्ठी तथा एकादशी तिथियाँ नन्दा तिथियाँ हैं। नन्दा का अर्थ है 'आनन्दित करने वाली'। इन तिथियों में व्रत करने से आनन्द की प्राप्ति होती है।

नन्दाविविधि—रविवार के बारह नाम हैं, यथा नन्द, भद्र इत्यादि। माघ मास के शुक्ल पक्ष की षष्ठी को पड़ने वाला रविवार नन्द है। उस दिन रात्रि को भोजन करना चाहिए तथा सूर्य की प्रतिमा को घी में स्नान कराकर उस पर अगस्ति पुष्प चड़ाने चाहिए। तदनन्तर ब्राह्मणों को गेहूँ के पुए खिलाने चाहिए।

नन्दादिव्रतविधि—इस व्रत का प्रति रविवार को अनुष्ठान करना चाहिए। इसमें विधिवत् सूर्य की पूजा का विधान है। व्रती को सूर्यग्रहण के अवसर पर उपवास करते हुए महाश्वेता मन्त्र का जप करना चाहिए। तदनन्तर ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए। सूर्यग्रहण के दिन किये गये स्नान, दान तथा जप के अनन्त फल तथा पुण्य होते हैं।

नन्दादेवी—हिमालय में गढ़वाल जिले के बधाण परगने से ईशान कोण की ओर 'नन्दादेवी' पर्वतशिखर है। यह गौरीशङ्कर के बाद विश्व का सर्वोच्च शिखर है। नन्दा देवी इसमें विराजती हैं। भाद्र शुक्ल सप्तमी को यहाँ की (प्रति बारहवें वर्ष) यात्रा होती है। इसका आयोजन गढ़वाल का राजकुटुम्ब करता है। नन्दराय के गृह में उत्पन्न हुई नन्दादेवी ने असुरों को मारकर जिस कुण्ड में स्नान कर सौम्यरूपता पायी थी, वह यहाँ 'रूपकुण्ड' कहलाता है। संप्रति इस कुण्ड के कुछ रहस्यों की खोज हुई है।

नन्दानवमीव्रत—भाद्रपद कृष्ण पक्ष की नवमी (कृत्यकल्प-तरु द्वारा स्वीकृत) तथा शुक्ल पक्ष की नवमी (हेमाद्रि द्वारा स्वीकृत) नन्दा नाम से प्रसिद्ध हैं। वर्ष को तीन भागों में विभाजित करके तीनों भागों में वर्ष भर भगवती दुर्गा की पूजा करनी चाहिए। सप्तमी को एकभक्त (एक समय भोजन) तथा अष्टमी को उपवास करना चाहिए। दूर्वा घास पर भगवान् शिव तथा दुर्गा की प्रतिमाओं को स्थापित करके जाती तथा कदम्ब के पुष्पों से उनका पूजन करना चाहिए। रात्रि को जागरण तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के नाटकादि तथा १०८ बार नन्दामन्त्र (ओं नन्दायै नमः) के जप करने का विधान है। नवमी के दिन प्रातः चण्डिका देवी का पूजन करके कन्याओं को भोजन कराना चाहिए।

नन्दापवद्वयव्रत—इस व्रत में भगवती दुर्गा की पूजा स्वर्ण-पादुकाओं, आम्रपल्लवों, दूर्वादलों, अष्टकाओं तथा विल्वपत्रों से करनी चाहिए। एक मास तक यह अनुष्ठान चलता है। पादुकाओं को या तो किसी दुर्गाजी के भक्त को दान में दे देना चाहिए अथवा कन्या को। इस व्रत के आचरण से भक्त समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

नन्दाव्रत—श्रावण मास की तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, अष्टमी, नवमी, एकादशी अथवा पूर्णिमा को व्रतारम्भ करना चाहिए। एक वर्ष तक इस व्रत का अनुष्ठान होता है। व्रती नक्त पद्धति से आहार करता रहे। बारहों महीने भिन्न-भिन्न पुष्पों, नैवेद्यों तथा भिन्न-भिन्न नामों से देवी की पूजा करनी चाहिए। जप का मन्त्र यह है 'ओम् नन्दे नन्दिनि सर्वार्थसाधिनि नमः।' सौ बार अथवा सहस्र बार इसका जप करना चाहिए। इससे व्रती समस्त पापों से विनिर्मुक्त होकर राजपद प्राप्त करता है।

नन्दासप्तमी—मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी को यह व्रत प्रारम्भ होता है। यह तिथिव्रत एक वर्ष पर्यन्त चलता है। वर्ष के ४-४ मास के तीन भाग करके प्रत्येक भाग में पृथक्-पृथक् पुष्प, धूप, नैवेद्यादि से भिन्न-भिन्न नाम उच्चारण कर सूर्य का पूजन करना चाहिए। पञ्चमी को एकभक्त, षष्ठी को नक्त तथा सप्तमी को उपवास करने का विधान है।

नन्दिकोश्वर—एक वैयाकरण का नाम। 'मुग्धबोध' नामक व्याकरण बोपदेव द्वारा रचा गया है। बंगाल में इसका प्रचार है। इसकी बहुत-सी टीकाएँ हैं, जिनमें से चौदह के नाम मिलते हैं। 'काशीश्वर' और 'नन्दिकीश्वर' ने इस पर अपने-अपने परिशिष्ट लिखे हैं। नन्दिकीश्वर का परिशिष्ट ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुआ।

नन्दिकेश्वर—वीरशैव मत के एक आचार्य, जिनका प्रादुर्भाव अठारहवीं शती में हुआ। इन्होंने 'लिङ्गधारणचन्द्रिका' नामक पुस्तक बनायी, जो अर्धलिङ्गायत है।

नन्दिकेश्वर उपपुराण—प्रसिद्ध उन्तीस उपपुराणों में से एक 'नन्दिकेश्वर उपपुराण' भी है।

नन्दिग्राम—साकेत क्षेत्र के अन्तर्गत वैष्णव तीर्थ। अयोध्या से सोलह मील दक्षिण यह स्थान है। यहाँ श्री राम के वनवास के समय चौदह वर्ष का समय भरतजी ने तपस्या करते हुए व्यतीत किया था। यहाँ भरतकुण्ड सरोवर और भरतजी का मन्दिर है।

न्दिनीनवमीव्रत—मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की नवमी को इस तिथिव्रत का अनुष्ठान होता है। इसमे दुर्गाजी का पूजन करना चाहिए। छः-छः मास के वर्ष के दो भाग करके प्रत्येक भाग में तीन दिन उपवास करते हुए दुर्गाजी के पृथक्-पृथक् नाम लेकर पृथक्-पृथक् पुष्पों से पूजन करने का विधान है। इस व्रत के आचरण से व्रती स्वर्ग प्राप्त करता है और स्वर्ग से लौटकर शक्तिशाली राजा बनता है।

नन्दी—दिव्य (पवित्र) पशुओं में नन्दी की गणना की जाती है। नन्दी बैल शिव का वाहन है तथा धर्म के प्रतीक रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। शिवमन्दिरों के अन्तराल में प्रायः नन्दी की मूर्ति प्रतिष्ठित होती है। वास्तव में नन्दी (पशु) उपासक का प्रतीक है; प्रत्येक उपासक का प्रकृत्या पशुभाव होता है। पशुपति (शिव) की कृपा से ही उसके पाश (सांसारिक बन्धन) कटते हैं। अन्त में वह नन्दी (आनन्दयुक्त) भाव को प्राप्त होता है।

नमः शिवाय—'पञ्चाक्षर' नामक शैव मन्त्र। लिङ्गायत मतानुसार किसी लिङ्गायत के शिशु के जन्म पर पिता-माता गुरु को बुलाते हैं। गुरु बालक के ऊपर शिवलिङ्ग बाँधता है, शरीर पर विभूति लगाता है, रुद्राक्ष की माला पहनाता है तथा उक्त रहस्यमय मन्त्र की शिक्षा देता है। शिशु इस मन्त्र का ज्ञान ग्रहण करने में स्वयं असमर्थ होता है। अतएव गुरु द्वारा यह मन्त्र केवल उसके कान में ही पढ़ा जाता है।

नम्बि-आण्डार-नम्बि—ये महात्मा वैष्णवाचार्य नाथमुनि तथा चोलवंशीय राजा राजराज (१०४२-१०७५ वि०) के समकालीन थे। इन्होंने तमिल ऋचाओं (स्तुतिओं) के तीन संग्रहों को एक में संकलित कर उसका नाम तेवाराम (देवाराम) अर्थात् 'दैवी माला' रखा तथा राजराज की सहायता से इन पदों को द्राविड संगीत में स्थान दिलाया।

नम्मालवार—बारह तमिल आलवारों के नाम वैष्णव भक्तों में अति प्रसिद्ध हैं। ये अपने आराध्यदेव की मूर्ति को आँखों से देखने में ही आनन्द लेते थे तथा अपने स्तुतिगान के रूप में देवमूर्ति के सामने उसे उँडेलते थे। ये स्तुतिगान करते-करते कभी आत्मविभोर हो भूमि पर भी गिर जाते थे। तिरुमङ्गै तथा नम्मालवार इनमें सबसे बड़े माने गये हैं। नम्मालवार तो अति प्रसिद्ध हैं, ये आठवीं शताब्दी या उसके आस-पास हुए थे। दूसरे विद्वानों ने नम्मालवार

की विभिन्न तिथियाँ बतायी हैं। द्राविड वेदों के रचयिता भी नम्मालवार ही हैं।

नयद्युमणि—विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ। तृतीय श्रीनिवास (अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) ने अपने ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत मत का समर्थन तथा अन्य मतों का खण्डन किया है। उनके रचे ग्रन्थों में 'नयद्युमणि' भी एक है।

नयनादेवी—अम्बाला से आगे नंगल बाँध है, उससे १२ मील पहले आनन्दपुर साहब स्थान है। वहाँ से १० मील आगे मोटरबस जाती है। फिर १२ मील पैदल पर्वतीय चढ़ाई है। यहाँ नयना देवी का स्थान पर्वत पर है। यह सिद्धपीठ माना जाता है। श्रावण शुक्ल प्रतिपदा से नवमी तक यहाँ मेला लगता है।

नयनार—शैव भक्तों को तमिल में नयनार कहा जाता है। तमिल शैवों में गायक भक्तों का व्यक्तिवाचक नाम ही प्रसिद्ध है। ये वैष्णव आलवारों के ही समकक्ष हैं, किन्तु इनकी कुछ विशेष उपाधि नहीं है। दूसरे धार्मिक नेताओं के समान ये सामूहिक रूप से 'नयनार' कहलाते हैं। किन्तु जब इनके अलग दल का बोध कराना होता है तो ये 'प्रसिद्ध तीन' कहे जाते हैं।

नयनाराचार्य—एक वैष्णव वेदान्ती आचार्य। इन्होंने वेदान्ताचार्य के 'अधिकरणसारावली' नामक ग्रन्थ की टीका लिखी थी। आचार्य वरद गुरु इनके ही शिष्य थे।

नरकपूर्णिमा—प्रति पूर्णिमा अथवा मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को व्रतारम्भ करना चाहिए। एक वर्ष तक इसका अनुष्ठान होता है। उस दिन व्रती उपवास, भगवान् विष्णु की पूजा तथा उनके नाम का जप करे। अथवा भगवान् विष्णु के केशव से लेकर दामोदर तक बारह नामों का मार्गशीर्ष से प्रारम्भ कर वर्ष के बारहों मास तक क्रमशः जप करता रहे। प्रतिमास जलपूर्ण कलश, खड़ाऊँ, छाता तथा एक जोड़ी वस्त्रों का दान करे। वर्षान्त में इतना करने में असमर्थ हो तो केवल भगवान् का नाम ले। इससे उसको सुख प्राप्त होगा तथा मृत्यु के समय भगवान् हरि का नाम स्मरण रहेगा, जिससे सीधा स्वर्ग प्राप्त होगा।

नर-नारायण—(१) मनुष्य (नर) और नारायण (ईश्वर) की सनातन जोड़ी (युग्म) ही नर-नारायण नाम से अभिहित है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (४.६) में दोनों सखा-रूप से वर्णित हैं:

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

[दो पक्षी साथ साथ सखाभाव से एक ही विश्ववृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। उनमें से एक वृक्ष के फल खाता (और भोगफल पाता) है; दूसरा केवक साक्षी मात्र है।] इस रूपक में परमात्मा तथा आत्मा के सायुज्य का सनातनत्व वर्णित है।

(२) असमदेशीय शाक्त धर्म के इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि अनेक लोगों ने इस धर्म को छोटी जातियों या समुदायों से उस समय ग्रहण किया जब असम की घाटी पश्चिम में कोच तथा पूर्व में अहोम राजाओं द्वारा शासित थी। कोच राजाओं में से एक 'नरनारायण' था जिसकी मृत्यु १६४१ वि० में ५० वर्ष के शासन के पश्चात् हुई। उसके शासन काल में कोचों की शक्ति चरम सीमा पर पहुँची थी। इसका कारण था उसका वीर भाई सिलाराम, जो उसका सेनापति था। नरनारायण स्वयं नम्र तथा अध्ययनशील प्रकृति का था तथा हिन्दू धर्म के प्रचार में बहुत योगदान करता था। अन्य राजाओं की भाँति वह भी शाक्त था तथा उसने कामाख्या देवी का मन्दिर फिर से बनवाया, जो मुसलमानों द्वारा नष्ट कर दिया गया था। उसने धार्मिक क्रियाओं के पालनार्थ बङ्गाल से ब्राह्मण बुलाये। आज भी परवतिया गुसाँई (नवद्वीप का एक ब्राह्मण) यहाँ का प्रमुख पुजारी है। मन्दिर में नरनारायण तथा उसके भाई की दो प्रस्तर मूर्त्तियाँ वर्तमान हैं।

नर-नारायण आश्रम—बदरीनाथ के मन्दिर के पीछे वाले पर्वत पर नर-नारायण नामक ऋषियों का आश्रम है। विश्वास है कि यहाँ नर-नारायण विश्राम (तपस्या) करते हैं।

नरबलि—नरबलि अथवा नरमेध मूलतः एक प्रतीक अथवा रूपक था। इस का तात्पर्य था मनुष्य के अहंकार का परमात्मा के सम्मुख पूर्ण समर्पण। जब धर्म दुरूह और विकृत हो गया और आत्मसंयम के बदले दूसरों के माध्यम से पुण्यफल पाने की परम्परा चली तो अपने अहंकार के दमन के बदले मानव दूसरे मनुष्यों और पशुओं की बलि देने लगा। मध्य युग में यह विकृति बढ़ी हुई दृष्टिगोचर

होती है। पुराणों एवं तन्त्रों में, जो मध्यकाल के प्रारम्भिक चरण में रचे गये, अनेक स्थानों पर नरबलि की चर्चा है। यह बलि देवी चण्डिका के लिए दी जाती थी। कालिकापुराण में कहा गया है कि एक बार नरबलि देने से देवी चण्डिका एक हजार वर्ष तक प्रसन्न रहती हैं तथा तीन नरबलियों से एक लाख वर्ष तक। मालतीमाधव नाटक के पाँचवें अंक में भवभूति ने इस पूजा का वर्णन बड़े रोचक ढँग से उपस्थित किया है, जबकि अघोरी (अघोरघण्ट) द्वारा देवी चण्डिका के लिए नायिका की बलि देने की चेष्टा की गयी थी।

यह प्रथा क्रमशः निषिद्ध हो गयी। नरबलि मृत्युदण्ड का अपराध है। फिर भी दो चार वर्षों में कहीं न कहीं से इसका समाचार सुनाई पड़ जाता है।

संसार के कई अन्य देशों में नरबलि और नरभक्षण की प्रथाएँ अब तक पायी जाती रही हैं।

नरमेध—इसका शाब्दिक अर्थ है वह मेध (यज्ञ) जिसमें नर (मनुष्य) की बलि दी जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों मे इस यज्ञ का वर्णन मिलता है। यह एक रूपकात्मक प्रक्रिया थी। धर्म के विकृत होने पर यह कभी कभी यथार्थवादी रूप भी धारण कर लेती थी। कलि में कलिवर्ज्य के अन्तर्गत गोमेध, नरमेध आदि सभी अवांछनीय क्रियाएँ वर्जित हैं। दे० 'नरबलि'।

नरवैबोध—गुरु गोरखनाथ के रचे ग्रन्थों में से 'नरवैबोध' भी एक है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के खोज विवरणों में इसका उल्लेख पाया जाता है। इसमें आध्यात्मिक बोध का विवेचन है।

नरसाकेत—महात्मा चरणदास द्वारा रचे गये ग्रन्थों में से एक 'नर साकेत' भी है।

नरसिंह (नृसिंह)—विष्णु के अवतारों में से नरसिंह अथवा नृसिंह चौथा अवतार है। यह मानव और सिंह का संयुक्त विग्रह है। यह हिंसक मानव का प्रतीक है। दुष्टदलन में हिंसा का व्यवहार ईश्वरीय विधान में ही है अतः भगवान् विष्णु ने भी यह अवतार धारण किया। इस अवतार की कथा बहुत प्रचलित है। विष्णु ने दैत्य हिरण्यकशिपु का वध करने तथा भक्त प्रह्लाद के रक्षार्थ यह रूप धारण किया था। यह कथा वैदिक साहित्य तथा तैत्तिरीय आरण्यक (१०.१.६) में भी उद्धृत है। पुराणों में तो यह विस्तार से कही गयी है। दे० 'अवतार'।

नरसिंह आगम—रौद्रिक (शैव) आगमों में से एक 'नरसिंह आगम' भी है। इसका दूसरा नाम 'शर्वोक्त' या 'सवेत्तिर' भी है।

नरसिंहचतुर्दशी—वैशाख शुक्ल चतुर्दशी को नरसिंहचतुर्दशी कहते हैं। यह तिथिव्रत है। यदि उस दिन स्वाती नक्षत्र, शनिवार, सिद्धि योग तथा वणिज करण हो, तो उसका फल करोड़गुना हो जाता है। भगवान् नरसिंह इसके देवता हैं। हेमाद्रि, २.४१-४९ (नरसिंहपुराण से) तथा कई अन्य ग्रन्थों में इसे नरसिंहजयन्ती कहा गया है, क्योंकि इसी दिन भगवान् नरसिंह का अवतार हुआ था। उस दिन स्वाती नक्षत्र तथा सन्ध्या काल था। यदि यह त्रयोदशी अथवा पूर्णिमा से विद्ध हो तो जिस दिन सूर्यास्त को चतुर्दशी हो वह दिन ग्राह्य है। वर्षकृत्यदीपिका (पृ० १४५-१५३) में पूजा का एक लम्बा विधान दिया हुआ है।

नरसिंहत्रयोदशी—त्रयोदशी को पड़नेवाले गुरुवार के दिन इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इस दिन मध्याह्नोत्तर काल में भगवान् नरसिंह की प्रतिमा को स्नान कराकर उनकी पूजा करनी चाहिए। इसमें उपवास रखना अनिवार्य है।

नरसिंहद्वादशी—यह व्रत फाल्गुन कृष्ण द्वादशी के दिन मनाया जाता है। इस दिन उपवास करते हुए नृसिंह भगवान् की प्रतिमा का पूजन करना चाहिए। श्वेत वस्त्र से आवृत एक जलपूर्ण कलश स्थापित करना चाहिए। इस पर भगवान् नृसिंह की स्वर्ण, काष्ठ अथवा बाँस की प्रतिमा पधरानी चाहिए। इसी दिन पूजनोपरान्त उस प्रतिमा को किसी ब्राह्मण को दान में देना चाहिए। दे० हेमाद्रि, १.१०२९-३०, वाराहपुराण, ४१.१-७ तथा १४-१६ से उद्धृत। वाराहपुराण में कहा गया है कि यह व्रत शुक्ल पक्ष में किया जाय; जबकि हेमाद्रि, १.१०२९ में कृष्ण पक्ष में ही व्रत का विधान है। यह भेद क्षेत्रीय जान पड़ता है।

नरसिंहपुराण—उन्तीस उपपुराणों में यह भी एक है।

नरसिंह मेहता (नरसी)—गुजरात के एक सन्त-कवि। सारे भारत में धार्मिक भावों को व्यक्त करने की आवश्यकता ने सुबोध, सुललित और मनोहर वाङ्मय को जन्म दिया। हृदय के ऊँचे-ऊँचे और सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव और बुद्धि के सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार व्यक्त करने के लिए लोकभाषाओं

को महात्माओं की वाणियों ने सुधारा और सँवारा। राम और कृष्ण, विट्ठल और पाण्डुरंग के गुणगान के माध्यम से इन भाषाओं की शब्दशक्ति अत्यन्त बढ़ गयी और विमर्श की अभिव्यक्ति पर वक्ता का अच्छा अधिकार हो गया। धीरे-धीरे संस्कृत का स्थान प्रादेशिक भाषाओं ने लिया। विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में नरसी (नरसिंह) मेहता सौराष्ट्र देश में हुए, जिन्होंने अपने भक्तिपूर्ण एवं दार्शनिक पदों से गुजराती का भण्डार भरा। ये जूनागढ़ के निवासी थे। इन्होंने राधाकृष्ण की प्रेमलीलाविषयक तथा आत्मसमर्पण भाव की सुन्दर पदावली रची है।

नरसिंहाष्टमी अथवा नरसिंहव्रत—राजा, राजकुमार अथवा कोई भी व्यक्ति जो शत्रु का विनाश चाहता हो, इस व्रत का आचरण करे। अष्टमी के दिन वह अक्षत अथवा पुष्पों से अष्टदल कमल की रचना कर उस पर भगवान् नरसिंह की प्रतिमा विराजमान करे, तत्पश्चात् उसका पूजन करे तथा श्रीवृक्ष (बिल्व अथवा पीपल ?) की भी पूजा करे। दे० हेमाद्रि, १.८७६-८८० (गरुड़पुराण से)।

नरसी मेहता—दे० 'नरसिंह मेहता'।

नरसिंह यति—मुण्डकोपनिषद् के एक टीकाकार नरसिंह यति भी हैं।

नरसिंहसम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के विषय में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। किन्तु मध्यकाल तक नरसिंह सम्प्रदाय प्रचलित रहा। विजयनगर की नरसिंह की एक प्रस्तर मूर्ति इस बात को पुष्ट करती है कि विजयनगर राज्य इस सम्प्रदाय का पोषक था। पंजाब, कश्मीर, मुलतान क्षेत्रों भी में यह सम्प्रदाय प्राचीन काल में प्रचलित था। आज भी अनेक परिवार नरसिंह अवतार की ही पूजा-अर्चा करते हैं। 'नरसिंह उपपुराण' तेलुगु में १३०० ई० के लगभग अनुवादित हुआ था। इस सम्प्रदाय के आधारग्रन्थ निम्नांकित हैं :

(१) नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्, (२) नृसिंहउत्तरतापनीयोपनिषद्, (३) नृसिंह उपपुराण और (४) नृसिंहसंहिता।

नरसिंहस्तोत्र—यह नरसिंह सम्प्रदाय का एक पारायण ग्रन्थ है।

नरहरि—स्वामी रामानन्दजी की शिष्यपरम्परा में महात्मा नरहरि छठी पीढ़ी में हुए थे। रामचरितमानस के प्रसिद्ध रचयिता गोस्वामी तुलसीदास के ये गुरु थे। तुलसीदास ने इन्हीं से अपने बालपन में रामायण की कथा सुनी थी, जिसका प्रणयन स्वयं उन्होंने प्रौढावस्था में किया।

नरहरि—माण्डूक्योपनिषद् के एक भाष्यकार।

नरहरिदास—दे० 'नरहरि'।

नरहरि मालु—महाराष्ट्रीय भक्ति सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध महात्मा। यद्यपि इनके द्वारा कहे गये तुकाराम सम्बन्धी वृत्तान्त पर पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता, किन्तु कुछ मराठा लेखक इसका अनुसरण करते हैं। नरहरि मालु 'भक्तिकथामृत' नामक ग्रन्थ के रचयिता हैं।

नरहरियानन्द—स्वामी रामानन्दजी के बारह प्रसिद्ध शिष्यों में से नरहरियानन्द एक हैं। इनके बारे में 'भक्तमाल' में बड़ी रोचक कथा उद्धृत है। एक दिन कुछ साधु-सन्तों का भोजन पकाने के लिए कुल्हाड़ी लेकर ये लकड़ी जुटाने चले। जब कहीं लकड़ी न मिली तो देवी के मन्दिर का ही एक भाग कुल्हाड़ी से काट डाला। देवी ने उनसे कहा कि यदि तुम मन्दिर को नष्ट न करो तो मैं आवश्यकतापूर्ति भर की लकड़ी नित्य दिया करूँगी। देवी तथा नरहरियानन्द की यह घटना एक पुरुष देख रहा था। उसने कुल्हाड़ी उठायी और वह भी देवी से नरहरियानन्द के समान ही लकड़ी प्राप्त करने चला। ज्यों ही उसने मन्दिर के द्वार पर कुल्हाड़ी चलायी तभी देवी ने अवतीर्ण हो उसे आहत कर दिया। फिर जब गाँव के लोग उसे लेने आये तो उसे मरणासन्न पाया। देवी ने उसे फिर से जीवनदान इस शर्त पर दिया कि वह नित्य नरहरियानन्द को लकड़ी पहुँचाया करेगा।

नरैना—यह दादूपन्थ का एक प्रमुख केन्द्र है। दादूपन्थी मुख्य रूप से गृहस्थ एवं संन्यासी दो भागों में विभक्त हैं। गृहस्थ सेवक तथा संन्यासी ही दादूपन्थी कहलाते हैं। संन्यासी पाँच प्रकार के हैं—खालसा, नागा, उत्तराड़ी, विरक्त एवं खाकी। खालसा लोगों का केन्द्रस्थान 'नरैना' है जो जयपुर से चालीस मील दूर है।

नळ नैषध—शतपथ ब्राह्मण (२.२,२,१-२) में उद्धृत 'नळ नैषध' एक मानवीय राजा का नाम प्रतीत होता है, जिसकी तुलना उसकी विजयों के कारण यम (मृत्यु के देवता) से की गयी है। उसे दक्षिणाग्नि (यज्ञ) के तुल्य माना गया है और अधिक सम्भव है कि वह दक्षिण भारत का नरेश हो, जैसा कि यम का भी दक्षिण दिशा से ही सम्बन्ध है।

नवद्वीपधाम—बंगाल का प्रसिद्ध तीर्थ स्थान और प्राचीन विद्याकेन्द्र । चैतन्य महाप्रभु की जन्मभूमि होने से गौड़ीय वैष्णवों का यह महातीर्थ है । कलकत्ता से ६६ मील दूर नवद्वीप है, यहाँ कई धर्मशालाएँ हैं । दर्शनार्थी को निश्चित दक्षिणा देने पर मन्दिरों में दर्शनार्थ जाने दिया जाता है । यहाँ बहुत से दर्शनीय स्थान हैं, जैसे धामेश्वर, अद्वैताचार्य मन्दिर, गौरगोविन्द मन्दिर, शचीमाता-विष्णुप्रिया मन्दिर आदि । यहाँ प्रति वर्ष बहुत बड़ा वैष्णव समागम होता है ।

नवनक्षत्रशान्ति—नव नक्षत्रों के तुष्टीकरण के लिए उनकी पूजा करनी चाहिए । जन्मकालीन नक्षत्र जन्मनक्षत्र कहलाता है । चतुर्थ, दशम, षोडश, विंश, त्रयोविंश नक्षत्रों को क्रमशः मानस, कर्म, सांघातिक, समुदय तथा वैनाशिक कहा जाता है । सामान्य जन के लिए उपर्युक्त षट् नक्षत्र ही माननीय हैं, किन्तु राजाओं को तीन और अधिक मानने चाहिए । उदाहरण के लिए, राज्याभिषेक के समय का नक्षत्र, उसके राज्य पर शासन करने वाला नक्षत्र तथा उसका वर्णनक्षत्र । यदि ये नक्षत्र पापग्रहों से प्रभावित हों तो उसके परिणाम भी बुरे निकलते हैं । उपयुक्त धार्मिक कृत्यों से नक्षत्रों के कुप्रभावों को रोका जा सकता है अथवा कम किया जा सकता है ।

यह बात विशेष ध्यान में रखनी चाहिए कि वैखानस· गृह्यसूत्र, ४.१४; विष्णुधर्म०, २.१६६; नारद, १.५६, ३५८-५९ तथा वराहमिहिर की योगयात्रा, ९.१-२ आदि में इस बात में मतभेद है कि जन्म से कौन-कौन से नक्षत्र उपर्युक्त नामों को धारण करेंगे ।

नवनाथ—नाथ सम्प्रदाय के अन्तर्गत आरम्भकालिक नौ नाथ मुख्य कहे गये हैं । ये हैं गोरक्षनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, कारिननाथ, गहिनीनाथ, चर्पटनाथ, रेवणनाथ, नागनाथ, भर्तृनाथ (भर्तृहरि) और गोपीचन्द्रनाथ ।

नवनीत—वैदिक ग्रन्थों में नवनीत शब्द प्रायः उद्धृत हुआ है । ऐतरेय ब्राह्मण (१.३) के अनुसार यह मक्खन का वह प्रकार है जो आन्तरिक पवित्रताकारक होता है, जबकि देवता 'आज्य' को, मनुष्य 'घृत' को तथा पितरजन 'आयुत' को पसन्द करते हैं । तैत्तिरीय संहिता (२.३, १०, १) में इसका घृत तथा सर्पि नाम से भेद बताया गया है ।

नवनीतगणपति—गणपति के उपासकों का एक वर्ग । 'शङ्करदिग्विजय' में गाणपत्यों को छः शाखा-सम्प्रदायों में विभाजित किया गया है, जो गणपति के छः रूपों की पूजा करने के कारण उन रूपों के नाम से ही प्रसिद्ध हैं । उनमें से 'नवनीतगणपति' भी एक है ।

नवनीतधेनुदान—कार्तिकी अमावस्या को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । इसमें ब्रह्मा और सावित्री की पूजा करनी चाहिए । धेनु के नवनीत का कुछ अन्य फलों, सुवर्ण तथा वस्त्रों सहित दान करना चाहिए ।

नवमीरथव्रत—आश्विन शुक्ल नवमी को उपवास तथा दुर्गाजी का पूजन करना चाहिए । वस्त्रों, ध्वजा-पताकाओं, झण्डियों, दर्पणों, पुष्पमालाओं से सज्जित और सिंहाकृति से मण्डित देवीजी के रथ की पूजा करनी चाहिए । त्रिशूलधारिणी, महिषासुरमर्दिनी देवी की सुवर्णप्रतिमा को रथ में विराजमान करना चाहिए । यह त्रिशूल महिषासुर के शरीर में घुसा होना चाहिए । प्रधान सड़कों पर यह रथ निकालते हुए दुर्गाजी के मन्दिर तक रथ लाना चाहिए । आनन्द गीत, नृत्य, नाटकों, माङ्गलिक वाद्यों से रात्रि में जागरण करने का विधान है । दूसरे दिन प्रभात काल में देवी की प्रतिमा को स्नान कराकर दुर्गाजी के भक्तों को भोजन कराना चाहिए । दुर्गाजी को पलंग, वृषभ तथा गौ का दान करना चाहिए ।

नवमी के व्रत—दे० कृत्यकल्पतरु, २७३-३०८; हेमाद्रि, १.८८७-९६२; कालनिर्णय २२९-२३०; तिथितत्त्व, ५९-१०३; पुरुषार्थचिन्तामणि, १३९, १४२; व्रतराज, ३१९-३५२ । अष्टमीविद्धा नवमी को प्राथमिकता देनी चाहिए । तिथितत्त्व, ५९ तथा धर्मसिन्धु, १५ के अनुसार चैत्र शुक्ल नवमी को समस्त योगिनियों में से भद्रकाली को राजमुकुट पहनाया गया था । इसलिए सभी नवमियों को दुर्गाजी के भक्त को उपवास करके उनकी पूजा करनी चाहिए ।

नवरत्न—वल्लभाचार्य द्वारा रचित एक ग्रन्थ । इसकी गणना शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के आधारभूत ग्रन्थों में की जाती है ।

नवरात्र—शारदीय आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से नवमी तक और वासन्तिक चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से नवमी तक का समय 'नवरात्र' (नौ रात) कहलाता है । इसमें देवी के प्रीत्यर्थ उनकी स्तुति, पूजा, व्रत आदि किये जाते हैं । शार-

दीय नवरात्र में तो नवों दिन बड़ा ही उत्सव मनाया जाता है। विशेष कर षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी और नवमी को देवी की पूजा का अति माहात्म्य है। देवी की प्रतिमाओं का पूजन सारे देश में, विशेष कर वंगदेश में बड़ी धूमधाम से होता है। नवरात्र में 'दुर्गासप्तशती' का पाठ प्रायः देवीभक्त विशेषतया करते हैं।

नवरात्रि—दे० 'नवरात्र'।

नवव्यूहार्चन—शुक्ल पक्ष की किसी एकादशी अथवा आषाढ़ अथवा फाल्गुन की संक्रान्ति के दिन इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है। इस दिन भगवान् विष्णु की पूजा की जाती है। किसी सुन्दर स्थल पर ईशानमुखीय भगवान् विष्णु का मण्डप बनाना चाहिए। मण्डप में द्वार तथा इसके मध्य में कमल की आकृति अंकित होनी चाहिए। देवताओं के अष्ट आयुधों को आठों दिशाओं में अंकित करना चाहिए। यथा वज्र, शक्ति, गदा (यमराज की) खड्ग, वरुणपाश, ध्वज, गदा (कुबेर की) और त्रिशूल (शिवजी का)। भगवान् वासुदेव, संकर्षण, नारायण तथा वामन (जो भगवान् के ही व्यूह हैं) के लिए होम करना चाहिए।

नवान्नभक्षण—नयी फसल आने पर नव धान्य का ग्रहण करना नवान्नभक्षण कहलाता है। सूर्य के वृश्चिक राशि के १४ अंश में प्रवेश करने से पूर्व इसका अनुष्ठान होना चाहिए। दे० कृत्यसारसमुच्चय, २७। नीलमतपुराण (पृ० ७२, पद्य ८८०-८८८) में इस समारोह का वर्णन मिलता है। इसमें गीत, संगीत, वेदमन्त्रादि का उच्चारण तथा ब्रह्मा, अनन्त (शेष) तथा दिक्पालों का पूजन होना चाहिए।

नव्यन्याय—वैदिक, बौद्ध और जैन नैयायिकों के बीच विक्रम की पाँचवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक बराबर विवाद चलता रहा। इससे खण्डन-मण्डन के अनेक ग्रन्थ बने। चौदहवीं शताब्दी में गङ्गेश उपाध्याय हुए, जिन्होंने 'नव्य न्याय' की नींव डाली। प्राचीन न्याय में प्रमेय आदि जो सोलह पदार्थ थे उनमें से और सबको किनारे करके केवल 'प्रमाण' को लेकर ही भारी शब्दाडम्बर खड़ा किया गया। इस नव्य न्याय का आविर्भाव मिथिला में हुआ। मिथिला से नवद्वीप (नदिया) में जाकर नव्य न्याय ने और भी विशाल रूप धारण किया। न उसमें तत्त्वनिर्णय रहा, न तत्त्वनिर्णय की सामर्थ्य। केवल तर्क-वितर्क का घोर विस्तार हुआ। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रमाण के विशेष अध्ययन का यह अद्भुत उपक्रम है।

नाक—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३.१३, ५) में 'नाक' एक आचार्य का नाम है। सम्भवतः ये नाक, शतपथ ब्राह्मण (१२.५, २, १,), बृहदारण्यक उपनिषद् (६.४, ४) तथा तैत्तिरीय उपनिषद् (१.९, १) में उद्धृत नाक मौद्गल्य (मुद्गल के वंशज) से अभिन्न हैं।

नाक्र—यजुर्वेद संहिता में उद्धृत अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी बलिपशु तालिका में नाक्र नामक एक जलीय जन्तु का नामोल्लेख भी है। सम्भवतः इस पशु का नाक अर्थ है, जिसे पीछे संस्कृत में 'नक्र' कहा गया।

नाग—शतपथ ब्राह्मण में यह शब्द एक बार (११.२, ७, १२) महानाग के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। बृहदारण्यक उपनिषद् (१,३, २४) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (८.२१) में स्पष्ट रूप से इसका अर्थ 'सर्प' है। सूत्रों में पौराणिक 'नाग' का भी उल्लेख है जिसकी पूजा होती थी। नाग अथवा सर्प-पूजा हिन्दू धर्म का एक अङ्ग है जो अन्य कई धर्मों में भी किसी न किसी रूप में पायी जाती है। चपलता, शक्ति और भयंकरता के कारण नाग ने मनुष्य का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। कई जातियों और वंशों ने 'नाग' को अपना धर्मचिह्न स्वीकार किया है। कुछ जातियों में नाग (सर्प) अवध्य समझा जाता है।

नामतृतीया—(१) यह व्रत मार्गशीर्ष शुक्ल तृतीया को आरम्भ होता है और तिथिव्रत है। यह एक वर्ष तक चलता है। प्रतिमास गौरी के बारह नामों में से एक नाम लेते हुए उनका पूजन करना चाहिए। नाम ये हैं—गौरी, काली, उमा, भद्रा, दुर्गा, क्रान्ति, सरस्वती, मंगला, वैष्णवी, लक्ष्मी, शिवा और नारायणी। ऐसा विश्वास है कि इससे स्वर्गप्राप्ति होती है।

(२) भगवान् महेश्वर की अर्धनारीश्वर रूप में पूजा करनी चाहिए। इससे व्रती को कभी भी पत्नी वियोग नहीं भोगना पड़ता। अथवा हरिहर की प्रतिमा का केशव से दामोदर तक बारह नाम लेते हुए पूजन प्रति मास करना चाहिए।

नागदेवभट्ट—विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में सन्त चक्रधर ने मानभाउ सम्प्रदाय का जीर्णोद्धार किया।

उनके पश्चात् सन्त नागदेव भट्ट हुए जो यादवराज रामचन्द्र और सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन थे । यादवराज रामचन्द्र का समय संवत् १३२८-१३६३ है । सन्त नागदेव भट्ट ने इस पन्थ का अच्छा प्रचार किया था ।

नामद्वादशी—मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । इस दिन उपवास करना चाहिए । यह तिथिव्रत है । व्रती को विष्णु भगवान् के बारह नामों में से एक नाम लेना चाहिए, यथा नारायण नाम मार्गशीर्ष तथा पौष में, माधव नाम माघ में; इसी प्रकार से कार्तिक तक दामोदर नाम । वर्ष के अन्त में बछड़े वाली गौ, चन्दन, वस्त्रों आदि को दान में देना चाहिए । विश्वास किया जाता है कि इसके अनुष्ठान से व्रती विष्णुलोक को जाता है ।

नागनाथ—नाथ सम्प्रदाय के नौ नाथों में से नागनाथ भी एक हैं । इनके सम्बन्ध में ऐतिहासिक रूप से कुछ विशेष ज्ञात नहीं है ।

नागपञ्चमी—सर्पपूजा के त्योहारों में नागपञ्चमी सबसे प्रमुख है । दक्षिण भारत में इसे 'नागरपञ्चमी' कहते हैं । यह त्योहार श्रावण शुक्ल पञ्चमी को मनाया जाता है । इसे वर्षाऋतु में मनाये जाने का कारण नागों की वर्षा देने की शक्ति से सम्बन्धित प्रतीत होता है । दक्षिण भारत में इस दिन सर्पविवरों पर फूल, सुगन्ध आदि चढ़ाते हैं तथा दूध ढारते हैं । वृक्षों के नीचे स्थापित नागमूर्तियों के दर्शन किये जाते हैं । त्योहार के दिन इन मूर्तियों पर दूध, दही आदि चढ़ाया जाता है । मध्यभारत में श्रावण मास के किसी विशेष दिन एक पुरुष नागमन्दिर में जाकर वहाँ पिट्टा खाकर लौटता है । यदि ऐसा न किया जाय तो सारा परिवार काले नागों से आक्रान्त किया जाता है, ऐसा विश्वास है । इस दिन घर की दीवारों पर नागचित्र अंकित कर उसकी पूजा होती है तथा घर की बुढ़िया इस पूजा के प्रारम्भ होने की कथा सुनाती है । उत्तर प्रदेश के पर्वतीय भागों में इस दिन शिव की पूजा 'रिखेश्वर' के रूप में की जाती है । शिव को नागों से घिरा मानते हैं तथा उनके सिर पर नागछत्र रहता है ।

इस दिन नाग की पूजा दूध-लाजा से होती है । इसका उद्देश्य यह होता है कि नाग अथवा सर्प सन्तुष्ट होकर किसी जीवधारी को काटे नहीं । यह दिन मल्लों का खास त्योहार होता है । अखाड़ों में पहलवान इकट्ठे होते हैं और अपने-अपने करतब दिखाते हैं । नागपञ्चमी के दिन नागपूजा ही यद्यपि इस त्योहार की मुख्यता है, तथापि कुश्ती और मल्लों के खेल विशेष आकर्षण रखते हैं । लड़कियाँ गुड़िया का खेल भी करती हैं और उनका किसी सरोवर अथवा नदी में प्रवाह कर देती हैं ।

नागपूजा—मार्गशीर्ष शुक्ल पञ्चमी को इस पूजा का अनुष्ठान होता है । स्मृतिकौस्तुभ (४२९) के अनुसार यह पूजा दाक्षिणात्यों में विशेष रूप से प्रचलित है ।

नागमैत्रीपञ्चमी—इस तिथि के व्रतकर्ता को कडुए तथा खट्टे पदार्थों का सेवन छोड़ देना चाहिए तथा नागप्रतिमाओं को दूध में स्नान कराना चाहिए । इस अनुष्ठान से नागों से उसकी मैत्री हो जाती है ।

नागवंशी—मध्य प्रदेश के मुआसी तथा नागवंशी अपने को सर्पपूर्वजों के वंशज मानते हैं । बम्बई के नापित (नाऊ) अपने को शेष (अनन्त, शेष) का वंशज बतलाते हैं । निमाड़ जिले के कुछ नागर ब्राह्मण अपने को ब्राह्मण पिता तथा नाग माता से उत्पन्न मानते हैं । इसी कारण कुछ ब्राह्मण उनका पकाया हुआ भोजन नहीं खाते । ये ब्राह्मण अपनी स्त्रियों को 'नागकन्या' कहते हैं । बरमा में कुछ ऐसे लोग हैं जो अपने को सर्प के अण्डे से उत्पन्न बतलाते हैं । गन्धमाली लोग काले नाग को अपना पूर्वज मानते हैं और इसी कारण नागपञ्चमी पर्व को विशेष रूप से मनाते हैं तथा उस दिन पका भोजन नहीं करते । मद्रास के वेल्लाल अपने को नागकन्या से उत्पन्न मानते हैं । छोटा नागपुर का शासक परिवार अपनी उत्पत्ति पुण्डरीक नाग से बतलाता है । इस प्रकार कई जातियाँ और वंश अपने को नागवंशी कहते हैं और नागों की पूजा करते हैं ।

नागव्रत—(१) कार्तिक शुक्ल चतुर्थी को इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है । इस दिन उपवास करना चाहिए । शेष, शङ्खपाल तथा अन्यान्य नागों का पुष्प, चन्दन आदि से पूजन करना चाहिए । प्रातःकाल तथा मध्याह्न में दूध से उनको स्नान कराना तथा दुग्ध पान कराना चाहिए । तत्पश्चात् उनका पूजन करना चाहिए । फल यह होता है कि सर्प कभी हानि नहीं पहुँचाते ।

(२) पञ्चमी को नागमूर्तियों का कमलपत्रों, मन्त्रों तथा पुष्पों से पूजन करते हुए घी, दूध, दही, मधु की धाराओं को छोड़ना चाहिए । इसके पश्चात् होम करना चाहिए ।

इससे विषों से मुक्ति तो होती ही है, साथ ही पुत्र, पत्नी तथा सौभाग्य की भी उपलब्धि होती है ।

नागरसेन—एक देवविशेष का नाम । उत्तर प्रदेश में काछी एक कृषक जाति है । ये मुख्यतः शाक्त होते हैं तथा दुर्गा के शीतला रूप की पूजा करते हैं । ये कुछ छोटे देवताओं की भी उपासना करते हैं, जो विपत्तियों से रक्षा करने तथा उनकी खेती को बढ़ाने वाले माने जाते हैं । ऐसे ही उनके छोटे देवों में से एक देवता 'नागरसेन' है । यह बीमारियों का नियन्त्रण करता है । इसका सम्वन्ध भी नाग से ही जान पड़ता है ।

नागा—यह संस्कृत 'नग्न' का तद्भव रूप है । प्राचीन अवधूत मुनि कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभदेव आदि के आदर्श पर चलनेवाले चतुर्थाश्रमी साधु-संत, जो त्याग की पराकाष्ठा के अनुरूप वस्त्र तक धारण नहीं करते, नागा कहे जाते हैं । मध्यकाल में अपनी परम्परा के रक्षार्थ ऐसे साधु 'जमात' के रूप में संगठित हो गये और इनके शस्त्रधारी दल बन गये, जो अपने मठ-मन्दिरों के रक्षार्थ खूनी संघर्ष से भी विमुख न होते थे । आगे चलकर ये लोग शैव-वैष्णव के रूप में स्ववर्ग के ही परस्पर शत्रु हो गये । अविवेकवश इनके दल पिछले युग में मराठा, निजाम, राजपूत, अवध के नवाब आदि के पक्ष से युद्धव्यवसायी के रूप में लड़ते हुए राजनीतिक पाशा पलट देते थे ।

आजकल नागा साधु दसनामी गुसाँईं, बैरागी, दादूपंथी आदि जमातों के अन्तर्गत रहते हैं और हरिद्वार, प्रयाग आदि के कुम्भमेलों में हाथी, घोड़े, छत्र, चमर, ध्वजा आदि से सज्जित होकर अपने राजसी अभियान का प्रदर्शन करते हैं ।

नागा साधु—दे० 'नागा' ।

नागेश—नागेश भट्ट सत्रहवीं शताब्दी में हुए थे । ये शब्दाद्वैत के कट्टर प्रतिपादक हैं । इस सिद्धान्त का सर्वाङ्गीण विवेचन इन्होंने अपने ग्रन्थ 'वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा' में किया है । ये व्याकरण के उद्भट विद्वान् होते हुए साहित्य, दर्शन, धर्मशास्त्र, मन्त्रशास्त्र आदि के भी विचक्षण ग्रन्थकार थे । पतञ्जलि के महाभाष्य और भट्टोजि दीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी पर रची गयी इनकी व्याख्याएँ गम्भीरता के कारण मौलिक ग्रन्थ जैसी ही मानी जाती हैं ।

नागेश, उपनाम नागोजी भट्ट काले महाराष्ट्रीय थे और शास्त्रचिन्तन में निमग्न रहने के कारण काशी से बाहर न जाने का नियम ग्रहण किये हुए थे । इनको इस बीच जयपुरनरेश महाराज सवाई जयसिंह ने अपने अश्वमेध यज्ञ के अग्रपण्डित के रूप में आमन्त्रित किया था, किन्तु इन्होंने इस संमान्य आतिथ्य को 'क्षेत्रसंन्यास' के कारण अस्वीकार कर दिया ।

नागेश्वर—काशी में शिव महादेव की पूजा 'नागेश्वर' के रूप में भी होती है । सर्प उनकी मूर्ति में लिपटे दिखाये जाते हैं ।

नाथदेव—सर्वप्रथम वेदान्ती भाष्यकार विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैतवाद का प्रचार किया । उनके शिष्य का नाम ज्ञानदेव था । ज्ञानदेव के शिष्य नाथदेव और त्रिलोचन थे ।

नाथद्वारा—मेवाड़ (राजस्थान) का प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ । यहाँ का मुख्य मन्दिर श्रीनाथजी का है । यह वल्लभ सम्प्रदाय का प्रधान पीठ है । भारत के प्रमुख वैष्णव पीठों में इसकी भी गणना है । श्रीनाथजी के मन्दिर के आसपास ही नवनीतलालजी, विट्ठलनाथजी, कल्याणरायजी, मदनमोहनजी और वनमालीजी के मन्दिर तथा महाप्रभु हरिरायजी की बैठक है । एक मन्दिर मीराबाई का भी है । श्रीनाथजी के मन्दिर में हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थों का सुन्दर पुस्तकालय भी है । नाथद्वारा पीठ का एक विद्याविभाग भी है, जहाँ से सम्प्रदाय के ग्रन्थों का प्रकाशन होता है ।

नाथमुनि (वैष्णवाचार्य)—विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के आचार्यों की परम्परा का क्रम इस प्रकार माना जाता है—भगवान् श्री नारायण ने जगज्जननी श्री महालक्ष्मी को उपदेश दिया, दयामयी माता से वैकुण्ठपार्षद त्रिष्वक्सेन को उपदेश मिला, उनसे शठकोप स्वामी को, उनसे नाथमुनि को, नाथमुनि से पुण्डरीकाक्ष स्वामी को, इनसे राममिश्र को और राममिश्र से यामुनाचार्य को यह उपदेश प्राप्त हुआ ।

'नाथमुनि' श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य हो गये हैं । ये लगभग ९६५ विक्रमाब्द में वर्तमान थे । इनके पुत्र ईश्वरमुनि छोटी अवस्था में ही परलोक सिधार गये । ईश्वरमुनि के पुत्र यामुनाचार्य थे । पुत्र की मृत्यु के बाद नाथमुनि ने सन्यास ले लिया और मुनियों की तरह विरक्त जीवन बिताने लगे । इसी कारण इनका नाम नाथमुनि पड़ा । कहते हैं कि उन्होंने योग में अद्भुत

सिद्धियाँ प्राप्त की थीं और इसी कारण वे योगीन्द्र कहलाते थे ।

नाथमुनि ने नम्मालवार तथा अन्य आलवारों की स्तुतियों को संग्रह कर एक-एक हजार छन्दों के चार वर्गों में विभक्त किया तथा इन्हें द्रविड़गीतों के स्वर-ताल में बाँधा । सम्पूर्ण ग्रन्थ 'नालाभिर प्रबन्धम्' अथवा चार हजार स्तुतियों का ग्रन्थ कहलाता है । त्रिचनापल्ली के श्रीरङ्गम् मन्दिर में नियमित रूप से इन स्तुतियों के गान की व्यवस्था करने में भी ये सफल हुए । यह प्रथा अन्य मन्दिरों में भी प्रचलित हुई तथा आज बड़े-बड़े मन्दिरों में इनकी प्रचारित शैली में स्तुतियों का पाठ होता है ।

ये धार्मिक नेता एवं आचार्य भी थे । इनकी देखरेख में एक विद्यावंश का जन्म हुआ जिसके अन्तर्गत कई संस्कृत तथा तमिल विद्वान् श्रीरङ्गम् में हुए । इस वर्ग का प्रधान कार्य 'नालाभिर प्रबन्धम्' का पठन था । अनेक भाष्य इस पर रचे गये । 'न्यायतत्त्व' तथा 'योगरहस्य' नामक दो और ग्रन्थ इनके रचे कहे जाते हैं ।

नाथसम्प्रदाय—जब तान्त्रिकों और सिद्धों के चमत्कार एवं अभिचार बदनाम हो गये, शाक्त मद्य, मांसादि के लिए तथा सिद्ध, तान्त्रिक आदि स्त्री-सम्बन्धी आचारों के कारण घृणा की दृष्टि से देखे जाने लगे तथा जब इनकी यौगिक क्रियाएँ भी मन्द पड़ने लगीं, तब इन यौगिक क्रियाओं के उद्धार के लिए ही उस समय नाथ सम्प्रदाय का उदय हुआ । इसमें नव नाथ मुख्य कहे जाते हैं : गोरक्षनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, कारिणनाथ, गहिनीनाथ, चर्पटनाथ, रेवणनाथ, नागनाथ, भर्तृनाथ और गोपीचन्द्रनाथ । गोरक्षनाथ ही गोरखनाथ के नाम से प्रसिद्ध हैं । दे० 'गोरखनाथ' ।

इस सम्प्रदाय के परम्परासंस्थापक आदिनाथ स्वयं शङ्कर के अवतार माने जाते हैं । इसका सम्बन्ध रसेश्वरों से है और इसके अनुयायी आगमों में आदिष्ट योग साधन करते हैं । अतः इसे अनेक इतिहासज्ञ शैव सम्प्रदाय मानते हैं । परन्तु और शैवों की तरह ये न तो लिङ्गार्चन करते हैं और न शिवोपासना के और अङ्गों का निर्वाह करते हैं । किन्तु तीर्थ, देवता आदि को मानते हैं, शिवमन्दिर और देवीमन्दिरों में दर्शनार्थ जाते हैं । कैला देवीजी तथा हिंगलाज माता के दर्शन विशेषतः करते हैं, जिससे इनका शाक्त सम्बन्ध भी स्पष्ट है । योगी भस्म भी रमाते हैं, परन्तु भस्मस्नान का एक विशेष तात्पर्य है—जब ये लोग शरीर में श्वास का प्रवेश रोक देते हैं तो रोमकूपों को भी भस्म से बन्द कर देते हैं । प्राणायाम की क्रिया में यह महत्त्व की युक्ति है । फिर भी यह शुद्ध योगसाधना का पन्थ है । इसीलिए इसे महाभारत काल के योगसम्प्रदाय की परम्परा के अन्तर्गत मानना चाहिए । विशेषतया इसलिए कि पाशुपत सम्प्रदाय से इसका सम्बन्ध हलका सा ही देख पड़ता है । साथ ही योगसाधना इसके आदि, मध्य और अन्त में है । अतः यह शैव मत का शुद्ध योग सम्प्रदाय है ।

इस पन्थ वालों की योग साधना पातञ्जल विधि का विकसित रूप है । उसका दार्शनिक अंश छोड़कर हठयोग की क्रिया जोड़ देने से नाथपन्थ की योगक्रिया हो जाती है । नाथपन्थ में 'ऊर्ध्वरेता' या अखण्ड ब्रह्मचारी होना सबसे अधिक महत्त्व की बात है । मांस-मद्यादि सभी तामसिक भोजनों का पूरा निषेध है । यह पन्थ चौरासी सिद्धों के तान्त्रिक वज्रयान का सात्त्विक रूप में परिपालक प्रतीत होता है ।

उनका तात्त्विक सिद्धान्त है कि परमात्मा 'केवल' है । उसी परमात्मा तक पहुँचना मोक्ष है । जीव का उससे चाहे जैसा सम्बन्ध माना जाय, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उससे सम्मिलन ही कैवल्य मोक्ष या योग है । इसी जीवन में इसकी अनुभूति हो जाय, पन्थ का यही लक्ष्य है । इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रथम सीढ़ी काया की साधना है । कोई काया को शत्रु समझकर भाँति-भाँति के कष्ट देता है और कोई विषयवासना में लिप्त होकर उसे अनियंत्रित छोड़ देता है । परन्तु नाथपंथी काया को परमात्मा का आवास मानकर उसकी उपयुक्त साधना करता है । काया उसके लिए वह यन्त्र है जिसके द्वारा वह इसी जीवन में मोक्षानुभूति कर लेता है, जन्म-मरण-जीवन पर पूरा अधिकार कर लेता है, जरा-मरण-व्याधि और काल पर विजय पा जाता है ।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह पहले काया शोधन करता है । इसके लिए वह यम, नियम के साथ हठयोग के षट् कर्म (नेति, धौति, वस्ति, नौलि, कपालभाति और त्राटक) करता है कि काया शुद्ध हो जाय । यह नाथपन्थियों का अपना आविष्कार नहीं है; हठयोग पर

लिखित 'घेरण्डसंहिता' नामक प्राचीन ग्रन्थ में वर्णित सात्त्विक योग प्रणाली का ही यह उद्धार नाथपंथियों ने किया है ।

इस मत में शुद्ध हठयोग तथा राजयोग की साधनाएँ अनुशासित हैं । योगासन, नाड़ी ज्ञान, षट्चक्र निरूपण तथा प्राणायाम द्वारा समाधि की प्राप्ति इसके मुख्य अंग हैं । शारीरिक पुष्टि तथा पंच महाभूतों पर विजय की सिद्धि के लिए रसविद्या का भी इस मत में एक विशेष स्थान है । इस पन्थ के योगी या तो जीवित समाधि लेते हैं या शरीर छोड़ने पर उन्हें समाधि दी जाती है । वे जलाये नहीं जाते । यह माना जाता है कि उनका शरीर योग से ही शुद्ध हो जाता है, उसे जलाने की आवश्यकता नहीं । नाथपंथी योगी अलख (अलक्ष) जगाते हैं । इसी शब्द से इष्टदेव का ध्यान करते हैं और इसी से भिक्षाटन भी करते हैं । इनके शिष्य गुरु के 'अलक्ष' कहने पर 'आदेश' कहकर सम्बोधन का उत्तर देते हैं । इन मन्त्रों का लक्ष्य वही प्रणवरूपी परम पुरुष है जो वेदों और उपनिषदों का ध्येय है । नाथपंथी जिन ग्रन्थों को प्रमाण मानते हैं उनमें सबसे प्राचीन हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थ घेरण्डसंहिता और शिवसंहिता हैं । गोरक्षनाथ कृत हठयोग, गोरक्षनाथ ज्ञानामृत, गोरक्षकल्प, गोरक्षसहस्रनाम, चतुरशीत्यासन, योगचिन्तामणि, योगमहिमा, योगमार्तण्ड, योगसिद्धान्तपद्धति, विवेकमार्तण्ड, -सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति, गोरखबोध, दत्त गोरख संवाद, गोरखनाथजी रा पद, गोरखनाथ के स्फुट ग्रन्थ, ज्ञानसिद्धान्त योग, ज्ञानविक्रम, योगेश्वरी साखी, नरवैब्रोध, विरहपुराण और गोरखसार ग्रन्थ भी नाथ सम्प्रदाय के प्रमाणग्रन्थ हैं ।

नादबिन्दु उपनिषद्—यह योगवर्गीय एक उपनिषद् है । इसकी रचना छन्दोबद्ध है तथा यह चूलिकोपनिषद् का अनुकरण करती है ।

नानक—सिक्ख धर्म के मूल संस्थापक गुरु नानक (१४६९-१५३८ ई०) थे । वे लाहौर जिले के तलवण्डी नामक स्थान के खत्री परिवार में उत्पन्न हुए थे । उनके जीवन की कहानी अनेक जनमसाखियों में कही गयी है, किन्तु निश्चित रूप से कुछ विशेष ज्ञात नहीं हुआ है । इस्लाम की आँधी के कुछ ठंडे पड़ने पर जिन भारतीय सन्त-महात्माओं ने हिन्दू धर्म के सारभूत (इस्लाम के अविरोधी) तत्त्वों का जनता में लोकभाषा द्वारा प्रचार किया, उनमें गुरु नानक प्रमुख थे । कुछ अंशों में इनका मत कबीर से मिलता-जुलता है या नहीं यह अनिश्चित है । नानक ने अनेक हिन्दू तथा मुस्लिम महात्माओं का सत्संग किया । पंजाबी के अतिरिक्त इन्हें संस्कृत, फारसी तथा हिन्दी का भी ज्ञान था और इन्होंने सूफी संतों तथा हिन्दू सन्तों की रचनाएँ पढ़ी थीं । इन्होंने सारे उत्तर भारत में घूम-घूमकर पंजाबीमिश्रित हिन्दी में उपदेश किया । मर्दाना नाम का इनका एक शिष्य इनके भजन गाने के समय तीन तार वाला बाजा बजाता था । उन्होंने अनेक अनुयायी इकट्ठे किये तथा उनके लिए 'जपजी' पद्यों की एक संग्रह तैयार किया । उनमें से अनेक गीतियाँ भगवान् की दैनिक प्रार्थना के निमित्त इकट्ठी की गयी थीं । कविता के क्षेत्र में नानक की कबीर से कोई तुलना नहीं, लेकिन नानक की रचनाएँ सादी, साफ तथा विचारों को सरलता से वहन करने में समर्थ हैं । दर्शन के दो ग्रन्थ भी (संस्कृत में) 'निराकारमीमांसा' तथा 'अद्भुतगीता' उनके रचे कहे जाते हैं ।

उनके मत के अनुसार ईश्वर एक है, शाश्वत है तथा हृदय से उसकी पूजा होनी चाहिए, न कि मूर्ति की । हिन्दुत्व एवं इस्लाम दो रास्ते हैं किन्तु ईश्वर एक ही है । गृहस्थ का जीवन संन्यास से अधिक स्तुत्य है । धर्म के नैतिक पक्ष पर उन्होंने अधिक जोर डाला । अद्वैत वेदान्त के अनेक विचार, ईश्वर की व्यक्तित्व सम्बन्धी कहावतें भी नानक की शिक्षाओं में प्राप्त हैं । 'माया' का भ्रम होना तथा गुरु की महत्ता भी उन्होंने बतायी है । ईश्वर से एकत्व या ईश्वर में ही विलय अथवा अपने को खो देना मोक्ष है । नानक ने अपने पापों को स्वीकार करते हुए अपने को एक छोटा मानव बताया तथा कभी ईश्वर का अवतार नहीं कहा । नानक के पश्चात् सिक्खों के नौ गुरु हुए जिनका वर्णन अन्य स्थानों में हुआ है । दे० 'सिक्ख' ।

नानकपन्थ—गुरु नानक ने नानकपन्थ चलाया जो आगे चलकर दसवें गुरु गोविन्दसिंह के समय में 'सिक्ख मत' बन गया । शेष विवरण के लिए दे० 'नानक' शब्द ।

नानकपन्थी—नानक के चलाये हुए पंथ के अनुयायी नानकपंथी कहलाते हैं । नानकपंथी सिक्खों से अपने को भिन्न मानते हैं । जैसे कबीरपंथी अपने को सनातनी हिन्दू

कहते हैं, वैसे ही नानकपंथी भी कहते हैं । इनमें सिक्खों की अपेक्षा विभेदवादी प्रवृत्ति बहुत कम है । ये गुरु नानक की मूल शिक्षाओं में विश्वास करते हैं ।

नानकपुत्रा—एक धार्मिक सम्प्रदाय, जो 'उदासी' कहलाता है । इसके प्रवर्त्तक गुरु नानक के पुत्र श्रीचन्द्र थे इसीलिए इसके माननेवालों को 'नानकपुत्रा' भी कहते हैं । ये अपने को सनातनी हिन्दू समझते हैं और अपने को नानकपंथ तथा सिक्ख धर्म से अलग मानते हैं ।

नानसम्बन्धर—प्राचीन तमिल शैव सन्त प्रायः कवि थे । ये वैष्णव आलवारों के ही सदृश शिव के भक्त थे । इनमें तीन अधिक प्रसिद्ध हैं । तीनों में से पहले का नाम नानसम्बन्धर है । ये सातवीं शताब्दी में हुए । विशेष विवरण 'तामिल शैव' शब्द में देखें । नानसम्बन्धर ने अनेक गीतों और स्तुतियों की रचना की है ।

नापित—इस शब्द का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (३.१,२,२) तथा कात्यायन श्रौत सूत्र (७.२,८,१३), आश्वलायन गृह्यसूत्र (१.१७) आदि में हुआ है । किन्तु प्राचीन शब्द वप्ता है (ऋ० १०.१४२,४) जो 'वप' से बना है, जिसका अर्थ है 'क्षौर क्रिया करना' अथवा 'बाल काटना' । मृतकों को जलाये जाने के पहले क्षौर क्रिया होती है (अथर्व वेद, ५.१९,४) । धार्मिक कृत्यों में नापित का मुख्य और आवश्यक स्थान है । वह पुरोहित का एक प्रकार से सहायक होता है ।

नाभाजी—नाभाजी की रचना 'भक्तमाल' अति प्रसिद्ध है । नाभाजी रामानन्दी वैष्णव थे और सन्त कवि अग्रदास के शिष्य थे । उन्हीं की आज्ञा से नाभाजी ने भक्तमाल ग्रन्थ प्रस्तुत किया । नाभाजी उन दिनों हुए थे, जब गिरिधरजी वल्लभ संप्रदाय के अध्यक्ष थे तथा तुलसीदास जीवित थे । इनका काल १६४२–१६८० ई० के मध्य है । 'भक्तमाल' पश्चिमी हिन्दी का काव्य ग्रन्थ है तथा छप्पय छंद में रचित है । यह 'सूत्रवत्' लिखा गया है तथा भाष्य के बिना इसको समझना दुष्कर है । इस ग्रंथ में नाभाजी ने सभी सम्प्रदायों के महात्माओं की स्तुति की है और अपने भाव अत्यन्त उदार रखे हैं । भक्तों के समाज में इसका बड़ा आदर हुआ है ।

नाभाजी का शुद्ध नाम नारायणदास कहा जाता है ।

नाभादास—दे० 'नाभाजी' ।

नाभानेदिष्ठ अथवा नाभाग दिष्ट—ये सूर्यवंशी या वैवस्वत मनु के वंशज थे । परवर्त्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणों के अनुसार जब इनके पिता मनु ने अपनी सम्पत्ति पुत्रों में बाँटी तो नाभानेदिष्ठ को छोड़ दिया तथा उन्हें आङ्गिरसों की गौओं को देकर शान्त किया । ब्राह्मणों में नाभानेदिष्ठ की ऋचाएँ बार-बार उद्धृत हैं, किन्तु इनसे इनके रचयिता के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं होता । पुराणों में मानववंशी नाभानेदिष्ठ का अधिक विस्तृत वर्णन पाया जाता है ।

नाभिकमलतीर्थ—यह थानेसर नगर के समीप है । कहा जाता है कि इसी स्थान पर भगवान् विष्णु की नाभि के कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई थी । यहाँ पर यात्री स्नान, जप तथा विष्णु एवं ब्रह्मा का पूजन करके अनन्त फल के भागी होते हैं । सरोवर पक्का बना हुआ है तथा वहीं ब्रह्माजी सहित भगवान् विष्णु का छोटा सा मन्दिर है ।

नाम—वैष्णव सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण करने के लिए गुरु का चुनाव करना पड़ता है । दीक्षा के अन्तर्गत पाँच कार्य होते हैं—(१) ताप (शरीर पर साम्प्रदायिक चिह्नाङ्कन), (२) पुण्ड्र (साम्प्रदायिक चिह्न का तिलक), (३) नाम (सम्प्रदाय सम्बन्धी नाम ग्रहण करना), (४) मन्त्र (भक्तिविषयक सूत्ररूप भगवन्नाम ग्रहण करना) और (५) याग (पूजा) । भक्तिमार्ग में जप करने के लिए नाम का अत्यधिक महत्त्व है, विशेष कर कलियुग में ।

भगवान् के नाम की महिमा प्रायः सभी सम्प्रदायों में पायी जाती है । नाम और नामी में अन्तर न होने से ईश्वर के किसी भी नाम से उसकी आराधना हो सकती है ।

नामकरण—हिन्दुओं के स्मार्त सोलह संस्कारों में से एक संस्कार । धर्मशास्त्र में नामकरण का बहुत महत्त्व है :

नामाखिलस्य व्यवहारहेतु शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतु ।
नाम्नैव कीर्ति लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म ॥
(बृहस्पति)

[निश्चित ही नाम समस्त व्यवहारों का हेतु है । शुभ का वहन करने वाला तथा भाग्य का कारण है । मनुष्य नाम से ही कीर्ति प्राप्त करता है । इसलिए नामकरण की क्रिया बहुत प्रशस्त है ।] इस संस्कार का उद्देश्य है सोच-विचार कर ऐसा नाम रखना जो सुन्दर, माङ्गलिक तथा प्रभावशाली हो । प्रायः चार प्रकार के नाम रखे जाते

हैं—(१) नाक्षत्र नाम, (२) मासदेवतापरक नाम, (३) कुलदेवतापरक नाम तथा (४) लौकिक नाम। जिनके बच्चे जीते नहीं वे प्रतीकारात्मक अथवा घृणास्पद नाम भी रखते हैं।

नामकरण संस्कार शिशु के जन्म के अनन्तर दसवें अथवा बारहवें दिन किया जाता है। शिशु का गुह्यनाम जन्मदिन को ही रखा जाता है। विकल्प रूप से दो वर्ष के भीतर नामकरण अवश्य करना चाहिए। जननाशौच बीत जाने पर घर आदि की सफाई की जाती है। तत्पश्चात् शिशु और माता को स्नान कराया जाता है। प्रारम्भिक धार्मिक कृत्य करने के पश्चात् माता शिशु को शुद्ध वस्त्र से ढककर उसे पिता को सौंप देती है। तदनन्तर प्रजापति, तिथि, नक्षत्र, नक्षत्रदेवता, अग्नि तथा सोम को आहुतियाँ दी जाती हैं। पिता शिशु के श्वास-प्रश्वास को स्पर्श करके उसे सचेत करता है। इसके पश्चात् सुनिश्चित नाम रखा जाता है। पिता शिशु के कान के पास कहता है: "हे शिशु, तुम कुलदेवता के भक्त हो, तुम्हारा नाम अमुक है....आदि।" उपस्थित ब्राह्मण तथा स्वजन कहते हैं: "यह नाम प्रतिष्ठित हो।" इसके पश्चात् ब्राह्मण-भोजन तथा आशीर्वचन के साथ संस्कार समाप्त होता है।

नामकीर्तन—नवधा (नव प्रकार की) भक्ति में कीर्तन का दूसरा स्थान है। गौराङ्ग महाप्रभु के समय से बंगाल में 'नामकीर्तन' की मण्डलियाँ बड़े उत्साह से कीर्तन करती आ रही हैं। आजकल नामकीर्तन का प्रचार सभी धार्मिक सम्प्रदायों में दीख पड़ता है।

नामदेव—रामोपासक वैष्णवों में भक्तवर नामदेव का नाम आदर से लिया जाता है। इन्होंने महाराष्ट्र में रामोपासना का विशेष प्रचार किया था। नामदेव का समय १३वीं शती का अन्त एवं १४वीं का प्रारम्भ है। उनकी अनेक रचनाएँ सिक्खों के 'ग्रन्थ साहब' में उद्धृत हैं।

नामप्रकार—गृह्यसूत्रों में बालकों के कई प्रकार के नाम रखने के अनेक नियम दिये गये हैं, किन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण है गुह्य एवं साधारण नामों का अन्तर। ऋग्वेद तथा ब्राह्मणों में भी गुह्य नाम का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र का एक गुह्यनाम अर्जुन है। शतपथ ब्राह्मण में एक अन्य नाम सफलताप्राप्ति के लिए ग्रहण करने को कहा गया है। दूसरे नाम के धारण करने का कारण विशेष पहचान होता था। ब्राह्मणों में दूसरा नाम पैतृक या मातृक होता था। यथा कक्षीवन्त औशिज (उशिज नाम्नी उनकी माता), बृहदुक्थ वामनेय (वामनी का पुत्र), भार्गव मौद्गल्य (पितृबोधक नाम)। कभी-कभी स्त्री का नाम पति के नाम से सम्बन्धित होता था—उशीनराणी, पुरुकुत्सानी तथा मुद्गलानी आदि।

नाम-रूप—दृश्य जगत् के संक्षिप्त वर्णन के लिए यह पद प्रयुक्त होता है। संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अपनी विविधता में इन्हीं दोनों परिकल्पनाओं से जाने जाते हैं। ब्राह्मणों में आख्यान है कि ब्रह्म नाम-रूपात्मक जगत् का विस्तार कर उसी में प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार समस्त नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्ममय है। परन्तु तात्त्विक रूप से ब्रह्म को जानने के लिए विविध नाम-रूपों को छोड़कर एकत्व की अनुभूति आवश्यक होती है। अतः उपनिषदों में प्रायः कहा गया है 'नापरूपे विहाय' ब्रह्म को समझो।

नारद—अथर्ववेद (५.१९,९;१२.४,१६,२४,४१) में नारद नामक एक ऋषि का नामोल्लेख अनेक बार हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में हरिश्चन्द्र के पुरोहित (६.१३), सोमक साहदेव्य के शिक्षक (७.३४) तथा आम्बष्ठ्य एवं युधाश्रौष्टि को अभिषिक्त करने वाले के रूप में नारद पर्वत से युक्त व्यवहृत हुए हैं। मैत्रायणी संहिता (१.८,८) में ये एक आचार्य और सामविधानब्राह्मण (३.९) में बृहस्पति के शिष्य के रूप में वर्णित हैं। छान्दोग्योपनिषद् (६.१. १) में ये सनत्कुमार के साथ उल्लिखित हैं। पुराणों में नारद का नाम बारम्बार सङ्गीत विद्या के आचार्य के रूप में आया है। नारद नामक एक स्मृतिकार भी हुए हैं। महाभारत में मोक्षधर्म के नारायणीय आख्यान में नारद की उत्तरदेशीय यात्रा का विवरण है, जिसमें उन्होंने नर-नारायण ऋषियों की तपश्चर्या देखकर उनसे प्रश्न किया तथा उन्होंने नारद को 'पाञ्चरात्र' धर्म सुनाया।

नारदकुण्ड—बदरीनाथ में तप्तकुण्ड से अलकनन्दा तक एक पर्वतशिला फैली हुई है। इसके नीचे अलकनन्दा के किनारे पर नारदकुण्ड है जहाँ यात्री पुण्यार्थ स्नान करते हैं। व्रज में गोवर्धन पर्वत के निकट भी एक नारदकुण्ड है।

नारदपरिव्राजक उपनिषद्—यह एक परवर्त्ती उपनिषद् है।

नारदपञ्चरात्र—प्राचीन 'पाञ्चरात्र' सम्प्रदाय का प्रतिपा-

दक 'नारदपञ्चरात्र' नामक एक प्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थ है। उसमें दसों महाविद्याओं की कथा विस्तार से कही गयी है। नारदपञ्चरात्र और ज्ञानामृतसार से पता चलता है कि भागवत धर्म की परम्परा बौद्ध धर्म के फैलने पर भी नष्ट नहीं हो सकी। इसके अनुसार हरिभजन ही मुक्ति का परम कारण है।

कई वर्ष पहले इस ग्रन्थ का प्रकाशन कलकत्ता से हुआ था। यह बहुलअर्थी ग्रन्थ है। इसमें कुछ भाग विष्णुस्वामियों तथा कुछ वल्लभों द्वारा जोड़ दिये गये जान पड़ते हैं।

नारदपुराण—नारदीय महापुराण में पूर्व और उत्तर दो खण्ड हैं। पूर्व खण्ड में १२५ अध्याय हैं और उत्तर खण्ड में ८२ अध्याय। इसके अनुसार इस पुराण में २५,००० श्लोक होने चाहिए। बृहन्नारदीय पुराण उपपुराण है। कार्त्तिकमाहात्म्य, दत्तात्रेयस्तोत्र, पार्थिवलिङ्ग-माहात्म्य, मृगव्याधकथा, यादवगिरिमाहात्म्य, श्रीकृष्ण-माहात्म्य, सङ्कटगणपतिस्तोत्र इत्यादि कई छोटी-छोटी पोथियाँ नारदपुराण के ही अन्तर्गत समझी जाती हैं।

यह वैष्णव पुराण है। विष्णुपुराण में रचनाक्रम से यह छठा बताया गया है। परन्तु इसमें प्रायः सभी पुराणों की संक्षिप्त विषयसूची श्लोकबद्ध दी गयी है। इससे जान पड़ता है कि इस महापुराण में कम से कम इतना अंश अवश्य ही उन सब पुराणों से पीछे का है। इसकी यही विशेषता है कि उक्त उल्लेख से अन्य पुराणों के पुराने संस्करणों का ठीक-ठीक पता लगता है और पुराण तथा उपपुराण का अन्तर भी मालूम हो जाता है।

नारदभक्तिसूत्र—नारद और शाण्डिल्य के रचे दो भक्ति-सूत्र प्रसिद्ध हैं जिन्हें वैष्णव आचार्य अपने निर्देशक ग्रन्थ मानते हैं। दोनों भागवत पुराण पर आधारित हैं। दोनों में से किसी में राधा का वर्णन नहीं है। नारदभक्तिसूत्र भाषा तथा विचार दोनों ही दृष्टियों से सरल है।

नारदस्मृति—२०७-५५० ई० के मध्य रचे गये धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में नारद तथा बृहस्पति की स्मृतियों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। व्यवहार पर नारद के दो संस्करण पाये जाते हैं, जिनमें से लघु संस्करण का सम्पादन तथा अनुवाद जॉली ने १८७६ ई० में किया था। १८८५ ई० में बड़े संस्करण का प्रकाशन भी जॉली ने ही 'बिब्लिओथिका इण्डिका सीरीज' में किया था और इसका अंग्रेजी अनुवाद 'सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरीज' (जिल्द, ३३) में किया।

याज्ञवल्क्यस्मृति में जिन स्मृतियों की सूची पायी जाती है उसमें नारदस्मृति का उल्लेख नहीं है और न पराशर ही नारद की गणना स्मृतिकारों में करते हैं। किन्तु विश्वरूप ने वृद्ध-याज्ञवल्क्य के जिन श्लोकों को उद्‌धृत किया है उनमें स्मृतिकारों में नारद का स्थान सर्वप्रथम है (याज्ञ०, १.४-५ पर विश्वरूप की टीका)। इससे प्रकट होता है कि नारदस्मृति की रचना याज्ञवल्क्य और पराशर स्मृतियों के पश्चात् हुई।

नारदस्मृति का जो संस्करण प्रकाशित है उसके प्रथम तीन (प्रस्तावना के) अध्याय व्यवहारमातृका (अदालती कार्रवाई) तथा सभा (न्यायालय) के ऊपर हैं। इसके पश्चात् निम्नलिखित वादस्थान दिये गये हैं: ऋणाधान (ऋण वापस प्राप्त करता), उपनिधि (जमानत), सम्भूय समुत्थान (सहकारिता), दत्ताप्रदानिक (करार करके न देना), अभ्युपेत्य अशुश्रूषा (सेवा-अनुबन्ध भङ्ग), वेतनस्य अनपाकर्म (वेतन का भुगतान न करना), अस्वामिविक्रय (विना स्वाम्य के विक्रय), विक्रीयासम्प्रदान (बेचकर सामान न देना), क्रीतानुशय (खरीदकर न लेना), समयस्यानपाकर्म (निगम, श्रेणी आदि के नियमों का भङ्ग), सीमाबन्ध (सीमा-विवाद), स्त्रीपुंसयोग (वैवाहिक सम्बन्ध), दायभाग (पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकार और विभाग), साहस (बलप्रयोग-अपराध), वाक्पारुष्य (मानहानि, गाली), दण्डपारुष्य (चोट और क्षति पहुँचाना), प्रकीर्णक (विविध अपराध)। परिशिष्ट में चौर्य एवं दिव्य प्रमाण का निरूपण है।

नारद व्यवहार में पर्याप्त सीमा तक मनु के अनुयायी हैं।

नारायण—(१) महाभारत, मोक्षधर्म के नारायणीय उपाख्यान में वर्णन है कि नारद उत्तर दिशा की लम्बी यात्रा करते हुए क्षीरसागर के तट पर जा निकले। उसके बीच श्वेतद्वीप था, जिसके निवासी श्वेत पुरुष नारायण अर्थात् विष्णु की पूजा करते थे। आगे उन लोगों की पवित्रता, धर्म आदि का वर्णन है।

महोपनिषद् में कहा गया है कि नारायण अर्थात् विष्णु ही अनन्त ब्रह्म हैं, उन्हीं से सांख्य के पचीस तत्त्व उत्पन्न

हुए एवं शिव तथा ब्रह्मा उनके आश्रित देवता हैं, जो उनकी ध्यानशक्ति से उत्पन्न हुए हैं।

नारायण तथा आत्मबोध उपनिषदों में नारायण का मन्त्र उद्धृत है तथा इन उपनिषदों का मुख्य विषय ही नारायणमन्त्र है। यह मन्त्र है 'ओम् नमो नारायणाय'। यही मन्त्र श्रीवैष्णव सम्प्रदाय का दीक्षामन्त्र भी है।

(२) महाराष्ट्रीय सन्त नारायण। इनका नाम बाद में समर्थ रामदास (१६०८-८१ ई०) हो गया, जो स्वामी रामानन्दजी के भक्ति आन्दोलन से प्रभावित थे। ये कवि थे किन्तु इनकी रचनाएँ तुकाराम के सदृश साहित्यिक नहीं हैं। इनका व्यक्तिगत प्रभाव शिवाजी पर विशेष था। इनकी काव्यरचना का नाम 'दासबोध' है जो धार्मिक होने की अपेक्षा दार्शनिक अधिक है।

(३) भाष्यकार एवं वृत्तिकार नारायण। नारायण नाम के एक विद्वान् नें शाङ्खायनश्रौतसूत्र का भाष्य लिखा है। ये नारायण तथा आश्वलायनसूत्र के भाष्यकार नारायण दो भिन्न व्यक्ति हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के एक टीकाकार का भी नाम नारायण है। श्वेताश्वतर एवं मैत्रायणीयोपनिषद् (यजुर्वेद की उपनिषदों) के एक वृत्तिकार का भी नाम नारायण है। छान्दोग्य तथा केनोपनिषद् (सामवेदीय) पर भी नारायण ने टीका लिखी है। अथर्ववेदीय उपनिषद् मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न एवं नृसिंहतापनी पर भी नारायण की टीकाएँ हैं।

उपर्युक्त उपनिषदों के टीकाकार तथा वृत्तिकार नारायण एक ही व्यक्ति ज्ञात होते हैं, जो सम्भवतः ईसा की चौदहवीं शती में हुए थे। ये माधव के गुरु शङ्करानन्द के बाद हुए थे। इन्होंने अपने भाष्यों में ५२ उपनिषदों का नाम लिखा है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से प्रसिद्ध हैं।

नारायणतीर्थ—ब्रह्मानन्द सरस्वती के विद्यागुरु स्वामी नारायण तीर्थ थे।

नारायणदेव—(१) सूर्य देवता का पर्याय नारायणदेव है। सौर सम्प्रदाय में सूर्य ही नारायण अथवा जगदात्मा देव और आराधनीय हैं।

(२) 'बैगा' नामक गोंड़ों की अब्राह्मण पुरोहित जाति के कुलदेवता का नाम नारायणदेव है। जो सूर्य के प्रतीक या उनके समान माने जाते हैं। बैगा लोग अपने देवता के यज्ञ में सूअर की बलि देते हैं। ऐसे यज्ञ विवाह, जन्म तथा मृत्यु जैसे अवसरों पर होते हैं। बलिपशु नाना प्रकार से सताये जाने के बाद एक शहतीर के नीचे दबाकर मारा जाता है। कहते हैं कि यही विधि देवता को पसन्द है।

नारायणपुत्र—सामसंहिता के भाष्यकारों में से एक हैं।

नारायणबलि—रोग आदि की दुर्दशा या दुर्घटना में मृत व्यक्तियों की सद्गति के लिए किया जानेवाला विशेष पितृकर्म, जिसके अन्तर्गत प्रेत के साथ कई देवता पूजे जाते हैं और नारायण (शालग्राम) का पूजन, अभिषेक एवं होम संपादित होता है।

नारायणमन्त्रार्थ—यह आचार्य रामानुजरचित एक ग्रन्थ है।

नारायण विष्णु—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी श्री अथवा लक्ष्मी एवं विष्णु के अतिरिक्त किसी अन्य देव की भक्ति या पूजा नहीं करते हैं। इनके आराध्यदेव हैं नारायण, विष्णु। दे० 'नारायण।'

नारायण सरस्वती—योगदर्शन के एक व्याख्याकार, जो गोविन्दानन्द सरस्वती के शिष्य थे तथा 'मणिप्रभा' टीका के रचयिता रामानन्द सरस्वती के समकालीन थे। इन्होंने १६४९ वि० में योगशास्त्र का एक ग्रन्थ लिखा।

नारायणसंहिता—मध्व ने अपने भाष्य में ऋग्वेद, उपनिषद् तथा गीता के अतिरिक्त कुछ पुराणों एवं वैष्णव संहिताओं का भी उद्धरण दिया है। इन संहिताओं में 'नारायणसंहिता' भी एक है।

नारायण उपनिषद् (नारायणोपनिषद्)—इस उपनिषद् में प्रसिद्ध नारायणमन्त्र 'ओम् नमो नारायणाय' की व्याख्या की गयी है।

नारायणीय उपाख्यान—महाभारत के शान्तिपर्व, मोक्षधर्म प्रकरण में नारायणीय उपाख्यान वर्णित है। दे० 'नारायण'।

नारायणीयोपनिषद्—तैत्तिरीय आरण्यक का दसवाँ प्रपाठक 'याज्ञिकी' अथवा 'नारायणीयोपनिषद्' के नाम से विख्यात है। इसमें मूर्तिमान् ब्रह्मतत्त्व का निरूपण है। शङ्कराचार्य ने इसका भाष्य लिखा है।

नारायणेन्द्र सरस्वती—सायणाचार्य के ऐतरेय तथा कौषीतकि आरण्यकों के भाष्यों पर अनेक टीकाएँ रची गयी हैं। नारायणेन्द्र सरस्वती की भी एक टीका उक्त भाष्यों पर है।

नालायिर प्रबन्धम्—नाथ मुनि (यामुनाचार्य के पितामह तथा रामानुज सम्प्रदाय के पूर्वाचार्य) ने नम्मालवार तथा अन्य आलवारों की रचनाओं का संग्रह किया तथा उसका

नाम रखा 'नालायिर प्रबन्धम्' अथवा 'चार सहस्र गीतों का संग्रह ।' इस पर अनेक भाष्य रचे गये हैं । नाथ मुनि ने इस ग्रन्थ के गीतों का पाठ तथा गान करना अपने अनुयायियों का दैनिक कार्यक्रम बना दिया ।

नासत्य—(१) यह वैदिक युग्म देवता अश्विनौ का एक विरुद है । इनके दो विरुद हैं, 'दस्र' और 'नासत्य' । 'दस्र' का अर्थ है आश्चर्यजनक तथा 'नासत्य' का अर्थ है न + असत्य अर्थात् जो कभी असफल न हो। अश्विनौ स्वास्थ्य और सत्य के देवता हैं ।

(२) उत्तरी ईरान स्थित प्रागैतिहासिक बोगाजकोई पट्टिका पर नासत्य का नाम मित्र, वरुण और इन्द्र के साथ प्रयुक्त हुआ है । उसमें नासत्य शब्द का गठन प्रकट करता है कि स का ह में भाषिक परिवर्तन तब तक नहीं हुआ था । इसलिए यह शब्द भारत-ईरानी काल का है । लघु अवेस्ता में हम दैत्य नाओन हेथ्य का नाम पाते हैं जो नासत्य की पदावनति के फलस्वरूप बना है । अतएव नासत्या (उ) निश्चय ही भारत-ईरानी अथवा पूर्व ईरानी देवता हैं ।

नासदीय सूक्त—ऋग्वेद में ज्ञानकाण्ड सम्बन्धी सृष्टिविज्ञान विषयक दो सूक्त हैं—नासदीय तथा पुरुषसूक्त । नासदीय सूक्त ऋग्वेद, १०.१२९ की प्रथम पंक्ति ''नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्'' के आरम्भिक शब्द नासद के आधार पर प्रस्तुत सूक्त का नासदीय नाम हुआ है । इसमें प्रकृति के विकास की दृष्टि से सृष्टिरचना का का उल्लेख है जिसका भावार्थ निम्नलिखित है :

(नासदासीत्) जब यह कार्यसृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री वर्तमान थी । उस समय (असत्) शून्य नाम आकाश, अर्थात् (जो नेत्रों से देखने में नहीं आता) भी नहीं था, क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था । (नो सदासीत्तदानीम्) उस काल में सत् अर्थात् सत्त्व गुण, रजोगुण और तमोगुण मिलाकर जो प्रधान कहलाता है, वह भी नहीं था । (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे तथा (नो व्योमा) विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के विकास का स्थान है सो भी नहीं था । (किमा०) जो यह वर्तमान जगत् है, वह अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढक सकता और उससे अधिक व अथाह भी नहीं हो सकता । (न मृत्युः) जब जगन् नहीं था तब मृत्यु भी नहीं थी । अन्धकार की सत्ता भी नहीं थी, क्योंकि अन्धकार प्रकाश के अभाव का ही नाम है । तब प्रकाश की उत्पत्ति हुई नहीं थी । इसी महा अन्धकार से ढका हुआ यह सब कुछ (भावी विश्वसत्ता) चिह्न और विभागरहित (अज्ञेय तथा अविभक्त) एवं देश तथा काल के विभाग से शून्य स्थिति में सर्वत्र सम और विषम भाव से बिल्कुल एक में मिला हुआ फैला था । (तो भी) जो कुछ सत्ता थी वह शून्यता से ढकी हुई थी (क्योंकि) आकाशादि की उत्पत्ति नहीं हुई थी और किसी प्रकार का आकार नहीं था । (क्योंकि) आकार से ही सृष्टि का आरम्भ होता है । तपस् की महान् शक्ति से (उपर्युक्त असृष्टि की दशा में) 'एक' की उत्पत्ति हुई । उस एक में पहले-पहल लीला-विस्तार की कामना उत्पन्न हुई । उस एक के मनन या विचार से यह कामना बीज के रूप में हुई । तदनन्तर ऋषियों ने विचार किया और अपने हृदय में खोजा तो पता चला कि यही कामना सत् और असत् को बाँधने का कारण हुई । इनकी विभाजक रेखा (सदसत् में विवेक करने की रेखा) तिर्यक् रूप से फैल गयी । फिर उसके ऊपर क्या था और नीचे क्या था ? उत्पन्न करने वाला रेतस् अर्थात् बीज था, महाबलवान् शक्तियाँ थीं । इधर जहाँ स्वच्छन्द क्रिया थी उधर परे (क्रियाप्रणोदक भी) महाशक्ति थी ।

सचमुच कौन जानता है और यहाँ कौन कह सकता है कि (यह सब) कहाँ से उपजा और इस विश्व की सृष्टि कहाँ से आयी । देवताओं की उत्पत्ति बाद की है और यह सृष्टि पहले प्रारम्भ हुआ । फिर कौन जान सकता है कि यह सब कैसे आरम्भ हुई । (वेद ने जो उपर्युक्त वर्णन किया है वह वेदों को ही कैसे ज्ञात हुआ; यहाँ व्याज से वेदों का अनादि होना व्यंजित होता है) । जिससे विश्व की सृष्टि आरम्भ हुई उसने यह सब रचा है (अपनी इच्छाशक्ति से सृष्टि की प्रेरणा की है) या नहीं रचा है, अर्थात् उसकी प्रेरणा के बिना आप ही आप हो गया है । परम व्योम में जिसकी आँखें इस विश्व का निरीक्षण कर रही हैं वस्तुतः (इन दोनों बातों के रहस्य को) वही जानता है । या शायद वह भी नहीं जानता (क्योंकि उस निर्गुण और निराकार में सृष्टि से पहले ज्ञान, इच्छा और क्रिया इन तीनों का भाव नहीं था) ।

नासिक पंचवटी—यह महाराष्ट्र का प्राचीन तीर्थस्थान है । नासिक और पञ्चवटी वस्तुतः एक ही नगर हैं । नगर के

बीच से गोदावरी नदी बहती है। दक्षिण की ओर नगर का मुख्य भाग है उसे नासिक कहते हैं और उत्तरी भाग को पञ्चवटी। गोदावरी के दोनों तटों पर देवालय बने हुए हैं। पंचवटी से तपोवन और दूसरे तीर्थों का दर्शन करने में सुविधा होती है। रावण ने यहीं से सीताहरण किया था। यहाँ बृहस्पति के सिंह राशि में आने पर बारह वर्ष के अन्तर से स्नानपर्व या कुम्भमेला होता है। नासिक से ७-८ कोस दूर 'त्र्यम्बकेश्वर' ज्योतिर्लिङ्ग तथा नील पर्वत के उत्तुंग शिखर पर गोदावरी गंगा का उद्गम स्रोत है। यह प्रदेश बड़ा रमणीक है।

नास्तिक—जो आस्तिक नहीं है वह 'नास्तिक' कहलाता है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'न + अस्ति [(कोई स्थायी सत्ता) नहीं है] कहने वाला', अर्थात् जो मानता है कि 'ईश्वर नहीं है'। किन्तु हिन्दू धर्म की पारिभाषिक शब्दावली में 'नास्तिक' उसको कहते हैं जो वेद के प्रामाण्य को नहीं मानता है (नास्तिको वेदनिन्दकः)। इस प्रकार बौद्ध, अर्हत, चार्वाक आदि सम्प्रदाय नास्तिक माने जाते हैं।

नास्तिकता—(१) नास्तिक का परम्परागत अर्थ है 'जो वेद की निन्दा करता है' (नास्तिको वेदनिन्दकः)। अतः वेद के प्रमाण में विश्वास न करना नास्तिकता है। ईश्वर में विश्वास न करने से कोई नास्तिक नहीं होता। मीमांसा और सांख्य दोनों दर्शन ईश्वर के अस्तित्व की आवश्यकता नहीं समझते। फिर भी वे आस्तिक माने जाते हैं।

नास्तिकता तथा नास्तिकों की चर्चा वेदों में प्रचुर मात्रा में है। नास्तिकों को यहाँ असुर योनि में गिना गया है। इनकी परम्परा अति पुरानी है या कम से कम उतनी ही पुरानी है जितनी आस्तिकों की। महाभारत काल में भी नास्तिक थे। चार्वाक की चर्चा महाभारत में आयी है। जाबालि के कथन से पता चलता है कि रामायण काल में भी नास्तिक लोगों की संख्या अच्छी रही होगी। बौद्धों और जैनों की चर्चा से कुछ लोग समझते हैं कि ये अंश पीछे से मिलाये गये हैं अथवा इन ग्रन्थों की रचना ही पीछे हुई है। परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। महाभारत के बहुत पीछे महावीर जिन तथा गौतम बुद्ध के समय से नास्तिक मतों का प्रचार बढ़ा और धीरे-धीरे सारे देश में राजा और प्रजा में व्याप गया। बौद्ध मत के आत्यन्तिक प्रचार से आस्तिक धर्मों और वर्णविभाग का कुछ काल के लिए ह्रास हो गया। नास्तिक मत का प्रभाव भारत वर्ष से बाहर अन्यान्य देशों में भी फैला। यह एक भारी परिवर्तन था, धार्मिक क्रान्ति थी जिससे श्रुतियों और स्मृतियों को लोग बिल्कुल भूल गये और बौद्धों को राज्याश्रय मिल जाने से नास्तिक मत प्रबल हो गया।

(२) सामान्य अर्थ में ईश्वर अथवा परमार्थ में विश्वास न करनेवाले को नास्तिक कहते हैं।

नास्तिकदर्शन—वेदों के प्रमाण को माननेवाले आस्तिक और न मानने वाले नास्तिक कहलाते हैं। चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक एवं आर्हत ये छहः नास्तिक दर्शन हैं। दे० सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रन्थ।

नास्तिकमत—'नास्तिक दर्शन' शब्द में छः नास्तिक दर्शन गिनाये जा चुके हैं। विपरीत मतसहिष्णु भारत में आस्तिक और नास्तिक दोनों तरह के विचारों का आदि काल से पूर्ण विकास होता चला आया है। आस्तिक तथा नास्तिक दोनों दलों की परम्परा और संस्कृति समान चली आयी है। दोनों का इतिहास एक ही है। हाँ, प्रत्येक दल ने स्वभावतः अपने इतिहास में अपना उत्कर्ष दिखाया है। (विभिन्न नास्तिक मतों को नास्तिक दर्शनों के अन्तर्गत देखिए।)

नास्तिक हिन्दू—दे० 'नास्तिक'।

निकुम्भपूजा—(१) इस व्रत में चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को उपवास तथा पूर्णिमा को हरि का पूजन करना चाहिए। पिशाचों की सेना के साथ निकुम्भ नामक राक्षस लड़ने के लिए जाता है। एक मिट्टी की प्रतिमा अथवा घास का पुतला बनाकर प्रत्येक घर में मध्याह्न के समय स्थापित करते हुए पुष्प तथा धूप, दीप, नैवेद्यादि से पूजन करना चाहिए। नगाड़े तथा सारङ्गी आदि वाद्ययन्त्र भी बजाने चाहिए। चन्द्रोदय के समय पुनः पूजन का विधान है। पूजा के बाद एकदम तितर-बितर हो जाना चाहिए। व्रती को चाहिए कि वह वाद्य, संगीत आदि से एक बड़ा महोत्सव मनाये। जनता घास के बने हुए सर्प से खेले, जो लकड़ियों से घिरा हो। तीन-चार दिन बाद उस सर्प के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ तथा उन टुकडों को एक वर्ष तक रखा जाय। नीलमत पुराण (पृ० ६४, श्लोक ७८१-७९०) के अनुसार यह "चैत्रपिशाचवर्णनम्" है।

(२) आश्विन पूर्णिमा को (महिलाओं, बच्चों तथा वृद्धों को छोड़कर) पुरुष लोग गृह के मुख्य द्वार के पास अग्नि स्थापित करके दिन भर निराहार रहकर उसका पूजन

करते हैं। पूर्णिमा को रुद्र तथा उमा, स्कन्द, नन्दीश्वर, रेवन्त का पूजन करना चाहिए। तिल, अक्षत तथा माष (उरद) से निकुम्भ राक्षस के पूजन करने का विधान है। रात्रि को ब्राह्मणों को भोजन कराकर लोग स्वयं भी निरामिष भोजन करें, यह विधान हैं। इसके बाद रात्रि भर गीत, वाद्य, संगीत, नृत्यादि का आयोजन करें। दूसरे दिन आराम के साथ प्रभात काल में मिट्टी इत्यादि शरीर में पोतकर पिशाचों के समान बिना लज्जा अनुभव करते हुए खेलें-कूदें। मित्रों को भी मिट्टी, कीचड़ आदि मलते हुए अश्लील शब्दों का प्रयोग करें। मध्याह्न के पश्चात् वे स्नान करें। यदि कोई पुरुष इस कामोत्सव में अपने आपको लिप्त नहीं करता तो वह पिशाचों से पीड़ित होता है।

(३) चैत्र कृष्ण चतुर्दशी को भगवान् शम्भु की तथा पिशाचों से घिरे निकुम्भ नामक राक्षस की पूजा होती है, उस दिन रात को लोगों को चाहिए कि वे पिशाचों से अपने बच्चों की रक्षा करें तथा वेश्याओं का नृत्य देखें।

निक्षुभार्कचतुष्टयव्रत—निक्षुभा सूर्य नारायण की पत्नी का नाम है। कृष्ण पक्ष की सप्तमी को निक्षुभा का व्रत किया जाता हैं। इसमें उपवास का विधान है। एक वर्ष तक यह अनुष्ठान चलता है। इसमें सूर्य तथा उनकी पत्नी निक्षुभा की प्रतिमाओं का पूजन होता है। महिला व्रती इस व्रत के आचरण से सूर्यलोक जायेंगी तथा जन्मान्तर में राजा को अपने पति के रूप में प्राप्त करेंगी। पुरुष लोग भी सूर्यलोक प्राप्त करेंगे। महाभारत का पाठ करने वाला एक पंडित एक वर्ष के अनुष्ठान के लिए बैठाना चाहिए। वर्ष के अन्त में सूर्य तथा निक्षुभा की स्वर्णालङ्कार-वस्त्र विभूषित प्रतिमाओं को महाभारत का पाठ करने वाले की पत्नी को दान में देना चाहिए।

निक्षुभार्कसप्तमी—षष्ठी, सप्तमी, संक्रान्ति अथवा किसी रविवार के दिन इस व्रत का अनुष्ठान प्रारम्भ होता है और एक वर्ष तक चलता है। स्वर्ण, रजत अथवा काष्ठ की सूर्य तथा निक्षुभा (सूर्यपत्नी) की प्रतिमाओं को उपवास करते हुए घी इत्यादि पदार्थों से स्नान कराकर होम तथा पूजन करना चाहिए। सूर्यभक्तों को भोजन कराना चाहिए। इस व्रत का फल यह है कि मनुष्य के समस्त संकल्प तथा इच्छाएँ पूर्ण होती हैं तथा सूर्य और अन्य लोकों की प्राप्ति होती है।

निगम—ज्ञान की वह पद्धति जो अन्ततोगत्वा साक्षात् अनुभूति पर आधारित है, निगम कहलाती है। इसीलिए स्वयं साक्षात्कृत (अनुभूत) वेदों को निगम कहते हैं। इससे भिन्न ज्ञान की जो पद्धति तर्क प्रणाली पर अवलम्बित है वह आगम कहलाती है। इसीलिए दर्शनों को आगम कहते हैं। इस परम्परा में बौद्ध और जैन दर्शन प्रमुखतः आगमिक हैं। हिन्दू धर्म-दर्शनपरम्परा निगमागम का समन्वय करती है।

निगमपरिशिष्ट—कात्यायनरचित अनेक पद्धति और परिशिष्ट ग्रन्थ यजुर्वेदीय श्रौत्रसूत्र के अन्तर्गत हैं। कई स्थलों पर इनमें 'निगमपरिशिष्ट' एवं 'चरणव्यूह' ग्रन्थों का भी नामोल्लेख है।

निघण्टु—वेद के अर्थ को स्पष्ट करने के सम्बन्ध में दो अति प्राचीन ग्रन्थ हैं। एक है निघण्टु तथा अन्य है यास्क का निरुक्त। निघण्टु शब्द की व्युत्पत्ति प्रायः इस प्रकार से की जाती है: 'निश्चयेन घटयति पठति शब्दान् इति निघण्टुः।' इसमें वैदिक पर्याय शब्दों का संग्रह है। इसके निघण्टु नाम पड़ने का एक कारण यह भी बतलाया जाता है कि इस कोश में उन शब्दों का संग्रह है जो मन्त्रार्थ के निगमक अथवा ज्ञापक हैं। इन शब्दों का रहस्य जाने बिना वेदों का यथार्थ आशय समझ में नहीं आ सकता। निघण्टु पाँच अध्याओं में विभक्त है। प्रथम तीन अध्यायों में एकार्थक, चतुर्थ में अनेकार्थक तथा पञ्चम में देवतावाचक शब्दों का विशेष रूप से संग्रह किया गया है। इसी निघण्टु पर यास्क का निरुक्त लिखा गया है।

निजगुणशिवयोगी—निजगुणयोगी अथवा निजगुण शिवयोगी एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। ये वीरशैव सम्प्रदाय के एक आचार्य थे। इन्होंने 'विवेकचिन्तामणि' नाम का शैव विश्वकोश तैयार किया था। इनका प्रादुर्भावकाल सत्रहवीं शती वि० है।

नित्यपद्धति—आचार्य रामानुज रचित यह एक ग्रन्थ है।

नित्यवाद—यह वेदान्त का एक सिद्धान्त है। इसके अनुसार वस्तुसत्ता स्थायी और निश्चल है। संसार में दिखाई पड़नेवाला परिवर्तन और विध्वंस प्रतीयमान अथवा अवास्तविक है। इस प्रकार वस्तुसत्ता की नित्यता में विश्वास रखनेवाला यह वाद है।

नित्याराधनविधि—यह आचार्य रामानुजरचित एक ग्रन्थ है।

नित्यातन्त्र—एक तन्त्रग्रन्थ का नाम ।

नित्यानन्दतन्त्र—एक तन्त्र का नाम ।

नित्यानन्दमिश्र—ये बृहदारण्यक उपनिषद् के वृत्तिलेखक थे । इनकी वृत्ति का नाम है 'मिताक्षरा' ।

नित्यानन्दाश्रम—छान्दोग्य एवं केनोपनिषद् के एक वृत्ति-लेखक का नाम ।

नित्यानन्द—चैतन्य महाप्रभु के प्रमुख सहयोगी । नित्यानन्द पहले मध्व और पीछे चैतन्य के प्रभाव में आये । चैतन्य सम्प्रदाय की व्यवस्था का कार्य इन्हीं के कन्धों पर था, क्योंकि चैतन्य स्वयं व्यवस्थापक नहीं थे । चैतन्य के परलोक गमन के बाद भी इन्होंने सम्प्रदाय की व्यवस्था सुरक्षित रखी तथा सदस्यों के आचरण के नियम बनाये । नित्यानन्द के बाद इनके पुत्र वीरचन्द्र ने पिता के भार को सँभाला । चैतन्य स्वयं शङ्कराचार्य के दसनामी संन्यासियों में से भारती शाखा के संन्यासी थे । किन्तु नित्यानन्द तथा वीरचन्द्र ने सरल जीवन यापन करने वाले तथा सरल अनुशासन वाले आधुनिक साधुओं के दल को जन्म दिया, जो वैरागी तथा वैरागिनी कहलाये । ये वैरागी रामानन्द के द्वारा प्रचलित वैरागी पन्थ के ढंग के थे ।

नित्यानन्ददास—वि० सं० १६९२ में नित्यानन्ददास ने चैतन्य सम्प्रदाय के इतिहास पर प्रेमविलास नामक एक छन्दोबद्ध ग्रन्थ लिखा ।

नित्याह्निकतिलक तन्त्र—इस ग्रन्थ में शाक्तों के 'कुब्जिका-सम्प्रदाय' के दैनिक क्रिया-कर्म का वर्णन मिलता है । इसकी रचना १२९४ वि० के लगभग हुई थी ।

निद्रा—योगदर्शन के अनुसार जाग्रत् अवस्था से स्वप्न अवस्था में जाने का नाम निद्रा है । किन्तु यह एक स्थूल शारीरिक क्रिया है । मन इसमें क्रियाशील बना रहता है और चेतना से शून्य नहीं होता है ।

निद्रा कालरूपिणी (दुर्गा)—दुर्गा के एक रूप को योगनिद्रा या निद्रा-कालरूपिणी कहते हैं । उसकी पूजा का सम्बन्ध विष्णु-कृष्ण से है । हरिवंश में एक कथा वर्णित है कि कंस को मारने के लिए विष्णु पाताल लोक गये । वहाँ उन्होंने निद्रा-कालरूपिणी से सहायता माँगी तथा उसको वचन दिया कि तुमको मैं देवी का सम्मान दिलाऊँगा । उन्होंने उससे यशोदा की नवीं सन्तान के रूप में उसी दिन जन्म ग्रहण करने को कहा, जिस दिन वे देवकी की आठवीं सन्तान के रूप में अवतरित हों और फिर दोनों का गोकुल में विनिमय हुआ । कंस ने उस कन्या की टाँग पकड़कर शिला पर ज्यों ही पटकना चाहा कि वह हाथ से छूटकर आकाश में चली गयी तथा इन्द्र ने इसे अपनी बहिन मानकर विन्ध्य पर्वत पर बैठा दिया । वहाँ देवी ने शुम्भ तथा निशुम्भ नामक दो दैत्यों का वध किया और विष्णु के वचन के अनुसार उसका पूजन और सम्मान जगत् में प्रचलित हो गया ।

निम्बसप्तमी—वैशाख शुक्ल सप्तमी को इस व्रत का प्रारम्भ होता है । एक वर्षपर्यन्त व्रत चलता है । इसमें सूर्य की पूजा का विधान है । कमल की आकृति बनाकर सूर्य (खखोल्क) को स्थापित करना चाहिए । इसका मूल मन्त्र है : 'ओं खखोल्काय नमः' । बारह आदित्य, जय, विजय, शेष, वासुकि, विनायक, महाश्वेता तथा रानी सुवर्चला को सूर्य की प्रतिमा के सामने स्थापित किया जाना चाहिए तथा सूर्य की प्रतिमा के सम्मुख शयन करना चाहिए । अष्टमी को पुनः सूर्यपूजन करने की विधि है । इससे व्रती समस्त रोगों से मुक्त हो जाता है ।

निम्बार्क—एक वैष्णव सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्य । ये आन्ध्र प्रदेश के एक विद्वान् भागवतधर्मी थे, जो व्रज में जा बसे थे । इन्होंने राधा की पूजा को मान्यता दी तथा अपना एक सम्प्रदाय स्थापित किया । इनका समय निश्चित नहीं है । निम्बार्क भेदाभेद दर्शन के मानने वाले थे । निम्बार्क का प्रारम्भिक नाम भास्कर था । अतः कुछ विद्वान् सोचते हैं कि निम्बार्क एवं भास्कराचार्य (९०० ई०), जिन्होंने भेदाभेद भाष्य रचा, एक ही व्यक्ति हैं । किन्तु यह असम्भव है कि एक ही व्यक्ति शुद्ध वेदान्ती भाष्य तथा साम्प्रदायिक वृत्ति लिखे । व्रज में राधा-उपासना के प्रचलन की घटना भास्कराचार्य के काफी पीछे की है (लगभग ११०० ई०) । निम्बार्क रामानुज से काफी प्रभावित थे तथा उन्हीं की तरह ध्यान पर अधिक जोर देते थे । इनके अनुसार राधा कृष्ण की शाश्वत पत्नी हैं; अपने पति के सदृश ही वे वृन्दावन में अवतरित हुईं तथा उनकी विवाहिता पत्नी हुईं । निम्बार्कों के कृष्ण विष्णु के अवतार मात्र नहीं हैं, वे ब्रह्म हैं तथा उन्हीं से राधा, गोप या गोपी जन्म लेते हैं, जो उनके संग गोलोक में लीला करते हैं ।

निम्बार्क ने इस प्रकार अपना सारा ध्यान कृष्ण तथा राधा पर केन्द्रित किया है। परवर्त्ती अनेक सम्प्रदाय उनके ऋणी हैं। उन्होंने वेदान्तसूत्र पर एक संक्षिप्त भाष्य अथवा वृत्ति लिखी, जिसका नाम 'वेदान्तपारिजात-सौरभ' है तथा 'दशश्लोकी' नामक एक दस पद्यों की पुस्तिका रची है। इस सम्प्रदाय का भाष्य श्रीनिवास-रचित 'वेदान्तकौस्तुभ' है जो एक उच्च कोटि का तार्किक ग्रन्थ है। बाद के आचार्यगण भी विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखते आये हैं। इनकी उपासना विधि के निर्देशक ग्रन्थ गौतमीय संहिता तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण का कृष्ण सम्बन्धी भाग है, जो पीछे से निम्बार्कदर्शन के रूप में सम्भवतः इस पुराण में जोड़ दिया गया है। 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र' की भी निम्बार्क मत से ही उत्पत्ति मानी जा सकती है।

निम्बार्क (गण)—निम्बार्क द्वारा प्रवर्तित मत को मानने वाले निम्बार्क वैष्णव (गण) कहलाते हैं। इनमें गृहस्थ और विरक्त दोनों प्रकार के अनुयायी होते हैं। गुरुगद्दी के संचालक आचार्य भी दोनों ही वर्गों में पाये जाते हैं, जो शिष्यों को मन्त्रोपदेश करते हुए कृष्णभक्ति का प्रचार करते रहते हैं। आचार्य और भक्तगण प्रायः भजन-ध्यान एवं राधा-कृष्ण की युगल उपासना की ओर ही उन्मुख रहते हैं, दार्शनिक सिद्धान्त की अभिरुचि इनमें अधिक नहीं पायी जाती। इसीलिए इनका समन्वय चैतन्य संप्रदाय, राधावल्लभ संप्रदाय, प्रणामी संप्रदाय, धर्मदासी कबीर शाखा, रामानन्दीय, खालसादल आदि के साथ भी सौहार्द के साथ होता आया है। व्रजमंडल, प्रयाग, काशी, नेपाल, बंगाल, उड़ीसा, राजस्थान, द्वारका आदि में निम्बार्कियों की गृहस्थ और विरक्त गुरुगद्दियाँ और मठ-मन्दिर पाये जाते हैं।

निम्बार्कसम्प्रदाय—यह सम्प्रदाय वैष्णव चतुःसंप्रदाय की एक शाखा है। दार्शनिक दृष्टि से यह भेदाभेदवादी है। भेदाभेद और द्वैताद्वैत मत प्रायः एक ही हैं। इस मत के अनुसार द्वैत भी सत्य है और अद्वैत भी। इस मत के प्रधान आचार्य निम्बार्क हो गये हैं परन्तु यह मत अति प्राचीन है। इसे सनकादिसम्प्रदाय भी कहते हैं। ब्रह्मा के चार मानस पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार थे। ये चारों ऋषि इस मत के आचार्य कहे जाते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार-नारद की आख्यायिका प्रसिद्ध है। उसमें कहा गया है कि नारद ने सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखी थी। इन्हीं नारदजी ने निम्बार्क को उपदेश दिया। निम्बार्क ने अपने वेदान्तभाष्य में सनत्कुमार और नारद के नाम का उल्लेख किया है। निम्बार्क ने साम्प्रदायिक ढंग से जिस मत की शिक्षा पायी थी उसे अपनी प्रतिभा से और भी उज्ज्वल बना दिया।

निम्बार्कसम्प्रदाय की एक प्राचीन गुरुगद्दी मथुरा में यमुना के तटवर्ती ध्रुवक्षेत्र में है। वैष्णवों का यह पवित्र तीर्थ माना जाता है। अब अन्यत्र भी प्रभावशाली गुरुगद्दियाँ स्थापित हो गयी हैं। इस सम्प्रदाय के लोग विशेषकर उत्तर भारत में ही रहते हैं। इस सम्प्रदाय की एक विशेषता यह है कि इसके आचार्यों ने अन्य मतों के आचार्यों की तरह दूसरे मतों का खण्डन नहीं किया है। केवल देवाचार्य के ग्रन्थ में शाङ्कर मत पर आक्षेप किया गया है।

निम्बार्काचार्य—दे० 'निम्बार्क'।

निम्मप्पदास—एक कर्नाटकी भक्त का नाम। प्राकृत भाषाओं में धार्मिक ग्रन्थों के लिखे जाने के आन्दोलन के प्रभाव से कन्नड भाषा में भी ग्रन्थ रचे गये। निम्मप्पदास ने औरों की तरह अपनी रचनाएँ (पद्य में) कन्नड भाषा में लिखी हैं।

नियति—शाक्त मत के अनुसार प्राथमिक सृष्टि के दूसरे चरण में शक्ति के भूतिरूप का सामूहिक प्रकटन कूटस्थ पुरुष तथा माया शक्ति के रूप में होता है। कूटस्थ पुरुष व्यक्तिगत आत्माओं का सामूहिक रूप है (मधुमक्खियों की तरह एकत्र हुआ) तथा माया विश्व का अभौतिक उपादान है। माया से नियति की उत्पत्ति होती है, जो सभी वस्तुओं को नियमित करती है। फिर नियति से काल उत्पन्न होता है जो चालक शक्ति है।

नियम—योगदर्शन में निर्दिष्ट अष्टांग योग का द्वितीय घटक। इसकी परिभाषा है: 'शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वर-प्रणिधानानि नियमाः।' [शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर का ध्यान ये नियम कहलाते हैं।] सामान्य अर्थ है 'स्वेच्छा से अपने ऊपर नियन्त्रण रखकर अच्छा अभ्यास विकसित करना', जैसे स्नान, शुद्धाचार, शरीर को निर्मल बनाना, सन्तोष, प्रसन्नता, अध्ययन, उदासीनता आदि।

नियमयूथमालिका—अप्पय दीक्षित रचित 'नियमयूथ-मालिका' रामानुज मत का दिग्दर्शन कराती है।

नियोग—इसका शाब्दिक अर्थ है 'नियोजन' अथवा 'योजना' अर्थात् पति की असमर्थता अथवा अभाव में ऐसी व्यवस्था जिससे सन्तान उत्पन्न हो सके। वैदिक काल से लेकर ३०० ई० पू० तक विधवा के पति के साथ चिता पर जलने का विधान नहीं था। उसके जीवन व्यतीत करने के तीन मार्ग थे—(१) आजीवन वैधव्य, (२) नियोग द्वारा सन्तान प्राप्त करना और (३) पुनर्विवाह।

प्राचीन काल में नियोग अनेक सभ्यताओं में प्रचलित था। इसका कारण ढूँढना कठिन नहीं है। स्त्री पति की ही नहीं बल्कि उसके परिवार की सम्पत्ति समझी जाती थी और इसी कारण पति के मरने के बाद उसका देवर (पति का भाई) उसे पत्नी के रूप में ग्रहण करता तथा सन्तानोत्पादन करता था। प्राचीन काल में ग्रहण किये गये 'दत्तक' पुत्र से नियोग द्वारा पैदा किया गया पुत्र श्रेष्ठ समझा जाता था। इसलिए उसे औरस के बाद दूसरा स्थान प्राप्त होता था। महाभारत तथा पुराणों के अनेक नायक नियोग से पैदा हुए थे।

नियोग प्रणाली के अनुसार जब किसी स्त्री का पति मर जाता या सन्तानोत्पादन के अयोग्य होता था तो वह अपने देवर या किसी निकटवर्ती सम्बन्धी के साथ सहवास कर कुछ सन्तान उत्पन्न करती थी। देवर इस कार्य के लिए सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था। देवर अथवा सगोत्र के अभाव में किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण से नियोग कराया जाता था।

परवर्त्ती स्मृतियों में नियोग द्वारा एक ही पुत्र पैदा करने की आज्ञा दी गयी, किन्तु पहले कुछ भिन्न अवस्था थी। कुन्ती ने अपने पति से बाधित हो नियोग द्वारा तीन पुत्र प्राप्त किये थे। पाण्डु इस संख्या से सन्तुष्ट नहीं थे, किन्तु कुन्ती ने सुझाया कि नियोग द्वारा तीन ही पुत्र पैदा किये जा सकते हैं। क्षत्रियों को अनेक पुत्रों की कामना हुआ करती थी तथा प्रागैतिहासिक काल में नियोग से असंख्य सन्तान पैदा करने की परिपाटी थी।

३०० ई० पू० तक नियोग प्रथा प्रचलित थी। किन्तु इसके बाद इसका विरोध आरम्भ हुआ। आपस्तम्ब, बौधायन तथा मनु ने इसका विरोध किया। मनु ने इसे पशुधर्म कहा है। वसिष्ठ तथा गौतम ने इसका केवल इतना ही विरोध किया कि देवर के प्राप्त होने पर कोई स्त्री किसी अपरिचित से नियोग न करे। कौटिल्य एक बूढ़े राजा को नियोग द्वारा एक नया पुत्र प्राप्त करने की स्वीकृति देते हैं। इस विरोध का इतना फल हुआ कि शारीरिक आनन्द के लिए नियोग न कर पुत्र की कामनावश ही नियोग की प्रथा रह गयी। गर्भाधान के बाद दोनों (विधवा तथा नियोजित पति) अलग हो जाते थे। धीरे-धीरे जब सन्तानोत्पत्ति अनिवार्य न रही तो नियोग प्रथा भी बन्द हो गयी। आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने नियोग का कुछ अनुमोदन किया परन्तु यह प्रथा पुनर्जीवित नहीं हुई। धीरे-धीरे विधवाविवाह के प्रचलन से यह प्रथा बन्द हो गयी। जो विधवा वैधव्य की कठोरता का पालन करने में असमर्थ हो उसके लिए पुनर्विवाह करना उचित माना गया। इससे नियोग की प्रथा एकदम समाप्त हो गयी।

निर्जला एकादशी—ज्येष्ठ शुक्ल एकादशी को निर्जला एकादशी कहते हैं। इस दिन प्रातः से लेकर दूसरे दिन प्रातः तक उपवास करना चाहिए। इस दिन जलग्रहण भी निषिद्ध है, केवल सन्ध्योपासना के समय किये गये आचमनों को छोड़कर। दूसरे दिन प्रातः शर्करामिश्रित जल से परिपूर्ण एक कलश दान में देकर स्वयं जलपानादि करना चाहिए। इससे बारहों द्वादशियों का फल तो प्राप्त होता ही है, व्रती सीधा विष्णुलोक को जाता है।

निराकारमीमांसा—गुरु नानकरचित एक ग्रन्थ। यह संस्कृत भाषा में रचा गया है।

निरालम्ब उपनिषद्—यह एक परवर्त्ती उपनिषद् है।

निरुक्त—वेद का अर्थ स्पष्ट करने वाले दो ग्रन्थ अति प्राचीन समझे जाते हैं, एक तो निघण्टु तथा दूसरा यास्क का निरुक्त। कुछ विद्वानों के अनुसार निघण्टु के भी रचयिता यास्क ही थे। दुर्गाचार्य ने निरुक्त पर अपनी सुप्रसिद्ध वृत्ति लिखी है। निरुक्त से शब्दों की व्युत्पत्ति समझ में आती है और प्रसंगानुसार अर्थ लगाने में सुविधा होती है।

वास्तव में वैदिक अर्थ को स्पष्ट करने के लिए निरुक्त की पुरानी परम्परा थी। इस परम्परा में यास्क का चौदहवाँ स्थान है। यास्क ने निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों की व्याख्या निरुक्त के प्रथम तीन अध्यायों में की है। निघण्टु के चतुर्थ अध्याय की व्याख्या निरुक्त के अगले तीन अध्यायों में की गयी है। निघण्टु के पञ्चम अध्याय की व्याख्या निरुक्त के शेष छः अध्यायों में हुई है।

जैसा कि कहा गया है, निरुक्त का उद्देश्य है व्युत्पत्ति (प्रकृति-प्रत्यय) के आधार पर अर्थ का रहस्य खोलना। मुख्यतः दो प्रकार के अर्थ होते हैं—(१) सामान्य और (२) विशिष्ट। सामान्य के चार भेद हैं—(१) कथित, उच्चरित अथवा व्याख्यात (२) उद्घोषित (महाभारतादि में) (३) निर्दिष्ट अथवा विहित (धर्मशास्त्र में) (४) व्युत्पत्त्यात्मक। विशिष्ट का अर्थ है वैदिक शब्दों का व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ अथवा व्याख्या करने वाले ग्रन्थ। वेदाङ्गों में निरुक्त का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है।

निरुवनपुराण—नाथपंथी योगियों द्वारा रचित एक ग्रन्थ का नाम।

निरूढपशुबन्ध—एक प्रकार का यज्ञ, जिसमें यज्ञस्तंभ को जिस वृक्ष से काटते थे, उसको अभिषिक्त करते थे। फिर बलिपशु को तेल व हरिद्रा मलकर नहलाते तथा बलि के पूर्व घी से उसको अभिषिक्त करते थे। इसके पश्चात् उसको स्तम्भ से बाँध देते थे और विधि के अनुसार उसकी बलि देते थे।

निर्गुण—इसका अर्थ है गुणरहित। चरम सत्ता ब्रह्म के दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण। उसके सगुण रूप से दृश्य जगत् का विकास अथवा विवर्त होता है। किंतु वास्तविक वस्तुसत्ता तो निर्गुण ही होती है। गुणों के सहारे से उसका वर्णन अथवा निर्वचन नहीं हो सकता है। सम्पूर्ण विश्व में अन्तर्यामी होते हुए भी वह तात्त्विक दृष्टि से अतिरेकी और निर्गुण ही रहता है।

निर्णयसिन्धु—यह कमलाकर भट्ट का सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह उनकी विद्या, अध्यवसाय तथा सरलता का प्रतीक है। न्यायालयों में यह प्रमाण माना जाता है। निर्णयसिन्धु में लगभग एक सौ स्मृतियों और तीन सौ निबन्धकारों का उल्लेख हुआ है। यह ग्रन्थ तीन परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें विविध धार्मिक विषयों पर निर्णय दिया गया है, जैसे वर्ष के प्रकार (सौर, चान्द्र आदि), चार प्रकार के मास, संक्रान्ति के कृत्य और दान, अधिक मास, क्षयमास, तिथियाँ (शुद्ध और विद्ध), व्रत, उत्सव, संस्कार, सपिण्ड सम्बन्ध, मूर्तिप्रतिष्ठा, मुहूर्त्त, श्राद्ध, अशौच, सतीप्रथा, संन्यास आदि। इसकी रचना काशी में सोलहवीं शती के पूर्वार्द्ध में हुई थी।

निर्मल—सिक्खों के विरक्त सम्प्रदाय का नाम। सिक्ख सम्प्रदाय मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त है—(१) सहिजधारी और (२) सिख। पहले के छः तथा दूसरे के तीन उपविभाग हैं। सिखों की तीन शाखाएँ हैं—(१) खालसा, (२) निर्मल और (३) अकाली। निर्मल संन्यासियों का दल है। इस दल के संस्थापक वीरसिंह थे, जिन्होंने १७४७ वि० में इस शाखा को संगठित किया।

निर्मल पंथ—दे० 'निर्मल'।

निरोधलक्षण—वल्लभाचार्य द्वारा रचित एक ग्रन्थ। इसका पूरा नाम 'निरोधलक्षणनिवृत्ति' है।

निर्वचन ग्रन्थ—निरुक्त के विषयों के 'निर्वचनलक्षण' तथा 'निर्वचनोपदेश' दो विभाग हैं।

निर्वाण—यह मुख्यतः बौद्ध दर्शन का शब्द है, किन्तु आस्तिक दर्शनों में उपनिषदों के समय से इसका प्रयोग हुआ है। निर्वाण तथा ब्रह्मनिर्वाण दोनों प्रकार से इसका विवेचन किया गया है। यह आत्मा की वह स्थिति है जिसमें सम्पूर्ण वेदना, दुःख, मानसिक चिन्ता और संक्षेप में समस्त संसार लुप्त हो जाते हैं। इसमें आत्मतत्त्व की चेतना अथवा सच्चिदानन्द स्वरूप नहीं नष्ट होता, किन्तु उसके दुःखमूलक संकीर्ण व्यक्तित्व का लोप हो जाता है।

निर्वाण उपनिषद्—यह एक परवर्त्ती उपनिषद् है।

निविद—सार्वजनिक वैदिक पूजा के अवसर पर देवों को जागृत तथा आमन्त्रित करने वाले मन्त्र का नाम। ब्राह्मणों में निविद का बार-बार उल्लेख आया है, जिसका समावेश प्रपाठकों में हुआ है। ऋग्वेद के खिलों में निविदों का एक पञ्चक ही संगृहीत है। किन्तु यह सन्देहात्मक है कि ऋग्वेदीय काल में निविद जैसे सूक्तों के प्रयोग की प्रथा थी, यद्यपि यह ऋग्वेद में पाया जाता है। ब्राह्मणों में जो इसका क्रियात्मक अर्थ है वह यहाँ नहीं प्रयुक्त हुआ है। परवर्त्ती संहिताओं में इस शब्द का प्रयोग क्रियात्मक अर्थ में ही हुआ है।

निशी—अमानवीय आत्माओं में दैत्य एवं दानवों के अतिरिक्त प्रकृति के कुछ भयावने उपादानों को भी प्राचीन काल में दैत्य का रूप दे दिया गया था। अन्धेरी रात, पर्वतगुफा, सघन वनस्थली आदि ऐसे ही उपादान थे। 'निशी' रात के अन्धेरे का ही दैत्यीकरण है। प्राचीन काल में और आज भी यह विश्वास किया जाता है कि निशी (दैत्य के रूप में) आधी रात को आती है, घर के स्वामी को बुलाती है तथा उसे अपने पीछे-पीछे चलने को बाध्य करती है। उसे वन में घसीट ले जाती है तथा

काँटों में गिरा देती है। कभी-कभी ऊँचे पेड़ों पर चढ़ा देती है। उसकी पुकार का उत्तर देना बड़ा संकटमय होता है।

निश्चलदास—एक दादूपन्थी सन्त, जो महात्मा दादूजी के शिष्य थे। ये कवि तथा वेदान्ती भी थे। इनकी रचनाएँ उत्कृष्ट हैं, और सबका आधार श्रुति-स्मृति और विशेषतः अद्वैतवाद है। निश्चलदास के प्रभाव से दादूपन्थ के सदस्यों ने अद्वैत सिद्धान्त को ग्रहण किया था।

निश्वास आगम—यह रौद्रिक आगम है।

निश्वासतत्त्वसंहिता—यह ग्यारहवीं शताब्दी वि० का ग्रन्थ है, जो शाक्त जीवन के सभी अङ्गों के लिए विशद नियमावली प्रस्तुत करता है।

निष्कलंकावतार—अठारहवीं शताब्दी वि० के उत्तरार्ध में बुन्देलखण्ड के पन्ना नामक स्थान पर महात्मा प्राणनाथ ने शिक्षा दी कि भारत के सारे धर्म मेरे ही व्यक्तित्व में समन्वित हैं, क्योंकि मैं एक साथ ही ईसाइयों का मसीहा, मुसलमानों का महदी तथा हिन्दुओं का निष्कलंकावतार हूँ। उन्होंने अपना धर्मसिद्धान्त 'कुलज्जम साहेब' नामक ग्रन्थ में व्यक्त किया है। दे० 'कुलज्जम साहेब'।

निष्काम कर्म—मोक्ष की प्राप्ति के लिए भागवत धर्म में और विशेषकर भगवद्गीता में निष्काम कर्म का आदेश है। इसमें फल की इच्छा के बिना कर्म किया जाता है तथा उपास्यदेव के चरणों में कर्म को समर्पित किया जाता है। देवता इसे ग्रहण करता है तथा अपनी स्वर्गीय प्रकृति को उसके फल के रूप में देता है। फिर देवता उपासक अथवा कर्म करनेवाले के हृदय में प्रवेश करता है तथा भक्ति के गुणों को जन्म देता है और अन्त में मोक्ष प्रदान करता है।

निष्काम कर्म के पीछे दार्शनिक विचार यह है कि कर्म के फल—शुभाशुभ के अनुसार मनुष्य संसारचक्र अथवा आवागमन में फँसता है। इसलिए जब तक कर्म से छुटकारा नहीं मिलता तब तक मुक्ति सम्भव नहीं। अब प्रश्न यह उठता है कि यह छुटकारा कैसे मिले। एक मार्ग यह है कि कर्म का पूरा परित्याग करके संसार से संन्यास ले लेना चाहिए। इसका अर्थ है अक्षरशः नैष्कर्म्य का पालन। परन्तु गीता में कहा गया है कि ऐसा करना सम्भव नहीं। जब तक मनुष्य शरीरधारण करता है तब तक वह कर्म से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए सांख्य दर्शन के अनुसार उसे यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिए कि सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के द्वारा होता है; पुरुष के ऊपर कर्म का आरोप मिथ्या तथा भ्रममूलक है। जब यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब मनुष्य बन्धन में नहीं पड़ता। जिस प्रकार भुने हुए चने से फिर पौधा नहीं उत्पन्न होता वैसे ही सांख्यबुद्धि से कर्मफल उत्पन्न नहीं होता। परन्तु यह मार्ग सरल नहीं है। अतएव भक्तिमार्ग में, विशेषकर भागवत सम्प्रदाय में, यह बताया गया है कि कर्म को भगवत्प्रीत्यर्थ करना चाहिए और फल की निजी कामना न करके उसे भगवान् के चरणों में अर्पित कर देना चाहिए। इस प्रकार कृष्णार्पणबुद्धि से कर्म करने से मनुष्य बन्धन में नहीं पड़ता।

निष्किरीय—वैदिक पुरोहितों की एक शाखा का नाम निष्किरीय है जिसका उल्लेख पञ्चविंश ब्राह्मण (१२.५,१४) में हुआ है। इसके द्वारा एक सत्र चलाया गया था।

निषिद्ध तिथि आदि—कुछ निश्चित मासों, तिथियों, साप्ताहिक दिनों, संक्रान्तियों तथा व्रतों के अवसरों पर कुछ क्रियाएँ तथा आचार-व्यवहार निषिद्ध हैं। इनकी एक लम्बी सूची है। जीमूतवाहन के कालविवेक (पृष्ठ ३३४-३४५) में इस प्रकार के निषिद्ध क्रियाकलापों की एक सूची दी गयी है, किन्तु अन्त में यह भी कह दिया गया है कि ये क्रियाकलाप उन्हीं लोगों के लिए निषिद्ध हैं, जो वेद, शास्त्र, स्मृति ग्रन्थ तथा पुराण जानते हैं। ऐसे अवसर कदाचित् असंख्य हैं, जिनका परिगणन असम्भव है।

निहंग—सिक्खों की सिंघ शाखा के अकाली 'निहंग' भी कहे जाते हैं। वास्तव में संस्कृत निःसंग का ही यह प्राकृत रूप है, जिसका अर्थ है संग अथवा आसक्तिरहित।

नीतिवाक्यामृत—सोमदेव सूरि कृत राजनीति विषयक दशम शताब्दी का एक ग्रन्थ। यह ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र की शैली में लिखा गया है। सामग्री भी अधिकांशतः उसी ग्रन्थ से ली गयी है। इसके अनुसार राजनीति का उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति है: "धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः" [उस राज्य को नमस्कार है, जिसका फल धर्म, अर्थ और काम है।] इस ग्रन्थ में निम्नांकित विषयों पर विचार किया गया है:

१. धर्मसमुद्देश
२. अर्थसमुद्देश
३. कामसमुद्देश
४. अरिषड्वर्ग
५. विद्यावृद्ध
६. आन्वीक्षिकी
७. त्रयी
८. वार्ता
९. दण्डनीति
१०. मन्त्री
११. पुरोहित
१२. सेनापति
१३. चार
१४. विचार
१५. दूत
१६. व्यसन
१७. स्वामी
१८. अमात्य
१९. जनपद
२०. दुर्ग
२१. कोश
२२. बल
२३. मित्र
२४. राजरक्षा
२५. दिवसानुष्ठान
२६. सदाचार
२७. व्यवहार
२८. विवाद
२९. षाड्गुण्य
३०. युद्ध
३१. विवाह
३२. प्रकीर्ण
३३. ग्रन्थकर्ताप्रशस्ति
३४. पुस्तकदाता प्रशस्ति

नीतिशास्त्र—नीतिशास्त्र का प्रारम्भिक अर्थ राजनीतिशास्त्र है, किन्तु परवर्ती काल में नीति का साधारण अर्थ आचरणशास्त्र किया जाने लगा तथा राजनीति इसका एक भाग बन गया। शुक्रनीतिसार (१.५) में नीति की परिभाषा इस प्रकार से दी गयी है :

सर्वोपजीविकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम् ।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ॥

[नीतिशास्त्र सभी की जीविका का साधन, लोक की स्थिति सुरक्षित करने वाला, धर्म, अर्थ और काम का मूल और इस प्रकार मोक्ष प्रदान करने वाला है।]

आधुनिक अर्थ में नीतिशास्त्र प्राचीन धर्मशास्त्र का ही एक अङ्ग है। धर्म शब्द के अन्तर्गत ही नीति का भी समावेश है। धर्म के सामान्य और विशेष अङ्ग में व्यक्तिगत तथा सामाजिक नीति अन्तर्निहित है।

सामान्य नीति पर चाणक्यनीति, विदुरनीति, भर्तृहरिनीतिशतक आदि कई प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। विशिष्ट अथवा सामाजिक (वर्ण-आश्रमपरक) नीति पर धर्मशास्त्र का बहुत बड़ा अंश है।

नीथ—यह एक प्रकार का गान था जो सोमयागों के अवसर पर गाया जाता था। 'नीथ' (चालक) गान के स्वर का बोध प्रथम अर्थ से तथा दूसरे अर्थ से स्तुति की ऋचा का बोध होता है। इसका स्त्रीलिंग रूप 'नीथा' केवल एक बार ही ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ हथियार है।

नीमावत—निम्बार्क सम्प्रदाय का ही अन्य नाम सधुक्कड़ी बोली में नीमावत है। दे० 'निम्बार्क' शब्द।

नीराजनद्वादशी—कार्तिक शुक्ल द्वादशी को नीराजन द्वादशी भी कहते हैं। रात्रि के प्रारम्भ होने के समय जब भगवान् विष्णु शयन त्याग कर उठ बैठते हैं, इस व्रत का आचरण किया जाता है। विष्णु की प्रतिमा के सम्मुख तथा अन्य देवगण, जैसे सूर्य, शिव, गौरी, पितरों के सम्मुख तथा गोशाला, अश्वशाला, गजशाला में भी दीपमाला प्रज्वलित की जानी चाहिए। राजा लोग भी समस्त राजचिह्नों को राजभवन के मुख्य प्राङ्गण में रख कर पूजें। एक धार्मिक तथा शुद्धाचरण करने वाली स्त्री अथवा वेश्या को राजा के सिर के ऊपर तीन बार दीपों की माला घुमानी चाहिए। यह महाशान्तिप्रदायक (साधनापरक) धार्मिक कृत्य है, जिससे रोग दूर होते हैं तथा धनधान्य की अभिवृद्धि होती है। महाराज अजपाल ने सर्वप्रथम इस व्रत का आचरण किया था। इसका आचरण प्रतिवर्ष होना चाहिए।

नीराजननवमी—कृष्ण पक्ष की नवमी (कार्तिक मास) को नीराजननवमी कहते हैं। इसकी रात्रि में दुर्गाजी तथा उनके आयुधों का पूजन होता है। दूसरे दिन प्रातः सूर्योदय के समय नीराजनशान्ति करनी चाहिए। दे० नीलमत पुराण (पृ० ७६, श्लोक ९३१-९३३)।

नीराजनविधि—यह एक शान्तिप्रद कर्म है। कार्तिक कृष्ण द्वादशी से शुक्ल प्रतिपदा तक इसका अनुष्ठान होता है। यदि राजा इस विधि को करे तो उसे अपनी राजधानी की ईशान दिशा में दीर्घाकार ध्वजाओं से सज्जित विशाल मण्डप बनवाना चाहिए जिसमें तीन तोरण भी हों। इसमें देवगण की पूजा तथा होम करने का विधान है। यह धार्मिक कृत्य उस समय किया जाय जब सूर्य चित्रा नक्षत्र से स्वाती नक्षत्र की ओर अग्रसर हो रहा हो तथा जब तक वह स्वाती पर विद्यमान रहे। पल्लवों से आच्छादित, पञ्चवर्ण सूत्रों से आवृत, जलपूर्ण कलश स्थापित किया जाय। तोरण की पश्चिम दिशा में मन्त्रोच्चारण पूर्वक हाथियों को स्नान कराया जाय। अश्वों का भी स्नान हो, तदनन्तर राजपुरोहित उन्हें (हाथियों को) भोजन-चारा खिलाये। यदि हाथी प्रसन्नतापूर्वक उस भोजन को ग्रहण

करते हैं तो राजा की विजय निश्चित है । यदि वे भोजन अस्वीकार करते हैं तो इसे महान् संकट की सूचना समझना चाहिए । हाथियों की अन्य क्रियाओं से इसी प्रकार के शकुन-अपशकुन समझ लेने चाहिए । तदनन्तर राजचिह्नों का, जैसे छत्र तथा ध्वज का, पूजन होना चाहिए । जब तक सूर्य स्वाती नक्षत्र पर हो हाथियों तथा घोड़ों का इसी प्रकार से सम्मान किया जाय । कोई कठोर शब्द उनके प्रति प्रयुक्त न हो और न उन्हें पीटा जाय । सशस्त्र रक्षकों से मण्डप की निरन्तर सुरक्षा होती रहनी चाहिए । राजज्योतिषी, पुरोहित, मुख्य पशुचिकित्सक तथा गजचिकित्सक को सर्वदा मण्डप के अन्दर रहना चाहिए । जिस दिन सूर्य स्वाती नक्षत्र से हटकर विशाखा नक्षत्र का स्पर्श करे उस दिन अश्वों तथा गजों को सजाकर उनके ऊपर राजछत्र तथा राजखड्ग स्थापित करके मन्त्रोच्चारण तथा वाद्ययन्त्र बजाये जाने चाहिए । राजा स्वयं अश्व पर सवार हो तथा कुछ देर बाद गज पर सवार होकर तोरणों में प्रविष्ट हो । उस समय राजा की सेना तथा नागरिक उसका अनुसरण करें । बाद में जुलूस राजभवन तक जाय । नागरिकों का सम्मान कर उन्हें विसर्जित किया जाय । यह धार्मिक कृत्य शान्तिपरक है । सुख-सौभाग्य की अभिवृद्धि तथा अश्वों तथा गजों की सुरक्षा के लिए राजागण इस व्रत का आचरण करें । विशेष जानकारी के लिए देखिए, कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा बृहस्पतिसंहिता, अध्याय ४४, अग्निपुराण, २६८,१६-३१ ।

नीलकण्ठ—(१) आगमिक शैवों के एक आचार्य, जिन्होंने क्रियासार नामक संस्कृत ग्रन्थ रचा । यह ग्रन्थ 'शैवभाष्य' का संक्षिप्तीकरण है । इस ग्रन्थ का उपयोग लिङ्गायतों में होता है । नीलकण्ठ १७वीं शताब्दी के मध्यकाल में हुए थे ।

(२) एक नीलकण्ठ धर्मशास्त्र के निबन्धकार भी हैं, जिन्होंने काशी में नीलकण्ठमयूख नामक बृहत् निबन्ध ग्रन्थ की रचना की । इसके 'संस्कारमयूख' और 'व्यवहारमयूख' बहुत प्रसिद्ध हैं ।

नीलकण्ठ दीक्षित—अप्पय दीक्षित के छोटे भाई के पौत्र । अप्पय दीक्षित की मृत्यु के समय उनके ग्यारह पुत्र तथा नीलकण्ठ सम्मुख ही थे । उस समय उन्होंने सबसे अधिक प्रेम नीलकण्ठ पर ही प्रकट किया ।

नीलकण्ठ भट्ट—शङ्करभट्ट के पुत्र और नारायण भट्ट के पौत्र । इनका जीवनकाल १६१० और १६५० ई० के बीच रखा जा सकता है । इनके पिता शङ्करभट्ट प्रसिद्ध मीमांसक थे, उन्होंने 'शास्त्रदीपिका' पर भाष्य, 'विधिरसायनदूषण', 'मीमांसा बालप्रकाश' आदि ग्रन्थों की रचना की । 'द्वैतनिर्णय' और 'धर्मप्रकाश' ग्रन्थ भी इन्हीं द्वारा प्रणीत थे । इनका धर्मशास्त्र पर प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भगवन्तभास्कर' बारह मयूखों में विभक्त है । ये मयूख हैं : १. संस्कार २. आचार ३. काल ४. श्राद्ध ५. नीति ६. व्यवहार ७. दान ८. उत्सर्ग ९. प्रतिष्ठा १०. प्रायश्चित्त ११. शुद्धि और १२. शान्ति । नीलकण्ठ भट्ट ने 'भगवन्तभास्कर' की रचना भगवन्तदेव नामक बुन्देले राजा के सम्मान में की थी । इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इन्होंने 'व्यवहारतत्त्व' और 'दत्तकनिर्णय' का भी प्रणयन किया ।

अपने पिता के समान ही ये प्रसिद्ध मीमांसक थे । धर्मशास्त्र में इनका अगाध प्रवेश था । इनका ग्रन्थ व्यवहारमयूख हिन्दू विधि पर उच्च न्यायालयों द्वारा प्रामाणिक माना जाता है ।

नीलकण्ठ सूरि—महाभारत के टीकाकार । इनका जन्म महाराष्ट्र देश में हुआ था । ये गोदावरी के पश्चिमी तट पर कूर्पर नामक स्थान में रहते थे । इनका स्थितिकाल सोलहवीं शताब्दी है । ये चतुर्धर वंश में उत्पन्न हुए और इनके पिता का नाम गोविन्द सूरि था । इनकी महाभारतटीका 'भारतभावदीप' नाम से विख्यात है । गीता की व्याख्या के आरम्भ में अपनी व्याख्या को सम्प्रदायानुसारी बतलाते हुए इन्होंने शङ्कराचार्य एवं श्रीधर स्वामी की वन्दना की है । यद्यपि गीता की व्याख्या में इन्होंने कहीं-कहीं शाङ्करभाष्य का अतिक्रमण भी किया है तथापि इनका मुख्य अभिप्राय अद्वैत सम्प्रदाय के अनुकूल ही है । 'भारतभावदीप' के अतिरिक्त इनकी और कोई कृति नहीं मिलती । परन्तु महाभारत की इस 'नीलकण्ठी' टीका ने ही इनको अत्यन्त प्रसिद्ध बना दिया है ।

नीलज्येष्ठ—श्रावण मास की अष्टमी के दिन जब रविवार तथा ज्येष्ठा नक्षत्र हो उस समय इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है । इसके देवता सूर्य हैं । इसमें रविवार का दिन विशेष महत्त्वपूर्ण है, नक्षत्र की गणना तो बाद में है ।

नीलतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में जिन तन्त्रों का उल्लेख है उनमें नीलतन्त्र भी प्रमुख है ।

नीलरुद्र उपनिषद्—यह एक शैव उपनिषद् है ।

नीलवृषदान—आश्विन अथवा कार्तिक पूर्णिमा के दिन इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए । इसी दिन नीलवर्ण का साँड़ छोड़ा जाता है ।

नीलव्रत—इस व्रत में नक्त (रात्रि में एक सयय भोजन) पद्धति से प्रति दूसरे दिन एक वर्ष तक भोजन ग्रहण करना चाहिए । यह संवत्सरव्रत है । वर्ष के अन्त में नील कमल तथा शर्करा से परिपूर्ण एक पात्र एवं वृषभ का दान करना चाहिए । इस व्रत से व्रती विष्णुलोक को प्राप्त करता है ।

नृग—(१) राजा नृग की कथा पुराणों में प्रसिद्ध है। भागवत पुराण के अनुसार नृग इक्ष्वाकु के पुत्र थे । वे दान के लिए प्रसिद्ध थे । एक बार उन्होंने ब्राह्मण की गाय को, जो उनके गोझुण्ड में मिल गयी थी, भूल से दूसरे ब्राह्मण को दान में दे दिया । ब्राह्मण ने राजा पर दोषारोपण किया । राजा ने दोनों ब्राह्मणों को बुलाया । दोनों में से कोई उस गाय के बदले दूसरी गाय लेने को तैयार न हुआ । राजा विवश था । जब वह मरा तो यमराज ने दण्डस्वरूप उसको गिरगिट का जन्म देकर संसार में भेजा । एक कुएँ में यह पड़ा रहता था । भगवान् कृष्ण का जब अवतार हुआ तब इसका उद्धार हुआ ।

(२) वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्य वृहस्पतिमिश्र का आश्रयदाता नृग नामक तिरहुत का राजा था ।

नृमेध, नृमेधा—ऋग्वेद (१०.८०,३) में यह अग्नि के एक शिष्य (रक्षित) का नाम है । इसका अन्य नाम सुमेधा था, जिसे ग्रिफिथ 'अबोध' बताते हैं। तैत्तिरीय संहिता में नृमेध परुच्छेप का असफल प्रतियोगी है एवं पंचविंश ब्राह्मण (८.८,२१) में यह आङ्गिरस् गोत्रज तथा सामों का रचयिता कहा गया है ।

नृसिंह उपपुराण—नरसिंह सम्प्रदाय से सम्बन्धित एक उपपुराण ।

नृसिंहत्रयोदशी—गुरुवार की त्रयोदशी को नृसिंहत्रयोदशी कहते हैं । यह भगवान् विष्णु के नृसिंह अवतार से सम्बन्धित है । इस दिन उन्हीं का व्रत किया जाता है ।

नृसिंहपूर्वतापनीय उपनिषद्—नृसिंह सम्प्रदाय की दो उपनिषदें मुख्य आधारग्रन्थ हैं, वे हैं नृसिंह पूर्व एवं उत्तर तापनीय । नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् के भी दो भाग हैं । प्रथम भाग में नृसिंह का राजमन्त्र तथा इसकी रहस्यात्मक एकता का विवेचन है । दूसरे भाग में नृसिंहमंत्रराज तथा तीन अन्य दूसरे प्रसिद्ध वैष्णव मन्त्रों द्वारा यन्त्र बनाने का निर्देश है, जिसे कवच के रूप में कंठ, भुजा या जटा में पहना जाता है ।

नृसिंह सरस्वती—वेदान्तसार की टीका सुबोधिनी के रचयिता । यह टीका इन्होंने सं० १५१८ में लिखी थी । अतः इनका स्थितिकाल विक्रमी सत्रहवीं शताब्दी होना चाहिए । सुबोधिनी की भाषा बहुत सुन्दर है । इससे इनकी उच्चकोटि की प्रतिभा का परिचय मिलता है । इनके गुरु का नाम कृष्णानन्द स्वामी था ।

नृसिंहसंहिता—(नरसिंहसंहिता) नरसिंह सम्प्रदाय के साहित्य में इस ग्रन्थ की गणना प्रमुखतया की जाती है ।

नृसिंहाचार्य—ऐतरेय एवं कौषीतकि आरण्यकों पर शङ्कराचार्य के भाष्य हैं तथा उनके भाष्यों पर अनेक आचार्यों की टीकाएँ हैं । इनमें नृसिंहाचार्य की भी एक टीका है । नृसिंहाचार्य ने श्वेताश्वतर एवं मैत्रायणी पर शङ्कर द्वारा रचे गये भाष्यों की भी टीका लिखी है । आपस्तम्बधर्मसूत्र पर नृसिंहाचार्य ने वृत्ति लिखी है ।

नृसिंहानन्द नाथ—दक्षिणमार्गी शाक्त विद्वानों की परम्परा में अप्पय दीक्षित के काल के पश्चात् दक्षिण (तंजौर) के ही तीन विद्वानों के नाम प्रसिद्ध हैं । ये तीनों गुरुपरम्परा का निर्माण करते हैं । ये हैं नृसिंहानन्द नाथ, भास्करानन्द नाथ तथा उमानन्द नाथ । ये तीनों उसी शाखा के हैं जिससे लक्ष्मीधर विद्यानाथ सम्बन्धित थे ।

नृसिंहावतार—विष्णु का नृसिंहावतार हिरण्याक्ष के छोटे भाई हिरण्यकशिपु के वध एवं धर्म के उद्धार के लिए हुआ था । हिरण्यकशिपु अपने बड़े भाई के वध के कारण विष्णु से बहुत ही क्रुद्ध रहा करता था और उनको अपना बड़ा शत्रु समझता था । इधर ब्रह्माजी के वर के प्रभाव से इस दैत्य ने समस्त स्वर्ग के राज्य पर अधिकार करके वहाँ के देवताओं को स्वर्ग से निकाल दिया था । उस समय देवताओं द्वारा विष्णु की प्रार्थना की गयी, जिससे भगवान् ने प्रसन्न होकर देवताओं से कहा कि हिरण्यकशिपु जब वेद, धर्म तथा अपने भगवद्भक्त पुत्र पर अत्याचार करेगा, उस समय मैं नृसिंह रूप में आविर्भूत होकर उसका वध करूँगा । भागवत पुराण के अनुसार प्रह्लाद की आस्था को सत्य करने तथा समस्त विश्व में अपनी व्यापक सत्ता का परिचय देने के लिए भगवान्

विष्णु न मृग और न मानव अर्थात् अपूर्व नृसिंह रूप धारण कर स्तम्भ से ही प्रकट हो गये। इस स्वरूप को देखकर हिरण्यकशिपु के मन में किसी प्रकार का भय नहीं हुआ। वह हाथ में गदा लेकर नृसिंह भगवान् के ऊपर प्रहार करने को उद्यत हो गया। किन्तु प्रभु ने तुरन्त ही उसे पकड़ लिया और जिस प्रकार गरुड विषधर सर्प को मार डालता है उसी प्रकार नृसिंह रूपधारी भगवान् विष्णु ने उस दैत्यराज को अपने नखों द्वारा उसका हृदय विदीर्ण कर मार डाला और सरलमति बालक प्रह्लाद की रक्षा की।

नृसिंहाश्रम—अद्वैत सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य। इनके गुरु स्वामी जगन्नाथाश्रम थे। इनका जीवनकाल पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध होना चाहिए। नृसिंहाश्रम स्वामी उद्भट दार्शनिक और बड़े प्रौढ पण्डित थे। इनकी रचना बहुत उच्च कोटि की और युक्तिप्रधान है। कहते हैं, इन्हीं की प्रेरणा से अप्पय दीक्षित ने 'परिमल', 'न्यायरक्षामणि' एवं 'सिद्धान्तलेश' आदि वेदान्त ग्रन्थों की रचना की थी। इनके रचे हुए ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

(१) भावप्रकाशिका—यह प्रकाशात्म यति कृत पञ्चपादिकाविवरण की टीका है।

(२) तत्त्वविवेक (१६०४ वि० सं०)—यह ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं है। इसमें दो परिच्छेद हैं। इसके ऊपर उन्होंने स्वयं ही 'तत्त्वविवेकदीपन' नाम की टीका लिखी है।

(३) भेदधिक्कार—इसमें भेदभाव का खण्डन है।

(४) अद्वैतदीपिका—यह अद्वैत वेदान्त का युक्तिप्रधान ग्रन्थ है।

(५) वैदिकसिद्धान्तसंग्रह—इसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव की एकता सिद्ध की गयी है और यह बतलाया गया है कि ये तीनों एक ही परब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र हैं।

(६) तत्त्वबोधिनी—यह सर्वज्ञात्ममुनि कृत संक्षेपशारीरक की व्याख्या है।

नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषद्—विद्यारण्य स्वामी ने 'सर्वोपनिषदर्थानुभूतिप्रकाश' नामक ग्रन्थ में मुण्डक, प्रश्न और नृसिंहोत्तरतापनीय नामक तीन उपनिषदों को आदि अथर्ववेदीय उपनिषद् माना है। किन्तु शङ्कराचार्य ने मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न और नृसिंहतापनीय, इन चार को प्रधान आथर्वण उपनिषद् माना है।

यह उपनिषद् भी नरसिंह सम्प्रदाय की है और नृसिंहमन्त्रराज को प्रोत्साहित करती है, किन्तु विशेष रूप से यह उपनिषद् साम्प्रदायिक विधि का निर्देश करती है। इसमें नृसिंह को परम ब्रह्म, आत्मा तथा ओम् बताया गया है।

नेत्रव्रत—चैत्र शुक्ल द्वितीया को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। विवरण के लिए दे० 'चक्षुर्व्रत'।

नेष्टा—एक यज्ञकर्म सम्पादक ऋत्विज्। यह नाम ऋग्वेद, तै० सं०, ऐ० ब्रा०, शतपथ ब्राह्मण, पंचविंश ब्रा० आदि में सोमयज्ञ के पुरोहितवर्ग के एक प्रधान सदस्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

नैगम शाक्त—इनको 'दक्षिणाचारी' भी कहते हैं। ऋग्वेद के आठवें अष्टक के अन्तिम सूक्त में "इयं शुष्मेभिः" प्रभृति मन्त्रों में देवता रूप में महाशक्ति अथवा सरस्वती का स्तवन है। सामवेद में वाचंयम व्रत में "हुवा ईवाचम्" इत्यादि तथा ज्योतिष्टोम में "वाग्विसर्जन स्तोम" आता है। अरण्यगान में भी इसके गान हैं। यजुर्वेद (२.२) में "सरस्वत्यै स्वाहा" मन्त्र से आहुति देने की विधि है। पाँचवें अध्याय के सोलहवें मन्त्र में पृथिवी और अदिति देवियों की चर्चा है। पाँचों दिशाओं से विघ्न-बाधानिवारण के लिए सत्रहवें अध्याय के ५५वें मन्त्र में इन्द्र, वरुण, यम, सोम, ब्रह्मा इन पाँच देवताओं की शक्तियों (देवियों) का आवाहन किया गया है। अथर्ववेद के चौथे काण्ड के तीसवें सूक्त में कथन है :

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि
अहम् आदित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्मि
अहम् इन्द्राग्नी अहम् अश्विनोभा॥

भगवती महाशक्ति कहती हैं, "मैं समस्त देवताओं के साथ हूँ। सबमें व्याप्त रहती हूँ।" केनोपनिषद् में (बहु शोभमानामुमां हैमवतीम्) ब्रह्मविद्या महाशक्ति का प्रकट होकर ब्रह्म का निर्देश करना वर्णित है। देव्यथर्वशीर्ष, देवीसूक्त और श्रीसूक्त तो शक्ति के ही स्तवन हैं। वैदिक शाक्त सिद्ध करते हैं कि दशोपनिषदों में दसों महाविद्याओं का ब्रह्मरूप में वर्णन है। इस प्रकार शाक्त मत का आधार भी श्रुति ही है।

देवीभागवत, देवीपुराण, मार्कण्डेयपुराण में तो शक्ति का माहात्म्य ही है। महाभारत और रामायण दोनों में देवी की स्तुतियाँ हैं और अद्भुत रामायण में तो अखिल विश्व की जननी सीताजी के परम्परागत शक्ति वाले रूप की बहुत सुन्दर-सुन्दर स्तुतियाँ की गयी हैं। प्राचीन पाञ्चरात्र मत का 'नारदपञ्चरात्र' प्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थ है। उसमें दसों महाविद्याओं की कथा विस्तार से कही गयी है। निदान, श्रुति, स्मृति में शक्ति की उपासना जहाँ-तहाँ उसी तरह प्रकट है, जिस तरह विष्णु और शिव की उपासना देखी जाती है। इससे स्पष्ट है कि शाक्त मत के वर्तमान साम्प्रदायिक रूप का आधार श्रुति-स्मृति हैं और यह मत उतना ही प्राचीन है जितना वैदिक साहित्य। उसकी व्यापकता तो ऐसी है कि जितने सम्प्रदायों का वर्णन यहाँ अब तक किया गया है, बिना अपवाद के वे सभी अपने परम उपास्य की शक्ति को अपनी परम उपास्या मानते हैं और एक न एक रूप में शक्ति की उपासना करते हैं।

जहाँ तक शैव मत निगमों पर आधारित है, वहाँ तक शाक्त मत भी निगमानुमोदित है। पीछे से जब आगमों के विस्तृत आचार का शाक्त मत में समावेश हुआ, तब से जान पड़ता है कि निगमानुमोदित शाक्त मत का दक्षिणाचार, दक्षिणमार्ग अथवा वैदिक शाक्त मत नाम पड़ा। आजकल इस दक्षिणाचार का एक विशिष्ट रूप बन गया है। इस मार्ग पर चलने वाला उपासक अपने को शिव मानकर पञ्चतत्त्व से शिव की पूजा करता है और मद्य के स्थान में विजयारस का सेवन करता है। विजयारस भी पञ्चमकारों में गिना जाता है। इस मार्ग को वामाचार से श्रेष्ठ माना जाता है।

नैमिशीय (नैमिषीय)—नैमिषारण्य के वासियों को नैमिशीय अथवा नैमिषीय कहते हैं। काठक संहिता, कौषीतकि-ब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनिषद् में नैमिषीयों को विशेष पवित्र माना गया है। अतएव महाभारत नैमिषारण्यवासी ऋषियों को ही प्रथमतः सुनाया गया था।

नैमिषारण्य—उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले में गोमती नदी का तटवर्ती एक प्राचीन तीर्थस्थल। कहा जाता है कि महर्षि शौनक के मन में दीर्घकालव्यापी ज्ञानसत्र करने की इच्छा थी। उनकी आराधना से प्रसन्न होकर विष्णु भगवान् ने उन्हें एक चक्र दिया और कहा कि इसे चलाते हुए चले जाओ; जहाँ इस चक्र की नेमि (परिधि) गिर जाय उसी स्थल को पवित्र समझना और वहीं आश्रम बनाकर ज्ञानसत्र करना। शौनक के साथ अठासी सहस्र ऋषि थे। वे सब उस चक्र के पीछे घूमने लगे। गोमती नदी के किनारे एक वन में चक्र की नेमि गिर गयी और वहीं वह चक्र भूमि में प्रवेश कर गया। चक्र की नेमि गिरने से वह क्षेत्र 'नैमिष' कहा गया। इसी को 'नैमिषारण्य' कहते हैं। पुराणों में इस तीर्थ का बहुधा उल्लेख मिलता है। जब भी कोई धार्मिक समस्या उत्पन्न होती थी, उसके समाधान के लिए ऋषिगण यहाँ एकत्र होते थे।

वैदिक ग्रन्थों के कतिपय उल्लेखों में प्राचीन नैमिष वन की स्थिति सरस्वती नदी के तट पर कुरुक्षेत्र के समीप भी मानी गयी है।

नैष्कर्म्यसिद्धि—सुरेश्वराचार्य (मण्डन मिश्र) ने संन्यास लेने के पश्चात् जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया उनमें 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' भी है। मोक्ष के लिए सभी कर्मों का संन्यास (त्याग) आवश्यक है, इस मत का प्रतिपादन इस ग्रन्थ मे किया गया है।

नैष्ठिक (ब्रह्मचारी)—आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करते हुए गुरुकुल में स्वाध्यायपरायण रहने वाला ब्रह्मचारी (निष्ठा मरणं तत्पर्यन्तं ब्रह्मचर्येण तिष्ठति)। याज्ञवल्क्य का निर्देश है: ''नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्य सन्निधौ।'' इसके विपरीत उपकुर्वाण ब्रह्मचारी सीमित काल या प्रथम अवस्था तक गुरुकुल में पढ़ता था।

न्यग्रोध—न्यक् = नीचे की ओर, रोध = बढ़नेवाला वृक्ष। इसे बरगद (वट) कहते हैं। इसकी डालियों से बरोहें निकल कर नीचे की ओर जाती हैं तथा जड़युक्त खम्भों के रूप में परिवर्तित होकर वृक्ष के भार को सँभालती हैं। अथर्ववेद में इसका अनेक बार उल्लेख हुआ है। यज्ञ के चमस इसके काष्ठ के बनते थे। निश्चय ही यह वैदिक काल में बड़े महत्त्व का वृक्ष था जैसा कि आज भी है। अश्वत्थ (पीपल) इसका सजातीय वृक्ष है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। न्यग्रोध और अश्वत्थ दोनों ही धार्मिक दृष्टि से पवित्र हैं। ये ही आदि चैत्य वृक्ष हैं। इनकी छाया मन्दिर तथा सभामण्डप का काम देती थी।

न्याय—याज्ञवल्क्यस्मृति में धर्म के जिन चौदह स्थानों की गणना है, उनमें न्याय और मीमांसा भी सम्मिलित हैं।

मीमांसा के द्वारा वेद के शब्दों और वाक्यों के अर्थों का निर्धारण किया जाता है। न्याय (तर्क) के द्वारा वेद से प्रतिपाद्य प्रमाणों और पदार्थों का विवेचन किया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से न्यायदर्शन के दो उद्देश्य रहे हैं : एक तो वैदिक दर्शन का समन्वय और समर्थन, दूसरे वेदविरोधी बौद्ध आदि नास्तिक दर्शनों का खण्डन। पहले न्याय और वैशेषिक अलग-अलग स्वतन्त्र दर्शन माने जाते थे। न्याय का विषय प्रमाणमीमांसा और वैशेषिक का पदार्थमीमांसा था। आगे चलकर न्याय एवं वैशेषिक प्रायः एक दार्शनिक सम्प्रदाय मान लिये गये। इस दर्शन के अनुसार प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—इन सोलह तत्त्वों के ज्ञान से निःश्रेयस अथवा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। जब इनके ज्ञान से दुःखजन्य प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाते हैं तब मोक्ष अथवा निःश्रेयस की उपलब्धि होती है। मुख्य प्रमाण चार हैं : (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान और (४) शब्द (श्रुति)। इन प्रमाणों के द्वारा प्रमेय (जानने योग्य पदार्थ) हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (जन्म-जन्मान्तर), फल, दुःख और अपवर्ग (मोक्ष)। न्यायदर्शन ईश्वर के अस्तित्व को मानता है। इसके अनुसार ईश्वर एक तथा आत्मा अनेक हैं। ईश्वर सर्वज्ञ तथा आत्मा (जीव) अल्पज्ञ है। ज्ञान आत्मा का एक गुण है।

न्याय शास्त्र जगत् के स्वतन्त्र अस्तित्व (मन और विचार से पृथक्) को मानता है। सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति तथा निमित्त कारण ईश्वर है। जिस प्रकार कुम्भकार मिट्टी से विविध प्रकार के बरतनों का निर्माण करता है, उसी प्रकार सर्ग के प्रारम्भ में ईश्वर प्रकृति से जगत् के विभिन्न पदार्थों की सृष्टि करता है। इस प्रकार न्याय एक वस्तुवादी दर्शन है जो जनसाधरण के लिए सुगम है।

इस दर्शन के मूल यद्यपि वेद-उपनिषद् में ढूँढे जा सकते हैं किन्तु इसके ऐतिहासिक प्रवर्तक गौतम थे। इनके नाम से 'गौतमन्यायसूत्र' प्रसिद्ध हैं जो लगभग ५वीं-४थी शताब्दी ई० पू० में प्रणीत जान पड़ते हैं। तीसरी शताब्दी के लगभग वात्स्यायन ने इन पर भाष्य लिखा। इस पर उद्योतकर का वार्तिक (६०० ई०) प्रसिद्ध है। इसके पश्चात् वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट, उदयनाचार्य आदि प्रसिद्ध विद्वान् हुए। बारहवीं शताब्दी के लगभग नव्य-न्याय का विकास हुआ। इस नये सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य गङ्गेश उपाध्याय, रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश भट्टाचार्य, गदाधर भट्टाचार्य आदि हुए।

न्यायकणिका—वाचस्पति मिश्र ने मण्डनमिश्र के 'विधिविवेक' पर न्यायकणिका नामक टीका की रचना की। ग्रन्थ का निर्माणकाल लगभग ८५० ई० है।

न्यायकन्दली—श्रीधर नामक बंगाल के लेखक ने ९९१ ई० में प्रशस्तपाद पर न्यायकन्दली नामक व्याख्या रची। यह वैशेषिक दर्शन का मान्य ग्रन्थ है।

न्यायकल्पलता—जयतीर्थाचार्य (पन्द्रहवीं शताब्दी) का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। इन्होंने न्यायकल्पलता की रचना की। राघवेन्द्र स्वामी ने इस पर वृत्ति लिखी है।

न्यायकुलिश—द्वितीय रामानुजाचार्य ने न्यायकुलिश नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ सम्भवतः कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है।

न्यायकुसुमाञ्जलि—उद्भट विद्वान् उदयन की प्रसिद्ध रचना न्यायकुसुमाञ्जलि है। इसमें ईश्वर की सत्ता सिद्ध की गयी है। यह ग्रन्थ छन्दोबद्ध है तथा ७२ स्मरणीय पद्यों में है। प्रत्येक पद्य का गद्यार्थ रूप भी साथ ही साथ दिया गया है।

न्यायचिन्तामणि—ग्यारहवीं शताब्दी से न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों को एक ही दर्शन मानने अथवा एक में मिलाने का प्रयास होने लगा। इस मत की पुष्टि बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य गङ्गेश की रचना 'न्याय (या तत्त्व)-चिन्तामणि' से होती है।

न्यायतत्त्व—नाथ मुनि (१००० ई०) की रचनाओं में 'न्यायतत्त्व' भी सम्मिलित है। यह न्यायदर्शन का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

न्यायदीपावली—आनन्दबोध भट्टारकाचार्य (बारहवीं शताब्दी) के तीन ग्रन्थों में 'न्यायदीपावली' भी है। इन ग्रन्थों में अद्वैत मत का विवेचन किया गमा है।

न्यायदीपिका—वैष्णवाचार्य जयतीर्थ (पन्द्रहवीं शताब्दी) ने न्यायदीपिका नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में माध्व मत का विवेचन है।

न्यायनिबन्धप्रकाश—गङ्गेश के पुत्र वर्धमान (१२वीं शताब्दी)

ने न्यायवार्त्तिक की तात्पर्य टीका पर न्यायनिबन्धप्रकाश नामक व्याख्या लिखी है।

न्यायनिर्णय—महात्मा आनन्द गिरि शङ्कराचार्य के भाष्यों के टीकाकार हैं। उन्होंने वेदान्तसूत्र के शाङ्कर भाष्य पर न्यायनिर्णय नाम की अपूर्व टीका लिखी है।

न्यायपरिशुद्धि—इस नाम के दो ग्रन्थों का पता चलता है, पहला अंचार्य रामानुजरचित तथा दूसरा आचार्य वेङ्कटनाथ का लिखा हुआ है।

न्यायभाष्य—अक्षपाद गौतम प्रणीत न्यायसूत्र पर वात्स्यायन (५०० ई०) ने न्यायभाष्य प्रस्तुत किया है।

न्यायमञ्जरी—जयन्त भट्ट (९०० ई०) ने न्यायमञ्जरी नामक ग्रन्थ का निर्माण किया। यह न्यायदर्शन का विश्वकोश है।

न्यायमकरन्द—अद्वैत वेदान्त मत का एक प्रामाणिक ग्रन्थ। इसके रचयिता आनन्दबोध भट्टारकाचार्य थे। चित्सुखाचार्य ने, जो तेरहवीं शती में वर्तमान थे, न्यायमकरन्द की व्याख्या की है। इससे मालूम होता है कि आनन्दबोध बारहवीं शती में हुए थे।

न्यायमालाविस्तर—पूर्व मीमांसा का माधवाचार्य रचित एक ग्रन्थ, जो जैमिनीयन्यायमालाविस्तर कहलाता है। इसी प्रकार से इनका रचा उत्तर मीमांसा का ग्रन्थ वैयासिकन्यायमाला है।

न्यायमुक्तावली—अप्पय दीक्षित रचित न्यायमुक्तावली मध्वमत का अनुसरण करती है। उन्होंने स्वयं ही इसकी एक टीका भी लिखी है।

न्यायरक्षामणि—यह ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय की शाङ्कर सिद्धान्तानुसारिणी व्याख्या है। व्याख्याकार अप्पयदीक्षित हैं।

न्यायरत्नमाला—(१) पार्थसारथि मिश्र (१३०० ई०) ने कुमारिल के तन्त्रवार्तिक के आधार पर कर्ममीमांसा विषयक यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया है।

(२) आचार्य रामानुज ने न्यायरत्नमाला नामक एक ग्रन्थ रचा है। निश्चित ही इस ग्रन्थ में विशिष्टाद्वैत की पुष्टि तथा शाङ्कर मत का खण्डन हुआ है।

न्यायरत्नाकर—भट्टपाद कुमारिल के श्लोकवार्तिक पर यह टीका (न्यायरत्नाकर) पार्थसारथि मिश्र (१३०० ई०) द्वारा प्रस्तुत हुई है।

न्यायवार्तिक—उद्योतकर (सातवीं शती) ने वात्स्यायन के न्यायभाष्य पर यह वार्तिक प्रस्तुत किया। इस पर अनेक निबन्ध विद्याभूषण एवं डा० कीथ द्वारा लिखे गये हैं। डा० गङ्गानाथ झा ने इसका अंग्रेजी अनुवाद किया है।

न्यायवार्तिकतात्पर्य—वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रस्तुत न्यायदर्शन पर यह टीका है जो उद्योतकर के वार्त्तिक के ऊपर लिखी गयी है। इस टीका की भी टीका उदयनाचार्यकृत तात्पर्यपरिशुद्धि है।

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका—दे० 'न्यायवार्तिकतात्पर्य', दोनों समान हैं।

न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि—उदयनाचार्यकृत यह न्यायवार्त्तिकतात्पर्य की टीका है। इस परिशुद्धि पर वर्धमान उपाध्यायकृत 'प्रकाश' है।

न्यायविवरण—मध्वाचार्य प्रणीत न्यायविषयक एक ग्रंथ है।

न्यायवृत्ति—अभयतिलक द्वारा न्यायवृत्ति न्यायदर्शन के सूत्रों पर रची गयी है।

न्यायसार—भासर्वज्ञ (१०वीं शताब्दी) द्वारा रचित न्यायसार न्याय शास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस पर अठारह भाष्य पाये जाते हैं।

न्यायसिद्धाञ्जन—विशिष्टाद्वैत दर्शन पर आचार्य रामानुजप्रणीत यह एक ग्रन्थ है। इस नाम का एक ग्रन्थ आचार्य वेङ्कटनाथ ने भी रचा था।

न्यायसुधा—(१) जयतीर्थाचार्य (पन्द्रहवीं शताब्दी) ने माध्वमत का विवेचन इस ग्रन्थ में किया है। यह ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' की टीका है। सम्भवतः यादवाचार्य ने इस पर कोई वृति लिखी थी जो अभी तक प्रकाशित नहीं है।

(२) सोमेश्वर (१४०० ई०) ने कुमारिल भट्ट के 'तन्त्रवार्त्तिक' पर न्यायसुधा नामक टीका प्रस्तुत की।

न्यायसूत्र—सम्भवतः पाँचवीं अथवा चौथी शताब्दी ई० पू० में अक्षपाद गौतम ने 'न्यायसूत्र' प्रस्तुत किया। इस पर वात्स्यायन मुनि का भाष्य है तथा इस पर अनेक टीकायें एवं वृत्तियाँ रची गयी हैं। 'न्यायसूत्र' ही न्याय दर्शन का मूल ग्रन्थ है और इसके रचयिता गौतम ऋषि ही न्याय दर्शन के प्रवर्तक हैं। दे० 'न्याय'।

न्यायसूचीनिबन्ध—वाचस्पति मिश्र रचित उन्हीं की न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका का यह परिशिष्ट है। इसका रचनाकाल ८९८ वि० है।

न्यायसूत्रभाष्य—न्यायभाष्य का ही अन्य नाम न्यायसूत्र-भाष्य है। इसे वात्स्यायन ने प्रस्तुत किया है।

न्यायसूत्रवृत्ति—सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विश्वनाथ न्यायपञ्चानन ने गौतमप्रणीत न्यायसूत्र पर यह वृत्ति रची।

न्यायस्थिति—न्यायस्थिति एक नैयायिक थे, जिनका उल्लेख विक्रम की छठी शताब्दी में हुए वासवदत्ता-कथाकार सुबन्धु ने किया है।

न्यायामृत—सोलहवीं शताब्दी में व्यासराज स्वामी ने शाङ्कर वेदान्त की आलोचना न्यायामृत नामक ग्रन्थ द्वारा की। आचार्य श्रीनिवास तीर्थ ने इस पर न्यायामृतप्रकाश नामक भाष्य लिखा है।

न्यायालङ्कार—श्रीकण्ठ ने १०वीं शताब्दी में यह न्याय-विषयक ग्रन्थ प्रस्तुत किया।

न्यायलीलावती—बारहवीं शताब्दी में वल्लभ नामक न्यायाचार्य ने वैशेषिक दर्शन सम्बन्धी इस ग्रन्थ को प्रस्तुत किया।

न्यास—शाक्त लोग अपनी साधना में अनेक दिव्य नामों और बीजाक्षर मन्त्रों का प्रयोग करते हैं। वे धातु के पत्तरों पर तथा घट आदि पात्रों पर मन्त्र तथा मण्डल खोदते हैं, साथ ही पूजा की अनेक मुद्राओं (अँगुलियों के संकेतों) का भी प्रयोग करते हैं, जिन्हें न्यास कहते हैं। इसमें मन्त्राक्षर बोलते हुए शरीर के विभिन्न अंगों का स्पर्श किया जाता है और भावना यह रहती है कि उन अंगों में दिव्य शक्ति आकर विराज रही है। अंगन्यास, करन्यास, हृदयादि-न्यास, महान्यास आदि इसके अनेक भेद हैं।

प

प—यह व्यञ्जन वर्णों के पञ्चम वर्ग का प्रथम अक्षर है। कामधेनुतन्त्र में इसका माहात्म्य निम्नांकित है :

अतः परं प्रवक्ष्यामि पकाराक्षरमव्ययम्।
चतुर्वर्गप्रदं वर्ण शरच्चन्द्रसमप्रभम्॥
पञ्चदेवमयं वर्णं स्वयं परम कुण्डली।
पञ्चप्राणमयं वर्णं त्रिशक्तिसहितं सदा॥
त्रिगुणावाहितं वर्णमात्मादि तत्त्वसंयुतम्।
महामोक्षप्रदं वर्णं हृदि भावय पार्वति॥

तन्त्रशास्त्र मे इसके निम्नलिखित नाम पाये जाते हैं

पः परप्रियता तीक्ष्णा लोहितः पञ्चमो रमा।
गुह्यकर्ता निधिः शेषः कालरात्रिः सुवाहिता॥
तपनः पालनः पाता पद्मरेणुर्निरञ्जनः।
सावित्री पातिनी पानं वीरतत्त्वो धनुर्धरः॥
दक्षपार्श्वश्च सेनानी मरीचिः पवनः शनिः।
उड्डीशं जयिनी कुम्भोऽलसं रेखा च मोहकः॥
मूलाद्वितीयमिन्द्राणी लोकाक्षी मन आत्मनः॥

पक्षवर्धिनी एकादशी—जब पूर्णिमा अथवा अमावस्या अग्रिम प्रतिपदा को आक्रान्त करती है (अर्थात् तिथिवृद्धि हो जाती है) तो यह पक्षवर्धिनी कहलाती है। इसी प्रकार यदि एकादशी द्वादशी को आक्रान्त करती है (अर्थात् द्वादशी के दिन भी रहती है) तो वह भी पक्षवर्धिनी है। विष्णु भगवान् की सोने की प्रतिमा का उस दिन पूजन करना चाहिए। रात्रि में नृत्य, गान आदि करते हुए जागरण का विधान है। वैष्णव लोग ऐसे पक्ष की एकादशी का व्रत अगले दिन द्वादशी को करते हैं। दे० पद्म०, ६.३८।

पंक्तिदूषण ब्राह्मण—जिन ब्राह्मणों के बैठने से ब्रह्मभोज की पंक्ति दूषित समझी जाती है, उनको पंक्तिदूषण कहा जाता है। ऐसे लोगों की बड़ी लम्बी सूची है। हव्य-कव्य के ब्रह्मभोज की पंक्ति में यद्यपि नास्तिक और अनीश्वरवादियों को सम्मिलित करने का नियम न था तथापि उन्हें पंक्ति से उठाने की शायद ही कभी नौबत आयी हो, क्योंकि जो हव्य-कव्य को मानता ही नहीं, यदि उसमें तनिक भी स्वाभिमान होगा तो वह ऐसे भोजों में सम्मिलित होना पसन्द न करेगा। पंक्तिदूषकों की इतनी लम्बी सूची देखकर यह समझा जा सकता है कि पक्तिपावन ब्राह्मणों की संख्या बहुत बड़ी नहीं हो सकती। ब्राह्मणसमुदाय के अतिरिक्त अन्य वर्णों में पंक्ति के नियमों के पालन में ढीलाई होना स्वाभाविक है।

पंक्तिपावन ब्राह्मण—जिन ब्राह्मणों के भोजपंक्ति में बैठने से पवित पवित्र मानी जाती है, उनको पंक्तिपावन कहते हैं। इनमें प्रायः श्रोत्रिय ब्राह्मण (वेदों का स्वाध्याय और पारायण करनेवाले) होते हैं। संस्कार सम्बन्धी भोजों में पंक्तिपावनता ब्राह्मणों की विशेषता मानी जाती थी, परन्तु वह भी सामूहिक न थी। पंक्तिपावन ब्राह्मण पंक्तिदूषण की अपेक्षा बहुत कम होते थे।

पञ्चककार—कच्छ, केश, कंघा, कड़ा और कृपाण धारण करना प्रत्येक सिक्ख के लिए आवश्यक है। 'क' अक्षर से

प्रारम्भ होनेवाले ये ही पाँच शब्द (पदार्थ) पञ्चककार कहलाते हैं ।

पञ्चकृष्ण—मानभाउ सम्प्रदाय वाले जहाँ दत्तात्रेय को अपने सम्प्रदाय का संस्थापक मानते हैं वहीं वे चार युगों के एक-एक नये प्रवर्त्तक भी मानते हैं । इस प्रकार वे कुल पाँच प्रवर्त्तकों की पूजा करते हैं । इन पाँच प्रवर्तकों को वे 'पञ्चकृष्ण' कहते हैं ।

पञ्चगव्य—गाय से उत्पन्न पाँच पदार्थों (दूध, दही, घृत, गोबर, गोमूत्र) के मिलाने से पञ्चगव्य तैयार होता है, जो हिन्दू शास्त्रों में बहुत ही पवित्र माना गया है । अनेक अवसरों पर इसका गृह तथा शरीर की शुद्धि के लिए प्रयोग करते हैं । प्रायश्चित्तों में इसका प्रायः पान किया जाता है ।

पञ्चग्रन्थी—सिक्खों की प्रार्थनापुस्तक का नाम पञ्चग्रन्थी है । इसमें (१) जपजी (२) रहिरास (३) कीर्तन-सोहिला (४) सुखमणि और (५) आसा दी वार नामक पाँच पुस्तिकाओं का संग्रह है । पाँचों में से प्रथम तीन का खालसा सिक्खों द्वारा नित्य पाठ किया जाता है । ये सभी पारायण के ग्रन्थ हैं ।

पञ्चघटपूर्णिमा—इस व्रत में पूर्णिमा देवी की मूर्ति की पूजा का विधान है । एकभक्त पद्धति से आहार करते हुए पाँच पूर्णिमाओं को यह व्रत करना चाहिए । व्रत के अन्त में पाँच कलशों में क्रमशः दुग्ध, दधि, घृत, मधु तथा श्वेत शर्करा भरकर दान देना चाहिए । इससे समस्त मनोरथों की पूर्ति होती है ।

पञ्चतप (पञ्चाग्नितप)—हिन्दू तपस्या की एक पद्धति । इसमें तपस्वी चार अग्नियों का ताप तो सहन करता ही है जो वह अपने चारों ओर जलाता है, पाँचवाँ सूर्य भी सिर पर तपता है । इसी को पञ्चाग्नि तपस्या कहते हैं ।

पञ्च तप अथवा पञ्चाग्नि तपस्या पाँच वैदिक अग्नियों की उपासना या होमक्रिया का परिवर्तित रूप प्रतीत होता है । वैदिक पञ्चाग्नियों के नाम हैं : दक्षिणाग्नि (अन्वाहार्यपचन), गार्हपत्य, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य ।

पञ्चदशी—अद्वैतवेदान्त सम्बन्धी यह ग्रन्थ विद्यारण्य स्वामी (माधवाचार्य) द्वारा १४०७ वि० में रचा गया । यह अनुष्टुप् छन्द में श्लोकबद्ध स्वतन्त्र रचना है । जैसा कि नाम से ही प्रकट है, यह पन्द्रह प्रकरणों में विभक्त है और प्रकरण ग्रन्थ है । इसमें प्रायः १५०० श्लोक हैं ।

पञ्चदेवोपासना—अधिकांश विचारकों का कहना है कि आचार्य शङ्कर ने पञ्चदेवोपासना की रीति चलायी, जिसमें विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और देवी परमात्मा के इन पाँचों रूपों में से एक को प्रधान मानकर और शेष को उसका अङ्गीभूत समझकर पूजा की जाती है । आचार्य ने पुराने पाञ्चरात्र, पाशुपत, शाक्त आदि मतों को एकत्र समन्वित कर यह पञ्चदेव-उपासना प्रणाली आरम्भ की । इसीलिए यह स्मार्त्त पद्धति कहलाती है । आज भी साधारण सनातनधर्मी इस स्मार्त्त मत के मानने वाले समझे जाते हैं ।

पञ्चपटल—आचार्य रामानुज रचित एक ग्रन्थ ।

पञ्चपल्लव—पवित्र पञ्च पल्लव हैं आम्र, अश्वत्थ, वट, प्लक्ष (पाकड़) और उदुम्बर (गूलर) । धार्मिक कृत्यों में इनका उपयोग कलश-स्थापन में होता है । दे० हेमाद्रि, १.४७ ।

पञ्चपादिका—वेदान्तसूत्र के शांकर भाष्य के पाँच पादों पर रची गयी एक टीका । शंकरशिष्य पद्मपाद (९०७ वि०) इसके निर्माता थे ।

पञ्चपादिकादर्पण—अमलानन्द स्वामी अद्वैतमत के समर्थ विचारक थे । ये चौदहवीं शताब्दी वि० के प्रारम्भ में हुए थे । इन्होंने पद्मपादाचार्य कृत पञ्चपादिका की पञ्चपादिकादर्पण नाम से टीका लिखी है । इसकी भाषा प्राञ्जल और भावगम्भीर है । इससे अमलानन्द की महती विद्वत्ता का परिचय मिलता है ।

पञ्चपादिकाविवरण—पद्मपादाचार्य कृत पञ्चपादिका पर पञ्चपादिकाविवरण नामक टीका की रचना अद्वैत वेदान्त के प्रखर विद्वान् महात्मा प्रकाशात्मयति ने की । अद्वैत जगत् में यह टीका बहुत मान्य है । बाद के आचार्यों ने प्रकाशात्मयति (प्रकाशानुभव इनका अन्य नाम था) को आवश्यक प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है । पञ्चपादिकाविवरण नामक इनके ग्रन्थ द्वारा अद्वैतमत का, विशेष कर पद्मपादाचार्य के मत का अच्छा प्रचार हुआ ।

पञ्चपिण्डिका गौरीव्रत—भाद्र शुक्ल तृतीया को यह व्रत किया जाता है, इस दिन उपवास का विधान है । रात्रि के प्रारम्भ में गीली मिट्टी से गौरी की पाँच प्रतिमाएँ तथा इनसे पृथक् गौरी की प्रतिमा बनाकर स्थापित करनी चाहिए । रात्रि के प्रति प्रहर में प्रतिमाओं का मन्त्रोच्चारण करते हुए धूप, कपूर, घृत, दीपक, पुष्प, अर्घ्य तथा

नैवेद्यादि से पूजन करना चाहिए। आनेवाले तीनों प्रहरों में मन्त्र, पुष्प, नैवेद्यादि में भिन्नता होनी चाहिए। दूसरे दिन प्रातः एक सपत्नीक ब्राह्मण को बुलाकर दान-दक्षिणा देकर उसका सम्मान करना चाहिए। तदनन्तर गौरी की प्रतिमाओं को किसी हथिनी अथवा घोड़ी की पीठ पर विराजमान करके उन्हें किसी नदी, सरोवर अथवा कूप में विसर्जित कर देना चाहिए।

पञ्चब्रह्म उपनिषद्—यह एक परवर्ती उपनिषद् है। इसमें ब्रह्मतत्त्व का निरूपण उसके पाँच रूपों के द्वारा किया गया है।

पञ्चभङ्ग दल—पाँच वृक्ष, यथा आम्र, अश्वत्थ (पीपल), वट, प्लक्ष तथा उदुम्बर की पत्तियाँ ही पञ्चभङ्ग दल हैं। दे० कृत्यकल्पतरु, शान्ति पर। यही पञ्चपल्लव कहे जाते हैं। सम्प्रदायभेद से पञ्चपल्लवों में कुछ हेरफेर भी हो जाता है, उदुम्बर और प्लक्ष के स्थान पर कुछ लोग पनस (कटहर) और बकुल (मौलिश्री) के पत्र ग्रहण करते हैं। ऊपर का वर्ग वेदसंप्रदायी है।

पञ्चमकार—तन्त्रशास्त्र में पञ्चमकारों का अर्थ एवं उनके दान के फल आदि का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। ये तान्त्रिकों के प्राणस्वरूप हैं, इनके बिना साधक को किसी भी कार्य का अधिकार नहीं है। मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन नामक पाँच मकारों से जगदम्बिका की पूजा की जाती है। इसके बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता और तत्त्वविद् पण्डित गण इससे रहित कर्म की निन्दा करते हैं। पञ्चमकार का फल महानिर्वाणतन्त्र के ग्यारहवें पटल में इस प्रकार है :

मद्यपान करने से अष्टैश्वर्य और परामुक्ति तथा मांस के भक्षण से साक्षात् नारायणत्व का लाभ होता है। मत्स्य भक्षण करते ही काली का दर्शन होता है। मुद्रा के सेवन से विष्णुरूप प्राप्त होता है। मैथुन द्वारा साधक शिव के तुल्य होता है, इसमें संशय नहीं। वस्तुतः पञ्चमकार मूलतः मानसिक वृत्तियों के संकेतात्मक प्रतीक थे, पीछे अपने शब्दार्थ के भ्रम से ये विकृत हो गये। तन्त्रों की कुख्याति का मुख्य कारण ये स्थूल पञ्चमकार ही हैं।

पञ्चमहापापनाशनद्वादशी—श्रावण की द्वादशी अथवा पूर्णिमा के दिन इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। व्रती को भगवान् के बारह रूपों का पूजन करना चाहिए। अमावस्या के दिन तिल, मूँग, गुड़ तथा अक्षत का नैवेद्य बनाकर अर्पित करने का विधान है। पञ्च रत्नों को दान में देना चाहिए। इस व्रत के आचरण से मनुष्य पाँच महा पापों से वैसे ही मुक्त हो जाता है, जैसे इन्द्र, अहल्या, चन्द्र तथा बलि अपने महापापों से मुक्त हुए थे।

पञ्चमहाभूतव्रत—चैत्र शुक्ल पञ्चमी को यह व्रत प्रारम्भ होता है। इसमें पञ्च भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) के रूप में भगवान् हरि की पूजा होती है। एक वर्ष तक यह अनुष्ठान चलता है। वर्ष के अन्त में वस्त्रों का दान करना चाहिए।

पञ्चमीव्रत—मार्गशीर्ष शुक्ल पञ्चमी को इसका अनुष्ठान किया जाता है। सूर्योदय होने पर व्रत सम्बन्धी कर्मों को प्रारम्भ कर देना चाहिए। सुवर्ण, रजत, पीतल, ताम्र या काष्ठ की लक्ष्मी जी की प्रतिमा अथवा किसी वस्त्र के टुकड़े पर उनकी आकृति बनाकर, चरणों से लगाकर मस्तक तक फूल, फल तथा अन्यान्य भक्ष्य-भोज्य पदार्थों से पूजन करना चाहिए। सधवा नारियों को पुष्प, केसर तथा मिष्टान्नादि से सज्जित करके एक प्रस्थ अक्षत तथा घृत से पूरित पात्र को दान में देना चाहिए। मन्त्र यह है ''श्रियो हृदयं प्रसीदतु।'' वर्ष के प्रत्येक मास में लक्ष्मी का पूजन भिन्न-भिन्न नामों से करने का विधान है। तदनन्तर लक्ष्मी की प्रतिमा का भी दान कर दिया जाय, ऐसा विधान है।

पञ्चमूर्तिव्रत—चैत्र शुक्ल पञ्चमी को यह व्रत प्रारम्भ होता है। इस दिन उपवास करते हुए भगवान् के आयुधों, शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म और पृथ्वी की आकृतियाँ एक ही परिधि में चन्दन के लेपे से खींचना तथा उनका पूजन करना चाहिए। प्रत्येक मास की पञ्चमी के दिन यह सब कृत्य होना चाहिए। वर्षान्त में पाँच रंग के वस्त्रों का दान करना चाहिए। इसके अनुष्ठान से राजसूय यज्ञ का पुण्य प्राप्त होता है।

पञ्चरत्न—पञ्च रत्न हैं—हीरक, विद्रुम, लहसुनिया, पद्मराग तथा मुक्ता (कृत्यकल्पतरु, नैत्यकालिक काण्ड, ३६६)। हेमाद्रि (१.४७) के अनुसार पञ्च रत्नों में सुवर्ण, रजत, मोती, मूँगा तथा लाजावर्त सम्मिलित हैं। पञ्च रत्नों का धार्मिक कृत्यों में बहुधा उपयोग होता है। ये माङ्गलिक माने जाते हैं।

पञ्चरत्नस्तव—यह अप्पय दीक्षित कृत स्तोत्र ग्रन्थ है।

पञ्चरात्ररक्षा—आचार्य रामानुज कृत एक वैष्णव ग्रन्थ है।

पञ्चलाङ्गलव्रत—शिलाहार राजा गन्धारादित्य (शक सं० १०३२-१११०) के एक ताम्रपत्र में इस व्रत का उल्लेख है। वैशाख मास में चन्द्रग्रहण के समय यह व्रत किया गया था। मत्स्यपुराण (अध्याय २८३) में यह विस्तार से वर्णित है। किसी पुण्य तिथि, चन्द्र अथवा सूर्य ग्रहण के समय अथवा युगादि तिथि को पाँच काष्ठ के हल तथा पाँच ही सुवर्ण के हल और दस बैलों के सहित भूमि का दान करना 'पञ्च लाङ्गल व्रत' कहलाता है।

पञ्चविंश ब्राह्मण—सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में ताण्ड्य ब्राह्मण सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमें पचीस अध्याय हैं इसलिए यह पञ्चविंश ब्राह्मण भी कहलाता है। इसके प्रथम अध्याय में यजुरात्मक मन्त्रसमूह है, दूसरे और तीसरे अध्याय में बहुस्तोम का विषय है। छठे अध्याय में अग्निष्टोम की प्रशंसा है। इस तरह अनेक प्रकार के याग-यज्ञों का वर्णन है। पूर्ण न्याय, प्रकृति-विकृतिलक्षण, मूल प्रकृति विचार, भावना का कारणादि ज्ञान, षोडश ऋत्विक्परिचय, सोमप्रकाशपरिचय, सहस्र संवत्सरसाध्य तथा विश्वसृष्टसाध्य सूत्रों के सम्पादन की विधि इसमें पायी जाती है। इनके सिवा तरह-तरह के उपाख्यान और इतिहास की जानने योग्य बातें लिखी गयी हैं। इस ग्रन्थ में सोमयाग की विधि और उस सम्बन्ध के सामगान विशेष रूप से हैं, साथ ही कौन सत्र एक दिन रहेगा, कौन सौ दिन रहेगा और साल भर रहेगा, कौन सौ वर्ष रहेगा और कौन एक हजार वर्ष रहेगा इस बात की व्यवस्थाएँ भी हैं। सायणाचार्य इसके भाष्यकार और हरिस्वामी वृत्तिकार हैं।

पञ्चविधिसूत्र—ऋक् मन्त्रों को सामगान में परिणत करने की विधि के सम्बन्ध में सामवेद के बहुत से सूत्र ग्रन्थ हैं। इनमें से एक का नाम 'पञ्चविधिसूत्र' है और दूसरे का 'प्रतिहारसूत्र'। ये ग्रन्थ कात्यायन के लिखे कहलाते हैं। पञ्चविधिसूत्र में दो प्रपाठक हैं।

पञ्चशिख—सांख्ययोग के दो ऐतिहासिक आचार्यों का उल्लेख महाभारत में आता है, ये हैं पञ्चशिख एवं वार्षगण्य। पाञ्चरात्रों का विश्वास है कि उनके मत की दार्शनिक शिक्षाओं के प्रवर्तक पञ्चशिख थे, क्योंकि वैष्णव धर्म सांख्ययोग के सिद्धान्तों पर आधारित है।

पञ्चसिद्धान्तिका—ज्योतिर्विद् वराहमिहिर का लिखा ज्योतिषशास्त्रविषयक एक ग्रन्थ। इसमें ग्रहगति सम्बन्धी प्राचीन आचार्यों के पाँच सिद्धान्तों का निरूपण है। पण्डित सुधाकर द्विवेदी और मिस्टर थीबो ने मिलकर इसे सम्पादित और प्रकाशित कराया है।

पञ्चामृत—देवमूर्तियों पर पञ्चामृत चढ़ाने की प्रथा अति प्राचीन है। विविध पूजाओं के पश्चात् पञ्चामृत (दुग्ध, दधि, घृत, शर्करा एवं मधु) से मूर्ति को स्नान कराया जाता है तथा इसके बाद धातु के छिद्रित पात्र से दुग्ध-जल द्वारा अभिषेक करते हैं। पञ्चामृत स्नान कराते समय वेदमन्त्रों का अलग-अलग उच्चारण किया जाता है। शालग्राम को जिस पञ्चामृत में नहलाते हैं उसे प्रसाद के रूप में भक्तजन ग्रहण करते हैं।

पञ्चायतनपूजा—इस पूजा की प्रथा किसी विद्वान् धार्मिक व्यवस्थापक की सूझ है। किन्तु किसने और कब इसे आरम्भ किया यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। पञ्चायतन पूजा के रूप में पाँच देवों (विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश) की नियमित पूजा स्मार्तों के लिए बतायी गयी है। अनेक विद्वानों का कथन है कि शङ्कराचार्य ने इस प्रथा का आरम्भ किया। कुछ इसको कुमारिल भट्ट द्वारा प्रवर्तित मानते हैं, जबकि अन्य इसे और भी प्राचीन बतलाते हैं। इतना स्पष्ट है कि पञ्चायतन पूजा उस समय प्रारम्भ हुई जब ब्रह्मा का महत्त्व कम हो चुका था एवं उपर्युक्त पाँच देवता प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। कुछ विद्वान् इसका आरम्भ सातवीं शताब्दी ई० से बतलाते हैं। पञ्चायतन के पाँचों देवताओं पर पाँच उपनिषदें इस काल में रची गयीं जो अथर्वशिरस् नाम से संगृहीत हैं। वे निश्चय ही साम्प्रदायिक उपनिषदें हैं। इस पूजापद्धति में अन्य देवताओं के ये प्रतिनिधि (पञ्चायतन) हैं। इसीलिए सामान्य हिन्दू पाँचों के साथ अन्य देवों की पूजा भी कर सकता है।

पञ्चाल बाभ्रव्य—ऋक् संहिता के क्रमपाठ के प्रवर्त्तक आचार्य। प्रातिशाख्य (११.१३) में ये केवल 'बाभ्रव्य' कहे गये हैं। प्रातिशाख्य से यह मालूम होता है कि कुरु-पञ्चाल लोग जैसे क्रमपाठ के चलाने वाले हुए, उसी तरह कोसल-विदेह के लोग अर्थात् शाकल समुदाय वाले पदपाठ के प्रवर्त्तक थे। पदपाठ से शब्दों की ठीक विवेचना की रक्षा और क्रमपाठ से मन्त्रों के ठीक-ठीक क्रम की रक्षा अभिप्रेत है।

पञ्चीकरण—शङ्कराचार्य रचित मौलिक लघु रचनाओं में एक 'पञ्चीकरण' भी है।

पञ्चीकरणवार्तिक—शाङ्करमत के आचार्यों में सबसे अधिक प्रतिष्ठाप्राप्त सुरेश्वराचार्य (पूर्वाश्रम में मण्डनमिश्र) ने जिन अनेक ग्रन्थों की, रचना की उनमें से पञ्चीकरणवार्तिक भी एक है।

पञ्जासाहब—सिक्ख तीर्थ पेशावर जाने वाले मार्ग पर तक्षशिला से एक स्टेशन आगे तथा हसन अब्दाल से दो मील दक्षिण यह स्थान है। इस नाम की एक विचित्र कहानी है। एक समय वली कन्धारी नामक फकीर ने इस जगह के आसपास के जल को अपनी शक्ति से खींचकर पहाड़ के ऊपर अपने कब्जे में कर लिया। यह कष्ट गुरु नानक से न सहा गया। अन्त में उन्होंने अपनी शक्ति से सम्पूर्ण जल खींच लिया। जल को जाता देखकर वली कन्धारी पीर ने एक विशाल पर्वतखण्ड ऊपर से गिरा दिया। पर्वत को आता देख गुरु नानक ने अपने हाथ का पञ्जा लगाकर उसे रोक दिया। आज भी वह हाथ के पञ्जे का निशान इस तीर्थ में विद्यमान है। वैशाख की प्रतिपदा को यहाँ मेला होता है।

पटलपाठ—किसी पट्ट, पत्र अथवा तख्ती पर जो तान्त्रिक मन्त्र लिखे जाते हैं उनको 'पटल' कहते हैं। उनके पारायण को पटलपाठ कहा जाता है। पटल किसी योग्य व्यक्ति द्वारा ही अङ्कित होना चाहिए। अयोग्य पुरुष द्वारा तैयार पटलादि का पढ़ना निषिद्ध है।

पण्डित—यह एक विरुद है। 'पण्डित' का प्रयोग प्रथमतः उपनिषदों में हुआ है (बृ० उ० ३,४,१;६.४,१६,१७; छा० उ०, ६.१४,२; मुण्डक०, १.२,८ आदि)। इसका मूल अर्थ है 'जिसको पण्डा (सदसद्विवेकिनी बुद्धि) प्राप्त हो गयी हो'। यह विरुद ब्राह्मणों और अन्य वर्ण के विद्वानों के नाम के पूर्व लगाने की प्रथा है।

पण्डितराज जगन्नाथ—पण्डितराज जगन्नाथ भट्टोजिदीक्षित के गुरु शेषकृष्ण दीक्षित के पुत्र तथा वीरेश्वर दीक्षित के शिष्य थे।

दर्शन, तर्क, व्याकरण आदि शास्त्रों के गम्भीर विद्वान् होने के साथ ही ये साहित्यशास्त्र के प्रमुख लक्षण ग्रन्थकार और श्रेष्ठ काव्यरचयिता भी थे। संस्कृत साहित्य के अपने प्रख्यात आलोचनाग्रन्थ रसगङ्गाधर में इन्होंने अलंकारादि के उदाहरण के लिए केवल स्वरचित कविताओं का ही प्रयोग किया है। काव्य क्षेत्र में इनकी रचनायें भामिनीविलास, करुणालहरी, गङ्गालहरी आदि के रूप में अत्यन्त मधुर हैं। शाहजहाँ के दिल्ली दरबार में ये राजपण्डित भी रहे थे।

पण्डितराज साहित्यशास्त्री के रूप में अधिक प्रख्यात हैं। किन्तु हृदय से ये करुणरसपूर्ण भक्त और धार्मिक प्रवृत्ति के थे। इनके ग्रन्थ भामिनीविलास, रसगङ्गाधर और पाँच लहरी रचनाएँ इस बात की पुष्टि करती हैं।

पण्डिताराध्य—वीरशैवों (लिङ्गायतों) की उत्पत्ति के बारे में विभिन्न मत हैं। परम्परा यह है कि यह सम्प्रदाय पाँच संन्यासियों द्वारा स्थापित हुआ, जो भिन्न-भिन्न युगों में शिव के मस्तक से उत्पन्न हुए माने जाते हैं। इनके नाम हैं—एकोराम, पण्डिताराध्य, रेवण, मरुल एवं विश्वाराध्य। ये अति प्राचीन थे। महात्मा बसव को इनके द्वारा स्थापित मत का पुनरुद्धारक माना जाता है। कुछ प्रारम्भिक ग्रन्थों में यह भी कहा गया है कि ये पाँचों बसव के समकालीन थे। उपर्युक्त नाम पाँच प्राचीन मठों के प्रथम महन्तों के हैं। पण्डिताराध्य नन्घल के निकट श्रीशैल मठ के प्रथम महन्त (मठाधीश) थे।

पणि—ऋग्वेद में पणि नाम से ऐसे व्यक्ति अथवा समूह का बोध होता है जो धनी है किन्तु देवताओं का यज्ञ नहीं करता तथा पुरोहितों को दक्षिणा नहीं देता। अतएव यह वेदमार्गियों की घृणा का पात्र है। देवों को पणियों के ऊपर आक्रमण करने को कहा गया है। आगे यह उल्लेख उनकी हार तथा वध के साथ हुआ है। कुछ परिच्छेदों में पणि पौराणिक दैत्य हैं, जो स्वर्गीय गायों अथवा आकाशीय जल को रोकते हैं। उनके पास इन्द्र की दूती सरमा भेजी जाती है (ऋ० १०.१०८)। ऋग्वेद (८.६६,१०; ७.६,२) में दस्यु, मृध्रवाक् एवं ग्रथिन् के रूप में भी इनका वर्णन है।

यह निश्चय करना कठिन है कि पणि कौन थे। राथ के मतानुसार यह शब्द 'पण् = विनिमय' से बना है तथा पणि वह व्यक्ति है जो बिना बदले के कुछ नहीं दे सकता। इस मत का समर्थन जिमर तथा लुड्विग ने भी किया है। लुड्विग ने इस पार्थक्य के कारण पणिओं को यहाँ

का आदिवासी व्यवसायी माना है। ये अपने सार्थ अरब, पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका में भेजते थे और अपने धन की रक्षा के लिए बराबर युद्ध करने को प्रस्तुत रहते थे। दस्यु अथवा दास शब्द के प्रसंगों के आधार पर उपर्युक्त मत पुष्ट होता है। किन्तु आवश्यक है कि आर्यों के देवों की पूजा न करने वाले और पुरोहितों को दक्षिणा न देने वाले इन पणियों के बारे में और भी कुछ सोचा जाय। इन्हें धर्मनिरपेक्ष, लोभी और हिंसक व्यापारी कहा जा सकता है। ये आर्य और अनार्य दोनों हो सकते हैं। हिलब्रैण्ट ने इन्हें स्ट्राबो द्वारा उल्लिखित पर्नियन जाति के तुल्य माना है, जिसका सम्बन्ध दहा (दास) लोगों से था। फिनिशिया इनका पश्चिमी उपनिवेश था, जहाँ ये भारत से व्यापारिक वस्तुएँ, लिपि, कला आदि ले गये।

पण्ढरपुर—महाराष्ट्र प्रदेश का प्रधान तीर्थ। महाराष्ट्र सन्तों के आराध्य भगवान् विष्णु यहाँ अधिष्ठित हैं जो विट्ठल कहे जाते हैं। भक्त पुण्डरीक की भक्ति से रीझकर भगवान् जब सामने प्रकट हुए तो भक्त ने उनके बैठने के लिए ईंट (विट) धर दी (थल)। इससे भगवान् का नाम 'विट्ठल' पड़ गया है। देवशयनी और देवोत्थानी एकादशी को बारकरी सम्प्रदाय के लोग यहाँ यात्रा करने आते हैं। यात्रा को ही वारी देना कहते हैं। भक्त पुण्डरीक इस धाम के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। संत तुकाराम, ज्ञानेश्वर, नामदेव, राँका-बाँका, नरहरि आदि भक्तों की यह निवासभूमि रही है। पंढरपुर भीमा नदी के तट पर है, जिसे यहाँ चन्द्रभागा भी कहते हैं।

पतञ्चल काप्य—एक ऋषि का नाम, जिनका उल्लेख दो बार बृहदारण्यक उपनिषद् (३.३,१; ७,१) में हुआ है। वेबर के मतानुसार उनका नाम कपिल तथा पतञ्जलि (सांख्ययोग प्रणाली के प्रवर्त्तक) नामों का पूर्व रूप है, इसी से आगे चलकर दो दर्शनकार ऋषिनामों का विकास हुआ।

पतञ्जलि—(१) संस्कृत व्याकरण के इतिहास में पतञ्जलि का महाभाष्य महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस ग्रन्थ की महत्ता व्याकरण शास्त्र की उपादेयता के अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं राजनीतिक दशाओं पर भी प्रकाश डालने के कारण है। ग्रन्थ की शैली भी चुटकुलों जैसी विनोदपूर्ण, प्रश्नोत्तरमयी साथ ही गम्भीर चिन्तनबहुल है। इसी लिए यहाँ भाष्य शब्द के साथ 'महा' विशेषण सार्थक होता है।

(२) योगदर्शन के निर्माता ऋषि भी पतञ्जलि कहे जाते हैं। महाभाष्यकार एवं योगदर्शनकार दोनों पतञ्जलि एक हैं अथवा नहीं; ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। परन्तु दोनों एक हो सकते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि दूसरी शती ई० पू० के प्रारम्भ में हुए थे। सूत्रशैली की रचनाएँ प्रायः इस काल तक और इसके आगे भी होती रही। अतः भाष्यकार योगसूत्रकार भी हो सकते हैं। दे० 'योगदर्शन'।

पताका—इस शब्द का पुराना प्रयोग अद्भुत ब्राह्मण में हुआ है। इसका वैदिक पर्याय 'केतु' है। धार्मिक कृत्यों में देवताओं के रथ के प्रतीक रूप में पताका की स्थापना होती है।

पति—पाशुपत सम्प्रदाय में तीन तत्त्व प्रधान हैं—पति, पशु और पाश। शिव ही पति हैं, मनुष्य उनके पशु हैं जो पाश (सांसारिक माया) से बँधे रहते हैं। 'पति' अथवा शिव के अनुग्रह से ही पशु (मनुष्य) पाश (सांसारिक बन्धन) से मुक्त होता है। दे० 'पाशुपत-सम्प्रदाय'।

पति-पशु-पाशम्—पाशुपत-सम्प्रदाय की तरह शैव सम्प्रदाय में भी जीव मात्र पशु कहलाते हैं। उनके पति पशुपति अर्थात् महेश्वर शिव हैं। मल, कर्म, माया और रोधशक्ति ये चार पाश हैं। स्वाभाविक अपवित्रता का नाम मल है, जो दृक् और क्रिया शक्ति को ढके रहता है। धर्माधर्म का नाम कर्म है। प्रलय में जिसके भीतर सभी कार्य समा जाते हैं और सृष्टि में जिससे सभी कार्य निकलते हैं, उसे माया कहते हैं। पुरुष की गति में रुकावट डालनेवाले कर्म रोधशक्ति कहलाते हैं।

पत्रव्रत—यह संवत्सर व्रत है। एक वर्ष तक इसका अनुष्ठान होता है। इसमें स्त्री एक पान, सुपारी तथा चूना किसी स्त्री या पुरुष को दान में दे देती है। वर्ष के अन्त में सुवर्ण अथवा रजत का पान तथा चूने के रूप में मोतियों का दान किया जाता है। ऐसी स्त्री न कभी दुर्भाग्यग्रस्त रहती और न उसके मुख से दुर्गन्ध आती है।

पथिकृत्—मार्ग बनाने वाला, नियम निर्धारित करने वाला। यह शब्द ऋग्वेद तथा अन्य संहिताओं में अनेक बार व्यवहृत है। इसकी महत्ता आदि काल से ही पथ खोजने के कार्य से सम्बन्धित है। यह विशेषण अग्निदेव (तैत्ति० सं०, शत० ब्रा०, कौषी० ब्रा०) के लिए बार-बार इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि प्रारम्भिक काल में आगे बढ़ने के लिए आर्य अग्नि जलाते थे और उसके प्रकाश में बढ़ते थे। पूषा को भी पथिकृत् कहा गया है, क्योंकि वह पशुझुण्डों की रक्षा करता था। ऋषियों को भी पथिकृत् कहा गया है, जिन्होंने समाज को प्रथम ज्ञान का मार्ग दिखलाया।

पद—(१) छन्द या श्लोक का चतुर्थांश। यह अर्थ इसके प्रारम्भिक अर्थ 'चरण' (पाद) से निकाला गया है, जो चौपायों के लिए व्यवहृत होता है और जिसके नाते एक चरण चतुर्थांश हुआ।

(२) छन्द के चतुर्थांश के अर्थ में इसका प्रयोग ऋग्वेद से ही होने लगा। पीछे भी इस अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है, किन्तु ब्राह्मणों में इससे 'शब्द' का भी बोध होता है।

(३) सन्त कवियों के पूरे गीत अथवा भजन को भी लोकभाषा में पद कहा जाता है। धार्मिक क्षेत्र में ऐसे पदों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पदकल्पतरु—वैष्णव गीतों का एक संग्रह। चैतन्य साहित्यान्तर्गत १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में वैष्णवदास ने इस ग्रन्थ की रचना की। यह छोटे-छोटे पदों (छन्दों) का संग्रह है।

पदयोजनिका—शङ्कराचार्य कृत उपदेशसाहस्री पर स्वामी रामतीर्थ ने पदयोजनिका नाम की टीका लिखी है। इसका रचनाकाल सत्रहवीं शताब्दी है।

पदार्थ—पद (शब्द) का वाच्य या कथनीय आशय; वस्तुतत्त्व। वैशेषिक दर्शन के अनुसार पदार्थ छः हैं—(१) द्रव्य (२) गुण (३) कर्म (४) सामान्य (५) विशेष (६) समवाय। इन पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। दे० 'वैशेषिक दर्शन'।

पदार्थकौमुदी—माध्व मतावलम्बी आचार्य वेदेश तीर्थ (१८ वीं शताब्दी) ने इस ग्रन्थ की रचना की।

पदार्थधर्मसंग्रह—प्रशस्तपाद का पदार्थधर्मसंग्रह नामक ग्रन्थ वैशेषिक दर्शन का भाष्य कहलाता है। परन्तु यह भाष्य नहीं, सूत्रों के आधार पर बना हुआ स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

पदार्थमाला—सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में लौगाक्षिभास्कर ने न्याय (पूर्वमीमांसा) विषयक इस ग्रन्थ को लिखा।

पदार्थव्रत—मार्गशीर्ष शुक्ल दशमी को यह व्रत प्रारम्भ किया जाता है। इस दिन उपवास रखते हुए दिक्पालों के साथ दसों दिशाओं का पूजन करना चाहिए। एक वर्ष तक इसका अनुष्ठान होता है। वर्ष के अन्त में गोदान करने का विधान है। इससे संकल्प की सिद्धि होती है।

पदार्थसंग्रह—आचार्य मध्व के शिष्य पद्मनाभाचार्य ने पदार्थसंग्रह नामक प्रकरण ग्रन्थ लिखा था, जिसमें मध्वाचार्य के मत का वर्णन किया गया है। पदार्थसंग्रह के ऊपर उन्होंने मध्वसिद्धान्तसार नामक व्याख्या भी लिखी थी। इसका रचनाकाल १३वीं शताब्दी है।

पद्मकयोग—(१) रविवार को यदि सप्तमीविद्धा षष्ठी पड़े तो पद्मकयोग होता है, जो सहस्र सूर्यग्रहणों के समान पुण्यशाली है। दे० व्रतराज, २४९।

(२) सूर्य विशाखा नक्षत्र पर हो तथा चन्द्र कृत्तिका नक्षत्र पर, तब पद्मक योग होता है। दे० हेमाद्रि का चतुर्वर्गचिन्तामणि।

(३) जीमूतवाहन के 'कालविवेक' के अनुसार जब सूर्य विशाखा नक्षत्र के तृतीय पाद में तथा चन्द्रमा कृत्तिका के प्रथम पाद में हो तब पद्मक योग बनता है।

पद्मनाभ—(१) विष्णु का एक पर्याय। इसका अर्थ है 'जिसकी नाभि में कमल है।' कमल विश्व की सृष्टि और प्रज्ञा के विकास का प्रतीक है। पुराणों के अनुसार इसी कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है इसलिए ब्रह्मा को 'कमलयोनि' अथवा 'पद्मयोनि' भी कहते हैं।

(२) कात्यायनसूत्र के अनेक भाष्यकारों में पद्मनाभ भी एक हैं।

पद्मनाभ तीर्थ—आचार्य मध्व के शिष्य। इन्होंने मध्वरचित अनुव्याख्यान की, जो वेदान्तसूत्र का पद्यमय विवरण है, टीका लिखी। यह 'संन्यासरत्नावली' नाम से प्रसिद्ध है।

पद्मनाभ तीर्थ (शोभन)—आचार्य मध्व देहत्याग करते समय अपने शिष्य पद्मनाभ तीर्थ को रामचन्द्रजी की मूर्ति और शालग्राम शिला देकर कह गये थे कि तुम मेरे मत का प्रचार करते रहना। गुरु के उपदेशानुसार पद्मनाभ ने चार मठ स्थापित किये। इनका पहला नाम शोभन भट्ट था।

ये बहुत बड़े विद्वान् थे और चालुक्य राजधानी कल्याण में रहते थे। एक बार इनका शास्त्रार्थ मध्वाचार्य से हुआ। शोभन भट्ट शास्त्रार्थ में हार गये और इन्होंने वैष्णवमत स्वीकार कर लिया। तब इनका नाम पद्मनाभाचार्य पड़ा। मध्वाचार्य के बाद ये ही आचार्य पदासीन हुए। पद्मनाभाचार्य ने मध्व के ग्रन्थों की टीकाएँ भी लिखीं और संप्रदाय का अच्छा विस्तार किया। ये तेरहवीं शताब्दी में वर्तमान थे।

पद्मनाभद्वादशी—आश्विन शुक्ल द्वादशी को इस व्रत का आरम्भ होता है। एक कलश की स्थापना करके उसमें भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) की प्रतिमा विराजमान की जाती है, उसका चन्दन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्यादि से पूजन होता है। दूसरे दिन उसे दान में दे दिया जाता है।

पद्मपादिका— (पञ्चपादिका) शंकराचार्य के शिष्य पद्मपादकृत एक दार्शनिक ग्रन्थ। इसके ऊपर प्रबोधपरिशोधिनी नाम की एक टीका है, जिसके रचयिता नरसिंहस्वरूप के शिष्य आत्मस्वरूप थे।

पद्मपुराण—इसके पाँच खण्ड हैं—(१) सृष्टिखण्ड (२) भूमिखण्ड (३) स्वर्गखण्ड (४) पातालखण्ड और (५) उत्तरखण्ड। विष्णुपुराण की सूची के अनुसार पद्मपुराण दूसरा पुराण है। देवीभागवत के अतिरिक्त, जिसके मत से मार्कण्डेय पुराण दूसरा है, सब पुराण इसी को दूसरा स्थान देते हैं और इस बात पर एकमत हैं कि पद्मपुराण में ५४,००० श्लोक हैं। केवल ब्रह्मवैवर्तपुराण के मत से इसमें ५९,००० श्लोक होने चाहिए। इसमें हिरण्मय पद्म (सुनहरे कमल) से संसार की उत्पत्ति का वृत्तान्त वर्णित है, इसलिए इस पुराण को बुधजन 'पद्म' कहते हैं। सृष्टिखण्ड के ३६वें अध्याय में इसकी कथा है, जिसमें संसार की उत्पत्ति का सविस्तर वर्णन है और इससे मत्स्यपुराण की उक्ति का समर्थन होता है।

नीचे लिखी छोटी-छोटी पोथियाँ पद्मपुराण के अन्तर्गत मानी जाती हैं :

(१) अष्टमूर्तिपर्व (२) अयोध्यामाहात्म्य (३) उत्पलाख्यमाहात्म्य (४) कदलीपुरमाहात्म्य (५) कमलालयमाहात्म्य (६) कपिलगीता (७) करवीरमाहात्म्य (८) कर्मगीता (९) कल्याणकाण्ड (१०) कायस्थोत्पत्ति और कायस्थस्थितिनिरूपण (११) कालिञ्जरमाहात्म्य (१२) कालिन्दीमाहात्म्य (१३) काशीमहात्म्य (१४) कृष्णनक्षत्रमाहात्म्य (१५) केदारकल्प (१६) गणपतिसहस्रनाम (१७) गौतमीमाहात्म्य (१८) चित्रगुप्तकथा (१९) जगन्नाथमाहात्म्य (२०) तप्तमुद्राधारणमाहात्म्य (२१) तीर्थमाहात्म्य (२२) त्र्यम्बकमाहात्म्य (२३) देविकामाहात्म्य (२४) धर्मारण्यमाहात्म्य (२५) ध्यानयोगसार (२६) पंचवटीमाहात्म्य (२७) पायिनीमाहात्म्य (२८) प्रयागमाहात्म्य (२९) फाल्गुनीकृष्ण-विजयामाहात्म्य (३०) भक्तवत्सलमाहात्म्य (३१) भस्ममाहात्म्य (३२) भागवतमाहात्म्य (३३) भीमामाहात्म्य (३४) भूतेश्वरतीर्थमाहात्म्य (३५) मलमासमाहात्म्य (३६) मल्लादिसहस्रनाम स्तोत्र (३७) यमुनामाहात्म्य (३८) राजराजेश्वरयोग कथा (३९) रामसहस्रनाम स्तोत्र (४०) रुक्माङ्गदकथा (४१) रुद्रहृदय (४२) रेणुकासहस्रनाम (४३) विकृतजननशान्तिविधान (४४) विष्णुसहस्रनाम (४५) वृन्दावनमाहात्म्य (४६) वेङ्कटस्तोत्र (४७) वेदान्तसार शिवसहस्रनाम (४८) वेण्योपाख्यान (४९) वैतरणी व्रतोद्यापनविधि (५०) वैद्यनाथमाहात्म्य (५१) वैशाखमाहात्म्य (५२) शिवगीता (५३) शताश्वविजय (५४) शिवालयमाहात्म्य (५५) शिवसहस्रनाम स्तोत्र (५६) शीतलास्तोत्र (५७) शोशीपुरमाहात्म्य (५८) श्वेतगिरिमाहात्म्य (५९) सङ्कटनामाष्टक (६०) सत्योपाख्यान (६१) सरस्वत्यष्टक (६२) सिन्धुरागिरिमाहात्म्य (६३) सुदर्शनमाहात्म्य (६४) हनुमत्कवच (६५) हरिश्चन्द्रोपाख्यान (६६) हरितालिकाव्रतकथा (६७) हर्षेश्वरमाहात्म्य (६८) होलिकामाहात्म्य इत्यादि।

पद्मसंहिता—यह प्रायः सबसे प्राचीन संहिता मानी जाती है, जिसमें चार खण्ड हैं—ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद एवं चर्यापाद। केवल दो ही संहिताओं 'पद्म' तथा 'विष्णुतत्त्व' में उपर्युक्त चार खण्डों का प्रतिपादन हुआ है। अधिकांश संहिताएँ केवल क्रिया एवं चर्यापादों का ही वर्णन करती हैं।

पद्मावली—चैतन्य संप्रदाय के महात्मा रूप गोस्वामी द्वारा रचित एक संस्कृत नाटक।

पंथ (पथ)—यह शब्द धार्मिक सम्प्रदाय का द्योतक है। प्रायः निर्गुणवादी सन्तों द्वारा चलाये गये सम्प्रदायों को

पंथ कहते हैं। यथा कबीरपन्थ, नानकपन्थ, दादूपन्थ आदि।

पन्दरम्—तमिलनाडु के शैव मन्दिरों में ब्राह्मणेतर पुजारी को 'पन्दरम्' कहते हैं। इस देश के शैव मन्दिरों में साम्प्रदायिक भिन्नता नहीं है। वे सभी हिन्दुओं, स्मार्तों, साधारण शैवों, सिद्धान्तवादियों एवं लिङ्गायतों के लिए खुले रहते हैं। इनमें पुजारी ब्राह्मण होते हैं, किन्तु कुछ छोटे मन्दिरों में पन्दरम् (अब्राह्मण शैव) लोग अर्चक का कार्य करते हैं।

पन्ना—मध्य प्रदेश में स्थित एक भूतपूर्व रियासत का प्रसिद्ध नगर और तीर्थस्थान। यहाँ भगवान् युगलकिशोर का एक मन्दिर और जगन्नाथ स्वामी के दो मन्दिर हैं। महात्मा प्राणनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर भी यहाँ स्थित है। दे० 'कुलज्जम साहब'।

पम्पासर—इस तीर्थ का वर्णन वाल्मीकि रामायण में पाया जाता है। भगवान् राम वनवास के समय शबरी के परामर्श से इस सरोवर के तट पर आये थे। इसके निकट ही सुग्रीव का निवास था। दक्षिण भारत की तुङ्गभद्रा नदी पार करके अनागुदी ग्राम जाते समय कुछ दूर पश्चिम पहाड़ के मध्य भाग में एक गुफा मिलती है। उसके अंदर श्रीरङ्गजी तथा सप्तर्षियों की मूर्तियाँ हैं, आगे पूर्वोत्तर पहाड़ के पास ही पम्पासरोवर है। स्नान करने के लिए यात्री प्रायः यहाँ आते रहते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि पम्पासर वहाँ था, जहाँ अब हासपेट नगर है।

पयस्—वैदिक संहिताओं में 'पयस्' शब्द का गोदुग्ध अर्थ लिया गया है। कुछ प्रसंगों में इसे पौधों में पाया जाने वाला रस समझा गया है, जो उन्हें जीवन तथा बल प्रदान करता है। कतिपय स्थलों पर यह स्वर्गीय जल का बोधक है (ऋ० वे० १.६५,५,१६६; ३.३३,१,४; ४.५७,८ आदि)। शतपथ ब्राह्मण (९.५,१,) में 'पयोव्रत' नाम से दुग्ध पर ही जीवन धारण करने वाले व्रत का उल्लेख है।

पयोव्रत—(१) यज्ञानुष्ठान के लिए दीक्षित होने के पश्चात् केवल दुग्धाहार करने का विधान है। इसी को पयोव्रत कहते हैं। (शतपथ० ९.५.१.१)

(२) प्रत्येक अमावस्या को यह व्रत करना चाहिए। इसमें केवल दुग्धाहार विहित है। एक वर्ष तक यह चलता है। वर्ष के अन्त में श्राद्ध करना चाहिए, पाँच गायें, वस्त्र तथा जलपूर्ण कलश दान में देना चाहिए। दे० हेमाद्रि, २.२५४।

(३) भगवान् विष्णु को प्रसन्न कर पुत्र प्राप्त करने की कामना से फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा से द्वादशी तक केवल दुग्ध की वस्तुओं से पूजन (देवता स्नान, नैवेद्य, होम और प्रसाद ग्रहण) करना चाहिए। दे० स्मृतिकौस्तुभ, ५१३-५१४; भागवतपुराण, ८.१६,२२-६२।

पर आगम—रौद्रिक आगमों में एक 'पर (वातुल) आगम'। भी है।

परञ्जोति—सत्रहवीं शती में तमिल भाषा के भक्त कवि परञ्जोति ने 'तिरुविलै आडतुपाणम्' नामक धार्मिक ग्रन्थ की रचना की।

परपक्षगिरिवज्र—निम्बार्क वैष्णव संप्रदाय का एक तर्क-कर्कश दार्शनिक ग्रन्थ, जिसमें अद्वैत वेदान्त के अध्यास, मायावाद, जीवब्रह्मैक्यवाद आदि का सटीक खण्डन किया गया है। इसकी रचना वंगदेशवासी पं० माधवमुकुन्द ने माध्ववेदान्त से प्रभावित होकर की। माधवमुकुन्द स्वभूरामी शाखा के वैष्णव थे अतः इनका समय सत्रहवीं शताब्दी संभव है। उक्त ग्रन्थ न्याय-वेदान्त के प्रौढ़ ज्ञाताओं के अध्ययन की सामग्री उपस्थित करता है।

परब्रह्मोपनिषद्—एक परवर्त्ती उपनिषद्। इसमें परब्रह्म (निर्गुण) का निरूपण किया गया है।

परमशिव—नवीं शताब्दी में उत्पन्न कश्मीर के वसुगुप्त नामक शिवभक्त ने एक नया धार्मिक अनुभव प्रचारित किया। उनके शिष्य कल्लट ने 'स्पन्दसूत्र' अथवा 'स्पन्दकारिका' में त्रिक् (पति, पशु, पाश) प्रणाली के अद्वैत सिद्धान्त का उल्लेख किया है। स्पन्दशाखा में आत्मा कठोर यौगिक साधना से ज्ञान प्राप्त करता है, जिससे परम शिव (विश्व के परमअधीश्वर) का अनुभव होता है तथा जीवात्मा शान्ति में विलीन हो जाता है। परम शिव वास्तव में मूल परम तत्त्व का ही पर्याय है।

परमशिवेन्द्र सरस्वती—महात्मा सदाशिवेन्द्र सरस्वती के गुरु का नाम। ये प्रसिद्ध धार्मिक नेता थे।

परमसंहिता—एक वैष्णव संहिता। इसमें वैष्णव सिद्धान्तों तथा आचार का विशद वर्णन है।

परमहंस—चतुर्थ आश्रमी संन्यासियों की चार श्रेणियाँ कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस नामक होती हैं।

वैराग्य और ज्ञान की उत्तरोत्तर तीव्रता के कारण यह श्रेणीविभाजन किया गया है। परमहंस कोटि का संन्यासी सर्वश्रेष्ठ होता है।

हंस शब्द सदसद्-विवेक की शक्ति से परिपूर्ण आत्मा का बोधक है। जिस पुरुष में आत्मा का परम विकास हो चुका है वह 'परमहंस' कहलाता है।

परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्—यह संन्यासाश्रम सम्बन्धी एक परवर्ती उपनिषद् है।

परमहंसोपनिषद्—संन्यास आश्रम से सम्बन्धित एक उपनिषद्। संन्यासी को परमहंस भी कहते हैं इसलिए इसमे संन्यासाश्रम में प्रवेश के पूर्व की तैयारी, संन्यासी की वेषभूषा, आवश्यकता, भोजन, निवास स्थान तथा कार्य आदि का वर्णन है।

परमाणु—वैशेषिक मतानुसार द्रव्य नौ हैं। इनमे से प्रथम चार परमाणु के ही विभिन्न रूप हैं। प्रत्येक परमाणु परिवर्तनहीन, शाश्वत, अतिसूक्ष्म तथा अदर्शनीय होता है। परमाणु गंध, स्वाद, प्रकाश एवं उष्णता (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि के प्रतिनिधि स्वरूप) के अनुसार चार कक्षाओं में बँट जाते हैं। दो परमाणुओं के मिलने से एक द्व्यणुक तथा तीन द्व्यणुकों के मिलने से एक त्रसरेणु बनता है जो वस्तु की सबसे छोटी इकाई है, जिसका आकार गुणयुक्त होता है तथा जिसे पदार्थ कहते हैं।

परमात्मा—वैशेषिक मतानुसार नित्य ज्ञान, नित्य इच्छा और नित्य संकल्प वाला, सर्वसृष्टि को चलाने वाला परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है। अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा के भेद से आत्मा दो प्रकार का है। परमात्मा एक है, जीवात्मा अगणित हैं। परमात्मा जैसे पहले कल्प में सृष्टि रचता है वैसे ही इस कल्प में पृथिवी, स्वर्ग और अन्तरिक्ष को रचता है। इससे सृष्टिकर्ता ईश्वर नित्य सिद्ध होता है। वैशेषिक मत में जीवात्मा और परमात्मा दोनों अनात्मपदार्थों से अलग हैं, यह मनन से सिद्ध होता है।

सांख्य दर्शन परमात्मा अथवा ईश्वर में विश्वास नहीं करता; केवल वह पुरुषबहुत्व को मानता है। योगदर्शन ईश्वर को आदि गुरु मानता है। वेदान्त के अनुसार परमात्मा व्यवहार में भिन्न किन्तु वस्तुतः अभिन्न हैं।

परमानन्द उपपुराण—यह उन्नीस उपपुराणों में से एक है।

परमानन्द सरस्वती—ब्रह्मानन्द सरस्वती के दीक्षागुरु परमानन्द सरस्वती थे। सत्रहवीं शताब्दी के आसपास इनका प्रादुर्भाव हुआ था।

परमार्थसार—प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त का यह संक्षिप्त सार है। इसकी रचना ग्यारहवी शती मे कश्मीर के आचार्य अभिनव गुप्त ने की थी।

परमेश्वर आगम—यह रौद्रिक आगम है। 'मतङ्ग' इसका उपागम है।

परमेश्वरतन्त्र—शाक्त साहित्य में तन्त्रों का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। परमेश्वरतन्त्र लगभग ९०८ वि० की रचना है।

परलोक—मानव जीवन के दो पक्ष हैं—इहलोक अथवा सांसारिक जीवन और परलोक अथवा पारमार्थिक जीवन। परलोक अथवा परमार्थ व्यावहारिक जगत् से भिन्न है। कुछ लोग स्वर्ग को ही परलोक कहते हैं। वास्तव में लोक की कल्पना स्थानीय है, जो स्तर भेद दिखाने के लिए की गयी है। व्यक्तिगत लाभ-हानि की चिन्ता छोड़कर समष्टिगत जीवन के कल्याण के लिए कार्य करना ही परमार्थ (बड़ा लाभ) है।

परवतिया गुसाँई—परवतिया गुसाँई कामाख्या देवी के प्रधान पुजारी को कहते हैं। यह नदिया (नवद्वीप) का निवासी बंगाली ब्राह्मण होता है।

परशुराम—विष्णु के दस अवतारों में से छठा अवतार, जो वामन एवं रामचन्द्र के मध्य में गिना जाता है। परशु (फरसा) नामक शस्त्र धारण करने के कारण ये परशुराम कहलाते हैं। जमदग्नि के पुत्र होने के कारण ये जामदग्न्य भी कहे जाते हैं। इन्होंने राजा सहस्रार्जुन कार्तवीर्य का वध किया था। परम्परा के अनुसार इन्होंने क्षत्रियों का अनेक बार विनाश किया। इनका जन्म अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल तृतीया) को हुआ था। अतः इस दिन व्रत करने और उत्सव मनाने की प्रथा है।

इस अवतार के प्रसङ्ग में ब्रह्म-क्षत्रसंघर्ष की चर्चा आती है। यह मान्यता कि परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियविहीन किया था, अतिरंजित जान पड़ती है। संसार की स्थिति एवं ब्रह्माण्डप्रकृति के अनुसार धर्म की रक्षा तभी संभव है जब ब्रह्म और क्षत्र दोनों ही शक्तियाँ समता की भावना से परिपूर्ण रहें।

ब्रह्मशक्ति के बिना क्षत्रशक्ति पुष्ट नहीं होती और क्षत्रशक्ति के बिना ब्रह्मशक्ति भी नहीं बढ़ सकती। दोनों की समता से ही संसार का कल्याण संभव है।

परशुरामभार्गवसूत्र—इस ग्रन्थ में शाक्तों के कौल सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाओं का विवरण पाया जाता है। कौल मार्ग के अनुसार देवी की पूजा का विधान इसमें विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

परशुरामजयन्ती—वैशाख शुक्ल तृतीया को यह जयन्तीव्रत सम्बन्धी पूजन होता है।

परशुरामदेव—निम्बार्क वैष्णव परम्परा के मध्यकालिक धर्मरक्षक प्रतापी संत, जिन्होंने अपने तपोबल से राजस्थान में फकीरों के हिन्दूविरोधी धर्मोन्माद का पर्याप्त मात्रा में शमन किया। ये वैष्णवाचार्य हरिव्यासदेव के स्वभूरामदेव आदि प्रभावशाली द्वादश शिष्यों में छठे थे। इनका समय सोलहवीं शताब्दी का मध्यकाल है। इनकी अध्यात्मशक्ति से प्रभावित होकर अनेक देशी नरेश धर्मपरायण हो गये, जिनकी आस्था सूफी सन्तों की ओर जाने लगी थी। जयपुर से आगे आमेरमार्ग पर स्थित, भव्य 'परशुरामद्वारा' नामक राजकीय स्मारक इसका प्रमाण है। 'परशुरामसागर' नामक उपदेशात्मक रचना में इनकी कृतियों का संग्रह मिलता है जो राजस्थानीप्रभावित हिन्दी में है। तीर्थराज पुष्कर में भी इनकी तपोभूमि है। वहाँ से कुछ दूर किसनगढ़ राज्य के सलीमाबाद स्थान में इन्होंने किसी फकीर के प्रभाव को कुण्ठित कर वहाँ अपना वर्चस्व स्थापित किया था, तब से वह स्थान हिन्दू धर्मप्रचार का केन्द्र और परशुरामदेव के भक्तों की गुरुगद्दी हो गया। आजकल भी इस गद्दी के उत्तराधिकारी वैष्णव सन्त धर्मप्रचार में अग्रसर रहते हैं।

पराङ्कुश—विशिष्टाद्वैत संप्रदाय के मान्य लेखक श्रीनिवासदास ने 'यतीन्द्रमतदीपिका' (पूना सं०, पृ० २) में अनेक वेदान्ताचार्यों का नामोल्लेख किया है उनमें पराङ्कुश आचार्य भी एक हैं।

पराशर—(१) ऋग्वेद (७.१८.२१) में शत्यातु तथा वसिष्ठ के साथ पराशर का भी उल्लेख है। निरुक्त (६.३०) के अनुसार पराशर वसिष्ठ के पुत्र थे। किन्तु वाल्मीकिरामायण में इन्हें शक्ति का पुत्र तथा वसिष्ठ का पौत्र कहा गया है। गेल्डनर का मत है कि पराशर का उल्लेख ऋग्वेद में शत्यानु तथा वसिष्ठ के साथ हुआ है जो संभवतः उनके चाचा तथा पितामह (क्रमशः) थे। जिन सात ऋषियों को ऋग्वेदीय मन्त्रों के सम्पादन का श्रेय है उनमें पराशर का नाम भी सम्मिलित है।

(२) पराशर नामक स्मृतिकार भी हुए हैं जिन्होंने पराशरस्मृति की रचना की। वर्तमान युग के लिए यह स्मृति अधिक उपयोगी मानी जाती है : "कलौ पाराशरः स्मृतः।"

(३) महाभारत में भी पराशर की कथा आती है। ये व्यास के पिता थे। इसीलिए व्यास को पाराशर्य अथवा पाराशरि कहा जाता है।

(४) वराहमिहिर के पूर्व पराशर एवं गर्ग प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् हो चुके थे।

(५) पराशर नामक एक प्राचीन वेदान्ताचार्य भी थे। रामानुज स्वामी के शिष्य कूरेश के पुत्र का नाम भी पराशर था जिन्होंने रामानुज की आज्ञा से 'विष्णुसहस्रनाम' पर भाष्य लिखा।

पराशरमाधव—माधवाचार्य द्वारा रचित यह ग्रन्थ पराशरस्मृति के ऊपर एक निबन्ध है। स्मृतिशास्त्र की ऐसी उपयोगी रचना सम्भवतः दूसरी नहीं है। पराशरस्मृति में जिन विषयों पर, विशेष कर व्यवहार (न्याय कार्य) पर, प्रकाश नहीं डाला गया है उन सबको दूसरी स्मृतियों से लेकर पराशरमाधव में जोड़ दिया गया है।

धर्मशास्त्र के अनुसार पराशरस्मृति की रचना कलियुग के लिए हुई, किन्तु आकार और विषय की दृष्टि से यह छोटी स्मृति है। इसका महत्त्व स्थापित करने तथा परम्परा को उचित सिद्ध करने के लिए माधव ने 'पराशरमाधवीय' का प्रणयन किया। सुदूर दक्षिण में हिन्दू विधि पर यह प्रमाण ग्रन्थ माना जाता है। इसके मुद्रित संस्करण में २३०० पृष्ठ पाये जाते हैं।

पराशरसंहिता (स्मृति)—स्मृतिशास्त्र में पराशरस्मृति अथवा संहिता प्रसिद्ध रचना मानी जाती है। इस संहिता का प्रणयन कलियुग के लिए किया गया था। इसके प्रास्ताविक श्लोकों में लिखा है कि ऋषि लोग व्यास के पास जाकर प्रार्थना करने लगे कि आप कलियुग के लिए धर्मोपदेश करें। व्यासजी ऋषियों को अपने पिता पराशर के पास ले गये, जिन्होंने इस स्मृति का प्रणयन किया।

इसके प्रथम अध्याय में स्मृतियों (उन्नीस) की गणना की गयी है और कहा गया है कि मनु, गौतम, शंख-लिखित तथा पराशर स्मृतियाँ क्रमशः सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग के लिए प्रणीत हुई हैं।

परिकरविजय—यह दोद्दयाचार्य कृत एक ग्रन्थ है।

परिक्रमा—संमान्य स्थान या व्यक्ति के चारों ओर उसकी दाहिनी तरफ से घूमना। इसको प्रदक्षिणा करना भी कहते हैं जो षोडशोपचार पूजा का एक अंग है। प्रायः सोमवती अमावस को महिलाएँ पीपल वृक्ष की १०८ परिक्रमायें करती हैं। इसी प्रकार दुर्गादेवी की परिक्रमा की जाती है। पवित्र धर्मस्थानों, अयोध्या, मथुरा आदि पुण्यपुरियों की परिक्रमा कार्तिक में समारोह से की जाती हैं। काशी की पंचक्रोशी (२५ कोस की), व्रज में गोवर्धन पर्वत की सप्तक्रोशी, व्रजमडल की चौरासी कोसी, नर्मदाजी की अमरकंटक से समुद्र तक छःमासी और समस्त भारतखण्ड की वर्षों में पूरी होने वाली—इस प्रकार की विविध परिक्रमाएँ धार्मिकों में प्रचलित हैं। व्रजभूमि में 'डण्डौती' परिक्रमा भूमि में पद-पद पर दण्डवत् लेटकर पूरी की जाती है। यही १०८-१०८ वार प्रति पद पर आवृत्ति करके वर्षों में समाप्त होती है।

परिणामवाद—परिणाम का शाब्दिक अर्थ है परिणति, फलन, विकार अथवा परिवर्तन। जगत् रचना के सम्बन्ध में सांख्य दर्शन परिणामवाद को मानता है। इसके अनुसार सृष्टि का विकास उत्तरोत्तर विकार या परिणाम द्वारा अव्यक्त प्रकृति से स्वयं होता है। कार्य कारण में अन्तर्निहित रहता है, जो अनुकूल परिस्थिति आने पर व्यक्त हो जाता है। यह सिद्धान्त न्याय के 'प्रारम्भवाद' अथवा वेदान्त के 'विवर्तवाद' से भिन्न है।

परिणामी सम्प्रदाय—वैष्णवों का एक उप सम्प्रदाय 'परिणामी' अथवा 'प्रणामी' है। इसके प्रवर्तक महात्मा प्राणनाथजी परिणामवादी वेदान्ती थे। ये विशेषतः पन्ना (बुन्देलखण्ड) में रहते थे। महाराज छत्रसाल इन्हें अपना गुरु मानते थे। ये अपने को मुसलमानों का मेंहदी, ईसाइयों का मसीहा और हिन्दुओं का कल्कि अवतार कहते थे। इन्होंने मुसलमानों से शास्त्रार्थ भी किये। सर्वधर्मसमन्वय इनका लक्ष्य था। इनका मत निम्बार्कियों जैसा था। ये गोलोकवासी श्री कृष्ण के साथ सख्य-भाव रखने की शिक्षा देते थे। प्राणनाथजी की रचनाएँ अनेक हैं। उनकी शिष्यपरम्परा का भी अच्छा साहित्य है। इनके अनुयायी वैष्णव हैं और गुजरात, राजस्थान, बुन्देलखण्ड में अधिक पाये जाते हैं। दे० 'प्राणनाथ'।

परिधिनिर्माण—परिधि का उल्लेख ऋग्वेद (पुरुषसूक्त) में पाया जाता है : "सप्तास्यासन् परिधयः"।

[ईश्वर ने एक-एक लोक के चारों ओर सात-सात परिधियाँ ऊपर-ऊपर रची हैं।] गोल वस्तु के चारों ओर एक सूत के नाप का जितना परिमाण होता है उसको परिधि कहते हैं। ब्रह्माण्ड में जितने लोक हैं, ईश्वर ने उनमें एक-एक के ऊपर सात-सात आवरण बनाये हैं। एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टिजल, पाँचवाँ वृष्टिजल के ऊपर का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसे धनञ्जय कहते हैं और सातवाँ सूत्रात्मा वायु जो धनञ्जय से भी सूक्ष्म है। ये सात परिधियाँ कहलाती हैं।

परिभाषा—(१) किसी भी वैदिक यज्ञक्रिया को समझने के लिए तीनों श्रौतसूत्रों के (जो तीनों वेदों पर अलग-अलग आधारित हैं) कर्मकाण्ड वाले अंश का अध्ययन वेदविद्यार्थी के लिए आवश्यक होता था। इस कार्य के लिए कुछ और ग्रन्थ रचे गये थे, जिन्हें परिभाषा कहते हैं। इन परिभाषा ग्रन्थों में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार तीनों वेदों के मत का किसी यज्ञ विशेष के लिए उचित रूप से प्रयोग किया जाय।

(२) पाणिनीय सूत्रों पर आधारित व्याकरण शास्त्र का एक व्यवस्थित नियमप्रयोजक ग्रन्थ परिभाषा कहलाता है।

परिभाषेन्दुशेखर—यह पाणिनीय सूत्रों पर आधारित व्याकरणशास्त्र के परिभाषा भाग के ऊपर नागेश भट्ट की एक रचना है।

परिमल—शांकर भाष्य का उपव्याख्या ग्रन्थ। इसकी रचता अप्पय दीक्षित ने स्वामी नृसिंहाश्रम की प्रेरणा से की। ब्रह्मसूत्र के ऊपर शाङ्कर भाष्य की व्याख्या 'भामती' है, भामती की टीका 'कल्पतरु' है और कल्पतरु की व्याख्या 'परिमल' है।

परिव्राजक—इसका शाब्दिक अर्थ सब कुछ त्यागकर परिभ्रमण करने वाला है। परिव्राजक चारों ओर भ्रमण करने वाले संन्यासियों (साधु-संतों) को कहते हैं। ये संसार से विरक्त तथा सामाजिक नियमों से अलग रहते

हुए अपना समय ध्यान, शास्त्रचिन्तन, शिक्षण आदि में व्यय करते हैं । ये वृक्षों के नीचे सोते तथा भिक्षा से भोजन प्राप्त करते हैं । परिव्राजक कब होना चाहिए, इस सम्बन्ध में शास्त्रों में मतभेद है । साधारणतः ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ आश्रम क्रमशः पूरा करने के पश्चात् परिव्राजक होने का विधान है । किन्तु उपनिषद् काल से ही उत्कट वैराग्य वाले व्यक्ति के लिए यह प्रतिबन्ध नहीं था । उसके लिए विकल्प था :

यदहरेव विरजेत् तदहरेव परिव्रजेत् ।

[जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन परिव्राजक हो जाना चाहिए ।]

परुष्णी—रावी नदी का यह वैदिक नाम है । नदीस्तुति (ऋग्वेद, १०.७५.५) तथा सुदास की विजय गाथा में परुष्णी नदी का उल्लेख है । यह नहीं कहा जा सकता कि सुदास की विजय में इसका क्या योग था, किन्तु अधिकांश विद्वानों का मत है कि शत्रु इसके प्रवाह की दिशा बदलने के प्रयत्न में इसकी तेज धारा में बह गये । ऋग्वेद के आठवें मण्डल (८.७४.१५) में इसे महानद कहा गया है । आगे चलकर इस नदी का नाम इरावती (रावी) पड़ा, जिसका उल्लेख यास्क ने किया है । पिशेल के मतानुसार 'परुष्णी' शब्द का ऊर्णा (ऊन) से सम्बन्ध है । उनका कहना है कि इसका नाम पुरुष + ऊर्णा से गठित हुआ है ।

पर्जन्य—यह एक वैदिक देवता का नाम है । ऋग्वेदीय देवताओं को तीन भागों में बाँटा गया है : पार्थिव, वायर्वाय एवं स्वर्गीय । वायवीय देवों में पर्जन्य की गणना होती है । प्रोफेसर स्थ्रेडर के मत से सातवें आदित्य का नाम पर्जन्य है, जो पहले द्यौ का ही एक विरुद था । पर्जन्य भी द्यौ एवं वरुण के सदृश वृष्टिदाता है । ऋग्वेद (५.८३) में पर्जन्य सम्बन्धी ऋचाएँ ठीक उसी प्रकार की हैं जैसी मित्रावरुण अथवा वरुण के सम्बन्ध की ।

पर्ण—ऋग्वेद (१०.९७.५) में इसका उल्लेख अश्वत्थ के साथ तथा अथर्ववेद (५.५.५) में अश्वत्थ एवं न्यग्रोध के साथ हुआ है । इसकी लकड़ी से यज्ञ की स्थालियों के ढक्कन, यज्ञ के अन्य उपादान जुहू या यज्ञस्तम्भ तथा स्रुव बनते थे । इसके छिलके (पर्णवल्क) का भी कहीं-कहीं उल्लेख हुआ है । अतः इसका अर्थ प्रचलित पलाश (पत्र) की अपेक्षा पूर्वकाल का कोई वृक्ष होना चाहिये ।

पर्णक—पुरुषमेध के बलिपदार्थों की सूची के अन्तर्गत यह व्यक्तिनाम वाजसनेयी संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लिखित है । महीधर के अनुसार इससे भिल्ल का बोध होता है । सायण के मतानुसार इससे मछली पकड़ने वाले ऐसे व्यक्ति का बोध होता है, जो पानी पर एक पर्ण (विषसहित पत्ता) रखकर मछलियाँ पकड़ता है । किन्तु यह केवल शाब्दिक अटकलबाजी है । वेबर के मतानुसार इसका अर्थ पंख धारण करने वाला एक जंगली जीव है, किन्तु यह अर्थ भी अनिश्चित है ।

पर्णय—ऋग्वेद की दो ऋचाओं (१.४३.८;१०.४८.२) में उद्धृत यह या तो किसी नायक का नाम है, जैसा कि लुड्विग सोचते हैं, अथवा दानव का, जो इन्द्र द्वारा विजित हुआ ।

पर्यङ्क—कौषीतकि उपनिषद् (१.५) में ब्रह्मा के आसन का नाम पर्यङ्क है । यह सम्भवतः दूसरे स्थानों पर प्रयुक्त आसन्दी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इसका अर्थ शय्या नहीं है, जैसा कि उपनिषद् में प्रयुक्त है । सिंहासन के अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है ।

पर्वत—ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में पर्वत का गिरि के अर्थ में प्रयोग हुआ है । संहिताओं में पर्वतों के पंखों का काल्पनिक वर्णन है । कौषीतकि उपनिषद् में दक्षिणी तथा उत्तरी पर्वतों के नामोल्लेख हैं, जिनसे स्पष्टतः हिमालय एवं विन्ध्य पर्वतों का बोध होता है । अथर्ववेद में पर्वतों पर ओषधि एवं अञ्जन की उत्पत्ति का उल्लेख है ।

पर्वतशिष्यपरम्परा—शङ्कराचार्य से संन्यासियों का दसनामी सम्प्रदाय प्रचलित हुआ । उनके चार प्रमुख शिष्य थे और उन चारों के कुल मिलाकर दस शिष्य हुए । इन दसों के नाम से संन्यासियों के दस भेद हो गये । शङ्कराचार्य ने चार मठ भी स्थापित किये थे, जिनके अधीन इन प्रशिष्यों की शिष्यपरम्परा चली आती है । जोशीमठ के संन्यासी 'पर्वत' उपाधि धारण करते हैं ।

पर्वताष्टमीव्रत---चैत्र शुक्ल अष्टमी के दिन पर्वतों-हिमवान्, हेमकूट, निषध, नील, श्वेत, शृंगवान्, मेरु, माल्यवान्, गन्धमादन पर्वतों तथा किम्पुरुषवर्ष एवं उत्तर कुरु की पूजा करनी चाहिए । चैत्र शुक्ल नवमी को उपवास करना चाहिए । एक वर्ष तक यह अनुष्ठान चलता है ।

वर्ष के अन्त में चाँदी का दान करने का विधान है। दे० विष्णुधर्म०, ३.१७४.१-७।

पर्व—गन्ना, सरकण्डा, जुआर आदि के पौधों की गाँठों को पर्व कहते हैं। इसका एक अर्थ शरीरस्थित मेरुदण्ड (रीढ़) का पोर भी होता है। काल के विभाजक ग्रहों की स्थिति भी इसका अर्थ है, यथा अमावस्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, अयनारम्भ। इसी आधार पर साममन्त्रों के गीतिविभाग तथा महाभारत के कथाविभाग भी पर्व कहलाते हैं।

विशेष तिथियाँ, जयन्तियाँ, चतुर्दशी, अष्टमी, एकादशी, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि भी पर्व कहलाते हैं। पर्व के दिन तीर्थयात्रा, दान, उपवास, जप, श्राद्ध, भोज, उत्सव, मेला आदि होते हैं। मधु-मांसादि के सेवन का उस दिन निषेध है। हिन्दू, चाहे किसी पन्थ या सम्प्रदाय के क्यों न हों, पर्व मनाते और तीर्थयात्रा करते हैं।

पर्वभूभोजनव्रत—इस व्रत में पर्व के दिनों में खाली भूमि पर भोजन किया जाता है। शिव इसके देवता हैं। इससे अतिरात्र यज्ञ के फलों की उपलब्धि होती है।

पलाल—अथर्ववेद (८.६.२) में इस का प्रयोग अनु-पलाल के साथ हुआ है। इस शब्द का अर्थ पुवाल है। इसके स्त्रीलिङ्ग रूप 'पलाली' का उल्लेख अथर्ववेद (२८.२) में जौ के भूसा के अर्थ में हुआ है। धार्मिक कृत्यों के लिए पलाल से मण्डप तैयार किया जाता है। सामान्यतः बाली रहित धान के सूखे पौधे को पलाल कहते हैं।

पवन—पवन (पवित्र करने वाला) का प्रयोग अथर्ववेद में अन्न के दानों को उसके छिलके से अलग करने के सहायक छलनी या सूप के अर्थ में हुआ है। गतिशील वायु के अर्थ में यह शब्द रूढ़ हो गया है।

पवनव्रत—साठ व्रतों में यह भी है। माघ मास में इसका अनुष्ठान होता है। व्रती को इस दिन गीले वस्त्र धारण करना तथा एक गौ का दान करना चाहिए। इससे व्रती एक कल्प तक स्वर्ग में वास करने के बाद राजा होता है। माघ बहुत ही ठण्डा मास है। यह एक प्रकार का शीतसह तप है।

पवमान—ऋग्वेद में इस शब्द का प्रयोग सोम के लिए हुआ है जो स्वतः चलनी के मध्य से छनकर विशुद्ध होता है। पश्चात् अन्य संहिताओं के उल्लेखों में इसका अर्थ वायु (बहने वाला) है, जो शोधक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'प्रवहमान' (शुद्ध होने या करने वाला)।

पवित्र—कुश घास का बटा हुआ छल्ला, जो धार्मिक अनुष्ठान के समय अनामिका अँगुली में धारण किया जाता है। इसके द्वारा यज्ञ करने वाले तथा यज्ञीय सामग्री पर जल से अभिविञ्चन किया जाता है। सोना, चाँदी, ताँबा मिलाकर बनाया गया छल्ला भी पवित्र कहलाता है। वस्त्र या ऊँन का छल्ला भी पवित्र कहा जाता है: 'पूतं पवित्रेण इव आज्यम्।'

पवित्रारोपणव्रत—इस व्रत में किसी देवप्रतिमा को पवित्र सूत्र अथवा जनेऊ पहनाना होता है। हेमाद्रि (चतुर्वर्गचिन्तामणि २.४४०-४५३) और ईशानशिवगुरुदेवपद्धति आदि विस्तार से इसका उल्लेख करते हैं। पवित्रारोपण उन त्रुटियों तथा दोषों के परिमार्जनार्थ है जो समय-असमय पूजा तथा अन्य धार्मिक कृत्यों में होते रहते हैं। यदि प्रति वर्ष इस व्रत का आचरण न किया जाय तो उन सब संकल्पों तथा कामनाओं की सिद्धि नहीं होती जो व्रती को अभीष्ट हैं। यदि भिन्न-भिन्न देवों को पवित्र सूत्र पहनाना हो तो तिथियाँ भी भिन्न भिन्न होनी चाहिए। भगवान् वासुदेव को सूत्र पहनाने के लिए श्रावण शुक्ल द्वादशी सर्वोत्तम है। भिन्न-भिन्न देवगण का पवित्रारोपण निम्नोक्त तिथियों में करना चाहिए: प्रतिपदा को कुबेर, द्वितीया को तीनों देव, तृतीया को भवानी, चतुर्थी को गणेश, पंचमी को चन्द्रमा, षष्ठी को कार्तिकेय, सप्तमी को सूर्य, अष्टमी को दुर्गाजी, नवमी को मातृदेवता, दशमी को वासुकि, एकादशी को ऋषिगण, द्वादशी को विष्णु, त्रयोदशी को कामदेव, चतुर्दशी को शिवजी, और पूर्णिमा को ब्रह्मा।

शिवजी को पवित्र धागा पहनाने की सर्वोत्तम तिथि है आश्विन मास के कृष्ण अथवा शुक्ल पक्ष की अष्टमी या चतुर्दशी; मध्यम तिथि है श्रावण मास की तथा अधम है भाद्रपद की। मुमुक्षुओं को सर्वदा कृष्ण पक्ष में ही पवित्रारोपण करना चाहिए। सामान्य जन शुक्ल पक्ष में यह व्रत कर सकते हैं। पवित्रसूत्र सुवर्ण, रजत, ताम्र, रेशम, कमलनाल, दर्भ अथवा रुई के बने हों जिन्हें ब्राह्मण कन्याएँ कातें तथा काटकर बनायें। क्षत्रिय, वैश्य कन्याएँ (मध्यम) अथवा शूद्र कन्याएँ (अधम कोटि के सूत्र) भी बना सकती हैं।

पवित्र सूत्र में शत ग्रन्थियाँ (सर्वोत्तम) हों, नहीं तो कम से कम आठ। पवित्र का तात्पर्य है यज्ञोपवीत, जो किसी वस्तु के धागे या माला के द्वारा निर्मित हो सकता है। महाराष्ट्र में इसे 'पोमवतेम' कहा जाता है।

पशु (१)—पाशुपत सम्प्रदाय में पति, पशु और पाश तीन प्रधान तत्त्व हैं। पति स्वयं शिव हैं, पशु जीवगण हैं तथा पाश सांसारिक बन्धन है जिससे प्राणी बँधा रहता है। पति (शिव) की कृपा से पशु (मनुष्य) पाश (सांसारिक बन्धन) से मुक्त होता है। दे० 'पाशुपत'।

(२) सभी जीवधारी, जिनमें मनुष्य भी सम्मिलित है। यज्ञ के उपयोगी पाँच पशुओं का प्रायः उल्लेख हुआ है—अश्व, गौ, मेष (भेड़), अज (बकरा) तथा मनुष्य। अथर्ववेद (३.१०,६) तथा परवर्ती ग्रन्थों में सात घरेलू पशुओं का उल्लेख है। पशुओं का वर्गीकरण 'उभयतोदन्त' एवं 'अन्यतोदन्त' के रूप में भी हुआ है। दूसरा और भी विभाजन है: प्रथम, हाथ से ग्रहण करने वाले (हस्तादान)-मनुष्य, हाथी, बन्दर आदि। दूसरा, मुँह से पकड़ने वाले (मुखादान)। अन्य प्रकार का विभाजन द्विपाद एवं चतुष्पाद का है। मनुष्य द्विपाद है जो पशुओं में प्रथम है। मुँह से चरने वाले पशु प्रायः चतुष्पाद (चौपाये) होते हैं। पशुओं में एक मनुष्य ही शतायु होता है और वह इसीलिए पशुओं का राजा है। बौद्धिक दृष्टिकोण से वनस्पतियों, पशुओं एवं मनुष्यों में भेद ऐतरेय आरण्यक में विशद रूप से निर्दिष्ट है। मनुष्यों को छोड़कर पशुओं को वायव्य, आरण्य एवं ग्राम्य तीन भागों में बाँटा गया है (ऋग्वेद)।

पशुपति—पशुपति (पशुओं के स्वामी) का प्रयोग रुद्र के विरुद के रूप में अति प्राचीन साहित्य में मिलता है। 'पशुपति' पशुओं (मनुष्यों) के स्वामी हैं। पशु जीवधारी हैं जो संसार के पाश में जकड़े गये हैं। वे पशुपति की कृपा से ही मुक्ति पा सकते हैं। दे० 'पाशुपत'।

पशुपति उपपुराण—उन्तीस उपपुराणों में पशुपति उपपुराण भी समाविष्ट है। निश्चय ही यह शैव उपपुराण है। इसमें पाशुपत सम्प्रदाय के सिद्धान्तों और क्रियाओं का वर्णन पाया जाता है।

पशुपतिनाथ—नेपाल की राजधानी काठमांडू में स्थित प्रसिद्ध शैवतीर्थ। बिहार प्रदेश के मुजफ्फरपुर, रक्सौल होते हुए नेपाल सरकार के अमलेखगंज, भीमफेदी, थानकोट होता हुआ मार्ग काठमांडू जाता है। वहाँ से लगभग दो मील पर पशुपतिनाथजी का मन्दिर है। काठमांडू विष्णुमती और बागमती नामक नदियों के संगम पर बसा हुआ है। पशुपतिनाथ बागमती नदी के तट पर हैं। कुछ दूर पर नेपाल के रक्षक योगी मछंदरनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) का मन्दिर है। पशुपतिनाथ पञ्चमुखी शिवलिंग रूप में हैं जो भगवान् शिव की पञ्चतत्त्व मूर्तियों में एक माने जाते हैं। महिषरूपधारी शिव का यह शिरोभाग है, इनका धड़ केदारनाथजी माने जाते हैं। नन्दी की विशाल मूर्ति पास में है। कुछ दूर पर गुह्येश्वरी देवी का प्रसिद्ध मन्दिर है। ५१ पीठों में इसकी गणना है। शैव, शाक्त, पाशुपत, तन्त्र, बौद्ध आदि सभी सम्प्रदायों का यहाँ संगम है।

पशुपतिसूत्र—पाशुपत शैवों का आधार ग्रन्थ पशुपतिसूत्र अथवा पाशुपत शास्त्र माना जाता है। किन्तु इसकी कोई प्रति कहीं उपलब्ध नहीं हुई है।

पशुहिंसानिवारण—वैष्णव आचार्य मध्व ने यज्ञों में पशुहिंसा का विरोध किया था। दुराग्रही लोगों के संतोषार्थ इन्होंने पशुबलि के स्थान पर 'पिष्ट पशु' या अन्न का पशु बनाकर बलि देने का प्रचार किया। इसमें वैष्णव धर्म का जीवदया वाला भाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

पश्वाचारभाव—शक्ति के उपासक तान्त्रिक लोग तीन भावों का आश्रय लेते हैं। वे दिव्य भाव से देवता का साक्षात्कार होना मानते हैं! वीर भाव से क्रिया की सिद्धि होती है, जिसमें साधक साक्षात् रुद्र हो जाता है। पशु भाव से ज्ञान सिद्धि होती है। इन्हें क्रम से दिव्याचार, वीराचार तथा पश्वाचार भी कहते हैं। साधक पशुभाव से ज्ञान प्राप्त करके वीर भाव के द्वारा रुद्रत्व प्राप्त करता है, तब दिव्याचार द्वारा देवता की तरह क्रियाशील हो जाता है। इन भावों का मूल निस्सन्देह शक्ति है।

पाखण्डमत—पद्मपुराण के पाषण्डोत्पत्ति अध्याय में लिखा है कि लोगों को भ्रष्ट करने के लिए ही शिव की दुहाई देकर पाखण्डियों ने अपना मत प्रचलित किया है। इस पुराण में जिसको पाखण्डी मत कहा गया है, तन्त्र में उसी को शिवोक्त आदेश कहा गया है। बुद्ध अपने द्वारा उपदिष्ट सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य मत वालों को पाषण्डी अथवा पाखण्डी कहते थे। प्राचीन धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में इसका अर्थ बौद्ध और जैन सम्प्रदाय है। न्याय और शासन के कर्तव्य निर्देशार्थ जहाँ कुछ विधान विधर्मी प्रजाओं के लिए

किया गया है, वहाँ उन्हें पाखण्डी, पाखण्डधर्मी कहा गया है । इसमें निन्दा का भाव नहीं, वेदमार्ग से भिन्न पथ या उसका अनुयायी होने का अर्थ है ।

धार्मिक संकीर्णतावश बोलचाल में अपने से भिन्न मत वाले को भी पाखण्डी कह दिया जाता है । जैसे कि वैष्णवों के मत में तन्त्रशास्त्र पाखण्ड मत कहा गया है ।

पाञ्चरात्र मत—वैष्णव सम्प्रदाय का एक रूप । पाँच प्रकार की ज्ञानभूमि पर विचारित होने के कारण यह मत पाञ्चरात्र कहा गया है :

'रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम् ।'

इस मत के सिद्धान्तानुसार सृष्टि की सब वस्तुएँ 'पुरुष, प्रकृति, स्वभाव, कर्म और दैव'—इन पाँच कारणों से उत्पन्न होती हैं (गीता, १८.१४) । महाभारत काल तक इस मत का विकास हो चुका था । ईश्वर की सगुण उपासना करने की परिपाटी शिव और विष्णु की उपासना से प्रचलित हुई। फिर भी वैदिक काल में ही यह बात मान्य हो गयी थी कि देवताओं में विष्णु का एक श्रेष्ठ स्थान है । इसी आधार पर वैष्णव धर्म का मार्ग धीरे-धीरे प्रशस्त होता गया और महाभारत काल में उसे 'पाञ्चरात्र' सत्ता मिली । इस मत की वास्तविक नींव भगवद्गीता में प्रतिष्ठित है, जिससे यह बात सर्वमान्य हुई कि श्री कृष्ण विष्णु के अवतार हैं । अतएव पाञ्चरात्र मत की मुख्य शिक्षा कृष्ण की भक्ति ही है । परमेश्वर के रूप में कृष्ण की भक्ति करने वाले उनके समय में भी थे, जिनमें गोपियाँ मुख्य थीं । उनके अतिरिक्त और भी बहुत से लोग थे ।

इस मत के मूल आधार नारायण हैं । स्वायम्भुव मन्वन्तर में ''सनातन विश्वात्मा से नर, नारायण, हरि और कृष्ण चार मूर्त्तियाँ उत्पन्न हुईं । नर-नारायण ऋषियों ने बदरिकाश्रम में तप किया । नारद ने वहाँ जाकर उनसे प्रश्न किया । इस पर उन्होंने नारद को पाञ्चरात्र धर्म सुनाया ।''

इस धर्म का पहला अनुयायी राजा उपरिचर वसु हुआ । इसी ने पाञ्चरात्र विधि से पहले नारायण की पूजा की । चित्रशिखण्डी उपनामक सप्त ऋषियों ने वेदों का निष्कर्ष निकालकर पाञ्चरात्र शास्त्र तैयार किया । स्वायम्भुव मन्वन्तर के सप्तर्षि मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ हैं । इस शास्त्र में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, चारों का विवेचन है । यह ग्रन्थ पहले एक लाख श्लोकों का था, ऐसा विश्वास किया जाता है । इसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्ग हैं । दोनों मार्गों का यह आधार स्तम्भ है । दे० महाभारत, शान्तिपर्व, ना० उ० ।

पाञ्चरात्र मतानुसार वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का श्री कृष्ण के चरित्र से अति घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसी आधार पर पञ्चरात्र का चतुर्व्यूह सिद्धान्त गठित हुआ है । 'व्यूह' का शाब्दिक अर्थ है 'विस्तार', जिसके अनुसार विष्णु का विस्तार होता है । वासुदेव स्वयं विष्णु हैं जो परम तत्त्व हैं । वासुदेव से संकर्षण (महत्तत्त्व, प्रकृति), संकर्षण से प्रद्युम्न (मनस्, विश्वजनीन), प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार, विश्वजनीन आत्मचेतना) और अनिरुद्ध से ब्रह्मा (स्रष्टा, दृश्य जगत् के) की उत्पत्ति होती है ।

पाञ्चरात्र मत में वेदों को पूरा-पूरा महत्त्व तो दिया ही गया है, साथ ही वैदिक यज्ञ क्रियाएँ भी इसी तरह मान्य की गयी हैं । हाँ, यज्ञ का अर्थ अहिंसायुक्त वैष्णव यज्ञ है ।

कहा जाता है कि यह निष्काम भक्ति का मार्ग है, इसी से इसे 'ऐकान्तिक' भी कहते हैं ।

पाञ्चरात्रशास्त्र—दे० 'पाञ्चरात्र मत' ।

पान्चरात्रसंहिता—आगमिक संहिताएँ १०८ कही जाती हैं । किन्तु संख्या दूने से भी अधिक है । इनमें वैष्णवों के धर्म और आचार का विस्तृत वर्णन है । इनके भी दो विभाग हैं : पाञ्चरात्र और वैखानस । किसी मन्दिर में पाञ्चरात्र तथा किसी में वैखानस संहिताएँ प्रमाण मानी जाती हैं ।

पाणिनि—संस्कृत भाषा के विश्वविख्यात व्याकरण ग्रन्थनिर्माता । उक्त ग्रन्थ आठ अध्यायों में होने के कारण अष्टाध्यायी कहा जाता है, आठ अध्यायों के चार-चार के हिसाब से बत्तीस पाद हैं । इस ग्रन्थ पर कात्यायन, पतञ्जलि, व्याडि आदि आचार्यों की व्याख्याएँ हैं । पाणिनि का निवास स्थान तक्षशिला के पास शलातुर ग्राम था । इनके स्थितिकाल के विषय में विद्वानों का मतैक्य नहीं है । विभिन्न इतिहासकार इनका समय दशवीं शती और चौथी शती ई० पू० के बीच कहीं रखते हैं ।

पाणिनीयदर्शन—माधवाचार्यकृत 'सर्वदर्शनसंग्रह' में आस्तिक षड्दर्शनों के साथ चार्वाक, बौद्ध, आर्हत, पाशुपत, शैव, पूर्णप्रज्ञ, रामानुज, पाणिनीय और प्रत्यभिज्ञा इन नौ दर्शनों का परिचयात्मक उल्लेख है । परन्तु पाणिनीय,

दर्शन का कोई मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। संभवतः जिस प्रकार मीमांसा (विवेचन) को दार्शनिक रूप मिला उसी प्रकार व्याकरण की पद्धति को भी दर्शन का रूप मिला होगा। किन्तु दर्शन के रूप में व्याकरण उतना विकसित नहीं हुआ जितनी मीमांसा।

पाण्डुकेश्वर—बदरीनाथधाम क्षेत्र में ध्यानबदरी से दो मील दूर स्थित एक शिवमन्दिर। कहा जाता है कि यह मूर्ति महाराज पाण्डु द्वारा स्थापित की गयी थी। पाण्डु कुन्ती और माद्री अपनी दोनों रानियों के साथ यहाँ तपस्या करते थे। यहीं पाण्डवों का जन्म हुआ था।

पातञ्जल योग—अष्टाङ्ग योग ही पातञ्जल योग कहलाता है। इसके आठ अङ्ग हैं—(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) समाधि। इसी का नाम राजयोग है। इसमें विश्लेषण और ध्यान द्वारा चित्तवृत्तियों का विषयों से निरोध किया जाता है। इसी आधार पर आगे चलकर कई योग—मार्गों हठयोग, लययोग आदि का प्रवर्तन हुआ। दे० 'योगदर्शन'।

पातालव्रत—यह चैत्र कृष्ण प्रतिपदा को आरम्भ होता है। एक वर्ष तक इसका अनुष्ठान होता है। इसमें सप्त पातालों (निम्न लोकों) के क्रमशः नाम लेते हुए एक के पश्चात् दूसरे की पूजा करनी चाहिए। रात में भोजन करने का विधान है। वर्ष के अन्त में घर में दीप प्रज्वलित करके श्वेत वस्त्रों का दान करना चाहिए।

पादुकासहस्र—वेदान्ताचार्य वेङ्कटनाथ रचित एक प्रार्थना ग्रन्थ, जिसमें एक हजार पद्य हैं।

पादोदक—लिङ्गायतों के गुरु (दीक्षागुरु) जब उनके घर आते हैं तब पादोदक नामक उत्सव होता है। इसमें गुरु के पाद (चरण) धोने की क्रिया होती है। कुटुम्ब के सभी लोगों, मित्र, परिवार वालों के साथ घर का प्रमुख व्यक्ति गुरु के चरणों की षोडशोपचारपूर्वक-पूजा करता है। फिर चरणोदक का पान, सिर पर अभिषिञ्चन तथा घर में छिड़काव होता है। दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों में भी न्यूनाधिक मात्रा में चरणोदक का महत्त्व है।

पादोदकस्नान—इस व्रत का अनुष्ठान उत्तराषाढ़ नक्षत्र में होता है। इसमें उपवास करने का विधान है। श्रवण नक्षत्र में भगवान् हरि के चरणों का स्नान कराने के बाद रजत, ताम्र अथवा मृत्तिका के चार कलशों में भगवान् संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के चरण धोये जाते हैं। कलशों में कूप, निर्झर, सरोवर और सरिता का जल भरा जाना चाहिए। इस धार्मिक कृत्य से दुर्भाग्य, दारिद्र्य, विघ्न-बाधाएँ, रोग-शोक दूर होते हैं तथा यश एवं सन्तानादि की प्राप्ति होती है।

पापनाशिनी सप्तमी—शुक्ल पक्ष की सप्तमी तिष्य (पुष्य) नक्षत्र में पड़े तो वह बड़ी पवित्र होती है। उस दिन सूर्य-पूजन करना चाहिए। व्रती समस्त पापों से मुक्त होकर देवलोक को प्रस्थान करता है। हेमाद्रि के अनुसार यह योग श्रावण कृष्णपक्ष में पड़ता है।

पापनाशिनी एकादशी—फाल्गुन मास में जब बृहस्पतिवार हो तथा सूर्य कुम्भ अथवा मीन राशि पर स्थित हो, तथा एकादशी पुष्य नक्षत्र से युक्त हो तो वह पापनाशिनी कहलाती है।

पापमोचनव्रत—ऐसा विश्वास है कि कोई व्यक्ति बिल्व वृक्ष के नीचे बारह दिन तक निराहार बैठा रहे तो वह भ्रूण-हत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। इसके शिव देवता हैं।

पारमार्थिक—शङ्कराचार्य के अनुसार सत्ता के चार भेद हैं: (१) मिथ्या अथवा अलीक, जिसके लिए केवल शब्द अथवा पद का प्रयोग मात्र होता है, किन्तु उसके समकक्ष पदार्थ नहीं हैं, जैसे आकाशकुसुम, शशविषाण, वन्ध्यापुत्र आदि। (२) प्रातिभाषिक, जो भ्रम के कारण दूसरे के सदृश दिखाई पड़ने वाले पदार्थों में आरोपित हैं, किन्तु वास्तविक नहीं, जैसे रज्जुसर्प, शुक्तिरजत आदि। (३) व्यावहारिक, जो संसार की सभी वस्तुओं में ठोस रूप से काम में आती है किन्तु तात्त्विक दृष्टि से अन्तिम विश्लेषण में वास्तविक नहीं ठहरती है, धन-सम्पत्ति, पुत्र-कलत्र, समाज, राज्य, व्यापार आदि। (४) पारमार्थिक, जो प्रथम तीन से परे, आत्मा अथवा वस्तुसत्ता से सम्बन्ध रखने वाली, ऐकान्तिक एवं अनिर्वचनीय है। वास्तव में यही अद्वैत सत्ता है।

पारस्करगृह्यसूत्र—मुख्य तेरह गृह्यसूत्रों में पारस्कर गृह्यसूत्र (अपर नाम कातीय गृह्यसूत्र) की गणना है। यह यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र है। तीन काण्डों में इसका विभाजन हुआ है। गृह्यसंस्कारों, वस्तुसंस्कारों तथा ऋतुयज्ञों का विस्तृत वर्णन इसमें पाया जाता है। काशी संस्कृत सीरीज में कई भाष्यों के साथ इसका प्रकाशन हुआ है, इसके प्रमुख भाष्य हैं—अमृत व्याख्या (ले० नन्द पण्डित), अर्थभास्कर (ले०

भास्कर), प्रकाश (ले० वेद मिश्र), संस्कारगणपति (ले० रामकृष्ण), सज्जनवल्लभा (ले० जयराम), भाष्य (ले० कर्क), भाष्य (ले० गदाधर), भाष्य (ले० हरिहर), भाष्य (ले० विश्वनाथ), भाष्य (ले० वासुदेव दीक्षित) ।

पारावत—यजुर्वेदवर्णित अश्वमेध के बलिपशुओं की तालिका में पारावत (एक प्रकार के कबूतर) का नामोल्लेख है ।

पाराशर—पराशर से प्रवर्तित गोत्र । पराशर की गणना गोत्र-ऋषियों में की गयी है । महाभारतकार व्यास भी पाराशर हैं क्योंकि उनके पिता का नाम पराशर था । दे० 'पाराशर-स्मृति' ।

पाराशर उपपुराण—उन्तीस प्रसिद्ध उपपुराणों में से पाराशर उपपुराण भी एक है ।

पाराशर(द्वैपायन)ह्रद—हरियाना प्रदेशवर्ती यह तीर्थस्थान बहलोलपुर ग्राम के समीप, करनाल से कैथल जानेवाली सड़क से लगभग छः मील उत्तर है । कहा जाता है कि महाभारतयुद्ध के मैदान से भागकर दुर्योधन इसी सरोवर में छिप गया था । यह भी कहा जाता है कि महर्षि पराशर का आश्रम यहीं था । फाल्गुन शुक्ल एकादशी को यहाँ बड़ा मेला होता है ।

पारिप्लव—पारिप्लव शब्द आख्यान के लिए व्यवहृत हुआ है, जिसका अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर पाठ किया जाता था तथा जो वर्षभर निश्चित काल के पश्चात् दुहराया जाता था । यह शतपथ ब्राह्मण (१३.१४,३,२-१५) तथा श्रौतसूत्रों में वर्णित है ।

पार्थसारथि मिश्र—मीमांसा दर्शन के कुमारिल भट्टकृत श्लोकवार्तिक की टीका 'न्यायरत्नाकर' की रचना पार्थसारथि मिश्र ने की है ।

पूर्व मीमांसा के ग्रन्थकारों में इनका स्थान बड़ा सम्माननीय है । इनका स्थितिकाल लगभग १३५७ वि० है । इनका 'शास्त्रदीपिका' आधुनिक शैली पर प्रस्तुत कर्ममीमांसा का ग्रन्थ है, जिसका अध्ययन प्राचीन ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक हुआ है । 'शास्त्रदीपिका' जैमिनि के पूर्वमीमांसासूत्र की टीका है । इनकी अन्य टीकाओं में 'तन्त्ररत्न', 'न्यायरत्नमाला' आदि प्रसिद्ध हैं ।

पार्वत—शङ्कर के प्रशिष्यों में, जो दसनामी संन्यासी के नाम से विख्यात हुए, पर्वत भी एक थे । इनकी शिष्यपरम्परा पार्वत कहलायी । दे० 'दसनामी' ।

पालीचतुर्दशीव्रत—भाद्र पद शुक्ल चतुर्दशी का व्रत है । यह तिथिव्रत है, वरुण इसके देवता हैं । एक मण्डल में वरुण की आकृति खींची जाय, समस्त वर्णों के लोग तथा महिलाएँ अर्घ्य दें, फल-फूल, समस्त धान्य तथा दधि से मध्याह्न काल में पूजन हो । इस व्रत के आचरण से व्रती समस्त पापों से मुक्त होकर सौभाग्य प्राप्त करता है ।

पाश—(१) पाशुपत शैव दर्शन में तीन तत्त्व प्रमुख हैं—पति, पशु और पाश । पति स्वयं शिव हैं, पशु उनके द्वारा उत्पन्न किये हुए प्राणी हैं तथा पाश वह बन्धन है जिससे जीव (पशु) सांसारिकता में बँधा हुआ है ।

(२) ऋग्वेद तथा परवर्ती साहित्य में इसका अर्थ रस्सी है, जिसे बाँधने या कसने के काम में लाया जाता है । रस्सी तथा ग्रन्थि का उल्लेख एक साथ अथर्ववेद (९.३,२) में आया है । पाश का उल्लेख शत० ब्रा० में मनु की नाव से बँधने वाली रस्सी के लिए हुआ है । वैदिक मन्त्रों में इसे वरुणपाश कहा गया है ।

पाशुपत—पाशुपत सम्प्रदाय शैव धर्म की एक शाखा है । सम्पूर्ण जैव जगत् के स्वामी के रूप में शिव की कल्पना इसकी विशेषता है । यह कहना कठिन है कि सगुण उपासना का शैव रूप अधिक प्राचीन है अथवा वैष्णव । विष्णु एवं रुद्र दोनों वैदिक देवता हैं । परन्तु दशोपनिषदों में परब्रह्म का तादात्म्य विष्णु के साथ दिखाई पड़ता है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह तादात्म्य शङ्कर के साथ पाया जाता है । भगवद्गीता में भी ''रुद्राणां शङ्करश्चास्मि'' वचन है । यह निर्विवाद है कि वेदों से ही परमेश्वर के रूप में शङ्कर की उपासना प्रारम्भ हुई । यजुर्वेद में रुद्र की विशेष स्तुति है । यह यज्ञसम्बन्धी वेद है और यह मान्यता है कि क्षत्रियों में इस वेद का आदर विशेष है । धनुर्वेद यजुर्वेद का उपाङ्ग है । श्वेताश्वतर उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की है । अर्थात् यह स्पष्ट है कि क्षत्रियों में यजुर्वेद और शङ्कर की विशेष उपासना प्रचलित है । इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि क्षत्रिय युद्धादि कठोर कर्म किया करते थे, इस कारण उनमें शङ्कर की भक्ति रूढ़ हो गयी । महाभारत काल में पाञ्चरात्र के समान तत्त्वज्ञान में भी पाशुपत मत को प्रमुख स्थान मिल गया ।

पाशुपत तत्त्वज्ञान शान्तिपर्व के २४९वें अध्याय में वर्णित है । महाभारत में विष्णु की स्तुति के बाद बहुधा

शीघ्र ही शङ्कर की स्तुति आती है। इस नियम के अनुसार नारायणीय उपाख्यान के समान पाशुपत मत का सविस्तर वर्णन महाभारत, शान्तिपर्व के २८०वें अध्याय में आया है। २८४वें अध्याय में विष्णु स्तुति के पश्चात् दक्ष द्वारा शङ्कर की स्तुति की गयी है। इस समय शङ्कर ने दक्ष को 'पाशुपतव्रत' बतलाया है। इस वर्णन से पाशुपतमत की कल्पना की गयी है।

इस मत में पशुपति सब देवों में मुख्य हैं। वे ही सारी सृष्टि के उत्पत्तिकर्ता हैं। पशु का अर्थ समस्त सृष्टि है, अर्थात् ब्रह्मा से स्थावर तक सब पदार्थ। उनकी सगुण भक्ति करने वालों में कार्तिकेय स्वामी, पार्वती और नन्दीश्वर भी सम्मिलित किये जाते हैं। शङ्कर अष्टमूर्ति हैं, उनकी मूर्तियाँ हैं—पञ्च महाभूत, सूर्य, चन्द्र और पुरुष। अनुशासन पर्व में उपमन्युचरित्र के साथ इस मत के विकास का थोड़ा आख्यान दृष्टिगोचर होता है।

पाशुपत तथा पाञ्चरात्र मत में अति सामीप्य है। दोनों के मुख्य दार्शनिक आधार सांख्य तथा योग दर्शन हैं।

शैव धर्म के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि पाशुपत ग्रन्थों में लिङ्ग को अति अर्चनीय बतलाया गया है। आज भी शैव लिङ्गपूजक हैं। इसका प्रचलन कब से है, यह विवादास्पद है। पुरातत्त्वज्ञों के विचार से यह ईसा के पूर्व से चला आ रहा है। ऋग्वेद के शिश्नदेव शब्द से इसके प्रचार की झलक मिलती है। संभवतः भारत के आदिवासियों में प्रचलित धर्म से इसका प्रारम्भ माना जा सकता है। हिन्दुओं द्वारा लिङ्गार्चन मूर्तियों और मन्दिरों में पहले से ही प्रवर्तित था, किन्तु ब्राह्मणों द्वारा इसे ई० सन् के बाद मान्यता प्राप्त हुई। पाशुपत मत के गठन के समय तक लिङ्गपूजा को मान्यता मिल चुकी थी। अथर्वशिरस्-उपनिषद् में पाशुपत मत का विवरण है तथा यह महाभारत में वर्णित पाशुपत प्रकरण का समकालीन ही है। रुद्र पशुपति को इसमें सभी पदार्थों का प्रथम तत्त्व बताया गया है तथा वे ही अन्तिम लक्ष्य हैं। यहाँ पर पति, पशु और पाश तीनों का उल्लेख है तथा 'ओम्' के उच्चारण के साथ योग साधना को श्रेष्ठ बताया गया है। इसी समय की तीन और पाशुपत उपनिषदें हैं—अथर्वशिरस्, नीलरुद्र तथा कैवल्य।

पाशुपत सम्प्रदाय के सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार हैं—जीव की संज्ञा 'पशु' है, अर्थात् जो केवल जैव स्तर पर इन्द्रियभोगों में लिप्त रहता है वह पशु है। भगवान् शिव पशुपति हैं। उन्होंने बिना किसी बाहरी कारण, साधन अथवा सहायता के इस संसार का निर्माण किया है। वे जगत् के स्वतन्त्र कर्त्ता हैं। हमारे कार्यों के भी मूल कर्त्ता शिव ही हैं। वे समस्त कार्यों के कारण हैं। संसार के मल—विषय आदि पाश हैं जिनसे जीव बँधा रहता है। इस पाश अथवा बन्धन से मुक्ति शिव की कृपा से प्राप्त होती है। मुक्ति दो प्रकार की है; सब दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमैश्वर्य की प्राप्ति। द्वितीय भी दो प्रकार की है; दृक्-शक्तिप्राप्ति और क्रिया-शक्तिप्राप्ति। दृक्शक्ति से सर्वज्ञता प्राप्त होती है, क्रियाशक्ति से वांछित पदार्थ तुरंत प्राप्त होते हैं। इन दोनों शक्तियों की प्राप्ति ही परमैश्वर्य है। केवल भगवद्दासत्व की प्राप्ति मुक्ति नहीं बन्धन है।

पाशुपत दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीन प्रमाण माने जाते हैं। धर्मार्थसाधक व्यापार को विधि कहते हैं। विधि दो प्रकार की होती है—व्रत और द्वार। भस्मस्नान, भस्मशयन, जप, प्रदक्षिणा, उपवास आदि व्रत हैं। शिव का नाम लेकर हहाकर हँसना, गाल बजाना, गाना, नाचना, जप करना आदि उपहार हैं। व्रत एकान्त में करना चाहिए।

'द्वार' के अन्तर्गत क्राथन (जगते हुए भी शयनमुद्रा), स्पन्दन (वायु के झोंके के सदृश हिलना), मन्दन (उन्मत्तवत् व्यवहार करना), श्रृंगारण (कामार्त न होते हुए भी कामातुर के सदृश व्यवहार करना), अवित्करण (अविवेकियों की तरह निषिद्ध व्यवहार करना) और अविद्भाषण (अर्थहीन और व्याहत शब्दों का उच्चारण), ये छः क्रियाएँ सम्मिलित हैं।

पाशुपतब्रह्मोपनिषद्—यह परवर्ती उपनिषद् है।

पाशुपतमत—दे० 'पाशुपत'।

पाशुपतव्रत—(१) यह व्रत चैत्र मास में आरम्भ होता है। एक छोटा शिवलिङ्ग बनाकर उसे चन्दनमिश्रित जल से स्नान कराया जाता है। एक सुवर्णकमल के ऊपर शिवलिङ्ग स्थापित किया जाता है। तदनन्तर बिल्व पत्रों, कमलपुष्पों (श्वेत, रक्त, नील) एवं अन्यान्य उपचारों से पूजन किया जाता है। यह व्रत चैत्र मास में प्रारम्भ होकर प्रति मास आयोजित होता है। वैशाख मास से प्रति मास क्रमशः हीरक, पन्ना, मोती, नीलम, माणिक्य, गोमेंद, मूँगा, सूर्यकान्त तथा स्फटिक मणि से लिङ्गों का निर्माण होना चाहिए। वर्ष के अन्त में एक गौ का दान

तथा एक साँड़ का उत्सर्ग विहित है। यदि व्रती निर्धन है तो एक ही मास इस व्रत का आचरण होना चाहिए। अनेक मन्त्र पढ़े जाते हैं जो ''स मे पापं व्यपोहतु'' से समाप्त होते हैं। ये मन्त्र शिवजी के नाना रूपों तथा स्कन्दादि अनेक देवताओं को सम्बोधित हैं। दे० हेमाद्रि, २.१९७-२१२ (लिङ्गपुराण से)।

(२) चैत्र मास की पूर्णिमा को इस व्रत का अनुष्ठान होना चाहिए। त्रयोदशी को ही एक सुयोग्य आचार्य को सम्मानित करते हुए जीवनपर्यन्त पाशुपत व्रत करने का संकल्प किया जाता है, अथवा १२ वर्ष, ६ वर्ष, तीन वर्ष, एक वर्ष, एक मास अथवा केवल १२ दिन तक इस व्रत को करने का संकल्प लिया जाता है। घी तथा समिधाओं से हवन तथा चतुर्दशी को उपवास करने का विधान है। पूर्णिमा को हवन, तदनन्तर निम्नलिखित मन्त्र बोलते हुए शरीर पर भस्म का लेप किया जाता है। मन्त्र है 'अग्निरिति भस्म' इत्यादि।

(३) कृष्ण पक्ष की द्वादशी से व्रती को एकभक्त पद्धति से आहार करना चाहिए, त्रयोदशी को अयाचित पद्धति से, चतुर्दशी को नक्त तथा अमावस्या को उपवास। अमावस्या के बाद वाली प्रतिपदा को सुवर्ण का साँड़ बनवाकर दान देना चाहिए। दे० हेमाद्रि, २.४५५-४५७ (वह्निपुराण से)।

पाशुपत शास्त्र—पाशुपत शैवों का मुख्य धार्मिक ग्रन्थ 'पाशुपतसूत्र' अथवा 'पाशुपतशास्त्र' है। इस ग्रन्थ की कोई प्रति उपलब्ध नहीं है।

पाशुपत शैव—दे० 'पाशुपत'।

पाशुपतसिद्धान्त—पाशुपत एवं शैव सिद्धान्त दोनों समान ही हैं। दे० 'पाशुपत'।

पाषाणचतुर्दशी—शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को, जब सूर्य वृश्चिक राशि पर हो, आटे का पाषाण के समान ढेर बनाकर गौरी की आराधना करनी चाहिए। सन्ध्योपरान्त भोजन का विधान है।

पाष्य—ऋग्वेद के एक सन्दर्भ (१.५६,६) में वृत्र की हार के वर्णन में यह शब्द उद्धृत है। दूसरे सन्दर्भ (९.१०२,२) में सोमलता को पेरने वाले पत्थरों को पाष्य कहा गया है।

पिक—भारतीय पिक (कोकिल) यजुर्वेद संहिता में वर्णित अश्वमेध के बलिपशुओं की तालिका में उल्लिखित है।

पिङ्गल—कात्यायन प्रणीत सर्वानुक्रमणिका के पश्चात् छन्दशास्त्र के सबसे प्राचीन निर्माता महर्षि पिङ्गल हुए हैं। परम्परा के अनुसार इन्होंने १ करोड़ ६ लाख ७७ हजार २ सौ १६ प्रकार के वर्णवृत्तों का प्रणयन किया। यह अतिरञ्जना है। इसका तात्पर्य केवल यह है कि छन्दों की संख्या अगणित हो सकती है।

पिङ्गलातन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में जिन तन्त्रों का नामोल्लेख है, उनमें पिङ्गलातन्त्र भी है।

पिण्ड—(१) पितरों को दिया जानेवाला आटे या भात का गोला, जो विशेष कर अमावस्या को दिया जाता है और जिसका उल्लेख निरुक्त (३.४) तथा लाट्यायन श्रौत्रसूत्र (२.१०,४) में हुआ है। पिण्डदान श्राद्ध का विशेष अङ्ग है।

(२) जीवों के शरीर को भी पिण्ड कहते हैं। यह विश्व का एक लघु रूप है, इसलिए कहा जाता है कि जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में भी।

पिण्डपितृयज्ञ—पितरों के निमित्त दो यज्ञ किये जाते हैं; प्रथम पिण्डपितृयज्ञ तथा दूसरा श्राद्ध। पहला यज्ञ अमावस को किया जाता है तथा उसमें चावल (भात) का पिण्ड (गोलक) पितरों को समर्पित किया जाता है।

पिण्डोपनिषद्—यह परवर्ती उपनिषद् है।

पितामह—वेदाङ्ग ज्योतिष पर तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—प्रथम ऋग्ज्योतिष, दूसरा यजुर्ज्योतिष तथा तीसरा अथर्वज्योतिष। अन्तिम के लेखक पितामह हैं। वराहमिहिररचित पञ्चसिद्धान्तिका में एक सिद्धान्त पैतामह नाम से भी दिया हुआ है।

महाभारत के प्रसिद्ध पात्र भीष्म को भी पितामह कहते हैं। क्योंकि वे कौरव-पाण्डवों के पिताओं के सम्मानित पितातुल्य थे।

पिता—ऋग्वेद तथा परवर्त्ती साहित्य में यह शब्द (उत्पन्न करने वाला) की अपेक्षा शिशु के रक्षक के अर्थ में अधिक व्यवहृत हुआ है। ऋग्वेद में यह दयालु एवं भले अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। अतएव अग्नि की तुलना पिता से (ऋ० १०.७,३) की गयी है। पिता अपनी गोद में ले जाता है (१.३८,१) तथा अग्नि की गोद में रखता है (५.४-३,७)। शिशु पिता के वस्त्रों को खींचकर उसका ध्यान

आकर्पित करता है, उसका आनन्दपूर्वक स्वागत करता है (७.१०३.३)।

यह कहना कठिन है कि किस सीमा तक पुत्र पिता की अधीनता में रहता था एवं यह अधीनता कब तक रहती थी। ऋग्वेद (२.२९,५) में आया है कि एक पुत्र को उसके पिता ने जुआ खेलने के कारण बहुत तिरस्कृत किया तथा ऋज्राश्व को (ऋ० १.११६,१६;११७,१७) उसके पिता ने अंधा कर दिया। पुत्र के ऊपर पिता के अनियन्त्रित अधिकार का यह द्योतक है। परन्तु ऐसी घटनाएँ क्रोधावेश में अपवाद रूप से ही होती थीं।

इस बात का भी पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि पुत्र बड़ा होकर पिता के साथ रहता था अथवा नहीं; उसकी स्त्री उसके पिता के घर की सदस्यता प्राप्त करती थी अथवा नहीं; वह पिता के साथ रहता था या अपना अलग घर बनाता था। वृद्धावस्था में पिता प्रायः पुत्रों को सम्पत्ति का विभाजन कर देता था तथा श्वशुर पुत्रवधू के अधीन हो जाता था। शतपथब्राह्मण में शुनःशेप की कथा से पिता की निष्ठुरता का उदाहरण भी प्राप्त होता है। उपनिषदों में पिता से पुत्र को आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने पर जोर डाला गया है।

प्रकृत पुत्रों के अभाव में दत्तक पुत्र को गोद लेने की प्रथा थी। स्वाभाविक पुत्रों के रहते हुए भी अच्छे व्यक्तित्व वाले बालकों को गोद लेने की प्रथा थी। विश्वामित्र द्वारा शुनःशेप का ग्रहण किया जाना इसका उदाहरण है। साथ ही इस उदाहरण से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि एक वर्ण के लोग अन्य वर्ण के बालकों को भी ग्रहण कर लेते थे। इस उदाहरण में विश्वामित्र का क्षत्रिय तथा शुनःशेप का ब्राह्मण होना इसे प्रकट करता है। गोद लिये गये पुत्र को साधारणतः ऊँचा सम्मानित स्थान प्राप्त नहीं था। पुत्र के अभाव में पुत्री के पुत्र को भी गोद लिया जाना था तथा उस पुत्री को पुत्रिका कहते थे। अतएव ऐसी लड़कियों के विवाह में कठिनाई होती थी जिसका भाई नहीं होता था, क्योंकि ऐसा बालक अपने पिता के कुल का न होकर नाना के कुल का हो जाता था।

परिवार में माता व पिता में पिता का स्थान प्रथम था। दोनों को युक्त कर 'पितरौ' अर्थात् पिता और माता यौगिक शब्द का प्रयोग होता था।

पितृपक्ष—आश्विन कृष्ण पक्ष का नाम। इसमें पन्द्रह दिनों तक पितरों को पिण्डदान किया जाता है। एक प्रकार का यह पूर्वपुरुषों का सामूहिक श्राद्ध है। इस पक्ष में ज्ञात-अज्ञात सभी पितरों का स्मरण किया जाता है। पूर्वजों की स्मृति सजीव रखने का यह एक धार्मिक साधन है।

पितृभूति—कात्यायन श्रौतसूत्र के अनेक भाष्यकार एवं वृत्तिकारों में विशेष उल्लेखनीय पितृभूति भी हैं।

पितृमेधसूत्र—यह गृह्यसूत्र है जो गौतम द्वारा रचित बतलाया जाता है। इसके टीकाकार अनन्तज्ञान कहते हैं कि ये गौतम न्यायसूत्र के रचयिता महर्षि गौतम ही हैं। इसके अतिरिक्त गौतम का एक और धर्मसूत्र है। उसका नाम भी गौतमधर्मसूत्र है।

पितृयान—ऋग्वेद तथा परवर्त्ती ग्रन्थों में पितृयान (पितरों के मार्ग) का 'देवयान' से भेद प्रकट होता है। तिलक के मतानुसार देवयान उत्तरायण तथा पितृयान दक्षिणायन से सम्बन्धित है। शतपथ ब्राह्मण के एक परिच्छेद (२.१.३,१-३) से वे यह निष्कर्ष निकालते हैं। वसन्त, ग्रीष्म एवं वर्षा पितरों की ऋतु हैं। देवयान का प्रारम्भ वसन्त से तथा पितृयान का प्रारम्भ वर्षा से होता है। इसके साथ वे देव तथा यम नक्षत्र (तैत्तिरीय सं०, १.५, २,६) का सम्बन्ध जोड़ते हैं।

मरने के अनन्तर प्रेत अपने कर्मों के अनुसार इन दो मार्गों में से किसी एक से परलोक को प्रस्थान करता है। सामान्य लौकिक कर्म करने वाले पितृयान से जाते हैं। यज्ञ तथा अन्य निष्काम कर्म करने वाले देवयान से जाते हैं।

पितृव्रत—(१) एक वर्ष तक प्रति अमावस्या को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। व्रती केवल दुग्धाहार करता है। वर्ष के अन्त में श्राद्ध करके वस्त्र, जलपूर्ण कलश तथा गौ दान में दी जाती है। इस व्रत से सौ पीढ़ियाँ तर जाती हैं और व्रती विष्णु लोक को प्राप्त करता है।

(२) चैत्र कृष्ण प्रतिपद् से सात दिनों तक सात पितृगणों की पूजा करनी चाहिए, जो अग्निष्वात्त, बर्हिषद् इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं। एक वर्ष अथवा बारह वर्ष तक इसका अनुष्ठान होता है।

पिपीतकद्वादशी—वैशाख शुक्ल की द्वादशी को पिपीतक द्वादशी कहते हैं। इस तिथि को शीतल जल से भगवान् केशव की प्रतिमा को स्नान कराकर गन्धाक्षत, पुष्पादि उपचारों से पूजन किया जाता है। प्रथम वर्ष चार जल-

पूर्ण कलशों का दान, द्वितीय वर्ष आठ कलशों का दान, तृतीय वर्ष बारह कलशों का और चतुर्थ वर्ष सोलह कलशों का दान विहित है। सुवर्ण की दक्षिणा देनी चाहिए। इस द्वादशी का पिपीतक नाम इसलिए है कि इसी नाम के ब्राह्मण द्वारा यह प्रचारित हुई। दे० व्रतकाल-विवेक, १९-२०; वर्षकृत्यकौमुदी, २५२-२५८।

पिप्पलाद—पिप्पलाद (पीपल के फल खाने वाले) नामक आचार्य का उल्लेख प्रश्नोपनिषद् में हुआ है। ये अथर्ववेद की शाखा 'पैप्पलाद' के प्रवर्तक थे।

पिप्पलादशाखा—अथर्ववेद नौ शाखाओं में विभक्त है, जिनमें एक शाखा 'पैप्पलाद' है। इस शाखा की मूल संहिता की एक मात्र प्रतिलिपि कुछ काल पूर्व तक भारत में बची थी और वह कश्मीर में थी, जहाँ से एक भ्रान्त घटनावश वह जर्मनी पहुँच गयी। अब उक्त प्रतिलिपि के आधार पर यह संहिता भारत में मुद्रित हो गयी है। केवल इसके प्रथम पृष्ठ का पाठ संदिग्ध है, क्योंकि उक्त प्रति मे वह खंडित हो गया है।

पिप्रु—ऋग्वेद के अनुसार इन्द्र का एक शत्रु। यह इन्द्र द्वारा बार-बार हराया गया था। पुरों (दुर्गों) का स्वामी होने के कारण उसे दास तथा असुर कहा गया है। इस नाम का अर्थ 'विरोधक' (विरोध करने वाला) है।

पिशङ्ग—पञ्चविंश ब्राह्मण (२५.१५,३) में उल्लिखित नाग-यज्ञ के दो उन्नेता पुरोहितों में से एक का नाम पिशङ्ग है।

पिशाच—अथर्ववेद तथा परवर्ती ग्रन्थों में उद्धृत असुरों में से एक वर्ग का नाम पिशाच है। तैत्तिरीय संहिता (२.४, १,१) में उनका सम्बन्ध राक्षसों और असुरों से बताया गया है तथा दोनों को मनुष्यों एवं पितरों का विरोधी कहा गया है। अथर्ववेद (५,२५,९) में उन्हें क्रव्याद (कच्चा मांस भक्षण करने वाला) कहा गया है। सम्भवतः ये मानवों के शत्रु थे तथा अपने उत्सवों पर नरमांस भक्षण करते थे। उत्तर वैदिककाल में एक 'पिशाचवेद' अथवा पिशाचविद्या' का भी प्रचलन था।

पिशाचचतुर्दशी—चैत्र कृष्ण चतुर्दशी। इसमें भगवान् शङ्कर का पूजन तथा रात्रि में उत्सव करने का विधान है। निकुम्भ नामक राक्षस इसी दिन भगवान् शङ्कर की पूजा करता है अतएव इस दिन निकुम्भ का भी सम्मान किया जाता है तथा पिशाचों को गोशालाओं, नदियों, सड़कों तथा पहाड़ों की चोटियों पर बलि प्रदान की जाती है। दे० नीलमत पुराण, ५५-५६, श्लोक ६७४-६८१।

पिशाचमोचन—(१) मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्दशी को यह व्रत किया जाता है। काशी में कपर्दीश्वर शिव के पास कुण्ड-स्नान तथा उनका पूजन किया जाता है। वहीं भोजन वितरण का विधान है। प्रति वर्ष इस व्रत का अनुष्ठान होता है। व्रती पिशाच होने की स्थिति से मुक्त हो जाता है।

(२) स्मृतिकौस्तुभ (१०८) के अनुसार इस दिन गङ्गा में स्नान करके ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए, जब कि चतुर्दशी मंगलवार को पड़े। व्रती इससे पिशाचयोनि में पड़ने से मुक्त हो जाता है।

काशी में पिशाचमोचन नामक तीर्थ प्रसिद्ध है।

पिष्टाशन व्रत—इस व्रत में प्रति नवमी को केवल आटे का आहार किया जाता है। महानवमी को इसका प्रारम्भ होता है। नौ वर्ष तक यह चलता है। गौरी इसकी देवी हैं। इससे समस्त मनोवाञ्छाओं की पूर्ति होती है।

पीठ—(१) किसी धार्मिक क्रिया के मुख्य आधारस्थान को पीठ कहते हैं। कुलालिकतन्त्र में पाँच वेदों, पाँच योगियों और पाँच पीठों का उल्लेख है। उत्कल में 'उड्डियान', जालन्धर में 'जाल', महाराष्ट्र में 'पूर्ण', श्रीशैल पर 'पतङ्ग' और असम में 'कामाख्या', ये पाँच ही शाक्तों के आदि पीठ हैं। बाद में जो ५१ पीठ हो गये, उनके होते हुए भी ये पाँच मुख्य माने जाते हैं।

(२) प्राणिशरीर के अन्दर पाँच कोष होते हैं, जिनमें अन्नमय कोष स्थूलकोष कहा जाता है। शेष प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये चतुर्विध सूक्ष्म कोष हैं। इनमें अन्नमय कोष एक प्रकार का संयोजक कोष है, जो स्थूल और सूक्ष्म कोषों के मध्य कड़ी का काम करता है। आनन्दमय कोष से समस्त दैवी लोकों का सम्बन्ध रहता है। इसी प्रकार स्थूल अन्नमय कोष (शरीरों) से जब देवताओं का सम्बन्ध स्थापित होता है, तब अन्नमय कोषों या शरीरों में उनकी स्थिति के लिए आधार निर्मित हो जाता है। उसे पीठ कहते हैं। यह प्राणमय होता है।

प्राण की आकर्षण और विकर्षण दो शक्तियाँ हैं। आकर्षण शक्ति अपनी ओर खींचती है एवं विकर्षण शक्ति इसके विपरीत कार्य करती है। दोनों शक्तियाँ

ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पिण्ड में विद्यमान रहती हैं। इन्हीं आकर्षण और विकर्षण के प्रभाव से समस्त ग्रह-उपग्रह अपने अपने स्थानों पर नियमित रहकर कार्यनिरत रहते हैं। इन्हीं शक्तियों के समान रूप से स्थित होने पर उनका जो आवर्त या चक्र बनता है, उसे पीठ कहते हैं।

जिस प्रकार मनुष्य को स्थिर रहने के लिए किसी स्थूल आधार की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सूक्ष्म आनन्दमय कोष से सम्बन्धित देवताओं के लिए भी सूक्ष्म आधार पीठस्थल आवश्यक होता है और वह आधार यह पीठ ही है।

इस प्रकार मन और मन्त्रादि द्वारा आकर्षण-विकर्षणात्मक प्राणशक्ति की सहायता से सोलह प्रकार के दिव्य स्थानों में पीठ की स्थापना कर अभीष्ट देवताओं का आवाहन किया जाता है। पीठ स्थल जितना पवित्र और बलसम्पन्न होगा उतने ही पवित्र और बलिष्ठ देवताओं का उस पर आवाहन किया जा सकता है। इसी प्रकार मूर्ति में भी जब तक पीठ की स्थिति रहती है, तभी तक उस मूर्ति द्वारा दैवी कलाएँ और चमत्कार प्रकाश में आते हैं। पीठ को एक उदाहरण द्वारा भी ज्ञात किया जा सकता है। यथा आकर्षण और विकर्षण शक्ति युक्त दो पदार्थ एक दूसरे के सम्मुख रखे हों तो एक पदार्थ का आकर्षण दूसरे पदार्थ को अपनी ओर खींचेगा, एवं दोनों की विकर्षण शक्ति दोनों को उससे विपरीत दिशा की ओर प्रेरित करेगी। दोनों वस्तुओं की पृथक्-पृथक् दिशा में गति होने पर एक प्रकार का आवर्त अथवा चक्र बन जाता है। इसी तरह जिस देवता का आवाहन किया जाता है उस दैवी शक्ति का प्राणों की सहायता से अन्नमय कोष से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर प्राणों की आकर्षण शक्ति की सहायता से वह दैवी शक्ति आकर्षित हो जाती है, एवं प्राणों की विकर्षण शक्ति की विपरीत क्रिया के परिणामस्वरूप वह दैवी शक्ति विकर्षित होती है। इस आकर्षण और विकर्षण क्रिया के होने पर एक वृत्ताकार स्थल का निर्माण हो जाता है जिसे पीठ कहते हैं। इस वृत्त के आभ्यन्तरीय पूर्ण स्थान पर आवाहित उस दैवी शक्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। क्योंकि इस आवर्त का मध्यगत समस्त स्थान आवाहित देवता का ही स्थान बन जाता है।

इसी सिद्धान्त के आधार पर विशाल भूभाग पर अनेक तीर्थ एवं पीठ स्थानों का आविर्भाव माना गया है। इसी प्रकार के दैव पीठ की सहायता से संसार में समस्त दैवी कार्य सम्पादित होते हैं।

(३) प्राचीन वैदिक उद्धरणों में पीठ शब्द स्वतन्त्र रूप से व्यवहृत नहीं हुआ है, किन्तु यौगिक 'पीठसर्पी' विशेषण के रूप में मिलता है। वाजसनेयी संहिता (३०.२१) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.४,१७,१) में पुरुषमेध के हवनीय पदार्थों में इसका भी उल्लेख है।

पीठापुरम्—आन्ध्र प्रदेश का प्रसिद्ध तीर्थ स्थान। यह 'पादगया क्षेत्र' है। पाँच प्रधान पितृतीर्थ माने जाते हैं—१. गया (गयाशिरक्षेत्र) २. याजपुर-वैतरणी (उड़ीसा में नाभिगयाक्षेत्र) ३. पीठापुरम् (पादगयाक्षेत्र) ४. सिद्धपुर (गुजरात में मातृगयाक्षेत्र) ५. बदरीनाथ (ब्रह्मकपाली)।

पीठापुरम् में अधिकांश यात्री पिण्डदान करने आते हैं। यहाँ कुक्कुटेश्वर शिवमन्दिर है। बाहर मधु स्वामी का मन्दिर है। पास में माधवतीर्थ नामक सरोवर है।

पीपा—वैष्णवाचार्य स्वामी रामानन्द के शिष्यमंडल के प्रमुख व्यक्ति। इनका जन्म एक राजकुल में संवत् १४८२ वि० में हुआ था। 'भक्तमाल' ग्रन्थ में इनकी निश्छल भक्ति भावना का वर्णन हुआ है।

पीयूष—ऋग्वेद तथा परवर्त्ती ग्रन्थों में गौ के बच्चा देने के बाद के प्रथम दूध को 'पीयूष' कहा गया है। इसकी तुलना सोमलता के रस से की गयी है।

पीलुपाक मत—परमाणुओं के बीच अन्तर की धारणा न होने के कारण वैशेषिकों को 'पीलुपाक' नाम का विलक्षण मत ग्रहण करना पड़ा। इसके अनुसार घट अग्नि में पड़कर इस प्रकार लाल होता है कि अग्नि के तेज से घट के परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं और फिर लाल होकर मिल जाते हैं। घड़े का यह बनना-बिगड़ना इतने सूक्ष्म काल में होता है कि कोई देख नहीं सकता। इस प्रक्रिया से होने वाले परिवर्तन को पीलुपाक मत कहते हैं।

पीलुमती—अथर्ववेद (१८.२,४८) में पीलुमती को उदन्वती एवं प्रद्यौ नामक दो स्वर्गों के बीच का स्वर्ग कहा गया है।

पुंसवन—गर्भवती स्त्री का एक धार्मिक संस्कार, जो पुत्र संतान होने के लिए किया जाता था। इसका सर्वप्रथम

उल्लेख अथर्ववेद (६.२.१) में हुआ है। यह यज्ञ पुत्रोत्पत्ति की कामना से किया जाता था और गृह्यसूत्रों के समय तक इसकी गणना संस्कारों में होने लगी। आगे चलकर यह संस्कार भ्रूण की पुष्टि के लिए ही किया जाने लगा।

पुजारी—देवालयों में मूर्ति की विधिवत् पूजा के लिए नियुक्त व्यक्ति। हिन्दू धर्म के विकासक्रम में बारहवीं से सोलहवीं शती तक अनेक बड़े-बड़े सम्प्रदाय स्थापित हुए, किन्तु सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध से उत्तर तथा दक्षिण भारत में ये सम्प्रदाय अवनति की ओर गतिमान् रहे। असंख्य लोगों की आध्यात्मिक प्यास को मिटाने के लिए सामान्य पुजारियों ने लोकप्रिय धर्म का आन्दोलन आरम्भ किया। पुराने बिखरे हुए विचारों को समेट कर नाना देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ स्थापित की गयीं और उनकी पूजा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर धार्मिक भावना को जीवित रखा गया। उत्तरी भारत में स्मार्त ब्राह्मण स्वयं मन्दिरों में जाकर अपनी शाखा के गृह्यसूत्रों के निर्देशानुसार देवतार्चन करते थे। किन्तु देवता की षोडशोपचार पूजा के लिए पुजारी रखे जाते थे जो निश्चित समय पर विधिवत् पूजा कार्य किया करते थे।

पुणताम्बे—महाराष्ट्र का प्रसिद्ध तीर्थ स्थल। मनमाड से ४१ मील दूर पुनताम्बा स्थान है, इसका प्राचीन नाम पुण्यस्तम्भ है। यह गोदावरी के किनारे है। महायोगी चांगदेव, जो पीछे संत ज्ञानेश्वर के शरणापन्न हो गये थे, दीर्घ काल तक यहाँ रहे। यहाँ श्री विठोवा का मन्दिर, विश्वेश्वर शिवमन्दिर और अनेक अन्य शिवमन्दिर निर्मित हैं। बाजार में श्री वङ्कटेश मन्दिर भी है।

पुण्डरीक—पुण्डरीक अथवा कमल भारत का दार्शनिक पुष्प है। यह चेतना और ज्ञान के विकास का प्रतीक है। इसलिए भारतीय साहित्य और कला के अनेक रूपों में इसका उपयोग हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् में मानवहृदय से इसकी तुलना की गयी है।

पुण्डरीकयज्ञप्राप्ति—इस व्रत में जल के स्वामी वरुण देव की पूजा की जाती है। इसका अनुष्ठान द्वादशी को होता है। इससे पुण्डरीकयज्ञ के फल की प्राप्ति होती है। दे० हेमाद्रि, १.१२०४। वनपर्व (३०.११७) के अनुसार यह व्रत भी अश्वमेध तथा राजसूय यज्ञों के समान पुण्यकारक है। आश्वलायन श्रौतसूत्र, उत्तराष्टक, ४.४ में पुण्डरीकयज्ञ का वर्णन है।

पुण्डरीकाक्ष—(१) विष्णु का एक पर्याय है। (२) तमिल देश के श्रीवैष्णवों में नाथ मुनि अति प्रसिद्ध हो गये हैं। इन्हीं के शिष्य पुण्डरीकाक्ष थे। इनके पश्चात् राम मिश्र तथा उनके उत्तराधिकारी आचार्य यामुनाचार्य हुए। पुण्डरीकाक्ष तथा राम मिश्र के बारे में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

पुण्डरीकाक्ष स्वामी—विशिष्टाद्वैत वैष्णव परम्परा के एक आचार्य। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है: भगवान् नारायण ने महालक्ष्मी को वैष्णव धर्म का उपदेश किया, उनसे वैकुण्ठपार्षद विष्वंक्सेन को उपदेश मिला, उनसे शठकोप स्वामी को। इनके शिष्य नाथ मुनि हुए और इनके शिष्य पुण्डरीकाक्ष स्वामी, इनके शिष्य राम मिश्र स्वामी थे और इनसे यामुनाचार्य को यह उपदेश प्राप्त हुआ।

पुण्ड्र—द्विज वैष्णवों की दीक्षा में पाँच संस्कार करने होते हैं। वे हैं ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र एवं याग। पुण्ड्र साम्प्रदायिक चिह्न को कहते हैं, जो दीक्षा लेने वाले के शरीर (ललाट) पर अंकित किया जाता है।

पुण्यराज—शब्दाद्वैतवाद सिद्धान्त का सर्वप्रथम भर्तृहरि और फिर भर्तृमित्र ने प्रतिपादन किया। भर्तृहरि के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' में इस सिद्धान्त का पूर्ण वर्णन है, जिसकी व्याख्या पुण्यराज और हेलाराज की रचना में प्राप्त होती है।

पुत्र—इसका प्रारम्भिक अर्थ लघु अथवा कनिष्ठ था। 'पुत्रक' रूप का व्यवहार प्यारभरे सम्बोधन में अपने से छोटे लोगों के लिए होता था। आगे चलकर इस शब्द की धार्मिक व्युत्पत्ति की जाने लगी—"पुत् = नरक से, त्र = बचाने वाला।" पुत्रों द्वारा प्रदत्त पिण्ड और श्राद्ध से पिता तथा अन्य पितरों का उद्धार होता है, इसलिए वे पितरों को नरक से त्राण देने वाले माने जाते हैं।

धर्मशास्त्र में बारह प्रकार के पुत्रों का उल्लेख पाया जाता है। मनुस्मृति (अध्याय ९, श्लोक १५८-१६०) के अनुसार इनका क्रम इस प्रकार है:

१. औरस (पति द्वारा अपनी पत्नी से उत्पन्न)

२. पुत्रिकापुत्र (दौहित्र)

३. क्षेत्रज (अपनी पत्नी से दूसरे पुरुष द्वारा उत्पन्न)

४. गूढज (पत्नी द्वारा पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष से गुपचुप उत्पन्न)

५. कानीन (अविवाहित कन्या से उत्पन्न)

६. सहोढ (विवाह के समय गर्भवती कन्या से उत्पन्न)

७. पौनर्भव (दुबारा विवाहित पत्नी से उत्पन्न)

८. दत्तक (पुत्राभाव में दूसरे परिवार से गृहीत)

९. क्रीत (दूसरे परिवार से खरीदा हुआ)

१०. स्वयंदत्त (माता-पिता से परित्यक्त एवं स्वयं समर्पित)

११. कृत्रिम (स्वेच्छा से दूसरे परिवार से पुत्रवत् गृहीत)

१२. अपविद्ध (पड़ा हुआ प्राप्त और परिवार में पालित)। ये बारह प्रकार के पुत्र दो वर्ग में विभाजित थे—(१) मुख्य और (२) गौण। इनमें प्रथम दो मुख्य और शेष गौण हैं। सामाजिक दृष्टि से गौण पुत्रों का भी महत्त्व था। इससे सभी प्रकार की संतति का पालन-पोषण संभव था और परिवार का समाजीकरण हो जाता था। सभी पुत्रों का परिवार में समान पद नहीं था। किन्तु आजकल केवल दो ही प्रकार के पुत्र मान्य हैं, औरस और दत्तक। शेष क्रमशः या तो औरस में सम्मिलित हो गये (जैसे सहोढ और गूढज) अथवा लुप्त हो गये।

पुत्रकामव्रत—(१) भाद्रपद की पूर्णिमा को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। पुत्ररहित मनुष्य पुत्रेष्टि यज्ञ करने के पश्चात् गुहा में प्रविष्ट हो, जहाँ रुद्र निवास करते हैं। तदनन्तर रुद्र, पार्वती तथा नन्दी की सन्तुष्टि के लिए होम तथा पूजन का विधान है। व्रती को उपवास करना चाहिए, तत्पश्चात् सर्वप्रथम अपने सहायकों को भोजन कराकर वह सपत्नीक भोजन करे और गुहा की परिक्रमा करके पत्नी को रुद्रविषयक दिव्य व्याख्यान सुनाये। व्रती को चाहिए कि वह पत्नी को तीन दिनों तक दूध तथा चावल ही खाने को दे। इस व्रत से वन्ध्या पत्नी भी पुत्र प्राप्त करती है। व्रती को इस सबके बाद एक प्रादेश लम्बी सुवर्ण, रजत अथवा लौह की शिवप्रतिमा का निर्माण कराकर पूजन करना चाहिए। तदनन्तर अग्नि में मूर्ति को गरम कर एक पात्र में उसे रखकर एक प्रस्थ दूध से उसका अभिषेक करे और उस अभिषिक्त दूध को पत्नी को पिलाये। दे० कृत्यकल्पतरु, ३७४-३७६; हेमाद्रि, २.१७१-७२।

(२) ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। श्वेत अक्षतों से एक कलश को परिपूर्ण करके उसे श्वेत वस्त्र से ढककर, श्वेत चन्दन से चर्चित करके, कलश में सुवर्ण रखकर स्थापित किया जाना चाहिए। कलश के ऊपर ताम्रपात्र में गुड़ रखना चाहिए और भगवान् ब्रह्मा तथा सावित्री देवी की प्रतिमा रखी जानी चाहिए। प्रातः यह कलश किसी ब्राह्मण को दान कर दिया जाय। उसी ब्राह्मण को स्वादिष्ठ भोजन कराकर व्रती लवणरहित भोजन करे। यह क्रिया एक वर्ष तक प्रतिमास की जाय। तेरहवें महीने में एक घृतधेनु, सवस्त्र शय्या, सुवर्ण तथा रजत की क्रमशः ब्रह्मा एवं सावित्री की प्रतिमाएँ दान में दी जायें। श्वेत तिलों से ब्रह्माजी के नाम की आवृत्ति करते हुए हवन करना चाहिए। व्रती (पुरुष या स्त्री) समस्त पापों से मुक्त होकर सुन्दर पुत्र प्राप्त करते हैं। दे० कृत्यकल्पतरु, ३७६-३७८; हेमाद्रि, २.१७३-१७४।

पुत्रदविधि—रविवार के दिन रोहिणी या हस्त नक्षत्र हो तो वह पुत्रद योग होता है। उस दिन उपवास रखते हुए सूर्य नारायण का पुष्प-फलादि से पूजन करना चाहिए। व्रती को चाहिए कि वह सूर्य की प्रतिमा के सामने सोये तथा महाश्वेता मंत्र का जप करे (मंत्र यह है—ह्राँ ह्रीं सः…………)। दूसरे दिन करवीर के पुष्पों तथा रक्तचन्दन मिश्रित अर्घ्य सूर्य को तथा रविवार को समर्पित करे। तदनन्तर वह पार्वण श्राद्ध करे तथा मध्यम पिण्ड (तीन में से बीच वाला) स्वयं खाये। हेमाद्रि में इस व्रत का उतना विशद वर्णन नहीं है जितना कृत्यकल्पतरु में।

पुत्रप्राप्तिव्रत—(१) वैशाख शुक्ल षष्ठी तथा पञ्चमी को उपवास रखते हुए स्कन्द भगवान् की पूजा की जाती है। यह तिथिव्रत है और एक वर्ष पर्यन्त चलता है। स्कन्द के चार रूप (नाम) हैं—स्कन्द, कुमार, विशाख तथा गुह। इन नामों के अनुसार उपासना करने से पुत्रेच्छु, धर्मेच्छु अथवा स्वास्थ्य का इच्छुक अपनी कामनाओं को सफल कर लेता है।

(२) श्रावण पूर्णिमा को यह व्रत होता है। यह तिथिव्रत है तथा शाङ्करी (दुर्गा) देवता। पुत्रार्थी, विद्यार्थी, राज्यार्थी तथा यशःकामी को इस व्रत का आचरण करना चाहिए। देवीजी का सुवर्ण या रजत का खड्ग या पादुकाएँ अथवा प्रतिमा निर्माण कराकर किसी शुभ नक्षत्र में वेदी पर स्थापित किये जायँ, उसी वेदी पर यव बोये जायँ तथा हवन हो। देवीजी को भिन्न-भिन्न प्रकार के फल-फूल तथा अन्य पदार्थ अर्पित किये जायँ।

हेमाद्रि में विद्यामंत्र भी लिखा गया है। दे० हेमाद्रि, २.२२०-२३३।

पुत्रवर्गविहार—प्राचीन विद्यापीठों में गुरुस्थल दो वर्गों में विभाजित थे : (१) शिष्यवर्ग एवं (२) पुत्रवर्ग। गुरुकुलों में गुरु का परिवार तथा शिष्यवर्ग दोनों रहते थे, परन्तु दोनों के निवासस्थान एक दूसरे से भिन्न होते थे। जिस स्थान में गुरु का परिवार रहता था उसको पुत्रवर्गविहार कहा जाता था।

पुत्रव्रत—(१) दे० 'पुत्रकामव्रत', हेमाद्रि, २,१७१-७२।

(२) प्रातः ब्राह्म मुहूर्त में स्नानादि से निवृत्त होकर तारों के मन्द प्रकाश में पीपल वृक्ष का स्पर्श करना चाहिए। तदनन्तर तिलों से परिपूर्ण पात्र का दान किया जाय। इससे समस्त पापों से मुक्ति होती है।

पुत्रसप्तमी—(१) माघ शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष की सप्तमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। दोनों सप्तमियों को तथा षष्ठी को उपवास तथा हवन करने के पश्चात् सूर्य के पूजन का विधान है। यह एक वर्ष तक चलता है। इससे पुत्र, धन, यश तथा सुन्दर स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

(२) भाद्र शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष की षष्ठी को संकल्प तथा सप्तमी को उपवासपूर्वक विष्णु का नामोच्चारण करते हुए उनका पूजन करना चाहिए। अष्टमी के दिन गोपालमन्त्रों से विष्णु भगवान् का पूजन तथा तिलों से हवन करने का विधान है। यह एक वर्ष पर्यन्त होता है। वर्ष के अन्त में श्यामा गौ का जोड़ा दान दिया जाय। इससे समस्त पापों का क्षय तथा पुत्रलाभ होता है।

पुत्रिका—परवर्त्ती साहित्य में इस शब्द का व्यवहार 'पुत्रहीन मनुष्य की पुत्री' के अर्थ में हुआ है। ऐसी पुत्री का विवाह इस करार के साथ किया जाता था कि उसका पुत्र अपने नाना का श्राद्ध करेगा तथा उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होगा। यास्क के निरुक्त (३.५) में भी इसे ऋग्वेद के आधार पर इसी अर्थ में लिया गया है। किन्तु ऋग्वेदीय परिच्छेदों का स्पष्ट अर्थ नहीं ज्ञात होता तथा इस प्रथा के द्योतक वे नहीं जान पड़ते।

पुत्रीयव्रत—भाद्रपद मास की पूर्णिमा के पश्चात् कृष्ण पक्ष की अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। उस दिन उपवास का विधान है। एक प्रस्थ घृत में गोविन्द की प्रतिमा को स्नान कराया जाय। तत्पश्चात् चन्दन, केसर, कर्पूर प्रतिमा को अर्पण कर पुष्पादि से षोडशोपचार पूजन हो। तत्र पुरुषसूक्त के मंत्रों से हवन करना चाहिए। तदनन्तर पुत्राभिलाषी या पुत्रीकामी फलों का खाद्य पदार्थ बनाकर पुंल्लिङ्ग अथवा स्त्रीलिङ्ग नाम लेकर उसे दान कर दे। एक वर्ष तक ऐसा करना चाहिए। इससे व्रती की समस्त कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

पुत्रीयसप्तमी—मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इस दिन सूर्य का पूजन विहित है। उस दिन व्रती को 'हविष्यान्न' ग्रहण करना चाहिए। दूसरे दिन गन्धाक्षत-पुष्पादि से सूर्य का पूजन कर नक्त पद्धति से आहार करना चाहिए। एक वर्ष तक यह व्रत चलता है। यह व्रत पुत्रप्राप्ति के लिए है।

पुत्रीयानन्तव्रत—इस व्रत को मार्गशीर्ष मास में प्रारम्भ कर एक वर्ष तक प्रतिमास उस नक्षत्र के दिन, जिससे मास का नाम पड़ता है, उपवास करते हुए विष्णु भगवान् का पूजन करना चाहिए। विशेष रूप से भगवान् के बारहों अवयवों का पूजन होना आवश्यक है। प्रति मास एक अवयव का क्रमशः पूजन करना चाहिए। यथा बायाँ घुटना मार्गशीर्ष में, कटि का वाम पार्श्व पौष में तथा इसी प्रकार क्रमशः। प्रति चार मास के एक भाग में विभिन्न वर्ण के पुष्प प्रयुक्त हों। गोमूत्र, गोदुग्ध तथा गोदधि का प्रति चार मासों के विभाग में स्नान, अनन्त भगवान् के नाम का जप सम्पूर्ण महीनों में किया जाय तथा उन्हीं के नाम लेते हुए हवन हो। व्रत के अन्त में ब्राह्मणों को भोजन तथा दक्षिणा देनी चाहिए। इससे व्रती की समस्त पुत्र, धन, जीविका आदि कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

पुत्रेष्टि—पुत्र प्राप्ति के लिए किया जाने वाला यज्ञ 'पुत्रेष्टि' कहलाता है। पुत्रोत्पत्ति में जिस दम्पती को विलम्ब होता था वह पुत्रेष्टि यज्ञ करता था। दत्तक पुत्र के संग्रह के समय भी 'दत्तहोम' के साथ यह यज्ञ (पुत्रेष्टि) किया जाता था, क्योंकि जिस पुत्र का संग्रह किया जाता था, वह जिस कुल से आता था उससे उसका सम्बन्ध पृथक् किया जाता था। इस यज्ञ का प्रयोजन यह दिखाना था कि दत्तक पुत्र का जन्म संग्रह करने वाले परिवार में हुआ है।

पुत्रोत्पत्तिव्रत—यह नक्षत्रव्रत है। पुत्र प्राप्ति के लिए एक वर्ष तक प्रति श्रवण नक्षत्र को यमुना में स्नान करना

चाहिए। इससे वसिष्ठजी के समान पुत्र-पौत्र प्राप्त होते हैं।

पुनर्जन्म—सभी हिन्दू दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदायों में इस सिद्धांत को मान्यता प्राप्त है कि मनुष्य अपने वर्तमान जीवन के अच्छे एवं बुरे कर्मों के फलभोग के लिए पुनर्जन्म ग्रहण करता है। यह कारण-कार्यशृंखला के अनुसार होता है। योनियों का निर्धारण भी कर्म के ही आधार पर होता है। इसी को संसारचक्र (जन्म-मरणचक्र) भी कहते हैं। इसी लिए पुनर्जन्म से मुक्ति पाने के उपाय विविध आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से बताये हैं। पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्मसिद्धान्त (कार्यकारण-सम्बन्ध) पर अवलम्बित है। पुनर्जन्म का चक्र उस समय तक चलता रहता है जब तक आत्मा की मुक्ति नहीं होती।

पुनर्भू—दुबारा विवाह करने वाली स्त्री। अथर्ववेद में पुनर्भू प्रथा का उल्लेख प्राप्त होता है (९.५.२८)। इसके अनुसार विधवा पुनः विवाह करती थी तथा विवाह के अवसर पर एक यज्ञ होता था जिसमें वह प्रतिज्ञा करती थी कि अपने दूसरे पति के साथ मैं दूसरे लोक में पुनः एकत्व प्राप्त करूँगी। धर्मशास्त्र के अनुसार विवाह के लिए कुमारी कन्या ही उत्तम मानी जाती थी। पुनर्भू से उत्पन्न पुत्र को 'औरस' (अपने हृदय से उत्पन्न) न कहकर 'पौनर्भव' (पुनर्भू से उत्पन्न) कहते थे। उसके द्वारा दिया हुआ पिण्ड उतना पुण्यकारक नहीं माना जाता था जितना औरस के द्वारा। धीरे-धीरे स्त्री का पुनर्भू (पुनर्विवाह) होना उच्च वर्गों में बन्द हो गया। आधुनिक युग में विधवाविवाह के वैध हो जाने से स्त्रियाँ पहले पति के मरने पर दूसरा विवाह कर रही हैं, फिर भी उनके साथ अपमानसूचक 'पुनर्भू' शब्द नहीं लगता। वे पूरी पत्नी और उनसे उत्पन्न सन्तति औरस समझी जाती है।

पुनोग्रन्थ—यह कबीरपन्थ की सेवापुस्तिका है।

पुरन्दरदास—एक प्रसिद्ध कर्नाटकदेशीय भक्त। माध्व संन्यासियों में सोलहवीं शती के प्रारम्भ में गया के महात्मा ईश्वरपुरी ने दक्षिण भारत की यात्रा की तथा वहाँ उन्होंने माध्वों को चैतन्य देव के सदृश ही अपने भक्तिमूलक गीतों एवं संकीर्तन से प्रभावित किया। वंगदेश में चैतन्य महाप्रभु ने भी सर्वप्रथम संकीर्तन एवं नगरकीर्तन की प्रणाली चलायी थी। तत्पश्चात् कर्नाटक देश में माध्वों द्वारा भक्तिपूर्ण गीत एवं भजनों की रचना होने लगी। उक्त कर्नाटकीय कविभक्तों में प्रथम अग्रगण्य पुरन्दरदास हुए हैं। इनके गीत दक्षिण देश में बहुत प्रचलित हैं।

पुरन्धि—ऋग्वेद (१.११६.१३) में इस शब्द का उल्लेख सम्भवतः एक स्त्रीनाम के रूप में हुआ है। यह अश्विनों की संरक्षिका थी, जिन्होंने इसे एक पुत्र दिया था, जिसका नाम हिरण्यहस्त था। जातिवाचक स्त्री के अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है।

पुरश्चरणसप्तमी—माघ शुक्ल सप्तमी रविवार को मकर के सूर्य में इस व्रत का अनुष्ठान होता है। सूर्य की प्रतिमा का रक्त वर्ण के पुष्पों, अर्घ्य तथा गन्धादि से पूजन करने का विधान है। पञ्चगव्य पान का भी विधान है। एक वर्ष तक इस व्रत का अनुष्ठान होता है। प्रति मास पुष्प, धूप तथा नैवेद्य भिन्न-भिन्न हों। इससे व्रती समस्त दुरितों के कुफल से मुक्त होता है। 'पुरश्चरण' में पाँच क्रियाओं का समावेश रहता है, जैसे जप, पूजन, होम, तर्पण, अभिषेक तथा ब्राह्मणों का सम्मान।

पुराण—प्राचीन काल की कथाओं का बोधक ग्रन्थ। यह शब्द 'इतिहास-पुराण' द्वन्द्व समास के रूप में व्यवहृत हुआ है। अकेले भी इसका प्रयोग होता है, किन्तु अर्थ वही है। सायण ने परिभाषा करते हुए कहा है कि पुराण वह है जो विश्वसृष्टि की आदिम दशा का वर्णन करता है।

पुराण नाम से अठारह या उससे अधिक पुराण ग्रन्थ और उपपुराण समझे जाते हैं, जिनकी दूसरी संज्ञा 'पञ्चलक्षण' है। विष्णु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य आदि पुराणों में पुराणों के पाँच लक्षण कहे गये हैं :

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं ज्ञेयं पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

[सर्ग वा सृष्टि का विज्ञान, प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय और फिर से सृष्टि, सृष्टि की आदि वंशावली, मन्वन्तर अर्थात् किस-किस मनु का अधिकार कब तक रहा और उस काल में कौन-कौन सी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं और वंशानुचरित अर्थात् सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं का संक्षिप्त वर्णन। ये ही पाँच विषय पुराणों में मूलतः वर्णित हैं।]

पुराणसंहिता के रचयिता परम्परा के अनुसार महर्षि वेदव्यास थे। उन्होंने लोमहर्षण नामक अपने सूतजातीय शिष्य को यह संहिता सिखा दी। लोमहर्षण के छः शिष्य हुए और उनके भी शिष्य हुए। सम्भवतः इसी शिष्यपरम्परा ने अठारह पुराणों की रचना की। हो सकता है, वेदव्यास द्वारा प्रस्तुत पुराणसंहिता के अठारह विभाग रहे हों जिसके आधार पर इन शिष्यों ने अलग-अलग पुराण निर्मित किये। फिर उनके परिशिष्ट स्वरूप अनेकों उपपुराण रचे गये। विष्णु, ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य आदि पुराणों की सृष्टिप्रक्रिया पढ़ने से प्रकट होता है कि सब पुराणों में एक ही बात है, एक जैसा विषय है। किसी पुराण में कुछ बातें अधिक हैं, किसी में कम। सब पुराणों का मूल एक ही है।

एक पुराणसंहिता के अठारह भागों में विभक्त होने का कारण शिष्यपरम्परा की रुचि के अतिरिक्त और भी हो सकता है। पुराणों के अनुशीलन से पता चलता है कि प्रत्येक ग्रन्थ का विशेष उद्देश्य है। मूल विषय एक होते हुए भी हर एक पुराण में किसी एक प्रसंग का विस्तार से वर्णन है। पुराण का व्यक्तिगत महत्त्व इसी विशेष प्रसंग में निहित होता है। यदि ऐसी बात न होती तो पञ्चलक्षण युक्त एक ही महापुराण पर्याप्त होता। सम्भव है कि मूल संहिता में इन विशेष उद्देश्यों का मूल विद्यमान रहा हो। परन्तु इस समय पुराणों पर भिन्न भिन्न सम्प्रदायों का बड़ा प्रभाव पड़ा हुआ दिखाई पड़ता है। ब्राह्म, शैव, वैष्णव, भागवत आदि पुराणों के नामों से ही प्रतीत होता है कि ये विशेष सम्प्रदायों के ग्रन्थ हैं। इतिहास से ऐसा निश्चित नहीं होता कि इन पुराणों की रचना के अनन्तर उक्त सम्प्रदाय चल पड़े अथवा सम्प्रदाय पहले से थे और उन्होंने अपने-अपने अनुगत पुराणों का व्यासजी की शिष्य परम्परा से निर्माण कराया। अथवा बाद में सम्प्रदायों के अनुयायी पण्डितों ने अपने सम्प्रदाय के अनुकूल पुराणों में कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन किये हैं।

अवतारवाद पुराणों का प्रधान अङ्ग है। प्रायः सभी पुराणों में अवतार प्रसङ्ग दिया हुआ है। शैवमतपरिपोषक पुराणों में भगवान् शङ्कर के नाना अवतारों की चर्चा है। इसी तरह वैष्णव प्रणाली में भी विष्णु के अगणित अवतार बताये गये हैं। इसी तरह अन्य पुराणों में अन्य देवों के अवतारों की चर्चा है। यह ध्यान रहे कि अवतारवर्णन वैदिक सूत्रों पर अवलम्बित है। शतपथ ब्राह्मण में (१.८.१.२–१०) मत्स्यावतार का, तैत्तिरीय आरण्यक (१.२३.१) और शतपथ ब्राह्मण में (१.४.३ ५) कूर्मावतार का, तैत्तिरीय संहिता (७.१.५.१), तैत्तिरीय ब्राह्मण (१.१.३.५) और शत० ब्रा० में (१४.१.२.११) वराह अवतार का, ऋक् संहिता (१.१७) और शतपथ ब्राह्मण (१.२.५.१-७) में वामन अवतार का, ऐतरेय ब्रा० में राम-भार्गवावतार का, छान्दोग्योपनिषद् में (३.१७) देवकीपुत्र कृष्ण का और तैत्ति० आ० में (१०.१.६) वासुदेव कृष्ण का वर्णन है। अधिकांश वैदिक ग्रन्थों के मत से कूर्म, वराहआदि अवतारों की जो कथा कही गयी है वह ब्रह्मा के अवतार की कथा है। वैष्णव पुराण इन्हीं अवतारों को विष्णु का अवतार बताते हैं। भविष्य जैसे कई पुराण सौर पुराण हैं। उनमें सूर्य के अवतार गिनाये गये हैं। मार्कण्डेय आदि शाक्त पुराणों में देवी के अवतारों का वर्णन है।

पुराण वेदों के उपाङ्ग कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि वेद के मन्त्रों में देवताओं की स्तुतियाँ मात्र हैं। ब्राह्मण भाग में कहीं कहीं यज्ञादि के प्रसङ्ग में कथा-पुराण का संक्षेप में ही उल्लेख है। परन्तु विस्तार के साथ कथाओं और उपाख्यानों का कहीं होना आवश्यक था। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए पुराणों की रचना हुई जान पड़ती है।

अठारहों पुराणों का प्रधान उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति की उपासना अथवा ब्रह्मा को छोड़कर शेष पाँच देवताओं की उपासना का प्रचार हो और इन पाँच देवताओं में से एक को उपासक प्रधान माने, शेष चार को गौण किन्तु प्रधान में अन्तर्निहित। पुराणों के प्रतिपादन का समीकरण करने से पता चलता है कि परमात्मा के पाँचों भिन्न-भिन्न सगुण रूप माने गये हैं। सृष्टि में इनका कार्यविभाग अलग-अलग है। ब्रह्मा की पूजा और उपासना आजकल देखी नहीं जाती है, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि ब्रह्मा की उपासना का गणेश की उपासना में विलयन हो गया है।

पुराणों की कथाओं में अनेक स्थलों पर भेद दिखाई पड़ते हैं। ऐसे भेदों को साधारणतया कल्पभेद की कथा से पुराणवेत्ता लोग समझा दिया करते हैं।

अठारह पुराणों की मान्य सूची निम्नाङ्कित है :

१. ब्रह्म पुराण
२. पद्म पुराण
३. विष्णु पुराण
४. शिव पुराण
५. भागवत पुराण
६. वायु पुराण
७. नारद पुराण
८. अग्नि पुराण
९. ब्रह्मवैवर्त पुराण
१०. वराह पुराण
११. स्कन्द पुराण
१२. मार्कण्डेय पुराण
१३. वामन पुराण
१४. कूर्म पुराण
१५. मत्स्य पुराण
१६. गरुड़ पुराण
१७. ब्रह्माण्ड पुराण
१८. लिङ्ग पुराण

इन सब पुराणों का अलग-अलग परिचय नाम-अक्षरक्रम के अंदर लिखा गया है। इसको यथास्थान देखना चाहिए।

पुराणमणि—यह द्रविड़ (तमिल) भाषा का एक निबन्ध ग्रन्थ है।

पुरावृत्त—अतीत की घटना। यह शब्द इतिहास (इति + ह + आस = ऐसा वस्तुतः हुआ) का पर्याय है। परवर्त्ती संस्कृत साहित्य में इसका अर्थ पौराणिक कथा, आख्यान-आख्यायिका, कथा आदि समझा गया है। इसकी परिभाषा के अनुसार उपर्युक्त कथा या आख्यान में कर्तव्य, लाभ, प्रेम तथा मोक्षादि का सारांश भी वर्णित है।

पुरी—(१) शंकराचार्य द्वारा स्थापित दसनामी संन्यासियों की एक शाखा। माध्व दैष्णव संन्यासियों में भी 'पुरी' उपनामक संत हुए हैं, यथा गयानिवासी महात्मा ईश्वरपुरी। कुछ विद्वानों के विचार से ईश्वरपुरी जैसे वैष्णव सन्तों द्वारा जगन्नाथपुरी में अधिकांश भजन-साधन किया गया था इसलिए उनका 'पुरी' उपनाम प्रसिद्ध हो गया। इसी प्रकार शाक्त संन्यासियों में भी 'पुरी' उपनामक महात्मा हो गये हैं। स्वामी तोतापुरी से परमहंस रामकृष्ण ने संन्यासदीक्षा ली थी, अतः उनके मिशन या मठों के संन्यासी पुरी शाखा के सदस्य माने जाते हैं।

(२) पुरी (जगन्नाथपुरी) हिन्दुओं के मुख्य तीर्थों में से एक है। यहाँ विष्णु के अवतार बलभद्र और कृष्ण का मन्दिर है, जिसे जगन्नाथ (जगत् के नाथ) का मन्दिर कहते हैं। भारतप्रसिद्ध रथयात्रा का मेला यहीं होता है। लाखों की संख्या में भक्त आकर यहाँ जगन्नाथजी का रथ स्वयं खींचकर पुण्य लाभ करते हैं। इसकी गणना चार धामों—बदरिकाश्रम, रामेश्वरम्, जगन्नाथ पुरी (पुरुषोत्तमधाम) और द्वारका—में है। दे० 'पुरुषोत्तम तीर्थ' (जगन्नाथपुरी)।

पुरीशिष्यपरम्परा—'पुरी' दसनामी संन्यासियों की एक शाखा है। शंकराचार्य के शिष्य त्रोटकाचार्य से पुरी शिष्यों की परम्परा प्रचलित मानी जाती है। पुरी, भारती और सरस्वती नामों की शिष्यपरम्परा शृंगेरी मठ (कुम्भकोणम्) के अन्तर्गत है। दे० 'दसनामी'।

पुरीषिणी—ऋग्वेद (५.५३.९) में यह शब्द या तो नदी के अर्थ का द्योतक है, या अधिक-सम्भवतः सरयू का विशेषण है, जो 'जल से पूरित बढ़ी हुई' या 'प्रस्तरखण्ड खींचती हुई' के अर्थ में प्रयुक्त है।

पुरुष—'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति 'पुरि शेते इति (पुर अर्थात् शरीर में शयन करता है)' की गयी है। इस अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति पुरुष है। किन्तु ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०.८०) में आदि पुरुष की कल्पना विराट् पुरुष अथवा विश्वपुरुष के रूप में की गयी है। देवताओं (विश्व की विशिष्ट शक्तियों) ने इसी पुरुष के द्वारा पुरुषमेध किया, जिसके शरीर के विविध अङ्गों से संसार के सभी पदार्थ उत्पन्न हुए। फिर भी यह पुरुष संसार में समाप्त नहीं हुआ, इसके अंश से यह सम्पूर्ण सृष्टि व्याप्त है; वह इसका अतिक्रमण कर अनेक विश्व ब्रह्माण्डों को अपने में समेटे हुए है। सृष्टि के मूल में स्थित मूल तत्त्व के अन्तर्यामी और अतिरेकी स्वरूप का प्रतीक पुरुष है। इसी सिद्धान्त को 'सर्वेश्वरवाद' कहते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार विश्व में दो स्वतन्त्र और सनातन तत्व हैं—(१) प्रकृति और (२) पुरुष। सांख्य पुरुषबहुत्व में विश्वास करता है। प्रकृति और पुरुष के सम्पर्क से विश्व का विकास होता है। प्रकृति नटी पुरुष के विलास के लिए अपनी लीला का प्रसार करती है। प्रकृति क्रियाशील और पुरुष निष्क्रिय किन्तु द्रष्टा होता है। इस सम्पर्क से जो भ्रम उत्पन्न होता है उसके कारण पुरुष प्रकृति के कार्यों का अपने ऊपर आरोप कर लेता है और इस कारण उनके परिणामों से उत्पन्न सुख-दुःख भोगता है। पुरुष द्वारा अपने स्वरूप को भूल जाना ही बन्ध है। जब पुरुष पुनः ज्ञान प्राप्त करके अपने स्वरूप को पहचान लेता है तब उसे कैवल्य (प्रकृति से पार्थक्य) प्राप्त होता है; प्रकृति संकुचित होकर अपनी लीला का संवरण कर लेती है और पुरुष मुक्त हो जाता है।

पुरुषन्ति—यह नाम ऋग्वेद (१.११२,२३; ९.५८,३) में दो बार उल्लिखित है। पहले परिच्छेद में अश्विनौ द्वारा रक्षित तथा दूसरे में एक संरक्षक का नाम है, जो वैदिक गायकों को उपहार दान करता है। दोनों स्थानों पर यह नाम 'ध्वसन्ति' या 'ध्वस्र' नाम के साथ संयुक्त है। इन तीनों का जोड़ पुरुषवाचक है, किन्तु व्याकरण की दृष्टि से यह स्त्रीलिङ्ग भी हो सकता है।

पुरुषविशेष—योग प्रणाली में ईश्वर को 'पुरुषविशेष' की संज्ञा दी गयी है। यह पुरुषविशेष योगसिद्धान्त के मुख्य विचारों से शिथिलतापूर्वक संलग्न है। वह विशेष प्रकार का आत्मा है जो सर्वज्ञ, शाश्वत एवं पूर्ण है तथा कर्म, पुनर्जन्म एवं मानविक दुर्बलताओं से परे है। वह योगियों का प्रथम शिक्षक है, वह उनकी सहायता करता है जो ध्यान के द्वारा कैवल्य प्राप्त करना चाहते हैं और उसके प्रति भक्ति रखते हैं। किन्तु वह सृष्टिकर्त्ता नहीं कहलाता। उसका प्रकटीकरण रहस्यात्मक मन्त्र 'ओम्' से होता है।

पुरुषार्थ—इसका शाब्दिक अर्थ है 'पुरुष द्वारा प्राप्त करने योग्य। आजकल की शब्दावली में इसे 'मूल्य' कह सकते हैं। हिन्दू विचारशास्त्रियों ने चार पुरुषार्थ माने हैं—(१) धर्म (२) अर्थ (३) काम एवं (४) मोक्ष। धर्म का अर्थ है जीवन के नियामक तत्त्व, अर्थ का तात्पर्य है जीवन के भौतिक साधन, काम का अर्थ है जीवन की वैध कामनाएँ और मोक्ष का अभिप्राय है जीवन के सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति। प्रथम तीन को पवंर्ग और अन्तिम को अपवर्ग कहते हैं। इन चारों का चारों आश्रमों से सम्बन्ध है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य धर्म का, दूसरा गार्हस्थ्य धर्म एवं काम का तथा तीसरा वानप्रस्थ एवं चौथा संन्यास मोक्ष का अधिष्ठान है। यों धर्म का प्रसार पूरे जीवनकाल पर है किन्तु यहाँ धर्म का विशेष अर्थ है अनुशासन तथा सारे जीवन को एक दार्शनिक रूप से चलाने की शिक्षा, जो प्रथम या ब्रह्मचर्याश्रम में ही सीखना पड़ता है। इन चारों पुरुषार्थों में भी विकास परिलक्षित है, यथा एक से दूसरे की प्राप्ति—धर्म से अर्थ, अर्थ से काम तथा धर्म से पुनः मोक्ष की प्राप्ति होती है। चार्वाक दर्शन केवल अर्थ एवं काम को पुरुषार्थ मानता है। किन्तु चार्वाकों का सिद्धान्त भारत में बहुमान्य नहीं हुआ।

पुरुषोत्तम—गीता के अनुसार पुरुष की तीन कोटियाँ हैं—(१) क्षर पुरुष, जिसके अन्तर्गत चराचर नश्वर जगत् का समावेश है, (२) अक्षर पुरुष अर्थात् जीवात्मा, जो वस्तुतः अजर और अमर है और (३) पुरुषोत्तम, जो दोनों से परे विश्व के मूल में परम तत्त्व है, जिसमें सम्पूर्ण विश्व का समाहार हो जाता है। पुरुषोत्तम तत्त्व की प्राप्ति ही जीवन का परम पुरुषार्थ है।

पुरुषोत्तमतीर्थ (जगन्नाथपुरी)—उड़ीसा के चार प्रसिद्ध तीर्थों, भुवनेश्वर, जगन्नाथ, कोणार्क तथा जाजपुर में जगन्नाथ का मतत्त्वपूर्ण अस्तित्व है। इसे पुरुषोत्तम-तीर्थ भी कहा जाता है। ब्रह्मपुराण में इसके सम्बन्ध में लगभग ८०० श्लोक मिलते हैं। जगन्नाथपुरी शंखक्षेत्र के नाम से भी विख्यात है। यह भारतवर्ष के उत्कल प्रदेश में समुद्रतट पर स्थित है। इसका विस्तार उत्तर में विराजमण्डल तक है। इस प्रदेश में पापनाशक तथा मुक्तिदायक एक पवित्र स्थल है। यह बेत से घिरा हुआ दस योजन तक विस्तृत है। उत्कल प्रदेश में पुरुषोत्तम का प्रसिद्ध मन्दिर है। जगन्नाथ की सर्वव्यापकता के कारण यह उत्कल प्रदेश बहुत पवित्र माना जाता है। यहाँ पुरुषोत्तम (जगन्नाथ) के निवास के कारण उत्कल के निवासी देवतुल्य माने जाते हैं। **ब्रह्मपुराण** के ४३ तथा ४४ अध्याओं में मालवास्थित उज्जयिनी (अवन्ती) के राजा इन्द्रद्युम्न का विवरण है। वह बड़ा विद्वान् तथा प्रतापी राजा था। सभी वेदशास्त्रों के अध्ययन के उपरान्त वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वासुदेव सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। फलतः वह अपनी सारी सेना, पण्डितों तथा किसानों के साथ वासुदेवक्षेत्र में गया। दस योजन लम्बे तथा पाँच योजन चौड़े इस वासुदेवस्थल पर उसने अपना खेमा लगाया। इसके पूर्व इस दक्षिणी समुद्रतट पर एक वटवृक्ष था जिसके समीप पुरुषोत्तम की इन्द्रनील मणि की बनी हुई मूर्ति थी। कालक्रम से यह बालुका से आच्छन्न हो गयी और उसी में निमग्न हो गयी। उस स्थल पर झाड़ियाँ और पेड़ पौधे उग आये। इन्द्रद्युम्न ने वहाँ एक अश्वमेध यज्ञ करके एक बहुत बड़े मन्दिर (प्रासाद) का निर्माण कराया। उस मन्दिर में भगवान् वासुदेव की एक सुन्दर मूर्ति प्रतिष्ठित करने की उसे चिन्ता हुई। स्वप्न में राजा ने वासुदेव को देखा जिन्होंने उसे समुद्रतट पर प्रातःकाल जाकर कुल्हाड़ी से उगते हुए वटवृक्ष को काटने को कहा। राजा ने ठीक समय पर वैसा ही किया।

उसमें भगवान् विष्णु (वासुदेव) और विश्वकर्मा ब्राह्मण के वेष में प्रकट हुए। विष्णु ने राजा से कहा कि मेरे सहयोगी विश्वकर्मा मेरी मूर्ति का निर्माण करेंगे। कृष्ण, बलराम और सुभद्रा की तीन मूर्तियाँ बनाकर राजा को दी गयीं। तदुपरान्त विष्णु ने राजा को वरदान दिया कि अश्वमेध के समाप्त होने पर जहाँ इन्द्रद्युम्न ने स्नान किया है वह बाँध (सेतु) उसी के नाम से विख्यात होगा। जो व्यक्ति उसमें स्नान करेगा वह इन्द्रलोक को जायेगा और जो उस सेतु के तट पर पिण्डदान करेगा उसके २१ पीढ़ियों तक के पूर्वज मुक्त हो जायेंगे। इन्द्रद्युम्न ने इन तीन मूर्तियों की उस मन्दिर में स्थापना की। स्कन्दपुराण के उपभाग उत्कलखण्ड में इन्द्रद्युम्न की कथा पुरुषोत्तममाहात्म्य के अन्तर्गत कुछ परिवर्तनों के साथ दी गयी है।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन काल में पुरुषोत्तमक्षेत्र को नीलाचल नाम से अभिहित किया गया था और कृष्ण की पूजा उत्तरी भारत में होती थी। मैत्रायणी उपनिषद् (१.४) से इन्द्रद्युम्न के चक्रवर्ती होने का पता चलता है। ७वीं शताब्दी ई० से वहाँ बौद्धों के विकास का भी पता चलता है। सम्प्रति जगन्नाथतीर्थ का पवित्र स्थल २० फुट ऊँचा, ६५२ फुट लम्बा तथा ६३० फुट चौड़ा है। इसमें ईश्वर के विविध रूपों के १२० मन्दिर हैं, १३ मन्दिर शिव के, कुछ पार्वती के तथा एक मन्दिर सूर्य का है। हिन्दू आस्था के प्रायः प्रत्येक रूप यहाँ मिलते हैं। ब्रह्मपुराण के अनुसार जगन्नाथपुरी में शैवों और वैष्णवों के पारस्परिक संघर्ष नष्ट हो जाते हैं। जगन्नाथ के विशाल मन्दिर के भीतर चार खण्ड हैं। प्रथम भोगमन्दिर, जिसमें भगवान् को भोग लगाया जाता है, द्वितीय रङ्गमन्दिर, जिसमें नृत्य-गान आदि होते हैं, तृतीय सभामण्डप, जिसमें दर्शक गण (तीर्थयात्री) बैठते हैं और चौथा अन्तराल है। जगन्नाथ के मन्दिर का गुम्बज १९२ फुट ऊँचा और चक्र तथा ध्वज से आच्छन्न है। मन्दिर समुद्रतट से ७ फर्लांग दूर है। यह सतह से २० फुट ऊँची एक छोटी सी पहाड़ी पर स्थित है। यह गोलाकार पहाड़ी है जिसे नीलगिरि कहकर सम्मानित किया जाता है। अन्तराल की प्रत्येक तरफ एक बड़ा द्वार है, उनमें पूर्व का सबसे बड़ा है और भव्य है। प्रवेशद्वार पर एक बृहत्काय सिंह है।। इसीलिए इस द्वार को सिंहद्वार कहा जाता है।

जगन्नाथपुरी तथा जगन्नाथ की कुछ मौलिक विशेषताएँ हैं। पहले तो यहाँ किसी प्रकार का जातिभेद नहीं है, दूसरी बात यह है कि जगन्नाथ के लिए पकाया गया चावल वहाँ के पुरोहित निम्न कोटि के लोगों से भी ले लेते हैं। जगन्नाथ को चढ़ाया हुआ चावल कभी अशुद्ध नही होता, इसे 'महाप्रसाद' की संज्ञा दी गयी है। इसकी तीसरी प्रमुख विशेषता रथयात्रा पर्व की महत्ता है, यह पुरी के चौबीस पर्वों में से सर्वाधिक महत्त्व का है। यह आषाढ़ के शुक्ल पक्ष की द्वितीया को आरम्भ होता है। जगन्नाथजी का रथ ४५ फुट ऊँचा, ३५ वर्गफुट क्षेत्रफल का तथा ७ फुट व्यास के १६ पहियों से युक्त रहता है। उनमें १६ छिद्र रहते हैं और गरुड़-कलंगी लगी रहती है। दूसरा रथ सुभद्रा का है जो १२ पहियों से युक्त और कुछ छोटा होता है। उसका मुकुट पद्म से युक्त है। बलराम का तीसरा रथ १४ पहियों से युक्त तथा हनुमान के मुकुट से युक्त है। ये रथ तीर्थयात्रियों तथा मजदूरों द्वारा खींचे जाते हैं। भावुकतापूर्ण गीतों से उत्सव मनाया जाता है।

जगन्नाथमन्दिर के निजी भृत्यों की एक सेना है जो ३६ रूपों तथा ९७ वर्गों में विभाजित कर दी गयी है। पहले इनके प्रधान खुर्द के राजा थे जो अपने को जगन्नाथ का भृत्य समझते थे।

काशी की तरह जगन्नाथधाम में भी पंच तीर्थ हैं— मार्कण्डेय, वट (कृष्ण), बलराम, समुद्र और इन्द्रद्युम्न-सेतु। इनमें से प्रत्येक के विषय में कुछ कहा जा सकता है। मार्कण्डेय की कथा ब्रह्मपुराण में वर्णित है। (अध्याय ५६.७२-७३) विष्णु ने मार्कण्डेय से जगन्नाथ के उत्तर में शिव का मन्दिर तथा सेतु बनवाने को कहा था। कुछ समय के उपरान्त यह मार्कण्डेयसेतु के नाम से विख्यात हो गया। ब्रह्मपुराण के अनुसार तीर्थयात्री को मार्कण्डेयसेतु में स्नान करके तीन बार सिर झुकाना तथा मन्त्र पढ़ना चाहिए। तत्पश्चात् उसे तर्पण करना तथा शिवमन्दिर जाना चाहिए। शिव के पूजन में 'ओम् नमः शिवाय' नामक मूल मन्त्र का उच्चारण अत्यावश्यक है। अघोर तथा पौराणिक मन्त्रों का भी उच्चारण होना चाहिए। तत्पश्चात् उसे वट वृक्ष को जाकर उसकी तीन बार परिक्रमा करनी चाहिए और मन्त्र से पूजा करनी चाहिए। ब्रह्मपुराण (५७.१७) के अनुसार वट स्वयं

कृष्ण हैं। वह भी एक प्रकार का कल्पवृक्ष ही है। तीर्थयात्री को श्री कृष्ण के समक्ष स्थित गरुड़ की पूजा करनी चाहिए और तब कृष्ण, सुभद्रा तथा संकर्षण के प्रति मन्त्रोच्चारण करना चाहिए। ब्रह्मपुराण (५७.४२-५०) श्री कृष्ण के भक्तिपूर्ण दर्शन से मोक्ष का विधान करता है। पुरी में समुद्रस्नान का बड़ा महत्व है पर यह मूलतः पूर्णिमा के दिन ही अधिक महत्वपूर्ण है। तीर्थयात्री को इन्द्रद्युम्नसेतु में स्नान करना, देवताओं का तर्पण करना तथा ऋषि-पितरों को पिण्डदान करना चाहिए।

ब्रह्मपुराण (अ० ६६) में इन्द्रद्युम्नसेतु के किनारे सात दिनों की गुण्डिचा यात्रा का उल्लेख है। यह कृष्ण, संकर्षण तथा सुभद्रा के मण्डप में ही पूरी होती है। ऐसा बताया जाता है कि गुण्डिचा जगन्नाथ के विशाल मन्दिर से लगभग दो मील दूर जगन्नाथ का ग्रीष्मकालीन भवन है। यह शब्द सम्भवतः 'गुण्डी' से लिया गया है जिसका अर्थ बँगला तथा उड़िया में 'मोटा लकड़ी का कुन्दा' होता है। यह लकड़ी का कुन्दा एक पौराणिक कथा के अनुसार समुद्र में बहते हुए इन्द्रद्युम्न को मिला था।

पुरुषोत्तम क्षेत्र में धार्मिक आत्मघात का भी ब्रह्मपुराण में उल्लेख है। वट वृक्ष पर चढ़कर या उसके नीचे या समुद्र में, इच्छा या अनिच्छा से, जगन्नाथरथ के मार्ग में, जगन्नाथ क्षेत्र की किसी गली में या किसी भी स्थल पर जो प्राण त्याग करता है वह निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करता है। ब्रह्मपुराण (७०.३-४) के अनुसार यह तीन गुना सत्य है कि यह स्थल परम महान् है। पुरुषोत्तमतीर्थ में एक बार जाने के उपरान्त व्यक्ति पुनः गर्भ में नहीं जाता।

जगन्नाथतीर्थ के मन्दिर के सम्बन्ध में एक दोष यह बताया जाता है कि उसकी दीवारों पर नृत्य करती हुई युवतियों के चित्र हैं, जो अपने कटाक्षों से हाव-भाव प्रदर्शित करती हुई तथा कामुक अभिनय करती हुई दिखायी गयी हैं। किन्तु ब्रह्मपुराण (अ० ६५) का कथन है कि ज्येष्ठ की पूर्णिमा को स्नानपर्व मनाया जाता है। उस अवसर पर सुन्दरी वारविलासिनियाँ तबले और वंशी की ध्वनि और सुर पर पवित्र वेदमन्त्रों का उच्चारण करती हैं। यह एक सहगान के रूप में श्री कृष्ण, बलराम तथा सुभद्रा की मूर्ति के समक्ष होता है। अतः ये चित्र उसी उत्सव के हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण अतिरिक्त परिकल्पनाएँ अवांछनीय और अस्पृहणीय हैं।

पुरुषोत्तमयात्रा—जगन्नाथपुरी में पुरुषोत्तम (विष्णु) भगवान् की बारह यात्राएँ मनायी जाती हैं। यथा स्नान, गुण्डिचा, हरिशयन, दक्षिणायन, पार्श्वपरिवर्तन, उत्थापनैकादशी, प्रावरणोत्सव, पुष्याभिषेक, उत्तरायण, दोलायात्रा, दमनक चतुर्दशी तथा अक्षय तृतीया। दे० गदाधरपद्धति, कालसार, पृ० १८३-१९०।

पुरुषोत्तमसंहिता—यह वैष्णव संहिता है। आचार्य मध्वरचित वेदान्तभाष्य के संक्षिप्त संस्करण 'अनुभाष्य' का मुख्य अंश पुराणों तथा वैष्णव संहिताओं से उद्धृत है। इन वैष्णव संहिताओं में पुरुषोत्तमसंहिता आदि मुख्य हैं।

पुरुषोत्तमाचार्य—द्वैताद्वैतवादी वैष्णवों के सैद्धान्तिक व्याख्याकार विद्वान्। इन्होंने निम्बार्क स्वामी के मत का अनुसरण कर उसे परिपुष्ट किया है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वेदान्तरत्नमंजूषा' में निम्बार्करचित 'दशश्लोकी' या 'वेदान्तकामधेनु' की विस्तृत व्याख्या है।

पुरोडाश—यज्ञों में देवताओं को अर्पित किया जाने वाला पक्वान्न, जो मिट्टी के तवों पर सेका जाता था। **ऋग्वेद** (३.२८,२;४१,३;५२,२;४.२४,५;६.२३,६;८.३१,२) तथा अन्य संहिताओं में यज्ञ के रोट को 'पुरोडाश' कहा गया है। यह देवताओं का प्रिय भोज्य था।

पुरोधा—(१) धार्मिक कार्यों का अग्रणी अथवा नेता। यह घरेलू पुरोहित के पद का बोधक है।

(२) राजा की मन्त्रिपरिषद् के प्रमुख सदस्यों में इसकी भी गणना है। धार्मिक तथा विधिक मामलों में पुरोधा राजा का परामर्शदाता होता था।

पुरोहित—आगे अवस्थित अथवा पूर्वनियुक्त व्यक्ति, जो धर्मकार्यों का संचालक और मंत्रिमण्डल का सदस्य होता था। वैदिक संहिताओं में इसका उल्लेख है। पुरोहित को 'पुरोधा' भी कहते हैं। इसका प्राथमिक कार्य किसी राजा या संपन्न परिवार का घरेलू पुरोहित होना होता था। ऋग्वेद के अनुसार विश्वामित्र एवं वसिष्ठ त्रित्सु कुल के राजा सुदास के पुरोहित थे। शान्तनु के पुरोहित देवापि थे। यज्ञ क्रिया के सम्पादनार्थ राजा को पुरोहित रखना आवश्यक होता था। यह युद्ध में राजा की सुरक्षा एवं विजय का आश्वासन अपनी स्तुतियों द्वारा देता था।

अन्न एवं सस्य के लिए यह वर्षाकारक अनुष्ठान कराता था। पुरोहितपद के पैतृक होने का निश्चित प्रमाण नहीं है, किन्तु सम्भवतः ऐसा ही था। राजा कुरु श्रवण तथा उसके पुत्र उपम श्रवण का पुरोहित के साथ जो सम्बन्ध था उससे ज्ञात होता है कि साधारणतः पुत्र अपने पिता के पुरोहित पद को ही अपनाता था। प्रायः ब्राह्मण ही पुरोहित होते थे। बृहस्पति देवताओं के पुरोहित एवं ब्राह्मण दोनों कहे जाते हैं। ओल्डेनबर्ग के मतानुसार पुरोहित प्रारम्भ में होता होते थे, जो स्तुतियों का गान करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक युग में वह राजा की शक्ति का प्रतिनिधित्व करता था तथा सामाजिक क्षेत्र में उसका बड़ा प्रभाव था। न्याय व्यवस्था तथा राजा के कार्यों के संचालन में उसका प्रबल हाथ होता था।

पुलिकाबन्धन—यह व्रत कार्तिकी पूर्णिमा को पुष्कर क्षेत्र में मनाया जाता है। इस दिन पुष्कर में बहुत बड़ा मेला लगता है। दे० कृत्यसारसमुच्चय, पृ० ७।

पुष्कर—(१) वैदिक साहित्य में पुष्कर नील कमल का नाम है। अथर्ववेद में इसकी मधुर गन्ध का वर्णन है। यह तालाबों में उगता था जो पुष्करिणी कहलाते थे। 'पुष्कर-स्रजौ' अश्विनों का एक विरुद है। निरुक्त (५.१४) तथा शतपथ ब्राह्मण (६.४,२,२) के अनुसार पुष्कर का अर्थ जल है।

(२) पुष्कर एक तीर्थ का भी नाम है जो राजस्थान में अजमेर के पास स्थित है। ब्रह्मा इसके मुख्य देवता हैं। यह एक बहुत बड़े प्राकृतिक जलाशय के रूप में है इसलिए इसका नाम पुष्कर पड़ा। पुराणों के अनुसार यह तीर्थों का गुरु माना जाता है अतएव इसको पुष्करराज भी कहते हैं। भारत के पंच तीर्थों और पंच सरोवरों में इसकी गणना की जाती है। पंच तीर्थ हैं—पुष्कर, कुरुक्षेत्र, गया, गङ्गा एवं प्रभास तथा पंच सरोवर हैं—मानसरोवर, पुष्कर, बिन्दुसरोवर (सिद्धपुर), नारायण-सरोवर (कच्छ) और पम्पा सरोवर (दक्षिण)। इसका माहात्म्य निम्नाङ्कित है :

दुष्करं पुष्करे गन्तुं दुष्करं पुष्करे तपः।
दुष्करं पुष्करे दानं वस्तुं चैव सुदुष्करम्॥

पुष्करसद्—कमल पर बैठा हुआ जन्तु। यह एक पशु का नाम है जो अश्वमेध के बलिपशुओं की तालिका में उद्धृत है। कुछ लोग इसका अर्थ सर्प करते हैं, परन्तु अधिक अर्थ मधुमक्खी है।

पुष्टिगु—ऋग्वेद (८.५१,१) की बालखिल्य ऋचा में उद्धृत एक ऋषि का नाम।

पुष्टिमार्ग—भागवत पुराण के अनुसार भगवान् का अनुग्रह ही पोषण या पुष्टि है। आचार्य वल्लभ ने इसी भाव के आधार पर अपना पुष्टिमार्ग चलाया। इसका मूल सूत्र उपनिषदों में पाया जाता है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि परमात्मा जिस पर अनुग्रह करता है उसी को अपना साक्षात्कार कराता है। वल्लभाचार्य ने जीव आत्माओं को परमात्मा का अंश माना है जो चिनगारी की तरह उस महान् आत्मा से छिटके हैं। यद्यपि ये अलग-अलग हैं तथापि गुण में समान हैं। इसी आधार पर वल्लभ ने अपने या पराये शरीर को कष्ट देना अनुचित बताया है। पुष्टिमार्ग में परमात्मा की कृपा के शम-दमादि बहिरङ्ग साधन हैं और श्रवण, मनन, निदिध्यासन अन्तरङ्ग साधन। भगवान् में चित्त की प्रवणता सेवा है और सर्वात्मभाव मानसी सेवा है। आचार्य की सम्मति में भगवान् का अनुग्रह (कृपा) ही पुष्टि है। भक्ति दो प्रकार की है—मर्यादाभक्ति और पुष्टिभक्ति। मर्यादाभक्ति में शास्त्र-विहित ज्ञान और कर्म की अपेक्षा होती है। भगवान् के अनुग्रह से जो भक्ति उत्पन्न होती है वह पुष्टिभक्ति कहलाती है। ऐसा भक्त भगवान् के स्वरूप दर्शन के अतिरिक्त और किसी वस्तु के लिए प्रार्थना नहीं करता। वह अपने आराध्य के प्रति सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करता है। इसको प्रेमलक्षणा भक्ति कहते हैं। नारद ने इस भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ बतलाया है। उनके अनुसार यह भक्ति साधन नहीं, स्वतः फलरूपा है।

पुष्पद्वितीया—कार्तिक शुक्ल द्वितीया को इस व्रत का प्रारम्भ होता है। यह तिथिव्रत है, एक वर्ष पर्यन्त चलता है, अश्विनीकुमार इसके देवता हैं। दिव्य पूजा के लिए उपयुक्त पुष्पों का अर्पण प्रति शुक्ल पक्ष की द्वितीया को करने का विधान है। व्रत के अन्त में सुवर्ण के बने हुए पुष्प तथा गौ का दान करना चाहिए। इससे व्रती पुत्र तथा पत्नी सहित सुखोपभोग करता है।

पुष्पमुनि—सामवेद की एक शाखा का प्रातिशाख्य पुष्पमुनि द्वारा रचित है।

पुष्पसूत्र—गोभिल का रचा हुआ सामवेद का सूत्र ग्रन्थ। इसके पहले चार प्रपाठकों में नाना प्रकार के पारिभाषिक और व्याकरण द्वारा गढ़े हुए शब्द आये हैं, उनका मर्म समझना कठिन है। इन प्रपाठकों की टीका भी नहीं मिलती, किन्तु शेष अंश पर एक विशद भाष्य अजातशत्रु का लिखा हुआ है। ऋग्वेद की मन्त्ररूपी कलिका किस प्रकार सामरूप पुष्प में परिणत हुई—इस ग्रन्थ में बताया गया है। दाक्षिणात्यों में यह 'झुल्ल सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध है और कहते हैं कि यह वररुचि की रचना है। दामोदर-पुत्र रामकृष्ण की लिखी इस पर एक वृत्ति भी है।

पुष्पाष्टमी—श्रावण शुक्ल अष्टमी को इस व्रत का प्रारम्भ होता है। यह तिथिव्रत है, इसके देवता शिव हैं। यह एक वर्ष पर्यन्त चलता है। प्रति मास भिन्न-भिन्न पुष्पों का उपयोग करना चाहिए। विभिन्न प्रकार के ही नैवेद्य भिन्न-भिन्न नामों से शिवजी को अर्पण करने चाहिए।

पुष्यद्वादशी—जब पुष्य नक्षत्र द्वादशी को पड़े तथा चन्द्रमा और गुरु एक स्थान पर हों और सूर्य कुम्भ राशि पर हो तब व्रती को ब्रह्मा, हरि तथा शिव की अथवा अकेले वासुदेव की पूजा करनी चाहिए।

पुष्यव्रत—यह नक्षत्रव्रत है। सूर्य के उत्तरायण होने पर शुक्ल पक्ष में ऋद्धि-सिद्धि का इच्छुक व्यक्ति कम से कम एक रात्रि उपवास रखे तथा स्थालीपाक (बटलोई भर जौ अथवा चावल दूध में) बनाये। तदनन्तर कुबेर (धन के देवता) की पूजा करे। पकाये हुए स्थालीपाक में से कुछ अंश, जिसमें शुद्ध नवनीत का मिश्रण हो, किसी ब्राह्मण को खिलाया जाय तथा उससे निवेदन किया जाय कि वह 'समृद्धिर्भवतु' इस मन्त्र का प्रति दिन जप करे और तब तक जप करे जब तक अगला पुष्य नक्षत्र न आ जाय। ब्राह्मणों की संख्या आने वाले पुष्य नक्षत्रों के क्रम से बढ़ती जायेगी और यह वृद्धि पूरे वर्ष होगी। व्रती को केवल प्रथम पुष्य नक्षत्र के दिन उपवास करने की आवश्यकता है। इस व्रत के परिणाम से व्रती के ऊपर ऋद्धि तथा समृद्धियों की वर्षा होगी।

आपुस्तम्ब धर्मसूत्र (२. ८.२०.३-२२) में व्रत के निषिद्ध आचरणों की परिगणना की गयी है। कृत्यकल्पतरु (३९९-४००) ने उनकी विशद व्याख्या की है, हेमाद्रि (२.६२८) ने भी ऐसा ही किया है।

पुष्यस्नान—हेमाद्रि, बृहत्संहिता, कालिकापुराण के अनुसार यह शान्तिकर्म है। रत्नमाला में कहा गया है कि जिस प्रकार चतुष्पदों में सिंह महान् शक्तिशाली है उसी प्रकार समस्त नक्षत्रों में पुष्य शक्तिमान् है। इस दिन किये गये समस्त कार्यों में सफलता अवश्यम्भावी है, चाहे चन्द्रमा प्रतिकूल क्यों न हो।

पुष्याभिषेक—जगन्नाथजी की बारह यात्राओं में से एक। प्रति वर्ष पौष मास की पूर्णिमा को पुष्य नक्षत्र के दिन यह उत्सव मनाया जाता है।

पुष्यार्कद्वादशी—जब द्वादशी के दिन सूर्य पुष्य नक्षत्र में हो, जनार्दन का पूजन करणीय है। इससे समस्त दुरितों का क्षय होता है।

पूजा—(१) देवार्चन की दो विधियाँ हैं—(१) याग और (२) पूजा। अग्निहोत्र द्वारा अर्चन करना याग अथवा यज्ञ है। पत्र, पुष्प, फल, जल द्वारा अर्चन करना पूजा है।

(२) किन्हीं निश्चित द्रव्यों के साथ देवताओं के अर्चन को पूजा कहते हैं। इसमें प्रायः पञ्चोपचारों का परिग्रहण है, यथा गन्ध, पुष्प, धूप, दीप तथा नैवेद्य। पुष्पों के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नियम हैं, जो प्रति देवी-देवता की पूजा में ग्राह्य अथवा अग्राह्य हैं। शिवजी पर केतकी पुष्प नहीं चढ़ाया जाता, दुर्गाजी की पूजा में दूर्वा तथा सूर्यपूजा में बिल्वपत्र निषिद्ध हैं। महाभिषेक में शिव तथा सूर्य को छोड़कर शङ्ख से ही जल चढ़ाया जाना चाहिए। वैसे साधारणतः सभी देवों की पूजा अथवा व्रतों की विधि के समान ही नियम हैं। दे० व्रतराज, ४७-४९।

पूतक्रतु—पवित्र यज्ञ करनेवाला एक धार्मिक प्रश्रयदाता, जो ऋग्वेद (८.६७,१७) में उल्लिखित है तथा स्पष्टतः अश्वमेध का कर्ता जान पड़ता है।

पूतना—राक्षसी, जिसका वर्णन भागवत पुराण में पाया जाता है। इसका वध कृष्ण ने अपने गोकुलवासकाल में किया था। महाभारत में इसका उल्लेख नहीं है।

पूतिका—सोमलता के स्थान पर व्यवहृत होने वाला एक पौधा। तैत्ति० सं० (२.५,३,५) में इसका उल्लेख दही जमाने के साधनरूप में हुआ है।

पूना—इसका प्राचीन नाम पुण्यपत्तन था। मध्ययुगीन मराठों और पेशवाओं के समय के अवशेष यहाँ पाये जाते हैं। मोटा और मूला नदियों के संगम के पास ही

देवमन्दिर हैं। नगर में भी श्रीराममन्दिर, लक्ष्मीनारायण-मन्दिर तथा कई जैन मन्दिर हैं। पूना के आस-पास भी कुछ दर्शनीय स्थान हैं, जैसे पार्वतीमन्दिर, आलंदी, देहू, खंडोवा आदि। काशी की भाँति पूना भी संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन का केन्द्र है। आधुनिक विश्वविद्यालय तथा प्राच्य विद्यासंस्थान आदि की स्थापना यहाँ हुई है।

पूर्ण—ब्रह्म का पर्याय। सृष्टि, विकास, विवर्तन तथा अनेक अन्य परिवर्तनों और विकृतियों के होते हुए भी ब्रह्म की पूर्णता नष्ट नहीं होती है। कौषीतकि उपनिषद् (४.८) में अजातशत्रु ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन है। उपनिषद्वाक्य है:

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

[यह सारा बाह्य जगत् पूर्ण है, यह अन्तःजगत् भी पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण विकसित हो रहा है। पूर्ण से पूर्ण निकाल लेने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है (यह विचित्र स्थिति है)]।

पूर्णत्व—वस्तुसत्ता को प्रकट करने वाला एक गुण। दे० 'पूर्ण'।

पूर्णमास—पूर्णचन्द्र दिवस अथवा पूर्णमासी पर्व के समय किया जाने वाला यज्ञ-उत्सव। यह पवित्र और आवश्यक कर्म था, इसकी स्मृति में दान, व्रत तथा अन्य पुण्य कार्य करने की प्रथा आज भी प्रचलित है।

पूर्णावतार—विष्णु के अवतार प्रायः दो प्रकार के होते हैं, एक अंशावतार एवं दूसरा पूर्णावतार। कलाओं के विकास अथवा भेद से अंशावतार और पूर्णावतार के स्वरूप तथा कार्यों में पार्थक्य होता है। अंशावतार में परमेश्वर की नवीं कला से पंद्रह कलाओं तक का विकास होता है। पूर्णावतार में सोलहवीं कला का भी पूर्ण विकास रहता है। आंशिक और पूर्ण दोनों ही अवतार यद्यपि सभी जीवों के कल्याणसम्पादन के लिए होते हैं किन्तु पूर्णावतार में परमात्मा की आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध सत्ताओं की पूर्णता रहती है। अंशावतार की उपकारिता एवं उपयोगिता केवल एकदेशिक होती है। उदाहरणस्वरूप परशुराम, बुद्ध आदि को समझ सकते हैं, जिनकी कार्यकारिता एकमुखी अथवा एकदेशिक रही। पूर्णावतार भगवान् श्री कृष्ण समझे जाते हैं, जिनके कार्य बहूद्देशीय अथवा सत्तात्रय से परिपूर्ण एवं सभी देश और काल में पूर्ण थे। अंशावतार रूप में अवतरित परशुराम ने उद्दण्ड क्षत्रियों का विनाश किया, किन्तु अराजकता समाप्त नहीं हो सकी, अतः तुरन्त ही रामावतार की आवश्यकता हुई। अतः ऐसा माना जा सकता है कि अंशावतारावतरित दैवी शक्तियाँ अपूर्ण रहती हैं। ये अवतार कुछ समय के लिए अवश्य ही हितकर हो सकते हैं, किन्तु सार्वकालिक और सार्वत्रिक रूप में नहीं।

इसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने भी अहिंसावाद का मण्डन कर यज्ञीय हिंसा का भी खण्डन किया और यहाँ तक कि ईश्वर और वेद का भी खण्डन कर तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार सभी जीवों का कल्याण किया। किन्तु यह सब केवल सामयिक और एकदेशिक होने के कारण आगे चलकर समाप्त हो गया और इसकी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप भगवान् शिव को शंकराचार्य के रूप में प्रकट होकर वेद और यज्ञ का मण्डन तथा बौद्धमत को परास्त करना पड़ा। इसके विपरीत पूर्णावतार रूप में अवतरित भगवान् कृष्ण ने संसार का जो कल्याण किया, उसकी प्रतिक्रिया के लिए किसी अन्य अवतार की आवश्यकता नहीं हुई, यही पूर्णावतार की विशेषता है। सबसे महान् विशेषता यह है कि अंशावतारों में कला के आंशिक विकास के परिणामस्वरूप एक ही भाव की प्रधानता रहती है और दूसरे भाव एवं ज्ञान, विचार आदि की गौणता हो जाया करती है। किन्तु पूर्णावतार में इस प्रकार की कोई विशेष बात नहीं होती, ये कर्म, उपासना, ज्ञान; इन तीनों की लीला से पूर्णतया युक्त ही रहते हैं।

पूर्णावतार की विशेषता यह है कि इसमें ऐश्वर्य एवं माधुर्य दोनों शक्तियों का पूर्ण रूप से समावेश रहता है। अंशावतार में दोनों शक्तियों की समानता नहीं होती, किसी में ऐश्वर्य का प्राधान्य तो किसी में माधुर्य का प्राधान्य रहता है।

पूर्ण अवतारों में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक पूर्णता होने के कारण उनकी वृत्तियाँ समान और पूर्ण सुन्दर होती हैं। इनमें आधिभौतिक पूर्णता होने के कारण ब्रह्मचर्य और सौन्दर्य की पूर्णता, आधिदैविक पूर्णता होने के कारण शक्ति और ऐश्वर्य की पूर्णता, आध्यात्मिक पूर्णता होने के कारण ज्ञान एवं ऐश्वर्य की पूर्णता का होना

स्वाभाविक है। इसी कारण भगवान् पूर्णब्रह्म श्री कृष्ण अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीनों सत्ताओं से परिपूर्ण थे।

पूर्णाहुति—यज्ञ समाप्त होने पर जो अन्तिम आहुति दी जाती है उसे पूर्णाहुति कहते हैं। इसमें घृतपूर्ण नारियल, फूल, ताम्बूल आदि स्रुव में रखकर विस्तृत मन्त्रपाठ के साथ अग्नि में अर्पित किये जाते हैं।

पूर्णिमाव्रत—(१) समस्त पूर्णिमाओं को धूप, दीप, पुष्प, फल, चन्दन, नैवेद्यादि से पार्वती उमा की पूजा और सम्मान करना चाहिए। गृहस्वामिनी केवल रात्रि में भोजन करे, यदि वह समस्त पूर्णिमाओं को व्रत न कर सके तो कम से कम कार्तिकी पूर्णिमा को अवश्य करे।

(२) श्रावणी पूर्णिमा को व्रतकर्ता उपवास रखे और इन्द्रिय निग्रह करके १०० बार प्राणायाम साधे। इससे वह समस्त पापों से मुक्त हो जायगा।

(३) कार्तिकी पूर्णिमा के दिन महिलाएँ अपने घर अथवा उद्यान की दीवार पर शिव तथा उमा की आकृतियाँ खींचें। तदनन्तर इन दोनों देवों की गन्धाक्षतपुष्पादि से पूजा करते हुए गन्ना अथवा गन्ने के रस से तैयार वस्तुएँ चढ़ाएँ। तिलरहित खाद्य पदार्थ नक्त विधि से खाये जायें। इस व्रत से सौभाग्य की प्राप्ति होती है।

पृथ्वीव्रत—इस व्रत में देवी के रूप में पृथ्वी का पूजन होता है।

पूर्त—'पूर्त' या 'पूर्ति' शब्द ऋग्वेद (६.१६,१८; ८.४६, २१) तथा अन्य संहिताओं में उपहार का बोधक है, जो पुरोहित को सेवाओं के बदले में दिया जाता था। आगे चलकर 'इष्ट' के साथ इसका प्रयोग होने लगा, तब इसका अर्थ 'लोकोपकारी धार्मिक कार्य—कूप, बाग, तालाब, सड़क, धर्मशाला, पांथशाला निर्माण' आदि हो गया। इष्ट (यज्ञ) अदृष्ट फल वाला होता है; पूर्त दृष्ट फल वाला। धार्मिक क्रिया के ये दो प्रधान अङ्ग हैं।

पूर्वपक्ष—तार्किक वाद में प्रतियोगी सिद्धान्त का यह पूर्व अथवा प्रथम प्रतिपादन है। उत्तर पक्ष इसका खण्डन करता है।

पूर्वमीमांसा—षड्दर्शनों में अन्तिम युग्म 'मीमांसा' के पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा ये दो भाग हैं। पूर्वमीमांसा यथार्थतः दर्शन नहीं है; वास्तव में यह वेदों की छानबीन है, जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है। यह वेद के प्राथमिक अंश अर्थात् यज्ञ भाग से सम्बन्ध रखता है, जबकि उत्तरमीमांसा उपनिषद् भाग से। उपनिषदों का वेद के अन्तिम अंश से सम्बन्ध होने के कारण उत्तरमीमांसा को वेदान्त भी कहते हैं तथा पूर्वमीमांसा को कर्ममीमांसा कहते हैं।

पूर्वमीमांसा में वेदोक्त धर्म के विषय की खोज तथा कर्म के विवेचन द्वारा हिन्दुओं के धार्मिक कर्तव्य की स्थापना हुई है। यह प्रणाली यज्ञकर्ताओं के सहायतार्थ स्थापित हुई थी तथा आज तक सनातनी हिन्दुओं में द्विजों की मार्गदर्शक है। यह वेदान्त, सांख्य तथा योग के समान संन्यासधर्म की शिक्षा नहीं देती।

पूर्वमीमांसाशास्त्र (सूत्र) के प्रणेता जैमिनि ऋषि हैं। इस पर शबर स्वामी का भाष्य है। कुमारिल भट्ट के 'तन्त्रवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' भी इसकी व्याख्या के रूप में प्रसिद्ध हैं। माधवाचार्य ने भी 'जैमिनीय न्यायमालाविस्तर' नामक एक ऐसा ही ग्रन्थ रचा है। मीमांसा शास्त्र में यज्ञों का विस्तृत विवेचन है, इससे उसे यज्ञविद्या भी कहते हैं।

मीमांसा का तात्त्विक सिद्धान्त विलक्षण है। इसकी गणना अनीश्वरवादी दर्शनों में होती है। आत्मा, ब्रह्म, जगत् आदि का विवेचन इसमें नहीं है। यह केवल वेद अथवा उसके शब्द की नित्यता का ही प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार मन्त्र ही देवता हैं, देवताओं की अलग कोई सत्ता नहीं। 'भाट्टदीपिका' में स्पष्ट कहा गया है कि फल के उद्देश्य से सब कर्म होते हैं। फल की प्राप्ति कर्म द्वारा ही होती है। कर्म और उनके प्रतिपादक वचनों (वेदमन्त्रों) के अतिरिक्त ऊपर से और किसी देवता या ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है। मीमांसकों और नैयायिकों में भारी मतभेद यह है कि मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं और नैयायिक अनित्य। सांख्य और मीमांसा दोनों अनीश्वरवादी हैं, पर वेद की प्रामाणिकता दोनों मानते हैं। भेद इतना ही है कि सांख्याचार्य प्रत्येक कल्प में वेद का नवीन प्रकाशन मानते हैं और मीमांसक उसे नित्य अर्थात् कल्पान्त में भी नष्ट न होने वाला कहते हैं।

इस शास्त्र का 'पूर्वमीमांसा' नाम इस अभिप्राय से नहीं रखा गया कि यह उत्तरमीमांसा से पूर्व बना। 'पूर्व' कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मकाण्ड मनुष्य का प्रथम धर्म है, ज्ञानकाण्ड का अधिकार उसके उपरान्त आता है।

पूर्वमीमांसासूत्र—इसकी रचना ई० पू० पाँचवीं-चौथी शताब्दी में जैमिनि ऋषि द्वारा मानी जाती है। यह बारह अध्यायों में विभक्त है। विविध विषय अधिकरणों में विभक्त हैं। सम्पूर्ण अधिकरणों की संख्या नौ सौ सात (९०७) है। प्रत्येक अधिकरण में कई सूत्र हैं। समस्त सूत्रों की संख्या दो हजार सात सौ पैंतालीस (२७४५) है। प्रत्येक अधिकरण में पाँच भाग होते हैं—(१) विषय (२) संशय (३) पूर्व पक्ष (४) उत्तर पक्ष (५) सिद्धान्त। ग्रन्थ के तात्पर्यनिर्णय के लिए (१) उपक्रम (२) उपसंहार (३) अभ्यास (४) अपूर्वता (नवीनता) (५) फल (उद्देश्य) (६) अर्थवाद (माहात्म्य) और (७) उपपत्ति (प्रमाणों द्वारा सिद्धि) ये सात बातें आवश्यक हैं।

पूर्वार्चिक—सामवेद की राणायनीय संहिता के पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक दो भाग हैं। पहले भाग में ग्राम्यगीत एवं अरण्यगीत हैं, दूसरे भाग में ऊहगीत तथा उह्यगीत संगृहीत हैं।

पूर्वाह्ण—दिन के प्रथम अर्ध भाग का बोधक शब्द। देवकार्य के लिए यह काल उपयुक्त माना गया है।

पृथिवी (पृथिवि, पृथ्वी)—यह शब्द भूमि एवं विस्तीर्ण के अर्थ में ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है। पश्चात् इसका व्यक्तीकरण एक देवी के रूप में हो गया। इसका उपर्युक्त अर्थों में प्रयोग अकेले तथा द्यौ (आकाश) के साथ 'द्यावा-पृथ्वी' के रूप में हुआ है। इस रूप में द्यावा-पृथिवी समस्त देवताओं के जनक-जननी हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पृथिवी समुद्र की मेखला धारण करती है। शतपथ ब्रा० में पृथिवी को 'सृष्टिज्येष्ठ' और 'प्रथमसृष्टि' कहा गया है। अथर्ववेद का पृथ्वीसूक्त प्रसिद्ध है, इसमें पृथिवी को माता और मनुष्यों को उसका पुत्र कहा गया है। पुराणों में पृथिवी का पूरा व्यक्तीकरण या दैवीकरणं हुआ है। पृथिवी प्रायः गोरूप में चित्रित है, वह ऋत और सत्य की साक्षी और मानवचरित्र की निरीक्षिका है।

प्रातःकाल उठते ही धार्मिक हिन्दू पृथिवी की निम्नाङ्कित मन्त्र से प्रार्थना करता है:

समुद्रवसने देवि! पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

पृथु (पृथि, पृथी)—आद्य व्यवस्थापक और शासक। इनका विशेष करके कृषि के अनुसन्धाता तथा दोनों विश्वों (मनुष्य तथा पशुओं) के स्वामी के रूप में वर्णन किया गया है। इनका एक विरुद 'वैन्य' अर्थात् वेन का पुत्र है। इन्हें प्रथम अभिषिक्त राजा कहा गया है। पुराणों में पृथु की कथा का विस्तार से वर्णन है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कथा कही गयी है। ब्रह्मा ने राज्य संचालन के लिए एक संहिता बनायी, परन्तु इसका उपयोग करने के लिए किसी पुरुष की आवश्यकता थी। विष्णु ने अपने तेज से विराज की उत्पत्ति की। किन्तु विराज और उसके छः वंशजों ने राज्य करने से इन्कार कर दिया। वेन अन्यायी राजा हुआ। क्रुद्ध ऋषियों ने राजसभा में ही उसका वध कर दिया एवं उसकी दाहिनी भुजा का मन्थन करके पृथु को उत्पन्न किया। पृथु ने न्यायपूर्वक प्रजा पालन की प्रतिज्ञा की। विष्णु, देवताओं, ऋषियों और दिक्पालों ने उनका राज्याभिषेक किया। संसार ने पृथु की नर देवताओं में गणना की और देवता के समान उनकी पूजा की। पृथु आदर्श राजा के प्रतीक माने जाते हैं।

पृथुश्रवा दौरेश्रवस—यह दूरेश्रवा का आत्मज था, जिसका उल्लेख पञ्चविंश ब्राह्मण (२५.१५.३) में नागयज्ञ के एक उद्गाता पुरोहित के रूप में हुआ है।

पृथ्वीचन्द—सिक्खों के एक उपगुरु। खालसा संस्था की उत्पत्ति से सिक्ख दो भागों में बँट गये: (१) सहिजधारी तथा (२) सिंह। सहिजधारियों की छः शाखाएँ हुईं, जिनमें १७३८ वि० (लगभग) में गुरु रामदास के पुत्र पृथ्वीचन्द ने 'मिन' नामक शाखा की नींव डाली।

पृदाकु—अथर्ववेद में उद्धृत एक सर्प। अश्वमेध के बलिपशुओं की तालिका में यह भी सम्मिलित है। अथर्ववेद (१.२७,१) के अनुसार इसका चर्म विशेष मूल्यवान् होता था।

पृश्नि—ऋग्वेद में वर्णित बादलरूपी गाय। मरुतों को रुद्र तथा पृश्नि (गौ) का पुत्र कहा गया है। वास्तव में विभिन्न रंगों के झंझावाती बादलों का यह नाम है।

पृषत्—अश्वमेध के बलिपशुओं की तालिका में उल्लिखित एक पशु। निरुक्त (२.२) में इसका अर्थ 'चितकबरा हरिण' बताया गया है।

पेरियतिरुवन्दादि—नम्म आलवार के ग्रन्थों में से, जो चारों वेदों के प्रतिनिधि हैं, 'पेरियतिरुवन्दादि' अथर्ववेद का प्रतिनिधित्व करता है।

पैङ्गराज—अश्वमेध यज्ञ के बलिपशुओं में से एक जन्तु। यह पक्षी अर्थ का बोधक है किन्तु पक्षी के प्रकार का ज्ञान इससे नहीं होता।

पैङ्गल उपनिषद्—एक परवर्त्ती उपनिषद्।

पैठण—प्राचीन प्रतिष्ठान नगर, जो औरंगाबाद (महाराष्ट्र) से बत्तीस मील दूर है। यह शालिवाहन की राजधानी और महाराष्ट्र का प्राचीन विद्याकेन्द्र भी था। यहीं संत एकनाथ का वासस्थान एवं उनके आराध्य भगवान् का मन्दिर है। कहते हैं कि यहीं गोदावरी के नागघाट पर संत ज्ञानेश्वर ने भैंसे के मुख से वेदमन्त्रों का उच्चारण कराया था। प्रसिद्ध संत कृष्णदयार्णव का घर भी यहीं है।

पैप्पलाद (शाखा)—अथर्ववेद की एक प्राचीन शाखा। इसके मन्त्रपाठ की हस्तलिखित प्रतिलिपि १९३० वि० में कश्मीर से प्राप्त हुई थी। शौनक शाखा से इसकी मन्त्रव्यवस्था में पर्याप्त अन्तर है। पैप्पलाद संहिता का आठवाँ तथा नवाँ भाग नया जान पड़ता है, जो न तो सांख्यायन में, न किसी और वैदिक संग्रह में उपलब्ध है। दे० 'पिप्पलाद'।

पोक्रिपक्रोदइ—तमिल शैवों के चौदह सिद्धान्तशास्त्रों में से एक 'पोक्रिपक्रोदइ' है। इसके रचयिता उमापति शिवाचार्य हैं, जो चौदह सिद्धान्तशास्त्रों में से आठ के रचयिता हैं।

पोंगलमास—तमिल प्रदेश का एक विशेष व्रतोत्सव। महाराष्ट्र के गणेशोत्सव, बङ्गाल के दुर्गोत्सव, उडीसा की रथयात्रा के समान द्रविड प्रदेश में 'पोंगलमास' पर्व का बड़े उत्साह से आयोजन किया जाता है। यह उत्तर भारत की मकर संक्रान्ति या 'खिचड़ी' का दूसरा रूप है।

पौरन्दरव्रत—पुरन्दर (इन्द्र) का व्रत पञ्चमी को इसका अनुष्ठान होता है। व्रती को तिल की गजक या तिलपट्टी से हाथी की आकृति बनाकर उसे सुवर्ण से अलंकृत करना चाहिए तथा उस पर अंकुश सहित महावत भी बिठाना चाहिए। हाथी इन्द्र का वाहन है। उसको रक्त वस्त्र से आच्छादित करके कर्णाभूषण तथा स्वच्छ धौत वस्त्रों सहित दान में दे देना चाहिए। इससे व्रती इन्द्रलोक में बहुत समय तक वास करता है।

पौल्कस—बृहदारण्यक उ० में इस शब्द का उल्लेख चाण्डाल एवं घृणित जाति के सदस्यों के लिए हुआ है। स्मृतियों के अनुसार पुल्कस निषाद अथवा शूद्र पिता तथा क्षत्रियकन्या का पुत्र है। इसकी गणना वर्णसंकर जातियों में की गयी है। किन्तु पौल्कस एक जाति हो सकती है। संभवतः यह वन्य जाति है, जो जंगली जन्तुओं को पकड़ने का काम कर अपनी जीविका चलाती थी।

पौष्करस—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में उल्लिखित एक आचार्य।

पौष्टिक—जीवन की पुष्टि के लिए किया हुआ धार्मिक कृत्य पौष्टिक कहलाता है। बृहत्संहिता में सांवत्सर (ज्योतिषी) की योग्यता तथा सामर्थ्य की परिगणना करते हुए बतलाया गया है कि उसे शान्तिक तथा पौष्टिक क्रियाओं में पारङ्गत होना चाहिए। दोनों कृत्यों में अन्तर यह है कि पौष्टिक कार्यों में होम, यज्ञ, यागादि कृत्य आते हैं जो दीर्घायु की प्राप्ति के लिए होते हैं; शान्तिक कृत्यों में होमादि का आयोजन दुष्ट ग्रहों के प्रभाव को दूर करने तथा असाधारण घटनाओं, जैसे पुच्छल तारे के उदय, भूकम्प अथवा उल्काओं के पतन से होने वाले अनिष्ट के निवारणार्थ किया जाता है। निर्णयामृत, ४८ तथा कृत्यकल्पतरु के नैत्यकालिक काण्ड, २५४ के अनुसार 'शान्ति' का तात्पर्य है धर्मशास्त्रानुसार भौतिक विपदाओं के निवारणार्थ किये गये शास्त्रानुमोदित धार्मिक कृत्य।

पौष्करसंहिता—पाञ्चरात्र साहित्य में १०८ संहिताओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें से पौष्कर, वाराह तथा ब्राह्म संहिताएँ सबसे प्राचीन हैं। किन्तु कुछ विद्वान् पद्मसंहिता को तथा कुछ लक्ष्मीसंहिता को प्राचीन मानते हैं।

पौष्यञ्जि—सामवेद की शाखापरम्परा में सुकर्मा के शिष्य पौष्यञ्जि माने जाते हैं। इनके हिरण्यनाभ और राजपुत्र कौशिक्य नाम के दो शिष्य थे। पौष्यञ्जि ने उन दोनों को पाँच-पाँच सौ सामगीतियाँ पढ़ायीं। हिरण्यनाभ के शिष्य प्राच्यसामग नाम से विख्यात हुए।

प्रकरणग्रन्थ--स्मृति साहित्य का एक व्यावहारिक प्रकार प्रकरण ग्रन्थ कहलाता है। इसकी रचना का उद्देश्य मीमांसा के सिद्धान्तों को स्मृतिग्रन्थों में वर्णित क्रियाओं पर लागू करना था। यह मुख्यतः मीमांसा का ही एक अङ्ग है। प्रकरणग्रन्थों में सबसे प्राचीन एवं मुख्य स्मृतिकौस्तुभ है। इसके रचयिता अनन्तदेव थे।

प्रकरणपञ्चिका—प्रभाकर के शिष्य शालिकनाथ (७०० ई०) द्वारा विरचित यह ग्रन्थ प्रभाकर की मीमांसाप्रणाली का अभिनव वर्णन प्रस्तुत करता है।

प्रकरिता—यजुर्वेद में उद्धृत पुरुषमेध का एक बलिजीव। इसका ठीक अर्थ अनिश्चित है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में सायण ने इसका अर्थ 'मित्रों में फूट उत्पन्न कर देने वाला' लगाया है, किन्तु मैकडॉनल तथा कीथ के मतानुसार इसका अर्थ 'छिड़कने वाला' अथवा 'छानने वाला' यन्त्र है, जिसका उपयोग यज्ञों में होता था।

प्रकाश—आचार्य वल्लभ के पुष्टिमार्गीय तीन संस्कृत ग्रन्थों में एक तत्त्वदीपनिबन्ध है, जो उनके सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ के साथ 'प्रकाश' नामक प्राञ्जल गद्य भाग एवं सत्रह संक्षिप्त रचनाएँ सम्मिलित हैं।

प्रकाशात्ममुनि—बारहवीं शताब्दी के मध्य में आचार्य रामानुज का आविर्भाव हुआ था और उन्होंने शाङ्कर मत का बड़े कठोर शब्दों में खण्डन किया। उस समय शाङ्कर मत को पुष्ट करने की चेष्टा प्रकाशात्ममुनि ने की थी। इन्होंने पद्मपादाचार्यकृत पञ्चपादिका पर पञ्चपादिका-विवरण नामक टीका की रचना की। अद्वैत जगत् में यह टीका बहुत मान्य है। बाद के आचार्यों ने प्रकाशात्ममुनि के वाक्य प्रमाण के रूप में उद्धृत किये हैं। परन्तु इन्होंने अपना परिचय कहीं नहीं दिया। ऐसा मालूम होता है कि ये दसवीं शताब्दी के बाद और तेरहवीं शताब्दी के पहले हुए थे। इनका अन्य नाम प्रकाशानुभव भी था और इनके गुरु का नाम अनन्यानुभव था, ऐसा इनके ग्रन्थ से पता चलता है।

प्रकाशात्मयति—दे० 'प्रकाशात्ममुनि'।

प्रकाशात्मा—एक प्रसिद्ध वृत्तिकार। इन्होंने श्वेताश्वतर एवं मैत्रायणीयोपनिषद् पर दार्शनिक वृत्तियाँ लिखी हैं।

प्रकाशानन्द—वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली ग्रन्थ के रचयिता। इनके गुरु आचार्य ज्ञानानन्द थे। अप्पय्य दीक्षित ने 'सिद्धान्तलेश' में इनके मत का उल्लेख किया है। ये विद्यारण्य के परवर्त्ती थे, क्योंकि वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में कहीं-कहीं इन्होंने 'पञ्चदशी' के पद्यों को उद्धृत किया है। अतः इनका जीवन काल पन्द्रहवीं शताब्दी होना चाहिए। इसके सिवा इनकी जीवन सम्बन्धी और कोई घटना नहीं कही जा सकती।

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली वेदान्त का सुप्रसिद्ध प्रमाण ग्रन्थ है। इसकी विवेचनशैली बहुत युक्तियुक्त और प्राञ्जल है। इसमें गद्य में विचार करके पद्य में सिद्धान्त-निरूपण किया गया है। इसके ऊपर अप्पय्य दीक्षित की 'सिद्धान्तदीपिका' नाम की एक वृत्ति है।

प्रकाशानुभव—दे० 'प्रकाशात्ममुनि'।

प्रकृति—सांख्य शास्त्र में चार प्रकार से पदार्थों का निरूपण किया गया है: (१) केवल प्रकृति (२) केवल विकृति, (३) प्रकृति-विकृति उभयरूप और (४) प्रकृति-विकृति दोनों से भिन्न। मूल प्रकृति केवल प्रकृति है, किसी की विकृति नहीं है। महत् से आरम्भ होनेवाले सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों हैं। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पाँच महाभूत और मन ये सोलह केवल विकृति हैं। पुरुष न तो प्रकृति है, न विकृति है।

महदादि सम्पूर्ण कार्यों का जो मूल है वह मूल प्रकृति है, उसके प्रधान, माया, अव्यक्त आदि नामान्तर हैं। प्रकृति का और कोई कारण नहीं है इसी लिए इसको मूल प्रकृति कहा जाता है।

प्रकृति और पुरुष दोनों को सांख्य में अनादि माना जाता है। इसी प्रकृति से सम्पूर्ण जगत् का विकास हुआ है। प्रकृति की 'सत्-ता' (सदा होना) कारण (मूल) है; इससे कार्य जगत् उद्भूत हुआ है। इस सिद्धान्त को 'सत्कार्यवाद' कहते हैं। एक ही मूल प्रकृति से विश्व के विविध पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसका कारण है प्रकृति में तीन गुणों—सत्त्व, रज, तम का होना। विविध अनुपातों में इन्हीं के सम्मिश्रण से विभिन्न वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। विकासप्रक्रिया उस समय प्रारम्भ होती है जब प्रकृति का पुरुष से सम्बन्ध होता है। किन्तु इस प्रक्रिया में ईश्वर का कोई भी हाथ नहीं है। पुरुष को प्रसन्न और मुग्ध करने के लिए प्रकृति अपना कार्य प्रारम्भ करती है। जब पुरुष प्राज्ञ होकर अपना स्वरूप पहचान लेता है तब प्रकृति संकुचित होकर अपनी लीला समेट लेती है।

प्रकृति-पुरुषव्रत—चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को यह प्रारम्भ होता है। इसमें उपवास का विधान है। पुरुषसूक्त से गन्धादि सहित अग्निदेव का पूजन करना चाहिए। अग्नि तथा सोम के रूप में पुरुष तथा प्रकृति पूजे जाने चाहिए। वे ही वासुदेव तथा लक्ष्मी भी हैं। श्रीसूक्त से लक्ष्मी का पूजन होना चाहिए। सुवर्ण, रजत तथा ताम्र का दान

करना चाहिए । व्रती को घी तथा दूध का ही आहार करना चाहिए । एक वर्ष पर्यन्त इसका अनुष्ठान होता है। इससे व्रती की सभी सांसारिक इच्छाएँ पूर्ण होती हैं तथा अन्त में वह मोक्ष मार्ग का अधिकारी होता है ।

प्रगाथ—ऋग्वेदीय अष्टम मण्डल की विशिष्ट छन्दोबद्ध रचना । ऐतरेय आरण्यक में यह नाम ऋग्वेद के उक्त मण्डल के रचनाकारों को दिया गया है । कारण यह है कि प्रयाथ छन्द उनको अत्यन्त प्रिय था ।

वस्तुतः प्रगाथ वैदिक छन्द का नाम है, जिसकी प्रथम पंक्ति में बृहती अथवा ककुप् और फिर सतोबृहती की मात्राएँ रखी जाती हैं ।

प्रजापति—वैदिक ग्रन्थों में वर्णित एक भावात्मक देवता, जो प्रजा अर्थात् सम्पूर्ण जीवधारियों के स्वामी हैं । ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव का हिन्दू धर्म में महत्त्वपूर्ण उच्च स्थान है । इन तीनों को मिलाकर त्रिमूर्ति कहते हैं । ब्रह्मा सृष्टि करने वाले, विष्णु पालन करने वाले तथा शिव (रुद्र) संहार करने वाले कहे जाते हैं । वास्तव में एक ही शक्ति के ये तीन रूप हैं । इनमें ब्रह्मा को प्रजापति, पितामह, हिरण्यगर्भ आदि नामों से वेदों तथा ब्राह्मणों में अभिहित किया गया है । इनका स्वरूप धार्मिक की अपेक्षा काल्पनिक अधिक है । इसी लिए ये जनता के धार्मिक विचारों को विशेष प्रभावित नहीं करते । यद्यपि प्रचलित धर्म में विष्णु तथा शिव के भक्तों की संख्या सर्वाधिक है, किन्तु तीनों देवों; ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव को समान पद प्राप्त है, जो त्रिमूर्ति के सिद्धान्त में लगभग पाँचवीं शताब्दी से ही मान्य हो चुका है । ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार प्रजापति की कल्पना में मतान्तर हैं; कभी वे सृष्टि के साथ उत्पन्न बताये गये हैं, कभी उन्हीं से सृष्टि का विकास कहा गया है । कभी उन्हें ब्रह्मा का सहायक देव बताया गया है । परवर्ती पौराणिक कथनों में भी यही (द्वितीय) विचार पाया जाता है । ब्रह्मा का उद्भव ब्रह्म से हुआ, जो प्रथम कारण है, तथा दूसरे मतानुसार ब्रह्मा तथा ब्रह्म एक ही हैं, जबकि ब्रह्मा को 'स्वयम्भू' या अज (अजन्मा) कहते हैं ।

सर्वसाधारण द्वारा यह मान्य विचार, जैसा मनु (१.५) में उद्धृत है, यह है कि स्वयम्भू की उत्पत्ति प्रारम्भिक अन्धकार से हुई, फिर उन्होंने ने जल की उत्पत्ति की तथा उसमें बीजारोपण किया । यह एक स्वर्ण-अण्ड बन गया, जिससे वे स्वयं ही ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ के रूप में उत्पन्न हुए । किन्तु दूसरे मतानुसार (ऋग्वेद, पुरुषसूक्त १०.८०) प्रारम्भ में पुरुष था तथा उसी से विश्व उत्पन्न हुआ । वह पुरुष देवता नारायण कहलाया, जो शतपथ ब्राह्मण में पुरुष के साथ उद्धृत है । इस प्रकार नारायण मनु के उपर्युक्त उद्धरण के ब्रह्मा के सदृश हैं । किन्तु साधारणतः नारायण तथा विष्णु एक माने जाते हैं ।

फिर भी सृष्टि एवं भाग्य की रचना ब्रह्मा द्वारा हुई, ऐसा विश्वास अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक चला आया है ।

प्रजापतिव्रत—नियमपूर्वक सन्तानोत्पत्ति ही प्रजापतिव्रत है । प्रश्नोपनिषद् (१.१३ तथा १५) में यह कथन है : 'दिवस ही प्राण है, रात्रि प्रजापति का भोजन है । जो लोग दिन में सहवास करते हैं, वे मानो प्राणों पर ही आक्रमण करते हैं और जो लोग रात में सहवास करते हैं, वे मानो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं । जो लोग प्रजापतिव्रत का आचरण करते हैं, वे (एक पुत्र तथा एक पुत्री के रूप में) सन्तानोत्पादन करते हैं ।'

प्रज्ञा—प्रकृष्ट ज्ञान या बुद्धि । अनुभूति अथवा अन्तर्दृष्टि से वास्तविक सत्ता—आत्मा अथवा परमात्मा के सम्बन्ध में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वास्तव में वही प्रज्ञा है ।

प्रज्ञान—प्रखर बुद्धि अथवा चेतना । दे० 'प्रज्ञा' ।

प्रणव—पवित्र घोष अथवा शब्द (प्र + णु स्तवने + अप्) । इसका प्रतीक रहस्यवादी पवित्र अक्षर 'ऊँ' है और इसका पूर्ण विस्तार 'ओ३म्' रूप में होता है । यह शब्द ब्रह्म का बोधक है; जिससे यह विश्व उत्पन्न होता है, जिसमें स्थित रहता है और जिसमें इसका लय हो जाता है । यह विश्व नाम-रूपात्मक है, उसमें जितने पदार्थ हैं इनकी अभिव्यक्ति वर्णों अथवा अक्षरों से होती है । जितने भी वर्ण हैं वे अ (कण्ठ्य स्वर) और म् (ओष्ठ्य व्यञ्जन) के बीच उच्चरित होते हैं । इस प्रकार 'ओम्' सम्पूर्ण विश्व की अभिव्यक्ति, स्थिति और प्रलय का द्योतक है । यह पवित्र और माङ्गलिक माना जाता है इसलिए कार्यारम्भ और कार्यान्त में यह उच्चारित अथवा अङ्कित होता है । वाजसनेयी संहिता, तैत्तिरीय संहिता, मुण्डकोपनिषद् तथा

रामतापनीय उपनिषद् में 'ओम्' के अर्थ और महत्त्व का विशद विवेचन पाया जाता है ।

प्रणव उपनिषद्—एक परवर्त्ती उपनिषद्, जिसमें प्रणव का निरूपण और माहात्म्य पाया जाता है ।

प्रणवदर्पण—तृतीय श्रीनिवास (अठारहवीं शती पूर्वार्ध में) द्वारा रचित यह ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत मत का समर्थन करता है ।

प्रणववाद—इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द अथवा नाद को ही ब्रह्म या अन्तिम तत्त्व मानकर उसकी उपासना की जाती है। किसी न किसी रूप में सभी योगसाधना के अभ्यासी शब्द की उपासना करते हैं। यह प्रणाली अति प्राचीन है। प्रणव के रूप में इसका मूल वेदमन्त्रों में वर्तमान है। इसका प्राचीन नाम 'स्फोटवाद' भी है। छठी शताब्दी के लगभग सिद्धयोगी भर्तृहरि ने प्रसिद्ध ग्रन्थ वाक्यपदीय में 'शब्दाद्वैतवाद' का प्रवर्त्तन किया था। नाथ सम्प्रदाय में भी शब्द की उपासना पर जोर दिया गया है। चरनदासी पन्थ में भी शब्द का प्राधान्य है। आधुनिक संतमार्गी राधास्वामी सत्संगी लोग शब्द की ही उपासना करते हैं।

प्रणवोपासना—दे० 'प्रणववाद'।

प्रणामी सम्प्रदाय—इसका शुद्ध नाम 'परिणामी सम्प्रदाय' है। इसके प्रवर्त्तक महात्मा प्राणनाथजी परिणामवादी वेदान्ती थे, जो विशेष कर पन्ना (मध्य प्रदेश) में रहते थे। महाराज छत्रसाल इन्हें अपना गुरु मानते थे। ये अपने को मुसलमानों का मेहँदी, ईसाइयों का मसीहा और हिन्दुओं का कल्कि अवतार कहते थे। इन्होंने मुसलमानों से शास्त्रार्थ भी किये थे। सर्वधर्म समन्वय इनका उद्देश्य था। इनका मत राधाकृष्णोपासक निम्बार्कीय वैष्णवों से मिलता-जुलता था। ये गोलोकवासी भगवान् कृष्ण के सख्यभाव की उपासना का उपदेश देते थे। प्राणनाथजी ने उपदेशात्मक ग्रन्थ और सिद्धान्तात्मक वाणियाँ फारसी मिश्रित सधुक्कड़ी भाषा में रची हैं। इनकी शिष्य परम्परा का भी अच्छा साहित्य है। इनके अनुगामी वैष्णव गुजरात, राजस्थान और बुन्देलखण्ड में अधिक पाये जाते हैं। दे० 'प्राणनाथ'।

प्रतिज्ञावादार्थ—श्रीवैष्णव अनन्ताचार्य द्वारा विरचित १६वीं शताब्दी का एक ग्रन्थ।

प्रतिप्रस्थाता—ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ विधियों, पुरोहितों की संख्या तथा प्रकार में बहुत विविधता दिखाई पड़ती है। विविध यज्ञों के लिए विविध नाम व गुणों वाले पुरोहित आवश्यक होते थे। जैसे चातुर्मास्य यज्ञ के लिए 'प्रतिप्रस्थाता' नामक पुरोहित की आवश्यकता होती थी। इसका शाब्दिक अर्थ है 'दुबारा स्थापना करने वाला।'

प्रतिष्ठा—(१) विशेष प्रकार से स्थापना। मन्दिरों में मूर्तियों के पधराने को प्रतिष्ठा कहा जाता है। देवप्रतिष्ठा के अन्तर्गत प्राणप्रतिष्ठा का भी अनुष्ठान होता है।

(२) अथर्ववेद (६.३२, ३; ८.८, २१; शांखा० आ० १२.१४) के एक परिच्छेद में इस शब्द का प्रयोग धर्म के किसी विशेष अर्थ में हुआ है। सम्भवतः इसका 'मन्दिर का गर्भगृह' अभिप्राय है। गृह अथवा वास अर्थ भी असंगत नहीं प्रतीत होता है।

प्रतिष्ठाविधि—देवप्रतिष्ठा के समय, पर्व और आपत्काल में नियमित रूप से मूर्तियों का अभिषेक करना मन्दिरों में आज भी प्रचलित है। इसके नियम अनेक पद्धतियों में लिखे गये हैं जिन्हें पूजाविधि अथवा प्रतिष्ठाविधि कहते हैं। अभिषेक विशेष कर दुग्ध अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार के जल, मधु, गव्य द्रव्य, दीमक के बिल की मिट्टी आदि से भी होता है।

प्रतिसर्ग—पुराणों के अन्तर्गत उनके पञ्च लक्षण, विषय या प्रकरण माने गये हैं : (१) सर्ग (सृष्टि) (२) प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय और फिर से सृष्टि (३) सृष्टि की आदि वंशावली (४) मन्वन्तर (५) वंशानुचरित। प्रतिसर्ग का शाब्दिक अर्थ है 'पुनः सृष्टि' अर्थात् विश्वसृष्टि के अन्तर्गत खण्डशः सृष्टि और प्रलय की परम्परा।

प्रतिहर्ता—सोलह ऋत्विजों की तालिका में उद्धृत उद्गाता का सहायक पुरोहित। इसका उल्लेख कई संहिताओं तथा ब्राह्मणों में हुआ है किन्तु ऋग्वेद में यह शब्द नहीं पाया जाता। इसका कारण यह है कि तब तक यज्ञों का अधिक विस्तार नहीं हुआ था।

प्रतिहारसूत्र—ऋक् मन्त्र को साम में परिणत करने की विधि के सम्बन्ध में सामवेद के बहुत से सूत्रग्रन्थ हैं। इनमें से एक का नाम पञ्चविधिसूत्र तथा दूसरे का प्रतिहारसूत्र है। ये ग्रन्थ कात्यायन द्वारा रचित कहलाते हैं।

प्रत्यक्ष—इन्द्रियों की सहायता से प्राप्त ज्ञान (प्रति + अक्ष = आँखों (इन्द्रियों) के सामने)। न्यायदर्शन में चार प्रमाणों के अन्तर्गत इसको प्रथम प्रमाण माना है। चार्वाक दर्शन में

प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण मानते हुए अनुमान, उपमान, शब्द आदि अन्य प्रमाणों का प्रत्याख्यान किया जाता है।

प्रत्यभिज्ञा—'तत्ता-इदन्तावगाही' ज्ञान; सुदीर्घकालिक प्रयास से बिछुड़े हुए को पहचानना। काश्मीर शैव मत में भक्त का मोक्ष शिव के साथ तादात्म्य अर्थात् प्रत्यभिज्ञा नामक स्थिति पर निर्भर है। यह उस अवस्था का नाम है जब भक्त को ध्यान में शक्ति के माध्यम से शिव की अनुभूति होती है। इस शब्द की व्युत्पत्ति है 'प्रति + अभि + ज्ञा', जिसका अर्थ है जानना, पहचानना, स्मरण करना। प्रत्यभिज्ञादर्शन के सन्दर्भ में इसका अर्थ है 'जीव और ब्रह्म के तादात्म्य का ज्ञान'।

प्रत्यभिज्ञाकारिका—दसवीं शताब्दी में उत्पलाचार्य द्वारा विरचित यह ग्रन्थ सोमानन्दरचित 'शिवदृष्टि' ग्रन्थ की शिक्षाओं की व्याख्या उपस्थित करता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन—एक दार्शनिक सम्प्रदाय। इसके अनुयायी काश्मीरक शैव होते हैं। इसके अनुसार महेश्वर ही जगत् के कारण और कार्य सभी कुछ हैं। यह संसार मात्र शिवमय है। महेश्वर ही ज्ञाता और ज्ञानस्वरूप हैं। घटपटादि का ज्ञान भी शिवस्वरूप है। इस दर्शन के अनुसार पूजा, पाठ, जप, तप आदि की कोई आवश्यकता नहीं, केवल इस प्रत्यभिज्ञा अथवा ज्ञान की आवश्यकता है कि जीव और ईश्वर एक हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति ही मुक्ति है। जीवात्मा-परमात्मा में जो भेद दीखता है वह भ्रम है। इस दर्शन के मानने वालों का विश्वास है कि जिस मनुष्य में ज्ञान और क्रियाशक्ति हैं, वही परमेश्वर है।

प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी—यह दसवीं शताब्दी के आचार्य अभिनव गुप्त द्वारा लिखित ग्रन्थ है। यह 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' पर लिखा गया भाष्य है।

प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी—आचार्य अभिनव गुप्त (१०वीं शताब्दी) द्वारा लिखित एक विस्तृत टीका, जो 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' के ऊपर है।

प्रदक्षिणा—किसी वस्तु को अपनी दाहिनी ओर रखकर घूमना। यह षोडशोपचार पूजन की एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक क्रिया है जो पवित्र वस्तुओं, मन्दिरों तथा पवित्र स्थानों के चारों ओर चलकर की जाती है। काशी में ऐसी ही प्रदक्षिणा के लिए पवित्र मार्ग है जिसमें यहाँ के सभी पुण्यस्थल घिरे हुए हैं और जिस पर यात्री चलकर काशी धाम की प्रदक्षिणा करते हैं। ऐसे ही प्रदक्षिणा-मार्ग मथुरा, अयोध्या, प्रयाग, चित्रकूट आदि में हैं।

प्रदक्षिणा की प्रथा अति प्राचीन है। वैदिक काल से ही इससे व्यक्तियों, देवमूर्तियों, पवित्र स्थानों को प्रभावित करने या सम्मानप्रदर्शन का कार्य समझा जाता रहा है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञमण्डप के चारों ओर साथ में जलता अङ्गार लेकर प्रदक्षिणा करने को कहा गया है। गृह्यसूत्रों में गृहनिर्माण के निश्चित किये गये स्थान के चारों ओर जल छिड़कते हुए एवं मन्त्र उच्चारण करते हुए तीन बार घूमने की विधि लिखी गयी है। मनुस्मृति में विवाह के समय वधू को अग्नि के चारों ओर तीन बार प्रदक्षिणा करने का विधान बतलाया गया है।

प्रदक्षिणा का प्राथमिक कारण तथा साधारण धार्मिक विचार सूर्य की दैनिक चाल से निर्गत हुआ है। जिस तरह सूर्य प्रातः पूर्व में निकलता है, दक्षिण के मार्ग से चलकर पश्चिम में अस्त हो जाता है, उसी प्रकार हिन्दू धार्मिक विचारकों ने तदनुरूप अपने धार्मिक कृत्य को बाधा विघ्न विहीन भाव से सम्पादनार्थ प्रदक्षिणा करने का विधान किया। शतपथ ब्राह्मण में प्रदक्षिणामन्त्रस्वरूप कहा भी गया है : "सूर्य के समान यह हमारा पवित्र कार्य पूर्ण हो।"

प्रदत्त—परम्परानुसार द्वापर युग के अन्त में आलवारों के तीन आचार्य हुए—पोइहे, प्रदत्त एवं पे। प्रदत्त का जन्म तिरुवन्नमलायी (श्रीअनन्तपुरम्) नामक स्थान में हुआ था।

प्रदिव—अथर्ववेद (१८.२.४८) में इसे तीसरा तथा सबसे ऊँचा स्वर्ग कहा गया है, जिसमें पितृगण रहते हैं। कौषीतकि ब्राह्मण (२०.१) में सात स्वर्गों की तालिका में इसे पञ्चम कहा गया है।

प्रदोषव्रत—त्रयोदशी को संध्याकाल के प्रथम प्रहर में इस व्रत का अनुष्ठान होता है। जो इस समय भगवान् शिव की प्रतिमा का दर्शन करता है तथा उनके चरणों में कुछ निवेदन करता है, वह समस्त संकटों और पापों से मुक्त

हो जाता है। इस व्रत में पूजा के अनन्तर एकभक्त (एक बार भोजन) किया जाता है।

प्रद्युम्न—महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में वर्णित चतुर्व्यूहसिद्धान्त के अन्तर्गत वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध तथा अनिरुद्ध से ब्रह्मा की उत्पत्ति मानी गयी है। सांख्यदर्शन में संकर्षण तथा अन्य तीन का निम्नाङ्कित तत्त्वों से तादात्म्य किया गया है :

वासुदेव :	मूलतत्त्व (पर ब्रह्म)
संकर्षण :	महत्तत्त्व प्रकृति
प्रद्युम्न :	मनस्
अनिरुद्ध :	अहङ्कार
ब्रह्मा :	भूतों के रचयिता।

वासुदेव कृष्ण का नाम है, संकर्षण अथवा बलराम उनके भाई हैं, प्रद्युम्न उनके पुत्र तथा अनिरुद्ध उनके पौत्रों में से एक हैं। इनका एक सामूहिक पुञ्ज बना लिया गया और उसका 'व्यूह' नाम रख दिया गया है। दे० 'व्यूह'।

प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानखण्डनटीका—यह माध्व वैष्णव जयतीर्थाचार्य द्वारा विरचित द्वैतवादी तार्किक ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल पन्द्रहवीं शताब्दी है।

प्रपञ्चमिथ्यावादखण्डन—मध्वाचार्य द्वारा विरचित एक द्वैतवादी वेदान्त ग्रन्थ।

प्रपञ्चसारतन्त्र—इस नाम के दो ग्रन्थ हैं, प्रथम शङ्कराचार्यकृत तथा दूसरा पद्मपादाचार्य कृत। ये अद्वैत वेदान्त के आधार पर उपासना का प्रतिपादन करते हैं।

प्रपत्तिमार्ग—भक्तिमार्ग का एक विकसित रूप, जिसका प्रादुर्भाव दक्षिण भारत में १३वीं शताब्दी में हुआ। देवता के प्रति क्रियात्मक प्रेम अथवा तल्लीनता को भक्ति कहते हैं, जबकि प्रपत्ति निष्क्रिय सम्पूर्ण आत्मसमर्पण है। दक्षिण भारत में रामानुजीय वैष्णव विचारधारा की दो शाखाएँ हैं : (१) बड़वकलइ (काञ्जीवरम् के उत्तर का भाग)। यह शाखा भक्ति को अधिक प्रश्रय देती है। (२) तेन्कलइ (काञ्जीवरम् के दक्षिण का भाग), यह शाखा प्रपत्ति पर अधिक बल देती है। बड़क्कलइ शाखा के सदस्यों की तुलना एक कपिशिशु से की जाती है जो अपनी माँ को पकड़े रहता है और वह उसे लेकर कूदती रहती है (वानरी धृति)। तेन्कलइ शाखा के सदस्यों की तुलना मार्जारशिशु से की जाती है, जो बिल्कुल निष्क्रिय रहता है और उसे माँ (बिल्ली) अपने मुख में दबाकर चलती है (वैंडाली धृति)। एतदर्थ इन्हें 'मर्कट-न्याय' तथा 'मार्जार-न्याय' के हास्यास्पद नामों से भी लोग पुकारते हैं। दोनों के प्रति उपास्य देव की दृष्टि क्रमशः 'सहेतुक कृपा' तथा 'निर्हेतुक कृपा' की रहती है। इसकी तुलना पाश्चात्य धार्मिक विचारकों की 'सहयोगी कृपा' तथा 'स्वतः अनिवार्य कृपा' के साथ की जा सकती है।

जो व्यक्ति प्रपत्तिमार्ग ग्रहण कर लेता है उसे 'प्रपन्न' अथवा शरणागत कहते हैं। प्रपत्ति मार्ग के उपदेशकों का कहना है कि ईश्वर पर निरन्तर एकतान ध्यान केन्द्रित करना (जिसकी भक्तिमार्ग में आवश्यकता है और जो मुक्ति का साधन है) मनुष्य की सर्वोपरि शान्त वृत्ति और विवेक की तीव्रता से ही सम्भव है, जिसमें अधिकांश मनुष्य खरे नहीं उतर सकते। इसलिए ईश्वर ने अपनी करुणाशीलता के कारण प्रपत्ति का मार्ग प्रकट किया है, जिसमें बिना किसी विशेष प्रयास के आत्मसमर्पण किया जा सकता है। इसमें किसी जाति, वर्ण अथवा वंश की अपेक्षा नहीं है। यद्यपि यह मार्ग दक्षिण भारत में प्रचलित रहा है, किन्तु इसका प्रचार परवर्त्ती काल में उत्तर भारतीय गङ्गा-यमुना के केन्द्रस्थल में भी हुआ तथा इसके अवलम्ब से अनेकों पवित्र आत्माओं को ईश्वर का दिव्य अनुग्रह प्राप्त हुआ (यथा चरणदासी संत)।

इस विचार का और भी विकसित रूप 'आचार्याभिमान' है। आचार्य मनुष्यों को ईश्वर का मार्ग प्रदर्शित करता है अतः पहले उसी के सम्मुख आत्मसमर्पण की आवश्यकता होती है।

प्रपन्न—जिस व्यक्ति ने प्रपत्तिमार्ग ग्रहण कर लिया हो, उसे प्रपन्न कहते हैं। दे० 'प्रपत्तिमार्ग'।

प्रपादान—चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को इस व्रत का प्रारम्भ होता है। सभी जनों को गर्मियों के चारों मासों में जल का दान (प्याऊ लगाना) करना चाहिए। इससे पितृगण सन्तुष्ट होते हैं।

प्रपोथ—पञ्चविंश ब्राह्मण (८.४.१) में उल्लिखित एक पौधे का नाम, जो सोम के स्थान पर व्यवहृत होता था।

प्रबोधचन्द्रोदय—संस्कृत साहित्य का आध्यात्मिक नाटक। नवीं-दसवीं शताब्दी तक वेदान्तीय ज्ञानचर्चा विद्वानों तक ही सीमित थी। ग्यारहवीं शताब्दी में नाटक,

काव्यादि के रूप में भी वेदान्ततत्त्व को समझाने का प्रयास आरम्भ हुआ। खजुराहो के चन्देल राजा कीर्तिवर्मा के सभापंडित कृष्णमिश्र ने ११२२ वि० के लगभग प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक की रचना की। इस ग्रन्थ में लेखक ने अपनी कवित्व शक्ति एवं दार्शनिक प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है।

'प्रबोधचन्द्रोदय' का शाब्दिक अर्थ है ज्ञान रूपी चन्द्रमा का उदय। वास्तव में यह संसार के प्रलोभन और अज्ञान से जीवात्मा की मुक्ति का रूपक है। नाटक के पात्र मन की सूक्ष्म भावनाएँ तथा वासनाएँ हैं। इसमें दिखाया गया है कि किस प्रकार विष्णुभक्ति विवेक को जागृत कर वेदान्त, श्रद्धा, विचार तथा अन्य सहकारी तत्त्वों की सहायता से भ्रान्ति, अज्ञान, राग, द्वेष, लोभ आदि को पराजित करती है। इसके पश्चात् प्रबोध अथवा ज्ञान का उदय होता है। फलस्वरूप जीवात्मा ब्रह्म के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव करता है, सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर संन्यास ग्रहण करता है। इसमें वैष्णवधर्म और अद्वैत वेदान्त का माहात्म्य दर्शाया गया है। पात्रों के कथनोपकथन में बौद्ध, जैन, चार्वाक, कर्ममीमांसा, सांख्य, योग, न्याय दर्शन, कापालिक आदि सम्प्रदायों का मनोरञ्जक चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

प्रबोधपरिशोधिनी—पद्मपादाचार्य कृत पञ्चपादिका के ऊपर प्रबोधपरिशोधिनी नाम की एक टीका नरसिंहस्वरूप के शिष्य आत्मस्वरूप ने लिखी है।

प्रबोधव्रत—कार्तिक शुक्ल पक्ष में विष्णु तथा अन्यान्य देवों का चार मास बाद शय्या त्याग कर उठना प्रबोध कहलाता है। विश्वास यह है कि वर्षा में देवगण शयन करते हैं, वर्षा समाप्त होने पर निद्रा से उठते हैं। यह अवसर उत्सव का होता है। इसके पश्चात् ही मानवों के यात्रा, विजय, व्यवसाय आदि शुभ कर्म प्रारम्भ होते हैं।

प्रबोधसुधाकर—शङ्कराचार्य रचित एक उपदेश ग्रन्थ।

प्रबोधिनी एकादशी—कार्तिक शुक्ल एकादशी। हरिशयिनी एकादशी (आषाढ़ शु० ११) को विष्णु शयन करते हैं और चार मास बाद कार्तिक में प्रबोधिनी एकादशी को उठते हैं, ऐसा पुराणों का विधान है। विष्णु द्वादश आदित्यों में एक हैं। सूर्य के मेघाच्छन्न और मेघमुक्त होने का यह रूपक है। प्रबोधिनी एकादशी का उत्सव बहुत ही प्रसिद्ध है। इस तिथि को व्रत रखा जाता है, उपवास का बड़ा महत्त्व है। सायंकाल लिपे-पुते स्थल में दीप जलाकर विष्णु भगवान् को जगाया जाता है और ईख, सिंघाड़े, झड़बेर आदि नये शाक-फल-कन्द भोग लगाये जाते हैं, तुलसीपूजन होता है। धार्मिक जन प्रायः इस उत्सव के बाद ही गन्ना, बेगन आदि का सेवन आरम्भ करते हैं।

प्रभाकर—पूर्वमीमांसा के इतिहास में सातवीं-आठवीं शताब्दी में दो प्रसिद्ध विद्वान् हुए : (१) कुमारिल, जिन्हें भट्ट कहते हैं और प्रभाकर, जिन्हें गुरु कहते हैं। दोनों ने शाबर भाष्य की व्याख्या की है, किन्तु भिन्न-भिन्न रूपों में, और इस भिन्नता के आधार पर दोनों के सम्प्रदाय 'गुरुमत' और 'भाट्ट मत' के नाम से प्रचलित हो गये। प्रभाकर का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बृहती' शबरभाष्य का तदनुरूप भाष्य है, वे शबर की आलोचना नहीं करते। कुमारिल का मत शबर से अनेक स्थलों पर भिन्न है। प्रभाकर का समय ठीक ज्ञात नहीं होता, किन्तु ये एवं कुमारिल आठवीं शती के प्रारम्भ में हुए थे।

प्रभाव्रत—मान्यता ऐसी है कि इस व्रत में कोई व्यक्ति अर्ध मास तक उपवास करके बाद में दो कपिला गौ दान करता है, वह सीधा ब्रह्मलोक को जाता है और देवों द्वारा सम्मानित होता है। दे० मत्स्यपुराण, १०१.५४।

प्रभास—पश्चिम भारत के सौराष्ट्र देश का प्रसिद्ध शैव तीर्थ, इसके साथ वैष्णव परम्पराएँ भी जुड़ गयी हैं। द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में प्रथम सोमनाथ प्रभासक्षेत्र में हैं। यह स्थान लकुलीश पाशुपत मत के शैवों का केन्द्रस्थल रहा है। इस स्थल के पास ही श्री कृष्ण को जरा नामक व्याध का वाण लगा था। यह शैव, वैष्णव दोनों का महातीर्थ है। इस स्थान को बेरावल, सोमनाथपाटण, प्रभास, प्रभासपट्टन (पत्तन) आदि कहते हैं।

प्रभासमाहात्म्य—स्कन्दपुराण से उद्धृत इस प्रभासक्षेत्र के माहात्म्य में यहाँ के देवदर्शन-पूजन की फलश्रुति है।

प्रभुलिङ्गलीला—प्रसिद्ध कन्नड़ भाषा के लिङ्गायत ग्रन्थ 'प्रभुलिङ्गलीला' का तमिल भाषा में शिवप्रकाश स्वामी ने १७वीं शताब्दी में पद्यानुवाद किया, जो सभी शैवों द्वारा समादृत है। यह पुराण कहलाता है तथा धार्मिक इतिहास के साथ-साथ भजन-पूजन के नियमों का भी इसमें सङ्कलन है। यह वसव के साथी अल्लाम प्रभु के जीवन पर विशेष कर आधारित है। इसके रचयिता चामरस और रचनाकाल १५१७ वि० है।

प्रमा—भ्रान्तिरहित यथार्थ ज्ञान की स्थिति अथवा चेतना को प्रमा कहते हैं। दे० 'प्रमाण'।

प्रमाज्ञान—वैशेषिक मतानुसार ज्ञान के दो भेद हैं—प्रमा और अप्रमा। यथार्थ ज्ञान प्रमा और अयथार्थ, भ्रान्त ज्ञान अप्रमा कहलाता है।

प्रमाण—न्याय दर्शन का प्रमुख विषय प्रमाण है। यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं। यथार्थ ज्ञान का जो साधन हो अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान हो सके, उसे प्रमाण कहा जाता है। गौतम ने यथार्थ ज्ञान के चार प्रमाण माने हैं-(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान, (३) उपमान और (४) शब्द। इनमें आत्मा, मन, इन्द्रिय और वस्तु का संयोग रूप जो प्रमाण है वही प्रत्यक्ष है। इस ज्ञान के आधार पर लिङ्ग अथवा हेतु से जो ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं। जैसे हमने बराबर देखा है कि जहाँ धुआँ रहता है वहाँ अग्नि रहती है। इसलिए धुआँ को देखकर अग्नि की उपस्थिति का अनुमान किया जाता है।

गौतम का तीसरा प्रमाण उपमान है। किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य से न जानी हुई वस्तु का ज्ञान जिस प्रमाण से होता है वही उपमान है। जैसे नील गाय गाय के समान होती है। चौथा प्रमाण है शब्द, जो आप्त वचन ही हो सकता है। न्याय दर्शन में ऊपर लिखे चार ही प्रमाण माने गये हैं। मीमांसक और वेदान्ती अर्थापत्ति, ऐतिह्य, सम्भव और अभाव ये चार और प्रमाण मानते हैं। नैयायिक इन्हें अपने चारों प्रमाणों के अन्तर्गत समझते हैं।

प्रमाणपद्धति—यह माध्व संप्रदाय के स्वामी जयतीर्थाचार्य (१५वीं शताब्दी) द्वारा विरचित एक ग्रन्थ है।

प्रमाणमाला—आनन्दबोध भट्टारकाचार्य (१२वीं शताब्दी) के तीन ग्रन्थ; न्यायमकरन्द, प्रमाणमाला एवं न्यायदीपावली प्रसिद्ध हैं। तीनों में उन्होंने अद्वैत मत का विवेचन किया है।

प्रमेय—गौतम के मतानुसार प्रमाण के विषय, अर्थात् जो प्रमाणित किया जाय उसको प्रमेय कहते हैं। न्यायदर्शन में प्रमेय वस्तु पदार्थ के अन्तर्गत है और उसके बारह भेद हैं—(१) आत्मा : सब वस्तुओं को देखने वाला, भोग करने वाला और अनुभव करने वाला। (२) शरीर : भोगों का आयतन या आधार। (३) इन्द्रियाँ : भोगों के साधन। (४) अर्थ : वस्तु, जिसका भोग होता है। (५) मन : भोग का माध्यम। (६) बुद्धि : अन्तःकरण की वह भीतरी इन्द्रिय जिसके द्वारा सब वस्तुओं का ज्ञान होता है। (७) प्रवृत्ति : वचन, मन और शरीर का व्यापार। (८) दोष : जिसके द्वारा अच्छे या बुरे कामों में प्रवृत्ति होतो है। (९) प्रेत्यभाव : पुनर्जन्म। (१०) फल : सुख-दुःख का संवेदन या अनुभव। (११) दुःख : पीड़ा, क्लेश। (१२) अपवर्ग : दुःख से अत्यन्त निवृत्ति अथवा मुक्ति।

इस सूची से यह न समझना चाहिए कि इन वस्तुओं के अतिरिक्त और प्रमाण के विषय या प्रमेय नहीं हो सकते। प्रमाण के द्वारा बहुत सी बातें सिद्ध की जाती हैं। पर गौतम ने अपने सूत्रों में उन्हीं बातों पर विचार किया है, जिनके ज्ञान से अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति हो सके।

प्रमेयरत्नार्णव—बालकृष्ण भट्ट द्वारा रचित यह ग्रन्थ वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय का है। इसका रचनाकाल १६५७ वि० के लगभग है।

प्रमेयरत्नावली—आचार्य बलदेव विद्याभूषण द्वारा रचित यह ग्रन्थ गौडीय वैष्णवों के मतानुसार लिखा गया है।

प्रमेयसागर—श्रीवैष्णव मतावलम्बी यज्ञमूर्ति कृत यह ग्रन्थ तमिल भाषा में है।

प्रयाग—गङ्गा-यमुना के संगम स्थल प्रयाग को पुराणों (मत्स्य १०९.१५; स्कन्द, काशी० ७.४५; पद्म ६.२३.२७-३५ तथा अन्य) में 'तीर्थराज' (तीर्थों का राजा) नाम से अभिहित किया गया है। इस संगम के सम्बन्ध में ऋग्वेद के खिल सूक्त (१०.७५) में कहा गया है कि जहाँ कृष्ण (काले) और श्वेत (स्वच्छ) जल वाली दो सरिताओं का संगम है वहाँ स्नान करने से मनुष्य स्वर्गारोहण करता है। पुराणोक्ति यह है कि प्रजापति (ब्रह्मा) ने आहुति की तीन वेदियाँ बनायी थीं—कुरुक्षेत्र, प्रयाग और गया। इनमें प्रयाग मध्यम वेदी है। माना जाता है कि यहाँ गङ्गा, यमुना और सरस्वती (पाताल से आने वाली) तीन सरिताओं का संगम हुआ है। पर सरस्वती का कोई बाह्य अस्तित्व दृष्टिगत नहीं होता। मत्स्य (१०४.१२), कूर्म (१.३६.२७) तथा अग्नि (१११.६-७) आदि पुराणों के अनुसार जो प्रयाग का दर्शन करके उसका नामोच्चारण करता है तथा वहाँ की मिट्टी का अपने शरीर पर आलेप करता है वह पापमुक्त हो जाता है। वहाँ स्नान करने वाला स्वर्ग को प्राप्त होता है तथा

देह त्याग करने वाला पुनः संसार में उत्पन्न नहीं होता। यह केशव को प्रिय (इष्ट) है। इसे त्रिवेणी कहते हैं।

प्रयाग शब्द की व्युत्पत्ति वनपर्व (८७.१८-१९) में यज् धातु से मानी गयी है। उसके अनुसार सर्वात्मा ब्रह्मा ने सर्वप्रथम यहाँ यजन किया था (आहुति दी थी) इसलिए इसका नाम प्रयाग पड़ गया। पुराणों में प्रयाग-मण्डल, प्रयाग और वेणी अथवा त्रिवेणी की विविध व्याख्याएँ की गयी हैं। मत्स्य तथा पद्मपुराण के अनुसार प्रयागमण्डल पाँच योजन की परिधि में विस्तृत है और उसमें प्रविष्ट होने पर एक-एक पद पर अश्वमेध यज्ञ का पुण्य मिलता है। प्रयाग की सीमा प्रतिष्ठान (झूँसी) से वासुकिसेतु तक तथा कंबल और अश्वतर नागों तक स्थित है। यह तीनों लोकों में प्रजापति की पुण्यस्थली के नाम से विख्यात है। पद्मपुराण (१.४३-२७) के अनुसार 'वेणी' क्षेत्र प्रयाग की सीमा में २० धनुष तक की दूरी में विस्तृत है। वहाँ प्रयाग, प्रतिष्ठान (झूँसी) तथा अलर्कपुर (अरैल) नाम के तीन कूप हैं। मत्स्य (११०.४) और अग्नि (१११.१२) पुराणों के अनुसार वहाँ तीन अग्निकुण्ड भी हैं जिनके मध्य से होकर गङ्गा बहती है। वनपर्व (८५.८१ और ८५) तथा मत्स्य० (१०४.१६-१७) में बताया गया है कि प्रयाग में नित्य स्नान को 'वेणी' अर्थात् दो नदियों (गङ्गा और यमुना) का संगम स्नान कहते हैं। वनपर्व (८५.७५) तथा अन्य पुराणों में गङ्गा और यमुना के मध्य की भूमि को पृथ्वी का जघन या कटिप्रदेश कहा गया है। इसका तात्पर्य है पृथ्वी का सबसे अधिक समृद्ध प्रदेश अथवा मध्य भाग।

गङ्गा, यमुना और सरस्वती के त्रिवेणीसंगम को 'ओंकार' नाम से अभिहित किया गया है। 'ओंकार' का 'ओम्' परब्रह्म परमेश्वर की ओर रहस्यात्मक संकेत करता है। यही सर्वसुखप्रदायिनी त्रिवेणी का भी सूचक है। ओंकार का अकार सरस्वती का प्रतीक, उकार यमुना का प्रतीक तथा मकार गङ्गा का प्रतीक है। तीनों क्रमशः प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा संकर्षण (हरि के व्यूह) को उद्भूत करने वाली हैं। इस प्रकार इन तीनों का संगम त्रिवेणी नाम से विख्यात है (त्रिस्थलीसेतु, पृष्ठ ८)।

नरसिंहपुराण (६५.१७) में विष्णु को प्रयाग में योगमूर्ति के रूप में स्थित बताया गया है। मत्स्यपुराण (१११.४-१०) के अनुसार रुद्र द्वारा एक कल्प के उपरान्त प्रलय करने पर भी प्रयाग नष्ट नहीं होता। उस समय प्रतिष्ठान के उत्तरी भाग में ब्रह्मा छद्म वेश में, विष्णु वेणीमाधव रूप में तथा शिव वटवृक्ष के रूप में आवास करते हैं और सभी देव, गंधर्व, सिद्ध तथा ऋषि पापशक्तियों से प्रयागमण्डल की रक्षा करते हैं। इसीलिए मत्स्यपुराण (१०.४.१८) में तीर्थयात्री को प्रयाग जाकर एक मास निवास करने तथा संयमपूर्वक देवताओं और पितरों की पूजा करके अभीष्ट फल प्राप्त करने का विधान है।

इसी प्रकार क्षौर कर्म (शिरोमुंडन) भी प्रयाग में सम्पन्न होने पर पापमुक्ति का हेतु माना गया है। बच्चों और विधवाओं के क्षौर कर्म का विधान तो है ही, यहाँ तक कि सधवा पत्नियों के क्षौर कर्म का भी विधान 'त्रिस्थलीसेतु' के अनुसार मिलता है। वहाँ बताया गया है कि सधवा स्त्रियों को अपने केशों की सुन्दर वेणी बनाकर, सभी प्रकार के केशविन्यास सम्बन्धी व्यंजनों से सजाकर पति की आज्ञा से (वेणी के अग्र भाग का) क्षौर कर्म कराना चाहिए। तत्पश्चात् कटी हुई वेणी को अंजली में लेकर उसके बराबर स्वर्ण या चाँदी की वेणी भी लेकर जुड़े हाथ से संगम स्थल पर बहा देना चाहिए और कहना चाहिए कि सभी पाप नष्ट हो जायँ और हमारा सौभाग्य उत्तरोत्तर वृद्धि पर रहे। नारी के लिए एक मात्र प्रयाग में ही क्षौर कर्म कराने का विधान है।

प्रयाग में आत्महत्या करने का सामान्य सिद्धान्त के अनुसार निषेध है। कुछ अपवादों के लिए ही इसको प्रोत्साहन दिया जाता है। ब्राह्मण के हत्यारे, सुरापान करने वाले, ब्राह्मण का धन चुराने वाले, असाध्य रोगी, शरीर की शुद्धि में असमर्थ, वृद्ध जो रोगी भी हो, रोग से मुक्त न हो सकता हो; ये सभी प्रयाग में आत्मघात कर सकते हैं। दे० आदिपुराण और अत्रिस्मृति। गृहस्थ जो संसार के जीवन से मुक्त होना चाहता हो वह भी त्रिवेणीसंगम पर जाकर वटवृक्ष के नीचे आत्मघात कर सकता है। पत्नी के लिए पति के साथ सहमरण या अनुमरण का विधान है, पर गर्भिणी के लिए यह विधान नहीं है। दे० नारदीय, पूर्वार्द्ध, ७.५२-५३। प्रयाग में आत्मघात करने वाले को पुराणों के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति होती है। कूर्म० (१.३६.१६-३९) के अनुसार योगी गङ्गा—यमुना के संगम पर आत्महत्या करके स्वर्ग प्राप्त

करता है और पुनः नरक नहीं देख सकता । प्रयाग में वैश्यों और शूद्रों के लिए आत्महत्या विवशता की स्थिति में यदा-कदा ही मान्य थी । किन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियों के द्वारा आत्म-अग्न्याहुति दिया जाना एक विशेष विधान के अनुसार उचित था । अतः जो ऐसा करना चाहें तो ग्रहण के दिन यह कार्य सम्पन्न करते थे, या किसी व्यक्ति को मूल्य देकर डूबने के लिए क्रय कर लेते थे । (अलबरूनी का भारत, भाग २, पृ० १७०) । सामान्य धारणा यह थी कि इस धार्मिक आत्मघात से मनुष्य जन्म और मरण के बन्धन से मुक्ति पा जाता है और उसे स्थायी अमरत्व (मोक्ष) अथवा निर्वाण की प्राप्ति होती है । इस धारणा का विस्तार यहाँ तक हुआ कि अहिंसावादी जैन धर्मावलम्बी भी इस धार्मिक आत्मघात को प्रोत्साहन देने लगे । कुछ पुराणों के अनुसार तीर्थयात्रा आरम्भ करके रास्ते में ही व्यक्ति यदि मृत्यु को प्राप्त हो और प्रयाग का नाम ले ले तो उसे बहुत पुण्यफल होता है । अपने घर में मरते समय भी यदि व्यक्ति प्रयाग का नाम स्मरण कर ले तो ब्रह्मलोक को पहुँच जाता है और वहाँ संन्यासियों, सिद्धों तथा मुनियों के बीच रहता है ।

प्रवचन—इसका अर्थ मौखिक शिक्षा है (शत० ब्रा० ११. ५.७.१) । धर्म में प्रवचन का बड़ा महत्त्व है । आचार्य अथवा गुरु के मुख से जो वचन निकलते हैं उनका सीधा प्रभाव श्रोता पर पड़ता है । अतः प्रायः सभी सम्प्रदायों में प्रवचन की प्रणाली प्रचलित है ।

प्रवर—इसका उपयुक्त अर्थ सूचना है, जिससे अग्नि को सम्बोधित कर यज्ञ के आरम्भ में उसे आवाहित करते थे । किन्तु अग्नि को पुरोहित के पितरों के नाम से आमन्त्रित करते थे, इसलिए प्रवर का तात्पर्य पितरों की संख्या हो गया । आगे चलकर एक वंश में प्रसिद्ध पितरों की जितनी संख्या होती थी वही उसका प्रवर माना जाता था । 'गोत्रप्रवरमञ्जरी' में इसका विस्तृत विवेचन है ।

प्रवर्तक—किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय को चलाने वाला । मानभाउ सम्प्रदाय में इस शब्द का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है । इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक दत्तात्रेय कहे जाते हैं, साथ ही उनका कहना है कि चार युगों में से प्रत्येक में एक-एक स्थापक अथवा प्रवर्त्तक होते आये हैं । इस प्रकार वे पाँच प्रवर्त्तक मानते हैं । पाँचों प्रवर्त्तकों को पञ्चकृष्ण भी कहते हैं । इनसे सम्बन्धित पाँच मन्त्र हैं और जब कोई इस सम्प्रदाय की दीक्षा लेता है तो उसे पाँचों मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता है ।

प्रव्रज्या—संन्यास आश्रम । इसका प्रयोग संन्यास या भिक्षु-धर्म ग्रहण करने की विधि के अर्थ में होता है । महाभारत-काल के पूर्व प्रव्रज्या-का मार्ग सभी वर्णों के लिए खुला था । उपनिषद् में जानश्रुति शूद्र को भी मोक्ष मार्ग का उपदेश किया गया है और युवा श्वेतकेतु को तत्त्व प्राप्ति का उपदेश मिला है । यद्यपि महाभारत काल में यह बात मानी जाती थी तथापि यथार्थ में लोग समझने लगे कि ब्राह्मण और विशेषतः चतुर्थाश्रमी ही मोक्ष मार्ग के पात्र हैं । महाभारत काल में प्रव्रज्या का मान बहुत बढ़ा हुआ जान पड़ता है । उन दिनों वैदिक धर्मियों की प्रव्रज्या बहुत कठिन थी । बौद्धों तथा जैनों ने उसको बहुत सस्ता कर डाला और बहुतों के लिए वह पेट भरने का साधन मात्र हो गयी ।

प्रलयतत्त्व—भूखण्ड या ब्रह्माण्ड का मिट जाना, नष्ट हो जाना । प्रलय चार प्रकार के होते हैं : नैमित्तिक, प्राकृतिक, आत्यन्तिक और नित्य । प्रथम प्रलय ब्रह्माजी का एक दिन समाप्त हो जाने पर रात्रि के प्रारम्भ काल में होता है, उसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं । द्वितीय प्राकृतिक प्रलय तब होता है जब ब्रह्माण्ड महाप्रकृति में विलीन हो जाता है । तृतीय आत्यन्तिक प्रलय योगीजन ज्ञान के द्वारा ब्रह्म में लीन हो जाने को कहते हैं । उत्पन्न पदार्थों का जो अहर्निश क्षय होता रहता है, उसे नित्य प्रलय के नाम से व्यवहृत करते हैं । इन चतुर्विध प्रलयों में से नैमित्तिक एवं प्राकृतिक महाप्रलय ब्रह्माण्डों से सम्बन्धित होते हैं तथा शेष दो प्रलय देहधारियों से सम्बन्धित हैं । नैमित्तिक प्रलय के सम्बन्ध में विष्णुपुराण का मत निम्नलिखित है :

ब्रह्मा की जाग्रदवस्था में उनकी प्राणशक्ति की प्रेरणा से ब्रह्माण्डचक्र प्रचलित रहता है, किन्तु उनकी निद्रावस्था में समस्त ब्रह्माण्ड निश्चेष्ट हो जाता है और उसकी स्थिति जल-भुनकर नष्ट हो जाती है । नैमित्तिक प्रलय को ब्राह्म प्रलय भी कहते हैं । उसमें ब्रह्माजी विष्णु के साथ योगनिद्रा में प्रसुप्त हो जाते हैं । इस समय प्रलय में भी रहने की शक्ति रखने वाले कुछ योगिगण जनलोक में अपने को जीवित रखते हुए ध्यानपरायण रहते हैं । ऐसे योगियों द्वारा चिन्त्यमान कमलयोनि ब्रह्मा ब्रह्मरात्रि को व्यतीत कर ब्राह्म दिवस के उदय में प्रबुद्ध हो जाते हैं

और पुनः समस्त ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं। इस प्रकार ब्रह्माजी के सौ वर्ष पूर्ण होने के अनन्तर ब्रह्मा भी परब्रह्म में लीन हो जाते हैं, उस समय प्राकृतिक महाप्रलय का उदय होता है।

इसी क्रम से ब्रह्माण्डप्रकृति अनादि काल से महाकाल के महान् चक्र में परिभ्रमणशील रहती आती है। इन प्रलयों का विस्तृत विवरण विष्णुपुराणस्थ प्रलयवर्णन में द्रष्टव्य है। अव्याकृत प्रकृति तथा उसके प्रेरक ईश्वर की विलीनता के प्रश्न को विष्णुपुराण सरल तरीके से स्पष्ट कर देता है :

प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी ।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि ।।

[व्यक्त एवं अव्यक्त प्रकृति और ईश्वर ये दोनों ही निर्गुण एवं निष्क्रिय ब्रह्मतत्त्व में विलीन हो जाते हैं।] यही आधिदैवी सृष्टिरूप महाप्रलय है।

जितने समय तक ब्रह्माण्डप्रकृति में सृष्टि-स्थिति-लीला का विस्तार प्रवर्तमान रहता है, ठीक उतने ही समय तक महाप्रलयगर्भ में भी ब्रह्माण्डसृष्टि पूर्ण रूप से विलीन रहती है। इस समय जीवों की अनन्त कर्मराशियाँ उस महाकाश के आश्रित रहती हैं।

प्रशस्तपाद—वैशेषिक दर्शन के प्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य। कणाद के सूत्रों के ऊपर सम्भवतः इन्हीं का पदार्थधर्मसंग्रह नामक ग्रन्थ भाष्य कहलाता है, यद्यपि इसे वैशेषिक सूत्रों का भाष्य मानना कठिन प्रतीत होता है। दूसरे भाष्यों की शैली के विपरीत यह (पदार्थधर्मसंग्रह) वैशेषिक सूत्रों के मुख्य विषयों पर स्वतन्त्र व्याख्या जैसा है। स्वयं प्रशस्तपाद इसे भाष्य न कहकर 'पदार्थधर्मसंग्रह' संज्ञा देते हैं।

इसमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय पदार्थों का वर्णन बिना किसी वाद-विवाद के प्रस्तुत किया गया है। कुछ सिद्धान्त जो न्यायवैशेषिक दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, यथा सृष्टि तथा प्रलय का सिद्धान्त, संख्या का सिद्धान्त, परमाणुओं के आणविक माप के स्थिर करने में अणुओं की संख्या का सिद्धान्त तथा पीलुपाक का सिद्धान्त आदि, सर्वप्रथम 'पदार्थधर्मसंग्रह' में ही उल्लिखित हुए हैं। ये सिद्धान्त कणाद के वैशेषिक सूत्रों में अनुपलब्ध हैं।

प्रशस्तपाद का समय ठीक-ठीक निश्चित करना कठिन है। अनुमानतः इनका समय पाँचवीं-छठी शताब्दी होना चाहिए।

प्रशास्ता—वैदिक यज्ञ के पुरोहितों में से एक का नाम। छोटे यज्ञों में उसका कोई कार्य नहीं होता, किन्तु पशुयज्ञ तथा सोमयज्ञ में उसका उपयोग होता है। सोमयज्ञ में वह मुख्य पुरोहित होता का सामगान में सहायक रहता है। ऋग्वेद (४.९,५; ६.७१,५; ९,९५, ५) में उसे उपवक्ता भी कहा गया है। यह नाम भी प्रशास्ता के सदृश अर्थ का द्योतक है तथा यह इसलिए रखा गया है कि उसके मुख्य कार्यों में से एक कार्य दूसरे पुरोहितों को प्रैष (निदेश) देना भी था। उसका अन्य नाम 'मैत्रावरुण' था, क्योंकि उसके द्वारा गायी जाने वाली अधिकांश स्तुतियाँ मित्र तथा वरुण के प्रति होती थीं।

प्रश्न—जिज्ञासा अथवा वादारम्भ का वचन। प्रश्न का 'निश्चय' अर्थ ऐतरेय ब्राह्मण (५.१४) में कथित है। यजुर्वेद (वा० सं० ३०.१०; तै० ब्रा० ३.४,६,१) में उद्धृत पुरुषमेध की बलितालिका में प्रश्नी, अभिप्रश्नी, प्रश्नविवाक् तीन नाम आये हैं। सम्भवतः ये न्याय-अभियोग के वादी-प्रतिवादी तथा न्यायाधीश हैं।

प्रश्नोपनिषद्—एक अथर्ववेदीय उपनिषद्। उपनिषदों का कलेवर अधिकतर गद्य में है, किन्तु इसका गद्य प्रारम्भिक उपनिषदों से भिन्न लौकिक संस्कृत के निकट है। इसकी श्रेणी में मैत्रायणीय तथा माण्डूक्य को रखा जा सकता है। इसमें ऋषि पिप्पलाद के छः ब्रह्मजिज्ञासु शिष्यों ने वेदान्त के छः मूल तत्त्वों पर प्रश्न किये हैं। इन्हीं छः प्रश्नों के समाधान रूप में यह प्रश्नोपनिषद् बनी है। प्रजापति से असत् और प्राण की उत्पत्ति, चिच्छक्तियों से प्राण की श्रेष्ठता, चिच्छक्तियों के लक्षण और विभाग, सुषुप्ति और तुरीयावस्था, ओंकार ध्याननिर्णय और षोडशेन्द्रियाँ; प्रश्नोपनिषद् के यही छः विषय हैं। शङ्कराचार्य, आनन्दतीर्थ, दामोदराचार्य, नरहरि, भट्टभास्कर, रङ्गरामानुज प्रभृति अनेकों आचार्यों ने इस पर भाष्य व टीकाएँ रची हैं।

प्रसाद—(१) प्रसन्नता अथवा कृपा, अर्थात् भक्त के ऊपर भगवान् की कृपा। कर्मसिद्धान्त के अनुसार सदसत्कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। किन्तु भक्तिमार्ग के अनुयायियों का विश्वास है कि भगवत्कृपा के द्वारा पूर्व कर्मों—पाप आदि का क्षय हो जाता है। प्रपत्ति के पश्चात् भक्त का पूरा दायित्व भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं।

वीरशैव मतावलम्बियों में जब बालक का जन्म होता है तो पिता अपने गुरु को आमन्त्रित करता है । गुरु आकर अष्टवर्गसमारोह की परिचालना उस शिशु को लिङ्गायत बनाने के लिए करता है । ये आठ वर्ग हैं—गुरु, लिङ्ग, विभूति, रुद्राक्ष, मन्त्र, जङ्गम, तीर्थ एवं प्रसाद, जो उसकी पाप से रक्षा करते हैं । शिव को प्राप्त करने के मार्ग में लिङ्गायतों को छः अवस्थाओं के मध्य जाना पड़ता है—भक्ति, महेश, प्रसाद, प्राणलिङ्ग, शरण तथा ऐक्य ।

(२) देवताओं को अर्पण किये गये नैवेद्य का नाम भी प्रसाद है, उसका कुछ अंश भक्तों में बाँटा जाता है ।

प्रसू—वैदिक ग्रन्थों के उल्लेखानुसार नयी घास या पौधे, जो यज्ञ में प्रयुक्त होते थे । साधारणतया अब यह जननी का पर्याय है ।

प्रसूति—स्वायंभुव मनु और शतरूपा की पुत्री । विष्णुपुराण के सातवें अध्याय में कथित है कि ब्रह्मा ने विश्वरचना के पश्चात् अपने समान ही अनेक मानसिक पुत्र उत्पन्न किये, जो प्रजापति कहलाये । इनकी संख्या तथा नाम पर सभी पुराण एकमत नहीं हैं । फिर उन्होंने स्वायम्भुव मनु को जीवों की रक्षा के लिए उत्पन्न किया । मनु की पुत्री प्रसूति का विवाह प्रजापति दक्ष के साथ हुआ जो अनेक देवात्माओं के पूर्वज बने ।

प्रस्तर—वैदिक ग्रन्थों के अनुसार यज्ञासन के लिए बिछायी हुई घास ।

प्रस्तोता—यज्ञ के उद्गाता पुरोहित का सहायक पुरोहित । यह साममन्त्रों का पूर्वगान करता था ।

प्रस्थानत्रय—वेदान्तियों की बोलचाल में उपनिषदों, भगवद्गीता तथा वेदान्तसूत्र को तत्त्वज्ञान के मूलभूत आधारग्रन्थ माना गया है । पश्चात् ये ही प्रस्थानत्रय कहे जाने लगे । इन्हें वेदान्त के तीन स्रोत भी कहते हैं । इनमें १२ उपनिषदें (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकि तथा श्वेताश्वतर) श्रुतिप्रस्थान कहलाती हैं । दूसरा प्रस्थान जिसे न्यायप्रस्थान कहते हैं, ब्रह्मसूत्र है । तीसरा प्रस्थान गीता स्मृतिप्रस्थान कहलाता है । शङ्कराचार्य ने गीता के लिए जहाँ-तहाँ 'स्मृति' शब्द का उल्लेख किया है ।

प्रस्थानत्रयी—दे० 'प्रस्थानत्रय' ।

प्रस्थानभेद—ईश्वर की प्राप्ति के विभिन्न मार्ग । इस नाम का मधुसूदन सरस्वती द्वारा रचित एक ग्रन्थ भी है । इसमें सब शास्त्रों का सामञ्जस्य करके उनका अद्वैत में समाहार दिखलाया गया है । इसकी रचना १६०७ वि० से पूर्व हुई थी ।

प्रह्लादकुण्ड—कहा जाता है कि पाताल से पृथ्वी का उद्धार करते हुए हिरण्याक्ष वध के पश्चात् वराह भगवान् यहाँ शिलारूप में स्थित हो गये । यहाँ गङ्गाजी में प्रह्लादकुण्ड है । यहाँ पर स्नान करना पुण्यकारक माना जाता है ।

प्राकृत—(१) प्रकृति = संस्कृत भाषा के आधार पर व्यवहृत, अथवा संस्कृत से अपभ्रंश रूप में निर्गत (हेमचन्द्र) । यह अपठित साधारण जनता की बोलचाल की भाषा थी । ग्रियर्सन ने प्राथमिक, माध्यमिक तथा तृतीय प्राकृत के रूप में इस भाषा के तीन चरण दिखाये हैं । प्राथमिक का उदाहरण वैदिक काल के बाद की भाषा, माध्यमिक का पालि तथा तृतीय का उदाहरण उत्तर भारत की प्रादेशिक अपभ्रंश भाषाएँ हैं ।

(२) इसका दूसरा अर्थ है प्रकृति से उत्पन्न अर्थात् संस्कारहीन व्यक्ति । इसका प्रयोग असभ्य, जंगली या गँवार मानव के लिए होता है ।

प्राचीनयोगीपुत्र—प्राचीनयोग नामक कुल की एक महिला के पुत्र, आचार्य, जो बृहदारण्यक उप० (२.६.२ काण्व) की प्रथम वंशतालिका (गुरुपरम्परा) में पाराशर्य के शिष्य कहे गये हैं । छान्दोग्य (५.१३,१) तथा तैत्तिरीय उप० (१.६,२) में एक 'प्राचीनयोग्य' ऋषि का उल्लेख मिलता है, यही पितृबोधक शब्द शतपथ ब्रा० (१०.६, १,५) तथा जैमिनीय उ० ब्रा० में भी मिलता है ।

प्राची सरस्वती—कुरुक्षेत्र का तीर्थस्थल, जहाँ पर सरस्वती नदी पश्चिम से पूर्वाभिमुख बहती थी । अब तो यहाँ एक जलाशय मात्र शेष है, आस-पास पुराने भग्नावशेष पड़े हुए हैं । सूनसान मन्दिर जीर्ण दशा में हैं । यात्री यहाँ पिण्डदान करते हैं ।

प्राच्य—मध्य देश की अपेक्षा पूर्व के निवासी । ये ऐत० ब्रा० (८.१४) में जातियों की तालिका में उद्धृत हैं । इनमें काशी, कोसल, विदेह तथा सम्भवतः मगध के निवासी सम्मिलित थे । शत० ब्रा० में प्राच्यों द्वारा अग्नि को शर्व के नाम से पुकारा गया है तथा उनकी समाधि बनाने की प्रथा को अस्वीकृत किया गया है ।

प्राच्यसामग—सामवेद की परम्परा में एक शाखा। हिरण्यनाभ के शिष्य 'प्राच्यसामग' नाम से विख्यात हुए।

प्राजापत्य—(१) प्रजापति से उत्पन्न, अथवा प्रजापति का कार्य। प्रजापति के लिए किये गये यज्ञ को भी प्राजापत्य कहते हैं।

(२) आठ प्रकार के विवाहों में से एक प्राजापत्य विवाह है। इसकी गणना चार प्रशस्त प्रकार के विवाहों में की जाती है। इसके अनुसार पति और पत्नी प्रजा अर्थात् सन्तान के उद्देश्य से विवाह करते हैं और इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं कि धर्म, अर्थ और काम में वे एक दूसरे का अतिक्रमण नहीं करेंगे। यह आधुनिक सिविल मैरेज' (सामाजिक अनुबन्धमूलक विवाह) से मिलता जुलता है।

धार्मिक विवाह में पति और पत्नी की समता नहीं किन्तु एकता स्थापित होती है। इसमें दो व्यक्तियों की समान स्वतन्त्रता नहीं किन्तु एक का दूसरे में पूर्ण विलय है। इसके लिए किसी अनुबन्ध की आवश्यकता नहीं होती। दे० विवाह'।

प्राजापत्यव्रत—इस व्रत में कृच्छ्र के उपरान्त एक गौ दान कर ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। व्रतकर्ता भगवान् शङ्कर के लोक को जाता है।

प्राण—सूक्ष्म जीवनवायु के पाँच प्रकारों—प्राण, अपान, यान, उदान तथा समान में से एक। आरण्यकों तथा उपनिषदों में यह विश्व की एकता का सर्वाधिक प्रयुक्त संकेत कहा गया है। पाँचों में से कभी दो (प्राण-अपान; या प्राण-व्यान; या प्राण-उदान) या अदल-बदलकर तीन अथवा चार साथ-साथ प्रयुक्त होते हैं। किन्तु जब ये सभी एक साथ प्रयुक्त होते हैं तब इनका वास्तविक अर्थ निश्चित नहीं होता। व्यापक रूप में 'प्राण' ज्ञानेन्द्रिय या चेतना को प्रकट करता है। प्राण शब्द कभी कभी केवल श्वास का साधारण अर्थ बोध कराता है, किन्तु इसका उचित अर्थ श्वास का आदान-विसर्जन है। प्राणायाम' क्रिया में यही भाव अभिप्रेत है।

प्राणतत्त्व—जिस आन्तरिक सूक्ष्म शक्ति द्वारा दृश्य जगत् में जीवात्मा का देह से सम्बन्ध होता है, उसे प्राण कहते हैं। यह प्राणशक्ति ही स्थूल प्राण, अपान, व्यान, समान एवं उदान नामक पञ्च वायु एवं उनके धनंजय, कृकल, कूर्म आदि रूप न होकर इन सबकी सञ्चालिका है।

एक ही प्राणशक्ति पाँच रूपों में विभक्त होकर प्राण, अपान, व्यान इत्यादि नामों से हृदय, नाभि, कण्ठादि स्थानों में स्थित पञ्च स्थूल वायुओं का संचालन करती है।

इस दृश्य संसार के समस्त पदार्थों के दो भेद किये जा सकते हैं, जिनमें प्रथम बाह्यांश एवं द्वितीय आन्तरांश है। इनमें आन्तरांश सूक्ष्मशक्ति प्राण है एवं बाह्यांश जड़ है। यह अंश बृहदारण्यकोपनिषद् में भी निर्दिष्ट है। इसी विषय को बृहदारण्यकभाष्य और भी स्पष्ट कर देता है। यथा—

कार्यात्मक जड़ पदार्थ नाम और रूप के द्वारा शरीरावस्था को प्राप्त करता है, किन्तु कारणभूत सूक्ष्म प्राण उसका धारक है। अतः यह कहा जा सकता है कि यह सूक्ष्म प्राणशक्ति ही एकत्रीभूत स्थूल शक्ति (शरीर) के अन्दर अवस्थित रहकर उसकी संचालिका है।

इस सूक्ष्म शक्ति प्राण के द्वारा ही पञ्चीकरण से पृथ्वी, जल, अग्नि आदि स्थूल पन्च महाभूतों की उत्पत्ति होती है। इसी सूक्ष्म प्राणशक्ति की महिमा से अणु-परमाणुओं के अन्दर आकर्षण-विकर्षण के द्वारा ब्रह्माण्ड की स्थिति-दशा में सूर्य और चन्द्रमा से लेकर समस्त ग्रह-उपग्रह आदि अपने अपने स्थानों पर स्थित रहते हैं। समस्त जड़ पदार्थ भी इसी के द्वारा कठिन, तरल अथवा वायवीय रूप में अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार अवस्थित रह सकते हैं। इस प्रकार इस समस्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि और स्थिति के मूल में सूक्ष्म प्राणशक्ति का ही साम्राज्य है।

प्राणशक्ति की उत्पत्ति परमात्मा की इच्छाशक्ति से ही मानी जाती है, जो समष्टि और व्यष्टि रूपों से व्यवहृत होती है। क्योंकि यह समस्त जगत् परमेश्वर के संकल्प मात्र से प्रसूत है अतः तदन्तर्वर्तिनी प्राणशक्ति भी परमेश्वर की इच्छा से उद्भूत है।

इसी प्रकार सूर्य-चन्द्र आदि के माध्यम से सृष्टि का विकास एवं ऋतु संचालन और उनका परिवर्तन आदि प्राणशक्ति द्वारा ही होता है।

सूर्य के साथ समष्टिभूत प्राण का सम्बन्ध होने पर ऋतुपरिवर्तन, सस्यसमृद्धि का विस्तार एवं संसार की रक्षा तथा प्रलयादि सभी कार्य समष्टि प्राण की शक्ति से ही सम्पन्न होते रहते हैं। प्राण की इस धराधारिणी शक्ति को छान्दोग्य उपनिषद् अधिक स्पष्ट कर देती है। यथा—जिस प्रकार रथचक्र की नाभि के ऊपर चक्रदण्ड (अरा) स्थित रहते हैं, उसी प्रकार प्राण के ऊपर समस्त

विश्व आधारित रहता है। प्राण का आदान-प्रदान प्राण द्वारा ही होता है। प्राण पितावत् जगत् का जनक, मातृवत् संसार का पोषक, भ्रातृवत् समानता का विधायक, भगिनीवत् स्नेह संचारक एवं आचार्यवत् नियमनकर्त्ता है।

जिस प्रकार एक सम्राट अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को विभिन्न ग्राम, नगर आदि स्थानों पर स्थापित कर उनके द्वारा उन-उन स्थानों का शासन कार्य कराता है, उसी प्रकार प्राण भी अपने अंश से उत्पन्न व्यष्टिभूत प्राणों को जीवशरीर के विभिन्न स्थानों पर प्रतिष्ठित कर शरीर के विविध कार्यों का संचालन कराता है।

इस प्रकार यह सब प्राणशक्ति की क्रियाकारिता का ही परिणाम है, जिसके ऊपर चराचर जगत् का विकास आधारित है।

प्राणतोषिणी तन्त्र—तान्त्रिक साहित्य के अन्तर्गत इस ग्रन्थ का संकलन समस्त शाक्त उपासना विधियों का संग्रह कर पं० रामतोष भट्टाचार्य ने १८२१ ई० में किया।

प्राणनाथ—परिणामी (प्रणामी) सम्प्रदाय (एक वैष्णव उपसम्प्रदाय) के प्रवर्तक महात्मा प्राणनाथ परिणामवादी वेदान्ती थे, विशेषत: ये पन्ना में रहते थे। महाराज छत्रसाल इन्हें अपना गुरु मानते थे। ये अपने को मुसलमानों का मेहँदी, ईसाइयों का मसीहा और हिन्दुओं का कल्कि अवतार कहते थे। सर्वधर्मसमन्वय इनका लक्ष्य था। इनका मत व्रज के निम्बार्कीय वैष्णवों से प्रभावित था। ये गोलोकवासी भगवान् कृष्ण के साथ सख्य भाव की उपासना करने की शिक्षा देते थे। इनके अनुयायी वैष्णव गुजरात, राजस्थान और बुन्देलखण्ड में अधिक पाये जाते हैं। दे० 'कुलज्जम साहब' तथा 'प्रणामी'।

प्राणलिङ्ग—लिङ्गायतों के छः आध्यात्मिक विकासों में चतुर्थ क्रम पर प्राणलिङ्ग है।

प्राणाग्निहोत्र उपनिषद्—परवर्ती उपनिषदों में से एक। इसका भाष्य १४वीं शताब्दी के अन्त में महात्मा शङ्करानन्द तथा नारायण ने लिखा।

प्राणायाम—प्राण (श्वास) का आयाम (नियन्त्रण)। मन को एकाग्र करने का यह मुख्य साधन माना जाता है। यौगिक प्रणाली में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अष्टाङ्गयोग (राजयोग) का यह चौथा अङ्ग है। हठयोग में प्राणायाम की प्रक्रिया का बड़ा विस्तार हुआ है। प्राणायाम के तीन प्रकार हैं: (१) पूरक (श्वास को भीतर ले जाकर फेफड़े को भरना) (२) कुम्भक (श्वास को भीतर देर तक रोकना) और (३) रेचक (श्वास को बाहर निकालना)। दे० 'योगदर्शन'।

प्रातःस्नान—प्रातःस्नान नित्य धार्मिक कृत्यों में आवश्यक माना गया है। मनुष्य को बड़े तड़के उठकर स्नान करना चाहिए। विष्णुधर्मोत्तर (६४.८) इस बात का निर्देश करता है कि प्रातःस्नान उस समय करना चाहिए जब उदीयमान सूर्य की अरुणिमा प्राची में छा जाये। स्नान का सामान्य मन्त्र है:

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
कावेरि नर्मदे सिन्धो जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

स्नान करते समय हिन्दू इस बात की भावना करता है कि भारत की समस्त नदियों के जल से वह पवित्र हो रहा है।

प्रातिशाख्य—वेदों के अनेक प्रकार के स्वरों के उच्चारण, पदों के क्रम और विच्छेद आदि का निर्णय शाखा के जिन विशेष-विशेष ग्रन्थों द्वारा होता है उन्हें प्रातिशाख्य कहते हैं। प्रातिशाख्यों में ही मूलतः शिक्षा और व्याकरण दोनों पाये जाते हैं।

प्राचीन काल में वेदों की सभी शाखाओं के प्रातिशाख्यों का प्रचलन था, परन्तु अब केवल ऋग्वेद की शाकल शाखा का शौनकरचित ऋक्प्रातिशाख्य, वाजसनेयी शाखा का कात्यायन रचित वाजसनेय-प्रातिशाख्य, सामवेदीय शाखा का पुष्प मुनिरचित सामप्रातिशाख्य और अथर्वप्रातिशाख्य की शौनकीय चतुरध्यायी उपलब्ध है। ऋक्प्रातिशाख्य में तीन काण्ड, छः पटल और एक सौ तीन कण्डिकाएँ हैं, इस प्रातिशाख्य का परिशिष्ट रूप 'उपलेखसूत्र' नाम का एक ग्रन्थ भी मिलता है। कात्यायन के वाजसनेय प्रातिशाख्य में आठ अध्याय हैं। पहले अध्याय में संज्ञा और परिभाषा हैं। दूसरे में स्वरप्रक्रिया है। तीसरे से पाँचवें अध्याय तक संस्कार हैं। छठे और सातवें अध्याय में क्रिया के उच्चारण भेद हैं और आठवें अध्याय में स्वाध्याय अर्थात् वेदपाठ के नियम दिये गये हैं। सामप्रातिशाख्य के रचयिता पुष्प मुनि हैं। इसमें दस प्रपाठक हैं। पहले दो प्रपाठकों में दशरात्र, संवत्सर एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त और क्षुद्र पर्वानुसार साम समूह की संज्ञाएँ संक्षेप से बतायी गयी हैं। तीसरे और चौथे प्रपाठक में साम में श्रुत, आर्हभाव और प्रकृत भा

के सम्बन्ध से विध्यात्मक उपदेश हैं। पाँचवें प्रपाठक में वृद्ध और अवृद्ध भाव की व्यवस्था है। छठे प्रपाठक में यह व्यवस्था है कि सामभक्ति समूह कहाँ गाया जाय और कहाँ न गाया जाय। सातवें और आठवें प्रपाठक में लोप, आगम और वर्णविकार आदि के सम्बन्ध में उपदेश हैं। नवें प्रपाठक में भाव कथन है और दसवें तथा आगे के प्रपाठकों में क्रुष्टाक्रुष्ट निर्णय और प्रस्ताव के लक्षणादि बताये गये हैं। अथर्वप्रातिशाख्य के अन्तर्गत शौनकीय चतुरध्यायिका है, जिसमें (१) ग्रन्थ का उद्देश्य, परिचय, और वृत्ति; (२) स्वर और व्यञ्जन का संयोग, उदात्तादि लक्षण, प्रगृह्य, अक्षर विन्यास, युक्त वर्ण, यम, अभिनिधान, नासिक्य, स्वरभक्ति, स्फोटन, कर्षण और वर्णक्रम; (३) संहिता प्रकरण; (४) क्रम निर्णय; (५) पद निर्णय और (६) स्वाध्याय की आवश्यकता के सम्बन्ध में उपदेश ये छः विषय बताये गये हैं।

प्रातिशाख्यों में से कुछ बहुत प्राचीन हैं तो कोई-कोई पाणिनीय सूत्रों के बाद के भी हैं। कई पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वाजसनेय प्रातिशाख्य के रचने वाले कात्यायन तथा पाणिनिसूत्रों के वार्तिककार कात्यायन दोनों एक ही व्यक्ति हैं। वार्तिकों में जिस तरह उन्होंने पाणिनि की समालोचना की है, उसी तरह प्रातिशाख्यों में भी की है। इसी से निश्चय होता है कि वाजसनेय प्रातिशाख्य पाणिनि के सूत्रों के बाद का है। प्रातिशाख्य में शिक्षा का विषय अधिक है और व्याकरण का विषय प्रासंगिक है। वास्तविक प्रातिशाख्य में व्याकरण के सम्पूर्ण लक्षणों का अभाव है, शिक्षा का विषय ही प्रातिशाख्यों की विशेषता है, यद्यपि वैज्ञानिक रीति से इस विषय के ऊपर शौनकीय शिक्षा में ही प्रतिपादन हुआ है।

प्राशिव्रत—जो व्यक्ति एकभक्त पद्धति से एक वर्ष पर्यन्त आहारादि करता है और भोजनसहित जलपूर्ण कलश दान करता है, वह एक कल्प तक शिवलोक में वास करता है।

प्रायश्चित्त—वैदिक ग्रन्थों में प्रायश्चित्ति और प्रायश्चित्त दोनों शब्द एक ही अर्थ में पाये जाते हैं। इनसे पापमोचन के लिए धार्मिक कृत्य अथवा तप करने का बोध होता है। परवर्त्ती साहित्य में 'प्रायश्चित्त' शब्द ही अधिक प्रचलित है। इसकी कई व्युत्पत्तियाँ बतायी गयी हैं। निबन्धकारों ने इसका व्युत्पत्तिगत अर्थ 'प्रायः (= तप), चित्त' (= दृढ संकल्प) अर्थात् तप करने का दृढ संकल्प किया है। याज्ञवल्क्यस्मृति (३.२०६) की बालम्भट्टी टीका में एक श्लोकार्द्ध उद्धृत है, जिसके अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रायः = पाप, चित्त = शुद्धि' अर्थात् पाप की शुद्धि की गयी है (प्रायः पापं विनिर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्)। पराशरमाधवीय (२.१.३) में एक स्मृति के आधार पर कहा गया है कि प्रायश्चित्त वह क्रिया है जिसके द्वारा अनुताप करने वाले पापी का चित्त मानसिक असन्तुलन से (प्रायशः) मुक्त किया जाता है। प्रायश्चित्त नैमित्तिकीय कृत्य है किन्तु इसमें पापमोचन की कामना कर्त्ता में होती है, जिससे यह काम्य भी कहा जा सकता है।

पाप ऐच्छिक और अनैच्छिक दो प्रकार के होते हैं, इसलिए धर्मशास्त्र में इस बात पर विचार किया गया है कि दोनों प्रकार के पापों में पायश्चित्त करना आवश्यक है या नहीं। एक मत है कि केवल अनैच्छिक पाप प्रायश्चित्त से दूर होते हैं और उन्हीं को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए; ऐच्छिक पापों का फल तो भोगना ही पड़ता है, उनका मोचन प्रायश्चित्त से नहीं होता (मनु ११.४५; याज्ञ० ३.२२६)। दूसरे मत के अनुसार दोनों प्रकार के पापों के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए; भले ही पारलौकिक फलभोग (नरकादि) मनुष्य को अपने दुष्कर्म के कारण भोगना पड़े। प्रायश्चित्त के द्वारा वह सामाजिक सम्पर्क के योग्य हो जाता है (गौतम १९.७.१)।

बहुत से ऐसे अपराध हैं जिनके लिए राजदण्ड और प्रायश्चित्त दोनों का विधान धर्मशास्त्रों में पाया जाता है। जैसे—हत्या, चोरी, सपिण्ड से योनिसम्बन्ध, धोखा आदि। इसका कारण यह है कि राजदण्ड से मनुष्य के शारीरिक कार्यों पर नियन्त्रण होता है, किन्तु उसकी मानसिक शुद्धि नहीं होती और वह सामाजिक सम्पर्क के योग्य नहीं बनता। अतः धर्मशास्त्र में प्रायश्चित्त भी आवश्यक बतलाया गया है। प्रायश्चित्त का विधान करते समय इस बात पर विचार किया गया है कि पाप अथवा अपराध कामतः (इच्छा से) किया गया है अथवा अनिच्छा से (अकामतः); प्रथम अपराध है अथवा पुनरावृत्त। साथ ही परिस्थिति, समय, स्थान, वर्ण, वय, शक्ति, विद्या, धन

आदि पर भी विचार किया गया है। यदि परिषद् द्वारा विहित प्रायश्चित्त की अवहेलना कोई व्यक्ति करता था तो उसे राज्य दण्ड देता था। अब धर्मशास्त्र, परिषद् और जाति सभी के प्रभाव उठते जा रहे हैं, कुछ धार्मिक परिवारों को छोड़कर प्रायश्चित्त कोई नहीं करता। प्रायश्चित्त के ऊपर धर्मशास्त्र का बहुत बड़ा साहित्य है। स्मृतियों के मोटे तौर पर तीन विभाग हैं : आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। इसके अतिरिक्त बहुत से निबन्ध ग्रन्थ और पद्धतियाँ भी प्रायश्चित्तों पर लिखी गयी हैं।

प्रावरणषष्ठी—यह शीतकाल में ओढ़ना दान करने की तिथि है। मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी को देवों, दीनों तथा ब्राह्मणों को शीत निवारण के लिए कुछ वस्तुएँ (कम्बलादि) दान में देनी चाहिए। दे० गदाधरपद्धति, कालसार भाग, ८४।

प्रावरणोत्सव—मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी को पुरुषोत्तम जगन्नाथ भगवान् की बारह यात्राओं में से एक यात्रा होती है।

प्रियमेध—ऋग्वेद के प्रियमेधसूक्त (६.४५) में यह एक ऋषि का नाम है, जहाँ उनके परिवार प्रियमेधसः का अनेकों बार उल्लेख हुआ है।

प्रियादास—महाप्रभु चैतन्य द्वारा प्रचारित गौडीय सम्प्रदाय के अनुयायी एक महात्मा। नाभाजी कृत 'भक्तमाल' नामक संतों के ऐतिहासिक ग्रन्थ के ये सुप्रसिद्ध भाष्यकार हैं। इसमें इन्होंने व्रजभाषा की प्रांजल शैली में कवित्तमयी रचना की है। इनका समय १८वीं शती है। भक्तसमाज में भक्तमाल और उसकी प्रियादासी व्याख्या वेदवाक्य मानी जाती है।

प्रीतिव्रत—एक वैष्णव व्रत। इससे भगवान् विष्णु में रति और उनके लोक की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति आषाढ़ मास से चार मास तक बिना तेल के स्नान करता है और इसके पश्चात् व्यंजन सहित सुस्वादु खाद्य पदार्थ दान में अर्पित करता है, वह विष्णुलोक को जाता है।

प्रेत—वैदिक साहित्य में प्रेत (देह से निर्गत) का मृत व्यक्ति अर्थ (शत० ब्रा० १०.५.२.१३) होता है। परवर्ती साहित्य में इसका अर्थ प्रेतात्मा (भूत-प्रेत) होता है, जो अशरीरी होते हुए भी घूमता रहता है और जीवधारियों को कष्ट देता है।

प्रेतचतुर्दशी—कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को रात्रि में इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। यदि संयोग से उस दिन मंगलवार तथा चित्रा नक्षत्र हो तो महान् पुण्य उपलब्ध होगा। शिव इसके देवता हैं। चतुर्दशी को उपवास करके शिवपूजनोपरान्त भक्तों को उपहारादि देकर भोजन कराया जाय; इस दिन गंगास्नान से मनुष्य पापमुक्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त अपामार्ग की टहनी लेकर सिर पर फेरनी चाहिए तथा बाद में यम के नाम (कुल १४) लेकर तर्पण करना चाहिए। इसी दिन नदीतट पर, ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के मन्दिरों में, स्वगृह में, चौरस्तों पर दीपमालिका प्रज्वलित की जाय। इस कृत्य को करने वाला अपने परिवार की २१ पीढ़ियों सहित शिवलोक प्राप्त करता है। इसी तिथि को परिवार के उन सदस्यों के लिए लुकाटियाँ जलायी जायँ जो शस्त्राघात से मरे हों और अन्यों के लिए अमावस्या के दिन। व्रतकर्ता इस दिन प्रेतोपाख्यान श्रवण करता है (उन पाँच प्रेतों की कथा जो एक ब्राह्मण को जंगल में मिले थे। 'संवत्सरप्रदीप' में इसका निर्देश है। दे० वर्षकृत्यकौमुदी, ४६१–४६७, यह भीष्म ने युधिष्ठिर को सुनायी थी) जिसको सुनने तथा आचरण करने से मनुष्य प्रेतयोनि (अशरीरी योनि) को घटा सकता है तथा प्रेतत्व से मुक्त भी हो सकता है। व्रती उन चौदह वनस्पतियों को ग्रहण करे जो 'कृत्यचिन्तामणि' की भूमिका (पृ० १८) में निर्दिष्ट हैं। दे० राजमार्त्तण्ड, १३३८–१३४५। तिथितत्त्व, पृ० १२४ तथा रघुनन्दन के कृत्यतत्त्व में वे १४ वनस्पति परिगणित हैं। कदाचित् इसका प्रेतचतुर्दशी नाम इसलिए पड़ा है कि इस दिन 'प्रेतोपाख्यान' सुनना सुनाना चाहिए।

प्रेमरस—यह वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गीय साहित्य से सम्बन्धित, १६वीं शताब्दी के मध्य कृष्णदास द्वारा व्रजभाषा में रचा हुआ एक ग्रन्थ है। इसमें प्रेमरसरूपा भक्ति का विवेचन और वर्णन है।

प्रेमविलास—गौडीय वैष्णव साहित्य-सम्बन्धी १७वीं शताब्दी का ग्रन्थ। इसके रचयिता नित्यानन्ददास हैं। यह ग्रन्थ चैतन्य सम्प्रदाय का इतिहास प्रस्तुत करता है।

प्रेमानन्द—स्वामीनारायणीय साहित्य में अनेकों कविताएँ गुजराती भाषा में 'प्रेमानन्द' द्वारा रचित प्राप्त हैं।

प्रैयमेध—प्रियमेध के वंशज। यह उन पुरोहितों का पैतृक नाम है, जिन्होंने त्र्यात्रेय उद्गम के लिए यज्ञ किया था।

इसका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण (८.२२) में है। यजुर्वेद संहिता में इन्हें सभी यज्ञविद्याओं के ज्ञाता कहा गया है। तीन प्रैयमेधसों का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण (२.१९) में हुआ है। गोपथ ब्राह्मण (१.३.१५) में इन्हें भारद्वाज कहा गया है।

प्रोद्गीत आगम—प्रोद्गीत का नाम उद्गीत भी है। यह रौद्रिक आगमों में से एक है।

प्रौढिवाद—किसी मान्यता को अस्वाभाविक रूप से, बलपूर्वक स्थापित करना। यथा अद्वैत वेदान्तियों का अन्तिम वाद अजातवाद प्रौढिवाद कहा जा सकता है, क्योंकि यह सब प्रकार की उत्पत्ति को, चाहे वह विवर्त के रूप में कही जाय, चाहे दृष्टिसृष्टि या अवच्छेद अथवा प्रतिबिम्ब के रूप में, अस्वीकार करता है और कहता है कि जो जैसा है वह वैसा ही है और सब विश्व ब्रह्म है। ब्रह्म अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन शब्दों द्वारा हो ही नहीं सकता; क्योंकि हमारे पास जो भाषा है, वह द्वैत की ही है, अर्थात् जो कुछ हम कहते हैं वह भेद के आधार पर ही।

प्लक्ष प्रास्रवण—एक तीर्थस्थान का नाम, जो सरस्वती के उद्गम स्थान से चवालीस दिन की यात्रा पर था। इसका उल्लेख पञ्चविंश ब्राह्मण (२५.१०.१६.२२), कात्यायनश्रौतसूत्र (२४.६.७), लाट्यायनश्रौतसूत्र (१०. १७, ११,१४) तथा जैमिनीय-उपनिषद् ब्रा० (४.२६.१२) में हुआ है। ऋग्वेदीय आश्व० श्रौ० सू०, १२.६; शाङ्खा० श्रौ० सू०, १३.१९,२४ में इस क्षेत्र को 'प्लक्ष-प्रस्रवण' कहा गया है, जिसका अर्थ सरस्वती का उद्गम स्थान है न कि इसके अन्तर्धान होने का स्थान।

फ

फ—व्यञ्जन वर्णों के पञ्चम वर्ग का द्वितीय अक्षर। कामधेनुतन्त्र में इसका तत्त्व निम्नांकित है :

फकारं शृणु चार्वङ्गि रक्तविद्युल्लतोपमम्।
चतुर्वर्गप्रदं वर्णं पञ्चदेवमयं सदा ॥
पञ्चप्राणमयं वर्णं सदा त्रिगुण संयुदम्।
आत्मादितत्त्व संयुक्तं त्रिबिन्दु सहितं सदा ॥

तन्त्रशास्त्र मे इसके निम्नांकित नाम हैं :

फः सखी दुर्गिणी धूम्रा वामपार्श्वो जनार्दनः।
जया पादः शिखा रौद्रो फेत्कारः शाखिनी प्रियः ॥
उमा विहङ्गमः कालः कुब्जिनी प्रिय पावकौ।
प्रलयाग्निर्नीलपादोऽक्षरः पशुपतिः शशी ॥
फूत्कारो यामिनी व्यक्ता पावनो मोहवर्द्धनः।
निष्फला वागहङ्कारः प्रयागो ग्रामणीः फलम् ॥

फट्—तान्त्रिक मन्त्रों का एक सहायक शब्द। इसका स्वयं कुछ अर्थ नहीं होता, यह अव्यय है और मन्त्रों के अन्त में आघात या घात क्रिया के बोधनार्थ जोड़ा जाता है। यह अस्त्रबीज है। 'बीजवर्णाभिधान' में कहा गया है : 'फडत्वं शस्त्रमायुधम्।' अर्थात् फट् शस्त्र अथवा आयुध के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अभिचार कर्म में 'स्वाहा' के स्थान में इसका प्रयोग होता है। वाजसनेयी संहिता (७.३) में इसका उल्लेख हुआ है :

'देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरि प्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फट्।' 'वेददीप' में महीधर ने इसका भाष्य इस प्रकार किया है :

"असौ द्वेष्यो हतो निहतः सन् फट् विशीर्णो भवतु। 'ञिफला विशरणे' अस्य क्विबन्तस्यैतद् रूपम्। फलतीति फट्, डलयोरैक्यम्। स्वाहाकारस्थाने फडित्यभिचारे प्रयुज्यते।"

फलतृतीया—शुक्ल पक्ष की तृतीया को इस व्रत का आरम्भ होता है। एक वर्ष पर्यन्त यह चलता है। देवी दुर्गा इसकी देवता हैं। यह व्रत अधिकांशतः महिलाओं के लिए विहित है। इसमें फलों के दान का विधान है परन्तु व्रती स्वयं फलों का परित्याग कर नक्त पद्धति से आहार करता है तथा प्रायः गेहूँ के बने खाद्य तथा चने, मूँग आदि की दालें ग्रहण करता है। परिणामस्वरूप उसे कभी भी सम्पत्ति अथवा धान्यादि का अभाव तथा दुर्भाग्य नहीं देखना पड़ता।

फलत्यागव्रत—यह व्रत मार्गशीर्ष शुक्ल तृतीया, अष्टमी, द्वादशी अथवा चतुर्दशी को आरम्भ होता है, एक वर्ष पर्यन्त चलता है। इसके शिव देवता हैं। एक वर्ष तक व्रती को समस्त फलों के सेवन का निषेध है। वह केवल १८ धान्य ग्रहण कर सकता है। उसे भगवान् शंकर, नन्दीगण तथा धर्मराज की सुवर्ण प्रतिमाएँ बनवाकर १६ प्रकार के फलों की आकृति के साथ स्थापित करना चाहिए। फलों में कूष्माण्ड, आम्र, बदर, कदली, उनसे कुछ छोटे आमलक, उदुम्बर, बदरी तथा अन्य फलों (जैसे

इमली) की त्रिधातु की आकृतियाँ बनवाकर धान्य के ढेर पर रखनी चाहिए। दो कलशों को जल से परिपूर्ण करके वस्त्र से आच्छादित किया जाय। वर्ष के अन्त में पूजा तथा व्रत के उपरान्त उपर्युक्त समस्त वस्तुएँ तथा एक गौ किसी सपत्नीक ब्राह्मण को दान में दे दी जायँ। यदि उपर्युक्त वस्तुओं को देने में व्रती असमर्थ हो तो केवल धातु के फलों, कलश तथा शिव एवं धर्मराज की प्रतिमाएँ ही दान में दे दे। इस आयोजन से व्रती रुद्रलोक में सहस्रों युगों तक निवास करता है।

फलव्रत—(१) आषाढ़ से चार मास तक विशाल फलों के उपभोग का त्याग (जैसे कटहल, कूष्माण्ड) तथा कार्तिक मास में उन्हीं फलों को सोने के बनवाकर एक जोड़ा गौ के साथ दान करना, इसको फलव्रत कहते हैं। इसके सूर्य देवता हैं। इसके आचरण से सूर्यलोक में सम्मान मिलता है। (२) कालनिर्णय, १४० तथा ब्रह्मपुराण के अनुसार भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदा को व्रती को मौन व्रत धारण करते हुए तीन प्रकार के (प्रत्येक प्रकार के फलों में १६, १६) पके हुए फल लेकर उन्हें देवार्पण करके किसी ब्राह्मण को दे देना चाहिए।

फलषष्ठीव्रत—मार्गशीर्ष शुक्ल पञ्चमी को नियमों का पालन, षष्ठी को एक सुवर्णकमल तथा एक सुवर्णफल बनवाना चाहिए। मध्याह्न काल में दोनों को किसी मृत्पात्र या ताम्रपात्र में रखना चाहिए। उस दिन उपवास रखते हुए फूल, फल, गन्ध, अक्षत आदि से उनका पूजन करना चाहिए। सप्तमी को पूर्व वस्तुएँ निम्नोक्त शब्द बोलते हुए दान कर देनी चाहिए 'सूर्यः मां प्रसीदतु'। व्रती को अगले कृष्ण पक्ष की पञ्चमी तक एक फल त्याग देना चाहिए। यह आचरण एक वर्ष तक हो, प्रत्येक मास में सप्तमी के दिन सूर्य के बारह नामों में से किसी एक नाम का जप किया जाय। इन आचरणों से व्रती समस्त पापों से मुक्त होकर सूर्यलोक में सम्मानित होता है।

फलसङ्क्रान्तिव्रत—सङ्क्रान्ति के दिन स्नानोपरान्त पुष्पादि से सूर्य का पूजन करना चाहिए। बाद में शर्करा से परिपूर्ण पात्र आठ फलों के सहित किसी को दान करना चाहिए। तदुपरान्त किसी कलश पर सूर्य की प्रतिमा रखकर पुष्पादि से उसका पूजन करना चाहिए।

फलसप्तमी—(१) भाद्र शुक्ल सप्तमी को उपवास रखते हुए सूर्य का पूजन, अष्टमी को प्रातः सूर्यपूजन तथा ब्राह्मणों को खजूर, नारिकेल तथा मातुलुङ्ग फलों का दान किया जाय तथा ये शब्द बोले जायँ : 'सूर्यः प्रसीदतु'। व्रती अष्टमी को एक फल खाये तथा इन शब्दों का उच्चारण करे : 'सर्वाः कामनाः परिपूर्णा भवन्तु'। मन के सन्तोषार्थ वह और फल खा सकता है। एक वर्ष इस कृत्य का आचरण करना चाहिए। व्रती इससे पुत्र-पौत्र प्राप्त करता है।

(२) भाद्र शुक्ल चतुर्थी, पञ्चमी तथा षष्ठी को क्रमशः अयाचित, एकभक्त तथा उपवास पद्धति से आहार करे। गन्धाक्षत, पुष्पादि से सूर्य का पूजन तथा सूर्यप्रतिमा जिस वेदी पर रखी जाय उसके सम्मुख रात्रि को शयन करे। सप्तमी के दिन पूजनोपरान्त फलों का नैवेद्य अर्पण किया जाय, ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय, तदनन्तर स्वयं भोजन करना चाहिए। यदि फलों का नैवेद्य अर्पण करने की क्षमता न हो तो गेहूँ या चावल के आटे में घी, गुड़, जायफल का छिलका तथा नागकेसर मिलाकर, नैवेद्य बनाकर अर्पित किया जाय। यह क्रम एक वर्ष तक चलना चाहिए। व्रत के अन्त में सामर्थ्य हो तो सोने के फल, गौ, वस्त्र, ताम्रपात्र का दान किया जाय। व्रती निर्धन हो तो ब्राह्मणों को फल तथा तिल के चूर्ण का भोजन करा दे। इससे व्रती समस्त पापों, कठिनाइयों तथा दारिद्र्य से दूर होकर सूर्यलोक को प्राप्त करता है।

(३) मार्गशीर्ष शुक्ल पञ्चमी को नियमों का पालन किया जाय, षष्ठी को उपवास, एक सुवर्णकमल, एक फल तथा शर्करा दान में दी जाय। दान के समय 'सूर्यः मां प्रसीदतु' मंत्रोच्चारण किया जाय। सप्तमी के दिन ब्राह्मणों को दुग्ध सहित भोजन कराया जाय। उस दिन से आने वाली कृष्ण पक्ष की पञ्चमी तक व्रती को कोई एक फल छोड़ देना चाहिए। सूर्य नारायण के भिन्न-भिन्न नाम लेकर उनका पूजन साल भर चलाना चाहिए। वर्ष के अन्त में सपत्नीक ब्राह्मण को वस्त्र, कलश, शर्करा, सुवर्ण का कमल तथा फलादि देकर सम्मान करना चाहिए। इससे व्रती समस्त पापों से मुक्त होकर सूर्यलोक जाता है।

फलाहारहरिप्रियव्रत—विष्णुधर्मोत्तर (३.१४९.१-१०) के अनुसार यह चतुर्मूर्तिव्रत है। वसन्त में विषुव दिवस से तीन दिन के लिए उपवास प्रारम्भ कर वासुदेव भगवान् की पूजा करनी चाहिए। तीन मास तक यह

पूजा प्रतिदिन चलती है । तदनन्तर तीन मास तक केवल फलाहार करना चाहिए । इसके पश्चात् शरद् में विषुव के तीन मास तक उपवास करना चाहिए । इसमें प्रद्युम्न के पूजन का विधान है । इस समय यावक का आहार करना चाहिए। वर्ष के अन्त में ब्राह्मणों को दान देना चाहिए । इससे मनुष्य विष्णुलोक प्राप्त करता है ।

फल्गुतीर्थ (सोमतीर्थ)—कुरुक्षेत्रमण्डल का पवित्र तीर्थ । यहाँ फलों का प्राचीन वन था, जो कुरुक्षेत्र के सात पवित्र वनों में गिना जाता था । यहाँ पर पितृपक्ष में तथा सोमवती अमावस्या के दिन बहुत बड़ा मेला लगता है । कहा जाता है कि यहाँ श्राद्ध, तर्पण तथा पिण्डदान करने से गया के समान ही फल होता है ।

फाल्गुनमासकृत्य—यह स्मरण रखना चाहिए कि समस्त वार्षिक महोत्सव दक्षिण भारत के विशाल तथा छोटे-छोटे मन्दिरों में प्रायः फाल्गुन मास में ही आयोजित होते हैं । कुछ छोटी-छोटी बातों का यहाँ और उल्लेख किया जाता है । फाल्गुन शुक्ल अष्टमी को लक्ष्मीजी तथा सीताजी की पूजा होती है । यदि फाल्गुनी पूर्णिमा को फाल्गुनी नक्षत्र हो तो व्रती को पलंग तथा बिछाने योग्य सुन्दर वस्त्र दान में देने चाहिए । इससे सुभार्या की प्राप्ति होती है जो अपने साथ सौभाग्य लिये चली आती है । कश्यप तथा अदिति से अर्यमा की तथा अत्रि और अनसूया से चन्द्रमा की उत्पत्ति फाल्गुनी पूर्णिमा को हुई थी । अतएव इन देवों की चन्द्रोदय के समय पूजा करनी चाहिए । पूजन में गीत, वाद्य, नृत्यादि का समावेश होना चाहिए । फाल्गुनी पूर्णिमा को ही दक्षिण भारत में 'उत्तिर' नामक मन्दिरोत्सव का भी आयोजन किया जाता है ।

फाल्गुनश्रवणद्वादशी—फाल्गुन में यदि द्वादशी को श्रवण नक्षत्र हो तो उस दिन उपवास करके भगवान् हरि का पूजन करना चाहिए । दे० नीलमत पुराण, पृ० ५२ ।

फुल्लसूत्र—सामवेद का एक श्रौतसूत्र । यह गोभिल की रचना कहा जाता है । इस ग्रन्थ के पहले चार प्रपाठकों में नाना प्रकार के पारिभाषिक और व्याकरण द्वारा गठित ऐसे शब्द आये हैं जिनका मर्म समझना कठिन है । इनकी टीका भी नहीं मिलती । किन्तु शेष अंश पर एक विशद भाष्य अजातशत्रु का लिखा हुआ है । ऋक् मन्त्ररूपी कलिका किस प्रकार सामरूप पुष्प में परिणत हुई, इस ग्रन्थ में यह बताया गया है । दाक्षिणात्यों में प्रसिद्धि है कि यह वररुचि की रचना है । इसके शेषांश में श्लोक दिये हुए हैं, दामोदर के पुत्र रामकृष्ण की लिखी इस पर एक वृत्ति भी है ।

फेत्कारीतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' के चौसठ तन्त्रों की तालिका में द्वितीय क्रम पर 'फेत्कारीतन्त्र' है ।

ब

ब—व्यञ्जन वर्णों के पंचम वर्ग का तीसरा अक्षर । कामधेनुतन्त्र में इसका माहात्म्य इस प्रकार है :

बकारं शृणु चार्व्वङ्गि चतुर्वर्गप्रदायकम् ।
शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पञ्चदेवमयं सदा ॥
पञ्चप्राणात्मकं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा ॥

तन्त्रशास्त्र में इसके बहुत से नाम दिये हुए हैं :

वो वनी भूधरो मार्गी चर्चरी लोचनप्रियः ।
प्रचेताः कलसः पक्षी स्थलगण्डः कपर्दिनी ॥
पृष्ठवंशो भयामातुः शिखिवाहो युगन्धरः ।
सुखबिन्दुर्बलो चण्डा योद्धा त्रिलोचनप्रियः ॥
सुरभिर्म्मुखविष्णुश्च संहारो वसुधाधिपः ।
षष्ठापुरं चपेटा च मोदको गगनं प्रति ॥
पूर्वाषाढामध्यलिङ्गी शनिः कुम्भतृतीयकौ ॥

बक दाल्भ्य—दल्भ का वंशज । छान्दोग्य उपनिषद् में यह एक आचार्य का नाम है (१. २, १३, १२,१) । अ० सं० के अनुसार (३०.२) वह धृतराष्ट्र के साथ यज्ञ सम्बन्धी विवाद करते हुए वर्णित हैं ।

बकपञ्चक—कार्तिक शुक्ल एकादशी (विष्णुप्रबोधिनी) से पूर्णिमा तक के पाँच दिन 'बकपञ्चक' नाम से कहे जाते हैं । ऐसा माना जाता है कि इन दिनों बगुले भी मत्स्य का आहार नहीं करते । अतएव मनुष्य को कम-से-कम इन दिनों मांस भक्षण कदापि नहीं करना चाहिए ।

बकसर–(१) बिहार प्रदेश के शाहाबाद जिले में स्थित प्रसिद्ध तीर्थस्थल । प्राचीन काल में यह स्थान सिद्धाश्रम कहा जाता था । महर्षि विश्वामित्र का आश्रम यहीं था, जहाँ राम-लक्ष्मण ने मारीच, सुबाहु आदि को मारकर ऋषि के यज्ञ की रक्षा की थी । आज भी गङ्गा के तट पर पुराने चरित्रवन का कुछ थोड़ा अवशेष बचा हुआ है, जो महर्षि विश्वामित्र का यज्ञस्थल है । बकसर में सङ्गमेश्वर, सोमेश्वर, चित्ररथेश्वर, रामेश्वर, सिद्धनाथ और गौरी-

शङ्कर नामक प्राचीन मन्दिर हैं, बकसर की पञ्चक्रोशी परिक्रमा में सभी तीर्थ आ जाते हैं ।

(२) उन्नाव जिले में एक दूसरा बकसर शिवराजपुर से तीन मील पूर्व पड़ता है । यहाँ वाणीश्वर महादेव का मन्दिर है । कहा जाता है कि दुर्गासप्तशती में जिन राजा सुरथ तथा समाधि नामक वैश्य के तप का वर्णन है उनकी तपःस्थली यहीं है । गङ्गादशहरा तथा कार्तिकी पूर्णिमा को यहाँ पर मेला लगता है ।

बकुलामावस्या—एक पितृव्रत । पौष मास की अमावस्या को पितर लोगों को बकुलपुष्पों तथा शर्करायुक्त खीर से तृप्त करना चाहिए ।

बग्गासिंह—राधास्वामी मठ, तरनतारन (पंजाब) के महन्त । सन्तमत या राधास्वामी पन्थ के आदि प्रवर्त्तक हुजूर राधास्वामीदयालु उर्फ स्वामीजी के मरने पर (संवत् १९३५) उनका स्थान हुजूर महाराज अर्थात् रायसाहब सालिगराम माथुर ने ग्रहण किया, जो पहले इस प्रान्त के पोस्टमास्टर जनरल थे । उन्हीं के गुरुभाई, अर्थात् स्वामीजी के शिष्य बाबा जयमलसिंह ने ब्यास में, बाबा बग्गासिंह ने तरनतारन में तथा बाबा गरीबदास ने दिल्ली में अलग-अलग गद्दियाँ चलायीं ।

बघौत—वनवासी जातियों—सन्थाल, गोंड़ आदि में यह विश्वास प्रचलित है कि बाघ से मारा गया मनुष्य भयानक भूत (प्रेतात्मा) बन जाता है । उसे शान्त रखने के लिए उसके मरने के स्थान पर एक मन्दिर का निर्माण होता है जिसे 'बघौत' कहते हैं । यहाँ उसके लिए नियमित भेंट-पूजा की जाती है । इधर से गुजरता हुआ हर एक यात्री एक पत्थर उसके सम्मान में इस स्थान पर रखता जाता है और यहाँ इस तरह पत्थरों का ढेर लग जाता है । हर एक लकड़हारा यहाँ एक दीप जलाता है या आहुति देता है ताकि क्रोधित भूत शान्त रहे ।

बंजारा—घुमक्कड़ कबायली जाति । संस्कृत रूप 'वाणिज्यकार ।' ये व्यापारी घूम-घूमकर अन्न आदि विक्रेय वस्तु देश भर में पहुँचाते थे । इनकी संख्या १९०१ ई० की भारतीय जनगणना में ७,६५,८६१ थी । इनका व्यवसाय रेलवे के चलने से कम हो गया है और अब ये मिश्रित जाति हो गये हैं । ये लोग अपना जन्मसम्बन्ध उत्तर भारत के ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय वर्ण से जोड़ते हैं । दक्षिण में आज भी ये अपने प्राचीन विश्वासों एवं रिवाजों पर चलते देखे जाते हैं जो द्रविडवर्ग से मिलते-जुलते हैं ।

बंजारों का धर्म जादूगरी है और ये गुरु को मानते हैं । इनका पुरोहित भगत कहलाता है । सभी बीमारियों का कारण इनमें भूत-प्रेत की बाधा, जादू-टोना आदि माना जाता है । इनके देवी-देवताओं की लम्बी तालिका में प्रथम स्थान मरियाई या महाकाली का है (मातृदेवी का सबसे विकराल रूप) । यह देवी भगत के शरीर में उतरती है और फिर वह चमत्कार दिखा सकता है । अन्य हैं गुरु नानक, बालाजी या कृष्ण का बालरूप, तुलजा देवी (दक्षिण भारत की प्रसिद्ध तुलजापुर की भवानी माता), शिव भैया, सती, मिट्ठू भूकिया आदि ।

मध्य भारत के बंजारों में एक विचित्र वृषभपूजा का प्रचार है । इस जन्तु को हतादिया (अवध्य) तथा बालाजी का सेवक मानकर पूजते हैं, क्योंकि बैलों का कारवाँ ही इनके व्यवसाय का मुख्य सहारा होता है । लाख-लाख बैलों की पीठ पर बोरियाँ लादकर चलने वाले 'लक्खी बंजारे' कहलाते थे । छत्तीसगढ़ के बंजारे 'बंजारी' देवी की पूजा करते हैं, जो इस जाति की मातृशक्ति की द्योतक है । सामान्यतया ये लोग हिन्दुओं के सभी देवताओं की आराधना करते हैं ।

बंजारी—दे० 'बंजारा' ।

बटेश्वर (विक्रमशिला)—बिहार में भागलपुर से २४ मील पूर्व गङ्गा के किनारे बटेश्वरनाथ का टीला और मन्दिर है । मध्यकाल में यहाँ विक्रमशिला नामक विश्वविद्यालय था । उस समय यह पूर्वी भारत में उच्च शिक्षा की विख्यात संस्था थी । यहाँ से दो मील दूर पर्वत की चोटी पर दुर्वासा ऋषि का आश्रम है । लगता है कि यहाँ का वट वृक्ष बोधिवृक्ष का ही प्रतीक है और यह शैवतीर्थ बौद्धविहार का अवशिष्ट स्मारक है ।

बदरीनाथ—उत्तर दिशा में हिमालय की अधित्यका पर मुख्य यात्राधाम । मन्दिर में नर-नारायण विग्रह की पूजा होती है और अखण्ड दीप जलता है जो अचल ज्ञानज्योति का प्रतीक है । यह भारत के चार धामों में प्रमुख तीर्थ है । प्रत्येक हिन्दू की यह कामना होती है कि वह बदरीनाथ का दर्शन अवश्य करे । यहाँ शीत के कारण अलकनन्दा में स्नान करना अत्यन्त कठिन है । अलकनन्दा के तो दर्शन ही किये जाते हैं । यात्री तप्तकुण्ड में स्नान करते

हैं । वनतुलसी की माला, चने की कच्ची दाल, गिरी का गोला और मिश्री आदि का प्रसाद चढ़ाया जाता है । बदरीनाथ की मूर्ति शालग्रामशिला से बनी हुई, चतुर्भुज ध्यानमुद्रा में हैं । कहा जाता है कि यह मूर्ति देवताओं ने नारदकुण्ड से निकालकर स्थापित की थी । सिद्ध, ऋषि, मुनि इसके प्रधान अर्चक थे । जब बौद्धों का प्राबल्य हुआ तब उन्होंने इसे बुद्ध की मूर्ति मानकर पूजा आरम्भ की । शङ्कराचार्य की प्रचारयात्रा के समय बौद्ध तिब्बत भागते हुए मूर्ति को अलकनन्दा में फेंक गये । शङ्कराचार्य ने अलकनन्दा से पुनः बाहर निकालकर उसकी स्थापना की । तदनन्तर मूर्ति पुनः स्थानान्तरित हो गयी और तीसरी बार तप्तकुण्ड से निकालकर रामानुजाचार्य ने इसकी स्थापना की ।

मन्दिर में बदरीनाथजी की दाहिनी ओर कुबेर की मूर्ति है । उनके सामने उद्धवजी हैं तथा उत्सवमूर्ति है । उत्सवमूर्ति शीतकाल में बरफ जमने पर जोशीमठ में ले जायी जाती है । उद्धवजी के पास ही चरणपादुका हैं । बायीं ओर नर-नारायण की मूर्ति है । इनके समीप ही श्रीदेवी और भूदेवी हैं ।

बद्ध—पुनर्जन्म के सिद्धान्तानुसार आत्मा जन्म तथा मरण की शृंखला में बँधा रहता है; जब तक ज्ञान अथवा भक्ति द्वारा वह मुक्त न किया जाय । दैवी व्यक्तियों का आत्मा तो नित्यमुक्त होता है, किन्तु साधारण मानवों के आत्मा को चार भागों में विभक्त किया गया है—(क) बद्ध, जो जीवन सम्बन्धी वासनाओं से बँधे हुए हैं । (ख) मुमुक्षु, मुक्ति की इच्छा वाले । (ग) केवल अनन्य भक्त, ईश्वर की भक्ति में तल्लीन रहने वाले और (घ) मुक्त, जन्म-कर्म के बन्धनों से रहित ।

बनजात्रा—महाप्रभु चैतन्य के तिरोधान के कुछ वर्ष पूर्व ही महात्मा रूप तथा सनातन कुछ शिष्यों के साथ वृन्दावन में बस गये थे । इन्होंने भक्तिसिद्धान्त सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना के साथ ही व्रज के सभी पवित्र स्थानों को खोज निकाला । वे सब मथुरा और वृन्दावन के आस-पास थे तथा उनका वर्णन वराहपुराण के 'मथुरा-माहात्म्य' में किया गया है । यही सब भक्त ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने व्रजमण्डल के कृष्णलीला सम्बन्धी पवित्र स्थानों की यात्रा प्रचलित की । ८४ कोस तक विस्तृत उन ग्राम, पर्वत, वन-उपवनों की यात्रा ही बनजात्रा कहलाती है ।

बनवारीदास—दादूपन्थ की एक संन्यासी शाखा के प्रवर्तक । इस सम्प्रदाय का साधुवर्ग पाँच शाखाओं में विभक्त है—(१) खालसा (२) नागा (३) उत्तराडी (४) विरक्त तथा (५) खाकी । इनमें से तीसरी शाखा की स्थापना पंजाब में बनवारीदास द्वारा हुई । इस वर्ग के साधु विद्याव्यसनी होते हैं जो अन्य साधुओं को पढ़ाते हैं, कुछ वैद्य होते हैं जो चिकित्सा व्यवसाय करते हैं ।

बन्ध—संसार में लिप्त रहना । यह मोक्ष अथवा 'मुक्ति' की विलोम दशा है । बन्ध अज्ञान और आसक्तिमूलक होता है । जब सदसत् का विवेक हो जाता है और साधक संसार से (राग-द्वेष से) निर्लिप्त होता है तब बन्ध से छुटकारा मिल जाता है ।

बन्धन—(१) संसार में आसक्ति और आवागमन का चक्र ।

(२) अपराधों के लिए दण्ड का एक प्रकार, बन्धनागार अथवा कारागार । दे० 'बन्ध' ।

बन्धु—(१) धर्मशास्त्र के अनुसार पितृसम्बन्ध से समस्त सगोत्रियों को बन्धु कहा जाता है । ये दायाद से भिन्न होते हैं । दोनों में अन्तर यह है कि दायाद पैतृक सम्पत्ति और पिण्डदान का अधिकारी होता है, परन्तु दायाद के रहते हुए बन्धु इसका अधिकारी नहीं होता ।

(२) तीन प्रकार के बन्धु बतलाये गये हैं—

१. आत्मबन्धु, २. पितृबन्धु और ३. मातृबन्धु ।

(३) सामान्यतः मित्र के अर्थ में भी 'बन्धु' का प्रयोग होता है ।

बभ्रुवाहन—नागकन्या चित्रांगदा से उत्पन्न अर्जुन का पुत्र, जो मणिपूर का शासक था । यह अर्जुन से भी अधिक पराक्रमी था ।

बरसाना—व्रज की अधिष्ठाता देवता राधा का निवासस्थान । यह मथुरा से पैंतीस मील दूर है । इसका प्राचीन नाम बृहत्सानु, ब्रह्मसानु अथवा वृषभानुपुर है । राधा श्री कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति एवं निकुञ्जेश्वरी मानी जाती हैं । इसलिए राधा किशोरी के उपासकों का यह अति प्रिय तीर्थ है । यहाँ भाद्र शुक्ल अष्टमी (राधाष्टमी) से चतुर्दशी तक बहुत सुन्दर मेला होता है । इसी प्रकार फाल्गुन शुक्ल अष्टमी, नवमी एवं दशमी को होली की आकर्षक लीला होती है ।

बराकुम्बा—एक ग्रामीण भूमिदेवता । पृथ्वी माता की

उत्पादनशक्ति प्रति वर्ष फसलों की उपज से ह्रास को प्राप्त होती रहती है। इसे पुनः सञ्चित करने तथा पृथ्वी को उर्वरा बनाने के लिए कृषक वर्ग में अनेक प्रकार की पूजाएँ की जाती हैं। नर्मदा-तापी की घाटी में रहने वाली 'पावरा' नामक जाति फसल कटने के पहले 'बरा-कुम्बा' और 'रानी काजल' (देव-दम्पति) को अनाज समर्पित करती हैं। ये देवदम्पति दो समीपी वृक्षों पर वास करते हैं। विवाह के गीतों में भी इनके विवाह की गाथा होती है।

बराम—क्योंझर (उड़ीसा प्रदेश) की जुआङ्ग नामक वनवासी जाति का वनदेवता 'बराम' है। अपने इस सर्वश्रेष्ठ देवता की वे बहुत सम्मानपूर्वक पूजा करते हैं।

बरु—ऋग्वेदीय ब्राह्मणों (ऐत० ब्रा० ६.१५; कौ० ब्रा० २५.८) के अनुसार बरु दशम मण्डल के ९६ संख्यक सूक्त के प्रवचनकर्त्ता हैं।

बल—(१) श्री कृष्ण के बड़े भाई। दे० 'बलराम'।

(२) एक असुर का नाम, जिसका वध इन्द्र ने किया। उनका एक नाम बलाराति इसी कारण हुआ है।

बलदेव—(१) श्री कृष्ण के अग्रज, बलराम।

(२) अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में पं० बलदेव विद्याभूषण ने चैतन्य सम्प्रदाय के उपयोग के लिए वेदान्तसूत्र पर 'गोविन्दभाष्य' की रचना की। इनके दार्शनिक मत का नाम 'अचिन्त्यभेदाभेद' है। इसके अनुसार ईश्वर तथा आत्मा का सम्बन्ध अचिन्त्य है अर्थात् इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यह कहना भी कठिन है कि ईश्वर और प्रकृति का भेद सत्य है अथवा असत्य।

बलराम—नारायणीयोपाख्यान में वर्णित व्यूहसिद्धान्त के अनुसार विष्णु के चार रूपों में दूसरा रूप 'संकर्षण' (प्रकृति = आदितत्त्व) है। संकर्षण बलराम का अन्य नाम है जो कृष्ण के भाई थे। संकर्षण के बाद प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध का नाम आता है जो क्रमशः मनस् एवं अहंकार के प्रतीक तथा कृष्ण के पुत्र एवं पौत्र हैं। ये सभी देवता के रूप में पूजे जाते हैं। इन सबके आधार पर चतुर्व्यूह सिद्धान्त की रचना हुई है। जगन्नाथजी की त्रिमूर्ति में कृष्ण, सुभद्रा तथा बलराम तीनों साथ विराजमान हैं। इससे भी बलराम की पूजा का प्रसार व्यापक क्षेत्र में प्रमाणित होता है।

सामान्यतया बलराम शेषनाग के अवतार माने जाते हैं और कहीं-कहीं विष्णु के अवतारों में भी इनकी गणना है।

बलरामदास—सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चालीस वर्षों में बङ्गाल में चैतन्य मतावलम्बी अनेक प्रशस्तिकाव्यलेखक हुए, जिनमें सबसे प्रसिद्ध कवि गोविन्ददास हैं। बलरामदास इनके समकालीन थे, जिन्होंने एक महत्त्वपूर्ण स्तुतिग्रन्थ की रचना की।

बलाका—बलाका (बगुला पक्षियों के झुण्ड) का उल्लेख तैत्ति० सं० (६.२४, ५ एवं वाजस० सं० २४.२२, २३) में अश्वमेध की बलितालिका के अन्तर्गत हुआ है।

बलात्कार—अनुचित रीति से बल का प्रयोग करके छीना-झपटी, मारपीट, अत्याचार करना। धर्मशास्त्र में यह अपराधों में गिना गया है। स्त्रीप्रसङ्ग अथवा ऋण वसूल करने का अनुचित प्रकार भी बलात्कार कहलाता है। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों में वादों की सूची में इसकी गणना है।

बलाय—यजुर्वेद (वाजस० सं० २४.३८, मैत्रा० सं० ३.१४,१९) के अनुसार अश्वमेध यज्ञ के बलिपशुओं की तालिका में उद्धृत एक अज्ञात पशु का नाम।

बलि—(१) उपहार या नैवेद्य की वस्तु। बलि का उल्लेख अनेकों बार ऋग्वेद (१.७०,९; ५.१.१०; ८.१००.९ एक देवता के लिए; ७.६,५; १०.१७३,६ एक राजा के लिए) तथा अन्य ग्रन्थों में हुआ है। बलि प्रदान इच्छानुसार किया जाता था। उसके ऐच्छिक स्वरूप की परिणति राजा की उत्पत्ति में हुई, जिसने नियमित रूप से बलि (उत्पादन का एक भाग) लेना आरम्भ किया। इसके बदले में उससे प्रजावर्ग सुरक्षा प्राप्त करता था। इसी प्रकार देवों को बलि देना स्वेच्छया होता था, जिसे वे देवताओं द्वारा किये गये महान् अनुग्रह का देय 'कर' समझते थे। यज्ञों में अनेक प्रकार की बलियों का वर्णन है।

(२) प्रसिद्ध दानवराज। यह प्रह्लाद का पौत्र और विरोचन का पुत्र था। इसने अपने गुरु शुक्राचार्य के मन्त्र और अपनी शक्ति से तीनों लोकों को जीत लिया। देवता उससे त्रस्त थे, वे भगवान् विष्णु के पास अपनी रक्षा के लिए गये। विष्णु दया करके कश्यप और अदिति से वामन रूप में उत्पन्न हुए और तपस्वी ब्राह्मण का रूप धारण कर बलि के पास गये, जो दान के लिए प्रसिद्ध था। वामन ने बलि से तीन पग भूमि माँगी। बलि ने सहर्ष

दान दिया । वामन ने तुरन्त अपना विशाल त्रिविक्रम रूप धारण कर एक चरण से सम्पूर्ण पृथ्वी और दूसरे से स्वर्ग नाप लिया । तीसरे चरण के लिए स्थान नहीं था अतः बलि ने अपनी पीठ नाप दी । विष्णु ने बलि को पाताल का राजा बनाकर वहाँ भेज दिया और स्वर्ग देवताओं को वापस कर दिया । इसी को बलिछलन कहते हैं । पुराणों में बड़े विस्तार से यह कथा दी हुई है । दे० 'वामन' ।

बलि (बरि, बेदगु)—बलि कन्नड़ शब्द है । इसका तमिल अनुवाद 'बरि' तथा तेलुगु 'बेदगु' है । इसका अर्थ है बाहरी जाति (अपने से भिन्न सांकेतिक चिह्न धारण करने वाली) । टोंने टोटके (जातीय चिह्न) में विश्वास रखने वाली एक जाति दक्षिण भारत में पायी जाती है । ये लोग एक विशेष प्रकार का सांकेतिक चिह्न धारण करते हैं । यह चिह्न, जिस पर इस वर्ग का नामकरण होता है, किसी परिचित पशु, मछली, पक्षी, पेड़, फल या फूल का होता है । जो चिह्न धारण किया जाता है उसकी पूजा भी होती है । ये लोग वे सभी कार्य करते हैं जिनसे उस चिह्न (जानवर या पेड़ या मछली) की रक्षा हो तथा उसे चोट न पहुँचे ।

बलिप्रतिपद्, रथयात्राव्रत—यह व्रत कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को मनाया जाता है । इस दिन भगवान् विष्णु इन्द्र के लिए बलि से लक्ष्मी को हरण करके लाये थे । दीपावली की अमावस्या को उपवास रखना चाहिए । इसके अग्नि तथा ब्रह्मा देवता हैं, दोनों को रथ में रखकर पूजा करनी चाहिए । विद्वान् ब्राह्मण इस रथ को खींचकर व्रती ब्राह्मण के घर तक ले जायें, तदनन्तर सारे नगर में रथ घुमाया जाय । ब्रह्मा की मूर्ति के दक्षिण पार्श्व में सावित्री की मूर्ति रहे । विभिन्न स्थानों पर रथ रोककर आरती, दीप्दान आदि किया जाय । जो इस रथयात्रा में भाग लेते हैं, जो रथ खींचते हैं, जो दीप जलाते हैं, जो श्रद्धा भक्ति प्रदर्शित करते हैं, वे सब लोग परलोक में उच्च स्थान प्राप्त करते हैं ।

बहुला—भाद्र कृष्ण चतुर्थी को बहुला व्रत किया जाता है । यह गौ की वात्सल्य भावना और सत्यनिष्ठा के लिए विख्यात है । इस दिन गौओं की सेवा पूजा करके व्रती को पकाये हुए जौ का सेवन करना चाहिए । इस व्रत के अनुष्ठान से सन्तति और सम्पत्ति का बाहुल्य होता है ।

बह्वृच—'जिसमें बहुत सी ऋचाएँ हों', यह ऋग्वेद का पर्याय है ।

बह्वृच उपनिषद्—एक परवर्ती उपनिषद् ।

बाघजात्रा—भील तथा राजपूतों में व्याघ्र पूर्वज से जन्म ग्रहण करने की कथा प्रचलित है । इसका सम्बन्ध शिव तथा दुर्गा से भी है । किन्तु पूजा अधिकांश पर्वतीय भाग में होती है । व्याघ्र का त्योहार नेपाल में 'बाघजात्रा' कहलाता है, जिसमें पुजारी (भक्त) लोग व्याघ्र के रूप में नाचते हैं ।

बाघदेव—वैनगङ्गा के किसानों में एक विचित्र कथा पायी जाती है । जब कोई व्यक्ति बाघ द्वारा मारा जाता है तो उसकी पूजा बाघदेव के रूप में होती है । घर के अहाते में एक झोपड़े के नीचे व्याघ्रप्रतिमा रखकर उसे पूजते हैं तथा प्रति वर्ष मृत्युदिवस मनाते समय उसकी विशेष पूजा होती है । वह पशु परिवार का सदस्य बन जाता है ।

बाघभैरों—नेपाल के गोरखा लोगों के मन्दिर विभिन्न देवों के होते हैं तथा वे मिश्रित धर्म का बोध कराते हैं । इन्हीं मन्दिरों में एक मन्दिर बाघभैरों (व्याघ्र रूप में शिव) का है, जो मूल जातियों में बहुत लोकप्रिय है ।

बाण—(१) महाराज हर्षवर्धन के प्रसिद्ध राजकवि । इन्होंने सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'चण्डीशतक' नामक काव्य लिखा, जो धार्मिक की अपेक्षा साहित्यिक अधिक है । इसमें चण्डी (दुर्गा) की स्तुति हैं । बाण की प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाएँ हर्षचरित और कादम्बरी हैं जो संस्कृत गद्य का अनुपम आदर्श हैं । हर्षचरित के प्रारम्भ में बाण ने सूर्य की वन्दना की है और कादम्बरी के आरम्भ में ब्रह्मा, विष्णु, शंकरात्मक, त्रिगुणस्वरूप परमात्मा की । इससे प्रकट होता है कि बाण के समय में समन्वयात्मक देवपूजा प्रचलित थी ।

(२) बलि का पुत्र प्रसिद्ध दानव राजा । इसकी पुत्री ऊषा का गान्धर्वविवाह श्री कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के साथ चित्रलेखा की सहायता से हुआ था ।

बाणगङ्गा—यह तीर्थस्थान ब्रह्मसर (कुरुक्षेत्र) सरोवर से लगभग तीन मील है और एक कच्ची सड़क इसे ब्रह्मसर से मिलाती है । महाभारत के युद्ध में पितामह भीष्म इस स्थान पर अर्जुन के बाणों से आहत होकर शरशय्या पर गिरे थे । उस समम उनके पानी माँगने पर उनकी इच्छा

से महारथी अर्जुन ने बाण मारकर जमीन से पानी निकाला, जिसकी धारा सीधे पितामह के मुख में गिरी। यहाँ पर चारों ओर पक्के घाटों से युक्त सरोवर है तथा एक छोटा सा मन्दिर भी है।

बादरायण—उत्तर मीमांसा के प्रसिद्ध आचार्य। इनका रचा 'वेदान्तसूत्र' या 'ब्रह्मसूत्र' ब्रह्ममीमांसा का एक वरिष्ठ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की विशेषताओं से ज्ञात होता है कि इसकी रचना के पूर्व अनेक आचार्य इस दर्शन पर लिख चुके होंगे। सूत्रों में सात पूर्वाचार्यों का वर्णन प्राप्त होता है। बादरायण चौथी या पाँचवीं ई० पू० शताब्दी के पहले हुए थे। बादरायण का शाब्दिक अर्थ है 'बदर का वंशज'। सामविधान ब्राह्मण के अन्त में एक आचार्य का नाम 'बदर' मिलता है। ऐसा समझा जाता है कि बादरायण और व्यास अभिन्न थे।

बादामी (वातापीपुर)—पौराणिक कथानुसार प्राचीन काल में यह नगर वातापी नामक असुर के अधीन था, जो ब्राह्मणों का परम शत्रु था। अगस्त्य ने इसका वध किया था। यह महाराष्ट्र के बीजापुर जिले में है। इसके पूर्वोत्तर एक दुर्ग है, उसमें बायीं ओर हनुमानजी का मन्दिर, ऊपर जाने पर शिवमन्दिर, उससे आगे दो तीन और मंदिर मिलते हैं। दक्षिण की पहाड़ी पर पश्चिम ओर चार गुहामन्दिर हैं। तीन गुहाएँ स्मार्त धर्म की और एक जैन धर्म की है। पहली गुहा में १८ भुजा वाली शिवमूर्ति, गणेशमूर्ति तथा गणों की मूर्तियाँ हैं। आगे विष्णु, लक्ष्मी तथा शिवपार्वती की मूर्तियाँ हैं। पिछली दीवार में महिषासुरमर्दिनी, गणेश तथा स्कन्द की मूर्तियाँ हैं। दूसरी गुहा में वामन, वराह, गरुड़ारूढ नारायण, शेषशायी नारायण की मूर्तियाँ तथा कुछ अन्य मूर्तियाँ हैं। तीसरी गुहा में अर्द्धनारीश्वर शिव, पार्वती, नृसिह, नारायण, वराह आदि की मूर्तियाँ हैं। जैन गुहा में जैन तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ हैं।

बाध—तर्क शास्त्र में वर्णित पाँच प्रकार के हेत्वाभासों में से एक। साध्याभाववान् पक्ष वाला हेतु बाध या बाधित कहलाता है। जैसे 'अग्नि (पक्ष) शीतल है (साध्य)', इस वाक्य में अग्नि का शीतल होना बाधित या असंभव है।

बाध्व—ऐतरेय आरण्यक (३.२,३) में उद्धृत एक आचार्य। शाङ्खायन आरण्यक (८.३) में इसका उच्चारण 'वात्स्य' है।

बानी—सन्तों के रचे हुए पद्यात्मक उपदेश। रैदास, मलूकदास आदि अनेक सन्तों की बानियाँ प्रसिद्ध हैं। सोलहवीं शताब्दी में महात्मा दादू ने अपनी शिक्षाएँ पद्य की भाषा में लिखीं जिन्हें 'बानी' कहते हैं। यह कृति ३७ अध्यायों में विभाजित है, जिसमें ५००० पद्यों का संकलन है, जो प्रमुख धार्मिक प्रश्नों का उत्तर देते हैं। स्तुतियाँ भी इसमें सम्मिलित हैं। लालदास तथा रामसनेही सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामचरन की शिक्षाएँ भी 'बानी' के रूप में संगृहीत हैं।

बाबा लाल—बड़ोदा के पास इनका एक मठ है, जिसका नाम है 'लाल बाबा का शैल'। ये निर्गुण उपासक थे। इतिहास में उल्लेख है कि संवत् १७०६ वि० में बाबा लाल से दाराशिकोह की सात बार भेंट हुई और शाहजहाँ की आज्ञा से दो हिन्दू दरबारियों ने बैठकर बाबा लाल के उपदेश फारसी भाषा में लिख डाले। इनका नाम 'नादिरुन्नुकात' रखा गया।

बाबालाली पंथ—निर्गुण निराकार के उपासक कबीर साहब के मत से प्रभावित अनेकों निर्गुणवादी पन्थ चले जिनमें से बाबालाली भी एक है, जो सरहिन्द में बाबा लाल ने प्रचारित किया। दे० 'बाबा लाल'। इस पन्थ में मूर्तिपूजा वर्जित है। उपासना तथा पूजा का कार्य किसी भी जाति का पुरुष कर सकता है, गुरु की उपासना पर जोर दिया जाता है। रामनाम, सत्यनाम या शब्द का योग और जप इनके विशेष साधन हैं।

बार्हस्पत्य—(१) भौतिकवादी विचारकों की परम्परा इस देश में प्राचीन काल से ही प्रचलित है। ये लोग वेदों में विश्वास नहीं करते, इनको नास्तिक, चार्वाक, लोकायतिक तथा बार्हस्पत्य आदि नामों से पुकारते हैं। बृहस्पति चार्वाकों के आचार्य माने जाते हैं, इसलिए चार्वाकों की 'बार्हस्पत्य' उपाधि पड़ गयी है। दे० 'चार्वाक'।

(२) वेदाङ्ग ज्योतिष का भाष्य और टिप्पणी सहित अर्थ करनेवाले एक बार्हस्पत्य का उल्लेख प्रो० रामदास गौड़ ने 'हिन्दुत्व' ग्रन्थ में किया है। पञ्चाङ्ग की रचनाविधि बार्हस्पत्य भाष्य से स्पष्ट हो जाती है।

बार्हस्पत्यतन्त्र—यह एक मिश्र तन्त्र है।

बार्हस्पत्य(नीति)शास्त्र—राजनीति की परम्परा में कथित है कि सर्वप्रथम पितामह ने एक लाख पद्यों में दण्डनीति शास्त्र की रचना की। उसका संक्षिप्त संस्करण दस हजार

पद्यों में विशालाक्ष ने किया। इसका भी संक्षिप्त रूप बाहुदन्तक रचित है, जो पाँच हजार पद्यों का था। यह ग्रन्थ भीष्म पितामह के समय में बार्हस्पत्यशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध था। यह इस समय उपलब्ध नहीं है।

बाल कृष्ण—वल्लभ सम्प्रदाय के पुष्टिमार्ग में कृष्ण भगवान् की उपासना बाल भाव में की जाती है, जो 'यशोदा-उत्संगलालित' अर्थात् यशोदा मैया की गोद और आँगन में दुलराये जाने वाले हैं। बाल कृष्ण की अनेकों शिशुलीलाओं को भागवतपुराण के दशम स्कन्ध में प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण का यह रूप बहुत लोकप्रिय है।

बालकृष्ण दास—ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर जैसी लघु उपनिषदों के शांकरभाष्य के ऊपर सरल व्याख्या के लेखक। मैत्रायणी उपनिषद् पर भी इनकी रची हुई वृत्ति है।

बालकृष्ण भट्ट—वल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थकार और उपदेशक। इनका 'प्रमेयरत्नार्णव' नामक दार्शनिक ग्रन्थ बहुत मूल्यवान् है।

बालकृष्ण मिश्र—मानव श्रौतसूत्र के एक भाष्यकार।

बालकृष्णानन्द—छान्दोग्य तथा केनोपनिषद् पर शङ्कराचार्य के भाष्य के ऊपर लिखी गयी अनेकों टीकाओं तथा वृत्तियों में बालकृष्णानन्द की वृत्ति भी सम्मिलित है।

बाल गोपाल—गोपाल (कृष्ण) का बालरूप। कृष्ण के प्रस्तुत रूप की उपासना में माता के वात्सल्य का एक प्रकार का दैवीकरण है। विविध प्रकार के कृष्णभक्ति सम्प्रदायों के बीच बाल गोपाल के प्रति भक्ति का उदय विशेष कर स्त्रियों में हुआ। बाल गोपाल की पूजा का मुख्यतः सारे भारत में प्रसार है। भागवत पुराण में बाल गोपाल का चरित्र विस्तार के साथ वर्णित है। सम्प्रदाय के रूप में इसका प्रचार सोलहवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य और उनके अनुयायी शिष्यों द्वारा हुआ है। दे० 'बालकृष्ण'।

बालचरित—प्राचीन नाटककार भास ने प्रथम शती वि० पू० में 'बालचरित' नामक नाटक लिखा, जो कृष्ण के बाल जीवन का चित्रण करता है।

बालबोधिनी—यद्यपि आपदेव मीमांसक थे किन्तु उन्होंने सदानन्द कृत 'वेदान्तसार' पर बालबोधिनी नामक टीका लिखी है, जो नृसिंह सरस्वती कृत 'सुबोधिनी' और रामतीर्थ कृत 'विद्वन्मनोरञ्जिनी' की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट समझी जाती है। इस कृति से उनका अद्वैतवादी होना सिद्ध होता है। पूर्वमीमांसा के प्रौढ विद्वान् होते हुए भी उनका अन्तरंग भाव अद्वैतवादी रहा है।

बालव्रत—वह स्त्री या पुरुष, जिसने पूर्व जन्म में किसी बालक की हत्या की हो अथवा समर्थ होने पर भी रक्षा न की हो, वह निःसन्तान रह जाता है। ऐसे निःसन्तति व्यक्ति को वस्त्रों सहित कूष्माण्ड, वृषोत्सर्ग तथा सुवर्ण का दान करना चाहिए। इस व्रत के अनुष्ठान से सन्तान की प्राप्ति होती है। दे० पद्मपुराण, ३.५-१४ तथा ३१-३२।

बालाजी—बाल कृष्ण का लोकप्रिय नाम, जिनकी पूजा धन तथा उन्नति के देवता के रूप में वैष्णवों द्वारा, विशेष कर वणिकों द्वारा की जाती है। वासिम (बरार) नामक स्थान पर इन बालाजी का एक रमणीक मन्दिर है। उत्तर तथा पश्चिमी भारत के वणिकों में इनकी पूजा अधिक प्रचलित है।

आन्ध्र प्रदेश के प्रसिद्ध देवता भगवान् वेंकटेश्वर भी बालाजी या तिरुपति बालाजी कहे जाते हैं। तिरुपति का अर्थ श्रीपति है।

अञ्जनीकुमार हनुमानजी का एक लोकप्रिय स्थानीय नाम बालाजी है, जो राजस्थान के जयपुर जिले में बाँदीकुई से दक्षिण महँदीपुर की पहाड़ी में विराजमान हैं। इन बालाजी का स्थान चमत्कारी सिद्ध क्षेत्र माना जाता है।

बालातन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' की तन्त्रसूची में उद्धृत एक तन्त्र ग्रन्थ।

बालेन्दुव्रत अथवा बालेन्दुद्वितीया व्रत—चैत्र शुक्ल द्वितीया को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसके अनुसार किसी नदी में सायंकाल स्नान करना विहित है। द्वितीया के चन्द्रमा के प्रतीक रूप एक बाल चन्द्रमा की आकृति बनाकर उसकी श्वेत पुष्पों, उत्तम नैवेद्य तथा गन्ने के रस से बने पदार्थों से पूजा की जानी चाहिए। पूजनोपरान्त व्रती स्वयं भोजन ग्रहण करे किन्तु उसे तेल में बने खाद्य पदार्थों को नहीं खाना चाहिए। एक वर्ष पर्यन्त यह व्रत चलता है। इसके आचरण से मनुष्य वरदान प्राप्त कर स्वर्ग प्राप्त कर लेता है।

बाष्कल उपनिषद्—ऋग्वेद की एक उपनिषद्। बाष्कल श्रुति की कथा का सायणाचार्य ने भी उल्लेख किया है।

संप्रति ऋग्वेद की बाष्कल शाखा का लोप हो गया है । उसी की स्मृति इस बाष्कल उपनिषद् में बनी हुई है । इसके उपाख्यान के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इन्द्र मेष का रूप धरकर कण्व के पुत्र मेधातिथि को स्वर्ग ले गये । मेधातिथि ने मेषरूपी इन्द्र से पूछा कि तुम कौन हो ? उन्होंने उत्तर दिया, 'मैं विश्वेश्वर हूँ । तुमको सत्य के समुज्ज्वल मार्ग पर ले जाने के लिए मैंने यह काम किया है, तुम कोई आशंका मत करो ।' यह सुनकर मेधातिथि निश्चिन्त हो गये । विद्वानों का मत है कि बाष्कल उपनिषद् प्राचीन उपनिषदों में से है ।

बाष्कलशाखा—वर्तमान समय में ऋग्वेद की शाकल शाखा के अन्तर्गत शैशिरीय उपशाखा भी प्रचलित है । कुछ स्थानों पर बाष्कल शाखा का भी उल्लेख मिलता है । अन्य शाखाओं से बाष्कल शाखा में इतना अन्तर और भी है कि इसके आठवें मण्डल में आठ मन्त्र अधिक हैं । अनेक लोग इन्हें 'वालखिल्य मन्त्र' कहते हैं । भागवत पुराण (१२.६.५९) के अनुसार बाष्कलि द्वारा वालखिल्य शाखा अन्य शाखाओं से संकलित की गयी थी ।

बाहुदन्तक—नीति विषयक एक प्राचीन ग्रन्थ, जो 'विशालाक्ष (इन्द्र) नीतिशास्त्र' का संक्षिप्त रूप और पाँच हजार पद्यों का था । यह भीष्म पितामह के समय में 'बार्हस्पत्य शास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध था । दे० 'बार्हस्पत्य' ।

बाहुदन्तेय—इन्द्र का एक पर्याय ।

बिठूर—कानपुर के समीप प्रायः पन्द्रह मील उत्तर गंगातट पर अवस्थित एक तीर्थ, जिसका प्राचीन नाम ब्रह्मावर्त था । बिठूर में गङ्गाजी के कई घाट हैं जिनमें मुख्य ब्रह्माघाट है । यहाँ बहुत से मन्दिर हैं, जिनमें मुख्य मन्दिर वाल्मीकेश्वर महादेव का है । यहाँ प्रति वर्ष कार्तिक की पूर्णिमा को मेला होता है । कुछ लोगों का मत है कि स्वायम्भुव मनु की यही राजधानी थी और ध्रुव का जन्म यहीं हुआ था । अंग्रेजों द्वारा निर्वासित पूना के नानाराव पेशवा यहीं तीर्थवास करते थे ।

बिन्दु—(१) आद्य सृष्टि में चित् शक्ति की एक अवस्था, प्रथम नाद से बिन्दु की उत्पत्ति होती है ।

(२) देहस्थित आज्ञाचक्र या भ्रूकुटी का मध्यवर्ती कल्पित स्थान । अष्टांग योग के अन्तर्गत ध्यानप्रणाली में मनोवृत्ति को यहाँ केन्द्रित किया जाता है । इस स्थान से शक्ति का उद्गम होता है ।

बिलाई माता—एक ऐसी मातृदेवी की कल्पना, जो बिल्ली की तरह पहले सिकुड़ी रहकर पीछे बढ़ती जाती है । कुछ मूर्तियाँ (और शिलाखण्ड भी) आकार-प्रकार में बढ़ती रहती हैं, जैसे वह पत्थर जिसे 'बिलाई माता' कहते हैं । काशी में स्थित तिलभाण्डेश्वर (तिलभाण्ड के स्वामी) शिवमूर्ति का दिन भर में तिल के दाने के बराबर बढ़ना माना जाता है ।

बिल्व—लक्ष्मी और शंकर का प्रिय एक पवित्र वृक्ष । इसके नीचे पूजा-पाठ करना पुण्यदायक होता है । शिवजी की अर्चना में बिल्वपत्र (बेलपत्र) चढ़ाने का महत्त्वपूर्ण स्थान है । उनको यह अति प्रिय है । पूजा के उपादानों में कम से कम त्रिल्वपत्र तथा गङ्गाजल अवश्य होता है ।

बिल्वत्रिरात्र व्रत—इस व्रत में ज्येष्ठा नक्षत्र युक्त ज्येष्ठ की पूर्णिमा को सरसों मिले हुए जल से बिल्व वृक्ष को स्नान कराना चाहिए । तदनन्तर गन्ध, अक्षत, पुष्प आदि से उसकी पूजा करनी चाहिए । एक वर्ष तक व्रती को 'एकभक्त' पद्धति से आहारादि करना चाहिए । वष के अन्त में बाँस की टोकरी में रेत या जौ, चावल, तिल इत्यादि भरकर उसके ऊपर भगवती उमा तथा शंकर की प्रतिमाओं की पुष्पादि से पूजा करनी चाहिए । बिल्व वृक्ष को सम्बोधित करते हुए उन मन्त्रों का उच्चारण किया जाय जिनमें वैधव्य का अभाव, सम्पत्ति, स्वास्थ्य तथा पुत्रादि की प्राप्ति का उल्लेख हो । एक सहस्र बिल्वपत्रों से होम करने का विधान है । चाँदी का बिल्ववृक्ष बनाकर उसमें सुवर्ण के फल लगाये जायँ । उपवास रखते हुए त्रयोदशी से पूर्णिमा तक जागरण करने का विधान है । दूसरे दिन स्नान करके आचार्य का वस्त्राभूषणों से सम्मान किया जाय । १६, ८ या ४ सपत्नीक ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय । इस व्रत के आचरण से उमा, लक्ष्मी, शची, सावित्री तथा सीता ने क्रमशः शिव, कृष्ण, इन्द्र, ब्रह्मा तथा राम को प्राप्त किया था ।

बिल्वमङ्गल—विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के एक अनन्य भक्त संत । श्री कृष्ण एवं राधा के प्रार्थनापरक इनके संस्कृत कवितासंग्रह 'कृष्णकर्णामृत' नामक ग्रन्थ का भक्तसमाज में बड़ा सम्मान है । इन्हीं कविताओं के कारण बिल्वमङ्गल चिरस्मरणीय हो गये । कुछ जनश्रुतियाँ कालीकट तथा ट्रावनकोर के निकट स्थित पद्मनाभ मन्दिर से इनका

संबन्ध स्थापित करती हैं। सम्भवतः इनका जीवनकाल पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

बिल्वलक्ष व्रत—यह व्रत श्रावण, वैशाख, माघ अथवा कार्तिक में प्रारम्भ किया जाता है। प्रति दिन तीन सहस्र बिल्व की पत्तियाँ एक लाख पूरी होने तक शिवजी पर चढ़ायी जायँ। (स्त्री द्वारा स्वयं काती हुई बत्तियाँ जो घृत या तिल के तेल में डुबायी गयी हों, किसी ताम्र पात्र में रखकर शिवजी के मन्दिर में अथवा गङ्गातट पर अथवा गोशाला में प्रज्वलित की जानी चाहिए। एक लाख अथवा एक करोड़ बत्तियाँ बनायी जायँ। ये समस्त बत्तियाँ यदि सम्भव हो तो एक ही दिन में प्रज्वलित की जा सकती हैं। किसी पूर्णिमा को इसका उद्यापन करना चाहिए।) दे० वर्षकृत्यदीपिका, ३९८-४०३।

बिल्वशाखापूजा—यह व्रत आश्विन शुक्ल सप्तमी को किया जाता है।

बिहारिणीदास—निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत संगीताचार्य हरिदास स्वामीजी के अनुगत एवं रसिकभक्त संत। ये वृन्दावन की लता-कुञ्जों में बाँकेबिहारीजी की व्रजलीला का चिन्तन किया करते थे। संगीत की मधुर पदावलियों के साथ भगवान् की उपासना करना इनकी विशेषता थी। इनकी रचनात्मक वाणी मुद्रित हो गयी है। सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध इनका स्थितिकाल है। संप्रति इनका उपासनास्थल यमुनाकूल की एकान्त शान्त निकुंजों में 'टटियास्थान' कहलाता है।

बिहारीलाल (चौबे)—व्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि और उच्च कोटि के काव्यकलाकार। इनका स्थितिकाल सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। ये कृष्ण के भक्त थे और इनकी शृंगार रस की रचना 'बिहारी सतसई' हिन्दी साहित्य में अपने अर्थगौरव के लिए अति प्रसिद्ध है। 'सतसई' के कई भाष्यकारों ने सम्पूर्ण रचना का आध्यात्मिक अर्थ भी किया है।

बीज—जगत् का कारण, सूक्ष्मतम मूल तत्त्व। नाद, बिन्दु तथा बीज सृष्टि के आदि कारण हैं। इन्हीं के द्वारा सारी अभिव्यक्तियाँ होती हैं। साधना के क्षेत्र में बीज, किसी देवता के मन्त्र के सारभूत केन्द्रीय अक्षर को कहते हैं। प्रायः आगमप्रोक्त मन्त्रों का प्रथम अक्षर 'बीजाक्षर' कहलाता है।

बीजक—महात्मा कबीरदास सिद्ध कोटि के संत कवि थे। वे जनता को जो उपदेश देते थे वे सादी लोकभाषा में गेय पद या भजन के रूप में होते थे, ताल-स्वरों पर उनके विचार कविता के रूप में निकलते थे। उनमें ऊँचे कवित्व या साहित्यकला का अभाव है पर भाव गहरे और रहस्यपूर्ण हैं। उनके सारभूत दार्शनिक विचार ऐसे ही भजनों में प्रकट हुए हैं। कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, एतदर्थ इन रचनाओं को उनके एक शिष्य ने १६२७ वि० में 'बीजक' नामक संग्रह के अन्तर्गत संकलित किया। यह उनकी छोटी रचनाओं का उपदेशात्मक ग्रन्थ है।

बीरनाथ—शिला या प्रस्तर देवताओं के प्रतीक हैं या उनकी सूक्ष्म शक्ति से व्याप्त रहते हैं; इस विश्वास के कारण अनेक प्रकारों से पाषाणखण्डों की पूजा देश भर में प्रचलित रही है। कई स्थानों में ऐसे शिलास्तम्भ लकड़ी के खम्भों के रूप में बदले दिखाई देते हैं, जो लगातार तेल व घृत के प्रदान से काले पड़ गये हैं। इन्हीं में एक पत्थर-देव बीरनाथ हैं, जिनकी पूजा कई प्रदेशों में आभीर वर्ग के लोग पशुओं की रक्षा के लिए करते हैं। वास्तव में यह किसी यक्षपूजा अथवा वीरपूजा का विकसित रूप है।

बीरभान—साध पन्थ के प्रवर्तक एक सन्त। इन्होंने सं० १७१५ वि० में यह पन्थ चलाया। दिल्ली से दक्षिण और पूर्व की ओर अन्तर्वेद में साध मत के लोग पाये जाते हैं। कबीर की तरह ये दोहरों और साखियों में उपदेश देते थे। इनके बारह आदेश महत्त्व के हैं, जिनमें साधों का सदाचार प्रतिपादित होता है।

बीरसिंह—सिक्ख खालसों के दो मुख्य विभाजन सहिजधारी तथा सिंह शाखाओं में हुए हैं। ये शाखाएँ पुनः क्रमशः छः तथा तीन उपशाखाओं में विभक्त हुई हैं। सिंह शाखा की एक उपशाखा 'निर्मल' (संन्यासियों की शाखा) के प्रवर्तक बीरसिंह थे, जिन्होंने इसकी स्थापना १७४७ वि० में की थी।

बुध (सौमायन)—पञ्चविंश ब्राह्मण के एक सन्दर्भ में उद्धृत आचार्य, जो सोम के वंशज थे। पौराणिक परम्परा के अनुसार बुध भी सोम (चन्द्र) के पुत्र थे। इनका विवाह मनु की पुत्री इला से हुआ। इन दोनों के पुत्र पुरूरवा हुए जिनसे ऐल (चन्द्र) वंश चला।

बुधव्रत—जब बुध ग्रह विशाखा नक्षत्र पर आये, व्रती को एक सप्ताह तक 'एकभक्त' पद्धति से आहारादि करना चाहिए। बुध की प्रतिमा काँसे के पात्र में स्थापित करक

श्वेत मालाओं तथा गन्ध-अक्षत आदि से उसकी पूजा करनी चाहिए। पूजनोपरान्त उसे किसी ब्राह्मण को दे देना चाहिए। इस व्रताचरण से व्रती की बुद्धि तीव्र होकर शुद्ध ज्ञान प्राप्त करती है।

बुधाष्टमी—शुक्ल पक्ष में बुधवार के दिन अष्टमी पड़ने पर यह व्रत किया जाता है। एकभक्त पद्धति से आहार करते हुए जलपूर्ण आठ कलश, जिनमें सुवर्ण पड़ा हो, क्रमशः आठ अष्टमियों को भिन्न-भिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों के साथ दान में दे देने चाहिए। वर्ष के अन्त में बुध की सुवर्णप्रतिमा दान में दी जाय। इस व्रत में प्रत्येक अष्टमी के दिन ऐल पुरूरवा तथा मिथि एवं उसकी पुत्री उर्मिला की कथाएँ सुनी जाती हैं।

बुद्ध—बौद्ध धर्म के प्रवर्तक तपस्वी महात्मा। इनका जन्म हिमालयतराई के शाक्य जनपद (लुम्बिनीवन) में ५६३ ई० पू० हुआ था। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु थी। इनके पिता शुद्धोदन शाक्यों के गणमुख्य थे। इनकी माता का नाम माया देवी था। इनका जन्मनाम सिद्धार्थ था। इनका पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा बहुत उच्च कोटि की हुई। बाल्यावस्था से ही ये चिन्तनशील थे, संसार के दुःख से विकल हो उठते थे। जीवन की चार घटनाओं का इनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा।

एक बार इन्होंने किसी अत्यन्त वृद्ध व्यक्ति को देखा, जो वृद्धावस्था के कारण झुक गया था और लाठी के सहारे चल रहा था। पूछा कौन है? उत्तर मिला वृद्ध, जो सुन्दर बालक और बलिष्ठ जवान था, किन्तु बुढ़ापे से क्षीण और विकृत हो गया है। इसके पश्चात् एक रुग्ण व्यक्ति मिला जो पीड़ा से कराह रहा था। पूछा कौन है? उत्तर मिला रोगी, जो कुछ ही क्षण पहले स्वस्थ और सुखी था। तदनन्तर सिद्धार्थ ने मृतक को अर्थी पर लाते हुए देखा। पूछा कौन है? उत्तर मिला मृतक, जो कुछ समय पहले जीवित और विलास में मग्न था। अन्त में उन्हें एक गैरिक वस्त्र धारण किये हुए पुरुष मिला, जिसके चेहरे पर प्रसन्नता झलक रही थी और चिन्ता का सर्वथा अभाव था। पूछा कौन है? उत्तर मिला संन्यासी, जो संसार के सभी बन्धनों को छोड़कर परिव्राजक हो गया है। त्याग और संन्यास की भावना सिद्धार्थ के मन पर अपना प्रभाव गहराई तक डाल गयी।

शुद्धोदन ने सिद्धार्थ का विवाह रामजनपद (कोलिय गण) की राजकुमारी यशोधरा के साथ कर दिया। उन को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, उसका नाम राहुल रखकर उन्होंने कहा, 'जीवनश्रृंखला की एक कड़ी आज और गढ़ी गयी।'

एक दिन रात को माया और राहुल को सोते छोड़कर सिद्धार्थ कपिलवस्तु से बाहर निकल गये। इस घटना को 'महाभिनिष्क्रमण' कहते हैं। ज्ञान और शान्ति की खोज में सिद्धार्थ बहुत से विद्वानों और पण्डितों से मिले किन्तु उनको सन्तोष नहीं हुआ। आश्रमों, तपोवनों में घूमते हुए वे गया के पास उरुबेल नामक वन में जाकर घोर तपस्या करने लगे और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि या तो ज्ञान प्राप्त करूँगा, नहीं तो शरीर का त्याग कर दूँगा। छः वर्ष की कठिन तपस्या के पश्चात् उन्हें अनुभव हुआ कि शरीर को कष्ट देने से शरीर के साथ बुद्धि भी क्षीण हो गयी और ज्ञान और दूर हट गया। अतः निश्चय किया कि मध्यम मार्ग का अनुसरण करना ही उचित है।

एक दिन बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर जब वे चिन्तन कर रहे थे, उन्हें जीवन और संसार के सम्बन्ध में सम्यक् ज्ञान प्राप्त हुआ। इस घटना को 'सम्बोधि' कहते हैं। इसी समय से सिद्धार्थ बुद्ध (जिसकी बुद्धि जागृत हो गयी हो) कहलाये। अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि मैं अपने ज्ञान को दुःखी संसार तक पहुँचा कर उसे मुक्त करूँगा। बोधगया से चलकर वे काशी के पास ऋषिपत्तन मृगदाव (सारनाथ) में पहुँचे। यहाँ पर उन्होंने पञ्चवर्गीय पूर्व-शिष्यों को अपने धर्म का उपदेश प्रथम बार दिया। इस घटना को 'धर्मचक्रप्रवर्तन' कहते हैं।

बुद्ध ने अपने उपदेश में कहा, "दो अतियों का त्याग करना चाहिए। एक तो विलास का, जो मनुष्य को पशु बना देता है और दूसरे कायक्लेश का, जिससे बुद्धि क्षीण हो जाती है। मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।" इसके पश्चात् उन्होंने उन चार सत्यों का उपदेश किया, जिनको 'चत्वारि आर्य सत्यानि' कहते हैं। उन्होंने कहा, "दुःख प्रथम सत्य है। जन्म दुःख है। जरा दुःख है। रोग दुःख है। मृत्यु दुःख है। प्रिय का वियोग दुःख है। अप्रिय का संयोग दुःख है। आदि। समुदय दूसरा सत्य है। दुःख का कारण है तृष्णा। तृष्णा और वासना से

ही सब दुःख उत्पन्न होते हैं। निरोध तीसरा सत्य है। समुदय अर्थात् दुःख के कारण तृष्णा का निरोध हो सकता है। जो स्थिति कारण से उत्पन्न होती है उसके कारण को हटाने से वह समाप्त हो जाती है। निरोध का ही नाम निर्वाण अर्थात् सम्पूर्ण वासना का क्षय है। निरोधगामिनी प्रतिपदा चौथा सत्य है। अर्थात् निरोध प्राप्त कराने वाला एक मार्ग है। वह है अष्टाङ्ग मार्ग अथवा मध्यमा प्रतिपदा।" महात्मा बुद्ध प्रथम धर्मप्रवर्तक थे, जिन्होंने धर्म प्रचार के लिए संघ का संघटन किया। सारनाथ में प्रथम संघ बना। बुद्ध ने आदेश दिया, "भिक्षुओ ! बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, देव, मनुष्य और सभी प्राणियों के हित के लिए उस धर्म का प्रचार करो जो आदि मङ्गल है, मध्य मङ्गल है और अन्त मङ्गल है।" अस्सी वर्ष की अवस्था तक अपने धर्म का विभिन्न प्रदेशों में प्रचार करते हुए कुशीनगर में वे दो शालवृक्षों के बीच अपनी जीवनलीला समाप्त कर निर्वाण को प्राप्त हो गये। इस घटना को 'महापरिनिर्वाण' कहते हैं।

यद्यपि बुद्धदेव निरीश्वरवादी थे और वेदों के प्रामाण्य में विश्वास नहीं करते थे, पर उनके व्यक्तित्व का नैतिक प्रभाव भारतीय इतिहास पर दूरव्यापी पड़ा। जीवदया और करुणा की वे सजीव मूर्ति थे। आस्तिक परम्परावादी हिन्दुओं ने उनको विष्णु का लोकसंग्रही अवतार माना और भगवान् के रूप में उनकी पूजा की। पुराणों में जो अवतारों की सूचियाँ हैं उनमें बुद्ध भगवान् की गणना है। वर्तमान हिन्दू धर्म बुद्ध के सिद्धान्तों से प्रभावित है।

हिन्दू पुराणों में बुद्ध भगवान् की कथा अन्य प्रकार से दी हुई है। दे० 'अवतार' तथा 'बुद्धावतार'।

बुद्धजन्ममहोत्सव—वैशाख शुक्ल पक्ष में जब चन्द्र पुष्य नक्षत्र पर हो, उस समय बुद्ध की प्रतिमा शाक्य मुनि द्वारा कथित मन्त्रों का पाठ करते हुए स्थापित करनी चाहिए। लगातार तीन दिन उनकी पूजा करते हुए निर्धनों को नैवेद्यादि भेंट करना चाहिए। दे० नीलमत पुराण, पृ० ६६-६७, श्लोक ८०९-८१६, जहाँ बुद्ध को विष्णु का अवतार बतलाया गया है।

बुद्धद्वादशी—श्रावण शुक्ल द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इस तिथि को भगवान् बुद्ध की प्रतिमा का गन्ध-अक्षतादि से पूजन करते हुए उनकी उपासना करनी चाहिए। महाराज शुद्धोदन ने इस व्रत को किया था, अतएव भगवान् विष्णु ने स्वयं उनके यहाँ जन्म लिया। दे० कृत्यकल्पतरु, ३३१-३३२; हेमाद्रि, १.१०३७-१०३८; कृत्यरत्नाकर, २४७-२४८।

बुद्धावतार—विष्णु भगवान् का नवम अवतार। इस संबन्ध में भागवत, विष्णु आदि अनेक पुराणों में वर्णन आता है। विष्णु और अग्निपुराण के अनुसार देवताओं की रक्षा के लिए भगवान् माया-मोह स्वरूपी बुद्धावतार में शुद्धोदन राजा के पुत्र हुए। उन्होंने इस रूप में आकर देवताओं को पराजित करने वाले असुरों को माया से विमोहित कर वेदमार्ग से च्युत करने का उपदेश देना आरम्भ किया। माया-मोहावतारी भगवान् बुद्ध ने नर्मदा नदी के तट पर जाकर दिगम्बर, मुण्डित सिर आदि द्वारा विचित्र रूप वाले संन्यासी वेश में असुरों के समक्ष कहा : "आप लोग यह क्या कर रहे हैं ? इसके करने से क्या होगा ? यदि आपको मुक्ति (निर्वाण) की ही कामना है तो व्यर्थ में इतनी पशुहिंसा के यज्ञ-यागादि क्यों करते हैं ? निरर्थक कर्म करने से आप कुछ भी फल प्राप्त नहीं कर सकते। यह जगत् विज्ञानमय और निराधार है। इसके मूल में ईश्वरादि कुछ नहीं है। यह केवल भ्रम मात्र है, जिससे मोहित होकर जीव संसार में भ्रमित होता रहता है।" ऐसे मोहक चारु वचनों द्वारा बुद्ध ने समस्त असुरों को पथभ्रष्ट कर दिया। इस प्रकार बुद्धावतार के प्रसंग में विष्णुपुराण ने आधिदैविक कारण प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार कुछ आध्यात्मिक कारण भी बुद्धावतार से सम्बन्ध रखते हैं। बुद्ध के प्राकट्य के पूर्व देश भर में हिंसा का प्राबल्य था। वैदिक यज्ञ और ईश्वर के नाम के माध्यम से नर, पशु आदि विभिन्न जीवों की बलियाँ दी जाती थीं और लोग अन्धपरम्परया इस कार्य को ईश्वर की उपासना का रूप प्रदान करने लगे थे। इस प्रकार के भयंकर समय में बुद्ध को ईश्वर और यज्ञ के नाम पर किये जाने वाले जीवहत्या रूपी दुष्कर्म के अन्त के लिए ईश्वर और वेद का खण्डन करना पड़ा।

जिस प्रकार विष का उपचार विष द्वारा ही किया जाता है, उसी प्रकार महात्मा बुद्ध ने भी हिंसा-पापरूपी विष का शमन नास्तिकतारूपी विष से किया। इस प्रयोग

से तात्कालिक धर्मरक्षा हुई एवं ज्ञानमूलक बौद्धधर्मोपदेश द्वारा जीवों की हिंसा से निवृत्ति अवश्य हो गयी ।

भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जिनमें विस्तार से इनका जीवन चरित्र वर्णित है । इन ग्रन्थों का संस्कृत में निर्माण अधिकांश भारत में हुआ, किन्तु विदेशों में अनेक भाषाओं में इनकी जीवनी लिखी गयी, जैसे चीनी, तिब्बती, जापानी आदि में । इसके साथ ही भगवान् बुद्ध के अनेक जन्मों की कथा भी कल्प-कल्पान्तरों के नामपूर्वक उपलब्ध होती है । इस प्रकार अनेक कल्पों में कई योनियों में भ्रमण करने के पश्चात् भगवान् बुद्ध माया देवी के गर्भ से (वर्त्तमान गोरखपुर के पास) नेपाल की तराई के कपिलवस्तु नामक नगर में उत्पन्न हुए थे । भगवान् बुद्ध जीवन भर भ्रमण करते हुए अपने परम पावन उपदेशपीयूष द्वारा राजा से रंक तक सभी प्रकार के मनुष्यों का उपकार करते रहे । उनके उपदेश सरल और आचारपरक थे । उन्होंने संसार के सम्बन्ध में चार आर्य सत्य निर्धारित किये थे । उन्होंने बताया कि संसार में दुःख ही दुःख हैं । सांसारिक दुःखों के कुछ कारण भी हैं । इन कारणों को दूर किया जा सकता है । दुःख के निरोध का उपाय भी उन्होंने बताया । उनके मत में दुःखनिरोध ही निर्वाण है । अतिवाद दुःख का कारण है, अतएव मध्यम मार्ग ही सेव्य है । इसके साथ ही उन्होंने अष्टांग मार्ग तथा दस शीलों का भी प्रचार किया ।

महात्मा बुद्ध ने यद्यपि वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा कर डाली और धार्मिक जटिलता के भय से उन्होंने अधिदेव रहस्यों का निरादर किया, किन्तु उनका उपदेश उस समय के लिए जगत्-हितकारी था यह यथार्थ है । इस समय भी पृथ्वी पर करोड़ों लोग इस धर्म को मानते हैं ।

बुद्धि—प्रकृति के विकास का प्रथम चरण महत् तत्त्व है । इसमें बुद्धि, अहंकार और मनस् तीनों निहित हैं । महत् सार्वभौम है । इसी का मनोविकास रूप बुद्धि है । किन्तु बुद्धि आध्यात्मिक चेतना अथवा ज्ञान नहीं; चैतन्य आत्मा का गुण माना गया है । अहंकार, मन और इन्द्रियाँ बुद्धि के लिए कार्य करती हैं; बुद्धि सीधे आत्मा के लिए कार्य करती है । बुद्धि के मुख्य कार्य निश्चय और निर्धारण हैं । इसका उदय सत्त्व गुण की प्रधानता से होता है । इसके मौलिक गुण हैं—धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य । जब इसमें विकृति उत्पन्न होती है तो इसके गुण उलट कर अधर्म, अज्ञान, आसक्ति और दैन्य हो जाते हैं । स्मृति और संस्कार बुद्धि में स्थित होते हैं । अतः धार्मिक साधनाओं में बुद्धि की पवित्रता पर बहुत बल दिया गया है ।

बुद्धिवाद—विचार की एक दार्शनिक पद्धति, जो जगत् की वास्तविकता को समझने में बुद्धि को सबसे अधिक महत्त्व देती है । यह प्रत्यक्ष को तो मानती ही है, अनुमान और उपमान का स्पष्ट विरोध नहीं करती, परन्तु शब्द और ऐतिह्य का प्रत्याख्यान करती है । साथ ही यह कोई अलौकिक अथवा पारमार्थिक सत्ता अथवा मूल्य नहीं मानती । भारत में इसके मूल प्रवर्तक चार्वाक, बौद्ध और जैन न्यूनाधिक मात्रा में थे । वास्तव में, भारत में वस्तु अन्वेषण की दो परम्पराएँ थीं : (१) निगम (अनुभूतिवादी) और (२) आगम (तर्क, युक्ति और बुद्धिवादी) । मूलतः दोनों में समन्वय था, किन्तु मतवादियों ने एक स्वतन्त्र 'बुद्धिवाद' खड़ा कर दिया ।

बुद्धयवाप्तिव्रत—चैत्र मास की पूर्णिमा के उपरान्त इस व्रत का आचरण किया जाना चाहिए । एक मास तक यह चलता है । इसमें नृसिंह भगवान् की पूजा की जाती है । इसमें सरसों से प्रति दिन हवन होता है । 'त्रिमधुर' युक्त खाद्य पदार्थों से ब्राह्मणभोजन कराया जाता है । वैशाखी पूर्णिमा को सुवर्ण का दान विहित है । इससे शुद्ध बुद्धि प्राप्त होती है ।

बूढ़े अमरनाथ—कश्मीर के पूँछ नगर से चौदह मील दूर ऊँची पहाड़ियों से घिरा यह मन्दिर है । पूरा मन्दिर एक ही श्वेत पत्थर का बना हुआ है । जम्मू से पूँछ के लिए मोटर बसें चलती हैं । कहा जाता है कि यही प्राचीन अमरनाथ तीर्थस्थान है । पहले लोग यहीं यात्रा करने आते थे । यहीं पुलस्ता नदी है, जिसके तट पर महर्षि पुलस्त्य का आश्रम था । दूसरे अमरनाथ उस समय बरफ के कारण अगम्य थे । मार्ग का सुधार होने पर इनकी यात्रा बाद में सुलभ हुई है ।

बृबु—ऋग्वेद (६.४५,३१-३३) में बृबु का उल्लेख सहस्रदाता, उदार दाता तथा पणियों के सिरमौर के रूप में हुआ है । शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१६.११,११) के अनुसार

भारद्वाज ने बृबु तक्षा तथा प्रस्तोक सारञ्जय से दान प्राप्त किया । प्रतीत होता है, यह कोई पणि था, यद्यपि ऋग्वेद में इसका वर्णन ऐसे रूप में हुआ है जिसने पणि के सभी गुणों को त्याग दिया हो । यदि ऐसा है तो पणि का आशय सद्भावपूर्ण व्यापारी तथा बृबु एक वणिक् राजकुमार हो सकता है । वेबर के अनुसार इस नाम का सम्बन्ध बेबीलॉन से है । हो सकता है, बृबु के वंशजों ने वहाँ जाकर अपना उपनिवेश बसाया हो ।

बृहज्जाबाल उपनिषद्—एक परवर्ती उपनिषद् ।

बृहद्गौतमीयतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उद्धृत तन्त्रों की तालिका में बृहत् गौतमीय तन्त्र भी उल्लिखित है ।

बृहती—प्रभाकर रचित कर्ममीमांसा विषयक एक ग्रन्थ, जो शबरस्वामी के भाष्य की व्याख्या है । विशेष विवरण के लिए दे० 'प्रभाकर' ।

बृहत्तपोव्रत—मार्गशीर्ष मास की प्रतिपदा बृहत्तपा कहलाती है, उस दिन यह व्रत आरम्भ होता है । इसके शिव देवता हैं । यह एक वर्ष से सोलह वर्ष तक चलता है । इससे समस्त पाप, ब्राह्मणहत्या का पाप भी दूर हो जाता है ।

बृहत्संहिता—महान् ज्योतिर्विद् वराहमिहिर-विरचित ज्योतिष विषय का अति प्रसिद्ध ग्रन्थ । त्रिस्कन्ध ज्योतिष के संहिता अंश में विविध सांस्कृतिक वस्तुओं का वर्णन होता है । यह उसी प्रकार का एक आकरग्रन्थ है, जिससे भारतीय धर्मविज्ञान, मूर्तिशास्त्र तथा धार्मिक स्थापत्य पर काफी प्रकाश पड़ता है। वराहमिहिर का समय सन्दर्भ-उल्लेखों के अनुसार ४७५-५५० ई० है ।

बृहदारण्यक—शुक्ल यजुर्वेद का आरण्यक ग्रन्थ, जो शतपथ ब्राह्मण (१५.१-३) के समान है । दे० 'आरण्यक' ।

बृहदारण्यकवार्तिकसार—आचार्य शङ्कर रचित बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य पर सुरेश्वराचार्य ने वार्तिक नामक व्याख्या लिखी है । प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका श्लोकबद्ध संक्षिप्त सार है । इसके रचयिता माधवाचार्य अथवा विद्यारण्य स्वामी हैं ।

बृहदारण्यकोपनिषद्—मुख्य उपनिषदों में दसवीं उपनिषद् । बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य प्राचीन उपनिषदों में सर्वाधिक महत्त्व की हैं, इन्हीं दोनों में मुख्य दार्शनिक विचार सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से विकसित दृष्टिगोचर होते हैं ।

बृहदुक्थ—ऋग्वेद (५.१९.३) में अस्पष्ट रूप से कथिक एक पुरोहित का नाम । ऋ० के दो मन्त्रों (१०.५४,६; ५६,७) में इन्हें ऋषि कहा गया है । ये ऐतरेय ब्रा० (८.२३) में दुर्मुख पाञ्चाल के अभिषेककर्त्ता तथा शत० ब्रा० (१३.२,२,१४) में वामदेव के पुत्र कहे गये हैं । पञ्चविंश ब्रा० (१४.९,३७,३८) में ये वामनेय (वामनी के वंशज) के रूप में वर्णित हैं ।

बृहद्गिरि—पञ्चविंश ब्राह्मण (८.१.४) में कथित बृहद्गिरि उन तीन यतियों में एक हैं जो इन्द्र द्वारा वध के बाद भी जीवित हो गये थे । उनका एक साममन्त्र भी उसी ब्राह्मण में उद्धृत है (१३.४.१५-१७) ।

बृहद्गौरीव्रत—भाद्र कृष्ण तृतीया को चन्द्रोदय के समय यह व्रत किया जाता है और केवल महिलाओं के लिए है । दोरली नामक वृक्ष मूल समेत लाकर बालू की वेदी पर स्थापित करना चाहिए । चन्द्र उदित हुआ देखकर महिला व्रती स्नान करे । कलश में वरुण की पूजा कर भगवती गौरी की विभिन्न उपचारों से पूजा करे । गौरी के नाम से एक धागा गले में लपेट लेना चाहिए । पाँच वर्ष तक यह क्रम चलता है । काशी के आसपास यह व्रत 'कज्जली तृतीया' के नाम से मनाया जाता है ।

बृहद्देवता—ऋग्वेद से संबन्धित एक ग्रन्थ, जिसमें वैदिक आख्यान एवं माहात्म्य विस्तार से लिखे गये हैं । यह शौनकरचित बताया जाता है जो श्लोकबद्ध है । इसकी प्राचीनता सर्वमान्य है । इसका उद्देश्य यह है कि प्रत्येक ऋचा के देवता का निर्देश किया जाय, किन्तु ग्रन्थकार ने इसे स्पष्ट करते हुए देवता सम्बन्धी एक विचित्र आख्यान भी दे दिया है। विश्वास किया जाता है कि यह ग्रन्थ निरुक्त के बाद बना है। कुछ लोग कहते हैं कि यह शौनक सम्प्रदाय के किसी अन्य व्यक्ति की रचना है । इसमें भागुरि, आश्वलायन, बलभी ब्राह्मण तथा निदानसूत्र का नाम भी मिलता है । बृहद्देवता ग्रन्थ शाकल शाखा के आधार पर नहीं बना है। इसमें शाकल शाखा का नाम कई बार आया है ।

बृहद्धर्म उपपुराण—यह उन्तीस उपपुराणों में एक है ।

बृहद्ब्रह्मसंहिता—एक वैष्णव आगम ग्रन्थ, जो तमिल देश में रचित माना जाता है । यह भी सम्भव है कि इसकी रचना उत्तर में हुई हो तथा इसमें दाक्षिणात्यों द्वारा प्रक्षेप हुआ हो । इसमें महात्मा शठकोप तथा रामानुज स्वामी

का उल्लेख ईश्वरसंहिता के सदृश है तथा द्रविड देश को वैष्णव भक्तों की भूमि कहा गया है।

बृहद्वसु—वंश ब्राह्मण में उल्लिखित एक आचार्य का नाम।

बृहद्यामल तन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उद्धृत तन्त्र-सूची में इसका नाम बासठवें क्रम पर आता है।

बृहन्नारदीय पुराण—उन्तीस उपपुराणों में परिगणित। सम्भवतः नारदीय महापुराण का यह परिशिष्ट है परन्तु आकार में बहुत विस्तृत है।

बृहस्पति—(१) वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित एक देवता। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह नाम एक ग्रह (बृहस्पति) का बोधक है, परन्तु इसके लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं। पुराणों के अनुसार बृहस्पति देवताओं के गुरु और अध्यात्मविद्याविशारद ऋषि कहे जाते हैं।

(२) चार्वाक दर्शन के प्रणेता बृहस्पति का नाम भी उल्लेखनीय है। उनके मतानुसार "न स्वर्ग है न अपवर्ग; परलोक से सम्बन्ध रखनेवाला आत्मा भी नहीं है।" ये बृहस्पति लोकायत (नास्तिक) दर्शन के पूर्वाचार्य समझे जाते हैं और अवश्य ही महाभारत से पहले के हैं।

(३) बृहस्पति एक अर्थशास्त्रकार और स्मृतिकार भी हुए हैं। इनके ग्रन्थ खण्डित आकार में ग्रन्थान्तरों के उद्धरणों में ही पाये जाते हैं।

बृहस्पतिसव—एक यज्ञ का नाम। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२.७, १,२) के अनुसार इसके अनुष्ठान द्वारा कोई भी व्यक्ति वैभवसंपन्न पद प्राप्त कर सकता था। आश्वलायन श्रौत-सूत्र (९.९,५) के अनुसार पुरोहित इस यज्ञ को वाजपेय के पश्चात् करता था और राजा वाजपेय के पश्चात् राजसूय यज्ञ करता था। शतपथ ब्राह्मण (५.२,१,१९) में बृहस्पतिसव को वाजपेय कहा गया है, किन्तु यह एकता प्राचीन नहीं जान पड़ती।

बृहस्पतिस्मृति—धर्मशास्त्रों में बृहस्पतिस्मृति का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। याज्ञवल्क्यस्मृति (१.४-५) में स्मृतिकारों की जो सूची दी गयी है उसमें बृहस्पति की गणना है। किन्तु पूर्ण स्मृति अब कहीं उपलब्ध नहीं होती। बूलर ने अपरार्क के निबन्ध से बृहस्पति के ८४ श्लोकों का संग्रह कर इसका जर्मन भाषान्तर प्रकाशित कराया था (लिपजिक, १८७९)। डॉ० जाली ने कई स्रोतों से बृहस्पति के ७११ श्लोकों का संकलन किया और इसका अंग्रेजी भाषान्तर 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरीज' (सं० ३३) में प्रकाशित किया था।

बृहस्पति मनुस्मृति का घनिष्ठ रूप से अनुसरण करते हैं, किन्तु कतिपय स्थानों पर मनु के विधिक नियमों की पूर्ति, विस्तार और व्याख्या भी करते हैं। निश्चित रूप से बृहस्पतिस्मृति मनु और याज्ञवल्क्य की परवर्ती है। यह या तो नारदस्मृति की समकालीन अथवा निकट परवर्ती है। इसकी दो विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि इसमें धन और हिंसामूलक (दीवानी और फौजदारी) विवादों का स्पष्ट भेद किया गया है:

> द्विपदो व्यवहारश्च धनहिंसासमुद्भवः।
> द्विसप्तधार्थमूलश्च हिंसामूलश्चतुर्विधः॥
>
> (जीमूतवाहन की व्यवहारमातृका में उद्धृत)

दूसरे, बृहस्पति ने इस बात पर जोर दिया है कि वाद का निर्णय केवल शास्त्र के लिखित नियमों के आधार पर न करके युक्ति और औचित्य के ऊपर करना चाहिए:

> केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो हि निर्णयः।
> युक्तिहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥
> चौरोऽचौरो साध्वसाधु जायते व्यवहारतः।
> युक्तिं विना विचारेण माण्डव्यश्चौरतां गतः॥
>
> (याज्ञ०, २.१ पर अपरार्क द्वारा उद्धृत)

जिन विषयों पर बृहस्पति के उद्धरण पाये जाते हैं उनकी सूची निम्नाङ्कित है:

(क) वाद (मुकदमे) के चतुष्पाद

(ख) प्रमाण (चार प्रकार के—तीन मानवीय: लिखित, भुक्ति तथा साक्षी और एक दिव्य)

१. लिखित (दस प्रकार के)
२. भुक्ति (अधिकार—भोग)
३. साक्षी (बारह प्रकार के)
४. दिव्य (नौ प्रकार का)

(ग) विवादस्थान (अठारह)—

ऋणादान, निक्षेप, अस्वामिविक्रय, सम्भूय-समुत्थान, दत्ताप्रदानिक, अभ्युपेत्याशुश्रूषा, वेतनस्य अनपाकर्म, स्वामिपालविवाद, संविद्व्यतिक्रम, विक्रीयासम्प्रदान, सीमाविवाद, पारुष्य (दो प्रकार का), साहस (तीन प्रकार का), स्त्रीसंग्रहण, स्त्री-पुन्धर्म, विभाग, द्यूतसमाह्वय और प्रकीर्णक (नृपाश्रय व्यवहार)।

बेलूर—कर्नाटक प्रदेश का प्रसिद्ध तीर्थ। पुराने मैसूर राज्य में बेलूर का विशिष्ट स्थान है। चैन्नकेशव मन्दिर यहाँ का मुख्य यात्रास्थल है। राजा विष्णुवर्धन होयसल ने इसकी प्रतिष्ठा की थी। यहाँ बहुत से प्राचीन मन्दिर हैं। इसका पुराना नाम वेलापुर है।

बोधगया (बुद्धगया)—अन्तरराष्ट्रीय ख्याति का बौद्ध-तीर्थ। पितृतीर्थ गया से यह सात मील दूर है। यहाँ बुद्ध भगवान् का विशाल कलापूर्ण मन्दिर है। पीछे पत्थर का चबूतरा है जिसे बौद्ध सिंहासन कहते हैं। इसी स्थान पर बैठकर गौतम बुद्ध ने तपस्या की थी। यहीं बोधिवृक्ष (पीपल) के नीचे उन्हें ज्ञान (संबोधि) प्राप्त हुआ था इसलिए यह 'बोधगया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह बौद्धों के उन चार प्रसिद्ध और पवित्र तीर्थों में है जिनका सम्बन्ध भगवान् बुद्ध के जीवन से है। बहुसंख्यक बौद्ध यात्री यहाँ आते हैं। सनातनी हिन्दू यहाँ भी अपने पितरों को, विशेष कर भगवान् बुद्ध को पिण्डदान करते हैं।

बोधायन—यजुर्वेद सम्बन्धी बौधायनश्रौतसूत्र के रचयिता सम्भवतः बोधायन थे। प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य के रूप में भी इनकी ख्याति अधिक है। जनश्रुति है कि 'ब्रह्मसूत्र' पर बोधायन की रची एक वृत्ति थी जिसके वचनों का आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में उद्धरण दिया है। जर्मन पण्डित याकोबी का मत है कि बोधायन ने 'मीमांसा-सूत्र' पर भी वृत्ति लिखी थी। 'प्रपञ्चहृदय' नामक ग्रन्थ से भी यह बात सिद्ध होती है और प्रतीत होता है कि बोधायननिर्मित 'वेदान्तवृत्ति' का नाम 'कृतकोटि' था। कहा जाता है कि रामानुज स्वामी के समय उसकी प्रतिलिपि एक मात्र कश्मीर में उपलब्ध थी और वहाँ से आचार्य उसको कूरेश शिष्य की सहायता से कण्ठस्थ रूप में ही प्राप्त कर सके थे।

बोधायनवृत्ति—दे० 'बोधायन।'

बोधार्यात्मनिर्वेद—भट्टोजि दीक्षित के समकालीन सदाशिव दीक्षित रचित एक अध्यात्मवादी ग्रन्थ।

बौद्ध दर्शन—बौद्ध दर्शन की ज्ञानमीमांसा 'आगम' अर्थात् तर्क अथवा युक्ति के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों पर अवलम्बित है, इसमें 'निगम' का महत्त्व नहीं है। इस दर्शन का केन्द्रबिन्दु है 'प्रतीत्य समुत्पाद' (कार्यकारण-सम्बन्ध) का सिद्धान्त, जिसके अनुसार कार्य-कारण-शृंखला से संसार के सारे दुःख उत्पन्न होते हैं और कारणों को हटा देने से कार्य अपने आप बन्द हो जाता है। इसकी तत्त्वमीमांसा के अनुसार संसार में कोई वस्तु नित्य नहीं है; सभी क्षणिक हैं। इस सिद्धान्त को क्षणिकवाद कहते हैं। कोई स्थायी सत्ता न होकर परिवर्तन-सन्तान ही भ्रम से स्थायी दिखाई पड़ता है। बौद्ध अनीश्वरवाद और अनात्मवाद के सिद्धान्त इसी से उत्पन्न होते हैं। बौद्ध अनीश्वरवाद के अनुसार विश्व के मूल में ब्रह्म अथवा ईश्वर नाम की कोई सत्ता नहीं है। विश्व प्रवहमान परिवर्तन है; इसका कोई कर्ता नहीं। ब्रह्म अथवा ईश्वर की खोज करना ऐसा ही है जैसे आकाश में ऐसी सुन्दरी तक पहुँचने के लिए सीढ़ी लगाना जो वहाँ नहीं है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के भीतर आत्मा की खोज भी व्यर्थ है। मनुष्य का व्यक्तित्व पाँच 'स्कन्धों' का संघात मात्र है, उसके भीतर कोई स्थायी आत्मा नहीं है। जिस प्रकार किसी गाड़ी के कल-पुर्जों को अलग-अलग कर देने के बाद उसके भीतर कोई स्थायी तत्त्व नहीं मिलता, उसी प्रकार स्कन्धों के विश्लेषण के बाद उनके भीतर कोई स्थायी तत्त्व नहीं मिलता।

अनात्मवाद का प्रतिपादन करते हुए भी बौद्ध दर्शन कर्म, पुनर्जन्म और निर्वाण मानता है। परन्तु प्रश्न यह है कि जब कोई स्थायी आत्मतत्त्व नहीं है तो कर्म के सिद्धान्त से किसका नियन्त्रण होता है? कौन पुनर्जन्म धारण करता है? और कौन निर्वाण प्राप्त करता है? बौद्ध धर्म में इसका समाधान यह है—"मृत्यु के उपरान्त व्यक्ति के सब स्कन्ध—तथाकथित आत्मा आदि नष्ट हो जाते हैं। परन्तु उसके कर्म के कारण उन स्कन्धों के स्थान पर नये-नये स्कन्ध उत्पन्न हो जाते हैं। उनके साथ एक नया जीव (जीवात्मा नहीं) भी उत्पन्न हो जाता है। इस नये और पुराने जीव में केवल कर्मसम्बन्ध का सूत्र रहता है। कार्य-कारणशृङ्खला के सन्तान से दोनों जीव एक से जान पड़ते हैं।" यही जन्म-मरण अथवा जन्म-जन्मान्तर का चक्र कर्म के आधार पर चलता रहता है। तृष्णा अथवा वासना रोकने से कर्म रुक जाता है और कर्म रुक जाने से जन्म-मरण का चक्र भी बन्द हो जाता है। जब सम्पूर्ण वासना अथवा तृष्णा का पूर्णतया क्षय हो जाता है तब निर्वाण प्राप्त होता है।

बौद्धधर्म––संसार के प्रमुख धर्मों में से यह एक है। मूलतः यह जीवन का एक दृष्टिकोण अथवा दर्शन था, धर्म नहीं, क्योंकि इसमें ईश्वर और धर्मविज्ञान के लिए कोई स्थान नहीं था। परन्तु भारत ही ऐसा देश है जहाँ ईश्वर के बिना भी धर्म चल सकता है। ईश्वर के बिना भी बौद्ध धर्म 'सद्धर्म' था। इसका कारण यह है कि यह अभौतिक परमार्थ 'निर्वाण' में विश्वास करता था और इसका आधार था प्रज्ञा, शील तथा समाधि।

अपने मूल रूप में बौद्धधर्म बुद्ध के उपदेशों पर आधारित है। ये उपदेश मुख्यतः 'सूत्रपिटक' में संगृहीत हैं। उनका प्रथम उपदेश (धर्मचक्र-प्रवर्तन) सारनाथ में हुआ था। इसमें मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। यह दो अतियों––इन्द्रियविलास और अनावश्यक शारीरिक तप के बीच चलता है। बुद्ध ने कहा है: "हे भिक्षुओ! परिव्राजक को इन दो अन्तों का सेवन नहीं करना चाहिए। वे दोनों अन्त कौन हैं? पहला तो काम या विषय में सुख के लिए अनुयोग करना। यह अन्त अत्यन्त दीन, ग्राम्य, अनार्य और अनर्थसंगत है। दूसरा है शरीर को क्लेश देकर दुःख उठाना। यह भी अनार्य और अनर्थसंगत है। हे भिक्षुओ! तथागत (मैं) ने इन दोनों अन्तों का त्याग कर मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) को जाना है।" यही चौथा आर्य सत्य था, जिसका उद्घोष बुद्ध ने धर्म की भूमिका के रूप में किया। इसके पश्चात् उन्होंने शेष आर्य सत्यों का उपदेश दिया।

चार आर्य सत्य (चत्वारि आर्यसत्यानि) हैं––(१) दुःख (२) समुदय (३) निरोध और (४) मार्ग (निरोधगामिनी प्रतिपदा)। पहला सत्य यह है कि संसार में दुःख है। फिर इस दुःख का कारण भी है। इसका कारण है तृष्णा (वासना)। तृष्णा के उत्पन्न होने की एक प्रक्रिया है। इसके मूल में है अविद्या। अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम-रूप, नाम-रूप से षडायतन (इन्द्रियाँ और मन), षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से भव, भव से जाति (जन्म), जाति से जरा, मरण, रोग आदि दुःख उत्पन्न होते हैं।

दुःख का इस प्रकार निदान हो जाने के पश्चात् उसके निरोध (निर्वाण) का मार्ग ढूँढ़ना और उसका अनुसरण करना चाहिए। इसी मार्ग को 'निरोधगामिनी प्रतिपदा' (मध्यम) कहते हैं। यह अष्टाङ्ग भी कहलाता है। आठ अङ्ग निम्नाङ्कित हैं:

(१) सम्यक् दृष्टि (जीवन में यथार्थ दृष्टिकोण),
(२) सम्यक् संकल्प (यथार्थ दृष्टिकोण से यथार्थ विचार),
(३) सम्यक् वाचा (यथार्थ विचार से यथार्थ बचन),
(४) सम्यक् कर्मान्त (यथार्थ वचन से यथार्थ कर्म),
(५) सम्यक् आजीव (यथार्थ कर्म से उचित जीविका),
(६) सम्यक् व्यायाम (उचित जीविका के लिए उचित प्रयत्न),
(७) सम्यक् स्मृति (उचित प्रयत्न से उचित स्मृति),
(८) सम्यक् समाधि (सम्यक् स्मृति से सम्यक् जीवन का संतुलन)। बुद्ध ने 'दस शीलों' का भी उपदेश दिया, जिनमें दसों तो भिक्षुओं के लिए अनिवार्य हैं और उनमें से प्रथम पाँच गृहस्थों के लिए अनिवार्य हैं। दस शीलों की गणना इस प्रकार है:

(१) जीवहिंसा का त्याग,
(२) अस्तेय (अदत्त वस्तु को ग्रहण न करना),
(३) ब्रह्मचर्य (मैथुनत्याग),
(४) सत्य (झूठ का त्याग),
(५) मादक वस्तु का त्याग,
(६) असमय भोजन का त्याग,
(७) अभिनय, नृत्य, गान आदि का त्याग,
(८) माल्य, सुगन्ध, अङ्गराग आदि का त्याग,
(९) कोमल शय्या का त्याग,
(१०) सुवर्ण और रजत के परिग्रह का त्याग।

बौधायन––बुध अथवा बोध के वंशज एक आचार्य, जो वेद-शाखा प्रवर्तक थे। इनके द्वारा श्रौत, धर्म तथा गृह्य सूत्र रचे माने जाते हैं।

बौधायनगृह्यसूत्र––स्मार्तों के लिए यह गृह्यसूत्र महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसमें स्मार्तों के कृत्यों का इतिहास दिया गया है। इसे कभी-कभी 'स्मार्तसूत्र' भी कहते हैं। इसके परिशिष्टों में स्मार्तों के धर्म की नियमावली दी हुई है।

बौधायनधर्मसूत्र––कृष्ण यजुर्वेद के तीन धर्मसूत्र प्रसिद्ध हैं; आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी तथा बौधायन। बौधायनधर्मसूत्र का कई स्थानों से मुद्रण हुआ है। १८८४ ई० में

डॉ० हुल्त्श ने लिपजिग से इसका प्रकाशन कराया। इसके पश्चात् आनन्दाश्रम प्रेस, पूना से स्मृतिसंग्रह में यह प्रकाशित हुआ। १९०७ ई० में गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज, मैसूर में गोविन्द स्वामी की टीका और भूमिका के साथ इसका प्रकाशन हुआ। परन्तु पूरे ग्रन्थ का हस्तलेख अभी तक नहीं प्राप्त हुआ है।

बौधायनशुल्वसूत्र—शुल्वसूत्र दो उपलब्ध हैं—बौधायनशुल्वसूत्र तथा आपस्तम्बशुल्वसूत्र। इन सूत्रों में पुराने समय की ज्यामिति तथा क्षेत्रमिति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है।

'शुल्व' एक प्रकार का सूत्र (फीता) होता था, जिससे यज्ञवेदियों के वर्ग, क्षेत्र आदि की नाप-जोख करने की विधि इस सूत्र में प्रदर्शित है।

बौधायनश्रौतसूत्र—कृष्ण यजुर्वेद का श्रौतसूत्र। बौधायनश्रौतसूत्र की पूरी प्रति मिलती नहीं है, जहाँ तक उपलब्ध है उसकी विषयसूची इस प्रकार है: पहले खण्ड में दर्शपूर्णमास, दूसरे में आधान, तीसरे में पुनराधान, चौथे में पशु, पाँचवें में चातुर्मास्य, छठे में सोमप्रवर्ग, सातवें में एकादशी, पशु, आठवें में चयन, नवें में वाजपेय, दसवें में शुल्वसूत्र, ग्यारहवें में कर्मान्त सूत्र, बारहवें में द्वैधसूत्र, तेरहवें में प्रायश्चित्तसूत्र, चौदहवें में काठकसूत्र, पन्द्रहवें में सौत्रामणि सूत्र, सोलहवें में अग्निष्टोम और सत्रहवें में धर्मसूत्र हैं। कपर्दी स्वामी, केशव स्वामी, गोपाल, देव स्वामी, धूर्त स्वामी, भव स्वामी, महादेव वाजपेयी और सायण के लिखे इस सूत्र पर भाष्य हैं।

ब्रजविलास—दे० 'व्रजविलास'।

ब्रह्म—ब्रह्म की सत्ता हिन्दू धर्म, दर्शन, सामाजिक व्यवस्था, साहित्य और कला की आधारशिला है। जीवन के सभी अङ्ग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इससे प्रभावित एवं अनुप्राणित हैं। इस शब्द का प्रादुर्भाव वेदों से ही दृष्टिगोचर होता है। सामान्य प्रयोगों में इसका अर्थ 'प्रार्थना', 'मन्त्र', 'शब्द' 'तेज', 'शक्ति', 'धन', 'सम्पत्ति' आदि है। किन्तु व्युत्पत्ति और दर्शन की दृष्टि से इसका अर्थ अधिक गम्भीर, व्यापक और अतिरेकी है।

इस शब्द की व्युत्पत्ति 'बृह्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है प्रस्फुटित होना, प्रसरण, बढ़ना आदि। इसका सम्बन्ध बृहस्पति और वाचस्पति से भी है। वास्तव में उच्चारित शब्द की अन्तर्निहित शक्ति के विस्फोट और उपबृंहण से ही इन तीनों शब्दों का तादात्म्य है। इन अर्थों में 'बृहत्' होने की भावना की प्रधानता है, जिसका आशय है: 'ब्रह्म' सबसे बड़ा है, उससे बड़ा कोई नहीं। वही सर्वव्यापक, बृहत्तम अथवा महत्तम है। छान्दोग्य उपनिषद् के 'भूमा' शब्द में इसी अर्थ की अभिव्यक्ति हुई है, जिसका तात्पर्य सार्वभौम, सर्वव्यापक, असीम और अनन्त सत्ता है।

सर्वप्रथम उपनिषदों में ब्रह्म का विवेचन हुआ है। तैत्तिरीय उपनिषद् में एक संवाद के अन्तर्गत भृगु ने पिता वरुण से प्रश्न किया कि 'ब्रह्म' क्या है। वरुण ने उत्तर दिया—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति।"

[जिससे ये समस्त भूत (जगत् के जड़ चेतन पदार्थ) जन्म लेते हैं, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से जीते हैं और पुनः उसी में लौटकर पूर्णतः विलीन हो जाते हैं, उसी को सम्यक् प्रकार से जानने की इच्छा करो। वही ब्रह्म है।]

ब्रह्म का इसी प्रकार का निरूपण दूसरे शब्दों में छान्दोग्य उपनिषद् में पाया जाता है। इसमें ब्रह्म को 'तज्जलान्' (तत् + ज + ल + अन्) कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म तज्ज, तल्ल और तदन् है। वह 'तज्ज' है, क्योंकि समस्त भूत उसी से उत्पन्न होते हैं; वह 'तल्ल' है, क्योंकि सभी भूतों का लय उसी में होता है और वह 'तदन्' है, क्योंकि अपनी स्थिति के समय में सभी भूत उससे अनन अथवा प्राणन करते हैं। ब्रह्म में इन तीनों का समावेश है, इसलिए ब्रह्म का निरूपण 'तज्जलान्' सूत्र से किया जाता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म को सच्चिदानन्द (सत् + चित् + आनन्द) माना गया है। उसी में सब पदार्थों का अस्तित्व है, समस्त चैतन्य का स्रोत भी वही है और आनन्द का उद्गम भी। ब्रह्म को 'सत्यं शिवम् आनन्दम्' भी कहा गया है।

वास्तव में 'तज्जलान्' ब्रह्म का 'तटस्थ' लक्षण है, अर्थात् यहाँ ब्रह्म का विचार बाह्य जगत् की दृष्टि से किया गया

है। ब्रह्म का 'स्वरूप' लक्षण 'सच्चिदानन्द' है, जिसमें ब्रह्म का विचार उसके स्वरूप की दृष्टि से किया गया है। और भी कई दृष्टियों से ब्रह्म के ऊपर विचार हुआ है। तैत्तिरीय उपनिषद् (आनन्दवल्ली) में अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द को ब्रह्म के पाँच कोष बतलाया गया है। अन्नमय कोष ब्रह्म का सबसे स्थूल (भौतिक) आवरण है। प्राणमय इससे सूक्ष्म, मनोमय प्राणमय से भी सूक्ष्म, विज्ञानमय (बौद्धिक) मनोमय से तथा आनन्दमय कोष विज्ञानमय कोष से सूक्ष्म है। परवर्ती पूर्ववर्ती से सूक्ष्म और उसका आधार है। ब्रह्म आनन्दमय से भी सूक्ष्म और सबका आधार है। कुछ विद्वान् ब्रह्म को आनन्दमय मानते हैं, परन्तु वह वास्तव में केवल आनन्दमय न होकर 'आनन्दघन' है। ब्रह्म की दो अवस्थाएँ हैं—(१) पर ब्रह्म और (२) अपर ब्रह्म। अपने शुद्ध रूप में ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष है। उसका निर्वचन नहीं हो सकता। इस रूप में वह पर ब्रह्म है। परन्तु जब ब्रह्म माया में प्रतिबिम्बित होता है तब वह सगुण हो जाता है। इसमें गुण आरोपित होते हैं। यह रूप अपर ब्रह्म का है। इसी को सगुण ब्रह्म, ईश्वर, भगवान् आदि कहते हैं। शाङ्कर वेदान्त में ब्रह्म को अद्वैत ही कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म को न एक कह सकते हैं और न अनेक। वह दोनों निर्वचनों से परे अर्थात् अद्वैत है। ब्रह्म का वास्तविक निरूपण निषेधात्मक है। इसीलिए उसको 'नेति-नेति' (ऐसा नहीं, ऐसा नहीं) कहते हैं।

ब्रह्मसूत्र और उसके विभिन्न भाष्यों में औपनिषदिक वचनों को ही लेकर ब्रह्म की व्याख्या की गयी है। बादरायण ने उपनिषद् के 'तज्जलान्' को लेकर ब्रह्म का लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः' कहा है (ब्रह्मसूत्र, १.१.२)। यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। इसका अर्थ है 'जिससे जन्म आदि सृष्टि की प्रक्रियाएँ होती हैं' वह ब्रह्म है। इसके अनुसार ब्रह्म से ही सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है, इसलिए वह विश्व का मूल कारण है। ब्रह्म सृष्टि में अन्तर्व्याप्त है, इसलिए वह अन्तर्यामी है तथा सम्पूर्ण सृष्टि का नियमन करता है। अन्त में सृष्टि का विलय ब्रह्म में ही होता है, अतः वह समस्त विश्व का साध्य भी है। वही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। उपनिषदों में इसलिए कहा गया है : 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन; ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' आदि।

इसमें सन्देह नहीं कि जगत् का प्रादुर्भाव ब्रह्म से हुआ है। परन्तु ब्रह्म और जगत् में क्या सम्बन्ध है इसको लेकर भाष्यकार आचार्यों में मतभेद है। सांख्यदर्शन प्रकृतिवादी होने से प्रकृति को सृष्टि का उपादान कारण मानता है। न्याय-वैशेषिक ईश्वरवादी हैं अतः वे प्रकृति को सृष्टि का उपादान और ईश्वर को उसका निमित्त कारण मानते हैं। किन्तु वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है। अतः सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण दोनों वही है। इस मत को 'अभिन्न निमित्तोपादान कारणवाद' कहते हैं।

ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है, इस पर वेदान्त के सभी सम्प्रदायों का प्रायः ऐकमत्य है। परन्तु ब्रह्म, जीव और जगत् का जो आपाततः भेद दिखाई पड़ता है उसका क्या स्वरूप है, इस सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। भेद तीन प्रकार के होते हैं—(१) स्वगत (२) सजातीय और (३) विजातीय। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई भिन्न सत्ता स्वीकार की जाय तो जगत् से ब्रह्म का विजातीय भेद हो जायेगा। यदि स्वयं ब्रह्म ही एक से अधिक हो तो ब्रह्म का जगत् से सजातीय भेद होगा। यदि ब्रह्म विराट् पुरुष है और सम्पूर्ण विविध विश्व उसमें समाविष्ट है तो ब्रह्म का जगत् के साथ स्वगत भेद है। सभी वेदान्ती सम्प्रदाय ब्रह्म में विजातीय और सजातीय भेद का प्रत्याख्यान करते हैं। किन्तु विशिष्टाद्वैत आदि कुछ सम्प्रदाय स्वगत-भेद मानते हैं। ब्रह्म को पुरुषोत्तम मानने वाले प्रायः सभी भक्तिसम्प्रदाय स्वगत-भेद स्वीकार करते हैं। किन्तु अद्वैतवादी शाङ्कर स्वगत-भेद भी स्वीकार नहीं करते। ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद, गुण, विकार आदि मानने को वे तैयार नहीं। इसलिए उनका ब्रह्म केवल ध्यान और अनुभव का पात्र है। धर्म या उपासना की दृष्टि से स्वगत भेदयुक्त सगुण ब्रह्म का स्वरूप ही उपयोगी है। वही ईश्वर है और भक्तों का आराध्य है। वह सर्वगुणसन्दोह और भक्तों का प्रेमपात्र है। वही संसार में अवतरित और लोक के मङ्गल में प्रवृत्त होता है। अद्वैतवादियों के लिए माया (दृश्य प्रपञ्च) मिथ्या है, परन्तु भक्तों के लिए वह वास्तविक और भगवान् की शक्ति (योगमाया) है।

आचार्यों ने तर्क के आधार पर भी ब्रह्मवाद का समर्थन करने का प्रयास किया है। शङ्कराचार्य ने ब्रह्म के

अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए मुख्यतः तीन प्रमाण दिये हैं :

(अ) संसार के सभी कार्यों और वस्तुओं का कोई न कोई मूल कारण होता है, जिससे वे उत्पन्न होते हैं। इस मूल कारण का कोई कारण नहीं होता। वह अनादि, अज, सनातन कारण ब्रह्म है।

(आ) संसार के पदार्थों और कार्यों में एक शृङ्खला और व्यवस्था दिखाई पड़ती है। यह अचेतन प्रकृति से संभव नहीं। अतः इसका आदि कारण चेतन ब्रह्म है।

(इ) ब्रह्म के सर्वदा सर्वत्र वर्तमान (प्रत्यगात्मा) होने के कारण सभी को अनुभव होता है कि 'मैं हूँ'।

ब्रह्म और जीवात्मा के सम्बन्ध पर भी भारतीय दर्शनों में प्रचुर विचार हुआ है। इस चर्चा का आधार है उपनिषद्वाक्य 'तत्त्वमसि'। आचार्य शङ्कर आदि अद्वैतवादी इसका अर्थ करते हैं, 'तू (आत्मा) वह (ब्रह्म) है।' अतः वे ब्रह्म और जीवात्मा का अभेद मानते हैं। आचार्य रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी होने के कारण ब्रह्म और जीव के बीच विशिष्ट अभेद (ऐक्य) मानते हैं। उनके अनुसार जीव और ब्रह्म के बीच अङ्ग और अङ्गी का सम्बन्ध है। द्वैतवादी आचार्य मध्व उपनिषद्वाक्य की व्याख्या करते हैं, 'तू (आत्मा) उसका (ब्रह्म का) है' और ब्रह्म और जीव के बीच सनातन भेद मानते हैं। वे ब्रह्म को जीव का स्वामी एवं आराध्य मानते हैं। निम्बार्क के अनुसार दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध है, अर्थात् उपासना के लिए जीव और ब्रह्म में भेद है परन्तु तत्त्वतः अभेद है। वल्लभाचार्य के विशुद्धाद्वैत के अनुसार ब्रह्म और जीवात्मा में आत्यन्तिक अभेद नहीं, क्योंकि जीव अणु होने से उत्पन्न और विकृत होता है। महाप्रभु चैतन्य के अनुसार ब्रह्म और जीव के बीच अचिन्त्य भेदाभेद का सम्बन्ध है। ब्रह्म में अचिन्त्य (अनिर्वचनीय) शक्तियाँ हैं जो भेद और अभेद दोनों में साथ प्रकट होती हैं; केवल भेद अथवा अभेद मानना युक्त नहीं। भगवान् में दोनों का समाहार है। इन विचारधाराओं ने धार्मिक जीवन के विविध मार्गों को जन्म दिया है।

ब्रह्म एव इदं सर्वम्—'ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण विश्व है।' यह उपनिषदों (दे० मुण्डक उपनिषद् २.१.११) का एक प्रमुख सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त ने अद्वैत वेदान्त की भूमिका प्रस्तुत की।

ब्रह्मकीर्तनतरङ्गिणी—सदाशिव ब्रह्मेन्द्र (भट्टोजि दीक्षित के समकालीन) रचित एक ग्रन्थ, जो अभी तक अप्रकाशित है।

ब्रह्मकूर्च व्रत—(१) कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को इसका अनुष्ठान होता है। इसमें उपवास तथा पञ्चगव्य प्राशन का विधान है। पञ्चगव्य की पाँच वस्तुएँ हैं—गोमूत्र, गोमय, गोदधि, गोघृत और गोदुग्ध। किन्तु ये पाँचों पदार्थ विभिन्न रंगों की गौओं से लेने चाहिए। दूसरे दिन देवों तथा ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए। पूजनोपरान्त आहार करने का विधान है। इससे समस्त पापों का क्षय होता है।

(२) चतुर्दशी को उपवास रखते हुए पूर्णिमा को पञ्चगव्य प्राशन, तदनन्तर हविष्यान्न का आहार करना चाहिए। एक वर्ष तक प्रति मास इसका अनुष्ठान होता है।

(३) मास में दो बार अर्थात् अमावस्या तथा पूर्णिमा के क्रम से इसका पाक्षिक अनुष्ठान करना चाहिए।

ब्रह्मगुप्त—ब्रह्मगुप्त गणित-ज्योतिष के बहुत बड़े आचार्य हो गये हैं। प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य ने इनको 'गणकचक्रचूड़ामणि' कहा है और इनके मूलांकों को अपने 'सिद्धान्तशिरोमणि' का आधार माना है। इनके ग्रन्थों में सर्वप्रसिद्ध हैं, 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' और 'खण्डखाद्यक'। खलीफाओं के राज्यकाल में इनके अनुवाद अरबी भाषा में भी कराये गये थे, जिन्हें अरब देश में 'अल सिन्द हिन्द' और 'अल् अर्कन्द' कहते थे। पहली पुस्तक 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' का अनुवाद है और दूसरी 'खण्डखाद्यक' का। ब्रह्मगुप्त का जन्म शक ५१८ (६५३ वि०) में हुआ था और इन्होंने शक ५५० (६८५ वि०) में 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' की रचना की। इन्होंने स्थान-स्थान पर लिखा है कि आर्यभट, श्रीषेण, विष्णुचन्द्र आदि की गणना से ग्रहों का स्पष्ट स्थान शुद्ध नहीं आता, इसलिए वे त्याज्य हैं और 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' में दृग्गणितैक्य होता है, इसलिए यही मानना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त ने 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' की रचना ग्रहों का प्रत्यक्ष वेध करके की थी और वे इस बात की आवश्यकता समझते थे कि जब कभी गणना और वेध में अन्तर पड़ने लगे तो वेध के द्वारा गणना शुद्ध कर लेनी चाहिए। ये पहले आचार्य थे जिन्होंने गणित-ज्योतिष की

रचना विशेष क्रम से की और ज्योतिष और गणित के विषयों को अलग-अलग अध्यायों में बाँटा।

ब्रह्मचर्य—मूल अर्थ है 'ब्रह्म (वेद अथवा ज्ञान) की प्राप्ति का आचरण।' इसका रूढ प्रयोग विद्यार्थीजीवन के अर्थ में होता है। आर्य जीवन के चार आश्रमों में प्रथम ब्रह्मचर्य है जो विद्यार्थीजीवन की अवस्था का द्योतक है। ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल में इसके अर्थों पर विवेचन हुआ है। निःसन्देह विद्यार्थीजीवन का अभ्यास क्रमशः विकसित होता गया एवं समय के साथ-साथ इसके आचार कड़े होते गये, किन्तु इसका विशद विवरण परवर्ती वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध होता है। ब्रह्मचारी की प्रशंसा में कथित अथर्ववेद (११.५) के एक सूक्त में इसके सभी गुणों पर प्रकाश डाला गया है। आचार्य द्वारा कराये गये उपनयन संस्कार द्वारा बटुक का नये जीवन में प्रवेश, मृगचर्म धारण करना, केशों को बढ़ाना, समिधा संग्रह करना, भिक्षावृत्ति, अध्ययन एवं तपस्या आदि उसकी साधारण चर्या वर्णित है। ये सभी विषय परवर्ती साहित्य में भी दृष्टिगत होते हैं।

विद्यार्थी आचार्य के घर में रहता है (आचार्यकुलवासिनः, ऐ० ब्रा० १.२३,२; अन्तेवासिनः, वही ३.११,५); भिक्षा माँगता है, यज्ञाग्नि की देखरेख करता है (छा० उ० ४.१०.२) तथा घर की रक्षा करता है (शत० ब्रा० ३.६२.१५)। उसका छात्रजीवनकाल बढ़ाया जा सकता था। साधारणतः यह काल बारह वर्षों का होता था जो कभी-कभी बत्तीस वर्ष तक हो सकता था। छात्रजीवनारम्भ के काल निश्चय में भी भिन्नता है। श्वेतकेतु १२ वर्ष की अवस्था में इसे आरम्भ कर १२ वर्ष तक अध्ययन करता रहा (छा० उ० ५.१.२)। गृह्यसूत्रों में कहा गया है कि प्रथम तीनों वर्णों को ब्रह्मचर्य आश्रम में रहना चाहिए। किन्तु इसका पालन ब्राह्मणों के द्वारा विशेष कर, क्षत्रियों द्वारा उससे कम तथा वैश्यों द्वारा सबसे कम होता था। दूसरे और तीसरे वर्ण के लोग ब्रह्मचर्य (विद्यार्थीजीवन) के एक अंश का ही पालन करते थे और सभी विद्याओं का अध्ययन न कर केवल अपने वर्ण के योग्य विद्याभ्यास करने के बाद ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर जाते थे। क्षत्रियकुमार विशेष कर युद्ध विद्या का ही अध्ययन करते थे। राजकुमार युद्धविद्या, राजनीति, धर्म तथा अन्यान्य विद्याओं में भी पाण्डित्य प्राप्त करते थे।

कभी-कभी प्रौढ और वृद्ध लोग भी छात्रजीवन का निर्वाह समय-समय पर करते थे, जैसा कि आरुणि (बृ० उ० ६.१.६) की कथा से ज्ञात होता है।

ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ स्त्रीचिन्तन, दर्शन, स्पर्श आदि का सर्वथा त्याग है। इस प्रकार से ही पठन, भजन, ध्यान की ओर मनोनिवेश सफल होता है।

ब्रह्मचारी—आर्यों द्वारा पालित चार आश्रमों में से प्रथम आश्रमी, जो ब्रह्मचर्य के नियमों के साथ विद्याध्ययन में निरत रहता था। विशेष विवरण के लिए दे० 'ब्रह्मचर्य'।

ब्रह्मज्ञानी—ब्रह्म को जानने वाला। आत्मा अथवा ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान जिसने प्राप्त कर लिया है वही ब्रह्मज्ञानी है। वह सभी बन्धनों से मुक्त, मोक्ष का अधिकारी होता है।

ब्रह्मण्यतीर्थ—मध्व मतावलम्बी आचार्य व्यासराज स्वामी के गुरु। इनका काल सोलहवीं शताब्दी है।

ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका—सदाशिवेन्द्र सरस्वती के ग्रन्थों में 'ब्रह्मसूत्रवृत्ति' बहुत प्रसिद्ध है। यह ब्रह्मसूत्रों की शाङ्करभाष्यानुसारिणी वृत्ति है। इसका अध्ययन कर लेने पर शाङ्कर भाष्य समझना सरल हो जाता है। इस वृत्ति का नाम 'ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका' है।

ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा—'भामती' व्याख्याकार आचार्य वाचस्पति मिश्र (९वीं शताब्दी) द्वारा रचित ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा सुरेश्वराचार्य कृत ब्रह्मसिद्धि की टीका है।

ब्रह्मतर्कस्तव—अप्पय दीक्षित का शैवमत प्रतिपादक ग्रन्थ 'ब्रह्मतर्कस्तव' वसन्ततिलका वृत्तों में रचा गया है। इसमें भगवान् शिव की महत्ता बतलायी गयी है।

ब्रह्मदत्त चैकितानेय—चेकितान के वंशज, ब्रह्मदत्त चैकितानेय को बृहदारण्यकोपनिषद् (१.३,२६) में आचार्य कहा गया है। जैमिनीयोपनिषद् (१.३८,१) में उनका उल्लेख अभिप्रतारी नामक कुरु राजा द्वारा संरक्षित आचार्य के रूप में हुआ है।

ब्रह्मदत्त वेदान्ताचार्य—शङ्कराचार्य के पूर्व ब्रह्मदत्त नामक एक अतिप्रसिद्ध वेदान्ती हो गये हैं। सम्भव है वे भी वेदान्तसूत्र के भाष्यकार रहे हों। ब्रह्मदत्त के विचार से 'जीव अनित्य है, एकमात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है।' इस मत को वेदान्तदेशिकाचार्य ने अपने 'तत्त्वमुक्ताकलाप' की टीका सर्वार्थसिद्धि (२.१६) में उद्धृत किया है। ब्रह्मदत्त कहते हैं—"जीव तथा जगत् दोनों ही ब्रह्म से

उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं ।" इनकी दृष्टि से उपनिषदों का यथार्थ तात्पर्य 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में नहीं है, किन्तु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि नियोगवाक्यों में है । इनके मत से साधक की किसी अवस्था में कर्मों का त्याग नहीं हो सकता ।

शङ्कराचार्य ने बृहदारण्यक (१.४.७) के भाष्य में ब्रह्मदत्त के मत का उल्लेख किया है । इस मत में अज्ञान की निवृत्ति भावनाजन्य ज्ञान से होती है । औपनिषद ज्ञान मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है । ब्रह्मदत्त कहते हैं : 'यद्यपि देह के अवस्थितिकाल में देवता का साक्षात्कार हो सकता है तथापि उनके साथ मिलन तभी संभव है जब देह न रहे । प्रारब्ध कर्म उपास्य के साथ उपासक के मिलने में प्रतिबन्धक है ।' ब्रह्मदत्त ध्यानयोगवादी थे, वे जीवन्मुक्ति नही मानते । शङ्कराचार्य के मत से मोक्ष दृष्टफल है । ब्रह्मदत्त के मत से यह अदृष्टफल है ।

ब्रह्मद्वादशी—पौष शुक्ल द्वादशी को ज्येष्ठा नक्षत्र होने पर इस व्रत का आरम्भ होता है । यह तिथिव्रत है, देवता विष्णु हैं । एक वर्ष तक प्रति मास भगवान् विष्णु की पूजा तथा उस दिन उपवास रखना चाहिए । प्रति मास विभिन्न वस्तुओं, जैसे घी, चावल तथा जौ का होम होना चाहिए ।

ब्रह्मनन्दी—प्राचीन काल के एक वेदान्ताचार्य । इनका मत मधुसूदन सरस्वती ने 'संक्षेपशारीरक' की टीका (३.२१७) में उद्धृत किया है । इससे अनुमान किया जाता है कि शायद ये भी अद्वैत वेदान्त के आचार्य रहे होंगे । प्राचीन वेदान्त साहित्य में ब्रह्मनन्दी 'छान्दोग्यवाक्यकार' अथवा केवल 'वाक्यकार' नाम से प्रसिद्ध थे ।

ब्रह्मपदशक्तिवाद—स्वामी अनन्ताचार्य कृत एक ग्रन्थ । इसमें रामानुज सम्प्रदाय के सिद्धान्त का समर्थन किया गया है ।

ब्रह्मपुत्रस्नान—ब्रह्मपुत्र नदी में, जिसे ऊपर की ओर लौहित्य भी कहा जाता है, चैत्र शुक्ल अष्टमी को स्नान करने से विशेष पुण्य होता है । इस स्नान से समस्त पापों का नाश हो जाता है । जैसा कि विश्वास है, उस दिन समस्त नदियों तथा समुद्र का भी जल ब्रह्मपुत्र में वर्तमान रहता है ।

ब्रह्मपुराण—इस पुराण का दूसरा नाम आदि ब्राह्म है । यह वैष्णव पुराण है और इसमें विष्णु के अवतारों की प्रधानता है । इसमें पुराण का मूल रूप और प्राचीनतम सामग्री पायी जाती है । इसमें २४५ अध्याय और १४००० श्लोक हैं । पुराण के पञ्चलक्षण—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित इसमें पाये जाते हैं । इसमें प्रथम सृष्टि का वर्णन, तदनन्तर सूर्य और चन्द्रवंश का संक्षिप्त परिचय है । इसके पश्चात् पार्वती का आख्यान और मार्कण्डेय की कथा के अनन्तर कृष्णकथा (अ० १८०-२१२) विस्तार से दी हुई है । मरणोत्तर अवस्था का वर्णन अनेक अध्यायों में पाया जाता है । सूर्यपूजा और सूर्यमहिमा का वर्णन भी हुआ है (अ० २८-३३) । दर्शन शास्त्र का भी विवेचन है । सांख्यदर्शन की समीक्षा दस अध्यायों (२३४-२४४) में पायी जाती है । किन्तु इस पुराण का सांख्य सेश्वर सांख्य है और ज्ञान के साथ भक्ति का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है । इसके अन्त में धर्म की महिमा निम्नांकित प्रकार से गायी गयी है :

> धर्मे मतिर्भवतु वः पुरुषोत्तमानां
> स ह्येक एव परलोक गतस्य बन्धुः ।
> अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
> नैव प्रभावमुपयन्ति नच स्थिरत्वम् ॥
> (ब्रह्मपुराण, २५५-३५)

ब्रह्मबन्धु—आचारहीन, निन्दनीय ब्राह्मण । इस शब्द का अयोग्य अथवा नाममात्र का पुरोहित अर्थ ऐतरेय ब्रा० (७.२७) तथा छान्दोग्य उ० (६.१.१) में किया गया है । 'राजन्यबन्धु' से इसका साम्य द्रष्टव्य है । स्मृतियों में भी 'ब्रह्मबन्धु' का प्रयोग हुआ है, जहाँ इसका अर्थ है 'वह व्यक्ति जो नाम मात्र का ब्राह्मण है, जिसमें ब्राह्मण के गुण नहीं हैं और जो ब्राह्मण का केवल भाई-बन्धु है ।'

ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्—योग विद्या सम्बन्धी एक उपनिषद् । इस वर्ग की सभी उपनिषदें छन्दोबद्ध हैं, जिनमें यह सबसे प्राचीन है तथा संन्यासवर्गीय मैत्रायणी की समकालीन है ।

ब्रह्ममीमांसा—उपनिषदों के ब्रह्म सम्बन्धी चिन्तन का विकास वेदान्त दर्शन में हुआ है, जिसे उत्तरमीमांसा, ब्रह्म सम्बन्धी परवर्ती जिज्ञासा अथवा ब्रह्ममीमांसा भी कहते हैं ।

ब्रह्मयामल तन्त्र—यामल का अर्थ जोड़ा (युग्म) है । ऐसे कुछ तन्त्रों में मूल देवता के साथ साथ उसकी शक्ति का भी निरूपण है । आठ यामल तन्त्र हैं, इनमें ब्रह्मयामल भी एक है ।

ब्रह्मरम्भा—दक्षिण भारत के 'श्रीशैल' नामक पवित्र पर्वत पर यह शाक्त तीर्थ है। स्थानीय लेखों (स्थलमाहात्म्य) के आधार पर यह मल्लिकार्जुन का बनवाया हुआ बताया जाता है। चतुर्थ शताब्दी ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य की पुत्री इसके देवता के प्रति अत्यन्त भक्ति रखती थी, वह नित्य मन्दिर में मल्लिका (मल्लिकापुष्प) चढ़ाती थी। एक लेख से यह भी ज्ञात होता है कि बौद्ध विद्वान् नागार्जुन ने भिक्षुओं तथा संन्यासियों को यहाँ रहने के लिए आमंत्रित किया तथा सभी धार्मिक पुस्तकों का यहाँ संग्रह किया। बौद्धधर्म के अवसान पर यह आश्रम हिन्दू मन्दिर में परिवर्तित हुआ तथा यहाँ शिव तथा उनकी शक्ति माधवी या 'ब्रह्मरम्भा' की उपासना आरम्भ हुई। दक्षिण भारत में यह एक मात्र मन्दिर है, जहाँ सभी जातियों अथवा वर्गों के पुरुष तथा स्त्रियाँ पूजा में भाग ले सकते हैं।

ब्रह्मराक्षस—दे० 'ब्राह्म पुरुष।'

ब्रह्मर्षिदेश—ब्रह्मर्षियों के निवास का देश। इसकी परिभाषा और महिमा मनुस्मृति (२.१९-२०) में इस प्रकार दी हुई है:

कुरुक्षेत्रञ्च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

[कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, शूरसेन मिलकर ब्रह्मर्षिदेश है, जो ब्रह्मावर्त के निकट है। इस देश में उत्पन्न ब्राह्मण के पास से पृथ्वी के सभी मानव अपना-अपना चरित्र सीखते रहें।]

यहाँ के आचार-विचार आदर्श माने जाते थे।

ब्रह्मवादी—प्राचीन काल में इसका अर्थ 'वेद की व्याख्या करने वाला' था। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'ब्रह्मविद्' ब्रह्म (परम तत्त्व) को जानने वाले को कहा गया है। आगे चलकर इसका अर्थ 'ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है ऐसा कहने वाला' हो गया।

ब्रह्मव्रत—(१) किसी भी पवित्र तथा उल्लेखनीय दिन में इस व्रत का अनुष्ठान हो सकता है। यह प्रकीर्णक व्रत है। इसमें ब्रह्माण्ड (गोल) की सुवर्ण प्रतिमा का लगातार तीन दिनों तक तिलों के साथ पूजन करना चाहिए। साथ ही अग्नि का पूजन कर प्रतिमा को तिल सहित किसी सपत्नीक गृहस्थ को दान कर देना चाहिए। इस व्रत के आचरण से व्रती ब्रह्मलोक को प्राप्त कर जीवनमुक्त हो जाता है।

(२) द्वितीया के दिन किसी वैदिक (ब्रह्मचारी) को भोजनादि खिलाकर सम्मान किया जाना चाहिए। ब्रह्मा की प्रतिमा को कमलपत्र पर विराजमान करके गन्ध, अक्षत, पुष्पादि से उसका पूजन करना चाहिए। इसके बाद घी तथा समिधाओं से हवन करने का विधान है।

ब्रह्मलक्षणनिरूपण—स्वामी अनन्ताचार्य (सोलहवीं शताब्दी) द्वारा रचित एक ग्रन्थ। इसमें रमानुज सम्प्रदाय के मत का प्रतिपादन हुआ है।

ब्रह्मलोक—पुराणों में ब्रह्माण्ड को सात ऊपरी तथा सात निचले लोकों में बँटा हुआ बताया गया है। इस प्रकार कुल चौदह लोक हैं। सात ऊपरी लोकों में सत्यलोक अथवा ब्रह्मलोक सबसे ऊपर है। यहाँ के निवासियों की मृत्यु नहीं होती। यह अपने निचले तपोलोक से १२०० लाख योजन ऊँचा है।

ब्रह्मविद्या—यह छान्दोग्य उपनिषद् (७.१,२,४;२,१;७,१) तथा बृहदारण्यक उपनिषद् (१.४,२० आदि) में एक प्रकार की विद्या बतायी गयी है जिसका अर्थ है 'ब्रह्म का ज्ञान'। प्रत्येक महान् धर्म के दो बड़े भाग देखे जाते हैं: पहला आन्तरिक तथा दूसरा बाह्य। पहला आत्मा है तो दूसरा शरीर। पहले भाग में चरम सत्ता (ब्रह्म) का ज्ञान तथा दूसरे में धार्मिक नियमों का पालन, क्रियाएँ तथा उत्सवादि क्रियाकलाप निहित होते हैं। धर्म के पहले भाग को हिन्दूधर्म में 'ब्रह्मविद्या' कहते हैं तथा इसके जानने वालों को 'ब्रह्मवादी' कहते हैं।

ब्रह्मविद्या उपनिषद्—योग विद्या सम्बन्धी एक उपनिषद्। यह छन्दोबद्ध है। स्पष्टतः यह परवर्ती उपनिषद् है।

ब्रह्मविद्याभरण—१५वीं शताब्दी के एक वेदान्ताचार्य अद्वैतानन्द ने शाङ्करभाष्य के आधार पर ब्रह्मविद्याभरण नामक वेदान्तवृत्ति लिखी है। इसमें ब्रह्मसूत्र के चार अध्यायों की व्याख्या है। साथ ही इसमें पाशुपत धर्म के आवश्यक नियमों का भी वर्णन हुआ है।

ब्रह्मविद्याविजय—वेदान्तशास्त्री दोद्दयाचार्य द्वारा रचित एक

ग्रन्थ । दोद्दयाचार्य रामानुज स्वामी के अनुयायी तथा अप्पय दीक्षित के समकालीन थे ।

ब्रह्मविद्यासमाज—ब्रह्मविद्यासमाज या 'थियोसोफिकल सोसाइटी' की स्थापक श्रीमती ब्लावात्स्की थीं । इसकी स्थापना 'आर्य समाज' के उदय के साथ ही १८८५ ई० के लगभग हुई । इसका मुख्य स्थान अद्यार (मद्रास) में रखा गया । 'ब्राह्मसमाज' की तरह इसमें एक मात्र ब्रह्म की उपासना आवश्यक न थी, और न जाति-पाँति या मूर्ति-पूजा का खण्डन आवश्यक था । आर्य समाज की तरह इसने हिन्दू संस्कृति और वेदों को अपना आधार नहीं बनाया और न किसी मत का खण्डन किया । इसका एक मात्र उद्देश्य विश्वबन्धुत्व और साथ ही गुप्त आत्मशक्तियों का अनुसन्धान और सर्वधर्म समन्वय है । इसके उद्देश्यों में स्पष्ट कहा गया है कि धर्म, जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, राष्ट्र, प्रजाति, वर्ग में किसी तरह का भेदभाव न रखकर विश्व में बन्धुत्व की स्थापना मुख्यतया अभीष्ट है । अतः इसमें सभी तरह के धर्म-मतों के स्त्री-पुरुष सम्मिलित हुए ।

पुनर्जन्म, कर्मवाद, अवतारवाद जो हिन्दुत्व की विशेषताएँ थीं वे इसमें प्रारम्भ से ही सम्मिलित थीं । गुरु की उपासना तथा योगसाधना इसके रहस्यों में विशेष सन्निविष्ट हुई । तपस्या, जप, व्रत आदि का पालन भी इसमें आवश्यक माना गया । इस तरह इसकी आधारशिला हिन्दू संस्कृति पर प्रतिष्ठित थी । श्रीमती एनीबेसेण्ट आदि कई विदेशी सदस्य अपने को हिन्दू कहते थे, उनकी उत्तरक्रिया हिन्दुओं की तरह की जाती थी । इस सभा की शाखाएँ सारे विश्व में आज भी व्याप्त हैं । हिन्दू सदस्य इसमें सबसे अधिक हैं । पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से जिनके मन में सन्देह उत्पन्न हो गया था, परन्तु जो पुनर्जन्म, वर्णाश्रम विभाग आदि को ठीक मानते थे, और न ब्राह्मसमाजी हो सकते थे न आर्यसमाजी, ऐसे हिन्दुओं की एक भारी संख्या ने थियोसॉफिकल सोसाइटी को अपनाया और उसमें अपनी सत्ता बिना खोये सम्मिलित हो गये । भारत की अपेक्षा पाश्चात्य देशों में यह संस्था अधिक लोकप्रिय और व्यापक है ।

ब्रह्मवेद—अथर्ववेद का साक्षात्कार अथर्वा नामक ऋषि ने किया, इसलिए इसका नाम अथर्ववेद हो गया । यज्ञ के ऋत्विजों में से ब्रह्मा के लिए अथर्ववेद का उपयोग होता था, अतः इसको 'ब्रह्मवेद' भी कहते हैं । ग्रिफिथ ने इसके अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में ब्रह्मवेद कहलाने के तीन कारण कहे हैं । पहले का उल्लेख ऊपर हुआ है । दूसरा कारण यह है कि इस वेद में मन्त्र हैं, टोटके हैं, आशीर्वाद हैं और प्रार्थनाएँ हैं, जिनसे देवताओं को प्रसन्न किया जा सकता है; मनुष्य, भूत, प्रेत, पिशाच आदि आसुरी शत्रुओं को शाप दिया जा सकता और नष्ट किया जा सकता है । इन प्रार्थनात्मिका स्तुतियों को 'ब्रह्माणि' कहा जाता था । इन्हीं का ज्ञानसमुच्चय होने से इसका नाम ब्रह्मवेद पड़ा । ब्रह्मवेद कहलाने की तीसरी युक्ति यह है कि जहाँ तीनों वेद इस लोक और परलोक में सुखप्राप्ति के उपाय बतलाते हैं और धर्म पालन की शिक्षा देते हैं, वहाँ ब्रह्मवेद अपने दार्शनिक सूक्तों द्वारा ब्रह्मज्ञान सिखाता है और मोक्ष के उपाय बतलाता है । इसी लिए अथर्ववेद की अध्यात्मविद्याप्रद उपनिषदें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं ।

ब्रह्मवैवर्तपुराण—यह वैष्णव पुराण समझा जाता है । इसके आधे भाग में तीन खण्ड हैं, ब्रह्मखण्ड, प्रकृतिखण्ड और गणपतिखण्ड; और आधे से कुछ अधिक में कृष्णजन्मखण्ड का पूर्वार्ध और उत्तरार्ध है । इसकी श्लोकसंख्या १८ हजार है । स्कन्दपुराण के अनुसार यह पुराण सूर्य भगवान् की महिमा का प्रतिपादन करता है । मत्स्यपुराण इसमें ब्रह्मा की मुख्यता की ओर संकेत करता है । परन्तु स्वयं ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में विष्णु की ही महत्ता प्रतिपादित मिलती है । निर्णयसिन्धु में एक 'लघु ब्रह्मवैवर्त्तपुराण' का वर्णन है, परन्तु वह सम्प्रति कहीं नहीं पाया जाता । दाक्षिणात्य और गौडीय दो पाठ इस पुराण के मिलते हैं । आजकल अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थ ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अन्तर्गत प्रसिद्ध हैं, जैसे अलंकारदानविधि, एकादशीमाहात्म्य, कृष्णस्तोत्र, गंगास्तोत्र, गणेशकवच, गर्भस्तुति, परशुराम प्रति शङ्करोपदेश, बकुलारण्य तथा ब्रह्मारण्य-माहात्म्य, मुक्तिक्षेत्रमाहात्म्य, राधा-उद्धवसंवाद, श्रावणद्वादशीव्रत, श्रीगोष्ठीमाहात्म्य, स्वामिशैलमाहात्म्य, काशी-केदारमाहात्म्य आदि ।

ब्रह्मसर—(समन्तपंचक तीर्थ) कुरुक्षेत्र का भारतप्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ । ब्रह्मसर का विस्तृत सरोवर (जो अब कुरुक्षेत्र सरोवर के नाम से साधारण जन में प्रसिद्ध है) १४४२ गज लंबा तथा ७०० गज चौड़ा है । इसके भीतर दो

द्वीप हैं जिनमें प्राचीन मन्दिर तथा ऐतिहासिक स्थान हैं। छोटे द्वीप में गरुड़ सहित भगवान् विष्णु का मन्दिर है जो पुल द्वारा श्रवणनाथ मठ से मिला हुआ है। एक बड़ा पुल बड़े द्वीप के मध्य से होकर दक्षिणी तट से उत्तरी तट को मिलाता है। इस द्वीप में आमों के बगीचे, प्राचीन मन्दिर तथा भवनों के भग्नावशेष हैं। चन्द्रकूप का अति प्राचीन स्थान है। पुराणों में वर्णन मिलता है कि महाभारत काल के पहले ब्रह्मसर नामक सरोवर महाराज कुरु ने निर्मित कराया था। (वामनपुराण, अध्याय २२, श्लोक १४)।

इस सरोवर के आस-पास कुछ आधुनिक भवनों का निर्माण हो गया है, जैसे कालीकमली वाले की धर्मशाला, श्रवणनाथ की हवेली, गौडीय मठ, कुरुक्षेत्र जीर्णोद्धार सोसाइटी (जिसे गीताभवन कहते हैं), गीतामन्दिर, गुरुद्वारा और गुरु नानक की स्मृति में और एक गुरुद्वारा बन गया है।

ब्रह्मसम्प्रदाय—माध्व सम्प्रदाय का एक नाम।

ब्रह्मसावित्रीव्रत—भाद्रपद शुक्ल त्रयोदशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। व्रती को तीन दिन तक उपवास करना चाहिए। यदि ऐसा करने की सामर्थ्य न हो तो त्रयोदशी को अयाचित, चतुर्दशी को नक्त पद्धति तथा पूर्णिमा को उपवास रखा जाय। सुवर्ण, रजत अथवा मृन्मयी ब्रह्मा तथा सावित्री की प्रतिमाएँ बनवाकर उनका पूजन किया जाय। पूर्णिमा की रात्रि को जागरण तथा उत्सव करना चाहिए। दूसरे दिन प्रातः सुवर्ण की दक्षिणा सहित प्रतिमाएँ दान में दे दी जायँ। दे० हेमाद्रि, २.२५८-२७२ (भविष्योत्तर पुराण से)। यह वट-सावित्रीव्रत के समान है। केवल तिथि तथा सावित्री की कथा हेमाद्रि में कुछ विस्तार से बतलायी गयी है।

ब्रह्मसिद्धि—वेदान्त का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ। शंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य (भूतपूर्व मण्डन मिश्र) द्वारा रचित यह ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त मत का समर्थक है।

ब्रह्मसूत्र—वेदान्त शास्त्र अथवा उत्तर (ब्रह्म) मीमांसा का आधार ग्रन्थ। इसके रचयिता बादरायण कहे जाते हैं। इनसे पहले भी वेदान्त के आचार्य हो गये हैं, सात आचार्यों के नाम तो इस ग्रन्थ में ही प्राप्त हैं। इसका विषय है ब्रह्म का विचार। ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय का नाम 'समन्वय' है, इसमें अनेक प्रकार की परस्पर विरुद्ध श्रुतियों का समन्वय ब्रह्म में किया गया है। दूसरे अध्याय का साधारण नाम 'अविरोध' है। इसके प्रथम पाद में स्वमतप्रतिष्ठा के लिए स्मृति-तर्कादि विरोधों का परिहार किया गया है। द्वितीय पाद में विरुद्ध मतों के प्रति दोषारोपण किया गया है। तृतीय पाद में ब्रह्म से तत्त्वों की उत्पत्ति कही गयी है और चतुर्थ पाद में भूतविषयक श्रुतियों का विरोधपरिहार किया गया है।

तृतीय अध्याय का साधारण नाम 'साधन' है। इसमें जीव और ब्रह्म के लक्षणों का निर्देश करके मुक्ति के बहिरंग और अन्तरंग साधनों का निर्देश किया गया है। चतुर्थ अध्याय का नाम 'फल' है। इसमें जीवन्मुक्ति, जीव की उत्क्रान्ति, सगुण और निर्गुण उपासना के फलतारतम्य पर विचार किया गया है। ब्रह्मसूत्र पर सभी वेदान्तीय सम्प्रदायों के आचार्यों ने भाष्य, टीका व वृत्तियाँ लिखी हैं। इनमें गम्भीरता, प्राञ्जलता, सौष्ठव और प्रसाद गुणों की अधिकता के कारण शाङ्कर भाष्य सर्वश्रेष्ठ स्थान रखता है। इसका नाम 'शारीरक भाष्य' है।

ब्रह्मसूत्र का अणुभाष्य—शुद्धाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक वल्लभाचार्य (१४७९-१५३१ ई०) ने इसकी रचना की। ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र) के मूल पाठ की तुलनात्मक व्याख्या पर ही वल्लभ का विशेष बल है। अतः सूत्रों का घनिष्ठ अनुसारी होने के कारण, कुछ लोगों के विचार से वल्लभ का भाष्य 'अनुभाष्य' कहलाता है। वे स्वयं कहते हैं :

> सन्देहवारकं शास्त्रं बुद्धिदोषात्तदुद्भवः।
> विरुद्धशास्त्रसंभेदाद् अङ्गैश्चाशक्यनिश्चयैः॥
> तस्मात्सूत्रानुसारेण कर्तव्यः सर्वनिर्णयः।
> अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थान्मध्यमश्च तथाविधैः॥

(अणुभाष्य, चौखम्बा सं०, पृ० २०)

ब्रह्मसूत्रदीपिका—महात्मा शङ्करानन्द (विद्यारण्यस्वामी के शिक्षागुरु) ने, जो १४वीं शताब्दी में विशिष्ट अद्वैतवादी विद्वान् हो गये हैं, शाङ्कर मत को पुष्ट और प्रचारित करने के लिए ब्रह्मसूत्रदीपिका नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें उन्होंने बड़ी सरल भाषा में शाङ्कर मतानुसार ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की है।

ब्रह्मसूत्रभाष्य (अनेक)—शंकराचार्य के पश्चाद्भावी सभी प्रमुख वैदिक सम्प्रदायाचार्यों ने अपने-अपने मतों के स्थापनार्थ ब्रह्मसूत्र पर भाष्यों की रचना की है। उनमें विशिष्टा-

द्वैतवादी आचार्य रामानुज के भाष्य को 'श्रीभाष्य' कहते हैं। आचार्य मध्व (आनन्दतीर्थ) का द्वैतवादी भाष्य है। कहा जाता है, विष्णुस्वामी ने भी एक भाष्य रचा था, अब उसके स्थान पर वल्लभाचार्य का 'अणुभाष्य' प्रचलित है। 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नाम से द्वैताद्वैतवादी आचार्य निम्बार्क का सूक्ष्म भाष्य है। भेदाभेद मत के अनुसार भास्कराचार्य (९०० ई०) ने भी ब्रह्मसूत्र पर भाष्य रचा है। बलदेव विद्याभूषण ने गौडीय (चैतन्य) सम्प्रदाय का अचिन्त्य भेदाभेदवादी भाष्य बनाया है। रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय के 'आनन्दभाष्य' और 'जानकीभाष्य' भी अब प्रकाशित हो गये हैं। शैव सम्प्रदाय का अनुसारी 'श्रीकण्ठभाष्य' मध्यकाल में निर्मित हो गया था। म० म० पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण ने कुछ समय पूर्व 'शक्तिभाष्य' की रचना की है।

ब्रह्मसूत्रभाष्यवार्तिक—आचार्य शङ्कर के शिष्य सुरेश्वराचार्य द्वारा रचित इस ग्रन्थ में केवलाद्वैतवादी शाङ्करमत का प्रतिपादन हुआ है।

ब्रह्मसूत्रभाष्योपन्यास—विशिष्टाद्वैतवादी विद्वान् दोद्दय महाचार्य द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रभाष्योपन्यास १६वीं शताब्दी का ग्रन्थ है।

ब्रह्मसूत्रवृत्ति—सदाशिवेन्द्र स्वामी के रचे गये ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्रवृत्ति बहुत लोकप्रिय है। इसके अध्ययन के बाद शाङ्करभाष्य को समझना सरल हो जाता है। इसका अन्य नाम 'ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका' है।

ब्रह्महत्या—इसका उल्लेख यजुर्वेद संहिताओं तथा ब्राह्मणों में अत्यन्त घृणित पाप के रूप में हुआ है। हत्यारे को 'ब्रह्महा' कहा गया है। स्मृतियों में भी 'ब्रह्महत्या' महापातकों में गिनायी गयी है और इसके प्रायश्चित्त का विस्तृत विधान किया गया है।

ब्रह्मा—सर्वश्रेष्ठ पौराणिक त्रिदेवों में ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की गणना होती है। इनमें ब्रह्मा का नाम पहले आता है, क्योंकि वे विश्व के आद्य स्रष्टा, प्रजापति, पितामह तथा हिरण्यगर्भ हैं। दे० प्रजापति। पुराणों में जो ब्रह्मा का रूप वर्णित मिलता है वह वैदिक प्रजापति के रूप का विकास है। प्रजापति की समस्त वैदिक गाथाएँ ब्रह्मा पर आरोपित कर ली गयी हैं। प्रजापति और उनकी दुहिता की कथा पुराणों में ब्रह्मा और सरस्वती के रूप में वर्णित हुई है। पुराणों के अनुसार क्षीरसागर में शेषशायी विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्मा की स्वयं उत्पत्ति हुई, इसलिए ये 'स्वयंभू' कहलाते हैं। घोर तपस्या के पश्चात् इन्होंने ब्रह्माण्ड की सृष्टि की थी। वास्तव में सृष्टि ही ब्रह्मा का मुख्य कार्य है। सावित्री इनकी पत्नी, सरस्वती पुत्री और हंस वाहन है। ब्राह्म पुराणों में ब्रह्मा का स्वरूप विष्णु के सदृश ही निरूपित किया गया है। ये ज्ञानस्वरूप, परमेश्वर, अज, महान् तथा सम्पूर्ण प्राणियों के जन्मदाता और अन्तरात्मा बतलाये गये हैं। कार्य, कारण और चल, अचल सभी इनके अन्तर्गत हैं। समस्त कला और विद्या इन्होंने ही प्रकट को हैं। ये त्रिगुणात्मिका माया से अतीत ब्रह्म हैं। ये हिरण्यगर्भ हैं और सारा ब्रह्माण्ड इन्हीं से निकला है।

यद्यपि ब्राह्म पुराणों में त्रिमूर्ति के अन्तर्गत ये अग्रगण्य और प्रथम बने रहे, किन्तु धार्मिक सम्प्रदायों की दृष्टि से इनका स्थान विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य आदि से गौण हो गया, इनका कोई पृथक् सम्प्रदाय नहीं बन पाया। ब्रह्मा के मन्दिर भी थोड़े ही हैं। सबसे प्रसिद्ध ब्रह्मा का तीर्थ अजमेर के पास पुष्कर है। वृद्ध पिता की तरह देवपरिवार में इनका स्थान उपेक्षित होता गया। वैष्णव और शैव पुराणों में ब्रह्मा को गौण प्रदर्शित करने के बहुधा प्रयत्न पाये जाते हैं। विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति स्वयं विष्णु के सामने इनकी गौणता की द्योतक है। मार्कण्डेय पुराण के मधु-कैटभवध प्रसंग में विष्णु का उत्कर्ष और ब्रह्मा की विपन्नता दिखायी गयी है। ब्रह्मा की पूजामूर्ति के निर्माण का वर्णन मत्स्यपुराण (२५९.४०-४४) में पाया जाता है।

ब्रह्माणी—शक्ति की सामान्य पूजा में जगन्माताओं (विभिन्न देवों की पत्नियों) की पूजा होती है। ये माताएँ आठ हैं, जो आठ देवों से सम्बन्धित हैं। इनको 'अष्ट मातृका' भी कहते हैं। ब्रह्माणी का सम्बन्ध ब्रह्मा से है।

ब्रह्माण्ड उपपुराण—उन्तीस उपपुराणों में से एक ब्रह्माण्ड भी है।

ब्रह्माण्डपुराण—अठारह महापुराणों में इसकी गणना है। इसकी संक्षिप्त विषयसूची नारदीय पुराण में पायी जाती है। इसमें १२००० (बारह सहस्र) के लगभग श्लोक हैं। इसके अन्तर्गत 'ललितोपाख्यान' भी माना जाता है। इसी पुराण का अंश प्रसिद्ध रामचरित्र 'अध्यात्मरामायण' कही जाती है, किन्तु मूल पुराण या उसकी सूची में इसकी चर्चा नहीं है। रामायण की कथा अन्य पुराणों में भी

मिलती है, परन्तु अध्यात्मरामायण में यह कथा विस्तार और दार्शनिक दृष्टिकोण से कही गयी है। निम्नांकित अन्य छोटे-छोटे ग्रन्थ भी इसी पुराण से निकले बताये जाते हैं :

अग्नीश्वर, अञ्जनाद्रि, अनन्तशयन, अर्जुनपुर, अष्टनेत्रस्थान, आदिपुर, आनन्दनिलय, ऋषिपञ्चमी, कठोरगिरि, कालहस्ति, कामाक्षीविलास, कार्तिक, कावेरी, कुम्भकोण, गोदावरी, गोपुरी, क्षीरसागर, गोमुखी, चम्पकारण्य, ज्ञानमण्डल, तञ्जापुरी, तारकब्रह्ममन्त्र, तुङ्गभद्रा, तुलसी, दक्षिणामूर्ति, देवदारुवन, नन्दगिरि, नरसिंह, लक्ष्मीपूजा, वेङ्कटेश, शिवगङ्गा, काञ्ची, श्रीरङ्ग, के माहात्म्य तथा गणेशकवच, वेङ्कटेशकवच, हनुमत्कवच आदि।

ब्रह्मानन्द—आपस्तम्बसूत्र के अनेक भाष्यकारों में से एक। माण्डूक्योपनिषद् के एक वृत्तिकार का नाम भी ब्रह्मानन्द है।

ब्रह्मानन्द सरस्वती—उच्च तार्किकतापूर्ण अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ के टीकाकार। ये मधुसूदन सरस्वती के समकालीन थे। माध्व मतावलम्बी व्यासराज के शिष्य रामाचार्य ने मधुसूदन सरस्वती से अद्वैतसिद्धि का अध्ययन कर फिर उन्हीं के मत का खण्डन करने के लिए 'तरङ्गिणी' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इससे असन्तुष्ट होकर ब्रह्मानन्दजी ने अद्वैतसिद्धि पर 'लघुचन्द्रिका' नाम की टीका लिखकर तरङ्गिणीकार के मत का खण्डन किया। इसमें इन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। इन्होंने रामाचार्य की सभी आपत्तियों का बहुत सन्तोषजनक समाधान किया। संसार का मिथ्यात्व, एकजीववाद, निर्गुणत्व, ब्रह्मानन्द, नित्यनिरतिशय आनन्दरूपता, मुक्तिवाद—इन सभी विषयों का इन्होंने दार्शनिक समर्थन किया है। ये अद्वैतवाद के एक प्रधान आचार्य माने जाते हैं। इनका स्थितिकाल १७वीं शताब्दी है। इनके दीक्षागुरु परमानन्द सरस्वती थे और विद्यागुरु नारायणतीर्थ।

(इस टीकावली के आधार पर द्वैत-अद्वैत वादों का तार्किक शास्त्रार्थ या परस्पर खण्डन-मण्डन अब तक चला आ रहा है, जो दार्शनिक प्रतिभा का एक मनोरञ्जन ही है।)

ब्रह्मामृतवर्षिणी—महात्मा रामानन्द सरस्वती (१७वीं शताब्दी) द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र की एक टीका।

ब्रह्मावर्त—(१) आधुनिक हरियाना प्रदेशस्थ प्राचीनतम पवित्र भूभाग, जिसका शाब्दिक अर्थ ब्रह्म (वेद) का आवर्त (घूमने या प्रसरण का स्थान) है। मनुस्मृति (२.१७) के अनुसार कुरुक्षेत्र के आस-पास सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच का प्रदेश ब्रह्मावर्त कहलाता है। मनु (२.१८) के अनुसार इस देश के आचार को ही सार्वदेशिक आचरण के लिए आदर्श माना गया है।

(२) कानपुर से उत्तर गङ्गातटवर्ती बिठूर नामक तीर्थ का समीपवर्ती क्षेत्र भी ब्रह्मावर्त कहलाता है। संभवतः यह पौराणिक तीर्थ है।

ब्रह्मावाप्तिव्रत—किसी भी मास के शुक्ल पक्ष की दशमी के दिन इस व्रत का प्रारम्भ होता है। यह तिथिव्रत है। इस दिन उपवास रखते हुए दस देवों की, जिन्हें 'अङ्गिरा' कहा जाता है, एक वर्ष तक पूजा करनी चाहिए।

ब्रह्मोद्य—शतपथ आदि ब्राह्मणों में इसका अर्थ 'धार्मिक पहेली' है, जो वैदिक क्रियाओं के विभिन्न आयोजनों का आवश्यक भाग होती थी। जैसे अश्वमेध अथवा दशरात्र के अवसर पर इसका आयोजन होता था। कौषीतकि ब्राह्मण (२७.४) में इस शब्द का रूप 'ब्रह्मवद्य' तथा तै० सं० (२.५,८,३,) में 'ब्रह्मवाद्य' है, और सम्भवतः इन तीनों का एक ही अर्थ है—ब्रह्म संबन्धी रहस्यात्मक चर्चा।

ब्रह्मोपनिषद्—(१) 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में एक रहस्यपूर्ण सिद्धान्त, जो छान्दोग्योपनिषद् (३.११.३) के एक संवाद का विषय है, ब्रह्मोपनिषद् कहलाता है।

(२) संन्यास मार्गी एक उपनिषद्। इसका प्रारंभिक भाग तो कम से कम उतना ही प्राचीन है जितनी मैत्रायणी, किन्तु उत्तरभाग आरुणेय, जाबाल, परमहंस उपनिषदों का समसामयिक है।

ब्रह्मोपासना—(१) ब्रह्म के सम्बन्ध में विचार अथवा चिन्तन। उपनिषदों तथा परवर्ती वेदान्त ग्रन्थों में इसी उपासना पद्धति का विवेचन हुआ है।

(२) ब्राह्मसमाज के द्वितीय उत्कर्ष काल में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने उपनिषदों की छान-बीन कर उनके कुछ अंश समाज की सेवासभाओं के लिए १८५० ई० में ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराये। इस ग्रन्थ का नाम 'ब्राह्मधर्म' रखा गया। इसमें ब्राह्म सिद्धान्त के बीज या चार सिद्धान्त-

वचनों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इसमें ब्रह्मोपासना, सेवा का क्रम, उपनिषदों के कुछ उद्धरण और कुछ धार्मिक ग्रन्थों के उद्धरणों के साथ अन्त में देवेन्द्रनाथ द्वारा ब्राह्म सिद्धान्त की व्याख्या की गयी है।

ब्रह्मौदन—यज्ञकर्म के अन्तर्गत वेदसंहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के पारायण में भाग लेनेवाले पुरोहितों के नैवेद्य के लिए उबाला हुआ चावल (ओदन) ब्रह्मौदन कहलाता था। इसके पकाने की विशेष विधि थी।

ब्राह्मण—ब्रह्म = वेद का पाठक अथवा ब्रह्म = परमात्मा का ज्ञाता। ऋग्वेद की अपेक्षा अन्य संहिताओं में यह साधारण प्रयोग का शब्द हो गया, जिसका अर्थ पुरोहित है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०.९०) में वर्णों के चार विभाजन के सन्दर्भ में इसका जाति के अर्थ में प्रयोग हुआ है। वैदिक ग्रन्थों में यह वर्ण क्षत्रियों से ऊँचा माना गया है। राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय को कर देता था, किन्तु इससे शतपथ में वर्णित ब्राह्मण की श्रेष्ठता न्यून नहीं होती। इस बात को बार-बार कहा गया है कि क्षत्रिय तथा ब्राह्मण की एकता से ही सर्वाङ्गीण उन्नति हो सकती है। यह स्वीकार किया गया है कि कतिपय राजन्य एवं धनसम्पन्न लोग ब्राह्मण को यदि कदाचित् दबाने में समर्थ हुए हैं, तो उनका सर्वनाश भी शीघ्र ही घटित हुआ है। ब्राह्मण पृथ्वी के देवता (भूसुर) कहे गये हैं, जैसे कि स्वर्ग के देवता होते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण में ब्राह्मण को दान लेने वाला (आदायी) तथा सोम पीने वाला (आपायी) कहा गया है। उसके दो अन्य विरुद 'आवसायी' तथा 'यथाकामप्रयाप्य' का अर्थ अस्पष्ट है। पहले का अर्थ सब स्थानों में रहने वाला तथा दूसरे का आनन्द से घूमने वाला हो सकता है (ऐ० ७.२९,२)। शतपथ ब्रा० में ब्राह्मण के कर्तव्यों की चर्चा करते हुए उसके अधिकार इस प्रकार कहे गये हैं : (१) अर्चा (२) दान (३) अजेयता तथा (४) अवध्यता। उसके कर्तव्य हैं : (५) ब्राह्मण्य (वंश की पवित्रता) (६) प्रतिरूपचर्या (कर्तव्य पालन) तथा (७) लोकपक्ति (लोक को प्रबुद्ध करना)।

ब्राह्मण स्वयं को ही संस्कृत करके विश्राम नहीं लेता था, अपितु दूसरों को भी अपने गुणों का दान आचार्य अथवा पुरोहित के रूप में करता था। आचार्यपद से ब्राह्मण का अपने पुत्र को अध्ययन तथा याज्ञिक क्रियाओं में निपुण करना एक विशेष कार्य था (शत० ब्रा० १,६, २,४)। उपनिषद् ग्रन्थों में आरुणि एवं श्वेतकेतु (बृ० उ० ६,१,१) तथा वरुण एवं भृगु का उदाहरण है (श० ब्रा० ११,६,१,१)। आचार्य के अनेकों शिष्य होते थे तथा उन्हें वह धार्मिक तथा सामाजिक प्रेरणा से पढ़ाने को बाध्य होता था। उसे प्रत्येक ज्ञान अपने छात्रों पर प्रकट करना पड़ता था। इसी कारण कभी कभी छात्र आचार्य को अपने में परिवर्तित कर देते थे, अर्थात् आचार्य के समान पद प्राप्त कर लेते थे। अध्ययनकाल तथा शिक्षण-प्रणाली का सूत्रों में विवरण प्राप्त होता है।

पुरोहित के रूप में ब्राह्मण महायज्ञों को कराता था। साधारण गृह्ययज्ञ बिना उसकी सहायता के भी हो सकते थे, किन्तु महत्त्वपूर्ण क्रियाएँ (श्रौत) उसके बिना नहीं सम्पन्न होती थीं। क्रियाओं के विधिवत् किये जाने पर जो धार्मिक लाभ होता था उसमें दक्षिणा के अतिरिक्त पुरोहित यजमान का साझेदार होता था। पुरोहित का स्थान साधारण धार्मिक की अपेक्षा सामाजिक भी होता था। वह राजा के अन्य व्यक्तिगत कार्यों में भी उसका प्रतिनिधि होता था। राजनीति में उसका बड़ा हाथ रहने लगा था।

स्मृतिग्रन्थों में ब्राह्मणों के मुख्य छः कर्तव्य (षट्कर्म) बताये गये हैं—पठन-पाठन, यजन-याजन और दान-प्रतिग्रह। इनमें पठन, यजन और दान सामान्य तथा पाठन, याजन तथा प्रतिग्रह विशेष कर्तव्य हैं।

आपद्धर्म के रूप में अन्य व्यवसाय से भी ब्राह्मण निर्वाह कर सकता था, किन्तु स्मृतियों ने बहुत से प्रतिबन्ध लगाकर लोभ और हिंसावाले कार्य उसके लिए वर्जित कर रखे हैं।

ब्राह्मणों का वर्गीकरण : इस समय देशभेद के अनुसार ब्राह्मणों के दो बड़े विभाग हैं : पञ्चगौड और पञ्चद्रविण। पश्चिम में अफगानिस्तान का गोर देश, पञ्जाब, जिसमें कुरुक्षेत्र सम्मिलित है, गोंड़ा-बस्ती जनपद, प्रयाग के दक्षिण व आसपास का प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, ये पाँचों प्रदेश किसी न किसी समय पर गौड़ कहे जाते रहे हैं। इन्हीं पाँचों प्रदेशों के नाम पर सम्भवतः सामूहिक नाम 'पञ्च गौड़' पड़ा। आदि गौड़ों का उद्गम कुरुक्षेत्र है।

इस प्रदेश के ब्राह्मण विशेषतः गौड़ कहलाये । कश्मीर और पंजाब के ब्राह्मण सारस्वत, कन्नौज के आस-पास के ब्राह्मण कान्यकुब्ज, मिथिला के ब्राह्मण मैथिल तथा उत्कल के ब्राह्मण उत्कल कहलाये ।

नर्मदा के दक्षिणस्थ आन्ध्र, द्रविड़, कर्नाटक, महाराष्ट्र और गुर्जर, इन्हें 'पञ्च द्रविड' कहा गया है । वहाँ के ब्राह्मण इन्हीं पाँच नामों से प्रसिद्ध हैं । उपर्युक्त दसों के अनेक अन्तर्विभाग हैं । ये सभी या तो स्थानों के नाम से प्रसिद्ध हुए, या वंश के किसी पूर्वपुरुष के नाम से प्रख्यात; अथवा किसी विशेष पदवी, विद्या या गुण के कारण नामधारी हुए । बड़नगरा, विशनगरा, भटनागर, नागर, माथुर, मूलगाँवकर इत्यादि स्थानवाचक नाम हैं, वंश के पूर्व पुरुष के नाम, जैसे—सान्याल (शाण्डिल्य), नारद, वशिष्ठ, कौशिक, भारद्वाज, काश्यप, गोभिल ये नाम वंश या गोत्र के सूचक हैं । पदवी के नाम, जैसे चक्रवर्त्ती, वन्द्योपाध्याय, मुख्योपाध्याय, भट्ट, फडनवीस, कुलकर्णी, राजभट्ट, जोशी (ज्योतिषी), देशपाण्डे इत्यादि । विद्या के नाम, जैसे चतुर्वेदी, त्रिवेदी, शास्त्री, पाण्डेय, पौराणिक, व्यास, द्विवेदी इत्यादि । कर्म या गुण के नाम, जैसे दीक्षित, सनाढ्य, सुकुल, अधिकारी, वास्तव्य, याजक, याज्ञिक, नैगम, आचार्य, भट्टाचार्य इत्यादि ।

ब्राह्मण (ग्रन्थ)—ब्रह्म = यज्ञविधि के ज्ञापक ग्रन्थ । वैदिक साहित्य में संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मणों का स्थान आता है। ये वेद-साहित्य के अभिन्न अङ्ग माने गये हैं (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, बौधायनधर्मसूत्र, बौधायनगृह्यसूत्र, कौशिकसूत्र आदि में ब्राह्मणों को वेद कहा गया है) वेदों का वह भाग जो विविध वैदिक यज्ञों के लिए वेदमन्त्रों के प्रयोग के नियमों, उनकी उत्पत्ति, विवरण, व्याख्या आदि करता है और जिसमें स्थान-स्थान पर सुविस्तृत दृष्टान्तों के रूप में परम्परागत कथाओं का समावेश रहता है, 'ब्राह्मण' कहलाता है । इनके विषय को चार भागों में बाँटा जा सकता है : (१) विधिभाग (२) अर्थवादभाग (३) उपनिषद्भाग और (४) आख्यानभाग ।

विधिभाग में यज्ञों के विधान का वर्णन है । इसमें अर्थमीमांसा और शब्दों की निष्पत्ति भी बतायी गयी है । अर्थवाद में यज्ञों के माहात्म्य को समझाने के लिए प्ररोचनात्मक विषयों का वर्णन है । मीमांसाकार जैमिनि ने अर्थवाद के तीन भेद बतलाये हैं : गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद । ब्राह्मणों के उपनिषद् भाग में ब्रह्मतत्त्व के विषय मे विचार किया गया है । आख्यान भाग में प्राचीन ऋषिवंशों, आचार्यवंशों और राजवंशों की कथाएँ वर्णित हैं ।

प्रत्येक वैदिक संहिता के पृथक्-पृथक् ब्राह्मण ग्रन्थ हैं । ऋग्वेद संहिता के दो ब्राह्मण हैं—ऐतरेय और कौषीतकि, यजुर्वेदसंहिता के भी दो ब्राह्मण हैं—कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण और शुक्ल यजुर्वेद का शतपथब्राह्मण । सामवेद की कौथुमीय शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ चालीस अध्यायों मे विभक्त हैं, जो अध्यायसंख्याक्रम से पञ्चविंश ब्राह्मण (ताण्ड्य ब्राह्मण), षड्विंशब्राह्मण, अद्भुत ब्राह्मण और मन्त्र ब्राह्मण कहलाते हैं । सामवेद की जैमिनीय शाखा के दो ब्राह्मणग्रन्थ हैं : जैमिनीय ब्राह्मण और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण । इनको क्रमशः आर्षेय ब्राह्मण और छान्दोग्य ब्राह्मण भी कहते हैं । सामवेद की राणायनीय शाखा का कोई ब्राह्मण उपलब्ध नहीं है । अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं, किन्तु एक ही ब्राह्मण उपलब्ध है—गोपथब्राह्मण । यह मुख्यतः दार्शनिक ब्राह्मण है ।

ब्राह्मणसर्वस्व—वङ्गदेश के धर्मशास्त्री हलायुध भट्ट द्वारा रचित एक ग्रन्थ ।

ब्राह्मणप्राप्ति—चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से चतुर्थी तक इस व्रत के अनुष्ठान का विधान है । इसमें तिथिक्रम से चार देव; इन्द्र, वरुण, यम तथा कुबेर की गन्ध-अक्षतादि से पूजा होती है, क्योंकि ये चारों भगवान् वासुदेव के ही चार रूप हैं । इसमें हवन भी विहित है । जो वस्त्र इन चारों दिन भगवान् को भेंट किये जायँ वे क्रमशः रक्त, पीत, कृष्ण तथा श्वेत वर्ण के हों । एक वर्ष तक यह व्रत चलता है । व्रती इससे प्रलयकाल तक स्वर्ग का भोग करता है । हेमाद्रि, २. ५००-५०१ के अनुसार यह चतुर्मूर्ति व्रत है ।

ब्राह्मण्यावाप्ति—ज्येष्ठ पूर्णमासी को सपत्नीक ब्राह्मण को भोजन कराकर वस्त्रादि प्रदान कर गन्धाक्षतादि से उसका पूजन-सम्मान किया जाय । इससे व्रती सात जन्मों तक केवल ब्राह्मण के घर में ही जन्म लेता है ।

ब्राह्मपुरुष—जो लोग अस्वाभाविक मृत्यु से मरते हैं, विशेष कर जिनकी हत्या होती है, उनके प्रेतात्मा बदला लेने की

भावना से तथा क्रोध से भरे रहते हैं। ऐसे प्रेतों के अनेक भेद हैं, इनमें एक जाति ब्राह्मण प्रेतों की है जिसे ब्रह्मराक्षस, ब्राह्मदैत्य, ब्राह्मपुरुष तथा प्रचलित भाषा में 'ब्रह्म' कहते है। ये मारे गये ब्राह्मण होते हैं। दक्षिण भारत की मान्यतानुसार ब्राह्मपुरुष कंजूस ब्राह्मण प्रेतात्मा को कहते हैं, जो अपने धन को बढ़ाने या एकत्र करने के दुःख में मरा होता है। ऐसा दैत्य अपने घर मे ही चक्कर लगाता है तथा उस व्यक्ति पर आक्रमण कर देता है जो उसका धन खर्च करता है, उसके वस्त्र पहनता है या ऐसा काम करता है जो उसे पसन्द न हो।

ब्राह्मसमाज—नवशिक्षित लोगों की एक धार्मिक संस्था। उपनिषदों में जिसकी चर्चा है उसी एक ब्रह्म (परमात्मा) की उपासना को अपना इष्ट रखकर राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में ब्राह्मसमाज की स्थापना की। इसके अन्तर्गत बिना किसी नबी, पैगम्बर, देवदूत आचार्य या पुरोहित को अपना मध्यस्थ माने, सीधे अकेले ईश्वर की उपासना ही मनुष्य का कर्त्तव्य माना गया। ईसाई महात्मा ईसा को और मुसलमान मुहम्मद साहब को मध्यस्थ मानते हैं और यही उनके धर्म की नींव है। इस बात में ब्राह्मसमाज उनसे आगे बढ़ गया। पुनर्जन्म का कोई प्रमाण न होने से जन्मान्तर का प्रश्न ही न छेड़ा गया। परमात्मा की प्राप्ति के सिवा कोई परलोक नहीं माना गया। निदान, मुसलमान और ईसाइयों से कहीं अधिक सरल और तर्कसंगत यह मत स्थापित हुआ। मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर सबमें ब्रह्म ही स्थित माना गया। मूर्तिपूजा और बहुदेव पूजा का निषेध हुआ। परन्तु सर्वव्यापक ब्रह्म को सबमें स्थित जानकर अन्य सभी मतों को सहन किया गया।

अपने मन्तव्यों में इस समाज ने वर्णाश्रम व्यवस्था, छूत-छात, जात-पाँत, चौका आदि कुछ न रखा। जप, तप, होम, व्रत, उपवास आदि के नियम नहीं माने। श्राद्ध, प्रेतकर्म का झगड़ा ही नहीं रखा। उपनिषदों को भी आधारग्रन्थ की तरह माना गया; प्रमाण की तरह नहीं। साथ ही संसार की जो सब बातें बुद्धिग्राह्य समझी गयीं, उनको लेने में ब्राह्मसमाज को कोई आपत्ति न थी। ब्राह्मसमाज कुरान, इञ्जील, वेदादि सभी धर्मग्रन्थों को समान सम्मान देता है और संसार के सभी अच्छे धर्मशिक्षकों का समान समादर करता है। इस प्रकार ब्राह्मसमाज ने हिन्दू संस्कृति की सीमाबद्ध मर्यादा को इतना विस्तृत कर दिया है कि उसके सदस्य मुसलमान और ईसाई भी हो सकते है। पादरियों द्वारा प्रचारित पाश्चात्य शिक्षा के फल से हिन्दू शिक्षित समाज जो अपनी संस्कृति और आचार-विचार से विचलित हो रहा था और जो शायद कभी-कभी पथभ्रष्ट होकर अपने पुरातन क्षेत्र से निकल कर विदेशी संस्कृति के क्षेत्र में बहक जाता था, उसकी सामयिक रक्षा की गयी। ऐसा वर्ग बहुत उत्सुकतापूर्वक ब्राह्मसमाज के अपने मनोनुकूल दल में सम्मिलित हो गया।

राजा राममोहन राय के बाद महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ब्राह्मसमाज के नेता हुए। ये कुछ अधिक परम्परावादी थे, इसलिए इनके अनुयायी अपने को 'आदिब्राह्म' कहते थे। केशवचन्द्र सेन ने इनको अधिक सुधारवादी और सरल बनाकर 'नव ब्राह्मसमाज' का रूप दिया। इनके समय (संवत् १८९५-१९४०) में ब्राह्मसमाज का प्रचार अधिक व्यापक हो गया। देश मे प्रार्थनासमाज आदि अनेक नामों से इसकी स्थापना हुई और बड़ी संख्या में हिन्दू लोग इसके अनुयायी हो गये। ब्राह्मसमाज की स्थापना से राष्ट्ररक्षा के एक महान् उद्देश्य की पूर्ति हुई, अर्थात् राजा राममोहन राय की दूरदर्शिता ने बंगाल में हिन्दूसमाज की बहुत बड़ी रक्षा की और नवशिक्षित लोगों को विधर्मी होने से उसी प्रकार बचा लिया, जिस प्रकार आर्यसमाज ने पश्चिमोत्तर भारत में हिन्दुओं को बचाया।

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त—अरब मुसलमान ज्योतिष विद्या के लिए बहुलांश में भारत के ऋणी हैं। ७७१ ई० में भारत का एक दूतमण्डल खलीफा के आदेश से बगदाद पहुँचाया गया। उसके एक विद्वान् सदस्य ने अरबों को 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' उनकी भाषा में सिखाया। यह ग्रन्थ संस्कृत में सन् ६१८ ई० में महान् गणितज्योतिर्विद् ब्रह्मगुप्त द्वारा रचा गया था। इसे अरब लोग 'अलसिन्दहिन्द' कहते थे। इसी के आधार पर इब्राहीम इब्न हबीब अल् दुजारी ने 'जिज' (ज्योतिष सारणी) के सिद्धान्त निकाले। समकालीन याकूब इब्न तारिक ने भी इसी 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' के आधार पर 'तरकीब अल् अफलाक' की रचना की।

ब्राह्मीप्रतिपद्लाभव्रत—चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को इस व्रत का आरम्भ होता है। इसमें उपवास का विधान है। इस दिन रंगीन चूर्ण से अष्टदल कमल बनाकर उस पर ब्रह्मा की

प्रतिमा स्थापित करके उसका पूजन करना चाहिए। प्रथम चार दलों में पूर्व की ओर से ऋग्वेद तथा अन्य वेद; दक्षिण-पूर्व स्थल से मध्य बिन्दु वाले चार दलों पर वेद के अङ्ग, धर्मशास्त्र, पुराण तथा न्यायविस्तर की स्थापना करनी चाहिए। प्रतिमास की प्रथम तिथि को वर्ष भर उपर्युक्त ग्रन्थों की पूजा की जाय। वर्ष के अन्त में गौ का दान विहित है। इस आचरण से व्रती परम वैदिक विद्वान् हो जाता है, यदि यह बारह वर्ष तक आचरण किया जाय तो व्रती ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता है।

भ

भ—व्यञ्जन वर्णों के पञ्चम वर्ग का चतुर्थ अक्षर। कामधेनुतन्त्र में इसका स्वरूप निम्नांकित प्रकार से बतलाया गया है:

भकारं शृणु चार्वङ्गि स्वयं परमकुण्डली।
महामोक्षप्रदं वर्णं तरुणादित्य संप्रभम्॥
पञ्चप्राणमयं वर्णं पञ्चदेवमयं सदा॥

तन्त्रशास्त्र में इसके निम्नांकित नाम पाये जाते हैं:

भः क्लिन्नो भ्रमरो भीमो विश्वमूर्तिर्निशा भवम्।
द्विरण्डो भूषणो मूलं यज्ञसूत्रस्य वाचकः॥
नक्षत्रं भ्रमणा दीप्तिर्वयो भूमिः पयोनभः।
नाभिर्भद्रं महाबाहुर्विश्वमूर्तिर्वितण्डकः॥
प्राणात्मा तापिनी वज्रा विश्वरूपी च चन्द्रिका।
भीमसेनः सुधासेनः सुखो मायापुरं हरः॥

भक्त—भक्तिमार्ग के सिद्धान्तानुसार भक्त उसे कहते हैं जिसने ईश्वर के भजन में अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया हो। साधारण आत्माओं को चार भागों में विभक्त किया गया है: (१) बद्ध, जो इस जीवन की समस्याओं से बँधा है। (२) मुमुक्षु, जिसमें मुक्ति की चेतना जागृत हो, किन्तु उसके योग्य अभी नहीं है। (३) भक्त अथवा केवली, जो मात्र ईश्वर की ही उपासना में लीन हो, पवित्र हृदय का हो और जो भक्ति गुण के कारण मुक्ति के मार्ग पर चल रहा हो और (४) मुक्त, जो भगवन्-पद को प्राप्त कर चुका हो।

भकत—(१) संस्कृत शब्द भक्त का अपभ्रंश, जो अशिक्षित ग्रामीण जनों में धार्मिक उपासक के लिए प्रयुक्त होता है। यथा असम प्रदेश के गृहस्थ वैष्णवों का सम्बन्ध किसी न किसी देवस्थान से होता है, जिसके गुसाँई उनको धर्मशिक्षा दिया करते हैं। इन गुसाँइयों को 'भकत' कहते हैं। 'भकत' लोग यदा-कदा शिष्यों के घर जाते हैं तथा उनसे कुछ दक्षिणा या दण्ड वसूल करते हैं। यही इस सम्प्रदाय की जीविका होती है। (२) दुसाध नामक निम्न श्रेणी की जाति उत्तर प्रदेश तथा बंगाल में पायी जाती है। ये लोग राहु की पूजा करते हैं तथा वर्ष में एक बार राहु की प्रसन्नता के लिए यज्ञ करते हैं। राहुपूजा बीमारियों से मुक्ति या किसी मनोरथ की सिद्धि के लिए की जाती है। इस यज्ञ के पुरोहित को 'भकत' कहते हैं, जो उनकी जाति का ही होता है। उसे 'चतिया' भी कहते हैं।

भकतसेवा—असम प्रदेश के वैष्णवों में महात्मा हरिदास को उनके अनुयायी कृष्ण का अवतार मानते हैं, किन्तु इसके साथ ही वे अन्य महात्मा शंकरदेव को भी विष्णु का अवतार मानते हैं। उनमें 'भकतसेवा' की प्रथा है जिसके अनुसार ब्राह्मण अपने यजमानों अथवा शिष्यों से सब प्रकार का दान ग्रहण करते हैं।

भक्तमाल—विष्णुभक्तों का चरित्र वर्णन करने वाले भाषा ग्रन्थों में भक्तमाल (वैष्णवभक्तों की माला) महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक रचना है। यह साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं है। चारों सम्प्रदायों और उनकी शाखाओं की महान् विभूतियों के जीवन की झाँकियाँ इसमें उदारतापूर्वक प्रस्तुत हुई हैं। इसके रचयिता संत नारायणदास उपनाम नाभाजी स्वयं रामानन्दी वैष्णव थे। ये जयपुर के तीर्थस्थल गलताजी के महात्मा कवि अग्रदासजी के शिष्य थे और उन्हीं की आज्ञा से इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की थी। नाभाजी उस समय हुए थे, जब तुलसीदास जीवित थे, प्रायः १५८५ तथा १६२३ ई० के मध्य।

भक्तमाल व्रजभाषा के छप्पय छन्दों में रचित है, किन्तु बिना भाष्य के यह समझा नहीं जा सकता। इस पर लगभग एक सौ तिलक (टीका) ग्रन्थ हैं। इनमें गौडीय संत प्रियादासजी की पद्य टीका एवं अयोध्या के महात्मा रूपकलाजी की टीका प्रसिद्ध हैं। भक्तमाल में दो सौ भक्तों का चमत्कारपूर्ण जीवनचरित्र ३१६ छप्पय छन्दों में वर्णित है। भक्तों का पूरा जीवनवृत्त इसमें नहीं दिया गया है, केवल उतना ही अंश है, जिससे भक्ति की महिमा प्रकट हो।

भक्तलीलामृत—भक्तिविषयक मराठी ग्रन्थों में महीपति द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके ग्रन्थों में से 'भक्तलीलामृत' की रचना १७७४ ई०

में हुई, जो सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह 'भक्तमाल' के ढंग की ही रचना है ।

भक्तविजय—महीपतिरचित मराठी भाषा का भक्तिविषयक ग्रन्थ । रचनाकाल १७६२ ई० है ।

भक्ति—भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ सेवा करना या भजना है, अर्थात् श्रद्धा और प्रेमपूर्वक इष्टदेव के प्रति आसक्ति । नारदभक्तिसूत्र में भक्ति को परम प्रेमरूप और अमृतस्वरूप कहा गया है; इसको प्राप्त कर मनुष्य कृतकृत्य, संतृप्त और अमर हो जाता है । व्यास ने पूजा में अनुराग को भक्ति कहा है । गर्ग के अनुसार कथा श्रवण में अनुरक्ति ही भक्ति है । भारतीय धार्मिक साहित्य में भक्ति का उदय वैदिक काल से ही दिखाई पड़ता है । देवों के रूपदर्शन, उनकी स्तुति के गायन, उनके साहचर्य के लिए उत्सुकता, उनके प्रति समर्पण आदि में आनन्द का अनुभव—ये सभी उपादान वेदों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं । ऋग्वेद के विष्णुसूक्त और वरुणसूक्त में भक्ति के मूल तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं । वैष्णवभक्ति की गंगोत्तरी विष्णुसूक्त ही है । ब्राह्मण साहित्य में कर्मकाण्ड के प्रसार के कारण भक्ति का स्वर कुछ मन्द पड़ जाता है, किन्तु उपनिषदों में उपासना की प्रधानता से निर्गुण भक्ति और कहीं-कहीं प्रतीकोपासना पुनः जागृत हो उठती है । छान्दोग्योपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् आदि में विष्णु, शिव, रुद्र, अच्युत, नारायण, सूर्य आदि की भक्ति और उपासना के पर्याप्त संकेत पाये जाते हैं ।

वैदिक भक्ति की पयस्विनी महाभारत काल तक आते-आते विस्तृत होने लगी । वैष्णव भक्ति की भागवतधारा का विकास इसी काल में हुआ । यादवों की सात्वत शाखा में प्रवृत्तिप्रधान भागवतधर्म का उत्कर्ष हुआ । सात्वतों ने ही मथुरा-वृन्दावन से लेकर मध्य भारत, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्णाटक होते हुए तमिल (द्रविड़) प्रदेश तक प्रवृत्तिमूलक, रागात्मक भागवत धर्म का प्रचार किया । अभी तक वैष्णव अथवा शैव भक्ति के उपास्य देवगण अथवा परमेश्वर ही थे । महाभारत काल में वैष्णव भागवत धर्म को एक ऐतिहासिक उपास्य का आधार कृष्ण वासुदेव के व्यक्तित्व में मिला । कृष्ण विष्णु के अवतार माने गये और धीरे-धीरे ब्रह्म से उनका तादात्म्य हो गया । इस प्रकार नर देहधारी विष्णु की भक्ति जनसाधारण के लिए सुलभ हो गयी । इससे पूर्व यह धर्म ऐकान्तिक, नारायणीय, सात्वत आदि नामों से पुकारा जाता था । कृष्ण-वासुदेव भक्ति के उदय के पश्चात् यह भागवत धर्म कहलाने लगा । भागवत धर्म के इस रूप के उदय का काल लगभग १४०० ई० पू० है । तब से लेकर लगभग छठी-सातवीं शताब्दी तक यह अविच्छिन्न रूप से चलता रहा । बीच में शैव-शाक्त सम्प्रदायों तथा शाङ्कर वेदान्त के प्रचार से भागवत धर्म का प्रचार कुछ मन्द पड़ गया । परन्तु पूर्व-मध्य युग में इसका पुनरुत्थान हुआ । भागवत धर्म का नवोदित रूप इसका प्रमाण है । रामानुज, मध्व आदि ने भागवत धर्म को और पल्लवित किया और आगे चलकर एकनाथ, रामानन्द, चैतन्य, वल्लभाचार्य आदि ने भक्तिमार्ग का जनसामान्य तक व्यापक प्रसार किया । मध्ययुग में सभी प्रदेशों के सन्त और भक्त कवियों ने भक्ति के सार्वजनिक प्रचार में प्रभूत योग दिया ।

मध्ययुग में भागवत भक्ति के चार प्रमुख सम्प्रदाय प्रवर्तित हुए—(१) श्रीसम्प्रदाय (रामानुजाचार्य द्वारा प्रचलित) (२) ब्रह्मसम्प्रदाय (मध्वाचार्य द्वारा प्रचलित) (३) रुद्रसम्प्रदाय (विष्णु स्वामी द्वारा प्रचलित) और (४) सनकादिकसम्प्रदाय (निम्बार्काचार्य द्वारा स्थापित) । इन सभी सम्प्रदायों ने अद्वैतवाद, मायावाद तथा कर्मसंन्यास का खण्डन कर भगवान् की सगुण उपासना का प्रचार किया । यह भी ध्यान देने की बात है कि इस रागात्मिका भक्ति के प्रवर्तक सभी आचार्य सुदूर दक्षिण देश में ही प्रकट हुए । मध्ययुगीन भक्ति की उत्पत्ति और विकास का इतिहास भागवत पुराण के माहात्म्य में इस प्रकार दिया हुआ है :

उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता ।
क्वचित् क्वचिन् महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ।।
तत्र घोरकलेर्योगात् पाखण्डैः खण्डिताङ्गका ।
दुर्बलाहं चिरं जाता पुत्राभ्यां सह मन्दताम् ।।
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी ।
जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम् ।।
(१.४८-५०)

[मैं वही (जो मूलतः यादवों की एक शाखा के वंशज सात्वतों द्वारा लायी गयी थी) द्रविड प्रदेश में (रागात्मक भक्ति के रूप में) उत्पन्न हुई । कर्नाटक में बड़ी हुई ।

महाराष्ट्र में कुछ-कुछ (पोषण) हुआ । गुजरात में बृद्धा हो गयी । वहाँ घोर कलियुग (म्लेच्छ-आक्रमण) के सम्पर्क से पाखण्डों द्वारा खण्डित अङ्गवाली मैं दुर्बल होकर बहुत दिनों तक पुत्रों (ज्ञान-वैराग्य) के साथ मन्दता को प्राप्त हो गयी । फिर वृन्दावन (कृष्ण की लीलाभूमि) पहुँचकर सम्प्रति नवीना, सुरूपिणी, युवती और सम्यक् प्रकार से सुन्दर हो गयी हूँ ।] इसमें सन्देह नहीं कि मध्ययुगीन रागात्मिका भक्ति का उदय तमिल प्रदेश में हुआ । परन्तु उसके पूर्ण संस्कृत रूप का विकास भागवत धर्म के मूल स्थल वृन्दावन में ही हुआ, जिसको दक्षिण के कई सन्त आचार्यों ने अपनी उपासनाभूमि बनाया ।

भागवत धर्म के मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं : सृष्टि के उत्पादक एक मात्र भगवान् हैं । इनके अनेक नाम हैं, जिनमें विष्णु, नारायण, वासुदेव, जनार्दन आदि मुख्य हैं । वे अपनी योगमाया प्रकृति से समस्त जगत् की उत्पत्ति करते हैं । उन्हीं से ब्रह्मा, शिव आदि अन्य देवता प्रादुर्भूत होते हैं । जीवात्मा उन्हीं का अंश है, जिसको भगवान् का सायुज्य अथवा तादात्म्य होने पर पूर्णता प्राप्त होती है । समय-समय पर जब संसार पर संकट आता है तब भगवान् अवतार धारण कर उसे दूर करते हैं । उनके दस प्रमुख अवतार हैं जिनमें राम और कृष्ण प्रधान हैं । महाभारत में भगवान् के चतुर्व्यूह की कल्पना का विकास हुआ । वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध चार तत्त्व चतुर्व्यूह हैं, जिनकी उपासना भक्त क्रमशः करता है । वह अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव में क्रमशः उत्तरोत्तर लीन होता है, परन्तु वासुदेव नहीं बनता; उन्हीं का अंश होने के नाते उनके सायुज्य में सुख मानता है । निष्काम कर्म से चित्त की शुद्धि और उससे भाव की शुद्धि होती है । भक्ति ही एक मात्र मोक्ष का साधन है । भगवान् के सम्मुख पूर्ण प्रपत्ति ही मोक्ष है ।

भागवत उपासनापद्धति का प्रथम उल्लेख ब्रह्मसूत्र के शाङ्कर भाष्य (२.४२) में पाया जाता है । इसके अनुसार अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग से उपासना करते हुए भक्त भगवान् को प्राप्त करता है । 'ज्ञानामृतसार' में छः प्रकार की भक्ति बतलायी गयी है—(१) स्मरण (२) कीर्तन (३) वन्दन (४) पादसेवन (५) अर्चन और (६) आत्मनिवेदन । भागवत पुराण (७.५.२३-२४) में नवधा भक्ति का वर्णन है । उपर्युक्त छः में तीन—श्रवण, दास्य और सख्य और जोड़ दिये गये हैं । पाञ्चरात्र संहिताओं के अनुसार सम्पूर्ण भागवतधर्म चार खण्डों में विभक्त है : (१) ज्ञानपाद (दर्शन और धर्मविज्ञान) (२) योगपाद (योगसिद्धान्त और अभ्यास) (३) क्रियापाद (मन्दिर निर्माण और मूर्तिस्थापना) (४) चर्यापाद (धार्मिक क्रियाएँ)।

भक्ति के ऊपर विशाल साहित्य का निर्माण हुआ है । इस पर सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है श्रीमद्भागवत पुराण । इसके अतिरिक्त महाभारत का शान्तिपर्व, भगवद्गीता, पाञ्चरात्रसंहिता, सात्वतसंहिता, शाण्डिल्यसूत्र, नारदीय भक्तिसूत्र, नारदपञ्चरात्र, हरिवंश, पद्मसंहिता, विष्णुतत्त्वसंहिता; रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य आदि के ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं ।

भक्तिमार्ग—सगुण-साकार रूप में भगवान् का भजन-पूजन करना । मोक्ष के तीन साधन हैं; ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग । इन मार्गों में भगवद्गीता भक्तिमार्ग को सर्वोत्तम कहती है । इसका सरल अर्थ यह है कि सच्चे हृदय से संपादित भगवान् की भक्ति पुनर्जन्म से उसी प्रकार मोक्ष दिलाती है, जैसे दार्शनिक ज्ञान एवं निष्कामयोग दिलाते हैं । गीता (१२.६-७) में श्रीकृष्ण का कथन है : "मुझ पर आश्रित होकर जो लोग सम्पूर्ण कर्मों को मेरे अर्पण करते हुए मुझ परमेश्वर को ही अनन्य भाव के साथ ध्यानयोग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, मुझमें चित्त लगाने वाले ऐसे भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार-सागर से उद्धार कर देता हूँ ।"

बहुत से अनन्य प्रेमी भक्तिमार्गी शुष्क मोक्ष चाहते ही नहीं । वे भक्ति करते रहने को मोक्ष से बढ़कर मानते हैं । उनके अनुसार परम मोक्ष के समान परा भक्ति स्वयं फलरूपा है, वह किसी दूसरे फल का साधन नहीं करती है ।

भक्तिरत्नाकर—अठारहवीं शती के प्रारम्भ में नरहरि चक्रवर्त्ती ने चैतन्य सम्प्रदाय का इतिहास लिखा था, जिसका नाम भक्तिरत्नाकर है ।

भक्तिरत्नामृतसिन्धु—चैतन्य सम्प्रदाय के विख्यात आचार्य रूप गोस्वामी (१६वीं शती) द्वारा रचित इस ग्रन्थ में संस्कृत भाषा में भगवान् की स्तुतियों का संग्रह है ।

भक्तिरत्नावली—यह माध्व संप्रदाय का ग्रन्थ है । रचना-

काल १५वीं शती है। इसके रचयिता विष्णुपुरी महात्मा हैं।

भक्तिरत्नाञ्जलि—द्वैताद्वैत वैष्णव मत के विद्वान् लेखक देवाचार्य द्वारा रचित यह ग्रन्थ निम्बार्कीय सिद्धान्त तथा भक्ति का प्रतिपादन और शाङ्कर मत का खण्डन करता है।

भक्तिरसामृतसिन्धु—चैतन्य महाप्रभु के शिष्य रूप गोस्वामी द्वारा रचित 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति की व्याख्या, उत्कृष्टता तथा वैष्णवमत की साधना का सर्वांगीण विचार किया गया है। इस ग्रन्थ की टीका जीव गोस्वामी ने लिखी है। रूप और जीव दोनों महात्मा चाचा-भतीजे, परम संत और उच्च कोटि के ग्रन्थकार थे।

भक्तिरसायन—(१) मधुसूदन सरस्वती (अद्वैत सम्प्रदाय के दिग्गज विद्वान्) द्वारा लिखित यह ग्रन्थ भक्ति सम्बन्धी लक्षणग्रन्थ है। इससे उनकी भगवद्रसज्ञता और भावुकता का परिचय मिलता है।

(२) कन्नड़ भाषा में महात्मा सहजानन्द द्वारा भक्तिरसायन नामक ग्रन्थ रचा गया है, जो शैव संप्रदाय विषयक है।

भक्तिवाद—मोक्ष के तीन साधनों (कर्म, ज्ञान तथा भक्ति) में से यह तीसरा साधन है। यह सबसे सहज साधन है। दे० 'भक्तिमार्ग'।

भक्तिसागर—महात्मा चरणदासजी द्वारा रचित एक ग्रन्थ।

भक्तिसिद्धान्त—जीव गोस्वामी द्वारा रचित ग्रन्थ।

भग—द्वादश आदित्य देवताओं में से एक। इस शब्द का साधारण अर्थ है 'देने वाला', 'बाँटने वाला'। ऋग्वेद में इस देवता की विधर्ता, विभक्ता, भगवान् इत्यादि उपाधियाँ पायी जाती हैं। वास्तव में यह समृद्धि और ऐश्वर्य का देवता है। वरुण के साथ ही इसका उल्लेख पाया जाता है। उषा भग की बहिन (भगिनी) है, जो स्वयं जागृति और समृद्धि की देवी है। यास्क (निरुक्त, १२.१३) के अनुसार भग सूर्य का वह रूप है जो पूर्वाह्न की अध्यक्षता करता है। प्राचीन ईरानी भाषा में भग (बघ) 'अहुरमज्द' का एक विशेषण है। स्लोवानिक (यूरोपीय आर्य) भाषा में ईश्वर का एक नाम भंग (बोगु) है। इस देवता का व्यक्तित्व स्पष्ट और विकसित नहीं हुआ है। आगे चलकर परमात्मा के ऐश्वर्य अर्थ में इसका विलय हो गया और परमात्मा को 'भगवान्' कहा जाने लगा।

भगत—वनवासी जाति में उग्र स्वभाव के देवों को शान्त करने व पूजा करने का कार्य जो करता है, उसे भगत (सं०—भक्त) कहते हैं। भगतों की प्रतिष्ठा के कारण हैं समय-समय पर इनमें देवी का आवेश, उसके प्रभाव से बड़बड़ाने तथा हिलने, मुँह से गाज निकालने, कच्चा मांस खाने तथा भूत-भविष्य की बातों का बखान करना। गृहदेवों की स्थापना, पारिवारिक तथा कौटुम्बिक धार्मिक कृत्यों का प्रतिपादन, फसल की वृद्धि करना, बीमारों को अच्छा करना आदि भगत के काम हैं।

भगवत्—इसका शाब्दिक अर्थ है 'भग (छः प्रकार के ऐश्वर्य) से युक्त'। यह ईश्वर का एक विशेषण है। पुरुषवाचक अर्थ में यह 'भगवान्' बोला जाता है और स्त्रीवाचक अर्थ में भगवती (देवी)।

भगवती—देवी मात्र; 'भगवान्' की शक्ति अथवा पत्नी। उमा का एक नाम भगवती भी है।

भगवद्गीता—महाभारत के दार्शनिक और परमोच्च ज्ञान सम्बन्धी अंशों में सबसे महत्त्वपूर्ण तथा अति प्रसिद्ध भगवद्गीता है। भीष्मपर्व में यह उद्धृत है। इसके रचनाकाल को लेकर नव शिक्षाधारियों में बड़ा मतभेद है। इसमें स्वयं कहा गया है कि यह कुरुक्षेत्र में महाभारत युद्धारम्भ के ठीक पहले कृष्ण और अर्जुन के बीच संवाद के रूप में उच्चरित हुई थी। यही विश्वास हिन्दुओं में आज तक प्रचलित है। न्यायाधीश तैलङ्ग और भण्डारकर के विचार से यह ईसा पू० चौथी शताब्दी में रची गयी। किन्तु आधुनिक विद्वान् इसे ई० की प्रथम या दूसरी शताब्दी को रचना बताते हैं। गीता का प्रायः सात सौ श्लोकों वाला वर्तमान आकार सम्भवतः पीछे स्थिर हुआ, किन्तु मूल उपदेश रूप में यह महाभारतकालीन ही है। गीता भारतीय धर्म पर अतुल प्रभाव डालने वाला ग्रन्थ है। यहाँ ऐसी कोई भी रचना नहीं है जो हिन्दूविचारकों के द्वारा इतनी प्रशंसित हो जितनी गीता है। इसकी अनेक पाश्चात्य विचारकों तथा विद्वानों ने भी उच्च प्रशंसा की है। विश्व की सभी भाषाओं में इसके असंख्य संस्करण अनुवाद के रूप में प्रकाशित हैं।

जो क्रान्तिकारी विचार गीता उपस्थित करती है वह यह है कि अन्य सम्प्रदाय केवल उन्हीं लोगों को मोक्ष का आश्वासन देते हैं जो गृहस्थी (सांसारिकता) का त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लेते हैं, जब कि गीता उन सभी स्त्री-पुरुषों को मोक्ष का आश्वासन देती है जो गृहस्थ हैं, सांसारिक कर्मों में तल्लीन हैं। उपर्युक्त विचार ने ही इस ग्रन्थ को लोकप्रिय बना दिया है। यह साधारण लोगों की उपनिषद् है।

गीता में मोक्ष के तीन साधन कहे गये हैं। पहला ज्ञान मार्ग, जो उपनिषदों में, सांख्य दर्शन में तथा और भी स्पष्ट रूप में बौद्ध व जैन दर्शनों में चर्चित है। दूसरा है कर्म मार्ग। यह हिन्दू धर्म का सबसे प्राचीन रूप है—अपने कर्त्तव्यों का पालन, जिसे संक्षेप में 'धर्म' कहते हैं। आरम्भ में ऐसे धर्मों या कर्तव्यों में यज्ञों का महत्त्व था, किन्तु जाति, अवस्था, परिवार व सामाजिक कर्त्तव्य भी इसमें सम्मिलित थे। गीता का कर्मसिद्धान्त, जिसे कर्मयोग कहते हैं, यह है कि धर्मग्रन्थों में वर्णित कर्म का प्रतिपादन केवल क्षणिक सुख या स्वर्ग ही दिला सकता है, जबकि निष्काम भाव से किये जाने से यही कर्मसम्पादन मोक्ष दिला सकता है। तीसरा मार्ग भक्ति मार्ग है। सम्पूर्ण चित्तवृत्ति से परमात्मा का प्रेमपूर्वक भजन-पूजन करना मोक्ष का साजन है।

यह महत्त्वपूर्ण है कि गीता सभी उपासकों को धर्म-शास्त्रों द्वारा अनुमोदित हिन्दू धर्म के पालन करने का आदेश करती है; जातिधर्म, परिवारधर्म, पितृपूजा के पालन का आदेश देती है। गीता वर्णव्यवस्था की विरोधी नहीं, जैसी कि कुछ लोगों की धारणा है। किन्तु यह गुण और स्वभाव के आधार पर उसका अनुमोदन करती है। इस प्रकार गीता ने हिन्दू धर्म के सभी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की परिभाषा प्रस्तुत की और उनका परिष्कार किया है; उसके समय तक जीवन में जो अन्तर्विरोध उत्पन्न हो गये थे उनका परिहार करके समुच्चय और समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया है।

गीता पर मध्य काल के प्रायः सभी आचार्यों ने भाष्य और टीकाएँ लिखी हैं। इनमें 'शाङ्करभाष्य, रामानुज-भाष्य, मधुसूदनी टीका, लोकमान्य तिलक का गीता-रहस्य, ज्ञानेश्वरी आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। गीता के ऊपर भारतीय और कतिपय विदेशी भाषाओं में विशाल साहित्य की रचना हुई है।

भगवद्विषयम्—यह नम्भ आलवार के 'तिरुवोपमोलि' नामक ग्रन्थ पर किसी अज्ञात लेखक द्वारा तमिल भाषा में रचित एक भाष्य है। ए० गोविन्दाचार्य ने इसके कुछ अंशों का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है।

भगवद्भावक—छान्दोग्य तथा केन उपनिषदों के अनेकानेक टीकाकारों में से भगवद्भावक भी एक हैं।

भगतिन, भगतानी—नाचने गाने वाली एक जाति की लड़कियों को व्यङ्ग्यात्मक भाषा में भगतिन या भगतानी (भक्त की पत्नी) कहते हैं। इस जाति की लड़कियाँ इस पेशे में प्रवेश के पूर्व नाम मात्र के लिए किसी बूढ़े संन्यासी से विवाह कर लेती हैं, जो अपनी इस पत्नी को सभी प्रकार के सम्बन्धों की छूट देने के लिए डेढ़ दो रुपया दक्षिणा प्राप्त कर लेता है। कभी-कभी ऐसे वर के अभाव में उन स्त्रियों का विवाह गणेश या किसी भी देवता की प्रतिमा के साथ कर देते हैं। विवाह के बिना इस पेशे में प्रवेश करना वे पाप समझती हैं।

भगवदाराधन क्रम—आचार्य रामानुज द्वारा रचित एक ग्रन्थ।

भगवान्—परमेश्वर का एक गुणवाचक नाम। भगवान्, परमेश्वर, ईश्वर, नारायण, राम, कृष्ण, ये सभी पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं, जो विष्णु की कोटि के हैं। 'भग' (छः विशेषताओं) से युक्त होने के कारण परमेश्वर को भगवान् कहते हैं। वे हैं जगत् का समस्त ऐश्वर्य (सामर्थ्य), समस्त धर्म, समस्त यश, समस्त शोभा, समस्त ज्ञान और समस्त वैराग्य (निर्गुण-निर्लेप स्थिति)।

भङ्ग—मदकारक पौधा, जिसकी पत्तियाँ पीसकर पी जाती हैं। भङ्ग का उल्लेख अथर्ववेद (११.६,१५) में भी हुआ है। ऋग्वेद (९.६१, १३) में भङ्ग सोमलता का विरुद है; सम्भवतः अपनी मादकता के कारण। कुछ विद्वान् भङ्ग और सोम का अभेद मानते हैं।

भजन—इसका शाब्दिक अर्थ है 'ईश्वर की उपासना करना या उसको प्राप्त होना।' प्रचलित प्रकार के धार्मिक गीतों के लिए कीर्तन तथा भजन नाम आता है। 'भजन' कीर्त्तन तथा कथन से रूप तथा प्रणाली में भिन्न, लय, राग एवं तुकबन्द होते हैं। ये भक्तिविषयक किसी विषय से

संबन्धित रहते हैं। उत्तर भारत में सूर, तुलसी, कबीर तथा मीरा के भजन अधिक प्रचलित हैं।

भट्ट (कुमारिल)—दे० 'कुमारिल'।

भट्ट (दिनकर)—कर्ममीमांसा के १७वीं शताब्दी में उत्पन्न एक आचार्य। इन्होंने पार्थसारथि मिश्र की शास्त्रदीपिका पर 'भाट्ट दिनकर' नामक भाष्य रचा है।

भट्ट (नीलकण्ठ)—(१) १५वीं या १६वीं शताब्दी में उत्पन्न, शाक्त मत के आचार्य। इन्होंने 'देवी भागवत उपपुराण' के ऊपर तिलक नामक व्याख्या रची है। (२) 'मयूख' नामक धर्मशास्त्रनिबन्ध के प्रसिद्ध रचयिता। दे० 'नीलकण्ठ भट्ट'।

भट्ट (भास्कर मिश्र)—स्मार्त साहित्य के निपुण लेखक भट्ट भास्कर मिश्र के कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता, आरण्यक एवं उपनिषदों पर रचे गये भाष्य वैदिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। भट्टजी तेलुगु प्रदेश के रहने वाले थे तथा तैत्तिरीय संहिना की आत्रेय शाखा के अनुयायी थे। इस संहिता का भाष्य इन्होंने ११८८ ई० में रचा था।

भट्टोजिदीक्षित—चतुर्मुखी प्रतिभाशाली सुप्रसिद्ध वैयाकरण। इनकी रची हुई सिद्धान्तकौमुदी, प्रौढमनोरमा, शब्दकौस्तुभ आदि कृतियाँ दिगन्तव्यापिनी कीर्तिकौमुदी का विस्तार करने वाली हैं। वेदान्त शास्त्र में ये आचार्य अप्पय दीक्षित के शिष्य थे। इनके व्याकरण के गुरु 'प्रक्रियाप्रकाश'कार शेष कृष्ण दीक्षित थे। भट्टोजिदीक्षित की प्रतिभा असाधारण थी। इन्होंने वेदान्त के साथ ही धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, उपासना आदि पर भी मर्मस्पर्शी ग्रन्थ रचना की है। एक बार शास्त्रार्थ के समय उन्होंने पण्डितराज जगन्नाथ को म्लेच्छ कह दिया था। इससे पण्डितराज का इनके प्रति स्थायी वैमनस्य हो गया और उन्होंने 'मनोरमा' का खण्डन करने के लिए 'मनोरमाकुचमर्दिनी' नामक टीकाग्रन्थ की रचना की। पण्डितराज उनके गुरुपुत्र शेष वीरेश्वर दीक्षित के पुत्र थे।

भट्टोजिदीक्षित के रचे हुए ग्रन्थों में वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी और प्रौढमनोरमा अति प्रसिद्ध हैं। सिद्धान्तकौमुदी पाणिनीय सूत्रों की वृत्ति है और मनोरमा उसकी व्याख्या। तीसरे ग्रन्थ शब्दकौस्तुभ में इन्होंने पातञ्जल महाभाष्य के विषयों का युक्तिपूर्वक समर्थन किया है। चौथा ग्रन्थ वैयाकरणभूषण है। इसका प्रतिपाद्य विषय भी शब्दव्यापार है। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'तत्त्वकौस्तुभ' और 'वेदान्ततत्त्वविवेक टीकाविवरण' नामक दो वेदान्त ग्रन्थ भी रचे थे। इनमें से केवल तत्त्वकौस्तुभ प्रकाशित हुआ है। इसमें द्वैतवाद का खण्डन किया गया है। कहा जाता है कि शेष कृष्ण दीक्षित से अध्ययन के नाते मानसकार तुलसीदासजी इनके गुरुभाई थे। भट्टोजि शुष्क वैयाकरण के साथ ही सरस भगवद्भक्त भी थे। व्याकरण के सहस्रों उदाहरण इन्होंने राम-कृष्णचरित्र से ही निर्मित किये हैं।

भद्र आगम—यह एक शैव आगम है।

भद्रकाली—काली के सौम्य या वत्सल रूप को राख्या या भद्रकाली कहते हैं, जो प्रत्येक बंगाली गाँव की रक्षिका होती है। महामारी आरम्भ होने पर इसके सम्मुख प्रार्थना व यज्ञ किये जाते हैं। काली को उदार रूप में सभी जीवों की माता, अन्न देने वाली, मनुष्य व जन्तुओं में उत्पादन शक्ति उत्पन्न करने वाली मानते हैं। इसकी पूजा फल-फूल, दुग्ध, पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले पदार्थों से ही की जाती है। इसकी पूजा में पशुबलि निषिद्ध है।

भद्रकालीनवमी—चैत्र शुक्ल नवमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसमें उपवास तथा पुष्पादिक से भद्रकाली देवी की पूजा का विधान है। विकल्प से समस्त मासों की नवमियों को भद्रकाली देवी की पूजा होनी चाहिए। दे० नीलमतपुराण, ६३, श्लोक ७६२-६३।

भद्रकालीपूजा—राजा-महाराजाओं के शान्तिक-पौष्टिक कर्मों के लिए 'राजनीतिप्रकाश' में इस पूजा के लिए अनुरोध किया गया है। इसका विधान ठीक उसी प्रकार है जैसा भद्रकालीव्रत में कहा गया है।

भद्रकाली व्रत—(१) कार्तिक शुक्ल नवमी को इस व्रत का आरम्भ होता है। उस दिन उपवास रखा जाता है। इसकी भद्रकाली (अथवा भवानी) देवी हैं। एक वर्ष तक प्रति मास की नवमी को देवीजी का पूजन होता है। वर्ष के अन्त में किसी ब्राह्मण को दो वस्त्र दान में दिये जाते हैं। इसके आचरण से समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है। जैसे रोगों से मुक्ति, पुत्रलाभ तथा यश की उपलब्धि।

(२) आश्विन शुक्ल नवमी को प्रासाद की किसी प्राचीर (बाहरी दीवार) अथवा किसी वस्त्र के टुकड़े पर भद्रकाली की मूर्ति बनाकर आयुधों (ढाल, तलवार आदि)

सहित देवी का उपवासपूर्वक पूजन होता है। इस व्रत से मनुष्य समृद्धि तथा सफलताएँ प्राप्त करता है।

भद्रनारायण—गोभिलगृह्यसूत्र (सामवेदीय) के एक वृत्तिकार।

भद्रविधि—भाद्र शुक्ल षष्ठी को पड़ने वाला रविवार भद्र कहलाता है। उस दिन व्रती को 'नक्तविधि' से आहार करना चाहिए अथवा उपवास रखना चाहिए। मालती के फूल, चन्दन, विजय धूप तथा पायस को (नैवेद्य के रूप में) मध्याह्न काल में सूर्य की पूजा में अर्पण करना चाहिए। यह वारव्रत है। व्रतोपरान्त ब्राह्मण को दक्षिणा देनी चाहिए। इस व्रत से व्रती सूर्यलोक को प्राप्त करता है।

भद्रा—सात करणों में एक करण। प्रति दिन के पञ्चाङ्ग का एक अवयव करण है, जो तिथि का आधा भाग होता है। भद्रा को विष्टि भी कहते हैं। भद्रा नाम के विपरीत इसमें शुभ कर्म वर्जित है। विभिन्न राशियों के अनुसार यह तीनों लोकों में विचरण करती है और 'मृत्युलोके यदा भद्रा सर्वकार्यविनाशिनी' होती है।

भद्राचल—महाराष्ट्र प्रदेश में गोदावरी के तट पर स्थित सुरम्य तीर्थस्थान। यहाँ भगवान् श्री राम का प्राचीन मंदिर है। इसकी यहाँ बहुत प्रतिष्ठा है। कहा जाता है, इसे समर्थ गुरु रामदास ने स्थापित किया था।

भद्राविधि—कार्तिक शुक्ल तृतीया के दिन व्रती को चाहिए कि गोमूत्र तथा यावक (जौ से बनायी हुई लपसी) का सेवन करने के बाद नक्तविधि से आहार करे। प्रति मास के क्रम से इस व्रत को वर्ष भर चलाना चाहिए। वर्ष के अन्त में गौ का दान विहित है। इस व्रत के आचरण से एक कल्प तक गौरीलोक में वास होता है।

भद्रासप्तमी—शुक्ल पक्ष की सप्तमी को हस्त नक्षत्र हो तो वह तिथि भद्रा कहलाती है। यह तिथिव्रत है। इसके सूर्य देवता हैं। व्रतेच्छु व्यक्ति को चतुर्थी तिथि से क्रमशः एकभक्त, नक्त, अयाचित तथा उपवास का आचरण करना चाहिए। फिर सूर्यप्रतिमा को घृत, दुग्ध तथा गन्ने के रस से स्नान कराकर षोडशोपचार पूजन करके प्रतिमा के समीप अमूल्य रत्न विभिन्न दिशाओं में रख देने चाहिए। व्रती इस व्रत के आचरण से सूर्यलोक और अन्त में ब्रह्मलोक में पहुँच जाता है।

भरत—(१) अभिजात क्षत्रिय वर्ग का एक वेदकालीन कबीला। ऋग्वेद तथा अन्य परवर्ती वैदिक साहित्य में भरत एक महत्त्वपूर्ण कुल का नाम है। ऋग्वेद के तीसरे और सातवें मण्डल में ये सुदास एवं त्रित्सु के साथ तथा छठे मण्डल में दिवोदास के साथ उल्लिखित हैं। इससे लगता है कि ये तीनों राजा भरतवंशी थे। परवर्ती साहित्य में भरत लोग और प्रसिद्ध हैं। शत० ब्रा० (१३.५.४) अश्वमेध यज्ञकर्त्ता के रूप में भरत दौष्यन्ति का वर्णन करता है। एक अन्य भरत शतानीक सामाजित का उल्लेख मिलता है, जिसने अश्वमेध यज्ञ किया। ऐत० ब्रा० (८.२३,२१) भरत दौष्यन्ति को दीर्घतमा मामतेय एवं शतानीक को सोमशुष्मा वाजप्यायन द्वारा अभिषिक्त किया गया वर्णन करता है। भरतों की भौगोलिक सीमा का पता उनकी काशीविजय तथा यमुना और गङ्गा तट पर यज्ञ करने से चलता है। महाभारत में कुरुओं को भरतकुल का कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मणकाल में भरत लोग कुरु-पञ्चाल जाति में मिल गये थे।

भरतों की याज्ञिक क्रियाओं का पञ्चविंश ब्रा० (१४.३, १३; १५.५,२४) में बार-बार उल्लेख आता है। ऋग्वेद (२.७.१,५; ४.२५.४;५.१६,१९; तै० सं० २,५,९,१; शत० ब्रा० १.४,२,२) में भारत अग्नि का उल्लेख आया है। रॉथ महाशय इस अग्नि से भरतों के योद्धा रूप की अभिव्यक्ति मानते हैं, जो सम्भव नहीं। ऋचाओं (ऋ० १.२२,१०; १.४२,९; १.८८,८; २.१,११; ३,८; ३.४,८ आदि) में भारती देवी का उल्लेख है जो भरतों की दैवी रक्षिका शक्ति है। उसका सरस्वती से सम्बन्ध भरतों को सरस्वती से सम्बन्धित करता है।

इस महाद्वीप का भरतखण्ड तथा देश का भारतवर्ष नामकरण भरत जाति के नाम पर ही हुआ है। ऋषभदेव के पुत्र भरत अथवा दौष्यन्ति भरत के नाम पर देश का नाम भारत होने की परम्परा परवर्ती है।

(२) अयोध्या के राजा दशरथ के चार पुत्रों में द्वितीय भरत कैकेयी से उत्पन्न हुए थे। राम के वन जाने पर ये उनको वापस लाने के लिए चित्रकूट गये थे। उनके वापस न आने पर उनकी खड़ाऊँ राजसिंहासन पर रखकर उनकी ओर से ये राज्य का शासन करते रहे। चौदह वर्ष का वनवास समाप्त होने पर जब राम अयोध्या वापस आये तब भरत ने उनको राज्य समर्पित कर दिया।

(३) गान्धर्व वेद के चार प्रसिद्ध प्रवर्त्तकों में से एक; नाट्य उपवेद के आचार्य, इनका 'भरतनाट्यशास्त्र' संगीत

काव्यकला का मौलिक ग्रन्थ है। संस्कृत के सभी नाटककार भरत मुनि के अनुशासन पर चलते और इससे 'नट' भी भरत कहे जाते हैं।

भरत स्वामी—सायण ने अपने ऋग्वेदभाष्य में भट्टभास्कर मिश्र एवं भरत स्वामी नामक दो वेदभाष्यकारों का उल्लेख किया है। सामसंहिता के भाष्यकारों में भी भरत स्वामी का नामोल्लेख हुआ है।

भरथरीवैराग्य—सत्रहवीं शताब्दी में स्वामी हरिदास विख्यात महात्मा हुए हैं। इनके रचे ग्रन्थ 'साधारण सिद्धान्त', 'रस के पद', 'भरथरीवैराग्य' कहे जाते हैं। इनका उपासनात्मक मत चैतन्य महाप्रभु के मत से मिलता जुलता है।

भरद्वाज—ऋग्वेदीय मन्त्रों की शाब्दिक रचना जिन ऋषि-परिवारों द्वारा हुई है उनमें सात अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। भरद्वाज ऋषि उनमें अन्यतम हैं। ये छठे मण्डल के ऋषिरूप में विख्यात हैं (आश्वला० गृ० सू० ३.४,२; शांखा० गृ० सू० ४.१२; बृहद्देवता ५.१०२, जहाँ इन्हें बृहस्पति का पौत्र कहा गया है)। पञ्च० ब्रा० (१५. ३-७) में इन्हें दिवोदास का पुरोहित कहा गया है। दिवोदास के साथ इनका सम्बन्ध काठक सं० (२.१०) से भी प्रकट होता है जहाँ इन्हें प्रतर्दन को राज्य देने वाला कहा गया है। ऋषि तथा मन्त्रकार के रूप में भरद्वाज का उल्लेख अन्य संहिताओं तथा ब्राह्मणों में प्रायः हुआ है। रामायण और महाभारत में भी भारद्वाज (गोत्रज) ऋषि का उल्लेख महान् चिन्तक और ज्ञानी के रूप में हुआ है।

भरुकच्छ—पश्चिम समुद्र का तटवर्ती प्राचीन और प्रसिद्ध तीर्थ। इसका शुद्ध नाम भृगुकच्छ है। सूरर और बड़ोदा के मध्य नर्मदा के उत्तर तट पर यह स्थान है। यहाँ महर्षि भृगु ने गायत्री का पुरश्चरण और अनेक तपस्याएँ की थीं। गरुड ने भी यहाँ तपस्या की थी। प्राचीन काल में यह प्रसिद्ध बंदरगाह था।

भर्तृद्वादशीव्रत—चैत्र शुक्ल द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। एकादशी को उपवास कर द्वादशी को विष्णु भगवान् की पूजा करनी चाहिए। प्रति मास विष्णु के बारह नामों से केशव से दामोदर तक एक एक लेना चाहिए। यह व्रत एक वर्षपर्यन्त चलता है।

भर्तृप्राप्तिव्रत—नारदजी ने इस व्रत की महिमा उन अप्सराओं को सुनायी थी, जो भगवान् नारायण को पति रूप में पाना चाहती थीं। वसन्त शुक्ल द्वादशी को इसका अनुष्ठान होता है। इस दिन उपवास रखकर हरि तथा लक्ष्मी का पूजन करना चाहिए। दोनों की चाँदी की प्रतिमाएँ बनवाकर तथा कामदेव का अङ्गन्यास विभिन्न नामों से मूर्ति के भिन्न भिन्न अवयवों में करना चाहिए। द्वितीय दिवस किसी ब्राह्मण को मूर्तियों का दान कर देना चाहिए।

भर्तृनाथ—नाथ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध नव नाथों में से एक। गुरु गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, भर्तृनाथ, गोपीचन्द्र ये सभी अब तक जीवित और अमर माने जाते हैं। कहते हैं कि कभी-कभी साधकों को इनके दर्शन हो जाया करते हैं।

भर्तृप्रपञ्च—वेदान्त के एक भेदाभेदवादी प्राचीन व्याख्याता। इन्होंने कठ और बृहदारण्यक उपनिषदों पर भी भाष्य रचना की थी। भर्तृप्रपञ्च का सिद्धान्त ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद था। दार्शनिक दृष्टि से इनका मत द्वैताद्वैत, भेदाभेद, अनेकान्त आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध था। इसके अनुसार परमार्थ एक भी है और नाना भी; वह ब्रह्मरूप में एक है और जगद्रूप में नाना है। इसी लिए इस मत में एकान्ततः कर्म अथवा ज्ञान को स्वीकार न कर दोनों की सार्थकता मानी गयी है। भर्तृप्रपञ्च प्रमाण-समुच्चय वादी थे। इनके मत में लौकिक प्रमाण और वेद दोनों ही सत्य हैं। इसलिए उन्होंने लौकिक प्रमाण-गम्य भेद को और वेदगम्य अभेद को सत्य रूप में माना है। इसी कारण इनके मत में जैसे केवल कर्म मोक्ष का साधन नहीं हो सकता, वैसे ही केवल ज्ञान भी मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान-कर्म-समुच्चय ही प्रकृष्ट साधन है।

भर्तृमित्र—जयन्त कृत 'न्यायमञ्जरी' (पृ० २१२,२२६) तथा यामुनाचार्य के 'सिद्धित्रय' (पृ० ४-५) में इनका नामोल्लेख हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि ये भी वेदान्ती आचार्य रहे होंगे। भर्तृमिश्र ने मीमांसा पर भी ग्रन्थ रचना की थी। कुमारिल ने श्लोकवार्त्तिक में (१.१.१.१०; १.१.६.१३०-१३१) इनका उल्लेख किया है। पार्थसारथि मिश्र ने न्यायरत्नाकर में ऐसा ही आशय प्रकट किया है। कुमारिल कहते हैं कि भर्तृमित्र

प्रभृति आचार्यों के अपसिद्धान्तों के प्रभाव से मीमांसा शास्त्र लोकायतवत् हो गया। विशिष्टाद्वैतवादी ग्रन्थों में उल्लिखित भर्तृमित्र और श्लोकवार्तिकोक्त मीमांसक भर्तृमित्र एक ही व्यक्ति थे या भिन्न, इसका निर्णय करना कठिन है। परन्तु कुमारिल की उक्ति से मालूम होता है कि ये दो पृथक् व्यक्ति थे। मुकुल भट्ट ने 'अभिधावृत्तिमातृका' में भी भर्तृमित्र का नाम निर्देश किया है (पृ० १७)।

भर्तृयज्ञ—कात्यायनसूत्र के अनेक भाष्यकार तथा वृत्तिकार हुए हैं। उनमें से भर्तृयज्ञ भी एक हैं।

भर्तृहरि—भर्तृहरि का नाम भी यामुनाचार्य के ग्रन्थ में उल्लिखित हुआ है। इनको वाक्यपदीयकार से अभिन्न मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं प्रतीत होती। परन्तु इनका कोई अन्य ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है। वाक्यपदीय व्याकरण विषयक ग्रन्थ होने पर भी प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है। अद्वैत सिद्धान्त ही इसका उपजीव्य है, इसमें सन्देह नहीं है। किसी-किसी आचार्य का मत है कि भर्तृहरि के 'शब्दब्रह्मवाद' का ही अवलम्बन करके आचार्य मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था। इस पर वाचस्पति मिश्र की ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा नामक टीका है। उत्पलाचार्य के गुरु, कश्मीरीय शिवाद्वैत के प्रधान आचार्य सोमानन्दपाद ने स्वरचित 'शिवदृष्टि' ग्रन्थ में भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद की विशेष रूप से समालोचना की है। शान्तरक्षित कृत तत्त्वसंग्रह, अविमुक्तात्मा कृत इष्टसिद्धि तथा जयन्त कृत न्यायमञ्जरी में भी शब्दाद्वैतवाद का उल्लेख मिलता है। उत्पल तथा सोमानन्द के वचनों से ज्ञात होता है कि भर्तृहरि तथा तदनुसारी शब्दब्रह्मवादी दार्शनिक गण 'पश्यन्ती' वाक् को ही शब्दब्रह्मरूप मानते थे। यह भी प्रतीत होता है कि इस मत में पश्यन्ती परा वाक्‌रूप में व्यवहृत होती थी। यह वाक् विश्व जगत् की नियामक तथा अन्तर्यामी चित्-तत्त्व से अभिन्न है।

भव—शतपथ ब्राह्मण के कथनानुसार अग्नि को प्राच्य लोग शर्व तथा वाहीक लोग भव कहते थे। किन्तु अथर्ववेद में भव तथा शर्व रुद्र के समकक्ष देवता हैं, जबकि वाजसनेयी संहिता के अनुसार भव तथा शर्व रुद्र के पर्याय हैं। रुद्र तथा शिव के अनेक पर्याय तथा विरुद पहले अलग-अलग देवों के नाम थे, किन्तु कालान्तर में वे एक नाम 'महादेव' में आत्मसात् हो गये। यथा—भव तथा शर्व अग्नि के भयानक रूप को (यज्ञ वाले क्षेमकारी रूप को नहीं) कहते थे, जो बाद में रुद्र के गुण माने जाकर उनके ही पर्याय बन गये।

भवदेव मिश्र—पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त अथवा सोलहवीं के आरम्भ में वेदान्ताचार्य भवदेव मिश्र हुए थे। इन्होंने वेदान्तसूत्र पर एक टीका निर्मित की, जिसका नाम वेदान्तसूत्रचन्द्रिका है।

भवानी (भुइयँन)—भव (शिव) की पत्नी देवी, उमा, गौरी अथवा दुर्गा के ही पर्याय भवानी तथा भुइयँन हैं।

भवानीयात्रा—चैत्र शुक्ल अष्टमी को यह यात्रा की जाती है। इसमें भवानी की १०८ प्रदक्षिणाएँ तथा जागरण करना चाहिए। दूसरे दिन भवानी की पूजा का विधान है।

भवानीव्रत—(१) तृतीया के दिन व्रती को पार्वतीजी की प्रतिमा पर गन्ध, पुष्प, धूप, दीप आदि चढ़ाने चाहिए। एक वर्षपर्यन्त इसका अनुष्ठान होता है। वर्ष के अन्त में गौ का दान विहित है (पद्मपुराण)।

(२) यदि कोई स्त्री या पुरुष वर्ष भर पूर्णमासी तथा अमावस्या के दिन उपवास रखकर वर्ष के अन्त में सुगन्धित पदार्थों सहित पार्वतीजी की प्रतिमा का दान करता है तो वह भवानी के लोक को प्राप्त करता है। (लिङ्गपुराण)।

(३) पार्वतीजी के मन्दिर में तृतीया को नक्त पद्धति से आहारादि करना चाहिए। एक वर्ष के अन्त में गौ का दान विहित है। (मत्स्यपुराण)

भविष्यपुराण—अठारह पुराणों में से एक शैव पुराण। इसका यह नाम इसलिए पड़ा कि इसमें भविष्य में होने वाली घटनाओं का वर्णन है। इसमें मुसलमानों, अंग्रेजों और मौनों (मंगोल आदि जातियों) के आक्रमणों का भी वर्णन पाया जाता है। इसमें इतनी आधुनिक घटनाओं के वर्णन बाद में ऐसे जोड़ दिये गये कि इस पुराण का सन्तुलन ही शिथिल हो गया। नारदपुराण के अनुसार इसके पाँच पर्व हैं—(१) ब्राह्मपर्व (२) विष्णुपर्व (३) शिवपर्व (४) सूर्यपर्व और (५) प्रतिसर्ग पर्व। इसमें श्लोकों की संख्या चौदह हजार है। मत्स्यपुराण के अनुसार श्लोकों की संख्या साढ़े चौदह हजार है। कुछ असंगतियों के होते हुए भी भविष्यपुराण ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें मग ब्राह्मणों के शकद्वीप से आने का वर्णन

पाया जाता है । भगवान् कृष्ण के पुत्र साम्ब को कुष्ठ रोग हो गया था । उनकी चिकित्सा करने के लिए गरुड शकद्वीप से मग ब्राह्मणों को यहाँ लाये, जिन्होंने सूर्य-मन्दिर में सूर्य की उपासना करके उनका कुष्ठ रोग अच्छा कर दिया । सूर्योपासना का विशेष वर्णन इस पुराण में पाया जाता है । कलि में स्थापित अनेक राजवंशों का इतिहास भविष्य पुराण में वर्णित है । इसमें उद्भिज्ज विद्या का भी वृत्तान्त है जो आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है ।

भस्मजाबाल उपनिषद्—एक परवर्ती उपनिषद् ।

भाई गुरदास की वार—सोलहवीं शती के अन्त में भाई गुरुदास हुए थे । ये चौथे, पाँचवें तथा छठे सिक्ख गुरुओं के समकालीन थे । इन्होंने सिक्खधर्म को लेकर एक काव्य ग्रन्थ रचा, जिसका नाम 'भाई गुरुदास की वार' है । इसका आंशिक अंग्रेजी अनुवाद मैकोलिफ महोदय ने किया है ।

भाई मणिसिंह—सिक्खों के अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह की आस्था हिन्दू धर्म के ओजस्वी कृत्यों की ओर अधिक थी । खालसा पन्थ की स्थापना के पूर्व उन्होंने दुर्गाजी की आराधना की थी । इस समय उन्होंने मार्कण्डेय पुराण में उद्धृत दुर्गास्तुति का अनुवाद अपने दरबारी कवियों से कराया । खालसा सैनिकों के उत्साहवर्द्धनार्थ वे इस रचना तथा अन्य हिन्दू कथानकों का प्रयोग करते थे । उन्होंने और भी कुछ ग्रन्थ तैयार कराये, जिनमें हिन्दी ग्रन्थ अधिक थे, कुछ फारसी में भी थे । गुरुजी के देहत्याग के बाद भाई मणिसिंह ने उनके कवियों और लेखकों के द्वारा अनुवादित तथा रचित ग्रन्थों को एक जिल्द में प्रस्तुत कराया, जिसे 'दसवें गुरु का ग्रन्थ' कहते हैं । किन्तु इसे कट्टर सिक्ख लोग सम्मानित ग्रन्थ के रूप मे स्वीकार नहीं करते हैं । इस ग्रन्थ का प्रयोग गोविन्दसिंह के सामान्य श्रद्धालु शिष्य सांसारिक कामनाओं की वृद्धि के लिए करते हैं, जबकि धार्मिक कार्यों में 'आदि ग्रन्थ' का प्रयोग होता है ।

भागवत उपपुराण—कुछ शाक्त विद्वानों के अनुसार उन्तीस उपपुराणों में भागवत पुराण की भी गणना है । परन्तु वैष्णव लोग इस मत को स्वीकार नहीं करते । उनके अनुसार 'भागवत' पुराण ही नहीं, अपितु महापुराण है । दे० 'भागवत पुराण' ।

भागवततात्पर्यनिर्णय—भागवतपुराण के व्याख्यारूप में मध्वाचार्य द्वारा रचित एक ग्रन्थ । यह माध्वमत (द्वैतवाद) का प्रतिपादन करता है ।

भागवतदेवालय—भागवत सम्प्रदाय के मन्दिरों को देवालय कहते हैं, जिनमें कृष्ण या विष्णु के अन्य अवतारों की मूर्तियाँ स्थापित होती हैं ।

भागवतधर्म—दे० 'भक्ति' और 'भागवत' ।

भागवत पुराण—यह पाँचवाँ महापुराण है । इस पुराण का पूर्ण नाम श्रीमद्भागवत महापुराण है । इसमें बारह स्कन्ध, ३३५ अध्याय और कुल मिलाकर १८,००० श्लोक हैं । श्रीमद्भागवत का प्रतिस्पर्धी देवीभागवत नाम का पुराण है । इसमें भी १८,००० श्लोक एवं द्वादश स्कन्ध हैं । शाक्त इसी को महापुराण मानते हैं । दोनों के नाम में भी श्रीमत् और देवी का अन्तर है । श्रीमान् विष्णु की उपाधि है, इसलिए श्रीमद्भागवत का अर्थ है वैष्णव भागवत । नारद तथा ब्रह्म पुराण में भागवत के जितने लक्षणों का निर्देश है वे श्रीमद्भागवत में पाये जाते हैं । नारदपुराण में श्रीमद्भागवत की संक्षिप्त विषयसूची तथा पद्मपुराण में महात्म्य का वर्णन किया गया है । इन दोनों के अनुसार श्रीमद्भागवत ही महापुराण सिद्ध होता है ।

मत्स्यपुराण के मतानुसार भी यही महापुराण ठहरता है । परन्तु मत्स्यपुराण में कथित एक लक्षण श्रीमद्भागवत में नहीं मिलता । उसमें लिखा है कि शारद्वत कल्प में जो मनुष्य और देवता हुए उन्हीं का विस्तृत वृत्तान्त भागवत में कहा गया है । किन्तु प्रचलित श्रीमद्भागवत में शारद्वत कल्प का प्रसङ्ग नहीं है । किन्तु उसी के जोड़ में पाद्म कल्प को कथा वर्णित की गयी है । इसलिए जान पड़ता है कि मत्स्यपुराण में या तो शारद्वत कल्प की चर्चा प्रक्षिप्त है या शारद्वत और पाद्म दोनों एक ही कल्प के दो नाम हैं, या मत्स्यपुराण में वर्णित भागवत प्रचलित श्रीमद्भागवत नहीं है ।

भक्ति शाखा का, विशेष कर वैष्णव भक्ति का यह उपजीव्य ग्रन्थ है । इसको 'निगम तरु का स्वयं गलित अमृत-फल' कहा गया है । जिस प्रकार वेदान्तियों ने गीता को प्रसिद्ध प्रस्थान मानकर उस पर भाष्य लिखा है उसी प्रकार वैष्णव आचार्यों ने भागवत को वैष्णवधर्म का मुख्य प्रस्थान मानकर उस पर भाष्यों और टीकाओं की रचना की है । वल्लभाचार्य ने भागवत को व्यास की

'समाधिभाषा' कहा है। इस पर उनकी 'सुबोधिनी' टीका प्रसिद्ध है। भागवत का चैतन्य सम्प्रदाय और वल्लभ सम्प्रदाय दोनों पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। दोनों सम्प्रदायों ने भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों का विस्तृत निरूपण किया है। ऐसे ग्रन्थों में आनन्दतीर्थ कृत 'भागवततात्पर्यनिर्णय' और जीव गोस्वामी के 'षट् सन्दर्भ' बहुत प्रसिद्ध हैं। भागवत के अनुसार एक ही अद्वैत तत्त्व जगत् के व्यापार—सृष्टि, स्थिति और लय के लिए विभिन्न अवतार धारण करता है। भक्ति ही मोक्ष का मुख्य साधन है। इसके बिना ज्ञान और कर्म व्यर्थ हैं।

भागवतभावार्थदीपिका—पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्पन्न श्रीधर स्वामी द्वारा विरचित भागवत पुराण की सुप्रसिद्ध टीका। वैष्णवों द्वारा यह टीका अति सम्मानित है। श्रीधर स्वामी काशी में मणिकर्णिका घाट के समीप 'नरसिंहचौक' में रहते थे तथा जनश्रुति के अनुसार पुरी के गोवर्धन मठ से सम्बद्ध थे। इन्होंने भागवत पुराण को बोपदेव की रचना स्वीकार नहीं किया है। इन्होंने यह व्याख्या अद्वैतवादी दृष्टि से की है, फिर भी सभी वैष्णवाचार्य इनको प्रामाणिक व्याख्याकार मानते हैं।

भागवतमाहात्म्य—पद्मपुराण और स्कन्दपुराण के अंश रूप में दो भागवतमाहात्म्य पाये जाते हैं। उनमें पद्मपुराणीय माहात्म्य अधिक प्रचलित है। यह भागवत पुराण की रचना से बहुत पीछे रचा गया। इसमें उद्धृत एक कथा से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुराण दक्षिण देश में रचा गया था। इस कथा में भक्ति एक स्त्री के रूप में अवतरित होकर कहती है कि मैं द्रविड देश में उत्पन्न हुई थी, कर्णाटक में बड़ी हुई, महाराष्ट्र में मेरा कुछ-कुछ पोषण हुआ और गुजरात में वृद्ध हो गयी। फिर मैं घोर कलियुग के योग से पाखण्डों द्वारा खण्डित-अंगिनी और दुर्बल होकर ज्ञान-वैराग्य नामक अपने पुत्रों के साथ बहुत दिनों तक मन्दता में पड़ी रही। सम्प्रति वृन्दावन पहुँच कर नवीना, सुरूपिणी और सम्यक् प्रकार से परिपूर्ण हो गयी हूँ (१.४८-५०)।

भागवतसम्प्रदाय—दे० 'भागवत'।

भागवतलीलारहस्य—महाप्रभु वल्लभाचार्य रचित एक अप्रकाशित ग्रन्थ।

भागवतलघुटीका—विष्णुस्वामी संप्रदाय के साहित्य में इसकी गणना होती है। यह वरदराजकृत है तथा इसकी पाण्डुलिपि वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में उपलब्ध है। रचनाकाल पन्द्रहवीं शताब्दी है।

भागवतव्याख्या—विष्णुस्वामी सम्प्रदाय का एक सम्मानित आधारग्रन्थ। इस सम्प्रदाय के संस्थापक विष्णुस्वामी दक्षिण भारत के निवासी थे। उन्होंने गीता, वेदान्तसूत्र तथा भागवत पुराण पर व्याख्याएँ रची थीं, जो अब प्राप्त नहीं हैं। इनके भागवत सम्बन्धी ग्रन्थ का उल्लेख श्रीधर स्वामी ने अपनी टीका (१.७) में किया है। इसका रचनाकाल १३वीं शताब्दी माना जा सकता है।

भागवतामृत—महाप्रभु चैतन्य के शिष्य सनातन गोस्वामी द्वारा रचित एक ग्रन्थ। इसमें चैतन्य सम्प्रदाय के आशयानुसार श्री कृष्ण की व्रजलीलाओं का वर्णन किया गया है।

भाग्यर्क्षद्वादशी—पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्रयुक्त द्वादशी को हरिहर भगवान् की प्रतिमा का पूजन करना चाहिए। इसमें अर्ध मूर्ति हरि तथा शेष अर्ध मूर्ति हर (शिव) का प्रतिनिधित्व करती है। तिथि चाहे द्वादशी हो या सप्तमी, दोनों दिन समान फल मिलता है। इसी प्रकार नक्षत्र चाहे पूर्वाफाल्गुनी हो या रेवती अथवा धनिष्ठा, वही फल होता है। इस कृत्य से मनुष्य पुत्र, पौत्र तथा राज्य प्राप्त करता है। पूर्वाफाल्गुनी भाग्य के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि इसका अधिपति भग देवता है। 'ऋक्ष' का अर्थ है नक्षत्र (भाग्य + ऋक्ष, भाग्यर्क्ष)।

भागीरथी—सगर के प्रपौत्र राजा भगीरथ ने अपने ६०,००० पूर्वजों (सगर के पुत्रों) को, जो कपिल के शाप से भस्म हो गये थे, तारने के लिए देवनदी गङ्गा को स्वर्ग से पृथ्वी पर तथा पृथ्वी से पाताल की ओर ले जाने के लिए घोर तपस्या की थी। भगीरथ के प्रयत्न से पृथ्वी पर आने के कारण गङ्गा को भागीरथी कहते हैं। दे० रामायण, १.३८.४४।

भागुरि—ऋग्वेद शाखा का एक ग्रन्थ बृहद्देवता है, जिसमें वैदिक आख्यानादि विस्तार से लिखे गये हैं। यह ग्रन्थ शौनक द्वारा रचित बताया जाता है। कुछ लोग इसे शौनक सम्प्रदाय के किसी व्यक्ति, भागुरि और आश्वलायन की रचना बतलाते हैं।

भाट्टदिनकर—यह भट्ट दिनकर रचित (१६०० ई०) पार्थसारथि मिश्र के 'शास्त्रदीपिका' ग्रन्थ की टीका है। यह पूर्वमीमांसा विषयक ग्रन्थ है।

भाट्टदीपिका—सत्रहवीं शताब्दी में उत्पन्न पूर्वमीमांसा के आचार्य खण्डदेव द्वारा जैमिनिसूत्रों के वार्तिक पर रचित व्याख्या ग्रन्थ । इसमें शब्द का देवत्व अर्थात् 'वेदमन्त्र ही देवता हैं' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है ।

भातपाँत—एक पंक्ति में बैठकर समान कुल के लोगों द्वारा कच्चा भोजन करना । यह विचारधारा बहुत प्राचीन है । पुराणों और स्मृतियों में हव्य-कव्यग्रहण के सम्बन्ध में ब्राह्मणों की एक पंक्ति में बैठने की पात्रता पर विस्तार से विचार हुआ है । मनुस्मृति (३.१४९) में लिखा है कि धर्मज्ञ पुरुष हव्य (देवकर्म) में ब्राह्मण की उतनी जाँच न करे, किन्तु कव्य (पितृकर्म) में आचार-विचार, विद्या, कुल, शील की अच्छी तरह जाँच कर ले । एक लम्बी सूची अपाङ्क्तेयता की दी हुई है । प्रसङ्ग से जान पड़ता है कि मनुस्मृति के समय तक द्विज मात्र एक दूसरे के यहाँ भोजन करते थे । विचारवान् व्यक्ति यह देख लेते थे कि जिसके यहाँ हम भोजन करते हैं, वह स्वयं सच्चरित्र है, उसका कुल सदाचारी है और उसके यहाँ छूत वाले रोगी तो नहीं हैं । जब अधिक संख्या में लोग खाने बैठते थे तब भी इसका विचार होता था । पंक्ति का विचार हव्य-कव्य में ब्राह्मणों के अन्तर्गत चलता था । देखादेखी पंक्ति का ऐसा ही नियम और वर्गों में भी चल पड़ा । जिसे अपाङ्क्तेय या पंक्ति से बाहर कर देते थे वह फिर पतित समझा जाता था । बड़े भोज उन्हीं लोगों में सम्भव थे जो एक ही स्थान के रहनेवाले, एक ही तरह का काम या व्यवसाय करते थे और जिनकी परस्पर नातेदारियाँ थीं । विवाह भी इसी प्रकार समान कर्म और वर्ण, समान कुलशील वालों में होना आवश्यक था । इसीलिए भातपाँत का जन्म हो गया ।

भादू—बाग्दी नाम की एक वनवासी जाति मध्य भारत तथा पश्चिम बङ्गाल में बसती है । यह सनातन हिन्दू धर्म तथा पशु एवं प्रकृति की पुजारी है । इस जाति के लोग मनसा देवी की पूजा करते हैं, जिसकी प्रतिमा सारे ग्राम में घुमायी जाती है । अन्त में एक तालाब में मूर्तिविसर्जन करते हैं । ये एक नारी साधुनी की मूर्ति को भी घुमाते हैं, जिसकी उपाधि 'भादू' है । इसके बारे में कहा जाता है कि यह पचेत के राजा की पुत्री थी तथा अपनी जाति की भलाई के लिए इसने अविवाहितावस्था में ही अपना जीवन दान कर दिया था (मर गयी थी) । इसकी पूजा में गान तथा जंगली नाचों का समावेश है ।

भानुदास—सोलहवीं शताब्दी के महाराष्ट्रीय भक्तों में भानुदास की गणना होती है । इनके रचे अभङ्गों (पदों) के कारण इनकी प्रसिद्धि है ।

भानुव्रत—सप्तमी के दिन यह व्रत प्रारम्भ होता है । उस दिन नक्तविधि से आहार करना चाहिए । सूर्य इसके देवता हैं । एक वर्षपर्यन्त इसका अनुष्ठान होता है । वर्ष के अन्त में गौ तथा स्वर्ण के दान का विधान है । इस कृत्य से व्रती स्वर्ग लोक जाता है ।

भानुसप्तमी—यदि रविवार के दिन सप्तमी पड़े तो उसे भानुसप्तमी कहा जाता है । दे० गदाधरपद्धति, पृ० ६१० । इस दिन उपवास, व्रत तथा सूर्यपूजन का विधान है ।

भामती—शांकर भाष्य की एक विख्यात व्याख्या, जो मूल के समान अपना गौरव रखती है । इसके रचयिता दार्शनिकपंचानन वाचस्पति मिश्र (नवीं शताब्दी) थे । शाङ्कर मत को समझने के लिए इसका अध्ययन अनिवार्य समझा जाता है । अद्वैतवाद का यह प्रामाणिक ग्रन्थ है । ग्रन्थ के नामकरण की एक कथा है । वाचस्पति मिश्र की पत्नी का नाम भामती था । ग्रन्थ प्रणयन के समय वह मिश्रजी की सेवा करती रही, परन्तु वे स्वयं ग्रन्थ रचना में इतने तल्लीन रहते थे कि उसको बिल्कुल भूल गये । ग्रन्थ समाप्ति पर भामती ने व्यंग्य से इसकी शिकायत की । वाचस्पति ने उसको सन्तुष्ट करने के लिए ग्रन्थ का नाम 'भामती' रख दिया ।

भारत—इस देश का प्राचीन नाम भारत है । इस नामकरण की कई परम्पराएँ हैं । एक बहुप्रचलित परम्परा है कि दुष्यन्तकुमार और चक्रवर्ती राजा भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत अथवा भारतवर्ष पड़ा । दूसरी परम्परा श्रीमद्भागवत और जैन पुराणों में मिलती है । इसके अनुसार ऋषभदेव के पुत्र महाराज भरत के, जो आगे चलकर बड़े महात्मा और योगी हो गये थे, नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा । परन्तु अधिक सम्भव जान पड़ता है कि भरतवर्ग (कबीले) के नाम पर, जो राजनीति, धर्म, विद्या और कला सभी में अग्रणी था, इस देश का नाम भारत पड़ा । इस देश की सन्तति और

संस्कृति भी उसके नाम पर भारती कहलायी। विष्णुपुराण में भारत की सीमा इस प्रकार दी हुई है :

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र संततिः ।।

[हिमालय से समुद्र तक के उत्तर-दक्षिण भूभाग का नाम भारत है, इसमें भारती प्रजा रहती है।] इसमें संतति की कल्पना सांस्कृतिक है, प्रजातीय नहीं। भारतीय परम्परा ने रक्त और रङ्ग से ऊपर उठकर सदा भावनात्मक एकता पर बल दिया है।

भारत की संस्कृति अति प्राचीन है। इसकी परम्परा में सृष्टि का वर्णन सबसे निराला है। फिर मन्वन्तर और राजवंशों का वर्णन जो कुछ है वह भारतवर्ष के भीतर का है। चर्चा विविध द्वीपों और देशों की है सही, परंतु राजवंशों का जहाँ कहीं वर्णन है उसकी भारतीय सीमा निश्चित है। महाभारत के संग्राम में चीन, तुर्किस्तान आदि सभी पास के देशों की सेना आयी दीख पड़ती है, पाण्डवों और कौरवों की दिग्विजय में वर्त्तमान भारत के बाहर के देश भी सम्मिलित थे, परन्तु कर्मक्षेत्र भारत की पुण्यभूमि ही है। इसके पर्वत, वन, नदी-नाले, वृक्ष, पल्लव, ग्राम, नगर, मैदान, यहाँ तक कि टीले भी पवित्र तीर्थ हैं। द्वारका से लेकर प्राग्ज्योतिष तक, बदरी-केदार से लेकर कन्याकुमारी या धनुष्कोटि तक, अपितु सागर तक आदि सीमा और अन्त सीमा, तीर्थ और देवस्थान हैं। यहाँ के जलचर, स्थलचर, गगनचर, सबमें पूज्य और पवित्र भावना वर्तमान है। लोग देश से प्रेम करते हैं। हिन्दू अपनी मातृभूमि को पूजते हैं।

भारतीय हिन्दू परम्परा अपना आरम्भ सृष्टिकाल से ही मानती है। उसमें कहीं किसी आख्यान से, किसी चर्चा से, किसी वाक्य से यह सिद्ध नहीं होता कि आर्य जाति कहीं बाहर से इस देश में आयी। अर्थात् परम्परानुसार ही इस भारत देश के आदिवासी आर्य हैं।

भारतभावदीप–नीलकण्ठ सूरि (सोलहवीं शताब्दी) महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इस टीका का नाम भारतभावदीप है। इसके अन्तर्गत गीता की व्याख्या में अपनी टीका को सम्प्रदायानुसारी (परम्परागत) बतलाते हुए इन्होंने स्वामी शङ्कराचार्य एवं श्रीधरादि की वन्दना की है। इस व्याख्या में कहीं-कहीं शाङ्करभाष्य का अतिक्रमण भी हुआ है, तथापि मुख्य अभिप्राय अद्वैत सम्प्रदाय के अनुकूल ही है।

भारतसंहिता—महर्षि जैमिनि को पूर्वमीमांसा दर्शन के अतिरिक्त भारतसंहिता का भी रचयिता कहते हैं। इसका एक अन्य नाम 'जैमिनिभारत' है।

भारतधर्ममहामण्डल—१९वीं शताब्दी के आरम्भ में ईसाई मत के प्रभाव ने हिन्दू विचारों पर गहरा आघात किया, जिसने मौलिक सिद्धान्तों पर पड़े आघातों के अतिरिक्त प्रतिक्रियारूप में हिन्दू मात्र की एकता को जन्म दिया। इसके फलस्वरूप 'भारतधर्ममहामण्डल' जैसी संस्थाओं की स्थापना हुई और हिन्दुत्व की रक्षा के लिए संघटनात्मक प्रयत्न होने लगे। महामण्डल का मुख्य अधिष्ठान काशी में है। इसके संस्थापक वंगदेशीय स्वामी ज्ञानानन्दजी थे। महामण्डल के मुख्य तीन उद्देश्य रखे गये : (१) हिन्दुत्व की एकता और उत्थान (२) इस कार्य के सम्पादन के लिए उपदेशकों का संघटन और (३) हिन्दूधर्म के सनातन तत्त्वों के प्रचारार्थ उपयुक्त साहित्य का निर्माण। अब मण्डल महिलाशिक्षण कार्य की ओर अग्रसर है।

भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज—राजा राममोहन राय द्वारा संस्थापित धर्मसुधारक समिति। ब्राह्मसमाज आगे चलकर दो समाजों में बँट गया : आदि ब्राह्मसमाज एवं भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज। यह घटना ११ नवम्बर सन् १८६६ की है, जिस समय केशवचन्द्र सेन ब्राह्मसमाज के मन्त्री बने। आदि ब्राह्मसमाज देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा व्यवस्थापित नियमों को मान्यता देता था, और भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज के विचार अधिक उदार थे। इसमें साधारण प्रार्थना तथा स्तुतिपाठ के साथ-साथ हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम, जोरोष्ट्रियायी तथा कनफ्यूशियस के ग्रन्थों का भी पाठ होता था। केशवचन्द्र ने इसे हिन्दू प्रणाली की सीमा से ऊपर उठाकर मानववादी धर्म के रूप में बदल दिया। फलतः भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज की सदस्यता देश के कोने-कोने में फैल गयी तथा आदि ब्राह्मसमाज इसकी तुलना में सीमित रह गया। परन्तु ब्राह्मसमाज जितना सुधारवादी बना, उतना ही अपनी मूल परम्परा से दूर होता गया, इसकी जीवनी शक्ति क्षीण होती गयी और यह सूखने लगा। दे० 'ब्राह्मसमाज'।

भारती—(१) सरस्वती का एक पर्याय। भारती का संबन्ध वैदिक भरतों से प्रतीत होता है। भरतों के सांस्कृतिक अवदान का व्यक्तीकरण ही भारती है।

(२) शङ्कर के दसनामी संन्यासियों की एक शाखा 'भारती' है । भारती उपनाम के संन्यासी कुछ उच्च श्रेणी में गिने जाते हैं । दसनामियों की तीर्थ, आश्रम एवं सरस्वती शाखाओं में केवल ब्राह्मण ही दीक्षित होते हैं, अतएव ये पवित्र उपनाम हैं । भारती शाखा में ब्राह्मणों के साथ ही अन्य वर्ण भी दीक्षित होते हैं, इसलिए यह उपनाम आधा ही पवित्र माना जाता है ।

भारतीतीर्थ—चौदहवीं शताब्दी के मध्य में महात्मा भारतीतीर्थ के शिष्य विद्यारण्य स्वामी ने 'पञ्चदशी' नामक वेदान्त विषयक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ प्रस्तुत किया । यह प्रसादगुणपूर्ण अनुष्टुप् छन्दों के पंद्रह प्रकरणों में रचा गया है ।

भारती यति—सांख्य दर्शन के आचार्य, जो चौदहवीं शती के प्रारंभ में हुए । इन्होंने वाचस्पतिमिश्रविरचित 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' पर 'तत्त्वकौमुदी व्याख्या' नामक टीका रची ।

भारती शिष्यपरम्परा—भारती, सरस्वती एवं पुरी उपनामों की शिष्यपरम्परा शंकराचार्य के शृंगेरी मठ के अन्तर्गत है । दे० 'भारती' ।

भारद्वाज—भरद्वाज कुल में उत्पन्न ऋषि । ये यजुर्वेद की एक श्रौत एवं गृह्य शाखा के सूत्रकार थे । तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में इनका उल्लेख आचार्य के रूप में तथा पाणिनि के अष्टाध्यायीसूत्रों में वैयाकरण के रूप में हुआ है । इससे विदित होता है कि ऋषि भारद्वाज शिक्षाशास्त्री, वैयाकरण, श्रौत एवं गृह्य सूत्रकार भी थे ।

भारद्वाजगृह्यसूत्र—कृष्ण यजुर्वेद का एक गृह्यसूत्र ।

भारद्वाजश्रौतसूत्र—कृष्ण यजुर्वेद का श्रौतसूत्र, जो भारद्वाज द्वारा रचित है ।

भारभूतेश्वरव्रत—आश्विन पूर्णिमा के दिन काशी में भारतभूतेश्वर शंकरजी की पूजा का विधान है ।

भारुचि—आचार्य रामानुज कृत वेदार्थसंग्रह में (पृ० १५४) प्राचीन काल के छः वेदान्ताचार्यों का उल्लेख मिलता है, जिनमें भारुचि भी हैं । श्रीनिवासदास ने 'यतीन्द्रमतदीपिका' में भी इनका उल्लेख किया है । भारुचि के विषय में विशेष परिज्ञान नहीं है । विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा (याज्ञ० १.१८ और २.१२४), माधवाचार्य कृत पराशरस्मृति की टीका (२.३, पृ० ५१०) एवं सरस्वतीविलास (प्रस्तर १३३) प्रभृति ग्रन्थों में धर्मशास्त्रकार भारुचि का नाम उपलब्ध होता है । प्रतीत होता है कि उन्होंने विष्णुकृत 'धर्मसूत्र' के ऊपर एक टीका लिखी थी । श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में प्रसिद्ध भारुचि और धर्मशास्त्रकार भारुचि एक माने जायँ, तो इनका समय नवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में माना जा सकता है ।

भार्गव—भृगु के वंशज या गोत्रोत्पन्न । यह अनेक ऋषियों का पितृबोधक नाम है, जिनमें च्यवन (शतपथ ब्राह्मण, ४ १,५,१; ऐतरेय ब्राह्मण, ८.२१) तथा गृत्समद (कौषीतकि ब्राह्मण, २२.४) उल्लेखनीय हैं । अन्य भार्गवों का भी उनके व्यक्तिगत नामों के बिना ही उल्लेख हुआ है (तैत्तिरीय संहिता, १.८,१८,१; शाङ्खायन आरण्यक ६.१५; ऐतरेय ब्राह्मण, ८.२, १, ५; प्रश्नोपनिषद्, १.१; पञ्चविंशब्राह्मण, १२.२, २३; ९, १९, ३९ आदि) । शुक्राचार्य, मार्कण्डेय, परशुराम आदि ऋषि भार्गव (भृगुवंशज) हैं । (मृत्पात्र पकाने के कारण कुम्भकार भी भार्गव कहलाता है । वनवासकाल में पाण्डव इसके घर में टिके थे ।)

भार्गव उपपुराण—यह उन्तीस उपपुराणों में से एक है ।

भार्या—परवर्ती काल में इसका पत्नी अर्थ प्रचलित हुआ है। 'सेंटपीटर्सवर्ग' के शब्दकोश के अनुसार सर्वप्रथम यह शब्द ऐतरेय ब्राह्मण में प्रयुक्त हुआ है (७.९.८) जहाँ इसका अर्थ गृहस्थी की एक सदस्या है, जिसका भरण करना आवश्यक है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियों को इसी शब्द से अभिहित किया गया है (बृहदारण्यकोपनिषद्, ३.४, १; ४.५, १) । आगे चलकर पत्नी के अर्थ में ही इसका प्रयोग होने लगा ।

भावत्रय—शक्ति की आराधना करने वाले तान्त्रिक लोग तीन भावों (अवस्थाओं) का आश्रय लेते हैं; 'दिव्य भाव' से देवता का साक्षात्कार होता है । 'वीर भाव' से क्रिया सिद्धि होती है । 'पशु भाव' से ज्ञानसिद्धि होती है । इन्हें क्रम से दिव्याचार, वीराचार और पश्वाचार भी कहते हैं । पशुभाव से ज्ञान प्राप्त करके वीरभाव द्वारा रुद्रत्व पद प्राप्त किया जाता है । दिव्याचार द्वारा साधक के अन्दर देवता की तरह क्रियाशीलता हो जाती है । इन भावों का मूल निःसन्देह शक्ति है ।

भावना उपनिषद्—यह शाक्त उपनिषद् है । इसका रचना काल ९०० तथा १३५० ई० के बीच रखा जा सकता है ।

भावनाविवेक—महान् कर्मकाण्डी मण्डन मिश्र द्वारा विरचित पूर्वमीमांसा का एक ग्रन्थ ।

भावप्रकाशिका विवरणटोका—अद्वैत सम्प्रदाय के विद्वान् नृसिहाश्रम द्वारा रचित भावप्रकाशिका प्रकाशात्मयतिकृत 'पञ्चपादिकाविवरण' की टीका है ।

भावानन्द—नाभादासजी के 'भक्तमाल' में वर्णित सन्त व भक्तों में भावानन्द का उल्लेख है । किन्तु केवल एक पद्य में उनकी रामभक्ति के उल्लेख के सिवा उनका और कुछ वर्णन प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थरामायण—सोलहवीं-सत्रहवीं शती के मध्य उत्पन्न एक महाराष्ट्रीय भक्त ने इस ग्रन्थ की रचना की थी ।

भाषापरिच्छेद—न्याय-वैशेषिक दर्शन विषयक एक पद्यात्मक प्रसिद्ध ग्रन्थ । इसकी रचना १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में वंगदेशीय विश्वनाथ पञ्चानन द्वारा हुई थी । इसके पद्य अनुष्टुप् छन्द में हैं, इसलिए व्यवहार में इसका नाम 'कारिकावली' प्रसिद्ध है ।

भाषावृत्ति—यह पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी पर अवलम्बित एक व्याकरण ग्रन्थ है । इसके रचयिता पुरुषोत्तमदेव नामक एक वैयाकरण थे । पुरुषोत्तम द्वारा रचित एक उपयोगी कोशग्रन्थ 'हारावली' नाम से प्रसिद्ध है ।

भाष्य—धार्मिक, दार्शनिक या सैद्धान्तिक सूत्रग्रन्थों पर जो समालोचनात्मक अथवा व्याख्यात्मक ग्रन्थ लिखे गये हैं उनको भाष्य कहते हैं । इसका शाब्दिक अर्थ है कहने लायक अथवा स्पष्ट करने लायक :

> सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः ।
> स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥

भाष्याचार्य—स्वामी रामानुज के परम गुरु और यामुनाचार्य के गुरु का (गुणवाचक) नाम भाष्याचार्य है ।

भासर्वज्ञ—न्याय दर्शन के एक आचार्य । इन्होंने न्यायसार नामक ग्रन्थ लिखा जिसके ऊपर अष्टादश टीकाएँ रची गयी हैं ।

भास्कर—काश्मीर शैव मत के एक आचार्य, जो ११वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए । इन्होंने 'शिवसूत्रवार्त्तिक' लिखा है । यह ग्रन्थ वसुगुप्त रचित 'शिवसूत्र' पर वार्त्तिकों के रूप में प्रस्तुत हुआ है ।

भास्करपूजा—सूर्य भगवान् विष्णु के दक्षिण नेत्र हैं । इसलिए विष्णु के रूप में सूर्य का पूजन करना चाहिए । रथ के पहिये के समान मण्डल बनाकर उसमें सूर्य की पूजा की जाती है । सूर्य पर चढ़ाये हुए फूल प्रतिमा से हटाने के बाद व्रती को अपने शरीर पर धारण नहीं करने चाहिए । तिथितत्त्व, ३६; पु० चि०, १०४ । बृहत्संहिता (५७.३१-५७) में इस बात का निर्देश मिलता है कि किसी देवता की प्रतिमा कैसी बनायी जाय । मूर्तिनिर्माण में एक बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि मूर्ति के चरणों से वक्ष तक का भाग नग्न न रहने पाये, अपितु किसी वस्त्र से आच्छादित रहे ।

भास्करप्रियासप्तमी—जब सूर्य सप्तमी को एक राशि से संक्रमण कर द्वितीय राशि पर पहुँचते हैं तब वह सप्तमी महाजया कहलाती है । यह तिथि सूर्य को बहुत प्रिय है । उस दिन स्नान, दान, जप, होम, देवपूजा, पितृतर्पण इत्यादि करने से करोड़ों गुना पुण्य प्राप्त होता है ।

भास्कर मिश्र—यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता का एक छोटा भाष्य भास्कर मिश्र ने लिखा है । इन्होंने तैत्तिरीय आरण्यक का भी एक भाष्य रचा है ।

भास्करराय—अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ इनका स्थितिकाल कहा जाता है । ये दक्षिणमार्गी शाक्त तथा देवी के परम उपासक थे । नृसिंहानन्दनाथ, भास्करानन्दनाथ तथा उमानन्दनाथ ने मिलकर एक छोटी सी गुरुपरम्परा स्थापित की । भास्करानन्दनाथ इनमें सबसे महान् थे । वे ही भास्करराय के नाम से अभिहित किये जाते हैं । ये तञ्जौर नरेश के सभापण्डित थे । शाक्त साधना-प्रणाली को इन्होंने आर्या छन्दों में विद्वत्तापूर्ण ढंग से लिखा है, जिसका नाम है 'वरिवस्यारहस्य' । इस पर स्वयं इनका एक भाष्य भी है । इन्होंने वामकेश्वर तन्त्र, त्रिपुरा, कौल एवं भावना (शाक्त) उपनिषद्, ललिता सहस्रनाम, महा एवं जाबाल उपनिषद् तथा ईश्वरगीता की व्याख्याएँ भी रची हैं ।

भास्करव्रत—कृष्ण पक्ष की षष्ठी को यह सूर्य का व्रत किया जाता है । यह तिथिव्रत है । इसके अनुसार षष्ठी को उपवास तथा सप्तमी को 'सूर्यः प्रसीदतु' वचन के साथ विधिपूर्वक पूजन होना चाहिए । इस कृत्य से व्रती समस्त रोगों से मुक्त होकर स्वर्ग प्राप्त करता है ।

भास्कराचार्य—नवीं-दसवीं शताब्दी के मध्य में वेदान्तसूत्रों का एक उल्लेखनीय भाष्य रचा गया, जिसके कर्त्ता थे

भास्कराचार्य या भट्ट भास्कर। इसकी महत्ता इनके भेदाभेद दर्शन के कारण है। इन्होंने शङ्कर का नाम तो नहीं लिया है किन्तु अपने भाष्य में उन पर बराबर आक्षेप किये हैं। उदयनाचार्य ने कुसुमाञ्जलि ग्रन्थ में भास्कराचार्य का विरोध किया है।

निम्बार्क का भी एक अन्य नाम भास्कर था और उनका भी दार्शनिक मत भेदाभेद है। इससे भास्कराचार्य तथा निम्बार्क के एक होने का भ्रम होता है। किन्तु प्रथम के वेदान्त का विशुद्ध भाष्यकार तथा द्वितीय के साम्प्रदायिक वृत्तिकार होने के कारण दोनों का पार्थक्य स्पष्ट प्रतीत होता है ! निम्बार्क अवश्य भास्कर से परवर्त्ती आचार्य हैं, क्योंकि राधा की उपासना ११०० ई० के बाद ही व्रजमण्डल में प्रचलित हुई, जो भास्कराचार्य के समय के बहुत बाद की घटना है।

भास्करानन्दनाथ—दे० 'भास्करराय'।

भिक्षा—शतपथ ब्राह्मण (११.३,३,६), आश्वलायन गृह्यसूत्र (१.९), बृहदारण्यकोपनिषद् (३. ४, १; ४.४, २६) में भिक्षा को ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों में कहा गया है। अथर्ववेद (११.५.९) में याचना से प्राप्त पदार्थ को भिक्षा कहा गया है। छान्दोग्य (८.८.५) में भी इसका उपर्युक्त अर्थ है, किन्तु वहाँ इसका शुद्ध उच्चारण सम्भवतः आभिक्षा है।

भिक्षु—भिक्षा माँगकर जीवन यापन करने वाला संन्यासी। आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को जान लेने पर मनुष्य संसार से विरक्त होकर परमात्मा के चिन्तन में ही अपने को समर्पित कर देता है। उस दशा में देहरक्षा के लिए भिक्षा माँगने भर को ही ऐसा व्यक्ति गृहस्थों के सम्पर्क में आता है। ऐसा परमात्मचिन्तनपरायण संन्यासी भिक्षु कहा जाता है। दरिद्र या अभावग्रस्त होकर माँगने वाला व्यक्ति भिक्षु नहीं, याचक कहलाता है। संसारत्यागी बौद्ध संन्यासी भी भिक्षु कहे जाते हैं।

भिक्षुक उपनिषद्—एक परवर्ती उपनिषद्, जिसका सम्बन्ध संन्यासाश्रम से है।

भिषक्—यह शब्द सभी वेदसंहिताओं में साधारणतः व्यवहृत हुआ है। प्रारम्भिक वैदिक ग्रन्थों में भिषक्कर्म असम्मानित नहीं था। अश्विनीकुमार, वरुण तथा रुद्र सभी भिषक् कहे गये हैं। परन्तु धर्मसूत्रों में इस कार्य की निन्दा हुई है। यह घृणा यजुर्वेद की कुछ सं० (तै० सं० ६.४,९,३; मैत्रा० सं० ४.६.२; शत० ब्रा० ४.१, ५,१४) से आरम्भ होती है जहाँ भेषज-अभ्यास करने के कारण अश्विनों की निन्दा की गयी है। इस निन्दा का कारण यह है कि अपने इस व्यवसाय के कारण उन्हें बहुत अधिक लोगों के पास जाना पड़ता है (यहाँ इतर जातियों के घृणित लगाव या छूआ-छूत की ओर संकेत है)।

ऋग्वेद की एक ऋचा में एक भिषक् अपने पौधों तथा उनकी आरोग्यशक्ति की प्रशंसा करता है (१०.९७)। अश्विनों द्वारा पंगु (ऋ० १.११२,८; १०.३९,३), अंधे (ऋ० १.११६, १७) को अच्छा करने, वृद्ध च्यवन तथा पुरन्धि के पति को युवा बनाने, विश्वपाला को लौहपाद (आयसी जङ्घा) प्रदान करने के चमत्कारों का वर्णन प्राप्त होता है। यह मानना भ्रमपूर्ण न होगा कि वैदिक आर्य शल्य चिकित्सा भी करते थे। वे अपने घावों पर सादी (एक पदार्थ से तैयार) औषध का प्रयोग भी करते थे। उनकी शल्य चिकित्सा तथा औषधज्ञान का विकास हो चुका था। अथर्ववेद के ओषधि वर्णन में वनस्पति तथा जादूमन्त्र का भी उल्लेख है, चिकित्सा और शरीरविज्ञान का भी वर्णन है। ऋग्वेद में भेषजों के व्यवसाय के प्रमाण (९.११२) प्राप्त हैं। पुरुषमेध के बलिपशुओं में भिषक् का भी नाम आता है (वा० सं० ३०.१०; तै० ब्रा० ३.४,४,१)।

भीमचन्द्र कवि—वीर शैव मतावलम्बी एक विद्वान्। इन्होंने १३६९ ई० में 'वसव पुराण' का अनुवाद तेलुगु भाषा में किया था।

भीमद्वादशी—(१) सर्वप्रथम इसकी कथा श्री कृष्ण ने द्वितीय पाण्डव भीम को सुनायी थी। उसके बाद यह तिथि इसी नाम से विख्यात हो गयी। इससे पूर्व इसका नाम कल्याणी था। मत्स्य पुराण (६९,१९-६५) और पद्मपुराण २.२३ में इसका विशद विवेचन किया गया है, जिसका अधिकांश भाग कृत्यकल्पतरु (३५४-३५९) ने उद्धृत किया है तथा हेमाद्रि (व्रतखण्ड १०४४-१०४९ पद्म० से) ने भी उद्धृत किया है। माघ शुक्ल दशमी को स्नान करके शरीर पर घी लगाकर भगवान् विष्णु की 'नमो नारायणाय' मन्त्र से पूजा करनी चाहिए। भगवान् के भिन्न-भिन्न शरीरावयवों का उनके विभिन्न नामों (यथा केशव, दामोदर आदि) से पूजन करना चाहिए। गरुड, शिव तथा गणेश के पूजन के

साथ एकादशी को पूर्ण उपवास करना चाहिए । द्वादशी को किसी नदी में स्नान करके घर के सामने मण्डप बनाना चाहिए । तदनन्तर एक जलपूर्ण कलश को, जिसकी तली में छोटा सा छेद हो, किसी तोरण में लटका कर स्वयं रात भर खड़े होकर उसकी एक-एक बूँद को अपनी हथेली पर गिरते रहने देना चाहिए और प्रत्येक बूँद के साथ भगवान् का नाम लेते रहना चाहिए । तदनन्तर चार ऋग्वेदी ब्राह्मणों द्वारा होम, चार यजुर्वेदी ब्राह्मणों से रुद्रजाप तथा चार सामवेदी ब्राह्मणों से सामगान कराना चाहिए । बारहों विद्वान् ब्राह्मणों को अँगूठियाँ तथा वस्त्र देकर सम्मानित करना चाहिए । दूसरे दिन प्रातः गौएँ दान में दी जानी चाहिएँ, तदनन्तर यजमान कहे, "केशव प्रसन्न हों, विष्णु शिव के तथा शिव विष्णु के हृदय हैं ।" उसे देवविषयक इतिहास-पुराण भी सुनना चाहिए । दे० गरुड० १.१२७ ।

(२) माघ शुक्ल द्वादशी को पुलस्त्य ऋषि ने विदर्भ-नरेश भीम को, जो नल की पत्नी दमयन्ती के पिता थे, इसका माहात्म्य वर्णन किया था । व्यवस्था तथा विधि वही है जो अभी वर्णित हुई है। व्रती इस व्रत के आचरण से समस्त पापों से मुक्त हो जाता है । यह व्रत वाजपेय तथा अतिरात्र यज्ञ से भी श्रेष्ठ है ।

भीमैकादशी—माघ शुक्ल एकादशी पुष्य नक्षत्र युक्त अथवा बिना पुष्य नक्षत्र के ही बड़ी पवित्र मानी जाती है तथा भगवान् विष्णु को यह बहुत प्रिय है। पद्मपुराण, ६.२३९.-२८ में धौम्य ऋषि के द्वारा भीमसेन को इसका माहात्म्य बतलाया गया है ।

भीष्म—कुरुवंशी राजा शान्तनु और गङ्गा के पुत्र । अपने पिता का विवाह सत्यवती के साथ संभव बनाने के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य रखने की भीषण प्रतिज्ञा इन्होंने की थी, अतः ये भीष्म कहलाये । मौलिक नाम देवव्रत था । महाभारत में वर्णित कौरव-पाण्डवों के पितामह भीष्म का नाम सभी साक्षर लोग जानते हैं । अनेक धार्मिक, दार्शनिक तथा राजनीतिक तथ्यों की सूक्ष्म बातें भीष्म के द्वारा कही गयी हैं जिनका उपदेश उन्होंने विशेष कर युधिष्ठिर को दिया था । शान्तिपर्व में भीष्म के नाम से राजनीति, समाजनीति तथा धर्मनीति का विशद और विस्तृत वर्णन है ।

भीष्मपञ्चक—कार्तिक शुक्ल एकादशी से पाँच दिन तक व्रती को तीनों कालों में पंचामृत और पञ्चगव्य शरीर में लगाकर चन्दनमिश्रित जल से स्नान करना चाहिए और यव, अक्षत तथा तिलों से पितृतर्पण । पूजन के समय 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्र का १०८ बार जप करना चाहिए । हवन के समय षडक्षर मन्त्र 'ओं नमो विष्णवे' द्वारा घृतमिश्रित यव तथा अक्षतों से आहुतियाँ देनी चाहिए । यह क्रम पाँच दिनों तक चलना चाहिए । प्रथम दिन से पाँचवें दिनों तक क्रमशः हरि के चरण, घुटने, नाभि, कन्धे तथा सिर का कमल, बिल्वपत्र, भृङ्गारक, (चतुर्थ दिन) बाण, बिल्व तथा जया एवं मालती से पूजन करना चाहिए । शरीर की शुद्धि के लिए व्रती को एकादशी से चतुर्दशी तक क्रमशः गोमय, गोमूत्र, गोदुग्ध तथा गोदधि का सेवन करना चाहिए । पञ्चम दिवस ब्राह्मणों को भोजन कराकर उन्हें दान-दक्षिणा से सन्तुष्ट करना चाहिए । इस व्रत के आचरण से वह पाप-मुक्त हो जाता है। भविष्योत्तर पुराण के अनुसार इस व्रत को ब्रह्माजी ने श्री कृष्ण को सुनाया था। पुनः दूसरी बार शरशय्या पर सोये हुए भीष्मजी ने इसे श्री कृष्ण को सुनाया था ।

भीष्मस्तवराज—पितामह भीष्म के अन्तिम प्रयाण के समय पाण्डवों के साथ श्रीकृष्ण जब उनके निकट पहुँचे तब भीष्म ने बड़े ओजस्वी, दार्शनिक और आध्यात्मिक वचनों से श्रीकृष्ण की स्तुति की थी । भगवान् की अलौकिक महिमा और परात्पर स्वरूप का इसमें निरूपण हुआ है अतएव यह 'स्तवराज' कहा जाता है । यह स्तव भगवान् के दिव्य नाम-रूपों की व्याख्या है इसलिए यह भगवद्गीता और विष्णुसहस्रनाम के समकक्ष महाभारत के पंचरत्नों में अन्यतम गिना जाता है ।

भीष्माष्टमी—माघ शुक्ल अष्टमी भीष्म पितामह का महाप्रयाण दिन है । इस तिथि को अखंड ब्रह्मचारी भीष्म को जल दान तथा श्राद्ध किया जाता है । जो लोग इस व्रत को करते हैं, वे वर्ष भर के समस्त पापों से मुक्त होकर सुख सौभाग्य प्राप्त करते हैं । जिस व्यक्ति के पिता जीवित हों वह भी भीष्म को जल दान, तर्पणादि कर सकता है (समयमयूख, ६१) । यह तिथि सम्भवतः अनुशासन पर्व, १६७.२८ पर आधारित है । भुजबल-

निबन्ध, पृ० ३६४ में दो श्लोक आये हैं जिन्हें तिथितत्त्व, निर्णयसिन्धु आदि ने उद्धृत किया है :

शुक्लाष्टम्यां तु माघस्य दद्याद् भीष्माय यो जलम् ।
संवत्सरकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ।।
वैयाघ्रपद्य गोत्राय सांकृतिप्रवराय च ।
अपुत्राय ददाम्येतत् सलिलं भीष्मवर्मणे ।।

ब्राह्मण तक भी भीष्म पितामह जैसे आदर्श क्षत्रिय को जलदान करना अपना धार्मिक कर्तव्य मानते हैं ।

भुवनेश्वर—कटक और जगन्नाथपुरी के मध्यस्थित उड़ीसा का प्रसिद्ध तीर्थस्थान। यह स्थान प्राचीन उत्कल की राजधानी था और अब भारत के स्वतन्त्र होने पर उड़ीसा की राजधानी हो गया है । भुवनेश्वर काशी की तरह ही शिवमन्दिरों का नगर है । इसे 'उत्कल-वाराणसी', 'गुप्तकाशी' भी कहते हैं । पुराणों में इसे 'एकाम्रक्षेत्र' कहा गया है । भगवान् शङ्कर ने इस क्षेत्र को प्रकट किया इससे इसे 'शाम्भव-क्षेत्र' भी कहते हैं । यहाँ लिङ्गराज और मुक्तेश्वर के मन्दिर अपने धार्मिक स्थापत्य के लिए प्रसिद्ध हैं । ये मन्दिर नागर स्थापत्य शैली के सर्वोत्तम नमूने हैं ।

भुवनेश्वरयात्रा—'गदाधरपद्धति' के कालसार भाग, १९०-१९४ में भुवनेश्वर की चौदह यात्राओं का वर्णन किया गया है, यथा प्रथमाष्टमो, प्रावारषष्ठी, पुष्यस्नान, आज्यकम्बल आदि ।

भुवनेश्वरी—शाक्त उपासना सिद्धान्त के अनुसार दस महाविद्याएँ मानी गयी हैं । निगम जिसे विराट् विद्या कहते हैं, आगम उसे ही महाविद्या कहते हैं । दक्षिण तथा वाम दोनों मार्ग वाले तान्त्रिक दसों विद्याओं की उपासना करते हैं । ये महाविद्याएँ हैं—महाकाली, उग्रतारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातङ्गी और कमला ।

भुवनेश्वरीतन्त्र—मिश्र तन्त्रों में से एक 'भुवनेश्वरी तन्त्र' भी है ।

भुशुण्डिरामायण—रामोपासक सम्प्रदाय के अनेकानेक ग्रन्थां में भुशुण्डिरामायण भी एक है । कुछ विद्वानों का मत है कि यह अध्यात्मरामायण से पहले लिखी जा चुकी थी । कुछ विद्वानों के अनुसार इसका रचनाकाल १३०० ई० के आस-पास है । परन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । इसके भीतर माधुर्य भाव का गहरा पुट है, जो रामभक्ति पर कृष्णभक्ति का प्रभाव प्रकट करता है । इधर इसकी कई प्रतियाँ अयोध्या, रीवाँ आदि से प्राप्त हुई हैं ।

भूखड़—उत्तर भारत में भटकने वाले शैव योगियों का वर्ग । यह औघड़ योगियों की ही एक शाखा है जिसे गोरखनाथ के एक शिष्य ब्रह्मगिरि ने गुजरात में स्थापित किया था । ब्रह्मगिरि ने अपने सम्प्रदाय की पाँच शाखाएँ बनायीं : रूखड़, सूखड़, भूखड़, कूकड़ तथा गूदड़ । प्रथम दो संख्या में अधिक हैं । भूखड़ तथा कूकड़ अपने भिक्षापात्रों में धूपादि सुगन्धित पदार्थ नहीं जलाते, जब कि अन्य ऐसा करते हैं । गूदड़ संन्यासियों के महापात्र हैं । इनका प्रिय उच्चारण 'अलख' शब्द है । औघड़ों का एक छठा वर्ग अखड़ कहलाता है ।

भूत—जो व्यतीत, विगत बीता या हो चुका है । अव्यक्त से स्थूल जगत् के विकास में घनीभूत हुए वर्गीकृत तत्त्वों को भी (स्थिर के अर्थ में) भूत कहते हैं, जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और क्षिति । उत्पन्न होकर विद्यमान प्राणी और सूक्ष्म शरीरधारी (प्रेत) आत्मा भी भूत कहे जाते हैं ।

भूतडामर तन्त्र—शाक्तों के तन्त्र साहित्य में इस ग्रन्थ का विषय जादू-टोना है ।

भूतपुरीमाहात्म्य—हारीतसंहिता का एक अंश भूतपुरीमाहात्म्य है । भूतपुरी पेरुम्बुदूर का नाम है, जहाँ रामानुज स्वामी का जन्म हुआ था । भूतपुरीमाहात्म्य में स्वामीजी की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन है ।

भूतभैरवतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उद्धृत चौसठ तन्त्रों की सूची में इस तन्त्र की भी गणना है ।

भूतमात्र्युत्सव—ज्येष्ठ मास की प्रतिपदा से पूर्णिमा तक इस व्रत का अनुष्ठान होता है । दे० हेमाद्रि, २.३६५-३७० । 'उदसेविका' के ही तुल्य यह भी है । राजा भोज के ग्रन्थ सरस्वतीकण्ठाभरण (श्लोक ९४) के अनुसार यह एक होली के जैसा जलक्रीडा उत्सव है । भ्रातृभाण्डा, भूतमाता तथा उदसेविका एक ही उत्सव के तीन नाम हैं । दे० हेमाद्रि, २.३६७ ।

भूतवीर—ऐतरेय ब्राह्मण (७.२९) में उद्धृत पुरोहितों के एक परिवार का नाम, जो जनमेजय द्वारा काश्यपों को निकालकर, उनके स्थान पर नियुक्त किये गये थे । काश्यपों के एक परिवार असितमृगों ने पुनः जनमेजय की कृपा प्राप्त की तथा भूतवीरों को बाहर निकलवा दिया ।

भूतानि—'भूत' का बहुवचन । समस्त जीवजगत् के लिए प्रायः इसका प्रयोग होता है । चतुर्व्यूहान्तर्गत विष्णु के पाँच रूपों के भिन्न-भिन्न कार्य हैं । अन्तिम रूप ब्रह्मा की उत्पत्ति चतुर्थ व्यूह अनिरुद्ध से होती है, जो सम्पूर्ण दृष्ट जगत् (भूतानि) के स्रष्टा हैं ।

भूति—शक्ति की एक विशेष अवस्था । प्रारम्भिक सृष्टि की प्रथमावस्था में शक्ति दो रूपों में जागती है (जैसे कि इसके पूर्व नींद में रही हो): १ क्रिया (कार्य) तथा भूति (होना) ।

भूतेश्वर—भूतों (जीवों) के ईश्वर—शिव । बोलचाल में भूत का अन्य अर्थ 'प्रेत' है । प्रेत उन आत्माओं में है जो किसी घोर कर्मवश मृत्यु को प्राप्त हो भटकते रहते हैं । प्रेत श्मशान में निवास करते हैं । इस प्रकार शिव उन सभी भूतों के स्वामी हैं जो श्मशानों के निवासी हैं । जिस समय शिव ताण्डव नृत्य करते हैं, उस ससय भूत-प्रेत उनके साथ होते हैं और वे विद्रोही दैत्यों को पददलित करते रहते हैं । ताण्डव में शिव की देवी (शक्ति) उनका अनुकरण करती हैं ।

भूदेवी—पृथ्वी माता को हो मानवीकरण द्वारा देवी का रूप दिया गया है । उनके दो स्वरूप हैं : (१) दयालु और (२) ध्वंसक । वे दयालु रूप में सभी की माता तथा अन्नदा कहलाती हैं । बंगाल में उन्हें भूदेवी, धरती, मायी, वसुन्धरा, अम्बवाची, वसुमती एवं ठकुरानी आदि नामों से पुकारते हैं । धार्मिक हिन्दू नित्य प्रातः नींद से उठकर भूदेवी की स्तुति करके ही अपना पैर नीचे रखते हैं ।

भगवान् विष्णु की योगमाया के दो रूप—लीलादेवी और भूदेवी उनके अगल-बगल विराजमान होते हैं । आगमसंहिताओं के अनुसार इन तीन मूर्तियों के रूप में विष्णुपूजा की जाती है ।

भूभाजनव्रत—यह संवत्सरव्रत है । यदि कोई व्यक्ति पितरों को नैवेद्य अर्पण करने के बाद एक वर्ष तक खाली भूमि पर (न तो थाली में और न किसी केला इत्यादि के पत्ते पर) भोजन करता है तो वह समस्त पृथ्वी का सम्राट् बनता है ।

भूमिव्रत—शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को सूर्यपूजन करके पवित्र मृत्तिका, बालुका या नर्मदा के पङ्क से शिवमूर्ति (लिङ्ग) का निर्माण करना चाहिए । उस समयउ पवास भी करना चाहिए । पूजन में भक्त को केसर. पुष्प, घृतमिश्रित पायस (खीर) तथा कुछ उपहारादि का समर्पण करना चाहिए । इस व्रत से व्रती राजा के समान प्रभुत्व प्राप्त करता है । राजा को ही इस व्रत का आचरण करना चाहिए ।

भूलन बाबा—मध्य प्रदेश में कुछ विचित्र देवदेवियों की मान्यता है । भूलन बाबा उनमें से एक ग्रामदेवता हैं । विश्वास किया जाता है कि इनके प्रभाव से लोग अपनी चीजें भूलने नहीं पाते हैं । इनकी मनौती न करने पर भूल बहुत होती है और जहाँ-तहाँ चीजें छूट जाती हैं । खोज करने पर वस्तु-प्राप्ति होते ही इस देवता की पूजा होती है ।

भूसुरानन्द—छान्दोग्य तथा केनोपनिषद् पर अनेक टीकाएँ हैं । उनमें से भूसुरानन्द की भी एक टीका है ।

भृगु—वैदिक ग्रन्थों में बहुचर्चित एक प्राचीन ऋषि । वे वरुण के पुत्र (शत० ब्रा० ११.६.१,१; तै० आ० ९.१) कहलाते हैं तथा पितृबोधक 'वारुणि' उपाधि धारण करते हैं (ऐ० ब्रा० ३.३४) । बहुवचन (भृगवः) में भृगुओं को अग्नि का उपासक बताया गया है । स्पष्टतः यह प्राचीन काल के पुरोहितों का एक ऐसा समुदाय था जो सभी वस्तुओं को भृगु नाम से अभिहित करते थे । कुछ सन्दर्भों में इन्हें एक ऐतिहासिक परिवार बताया गया है (ऋ० वे० ७.१८,६; ८.३.९,६,१८) । यह स्पष्ट नहीं है कि 'दाशराज्ञ युद्ध' में भृगु पुरोहित थे या योद्धा । परवर्ती साहित्य में भृगु वास्तविक परिवार है जिसके अनेक विभाजन हुए हैं । भृगु लोग कई प्रकार के याज्ञिक अवसरों पर पुरोहित हुए हैं, जैसे अग्निस्थापन तथा दशपेय क्रतु के अवसर पर । कई स्थलों पर वे आंगिरसों से सम्बन्धित हैं ।

भृगु (स्मृतिकार)—प्रसिद्ध धर्मशास्त्रीय ग्रंथ 'मनुस्मृति' की रचना मनु महाराज के आदेश से महर्षि भृगु ने की ।

भृगुवल्ली—तैत्तिरीयोपनिषद् के तीन भाग हैं : शिक्षावल्ली, आनन्दवल्ली तथा भृगुवल्ली । दूसरे और तीसरे भाग को मिलाकर 'वारुणी' उपनिषद् भी कहते हैं ।

भृगुव्रत—यह व्रत मार्गशीर्ष कृष्ण द्वादशी को प्रारम्भ होता है । यह तिथिव्रत है । भृगुपदवाचक बारह देवों का इसमें पूजन होता है, जिनको यज्ञ का समर्पण किया जाता है । एक वर्षपर्यन्त यह अनुष्ठान चलता है (प्रत्येक कृष्ण-

पक्षीय द्वादशी को)। व्रत के अन्त में गौ का दान विहित है ।

भेड़ाघाट—मध्य प्रदेश में जबलपुर से पश्चिम १२ मील दूर नर्मदाजी का भेड़ाघाट है । कहते हैं, यह महर्षि भृगु की तपोभूमि है । तपःस्थान विद्यमान है । नर्मदा के उत्तर तट पर बानगङ्गा नदी का संगम है । पास में श्रीकृष्णमन्दिर और एक छोटी पहाड़ी पर गौरीशङ्कर का मन्दिर है । इस मन्दिर के चारों ओर वृत्ताकार में चौसठ-योगिनीमन्दिर विद्यमान हैं । इन दोनों मन्दिरों का निर्माण त्रिपुरी के कलचुरि राजाओं के समय में हुआ था । भेड़ाघाट से थोड़ी दूर पर 'धुआँधार' प्रपात है । यहाँ नर्मदा का जल ४० फुट ऊपर से गिरता है । प्रपात के आगे नर्मदा का प्रवाह संगमरमर की चट्टानों के मध्य से बहता है । ये चट्टानें दर्शनीय और विश्वविख्यात हैं ।

भेद—एक असुर का नाम । अथर्ववेद (१२.४) में भेद का उल्लेख एक बुरे अन्त को प्राप्त करने वाले व्यक्ति के अर्थ में हुआ है । क्योंकि उसने इन्द्र को एक गाय (वशा) देने से इन्कार कर दिया था । उसका अधार्मिक चरित्र उसे अनार्य दल का नेता मानने को बाध्य करता है ।

भेददर्पण—तृतीय श्रीनिवास पण्डित द्वारा रचित ग्रन्थ, जो विशिष्टाद्वैत का समर्थन तथा अन्य मतों का खण्डन करता है ।

भेदधिक्कारसत्क्रिया—एक अद्वैतवेदान्तीय टीकाग्रन्थ, जो नारायणाश्रम स्वामी ने अपने गुरु नृसिंहाश्रम के 'भेदधिक्कार' (जो भेदवाद का खण्डन है) पर लिखा है । स्वयं इस टीका की भी टीका उन्होंने लिखी और उसका नाम रखा 'भेदधिक्कारसत्क्रियोज्ज्वला' ।

भेदधिक्कारसत्क्रियोज्ज्वला—दे० 'भेदधिक्कारसत्क्रिया' ।

भेदाभेद—बादरायण के पूर्व ही जीवात्मा तथा ब्रह्म के सम्बन्ध के विषय में तीन सिद्धान्त वर्तमान थे । आश्मरथ्य के अनुसार आत्मा न तो ब्रह्म से बिल्कुल भिन्न है और न बिल्कुल अभिन्न । यह पहला सिद्धान्त था जिसे 'भेदाभेद' कहते हैं । दूसरा है औडुलोमि का 'द्वैतसिद्धान्त', जिसके अनुसार आत्मा ब्रह्म से बिल्कुल भिन्न है और मोक्ष के समय ब्रह्म में मिलकर एकाकार हो जाता है । इसे सत्यभेद भी कहते हैं । तीसरे सैद्धान्तिक हैं काशकृत्स्न । इनके अनुसार आत्मा ब्रह्म से किंचित् भी भिन्न नहीं है । इसे 'अद्वैतसिद्धान्त' कहते हैं । आश्मरथ्य द्वारा स्थापित भेदाभेद सिद्धान्त का प्रतिपादन आगे चलकर भास्कराचार्य ने किया । वैष्णवों में भेदाभेदसम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य निम्बार्काचार्य हुए हैं ।

भेदोज्जीवन—आचार्य व्यासराजकृत भेदोज्जीवन नामक ग्रन्थ उनके द्वारा लिखे तीन ग्रन्थों में से एक है । इसमें माध्वमत का प्रतिपादन किया गया है ।

भैमी एकादशी—माघ शुक्ल एकादशी को जब मृगशिरा नक्षत्र हो तब यह व्रत किया जाता है । उस दिन व्रती को उपवास रखकर द्वादशी के दिन 'षट्तिली' होना चाहिए । षट्तिली का तात्पर्य है तिलमिश्रित जल से स्नान, तिल को पीसकर उससे शरीर मर्दन, तिलों से ही हवन तथा तिल मिश्रित जल का पान, तिलों का दान और तिलों का ही भोजन । यदि कोई व्यक्ति इस एकादशी को, जो 'भीमतिथि' कहलाती है, उपवास रखता है तो वह विष्णुलोक प्राप्त करता है ।

भैरव—शिव का नाम, जिसका अर्थ भयावना होता है । प्रारम्भिक अवस्था में यह शब्द त्रिदेवों में अन्तिम देवता शिव का वाचक था । यद्यपि यह शब्द प्राचीन है किन्तु शिव की भैरव के स्वरूप में पूजा नयी है । शिव के भैरव रूप के संप्रति आठ अथवा बारह प्रकार हैं । उनमें विशेष प्रचलित हैं कालभैरव, जिनका वाहन श्वान (कुत्ता) है । इनकी शक्ति का नाम भैरवी है । भैरव के ग्रामीण रूप भैरों हैं । ये मुख्यतः कृषकों के देवता हैं । भैरों की पूजा वाराणसी तथा बम्बई में और उत्तर तथा मध्य भारत के किसानों में प्रचलित है । मध्य भारत में कमर में साँप लपेटे एक मृदङ्गवादक के रूप में या केवल एक लाल पत्थर के रूप में इनकी पूजा दूधदान से होती है । शहरों में मादक पेयों द्वारा इनकी पूजा होती है । गाँव के कृषक तथा शहरों में जोगी (नाथ) इनके भक्त होते हैं ।

भैरवजयन्ती—कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी 'कालाष्टमी' के नाम से प्रसिद्ध है । उस दिन उपवास रखकर जागरण करना चाहिए । रात्रि के चार प्रहर तक भैरव के पूजन, जागरण तथा शिवजी के विषय में कथाएँ सुननी चाहिए । इससे व्रती पापमुक्त होकर सुन्दर शिवभक्त बन जाता है । काशीवासियों को यह व्रत अवश्य करना चाहिए ।

भैरवतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उद्धृत ६४ तन्त्रों की सूची में भैरवतन्त्र भी एक है ।

भैरवयामलतन्त्र—शाक्त साहित्य का प्रमुख तन्त्र। इसका उल्लेख वामकेश्वर, कुलचूडामणितन्त्र एवं आगमतत्त्वविलास में हुआ है। वामकेश्वर इस तन्त्र का एक भाग है।

भैरवी—देवी के रौद्र रूप को भैरवी (भयानक) कहते हैं। यह भैरव (शिव) रौद्ररूप की स्त्री शक्ति है। शाक्त मतावलम्बी लोग भैरवी की गणना दस महाविद्याओं में करते हैं।

भैरवीचक्र—दे० 'वाममार्ग'।

भैरवतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उल्लिखित तन्त्रों में एक तन्त्र।

भैरो (भैरवनाथ)—हिन्दुओं की धार्मिक नगरी काशी की रक्षा छः सौ देवताओं द्वारा, जिनके मन्दिर नगर में बिखरे हुए हैं, होती है। विश्वेश्वर अथवा शिव इस नगरी के राजा हैं। विश्वेश्वर के मुख्य दैवी नगररक्षक (कोतवाल) भैरोनाथ हैं, जिनका मन्दिर उनके स्वामी के मन्दिर से एक मील से भी अधिक दूर उत्तर में स्थित है। विश्वनाथजी की आज्ञानुसार वे देवों एवं मानवों पर शासन करते हैं, वे सभी दुष्टात्माओं से नगर की रक्षा के लिए नियुक्त हैं। अतः ऐसे दुष्टों को नगर से बाहर करना उनका कर्तव्य है। भैरोनाथ अपनी आज्ञाओं का पालन एक विशाल प्रस्तरगदा (दण्ड) से कराते हैं, जो चार फुट लम्बी है एवं चाँदी से उसका ऊपरी भाग मढ़ा हुआ है। इसकी पूजा रविवार तथा मंगलवार को होती है। भैरोनाथ श्वान (कुक्कुर) की सवारी करते हैं, जो देवमूर्ति के सामने मन्दिर में प्रवेश करते ही दृष्टिगोचर होता है।

भोगसंक्रान्तिव्रत—संक्रान्ति के दिन एक साथ सधवा स्त्रियों को उनके पतियों के साथ बुलाकर उन्हें केसर, काजल, सुरमा, सिन्दूर, पुष्प, इत्र, ताम्बूल, कपूर तथा फल प्रदान करना चाहिए। तदुपरान्त उन्हें भोजन कराकर वस्त्रों का जोड़ा देना चाहिए। एक वर्ष तक प्रति संक्रान्ति के दिन इस व्रत का अनुष्ठान होता है। व्रत के अन्त में सूर्य की पूजा करके किसी ऐसे ब्राह्मण को जौ दान करना चाहिए जिसकी स्त्री जीवित हो। इससे व्रती कल्याण प्राप्त करता है।

भोगावाप्तिव्रत—इस व्रत में ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा के बाद प्रतिपदा से तीन दिन तक हरि का पूजन तथा पलङ्ग पर बिछाये जाने वाले वस्त्रों का दान किया जाता है। इससे व्रती सुखोपभोग करता हुआ स्वर्ग प्राप्त करता है।

भोज (राजा)—उज्जयिनी के प्रसिद्ध परमार राजा। धारा इनकी दूसरी राजधानी थी। ये विद्या, कला और कवियों के गुणग्राही पारखी थे। व्याकरण, दर्शन काव्यकला आदि पर इनके रचे अनेक विख्यात ग्रन्थ हैं। योगसूत्र पर रची हुई योगमार्त्तण्ड नामक इनकी टीका अथवा वृत्ति एक बहुमान्य कृति है। यह बहुत सरल भाषा में योग की व्याख्या करती है।

भौमवारव्रत—स्कन्दपुराण के अनुसार यह व्रत प्रत्येक मङ्गलवार को करना चाहिए और एक शर्करापूरित ताम्रपात्र दान करना चाहिए। इस प्रकार एक वर्ष व्रत करते हुए अन्तिम मंगलवार को एक गोदान करना चाहिए। मंगल देखने में सुन्दर एवं पृथ्वी के पुत्र कहे जाते हैं तथा उनका उपर्युक्त व्रत सौन्दर्य, रूप एवं धन प्राप्त कराता है।

भौमव्रत—(१) भौमवार को जब स्वाती नक्षत्र हो उस दिन व्रती को नक्तपद्धति से आहार करना चाहिए। यह क्रम सात बार चलना चाहिए। मङ्गल ग्रह की प्रतिमा बनवाकर उसे किसी ताम्रपात्र में स्थापित कर तथा रक्त वस्त्र से आच्छादित करके केसर का अङ्गराग के समान मूर्ति पर लेप करना चाहिए। पुष्प, नैवेद्यादि अर्पित करके किसी ब्राह्मण को प्रतिमा दान में देनी चाहिए और देते समय निम्नांकित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए: "यद्यपि त्वं कुजन्मा असि तथापि प्राज्ञाः त्वां 'मङ्गल' इति कथयन्ति।" 'कुजन्मा' शब्द में श्लेष अलङ्कार है जिसके दो अर्थ हो सकते हैं; अमंगलकारी दिन में उत्पन्न एवं पृथ्वी से उत्पन्न। मङ्गल की बाह्याकृति रक्त वर्ण की है अतएव ताम्र, रक्त वर्ण का वस्त्र तथा केसर जो उसके वर्ण के अनुकूल हैं, प्रयुक्त किये जाते हैं।

(२) मंगलवार को ही मङ्गल का पूजन होना चाहिए। प्रातःकाल मंगल के नामों का जप किया जाय (कुल २१ नाम हैं, यथा, मंगल, कुज, लोहित, सामवेदियों के पक्षपाती, यम आदि) और त्रिभुजात्मक आकृति खींचकर उसके मध्य में एक छिद्र बनाकर केसर अथवा रक्त चन्दन के लेप से प्रत्येक कोण पर तीन नाम (आर, वक्र, कुज) अङ्कित कर दिये जायँ। भारद्वाज गोत्र में उज्जयिनी नामक प्राचीन नगर में मङ्गल का जन्म हुआ था। उनका वाहन मेष है। यदि कोई व्यक्ति जीवनपर्यन्त इस व्रत

का आचरण करता है तो सुख-समृद्धि, पुत्र-पौत्रादि प्राप्त करके ग्रहों के दिव्य लोक को प्राप्त होता है। वर्षकृत्यदीपिका, ४४३-४५१ में भौमवार व्रत का विशद विवेचन मिलता है। दे० 'भौमवारव्रत'।

भौमि—तैत्तिरीय संहिता (५.५,१८,१) में उद्धृत, अश्वमेधयज्ञ की बलिपशुतालिका का एक पशु भौमि है। इसकी पहचान अब कठिन है।

भ्रातृद्वितीया—(१) कार्तिक शुक्ल द्वितीया को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसका नाम यमद्वितीया भी है, क्योंकि प्राचीन काल में यमुना ने अपने भाई यम को इसी दिन भोजन कराया था। कुछ अधिकारी ग्रन्थों, जैसे कृत्यतत्त्व, ४५३; व्रतार्क, व्रतराज, ९८-१०१ में दो कृत्यों का सम्मिलित विधान ही वर्णित है—यम का पूजन तथा किसी भी व्यक्ति का अपनी बहिन के यहाँ भोजन।

(२) यम से सम्बद्ध होने के कारण यह दिन भाई के लिए अनिष्टकारी भी समझा जाता है। अतः विशेष कर उत्तर भारत में बहिनें इस तिथि को अपने भाई को यम की दृष्टि से बचाने के लिए झूठा शाप देकर उसको मृत घोषित कर देती हैं। यह यम को धोखा देने वाला एक अभिचार कृत्य है। कंटक और कुश तोड़कर प्रत्येक शाप के साथ फेंका जाता है।

भ्रूणहत्या—(१) भ्रूणहत्या (गर्भ की हत्या) एक प्रकार का पातक कहा गया है। इसका उल्लेख परवर्ती संहिताओं (मैत्रा० सं० ४.१,९; का० सं० ३१.७; कपिष्ठल संहिता) में सबसे बड़े अपराध के रूप में हुआ है। इसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। इससे प्रमाणित होता है कि आलोचक विद्वानों का पुत्रीवध सम्बन्धी मत कितना भ्रमपूर्ण है।

(२) वेदपाठी ब्रह्मचारी भी भ्रूण कहा गया है।

म

म—व्यञ्जन वर्णों के पञ्चम वर्ग का पाँचवाँ अक्षर। कामधेनुतन्त्र में इसका स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है :

मकारं शृणु चार्वङ्गि स्वयं परमकुण्डली ।
तरुणादित्यसंकाशं चतुर्वर्गप्रदायकम् ॥
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा ॥

तन्त्रशास्त्र में इसके निम्नांकित नाम हैं :

मः काली क्लेशितः कालो महाकालो महान्तकः ।
वैकुण्ठो वसुधा चन्द्री रविः पुरुषराजकः ॥
कालभद्रो जया मेधा विश्वदा दीप्तसंज्ञकः ।
जठरश्च भ्रमा मानं लक्ष्मीर्मातोग्रबन्धनौ ॥
विषं शिवो महावीरः शशिप्रभा जनेश्वरः ।
प्रमत्तः प्रियसू रुद्रः सर्वाङ्गो वह्निमण्डलम् ॥
मातङ्गमालिनी बिन्दुः श्रवणा भरथो वियत् ॥

मकर—एक जलचर प्राणी, जो स्थापत्य एवं मूर्तिकला में श्रृंगारोपादान माना गया है। यजुर्वेद संहिता (तै० ५.५,१३,१; मैत्रा० ३.१४,१६; वाज० २४.३६) में उद्धृत अश्वमेध यज्ञ के बलिपशुओं की सूची में मकर भी उल्लिखित है। मकर गङ्गा का वाहन है—यह अत्यन्त कामुक प्राणी है, इसलिए कामदेव की ध्वजा पर काम के प्रतीक रूप में इसका अङ्कन होता है और कामदेव का विरुद 'मकरध्वज' है।

मकरसंक्रान्ति—धार्मिक अनुष्ठानों एवं त्योहारों में मकरसंक्रान्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण पर्व है। ७० वर्ष पहले यह १२ या १३ जनवरी को होती थी किन्तु अब कुछ वर्षों से १३ या १४ जनवरी को होने लगी है। संक्रान्ति का अर्थ है एक राशि से उसकी अग्रिम राशि में सूर्य का प्रवेश। इस प्रकार जब धनु राशि से सूर्य मकर में प्रवेश करता है तो मकरसक्रान्ति होती है। इस प्रकार १२ राशियों की १२ संक्रान्तियाँ हैं। ये सभी पवित्र मानी गयी हैं। मकरसंक्रान्ति से उत्तरायण आरम्भ होने के कारण इस संक्रान्ति का पुण्यफल विशेष माना गया है।

मत्स्यपुराण के अनुसार संक्रान्ति के पहले दिन दोपहर को केवल एक बार भोजन करना चाहिए। संक्रान्ति के दिन दाँतों को शुद्धकर तिलमिश्रित जल में स्नान करना चाहिए। फिर पवित्र एवं संयमी ब्राह्मण को तीन पात्र (भोजनीय पदार्थों से भरकर) तथा एक गौ यम, रुद्र एवं धर्म के निमित्त दान करना चाहिए। धनवान् व्यक्ति को वस्त्र, आभूषण, स्वर्णघट आदि भी देना चाहिए। निर्धन को केवल फल-दान करना चाहिए। तदनन्तर औरों को भोजन कराने के बाद स्वयं भोजन करना चाहिए।

इस पर्व पर गङ्गा स्नान का बड़ा माहात्म्य है। संक्रान्ति पर देवों तथा पितरों को दिये हुए दान को भगवान् सूर्य दाता को अनेक भावी जन्मों में लौटाते रहते हैं।

स्कन्दपुराण मकरसक्रान्ति पर तिलदान एवं गोदान को अधिक महत्त्व प्रदान करता है ।

मकुट आगम—यह एक रौद्रिक आगम है ।

मख—ऋग्वेद के सन्दर्भों में (९.१०१,१३) मख व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि वह कौन व्यक्ति था। सम्भवतः यह किसी दैत्य का बोधक है । अन्य संहिताओं में भी मखाध्यक्ष के रूप में यह उद्धृत है । इस का अर्थ ब्राह्मणों में भी स्पष्ट नहीं है (शत० ब्रा० १४.१,२,१७) । परवर्त्ती साहित्य में मख यज्ञ के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता रहा है ।

मग—विष्णुपुराण (भाग २.४,६९-७०) के अनुसार शाकद्वीपी ब्राह्मणों का उपनाम । पूर्वकाल में सीथिया या ईरान के पुरोहित 'मगी' कहलाते थे । भविष्यपुराण के ब्राह्मपर्व में कथित है कि कृष्ण के पुत्र साम्ब, जो कुष्ठरोग से ग्रस्त थे, सूर्य की उपासना से स्वस्थ हुए थे । कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उन्होंने मुलतान में एक सूर्यमन्दिर बनवाया । नारद के परामर्श से उन्होंने शकद्वीप की यात्रा की तथा वहाँ से सूर्यमन्दिर में पूजा करने के लिए वे मग पुरोहित ले आये । तदनन्तर यह नियम बनाया गया कि सूर्यप्रतिमा की स्थापना एवं पूजा मग पुरोहितों द्वारा ही होनी चाहिए । इस प्रकार प्रकट है कि मग शाकद्वीपी और सूर्योपासक ब्राह्मण थे । उन्हीं के द्वारा भारत में सूर्यदेव की मूर्तिपूजा का प्रचार बढ़ा । इनकी मूल भूमि के सम्बन्ध में दे० 'मगध' ।

मगध—ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः मगध में बसनेवाली आर्यशाखा मग थी । इसीलिए इस जनपद का नाम 'मगध' (मगों को धारण करनेवाला प्रदेश) पड़ा। इन्हीं की शाखा ईरान में गयी और बहाँ से शकों के साथ पुनः भारत वापस आयी । यदि मग मूलतः विदेशी होते तो भारत का पूर्वदिशा स्थित प्रदेश उनके नाम पर अति प्राचीन काल से मगध नहीं कहलाता ।

यह एक जाति का नाम है, जिसको वैदिक साहित्य में नगण्य महत्त्व प्राप्त है । अथर्ववेद (४.२२,१४) में यह उद्धृत है, जहाँ ज्वर को गन्धार, मूजवन्त (उत्तरी जातियों) तथा अङ्ग और मगध (पूर्वी जातियों) में भेजा गया है। यजुर्वेदीय पुरुषमेध की तालिका में अतिक्रुष्ट (हल्ला करने वाली) जातियों में मगध भी है ।

मगध को व्रात्यों (पतितों) का देश भी कहा गया है । स्मृतियों में 'मागध' का अर्थ मगध का वासी नहीं बल्कि वैश्य (पिता) तथा क्षत्रिय (माता) की सन्तान को मागध कहा गया है । ऋग्वेद में मगध देश के प्रति जो घृणा का भाव पाया जाता है वह सम्भवतः मगधों का प्राचीन रूप कीकट होने के कारण है । ओल्डेनवर्ग का मत है कि मगध देश में ब्राह्मणधर्म का प्रभाव नहीं था । शतपथ ब्राह्मण में भी यही कहा गया है कि कोसल और विदेह में ब्राह्मणधर्म मान्य नहीं था तथा मगध में इनसे भी कम मान्य था । वेबर ने उपर्युक्त घृणा के दो कारण बतलाये हैं; (१) मगध में आदिवासियों के रक्त की अधिकता (२) बौद्धधर्म का प्रचार । दूसरा कारण यजुर्वेद या अथर्ववेद के काल में असम्भव जान पड़ता है, क्योंकि उस समय में बौद्ध धर्म प्रचलित नहीं था । इस प्रकार ओल्डेनवर्ग का मत ही मान्य ठहरता है कि वहाँ ब्राह्मणधर्म अपूर्ण रूप में प्रचलित था ।

यह संभव जान पड़ता है कि कृष्णपुत्र साम्ब के समय में अथवा तत्पश्चात् आने वाले कुछ मग ईरान अथवा पार्थिया से भारत में आये हों । परन्तु मगध को अत्यन्त प्राचीन काल में यह नाम देने वाले मग जन ईरान से नहीं आये थे, वे तो प्राचीन भारत के जनों में से थे । लगता है कि उनकी एक बड़ी संख्या किसी ऐतिहासिक कारण से ईरान और पश्चिमी एशिया में पहुँची, परन्तु वहाँ भी उसका मूल भारतीय नाम मग 'मगी' के रूप में सुरक्षित रहा । आज भी गया के आस-पास मग ब्राह्मणों का जमाव है, जहाँ शकों का प्रभाव नहीं के बराबर था ।

मङ्गल—(१) 'आथर्वण परिशिष्ट' द्वारा निर्दिष्ट तथा हेमाद्रि, २.६२६ द्वारा उद्धृत आठ मांगलिक वस्तुएँ, यथा ब्राह्मण, गौ, अग्नि, सर्षप, शुद्ध नवनीत, शमी वृक्ष, अक्षत तथा यव । महा०, द्रोणपर्व (८२,२०-२२) में माङ्गलिक वस्तुओं की लम्बी सूची प्रस्तुत की गयी है । वायुपुराण (१४.३६-३७) में कतिपय माङ्गलिक वस्तुओं का परिगणन किया गया है, जिनका यात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व स्पर्श करने का विधान है—यथा दूर्वा, शुद्ध नवनीत दधि, जलपूर्ण कलश, सवत्सा गौ, वृषभ, सुवर्ण, मृत्तिका, गाय का गोबर, स्वस्तिक, अष्ट धान्य, तैल, मधु, ब्राह्मण कन्याएँ, श्वेत पुष्प, शमी वृक्ष, अग्नि, सूर्यमण्डल, चन्दन तथा पीपल वृक्ष ।

(२) मङ्गल एक ग्रह का नाम है। तत्सम्बन्धी व्रत के लिए दे० 'भौमव्रत'।

मङ्गलचण्डिकापूजा—वर्षकृत्यकौमुदी (५५२.५५८) में इस व्रत की विस्तृत विधि प्रस्तुत की गयी है। मङ्गलचण्डिका' को ललितकान्ता भी कहा जाता है। उसकी पूजा का मन्त्र (ललितगायत्री) है :

नारायण्यै विद्महे त्वां चण्डिकायै तु धीमहि।
तन्नो ललिता कान्ता ततः पश्चात् प्रचोदयात्॥

अष्टमी तथा नवमी को देवी का पूजन होना चाहिए। वस्त्र के टुकड़े अथवा कलश पर पूजा की जाती है। जो मङ्गलवार को इसकी पूजा करता है उसकी समस्त मनोवाञ्छाएँ पूरी होती हैं।

मङ्गलचण्डी—मङ्गलवार के दिन चण्डी का पूजन होना चाहिए, क्योंकि सर्व प्रथमशिवजी ने और मङ्गल ने इनकी पूजा की थी। सुन्दरी नारियाँ मङ्गलवार को सर्वप्रथम इनकी पूजा। करती हैं वाद में सौभाग्येच्छु सर्वसाधारण चण्डी का पूजन करते हैं।

मङ्गलदीपिका—दोद्दय महाचार्य के शिष्य सुदर्शन गुरु ने महाचार्य कृत 'वेदान्तविजय' की 'मङ्गलदीपिका' नामक व्याख्या लिखी है। यह ग्रन्थ कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है।

मङ्गलव्रत—आश्विन, माघ, चैत्र अथवा श्रावण कृष्ण पक्ष की अष्टमी को वह व्रत प्रारम्भ करके शुक्ल पक्ष की अष्टमी तक जारी रखा जाता है। इसमें अष्टमी को एकभक्त पद्धति से आहार तथा कन्याओं और देवी के भक्तों को भोजन कराने का विधान है। नवमी को नक्त, दशमी को अयाचित तथा एकादशी को उपवास विहित है। इसकी पुनः दो आवृत्तियाँ होनी चाहिए। प्रति दिन दान, उपहार, होम, जप, पूजा तथा कन्याओं को भोजन कराना चाहिए। बलि, नृत्य तथा नाटक करते हुए रात्रिजागरण भी करना चाहिए। देवी के अठारह नामों का जप भी इसमें विहित है।

मङ्गलागौरीव्रत—विवाहोपरान्त समस्त विवाहित महिलाओं द्वारा श्रावण मास में प्रति मङ्गलवार को इस व्रत का आयोजन किया जाना चाहिए। पाँच वर्ष तक इसका अनुष्ठान चलता है। यह व्रत महाराष्ट्र में अधिक प्रचलित है। व्रत करने वाली महिलाएँ मध्याह्न काल में मौन धारण करके भोजन करती हैं। १६ प्रकार के पुष्प, १६ सुवासिनी-संमान, १६ दीपकों से देवी की नीराजना और रात्रि को जागरण का विधान है। वैधव्य निवारण, पुत्रों की प्राप्ति तथा समस्त कामनाओं की सिद्धि के लिए मङ्गला की प्रार्थना की जाती है। दूसरे दिवस गौरीप्रतिमा का विसर्जन होता है।

मङ्गलाष्टक—व्रत के लिए निमन्त्रित महिलाओं को जो आठ द्रव्य वितरित किये जाते हैं उन्हें मङ्गलाष्टक कहते हैं। जैसे केसर, नमक, गुड़, नारियल, पान, दूर्वा, सिन्दूर तथा सुरमा।

मङ्गल्यसप्तमी अथवा मङ्गल्यव्रत—सप्तमी के दिन वर्गाकार मण्डल बनाकर उस पर हरि तथा लक्ष्मी विराजमान किये जाते हैं, पुष्पादि से उनकी पूजा की जाती है। मृत्तिका, ताम्र, रजत तथा सुवर्ण के चार पात्रों को तैयार रखा जाता है तथा चार मिट्टी के कलश, जो नमक, चीनी, तिल, पिसी हल्दी से परिपूर्ण तथा वस्त्रों से ढके हों, तैयार रहते हैं। आठ पतिव्रता, सधवा, पुत्रवती नारियाँ समादृत की जाती हैं तथा उन्हें दान-दक्षिणा देकर सम्मानित किया जाता है। उन्हीं पतिव्रताओं की उपस्थिति में भगवान् हरि से मङ्गल्य (कल्याणकारी जीवन) के लिए पार्थना की जाती है। तदनन्तर महिलाओं को विदा किया जाता है। अष्टमी को पुनः हरि का पूजन तथा आठ महिलाओं का सम्मान कर तथा ब्राह्मणों को भोजन कराकर व्रत का पारण किया जाता है। इसके पालन से प्रत्येक जन चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, राजा हो या रङ्क, अपनी मनःकामनाओं की पूर्ति होते हुए देखता है।

मञ्जूषा—(१) मलय देशवासी वरदपुत्र पण्डित आनर्त्तीय ने शांखायन श्रौतसूत्र का एक भाष्य किया है। इसमें से नवें, दसवें और ग्यारहवें अध्याय का भाष्य नष्ट हो गया है। दास शर्मा ने मञ्जूषा लिखकर इन तीन अध्यायों का भाष्य पूरा किया है।

(२) शब्दाद्वैत के उद्भट प्रतिपादक नागेश भट्ट सत्रहवीं शताब्दी में हुए हैं। इन्होंने अपने मत का सर्वांगीण प्रतिपादन 'मञ्जूषा' नामक ग्रन्थ (वैयाकरण सिद्धान्तरत्नमञ्जूषा) में किया है।

मठ—छात्रावास या अतिथिनिवास। धार्मिक साधु-सन्तों के निवास तथा बालकों के शिक्षणालय के रूप में विभिन्न संप्रदायों के मठ बनाये जाते हैं। इन मठों में किसी विशेष सम्प्रदाय का मन्दिर, देवमूर्ति, धार्मिक, ग्रन्थागार एवं

महन्त (मठाधीश) और अनेक शिष्य होते हैं। मठों के अधीन भूमि, सम्पत्ति आदि भी होती है, जिससे उनका खर्च चलता है। साथ ही मठों के गृहस्थ लोग चेला भी होते हैं जो प्रत्येक वर्ष उन मठों को दान देते हैं।

मठ प्राचीन बौद्ध विहारों के अनुकरण पर बने जान पड़ते हैं, क्योंकि बुद्ध पूर्व संन्यासियों में मठ बनाने की प्रथा नहीं थी।

मणिदर्पण—आचार्य रामानुज रचित एक ग्रन्थ।

मणिप्रभा—पतञ्जलि के योगदर्शन का १६वीं शताब्दी के अन्त का एक व्याख्या ग्रन्थ। इसके रचयिता गोविन्दानन्द सरस्वती के शिष्य रामानन्द सरस्वती हैं।

मणिमान्—शङ्कराचार्य एवं मध्वाचार्य के शिष्यों में परस्पर घोर प्रतिस्पर्धा व्याप्त रहती थी। मध्व अपने को वायु का अवतार कहते थे तथा शङ्कर को महाभारत में उद्धृत एक अस्पष्ट व्यक्ति मणिमान् का अवतार मानते थे। मध्व ने महाभारत की व्याख्या में शङ्कर की उत्पत्ति सम्बन्धी धारणा का उल्लेख किया है। मध्व के पश्चात् उनके एक प्रशिष्य पण्डित नारायण ने मणिमञ्जरी एवं मध्वविजय नामक संस्कृत ग्रन्थों में मध्व वर्णित दोनों अवतारों (मध्व के वायु अवतार एवं शङ्कर के मणिमान् अवतार) के सिद्धान्त की स्थापना गम्भीरता से की है। उपर्युक्त माध्व ग्रन्थों के विरोध में ही 'शङ्करदिग्विजय' नामक ग्रन्थ की रचना हुई जान पड़ती है।

मणिमञ्जरी—माध्व सम्प्रदाय का एक विशिष्ट ग्रन्थ। रचनाकाल १४१७ वि० है। कृष्णस्वामी अय्यर ने इसका संक्षिप्त कथासार लिखा है। दे० 'मणिमान्'।

मणिमालिका—अप्पय दीक्षित रचित लघु पुस्तिका। शैव विशिष्टाद्वैत पर हरदत्त प्रभृति आचार्यों के सिद्धान्त का अनुसरण करनेवाला यह एक निबन्ध है।

मण्डन भट्ट—आश्वलायन श्रौतसूत्र के ग्यारह भाष्यकारों में से मण्डनभट्ट भी एक हैं।

मण्डन मिश्र—नर्मदा तटवर्ती प्राचीन माहिष्मती नगरी के निवासी मीमांसक विद्वान्। मण्डन मिश्र अपने समय के सबसे बडे कर्मकाण्डी थे, उनके गुरु कुमारिल भट्ट ने ही शङ्कराचार्य को मण्डन मिश्र के पास शास्त्रार्थ करने के लिए भेजा था।

शङ्कराचार्य ने मण्डन मिश्र को शास्त्रार्थ में परास्त किया। मण्डन मिश्र शास्त्रार्थ की शर्त के अनुसार उनका शिष्यत्व ग्रहण कर संन्यासी हो गये और सुरेश्वराचार्य के नाम से ख्यात हुए। संन्यासी सुरेश्वर गुरु के साथ देश भ्रमण करते रहे और जब शङ्कर ने श्रृंगेरी मठ की स्थापना की तब उनको वहाँ का आचार्य बनाया। श्रृंगेरी मठ की प्राचीन परम्परा से ऐसा जान पड़ता है कि वे बहुत दिनों तक जीवित रहे।

संन्यास ग्रहण करने के पूर्व मण्डन मिश्र ने आपस्तम्बीय मण्डनकारिका, भावनाविवेक और काशीमोक्षनिर्णय नामक ग्रन्थों की रचना की थी। संन्यास के बाद इन्होंने तैत्तिरीयश्रुतिवार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि, इष्टसिद्धि या स्वाराज्यसिद्धि, पञ्चीकरणवार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद् वार्तिक, लघुवार्तिक, वार्तिकसार और वार्तिकसारसंग्रह आदि ग्रन्थ लिखे। सुरेश्वराचार्य ने संन्यास लेने के बाद शाङ्कर मत का ही प्रचार किया और अपने ग्रन्थों में प्रायः उसी मत का समर्थन किया।

मण्डल—गोलाकार या कोणाकार चक्र। शाक्त मतावलम्बी रहस्यात्मक यन्त्रों तथा मण्डलों का प्रयोग करते हैं, जो धातु के पत्रों पर चित्रित या लिखित होते हैं। कभी-कभी घटों पर ये यन्त्र एवं मण्डल अंकित होते हैं। साथ ही अंगुलियों की धार्मिक मुद्राएँ, हाथों के धार्मिक कार्यरत संकेत (जिसे न्यास कहते हैं) भी इन पात्रों या घटों पर निर्मित होते हैं। ये यन्त्र, मण्डल एवं मूद्रायें देवी को उस पात्र में आमन्त्रित करने के लिए बनायी जाती हैं।

मण्डलब्राह्मण उपनिषद्—यह परवर्ती उपनिषद् है।

मण्डूक—वर्षाकालिक जलचर, जिसकी टर्र-टर्र ध्वनि की तुलना बालकों के वेदपाठ से की जाती है। संभवतः इसीलिए एक वेदशाखाकार ऋषि इस नाम से प्रसिद्ध थे। ऋग्वेदीय प्रसिद्ध मण्डूकऋचा (७.१०३ तथा अ० वेद ४.१५,१२) में ब्राह्मणों की तुलना मण्डूकों की वर्षाकालीन ध्वनि से की गयी है, जब ये पुनः वर्षा ऋतु के आगमन के साथ कार्यरत जीवन आरम्भ करने के लिए जाग पड़ते हैं। कुछ विद्वानों ने इस ऋचा को वर्षा का जादू मन्त्र माना है। जल से सम्बन्ध रखने के कारण मेढक ठंडा करने का गुण रखते हैं, एतदर्थ मृतक को जलाने के पश्चात् शीतलता के लिए मण्डूकों को आमन्त्रित करते हैं (ऋग्वेद १०.१६,१४)। अथर्ववेद में मण्डूक को ज्वराग्नि को शान्त करने के लिए आमन्त्रित किया गया है (७.११६)।

मण्डूकीय कथा—ऋग्वेद के परिशिष्ट ब्राह्मण ग्रन्थ में मण्डूक या मण्डूकीय की कथा मिलती है। मण्डूकियों की कथा ऋक्प्रातिशाख्य में भी है।

मतङ्ग उपागम—यह परमेश्वर आगम पर आश्रित एक उपागम है।

मतसहिष्णुता—मत सहिष्णुता हिन्दुत्व की विशेषता है। यह सर्वधर्मसाम्य में विश्वास रखता है। वास्तव में भारतीय धर्म परम्परा मतसहिष्णुता के ऊपर टिकी हुई है। इसमें धार्मिक समता अथवा सभी धर्मों के सह-अस्तित्व का भाव निहित है।

मतसारार्थसंग्रह—अप्पय दीक्षित रचित वेदान्त विषय का ग्रन्थ। इसमें श्रीकण्ठ, शङ्कर, रामानुज, मध्व प्रभृति आचार्यों के मतों का संक्षिप्त परिचय कराया गया है।

मतिमानुष—रामानुजाचार्य रचित एक ग्रन्थ।

मत्स्यजयन्ती—चैत्र शुक्ल पंचमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसी दिन भगवान् मत्स्य के रूप में अवतरित हुए थे। इसलिए भगवान् विष्णु की मत्स्यावतार रूपिणी प्रतिमा का पूजन किया जाता है।

मत्स्यद्वादशी—मार्गशीर्ष शुक्ल दशमी को इस व्रत के पूर्व नियमों का पालन तथा एकादशी को उपवास करना चाहिए। द्वादशी के दिन व्रती को मन्त्रोचारण करते हुए मृत्तिका लानी चाहिए। उसे आदित्य को समर्पित कर शरीर पर लगाकर स्नान करना चाहिए। इसमें नारायण के पूजन का विधान है। चार जलपूर्ण, पुष्पयुक्त कलशों को तिलपूर्ण पात्रों से आच्छादित कर चार समुद्रों का उनमें आवाहन करना चाहिए। सुवर्ण की मत्स्यावतार रूपिणी प्रतिमा बनाकर उसका पूजन किया जाना चाहिए। रात्रिजागरण करना चाहिए। अन्त में चारों कलशों का ब्राह्मणों को दान करना चाहिए। इससे गम्भीर पापों का भी नाश हो जाता है।

मत्स्यपुराण—यह शैव पुराण है। इसकी श्लोक संख्या नारदीय पुराण के अनुसार पंद्रह हजार है। किन्तु रेवा-माहात्म्य, श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण और स्वयं मत्स्यपुराण के अनुसार यह संख्या चौदह हजार है। मत्स्य-पुराण को मौलिक और सबसे प्राचीन माना जाता है। इसमें २९० अध्याय हैं तथा अन्तिम अध्याय सपूर्ण मत्स्य-पुराण का सूचीपत्र है।

मत्स्यावतार का वर्णन इस पुराण का मुख्य विषय है। त्रिपुरासुर के साथ भगवान् शङ्कर के युद्ध का विस्तृत वर्णन इसमें पाया जाता है। पितरों का वर्णन भी विस्तार से मिलता है। व्रतों का वर्णन अधिक विस्तार से ५५-१०२ अध्यायों में है। प्रयाग (१०३-११२ अ०), काशी (१८०-१८५ अध्याय) और नर्मदा (१८७ से १९४ अ०) के भौगोलिक वर्णन और माहात्म्य दोनों पाये जाते हैं। मत्स्य पुराण की कई विशेषताएँ हैं। पहली विशेषता यह है कि इसमें सभी पुराणों की विषयानुक्रमणी दी गयी है। दूसरी विशेषता ऋषियों का वंश वर्णन है। तीसरी विशेषता राजधर्म का विशद वर्णन है। चौथी विशेषता प्रतिमालक्षण अर्थात् विभिन्न देवताओं की मूर्तियों के निर्माण का विधान है।

मत्स्यावतार—विष्णु के दस अवतारों में से मत्स्यावतार प्रथम है। इसका आविर्भाव प्रलय काल में सृष्टिबीजों की रक्षा के निमित्त होता है, क्योंकि नैमित्तिक प्रलय में समस्त सृष्टि जलमग्न हो जाती है। दे० तैत्तिरीय संहिता ७.१.५.१।

मत्स्येन्द्रनाथ—हठयोग के विशिष्ट पुरस्कर्ता आचार्य (मछन्दरनाथ)। ये नाथ सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य आदि-नाथ के शिष्य थे। इतिहासवेत्ता आदिनाथ का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी मानते हैं तथा गोरक्षनाथ दसवीं शताब्दी के पूर्व उत्पन्न कहे जाते हैं। इसलिए आदिनाथ के शिष्य एवं गोरक्षनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की स्थिति आठवीं शताब्दी (विक्रम) का अन्त या नवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है। नेपाल के लोग अधिकांशतः मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरक्षनाथ के भक्त हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ (पाटन)—गोंडा जिले में पाटन अथवा देवीपाटन नामक स्थान प्रसिद्ध देवीपीठ है। इसमें बहुत से प्राचीन तथा नवीन मन्दिर हैं, जिनमें बौद्ध मन्दिर भी है। मत्स्येन्द्रनाथ किंवा मीननाथ का मन्दिर अति आकर्षक है। यह शिवालय के ढंग का है। इसकी चमक-दमक बहुत ही निराली है। पास में स्तूपाकार मन्दिर है। बड़े-बड़े वृक्षों से इसकी शोभा बढ़ जाती है। यहाँ का श्रीराधा-मन्दिर भी आकर्षक है। मन्दिरों में भारतीय मुस्लिम स्थापत्य का मिश्रण पाया जाता है।

मथुरा—वैष्णव हिन्दू भक्तों का पवित्र तीर्थस्थान। इसके सम्बन्ध में कोई वैदिक उद्धरण नहीं मिलता। फिर भी ईसा के लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व से ही इसका माहात्म्य

रहा है। पाणिनि तथा कात्यायन ने इसका उल्लेख किया है। पतञ्जलि के महाभाष्य में वासुदेव के द्वारा कंस-वध होने की चर्चा की गयी है। आदिपर्व (२२१.४६) में मथुरा की प्रसिद्धि गायों के संदर्भ में चर्चित है। वायु पुराण (८८.१८५) के अनुसार भगवान् राम के अनुज शत्रुघ्न ने मधु नामक राक्षस के पुत्र लवणासुर का वध इसी स्थल पर किया और तदुपरान्त मथुरा नगर की स्थापना की। रामायण (उत्तर काण्ड ७०.६-९) से विदित होता है कि मथुरा को सुन्दर तथा समृद्ध बनाने में शत्रुघ्न को बारह वर्ष लगे थे। घट जातक में मथुरा को 'उत्तर मथुरा' कहा गया है। कंस और वासुदेव की कथा भी महाभारत तथा पुराणों में थोड़े-थोड़े अन्तर के साथ मिलती है। ह्वेनसांग का कथन है कि उसके समय में वहाँ अशोकराज द्वारा बनवाये गये तीन बौद्ध स्तूप, पाँच बड़े मन्दिर तथा २० संघाराम २००० बौद्ध भिक्षुओं से भरे हुए थे।

मथुरा के धार्मिक माहात्म्य का उल्लेख पुराणों में मिलता है। अग्निपुराण (११.८-९) से यह आश्चर्यजनक सूचना मिलती है कि राम की आज्ञा से भरत ने मथुरा नगर में शैलूष के तीन करोड़ पुत्रों को मार डाला था। लगभग २००० वर्षों से मथुरापुरी कृष्ण उपासना तथा भागवत धर्म का केन्द्र रही है। वराहपुराण में मथुरा तथा इसके अवान्तर तीर्थों के माहात्म्य के सम्बन्ध में सहस्रों श्लोक मिलते हैं। पुराणों में कृष्ण, राधा, मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन आदि का प्रभूत मात्रा में उल्लेख मिलता है। पद्मपुराण (आदि खण्ड २९.४६-४७) के अनुसार मथुरा से युक्त यमुना मोक्ष देती है। वराह पुराण के अनुसार विष्णु (कृष्ण) को संसार में मथुरा से अधिक प्रियस्थल कोई भी नहीं है, क्योंकि यह उनकी जन्मभूमि है। यह मनुष्य मात्र को मुक्ति प्रदान करती है (१५२.८-११)—हरिवंश पुराण (विष्णु पर्व ५७.२-३) में मथुरा को लक्ष्मी का निवास स्थान तथा कृषि-उत्पादन का प्रमुख स्थल कहा गया है।

मथुरा का परिमण्डल २० योजन माना गया है। उसके मध्य सर्वोत्तम मथुरापुरी अवस्थित है (नारदीय उत्तर, ७८.२०-२१)। मथुरा के बाह्यान्तर स्थलों में अनेक तीर्थ हैं। उनमें से कुछ प्रमुख तीर्थों का विवरण यहाँ दिया जायगा। वे हैं मधु, ताल, कुमुद, काम्य, बहुल, भद्र, खादिर, महावन, लोहजंघ, विल्व, भाण्डिर और वृन्दावन। इसके अतिरिक्त २४ उपवनों का भी उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है पर पुराणों में नहीं। वृन्दावन मथुरा के पश्चिमोत्तर ५ योजन में विस्तृत था। (विष्णु पुराण ५.६.२८-४० तथा नारदीय उत्तरार्द्ध (८०.६,८ और ७७)। यह श्रीकृष्ण के गोचारण क्रीड़ा की स्थली थी। इसे पद्मपुराण में पृथ्वी पर वैकुण्ठ का एक भाग माना गया है। मत्स्य० (१३.३८) राधा का वृन्दावन में देवी दाक्षायणी के नाम से उल्लेख करता है। वराहपुराण (१६४.१) में गोवर्धन पर्वत मथुरा से दो योजन पश्चिम बताया गया है। यह अब प्रायः १५ मील दूर है। कूर्म० (१.१४-१८) के अनुसार प्राचीन काल में महाराज पृथु ने यहाँ तपस्या की थी। पुराणों में मथुरा से सम्बद्ध कुछ विवरण भ्रामक भी हैं। उदाहरणार्थ हरिवंश (विष्णुपर्व १३.३) में तालवन गोवर्धन के उत्तर यमुना तट पर बताया गया है, जबकि यह गोवर्धन के दक्षिण-पूर्व में स्थित है। गोकुल वही है जिसे महावन कहा गया है। जन्म के समय श्री कृष्ण इसी स्थल पर नन्द गोप के घर में लाये गये थे। तदुपरान्त कंस के भय से उन्होंने स्थान परिवर्तन कर दिया और वृन्दावन में रहने लगे।

महावीर और बुद्ध के समय में भी मथुरा धार्मिक तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध थी। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि यहाँ हर्क्यूलिज (कृष्ण) की पूजा होती थी। शक-क्षत्रपों, नागों और गुप्तों के समय के बहुतेरे धार्मिक अवशेष यहाँ पाये गये हैं। मुसलिम विध्वंसकारियों के आक्रमण के बाद भी मथुरा जीवित रही। १६वीं शताब्दी में मथुरा और वृन्दावन पुनः विष्णुभक्ति साधना के केन्द्र हो गये थे। वृन्दावन चैतन्य भक्ति-साधना का केन्द्र बन गया था। यहाँ के गोस्वामियों में सनातन, रूप, जीव, गोपाल भट्ट, और हरिवंश की अच्छी ख्याति हुई। चैतन्य महाप्रभु के समसामयिक स्वामी वल्लभाचार्य ने प्राचीन गोकुल के अनुकरण पर महावन से एक मील दक्षिण नवीन गोकुल की स्थापना की और उसे अपनी भक्ति-साधना का केन्द्र बनाया। औरंगजेब ने मथुरा के प्राचीन मन्दिरों को ध्वस्त करके उसी स्थिति को पहुँचा दिया जिस स्थिति को काशी के मंदिरों को पहुँचाया था। इतना होने पर भी मथुरा के माहात्म्य में न्यूनता नहीं आयी।

सभापर्व (३१९.२३-२५) के अनुसार कंस-वध कुपित से

होकर जरासंध ने गिरिव्रज (मगध) से अपनी गदा फेंकी थी, जो मथुरा में श्रीकृष्ण के सामने गिरी। जहाँ वह गिरी उस स्थल को गदावसान कहा गया है। पर इसका उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

मथुरानाथ—सोलहवीं शताब्दी के अन्त के एक वंगदेशस्थ नैयायिक। इन्होंने गङ्गेश उपाध्याय रचित तत्त्वचिन्तामणि नामक तार्किक ग्रन्थ पर तत्त्वालोक-रहस्य नामक भाष्य लिखा। इनका अन्य नाम 'मथुरानाथी' भी है।

मथुरानाथी—दे० 'मथुरानाथ'। मथुरानाथ के नाम से नैयायिकों का एक सम्प्रदाय चला, जो मथुरानाथी कहलाता है।

मथुराप्रदक्षिणा—मथुरा की परिक्रमा धार्मिक क्रिया है। इसी प्रकार मथुरामण्डल के अन्यान्य पवित्रस्थल-वृन्दावन, गोवर्धन, गोकुल आदि की प्रदक्षिणा भी परम पावन मानी जाती हैं। भारत की सात पवित्र पुरियों में से एक मथुरा भी है—

कार्तिक शुक्ल नवमी को यह प्रदक्षिणा की जाती है।

मथुरामाहात्म्य—रूपगोस्वामी द्वारा संस्कारित-संपादित मथुरामाहात्म्य वराह पुराण का एक भाग है। इसमें मथुरा और वृन्दावन तथा उनके समीपवर्ती सभी पवित्र स्थानों के वर्णन हैं।

मदनचतुर्दशी—यह कामदेव का व्रत है। इस चतुर्दशी को 'मदनभञ्जी' भी कहा जाता है। चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को इसका अनुष्ठान किया जाता है। इसमें कामदेव की सन्तुष्टि के लिए गीत, नृत्य तथा शृङ्गारिक शब्दों से उनका पूजन होता है।

मदनत्रयोदशी—देखिए 'अनङ्गत्रयोदशी' तथा 'कामदेव त्रयोदशी'। कृत्यरत्नाकर, १३७ (ब्रह्मपुराण को उद्धृत करते हुए) कहता है कि समस्त त्रयोदशियों को कामदेव की पूजा की जानी चाहिए।

मदनद्वादशी—चैत्र शुक्ल द्वादशी को इस तिथिव्रत का अनुष्ठान होता है। ताँबे की तश्तरी में गुड़, खाद्य पदार्थ तथा सुवर्ण रखकर जल, अक्षत तथा फलों से परिपूर्ण कलश के ऊपर स्थापित कर देना चाहिए तथा कामदेव और उसकी पत्नी रति की आकृतियाँ बना देनी चाहिए। इनके सम्मुख खाद्य पदार्थ रखकर प्रेमपूर्ण गीत गाने चाहिए। भगवान् हरि की मूर्ति को कामदेव समझ कर स्नान करा कर पूजन करना चाहिए। दूसरे दिन उस कलश का दान करके, ब्राह्मणों को भोजन कराकर तथा दक्षिणा देकर यजमान स्वयं नमक रहित भोजन करे। त्रयोदशी के दिन उपवास, द्वादशी को केवल एक फल खाकर भगवान् विष्णु की पूजा और उन्हीं के सम्मुख खाली भूमि पर शयन करना चाहिए। यह क्रम एक वर्ष तक चलना चाहिए। वर्ष के अन्त में एक गौ तथा वस्त्र दान देकर सफेद तिलों से हवन करना चाहिए। इस व्रत के आचरण से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त होकर पुत्र, पौत्र, ऋद्धि-सिद्धियों को प्राप्त करता हुआ भगवान् विष्णु में लीन हो जाता है।

मदनमहोत्सव—चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। मध्याह्न काल में कामदेव की मूर्ति अथवा चित्र का निम्नांकित मन्त्र से पूजन करना चाहिए। ''नमः कामाय देवाय, देव देवाय मूर्त्तये। ब्रह्म-विष्णु-सुरेशानां मनः क्षोभ कराय वै।' मिष्ठान्न खाद्य पदार्थ प्रतिमा के सम्मुख रखना चाहिए। गौ का जोड़ा दान में दिया जाय। पत्नियाँ अपने पतियों का, कामदेव का रूप समझ कर पूजन करें। रात्रि को जागरण, नृत्योत्सव, रोशनी तथा नाटकादि का आयोजन किया जाना चाहिए। यह प्रति वर्ष किया जाना चाहिए। इस आचरण से व्रती शोक, सन्ताप तथा रोगों से मुक्त होकर कल्याण, यश तथा सम्पत्ति प्राप्त करता है।

मदुरा—दक्षिण भारत (तमिलनाडु) का प्रसिद्ध तीर्थ स्थान जिसे दक्षिण की मथुरा कहते हैं। द्रविड स्थापत्य की सुन्दर कृतियों से शोभित मन्दिर यहाँ वर्तमान हैं।

चौदहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी के बीच दक्षिण भारत में रचे गये शैव साहित्य में दो स्थानीय धार्मिक कथासंग्रह अति प्रसिद्ध हैं। इस बीच परज्जोति ने 'तिरुविलैआदतपुराणम्' तथा काञ्चीअप्पर एवं उनके गुरु शिवज्ञान योगी ने 'काञ्चीपुराणम्' रचा। प्रथम ग्रन्थ मदुरा के तथा द्वितीय काञ्जीवरम् के लौकिक धर्म-कथानकों का प्रतिनिधित्व करता है। ये दोनों ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हैं।

मधु—कोई भी खाद्य या पेय मीठा पदार्थ। विशेष कर पेय के लिए यह शब्द ऋग्वेद में व्यवहृत है। स्पष्ट रूप से यह सोम अथवा दुग्ध तथा इनसे कम शहद के लिए व्यवहृत है। (।ऋ० ८.४,८। यहाँ 'सारघ' विशेषण द्वारा अर्थ को स्पष्ट किया गया है।) परवर्ती साहित्य में

मधुका अर्थ शहद ही सबसे अधिक निश्चित है। मधुपर्क का उपयोग पूजन, श्राद्ध आदि धार्मिक कृत्यों में होता है।

मधुपैङ्ग्य—(पिङ्ग के वंशज) शतपथ० (११.७,२,८) तथा कौषीतकि उपनिषदों (१६.९) में उद्धृत मधु पैङ्ग्य एक आचार्य का नाम है।

मधुब्राह्मण—मधुब्राह्मण किसी रहस्यपूर्ण सिद्धान्त की उपाधि है, जिसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (४.१,५,१८; १४.१,४,१३) तथा, बृह० उप० (२.५,१६) में हुआ है।

मधुर कवि—तमिल वैष्णवों में बारह आलवारों के नाम बड़े सम्मानपूर्वक स्मरण किये जाते हैं। इनके परम्परागत क्रम में मधुरकवि का छठाँ स्थान है। दे० 'आलवार'।

मधुरत्रय—तीन वस्तुएँ मधुर नाम से प्रसिद्ध हैं—घृत, मधु और शर्करा। व्रतराज, १६, के अनुसार वृत, दुग्ध तथा मधु मधुरत्रय कहलाते हैं। पूजोपचार में इनका उपयोग किया जाता है।

मधुवन—व्रजमण्डल के बारह वनों में प्रथम व्रजपरिक्रमा के अन्तर्गत भी यह सर्वप्रथम आता है। यह स्थान मथुरा से ४–मील दूर है। यहाँ कृष्णकुण्ड तथा चतुर्भुज, कुमार कल्याण और ध्रुव के मन्दिर हैं। लवणासुर की गुफा और वल्लभाचार्यजी की बैठक है। यहाँ भाद्रकृष्ण ११ को मेला लगता है।

मधुश्रावणी—'कृत्यसारसमुच्चय' (पृ० १०) के अनुसार श्रावण शुक्ल तृतीया को मधुश्रावणी कहते हैं।

मधुसूदनपूजा—वैशाख शुक्ल द्वादशी को इसका अनुष्ठान होता है। इसमें भगवान् विष्णु का पूजन विहित है। व्रती इस व्रत से अग्निष्टोम यज्ञ का फल प्राप्त करता हुआ चन्द्रलोक में निवास करता है।

मधुसूदन सरस्वती—अद्वैत सम्प्रदाय के प्रधान आचाय और ग्रन्थ लेखक। इनके गुरु का नाम विश्वेश्वर सरस्वती और जन्म स्थान बङ्गदेश था। ये फरीदपुर जिले के कोटलिपाड़ा ग्राम के निवासी थे। विद्याध्ययन के अनन्तर ये काशी में आये और यहाँ के प्रमुख पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। इस प्रकार विद्वन्मण्डली में सर्वत्र इनकी कीर्तिकौमुदी फैलने लगी। इसी समय इनका परिचय विश्वेश्वर सरस्वती से हुआ और उन्हीं की प्रेरणा से ये दण्डी संन्यासी हो गये।

मधुसूदन सरस्वती मुगल सम्राट शाहजहाँ के समकालीन थे। कहते हैं कि इन्होंने माध्व पंडित रामराज स्वामी के ग्रन्थ 'न्यायामृत' का खण्डन किया था। इससे चिढ़कर उन्होंने अपने शिष्य व्यास रामाचार्य को मधुसूदन सरस्वती के पास वेदान्तशास्त्र का अध्ययन करने के लिए भेजा। व्यास रामाचार्य ने विद्या प्राप्त कर फिर मधुसूदन स्वामी के ही मत का खण्डन करने के लिये 'तरङ्गिणी' नामक ग्रन्थ की रचना की। इससे ब्रह्मानन्द सरस्वती आदि ने असन्तुष्ट होकर तरङ्गिणी का खण्डन करने के लिए 'लघुचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ की रचना की।

मधुसूदन सरस्वती बड़े भारी योगी थे। वीरसिंह नामक एक राजा की सन्तान नहीं थी। उसने स्वप्न में देखा कि मधुसूदन नामक एक यति हैं और उनकी सेवा से पुत्र अवश्य होगा। तदनुसार राजा ने मधुसूदन का पता लगाना प्रारम्भ किया। कहते हैं कि उस समय मधुसूदन जी एक नदी के किनारे भूमि के अन्दर समाधिस्थ थे। राजा खोजते-खोजते वहाँ पहुँचा। स्वप्न के रूप से मिलते-जुलते एक तेजःपूर्ण महात्मा समाधिस्थ दीख पड़े। राजा ने उन्हें पहचान लिया। वहाँ राजा ने एक मन्दिर बनवा दिया। कहा जाता है कि इस घटना के तीन वर्ष बाद मधुसूदनजी की समाधि टूटी। इससे उनकी योग सिद्धि का पता लगता है। किन्तु वे इतने विरक्त थे कि समाधि खुलने पर उस स्थान को और राजा प्रदत्त मन्दिर और योग को छोड़ कर तीर्थाटन के लिए चल दिये। मधुसूदन के विद्यागुरु अद्वैतसिद्धि के अन्तिम उल्लेखानुसार माधव सरस्वती थे। इनके रचे हुए निम्नलिखित ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं :

१. सिद्धान्तबिन्दु—यह शङ्कराचार्य कृत दशश्लोकी की व्याख्या है। उसपर ब्रह्मानन्द सरस्वती ने रत्नावली नामक निबन्ध लिखा है।

२. संक्षेप शारीरक व्याख्या—यह सर्वज्ञात्ममुनि कृत 'संक्षेप शारीरक' की टीका है।

३. अद्वैतसिद्धि—यह अद्वैत सिद्धान्त का अति उच्च कोटि का ग्रन्थ है।

४. अद्वैतरत्न रक्षण—इसमें द्वैतवाद का खण्डन करते हुए अद्वैतवाद की स्थापना की गयी है।

५. वेदान्तकल्पलतिका—यह भी वेदान्त ग्रन्थ ही है।

६. गूढार्थदीपिका—यह श्रीमद्भगवद्गीता की विस्तृत टीका है। इसे गीता की सर्वोत्तम व्याख्या कह सकते हैं।

७. प्रस्थानभेद—इसमें सब शास्त्रों का सामञ्जस्य

करके उनका अद्वैत में तात्पर्य दिखलाया गया है। यह निबन्ध संक्षिप्त होने पर भी अद्भुत प्रतिभा का द्योतक है।

८. महिम्नस्तोत्र की टीका—इसमें सुप्रसिद्ध महिम्नस्तोत्र के प्रत्येक श्लोक का शिव और विष्णु के पक्ष में व्याख्यार्थ किया गया है। इससे उनके असाधारण विद्या कौशल का पता लगता है।

९. भक्ति रसायन—यह भक्ति सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थ है। अद्वैतवाद के प्रमुख स्तम्भ होते हुए भी वे उच्च कोटि के कृष्णभक्त थे, यह इस रचना से सिद्ध है।

मधूकव्रत—फाल्गुन शुक्ल तृतीया को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। उस दिन महिलाएँ उपवास करके मधूक वृक्षपर गौरी पूजन करती हैं और उनसे अपने सौभाग्य, सन्तान, वैधव्य के निवारण की प्रार्थना करती हैं। सधवा ब्राह्मणियों को बुलाकर उन्हें पुष्प, सुगन्धित द्रव्य, वस्त्र तथा स्वादिष्ठ खाद्य पदार्थ देकर उनका सम्मान किया जाता है। इसके आचरण से सुस्वास्थ्य तथा सौन्दर्य की उपलब्धि होती है। भविष्योत्तर पुराण (१६.१-१६) में इसे मधूक तृतीया नाम से सम्बोधित किया गया है।

मध्यदेश—मनुस्मृति (२.२१) के अनुसार मध्यदेश (बीच के देश) की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में विनशन (राजस्थान की मरुभूमि में सरस्वती के लुप्त होने का स्थान) तथा पूर्व में गङ्गा-यमुना के सङ्गम स्थल प्रयाग तक विस्तृत है। वास्तव में यह मध्यदेश आर्यावर्त्त का मध्य भाग है। 'मध्यदेश' शब्द वैदिक संहिताओं में नहीं मिलता है। परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में इसकी झलक मिलती है। इसमें कुरु, पञ्चाल, वत्स तथा उशीनर देश के लोग बसते थे। आगे चलकर अन्तिम दो वंशों का लोप हो गया और मध्यदेश मुख्यतः कुरु-पञ्चालों का देश बन गया। बौद्ध साहित्य के अनुसार मध्यदेश पश्चिम में स्थूण (थानेश्वर) से लेकर पूर्व में जंगल (राजमहल की पहाड़ियों) तक विस्तृत था।

मध्व—माध्व वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक मध्व अथवा मध्वाचार्य थे। जो दक्षिण कर्णाटक के उदीपी नामक स्थान में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपने सम्प्रदाय की स्थापना की। बाल्यावस्था में ही ये संन्यासी हो गये तथा प्रथम शाङ्करमत की दीक्षा ग्रहण की। वेदान्त सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने ऐतरेयोपनिषद्, महाभारत तथा भागवत पुराण पर ध्यान दिया। अन्तिम ग्रन्थ (भागवत पुराण) इनके धार्मिक जीवन पर छा गया। प्रशिक्षण के पूर्ण होने के पहले ही ये शाङ्कर मत से अलग हो गये। और अपना द्वैतवादी सिद्धान्त स्थापित किया जो प्रधानतया भागवत पुराण पर आधृत था। इनके अनेक अनुयायी उद्भट विद्वान् हो गये हैं।

इनका धार्मिक सिद्धान्त रामानुज से बहुत कुछ मिलता-जुलता है किन्तु दर्शन स्पष्टतः द्वैतवादी है। वे बड़ी तीक्ष्णता से जीव एवं ईश्वर का भेद करते हैं और इस प्रकार शङ्कर से विष्णु स्वामी को छोड़कर अन्य वेदान्तियों की अपेक्षा अत्यन्त दूर खड़े हो जाते हैं। ईश्वरवाद के सिवा इनका सिद्धान्त बहुत कुछ भागवत सम्प्रदाय के समान है। इनके धर्म चिन्तन का केन्द्र कृष्ण की भक्तिपूर्ण उपासना है जैसा कि भागवत की शिक्षा है। किन्तु राधा का नाम इस सम्प्रदाय में नहीं लिया जाता है। यहाँ सभी अवतारों का आदर है। माध्व सम्प्रदाय में शिव के साथ पाँच मुख्य देवताओं (पञ्चायतन) की पूजा भो मान्य है। आचार्य मध्व के प्रमुख ग्रन्थ वेदान्तसूत्र का भाष्य तथा अनुख्यान हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ग्रन्थ इन्होंने रचे जिनमें मुख्य हैं—गीताभाष्य, भागवत तात्पर्य निर्णय, महाभारत तात्पर्य निर्णय, दशोपनिषदों पर भाष्य, तन्त्रसार संग्रह आदि।

मध्वतन्त्रमुखमर्दन—अप्पय दीक्षित कृत यह ग्रन्थ शैवमत विषयक है। इसमें मध्व सिद्धान्त का खण्डन किया गया है।

मध्वभाष्य—दे० 'मध्व'।

मध्वविजय—मध्वाचार्य के एक प्रशिष्य श्री नारायण ने आचार्य की मृत्यु के पश्चात् दो संस्कृत ग्रन्थ 'मणिमञ्जरी' एवं 'मध्वविजय' लिखे। इनमें दो अवतारों का सिद्धान्त भली-भाँति स्थापित हुआ है। प्रथम ग्रन्थ के अनुसार शङ्कर मणिमान् नामक (महाभारत में वर्णित) विशेष देव के अवतार तथा दूसरे ग्रन्थ के अनुसार मध्वाचार्य वायुदेव के अवतार थे।

मध्वसम्प्रदाय—मध्वाचार्य द्वारा स्थापित यह सम्प्रदाय भागवत पुराण पर आधृत होने वाला पहला सम्प्रदाय है। इसकी स्थापना तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में हुई। मध्व की मृत्यु के ५० वर्ष बाद जयतीर्थ इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हुए। इनके भाष्य, जो मध्व के ग्रन्थों पर रचे गये हैं, सम्प्रदाय के सम्मानित ग्रन्थ हैं। चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विष्णुपुरी नामक माध्व संन्यासी ने भागवत के

भक्ति विषयक सुन्दर स्थलों को चुनकर 'भक्तिरत्नावली' नामक ग्रन्थ लिखा। यह भागवत भक्ति का सर्वश्रेष्ठ परिचय देता है। लोरिय कृष्णदास ने इसका बंगला में अनुवाद किया है।

एक परवर्ती माध्व सन्त ईश्वरपुरी ने चैतन्यदेव को इस संप्रदाय में दीक्षित किया। इस नये नेता (चैतन्य) ने माध्व मत का अपनी दक्षिण की यात्रा में अच्छा प्रचार किया (१५०९-११)। उन्होंने माध्वों को अपनी शिक्षा एवं भक्तिपूर्ण गीतों से प्रोत्साहित किया। इन्होंने उक्त सम्प्रदाय में सर्वप्रथम संकीर्तन एवं नगर-कीर्तन का प्रचार किया। चैतन्यदेव की दक्षिण यात्रा के कुछ ही दिनों बाद कन्नड भाषा में गीत रचना आरंभ हुई। कन्नड गायक भक्तों में मुख्य थे पुरन्दरदास। प्रसिद्ध माध्व विद्वान् व्यासराज चैतन्य के समकालीन थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे जो आज भी पठन-पाठन में प्रयुक्त होते हैं।

अठारवीं शताब्दी में कृष्णभक्ति विषयक गीत व स्तुतियों की रचना कन्नड में तिम्मप्पदास एवं मध्वदास ने की। इसी समय चिदानन्द नामक विद्वान् प्रसिद्ध कन्नड ग्रन्थ' 'हरिभक्ति रसायन' के रचयिता हुए। मध्व के सिद्धान्तों का स्पष्ट वर्णन कन्नड काव्य-ग्रन्थ 'हरिकथासार' में हुआ है। मध्वमत के अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद कन्नडी में हुआ। माध्व संन्यासी शङ्कर के दशनामी संन्यासियों में ही परिगणित हैं। स्वयं मध्व एवं उनके मुख्य शिष्य तीर्थ (दसनामियों में से एक) शाखा के थे। परवर्ती अनेक माध्व 'पुरी' एवं 'भारती' शाखाओं के सदस्य हुए।

मध्वसिद्धान्तसार—मध्वाचार्य के शिष्य पद्मनाभाचार्य ने माध्व मत का वर्णन 'पदार्थसंग्रह' नामक ग्रन्थ में किया है। 'पदार्थसंग्रह' के ऊपर उन्होंने 'मध्व सिद्धान्त सार' नामक व्याख्या भी लिखी।

मनभाऊ सम्प्रदाय—दे० 'दत्त सम्प्रदाय'।

मनवाल महामुनि—श्री वैष्णव सम्प्रदाय के एक आचार्य। इनका अन्य नाम राम्यजामातृमुनि था। स्थिति काल १४२७-१५०० वि० के मध्य था। ये श्री वैष्णवों की दक्षिणी शाखा 'तेङ्गले' के नेता थे। वेदान्तदेशिक के पश्चात् इन्होंने श्रीरङ्गम् में वेदान्त शिक्षा प्रचलित रखी। इनके भाष्य विद्वत्तापूर्ण तथा बहु युक्त हैं।

मनविरक्तकरन गुटका—संत चरनदास (चरनदासी पन्थ के प्रवर्त्तक) द्वारा विरचित एक ग्रन्थ मनविरक्तकरन गुटका है। इसमें उनके ज्ञानोपदेशों का संग्रह है।

मनस्—सांख्य दर्शन के सिद्धान्तानुसार प्रकृति से महत् अथवा बुद्धि (व्यक्ति की विचार एवं निश्चय करने वाली शक्ति) की उत्पत्ति होती है। इस तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। फिर अहङ्कार से मनस् की उत्पत्ति होती है। यह सूक्ष्म अंग व्यक्ति को समझने की शक्ति देता है तथा बुद्धि को वस्तुओं के सम्बन्ध में प्राप्त किये गये ज्ञान की सूचना देता है। यह बुद्धि द्वारा निर्णीत विचारों का पालन कर्मेन्द्रियों द्वारा कराता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार नवद्रव्यों में मनस् नवां द्रव्य है। इसके द्वारा आत्मा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान के सम्पर्क में आता है। पाञ्चरात्र के व्यूहसिद्धान्त में प्रद्युम्न को मनस् तत्त्व कहा गया है।

मनसा—शक्ति के अनेक रूपों में से मनसा नामक देवी की पूजा बंगाल में बहुत प्रचलित है। इनकी प्रशंसा के गीत भी पर्याप्त संख्या में रचे गये हैं, जिनका साहित्यिक नाम 'मनसामंगल' है। ये सर्पों की माता मानी जाती हैं और इनकी पूजा से सर्पों का उपद्रव शान्त रहता है।

मनसाव्रत—ज्येष्ठ शुक्ल की हस्त नक्षत्र युक्त नवमी अथवा बिना हस्त नक्षत्र के भी दशमी को स्नुही के वृक्ष की शाखा पर मनसा देवी का पूजन करना चाहिए। हेमाद्रि (चतुर्वर्ग चिन्तामणि, प्रथम ६२१) के अनुसार मनसा देवी की पूजा आषाढ़ कृष्ण पंचमी को होनी चाहिए। मनसा श्रावण कृष्ण एकादशी को भी पूजी जाती है। देखिए, मनसा देवी तथा मनसा मंगल की कथा के लिए ए० सी० सेन की 'बंगाली भाषा तथा साहित्य' (पृ० २५७-२७६) नामक पुस्तक।

मनावी—काठक संहिता (३०.१) तथा शतपथ ब्राह्मण (१.१,४,१६) में मनु की स्त्री को मनावी कहा गया है।

मनीषा पञ्चक—स्वामी शङ्कराचार्य विरचित एक उपदेशात्मक लघु पद्य रचना। इसके पाँच शार्दूलविक्रीडित छन्दों में धार्मिक और आध्यात्मिक उपदेश दिये गये हैं।

मनु—मनु को वैदिक संहिताओं (ऋ० १.८०,१६;८.६३,१;१०.१००,५) आदि; अ०वे० १४.२,४१; तैत्ति० सं० १.५,८,३;७.५,१५,३;६,७,१;३,३,२,१;५.४,१०,५;६.६,६,१; का० सं० ८.१५; शतपथ ब्राह्मण १.१,४,१४ जै०

उ० ब्रा० ३.१५,२ आदि) में ऐतिहासिक व्यक्ति माना गया है। ये सर्वप्रथम मानव था जो मानव जाति के पिता तथा सभी क्षेत्रों में मानव जाति के पथ प्रदर्शक स्वीकृत हैं। वैदिककालीन जलप्लावन की कथा के नायक मनु ही हैं (काठ० सं० ११.२)।

मनु को विवस्वान् (ऋ० ८.५२,१) या वैवस्वत (अ० वे० ८.१०,२४), विवस्वन्त (सूर्य) का पुत्र; सावर्णि (सवर्णा का वंशज) एवं सांवर्णि (ऋ० वे० ८.५१,१) (संवरण का वंशज) कहते हैं। प्रथम नाम पौराणिक है, जबकि दूसरे नाम ऐतिहासिक हैं। सावर्णि को लुड्विग तुर्वसुओं का राजा कहते हैं, किन्तु यह मान्यता सन्देहपूर्ण है।

पुराणों में मनु को मानव जाति का गुरु तथा प्रत्येक मन्वन्तर में स्थित कहा गया है। वे जाति के कर्त्तव्यों (धर्म) के ज्ञाता है।

भगवद्गीता (१०.६) भी मनुओं का उल्लेख करती करती है। मनु नामक अनेक उल्लेखों से प्रतीत होता है कि यह नाम न होकर उपाधि है। मनु शब्द का मूल मन् धातु (मनन करना) से भी यही प्रतीत होता है। मेधातिथि, जो मनुस्मृति के भाष्यकार हैं, मनु को उस व्यक्ति की उपाधि कहते हैं, जिसका नाम प्रजापति है। वे धर्म के प्रकृत रूप के ज्ञाता थे एवं मानव जाति को उसकी शिक्षा देते थे। इस प्रकार यह विदित होता है कि मनु एक उपाधि है।

मनुरचित 'मानव धर्मशास्त्र' भारतीय धर्मशास्त्र मे आदिम व मुख्य ग्रंथ माना जाता है। प्राचीन ग्रन्थों में जहाँ मानव धर्मशास्त्र के अवतरण आये हैं वे सूत्र रूप में हैं और प्रचलित मनुस्मृति के श्लोकों से नहीं मिलते। वह सूत्रग्रन्थ 'मानव धर्मशास्त्र' अभी तक देखने में नहीं आया। वर्तमान मनुस्मृति को उन्हीं मूल सूत्रों के आधार पर लिखी हुई कारिका मान सकते हैं। वर्तमान सभी स्मृतियों में यह प्रधान समझी जाती है। दे० 'मनुस्मृति'।

मनु का श्रौतसूत्र—मनुरचित मानव श्रौतसूत्र विशेष प्रसिद्ध हैं। इसके वर्ण्यविषयों में प्रथम अध्याय में प्राक्सोम, दूसरे में अग्निष्टोम, तीसरे में प्रायश्चित्त, चौथे में प्रवर्ग्य, पाँचवें में दृष्टि, छठें में चयन, सातवें में वाजपेय, आठवें में अनुग्रह, नवें में राजसूय, दसवें में शुल्वसूत्र और ग्यारहवें अध्याय में परिशिष्ट हैं। अग्निस्वामी, बालकृष्ण मिश्र और कुमारिलभट्ट इसके भाष्यकार हैं।

मनुस्मृति—स्मृतियों में यह प्राचीनतम तथा सर्वाधिक मान्य हैं। इसमें समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र सभी का समावेश है। अतः सामाजिक व्यवस्था का यह आधारभूत ग्रन्थ है। परम्परा के अनुसार इसके रचयिता मनु थे, जो आदि व्यवस्थापक माने जाते हैं। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना कठिन है कि यह एक काल में तथा एक व्यक्ति के द्वारा प्रणीत हुई। इतना कहा जा सकता है कि मानव परम्परा में धर्मशास्त्र का प्रणयन हुआ। मनु के प्रथम उल्लेख ऋग्वेद (१.८०,१६; १.११४,२;२.३३,१३) में पाये जाते हैं। वे मानव जाति के पिता माने गये हैं। एक ऋषि प्रार्थना करते हैं कि वे मनु के पैतृक मार्ग से च्युत न हों (मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः। ऋग्वेद ८.३०,३)। एक दूसरी वैदिक परम्परा के अनुसार मनु प्रथम यज्ञकर्ता थे (ऋग्वेद १०.६३,७) तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार मनु का कथन भेषज है—'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तदभेषजम्'। तै० सं० २-२-१०-२—'मनुर्वै यत्किञ्चावदत्तभेषजम् भेषजतायै।' ताण्डय ब्राह्मण (२३,१६,१७) और शतपथ ब्राह्मण में मनु और जलप्लावन की कथा पायी जाती है। निरुक्त (अ० ३) में मनु को स्मृतिकार के रूप में स्मरण किया गया है। महाभारत स्वायम्भुव मनु (शान्ति २१.१२)। प्राचेतसमनु (शान्ति, ५७.४३) और कहीं केवल मनु का उल्लेख करता है। गौतम, आपस्तम्ब तथा वसिष्ठ धर्मसूत्रों में मनु को प्रमाणरूप में उद्धृत किया गया है। अन्यत्र महाभारत (शान्ति, ५७.४३) में कहा गया है कि ब्रह्मा ने एक लक्ष श्लोकों का धर्मशास्त्र बनाया। इसमें प्रतिपादित धर्मों का प्रवर्तन स्वायम्भुव मनु ने किया। इन पर आधारित शास्त्रों का प्रवर्तन उशना और बृहस्पति ने किया। नारदस्मृति की भूमिका के गद्यभाग में कथन है कि मनु ने एक लक्ष श्लोक, एक सहस्र अस्सी अध्याय और चौबीस प्रकरणों में धर्मशास्त्र की रचना की। मनु ने इसको नारद को दिया, जिन्होंने इसे बारह सहस्र श्लोकों में संक्षिप्त किया। नारद ने इसको मार्कण्डेय को दिया, जिन्होंने इसका आकार आठ हजार श्लोकों तक सीमित किया। मार्कण्डेय से यह धर्मशास्त्र सुमति भार्गव को प्राप्त हुआ, जिन्होंने इसे चार सहस्त्र श्लोकों में निबद्ध किया। संभवतः मनु का प्रायः यही वर्तमान रूप है। काशी प्रसाद जायसवाल (मनु एण्ड याज्ञवल्क्य) के अनुसार

शुङ्गकाल (द्वितीय शती ई० पू०) में सुमति भार्गव ने मनुस्मृति का वर्तमान संस्करण प्रस्तुत किया। इसमें बारह अध्याय और दो सहस्र छः सौ चौरानबे श्लोक हैं।

मनु के धर्मशास्त्र को सम्मान देते हुए कहा गया है कि मनु के विरोध में लिखी गयी स्मृति मान्य नहीं हो सकती। मनु ने इस धर्मशास्त्र में दो समस्याओं का समाधान उपस्थित किया है। प्रथमतः इसकी रचनाकर उन्होंने वैदिक विचारों की रक्षा की। दूसरे, इसके द्वारा एक ऐसे समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की जिसमें प्रजातीय और व्यक्तिगत विवाद न्यूनतम हों और व्यक्ति का अधिकतम विकास सम्भव हो सके तथा एक सहकारी स्वस्थ समाज की स्थापना हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनु ने समाज को वर्ण (मनुष्य की प्रकृति) और आश्रम (संस्कृति) के आधार पर संगठित किया। वर्ण विभिन्न जातियों और वर्गों का समन्वय था। मनु के अनुसार चार वर्ण थे, कोई पञ्चम वर्ण नहीं था। प्रत्येक वर्ण के उत्कर्ष और अपकर्ष के मार्ग खुले थे। व्यक्तिगत जीवन चार आश्रमों में विभक्त था जिनमें होता हुआ मनुष्य चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति कर सके।

मनुस्मृति के महत्त्व को देखकर अनेक धर्मशास्त्रियों ने इस पर व्याख्याएँ लिखीं, जिनमें मेधातिथि, गोविन्दराज और कुल्लूक बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त नारायण, राघवानन्द, नन्दन और रामचन्द्र की टीकाएँ भी उल्लेखनीय हैं। मनु पर असहाय और उदयाकर के उद्धरण भी पाये जाते हैं। संभवतः भोजदेव और भागुरि ने भी मनु पर टीकायें लिखीं।

मनुस्मृति के अतिरिक्त अन्य स्मृतियाँ भी मनु के नाम से प्रचलित थीं। याज्ञवल्क्य स्मृति के भाष्यकार विश्वरूप और विज्ञानेश्वर, स्मृतिचन्द्रिका, पराशरमाधवीय आदि ग्रन्थ वृद्धमनु के अनेक वचन उद्धृत करते हैं। इसीप्रकार बृहन्मनु के वचन मिताक्षरा तथा अन्य ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

मनोरथतृतीया—चैत्र शुक्ल तृतीया को बीस भुजाधारिणी गौरी का पूजन करना चाहिए। एक वर्ष तक इस व्रत का अनुष्ठान होना चाहिए। व्रती को दन्तधावन करने के लिए निश्चित वृक्षों की शाखाओं (जम्बू, अपामार्ग, खदिर) का ही उपयोग करना चाहिए। शरीर पर उद्वर्तन करने के लिए निश्चित प्रलेप अथवा यक्षकर्दम (केसरचन्दन) ही प्रयुक्त करना चाहिए। उसी प्रकार कुछ निश्चित पुष्प जैसे मल्लिका, करवीर, केतकी) तथा नैवेद्य भी, जिसका विशेष रूप से उल्लेख किया गया है, प्रयुक्त किये जाने चाहिए। व्रत के अन्त में आचार्य को शय्यादान करना चाहिए। इसके अतिरिक्त चार बालक तथा बारह कन्याओं को भोजन और दक्षिणा से सम्मानित करना चाहिए। इस आचरण से व्रती के सारे मनोरथों की सिद्धि होती है।

मनोरथद्वादशी—इस व्रत में फाल्गुन शुक्ल एकादशी को उपवास, तदन्तर द्वादशी को हरि का पूजन-हवनपूर्वक मनोरथपूर्ति की उनसे प्रार्थना की जाती है। वर्ष को चार-चार महीने के तीन भागों में विभाजित कर प्रति भाग में भिन्न-भिन्न पुष्पों, धूपों नैवेद्यादिकों का प्रयोग किया जाता है। प्रति मास दक्षिणा दी जाती है। व्रत के अन्त में विष्णु की सुवर्णप्रतिमा बनवाकर दान में दे दी जाती है। बारह ब्राह्मणों को सुन्दर भोजन कराया जाता है तथा कलशों का दान किया जाता है।

मनोरथद्वितीया—इस व्रत में शुक्ल पक्ष की द्वितीया को दिन में वासुदेव का पूजन किया जाता है। द्वितीया के चन्द्रमा को अर्घ्य देकर नक्तपद्धति से चन्द्रास्त से पूर्व आहार करने का विधान है।

मनोरथसंक्रान्ति—एक वर्ष तक प्रत्येक संक्रान्ति के दिन गुड़ सहित जलपूर्ण कलश तथा वस्त्र किसी सद्गृहस्थ को दान में देना चाहिए। इसके देवता सूर्य हैं। इस आचरण से व्रती समस्त कामनाओं की सिद्धि प्राप्त करता है तथा पापमुक्त होकर सीधा सूर्यलोक चला जाता है।

मनोरथपूर्णिमा—यह व्रत कार्तिक पूर्णिमा को प्रारम्भ होता है। वर्ष भर प्रति पूर्णिमा को उदय होते हुए चन्द्रमा का पूजन तथा नक्त विधि से आहार किया जाता है। प्राकृतिक नमक का एक वृत्त बनाकर चन्द्रमा का पूजन किया जाता है। कार्तिक मास में पूर्ण चन्द्रमा कृत्तिका अथवा रोहिणी का, मार्गशीर्ष मास में मृगशिरा तथा आर्द्रा नक्षत्र का तथा अन्य मासों में इसी प्रकार का होना चाहिए। किन्तु फाल्गुन, श्रावण तथा भाद्रपद में कम से कम एक नक्षत्र अथवा तीनों का एकाधिक मेल होना चाहिए। उन दिनों सधवा नारियों का सम्मान करना चाहिए। व्रत के अन्त में कुछ आसनों का जो कुसुम्भरञ्जित हों, दान किया जाना चाहिए। इससे व्रती सौन्दर्य, वरदान और सुख-सम्पत्ति प्राप्तकर स्वर्ग प्राप्त करता है।

मनोरवसर्पण—शतपथ ब्रा० (१ ८,१,८) में यह उस पर्वत का नाम है, जिसपर जाकर मनु की नाव ठहरी थी। महाभारत में इसका नाम 'नौबन्धन' है। अथर्ववेद में 'नाव प्रभ्रंशन' (१९.३९.८) का उल्लेख है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह शब्द मनोरवसर्पण की ओर ही संकेत करता है। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस विचार से सहमत नहीं हैं।

मन्त्र—वैदिक संहिताओं में गायक के विचारों की उपज, ऋचा, छन्द, स्तुति को मन्त्र कहा गया है। ब्राह्मणों में ऋषियों के गद्य या पद्यमय कथनों को मन्त्र कहा गया है। साधारणतः किसी भी वैदिक सूक्त अथवा यज्ञीय निरूपणों को मन्त्र कहते हैं, जो ऋक्, साम और यजुष् कहलाते हैं। ये वेदों के ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भाग से भिन्न हैं। किसी देवता के प्रति समर्पित सूक्ष्म प्रार्थना को भी मन्त्र कहते हैं, यथा, शैव सम्प्रदाय का मन्त्र 'नमः शिवाय' और भागवत सम्प्रदाय का 'नमो भगवते वासुदेवाय'। शाक्त और तान्त्रिक सम्प्रदायों में अनेक सूक्ष्म और रहस्यमय वाक्यों, शब्दखण्डों और अक्षरों का प्रयोग होता है। उन्हें भी मन्त्र कहते हैं और विश्वास किया जाता है कि उनसे महान् शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

मन्त्रकण्टकी—परम्परागत मान्यता है कि ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग के बिना जाने वेदमन्त्रों का पढ़ना या पढ़ाना दोषप्रद है। किस छन्द को किस ऋषि ने प्रकट किया, वह मन्त्र किस छन्द में है, अर्थात् वह कैसे पढ़ा जायगा, उस मन्त्र में किस देवताविषयक वर्णन है और उस मन्त्र का प्रयोग किस काम में होता है, इन बातों को बिना जाने जो मन्त्रों का प्रयोग करते हैं वे 'मन्त्रकण्टकी' कहलाते हैं।

मन्त्रकृत—ऋग्वेद (९.११४,२) तथा ब्राह्मणों (ऐतरेय ६.१,१; पञ्च० १३.३,२४; तैत्ति० आ० ४.१) में मन्त्र कृत् ऋषिबोधक शब्द है। जिन ऋषियों को वेदों का साक्षात्कार हुआ था उनको मन्त्रकृत् कहते हैं।

मन्त्रकोश—शाक्त साहित्य से सम्बन्धित यह अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की रचना है।

मन्त्रगुरु—साम्प्रदायिक देवमन्त्रों का प्रथम उपदेश करने वाला मन्त्रगुरु कहा जाता है। आज भारत में मन्त्रगुरु का जो प्रचार है वह तान्त्रिकों के प्राधान्य काल में प्रचलित हुआ था। शायद बङ्गाली तान्त्रिकों ने ही इस प्रथा का प्रथम प्रचार किया। उनकी देखा (देखी) भारत के नाना स्थानों तथा नाना सम्प्रदायों में इस प्रकार मन्त्रगुरु की प्रथा चल पड़ी होगी।

मन्त्रब्राह्मण—सामवेदीय छठें ब्राह्मण का नाम मन्त्रब्राह्मण है। इसमें दस प्रपाठक हैं। गृह्य यज्ञकर्म के प्रायः सभी मन्त्र इस ग्रन्थ में संगृहीत हैं। इसे उपनिषद्ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण वा छान्दोग्यब्राह्मण भी कहते हैं। इसमें सामवेद पढ़नेवालों की रोचकता के लिए सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक ऋषियों की कथा लिखी गयी है। इसी ब्राह्मण के आठवें से लेकर दसवें प्रपाठक तक के अंश का नाम 'छान्दोग्योपनिषद्' प्रसिद्ध है।

मन्त्रमहोदधि—महीधर ने १६४६ वि० सं० में 'मन्त्र महोदधि' नामक कर्मकाण्ड की पुस्तक लिखी जो शाक्त तथा शैव दोनों सम्प्रदायों में मान्य है।

मन्त्रराज (नरसिंह कृत)—नरसिंह सम्प्रदाय का साम्प्रदायिक मन्त्र, जो अनुष्टुप् छन्द में है, 'मन्त्रराज' कहलाता है। इसकी रचना नृसिंह द्वारा हुई थी तथा इसके साथ और भी चार लघु मन्त्र हैं।

मन्त्रराजतन्त्र—'आगमतत्त्व विलास' में उद्धृत तन्त्रों की तालिका में 'मन्त्रराजतन्त्र' का उल्लेख हुआ है।

मन्त्रार्थमञ्जरी—यह राघवेन्द्र स्वामी कृत सत्रहवीं शताब्दी का एक ग्रन्थ है। इसमें मन्त्रों की अर्थ-पद्धति का निरूपण किया गया है।

मन्त्रिका उपनिषद्—यह परवर्त्ती उपनिषद् है।

मन्थी—वैदिक संहिताओं में सोमरस एवं सक्तु का घोल मन्थी कहा गया है। इसका उपयोग यज्ञों में होता था।

मन्दारषष्ठी—माघ शुक्ल षष्ठी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। पंचमी को व्रती अत्यन्त लघु आहार करता है, षष्ठी को उपवास करते हुए मन्दार की प्रार्थना करता है। अगले दिन वह मन्दार वृक्ष (अर्क-आक का वृक्ष) पर केसर लगाता है तथा ताम्रपात्र में काले तिलों से अष्टदल कमल बनाता है। तदनन्तर मन्दार कुसुमों से प्रति दिशा की ओर अग्रसर होता हुआ सूर्य का भिन्न-भिन्न नामों से पूजन करता है एवं मध्य में हरि भगवान् की कल्पना करते हुए पूजन करता है। एक वर्ष तक प्रति शुक्ल पक्ष की सप्तमी को इसी क्रम से पूजन चलता है। व्रत के अन्त में एक कलश में सुवर्ण की प्रतिमा डालकर उसे दान कर

दिया जाता है । स्वर्ग के पाँच वृक्षों में से एक मन्दार भी है । अन्य हैं पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष तथा हरिचन्दन ।

मन्दार सप्तमी—माघ शुक्ल सप्तमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । पञ्चमी को हलका आहार किया जाता है । अग्रिम दिन ब्राह्मणों को मन्दार के आठ पुष्प खिलाये जाते हैं । इसके देवता सूर्य हैं । शेष क्रिया पूर्वोक्त व्रत के ही समान होती है ।

मन्वन्तर—सृष्टि की आयु के माप के लिए हिन्दू मान्यता में युग, मन्वन्तर एवं कल्प तीन मुख्य मान उल्लिखित हैं । कल्प के वर्णन में युगों (चार) का भी वर्णन किया जा चुका है । यहाँ मन्वन्तर के बारे में लिखा जा रहा है । चार युगों (कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि) का एक महायुग (४.३२०००० वर्ष), ७१ महायुगों का एक मन्वन्तर एवं १४ मन्वन्तरों का एक कल्प होता है !

मन्वादि तिथि—कुल १४ मन्वन्तर हैं । चार युगों को मिलाकर ४३२०००० वर्षों का एक महायुग बनता है । प्रत्येक मन्वन्तर में ७१ महायुगों से कुछ अधिक वर्ष होते हैं । वर्ष के अन्तर्गत उक्त मन्वन्तरों का आरम्भ जिन तिथियों को होता है वे मन्वादि तिथि के नाम से प्रसिद्ध हैं । चूँकि ये तिथियाँ अत्यन्त पुनीत हैं, उन दिनों श्राद्धादि का अनुष्ठान किया जाना चाहिए । दे० मन्वादि तिथियों के लिए तथा चौदह मन्वन्तरों के नाम तथा उनके वर्णन के लिए विष्णुधर्मोत्तर, अध्याय प्रथम, श्लोक १७६-१८९ ।

मयूर—सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में उत्पन्न एक कवि जो महाराज हर्षवर्धन के राजकवि बाण के विपक्षी थे । इनका 'सूर्यशतक' संस्कृत काव्य का अनूठा ग्रन्थ है । यह स्रग्धरा छन्द एवं गौडीय रीति में रचा गया है । एक परिपक्व कवि की रचना होने के साथ ही यह सूर्य देवता के तत्कालीन ईश्वरत्व का पूर्णतया दिग्दर्शन कराता है । कहा जाता है कि मयूर कवि को कुष्ठ रोग हो गया था, जो सूर्यशतक की रचना और पाठ करने से छूट गया । अतएव यह काव्य साहित्यिक और धार्मिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है ।

मयूर भट्ट—तान्त्रिक बौद्ध धर्म के अवसान ने बङ्गाल तथा उड़ीसा के हिन्दू धर्म पर पर्याप्त प्रभाव डाला । बौद्ध त्रिरत्न—बुद्ध, धर्म एवं संघ-से एक नये हिन्दू देवता की कल्पना हुई, जिसका नाम धर्म पडा । धर्म ठाकुर की भक्ति दूर-दूर तक फैली । इस नये देवता सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण साहित्य की उत्पत्ति प्रारम्भिक बंगला में हुई । इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित 'शून्य पुराण' (रामाई पण्डित कृत—११ वीं शताब्दी) एवं लाउसेन नामक मैन (बंगाल) के राजा का नाम आता है, जिसने धर्म की पूजा की और जिसके वीरतापूर्ण कार्यों की प्रसिद्धि-गाथा प्रारम्भ हुई । इन कथाओं के आधार पर 'धर्ममङ्गल' आदि नामों से बंगला की मङ्गल काव्य माला का प्रारम्भ हुआ, जो १२ वीं शताब्दी से लिखी जाने लगी । मंगल काव्य के सबसे प्रथम लेखक मयूर भट्ट माने जाते हैं ।

मराठा भक्त—महाराष्ट्र देश के वैष्णव भागवत उपनाम से जाने जाते हैं, किन्तु यह ज्ञात नहीं है कि भागवत पुराण का व्यवहार यहाँ कब आरंभ हुआ । चौदहवीं शताब्दी में भागवत धर्म का प्रचलन यहाँ अधिक विस्तृत हो गया । यहाँ का तत्कालीन समस्त लोक साहित्य स्थानीय भाषा (मराठी) में है । अतएव महाराष्ट्र के भागवतों और तमिल तथा कन्नड भागवतों में बड़ा अन्तर है । यहाँ भक्ति-आन्दोलन का प्रारंभ ज्ञानेश्वर नामक सन्त कवि से हुआ । एक परम्परा के अनुसार इनका उल्लेख भक्तमाल में हुआ है । ये विष्णुस्वामी के शिष्य थे ।

ज्ञानेश्वर ने भगवद्गीता पर आधारित मराठी कविता में १०,००० पद्यों का एक ग्रन्थ लिखा जिसे 'ज्ञानेश्वरी' कहते हैं (१३४७ वि०) । इससे अद्वैत ज्ञान की ध्वनि निकलती है, किन्तु यह योग साधना का भी उपदेश देता है । लेखक अपने को गोरखनाथी शिष्य परंपरा के संत निवृत्तिनाथ का शिष्य बतलाते हैं । ज्ञानेश्वर ने २८ अभंगों के एक संग्रह 'हरिपाठ' की भी रचना की । ये मराठी पद्य में रचित अद्वैत शैवदर्शन की कृति 'अमृतानुभव' के भी लेखक हैं । इस प्रकार संत ज्ञानेश्वर भागवत होने के साथ, शिव तथा विष्णु की भक्ति करने वाले तथा शङ्कराचार्य के भी दार्शनिक अनुयायी थे ।

ज्ञानेश्वर के बाद दूसरा प्रसिद्ध नाम भक्त नामदेव का आता है । परम्परानुसार दोनों कम से कम एक बार मिले थे । भक्तमाल के अनुसार नामदेव ज्ञानेश्वर के शिष्य थे । किन्तु रामकृष्ण भण्डारकर दोनों के समयों में १०० वर्ष का अन्तर बतलाते हैं । नामदेव के कुछ पदों का 'गुरु ग्रन्थ साहब' में उद्धरण यह प्रकट करता है कि इनका मराठा देश तथा पञ्जाब में समान आदर था ।

इनके पदों में इसलाम का प्रभाव भी परिलक्षित है। गुरुदासपुर जिले (पंजाब) में घुमन नामक स्थान पर नामदेव के नाम पर एक मन्दिर निर्मित है।

तीसरे प्रसिद्ध मराठा भक्तगायक त्रिलोचन थे। ये नामदेव के समकालीन थे। इनके बाद मराठा भक्तों में एकनाथ (मृत्यु काल १६०८ ई०) का नाम आता है, जो पैठन में रहते थे। ये जातिवाद के विरोधी थे। इन्होंने भागवत पुराण का मराठी पद्य में अनुवाद किया, जिसे 'एकनाथी भागवत' कहते हैं। इनके २६ अभङ्गों का 'हरिपाठ' नामक संग्रह तथा चतुःश्लोकी भागवत भी प्रसिद्ध है। संत तुकाराम (१६०८-४९ ई०) व्यापारी थे एवं बिठोवा (पंढरीनाथ) के भक्त थे। इनके अभङ्ग बड़े ही भावपूर्ण हैं।

महात्मा नारायण (१६०८-८९ ई०), जिनका परवर्त्ती नाम समर्थ रामदास हो गया था, कविता के क्षेत्र में साहित्यिक रूप से उतने प्रसिद्ध न थे, किन्तु व्यक्तिगत रूप से महाराज शिवाजी पर १६५० ई० के पश्चात् इनका बड़ा प्रभाव था। इनका 'दासबोध' ग्रन्थ धार्मिक की अपेक्षा दार्शनिक अधिक है। इनके नाम पर आज भी एक सम्प्रदाय 'रामदासी' प्रचलित है। इनके अनुयायी साम्प्रदायिक चिह्न धारण करते हैं तथा अपना एक रहस्यमय मन्त्र रखते हैं। सतारा के समीप सज्जनगढ़ इनका मुख्य केन्द्र है। यहाँ रामदासजी की समाधि, रामचन्द्रजी का मन्दिर तथा रामदासीजी का मन्दिर तथा रामदासी सम्प्रदाय का मठ है।

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में श्रीधर नामक एक पंडित कवि बड़े ही प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने मराठी में रामायण एवं महाभारत की कथाएँ पद्यबद्ध कीं। इनका प्रभाव सीधे धार्मिक नहीं है, किन्तु इनके कथानकों का स्वरूप धार्मिक है। इसी शताब्दी में पीछे महीपति हुए। इनके द्वारा भक्तों तथा साधुओं की जीवनियाँ लिखी गई। इनके ग्रन्थ हैं सन्त लीलामृत, भक्तविजय एवं कथासारामृत। मराठी भाषाभाषी भागवतों द्वारा इस प्रकार सर्वविदित भक्ति आन्दोलन का गठन हुआ। भागवतपुराण के सिवा इनका सारा साहित्य मराठी में है। इनके देवता विट्ठलनाथ या बिठोवा हैं। बिठोवा विष्णु का मराठी नाम है। इसके केन्द्र है पण्ढरपुर, आलन्दि, एवं देहु। किन्तु सारे महाराष्ट्र देश में इनके छोटे-मोटे मन्दिर बिखरे हुए हैं। बिट्ठल की अनेक पत्नियों (शक्तियों)—रुक्माबाई (रुक्मिणी), राधा, सत्यभामा तथा लक्ष्मी-की प्रतिमाएँ अलग-अलग मन्दिरों में इनकी बगल में स्थापित हैं (सभी एक साथ एक मन्दिर मे नहीं है। मराठा भक्ति आन्दोलन में राधा का स्थान प्रमुख नहीं है। इन मन्दिरों में महादेव, गणपति तथा सूर्य की स्थापना भी हुई है। लक्ष्मी को देवी मानते हुए इन पाँचों देवों की पूजा होती है। इन भक्तों ने जातिवाद का समर्थन नहीं किया, फिर भी महाराष्ट्र के भागवत मन्दिरों में कोई जातिच्युत प्रवेश नहीं करता रहा है।

मरिचसप्तमी—चैत्र शुक्ल सप्तमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसमें सूर्य का पूजन किया जाता है। ब्राह्मणों को निमन्त्रित करके १०० काली मिर्चें निम्नलिखित मन्त्र 'ओम् खखोल्काय स्वाहा' बोलते हुए उन्हें खाने को दी जाती हैं। इससे व्रती को अपने प्रिय व्यक्तियों का विछोह सहन नहीं करना पड़ता। राम तथा सीता एवं नल तथा दमयन्ती ने भी इस व्रत को किया था।

मरुत—ऋग्वेद में मरुतों की स्तुति सम्बन्धी कुल ३३ ऋचाएँ (पाँचवें मण्डल में ११ + पहले में ११ तथा शेष संहिता में ११ = ३३) हैं। इसके अतिरिक्त अन्य ऋचाओं में उनका उल्लेख अन्य देवों के साथ हुआ है, विशेषकर इन्द्र के साथ। इनका इन्द्र के साथ सामीप्य वृत्रयुद्ध के समय सहायक के रूप में हुआ है। ऋग्वेदीय सामग्री के अनुसार मरुतों का निम्नलिखित वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है:

वे विद्युत् के अट्टहास से उत्पन्न होते हैं, आकाश के पुत्र हैं, नायक हैं, पुरुष हैं, भाई हैं, साथ-साथ पढ़े हैं, सभी एक अवस्था व मन के हैं, रोदसी से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं, अग्नि की जिह्वा सदृश चमकते हैं तथा सर्प की चमक रखते हैं, विद्युत् को अपने मुट्ठी में रखते हैं और विद्युत की माला धारण करते हैं, सुनहरे आभूषण भुजाओं तथा घुट्टियों पर धारण करते हैं, जिनके द्वारा वे तारों भरे आकाश सदृश द्युतिमान् होते हैं, चितकबरे घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले विद्युत् के रथ पर सवारी करते हैं तथा वायु को अपने ध्रुव गन्तव्य के लिए जोतते हैं, बछड़ों की भाँति क्रीड़ारत हैं, वन्य पशुओं जैसे भयावह हैं, बिजली, आँधी तथा तूफान से पहाड़ों को भी हिला देते है, कुहासा बोते हैं, आकाश का घन दुहते हैं, सूर्य की आँखों को अपनी बूदों की झड़ी से ढक देते हैं,

बादलों के साथ अन्धकार की सृष्टि करते हैं, वे पृथ्वी को गीला कर देते हैं, गरते हुए कुओं को दुहते हैं, आकाश के गायक हैं, जो इन्द्र की शक्ति उत्पन्न करते हैं तथा अपने वंशी-वादन द्वारा पर्वतों को स्वच्छ कर देते है, अहि तथा शम्बर के मारने में इन्द्र की सहायता करते हैं तथा सभी आकाशीय विजयों में इन्द्र का साथ देते हैं (ऋ० ३.४७, ३-४; १.१०० आदि)। सब सन्दर्भों को जोड़ने से प्रतीत होता है कि मरुत् इन्द्र के साथी हैं तथा आकाश के योद्धा हैं। वे अपने कन्धों पर भाले, पैरों में पदत्राण, छाती पर सुनहरे आभूषण, रथों पर शानदार वस्तुएँ, हाथों में विद्युत् तथा सिर पर सुनहरे मुकुट धारण करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मरुत् झंझावात के देवता हैं। उनके स्वभाव का विद्युत्, विद्युत्-गर्जन, आंधी तथा वर्षा के रूप में वर्णन किया गया है। अन्धड़-तूफान में अनेक बार बिजली चमकती है, अनेकानेक बार गर्जन होता है, आंधी चलती है तथा वर्षा की झड़ी लगी रहती है। इस प्रकार के वर्णनार्थ बहुवचन का प्रयोग आवश्यक है। वृत्र के मारने में मरुत् ही इन्द्र के सहायक थे। यह आश्चर्य है कि इन्द्र ने अपने मण्डल से बाहर जाकर रुद्रमण्डल में अपने मित्र एवं सहायक ढूँढ़े, क्योंकि रुद्र के पुत्र (गण) होने के कारण मरुत् रुद्रिय कहलाते हैं।

मरुत्व्रत—चैत्र शुक्ल सप्तमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। षष्ठी को उपवास किया जाता है। ऋतुओं का सप्तमी को पूजन किया जाता है। व्रती घिसे हुए चन्दन से सात पंक्तियाँ तथा प्रति पंक्ति में सात मण्डल बनाता है। प्रथम पंक्ति में वह सात नाम एक ज्योति से सप्त ज्योति तक लिखता है। प्रति पंक्ति में इसी प्रकार भिन्न-भिन्न नाम लिखे जाते हैं। उनचास दीपक प्रज्वलित किए जाते हैं। घृत से होम तथा एक वर्ष तक ब्राह्मणों को भोजन कराने का इसमें विधान है। व्रत के अन्त में गौ तथा वस्त्रों का दान विहित है। यह व्रत स्वास्थ्य, सम्पत्ति, पुत्र, विद्या तथा स्वर्ग प्रदान कराता है। कहा जाता है, मरुद्गण सात अथवा ४९ हैं। दे० ऋग्वेद, ५.५२.१७: तैत्तिरीय संहिता २.११.१ 'सप्त गणा वै मरुत्'।

मरुल—वीरशैव सम्प्रदाय की संचालन व्यवस्था पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। इसके पाँच आदि मठ हैं। इनमें चौथा स्थान उज्जिनि, बेल्लारी सीमा (मैसूर) के मठ का है। इसके प्रथम महन्त मरुल थे। इनका वीरशैव परम्परा में अति उच्च और संमानित स्थान है।

मरुलाराध्य—अवन्तिकापुरी के सिद्धेश्वर लिङ्ग से, जो भगवान् शिव का वामदेव रूप है, महात्मा मरुलाराध्य प्रकट हुए थे। कहते हैं कि वे अवन्ती के राजा के साथ मतभेद हो जाने से वल्लारी (कर्नाटक) जिले के एक गाँव में जाकर बस गये थे। दे० 'मरुल'।

मरैज्ञानसम्बन्ध—अरुलनन्दी के शिष्य मरै ज्ञानसम्बन्ध थे। ये शूद्र वर्ण में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने 'शैव समयनेऋ' नामक ग्रन्थ की रचना की। ये १३वीं शताब्दी में मद्रास क्षेत्र के अन्तर्गत वर्तमान थे।

मर्कटात्मज भक्ति—शैव आगमों के अनुसार भक्ति दो प्रकार की है। प्रथम मार्जारात्मज भक्ति और दूसरी मर्कटात्मज भक्ति। प्रथम भक्ति वह है जहाँ जीवात्मा की दशा देवता की कृपा के भरोसे पर निर्भर होती है, जैसे कि मार्जारशिशु तबतक असहाय होता है, जबतक उसकी माँ उसे मुँह में नहीं पकड़ती, अर्थात् बच्चा निराश्रय पड़ारहता है। स्वतः निष्क्रिय रहने वाले ऐसे प्राण की इस भक्ति को अधम कहा गया है (सा भक्तिः अधमा)। दूसरे प्रकार की भक्ति में जीवात्मा स्वयं भी भजन-पूजन करते हुए ईश्वर-प्राप्ति के लिए देवता का सहारा भी लाभ कर सकता है। जैसे वानर या मर्कटशिशु अपनी माँ को कसकर पकड़े रहता है और माँ जरा सा सहारा उसे देते हुए उछलती-कूदती रहती है।

उक्त दोनों प्रकारों में द्वितीय-मर्कटात्मज-भक्ति में आत्मा स्वतः कार्यशील होता है, सचेष्ट, होता है, जबकि प्रथम-मार्जारात्मज-भक्ति में आत्मा स्वयं अकर्मण्य-होता है, वह पूर्ण रूप से देवकृपा पर निर्भर रहता है। इस प्रकार यह हेय है, जबकि मर्कटात्मज भक्ति श्रेष्ठ है। परन्तु कई भक्ति सम्प्रदायों (यथा श्रीवैष्णवों में मार्जारात्मज भक्ति ही श्रेष्ठ मानी जाती है, जिसमें भक्त अपने जीवन को भगवान् पर पूर्णतः छोड़ देता है। इन सम्प्रदायों में मर्कटात्मज भक्ति को छोटी मानते हैं, जिसमें भक्त भगवान् पर आधा ही भरोसा रखता है और आधे में अपने अभिमान को पकड़े रहता है। इन सम्प्रदायों के अनुसार 'पूर्ण प्रपत्ति' ही भक्ति की उत्तम कोटि है।

मर्दाना—गुरु नानक के एक शिष्य का नाम, जो गुरुजी

की सेवा में रहकर साथ-साथ घूमता था और जब वे अपने पदों को गाते थे तब वह सितार बजाता था ।

मलमासकृत्य—मलमास के कृत्य अन्तर्वर्ती मास (पहले के उत्तरार्ध और दूसरे के पूर्वार्ध) में करने चाहिए । उसके मध्य निषिद्ध कृत्यों के लिए देखिए 'अधिमास' ।

मलूकदास—निर्गुण भक्ति शाखा के एक रामभक्त कवि एवं संत । उनका जीवन-काल सं० १६३१-१७३९ वि० माना जाता है । इन्होंने रामभक्ति विषयक अनेक पद्यों और भजनों की रचना की । मलूकदास ने एक अलग पन्थ भी चलाया । यों कहा जाय कि उनकी शिष्यपरम्परा मलूकदासी कहलायी, तो अधिक युक्तियुक्त होगा । इनका साधनास्थल या गुरुगद्दी प्रयाग के समीप कड़ा मानिकपुर में है ।

मलूकदासी—दे० 'मलूकदास' ।

मल्लद्वादशी—मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । यमुना के तट, गोवर्द्धन पहाड़ और भाण्डीर वट-वृक्ष के नीचे गोपाल कृष्ण ग्वाल बालों, जो सब पहलवान थे, के साथ कुश्ती लड़ते थे । इसी प्रसंग में उक्त तिथि को समस्त मल्लों ने सर्वप्रथम पुष्पों से, दूध से, दही से तथा उत्तमोत्तम खाद्यपदार्थों से भगवान् कृष्ण की पूजा तथा सम्मान किया था । एक वर्ष तक प्रति द्वादशी को इसका अनुष्ठान होना चाहिए । इसे अरण्य-द्वादशी या व्यञ्जनद्वादशी भी कहा गया जब कि समस्त ग्वाल बालों तथा मल्लों ने एक-दूसरे को अपने विविध खाद्य पदार्थ चखाये थे । इस व्रत के परिणामस्वरूप सुस्वास्थ्य, शक्ति, समृद्धि तथा अन्त में विष्णुलोक की प्राप्ति होती है ।

मल्लनाग—एक प्रसिद्ध प्राचीन नैयायिक । विक्रम की सातवीं शताब्दी में कवि सुबन्धु ने सुप्रसिद्ध श्लेषकाव्य वासवदत्तम् में मल्लनाग, न्यायस्थिति, धर्मकीर्ति और उद्योत्कर इन चार नैयायिकों का उल्लेख किया है ।

मल्लनाराध्य—दक्षिण भारत के एक शांकरवेदान्ती आचार्य । इनका जन्म कोटीश वंश में हुआ था और इन्होंने अद्वैत-रत्न अभेदरत्न नामक दो प्रकरण ग्रन्थ लिखे । इनका जन्म सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में हुआ था । इन्होंने 'अद्वैतरत्न' के ऊपर 'तत्त्वदीपन' नामक टीका लिखी है । मल्लनाराध्य ने द्वैतवादियों के मत का खण्डन करने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की थी ।

मल्लनार्य—वीरशैव सम्प्रदाय के १८वीं शताब्दी के आचार्य । इन्होंने कन्नड भाषा में 'वीर शैवामृत' नामक ग्रन्थ रचा ।

मल्लारिमहोत्सव—मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । मल्लारि की पत्नी म्हालसा (कदाचित् मदालसा का अपभ्रंश) थी । मल्लारि के पूजन में हल्दी का चूर्ण मुख्य पदार्थ है जो महाराष्ट्र मे भण्डारा के नाम से प्रसिद्ध है । मल्लारि का पूजन या तो प्रति रविवार या शनिवार अथवा षष्ठी को होना चाहिए । पूजनविधि ब्रह्माण्ड पुराण, क्षेत्रखण्ड, के मल्लारिमाहात्म्य से गृहीत है ।

मल्लिकार्जुन—दक्षिण भारत के श्रीशैल पर्वत पर स्थित शंकरजी का प्रसिद्ध मन्दिर । द्वादश ज्योतिर्लिंगों में इसकी गणना है । वीरशैवाचार्य श्रीपति पण्डिताराध्य की उत्पत्ति मल्लिकार्जुन लिङ्ग से ही मानी जाती है । इनका माहात्म्य शिवपुराण, शतरुद्र सं०, ४१.१२ मे वर्णित है ।

मल्लिकार्जुन जङ्गम—काशी में भगवान् विश्वाराध्य का वीर शैवसंस्थान 'जङ्गमवाड़ी' (वर्गला) मठ के नाम से प्रसिद्ध है । इस मठ के मल्लिकार्जुन जङ्गम नामक शिव-योगी को काशीराज जयनन्ददेव ने विक्रम सं० ६३१ में प्रबोधिनी एकादशी के दिन भूमिदान किया था । इस कृत्य का ताम्रशासन लगभग पौने चौदह सौ वर्षों का पुराना उक्त मठ में सुरक्षित है । दे० 'जङ्गमवाड़ी' ।

मशकश्रौतसूत्र—सामवेद सम्बन्धी एक श्रौतसूत्र 'मशकश्रौत-सूत्र' नाम से विख्यात है ।

मसान—एक प्रकार का श्मशानवासी प्रेत । मसान का अन्य नाम तोला है । यह बालकों तथा अविवाहितों का असन्तुष्ट मृत आत्मा होता है । मसान का साधारण अर्थ श्मशान भूमि में भटकने वाला प्रेत है । ये लोकविश्वासानुसार मनुष्यों को हानि नहीं पहुँचाते तथा इनकी स्थिति अस्थायी होती है । कुछ समय के बाद इनका जन्मान्तर हो जाता है तथा ये नया जन्म ले लेते हैं । कहा जाता है, कभी-कभी ये दूसरे भूतों के समाज से निष्कासित हो जङ्गलों व एकान्त प्रदेश में भालू या अन्य वन्य पशु के रूप में भटकते फिरते हैं ।

महत्—(१) सांख्य मतानुसार प्रकृति से उसके प्रथम विकार महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है । जगत् रचना का यह वह सूक्ष्म तत्त्व है जो विचार एवं निर्णय करने वाले तत्त्व का निर्माण करता है ।

(२) संमान्य अथवा विशाल के अर्थ में 'महत्' नपुंसकलिंग विशेषण है। पुंलिंग में यह 'महान्' और स्त्रीलिंग में 'महती' होता है। कर्मधारय और बहुव्रीहि समास में यह 'महा' बनकर उत्तरपद के साथ मिल जाता है। कतिपय समस्त पदों में यह निन्दा या अशुभ अर्थ प्रकट करता है, यथा : महातैल (रुधिर), महाब्राह्मण (महापात्र) महामांस (नरमांस), महापथ (मृत्युमार्ग), महानिद्रा (मृत), महायात्रा (मृत्यु), महासंवैद्य (यम), महाशंख (नरमुंड)—

"शंखे तैले तथा मांसे वैद्ये ज्योतिषि के द्विजे ।
यात्रायां पथि निद्रायां महच्छब्दो न दीयते ।।"

महत्तमव्रत—भाद्र शुक्ल प्रतिपदा को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। यह तिथिव्रत है। भगवान् शिव की जटाओं से मण्डित तथा पञ्च मुखयुक्त सुवर्ण-रजत की प्रतिमा का कलश में रखकर पूजन किया जाता है। पंचामृत में स्नान कराकर पुष्पादि चढ़ाते हुए १६ फल भगवान् की सेवा में अर्पित किए जाते हैं। व्रत के अन्त में गौ का दान किया जाता है। इसके आचरण से व्रती दीर्घायु तथा राज्य प्राप्त करता है।

महर्त्विज—महर्त्विज चार प्रधान पुरोहितों का सामूहिक नाम है। विशिष्ट यज्ञों में होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा मिलकर महर्त्विज कहलाते हैं।

महर्षि—वेदमन्त्रों के प्रकटकर्ता या विधि निर्धारक ऋषि कहे जाते हैं। किसी महान् ऋषि को महर्षि कहते हैं। दे० 'महाब्राह्मण'।

महा उपनिषद्—एक परवर्ती संक्षिप्त वैष्णव उपनिषद्। इसमें कथित है कि नारायण (विष्णु) ही शाश्वत ब्रह्म हैं; उन्हीं से सांख्य वर्णित पचीस तत्त्व उत्पन्न हुए हैं, शिव तथा ब्रह्मा उनके मानस पुत्र तथा आश्रितदेवता हैं। वैष्णव उपनिषदों में यह सर्वप्राचीन मानी जाती है।

महाकार्तिकी—कार्तिक की पूर्णमासी को चन्द्रमा और बृहस्पति यदि कृत्तिका नक्षत्र में हों तब यह तिथि महाकार्तिकी कही जाती है। चन्द्र रोहिणी में भी हो सकता है। इस दिन सोमवार का योग इस पर्व को बहुत श्रेष्ठ बना देता है।

महाकाल (शिव)—शिव के अनेक रूपों में से एक प्रलयंकर रूप। इस स्वरूप में शिव मुण्डों की माला पहनते हैं। श्मशान में शवासन पर बैठते हैं और चिताभस्म लगाते हैं। काल को नष्ट कर जो स्वयं मृत्यु को जीतने वाले (मृत्युञ्जय) हैं उनको महाकाल कहा गया है। इनका प्रसिद्ध मन्दिर 'महाकाल निकेतन' उज्जयिनी में है और ये द्वादश ज्योतिर्लिंगों में गिने जाते हैं।

महाकाली—शाक्त मतानुसार दस महादेवियों में से प्रथम महाकाली हैं। इनके शक्तिमान अधीश्वर महाकाल रुद्र हैं।

महाकौलज्ञानविनिर्णय—दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का एक तान्त्रिक ग्रन्थ।

महाकौशीतकि—कौशीतकि का नाम शाङ्खायन ब्राह्मण में अनेक बार आया है। इसीलिए शाङ्खायन ब्राह्मण के भाष्यकार ने इसे 'कौशीतकि ब्राह्मण' कहा है। इसी भाष्य में अनेक स्थानों पर 'महाकौशीतकि ब्राह्मण' नाम भी आया है।

महाक्रतु (यज्ञक्रतु)—भारतीय कर्मकाण्ड अथवा याज्ञिक कार्यों में अश्वमेध यज्ञ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृत्य है। इसकी गणना महाक्रतु या यज्ञक्रतु नाम से होती है।

महागणपति—गाणपत्य सम्प्रदाय के छः उपसम्प्रदायों में प्रथम 'महागणपति' है।

महागणाधिपति सम्प्रदाय—गाणपत्य सम्प्रदाय का प्रथम उपसम्प्रदाय। महागणाधिपति के उपासक उन्हें महाब्रह्मा या स्रष्टा मानते हैं। प्रलय के बाद महागणपति ही रह जाते हैं और आरम्भ में वे ही फिर से सृष्टि करते हैं।

महाचतुर्थी—भाद्र शुक्ल पक्ष की चतुर्थी यदि रविवार या भौमवार को पड़े तो वह महाचतुर्थी कहलाती है। उस दिन गणेश जी की पूजा करने से कामनाओं की सिद्धि होती है।

महाचैत्री—चैत्री पूर्णिमा को बृहस्पति और चन्द्रमा यदि चित्रा नक्षत्र में एक साथ पड़ जायें तो वह महाचैत्री कहलाती है।

महाजयासप्तमी—जब सूर्य शुक्ल पक्ष की सप्तमी को दूसरी राशि पर पहुँचता है, तो वह तिथि 'महाजया सप्तमी' कहलाती है। उस दिन स्नान, जप, होम तथा देवताओं की पूजा करने से करोड़ों गुना पुण्य मिलता है। यदि उसी दिन सूर्य की प्रतिमा को दूध या घी से स्नान कराया जाय तो मनुष्य सूर्यलोक प्राप्त कर लेता है। यदि उस दिन उपवास किया जाय तो मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करता है।

महाज्येष्ठी—ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को ज्येष्ठा नक्षत्र हो, बृहस्पति तथा चन्द्रमा भी उसी नक्षत्र में हों तथा सूर्य

रोहिणी नक्षत्र में हो तो वह तिथि महाज्येष्ठी कहलाती है । इस दिन दान, जप करने से महान् पुण्यों की प्राप्ति होती है ।

महातन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उल्लिखित ६४ तन्त्रों की सूची में यह भी एक तन्त्र है ।

महातपोव्रतानि—अनेक छोटे-छोटे विधि-विधानों का इसी शीर्षक में यत्र-तत्र वर्णन किया जा चुका है । इसलिए यहाँ पृथक परिगणन नहीं किया जा रहा है ।

महातृतीया—माघ अथवा चैत्र मास की तृतीया को 'महातृतीया' कहते हैं । इसकी गौरी देवता हैं । मनुष्य इस दिन उनके चरणों में गुड़-धेनु अर्पित करे तथा स्वयं गुड़ न खाये । इस आचरण से उसे अत्यन्त कल्याण तथा आनन्द तो प्राप्त होता ही है, साथ ही मरणोपरान्त वह गौरी लोक प्राप्त करता है । [गुड़-धेनु के विस्तृत वर्णन के लिए देखिये मत्स्यपुराण, ८४] ।

महात्मा (महात्मन्)—दर्शनशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग सर्वातिशयी तथा ऐकान्तिक आत्मा अथवा विश्वात्मा के लिए होता है । किसी सन्त अथवा महापुरुष के लिए आदरार्थ भी इसका प्रयोग किया जाता है ।

महादान—महादान संख्या में दस या सोलह हैं । इनमें स्वर्णदान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसके पश्चात् भूमि, आवास, ग्राम-कर के दान आदि का क्रमशः स्थान है । स्वर्णदान सबसे मूल्यवान् होने से उत्तम माना गया है । इसके अन्तर्गत 'तुलादान' अथवा 'तुलापुरुषदान' है । सर्वाधिक दान देने वाला तुला के पहले पलड़े पर बैठकर दूसरे पलड़े पर समान भार का स्वर्ण रखकर उसे ब्राह्मणों को दान करता था । बारहवीं शताब्दी में कन्नौज के एक राजा ने इस प्रकार का तुलादान एक सौ बार तथा १४वीं शताब्दी के आरंभ में मिथिला के एक मन्त्री ने एक बार किया था । चीनी यात्री ह्वेनसांग हर्षवर्धन शीलादित्य के प्रत्येक पाँचवें वर्ष किये जाने वाले प्रयाग के महादान का वर्णन करता है । यज्ञोपवीत के अवसर पर या महायज्ञों के अवसर पर धनिक पुरुष स्वर्ण निर्मित गौ, कमल के फूल, आभूषण, भूमि आदि यज्ञान्त में ब्राह्मणों को दान कर देते हैं । आज भी महादानों का देश में अभाव नहीं है । सभी बड़े तीर्थों में सत्र चलते हैं जहाँ नित्य ब्राह्मणों, संन्यासियों एवं पंगु, लुंज व्यक्तियों को भोजन दिया जाता है । ग्राम-ग्राम में प्रत्येक हिन्दू परिवार में ऐसे ब्राह्मणभोज नाना अवसरों पर कराये जाते हैं ।

प्रथम शताब्दी के उषवदात्त के गुहाभिलेख से ज्ञात है कि वह एक लाख ब्राह्मणों को प्रतिवर्ष १ लाख गौ, १६ ग्राम, विहार-भूमि, तालाब आदि दान करता था । सैकड़ों राजाओं ने असंख्य ब्राह्मणों का वर्षों तक और कभी कभी आजीवन पालन-पोषण किया । आज भी मठों, देवालयों के अधीन देवस्व अथवा देवस्थान की करहीन भूमि पड़ी है, जिससे उनके स्वामी मठाधीश लोग बड़े धनवानों में गिने जाते हैं ।

महादेव (शिव)—त्रिमूर्ति के अन्तर्गत शिव सर्वाधिक लोकप्रिय देवता हैं । गाँवों में इन्हें महादेव कहत्ते हैं और प्रमुख देवता के रूप में उनका पूजन एक गोल पत्थर के (अर्घ्यपात्र) के बीच में होता है । उनके पवित्र वाहन 'नन्दी' की मूर्ति (जो धर्म की प्रतीक है) भी सम्मुख निर्मित होती है । उनकी पूजा प्रधान रूप से सोमवार को होती है क्योंकि वे सोम, (स + उमा = सोम), पार्वती से संयुक्त माने जाते हैं । उनके प्रति कोई पशु-बलि नहीं होती है । विल्व पत्र, चावल, चन्दन, पुष्प द्वारा उनके भक्त उनकी अर्चा करते हैं । ग्रीष्म काल में उनके ऊपर तीन पैरों वाली एक टिकटी के सहारे मिट्टी के पात्र की स्थापना करते हैं जिसके नीचे छिद्र होता है जिससे बूंद-बूंद कर समस्त दिन मूर्ति पर जल पड़ा करता है । वर्षा न होने पर कभी कभी ग्रामवासी महादेव को जलपात्र में निमग्न कर देते हैं । ऐसा विश्वास है कि शिव को जल में निमग्न करने से वर्षा होती है ।

महादेव सरस्वती—स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती के शिष्य । इन्होंने तत्त्वानुसन्धान नामक एक प्रकरण ग्रन्थ लिखा । इस पर इन्होंने अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ नाम की टीका भी लिखी । तत्त्वानुसन्धान बहुत सरल भाषा में लिखा गया है । इनका स्थितिकाल १८वीं शताब्दी था ।

महादेवी (शिवपत्नी)—शिव की शक्ति का नाम । हजारों नाम व रूपों में ये विश्व को दीप्त करती हैं । प्रकृति तथा वसन्त ऋतु की आत्मा के रूप में दुर्गा तथा अनन्तता की मूर्ति के रूप में काली पूजित महादेवी होती है ।

महाद्वादशी—भाद्रपद की श्रवण नक्षत्रयुक्ता द्वादशी इस नाम से विख्यात है । इस दिन उपवास तथा विष्णु का पूजन करने से अनन्त पुण्यों की उपलब्धि होती है ।

विष्णु धर्मोत्तर (१.१६१.१-८) में लिखा है कि यदि भाद्रपद शुक्ल पक्ष की द्वादशी बुधवार को पड़े और उस दिन श्रवण नक्षत्र हो तो वह अत्यन्त महती (बड़ी से बड़ी) होती है। इसके अतिरिक्त आठ अन्य भी पवित्र महाद्वादशियाँ हैं, जिन्हें जया, जयन्ती, उन्मीलिनी, वेञ्जुला, त्रिस्पृशा आदि कहा जाता है।

महानन्दा नवमी—माघ शुक्ल नवमी को महानन्दा कहते हैं। यह तिथि व्रत है। एक वर्षपर्यन्त इसका अनुष्ठान होता है। दुर्गा इसकी देवता हैं। वर्ष को चार-चार मासों के तीन भागों में बाँटकर प्रति भाग में भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्प, धूप, नैवेद्य देवी जी को भिन्न-भिन्न नामों से अर्पण किये जाते हैं। इसमे मनुष्य की कामनाएँ पूरी होती हैं तथा उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

महानवमी—(१) यह दुर्गा-पूजा का उत्सव है। इसके लिए देखिए कृत्यकल्पतरु (राजधर्म) पृ० १९१-१९५ तथा राजनीतिप्रकाश पृ० ४३९-४४४।

(२) आश्विन शुक्ल अथवा कार्तिक शुक्ल अथवा मार्गशीर्ष शुक्ल नवमी को यह व्रत आरम्भ होता है। यह तिथि व्रत है। दुर्गा इसकी देवता हैं। एक वर्षपर्यन्त इसका अनुष्ठान होता है। पुष्प, धूप तथा विभिन्न स्नानोपकरण समर्पित किये जाते हैं। कुछ मासों में कन्याओं को भोजन कराया जाता है। इससे व्रती देवीलोक को प्राप्त करता है।

महानाग—महानाग का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (११.२,७, १२) में हुआ है, जहाँ यह विशुद्ध पौराणिक नाम है।

महानारायणोपनिषद्—वैष्णव साहित्य (सामान्य) में इसकी भी गणना होती है। रचना-काल वि० पू० दूसरी शताब्दी है। इसमें वासुदेव को विष्णु का एक स्वरूप कहा गया है, जिससे यह प्रकट होता है कि उस समय भी कृष्ण किसी न किसी अर्थ में विष्णु के रूप माने जाते थे। यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा की है।

महामिरष्ट—यज्ञ दक्षिणा का वृषभ, जो यजुर्वेद संहिता (तैत्तिरीय संहिता १.८,९,१, का० सं० १५.४,९; मैत्रा० सं० २.६,५) में राजसूय की दक्षिणा के रूप में उल्लिखित है।

महानिर्वाणतन्त्र—बहु प्रचलित, प्रसिद्ध तन्त्रग्रन्थ। इसके रचयिता राजामोहन राय के गुरु हरिहरानन्द भारती कहे जाते हैं और इस प्रकार इसका रचनाकाल १९वीं शताब्दी है। कुछ विद्वान् भारती को इसका संकलनकार या टिप्पणी लेखक ही मानते हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ और प्राचीन हो सकता है। यह दो भागों में है, किन्तु इसका प्रथम भाग ही प्रकाशित एवं अनूदित है।

इसके प्रथम तथा द्वितीय अध्याय प्रास्ताविक हैं। तीसरे में ब्रह्म के ध्यान-चिन्तन का कथोपकथन है। शेष अध्याय न केवल विधिवत् पूजा अपितु चरित्र, परिवार तथा विसर्जन सम्बन्धी क्रियाओं का विवरण उपस्थित करते हैं। इनमें चक्रपूजा तथा पञ्चमकार-महिमा भी सम्मिलित है।

महानुभाव--इस पन्थ को मानभाऊ सम्प्रदाय या दत्तात्रेय सम्प्रदाय भी कहते हैं। इसका वर्णन अन्यत्र दत्तात्रेय। सम्प्रदाय के रूप में हुआ है। दे० 'दत्तात्रेय-सम्प्रदाय'।

महानुभाव पंथ—मानभाऊ सम्प्रदाय का ही शुद्ध रूप महानुभाव पन्थ है। दे० 'दत्ता० सम्प्रदाय'।

महापौर्णमासीव्रत—प्रत्येक मास की पौर्णमासी को इस व्रत का अनुष्ठान विहित है। एक वर्ष तक इसमें हरि का पूजन होता है। इस दिन छोटी वस्तु का भी दान महान् पुण्य प्रदान करता है।

महाप्रलय निरूपण—निर्गुणवादी संत साहित्य में इस ग्रन्थ की गणना होती है। इसकी रचना १८वीं शताब्दी में महात्मा जगजीवन दास द्वारा हुई, जो 'सतनामी' साधु थे।

महाप्रसाद—संस्कार पूर्वक देवता को अर्पित नैवेद्य। वैष्णव लोग जगन्नाथजी के भोग लगे हुए भात को महाप्रसाद कहते हैं। कहीं कहीं बलि-पशु के मांस को भी महाप्रसाद कहा गया है।

महाफल द्वादशी—विशाखा नक्षत्र युक्त पौष कृष्ण एकादशी को इस व्रत का प्रारम्भ होता है। विष्णु इसके देवता हैं। एक वर्षपर्यन्त इसका अनुष्ठान विहित है। शरीर की शुद्धि के लिए कतिपय मासों में कुछ वस्तुएँ प्रयुक्त की जानी चाहिए तथा प्रति द्वादशी को क्रमशः इन वस्तुओं में से एक वस्तु दान में दी जाय, जैसे—घी, तिल, चावल। इस व्रत से व्रती को मरणोपरान्त विष्णुलोक की प्राप्ति होती है।

महाफलव्रत—एक पक्ष, चार मास अथवा एक वर्ष तक व्रती को प्रतिपदा से पूर्णिमा तक केवल एक वस्तु का निम्नोक्त क्रम से आहार करना चाहिए। क्रम यह है—दुग्ध, पुष्प, समस्त खाद्य पदार्थ नमक को छोड़कर, तिल,

दुग्ध, पुष्प, वनस्पति, बेल का फल, आटा, बिना पकाया हुआ खाद्य पदार्थ, उपवास, दूध में उबाले हुए शर्करा मिश्रित चावल, जौ, गोमूत्र तथा जल जिसमें कुश डुबाये हुए हों । इन समस्त दिनों में निश्चित विधि-विधान का ही आचरण करना चाहिए । व्रत से एक दिन पूर्व तीन समय स्नान, उपवास, वैदिक मन्त्रों तथा गायत्री मन्त्र का जप करना चाहिए । इस आचरण से विभिन्न प्रकार के पुण्य-फल प्राप्त होते हैं और व्रती सीधा सूर्यलोक जाता है ।

महाफल सप्तमी—रविवार को सप्तमी तिथि तथा रेवती नक्षत्र होने पर अशोक वृक्ष की कलियों से दुर्गा जी की पूजाकर कलियों को प्रसाद रूप में खा लेना चाहिए ।

महाफाल्गुनी—फाल्गुन मास की पूर्णिमा को चन्द्रमा और बृहस्पति दोनों यदि पूर्वा या उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में हों तब यह तिथि महाफाल्गुनी कही जाती है । इसमें भगवान् विष्णु की पूजा का विधान है ।

महाफेत्कारी तन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उद्धृत तन्त्रों की सूची में 'महाफेत्कारी' भी एक तन्त्र है ।

महाबलीपुरम्—सुदूर दक्षिण भारत का एक तीर्थ । समुद्र के किनारे यह प्रसिद्ध स्थान है । ७ वीं शती में इसे सर्वप्रथम पल्लवराज नरसिंहवर्मा ने बसाया था । यहाँ पत्थर काटकर लंगूर के समान बन्दरों का एक समूह बनाया गया है, इसी के मध्य शिव मन्दिर है । गणेश, विष्णु, वामन, वराह आदि अन्यान्य देवताओं के भी मन्दिर और मूर्त्तियाँ हैं ।ये मन्दिर पल्लव वंश के नरेशों द्वारा बनवाये गये थे, जो स्थापत्य की कला में अपनी विशेषता के लिए जगत्प्रसिद्ध हैं । इन मदिरों को रथ कहते हैं । सप्तरथ नामक युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, गणेश तथा द्रौपदी के मंदिर बड़े प्रसिद्ध हैं । समुद्र के जल से प्रच्छालित पर्वत बाहुओं को काटकर बनाये गये ये मंदिर अपनी सुन्दरता और मनमोहकता के लिए विश्व प्रसिद्ध हैं ।

महाबलेश्वर—कोंकण देशस्थ पश्चिमी घाट के गोकर्ण नामक तीर्थस्थान में महाबलेश्वर का प्रसिद्ध मन्दिर है, जो द्राविड शैली में काले आग्नय पत्थरों से निर्मित है । इसमें 'आत्मा' नामक प्रसिद्ध लिङ्ग स्थापित है । इसके बारे में कहा जाता है कि ब्रह्मा की सृष्टि से क्रोधित हो शिव ने इसे उत्पन्न किया तथा बहुत दिनों तक इसे अपने कण्ठ में पहने रखा । यहाँ कृष्णा नदी का उद्गम होने से यह रमणीकस्थल हो गया है । पहले यहाँ बम्बई प्रदेश की ग्रीष्मकालीन राजधानी थी । यहाँ महाबलेश्वर रूप से भगवान् शङ्कर, अतिबलेश्वर रूप से भगवान् विष्णु और कोटीश्वर रूप से भगवान् ब्रह्मा निवास करते हैं । यहाँ पाँच नदियों का उद्गम है : सावित्री, कृष्णा, वेण्या, ककुद्मती (कोयना) और गायत्री । पास ही महारानी अहल्याबाई का बनवाया रुद्रेश्वरमन्दिर है । रुद्रतीर्थ, चक्रतीर्थ, हंसतीर्थ, पितृमुक्ति तीर्थ, अरण्यतीर्थ, मलापकर्षतीर्थ आदि अनेक तीर्थ स्थल हैं । प्रति वर्ष बहुत बड़ी संख्या में यहाँ यात्री एकत्र होते हैं ।

महावसवपुराण—वीर शैव आचार्यों ने जो ग्रन्थ कन्नड में लिखे अथवा अनूदित किये, उनमें अधिकतर पुराण ही हैं । महावसव पुराण अथवा महवसवचरित्र की रचना १४५० वि० के लगभग सिंगिराज ने की थी । इसके तेलुगु तथा तमिल अनुवाद भी प्राप्त होते हैं ।

महाब्राह्मण—(१) बृहदारण्यक उपनिषद् (२.१,१९,२२) में इसका उल्लेख हुआ है । यह एक महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण ग्रन्थ है ।

(२) महाब्राह्मण 'महापात्र' ब्राह्मणों को भी कहते हैं जो मृतक की शय्या, वस्त्राभूषण तथा एकादशाह का भोजन ग्रहण करते हैं ।

महाभद्राष्टमी—पौष शुक्ल पक्ष की अष्टमी यदि बुधवार को पड़े तो वह महाभद्राष्टमी कहलाती है तथा अत्यन्त पुनीत मानी जाती है । शिव इसके देवता हैं ।

महाभागवत उपपुराण—कुछ विद्वानों द्वारा प्रसिद्ध उपपुराणों में से एक महाभागवत भी माना जाता है । वैष्णव इसको उपपुराण मानने के लिए तैयार नहीं होते । वे लोग श्रीमद्भागवत को महापुराण मानते हैं । दे० 'श्रीमद्भागवत' ।

महाभाद्री—भाद्रपद मास की पूर्णिमासी को चन्द्रमा और बृहस्पति दोनों भाद्रपदा नक्षत्र में यदि स्थित हों तब यह तिथि महाभाद्री कही जाती है । इस दिन धर्मकृत्य महान् पुण्य प्रदान करते हैं ।

महाभारत—पुराणों की शैली पर निर्मित सांस्कृतिक और धार्मिक इतिहास ग्रन्थ, जिसमें भरतवंशज कौरव और

पाण्डवों का चरित्र लिखा गया है। इसकी रचना के तीन क्रम कहे जाते हैं : प्रथम क्रम में मूल भारत आख्यान की रचना कृष्ण द्वैपायन व्यास ने ८८०० श्लोकों में की थी। इसका परिवर्धित दूसरा संस्करण भारत संहिता नाम से बादरायण व्यास ने २४००० श्लोकों में अपने शिष्यों को पढ़ाने के लिए किया। आगे चलकर जममेजय और वैशंपायन के संवाद रूप का विस्तृत संकलन महाभारत नाम से एक लाख श्लोकों में सौति ने शौनक आदि ऋषियों को सुनाते हुए संपादित किया। हरिवंश खिलपर्व इसका परिशिष्ट माना जाता है।

आधुनिक आलोचक इस महाग्रन्थ को वेदव्यास और उनके शिष्य-प्रशिष्यों की रचना न मानकर बाद के अनेक संशोधक-संपादक पौराणिक विद्वानों का संकलन या संग्रह कहते हैं। उनके विचार में भारत नामक महाकाव्य मूलतः वीरगाथा रूप में था। कालान्तर में जनसाधारण के धर्म ज्ञान का प्रमाण होने तथा विविध हिन्दू सम्प्रदायों के उत्थान का वर्णन उपस्थित करने के कारण उसकी महत्ता बढ़ गयी। विद्वान् इस महाकाव्य के मिश्रण या परिवर्धनात्मक तीन कालों पर एकमत हैं।

(क) भारत महाकाव्य की साधारण काव्यमय रचना : दसवीं से पांचवीं अथवा चौथी शताब्दी ई० पू० के बीच।

(ख) इस महाकाव्य का वैष्णव आचार्यों द्वारा साम्प्रदायिक काव्य में परिवर्त्तन : दूसरी शताब्दी ई० पू०।

(ग) महाभारत का वैष्णव ईश्वरवाद, धर्म, दर्शन, राजनीति, विधि का विश्वकोश बन जाना : ईसा की पहली तथा दूसरी शताब्दी।

प्रथम अवस्था में प्रस्तुत महाभारत के विषयों पर दृष्टिपात करने से हम उसकी धार्मिक विशेषताओं को समझ सकते हैं, यद्यपि नये तथ्यों के मेल को उनसे अलग करना बड़ा कठिन है। उसमें ईश्वरवाद है, किन्तु दैवी अवतार तथा आत्मा का सिद्धान्त नहीं है। तीन मुख्य देवता, इन्द्र, ब्रह्मा, और अग्नि हैं। धर्म तथा काम देवता के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। कृष्ण भी हैं किन्तु मानव या देवता के रूप में, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। महाभारत के समाज में जातिवाद का पूर्ण अभाव है। स्त्रियों को पर्याप्त स्वाधीनता है। साधारण नियम के विपरीत ब्राह्मण योद्धा का कार्य करते हैं। हिन्दू अभी शाकाहारी नहीं हुए थे। द्रौपदी का बहुपतित्व ऐतिहासिक तथ्य है, जो कहानी में बना रहा, यद्यपि स्वाभाविक रूप से यह आगे चलकर अग्रहणीय समझा जाने लगा। इस काल (प्रथम अवस्था) की एक समस्या कृष्ण का देव रूप में उत्थान है, जिनका एक विरुद वासुदेव था। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि आदि (प्रथम) भारत में कृष्ण केवल एक मानव थे तथा परवर्त्ती काल में ही उन्हें दैवी रूप मिला। दूसरों का मत है कि महाभारत कृष्ण में सदा देवता रहे हैं।

प्रचलित महाभारत १८ पर्वों में विभक्त है। इन पर्वों के अवान्तर भी एक सौ छोटे पर्व हैं जिन्हें पर्वाध्याय कहते हैं। पर्व निम्नांकित है :

१. आदिपर्व २. सभापर्व ३. वनपर्व ४. विराट्पर्व ५. उद्योग पर्व ६. भीष्म पर्व ७. द्रोण पर्व ८. कर्ण पर्व ९. शल्य पर्व १०. सौप्तिक पर्व ११. स्त्री पर्व १२. शान्ति पर्व (आपद्धर्मपर्वाध्याय, मोक्षधर्मपर्वाध्याय) १३. अनुशासन पर्व १४. आश्वमेधिक पर्व १५. आश्रमवासिक पर्व १६ कौशल पर्व १७. सहाप्रास्थानिक पर्व और १८. स्वर्गारोहण पर्व।

महाभारत का खिल अथवा परिशिष्ट पर्व हरिवंश उपपुराण के नाम से ख्यात है जिसमें भगवान् कृष्ण के वंश का वर्णन है। इसी में विष्णुपर्व भी है और शिवचर्या भी है और साथ ही साथ अद्‌भुत भविष्य पर्व भी है जो पर्वाध्याय में १० वाँ पर्व गिना जाता है। विष्णु पर्व में अवतारों का वर्णन है और कृष्ण द्वारा कंस के मारे जाने की कथा है। इसमें जैनों के तीर्थङ्कर नेमिनाथ वा अरिष्टनेमि को कृष्ण की ज्ञाति से सम्बद्ध गिनाया गया है। इसके भविष्य वर्णन से और जैनियों की चर्चा से बहुतों को अनुमान होता है कि महाभारत की एक लाख की संख्या पूरी करने के लिए यह परिशिष्ट बहुत ही बाद में मिलाया गया। जैनियों का भी हरिवंश पुराण है जो इस हरिवंश से बिलकुल भिन्न है। इसमें नेमिनाथ की कथा मुख्य है और उसी के प्रसंग में श्री कृष्ण और उनके वंश का भी विवरण दिया गया है।

महाभाष्य—पाणिनि मुनि के अष्टाध्यायी नामक व्याकरण ग्रन्थ पर पतञ्जलि का महाभाष्य उस काल की रचना है, जब शुङ्गों द्वारा वैदिक धर्म का पुनरुद्धार हो रहा था। व्याकरण ग्रन्थ होने के साथ-साथ यह ऐतिहासिक, राज

नीतिक, भौगोलिक एवं दार्शनिक महत्त्व रखता है। रचना-काल वि० पू० १०० सं० के लगभग है।

महाभूत—जिन तत्त्वों से सृष्टि (स्थूल) की रचना हुई है उन्हें 'महाभूत' कहते हैं। पञ्च महाभूतों के सिद्धान्त को सांख्य दर्शन भी मानता है एवं वहाँ इसके दो विभाजनों द्वारा उसका और भी सूक्ष्म विकास किया गया गया है। वे दो विभाजन हैं : (१) तन्मात्रा (सूक्ष्मभूत) तथा (२) महाभूत (स्थूल भूत)। दूसरे विभाग में पाँच महाभूत हैं—पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वायु और आकाश।

महामाघी—जब सूर्य श्रवण नक्षत्र का तथा चन्द्रमा मघा नक्षत्र का हो तो यह तिथि महामाघी कहलाती है। 'पुरुषार्थचिन्तामणि' (३१३-३१४) के अनुसार जब शनि मेष राशि पर हो, चन्द्र तथा वृहस्पति सिंह राशि पर हों तथा सूर्य श्रवण नक्षत्र में हो तो यह योग महामाघी कहा जाता है। इस पर्व पर प्रयाग में त्रिवेणी संगम अथवा अन्य पवित्र नदियों तथा सरोवरों में प्रातः काल माघ मास में स्नान करना समस्त महापापों का नाशक है।

तमिलनाडु में 'मख' वार्षिक मन्दिरोत्सव होता है तथा बारह वर्षों के बाद 'महामख' मनाया जाता है। उस समय कुम्भकोणम् नामक स्थान में एक भारी मेला लगता है। जहाँ 'महामघ' नामक सरोवर में स्नान किया जाता है। इस विशाल मेले की तुलना प्रयाग के कुम्भ से की जा सकती है। दक्षिण भारत में यह मेला 'ममंघम' नाम से प्रसिद्ध है तथा उस समय होता है जब पूर्ण चन्द्र मघा नक्षत्र का हो और बृहस्पति सिंह राशि पर स्थित हो।

यह आश्चर्यजनक बात ही कही जायगी कि मध्यकाल का कोई भी धर्मग्रन्थ महामखम् उत्सव तथा कुम्भ मेले के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं करता। इतना अवश्य ज्ञात है कि सम्राट् हर्षवर्द्धन प्रति पाँच वर्षों के बाद प्रयाग के विस्तृत क्षेत्र में त्रिवेणीसंगम के पश्चिमवर्ती तट पर, जहाँ आजकल भी माघ में मेला लगता है, अपने राजकोष को ब्राह्मणों, भिक्षुओं तथा निर्धनों में वितरित करता था।

महायज्ञ—शास्त्रों में प्राणिमात्र के हितकारी पुरुषार्थ को यज्ञ कहा गया है। धर्म और यज्ञ वस्तुतः कार्य और कारण रूप से एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। वैज्ञानिक स्पष्टीकरण के लिए धर्म शब्द का साधारण रूप से और यज्ञ शब्द का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है।

यज्ञ और महायज्ञ एक ही अनुष्ठान हैं, फिर भी दोनों में किञ्चिद् भेद है। यज्ञ में फलरूप आत्मोन्नति के साथ व्यष्टि का सम्बन्ध जुड़ा रहता है। अतः इसमें स्वार्थ पक्ष प्रबल है। पर महायज्ञ समष्टि-प्रधान होता है। अतः इसमें व्यक्ति के साथ जगत्कल्याण और आत्मा का कल्याण निहित रहता है। निष्काम कर्मरूप औदार्य से इसका अधिक सम्बन्ध है। इसलिए महर्षि भरद्वाज ने कहा है कि सुकौशलपूर्ण कर्म ही यज्ञ है और समष्टि सम्बन्ध से उसी को महायज्ञ कहते हैं।

यज्ञ और महायज्ञ को परिभाषित करते हुए महर्षि अंगिरा ने इस प्रकार कहा है : व्यक्तिसापेक्ष व्यष्टि धर्मकार्य को यज्ञ तथा सार्वभौम समष्टि धर्मकार्य को महायज्ञ कहते हैं। वस्तुतः शास्त्रों में जीव स्वार्थ के चार भेद बताये गये हैं—स्वार्थ, परमार्थ, परोपकार और परमोपकार। तत्त्वज्ञों के अनुसार जीव का लौकिक सुख-साधन स्वार्थ है और पारलौकिक सुख के लिए कृत पुरुषार्थ को परमार्थ कहते हैं। दूसरे जीवों के लौकिक सुख साधन एकत्र करने का कार्य परोपकार और अन्य जीवों के पारलौकिक कल्याण कराने के लिए किया गया प्रयत्न परमोपकार कहलाता है। स्वार्थ और परमार्थ यज्ञ से तथा परोपकार और परमोपकार महायज्ञ से सम्बद्ध हैं। महायज्ञ प्रायः निष्काम होता है और साधक के लिए मुक्तिदायक होता है।

स्मृतियों में पञ्चसूना दोषनाशक पञ्च महायज्ञों का जो विधान किया गया है, वह व्यष्टि जीवन से सम्बद्ध है। उसका फल गौण होता है। वस्तुतः पञ्चमहायज्ञ उसकी अपेक्षा उच्चतर स्तर रखता है। उसका प्रमुख लक्ष्यरूप फल विश्वजीवन के साथ एकता स्थापित कर आत्मोन्नति करना है। वे पञ्चमहायज्ञ—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ तथा भूतयज्ञ हैं। मनु के अनुसार अध्ययन-अध्यापन को ब्रह्मयज्ञ, अन्न-जल के द्वारा नित्य पितरों का तर्पण करना पितृयज्ञ, देव-होम देवयज्ञ, पशु-पक्षियों को अन्नादि दान भूतयज्ञ तथा अतिथियों की सेवा नृयज्ञ है। इन पंचमहायज्ञों का यथाशक्ति विधिवत् अनुष्ठान करने वाले गृहस्थ को पंचसूना दोष नहीं लगते। इन कर्मों से विरत

रहने वाले का जीवन व्यर्थ है । अध्ययन और दैवकर्म में प्रवृत्त रहने वाला व्यक्ति चराचर विश्व का धारणकर्त्ता बन सकता है । देवयज्ञ की अग्न्याहुति सूर्यलोक को जाती है जिससे वर्षा होती है, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से प्रजा का उद्‌भव होता है । अतएव मनुष्य को ऋषि, देवता, पितृ, भूत और अतिथि सभी के प्रति निष्ठवान् होना चाहिए, क्योंकि ये सब गृहस्थ से कुछ-न-कुछ चाहते हैं । अतः गृहस्थ को चाहिए कि वह वेद-शास्त्रों के स्वाध्याय से ऋषियों को, देवयज्ञ द्वारा देवताओं को, श्राद्धरूप पिण्ड-जलदान के द्वारा पितरों को, अन्न-द्वारा मनुष्यों को और बलिवैश्वदेव द्वारा पशु-पक्षी आदि भूतों को तृप्ति प्रदान करे ।

इन पञ्च महायज्ञों को नित्य करने वाला गृहस्थ अपने सभी धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक कर्तव्यों को पूर्ण करता है एवं समस्त विश्व से अपनी एकात्मता का अनुभव करता है ।

महायोगी—ध्यान, योग और तपस्या—भारत की ये प्राचीन साधनाएँ सभी धार्मिक सम्प्रदायों को मान्य रही हैं । शिव इनके प्रतीक हैं, अतः वे महायोगी माने जाते हैं । सिन्धु घाटी के प्राचीन सभ्यतास्मारकों में शिव का ध्यान-योगी के रूप में मूर्त आकार प्राप्त हुआ है । उनका योगी रूप बुद्ध से बहुत कुछ मिलता-जुलता है । एलिफैण्टा गुहा में शिव के महायोगी रूप का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि ब्राह्मणों और बौद्धों की, जहाँ तक योग और ध्यान का सम्बन्ध है, समान परम्पराएँ थीं ।

महार—हिन्दुओं के अस्पृश्य वर्ग की एक जाति का, जो चर्मकार कहलाती है, महाराष्ट्र में प्रचलित नाम । विट्‌ठल या विठोबा (विष्णु) के पण्ढरपुर स्थित मन्दिर में महार लोगों का प्रवेश निषिद्ध था । इस मन्दिर के ठीक सामने सड़क की दूसरी ओर महार लोगों का मन्दिर है, जिसे चोखा मेला नामक एक महार भक्त ने बनवाया था । उसकी कविता आज भी सजीव है तथा उसके कुछ अंश अति सुन्दर हैं ।

महाराजव्रत—शुक्ल या कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी आर्द्रा नक्षत्र को अथवा पूर्वाभाद्रपद तथा उत्तराभाद्रपद को आती हो तो वह भगवान् शिव को अत्यन्त आनन्ददायिनी हो जाती है । पूर्ववर्ती त्रयोदशी को संकल्प कर चतुर्दशी को मृत्तिका, पञ्चगव्य, तदनन्तर शुद्ध जल से स्नान करना चाहिए । तदुपरान्त १००० बार शिवसंकल्प सूक्त (यज्जाग्रतो दूरम्०) का प्रथम तीन वर्ण वाले लोग तथा 'ओम् नमः शिवाय' मंत्र का शूद्र लोग जप करें । भगवान् शिव तथा पार्वती की प्रतिमाओं को पञ्चामृत, पञ्चगव्य, गन्ने के रस से स्नान कराने के बाद कस्तूरी, केसर आदि सुगन्धित पदार्थों का उन पर प्रलेप किया जाय । दीपों को प्रज्वलित कर उन्हें पंक्तिबद्ध रख देना चाहिए । एक सहस्र बिल्व पत्रों से शिव संकल्प मंत्र अथवा 'त्र्यम्बकं यजामहे०'………का पाठ करते हुए होम करना चाहिए । तदनन्तर शिव जी को निश्चित मंत्रों से अर्घ्य दान करना चाहिए । व्रती रात भर जागरण तथा पाँच, दो या कम से कम एक गौ का दान करे । पंचगव्य प्राशन के बाद व्रती को मौन रखकर भोजन करना चाहिए । इस व्रत के आचरण से समस्त विघ्न-बाधाएँ दूर होती हैं तथा व्रती श्रेष्ठ लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है ।

महारामायण—ऐसा एक प्रवाद है कि वाल्मीकीय रामायण आदि रामायण नहीं है । आदि रामायण भगवान शङ्कर की रची हुई बहुत बड़ी पुस्तक थी जो अब उपलब्ध नहीं है । इसका नाम महारामायण बतलाया जाता है । इसको सतयुग में भगवान् शङ्कर ने पार्वती को सुनाया था । इसमें तीन लाख पचास हजार श्लोक हैं और सात काण्डों में विभक्त है । विलक्षणता यह है कि साथ ही साथ उसमें वेदान्त वर्णन है और नवरसों में उसका विकास दिखाया गया है ।

महारौरव—तप्त घोर नरकों में से एक नरक । इसमें 'रुरु' के काटने से रुदन और क्रन्दन की प्रधानता रहती है । गरुडपुराण में इसका विस्तृत वर्णन पाया जाता है ।

महालक्ष्मी पूजा—इस व्रत के विषय में मतभेद है । 'कृत्य-सारसमुच्चय', पृ० १९ तथा 'अहल्याकामधेनु' कहते हैं कि भाद्र शुक्ल अष्टमी को इस व्रत का प्रारम्भ कर आश्विन कृष्ण अष्टमी को (पूर्णिमान्त) समाप्त करना चाहिए। यह व्रत १६ दिनों तक चलना चाहिए। इसमें प्रति-दिन लक्ष्मी जी की पूजा तथा कथा सुनी जाती है । महाराष्ट्र में महालक्ष्मी की पूजा आश्विन शुक्ल अष्टमी को मध्याह्न के समय युवती नवोढाओं द्वारा होती है तथा रात्रि को समस्त विवाहिता नारियाँ एक साथ इकट्‌ठी

होकर पूजन में सम्मिलित होती हैं। वे अपने हाथों में खाली कलश ग्रहण कर उसमें ही अपने श्वास-प्रश्वास खींचती हैं तथा भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने शरीर को झुकाती हैं। पुरुषार्थचिन्तामणि (पृ० १२९-१३२) में इसका लम्बा वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार यह व्रत स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिए है।

महालक्ष्मी—ऋषियों ने सृष्टि विद्या की मूल कारण तीन महाशक्तियाँ-महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली-स्वीकार किया है इनसे ही क्रमशः सृष्टि, पालन और प्रलय के कार्य होते हैं। एक ही अज पुरुष की अजा नाम से प्रसिद्ध महाशक्ति तीन रूपों में परिणत होकर सृष्टि, पालन और प्रलय की अधिष्ठात्री बन जाती है।

महालक्ष्मीव्रत—सूर्य के कन्या राशि में आने से पूर्व भाद्र शुक्ल अष्टमी को इस व्रत को आरम्भ करना चाहिए और अग्रिम अष्टमी को ही (१६ दिनों में) पूजा तथा व्रत समाप्त कर देना चाहिए। सम्भव हो तो व्रत ज्येष्ठा नक्षत्र को प्रारम्भ किया जाना चाहिए। १६ वर्षों तक इस व्रत का आचरण होना चाहिए। यहाँ स्त्री पुरुषों के लिए १६ की संख्या अत्यन्त प्रधान है, जैसे पुष्पों और फलों इत्यादि के लिए भी १६ की संख्या का ही विधान है। व्रती को अपने दाहिने हाथ में १६ धागों का १६ गाँठों वाला सूत्र धारण करना चाहिए। इस व्रत से लक्ष्मी जी व्रत करने वाले का तीन जन्मों तक साथ नहीं छोड़तीं। उसे दीर्घायु, स्वास्थ्यादि भी प्राप्त होता है।

महालया—आश्विन मास का कृष्ण पक्ष महालया कहलाता है। इस पक्ष में पार्वण श्राद्ध या तो सभी दिनों मे या कम से कम एक तिथि को अवश्य करना चाहिए। दे० तिथितत्त्व, १९६; वर्षकृत्यदीपिका, ८०।

महावन—व्रजमंडल में मथुरा से चार कोस दूर यमुना पार का एक यात्रा स्थल, जिसे पुराना गोकुल कहते हैं। यहाँ नन्दभवन है। पहले नन्दजी यहीं रहते थे। चिन्ताहरण, यमलार्जुनभङ्ग, वत्सचारणस्थान, नन्दकूप, पूतनाखार, शकरासुरभङ्ग, नन्दभवन, दधिमन्थनस्थान, छठीपालना, चौरासीखम्भों का मन्दिर (दाऊजी की मूर्ति), मथुरानाथ, श्यामजी का मन्दिर, गायों का खिड़क, गोबर के टीले दाऊ जी और श्रीकृष्ण की रमणरेती, गोपकूप तथा नारद टीला आदि इसके अन्तर्गत यात्रियों के लिए दर्शनीय स्थान हैं। मध्यकाल में यहाँ के क्षत्रिय राजा और उसकी राजधानी एवं दुर्ग को मुसलमान आक्रमणकारियों ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। इन ध्वंसावशेषों में ही उपयुक्त स्थान पूजा-यात्रास्थल माने जाते हैं।

महाविद्या—(१) रहस्यपूर्ण ज्ञान, प्रभावशाली मन्त्र और सिद्ध स्तोत्र या स्तवराज महाविद्या कहे जाते हैं। अथर्व-परिशिष्ट के नारायण, रुद्र, दुर्गा, सूर्य और गणपति के सूक्त भी महाविद्या कहे गये हैं।

(२) निगम (वेद) जिसे विराट् विद्या कहते हैं आगम (तन्त्र) उसे ही महाविद्या कहते हैं। दक्षिण और वाम दोनों मार्ग वाले दस महाविद्याओं की उपासना करते हैं। ये हैं—महाकाली, उग्रतारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातङ्गी और कमला।

महावीर—(१) जैनियों के चौबीसवें तीर्थङ्कर और जैनधर्म के अन्तिम प्रवर्त्तक। वास्तव में ऐतिहासिक जैनधर्म के ये ही प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इनका जन्म ५९९ ई० पू० लिच्छविगणसंघ की ज्ञात्रिशाखा में वैशाली के पास कुण्डिनपुर में हुआ। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। सिद्धार्थ एक सामान्य गण-मुख्य थे। महावीर का बाल्यावस्था का नाम वर्धमान था। वे प्रारम्भ से ही चिन्तनशील और विरक्त थे। सिद्धार्थ ने वर्धमान का विवाह यशोदा नामक युवती से कर दिया। उनकी एक कन्या भी उत्पन्न हुई। परन्तु सांसारिक कार्यों में उनका मन नहीं लगा। जब ये तीस वर्ष के हुए तब किसी बुद्ध अथवा अर्हत् ने आकर इनको ज्ञानोपदेश देकर यति धर्म में दीक्षित कर दिया।

इसी वर्ष वे मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी को परिवार और सांसारिक बन्धनों को छोड़कर वन में चले गये। यहाँ पर संसार के दुःखों और उनसे मुक्ति के मार्ग पर इन्होंने विचार करना प्रारम्भ किया, घोर तपस्या का जीवन बिताया। बारह वर्षों तक एक आसन से बैठे हुए अत्यन्त सूक्ष्म विचार में मग्न रहे। इसके अन्त में उन्हें सम्यक् ज्ञान प्राप्त हुआ, सर्वज्ञता की उपलब्धि हुई।

संसार, देव, मनुष्य, असुर, सभी जीवधारियों की सभी अवस्थाओं को वे जान गये। अब वे जिन (कर्म के ऊपर विजयी) हो गये। इसके अनन्तर अष्टादश गुणों में युक्त तीर्थङ्कर हो गये तथा तीस वर्षों तक अपने सिद्धान्तों का

प्रचार करते रहे। वे महावीर विरुद से प्रसिद्ध हुए। बहत्तर वर्ष की अवस्था में महावीर ने अपना अन्तिम उपदेश दिया और निर्वाण को प्राप्त हुए।

उनका निर्वाण कार्तिक कृष्ण अमावस्या का मल्लगण की दूसरी राजधानी पावा (कुशीनगर से १२ मील दूर देवरिया जिला में) में हुआ। मल्लों ने उनके निर्वाण के उपलक्ष्य में दीपमालिका जलायी। पावा जैनों का पवित्र तीर्थस्थान है। पटना जिले की पावा नगरी कल्पित है। पटना (पाटलिपुत्र) मगधसाम्राज्य की राजधानी थी। इस जिले में मल्लगण (अथवा किसी भी गण) का होना असंभव था। ऐसा लगता है कि जब मूल पावा को मुसलमानों ने भ्रष्ट कर दिया नत्र जैनियों ने पटना में दूसरी पावापुरी कल्पित कर ली। दे० 'वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ'।

(२) हनुमान का एक नाम। भगवान् राम के सहायक और सेनानायक के रूप में इनकी रामायणान्तर्गत कथा से हिन्दू मात्र सुपरिचित है। वीरतापूर्ण कृतियों के कारण ही इनका नाम 'महावीर' पड़ा। इनकी पूजा उत्तरभारत में प्रचलित है। रोट तथा मिठाई, पुष्पादि सहित इनको चढ़ाते हैं। पशुबलि आदि इनकी पूजा में वर्जित है। दे० **'हनुमान'**।

महाव्रत—(१) इस व्रत के अनुसार माघ अथवा चैत्र में 'गुड़धेनु' का दान करना चाहिए तथा द्वितीया के दिन केवल गुड़ का आहार करना चाहिए। इससे गोलोक की प्राप्ति होती है। 'गुड़धेनु' के लिए देखिए मत्स्यपुराण, ८२।

(२) चतुर्दशी अथवा शुक्लाष्टमी जब श्रवण नक्षत्रयुक्त हों उस समय उपवास के साथ व्रत का आरम्भ करना चाहिए। यह तिथिव्रत है। शिव इसके देवता हैं। यह व्रत राजाओं द्वारा आचरणीय है।

(३) कार्तिक की अमावस्या अथवा पूर्णिमा के दिन मनुष्य को नियमों के आचरण का व्रत लेना चाहिए। नक्तपद्धति से आहार करना चाहिए तथा घृतमिश्रित पायस खाना चाहिए। चन्दन तथा गन्ने के रस के प्रयोग का भी इसमें विधान है। प्रतिपदा के दिन उपवास रखते हुए आठ या सोलह शैव ब्राह्मणों को भोजनार्थ निमन्त्रित करना चाहिए। शिव इसके देवता हैं। शिव जी की प्रतिमा को पञ्चगव्य, घृत, मधु तथा अन्याण्य वस्तुओं से स्नान कराना चाहिए। अन्त में उष्ण जल से स्नान कराकर नैवेद्य अर्पित करने का विधान है। इसके उपरान्त आचार्य तथा सपत्नीक ब्राह्मणों को सुवर्ण तथा वस्त्र दान करना चाहिए। सोलह वर्षों तक उपवास, नक्त, अयाचित विधियों से थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ इस व्रत का आचरण किया जाना चाहिए। इससे दीर्घायु, सौन्दर्य, सौभाग्य की प्राप्ति होती है चाहे व्रती स्त्री हो या पुरुष।

(४) इस व्रत के अनुसार प्रति पूर्णमासी को उपवास तथा हरि का सकल (सावयव, साकार) ब्रह्म के रूप में पूजन विहित है तथा अमावस्या को (निराकार, निरवयव) ब्रह्म का पूजन होता है। यह व्रत एक वर्षपर्यन्त चलता है। व्रती समस्त पापों से मुक्त होकर स्वर्ग प्राप्त करता है। यदि यह व्रत १२ वर्षों तक किया जाय तो व्रती विष्णु लोक को प्राप्त होता है। दे० विष्णुधर्म ०३.१९८,१-७।

(५) कृष्ण तथा शुक्ल पक्ष की अष्टमी या चतुर्दशी को नक्त विधि से आहार करते हुए शिव जी का पूजन करना चाहिए। यह व्रत एक वर्ष तक चलता है। इससे सर्वोत्तम सिद्धि प्राप्त होती है। दे० हेमाद्रि २.३९८ (लिङ्ग पुराण से)।

महाशक्ति—सृष्टि की उत्पादिका पालिका तथा संहारिका महाशक्तियाँ तीन हैं—महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली। दे० 'महालक्ष्मी'।

महाशान्ति विधि—अथर्ववेद के नक्षत्रकल्प में प्रथम शान्तिकृत्य कृत्तिकादि नक्षत्रों की पूजा और होम बतलाया गया है। उसके पश्चात् अमृत से लेकर अभयपर्यन्त महाशान्ति के निमित्तभेद से तीस प्रकार के कर्म बतलाये गये हैं, यथा-दिव्य, अन्तरिक्ष और भूमिलोक के उत्पातों की अमृत नाम की महाशान्ति, गतायु के पुनर्जीवन के लिए वैश्वदेवी महाशान्ति, अग्निमय निवृत्ति के लिए और सब तरह की कामना प्राप्ति के लिए आग्नेयी महाशान्ति, नक्षत्र और ग्रह से भयार्त्त रोगी के रोगमुक्त होने के लिए भार्गवी महाशान्ति, ब्रह्मवर्चस चाहने वाले के वस्त्रशयन और अग्निज्वलन के लिए ब्राह्मी महाशान्ति, राज्यश्री चाहने वाले के लिए बार्हस्पत्य महाशान्ति, प्रजा, पशु और धन लाभ के लिए प्राजावत्यमहाशान्ति, शुद्धि चाहने वालों के लिए सावित्री महाशान्ति, छन्द और ब्रह्मवर्चस् चाहने वालों के लिए गायत्री महाशान्ति, सम्पत्ति चाहने वाले और अभिचारक से अभिचर्यमाण व्यक्ति के लिए आंगिरसी महाशान्ति, विजय, बल, पुष्टिकामी और परचक्रो-

च्छेदनकामी के लिए ऐन्द्री महाशान्ति और अद्भुत विकार-निवारण और राज्य कामना के लिए माहेन्द्री महाशान्ति इत्यादि ।

महाशेफनग्न—महाभारत में प्रथप्र बार लिङ्ग-पूजा का वर्णन प्राप्त होता है । अनेकानेक लिङ्गवाचक शब्दों के साथ (१३.१४,१५७) में 'महाशेफनग्न' का उल्लेख हुआ है । इसका अर्थ है 'नग्न लिङ्ग' ।

महाश्वेताप्रिय विधि—रविवार को सूर्य ग्रहण होने पर यह व्रत आचरणीय है । एकभक्त, नक्त अथवा उपवास रखने के बाद महाश्वेता (तथा सूर्य) का पूजन करना चाहिए । इससे व्रती अत्युच्च स्थान प्राप्त कर लेता है । महाश्वेता मन्त्र है—ह्लीं ह्लीं सः… (कृत्यकल्पतरु, ९ तथा हेमाद्रि, २.५२१) ।

महाषष्ठी—कार्तिक शुक्ल षष्ठी को सूर्य वृश्चिक राशि पर हो तथा भौमवार का दिन हो तो वह महाषष्ठी कहलाती है । व्रती को पंचमी के दिन उपवास रखना चाहिए और षष्ठी को अग्निपूजन कर अग्निमहोत्सव का आयोजन करना चाहिए । इसके बाद ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए । इससे समस्त दुरितों का क्षय अवश्यम्भावी है ।

महाष्टमी—आश्विन शुक्ल अष्टमी (नवरात्र) को महाष्टमी कहते हैं । इस दिन दुर्गा का विशेष प्रकार से पूजन होता है ।

महासप्तमी—इस व्रत के अनुसार माघ शुक्ल पञ्चमी को एकभक्त, षष्ठी को नक्त तथा सप्तमी को उपवास का विधान है । इस अवसर पर करवीर के पुष्पों तथा लाल चन्दन के लेप से सूर्य का पूजन करना चाहिए । वर्ष को माघ मास से चार-चार महीनों के तीन भागों में बाँटा जाय तथा प्रत्येक भाग में भिन्न-भिन्न रंग के पुष्प, भिन्न-भिन्न प्रकार का नैवेद्य तथा धूप प्रयुक्त किया जाय । व्रत के अन्त में रथ का दान विहित है ।

महासरस्वती—तीन महाशक्तियों में से एक । ये ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी हैं । दे० ''महालक्ष्मी' ।

महासंहिता—वैष्णव संहिता का नाम, जो एक आगम है । मध्वाचार्य ने अपने ग्रन्थों में महासंहिता से अनेक उद्धरण लिए हैं ।

महासिद्धसारतन्त्र—यह तन्त्र पर्याप्त पीछे का रचा जान पड़ता है । इसमें १९२ नामों की सूची है जो तीन विभागों में बँटी है । प्रत्येक में ६४ नाम हैं । विभाजनों के नाम हैं : विष्णुक्रान्त, रथक्रान्त एवं अश्वक्रान्त । सूची पर्याप्त नवीन है क्योंकि इसमें महानिर्वाणतन्त्र भी सम्मिलित है । १९२ नामों की सूची में वामकेश्वर की सूची से मिलते केवल १० नाम हैं ।

महास्वामी—सामसंहिता के एक भाष्यकार का नाम ।

महिम्नःस्तोत्र—शंकरजी की महिमा का उपस्थापक, उच्च कोटि का स्तोत्रग्रन्थ । यह गन्धर्वराज पुष्पदन्त की रचना कही जाती है । महिम्नःस्तोत्र के प्रत्येक श्लोक की शिव व विष्णुपरक व्याख्या मधुसूदन सरस्वती ने रची है जो निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, से प्रकाशित है ।

महिष—एक असुर का नाम, जो तमोगुण का प्रतीक है । दुर्गा अपनी शक्ति से इसी का छेदन करती हैं । सर्व प्रथम दुर्गा विषयक वर्णन महाभारत में प्राप्त होता है (४.६) जिसमें दुर्गा को महिषमर्दिनी (महिष को मारने वाली) कहा गया है ।

महिषघ्नीपूजा—आश्विन शुक्ल अष्टमी को इसका अनुष्ठान होता है । इसमें दुर्गा देवी की पूजा होती है । महिषासुर का वध करने वाली दुर्गा जी की प्रतिमा को हरिद्रायुक्त जल में स्नान कराकर चन्दन तथा केसर का प्रलेप किया जाता है । कन्याओं तथा ब्राह्मणों को भोजन कराकर उन्हें दक्षिणा प्रदान की जाती है और दीप प्रज्ज्वलित किये जाते हैं । इससे व्रती की समस्त मनोकामनाओं की पूर्ति होती है ।

महिषी—राजा की पत्नियों में से सर्वप्रथम पटरानी, अभिषिक्त महारानी । परवर्त्ती साहित्य में इसका उल्लेख प्रचुर हुआ है । कदाचित् ऋग्वेद में भी यह शब्द इसी अर्थ के साथ व्यवहृत हुआ है (५.२,२;५.३७,३) । अश्वमेध आदि यज्ञों में राजा के साथ यही प्रमुख भाग लेती थी ।

महीदास—ब्राह्मण-ग्रन्थों के एक संकलनकर्ता । ऐतरेय आरण्यक के पाँच ग्रन्थ आजकल पाये जाते हैं । इनमें से हर एक का नाम आरण्यक है । दूसरे के उत्तरार्ध के शेष के चार परिच्छेद वेदान्त ग्रन्थों में गिने जाते हैं । इसलिए उनका नाम ऐतरेय उपनिषद् है । दूसरे और तीसरे भाग को महीदास ऐतरेय ने संकलित किया । विशाल के उर (हृदय) से और इतरा के गर्भ से महीदास का जन्म हुआ । माता के नामानुसार उन्होंने ऐतरेय की उपाधि पायी ।

महीधर—यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के एक भाष्यकार। इस संहिता पर सायणाचार्य का भाष्य नहीं मिलता। उव्वट-महीधर भाष्य ही अधिक प्रचलित है। महीधर ने १६४९ वि० में मन्त्रमहोदधि नामक दक्षिणमार्गी शाक्त शाखा सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ भी लिखा। इसका उपयोग सारे भारत में शाक्त एवं शैव समान रूप से करते हैं। स्वयं ग्रन्थकार की रची इस पर टोका भी है।

महीपति—अठारहवीं शताब्दी के एक महाराष्ट्रीय भक्त, जिन्होंने अपनी शक्ति भक्तों व सन्तों की जीवनी लिखने में लगायी। इनके लिखे ग्रन्थ हैं—सन्तलीलामृत, (१७३२), भक्तविजय (१७७९), कथासारामृत (१७३२), भक्तलीलामृत (१७३४) तथा सन्तविजय आदि।

महीम्नस्तव—विशेष शैव साहित्य में इसकी गणना होती है। ग्रन्थ का सम्पादन तथा अंग्रेजी अनुवाद आर्थर एवलॉन ने किया है।

महेन्द्रकृच्छ—कार्तिक शुक्ल षष्ठी से केवल दुग्धाहार करते हुए दामोदर भगवान् का पूजन करना चाहिए। दे० हेमाद्रि, २.७६९-७७०।

महेश—(१) शिव का एक पर्याय। इसका शाब्दिक अर्थ है महान् ईश्वर।

(२) लिङ्गायत लोग आध्यात्मिक उन्नति की कई अवस्थाएँ मानते हैं। महेश इनमें तीसरी अवस्था है। उनका क्रम इस प्रकार है।

शिव, भक्ति, महेश, प्रसाद, प्राणलिङ्ग, शरण एवं ऐक्य।

महेश्वर—तमिल तथा वीरशैव गण आजकल अपने को 'महेश्वर' कहते हैं, पाशुपत नहीं; यद्यपि उनका सम्पूर्ण धर्म महाभारत के पाशुपत सिद्धान्त पर आधारित है। महेश्वर नाम शिव का है।

महेश्वरव्रत—(१) फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशी को इस व्रत का प्रारम्भ होता है। उस दिन उपवास रखकर शिव जी की पूजा करनी चाहिए। व्रत के अन्त में गौ का दान विहित है। यदि इस व्रत को वर्ष भर किया जाय तो पौण्डरीक यज्ञ का पुण्य प्राप्त होता है। यदि व्रती प्रति मास की दोनों चतुर्दशियों को इस व्रत का आचरण करे तो उसके सब संकल्प पूरे होते हैं।

(२) यदि कोई 'दक्षिणामूर्ति' को प्रति दिन पायस तथा घी वर्ष भर अर्पित करे, व्रत के अन्त में उपवास करे, जागरण करे तथा दान में भूमि, गौ तथा वस्त्र दे तो उसे नन्दी (शिवजी का गण) पद प्राप्त होता है। दक्षिणामूर्ति शिवजी का ही एक रूप है। शङ्कराचार्य का रचित एक दक्षिणामूर्तिस्तोत्र भी प्रसिद्ध है।

महेश्वराष्टमी—मार्गशीर्ष शुक्लाष्टमी को इस व्रत का प्रारम्भ होता है। लिङ्गरूप शिव का अथवा शिवजी की मूर्ति का अथवा कमल पर शिवजी का पूजन तथा दुग्ध और घृत से मूर्ति को स्नान कराना चाहिए। व्रत के अन्त में गौ का दान विहित है। एक वर्ष तक यह क्रम चल सके तो अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है तथा व्रती शिवलोक को जाता है।

महोत्सव व्रत—प्रति वर्ष चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को शिवजी की मूर्ति को दूध-दही आदि से स्नान कराकर पूजन करना चाहिए तथा सुगन्धित द्रव्यों का प्रलेप करना चाहिए। इस अवसर पर शिवमूर्ति के समक्ष दमनक पत्रों का समर्पण विहित है। चावल के आटे के दीपक बनाकर शिवजी के सम्मुख प्रज्ज्वलित किये जाते हैं। भाँति-भाँति के खाद्य पदार्थों को नैवेद्य के रूप में समर्पण कर शंख, घंटा, घड़ियाल, नगाड़े बजाये जाते हैं और अन्त में शिवजी की रथयात्रा निकाली जाती है।

महोदधि अमावस्या—चतुर्दशी युक्त मार्गशीर्ष मास की अमावस्या को कहीं भी समुद्र में स्नान करने से अश्वमेध यज्ञ के फल की प्राप्ति होती है।

महोपनिषद्—एक परवर्ती उपनिषद्। श्वेतदीप में नारद को भगवान् के दर्शन होने और दोनों के संभाषण का वर्णन इसमें किया गया है। इसके अन्तर्गत कहा गया है कि नारद का बनाया हुआ पाञ्चरात्र शास्त्र है और उन्होंने ही भागवत भक्ति की अवतारणा की।

माकरी सप्तमी—माघ कृष्ण सप्तमी को, जब सूर्य मकर राशिपर हो, माकरी सप्तमी कहते हैं। इस दिन व्रत का विधान है। प्रातःकाल गंगा आदि नदियों में स्नान कर सूर्य नारायण की पूजा की जाती है।

मागरि—यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता ३०.१६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.४,१२१) में उद्धृत पुरुषमेध का एक बलिपशु। इसका अर्थ स्पष्टतः शिकारी या सम्भवतः मछुवा प्रतीत होता है। यह शब्द मृगारि (पशुओं का शत्रु) का विद्रूप है।

माघकृत्य—माघ मास में कुछ महत्त्वपूर्ण व्रत होते हैं, यथा तिल चतुर्थी, रथसप्तमी, भीष्माष्टमी, जो इस सूची में पृथक् ही उल्लिखित हैं। कुछ छोटे-छोटे विषय यहाँ प्रकट किए जा रहे हैं। माघ शुक्ल चतुर्थी उमा चतुर्थी कही जाती है, क्योंकि इस दिन पुरुषों और विशेष रूप से स्त्रियों द्वारा कुन्द तथा कुछ अन्यान्य पुष्पों से उमा का पूजन होता है। साथ ही उनको गुड़, लवण तथा यावक भी समर्पित किए जाते हैं। व्रती को सधवा महिलाओं, ब्राह्मणों तथा गौओं का सम्मान करना चाहिए। माघ कृष्ण द्वादशी को यम ने तिलों का निर्माण किया और दशरथ ने उन्हें पृथ्वी पर लाकर खेतों में बोया, तदनन्तर देवगण ने भगवान् विष्णु को तिलों का स्वामी बनाया। अतएव मनुष्य को उस दिन उपवास रखकर तिलों से भगवान् का पूजन कर तिलों से ही हवन करना चाहिए। तदुपरान्त तिलों का दान कर तिलों को ही खाना चाहिए।

माघी सप्तमी—माघ शुक्ल सप्तमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। अरुणोदय काल में मनुष्य को अपने सिर पर सात बदर वृक्ष के और सात अर्क वृक्ष के पत्ते रखकर किसी सरिता अथवा स्रोत में स्नान करना चाहिए। तदनन्तर जल में सात बदर फल, सात अर्क के पत्ते, अक्षत, तिल, दूर्वा, चावल, चन्दन मिलाकर सूर्य को अर्घ्य देना चाहिए तथा उसके बाद सप्तमी को देवी मानते हुए नमस्कारकर सूर्य को प्रणाम करना चाहिए। कुछ आकर ग्रन्थों के अनुसार माघ स्नान तथा इस स्नान में कोई अन्तर नहीं है, जब कि अन्य ग्रन्थों के अनुसार ये दोनों पृथक्-पृथक् कृत्य हैं।

माघस्नान—माघ मास में बड़े तड़के गंगाजी अथवा अन्य किसी पवित्र धारा में स्नान करना परम प्रशंसनीय माना गया है। इसके लिए सर्वोत्तम काल ब्राह्म मुहूर्त है जब नक्षत्र दर्शनीय रहते हैं। उससे कुछ कम उत्तम काल वह है जब तारागण टिमटिमा रहे हों किन्तु सूर्योदय न हुआ हो। अधम काल सूर्योदय के बाद स्नान करने का है। माघ मास का स्नान पौष शुक्ल एकादशी अथवा पूर्णिमा से आरम्भ कर माघ शुक्ल द्वादशी या पूर्णिमा को समाप्त होना चाहिए। कुछ लोग इसे संक्रान्ति से परिगणन. करते हुए स्नान करने का सुझाव उस समय का देते हैं जब सूर्य माघ मास में मकर राशि पर स्थित हो। समस्त नर-नारियों को इस व्रत के आचरण का अधिकार है। सबसे महान् पुण्य प्रदाता माघ स्नान गंगा तथा यमुना के संगम स्थल का माना जाता है। विस्तृत जानकारी के लिए दे० पद्मपुराण, ५ (जिसमें माघ स्नान के माहात्म्य को ही वर्णन करने वाले २८०० श्लोक, अध्याय २१९ से २५० तक प्राप्त होते हैं); हेमाद्रि, ५.७८९-७९४ आदि।

माणिक्क वाचकर—तमिल शैवों में माणिक्क वाचकर का नाम प्रमुख है। तिरुमूलर के समान इन्होंने भी आगमों की शब्दावलियों का व्यवहार किया है। ये ९०० ई० के लगभग हुए थे और असंख्य गेय पदों की रचना कर गये हैं जो छोटे और बड़े दोनों प्रकार के हैं जिन्हें तिरुवाचकम् (श्रीवचन) कहते हैं। माणिक्क मदुरा के शिक्षित एवं लब्धप्रतिष्ठ सम्पन्न व्यक्ति थे। बाद में एक सन्त के उपदेश से प्रभावित हो गये, उनके शिष्य बन गये तथा संन्यासी जीवन बिताना प्रारम्भ किया। इन्होंने अपनी विद्या व संस्कृति के बल से पूर्ववर्त्ती सभी विद्वानों की रचनाओं का लाभ उठाया। कविता के विषय, शैली, छन्दों पर इनका अधिकार देखते हुए ज्ञात होता है कि ये महाकवि थे। इन्होंने रामायण, महाभारत, पुराणों, आगमों तथा प्राचीन तमिल साहित्य का प्रयोग अपनी कविता के विषय चयन व वर्णन में भरपूर किया है। इन्होंने ग्रामीण एवं स्थानीय प्रथाओं तथा घरेलू कहानियों को पद्यबद्ध किया, विशेषकर उन कथाओं को जो शिव के पवित्र चरित्र से सम्बन्धित थीं। सबके ऊपर उन्होंने अपनी प्रतिभा को निखारा। आगमों को ये शिवोक्त कहते हैं। ये अद्वैत वेदान्त और शंकराचार्य के मायावाद को अंगीकार नहीं करते थे।

माण्डवगढ़—दक्षिण मालवा स्थित शैव तीर्थ। परमार राजाओं के समय में यह समृद्ध नगर था। यहाँ मुञ्ज के समय के बने भवनों और अनेक धार्मिक स्थलों के अवशेष पाये जाते हैं। यहाँ रेवाकुण्ड है। सोनद्वार की ओर नीलकण्ठेश्वर शिव-मन्दिर है। प्राचीन राम मन्दिर है। उसके पास ही आल्हा के हाथ की साँग गड़ी हुई है।

माण्डार्य मान्य—ऋग्वेद में मान के वंशज एक ऋषि का नाम माण्डार्य मान्य मिलता है। बहुत सम्भव है कि अगस्त्य से ही इसका आशय हो।

माण्डूकायनि—मण्डूक का वंशज। माण्डूकायनि का उल्लेख शतपथब्राह्मण (२०.६,५,९) बृ. उ. (६.५,४) में एक आचार्य के रूप में हुआ है।

माण्डूक्य उपनिषद्—अथर्ववेदी उपनिषदों में इसकी गणना होती है। इसका छोटा सा ही आकार है परन्तु सबसे प्रधान समझी जाती है। मैत्रायणीयोपनिषद् से कुछ तुल्यता होने से प्रायः लोग इसे उसके बाद की रचना समझते हैं। गौडपादाचार्य ने इसके ऊपर कारिकाएँ एवं शङ्कर ने भाष्य रचा है। विज्ञानभिक्षु ने 'आलोक' नाम की व्याख्या की है। आनन्दतीर्थ, मथुरानाथ शुक्ल व्यासतीर्थ और रङ्गरामानुज आदि ने भाष्य टीका, क्षुद्र भाष्य लिखा है तथा नारायण, शङ्करानन्द, ब्रह्मानन्द सरस्वती राघवेन्द्र आदि ने इस पर वृत्तियाँ भी लिखी हैं।

माण्डूक्यकारिका—माण्डूक्य उपनिषद् की कारिकाएँ गौडपादाचार्य ने लिखी हैं। गौडपादाचार्य शङ्कर के गुरु के गुरु थे। गौडपाद ने वेदान्त सूत्र पर कोई भाष्य नहीं लिखा किन्तु इनकी कारिकाएँ अद्वैत तथा मायावाद का सबसे प्रारम्भिक जीवित आधार होने से बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस कारिका की 'मिताक्षरा' नामक एक टीका भी मिलती है। परवर्त्ती आचार्यों ने इस कारिका को प्रमाण रूप से स्वीकार किया है।

माण्डूक्यभाष्य—माण्डूक्य उपनिषद् का यह भाष्य शङ्कराचार्य द्वारा लिखा गया है।

माण्डूक्योपनिषद्कारिका—दे० 'माण्डूक्य कारिका'।

मातङ्गी—शाक्त मतानुसार दस महाविद्याओं में से एक 'मातङ्गी' है।

मातरिश्वा—(१) ऋग्वेद के वर्णनानुसार अग्नि तथा सोम आकाश से नीचे पृथ्वी पर आये। मातरिश्वा अग्नि को दूर से लाया (ऋ० ३.९,५; ६.७,४)। मातरिश्वा का अर्थ ऋग्वेद में विद्युत् अथवा (अन्य मत से) आँधी है। अथर्ववेद के बाद इसका आँधी ही साधारण अर्थ हो गया है। यदि मान लें कि आंधी एवं विद्युत एक साथ ही अंधड़ के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं तो ऋग्वेद के अर्थ का पूर्णतया समन्वय हो जाता है। इस प्रकार मातरिश्वन् को अग्नि का आँधी के गुणों के साथ विद्युत् वाला स्वरूप कहा जाना उचित है। यह वैदिक पुराकथा 'प्रोमिथियस्' की यूनानी पुराकथा से मिलता-जुलती है।

(२) ऋग्वेद (८.५२,२) के बालखिल्य सूक्त में मातरिश्वन् को मेध्य तथा पृषध्र के साथ यज्ञ करने वाला कहा गया है।

माता—(१) माला (जपार्थ) के लिए प्राचीन साहित्य में चार नाम पाए जाते हैं: (१) गनेत्तिया (सं० = गणयित्रिका) (२) कञ्चनिया (३) माता (मालिका) तथा (४) सूत्र। (२) देवी का भी एक पर्याय माता है। शीतला (चेचक की बीमारी) को भी माता कहते हैं। यह घोर रोग के लिए भययुक्त प्रशंसात्मक उपाधि है।

मातृका तन्त्र—'आगमतत्त्व विलास' में उद्धृत तन्त्रों की सूची में एक तन्त्र का नाम।

मातृदत्त—हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र पर भाष्य रचने वाले एक विद्वान्।

मातृनवमीव्रत—भविष्योत्तर के अनुसार आश्विनकृष्ण नवमी को यह व्रत माता (जननी) के प्रीत्यर्थ किया जाता है। इस दिन विशेषतया माता और उसके तुल्य संमान्य चाची, दादी, मौसी आदि के निमित्त श्राद्ध-तर्पण किया जाता है।

मातृवध—इस कृत्य को कौशी० उप० (३.१) में जघन्य अपराध कहा गया है। इसका प्रायश्चित्त सत्य ज्ञान से किया जा सकता है। परवर्ती धर्मशास्त्र साहित्य में भी मातृवध बहुत बड़ा अपराध और पाप माना गया है।

मातृव्रत—(१) अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है। यह तिथि व्रत है। मातृ देवता (माता देवियाँ) ही इस अवसर पर पूजी जाती हैं। मनुष्य को इस दिन उपवास रखकर भक्तिपूर्वक मातृ देवताओं से अपराधों की क्षमा-याचना करनी चाहिए। वे कल्याण तथा स्वास्थ्य प्रदान करती हैं।

(२) आश्विन मास की नवमी को राजा तथा सभी वर्णों के अनुयायी मातृ देवताओं की (जो अनेक हैं) पूजा कर सफलताएँ प्राप्त करें। इस व्रत के करने से जिसके बच्चे मर जाते हों या केवल एक ही सन्तान हो, वह स्त्री सन्तान वाली हो जाती है।

माधव—वाजसनेयी संहिता के भाष्यकारों में से एक माधव थे। साम संहिता के भाष्यकारों में भी एक माधव हुए हैं। उपरोक्त दोनों माधव एक हैं या नहीं, कुछ नहीं कहा जा सकता। दे० 'माधवाचार्य'।

माधवस्वामी—सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बन्धित द्राह्यायण श्रौतसूत्र अथवा वशिष्ठसूत्र का भाष्य माधव स्वामी ने किया है।

माधवाचार्य—प्रसिद्ध वेद व्याख्याता सायणाचार्य के भाई एवं विद्यातीर्थ के शिष्य। विद्यातीर्थ की मृत्यु के पश्चात्

इन्होंने संन्यास आश्रम में भारती तीर्थ एवं शङ्करानन्द से भी शिक्षा ली। इनका स्थिति काल प्रायः चौदहवीं शताब्दी था। कुछ लोगों का कहना है कि इनका जन्म सं० १३२४ वि० में तुङ्गभद्रा नदी के तटवर्ती हाम्पी नगर में हुआ था। 'पराशरमाधव' नामक ग्रन्थ में इन्होंने अपना परिचय देते हुए पिता का नाम मायण, माता का श्रीमती एवं दो भाइयों का नाम सायण व भोगनाथ बताया है।

माधवाचार्य विजय नगर राज्य के संस्थापकों में थे। सं० १३९२ वि० के लगभग विजयनगर के सिंहासन पर महाराज वीर बुक्क को अभिषिक्त कर वे उनके प्रधान मन्त्री बने। वे उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ एवं प्रबन्धपटु थे। उन्होंने ही यवन राज्यों को स्वायत्त कर विजयनगर राज्य की सीमावृद्धि की। सुप्रसिद्ध विशिष्टाद्वैताचार्य वेदान्तदेशिकाचार्य उनके समकालीन और बालसखा थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ निम्नांकित हैं।

१. माधवीय धातुवृत्ति——यह व्याकरण ग्रन्थ है।

२. जैमिनीय न्यायमाला और उसकी टीका 'विवरण'। यह पूर्वमीमांसा सम्बन्धी ग्रन्थ है।

३. पराशरमाधवीय—यह पराशर संहिता के ऊपर एक निबन्ध है।

४. सर्वदर्शनसंग्रह—इसमें समस्त दर्शनों का पृथक्-पृथक् सार संगृहीत किया गया है।

५. विवरणप्रमेयसंग्रह। यह श्री पद्मपादाचार्यकृत पञ्चपादिका विवरण के ऊपर एक प्रमेय प्रधान निबन्ध है।

६. सूत संहिता की टीका : स्कन्दपुराणान्तर्गत सूत संहिता अद्वैत वेदान्त का निरूपण करती है। इस पर माधवाचार्य ने विशद टीका लिखी है।

इसके अतिरिक्त ७. पञ्चदशी ८. अनुभूति प्रकाश ९. अपरोक्षानुभूति की टीका १०. जीव सुक्तिविवेक ११. ऐतरेयोपनिषद्दीपिका, १२. तैत्तिरीयोपनिषद्दीपिका १३. छान्दोग्योपनिषद्दीपिका १४. वृहदारण्यक वार्त्तिक सार १५. शङ्कर-दिग्विजय १६. 'कालमाधव' नामक ग्रन्थ लिखकर माधवाचार्य ने प्रमाणित कर दिया कि वे एक साथ ही कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, तत्त्वनिष्ठ, महान् लोक संग्रही और पूर्ण त्यागी संन्यासी (विद्यारण्य नामक) थे। जैसे वे सफल राज्यसंस्थापक थे, वैसे ही संन्यासियों में भी अग्रगण्य थे। संन्यास ग्रहण के पश्चात् वे शृंगेरी मठ के शङ्कराचार्य की गद्दी पर सुशोभित हुए थे। इस प्रकार सौ वर्ष से भी अधिक आयु लाभकर उन्होंने अपनी जीवन यात्रा समाप्त की। सिद्धान्ततः विद्यारण्य स्वामी शङ्कराचार्य के अनुयायी थे। उनकी गणना अद्वैत सम्प्रदाय के प्रधान आचार्यों में होती है।

माधवी—माधवी अथवा ब्रह्मरम्भा शिव की शक्ति का पर्याय है।

माधवीय धातुवृत्ति—विजयनगर राज्य के स्थापक माधवाचार्य द्वारा विरचित यह एक व्याकरण ग्रन्थ है। इसकी रचना पाणिनीय धातुसूत्रों के अनुसार हुई है जिसमें अष्टाध्यायीस्थ संपूर्ण सूत्रों का संनियोजन धातु गणानुसार कर दिया गया है। दे० 'माधवाचार्य'।

माध्यन्दिनी—याज्ञवल्क्य के पिता (या गुरु) का नाम वाजसन था। इसलिए शुक्ल यजुर्वेद का नाम वाजसनेयी संहिता हो गया। जाबालादि १५शिष्यों ने उनसे यह वेद पढ़ा, जिनमें माध्यन्दिन मुख्य थे। वाजसनेयी संहिता की माध्यन्दिनी शाखा ही आजकल प्रचलित है।

सामवेद की भी एक माध्यन्दिन शाखा है। इस शाखा का पुष्पमुनि द्वारा रचित सामप्रातिशाख्य उपलब्ध है। माध्यन्दिन और काण्व दोनों शाखाओं का शतपथ ही ब्राह्मण ग्रन्थ है। माध्यन्दिनी शाखा के शतपथ ब्राह्मण में चौदह काण्ड हैं। यह सौ अध्यायों में तथा अड़सठ प्रपाठकों में विभक्त है। इसमें कुल मिलाकर चार सौ अड़तीस ब्राह्मणों पर विचार हुआ है। यह ब्राह्मण फिर सात हजार छः सौ चौबीस कण्डिकाओं में विभक्त है।

माध्व—दे० 'मध्व' एवं 'मध्व सम्प्रदाय'।

माध्व (माध्वाचार्य)—दे० 'मध्व सम्प्रदाय'।

माध्वमत—द्वैतवाद अथवा स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद के प्रमुख आचार्य श्री मध्व हैं और इसी से द्वैतवाद का दूसरा नाम माध्वमत है। सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार माध्व मत के आदि गुरु ब्रह्मा हैं। ब्रह्मसूत्र में विशिष्टाद्वैतवाद, भेदाभेदवाद और अद्वैतवाद का उल्लेख मिलता है, परन्तु द्वैतवाद का कोई उल्लेख नहीं मिलता। अवश्य ही विशिष्टाद्वैतवाद और भेदाभेदवाद भी द्वैतवाद के ही अन्तर्गत हैं। सांख्य मत भी द्वैतवाद ही है। परन्तु मध्वाचार्य का स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद इनसे बिलकुल भिन्न है। सांख्य के द्वैतवाद में दो पदार्थ हैं पुरुष और प्रकृति। ये दोनों नित्य और सत्य हैं। माध्वमत में जीव और ब्रह्म नित्य और दो

पृथक् पदार्थ हैं । रामानुज स्वामी जीव और ब्रह्म का स्वगत भेद स्वीकार करते हैं, परन्तु सजातीय और विजातीय भेद नहीं मानते । ब्रह्म स्वतंत्र है, जीव अस्वतंत्र है । ब्रह्म और जीव में सेव्य-सेवक भाव है । सेवक कभी सेव्य वस्तु से अभिन्न नहीं हो सकता । भेदाभेदवाद भी विशिष्टाद्वैतवाद के समान ही है । अतएव माध्वमत से ये सब भिन्न हैं ।

मध्वाचार्य से पहले इस मत का कोई उल्लेख नहीं मिलता । अवश्य ही उन्होंने पुराणादि का अनुसरण करके ही इस मत को स्थापित किया । मालूम होता है, मध्वाचार्य का स्वतंत्रास्वतंत्रवाद वैष्णवों के भक्तिवाद का फल है । जिन दिनों शाङ्करमत और भक्तिवाद का देश में संघर्ष चल रहा था, उन्हीं दिनों माध्वमत का उद्भव हुआ । घात-प्रतिघात के फलस्वरूप माध्वमत शाङ्करमत का विरोधी बन गया । इस मत में शाङ्करमत का बहुत तीव्र भाषा में खण्डन किया गया है । यह मत भी वैष्णवों के चार प्रमुख मतों में एक है ।

मध्वाचार्य के मत से ब्रह्म सगुण और सविशेष है । जीव अणु परिमाण हैं, वह भगवान् का दास है । वेद नित्य और अपौरुषेय हैं । पाञ्चरात्रशास्त्र का आश्रय जीव को लेना चाहिए । प्रपञ्चसत्य है । यहाँ तक मध्व का रामानुज से ऐकमत्य है । किन्तु पदार्थनिर्णय में दोनों में भेद है । मध्व के अनुसार पदार्थ दो प्रकार का है—स्वतंत्र और अस्वतन्त्र । अशेष सद्गुण युक्त भगवान् विष्णु स्वतंत्र तत्त्व हैं । जीव और जड़ जगत् अस्वतंत्र तत्त्व हैं । मध्वपूर्णरूप से द्वैतवादी हैं । वे कहते हैं, जीव भगवान् का दास है, दास यदि स्वामी से साम्य का बोध करे तो स्वामी उसे दण्ड देते हैं । 'अहंब्रह्मास्मि' के बोध पर भगवान् जीव को नीचे गिरा देते हैं । परमसेव्य भगवान् की सेवा के अतिरिक्त जीव को और कुछ नहीं करना चाहिए । स्वतन्त्र तत्त्व भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त करना ही एक मात्र पुरुषार्थ है । वह परम पुरुषार्थ भगवान् के दिव्य गुणों के स्मरण-चिन्तन के बिना नहीं प्राप्त हो सकता । 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों को सुनने से वैसा स्मरण, चिन्तन नहीं हो सकता । अङ्कन, भजन और नामकरण के द्वारा ही वह सुलभ होता है । निर्वाण-मुक्ति तो कहने पर की वस्तु है । सारुप्य, सालोक्य आदि मुक्ति ही परमार्थ है । इन्हीं बातों को हृदय में रखकर मध्वाचार्य ने स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद की स्थापना की ।

माध्व सम्प्रदाय—दे० 'मध्व सम्प्रदाय' ।

मानव—(१) मनु के वंशज (ऐ० ब्रा० ५।१४,२) मानव कहलाये । नाभानेदिष्ट और शर्याति के लिए यह पितृबोधक शब्द है । पुराणों में वर्णित सूर्य अथवा इक्ष्वाकु का वंश मानव वंश था ।

(२) मनु के नाम से प्रचलित धर्मशास्त्र भी 'मानव धर्मशास्त्र' कहलाता है ।

मानव उपपुराण—उन्तीस प्रसिद्ध उपपुराणों में से एक है ।

मानव गृह्यसूत्र—कृष्ण यजुर्वेदीय एक गृह्यसूत्र मानव-गृह्यसूत्र है । यह मनु द्वारा रचित माना जाता है । इस पर अष्टावक्र की वृत्ति है ।

मानवधर्मशास्त्र—दे० 'मनुस्मृति' ।

मानवश्रौतसूत्र—कृष्ण यजुर्वेदीय एक श्रौतसूत्र । यह मनुरचित माना जाता है एवं विशेष प्रसिद्ध है । इसमें पहले अध्याय में प्राक् सोम, दूसरे में अग्निष्टोम, तीसरे में प्रायश्चित्त, चौथे में प्रवर्ग्य, पाँचवें में दृष्टि, छठे में चयन, सातवें में वाजपेय, आठवें में अनुग्रह, नवें में राजसूय, दसवें में शुल्व सूत्र और ग्यारहवें अध्याय में परिशिष्ट है । अग्निस्वामी, बालकृष्ण मिश्र और और कुमारिल भट्ट इसके भाष्यकार हैं ।

मानवसृष्टि—इस सम्बन्ध से पद्म राण में उल्लेख है कि 'प्रजासृष्टि' के प्रारम्भ में प्रजापति ने ब्राह्मण की सृष्टि की । ब्राह्मण आत्मतेज से अग्नि और सूर्य की तरह उद्दीप्त हो उठे । इसके बाद सत्य, धर्म, तप, ब्रह्मचर्य, आचार और शौच आदि ब्रह्मा से उत्पन्न हुए । इन सब के पश्चात् देव, दानव, गन्धर्व, दैत्य, असुर, उरग, यक्ष, रक्ष, राक्षस, नाग, पिशाच और मनुष्य की सृष्टि हुई ।

हिन्दू धर्मावलम्बियों की धारणा है कि मानवसृष्टि आर्यावर्त में ही हुई और यहीं से सारे संसार में फैली । ब्राह्मणों के अदर्शन से (अर्थात् वैदिक संस्कार कराने वालों के न मिलने से अथवा लोप होने से) यह सृष्टि भ्रष्ट हो गई। अतः म्लेच्छ हो गयी । ये ही म्लेच्छ जातियाँ हजारों वर्ष तक जङ्गली रहीं। फिर धीरे धीरे स्वाभाविक रीति से इनका विकास हुआ । भारतेतर देशों की, विशेषतः पश्चिम की मानवजाति की—यही कहानी है । इसी कारण वे अपने को आज भी आर्य कहते हैं ।

मानवाचकम् कडन्दान—तमिल शैवों में मानवाचकम् कडन्दान एक आचार्य हुए हैं। ये मेयकण्डदेव के शैव थे तथा इन्होंने 'उण्मै विलक्कम्' नामक सिद्धान्त ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ चौदह तमिल शैव सिद्धान्त ग्रन्थों में से एक है। इसमें ५४ छन्दों में प्रश्नोत्तर के रूप में सिद्धान्त की मुख्य शिक्षाओं का वर्णन हुआ है।

मानसतीर्थ महत्त्व—सत्य तीर्थ है, क्षमा तीर्थ है, इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना भी तीर्थ है, सब प्राणियों पर दया करना भी तीर्थ है और सरलता भी तीर्थ है। दान तीर्थ है, मन का संयम तीर्थ है, संतोष भी तीर्थ कहा जाता है। ब्रह्मचर्य परम तीर्थ और प्रिय वचन बोलना भी तीर्थ है। ज्ञान तीर्थ है, धैर्य तीर्थ है; तप को भी तीर्थ कहा गया है। तीर्थों में भी सबसे श्रेष्ठ तीर्थ है अन्तःकरण की आत्यन्तिक विशुद्धि। जिसने इन्द्रिय-समूह को वश में कर लिया है वह मनुष्य जहाँ भी निवास करता है वहीं उसके लिए कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्कर आदि तीर्थ हैं। ध्यान के द्वारा पवित्र तथा ज्ञानरूपी जल से भरे हुए, रागद्वेष रूपी मल को दूर करने वाले मानसतीर्थ में जो पुरुष स्नान करता है वह परम गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

मानसोल्लास—(१) सुरेश्वराचार्य या (पूर्वाश्रम के) मण्डनमिश्र कृत मानसोल्लास को दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्त्तिक भी कहते हैं।

(२) यह राजनीति का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसकी रचना कल्याणी के चालुक्य वंशी राजा चतुर्थ सोमेश्वर ने की थी।

माया—शंकराचार्य के अनुसार सम्पूर्ण वेदान्त एक वाक्य में कहा जा सकता है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या; जीवो ब्रह्मैव नापरः।' [ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या है; जीव भी ब्रह्म ही है, अन्य नहीं।] इस प्रकार केवल एक तत्त्व ब्रह्म ही जगत् में प्रतिभासित है। अपनी ही जिस शक्ति से ब्रह्म संसार में प्रतिभासित होता है वह माया है। माया शुद्ध भ्रम अथवा ज्ञान का अभाव नहीं है। यह भावरूपा है। इसको न सत्य कह सकते हैं और न असत्य; यह दोनों का युग्म है (सत्यानृते मिथुनीकृत्य)। यह सत्य इसलिए नहीं है कि केवल ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है; इसको असत्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसी के द्वारा ब्रह्म जगत् में प्रतिभासित होता है। वास्तव में यह दोनों से विलक्षण है (सदसद्-विलक्षण)। यह शक्तिरूपा है। इसको अध्यास (आरोप) भी कहते हैं। जिस प्रकार भ्रम के द्वारा शुक्ति (सीप) में रजत (चाँदी) का आरोप हो जाता है उसी प्रकार माया के कारण ब्रह्म में जगत् का आरोप हो जाता है। जब वास्तविक ज्ञान (प्रमा) उत्पन्न होता है तो भ्रान्ति दूर हो जाती है।

माया के दो कार्य हैं—(१) आवरण और (२) विक्षेप। आवरण से मोह उत्पन्न होता है जिसके कारण जीवात्मा में ब्रह्म और जगत् के बीच भ्रम उत्पन्न होता है और वह जगत् को सत्य समझने लगता है। विक्षेप के कारण ब्रह्म जगत् में प्रतिभासित होता है। जब ब्रह्म अविद्या में विक्षिप्त होता है तो जीव बन जाता है और जब माया में विक्षिप्त होता है तो ईश्वर कहलाता है। शाङ्करमत में माया के निम्नांकित लक्षण हैं:—(१) यह सांख्य की प्रकृति के समान जड़ है किन्तु न तो ब्रह्म से स्वतंत्र है और न वास्तविक (२) यह शक्तिरूपा ब्रह्म की सहवर्तिनी और उस पर सर्वथा अवलम्बित है (३) यह अनादि है (४) यह सत् और असत् से विलक्षण है (६) यह विवर्तमात्र है, किन्तु इसकी व्यावहारिक सत्ता है (७) यह अध्यास (आरोप) और भ्रान्ति है; इसकी सत्ता उसी समय तक है जब तक जीवात्मा भ्रम में रहता है (८) यह विज्ञान (वास्तविक ज्ञान) से दूर करने योग्य है (विज्ञान निरस्या) और (९) इसका आश्रय और विषय दोनों ब्रह्म हैं।

रामानुजाचार्य ने शङ्कर के इस मायावाद का घोर खण्डन किया है। वे माया को ईश्वर की वास्तविक शक्ति मानते हैं जिसके द्वारा वह जगत् की सृष्टि करता है। वे सृष्टि को मिथ्या न मानकर उसे वास्तविक और ईश्वर की लीला भूमि मानते हैं।

मायातन्त्र—'आगमतत्त्व विलास' में उद्धृत तन्त्रों की सूची में से एक तन्त्र।

मायावाद—शाङ्करमतानुसार सम्पूर्ण प्रपञ्च की सत्यत्व-प्रतीति अध्यास या माया के ही कारण है। इसी से अद्वैतवाद को अध्यासवाद या मायावाद कहते हैं। दे० 'माया।'

मायावादखण्डन टीका—स्वामी जयतीर्थाचार्य ने 'मायावाद खण्डन टीका' रची। इसमें इन्होंने मध्व के मतों का ही विवेचन किया है। यह पन्द्रहवीं शताब्दी का ग्रन्थ है।

मायाशक्ति—माया (विश्व) सृष्टि के अभौतिक उपादान का नाम है। इससे नियति की उत्पत्ति हुई जो सभी

पदार्थों को नियमित करती है । नियति से काल तथा काल से गुणशरीर की उत्पत्ति होती है ।

मार्कण्डेयक्षेत्र—(गङ्गा-गोमतीसंगम) । वाराणसी-गाजीपुर के बीच कैंथी बाजार के पास यह तीर्थ स्थल पड़ता है । यहीं पर मार्कण्डेय महादेव का मन्दिर है । यह क्षेत्र मार्कण्डेय जी की तपोभूमि बतलायी जाती है । यात्री मन्दिर में भी ठहर सकते हैं । शिवरात्रि को यहाँ मेला लगता है । मन्दिर से प्रायः दो फर्लांग की दूरी पर गंगा में गोमती नदी मिलती है । यहाँ सन्तान प्राप्ति के लिए अनुष्ठान-पूजन शीघ्र फलदायक होता है ।

मार्कण्डेय पुराण—यह महापुराणों में से एक है । मार्कण्डेय ऋषि द्वारा प्रणीत होने के कारण इसका यह नाम पड़ा । मत्स्यपुराण, ब्रह्म वैवर्त्तपुराण, नारदीय पुराण, भागवत पुराण आदि के अनुसार माकंण्डेय पुराण में नौ हजार नौ सौ श्लोक होने चाहिए । परन्तु उपलब्ध पोथियों में केवल छः हजार नौ सौ श्लोक पाये जाते हैं । इसके प्रारम्भिक अध्यायों में मरणोत्तर जीवन की विस्तृत कथा कही गयी है । इस पुराण का मुख्य अंश 'चण्डी सप्तशती' है, जिसका नवरात्र में पाठ होता है । इस सप्तशती का अंश ७८वें अध्याय से ९०वें अध्याय तक है । मार्कण्डेय पुराण का यही अंश अलग प्रकाशित पाया जाता है । ब्रह्मवादिनी मदालसा का पवित्र जीवनचरित भी इसमें वर्णित है ! मदालसा ने शैशव में ही अपने पुत्र को ब्रह्मतत्त्व का उपदेश किया, जिसके राजा होने पर भी जीवन में ज्ञान और योग का सुन्दर समन्वय रहा ।

मार्गशीर्षकृत्य—यह सम्पूर्ण मास अत्यन्त पवित्र माना जाता है । मास भर बड़े प्रातः काल भजन मण्डलियाँ भजन तथा कीर्तन करती हुई निकलती हैं । गीता (१०.३५) में स्वयं भगवान् ने कहा है 'मासाना मार्गशीर्षोऽहम् ।' यहाँ इस मास से सम्बद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों का उल्लेख किया जा रहा है । सतयुग में देवों ने मार्गशीर्ष मास की प्रथम तिथि को ही वर्ष प्रारम्भ किया । इसी मास में कश्यप ऋषि ने सुन्दर कश्मीर प्रदेश की रचना की । इसलिए इसी मास में महोत्सवों का आयोजन होना चाहिए । मार्गशीर्ष शुक्ल १२ को उपवास प्रारम्भ कर प्रति मास की द्वादशी को उपवास करते हुए कार्तिक की द्वादशी को पूरा करना चाहिए । प्रति द्वादशी को भगवान् विष्णु के केशव से दामोदर तक १२ नामों में से एक-एक मास तक उनका पूजन करना चाहिए । इससे पूजक 'जातिस्मर'-पूर्व जन्म की घटनाओं को स्मरण रखनेवाला-हो जाता है तथा उस लोक को पहुंच जाता है जहाँ से फिर संसार में लौटने की आवश्यकता नहीं पड़ती (अनुशासन, अध्याय १०९, बृ० सं० १०४.१४-१६) । मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को चन्द्रमा की अवश्य पूजा की जानी चाहिए क्योंकि इसी दिन चन्द्रमा को सुधा से सिञ्चित किया गया था । इस दिन गौओं को नमक दिया जाय, तथा माता, बहिन, पुत्री और परिवार की अन्य स्त्रियों को एक-एक जोड़ा वस्त्र प्रदान कर सम्मानित करना चाहिए । इस मास में नृत्य-गीतादि का आयोजन कर एक उत्सव भी किया जाना चाहिए । मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को ही दत्तात्रेय-जयन्ती मनायी जानी चाहिए । दे० कृत्यकल्पतरु का नैत्य कालिक काण्ड, ४३२-३३; कृत्यरत्नाकर, ४७१-७२ ।

मार्जारी भक्ति—शैव आगमों के अनुसार जीवात्मा की अवस्था देवता की दया पर ठीक उसी तरह आश्रित होती है जिस प्रकार बिल्ली के बच्चों का जीवन अपनी माँ की दया पर आधारित होता है । बिल्ली अपने मुंह से जब तक न पकड़े, वे असहायावस्था में एक ही स्थान में पड़े रहते हैं । इसी तरह परमेश्वर पर पूर्णतः अवलम्बित भक्त है । इसकी विलोम वानरी भक्ति है, जिसमें बन्दर के बच्चे की तरह जीवात्मा अपनी ओर से भी आराध्य को कुछ पकड़ने का प्रयास करता है । दे० मर्कटात्मज भक्ति ।

मार्त्तण्ड सप्तमी—पौष शुक्ल सप्तमी को इसका अनुष्ठान होता है । उस दिन उपवास करने का विधान है । 'मार्त्तण्ड' शब्द का उच्चारण करते हुए उस अवसर पर सूर्य का पूजन करना चाहिए । व्रती को अपने शुद्धीकरण के लिए गोमूत्र या गोमय या गोदुग्ध या गोदधि लेना चाहिए । अग्रिम दिन सूर्य का 'रवि' नाम लेकर पूजन करना चाहिए । इस प्रकार उसे दो दिनों के लिए हर मास यह आचरण एक वर्ष तक करना चाहिए । एक दिन किसी गौ को घास या ऐसा ही कोई खाद्य पदार्थ देना चाहिए । इससे सूर्य लोक की प्राप्ति होती है ।

मालती माधव—संस्कृत भाषा का नाटक जिसमें कापालिक सम्प्रदाय के क्रिया-कलापों का वर्णन पाया जाता है । नाटक का मुख्य पात्र कापालिक सन्यासी अघोरघण्ट था, जो राजधानी के चामुण्डा मन्दिर का पुजारी तथा एक बड़े शैव तीर्थ श्रीशैल से सम्बन्धित था । कपाल कुण्डला

अघोरघण्ट की शिष्या सन्यासिनी थी जो देवी की उपासिका थी । दोनों योगाभ्यास करते थे । उनके विश्वास शाक्त विचारों से भरे थे । वे नरवलि, (देवी के अर्पणार्थ) के अभ्यासी थे, इत्यादि । इस प्रकार आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में महाकवि भवभूति रचित इस नाटक में तत्कालीन शैव विश्वासों तथा अनेकानेक धार्मिक क्रियाओं, शाक्तों की अद्भुत शक्ति आदि का अभिनव वर्णन प्राप्त होता है । देवी को जाग्रत करने के लिए शाक्तयोग का साधन, देवी को सबसे ऊंचे चक्र पर चढ़ाने की चेष्टा, चक्र के अन्दर के केन्द्र व रेखाएँ, उनके आश्चर्यपूर्ण फल आदि सभी बातें इस नाटक में प्राप्त होती हैं ।

मालिनीतन्त्र—'आगम तत्त्वविलास' के ६४ तन्त्रों की सूची में उद्घृत एक तन्त्र ।

मालिनीविजय तन्त्र—दसवं शताब्दी के पूर्व इसकी रचना मानी जानी चाहिए, क्योंकि कश्मीर के शैव आचार्य अभिनवगुप्त (१०५७) ने अपने ग्रन्थ में इसका उद्धरण दिया है ।

माशक (मशक) सूत्र ग्रन्थ—सामवेद के जितने सूत्र ग्रन्थ हैं उतने किसी वेद के देखने में नहीं आते । पञ्चविंश ब्राह्मण का एक श्रौतसूत्र है और एक गृह्यसूत्र । पहले श्रौतसूत्र का नाम 'माशक' है । लाट्यायन ने इसको 'मशकसूत्र' लिखा है । कुछ लोगों की राय में इन ग्रन्थों का नाम कल्पसूत्र है ।

मास—चन्द्रमा की एक भूचक्रपरिक्रमा के आधार पर 'मास' से महीने का बोध होता है । मास के प्रसिद्ध सीमा-दिन अमावस्या तथा पूर्णमासी हैं ।

यह निश्चित नहीं ज्ञात होता कि एक अमावस के अन्त से दूसरी अमावस (अमान्त मास) या एक पूर्णिमा के अन्त से दूसरी पूर्णिमान्त तक मास-गणना होती थी उत्तर भारत में पूर्णिमान्त प्रथा प्रचलित है और दक्षिण भारत में अमान्त प्रथा । जाकोबी फाल्गुन की पूर्णिमा से वर्षारम्भ होना मानते हैं । ओल्डेनबर्ग प्रथम चन्द्र को ही वर्ष का आरम्भ-बिन्दु समझते हैं । मास के तीस दिन होते थे क्योंकि वर्ष में १२ मास और ३६० दिन कहे गये हैं ! सूत्रों में मास अलग-अलग संख्यक दिनों के लिये उद्धृत हैं ।

मासक्षपौर्णमासीव्रत—कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को इस व्रत का प्रारम्भ होता है । इस अवसर पर व्रती को नक्त पद्धति से आहार करना चाहिए । नमक से एक वृत्त बनाकर तथा उसे चन्दन के लेप से चर्चित करके चन्द्रमा को दस नक्षत्रों सहित पूजना चाहिए—यथा कार्तिक मास मे जब चन्द्रमा कृत्तिका तथा रोहिणी से युक्त हो, मार्गशीर्ष मास में जब मृगशिरा तथा आर्द्रा से युक्त हो, और इसी प्रकार से आश्विन मास तक । सधवा महिलाओं को गुड़, सुन्दर खाद्यान्न, घृत-दुग्धादि देकर सम्मानित करना चाहिए । तदनन्तर स्वयं हविष्यान्न ग्रहण करना चाहिए । व्रत के अन्त में सोने से रंगे हुए (जरी के काम वाले) वस्त्र दान में देने चाहिए ।

मासव्रत—मार्गशीर्ष मास से कार्तिक मास तक बारहों मास व्रती को निम्न वस्तुएँ दान करनी चाहिए—नमक, घी, तिल, सप्त धान्य, आकर्षक वस्त्र, गेहूं, जल पूर्ण कलश, कपूर सहित चन्दन, मक्खन, छाता, शर्करा अथवा गुड़ के लड्डू । वर्ष के अन्त में गौ का दान तथा दुर्गा जी, ब्रह्मा जी, सूर्य नारायण अथवा विष्णु भगवान् का पूजन करना चाहिए ।

मासोपवास व्रत—समस्त व्रतों में यह महान् और प्राचीन व्रत है । नानाघाट शिलालेख के अनुसार रानी नायनिका (नागनिका) ने ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में इस व्रत का आचरण किया था । दे० ए० एस० डब्ल्यू० आई० जिल्द ५ पृ० ६० । इसका वर्णन अग्नि (२०५.१-१८), गरुड (१.१२२.१-७), पद्म० (६.१२१-१५-५४) ने किया है । अग्निपुराण में इसका संक्षिप्त वर्णन मिलता है, अतएव उसी का यहाँ वर्णन किया जा रहा है । व्रती को वैष्णव व्रतों का आचरण करने (जैसे द्वादशी) के लिए गुरु की आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिए । अपनी शक्ति तथा आत्मबल देखकर आश्विन शुक्ल एकादशी को व्रत आरम्भ कर ३० दिनों तक निरन्तर व्रत रखने का संकल्प करना चाहिए । तपस्वी साधु या यति या विधवा ही इस व्रत का आचरण करे, गृहस्थ नहीं । गन्ध पुष्प आदि से दिन में तीन बार विष्णु का पूजन करना चाहिए । विष्णु के स्तोत्रों तथा मंत्रों का पाठ एवं उनका ही मनन-चिन्तन करना चाहिए । व्यर्थ की बकवास, सम्पत्ति का मोह तथा ऐसे व्यक्ति के स्पर्श का भी त्याग करना चाहिए जो नियमों का पालन न कर रहा हो । तीस दिन तक किसी मन्दिर में ही निवास करना चाहिए । तीनों दिन व्रत कर लेने के बाद द्वादशी के दिन ब्राह्मणों को भोजन कराकर,

दक्षिणा देकर तथा तेरह ब्राह्मणों को वस्त्रों के जोड़े, आसन, पात्र, छाता, खड़ाऊँ की जोड़ी प्रदान कर स्वयं व्रत की पारणा करनी चाहिए। विष्णु भगवान् की प्रतिमा किसी पर्यङ्क पर स्थापित कर उनको वस्त्रादि धारण कराने चाहिए। अपने गुरु को पर्यङ्क पर बैठाकर ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र दान में देने चाहिए। जिस स्थान पर ऐसा व्रती तीस दिन निवास करता है वह पवित्र हो जाता है। इस व्रत के आचरण से न केवल व्रती अपने आपको बल्कि परिवार के अन्य सदस्यों को भी विष्णु लोक ले जाता है। यदि किसी प्रकार व्रत काल में व्रती मूर्छित हो जाय तो उसे दुग्ध, शुद्ध नवनीत, फलों का रस देना चाहिए। ब्राह्मणों की आज्ञा से उपर्युक्त वस्तुओं को लेने से व्रत खण्डित नहीं होता है।

माहिष्मती (महेश्वर)—विख्यात शैव तीर्थ तथा नर्मदा-तट का प्रसिद्ध धार्मिक नगर। यह कृतवीर्य के पुत्र सहस्रार्जुन की राजधानी थी। आद्य शंकराचार्यजी से शास्त्रार्थ करने वाले मण्डन मिश्र भी यहीं के रहने वाले थे। यहाँ कालेश्वर और बालेश्वर के शिव मन्दिर हैं। नगर के पश्चिम मतङ्ग ऋषि का आश्रम तथा मातङ्गेश्वर मन्दिर है। पास ही भर्तृहरि गुफा और मंगला गौरी मन्दिर है। नर्मदा के द्वीप में बाणेश्वर मन्दिर है। वहीं सिद्धेश्वर और रावणेश्वर लिङ्ग भी है। पञ्चपुरियों की गणना में महेश्वरपुर की गणना आती है। यहाँ अनेक मन्दिर हैं। जगन्नाथ, रामेश्वर, बदरीनाथ, द्वारकाधीश, पंढरीनाथ, परशुराम, अहल्येश्वर आदि। यह पुरी गुप्त काशी भी कही जाती है।

माहेश्वर—यह शैवों के सम्प्रदाय विशेष की उपाधि है इसका शाब्दिक अर्थ है 'महेश्वर (शिव) का भक्त'।

माहेश्वर उपपुराण—यह उन्तीस प्रसिद्ध उपपुराणों में से एक है।

माहेश्वर सम्प्रदाय—महाभारत काल में पाशुपत मत प्रधान रूप से प्रचलित था। माहेश्वर तथा शैव आदि उसके अन्तर्गत उपसम्प्रदाय थे। माहेश्वर सम्प्रदाय में महेश-मूर्ति की उपासना होती है। अन्य आचार सामान्य शैवों जैसा ही होता है।

माहेश्वर सूत्र—चौदह माहेश्वर सूत्रों के आधार पर अष्टाध्यायी में पाणिनि ने प्रत्याहार बनाये हैं, जिनका प्रयोग आदि से अन्ततक अपने सूत्रों में किया है। इन प्रत्याहारों से सूत्रों की रचनाओं का अत्यन्त लाघव हो गया है। माहेश्वर सूत्र निम्नलिखित हैं :

(१) अऍंउण्। (२) ऋऌक्। (३) ए ओङ्। (४) ऐ औच्। (५) हयवरट्। (६) लण्। (७) ञमङणनम्। (८) झभञ्। (९) घढधष्। (१०) जबगडदश्। (११) खफछठथचटतव्। (१२) कपय्। (१३) शषसर्। (१४) हल्।

मांस—सजीव प्राणियों और निर्जीव फल आदि का भीतरी कोमल द्रव्य (गूदा) जो छदन-भेदन द्वारा खाने के काम आता है। प्राणियों के मांस का उपयोग भक्षणार्थ हिंसक पशु और असभ्य कोल-भील आदि लोगों में प्रचलित था। शत्रु वधाभिलाषी क्षत्रिय, सैनिक और राजा लोग भी युद्ध शिक्षार्थ पशु वध करते हुए मांस खाने लगते थे। राजा विशेष कर हिंसक जन्तुओं का शिकार वनवासी प्रजा और ग्राम्य पशुओं के रक्षार्थ ही करते थे। इन लोगों में मांसभक्षण की प्रवृत्ति आक्रमण और युद्ध के समय उग्रता प्रकाश के विचार से उचित या वैध मानी जाती थी। मांस भक्षण असभ्य, अशिक्षित, मूढ़ लोगों में स्वभावतः प्रचलित था। काल क्रम से इनकी देखा-देखी सभ्य क्षत्रिय या द्विज भी लौल्यवश इधर प्रवृत्त हो जाते थे। किंतु प्राचीन धर्मग्रन्थों में मांसभक्षण निषिद्ध ठहराया गया है। फिर भी इस प्रवृत्ति का निःशेष निरोध सहसा कठिन देखकर शास्त्रकारों ने याज्ञिक कर्मकाण्ड के आवरण से इसको प्रयाससाध्य या महँगा बना दिया। नियम बन गये कि मांस खाना हो तो लंबे यज्ञानुष्ठान के द्वारा पशुबलि देकर प्रसाद—यज्ञ शेष रूप—में ही ऐसा किया जा सकता है। पूर्वमीमांसा शास्त्र में यह 'परिसंख्या विधि' का सिद्धान्त कहलाता है। मांसभक्षण से निवृत्त होना ही इसका आशय है।

धार्मिक रूप से वेदमन्त्रों ने पशुमांस भक्षण का स्पष्ट निषेध किया है और अहिंसा धर्म की प्रशंसा की है। 'परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा'' वाली तुलसीदासजी की उक्ति निराधार नहीं है। ''मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'' प्रसिद्ध वेदवाक्य है। ''यजमानस्य पशून् पाहि', (यंजु० १.१), ''अश्वम् अविम् ऊर्णायुं मा हिंसीः।'' (यजु० १३.५०), ''मा हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः।'' (अथर्व०

११.२), "मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।" (यजु० ३६.१८) आदि वचनों के प्रकाश में धार्मिक दृष्टि से मांसभक्षण की अनुज्ञा नहीं है। कुछ तथाकथित सुधारक या पंडितमन्य आलोचक ऋग्वेद की दुहाई देकर गोवध और तन्मासभक्षण को वैध ठहराते हैं। ऐसे लोग वैदिक रहस्यार्थ से वंचित और अबोध हैं। ऋग्वेद में प्रातः शान्तिपाठ के लिए गोसूक्त का उदात्त निर्देश है: "दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्ये वर्धतां सौभगाय।" (१.१६,४२७)" "अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वेदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती।" (१.१६४.४०)। प्रत्येक विवाह विधि में यह ऋग्मंत्र वर की ओर से पढ़ा जाता हैं: "माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यामामृतस्य नाभिः। मा गामनागामदितिं वधिष्ट।" (८.१०१.१५)। ऋग्वेद की उक्त स्पष्ट गो आदि पशुवध तथा मांसभक्षण-विरोधी आज्ञाओं के होते हुए यह कहना कि वैदिक काल के हिन्दुओं में धर्मविहित गोवध या मांसभक्षण प्रचलित था, सरासर दुःसाहस और अनैतिहासिक है। संभवतः यह एक षडयन्त्र था जिसमें विधर्मी शासकों द्वारा स्वार्थसिद्धि के लिए कुछ पाश्चात्य लेखकों को फुसलाकर उनसे वेदमन्त्रों की ऐसी अनर्थकारी व्याख्यायें लिखवायी गयीं। कुछ वैदिक कूट पहेलियों जैसे वाक्यों ने इन लोगों को व्यामोहित भी कर डाला। मांसभक्षण और पशुवध के सम्बन्ध में वेद का यह कठोर आदेश है:

यः पौरुषेयेण ऋविषा समङ्क्ते
यो अश्वेन पशुना यातुधानः।
यो अघ्नाया भरति क्षीरमग्ने
तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥
(ऋ. १०.८७.१६)

या आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये ऋविः।
गर्भान् (अण्डान्) खादन्ति केशवास्तान् इतो
नाशयामसि ॥ (अथर्व० ८.६.२३)

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृशरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतद् नैतद् वेदेषु दृश्यते ॥
(महा० शान्ति० २६५.९)

मित्र—आदित्य वर्ग का वैदिक देवता। वरुण के साथ इसका सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि स्वतंत्र रूप से केवल एक सूक्त (ऋग्वेद ३.५९) में इसकी स्तुति मिलती है। मित्र का सबसे बड़ा गुण यह माना गया है कि वह अपने शब्दों का उद्घोष करता हुआ (ब्रुवाणः) लोगों को एक दूसरे से सम्मिलित करता है (यातयति) और अनिमेष दृष्टि से (अनिमिषा) कृषकों की रखवाली करता है। मित्र मनुष्यों को प्रेरित कर उनको कार्यों में लगाता है, जिन्हें वे मैत्री और सहकारिता द्वारा पूरा करें। वह दैवी मित्र और सन्धि का देवता है। वह अपने गुणों को मानवों में उतारता है।

मित्र के बारे में प्रायः वे ही बातें कही गयी हैं जो वरुण के बारे में प्रसिद्ध हैं। वह स्वर्ग तथा पृथ्वी का धारण करने वाला, लोकदेवता, स्वर्ग और पृथ्वी से बड़ा, निर्निमेष मानवों की ओर देखने वाला, राजाओं के समान जिसके व्रतों (आज्ञाओं) का पालन होना चाहिए, दयालुता का देवता, सहायक, दानी, स्वास्थ्यवर्द्धक, समृद्धि दाता आदि है। मित्र सूर्योदय अथवा दिन का देवता है, वरुण सूर्यास्त अथवा रात्रि का। मित्र दिन के नैतिक जीवन का संरक्षक है, वरुण रात्रि के नैतिक जीवन का।

मित्र तथा वरुण के नाम विंकलर द्वारा 'बोगाज-कोई' (लघु एशिया, ईराक) की तख्ती पर (१४०० ई० पू०) लिखित अभी कुछ वर्ष पूर्व प्राप्त हुए हैं। ओल्डेनबर्ग के मतानुसार ये देवता ईरानी हैं। अन्य विद्वानों के अनुसार ये भारतीय हैं। यदि ये वैदिक माने जायँ तो इनकी उपर्युक्त स्थिति से प्राचीन काल के भारत तथा लघु एशिया के सम्बन्धों की पुष्टि होती है तथा यह भी पता चलता है कि भारतीय आर्यों की एक शाखा इसी मार्ग (बोगाज-कोई) से अपने पश्चिमी निवास की ओर अग्रसर हुई थी। बोगाज-कोई अभिलेख के मित्र एवं वरुण की सहयोगिता का उल्लेख पारसियों के 'अवेस्ता' में 'मिथ्र तथा अहुर' के नामों से हुआ है। परवर्ती अवेस्ता के मिथ्र-अहुर तथा ऋग्वेदीय मित्र-वरुण के जोड़े यह सिद्ध करते हैं कि यह मान्यता भारत-ईरानी एकता टूटने के पूर्व की है। बोगाज-कोई अभिलेख भी इस बात की पुष्टि 'अस्सिल' प्रत्यय द्वारा जोड़े जाने वाले मित्र तथा वरुण से करता है। अवेस्ता में 'मित्र' का अर्थ सिन्ध है तथा ऋग्वेद में यह 'मित्रता' अर्थ का द्योतक है।

जान पड़ता है कि मित्र प्रारम्भ में सन्धि का देवता था, जैसे जेनस् का अर्थ है "द्वार का देवता"। इस प्रकार मित्र वह देवता है जो सत्य भाषण, मनुष्य मनुष्य के बीच हुई स्वीकृतियों, वचनों, सन्धियों में सचाई की देख-रेख

करता था। सत्य अन्तप्रकाश है तथा प्रकाश बाहरी सत्य है। यह नहीं जान पड़ता कि मित्र में कौन सा विचार पहले प्रविष्ट हुआ। सम्भवतः उसमें नैतिक गुणों की ही प्राथमिकता ज्ञात होती है।

मित्र का भौतिक रूप प्रकाश था जो कुछ आगे-पीछे मान्य हुआ। कुछ विद्वान् मित्र की एकता सूर्य से स्थापित करते हैं और इस प्रकार मित्र एवं वरुण से 'सूर्यप्रकाश एवं उसे घेरने वाला वृत्ताकार आकाश' अर्थ की सम्भवतः स्थापना होती है।

तीसरी मान्यता में मित्र युद्ध का देवता है (मिह्यश्त के अनुसार)। बाद में मिथ्रवाद या मिथ्र की पूजा रोमन साम्राज्य में फैली। योद्धा, देवता, स्पष्टवादिता, ईमानदारी सीधे मार्ग का अनुसरण आदि सैनिकों के गुणों के साथ वह युद्ध का देवता माना जाने लगा। मिथ्रवाद का काल पश्चिमी देशों में १०० से ३०० ई० तक रहा। एक समय था जब यह कहना कठिन था कि मिथ्रवाद तथा ख्रीष्टिवाद में से कौन विजयी होगा।

मित्र-भू-काश्यप—कश्यप का वंशज। यह वंश ब्राह्मण में उद्धृत एक आचार्य का नाम है जो विभाण्डक काश्यप का शिष्य था।

मित्रसप्तमी—मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी मित्रसप्तमी कहलाती है। यह तिथिव्रत है। मित्र (सूर्य) इसके देवता हैं। षष्ठी को मित्र की प्रतिमा को उसी प्रकार स्नान कराना चाहिए जैसे कार्तिक शुक्ल ११ को विष्णु भगवान् की प्रतिमा को कराया जाता है। सप्तमी को उपवास (फलों का सेवन किया जा सकता है) तथा रात्रि को जागरण करना चाहिए। विभिन्न प्रकार के पुष्पों तथा स्वादिष्ट खाद्यान्नों से सूर्य का पूजन करना चाहिए। निर्धनों, अनाथों तथा ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए। अष्टमी को अभिनेताओं तथा नर्तकों को रुपयों का वितरण करना चाहिए। दे० नीलमत पुराण, पृ० ४६-४७ (श्लोक ५६४-५६९)

मिश्र—(१) संयुक्त अथवा मिला हुआ। मिश्र तन्त्र आठ हैं। इन के दो गुण हैं: देवी की उपासना के सम्बन्ध में शिक्षा देना, एवं पार्थिवसुख के साथ ही मुक्ति का मार्ग भी प्रदर्शित करना। इस प्रकार इनमें दो लक्ष्यों का मिश्रण है। इसके विपरीत समय या शुभ (उच्च) तन्त्र केवल 'मुक्ति' का ही मार्गदर्शन कराते हैं।

(२) मिश्र का अर्थ 'श्रेष्ठ' भी होता है। 'आर्यमिश्रा' श्रेष्ठ लोगों के लिए सम्बोधन के रूप में संस्कृत ग्रन्थों में प्रयुक्त होता है।

मिहिर—ईरानी देवता "मिथ्र" को ही संस्कृत में मिहिर कहते हैं। दूसरी शताब्दी ई० पू० में उत्तर भारत में इस शब्द का प्रवेश हुआ। क्रमशः आगे चलकर भारतीय सौर सम्प्रदाय में यह पूजनीय रूप से समाविष्ट हो गया।

वास्तव में वैदिक 'मित्र' देवता प्राचीन काल में ईरान के पारसियों में भी मिथ्र नाम से पूज्य था। आगे चलकर मिथ्र का परिवर्तित रूप मिहिर भारत में भी प्रचलित हो गया। मिहिर और मित्र दोनों आदित्य के पर्याय माने जाते हैं।

मीनापंथ—सिक्खों के 'सहिजधारी' और 'सिंह' दो विभाग हैं। सहिजधारियों के भी अनेक पन्थ हैं। इनमें एक है मीना पन्थ। इसे गुरु रामदास के पुत्र पृथ्वीचन्द ने चलाया था। दे० 'सिक्ख सम्प्रदाय'।

मीमांसक—मीमांसा शास्त्र के विद्वानों को मीमांसक कहते हैं। कर्म मीमांसा दर्शन की स्थापना इसके लिए हुई थी कि श्रौत तथा गृह्यसूत्रों में बतायी हुई सारी बातों का पालन सन्देहरहित विश्वासपूर्ण नियमों के अनुसार हो। बड़े बड़े श्रौत यज्ञों के अवसरों पर उस उद्देश्य की रक्षा के लिए विद्वान् मीमांसक निर्देशार्थ उपस्थित रहते थे।

मीमांसा—दे० 'पूर्वमीमांसा'।

मीमांसान्यायप्रकाश—आपदेव सुप्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् थे। उनका 'मीमांसान्यायप्रकाश' पूर्वमीमांसा का प्रारम्भिक और प्रामाणिक प्रकरण ग्रन्थ है। रचनाकाल १६३० ई० है। इसे आपदेवी भी कहते हैं। सरल होने के कारण इसका प्रचार तथा प्रयोग प्रचुर हुआ है।

मीमांसावृत्ति—उपवर्ष नामक वृत्तिकार द्वारा पूर्व और उत्तर दोनों ही मीमांसा शास्त्रों पर वृत्ति ग्रन्थ लिखे गये थे। शङ्कराचार्य (ब्र. सू. ३.३.५३) कहते हैं कि उपवर्ष ने अपनी मीमांसावृत्ति में कहीं-कहीं पर शारीरक सूत्र पर लिखित वृत्ति की बातों का उल्लेख किया है। ये उपवर्षाचार्य शबरस्वामी से पहले हुए थे।

मीमांसाशास्त्र—विशिष्टाद्वैतवादी वैष्णव आचार्यों के मत से पूर्वोत्तर रूपात्मक मीमांसा शास्त्र एक ही है। वे दोनों के सूत्रपाठों में प्रथम कर्म मीमांसा के 'अथातो धर्मजिज्ञासा' से लेकर ब्रह्म मीमांसा के 'अनावृत्तिः

शब्दात्' इस अन्तिम सूत्र तक बीस अध्यायों का एक ही वेदार्थ-विचार करने वाला मीमांसा दर्शन मानते हैं और उसके तीन काण्ड बतलाते हैं । उन काण्डों के नाम हैं : धर्ममीमांसा, देवमीमांसा, ब्रह्ममीमांसा । धर्ममीमांसा नामक प्रथम काण्ड आचार्य जैमिनि द्वारा प्रणीत है । उसमें बारह अध्याय हैं और उसमें धर्म का सांगोपांग विवेचन किया गया है । देवमीमांसा नामक द्वितीय काण्ड काशकृत्स्नाचार्य ने बनाया था और उसके चार अध्यायों में देवोपासना का रहस्य परिस्फुटित किया गया है । ब्रह्म मीमांसा नामक तृतीय काण्ड के रचयिता हैं बादरायणमुनि । इन्होंने चार अध्यायों में ब्रह्म का पूर्ण विमर्श करके अपना सिद्धान्त अच्छी तरह स्थापित किया है । कर्म्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों से युक्त सम्पूर्ण शास्त्र का नाम है मीमांसाशास्त्र । इस सम्पूर्ण मीमांसा शास्त्र की वृत्ति भगवान् बोधायनाचार्य ने बनायी थी ।

अन्य आचार्यों के मतानुसार दो स्वतन्त्र मीमांसाशास्त्र हैं: (१) पूर्व मीमांसा, जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड का विवेचन है और (२) उत्तर मीमांसा, जिसमें वेदान्त दर्शन या ब्रह्म का निरूपण है । दे० 'पूर्वमीमांसा' ।

मीराबाई—जोधपुर के मेड़ता राजकुल की कृष्णभक्त राजकुमारी । इनका ब्याह मेवाड़ के युवराज के साथ हुआ । इनके ससुर प्रसिद्ध वीर राणा कुम्भा थे । राणा कुम्भा की मृत्यु के पहले ही उनके पति की मृत्यु हो गयी । विधवा मीराबाई के साथ उनके पति के भाई का व्यवहार निर्दय था । मीरा ने चित्तौड़ त्याग दिया तथा सन्त रैदास (रामानन्दीय) की शिष्या बन गयीं और आगे चलकर कृष्ण की उच्च कोटि की उपासिका हुईं । इनके कृष्ण भक्ति सम्बन्धी गीत लोकप्रसिद्ध हैं । गुजराती में भी इनके बहुत से गीत पाये जाते हैं, जिनमें से कुछ में उत्कट प्रेम के तत्त्व निहित हैं । मीराबाई का स्थिति काल १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है ।

मुकुन्द—छान्दोग्य तथा केनोपनिषद् के अनेक वृत्तिकार तथा टीकाकारों में से मुकुन्द भी एक हैं ।

मुकुन्दमाला—केरल प्रान्त के प्रसिद्ध शासक कुलशेखर एक प्रधान अलवार (परम वैष्णव) हो गए हैं । उन्होंने 'मुकुन्दमाला' नामक एक अत्यन्त भक्तिरसपूर्ण, साहित्यिक स्तोत्र ग्रन्थ की रचना की है । भक्तसमाज में इसका बहुत आदर है ।

मुकुन्दराज—मराठी भाषा के विवेकसिन्धु नामक ग्रन्थ में वेदान्त की व्याख्या करने वाले एक विद्वान् सन्त । इनके ग्रन्थ का उल्लेख देवगिरि के राजा जैत्रपाल के शासनकाल में १२वीं शताब्दी के अन्त में हुआ है तथा इसे मराठी का सबसे प्राचीन ग्रन्थ कहा गया है । इस ग्रन्थ की बड़ी प्रतिष्ठा है ।

मुकुन्दराम—बँगला भाषा के प्राचीन संमानित कवि । इन्होंने बंगला में एक कलात्मक महाकाव्य रचा (१६४६ ई०) जिसका नाम 'चण्डी मङ्गल' है । यह शाक्त पंथी ग्रन्थ है । और 'मंगल' काव्यों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है ।

मुक्तानन्द—स्वामीनारायण सम्प्रदाय के अनुयायी संत । मुक्तानन्द जी ने गुजराती भाषा में अनेक भजन व पद रचे हैं ।

मुक्ताफल—वोपदेव पण्डित द्वारा रचित 'मुक्ताफल' भागवतपुराण पर आधारित है । इसमें उक्त पुराण की शिक्षाएँ संगृहीत हैं । इसका रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी का प्रथम चरण है ।

मुक्ताबाई—पन्द्रहवीं शताब्दी के महाराष्ट्रीय भक्तों में मुक्ताबाई का नाम उल्लेखनीय है । इनके अभङ्ग आदर के साथ पढ़े और गाये जाते हैं ।

मुक्ताभरण व्रत—भाद्र शुक्ल सप्तमी को इस व्रत का प्रारंभ होता है । यह तिथिव्रत है । शिव तथा उमा उसके देवता हैं । शिवप्रतिमा के सम्मुख एक धागा रखा जाता है । उसके उपरान्त आवाहन से प्रारम्भ कर शिव जी का षोडशोपचार पूजन किया जाता है । शिव जी का आसन मुक्ताओं तथा रत्नों से जटित होना चाहिए । उपचारों के बाद उस धागे को कलाई में बाँध लिया जाता है । तदनन्तर ११०० मण्डल (मराठी में माण्डे, हिन्दी में बाटियाँ) तथा वेष्टिकाएँ (जलेबियाँ) दान में देनी चाहिए । इससे पुत्रों की आयु दीर्घ होती है ।

मुक्ति—संसार के जन्ममरण-बन्धन से छुटकारा । दे० मोक्ष ।

मुक्तिकोपनिषद्—मुक्तिकोपनिषद् में १०८ उपनिषदों की नामावली दी हुई है जो महत्त्वपूर्ण है । इसमें मोक्ष का विवेचन विशेषरूप से किया गया है ।

मुक्तिद्वार सप्तमी—जब सप्तमी हस्त अथवा पुष्य नक्षत्र युक्त हो तब इस व्रत का आचरण करना चाहिए । आक के वृक्ष को प्रमाण करके उसकी टहनी की दातुन से दाँत साफ करने चाहिए । उस अवसर पर स्नान-पूजन करने के

बाद हवन का भी आयोजन होना चाहिए। आँगन को गौ के गोबर तथा रक्त चन्दन से लीपकर वहाँ अष्टदल कमल बनाकर पूर्व की ओर से प्रारम्भकर प्रति देवता का कमल के दलों पर आह्वान करना चाहिए। तदनन्तर मन्त्रों को बोलकर षोडशोपचार पूजन करना चाहिए। व्रती उस दिन उपवास करे। वह षट् रसों (लवण, मिष्ठ, अम्ल, तिक्त, कटु, कसैला) में से एक ही रस का सेवन करे। दो-दो मास तक एक रस लेने के बाद अगले दो मास तक दूसरा रस लेना चाहिए। इसी प्रकार बारह महीने में छः रसों का सेवन करना चाहिए। तेरहवें मास व्रत की पारणा हो तथा व्रती कपिला गौ का दान करे। इस व्रत से व्रती मोक्ष प्राप्त करता है।

मुखबिम्ब आगम—एक रौद्रिक आगम है, जो 'मुखबिम्ब' अथवा 'मुखयुग्बिम्ब' नाम से प्रसिद्ध है।

मुखयुग्बिम्ब आगम—दे० 'मुखबिम्ब आगम'।

मुखलिङ्ग—मुख की आकृति से अङ्कित लिंग को मुखलिङ्ग कहते हैं। एक से लेकर पञ्चमुख तक के लिङ्ग पाये जाते हैं। अमूर्त शिवतत्त्व को मूर्त अथवा मुखर रूप देने का यह प्रयास है। शिव की पूजा-अर्चा लिङ्ग के रूप में अति प्राचीन काल से चली आ रही है। न केवल भारत वरन् बृहत्तर भारत में भी इसका प्रचलन था। हिन्द चीन के प्रदेश चम्पा में शिव सम्प्रदाय का प्रचार बहुत अधिक था। यहाँ के मन्दिरों के भग्नावशेषों में अनेक ऐसी वेदिकाएँ उपलब्ध होती हैं जिनके मध्य अवश्य कभी लिङ्ग स्थापित रहे होंगे। ये सभी लिङ्ग साधारण आकृति के बेलनाकार ऊपरी सिरे पर गोल हैं। यहाँ के लिङ्गों में मुखलिङ्ग भी थे। इसका प्रमाण पोक्लोन गरई के मन्दिर में उपस्थित मुखलिङ्ग से होता है। लिङ्ग में मुख अंकित है जो मुकुट तथा राजा के अन्य आभूषणों से सुसज्जित है।

मुखव्रत—इस व्रत के अनुसार एक वर्ष के लिए ताम्बूल (मुखवास) का परित्याग करना पड़ता है। वर्ष के अन्त में एक गौ का दान विहित है। इससे व्रती यक्षों का स्वामी बन जाता है।

मुख्यतन्त्र—तन्त्रशास्त्र तीन भागों में विभक्त है—आगम, यामल और मुख्य तन्त्र। सृष्टि, लय, मन्त्रनिर्णय देवताओं के संस्थान, यन्त्र-निर्णय, तीर्थ, आश्रम धर्म, कल्प, ज्योतिष संस्थान, व्रत कथा, शौच और अशौच, स्त्री-पुरुष लक्षण, राजधर्म, दानधर्म, युगधर्म, व्यवहार तथा आध्यात्मिक विषयों का जिस ग्रन्थ में वर्णन हो, वह मुख्य तन्त्र कहलाता है। विशेष विवरण 'तन्त्र' शब्द की व्याख्या में देखें।

मुचकुन्दतीर्थ (धौलपुर)—राजस्थान के पूर्वी प्रवेशद्वार धौलपुर से तीन मील पर सुरम्य पर्वत शृंखला में स्थित राजर्षि मुचुकुन्द की गुफा। देवकार्य से निवृत्त होकर मुचुकुन्द श्रमनिवारणार्थ इस गुफा में शयन कर रहे थे। देवताओं ने उनको वर दिया था कि तुम्हारी निद्रा भंग करने वाला भस्म हो जायगा। कालयवन से भयाक्रान्त होकर श्रीकृष्ण उसको मथुरा से यहाँ तक भगा लाये और अपना पीताम्बर राजा पर डालकर स्वयं गुफा में छिप गये। कालयवन ने कृष्ण के धोखे से सोते हुए मुचुकुन्द को लात मारी और राजा की दृष्टि पड़ते ही वह जलकर भस्म हो गया। पश्चात् श्री कृष्ण ने दिव्य दर्शन देकर राजा को बदरिकाश्रम में जाने की आज्ञा दी। मुचुकुन्द ने गुफा से बाहर आकर यज्ञ सम्पन्न किया और वे उत्तराखंड चले गये। इस पर्वतीय स्थली को गन्धमादन कहते हैं। मुचुकुन्द के यज्ञस्थान पर एक सरोवर है जिसमें चारों ओर पक्के घाट तथा अनेक देवमन्दिर हैं। ऋषिपञ्चमी और बलदेवछठ को यहाँ भारी मेला होता है। दिल्ली-बम्बई राष्ट्रीय मार्ग से केवल एक मील दूर होने के कारण पर्यटक यात्रियों के लिए यह दर्शनीय स्थल होता जा रहा है।

वाराहपुराण में मथुरामंडल का विस्तार बीस योजन कहा गया है और इसी के साथ मुचुकुन्दतीर्थ तथा पवित्र कुण्ड का माहात्म्य वर्णन किया गया है। इस तीर्थ से प्राय २-३ कोस दूर मथुरामण्डल के दक्षिण छोर पर यमुना की सहायक नदी चम्बल बहती है। इसकी पुण्यशालिता का स्मरण कालिदास ने भी अपने मेघ को कराया है क्योंकि यह नदी अतिथि सत्कार के लिए काटे गये कदलीवृक्षों में से निकलकर बहती थी।

मुञ्ज—एक प्रकार की लम्बी घास जो दस फुट तक बढ़ती है। ऋग्वेद में अन्य घासों के साथ इसका उल्लेख हुआ है। उसी ग्रन्थ में (१.१६१,८) मुञ्ज सोम को छानने के काम में आने वाली कही गयी है। अन्य संहिताओं तथा ब्राह्मणों में मुञ्ज का प्रायः उल्लेख हुआ है। जहाँ इसे खोखला (सुषिर) तथा आसन्दी में व्यवहृत कहा गया है।

(शत० १२.८,३,६) । मुंञ्ज की ही मेखला बनती है जिसे ब्रह्मचारी और तपस्वी धारण करते हैं ।

मूँज की मेखला (कर्धनी) पहनना दाह, तृष्णा, विसर्प अस्र, मूत्र, वस्ति और नेत्र के रोगों में लाभकारी होता है ।

'दाह तृष्णाविसर्पास्रमूत्रवस्त्याक्षि रोगजित् ।
दोषत्रयहरं वृष्यं मौखलमुञ्जमुच्यते ॥'

(भावप्रकाश)

मुण्डकोपनिषद्—अन्य उपनिषदों की अपेक्षा की अथर्ववेदीय उपनिषदों की संख्या अधिक है । ब्रह्मतत्त्वप्रकाश ही उनका उद्देश्य है । शङ्कराचार्य ने मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न और नृसिह तापिनी इन चारों उपनिषदों को प्रधान आथर्वण उपनिषद् माना है । ब्रह्म क्या है ? उसे किस प्रकार समझा जाता है, किस प्रकार प्राप्त किया जाता है, इस उपनिषद में इन्हीं विषयों का वर्णन है । शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, आनन्दतीर्थ, दामोदराचार्य, नरहरि आदि के इस उपनिषद् पर भाष्य व टीकाएँ हैं ।

मुण्डमालातन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उद्धृत ६४ तन्त्रों की सूची में मुण्डमालातन्त्र भी सम्मिलित है ।

मुद्गल—ऋग्वेद के अनेक भाष्यकार हैं । मुद्गल का नाम भी उनमें सुना जाता है ।

मुद्गल उपपुराण—उन्तीस उपपुराणों में से एक मुद्गल है । यह गाणपत्य सम्प्रदाय के उपपुराणों में परिगणित है ।

मुद्गल पुराण—दे० 'मुद्गल उपपुराण' । दोनों एक ही हैं ।

मुद्रा—(१) अंगुलियों, हाथ अथवा शरीर की गति अथवा भङ्गियों द्वारा भाव व्यक्त करने का यह एक माध्यम है । शाक्त लोग देवी को प्रतीक आधार (किसी पात्र) में उतारने के लिए पात्र के ऊपर यन्त्र मण्डल के साथ पूजाविषयक मुद्राएँ (उँगलियों के संकेत आदि) अङ्कित करते हैं । गोरखनाथी सम्प्रदाय के साधु हठयोग की क्रिया में आश्चर्यजनक शारीरिक आसन, शरीरशोधन के लिए प्राणायाम तथा अनेकानेक श्वास एवं ध्यान आदि को यौगिक मुद्रा की संज्ञा से अभिहित करते हैं । अनेकानेक मुद्राएँ भारतीय कला, नृत्य आदि में व्यवहृत होती आयी हैं—यथा :अभय मुद्रा, वरदमुद्रा, ध्यानमुद्रा, भूस्पर्शमुद्रा आदि ।

(२) वामाचार में मञ्च मकारों—मद्य, माँस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन में इसकी गणना है ।

मुनि—ऋग्वेद की एक ऋचा में मुनि का अर्थ संन्यासी है, जो देवेषित अलौकिक शक्ति रखता है । एक मंत्र में उसे लम्बे केशों वाला कहा गया है । ऋग्वेद (८.१७,१४) में इन्द्र को मुनियों का मित्र कहा गया है । अथर्ववेद (१.७४) में देवमुनि का उद्धरण है । उपनिषदों में (बृ० उ० ३.४, १;४.४,२५ तै० आ० २.२०) मुनि और निग्रही वर्णित हैं, जो अध्ययन, यज्ञ, तप, व्रत एवं श्रद्धा द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं ।

मुनिमार्ग—मानभाऊ सम्प्रदाय का एक नाम 'मुनिमार्ग' भी है । मुनिमार्ग का आशय दत्तात्रेय द्वारा चलाये गये पन्थ से है । दे० 'दत्तात्रेय सम्प्रदाय' ।

मुनि लक्षण—ब्रह्म के चिन्तन के लिए जो मौन धारण करता है, उसे मुनि कहते हैं । जिसे ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता हैं वही श्रेष्ठ मुनि और वही ब्राह्मण है । मुनि प्रायः भाषण नहीं करता, मौन हो उसका व्याख्यान है ।

मुमुक्ष—मोक्ष का इच्छुक, संसार के जन्म-मरण से छूटने का अभिलाषी । अमरता के सन्दर्भ में साधारण आत्मा के चार प्रकार हैं—(१) बद्ध वह है जो जीवन के सुख-दुखादि से बँधा हुआ है तथा मुक्ति मार्ग पर आरूढ़ नहीं है, (२) मुमुक्षु—जिसमें मोक्ष की इच्छा जाग्रत हो चुकी है, किन्तु अभी इसके योग्य नहीं है । इसे 'जाग्रत बद्ध' कहा जा सकता है, (३) केवली या भक्त, जो शुद्ध हृदय से देवोपासना में भक्ति पूर्वक तल्लीन है और (४) मुक्त जो सभी वासनाओं और बन्धनों से मुक्त है ।

मुरारिमिश्र—कातीय गृह्य (ग्रन्थ) के अनेक भाष्यकारों में मुरारिमिश्र भी एक हैं ।

मुरुह—मुरुह को सुब्रह्मण्य (स्वामी कार्तिकेय) भी कहते हैं । इस देवता की प्रशंसा में 'तिरुमुरुहत्तुप्पदै' नामक एक ग्रन्थ नक्कीर देव नामक तमिल शैव आचार्य ने लिखा है ।

मूलगौरीव्रत—चैत्र शुक्ल तृतीया को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । इस दिन तिलमिश्रित जल से स्नान करना चाहिए । सुन्दर फलों से शिव तथा गौरी का चरणों से प्रारम्भ कर मस्तकपर्यन्त पूजन करना चाहिए । बारह मासों में भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्पों की भेंट चढ़ानी चाहिए । भिन्न प्रकार के तरल पदार्थ तथा खाद्य पदार्थ अर्पण करने चाहिए । विभिन्न नामों से गौरी का अलग पूजन होना चाहिए । व्रती को कम से कम एक फल का त्याग करना चाहिए । व्रत के अन्त में उसे पर्यङ्क पर

बिछाने के वस्त्र, स्वर्णनिर्मित वृष तथा गौ का दान करना चाहिए। भगवान शिव ने चैत्र शुक्ल तृतीया को गौरी से विवाह किया था। अग्निपुराण, १७८.१-२०।

मूलचारी—सामवेद की शाखा परम्परा में लोगाक्षि के चार शिष्यों में से एक मूलचारी भी हुए हैं।

मूल प्रकृति—सांख्योक्त सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों के एकत्रित होने से मूल प्रकृति का निर्माण होता है, जो भौतिक वस्तुओं का सूक्ष्म (अदृश्य) उपादान है। शाक्त मतानुसार देवी मूल प्रकृति है तथा सारा विश्व (सृष्टि) शक्ति का विलास है।

मूलशङ्कर—(१) शिव के आदि अव्यक्त रूप को 'मूलशङ्कर' कहते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के बचपन का नाम मूलशङ्कर था। विशेष वर्णन के लिए दे० 'दयानन्द' तथा 'आर्यसमाज'।

मूलस्तम्भ—सामान्य शैव साहित्य में इसकी गणना होती है। यह ग्रन्थ मराठी भाषा में मुकुन्दराज द्वारा लिखा गया था।

मूलाधार—शाक्त मत में ध्यान तथा योगाभ्यास के द्वारा शक्ति (देवी) को मूलाधार सुषुम्ना नाडी के छः पर्वों में सबसे निचला पर्व या चक्र से ऊपर उठाते हुए चार चक्रों के मार्ग से आज्ञा (भ्रूमध्य) तथा फिर सहस्रार चक्र तक ले जाते हैं। इस विद्या को 'श्रीविद्या' कहते हैं। इसकी शिक्षा केवल शुभ अथवा समय तन्त्रों से प्राप्त होती है। शाक्त मतानुसार शरीर में अनेक क्षुद्र प्रणालियाँ अथवा रहस्यमय शक्ति के सूत्र हैं। उन्हें नाड़ी कहते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण सुषुम्ना है। इससे सम्बन्धित छः केन्द्र अथवा चक्र हैं, जो मानुषिक देह में एक के ऊपर दूसरे रूप में स्थित हैं। इनको 'कमल' भी कहते हैं। सबसे नीचे का चक्र मूलाधार कमर के नीचे है। उसके चारों ओर शक्ति सर्प सदृश साढ़े तीन घेरों में सोयी हुई है। इस मुद्रा में उसे कुण्डलिनी कहते हैं। शाक्त योग द्वारा उसे जगाया तथा सबसे ऊपरी चक्र तक ले जाया जा सकता है। मध्य की प्रणालियाँ एवं केन्द्र आधार का कार्य करते हैं। ये ही चक्र तथा केन्द्र दीक्षित शाक्तों की आश्चर्यपूर्ण शक्तियों के आधार हैं।

मृग—(१) मृग से साधारणतः वन्य पशु का बोध होता है। कभी-कभी 'भीम' भयंकर विरुद से इसके गुणों का बोध कराया गया है, जहाँ इसका अर्थ जंगली जन्तु व्याघ्र, सिंह आदि हैं।

(२)ऐतरेय ब्राह्मण (३.३३,५) में सायण भाष्यानुसार यह मृगशिरा नक्षत्र है।

(३) आगे चलकर मृग का अर्थ प्रायः हरिण हो गया। मृगचर्म अथवा हरिण की छाल ब्रह्मचारियों तथा तपस्वियों के आसन के काम आती है।

मृगयु—संहिताओं तथा ब्राह्मणों में मृगयु आखेटक (शिकारी) का बोधक है, किन्तु इसका प्रयोग कम ही हुआ है। वाजसनेयी संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में पुरुषमेध यज्ञ की बलि के लिए उन पुरुषों को लेते थे जो अपनी जीविका मछली पकड़कर तथा शिकार द्वारा करते थे। इनमें मार्गारि, कैवर्त, पौञ्जिष्ट, दाश एवं मैनाल आदि मछुए बैन्द एवं आनन्द के नाम से प्रसिद्ध हैं। पिछले दो भी किसी श्रेणी के मछुए ही थे। वैदिक काल के आरम्भ में भी आर्य पूरे शिकारी न थे। शिकार का कारण भोजन मनोरंजन तथा वन्य पशुओं से खेती की रक्षा करना था। शिकार में बाणों का प्रयोग होता था। प्रारम्भिक काल में जाल एवं गढ़ों का प्रयोग स्वाभाविक था। पक्षियों को जाल से ही पकड़ा जाता था। पाश, निधा, जाल आदि नाम आते हैं। पक्षी पकड़ने वाले को 'निधापति' कहते थे। गढ़ों द्वारा ऋष्य (एक प्रकार का हरिण) पकड़े जाते थे तथा उस शिकारी का नाम ऋष्पद था। सूअर को दौड़ाकर पकड़ते थे। शेर के लिए भी गड्ढा खोदते थे या शिकारियों द्वारा घेरकर पकड़ते थे। सायण ने कहा है कि धैवर वह है जो तालाब की मछली जाल द्वारा छानता है, दाश तथा शौष्कल बंसी = बाद्रिश द्वारा, मार्गार हाथ द्वारा, आनन्द बाँधकर, पर्णक पानी में जहरीला पत्ता डालकर मछली पकड़ते थे।

मृगशिरा व्रत—श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। शिव जी ने यज्ञ के तीन मुखों को अपने बाण से, जिसमें तीन काँटे या शूल लगे थे, इसी दिन बींध दिया था। वही मृग रूप माना गया। व्रती को मिट्टी का हरिण रूप वाला मृगशिरा नक्षत्र बनवाना चाहिए। तदन्तर उसे कन्द मूल-फल तथा आटे में अलसी मिलाकर बनाया गया नैवेद्य मृगशिरा को अर्पण कर पूजना चाहिए।

मृगेन्द्र आगम—एक महत्त्वपूर्ण आगम। यह कामिकागम (प्रथम आगम) का प्रथम भाग, अथवा ज्ञान भाग है।

मृगेन्द्र संहिता—श्रीकाण्ठाचार्य ने मृगेन्द्र संहिता की वृत्ति एवं अघोर शिवाचार्य ने इसकी व्याख्या लिखी है।

मृत्यु—ऋग्वेद (७.७९,१२) तथा परवर्ती साहित्य में मृत्यु को भयसूचक कहा गया है। एक सौ एक प्रकार की मृत्यु कही गयी है, जिनमें वृद्धावस्था की स्वाभाविक के सिवा मृत्यु के एक सौ प्रकार हैं। पूरे वैदिक साहित्य में जीवनकाल एक सौ वर्षों का वर्णित है। वृद्धावस्था के पहले मरण (पुरा जरसः) निश्चित जीवनकाल के पहले मरने (पुरा आयुषः) के समान था। दूसरी तरफ वृद्धावस्था में शक्ति क्षीण हो जाने की बुराई का भी अनुभव किया गया है (ऋग्वेद १.७१,१०;१७९,१)। अश्विनों के चमत्कारों में से एक वृद्ध च्यवन को पुनः नवयुवक तथा शक्तिशाली बनाना था। अथर्ववेद में आयुष्य-प्राप्ति तथा मृत्यु से मुक्ति के अनेक मन्त्र हैं। शव को गाड़ने तथा जलाने दोनों प्रकार की प्रथा थी। किन्तु गाड़ना कम पसन्द किया जाता था। प्रायः शव की दाहक्रिया होती थी। मृत्यु के बाद पुनः इस जगत में आकर जीवनचक्र को दुहराना आर्यों को मान्य था। ऋग्वेद का कथन है कि बुरे कार्य करने वालों के लिए बुराइयाँ प्रतीक्षा करती हैं, किन्तु अथर्ववेद तथा ब्राह्मणों के समय से नरक के दण्ड की कल्पना चल पड़ी। ब्राह्मण ग्रन्थ ही (शत० ब्रा० ११.६,१; जै० ब्रा० १.४२-४४) सबसे पहले अच्छे या बुरे कार्यों का परिणाम स्वर्ग या नरक के रूप में बताते हैं।

मेखला—(१) मूँज की बनी करधनी को मेखला कहते हैं। इसको ब्रह्मचारी उपनयन के समय और तपस्वी सदा साधारण करते हैं। यह ऋत अथवा नैतिकता की रक्षिका मानी गयी है।

श्रद्धायाः दुहिता तपसोऽधिजाता स्वसा ऋषीणां भूतकृता बभूव। अथर्व ६.१३३.४

ऋतस्य गोप्ती तपश्चरित्री घ्नतीरक्षः सहमाताः अरातीः।
सा मा समन्तमभिपर्येहि भद्रे धर्तास्ते सुभगे मा ऋषाम ॥

[मेखला श्रद्धा की कन्या, तप से उत्पन्न, ऋषियों की बहिन तथा भूतों (जीवधारियों) की उत्पादिका है। वह ऋत (सुव्यवस्था) की रक्षा करने वाली, तप का आचरण करने वाली, राक्षसों का हनन करने वाली, शत्रुओं का दमन करने वाली है। वह मुञ्ज धारण करने वाले की सम्यक् रक्षा करे और कभी अप्रसन्न न हो।]

प्राकृतिक वातावरण में रहने वाले बटुक और तपस्वियों को स्फूर्ति देने और रोगों से बचाने में मेखला अद्भुत समर्थ होती है। इसीलिए इसे मन्त्र में ऋषियों की बहिन (स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्) कहा गया है। दे० 'मुञ्ज'।

मेघपाली तृतीया—आश्विन शुक्ल तृतीया को स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिए मेघपाली नामक लता के पूजन का विधान है। इस लता के पत्ते पान के पत्तों के समान होते हैं तथा यह प्रायः उद्यानों, पहाड़ियों एवं ग्रामीण मार्गों में पायी जाती है। इसका पूजन भिन्न-भिन्न प्रकार के फलों तथा अंकुर निकले हुए सप्त धान्यों से करना चाहिए। इस आचरण से समस्त पापों का नाश हो जाता है, विशेष रूप से व्यापारियों के उन पापों का जो कम तौलने या नापने से होते रहते हैं।

मेधाजनन—एक वैदिक संस्कार। इसका अर्थ है मेधा (= प्रज्ञा) उत्पन्न करना। यह जातकर्म (जन्म के समय किये गये धार्मिक कृत्य) और उपनयन के अवसर पर किया जाता था। सावित्री (गायत्री मन्त्र) के साथ मेधाजनन संस्कार होता था।

मेधातिथि—(१) ऋग्वेदीय वाष्कल उपनिषद् में एक उपाख्यान है कि इन्द्र मेष का रूप धरकर कण्व के पुत्र मेधातिथि को स्वर्ग ले गये। मेधातिथि ने मेषरूपी इन्द्र से पूछा "तुम कौन हो"? उन्होंने उत्तर दिया "मैं विश्वेश्वर हूँ; तुमको सत्य के समुज्ज्वल मार्ग पर ले जाने के लिए मैंने यह काम किया है; तुम कोई आशंका मत करो।" यह सुनकर मेधातिथि निश्चिन्त हो गये।

(२) मनुस्मृति के प्रसिद्ध भाष्यकार का नाम है।

मेध्य—मेधा (स्मृति शक्ति) के लिए हितकारी; पवित्र; शुद्ध करके ग्राह्य अर्थात् 'यज्ञ में आहुति करने योग्य'। शुद्ध अथवा पवित्र पदार्थ मेध्य समझा जाता है।

(१) ऋग्वेद (८.५२,२) में एक यज्ञकर्ता का नाम मेध्य है। शाङ्खायन श्रौतसूत्र में भूल से इसको प्रस्कण्व कोण्व का संरक्षक पृषध्रमेध्य मातरिश्वा समझा गया है।

मेना (मेनका)—(१) मेना या मेनका का उल्लेख ऋग्वेद (१.५१,१३) तथा ब्राह्मणों में वृषणस्व की पुत्री

या कदाचित् स्त्री के रूप में हुआ है । उनके साथ सम्बन्धित कथा का उल्लेख कहीं भी नहीं है ।

(२) हिन्दू पुराकथा में मेना हिमालय की पत्नी और पार्वती की माता का नाम है ।

मेयकण्डदेव—तमिल शैव अपने धार्मिक ज्ञानार्थ आगम ग्रन्थों पर निर्भर रहते थे, किन्तु तेरहवीं और चौदहवीं शती में वहाँ कुछ तीक्ष्ण बुद्धिवाले विचारक हुए, जो तमिल भाषा के कवि भी थे । उन्हीं में एक मेयकण्ड थे जो तमिल शैव धर्म के स्रोत समझे जाते हैं । तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इनका जन्म शूद्र कुल में मद्रास से उत्तर पेन्नार नदी के तटपर हुआ था । उन्होंने शैव आगम के १२ सूत्रों का संस्कृत से तमिल में अनुवाद किया । इस ग्रन्थ का नाम 'शिव ज्ञान बोध' था, जिसमें इन्होंने कुछ तमिल में टिप्पणियाँ तथा समानताओं का एक गद्यखण्ड अपने तर्कों की पुष्टि के लिए प्रस्तुत किया । ये प्रसिद्ध अध्यापक थे तथा इनके अनेक शिष्य थे। इनके सबसे प्रसिद्ध शिष्य अरुलनन्दीदेव तथा मनवाचकम् कदण्डान थे । अरुलनन्दी के शिष्य मरैज्ञानसम्बन्ध (शूद्र) थे तथा उनके ब्राह्मण शिष्य उमापति थे । इस प्रकार मेयकण्ड, अरुलनन्दी, मरैज्ञानसम्बन्ध तथा उमापति मिलकर 'चार सनातन आचार्य' के नाम से विख्यात हैं ।

मेरुतन्त्र—यह सुप्रसिद्ध तन्त्र शिव-पार्वती-संवाद रूप से ३५ प्रकाशों में पूर्ण हुआ है । शिव द्वारा उपदिष्ट १०८ तन्त्रों में इसका स्थान सबसे ऊँचा है (माला के सुमेरु के समान), इसलिए इसका नाम मेरुतन्त्र हो गया । यह भी कहा गया है कि जलन्धर के भय से मेरु पर्वत पर गये हुए देवता और ऋषियों के प्रति शिवजी ने इसका उपदेश किया था । यह दक्षिण और वाम दोनों मार्ग वालों को एक समान मान्य है ।

मेरुतन्त्र ही संस्कृत गंथों में ऐसा ग्रन्थ है जहाँ भारत के रहने वालों के लिए 'हिन्दू' शब्द का व्यवहार हुआ है । यहाँ 'हीन' तथा 'दुष्' दो शब्दों से हिन्दू की व्युत्पत्ति बतायी गई है । 'हीन' का अर्थ 'अधम', 'नीच', 'गर्ह्य' और 'दुष' निन्दा और नष्ट करने के अर्थ में आता है । "जो कुछ निन्दा के योग्य है उसे नष्ट करने वाला, अथवा उसकी निन्दा करने वाला हिन्दू है ।" यही तन्त्रकार का अभिप्राय है जो काफिर कहने वालों का जबाब है । मेरुतन्त्र में कुछ अत्यन्त आधुनिक शब्दों के व्यवहार से जान पड़ता है कि तन्त्रों का निर्माण काफी पीछे तक होता रहा है ।

मेषसंक्रान्ति—यह हिन्दुओं के कालविभाजक मुख्य पर्वों में से एक है । इस पर्व पर गङ्गास्नान, जल कलश, पंखा एवं सत्तू आदि का दान और भक्षण किया जाता है । प्राचीन समय में इस पर्व का महत्त्व विषुव दिन (समानरात्रि-दिन) के कारण था । धार्मिक विचार से सूर्य का मेष राशि में इसी दिन प्रवेश होता है । किन्तु पृथ्वी की अयन-गति में प्रति वर्ष अन्तर पड़ते जाने के कारण संप्रति रात्रि-दिन के समान होने वाली घटना इस संक्रान्ति से प्रायः २३ दिन पूर्व होने लगी है । इसीलिए सूर्य का उत्तर गोल गमन संबन्धी विभाजन भी इसी समय होने लगा है । इस प्रकार २३ दिन पूर्व होने वाली ऐसी सब संक्रान्तियों को "सायन संक्रान्ति" कहते हैं ।

मैत्रायणीय—कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा है ।

मैत्रायणीयगृह्यसूत्र—यजुर्वेद के गृह्यसूत्रों में मैत्रायणीय गृह्यसूत्र भी प्राप्त होता है ।

मैत्रायणी ब्राह्मण—बौधायन शुल्वसूत्र में (३२।८) उद्धृत एक वैदिक ग्रन्थ का नाम, जो मैत्रायणी शाखा के अन्तर्गत है ।

मैत्रायणीय यजुर्वेद पद्धति—यजुर्वेद सम्बन्धी कर्मकाण्ड का इस नाम का एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है ।

मैत्रायणी शाखा—यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा भी मिलती है । इसके मन्त्रसंकलन में पाँच काण्ड हैं । बहुत सम्भव है कि ये यजुर्वेद की भिन्न-भिन्न शाखाओं के संहिता ग्रन्थों से संकलित किये गये हो ।

मैत्रायणीसंहिता—यजुर्वेद के मैत्रायणीय शाखा की मैत्रायणी संहिता है । इसमें कुछ ब्राह्मण अंश भी प्रस्तुत किया गया है ।

मैत्रायणीयोपनिषद्—कृष्ण यजुर्वेद की एक उपनिषद् । इसकी रचना सम्भवतः गीता के काल की अथवा उससे कुछ बाद की है । महाभारत के दो अध्यायों में मैत्रायणी की शिक्षा उद्धृत है । प्रश्नोपनिषद, मैत्रायणी, माण्डूक्य ये तीनों उपनिषदें अपने ओम्निरूपण के सिद्धान्त के कारण एक-दूसरी के बहुत निकट हैं । धार्मिक विचारों की उन्नति या विकास की दृष्टि से अकेली मैत्रायणी ही गंभीर गुण सम्पन्न है । मैत्रायणी में सांख्य तथा योग के पर्याप्त दार्शनिक तत्त्व हैं । चूलिका,

उपनिषद् जो पूर्णतया योगदर्शन पर अवलम्बित है, मैत्रायणी से गहरा सम्बन्ध रखती एवं उसकी समकालीन है। हिन्दू त्रिमूर्ति का सर्वप्रथम उल्लेख मैत्रायणी के दो परिच्छेदों में हुआ है। प्रथम में इन तीनों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) को निराकार ब्रह्म का रूप माना गया है तथा दूसरे में इन्हें दार्शनिक रूप दिया गया है। वे अदृश्य प्रकृति के आधार हैं। इस प्रकार एक महत् तत्त्व तीन रूपों में प्रकट हुआ है—सत्त्व, रजस् एवं तमस्। विष्णु सत्त्व, ब्रह्मा रजस् एवं शिव तमस् हैं।

मैत्रावरुण—श्रौतयज्ञों (सोमसाध्यों) का एक पुरोहित। ब्राह्मण काल में यज्ञों का रूप विस्तृत हो गया तथा तदनुकूल पुरोहितों की संख्या बढ़ गयी। नये नये पद बनाये गये और अलग-अलग यज्ञों के लिये अलग-अलग पुरोहित निश्चित हुए। मैत्रावरुण भी एक पुरोहित का नाम था जो सौमित्रि यज्ञों में सहायता कार्य का करता था। सोमयज्ञों में १६ पुरोहितों की आवश्यकता होती थी। इसमें से मैत्रावरुण भी एक होता था।

मैत्रावरुणि—ऋषि अगस्त्य का एक नाम। जैसा कथित है, मित्र तथा वरुण ने स्वर्गीय अप्सरा उर्वशी को देखकर अपना-अपना तेज एक पानी के घड़े में डाल दिया। इस घड़े से ही अगस्त्य की उत्पत्ति हुई। दो पिता, मित्र एवं वरुण के कारण इनका पितृबोधक नाम मैत्रावरुणि हो गया।

मैत्रेय—शिव के चार पाशुपत शिष्यों में से एक का नाम मैत्रेय है। उदयपुर से १४ मील दूर एकलिङ्गजी के प्राचीन मन्दिर में एक अभिलेख प्राप्त हुआ है जिसमें यह सन्देश है कि शिव भड़ौंच (गुजरात) प्रान्त में अवतरित होकर हाथ में एक लकुल धारण करेंगे। इस स्थान का नाम कायावरोहण है। चित्र प्रशस्ति के अनुसार शिव लाट देश के कारोहण (कायावरोहण : सम्प्रति कर्जण) नामक स्थान में पाशुपत मत के प्रचारक रूप से अवतरित हुए। वहाँ उनके चार शिष्य भी मनुष्य शरीर में प्रकट हुए थे : कुशिक, गार्ग्य, कोरूष्य एवं मैत्रेय। भूतपूर्व बड़ौदा राज्य में करवार वह स्थान है जहाँ आज भी लकुलीश का मन्दिर स्थित है।

मैत्रेयी—बृहदारण्यक उपनिषद् (२,४,१ ४,५,२ के अनुसार याज्ञवल्क्स्य की दो पत्नियों में से एक का नाम मैत्रेयी था। संन्यास लेने के समय याज्ञवल्क्य ने 'अपनी सम्पत्ति को दोनों पत्नियों में बाँटने का आयोजन किया। इस अवसर पर मैत्रेयी ने बड़ा मौलिक प्रश्न पूछा "क्या इस सम्पत्ति को लेने पर मैं संसार के दुःखों से मुक्त होकर अमर पद प्राप्त कर सकूँगी?" नकारात्मक उत्तर मिलने पर उसने भी सम्पत्ति का त्याग कर निवृत्ति और श्रेय का मार्ग ग्रहण किया।

मैत्रेयी उपनिषद्—यह एक परवर्ती उपनिषद् है।

मैनाक—मेनका (मेना, पार्वती की माता) का वंशज, एक पर्वत, जो हिमालय का पुत्र कहा गया है। यह तैत्तिरीय आरण्यक (१. ३२, २) में उद्धृत है। इसे मैनाग भी पढ़ते हैं। पुराणों के अनुसार इन्द्र के वज्र के भय से मैनाक दक्षिण समुद्र में निमग्न होकर रहने लगा है।

मैहर—यह विन्ध्य प्रदेश का एक शक्ति पीठस्थान है। मैहर का शुद्धरूप 'मातृगृह' (देवी का गृह) है। सतना स्टेशन से २२ मील दक्षिण मैहर है। यहाँ एक पहाड़ी पर शारदा देवी का मन्दिर है। स्थानीय जनश्रुति है कि ये सुप्रसिद्ध वीर आल्हा की आराध्यदेवी हैं। यह सिद्ध पीठ माना जाता है। पर्वत पर ऊपर तक जाने के लिये ५६० सीढ़ियाँ बनी हैं। प्राचीन विशाल मन्दिर को यवन आक्रमणकारियों ने तोड़ दिया था। उसके स्थान पर एक छोटा आधुनिक मन्दिर है। एक प्रस्तर फलक पर प्राचीन मन्दिर का स्थापना-अभिलेख सुरक्षित है। इसके अनुसार एक विद्वान् पण्डित ने अपने स्वर्गगत पुत्र की स्मृति में शारदा मन्दिर का निर्माण कराया था।

मोक्ष—किसी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति या छुटकारा। जीवात्मा के लिये संसार बन्धन है। यह कर्म के फल स्वरूप अथवा आसक्ति से उत्पन्न होता है। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म बन्धन उत्पन्न करते हैं। अतः मोक्ष का साधन कर्म नहीं है। इसका उपाय है ज्ञान अथवा विद्या (अध्यात्म विद्या)। साधक को जब सत्य का ज्ञान हो जाता है कि उसके और विश्वात्मा के बीच अभेद है, विश्वात्मा अर्थात् परब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है; संसार कल्पित, मायिक और मिथ्या है; संसार में सुख-दुःख जन्म-मरण भी कल्पित और मिथ्या है, तब उसके ऊपर कर्म-फल और संसार का प्रभाव नहीं पड़ता और वह इनके बन्धनों से मुक्त हो जाता है। परन्तु यह निषेधात्मक स्थिति न होकर विशुद्ध और पूर्ण आनन्द की स्थिति है। भक्तिमार्गी सम्प्रदायों में भक्ति द्वारा प्रसन्न भगवान् के प्रसाद से मुक्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति

स्वीकार की गयी है जिसमें नित्य भगवान् की अत्यन्त सन्निधि प्राप्त होती है ।

मोक्षकारणतावाद—अनन्ताचार्यकृत एक ग्रन्थ का नाम ।

मोक्षधर्म—(१) मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक साधना अथवा धार्मिक कृत्यों को मोक्षधर्म कहा जाता है ।

(२) महाभारत के बारहवें पर्व (शान्तिपर्व) के अन्तर्गत मोक्षधर्म पर्वाध्याय है । इसके उत्तरार्द्ध में कृष्ण की शिक्षाएँ संकलित हैं । इसमें कुछ ऐसे स्थल हैं जो अत्युत्तम एवं मौलिक हैं । मोक्षधर्म के समान ही महाभारत के पाँचवें 'उद्योगपर्व', छठे (भीष्मपर्व) एवं चौदहवें 'अश्वमेधपर्व' के कुछ उपदेशपूर्ण अंश हैं, जो क्रमशः सनत्सुजातीय, भगवद्गीता और अनुगीता कहलाते हैं । मोक्षधर्म तथा ये तीनों अपने स्वतन्त्र रूप में पृथक् ग्रन्थ हैं ।

मोक्षधर्म पर्वाध्याय—दे० 'मोक्षधर्म' ।

मोक्षशास्त्र—इसके अन्तर्गत वेदों का ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड आते हैं । समस्त दर्शन तथा सम्पूर्ण मोक्ष साहित्य, योगवासिष्ठ आदि इसी में गिने जाते हैं । विशेष विवरणार्थ दे० 'महाविद्याएँ' ।

मौन—(१) मन की एकाग्रता के लिए एक धार्मिक अथवा यौगिक साधना, जिसमें वचन का संयम किया जाता है ।

(२) मुनि के वंशज मौन । अनीचीन का पितृबोधक नाम, जिसका उद्धरण कौषीतकि ब्राह्मण (२३.५) में मिलता है ।

मौन व्रत—(१) श्रावण मास की समाप्ति के बाद भाद्रपद प्रतिपदा से सोलह दिनों तक इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए । व्रतो दूर्वांकुरों को लेकर उनमें सोलह ग्रन्थियाँ लगाकर दाहिने हाथ में (महिलाएँ बायें हाथ में) रखे । सोलहवें दिन जल लाने, गेहूँ पीसने, नैवेद्य तैयार करने से लेकर भोजन ग्रहण करने तक मौन धारण करना चाहिए । शिवप्रतिमा को जल, दुग्ध, दधि, घृत, मधु, शर्करा से स्नान कराकर पूजन करना चाहिए । तदनन्तर पुष्पादि अर्पण करना चाहिए तथा यह प्रर्थना करनी चाहिए : 'शिवः प्रसीदतु म । इस आचरण से सन्तानोपलब्धि होती है तथा सारी कामनाएँ पूरी होती हैं ।

(२) मौन व्रत का अभ्यास आठ, छः अथवा तीन मास तक या एक मास, आधा मास अथवा १२,६,३ दिन तक या एक ही दिन तक किया जाय । मौन की शपथ लेने से, कहा जाता है कि सर्व कामनाएँ तथा संकल्प पूरे होते हैं (मौनं सर्वार्थसाधनम्) । मौन व्रत धारण करने वाले को भोजन करते समय भी 'हुम्' जैसा शब्द तक नहीं करना चाहिए । उसे मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी प्रकार की हिंसा न करनी चाहिए । व्रत की समाप्ति के उपरान्त चन्दन का शिवलिङ्ग बनवाकर गन्धाक्षतादि से पूजन करना चोहिए । तदनन्तर सुवर्ण का घण्टा तथा अन्यान्य धातुओं के बने हुए घण्टे-घण्टियाँ मन्दिर में सभी दिशाओं में लटका देने चाहिए । ब्राह्मणों तथा शिवभक्तों को इस अवसर पर स्वादिष्ठ भोजन कराना चाहिए । व्रती को किसी ताम्रपात्र में शिवलिङ्ग रखकर उसे सिर पर धारण कर सड़कों पर होते हुए शिवमन्दिर तक जाकर मन्दिर की प्रतिमा के दक्षिण पार्श्व में लिङ्ग स्थापित करके उसकी पुनः पूजा करनी चाहिए । इससे व्रती शिवलोक प्राप्त कर लेता है ।

मौसलपर्व—यह महाभारत का १६वाँ पर्व है । इसमें यदुवंश का नाश, अर्जुन द्वारा यादवशून्य द्वारका को देखकर दुखी होना, अपने मामा वसुदेव का सत्कारपूर्वक सुरापान, सभा में यदुवंशी वीरों का आत्यन्तिक विनाश देखना, राम और कृष्णादि प्रधान-प्रधान यदुवंशियों का शरीरसंस्कार करके द्वारका से बाल, वृद्ध, वनिताओं को लाते समय राह में घोर विपत्ति में पड़ जाना, गाण्डीव का पराभव तथा सब दिव्यास्त्रों की विफलता, यादव कुलाङ्गनाओं का अपहरण, पराक्रम की अनित्यता देख अत्यन्त दुःखी हो युधिष्ठिर के पास लौटना एवं व्यास के वाक्यानुसार संन्यास लेने की अभिलाषा करना मौसलपर्व के विषय हैं । इसमें ८ अध्याय एवं ३२० श्लोक हैं । इस पर्व में निर्वेद और संन्यास के उत्तम उपदेश हैं । दे० 'महाभारत' ।

य

य—अन्तःस्थ वर्णों का प्रथम अक्षर । कामधेनुतन्त्र में इसका स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है :

यकारं शृणु चार्वङ्गि चतुष्कोणमयं सदा ।
पलालधूमसंकाशं स्वयं परमकुण्डली ।।
पञ्चप्राणमयं वर्णं पञ्चदेवमयं सदा ।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं तथा ।।
प्रणमामि सदा वर्णं मूर्तिमन्मोक्षमव्ययम् ।।

तन्त्रशास्त्र में इसके अनेक नाम बतलाये गये हैं :

यो वाणी वसुधा वायुर्विकृतिः पुरुषोत्तमः ।
युगान्तः श्वसनः शीघ्रो धूमार्चिः प्राणिसेवकः ।।
शङ्खाभ्रमो जटी लीला वायुवेगी यशस्करी ।
सङ्कर्षणः क्षमा वाणो हृदयं कपिला प्रभा ।।
आग्नेय आपकस्त्यागो होमो यानं प्रभा मखम् ।
चण्डः सर्वेश्वरी धूमश्चामुण्डा सुमुखेश्वरी ।।
त्वगात्मा मलयो माता हंसिनी भृङ्गिनायकः ।
तेनमः शोधको मीनो धनिष्ठानङ्गवेदिनी ।।
मेष्टः सोमः पक्तिनामा पापहा प्राणसंज्ञकः ।।

यक्ष—एक अर्ध देवयोनि । यक्ष (नपुंसक लिङ्ग) का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है । उसका अर्थ है 'जादू की शक्ति' । अतएव सम्भवतः यक्ष का अर्थ जादू की शक्तिवाला होगा और निस्सन्देह इसका अर्थ यक्षिणी है । यक्षों की प्रारम्भिक धारणा ठीक वही थी जो पीछे विद्याधरों की हुई । यक्षों को राक्षसों के निकट माना जाता है, यद्यपि वे मनुष्यों के विरोधा नहीं होते, जैसे राक्षस होते हैं । (अनुदार यक्ष एवं उदार राक्षस के उदाहरण भी पाये जाते हैं, किन्तु यह उनका साधारण धर्म नहीं है ।) यक्ष तथा राक्षस दोनों ही 'पुण्यजन' (अथर्ववेद में कुबेर की प्रजा का नाम) कहलाते हैं । माना गया है कि प्रारम्भ में दो प्रकार के राक्षस होते थे; एक जो रक्षा करते थे वे यक्ष कहलाये तथा दूसरे यज्ञों में बाधा उपस्थित करने वाले राक्षस कहलाये । यक्षों के राजा कुबेर उत्तर के दिक्पाल तथा स्वर्ग के कोषाध्यक्ष कहलाते हैं ।

यक्षकर्दम—एक प्रकार का अङ्गराग, जो यक्षों को अत्यन्त प्रिय था । इसका निर्माण पाँच सुगन्धित द्रव्यों के सम्मिश्रण से होता है । धार्मिक उत्सवों और देवकार्यों में इसका विशेष उपयोग होता है । इसके घटक द्रव्य केसर, कस्तूरी, कपूर, कक्कोल और अगरु चन्दन के साथ घिसकर मिलाये जाते हैं :

कुंकुमागुरु कस्तूरी कर्पूरं चन्दनं तथा ।
महासुगन्धमित्युक्तं नामतो यक्षकर्दमः ।।

यच—एक कल्पित भूतयोनि । संभवतः 'यक्ष' का ही यह एक प्राकृत रूप है । दरद प्राचीन आर्य जाति है जो गिलगित के इर्द-गिर्द कश्मीर एवं हिन्दूकुश के मध्य निवास करती है । यह दानवों में विश्वास करती है तथा उन्हें यच' कहती है । यच बड़े आकार के होते हैं, प्रत्येक के एक ही आँख ललाट के मध्य होती है । जब वे मानववेश धारण करते हैं तो उन्हें उनके उलटे पैरों से पहचाना जा सकता है । वे केवल रात को ही चलते हैं तथा पहाड़ों पर राज्य करते हुए मनुष्यों की खेती को हानि पहुँचाते हैं । वे प्रायः मनुष्यों को अपनी दरारों में खींच ले जाते हैं । किन्तु लोगों के इस्लाम धर्म ग्रहण करने से उन्होंने उन पर से अपना स्वामित्व भाव त्याग दिया है तथा अब कभी-कभी ही मनुष्यों को परेशान करते हैं । वे सभी क्रूर नहीं होते, विवाह के अवसर पर वे मनुष्यों से धन उधार लेते हैं तथा उसे धीरे-धीरे ऋण देनेवाले की अज्ञात अवस्था में ही पूरा चुका देते हैं । ऐसे अवसर पर वे मनुष्यों पर दयाभाव रखते हैं । इनकी परछाईं यदि मनुष्य पर पड़े तो वह पागल हो जाता है ।

यजमान—यज्ञ करनेवाला । कोई भी व्यक्ति, जो स्वयं यज्ञ करता है, यज्ञ का व्ययभार वहन करता है अथवा ऋत्विक् या पुरोहित की दक्षिणा चुकाता है, यजमान कहलाता है । सामान्य अर्थ में प्रश्रयदाता, आतिथेय, कुलपति अथवा किसी भी सम्पन्न व्यक्ति को यजमान कहते हैं ।

यजुर्ज्योतिष—संस्कारों एवं यज्ञों की क्रियाएँ निश्चित मुहूर्तों पर निश्चित समयों और निश्चित अवधियों के अन्दर होनी चाहिए । मुहूर्त, समय एवं अवधि का निर्णय करने के लिए एक मात्र ज्योतिष शास्त्र का अवलम्ब है । ज्योतिर्वेदांग पर अति प्राचीन तीन पुस्तकें मिलती हैं—ऋग्ज्योतिष, यजुर्ज्योतिष और अथर्वज्योतिष । 'यजुर्ज्योतिष' इनमें पश्चात्कालिक रचना कही जाती है ।

यजुर्वेद—यह द्वितीय वेद है । इसकी रचना ऋग्वेदीय ऋचाओं के मिश्रण से हुई है, किन्तु इसमें मुख्यतः नये गद्य भाग भी हैं । इसके अनेक मन्त्रों में ऋग्वेद से अन्तर पाया जाता है, जो परम्परागत ग्रन्थ के प्रारम्भिक अन्तर अथवा यजुः के यजनप्रयोगों के कारण हो गया है । यह पद्धतिग्रन्थ है जो पौरोहित्य प्रणाली में यज्ञक्रिया को सम्पन्न करने के लिए संगृहीत हुआ था । पद्धतिग्रन्थ होने के कारण यह अध्ययन का सुप्रचलित विषय बन गया । इसकी अनेक शाखाओं में से आजकल दो संहिताएँ मिलती हैं; प्रथम तैत्तिरीय तथा द्वितीय वाजसनेयी । इन्हें कृष्ण एवं शुक्ल यजुर्वेदीय संहिता भी कहते हैं । तैत्तिरीय संहिता अधिक प्राचीन है । दोनों में सामग्री प्रायः एक है,

किन्तु क्रम में अन्तर है। शुक्ल यजुर्वेदसंहिता अधिक क्रमबद्ध है तथा इसमें ऐसे अंश हैं जो कृष्ण यजुर्वेद में नहीं हैं।

तैत्तिरीय संहिता अथवा कृष्ण यजुर्वेद ७ काण्डों, ४४ प्रश्नों या अध्यायों, ६५१ अनुवाकों अथवा प्रकरणों तथा २१९८ कण्डिकाओं (मन्त्रों) मे विभक्त हैं। एक कण्डिका में नियमतः ५५ शब्द होते हैं। वाजसनेयी संहिता ४० अध्यायों, ३०३ अनुवाकों एवं १९७५ कण्डिकाओं में विभक्त है।

इस वेद का विभाजन दो संहिताओं में क्योंकर हुआ, इसका ठीक उत्तर ज्ञात नहीं है। परवर्ती काल में इस नाम की व्याख्या करने के लिए एक कथा का आविष्कार हुआ, जो विष्णु तथा वायु पुराणों में इस प्रकार कही गयी है :

वेदव्यास के शिष्य वैशम्पायन ने अपने २७ शिष्यों को यजुर्वेद पढ़ाया। शिष्यों में सबसे मेधावी याज्ञवल्क्य थे। इधर वैशम्पायन के साथ एक दुःखपूर्ण घटना घटी कि उनकी भगिनी की सन्तान उनकी घातक चोट से मर गयी। पश्चात् उन्होंने अपने शिष्यों को इसके प्रायश्चित्त के लिए यज्ञ करने को बुलाया। याज्ञवल्क्य ने उन अकुशल ब्राह्मणों का साथ देने से इन्कार कर दिया तथा परस्पर झगड़ा आरम्भ हो गया। गुरु ने याज्ञवल्क्य को जो विद्या सिखायी थी, उसे लौटाने को कहा। शिष्य ने उतनी ही शीघ्रता से यजुः ग्रन्थ को वमन कर दिया जिसे उसने पढ़ा था। विद्या के कण भूमि पर कृष्ण वर्ण के रक्त से सने हुए गिर पड़े। दूसरे शिष्यों ने तित्तिर बनकर उस उगले हुए ग्रन्थ को चुग लिया। इस प्रकार वेद का वह भाग जो इस प्रकार ग्रहण किया गया, नाम से तैत्तिरीय तथा रंग से कृष्ण हो गया। याज्ञवल्क्य खिन्न होकर लौट गये और सूर्य की घोर तपस्या आरम्भ की और उनसे वह यजुः ग्रन्थ प्राप्त किया जो उनके गुरु को भी अज्ञात था। सूर्य ने वाजी (अश्व) का वेश धारण कर याज्ञवल्क्य को उक्त ग्रन्थ दिया था। अतएव वेद के इस भाग के पुरोहित 'वाजिन्' कहलाते हैं, जबकि संहिता वाजसनेयी तथा शुक्ल (श्वेत) कहलाती है, क्योंकि यह सूर्य ने दी थी। याज्ञवल्क्य ने यह वेद सूर्य से प्राप्त किया, इसका उल्लेख कात्यायन ने भी किया है।

इस समस्या का अन्य अधिक बोधगम्य उत्तर यह है कि वाजसनेय याज्ञवल्क्य का पितृ(गुरु)बोधक नाम है, क्योंकि वे 'वाजसन' ऋषि के वंशज थे तथा तैत्तिरीय तित्तिर से बना है, जो यास्क के एक शिष्य का नाम है। वेबर इस वेद के सबसे बड़े आधुनिक विद्वान् माने जाते हैं। उनका मत है कि कितनी भी यह कथा अतर्कपूर्ण हो किन्तु इसके भीतर एक सत्य छिपा हुआ है; कृष्ण यजुर्वेद विभिन्न गद्य-पद्य शैलियों का अपरिपक्व एवं क्रमहीन ग्रन्थ है। गोल्डस्टूकर का मत है कि इसका ऐसा अनगढ़ रूप इस कारण है कि इसमें मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग स्पष्टता से अलग नहीं हैं, जैसा कि अन्य वेदों में है। ब्राह्मणों से सम्बन्धित स्तुतियाँ तथा सामग्री यहाँ मन्त्रों से मिल-जुल गयी है। यह दोष शुक्ल यजुर्वेद में दूर हो गया है।

यजुष(स्)—पद्यात्मक ऋचाओं से भिन्न गद्यात्मक वेदमन्त्र। इसका शाब्दिक अर्थ है यज्ञ, पूजा, श्रद्धा, आदर आदि। वेद का वह भाग, जिसका सम्बन्ध यज्ञ, पूजा आदि से है यजुष् (स्) कहलाता है। यजुर्वेद का यह नाम इसलिए है कि इसके मन्त्र यज्ञक्रियाओं के अवसर पर उच्चरित होते हैं।

यज्ञ—यजन, पूजन, संमिलित विचार, वस्तुओं का वितरण। बदले के कार्य, आहुति, बलि, चढ़ावा, अर्प आदि के अर्थ में भी यह शब्द व्यवहृत होता है। यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में यज्ञविधि का बहुत विस्तार हुआ है। यज्ञ वैदिक विधानों में प्रधान धार्मिक कार्य है। यह इस संसार तथा स्वर्ग दोनों में दृश्य तथा अदृश्य पर, चेतन तथा अचेतन वस्तुओं पर अधिकार पाने का साधन है। जो इसका ठीक प्रयोग जानते हैं तथा विधिवत् इसका सम्पादन करते हैं, वास्तव में वे इस संसार के स्वामी हैं। यज्ञ को एक प्रकार का ऐसा यन्त्र समझना चाहिए जिसके सभी पुर्जे ठीक-ठीक स्थान पर बैठे हों; या यह ऐसी जंजीर है जिसकी एक भी कड़ी कम न हो; या यह ऐसी सीढ़ी है जिससे स्वर्गारोहण किया जा सकता है; या यह एक व्यक्तित्व है जिसमें सारे मानवीय गुण हैं।

यज्ञ सृष्टि के आदि से चला आ रहा है। सृष्टि की उत्पत्ति यज्ञ का फल कही जाती है जिसे ब्रह्मा ने किया था। होमात्मक यज्ञ का विस्तार आहवनीय अग्नि से होता है, जिसमें यज्ञ की सभी सामग्री छोड़कर स्वर्ग भेजी जाती है—मानो यज्ञ एक निसेनी का निर्माण करता है,

जिसके द्वारा यज्ञ करने वाला देवों तक यज्ञ की सामग्री पहुँचा सकता है तथा स्वयं भी उनके निवासों तक पहुँच सकता है ।

यज्ञमूर्ति—एक अद्वैतवादी प्रौढ विद्वान्, जो रामानुज के समकालीन हुए हैं । कहा जाता है कि रामानुज स्वामी की बढ़ती हुई ख्याति को सुनकर यज्ञमूर्ति श्रीरङ्गम् में आये । उनके साथ रामानुज का १६ दिनों तक शास्त्रार्थ होता रहा, परन्तु कोई एक दूसरे को हराता हुआ नहीं दीख पड़ा । अन्त में रामानुज ने 'मायावादखण्डन' का अध्ययन किया और उसकी सहायता से यज्ञमूर्ति को परास्त किया । यज्ञमूर्ति ने वैष्णव मत स्वीकार कर लिया । तबसे उनका देवराज नाम पड़ा । उनके रचित 'ज्ञानसार' तथा 'प्रमेयसागर' नामक दो ग्रन्थ तमिल भाषा में मिलते हैं ।

यज्ञसप्तमी—यदि ग्रहण के पश्चात् आने वाली माघ की सप्तमी हो तथा विशेष रूप से उस दिन संक्रान्ति हो तो व्रती को केवल एक बार हविष्यान्न खाकर रहना चाहिए । उसे उस दिन वरुण को प्रणाम करना चाहिए तथा भूमि पर, दर्भासन पर, बैठना चाहिए । द्वितीय दिवस प्रातः एवं सायं वरुण का यज्ञ करना चाहिए । इस व्रत का बड़ा ही विशाल कर्मकाण्ड शास्त्रों में वर्णित है । माघ की सप्तमी को वरुणदेव को, फाल्गुन की सप्तमी को सूर्य को, चैत्र की सप्तमी को अंशुमाली (सूर्य का पर्यायवाची शब्द) को तथा अन्य मासों में भी इसी प्रकार सूर्यवाचक नामों को सम्बोधित करते हुए यज्ञों का पौष मास तक आयोजन करना चाहिए । वर्ष के अन्त में सोने का रथ जिसमें सात घोड़े जुते हों तथा जिसके मध्य में सूर्य की प्रतिमा विराजमान हो तथा जो बारह मास के सूर्य के बारह नामों का प्रतिनिधित्व करने वाले बारह ब्राह्मणों से घिरा हो, बनवाकर उनका पूजन और सम्मान करना चाहिए । तदनन्तर वह रथ एक गौ सहित आचार्य को प्रदान करना चाहिए । निर्धन व्यक्ति ताँबे का रथ बनवाये । इस व्रत से व्रती विशाल साम्राज्य का राजा होता है । हेमाद्रि के अनुसार वरुण का अर्थ यहाँ सूर्य है ।

यज्ञोपवीत—(१) यज्ञोपवीत का अर्थ है 'यज्ञ के अवसर पर ऊपर से लपेटा (धारण किया) हुआ वस्त्र' । इसका सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. १०.९,१२) में हुआ है । यहाँ स्पष्ट ही इसका अर्थ है 'वासः (वस्त्र) अथवा अजिन (मृगचर्म) । धागा अथवा सूत्र अर्थ नहीं है । इसे यज्ञोपवीत इसलिए कहते थे कि यह यज्ञ करने की योग्यता अथवा अधिकार प्रदान करता था ।

(२) आगे चलकर इसका अर्थ 'पवित्र सूत्र' हो गया, जो 'यज्ञोपवीत' के प्रतीक अथवा प्रतिनिधि रूप में धारण किया जाने लगा । उपनयन संस्कार में ब्रह्मचारी को यह पवित्र सूत्र प्रथम बार धारण करने को दिया जाता है । इस पवित्र सूत्र अथवा यज्ञोपवीत का इतना महत्त्व बढ़ा कि पूरा उपनयन संस्कार ही यज्ञोपवीत कहलाने लगा ।

यज्ञोपवीत त्रिवृत (तीन लड़ों का) होता है । ब्राह्मण बालक के लिए कपास का, क्षत्रिय के लिए क्षौम (अलसी सूत्र का) और वैश्य के लिए ऊन का यज्ञोपवीत होना चाहिए । परन्तु सामान्यतः कपास का यज्ञोपवीत सभी के लिए चलता है । यह बायीं भुजा के ऊपर से दाहिनी भुजा के नीचे लटकता है । प्रथम बार आचार्य निम्नांकित मन्त्र के साथ ब्रह्मचारी (उपनेय) को यज्ञोपवीत पहनाता है :

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

पर्वों के अवसर पर अथवा धार्मिक कार्य के समय भी नया यज्ञोपवीत धारण किया जाता है । तब इसी मन्त्र का प्रयोग होता है ।

यति—एक प्राचीन कुल का नाम, जिसका सम्बन्ध भृगुओं से ऋग्वेद के दो परिच्छेदों में बतलाया गया है (८.३.९;६.१८) । यहाँ यति लोग वास्तविक व्यक्ति जान पड़ते हैं । दूसरी ऋचा में (१०.७२.७) वे पौराणिक दीख पड़ते हैं । यजुर्वेद संहिता (तै० सं० २.४,९,२;६.२,७,५; का० सं० ८.५; १०.१० आदि) तथा अन्य स्थानों में यति एक जाति है, जिसे इन्द्र ने किसी बुरे क्षण में सालावृक (लकड़बग्घों) को खिला दिया था । ठीक-ठीक इसका क्या अर्थ है, ज्ञात नहीं । यति का उल्लेख भृगु के साथ सामवेद में भी मिलता है ।

यतिधर्मसमुच्चय—वैष्णव संन्यासी दसनामी शैव संन्यासिओं से भिन्न होते हैं । वैष्णवों में ब्राह्मण ही लिये जाते हैं जो त्रिदण्ड धारण करते हैं, जबकि दसनामी एकदण्डी होते हैं । दोनों सम्प्रदायों को त्रिदण्डी एवं एक-

दण्डी के अन्तर से पहचानते हैं । रामानुज के शिष्य यादवप्रकाश ने त्रिदण्डियों के कर्त्तव्य पर एक ग्रन्थ रचा है जिसका नाम यतिधर्मसमुच्चय है ।

यतीन्द्रमतदीपिका—श्रीवैष्णव मत का सिद्धान्तबोधक एक उपयोगी संक्षिप्तसार ग्रन्थ । इसमें अनेकों ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है जो आगमसंहिताओं में नहीं प्राप्त होते । इसके रचयिता श्रीनिवास तथा रचनाकाल १६५७ ई० के लगभग है ।

यदु—(१) यदु के वंश का भागवतधर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है । भागवत सम्प्रदाय का एक नाम सात्वत सम्प्रदाय भी है । सात्वत नाम पड़ने का कारण है इसका यदुवंश से सम्बन्धित होना । सर्वप्रथम इस धर्म का प्रचार यदुओं में ही हुआ । कूर्मपुराण में कथा है कि यदुवंश के एक प्राचीन राजा सत्वत् ने, जो अंशु का पुत्र था, इस सम्प्रदाय की विशेष उन्नति की । इसके पुत्र सात्वत ने नारद से भागवत धर्म का उपदेश ग्रहण किया । इसी यदुवंशी भागवतधर्मप्रचारक के नाम पर इस सम्प्रदाय का नाम सात्वत पड़ा ।

(२) समाज की आवश्यकतानुसार अधिकांश ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने-अपने कार्य छोड़कर वैश्यों के गार्हस्थ्य धर्म का पालन करने लगे थे । इस प्रकार के कर्मसाङ्कर्य के उदाहरण यदु थे । ये क्षत्रिय ययाति के पुत्र थे, किन्तु राज्याधिकार न मिलने से पशुपालन आदि करने लगे । नन्द आदि यादव ऐसे ही गोपाल थे ।

(३) राजा ययाति ने छोटे पुत्र पुरु को राज्याधिकारी बनाते हुए अपनी आज्ञा न मानने के कारण यदु आदि चार पुत्रों को राज्यभ्रष्ट होने का शाप दिया था । विश्वास किया जाता है, यदु आदि राजकुमार निर्वासित होकर आधुनिक दजला-फरात घाटी के देश पश्चिमेशिया चले गये । आर्यावर्त से बाहर उस देश में इन्होंने अपना-अपना राज्यतन्त्र स्थापित किया । वर्तमान जार्डन नदी और जूडाई साम्राज्य यदुवंशी राज्यतन्त्र का ही पश्चाद्वर्ती अवशिष्ट स्मारक प्रतीत होता है। प्रभासपट्टन और द्वारका बन्दरगाहों के मार्ग से यादवों का आवागमन वर्तमान आर्यावर्त में होता रहता था । उस देश में की जा रही पुरातात्त्विक खोजों से इस तथ्य पर और अधिक प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।

यन्त्र—(१) नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् के द्वितीय खण्ड में एक यन्त्र बनाने का निर्देश है, जो नृसिंह के मन्त्रराज तथा तीन और वैष्णव मन्त्रों से बनता है । इस यन्त्र को गले, भुजा या शिखा में पहनते हैं, जिससे शक्ति मिलती है ।

(२) शाक्तों के द्वारा विभिन्न देवताओं के रहस्यात्मक यन्त्रों की रचना, पूजाविधि और प्रयोग करना पर्याप्त प्रचलित हैं । ये यन्त्र एवं मण्डल किसी धातुपत्र, भोजपत्र या मृत्तिकावेदी पर बनते हैं । साथ ही उन पर अनेकानेक मुद्राएँ अथवा अक्षरन्यास निर्मित किये जाते हैं, फिर उनमें देवता का आवाहन एवं पूजन मुख्य मन्त्र के द्वारा होता है ।

यम—यम के पूर्वजों एवं सम्बन्धियों का ज्ञान अनिश्चित है । एक वर्णन के अनुसार (ऋ० १०.१७.१-२) यम एवं उनकी बहिन यमी विवस्वान् एवं सरण्यु की सन्तान हैं । विवस्वान् स्पष्टतः प्रकाश का देवता है, चाहे उसे उदीयमान सूर्य मानें, प्रभापूर्ण आकाश मानें या केवल सूर्य मानें; अन्तर सामान्य पड़ता है । सरण्यु को सूर्या अथवा उषा मान सकते हैं । विवस्वान् एवं सरण्यु कम-से-कम दो युगलों के माता-पिता अवश्य हैं । वे हैं यम-यमी तथा दो अश्विनौ ।

यम तथा यमी को चन्द्रमा एवं उषा के रूप में माना गया है, क्योंकि दोनों ही दिन व रात के गुणों में सम्मिलित हैं एवं दोनों की प्रेमकथा एक विवाह में समाप्त होती है (ऋ० १०.८५.८-९) । इस आकाशीय, मानवीकृत प्रेमव्यापार को हम उषःकालीन, पीले व हलके पड़ने वाले चन्द्रमा में, जो अन्त में उषा में विलीन हो जाता है, देख सकते हैं ।

एक अन्य पौराणिक कथा के अनुसार यम तथा यमी जलगन्धर्व एवं जल-अप्सरा की सन्तान हैं ।

भारत-ईरानी काल से ही माना यम विवस्वान् का पुत्र जाता है, क्योंकि यह यिम, वीवन्ह्वन्त (पारसी देव) के पुत्र के तुल्य है । यम तथा यमी 'यिम' एवं 'यिमेह' से मिलते-जुलते हैं । यमी एक ऋग्वेदीय मन्त्र (१०.१०) से सम्बन्धित है तथा 'यिमेह' लघु अवेस्ता (पारसी धर्मग्रन्थ) के एक कथन 'बुन्दहिस' से । यम वैवस्वत (ऋ० १०.-१४,१) का एक अन्य रूप मनु वैवस्वत (४.१) के रूप में

प्राप्त होता है। निस्सन्देह दोनों का जन्म दो पौराणिक कथाओं से होता है। वे हमें मनुष्य के जीवन के आदि व भविष्य का परिचय देते हैं।

ऋग्वेदीय धारणानुसार मनुष्यजाति के शीर्षस्थान पर आदि पुरुष मनु। जो प्रथम यज्ञ करने वाले थे (ऋ० १०.६३.७) हैं, या यम हैं जो पृथ्वी से स्वर्ग तक के पथ का अनुसन्धान कर चुके थे (ऋ० १०.१४.१-२)। यम एवं यमी को मानवजाति का माता-पिता मान सकते हैं। भाई-बहिन का ऋग्वेदीय कथनोपकथन (१०.१०) इस प्रकार के सम्बन्ध की नैतिकता पर प्रकाश डालता है। यमी इस बात पर जोर देती है कि यम ही एक मात्र पुरुष है और विश्व को बसाने के प्रयोजनार्थ मानवसन्तानों की आवश्यकता है। दूसरी ओर यम भाई-बहिन के संयोग पर नैतिक आपत्ति उपस्थित करता है। जान पड़ता है कि यम एवं यमी प्रारम्भिक अवस्था में प्राकृतिक उपादानों के मानवीकरण के रूप थे, यथा चन्द्र तथा उषा एवं आकाश तथा पृथ्वी।

यम के दो सन्देशवाहक कुत्ते हैं जो 'सरमा' के पुत्र होने के कारण सारमेय कहलाते हैं। उनका वर्णन (ऋ० १०.१४.१०-१२) चार आँखों, चौड़ी नाक, भूरे रंग वाले रूप में किया गया है। ये पृथ्वी से स्वर्ग के पथ की रक्षा करते हैं, मृत्यु के पात्रों को चुनते हैं तथा स्वर्गीय यात्रा में उनकी देख-भाल करते हैं।

पौराणिक यम मृत्यु के देवता हैं, जिनका महिष (भैंसा) वाहन है। उनके दो रूप हैं: यमराज और धर्मराज। यमराज रूप से वे दुष्ट मनुष्यों को दण्ड देकर नरकादि में भेजते हैं, धर्मराज के रूप में धर्मात्मा मनुष्य को स्वर्गादि में भेजकर पुरस्कृत करते हैं।

यमचतुर्थी—शनि के दिन चतुर्थी हो और भरणी नक्षत्र हो तो यम का पूजन होना चाहिए। यम भरणी नक्षत्र का स्वामी है। इस व्रत से सात जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं।

यमदीपदान—कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को सायंकाल गृह के बाहर दीपों की पंक्ति प्रज्वलित की जानी चाहिए। इससे दुर्घटना जन्य (अकाल) मृत्यु रुक जाती है।

यमद्वितीया—भविष्योत्तर पुराण के अनुसार कार्तिक शुक्ल द्वितीया को यमराज के प्रीत्यर्थ यह व्रत किया जाता है। बहिनें इसको अपने भाइयों की मृत्यु के देवता से रक्षा-प्राप्ति के लिए करती हैं। इस त्यौहार के दिन बहिनों के घर जाकर भोजन करने, उनसे टीका लगवाने एवं उन्हें उपहार देने का प्रचार लगभग सम्पूर्ण भारत में है। इसे 'भैयादूज' या 'भ्रातृद्वितीया' भी कहते हैं।

यमद्वितीया के दिन यम की बहिन और सूर्यपुत्री यमुना में स्नान करने का विधान है। इससे यमराज प्रसन्न होते हैं। इस पर्व पर मथुरा में यमुनास्नान करने का भारी मेला होता है।

यमल—यमल का अर्थ है जोड़ा। युग्म देवता तथा उनकी शक्ति की एकता (यौन संयोग) इससे सूचित होती है। यमल शब्द से ही 'यामल' बना है, जो शिव-पार्वती जैसे युग्म देवताओं के संवाद रूप में विरचित ग्रन्थ है।

यमादर्शनत्रयोदशी—मार्गशीर्ष मास की त्रयोदशी को सप्ताह के पुनीत दिनों में (रविवार और मंगलवार छोड़कर) मध्याह्न से पूर्व ही तेरह ब्राह्मणों को निमंत्रित करना चाहिए। उन्हें तिल का तेल शरीर मर्दन के लिए तथा गर्म जल स्नान के लिए दिया जाय, तदनन्तर उन्हें अत्यन्त स्वादिष्ठ भोजन कराया जाय और यह कार्य एक वर्ष तक प्रति मास हो तो इस आचरण से व्रती को कभी भी यमराज का मुख नहीं देखना पड़ेगा।

यमुना—एक प्रसिद्ध और पवित्र नदी। यह यमुना (युग्म में से एक) इसलिए कही जाती है कि यह गङ्गा के समानान्तर बहती है। इसका उल्लेख ऋग्वेद में तीन बार हुआ है। ऋग्वेदानुसार (७.१८.१९) त्रित्सु एवं सुदास ने शत्रुओं के ऊपर यमुनातट पर महान् विजय प्राप्त की थी। हॉपकिन्स का यह मत कि यहाँ यमुना परुष्णी का अन्य नाम है, अग्राह्य है, क्योंकि त्रित्सुओं का राज्य यमुना व सरस्वती के बीच में स्थित था। अथर्ववेद (४.९.१०) में यमुना के अञ्जन का उल्लेख त्रिककुद् (त्रैककुद) के साथ हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्रा० के अनुसार भरतों की ख्याति यमुना तट की विजय से हुई। अन्य ब्राह्मण भी यमुना को उद्धृत करते हैं। मन्त्रपाठ (२.११.१२) में साल्व लोग इसके तट पर निवास करने वाले कहे गये हैं।

पुराणों के अनुसार यम (सूर्य) की पुत्री होने के कारण यह नदी यमुना कहलाती है। भारत की सात पवित्र नदियों में इसकी गणना है:

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
कावेरि नर्मदे सिन्धोर्जलेऽस्मिन्सन्निधिं कुरु॥

भागवत पुराण में वर्णित कृष्ण के सम्पर्क के कारण इसका महत्त्व बहुत बढ़ गया है, जिस प्रकार राम के सम्पर्क से सरयू नदी का ।

यमुनास्नानतर्पण—इस व्रत के अनुसार यमुनाजल में खड़े होकर यमराज के भिन्न-भिन्न नामों के साथ तिलमिश्रित जल की तीन-तीन अञ्जलियों से उनका तर्पण करना चाहिए ।

याग—(१) देवता को सामग्री अर्पण करना, अर्थात् यज्ञकर्म । इसमें अग्नि, जल, देवमूर्ति, अतिथि अथवा अन्तरात्मा को उपहार चढ़ाया जाता है । ब्राह्मण ग्रन्थों में कई प्रकार के अग्निसाध्य यागों का वर्णन है । (२) इसी प्रकार वैष्णव उपासक किसी प्रथम गुरु का चुनाव कर उससे दीक्षा लेता है । दीक्षान्तर्गत पाँच कृत्य हैं : (१) ताप (साम्प्रदायिक चिह्न का शरीर पर अङ्कन) (२) पुण्ड्र (साम्प्रदायिक चिह्न को ललाट आदि पर चन्दन से बनाना) (३) नाम (अपना साम्प्रदायिक नाम ग्रहण करना) (४) मन्त्र (आराध्य देव का मन्त्र ग्रहण करना) एवं (५) याग (देवता की पूजा) ।

याज्ञवल्क्य—(१) यजुर्वेद के शाखाप्रवर्तक ऋषि । इनका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में यज्ञों के प्रश्न पर एक महान् अधिकारी विद्वान् के रूप में मिलता है । बृहदारण्यक उपनिषद् में इन्हें दर्शन का अधिकारी विद्वान् माना गया है । ये उद्दालक आरुणि के शिष्य थे जिन्हें एक विवाद में इन्होंने हरा दिया था । बृहदारण्यक उपनिषद् में इनकी दो पत्नियाँ-मैत्रेयी तथा कात्यायनी का उल्लेख है । साथ ही यहाँ याज्ञवल्क्यकृत वाजसनेयी शाखा (शुक्ल यजुर्वेद) का भी उल्लेख है । आश्चर्य की बात है कि याज्ञवल्क्य शतपथ ब्राह्मण तथा शाङ्खायन आरण्यक को छोड़कर किसी भी वैदिक ग्रन्थ में उल्लिखित नहीं हैं । कहा जाता है कि ये विदेह के रहने वाले थे, परन्तु जनक की सभा में इनकी उपस्थिति होते हुए भी उद्दालक से सम्बन्ध (जो कुरु-पञ्चाल के थे) होने के कारण इनका विदेहवासी होना संदेहात्मक लगता है ।

(२) स्मृतिकार के रूप में भी याज्ञवल्क्य प्रसिद्ध हैं । इनके नाम से प्रख्यात 'याज्ञवल्क्यस्मृति' धर्मशास्त्र का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है । स्पष्टतः यह परवर्ती ग्रन्थ है । इसका विकास याज्ञवल्क्य के धर्मशास्त्रीय सम्प्रदाय में हुआ । न्यायव्यवस्था एवं उत्तराधिकार के सम्बन्ध में हिन्दू विधि के अन्तर्गत इस स्मृति का मुख्य स्थान है ।

याज्ञवल्क्य आश्रम—बिहार प्रदेश के दरभंगा-सीतामढ़ी मार्ग के बीच रमौल ग्राम पड़ता है । यहाँ शिवमन्दिर है, इसी के पास गौतमकुण्ड और वटवृक्षों का वन है । यहाँ पर महर्षि याज्ञवल्क्य का आश्रम बतलाया जाता है ।

याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्र—धर्मशास्त्र (विधि) में मानवधर्मशास्त्र (मनुस्मृति) के पश्चात् दूसरा स्थान याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्र का है । इसका दूसरा नाम है याज्ञवल्क्यस्मृति । दे० 'याज्ञवल्क्यस्मृति' ।

याज्ञवल्क्यस्मृति—मानव धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) अन्य सभी स्मृतियों का आधार है । इसके बाद दूसरा स्थान याज्ञवल्क्यस्मृति का है । इस स्मृति में तीन अध्याय हैं; आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त । इनमें निम्नांकित विषय हैं :

(१) आचाराध्याय—वर्णाश्रमप्रकरण, स्नातक व्रत प्रकरण, भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण, द्रव्यशुद्धि प्रकरण, दान प्रकरण ।

(२) व्यवहाराध्याय—प्रतिभू प्रकरण, ऋणादान प्रकरण, निक्षेपादि प्रकरण, साक्षिप्रकरण, लेख्यप्रकरण, दिव्य प्रकरण, दायभाग, सीमाविवाद, स्वामिपाल विवाद, अस्वामिविक्रय, दत्ताप्रदानिक, क्रीतानुशय, संविद्व्यतिक्रम, वेतनादान, द्यूतसमाह्वय, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, साहस, विक्रीयासम्प्रदान, सम्भूय समुत्थान, स्तेय एवं स्त्रीसंग्रह प्रकरण ।

(३) प्रायश्चित्ताध्याय—अशौच, आपत्कर्म, वानप्रस्थ, यति, अध्यात्म, ब्रह्महत्या प्रायश्चित्त, सुरापान प्रायश्चित्त, सुवर्णस्तेय प्रायश्चित्त, स्त्रीवध प्रायश्चित्त एवं रहस्यप्रायश्चित्त प्रकरण ।

याज्ञवल्क्यस्मृति पर कई भाष्य और टीकाएँ लिखी गयी हैं, जिनमें 'मिताक्षरा' सबसे प्रसिद्ध है ।

हिन्दू विधि में मिताक्षरा का सिद्धान्त बंगाल को छोड़कर समग्र देश में माना जाता रहा है । बंगाल में 'दायभाग' मान्य रहा है ।

याज्ञिकी—तैत्तिरीय आरण्यक का दसवाँ प्रपाठक याज्ञिकी या नारायणीयोपनिषद् के नाम से विख्यात है । सायणाचार्य ने याज्ञिकी उपनिषद् पर भाष्य रचा है और विज्ञानात्मा ने इस पर स्वतंत्र वृत्ति और 'वेदविभूषण' नाम की अलग व्याख्या लिखी है ।

याज्ञिकी अथवा नारायणीय उपनिषद् में मूर्तिमान् ब्रह्मतत्त्व का विवरण है। शङ्कराचार्य ने इसका भाष्य लिखा है।

यातुधान—मनुष्येतर उपद्रवी योनियों में राक्षस मुख्य हैं, इनमें यातु (माया, छल-छद्म) अधिक था इसलिए इनको यातुधान कहते थे। ऋग्वेद में इन्हें यज्ञों में बाधा डालने वाला तथा पवित्रात्माओं को कष्ट पहुँचाने वाला कहा गया है। इनके पास प्रभूत शक्ति होती है एवं रात को जब ये घूमते हैं (रात्रिञ्चर) तो अपने क्रव्य (शिकार) को खाते हैं, बड़े ही घृणित आकार के होते हैं तथा नाना रूप ग्रहण करने की सामर्थ्य रखते हैं। ऋग्वेद में रक्षस् एवं यातुधान में अन्तर किया गया है, किन्तु परवर्त्ती साहित्य में दोनों पर्याय हैं। ये दोनों प्रारम्भिक अवस्था में यक्षों के समकक्ष थे। किन्तु रामायण-महाभारत की रचना के पश्चात् राक्षस अधिक प्रसिद्ध हुए। राक्षसों का राजा रावण राम का प्रबल शत्रु था। महाभारत में भीम का पुत्र घटोत्कच राक्षस है, जो पाण्डवों की ओर से युद्ध करता है। विभीषण, रावण का भाई तथा भीमपुत्र घटोत्कच भले राक्षसों के उदाहरण हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि असुरों की तरह ही राक्षस भी सर्वथा भय की वस्तु नहीं होते थे।

यात्रा (रथयात्रा या रथोत्सव)—प्राचीन काल से ही देवताओं की यात्राएँ बड़ी प्रसिद्ध हैं। कालप्रिय नाथ की यात्रा के अवसर पर भवभूति का प्रसिद्ध नाटक 'महावीरचरित' मञ्च पर खेला गया था। 'यात्रातत्त्व' नामक ग्रंथ रघुनन्दन द्वारा बंगाल में रचा गया था। इस ग्रन्थ में विष्णु (जगन्नाथजी) सम्बन्धी बारह उत्सव वर्णित हैं। मुरारि कवि द्वारा रचित 'अनर्घराघव' नाटक पुरुषोत्तमयात्रा के समय ही रंगमंच पर खेला गया था। देवयात्राविधि के लिए दे० कृत्यकल्पतरु, पृ० १७८-८१ (ब्रह्मपुराण से)।

यादवगिरिमाहात्म्य—नारद पुराण में उद्धृत यह अंश दत्तात्रेय सम्प्रदाय (मानभाउ सम्प्रदाय) का वर्णन करता है।

यादवप्रकाश—रामानुज स्वामी के प्रारम्भिक दार्शनिक शिक्षागुरु। यादवप्रकाश शङ्कर के अद्वैतमत को मानने वाले थे और रामानुज विशिष्टाद्वैत को। अतएव गुरु-शिष्य में अनेक बार विवाद हुआ करता था। अन्त में रामानुज ने गुरु पर विजय प्राप्त की और उन्हें वैष्णव मतावलम्बी बना लिया। इनका लिखा हुआ वेदान्तसूत्र का यादवभाष्य अब दुर्लभ है। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के संन्यासियों पर इनका अन्य ग्रन्थ यतिधर्मसमुच्चय है। इनका अन्य नाम गोविन्द जिय भी था। स्थितिकाल ११वीं शताब्दी था। ये कांची नगरी के रहने वाले थे।

यान—(१) साधक के परलोक प्रयाण के दो मार्ग या प्रकार। उपनिषदों और गीता (८,२३-२८) में इनका विवेचन भली प्रकार हुआ है।

(२) बौद्ध उपासकों में तीन साधनामार्ग प्रचलित हैं : हीनयान, महायान और वज्रयान।

महायान के श्रेष्ठ तन्त्र 'तथागतगुह्यक' से पता लगता है कि रुद्रयामल में जिसे वामाचार या कौलाचार कहा गया है, वही महायानियों का अनुष्ठेय आचार है। इसी सम्प्रदाय से कालचक्रयान या कालोत्तर महायान तथा वज्रयान की उत्पत्ति हुई। नेपाल के सभी शाक्त बौद्ध वज्रयान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

यामल—तन्त्र शास्त्र तीन भागों में विभक्त है : आगम, यामल और मुख्य। जिसमें सृष्टितत्त्व, ज्योतिष, नित्यकृत्यक्रम, सूत्र, वर्ण भेद और युगधर्म का वर्णन हो उसे यामल कहते हैं। वास्तव में यामल शब्द यमल से बना है जिसका अर्थ 'जोड़ा' होता है (अर्थात् देवता तथा उसकी शक्ति का परस्पर रहस्यसंवाद)। यामलतन्त्र आठ हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, लक्ष्मी, उमा, स्कन्द, गणेश तथा ग्रहपरक हैं।

यामुनाचार्य—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के एक प्रधान आचार्य नाथमुनि थे (९६५ वि०)। उनके पुत्र ईश्वरमुनि तथा इनके पुत्र यामुनाचार्य थे। ईश्वरमुनि की मृत्यु बहुत ही अल्पावस्था में हो गयी। यामुनाचार्य तब दस वर्ष के बालक थे। इनका जन्म १०१० वि० में वीरनारायणपुर या मदुरा में हुआ था। ये अपने गुरु श्रीमद्भाष्याचार्य से शिक्षा लेने तथा १२ वर्ष की अवस्था में ही स्वभाव की मधुरता एवं बुद्धि की प्रखरता के बल पर पांड्य राज्य के प्रभावशाली व्यक्ति मान लिये गये। नाथमुनि पुत्र के मृत्युशोक से संन्यासी हो रङ्गनाथ के मन्दिर में रहने लगे थे। फिर भी वे अपने पौत्र का हितचिन्तन करते रहते थे। मृत्यु के समय उन्होंने अपने शिष्य राममिश्र से कहा

'देखना, कहीं यामुनाचार्य विषयभोग में फँसकर अपने कर्त्तव्य को न भूल जाय। इसका भार मैं तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ।'

इन्हीं राममिश्र की शिक्षा से प्रभावित होकर यामुनाचार्य रङ्गनाथ के सेवक हो गये। उन्होंने अपने दादा का छोड़ा हुआ सच्चा धन प्राप्त कर लिया, पश्चात् अपना शेष जीवन भगवत्सेवा तथा ग्रन्थप्रणयन में बिताया। उन्होंने संस्कृत में चार ग्रन्थ लिखे हैं—स्तोत्ररत्न, सिद्धित्रय, आगमप्रामाण्य और गीतार्थसंग्रह। इनमें सबसे प्रधान सिद्धित्रय है। यह गद्य और पद्य में लिखा गया है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है।

यामुनाचार्य रामानुज स्वामी के परम गुरु थे। यामुनाचार्य का रामानुजाचार्य पर बड़ा प्रेम था। उन्होंने मृत्युकाल में रामानुज का स्मरण किया, परन्तु उनके पहुँचने के पूर्व ही वे नित्यधाम को पहुँच गये।

सिद्धान्त : 'विशिष्टाद्वैत' शब्द दो शब्दों के मिलने से बना है—विशिष्ट और अद्वैत। विशिष्ट का तात्पर्य है चेतन और अचेतनविशिष्ट ब्रह्म, और अद्वैत का मतलब है अभेद या एकत्व। अतएव चेतनाचेतन विभाग विशिष्ट ब्रह्म के अभेद या एकत्व के निरूपण करने वाले सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैतवाद है। यामुनाचार्य ने इन्हीं सिद्धान्तों की स्थापना अपने ग्रन्थों में की है।

शाङ्कर मतानुयायी सुरेश्वराचार्य के विचार से ज्ञान स्वप्रकाश है, अखण्ड है, कूटस्थ है, नित्य है, ज्ञान ही आत्मा है, ज्ञान ही परमात्मा है, ज्ञान निष्क्रिय है, ज्ञान में भेद नहीं है, ज्ञान आपेक्षिक नहीं है। यामुनाचार्य इस मत को अवैदिक मानते हैं। उनके मत में ज्ञान आत्मा का धर्म है। शाङ्कर मत में आत्मा ज्ञानस्वरूप है परन्तु यामुनाचार्य के मत में आत्मा ज्ञाता है। ज्ञातृत्व शक्ति आत्मा की है, ज्ञान सक्रिय है, शङ्कर के मत में ज्ञान निष्क्रिय है। यामुन के मत में ज्ञान सविशेष है, शाङ्कर मत में निर्विशेष है। यामुन के मत में ज्ञान आपेक्षिक है, शाङ्कर मत में ज्ञान स्वप्रकाश है।

यामुन के मत में श्रुति ही आत्मप्रतिपत्ति का प्रमाण है। ईश्वर पुरुषोत्तम है तथा जीव से श्रेष्ठ है। जीव कृपण है और दुःख-शोक में डूबा रहता है; ईश्वर सर्वज्ञ है, सत्यसङ्कल्प एवं असीम सुखसागर है। ईश्वर पूर्ण है, जीव अणु है। जीव अंश है, ईश्वर अंशी है। मुक्त जीव ईश्वरभाव को प्राप्त नहीं होता। जगत् ब्रह्म का परिणाम है। ब्रह्म ही जगत् के रूप में परिणत हुआ है। जगत् ब्रह्म का शरीर है, ब्रह्म जगत् का आत्मा है। आत्मा और शरीर अभिन्न हैं। अतएव जगत् ब्रह्मात्मक है।

यास्क—वैदिक संज्ञाओं के व्युत्पत्तिरचयिता या प्रसिद्ध निरुक्तकार। वैदिक शब्दों के परिज्ञान के लिए इनका निरुक्त बहुत उपयोगी है। इनका जीवनकाल दसवीं शती ई० पू० के लगभग था। निरुक्त तीसरा वेदाङ्ग माना जाता है। यास्क ने पहले 'निघण्टु' नामक वैदिक शब्दकोश तैयार किया था, निरुक्त एक प्रकार से उसी की टीका है। इससे वैदिक शब्दों का व्युत्पत्तिपरक अर्थ प्रकट होता है। निघण्टु और निरुक्त में इतना अधिक विषयसाम्य है कि सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में निघण्टु को भी निरुक्त कहा है। निरुक्त अध्ययन करने के लिए वैयाकरण होना आवश्यक है। व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से निरुक्त का बड़ा महत्व है। निरुक्त के अपने विषय निम्नांकित हैं—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तथार्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

निरुक्त में तीन काण्ड हैं—(१) नैघण्टुक (२) नैगम और (३) दैवत। इसमें परिशिष्ट मिलाकर कुल चौदह अध्याय हैं। यास्क ने शब्दों को धातुज माना है और धातुओं से व्युत्पत्ति करके उनका अर्थ निकाला है। यास्क ने वेद को ब्रह्म कहा है और उसको इतिहास, ऋचाओं और गाथाओं का समुच्चय माना है (तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रं ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति)। जब यास्क ने अपना निरुक्त रचा उस समय तक अनेक वैदिक शब्दों के अर्थ अस्पष्ट और अज्ञात हो चुके थे। अपने एक पूर्ववर्ती निरुक्तकार के मत का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है, "वैदिक ऋचाएँ अस्पष्ट, अर्थहीन और परस्पर विरोधाभास वाली हैं।" इससे यास्क सहमत नहीं थे। इनके पूर्व सत्रह निरुक्तकार हो चुके थे। यास्ककृत निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गाचार्य हुए। अपने टीकाग्रन्थ पर उन्होंने एक निरुक्तवार्तिक भी लिखा जो अब उपलब्ध नहीं है। दुर्गाचार्य के अतिरिक्त बर्बरस्वामी, स्कन्द महेश्वर और वररुचि ने भी निरुक्त पर टीकाएँ लिखी हैं।

युगादिव्रत—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग का प्रारम्भ क्रमशः वैशाख शुक्ल ३, कार्तिक शुक्ल ९, भाद्र कृष्ण १३ तथा माघ की अमावस्या को हुआ था। इन दिनों में उपवास, दान, तप, जप तथा होमादि का आयोजन करने से साधारण दिनों से करोड़ों गुना पुण्य होता है। वैशाख शुक्ल तृतीया को नारायण तथा लक्ष्मी का पूजन और लवणधेनु का दान, कार्तिक शुक्ल नवमी को शिव तथा उमा का पूजन और तिलधेनु का दान, भाद्र कृष्ण त्रयोदशी को पितृगण का सम्मान, माघ की अमावस्या को गायत्रीसहित ब्रह्माजी का पूजन और नवनीतधेनु के दान करने का विधान है। इन कृत्यों से कायिक, वाचिक, मानसिक सभी प्रकार के पापों का क्षय हो जाता है।

युगान्तश्राद्ध—चारों युग क्रमशः निम्नोक्त दिनों में समाप्त होते हैं—सिंह संक्रान्ति पर सत्ययुग, वृश्चिक संक्रान्ति पर त्रेता, वृष संक्रान्ति पर द्वापर तथा कुम्भ की संक्रान्ति पर कलियुग समाप्त होता है। इन संक्रान्तियों के आरम्भिक दिनों में पितृगणों की प्रसन्नता के लिए श्राद्ध करना चाहिए।

युगावतारव्रत—भाद्र कृष्ण त्रयोदशी को द्वापर युग का आरम्भ हुआ था। उस दिन शरीर में गोमूत्र, गोमय, दूर्वा तथा मृत्तिका मलकर नदी अथवा सरोवर के गहरे जल में स्नान करना चाहिए। इस आचरण से गया में किये गये श्राद्ध का पुण्य प्राप्त होगा। साथ ही भगवान् विष्णु की प्रतिमा को घी, दूध तथा शुद्ध जल से स्नान कराना चाहिए। इस कृत्य से विष्णुलोक प्राप्त होता है।

युधिष्ठिर—महाभारत के नायकों में समुज्ज्वल चरित्र वाले ज्येष्ठ पाण्डव। वे सत्यवादिता एवं धार्मिक आचरण के लिए विख्यात हैं। अनेकानेक धर्म सम्बन्धी प्रश्न एवं उनके उत्तर युधिष्ठिर के मुख से महाभारत में कहलाये गये हैं। शान्तिपर्व में सम्पूर्ण समाजनीति, राजनीति तथा धर्मनीति युधिष्ठर और भीष्म के संवाद के रूप में प्रस्तुत की गयी है।

यूप—यज्ञ का स्तम्भ, जिसमें बलिपशु बाँधा जाता था। आगे चलकर सभी प्रकार के यज्ञस्तम्भों और स्वतन्त्र धार्मिक स्तम्भों के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग होने लगा।

यूपारोहण—वाजपेय यज्ञ सोमयज्ञों के अन्तर्गत है। इसमें रथदौड़ की मुख्य क्रिया होती थी। इसकी एक क्रिया यूपारोहण अर्थात् यज्ञयूप पर चढ़ना भी है। इसमें गेहूँ के आटे से बने हुए चक्र को, जो सूर्य का प्रतीक माना जाता है, यूप के सिरे पर रखते हैं। यज्ञ करने वाला सीढ़ी की सहायता से इस पर (यूप पर) चढ़कर चक्र को पकड़ते हुए मन्त्रोच्चारण करता है—'हे देवी, हम सूर्य पर पहुँच गये हैं।' भूमि पर उतरकर वह लकड़ी के सिंहासन पर बैठता और अभिषिंचित किया जाता है।

योग (दर्शन)—धार्मिक साधना का प्रसिद्ध मार्ग। यह दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ और इस दर्शन के रचयिता पतंजलि थे। दीर्घ काल तक महाभाष्यकार पतंजलि (दूसरी शताब्दी ई० पू०) को योगसूत्र का प्रणेता समझा जाता रहा है, इसी कारण यूरोपीय विद्वानों ने इस ग्रन्थ को सभी दर्शनों के सूत्रों से प्राचीन मान लिया था। किन्तु सूत्रों में महाभारत एवं योग सम्बन्धी उपनिषदों के भी विचारों का विकसित रूप पाये जाने के कारण तथा इसके अन्तर्गत बौद्ध विज्ञानवाद की आलोचना होने के कारण यह मान लिया गया है कि इसके रचयिता अन्य कोई पतञ्जलि हैं एवं उनकी तिथि ईसवी चौथी शताब्दी से पूर्व की नहीं हो सकती। सम्भवतः सांख्यकारिका की महान् लोकप्रियता ने योगसूत्र लिखने की प्रेरणा दी हो। विज्ञानवाद तथा योगाचार मत का ३०० ई० के लगभग उदित होना इस बात की पुष्टि करता है कि योगसूत्र इसके बाद का है, क्योंकि योग का इनमें बहुत बड़ा स्थान है।

योगदर्शन की पदार्थप्रणाली में सांख्य के २५ तत्त्व स्वीकृत हैं तथा वह ईश्वर को इनमें २६वें तत्त्व के तौर पर जोड़ता है। इसलिए यह 'सेश्वर सांख्य' कहलाता है, जबकि कापिल सांख्य को 'निरीश्वर सांख्य' कहते हैं। किन्तु योग की विशेषता इन तत्त्वों पर माथापच्ची न करते हुए साधना प्रणाली का अभ्यास तथा ईश्वरभक्ति है, क्योंकि इसका लक्ष्य आत्मा को कैवल्य पद प्राप्त कराना है।

योगसाधक सतत अभ्यास करते हुए चित्त की क्रियाओं पर सम्पूर्ण स्वामित्व प्राप्त कर लेता है। चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः)। इसके साधन हैं नैतिक आचरण, तपश्चरण, शारीरिक तथा मानसिक व्यायाम, फिर केन्द्रित ध्यान तथा गहरा चिन्तन। इनके द्वारा प्रकृति एवं आत्मा का अन्तर्ज्ञान एवं अन्त में कैवल्य प्राप्त होता है। अष्टाङ्ग योग के आठ अंग निम्नांकित हैं—(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) समाधि। इसको राजयोग भी कहते हैं। यह सभी मनुष्यों के लिए उन्मुक्त

है, यहाँ तक कि जातिच्युत भी इसका अभ्यासी हो सकता है । योग अभ्यास करने वाले संन्यासी योगी कहलाते हैं ।

पतञ्जलि के सूत्रों पर वाचस्पति मिश्र, व्यास मुनि, विज्ञानभिक्षु, भोजराज, नागेशभट्ट आदि विद्वानों की व्याख्या, टीका, वृत्तियाँ आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं ।

योग उपनिषद्—विषयानुसार विभाजन करने पर उपनिषदों के वेदान्त, योग, संन्यास, शैव, वैष्णव, गाणपत्य आदि अनेक प्रकार हो जाते हैं । योगविषयक उपनिषदों में योगानुशासन के प्राचीन छः अंगों पर विचार किया गया है (आगे चलकर वे आठ हो गये—अष्टांग योग) तथा पवित्र 'ओम्' पर ध्यान केन्द्रित करने पर उनमें विशेष बल दिया गया है । ये ग्रन्थ मैत्रायणी तथा चूलिका के पीछे रचे गये हैं, किन्तु वेदान्तसूत्र एवं योगसूत्रों के पूर्व के हैं ।

योग सम्बन्धी उपनिषदें पद्यबद्ध हैं तथा चूलिका की अनुगामी हैं । इनमें सबसे प्राचीन है 'ब्रह्मबिन्दु' जो मैत्रायणीकालीन है । क्षुरिका, तेजोबिन्दु, ब्रह्मविद्या, नादबिन्दु, योगशिखा, योगतत्त्व, ध्यानबिन्दु, अमृतबिन्दु इस वर्ग की मुख्य उपनिषदें हैं, जो संन्यासवर्गीय उपनिषदों तथा महाभारत के समकालीन हैं । केवल इस वर्ग की 'हंस' परवर्त्ती अनिश्चित तिथि की रचना है ।

योगक्षेम—(१) 'प्राप्ति (योग) और उसकी रक्षा (क्षेम) ।' यह कल्याण और मंगल का पर्याय है । राजसूय यज्ञ करने के पूर्व राजा अपना पुनरभिषेक कराता था । इसकी क्रियाएँ 'ऐन्द्र महाभिषेक' से मिलती-जुलती होती थीं और 'योगक्षेम' इसकी एक क्रिया हुआ करती थी । राजा पुरोहित को अपनी विजय के लिए उपहार देता था और समिधा हाथ में लेकर तीन पद उत्तर-पूर्व दिशा में चलता था (यह इन्द्र की अपराजित दिशा है) जिसका आशय योग-क्षेम (प्राप्ति और उसकी रक्षा) की कामना होता था ।

(२) योगक्षेम अर्थशास्त्र में भी प्रयुक्त हुआ है । याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार 'अलब्धलाभो योगः' अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति योग है और 'लब्धपरिपालनं क्षेमः' अर्थात् जो प्राप्त हो गया हो उसका परिपालन अथवा रक्षा क्षेम कहलाता है ।

योगनिद्रा—यौगिक साधना में अनेक क्रम या दशाएँ बाहरी साधन के रूप में सम्पादित होती हैं । अनेक आसन, श्वास तथा निःश्वास की गणना (प्राणायाम) तथा दृष्टि को नासिका के अग्र स्थान पर केन्द्रित करना (नासाग्रदृष्टि) ये अभ्यास बाहरी साधन कहलाते हैं । इस बाहरी योगाभ्यास से मनुष्य चेष्टाशून्य हो जाता है । इस अवस्था को 'योगनिद्रा' (योग में निद्रा या लय) कहते हैं जो मुक्ति अवथा कैवल्यावस्था के पूर्व की अवस्था है ।

योगपाद—शैव आगओं की तरह संहिताओं में चार प्रकरण होते हैं :

(१) ज्ञानपाद : दार्शनिक ज्ञान
(२) योगपाद : योग की शिक्षा व अभ्यास
(३) क्रियापाद : मन्दिर तथा प्रतिमाओं का निर्माण
(४) चर्यापाद : धार्मिक क्रियाएँ ।

योगमत—भारत में योग विद्या से सम्बन्ध रखने वाले अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं । उनमें प्रमुख है 'नाथ सम्प्रदाय' जिसका वर्णन पिछले अक्षरक्रम में हो गया है । योग का दूसरा साधक है 'चरनदासी पन्थ' । इसका भी वर्णन किया जा चुका है । योगमत के अन्तर्गत शब्दाद्वैतवाद भी आता है, क्योंकि किसी न किसी रूप में सभी योग मतावलम्बी शब्द की उपासना करते हैं । यह उपासना अत्यन्त प्राचीन है । प्रणव के रूप में इसका मूल तो वेदमन्त्रों में हो वर्तमान है । इसका प्राचीन नाम प्रणववाद अथवा स्फोटवाद है । इसका वर्णन आगामी पृष्ठों में किया जायगा । वर्तमान काल का शब्दध्यानवादी राधास्वामी पन्थ भी ध्यानयोग का ही एक प्रकार है ।

योगराज—काश्मीर शैवाचार्यों में योगराज एक विद्वान् थे । इन्होंने अभिनवगुप्त कृत 'परमार्थसार' (काश्मीर शैववाद पर लिखे गये १०५ छन्दों के एक ग्रन्थ) का भाष्य प्रस्तुत किया है । इनके 'परमार्थसारभाष्य' का अंग्रेजी अनुवाद डा० बार्नेट ने प्रस्तुत किया है ।

योगवार्त्तिक—सोलहवीं शताब्दी के मध्य विज्ञानभिक्षु ने योगसूत्रों की एक व्याख्या लिखी जो 'योगवार्तिक' कहलाती है ।

योगवासिष्ठ रामायण—प्रचलित अद्वैत वेदान्तीय ग्रन्थों में 'योगवासिष्ठ रामायण' का विशिष्ट स्थान है । यह तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में रचे गये संस्कृत ग्रन्थों में से एक है । यह अध्यात्मरामायण के समानान्तर है, क्योंकि इसमें राम और वसिष्ठ के संवाद रूप में वेदान्त के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है । यह बड़ा विशालकाय ३२,००० पद्यों का ग्रन्थ है । इसमें अद्वैत वेदान्त

की शिक्षा के साथ सांख्य के विचारों का मिश्रण भी प्राप्त है। योग की महत्ता पर भी इसमें बल दिया गया है। इसकी रचनातिथि १३०० ई० के लगभग अथवा और पूर्व हो सकती है।

योगसारसंग्रह—सोलहवीं शताब्दी के मध्य आचार्य विज्ञानभिक्षु द्वारा रचित एक उपयोगी योगविषयक ग्रन्थ।

योगसूत्र—पतञ्जलि मुनि द्वारा रचित योगशास्त्र की मौलिक कृति। विद्वानों ने इसका रचना काल चौथी शताब्दी ई० माना है। यह योग उपनिषदों के बाद की रचना है। विशेषार्थ दे० 'योग (दर्शन')।

योगसूत्रभाष्य—यह भाष्य ७वीं या ८वीं शताब्दी में रचा गया है। कुछ लोग इसके लेखक का नाम वेदव्यास बताते हैं। परन्तु इस वेदव्यास तथा महाभारत के रचयिता वेदव्यास को एक नहीं समझना चाहिए। इस भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद तथा परिचय उड्स् महोदय ने लिखा है। उन्होंने इसकी दार्शनिक शैली की प्रशंसा की है।

योगिनी—भारतीय लोककथाओं में योगी प्रायः जादूगर के रूप में प्रदर्शित हुए हैं। जादू की ऐसी शक्ति रखनेवाली साधिका स्त्री 'योगिनी' (जादूगरनी) के रूप में वर्णित है। शिवशक्तियाँ अथवा महाविद्याएँ भी योगिनी के रूप में कल्पित की गयी हैं। योगिनियों की चौसठ संख्या बहुत प्रसिद्ध है। चौसठ योगिनियों के कई प्राचीन मन्दिर हैं जिनमें भेड़ाघाट (त्रिपुरी-जबलपुर), खजुराहो आदि के मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं।

योगिनीतन्त्र—वाममार्गी शाक्त शाखा का १६वीं शताब्दी का यह ग्रन्थ दो भागों में उपलब्ध है। पहला भाग सभी तान्त्रिक विषयों का वर्णन करता है, दूसरा भाग वास्तव में 'कामाख्यामाहात्म्य' है। इस पर वाममार्ग का विशेष प्रभाव है।

योगी—योगमत पर चलने वाले, योगाभ्यास करने वाले व्यक्ति योगी कहलाते हैं। प्रायः हठयोगियों के लिए साधारण जनता में यह शब्द प्रयुक्त होता है।

योगीश्वर—शिव का पर्याय। कुछ योगी अपनी भयावनी क्रियाओं का अभ्यास श्मशान भूमि में करते हैं तथा भूत योनियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं। शिव इन योगियों के भी स्वामी हैं अर्थात् योगीश्वर हैं तथा योग का अभ्यास भी करते हैं। सिद्धिप्राप्त महात्मा भी योगीश्वर कहे जाते हैं।

योगेश्वरव्रत अथवा योगेश्वरद्वादशी—कार्तिक शुक्ल एकादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। चार जलपूर्ण कलश, जिनमें रत्न पड़े हों, सफेद चन्दन चर्चित हो तथा चारों ओर श्वेत वस्त्र लिपटा हो एवं जो तिलपूर्ण ताम्रपात्रों से ढके हों, पात्रों में सुवर्ण पड़ा हो, ऐसे चारों कलश चार महासागरों के प्रतीक होते हैं। एक पात्र के मध्य में भगवान् हरि की प्रतिमा (जो योगेश्वर हैं), स्थापित कर पूजी जानी चाहिए। रात्रि को जागरण का विधान है। द्वितीय दिवस चारों कलशों को चार ब्राह्मणों को दान में दे देना चाहिए तथा सुवर्ण प्रतिमा किसी पाँचवें ब्राह्मण को देकर पाँचों ब्राह्मणों को सुन्दर भोजन कराकर दक्षिणादि से सन्तुष्ट करना चाहिए। इसका नाम धरणीव्रत भी है। व्रती इस व्रत के फलस्वरूप समस्त पापों से मुक्त होकर विष्णुलोक प्राप्त कर लेता है।

योनि—(१) जीवों की विभिन्न जातियाँ योनि कहलाती हैं। इनका वर्गीकरण पुराण आदि में ८४,००,००० प्रकार का बतलाया जाता है। जल, स्थल, वायु, आकाशचारी सभी प्राणी (स्थावर पेड़-पौधे भी) इनमें सम्मिलित हैं। (२) स्त्रीतत्त्व का प्रतीक, मातृत्व का बोधक अङ्ग। प्रागैतिहासिक युग के पंजाब तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के लोगों के धर्म में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान था। उत्पत्तिस्थान होने के कारण यह आदरणीय और पूजनीय माना जाता था। शाक्त धर्म में इसका बहुत महत्त्व बढ़ा, योनिचिह्न शक्ति का प्रतीक और सृष्टि का मूल बन गया। अनेक रूपों में इसकी अभिव्यक्ति और कला में अंकन हुआ। कामाख्या पीठ में योनि की पूजा होती है। लिङ्गोपासना में भी लिङ्ग का आधार योनि ही है। शिवमन्दिरों में लिङ्ग योनि में ही प्रतिष्ठित रहता है।

योनि ऋक्—सामवेद के आर्चिक ग्रन्थ तीन हैं : छन्द, आरण्यक और उत्तर। उत्तरार्चिक में एक छन्द की, एक स्वर की और एक तात्पर्य की तीन-तीन ऋचाओं को लेकर एक-एक सूक्त बना दिया गया है। इन सूक्तों का त्र्यृच नाम रखा गया है। इसी तरह की समान भावापन्न दो-दो ऋचाओं की समष्टि का नाम प्रगाथ है। चाहे त्र्यृच हो चाहे प्रगाथ, इनमें प्रत्येक पहली ऋचा का छन्द आर्चिक में से लिया गया है। इसी आर्चिक छन्द से एक

ऋचा और सब तरह से उसी के अनुरूप दो और ऋचाओं को मिलाकर त्र्यृच बनता है और इसी प्रकार प्रगाथ भी। इन्हीं कारणों से इनमें जो पहली ऋचाएँ हैं वे सब योनि ऋक् कहलाती हैं और आर्चिक भी योनिग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं।

योनि ऋक् के बाद ही उसी के बराबर की दो या एक ऋक् जिसके उत्तर दल में मिले उसका नाम उत्तरार्चिक है। इसी कारण तीसरे का नाम उत्तर है। एक ही अध्याय का बना हुआ ग्रन्थ जो अरण्य में ही अध्ययन करने योग्य हो, आरण्यक कहलाता है। सब वेदों में एक-एक आरण्यक होता है। योनि, उत्तर और आरण्यक इन्हीं तीन ग्रन्थों का साधारण नाम आर्चिक अर्थात् ऋक्-समूह है।

यौवराज्याभिषेक—अनेक प्रमाणों से यौवराज्याभिषेक की वास्तविकता सिद्ध होती है। इसमें राजा अपने योग्यतम (सम्भवतः ज्येष्ठ) पुत्र का अभिषेक करता था। महाभारत, रामायण, हर्षचरित, बृहत्कथा, कल्पसूत्र आदि में यौवराज्याभिषेक का वर्णन पाया जाता है। यह अभिषेक चन्द्रमा तथा पुष्य नक्षत्र के संयोग के समय (पौषी पूर्णिमा को) होता था।

र

र—अन्तःस्थवर्णों का दूसरा अक्षर। कामधेनुतन्त्र (पटल ६) में इसका स्वरूप निम्नांकित बतलाया गया है :

रेफञ्च चञ्चलापाङ्गि कुण्डलीद्वय संयुतम्।
रक्तविद्युल्लताकारं पञ्चदेवात्मकं सदा॥
पञ्चप्राणमयं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा॥

तन्त्रशास्त्र में इसके अधोलिखित नाम कहे गये हैं :

रो रक्तः क्रोधिनी रेफः पावकस्त्वोजसो मतः।
प्रकाशादर्शनो दीपो रक्तकृष्णापरं बली॥
भुजङ्गेशो मतिः सूर्यो धातुरक्तः प्रकाशकः।
अप्यको रेवती दासः कुक्ष्यंशो वह्निमण्डलम्॥
उग्ररेखा स्थूलदण्डो वेदकण्ठपला पुरा।
प्रकृतिः सुगलो ब्रह्मशब्दश्च गायको धनम्॥
श्रीकण्ठ ऊष्मा हृदयं मुण्डी त्रिपुरसुन्दरी।
सबिन्दुयोनिजो ज्वाला श्रीशैलो विश्वतोमुखी॥

रक्तसप्तमी—मार्गशीर्ष कृष्ण सप्तमी का रक्तसप्तमी नाम है। इस तिथिव्रत में रक्त कमलों से सूर्य की अथवा श्वेत पुष्पों से सूर्यप्रतिमा की पूजा विहित है। सूर्य की प्रतिमा पर रक्त चन्दन से प्रलेप लगाना चाहिए। इस पूजन में सूर्य को दाल के बड़े और कृशरा (चावल, दाल तथा मसालों से बनी खिचड़ी) अर्पित करने का विधान है। पूजन के उपरान्त रक्तिम वस्त्रों के एक जोड़े का दान करना चाहिए।

रक्षापञ्चमी—भाद्र कृष्ण पञ्चमी को रक्षापञ्चमी कहते हैं। इस दिन काले रंग से सर्पों की आकृतियाँ खींचकर उनका पूजन करना चाहिए। इससे व्रती तथा उसकी सन्तानों को सर्पों का भय नहीं रहता।

रक्षाबन्धन—श्रावण पूर्णिमा के दिन पुरोहितों द्वारा किया जाने वाला आशीर्वादात्मक कर्म। रक्षा वास्तव में रक्षासूत्र है जो ब्राह्मणों द्वारा यजमान के दाहिने हाथ में बाँधा जाता है। यह धर्मबन्धन में बाँधने का प्रतीक है, इसलिए रक्षाबन्धन के अवसर पर निम्नांकित मन्त्र पढ़ा जाता है :

येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वां प्रतिबध्नामि रक्षे मा चल मा चल॥

[जिस (रक्षा के द्वारा) महाबली दानवों के राजा बलि (धर्मबन्धन में) बाँधे गये थे, उसी से तुम्हें बाँधता हूँ। हे रक्षे, चलायमान न हो, चलायमान न हो।] मध्य युग में ऐतिहासिक कारणों से रक्षाबन्धन का महत्त्व बढ़ गया। देश पर विदेशी आक्रमण होने के कारण स्त्रियों का मान और शील संकट में पड़ गया था, इसलिए बहिनें भाइयों के हाथ में 'रक्षा' या 'राखी' बाँधने लगीं, जिससे वे अपनी बहिनों की सम्मानरक्षा के लिए धर्मबद्ध हो जायँ।

रघुनन्दन भट्टाचार्य—बंगाल के विख्यात धर्मशास्त्री रघुनन्दन भट्टाचार्य (१५०० ई०) ने अष्टाविंशतितत्त्व नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें स्मार्त हिन्दू के कर्त्तव्यों की विशद व्याख्या है। यह ग्रन्थ सनातनी हिन्दुओं द्वारा अत्यन्त सम्मानित है।

रघुनाथदास—महाप्रभु चैतन्य के छः प्रमुख अनुयायी भक्तों में रघुनाथदास भी एक थे। ये वृन्दावन में रहते थे और अपने शेष पाँच सहयोगी गोस्वामियों के साथ चैतन्य-

मत के ग्रन्थ लेखन तथा साम्प्रदायिक क्रियाओं का रूप तैयार करने में लगे रहते थे। ये गोस्वामी गण भक्ति, दर्शन, क्रिया (आचार) पर लिखते थे, भाष्य रचते थे, सम्प्रदाय सम्बन्धी काव्य तथा प्रार्थना लिखते थे। ये ग्रन्थ सम्प्रदाय की पूजा पद्धति एवं दैनन्दिन जीवन पर प्रकाश डालने के लिए लिखे जाते थे। इन लोगों ने मथुरा एवं वृन्दावन के आस-पास के पवित्र स्थानों को ढूँढा तथा उनका 'मथुरामाहात्म्य' में वर्णन किया और एक यात्रा-पथ (वनयात्रा) की स्थापना की, जिस पर चलकर सभी पवित्र स्थलों की परिक्रमा यात्री कर सकें। इन लोगों ने वार्षिक 'रासलीला' का अभिनय भी आरम्भ किया।

रघुनाथ भट्ट—महाप्रभु चैतन्य के छः शिष्यों एवं वृन्दावन में बस जाने वाले गोस्वामियों में से एक। ये रघुनानदास गोस्वामी के भाई थे। दे० 'रघुनाथदास'।

रघुवीरगद्य—आचार्य वेङ्कटनाथ (१३२५-१४२६ वि०) ने अपने तिरुपाहिन्द्रपुर के निवासकाल में रघुवीरगद्य नामक स्तोत्र ग्रन्थ लिखा। यह तमिल भाषा में है। भगवद्भक्ति इसमें कूट-कूटकर भरी गयी है।

रङ्गपञ्चमी—फाल्गुन कृष्ण पञ्चमी को रङ्गपञ्चमी कहा जाता है। इसी दिन शिव को रङ्ग अर्पित किया जाता है और रङ्गोत्सव प्रारम्भ हो जाता है।

रङ्गनाथ—(१) श्रीरङ्गम् में भगवान् रङ्गनाथ का मन्दिर है। तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दी में मुसलमानों ने जब श्री-रङ्गम् पर अधिकार कर लिया तब यहाँ का मन्दिर भी उन्होंने अपवित्र कर डाला। इस काल में रङ्गनाथ की मूर्ति मुस्लिम शासन से निकलकर दक्षिण भारत के कई स्थानों में घूमती रही। जब पुनः यहाँ हिन्दू राज्य स्थापित हो गया, श्रीरङ्गम् में इसकी पुनः स्थापना वेदान्ताचार्य वेङ्कटनाथ की उपस्थिति में हुई। आज भी उनके रचित मन्त्र मन्दिर की दीवारों पर लिखे हुए पाये जाते हैं।

(२) रङ्गनाथ ब्रह्मसूत्रों की शाङ्कर भाष्यानुसारिणी वृत्ति के रचयिता हैं। इनका स्थितिकाल सत्रहवीं शताब्दी था।

रङ्गरामानुज—इन वैष्णवाचार्य की स्थिति १८वीं शताब्दी में मानी जाती है। इन्होंने विशिष्टाद्वैत वेदान्तभाष्य पर व्याख्या ग्रन्थावली वैष्णवों के प्रयोगार्थ लिखी है।

रजस्—प्रकृति तथा उससे उत्पन्न पदार्थ तीन गुणों से निर्मित हैं—सत्त्व (प्रकाश), रजस् (शक्ति) तथा तमस् (जड़ता)। प्रकृति में ये अमिश्रित, सन्तुलित रहते हैं तथा उससे उत्पन्न पदार्थों में विभिन्न परिमाणों में मिल जाते हैं। मैत्रायणी उपनिषद् में एक महत् सत्य के तीन रूप विष्णु, ब्रह्मा एवं शिव को क्रमशः सत्त्व, रजस् एवं तमस् के रूप में दर्शाया गया है। जगत् में सारी क्रिया और गति रजस् के ही कारण होती है।

रज्जबदास—महात्मा दादू दयाल के शिष्य एक दादूपन्थी कवि रज्जबदास हुए हैं। इन्होंने 'बानी' नामक उपदेशात्मक भजनों का संग्रह लिखा है।

रटन्ती चतुर्दशी—माघ कृष्ण चतुर्दशी। यह तिथिव्रत है। यम की आराधना इस व्रत में की जाती है। अरुणोदय काल में स्नान कर यम के चौदह नाम (कृत्यतत्त्व, ४५०) लेकर उनका तर्पण करना चाहिए।

रणछोर राय—(१) गुजरात प्रदेश के द्वारका धाम और डाकौर नगर में प्रतिष्ठित भगवान् कृष्ण की दो मूर्तियों के नाम। इन स्थानों में रणछोरजी के भव्य मन्दिर अत्यन्त आकर्षक बने हुए हैं। इनमें सहस्रों यात्रियों का नित्य आगमन होता रहता है। भक्तजनों में प्रसिद्धि है कि मध्य-काल में डाकौर निवासी 'बोढ़ाणा' नामक भील के प्रेमानुराग से आकृष्ट होकर श्री कृष्ण द्वारका त्याग कर यहाँ चले आये थे। पंडों ने द्वारका से आकर बोढ़ाणा को सताया, इस पर भगवान् ने उसके ऊपर पंडों का अपने बदले का ऋण एक तराजू में सोने से तुलकर चुकाया था। सोने के रूप में भी बोढ़ाणा की पत्नी की केवल नाक की बाली थी, जो मूर्ति के समान भारी हो गयी थी। इसकी स्मृति में आजकल भी डाकौर के मन्दिर में विभिन्न वस्तुओं के तुलादान होते रहते हैं। भक्त का 'ऋण छुड़ाने' के कारण इन भगवान् का नाम 'रणछोर राय' प्रसिद्ध हो गया है।

(२) भागवत पुराण के अनुसार मथुरा पुरी पर काल-यवन और जरासन्ध की दो दिशाओं से चढ़ाई होने पर श्री कृष्ण ने रातोंरात समस्त यादवों को द्वारकापुरी में भेज दिया। फिर दोनों सेनाओं को व्यामोहित कर उनके आगे-आगे वे बहुत दूर निकल भागे। उन्हें पकड़ने के लिए कालयवन पीछा करने लगा। श्री कृष्ण ने उसे एकान्त में ले जाकर एक राजा के द्वारा भस्म करा दिया तथा जरा-सन्ध की सेना के सामने से जंगल-पहाड़ों में छिपते हुए

द्वारका जा निकले । इस घटना की स्मृति में भक्तजनों ने प्रेमलांछनपूर्वक उनको (रण + छोड़) रणछोर राय नाम से विख्यात कर दिया ।

रणथम्भौर—राजस्थान में सवाई माधोपुर से कुछ दूर पर यह किला है । किले के भीतर गणेशजी की विशाल मूर्ति है । पर्वत पर अमरेश्वर, शैलेश्वर, कमलधार और फिर आगे एक प्रपात के पास झरनेश्वर और सीताजी के मन्दिर हैं । सामने (चरणों में से) पानी बहकर दो कुण्डों में क्रमशः जाता है । वह जल पहले कुण्ड में काला, फिर दूसरे कुण्ड में आकर सफेद हो जाता है ।

रत्नत्रयपरीक्षा—अप्पय दीक्षितरचित यह ग्रन्थ श्रीकण्ठ मत (शैव सिद्धान्त) से सम्बन्धित है। इसमें हरि, हर और शक्ति की उपासना की मीमांसा की गयी है ।

रत्नप्रभा—आचार्य गोविन्दानन्द कृत शारीरक भाष्य को प्रसिद्ध टीका । शाङ्करभाष्य की टीकाओं में यह सबसे सरल है ।

रत्नषष्ठी—ग्रीष्म ऋतु का एक व्रत, जो षष्ठी तिथि को सम्पादित होता था । भास के चारुदत्त और शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक के ''अहं रत्नषष्ठीम् उपोषिता'' कथन में संभवतः इसकी ओर ही संकेत है ।

रत्नहवि—राजसूय या सोम यज्ञ का कार्यक्रम फाल्गुन के प्रथम दिन से प्रारम्भ होता था । इसकी अनेकानेक क्रियाओं में अभिषेचनीय, रत्नहवियाँ तथा दशपेय महत्त्वपूर्ण हैं । यह बारह दिन लगातार किये जाने वाले यज्ञों का समूह है, जो राजा के 'रत्नों' के गृहों में भी होता था ।

वैदिक राज्यव्यवस्था के अन्तर्गत राजा के मुख्य परामर्शदाता 'रत्न' (या रत्नी) कहे जाते थे, जिनमें सेनानी, सूत, पटरानी, पुरोहित, श्रेष्ठी, ग्रामप्रधान आदि गिने-चुने व्यक्ति होते थे । राजसूय के कुछ होम इन लोगों के हाथों से भी सपन्न होते थे । विक्रमादित्य और अकबर के 'नवरत्न' ऐसी ही राज्यव्यवस्था के अंग जैसे थे । वर्तमान भारतशासन द्वारा दी जानेवाली सर्वोच्च पदवी 'भारतरत्न' उक्त वैदिक प्रथा की स्मृति जैसी है ।

रत्न (नव अथवा पञ्च)—व्रतराज, १५ (विष्णुधर्मोत्तर से) नव रत्नों का उल्लेख करता है, यथा मोती, सुवर्ण, वैदूर्य, पद्मराग (माणिक्य), पुष्पराग (पुखराज), गोमेद (हिमालय से प्राप्त रत्न), नीलम, गारुत्मत (पन्ना) तथा विद्रुम (मूँगा) । धार्मिक कृत्यों में पञ्च रत्नों का प्रयोग भी होता है, वे हैं : सोना, चाँदी, मोती, मूँगा, माणिक्य; मतान्तर से सोना, हीरा, नीलम, पुखराज, मोती ।

रत्नी—रत्नों के जैसा सम्मान पाने वाला । यह उन लोगों का विरुद है जो राज्य के पारिषद (वरिष्ठ सदस्य) होते थे । तैत्तिरीय सं० (१.८.९.१) तथा तैत्ति० ब्रा० (१.७.३.१) में दी हुई रत्नियों की सूची में पुरोहित, राजन्य, महिषी (पटरानी), वावाता (प्रियरानी), परिवृक्ति (परित्यक्ता), सेनानी, सूत (सारथि), ग्रामणी (ग्रामप्रमुख), छत्री (छत्रधारक), संगृहीता (कोषाध्यक्ष), भागधुग् (राजस्व अधिकारी) तथा अक्षावाप (द्यूता-अध्यक्ष) सम्मिलित हैं । शत० ब्रा० में क्रम इस प्रकार है : सेनानी, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, छत्री, संगृहीता, भागधुग्, अक्षावाप, गोविकर्तन (आखेटक) तथा पालागल (सन्देशवाहक) । मैत्रायणी संहिता की सूची इस प्रकार है : ब्राह्मण (पुरोहित), राजन्य, महिषी, परिवृक्ति, सेनानी, संगृहीता, छत्री, सूत, वैश्य, ग्रामणी, भागदुघ, तक्षा, रथकार, अक्षवाप तथा गोविकर्त्तृ । उपर्युक्त नामों से ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि राजकुल तथा राजभवन के कर्मचारियों के अतिरिक्त उनमें राजा के व्यक्तिगत सेवक ही थे या जनता के प्रतिनिधि भी । कुछ तो इनमें अवश्य ही जनता के प्रतिनिधि थे, जैसे ब्राह्मण, राजन्य, ग्रामणी, तक्षा आदि ।

राज्याभिषेक और राजसूय के अवसरों पर रत्नियों का धार्मिक और राजनीतिक महत्त्व होता था । सिद्धान्ततः माना जाता था कि राजशक्ति इन्हीं के हाथ में है । रत्न मानो राजशक्ति का प्रतीक था । इसे ये सब राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को सौंपते थे ।

रथकार—रथ बनाने वाला । वैदिक काल में इसकी गणना राजा के रत्नियों में होती थी । रथ के सैनिक तथा व्यावहारिक महत्त्व के कारण समाज में रथकार का ऊँचा मान था । राज्याभिषेक के अवसर पर रथकार भी उपस्थित होता था और राजा उससे भी रत्न (राज्याधिकार के प्रतीक) की याचना करता था ।

रथक्रान्त—(१) महासिद्धसार नामक शाक्त ग्रन्थ में १९२ ग्रन्थों की सूची लिखित है, जो ६४ के तीन खण्डों में विभक्त हैं । इन तीन खण्डों के नाम हैं विष्णुक्रान्त, रथक्रान्त तथा अश्वक्रान्त । यह सूची यथेष्ट आधुनिक है,

क्योंकि इसमें महानिर्वाणतन्त्र भी सम्मिलित है तथा १९२ में से केवल १० ही वामकेश्वर तन्त्र की सूची से मिलते हैं।

(२) रथक्रान्त एक प्राचीन महाद्वीप (संभवतः अफ्रीका) का नाम है।

रथनवमी—आश्विन की शुक्ल नवमी अथवा कृष्ण पक्ष की नवमी (हेमाद्रि) को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इस अवसर पर उपवास रखते हुए दुर्गाजी की आराधना या पूजा करनी चाहिए। दर्पणों, चौरियों, वस्त्रों, छत्र, मालाओं से सज्जित रथ में महिष (भैंसा) पर विराजी हुई दुर्गाजी की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिए और रथ को नगर की मुख्य-मुख्य सड़कों पर घुमाकर दुर्गाजी के मन्दिर तक ले जाना चाहिए। रात्रि को नृत्य-गान करते हुए जागरण करना चाहिए। दूसरे दिन दुर्गाजी की प्रतिमा को स्नान कराकर रथ को दुर्गाजी को भेंट कर देना चाहिए।

रथयात्रा—किसी देवता की प्रतिमा को रथ में स्थापित कर उसका जुलूस निकालना रथयात्रा कहलाता है। हेमाद्रि, कृत्यरत्नाकर, भविष्यपुराण दुर्गा देवी, सूर्य, ब्रह्माजी आदि की रथयात्रा कावर्णन करते हैं, जिसे 'पूजाप्रकाश' ने भी उद्धृत किया है। गदाधरपद्धति में पुरुषोत्तम की बारह यात्राओं तथा भुवनेश्वर की चौदह यात्राओं का वर्णन है। हेमाद्रि के मत से यह उत्सव लोगों की समृद्धि तथा सुस्वास्थ्य के लिए मार्गशीर्ष मास के शुक्ल पक्ष में आयोजित होना चाहिए।

रथसप्तमी—माघ शुक्ल सप्तमी। इस तिथिव्रत के सूर्य देवता हैं। षष्ठी की रात्रि को व्रत का संकल्प कर नियमों के आचरण की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। सप्तमी को उपवास करना चाहिए। सारथि और घोड़ों के सहित बनाये गये सुवर्ण के रथ को मध्याह्न काल में वस्त्रों से सज्जित कर एक मण्डप में स्थापित कर देना चाहिए। तदनन्तर केसर, पुष्पादिक से रथ का पूजन करना चाहिए। पूजनोपरान्त सूर्य भगवान् की सुवर्ण या अन्य वस्तु की प्रतिमा बनवाकर रथ में स्थापित करनी चाहिए। तदनन्तर मन्त्रोच्चारण करके रथ तथा सारथि सहित सूर्य की पूजा की जानी चाहिए। पूजा में ही अपनी मनःकामना भी अभिव्यक्त कर देनी चाहिए। उस रात्रि को गीत-संगीत, नृत्यादि करते हुए जागरण करना चाहिए। दूसरे दिन प्रातः स्नानादि से निवृत्त होकर दान-दक्षिणा देने के बाद अपने गुरु को सुवर्ण का रथ दे देना चाहिए। भविष्योत्तर पुराण में भगवान् कृष्ण ने युधिष्ठिर को कम्बोजनरेश यशोधर्मा की कथा सुनायी है। वृद्ध यशोधर्मा का पुत्र अनेक रोगों से ग्रस्त था। इस व्रत के आचरण से वह समस्त रोगों से मुक्त होकर चक्रवर्ती सम्राट् हुआ। मत्स्यपुराण में कहा गया है कि मन्वन्तर के प्रारम्भ में सूर्य ने इसी तिथि को रथ प्राप्त किया था, अतएव इसका नाम रथसप्तमी पड़ा।

रथाङ्गसप्तमी—माघ शुक्ल षष्ठी को इस व्रत के अनुष्ठान का प्रारम्भ होता है। इस व्रत में उपवास तथा गन्धाक्षत पुष्पादि से सूर्य की पूजा का विधान है। इस दिन सूर्य की प्रतिमा के सम्मुख ही शयन करना चाहिए। सप्तमी को भी सूर्यपूजन तथा ब्राह्मणों को भोजन कराने का विधान है। यह क्रिया प्रति मास चलनी चाहिए। वर्ष के अन्त में सूर्य की प्रतिमा को रथ में स्थापित करके उसका जुलूस निकालना चाहिए। भविष्यपुराण (१.५९.१-२६) में इसे 'रथसप्तमी' बतलाया गया है।

रम्भातृतीया—(१) ज्येष्ठ शुक्ल तृतीया को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। व्रत रखने वाले को पूर्वाभिमुख होकर पञ्चाग्नियों (यथा गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, सभ्य, आहवनीय तथा ऊर्ध्वस्थ सूर्य) के मध्य में बैठना चाहिए। ब्रह्माजी तथा देवी, जो महाकाली, महालक्ष्मी, महामाया तथा सरस्वती स्वरूपा हैं, सम्मुख विराजमान होनी चाहिए। चारों दिशाओं में होम करना चाहिए। देवी के पूजन के समय आठ पदार्थ, जो 'सौभाग्याष्टक' के नाम से प्रसिद्ध हैं, प्रतिमा के सम्मुख रखने चाहिए। सायंकाल में प्रार्थना-मन्त्रों के साथ भगवती रुद्राणी की कृपा प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। तदनन्तर व्रतकर्ता एक सपत्नीक सद्गृहस्थ को सम्मानित करे तथा शूर्प (सूप या छाज) में रखे नैवेद्य को सधवा महिलाओं में वितरित कर दे। यह व्रत सामान्यतः स्त्रियोपयोगी है।

(२) इस व्रत का यह नाम इसलिए पड़ा कि सर्वप्रथम रम्भा नाम की अप्सरा ने स्त्रीत्व की प्राप्ति के लिए इसका आचरण किया था। मार्गशीर्ष शुक्ल को यह व्रत किया जाता है। एक वर्षपर्यन्त इसका अनुष्ठान होना चाहिए तथा भिन्न-भिन्न नामों से प्रति मास पार्वती देवी की पूजा आराधना करनी चाहिए; यथा पार्वती मार्गशीर्ष में,

गिरिजा पौष में। इस अवसर पर भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ बनाने चाहिए तथा उन्हें खाना चाहिए।

रम्भात्रिरात्रव्रत—ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी को इस व्रत का प्रारम्भ होता है। तीन दिनपर्यन्त इसका अनुष्ठान होना चाहिए। यह व्रत स्त्रियों के लिए है। सर्वप्रथम स्नानादि से निवृत्त होकर व्रती स्त्री को केले के पौधे की जड़ में पर्याप्त जल छोड़ना चाहिए तथा पौधे के चारों ओर धागा लपेटना चाहिए। चाँदी का केले का पौधा और उस पर सोने के फल बनवाकर पूजना चाहिए। त्रयोदशी को नक्त विधि से एवं चतुर्दशी को अयाचित विधि से आहार करके पूर्णिमा को उपवास रखना चाहिए। वर्ष भर उस वृक्ष को सींचना चाहिए। इस अवसर पर उमा तथा शिव एवं कृष्ण तथा रुक्मिणी की भी पूजा करनी चाहिए। त्रयोदशी से पूर्णिमा तक क्रमशः १३,१४ तथा १५ आहुतियों से हवन करना चाहिए। इस व्रत के आचरण से पुत्र तथा सौन्दर्य की प्राप्ति होती है तथा वैधव्य से मुक्ति मिलती है। रम्भा का अर्थ कदली अर्थात् केला है। इसीलिए इस व्रत में कदली से सम्बद्ध कार्यों का विधान है।

रविवारव्रत—रविवार को नक्त विधि से आहार करना चाहिए अथवा पूर्ण उपवास रखना चाहिए। इस अवसर पर आदित्यहृदय अथवा महाश्वेता मन्त्र का जप करना चाहिए। इससे व्रती की मनःकामनाएँ पूर्ण होती हैं। इसके सूर्य देवता हैं। स्मृतिकौस्तुभ (५५६,५५७) तथा वर्षकृत्यदीपिका (४२३-४३६) में इस व्रत का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

रविव्रत—(१) माघ मास में रवि के दिन तीन बार सूर्य का पूजन करना चाहिए। एक मास के इस आचरण से छः महीने का पुण्य प्राप्त होता है।

(२) माघ मास में रविवार के दिन व्रतारम्भ करके प्रति रविवार को सूर्य का पूजन करना चाहिए। एक वर्ष पर्यन्त इस व्रत के अनुष्ठान का विधान है। इस बीच कुछ निश्चित वस्तुओं का ही आहार करना चाहिए अथवा क्रमशः कुछ निश्चित वस्तुओं का खाने में त्याग करना चाहिए।

रसकल्याणिनी—माघ शुक्ल तृतीया को इस व्रत का आरंभ होता है। दुर्गा इसकी देवता हैं। मधु तथा चन्दन से दुर्गाजी को स्नान कराकर सर्वप्रथम प्रतिमा के दक्षिण भाग का, तदनन्तर वाम भाग का पूजन करना चाहिए। भगवती के चरणों को सर्वप्रथम प्रणाम निवेदन कर उनके भिन्न-भिन्न नाम लेकर मस्तक के मुकुट तक सभी अवयवों को प्रणाम निवेदन करना चाहिए और इसी प्रकार पूजा करनी चाहिए। माघ से कार्तिक तक प्रति मास बारह में से एक वस्तु का त्याग करना चाहिए। बारह वस्तुएँ ये हैं—नमक, गुड़, तवराज, मधु, पानक, जीरक, दुग्ध, दधि, घी, मर्जिका (रसाला अथवा शिखरिणी), धान्यक (धनियाँ), शर्करा। मास के अन्त में त्यक्त वस्तु को एक पात्र में भरकर तथा एक अन्य सुन्दर खाद्य पदार्थ रखकर दान करना चाहिए। वर्ष के अन्त में गौरी की सुवर्ण प्रतिमा का दान करना चाहिए। इस व्रत के परिणामस्वरूप पाप, शोक तथा रोगों से पूर्ण रूप से मुक्ति मिलती है।

रस के पद—वृन्दावनस्थ हरिदासी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हरिदासजी रचित पदों का संग्रह, जो ब्रजभाषा में माधुर्यभाव की उपासना का निरूपण करता है। रचनाकाल सोलहवीं शती का मध्य या अन्त है।

रसविद्या—गोरखनाथी योगमत में जहाँ योगासन, नाड़ीज्ञान, षट्चक्र निरूपण तथा प्राणायाम द्वारा समाधि प्राप्ति का मुख्य उद्देश्य है, वहाँ शारीरिक पुष्टि तथा पञ्चमहाभूतों पर विजय की सिद्धि के लिए रसविद्या का भी विशेष स्थान है। इस रसविद्या अथवा रसायन के द्वारा अभ्यासी की मानसिक स्थितियों को प्रभावित किया जाता है।

रसा—ऋग्वेद के तीन परिच्छेदों (१.१.२; ५.५३.९;१०.७५.६) में रसा उस जलधारा (नदी) का नाम है जो भारत की उत्तर-पश्चिम दिशा में बहती थी। अन्य स्थान पर (ऋग्वेद ९.४१.१५;९.४१.६;१०.१००,१-२) यह नाम पौराणिक धारा का है जो पृथ्वी के सिरे पर है। कुछ विद्वान् रसा का समानार्थक शब्द अवेस्ता का 'रन्हा' बतलाते हैं। किन्तु यह शब्द प्रारम्भिक रूप से जल के गुणों का बोधक है जो सरस्वती या किसी भी नदी के लिए व्यवहृत हो सकता है। वैदिक युग की राज्य-सीमा में रसा नामक नदी पश्चिम में, गङ्गा पूर्व में, उत्तर में हिमाच्छादित पर्वत तथा दक्षिण में सिन्धु आता है।

रसेश्वर—मध्यकालीन शैवों के दो मुख्य सम्प्रदाय थे: पाशुपत तथा आगमिक एवं इन दोनों के भी पुनर्विभाजन थे। पाशुपत के छः विभाग थे, जिनमें छठा वर्ग 'रसेश्वरों' का था। माधव ने इस (रसेश्वर) वर्ग का वर्णन 'सर्वदर्शनसंग्रह' में किया है। यह उपसम्प्रदाय अधिक दिनों

तक न चल सका। इसका अनोखा सिद्धान्त यह था कि शरीर को अमर बनाये बिना मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता और यह अमर शरीर केवल रस (पारद) की सहायता से ही प्राप्त किया जा सकता है, जिसे वे शिव व पार्वती के सर्जनात्मक मिलन के फलस्वरूप ही उत्पन्न मानते थे। दिव्य शरीर प्राप्त करने के बाद भक्त योगाभ्यास से परम तत्त्व का आन्तरिक ज्ञान प्राप्त करता है तथा इस जीवन से मुक्त हो जाता है। अनेक प्राचीन आचार्य तथा ग्रन्थ इस मत से सम्बन्धित कहे गये हैं। पदार्थनिर्णय के सम्बन्ध में प्रत्यभिज्ञा और रसेश्वर दोनों दर्शनों का मत प्रायः समान है। रसेश्वर दर्शन के अनुयायी शिवसूत्रों को प्रमाण मानते हैं। ये शङ्कराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त के पोषक हैं। विक्रम की दसवीं शताब्दी में सोमानन्द ने शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ लिखकर इस मत की अच्छी व्याख्या की।

रहस्यप्रायश्चित्त—धर्मशास्त्र के तीन मुख्य विषयों में एक विषय प्रायश्चित्त है, अन्य दो हैं व्यवहार (दण्ड या न्याय प्रक्रिया) और आचार (धार्मिक प्रथा)। प्रायश्चित्त अनेक प्रकार के कहे गये हैं, जिनमें 'रहस्यप्रायश्चित्त' (गुप्त प्रायश्चित्तों) का भी वर्णन आया है। ये उन अपराधों के शमनार्थ किये जाते हैं जो खुले तौर पर किसी को ज्ञात न हों।

राक्षस—वैदिक कालीन राक्षसों की कल्पना का आधार मानव के हानिप्रद, रहस्यात्मक अनुभव थे। यथा सर्दी के अनुभव, अंधकार, सूखा, बीमारी आदि की उत्पत्ति में किसी न किसी राक्षसी शक्ति की कल्पना की गयी। मानवों के दुःख एवं विपत्तियाँ असंख्य हैं, उन्हीं के अनुसार राक्षस भी असंख्य हैं, जो उनके कारण हैं। इस प्रकार वैदिक काल में प्रत्येक भय, प्रत्येक बीमारी, विपत्ति शारीरिक कष्ट का कारण कोई न कोई राक्षस या यातु (जादू) होता था।

राक्षसों को कच्चा मांस, मनुष्य का मांस, पशु एवं घोड़ों का मांस भक्षण करने वाला कहा गया है। वे अन्धकार में उन्नति करते हैं तथा यज्ञों को भ्रष्ट करने में आनन्दानुभव करते हैं। नैतिक गुणों की दृष्टि से राक्षस तथा जादूगर समान हैं। वे मूर्ख हैं, स्तुति से घृणा करने वाले हैं, बुरा करने वाले हैं, धूर्त हैं, चोर-डाकू हैं, झूठे हैं। राक्षस अंधेरे को प्यार करते हैं तथा अनेक रात्रि-पक्षियों, यथा उलूक, कपोत, गृद्ध, चील के रूप में दीख पड़ते हैं तथा रहस्यात्मक बोलियाँ बोलते हैं। राक्षसियाँ भी होती हैं जो संख्या में देवियों से अधिक हैं और राक्षसों के समान ही दुष्ट तथा क्लेश देनेवाली होती हैं।

यज्ञ का देवता अग्नि तथा मध्याकाश के नियुताग्नि का देवता इन्द्र राक्षसों के शत्रु हैं। इसलिए अनेक विरुदों के साथ उन्हें राक्षसों को मारनेवाला, दबा देने वाला, टुकड़ा-टुकड़ा कर देने वाला कहा गया है। निस्सन्देह प्रकाश व अन्धकार का युद्ध सृष्टि में चला आ रहा है। रात में विचरने वाले राक्षस, जो यज्ञों को नष्ट करते हैं तथा अच्छे व्यक्तियों को हानि पहुँचाते हैं, बुराई तथा पाप के प्रतिरूप हैं। उनका स्थान है तलहीन अन्धकार का खड्ड। इसमें वे इन्द्र के तीक्ष्ण वज्र द्वारा मारे जाते हैं। राक्षस अपने स्थान को लौट जाते हैं। जो व्यक्ति उनके जैसे गुणों वाले हैं, वे भी वहीं जाते हैं। यहाँ नरक का संकेत हैं।

पुराणों और संस्कृत साहित्य में बहुत सी मानव-जातियों को राक्षस कहा गया है। राक्षस शब्द आगे चलकर अनैतिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। दुष्ट और शत्रु भी राक्षस कहे जाने लगे।

राघवदासाचार्य—वीरराघवदासाचार्य श्रीवैष्णव वरदाचार्य के शिष्य थे। उनके पिता का नाम नरसिंह गुरु था। वाधूल वंश में उनका जन्म हुआ था। उन्होंने 'तत्त्वसार' पर 'रत्नप्रसारिणी' नामक टीका लिखी है जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है।

राघवद्वादशी—ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इस अवसर पर राम तथा लक्ष्मण की सुवर्ण प्रतिमाओं का पूजन करना चाहिए। चरणों से प्रारम्भ कर भगवान् के शरीरावयवों का भिन्न-भिन्न नामों को लेते हुए पूजन करना चाहिए। प्रातःकाल राम-लक्ष्मण के पूजन के उपरान्त एक लोटा में घी भरकर दान करना चाहिए। इस आचरण से व्रती युगों तक स्वर्ग में निवास करता है। इससे पापों का क्षय होता है। यदि व्रती निष्काम रहता है तो उसे मोक्ष की उपलब्धि होती है।

राघवाङ्क—वीरशैवाचार्य राघवाङ्क हरिहर के शिष्य थे। ये १४वीं शताब्दी में हुए थे तथा इन्होंने 'सिद्धराय' नामक एक कर्नाटकी पुराण लिखा है।

राघवेन्द्रपति—इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद् की वृत्ति, बृहदारण्यक उपनिषद् की खण्डाग्रवृत्ति एवं माण्डूक्योपनिषद् की

वृत्ति लिखी है । राघवेन्द्रपति तथा राघवेन्द्र स्वामी एक ही व्यक्ति हैं यह कहा नहीं जा सकता ।

राघवेन्द्र स्वामी—माध्व मतावलम्बी संत एवं ग्रन्थकार । इन्होंने जयतीर्थाचार्य की टीका पर वृत्ति लिखी है । जयतीर्थ के प्रधान-प्रधान सब ग्रन्थों पर इन्होंने वृत्ति लिखी है । इनके ग्रन्थों के नाम हैं तत्त्वोद्योतटीका-वृत्ति, न्यायकल्पलतावृत्ति, तत्त्वप्रकाशिकावृत्ति, भावद्वीप, वादावलीटीका, मन्त्रार्थमञ्जरी, तत्त्वमंजरी और गीता-विवृति । इन्होंने ईश, केन, प्रश्न, मुण्डक, छान्दोग्य तथा तैत्तिरीय उपनिषदों के खण्डार्थ प्रस्तुत किये । इनके ग्रन्थों की भाषा सरल है । ये सम्भवतः सत्रहवीं शताब्दी में वर्तमान थे । राघवेन्द्र यति तथा राघवेन्द्र स्वामी एक ही व्यक्ति हैं ।

राजकर्ता (राजकृत्)—यह विरुद अथर्ववेद तथा ब्राह्मणों में उनके लिए व्यवहृत है जो स्वयं राजा नहीं होना चाहते थे, किन्तु दूसरों को राजा बनाने में समर्थ थे । ये राजा के अभिषेक में सहायता करते थे । शतपथ ब्रा० में सूत, ग्रामणी (ग्रामप्रमुख) आदि इनमें सम्मिलित हैं । राजसूय तथा राज्याभिषेक दोनों में राजकर्ता (बहुवचन = राजकर्तारः) का बड़ा महत्त्व था ।

राजगृह—गया जिले (बिहार) में स्थित प्राचीन तीर्थ और राजा जरासन्ध की राजधानी । यह सनातनधर्मी, बौद्ध, जैन तीनों का पुण्यस्थल है । पाटलिपुत्र की स्थापना से पूर्व राजगृह ही मगध की राजधानी थी । पुरुषोत्तम मास में बहुत यात्री यहाँ आते हैं । यहाँ दर्शन करने योग्य स्थान भी पर्याप्त हैं। इनमें ब्रह्मकुण्ड, केदारनाथ, सीताकुण्ड, वैतरणी, वानरीकुण्ड, सोनभण्डार आदि प्रसिद्ध हैं ।

राजन्यबन्धु—राजन्यबन्धु का अर्थ राजन्य ही है किन्तु मूल्यांकन में राजन्यबन्धु राजन्य से घटकर है । शतपथ ब्रा० में जनक को राजन्यबन्धु कहा गया है, जिन्होंने ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में हरा दिया था । प्रवाहण जैवलि को भी बृह० उप० में राजन्यबन्धु कहा गया है । शतपथ के एक और परिच्छेद (१०.५.२.१०) में, जहाँ पुरुषों के स्त्रियों से अलग खाने की चर्चा है, राजन्यबन्धु को तब तक घृणात्मक नहीं दर्शाया गया है जब तक कि वास्तव में कोई ब्राह्मण किसी राजकुमार के प्रति घृणा न व्यक्त करे । फिर चारों वर्णों के वर्णन में (शत० १.१.४.१२) वैश्य को राजन्यबन्धु के पहले स्थान प्राप्त है जो विचित्र है । ऐसा लगता है कि राजन्य (क्षत्रिय) के वे भाई-बन्धु, जो कर्मणा अथवा पदेन राजन्य नहीं होते थे, राजन्यबन्धु कहलाते थे । कुछ ऐसा ही दृष्टिकोण 'ब्रह्मबन्धु' के लिए भी है ।

राजमार्त्तण्ड—योगसूत्र की यह व्याख्या धारा नगरी के महाराज भोज ने (१०१०—५५ ई०) लिखी थी। यह बहुत स्पष्ट तथा सरल है। योगशास्त्राभ्यासी सम्प्रदाय में इसका भी विशेष महत्त्व है ।

राजयोग—योगमार्ग का एक सम्प्रदाय । यह हठयोग से भिन्न है । हठयोग में शारीरिक क्रियाओं द्वारा चित्तवृत्ति-निरोध की प्रक्रिया पर बल दिया जाता है । राजयोग में बौद्धिक अनुशासन पर अधिक बल दिया जाता है ।

राजराजेश्वरव्रत—बुधवार को स्वाती नक्षत्रयुक्त अष्टमी हो तो उस दिन उपवास करना चाहिए । उस दिन भगवान् शिव को अनेक स्वादिष्ठ खाद्यान्न, मिष्टान्न तथा नैवेद्य अर्पण करने चाहिए । व्रती शिवपूजन के पश्चात् आचार्य को हार, मुकुट, करधनी, कर्णाभरण, अँगूठियाँ, हाथी अथवा घोड़े का दान दे । इस कृत्य से वह असंख्य वर्षों के लिए कुबेर के समान पद प्राप्त करने में समर्थ होता है । 'राजराज' का अर्थ है कुबेर, जो शिवजी के मित्र हैं । कदाचित् राजराजेश्वर का अर्थ भी शिव अथवा कुबेर हो (जो यक्षों के स्वामी हैं) ।

राजराजेश्वरीतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' की चौसठ तन्त्रों की सूची में राजराजेश्वरीतन्त्र भी उद्धृत है ।

राज्ञीस्नापन—चैत्र कृष्ण अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है । कश्मीर प्रदेश में अनुमानतः चैत्र कृष्ण पञ्चमी से भूमि का 'रजस्वलाव्रत' रखा जाता है । उसके बाद प्रत्येक घर में सधवा महिलाएँ पुष्पों और चन्दन के प्रलेप से भूमि का मार्जन-शोधन करती हैं । उसके पश्चात् ब्राह्मण लोग सर्वौषधिमिश्रित जल से भूमि का सिंचन करते हैं ।

राज्यद्वादशीव्रत—मार्गशीर्ष शुक्ल की दशमी को इस व्रत का संकल्प लेना चाहिए तथा एकादशी को उपवास करते हुए विष्णु का पूजन करना चाहिए । अच्छे खाद्यान्नों से होम करना चाहिए । इस व्रत में रात्रि को जागरण का विधान है । नृत्य तथा गीत इस अवसर पर अवश्य होने चाहिए । एक वर्ष तक इसका आचरण करना चाहिए । समस्त द्वादशियों को पूर्ण रूप से मौन धारण करना चाहिए । कृष्ण पक्ष की द्वादशी को भी उसी प्रकार के विधि-विधानों का पालन करना चाहिए, केवल भगवान्

की पूजा को छोड़कर, जो रक्तिम वस्त्र धारण करने के उपरान्त होगी। इस अवसर पर जलाये जाने वाले दीपकों में तेल भरना चाहिए, घी नहीं। इस व्रत के आचरण से व्रती घाटियों का राजा होता है। वह तीन वर्षों में मण्डलेश्वर (प्रान्तीय राज्यपाल) तथा १२ वर्षों में पूर्ण राजा बन जाता है।

राज्यव्रत—ज्येष्ठ शुक्ल तृतीया को वायु, सूर्य तथा चन्द्रमा का पूजन करना चाहिए। किसी पवित्र स्थल पर प्रातः काल वायु का पूजन करना चाहिए, मध्याह्न काल में अग्नि में सूर्योपासना तथा जल में सूर्यास्त के समय चन्द्रोपासना करनी चाहिए। एक वर्ष तक इस व्रत का अनुष्ठान होना चाहिए। इस आचरण से व्रती को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यदि इसका आचरण लगातार तीन वर्षों तक किया जाय तो हजारों वर्ष तक स्वर्ग में निवास होता है।

राज्याप्तिसप्तमी—कार्तिक शुक्ल दशमी को इस व्रत का प्रारम्भ होता है। विश्वेदेवों (क्रतु, दक्ष आदि) के रूप में भगवान् केशव का मण्डल बनाकर या (स्वर्ण या रजत की) मूर्ति रूप में स्थापित कर पूजन करना चाहिए। वर्ष के अन्त में स्वर्ण का दान करना चाहिए। इससे विष्णुलोक की प्राप्ति होती है। इसके अनन्तर व्रती सर्वोत्तम ब्राह्मणों से युक्त राज्य का राजा हो जाता है।

राजशेखरविलास—वीरशैव मत सम्बन्धी यह कन्नड भाषा का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके रचयिता षडक्षरदेव हैं। रचनाकाल १६वीं शताब्दी है।

राजसूय—वेदकालीन सोमयज्ञ। परवर्त्ती साहित्य में यह राजनीतिक यज्ञ अथवा राजाओं का अभिषेक संस्कार माना गया है। सूत्रों में इसका विशद वर्णन है किन्तु ब्राह्मणों में इसकी मुख्य रूपरेखा प्राप्त होती है। यजुर्वेदसंहिता में इसमें प्रयोग किये जाने वाले मन्त्र सुरक्षित हैं। राजसूय की मुख्य क्रियाएँ निम्नांकित थीं :

राजा को उसके पदानुसार वस्त्राभूषणों से सुसज्जित किया जाता था तथा उसे सम्राट्चिह्न धनुष-बाण दिये जाते थे। वह अभिषिञ्चित होता था, किसी राजन्य के साथ कृत्रिम युद्ध करता था। वह आकाश में ऊपर उछलकर अपने को एकछत्र शासक प्रदर्शित करता था। फिर व्याघ्रचर्म पर चरण रखता और इस प्रकार सिंह सदृश शक्ति तथा महत्त्व प्राप्त करता था।

राज्य—(१) अथर्ववेद तथा परवर्त्ती ग्रन्थों में नियमित रूप से इसका अर्थ 'साम्राज्यशक्ति' अथवा 'प्रभुता' है। शतपथ ब्रा० के अनुसार ब्राह्मण इसके अधिकार के अन्दर नहीं आते और राजसूय यज्ञ में राजा का पद बढ़ जाता था। वाजपेय यज्ञ में सम्राट् का पद उच्च होता था। एतदर्थ सम्राट् राजा से श्रेष्ठ होता था। राजसूय यज्ञ के वर्णन के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य तथा माहाराज्य आदि शब्दों का प्रयोग करता है। ये राज्य के कई प्रकार थे।

(२) राज्य के कर्त्तव्यों में धर्म का संस्थापन मुख्य है। कौटिल्य ने राज्य (राजा) के इस कर्त्तव्य पर बड़ा बल दिया है—

> तस्मात्स्वधर्मभूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
> स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति ॥
> व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
> त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥

[राजा इस बात को देखे कि प्रजा अपने स्वधर्म से विचलित तो नहीं हो रही है। इस कर्त्तव्य का पालन करता हुआ राजा इस लोक और परलोक में सुखी रहता है। जब राज्य (लोक) में आर्य मर्यादा सुव्यवस्थित रहती है, वर्णाश्रम धर्म का ठीक-ठीक पालन होता है और धर्मशास्त्र (त्रयी) में विहित नियमों से देश सुरक्षित रहता है तब प्रजा प्रसन्न रहती है और कभी क्लेश को नहीं प्राप्त होती।]

राणक—कर्ममीमांसा के आचार्य सोमेश्वरकृत 'न्यायसुधा' का ही अन्य नाम 'राणक' है। इसका रचनाकाल १४०० ई० के लगभग है।

राणायनीय—सामवेद संहिता के तीन संस्करण पाये जाते हैं—(१) कौथुमी (२) जैमिनीय तथा (३) राणायनीय। राणायनीय का प्रचार महाराष्ट्र में है। इस शाखा की भी उपशाखाएँ बतायी जाती हैं; राणायनीय, शाक्षयणीय, सत्यमुद्गल, मुद्गल, मरास्वन्व, दाङ्गन, कौथुम, गौतम और जैमिनीय। राणायनीय संहिता में पूर्वार्चिक एवं उत्तरार्चिक दो विषय हैं। पूर्वार्चिक में ग्रामगेयगान और अरण्यगान दो विभाग हैं। उत्तरार्चिक में ऊहगान तथा उह्यगान, दो विभाग हैं। इस संहिता में जितने मंत्र हैं, पाठ भेद के साथ सभी ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं।

रात्रि—ऋग्वेद (१०.७०.६) में रात्रि एवं उषा को अग्नि का रूप कहा गया है। वे एक युग्म देवत्व की रचना करती हैं। दोनों आकाश (स्वर्ग) की बहिन तथा ऋत की माता हैं। रात्रि के लिए केवल एक ऋचा है (१०.१२.७)।

मैकडॉनेल के अनुसार रात्रि को अन्धकार का प्रतियोगी रूप मानकर 'चमकीली रात' कहा गया है। इस प्रकार प्रकाशपूर्ण रात्रि घने अन्धकार के विरोध में खड़ी होती है।

राधा—महाभारत में कृष्ण की कथा के साथ राधा का उल्लेख नहीं हुआ है। न तो भागवत गण और न माध्व ही राधा को मान्यता देते हैं। वे भागवत पुराण के बाहर नहीं जाते हैं। किन्तु सभी परवर्त्ती सम्प्रदाय, जो अन्य कुछ महापुराणों को महत्त्व देते हैं, राधा को मान्यता देते हैं।

भागवत पुराण में एक गोपी का कृष्ण इतना सम्मान करते हैं कि उसके साथ अकेले घूमते हैं तथा अन्य गोपियाँ उसके इस भाग्य को देखकर यह अनुमान करती हैं कि उस गोपी ने पूर्व जन्म में अधिक भक्ति से कृष्ण की आराधना की होगी। यही वह स्रोत है जिससे राधा नाम की उत्पत्ति होती है। यह शब्द 'राध्' धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ है सोच-विचार करना, संपन्न करना, आनन्द या प्रकाश देना। इस प्रकार राधा 'उज्ज्वल आनन्द देने वाली' है। इसका प्रथम कहाँ उल्लेख हुआ, यह कहना कठिन है। एक विद्वान् के मत से राधा का प्रथम उल्लेख 'गोपालतापनीयोपनिषद्' में हुआ है जहाँ 'राधा' का वर्णन है और वह सभी राधा-उपासक सम्प्रदायों द्वारा आदृत है। आचार्य निम्बार्क का सम्प्रदाय राधा को सर्वप्रथम और सर्वोपरि मान्यता देता है। विष्णुस्वामी संप्रदाय भी राधा को स्वीकार करता है। परम्परागत मध्व, विष्णुस्वामी, फिर निम्बार्क क्रमबद्ध भागवत वैष्णवों के आचार्य हैं। मध्व राधा का वर्णन नहीं करते। विष्णुस्वामी-साहित्य बहुत कुछ मध्व से मिलता-जुलता है, जब कि निम्बार्क ने राधा को विशेषता देकर नया उपासना-क्रम चलाया। मध्व के पूर्व उत्तर भारत में राधा सम्बन्धी गीत गाये जाते थे तथा उनकी पूजा भी होती थी, क्योंकि जयदेव का गीतगोविन्द बारहवीं शताब्दी के अन्त की रचना है। बंगाल में माना जाता है कि जयदेव निम्बार्क मत के अनुयायी थे। फिर भी गीतगोविन्द में राधा प्रेयसी हैं, जबकि निम्बार्क राधा को कृष्ण की स्वकीया पत्नी मानते हैं। यद्यपि राधा-सम्प्रदाय के पर्याप्त प्रमाण प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु अनुमान लगाया जाता है कि भागवत पुराण के आधार पर वृन्दावन में राधा की पूजा ११०० ई० के लगभग आरम्भ हुई। फिर यह बंगाल तथा अन्य प्रदेशों में फैली। इस अनुमान को ऐतिहासिक तथ्य मान लें तो जयदेव की राधा सम्बन्धी कविता तथा निम्बार्क एवं विष्णुस्वामी सम्प्रदायों का राधावाद स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। तब यह सम्भव है कि निम्बार्क ने अपने राधावाद को वृन्दावन में विकसित उस समय किया हो जब विष्णुस्वामी अपने सिद्धान्त का दक्षिण में प्रचार कर रहे हों। दे० 'राधावल्लभीय'।

राधावल्लभ (सम्प्रदाय)—(राधा के प्रिय) कृष्ण का उपासक एक प्रेममार्गी सम्प्रदाय, जिसकी स्थापना देवबन्द (सहारनपुर) के पूर्वनिवासी गोस्वामी हरिवंशजी ने वृन्दावन में की।

राधावल्लभीय—गोस्वामी हरिवंश उपनाम हितजी आरम्भ में माध्वों तथा निम्बार्कों के घनिष्ठ सम्पर्क में थे। किन्तु उन्होंने अपना नया सम्प्रदाय सन् १५८५ ई० में स्थापित किया, जिसे राधावल्लभीय कहते हैं। इस सम्प्रदाय का सबसे प्रमुख मन्दिर वृन्दावन में वर्तमान है, जो राधा के वल्लभ (प्रिय) कृष्ण का मन्दिर है। संस्थापक के तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—राधासुधानिधि (१७० संस्कृत छन्दों में), चौरासी पद तथा स्फुट पद (हिन्दी)। इस प्रकार हितजी ऐसे भक्त हैं जो राधा को कृष्ण से उच्च स्थान देते हैं। सम्प्रदाय के एक सदस्य का मत है कि कृष्ण राधा के सेवक या दास हैं, वे संसार की सुरक्षा का काम कर सकते हैं, किन्तु राधा रानी जैसी बैठी रहती हैं। वे (कृष्ण) राधा के मंत्री हैं। राधावल्लभीय भक्त राधा की पूजा-आराधना द्वारा कृष्ण की कृपा प्राप्त करना अपना लक्ष्य मानते हैं।

राधाष्टमी—भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी को राधा अष्टमी कहते हैं। राधा भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष में सप्तमी को उत्पन्न हुई थीं। अष्टमी को राधा का पूजन करने से अनेक गम्भीर पाप नष्ट हो जाते हैं।

राधासुधानिधि—राधावल्लभीय सम्प्रदाय का एक स्तोत्र

ग्रन्थ। यह संस्कृत का पद्यात्मक मधुर काव्य है जिसमें राधाजी की प्रार्थना की गयी है। दे० 'राधावल्लभीय'।

राधास्वामी मत—उपनाम 'सन्तमत'। इसके प्रवर्त्तक हुज़ूर राधास्वामी दयालु थे, जिन्हें आदरार्थ स्वामीजी महाराज कहा जाता था। जन्मनाम शिवदयालुसिंह था। इनका जन्म खत्री वंश में आगरा के मुहल्ला पन्नीगली में विक्रम सं० १८७५ की भाद्रपद कृष्ण अष्टमी को १२॥ बजे रात में हुआ। छः सात वर्ष की अवस्था से ही ये कुछ विशेष लोगों को परमार्थ का उपदेश देने लगे। इन्होंने किसी गुरु से दीक्षा नहीं ली, हृदय में अपने आप परमार्थज्ञान का उदय हुआ। १५ वर्षों तक लगातार ये अपने घर की भीतरी कोठरी में बैठकर 'सुरत शब्दयोग' का अभ्यास करते रहे। बहुत से प्रेमी सत्संगियों के अनुरोध और बिनती पर आपने संवत् १९१७ की बसन्तपञ्चमी से सार्वजनिक उपदेश देना प्रारम्भ किया और तब से १७ वर्ष तक लगातार सत्सङ्ग जारी रहा। इस अवधि में देश-देशान्तर के बहुत से हिन्दू, कुछ मुसलमान, कुछ जैन, कोई-कोई ईसाई, सब मिलकर लगभग ३००० स्त्री-पुरुषों ने सन्तमत या राधास्वामी पंथ का उपदेश लिया। इनमें दो-तीन सौ के लगभग साधु थे। स्वामीजी महाराज ६० वर्ष की अवस्था में सं० १९३५ वि० में राधास्वामी लोक को पधारे।

आप का स्थान 'हुज़ूर महाराज' राय सालिगराम बहादुर माथुर ने लिया, जो पहले उत्तर-प्रदेश के पोस्टमास्टर जनरल थे। इन्हीं के गुरुभाई जयमलसिंह ने व्यास (पंजाब) में, बाबा बग्गासिंह ने तरनतारन में और बाबा गरीबदास ने दिल्ली में अलग-अलग गद्दियाँ स्थपित कीं। परन्तु मुख्य गद्दी आगरे में तब तक रही जब तक हुज़ूर महाराज सद्गुरु रहे। इनके बाद महाराज साहब पंडित ब्रह्मशंकर मिश्र गद्दी के उत्तराधिकारी हुए। इनके पश्चात् श्री कामताप्रसाद सिन्हा उपनाम सरकार साहब गाजीपुर में रहे और बुआजी साहिबा स्वामीबाग की देखरेख करती रहीं। सरकार साहब के उत्तराधिकारी सर आनन्दस्वरूप 'साहबजी महाराज' हुए जिन्होंने आगरा में दयालबाग की स्थापना की।

इस प्रकार पन्थ की स्थापना के ७० वर्षों के भीतर मुख्य गद्दी के अतिरिक्त सात गद्दियाँ और चल पड़ीं। इस पन्थ में जाति-पाँति का बन्धन नहीं है। हिन्दू संस्कृति का विरोध अथवा बहिष्कार तो नहीं है, परन्तु उसकी ओर से उदासीनता अवश्य है। यह सुधारवादी सम्प्रदाय है। राधास्वामी पन्थ केवल निर्गुण योगमार्ग का साधक कहा जा सकता है।

राम—विष्णु के भक्तों को वैष्णव कहते हैं, साथ ही विष्णु के दो अवतारों (राम तथा कृष्ण) के प्रति भक्ति रखने वाले भी वैष्णव धर्मावलम्बी ही माने जाते हैं। राम सम्प्रदाय आधुनिक भारत के प्रत्येक कोने में व्याप्त हो रहा है। वाल्मीकि रामायण में राम का ऐश्वर्य स्वरूप तथा चरित्र बहुत ही उच्च तथा आदर्श नैतिकता से भरपूर है। परवर्त्ती कवियों, पुराणों और विशेष कर भवभूति (आठवीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध) के दो संस्कृत नाटकों ने राम के चरित्र को और अधिक व्याप्ति प्रदान की। इस प्रकार रामायण के नायक को भारतीय जन ने विष्णु के अवतार की मान्यता प्रदान की। इस बात का ठीक प्रमाण नहीं है कि राम को विष्णु का अवतार कब माना गया, किन्तु कालिदास के रघुवंश काव्य से स्पष्ट है कि ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में यह मान्यता हो चुकी थी। वायुपुराण में राम के दैवी गुणों का वर्णन है। १०१४ ई० में अमितगति नामक जैन लेखक ने राम का सर्वज्ञ, सर्वव्याप्त और रक्षक रूप में वर्णन किया है।

यद्यपि राम का देवत्व मान्य हो चुका था परन्तु राम-उपासक कोई सम्प्रदाय इस दीर्घ काल में था, इस बात का प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि ११वीं शताब्दी के बाद रामसम्प्रदाय का आरम्भ हो चुका था। तेरहवीं शताब्दी में उत्पन्न मध्व, जो एक वैष्णव सम्प्रदाय के स्थापक थे, हिमालय के बदरिकाश्रम से राम की मूर्ति लाये, तथा अपने शिष्य नरहरितीर्थ को उड़ीसा की जगन्नाथ पुरी से राम की आदि मूर्ति लाने को भेजा (लगभग १२६४ ई० में)। हेमाद्रि (तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध) ने रामजन्मोत्सव का वर्णन करते हुए उसकी तिथि चैत्र शुक्ल नवमी का उल्लेख किया है। आज भारत के प्रत्येक नागरिक की जिह्वा पर रामनाम व्याप्त है, चाहे वह किसी भी वर्ग, जाति या सम्प्रदाय का हो। जब दो व्यक्ति मिलते हैं तो एक-दूसरे का स्वागत 'राम राम' कहकर करते हैं। बच्चों के नामों में 'राम' का सर्वाधिक प्रयोग भारत में हुआ है। मृत्युकाल तथा दाहसंस्कार पर राम का ही स्मरण होता है।

रामभक्ति से सम्बन्ध रखनेवाला साहित्य परवर्त्ती है।

रामपूजा के अनेक पद्धतिग्रन्थ हैं। सात्वत संहिता इनमें से एक है। अध्यात्मरामायण में जीवात्मा एवं राम का तादात्म्य सम्बन्ध दिखाया गया है। इसका १५वाँ प्रकरण 'रामगीता' है। भावार्थ रामायण एकानाथ नामक महाराष्ट्रीय भक्तरचित १६वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। मद्रास से एक अन्य रामगीता प्रकाशित हुई है जो बहुत ही आधुनिक है। इसके पात्र राम और हनुमान् हैं तथा इसमें १०८ उपनिषदों की सामग्री का उपयोग हुआ है। राम सम्प्रदाय का महान् उच्च ग्रन्थ है रामचरितमानस जिसे वाल्मीकीय रामायण के हिन्दी प्रतिरूप गोस्वामी तुलसीदास ने प्रस्तुत किया है। भगवद्गीता तथा भागवत पुराण जैसे कृष्णसम्प्रदाय के जैसे लिए हैं, वैसे ही तुलसीदासकृत रामचरितमानस तथा वाल्मीकि रामायण रामसम्प्रदाय के लिए पारायण ग्रन्थ है।

रामानुजाचार्य की परम्परा में स्वामी रामानन्द ने १४वीं शताब्दी में 'रामावत' उपनामक रामसम्प्रदाय की स्थापना की। कील्हदास नामक एक सन्त ने रामानन्द से अलग होकर 'खाकी' सम्प्रदाय प्रचलित किया। दे० 'श्रीराम'।

रामोत्तरतापनीय उपनिषद्—राम सम्प्रदाय की यह उपनिषद् प्राचीन उपनिषदों के परिच्छेदों के गठन से बनी है और परवर्त्ती काल की है।

रामकृष्ण—(१) कर्ममीमांसा के एक आचार्य (१६०० वि०) जिन्होंने पार्थसारथि मिश्र द्वारा रचित 'शास्त्रदीपिका' की 'सिद्धान्तचन्द्रिका' नामक टीका लिखी।

(२) विद्यारण्य के एक शिष्य का नाम भी रामकृष्ण था, जिन्होंने 'पञ्चदशी' की टीका लिखी।

रामकृष्ण दीक्षित—लाट्यायन श्रौतसूत्र (सामवेद) के एक भाष्यकार। साममन्त्रों पर जो सामवेद का व्याकरण ग्रन्थ है और जिसका एक नाम 'सामलक्षणम्—प्रातिशाख्यसूत्रम्' भी है, उस पर रामकृष्ण दीक्षित ने वृत्ति लिखी है।

रामकृष्ण परमहंस—कलकत्ता के निकटस्थ दक्षिणेश्वर के स्वामी रामकृष्ण परमहंस प्रसिद्ध शाक्त महात्मा थे। इनके एक गुरु तोतापुरी दसनामी संन्यासियों की शाखा के थे। ये उच्च कोटि के साधक संत थे। कहते हैं कि स्वयं भगवती दुर्गा ने दर्शन देकर इनको कृतार्थ किया था। इनके नाम को अमर किया इनके योग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने। इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप रामकृष्ण परमहंस के नाम पर न केवल भारतव्यापी वरन् विश्वव्यापी 'मिशन' कार्यरत है जो अनेकानेक क्षेत्रों में, देश व विदेशों में अपनी सेवाएँ वितरित कर रहा है। इस मिशन की देख-रेख में शैक्षणिक संस्थाएँ, औषधालय, पुस्तकालय, अनाथालय एवं साधनाश्रम, मठ आदि चल रहे हैं।

रामकृष्ण—महाराष्ट्र के भागवत लोग आज भी प्राचीन भागवत मन्त्र 'ओम् नमो भगवते वासुदेवाय' का प्रयोग करते हैं, जबकि सार्वजनिक प्रयोग में विष्णुस्वामी मन्त्र 'राम कृष्ण हरि' ही प्रचलित है।

रामगीता—दे० 'राम'।

रामचन्द्रगृह्यसूत्रपद्धति—रामचन्द्र नामक एक विद्वान् ने नैमिषारण्य में रहकर शांखायनगृह्यसूत्र का एक भाष्य रचा है। इसे रामचन्द्रगृह्यसूत्रपद्धति कहते हैं।

रामचन्द्रतीर्थ—आनन्दतीर्थ (वैष्णवाचार्य मध्व) ने ऋग्वेदसंहिता के कुछ अंशों का श्लोकबद्ध भाष्य किया था। रामचन्द्रतीर्थ ने उस भाष्य की टीका लिखी है।

रामचन्द्रदोलोत्सव—चैत्र शुक्ल तृतीया को इस उत्सव का विधान है। रामचन्द्रजी की प्रतिमा झूले में विराजमान कर उसे एक मास तक झुलाना चाहिए। जो लोग राम की प्रतिमा को झूला झूलते हुए देखते हैं उनके सहस्रों जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं।

रामचरन—कबीर की शिक्षाओं से प्रभावित होकर अनेक छोटे-मोटे सम्प्रदाय स्थापित हुए। इनमें 'रामसनेही' सम्प्रदाय भी एक है। इसके संस्थापक थे महात्मा रामचरन, जिनका स्थितिकाल १८वीं शताब्दी का उत्तरार्ध कहा जाता है। रामचरन ने अपनी शिक्षाओं और भजनों का संग्रह 'बानी' नाम से लिखा है।

रामचरितमानस—यह रामसम्प्रदाय का पवित्र, पठनीय और प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसकी रचना लगभग १५८४ ई० में काशी में गोस्वामी तुलसीदास ने की। इसकी भाषा अवधी है, किन्तु इस पर व्रजभाषा और भोजपुरी का भी प्रभाव है। इसकी अधिकांश सामग्री वाल्मीकीय रामायण से ली गयी है। परन्तु इस ग्रन्थ में भारतीय परम्परा का सारांश संगृहीत और प्रतिपादित है।

रामचरितमानस में निबन्ध रूप से भगवान् राम का चरित्र वर्णित है। इसमें सात सोपान अथवा काण्ड हैं—(१) बालकाण्ड (२) अयोध्याकाण्ड (३) अरण्यकाण्ड (४) किष्किन्धाकाण्ड (५) सुन्दरकाण्ड

(६) लंकाकाण्ड (७) उत्तरकाण्ड । रामचरितमानस मूलतः काव्य है किन्तु इसका उद्देश्य है भारतीय धर्म और दर्शन का प्रतिपादन करना । इसलिए इसमें उच्च दार्शनिक विचार, धार्मिक जीवन और सिद्धान्त—वर्णाश्रम, अवतार, ब्रह्मनिरूपण और ब्रह्मसाधना, सगुण-निर्गुण, मूर्तिपूजा, देवपूजा, गो-ब्राह्मण रक्षा, वेदमार्ग का मण्डन, अवैदिक और स्वच्छन्द पन्थों की आलोचना, कुशासन की निन्दा, कलियुगनिन्दा, रामराज्य की प्रशंसा आदि विषयों का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है । इसी प्रकार पारिवारिक सम्बन्ध और प्रेम, पातिव्रत, पत्नीव्रत, सामाजिक व्यवहार, नैतिक आदर्श आदि का विवेचन भी इसमें यत्र-तत्र भरा पड़ा है । मध्ययुग में जब चारों ओर से हिन्दू धर्म के ऊपर विपत्तियों के बादल छाये हुए थे और वेद तथा शास्त्रों का अध्ययन शिथिल पड़ गया था, तब इस एक ग्रन्थ ने उत्तर भारत में हिन्दू धर्म को सजीव और अनुप्राणित रखा । लोकभाषा में होने से सर्वसाधारण पर इसका प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा । महाभारत की तरह इस ग्रन्थ ने भी एक प्रकार से संहिता का रूप धारण किया । धार्मिक और सामाजिक विषयों पर यह उदाहरण का काम देने लगा । इसकी लोकप्रियता का रहस्य था इसकी समन्वय की नीति । इसलिए सभी धार्मिक सम्प्रदायों ने इसका आदर किया । इस एक ग्रन्थ ने जितना लोकमङ्गल किया है उतना बहुत से पन्थ और सम्प्रदाय भी मिलकर नहीं कर पाये ।

रामजयन्ती—भगवान् राम का जन्म चैत्र शुक्ल नवमी को हुआ था, इसलिए यह जयन्ती चैत्र शुक्ल नवमी को मनायी जाती है । इस अवसर पर व्रत, पूजा, कीर्तन, मङ्गलवाद्य, नाच, गान आदि होता है ।

रामटेक—वनवास के समय राम के टिकने का स्थान या पड़ाव । यह एक तीर्थ है । नागपुर से रामटेक स्टेशन २६ मील है । वहाँ से बस्ती एक मील है । पास में रामगिरि नामक पर्वत है । ऊपर श्रीराममन्दिर है । सामने वराह भगवान् की मूर्ति है । दो मील पर रामसागर तथा अम्बासागर नामक दो पवित्र सरोवर हैं । इनके किनारे कई मन्दिर हैं । रामटेक में एक जैनमन्दिर भी है । कुछ विद्वानों का मत है कि कालिदास के मेघदूत का रामगिरि यही है । दे० मिराशी : 'कालिदास' ।

रामतीर्थ स्वामी—(१) वेदान्तसार के टीकाकार । वेदान्तसार के प्रणेता स्वामी सदानन्द सोलहवीं शताब्दी में वर्तमान थे । नृसिंह सरस्वती ने सं० १५९८ विक्रमी में वेदान्तसार की पहली टीका लिखी थी, रामतीर्थ उनके परवर्त्ती थे । अतः उनका स्थितिकाल सत्रहवीं शताब्दी होना चाहिए । उनके गुरु स्वामी कृष्णतीर्थ थे । स्वामी रामतीर्थ ने 'संक्षेपशारीरक' के ऊपर 'अन्वयार्थ प्रकाशिका' एवं शङ्कराचार्यकृत 'वेदान्तसार' पर 'विद्वन्मनोरञ्जिनी' नाम की टीका लिखी है । इसके अतिरिक्त उन्होंने एक टीका मैत्रायणी उपनिषद् पर भी लिखी है ।

(२) अध्यात्म ज्ञान और त्याग-वैराग्य के लिए प्रसिद्ध आधुनिक काल के एक आदर्श संन्यासी । ये पंजाब में उत्पन्न और तीर्थराम नाम से प्रसिद्ध गणित के अध्यापक थे । विरक्त अवस्था में ये रामतीर्थ या 'राम बादशाह' कहलाते थे । देश-विदेश में पर्यटन करते हुए अन्त में ये उत्तराखण्ड में तपस्या करने लगे और इसी क्रम में गंगाप्रवाह में ब्रह्मलीन हो गये ।

रामदास—(१) महाराष्ट्र के भक्तों में प्रसिद्ध संत, रामानन्दी मत से प्रभावित और कवि महात्मा नारायण हुए । पीछे इनका नाम समर्थ रामदास पड़ा । स्थितिकाल १६०८ से १६८१ ई० तक था । इनकी कविता सामान्य लोगों द्वारा उतनी ग्राह्य नहीं हुई, जितनी विचारशील ज्ञानियों द्वारा आदृत हुई । १६५० ई० के बाद महाराज शिवाजी पर इनका बड़ा प्रभाव हो गया था । 'दासबोध' नामक इनकी पुस्तक धार्मिक से अधिक दार्शनिक है । रामदासी नामक एक लघु सम्प्रदाय इनके नाम से प्रचलित है । इसका अपना साम्प्रदायिक चिह्न तथा पवित्र मन्त्र है । केन्द्र है इसका सतारा के निकट सज्जनगढ़, जहाँ रामदासजी की समाधि, रामचन्द्रजी का मन्दिर एवं रामदासी मठ है । वहाँ इस सम्प्रदाय के अनेक साधु रहते हैं ।

(२) सिक्खों के दस गुरुओं में से तीसरे गुरु रामदास थे । ये अमरदास के शिष्य थे । इन्होंने अनेक पद लिखे हैं जो 'ग्रन्थ साहब' में संगृहीत हैं ।

रामदासी पंथ—दे० 'रामदास' ।

रामनवमी—चैत्र शुक्ल नवमी को रामनवमी कहते हैं । इसी दिन भगवान् राम का जन्म हुआ था । इस दिन वैष्णव मन्दिरों में राम का जन्मोत्सव मनाया जाता है । बहुत से तीर्थों में इस तिथि को मेला भी लगता है, अयोध्यापुरी में विशेष समारोह होता है ।

रामनाथ शैव—त्रिपुरा ग्रामवासी पं० रामनाथ शैवग्रन्थ-विशारद ने सन्देहभूमिका नामक एक पुस्तक लिखी है। शिवपुराण की विषयसूची का यह एक मात्र साधन है।

रामनामलेखनव्रत—इस व्रत का प्रारम्भ रामनवमी को अथवा किसी भी दिन किया जा सकता है। श्री राम का नाम एक लक्ष या एक कोटि बार लिखा जाता है। राम के नाम का एक भी अक्षर महापातकों को नष्ट करने में समर्थ है (एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्)। इस व्रत के अनुसार लिखित रामनाम का षोडशोपचार पूजन करना चाहिए। राम के नाम में अद्‌भुत चमत्कार भरे हुए हैं, इस कारण १०८ या १००० बार रामनामजपने का प्रचलन हो गया है। दे० व्रतराज, ३३०-३३२।

रामपूर्वतापनीयोपनिषद्—इस उपनिषद् के पर्यालोचन से ज्ञान पड़ता है कि इसकी रचना के समय या इससे पूर्व रामोपासक सम्प्रदाय प्रचलित था। इसमें राम को अवतारब्रह्म माना गया है तथा "रां रामाय नमः" यह मन्त्र कहा गया है। इसमें एक रहस्यमय यन्त्र भी अंकित है जो मुक्ति तथा आनन्ददायक कहा गया है। एक पवित्र शब्द भी लिखा गया है, जो पवित्र मन्त्र का वाहक है।

रामभक्त—तमिल देश में आज कोई विशिष्ट रामभक्त सम्प्रदाय नहीं है, किन्तु वहाँ 'रामभक्तों' अर्थात् साधुओं की भरमार है, जो राम के भजन ध्यान से ही मुक्ति प्राप्ति का विश्वास करते हैं। ये वहाँ के प्राचीन रामभक्त सम्प्रदाय के अवशेष हैं।

राम भार्गवावतार—ऐतरेय ब्राह्मण में राम भार्गवावतार का वर्णन है। पुराणों के अनुसार राम (भार्गव) विष्णु के प्रसिद्ध अवतारों में से हैं, जो परशुराम भी कहलाते हैं।

राम मिश्र—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के एक आचार्य, जो नाथ मुनि के प्रशिष्य तथा पुण्डरीकाक्ष के शिष्य थे। राम मिश्र के उपदेश के प्रभाव से यामुनाचार्य राजसम्मान छोड़कर रङ्गनाथजी के सेवक हो गये थे। एक तरह से संन्यासी यामुनाचार्य के ये गुरु थे। राममिश्र के बारे में विशेष बातें नहीं ज्ञात हैं।

राममोहन राय—बङ्गाल के प्रकाण्ड विद्वान्, सुधारक और ब्रह्मसमाज के आदि प्रवर्त्तक। सं० १८२५ वि० में एक ब्राह्मण जमींदार के घर हुगली जिले के राधानगर में राजा राममोहन राय का जन्म हुआ। आरम्भ में इनकी शिक्षा पटना में अरबी-फारसी के माध्यम से हुई। इस्लाम का इन पर बड़ा प्रभाव पड़ा, फिर इन्होंने काशी में संस्कृत का पूरा अध्ययन किया। एक ओर वेदान्तदर्शन का अध्ययन तथा दूसरी ओर सूफी मत का अध्ययन करने के फलस्वरूप ये ब्रह्मवादी हो गये, मूर्तिपूजा के विरोधी तो प्रारम्भ से ही थे। बाईस वर्ष की अवस्था से अंग्रेजी पढ़कर ये ईसाइयों के सम्पर्क में आ गये। ईसाई धर्म के मूल तत्त्व को समझने के लिए इन्होंने यूनानी और इब्रानी भाषाएँ पढ़ीं और ईसाइयों के त्रित्ववाद और अवतारवाद का खण्डन किया। अन्त में जाति-पाँति, मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, अवतारवाद आदि हिन्दू मन्तव्यों के विरुद्ध प्रचार करने और एक ब्रह्म की उपासना करने के लिए सं० १८८५ वि० के भाद्रपद मास में इन्होंने 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना की। पहले इस संस्था में राममोहन राय साधारण सदस्य की तरह सम्मिलित हुए। वास्तव में ये ही उसके प्राण थे। तीन वर्ष पश्चात् ये दिल्ली के बादशाह की ओर से राजा की उपाधि और दौत्य कर्म का अधिकार लेकर इंग्लैंड गये। वहीं सं० १८९० वि० की आश्विन शुक्ल चतुर्दशी को ज्वरग्रस्त होकर ब्रिस्टल में शरीर छोड़ा। इसी नगर में उनकी समाधि बनी हुई है।

रामरंजा पंथ—सिक्खों में सहिजधारी और सिंह दो सम्प्रदाय हैं। इनके भी अनेक पंथ हैं। सहिजधारियों के छः पंथ हैं तथा सिंहों के तीन। रामरंजा पंथ सहिजधारियों की एक शाखा है। इस पंथ के चलाने वाले गुरु हरराय के पुत्र रामराय थे।

रामराज्य—हिन्दू राजनीति में राम को आदर्श राजा एवं वेण को अधम माना गया है। आज भी अच्छी राजव्यवस्था के लिए 'रामराज्य' शब्द का प्रयोग होता है। महात्मा गान्धी उसी रामराज्य की कल्पना भारतीयों के समक्ष रखा करते थे। संक्षेप में रामराज्य की कल्पना गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस रामायण में इस प्रकार की है :

> दैहिक दैविक भौतिक तापा।
> रामराज्य सपनेहुँ नहिं व्यापा॥

[राम के राज्य में दैहिक, दैविक तथा भौतिक तीनों

प्रकार के दुःख किसी को स्वप्न में भी नहीं हुए ।] पूरे विवरण के लिए दे० रामचरितमानस, उत्तर काण्ड ।

रामराय—सिक्खों के गुरु हरराय के पुत्र का नाम रामराय था । इन्होंने रामरंजा पंथ (सहिजधारियों की एक शाखा) चलाया । देखिए 'रामरंजा ।'

रामलीला—रामायणकथा का नाटकीय रूप । उत्तर भारत के प्रमुख गाँवों तथा नगरों में शारदीय दुर्गोत्सव के समय रामलीला प्रदर्शित होती है । रामलीला का प्रचलन गोस्वामी तुलसीदासजी ने प्रारम्भ किया था । इसमें रामायण के मुख्य-मुख्य स्थल; रामजन्म, यज्ञरक्षा, स्वयंवर, वनगमन, सूर्पणखानासिका कर्त्तन, सीताहरण, राम सुग्रीव-मैत्री, सीता की खोज, राम-रावण युद्ध, भरतमिलाप, रामराजसिंहासनप्राप्ति आदि दृश्य नाटकीय ढंग से दिखाये जाते हैं । समस्त भारत में काशी एवं रामनगर की रामलीलायें प्रसिद्ध हैं । रामलीला की प्रत्येक घटना के प्रदर्शन के लिए यहाँ अलग-अलग स्थान बने हुए हैं । रामलीला की व्यवस्था भूतपूर्व काशीनरेश की ओर से होती है ।

रामविजय—महाराष्ट्र भक्तों में सन्त श्रीधर (१६७९-१७२८) भी प्रसिद्ध हैं । इनकी लोकप्रिय रचना है 'रामविजय' ।

रामसनेही सम्प्रदाय—इसके प्रवर्त्तक महात्मा रामचरन हैं । सम्प्रदाय की स्थापना १६५० ई० के लगभग हुई । रामचरन ने अनेक बानियाँ एवं पद रचे हैं । इस सम्प्रदाय के तीसरे गुरु दूल्हाराम ने १०,००० पद एवं ४,००० दोहे रचे थे । इनके प्रार्थनामन्दिर रामद्वारा कहलाते हैं जो अधिकांश राजस्थान में पाये जाते हैं । पूजा में गान तथा शिक्षा सम्मिलित हैं । इनका मुख्य केन्द्र शाहपुर है, किन्तु ये जयपुर, उदयपुर तथा अन्य स्थानों में भी रहते हैं । इनके अनुयायी गृहस्थों में नहीं हैं । अतएव यह सम्प्रदाय अवनति पर है और केवल कुछ साधुओं का वर्ग मात्र रह गया है ।

रामाई पण्डित—मयूर भट्ट की व्याख्या में 'धर्म' नामक सम्प्रदाय का उल्लेख किया गया है । यह सम्प्रदाय बौद्ध तांत्रिकवाद का अवशेष था । इस सम्प्रदाय का पहली प्राप्त रचना 'शून्य पुराण' है जिसके रचयिता रामाई पण्डित हैं । यह ११वीं शताब्दी की रचना है । रामाई पण्डित ने इसमें 'धर्म सम्प्रदाय' के धार्मिक दर्शन एव यज्ञादि का वर्णन किया है । देखिए 'मयूर भट्ट' ।

रामाचार्य—माध्व मतावलम्बी आचार्य । व्यासराज इनके गुरु थे । रामाचार्य ने 'तरङ्गिणी' नामक वेदान्त व्याख्या में अपना कुछ परिचय दिया है । इनके विद्वान् पिता का नाम विश्वनाथ था, जन्म व्यासकुल के उपमन्यु गोत्र में हुआ था । ये गोदावरी के तट पर अंधपुर नामक गाँव में रहते थे । बड़े भाई का नाम नारायणाचार्य था । कहते हैं, अपने गुरु की आज्ञा से इन्होंने मधुसूदन सरस्वती का विद्याशिष्यत्व ग्रहण किया और उनके अद्वैतमत का तात्पर्य जानकर बाद में अद्वैतमत का खण्डन किया । इससे इनका काल सत्रहवीं शताब्दी ज्ञात होता है । इन्होंने न्यायामृत की टीका 'तरङ्गिणी' के नाम से लिखी थी । तरङ्गिणी से इनके अपूर्व पाण्डित्य का पता लगता है । इसमें इन्होंने अद्वैत मत का खण्डन और माध्व मत का प्रतिपादन किया है । ब्रह्मानन्द सरस्वती ने तरङ्गिणीकार रामाचार्य के मत का खण्डन करने के लिए 'अद्वैतसिद्धि' पर 'लघुचन्द्रिका' नामक टीका लिखी है ।

रामाज्ञाप्रश्न—गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में एक 'रामाज्ञाप्रश्न' भी है । यह पद्यों का सङ्कलन है, जिसका प्रयोग यात्रारंभ अथवा किसी महत्त्वपूर्ण कार्य को आरम्भ करते समय शकुन के रूप में करते हैं । इसकी सामग्री रामचन्द्रजी का जीवनचरित है जो सात काण्डों में है । शकुन का विचार एक पद्य को चुनकर (विना देखे) करते हैं । गोस्वामीजी के एक मित्र पंडित गंगाराम ज्योतिषी काशी में प्रहलादघाट पर रहा करते थे । रामाज्ञा प्रश्न उन्हीं के अनुरोध से रचित माना जाता है ।

रामानन्द—उत्तर भारत में रामभक्ति को व्यापक रूप देने वाले वैष्णव महात्मा । इनके पूर्व अनेक वैष्णव भक्त हो चुके हैं, जिनमें नामदेव तथा त्रिलोचन महाराष्ट्र प्रान्त में एवं सदन तथा बेनी आदि उत्तर भारत में प्रसिद्ध रहे हैं । किन्तु वास्तविक रामोपासक सम्प्रदाय स्वामी रामानन्द से प्रचलित माना जाता है । इनका नाम आधुनिक हिन्दू धर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, किन्तु दुर्भाग्यवश इनके बारे में बहुत कम वृत्तान्त ज्ञात है । इनके जीवनकाल की विभिन्न तिथियाँ प्रस्तावित हैं किन्तु अब इन्हें समय की निश्चित सीमा में बाँधना सम्भव हो गया है । इनके एक राजकुलीन शिष्य पीपा १४२५ ई० में पैदा हुए । दूसरे

शिष्य कबीर १४४० से १५१८ ई० तक रहे। स्पष्ट है कि कबीर रामानन्द के सबसे पीछे के शिष्य नहीं थे । अतएव यह बहुत कुछ सत्य होगा यदि रामानन्द का काल १४०० से १४७० ई० तक मान लिया जाय। किसी भी तरह १० वर्ष का हेरफेर भूल माना जा सकता है। जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म प्रयाग में हुआ, किन्तु नैष्ठिक संन्यासी के रूप में अपने जीवन का अधिकांश भाग इन्होंने काशी में व्यतीत किया।

सभी परम्पराएँ मानती हैं कि वे रामानुज सम्प्रदाय के सदस्य थे तथा उनके अनुयायी आज भी श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के साम्प्रदायिक चिह्न के विकसित रूप का प्रयोग करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि उनका सम्बन्ध श्रीसम्प्रदाय से भी था। श्रीवैष्णव विष्णु के सभी अवतारों एवं उनकी पत्नियों (शक्तियों) के देवत्व को स्वीकार करते हैं। परन्तु कृष्णावतार के अति प्रसिद्ध और पूर्ण होते हुए भी राम एवं नरसिंह अवतार का इनके बीच अधिक आदर है। इसलिए यह ध्यान देने योग्य है कि रामानन्द ने स्वतन्त्र रूप में केवल राम, सीता तथा उनके सेवकों की पूजा को ही विशेषतया अपनाया। उनके तथा उनके शिष्यों के मध्य राम नाम का प्रयोग ब्रह्म के लिए होता है। इनका गुरुमन्त्र श्रीवैष्णवमन्त्र (नारायणमन्त्र) नहीं है, अपितु 'रां रामाय नमः हैं'। तिलक भी श्रीवैष्णव नहीं है। फलतः इनके सम्प्रदाय का नामकरण करना कठिन है। रामानन्द श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत होते तो उन्हें त्रिदण्डी कहा जाता। किन्तु वे त्रिदण्डी नहीं थे, जैसे कि श्रीवैष्णव होते हैं। श्रीवैष्णवों के सदृश वे भोजन के सम्बन्ध में कठोर आचारी भी नहीं थे। पुराने समय से ही देखा जाता है कि एक ऐसा भी सम्प्रदाय था जो अपनी मुक्ति केवल 'राम' की भक्ति में मानता था एवं प्राप्त उल्लेखों के अनुसार इसे उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण का ही माना जा सकता है। यदि ऐसा मान लें कि यह रामसम्प्रदाय दक्षिण के तमिल देश का था तथा श्रीवैष्णवों से सम्बन्धित था तथा रामानन्द इससे सम्बन्धित थे, तो पहेली सुलझ जाती है। रामानन्द इसे ग्रहण कर दक्षिण से उत्तर आये होंगे तथा 'राम' में मुक्ति लाभ का आदर्श एवं राममन्त्र अपने साथ लाये होंगे। संभव है, रामानन्द 'अध्यात्मरामायण' तथा 'अगस्त्यसुतीक्ष्णसंवाद' भी अपने साथ लाये हों। यद्यपि प्रमाण पक्का नहीं है कि वे ही इन ग्रन्थों को इधर लाये थे, किन्तु इन ग्रन्थों का उनके शिष्यों द्वारा बड़ा आदर एवं प्रयोग हुआ है। तुलसीदास के रामचरितमानस के ये ही स्रोत हैं। अगस्त्यसुतीक्ष्ण-संवाद का उपयोग आज भी रामानन्दी वैष्णव करते हैं, क्योंकि यह संवाद रामानन्द की जीवनी के साथ प्रकाशित हुआ है।

रामानन्द रामानुजविरचित श्रीभाष्य पढ़ने के अभ्यासी थे, यद्यपि यह श्रीवैष्णवों के लिए रचा गया था। कारण यह है कि इसका स्पष्ट ईश्वरवाद सभी ईश्वरवादियों के अनुकूल था। रामानन्द के शिष्य एवं अनुयायी भी इसी भाष्य को आदर से पढ़ते रहे हैं, क्योंकि कोई भी रामानन्दी वेदान्त भाष्य प्रचलित नहीं हुआ।

रामानन्द के धार्मिक आन्दोलन में जाति-पाँति की छूट थी। शिष्यों को ग्रहण करने में वे जाति का विचार नहीं करते थे, जो एकदम नयी दिशा थी। उनके शिष्यों में न केवल एक-एक शूद्र, जाट एवं जातिबहिष्कृत पाये जाते हैं बल्कि एक मुसलमान तथा एक स्त्री भी उनकी शिष्य थी। उनका एक पद उनके शिष्यों में नहीं, बल्कि सिक्खों के ग्रन्थ साहब में प्राप्त होता है।

यह बहुमान्य है कि रामानन्द विशिष्टाद्वैत वेदान्तमत को मानने वाले थे। उनकी शिक्षा सगुण-निर्गुण एकेश्वरवाद का समन्वय करती थी, जो कबीर, तुलसी, नानक तथा अन्य रामानन्द के अनुयायी सन्तों में देखने में आती है। भारत में रामानन्दी साधुओं की संख्या सर्वाधिक है।

रामानन्ददिग्विजय—यह स्वामी रामानन्द के जीवनवृत्तान्त पर प्रकाश डालने वाला एक काव्य ग्रन्थ है।

रामानन्द सरस्वती—वेदान्तसूत्र पर 'ब्रह्मामृतवर्षिणी' टीका के लेखक (१६वीं शताब्दी के अन्त में)। इन्होंने योगसूत्र पर 'मणिप्रभा' नामक प्रसिद्ध वृत्ति रची है। इनका एक और ग्रन्थ 'विवरणोपन्यास' है जो पद्मपादाचार्य कृत 'पञ्चपादिका' पर प्रकाशात्मयति के लिखे हुए विवरण नामक ग्रन्थ पर एक निबन्ध है। ये रत्नप्रभाकार गोविन्दानन्द स्वामी के शिष्य थे। अपने गुरु की भाँति ये भी रामभक्त थे। इनका स्थिति काल १७वीं शताब्दी था।

रामानुज—आचार्य रामानुज का जन्म १०७४ वि० में दक्षिण भारत के भूतपुरी (वर्तमान पेरेम्बुपुरम्) नामक स्थान में हुआ था। ये काञ्ची नगरी में यादवप्रकाश के पास वेदान्त का अध्ययन करने गये। इनको वेदान्त का

ज्ञान थोड़े समय में ही इतना बढ़ गया कि कभी-कभी इनके तर्कों का उत्तर देना यादवप्रकाश के लिए कठिन हो जाता था। इनकी विद्या की ख्याति धीरे-धीरे बढ़ने लगी। यामुनाचार्य इन्हीं दिनों गुप्त रूप से आकर इन्हें देख गये और इनकी प्रतिभा से बड़े प्रसन्न हुए। यामुनाचार्य की तीन इच्छाएँ जीवन में अपूर्ण रह गयी थीं जिन्हें वे अपनी मृत्यु के पहले रामानुज को बताना चाहते थे, किन्तु इनके पहुँचने के पूर्व ही वे दिवंगत हो गये थे। उनकी तीन उँगलियाँ मुड़ी रह गयी थीं। लोगों ने इसका कारण वे तीनों प्रतिज्ञाएँ बतायीं, जो इस प्रकार थीं—(१) ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखना, (२) दिल्ली के तत्कालीन सुलतान के यहाँ से श्रीराममूर्त्ति का उद्धार करना तथा (३) दिग्विजयपूर्वक विशिष्टाद्वैत मत का प्रचार करना। रामानुज ने ज्यों ही इन्हें पूरा करने का वचन दिया त्यों ही उनकी उँगलियाँ सीधी हो गयीं। यामुनाचार्य का अन्तिम संस्कार कर वे सीधे काञ्ची चले आये। यहाँ महापूर्ण स्वामी से व्यासकृत वेदान्तसूत्रों के अर्थ के साथ तीन हजार गाथाओं का उपदेश भी प्राप्त किया। वैवाहिक जीवन से ऊबकर वे संन्यासी हो गये थे।

संन्यास लेने पर रामानुज स्वामी की शिष्यमण्डली बढ़ने लगी। उनके बचपन के गुरु यादवप्रकाश ने भी उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया तथा यतिधर्मसमुच्चय नामक ग्रन्थ की रचना की। अनेक शिष्य उनके पास आकर वेदान्त का अध्ययन करते थे। उन्हीं दिनों यामुनाचार्य के पुत्र वरदरङ्ग काञ्ची आये तथा आचार्य से श्रीरङ्गम् चलकर वहाँ का अध्यक्षपद ग्रहण करने की प्रार्थना की। रामानुज उनकी प्रार्थना स्वीकार कर श्रीरङ्गम् में रहने लगे। उन्होंने यहाँ फिर गोष्ठीपूर्ण से दीक्षा ली। गोष्ठीपूर्ण ने योग्य समझ कर उन्हें मन्त्ररहस्य बता दिया और आज्ञा दी कि वे किसी को मन्त्र न दें। रामानुज को जब यह ज्ञात हुआ कि इस मन्त्र के सुनने से मनुष्य मुक्त हो सकता है तो वे मन्दिर की छत पर चढ़कर चिल्ला-चिल्लाकर सैकड़ों नर-नारियों के सामने मन्त्र का उच्चारण करने लगे। गुरु ने इससे क्रुद्ध हो उन्हें नरक जाने का शाप दिया। इस पर रामानुज ने कहा कि गुरुदेव, यदि मेरे नरक जाने से हजारों नर-नारियों की मुक्ति हो जाय तो मुझे वह नरक स्वीकार है। रामानुज की इस उदारता से प्रसन्न हो गुरु ने कहा—'आज से विशिष्टाद्वैत मत तुम्हारे ही नाम पर 'रामानुज दर्शन' के नाम से विख्यात होगा। मैसूर के राजा विट्टिदेव की सहायता से रामानुज ने श्रीवैष्णव मत का प्रचार करने के लिए ७४ शिष्य नियत किये। इस प्रकार सारा जीवन भजन-साधन तथा धर्म-प्रचार में व्यतीत कर आचार्य ने ११९४ वि० में दिव्यधाम को प्रस्थान किया।

यतिराज रामानुज ने अपने मत की पुष्टि के लिए 'श्रीभाष्य' के अतिरिक्त वेदान्तसंग्रह, वेदान्तदीप, वेदान्तसार, वेदान्ततत्त्वसार, गीताभाष्य, गद्यत्रय, भगवदाराधनक्रम की भी रचना की। इसके अतिरिक्त अष्टादशरहस्य, कण्टकोद्धार, कूटसन्दोह, ईशावास्योपनिषद्भाष्य, गुणरत्नकोश, चक्रोल्लास, दिव्यंसूरिप्रभावदीपिका, देवतास्वारस्य, न्यायरत्नमाला, नारायणमन्त्रार्थ, नित्यपद्धति, नित्याराधनविधि, न्यायपरिशुद्धि, न्यायसिद्धान्ताञ्जन, पञ्चपटल, पञ्चरात्ररक्षा, प्रश्नोपनिषद् व्याख्या, मणिदर्पण, मतिमानुष, मुण्डकोपनिषद् व्याख्या, योगसूत्रभाष्य, रत्नप्रदीप, रामपटल, रामपद्धति, रामपूजापद्धति, राममन्त्रपद्धति, रामरहस्य, रामायणव्याख्या, रामार्चापद्धति, वार्तामाला, विशिष्टाद्वैत भाष्य, विष्णुविग्रहशंसनस्तोत्र, विष्णुसहस्रनाम भाष्य, वेदार्थसंग्रह, वैकुण्ठगद्य, शतदूषणी, शरणागति गद्य, श्वेताश्वतरोपनिषद् व्याख्या, संकल्पसूर्योदय टीका, सच्चरित्र रक्षा, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों की भी रचना की। किन्तु यह पता नहीं लगता कि कौन सा ग्रन्थ कब लिखा गया। उन्होंने अपने ग्रन्थों में शाङ्कर मत का जोरदार खण्डन करने की चेष्टा की है।

रामानुज ने यामुनाचार्य के सिद्धान्त को और भी विस्तृत करके सामने रखा है। ये भी तीन ही मौलिक पदार्थ मानते हैं—चित् (जीव), अचित् (जड़ समूह) और ईश्वर या पुरुषोत्तम। स्थूल-सूक्ष्म, चेतन-अचेतन—विशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर है। अनन्त जीव और जगत् उसका शरीर है। वही इस शरीर का आत्मा है। ब्रह्म सगुण और सविशेष है। उसकी शक्ति माया है। ब्रह्म अशेष कल्याणकारी गुणों का आलय है। उसमें निकृष्ट कुछ भी नहीं है। सर्वेश्वरत्व, सर्वशेषित्व, सर्वकर्माराध्यत्व, सर्वफलप्रदत्व, सर्वाधारत्व, सर्वकार्योत्पादकत्व, समस्त द्रव्यशरीरत्व आदि उसके लक्षण हैं। वह सूक्ष्म चिदचिद्विशेष रूप में जगत् का उपादान कारण है, सङ्कल्पविशिष्ट रूप में निमित्त कारण है। जीव और जगत् उसका

शरीर है । वह सृष्टि-स्थिति-संहारकर्त्ता है; पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार भेद से वह पाँच प्रकार का है; शङ्ख, चक्र, गदा,पद्मधारी चतुर्भुज है; श्री, भू और लीला देवी सहित है; किरीटादि भूषणों से अलंकृत है । जगत् जड़ है और ब्रह्म का शरीर है । ब्रह्म ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण है । वह जगत् रूप में प्रकट होकर भी विकाररहित है । जगत् सत् है, मिथ्या नहीं है ।

जीव भी ब्रह्म का शरीर है । ब्रह्म और जीव दोनों चेतन हैं । ब्रह्म विभु है, जीव अणु है । ब्रह्म पूर्ण है, जीव खण्डित है । प्रत्येक शरीर में जीव भिन्न है ।

भगवान् के दासत्व की प्राप्ति ही मुक्ति है । वैकुण्ठ में श्री, भू, लीला देवियों के साथ नारायण की सेवा करना ही परम पुरुषार्थ कहा जाता है । मुक्ति विद्या अर्थात् उपासना द्वारा प्राप्त होती है । उपासनात्मक भक्ति ही मुक्ति का श्रेष्ठ साधन है । ध्यान और उपासना आदि मुक्ति के साधन हैं । सब प्रकार से भगवान् के शरण हो जाना प्रपत्ति का लक्षण है । नारायण विभु हैं, भूमा हैं, उनके चरणों में आत्मसमर्पण करने से जीव को शान्ति मिलती है । उनके प्रसन्न होने पर मुक्ति मिल सकती है । सब विषयों को त्याग कर उनकी ही शरण लेनी चाहिए ।

रामायण—संस्कृत का वाल्मीकि रामायण प्राचीन भारत के दो महाग्रन्थों में से एक है । महाभारत के वनपर्व में रामोपाख्यान का वर्णन करने के पहले कहा गया है कि 'राजन् ! पुराने इतिहास में जो कुछ घटना हुई है वह सुनो' (अध्याय २७३, श्लोक ६) । इस स्थान पर पुरातन शब्द से विदित होता है कि महाभारत काल में रामायणी कथा पुरातनी कथा हो चुकी थी । इसी तरह द्रोणपर्व में लिखा है :

> 'अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि ।'

इन बातों से स्पष्ट है कि महाभारत की घटनाओं से सैकड़ों वर्ष पहले वाल्मीकि रामायण की रचना हो चुकी होगी । वाल्मीकि के ही कथनानुसार (बालकाण्ड, सर्ग ४) उन्होंने रामायण में २४,००० श्लोक रचे जो पाँच सौ सर्गों में बँटे थे । आजकल इसके तीन प्रकार के पाठ प्रचलित हैं : औदीच्य, दाक्षिणात्य और प्राच्य (गौडीय) । इन तीनों में पाठभेद तो है ही पर किसी में न तो २४००० श्लोक हैं और न ५०० सर्ग । इसका साहित्यिक एवं धार्मिक महत्त्व सर्वाधिक है । यह पहला महाकाव्य है । इसीलिए इसे आदिकाव्य भी कहते हैं तथा इसके कवि को आदिकवि कहते हैं । इसका ही अनुकरण परवर्त्ती संस्कृत कवियों ने किया । कालिदास का रघुवंश महाकाव्य एवं भवभूति का उत्तररामचरित नाटक इसी ग्रन्थ पर आधारित हैं । आज भी लाखों भारतवासी इसका पाठ करते और सुनते हैं । मध्यकाल में स्थानीय भाषाओं में इसके रूपान्तर आरम्भ हुए । सबसे महत्त्वपूर्ण 'रामचरितमानस' तुलसीदासकृत हिन्दी में बना जो उत्तर भारत के निवासियों के लिए परम पवित्र ग्रन्थ है । रामलीला आज देश के कोने-कोने में प्रचलित है, जिसके द्वारा रामचरित्र के विशिष्ट रूप जनता के सामने रखे जाते हैं ।

भारतीय जनजीवन तथा विचारों पर जितना प्रभाव इस ग्रन्थ का है उतना शायद ही किसी ग्रन्थ का प्रभाव पड़ा हो । राम के आदर्श चरित्र का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि राम की पूजा विष्णु के अवतार के रूप में हुई, जिसके मुख्य प्रचारक १२वीं शताब्दी के रामानुज तथा १४वीं शताब्दी के रामानन्द थे ।

७०० वि० पूर्व से लेकर १३० वि० पू० तक के बीच विभिन्न विद्वानों ने रामायण का रचना काल माना है । ऊपर इसकी महाभारत की अपेक्षा प्राचीनता कही गयी है । सभी विद्वानों के प्रमाणों पर भली भाँति विचार करने से रामायण को प्रायः चौथी शताब्दी वि० पू० के मध्य वर्तमान रूप में प्रस्तुत हुआ माना जा सकता है । किन्तु इसमें दूसरी शती वि० तक कुछ परिवर्तन तथा परिवर्द्धन होता रहा ।

रामायणव्याख्या—यह रामानुज रचित एक ग्रन्थ है ।

रामार्चापद्धति—यह वैष्णवाचार्य रामानुज रचित एक ग्रन्थ है ।

रामावत सम्प्रदाय—स्वामी रामानन्द ने रामावत सम्प्रदाय की स्थापना की । ये रामानुज स्वामी की श्रीवैष्णव-परम्परा में हुए थे । परन्तु इन्होंने मध्ययुग की नयी परिस्थिति में अपने सम्प्रदाय को उदार बनाया । इन्होंने धर्म में जाति-पाँति का बन्धन ढीला किया और इसका द्वार सभी के लिए खोल दिया । रामावत सम्प्रदाय में सवर्ण, वर्णेतर, स्त्री, मुसलमान आदि सभी दीक्षित थे । इस सम्प्रदाय का मन्त्र था 'रां रामाय नमः ।'

रामावतार—विष्णु के अवतारों के क्रम में रामावतार सप्तम माना जाता है । भगवान् का यह अवतार चिर काल से

चली आ रही अव्यवस्था को व्यवस्था में परिणत करने के लिए हुआ था। परशुरामावतार के समय क्षात्र और ब्राह्म शक्तियों का सामञ्जस्य समाप्त हो गया था। अतः धार्मिक व्यवस्था सुदृढ नहीं रह गयी थी। ब्राह्मण वंश में भी रावण जैसे अत्याचारी निशाचरों का जन्म होने लगा था। अतएव त्रेता युग के समय भगवत्शक्ति के अवतार की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह अवतार क्षत्रिय वर्ण में इसलिए हुआ कि उस समय क्षत्रिय कुल के लिए परम आदर्श मानवचरित्र निर्माण की आवश्यकता थी, जिससे कि चरित्र निर्माण के साथ ही राक्षसावस्था को सम्प्राप्त ब्राह्मणशक्ति को नष्ट कर, क्षात्रशक्ति के साथ ब्रह्मशक्ति का धर्मानुकूल सामञ्जस्य किया जा सके। इसीलिए भगवान् रामरूप में क्षत्रियवंश में अवतरित हुए। इसी प्रकार भगवान् की शक्ति महामाया ने भी आदर्श पातिव्रत की रक्षा के लिए एवं सतीत्वधर्म संरक्षणार्थ सीता के रूप में अवतार ग्रहण किया था। विस्तृत चरित्र के लिए दे० 'रामायण'।

रामेश्वर—(१) एक शैवाचार्य (१७५० ई०)। इन्होंने 'शिवायन' नामक ग्रन्थ रचा हैं।

(२) रामेश्वर (म्) प्रसिद्ध शैव तीर्थस्थान, जो दक्षिण समुद्र के सेतुबन्ध पर स्थित है। कहते हैं, इनकी स्थापना भगवान् राम ने की।

रामेश्वरम्—रामसेतु नामक रेतीले टीले का सिलसिला रामेश्वरम् द्वीप से लेकर मन्नार की खाड़ी से होता हुआ श्रीलङ्का के तट तक चला गया है। इसकी लम्बाई ३० मील है। कहा जाता है कि रामायण के नायक श्री राम ने जब बन्दर तथा भालुओं की सेना के साथ लङ्का के राजा रावण पर आक्रमण करना चाहा तो समुद्र पार करना सेना के लिए कठिन जान पड़ा। राम ने यहाँ पर एक पुल बनवाया जो आज भी भग्नावस्था में पड़ा है। भारतीय तट से लेकर श्रीलङ्का के तट तक समुद्र का उथला होना और वह भी एक सीध में, इस विश्वास को पुष्ट करता है। यह भारतवर्ष का अन्तिम दक्षिणी छोर है जो समुद्र को स्पर्श करता है। इसी परम्परा के अनुसार रामचन्द्रजी ने इस स्थान पर शंकरजी की मूर्ति-स्थापना की थी। रामकथा से सम्बन्धित होने से रामेश्वरम् हिन्दुओं का प्रमुख तीर्थ स्थान हो गया है तथा देश के कोने-कोने से तीर्थयात्री यहाँ आते हैं। यहाँ का विशाल रामेश्वरम् मन्दिर द्राविड़ शैली के मन्दिरों में अग्रगण्य है।

रामोपासक सम्प्रदाय—श्रीसम्प्रदाय के आचार्य रामानन्द स्वामी ने वैष्णव धर्म के संरक्षण के लिए अपूर्व प्रयत्न किया। इन्होंने रामोपासक सम्प्रदाय की स्थापना की जिसके सबसे बड़े प्रचारक तुलसीदास हुए।

राम्य जामाता मुनि—राम्य जामाता मुनि (१३७०-१४४३) को मतवाल मुनि भी कहते हैं। श्रीरङ्गम् की (श्रीवैष्णव) शाखा के अध्यक्ष वेदान्तदेशिक के विरोध में इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत दो और शाखाएँ आरम्भ हुईं जो क्रमशः उत्तरी तथा दक्षिणी शाखाएँ कहलाती हैं। इनमें से दक्षिणी शाखा या 'तेळङ्गइ' के नेता थे राम्य जामाता मुनि। ये वेदान्तदेशिक के पश्चात् श्रीरङ्गम् में शिक्षक थे। इनके भाष्य तथा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ पर्याप्त प्रयोग में आते हैं। इन उत्तरी तथा दक्षिणी शाखाओं के नेताओं के समय से श्रीवैष्णव सम्प्रदाय की शाखाओं का अन्तर बढ़ता गया। इनके ग्रन्थ हैं 'तत्त्वनिरूपण' तथा 'उपदेशरत्नमाला'।

रासलीला—कृष्णभक्ति में आनन्द की उत्कट अभिव्यक्ति के लिए कृष्ण के बालचरितों का अनुकरण करना रासलीला है। इसमें मण्डलनृत्य किया जाता है। महाप्रभु चैतन्य के रूप तथा सनातन आदि छः अनुयायी वृन्दावन में निवास करते थे। अनेक ग्रन्थों की रचना के साथ ही साथ इन भक्तों ने रासलीला का वार्षिक उत्सव भी प्रारम्भ किया। इसमें कृष्ण के साथ गोपियों के नृत्य का प्रदर्शन ही मुख्य होता है। बीच में कृष्ण तथा उनके चारों ओर मण्डलाकार गोपियों का समूह मिलकर एक मण्डल का निर्माण करता है। भगवान् के सायुज्य में नृत्य द्वारा रस (प्रेम) का परिपाक करना इसका मुख्य उद्देश्य है। भागवतपुराण (रासपञ्चाध्यायी) में भगवान् कृष्ण के रास का रहस्यमय वर्णन है।

राहु—राहु का (जो सूर्य को ढक लेता है) प्रसंग अथर्ववेद के एक सूक्त (१९.९.१०) में आता है। पाठ अनिश्चित है, किन्तु अर्थ राहु (अन्धकार) ही है। परवर्ती ज्योतिष में राहु सौरमण्डल के नवग्रहों में से एक है। यह दुष्ट ग्रह माना जाता है।

रुक्मिणी—विदर्भ देश के राजा भीष्मक की पुत्री, जिसने शिशुपाल के बदले द्वारकानाथ कृष्ण का स्वयंवरण किया और उनकी पटरानी हुई। पण्ढरपुर (महाराष्ट्र) के विट्ठलमन्दिर में विट्ठल (विष्णु) की रानियों अथवा पत्नियों की मूर्तियाँ उनके पास ही स्थापित हुई हैं। इनमें

से रुक्माबाई (रुक्मिणी) भी एक हैं। लक्ष्मी के रूप में इनकी पूजा होती है।

रुक्मिण्यष्टमी—मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष की अष्टमी। प्रथम वर्ष व्रतकर्ता (महिला) एक द्वार वाला मिट्टी का मकान बनवाये, जिसमें गृहस्थोपयोगी सभी वस्तुएँ—धान, घी आदि रखकर कृष्ण-रुक्मिणी, बलराम-रेवती, प्रद्युम्न-रति, अनिरुद्ध-उषा तथा वसुदेव-देवकी की प्रतिमाएँ बनवायी जायँ। सूर्योदय के समय इन प्रतिमाओं का पूजन कर सायं चन्द्रमा को अर्घ्य देना चाहिए। दूसरे दिन किसी कन्या को वह घर दान कर देना चाहिए। द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्ष उसी घर में और कोष्ठ, प्रकोष्ठ बनवाकर जोड़ देने चाहिए तथा बाद में उन्हें भी कन्याओं को दान कर देना चाहिए। पञ्चम वर्ष पाँच द्वारों वाला तथा षष्ठ वर्ष छः द्वारों वाला मकान बनवाकर कन्या को दान कर देना चाहिए। सप्तम वर्ष सप्त द्वारों वाला मकान बनवाकर, चूने से पुतवाकर, उसमें एक पलङ्ग बिछाकर उस पर वस्त्र भी बिछाना चाहिए। एक जोड़ा खड़ाऊँ, दर्पण, ओखली (उलूखल), मूसल, रसोई के पात्र भी रखने चाहिए। तदनन्तर कृष्ण-रुक्मिणी तथा प्रद्युम्न का उपवास एवं जागरण करते हुए पूजन करना चाहिए। द्वितीय दिवस यह अन्तिम मकान किसी सपत्नीक ब्राह्मण को दान कर देना चाहिए। इसके साथ एक गौ भी देनी चाहिए। इस व्रत के आचरण के उपरान्त व्रती शोकरहित रहेगा तथा स्त्री व्रती को पुत्राभाव का शोक नहीं सहना पड़ेगा।

रुद्र—वैदिक काल में रुद्र साधारण देवता थे। उनकी स्तुति के केवल तीन सूक्त पाये जाते हैं। रुद्र की व्युत्पत्ति रुद् धातु से है जिसका अर्थ 'हल्ला करना' अथवा 'चिल्लाना' है। 'रुद्' का अर्थ लाल होना अथवा चमकना भी होता है। रुद्र प्रकृति की उस शक्ति के देवता हैं जिसका प्रतिनिधित्व झंझावात और उसका प्रचण्ड गर्जन-तर्जन करता है। रुद्र का एक अर्थ भयंकर भी होता है। परन्तु रुद्र की चिल्लाहट और भयंकरता के साथ उनका प्रशान्त और सौम्य रूप भी वेदों में वर्णित है। वे केवल ध्वंस और विनाश के ही देवता नहीं, स्वास्थ्य और कल्याण के भी देवता हैं। अतः रुद्र की कल्पना में शिव के तत्त्व निहित थे, इसलिए रुद्र को बहुत शीघ्र महत्त्व मिल गया और उनकी गणना त्रिदेवों (त्रिमूर्ति) में शिव अथवा महेश के रूप में होने लगी।

रुद्र रुद्रों (बहुवचन), रुद्रियों तथा मरुतों के पिता हैं। रुद्र तथा मरुतों में पारिवारिक समानता है, क्योंकि पिता और पुत्रगण दोनों सोने के आभूषण धारण करते हैं, धनुष-बाण इनके आयुध हैं, रोग दूर करने में ये समर्थ हैं। रुद्र का वर्णन कभी-कभी इन्द्र के साथ भी हुआ है, किन्तु दोनों में अन्तर है। रुद्र को केवल एक बार वज्रबाहु कहा गया है, जबकि इन्द्र सदा वज्रबाहु हैं। बिजली की कौंध और चमक, बादल का गर्जन एवं इसके पश्चात् जलवर्षण इन्द्र का कार्य है। परन्तु जब वज्रपात से मनुष्य अथवा पशु मरता है तो यह रुद्र का कार्य समझना चाहिए। इन्द्र का वज्र सदा उपकारी है, रुद्र का आयुध विध्वंसक है। परन्तु रुद्र के भयंकर विध्वंस के पश्चात् गंभीर शान्ति का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। इसलिए उनका विध्वंसक रूप होते हुए भी उनके कल्याणकारी रूप (शिव) की प्रार्थना की जाती है। अन्य देवों द्वारा किये गये अपकार को दूर करने के लिए भी उनसे प्रार्थना की गयी है।

पुराणों में रुद्र के शिवरूप की महत्ता अधिक बढ़ी, यद्यपि उनका विध्वंसक रूप शिव के अन्तर्गत समाविष्ट रहा। एकादश रुद्रों और उनके गणों की विशाल कल्पना पुराणों में पायी जाती है।

रुद्र पशुपति—अथर्वशिरस् पाशुपत उपनिषद् है। यह महाभारत के पाशुपत प्रसंगों की समसामयिक है। इसके अनुसार रुद्र-पशुपति सभी वस्तुओं के परम तत्त्व अर्थात् स्रोत तथा अन्तिम लक्ष्य भी हैं। पति, पशु एवं पाश का भी इसमें उल्लेख हुआ है। 'ओम्' के आधार पर योगाभ्यास करने का आदेश है। शरीर पर भस्म लगाना पाशुपत नियम या व्रत का पालन बताया गया है।

रुद्रप्रयाग—उत्तराखण्ड का एक पावन तीर्थ। यहाँ अलकनन्दा और मन्दाकिनी का संगम है। यहाँ से केदारनाथ तथा बदरीनाथ के मार्ग पृथक् होते हैं। केदारनाथ को पैदल मार्ग जाता है और बदरीनाथ को मोटर-सड़क जाती है। देवर्षि नारद ने संगीत विद्या की प्राप्ति के लिए यहाँ शङ्करजी की आराधना की थी। हृषीकेश से रुद्रप्रयाग ८४ मील है।

रुद्रमाहात्म्य—चारों वेदों में रुद्र की स्तुतियाँ हैं। वाजसनेयी संहिता के शतरुद्रिय में शिव, गिरीश, पशुपति, नीलग्रीव, शितिकण्ठ, भव, शर्व, महादेव इत्यादि नाम वर्तमान हैं। अथर्वसंहिता में महादेव, पशुपति आदि नाम आये हैं। मार्कण्डेय पुराण और विष्णु पुराण में जिस प्रकार रुद्रदेव की उत्पत्ति वर्णित है उसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण और शाङ्खायन ब्राह्मण में भी वर्णित है।

रुद्रयामल तन्त्र—यामल तन्त्रों की व्याख्या हो चुकी है। यामलों में 'रुद्रयामल' भी एक है।

रुद्रव्रत—(१) ज्येष्ठ मास के दोनों पक्षों की अष्टमी तथा चतुर्दशी को इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है। इन चारों दिन व्रत रखने वाले को पञ्चाग्नि तप करना चाहिए। चौथे दिन सायं काल के सयय सुवर्ण की गौ दान में देनी चाहिए। इस व्रत के रुद्र देवता हैं।

(२) वर्ष भर एकभक्त पद्धति से आहार करके अन्त में सुवर्ण के वृषभ तथा तिलधेनु का दान करना चाहिए। यह संवत्सरव्रत है। शङ्कर भगवान् इसके देवता हैं। इसके आचरण से पाप तथा शोक दूर होते हैं तथा व्रती शिवलोक प्राप्त कर लेता है।

(३) कार्तिक शुक्ल तृतीया से इस व्रत का आरम्भ होता है। एक वर्ष तक इसमें नक्त विधि से गोमूत्र तथा यावक का आहार करना चाहिए। यह संवत्सरव्रत है। गौरी तथा रुद्र इसके देवता हैं। वर्षान्त में गौ का दान करना चाहिए। इस व्रत से व्रती एक कल्प तक गौरीलोक में निवास करता है।

रुद्रलक्षव्रत—इस व्रत के अनुसार एक लाख दीपकों के, जिनमें गौ के घी में डुबायी हुई रुई की उतनी ही बत्तियाँ पड़ी हों, शिवप्रतिमा के सम्मुख समर्पण करने का विधान है। दीपकों के समर्पण से पूर्व ही शिव का षोडशोपचार पूजन कर लेना चाहिए। व्रत का आरम्भ कार्तिक, माघ, वैशाख या श्रावण मासों में से किसी में भी करना चाहिए तथा उसी मास में उसकी समाप्ति भी होनी चाहिए। इस व्रत से व्रती सम्पत्ति, पुत्रादि के अतिरिक्त उन समस्त सिद्धियों को प्राप्त करता है जिनकी वह कामना करता है।

रुद्रसम्प्रदाय—शङ्कराचार्य के पश्चात् वैष्णव धर्म के चार प्रधान सम्प्रदाय समुन्नत हुए—श्रीसम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्रसम्प्रदाय और सनकसम्प्रदाय। इन चारों का आधार श्रुति है और दर्शन वेदान्त है।

रुद्रदेव ने बालखिल्य ऋषियों को जो उपदेश किया था, वही उपदेश शिष्यपरम्परा से चलता हुआ विष्णुस्वामी को प्राप्त हुआ। अतएव इधर सर्वप्रथम वेदान्तभाष्यकार विष्णुस्वामी ने ही शुद्धाद्वैतवाद का प्रचलन किया। कहते हैं कि उनके शिष्य का नाम ज्ञानदेव था। ज्ञानदेव के शिष्य नाथदेव और त्रिलोचन थे। इन्हीं की परम्परा में वल्लभाचार्य का आविर्भाव हुआ। कहते हैं कि दक्षिण भारत में विष्णुस्वामी पाण्डयविजय राज्य के राजगुरु देवेश्वर के पुत्र रूप में प्रकट हुए थे। इनके पूर्वाश्रम का नाम देवतनु था। इन्होंने वेदान्तसूत्रों पर 'सर्वज्ञसूक्त' नामक भाष्य लिखा था। कहते हैं कि इनके बाद दो विष्णुस्वामी और हुए, इसी से इन्हें 'आदि विष्णुस्वामी' कहते हैं।

रुद्रसंहिता—शिवमहापुराण के सात खण्ड हैं। इसका दूसरा खण्ड रुद्रसंहिता है। रुद्रसंहिता में सृष्टिखण्ड, सतीखण्ड, पार्वतीखण्ड, कुमारखण्ड, युद्धखण्ड नामक पाँच खण्ड हैं।

रुद्राक्ष—लिङ्गायतों में बच्चे के जन्म के साथ ही उसका अष्टवर्ग संस्कार होता है। इसमें 'रुद्राक्ष धारण' भी है। ये संस्कार आठों पापों से रक्षा पाने के लिए कवच का कार्य करते हैं। रुद्राक्ष का पवित्र वृक्ष हिमालय के नेपाल प्रदेश में होता है। उसके फल की गुठली ही रुद्राक्ष है, जिसमें अगल-बगल कुछ रेखा या खाँचे बने रहते हैं। उन्हें मुख कहा जाता है। साधारणतः पंचमुखी रुद्राक्ष पहनने या माला बनाने में प्रयुक्त होते हैं। एकादश मुखी रुद्राक्ष शंकरस्वरूप होते हैं। एकमुखी रुद्राक्ष ऋद्धि-सिद्धिदाता शिवस्वरूप होता है, अत्यन्त भाग्यशाली व्यक्ति को ही यह सुलभ है। नेपाल के पशुपतिनाथमन्दिर में एकमुखी रुद्राक्ष और दक्षिणावर्त शंख के दर्शन कराये जाते हैं।

रुरु—यजुर्वेद में यह अश्वमेध के बलिपशु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो एक प्रकार का हरिण है। ऋग्वेद में रुरुशीर्षा बाणों का उल्लेख है, जिसका अर्थ है हरिण के सींग की नोक वाले बाण।

रूप गोस्वामी—चैतन्य महाप्रभु के एक शिष्य। ये पहले बंगाल

मुसलमान सूबेदार के यहाँ कार्य करते थे। इन्होंने चैतन्यदेव के देवोपम चरित्र और पवित्र धर्ममत से मुग्ध होकर संसार का त्याग कर महाप्रभु का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। क्रमशः ये उस सम्प्रदाय के आश्रय और भूषण स्वरूप हो गये। पहले से ही ये प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने चैतन्य के तिरोभाव से प्रायः आठ वर्ष पूर्व 'विदग्धमाधव' नाटक की रचना की, जिसकी महाप्रभु ने वड़ी प्रशंसा की। इसके अतिरिक्त इन्होंने ललितमाधव, उज्ज्वलनीलमणि, दानकेलिकौमुदी, बन्धुस्तवावली, अष्टादश लीलाकाण्ड, पद्यावली, गोविन्दविरुदावली, मथुरामाहात्म्य, नाटकलक्षण, लघुभागवतामृत, भक्तिरसामृतसिन्धु, व्रजविलासवर्णन और कड़चा नामक ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों से इनकी विद्वत्ता का परिचय मिलता है। उज्ज्वलनीलमणि अलंकारशास्त्र का प्रामाणिक और प्रसिद्ध ग्रन्थ है। भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति की व्याख्या तथा वैष्णव मत की साधना का विचार किया गया है। इनके भतीजे जीव गोस्वामी ने इसकी टीका लिखी है। रूप गोस्वामी का 'रिपुदमन विषयक रागमय कोण' नामक बँगला ग्रन्थ भी मिलता है। रूप और सनातन ने जिस मत का बीजारोपण किया उसे जीव ने विकसित किया और बलदेव विद्याभूषण ने उसे पूर्णता प्रदान की।

रूपनवमी—मार्गशीर्ष शुक्ल की नवमी को इस व्रत का प्रारम्भ होता है। इसकी चाण्डिका देवता है। व्रती को नवमी के दिन उपवास या नक्त या एकभक्त पद्धति से आहार करना चाहिए। आटे का त्रिशूल तथा चाँदी का कमल बनाकर उसे सर्व पापनाशिनी दुर्गाजी को समर्पित कर देना चाहिए। पौष तथा उसके पश्चात् वाले मासों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कृत्रिम पशु बनाकर उन्हें भिन्न-भिन्न धातुपात्रों में रखना चाहिए। तदनन्तर वे देवी को भेंट कर दिये जाँय। इस व्रत के आचरण से व्रती असंख्य वर्षों तक चन्द्रलोक में वास करने के बाद सुन्दर राजा बनता है। रूप का तात्पर्य है शिल्पियों या कलाकारों द्वारा बनायी गयी कोई वस्तु अथवा आकृति, जो किसी पशु से समता रखती हो। जिन देवताओं का ऊपर उल्लेख आया है वे या तो दुर्गाजी हों या मातृदेवता।

रूपसंक्रान्ति—संक्रान्ति के दिन व्रती को तैल मर्दन के साथ स्नान करना चाहिए। उसके अनन्तर पात्र में घी तथा कुछ सुवर्ण रखकर किसी ब्राह्मण को दे देना चाहिए। उस दिन एकभक्त पद्धति से आहार करना चाहिए। यह संक्रान्तिव्रत है। इस व्रत का परिणाम सौ अश्वमेध यज्ञों के समान होता है तथा सौन्दर्य, दीर्घायु, सुस्वास्थ्य, समृद्धि तथा स्वर्ग तो प्राप्त होता ही है।

रूपसत्र—फाल्गुनी पूर्णिमा के उपरान्त जब चैत्र कृष्ण अष्टमी मूल नक्षत्रयुक्त हो, उस समय इस व्रत का आयोजन करना चाहिए। इसमें नक्षत्रों, नक्षत्रपतियों, वरुण, चन्द्र तथा विष्णु का पूजन विहित है। इन सब देवताओं के लिए होम करना चाहिए तथा अपने गुरु का सम्मान करना चाहिए। दूसरे दिन उपवास का विधान है। भगवान् केशव के भिन्न-भिन्न शरीरावयवों में चरणों से प्रारम्भ कर मस्तक तक भिन्न-भिन्न नक्षत्रों को आरोपित करते हुए उनकी पूजा करनी चाहिए। चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को इस व्रत का सत्रावसान होता है। व्रत के अन्त में भगवान् विष्णु की पूजा पुष्प-धूपादि से करनी चाहिए। गुरु को इस अवसर पर दान-दक्षिणा देनी चाहिए तथा ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए। इस व्रत से व्रती स्वर्ग लोक जाता है तथा बाद में जन्म लेने के पश्चात् राजा बनता है। चैत्र शुक्ल अष्टमी के इसी व्रत के लिए देखिए बृ० सं० (१०४. ६-१३), जिसमें उपवास तथा नारायण एवं नक्षत्रों की पूजा का उल्लेख है।

रूपावाप्ति—(१) पाँच तिथियों को दस विश्वेदेवों की पूजा करने से स्वर्गोपलब्धि होती है।

(२) यह मास का व्रत है। फाल्गुन पूर्णिमा के पश्चात् चैत्र की प्रतिपदा से चैत्र की पूर्णिमा तक इसका अनुष्ठान करना चाहिए। इसमें शेषशायी भगवान् की प्रतिमा के पूजन का विधान है। इस अवसर पर एकभक्त पद्धति से आहार करना चाहिए। पृथ्वी पर शयन करना चाहिए, किसी पालने या झूले पर नहीं। तीन दिन उपवास रखते हुए चैत्र की पूर्णिमा को पूजन के उपरान्त एक जोड़ा वस्त्र तथा चाँदी का दान करना चाहिए। इससे रूप अर्थात् सौन्दर्य की उपलब्धि होती है।

रेणुकातीर्थ—(१) हिमाचल प्रदेश का पर्वतीय तीर्थ। शिमला से नाहन और दहादू जाकर गिरिनदी को पार करके पैदल रेणुकातीर्थ जाने का मार्ग है। दहादू से रेणुकातीर्थ दो फर्लांग के लगभग है। यहाँ रेणुका झील और परशुरामताल है। परशुरामजी तथा उनकी माता

रणुकाजी का मन्दिर है। एक धर्मशाला है, जो अरक्षित है। कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा पर मेला लगता है। रेणुका झील के पास यमदग्निपर्वत है।

(२) आगरा-मथुरा के मध्य् यमुनातीर पर स्थित वर्तमान 'रुनकता' स्थान रेणुकाक्षेत्र कहा जाता है।

रेवणनाथ—नाथ सम्प्रदाय के नव नाथों में से छठे रेवणनाथ थे।

रेवणाराध्य—वीरशैव मत सृष्टि के आरम्भकाल से प्रचलित माना जाता है। प्रत्येक युग में इसके जो आचार्य हुए हैं उनके नाम 'सुप्रबोधागम' आदि ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। कलियुग के आरम्भ में भी पाँच शैवाचार्य हुए हैं। उनमें पहला नाम रेवणाराध्य का है। सम्भवतः ये ही बलेहल्ली मठ के प्रथम आचार्य थे।

रेवा—नर्मदा नदी का एक नाम, जो केवल एक बार उत्तर वैदिक साहित्य में व्यवहृत हुआ है। यह शतपथ ब्रा० (१२.८,१,१७) में प्राप्त है तथा निश्चित रूप से एक मनुष्य का नाम है जो रेवा (नर्मदा) के उस पार रहता था। पाणिनि (४.२.८७) के एक वार्तिक में 'महिष्मत्' शब्द की व्युत्पत्ति 'महिष' शब्द से की गयी है। महिष्मत् स्पष्टतः नर्मदातट पर स्थित माहिष्मती नगरी थी। रघुवंश (६.४३) में अनूप देश की राजधानी माहिष्मती रेवा पर स्थित बतलायी गयी है। स्कन्दपुराण का एक भाग रेवाखण्ड कहलाता है, जो रेवा (नर्मदा) की उत्पत्ति और उसके किनारे स्थित तीर्थों का विस्तृत वर्णन करता है। दे० 'नर्मदा'।

रेवासागरसंगम—दक्षिण गुजरात का समुद्रतटवर्ती एक तीर्थ। यह विमलेश्वर से १३ मील दूर है। रेवा-(नर्मदा) सागरसंगम तीर्थ पर प्रकाशस्तम्भ (लाइटहाउस) और उसके पास 'हरि का धाम' नाम का स्थान है। नर्मदा (रेवा) के सागर से मिलने के कारण ही इसका महत्त्व है।

रैदास—सोलहवीं शताब्दी वि० के पूर्वार्ध में इनका प्रादुर्भाव हुआ था। ये कबीर के समकालीन तथा स्वामी रामानन्द के मुख्य शिष्यों में से थे। जाति के ये चमार थे। मीराबाई ने इनका दर्शन किया और अपना गुरु बनाया था। अपने पदों में मीराबाई ने दो-तीन बार इनका उल्लेख किया है। रैदास के भी रचे कुछ पद हैं। इनके अनुयायी रैदासी या रविदासी कहलाते हैं। इस सम्प्रदाय की परम्परा १५७० ई० के लगभग इन्हीं से आरम्भ हुई।

रोगहविधि—रविवार के दिन पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र हो तो सूर्य का पूजन करना चाहिए। इसमें व्रती समस्त रोगों से मुक्त होकर सूर्यलोक प्राप्त करता है। अर्क के फूलों से सूर्य की पूजा करनी चाहिए। इस दिन पायस तथा अर्क के फूलों का भोजन विहित है। रात्रि को भूमि पर शयन करना चाहिए। इससे व्रती समस्त रोगों से मुक्त होकर सूर्यलोक प्राप्त करता है।

रोच—यह कतिपय व्रतों का नाम है। यथा मासोपवास, ब्राह्म रोच, काल रोच आदि। चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को प्रारम्भ करके एक मास या एक वर्ष तक व्रत का आयोजन करना चाहिए। विष्णुधर्म० (३.२२२-२२३) इनका वर्णन करता है। अध्याय २२४ में स्त्रियों के अनिश्चित चरित्र का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार समस्त अधर्म तथा बुराई की जड़ स्त्रियाँ हैं। किन्तु साथ ही वे धर्म, अर्थ तथा काम की साधक हैं। रत्न के समान उनकी रक्षा करनी चाहिए (श्लोक २५-२६)।

रोटक—श्रावण शुक्ल के प्रथम सोमवार को इस व्रत का आरम्भ होता है। यह व्रत साढ़े तीन महीनों तक चलना चाहिए। कार्तिक मास की चतुर्दशी को उपवास रखते हुए बिल्वपत्रों से शिव-पूजन करना चाहिए। इस अवसर पर पाँच रोट (लोहे अथवा मिट्टी के तवे पर सेंके गये गेहूँ के पाँच रोट) तैयार करने चाहिए, एक नैवेद्य के लिए, दो ब्राह्मणों के लिए, एक प्रसाद वितरणार्थ तथा एक व्रती के लिए। इस व्रत में शिवजी का पूजन विहित है। पाँच वर्षपर्यन्त इसका अनुष्ठान होना चाहिए। व्रत के अन्त में दो सुवर्ण या रजत के रोटों का दान करना चाहिए। इसका नाम बिल्वरोटक व्रत भी है।

रोमहर्षण—महर्षि वेदव्यास के एक सूतजातीय रोमहर्षण नामक शिष्य विख्यात हुए, जिन्हें 'लोमहर्षण' भी कहते हैं। महामुनि ने पुराणसंहिता प्रथमतः इन्ही को पढ़ायी। रोमहर्षण के छः शिष्य हुए, उनके नाम सुमति, अग्निवर्चा, मित्रयु, शांसपायन, अकृतव्रण और सावर्णि थे। इनमें से कश्यपवंशीय अकृतव्रण, सावर्णि और शांसपायन ने रोमहर्षण से पढ़कर मूलसंहिता के आधार पर एक-एक पुराणसंहिता की रचना की। इन्हीं चार संहिताओं का सार संग्रह करके अन्य पुराणसंहिताएँ रची गयी।

रोहिणी—चतुर्व्यूह सिद्धान्त में चार देवता आते हैं। उनमें वासुदेव (कृष्ण) के बाद संकर्षण का स्थान है। ये वासुदेव के बड़े भाई थे। संकर्षण का अर्थ है 'अच्छी प्रकार से खींचा गया', क्योंकि ये अपनी माँ के गर्भ से खींच लिये गये थे तथा रोहिणी के गर्भ में रखे गये थे। रोहिणी से ही अन्त में संकर्षण की उत्पत्ति हुई। रोहिणी वसुदेव की बड़ी पत्नी थी।

रोहिणीचन्द्रशयन—मत्स्य पुराण (५७) में इस व्रत का उल्लेख बड़े विस्तार से है (श्लोक १-२८ तक) तथा पद्म पुराण (४. २४, १०१-१३०) में भी लगभग उसी प्रकार के श्लोक आये हैं। यहाँ चन्द्रमा के नाम से भगवान् विष्णु की पूजा वर्णित है। यदि पूर्णिमा के दिन सोमवार हो अथवा रोहिणी नक्षत्र हो तो व्रती को पञ्चगव्य तथा सरसों के उबटन के साथ स्नान करने के बाद ऋग्वेद का मंत्र "आप्यायस्व" (१.९१.१६) १०८ बार बोलना चाहिए तथा शूद्र व्रती को यह बोलना चाहिए—"सोमाय नमः विष्णवे नमः"। व्रती को फल तथा फूलों से भगवान् की पूजा करके सोम का नामोच्चारण करते हुए रोहिणी को प्रणाम करना चाहिए। व्रती को इस अवसर पर गोमूत्र का पान करना चाहिए, २८ विभिन्न पुष्प चन्द्रमा को अर्पित करने चाहिए। यह व्रत एक वर्ष तक चलना चाहिए। वर्ष के अन्त में पर्यङ्कोपयोगी वस्त्र तथा चन्द्रमा और रोहिणी की सुवर्ण प्रतिमाओं के दान का विधान है। इस समय यह प्रार्थना भी करनी चाहिए कि हे विष्णो! जिस प्रकार आपको, जो सोमरूप हैं, छोड़कर रोहिणी कहीं नहीं जाती, उसी प्रकार समृद्धि मुझे छोड़कर कहीं न जाये। इससे सौन्दर्य, स्वास्थ्य, दीर्घायु के साथ-साथ व्रती चन्द्रलोक प्राप्त करता है। कृत्यकल्पतरु तथा हेमाद्रि इसे चन्द्ररोहिणीशयन भी बतलाते हैं।

रोहिणीद्वादशी—श्रावण कृष्ण एकादशी को लोग (स्त्री या पुरुष) किसी सरोवर इत्यादि के समीप गाय के गोबर से एक मण्डल बनाकर उसमें चन्द्रमा तथा रोहिणी की आकृतियाँ खींचकर उनका पूजन करें तथा नैवेद्य अर्पण करें; बाद में उसे किसी ब्राह्मण को दे दें। तत्पश्चात् द्वादशी को कहीं स्थिर तथा गहरे जल में प्रविष्ट होकर चन्द्रमा तथा रोहिणी में अपना ध्यान केन्द्रित करें और पानी में खड़े-खड़े माष (उड़द की दाल) की एक सहस्र छोटी-छोटी गोलियाँ तथा घृत मिश्रित पाँच लड्डुओं को खायें। इसके बाद घर लौटकर किसी ब्राह्मण को भोजन तथा वस्त्र दान करना चाहिए। यह क्रिया प्रति वर्ष होनी चाहिए।

रोहिणीस्नान—यह भी नक्षत्रव्रत है। व्रती तथा उसके पुरोहित को रोहिणी तथा कृत्तिका नक्षत्र के दिन उपवास करना चाहिए। इस अवसर पर व्रती को पाँच कलश जल से स्नान कराया जाना चाहिए। स्नान करने के समय व्रती चावलों की ढेरी पर खड़ा रहे जो दूधवाले वृक्षों (वट-पीपल आदि) की छोटी-छोटी शाखाओं, प्रियङ्गु के श्वेत पुष्पों तथा चन्दन से सज्जित हो। व्रती को विष्णु, चन्द्र, वरुण, रोहिणी तथा प्रजापति की पूजा करनी चाहिए; घृत तथा अन्यान्य धान्यों से समस्त देवों का उद्देश्य करके होम करना चाहिए। इसके साथ व्रती को सींग में मढ़ा हुआ रत्न भी धारण करना चाहिए। सींग में मिट्टी, घोड़े के बाल तथा खुर से बने तीन भागों को धारण करना विहित है। इससे पुत्र, सम्पत्ति तथा यश की उपलब्धि होती है।

रोहिण्यष्टमी—भाद्र कृष्ण पक्ष को रोहिणी नक्षत्र युक्त अष्टमी जयन्ती कहलाती है। यदि अर्ध रात्रि के एक पल पूर्व तथा एक पल पश्चात् रोहिणी और अष्टमी विद्यमान रहें तो यह काल अत्यन्त पुनीत है, क्योंकि यह वही काल है जब भगवान् कृष्ण अवतीर्ण हुए थे। उस दिन उपवास करते हुए भगवान् का पूजन करने से पूर्व के एक सहस्र जन्मों तक के पाप नष्ट हो जाते हैं। एक सहस्र एकादशी-व्रतों की अपेक्षा यह रोहिण्यष्टमी व्रत कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

रौद्रविनायक याग—यदि गुरुवार को एकादशी तथा पुष्य नक्षत्र हो अथवा शनिवार के दिन एकादशी हो और रोहिणी नक्षत्र हो तो इस दिन रौद्रयाग का आयोजन किया जाना चाहिए। इससे पुत्रादि की प्राप्ति के साथ अनेक वरदानों की प्राप्ति होती है।

ल

ल—यह अन्तःस्थ वर्णों का तीसरा अक्षर है। कामधेनु-तन्त्र में इसके स्वरूप का निम्नांकित वर्णन है :

लकारं चञ्चलापाङ्गि कुण्डलीत्रयसंयुतम्।
पीतविद्युल्लताकारं सर्वरत्नप्रदायकम्॥
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा॥
आत्मादितत्त्व सहितं हृदि भावय पार्वति॥

तन्त्रशास्त्र में इसके कई नाम दिये हुए हैं :

लश्चन्द्रः पूतना पृथ्वी माधवः शक्रवाचकः ।
बलानुजः पिनाकीशो व्यापको मांससंज्ञकः ।।
खड्गी नागोऽमृतं देवी लवणं वारुणीपतिः ।
शिखा वाणी क्रिया माता भामिनी कामिनी प्रिया ।
ज्वालिनी वेगिनी नादः प्रद्युम्नः शोषणो हरिः ।
विश्वात्ममन्त्रो बली चेतो मेरुर्गिरिः कला रसः ।।

लकुल—वायुपुराण के एक प्रकरण में पाशुपतों के उपसंप्रदाय लकुलीश का उल्लेख प्राप्त होता है । कल्पों की गणना के बाद युगों का वर्णन आता है, जो कल्प के विभाग हैं । युग कुल अट्ठाईस हैं तथा शिव प्रत्येक में अवतार लेने की प्रतिज्ञा करते हैं । अन्तिम वक्तव्य यह है कि जब कृष्ण वासुदेव का अवतार ग्रहण करेंगे तब शिव अपनी योगशक्ति से कायारोहण स्थान पर अरक्षित एक मृतक शरीर में प्रवेश करेंगे तथा लकुली नामक संन्यासी के रूप में दिखाई पड़ेंगे । कुशिक, गार्ग्य, मित्र तथा कौरुष्य उनके शिष्य होंगे । ये पाशुपत योग का अभ्यास अपने शरीर पर भस्म लगाकर करेंगे ।

एकलिङ्गजी (उदयपुर) के समीप एक पुराने मन्दिर के अभिलेख से यह पता चलता है कि शिवावतार भड़ौंच देश में हुआ तथा शिव एक लाठी (लकुल) अपने हाथ में धारण करते थे । उस स्थान का नाम कायारोहण था । चित्रप्रशस्ति का मत है कि शिव का अवतार कारोहण (कायारोहण), लाट प्रदेश, में हुआ । वहाँ पाशुपत मत को भली भाँति पालन करने के लिए शरीरी रूप धारण कर चार शिष्य भी आविर्भूत हुए । वे थे कुशिक, गार्ग्य, कौरुष्य तथा मैत्रेय । भूतपूर्व बड़ौदा राज्य का 'करजण' वह स्थान कहलाता है । यहाँ लकुलीश का मन्दिर भी वर्तमान है ।

लकुलीश—लकुलीश सिद्धान्त पाशुपतों का ही एक विशिष्ट मत है । इसका उदय गुजरात में हुआ । वहाँ इसके दार्शनिक साहित्य का सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ के पहले ही विकास हो चुका था, इसलिए उन लोगों ने शैव आगमों की नयी शिक्षाओं को नहीं माना । यह मत छठी से नवीं शताब्दी के बीच मैसूर और राजस्थान में भी फैल चुका था । शिव के अवतारों की सूची जो वायुपुराण से लिङ्ग और कूर्म पुराण में उद्धृत है, लकुलीश का उल्लेख करती है । वहाँ लकुलीश की मूर्ति का भी उल्लेख है, जो गुजरात के झरपतन नामक स्थान में है । यह सातवीं शताब्दी की बनी हुई है ।

लकुलीश पाशुपत—लकुलीश पाशुपतों के सिद्धान्त का वर्णन 'सर्वदर्शनसंग्रह' में सायणाचार्य ने किया है, जिसका सार यह है :

जीव मात्र 'पशु' हैं । शिव 'पशुपति' है । भगवान् पशुपति ने बिना किसी कारण, साधन या सहायता के इस संसार का निर्माण किया, अतः वे स्वतन्त्र कर्ता हैं । हमारे कर्मों के भी मूल कर्ता परमेश्वर हैं । अतः पशुपति सब कर्मों के कारण हैं । दे० 'पाशुपत' ।

लक्षणार्द्रा व्रत—भाद्र कृष्ण अष्टमी को आर्द्रा नक्षत्र होने पर यह व्रत करना चाहिए । सर्वप्रथम उमा तथा शिव की प्रतिमाओं को पञ्चामृत से स्नान कराना चाहिए, तदनन्तर गन्धाक्षत-पुष्पादि से पूजन करना चाहिए । अर्घ्य, धूप, गेहूँ के आटे के मत्स्य आकृति वाले ३२ प्रकार के खाद्य पदार्थ, जो पाँच प्रकार के रसों (दधि, दुग्ध, घृत, मधु, शर्करा) से युक्त हों तथा मोदक अर्पण करने चाहिए । तत्पश्चात् सुवर्ण, उपर्युक्त देवमूर्तियाँ तथा उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थ दान में देना चाहिए । इस व्रत से समस्त पापों का नाश तो होता ही है, साथ ही सौन्दर्य, सम्पत्ति, दीर्घायु तथा यश भी प्राप्त होता है ।

लक्षनमस्कारव्रत—आश्विन शुक्ल एकादशी से विष्णु भगवान् को एक लाख नमस्कार अर्पण करना चाहिए । पूर्णिमा तक व्रत की समाप्ति हो जानी चाहिए । इस अवसर पर भगवान् विष्णु का मन्त्र 'अतो देवाः' (ऋ० १. २२. १६-२१) उच्चारण करना चाहिए ।

लक्षप्रदक्षिणाव्रत—इस व्रत में भगवान् विष्णु की एक लाख प्रदक्षिणाएँ करने का विधान है । चातुर्मास्य के प्रारम्भ के समय इसे आरम्भ कर कार्तिक की पौर्णमासी को समाप्त कर देना चाहिए ।

लक्षवर्तिव्रत—कार्तिक, वैशाख अथवा माघ में इस व्रत का आरम्भ होता है । सर्वोत्तम मास वैशाख है । तीन मास के अन्त में पौर्णमासी को यह व्रत समास होना चाहिए । इस अवसर पर ब्रह्मा तथा सावित्री, विष्णु तथा लक्ष्मी, शिव एवं उमा की प्रतिमाओं के सम्मुख प्रतिदिन सहस्र बत्तियों वाले दीपक प्रज्वलित करने चाहिए ।

लक्षहोम—यह शान्तिव्रत है, इसमें किसी भी इष्ट देव के लिए एक लाख आहुति देने का विधान है ।

लक्षेश्वरीव्रत—उसी प्रकार से यह व्रत होता है जैसे 'कोटेश्वरीव्रत' पहले बतलाया गया है ।

लक्ष्मण देशिक—११वीं शताब्दी के एक शाक्त विद्वान्। इनका रचा हुआ 'शारदातिलक' नामक तन्त्र ग्रन्थ शाक्तों के लिए अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है।

लक्ष्मणसेन—बङ्गाल का प्रसिद्ध सेनवंशी राजा (१२२७-१२५० वि०)। यह हिन्दू धर्म व साहित्य का बहुत बड़ा संरक्षक था। किसी-किसी के मतानुसार निम्बार्काचार्य इसके प्रश्रय में भी रहे थे। 'गीतगोविन्द' के रचयिता भक्त कवि जयदेव इसकी राजसभा में रहते थे।

लक्ष्मी—ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में इनका वर्णन पाया जाता है : 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च········इषाण।' [हे परमेश्वर, अनन्त शोभास्वरूप श्री और अनन्त शुभ लक्षणों से युक्त लक्ष्मी दोनों आपकी पत्नी हैं। अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है, उसी प्रकार आपकी सेवा आप ही को प्राप्त होती है, क्योंकि आप ही ने सब जगत् को शोभा और शुभ लक्षणों से युक्त कर रखा है।] आगमसहिताओं के रहस्य का विश्लेषण करने से प्रकट होता है कि सर्वोत्तम अवस्था में विष्णु और उनकी शक्ति लक्ष्मी एक ही परमात्मा हैं, जो अभिन्न हैं। केवल सृष्टि के समय वे भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं।

लक्ष्मीधर—(१) लक्ष्मीधर पहले शाक्त आचार्य थे और दक्षिण मार्ग का अनुगमन करते थे। इनका दीक्षानाम विद्यानाथ था। ये तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में वारङ्गल (आन्ध्र) में रहते थे। इन्होंने प्रसिद्ध स्तोत्र 'सौन्दर्यलहरी' का भाष्य रचा है। इन्होंने सौन्दर्यलहरी को शङ्कराचार्य की रचना माना है, जबकि विद्वानों को इस मत में सन्देह है। सौन्दर्यलहरी के ३१वें श्लोक की व्याख्या में इन्होंने ६४ तन्त्रों की सूची उपस्थित की है जो 'वामकेश्वर तन्त्र' की सूची से उद्धृत है। साथ ही दो और सूचियाँ 'मिश्र' तथा 'समय' तन्त्रों की उपस्थित की हैं, जिनमें क्रमशः आठ तथा नौ नाम हैं।

(२) प्रसिद्ध धर्मशास्त्रकार, जो कान्यकुब्ज प्रदेश के गहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र के 'सान्धिविग्रहिक' (सन्धि और युद्ध के मंत्री) थे। इन्होंने 'कृत्यकल्पतरु' नामक बृहत् निबन्ध ग्रन्थ की रचना की।

लक्ष्मीनारायणव्रत—फाल्गुन की पूर्णिमा को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। वर्ष के चार-चार महीनों के तीन भागों से प्रारम्भ करके प्रत्येक पूर्णिमा के दिन लक्ष्मीनारायण का एक साल तक पूजन करना चाहिए। आषाढ़ से चार मास तक श्रीधर तथा श्री, कार्तिक से आगे के चार मास तक केशव तथा भूति का पूजन करना चाहिए। पूर्णिमा को रात्रि के समय चन्द्रमा को अर्घ्य देना चाहिए। चार मास वाले प्रति भाग में शरीर की संशुद्धि के लिए भिन्न प्रकार के द्रव्यों, यथा पञ्चगव्य, दर्भयुक्त जल तथा सूर्य की किरणों से उष्ण किये हुए जल का प्रयोग किया जाना चाहिए।

लक्ष्मीपूजन—कार्तिक की अमावस्या को दीपावली पर्व के अवसर पर लक्ष्मी के पूजन का विधान है।

लक्ष्मीप्रवव्रत—हेमाद्रि (२. ७६९-७७१) के अनुसार यह कृच्छ्र व्रतों में है। कार्तिक कृष्ण सप्तमी से दशमी तक व्रती को क्रमशः दुग्ध, बिल्वपत्र, कमलपुष्प तथा विस (कमलनाल) का आहार करना चाहिए। एकादशी को उपवास करने का विधान है। इन दिनों केशव की पूजा करनी चाहिए। इससे विष्णुलोक की प्राप्ति होती है।

लक्ष्मीव्रत—(१) प्रति पञ्चमी को उपवास करते हुए लक्ष्मी का पूजन करना चाहिए। यह व्रत एक वर्षपर्यन्त चलता है। व्रत के अन्त में सुवर्णकमल तथा गौ का दान विहित है। इससे व्रती प्रति जन्म में धन-सम्पत्ति प्राप्त करके विष्णुलोक प्राप्त करता है।

(२) इस व्रत में चैत्र शुक्ल तृतीया को उबला हुआ चावल तथा घृताहार करना चाहिए। चतुर्थी को गृह से बाहर कमल के पुष्पों से भरे किसी सरोवर में स्नान करना चाहिए तथा कमल में ही लक्ष्मीजी का पूजन करना चाहिए। पञ्चमी को मन्त्रोच्चारण करते हुए कमलपुष्पों को लक्ष्मीजी के चरणों में अर्पित किया जाय। पंचमी को पूर्व प्रकार से ही स्नान करके सुवर्ण का दान करना चाहिए। यह क्रिया वर्ष भर चलनी चाहिए।

लक्ष्मीयामलतन्त्र—यामल शब्द की व्याख्या हो चुकी है। आठ यामल तन्त्रों में लक्ष्मीयामल भी एक है। दे० 'यामल'।

लक्ष्मीश देवपुर—माध्व मत के आचार्य लक्ष्मीश देवपुर ने १८१७ वि० में 'जैमिनिभारत' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें यद्यपि युधिष्ठिर के अश्वमेधयज्ञ का वर्णन है, तथापि इस ग्रन्थ का उद्देश्य कृष्ण की महिमा का वर्णन करना और वैष्णव धर्म का महत्त्व दिखाना है।

लक्ष्मीसंहिता—पाञ्चरात्र साहित्य का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ। संहिताएँ १०८ हैं, किन्तु इनके रचनाकाल के निर्धारण में

बड़ी कठिनाई है । कुछ विद्वानों द्वारा पुष्कर, वाराह तथा ब्राह्म संहिताओं को सबसे प्राचीन माना जाता है । आयंगर महोदय लक्ष्मीसंहिता को अति प्राचीन मानते हैं तथा पद्म को भी प्राचीन बतलाते हैं । आयंगर के मत को गोपालाचार्यस्वामी भी स्वीकार करते हैं ।

लगध—ऋग्ज्योतिष के लेखक लगध हैं । 'बार्हस्पत्य' लेख से यह जान पड़ता है कि लगध कदाचित् बर्बरदेशीय मानते थे । परन्तु वेदाङ्गज्योतिष के किसी श्लोक से, भाव से या किसी अन्तःसाक्ष्य से लगध का विदेशी होना सिद्ध नहीं होता ।

लघुचन्द्रिका—द्वैत मतावलम्बी (माध्व) व्यासराज के शिष्य रामाचार्य ने स्वामी मधुसूदन सरस्वती से अद्वैत सिद्धान्त की शिक्षा ग्रहण कर फिर उन्हीं के मत का खण्डन करने के लिए तरङ्गिणी नामक ग्रन्थ की रचना की । इससे असन्तुष्ट होकर ब्रह्मानन्द स्वामी ने अद्वैतसिद्धि पर लघुचन्द्रिका नाम की टीका लिखकर तरङ्गिणीकार के मत का खण्डन किया ।

लघुटीका—तमिल शैवाचार्य शिवज्ञान योगी (मृत्युकाल १७८५ ई०) ने तमिल शैव सिद्धान्त के आधार ग्रन्थ 'शिवज्ञानबोध' पर दो तमिल भाष्य रचे । एक बड़ा, जिसे 'द्राविड भाष्य' तथा दूसरा छोटा, जिसे 'लघु टीका' कहते हैं ।

लघुबृहन्नारदीय पुराण—यह एक छोटा ग्रन्थ है, जो सम्भवतः उपपुराणों में भी नहीं गिना जा सकता ।

लघुसांख्यसूत्रवृत्ति—अठारहवीं शताब्दी के मध्य में नागेश भट्ट ने 'सांख्यप्रवचनभाष्य' की 'लघुसांख्यसूत्रवृत्ति' नामक वृत्ति लिखी । नागेश भट्ट महान् वैयाकरण होने के साथ ही सकलशास्त्रपारंगत विद्वान् थे । साहित्य, योग, सांख्य, धर्मशास्त्र, तन्त्र, वेदान्त—सभी विषयों पर उनकी मर्मस्पर्शी रचनाएँ प्राप्त हैं ।

ललित आगम—रौद्रिक आगमों में से एक 'ललित आगम' भी है ।

ललितकान्ता देवी व्रत—तिथितत्त्व (पृ० ४१, कालिकापुराण को उद्धृत करते हुए) के अनुसार 'मङ्गलचण्डिका' ही ललितकान्ता देवी के नाम से पुकारी जाती हैं, जिनकी दो भुजाएँ हैं, गौर वर्ण है तथा जो रक्तिम कमल पर संस्थित हैं, आदि । इस देवी की पूजा से सौन्दर्य और समृद्धि प्राप्त होती है ।

ललिता—दक्षिण भारत के दक्षिणमार्गी शाक्तों के मत से ललिता सुन्दरी देवी ने, जो आँखों को चौंधिया देने वाली आभा से युक्त हैं, चण्डी का स्थान ले लिया है । इनके यज्ञ, पूजा आदि की पद्धति चण्डी के समान ही है । चण्डी (दुर्गा)-पाठ के स्थान पर ललितोपाख्यान, ललितासहस्रनाम, ललितात्रिशती का पाठ होता है । ये तीनों ग्रन्थ ब्रह्माण्ड पुराण से लिये गये हैं । ललितोपाख्यान में देवी द्वारा भण्डासुर तथा अन्य दैत्यों के वध का वर्णन है । ललिता की पूजा में पशुबलि निषिद्ध है ।

ललितातन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' में उद्धृत चौसठ तन्त्रों की सूची में ललितातन्त्र भी उद्धृत है ।

ललितात्रिशती—देवी के तीन सौ नामों का संग्रह । दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्रों में चण्डी के स्थान पर ललिता की उपासना करने वाले भक्त देवी की पूजा के समय इसी का पाठ करते हैं । इस पर शंकराचार्यकृत भाष्य भी उपलब्ध होता है । दे० 'ललिता' ।

ललिताव्रत—माघ शुक्ल तृतीया के दिन मध्याह्न काल में तिल तथा आवँले का उबटन शरीर में लगाकर किसी नदी में स्नान करना चाहिए तथा पुष्पादि से ललिता देवी का पूजन करना चाहिए । ताम्रपात्र में जल, सुवर्ण का टुकड़ा तथा अक्षत डालकर किसी ब्राह्मण के सम्मुख रख देना चाहिए । ब्राह्मण उसी पात्र का जल मंत्रोच्चारण करते हुए व्रती के ऊपर छिड़के । महिला व्रती को सुवर्ण का दान करना चाहिए तथा ऐसे जल का सेवन करना चाहिए जिसमें कुश पड़ा हो । रात्रि को देवी में ही ध्यान केन्द्रित करते हुए भूमि पर शयन करना चाहिए । दूसरे दिन ब्राह्मणों तथा एक सधवा नारी का सम्मान किया जाय । यह व्रत वर्ष भर के लिए है जिसमें देवी के भिन्न-भिन्न नाम बारहों महीनों में प्रयुक्त होते हैं (जैसे ईशानी प्रथम मास में, ललिता आठवें में, गौरी बारहवें मास में) । स्त्री व्रती को शुक्ल तृतीया को उपवास करते हुए क्रमशः बारह वस्तुओं का आहार करना चाहिए, जैसे कुशों से पवित्र किया हुआ जल, दूध, घृत इत्यादि । व्रत के अन्त में एक ब्राह्मण तथा उसकी पत्नी का सम्मान किया जाना चाहिए । इससे पुत्र, सौन्दर्य तथा स्वास्थ्य प्राप्त होने के साथ साथ कभी भी वैधव्य प्राप्त नहीं होता । भविष्योत्तर पुराण, अग्नि पुराण, मत्स्य पुराण आदि ग्रन्थों में ललितातृतीया का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि चैत्र

शुक्ल तृतीया को ही भगवान् शिव ने गौरी के साथ विवाह किया था । मत्स्य पुराण (६०.११) के अनुसार सती का नाम ही ललिता है, क्योंकि अखिल ब्रह्माण्ड में वे सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी हैं । ब्रह्माण्ड पुराण के अन्त (अध्याय ४४) में ललितासम्प्रदाय पर एक पृथक् विभाग ही लिखा गया है ।

ललिताषष्ठी—यह व्रत अधिकांशतः महिलाओं के लिए है । भाद्र शुक्ल षष्ठी को बाँस के पात्र में नदी की बालू लाकर उसके पाँच गोल-गोल लड्डू से बनाकर उनके ऊपर भिन्न-भिन्न प्रकार के २८ या १०८ पुष्पों, फलों तथा भाँति-भाँति के खाद्य पदार्थों से ललिता देवी की पूजा करनी चाहिए । उस दिन अपनी सखियों के साथ महिला बिना आँख बन्द किये जागरण करे तथा सप्तमी के दिन वह समस्त खाद्य किसी देवीभक्त को दे दिया जाय । तदनन्तर कन्याओं तथा पाँच या दस ब्राह्मण पत्नियों को भोजन कराकर 'ललिता देवी प्रसीदतु मे' मन्त्रोच्चारण करते हुए उन्हें विदा कर दिया जाय ।

लवणदान—मार्गशीर्ष पूर्णिमा को यदि मृगशिरा नक्षत्र हो तब यह व्रत करना चाहिए । चन्द्रोदय के समय एक प्रस्थ भूमि का (क्षार) लवण किसी पात्र में रखकर, जिसका केन्द्र सुवर्ण से युक्त हो, किसी ब्राह्मण को दान दे दिया जाय । इस कृत्य से सौन्दर्य तथा सौभाग्य की उपलब्धि होती है ।

लवणसंक्रान्तिव्रत—संक्रान्ति के दिन स्नान के उपरान्त केसर के लेप से अष्टदल कमल की आकृति बनानी चाहिए । उसके मध्य में सूर्य की प्रतिमा का पूजन करना चाहिए तथा उसके सम्मुख एक पात्र में लवण तथा गुड़ रखना चाहिए । बाद में वह पात्र लवणादि सहित दान कर देना चाहिए । वर्ष भर यह कार्यवाही चलनी चाहिए । व्रत के अन्त में सुवर्ण की सूर्यप्रतिमा बनवाकर लवणपूर्ण पात्र तथा एक गौ सहित दान कर देना चाहिए । यह संक्रान्तिव्रत है ।

लाट्यायनसूत्र—सामवेदीय दूसरा श्रौतसूत्र । यह कौथुमी शाखा के अन्तर्गत है । यह ग्रन्थ भी पञ्चविंश ब्राह्मण का ही अंग है । उसके बहुत से वाक्य इसमें आये हैं । इसके पहले प्रपाठक में सोमयाग के साधारण नियम हैं । आठवें और नवें अध्याय के कुछ अंश एकाह याग की प्रणाली पर हैं । नवें अध्याय के शेषांश में कुछ दिवसों तक चलने वाली श्रेणी के यज्ञों का वर्णन है । दसवें अध्याय में सूत्रों का वर्णन है । इस ग्रन्थ पर रामकृष्ण दीक्षित, सायण और अग्निस्वामी के अच्छे भाष्य हैं ।

लालदास—मेव जाति के अन्तर्गत लालदास नाम के एक निर्गुणउपासक सन्त जिला अलवर (राजस्थान) में हो गये हैं । इनकी मृत्यु १७०५ वि० में हुई । इनकी शिक्षाओं तथा पदों का संग्रह 'बानी' कहलाता है । इनसे ही लालदासी पंथ प्रचलित हुआ । लालदासी आचार्य अपने प्रारम्भिक आचार्य के समान ही विवाहित होते हैं । इस सम्प्रदाय की पूजा में केवल रामनाम का जप सम्मिलित है । लालदासी पंथ कबीरदास की शिक्षाओं से प्रभावित जान पड़ता है ।

लालदासी पंथ—दे० 'लालदास' ।

लालदेद—चौदहवीं शताब्दी में एक अध्यात्मज्ञानी वृद्धा, जिसका नाम लालदेद था, कश्मीर में हो गयी है । उसकी सरल बानियाँ कश्मीर की सुखद घाटी में बहुलता से प्रयुक्त होती हैं । कश्मीरी भाषा में उसके पद लोकप्रिय हैं । ग्रियर्सन ने उसके कुछ छन्दों का अंग्रेजी अनुवाद किया है ।

लावण्यगौरीव्रत—चैत्र शुक्ल पञ्चमी के दिनों इस व्रत का अनुष्ठान होता है । पञ्चाङ्गानुसार यह व्रत तमिलनाडु में अधिक प्रचलित है ।

लावण्यव्रत—कार्तिकी पूर्णिमा के उपरान्त प्रतिपदा को वस्त्र के टुकड़े पर प्रद्युम्न की आकृति बनवाकर अथवा उनकी मूर्ति बनवाकर उसका पूजन करना चाहिए । उस दिन नक्त विधि से आहार करना चाहिए । मार्गशीर्ष मास के प्रारम्भ होते ही तीन दिनों तक उपवास करना चाहिए तथा प्रद्युम्न महाराज का पूजन करना चाहिए । हवन में घृताहुतियाँ दी जानी चाहिए । ब्राह्मणों को मुख्य रूप से लवण वाला भोजन कराना चाहिए । अन्त में एक प्रस्थ नमक, एक जोड़ा वस्त्र, सुवर्ण तथा काँसे का पात्र दान में देना विहित है । यह मासव्रत है, इसलिए एक मास तक चलना चाहिए । इससे सौन्दर्य तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है ।

लिङ्ग—प्रतीक अथवा चिह्न । अव्यक्त अथवा अमूर्त सत्ता का स्थूल प्रतीक ही लिङ्ग है । इसके माध्यम से अव्यक्त सत्ता का ध्यान किया जाता है । महाभारत, शान्तिपर्व के पाशुपत परिच्छेदों में शिवलिङ्ग के प्रति अति श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित की गयी है । किन्तु पूर्ववर्ती साहित्य में इसका उल्लेख नहीं मिलता । (ऋग्वेद में 'शिश्नदेवाः'

शब्द मिलता है, किन्तु लिङ्ग शिश्न नहीं है; यह ज्योति अथवा प्रकाश का प्रतीक है।) संप्रति सभी शैवसम्प्रदाय लिङ्ग की पूजा करते हैं।

लिङ्गायत सम्प्रदाय में लिङ्ग का बहुत अधिक महत्त्व है। अष्टवर्ग जो लिङ्गायतों का एक संस्कार है, बच्चे के जन्म के बाद पापों से उसकी रक्षा के लिए किया जाता है। लिङ्ग भी अष्टवर्गों में से एक है। प्रत्येक लिङ्गायत गले में लिङ्ग धारण करता है।

लिङ्गव्रत—ये सब व्रत कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी से प्रारम्भ होते हैं। इनमें शिवजी का पूजन होता है। इस अवसर पर नक्त विधि से आहार करना चाहिए। चावल के आटे से एक अरत्नि जितना बड़ा शिवलिङ्ग बनाया जाय, इस लिङ्ग पर एक प्रस्थ तिल चढ़ाना चाहिए। मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्दशी को शिवलिंग पर केसर का प्रलेप करना चाहिए। इस विधि से प्रति मास वर्ष भर भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रलेप, धूप तथा नैवेद्यादि का प्रयोग करना चाहिए। इससे गम्भीर से गम्भीर पातकी पवित्र होकर रुद्रलोक प्राप्त कर लेता है। लिंग का निर्माण पवित्र भस्म से, सूखे गौ के गोबर से, रेणु से या स्फटिक पाषाण से किया जा सकता है, किन्तु सर्वोत्तम लिङ्ग तो नर्मदा के उद्‌गम वाले पर्वत की रज से ही निर्मित हो सकता है।

लिङ्गधारी—शैवों में भगवान् शिव की अनन्य और प्रगाढ़ भक्ति करने वाले वीर माहेश्वर या वीर शैव हैं, जिन्हें लिङ्गायत भी कहते हैं। पाशुपतों या शैवों में लिङ्गी वा लिङ्गधारी तथा अलिङ्गी वा साधारण लिङ्गार्चन करने वाले, ये दो प्रकार हैं। लिङ्गधारी ही लिङ्गायत कहलाते हैं जो मांस-मत्स्यादि का परित्याग करते हैं।

लिङ्गपुराण—अठारह महापुराण में से ग्यारहवाँ पुराण। लिङ्ग तथा कूर्म पुराणों शैव वर्ग के हैं जो वैष्णव वर्गीय अग्नि तथा गरुड पुराण जैसी विशेषताएँ रखते हैं। इनमें आगमों और तन्त्रों की शिक्षाओं का भी समावेश है और इन ग्रन्थों का प्रसंग भी यथास्थान आया है। दोनों में कुछ परिवर्तन तथा परिवर्धन के साथ शिव के २८ अवतारों तथा उनके शिष्यों का वर्णन (वायु से लिया गया) उपस्थित है। लिङ्गपुराण में ओंकार के रहस्यमय अर्थ पर विशेष विचार किया गया है।

लिङ्गपूजा—पुरातत्त्व के विद्वानों का कहना है कि लिङ्गपूजा किसी समय, विशेषतः ईसा के पूर्व सारे संसार में व्यापक रूप से प्रचलित थी और आकार तथा विधि के थोड़े-बहुत भेद के साथ सारे संसार के मूर्तिपूजक लिङ्गपूजन करते थे। मिस्र में, यूनान में, बाबुल में, असुर देश में, इटली में, फ्रांस तथा अमेरिका में, अफ्रीका में, तथा पॉलिनेशिया द्वीपों में लिङ्गपूजा होती थी। मक्का की मस्जिद में आज भी एक पत्थर अथवा लिङ्ग है, जिसे मुसलमान यात्री चूमते हैं। वह स्वयं मुहम्मद साहब के हाथों वहाँ रखा गया है। हिन्दू-भारत में तो शिवपूजा और लिङ्गपूजा अनादि काल से परम्परागत रही है।

किन्तु लिङ्गपूजा शिश्नपूजा नहीं है, जैसा कि बहुत से लोग समझते हैं। 'शिश्नोदर परायण' को हिन्दू धर्म में घृणित समझा जाता है। ऋग्वेद में 'शिश्नदेव' इसी घृणित अर्थ में प्रयुक्त है। लिङ्ग वास्तव में प्रतीक मात्र है। यह निश्चल, स्थिर तथा दृढ़ ज्ञानस्कन्ध का प्रतीक है। भारत में अनेक लिङ्गों की स्थापना हुई है, जिनमें द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग विशेष प्रसिद्ध हैं।

लिङ्गायत—वीर शैवों का अन्य नाम लिंगायत भी है। इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति कर्नाटक के समुद्रतट पर तथा महाराष्ट्र देश में १२वीं शताब्दी के मध्य हुई। यद्यपि वीर शैव अथवा वीर माहेश्वर अपने सम्प्रदाय को अति प्राचीन मानते हैं। कर्नाटक में सैकड़ों वर्षों तक या तो शैव थे या दिगम्बर जैन। इस नये सम्प्रदाय की स्थापना शैव धर्म की निश्चित सुव्यवस्था के लिए तथा जैनियों को अपने सम्प्रदाय में लेने के लिए हुई। सम्प्रदाय की दो मुख्य विशेषताएँ हैं—(१) मठों की प्रधानता तथा (२) धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में प्रत्येक लिंगायत का समानाधिकार।

वीर शैवों की साम्प्रदायिक व्यवस्था महत्त्वपूर्ण है। इनके पाँच प्रारम्भिक मठ थे जिनके महन्त पाँच संन्यासी थे :

मठ	प्रदेश	प्रथम महन्त
१. केदारनाथ	हिमालय प्रदेश	एकोराम
२. श्रीशैल	तैलंग प्रदेश	पण्डिताराध्य
३. बलेहल्ली	पश्चिमी मैसूर	रेवण
४. उज्जयिनी	बेलारी सीमा	मरुल
५. वाराणसी	उत्तर प्रदेश	विश्वाराध्य

प्रत्येक लिंगायत ग्राम में एक मठ होता है जो किसी न किसी आदि मठ से सम्बन्धित होता है। जङ्गम एक जाति है

जिसके सभी लिङ्गायत गुरु सदस्य होते हैं। प्रत्येक लिङ्गायत को किसी न किसी मठ से सम्बन्धित होना चाहिए तथा उसका एक गुरु होना चाहिए।

लिङ्गायत शिव को ही सर्वेश्वर मानते हैं तथा एकमात्र शिव की पूजा करते हैं। वे शिव की पूजा दो प्रकारों से करते हैं; अपने गुरु जङ्गम की पूजा तथा गले में लटकने वाले छोटे लिङ्ग की पूजा।

जब बच्चा पैदा होता है तो पिता अपने गुरु को बुलाता है, वह बच्चे की रक्षा के लिए अष्टवर्ग संस्कार करता है। इसके आठ विभाग हैं—गुरु, लिङ्ग, विभूति, रुद्राक्ष, मन्त्र, जङ्गम, तीर्थ और प्रसाद। इस संस्कार से बालक लिङ्गायत बन जाता है।

प्रत्येक लिङ्गायत को एक गुरु स्वीकार करना होता है। इस अवसर पर एक संस्कार होता है, इसमें पाँच पात्रों का प्रयोग होता है जो पाँचों आदि विहारों के आदि-महन्तों का प्रतिनिधित्व करते हैं। चार पात्र वेदी के एक-एक कोने पर तथा मध्य में वह रखा जाता है जिससे गुरु का सम्बन्ध होता है। दीक्षा लेने वाला जिस मठ से अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है उसके महन्त के प्रतिनिधि पात्र को केन्द्र में रखता है।

प्रत्येक लिङ्गायत दिन में दो बार भोजन के पूर्व पूजा करता है। वह अपने गले से लिङ्ग लेकर हथेली पर रखता है तथा बताये गये ढंग से पूजा व ध्यान में लीन हो जाता है।

जब गुरु चेले के घर आते हैं तब पादोदक संस्कार होता है, जिसमें उस परिवार के सभी लोग बन्धु-बान्धव समेत सम्मिलित होते हैं और गृहस्वामी गुरु के चरणों की पूजा षोडशोपचारपूर्वक करता है।

जङ्गम के दो अर्थ हैं: एक तो जाति का सदस्य और दूसरा जो जङ्गमाभ्यास करता है। केवल दूसरा ही पूजनीय होता है। बहुत से जङ्गम विवाह करते तथा जीविकोपार्जन करते हैं, किन्तु अभ्यासी जङ्गम ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। उनकी शिक्षा किसी मठ में होती है तथा वे दीक्षित होते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं। प्रथम गुरुस्थल जङ्गम वे हैं जो पारिवारिक संस्कारों के कराने की शिक्षा लेकर गुरु का कार्य करते हैं। पाँचों मठों का नाम भी गुरुस्थल है। दूसरा वर्ग है विरक्त जङ्गमों का, इनके लिए विशेष मठ होते हैं जहाँ इन्हें दार्शनिक शिक्षा दी जाती है। इन मठों को षट्स्थल मठ कहते हैं क्योंकि यहाँ शिव के साथ एकत्व प्राप्त करने के छः स्थलों की शिक्षा दी जाती है।

लिङ्गायतों में दो वर्ग हैं--एक पूर्ण लिङ्गायत, दूसरे अर्ध लिङ्गायत। अर्ध लिंगायतों की पूजा अपूर्ण तथा जातिभेद बहुत ही कड़ा है। पूर्ण लिंगायत अन्तर्जातीय विवाह नहीं करते किन्तु भोजन सभी के साथ कर लेते हैं। पूर्ण लिंगायत शव को जलाते हैं। ये शाकाहारी होते हैं। बालविवाह इनमें वर्जित है किन्तु विधवाविवाह होता है।

वीर शैवों को यह शिक्षा दी जाती है कि वे इसी जन्म में सिखाये हुए ध्यान की छः अवस्थाओं से होकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। उनके अभ्यास में भक्ति का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

लिङ्गायत साहित्य अधिकांश कन्नड तथा संस्कृत में है। किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तेलुगु भाषा में भी हैं। एक अति प्राचीन ग्रन्थ है 'पंडिताराध्य का जीवन'। इसे सोमनाथ ने संस्कृत तथा तेलुगु मिश्रित भाषा में लिखा है। अन्य ग्रन्थ वसवपुराण, श्रीकरभाष्य (वेदान्तसूत्र का भाष्य), सूक्ष्म आगम पूर्ण लिङ्गायत हैं। लिङ्गायतों में प्रचलित महत्त्वपूर्ण कन्नड भाषा की शिक्षाएँ 'वचन' कहलाती हैं। कुछ कन्नडी पुराण भी इस सम्प्रदाय के हैं जिनमें राघवाङ्करचित 'सिद्धराम' बहुत प्रसिद्ध है।

लिङ्गार्चनव्रत—शनिवारयुक्त कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। उस दिन शिवजी के एक सौ नामों का जप करना चाहिए। प्रदोषकाल में पञ्चामृत से स्नान कराकर लिङ्ग रूप में शिवजी का पूजन करना चाहिए। स्कन्दपुराण (१.१७.५९-९१) इस व्रत का वर्णन करता है। श्लोकसंख्या ७५-८९ में शिवजी के १०० नाम गिनाये गये हैं।

लिङ्गार्चनी शाखा—यों तो सभी शैव लिङ्गार्चन करते हैं, किन्तु प्रगाढ़ शिवभक्तों का सम्प्रदाय वीर माहेश्वर या वीर शैव अपने अङ्ग पर निरन्तर लिङ्ग धारण करने के कारण लिङ्गायत कहलाता है। प्रति दिन दो बार लिङ्गार्चन करने के कारण इस शाखा को लिङ्गार्चनी शाखा भी कहा गया है।

लीलाचरित—मानभाउ पन्थ या दत्त सम्प्रदाय का एक प्राचीन ग्रन्थ लीलाचरित है। इनके सभी ग्रन्थ मराठी में

हैं । अपने साहित्य को गुप्त रखने लिए साम्प्रदायिकों ने ग्रन्थ लेखन के लिए एक भिन्न लिपि का भी उपयोग किया है ।

लीलाशुक—विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती के एक आचार्य बिल्वमङ्गल हो गये हैं । इनका ही दूसरा नाम लीलाशुक है । इन्होंने 'कृष्णकर्णामृत' नामक बड़े ही मधुर भक्तिरसपूर्ण काव्यग्रंथ की रचना की है ।

लुम्बिनी (कानन)—यह मूलतः बौद्ध तीर्थ है । अब यहाँ स्थानीय लंग देवी की पूजा करते हैं । यह बुद्ध की माता माया देवी का आधुनिक रूप है । यह स्थान नेपाल की तराई में पूर्वोत्तर रेलवे की गोरखपुर-नौतनवाँ लाइन के नौतनवाँ स्टेशन से २० मील उत्तर है और गोरखपुर-गोंडा लाइन के नौगढ़ स्टेशन से १० मील है । नौगढ़ से यहाँ तक पक्का मार्ग भी बन गया है । गौतम बुद्ध का जन्म यहीं हुआ था । यहाँ के प्राचीन विहार नष्ट हो चुके हैं । एक अशोकस्तम्भ है जिस पर अशोक का अभिलेख उत्कीर्ण है । इसके अतिरिक्त समाधिस्तूप भी है, जिसमें बुद्ध की मूर्ति है । नेपाल सरकार द्वारा निर्मित दो स्तूप और हैं । रुम्मिनदेई का मन्दिर तथा पुष्करिणी दर्शनीय है ।

लोक—ऋग्वेद आदि संहिताओं में लोक का अर्थ विश्व है । तीन लोकों का उल्लेख प्रायः होता है । 'अयं लोकः' (यह लोक) सर्वदा 'असौ लोकः' (परलोक अथवा स्वर्ग) के प्रतिलोम अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । लोक का कभी-कभी स्वर्ग अर्थ भी किया गया है । वैदिक परिच्छेदों में अनेक विभिन्न लोकों का उल्लेख हुआ है । लौकिक संस्कृत में प्रायः तीन लोकों का ही उल्लेख मिलता है : (१) स्वर्ग (२) पृथ्वी और (३) पाताल ।

लोकव्रत—चैत्र शुक्ल पक्ष में इस व्रत का प्रारम्भ होता है । सात दिनों तक निम्न वस्तुओं का क्रमशः सेवन करना चाहिए—गोमूत्र, गोमय, दुग्ध, दधि, घृत तथा जल जिसमें कुश डूबा हुआ हो । सप्तमी को उपवास का विधान है । महाव्याहृतियों (भूः भुवः स्वः) का उच्चारण करते हुए तिलों से हवन करना चाहिए । वर्ष के अन्त में वस्त्र, काँसा तथा गौ दान की जानी चाहिए । इस व्रत से व्रती को राजत्व प्राप्त होता है ।

लोकाचार्य—विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में लोकाचार्य वेदान्ताचार्य के ही समसामयिक और विशिष्ट विद्वान् हुए हैं । इनका काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी और पिता का नाम कृष्णपाद मिलता है । जन्म भी दक्षिण में ही हुआ था । इन्होंने रामानुजाचार्य का मत समझाने के लिए दो ग्रन्थों की रचना की—'तत्त्वत्रय' और 'तत्त्वशेखर' । 'तत्त्वत्रय' में चित् तत्त्व या आत्मतत्त्व, अचित् या जड़ तत्त्व और ईश्वर तत्त्व का निरूपण करते हुए रामानुजीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । कहीं-कहीं पर अन्य मतों का खण्डन भी किया गया है । इस ग्रन्थ पर वर्वर मुनि का भाष्य भी मिलता है ।

लोकायतदर्शन—लोक एवं आयत, अर्थात् 'लोकों' जनों में 'आयत' फैला हुआ दर्शन ही लोकायत है । इसका दूसरा अर्थ वह दर्शन है जिसकी सम्पूर्ण मान्यताएँ इसी भौतिक जगत् में सीमित हैं । यह भौतिकवादी अथवा नास्तिक दर्शन है । इसका अन्य नाम चार्वाक दर्शन भी है । विशेष विवरण के लिए दे० 'चार्वाक दर्शन' ।

लोचनदास—चैतन्य सम्प्रदाय के इस प्रतिष्ठित कवि ने सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में 'चैतन्यमङ्गल' नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की ।

लोपा—तैत्तिरीय संहिता (५.५९.१८ १) में लोपा अश्वमेध यज्ञ की बलितालिका में उद्धृत है । इसे सायण ने एक प्रकार का पक्षी, सम्भवतः 'श्मशानशकुनि' (शवभक्षी कौवा) बतलाया है ।

लोपामुद्रा—ऋग्वेद (१.१७९.४) की एक ऋचा में लोपामुद्रा का उल्लेख अगस्त्य की स्त्री के रूप में जान पड़ता है । यह प्रबुद्ध महिला स्वयं ऋषि थी ।

लोमश ऋषि—लोमश ऋषि को 'लोमशरामायण' का रचयिता माना जाता है । ये अमर समझे जाते हैं ।

लोहाभिसारिकाकृत्य—जो राजा विजयेच्छु हो उसे आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से अष्टमी तक यह धार्मिक कृत्य करना चाहिए । सोने, चाँदी अथवा मिट्टी की दुर्गाजी की प्रतिमा का पूजन इसमें होता है । इस अवसर पर अस्त्र-शस्त्र तथा राजत्व के उपकरण (छत्र, चँवर आदि) का भी मन्त्रों से पूजन किया जाना चाहिए । जनश्रुति है कि लोह नाम का एक राक्षस था । देवताओं ने उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये । आज जितना भी लोहा मिलता है वह उसी के शरीर के अवयवों से निर्मित्त हुआ है । लोहाभिसार का तात्पर्य यह है कि लोहे के अस्त्र-शस्त्रों को आकाश में घुमाना (लोहाभिसारोऽस्त्रभृतां राज्ञां नीराजनो विधिः—अमरकोश) । जिस समय

विजयेच्छु राजा आक्रमण के लिए प्रयाण करता था, उस समय उसके शरीर को पवित्र जल से अभिषिञ्चित किया जाता था, अथवा दीपों की पंक्तियों को नाराजना के रूप में उसके चारों ओर घुमाया जाता था। यह कार्य उस समय लोहाभिसारिक कर्म कहलाता था। उद्योगपर्व (१६०.९३) में 'लोहाभिसारो निर्वृत्तः' वाक्य मिलता है। नीलकण्ठ व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इसमें अस्त्र-शस्त्रों के सम्मुख दीप प्रज्वलित करके उनकी आरती उतारते हुए देवताओं से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना की जाती है।

लोहिताहि—लोहित + अहि (लाल साँप)। एक प्रकार के सर्प का नाम है जिसका उल्लेख यजुःसंहिता के अश्वमेध यज्ञ की बलितालिका में हुआ है।

लौगाक्षि—सामवेद शाखा परम्परा के अन्तर्गत पौष्यञ्जि के शिष्य लौगाक्षि सामवेद के शाखाप्रवर्तकों में थे। इनके शिष्य ताण्ड्यपुत्र राणायनीय, सुविद्वान्, मूलचारी आदि थे।

लौगाक्षिकाठकगृह्यसूत्र—यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में लौगाक्षि-काठकगृह्यसूत्र भी सम्मिलित है, इस पर देवपाल की एक वृत्ति प्राप्त होती है।

लौगाक्षिभास्कर—वैशेषिक तथा न्याय की संयुक्त शाखा का अनुमोदन जिन वैशेषिक तथा नैयायिक आचार्यों के ग्रन्थों से हुआ, उनमें लौगाक्षिभास्कर प्रसिद्ध दार्शनिक हुए हैं। ये १६५७ वि० के लगभग वर्तमान थे। कर्ममीमांसा पर इनका एक ग्रन्थ 'अर्थसंग्रह' और न्याय-वैशेषिक मत पर अन्य ग्रन्थ 'पदार्थमाला' प्रसिद्ध है।

लौरिय कृष्णदास—पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्पन्न एक बंगाली कवि। इन्होंने 'भक्तिरत्नावली' का अनुवाद बँगला में बड़ी योग्यता से किया है। 'भक्तिरत्नावली' स्वामी विष्णुपुरी द्वारा रचित मध्वमत सम्बन्धी ग्रन्थ है तथा इसका विषय है भगवद्गीता के भक्तिविषयक सुन्दरतम स्थलों का संग्रह।

लौ सेन—दे० 'मयूर भट्ट'।

लौहित्य—(१) लोहित के वंशज, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण के अनेक आचार्यों का पितृबोधक नाम, जिसके अनुसार लौहित्य कुल का रोचक अध्ययन किया जा सकता है। यथा कृष्णदत्त, कृष्णरात, जयक, त्रिवेद कृष्णरात, दक्ष जयन्त, पल्लिगुप्त, मित्रभूति प्रभृति नाम। शाङ्खायन आरण्यक में भी एक लौहित्य या लोहिक्य नामक आचार्य का उल्लेख है।

(२) ब्रह्मपुत्र के ऊपरी प्रवाह का नाम लौहित्य है। भारत के पवित्र नदों में इसकी गणना है। पूर्वोत्तर सीमान्त में यह प्रवाहित होता है। दे० 'लौहित्यस्नान'।

लौहित्यस्नान—ब्रह्मपुत्र नदी में स्नान करने को लौहित्य-स्नान कहते हैं। ब्रह्मपुत्र भारत का पवित्र नद है। इसमें स्नान करना पुण्यदायक माना जाता है। दे० 'ब्रह्मपुत्र-स्नान'।

व

व—अन्तःस्थ वर्णों का चौथा अक्षर। कामधेनुतन्त्र में इसके स्वरूप का वर्णन निम्नांकित है :

वकारं चञ्चलापाङ्गि कुण्डलीमोक्षमव्ययम्।
पञ्चप्राणमयं वर्णं त्रिशक्तिसहितं सदा॥
त्रिविन्दुसहितं वर्णमात्मादि तत्त्वसंयुतम्।
पञ्चदेवमयं वर्णं पीतविद्युल्लतामयम्॥
चतुर्वर्गप्रदं वर्णं सर्वसिद्धिप्रदायकम्।
त्रिशक्तिसहितं देवि त्रिबिन्दुसहितं सदा॥

वर्णोद्धारतन्त्र में इसका ध्यान इस प्रकार बतलाया गया है :

कुन्दपुष्पप्रभां देवीं द्विभुजां पङ्कजेक्षणाम्।
शुक्लमाल्याम्बरधरां रत्नहारोज्ज्वलां पराम्॥
साधकाभीष्टदां सिद्धां सिद्धिदां सिद्धसेविताम्।
एवं ध्यात्वा वकारंतु तन्मन्त्रं दशधा जपेत्॥

वंशब्राह्मण—एक ब्राह्मण ग्रन्थ। परिचय सहित यह ग्रन्थ बर्नेल साहब ने मंगलौर से (सन् १८७३-१८७६, १८७७ में) प्रकाशित किया था।

वगलामुखी—शाक्त मतानुसार दस महाविद्याओं (मुख्य देवियों) में एक महाविद्या। 'शाक्तप्रमोद' के अन्तर्गत दसों महाविद्याओं के अलग-अलग तन्त्र हैं, जिनमें इनकी कथाएँ, ध्यान और उपासना विधि दी हुई है।

वचन—प्रचलित लिङ्गायत मत के अन्तर्गत संगृहीत प्रारम्भिक कन्नड उपदेश बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हें वचन कहते हैं। इनमें से कुछ स्वयं आचार्य वसव द्वारा रचित हैं तथा अन्य परवर्ती महात्माओं के हैं।

वज्र—(१) इन्द्र देवता का मुख्य अस्त्र, जो ऋषि दधीचि की अस्थियों से निर्मित कहा जाता है। यह अस्त्र चक्राकार

और तीक्ष्ण कोणों से युक्त होता है। इसके अनेक नाम हैं, यथा—अशनि, अभ्रोत्थ, बहुदार, भिदिर या छिदक, दम्भोक्ति, जसुरि, ह्लादिनी, कुलिश, पवि, पट्कोण, शम्भ एवं स्वरु।

(२) अनिरुद्ध का पुत्र। उसकी माता अनिरुद्ध की पत्नी सुभद्रा अथवा दैत्यकुमारी उषा कही जाती है। यादवों के विनाश के पश्चात् और द्वारका के जलमग्न हो जाने पर वही अन्त में मथुरामण्डल का राजा बनाया गया था।

वज्रसूची उपनिषद्—यह एक परवर्ती उपनिषद् है। कहा जाता है, यह किसी बौद्ध तार्किक (अश्वघोष) की रची हुई है।

वञ्जुली (द्वादशी)—कई प्रकार की द्वादशियों में से एक द्वादशी। वञ्जुली उस द्वादशी को कहते हैं जो सूर्योदय से आरम्भ होकर अगले सूर्योदय तक विद्यमान रहे तथा उस दिन भी थोड़ी देर रहे। अतएव यह सम्भव है कि द्वादशी को उपवास करके द्वादशी में ही दूसरे दिन व्रत की पारणा कर ली जाय। दूसरी तिथि में पारणा करने की आवश्यकता नहीं है। उस दिन भगवान् नारायण की सुवर्णप्रतिमा का पूजन किया जाय। इसका माहात्म्य तथा पुण्य सहस्र राजसूय यज्ञों से भी अधिक माना जाता है।

वटसावित्रीव्रत—ज्येष्ठ मास की अमावस्या को सधवा महिलाएँ सौभाग्य रक्षार्थ यह व्रत करती हैं। इसमें विविध प्रकार से वटवृक्ष का पूजन किया जाता है और पति के स्वास्थ्य तथा दीर्घायुष्य की कामना की जाती है।

वत्स—कण्व के वंशज अथवा पुत्र वत्स का ऋग्वेद में गायक के रूप में उल्लेख हुआ है। पञ्चविंशब्राह्मण के अनुसार उन्हें अपनी वंशशुद्धता मेधातिथि के सम्मुख प्रदर्शित करने के लिए अग्निपरीक्षा देनी पड़ी तथा उसमें वे सफल निकले। शाङ्खायनश्रौतसूत्र में उन्हें तिरिन्दर पारशव्य से प्रभूत दान पानेवाला कहा गया है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में भी उनका उल्लेख है। वत्स एक उपगोत्र (वत्स गोत्र) के प्रवर्त्तक भी माने जाते हैं।

वत्सद्वादशी—कार्तिक कृष्ण द्वादशी। इस दिन बछड़े वाली गौ का चन्दन के लेप, माला, अर्घ्यसे उरद की दाल के बड़ों का नैवेद्य बनाकर सम्मान करना चाहिए। उस दिन व्रती तेल का पका हुआ अथवा कड़ाही में तला हुआ भोजन एवं गौ के दूध, घी, दही तथा मक्खन का परित्याग करे और बछड़ों को छुट्टा दूध पीने दिया जाय।

वत्सराधिपपूजा—वर्ष के स्वामी का पूजन। चैत्र मास में जिस दिन नया वर्ष प्रारम्भ होता है उस दिन का वार ही वर्ष का स्वामी होता है। उसी दिन वर्ष के स्वामी का पूजन होना चाहिए।

वन—शङ्कर के अनुयायी दसनामी संन्यासियों मेंसे वन भी एक वर्ग है। ये गोवर्धन मठ (जगन्नाथपुरी) के अन्तर्गत आते हैं।

वरचतुर्थी—मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थी। यह तिथिव्रत है। प्रति मास की चतुर्थी को गणेश का पूजन करना चाहिए। उस दिन क्षार तथा लवण का त्यागकर एकभक्त विधि से भोजन करना चाहिए। यह व्रत चार साल तक चलना चाहिए। किन्तु द्वितीय वर्ष नक्त विधि से, तृतीय वर्ष अयाचित विधि से तथा चतुर्थ वर्ष उपवास के साथ व्रत करने का विधान है।

वरदगुरु—आचार्य वरदगुरु पन्द्रहवीं शती में हुए थे। वे वेंकटनाथ के पुत्र तथा नगनाराचार्य के शिष्य थे। उनका दूसरा नाम प्रतिवादिभयङ्करम् अस्नन था। तार्किक होने के कारण उनका यह नाम पड़ा। वरदगुरु ने वेंकटनाथ की प्रशंसा में 'सप्ततिरत्नमालिका' नामक काव्य की रचना की। नगनाराचार्य ने वेदान्ताचार्य के 'अधिकरणसारावली' नामक ग्रन्थ की टीका लिखी है। वरदगुरु वेङ्कटनाथ के अनन्य भक्त और नगनाराचार्य के उपयुक्त शिष्य एवं विशिष्टाद्वैत मत के समर्थक थे। उन्होंने 'तत्त्वत्रयचुलुकसंग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें रामानुज स्वामी के सिद्धान्त की व्याख्या की गयी है।

वरचतुर्थी—माघ शुक्ल चतुर्थी को इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। वरद (विनायक या गणपति) की चतुर्थी एवं पञ्चमी को कुन्दपुष्पों से पूजा करनी चाहिए, ऐसा 'समयप्रदीप' का लेख है। जबकि 'कृत्यरत्नाकर' और 'वर्षकृत्यकौमुदी' कहते हैं कि 'वरचतुर्थी' के दिन व्रतारम्भ करके पञ्चमी के दिन कुन्दपुष्पों से गणेश का पूजन करना चाहिए। यही पञ्चमी श्री पञ्चमी है। 'वर' का तात्पर्य है विनायक।

वरवतापनीयोपनिषद्—इसका अन्य नाम गणपतितापनीयोपनिषद् भी है। यह गाणपत्य मत की उपनिषद् है। इसमें गणेश को ही परब्रह्म मानकर उनका एक मन्त्रराज लिखा गया है तथा उसकी व्याख्या नरसिंहतापनीयोपनिषद् के अनुकरण पर की गयी है। रचनाकाल की दृष्टि से इसको नवीं शताब्दी के बीच का माना जाता है।

वरदनायक सूरि—ये आचार्य वरदगुरु के पश्चात् उत्पन्न हुए थे। क्योंकि इन्होंने 'चिदचिदीश्वरतत्त्वनिरूपण' नामक अपने ग्रन्थ में वरदगुरु के 'तत्त्वत्रयचुलुक' का उल्लेख किया है। सम्भवतः ये १६वीं शती में हुए थे। वरदनायक ने अपने ग्रन्थ में जीव, जगत् और ईश्वर के सम्बन्ध पर विचार किया है। इनका विचार भी रामानुज स्वामी के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त से मिलता-जुलता है।

वरदराज—वरदराज विष्णुस्वामी मतावलम्बी थे। इन्होंने भागवत पुराण की एक टीका लिखी है। इसकी एक दो सौ वर्ष पुरानी पाण्डुलिपि संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में है। किन्तु इसकी परीक्षा नहीं हुई है। इनका समय अनिश्चित है।

वरदा चतुर्थी—माघ शुक्ल चतुर्थी। गौरी इसकी देवता हैं। विशेष रूप से महिलाओं के लिए इस व्रत का महत्त्व है। हेमाद्रि, १. ५३१ में इसका नाम गौरीचतुर्थी है जो सही प्रतीत होता है। निर्णयसिन्धु (पृ० १३३) के अनुसार भाद्र शुक्ल पक्ष की चतुर्थी वरदा चतुर्थी है। पुरुषार्थचिन्तामणि (पृ० ९५) के अनुसार मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थी वरदा चतुर्थी है।

वरदाचार्य—वरदार्य या वरदाचार्य रामानुजाचार्य के भानजे और शिष्य तथा 'श्रुतप्रकाशिका' टीकाकार सुदर्शनाचार्य के गुरु थे। वे लगभग तेरहवीं शती विक्रमी में विद्यमान थे। 'तत्त्वनिर्णय' ग्रन्थ में अपना गोत्र उन्होंने वात्स्य और पिता का नाम देवराजाचार्य लिखा है। वरदाचार्य ने 'तत्त्वनिर्णय' नामक प्रबन्ध में विष्णु को ही परब्रह्म सिद्ध किया है। यह ग्रन्थ सम्भवतः अप्रकाशित है।

वरदोत्तरतापनीय उपनिषद्—एक परवर्ती उपनिषद्। इसका सम्बन्ध गाणपत्य मत से है।

वरनवमी—इस व्रत के अनुसार प्रत्येक नवमी को आटे का आहार नौ वर्षपर्यन्त करना चाहिए। दुर्गा इसकी देवता हैं। इससे समस्त मनःकामनाएँ पूरी होती हैं। यदि व्रती प्रति नवमी को बिना पका हुआ भोजन जीवनपर्यन्त करे तो इहलोक तथा परलोक में अनन्त पुण्यों तथा फलों की प्राप्ति होती है।

वररुचि—सामवेद का गोभिलकृत श्रौतसूत्र पुष्पसूत्र है। इसे दाक्षिणात्यों में फुलसूत्र कहते हैं और इसे वररुचि की रचना बतलाते हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर वररुचि का भाष्य था जो अब नहीं मिलता है। वररुचि प्राकृतप्रकाश नामक एक व्याकरण ग्रन्थ के रचयिता भी कहे जाते हैं।

महाभाष्य के पहले पाणिनीय सूत्रों पर कात्यायन मुनि ने वार्तिक लिखे हैं। इन्होंने अपने वार्तिक में पाणिनि के अनेक सूत्रों की स्वतंत्र समालोचना की है। इसका विशेष उद्देश्य यही है कि सूत्रों का अर्थ और तात्पर्य खुल जाय। ये वार्तिककार कात्यायन ही वररुचि थे। कथासरित्सागर में लिखा है कि पार्वती के शाप से वत्सराज उदयन की राजधानी कौशाम्बी में कात्यायन वररुचि का जन्म हुआ था।

वरलक्ष्मीव्रत—श्रावण पूर्णिमा के दिन जब शुक्र ग्रह पूर्व में उदय हो उस समय व्रती को अपने घर की उत्तर-पूर्व दिशा में एक मण्डप बनाना चाहिए तथा उसमें कलश की स्थापना करनी चाहिए। कलश पर वरलक्ष्मी का आवाहन करके उनका 'श्रीसूक्त' के मन्त्रों से पूजन करना चाहिए। दे० 'साम्राज्यलक्ष्मीपीठिका' का पृ० १४७-१४९ (भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट पूना, १९२५-२६ का प्रतिलेख सं० ४३)।

वराटिकासप्तमी—किसी भी सप्तमी के दिन इस व्रत का अनुष्ठान किया जा सकता है। मनुष्य उस दिन ऐसे भोजन पर निर्भर रहे जो तीन कौड़ियों में खरीदा जा सके। उस खरीदी हुई वस्तु का खाना चाहे उसके लिए उचित हो या न हो। इसके सूर्य देवता हैं। इसके पुण्य तथा फल नहीं बताये गये हैं।

वराहद्वादशी—माघ शुक्ल द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। भगवान् विष्णु के ही एक रूप वराह इसके देवता हैं। एकादशी को संकल्प तथा पूजन करके एक कलश में सोने की वराह भगवान् की मूर्ति रख देनी चाहिए। तदनन्तर उनकी पूजा कर रात्रि में मण्डप में जागरण किया जाय। द्वितीय दिवस वह प्रतिमा किसी विद्वान् तथा सदाचारी को दान में दे दी जाय। इसके परिणामस्वरूप इसी जीवन में सौभाग्य, सम्पत्ति, सौन्दर्य, सम्मान, पुत्रादि सभी कुछ प्राप्त हो जाता है।

वराहपुराण—यह वैष्णव पुराण है। इसमें वराह अवतार की कथा का विशेष रूप से वर्णन है और यह वराह द्वारा पृथ्वी को सुनाया गया था। संभवतः नामकरण का यही कारण हो सकता है। पुराणों के अनुसार इसमें २४ सहस्र श्लोक होने चाहिए, किन्तु उपलब्ध प्रतियों में केवल १० सहस्र श्लोक पाये जाते हैं। इसके दो संस्करण

मिलते हैं—(१) गौडीय और (२) दाक्षिणात्य। इनमें प्रथम अधिक प्रसिद्ध है। इस पुराण में विष्णु के अनेक व्रतों का विस्तृत वर्णन है, विशेषकर द्वादशीव्रत का। प्रत्येक मास की शुक्ल द्वादशी का सम्बन्ध विष्णु के अवतारविशेष से जोड़ा गया है। इस पुराण के दो आख्यान बहुत प्रसिद्ध हैं—मथुरामाहात्म्य (अ० १५२-१७२) तथा नाचिकेतोपाख्यान (अ० १९३-२१२)। दूसरे आख्यान में नचिकेता की यमलोकयात्रा के सम्बन्ध में स्वर्ग तथा नरक का विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

वराहमिहिर—खगोलीय गणित और फलित ज्योतिष के प्राचीन लेखक। वराहमिहिर नाम से ही ये मिहिर (सूर्य) के भक्त सिद्ध होते हैं। इन्होंने पञ्चसिद्धान्तिका, बृहज्जातक आदि के साथ ही प्रसिद्ध ग्रन्थ बृहत्संहिता की रचना की। इसके अनुसार सूर्य की प्रतिमा ईरानी शैली में निर्मित होती थी। इन्होंने इन मूर्तियों तथा इनके मन्दिरों की स्थापना तथा मग ब्राह्मणों द्वारा प्राणप्रतिष्ठा करने आदि के नियम बतलाये हैं। इनका समय पाँचवीं-छठी शती का मध्य भाग इन्हीं की ग्रहगणना से सिद्ध होता है। इससे इनका विक्रमादित्य के नवरत्नों में होना प्रमाणित नहीं होता।

वराहसंहिता—वैष्णव संहिताओं में वराहसंहिता सबसे प्राचीन मानी जाती है।

वराहावतार—विष्णु के दस अवतारों में तृतीय स्थान वराहावतार का है। भगवान् ने पाताल लोक से पृथ्वी के उद्धार के लिए यह अवतार धारण किया था। इस अवतार के प्रसंग में भागवत पुराण के अनुसार जय और विजय नामक भगवान् के द्वारपाल सनत्कुमारादि ऋषियों के शाप के कारण विष्णुलोक से च्युत होकर दैत्य योनि में उत्पन्न हुए। उनमें से एक का नाम हिरण्याक्ष था, जिसने पृथ्वी पर अधिकार प्राप्तकर उसे रसातल में छिपा रखा था। अतः भगवान् ने उसका वध करके पृथ्वी का उद्धार किया। यह कथानक इस अवतार से सम्बन्धित है।

वरिवस्यारहस्य—दक्षिणमार्गी शाक्त ग्रन्थ। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में तञ्जौर के राजपण्डित भास्करराय द्वारा यह रचा गया। इसका विषय शाक्त उसासना पद्धति है। यह आर्या छन्द में लिखा गया है।

वरुण—वैदिक देवों में वरुण का स्थान सबसे अधिक प्रभावशाली है। इनका प्रभाव भारत-ईरानी काल में बढ़ गया था तथा 'अहुर मज्द' वरुण का ही ईरानी प्रतिरूप प्रतीत होता है। कुछ लोग इनका प्रभाव भारत-यूरोपीय काल से मानते हैं तथा इनका सम्बन्ध यूनानी 'औरनॉज' से स्थापित करते हैं। कतिपय प्राच्यविद्याविशारद चन्द्रमा में वरुण का भौतिक आधार मानते हैं। वरुण आदित्यों में सात (वें) हैं तथा प्रो० ओल्डेनबर्ग ने उनको सूर्य, चन्द्र तथा पञ्चग्रहरूप बतलाया है। ऋग्वेद में वरुण का मित्र से उतना ही सामीप्य है जितना अवेस्ता में 'अहुर मज्द' का 'मिथ्र' से। दोनों नाम वरुण एवं मित्र बोगाजकोई (ईराक) के अभिलेख में उद्धृत हैं (१४०० ई० पू०)।

प्रागैतिहासिक काल में यूनानी जियस् (द्यौस्) तथा औरनॉज के जो गुण प्रकाश तथा घेरना कहे गये हैं, वे भारतीय वरुण देवता में पाये जाते हैं। साधारण लोग वरुण का सम्बन्ध जल से स्थापित करते हैं तथा इस प्रकार वरुण को वर्षा करने वाला देवता भी कहते हैं। मित्र और वरुण का युग्म (वैदिक मित्रावरुण) तो भारत-ईरानी काल से ही प्रचलित है। दे० पीछे 'मित्र'।

वरुण और नीति—ऋग्वेद (८.८६) में वरुण द्वारा की गयी ऋत की व्यवस्था का वर्णन है। यह व्यवस्था भौतिक, नैतिक और कर्मकाण्डीय है। वरुण पापों की चेतावनी तथा दण्ड देने के लिए रोग भी उत्पन्न कर देते हैं। वरुण की स्तुति पाप तथा दण्डों से मुक्ति पाने के लिए (ऋ० ७. ८६. ५ आदि) की जाती थी। वरुण को दयालु देवता और जीवन तथा मृत्यु का देवता भी कहा गया है।

वरुण की मैत्री तथा दया प्राप्त करने के लिए दास्यभक्ति की आवश्यकता होती है (ऋ० ७. ८६. ७) तथा इससे वरुण के कोपभाजन उनके कृपापात्र हो जाते हैं। उनके नियमों के सामने निर्दोष व्यक्ति प्रसन्नचित्त खड़े रहते हैं। वरुण की इच्छा ही धर्मविधि है। वरुण के धर्म परिवर्तित नहीं होते। उनका एक चारित्रिक विरुद धृतव्रत है (जिनके व्रत दृढ हैं)।

वरुण का साम्राज्य पक्षियों की उड़ान से भी दूर, समुद्र तथा पहाड़ों की पहुँच के बाहर तक फैला हुआ है। सबसे ऊँचे आकाश (स्वर्ग) में वे सहस्र द्वारों वाले प्रासाद में सिंहासनारूढ हैं, विश्व पर शासन करते हैं तथा मनुष्यों के कार्यों पर दृष्टि रखते हैं। स्वर्ग भी उन्हें धारण नहीं

कर सकता, अपितु तीनों स्वर्ग तथा तीनों भूलोक उनके भीतर निहित हैं । वे सबको धारण करने वाले हैं (ऋ० ८. ४१. ३७) । 'वे सर्वव्यापी हैं तथा कोई उनसे दूर नहीं भाग सकता । वे विश्व में होने वाली सभी गुप्त से गुप्त बातों को जानते हैं । वे सर्वज्ञ हैं, प्रत्येक आँख की पलक के गिरने का उन्हें ज्ञान है ।' वरुण को प्रसन्न करने के लिए ऐसी ही अनेक स्तुतियाँ वेदों में कही गयी हैं । वे अपने भक्तों को प्रसन्नता व रक्षा का वर देते हैं ।

वरुणगृहीत—वरुणगृहीत (वरुण से ग्रहण किया हुआ) का उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में बहुशः हुआ है । वरुण से गृहीत होने पर मनुष्य को जलोदर का रोग होता है । पापों के फलभोग के लिए वरुण द्वारा दिया गया यह दण्ड है ।

वरुणव्रत—(१) यदि कोई व्यक्ति रात्रि भर जल में खड़ा रहे तथा दूसरे दिन प्रातः एक गौ का दान करे तो वह वरुणलोक प्राप्त कर लेता है ।

(२) विष्णुधर्म० (३.१९५.१–३) के अनुसार भाद्रपद मास के प्रारम्भ से पूर्णिमा तक वरुण का पूजन करना चाहिए । व्रत के अन्त में एक जलधेनु, एक छाता, दो वस्त्र तथा एक जोड़ी खड़ाऊँ का दान किया जाय । 'जलधेनु' शब्द अनुशासनपर्व (७१.४१) तथा मत्स्य पुराण (५३.१३) में आता है ।

वर्ची—ऋग्वेद में यह इन्द्र के एक शत्रु का नाम है । उसे दास तथा शम्बर का साथी भी (४.३०.१५) कहा गया है । वह पार्थिव शत्रु एवं असुर है । सम्भवतः उसका सम्बन्ध वृचीवन्त से है ।

वर्ण—चार श्रेणियों में विभक्त भारत का मानववर्ग । यह सामाजिक संस्था है । इसका अर्थ है प्रकृति के आधार पर गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार समाज में अपनी वृत्ति (व्यवसाय) का चुनाव करना । इस सिद्धान्त के अनुसार समाज में चार ही मूल वर्ग अथवा वर्ण हो सकते हैं । वे हैं (१) ब्राह्मण (बौद्धिक कार्य करने वाला) (२) क्षत्रिय (सैनिक तथा प्रशासकीय कार्य करने वाला (३) वैश्य (उत्पादक सामान्य प्रजा वर्ग) और (४) शूद्र (श्रमिक वर्ग) । वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त हैं । एक मत के अनुसार इसकी उत्पत्ति प्राकृतिक श्रमविभाजन के आधार पर हुई । श्रमविभाजन पहले व्यक्तिगत था जो पीछे पैतृक हो गया । दूसरे मत के अनुसार वर्ण दैवी व्यवस्था है । विराट् पुरुष (विश्वपुरुष) के शरीर के चार अङ्गों से चार वर्ण उत्पन्न हुए : मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से राजन्य (क्षत्रिय), जंघाओं से वैश्य और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुआ । वास्तव में यह सामाजिक श्रम अथवा कार्य विभाजन का रूपकात्मक वर्णन है । तीसरे मत के अनुसार वर्ण का आधार प्रजाति है और वर्ण का अर्थ रंग है । आर्य श्वेत और आर्येतर कृष्ण वर्ण के थे । इस रंगीन अन्तर के कारण पहले आर्य और अनार्य अथवा शूद्र दो वर्ण बने । फिर आर्यों में ही तीन वर्ण हो गये—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य । परन्तु आर्यों के भीतर ही तीन वर्ण अथवा रंग कैसे हुए, इसकी व्याख्या इस मत से नहीं होती । वर्ण की उत्पत्ति का चौथा मत दार्शनिक है । संसार में जितने भी भेद हैं वे सांख्यदर्शन के अनुसार तीनों गुणों–सत्त्व, रज तथा तम–के न्यूनाधिक्य के कारण बने हैं । सामाजिक विभाजन भी इसी के ऊपर आधारित है । जिसमें सत्त्वगुण (ज्ञान अथवा प्रकाश) की प्रधानता है वह ब्राह्मण वर्ण है । जिसमें रजोगुण (क्रिया अथवा शक्ति) की प्रधानता है वह क्षत्रिय वर्ण है । जिसमें रजस्तमः (अन्धकार-लोभ-मोह) के मिश्रण की प्रधानता है वह वैश्य वर्ण है और जिसमें तमः (अन्धकार, जड़ता) की प्रधानता है वह शूद्र वर्ण है ।

वास्तव में दार्शनिक सिद्धान्त ही मौलिक सिद्धान्त है । परन्तु वर्ण के ऐतिहासिक विकास में उपर्युक्त सभी तत्त्वों का हाथ रहा । पहले आर्यों में ही वर्ण विभाजन था किन्तु वह व्यक्तिगत और मुक्त था; वर्ण परिवर्तन संभव और सरल था । ज्यों ज्यों आर्येतर तत्त्व समाज में बढ़ता गया त्यों त्यों शूद्रों की संख्या तो बढ़ती गयी किन्तु उनका सामाजिक स्तर गिरता गया । साथ ही जो वर्ण शूद्र के जितना ही निकट और उससे सम्पृक्त था वह उतना ही सामाजिक मूल्यांकन में नीचे खिसकता गया । वर्णों के पैतृक होने का एक कारण तो पैतृक व्यवसाय का स्थायित्व था, परन्तु दूसरा कारण प्रजातीय भेद भी हो सकता है । फिर भी वर्ण का एक वैशिष्ट्य था । इसमें सहस्रों जातियों और उपजातियों को चार पूरक और परस्पर सहकारी वर्गों में बाँटने का प्रयास किया गया है । यह जातिप्रथा से भिन्न संस्था है । वर्ण सैद्धान्तिक अथवा वैचारिक संस्था है, जबकि जाति का आधार जन्म अथवा प्रजाति है । वर्ण संयोजक है, जाति विभाजक है ।

वर्णों के कर्त्तव्य अथवा कार्य का विभाजन सैद्धान्तिक

है और इसका पूरा विवरण धर्मशास्त्र में पाया जाता है। ब्राह्मण के कर्त्तव्य हैं (१) पठन (२) पाठन (३) यजन (४) याजन (५) दान और (६) प्रतिग्रह। इनमें पाठन, याजन और प्रतिग्रह ब्राह्मण के विशेष कार्य हैं। क्षत्रिय के सामान्य कर्त्तव्य हैं पठन, यजन और दान; उसके विशेष कर्त्तव्य हैं प्रजारक्षण, प्रजापालन और प्रजारंजन। वैश्य के सामान्य कर्त्तव्य वे ही हैं जो क्षत्रिय के हैं। उसके विशेष कर्त्तव्य हैं कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य। शूद्र के भी सामान्य कर्त्तव्य वे ही हैं जो अन्य वर्णों के, परन्तु उनका अनुष्ठान वह वैदिक मंत्रों की सहायता के बिना कर सकता था। पीछे इस पर भी प्रतिबन्ध लगने लगे। उसका विशेष कर्त्तव्य अन्य तीन वर्णों की सेवा है। कर्त्तव्यों में अपवाद और आपद्धर्म स्वीकार किये गये हैं। आपत्काल में अपने से अवर वर्ण के कर्त्तव्यों से जीविका चलायी जा सकती है। परन्तु उसमें कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये हैं, जिससे मूल वृत्ति की रक्षा हो सके।

वर्ण के उत्कर्ष और अपकर्ष का सिद्धान्त भी धर्मशास्त्रों में माना गया है। जब वर्ण तरलावस्था में था तो शूद्र से ब्राह्मण और ब्राह्मण से शूद्र होना दोनों संभव थे। परन्तु वर्ण ज्यों-ज्यों जन्मगत होता गया त्यों-त्यों वर्णपरिवर्तन कठिन होता गया और अन्त में बन्द हो गया। फिर भी सिद्धान्ततः आज भी मान्य है कि सत्कर्मों से जन्मान्तर में वर्ण का उत्कर्ष हो सकता है।

मध्ययुग में, विशेष कर दक्षिण में, एक विचित्र सिद्धान्त का प्रचलन हो गया कि कलियुग में दो ही वर्ण हैं—(१) ब्राह्मण और (२) शूद्र (कलावाद्यन्तसंस्थितिः); क्षत्रिय और वैश्य नहीं हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक कर्मकाण्ड और संस्कारों के बन्द हो जाने कारण वैश्यों और क्षत्रियों की कई जातियाँ शूद्रवर्ण में परिगणित होने लगीं। धीरे-धीरे दक्षिण में दो ही वर्ण ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर माने जाने लगे। परन्तु उत्कीर्ण अभिलेखों तथा समसामयिक साहित्य से पता लगता है कि व्यवहार में क्षत्रिय और वैश्य वर्ण अपने को क्षत्रिय और वैश्य ही मानते रहे और समाज ने उनकी इस मान्यता को स्वीकार भी किया।

आधुनिक युग में वर्णगत व्यवसायों के सम्बन्ध में विज्ञान और तकनीकी विज्ञान के कारण क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। वर्ण और व्यवसाय का सामंजस्य टूट सा चला है। इससे विचित्र वृत्तिसंकर की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। कार्य विशेष के लिए अयोग्यता और भ्रष्टाचार का अधिकांश में यही कारण है।

वर्णविलासतन्त्र—'आगमतत्त्वविलास' की तन्त्रसूची में एक तन्त्र 'वर्णविलास' भी है।

वर्णव्यवस्था—मानवसमूह की आवश्यकताओं को देखते हुए उसके चार विभाजन हुए। सबसे बड़ी आवश्यकता शिक्षा की थी, इसके लिए ब्राह्मण वर्ण बना। राष्ट्र की रक्षा, प्रजा की रक्षा दूसरी आवश्यकता थी। इस काम में कुशल, बाहुबल को विवेक से काम में लाने वाले क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति हुई। शिक्षा और रक्षा से भी अधिक आवश्यक वस्तु थी जीविका। अन्न के बिना प्राणी जी नहीं सकता था, पशुओं के बिना खेती नहीं हो सकती थी। वस्तुओं की अदलाबदली बिना सबको सब चीजें मिल नहीं सकती थीं। चारों वर्णों को अन्न, दूध, घी, कपड़े-लत्ते आदि सभी वस्तुएँ चाहिएँ। इन वस्तुओं का उपजाना, तैयार करना, फिर जिसकी जिसे जरूरत हो उसके पास पहुँचाना, यह सारा काम प्रजा के एक सबसे बड़े समुदाय के सिर पर रखा गया। इसके लिए वैश्यों का वर्ण बना। किसान, व्यापारी, ग्वाले, कारीगर, दूकानदार, बनजारे ये सभी वैश्य हुए। शिक्षक को, रक्षक को, वैश्य को, छोटे-मोटे कामों में सहायक और सेवक की आवश्यकता थी। धावक व हरकारे की, हरवाहे की, पालकी ढोनेवाले की, पशु चरानेवाले की, लकड़ी काटने वाले की, पानी भरने, बरतन माजने वाले की, कपड़े धोनेवाले की आवश्यकता थी। ये आवश्यकताएँ शूद्रों ने पूरी कीं। इस प्रकार प्रजासमुदाय की सभी आवश्यकताएँ प्रजा में पारस्परिक कर्मविभाग से पूरी हुईं। दे० 'वर्ण'।

वर्णव्रत—यह चतुर्मूर्तिव्रत है, जो चैत्र से प्रारम्भ होकर आषाढ़ मास से भी आगे जारी रहता है। जो व्रती उपवास रखते हुए भगवान् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की पूजा कर क्रमशः यज्ञोपयोगी सामग्री ब्राह्मण को, युद्धोपयोगी क्षत्रिय को, व्यापारोपयोगी वैश्य को तथा शारीरिक शिल्पोपयोगी शूद्र को दान करता है वह इन्द्रलोक प्राप्त करता है।

वर्णाश्रमधर्म—वर्णव्यवस्था का आधार कर्मविभाग था, उसी प्रकार व्यक्ति की जीवनव्यवस्था का रूप आश्रमविभाग था। जीवन की पहली अवस्था में अच्छे

गृहस्थ होने की शिक्षा लेना अनिवार्य था। प्रत्येक वर्ण का सदस्य जीविका की आवश्यक शिक्षा इसी अवस्था या आश्रम में पाता था। वेदादि शास्त्रों के अतिरिक्त, क्षत्रिय शस्त्रास्त्र विद्या और वैश्य कारीगरी, पशुपालन, कृषि आदि का काम भी सीखता था। शूद्र भी अपनी जीविका के अनुकूल गुणों का अभ्यास करता था। साथ ही सबको चरित्र की शिक्षा इसी समय मिलती थी। इस आश्रम में ही कर्मविभाग पर ध्यान देना आरम्भ हो जाता था।

दूसरी अवस्था अथवा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर तो मनुष्य अपने-अपने भिन्न-भिन्न कर्म करता ही था। वानप्रस्थाश्रम तपस्या का आश्रम था, भोगविलास का नहीं। संन्यासाश्रम में भी तपस्या ही थी। इस तरह गृहस्थ के सिवा शेष तीनों आश्रमी अपने भोजनाच्छादन के लिए यद्यपि गृहस्थ के भरोसे रहते थे, तथापि उनकी आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी होती थीं। नियमतः वे थोड़ा पहनते थे, थोड़ा खाते थे। उनका जीवन समाज पर बोझ नहीं प्रतीत होता था।

गृहस्थाश्रम के अधिकारी चारों वर्णों के लोग थे। ब्रह्मचर्याश्रम के तीन वर्ण के लोग (शूद्र को छोड़कर) तथा वानप्रस्थाश्रम के अधिकारी केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय थे। संन्यासाश्रम के अधिकारी केवल ब्राह्मण थे। इस प्रकार आश्रम के हिसाब से सबसे बड़ी संख्या गृहस्थों की थी। उनके बाद ब्रह्मचारी थे, वानप्रस्थ उनसे कम और संन्यासी उनसे भी कम। फिर तपस्या का जीवन इतना लोकप्रिय नहीं था और ममता छोड़ संसार त्यागकर संन्यासी होना तो सबसे कठिन था। इसीलिए इन आश्रमों में लोग अपनी-अपनी श्रद्धानुसार प्रवेश करते थे। यही बात थी कि वैश्य और क्षत्रिय ब्रह्मचर्याश्रम के अधिकारी होते हुए भी कम ही उस आश्रम में जाते थे।

वर्णाश्रमों के विशिष्ट धर्म सूत्रग्रन्थों में, स्मृतियों में, पुराणों में, तन्त्रों में और महाभारत में भी प्रसंगानुसार जहाँ-तहाँ विस्तार से बतलाये गये हैं।

वर्धमान उपाध्याय—न्याय दर्शन के एक आचार्य। इन्होंने उदयनाचार्य विरचित 'तात्पर्यपरिशुद्धि' की टीका लिखी है जिसका नाम 'प्रकाश' है। इसका पूरा नाम 'न्यायनिबन्धप्रकाश' है। यह १२वीं शती की रचना है।

वर्षापनविधि—इस कृत्य का अर्थ है जन्मोत्सव के क्रियाकलाप। किसी शिशु के लिए यह प्रति मास जन्म वाली तिथि के दिन होनी चाहिए, किन्तु किसी राजा के सम्बन्ध में वर्ष में केवल एक बार होनी चाहिए। इस अवसर पर सोलह देवियों (कुमुदा, माधवी, गौरी, रुद्राणी, पार्वती आदि) की नील अथवा केसर से एक वृत्त में आकृतियाँ खींची जाँय, जिनके मध्य में सूर्य की भी आकृति रहे। इस अवसर पर बच्चे को स्नान कराकर बाँस की सोलह टोकरियों में मूल्यवान् पदार्थ, खाद्य पदार्थ, फूल-फल भरकर उक्त देवियों को अर्पण करने चाहिए। पश्चात् एक एक देवी के नाम से एक-एक टोकरी का ब्राह्मणों तथा सधवा स्त्रियों को दान कर देना चाहिए। दान करते समय देवियों से प्रार्थना की जाय कि कुमुदा आदि देवियाँ हमारे पुत्र को स्वास्थ्य, सुख तथा दीर्घायु प्रदान करें। देवी की पूजा में उच्च स्वर से वैदिक मंत्रों का उच्चारण करना चाहिए। गीत, नृत्यादि मांगलिक कार्यों का भी विधान है। इन सब कृत्यों के बाद बच्चे के माता-पिता अपने सम्बन्धियों के साथ भोजन करें। राजा के विषय में इन्द्र तथा लोकपालों के नाम से हविष्यान्न की आहुतियाँ दी जाँय।

वर्षव्रत—चैत्र शुक्ल नवमी को इस व्रत का प्रारम्भ होता है। हिमवान्, हेमकूट, शृंगवान्, मेरु, माल्यवान्, गन्धमादन आदि वर्षपर्वतों की पूजा इस दिन करनी चाहिए। उपवास का भी विधान है। व्रत के अन्त में जम्बू द्वीप का चाँदी का मण्डल दान में दिया जाय। इससे समस्त मनःकामनाओं की पूर्ति तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

वल्लभ सम्प्रदाय—वल्लभ सम्प्रदाय के संस्थापक वल्लभाचार्य (१४७९-१५३१ ई०) तैलङ्ग ब्राह्मण थे, इनका जन्म काशी की ओर हुआ। पिता लक्ष्मण भट्ट विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। आरम्भ में आचार्य वल्लभ संस्कृत की शिक्षा प्राप्त कर वर्षों तक तीर्थाटन करते रहे तथा विद्वानों के साथ शास्त्र चर्चा करने में समय बिताते रहे। कृष्णदेव (विजयनगर के राजा, १५०९-२९ ई०) की राजसभा में इनके द्वारा स्मार्त विद्वानों को हराने की घटना विशेष उल्लेखनीय है। इनके जीवन की अनेक घटनाओं के बारे में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है, न यह ज्ञात है कि किस कारण इन्होंने इस सम्प्रदाय की स्थापना की, क्योंकि इनका प्राचीन विष्णुस्वामी सम्प्रदाय से

सम्बन्ध था। वल्लभ अग्निदेव के अवतार कहे जाते हैं, इनका कोई भी मानव गुरु ज्ञात नहीं है। इन्होंने अपने मत की शिक्षा सीधे कृष्ण भगवान् से प्राप्त की, ऐसा विश्वास प्रचलित है। जान पड़ता है कि कृष्ण के परम ब्रह्म होने, राधा के उनकी सहधर्मिणी होने तथा सर्वोच्च स्वर्ग गोलोक में उनके लीला करने का सिद्धान्त निम्बार्क से उनको मिला होगा।

वे अपने दार्शनिक सम्प्रदाय को शुद्धाद्वैत कहते हैं, किन्तु इनका अद्वैत शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद के सदृश शुष्क नहीं है। यह नाम शाङ्कर अद्वैत के विरोध के कारण दिया हुआ है। वल्लभ का मार्ग भक्तिमार्ग है। इनके अनुसार भक्ति साध्य है, साधन नहीं, क्योंकि भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है तथा सच्चा भक्त मुक्ति नहीं चाहता; वह कृष्ण का सायुज्य तथा लीला में सम्मिलित होना चाहता है। वल्लभ के मतानुसार भक्ति ईश्वर की कृपा से मिलती है। इस सम्प्रदाय में ईश्वर की कृपा के लिए 'पुष्टि' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द तथा इसका प्रयोग भागवत पुराण के एक उल्लेखनुसार हुआ है (वहाँ २.१०.४ में अनुग्रह को पोषण कहा गया है)।

इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त संक्षिप्त रूप में ये हैं—श्री कृष्ण परब्रह्म हैं, वे सत्ता, ज्ञान, आनन्द रूप हैं तथा केवल वे ही एक मात्र तत्त्व हैं। उन्हीं से भौतिक जगत्, जीवात्मा तथा देवों की उत्पत्ति होती है, यथा अग्नि से चिनगारियों की। जीव अणु हैं तथा ब्रह्मानुरूप हैं। जब तीनों गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) का उलटफेर होता है तो उनका आनन्द ढक जाता है तथा वे केवल सत्ता तथा अल्प ज्ञान रखते हुए दिखाई पड़ते हैं।

मुक्त आत्मा कृष्णलोक (गोलोक) को जाते हैं जो विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा के स्वर्गों से ऊपर है। वे कृष्ण के विशुद्ध दैवी स्वरूप को प्राप्त करते हैं।

इनके मन्दिरों में दिन में आठ बार पूजा (सेवा) होती है। सम्प्रदाय का मन्त्र है 'श्रीकृष्णः शरणं मम'। सम्प्रदाय की एक परम्परा यह है कि गुरु का पद वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ तथा उनके वंशजों को ही प्राप्त है।

वल्लभाचार्य के ग्रन्थ विद्वत्तापूर्ण हैं। वे ही इस सम्प्रदाय के आधार या प्रमाण माने जाते हैं। उनमें ये मुख्य हैं: (१) वेदान्तसूत्र का अणुभाष्य (२) 'सुबोधिनी' (भागवत पुराण की टीका) (३) तत्त्वदीपनिबन्ध (यह उनके सिद्धान्तों पर रचित दार्शनिक ग्रन्थ है)। इसके साथ 'प्रकाश' नामक पद्यभाग तथा अन्य कुछ लघु ग्रन्थ हैं जिनमें 'सिद्धान्तरहस्य' प्रसिद्ध है। गिरिधरजी तथा बालकृष्ण भट्ट ने क्रमशः 'शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड' तथा 'प्रमेयरत्नार्णव' जैसे वेदान्त ग्रन्थ लिखे हैं। ये दोनों सम्प्रदाय के उद्‌भट विद्वान् थे तथा इनके उपर्युक्त संस्कृत ग्रन्थ बड़े ही तर्कपूर्ण हैं। बाद के ग्रन्थकारों में गोस्वामी पुरुषोत्तमजी सबसे प्रसिद्ध हैं। इस सम्प्रदाय द्वारा वात्सल्य एवं मधुर भाव की भक्ति का बहुत प्रचार हुआ।

वल्लभी श्रुति—कहते हैं कि वल्लभी और सत्यायनी नामक दो वेदशाखा ग्रन्थ (यजुर्वेदीय) और भी हैं। बृहद्देवता में वल्लभी श्रुति का नाम आया है। सुरेश्वराचार्य एवं सायणाचार्य ने भी इसका उल्लेख किया है।

वल्लभोत्सव—वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य वल्लभ के सम्मान में उनके जन्मदिन के उत्सव के आयोजन को वल्लभोत्सव कहते हैं। जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म १४७९ ई० में हुआ था तथा इन्होंने अनेक ग्रन्थों का निर्माण कर योग तथा तपस्या से भिन्न भक्तिमार्ग का आन्दोलन चलाया। इनके समस्त सिद्धान्त भागवत पुराण पर आश्रित हैं। यह जन्मोत्सव वैशाख कृष्ण एकादशी को होता है।

वश अश्व्य—अश्विनों का आश्रित एक व्यक्ति, जो ऋग्वेद में बहु बार वर्णित है। शांखायन श्रौतसूत्र में भी उसे पृथुश्रवा कानीत से दान पाने वाला कहा गया है। वह वेदकालीन एक राज्य का प्रसिद्ध ऋषि भी है (ऋ० ८.४६) जो अपने 'वश' नाम से अनेक बार उद्‌धृत हुआ है।

वसन्तपञ्चमी—(१) माघ शुक्ल पञ्चमी को वसन्तपंचमी का त्यौहार मनाते हैं। इस दिन सरस्वतीपूजा के अतिरिक्त नवान्न प्राशन, प्रीतिभोज, गाना-बजाना आदि उत्सव होते हैं। वसन्त ऋतु का स्वागत किया जाता है। जान पड़ता है कि कभी इसी समय वसन्त ऋतु का आगमन होता था।

(२) प्राचीन समय में वैदिक अध्ययन का सत्र श्रावणी पूर्णिमा (उपाकर्म) से प्रारम्भ होकर इसी तिथि को समाप्त (उत्सर्जन) होता था। इस दिन सरस्वती पूजन करना इसी का स्मारक अवशेष है।

वसन्तोत्सव—वसन्त ऋतु का उत्सव वसन्तोत्सव नाम से प्रचलित है। इसके बारे में वायुपुराण (६.१०-२१) में बड़ा रोचक तथा विशद वर्णन मिलता है। मालविकाग्निमित्र तथा रत्नावली नामक नाटकों की प्रस्तावना में बतलाया गया है कि ये दोनों नाटक वसन्तोत्सव के उपलक्ष्य में अभिनीत हुए थे। मालविकाग्निमित्र के तीसरे अङ्क में बतलाया गया है कि लाल अशोक के फूलों की सौगात लोगों ने अपने प्रिय जनों के पास भेजी थी तथा उच्च घराने की महिलाएँ अपने पतियों के साथ झूले में बैठा करती थीं। निर्णयसिन्धु इसे चैत्र कृष्ण प्रतिपदा (पूर्णिमान्त की गणना करते हुए) को बतलाता है जबकि पुरुषार्थ चिन्तामणि इसे माघ शुक्ल पञ्चमी (निर्णयामृत का अनुसरण करते हुए) को बतलाता है। पारिजातमंजरी नाटिका, प्रथम अङ्क के अनुसार चैत्र की परिवा को वसन्तोत्सव होता है।

वसव—वीर शैव सम्प्रदाय के संस्थापक वसव थे, ऐसा कुछ इतिहास के विद्वान् मानते हैं। वसव चालुक्य राजा बिज्जल के प्रधान मंत्री थे। किन्तु फ्लीट के मतानुसार अब्लुर के एकान्तद रामाय्य, जिनका जीवनचरित्र एक प्रारम्भिक आलेख में प्राप्त है, इस सम्प्रदाय के संस्थापक थे। वसव को इसका पुनरुद्धारक कह सकते हैं।

वसवपुराण—तेलुगु में छन्दोबद्ध रूप में रचित १३वीं शताब्दी का यह ग्रन्थ वीर शैव सम्प्रदाय का निरूपण करता है। इसके रचयिता पालकुर्की के सोमनाथ हैं। इसका कन्नड अनुवाद भीमचन्द्र कवि द्वारा हुआ है।

वसवशाखा—वसव की परम्परा के लिङ्गायत सुधारवादी वर्ग के माने जाते हैं। इसका आरम्भ वसव से समझा जाता है और आधार वसवेश्वर पुराण है। इस पुराण में लिखा है कि जब भूमण्डल पर वीर शैवमत का ह्रास हो रहा था, देवर्षि नारद की प्रार्थना पर परमेश्वर ने अपने गण नन्दी को उसके उद्धार के लिए भेजा। नन्दीश्वर ने बागेवाड़ी में जन्म लिया और उनका नाम 'वसव' रखा गया। कन्नड में वसव शब्द वही है जो हिन्दी में 'बसह' और संस्कृत में वृषभ है। वसवेश्वर ने यज्ञोपवीत नहीं धारण किया, क्योंकि उन्हें सूर्य की उपासना स्वीकार न थी। वे बागेवाड़ी से कल्याण आये जहाँ बिज्जल नामक राजा था और वसवेश्वर के मामा बलदेव उसके मन्त्री थे। बलदेव की मृत्यु के बाद वसवेश्वर मन्त्री हो गये। वसवेश्वर वीरशैवों के पक्षपाती थे। उन्होंने उन पर बहुत कुछ राजस्व व्यय किया, जिससे राजा रुष्ट हो गया। उसने उन्हें कैद करना चाहा। राजा और मन्त्री में युद्ध छिड़ गया। राजा हार गया और सन्धि हुई। राजा, मन्त्री फिर यथावत् स्थित हुए।

तदनन्तर वसव ने वर्णान्तर विवाह का प्रचार किया। चमार और ब्राह्मण में विवाह सम्बन्ध कराया। इस पर राजा ने हरलइया चमार और मधुवइया ब्राह्मण की आँखें निकलवा लीं। इससे वसव का उद्देश्य सफल न हुआ। इस पर रुष्ट होकर वसवेश्वर ने षड़यन्त्र रचा और राजा का वध करवा दिया।

कुछ लोगों का अनुमान है कि लिङ्गायतों के मूलाचार्य वसवेश्वर थे। यह कथन अनेक कारणों से भ्रमपूर्ण है। पहले तो 'वसवपुराण' जो मूलतः तेलुगु और फिर कन्नड में लिखा गया, अब से सात सौ वर्ष से अधिक पुराना ग्रन्थ नहीं हो सकता। इसे बादरायण व्यास की रचना कहना तो अशक्य है। इसी में वीरशैव मत का प्राचीन होना और उसके ह्रास की अवस्था स्वीकार की गयी है। वसव को वीर शैवों का पक्षधर कहा गया है। डा० फ्लीट का कहना है कि वसव नहीं, बल्कि एकान्तद रामाय्य वीरशैव मत के प्रवर्त्तक थे।

वसवेश्वर ने लिङ्ग धारण करने की विशेषता स्थिर रखी, परन्तु वीरशैवों के अनेक मन्तव्यों के विपरीत मत चलाया। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म का खण्डन किया, ब्राह्मणों का महत्त्व अस्वीकार किया, वेदों को नहीं माना, भगवान् शिव के सिवा किसी देवी-देवता को मानना अस्वीकार किया, जन्मान्तर को असिद्ध ठहराया, प्रायश्चित्त और तीर्थयात्रा को व्यर्थ बताया, सगोत्र विवाह को विहित बताया, अन्त्येष्टि क्रिया को अनावश्यक और शौचाशौच के विचार को भ्रमात्मक ठहराया, विधवा विवाह प्रचलित किया। इनके अनुयायी भी अपने को वीर शैव और लिङ्गायत कहते हैं। परन्तु आचार-विचार में इतना अधिक भेद होने से प्राचीन वीरशैव वा पाशुपत शैवों में और वसवपन्थी लिङ्गायतों में पार्थक्य सहज में हो सकता है।

वसवेश्वर सम्प्रदाय—यह एक सुधारक वीर शैव सम्प्रदाय है। दे० 'वसव शाखा'।

वसिष्ठ—वैदिक परम्परा में सबसे बड़े ऋषि-पुरोहितों में वसिष्ठ माने गये हैं। ऋग्वेद का सातवाँ मण्डल इनके

द्वारा संकलित कहा जाता है, क्योंकि इस मण्डल में वसिष्ठ एवं उनके वंशजों का उल्लेख प्रायः हुआ है, यद्यपि इसके बाहर भी छिटफुट इनका नामोल्लेख पाया जाता है। वसिष्ठ से एक निश्चित व्यक्ति का ही बोध हो, ऐसा संभव प्रतीत नहीं होता। फिर भी यह अस्वीकार करना आवश्यक नहीं कि एक ऐतिहासिक वसिष्ठ थे, क्योंकि एक ऋचा (ऋ. ७.१८.७) में उनकी रचना का स्पष्ट बोध होता है तथा उनके द्वारा दस राजाओं के विरुद्ध सुदास की सहायता करना प्रकट होता है। वसिष्ठ के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना उनकी विश्वामित्र से प्रतिद्वन्द्विता थी। विश्वामित्र निश्चित रूप से एक समय सुदास के पुरोहित थे (ऋ० ३.३३.५३)। किन्तु उन्हें उस पद से च्युत होना पड़ा और उन्होंने सुदास के विरोधियों का पक्ष ग्रहण कर सुदास के अनेक मित्र राजाओं का नाश कराया। ऋग्वेद में इन दोनों ऋषियों के संघर्ष का विवरण नहीं मिलता। वसिष्ठ के पुत्र शक्ति तथा विश्वामित्र की शत्रुता का प्रमाण यहाँ प्राप्त है, जबकि विश्वामित्र ने भाषण में विशेष पटुता प्राप्त की तथा सुदास के सेवकों द्वारा शक्ति की हत्या करायी (शाट्यायनक ७.३२ पर अनुक्रमणी की टिप्पणी द्रष्टव्य)। इस घटना का संक्षिप्त उल्लेख तैत्तिरीय संहिता में पाया जाता है। पञ्चविंश ब्राह्मण में भी वसिष्ठ के पुत्र के मारे जाने तथा सौदासों पर विश्वामित्र की विजय का उल्लेख है। सुदास के न रहने पर विश्वामित्र ने पुनः अपना पद प्राप्त कर लिया तथा वसिष्ठ ने अपने पुत्रवध के बदले सौदासों को किसी युद्ध में पराजित कराया।

वैदिक साहित्य के ऋषि के रूप में वसिष्ठ के अनेक उद्धरण सूत्रों, महाभारत, रामायण आदि में प्राप्त होते हैं जहाँ वसिष्ठ तथा विश्वामित्र संघर्ष करते हुए वर्णित हैं। इन वैदिक आख्यानों की श्रृंखला में पुराणों में वसिष्ठ की अनेक कथाएँ वर्णित हैं।

वसिष्ठधर्मसूत्र—एक प्रसिद्ध धर्मसूत्र, जो मुख्यतः ऋग्वेदीय संप्रदाय द्वारा अधीत होता है, किन्तु अन्य वैदिक शाखानुयायी भी इसे प्रयोग में लाते हैं। ऋग्वेदीय कल्प के श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु वे अवश्य रहे होंगे। यह अन्य धर्मसूत्रों से विषय और शैली दोनों में मिलता-जुलता है।

वसिष्ठसंहिता—यह एक शाक्त ग्रन्थ है। वसिष्ठसंहिता अथवा महासंहिता में शान्ति, जप, होम, बलि, दान आदि पर ४५ अध्याय हैं। इसमें नक्षत्र, वार आदि ज्योतिष-विषयक प्रश्नों पर भी विचार किया गया है। दे० अलवर कैटेलॉग एक्सट्रैक्ट, ५८२।

वसुगुप्त—काश्मीर शैव सिद्धान्त के एक प्रवर्त्तक आचार्य। इन्होंने ९०७ वि० के लगभग शिवसूत्रों की रचना की जिनका उद्देश्य आगमों की द्वैतवादी (लगभग) शिक्षाओं के स्थान पर अद्वैत दर्शन को स्थान दिलाना था। कहना न होगा कि उस समय काश्मीर शैव सिद्धान्त पर द्वैतवादी आगमों का ही प्रभाव था। कहते हैं कि शिवसूत्रों का ज्ञान वसुगुप्त को भगवान् शंकर से प्राप्त हुआ था। वसुगुप्त से कल्लटाचार्य ने और कल्लट से भास्कराचार्य ने इस दार्शनिक तत्त्व को ज्ञात किया।

वसुदेव—कृष्ण के पिता। ये यादवों की वृष्णि शाखा के अन्तर्गत थे। इनको कंस की बहिन देवकी ब्याही थी। कंस ने शत्रुतावश इन दोनों को कारागार में डाल रखा था। वहीं कृष्ण का अवतार हुआ। वसुदेव के पुत्र होने के कारण ही कृष्ण वासुदेव कहलाते हैं।

वसुव्रत—(१) चैत्र शुक्ल अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान होना चाहिए। आठ वसुओं की (ये वास्तव में भगवान् वासुदेव के ही रूप हैं) एक वृत्त में आकृतियाँ खींचकर या उनकी प्रतिमाएँ बनाकर इस दिन उपवास करते हुए इनका पूजन करना चाहिए। व्रत के अन्त में एक गौ का दान विहित है। इससे धन-धान्य की प्राप्ति के साथ वसुलोक की प्राप्ति होती है। आठ वसु ये हैं—धर, ध्रुव, सोम, आपः, अनिल, अनल, प्रत्यूष तथा प्रभाष। इसके लिए दे० अनुशासन पर्व (१५.१६-१७)।

(२) प्रभूत सुवर्ण के साथ एक गौ का, जबकि वह ब्याने के योग्य हो, दान करना चाहिए तथा उस दिन केवल दुग्धाहार करना चाहिए। इस व्रत के आचरण से व्रती परम पद मोक्ष प्राप्त करता है तथा फिर उसे इस संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता। हेमाद्रि (२.८८५) के अनुसार गर्भजननी अवस्था वाली गौ का दान महत्त्वपूर्ण होता है (उसे उभयतोमुखी कहा जाता है)।

वाक्यार्थ—वाक्य का अर्थ क्या है, इस विषय में बहुत मतभेद है। मीमांसकों के मत में नियोग अथवा प्रेरणा ही वाक्यार्थ है—अर्थात् 'ऐसा करो', 'ऐसा न करो' यही बात

सब वाक्यों से कही जाती है; चाहे साक्षात्, चाहे ऐसे अर्थ वाले दूसरे वाक्यों के सम्बन्ध द्वारा । नैयायिकों के मत से कई पदों के सम्बन्ध से निकलने वाला अर्थ ही वाक्यार्थ है । परन्तु वाक्य में जो पद होते हैं, वाक्यार्थ के मूल कारण वे ही हैं । न्यायमञ्जरी में पदों में दो प्रकार की शक्ति मानी गयी है; अभिधा शक्ति, जिससे एक-एक पद अपने-अपने अर्थ का बोध कराता है और दूसरी तात्पर्य शक्ति, जिससे कई पदों के सम्बन्ध का अर्थ सूचित होता है । धार्मिक विधियों का अर्थ अथवा तात्पर्य निकालने में इस सिद्धान्त से बहुत सहायता मिलती है ।

वाकोवाक्य (संवाद)—वैदिक ग्रन्थों के कुछ विशेष कथनोपकथन अंशों को ब्राह्मणों में दिया हुआ नाम । एक स्थान में (शत० ब्रा० ४. ६. ९ २०) ब्रह्मोद्य को वाकोवाक्य कहा गया है । कुछ विद्वान् वाकोवाक्य से 'इतिहास-पुराण' के किसी आवश्यक भाग का प्रकट होना बतलाते हैं । छान्दोग्य उपनिषद् में यह स्पष्ट ही तर्कशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

वाक्—वैदिक देवमण्डल में वाक् का बड़ा महत्त्व है । यह एक भावात्मक देवता है । शत० ब्रा० (४. १. ३. १६) में इसको चार भागों में बाँटा गया है—मानवों की, पशुओं की, पक्षियों (वयांसि) तथा छोटे रेंगने वाले कीड़ों की (क्षुद्रं सरीसृपम्) । इन्द्र को वाक् या ध्वनियों का अन्तर समझने वाला कहा गया है । तूणव, वीणा तथा दुन्दुभि बाजों की ध्वनियों का भी वर्णन पाया जाता है । कुरु-पंचालों की वाक् शक्ति को विशेष स्थान प्राप्त था । कौषी० ब्रा० में उत्तरदेशीय वाक् की विशेषता का वर्णन है । इसीलिए लोग वहाँ भाषा का अध्ययन करने जाते थे । दूसरी ओर वाक् की बर्बरता को त्यागने का निर्देश हुआ है । वाक् का एक-एक विभाग दैवी एवं मानुषी था । ब्राह्मण को दोनों का ज्ञाता कहा गया है । आर्य तथा ब्राह्मण वाक् का भी उल्लेख हुआ है, जिससे अनार्य भाषाओं के विरुद्ध संस्कृत का बोध होता है ।

वाचस्पति मिश्र—अद्वैताकाश के एक देदीप्यमान नक्षत्र, जो भामतीकार नाम से भी विख्यात हैं । मिथिला में नवीं शती में इनका जन्म हुआ । बाद के सभी आचार्यों ने इनके वाक्य प्रमाण रूप में ग्रहण किये हैं । शाङ्कर भाष्य पर रची इनकी 'भामती' टीका अद्वैतमत को समझने का अनिवार्य साधन है ।

वाचस्पति मिश्र ने वेदान्तसूत्र के शांकरभाष्य पर भामती, सुरेश्वरकृत ब्रह्मसिद्धि पर ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा, सांख्यकारिका पर तत्त्वकौमुदी, पातञ्जल दर्शन पर तत्त्ववैशारदी, न्यायदर्शन पर न्यायवार्तिकतात्पर्य, पूर्वमीमांसा पर न्यायसूचीनिबन्ध, भाट्ट मत पर तत्त्वबिन्दु तथा मण्डन मिश्र के विधिविवेक पर न्यायकणिका नामक टीकाओं की रचना की । इनके अतिरिक्त खण्डनकुठार तथा स्मृतिसंग्रह नामक पुस्तकों के रचयिता का नाम भी वाचस्पति मिश्र ही मिलता है । परन्तु यह कहना कठिन है कि इन दोनों के लेखक भी ये ही थे या कोई अन्य वाचस्पति मिश्र ।

वाचस्पति मिश्र ने यों तो छहों दर्शनों की टीकाएँ लिखी हैं और उनमें उनके सिद्धान्तों का निष्पक्ष भाव से समर्थन किया है, तो भी इनका प्रधान लक्ष्य शाङ्कर सिद्धान्त ही है । इनके ग्रन्थों में पर्याप्त मौलिकता पायी जाती है । शाङ्कर सिद्धान्त के प्रचार में इनका बहुत बड़ा हाथ रहा है, इनकी भामती टीका अद्वैतवाद का प्रामाणिक ग्रन्थ है । ये केवल विद्वान् ही नहीं थे, उच्च कोटि के साधक भी थे । इन्होंने अपना प्रत्येक ग्रन्थ भगवान् को ही समर्पित किया है । ऐसा विश्वास किया जाता है कि सुरेश्वराचार्य ने ही वाचस्पति मिश्र के रूप में पुनः जन्म लिया था ।

वाजपेय—एक श्रौतयज्ञ, जो शतपथ ब्राह्मण के अनुसार केवल ब्राह्मण या क्षत्रियों द्वारा ही करणीय है । यह यज्ञ राजसूय से श्रेष्ठ है । अन्य ग्रन्थों के मत से यह पुरोहित के लिए बृहस्पति सत्र का एवं राजा के लिए राजसूय का पूर्वकृत्य है । इसका एक आवश्यक अंग रथों की दौड़ है जिसमें यज्ञकर्ता विजयी होता है । हिलब्रैण्ट ने इसकी तुलना ओलेम्पिक खेलों के साथ की है, किन्तु इसके लिए प्रमाणों का अभाव है । यह यज्ञ प्रारम्भिक रथदौड़ से ही विकसित हुआ जान पड़ता है, जो यज्ञ के रूप मे दिव्य शक्ति की सहायता से यज्ञकर्त्ता को सफलता प्रदान करता है । एगेलिंग का कथन ठीक जान पड़ता है कि यह यज्ञ ब्राह्मण द्वारा पुरोहित पद ग्रहण करने का पूर्वसंस्कार था तथा राजाओं के लिए राज्याभिषेक का पूर्वसंस्कार ।

वाजसन—याज्ञवल्क्य के पिता । इन्हीं के नाम पर याज्ञवल्क्य द्वारा संकलित शुक्ल यजुर्वेद का नाम वाजसनेयी संहिता पड़ा ।

वाजसनेयी संहिता—यजुर्वेद के वर्णन में इस संहिता का वर्णन किया जा चुका है। दे० 'यजुर्वेद'।

वाजसनेय प्रातिशाख्य—इसके रचयिता कात्यायन हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि पाणिनिसूत्रों के वार्तिककार कात्यायन तथा उपर्युक्त कात्यायन एक ही व्यक्ति हैं। अपने वार्तिक में जिस तरह उन्होंने पाणिनि की तीव्र आलोचना की है, उसी तरह प्रातिशाख्य में भी की है। इससे प्रमाणित होता है कि वाजसनेय प्रातिशाख्य पाणिनि के सूत्रों के बाद का है। इसमें आठ अध्याय हैं। पहले अध्याय में संज्ञा और परिभाषा है। दूसरे में स्वर प्रक्रिया है। तीसरे से पाँचवें अध्याय तक संस्कार हैं। छठे और सातवें अध्याय मे क्रिया के उच्चारण भेद हैं। आठवें अध्याय में स्वाध्याय अर्थात् वेदपाठ के नियम हैं। इस प्रातिशाख्य में शाकटायन, शाकार्य, गार्ग्य, काश्यप, दाल्भ्य, जातूकर्ण, शौनक, उपाशिवि, काण्व, माध्यन्दिन आदि पूर्वाचार्यों की चर्चायें हैं।

वाणिज्यलाभव्रत—इस व्रत में मूल तथा पूर्वाषाढ़ नक्षत्रों के दिन उपवास करने का विधान है। व्रती को पूर्वाभिमुख बैठकर चार कलशों के जल से, जिनमें शंख, मोती, नरकुल की जड़ें तथा सुवर्ण पड़ा हो, स्नान करना चाहिए। तदनन्तर वह विष्णु, वरुण तथा चन्द्रमा की अपने आँगन में पूजा करे। उपर्युक्त देवों के सम्मान में घृत से होम करना चाहिए। अन्त में नीले वस्त्रों का, चन्दन का, मदिरा का तथा श्वेत पुष्पों का दान किया जाय। इस आचरण से व्यापारिक सफलता प्राप्त होती है, समुद्र-यात्राओं में तथा कृषि के कार्यों मे व्रतकर्ता कभी असफल नहीं होता।

वाणी—दादूपंथ के प्रवर्त्तक महात्मा दादू दयाल द्वारा रचित 'सबद' और 'वाणी' अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें इन्होंने संसार की असारता और ईश्वर(राम) भक्ति के उपदेश सबल छन्दों द्वारा दिये हैं। कविता की दृष्टि से भी इनकी रचना मनोहर एवं यथार्थभाषिणी है।

वातरशन—वायु की रशना = मेखला पहनने वाले, सर्वस्वत्यागी, नग्न मुनिजन। ऋग्वेद तथा तैत्तिरीय आरण्यक में ऋषि-मुनियों के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। नग्न रहने वाले दिगम्बर मुनियों की परम्परा इसी मूल से विकसित प्रतीत होती है।

वातवन्त—पञ्चविंश ब्राह्मण मे उद्धृत एक ऋषि का नाम। उन्होंने तथा दृति ने एक सत्र किया था, किन्तु किसी विशेष समय पर उसे बन्द कर देने के कारण उन्हे दुःख उठाना पड़ा तथा उनके वंशज वातवन्त दार्तेयों की अपेक्षा कम उन्नतिशील हुए।

वातुल आगम—रौद्रिक आगमों में से एक। इसका अन्य नाम परआगम है। इसमें लिङ्गायत सम्प्रदाय सम्बन्धी अधिक उल्लेख प्राप्त हैं।

वात्सीपुत्र—वत्स गोत्र की महिला के पुत्र। बृहदारण्यक उपनिषद् की अंतिम वंशसूची में इनका उल्लेख हुआ है। ये पाराशरीपुत्र के शिष्य थे। काण्व तथा माध्यन्दिन शाखा के अनुसार ये भारद्वाजीपुत्र के शिष्य थे।

वात्स्यायन—(१) वत्स गोत्र में उत्पन्न और तैत्तिरीय आरण्यक में उद्धृत एक आचार्य का नाम।

(२) गौतम के न्यायसूत्र पर वात्स्यायन मुनि ने भाष्य लिखा है। हेमचन्द्र ने न्यायसूत्र पर भाष्य रचने वाले वात्स्यायन और चाणक्य को एक ही व्यक्ति माना है, किन्तु यह बात अप्रमाणित है। विद्वानों ने इनकी स्थिति पाँचवीं शती में ठहरायी है।

वाद—किसी दार्शनिक मत के प्रतिपादन को वाद कहा जाता है। वाद के प्रतिपादन के लिए पूर्व पक्ष का खण्डन तथा उत्तर पक्ष का समर्थन आवश्यक है।

वादनक्षत्रमाला—अप्पय दीक्षित कृत एक मीमांसा विषयक ग्रन्थ। इसमें पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के सत्ताईस विषयों का विचार किया गया है।

वादरिमत—आचार्य बादरि के मत का उल्लेख ब्रह्मसूत्र और मीमांसासूत्र दोनों में पाया जाता है। अनुमान होता है कि ये ब्रह्मसूत्रकार और मीमांसासूत्रकार से प्राचीन थे और इनके मत का देश में काफी प्रभाव था। बादरायण ने अपने मत के समर्थन में और मीमांसासूत्रकार जैमिनि ने पूर्वपक्ष के रूप में खण्डन के लिए इनके मत को उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि ये मीमांसक आचार्य थे। यत्र-तत्र इनके मतों का जो उल्लेख पाया जाता है उनसे निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं :

(१) आचार्य बादरि के मतानुसार यद्यपि परमेश्वर महान् है, फिर भी प्रादेश मात्र हृदय द्वारा अर्थात् मन द्वारा उसका स्मरण हो सकता है।

(२) इनके मतानुसार गतिश्रुतिबल से कार्यब्रह्म अर्थात् सगुण ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है और अमानव पुरुष ही ब्रह्म की प्राप्ति करा सकते हैं।

(३) इनके मत में ज्ञानी पुरुष के शरीरादि नहीं होते; मुक्त पुरुष निरिन्द्रिय एवं शरीरहीन होते हैं।

(४) इनके मत में वैदिक कर्म करने का सबको अधिकार है।

वादावली—स्वामी जयतीर्थाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थों में से एक ग्रन्थ वादावली है। व्यासराज स्वामी ने इसी का अवलम्बन कर माध्व सिद्धान्त का न्यायामृत नामक ग्रन्थ लिखा है।

वादिहंसाम्बुजाचार्य—इनका अन्य नाम द्वितीय रामानुजाचार्य है। ये वेङ्कटनाथ के मामा और गुरु थे। इनके पिता का नाम पद्मनाभाचार्य था। द्वितीय रामानुजाचार्य ने न्यायकुलिश नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ सम्भवतः कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें प्रायः बारह विषयों पर विचार किया ,गया है, जो निम्नांकित हैं : (१) सिद्धार्थव्युत्पत्त्यादिसमर्थन (२) स्वतः प्रामाण्यनिरूपण (३) ख्यातिनिरूपण (४) स्वयंप्रकाशवाद (५) ईश्वरानुमानभङ्गवाद (६) वेदाद्यतिरिक्तात्मयाथार्थ्यवाद (७) समानाधिकरणवाद (८) सत्कार्यवाद (९) संस्थानसामान्यसमर्थनवाद (१०) मुक्तिवाद (११) भावान्तराभाववाद तथा (१२) शरीरवाद।

वानप्रस्थ—जीवन के चार आश्रमों (विश्रामस्थलों) में से तीसरा। इस आश्रम को वन में बिताने का आदेश है। इसमें शरीर तथा मन को विविध प्रकार के अनुशासन में रखकर धार्मिक कार्यों के लिए तैयार करते हैं। इसका उद्देश्य ब्रह्मचिन्तन के लिए चरित्र की पवित्रता, अपरिग्रह और शुद्ध सात्त्विक भाव प्राप्त करना है। इसके लिए यौगिक क्रिया द्वारा शरीर तथा मन का निग्रह किया जाता है। यह आश्रम संन्यास का पूर्व रूप है। दे० 'आश्रम'।

वामकेश्वर तन्त्र—आगमतत्त्वविलास में उद्धृत ६४ तन्त्रों में एक वामकेश्वर भी है। इस ग्रन्थ में भी ६४ तन्त्रों की तालिका प्रस्तुत हुई है।

वामदेव—कुछ ऋग्वेदीय सूक्तों के संकलयिता सप्तर्षियों में से एक। ऋग्वेद के चौथे मण्डल का ऋषि इनको माना जाता है। इन्हें गौतम का पुत्र कहा गया है। बृहद्देवता में वामदेव के बारे में दो असंगत कथाएँ वर्णित हैं। यद्यपि वामदेव अथर्ववेद (१८.३.१५.१६) तथा प्रायः ब्राह्मणों में उल्लिखित हैं, किन्तु यहाँ उन्हें पूर्व कथाओं का नायक नहीं कहा गया है।

वामनजयन्ती—भाद्र शुक्ल द्वादशी को वामनजयन्ती मनायी जाती है। विष्णु के अवतार वामन भगवान् इसी दिन मध्याह्न काल में उत्पन्न हुए थे और उस दिन श्रवण नक्षत्र था। इस दिन उपवास का विधान है। यह व्रत समस्त पापों को दूर करता है। भागवत पुराण में कहा गया है कि वामन भगवान् द्वादशी को प्रकट हुए थे और उस दिन श्रवण नक्षत्र तथा अभिजित् मुहूर्त था। इस तिथि को विजया द्वादशी भी कहा जाता है।

वामनद्वादशी—चैत्र मास की द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। विष्णु इसके देवता हैं। उस दिन उपवास रखना चाहिए। भगवान् के चरणों से प्रारम्भ कर मस्तक पर्यन्त उनके सभी शरीरावयवों की भिन्न-भिन्न नाम लेकर पूजा करनी चाहिए। यज्ञोपवीत, छत्र, पादुका तथा माला युक्त वामन भगवान् की प्रतिमा को एक कलश में स्थापित कर द्वितीय दिवस उसका दान कर देना चाहिए। इस व्रत से पुत्रहीन लोग पुत्र प्राप्त करते हैं। अन्य भी जो कोई धनादि की इच्छा करते हैं वह अवश्य पूर्ण होती है। कुछ अधिकृत ग्रन्थों के अनुसार वामन एकादशी को प्रकट हुए थे, जबकि बहुतों के अनुसार वे द्वादशी को ही प्रकट हुए थे। इन सब बातों के लिए दे० निर्णयसिन्धु, १४०।

वामनपुराण—अठारह महापुराणों में एक वामन पुराण भी है। वैष्णव पुराण होने के कारण इसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों की कथाएँ हैं किन्तु वामन अवतार की प्रधानता है। वामन पुराण में दस हजार श्लोक हैं तथा पंचानवे अध्याय हैं।

इस महापुराण में शैव सम्प्रदाय का वर्णन भी मिलता है। इसमें शिव, शिवमाहात्म्य, शैवतीर्थ, उमाशिवविवाह, गणेश की उत्पत्ति, कार्तिकेयजन्म और उनके चरित्र का वर्णन पाया जाता है। इस पुराण की प्रकृति समन्वयात्मक है। करकचतुर्थी तथा कायञ्ज्वली व्रतकथा, गङ्गामानसिक स्नान, गङ्गामाहात्म्य, दधिवामनस्तोत्र, वराहमाहात्म्य, वेङ्कटगिरि माहात्म्य इत्यादि कई छोटी-छोटी पोथियाँ वामनपुराणान्तर्गत कहलाती हैं।

वामन अवतार—विष्णु के दस अवतारों में से वामन-अवतार पाँचवाँ है । वामन का शाब्दिक अर्थ है बौना । भगवान् ने यह अवतार असुरों से पृथ्वी को देवों को दिलाने के लिए लिया था । इस कथा का मूल सर्वप्रथम ऋग्वेद के विष्णुसूक्त में पाया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में वामन-अवतार का संक्षिप्त वर्णन है । वामनपुराण में उसी को विस्तृत रूप दे दिया गया है । वामनपुराण से यह मालूम होता है कि भगवान् विष्णु ने कई बार वामन रूप धारण किया था । त्रिविक्रम नामक वामनावतार में उन्होंने धुन्धु नामक असुर को ठककर तीन ही चरणों में सारे भुवन को वश में कर लिया । इसी प्रकार अन्य वामन अवतारों में विष्णु ने अपने प्रिय देवों की निर्बलता पर दया करके अपनी माया से असुरों को ठगकर उनसे पृथ्वी, स्वर्ग, लक्ष्मी आदि को छुड़ाया । वामन की प्रसिद्ध कथा बलि के सम्बन्ध में है ।

वाममार्ग—वाम = सुन्दर, सरस, रोचक उपासनामार्ग । शाक्तों के दो मार्ग हैं—दक्षिण (सरल) और वाम (मधुर) । पहला वैदिक तान्त्रिक तथा दूसरा अवैदिक तान्त्रिक सम्प्रदाय है । भारत ने जैसे अपना वैदिक शाक्त मत औरों को दिया, वैसे ही जान पड़ता है कि उसने वामाचार औरों से ग्रहण भी किया । आगमों में वामाचार और शक्ति की उपासना की अद्भुत विधियों का विस्तार से वर्णन हुआ है । 'चीनाचार' आदि तन्त्रों में लिखा है कि वसिष्ठ देव ने चीन देश में जाकर बुद्ध के उपदेश से तारा का दर्शन किया था । इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं । एक तो यह कि चीन के शाक्त तारा के उपासक थे और दूसरे यह कि तारा की उपासना भारत में चीन से आयी । इसी तरह कुलालिकाम्नायतन्त्र में मगों को ब्राह्मण स्वीकार किया गया है । भविष्यपुराण में भी मगों का भारत में लाया जाना और सूर्योपासना में साम्ब की पुरोहिताई करना वर्णित है । पारसी साहित्य में भी 'पीरे-मगाँ' अर्थात् मगाचार्यों की चर्चा है । मगों की उपासनाविधि में मद्य मांसादि के सेवन की विशेषता थी । प्राचीन हिन्दू और बौद्ध तन्त्रों में शिव-शक्ति अथवा बोधिसत्व-शक्ति के साधन प्रसंग में पहले सूर्यमूर्ति की भावना का भी प्रसंग है ।

वज्रयानी सिद्धों, वाममार्गियों और मगों के पंचमकार सेवन की तुलना की जाय तो पता लगेगा कि किसी काल में लघु एशिया से लेकर चीन तक मध्य एशिया और भारत आदि दक्षिणी एशिया में शाक्तमत का एक न एक रूप में प्रचार रहा होगा । कनिष्क के समय में महायान और वज्रयान मत का विकास हुआ था और बौद्ध शाक्तों के द्वारा पञ्चमकार की उपासना इनकी विशेषता थी । वामाचार अथवा वाममार्ग का प्रचार बंगाल में अधिक व्यापक रहा । दक्षिणमार्गी शाक्त वाममार्ग को हेय मानते हैं । उनके तन्त्रों में वामाचार की निन्दा हुई है ।

वैदिक दक्षिणमार्गी वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाले थे । अवैदिक बौद्ध आदि वामाचारी चक्र के भीतर बैठकर सभी एक जाति के, सभी द्विज या ब्राह्मण हो जाते थे । वामाचार प्रच्छन्न रूप से वैदिक दक्षिणाचार पर जब आक्रमण करने लगा तो दक्षिणाचारी वर्णाश्रम धर्म के नियम टूटने लगे, वैदिक सम्प्रदायों में भी जाति-पाँति तोड़ने वाली शाखाएँ बन गयीं । वीर शैवों में वसवेश्वर का सम्प्रदाय, पाशुपतों में लकुलीश सम्प्रदाय, शैवों में कापालिक, वैष्णवों में बैरागी और गुसाँई इसी प्रकार के सुधारकदल पैदा हो गये । बैरागियों और वसवेश्वर पन्थियों के सिवा सभी सुधारक दल मद्य-मांसादि सेवन करने लगे । कोई गृहस्थ ऐसा नहीं रह गया जिसके गृहदेवता या कुलदेवताओं में किसी देवी की पूजा न होती हो । वाममार्ग बाहर से आया सही, परन्तु शाक्त मत और समान संस्कृति होने के कारण यहाँ खूब घुल-मिलकर फैल गया । दे० 'वामाचार' तथा 'वामाचारी' ।

वाममार्गी शैव—अवैदिक पंचमकारों का सेवन करने वाले, जाति-पाँति का भेद भाव न रखने वाले शाक्त वाममार्गी शैव कहलाते हैं । कापालिकों को इस कोटि में स्पष्ट रूप से रखा जा सकता है । वाममार्ग का प्रभाव परवर्ती सभी शाक्तों पर न्यूनाधिक हो गया था ।

वामाचार—वामाचार की परिभाषा इस प्रकार कही जाती है :

पञ्चतत्त्वं खपुष्पञ्च पूजयेत् कुलयोषितम् ।
वामाचारो भवेत्तत्र वामो भूत्वा यजेत् पराम् ॥

[पञ्चतत्त्व अथवा पञ्चमकार, खपुष्प अर्थात् रजस्वला के रज और कुलस्त्री की पूजा करे । ऐसा करने से वामाचार होता है । इसमें स्वयं वाम होकर परा शक्ति की पूजा करे ।] चाण्डाली, चर्मकारी, मातङ्गी, मत्स्याहारिणी,

मनाना चाहिए और अभिनेता तथा नर्तकों का सम्मान करना चाहिए ।

विद्या—दर्शन, धर्म और कला के अर्थों में 'विद्या' का प्रयोग होता है । दर्शन में विद्या का अर्थ है अध्यात्म शास्त्र, अर्थात् आत्मज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली विद्या । धर्म में विद्या का अर्थ है त्रयी (तीन वेद), धर्मशास्त्र अथवा सामाजिक शास्त्र । पौराणिक तथा तान्त्रिक धर्म में विद्या का प्रयोग महादेवी, दुर्गा अथवा शक्ति के मन्त्र अर्थ में होता है । कला के क्षेत्र में विद्या का प्रयोग अनेक कलाओं और शिल्पों के अर्थ में किया जाता है ।

अर्थशास्त्र में चार विद्याएँ बतलायी गयी हैं—(१) आन्वीक्षिकी (तर्क अथवा दर्शन) (२) त्रयी (तीन वेद) (३) वार्ता (आधुनिक अर्थशास्त्र) और (४) दण्डनीति (आधुनिक राजनीति) । मनुस्मृति (७.४३) ने एक और विद्या (आत्मविद्या) जोड़ दी है । याज्ञवल्क्य स्मृति में विद्या के चौदह स्थान बतलाये गये हैं—चार वेद, छः वेदाङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा और स्मृति । कोई-कोई चार उपवेदों को भी जोड़कर अठारह विद्यास्थान बतलाते हैं । इसी प्रकार कोई तेतीस और कोई चौसठ विद्याएँ (कलाएँ) मानते हैं । सर्वप्रथम ईशोपनिषद् में 'विद्या' का प्रयोग अध्यात्म विद्या के रूप में हुआ है :

> विद्याञ्च अविद्याञ्च यस्तद् वेद उभयं सह ।
> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।

[जो विद्या (अध्यात्म) ओर अविद्या (भौतिक शास्त्र) को साथ-साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु—संसार को पारकर विद्या से अमृततत्त्व को प्राप्त करता है ।] नागेश भट्ट ने इसी अर्थ में विद्या का प्रयोग किया है : ''परमोत्तमपुरुषार्थसाधनीभूता विद्या ब्रह्मज्ञान-स्वरूपा ।''

विद्याप्रतिपद्व्रत—मास की प्रथम तिथि को यह व्रत करना चाहिए । जो व्यक्ति धनार्थी या विद्यार्थी हो उसे धानों से एक वर्गाकार आकृति बनाकर भगवान् विष्णु तथा लक्ष्मी का एक सहस्र या उससे कम पूर्ण रूप से खिले हुए कमलों से तथा दूध या खीर से पूजन करना चाहिए । सरस्वती की प्रतिमा उनके पार्श्व में विराजमान की जाय । चन्द्रमा भी वहाँ विद्यमान रहे । उस दिन अपने गुरु का सम्मान करना चाहिए । उस दिन तथा द्वितीया को उपवास करके विष्णु का पूजन करना चाहिए । तदुपरान्त आचार्य को सुवर्ण दान कर स्वयं भोजन करना चाहिए ।

विद्यावाप्तिव्रत—माघ मास की कृष्ण प्रतिपदा को व्रत आरम्भ कर एक मास तक उस का आयोजन करना चाहिए । इस अवसर पर तिलों से हयग्रीव की पूजा करनी चाहिए, तिलों से ही हवन करना चाहिए । प्रथम तीन दिन उपवास रखना चाहिए । यह एक मास का व्रत है । इससे व्रती विद्वान् हो जाता है । (विष्णुधर्म०)

विद्याव्रत—किसी मास की द्वितीया को अक्षतों से एक वर्गाकार आकृति बनाकर उसके केन्द्र में अष्ट दल कमल अंकित किया जाय, उसके चारों ओर कमलहस्ता लक्ष्मी की, जिसकी आठ शक्तियाँ (सरस्वती, रति, मैत्री, विद्या आदि) भी विद्यमान रहें, आकृति बनायी जाय । आठ शक्तियों को एक-एक पँखुड़ी पर अङ्कित करना चाहिए । तब 'सरस्वत्यै नमः' कहते हुए उन्हें प्रमाण करना चाहिए । कुछ अन्य देवगण, जैसे चारों दिशाओं के चार दिक्पाल तथा उनके मध्य वाली दिशाओं के भी दिक्पालों की आकृतियाँ और चार गुरुओं (व्यास, क्रतु, मनु, दक्ष) तथा वसिष्ठादि की आकृतियाँ मण्डल में स्थापित की जाँय । भिन्न-भिन्न पुष्पों से इन सबकी पूजा करनी चाहिए । श्रीसूक्त के मंत्रों, पुरुषसूक्त के मंत्रों तथा विष्णु के लिए कहे गये मंत्रों से इनका पूजन करना चाहिए । व्रतोपरान्त एक गौ, जलपूर्ण कलश तथा चावलों एवं तिलों से परिपूर्ण अन्य पाँच पात्र अपने पुरोहित को दिये जाँय । (स्त्री व्रती द्वारा) पिसी हुई हल्दी तथा सुवर्ण किसी सद्गृहस्थ को तथा भूखे को भोजन दिया जाय । व्रतकर्ता अपने आचार्य से तथा आचार्य प्रतिमाओं के सम्मुख विद्या देने की प्रार्थना करें । (गरुड०)

विधानसप्तमी—इसके सूर्य देवता हैं । व्रती को माघ शुक्ल सप्तमी से व्रत का आरम्भ कर निम्नांकित बारह वस्तुओं में से केवल एक वस्तु का प्रति मास की सप्तमी को क्रमशः आहार करना चाहिए : अर्क के पुष्पों का अग्रभाग, शुद्ध गौ का गोबर, मरिच, जल, फल, मूल (रक्तिम), नक्त विधि, उपवास, एकभक्त, दुग्ध, पवन और घृत । कालविवेक, वर्षकृत्यकौमुदी आदि इस व्रत को रविव्रत से (जो माघ में प्रथम रविवार के दिन होता है) पृथक् मानते हैं ।

विनयपत्रिका—रामचरितमानस के प्रणेता गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित यह ग्रन्थ मुख्यतः राम के प्रति और गौणतः अन्य देवताओं के प्रति की गयी स्तुतियों का

संग्रह है । आवेदनपत्र के रूप में ये स्तुतियाँ पद्यों में रची गयी हैं, अतः इस संग्रह का नाम विनयपत्रिका पड़ा । तुलसी साहित्य में रामचरितमानस के पश्चात् इसका दूसरा स्थान है । रचना में दास्य और दैन्य भाव की प्रधानता है ।

विभूतिद्वादशी—वैशाख, कार्तिक, मार्गशीर्ष, फाल्गुन अथवा आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की दशमी को इस व्रत का आरम्भ होता है । व्रती नियमों (अनिषिद्ध बातों) का आचरण करे । एकादशी के दिन उपवास करते हुए जनार्दन (मूर्ति) का पूजन करे । चरणों से प्रारम्भ कर सिरपर्यन्त भगवान् की प्रतिमा का क्रमशः पूजन करे । भगवान् की प्रतिमा के सम्मुख कलश या किसी जलपूर्ण पात्र में सोने की मछली बनाकर रखी जाय, रात्रि को भगवान् की कथाएँ कहकर जागरण किया जाय । दूसरे दिन प्रातः काल निम्न शब्द बोलते हुए—"विष्णु भगवान् अपने महान् प्रकाश से कभी विमुक्त नहीं होते, उसी प्रकार आप मुझे संसार के शोक पङ्क से मुक्त करें", प्रार्थना करे । प्रति मास वह दस अवतारों में से एक अवतार की प्रतिमा एवं दत्तात्रेय तथा व्यासजी की प्रतिमाओं का दान करे । उनके साथ द्वादशी को एक नील कमल का भी दान किया जाय । द्वादश द्वादशियों के व्रतों का आचरण करने के बाद अपने गुरु अथवा आचार्य को एक लवणाचल, पर्यङ्कोपयोगी समस्त वस्त्र, एक गौ, (यदि व्रती राजा महाराज हो तो) ग्राम या खेत (गाँव का मुख्य खेत) तथा अन्यान्य ब्राह्मणों को गौएँ तथा वस्त्र दान में दिये जाँय । यह विधि तीन वर्षों तक चलनी चाहिए । इन आचरणों से व्रती समस्त पापों से मुक्त होकर कम से कम एक सौ पितरों का भी उद्धार कर लेता है । 'लवणाचल' दान के लिए दे० पा० वा० काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ० ८८२ (मत्स्यपुराण, ८४. १-९) ।

विरूपाक्षव्रत—पौष शुक्ल चतुर्दशी को इस व्रत का आरम्भ होता है । इसके अनुसार भगवान् शिव की एक वर्ष तक पूजा करनी चाहिए । व्रत के अन्त में किसी ब्राह्मण को समस्त पदार्थ तथा एक ऊँट दान किया जाय । इससे समस्त राक्षसों के भय से तथा रोगों से मुक्ति मिलती है एवं सकल कामनाओं की पूर्ति होती है ।

विवर्त—अद्वैत वेदान्त का एक सिद्धान्त । ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध को समझाने के लिए इसका विकास हुआ । इसके अनुसार जगत् न ब्रह्म की सृष्टि है और न उसका परिणाम: जगत् ब्रह्म का विवर्त (वृत्ताकार चक्रगति से उत्पन्न भ्रममात्र) है, इसलिए यह भ्रामक और अवास्तविक है । दे० 'अद्वैतवाद' तथा 'शङ्कर' ।

विशिष्टाद्वैत—एक प्रकार के द्वैत जैसे वेदान्त का सम्प्रदाय । इसका अर्थ है 'विशिष्ट (विशेषण युक्त) अद्वैत' । इसके प्रवर्त्तक आचार्य रामानुज थे । इस सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्म ऐकान्तिक होते हुए भी पुरुष (ईश्वर) है । उसके दो अंश (विशेषण) हैं—चित् (जीवात्मा) और अचित् (जड़ जगत्), जो वास्तविक और उससे भिन्न हैं । इन्हीं तीनों तत्त्वों (तत्त्वत्रय) से विश्व संघटित है । इन तीनों में ऐक्य है किन्तु अभेद नहीं । जीवात्मा ईश्वर की कृपा से ही मुक्ति पा सकता है । इस मत का प्रतिपादन रामानुज द्वारा ब्रह्मसूत्र के श्रीभाष्य में हुआ है । दे० 'रामानुज' ।

विशोकद्वादशी—आश्विन शुक्ल दशमी की रात्रि को व्रती संकल्प करे—"मैं कल एकादशी को उपवास करके भगवान् केशव की आराधना करूँगा और द्वादशी के दिन भोजन ग्रहण करूँगा ।" उस दिन केशव की आपादमस्तक पूजा होनी चाहिए । एक मण्डल बनाकर उस पर चतुष्कोण वेदिका बनानी चाहिए । उस पर अनाज साफ करनेवाला नया सूप रखकर उसमें लक्ष्मी की, जिसे विशोका (जो शोक रहित करती है) भी कहते हैं, स्थापना करके पूजा की जाय तथा प्रार्थना करते हुए कहा जाय कि हे विशोका देवी ! हमारे शोकों का नाश करो, हमें समृद्धि तथा सफलता प्रदान करो । समस्त रात्रियों को ऐसा पानी पिया जाय जिसमें दर्भ पड़े हों । रात्रि में नृत्य तथा गान हो, ब्राह्मणों का सम्मान किया जाय । यह क्रिया प्रति मास चले । व्रत के अन्त में पर्यङ्क के उपयुक्त वस्त्र, गुड़धेनु तथा शूर्प का लक्ष्मीजी की मूर्ति के साथ दान करना चाहिए । मत्स्यपुराण में इसका तथा गुड़धेनु का वर्णन है, जो इस व्रत का गौण भाग है । गुड़धेनु के लिए दे० पा० वा० काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, २, पृ० ८८०-८१ ।

विशोकसंक्रान्ति—जब अयन के दिन अथवा विषुव के दिन व्यतीपात योग हो, तो व्रती को तिलमिश्रित जल से स्नान करना चाहिए तथा एकभक्त विधि से आहार करना चाहिए । तब वह सूर्य की सुवर्णप्रतिमा को पञ्चगव्य से स्नान कराकर गन्ध, पुष्पादि अर्पण कर दो रक्त वस्त्र पहनाये, तदनन्तर उसे ताम्रपात्र में रखकर सूर्य के

भिन्न-भिन्न नामों से आपादमस्तक उनकी पूजा की जाय। यह क्रम एक वर्षपर्यन्त चलना चाहिए। वर्ष के अन्त में सूर्य के पूजन का विधान है। इस अवसर पर १२ कपिला गौओं का अथवा निर्धन होने पर केवल एक गौ का दान किया जाय। इससे दीर्घ आयु प्राप्त होती है, स्वास्थ्य तथा समृद्धि की सुरक्षा होती है।

विश्वरूपव्रत—अष्टमी अथवा चतुर्दशी के दिन यदि शनिवार तथा रेवती नक्षत्र हो तो उस दिन इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। शिवजी इसके देवता हैं। इस दिन शिवलिङ्ग का महाभिषेक स्नान कराया जाय। कर्पूर को अङ्गराग की भाँति लगाया जाय, श्वेत कमल तथा अन्य अनेक आभूषण चढ़ाये जायँ, धूप के रूप में कर्पूर जलाया जाय, घी तथा खीर का नैवेद्य अर्पण किया जाय, कुशों से भींगा हुआ जल पिया जाय तथा रात्रि को जागरण किया जाय। इस अवसर पर आचार्य को गज अथवा अश्व का दान करना चाहिए। इससे व्रती वह सब प्राप्त कर लेता है जिसकी वह इच्छा करता है, जैसे पुत्र, राज्य, आनन्दादि। इसी कारण इसका नाम है विश्वरूप (साहित्यिक अर्थ समस्त रूप)।

विष्टिव्रत अथवा भद्राव्रत—ज्योतिष ग्रन्थों में करणों का विवेचन किया गया है। प्रत्येक तिथि के आधे-आधे भागों को करण कहते हैं जो सब ग्यारह हैं। उनकी दो श्रेणियाँ हैं—चर तथा स्थिर, अर्थात् चलनशील और अचल। प्रथम की कुल संख्या सात है जिनमें से एक विष्टि है। विष्टि किसी तिथि का अर्धांश होता है। ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थों ने इसे बुरे, दुष्ट, कपटी भूत-प्रेतादि के समान श्रेणी प्रदान की है। यह तीस घड़ियों का समवेत काल है जो असमानता पूर्वक उसके मुख, कण्ठ, हृदय, नाभि, कटि तथा पूँछ (क्रमशः ५, १, ११, ४, ६, ३ घड़ियों) में विभाजित किया गया है। स्मृतिकौस्तुभ (५६५-५६६) में इसे सूर्य की पुत्री तथा शनि की बहिन बतलाया गया है। तीन पग वाली विष्टि का मुख गधे का है। विष्टि साधारणतः ध्वंसात्मक स्वभाव वाली है अतएव किसी शुभ कार्य के आरम्भ के समय इसे त्यागना चाहिए। किन्तु शत्रुओं को नष्ट करने अथवा उन्हें विष इत्यादि देने के समय यह बड़ी अनुकूल पड़ती है (बृ० संहिता ९९.४)। जिस दिन विष्टि हो उस दिन उपवास करना चाहिए। यदि विष्टि रात्रि में पड़े तो दो दिनों तक एकभक्त पद्धति से आहार करना चाहिए। उस दिन देवों, पितरों तथा दर्भों की बनायी हुई विष्टि का पुष्पादि से पूजन किया जाय। इस अवसर पर विष्टि को कृशरा अर्थात् खिचड़ी का नैवेद्य अर्पित करना चाहिए। काले वस्त्रों, काली गौ तथा काले कम्बल का दान इस अवसर पर किया जाय। विष्टि तथा भद्रा का एक ही अर्थ है।

विष्णु—आदित्य वर्ग के वैदिक देवताओं में एक। यद्यपि विष्णु की स्तुति में ऋग्वेद (१.१५४) का एक ही सूक्त पाया जाता है, किन्तु वह इतना सारगर्भित है कि उसके तत्त्वों से विष्णु को हिन्दू त्रिमूर्ति में आगे चलकर प्रमुख स्थान मिला। उस विष्णुसूक्त में उनके तीन चरणों (त्रिविक्रमं, उरुक्रम) की विशेषता पायी जाती है। ये वालसूर्य, मध्याह्नसूर्य तथा सायंसूर्य के तीन स्थान हैं। उनका उच्चतम स्थान मध्याह्न का है। इस स्थान का जो वर्णन पाया जाता है वह परवर्ती विष्णुलोक अथवा गोलोक का पूर्वरूप है। विष्णु का भक्त वहाँ पहुँच कर आनन्द का अनुभव करता है। वहाँ भूरिशृंग गौएँ (रश्मियाँ) विचरती हैं और मधु की धाराएँ प्रवाहित होती हैं। विष्णु अपने चरण दयाभाव से उठाते हैं; उनका उद्देश्य है संसार को दुःख से मुक्त करने का और मानवों के लिए पृथ्वी को उपयुक्त आवास बनाने का (ऋ० ६. ४९. १३)। वे संसार के रक्षक और संरक्षक दोनों हैं। विष्णु कई रूप धारण करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु की कल्पना और विष्णुयागों का और विस्तार हुआ। पुराणों में विष्णु सम्बन्धी कल्पनाओं, कथाओं और पूजा पद्धति का अपरिमित विस्तार हुआ है।

त्रिमूर्ति की कल्पना में विष्णु का स्वरूप निखरा। ये विश्वात्मा के विश्वरूप के सात्त्विक तत्त्व हैं, जिनका मुख्य कार्य संयोजन, धारण, केन्द्रीकरण तथा संरक्षण है। विश्व में जो प्रवृत्तियाँ केन्द्र की ओर जाती हैं, ऐक्य की शक्ति उत्पन्न करती हैं, अस्तित्व तथा वास्तविकता को दृढ करती हैं, प्रकाश और सत्य का निर्देश करती हैं, वे विष्णु से उद्भूत होती हैं। विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति 'विष्लृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है सर्वत्र फैलना अथवा व्यापक होना। महाभारत (५. ७०; १३. २१४) के अनुसार विष्णु सर्वत्र व्याप्त हैं, वे समस्त के स्वामी हैं, वे विध्वंसक शक्तियों का दमन करते हैं। वे इसलिए विष्णु हैं कि वे सभी शक्तियों पर प्रभुत्व प्राप्त करते हैं।

विष्णु के अनेक नाम हैं। विष्णुसहस्रनाम में उनके एक सहस्र नामों की सूची प्रस्तुत की गयी है। इसके ऊपर शङ्कराचार्य का भाष्य है, जिसमें नामों का अर्थ और रहस्य बतलाया गया है। विष्णु का प्रसिद्ध नाम 'हरि' है। इसका अर्थ है (पाप और दुःख) दूर करने वाला। ब्रह्मयोगी ने कलिसन्तरण उपनिषद् (२. १. २१५) के अपने भाष्य में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है : 'जो अज्ञान (अविद्या) और इसके दुष्परिणाम का अपहरण करता है वह हरि है।' विष्णु का दूसरा नाम शेषशायी अथवा अनन्तशायी है। जब विष्णु शयन करते हैं तो सम्पूर्ण विश्व अपनी अव्यक्त अवस्था में पहुँच जाता है। व्यक्त सृष्टि के अवशेष का ही प्रतीक 'शेष' है जो कुण्डली मारकर अनन्त जलराशि पर तैरता रहता है। शेषशायी विष्णु नारायण कहलाते हैं, जिसका अर्थ है 'नार (जल) में आवास करने वाला'। नारायण का दूसरा अर्थ भी हो सकता है; 'जिसमें समस्त नरों (मनुष्यों) का अयन (आवास) है।'

विष्णु की मूर्तियों में विष्णुसम्बन्धी सिद्धान्तों और कल्पनाओं का ही प्रतीक पाया जाता है। विष्णुमूर्तियाँ प्रतीकों के समूह हैं और साधक उनके किसी भी रूप का ध्यान कर सकता है। गोपाल उत्तरतापनीय उपनिषद् (४६.४८,२१६) में विष्णुमूर्ति के मुख्य अङ्गों का वर्णन रहस्यमय रूप में विस्तार से प्राप्त होता है।

विष्णु की चौबीस प्रकार की मूर्तियाँ पायी जाती हैं। इनका वर्णन पद्मपुराण के पातालखण्ड में पाया जाता है। इन मूर्तियों में विष्णु के विविध गुणों का प्रतीकत्व है। रूपमण्डन नामक ग्रन्थ में भी विष्णु की चौबीस मूर्तियों का वर्णन है, किन्तु पद्मपुराण से कुछ भिन्न। विभिन्न युगों में इन्हीं मूर्तियों (रूपों) में विष्णु का युगानुसारी अवतार होता है। पद्मपुराण और रूपमण्डन के अनुसार इन मूर्तियों की व्याख्या इस प्रकार है :

१. केशव (लम्बे केश वाले)
२. नारायण (शेषशायी, सार्वभौम निवास)
३ माधव (मायापति, ज्ञानपति)
४, गोविन्द (पृथ्वी के रक्षक)
५. विष्णु (सर्वव्यापक)
६. जनार्दन (भक्तपुरस्कर्ता)
७. उपेन्द्र (इन्द्र के भ्राता)
८. हरि (दुःख, दारिद्र्य, पाप आदि का हरण करने वाले)
९. वासुदेव (विश्वान्तर्यामी)
१०. कृष्ण (आकृष्ट करने वाले, श्याम) इत्यादि।

इन मूर्तियों के अतिरिक्त राम, परशुराम आदि की मूर्तियाँ भी प्रचलित हैं, जिनका उल्लेख उपर्युक्त उल्लेखों में नहीं है।

उनके चार आयुओं और प्रमुख आभूपणों के अतिरिक्त पीताम्बर और यज्ञोपवीत भी प्रमुख उपकरण हैं। साथ ही चामर, ध्वज और छत्र का भी अङ्कन प्रतिमाओं में होता है। विष्णु के रथ और वाहन दोनों का उल्लेख मिलता है। उनका वाहन गरुड है जो वैदिक मन्त्रों की शक्ति, गति और प्रकाश का प्रतीक है, वह अपने पक्षों पर विष्णु को वहन करता है। विष्णु के पार्षदों में मुख्य विष्वक्सेन (विश्वविजेता) तथा अष्ट विभूतियाँ (योग से उपलब्ध होने वाली सिद्धियाँ) हैं।

विष्णुकाञ्ची—तमिल प्रदेश का यह प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ है। शिवकाञ्ची से अलग करने के लिए इसे विष्णुकाञ्ची कहा जाता है। कावेरी नदी दोनों को बीच से विभाजित करती है। शिवकाञ्ची से दो मील दूर विष्णुकाञ्ची है। यहाँ १८ विष्णुमन्दिर हैं। मुख्य मन्दिर देवराज स्वामी का है जिनको प्रायः वरदराज कहा जाता है। वैशाख पूर्णिमा को इस मन्दिर का ब्रह्मोत्सव होता है। यह दक्षिण भारत का सबसे बड़ा उत्सव है। एक मन्दिर में रामानुजाचार्य की प्रतिमा विराजमान है। यहीं महाप्रभु वल्लभाचार्य की बैठक भी है। सप्त मोक्षपुरियों में काञ्ची की भी गणना है।

विष्णुत्रिमूर्तिव्रत—विष्णु भगवान् के तीन रूप हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उनका अभिव्यक्तीकरण तीन रूपों में होता है। वे हैं वायु, चन्द्र तथा सूर्य। तीनों रूप तीनों लोकों की रक्षा करते हैं। ये ही मनुष्य के शरीर में वात, पित्त तथा कफ के रूप में विद्यमान हैं। इसलिए भगवान् विष्णु के ये ही तीन स्पर्श करने योग्य रूप हैं। ज्येष्ठ शुक्ल तृतीया को उपवास रखते हुए इनका पूजन करना चाहिए। प्रातःकाल भोर में वायु का पूजन तथा मध्यान्ह काल में यव-तिलों से हवन करना चाहिए। सूर्यास्त के समय चन्द्रमा का जल में पूजन करना चाहिए। एक वर्ष तक इस व्रत का अनुष्ठान होना चाहिए (प्रत्येक शुक्ल पक्ष की तृतीया को)। इस व्रत

मद्यकर्त्री, रजकी, क्षीरकी और धनवल्लभा ये आठ स्त्रियाँ कुलयोगिनी हैं। ये ही समस्त सिद्धियों की देने वालीं हैं।

वामाचारी—शक्ति की उपासना चार रूपों में होती है : (१) मन्दिर में सर्वसाधारण द्वारा देवी की पूजा (२) चक्र-पूजा (३) साधना या योगाभ्यास तथा (४) अभिचार (जादू-मन्त्र)। इनमें दूसरी प्रणाली अर्थात् 'चक्रपूजा' प्रमुख पद्धति है। चक्रपूजकों को वामाचारी भी कहते हैं। इसमें समान संख्यक पुरुष तथा स्त्रियाँ जो किसी भी जाति के होते हैं और समीपी सम्बन्धी भी हो सकते हैं (यथा पत्ति, पत्नी, माँ, बहिन, भाई) एकान्त में मिलते हैं, विशेष कर रात को, और एक गोलाई में बैठ जाते हैं। देवी का प्रतिनिधित्व एक यन्त्र या मूर्ति द्वारा होता है जिसे मध्य में रखा जाता है। मन्त्रोच्चारण के साथ पञ्चमकारों का सेवन होता है।

वायवीय संहिता—शिवपुराण में कुल सात खण्ड हैं। इसमें सातवाँ खण्ड वायवीय संहिता है। इसके दो भाग हैं पूर्व और उत्तर।

वायुपुराण—यह प्राचीनतम महापुराणों में माना जाता है। वाणभट्ट ने कादम्बरी में इसका उल्लेख किया है (पुराणे वायुप्रलपितम्)। इसमें रुद्रमाहात्म्य भी सम्मिलित है। यह शैव पुराण है तथा शिव की प्रशंसा में लिखा गया है। इसमें पाशुपतयोग का महत्त्वपूर्ण वर्णन है जो अन्य पुराणों में नहीं मिलता। अठारह महापुराणों की तालिका में वायुपुराण तथा शिवपुराण दोनों साथ न होकर कोई एक गिना जाता है। परम्परानुसार इसमें २४ हजार श्लोक हैं, किन्तु ऐसी कोई पोथी अभी तक प्राप्त नहीं है। इस समय जो प्रति उपलब्ध है उसमें लगभग ११ सहस्र श्लोक हैं। इसमें चार खण्ड तथा ११२ अध्याय हैं। ये खण्ड पाद कहलाते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं : (१) प्रक्रियापाद (२) अनुषङ्गपाद (३) उपोद्घातपाद और (४) उपसंहारपाद। प्रथम पाद में सृष्टिवर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इसके पश्चात् चतुराश्रम-विभाग का विवेचन है। इस पुराण में भौगोलिक सामग्री प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। जम्बूद्वीप तथा अन्य द्वीपों का विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन है। खगोल का वर्णन भी उपलब्ध होता है। कतिपय अध्यायों में युग, यज्ञ, ऋषि, तीर्थादि का वर्णन है। वेद तथा वेद की शाखाओं का वर्णन सम्यक् हुआ है जो वैदिक साहित्य के अध्ययन के लिए उपयोगी है। प्रजापति, कश्यप तथा अन्य ऋषियों के वंशों का इतिहास पाया जाता है। आगे चलकर श्राद्ध का वर्णन और गयामाहात्म्य है। संगीत का वर्णन भी सुन्दर और मनोरंजक है। वायु में वंशानुचरित का वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

यह पुराण साम्प्रदायिक होते हुए भी धार्मिक दृष्टि से उदार है। इसके कई अध्यायों में विष्णु तथा उनके विभिन्न अवतारों का भक्तिपूर्ण तथा सुन्दर वर्णन है। दक्ष प्रजापति ने जो शिव की स्तुति की है वह रुद्राध्याय का स्मरण दिलाती है।

वायु (वात)—वैदिक देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है; पार्थिव, वायवीय एवं आकाशीय। इनमें वायवीय देवों में वायु प्रधान देवता है। इसका एक पर्याय वात भी है। वायु, वात दोनों ही भौतिक तत्त्व एवं दैवी व्यक्तित्व के बोधक हैं किन्तु वायु से विशेष कर देवता एवं वात से आँधी का बोध होता है। ऋग्वेद में केवल एक ही पूर्ण सूक्त वायु की स्तुति में है (१.१३९) तथा वात के लिए दो हैं (१०.१६८,१८६)। वायु का प्रसिद्ध विरुद 'नियुत्वान्' है जिससे इसके सदा चलते रहने का बोध होता है। वायु मन्द के सिवा तीन प्रकार का होता है : (१) धूल-पत्ते उड़ाता हुआ (२) वर्षाकर एवं (३) वर्षा के साथ चलने वाला झंझावात। तीनों प्रकार वात के हैं जबकि वायु का स्वरूप बड़ा ही कोमल वर्णित है। प्रातःकालीन समीर (वायु) उषा के ऊपर साँस लेकर उसे जगाता है, जैसे प्रेमी अपनी सोयी प्रेयसी को जगाता हो। उषा को जगाने का अर्थ है प्रकाश को निमंत्रण देना, आकाश तथा पृथ्वी को द्युतिमान् करना। इस प्रकार प्रभात होने का कारण वायु है क्योंकि वायु ही उषा को जगाता है।

इन्द्र एवं वायु का सम्बन्ध बहुत ही समीपी है और इस प्रकार इन्द्र तथा वायु युगलदेव का रूप धारण करते हैं। विद्युत् एवं वायु वर्षाकालीन गर्जन एवं तूफान में एक साथ होते हैं, इसलिए इन्द्र तथा वायु एक ही रथ में बैठते हैं—दोनों के संयुक्त कार्य का यह पौराणिक व्यक्तीकरण है। सोम की प्रथम घूँट वायु ही ग्रहण करता है। वायु अपने को रहस्यात्मक (अदृश्य) पदार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है। इसकी ध्वनि सुनाई पड़ती है किन्तु

कोई इसका रूप नहीं देखता। इसकी उत्पत्ति अज्ञात है। एक बार इसे स्वर्ग तथा पृथ्वी की सन्तान कहा गया है (ऋ० ७.९.३)। वैदिक ऋषि वायु के स्वास्थ्य सम्बन्धी गुणों से सुपरिचित थे। वे जानते थे कि वायु ही जीवन का साधन है तथा स्वास्थ्य के लिए वायु का चलना परमावश्यक है। वात रोगमुक्ति लाता है तथा जीवनी शक्ति को बढ़ाता है। उसके घर में अमरत्व का कोष भरा पड़ा है। उपर्युक्त हेतुओं से वायु को विश्व का कारण, मनुष्यों का पिता तथा देवों का श्वास कहा गया है। इन वैदिक कल्पनाओं के आधार पर पुराणों में वायु सम्बन्धी बहुत सी पुराकथाओं की रचना हुई।

वारकरी (सम्प्रदाय)--दक्षिण भारत के उदार भागवत सम्प्रदाय (शिव तथा विष्णु की एकता के सम्प्रदाय) की तीन शाखाएँ हो गयी हैं: (१) वारकरी सम्प्रदाय (२) रामदासी सम्प्रदाय और (३) दत्त सम्प्रदाय। वारकरी सम्प्रदाय वालों की विशेषता है तीर्थयात्रा। उनके प्रधान उपास्य पण्ढरपुर के भगवान् विट्ठल या बिठोवा हैं।

वारव्रत—अग्निपुराण, अ० १८५; कृत्यकल्पतरु, ८-३४; दानसागर, पृ० ५६८-५७०; हेमाद्रि का चतुर्वर्गचिन्तामणि, १.५१७-५२१; कृत्यरत्नाकर, ५९३-६१०; स्मृ० कौ०, ५४९-५८८ तथा व्रतार्क जैसे ग्रन्थों में रविवार, सोमवार तथा मंगलवार के दिन व्रत करने का उल्लेख किया गया है।

वाराणसी (बनारस)—काशी का दूसरा नाम। वरणा और असी के बीच बसने के कारण इसका नाम वाराणसी पड़ा। इसी का अपभ्रंश 'बनारस' है। प्राचीन काल में जनपद का नाम काशी था और वाराणसी उसकी राजधानी थी। अति प्राचीन काल से भारत की विद्या व धर्म की राजधानी गंगा के बायें तट पर बसी वाराणसी ही रही है। यह शिव की प्रिय नगरी और अनेकानेक धर्म व सम्प्रदायों की जननी है। शैव धर्म, जैन तीर्थङ्कर, गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, वल्लभ, रामानन्द, कबीर, तुलसी आदि की यह कर्मभूमि रही है। गङ्गा का यहाँ दक्षिण से उत्तर को बहाव वाराणसी को और भी महत्त्व प्रदान करता है। गङ्गा के तट पर वाराणसी के घाट अपूर्व शोभा पाते हैं। इन पर नित्य स्नान करने वाले प्रातःकाल गंगा के सामने दूसरी ओर से निकलते हुए भगवान् भास्कर का दर्शनकर कृतार्थ हो जाते हैं। शिव तथा गंगा के अतिरिक्त वैष्णव, बौद्ध, जैन एवं अनेकानेक हिन्दू सम्प्रदायों के यहाँ मन्दिर तथा मठ हैं। यदि इसे मन्दिरों की नगरी कहें तो अतिशयोक्ति न होगी।

लगभग १५०० मन्दिर इस नगर में हैं। यहाँ का प्रत्येक मन्दिर, मठ, आश्रम यहाँ तक कि आचार्यों के घर एक-एक विद्यालय है। इस परम्परा का निर्वाह आज भी हो रहा है। आजकल तीन विश्वविद्यालयों--काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय और काशी विद्यापीठ के अतिरिक्त अनेकानेक विद्यालय तथा महाविद्यालय यहाँ भरे हुए हैं। उपर्युक्त महत्ताओं के कारण काशी (वाराणसी) हिन्दू मात्र का प्रसिद्ध तीर्थ है। प्रत्येक हिन्दू की यह इच्छा होती है कि वह विश्वनाथ की इस प्यारी नगरी में ही मरे। प्रत्येक ग्रहण के अवसर पर सारे भारत की जनता इस नगरी में उमड़ आती है, गंगास्नान व काशी-विश्वेवर के दर्शन कर अपने को धन्य और कृतार्थ मानती है। दे० 'काशी'।

वाराह अवतार—तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में इस अवतार का वर्णन है। यह विष्णु का तीसरा अवतार है। इसका वराहपुराण में विस्तृत वर्णन है। जब हिरण्याक्ष नामक दैत्य ने पृथ्वी को चुराकर पाताल में रख दिया था तब विष्णु ने वराह रूप धारण कर अपने दाँतों से पृथ्वी का उद्धार किया। इस पौराणिक घटना के नाम पर इस कल्प का नाम ही श्वेत वाराहकल्प हो गया है। दे० 'वराहावतार'।

वाराही—प्रत्येक देवता की शक्तियों की उपासना का प्रचलन शाक्त धर्म की देन है। इस प्रकार वराह की शक्ति का नाम वाराही है। मूर्तियों में इसका अङ्कन हुआ है।

वाराहीतन्त्र—आगमतत्त्वविलास में उत्धृत एक तन्त्र। इस तन्त्र से पता लगता है कि जैमिनि, कपिल, नारद, गर्ग, पुलस्त्य, भृगु, शुक्र, बृहस्पति आदि ऋषियों ने भी कई उपतन्त्र रचे हैं। वाराहीतन्त्र में इन तन्त्रों का नाम उनकी श्लोकसंख्या सहित दिया हुआ है।

वारिव्रत—यह मासव्रत है। प्रतीत होता है कि इसके देवता ब्रह्मा हैं। व्रती को चैत्र, ज्येष्ठ, आषाढ़, माघ अथवा पौष में अर्थात् चार मास अयाचित पद्धति से आहार करना चाहिए। व्रत के अन्त में वस्त्रों से ढका एक कलश, भोजन तथा तिलों से परिपूर्ण एक पात्र, जिसमें सुवर्ण खण्ड भी

पड़ा हो, दान करना चाहिए। इतने कृत्यों के उपरान्त व्रती ब्रह्माजी के लोक को प्राप्त होता है।

वारुण उपपुराण—उन्तीस उपपुराणों में से एक वारुण उपपुराण भी है।

वारुणी—चैत्र कृष्ण त्रयोदशी को यदि शतभिषा नक्षत्र हो (जिसके स्वामी वरुण देवता हैं) तो वह वारुणी कहलाती है तथा इस पर्व पर गंगास्नान करने वाले को एक करोड़ सूर्यग्रहणों के बराबर पुण्य होता है। यदि उपर्युक्त योगों के अतिरिक्त उस दिन शनिवार भी हो तो यह महावारुणी कहलाती है। यदि इन सबके अतिरिक्त शुभ नामक योग भी आ जाय तो फिर यह 'महामहावारुणी' कहलाती है।

वारुणी उपनिषद्—तैत्तिरीयोपनिषद् के तीन भाग हैं। पहला संहितोपनिषद् या शिक्षावल्ली है, दूसरे भाग को आनन्दवल्ली और तीसरे को भृगुवल्ली कहते हैं। इन दोनों वल्लियों का संयुक्त नाम वारुणी उपनिषद् है।

वार्षगण्य—प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी वि० में उत्पन्न, सांख्य दर्शन के एक आचार्य। ये प्रसिद्ध दार्शनिक थे। इनका रचा 'षष्टितन्त्र' सांख्य विषयक मौलिक रचना है।

वालखिल्य—(१) ऋग्वेद के समस्त सूक्तों की संख्या १०२८ है। इनमें से ११ सूक्तों पर, जिन्हें 'वालखिल्य' कहते हैं, न तो सायणाचार्य का भाष्य है और न शौनक ऋषि की अनुक्रमणी में इनका उल्लेख पाया जाता है। प्रत्येक सूक्त में किसी दिव्य ईश्वरीय विभूति की स्तुति है और उस स्तुति के साथ-साथ व्याजरूप से सृष्टि के अनेक रहस्यों तथा तत्त्वों का उद्घाटन किया गया है।

(२) देवगणों का एक ऐसा वर्ग जो आकार में अँगूठे के बराबर होते हैं। इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के शरीर से हुई है। इनकी संख्या साठ हजार है और ये सूर्य के रथ के आगे-आगे चलते हैं।

वालखिल्यशाखा—यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में १९९० मन्त्र हैं। वालखिल्य शाखा का भी यही परिमाण है। इन दोनों से चार गुना अधिक इनके ब्राह्मणों का परिमाण है :

द्वे सहस्रे शतन्यूनं मन्त्रा वाजसनेयके।
तावत्त्वन्येन संख्यातं वालखिल्यं सशुक्रियम्।
ब्राह्मणस्य समाख्यातं प्रोक्तमानाच्चतुर्गुणम्॥

वाल्मीकि—(१) महर्षि कश्यप और अदिति के नवम पुत्र वरुण (आदित्य) से इनका जन्म हुआ। इनकी माता चर्षणी और भाई भृगु ऋषि थे। वरुण का नाम प्रचेत भी है, इसलिए वाल्मीकि प्राचेतस् नाम से विख्यात हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित ब्रह्मविद्या वरुण और भृगु के संवादरूप में है। इससे स्पष्ट है कि भृगु के अनुज वाल्मीकि भी परम ज्ञानी और तपस्वी ऋषि थे। उग्र तपस्या या ब्रह्मचिन्तन में देहाध्यास न रहने के कारण इनके शरीर को दीमक ने ढक लिया था, बाद में दीमक के वल्मीक (ढूह) से ये बाहर निकले, तबसे इनका नाम वाल्मीकि हो गया। इनका आश्रम तमसा नदी के तट पर था। (भागवत)

एक दिन महर्षि ने प्रातःकाल तमसा के तट पर एक व्याध के द्वारा क्रौञ्च पक्षी का वध करने पर करुणार्द्र हो उसे शाप दिया। शाप का शब्द अनुष्टुप् छन्द में बन गया था। इसी अनुष्टुप् छन्द में मुनि ने नारद से सुनी राम की कथा के आधार पर रामायण की रचना कर डाली। उसे लव-कुश को पढ़ाया। लव-कुश ने उसे राम की राजसभा में गाया। इस पर वाल्मीकि प्रथम कवि तथा रामायण प्रथम महाकाव्य प्रसिद्ध हुआ। वाल्मीकि की और भी अनेक रचनाएँ हैं किन्तु रामायण अकेले ही उन्हें सर्वदा के लिए अमरत्व दे गयी है।

(२) ये पुराणवर्णित वाल्मीकि त्रेतायुग में हुए थे और प्राचेतस् वाल्मीकि से भिन्न प्रतीत होते हैं। परम्परागत कथनानुसार इनका प्रारम्भिक जीवन निकृष्ट था। कहते हैं कि ये रत्नाकर नामक दस्यु थे तथा जंगल में पथिकों का बध कर उनका धन छीन लेते और अपने परिवार का भरण-पोषण किया करते थे। एक दिन उसी मार्ग से महर्षि नारद का आगमन हुआ। वाल्मीकि ने उनके साथ भी वैसा ही व्यवहार करना चाहा। महर्षि ने उन्हें मना किया तथा कहा कि इन पापों के भागीदार तुम्हारे माता-पिता, स्त्री या बच्चे होंगे या नहीं, जिनके लिए तुम यह सब करते हो। वाल्मीकि को विश्वास न हुआ और वे नारद को एक वृक्ष के साथ बाँधकर अपने घर उपर्युक्त जिज्ञासा का उत्तर प्राप्त करने गये। किन्तु घर का कोई भी सदस्य उनके पापों का भागीदार होना न चाहता था। वे वन में लौट आये, नारदजी को मुक्त कर उनके चरणों में गिर गये और उनके उपदेश से अन्न-जल त्यागकर तपस्या में निरत हुए। उनके शरीर पर दीमकों ने घर बना लिया। दीमकों से बनाये टीले को 'वल्मीक' कहते हैं। उससे निकलने के कारण इनका नाम वाल्मीकि प्रसिद्ध हो गया।

वाल्मीकि रामायण—दे० 'रामायण'।

वासिष्ठ उपपुराण—उन्तीस प्रसिद्ध उपपुराणों में से एक वासिष्ठ उपपुराण भी है।

वासन्तिक नवरात्र—चैत्र शुक्ल के आरम्भ से नौ दिनों तक चलने वाला पर्व। इन नवरात्रों में भी शारदीय नवरात्रों के सदृश ही पूजन उत्सव होते हैं। यह मुख्यतः शाक्त पर्व है और इसमें शक्ति अथवा दुर्गा की पूजा होती है। परन्तु इसके साथ वैष्णव पर्व भी जुड़ गया है। अन्तिम दिन रामनवमी को रामजन्मोत्सव मङ्गल-वाद्य, नाच-गान आदि के साथ मनाया जाता है।

वासुदेवद्वादशी—आषाढ़ शुक्ल द्वादशी। इसमें भगवान् वासुदेव के शरीरावयवों की, चरणों से मस्तक तक उनके विभिन्न नामों तथा व्यूहों का उच्चारण करते हुए पूजा करनी चाहिए। एक पात्र में वासुदेव की सुवर्णप्रतिमा रखकर उसका पूजन किया जाना चाहिए। जलपात्र दो वस्त्रों से आच्छादित होना चाहिए। पूजन के उपरान्त उसका दान कर देना चाहिए। यह व्रत नारद द्वारा वसुदेव तथा देवकी को सूचित किया गया था, इसको करने से व्रती पुत्र अथवा राज्य, यदि उसने खो दिया हो, प्राप्त कर लेता है। साथ ही वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

विजया (दशमी)—(१) आश्विन शुक्ल दशमी को इस व्रत का अनुष्ठान विहित है। सूर्यास्त के थोड़ी देर बाद का समय, जब तारागण निकल रहे हों, समस्त सिद्धियों तथा उद्देश्यों की सिद्धि के लिए अत्यन्त पुनीत तथा महत्त्वपूर्ण माना गया है। दे० स्मृतिकौस्तुभ, ३५३।

(२) दिन के पंद्रह मुहूर्तों में से यह ग्यारहवाँ मुहूर्त है। दे० स्मृतिकौस्तुभ, ३५३।

विजया द्वादशी—(१) इस व्रत में भाद्रपद शुक्ल एकादशी को संकल्प करना चाहिए और श्रवण नक्षत्र युक्त द्वादशी को उपवास। इस अवसर पर भगवान् विष्णु की सुवर्ण की प्रतिमा को पीताम्बर पहनाकर उनका अर्घ्यादि से पूजन करना चाहिए। रात्रि को जागरण का विधान है। दूसरे दिन सूर्योदय के समय प्रतिमा का दान करना चाहिए।

(२) फाल्गुन कृष्ण या शुक्ल एकादशी अथवा द्वादशी यदि पुष्य नक्षत्र से युक्त हो तो वह विजया कहलाती है।

(३) भाद्र शुक्ल एकादशी वा द्वादशी यदि बुधवार को पड़े तथा उस दिन श्रवण नक्षत्र हो तो वह भी विजया है। शुक्ल पक्ष में व्रत करने से स्वर्गोपलब्धि तथा कृष्ण पक्ष में व्रत करने से पाप क्षय होते हैं।

विजया—यह नाम कई तिथियों के लिए प्रयुक्त होता है। यथा यदि रविवार को सप्तमी और रोहिणी नक्षत्र हो तो वह विजया कहलाती है। गरुडपुराण के अनुसार द्वादशी या एकादशी श्रवण नक्षत्र से संयुक्त हो तो वह विजया कहलाती है। 'वर्षकृत्यकौमुदी' के अनुसार यदि विजया सप्तमी को सूर्य हस्त नक्षत्र में हो तो वह महामहाविजया कहलाती है। शुक्ल पक्ष की एकादशी को यदि पुनर्वसु नक्षत्र हो तो वह विजया कहलाती है।

आश्विन शुक्ल पक्ष की दशमी भी विजया कही जाती है। इस दिन क्षत्रिय राजा अपराजिता देवी, शमी वृक्ष और अस्त्र-शस्त्रों का पूजन एवं विजययात्रा करते हैं।

विजयाव्रत—इन्द्र के वाहन ऐरावत हाथी तथा उच्चैःश्रवा नामक अश्व की पूजा इस व्रत में की जाती है। उच्चैः-श्रवा इन्द्र का वाहन है। यह पर्व विजया दशमी को क्षत्रियों द्वारा मनाया जाता है।

विजयायज्ञसप्तमी—माघ शुक्ल सप्तमी को इस व्रत का अनुष्ठान होना चाहिए। इसके देवता सूर्य हैं। एक वर्ष-पर्यन्त इस व्रत का अनुष्ठान होता है। प्रति मास सूर्य के विभिन्न नामों को प्रयुक्त किया जाय। १२ ब्राह्मणों को सम्मानित किया जाय। व्रत के अन्त में सुवर्ण की सूर्य-मूर्ति एवं सारथि तथा रथ की प्रतिमाएँ बनवाकर अपने आचार्य को दे देनी चाहिए।

विज्ञान—अन्तःकरण की उस चेतना का नाम, जिसके द्वारा अपने व्यक्तित्व का बोध होता है। इसका अर्थ 'अहङ्कार' से कुछ मिलता-जुलता है।

विज्ञानवाद—दर्शन के उस सिद्धान्त का नाम, जो मानता है कि वस्तुसत्ता 'विज्ञानरूप' है। विज्ञान के अतिरिक्त जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है। यह बौद्ध योगाचार मत से मिलता-जुलता है।

वितस्तापूजा—भाद्रपद की दशमी से सात दिनों तक वितस्ता जो नदी (आजकल झेलम कहलाती है) में ही स्नान, उसी का जल पीना, उसके पूजन तथा ध्यान में मग्न होना चाहिए। कश्मीर भूमि में वितस्ता भगवती सती (पार्वती) का ही अवतार है। वितस्ता तथा सिन्धु के संगम पर विशेष पूजा का विधान है। वितस्ता के सम्मान में उत्सव

से आराधक स्वर्ग प्राप्त कर लेता है। यदि वह लगातार तीन वर्षों तक इस व्रत का आचरण करे तो वह ५००० वर्षों तक स्वर्ग में वास करता है।

विष्णुदेवकीव्रत—कार्तिक मास की प्रतिपदा से आरम्भ कर एक वर्ष तक यह व्रत करना चाहिए। पंचगव्य से भगवान् वासुदेव को स्नान कराकर उसी को उस अवसर पर प्रसाद रूप में ग्रहण करना चाहिए। बाण के फूलों, चन्दन के प्रलेप तथा अत्यन्त स्वादिष्ठ नैवेद्य से पूजा करनी चाहिए। एक मास तक किसी भी प्राणी को (यहाँ तक कि पशु को भी) किसी प्रकार की क्षति न पहुँचायी जाय। इस अवसर पर असत्य भाषण, चौर्य, मांस तथा मधु-भक्षण एकदम निषिद्ध हैं। केवल भगवान् के ध्यान में मग्न रहना चाहिए। शास्त्रों, यज्ञों तथा देवों की निन्दा का परित्याग करना चाहिए। प्रति दिन मौन रहकर नैवेद्य ग्रहण करना चाहिए। मार्गशीर्ष, पौष, माघ तथा अन्य मासों में भी यही विधान रहेगा, केवल पुष्प, धूप तथा नैवेद्य ही परिवर्तित होते रहेंगे। देवकी एक सुन्दर पुत्र चाहती थीं। अतएव विष्णु की पूजा करने के लिए इस व्रत का अनुष्ठान उन्होंने किया था।

विष्णुपञ्चक—कार्तिक मास के अन्तिम पाँच दिन विष्णुपञ्चक कहलाते हैं। उन दिनों विष्णु तथा राधा की पञ्चोपचारों (गन्धाक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य) से पूजा करनी चाहिए। इससे समस्त पापों का नाश होता है और व्रती सीधा विष्णुलोक जाता है। पूजा की कुछ विभिन्न पद्धतियों का यहाँ वर्णन किया जा रहा है, यथा एकादशी को पूजन, द्वादशी को गोमूत्रपान, त्रयोदशी को दुग्धाहार, चतुर्दशी को दही का आहार तथा पूर्णिमा को केशव की आराधना करके सायंकाल पञ्चगव्य प्राशन करना चाहिए अथवा तुलसीदलों से हरि का पूजन करना चाहिए। दे० पद्मपुराण, ३.२३,१-३३।

विष्णुपद अथवा विष्णुपदी—यह चार राशियों का नाम है। यथा वृषभ, सिंह, वृश्चिक तथा कुम्भ। दे० कालनिर्णय, ३३२।

विष्णुपदव्रत—आषाढ़ मास में पूर्वाषाढ़ नक्षत्र के समय व्रत आरम्भ करना चाहिए। इस अवसर पर दुग्ध अथवा घृत में रखे हुए भगवान् विष्णु के तीन पगों की पूजा करनी चाहिए। व्रती को केवल रात्रि के समय हविष्यान्न ग्रहण करना चाहिए। श्रवण अथवा उत्तराषाढ़ नक्षत्र काल में भगवान् गोविन्द तथा भगवान् विष्णु के तीन पगों की आराधना करनी चाहिए, किन्तु दान और भोजन में अन्तर हो जायगा। भाद्र मास में पूर्वाषाढ़ नक्षत्र के समय, फाल्गुन मास में पूर्वाफाल्गुनी तथा चैत्र में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रों के समय उसी प्रकार की पूजा की जाय। इन आचरणों से व्रती स्वास्थ्य, समृद्धि का लाभ करके अन्त में विष्णुलोक प्राप्त कर लेता है।

विष्णुपुराण—जैसा इसके नाम से ही प्रकट है, यह वैष्णव पुराण है। प्रमुख पुराणों में इसकी गणना है। श्रीमद्भागवत के पश्चात् लोकप्रियता में इसका दूसरा स्थान है। वैष्णव दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों का इसमें प्रतिपादन हुआ है। आचार्य रामानुज ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर रचित श्रीभाष्य में विष्णुपुराण से अनेक उद्धरण दिये हैं। इससे इसका दार्शनिक महत्त्व प्रकट होता है। यह छः खण्डों में विभक्त है जिनको अंश कहते हैं। इसमें अध्यायों की संख्या १२६ है। आकार में यह श्रीमद्भागवत पुराण का एक तिहाई है। प्रथम अंश में सृष्टिवर्णन, द्वितीय अंश में भूगोलवर्णन, तृतीय अंश में आश्रम और वैदिक शाखावर्णन, चतुर्थ में इतिहास, पञ्चम में कृष्ण चरित्र और षष्ठ अंश में प्रलय और भक्ति का वर्णन पाया जाता है। इस पुराण में ज्ञान और भक्ति का सुन्दर समन्वय मिलता है। विष्णु और शिव के अभेद का प्रतिपादन भगवान् कृष्ण के मुख से कराया गया है—

> योऽहं स त्वं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम्।
> मत्तो नान्यदशेषो यत् तत् त्वं ज्ञातुमिहार्हसि॥
> अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः।
> वदन्ति भेदं पश्यन्ति चावयोरन्तरं हर॥
> (विष्णुपुराण, ५,३३,४८-४९)

विष्णुप्रबोध—कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को भगवान् शय्या त्याग कर जाग जाते हैं। इस कारण इस दिन को विष्णुप्रबोधिनी एकादशी कहा जाता है। संध्या को सुसज्जित मण्डप में पत्र-पुष्प-फलों की प्रथम उपज से पूजन करते हुए विष्णु को जगाया जाता है। दीपमाला जलायी जाती है। इसका नाम 'देवदीपावली' भी है।

विष्णुप्राप्तिव्रत—इस व्रत में द्वादशी के दिन उपवास का

विधान है। इस दिन 'नमो नारायणाय' का उच्चारण करके सूर्य को अर्घ्य देना चाहिए। श्वेत पुष्पों से विष्णु की पूजा करते हुए निम्न मंत्र का उच्चारण किया जाय, 'देवाधिदेव' धरा के आधार, हे आशुतोष ! इन पुष्पों को स्वीकार कर कृपा कर मेरे ऊपर प्रसन्न होइए।' व्रती को ज्वार, बाजरा (श्यामाक) का भोजन अथवा उस धान्य का आहार करना चाहिए जो ६० दिनों में पककर तैयार होता है तथा जो मसालों के साथ बो दिया गया है (मिर्च, धनियाँ, जीरा आदि) या धान अथवा जौ अथवा नीवार (जंगली धान) का आहार करना चाहिए। तदनन्तर व्रत की पारणा करनी चाहिए। इससे व्रती विष्णुलोक प्राप्त कर लेता है।

विष्णुलक्षवर्तिव्रत—किसी पवित्र तिथि तथा लग्न के समय रुई की धूल तथा तिनके आदि साफ करके चार अंगुल लम्बा धागा काता जाय। इस प्रकार पाँच धागों को कातकर एक वत्ती बनायी जाय। इस प्रकार की एक लाख बत्तियाँ घी में भिगोकर किसी चाँदी या काँसे के पात्र में रखकर भगवान् विष्णु की प्रतिमा के पास ले जानी चाहिए। इनको ले जाने का सबसे उचित समय कार्तिक, माघ या वैशाख मास है, वैशाख सर्वोत्तम है। प्रति दिन एक सहस्र अथवा दो सहस्र बत्तियाँ विष्णु के सम्मुख प्रज्वलित की जाँय। उपर्युक्त मासों में से किसी भी मास की पूर्णिमा को व्रत समाप्त कर देना चाहिए। तदनन्तर उद्यापन किया जाना चाहिए। आजकल दक्षिण भारत में महिलाओं द्वारा इस व्रत का आयोजन किया जाता है।

विष्णुशङ्करव्रत—इस व्रत में उसी विधि का अनुसरण करना चाहिए जो उमामहेश्वरव्रत के विषय में पीछे कही गयी है। भाद्रपद अथवा आश्विन मास में मृगशिरा, आर्द्रा, पूर्वाफाल्गुनी, अनुराधा अथवा ज्येष्ठा नक्षत्र के अवसर पर इस व्रत का आचरण करना चाहिए। यहाँ अन्तर केवल इतना है कि विष्णु को पीताम्बर धारण कराये जाँयगे तथा दक्षिणा में भी विष्णु को सुवर्ण तथा शंकर को मोती भेंट किये जाँयगे।

विष्णुशयनोत्सव—आषाढ़ शुक्ल एकादशी को भगवान् विष्णु का शयनोत्सव मनाया जाता है। यह उत्सव मलमास अथवा पुरुषोत्तम मास में कदापि नहीं मनाया जाना चाहिए। दे० निर्णयसिन्धु, १०२। इस समय तक वर्षा प्रारम्भ हो चुकती है और सूर्य मेघाच्छन्न रहता है। विष्णु सूर्य का ही एक रूप है। सूर्य के मेघाच्छन्न होने के कारण यह विश्वास किया जाता है कि विष्णु शयन करने चले गये हैं। यह स्थिति प्रायः कार्तिक शुक्ल एकादशी तक रहती है जब कि निर्मेघ स्वच्छ आकाश में प्रबोध एकादशी के दिन देवोत्थान (विष्णु के जागरण) का उत्सव तथा व्रत मनाया जाता है। दे० 'प्रबोधएकादशी'।

विष्णुशृंखलायोग—यदि द्वादशी एकादशी से संयुक्त हो तथा उस दिन श्रवण नक्षत्र हो तो वह विष्णुशृंखला कहलाता है। इस व्रत के आचरण से मनुष्य सारे पापों से मुक्त होकर सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

वीरव्रत—नवमी के दिन व्रती को एकभक्त पद्धति से आहार करके कन्याओं को भोजन कराकर सुवर्ण का कलश, दो वस्त्र तथा सुवर्ण दान करना चाहिए। एक वर्षपर्यन्त इस व्रत का अनुष्ठान होना चाहिए। प्रति नवमी को कन्याओं को भोजन कराया जाना चाहिए। इस व्रत से व्रती प्रत्येक जीवन में अत्यन्त रूपवान् होता है और उसे किसी शत्रु से भय आदि नहीं रहता। अन्त में वह शिवजी की राजधानी प्राप्त कर लेता है। ऐसा लगता है कि इस व्रत के देवता या तो शिव हैं या उमा अथवा दोनों ही हैं।

वीरासन—समस्त कृच्छ्रव्रतों में वांछनीय आसन वीरासन कहा जाता है। हेमाद्रि, १.३२२ (गरुडपुराण को उद्धृत करते हुए) तथा २.९३२। अघमर्षण व्रत में भी इसका उल्लेख मिलता है। अघमर्षण का उल्लेख शंखस्मृति, १८.२ में आया है। इससे समस्त पापों का नाश होता है।

वृक्षोत्सवविधि—भारत में वृक्षारोपण को अत्यन्त महत्त्व दिया जाता है मत्स्यपुराण। (५९, श्लोक १-२०)। ठीक वैसे ही पद्मपुराण (५.२४,१९२-२११) में वृक्षोत्सव के विधान के विषय में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। संक्षेप में उसकी विधि यह है कि सर्वौषधियों से युक्त जल से वृक्षों के उद्यानों को तीन दिन सींचा जाय। सुगन्धित चूर्ण से तथा वस्त्रों से वृक्षों का शृंगार करना चाहिए। सुवर्ण की बनी हुई (कान छेदने वाली) सुई से वृक्षों को छेदकर उनमें सुनहरी पेंसिल से सिन्दूर भर देना चाहिए। वृक्षों से बने मचानों पर सात या आठ सोने के फ़ल लगाये जाँय तथा वृक्षों के नीचे कुछ ऐसे कलश भी स्थापित किये जाँय

जिनमें सुवर्णखण्ड पड़े हों । इन्द्र तथा लोकपालों के लिए वनस्पतियों के निमित्त हवन करना चाहिए ।

अतिथि, ब्राह्मणों को दूध से परिपूर्ण भोजन कराया जाय । इस अवसर पर जौ, काले तिल तथा सरसों से हवन करना चाहिए । हवन में पलाश की समिधाएँ प्रयुक्त की जायें । चौथे दिन व्रतोत्सव आयोजित हो । इससे व्रती अपनी समस्त मनःकामनाओं की पूर्ति होते हुए देखता है ।

मत्स्यपुराण (१५४.५१२) के अनुसार एक पुत्र दस गहरे जलाशयों के समान है तथा एक वृक्ष का आरोपण दस पुत्रों के बराबर है । वराहपुराण (१७२.३६-३७) में कहा गया है कि जैसे एक अच्छा पुत्र परिवार की रक्षा करता है, उसी प्रकार एक वृक्ष, जिस पर फल-फूल लदे हों, अपने स्वामी को नरक में गिरने से बचाता है । पाँच आम के पौधे लगाने वाला कभी नरक जाता ही नहीं : 'पञ्चाम्रवापी नरकं न याति ।' विष्णुधर्म० (३.२९७-१३) के अनुसार 'एक व्यक्ति द्वारा पालित पोषित वृक्ष एक पुत्र के समान या उससे भी कहीं अधिक महत्त्व रखता है । देवगण इसके पुष्पों से, यात्री इसकी छाया में बैठकर, मनुष्य इसके फल-फूल खाकर इसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं । अतः वृक्षारोपण करने वाले व्यक्ति को कभी नरक में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

वृन्ताकत्यागविधि—वृन्ताक (बैंगन या भंटा) फल के भक्षण का पूरे जीवन के लिए अथवा एक वर्ष या छः मास या तीन मास के लिए त्याग करना इस व्रत में विहित है । इसमें एक रात्रि को भरणी अथवा मघा नक्षत्र के समय उपवास करना चाहिए । यमराज, काल, चित्रगुप्त, मृत्यु एवं प्रजापति को एक वेदी पर स्थापित कर उनकी प्रार्थना करते हुए गन्ध, अक्षतादि से पूजन करना चाहिए । तिल तथा घी से 'नीलाय स्वाहा, यमाय स्वाहा' कहकर होम करना चाहिए और इसी प्रकार स्वाहा शब्द नीलकण्ठ, यमराज, चित्रगुप्त, वैवस्वत के साथ जोड़कर हवन करना चाहिए । इस तरह १०८ आहुतियाँ दी जाँय । तदनन्तर सोने के बने हुए वृन्ताक, श्यामा गौ, साँड़, अँगूठियाँ, कान के आभूषण, छाता, पादुका, एक जोड़ी कपड़े तथा एक काले कम्बल का दान करना चाहिए । ब्राह्मणों को भोजन देना चाहिए । इस अवसर पर ब्राह्मण का कर्त्तव्य स्वस्तिवाचन करना है । जो व्यक्ति जीवनपर्यन्त बैंगन नहीं खाता वह सीधा विष्णुलोक जाता है । जो व्यक्ति एक वर्ष या एक मास के लिए इसका त्याग करता हैं उसे यम की राजधानी में उपस्थित नहीं होना पड़ता । यह प्रकीर्णक व्रत है ।

वृन्दावन—मथुरा से सात मील उत्तर यमुनातट पर वृक्ष-लता-कुञ्ज-कुटीरों से शोभायमान विख्यात वैष्णव तीर्थ । वृन्दावन का महत्त्व इसलिए है कि भगवान् कृष्ण ने यहीं पर गोचारण की अनेकों बाललीलाएँ तथा गोपियों के साथ महारास की लीला की थी । पूर्व जन्म में जालन्धर की पत्नी वृन्दा थी । भगवत्कृपा से वह विष्णुप्रिया बन गयी । उसको विष्णु का वरदान मिला । असंख्य गोपियों के रूप में वह व्रज में अवतरित हुई । उसके नाम से ही विहारस्थल का नाम वृन्दावन पड़ा । यह संतों और भक्तों की सिद्ध भजनस्थली भी रही है । एक से एक बढ़कर गोपाल कृष्ण के हजारों मन्दिर यहाँ भक्तों की भावना के स्मारक बने हुए हैं । साधुओं के अखाड़े, आश्रम, कुटी, कुंज, भजनाश्रम, रासमण्डल, व्रजरज और घाटों से इस स्थान की शोभा निराली हो गयी है ।

आध्यात्मिक अर्थ में ब्रह्म और जीव के तादात्म्य की यह रासस्थली (अनुभवभूमि) है । बालकृष्ण की लीलाभूमि वृन्दावन कृष्णभक्तों तथा सभी वैष्णवों के लिए अति आकर्षणपूर्ण पुण्य स्थल है । मुसलमानी आक्रमणकारियों ने इसके पूर्व गौरवशाली रूप को विकृत कर दिया था । किन्तु फिर अनेक सम्प्रदायों तथा उनके संरक्षकों के द्वारा इसके पुण्यस्थलों का उद्धार हुआ है । प्रसिद्ध चैतन्यानुयायी रूप तथा सनातन गोस्वामी आदि वैष्णवों ने तो वृन्दावन को ही अपना कार्यस्थल बनाया । इन लोगों ने इसके माहात्म्य को और भी बढ़ाया । अनेकों कृष्णभक्त कवि, गायक, सन्त आदि के नामों से यह स्थान संबंधित है । अकबर के शासन काल में अनेक राजपूत राजाओं तथा अन्य भक्तों के दान से यहाँ अनेकों भव्य मन्दिर बने । इस निर्माण में उपर्युक्त चैतन्य सम्प्रदाय के गोस्वामी लोगों का बड़ा हाथ था ।

वृन्दावनद्वादशी—कार्तिक शुक्ल द्वादशी को वृन्दावनद्वादशी कहते हैं । इस व्रत के अनुष्ठान का प्रचार केवल तमिलनाडु में है ।

वृषोत्सर्ग—'वृष अथवा साँड़ का उत्सर्ग (त्याग) = दान'। चैत्र या कार्तिक पूर्णिमा को अथवा रेवती नक्षत्र में साँड़ को छोड़ना वृषोत्सर्गव्रत कहलाता है। तीन वर्ष में एक बार ऐसा करना चाहिए। साँड़ भी तीन वर्ष की अवस्था का होना चाहिए। तीन वर्ष की अवस्था वाली चार या आठ गौएँ साँड़ के साथ छोड़ दी जानी चाहिए। सामान्य रूप से किसी पुरुष की मृत्यु के ग्यारहवें दिन साँड़ छोड़ने का प्रचलन है।

वेङ्कटगिरि—सुदूर दक्षिण के आन्ध्र देश का एक तीर्थस्थल। यह कालहस्ती से १५ मील दूर स्थित है। यहाँ काशीपेठ में काशीविश्वेश्वर शिव का मन्दिर है। यह मूर्ति काशी से लाकर स्थापित की गयी है। अन्नपूर्णा, कालभैरव, सिद्धविनायक आदि की मूर्तियाँ भी यहाँ दर्शनीय हैं।

वेङ्कटेश्वर (तिरुपति)—आन्ध्र देशस्थ वेङ्कटाद्रि पर विराजमान भगवान् वेङ्कटेश्वर के मन्दिर में शिव और विष्णु की एकता आज भी प्रत्यक्ष है। यह मन्दिर तिरुपति पहाड़ी पर स्थित है। यह दक्षिण भारत का सर्वाधिक लोकपूजित और वैभवशाली तीर्थ है। पहले इसमें वैखानससंहिता के आधार पर पूजा होती थी, जबकि तमिल देश के अधिकांश मन्दिरों में पाञ्चरात्र संहिताओं के आधार पर पूजा होती थी। काञ्चीवरम्, श्रीपेरुम्बुदूर के मन्दिरों में भी वेंकटेश्वरमन्दिर के समान वैखानससंहिता का अनुसरण होता था। बाद में रामानुज स्वामी ने वेंकटेश्वर में प्रचलित वैखानस विधि को हटाकर पाञ्चरात्र विधि प्रचलित करायी थी।

वेद—तैत्तिरीय संहिता, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, मनुस्मृति, नाट्यशास्त्र, अमरकोश आदि में 'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति बतलायी गयी है। यह शब्द चार धातुओं से व्युत्पन्न होता है—(१) विद् (ज्ञाने) (२) विद् (सत्तायाम्) (३) विद् (लाभे) और (४) विद् (विचारणे)। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'वेद' शब्द का निर्वचन निम्नांकित प्रकार से किया है:

"विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ते लभन्ते, विन्दन्ति विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सत्यविद्याम् यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति, ते वेदाः।"

[जिनसे सभी मनुष्य सत्य विद्या को जानते हैं, अथवा प्राप्त करते हैं, अथवा विचारते हैं, अथवा विद्वान् होते हैं अथवा सत्य विद्या की प्राप्ति के लिए जिनमें प्रवृत्त होते हैं, उनको वेद कहते हैं।] परन्तु यहाँ पर जिस ज्ञान का संकेत किया गया है वह सामान्य ज्ञान नहीं है, यद्यपि वैदिक साहित्य में सामान्य ज्ञान का अभाव नहीं। यहाँ ज्ञान का अभिप्राय मुख्यतः ईश्वरीय ज्ञान है, जिसका साक्षात्कार मानवजीवन के प्रारम्भ में ऋषियों को हुआ था। मनु (१.७) ने तो वेदों को सर्वज्ञानमय ही कहा है।

'वेद' शब्द का प्रयोग पूर्व काल में सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के अर्थ में होता था, जिसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् सभी सम्मिलित थे। कथित है—"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्", अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मणों का नाम वेद है। यहाँ ब्राह्मण में आरण्यक और उपनिषद् का भी समावेश है। किन्तु आगे चलकर 'वेद' शब्द केवल चार वेदसंहिताओं; ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ही द्योतक रह गया। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के अङ्ग होते हुए भी मूल वेदों से पृथक् मान लिये गये। सायणाचार्य ने तैत्तिरीयसंहिता की भूमिका में इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है: "यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानस्वरूपत्वाद् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः।" अर्थात् यद्यपि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है, किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के मन्त्र के व्याख्यान रूप होने के कारण (उनका स्थान वेदों के पश्चात् आता है और) आदि वेदमन्त्र ही हैं। इस वैदिक ज्ञान का साक्षात्कार, जैसा कि पहले कहा गया है, ऋषियों को हुआ था। जिन व्यक्तियों ने अपने योग और तपोबल से इस ज्ञान को प्राप्त किया वे ऋषि कहलाये, इनमें पुरुष स्त्रियाँ दोनों थे। वैदिक ज्ञान जिन ऋचाओं अथवा वाक्यों द्वारा हुआ उनको मन्त्र कहते हैं। मन्त्र तीन प्रकार के हैं—(१) ज्ञानार्थक (२) विचारार्थक और (३) सत्कारार्थक। इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार से बतलायी गयी है: दिवादिगण की मन् धातु (ज्ञानार्थ प्रतिपादक) में ष्ट्रन् प्रत्यय लगाने से 'मन्त्र' शब्द व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—'मन्यते (ज्ञायते) ईश्वरादेशः अनेन इति मन्त्रः'। इससे ईश्वर के आदेश का ज्ञान होता है, इसलिए इसको मन्त्र कहते हैं। तनादिगण की मन् धातु (विचारार्थक) में ष्ट्रन् प्रत्यय लगाने से भी मन्त्र शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—'मन्यते (विचार्यते) ईश्वरादेशो येन स मन्त्रः', अर्थात्

जिसके द्वारा ईश्वर के आदेशों का विचार हो वह मन्त्र है। इस प्रकार तनादिगण की ही मन् धातु (सत्कारार्थक) में ष्ट्रन् प्रत्यय लगाने से भी मन्त्र शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'मन्यते (सत्क्रियते) देवताविशेषः अनेन इति मन्त्रः' है, अर्थात् जिसके द्वारा देवता विशेष का सत्कार हो वह मन्त्र है। वेदार्थ जानने के लिए तीनों व्युत्पत्तियाँ समीचीन जान पड़ती हैं। परन्तु सबको मिलाकर यही अर्थ निकलता है कि वेद वह है जिसमें ईश्वरीय ज्ञान का प्रतिपादन हो।

वेदों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है—त्रिविध और चतुर्विध। पहले में सम्पूर्ण वेदमन्त्रों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है—(१) ऋक् (२) यजुष् और (३) साम। इन्हीं तीनों का संयुक्त नाम त्रयी है। ऋक् का अर्थ है प्रार्थना अथवा स्तुति। यजुष् का अर्थ है यज्ञ-यागादि का विधान। साम का अर्थ है शान्ति अथवा मंगल स्थापित करने वाला गान। इसी आधार पर प्रथम तीन संहिताओं के नाम ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद पड़े। वेदों का बहुप्रचलित और प्रसिद्ध विभाजन चतुर्विध है। पहले वैदिक मन्त्र मिले-जुले और अविभक्त थे। यज्ञार्थ उनका वर्गीकरण कर चार भागों में बाँट दिया गया, जो चार वेदों के नाम से प्रसिद्ध हुए—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋक्, यजुष् तथा साम को अलग-अलग करके प्रथम तीन वेद बना दिये गये। किन्तु नैदिक वचनों में इनके अतिरिक्त भी बहुत सामग्री थी, जिसका सम्ब्रन्ध धर्म, दर्शन के अतिरिक्त लौकिक कृत्यों और अभिचारों (जादू-टोना आदि) से था। इन सबका समावेश अथर्ववेद में कर दिया गया। इस चतुर्विध विभाजन का उल्लेख वैदिक साहित्य में ही मिल जाता है :

> यस्मादृचो अयातक्षन् यजुर्यस्मादपकषन्।
> सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
> स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥
> (अथर्व० १०.४.२०)

परन्तु चारों वेदों का सम्यक् विभाजन और सम्पादन वेदव्यास ने किया। यास्क ने निरुक्त (१.२०) और भास्कर भट्ट ने यजुर्वेदभाष्य की भूमिका में इसका उल्लेख किया है। भाष्यकार महीधर ने और विस्तार से इसका उल्लेख किया है : "तत्रादौ ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैल-वैशम्पायन-जैमिनि-सुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश।"

प्रत्येक वेद से जो वाङ्मय विकसित हुआ उसके चार भाग हैं—(१) संहिता (२) ब्राह्मण (३) आरण्यक और (४) उपनिषद्। संहिता में वैदिक स्तुतियाँ संगृहीत हैं। ब्राह्मण में मन्त्रों की व्याख्या और उनके समर्थन में प्रवचन दिये हुए हैं। आरण्यक में वानप्रस्थियों के उपयोग के लिए अरण्यगान और विधि-विधान हैं। उपनिषदों में दार्शनिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयी हैं।

वैदिक अध्ययन और चिन्तन के फलस्वरूप उनकी कई शाखाएँ विकसित हुईं, जिनके नाम पर संहिताओं के नाम पड़े। इनमें से कालक्रम से अनेक संहिताएँ नष्ट हो गयीं, परन्तु कुछ अब भी उपलब्ध हैं। ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ थीं—(१) शाकल (२) वाष्कल (३) आश्वलायन (४) शांखायन और (५) माण्डूक्य। इनमें अब शाकल शाखा ही उपलब्ध है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व दो शाखाएँ हैं। माध्यन्दिन उत्तर भारत तथा काण्व महाराष्ट्र में प्रचलित है। कृष्ण यजुर्वेद की इस समय चार शाखाएँ उपलब्ध हैं : (१) तैत्तिरीय (२) मैत्रायणी (३) काठक और (४) कठ। सामवेद की दो शाखाएँ उपलब्ध हैं—(१) कौथुमी और (२) राणायनीय। अथर्ववेद की उपलब्ध शाखाओं के नाम पैप्पलाद तथा शौनक हैं। (चारों वेदों की जानकारी के लिए उनके नाम के साथ यथास्थान देखिए।)

वेद का चतुर्विध विभाजन प्रायः यज्ञ को ध्यान में रखकर किया गया था। यज्ञ के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—(१) होता (२) अध्वर्यु (३) उद्गाता और (४) ब्रह्मा। होता का अर्थ है आह्वान करने वाला (बुलानेवाला)। होता यज्ञ के अवसर पर विशिष्ट देवता के प्रशंसात्मक मन्त्रों का उच्चारण कर उस देवता का आह्वान करता है। ऐसे मन्त्रों का संग्रह जिस संहिता में है उसका नाम ऋग्वेद है। अध्वर्यु का काम यज्ञ का सम्पादन है। उसके लिए आवश्यक मन्त्रों का संकलन जिस संहिता में है उसका नाम यजुर्वेद है। उद्गाता का अर्थ है उच्च स्वर से गाने वाला, उसके उपयोग के लिए मन्त्रों का

संग्रह जिस संहिता में है उसका नाम सामवेद है। ब्रह्मा का काम अध्यक्षपद से सम्पूर्ण यज्ञ का निरीक्षण करना है। वह चारों वेदों का ज्ञाता होता है। अथर्ववेद में अन्य तीनों वेदों की सामग्री से अतिरिक्त कुछ और भी है। अतः ब्रह्मा का विशिष्ट वेद अथर्ववेद है।

वेद के प्रकारों के बारे में शतपथ ब्रा० में लिखा है कि अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद प्राप्त हुए हैं। मनुसंहिता के अनुसार तो ऋक्, यजुः और साममन्त्रों को ही त्रिवृद्वेद कहते हैं। मुण्डकोपनिषद् में ऋक् आदि चार वेदों को अपरा विद्या कहा गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास और पुराणादि अपरा विद्या हैं। वेदों की नित्यता प्रमाणित करते हुए कहा जाता है कि ज्ञानरूप वेद प्रलय के समय भी ओंकार रूप में वर्तमान रहते हैं। ऐसे अनादि, अनश्वर और नित्य ब्रह्मवाक्य को सृष्टि की प्रथम अवस्था में रचित आदि-विद्या कहा जाता है जो सकल प्रपंचविस्तारक है।

मनुष्य द्वारा न रचे जाने और ईश्वरकृत होने के कारण ही वेदों को अपौरुषेय कहते हैं। ब्रह्मस्वरूप और नित्य ज्ञान का विस्तार वेदों द्वारा ही होता है। ऋषि लोग वेद के द्रष्टा मात्र हैं। वेद नित्य हैं इसलिए समाधिस्थ ऋषियों के अन्तःकरण में ही उनका प्रकाश होता है। ऋषियों को वेदों का ज्ञान प्रलयकालोपरान्त ब्रह्माजी से तपस्या द्वारा प्राप्त हुआ था।

वेद की नित्यता इसलिए स्वीकार की जाती है कि वेद ज्ञानरूप हैं। वे ज्ञानरूप ईश्वर के हृदय में प्रलयदशा में स्थित रहते हैं। यह निष्क्रिय दशा परमात्मा की श्वासहीन योगनिद्रा है। ईश्वर की जाग्रत् अवस्था सृष्टि है और निद्रावस्था प्रलय। प्रलयोपरान्त जब प्रलयविलीन प्राणियों का संस्कार क्रियोन्मुख होता है तब भगवान् अपनी योगनिद्रा छोड़कर सृष्टि की इच्छा करते हैं। यह श्वासयुक्त सृष्टि की अवस्था उनकी सिसृक्षा कही जाती है। वेद में जो भगवान् की 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' इच्छा व्यक्त की गयी है वह एकता से अनेकता की ओर उन्मुख होकर प्रजासृष्टि की ही इच्छा है।

मनुसंहिता में कहा गया है कि सिसृक्षा से परमात्मा द्वारा जल की सृष्टि हुई; यह 'अप्' साधारण जल नहीं हो सकता। यह वस्तुतः समष्टि संस्कार रूप 'कारणवारि' है। परमात्मा सिसृक्षा से सर्वप्रथम इन संस्कारों को उद्बुद्ध करते हैं, फिर उनमें क्रियाशक्ति का बीज आरोपित करते हैं। यह क्रियाशक्ति परिपुष्ट होकर देदीप्यमान सूर्य की तरह चमकती है, जिससे ब्रह्माजी की उत्पत्ति होती है। यह सृष्टि की प्रारंभिक अवस्था है। यह मनुष्य के मन और वाणी की पहुँच से बाहर है। यह मन और वाणी से परे ब्रह्माजी का सूक्ष्म शरीर ज्योतिर्मय कारणवारि में क्रियाशालिनी समष्टि प्राणशक्ति के रूप में स्थित रहता है।

मुण्डकोपनिषद् के एक मंत्र की व्याख्या करते हुए स्वामी शंकराचार्य ने बड़ा ही सुन्दर तर्क दर्शाया है कि भूतयोनि ब्रह्मतपस्या से उद्भूत है। इससे मूल तत्त्व (अन्न) विकसित होता है। फिर यह अव्याकृत प्रकृति (अन्न) समष्टि प्राणरूप हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करती है। यह हिरण्यगर्भ श्रुतियों के अनुसार ब्रह्मा का सूक्ष्म शरीर ही है, जिसमें सृष्टिकारिणी क्रियाशक्ति विराजमान है। इससे मन, सत्य और लोक की सर्वप्रथम सृष्टि हुई। ब्रह्मा के इस सूक्ष्म शरीर में सर्वप्रथम परमात्मा ने ज्ञानरूप वेदराशि का संचार किया। इसीलिए वेदों को अपौरुषेय कहा जाता है।

जिस प्रकार ब्रह्माण्डप्रकृति में व्यापक प्राण ब्रह्मा का सूक्ष्म शरीर है और उसी के अंशभूत जगत् प्राणियों के प्राण हैं, उसी तरह समष्टि अन्तःकरण ही ब्रह्मा का स्वरूप माना जाना चाहिए। इस समष्टि व्यापक अन्तःकरण से व्यष्टि अन्तःकरण की स्थिति है। इसी लिए वाजसनेयी ब्राह्मणोपनिषद् में ब्रह्मा को 'अन्तःकरण' और 'मुक्ति' की संज्ञा दी गयी है। इसी तरह उन्हें 'मनो महान् मतिर्ब्रह्मा' कहा गया है। यहाँ मन शब्द मूलतः करणवाचक है, इसलिए ब्रह्मा को मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार इन चार तत्त्वों से युक्त चतुर्मुख कहा गया है। यह समष्टि अन्तःकरण-रूपी ब्रह्मा का अंश ऋषिरूपी व्यष्टि में व्याप्त रहता है। जब ऋषि लोग तपस्या और योगसाधना के द्वारा समाधिस्थ हो जाते हैं उसी अवस्था में उन्हें सब वेद-मंत्रों का साक्षात्कार होता है। बात यह है कि सामान्य रूप से इन्द्रियसापेक्ष व्यष्टि, व्यापक अन्तःकरण से विच्छिन्न होने के कारण अल्पज्ञ रहता है, पर जितेन्द्रिय योगी समष्टि अन्तःकरण के साथ मिलकर समाधिस्थ हो जाते हैं। वे सूक्ष्म रूप से ब्रह्मा के साथ एकात्मा होने के

कारण वेद का दर्शन करते हैं। अतएव ब्रह्मा के द्वारा वेद की प्राप्ति या ऋषियों के समाधिस्थ अन्तःकरण में वेद की उपस्थिति एक ही स्तर की बात है। साथ ही यह भी है कि अपौरुषेय वेद परमात्मा के जिस भाव से प्रकट होता है उसे ऋषि लोग भी समाधिस्थ होकर प्राप्त करते हैं। वस्तुतः जीव और ब्रह्म एक ही हैं। अविद्या के कारण केवल जीव देश, काल और वस्तु के द्वारा परमात्मा से अलग है और परमात्मा इन सब मायाराज्यों से परे है। पर समाधि की दशा में व्यष्टि अन्तःकरण समष्टि अन्तःकरण में विलीन हो जाता है और ब्रह्म तथा जीव में एकत्व की स्थिति आ जाती है। इसी दशा में वेद का ज्ञान होता है। निष्कर्ष यह है कि परमात्मा के निश्वास रूप प्रकाशित वेद, ब्रह्मा के हृदय तथा देवर्षियों या ब्रह्मर्षियों के अन्तःकरण में भी एक ही भूमि से प्राप्त होते हैं। इसलिए उन्हें अपौरुषेय कहा जाता है।

प्रकृतिविलास और प्रकृतिलय के अनुसार परमात्मा के तीन भाव अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत हैं। अध्यात्मभाव में मायातीत और मन-वाणी से अगोचर, निर्गुण, निष्क्रिय परब्रह्म आता है। अधिदैव भाव में माया का अधिष्ठाता, सृष्टि का कर्ता, उसकी स्थिति तथा प्रलय का संचालक ईश्वर है। अधिभूत भाव में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड स्वरूप विराट् का रूप आता है। इन तीन भावों के अनुसार संसार भी त्रिगुणात्मक है। वस्तुतः कार्य-कारण का विस्तार मात्र होता है, अतएव दोनों में समान भावों की स्थिति होना स्वाभाविक है। कार्यब्रह्म में प्रकृति और पुरुष की लीला का पर्यवसान गुण और भावों की लीला के रूप में होता है। अतएव प्रकृति-पुरुष को आधार मानने वाले मुक्तिकामी साधक को प्रत्येक वस्तु में त्रिगुण और त्रिभाव देखना पड़ता है। इसी प्रकार ज्ञानराशि भी वही पूर्ण है जिसमें अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव तीनों भावों की पूर्णता हो।

वेदों में भी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों अर्थों का सन्निवेश है। स्मृतियों के अनुसार अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—तीनों भावों से सम्पन्न अमृतमयी श्रुति ज्ञानी महात्मा के लिए ब्रह्मानन्द का आस्वादन कराती है। अतः वेद तीन अर्थों और तीन भावों से सम्पन्न हैं। आज के मनुष्यों की दृष्टि एकांगी है और इस दृष्टि की अपूर्णता के कारण भ्रमवश वे वेदमंत्रों का पूर्ण अर्थ नहीं लगा पाते। वे प्रायः इनके अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत में से किसी एक का ही अर्थ लगा लेते हैं। पर वेद की अपौरुषेयता के कारण यह सब अनर्गल है। वेद में तीनों भावों का एक साथ अर्थ लगाना चाहिए। बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार देवता और असुर दोनों ही प्रजापति के द्वारा उत्पन्न किये गये भाई हैं! असुर देवों के बड़े भाई और दोनों ही एक-दूसरे से स्पर्धा करते हैं। देवासुरसंग्राम इसी का परिणाम है। इस बात को ब्रह्म के तीनों भावों की भूमिका पर रखकर देखना होगा। दैवी सम्पति वालों और आसुरी सम्पत्ति वालों का पारस्परिक संघर्ष इसका अधिभूत अर्थ कहा जायगा, और इसी तरह देवलोक में तमोगुणी असुरों तथा सत्त्वगुणी देवों का पारस्परिक संघर्ष अधिदैव अर्थभूत देवासुरसंग्राम है। तीसरे अध्यात्म के क्षेत्र में मानसिक कुमति और सुमति का द्वन्द्व आध्यात्मिक देवासुरसंग्राम है। इस प्रकार वेदमन्त्रों का तीनों भावों की दृष्टि से अर्थ लगाया जा सकता है। इस तरह वेद में त्रिगुण और त्रिभाव की पूर्णता है। इसलिए वेद को अपौरुषेय कहा जाता है।

वेद को समझने के लिए सर्वप्रथम शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष नामक छः शास्त्रों के अंगों का अध्ययन आवश्यक है। इसके उपरान्त वैदिक सप्त दर्शनों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इनमें से एक के भी अभाव में साधक का ज्ञान अपूर्ण रहेगा। उपर्युक्त षडंग तथा सप्तदर्शन की तात्त्विक ज्ञानभूमि पर प्रतिष्ठित होकर ही मनुष्य वेदाध्ययन का अधिकारी बन सकता है। ज्ञानार्जन का अधिकारी होने पर उसे कर्म, उपासना और ज्ञान की सहायता से अपना चित्त निर्मल करना होगा, तभी वेद समझा जा सकता है।

वेदों मे ऋषि, छन्द और देवता का उल्लेख आता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस ऋषि के द्वारा जो मन्त्र प्रकाशित हुआ वह उस मन्त्र का ऋषि कहा जाता है और जिन छन्दों में वे मन्त्र कहे गये हैं वे उन मन्त्रों के छन्द कहे जाते हैं। जिस मन्त्र से भगवान् के जिस रूप की उपासना की जाती है वह उस मन्त्र का देवता कहा जाता है। प्रत्येक वैदिक मन्त्र की शक्ति अलग-अलग होती है, इसलिए उसके छन्द का परिज्ञान होने से उस मन्त्र की आधिभौतिक शक्ति का पता चलता है। देवता

के ज्ञान से उसकी आधिदैविक शक्ति तथा ऋषि के ज्ञान से उसकी आध्यात्मिक शक्ति का पता चलता है । वेद के कर्म और उपासना काण्ड के बीच इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि दैवी शक्तियों का स्वर्ग आदि फल प्रदान करने के लिए सकाम साधना में आह्वान किया जाता है ।

चारों वेदों के विषयों का यत्किञ्चित् वर्णन इस प्रकार है । ऋग्वेदसंहिता के दस मण्डल हैं, जिनमें ८५ अनुवाक और अनुवाकसमूह में १०२८ सूक्त हैं । मण्डल, अनुवाक और सूक्त वर्तमान खण्ड, परिच्छेद आदि के नामान्तर हैं । ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में २४, द्वितीय में ४, तृतीय में ५, चतुर्थ में ५, पंचम, षष्ठ और सप्तम में से प्रत्येक में ६, अष्टम में १०, नवम में ७ और दशम मण्डल में १२ अनुवाक निहित हैं । प्रत्येक मण्डल में सूक्तों की संख्या क्रमशः १९१, ४३, ६२, ५८, ८७, ७५, १०४, १०३, ११४ और १९१ है । सूक्तों के बहुत से भेद किये हैं, यथा—महासूक्त, मध्यमसूक्त, क्षुद्रसूक्त, ऋषिसूक्त, छन्दःसूक्त और देवतासूक्त । कुछ लोगों के अनुसार ऋग्वेद के मन्त्रों की संख्या १०४०२ से १०६२८ तक है, शब्दसंख्या १५३८२६ और शब्दांशसंख्या ४३२००० है । लेकिन इसमें मतभेद है ।

महाभाष्य में यद्यपि ऋग्वेद की २१ शाखाओं का उल्लेख है, परन्तु अब पाँचशाखायें भी उपलब्ध नहीं हैं । लोगों का अनुमान है कि आजकल केवल शाकल शाखा ही प्रचलित है । वाष्कल शाखा की मन्त्रसंख्या १०६२२ और शाकल की १०३८१ है, परन्तु वेद का अधिकांश लुप्त हो जाने के कारण इस गणना में भी मतभेद है । ऋग्वेद के दो ब्राह्मण उपलब्ध हैं—ऐतरेय और कौषीतकि या सांख्यायन । ऐतरेय ब्राह्मण में आठ पंजिकाएँ, प्रत्येक पंजिका में पाँच अध्याय और प्रत्येक अध्याय कई काण्डों से युक्त है । ऋग्वेद के आरण्यक को ऐतरेय कहते हैं, यह पाँच आरण्यकों और अठारह अध्यायों से युक्त है ।

यजुर्वेद के दो भाग हैं—शुक्ल और कृष्ण । इनमें कृष्ण यजुर्वेदसंहिता को तैत्तिरीय संहिता भी कहते हैं, जिसकी 'चरणव्यूह' के अनुसार ८६ शाखाएँ थीं । महाभाष्य के अनुसार यजुः की १०१ तथा मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार १०९ शाखाएँ थीं, जिनमें आज मात्र १२ शाखायें और १४ उपशाखायें ही उपलब्ध हैं । मंत्रब्राह्मणात्मक कृष्णयजुर्वेद में कुल १८००० (अठारह हजार) मन्त्र मिलते हैं । तैत्तिरीय संहिता में कुल सात अष्टक हैं जिनमें प्रत्येक अष्टक ७,८ अध्यायों का है । अध्याय को प्रश्न और अष्टक को प्रपाठक भी कहा गया है । प्रत्येक अध्याय बहुत से अनुवाकों से युक्त है और पूरे ग्रंथ में अनुवाकों की संख्या ७०० है । इसमें अश्वमेध, अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, राजसूय, अतिरात्र आदि यज्ञों का वर्णन है और प्रजापति, सोम आदि इसके देवता हैं । कृष्ण यजुःसंहिता के ब्राह्मण को तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा आरण्यक को तैत्तिरीय आरण्यक कहते हैं । इसके ज्ञानकाण्ड को तैत्तिरीय, उपनिषद् कहते हैं । इसके अतिरिक्त शाखाओं के अनुसार मैत्रायणीय उपनिषद्, कठोपनिषद्, श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा नारायणोपनिषद् आदि का भी उल्लेख मिलता है ।

शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी और माध्यन्दिनी संहिता भी कहते हैं । इसके ऋषि याज्ञवल्क्य हैं । इस संहिता में ४० अध्याय, २९० अनुवाक और अनेक काण्ड हैं । यहाँ दर्शपौर्णमास, अग्निष्टोम, वाजपेय, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, षोडशी, अश्वमेध, पुरुषमेध आदि यज्ञों का वर्णन है । वैदिक युग के सामाजिक रीति-रिवाजों के वर्णन से युक्त इस वेद की माध्यन्दिनी शाखा में 'शतपथ ब्राह्मण' भी सम्मिलित है । इसके दो भागों में कुल १४ काण्ड हैं, जिनमें बृहदारण्यकोपनिषद् भी सम्मिलित है ।

सामवेद की सहस्र शाखाओं में से मात्र आसुरायणीय, वासुरायणीय, वार्त्तान्तवेय, प्राञ्जल, ऋग्वर्णभेदा, प्राचीनयोग्य, ज्ञानयोग्य, राणायनीय नामों का ही उल्लेख मिलता है । राणायनीय के नव भेद इस प्रकार हैं—शाटचायनीय, सात्वल, मौद्गल, खल्वल, महाखल्वल, लाङ्गल, कौथुम, गौतम और जैमिनीय । ये सभी शाखाएँ लुप्त हो गयी हैं । अब केवल कौथुमी शाखा ही मिलती है । सामवेद के पूर्व और उत्तर दो भाग हैं । पूर्व संहिता को छन्द आर्चिक और सप्तसाम नामों से भी अभिहित किया गया है । इसके छः प्रपाठक हैं । सामवेद की उत्तर संहिता को उत्तरार्चिक या आरण्यगान भी कहा गया है । इसके ब्राह्मण भाग में आर्षेय, देवताध्याय, अद्भुत, ताण्ड्य महाब्राह्मण, सामविधान आदि आठ ब्राह्मण हैं । इनमें ज्ञानकाण्ड का छान्दोग्य और केनोपनिषद् प्रमुख हैं ।

अथर्ववेद की मंत्रसंख्या १२३०० है, जिसका अति न्यून अंश आजकल प्राप्त है । इसकी नौ शाखायें पैप्पल, दान्त, प्रदान्त, स्नात, सौत्न, ब्रह्मदावल, शौनक, दैवीदर्शनी

और चरणविद्या में से केवल शौनक शाखा (और पैप्पलाद शाखा) ही आज रह गयी है। इसमें २० काण्ड हैं। अथर्ववेद शत्रुपीडन, आत्मरक्षा, विपद्निवारण आदि कार्यों के मंत्रों से भरा पड़ा है। ऐसा मालूम पड़ता है कि वर्तमान तांत्रिक साधना इसी से उद्भूत है। अथर्ववेद के ब्राह्मण का नाम गोपथ है। इसके ज्ञानकाण्ड में बहुत उपनिषदें थीं और आज भी जाबाल, कैवल्य, आनन्दवल्ली, आरुणेय, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु, अमृतबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, नादबिन्दु, प्रश्न, मुण्डक, अथर्वशिरस्, गर्भ, माण्डूक्य, नीलरुद्र आदि उपनिषदें पायी जाती हैं।

अथर्ववेद के संकलन के विषय में तीन मत प्रचलित हैं। कुछ लोग अथर्वा और अंगिरा ऋषि के वंशधरों द्वारा, कुछ लोग भृगुवंशियों द्वारा और कुछ लोग अथर्वा ऋषि द्वारा ही इसका संकलन होना बतलाते हैं। ऋक्, साम, यजु और अथर्व में कुछ ऐसे सामान्य सूक्त मिलते हैं जिनसे एक ही वेद से वेदचतुष्टय के निर्माण की संभावना प्रबल हो जाती है। इस सम्बन्ध में सूतसंहिता में स्पष्ट लिखा है कि महर्षि वेदव्यास ने अम्बिकापति की कृपा से वेद के चार भाग किये, जिनमें ऋग्वेद प्रथम, यजुर्वेद द्वितीय, सामवेद तृतीय तथा अथर्ववेद चतुर्थ है। इन विभागों का एक मुख्य प्रयोजन यह है कि ऋग्वेद के द्वारा यज्ञीय होतृप्रयोग, यजुर्वेद से अध्वर्युप्रयोग, सामवेद से उद्गातृप्रयोग (ब्रह्मयजमान प्रयोग भी) और अथर्ववेद से शांतिकपौष्टिक, आभिचारिक आदि यज्ञ, कर्म, देवता व उपासना के रहस्य तथा ज्ञान प्रतिपादक मन्त्रों का विधान होता है। इससे यज्ञप्रतिपादन में पर्याप्त सुविधा मिलती है। शाखाओं के सम्बन्ध में यद्यपि महर्षियों द्वारा निर्धारित इनकी संख्या में भेद है पर वाक्य में कोई विरोध नहीं है। अतः इस भेद का कोई तात्त्विक कारण नहीं है।

मनुष्य को त्रिविध शुद्धि द्वारा मुक्ति प्रदान करने के लिए ही वेद का कर्म, उपासना और ज्ञान नामक तीन काण्डों में विभाग किया गया है, जो मंत्र, ब्राह्मण तथा आरण्यक वा उपनिषद् नाम से अभिहित हैं। मंत्र या संहिता में उपासना, ब्राह्मण में कर्म तथा आरण्यक में ज्ञान की प्रधानता है। उपनिषदें संहिता और ब्राह्मण में ही अन्तर्भूत हैं इसलिए वेद का विवरण तीन भागों में न करके मंत्र और ब्राह्मण इन दो भागों में ही किया जाता है। महर्षि आपस्तम्ब और जैमिनि दोनों ने मंत्र और ब्राह्मण को वेद कहा है। जिन कृतियों में याज्ञिक समाख्यातत्त्व, अनुष्ठानस्मारकत्व, स्तुतिरूपत्व, आमंत्रणोपेतत्व आदि भाव विद्यमान हों उन्हें मंत्र कहते हैं। इसके अतिरिक्त श्रुतिभाग को ब्राह्मण कहते हैं। सामान्यतः यज्ञ अनुष्ठान के साथ किसी देवता पर लक्षित की गयी श्रुतियाँ मन्त्र हैं और किसी कार्य विशेष में किस मन्त्र का प्रयोग होना चाहिए इसका उल्लेख करके मंत्र की व्याख्या जिन श्रुतियों में की गयी है वे ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणभाग के तीन भेद—विधिरूप, अर्थवादरूप और उभयविलक्षण हैं। प्रभाकर ने विधि का लक्षण शब्दभावना और लिंगादि प्रयोग से किया है। तार्किकों ने तो इष्टसाधनता को ही विधि कहा है। विधि के चार प्रकार—उत्पत्ति, अधिकार, विनियोग और प्रयोग हैं। विधि के अवशिष्ट स्तुति-निन्दायुक्त वाक्यसमूह को अर्थवाद कहा गया है। अर्थवाद के तीन प्रकार गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद हैं। वेदान्त वाक्य विध्यर्थवाद से विलक्षण हैं पर वे अज्ञातज्ञापक होने पर भी अनुष्ठान के अप्रतिपादक हैं इसलिए उन्हें विधि नहीं कहते। सब विधियाँ उन्हीं में विलीन होती हैं, इसलिए वे अर्थवाद भी नहीं हैं : वे उभयविलक्षण हैं।

कुछ लोग ब्राह्मण भाग को परतः प्रमाण और संहिता भाग से भिन्न तथा न्यून बतलाते हैं। वस्तुतः वेद मन्त्रब्राह्मणात्मक हैं अतएव ब्राह्मण हर शाखा में हैं। ब्राह्मण भाग में संहिता के मन्त्रों के व्यवहार की क्रियाप्रणाली वर्णित है। कर्म, उपासना और ज्ञान भारतीय वैदिक शिक्षा के मूल आधार हैं और इन्हीं से वेद का वेदत्व है। वेद में उनकी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सार्थकता तीनों सुरक्षित हैं। इसीलिए प्रत्येक शाखा में मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद् तीनों वर्तमान हैं।

स्मृति के अनुसार प्रत्यक्ष या अनुमान से जो कुछ प्राप्त नहीं हो सकता वह वेद से प्राप्त हो जाता है। लौकिक प्रत्यक्ष या अनुमानातीत आध्यात्मिक ब्रह्मपद की प्राप्ति ब्राह्मण भाग की सहायता से ही संभव हो सकती है, क्योंकि उपनिषद् भी ब्राह्मण का भाग है। कर्म, उपासना और ज्ञान में जीव को ब्रह्मभाव में लाने की शक्ति है और इसी कारण वेद की पूर्णता तथा अपौरुषेयता सुरक्षित है। सत्, चित् और आनन्द इन तीनों भावों की पूर्ण उपलब्धि से ही ब्रह्मभाव की उपलब्धि होती है। कर्म के द्वारा सद्भाव, उपासना के द्वारा आनन्द भाव तथा ज्ञान के द्वारा

चिद्भाव की प्राप्ति होती है। वेद के तीन काण्ड हैं। उसके मन्त्रभाग को उपासना काण्ड, ब्राह्मणभाग को कर्मकाण्ड तथा आरण्यक भाग को ज्ञानकाण्ड कहते हैं। इनमें से एक भी भाग के अभाव में वेद की अपौरुषेयता और पूर्णता खण्डित हो जाती है। भाग शब्द भागान्तर का सूचक है इसलिए केवल मन्त्र ही वेद नहीं हो सकता, उसमें ब्राह्मण और तदन्तर्गत उपनिषद् की स्थिति भी अनिवार्य है। प्रत्येक भाग में कर्म, उपासना और ज्ञान का वर्णन न्यूनाधिक मात्रा में है, यद्यपि एक में किसी एक पक्ष की ही प्रधानता रहती है।

कुछ आधुनिक विचारकों ने ऋषि-मुनियों और राजाओं का इतिहास ब्राह्मणों में देखकर उसे वेद कहना अस्वीकार कर दिया है। उन्होंने यह भी कहा है कि इनसे अलग कोई इतिहास या पुराण नहीं है। वास्तविक बात यह है कि पुराण वेद से भिन्न नहीं हैं। वेद की बातों को ही पुराणों में सरल करके भिन्न भिन्न रूपों में उपस्थित किया गया है। इनमें यत्र-तत्र प्राप्त होने वाले अन्तर्विरोध तात्त्विक न होकर भाव की भिन्नता के कारण हैं। इस तरह पुराणों की रचना भावों के अनुसार हुआ करती है। अतएव पुराणों को ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। वाजसनेयी ब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार ऋक् आदि चार वेद, इतिहास, पुराण आदि सभी भगवान् के निःश्वासस्वरूप हैं।

वेदत्रयी—प्रारम्भ में वेदमन्त्र अपने छान्दस् रूप में अविभक्त थे। उनमें पद्य और गद्य दोनों प्रकार की सामग्री सम्मिलित थी। फिर धीरे-धीरे उनका वर्गीकरण करके तीन विभाग किये गये—ऋक्, यजु और साम। यही तीन वेदत्रयी कहलाते हैं। पहले विभाग का अर्थ है स्तुति अथवा प्रार्थना, दूसरे का अर्थ है यज्ञों में विनियोग करने वाले गद्यमय मन्त्र अथवा वाक्य और तीसरे विभाग का अर्थ है गान। वैदिक मन्त्रों को इन्हीं तीन मूल भागों में बाँटा जा सकता है। कुछ विद्वान् अथर्ववेद को इससे पृथक् समझते हैं किन्तु वास्तव में अथर्ववेद इन्हीं तीनों से बना हुआ संग्रह है। यह वेद का चतुर्विध नहीं अपितु त्रिविध विभाजन है।

वेदव्यास—व्यास का अर्थ है 'सम्पादक'। यह उपाधि अनेक पुराने ग्रन्थकारों को प्रदान की गयी है, किन्तु विशेषकर वेदव्यास उपाधि वेदों को व्यवस्थित रूप प्रदान करने वाले उन महर्षि को दी गयी है जो चिरंजीव होने के कारण 'शाश्वत' कहलाते हैं। यही नाम महाभारत के संकलनकर्ता, वेदान्तदर्शन के स्थापनकर्ता तथा पुराणों के व्यवस्थापक को भी दिया गया है। ये सभी व्यक्ति वेदव्यास कहे गये हैं। विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि ये सभी एक ही व्यक्ति थे अथवा विभिन्न। भारतीय परम्परा इन सबको एक ही व्यक्ति मानती है। महाभारतकार व्यास ऋषि पराशर एवं सत्यवती के पुत्र थे, ये साँवले रंग के थे तथा यमुना के बीच स्थित एक द्वीप में उत्पन्न हुए थे। अतएव ये साँवले रंग के कारण 'कृष्ण' तथा जन्मस्थान के कारण 'द्वैपायन' कहलाये। इनकी माता ने बाद में शान्तनु से विवाह किया, जिनसे उनके दो पुत्र हुए, जिनमें बड़ा चित्राङ्गद युद्ध में मारा गया और छोटा विचित्रवीर्य संतानहीन मर गया। कृष्ण द्वैपायन ने धार्मिक तथा वैराग्य का जीवन पसंद किया, किन्तु माता के आग्रह पर इन्होंने विचित्रवीर्य की दोनों सन्तानहीन रानियों द्वारा नियोग के नियम से दो पुत्र उत्पन्न किये जो धृतराष्ट्र तथा पाण्डु कहलाये, इनमें तीसरे विदुर भी थे। पुराणों में अठारह व्यासों का उल्लेख है जो ब्रह्मा या विष्णु के अवतार कहलाते हैं एवं पृथ्वी पर विभिन्न युगों में वेदों की व्याख्या व प्रचार करने के लिए अवतीर्ण होते हैं।

वेदव्रत—यह चतुर्मूर्तिव्रत है। मनुष्य को चैत्र मास से ऋग्वेद की पूजा करके नक्त विधि से आहार कर वेदपाठ श्रवण करना चाहिए। ज्येष्ठ मास के अन्तिम दिन दो वस्त्र, सुवर्ण, गौ, घी से परिपूर्ण काँसे के पात्र का दान विहित है। आषाढ़, श्रावण तथा भाद्रपद मास में उसे यजुर्वेद की पूजा और श्रवण करना चाहिए। आश्विन, कार्तिक तथा मार्गशीर्ष में सामवेद की तथा पौष, माघ एवं फाल्गुन में समस्त वेदों की पूजा एवं पाठ श्रवण करना चाहिए। वस्तुतः यह भगवान् वासुदेव की ही पूजा है जो समस्त वेदों के आत्मा हैं। यह व्रत १२ वर्षपर्यन्त आचरणीय है। इसके आचरण से व्रती समस्त संकटों से मुक्त होकर विष्णुलोक प्राप्त कर लेता है।

वेदसार वीरशैवचिन्तामणि—यह नञ्जनाचार्य विरचित वीर शैव सम्प्रदाय का एक प्रमुख ग्रन्थ है।

वेदाचार—तान्त्रिक गण सात प्रकार के आचारों में विभक्त हैं। कुलार्णवतन्त्र के मत से वेदाचार श्रेष्ठ है, वेदाचार से वैष्णवाचार उत्तम है, वैष्णवाचार से शैवाचार उत्कृष्ट है,

शैवाचार से दक्षिणाचार महान् है, दक्षिणाचार से वामाचार श्रेष्ठ है, वामाचार से सिद्धान्ताचार उत्तम है तथा सिद्धान्ताचार की अपेक्षा कौलाचार परम उत्तम है ।

प्राणतोषिणीधृत नित्यानन्दतन्त्र में लिखा है कि शिव पार्वती से कह रहे हैं : "हे सुन्दरि ! वेदाचार का वर्णन करता हूँ, तुम सुनो । साधक ब्राह्म मुहूर्त में उठे और गुरु के नाम के अन्त में आनन्दनाथ बोलकर उनको प्रणाम करे । फिर सहस्रदल पद्म में उनका ध्यान करके पञ्च उपचारों से पूजा करे और वाग्भव बीज का जप करके परम कलाशक्ति का ध्यान करे ।" महाराष्ट्र के वैदिकों में वेदाचार का प्रचार है ।

वेदाङ्ग—वेदों के सहायक शास्त्र, जिनकी संख्या छः है । वेदों के पाठ, अर्थज्ञान, यज्ञों में उनकी उपयोगिता आदि जानने के लिए इन छः शास्त्रों की आवश्यकता होती है : (१) शिक्षा (२) कल्प (३) व्याकरण (४) निरुक्त (५) छन्द और (६) ज्योतिष । जैसे मनुष्य के आँख, कान, नाक, मुख, हाथ और पाँव होते हैं वैसे ही वेदों के लिए आँख ज्योतिष है, कान निरुक्त है, नाक शिक्षा है, मुख व्याकरण है, हाथ कल्प हैं और पाँव छन्द हैं (पाणिनीय शिक्षा ४१-४२) । उच्चारण के सम्बन्ध में उपदेश शिक्षा है । यज्ञ-यागादि कर्म सम्बन्धी विधि कल्प है । शब्दों के सम्बन्ध में विचार व्याकरण है और उनकी व्युत्पत्ति और अर्थ के सम्बन्ध में विचार निरुक्त है । वैदिक छन्दों के सम्बन्ध का ज्ञान छन्द अथवा पिङ्गल है । यज्ञ-यागादि करने के योग्य अयन ऋतु, संवत्सर, मुहूर्त का विचार और तत्सम्बन्धी ज्ञान ज्योतिष है । वेद के ज्ञान की पूर्ति इन विषयों का अलग अलग अध्ययन किये बिना नहीं हो सकती । (वेदाङ्गों का विस्तृत परिचय उनके नामगत परिचय में देखिए ।)

वेदान्त—यह शब्द 'वेद' और 'अन्त' इन दो शब्दों के मेल से बना है, अतः इसका वाक्यार्थ वेद अथवा वेदों का अन्तिम भाग है । वैदिक साहित्य मुख्यतः तीन भागों में विभक्त है, पहले का नाम है 'कर्मकाण्ड', दूसरे का नाम है 'ज्ञानकाण्ड', तीसरे का नाम है 'उपासनाकाण्ड' । साधारणतः वैदिक साहित्य के ब्राह्मण भाग को, जिसका सम्बन्ध यज्ञों से है, कर्मकाण्ड कहते हैं और उपनिषदें ज्ञानकाण्ड कहलाती हैं, जिसमें उपासना भी सम्मिलित है । अन्त शब्द का अर्थ क्रमशः 'तात्पर्य', 'सिद्धान्त' तथा 'आन्तरिक अभिप्राय' अथवा मन्तव्य भी किया गया है । उपनिषदों के मार्मिक अध्ययन से पता चलता है कि उन ऋषियों ने, जिनके नाम तथा जिनका मत इनमें पाया जाता है, अन्त शब्द का अर्थ इसी रूप में किया है । उनके मत के अनुसार वेद वा ज्ञान का अन्त अर्थात् पर्यवसान ब्रह्मज्ञान में है । देवी-देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, स्थावर-जङ्गमात्मक सारा विश्वप्रपञ्च, नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं; यही वेदान्त अर्थात् वेदसिद्धान्त है । जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, जो कुछ नाम-रूप से सम्बोधित होता है, उसकी सत्ता ब्रह्म की सत्ता से भिन्न नहीं । मनुष्य का एक मात्र कर्त्तव्य ब्रह्मज्ञान प्राप्ति, ब्रह्ममयता, ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति है । यही एक बात वेदों का मौलिक सिद्धान्त, अन्तिम तात्पर्य तथा सर्वोच्च-सर्वमान्य अभिप्राय है । यही वेदान्त शब्द का मूलार्थ है । इस अर्थ में वेदान्त शब्द से उपनिषद् ग्रन्थों का साक्षात् बोध होता है । परवर्ती काल में वेदान्त का तात्पर्य वह दार्शनिक सम्प्रदाय भी हो गया जो उपनिषदों के आधार पर केवल ब्रह्म की ही एक मात्र सत्ता मानता है । कई सूक्ष्म भेदों के आधार पर इसके कई उपसम्प्रदाय भी हैं, जैसे अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैतवाद आदि ।

वेदान्तकल्पतरु—अद्वैत वेदान्त का एक ग्रन्थ, जिसकी रचना १२६० ई० के कुछ पूर्व अमलानन्द द्वारा हुई । ब्रह्मसूत्रभाष्य के ऊपर यह वाचस्पति मिश्र की 'भामती' टीका की व्याख्या है ।

वेदान्तकल्पतरुपरिमल—'भामती'-व्याख्या 'वेदान्तकल्पतरु' की यह अप्पयदीक्षित कृत टीका है ।

वेदान्तकल्पलतिका—स्वामी मधुसूदन सरस्वतीकृत वेदान्तविषयक एक ग्रन्थ । इसका रचनाकाल १५५० ई० के आसपास है ।

वेदान्तकारिकावली—विशिष्टाद्वैत वेदान्ती बुच्चि वेङ्कटाचार्य ने वेदान्तकारिकावली ग्रन्थ की रचना की । इसमें रामानुजाचार्यसम्मत पदार्थों और सिद्धान्तों का सारांश लिखा गया है । यह ग्रन्थ पद्य में है । बुच्चि वेङ्कटाचार्य रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी थे ।

वेदान्तकौस्तुभ—निम्बार्क सम्प्रदाय के द्वितीय आचार्य श्रीनिवास विरचित वेदान्तसूत्र का तार्किक भाष्य । यह द्वैताद्वैत सिद्धान्त का अधिकारी ग्रन्थ है । रचना सुदीर्घ, गम्भीर तथा दार्शनिकों में बहु आदृत है । रचनाकाल लगभग १२वीं शताब्दी था ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा—निम्बार्क सम्प्रदाय के द्वितीय आचार्य श्रीनिवासकृत 'वेदान्तकौस्तुभ' भाष्य की व्याख्या, जिसके रचयिता केशव काश्मीरी भट्ट हैं। इनका समय सोलहवीं शताब्दी का आरम्भिक काल था। केशव काश्मीरी जितने उच्च कोटि के दार्शनिक और दिग्विजयी विद्वान् थे उससे अधिक कृष्ण भगवान् के गम्भीर उपासक थे।

वेदान्तजाह्नवी—द्वैताद्वैतवादी वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार रची गयी वेदान्तसूत्र की एक टीका। इसके लेखक श्रीदेवाचार्य ने निम्बार्कमत का प्रतिपादन करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ में अद्वैतवाद का खण्डन किया है।

वेदान्ततत्त्वबोध—निम्बार्काचार्य विरचित ग्रन्थों में इसका नाम भी लिया जाता है। सम्भवतः इसके रचनाकार सम्प्रदाय के कोई परवर्ती आचार्य हैं।

वेदान्ततत्त्वविवेक—भट्टोजिदीक्षित विरचित एक अद्वैत-वेदान्त का ग्रन्थ। आचार्य दीक्षित सुप्रसिद्ध वैयाकरण होने के साथ ही मीमांसक और वेदान्ती भी थे। इन्होंने दो वेदान्तग्रन्थ लिखे हैं। इनमें वेदान्तकौस्तुभ तो प्रकाशित है, वेदान्ततत्त्वविवेक संभवतः अभी तक प्रकाशित नहीं है।

वेदान्तदर्शन—वह विद्या अथवा शास्त्र, जो वेद के अन्तिम अथवा चरम तत्त्व का विवेचन करता है, वेदान्तदर्शन कहलाता है। उपनिषदों के ज्ञान को एकत्र समन्वित करने के लिए महर्षि बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' या 'वेदान्तसूत्र' लिखा। इसी को वेदान्तदर्शन कहा जाता है। उपनिषदों या वेदों के तत्त्वज्ञान को समन्वित करने वाली भगवद्गीता भी है। कुछ लोगों के मत से वह स्वयं उपनिषद् है। अतः ये तीनों वेदान्त के प्रस्थानत्रय कहे जाते हैं। इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता इन तीनों को या इनमें से किसी एक को प्रधान मानकर चलने वाले दार्शनिकों के सिद्धान्त को वेदान्तदर्शन कहा जाता है। शंकर, भास्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, श्रीकण्ठ, श्रीपति, वल्लभ, विज्ञानभिक्षु और बलदेव 'ब्रह्मसूत्र' के प्रसिद्ध भाष्यकार हुए हैं।

इन सभी भाष्यकारों ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या अपने अपने ढंग से की है। वेदान्तसूत्रों को बिना किसी भाष्य के समझना कठिन है। शङ्कर, निम्बार्क, रामानुज, मध्व एवं वल्लभ में से प्रत्येक को कुछ न कुछ लोग वेदान्तसूत्र का सर्वश्रेष्ठ भाष्यकार कहते हैं। इनमें शाङ्कर भाष्य सबसे प्राचीन है। अतः प्रायः शंकर के दर्शन को ही बादरायण का दर्शन माना जाता है। अपने देश तथा पाश्चात्य देशों में भी लोग शङ्कर के ही दर्शन को वेदान्त-दर्शन मानते हैं।

ब्रह्मसूत्र के सभी भाष्यकारों में इस बात पर मतैक्य है कि वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त ब्रह्मवाद है और इसकी सुन्दर तथा पर्याप्त अभिव्यक्ति 'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम चार सूत्रों या चतुःसूत्री में हो गयी है। (१) 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (२) 'जन्माद्यस्य यतः' (३) 'शास्त्रयोनित्वात्' और (४) 'तत्तु समन्वयात्', ये ही चार सूत्र हैं। इनका अर्थ है—(१) वेदान्त समझने के लिए 'ब्रह्म की जिज्ञासा' होनी चाहिए। (२) ब्रह्म वह है जो जगत् का मूल स्रोत, आधार तथा लक्ष्य है। जगत् उसी से बनता है, उसी में स्थित है तथा उसी में इसका लय भी होगा। (३) ब्रह्म को शास्त्र से ही अर्थात् उपनिषदों (वेदवचनों) से ही जाना जा सकता है। (४) उपनिषदों का समन्वय वेदान्त की शिक्षा से होता है, अन्य दर्शनों की शिक्षा से नहीं।

ब्रह्म का स्वरूप, ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध, ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध, केवल ज्ञान से मुक्ति या भक्ति-कर्म-समुच्चित ज्ञान से मुक्ति, जीवन्मुक्ति या विदेह मुक्ति या सद्योमुक्ति आदि वेदान्तियों के मतभेद के मुख्य विषय हैं।

ब्रह्मसूत्र का दार्शनिक मत निम्नलिखित है—ब्रह्म एक है तथा निराकार (अकल) है। वह श्रुतियों का स्रोत है तथा सर्वज्ञ है, उसे केवल शास्त्रों के द्वारा जाना जा सकता है, वह सृष्टि का उपादान एवं अन्तिम कारण है, वह इच्छारहित है तथा क्रियाहीन है। उसके दृश्य कार्य लीला हैं। विश्व का, जिसकी उसके द्वारा समय समय पर सृष्टि होती है, आदि व अन्त नहीं है। शास्त्र भी शाश्वत है। देवता हैं तथा वे वेदविहित यज्ञों में दिये गये पदार्थों से अपना भाग प्राप्त करते हैं। जीवात्मा भी वास्तव में नित्य, ज्ञानमय एवं सर्वव्याप्त है। यह ब्रह्म का ही अंश है; यह ब्रह्म है। इसका व्यक्तित्व केवल दृष्टिभ्रान्ति है। यज्ञ मनुष्य को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने में सहायता पहुँचाते हैं, मोक्ष केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है। ब्रह्म से ही कार्यों का फल प्राप्त होता है, और इसी कारण से पुनर्जन्म एवं उसी से मोक्ष भी मिलता है।

वेदान्तसूत्रों को भाष्य के विना समझना बड़ा कठिन है। इसीलिए अनेक विद्वानों ने इस पर भाष्य प्रस्तुत किये हैं। वे दो श्रेणियों में रखे जा सकते हैं : (१) जो शङ्कराचार्य (७८८-८२० ई०) के मतानुगामी हैं एवं जीवात्मा को ब्रह्मस्वरूप मानते हैं तथा एक अद्वैत तत्त्व को स्वीकार करते हुए भौतिक जगत् को माया मात्र बतलाते हैं। (२) जो ब्रह्म को सगुण साकार मानते हैं, विश्व को न्यूनाधिक सत्य मानते हैं, जीवात्मा को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं। इस श्रेणी के प्रतिनिधि रामानुजाचार्य हैं जो ११०० ई० के लगभग हुए थे। ह्विटने ने इस प्रश्न पर विस्तृत विवेचन किया है कि शङ्कर तथा रामानुज में से कौन ब्रह्मसूत्र के समीप है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ब्रह्मसूत्र की शिक्षाओं तथा रामानुज के मतों में अधिक सामीप्य है, अपेक्षाकृत शङ्कर के। दूसरी तरफ वह शङ्कर की शिक्षाओं को उपनिषदों की शिक्षा के समीप ठहराता है। इस तथ्य की कल्पना वह इस बात से करता है कि सूत्रों की शिक्षा भगवद्गीता से कुछ सीमा तक प्रभावित है।

जीवात्मा तथा ब्रह्म के सम्बन्ध को लेकर तीन सिद्धान्त जो परवर्ती भाष्यों में पाये जाते हैं, वे बादरायण के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा ही स्थापित हैं। आश्मरथ्य के मतानुसार न तो आत्मा ब्रह्म से भिन्न है, न अभिन्न है; इस सिद्धान्त को भेदाभेद की संज्ञा दी गयी है। औडुलोमि के अनुसार आत्मा ब्रह्म से बिल्कुल भिन्न है; उस समय तक जब तक कि यह मोक्ष प्राप्त कर उसमें विलीन नहीं होता। इस मत को सत्यभेद या द्वैतवाद कहते हैं। काशकृत्स्न के मतानुसार आत्मा ब्रह्म से बिल्कुल अभिन्न है। इस प्रकार वे अद्वैत मत के संस्थापक हैं।

वेदान्तदेशिक—एक प्रसिद्ध विशिष्टाद्वैती आचार्य। इनका अन्य नाम था वेङ्कटनाथ (देखिए 'वेङ्कटनाथ वेदान्ताचार्य')। मीमांसादर्शन अनीश्वरवादी कहा जाता है, क्योंकि इसने कहीं भी परमात्मा को स्वीकार नहीं किया है। किन्तु स्मार्तों को इससे बाधा नहीं पड़ती एवं वे सभी उपनिषद्वर्णित ब्रह्म को स्वीकार करते हैं। वेदान्तदेशिक ने अपनी 'सेश्वरमीमांसा' (जो जैमिनीय मीमांसासूत्रों की व्याख्या है) में दर्शाया है कि मीमांसाचार्य कुमारिल भट्ट ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं तथा अन्य विद्वान् भी यह मानते हैं कि इसके सिद्धान्तों में सर्वत्र ईश्वरतत्त्व विराजमान है।

वेदान्तपरिभाषा—धर्मराज अध्वरीन्द्र इस सुप्रसिद्ध ग्रन्थ के प्रणेता थे। यह अद्वैत सिद्धान्त का अत्यन्त उपयोगी प्रकरण ग्रन्थ है। इसके ऊपर बहुत सी टीकाएँ हुई हैं और भिन्न भिन्न स्थानों से इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। अद्वैत वेदान्त का रहस्य समझने के लिए इसका अध्ययन बहुत उपयोगी है।

वेदान्तपारिजातसौरभ—चार वैष्णव संप्रदायों के एक प्रधान आचार्य निम्बार्क का निर्विवाद रूप से एक ही दार्शनिक ग्रन्थ 'वेदान्तपारिजातसौरभ' प्राप्त है। यह वेदान्तसूत्र की संक्षिप्त व्याख्या है। श्रीनिवासाचार्य ने इसका विस्तृत भाष्य 'वेदान्तकौस्तुभ' नाम से लिखा है तथा उस पर काश्मीरी केशवाचार्य ने प्रभा नामक प्रखर व्याख्या लिखी है।

वेदान्तप्रदीप—रामानुजाचार्य द्वारा विरचित एक ग्रन्थ। इसमें इन्होंने यादवप्रकाश के मत का खण्डन किया है। यादवप्रकाश अद्वैतवादी आचार्य थे जिनके पास प्रारम्भ में रामानुज ने शिक्षा पायी थी। किंवदन्ती है कि यादवप्रकाश आगे चलकर रामानुज के शिष्य हो गये।

वेदान्तरत्न—निम्बार्काचार्य द्वारा केवल दस पद्यों में सूत्र रूप से विरचित 'वेदान्तरत्न' के अन्य नाम 'वेदान्तकामधेनु', 'दशश्लोकी' एवं 'सिद्धान्तरत्न' भी हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा—पुरुषोत्तमाचार्य विरचित वेदान्तरत्नमञ्जूषा वेदान्तकामधेनु या दशश्लोकी का भाष्य है। इसमें निम्बार्कीय द्वैताद्वैत मत की व्याख्या की गयी है।

वेदान्तविजय—दोड्डय भट्टाचार्य रामानुजदास कृत वेदान्तविजय में रामानुजमत की पुष्टि की गयी है।

वेदान्तसार—(१) सदानन्द योगीन्द्र द्वारा रचित (१६वीं शती) अद्वैत वेदान्त का सुप्रचलित प्रकरण ग्रन्थ। यह सरल होने के साथ ही लोकप्रिय भी है। नृसिंह सरस्वती ने इसकी सुबोधिनी नामक टीका लिखी है। रामतीर्थ स्वामी ने भी इसकी टीका लिखी है।

(२) रामानुजाचार्य की प्रमुख कृतियों में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदान्तसार है।

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली—इस ग्रन्थ के रचयिता हैं प्रकाशानन्द यति। इसकी विवेचनशैली बहुत युक्तियुक्त,

पाण्डित्यपूर्ण और प्राञ्जल है । इसमें गद्य में विवेचना करके पद्य में सिद्धान्त निरूपण किया गया है। इसके ऊपर अप्पयदीक्षित की सिद्धान्तदीपिका नाम की वृत्ति है। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है ।

वेदान्तसूत्र—वेदान्तसूत्र को ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं । इसके रचयिता बादरायण व्यास हैं । इन्होंने उपनिषदों की समग्र दार्शनिक सामग्री का आलोचन कर इसकी रचना की, जो वेदान्त की 'प्रस्थानत्रयी' का दूसरा प्रस्थान है । यह चार अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं । शङ्कराचार्य के अनुसार ब्रह्मसूत्रों की अधिकरण-संख्या १९१, बलदेव भाष्य के अनुसार १९८, श्रीकण्ठ के अनुसार १८२, रामानुज के अनुसार १५६, निम्बार्क के अनुसार १५१, वल्लभाचार्य के अणुभाष्य के अनुसार १६२ और मध्व के अनुसार २२३ है । प्रचलित पाठ के अनुसार ब्रह्मसूत्रों की सूत्रसंख्या ५५६ होनी चाहिए ।

इसके प्रथम अध्याय का नाम 'समन्वय' है । इसमें ब्रह्म के सम्बन्ध में विभिन्न श्रुतियों का समन्वय किया गया है। दूसरा अध्याय 'अविरोध' है, जिसमें अन्य दर्शनों का खण्डन कर युक्ति और प्रमाणों से वेदान्तमत की स्थापना की गयी है। तीसरे अध्याय का नाम 'साधन' है । इसमें जीव और ब्रह्म के लक्षणों का प्रतिपादन है तथा मुक्ति के बहिरंग एवं अन्तरंग साधनों का विवेचन है । ब्रह्मसूत्र के चौथे अध्याय का नाम 'फल' है। इसमें जीवन्मुक्ति, निर्गुणसगुण उपासना तथा मुक्त पुरुष का वर्णन है ।

वेदान्तसूत्रभाष्य—(१) (अन्य नाम शारीरक भाष्य) के रचयिता शङ्कराचार्य हैं। यह अद्वैत वेदान्त मत की स्थापना करता है ।

(२) आचार्य मध्वरचित वेदान्तसूत्रभाष्य का नाम 'पूर्णप्रज्ञ भाष्य' है । यह द्वैतवाद का प्रतिपादक है ।

(३) आचार्य रामानुज के वेदान्तसूत्रभाष्य का नाम 'श्रीभाष्य' है ।

(४) निम्बार्काचार्य के संक्षिप्त वेदान्तसूत्र भाष्य या विवृति का नाम 'वेदान्तपारिजात सौरभ' है ।

(५) वल्लभाचार्यरचित वेदान्तसूत्रभाष्य को 'अणुभाष्य' कहते हैं । इसका रचनाकाल पन्द्रहवीं शताब्दी का अन्त या १६वीं का प्रारम्भ है ।

(६) आचार्य बलदेव विद्याभूषण (अठारहवीं शती) कृत वेदान्तसूत्रभाष्य का नाम 'वेदान्तस्यमन्तक' है । यह गौडीय चैतन्य मतानुसार लिखा गया है ।

वेदान्ताचार्य—वेदान्ताचार्यों की परम्परा का प्रारम्भ बादरायण के ब्रह्मसूत्र रचनाकाल के बहुत पहले हो चुका था । कहा जा चुका है कि बादरायण के पूर्व अनेक आचार्य वेदान्त के सम्बन्ध में विभिन्न मतों के मानने वाले हो चुके थे। बादरायण ने केवल उन सबके मतों का अपने सूत्रों में संकलन और समन्वय किया है । इन आचार्यों के नाम स्थान-स्थान पर सूत्रों में आ गये हैं । इस परम्परा का क्रम आज तक चला आ रहा है । इस लम्बी परम्परा को कालक्रम से तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं :

(१) बादरायण के पूर्व के वेदान्ताचार्य—जिनमें बादरि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, औडुलोमि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न, जैमिनि, काश्यप एवं बादरायणि के नाम हैं ।

(२) बादरायण के पश्चात् एवं शङ्कर के पूर्व के वेदान्ताचार्य—शङ्कर ने अपने भाष्य में इनकी चर्चा की है तथा दार्शनिक साहित्य में भी इनका जहाँ तहाँ उल्लेख मिलता है । ये हैं भर्तृप्रपंच, ब्रह्मनन्दी, टङ्क, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, उपवर्ष, बोधायन, भर्तृहरि, सुन्दर पाण्ड्य, द्रमिडाचार्य, ब्रह्मदत्त आदि ।

(३) शङ्कर के पश्चाद्वर्ती वेदान्ताचार्य—ये दो विभागों में विभाजित हैं; शङ्करमतानुयायी तथा रामानुजमतानुयायी । इन सभी आचार्यों का यहाँ वर्णन उपस्थित करना पुनरावृत्ति होगी । इनका परिचय यथास्थान देखिए ।

वेदार्थसंग्रह—आचार्य रामानुज द्वारा रचित दार्शनिक ग्रन्थों में तीन अति महत्त्वपूर्ण हैं—(१) वेदार्थसंग्रह (२) श्रीभाष्य (वेदान्तसूत्र का भाष्य) और (३) गीताभाष्य । वेदार्थसंग्रह में आचार्य ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि उपनिषदें शुष्क अद्वैत मत का प्रतिपादन नहीं करतीं । सुदर्शन व्यास भट्टाचार्य ने वेदार्थसंग्रह की तात्पर्यदीपिका नामक टीका लिखी है ।

वेदि (वेदिका)—यज्ञाग्नि या कलश आदि स्थापित करने का छोटा चबूतरा । वैदिक काल में यज्ञ खुले मैदान में यज्ञकर्ता के घर के समीप आच्छादित मण्डप के नीचे होता था । 'वेदि' शब्द उस क्षेत्र का बोधक है जिसके ऊपर यज्ञ क्रिया सम्पन्न होती थी । इसके ऊपर (वेदि पर) कुश बिछाये जाते थे जिससे देवता आकर उस पर बैठें; फिर उस पर यज्ञसामाग्री—दुग्ध, घृत, अन्न, पिण्डादि रखे जाते थे ।

वेदि पर ही यज्ञाग्नि प्रज्वलित कर यज्ञसामग्रियों का हवन अध्वर्यु द्वारा होता था। इसकी निर्माणविधि शुल्वसूत्रों से निर्धारित होती है।

वेदेश—आचार्य वेदेशतीर्थ मध्वमतावलम्बी हरिभक्त थे। इन्होंने पदार्थकौमुदी, तत्त्वोद्योतटीका की वृत्ति, कठोपनिषद् वृत्ति, केनोपनिषद् वृत्ति तथा छान्दोग्योपनिषद् आदि की वृत्ति विरचित की है। इनका समय प्रायः अठारहवीं शती था।

वेश्याव्रत—वेश्याओं को अपने उद्धार के लिए गौओं, खेतों देवोद्यान तथा सुवर्णादि का दान करना चाहिए तथा जिस रविवार को हस्त, पुष्य या पुनर्वसु नक्षत्र हो उस दिन वे सर्वौषधि युक्त जल से स्नान करें। स्नानोपरान्त कामदेव का आपाद-मस्तक पूजन करें तथा कामदेव को विष्णु भगवान् ही मानें। एक वर्ष के लिए विष्णुपूजा का नियम पालें, तेरहवें मास पर्यङ्कोपयोगी वस्त्र, सुवर्णश्रृखला तथा कामदेव की प्रतिमा का दान करें। यह व्रत समस्त वेश्याओं के लिए उपयोगी है। अनङ्ग (प्रेम का देवता) ही इसका देवता है। कृत्यकल्पतरु (व्रतकाण्ड, २७-३१) में इस व्रत का उल्लेख मिलता है।,

वैकुण्ठ—आगमसंहिताओं के सिद्धान्तानुसार वैकुण्ठ सबसे ऊँचे स्वर्ग को कहते हैं। कोई जीवात्मा ज्ञानलाभ तथा मोक्ष प्राप्ति ईश्वरकृपा के बिना नहीं कर सकता। ईश्वरकृपा और भक्ति से वह ईश्वर में विलीन नहीं होता, अपितु वैकुण्ठ में ईश्वर का सायुज्य प्राप्त करता है।

वैकुण्ठचतुर्दशी—(१) कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी। इस दिन भगवान् विष्णु की पूजा रात्रि में की जानी चाहिए। दे० निर्णयसिन्धु, २०६।

(२) कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी को हेमलम्ब संवत्सर के समय भगवान् विश्वेश्वर ने ब्राह्म मुहूर्त में काशी के मणिकर्णिका तीर्थ में स्नान किया था। उन्होंने पाशुपत व्रत भी किया था तथा उमा के साथ विश्वेश्वर की पूजा तथा स्थापना भी की थी।

वैखानस—(१) वानप्रस्थ (तृतीय आश्रमी) के लिए प्रारभ में वैखानस शब्द का प्रयोग होता था। वैखानस 'विखनस्' से बना है, जिसका अर्थ नियमों का परम्परागत रचयिता है। गौतमधर्मसूत्र (३.२६) में उपर्युक्त अर्थ में यह शब्द व्यवहृत हुआ है।

(२) पौराणिक ऋषियों का समूह, जो पञ्चविंश ब्राह्मण (१४.४.७) के अनुसार 'रहस्य देवमलिम्लुच' द्वारा मुनिमरण नामक स्थान पर मारा गया था। तैत्तिरीय आ० (१.२३.३) में भी इसकी चर्चा है। इनमें से एक व्यक्ति वैखानसपुरुहन्ता कहा जाता था।

वैखानसगृह्यसूत्र—यह कृष्ण यजुर्वेद का एक गृह्यसूत्र है।

वैखानसधर्मसूत्र—पाँच प्रारम्भिक धर्मसूत्रों में से एक। यह सभी शाखाओं के लिए उपयोगी है। द्वितीय श्रेणी के धर्मसूत्रों में भी यह मुख्य समझा जाता है।

वैखानससंहिता—आगमसंहिताएँ दो प्रकार की हैं, पाञ्चरात्र और वैखानस। किसी वैष्णव मन्दिर में पाञ्चरात्र तथा किसी में वैखानससंहिताएँ प्रमाण मानी जाती हैं। वैखानससंहिताएँ और उनमें भी विशेषतः भागवतसंहिता नाम की एक विशेष संहिता हरि-हर की एकता सम्पादन करने के लिए लिखी गयी जान पड़ती है।

वैतरणीव्रत—मार्गशीर्ष कृष्ण एकादशी को वैतरणी तिथि कहा गया है। उस दिन व्रतकर्ता नियमों का पालन (कुछ प्रतिषिद्ध आचरणों का त्याग) करे। रात्रि के समय एक श्यामा गौ की मुख की ओर से प्रारम्भ कर पूँछ तक के भाग की पूजा करनी चाहिए। उसके चरणों तथा सींगों को चन्दन से सुवासित जल से धोना तथा पौराणिक मन्त्रों से उसके शरीरावयवों की आराधना करनी चाहिए। चूँकि नरक लोक में मनुष्य गौ की सहायता से ही वैतरणी नदी को पार करता है, अतएव यह एकादशी, जिसको गौ की पूजा होती है, वैतरणी एकादशी कहलाती है। इस व्रत का आयोजन वर्ष के चार-चार मासों के तीन भागों में करना चाहिए। मार्गशीर्ष मास के प्रथम भाग में उबाला हुआ चावल, द्वितीय में पकाया हुआ जौ तथा तृतीय भाग में खीर अर्पित करनी चाहिए। कुल नैवेद्य का सवाया भाग गौ को, सवाया भाग पुरोहित को तथा शेष भाग स्वयं व्रती को ग्रहण करना चाहिए। वर्ष के अन्त में पर्यङ्कोपयोगी वस्त्र, सोने की गौ तथा एक द्रोण लोहा पुरोहित को दान करना चाहिए।

वैतानश्रौतसूत्र—अथर्ववेद का एक मात्र श्रौतसूत्र यही उपलब्ध है।

वैदिकशाक्तमत—निगमानुमोदित तान्त्रिक विधान ही वैदिक शाक्तमत, दक्षिण मार्ग अथवा दक्षिणाचार कहा जाता है। ऋग्वेद के आठवें अष्टक के अन्तिम सूक्त में ''इयं शुष्मेभिः'' प्रभृति मन्त्रों से पहले नदी का स्तवन है, फिर देवता रूप में महाशक्ति एवं सरस्वती का स्तवन है। सामवेद वाच-

यमव्रत में "हुवाइ वाम्" इत्यादि तथा ज्योतिष्टोम में "वाग्विसर्जन" स्तोम आता है। अरण्यगान में भी इसके गान हैं। यजुर्वेद के एक स्थल (२.२) में "सरस्वत्यै स्वाहा" मन्त्र से आहुति देने का विधान है, पाँचवें अध्याय के सोलहवें मन्त्र में पृथिवी और अदिति देवियों की चर्चा है। सत्रहवें अध्याय, मन्त्र ५५ में पाँचों दिशाओं से विघ्न-बाधा निवारण के लिए इन्द्र, वरुण, यम, सोम, ब्रह्मा, इन पाँच देवताओं की शक्तियों (देवियों) का आवाहन किया गया है। अथर्ववेद के चौथे काण्ड के तीसवें सूक्त में (अहं रुद्रेभिः वसुभिः चरामि अहम् आदित्यै रुत विश्वदेवैः) महाशक्ति कहती है कि मैं समस्त देवताओं के साथ हूँ, सबमें व्याप्त रहती हूँ। केनोपनिषद् में "बहु शोभमाना उमा हैमवती" ब्रह्मविद्या महाशक्ति द्वारा प्रकट होकर ब्रह्म निर्देश करना वर्णित है। अथर्वशीर्ष, देवीसूक्त और श्रीसूक्त तो शक्ति के ही स्तवन हैं। वैदिक शाक्त घोषित करते हैं कि दशोपनिषदों में दसों महाविद्याओं का ब्रह्मरूप में वर्णन है। इस प्रकार शाक्तमत का आधार श्रुति ही है।

देवीभागवत, देवीपुराण, कालिकापुराण, मार्कण्डेयपुराण शक्ति के माहात्म्य से ही व्याप्त हैं। महाभारत तथा रामायण में देवी की स्तुतियाँ हैं और अद्भुत रामायण में तो अखिल विश्व की जननी सीताजी का परात्पर शक्तिवाला रूप प्रकट करके बहुत सुन्दर स्तुति की गयी है। प्राचीन पाञ्चरात्र मत का 'नारदपञ्चरात्र' प्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थ है। उसमें दसों महाविद्याओं की कथा विस्तार से कही गयी है। निदान, श्रुति-स्मृति में शक्ति की उपासना जहाँ-तहाँ उसी प्रकार प्रकट है, जिस तरह विष्णु और शिव की उपासना देखी जाती है। इससे स्पष्ट है कि शाक्तमत के वर्तमान साम्प्रदायिक रूप का आधार श्रुति-स्मृति हैं और यह मत उतना ही प्राचीन है जितना वैदिक साहित्य। उसकी व्यापकता तो इतनी है कि जितने सम्प्रदायों का वर्णन ऊपर किया गया है वे सब बिना अपवाद के अपने उपास्य की शक्तियों को परम उपास्य मानते हैं और एक न एक रूप में शक्ति की उपासना करते हैं। जहाँ तक शैवमत वेदबोधित नियमों पर आधारित है, वहाँ तक शाक्तमत भी वैसा ही नियमानुमोदित है।

इस वैदिक शाक्तमत का प्रचार यहाँ से पार्श्ववर्ती देशों में हुआ तथा इसी की रतह चीन आदि देशों से भारत में वामाचार का भी आगमन हुआ।

वैतानसूत्र—अथर्ववेद के पाँच सूत्र ग्रन्थ हैं—कौशिकसूत्र, वैतानसूत्र, नक्षत्रकल्पसूत्र, आङ्गिरसकल्पसूत्र और शान्तिकल्पसूत्र। 'वैतानसूत्र' में अयनान्त निष्पाद्य, त्रयीविहित दर्शपूर्णमासयज्ञादि कर्मों के ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र और होता इन चार ऋत्विजों के कर्तव्य बताये गये हैं।

वैदिकसिद्धान्तसंग्रह—अद्वैत मतावलम्बी नृसिंहाश्रम सरस्वती के ग्रन्थों में यह रचना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव की एकता सिद्ध की गयी है और बतलाया गया है कि ये तीनों एक ही परब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र हैं।

वैद्यनाथधाम—विहार प्रदेशस्थ प्रसिद्ध शैव तीर्थ। वैद्यनाथ द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में हैं। ५१ शक्तिपीठों में यह एक पीठ भी है। कुछ लोग हैदराबाद के समीपस्थ परली वैद्यनाथ को द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में मानते हैं। किन्तु "वैद्यनाथं चिताभूमौ" के अनुसार यही मुख्य वैद्यनाथ है। इस स्थान का अन्य नाम देवघर है। अपनी कामनाओं को पूर्ण करने के लिए लोग मन्दिर में धरना देकर निर्जल पड़े रहते हैं। जो बराबर टिके रहते हैं उनकी कामना पूर्ण होती है। यहाँ दर्शनीय स्थान गौरीमन्दिर, कार्तिकेयमन्दिर आदि हैं।

वैनायकीचतुर्थी—प्रत्येक चतुर्थी को यह व्रत होता है। इसमें दिन में उपवास तथा रात में चन्द्रोदय के पश्चात् भोजन करने की विधि है।

वैयासिकन्यायमाला—व्यास रचित ब्रह्मसूत्र के विषयों की माला। आचार्य भारती तीर्थ शाङ्करमत के अनुयायी थे। उन्होंने इस मत की व्याख्या करने के लिए ही 'वैयासिकन्यायमाला' की रचना की। शाङ्करमतानुसार ब्रह्मसूत्र का तात्पर्य समझने के लिए यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी माना जाता है। यह ग्रन्थ सरल और सुबोध गद्य-पद्यों में लिखा गया है।

वैरदेय—संहिताओं तथा ब्राह्मणों में इसका अर्थ ऐसा धन है, जो किसी मनुष्य का प्राण लेने के बदले में उसके सम्बन्धियों को देना पड़े। यह अर्थ आपस्तम्ब तथा बौधायन सूत्रों में भी प्रयुक्त हुआ है। दोनों ने ही क्षत्रिय की हत्या के लिए १००० गौएँ, वैश्य के लिए १०० गौएँ तथा शूद्र के लिए १० गौएँ हर्जाना निश्चित किया है तथा प्रत्येक

दशा में एक बैल भी देने का निर्देश किया है। यह अर्थ-दान 'वैरनिर्यातन' के लिए होता था।

ऋग्वेद में (२.३२.४) एक व्यक्ति के बदले में १०० गौओं के दान का निर्देश है। इसे शतदाय कहते थे। निस्सन्देह यह मूल्य घटता-बढ़ता था। किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेप के क्रय के बदले १०० गौओं का दाय वर्णित है। यजुर्वेद में पुनः 'शतदाय' उद्धृत हुआ है। परवर्ती काल में हत्या के लिए दण्ड और प्रायश्चित्त दोनों का विधान था।

वैरागी—स्वामी रामानन्द ने जो सम्प्रदाय स्थापित किया उसके संन्यासियों के लिए उन्होंने सरल अनुशासन (पवित्रता और आचार के सात्त्विक नियम) निश्चित किये। ये संन्यासी रामानन्दी वैष्णव वैरागी कहलाते हैं। ये विरक्त साधु होते हैं तथा इनके मठ काशी, अयोध्या चित्रकूट, मिथिला तथा अन्य स्थानों में हैं।

वैशम्पायन—वेदव्यास के चार वैदिक शिष्यों में यजुर्वेद के मुख्य अध्येता। महीधर ने अपने यजुर्भाष्य में लिखा है कि वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य आदि शिष्यों को वेदाध्ययन कराया। पीछे किसी कारण उन्होंने क्रुद्ध होकर याज्ञवल्क्य से अपना पढ़ाया हुआ वेद वापस माँगा। योगी याज्ञवल्क्य ने विद्या को मूर्तिमती करके वमन कर दिया। वैशम्पायन ने अपने अन्य शिष्यों को इन वान्त यजुओं को ग्रहण करने की आज्ञा दी। उन्होंने तीतर बनकर उनको चुन लिया। इसीलिए इसका नाम 'तैत्तिरीय संहिता' पड़ा। प्राचीन काल के दो धनुर्वेद ग्रन्थों का उद्धरण बहुत प्राप्त होता है, वे हैं वैशम्पायन का धनुर्वेद तथा वृद्ध शार्ङ्गधर का धनुर्वेद। अष्टाध्यायी के सूत्रों में पाणिनि ने जिन पूर्व वैयाकरणों का नामोल्लेख किया है उनमें वैशम्पायन भी एक हैं।

वैशाखकृत्य—इस मास के कुछ महत्त्वपूर्ण व्रत, जैसे अक्षय-तृतीया आदि का पृथक् वर्णन किया जा चुका है। कुछ छोटे-मोटे तथ्यों का यहाँ वर्णन किया जा रहा है। इस मास में प्रातः स्नान का विधान है। विशेष रूप से इस अवसर पर पवित्र सरिताओं में स्नान की आज्ञा दी गयी है। इस सम्बन्ध में पद्मपुराण (४.८५.४१-७०) का कथन है कि वैशाख मास में प्रातः स्नान का महत्त्व अश्वमेध यज्ञ के समान है। इसके अनुसार शुक्ल पक्ष की सप्तमी को गंगाजी का पूजन करना चाहिए, क्योंकि इसी तिथि को महर्षि जह्नु ने अपने दक्षिण कर्ण से गंगाजी को बाहर निकाला था। वैशाख शुक्ल सप्तमी को भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था, अतएव सप्तमी से तीन दिन तक उनकी प्रतिमा का पूजन किया जाना चाहिए। यह विशेष रूप से उस समय होना चाहिए जब पुष्य नक्षत्र हो। वैशाख शुक्ल अष्टमी को दुर्गाजी, जो अपराजिता भी कहलाती हैं, की प्रतिमा को कपूर तथा जटामांसी से सुवासित जल से स्नान कराना चाहिए। इस समय व्रती स्वयं आम के रस से स्नान करे।

वैशाखी पूर्णिमा को ब्रह्माजी ने श्वेत तथा कृष्ण तिलों का निर्माण किया था। अतएव उस दिन दोनों प्रकार के तिलों से युक्त जल से व्रती स्नान करे, अग्नि में तिलों की आहुति दे, तिल, मधु तथा तिलों से भरा हुआ पात्र दान में दे। इसी प्रकार के विधि-विधान के लिए दे० विष्णु-धर्म०, ९०.१०। भगवान् बुद्ध की वैशाखपूजा 'दत्थ गामणी' (लगभग १००-७७ ई० पू०) नामक व्यक्ति ने लंका में प्रारम्भ करायी थी। दे० वालपोल राहुल (कोलम्बो, १९५६) द्वारा रचित 'बुद्धिज्म इन सीलोन', पृ० ८०।

वैशालाक्षनीतिशास्त्र—राजनीति शास्त्र भारत का अति प्राचीन ज्ञान है। इस पर सर्वप्रथम प्रजापति ने दण्ड-नीति नामक बृहदाकार पुस्तक लिखी, जो अब दुर्लभ है। उसी का संक्षिप्तीकरण वैशालाक्षनीतिशास्त्र है। यह भी प्राप्त नहीं है। पुनः इसका संक्षिप्तीकरण बाहुदन्तक नामक ग्रन्थ में हुआ जो भीष्म पितामह के समय में बार्हस्पत्य शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध था। मानवता के विकास के साथ जीवन में व्यस्तता बढ़ने लगी तथा व्यस्त जीवन को देखते हुए क्रमशः ये ग्रन्थ संक्षिप्त होते ही गये। वैशालाक्ष (विशाल आँखों वाले अर्थात् शिव) का नीति-शास्त्र शिवप्रणीत कहा जाता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में वैशालाक्ष सिद्धान्तों को बहुधा उद्धृत किया है।

वैशेषिक—वैशेषिक दर्शन का अस्तित्व विक्रम की पहली शताब्दी में था। यह इससे भी प्राचीन हो सकता है। वैशेषिक सूत्रों के रचयिता कणाद काश्यप कहे जाते हैं। वैशेषिक तथा न्याय दर्शन साथ ही साथ विकसित हुए तथा दोनों सूत्र एक दूसरे के बहुत ही निकट प्रसंग को ध्यान में रखते हुए लिखे गये हैं। वैशेषिक दर्शन पार-माणविक (अणुविज्ञानी) यथार्थवाद है। द्रव्यों के नव प्रकार यहाँ माने गये हैं। पहले चार प्रकारों के परमाणु कहे गये हैं। प्रत्येक परमाणु परिवर्तनहीन, नित्य, फिर

भी अदृश्य तथा आकृतिहीन होता है। ये परमाणु चार श्रेणियों में गंध, स्वाद, स्पर्श तथा ऊष्मा गुणों के कारण विभक्त किये गये हैं, जो क्रमशः पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि के गुण हैं। दो परमाणुओं से एक 'द्व्यणुक' तथा तीन द्व्यणुकों से एक त्र्यणुक (त्रसरेणु) बनता है। सबसे छोटी इकाई यही है जो रूपवान् होती है तथा इसे पदार्थ की संज्ञा दी गयी है।

पाँचवीं नित्य सत्ता आकाश है जो अदृश्य परमाणुओं को मूर्त पदार्थ में बदलने का माध्यम है। छठा सत्य काल है। यह वह शक्ति है जो सभी कार्य तथा परिवर्तन करती है तथा दो समयों के अन्तर का आधार उपस्थित करती है। सातवाँ सत्य दिक् या दिशा है। यह काल को संतुलित करती है। आठवाँ सत्य अगणित आत्माओं का है। प्रत्येक आत्मा नित्य तथा विभु है। नवाँ सत्य है 'मनस्' जिसके माध्यम से आत्मा ज्ञानेन्द्रियों के स्पर्श में आता है। परमाणुओं की तरह प्रत्येक मन नित्य तथा रूपहीन है। कर्ममीमांसा तथा सांख्य की तरह प्रारम्भिक वैशेषिक भी देवमण्डल के अस्तित्व को स्वीकार करता है। सूत्र में छः पदार्थों के नाम हैं: द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय। इन छहों का ज्ञान मोक्षदाता है। ६०० ई० के लगभग प्रशस्तपाद नामक आचार्य ने वैशेषिक सूत्रों पर भाष्य लिखा। ह्वेनसाँग ने 'दश पदार्थ' का अनुवाद किया, जिसे ज्ञानचक्र द्वारा चीनी भाषा में अनुवादित कहा गया है।

दसवीं शताब्दी के मध्य में दो उल्लेखनीय दार्शनिक वैशेषिक दर्शन के व्याख्याकार हुए। उनमें से प्रथम थे उदयन जो बहुत ही शक्तिशाली एवं स्पष्ट प्रतिभा के दार्शनिक थे। इन्होंने प्रशस्तपाद भाष्य के समर्थन में किरणावली नामक ग्रन्थ रचा। इनका दूसरा ग्रन्थ है लक्षणावली। दूसरे ग्रन्थकार थे श्रीधर, जो दक्षिण-पश्चिम वंग के निवासी थे। इन्होंने प्रशस्तपाद के भाष्य की न्यायकन्दली नामक व्याख्या रची। यह ९९१ ई० के लगभग रची गयी। इसके बाद न्याय-वैशेषिक दोनों संयुक्त दर्शन एकत्र हो गये। (आगे का विकास 'वैशेषिक-न्याय' शब्द की व्याख्या में देखें।)

वैशेषिक दर्शन—दे० 'वैशेषिक'।

वैशेषिक-न्याय—ग्यारहवीं शताब्दी के बाद न्याय तथा वैशेषिक वस्तुतः एक में मिल गये। दोनों का संयोग शिवादित्य के 'सप्तपदार्थनिरूपण' (११वीं शताब्दी) से आरम्भ होता है। गंगेश उपाध्याय की 'न्यायचिन्तामणि' में इसी सम्मिलन के 'आदर्श' का पालन हुआ है। यह १२वीं शताब्दी का बहुप्रयुक्त ग्रन्थ है। तेरहवीं शती के केशव के 'तर्कभाषा' तथा १५वीं शती के शङ्कर मिश्र के 'वैशेषिकसूत्रोपस्कार' में इसी संयोग की चेष्टा हुई है।

१६०० ई० के लगभग न्याय-वैशेषिक की संयुक्त शाखा से सम्बन्धित अन्नम् भट्ट, विश्वनाथ पञ्चानन, जगदीश तथा लौगाक्षिभास्कर नामक आचार्य हुए। बङ्गाल में नव्य न्याय की प्रणाली का प्रारम्भ वासुदेव सार्वभौम के द्वारा हुआ जो नवद्वीप (नदिया) में अध्यापक (१४७०-१४८० ई०) थे। इनकी बौद्धिक स्वतंत्रता इनके शिष्य रघुनाथ शिरोमणि ने घोषित करायी। इस प्रकार १७वीं शती के अन्त तक तर्क शास्त्र का उत्तराधिकार चलता आया।

वैशेषिकसूत्रभाष्य—वैशेषिक सूत्र पर लिखा हुआ यह प्रथम भाष्य है, जिसे प्रशस्तपाद (६५० वि० के लगभग) ने प्रस्तुत किया। इस भाष्य के अध्ययन के बिना वैशेषिक सूत्रों को समझना असम्भव है।

वैशेषिकसूत्रोपस्कार—शङ्कर मिश्र द्वारा विरचित यह ग्रन्थ वैशेषिक सूत्र का उपभाष्य है। इसमें न्याय तथा वैशेषिक को एक में मिलाने का प्रयास हुआ।

वैश्य—चार वर्णों में तीसरा स्थान वैश्य का है। इसका प्रथम उल्लेख पुरुषसूक्त में हुआ है (ऋ० १०.९.१२)। इसके पश्चात् अथर्ववेद आदि में इसका प्रयोग बहुलता से किया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि वैश्य की उत्पत्ति विराट् पुरुष की जंघाओं से हुई। इस रूपक से ज्ञात होता है कि वैश्य सामाजिक जीवन का स्तम्भ माना जाता था। वैदिक साहित्य में वैश्य की स्थिति का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण (७.२९) करता है; वैश्य 'अन्यस्य बलिकृत्' (दूसरे को बलि देने वाला), 'अन्यस्याद्यः' (दूसरे का उपजीव्य) है। उस पर राजा द्वारा कर लगाया जाता था। वैश्य साधारणतः कृषक, पशुपालक एवं व्यवसाय-वाणिज्य कर्ता होते थे। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार वैश्यों की महत्त्वाकांक्षा ग्रामणी बनने की होती थी।

यह पद राजा की ओर से धनी वैश्यों को प्रदान किया जाता था । वैश्यों के क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण पद प्राप्त करने का उदाहरण नहीं प्राप्त होता ।

धर्मसूत्रों और स्मृतियों में वैश्यों के सामान्य और विशेष दो प्रकार के कर्त्तव्य बतलाये गये हैं । सामान्य कर्त्तव्य हैं, अध्ययन, यजन और दान । विशेष कर्त्तव्य हैं कृषि, गोरक्षा (गोपालन) और वाणिज्य । वैश्य वर्ण के अन्तर्गत अनेक जातियों और उपजातियों का समावेश है । वैश्यों का शूद्रों के साथ अधिक सम्पर्क बढ़ने और अन्यत्र धार्मिक कठोर आचार (कृच्छ्राचार) बढ़ने के कारण धीरे-धीरे बहुत-सी कृषि तथा गोपालन करने वाली जातियों की गणना शूद्रों में होने लगी और केवल वाणिज्य करने वाली जातियाँ ही वैश्य मानी जाने लगीं । धर्मशास्त्रों के अन्तिम चरण में 'कलिवर्ज्य' के अन्तर्गत यह मत प्रतिपादित हुआ कि कलि में केवल दो वर्ण ब्राह्मण और शूद्र हैं, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण नहीं । ऐसा लगता है कि बीच में इन वर्णों में आचार के शिथिल हो जाने के कारण यह मान्यता प्रचलित हुई ।

वैष्णवतोषिणी—चैतन्यदेव के शिष्य सनातन गोस्वामी द्वारा यह व्याख्या ग्रन्थ भागवत पुराण के दशम स्कन्ध पर वृन्दावन में रचा गया । वैष्णवतोषिणी का अन्य नाम दशमटिप्पणी भी है ।

वैष्णवदास—चैतन्य सम्प्रदाय के प्रारम्भिक अठारहवीं शती के एक वंगदेशीय आचार्य । इन्होंने 'पदकल्पतरु' नामक ग्रन्थ रचा है ।

वैष्णवपुराण—विष्णु, भागवत, नारदीय, ब्रह्मवैवर्त, पद्म और गरुड वैष्णव पुराण हैं ।

वैष्णवमत—मुख्य रूप से विष्णु की उपासना करने का मार्ग । इसके अन्य नाम भागवतमत तथा पाञ्चरात्रमत भी हैं । भागवत सम्प्रदाय महाभारतकाल में भी वर्तमान था । कहना चाहिए कि लगभग कृष्णावतार के समय ही पाञ्चरात्रमत सात्वतों के भागवतमत में परिणत हो गया । परन्तु बौद्धों के जोर-शोर में प्रायः इस मत का भी ह्रास समझा जाना चाहिए । जो कुछ अवशिष्ट था उसका खण्डन शङ्कर स्वामी ने किया । 'नारदपञ्चरात्र' और 'ज्ञानामृतसार' से पता चलता है कि भागवतधर्म की परम्परा बौद्धधर्म के फ़ैलने पर भी नष्ट नहीं हो पायी । इस मत के अनुसार हरिभजन ही परम कर्तव्य और मुक्ति का साधन है । 'ज्ञानामृतसार' में छः प्रकार की भक्ति कही गयी है—स्मरण, कीर्तन, वन्दन, पादसेवन, अर्चन और आत्मनिवेदन, । भागवतपुराण से (७.५.२३-२४) श्रवण, दास्य और सख्य ये तीन प्रकार और मिलाकर नव प्रकार की भक्ति मानी जाती है । सम्भवतः भागवतमत की अनेक शाखाओं का अस्तित्व शङ्करस्वामी के समय में भी रहा होगा, किन्तु सबका मूल सिद्धान्त एक ही होने से शङ्करस्वामी ने शाखाओं की चर्चा नहीं की । वैष्णव सम्प्रदायों के इतिहास से भी पता चलता है कि उनकी सत्ता का मूल अत्यन्त प्राचीन है, यद्यपि उनके मुख्य प्रचारक वा आचार्य बाद के हैं । शङ्कराचार्य के पश्चात् वैष्णवों के चार सम्प्रदाय विशेष विकसित दिखलाई पड़ते हैं; श्रीवैष्णव सम्प्रदाय, माध्व सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय और सनकसम्प्रदाय । इन चारों का आधार श्रुति है और दर्शन वेदान्त है । पुराना साहित्य एक ही है, केवल व्याख्या और बाह्याचार में परस्पर अन्तर होने से सम्प्रदाय भेद उत्पन्न हो गये हैं । महाभारतकाल से लेकर आदि शङ्कराचार्य के समय तक पाञ्चरात्र और भागवत धर्म का रूप समान ही रहा होगा । क्योंकि शङ्कराचार्य ने एक ही नाम से इनकी आलोचना की है । परन्तु इसके पश्चात् सम्भवतः समय-समय पर आचार्यों के सिद्धान्तों की भिन्न रीति से व्याख्या करने के कारण भागवत और पाञ्चरात्र की शाखाएँ स्वतन्त्र बन गयीं, जो काल पाकर सम्प्रदायों के रूप में प्रकट हुईं ।

वैष्णव पुराणों में विष्णुपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, हरिवंश और श्रीभद्भागवत में विष्णु, नारायण, यादव कृष्ण और गोपाल कृष्ण के चरितों का कई पहलुओं से वर्णन है । जैसा नाम से प्रकट है, श्रीमद्भागवत ही सब पुराणों में भागवत सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ समझा जाना चाहिए ।

प्राचीन भागवत सम्प्रदाय का अवशेष आज भी दक्षिण भारत में विद्यमान है। द्रविड, तैलङ्ग, कर्णाटक और महाराष्ट्र के बहुत से वैष्णव गोपीचन्दन की रेखा वाले ऊर्ध्वपुण्ड्र को मस्तक में धारण किये हुए प्रायः मिलते हैं । ये लोग नारदभक्तिसूत्र एवं शाण्डिल्यभक्तिसूत्रों के अनुयायी हैं । इनकी उपनिषदें वासुदेव एवं गोपीचन्दन हैं । इनका पुराण भागवतपुराण है । महाराष्ट्र देश में इस सम्प्रदाय के पूर्वाचार्य ज्ञानेश्वर समझे जाते हैं । जिस तरह योगमार्ग में ज्ञानेश्वर नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी माने

जाते हैं, उसी तरह भक्तिमार्ग में वे विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के शिष्य माने जाते हैं। परन्तु विष्णुस्वामी के मत में राधा-गोपाल की उपासना का विशेष प्रचलन है।

वैष्णवमताब्जभास्कर—सीतारामोपासक वैष्णव सम्प्रदाय के प्रधानाचार्य स्वामी रामानन्दजी महाराज ने वैष्णवधर्म के संरक्षण के लिए वैष्णवमताब्जभास्कर नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें वैष्णवों के दैनिक आचार और भजन-पूजन का भली भाँति निर्देश किया गया है।

वैष्णवसम्प्रदाय—दे० 'वैष्णवमत'।

वैष्णववाङ्मय—ऋग्वेद (१०.९०) के पुरुषसूक्त में इसकी आरम्भिक उपलब्धि होती है। महानारायण उपनिषद्, महाभारत, रामायण तथा भगवद्गीता इसका साधारण साहित्य है। भागवत लोग उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त सभी स्मार्त ग्रन्थों में रुचि रखते हैं। भागवत सम्प्रदाय के जो विशेष ग्रन्थ हैं, उनका यहाँ उल्लेख किया जाता है। इसका सबसे प्राचीन ग्रन्थ हरिवंश है। वैखानससंहिता, स्कन्द उपनिषद्, भागवत पुराण, नारदभक्तिसूत्र, शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र, वासुदेव एवं गोपीचन्दन उपनिषद्, वोपदेव कृत मुक्ताफल तथा हरिलीला, श्रीधर स्वामी (१४०० ई०) कृत भागवतभावार्थदीपिका तथा शुकसुधी कृत शुकपक्षीया व्याख्या एवं वेदान्तसूत्र (तेलुगु में) आदि ग्रन्थ इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं।

वैष्णवाचार—तान्त्रिक गण सात प्रकार के आचारों में विभक्त हैं, उनमें वैष्णवाचार भी एक है। इसमें वेदाचार की विधि के अनुसार सर्वदा नियमतत्पर रहना होता है, मद्य, मैथुन वा उसका कथाप्रसङ्ग भी कभी नहीं किया जाता। हिंसा, निन्दा, कुटिलता और मांस भोजन का सदा परित्याग होता है। रात्रि में कभी माला तथा मन्त्र का उपयोग नहीं किया जाता। दे० 'आचारभेद'।

वोपदेव—तेरहवीं शती के अन्त में महाराष्ट्र में वोपदेव नामक एक व्युत्पन्न विद्वान् का उदय हुआ। इन्होंने भागवत पुराण पर अनेक ग्रन्थ रचे। उनमें से हरिलीला तथा मुक्ताफल अधिक प्रसिद्ध हैं। हरिलीला में भागवत पुराण का सारांश है तथा मुक्ताफल इसकी शिक्षाओं का संग्रह है।

व्यतीपातव्रत—व्यतीपात पञ्चाङ्गस्थ योगों (विष्कम्भ, प्रीति इत्यादि) में से है। धर्मशास्त्र में इसकी कई प्रकार से व्याख्या की गयी है। व्यतीपात के दिन मनुष्य को पञ्चगव्य से नदी में स्नान करना चाहिए। अष्टादश भुजा वाली व्यतीपात की आकृति बनाकर, सुवर्णकमल में स्थापित कर गन्धाक्षत-पुष्पादि से उसका पूजन करना चाहिए। उस दिन उपवास का विधान है। एक वर्षपर्यन्त यह व्रत चलना चाहिए। तेरहवें व्यतीपात के समय उद्यापन करना चाहिए। अग्नि में सौ घृत आहुतियों के अतिरिक्त दुग्ध, तिल, समिधाओं के हवन के बाद घृत की धारा डालते हुए 'व्यतीपाताय स्वाहा' शब्द का उच्चारण करना चाहिए। कहा जाता है कि व्यतीपात सूर्य तथा चन्द्र का पुत्र है।

व्यासपूजा—आषाढ की पूर्णिमा के दिन इस व्रत का अनुष्ठान होता है। विशेष रूप से संन्यासियों, यतियों, साधुओं तथा तपस्वियों के लिए इसका महत्त्व है। दे० स्मृतिकौस्तुभ, १४४-१४५; पुरुषार्थचिन्तामणि, २८४। तमिलनाडु में ज्येष्ठ शुक्ल १५ (मिथुनार्क) को इसका आयोजन किया जाता है।

व्योमव्रत—इसके लिए श्वेत चन्दन का अँगूठे और अँगुली के जोड़ जैसा कुण्डलाकार आकाश बनाकर सूर्य के सम्मुख रखना चाहिए। करवीर के पुष्पों से सूर्य का पूजन करना चाहिए तथा आकाश की आकृति के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर में क्रमशः केसर, अगर, श्वेत चन्दन तथा 'चतुःसम' और केन्द्र में रक्त चन्दन लगाना चाहिए। इसका मन्त्र है 'खखोल्काय नमः।' सूर्य इसके देवता हैं।

व्रज—गौओं का बाड़ा अथवा पशुचारण का स्थान (चरागाह)। रूढ प्रसंग में इसका अर्थ है वह स्थान जहाँ कृष्ण ने गौएँ चरायीं, अर्थात् मथुरा और वृन्दावन के आस-पास का भमण्डल। यह पश्चिमी उत्तर प्रदेश का यमुनातटवर्ती क्षेत्र है, जहाँ विष्णु के अवतार श्री कृष्ण ने बाललीलायें की थीं। व्रजमण्डल बड़ा पवित्र माना जाता है। भक्तिकाल के प्रमुख आचार्य स्वामी हरिदास, हित हरिवंश और अष्टछाप के आठों कवि यहीं हुए। यहाँ बोली जाने वाली भाषा को 'व्रजभाषा' कहते हैं। इसमें अनेक कृष्णप्रेमी कवियों ने मधुर रचनाएँ की हैं। यह हिन्दी साहित्य का एक अति उदात्त, सरस और महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

व्रजवासीदास—राधा-कृष्ण एवं ग्वाल-बालों के बालजीवन तथा प्रेम को आधार बनाकर इन्होंने व्रजविलास नामक ग्रन्थ की रचना १८०० वि० के लगभग की।

व्रजविलास—संत व्रजवासीदास कृत व्रजभाषा का लोककाव्य। यह ग्रन्थ व्रजभूमि के माहात्म्य तथा कृष्ण के बालचरित्रों का दोहा-चौपाइयों में वर्णन करता है। भक्तों की इसके पठन की तीव्र लालसा रहती है।

व्रतषष्टि—मत्स्यपुराण (१०१) और पद्मपुराण (५.२०.४३) में महत्त्वपूर्ण ६० व्रतों का उल्लेख मिलता है, जिन सबका उल्लेख कृत्यकल्पतरु में हुआ है।

श

श—ऊष्मवर्णों का प्रथम अक्षर। कामधेनुतन्त्र में इसके स्वरूप का वर्णन निम्नांकित है :

शकारं परमेशानि श्रृणु वर्णं शुचिस्मिते।
रक्तवर्णप्रभाकारं स्वयं परमकुण्डली॥
चतुर्वर्गप्रदं देवि शकारं ब्रह्मविग्रहम्।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणात्मकं प्रिये॥
रजःसत्त्वतमो युक्तं त्रिबिन्दुसहितं सदा।
त्रिशक्तिसहितं वर्णमात्मादितत्त्वसंयुतम्॥

योगिनीतन्त्र (तृतीय भाग, सप्तम पटल) में इसके निम्नलिखित वाचक बतलाये गये हैं :

शः सव्यश्च कामरूपी कामरूपो महामतिः।
सौख्यनामा कुमारोऽस्थि श्रीकण्ठो वृषकेतनः॥
विषघ्नं शयनं शान्ता सुभगा विस्फुलिङ्गिनी।
मृत्युर्देवो महालक्ष्मीर्महेन्द्रः कुलकौलिनी॥
बाहुर्हंसो वियद् वक्रं हृदनङ्गांकुशः खलः।
वामोरुः पुण्डरीकात्मा कान्तिः कल्याणवाचकः॥

शकुन्तला—शतपथ ब्राह्मण (१३.५.४.१३) के अनुसार एक अप्सरा का नाम, जिसने भरत को नाडपित नामक स्थान पर जन्म दिया था। ब्राह्मणों, महाभारत, पुराणों और परवर्ती साहित्य में शकुन्तला मेनका नामक अप्सरा से उत्पन्न विश्वामित्र की पुत्री कही गयी है। मेनका स्वर्ग लौटने के पूर्व पुत्री को पृथ्वी पर छोड़ गयी, जिसका पालन शकुन्त पक्षियों ने किया। इसके पश्चात् वह कण्व ऋषि की धर्मपुत्री हुई और उनके आश्रम में ही पालित और शिक्षित हुई। उसका गान्धर्वविवाह पौरववंशी राजा दुष्यन्त से हुआ, जिससे भरत की उत्पत्ति हुई। भरत चक्रवर्ती राजा था, जिसके नाम पर एक परम्परा के अनुसार इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

शक्ति—शक्ति की कल्पना तथा आराधना भारतीय धर्म की अत्यन्त पुरानी और स्थायी परम्परा है। अनेक रूपों में शक्ति की कल्पना हुई है, प्रधानतः मातृरूप में। इसका विशेष पल्लवन पुराणों और तन्त्रों में हुआ। हरिवंश और मार्कण्डेय पुराण के देवीमाहात्म्य में देवी अथवा शक्ति का विशेष वर्णन और विवेचन किया गया है। देवी को उपनिषदों का ब्रह्म तथा एकमात्र सत्ता बतलाया गया है। दूसरे देव इसी की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। दैवी शक्ति का यह सिद्धान्त यहाँ सर्वप्रथम व्यक्त हुआ है। इस प्रकार वह (शक्ति) विशेष पूजा तथा आराधना के योग्य है। मनुष्य जब कुछ अपनी मनोरथ पूर्ति कराना चाहेगा तो उसी से अनुनय-विनय करेगा, शिव से नहीं।

शाक्त साहित्य में शक्तिरहित शिव को शवतुल्य बताया गया है। शक्ति ही शिव या ब्रह्म की विशुद्ध कार्यक्षमता है। अर्थात् वही सृष्टि एवं प्रलयकर्त्री है तथा सब दैवी कृपा तथा मोक्ष प्रदान उसी के कार्य हैं। इस प्रकार शक्ति शिव से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। शक्ति से ही विशेषण 'शाक्त' बनता है जो शक्ति-उपासक सम्प्रदाय का नाम है। शक्ति ब्रह्मतुल्य है। शक्ति और ब्रह्म का एक मात्र अन्तर यह है कि शक्ति क्रियाशील भाग है तथा ब्रह्म को सभी उत्पन्न वस्तुओं तथा जीवों के रूप में वह व्यक्त वा द्योतित करती है। जबकि ब्रह्म अव्यक्त एवं निष्क्रिय है। धार्मिक दृष्टि से वह ब्रह्म से श्रेष्ठ है। शक्ति मूल प्रकृति है तथा सारा विश्व उसी (शक्ति) का प्रकट रूप है। दे० 'योग', 'क्रिया', 'भूति'।

शक्ति उपासना—पुराणों के परिशीलन से पता चलता है कि प्रत्येक सम्प्रदाय के उपास्य देव की एक शक्ति है। गीता में भगवान् कृष्ण अपनी द्विधा प्रकृति, माया की बारम्बार चर्चा करते हैं। पुराणों में तो नारायण और विष्णु के साथ लक्ष्मी के, शिव के साथ शिवा के, सूर्य के साथ सावित्री के, गणेश के साथ अम्बिका के चरित और माहात्म्य वर्णित हैं। इनके पीछे जब सम्प्रदायों का अलग-अलग विकास होता है तो प्रत्येक सम्प्रदाय अपने उपास्य की शक्ति की उपासना करता है। इस तरह शक्ति उपासना की एक समय ऐसी प्रबल धारा बही कि सभी सम्प्रदायों के अनुयायी मुख्य रूप से नहीं तो गौण रूप से शाक्त बन गये। अपने उपास्य के नाम से पहले शक्ति के स्मरण करने की प्रथा चल पड़ी। सीताराम, राधाकृष्ण,

लक्ष्मीनारायण, उमामहेश्वर, गौरीगणेश इत्यादि नाम इसी प्रभाव के सूचक हैं। सचमुच सारी आर्य जनता किसी समय शाक्त थी और इसके दो दल थे; एक दल में शैव, वैष्णव, सौर, गाणपत्य आदि वैदिक सम्प्रदायों के दक्षिणाचारी थे और दूसरी ओर बौद्ध, जैन और अवैदिक तान्त्रिक सम्प्रदायों के शाक्त वामाचारी थे। इतना व्यापक प्रचार होने के कारण ही शायद शाक्तों का कोई मठ या गद्दी नहीं बनी। इनके पाँच महापीठ या ५१ पीठ ही इनके मठ समझे जाने चाहिए। दे० 'वैदिक शाक्तमत'।

शक्तितन्त्र—आगमतत्त्वविलास में उद्धृत तन्त्रों की सूची में शक्तितन्त्र भी उल्लिखित है।

शक्तिविशिष्टाद्वैत—श्रीकण्ठ शिवाचार्य ने वायवीय संहिता के आधार पर सिद्ध किया है कि भगवान् महेश्वर अपने को उमा शक्ति से विशिष्ट किये रहते हैं। इस शक्ति में जीव और जगत्, चित् और अचित्, दोनों का बीज उपस्थित रहता है। उसी शक्ति से महेश्वर चराचर सृष्टि करते हैं। इस सिद्धान्त को शक्तिविशिष्टाद्वैत कहते हैं। वीर शैव अथवा लिङ्गायत इस शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को अपनाते हैं। शाक्तों के अनुसार शक्ति परिणामी है, विवर्त नहीं है। शाक्तों का वेदान्तमत शक्तिविशिष्टाद्वैत है।

शक्तिसंगमतन्त्र—नेपाल प्रदेश में एक लाख श्लोकों वाला शक्तिसङ्गमतन्त्र प्रचलित है। इस महातन्त्र में शाक्त सम्प्रदाय का वर्णन विस्तार से मिलता है। इसके उत्तर भाग, पहले खण्ड, आठवें पटल के तीसरे से लेकर पचीसवें श्लोकों का सार यहाँ दिया जाता है :

"सृष्टि की सुविधा के लिए यह प्रपञ्च रचा गया है। शाक्त, सौर, शैव, गाणपत्य, वैष्णव, बौद्ध आदि यद्यपि भिन्न नाम हैं, भिन्न सम्प्रदाय हैं, परन्तु वास्तव में ये एक ही वस्तु हैं। विधि के भेद से भिन्न दीखते हैं। इनमें परस्पर निन्दा, द्वेष इस प्रपञ्च के लिए ही हैं। निन्दक की सिद्धि नहीं होती। जो ऐक्य मानते हैं उन्हीं को उनके सम्प्रदाय से सिद्धि मिलती है। काली और तारा की उपासना इसी ऐक्य की सिद्धि के लिए की जाती है। यह महाशक्ति भले, बुरे; सुन्दर और क्रूर दोनों को धारण करती है। यही मत प्रकट करने के लिए शास्त्र का कीर्तन किया गया है। इस एकत्व प्रतिपादन के लिए ही चारों वेद प्रकट किये गये हैं। जगत्तारिणी देवी चतुर्वेदमयी और कालिका देवी अथर्ववेदाधिष्ठात्री है, काली और तारा के विना अथर्ववेदविहित कोई क्रिया नहीं हो सकती। केरल देश में कालिका देवी, कश्मीर में त्रिपुरा और गौड देश में तारा ही पश्चात् काली रूप में उपास्य होती हैं।"

इस कथन से पता चलता है कि इनसे पहले के साम्प्रदायिकों में, जिनमें शाक्त भी शामिल हैं; और ये अवश्य ही वैदिक शाक्त हैं—यह तान्त्रिक शाक्तधर्म अथवा वामाचार बाद में प्रचलित हुआ।

शङ्करजय—माधवाचार्य विरचित इस ग्रन्थ में आचार्य शङ्कर की जीवन सम्बन्धी घटनाओं का सङ्कलन संक्षिप्त रूप में हुआ है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी कोई प्रामाणिकता नहीं है। यह उत्तम काव्य ग्रन्थ है।

शङ्करदिग्विजय—स्वामी आनन्द गिरि कृत शङ्करदिग्विजय शङ्कराचार्य की जीवन घटनाओं का काव्यात्मक संकलन है। यह ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक नहीं है। 'शङ्करदिग्विजय' और भी कई विद्वानों ने लिखे हैं। इनमें माधवाचार्य एवं सदानन्द योगीन्द्र के नाम मुख्य हैं।

शङ्कर मिश्र—शङ्कर मिश्र का नाम भी उन चार पण्डितों में है, जिन्होंने न्याय-वैशेषिक दर्शनों को एक में युक्त करने के लिए तदनुरूप ग्रन्थों का प्रणयन किया। शङ्कर मिश्र ने इस कार्य को वैशेषिकसूत्रोपस्कार की रचना द्वारा पूरा किया। यह ग्रन्थ १५वीं शती में रचा गया था।

शङ्कराचार्य—वेदान्त दर्शन के अद्वैतवाद का प्रचार भारत में यों तो बहुत प्राचीन काल से था, परन्तु आगे इसका अधिक ठोस प्रचार शङ्कराचार्य के द्वारा ही हुआ। इस मत के समर्थक प्रधान ग्रन्थ इन्हीं के रचे हुए हैं। इसी से शङ्कराचार्य अद्वैतमत के प्रवर्तक कहे जाते हैं और अद्वैतमत को शाङ्कर मत अथवा शाङ्कर दर्शन भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र पर आज जितने भाष्य उपलब्ध हैं उनमें सबसे प्राचीन शाङ्करभाष्य ही है और उसी का सबसे अधिक आदर भी है। शङ्कर के जो ग्रन्थ मिलते हैं तथा यत्र-तत्र उनकी जीवन सम्बन्धी जो घटनाएँ ज्ञात होती हैं, उनसे स्पष्ट है कि वे अलौकिक प्रतिभा के व्यक्ति थे। उनमें प्रकाण्ड पाण्डित्य, गम्भीर विचार शैली, प्रचण्ड कर्मशीलता, अगाध भगवद्भक्ति, सर्वोत्तम त्याग, अद्भुत योगैश्वर्य आदि अनेक गुणों का दुर्लभ समुच्चय था।

उनकी वाणी में मानो साक्षात् सरस्वती ही विराजती थी । यही कारण है कि ३२ वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ रच डाले और सारे भारत में भ्रमण कर विरोधियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया । भारत के चारों कोनों में चार प्रधान मठ स्थापित किये और सारे देश में युगान्तर उपस्थित कर दिया । थोड़े में यह कहा जा सकता है कि शङ्कराचार्य ने डूबते हुए सनातन धर्म की रक्षा की । उनके धर्म संस्थापन के कार्य को देखकर लोगों का यह विश्वास हो गया कि वे साक्षात् भगवान् शङ्कर के ही अवतार थे—'शङ्करः शङ्करः साक्षात्' और इसी से प्रायः 'भगवान्' शब्द के साथ उनका स्मरण किया जाता है ।

शङ्कराचार्य के आविर्भाव एवं तिरोभाव-काल के सम्बन्ध में अनेक मत हैं । किन्तु अधिकांश लोग इनकी स्थिति ७८८ तथा ८२० ई० के मध्य मानते हैं । इनका जन्म केरल प्रदेश के पूर्णा नदी तटवर्ती कालटी नामक गाँव में वैशाख शुक्ल पञ्चमी को हुआ था । पिता का नाम शिवगुरु तथा माता का नाम सुभद्रा अथवा विशिष्टा था ।

कोई महान् विभूति अवतरित हुई है इसका प्रमाण उनके बचपन से ही मिलने लगा था । इसी बीच उनके पिता का वियोग हो गया । एक वर्ष की अवस्था होते-होते बालक मातृभाषा में अपने भाव प्रकट करने लगा तथा दो वर्ष की अवस्था में पुराणादि की कथा सुनकर कण्ठस्थ करने लगा । पाँचवें वर्ष यज्ञोपवीत कर उन्हें गुरु-गृह भेजा गया तथा सात वर्ष की अवस्था में ही वे वेद और वेदाङ्गों का पूर्ण अध्ययन करके घर आ गये । उनकी असाधारण प्रतिभा देखकर उनके गुरुजन चकित रह गये । विद्याध्ययन समाप्त कर शङ्कर ने संन्यास लेने की इच्छा प्रकट की परन्तु माता ने आज्ञा न दी । शङ्कर माता के बड़े भक्त थे एवं उन्हें कष्ट देकर संन्यास नहीं लेना चाहते थे । एक दिन माता के साथ नदी स्नान करते समय एक मगर ने इन्हें पकड़ लिया । माता बेचैन होकर हाहाकार करने लगीं । इस पर शङ्कर ने कहा कि यदि आप संन्यास लेने की आज्ञा दे दें तो यह मगर मुझे छोड़ देगा । माता ने तुरत आज्ञा दे दी और मगर ने शङ्कर को छोड़ दिया । संन्यास मार्ग में जाते समय शङ्कर माता की इच्छा के अनुसार यह वचन देते गये कि तुम्हारी मृत्यु के समय मैं घर पर अवश्यमेव उपस्थित रहूँगा ।

केरल से चलकर शङ्कर नर्मदातट पर आये और वहाँ स्वामी गोविन्द भगवत्पाद से संन्यासदीक्षा ली । गुरूपदिष्ट मार्ग से साधना आरम्भ कर अल्प काल में ही वे बहुत बड़े योगसिद्ध महात्मा हो गये । गुरु की आज्ञा से काशी आये । यहाँ उनकी ख्याति बढ़ने लगी और लोग शिष्यत्व ग्रहण करने लगे । उनके प्रथम शिष्य सनन्दन थे जो पीछे पद्मपादाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए । शिष्यों को पढ़ाने के साथ वे ग्रन्थ भी लिखते जाते थे । कहते हैं कि एक दिन भगवान् विश्वनाथ ने चाण्डाल के रूप में शङ्कर को दर्शन दिया । वे चाण्डाल को आगे से हटने का आग्रह करने लगे । भगवान् ने उनको एकात्मवाद का मर्म समझाया और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने का आदेश दिया । जब भाष्य लिखना पूरा हो गया तो एक दिन एक ब्राह्मण ने गङ्गातट पर उनसे एक सूत्र का अर्थ पूछा । इस सूत्र पर ब्राह्मण के साथ उनका आठ दिनों तक शास्त्रार्थ हुआ । पीछे उन्हें ज्ञात हुआ कि ये स्वयं भगवान् वेदव्यास हैं । फिर वेदव्यास ने उन्हें अद्वैतवाद का प्रचार करने की आज्ञा दी और उनकी १६ वर्ष की आयु को ३२ वर्ष तक बढ़ा दिया । शङ्कराचार्य दिग्विजय को निकल पड़े ।

यहाँ से कुरुक्षेत्र होते हुए वे कश्मीर की राजधानी श्रीनगर पहुँचे और शारदा देवी के सिद्ध पीठ में अपने भाष्य को प्रमाणित कराया । उधर से लौटकर बदरिकाश्रम गये और वहाँ अपने अन्य ग्रन्थों की पूर्ति में लग गये । बारह वर्ष से पन्द्रह वर्ष तक की अवस्था में उन्होंने सारे ग्रन्थ लिखे । वहाँ से प्रयाग आये जहाँ कुमारिल भट्ट से भेंट हुई । कुमारिल के अनुसार वे वहाँ से माहिष्मती नगरी में मण्डन मिश्र के पास शास्त्रार्थ के लिए गये । मण्डन मिश्र के हारने पर उनकी पत्नी भारती ने भी उनसे शास्त्रार्थ किया । सपत्नीक मण्डन पर विजय प्राप्त करके शङ्कर महाराष्ट्र गये तथा वहाँ शैवों और कापालिकों को परास्त किया । वहाँ से चलकर दक्षिण में तुङ्गभद्रा के तट पर उन्होंने एक मन्दिर बनवाकर उसमें कश्मीर वाली शारदा देवी की स्थापना की । उसके लिए वहाँ जो मठ स्थापित हुआ उसे शृङ्गगिरि (शृंगेरी) मठ कहते हैं । इस मठ के अध्यक्ष सुरेश्वर (मण्डन) बनाये गये । वहाँ से माता की मृत्यु का समय आया जानकर घर पहुँचे और माँ की

अन्त्येष्टि क्रिया की । शृंगेरी मठ से जगन्नाथ पुरी जाकर गोवर्धन मठ की स्थापना की तथा पद्मपादाचार्य को वहाँ का मठाधीश बनाया ।

पुनः शङ्कराचार्य ने चोल और पाण्डय राजाओं की सहायता से दक्षिण के शाक्त, गाणपत्य और कापालिक सम्प्रदायों के अनाचार को नष्ट किया। फिर वे उत्तर भारत की ओर मुड़े। गुजरात आकर द्वारका पुरी में शारदमठ की स्थापना की । फिर प्रचार कार्य करते हुए असम के कामरूप में गये और तान्त्रिकों से शास्त्रार्थ किया । यहाँ से वदरिकाश्रम जाकर वहाँ ज्योतिर्मठ की स्थापना की और त्रोटकाचार्य को मठाधीश बनाया । वहाँ से अन्त में केदार क्षेत्र आये, जहाँ पर कुछ दिनों बाद भारत का यह प्रोज्ज्वल सूर्य ब्रह्मलीन हो गया ।

उनके विरचित प्रधान ग्रन्थ ये हैं : ब्रह्मसूत्र (शारीरक) भाष्य, उपनिषद् भाष्य (ईश, केन, कठ, प्रश्न, माण्डूक्य, मुण्डक, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, नृसिह-पूर्वतापनोय, श्वेताश्वतर इत्यादि), गीताभाष्य, विवेकचूडामणि, प्रबोधसुधाकर, उपदेशसाहस्री, अपरोक्षानुभूति, पञ्चीकरण, प्रपञ्चसारतन्त्र, मनीषापञ्चक, आनन्दलहरी-स्तोत्र आदि ।

शाङ्करमत—शङ्कर के समय में भारतवर्ष वौद्ध, जैन एवं कापालिकों के प्रभाव से पूर्णतया प्रभावित हो गया था । वैदिक धर्म लुप्तप्राय हो रहा था । इस कठिन अवसर पर शङ्कर ने वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया । उन्होंने जिस सिद्धान्त की स्थापना की उस पर संसार के बड़े से बड़े विद्वान् और विचारक मन्त्रमुग्ध हैं । यह मत था अद्वैत सिद्धान्त ।

आत्मा एवं अनात्मा—ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखते समय सवर्वप्रथम शङ्कर ने आत्मा तथा अनात्मा का विवेचन करते हुए सम्पूर्ण प्रपञ्च को दो भागों में बाँटा है—द्रष्टा और दृश्य। एक वह तत्त्व, जो सम्पूर्ण प्रतीतियों का अनुभव करने वाला है, तथा दूसरा वह, जो अनुभव का विषय है। इनमें समस्त प्रतीतियों के चरम साक्षी का नाम आत्मा है तथा जो कुछ उसका विषय है वह अनात्मा है । आत्मतत्त्व नित्य, निश्चल, निर्विकार, असङ्ग, कूटस्थ, एक और निर्विशेष है । बुद्धि से लेकर स्थूल भूतपर्यन्त सभी प्रपञ्च अनात्मा है, उसका आत्मा से सम्बन्ध नहीं है ।

ज्ञान और अज्ञान—सम्पूर्ण विभिन्न प्रतीतियों के स्थान में एक अखण्ड सच्चिदानन्द घन का अनुभव करना ही ज्ञान है तथा उस सर्वाधिष्ठान पर दृष्टि न देकर भेद में सत्यत्व बुद्धि करना अज्ञान है ।

साधन—शङ्कर ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन को ज्ञान का साक्षात् साधन स्वीकार किया है । किन्तु इनकी सफलता ब्रह्मतत्त्व की जिज्ञासा होने पर ही है तथा जिज्ञासा की उत्पत्ति में प्रधान सहायक दैवी सम्पत्ति है । आचार्य का मत है कि जो मनुष्य विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षा, इन चार साधनों से सम्पन्न है, उसी को चित्तशुद्धि होने पर जिज्ञासा हो सकती है । इस प्रकार की चित्तशुद्धि के लिए निष्काम कर्मानुष्ठान बहुत उपयोगी है ।

भक्ति—शङ्कर ने भक्ति को ज्ञानोत्पत्ति का प्रधान साधन माना है । विवेकचूडामणि में वे कहते हैं—'स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ।' अर्थात् अपने शुद्ध स्वरूप का स्मरण करना ही भक्ति कहलाता है । उन्होंने सगुणोपासना की उपेक्षा नहीं की है ।

कर्म और संन्यास—शङ्कराचार्य ने अपने भाष्यों में स्थान-स्थान पर कर्मों के स्वरूप से त्याग करने पर जोर दिया है । वे जिज्ञासु एवं बोधवान् दोनों के लिए सर्व कर्मसंन्यास की आवश्यकता बतलाते हैं । उनके मत में निष्काम कर्म केवल चित्त शुद्धि का हेतु है ।

स्मार्तमत—वर्णाश्रम परंपरा की फिर से स्थापना का श्रेय शङ्कर को ही है । उन्हीं के प्रयास से जप, तप, व्रत, उपवास, यज्ञ, दान, संस्कार, उत्सव, प्रायश्चित्त आदि फिर से जीवित हुए । उन्होंने ही पञ्चदेव उपासना की रीति चलायी, जिसमें विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और देवी, परमात्मा के इन पाँचों रूपों में से एक को प्रधान मानकर और शेष को उसका अङ्गीभूत समझकर उपासना की जाती है । पञ्चदेव उपासना वाला मत इसी लिए स्मार्त कहलाता है कि स्मृतियों के अनुसार यह सबके लिए निर्धारित है । आज भी साधारण सनातनधर्मी इसी स्मार्तमत के मानने वाले समझे जाते हैं ।

शिष्यपरम्परा—शकरानुगत संन्यासियों का भी एक विशेष सम्प्रदाय चला जो दसनामी कहलाते हैं। शङ्कराचार्य के चार प्रधान शिष्य थे : पद्मपाद, हस्तामलक, सुरेश्वर और त्रोटक। इनमें से पद्मपाद के शिष्य थे तीर्थ और आश्रम। हस्तामलक के शिष्य वन और अरण्य थे। सुरेश्वर के गिरि, पर्वत और सागर तीन शिष्य थे। त्रोटक के भी तीन शिष्य पुरी, भारती और सरस्वती थे। इन्हीं दस शिष्यों के नाम से संन्यासियों के दस भेद चले। शङ्कराचार्य ने भारत की चारों दिशाओं में चार मठ स्थापित किये जिनमें इन दस प्रशिष्यों की परम्परा चली आती है। पुरी, भारती और सरस्वती की परम्परा श्रृंगेरी मठ के अन्तर्गत है। तीर्थ और आश्रम शारदामठ (द्वारका) के अन्तर्गत हैं। वन और अरण्य गोवर्धनमठ (पुरी) के अन्तर्गत हैं। गिरि, पर्वत और सागर ज्योतिर्मठ (जोशीमठ) के अन्तर्गत हैं। प्रत्येक दसनामी संन्यासी इन्हीं चार मठों में किसी न किसी से संबन्धित होता है। शङ्कर स्वामी के शिष्य संन्यासियों ने बौद्ध भिक्षुओं की तरह घूम-घूमकर सनातन धर्म के इस महाजागरण में बड़ी सहायता पहुँचायी।

उनके चारों मठों में गद्दी पर बैठने वाले शिष्य शङ्कराचार्य ही कहलाते आये हैं। ये सब प्रायः अपने समय के अप्रतिम विद्वान् ही होते हैं। इनकी असंख्य रचनाएँ हैं, स्तोत्र हैं, जो सभी "श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितम्" कहे जाते हैं, किन्तु वे सभी आदि शङ्कर की कृतियाँ नहीं हो सकतीं। फिर भी सभी रचनाएँ स्मार्तों में आद्य आचार्य के नाम से प्रचलित हैं।

शङ्कराचार्यजयन्ती—दक्षिण भारत में चैत्र शुक्ल पञ्चमी को किन्तु उत्तर भारत में वैशाख शुक्ल दशमी को शङ्कराचार्य की जयन्ती मनायी जाती है। इस तिथि को औपचारिक रूप से आचार्य शङ्कर के प्रति आदर और श्रद्धा अर्पित की जाती है।

शङ्करानन्द—उपनिषदों के मुख्य भाष्यकार। ये प्रसिद्ध वेदान्ती स्वामी विद्यारण्य (माधवाचार्य) के गुरु थे। ये चौदहवीं शती के प्रथम अर्धांश में हुए थे।

शङ्करार्कव्रत—रविवार वाली अष्टमी के दिन इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। सूर्य शंकर के दक्षिण नेत्र माने गये हैं, उनकी पूजा करनी चाहिए। केसर तथा रक्त चन्दन से अर्धचन्द्राकार आकृति बनाकर उसमें गोल वृत्त बनाना चाहिए। वृत्त में सुवर्णजटित माणिक्य की स्थापना की जाय। यह शिवनेत्र (सूर्य) होगा। अर्क (सूर्य) शङ्कर के नेत्र हैं। वे ही इसके देवता हैं।

शङ्ख—(१) अथर्ववेद (४.१०.१) में शङ्ख कवच के रूप में व्यवहृत होने वाले पदार्थ का द्योतक है। परवर्ती साहित्य में यह फूँककर बजाया जानेवाला सागरोत्पन्न वाद्य है।

(२) शङ्ख एक स्मृतिकार धर्मशास्त्री भी हुए हैं। दे० 'शङ्खस्मृति'।

शठरिपु—दक्षिण भारत के आलवार सन्त अपनी प्रेमा भक्ति के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्हीं में शठरिपु की गणना होती है। कलि के आरम्भ में पाण्ड्य देश की करुकापुरी में इनका जन्म हुआ, जिन्हें शठकोप भी कहते हैं। इनके शिष्य 'मधुर' कवि का जन्म शठरिपु के जन्मस्थान के पास ही हुआ था। विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के आचार्यों को परम्परा में शठकोप स्वामी आदरपूर्वक गिने जाते हैं।

शतदूषणी—आचार्य वेंकटनाथ या वेदान्तदेशिक कृत श्रीवैष्णवसम्प्रदाय का तर्कपूर्ण वेदान्त ग्रन्थ। रामानुजाचार्य ने भी इसके पूर्व शतदूषणी नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इन ग्रन्थों में अद्वैतवाद की आलोचना की गयी है।

शतपति—इन्द्र का एक विरुद, जिसका उल्लेख मैत्रायणी संहिता तथा तैत्ति० ब्रा० में हुआ है। इसका अर्थ है 'मनुष्यों में एक सौ का राजा।' तैत्तिरीय ब्राह्मण इसकी व्याख्या 'सौ देवों के राजा' के रूप में करता है। यह 'सौ गाँवों का राजा' अर्थ का भी द्योतक है, जिसका पता परवर्ती धर्मग्रन्थों से चलता है। यह ऐसे मानव कर्मचारी के अर्थ में प्रयुक्त है, जो राजा की ओर से न्यायाधिकारी या भूमिकरसंग्राहक के रूप में नियुक्त होता था।

शतपथ ब्राह्मण—शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनी तथा काण्व शाखाओं का ब्राह्मण शतपथ है। यह विस्तृत और सुव्यवस्थित ग्रन्थ है। शत (एक सौ) अध्याय होने के कारण इसका नाम शतपथ पड़ा। इसमें माध्यन्दिनी शाखा के चौदह काण्ड हैं तथा काण्व शाखा के सत्रह काण्ड हैं। प्रथम पाँच तथा अन्तिम काण्ड के रचयिता शांडिल्य ऋषि कहे जाते हैं। इसमें बारह सहस्र ऋचाएँ, आठ सहस्र यजुष् तथा चार सहस्र साम प्रयुक्त हैं। इसके तीन प्रामाणिक भाष्य उपलब्ध हैं, जिनके रचयिताओं के नाम हैं हरिस्वामी, सायण और कवीन्द्र सरस्वती। शङ्कराचार्य ने जिस

बृहदारण्यक उपनिषद् का भाष्य लिखा वह काण्व शाखा के अन्तर्गत है ।

इसमें प्रथम से नवम काण्ड तक वाजसनेयी संहिता के प्रथम अठारह अध्यायों के यजुष् की व्याख्या और विनियोग हैं । दशम काण्ड में अग्निरहस्य का विवेचन किया गया है । एकादश काण्ड में आठ अध्याय हैं । इनमें पूर्व वर्णित क्रियाओं के ऊपर आख्यान हैं । द्वादश काण्ड में सौत्रामणी तथा प्रायश्चित्त कर्म वर्णित हैं । तेरहवें काण्ड में अश्वमेध, सर्वमेध, पुरुषमेध और पितृमेध का वर्णन है । चतुर्दश काण्ड आरण्यक है । इसके प्रथम तीन अध्यायों में प्रवर्ग क्रियाओं का उल्लेख है । इसके अतिरिक्त संहिता के इकतीस से लेकर उन्तालीस अध्याय तक की सभी कथाओं के उद्धरण है । इसमें प्रतिपादित किया गया है कि विष्णु सभी देवताओं में श्रेष्ठ हैं । शेष अध्याय बृहदारण्यक उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

ऐतिहासिक दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण का बहुत बड़ा महत्त्व है । इसके एक मन्त्र में इतिहास को कला माना गया है । महाभारत की अनेक कथाओं के स्रोत इसके आख्यानों में पाये जाते हैं, यथा रामकथा, कद्रू-सुपर्णी की कथा, पुरूरवा-उर्वशीप्रेमाख्यान, अश्विनीकुमारों द्वारा च्यवन को यौवनदान आदि । इस प्रकार संस्कृत साहित्य के काव्य, नाटक, चम्पू प्रभृति अनेक विधाओं के सूत्र इस ब्राह्मण में वर्तमान हैं । वास्तव में यह विशाल विश्वकोशात्मक ग्रन्थ है ।

शतभिषास्नान—शतभिषा नक्षत्र के समय यजमान तथा पुरोहित दोनों उपवास करें । यजमान भद्रासन से बैठे और सहस्र कलशों के जल से मोतियों के साथ शंख द्वारा जल भर-भरकर उसको स्नान कराया जाय । तदुपरान्त नवीन वस्त्र धारण कर वह केशव, वरुण, चन्द्र, शतभिषा नक्षत्र की (जिसका स्वामी वरुण देवता है) गन्धाक्षत, पुष्पादि से पूजा करे । व्रत के अन्त में यजमान अपने आचार्य को तरल पदार्थ, गौ तथा कलश का दान करे और अन्यान्य ब्राह्मणों को दक्षिणा प्रदान करे । यजमान स्वयं एक रत्न धारण करे जो शमी वृक्ष, सेमल की पत्तियों तथा बाँस के अग्रभाग से आवृत हो । । इससे समस्त रोग दूर होते हैं । यह नक्षत्रव्रत है । इसके विष्णु तथा वरुण देवता हैं ।

शतयातु—सौ मायाशक्ति वाला । ऋग्वेद (७.१८.२१) में यह एक ऋषि का नाम है । इनका उल्लेख पराशर के पश्चात् तथा वसिष्ठ के पूर्व हुआ है । कुछ विद्वान् इन्हें वसिष्ठ का पुत्र कहते हैं ।

शतरुद्रसंहिता—शिवपुराण के सात खण्डों में तीसरा खण्ड शतरुद्रसंहिता के नाम से ज्ञात है ।

शतरुद्रिय—यजुर्वेद का रुद्र सम्प्रदाय संबन्धी एक प्रसिद्ध सूक्त । वैदिक काल में रुद्र (शिव) के क्रमशः अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने का यह द्योतक है । इसको रुद्राध्याय भी कहते हैं ।

शतश्लोकी—शङ्कराचार्य विरचित ग्रन्थों में से एक ग्रन्थ शतश्लोकी है । इसमें वेदान्तीय ज्ञान के एक सौ श्लोक संगृहीत हैं ।

शत्रुञ्जय (सिद्धाचल)—गुजरात प्रदेश का प्रसिद्ध जैन तीर्थ । कहा जाता है कि यहाँ आठ करोड़ मुनि मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं । यह सिद्धक्षेत्र है । जैनों में पाँच पर्वत पवित्र माने जाते हैं : (१) शत्रुञ्जय (सिद्धाचल) (२) अर्बुदाचल (आबू) (३) गिरनार (सौराष्ट्र) (४) कैलास और (५) सम्मेत शिखर (पारसनाथ, बिहार में) ।

शनिप्रदोषव्रत—शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी जिस किसी शनिवार के दिन पड़े उसी दिन इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए । यह सन्तानार्थ किया जाता है । इसमें शिवाराधन तथा सूर्यास्तोपरान्त भोजन विहित है ।

शनिवारव्रत—श्रावण मास में प्रति शनिवार को शनि की लौहप्रतिमा को पञ्चामृत से स्नान कराकर पुष्पों तथा फलों का समर्पण करना चाहिए । इस दिन शनि के नामों का उच्चारण विभिन्न शब्दों में किया जाय, यथा—कोणस्थ, पिंगल, बभ्रु, कृष्ण, रौद्र, अन्तक, यम, सौरि (सूर्यपुत्र), शनैश्चर तथा मन्द (शनि मन्दगामी है) । चारों शनिवारों को क्रमशः चावल तथा उरद की दाल, खीर, अम्बिली (मट्ठे में पकाया हुआ चावल का झोल) तथा पूड़ी समर्पित करनी चाहिए और व्रती को स्वयं खाना चाहिए । उक्त शनैश्चरस्तोत्र स्कन्दपुराण से ग्रहण किया गया है ।

शनिव्रत—(१) शनिवार के दिन तैलाभ्यंग के साथ स्नान करके किसी ब्राह्मण (या भड्डरी को) तैल दान करना चाहिए । इस दिन गहरे श्याम पुष्पों से शनि का पूजन करना चाहिए । एक वर्षपर्यन्त इस व्रत का आचरण

होता है । किसी लोहपात्र अथवा मृत्तिका के कलश में, जो तेल से भरा हो तथा काले वस्त्र से आवृत हो, शनैश्चर महाराज की लौहप्रतिमा का पूजन करना चाहिए। ब्राह्मण व्रती के लिए मन्त्र है—"शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतयें, शं यो रभिस्रवन्तु नः।" किन्तु दूसरे वर्ण वाले लोगों के लिए पौराणिक मन्त्रों का विधान है । शनि की (जो 'कोण' के नाम से भी विख्यात है, जो कदाचित् ग्रीक भाषा का शब्द है) प्रार्थना तथा स्तुति की जानी चाहिए । इसके आचरण से शनि ग्रह के समस्त दुष्प्रभाव दूर हो जाते हैं ।

(२) प्रत्येक शनिवार को शनि ग्रह के प्रीत्यर्थ किया जाने वाला व्रत 'शनिव्रत' कहलाता है ।

शपथ—वेदसंहिताओं में यह शाप का बोधक है । ऋग्वेद के एक परिच्छेद में यह सौगन्ध का द्योतक है (७.१०४. १५) । परवर्ती साहित्य में शपथ का व्यवहार सौगन्ध के अर्थ में ही होता है । न्यायपद्धति में 'सत्य के प्रमाण' रूप से इसका प्रयोग होता है ।

शबरशंकरविलास—वीर शैव सम्प्रदाय से सम्बन्धित कन्नड भाषा में रचित एक ग्रन्थ, जो षडक्षरदेव (१७१४ वि०) द्वारा प्रणीत है ।

शबर स्वामी—पूर्वमीमांसासूत्र के भाष्यकार । भाष्य की प्राचीन लेख शैली इनके ई० पाँचवीं शती में होने का प्रमाण प्रस्तुत करती है । प्रभाकर एवं कुमारिल दो पूर्वमीमांसाचार्यों ने शबर के भाष्य पर व्याख्या-वार्तिक प्रस्तुत किये हैं । प्रभाकर शबर की आलोचना नहीं करते हैं, जबकि कुमारिल इनसे भिन्न मत स्थापित करते हैं ।

शब्द—सब तरह के दृश्य पदार्थ, कल्पना अथवा भावों या विचारों की प्रतिच्छाया वा प्रतिबिम्ब 'शब्द' हैं। शब्द के अभाव में ज्ञान का स्वयंप्रकाशत्व लुप्त हो जाता है । किसी न किसी रूप में सभी योग मतानुयायी शब्द की उपासना करते हैं जो अति प्राचीन विधि है । प्रणव के रूप में इसका मूल वेद में उपलब्ध है । इसका प्राचीन नाम स्फोटवाद है । प्राचीन योगियों में भर्तृहरि ने शब्दाद्वैतवाद का प्रवर्तन किया । नाथ संप्रदाय में भी शब्द पर जोर दिया गया है । आधुनिक राधास्वामी मत, योग साधन ही जिसका लक्ष्य है, शब्द की ही उपासना बतलाता है । चरनदासी पन्थ में भी शब्द का प्राधान्य है।

शब्दप्रमाण—न्याय दर्शन के अनुसार चौथा प्रमाण शब्द है । 'आप्तोपदेश' अर्थात् आप्त पुरुष का वाक्य शब्द प्रमाण है। भाष्यकार ने आप्त पुरुष का यह लक्षण बतलाया है कि जो साक्षात्कृतधर्मा हो, जैसा देखा, सुना, अनुभव किया हो, ठीक-ठीक वैसा ही कहने वाला हो वही आप्त है। शब्दसमूह वाक्य होता है, शब्द वह है जो अर्थ व्यक्त करने में समर्थ हो । शब्द में शक्ति ईश्वर के संकेत से आती है । नव्य न्याय के अनुसार शब्द में शक्ति लम्बी परम्परा से आती है । शब्द प्रमाण दो प्रकार का है—वैदिक और लौकिक । प्रथम पूर्ण और दूसरा संदिग्ध होता है । लौकिक शब्द (वाक्यों में प्रयुक्त) तभी प्रामाणिक माने जाते हैं जब उनमें आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य हों ।

शब्दाद्वैतवाद—जो दर्शन यह मानता है कि 'शब्द' ही एकमात्र अद्वैत तत्त्व है, वह शब्दाद्वैतवाद कहलाता है । योग मार्ग में इस दर्शन का विशेष विकास हुआ । प्रत्येक योगसाधक किसी न किसी रूप में शब्द की उपासना करता है । यह उपासना अत्यन्त प्राचीन है । प्रणव या ओंकार के रूप में इसका बीज वेदों में वर्तमान है । उपनिषदों में प्रणवोपासना का विशेष विकास हुआ । माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है कि मूलतः प्रणव ही एक तत्त्व है जो तीन प्रकार से विभक्त है । पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी इस दर्शन के संकेत पाये जाते हैं । उन्होंने सिद्धान्त प्रतिपादन किया है कि शब्दव्यवहार अनादि और अनन्त (सनातन) है (तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्, २.४.१६) । शब्दाद्वैत के लिए 'स्फोट' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग महाभाष्य में पाया जाता है । सबसे पहली शब्द की परिभाषा भी महाभाष्य में ही पायी जाती है : "येनोच्चारितेन सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः ।"

भर्तृहरि ने शब्दाद्वैतवाद को 'वाक्यपदीय' में दार्शनिक रूप दिया । इसके पश्चात् भर्तृमित्र ने इस विषय पर स्फोटसिद्धि नामक ग्रन्थ लिखा । इसके अनन्तर पुण्यराज और कैयट की व्याख्याओं में इस मत का प्रतिपादन हुआ । इसके प्रबल समर्थक नागेश भट्ट अठारहवीं शती में हुए ।

वैयाकरण, नैयायिक, मीमांसक, वेदान्ती सभी ने शब्द पर दार्शनिक ढंग से विचार किया है । वैयाकरणों के अनुसार शब्द से ही अर्थबोध और संसार का ज्ञान होता

है। उसके अभाव में ज्ञान का प्रकाशकत्व नष्ट हो जाता है। सब दृश्य जगत् और उसके पदार्थ कल्पना मात्र हैं, विचारों की प्रतिच्छाया अथवा प्रतिबिम्ब हैं। इस प्रकार शब्द ही सत्य है; बाह्य जगत् अवास्तविक है। वैयाकरणों का यह सिद्धान्त निम्नांकित उपनिषद्वाक्य का भाष्य है : 'वाचारम्भणम् विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्।' यह मानते हुए कि शब्द से अर्थबोध होता है, यह प्रश्न उठता है कि क्या केवल ध्वनि मात्र से अर्थबोध होता है ? उदाहरण के लिए 'गौः' शब्द लीजिए। यह तीन ध्वनियों से बना है—ग् + औ + स्। यह कहना कठिन है कि आदि, मध्य अथवा अन्तिम ध्वनि से अर्थबोध होता है।

नैयायिकों की आपत्ति है कि एक ध्वनि एक-दो क्षण से अधिक अस्तित्व में नहीं रहती; जब अन्तिम ध्वनि का उच्चारण होता है तब तक आदि और मध्य ध्वनियाँ लुप्त हो जाती हैं। नैयायिकों के अनुसार प्रथम दो ध्वनियों के संस्कार के साथ जब अन्तिम ध्वनि मिलती है तब अर्थबोध होता है। इससे वैयाकरणों की कठिनाई तो दूर हो जाती है परन्तु दूसरा दोष उत्पन्न हो जाता है। नैयायिक और भाषाविज्ञानी दोनों मानते हैं कि भाषा की इकाई वाक्य है और अर्थबोध के लिए वाक्य में प्रतिज्ञा की एकता होनी चाहिए। यदि प्रथम ध्वनियों का संस्कार और अन्तिम ध्वनि दो वस्तुएँ हैं तो फिर एकता कैसी होगी ?

मीमांसकों के अनुसार वर्ण नित्य हैं और ध्वनि से व्यक्त किये जाते हैं। मीमांसकों की अर्थप्रत्यायकत्व प्रक्रिया नैयायिकों से मिलती-जुलती है। परन्तु वर्णों की ऐक्यानुभूति में उन्हें कोई कठिनाई नहीं जान पड़ती, क्योंकि सभी वर्ण नित्य हैं। किन्तु यह आपत्ति बनी रहती है कि वर्णों की अनुभूति क्षणिक है और इस परिस्थिति में सभी वर्णों की एकता शक्य नहीं है। वैयाकरणों ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए वाचकता का एक नया अधिष्ठान ढूँढ़ निकाला, वह था स्फोटवाद। 'स्फोट' भिन्न शब्दों और अर्थों में एक होकर भी स्थायी रूप से व्यक्त होता है। अतः वाक्य में एकतानता बनी रहती है। वैयाकरणों ने इस स्फोट का वाचक प्रणव को माना, जिससे सम्पूर्ण विश्व की अभिव्यक्ति हुई है।

शब्दाद्वैतवाद का पूर्ण विकास और पूर्ण संगति तब हुई जब इसका सम्बन्ध अद्वैत वेदान्त (शाङ्कर वेदान्त) से जोड़ा गया। शब्दतत्त्व उसी प्रकार विश्व का कारण है जिस प्रकार ब्रह्म विश्व का कारण है। इस प्रकार शब्द को शब्दब्रह्म मान लिया गया। शब्दब्रह्मवाद (शब्दाद्वैतवाद) का विवेचन भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में निम्नांकित प्रकार से किया है :

> अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
> विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
> एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
> भोक्तृ-भोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः॥

जिस प्रकार शाङ्कर वेदान्त में विश्व ब्रह्म का विवर्त माना गया है उसी प्रकार शब्दाद्वैतवाद के अनुसार यह विश्व शब्द का विवर्त है। यह वाद परिणामवाद (सांख्य) है और आरम्भवाद (न्याय) का प्रत्याख्यान करता है।

शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध नित्य है। शब्दब्रह्म की अनुभूति के लिए शब्द के स्वरूप को जानना आवश्यक है। शब्द चार रूपों में प्रकट होता है : परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें से तीन गुप्त रहती हैं; परा मूलाधार में, पश्यन्ती नाभिस्थान में और मध्यमा हृदयावकाश में निवास करती हैं। इनकी अनुभूति और ज्ञान केवल ब्रह्मज्ञानी मनीषियों को होता है। इनमें चौथी वैखरी वाणी ही बाहर व्यक्त होती है जिसको मनुष्य बोलते हैं। वास्तव में शब्दब्रह्म की उपासना ब्रह्म की ही उपासना है। शब्दब्रह्म की अनुभूति प्रणव की उपासना और यौगिक प्रक्रिया द्वारा नाभिचक्र में स्थित कुण्डलिनी को जागृत करने से होती है।

शम्बर—इन्द्र के एक शत्रु का नाम। इसका उल्लेख शुश्न, पिप्रु एवं वर्चिन के साथ, दास के रूप में तथा कुलितर (ऋ० ६.२६.५) के पुत्र के रूप में हुआ है। इसके नब्बे, निन्यानबे तथा सौ दुर्ग कहे गये हैं। इसका सबसे बड़ा शत्रु दिवोदास अतिथिग्व था, जिसने इन्द्र की सहायता से उस पर विजय प्राप्त की। यह कहना कठिन है कि शम्बर वास्तविक व्यक्ति था या नहीं। हिलब्रैण्ट इसको दिवोदास का विरोधी सामन्त मानते हैं। वास्तव में शम्बर पर्वतवासी शत्रु था, जिससे दिवोदास को युद्ध करना पड़ा।

शम्भुदेव—शैव सिद्धान्त के सोलहवीं शती के एक प्रसिद्ध आचार्य। इन्होंने अपने मत के नियमों को दर्शाने के लिए शैवसिद्धान्तदीपिका तथा शम्भुपद्धति नामक दो ग्रन्थों की रचना की।

शय्यादान—पर्यङ्क और उसके उपयोगी समस्त वस्त्रों का दान। यह मासोपवासव्रत तथा शर्करासप्तमी आदि अनेक व्रतों में वांछनीय है।

शरभ उपनिषद्—एक परवर्ती उपनिषद्। इसमें उग्र देवता शरभ की महिमा और उपासना बतायी गयी है।

शरभङ्ग आश्रम—मध्य प्रदेशवर्ती वैष्णव तीर्थस्थान। विराध-कुण्ड एवं टिकरिया गाँव के समीप वन में यह स्थान है। आश्रम के पास एक कुण्ड है, जिसमें नीचे से जल आता है। यहाँ राममन्दिर है, वन्य पशुओं के भय से मन्दिर का बाहरी द्वार संध्या के पहले बन्द कर दिया जाता है। महर्षि शरभङ्ग ने भगवान् राम के सामने यहीं अग्नि प्रज्वलित करके शरीर छोड़ा था।

इस प्रकार के तपोमय जीवन यापन करने की पद्धति 'शरभंग सम्प्रदाय' कही जाती है।

शर्करासप्तमी—चैत्र शुक्ल सप्तमी को प्रातः तिलमिश्रित जल से स्नान करना चाहिए। एक वेदी पर केसर से कमलपुष्प पर सूर्य की आकृति बनाकर 'नमः सवित्रे' बोलते हुए धूप-पुष्पादि चढ़ाये जाँय। एक कलश में सुवर्ण-खण्ड डालकर उसे शर्करा से भरे हुए पात्र से ढककर पौराणिक मन्त्रों से उसकी स्थापना की जाय। फिर पञ्चगव्य प्राशन तथा कलश के समीप ही शयन करना चाहिए। उस समय धीमे स्वर से सौरमन्त्रों (ऋग्वेद १.५०) का पाठ करना चाहिए। अष्टमी के दिन पूर्वोक्त सभी वस्तुओं का दान करना चाहिए। इस दिन शर्करा, घृत तथा खीर का ब्राह्मणों को भोजन कराकर व्रती स्वयं लवण तथा तैल रहित भोजन करे। प्रति मास इसी प्रकार से व्रत करना चाहिए। एक वर्षपर्यन्त इसका आचरण विहित है। व्रत के अन्त में पर्यङ्कोपयोगी वस्त्र, सुवर्ण, एक गौ, एक मकान (यदि सम्भव हो) तथा एक से सहस्र निष्क तक सुवर्ण का दान विहित है। जिस समय सूर्य अमृत पान कर रहे थे उस समय उसकी कुछ बूँदें पृथ्वी पर गिर पड़ीं, जिससे चावल, मूँग तथा गन्ना उत्पन्न हो गये, अतः ये सूर्य को प्रिय हैं। इस व्रत के आचरण से शोक दूर होता है तथा पुत्र, धन, दीर्घायु एवं स्वास्थ्य की उपलब्धि होती है।

शर्व—शिव का एक पर्याय। 'शृ' धातु से व प्रत्यय लगाने पर यह शब्द बनता है, जिसका अर्थ है संहार करना। शिव प्रलय काल में सम्पूर्ण प्रजा का संहार करते हैं, अथवा भक्तों के पापों का विनाश करते हैं, अतः उनको शर्व कहा जाता है।

शर्वाणी—शर्व (शिव) की पत्नी पार्वती का पर्याय।

शस्त्र—यज्ञकर्म में होता पुरोहित का पाठ्य मन्त्रभाग, जो उद्गाता के 'स्तोत्र' से भिन्न है। प्रातःकालीन सोमदान सम्बन्धी शस्त्र 'आज्य' तथा 'प्रौग', मध्यकाल का 'मरुत्वतीय' तथा 'निष्केवल्य' एवं सान्ध्यकालीन 'वैश्वदेव' तथा 'आग्निमारुत' कहलाता है।

शाक—(१) वनस्पति को शाक कहते हैं। ये दस प्रकार के बताये जाते हैं, यथा मूल, पत्तियाँ, अङ्कुर, गुच्छक, फल, शाखा, अंकुरित धान्य, छाल, फूल तथा कुकुरमुत्ता जाति की उपज। दे० अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी का विवरण।

(२) सप्त द्वीपों में से एक द्वीप का नाम। मत्स्यपुराण (अ० १०२) में इसका विस्तृत वर्णन है: "इस द्वीप का जम्बूद्वीप से दुगुना विस्तार है। विस्तार से दूना चारों ओर इसका परिणाह (घेरा) है। उस द्वीप से यह लवणोदधि (समुद्र) मिला हुआ है। वहाँ पुण्य जनपद हैं, जहाँ दीर्घायु होकर लोग मरते हैं, दुर्भिक्ष नहीं पड़ता, क्षमा और तेज से युक्त जन हैं। मणि से भूषित सात पर्वत हैं।

शाकटायन—शुक्ल यजुर्वेद के प्रातिशाख्यसूत्र और उसकी अनुक्रमणी भी कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रातिशाख्यसूत्र में शाकटायन का नामोल्लेख एक पूर्वाचार्य के रूप में हुआ है। अष्टाध्यायी के सूत्रों में पाणिनि ने जिन पूर्व वैयाकरणों के नामोल्लेख किये हैं उनमें शाकटायन भी हैं। किसी नये शाकटायन ने कामधेनु नामक व्याकरण भी लिखा है।

शाकद्वीपीय ब्राह्मण—भारत पर शकों के आक्रमण के पूर्व, उनके बसने के कारण वर्तमान बलोचिस्तान का दक्षिणी भाग सीस्तान (शकस्थान) कहलाता था। उनके भारत में आने के बाद सिन्ध भी सीस्तान (शकस्थान अथवा शाकद्वीप) कहलाने लगा। वहाँ से जो ब्राह्मण विशेषकर उत्तर भारत में फैले वे शाकद्वीपीय कहलाये। इनकी पूर्व उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराणों में मगों का वर्णन देखना चाहिए। ऐसा लगता है कि मग ब्राह्मण मूलतः मगध में

वसते थे, जिसके कारण यह प्रदेश 'मगध' कहलाता था । यहाँ से वे पश्चिमी एशिया के देशों में गये और वहाँ से पुनः भारत वापस आये । सूर्यमन्दिरों में पुजारी का कार्य करनेवाले मग ब्राह्मणों का वर्णन पूर्व हो चुका है । इन्हीं मगों को भोजक तथा शाकद्वीपीय ब्राह्मण भी कहते हैं । भविष्यपुराण में शाकद्वीपी मग ब्राह्मणों का शाकद्वीप से लाया जाना वर्णित है । इसमें उनकी चाल, ढाल, प्रथाएँ आदि विस्तार से बतायी गयी हैं ।

इनको भारत में लानेवाले कृष्ण के पुत्र साम्ब थे । वर्णन से जान पड़ता है कि जरथुस्त्र के पूर्व की अथवा उन्हीं की समकालीन सूर्योपासक आर्य जातियाँ भारतवर्ष में पश्चिमी देशों से आकर फैलीं । पारसियों की प्रथाएँ मगों से कुछ मिलती-जुलती हैं । आज भी फारसी साहित्य में मगों के आचार्यों का नाम 'पीरे मुगाँ' सैकड़ों स्थानों में पाया जाता है । ये लोग यज्ञविहित सुरापान करते थे । ज्योतिष और वैद्यक शास्त्र का इनमें विशेष प्रचार था । आभिचारिक तथा तान्त्रिक क्रियाओं के भी ये विशेषज्ञ होते थे । दे० 'मग ब्राह्मण ।'

शाकपूणि—भट्ट भास्कर के कृष्ण यजुर्वेद भाष्य में शाकपूणि का नामोल्लेख है । अपने पूर्ववर्ती निरुक्तकारों में शाकपूणि की गणना यास्क ने की है ।

शाकम्भरी—दुर्गा का एक नाम । इसका शाब्दिक अर्थ है 'शाक से जनता का भरण करने वाली ।' मार्कण्डेय पुराण के चण्डीस्तोत्र में यही विचार व्यक्त किया गया है :

> ततोऽहमखिलं लोकमात्मदेहसमुद्भवैः ।
> भरिष्यामि सुराः शाकैरावृष्टेः प्राणधारकैः ॥
> शाकम्भरीति विख्यातिं तदा यास्याम्यहं भुवि ।

वामन पुराण (अ० ५३) में भी शाकम्भरी नाम पड़ने का यही कारण दिया हुआ है ।

शाकम्भरी—राजस्थान का एक प्रसिद्ध देवीतीर्थ । उस शक्ति से इसका सम्बन्ध है जिससे शाक (वनस्पति अथवा उद्भिज) की वृद्धि होती है । नवलगढ़ से २५ मील दक्षिण-पश्चिम पर्वतीय प्रदेश में यह स्थान है । ऊपर शाकम्भरी देवी का मन्दिर है । यह सिद्ध पीठ कहा जाता है ।

शाकल—ऋग्वेद की एक शाखा । शाकल्य वैदिक ऋषि थे । उन्होंने ऋग्वेद के पदपाठ का प्रवर्तन किया, वाक्यों की सन्धियाँ तोड़कर पदों को अलग-अलग स्मरण करने की पद्धति चलायी । पदपाठ से शब्दों के मूल की ठीक-ठीक विवेचना की रक्षा हुई । शतपथ ब्राह्मण में शाकल्य का दूसरा नाम विदग्ध भी मिलता है । विदेह के राजा जनक के ये सभापण्डित और याज्ञवल्क्य के प्रतिद्वन्द्वी थे । ये कोसलक-विदेह थे । ऐसा जान पड़ता है कि ऋग्वेद के पदपाठ का कोसल-विदेह में विकास हुआ ।

शाकसप्तमी—कार्तिक शुक्ल सप्तमी को इस व्रत का प्रारम्भ होता है । वर्ष के चार-चार महीनों के तीन भाग कर प्रति भाग में एक वर्षपर्यन्त व्रताचरण करना चाहिए । पञ्चमी को एकभक्त, षष्ठी को नक्त तथा सप्तमी को उपवास रखा जाय । इस दिन ब्राह्मणों को अच्छे मसालों से बनी वनस्पतियों (शाकों) से युक्त भोजन कराना विहित है । व्रती को स्वयं रात्रि में भोजन करना चाहिए । सूर्य इसके देवता हैं । चार-चार महीनों के प्रति भाग में भिन्न प्रकार के पुष्प (अगस्ति, सुगन्धित पुष्प, करवीर आदि), प्रलेप (केसर, श्वेत चन्दन, लाल चन्दन), धूप (अपराजित, अगरु तथा गुग्गुलु), नैवेद्य (खीर, गुड़ की चपाती, उबाले हुए चावल) का उपयोग करना चाहिए । वर्ष के अन्त में ब्राह्मणों को भोजन कराना तथा किसी पुराणपाठक से पुराण श्रवण करना चाहिए ।

शाकार्य—कात्यायन के वाजसनेय प्रातिशाख्य में अनेक आचार्यों के साथ शाकार्य का नामोल्लेख हुआ है ।

शाकिनी—दुर्गा की एक अनुचरी । कात्यायनीकल्प में इसका उल्लेख है :

> डाकिनी योगिनी चैव खेचरी शाकिनी तथा ।
> दिक्षु पूज्या इमा देव्यः सुसिद्धाः फलदायिकाः ॥

शाक्त—शक्ति या दुर्गा के उपासक। जिस सम्प्रदाय की इष्ट देवता 'शक्ति' है उसको ही शाक्त कहते हैं ।

शाक्तमत—शक्तिपूजक सम्प्रदाय । शक्तिपूजा का स्रोत वेदों में प्राप्त होता है । वाक्, सरस्वती, श्रद्धा आदि के रूप में स्त्रीशक्ति की कल्पना वेदों में की गयी है । सभी देवताओं की देवियों (पत्नियों) की कल्पना भी शक्ति की ही कल्पना है । ऋग्वेद के अष्टम अष्टक के अन्तिम सूक्त में 'इयं शुष्मेभिः' आदि मन्त्रों से महाशक्ति सरस्वती की स्तुति की गयी है । सामवेद के वाचंयम सूक्त में 'हुवाइ

वाचम्' आदि तथा ज्योतिष्टोम में 'वाग्विसर्जन स्तोम' का उल्लेख है। यजुर्वेद (अ० २.२) में 'सरस्वत्यै स्वाहा' मन्त्र से आहुति देने का विधान है। यजुर्वेद (५.१६) में पृथ्वी और अदिति देवियों का वर्णन है। इसके सत्रहवें अध्याय के ५५वें मन्त्र में पाँच दिशाओं से विघ्न-बाधा निवारण के लिए इन्द्र, वरुण, यम, सोम और ब्रह्मा देवताओं की शक्तियों का आवाहन किया गया है। अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड के ३०वें सूक्त में महाशक्ति का निम्नांकित कथन है :

'मैं सभी रुद्रों और वसुओं के साथ संचरण करती हूँ। इसी प्रकार सभी आदित्यों और सभी देवों के साथ, आदि।' उपनिषदों में भी शक्ति की कल्पना का विकास दिखाई पड़ता है। केनोपनिषद् में इस बात का वर्णन है कि उमा हैमवती (पार्वती का एक पूर्व नाम) ने महाशक्ति के रूप में प्रकट होकर ब्रह्म का उपदेश किया। अथर्वशीर्ष, श्रीसूक्त, देवीसूक्त आदि में शक्ति की स्तुतियाँ भरी पड़ी हैं। नैगम (वैदिक) शाक्तों के अनुसार प्रमुख दस उपनिषदों में दस महाविद्याओं (शक्तियों) का ही वर्णन है। पुराणों में मार्कण्डेय पुराण, देवी पुराण, कालिका पुराण, देवी भागवत में शक्ति का विशेष रूप से वर्णन हैं। रामायण और महाभारत दोनों में देवी की स्तुतियाँ पायी जाती हैं। अद्भुत रामायण में सीताजी का वर्णन परात्परा शक्ति के रूप में है। वैष्णवग्रन्थ नारदपञ्चरात्र में भी दस महाविद्याओं का विस्तार से वर्णन है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि शाक्तमत अत्यन्त प्राचीन है और उसका भी आधार श्रुति-स्मृति है, जिस प्रकार अन्य धार्मिक संप्रदायों का। शैव मत के समान ही शाक्तमत भी निगमानुमोदित है। परन्तु वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा शाक्त उपासना श्रेष्ठ मानी जाती है। आगमों के आचार का विकास होने पर शाक्तमत के दो उपसम्प्रदाय हो गये—(१) दक्षिणाचार (वैदिक मार्ग) और (२) वामाचार। दक्षिणाचार को समयाचार भी कहते हैं और वामाचार को कौलाचार। दक्षिणाचार सदाचारपूर्ण और दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवादी है। इसका अनुयायी अपने को शिव मानकर पञ्चतत्त्वों से शिवा (शक्ति) की पूजा करता है। इसमें पञ्च मकारों (मद्यादि) के स्थान पर विजयारस का सेवन होता है। इसके अनुसार शक्ति और शक्तिमान् की अभिन्नता की अनुभूति योग के द्वारा होती है। योग शक्ति-उपासना का प्रधान अङ्ग है। योग के छः चक्रों में कुण्डलिनी और आज्ञा दो चक्र महाशक्ति के प्रतीक हैं। आज्ञा चक्र की शक्ति से ही विश्व का विकास होता है।

यौगिक साधनाओं में 'समय' का एक विशेष अर्थ है। हृदयाकाश में चक्रभावना के द्वारा शक्ति के साथ अधिष्ठान, अनुष्ठान, अवस्थान, नाम तथा रूप भेद से पाँच प्रकार का साम्य धारण करनेवाले शिव ही 'समय' कहे जाते हैं। समय वास्तव में शिव और शक्ति का सामरस्य (मिश्रण) है। समयाचार की साधना के अन्तर्गत मूलाधार में से सुप्त कुण्डलिनी को जगाकर स्वाधिष्ठान आदि चक्रों से ले जाते हुए सहस्रार चक्र में अधिष्ठित सदाशिव के साथ ऐक्य या तादात्म्य करा देना ही साधक का मुख्य ध्येय होता है।

वामाचार अथवा कौलमत की साधना दक्षिणाचार से भिन्न है किन्तु ध्येय दोनों का एक ही है। 'कौल' उसको कहते हैं जो शिव और शक्ति का तादात्म्य कराने में समर्थ है। 'कुल' शक्ति अथवा कुण्डलिनी है; 'अकुल' शिव है। जो अपनी यौगिक साधना से कुण्डलिनी को जागृत कर सहस्रार चक्र में स्थित शिव से उसका मिलन कराने में सक्षम है वही कौल है। कौल का आचार कौलाचार अथवा वामाचार कहलाता है। इसमें पञ्च मकारों का सेवन होता है। ये पञ्च मकार हैं (१) मद्य (२) मांस (३) मत्स्य (४) मुद्रा और (५) मैथुन। वास्तव में ये नाम प्रतीकात्मक हैं और इनका रहस्य गूढ है। मद्य भौतिक मदिरा नहीं है, ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रदल कमल से स्यूत अमृत ही मधु या मदिरा है। जो साधक ज्ञानरूपी खड्ग से वासनारूपी (पाप-पुण्य) पशुओं को मारता है और अपने मन को शिव में लगाता है वही मांस का सेवन है। मत्स्य शरीर में स्थित इडा तथा पिङ्गला नाड़ियों में प्रवाहित होने वाला श्वास तथा प्रश्वास है। वही साधक मत्स्य का सेवन करता है जो प्राणायाम की प्रक्रिया से श्वास-प्रश्वास को रोककर प्राणवायु को सुषुम्ना नाड़ी के भीतर संचालित करता है। असत् संग का त्याग और सत्संग का सेवन मुद्रा है। सहस्रार चक्र में स्थित शिव और कुण्डलिनी (शक्ति) का मिलन मैथुन (दो का एक होना) है।

मूलतः कौलसाधना यौगिक उपासना थी । कालान्तर में कुछ ऐसे लोग इस साधना में घुस आये जो आचार के निम्न स्तर के अभ्यासी थे । इन लोगों ने पञ्च मकारों का भौतिक अर्थ लगाया और इनके द्वारा भौतिक मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन का खुलकर सेवन होने लगा । वामाचार के पतन और दुर्नाम का यही कारण था ।

शाक्त दर्शन में छत्तीस तत्त्व माने गये हैं जो तीन वर्गों में विभक्त हैं—(१) शिवतत्त्व (२) विद्यातत्त्व और (३) आत्मतत्त्व । शिवतत्त्व में दो तत्त्वों, शिव और शक्ति का समावेश है । विद्यातत्त्व में सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या सम्मिलित हैं । आत्मतत्त्व में इकतीस तत्त्वों का समाहार है, जिनकी गणना इस प्रकार है—माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) और पाँच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) ।

शिव-शक्तिसंगम में शाक्त मत के अनुसार पर शक्ति की ही प्रधानता होती है । परम पुरुष के हृदय में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होते ही उसके दो रूप, शिव और शक्ति प्रकट हो जाते हैं । शिव प्रकाशरूप हैं और शक्ति विमर्शरूप । विमर्श का तात्पर्य है पूर्ण और शुद्ध अहंकार की स्फूर्ति । इसके कई नाम हैं—चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरण आदि । प्रकाश और विमर्श का अस्तित्व युगपत् रहता है । प्रकाश को संवित् और विमर्श को युक्ति भी कहा जाता है । शिव और शक्ति के आन्तर निमेष को सदाशिव और बाह्य उन्मेष को ईश्वर कहते हैं । इसी शिव-शक्तिसंगम से सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है ।

शाक्त मत में वामाचार के उद्‌गम और विकास को लेकर कई मत प्रचलित हैं । कुछ लोग इसका उद्‌गम भारत के उस वर्ग से मानते हैं, जिसमें मातृशक्ति की पूजा आदि काल से चली आ रही थी, परन्तु वे लोग स्मार्त आचार से प्रभावित नहीं थे । दूसरे विचारक इस सम्प्रदाय में वामाचार के प्रवेश के लिए तिब्बत और चीन का प्रभाव मानते हैं । बौद्ध धर्म का महायान सम्प्रदाय इसका माध्यम था । चीनाचार आदि कई आगम ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख है कि वसिष्ठ ऋषि ने बुद्ध के उपदेश से चीन देश में जाकर तारा देवी का दर्शन किया था । इससे स्पष्ट है कि तारा की उपासना चीन से भारत मे आयी । नेपाली बौद्ध ग्रन्थ साधनमाला का तन्त्र के जटासाधन प्रसंग में निम्नांकित कथन भी इस तथ्य की पुष्टि करता है :

"आर्य नागार्जुनपादैर्भोटदेशात् समुद्धृता ।"

[तारा देवी की मूर्ति आर्य नागार्जुनाचार्य द्वारा भोट देश (तिब्बत) से लायी गयी ।] स्वतन्त्रतन्त्र नामक ग्रन्थ में भी तारा देवी की विदेशी उत्पत्ति का उल्लेख है :

मेरोः पश्चिमकोणे तु चोल्रनाख्यो ह्रदो महान् ।
तत्र जज्ञे स्वयं तारा देवी नीलसरस्वती ।।

शाक्तों के पाँच वेदों, पाँच योगियों और पाँच पीठों का उल्लेख कुलालिकातन्त्र मे पाया जाता है । इनमें उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम और ऊर्ध्व ये पाँच आम्नाय अथवा वेद हैं । महेश्वर, शिवयोगी आदि पाँच योगी हैं । उत्कल में उड्डियान, पंजाब में जालन्धर, महाराष्ट्र में पूर्ण, श्रीशैल पर मतङ्ग और कामरूप में कामाख्या ये पाँच पीठ हैं । आगे चलकर शाक्तों के इकावन पीठ हो गये और इस मत में बहुसंख्यक जनता दीक्षित होने लगी । इसका सबसे बड़ा आकर्षण यह था कि (भैरवी) चक्रपूजा में सभी शाक्त (चाहे वे किसी वर्ण के हों) ब्राह्मण माने जाने लगे । धार्मिक संस्कारों के मंडल, यन्त्र और चक्र जो शक्तिपूजा के अधिष्ठान थे, वैदिक और स्मार्त संस्कारों में भी प्रविष्ट हो गये । शाक्त मत का विशाल साहित्य है जिसका बहुत बड़ा अंश अभी तक अप्रकाशित है । इसके दो उपसम्प्रदाय हैं—(१) श्रीकुल और (२) कालीकुल । प्रथम उपसम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थों में अगस्त्य का शक्तिसूत्र तथा शक्तिमहिम्नस्तोत्र, सुमेधा का त्रिपुरारहस्य, गौडपाद का विद्यारत्नसूत्र, शंकराचार्य के सौन्दर्यलहरी और प्रपञ्चसार एवं अभिनवगुप्त का तन्त्रालोक प्रसिद्ध हैं । दूसरे उपसम्प्रदाय में कालज्ञान, कालोत्तर, महाकालसंहिता आदि मुख्य हैं ।

शाक्त संन्यासी—शाक्त संन्यासी देश के कोने-कोनेमें छिटपुट पाये जाते हैं । रामकृष्ण परमहंस के गुरु तोतापुरी, स्वयं रामकृष्ण तथा विवेकानन्द शाक्त संन्यासी थे । रामकृष्ण मिशन के अन्य स्वामी लोग भी शाक्त संन्यासियों के उदाहरण हैं तथा शङ्कराचार्य के दसनामियों की पुरी शाखा से सम्बद्ध हैं ।

शाक्तानन्दतरङ्गिणी—यह स्वामी ब्रह्मानन्द गिरि रचित एक शाक्त ग्रन्थ है ।

शाक्य मुनि—शाक्य वंश में अवतीर्ण होने के कारण गौतम बुद्ध शाक्य मुनि कहलाते थे । शाक शाल वृक्ष को कहते हैं । अयोध्या के इक्ष्वाकु (सूर्यपुत्र) वंश की एक शाखा गौतमगोत्रज कपिल मुनि के आश्रमप्रदेश में, जिसमें शाक वृक्षों का आधिक्य था, आकर बस गयी थी, इसलिए वह शाक्य कहलाने लगी । अमरकोश के टीकाकार भरत का निम्नांकित कथन है :

शाकवृक्षप्रतिच्छन्नं वासं यस्मात् प्रचक्रिरे ।
तस्मादिक्ष्वाकुवंश्यास्ते भुवि शाक्य इति श्रुताः ॥

शाक्य मुनि को शाक्यसिंह भी कहते हैं ।

शाक्री—शक्र की शक्ति । यह दुर्गा का पर्याय है :

इन्द्राणी इन्द्रजननी शाक्री शक्रपराक्रमा ।
वज्रांकुशकरा देवी वज्रा तेनोपगीयते ॥
(देवीपुराण)

शाख—विशाख को ही शाख भी कहते हैं । इनका दूसरा नाम कृत्तिकापुत्र या कार्तिकेय भी है । वास्तव में ये पार्वती के पुत्र थे, जिनका पालन कृत्तिकाओं ने किया था ।

शाङ्खायन—कौषीतकि ब्राह्मण, कौषीतकि गृह्यसूत्र आदि के रचनाकार तथा ऋग्वेद के एक शाखा सम्पादक । इनका उल्लेख वंशसूची में शाङ्खायन आरण्यक के अन्त में हुआ है जहाँ गुणाख्य को उसका रचयिता कहा गया है । श्रौतसूत्र में शाङ्खायन का नामोल्लेख नहीं है, किन्तु गृह्यसूत्र सुयज्ञ शाङ्खायन को आचार्य के रूप में लिखता है । परवर्ती काल में शाङ्खायन शाखा के अनुयायी उत्तरी गुजरात में पाये जाते थे । शाङ्खायन तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में काण्डमायन के साथ उल्लिखित हैं ।

शाङ्खायन आरण्यक—ऋग्वेद का एक आरण्यक । इस आरण्यक का सम्पादन तथा अंग्रेजी अनुवाद प्रो० कीथ ने किया है ।

शाङ्खायनगृह्यसूत्र—गृह्यसूत्रों के वर्ग में ऋग्वेद से सम्बन्धित शाङ्खायनगृह्यसूत्र प्रमुखतया प्रचलित है ।

शाङ्खायनब्राह्मण—यह ऋग्वेद की कौषीतकि शाखा का ब्राह्मण है । कौषीतकिब्राह्मण नाम से भी यह ख्यात है ।

शाङ्खायनश्रौतसूत्र—ऋग्वेदीय साहित्यान्तर्गत संहिता और ब्राह्मण के पश्चात् तीसरी कोटि का साहित्य । यह ४८ अध्यायों में है । शाङ्खायन श्रौतसूत्र का शाङ्खायन ब्राह्मण से सम्बन्ध है । इस श्रौतसूत्र के पन्द्रहवें और सोलहवें अध्याय की रचना ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषाशैली में हुई है । इससे इसकी प्राचीनता अनुमानित की जाती है । इसके सत्रहवें और अठारहवें अध्याय का सम्बन्ध कौषीतकि आरण्यक के पहले दो अध्यायों के साथ घनिष्ठ प्रतीत होता है ।

शाट्यायन—शाट्य के गोत्रज शाट्यायन का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (८.१.४.९;१०.४.५.२) में दो बार हुआ है । जैमिनीय उपनिषद्ब्राह्मण में प्रायः इनका उल्लेख है । वंशसूची में ये ज्वालायन के शिष्य कहे गये हैं तथा सामविधान ब्रा० की वंशसूची में बादरायण के शिष्य उल्लिखित हैं । शाट्यायनों का उल्लेख सूत्रों में भरा पड़ा है । शाट्यायन ब्राह्मण तथा शाट्यायनक का भी उनमें उल्लेख है ।

शाट्यायनब्राह्मण—आश्वलायन श्रौतसूत्र में शाट्यायन ब्राह्मण का उल्लेख है ।

शाण्डिल्य—शण्डिल के वंशज शाण्डिल्य कहलाते हैं । अनेक आचार्यों का यह वंशबोधक नाम है । सबसे महत्त्वपूर्ण शाण्डिल्य वे हैं जो अनेक बार शतपथ ब्रा० में सुयोग्य विद्वान् के रूप में वर्णित हैं । इससे स्पष्ट है कि वे अग्निक्रियाओं (यज्ञों) के सबसे बड़े आचार्यों में थे, जिनसे (यज्ञों से) शतपथ ब्रा० का पाँचवाँ तथा उसके परवर्ती अध्याय भरे पड़े हैं । वंशब्राह्मण के दसवें अध्याय के अन्त में उन्हें कुशिक का शिष्य तथा वात्स्य का आचार्य कहा गया है । यह गोत्रनाम आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध हुआ । विशेष विवरण के लिए दे० गोत्रप्रवरमञ्जरी ।

शाण्डिल्यभक्तिसूत्र—यह एक विशिष्ट भागवत (वैष्णव) ग्रन्थ है । इसमें भक्तितत्त्व का विवेचन किया गया है । भक्तिशास्त्र के मौलिक ग्रन्थों में शाण्डिल्य तथा नारद के भक्तिसूत्र ही आते हैं ।

शाण्डिल्यायन—शाण्डिल्य के गोत्रापत्य (वंशज) शाण्डिल्यायन कहलाते हैं । शतपथब्राह्मण में यह एक आचार्य का वंशसूचक नाम है । अवश्य वे तथा चेलक एक ही व्यक्ति हैं और इसलिए यह सोचना ठीक है कि चैलकि जीवल

उनके पुत्र का नाम था। यह सन्देहास्पद है कि वे प्रवाहण जैवलि के पितामह थे जो ब्राह्मण के बदले राजकुमार था।

शान्ति—(१) धार्मिक जीवन की एक बड़ी उपलब्धि। पद्मपुराण (क्रियायोगसार, अध्याय १५) में इसकी निम्नलिखित परिभाषा है :

यत्किञ्चिद् वस्तु सम्प्राप्य स्वल्पं वा यदि वा वहु ।
या तुष्टिर्जायते चित्ते शान्तिः सा गद्यते बुधैः ।।

[स्वल्प अथवा अधिक जिस किसी वस्तु को पाकर चित्त में जो संतोष उत्पन्न होता है उसे शान्ति कहते हैं।]

(२) दुर्गा का भी एक नाम शान्ति है। देवीपुराण के देवीनिरुक्ताध्याय में कथन है :

उत्पत्ति-स्थिति-नाशेषु सत्त्वादित्रिगुणा मता ।
सर्वज्ञा सर्ववेत्तृत्वाच्छान्तित्वाच्छान्तिरुच्यते ।।

शान्तिकर्म—अथर्ववेदीय कर्मकाण्ड तीन भागों में विभक्त है—(१) स्वस्तिक (कल्याणकारी) (२) पौष्टिक (पोषण करने वाला) और (३) शान्तिक (उपद्रव शान्त करने वाला)। वे सभी कर्म शान्तिकर्म कहलाते हैं जिनसे आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक उपद्रव शान्त होते हैं। आगे चलकर ज्योतिष की व्यापकता बढ़ जाने पर ग्रहशान्ति कर्मकाण्ड का प्रधान अङ्ग बन गया। यह माना जाने लगा कि दुष्ट ग्रहों के कारण ही मनुष्य पर विपत्तियाँ आती हैं, इसलिए विपत्तियों से बचने के लिए ग्रहशान्ति अथवा ग्रहों की पूजा आवश्यक है।

शान्तिकर्मों में अद्भुतशान्ति नामक भी कर्म है। प्रकृतिविरुद्ध अद्भुत आपदाओं की पूर्व सूचना के लिए देवता 'उपसर्ग' उत्पन्न करते हैं। इस सम्बन्ध में शान्तिकर्म करने से भावी आपत्तियों की निवृत्ति होती है (दे० 'अद्भुतसागर' में आथर्वण अद्भुतवचनम्)। इन उपसर्गों के कारण प्रायः नैतिक होते हैं :

अतिलोभादसत्याद्वा नास्तिक्याद्वाप्यधर्मतः ।
नरापचारान्नियतमुपसर्गः प्रवर्तते ।।
ततोऽपचारान्नियतमपवर्जन्ति देवताः ।
ताः सृजन्त्यद्भुतांस्तांस्तु दिव्यनाभसभूमिजान् ।।

(गर्गसंहिता)

शान्तिकल्प—यह अथर्ववेद का एक उपांग है। इस कल्प में पहले विनायकों द्वारा ग्रस्त प्राणी के लक्षण हैं। उनकी शान्ति के लिए द्रव्य एवं सामग्री इकट्ठा करने, पूजा, अभिषेक और वैनायक होमादि करने का विधान इस कल्प में बतलाया गया है। आदित्यादि नवग्रहों के जप, यज्ञ आदि भी इसी में सन्निविष्ट हैं।

शान्तिपञ्चमी—श्रावण शुक्ल पञ्चमी को काले तथा अन्य रंगों से सर्पों की आकृति बनाकर उनकी गन्ध-अक्षत-लावा आदि से पूजा करनी चाहिए तथा अग्रिम मास की पञ्चमी को दर्भों से साँप बनाकर उनकी तथा इन्द्राणी की पूजा करनी चाहिए। इससे सर्प सर्वदा व्रतकर्ता के ऊपर प्रसन्न रहते हैं। इसका मन्त्र है 'कुरुकुल्ले हुं फट् स्वाहा।'

शाप—क्रोधपूर्वक किसी के अनिष्ट का उद्घोष 'शाप' कहलाता है। विशेषकर ऋषि, मुनि, तपस्वी आदि के अनिष्ट कथन को शाप कहते हैं। किसी महान् नैतिक अपराध के हो जाने पर शाप दिया जाता था। इसके अनेक उदाहरण प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं। गौतम ने पतिव्रत भङ्ग के कारण अपनी पत्नी अहल्या को शाप दिया था कि वह शिला हो जाय। दुर्वासा अपने क्रोधी स्वभाव के कारण शाप देने के लिए प्रसिद्ध थे।

शाबर भाष्य—दे० 'शबर स्वामी।'

शाम्बव्य गृह्यसूत्र—मुख्य गृह्य ग्रन्थों में शाम्बव्य के सूत्र का नाम भी उल्लेखनीय है। यह ऋग्वेद से सम्बन्धित गृह्यसूत्र है।

शाम्भरायणी व्रत—यह नक्षत्रव्रत है और अच्युत इसके देवता हैं। सात वर्षपर्यन्त इसके आचरण का विधान है। बारह नक्षत्रों, जैसे—कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य तथा इसी प्रकार के अन्य नक्षत्रों के हिसाब से वर्ष के बारह मासों का नामोल्लेख किया गया है, यथा कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष आदि। कार्तिक मास की पूर्णिमा से व्रत का आरम्भ कर विष्णु का पूजन करना चाहिए। कार्तिक मास से अग्रिम चार मासों के लिए कृशरा (खिचड़ी) नैवेद्य है, फाल्गुन से संयाव (हलुआ) तथा आषाढ़ से पायस (खीर)। ब्राह्मणों को भी नैवेद्य के हिसाब से भोजन कराया जाय। शाम्भरायणी नामक ब्राह्मणी स्त्री की चाँदी की प्रतिमा की स्थापना की जाय। शाम्भरायणी उस ब्राह्मणी का नाम है जिससे बृहस्पति ने इन्द्र के पूर्वजों के बारे में पूछा था। भगवान् कृष्ण ने भी इस आदरणीय महिला की कथा सुनायी है। (भविष्योत्तरपुराण)

शारदातिलक—शारदातिलक तन्त्र शाक्त मत का अधिकारपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसके रचयिता लक्ष्मण

देशिक हैं । ये ग्यारहवीं शती में उत्पन्न हुए थे । इस ग्रन्थ में केवल मन्त्र एवं यातु (जादू) हैं, क्रियाएँ बहुत कम हैं । यह सरस्वती से सम्बन्धित है जो शारदा भी कहलाती हैं । यह मन्त्रों का वर्गीकरण उपस्थित करता है, उनके प्रयोगार्थ प्रारम्भिक दीक्षा तथा याज्ञिक अग्नि में होम करने के लिए मन्त्रों का प्रयोजन बतलाता है । मुद्राओं तथा अनेक यन्त्रों का वर्णन करता है । अन्तिम अध्याय में तान्त्रिक योग है ।

शारदापूजा—शरद् काल की नवमी तिथि को देवताओं के द्वारा दुर्गा देवी का आवाहन हुआ था, इसलिए ये शारदा कहलाती हैं :

शरत्काले पुरा यस्माद् नवम्यां बोधिता सुरैः ।
शारदा सा समाख्याता पीठे लोके च नामतः ।।

शरत्कालीन दुर्गापूजा का नाम ही शारदापूजा है। देवीभागवत (अ० २९-३०) में शारदापूजा का विस्तृत वर्णन पाया जाता है ।

शारदामठ—स्वामी शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित चार मठों में से एक । द्वारकापुरी के मठ का नाम शारदामठ या शारदापीठ है ।

शारीरक—ब्रह्माण्ड या पिण्ड शरीर में निवास करने वाला अद्वैत आत्मा ही शारीर है। उसको आधार मानकर लिखे गये ग्रन्थ को 'शारीरक' कहते हैं । वेदव्यासकृत वेदान्तसूत्रों को ही 'शारीरकसूत्र' कहा जाता है । इनके ऊपर लिखे गये शाङ्करभाष्य का नाम भी 'शारीरकभाष्य' है ।

शालग्राम—विष्णुमूर्ति का प्रतीक गोल शिलाखण्ड । नेपाल की गण्डकी अथवा नारायणी नदी में प्राप्त, वज्रकीट से कृत चक्रयुक्त शिला, अथवा द्वारका में प्राप्त ऐसी ही (गोमतीचक्र) शिला शालग्राम कहलाती है । इसके लक्षण और माहात्म्य आदि पुराणों में विस्तार से वर्णित हैं । पद्मपुराण के पातालखण्ड में इसका विशेष वर्णन है ।

शास्त्र—शास्त्र वह है जिससे शासन, आदेश अथवा शिक्षण किया जाता है । शास्त्र की उत्पत्ति का वर्णन मत्स्यपुराण (अ० ३) में इस प्रकार दिया हुआ है :

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
नित्यशब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ।।
अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः ।
मीमांसा-न्याय-विद्याश्च प्रमाणं तर्कसंयुतम् ।।

कार्याकार्य में शास्त्र ही प्रमाण माना गया है ।

शास्त्रदर्पण—इस वेदान्तग्रन्थ के रचयिता आचार्य अमलानन्द हैं । इसमें ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों की व्याख्या की गयी है । इसका रचनाकाल तेरहवीं शती का उत्तरार्ध है ।

शिक्षा—छः वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द) में से प्रथम वेदाङ्ग । इसको वेदों की नासिका कहा गया है । यह शुद्ध उच्चारण (ध्वनि) का शास्त्र है । स्वर और व्यंजनों का शुद्ध उच्चारण शब्दों के अर्थ का ठीक-ठीक बोध कराता है। मन्त्रों के ठीक उच्चारण से ही उनका मनोवांछित प्रभाव पड़ता है । वैदिक मन्त्रों के उच्चारण में स्वर प्रक्रिया का विशेष महत्त्व है ।

यद्यपि यह शास्त्र बहुत पुराना है, तथापि इस विषय पर लिखे हुए ग्रन्थ बहुत कम मिलते हैं । एक अनुश्रुति के अनुसार जैगीषव्य के शिष्य बाभ्रव्य इस शास्त्र के प्रवर्तक थे । ऋग्वेद के क्रमपाठ की व्यवस्था भी इन्होंने ही की थी । महाभारत (शान्ति, ३४२. १०४) के अनुसार आचार्य गालव ने एक शिक्षाशास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण किया था । इनका उल्लेख अष्टाध्यायी में भी पाया जाता है । वास्तव में पाञ्चाल बाभ्रव्य का ही दूसरा नाम गालव था। भारद्वाज ऋषि प्रणीत 'भारद्वाजशिक्षा' नामक ग्रन्थ 'भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट' पूना से प्रकाशित हुआ है । परन्तु यह बहुत प्राचीन नहीं है । 'चारायणीशिक्षा' की एक हस्तलिखित प्रति डॉ० कीलहार्न को कश्मीर में प्राप्त हुई थी । राजशेखर की काव्यमीमांसा में पाणिनि के पूर्ववर्ती शब्दवित् आचार्य आपिशलि का उल्लेख हुआ है । पाणिनि के समय तक शिक्षाशास्त्र का पूर्ण विकास हो चुका था । 'पाणिनीय शिक्षा' इस विषय का प्रथम ग्रन्थ है जिसमें इस शास्त्र का सुव्यवस्थित विवेचन हुआ है । इस नाम से उपलब्ध ग्रन्थ का सम्पादन और प्रकाशन आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया था । वाराणसी से एक ग्रन्थ 'शिक्षासंग्रह' के नाम से प्रकाशित हुआ था, जिसमें गौतमशिक्षा, नारदीय शिक्षा, पाण्डुकीय शिक्षा और भारद्वाज शिक्षा सम्मिलित हैं । मूलतः वेदों के अलग-अलग शिक्षाग्रन्थ थे । आज केवल यजुर्वेद की याज्ञवल्क्यशिक्षा, सामवेद की नारदशिक्षा, अथर्ववेद की माण्डूकीशिक्षा ही उपलब्ध हैं । ऋग्वेद का कोई स्वतन्त्र शिक्षा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; उसके उच्चारण के लिए पाणिनीय शिक्षा का ही उपयोग किया जाता है ।

ध्वनि का आरोह-अवरोह, उच्चारण की शुद्धता, उच्चारण की कालावधि का परिसीमन शिक्षाशास्त्र के मुख्य विषय हैं। इसके वर्ण्य विषयों में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान इन छः की गणना होती है। 'अ' से लेकर 'ह' तक जितने वर्ण हैं उनके उच्चारण के विविध स्थान निश्चित हैं। वे हैं—कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ। स्वरों के तीन भेद हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। मात्राएँ तीन हैं—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। बल प्रयत्न को कहते हैं। प्रयत्न दो प्रकार के हैं—अल्पप्राण और महाप्राण। श्रुतिमधुर पाठ को साम कहा जाता है। सन्धि को सन्तान कहते हैं। शिक्षा के इन छः वर्ण्य विषयों के ज्ञान से ही भाषा का शुद्ध उच्चारण और अर्थ बोध संभव है।

शिक्षावल्ली—तैत्तिरीयोपनिषद् के तीन विभागों में प्रथम विभाग। इसमें व्याकरण सम्बन्धी कुछ विवेचन के पश्चात् अद्वैत सिद्धान्तसमर्थक श्रुतियों का विन्यास है। इसी में स्नातक को दिया जाने वाला आचार्य का दीक्षान्त प्रवचन भी है, जो संप्रति अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों के पदवीदानसमारोह में स्नातकों के समक्ष पढ़ा जाता है।

शिखरिणीमाला—अप्पय दीक्षित द्वारा लिखा गया एक ग्रन्थ। इसमें चौसठ शिखरिणी छन्दों में भगवान् शङ्कर के सगुण स्वरूप की स्तुति की गयी है।

शिखा—सिर के मध्य में स्थित केशपुञ्ज। यह हिन्दुओं का विशेष धार्मिक चिह्न है। चूडाकरण संस्कार के समय सिर के मध्य में बालों का एक गुच्छा छोड़ा जाता है। प्रत्येक धार्मिक कृत्य के समय (देवकर्म के समय) शिखा बन्धन किया जाता है। कर्म करने के तीन आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ) में ही शिखा रखी जाती है, चौथे (संन्यास) में शिखा त्याग दी जाती है।

शिरोव्रत—मुण्डकोपनिषद् (३.२.२०) तथा विष्णु ध० सू० (२६.१२) में इस व्रत का उल्लेख मिलता है। शङ्कराचार्य इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इस व्रत में सिर पर अग्नि (तेज) धारण करना होता है, जो ज्ञानसंचय का प्रतीक है।

शिव—एक ही परम तत्त्व की तीन मूर्तियों (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) में अन्तिम मूर्ति। ब्रह्मा का कार्य सृष्टि, विष्णु का स्थिति (पालन) और शिव का कार्य संहार करना है। परन्तु साम्प्रदायिक शैवों के अनुसार शिव परम तत्त्व हैं और उनके कार्यों में संहार के अतिरिक्त सृष्टि और स्थिति के कार्य भी सम्मिलित हैं। शिव परम कारुणिक भी हैं और उनमें अनुग्रह अथवा प्रसाद तथा तिरोभाव (गोपन अथवा लोपन) की क्रिया भी पायी जाती है। इस प्रकार उनके कार्य पाँच प्रकार के हैं। शिव की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ इन्हीं कार्यों में से किसी न किसी से सम्बद्ध हैं। इनका उद्देश्य भक्तों का कल्याण करना है। शिव विभिन्न कलाओं और सिद्धियों के प्रवर्तक भी माने गये हैं। संगीत, नृत्य, योग, व्याकरण, व्याख्यान, भैषज्य आदि के मूल प्रवर्तक शिव हैं। इनकी कल्पना सब जीवधारियों के स्वामी के रूप में भी की गयी है, इसलिए ये पशुपति, भूतपति और भूतनाथ कहलाते हैं। ये सभी देवताओं में श्रेष्ठ माने जाते हैं, अतः महेश्वर और महादेव इनके विरुद पाये जाते हैं। इनमें माया की अनन्त शक्ति है, अतः ये मायापति भी हैं। उमा के पति होने से इनका एक पर्याय उमापति है। इनके अनेक विरुद और पर्याय हैं। महाभारत (१३,१७) में इनकी एक लम्बी सहस्रनाम सूची दी हुई है।

शिव की कल्पना की उत्पत्ति और विकास का क्रम वैदिक साहित्य से ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है। ऋग्वेद में रुद्र की कल्पना में ही शिव की अनेक विशेषताओं और तत्सम्बन्धी पौराणिक गाथाओं के मूल का समावेश है। इसी प्रकार शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता (अ० १६) में जो शतरुद्रिय पाठ है उसमें शिव का मूल रूप प्रतिबिम्बित है। उसमें शिव को गिरीश (पर्वत पर रहने वाला), पशुचर्म धारण करने वाला (कृत्तिवास) तथा जटाजूट रखने वाला (कपर्दी) कहा गया है। अथर्ववेद में रुद्र की बड़ी महिमा बतायी गयी है और उनके लिए भव, शर्व, रुद्र, पशुपति, उग्र, महादेव और ईशान विरुदों का प्रयोग किया गया है।

सिन्धुघाटी के उत्खनन से जो धार्मिक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनमें योगी शिव की भी एक प्रतिकृति है। परन्तु अभी तक संज्ञा के रूप में शिव का नाम न मिलकर विशेषण के रूप में ही मिला है। उत्तर वैदिक साहित्य में शिव रुद्र के पर्याय के रूप में मिलने लगता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र के अनेक नामों में शिव भी एक है। शाङ्खायन, कौषीतकि आदि ब्राह्मणों में शिव, रुद्र,

महादेव, महेश्वर, ईशान आदि रुद्र के नाम मिलते हैं। शतपथ और कौषीतकि ब्राह्मण में रुद्र का एक विरुद अशनि भी पाया जाता है। इन आठ विरुदों में से रुद्र, शर्व, उग्र तथा अशनि शिव के घोर (भयंकर) रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं; इसी प्रकार भव, पशुपति, महादेव और ईशान उनके सौम्य (सुन्दर) रूप का। यजुर्वेद में उनके माङ्गलिक विरुद शम्भु और शङ्कर का भी उल्लेख है।

शिव की पूजा का क्रमशः विकास कब से हुआ यह बतलाना कठिन है। किन्तु इतना निश्चित है कि ईसापूर्व में ही शैव सम्प्रदाय का उदय हो चुका था। पाणिनि ने अष्टाध्यायी (४.१.११५) में शिव के उपासकों (शैवों) का उल्लेख किया है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में रुद्र और शिव का उल्लेख किया है। महाभाष्य में यह भी कहा गया है कि शिवभागवत अयःशूल (लोहे का त्रिशूल) और दण्ड-अजिन धारण करते थे। पुराणों में (विशेषतः शैव पुराणों में) शिव का विस्तृत वर्णन और शिवतत्त्व का विवेचन पाया जाता है। संस्कृत के शुद्ध साहित्य और अभिलेखों में शिव की स्तुतियाँ भरी पड़ी हैं।

पुराणों और परवर्ती साहित्य में शिव की कल्पना योगिराज के रूप में की गयी है। उनका निवास स्थान कैलास पर्वत है। व्याघ्रचर्म (बाघम्बर) पर वे बैठते हैं, ध्यान में मग्न रहते हैं। वे अपने ध्यान और तपोबल से जगत् को धारण करते हैं। उनके सिर पर जटाजूट है जिसमें द्वितीया का नवचन्द्र जटित है। इसी जटा से जगत्पावनी गङ्गा प्रवाहित होती है। ललाट के मध्य में उनका तीसरा नेत्र है जो अन्तर्दृष्टि और ज्ञान का प्रतीक है। यह प्रलयङ्कर भी है। इसी से शिव ने काम का दहन किया था। शिव का कण्ठ नीला है इसलिए वे नीलकण्ठ कहलाते हैं। समुद्र मन्थन से जो विष निकला था उसका पान करके उन्होंने विश्व को बचा लिया था। उनके कण्ठ और भुजाओं में सर्प लिपटे रहते हैं। वे अपने सम्पूर्ण शरीर पर भस्म और हाथ में त्रिशूल धारण करते हैं। उनके वामाङ्क में पार्वती विराजमान रहती हैं और उनके सामने उनका वाहन नन्दी। वे अपने गणों से घिरे रहते हैं। योगिराज के अतिरिक्त नटराज के रूप में भी शिव की कल्पना हुई है। वे नाट्य और संगीत के भी अधिष्ठाता हैं, १०८ प्रकार के नाट्यों की उत्पत्ति शिव से मानी जाती है जिनमें लास्य और ताण्डव दोनों सम्मिलित हैं। दक्षिणामूर्ति के रूप में भी शिव की कल्पना हुई है। यह शिव के जगद्गुरुत्व का रूप है। इस रूप में वे व्याख्यान अथवा तर्क की मुद्रा में अंकित किये जाते हैं। मूर्त रूप के अतिरिक्त अमूर्त अथवा प्रतीक रूप में भी शिव की भावना होती है। इनके प्रतीक को लिङ्ग कहते हैं जो उनके निश्चल ज्ञान और तेज का प्रतिनिधित्व करता है। पुराणों में शिव के अनेक अवतारों का वर्णन है। लगता है कि विष्णु के अवतारों की पद्धति पर यह कल्पना की गयी है। प्रायः दुष्टों के विनाश तथा भक्तों की परीक्षा आदि के लिए शिव अवतार धारण करते हैं। शिव-पार्वती के विवाह की कथा संस्कृत साहित्य और लोकसाहित्य में भी बहुत प्रचलित है।

शिव के भयङ्कर रूप की कल्पना भी पायी जाती है जिसका सबन्ध उनके विध्वंसक रूप से है। वे श्मशान, रणक्षेत्र, चौराहों (दुर्घटनास्थल) में निवास करते हैं। मुण्डमाला धारण करते हैं। भूत, प्रेत और गणों से घिरे रहते हैं। वे स्वयं महाकाल (मृत्यु तथा उसके भी काल) हैं, जिसके द्वारा महाप्रलय घटित होता है।

इनका एक अर्धनारीश्वर रूप है, जिसमें शिव और शक्ति के युग्म आकार की कल्पना है। इसी प्रकार हरि-हर रूप में शिव और विष्णु के समन्वित रूप का अङ्कन है।

शिव उपपुराण—उन्तीस उपपुराणों में से यह एक है। स्पष्टतः इसका सम्बन्ध शैव सम्प्रदाय से है।

शिवकर्णामृत—अप्पय दीक्षित लिखित एक ग्रन्थ। इसमें शिव की स्तुतियों का संग्रह है।

शिवकाञ्ची—सुदूर दक्षिण भारत का प्रसिद्ध तीर्थ। यहाँ सर्वतीर्थ नामक विस्तृत सरोवर है। मुख्य मन्दिर काशी-विश्वनाथ का है। सरोवर के तट पर यात्री मुण्डन और श्राद्ध करते हैं। एकाम्रेश्वर शिवकाञ्ची का मुख्य मन्दिर है। इस क्षेत्र के दूसरे विभाग में वैष्णवतीर्थ विष्णुकाञ्ची स्थित है।

शिवचतुर्थी—भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी को शिवचतुर्थी कहा जाता है। उस दिन स्नान, दान, उपवास तथा जप करने से सहस्र गुना पुण्य होता है। गणेश इसके देवता हैं।

शिवचतुर्दशीव्रत—मार्गशीर्ष की कृष्ण त्रयोदशी को एकभक्त पद्धति से आहार तथा शिवजी की प्रार्थना करनी चाहिए।

चतुर्दशी को उपवास का विधान है। शंकर तथा उमा की श्वेत कमल तथा गन्धाक्षतादि से चरणों से प्रारम्भ कर सिरपर्यन्त पूजा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त सभी चतुर्दशियों को व्रत का आयोजन हो सकता है। मार्गशीर्ष मास से प्रारम्भ कर बारह महीनों तक भिन्न-भिन्न नामों से शिवजी को प्रणामाञ्जलि देनी चाहिए। वर्ष के प्रति मास में व्रती क्रमशः निम्न वस्तुओं का सेवन करे—गोमूत्र, गोमय, गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत इत्यादि तथा प्रति मास भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्प समर्पित किये जाँय। कार्तिक मास से एक वर्ष या बारह वर्षों तक यह विधान चलना चाहिए। वर्ष के अन्त में वह एक वृष छोड़ दें तथा पर्यङ्कोपयोगी वस्त्र तथा कलश का दान करे। इस व्रत का पुण्य सहस्रों अश्वमेध यज्ञों से बढ़कर है। इससे गम्भीर से गम्भीर पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

शिवदृष्टि—शैव मत का एक ग्रन्थ। उत्पलाचार्य के गुरु, काश्मीरीय शिवाद्वैतवाद के मुख्य आचार्य सोमानन्द ने इसकी रचना की थी। इसमें भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद की विशेष समालोचना हुई है।

शिवनक्षत्रपुरुषव्रत—फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष में हस्त नक्षत्र के दिन उपवास करने में असमर्थ व्यक्ति को इसका आयोजन करना चाहिए। यह नक्षत्रव्रत है। इसके शिव देवता हैं। इस दिन शङ्करजी के शरीरावयवों को हस्त इत्यादि २७ नक्षत्रों के साथ संयुक्त करते हुए उनका आपादमस्तक पूजन करना चाहिए। तैल एवं लवण रहित नक्त विधि से आहार तथा प्रति नक्त दिन को एक प्रस्थ चावल तथा घृत से परिपूर्ण पात्र का दान करना चाहिए। पारणा के समय शिव तथा उमा की मूर्ति तथा पर्यङ्कोपयोगी वस्त्रों का दान करना चाहिए।

शिवनारायणी पंथ—सुधारवादी निर्गुण शाखा का पन्थ, जिसका प्रवर्तन शिवनारायण नामक सन्त ने किया था। शिवनारायण का जन्म गाजीपुर (उ० प्र०) जिले के भलेसरी गाँव के राजपूत परिवार में हुआ था। इन्होंने संवत् १७९० वि० में इस मत का प्रवर्तन किया। इन्होंने गाजीपुर जिले में ही चार धामों के नाम से चार मठों की स्थापना की। इनके अनुयायियों में सभी वर्ण के लोग सम्मिलित थे, परन्तु निम्न वर्ण और असवर्णों की प्रधानता थी। ऐसा कहा जाता है कि दिल्ली का बादशाह मुहम्मद शाह (संवत् १७७६-१८०५ वि०) भी इस मत का अनुयायी था। इस पंथ में निराकार ब्रह्म की उपासना होती है और इनके अनुयायी शिवनारायण को ईश्वर का अवतार मानते हैं।

शिवपवित्रव्रत—आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन शिव की आराधना करनी चाहिए। इस दिन शिवप्रतिमा को यज्ञोपवीत (पवित्र सूत्र) पहनाया जाय तथा शिवभक्तों को भोजन कराया जाय। पुनः कार्तिक की पूर्णिमा को शिव की उपासना करनी चाहिए। साथ ही संन्यासियों को दक्षिणा देनी चाहिए तथा वस्त्रों का दान करना चाहिए।

शिवपुराण—विष्णुपुराण में अष्टादश पुराणों की जो सूची दी गयी है उसमें शिवपुराण की गणना है, वायुपुराण की नहीं। इसलिए कतिपय विद्वान् दोनों पुराणों को एक ही ग्रन्थ मानते हैं। परन्तु दोनों पुराणों की विषयसूचियों में मेल नहीं है (दे० आनन्दाश्रम, पूना से प्रकाशित वायुपुराण की विषयसूची)। शिवपुराण (विद्येश्वर खण्ड, अ० २) के अनुसार इसमें मूलतः एक लाख श्लोक थे। व्यास ने इसका संक्षेप कर सात संहिताओं (खण्डों) का चौबीस सहस्र श्लोकों वाला शैव पुराण (शिवपुराण) रचा। स्पष्टतः यह शैव पुराण है। इसके सात खण्डों के नाम इस प्रकार हैं: (१) विद्येश्वरसंहिता (२) रुद्रसंहिता जिसमें सृष्टिखण्ड, सतीखण्ड, पार्वतीखण्ड, कुमारखण्ड, और युद्धखण्ड का समावेश है (३) शतरुद्रसंहिता (४) कोटिरुद्रसंहिता (५) उमासंहिता (६) कैलाससंहिता और (७) वायवीय संहिता। पं० रामनाथ शैव द्वारा सम्पादित तथा वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित शिवपुराण में चौबीस सहस्र श्लोक हैं। इसमें उपर्युक्त सात संहिताएँ पायी जाती हैं।

शिवभागवत—अथर्वशिरस् उपनिषद् में शंकर अथवा शिव के लिए 'भगवान्' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिए प्राचीन ग्रन्थों में शिव के उपासकों को 'शिवभागवत' कहा जाने लगा। महाभाष्य (पाणिनि, ५.२.७८) में शिवभागवत का उल्लेख है। प्रशस्तपाद ने वैशेषिक सूत्रभाष्य के अन्त में महर्षि कणाद की वन्दना करते हुए कहा है कि 'भगवान् महेश्वर' के प्रसाद से उन्हें ये सूत्र प्राप्त हुए थे। शिवभागवत स्मार्त आचारवादी होते हैं।

शिवयोगयुक्त शिवरात्रिव्रत—फाल्गुन कृष्ण की शिवयोगयुक्त चतुर्दशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। शिव इसके देवता हैं। यह एक राजा की कथा से सम्बद्ध है जो पूर्व

जन्म में व्यापारी था तथा सर्वदा उसकी माल चुराने की प्रवृत्ति रहती थी (स्कन्दपुराण)।

शिवरथव्रत—हेमन्त (मार्गशीर्ष-पौष) में एकभक्त विधि से व्रत करना चाहिए। इसके अनुसार एक रथ बनवाकर उसे रंग-बिरंगे कपड़ों से सजाकर उसमें चार श्वेत वृषभ जोते जाँय। चावलों के आटे की शिवप्रतिमा बनाकर उसे रथ में विराजमान करके रात्रि में सार्वजनिक सड़कों पर हाँकते हुए रथ को शिवमन्दिर तक लाया जाय। रात्रि में दीपों को प्रज्वलित करते हुए जागरण तथा नाटक आदि का आयोजन विहित है। दूसरे दिन शिवभक्तों, अन्धों, निर्धनों तथा दलितों-पतितों को भोजन कराया जाय। इसके बाद शिवजी को रथ समर्पित कर दिया जाय। यह ऋतु-व्रत है।

शिवरात्रि—फाल्गुन मास की कृष्ण चतुर्दशी को 'शिव-रात्रि' कहते हैं। इसी दिन शिव और पार्वती का विवाह हुआ था। इस दिन महाशिवरात्रि का व्रत किया जाता है। इस व्रत को करने का अधिकार सभी को है।

शिवशक्तिसिद्धि—महाकवि श्रीहर्ष द्वारा रचित एक दार्शनिक ग्रन्थ। इसमें शिव और शक्ति के अद्वयवाद का विवेचन हुआ है।

शीतलाषष्ठी—बंगाल में माघ शुक्ल षष्ठी को, गुजरात में श्रावण कृष्ण अष्टमी को शीतला व्रतविधि मनायी जाती है। उत्तर भारत में चैत्र कृष्ण अष्टमी को शीतलाष्टमी मनायी जाती है। इसमें शीतला देवी की विधिवत् पूजा की जाती है।

शीतलाष्टमी—चैत्र कृष्ण अष्टमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। चेचक से मुक्ति के लिए शीतला (माता अथवा चेचक की देवी के नाम से विख्यात) देवी की पूजा की जाती है। इस अवसर पर आठ घी के दीपक रात-दिन देवी के मन्दिर में प्रज्वलित किये जाने चाहिए। साथ ही गौ का दूध तथा उशीर मिश्रित जल छिड़का जाय। इसके उपरान्त एक गदहा, एक झाड़ू तथा एक सूप का पृथक्-पृथक् दान किया जाय। शीतला देवी का वाहन गदहा है। देवी को नग्नावस्था में एक हाथ में झाड़ू एवं कलश तथा दूसरे में सूप लिये हुए चित्रित किया जाता है। (शीतला देवी के लिए देखिए फॉर्ब की रसमाला, जिल्द २, पृ० ३२२-३२५ तथा शीतला-मंगला के लिए ए० सी० सेन की 'बंगाली भाषा तथा साहित्य', पृ० ३६५-३६७)।

शील—धर्म के मूल आचरणों में एक शील भी है। मनुस्मृति (अ० २) में कथन है :

> वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
> आचारश्चैव साधूनामात्मनः तुष्टिरेव च ॥

इसके अनुसार वेदज्ञों के आचरण को शील कहते हैं। हारीत के अनुसार ब्रह्मण्यता आदि त्रयोदश (तेरह) प्रकार के गुणसमूह को शील कहते हैं। यथा—

"ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयुता, मृदुता, अपारुष्य, मैत्रता, प्रियवादिता, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्य, प्रशान्तिः। इति त्रयोदशविधं शीलम्।"

गोविन्दराज के अनुसार राग-द्वेषपरित्याग को शील कहते हैं। दे० महाभारत का शील निरूपणाध्याय।

शुक्र—(१) व्यास के पुत्र (शुकदेव) जिन्होंने राजा परीक्षित को श्रीमद्भागवत की कथा सुनायी थी। हरिवंश तथा वायुपुराण में इनकी कथा मिलती है। अग्निपुराण के प्रजापतिसर्ग नामक अध्याय में भी शुक की कथा पायी जाती है। देवीभागवत (१.१४.१२३) में एक दूसरे प्रकार से शुक की कथा दी हुई है।

(२) शुक पक्षी-विशेष का नाम है। इससे शुभाशुभ का ज्ञान होता है। वसन्तराजशाकुन (वर्ग ८) में लिखा है :

> वामः पठन् राजशुकः प्रयाणे
> शुभं भवेद्दक्षिणतः प्रवेशे।
> वनेचरा काष्ठशुकाः प्रयातुः
> स्युः सिद्धिदाः संमुखमापतन्तः ॥

शुक्र—एक चमकीला ग्रह। इसके पर्याय हैं दैत्यगुरु, काव्य, उशना, भार्गव, कवि, सित, आस्फुजित, भृगुसुत, भृगु आदि। वामनपुराण (अ०६६) में शुक्र के नामकरण की अद्भुत कथा दी हुई है। ये दैत्य राजा बलि के पुरोहित थे। इनकी पत्नी का नाम शतपर्वा था। कन्या देवयानी का विवाह सोमवंश के राजा ययाति से हुआ था। शुक्र को उशना भी कहते हैं जो राजशास्त्रकार माने जाते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (विद्यासमुद्देश) में ये दण्डनीति के एक सम्प्रदाय (औशनस) के प्रवर्तक कहे गये हैं, जिसके अनुसार दण्डनीति ही एक मात्र विद्या है। 'शुक्रनीतिसार' शुक्र की ही परम्परा में लिखा गया ग्रन्थ है।

शुक्रव्रत—शुक्रवार के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र होने पर मनुष्य को नक्त विधि से आहार करना चाहिए। यदि ऐसे ही शुक्रवार को सप्तमी पड़े तो चाँदी या काँसे के पात्र में सुवर्ण की शुक्र की मूर्ति रखकर इसकी श्वेत वस्त्रों तथा चन्दन के प्रलेप से पूजा की जानी चाहिए। प्रतिमा के सम्मुख खीर तथा घी रखकर थोड़ी देर बाद समस्त वस्तुओं का दान कर दिया जाय तथा दान के समय शुक्र से प्रार्थना की जाय कि 'हे शुक्र, हमारी समस्त बुराइयों एवं कुग्रहों के दुष्प्रभाव को दूर करके सुस्वास्थ्य दीर्घायु प्रदान कीजिए।'

शुक्ल यजुर्वेद—यजुर्वेद के दो मुख्य विभाग हैं, शुक्ल यजुर्वेद तथा कृष्ण यजुर्वेद। जिसमें शुद्ध पद्यात्मक (छन्दोबद्ध) मन्त्र हैं उसे शुक्ल यजुर्वेद कहा जाता है। जिस भाग में मन्त्र तथा विधि के गद्य का मिश्रण है उसे कृष्ण यजुर्वेद कहते हैं। दे० 'यजुर्वेद'।

शुद्ध—शुचि, पवित्र, पावन, निष्कलमष वस्तु। शरीर की शुद्धता-अशुद्धता का विस्तृत वर्णन पद्मपुराण (उन्नीसवें अध्याय, उत्तर खण्ड) में पाया जाता है।

शुद्धि—धार्मिक कृत्य के लिए अर्हता उत्पन्न करने वाले प्रयोजक संकारविशेष को शुद्धि कहते हैं। जननाशौच तथा मरणाशौच से शुद्ध होने की क्रिया को भी शुद्धि कहते हैं। वस्तुओं को शुद्ध करने का नाम भी शुद्धि है। विस्तृत वर्णन 'शुद्धितत्त्व' नामक ग्रन्थ में देखिए।

शुद्धिव्रत—शरद् ऋतु के अन्तिम पाँच दिन अथवा बारहों महीनों की एकादशी को शुद्धिव्रत किया जाय। यह तिथिव्रत है। हरि इसके देवता हैं। जिस समय समुद्र मंथन हुआ था, उसमें से पाँच गौएँ निकली थीं जिनकी अंगज वस्तुएँ पवित्र मानी गयीं। यथा गोमय, रोचना, (पीत चूर्ण), दुग्ध, गोमूत्र, दही तथा घी। गौ के गोबर से बिल्व वृक्ष अथवा श्रीवृक्ष उत्पन्न हुआ। लक्ष्मी के वास करने से इसे श्रीवृक्ष कहते हैं। गोरोचना से समस्त पुनीत इच्छाएँ उत्पन्न हुईं। गोमूत्र से गुग्गुलु तथा संसार की समस्त शक्ति गौ के दूध से उत्पन्न हुई। समस्त पुनीत वस्तुएँ गौ के दही से उत्पन्न हुईं तथा समस्त सौन्दर्य गौ के घी से उत्पन्न हुआ। इसलिए हरि की प्रतिमा को दूध, दही, घी से स्नान कराकर उसका अगस्ति के पुष्पों, गुग्गुलु तथा दीपक जलाकर पूजन करना चाहिए। इस व्रत के आचरण से स्वर्ग प्राप्त होता है, साथ ही व्रतकर्त्ता के पूर्वज भी स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं। व्रत के अन्त में एक गौ के साथ-साथ जलधेनु, घृतधेनु एवं मधुधेनु का दान करना चाहिए। इससे वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

शुनःशेप—वेदसूक्त रचयिता एक ऋषिकुमार। ये ऋचीक मुनि के पुत्र थे, यज्ञार्थ अम्वरीप द्वारा खरीदे गये थे। विश्वामित्र ने इनकी रक्षा की थी। वाल्मीकिरामायण (बाल-काण्ड, ६१ सर्ग) में शुनःशेप की कथा इस प्रकार दी हुइ है—'राजा हरिश्चन्द्र वरुण के शाप के कारण जलोदर रोग से पीड़ित था। वरुण की तुष्टि के लिए यज्ञार्थ उसने अजीगर्त के पुत्र शुनःशेप को बलिपशु के रूप में प्राप्त किया। करुणार्द्र होकर विश्वामित्र ने अत्यन्त व्याकुल शुनःशेप को देखा और उसको मुक्त किया। तब से शुनःशेप विश्वामित्र के पुत्र कहलाये।

ऋग्वेद के वरुण सूक्त के आधार पर शुनःशेप की कथा का विकास हुआ। इसमें शुनःशेप द्वारा पाप से मुक्त होने की प्रार्थना की गयी है। इसका आख्यान पहले ऐतरेय ब्राह्मण में आया है और फिर वहाँ से पुराणों में इसका विस्तार हुआ।

शुम्भ—एक दानव, जो गवेष्टी का पुत्र और प्रह्लाद का पौत्र था। यह दुर्गा के द्वारा मारा गया। अग्निपुराण (कश्यपीय सर्गाध्याय), वामनपुराण (५२ अध्याय) तथा मार्कण्डेय पुराण (देवीमाहात्म्य, १० अध्याय) में शुम्भ की कथा पायी जाती है।

शूकरक्षेत्र—कहा जाता है कि यहाँ गोस्वामी तुलसीदासजी का गुरुद्वारा था। दे० 'शौकर क्षेत्र'।

शूद्र—चार वर्णों में चतुर्थ वर्ण। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के अनुसार विराट् पुरुष के पैरों से इसकी उत्पत्ति हुई थी। समाज की सावयव कल्पना के आधार पर समाज का यह अविभाज्य अङ्ग है। पैरों के समान चलना अथवा प्रेष्य होना इसका कर्तव्य है। स्मृतियों के अनुसार प्रथम तीन वर्णों की सेवा इसका कार्य और जीविका है। इसका एक मात्र आश्रम गार्हस्थ्य है।

धर्मशास्त्र में चारों वर्णों के लिए जिन षट्कर्मों का विधान है (पठन-पाठन, यजन-याजन तथा दान-प्रतिग्रह) उनमें से शूद्र को पठन (वैदिक मन्त्रों को छोड़कर), यजन (निर्मन्त्र) तथा दान (शुद्धि) का अधिकार है। सेवा

उसका विशेष कार्य है। इस प्रकार शूद्र स्वतंत्र श्रमिक है, भृत्य अथवा दास नहीं, जो किसी भी वर्ण का व्यक्ति हो सकता है।

शूद्रान्न तथा शूद्र का दिया हुआ दान परवर्ती ग्रन्थों में प्रायः वर्जित है। किन्तु कई शास्त्रकारों ने इसका अपवाद स्वीकार किया है :

> कन्दुपक्वानि तैलेन पायसं दधिसक्तवः।
> द्विजैरेतानि भोज्यानि शूद्रगेहकृतान्यपि ॥

शूद्रों के सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिए कमलाकर भट्ट का शूद्रकमलाकर नामक निबन्ध ग्रन्थ देखिए।

शून्य—श्वान के सोने योग्य, एकान्त का स्थान (शुने हितम्, शुनः संप्रसारणं यच्च।)। चाणक्यनीतिशास्त्र में शून्य के विषय में कथन है :

> अविद्यजीवनं शून्यं दिक् शून्या चेदबान्धवा।
> पुत्रहीनं गृहं शून्यं सर्वशून्या दरिद्रता ॥

(२) दर्शन शास्त्र तथा गणित में भाव और अभाव से विलक्षण स्थिति का नाम शून्य है।

शून्यवाद—अनात्मवादी बौद्ध दार्शनिकों की एक शाखा। इसके अनुसार संसार को 'सर्वं शून्यम्' माना जाता है। इसी अभिप्राय से यह मत 'वैनाशिक' भी कहलाता है।

शृङ्गवेरपुर—रामायणवर्णित निषादराज गुह की गङ्गा तीरस्थ राजधानी। यह प्रयाग से प्रायः दस कोस दूर पश्चिम में है। भगवान् श्री राम ने वनवास के समय निषादराज के कहने से यहाँ रात्रि में निवास किया था। यहाँ शृङ्गी (ऋष्यशृङ्ग) ऋषि तथा उनकी पत्नी दशरथसुता शान्ता देवी का मन्दिर है। गङ्गाजी में ऋष्यशृङ्ग के पिता के नाम पर विभाण्डककुण्ड है। रामचौरा ग्राम में गङ्गा के किनारे एक मन्दिर में रामचन्द्रजी के चरणचिह्न हैं। पास में रामनगर स्थान है, जहाँ प्रत्येक पूर्णिमा और अमावस्या को मेला लगता है। रामचन्द्रजी यहीं गङ्गा पार उतरकर प्रयाग गये थे।

शृङ्गेरी—आद्य शङ्कराचार्य का दक्षिण प्रदेशस्थ मुख्य पीठ स्थान। यह तुङ्गभद्रा नदी के किनारे बसा हुआ है। घाट के ऊपर ही शङ्कराचार्यमठ, शारदा देवी और विद्यातीर्थ महेश्वर का मन्दिर है। यहाँ विभाण्डकेश्वर शिवलिङ्ग है। शृङ्गी ऋषि के पिता विभाण्डक ऋषि का यहाँ आश्रम था। यह क्षेत्र भी पुराना विभाण्डकाश्रम है। यहाँ के जगद्गुरु शङ्कराचार्य का देश में सबसे अधिक आदर है।

शेष—(१) नागराज अनन्त, जिनके ऊपर विष्णु भगवान् शयन करते हैं। प्रलय काल में नयी सृष्टि से पूर्व जो विश्व का शेष अथवा मूल (अव्यक्त) रूप रह जाता है उसी का यह प्रतीक है। शेष का ध्यान ,निम्नलिखित प्रकार से भविष्यपुराण में बतलाया गया है :

> फणासहस्रसंयुक्तं चतुर्बहुं किरीटिनम्।
> नवाम्रपल्लवाकारं पिङ्गलश्मश्रुलोचनम् ॥

भगवान् की एक मूर्ति (तामसी) का नाम भी (कूर्मपुराण, ४८ अध्याय) शेष है :

> एका भगवतो मूर्तिर्ज्ञानरूपा शिवामला।
> वासुदेवाभिधाना सा गुणातीता सुनिष्कला ॥
> द्वितीया ज्ञानसंज्ञान्या तामसी शेषसंज्ञिता।
> निहन्ति सकलांश्चान्ते वैष्णवो परमा तनुः ॥

(२) लक्ष्मण और बलराम का एक नाम शेष है। वे शेष के अवतार माने जाते हैं।

शैवमत—भारत के धार्मिक सम्प्रदायों में शैवमत प्रमुख है। वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदायों के अनुयायियों से इसके मानने वालों की संख्या अधिक है। शिव त्रिमूर्ति में से तीसरे हैं, जिनका विशिष्ट कार्य विश्व का संहार करना है। शैव वह धार्मिक सम्प्रदाय है जो शिव को ही ईश्वर मानकर आराधना करता है। शिव का शाब्दिक अर्थ है 'शुभ', 'कल्याण', 'मङ्गल', 'श्रेयस्कर' आदि, यद्यपि शिव का कार्य, जैसा कि कहा जा चुका है, संहार करना है।

शैवमत का मूल रूप ऋग्वेद में रुद्र की कल्पना में मिलता है। रुद्र के भयङ्कर रूप की अभिव्यक्ति वर्षा के पूर्व झंझावात के रूप में होती थी। रुद्र के उपासकों ने अनुभव किया कि झंझावात के पश्चात् जगत् को जीवन प्रदान करने वाला शीतल जल बरसता है और उसके पश्चात् एक गम्भीर शान्ति और आनन्द का वातावरण निर्मित हो जाता है। अतः रुद्र का ही दूसरा सौम्य रूप शिव जनमानस में स्थिर हो गया। शिव के तीन नाम शम्भु, शङ्कर और शिव प्रसिद्ध हुए। इन्हीं नामों से उनकी प्रार्थना होने लगी।

यजुर्वेद के शतरुद्रिय अध्याय, तैत्तिरीय आरण्यक और श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव को ईश्वर माना गया है। उनके पशुपति रूप का संकेत सबसे पहले अथर्वशिरस्

उपनिषद् में पाया जाता है, जिसमें पशु, पाश, पशुपति आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे लगता है कि उस समय से पाशुपत सम्प्रदाय बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी।

रामायण-महाभारत के समय तक शैवमत शैव अथवा माहेश्वर नाम से प्रसिद्ध हो चुका था। महाभारत में माहेश्वरों के चार सम्प्रदाय बतलाये गये हैं—(१) शैव (२) पाशुपत (३) कालदमन और (४) कापालिक। वैष्णव आचार्य यामुनाचार्य ने कालदमन को ही 'कालमुख' कहा है। इनमें से अन्तिम दो नाम शिव को रुद्र तथा भयङ्कर रूप में सूचित करते हैं, जब प्रथम दो शिव के सौम्य रूप को स्वीकार करते हैं। इनके धार्मिक साहित्य को शैवागम कहा जाता है। इनमें से कुछ वैदिक और शेष अवैदिक हैं।

सम्प्रदाय के रूप में पाशुपत मत का संघटन बहुत पहले प्रारम्भ हो गया था। इसके संस्थापक आचार्य लकुलीश थे। इन्होंने लकुल (लकुट) धारी शिव की उपासना का प्रचार किया, जिसमें शिव का रुद्र रूप अभी वर्तमान था। इसकी प्रतिक्रिया में अद्वैत दर्शन के आधार पर समयाचारी वैदिक शैव मत का संघटन सम्प्रदाय के रूप में हुआ। इसकी पूजापद्धति में शिव के सौम्य रूप की प्रधानता थी। किन्तु इस अद्वैत शैव सम्प्रदाय की भी प्रतिक्रिया हुई। ग्यारहवीं शताब्दी में वीर शैव अथवा लिङ्गायत सम्प्रदाय का उदय हुआ, जिसका दार्शनिक आधार शक्तिविशिष्ट अद्वैतवाद था।

कापालिकों ने भी अपना साम्प्रदायिक संघटन किया। इनके साम्प्रदायिक चिह्न इनकी छः मुद्रिकाएँ थीं, जो इस प्रकार हैं—(१) कण्ठहार (२) आभूषण (३) कर्णभूषण, (४) चूडामणि (५) भस्म और (६) यज्ञोपवीत। इनके आचार शिव के घोर रूप के अनुसार बड़े वीभत्स थे, जैसे कपालपात्र में भोजन, शव के भस्म को शरीर पर लगाना, भस्मभक्षण, यष्टिधारण, मदिरापात्र रखना, मदिरापात्र का आसन बनाकर पूजा का अनुष्ठान करना आदि। कालमुख साहित्य में कहा गया है कि इस प्रकार के आचार से लौकिक और पारलौकिक सभी कामनाओं की पूर्ति होती है। इसमें सन्देह नहीं कि कापालिक क्रियाएँ शुद्ध शैवमत से बहुत दूर चली गयीं और इनका मेल वाममार्गी शाक्तों से अधिक हो गया।

पहले शैवमत के मुख्यतः दो ही सम्प्रदाय थे—पाशुपत और आगमिक। फिर इन्हीं से कई उपसम्प्रदाय हुए, जिनकी सूची निम्नाङ्कित है :

१. पाशुपत शैव मत—

(१) पाशुपत,
(२) लकुलीश पाशुपत,
(३) कापालिक,
(४) नाथ सम्प्रदाय,
(५) गोरख पन्थ,
(६) रसेश्वर।

२. आगमिक शैव मत—

(१) शैव सिद्धान्त,
(२) तमिल शैव
(३) काश्मीर शैव,
(४) वीर शैव।

पाशुपत सम्प्रदाय का आधारग्रन्थ महेश्वर द्वारा रचित 'पाशुपतसूत्र' है। इसके ऊपर कौण्डिन्यरचित 'पञ्चार्थीभाष्य' है। इसके अनुसार पदार्थों की संख्या पाँच है—(१) कार्य (२) कारण (३) योग (४) विधि और (५) दुःखान्त। जीव (जीवात्मा) और जड (जगत्) को कार्य कहा जाता है। परमात्मा (शिव) इनका कारण है, जिसको पति कहा जाता है। जीव पशु और जड पाश कहलाता है। मानसिक क्रियाओं के द्वारा पशु और पति के संयोग को योग कहते हैं। जिस मार्ग से पति की प्राप्ति होती है उसे विधि की संज्ञा दी गयी है। पूजाविधि में निम्नाङ्कित क्रियाएँ आवश्यक हैं—(१) हँसना (२) गाना (३) नाचना (४) हुंकारना और (५) नमस्कार। संसार के दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति ही दुःखान्त अथवा मोक्ष है।

आगमिक शैवों के शैव सिद्धान्त के ग्रन्थ संस्कृत और तमिल दोनों में हैं। इनमें पति, पशु और पाश इन तीन मूल तत्त्वों का गम्भीर विवेचन पाया जाता है। इनके अनुसार जीव पशु है जो अज्ञ और अणु है। जीव पशु चार प्रकार के पाशों से बद्ध है। यथा—मल, कर्म, माया और रोध शक्ति। साधना के द्वारा जब पशु पर पति का शक्तिपात (अनुग्रह) होता है तब वह पाश से मुक्त हो जाता है। इसी को मोक्ष कहते हैं।

काश्मीर शैव मत दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवादी है। अद्वैत वेदान्त और काश्मीर शैव मत में साम्प्रदायिक अन्तर इतना है कि अद्वैतवाद का ब्रह्म निष्क्रिय है किन्तु काश्मीर शैवमत का ब्रह्म (परमेश्वर) कर्तृत्वसम्पन्न है। अद्वैतवाद में ज्ञान की प्रधानता है, उसके साथ भक्ति का सामञ्जस्य पूरा नहीं बैठता; काश्मीर शैवमत में ज्ञान

और भक्ति का सुन्दर समन्वय है। अद्वैत वेदान्त में जगत् ब्रह्म का विवर्त (भ्रम) है। काश्मीर शैवमत में जगत् ब्रह्म का स्वातन्त्र्य अथवा आभास है। काश्मीर शैव दर्शन की दो प्रमुख शाखाएँ हैं—स्पन्द शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र। पहली शाखा के मुख्य ग्रन्थ 'शिवदृष्टि' (सोमानन्द कृत), 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' (उत्पलाचार्य कृत), 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिकाविमर्शिनी' और (अभिनवगुप्त रचित) 'तन्त्रालोक' हैं। दोनों शाखाओं में कोई तात्त्विक भेद नहीं है; केवल मार्ग का भेद है। स्पन्द शास्त्र में ईश्वराद्वय की अनुभूति का मार्ग ईश्वरदर्शन और उसके द्वारा मलनिवारण है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में ईश्वर के रूप में अपनी प्रत्यभिज्ञा (पुनरनुभूति) ही वह मार्ग है। इन दोनों शाखाओं के दर्शन को 'त्रिकदर्शन' अथवा 'ईश्वराद्वयवाद' कहा जाता है।

वीरशैव मत के संस्थापक महात्मा बसव थे। इस सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र पर 'श्रीकरभाष्य' और 'सिद्धान्तशिखामणि' हैं। इनके अनुसार अन्तिम तत्त्व अद्वैत नहीं, अपितु विशिष्टाद्वैत है। यह सम्प्रदाय मानता है कि परम तत्त्व शिव पूर्ण अहन्तारूप अथवा पूर्ण स्वातन्त्र्यरूप है। स्थूल चिदचिच्छक्ति विशिष्ट जीव और सूक्ष्म चिदचिच्छक्ति विशिष्ट शिव का अद्वैत है। वीरशैव मत को लिङ्गायत भी कहते हैं, क्योंकि इसके अनुयायी बराबर शिवलिङ्ग गले में धारण करते हैं। (अन्य शैव सम्प्रदायों को यथास्थान देखिए।)

शौकर—शूकरक्षेत्र का ही पर्याय। यह गङ्गातटवर्ती प्रसिद्ध तीर्थ है। वराहपुराणस्थ शौकरतीर्थमाहात्म्य के 'आदित्यवरप्रदान-गृध्रजम्बुकोपाख्यान' नामक अध्याय में इसका वर्णन पाया जाता है :

श्रृणु मे परमं गुह्यं यत्त्वया परिपृच्छितम्।
मम क्षेत्रं परञ्चैव शुद्धं भागवतप्रियम्॥
परं कोकामुखं स्थानं तथा कुब्जाम्रकं परम्।
परं शौकरवं स्थानं सर्वं संसारमोक्षणम्॥
यत्र संस्था च मे देवि ह्युद्धृतासि रसातलात्।
यत्र भागीरथी गङ्गा मम शौकरवे स्थिता॥

अधिकांश विद्वानों के विचार में आधुनिक 'सोरों' (एटा जिला) ही शौकर अथवा शूकर क्षेत्र है। कुछ लोग इसको अयोध्या के पास वाराहक्षेत्र के स्थान पर मानते हैं। किन्तु वराहपुराण का शौकर क्षेत्र तो (यत्र भागीरथी गङ्गा) गङ्गा के किनारे ही होना चाहिए।

शौच—एकादशी तत्त्व में उद्धृत बृहस्पति के अनुसार शौच (शुद्धि) की परिभाषा इस प्रकार है :

अभक्ष्यपरिहारस्तु संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः।
स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत् प्रकीर्तितम्॥

[अभक्ष्य का परित्याग, निन्दित पुरुषों के संसर्ग का परित्याग, अपने धर्म में व्यवस्थिति (दृढ़ता) को शौच कहते हैं।]

गरुडपुराण (११० अध्याय) में शौच की निम्नलिखित परिभाषा है :

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं विशिष्यते।
योऽर्थैर्शुचिः शौचान्न मृदा वारिणा शुचिः॥
सत्यशौचं मनःशौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया शौचं जलशौचन्तु पञ्चमम्।
यस्य सत्यञ्च शौचञ्च तस्य स्वर्गो न दुर्लभः॥

और भी कहा है :

यावता शुद्धिं मन्येत तावच्छौचं समाचरेत्।
प्रमाणं शौचसंख्याया न शिष्टैरुपदिश्यते॥
शौचन्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिरथान्तरम्॥

जननाशौच, मरणाशौच, स्पर्शाशौच आदि अनेक प्रकार के अशौच से शौच प्राप्त करने की विधियाँ पुराणों और परवर्ती स्मृतियों में भरी पड़ी हैं। दे० पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, १०९ अध्याय; कूर्मपुराण, उपविभाग, २२ अध्याय।

श्मशान—शवसंस्कार का स्थान श्मनां (शवानां शानं शयनं यत्र)। इसके पर्याय हैं पितृवन, रुद्राक्रीड, दाहसर आदि। वाराणसी को महाश्मशान कहा गया है :

'वाराणसीति विख्याता रुद्रावास इति द्विजाः।
महाश्मशानमित्येवं प्रोक्तमानन्दकाननम्॥'

श्मशान से लौटने पर शौच आदि की विधि शास्त्रों में निर्दिष्ट है। दे० वराहपुराण, श्मशानप्रवेशापराधप्रायश्चित्त नामाध्याय।

श्मशानकाली—काली का एक विशेष रूप। दे० कालीतन्त्र।

श्यामा—कालिका अथवा दुर्गा। श्यामा की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है :

ततः सा कालिका देवी योगनिद्रा जगन्मयी ।
पूर्वत्यक्तसतीरूपा जन्मार्थं मेनकां ययौ ।।
समयस्यानुरूपेण मेनकाजठरे शिवा ।
सम्भूय च समुत्पन्ना सा लक्ष्मीरिव सागरात् ।।
वसन्तसमये देवी नवम्यां मृगयोगतः ।
अर्धरात्रौ समुत्पन्ना गङ्गेव शशिमण्डलात् ।।
तान्तु दृष्ट्वा यथा जातां नीलोत्पलदलानुगाम् ।
श्यामां सा मेनका देवी मुदमापातिहर्षिता ।।
देवाश्च हर्षमतुलं प्रापुस्तत्र मुहुर्मुहुः ।। आदि
(कालिकापुराण, ४० अध्याय)

तन्त्र ग्रन्थों में श्यामापूजा का विस्तृत विधान है। दे० कालीतन्त्र, वीरतन्त्र, कुमारीकल्प, तन्त्रसार, गोप्य-गोप्य-लीलागम आदि।

श्रवण—नवधा भक्ति का एक प्रकार। भगवान् की कीर्ति को सुनना 'श्रवण' कहलाता है।

(२) मनुस्मृति (८.७४) के अनुसार समक्ष दर्शन और श्रवण दोनों से साक्ष्य सिद्ध होता है।

श्राद्ध—श्रद्धापूर्वक शास्त्रविधि से पितरों की तृप्ति के लिए किया गया धार्मिक कृत्य। इसका लक्षण इस प्रकार वर्णित है :

संस्कृतव्यञ्जनाढ्यञ्च पयोदधिघृतान्वितम् ।
श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते ।।

मनु के अनुसार श्राद्ध पाँच प्रकार का है :

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धं तथैव च ।
पार्वणञ्चेति मनुना श्राद्धं पञ्चविधं स्मृतम् ।।

विश्वामित्र के अनुसार श्राद्ध बारह प्रकार का होता है :

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धं सपिण्डनम् ।
पार्वणञ्चेति विज्ञेयं गोष्ठ्यां शुद्ध्यर्थमष्टमम् ।।
कर्माङ्गं नवमं प्रोक्तं दैविकं दशमं स्मृतम् ।
यात्रार्थैकादशं प्रोक्तं पुष्ट्यर्थं द्वादशं स्मृतम् ।।

भविष्यपुराण में इन श्राद्धों का निम्नलिखित विवरण पाया जाता है :

१. नित्य श्राद्ध—जो प्रति दिन श्राद्ध किया जाता है उसे नित्य श्राद्ध कहते हैं।

२. नैमित्तिक—एक (पितृ) के उद्देश्य से जो श्राद्ध (एकोद्दिष्ट) किया जाता है उसे नैमित्तिक कहते हैं। इसको अदैव रूप से किया जाता है और इसमें अयुग्म (विषम) संख्या के ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है।

३. काम्य श्राद्ध—किसी कामना के अनुकूल अभिप्रेतार्थ सिद्धि के लिए जो श्राद्ध किया जाता है उसे काम्य कहते हैं।

४. पार्वण श्राद्ध–पार्वण (महालया, अमावस्या के) विधान से जो श्राद्ध किया जाता है उसे पार्वण श्राद्ध कहते हैं।

५. वृद्धि श्राद्ध—वृद्धि (संतान, विवाह) में जो श्राद्ध किया जाता है उसे वृद्धि श्राद्ध कहते हैं।

६. प्रेत को पितरों के साथ मिलित करने के लिए जो श्राद्ध किया जाता है उसे सपिण्डन कहते हैं।

७-१२. शेष नित्य श्राद्ध के समान होते हैं।

दे० कूर्म, वराह (श्राद्धोत्पत्तिनामाध्याय), विष्णु पुराण (३ अंश, १३ अध्याय), गरुड पुराण (९९ अध्याय)।

श्रावणी—श्रवण नक्षत्र से युक्त श्रावणमास की पूर्णिमा को श्रावणी कहते हैं। यह पवित्र तिथि मानी जाती है। प्राचीन काल में शैक्षणिक सत्र इसी समय से प्रारम्भ होता था। इस दिन श्रावणी कर्म अथवा उपाकर्म किया जाता था, जिसके पश्चात् अपनी-अपनी शाखा का वैदिक अध्ययन प्रारम्भ होता था। आजकल श्रावणी के दिन रक्षाबन्धन की प्रथा चल गयी है, जिसका उद्देश्य है किसी महान् त्याग के लिए अपने सम्बन्धी, मित्रों अथवा यजमानों को प्रतिबद्ध (प्रतिश्रुत) करना।

श्रावस्ती—उत्तर प्रदेश में गोंडा-बहराइच जिलों की सीमा पर स्थित बौद्ध तीर्थस्थान। गोंडा-बलरामपुर से १२ मील पश्चिम आज का सहेत-महेत ग्राम ही श्रावस्ती है। प्राचीन काल में यह कोसल देश की दूसरी राजधानी थी। भगवान् राम के पुत्र लव ने इसे अपनी राजधानी बनाया था। श्रावस्ती बौद्ध, जैन दोनों का तीर्थ है। तथागत दीर्घ काल तक श्रावस्ती में रहे थे। यहाँ के श्रेष्ठी अनाथपिण्डिक ने असंख्य स्वर्णमुद्राएँ व्यय करके भगवान् बुद्ध के लिए जेतवन विहार बनवाया था। अब यहाँ बौद्ध धर्मशाला, मठ और मन्दिर हैं।

श्री—(१) लक्ष्मी (श्रयति हरिं या), विष्णुपत्नी।

(२) यह देवताओं और मानवों के लिए सम्मानसूचक विशेषण शब्द है :

'देवं गुरुं गुरुस्थानं क्षेत्रं क्षेत्राधिदेवताम् ।
सिद्धं सिद्धाधिकारांश्च श्रीपूर्वं समुदीरयेत् ।।'

श्रीकण्ठ—शिव का एक विरुद (श्रीः शोभा कण्ठे यस्य)। शिवभक्ति के अधिक प्रचार के कारण पूरे कुरु-जाङ्गल (हरियाना) प्रदेश को श्रीकण्ठ कहा जाता था।

श्रीचक्र—त्रिपुरसुन्दरी देवी की पूजा का विशेष यन्त्र। मन्त्र-महोदधि (११ तरङ्ग) में इसकी रचना का निम्नाङ्कित वर्णन है :

> श्रीचक्रस्योद्धृतिं वक्ष्ये तत्र पूजाप्रसिद्धये।
> विन्दुगर्भं त्रिकोणंतु कृत्वा चाष्टारमुद्धरेत्॥
> दशारद्वयमन्वस्राष्टारषोडशकोणकम्।
> त्रिरेखात्मकभूगेहवेष्टितं यन्त्रमालिखेत्॥

श्रीचक्र सृष्ट्यात्मक यन्त्र है। बिन्दु के साथ तीन आधारों पर स्थित अष्टकोण संहारचक्र होता है। बारह और चौदह अरों वाला यन्त्र स्थितिचक्र हो जाता है। यामलतन्त्र में कहा गया है :

> विन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्म-
> मन्वस्रनागदलसङ्गतषोडशारम्।
> वृत्तत्रयञ्च धरणीसदनत्रयञ्च
> श्रीचक्रराजमुदितं परदेवतायाः॥

श्रीचक्र के पूजन से ऋद्धि, सिद्धि तथा सुख, सम्पत्ति प्राप्त होती हैं :

> चक्रेऽस्मिन् पूजयेत् यो हि स सौभाग्यमवाप्नुयात्।
> अणिमाद्यष्टसिद्धीनामधिपो जायतेऽचिरात्॥
> विद्रुमे रचिते यन्त्रे पद्मरागेऽथवा प्रिये।
> इन्द्रनीलेऽथ वैदूर्ये स्फाटिके मारकतेऽपि वा॥
> धनं पुत्रान् तथा दारान् यशांसि लभते ध्रुवम्।
> ताम्रन्तु कान्तिदं प्रोक्तं सुवर्णं शत्रुनाशनम्॥
> राजतं क्षेमदञ्चैव स्फाटिकं सर्वसिद्धिदम्।

श्रीचक्र के पादोदक (चरणामृत) का महत्त्व इस प्रकार बतलाया गया है :

> गङ्गापुष्करनर्मदासु यमुनागोदावरीगोमती-
> गङ्गाद्वारगयाप्रयागबदरीवाराणसीसिन्धुषु।
> रेवासेतुसरस्वतीप्रभृतिषु ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
> तीर्थस्नानसहस्रकोटिफलदं श्रीचक्रपादोदकम्॥

श्रीचक्र के दर्शन का महान् फल कहा गया है :

> सम्यक् शतक्रतून् कृत्वा यत् फलं समवाप्नुयात्।
> तत्फलं लभते भक्त्या कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम्॥
> षोडशं वा महादानं कृत्वा यल्लभते फलम्।
> तत्फलं समवाप्नोति कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम्॥
> (तन्त्रसार)

श्रीनगर—(१) कश्मीर की राजधानी, उत्तरापथ का प्रसिद्ध तीर्थस्थान। श्रीनगर तथा उसके आसपास बहुत से दर्शनीय स्थान हैं। श्रीनगर से लगी हुई एक पहाड़ी पर आद्य शंकराचार्य द्वारा स्थापित शिवमूर्ति है। इस पर्वत को शंकराचार्य टेकरी कहते हैं। लगभग दो मील कड़ी चढ़ाई है। मन्दिर बहुत प्राचीन है। इसी के नीचे शङ्करमठ है। इसको दुर्गानागमन्दिर भी कहते हैं। नगर में शाह हमदन की मस्जिद है जो देवदारु की चौकोर लकड़ी की बनी है। इस स्थान पर प्राचीन मन्दिर था। कोने में पानी का स्रोत है। हिन्दू इस स्थान की पूजा करते हैं। कालीमन्दिर का स्थान अब श्मशानभूमि के रूप में है। नगर के पास हरिपर्वत है जो छोटी पहाड़ी के रूप में है। अकबर ने उस पर एक परकोटा बनवाया था। उसके अन्दर मन्दिर और गुरुद्वारा भी है। अब वह सुरक्षित सैनिक स्थान है। श्रीनगर में दो कलापूर्ण मस्जिदें दर्शनीय हैं, विशेष कर नूरजहाँ की बनवायी पत्थर की मस्जिद। इसके अतिरिक्त मुगल उद्यान अपने सौन्दर्य के लिए विश्व में प्रसिद्ध है। डल झील के किनारे के मुख्य उद्यान शालीमारबाग, निशातबाग हैं। नौका से देखने योग्य नसीमबाग है। शङ्कराचार्यशिखर के पास ही अब नेहरूपार्क बन गया है, जहाँ झील में स्नान की भी उत्तम सुविधा है। जम्मू से श्रीनगर जाते समय मध्य में एक पहाड़ी मार्ग वैष्णवी देवी के लिए जाता है। आश्विन के नवरात्र में यहाँ मेला होता है। श्रीनगर से आगे अनन्तनाग, मार्तण्ड, अमरनाथ आदि धर्मस्थानों की यात्रा की जाती है।

(२) श्रीनगर (द्वितीय) बदरिकाश्रम के मार्ग में टीहरी जिले का प्रमुख नगर है। यहाँ भी शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित श्रीयन्त्र का दर्शन होता था, जो अब गङ्गा के गर्भ में विलीन है।

श्रीमूर्ति—देवविग्रह अर्थात् देवता की प्रतिमा (विशेषत वैष्णव) को श्रीमूर्ति कहते हैं। श्रीमूर्तियों के प्रकार का वर्णन भागवत में इस तरह है :

> शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
> मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा मता॥

चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम् ।

हयशीर्षपञ्चरात्र में श्रीमूर्तियों के विस्तृत लक्षण पाये जाते हैं । दे० श्रीहरिभक्तिविलास, १८१ विलास ।

श्रीरङ्गपट्टन- -कर्णाटक प्रदेश का प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ । कावेरी नदी की धारा में तीन द्वीप हैं—आदिरङ्गम्, मध्यरङ्गम् और अन्तरङ्गम् । श्रीरङ्गपट्टन ही आदिरङ्गम् है । यहाँ भगवान् नारायण की शेषशायी श्रीमूर्ति है । कहते हैं कि यहाँ महर्षि गौतम ने तपस्या की थी और श्रीरङ्गमूर्ति की स्थापना भी की थी ।

श्री राम—राम अथवा रामचन्द्र अयोध्या के सूर्यवंशी राजा दशरथ के पुत्र थे । त्रेता युग में इनका प्रादुर्भाव हुआ था । ये भगवान् विष्णु के अवतार माने जाते हैं । वैष्णव तो इनको परब्रह्म ही समझते हैं । भारत के धार्मिक इतिहास में विशेष और विश्व के धार्मिक इतिहास में भी इनका बहुत ऊँचा स्थान है । राम को मर्यादापुरुषोत्तम कहते हैं जिन्होंने अपने चरित्र द्वारा धर्म और नीति की मर्यादा की स्थापना की । उनका राज्य न्याय, शान्ति और सुख का आदर्श था । इसीलिए अब भी 'रामराज्य' नैतिक राजनीति का चरम आदर्श है । रामराज्य वह राज्य है जिसमें मनुष्य को त्रिविध ताप—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक—नहीं हो सकते ।

इनका अवतार एक महान् उद्देश्य को लेकर हुआ था । वह था आसुरी शक्ति का विनाश तथा दैवी व्यवस्था की स्थापना । पिता द्वारा इनका वनवास भी इसी उद्देश्य से हुआ था एवं सीता का अपहरण भी इसी की सिद्धि के लिए । रावण वध भी इसीलिए हुआ । रामपूर्वतापनीयोपनिषद् के ऊपर ब्रह्मयोगी के भाष्य (अप्रकाशित) में इसका एक दूसरा ही उद्देश्य बताया गया है । वह है रावण का उद्धार । वैष्णव साहित्य में रावण पूर्व जन्म में विष्णु का पार्षद माना गया है । एक ब्राह्मण के शाप से वह राक्षस योनि में जन्मा । उसको पुनः विष्णुलोक में भेजना भगवान् राम (विष्णु) का उद्देश्य था ।

रामभक्ति का भारत में व्यापक प्रचार है । राम-पञ्चायतन में चारों भाई तथा सीता और उनके पार्षद हनुमान् की पूजा होती है । हनुमान् की मूर्ति तो राम की मूर्ति से भी अधिक व्यापक है । शायद ही ऐसा कोई गाँव या टोला हो जहाँ उनकी मूर्ति अथवा चबूतरा न हो । रामसम्प्रदाय में इतिहास, धर्म और दर्शन का अद्भुत समन्वय है । सीता राम की पत्नी है, किन्तु वे आदिशक्ति और दिव्य श्री भी हैं । वे स्वर्गश्री है जो तप से प्राप्त हुई थीं । वे विश्व की चेतनाचेतन प्रकृति हैं (देवी उपनिषद् २ २१.८) ।

रामावत सम्प्रदाय का मन्त्र 'रामाय नमः' अथवा तान्त्रिक रूप में 'रां रामाय नमः' है । 'राम' का शाब्दिक अर्थ है '(विश्व में) रमण करने वाला' अथवा 'विश्व को अपने सौन्दर्य से मुग्ध करने वाला' । रामपूर्वतापनीयोपनिषद् (१.११-१३) में इस मन्त्र का रहस्य बतलाया गया है :

जिस प्रकार विशाल वटवृक्ष की प्रकृति एक अन्यन्त सूक्ष्म बीज में निहित होती है, उसी प्रकार चराचर जगत् बीजमन्त्र 'राम' में निहित है । पद्मपुराण की लोमश-संहिता में कहा गया है कि वैदिक और लौकिक भाषा के समस्त शब्द युग-युग में 'राम' से ही उत्पन्न और उसी में विलीन होते हैं । वास्तव में वैष्णव रामावत सम्प्रदाय में राम का वही स्थान है जो वेदान्त में ओम् का । तारसार उपनिषद् (२.२-५) में कहा गया है कि राम की सम्पूर्ण कथा 'ओम्' की ही अभिव्यक्ति है :

"अ से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है, जो रामावतार में जाम्बवान् (ऋक्षों के राजा) हुए । उसे विष्णु (उपेन्द्र) की उत्पत्ति हुई, जो सुग्रीव हुए (वानरों के राजा) । म से शिव का प्रादुर्भाव हुआ, जो हनुमान् हुए । सानुनासिक बिन्दु से शत्रुघ्न प्रकट हुए । ओम् के नाद से भरत का अवतरण हुआ । इस शब्द की कला से लक्ष्मण ने जन्म लिया । इसकी कालातीत ध्वनि से लक्ष्मी का प्रादुर्भाव हुआ, जो सीता हुईं । इन सबके ऊपर परमात्मा विश्वपुरुष स्वयं राम के रूप में अवतरित हुए ।"

रामावत पूजा पद्धति में सीता और राम की युगल मूर्तियाँ मन्दिरों में पधरायी जाती हैं । राम का वर्ण श्याम होता है । वे पीताम्बर धारण करते हैं । केश जूटाकृति रखे जाते हैं । उनकी आजानु भुजाएँ तथा दीर्घ कर्ण-कुण्डल होते हैं। वे गले में वनमाला धारण करते हैं, प्रसन्न और दर्पयुक्त मुद्रा में धनुष-बाण धारण करते हैं । अष्ट सिद्धियाँ उनके सौन्दर्य को बढ़ाती हैं । उनकी बायीं ओर जगज्जननी आदिशक्ति सीता की मूर्ति स्वतन्त्र अथवा राम की बायीं जंघा पर स्थित होती है ।

वे शुद्ध काञ्चन के समान विराजती हैं। उनकी भी दो भुजाएँ हैं। वे दिव्य रत्नों से विभूषित रहती हैं और हाथ में दिव्य कमल धारण करती हैं। इनके पीछे लक्ष्मण की मूर्ति भी पायी जाती है। दे० रामपूर्वतापनीयोपनिषद्, ४.७.१० । दे० 'राम'।

श्रीवत्साङ्कमिश्र (कूरेश स्वामी)—स्वामी रामानुजाचार्य के अनन्य सेवक और सहकर्मी शिष्य। इनका तमिल नाम कूरत्तालवन था, जिसका तद्भव कूरेश है। काञ्चीपुरी के समीप कूरम ग्राम में इनका जन्म हुआ था। ये व्याकरण, साहित्य और दर्शनों के पूर्ण ज्ञाता थे। 'पञ्चस्तवी' आदि इनकी भक्ति और कवित्वपूर्ण प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। काञ्ची में ये रामानुज स्वामी के शरणागत हुए और आजीवन उनकी सेवा में निरत रहे।

रामानुज स्वामी जब ब्रह्मसूत्र की बोधायनाचार्य कृत वृत्ति की खोज में कश्मीर गये थे, तब कूरेशजी भी उनके साथ थे। कहते हैं कि कश्मीरी पंडितों ने इनको उक्त ब्रह्मसूत्रवृत्ति केवल पढ़ने को दी थी; साथ ले जाने या प्रतिलिपि करने की स्वीकृति नहीं थी। अनधिकारी कश्मीरी पंडितों की अपेक्षा वह रामानुज स्वामी के लिए अधिक स्पृहणीय थी। किन्तु पंडितों ने उस ग्रन्थ को स्वामीजी से बलपूर्वक छीन लिया। सुदूर दक्षिण से यहाँ तक की यात्रा को विफल देखकर रामानुज स्वामी को बड़ा खेद हुआ। उस समय कूरेशजी ने अद्भुत स्मृतिशक्ति के बल से बोधायनवृत्ति गुरुजी को आनुपूर्वी सुना दी। गुरु-शिष्य दोनों ने उसकी प्रतिलिपि तैयार कर ली। पश्चात् काञ्ची लौटकर आचार्य ने इसी वृत्ति के आधार पर ब्रह्मसूत्र के श्रीभाष्य की रचना की थी।

श्रीविद्या—आद्या महाशक्ति की मन्त्रमयी मूर्ति। वास्तव में त्रिपुरसुन्दरी ही श्रीविद्या हैं। इसके छत्तीस भेद हैं। ज्ञानार्णवतन्त्र में श्रीविद्या के बारे में निम्नाङ्कित वर्णन मिलता है :

भूमिश्चन्द्रः शिवो माया शक्तिः कृष्णाध्वमादिनी ।
अर्द्धचन्द्रश्च बिन्दुश्च नवार्णो मेरुरुच्यते ॥
महात्रिपुरसुन्दर्या मन्त्रा मेरुसमुद्भवाः ।
सकला भुवनेशानी कामेशो बीजमुद्धृतम् ॥
अनेन सकला विद्याः कथयामि वरानने ।
शक्त्यन्तस्तूर्यवर्णोऽयं कलमध्ये सुलोचने ॥
वाग्भवं पञ्चवर्णाढ्यं कामराजमथोच्यते ।
मादनं शिवचन्द्राढ्यं शिवान्तं मीनलोचने ॥
कामराजमिदं भद्रे षड्वर्णं सर्वमोहनम् ।
शक्तिर्बीजं वरारोहे चन्द्राद्यं सर्वमोहनम् ॥
एतामुपास्य देवेशि कामः सर्वाङ्गसुन्दरः ।
कामराजो भवेद्देवि विद्येयं ब्रह्मरूपिणी ॥

तन्त्रसार में इसके ध्यान की विधि इस प्रकार बतायी गयी है :

बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहुं त्रिलोचनाम् ।
पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां श्रये ॥

श्रुति—श्रवण से प्राप्त होने वाला ज्ञान। यह श्रवण या तो तत्त्व का साक्षात् अनुभव है, अथवा गुरुमुख एवं परम्परा से प्राप्त ज्ञान। लाक्षणिक अर्थ में इसका प्रयोग 'वेद' के लिए होता है। दे० 'वेद'।

श्रोत्रिय—श्रुति अथवा वेद अध्ययन करने वाला ब्राह्मण। पद्मपुराण के उत्तर खण्ड (११६ अध्याय) में श्रोत्रिय का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है :

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
वेदाभ्यासी भवेद् विप्रः श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च ॥

[जन्म से ब्राह्मण जाना जाता है, संस्कारों से द्विज, वेदाभ्यास करने से विप्र होता है और तीनों से श्रोत्रिय।]

मार्कण्डेय पुराण तथा मनुस्मृति में भी प्रायः श्रोत्रिय की यही परिभाषा पायी जाती है। दानकमलाकर में थोड़ी भिन्न परिभाषा मिलती है :

एकां शाखां सकल्पां वा षड्भिरङ्गैरधीत्य च ।
षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥

[कल्प के साथ एक वैदिक शाखा अथवा छः वेदाङ्गों के साथ एक वैदिक शाखा का अध्ययन कर षट्कर्म में लगा हुआ ब्राह्मण श्रोत्रिय कहलाता है।]

धर्मशास्त्र में श्रोत्रियों के अनेक कर्तव्यों तथा अधिकारों का वर्णन पाया जाता है। श्राद्ध आदि कर्मों में उनका वैशिष्ट्य स्वीकार किया गया था। राजा को यह देखना आवश्यक था कि उसके राज्य में कोई श्रोत्रिय प्रश्रयहीन न रहे।

श्रौतधर्म—वेदविहित धर्म (श्रुति से उत्पन्न श्रौत)। मत्स्य पुराण (१२० अध्याय) में श्रौत तथा स्मार्त धर्म का विभेद इस प्रकार किया गया है :

धर्मज्ञैर्विहितो धर्मः श्रौतः स्मार्तो द्विधा द्विजैः ।
दानाग्निहोत्रसम्बन्धमिज्या श्रौतस्य लक्षणम् ॥

स्मार्तो वर्णाश्रमाचारो यमैश्च नियमैर्युत: ।
पूर्वेभ्यो वेदयित्वेह श्रौतं समर्षयोऽब्रुवन् ।।
ऋचो यजूंषि सामानि ब्रह्मणोऽङ्गानि सा श्रुतिः ।
मन्वन्तरस्यातीतस्य स्मृत्वा तन्मनुरब्रवीत् ।।
ततः स्मार्तः स्मृतो धर्मो वर्णाश्रमविभागश: ।
एवं वै द्विविधो धर्मः शिष्टाचार: स उच्यते ।।
इज्या वेदात्मक: श्रौत: स्मार्तो वर्णाश्रमात्मक: ।।

[धर्मज्ञ ब्राह्मणों द्वारा दो प्रकार का, श्रौत तथा स्मार्त, धर्म विहित है । दान, अग्निहोत्र, इनसे सम्बद्ध यज्ञ श्रौत धर्म के लक्षण हैं । यम और नियमों के सहित वर्ण तथा आश्रम का आचार स्मार्त कहलाता है । सप्तर्षियों ने पूर्व (ऋषियों) से जानकर श्रौत धर्म का प्रवचन किया । ऋक्, यजुष्, साम, ब्राह्मण तथा वेदाङ्ग ये श्रुति कहलाते हैं । मनु ने अतीत मन्वन्तरों के धर्म का स्मरण कर स्मार्त धर्म का विधान किया । इसीलिए यह स्मार्त (स्मृति से उत्पन्न) धर्म कहलाता है । यह वर्णाश्रम के विभागक्रम से है । इस प्रकार निश्चय ही यह दो प्रकार का धर्म शिष्टाचार कहलाता है । (संक्षेप में) यज्ञ और वेद सम्बन्धी आचार श्रौत तथा वर्णाश्रम सम्बन्धी आचार स्मार्त कहलाता है ।]

श्वेतकेतु—श्वेतकेतु की कथा उपनिषद् में मूलतः आती है । ये उद्दालक के पुत्र थे । एक बार अतिथिसत्कार में उद्दालक ने अपनी पत्नी को भी अर्पित कर दिया । इस दूषित प्रथा का विरोध श्वेतकेतु ने किया । वास्तव में कुछ पर्वतीय आरण्यक लोगों में आदिम जीवन के कुछ अवशेष कहीं-कहीं अभी चले आ रहे थे, जिनके अनुसार स्त्रियाँ अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों के साथ भी सम्बन्ध कर सकती थीं । इस प्रथा को श्वेतकेतु ने बन्द कराया । महाभारत (१.१२२.९-२०) में इसका उल्लेख है ।

ष

ष—ऊष्म वर्णों का द्वितीय अक्षर । कामधेनुतन्त्र में इसके स्वरूप का वर्णन निम्नांकित है :

षकारं शृणु चार्वाङ्गि अष्टकोणमयं सदा ।
रक्तचन्द्रप्रतीकाशं स्वयं परमकुण्डली ।।
चतुर्वर्गमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा ।
रजः सत्त्वतमोयुक्तं त्रिशक्तिसहितं सदा ।।
त्रिबिन्दुसहितं वर्णम् आत्मादितत्त्वसंयुतम् ।
सर्वदेवमयं वर्णं हृदि भावय पार्वति ।।

तन्त्रशास्त्र में इसके बहुत से पर्याय बतलाये गये हैं :

ष: श्वेतो वासुदेवश्च पीता प्राज्ञा विनायक: ।
परमेष्ठी वामबाहुः श्रेष्ठो गर्भविमोचन: ।।
लम्बोदरो यमी लेश: कामधुक् कामधूमक: ।
सुश्री उश्ना वृषो लज्जा मरुद्भक्ष्य: प्रिय: शिव: ।।
सूर्यात्मा जठर: क्रोधो मत्ता वक्षी विहारिणी ।
कलकण्ठो मध्यभिन्ना युद्धात्मा मलपू: शिर: ।।

षट्कर्म—(१) कुछ धार्मिक विभागों के छः प्रधान कृत्य । ब्राह्मणों के मुख्य छः कर्तव्य षट्कर्म कहलाते हैं । ये हैं (१) अध्ययन (२) अध्यापन (३) यजन (४) याजन (५) दान और (६) प्रतिग्रह । मनु आदि स्मृतियों में इन कर्मों का विस्तृत वर्णन पाया जाता है :

इज्याध्ययनदानानि याजनाध्यापने तथा ।
प्रतिग्रहश्च तैर्युक्त: षट्कर्मा विप्र उच्यते ।।

(२) आगम और तन्त्र में छः प्रकार के शान्ति आदि कर्मों को षट्कर्म कहते हैं । शारदातिलक में इनका वर्णन पाया जाता है :

शान्ति-वश्य-स्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटने ततः ।
मारणान्तानि शंसन्ति षट्कर्माणि मनीषिण: ।।
रोग-कृत्या-ग्रहादीनां निरास: शान्तिरीरिता ।
वश्यं जनानां सर्वेषां विधेयत्वमुदीरितम् ।।
प्रवृत्तिरोधः सर्वेषां स्तम्भनं तदुदाहृतम् ।
स्निग्धानां क्लेशजननं मिथो विद्वेषणं मतम् ।।
उच्चाटनं स्वदेशादेर्भ्रंशनं परिकीर्तितम् ।
प्राणिनां प्राणहरणं मारणं तदुदाहृतम् ।।
स्वदेवतादिक्कालादीन् ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ।।
रतिर्वाणी रमा ज्येष्ठा दुर्गा काली यथा क्रमम् ।
षट्कर्मदेवता प्रोक्ताः कर्मादौ ताः प्रपूजयेत् ।।
ईश-चन्द्रेन्द्र-निऋति-वाय्वाग्नीनान्दिशो मताः ।
सूर्योदयं समारभ्य घटिकादशकं क्रमात् ।।
ऋतवः स्युर्वसन्ताद्या अहोरात्रं दिने दिने ।
वसन्त-ग्रीष्म-वर्षाख्य—शरद्-हेमन्त-शैशिराः ।।

[(१) शान्ति (२) वश्य (वशीकरण) (३) स्तम्भन, (४) विद्वेष (५) उच्चाटन और (६) मारण इनको मनीषी लोग षट् कर्म कहते हैं । रोग, कृत्या, ग्रह आदि का निवारण 'शान्ति' कहलाता है । सब जनों का सेवक हो जाना 'वश्य' कहा गया है । सबकी प्रवृत्ति का रोध 'स्तम्भन' कहलाता है । मित्रों के बीच में क्लेश उत्पन्न

करना 'विद्वेष' है। अपने देश से भ्रंश (उखाड़) उत्पन्न करना 'उच्चाटन' है। प्राणियों का प्राण हरण कर लेना 'मारण' कहा गया है। इनके देवताओं, दिशा, काल आदि को जानकर इन कर्मों की साधना करना चाहिए। रति, वाणी, रमा, ज्येष्ठा, दुर्गा और काली क्रमशः इनकी देवता हैं। कर्म के आदि में इनकी पूजा करनी चाहिए। ईश, चन्द्र, इन्द्र, निर्ऋति, वायु और अग्नि इनकी दिशाएँ हैं। सूर्योदय से प्रारम्भ कर दस घटिका के क्रम से वसन्त आदि ऋतुएँ दिन-रात में प्रति दिन होती हैं। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर ये ऋतुएँ हैं।]

(३) घेरण्डसंहिता में छः प्रकार के हठयोग के अङ्गों को भी षट्कर्म कहा गया है :

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकी त्राटकस्तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥

[(१) धौति (२) वस्ति (३) नेति (४) नौलिकी (५) त्राटक और (६) कपालभाति इन छः कर्मों का आचरण करना चाहिए।

षट्चक्र—शरीर में स्थित छः चक्रों के समाहार को षट्चक्र कहते हैं। पद्म पुराण (स्वर्ग खण्ड, अध्याय २७) में इनका वर्णन इस प्रकार है :

सप्त पद्मानि तत्रैव सन्ति लोका इव प्रभो।
गुदे पृथ्वीसमं चक्रं हरिद्वर्णं चतुर्दलम्॥
लिंगे तु षड्दलं चक्रं स्वाधिष्ठानमिति स्मृतम्।
त्रिलोकवह्निनिलयं तप्तचामीकरप्रभम्॥
नाभौ दशदलं चक्रं कुण्डलिन्यां समन्वितम्।
नीलाञ्जननिभं ब्रह्मस्थानं पूर्वकमन्दिरम्॥
मणिपूराभिधं स्वच्छं जलस्थानं प्रकीर्तितम्।
उद्यदादित्यसंकाशं हृदि चक्रमनाहतम्॥
कुम्भकाख्यं द्वादशारं वैष्णवं वायुमन्दिरम्।
कण्ठे विशुद्धशरणं षोडशारं पुरोदयम्॥
शाम्भवीवरचक्राख्यं चन्द्रविन्दुविभूषितम्।
षष्ठमाज्ञालयं चक्रं द्विदलं श्वेतमुत्तमम्॥
राधांचक्रमिति ख्यातं मनःस्थानं प्रकीर्तितम्।
सहस्रदलमेकार्णं परमात्मप्रकाशकम्॥
नित्यं ज्ञानमयं सत्यं सहस्रादित्य सन्निभम्।
षट् चक्राणीह भेद्यानि नैतद् भेद्यं कथञ्चन॥

[हे प्रभो! वहाँ (शरीर में) सात पद्म (कमल) सात लोकों के समान होते हैं। गुदा में पृथ्वी के समान, मूलाधार' चक्र होता है, जो हरिद्वर्ण और चार दल वाला है। लिङ्ग में षड्दल चक्र होता है, जिसको 'स्वाधिष्ठान' कहते हैं। वह तीनों लोकों में व्याप्त अग्नि का निवास है और तप्त सोने के समान प्रभा वाला है। नाभि मे दशदल चक्र कुण्डलिनी में समन्वित है। यह नीलाञ्जन के समान, ब्रह्मस्थान और उसका मन्दिर है। इसे 'मणिपूर' कहते हैं, जो स्वच्छ जल के समान प्रसिद्ध है। हृदय में 'अनाहतचक्र' है जो उदय होते हुए सूर्य के समान प्रकाशमान है। इसका नाम कुम्भक है, यह द्वादश अरों वाला वैष्णव और वायु-मन्दिर है। कण्ड में 'विशुद्धशरण' षोडशार, पुरोदय, शाम्भवीवरचक्र है जो चन्द्रबिन्दु से विभूषित है। छठा 'आज्ञालय' चक्र है जो दो दल वाला और श्वेतवर्ण है। यह राधा चक्र नाम से भी प्रसिद्ध है। यह मन का स्थान है। ये ही षट्चक्र (ज्ञानार्थ क्रमशः) भेदन करने योग्य हैं; किन्तु सहस्रदल चक्र परमात्मा से प्रकाशित है। यह नित्य, ज्ञानमय, सत्य और सहस्र सूर्यों के समान प्रकाशमान है। इसका भेदन नहीं होता।]

षट्तीर्थ—सर्वसाधारण के लिए छः तीर्थ सदा सर्वत्र सुलभ हैं :

(१) भक्ततीर्थ—धर्मराज युधिष्ठिर विदुरजी से कहते हैं, "आप जैसे भागवत (भगवान् के प्रिय भक्त) स्वयं ही तीर्थ रूप होते हैं। आप लोग अपने हृदय में विराजित भगवान् के द्वारा तीर्थों को भी महातीर्थ बनाते हुए विचरण करते हैं।

(२) गुरुतीर्थ—सूर्य दिन में प्रकाश करता है, चन्द्रमा रात्रि में प्रकाशित होता है और दीपक घर में उजाला करता है। परन्तु गुरु शिष्य के हृदय में रात-दिन सदा ही प्रकाश फैलाते रहते हैं। वे शिष्य के सम्पूर्ण अज्ञानमय अन्धकार का नाश कर देते हैं। अतएव शिष्यों के लिए गुरु परम तीर्थ है।

(३) माता तीर्थ, (४) पिता-तीर्थ—पुत्रों को इस लोक और परलोक में कल्याणकारी माता-पिता के समान कोई तीर्थ नहीं है। पुत्रों के लिए माता-पिता का पूजन ही धर्म है। वही तीर्थ है। वही मोक्ष है। वही जन्म का शुभ फल है।

(५) पतितीर्थ—जो स्त्री पति के दाहिने चरण को प्रयाग और वाम चरण को पुष्कर मानकर पति के चरणोदक से स्नान करती है, उसे उन तीर्थों के स्नान का पुण्य

फल मिलता है इसमें कोई संदेह नहीं। पति सर्वतीर्थमय और सर्वपुण्यमय है।

(६) पत्नीतीर्थ—सदाचार का पालन करने वाली, प्रशंसनीय आचरण करने वाली, धर्म साधन में लगी हुई, सदा पातिव्रत का पालन करने वाली तथा ज्ञान की नित्य अनुरागिणी, गुणवती, पुण्यमयी, महासती पत्नी जिसके घर हो उसके घर में देवता निवास करते हैं। ऐसे घर में गङ्गा आदि पवित्र ननियाँ, समुद्र, यज्ञ, गौएँ ऋषिगण तथा सम्पूर्ण पवित्र तीर्थ रहते हैं। कल्याण तथा उद्धार के लिए भार्या के समान कोई तीर्थ नहीं, भार्या के समान सुख नहीं और भार्या के समान पुण्य नहीं। ऐसी पत्नी भी पवित्र तीर्थ है।

षट्त्रिंशत्—'एकादशीतत्त्व' ग्रन्थ में देवता पूजन के छत्तीस उपचार बताये गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं :

१. आसन २. अभ्यञ्जन ३. उद्वर्तन ४. विरुक्षण ५. सम्मार्जन ६. घृतादि से स्नपन ७. आवाहन ८. पाद्य ९. अर्घ्य १०. आचमनीय ११. स्नानीय १२. मधुपर्क १३. पुनराचमनीय १४. वस्त्र १५. यज्ञोपवीत १६. अलङ्कार १७. गन्ध १८. पुष्प १९. धूप २०. दीप २१. ताम्बूलादिक नैवेद्य २२. पुष्पमाला २३. अनुलेप २४. शय्या २५. चामरं-व्यजन २६. आदर्शदर्शन २७. नमस्कार २८. नर्तन २९. गीत ३०. वाद्य ३१. दान ३२. स्तुति ३३. होम ३४. प्रदक्षिणा ३५. दन्तकाष्ठ प्रदान ३६. देव-विसर्जन।

षट्त्रिंशन्मत—छत्तीस (धर्मशास्त्रकार ऋषियों) का मत। शङ्खलिखित स्मृति में इनके नाम निम्नांकित हैं :

मनुर्विष्णुर्यमो दक्षः अङ्गिरोऽत्रि बृहस्पतिः।
आपस्तम्बश्चोशना च कात्यायनपराशरौ॥
वसिष्ठव्याससंवर्तौ हारीत गौतमावपि।
प्रचेताः शङ्खलिखितौ याज्ञवल्क्यश्च काश्यपः॥
शातातपो लोमशश्च जमदग्निः प्रजापतिः।
त्रिश्वामित्रपैठीनसी बौधायनपितामहौ॥
छागलेयश्च जाबालो मरीचिश्च्यवनो भृगुः।
ऋष्यश्रृङ्गो नारदश्च षट्तिंशत् स्मृतिकारकाः॥
एतेषान्तु मतं यत्तु षट्त्रिंशन्मतमुच्यते॥

षट्सन्दर्भ—विद्वद्वर और परम हरिभक्त जीव गोस्वामी द्वारा रचित कृष्णभक्तिदर्शन का ग्रन्थ। यह श्रीमद्भागवत की मान्यताओं का समर्थक तथा अचिन्त्य भेदाभेद दर्शन सम्बन्धी प्रामाणिक रचना है। चैतन्यसम्प्रदाय के भक्ति सिद्धान्तों का प्रौढ दार्शनिक शैली में यह निरूपण करता है। इसके क्रम, भक्ति, प्रेम सन्दर्भ आदि छः खण्ड हैं।

षडक्षरदेव—वीरशैव सम्प्रदाय के आचार्य, जो १६५७ ई० के आस-पास हुए (दे० राइस : कन्नड लिटरेचर, पृ० ६२, ६७)। इन्होंने कन्नड भाषा में राजशेखरविलास, शबरशङ्करविलास आदि ग्रन्थों की रचना की।

षडङ्ग—वेद को षडङ्ग भी कहते हैं (षट् अङ्गानि यस्य) यथा :

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसाञ्चयः।
ज्योतिषामयनञ्चैव षडङ्गो वेद उच्यते॥

विशेष विवरण के लिए दे० 'वेदाङ्ग।'

षड्गुरुशिष्य—ऋक्संहिता की अनेक अनुक्रमणिकाएँ हैं। इनमें शौनक की रची अनुवाकानुक्रमणी और कात्यायन की रची सर्वानुक्रमणी अधिक प्रसिद्ध हैं। इन दोनों पर विस्तृत टीकाएँ लिखी गयी हैं। टीकाकार का नाम है षड्गुरुशिष्य। यह कहना कठिन है कि यह टीकाकार का वास्तविक नाम है अथवा विरुद। टीकाकार ने अपने छः गुरुओं के नाम लिखे हैं, जो इस प्रकार हैं—१. विनायक २. त्रिशूलान्तक ३. गोविन्द ४. सूर्य ५. व्यास और ६. शिवयोगी।

षड्विंशब्राह्मण—सामवेद की कौथुमीय संहिता का ब्राह्मण-ग्रन्थ चालीस अध्यायों में लिखा गया है। यह पाँच ब्राह्मणों में विभक्त है। इसके प्रथम पचीस अध्याय पञ्चविंशब्राह्मण कहलाते हैं। चौबीस से तीस तक के छः अध्यायों को षड्विंश ब्राह्मण, तीसवें अध्याय के अंतिम भाग को अद्भुत ब्राह्मण, इकतीस से बत्तीस तक के दो अध्यायों को मन्त्र-ब्राह्मण और अन्तिम आठ अध्यायों को छान्दोग्य ब्राह्मण कहते हैं। षड्विंश ब्राह्मण का प्रकाशन के० क्लेम और एच्० एस० एलसिंग ने क्रमशः १८९४ तथा १९०८ ई० में कराया था।

षण्ड—पञ्चविंश ब्राह्मण (२५.१५.३) के अनुसार एक पुरोहित का नाम, जिसने उसमें वर्णित सर्पसत्र में भाग लिया था।

षण्मुख—पार्वतीनन्दन स्वामी कार्तिकेय। शाब्दिक अर्थ है 'छः मुख हैं जिसके वह'। छः मातृकाओं ने कार्तिकेय का पालन किया था। उनका स्तन्य पान करने के लिए कार्तिकेय के छः मुख हो गये थे।

षष्टितन्त्र—सांख्य दर्शन के आचार्यों में पञ्चशिख और वार्षगण्य प्रसिद्ध हैं। योगभाष्य में भी इनका उल्लेख आया

है। वार्षगण्य ने षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ लिखा था। इसका अर्थ है 'साठ प्रबन्ध'। यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है।

षष्ठी—कात्यायनी देवी का एक पर्याय। षोडश मातृकाओं में एक मातृका का भी यह नाम है। यह प्रकृति की छठी कला है। इसको स्कन्द की भार्या भी कहा गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के प्रकृतिखण्ड (प्रथम अध्याय) में इसके स्वरूप आदि का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है

"हे नारद! प्रकृति की अंशस्वरूप जो देवसेना है वह मातृकाओं में पूज्यतम है और षष्ठी नाम से प्रसिद्ध है। शिशुओं का प्रत्येक अवस्था में पालन करने वाली है। यह तपस्विनी और विष्णुभक्त है, कार्तिकेय की कामिनी भी है। प्रकृति के छठे अंश का रूप है, इसलिए इसे षष्ठी कहते हैं! पुत्र-पौत्र की देनेवाली और तीनों जगत् की धात्री है। यह सर्व सुन्दरी, युवती, रम्या और बराबर अपने पति के पास रहने वाली है। शिशुओं के स्थान में परमा वृद्धरूपा और योगिनी है। संसार में बारहों महीने इसकी बराबर पूजा होती है। शिशु उत्पन्न होने के छठे दिन सूतिकागार में इसकी पूजा होती है। इसी प्रकार इक्कीसवें दिन भी इसकी पूजा कल्याण करने वाली होती है। यह बराबर नियमित और नित्य इच्छानुसार आहूत की जा सकती है, यह सदा मातृरूपा, दयारूपा और रक्षणरूपा है। यह जल, स्थल और अन्तरिक्ष में और यहाँ तक कि स्वप्न में भी शिशुओं की रक्षा करने वाली है।" इसकी उत्पत्ति और विस्तृत कथानक के लिए दे० स्कन्दपुराण। षष्ठीकर्म के लिए दे० राजमार्तण्ड, ब्रह्मवैवर्त, विष्णुधर्मोत्तर, ज्योतिस्तत्त्व आदि।

षष्ठीवर—उत्कल देश के एक विद्वान्, जिन्होंने महाभारत का अनुवाद उड़िया भाषा में किया। इनका समय तेरहवीं शती के लगभग है।

षोडश दान—श्राद्ध आदि धार्मिक कृत्यों में सोलह प्रकार के दानों का वर्णन पाया जाता है। दे० शुद्धितत्त्व।

षोडशभुजा—दुर्गा का एक पर्याय, अर्थ है 'सोलह भुजा-वाली'। कालिकापुराण (अ० ५९) में षोडश भुजा-पूजन का विधान पाया जाता है:

"जब षोडशभुजा महामाया का दुर्गातन्त्र से पूजन करना चाहिए, तब उसकी विशेष बात सुनिए। कृष्ण पक्ष की कन्या राशि की एकादशी को उपवास करके, द्वादशी को एक बार भोजन कर और त्रयोदशी को रात में भोजन कर, चतुर्दशी को महामाया को विधानतः जगाकर गीत, वादित्र, निर्घोष और नाना प्रकार के नैवेद्य से पूजा करे। दूसरे दिन बुद्धिमान साधक को अयाचित उपवास करना चाहिए। इस प्रकार व्रत करना चाहिए जब तक कि नवमी आ जाय। ज्येष्ठा में सम्यक् प्रकार से अर्चना कर मूल में प्रतिपूजन करना चाहिए। उत्तरा में अर्चना कर श्रवण में विसर्जन करना चाहिए।

षोडश मातृका—मातृकाओं अथवा देवियों की (विशेष प्रकार में) संख्या सोलह मानी गयी है। 'दुर्गोत्सवपद्धति' में सोलह मातृकाओं को नमस्कार किया गया है (गौर्यादि-षोडशमातृकाभ्यो नमः)। श्राद्धतत्त्व में उनके नाम इस प्रकार आते हैं:

गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः॥
शान्तिः पुष्टिर्धृतिस्तुष्टिरात्मदेवतया सह।
आदौ विनायकः पूज्य० अन्ते च कुलदेवता॥

ये सब शिव, विष्णु, इन्द्र, ब्रह्मा, अग्नि, कार्तिकेय आदि प्रमुख देवताओं की पत्नियाँ हैं।

षोडशर्त्विक् क्रतु—षोडश ऋत्विकों (याज्ञिकों) द्वारा किया जाने वाला यज्ञविशेष। यह ज्योतिष्टोम यज्ञ अथवा बारह दिनों में पूरा होने वाला सत्रयाग है। षोडश ऋत्विजों के नाम इस प्रकार हैं:

(१) ब्रह्मा (२) ब्राह्मणाच्छंसी (३) आग्नीध्र (४) पोता (५) होता (६) मैत्रावरुण (७) अच्छावाक् (८) ग्रावस्तोता (९) अध्वर्यु (१०) प्रतिप्रस्थाता (११) नेष्टा (१२) उन्नेता (१३) उद्गाता (१४) प्रस्तोता (१५) प्रतिहर्ता और (१६) सुब्रह्मण्य।

उपर्युक्त में से प्रथम चार सर्ववेदीय, द्वितीय चार ऋग्वेदीय, तृतीय चार यजुर्वेदीय और चतुर्थ चार सामवेदीय होते हैं।

षोडशी—(१) एक यज्ञपात्र का नाम। अतिरात्र यज्ञ का सोमपात्र।

(२) बारह महाविद्याओं में से एक विद्या का नाम। वैसे प्रायः दस महाविद्याएँ ही प्रसिद्ध हैं। इनके नाम निम्नांकित हैं:

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा॥

बगला सिद्धविद्या च मातङ्गी कमलात्मिका ।
एता दश महाविद्या सिद्धविद्याः प्रकीर्तिताः ।।

विशेष विवरण के लिए दे० 'ज्ञानार्णव' ।

(३) एक प्रकार का श्राद्ध । यह प्रायः संन्यासियों की स्मृति में किया जाता है ।

षोडशोपचार—तन्त्रसार में सोलह प्रकार के पूजाद्रव्यार्पणों को षोडशोपचार कहा गया है । देवपूजा में यही क्रम अधिकतर प्रयुक्त होता है ।

षोढान्यास—वीरतन्त्र के अनुसार शरीर के अंगों में छः प्रकार से मन्त्रों के न्यास को षोढान्यास (षड्धा न्यास) कहते हैं । इनमें अंगन्यास, करन्यास, गहान्यास, अन्तर्बहिर्मातृका आदि होते हैं ।

स

स—कामधेनुतन्त्र में स अक्षर के स्वरूप का निम्नांकित वर्णन है :

सकारं शृणु चार्वङ्गि शक्तिबीजं परात्परम् ।
कोटि विद्युल्लताकारं कुण्डलीत्रयसंयुतम् ।।
पञ्चदेवमयं देवि पञ्चप्राणात्मकं सदा ।
रजः सत्त्व तमोयुक्तं त्रिबिन्दुसहितं सदा ।।

[हे सुन्दरी पार्वती ! सुनो । यह अक्षर कलायुक्त, शक्तिबीज, परात्पर, करोडों विद्युत् की लता के समान आकार वाला, तीन कुण्डलियों से युक्त, पञ्चदेवमय, पञ्चप्राणात्मक, सदा सत्त्व-रज-तम तीन गुणों से युक्त और त्रिबिन्दु सहित है ।]

वर्णोद्धारतन्त्र में इसका ध्यान इस प्रकार बतलाया गया है :

शुक्लाम्बरां शुक्लवर्णां द्विभुजां रक्तलोचनाम् ।
श्वेतचन्दनलिप्ताङ्गीं मुक्ताहारोपशोभिताम् ।।
गन्धर्वगीयमानाञ्च सदानन्दमयीं पराम् ।
अष्टसिद्धिप्रदां नित्यां भक्तानन्दविवर्द्धिनीम् ।।
एवं ध्यात्वा सकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं आत्मादि तत्त्वसंयुतम् ।।
प्रणम्य सततं देवि हृदि भावय सुन्दरि ।।

[शुक्ल (श्वेत) वस्त्र धारण करने वाली, शुक्ल वर्ण वाली, दो भुजाओंवाली, लाल नेत्र वाली, श्वेत चन्दनलिप्त शरीर वाली, मोती के हार से सुशोभित, गन्धर्वों से प्रशंसित होती हुई, सदा आनन्दमयी, पराशक्तिरूप, आठ सिद्धियों को देनेवाली, नित्य भक्तों के आनन्द को बढ़ाने वाली—इस प्रकार की शक्ति के रूप में सकार का ध्यान करके इस के मन्त्र को दस बार जपना चाहिए । त्रिशक्ति सहित, आत्मादि तत्त्व से संयुक्त इस वर्ण को बराबर प्रणाम करके हृदय में इसकी भावना करनी चाहिए ।]

संयम—व्रत के एक दिन पूर्व विहित नियमों के पालन को संयम कहते हैं । यह व्रत का ही पूर्व अङ्ग है । एकादशीतत्त्व में इसका निम्नांकित विधान है :

शाकं माषं मसूरञ्च पुनर्भोजनमैथुने ।
द्यूतमत्स्यम्बुपानञ्च दशम्यां वैष्णवस्त्यजेत् ।।
कांस्यं मांसं सुरां क्षौद्रं लोभं वितथभाषणम् ।
व्यायामञ्च व्यवायञ्च दिवास्वप्नं तथाञ्जनम् ।।
तिलपिष्टं मसूरञ्च दशम्यां वर्जयेत् पुमान् ।
दशम्याम् एकभक्तञ्च कुर्वीत नियतेन्द्रियः ।।
आचम्य दन्तकाष्ठञ्च खादेत तदनन्तरम् ।
पूर्वं हरिदिनाल्लोकाः सेवध्वं चैकभोजनम् ।।
अवनीपृष्ठशयनाः स्त्रियाः सङ्गविवर्जिताः ।
संवदध्वं देवदेवं पुराणं पुरुषोत्तमम् ।।
सकृद् भोजनसंतुष्टा द्वादश्याञ्च भविष्यथ ।।

संवर्त—(१) मुनि विशेष का नाम । मार्कण्डेय पुराण (१३०.११) में इनके विषय में कहा गया है कि ये अंगिरा ऋषि के पुत्र और बृहस्पति के भ्राता थे । ज्योतिस्तत्त्व के अनुसार एक प्रकार के मेघ का नाम भी संवर्त है, जो प्रभूत पानी बरसाने वाला होता है :

आवर्तो निर्जलो मेघः संवर्तश्च बहूदकः ।
पुष्करो दुष्करजलो द्रोणः सस्यप्रपूरकः ।।

(२) धर्मशास्त्रकारों में से एक का नाम । याज्ञवल्क्यस्मृति में स्मृतिकारों की सूची में इनका उल्लेख है । विश्वरूप, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर (मिताक्षराकार), हरदत्त, अपरार्क आदि व्याख्याकारों ने विभिन्न विषयों पर संवर्त के वचन उद्धृत किये हैं । व्यवहार के कई अंगों पर संवर्त का मत उल्लेखनीय है । उदाहरण के लिए, लिखित साक्ष्य के विरोध में मौखिक साक्ष्य अमान्य है :

लेख्ये लेख्यक्रिया प्रोक्ता वाचिके वाचिकी मता ।
वाचिके तु न सिध्येत्सा लेख्यस्योपरि या क्रिया ।।

(अपरार्क, पृ० ६९१-९२)

परन्तु गृह और क्षेत्र के स्वाम्य के सम्बन्ध में लेख्य से भुक्ति अधिक प्रामाणिक है :

भुज्यमाने गृहक्षेत्रे विद्यमाने तु राजनि ।
भुक्तिर्यस्य भवेत्तस्य न लेख्ये तत्र कारणम् ॥
(पराशरमाधवीय, ३ पृ० १४६)

संवर्त के अनुसार स्त्रीधन, लाभ और निक्षेप पर वृद्धि (व्याज) नहीं लगती, जब तक कि स्वयं स्वीकृत न की गयी हो :

न वृद्धिः स्त्रीधने लाभे निक्षेपे च यथास्थिते ।
संदिग्धे प्रातिभाव्ये च यदि न स्यात्स्वयं कृता ॥
(स्मृतिचन्द्रिका, व्यव०, १५७)

जीवानन्द के स्मृतिसंग्रह (भाग १, पृ० ५८४-६०३) और आनन्दाश्रमस्मृतिसंग्रह (पृ० ४११-२४) में संवर्तस्मृति संगृहीत है, जिसमें क्रमशः २२७ और २३० श्लोक हैं । इसमें कहा गया है कि संवर्त ने वामदेव आदि ऋषियों के सम्मुख इस स्मृति का प्रवचन किया था ।

संवर्तस्मृति के विषय व्यवहार पर उद्धृत वचनों से अधिक प्राचीन जान पड़ते हैं ।

संसार—संसरण, गति, खसकाव रखनेवाला, अर्थात् जो गतिमान् अथवा नश्वर है । नैयायिकों के अनुसार 'मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न वासना' को संसार कहते हैं ('संसारश्च मिथ्याधीप्रभवा वासना') मर्त्यलोक अथवा भूलोक को सामान्यतः संसार कहते हैं । कूर्मपुराण (ईश्वरगीता, द्वितीय अध्याय) में संसार की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है :

न माया नैव च प्राणश्चैतन्यं परमार्थतः ।
अहं कर्ता सुखी दुःखी कृशः स्थूलेति या मतिः ॥
सा चाहंकारकर्तृत्वादात्मन्यारोप्यते जनैः ।
वदन्ति वेदविद्वांसः साक्षिणं प्रकृतेः परम् ॥
भोक्तारमक्षरं शुद्धं सर्वत्र समवस्थितम् ।
तस्मादज्ञानमूलोऽयं संसारः सर्वदेहिनाम् ॥

[आत्मा परमार्थतः चैतन्य है; माया और प्राण नहीं, किन्तु वह अज्ञान से अपने को कर्ता, सुखी, दुःखी, कृश, स्थूल आदि मान लेता है । मनुष्य अहंकार से उत्पन्न कर्तृत्व के कारण इन परिस्थितियों को अपने ऊपर आरोपित कर लेते हैं । विद्वान् लोग आत्मा को प्रकृति से परे (भिन्न) मानते हैं; वास्तव में वही भोक्ता, अक्षर, शुद्ध और सर्वत्र विद्यमान है । इसलिए (वास्तव में) शरीरधारियों का यह संसार (मर्त्यलोक) अज्ञान से उत्पन्न हुआ है ।]

संसारमोक्षण—वैष्णव सम्प्रदाय में संसार से मुक्ति पाने की प्रक्रिया को 'संसार मोक्षण' कहते हैं । वाराह पुराण (सूतस्वामिमाहात्म्यनामाध्याय) में कथन है :

एवमेतन्महाशास्त्रं देवि संसारमोक्षणम् ।
मम भक्तव्यवस्थार्थं प्रयुक्तं परमं मया ॥

वामनपुराण (अध्याय ९०) में संसार से मोक्ष पाने का उपाय इस प्रकार बतलाया गया है :

ये शङ्खचक्राब्जकरं तु शार्ङ्गिणं
खगेन्द्रकेतुं वरदं श्रियः पतिम् ।
समाश्रयन्ते भवभीतिनाशनं
संसारगर्ते न पतन्ति ते पुनः ॥

संस्कार—(१) इस शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है । मेदिनीकोश के अनुसार इसका अर्थ है प्रतियत्न, अनुभव और मानस कर्म । न्याय दर्शन के अनुसार यह गुणविशेष है । यह तीन प्रकार का होता है—(१) वेगाख्य (यह वेग अथवा कर्म से उत्पन्न होता है) (२) स्थितिस्थापक (यह पृथ्वी का गुण है, यह अतीन्द्रिय और स्पन्दनकारण होता है) और (३) भावना (यह आत्मा का अतीन्द्रिय गुण है, यह स्मरण और प्रत्यभिज्ञा का कारण है) ।

(२) शरीर एवं वस्तुओं की शुद्धि के लिए उनके विकास के साथ समय-समय पर जो कर्म किये जाते हैं उन्हें संस्कार कहते हैं । यह विशेष प्रकार का अदृष्ट फल उत्पन्न करनेवाला कर्म होता है । इस प्रकार शरीर के मुख्य संस्कार सोलह हैं—(१) गर्भाधान (२) पुंसवन (३) सीमन्तोन्नयन (४) जातकर्म (५) नामकरण (६) निष्क्रमण (७) अन्नप्राशन (८) चूडाकरण (९) कर्णवेध (१०) विद्यारम्भ (११) उपनयन (१२) वेदारम्भ (१३) केशान्त (१४) समावर्तन (१५) विवाह और (१६) अन्त्येष्टि । संस्कार से किसी भी वस्तु का उत्कर्ष हो जाता है । विस्तार के लिए देखिए नीलकंठ : संस्कारमयूख; मित्रमिश्र : संस्कार प्रकाश ।

(३) जीर्ण मन्दिरादि के पुनरुद्धार को भी संस्कार कहते हैं । शास्त्रों में इसका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है

संस्कारहीन—(१) जिस व्यक्ति का समय से विहित संस्कार न हो उसे संस्कारहीन कहा जाता है । शास्त्र में ऐसे व्यक्ति की संज्ञा 'व्रात्य' है । विशेषकर उपनयन संस्कार अवधि के भीतर न होने से व्यक्ति सावित्रीपतित अथवा व्रात्य हो

जाता है। यह अवधि ब्राह्मण के लिए सोलह वर्ष, क्षत्रिय के लिए बाईस वर्ष और वैश्य के लिए चौबीस वर्ष है।

(२) अनगढ़, असंस्कृत व्यक्ति या वस्तु को भी संस्कारहीन कहा जाता है।

संस्मरण—संस्कारजन्य ज्ञान। तिथ्यादितत्त्व में कथन है :

ध्यायेन्नारायणं नित्यं स्नानादिषु च कर्मसु।
तद्विष्णोरिति मन्त्रेण स्नायादप्सु पुनः पुनः ॥
गायत्री वैष्णवी ह्येषा विष्णोः संस्मरणाय वै।

संहार—(१) सृष्टि की समाप्ति, प्रलय। मनुस्मृति (१.८०) के अनुसार :

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥

(२) अष्ट भैरवों में से एक का नाम :

असिताङ्गो रुरुश्चण्डः क्रोध उन्मत्त एव च।
कपाली भीषणश्चैव संहारश्चाष्ट भैरवाः ॥

संहारमुद्रा (विसर्जनमुद्रा)—धार्मिक क्रियाओं में विसर्जन की मुद्रा को संहारमुद्रा कहते हैं। यथा

अधोमुखे वामहस्ते ऊर्ध्वास्यं दक्षहस्तकम्।
क्षिप्राङ्गुलीरङ्गुलिभिः संगृह्य परिवर्तयेत् ॥
प्रोक्ता संहारमुद्रेयमर्पणे तु प्रशस्यते ॥

संहिता—सम्यक् अथवा पूर्वापर रूप में संग्रथित (संगृहीत) साहित्यिक अथवा आचार-नियम सम्बन्धी सामग्री। संगृहीत और सुसम्पादित वैदिक साहित्य को इसीलिए संहिता कहते हैं जिसकी संख्या चार है—(१) ऋग्वेद (२) यजुर्वेद (३) सामवेद और (४) अथर्ववेद। मन्वादि-प्रणीत धर्मशास्त्र ग्रन्थों अथवा स्मृतियों को भी संहिता कहते हैं। सम्प्रदायों से सम्बद्ध ग्रन्थों को भी संहिता कहा जाता है। पुराण भी संहिता कहे गये हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण के श्रीकृष्णजन्मखण्ड (अ० १३२) में संहिताओं की गणना इस प्रकार है :

एवं पुराणसंस्थानं चतुर्लक्षमुदाहृतम्।
अष्टादश पुराणानामेवमेव विदुर्बुधाः ॥
एवञ्चोपपुराणानामष्टादश प्रकीर्तिताः।
इतिहासो भारतञ्च वाल्मीकं काव्यमेव च ॥
पञ्चकं पञ्चरात्राणां कृष्णमाहात्म्यमुत्तमम्।
वासिष्ठं नारदीयञ्च कापिल गौतमीयकम् ॥
परं सनत्कुमारीयं पञ्चरात्रञ्च पञ्चकम्।
पञ्चकं संहितानाञ्च कृष्णभक्तिसमन्विताम् ॥
ब्रह्मणश्च शिवस्यापि प्रह्लादस्य तथैव च।
गौतमस्य कुमारस्य संहिताः परिकीर्तिताः ॥

कूर्मपुराण (अ० १), स्कन्दपुराण (शिवमाहात्म्य खण्ड, अ० १) में भी संहिताओं की सूचियाँ हैं।

सकुल्य—समान कुल में उत्पन्न अथवा सगोत्र। बौधायन के अनुसार प्रपितामह, पितामह, पिता, स्वयं, सहोदर भाई, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र—इनको अविभक्त दायाद अथवा सपिण्ड कहते हैं। विभक्त दायादों को सकुल्य कहते हैं। अविभक्त दायादों के अभाव में सम्पत्ति इनको मिलती है। दे० दायतत्त्व तथा शुद्धितत्त्व।

सकुल्यों के लिए बृहस्पति ने अशौच का विधान इस प्रकार बतलाया है :

दशाहेन सपिण्डास्तु शुध्यन्ति प्रेतसूतके।
त्रिरात्रेण सकुल्यास्तु स्नात्वा शुध्यन्ति गोत्रजाः ॥
(शुद्धितत्त्व में उद्धृत)

सखीसम्प्रदाय—राम और कृष्ण के प्रेममार्गी भक्तों का एक उपसम्प्रदाय। इसके अनुयायी अपने को सीताजी या राधाजी की सखी मानकर राम या कृष्ण की उपासना करते हैं। ये अपनी वेशभूषा प्रायः स्त्रियों की तरह रखते हैं। रंगीन वस्त्र पहनते हैं, आभूषण धारण करते हैं, पाँवों में महावर लगाते हैं। अपना साम्प्रदायिक नाम भी स्त्रीवाचक रखते हैं, जैसे प्रेमा, ललिता, शशिकला आदि। अयोध्या, जनकपुर, वृन्दावन इनके केन्द्र हैं। प्रायः उच्च श्रेणी के रसिक भक्त अपने सखीभाव को लोकाचार से अलग गुप्त रखते हैं।

सगर—सूर्यवंश के एक प्रसिद्ध राजा। इनकी उत्पत्ति की कथा पद्मपुराण (स्वर्ग खण्ड, अध्याय १५) में इस प्रकार दी हुई है : "सूर्यवंश में बाहु नाम के महान् राजा हुए। तालजङ्घ हैहयों ने उनके सम्पूर्ण राज्य का हरण कर लिया। काम्बोज, पह्लव, पारद, यवन और शक इन पाँच गणों ने हैहयों के लिए पराक्रम किया। राज्य का हरण हो जाने पर राजा बाहु वन में चले गये। उनकी पतिव्रता यादवी पत्नी गर्भिणी थी। उसकी सौत ने गर्भ को नष्ट करने के लिए उसको भोजन के समय गर (विष) दे दिया। यादवी के योगबल से वह गर्भ मरा नहीं और देवताओं की अनुकम्पा से वह रानी भी नहीं मरी। वह वन में पति की सेवा करती रही। राजा ने उस वन में योग से अपने प्राण त्याग दिये। रानी पति की चिता

लगाकर भस्म होने के लिए उस पर चढ़ने जा रही थी। और्व भार्गव (वसिष्ठ) ने दया करके उसको सती होने से बचाया। रानी ने उस वन में अग्नि के समान प्रोज्ज्वल गर्भ की सेवा की। तपोबल से गर (विष) के साथ बालक का जन्म हुआ इसलिए वह सगर कहलाया। वह अत्यन्त सुन्दर बालक था। और्व भार्गव ने उसके जातकर्म आदि संस्कार करके वेदों और शस्त्रास्त्र की शिक्षा दी। देवताओं के लिए भी दुःसह महाघोर आग्नेय अस्त्र उसको प्रदान किया। सगर ने उस बल से समन्वित होकर तथा सैन्य बल से भी युक्त होकर तालजङ्घ हैहयों और अन्य रिपुओं को वश में कर लिया।

मत्स्यपुराण के अनुसार सगर की दो भार्यायें थीं—प्रभा और भानुमती। दोनों ने और्व भार्गव की आराधना की। और्व ने दोनों को उत्तम वर प्रदान किया। एक को साठ सहस्र पुत्र तथा दूसरी को एक पुत्र उत्पन्न हुआ। यादवी प्रभा को साठ सहस्र पुत्र और भानुमती को असमंजस नामक वंशधर पुत्र हुआ। अश्वमेध यज्ञ में अश्व की खोज करते हुए प्रभा के साठ सहस्र पुत्र कपिल के शाप से दग्ध हो गये। असमंजस का पुत्र अंशुमान् प्रसिद्ध हुआ। उसका पुत्र दिलीप और दिलीप का भगीरथ विख्यात हुआ। उसने तप करके गङ्गा का पृथ्वी पर अवतरण कराया। इससे उसके शापदग्ध पितरों का उद्धार हुआ।

सगुणोपासना—ब्रह्म के दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण। निर्गुण अव्यक्त और केवल ज्ञानगम्य है। सगुण गुणों से संयुक्त होने के कारण सुगम और इन्द्रियगोचर है। श्रीमद्भगवद्गीता में यह प्रश्न किया गया है कि दोनों रूपों में से किसकी उपासना सरल है। उत्तर में कहा गया है कि निर्गुण अथवा अव्यक्त की उपासना क्लिष्ट (कठिन) है। सगुण की उपासना सरल है। सगुण उपासना में पहले प्रतीकों—प्रणव आदि की उपासना और आगे चलकर अवतारों की उपासना प्रचलित हुई। गीता में कहा गया है कि वृष्णिलोगों में वासुदेव (कृष्ण) और रुद्रों में शङ्कर (शिव) 'मैं' हूँ। इस प्रकार वैष्णव और शैव सम्प्रदायों और उनके अनेक उपसम्प्रदायों में सगुणोपासना का प्रचार हुआ।

सगोत्र—एक ही गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति। अमरकोश में सगोत्र, बान्धव, ज्ञाति, बन्धु और स्वजन को समान बतलाया गया है। किन्तु इनमें तारतम्य है।

सङ्कर—भिन्न वर्ण के माता-पिता से उत्पन्न सन्तान। हिन्दू समाज मुख्यतः चार वर्णों में विभक्त है। विवाहसम्बन्ध प्रायः सवर्णों में ही होता आया है। कभी-कभी अनुलोम और प्रतिलोम विवाह भी होते थे। किन्तु प्राचीन व्यवस्था के अनुसार संतति पिता के वर्ण की मानी जाती थी। परन्तु आगे चलकर वर्णान्तर विवाह वर्जित और निषिद्ध होने लगे। इस प्रकार के विवाहों से उत्पन्न संतति मिश्र (सङ्कर) और निन्दनीय मानी जाने लगी। मनुस्मृति में वर्णसङ्कर जातियों का विस्तार से वर्णन पाया जाता है। दे० 'वर्ण'।

सङ्कर्षण—पाञ्चरात्र वैष्णव मत के अनुसार पाँचके व्यूह में से दूसरा व्यक्ति। व्यूह के सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध और अनिरुद्ध से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। वासुदेव परमतत्त्व (ब्रह्म) हैं। संकर्षण प्रकृति अथवा महत् है। यहीं से सृष्टि में क्रियात्मक कर्षण प्रारम्भ होता है।

पाञ्चरात्र वैष्णव देवमण्डल में वासुदेव कृष्ण के साथ संकर्षण (बलराम) भी पूजा के देवता हैं। दे० 'पाञ्चरात्र'।

सङ्कल्प—किसी कर्म के लिए मन में निश्चय करना। भाव अथवा विधि में 'मेरे द्वारा यह कर्त्तव्य है' और निषेध में मेरे द्वारा यह अकर्तव्य है, ऐसा ज्ञानविशेष संकल्प कहा जाता है। कोई भी कर्म, विशेष कर धार्मिक कर्म, बिना संकल्प के नहीं करना चाहिए। भविष्य पुराण का कथन है :

> संकल्पेन विना राजन् यत्किञ्चित् कुरुते नरः।
> फलञ्चाल्पाल्पकं तस्य धर्मस्यार्द्धक्षयो भवेत्॥
> संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
> व्रता नियमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥

[हे राजन्! मनुष्य जो कुछ कर्म बिना संकल्प के करता है उसका अल्प से अल्प फल होता है; धर्म का आधा क्षय हो जाता है। काम का मूल संकल्प में है। यज्ञ संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं। व्रत, नियम और धर्म सभी संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा सुना गया है।]

संकल्प की वाक्यरचना विभिन्न कर्मों के लिए शास्त्रों में विभिन्न प्रकार से बतलायी गयी है। योगिनीतन्त्र

(प्रथम खण्ड, द्वितीय पटल) में संकल्प का निम्नांकित विधान है :

ताम्रपात्रं सदूर्वाञ्च सतिलं जलपूरितम् ।
सकुशञ्च फलैर्देवि गृहीत्वाचम्य कल्पतः ॥
अभ्यर्च्च्य च शिरःपद्मे श्रीगुरुं करुणामयम् ।
यक्षेशवदनो. वापि देवेन्द्रवदनोऽपि वा ॥
मासं पक्षं तिथिञ्चैव देवपर्वादिकन्तथा ।
आद्यन्तकालञ्च तथा गोत्रं नाम च कामिनाम् ॥
क्रियाह्वयं करिष्येऽन्तमेवं समुत्सृजेत् पयः ॥

सङ्कल्पनिराकरण—चौदह शैव सिद्धान्तशास्त्रों (ग्रन्थों) में से एक। इसके रचयिता उमापति शिवाचार्य तथा रचनाकाल चौदहवीं शती है। उमापति शिवाचार्य ब्राह्मण थे किन्तु शूद्र आचार्य मरै ज्ञानसम्बन्ध के शिष्य हो जाने के कारण जाति से बहिष्कृत कर दिये गये। ये अपने सम्प्रदाय के प्रकाण्ड धर्मविज्ञानी थे। इन्होंने आठ प्रामाणिक सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना की जिनमें से संकल्प-निराकरण भी एक है।

सङ्कल्पसूर्योदय—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य वेदान्तदेशिक द्वारा लिखित एक ग्रन्थ। यह रूपकात्मक नाटक है तथा बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय है। वेदान्तदेशिक माधवाचार्य के मित्रों मे थे। माधव ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इनका उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल चौदहवीं शती का उत्तरार्द्ध है।

सङ्किशा—उत्तर प्रदेश के फरुखाबाद जिले में पखना स्टेशन से प्रायः सात मील काली नदी के तट पर स्थित बौद्धों का धर्मस्थान। इसका प्राचीन नाम संकाश्य है। कहते हैं, बुद्ध भगवान् स्वर्ग से उतरकर पृथ्वी पर यहीं आये थे। जैन भी इसे अपना तीर्थ मानते हैं। तेरहवें तीर्थङ्कर विमलनाथजी का यह 'केवलज्ञानस्थान' माना जाता है।

वर्तमान सङ्किशा एक ऊँचे टीले पर बसा हुआ छोटा सा गाँव है। टीला दूर तक फैला हुआ है और किला कहलाता है। किले के भीतर ईंटों के ढेर पर बिसहरी देवी का मन्दिर है। पास ही अशोकस्तम्भ का शीर्ष है जिस पर हाथी की मूर्ति निर्मित है।

सङ्कीर्तन—सम्यक् प्रकार से देवता के नाम का उच्चारण अथवा उसके गुणादि का कथन। कीर्तन नवधा भक्ति का एक प्रकार है :

'स्मरणं कीर्तनं विष्णोः वन्दनं पादसेवनम्।'

इसी का विकसित रूप संकीर्तन है। भागवत (११.५) में संकीर्तन का उल्लेख इस प्रकार है :

यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥

पुराणों में संकीर्तन का बड़ा माहात्म्य वर्णित है। वृहन्नारदीय पुराण के अनुसार :

संकीर्तनध्वनिं श्रुत्वा ये च नृत्यन्ति मानवाः ।
तेषां पादरजस्पर्शात् सद्यः पूता वसुंधरा ॥

[संकीर्तन की ध्वनि सुनकर जो मानव नाच उठते हैं, उनके पदरज के स्पर्शमात्र से वसुंधरा तुरन्त पवित्र हो जाती है।]

सङ्क्रान्ति—सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में जाना। द्वादश नक्षत्र राशियों के अनुसार द्वादश ही संक्रान्तियाँ हैं। विभिन्न संक्रान्तियाँ विभिन्न व्यक्तियों के लिए शुभाशुभ फल देनेवाली होती हैं। संक्रान्तियों के अवसर पर विभिन्न धार्मिक कृत्यों का विधान पाया जाता है। स्नान और दान का विशेष महत्त्व बतलाया गया है।

सञ्ज्ञा—एक भावात्मक देवता। सूर्यपत्नी को संज्ञा कहते हैं। मार्कण्डेयपुराण (७७.१) में कथन है :

मार्तण्डस्य रवेर्भार्या तनया विश्वकर्मणः ।
संज्ञा नाम महाभागा तस्यां भानुरजीजनत् ॥

विशेष विवरण के लिए उपर्युक्त पुराण का सम्बद्ध भाग देखिए।

सतनामी—कबीरदास से प्रभावित जिन अनेक निर्गुणवादी सम्प्रदायों का उदय हुआ उनमें सतनामी सम्प्रदाय भी है। इसका प्रवर्तक कौन था और किस प्रकार इसका उदय हुआ, यह बतलाना कठिन है। अनुमानतः १६०० ई० के लगभग इसका उदय हुआ। इसका नाम सतनामी इसलिए पड़ा कि इसमें 'सत्य नाम' (वास्तविक ईश्वर के नाम) की उपासना पर जोर दिया जाता है। यह कबीर की नामोपासना से मिलता-जुलता है, जो उनके प्रभाव को स्पष्ट करता है। १६७२ ई० के लगभग सबसे पहला इसका उल्लेख पाया जाता है। औरंगजेब के शासनकाल में दिल्ली से दक्षिण-पश्चिम ७५ मील दूर नारनौल नामक स्थान में एक साधारण सी बात पर सतनामियों और शासन में झगड़ा हो गया। इस पर सतनामियों ने विद्रोह किया और वे बड़ी संख्या में मारे गये। उस समय का सतनामियों का कोई समसामयिक ग्रन्थ नहीं पाया जाता।

इस सम्प्रदाय का पुनः संगठन १७५० ई० के लगभग जगजीवन दास के द्वारा हुआ, जो बाराबंकी जिले (उ. प्र.) के कोटवा नामक स्थान के निवासी थे। ये योगी और कवि थे। इन्होंने हिन्दी में पदों की रचना की। इनके शिष्य दूलन दास हुए। ये भी कवि थे। ये आजीवन रायबरेली जिले में रहे। १८२० और १८३० ई० के बीच छत्तीसगढ़ के एक चमार जातीय सन्त गाजीदास ने फिर इस सम्प्रदाय का पुनरुत्थान किया। इस नवोत्थित धर्म का प्रचार विशेषकर चमारों और अन्य असवर्ण लोगों में ही हुआ इस सम्प्रदाय में निम्न वर्ण के लोग थे।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस सम्प्रदाय के अनुयायी एक सत्यनाम (अरूप, निर्गुण ईश्वर) के उपासक हैं। इनमें अवतार और मूर्तिपूजा वर्जित है। भोजन में ये शाकाहारी हैं और इनमें मद्य और मांस का निषेध है। ये उन पदार्थों का भी सेवन नहीं करते जो आकृति में रक्त अथवा मांस की तरह दिखाई पड़ते हैं। कुछ लोगों के अनुसार इनमें गात्री, क्रिया की साधना होती थी, जिसके अनुसार ये शारीरिक मलों से युक्त भोजन करते थे। परन्तु भट्टाचार्य ने इस मत का खण्डन किया है। छत्तीसगढ़ के सतनामियों में एक धार्मिक प्रथा के रूप में स्त्रियों में शिथिल आचार देखा जाता था जो अब प्रायः बन्द हो गया है। इनके कई वर्गों में मूर्तिपूजा की प्रथा भी जारी हो गयी है, जो परम्परागत हिन्दू धर्म का प्रभाव है। इनकी कुछ गन्दी प्रथाएँ आदिम काल के अविकसित जीवन के अवशेष हैं जो अभी तक पूर्णतः नष्ट नहीं हो पाये हैं।

सती—(१) सत् अथवा सत्य पर दृढ़ रहनेवाली। यह शिव की पत्नी का नाम है। पुराणों में इनकी कथा विस्तार से दी हुई है। ये दक्ष प्रजापति की कन्या थीं। इनका विवाह शिव के साथ हुआ था। एक बार दक्ष ने यज्ञ का अनुष्ठान किया। उन्होंने सभी देवताओं को निमन्त्रित कर उनका भाग दिया किन्तु शिव को नहीं निमन्त्रित किया। जब सती को अपने पिता के यज्ञानुष्ठान का पता लगा तो उन्होंने शिव से अवने पिता के यहाँ जाने का आग्रह किया। शिव ने बिना निमन्त्रण के जाना अस्वीकार कर दिया। उनके मना करने पर भी सती अपने पिता के यहाँ गयीं। वहाँ अपने पति के अपमान से बहुत दुःखी हुईं और अपना शरीर त्याग कर दिया। इस घटना का समाचार पाकर शिव बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने अपने गणों को यज्ञ विध्वंस करने के लिए भेजा। स्वयं वे सती के मृत शरीर को लेकर और सन्तप्त होकर सँसार में घूमते रहे। जहाँ-जहाँ सती के अङ्ग गिरे वहाँ तीर्थ बन गये। दूसरे जन्म में सती ने हिमालय के यहाँ पार्वती के रूप में जन्म लिया और पुनः उनका शिव के साथ विवाह हुआ, जिसका काव्यमय वर्णन कालिदास ने कुमारसंभव में किया है।

(२) प्रचलित अर्थ में सती वह स्त्री है जो सच्चे पतिव्रत का पालन करती थी और पति के मरने पर उसकी चिता पर अथवा अलग चिता पर जलकर उसका अनुगमन करती थी। यह प्रथा प्राचीन भारत में प्रचलित थी। परन्तु अब यह विधि के द्वारा वर्जित है, कभी-कभी इसके उदाहरण विधि का भंग करते हुए सुनाई पड़ते हैं।

अन्य देशों में, जहाँ स्त्रियाँ पुरुषों की सम्पत्ति समझी जाती थीं, मृत पति के साथ वे समाधि में चुन दी जाती थीं। परन्तु भारत के प्राचीनतम साहित्य में इस प्रकार का उल्लेख नहीं पाया जाता। ऐसा कोई वैदिक सूक्त अथवा मन्त्र नहीं मिलता जिसमें मृत पति की चिता पर विधवा के सती होने की चर्चा हो। गृह्यसूत्रों में, जिनमें अन्त्येष्टि का विस्तृत वर्णन पाया जाता है, सती होने का कोई विधान नहीं है। ऐसा लगता है कि किसी आर्येतर अथवा विदेशी सम्पर्क के कारण यह प्रथा भारत में प्रचलित हुई। धर्मसूत्रों में से केवल विष्णुधर्मसूत्र में सतीप्रथा का वैकल्पिक विधान है (मृते भर्तरि ब्रह्मचर्य तदन्वारोहणं वा)। २५.१४ : मिताक्षरा, याज्ञ० १.८८ के भाष्य में उद्धृत)। मनुस्मृति में कहीं भी सती का उल्लेख नहीं पाया जाता। रामायण (उत्तर, १७.१५) में इसका केवल एक उदाहरण पाया जाता है। इसके अनुसार एक ब्रह्मर्षि की पत्नी अपने पति की चिता पर सती हुई। महाभारत के अनुसार युद्ध में बहुसंख्यक लोग मारे गये, किन्तु सती के उदाहरण बहुत कम हैं। माद्री पाण्डु के मरने पर उनकी चिता पर सती हो गयी (आदि०, ९५.६५)। वसुदेव की चार पत्नियाँ—देवकी, भद्रा, रोहिणी और मदिरा—पति की चिता पर सती हुईं (मुसल०, ७.१८)। कृष्ण की कुछ पत्नियाँ उनके शव के साथ सती हुईं। किन्तु सत्यभामा तपस्या करने वन चली गयी (मुसल, ७.७३-७४)। ऐसा लगता है कि सती प्रथा मुख्यतः क्षत्रियों में ही प्रचलित थी और वह भी बहुत व्यापक नहीं थी। कौरवों की पत्नियों के सती होने का उल्लेख नहीं है। परवर्ती स्मृ-

तियों में ब्राह्मण विधवाओं के सती होने का स्पष्ट निषेध किया गया है (मिताक्षारा, याज्ञ० १.८६ के भाष्य में उद्धृत)। यूनानी लेखकों ने, जो सिकन्दर के साथ भारत में आये थे, इस बात का उल्लेख किया है कि पंजाब की कठ जाति में सती प्रथा प्रचलित थी (स्ट्रैबो, १५.१. ३०,६२)। परन्तु यह प्रथा बहुप्रचलित नहीं थी।

सती प्रथा की पवित्रता और उपयोगिता के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रकारों में सदा मतभेद रहा है। मेधातिथि ने मनुस्मृति (५.१५७) पर भाष्य करते हुए सती प्रथा की तुलना श्येनयाग से की है जो एक प्रकार का अभिचार (जादू-टोना) था। मेधातिथि तथा कुछ अन्य टीकाकारों ने इसकी तुलना आत्महत्या से की है और इसे गर्हित बतलाया है। इसके विपरीत मिताक्षरा के रचयिता विज्ञानेश्वर तथा अन्यों ने सती प्रथा का समर्थन किया है।

सम्पूर्ण मध्ययुग में यह प्रथा विशेषत: राजपूतों में प्रचलित थी। मुसलमानों के आक्रमण से इसको और प्रोत्साहन मिला। अकबर ने अपने सुधारवादी शासन में सती प्रथा को बन्द करना चाहा, परन्तु यह बन्द न हुई। आधुनिक युग में भी बनी रही। बंगाल में इसका सर्वाधिक प्रचार था। इसका कारण यह था कि वहाँ दाय भाग के अनुसार पत्नी को पति की मृत्यु के पश्चात् संयुक्त पारिवारिक सम्पत्ति में पूर्ण अधिकार प्राप्त था। इसलिए परिवारवाले यही चाहते थे कि विधवा मृत पति के साथ सती हो जाय। इसमें छल और बल प्रयोग भी होने लगा। राजा राममोहन राय के प्रयत्नों से लार्ड विलियम बेंटिङ्क के शासन-काल (१८२९ ई०) में सतीप्रथा भारत में निषिद्ध कर दी गयी।

सतीर्थ—सहपाठी अर्थात् गुरुभाई। समान गुरु से पढ़े हुए परस्पर सतीर्थ कहलाते हैं।

सत्कार—पूजा अथवा आवभगत। व्यवहारतत्त्व के अनुसार सभा में सभासद् जिस प्रकार बैठते हैं, उठते हैं, तथा दान-मान आदि प्राप्त करते हैं, उसे सत्कार कहा जाता है।

सत्क्रिया—शवदाहादि संस्कार को सत्क्रिया कहा जाता है। शब्दरत्नावली में 'संस्कार' के अर्थ में सत्क्रिया का प्रयोग हुआ है। महाभारत (१.४४.५ 'प्रयुज्य सर्वाः परलोकसत्क्रियाः।') में अन्त्येष्टि के अर्थ में ही यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

सत्य—तीनों कालों में जो एक समान रहे (त्रिकालाबाध्य), परमात्मा (सत्यं ज्ञानमनन्तं)। इसका प्रयोग कृतयुग, शपथ एवं यथार्थ के अर्थ में प्राय: होता है। इसके अन्य पर्याय हैं, तथ्य, ऋत सम्यक्, अवितथ, भूत आदि। पद्मपुराण (क्रियायोगसार, अध्याय १६) में सत्य का लक्षण इस प्रकार है :

> यथार्थकथनं यच्च सर्वलोकसुखप्रदम्।
> तत्सत्यमिति विज्ञेयमसत्यं तद्विपर्ययम्॥

सांख्य दर्शन में इससे मिलता-जुलता सत्य का लक्षण बतलाया गया है : 'अत्यन्तलोकहितम् सत्यम्।' महाभारत (राजधर्म) में सत्य का आकार निम्नांकित प्रकार से बतलाया गया है :

> सत्यञ्च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
> अमात्सर्य क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयाता॥
> त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया।
> अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश॥

पुराणों में सत्य का माहात्म्य बड़े विस्तार से वर्णित है। गरुड़पुराण (अध्याय ११५) में सत्य की प्रशंसा इस प्रकार है :

> न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
> न ते वृद्धा ये न वदन्ति सत्यम्।
> नाऽसौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
> न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥

सत्यनारायण—ईश्वर का एक पर्याय। इसका अर्थ है 'सत्य ही नारायण (भगवान्) हैं।' सत्यनारायण की व्रतकथा बहुत ही प्रचलित है। यह स्कन्द पुराण के रेवाखण्ड में वर्णित कही जाती है। प्राय: पूर्णिमा को सत्यनारायण-व्रतकथा कहने का प्रचलन है। यद्यपि कलियुग में सत्यनारायण की पूजा विशेष फलदायक कही जाती है, किन्तु सत्य के नाम से नारायण का अवतार और पूजा-उपासना सत्ययुग से ही चली आ रही है :

> धर्मस्य सूनृतायां तु भगवान् पुरुषोत्तमः।
> सत्यसेन इति ख्यातो जातः सत्यव्रतैः सह॥
> सोऽनृतव्रतदुःशीलानसतो यक्षराक्षसान्।
> भूतद्रुहो भूतगणांस्त्ववधीत् सत्यजित्सखः॥
> (भागवत, ८.१.२५-२६)

सत्यभामा—कृष्ण की आठ पटरानियों में द्वितीय। पद्मपुराण (उत्तर खण्ड, अध्याय ६९) में इन आठों के नाम इस

प्रकार हैं :

अष्टौ महिष्यस्ताः सर्वा रुक्मिण्याद्या महात्मनः ।
रुक्मिणी सत्यभामा च कालिन्दी च शुचिस्मिता ।।
मित्रविन्दा जाम्बवती नाग्नजिती सुलक्षणा ।
सुशीला नाम तन्वङ्गी महिष्यश्चाष्टमाः स्मृताः ।।

सत्ययुग—चार युगों में से प्रथम युग । इसका कृत नाम इस कारण हुआ कि समस्त प्रजा इस काल में कृतकृत्य या कृतार्थ रहती थी :

'कृतकृत्य प्रजा यत्र तन्नाम्ना मां कृतं विदुः ।।'
(कल्कि पुराण, अध्याय १९)

कृतयुग (सत्ययुग) की दशा का वर्णन निम्नांकित पाया जाता है :

धर्मश्चतुष्पादभवत् कृते पूर्णं जगत्त्रयम् ।
देवा यथोक्तफलदाश्चरन्ति भुवि सर्वतः ।।
सर्वसस्या वसुमती हृष्टपुष्टजनावृता ।
शाठ्यचौर्या नृतैर्हीना आधिव्याधिविवर्जिता ।।
विप्रा वेदविदः सुमङ्गलयुता नार्यस्तु चर्याव्रतैः
पूजाहोमपरा पतिव्रतधरा यागोद्यताः क्षत्रियाः ।।
वैश्या वस्तुषु धर्मतो विनिमयैः श्रीविष्णुपूजापराः
शूद्रास्तु द्विजसेवनाद् हरिकथालापाः सपर्यापराः ।।
(कल्कि पुराण, अध्याय १८)

वैशाख शुक्ल तृतीया रविवासर को सत्य युग की उत्पत्ति हुई थी । इसमें विष्णु के चार अवतार हुए—१. मत्स्य २. कूर्म ३. वराह तथा ४. नृसिंह । इसमें पुण्य पूर्ण था, पाप का अभाव था, मुख्य तीर्थ कुरुक्षेत्र था, ब्राह्मण ग्रहांश थे, प्राण मज्जागत थे, मृत्यु इच्छानुसार थी । इसमें बलि, मान्धाता, पुरूरवा, धुन्धुमारिक, कार्तवीर्य ये छः चक्रवर्ती राजा हुए थे । इसका लक्षण निम्नांकित है :

सत्यधर्मरता नित्यं तीर्थानाञ्च सदाश्रयम् ।
नन्दन्ति देवताः सर्वा सत्ये सत्यपरा नराः ।।
(दे० भागवत, १२,४,२ पर श्रीधर स्वामी की टीका)

सत्यलोक—सात लोकों के अन्तर्गत एक लोक । विष्णु-पुराण (२.७) में इसका निम्नांकित लक्षण दिया हुआ है :

षड्गुणेन तपोलोकात् सत्यलोको विराजते ।
अपुनर्मारका यत्र ब्रह्मलोको हि स स्मृतः ।।

[तप लोक से छः गुना सत्यलोक अधिक विराजमान है । वहाँ बसने वालों की पुनः मृत्यु नहीं होती, वह सत्यलोक और ब्रह्मलोक कहलाता है ।]

सत्यवती—(१) व्यास की माता का नाम । यह धीवरकन्या थी । पराशर ऋषि ने इसके साथ संसर्ग किया, जिससे व्यास का जन्म हुआ ।

(२) हरिवंश पुराण (२७,१८) के अनुसार ऋचीक मुनि की पत्नी । यथा :

गाधेः कन्या महाभागा नाम्ना सत्यवती शुभा ।
तां गाधिः काव्यपुत्राय ऋचीकाय ददौ प्रभुः ।।

[गाधि की कन्या नाम से सत्यवती महाभागा और शुभा थी । उसको गाधि ने काव्यपुत्र ऋचीक को विवाह में दिया ।]

सत्यवतीसुत—(१) सत्यवती के पुत्र व्यास । वास्तव में इनका नाम कृष्ण था । पराशर द्वारा अविवाहित सत्यवती से ये उत्पन्न हुए थे । सत्यवती ने लज्जा के मारे इनको एक द्वीप में छिपा दिया, इसीलिए आगे चलकर ये द्वैपायन भी कहलाये । जब इन्होंने वेदों का संकलन और सम्पादन किया तो इनकी प्रसिद्ध उपाधि व्यास हुई । सर्वाधिक इसी नाम से ये प्रसिद्ध हुए ।

(२) जमदग्नि ऋषि भी सत्यवतीसुत कहलाते हैं, क्योंकि उनकी माता का नाम भी सत्यवती था ।

सत्यवान्—केकय देश के राजा अश्वपति की कन्या सावित्री के पति । ये साल्व देश (पूर्वी राजस्थान, अलवर) के निवासी थे । महाभारत (३.२९३.१२) में इनके नाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलायी गयी है :

सत्यं वदत्यस्य पिता सत्यं माता प्रभाषते ।
ततोऽस्य बाह्मणाश्चक्रुर्नामैतत् सत्यवानिति ।।

[इनके पिता सत्य बोलते थे, माता सत्य भाषण करती थी, इसलिए ब्राह्मणों ने इनका नाम सत्यवान् ही रखा ।] सावित्री-सत्यवान् की प्रसिद्ध कथा महाभारत (३.२९२ और आगे) में विस्तार से दी हुई है ।

सत्यार्थप्रकाश—आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित प्रसिद्ध ग्रन्थ । यह आर्य समाज का सर्वमान्य ग्रन्थ है । इसके अधिकांश प्रारंभिक अध्यायों (समुल्लासों) में आर्य समाज के सिद्धान्तों का मण्डन और समाजसुधारक विचारों का प्रतिपादन किया गया है ।

इसके पश्चात् पौराणिक तथा तान्त्रिक हिन्दू धर्म तथा संसार के अन्यान्य धर्मों की कड़ी समीक्षा की गयी है। दे० 'आर्य समाज'।

सत्र—यज्ञ का पर्याय। भागवत पुराण (१.१) में यज्ञ के अर्थ में ही इसका प्रयोग हुआ है।

> नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः।
> सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत॥
>
> ....
>
> कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन्वैणवे वयम्।
> आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः॥

[अनिमिषक्षेत्र नैमिषारण्य में शौनक आदि ऋषियों ने स्वर्ग की प्राप्ति और लोक कल्याण के लिए सहस्रों वर्ष का सत्र (यज्ञ) किया। कलि को आया हुआ जानकर इस वैष्णव क्षेत्र में हम लोग दीर्घ सत्र (यज्ञ) करते हुए भगवत्कथा में समय बिताने लगे।]

सत्राजित्—कृष्ण की पत्नी सत्यभामा के पिता।

सत्वत्—यदुवंश के एक प्राचीन राजा, जिनसे सात्वत वंश चला। वे अंशु के पुत्र थे। सात्वतों में ही वैष्णवों का भागवत सम्प्रदाय प्रारम्भ में विकसित हुआ, अतः इसे सात्वत सम्प्रदाय भी कहते हैं। सत्वत् के पुत्र सात्वत ने नारद से भागवत धर्म का उपदेश ग्रहण किया (दे० कूर्म पुराण)। इस धर्म की विशेषता थी निष्काम कर्म और वासुदेव की आराधना। ज्ञान, कर्म और भक्ति के समुच्चय अथवा समन्वय के सात्वत लोग समर्थक थे।

सदन—स्वामी रामानन्द के पूर्व रामावत सम्प्रदाय मे कई सन्त आचार्य हुए। इनमे नामदेव और त्रिलोचन महाराष्ट्र में तथा सदन और बेनी उत्तर भारत में हुए थे। सदन ने हिन्दी में अपने पदों की रचना की। राय बालेश्वर प्रसाद ने सन्तबानी-संग्रह सन् १९१५ में बेल्वेडियर प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित कराया था। उसमें सदन के पद संगृहीत हैं।

सदाचार—धर्म के अनेक स्रोतों में से एक। इसको धर्मसूत्रों में शील, सामयाचारिक अथवा शिष्टाचार कहा गया है और स्मृतियों में आचार अथवा सदाचार। धर्म के स्रोतों की गणना निम्नांकित प्रकार है:

> वेदो धर्ममूलम्। तद्विदाञ्च स्मृतिशीले।
> (गौ० ध० १.१-२)
>
> अथातः सामयाचारिकान्धर्मान् व्याख्यास्यामः।
> धर्मज्ञसमयः प्रमाणम् वेदाश्च। (आप० धर्म० १.१.१-३)
>
> श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्। शिष्टः पुनरकामात्मा। अगृह्यमाणकारणो धर्मः।
> (वसिष्ठधर्म० १. ४-७)
>
> श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
> सम्यक्संकल्पजः कामोः धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥
> (याज्ञ० १.७)
>
> वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
> आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥
> (मनु १.६)

आपस्तम्ब धर्मसूत्र के भाष्य में हरदत्त सामयाचारिक की व्याख्या इस प्रकार करते हैं:

पौरुषेयी व्यवस्था समयः, सच्च त्रिविधः, विधिर्नियमः, प्रतिषेधश्चेति। समयमूला आचाराः, तेषु भवाः सामयाचारिकाः, एवंभूतान् धर्मानिति। कर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुरपूर्वाख्य आत्मगुणो धर्मः।

[पौरुषेयी व्यवस्था को समय कहते हैं, वह तीन प्रकार का होता है—(१) विधि (२) नियम और (३) प्रतिषेध। आचारों का मूल समय में होता है। उनमें उत्पन्न होने के कारण वे सामयाचारिक कहलाते हैं। अर्थात् इस प्रकार से उत्पन्न हुए धर्म। कर्म से उत्पन्न, अभ्युदय-निःश्रेयस का कारणभूत अपूर्व नामक आत्मा का गुण धर्म है।]

वसिष्ठधर्मसूत्र में शिष्ट की परिभाषा दी गयी है:

शिष्टः पुनरकामात्मा।

[शिष्ट वह है जो (स्वार्थमय) कामनाओं से रहित हो] अकामात्मा का ही आचार प्रमाण माना जा सकता है। मनु ने शील और आचार में थोड़ा भेद किया है। कुल्लूक के अनुसार शील नैतिक गुणों को कहते हैं, जैसे विद्याप्रेम, देवभक्ति, पितृभक्ति आदि; आचार वह है जो अनुबन्ध अथवा परम्परा पर आधारित हो। श्रुति तथा स्मृति और आचार की प्रामाणिकता में भी अन्तर है। प्रथम दो धर्म के मौलिक प्रमाण हैं, जब कि आचार सहायक प्रमाण है।

सदाचार अथवा आचार तीन प्रकार का होता है:
(१) देशाचार (२) जात्याचार और (३) कुलाचार। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में विभिन्न आचार, प्रथायें और

परम्पराएँ प्रचलित होती हैं, वे देशाचार कहलाती हैं। इसी प्रकार विभिन्न जातियों में भी अपने-अपने विशिष्ट आचार होते हैं, जो जात्याचार कहलाते हैं। जाति के भीतर विभिन्न कुलों में भी अपने-अपने विशेष आचार होते हैं, जिनको कुलाचार कहते हैं। ये श्रुति-स्मृतियों में विहित विधान के अतिरिक्त होते हैं। कालमानित और बहुमानित होने के कारण ये प्रमाण माने जाते हैं, यद्यपि श्रुति-स्मृतियों से अविरुद्ध होने की इनसे अपेक्षा की जाती है।

सदाचार के प्रामाण्य पर कुमारिल द्वारा तन्त्रवार्तिक (जैमिनि, १. ३.७) में विस्तार से विचार किया गया है। इसके अनुसार वे ही प्रथाएँ सदाचार के अन्तर्गत आती हैं जो श्रुति के स्पष्ट पाठ के अविरुद्ध होती हैं, जिनका आचरण शिष्ट इस विश्वास से करते हैं कि उनका पालन करना धर्म है, जिनका कोई इष्ट फल (काम अथवा लोभ) नहीं होता है। शिष्ट भी वे ही होते हैं जो स्पष्ट श्रुतिविहित कर्तव्यों का स्वेच्छा से अपने आप पालन करते हैं; वे नहीं जो तथाकथित सदाचार का पालन करते हैं। यदि ऐसा न हो तो शिष्टता वाग्जाल के चक्र में पड़ जायेगी। इसलिए परम्परागत और पीढ़ी दर पीढ़ी से चली आने वाली प्रथाओं का शिष्टों द्वारा इस बुद्धि से पालन कि वे धर्म के अङ्ग है, वस्तुतः धर्म हैं और इससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है :

दृष्टकारणहीनानि यानि कर्माणि साधुभिः।
प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् धर्मत्वेनेह तान्यपि॥
शरीरस्थितये यानि सुखार्थं वा प्रयुञ्जते।
अर्थार्थं वा न तेष्वस्ति शिष्टानामेव धर्मधीः॥
धर्मत्वेन प्रपन्नानि शिष्टैर्यानि तु कानिचित्।
वैदिकैः कर्मसामान्यात्तेषां धर्मत्वमिष्यते॥
नैव तेषां सदाचारनिमित्ता शिष्टता मता।
साक्षाद्विहितकारित्वाच्छिष्टत्वे सति तद्वचः॥

प्रत्यक्षवेदविहितक्रियया हि लब्धशिष्टत्वव्यपदेशा यत्परम्पराप्राप्तमन्यदपि धर्मबुद्ध्या कुर्वन्ति तदपि स्वर्ग्यत्वाद्धर्मरूपमेव। (तन्त्रवार्तिक, पृ० २०५-२०६)।

केवल महान् पुरुषों का आचरण मात्र सदाचार नहीं है, क्योंकि उनके जीवन में कई कर्म धर्मविरुद्ध होते हैं, जिनका आचरण सामान्य पुरुषों को नहीं करना चाहिए :

दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम्।
अवरदौर्बल्यात्। (गौतम धर्म० १. ३-४)

दृष्टो धर्मव्यनिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम्।
तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते।
तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः॥
(आप० धर्म० २.६.१३.७-९)

कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक (जैमिनि, ३.३.१४) में सदाचार के बाधों पर भी विचार दिया है। यदि किसी आचार और स्मृति में विरोध हो तो आचार स्मृति से बाधित होता है—एक आचार दूसरे अधिक अभियुक्ततर (श्रेष्ठ द्वारा प्रयुक्त) आचार से; संदिग्ध आचार असंदिग्ध आचार से बाधित होता है आदि (स्मृत्याप्याचारः सोऽप्यभियुक्तराचारेण संदिग्धमसंदिग्धेन)।

सदाचार के मीमांसक मूल्यांकन से कुछ स्मृतिकारों ने अपना मतभेद प्रकट किया है। किसी आचार को राज्य द्वारा इसलिए अमान्य नहीं कर देना चाहिए कि उसका स्मृति द्वारा विरोध है। ऐसे आचार का विरोध शुद्ध धार्मिक दृष्टि से है, व्यावहारिक (विधिक) दृष्टि से नहीं। किसी आचार के प्रामाणिक होने के लिए यह पर्याप्त है कि वह चिरकालमानित और बहुमानित है। बृहस्पति का कथन है : "देशाचार, जात्याचार और कुलाचार का, जहाँ भी वे प्राचीन काल से प्रचलित हों, उसी प्रकार आदर करना चाहिए। नहीं तो प्रजा में क्षोभ उत्पन्न होता है; राजा के बल और कोष का नाश होता है। ऐसे आचार के पालन से प्रजा प्रायश्चित्त अथवा दण्ड की भागी नहीं होती :

देशजातिकुलानाञ्च ये धर्माः प्राक्प्रवर्तिताः।
तथैव ते पालनीयाः प्रजा प्रक्षुभ्यतेऽन्यथा॥
जनापरक्तिर्भवति बलं कोषञ्च नश्यति।
अनेन कर्मणा नैते प्रायश्चित्तदमार्हकाः॥
(बृहस्पति)

साधु पुरुषों के आचरण को सदाचार कहते हैं। मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त के निवासियों के आचार को सदाचार बतलाया गया है :

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तद्देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥
तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां सदाचारः स उच्यते॥

[दिवनदी सरस्वती और दृषद्वती के बीच में जो अन्तराल है वह देवताओं से निर्मित देश ब्रह्मावर्त कहलाता

है । उस देश में अन्तराल सहित चारों वर्णों का परम्परागत जो आचार है वह सदाचार कहलाता है ।]

धर्म के प्रमुख चार स्रोतों में तीसरा सदाचार है :

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ।।
(मनुस्मृति)

[श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने आत्मा को प्रिय, यह चार प्रकार का साक्षात् धर्म का लक्षण कहा गया है ।]

कालिकापुराण (अध्याय ८६), वामनपुराण (अध्याय १४), पद्मपुराण (स्वर्ग खण्ड, अध्याय २९,३०,३१) और मार्कण्डेयपुराण के सदाचाराध्याय में सदाचार का विस्तृत वर्णन पाया जाता है ।

सदाचारस्मृति—मध्वाचार्य द्वारा रचित एक ग्रन्थ । इसमें माध्व साम्प्रदायिक वैष्णवों के आचारों का वर्णन और विवेचन है ।

सदानन्द—अद्वैत दर्शन के एक आचार्य अद्वैतानन्द पन्द्रहवीं शती में हुए थे, जिन्होंने ब्रह्मसूत्र के शाङ्कर भाष्य पर ब्रह्मविद्याभरण नामक भाष्य पद्य में लिखा । अद्वैतानन्द के शिष्य सदानन्द थे, जिन्होंने गद्य में वेदान्तसार नामक ग्रन्थ लिखा । यह शाङ्कर वेदान्त की अच्छी भूमिका प्रस्तुत करता है परन्तु इस पर सांख्य का प्रभाव स्पष्ट है ।

सदानन्द योगीन्द्र—इन्होंने वेदान्तसार नामक ग्रन्थ की रचना की । इनका जीवन काल सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध है । वेदान्तसार के ऊपर नृसिंह सरस्वती की सुबोधिनी नामक टीका है जिसका रचनाकाल शक सं० १५१८ है । वेदान्तसार अद्वैतवेदान्त का अत्यन्त सरल प्रकरण ग्रन्थ है । इस पर कई टीकाएँ लिखी गयी हैं । इस ग्रन्थ से मुमुक्षुओं का बहुत उपकार हुआ है । सदानन्द योगीन्द्र का एक ग्रन्थ शङ्करदिग्विजय भी है जो अभी नागराक्षरों में प्रकाशित नहीं है । दे० सदानन्द ।

सदानीरा—शतपथ ब्राह्मण (१.४.१.१४) के अनुसार यह कोसल और विदेह के बीच सीमा बनाती थी । वेबर इसको गण्डकी (बड़ी गंडक) मानते हैं, जो ठीक प्रतीत होता है । कुछ लोगों ने इसको करतोया माना है (इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, पृ १५,२४) । परन्तु करतोया बहुत दूर पूर्व में होने से सदानीरा नहीं हो सकती । महाभारत (२.७९४) में गण्डकी और सदानीरा को अलग-अलग माना गया है । किन्तु यहाँ शायद गण्डकी का तात्पर्य छोटी गण्डक से है, जो उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में बहती है । सदानीरा का एक नाम नारायणी या शालग्रामी भी है । वर्षाऋतु में अन्य नदियाँ रजस्वला होने के कारण अपवित्र रहती हैं, किन्तु इसका जल सदा पवित्र रहता है । अतः यह सदानीरा कहलाती है । यह पटना के पास गंगा में मिल जाती है ।

सदापृण—ऋग्वेदोक्त (५.४४.१२) एक ऋषि ।

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र—भट्टोजिदीक्षित के समकालीन एक विद्वान् संन्यासी । संभवतः ये काञ्ची कामकोटि पीठ के महाधीश्वर भी थे । इनके रचित ग्रन्थ गुरुरत्नमालिका में ब्रह्मविद्याभरणकार स्वामी अद्वैतानन्द का उल्लेख पाया जाता है । सदाशिव स्वामी ने अद्वैतविद्याविलास, बोधार्यात्मनिर्वेद, गुरुरत्नमालिका, ब्रह्मकीर्तनतरङ्गिणी आदि ग्रन्थों की रचना की थी ।

सदुक्तिकर्णामृत—बङ्गदेशीय वैष्णव श्रीधरदास द्वारा प्रस्तुत स्तुतियों का एक संग्रह ग्रन्थ । इसका रचनाकाल १२०५ ई० है । इसमें जयदेव के कुछ पद्य भी संगृहीत हैं ।

सद्यःशुद्धि—सामान्यतः मरणाशौच और जननाशौच में शुद्धि बारह दिनों के पश्चात् होती है । परन्तु किन्हीं परिस्थितियों में सद्यः (तुरन्त) शुद्धि हो जाती है । गरुडपुराण (अध्याय १०७) के अनुसार :

'देशान्तरमृते बाले सद्यः शुद्धिर्यतौ मृते ।'

[देशान्तर में मरने पर, बालक की मृत्यु पर तथा संन्यासी की मृत्यु पर सद्यः शुद्धि हो जाती है ।] इसका कारण यह है कि प्रथम और द्वितीय का परिवार से सम्बन्ध नहीं रहता है । द्वितीय का व्यक्तित्व अविकसित और उसका परिवार में अभिनिवेश प्रायः नहीं होता ।

सद्यःशौच—सामाजिक आवश्यकता और कुछ विशेष कारणों से कुछ वर्गों और व्यक्तियों का शौच (शुद्धि) तुरन्त मान लिया जाता है । गरुडपुराण (अध्याय १०७) में कथन है :

शिल्पिनः कारवो वैद्याः दासीदासाश्च भृत्यकाः ।
अग्निमान् श्रोत्रियो राजा सद्यः शौचाः प्रकीर्तिताः ।।

[शिल्पी लोग, बढ़ई, वैद्य, दासी, दास, भृत्य, यज्ञ करने वाला, श्रोत्रिय और राजा ये तुरन्त शौच वाले (शुद्ध) माने जाते हैं ।]

कूर्मपुराण (उपविभाग, अध्याय २२), आदिपुराण एवं कई स्मृतियों में सद्यःशौच वाले लोगों की लम्बी सूचियाँ पायी जाती हैं । कुछ कर्मों का अनुष्ठान प्रारम्भ हो जाने पर अशौच नहीं होता :

> व्रतयज्ञविवाहेषु श्राद्धहोमार्चने जपे ।
> आरब्धे सूतकं न स्यादनारब्धे तु सूतकम् ।।
>
> (विष्णुस्मृति)

[व्रत, यज्ञ और विवाह में, इसी प्रकार श्राद्ध, होम, अर्चन और जप में भी आरम्भ हो जाने पर सूतक नहीं होता; अनारम्भ में होता है ।] दे० सद्यःशुद्धि ।

सद्विद्याविजय—दोद्दय महाचार्य रामानुजदास कृत एक ग्रन्थ । इसका रचनाकाल सोलहवीं शती है । इसमें श्रीवैष्णव वेदान्तमत का प्रतिपादन हुआ है ।

सधर्मचारिणी—एक साथ धर्म का आचरण करने वाली । यह भार्या का पर्याय है ।

सधवा—धव = पति के, स = साथ विद्यमान । जिस स्त्री का पति जीवित होता है उसे सधवा कहते हैं ।

सनक—(१) ब्रह्मा के चार मानस पुत्रों में से प्रथम । श्रीमद्भागवतपुराण (३.१२) में इनका वर्णन है ।

(२) जैमिनीय ब्राह्मण (३.२३३) के अनुसार सनक दो काप्यों में से एक का नाम है (दूसरा नवक है ।) इन्होंने विभिन्दकीयों के यज्ञ में भाग लिया था । ऋग्वेद के एक स्थल (३.१४७) पर इनको यज्ञ से उदासीन के रूप में चर्चित किया गया है; संभवतः इनकी भक्तिवादी प्रवृत्ति के कारण ।

सनकसंप्रदाय—आचार्य शङ्कर के पश्चात् जिन वैष्णव सम्प्रदायों का विकास हुआ, उनमें एक सनक सम्प्रदाय भी है । मुख्य वैष्णव सम्प्रदाय थे—(१) श्रीसम्प्रदाय (२) ब्रह्मसम्प्रदाय (३) रुद्रसम्प्रदाय और (४) सनकसम्प्रदाय । अब इनमें से निम्बार्क के अनुयायिओं का सम्प्रदाय सनक अथवा सनकादि सम्प्रदाय कहलाता है । इन सभी सम्प्रदायों का आधार श्रुति (वेद) है और दर्शन वेदान्त । इनकी साहित्यिक परम्परा भी प्रायः एक है । केवल व्याख्या करने की पद्धति भिन्न-भिन्न हैं । बाहरी आचारों में भेद होने से इनमें सम्प्रदायभेद उत्पन्न हो गया ।

सनकादिसम्प्रदाय—दे० 'सनकसम्प्रदाय' ।

सनत्कुमार—(१) सनत् (ब्रह्मा) के पुत्र होने से अथवा सनत् (सदा) कुमार रहने के कारण इनका नाम सनत्कुमार पड़ा । हरिवंश में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की हुई है :

> यथोत्पन्नस्तथैवाहं कुमार इति विद्धि माम् ।
> तस्मात् सनत्कुमारेति नामैतन्मे प्रतिष्ठितम् ।।

वामन पुराण (अ० ५७-५८) के अनुसार धर्म की अहिंसा नामक पत्नी से चार पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें एक सनत्कुमार थे । इन पुत्रों को ब्रह्मा ने दत्तकरूप में ग्रहण किया :

> धर्मस्य भार्याऽहिंसाख्या तस्यां पुत्रचतुष्टयम् ।
> सम्प्राप्तं मुनिशार्दूल योगशास्त्रविचारकम् ।।
> ज्येष्ठः सनत्कुमारोऽभूद् द्वितीयश्च सनातनः ।
> तृतीयः सनको नाम चतुर्थश्च सनन्दनः ।।

(२) छान्दोग्य उपनिषद् (७.१-१;२६.२) में एक ज्ञानी ऋषि का नाम । पौराणिक पुराकथा के अनुसार ये वैष्णव परम्परा के नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे । ब्रह्मा के चार पुत्रों में में से ये एक थे ।

सनत्कुमारउपपुराण—यह उन्तीस उपपुराणों में से एक है ।

सनत्कुमारतन्त्र—आगमतत्त्वविलास में अनुसूचित चौसठ तन्त्रों में से एक तन्त्र ।

सनन्दन—ब्रह्मा के चतुर्थ पुत्र (दे० सनत्कुमार) । स्कन्द पुराण के काशी खण्ड के अनुसार ये जनलोक वासी हैं और दिव्य मनुष्य माने जाते हैं । इसीलिए पितरों के समान इनका तर्पण किया जाता है ।

सनातन—(१) ब्रह्मा के द्वितीय पुत्र । काशी खण्ड के अनुसार ये जनलोकवासी किन्तु अग्निपुराण के अनुसार तपोलोकवासी थे । ब्रह्मा, विष्णु और शिव का पर्याय भी 'सनातन' है । हेमचन्द्र के अनुसार सनातन पितरों के अतिथि हैं । दे० 'सनत्कुमार' ।

(२) तैत्तिरीय संहिता (४.३.३.१) में एक ऋषि का नाम । बृहदारण्यक उपनिषद् की (२.५.२२;४.५.२८) दो वंशसूचियों में इनका उल्लेख सनग नामक ऋषि के शिष्य और सनारु के गुरु के रूप में हुआ है ।

सनातन गोस्वामी—चैतन्य महाप्रभु के प्रमुख शिष्य । रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी दोनों महाप्रभु के पट्ट शिष्य एवं भाई थे । ये पहले बंगाल के नवाब के यहाँ उच्च

कर्मचारी थे। चैतन्य महाप्रभु से प्रभावित होने पर एक दिन सनातन के मन में संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ। एक दिन वे किसी सरकारी काम से कहीं जा रहे थे। बहुत जोर की आँधीं आयी और आकाश बादलों से घिर गया। मार्ग में एक मेहतर दम्पति आपस में वार्तालाप करते हुए मिले। पत्नी पति को बाहर जाने से रोक रही थी। उसने पति से कहा "ऐसे झंझावात में संकट के समय या तो दूसरे का नौकर बाहर जा सकता है अथवा कुत्ता।" सनातन गोस्वामी ने इस बात को सुनकर नौकरी छोड़ने का निश्चय किया। परन्तु यह बात नवाब को मालूम हो गयी और उसने सनातन को कारागार में डाल दिया। सनातन अपने को भगवान् के चरणों में समर्पित कर चुके थे। काराध्यक्ष को प्रसन्न कर एक दिन केवल एक कम्बल के साथ ये जेल के बाहर आ गये और महाप्रभु चैतन्य की शरण में पहुँच गये। कम्बल देखकर महाप्रभु ने उदासीनता प्रकट की। इस पर सनातन ने कम्बल का भी त्याग कर दिया। वे अत्यन्त विरक्त होकर कृष्ण की आराधना में तल्लीन हो गये। जीवन के अन्तिम भाग में ये वृन्दावन में रहने लगे थे। इन्होंने गीतावली, वैष्णवतोषिणी, भागवतामृत और सिद्धान्तसार नामक गंभीर ग्रन्थों की रचना की। भागवतामृत में चैतन्य सम्प्रदाय के कर्तव्य और आचार का वर्णन है। हरिभक्तिविलास नामक ग्रन्थ भी इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में भगवान् के स्वरूप और उपासना का वर्णन है। बँगला भाषा में भी इनका एक ग्रन्थ रसमयकलिका नाम से प्रचलित है। सनातन गोस्वामी अचिन्त्यभेदाभेद मत के मानने वाले थे और इनके ग्रन्थों का यही दर्शन है।

सन्ध्या—एक धार्मिक क्रिया जो, हिन्दुओं का अनिवार्य कर्तव्य है। दिन और रात्रि की सन्धि में यह क्रिया की जाती है, इसलिए इसको सन्ध्या (सन्धिवेला में की हुई) कहते हैं। व्यास का कथन है :

उपास्ते सन्धिवेलायां निशाया दिवसस्य च।
तामेव सन्ध्यां तस्मात्तु प्रवदन्ति मनीषिणः॥

इसकी अन्य व्युत्पत्तियाँ भी पायी जाती हैं। यथा 'सम्यक् ध्यायन्त्यस्यामिति।' 'संदधातीति'। दिन और रात्रि की सन्धि के अतिरिक्त मध्याह्न को भी सन्धि माना जाता है। अतः तीन सन्ध्याओं में जो उपासना की जाती है, उसका नाम (त्रिकाल) सन्ध्या है। इन कालों में उपास्य देवता का नाम भी सन्ध्या है।

सन्ध्या उपासना सभी के लिए आवश्यक है, किन्तु ब्राह्मण के लिए अनिवार्य है :

एतत् सन्ध्यात्रयं प्रोक्तं ब्राह्मण्यं यदधिष्ठितम्।
यस्य नास्त्यादरस्तत्र न स ब्राह्मण उच्यते॥
अब्राह्मणास्तु षट् प्रोक्ता ऋषिणा तत्त्ववादिना।
आद्यो राजभृतस्तेषां द्वितीयः क्रयविक्रयी॥
तृतीयो बहुयाज्यः स्याच्चतुर्थो ग्रामयाजकः।
पञ्चमस्तु भृतस्तेषां ग्रामस्य नगरस्य च॥
अनागतान्तु यः पूर्वां सादित्याञ्चैव पश्चिमाम्।
नोपासीत द्विजः सन्ध्यां स षष्ठोऽब्राह्मणः स्मृतम्:॥
(शातातप)

[तत्त्ववादी ऋषि द्वारा छः प्रकार के अब्राह्मण कहे गये हैं। उनमें से प्रथम राजसेवक है; दूसरा क्रय और विक्रय करने वाला है; तीसरा बहुतों का यज्ञ कराने वाला; चौथा ग्रामयाजक; पाँचवाँ ग्राम और नगर का भृत्य और छठा प्रातः और सायं सन्ध्या न करने वाला।] याज्ञवल्क्य ने सन्ध्या का लक्षण इस प्रकार बतलाया है :

त्रयाणाञ्चैव वेदानां ब्रह्मादीनां समागमः।
सन्धिः सर्वसुराणाञ्च तेन सन्ध्या प्रकीर्तिता॥

[ऋक्, साम, यजुः तीनों वेदों और ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीन मूर्तियों का इसमें समागम होता है। सभी देवताओं की इसमें सन्धि होती है, इसलिए यह सन्ध्या नाम से प्रसिद्ध है।] संवर्तस्मृति में सन्ध्योपासना का उपक्रम इस प्रकार बतलाया गया है :

प्रातःसन्ध्यां सनक्षत्रामुपासीत यथा विधि।
सादित्यां पश्चिमां सन्ध्यामर्द्धास्तमितभास्कराम्॥

प्रातःसन्ध्या की उपासना यथा विधि नक्षत्र सहित (थोड़ी रात रहते) करनी चाहिए। सायं सन्ध्या आधे अस्त सूर्य के साथ होनी चाहिए।] मध्याह्न सन्ध्या के लिए आठवाँ मुहूर्त उपयुक्त बतलाया गया है : 'समसूर्येऽपि मध्याह्ने मुहूर्ते सप्तमोपरि।' सांख्यायनगृह्यसूत्र में सन्ध्या का निम्नांकित विधान है : "अरण्ये समित्पाणिः सन्ध्यामुपास्ते नित्यं वाग्यत उत्तरापराभिमुखोऽन्वष्टमदिशम्-आनक्षत्रदर्शनात्। अतिक्रान्तायां महाव्याहृतीः सावित्रीं स्वस्त्ययनादि जप्त्वा एवं प्रातः प्राङ्मुखस्तिष्ठन् आमण्डलदर्शनादिति।

व्यास ने तीन काल की सन्ध्याओं के अलग-अलग नाम दिये हैं :

"गायत्री नाम पूर्वाह्णे सावित्री मध्यमे दिने ।
सरस्वती च सायाह्ने, सैव सन्ध्या त्रिषु स्मृता ॥
प्रतिग्रहान्नदोषाच्च पातकादुपपातकात् ।
गायत्री प्रोच्यते तस्मात् गायन्तं त्रायते यतः ॥
सवितृद्योतनात् सैव सांवित्री परिकीर्तिता ।
जगतः प्रसवित्रीत्वात् वाग्रूपत्वात् सरस्वती ॥"

[पूर्वाह्ण में जो सन्ध्या की जाती है उसका नाम गायत्री; मध्याह्न में जो की जाती है उसका नाम सावित्री और सायं जो की जाती है उसका नाम सरस्वती है । दान में ग्रहण किये हुए अन्न के दोष, पातक और उपपातक से अपने गानेवाले (उपासना करनेवाले) को त्राण देती है, इसलिये गायत्री कहलाती है । सविता के प्रकाश अथवा जगत् को उत्पन्न करने के कारण सावित्री नाम से प्रसिद्ध है । वाग्रूप होने से सरस्वती कहलाती है ।]

सन्ध्या का माहात्म्य तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस प्रकार बतलाया गया है :

"उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते । असावादित्यो ब्रह्मा इति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माभ्येति य एवं वेदेत्ययमर्थः ।"

[उगते हुए, अस्त होते हुए तथा मध्याह्न में ऊपर जाते हुए आदित्य (सूर्य) का ध्यान करते हुए विद्वान् ब्राह्मण सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त करता है । यह आदित्य ब्रह्मरूप ही है , उपासक ब्रह्म होता हुआ ब्रह्म को प्राप्त करता है, वह इसका अर्थ है ।]

याज्ञवल्क्य ने और विस्तार के साथ इसका माहात्म्य बतलाया है :

या सन्ध्या सा तु गायत्री द्विधा भूत्वा प्रतिष्ठिता ।
सन्ध्या उपासिता येन विष्णुस्तेन उपासितः ॥
गवां सर्पिः शरीरस्थं न करोत्यंगपोषणम् ।
निःसृतं कर्मसंयुक्तं पुनस्तासां तदौषधम् ॥
एवं स हि शरीरस्थः सर्पिवत्परमेश्वरः ।
विना चोपासनादेव न करोति हितं नृषु ॥
प्रणवव्याहृतिभ्याञ्च गायत्र्या त्रितयेन च ।
उपास्यं परमं ब्रह्म आत्मा यत्र प्रतिष्ठितः ॥
वाच्यः स ईश्वरः प्रोक्तो वाचकः प्रवणः स्मृतः ।
वाचकेऽपि च विज्ञाते वाच्य एव प्रसीदति ॥
भूर्भुवः स्वस्तथा पूर्वं स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
व्याहृता ज्ञानदेहेन तस्मात् व्याहृतयः स्मृताः ॥

'शुद्धितत्त्व' में जनन-मरणाशौच में सन्ध्योपासना का निषेध किया गया है :

सन्ध्यां पञ्चमहायज्ञं नैत्यिकं स्मृतिकर्म च ।
तन्मध्ये हापयेत्तेषां दशाहान्ते पुनः क्रिया ॥

संन्यास—(१) चार आश्रमों में से चतुर्थ आश्रम । प्रथम तीन आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ—के पालन के पश्चात् इसमें प्रवेश करने का विधान है । वामन पुराण (अ० १४) में संन्यास आश्रम का धर्म निम्नांकित प्रकार से बतलाया गया है :

सर्वसङ्गपरित्यागो ब्रह्मचर्यसमन्वितः ।
जितेन्द्रियत्वमावासे नैकस्मिन्वसतिश्चिरम् ॥
अनारम्भस्तथाहारे भिक्षा विप्रे ह्यनिन्दिते ।
आत्मज्ञानविवेकश्च तथा ह्यात्मावबोधनम् ॥
चतुर्थे चाश्रमे धर्मो ह्यस्माभिस्ते प्रकीर्तितः ॥

[सभी प्रकार की आसक्ति का त्याग, ब्रह्मचर्य का पालन, इन्द्रियजय, एक स्थान में चिरकाल तक रहने का त्याग, कामनायुक्त कर्म का अभाव, आहार में प्रशस्त विप्र के यहाँ भिक्षावृत्ति, आत्मज्ञान का विवेक, आत्मा में ही सभी प्रकार से निष्ठा, चतुर्थ आश्रम (संन्यास) में यह धर्म तुमसे कहा गया है ।] कलियुग में संन्यास का निषेध बतलाया गया है :

अश्वमेधं गयालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् ।
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥

'मलमास-तत्त्व-प्रतिज्ञा में रघुनन्दन भट्टाचार्य के अनुसार यह कलिवर्ज्य केवल क्षत्रिय और वैश्य के लिए है । दे० 'आश्रम' ।

संन्यासी—चतुर्थ आश्रम संन्यास ग्रहण करने वाले व्यक्ति को संन्यासी कहते हैं । ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रकृति खण्ड (अध्याय ३३) में संन्यासी के धर्म का वर्णन निम्नलिखित प्रकार है :

सदन्ने वा कदन्ने वा लोष्टे वा काञ्चने तथा ।
समबुद्धिर्यस्य शश्वत् स संन्यासीति कीर्तितः ॥
दण्डं कमण्डलुं रक्तवस्त्रमात्रञ्च धारयेत् ।
नित्यं प्रवासी नैकत्र स संन्यासीति कीर्तितः ॥
शुद्धाचारद्विजान्नञ्च भुङ्क्ते लोभादिवर्जितः ।
किन्तु किञ्चिन्न याचेत् स संन्यासीति कीर्तितः ॥

न व्यापारी नाश्रमी च सर्वकर्मविवर्जितः ।
ध्यायेन्नारायणं शश्वत् स संन्यासीति कीर्तितः ॥
शश्वन्मौनी ब्रह्मचारी सम्भाषालापवर्जितः ।
सर्वं ब्रह्ममयं पश्येत् स संन्यासीति कीर्तितः ॥
सर्वत्र समबुद्धिश्च हिंसामायाविवर्जितः ।
क्रोधाहङ्काररहितः स संन्यासीति कीर्तितः ॥
अयाचितोऽस्थितश्च मिष्टामिष्टञ्च भुक्तवान् ।
न याचेत् भक्षणार्थी स संन्यासीति कीर्तितः ॥
न च पश्येत् मुखं स्त्रीणां न तिष्ठेत्तत्समीपतः ।
दारवीमपि योषाञ्च न स्पृशेद् यः स भिक्षुकः ॥

[सदन्न अथवा कदन्न में, लोष्ट्र अथवा, काञ्चन में जिसकी समान बुद्धि रहती है वह संन्यासी कहलाता है । जो दण्ड, कमण्डल और रक्तवस्त्र धारण करता है और एक स्थान में न रहकर नित्य प्रवास में रहता हैं वह संन्यासी कहलाता है । जो शुद्ध आचार वाले द्विज का अन्न खाता है, लोभादि से रहित होता है और किसी से कुछ माँगता नहीं, वह संन्यासी कहलाता है । जो व्यापार नहीं करता, जो प्रथम तीन आश्रमों का त्याग कर चुका है, सभी कर्मों में अनासक्त, सदा नारायण का ध्यान करता है, वह संन्यासी कहलाता है । सदा मौन रहनेवाला, ब्रह्मचारी, सम्भाषण और आलाप न करनेवाला और सब को ब्रह्ममय देखनेवाला होता है, वह संन्यासी कहलाता है । सर्वत्र समबुद्धि रखनेवाला, हिंसा और माया से रहित, क्रोध और अहं से मुक्त संन्यासी कहलाता है । विना निमंत्रण के उपस्थित, मिष्ट-अमिष्ट का भोजन करनेवाला और भोजन के लिए कभी न मांगनेवाला संन्यासी कहलाता है । जो स्त्री का मुख कभी नहीं देखता, न उनके समीप खड़ा होता है और काष्ठ की स्त्री को भी नहीं छूता, वह भिक्षुक (सन्यासी) है ।]

गरुडपुराण (अध्याय ४९) में भी संन्यासी का धर्म वर्णित है :

तपसा कर्षितोऽत्यन्तं यस्तु ध्यानपरो भवेत् ।
संन्यासीह स विज्ञेयो वानप्रस्थाश्रमे स्थितः ॥
योगाभ्यासरतो नित्यमारुरुक्षुर्जितेन्द्रियः ।
ज्ञानाय वर्तते भिक्षुः प्रोच्यते पारमेष्ठिकः ॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यान्नित्यतृप्तो महामुनिः ।
सम्यक् च दमसम्पन्नः स योगी भिक्षुरुच्यते ॥
भैक्ष्यं श्रुतञ्च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः ।
सम्यक् च ज्ञान-वैराग्ये धर्मोऽयं भिक्षुके मतः ॥
ज्ञानसंन्यासिनः केचिद् वेदसंन्यासिनोऽपरे ।
कर्मसंन्यासिनः केचित् त्रिविधः पारमैष्ठिकः ॥
योगी च त्रिविधो ज्ञेयो भौतिको मोक्ष एव च ।
तृतीयोऽन्त्याश्रमी प्रोक्तो योगमूर्तिसमाश्रितः ॥
प्रथमा भावना पूर्वे मोक्षे त्वक्षरभावना ।
तृतीये चान्तिमा प्रोक्ता भावना पारमेश्वरी ॥
यतीनां यतचित्तानां न्यासिनामूर्ध्वरेतसाम् ।
आनन्दं ब्रह्म तत्स्थानं यस्मान्नावर्तते मुनिः ॥
योगिनाममृतं स्थानं व्योमाख्यं परमक्षरम् ।
आनन्दमैश्वरं यस्मान्मुक्तो नावर्तते नरः ॥

कूर्मपुराण (उपविभाग, अध्याय २७; यतिधर्मनामक अध्याय २८) में भी संन्यासी धर्म का विस्तार से वर्णन पाया जाता है । दे० 'आश्रम' ।

सपिण्ड—जिनके पिण्ड अथवा मूल पुरुष समान होते हैं वे आपस में सपिण्ड कहलाते हैं । सात पुरुष तक पिण्ड की ज्ञाति हैं । अशौच, विवाह और दाय के भेद से पिण्ड तीन प्रकार का होता है । एक गोत्र में दान; भोग एवं अन्य सम्बन्ध से अशौच-सपिण्ड सात पुरुष तक होता है । पिता तथा पितृ-बन्धु की अपेक्षा से सात पुरुष तक विवाह-सपिण्ड होता है तथा मातामह एवं मातृ-बन्धु की अपेक्षा से पाँच पुरुष तक होता है । उद्वाह-तत्त्व नामक ग्रन्थ में नारद का निम्नांकित वचन उद्‌धृत है ।

पञ्चमात् सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतः क्रमात् ।
सपिण्डता निवर्तेत सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥

दाय-सपिण्ड तीन पुरुष तक ही होता है । वे तीन पुरुष हैं पिता, पितामह और प्रपितामह और उनके पुत्र पौत्र एवं प्रपौत्र-दौहितृ । इसी प्रकार मातामह, प्रमातामह, और बृद्ध प्रमातामह और उनके पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र । (दे० दायभाग) । मत्स्यपुराण में भीं सपिण्ड का बिचार किया गया है ।

लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।
पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥

सपिण्डीकरण—प्रेत को पूर्वज पितरों के साथ मिलाने वाला एक पिण्ड श्राद्ध । इसमें प्रेतपिण्ड का तीन पितृपिण्डों के साथ मिश्रीकरण होता है । कूर्मपुराण (उपविभाग

अध्याय २२) में सपिण्डीकरण का वर्णन इस प्रकार मिलता है :

सपिण्डीकरणं . प्रोक्तं पूर्वे संवत्सरे पुनः ।
कुर्याच्चित्वारि पात्राणि प्रेतादीनां द्विजोत्तमाः ॥
प्रेतार्थं पितृपात्रेपु पात्रमासे चये ततः ।
ये समाना इति द्वाम्यां पिण्डानप्येवमेव हि ॥
सपिण्डीकरणश्राद्धं देवपूर्वं विधीयते ।
पितृनावाहयेदयत्र पृथक् पिण्डांश्च निर्दिशेत् ॥
ये सपिण्डीकृताः प्रेता न तेषां स्यात् पृथक् क्रिया ।
यस्तु कुर्यात् पृथक् पिण्डान् पितृहा सोऽपि जायते ॥

सप्त गोदावर—गोदावरी-समुद्र संगम का एक तीर्थ। यह आन्ध्र देश के समुद्र तट पर है। महाभारत (३.८५.४४) में इसका माहात्म्य वर्णित है।

सप्तपदी—विवाह संस्कार का अनिवार्य और मुख्य अङ्ग। इसमें वर उत्तर दिशा में वधू को सात मन्त्रों द्वारा सप्त-मण्डलिकाओं में सात पदों तक साथ ले जाता है। वधू भी दक्षिण पाद उठाकर पुनः वामपाद मण्डलिकाओं में रखती है। इसके बिना विवाह कर्म पक्का नहीं होता। अग्नि की चार परिक्रमाओं (फेरा) से यह कृत्य अलग है।

सप्तर्षि—मूल सात ऋषियों का समूह। इनके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु और वसिष्ठ। प्रत्येक मन्वन्तर में सप्तर्षि भिन्न भिन्न होते हैं। इनका वृत्तान्त 'ऋषि' शब्द के अन्तर्गत देखिए।

सप्तर्षि मण्डल—सप्तर्षि मण्डल आकाश में सब के उत्तर दिखाई पड़ता है। ब्रह्मा के द्वारा विनियुक्त सात ऋषि इसमें बसते हैं। ये ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। ब्रह्मवादियों के द्वारा ये सात ब्राह्मण कहे जाते हैं। इनकी पत्नियाँ हैं : मरीचि की संभूति, अत्रि की अनसूया, पुलह की क्षमा, पुलस्य की प्रीति, क्रतु की सन्नति, अंगिरा की लज्जा तथा वशिष्ट की अरुन्धती, जो लोकमाता कहलाती हैं। त्रिकाल सन्ध्या की उपासना करने वाले और गायत्री के जप में तत्पर ब्रह्मवादी ब्राह्मण सप्तर्षि लोक में निवास करते हैं। (दे० पद्मपुराण, स्वर्ग खण्ड, अध्याय ११)

सप्तशती—सात सौ श्लोकों का समूह देवीमाहात्म्य। इसको चण्डीपाठ भी कहते हैं। अर्गलास्तोत्र में कथन है।

अर्गलं कीलकं चादौ पठित्वा कवचं ततः।
जपेत् सप्तशतीं चण्डीं क्रम एष शिवोदितः॥

नागोजी भट्ट के अनुसार :—

तत्राद्ये चरिताध्याये श्लोका अशीतिरुत्तमाः।
अथ मध्ये चरित्रे तु पञ्चाष्टैकसुसंख्यकाः॥
त्रयोऽध्यायाश्चतुःसप्तचतुर्वेदस्ववेदकाः ।
अथोत्तरचरित्रे तु पट्षडग्निश्लोकभाक् ॥
अग्नीसोमाध्यायवती गीता सप्तशती स्मृता ।

सप्तसागर अथवा सप्तसमुद्र व्रत—चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से इस का आरम्भ होता है। सुप्रभा, काञ्चनाक्षी, विशाला मानसोद्भवा, मेघनादा, सुवेणु, तथा विमलोदका धाराओं का क्रमशः सात दिनपर्यन्त पूजन होना चाहिए। सात सागरों के नामों से दही का हवन हो तथा ब्राह्मणों को दधियुक्त भोजन कराया जाए। व्रती स्वयं रात्रि को घृत मिश्रित चावल खाए। एक वर्षपर्यन्त इस व्रत का आचरण विहित है। किसी पवित्र स्थान पर किसी भी ब्राह्मण को सात वस्त्रों का दान करना चाहिए। इस व्रत का नाम सारस्वत व्रत भी है। प्रतीत होता है कि उपर्युक्त गिनाए हुए सात नाम या तो सरस्वती नदी के हैं अथवा उसकी सहायक नदियों के। अतएव इस व्रत का नाम 'सारस्वत व्रत' अथवा 'सप्तसागर व्रत'। उचित ही प्रतीत होता है। इस सात नदियों के लिए तथा सारस्वत व्रत की सार्थकता के लिए दे० विष्णुधर्म० ३.१६४.१-७

सप्तसुन्दर व्रत—इस व्रत में पार्वती का सात नामों से पूजन करना चाहिए। वे नाम हैं—कुमुदा, माधवी, गौरी भवानी, पार्वती, उमा तथा अम्बिका। सात दिनपर्यन्त सात कन्याओं को (जो लगभग आठ वर्ष की अवस्था की हों) भोजन कराना चाहिए। प्रतिदिन सात नामों में से एक नाम उच्चारण करते हुए प्रार्थना की जाय जैसे 'कुमुदा देवि प्रसीद'। उसी प्रकार क्रमशः अन्य नामों का ६ दिनों तक प्रयोग किया जाना चाहिए। सातवें दिन समस्त नामों का उच्चारण करके पार्वती का पूजनादि करने के लिए गन्धाक्षतादि के साथ साथ ताम्बूल, सिन्दूर तथा नारियल अर्पित किया जाय। पूजन के उपरान्त प्रत्येक कन्या को एक दर्पण प्रदान किया जाय। इस व्रत के आचरण से सौभाग्य और सौन्दर्य की उपलब्धि होती है तथा पाप क्षीण होते हैं।

सभा—जहाँ साथ साथ लोग शोभायमान होते हैं वह स्थान (सह यान्ति शोभन्ते यत्रेति)। मनु ने इसका लक्षण (न्याय सभा के लिए) इस प्रकार दिया है—

यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।
राज्ञः प्रतिकृतो विद्वान्ब्राह्मणास्तां सभां विदुः ।।

[जिस स्थान में तीन वेदविद् विप्र राजा के प्रतिनिधि विद्वान् ब्राह्मण बैठते हैं उसको सभा कहा गया है] सभा का ही पर्याय परिषद् है : इसकी परिभाषा इस प्रकार है :

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की निरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद्दशावरा ।।

[तीन वेदपारग, हैतुक (सद्युक्तिव्यवहारी), तर्कशास्त्री, निरुक्त जाननेवाला धर्मशास्त्री, तथा तीन आश्रमियों के प्रतिनिधि-इन दसों से मिलकर 'दशावरा' परिषद् बनती है ।]

कात्यायन ने सभा का लक्षण निम्नांकित प्रकार से क्रिया है :

कुल-शील-वयो-वृत्त-वित्तवद्भिरधिष्ठितम् ।
वणिग्भिः स्यात् कतिपयैः कुलवृद्धैरधिष्ठितम् ।।

[कुल, शील, वय, वृत्त तथा वित्तयुक्त सभ्यों एवं कुलवृद्ध कुछ वणिग्-जनों से अधिष्ठित स्थान को सभा कहते हैं ।] सभा (राजसभा) में न्याय का वितरण होता था । अतः सभा के सदस्यों में सत्य और न्याय के गुणों की आवश्यकता पर जोर दिया जाता था ।

समय—(१) शपथ, आचार, करार अथवा आचारसंहिता । यथा :

ऋषीणां समये नित्यं ये चरन्ति युधिष्ठिर ।
निश्चिताः सर्व्वधर्मज्ञास्तान् देवान् ब्राह्मणान् विदुः ।।
(महाभारत, १३.९०.५०)

धर्मशास्त्र में धर्म अथवा विधि के स्रोतों में समय की गणना है : 'धर्मज्ञसमयः प्रमाणम् ।'

(२) आगमसिद्धान्तानुसार देवाराधना का एक रूप । 'समयाचार' जैसे तन्त्रों में इसका निरूपण हुआ है ।

समाधि—वह स्थिति, जिसमें सम्यक् प्रकार से मन का आधान (ठहराव) होता है । समाधि अष्टाङ्गयोग का अन्तिम अङ्ग है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । यह योग की चरम स्थिति है । पातञ्जल योगदर्शन में समाधि का विशद निरूपण है । चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है अतः समाधि की अवस्था में चित्त की वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है । ये चित्तवृत्तियाँ हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति । । चित्तवृत्ति का निरोध वैराग्य और अभ्यास से होता है । निरोध की अवस्था के भेद से समाधि दो प्रकार की होती है—संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि ।

संप्रज्ञात समाधि की स्थिति में चित्त किसी एक वस्तु पर एकाग्र रहता है । तब उसकी वही एकमात्र वृत्ति जागृत रहती है; अन्य सब वृत्तियाँ क्षीण होकर उसी में लीन हो जाती हैं । इसी वृत्ति में ध्यान लगाने से उसमें 'प्रज्ञा' का उदय होता है । इसी को संप्रज्ञात समाधि कहते हैं । इसका अन्य नाम 'सबीज समाधि' भी है । इसमें एक न एक आलम्बन बना रहता है और इस आलम्बन का भान भी । इस अवस्था में चित्त एकाग्र रहता है; यथार्थ तत्त्व को प्रकाशित करता है; क्लेशों का नाश करता है; कर्मजन्य बन्धनों को शिथिल करता है और निरोध के निकट पहुँचाता है । संप्रज्ञात समाधि के भी चार भेद हैं—(१) वितर्कानुगत (२) विचारानुगत (३) आनन्दानुगत और अस्मितानुगत । यद्यपि संप्रज्ञात समाधि में प्रज्ञा का उदय हो जाता है किन्तु इसमें आलम्बन बना रहता है और ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय का भेद भी लगा रहता है ।

असंप्रज्ञात समाधि में ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय का भेद मिट जाता है । इसमें तीनों भावनायें अत्यन्त एकीभूत हो जाती हैं । परम वैराग्य से सभी वृत्तियाँ पूर्णतः निरुद्ध हो जाती हैं । आलम्बन का अभाव हो जाता है । केवल संस्कारमात्र शेष रह जाता है । इसको 'निर्बीज समाधि' भी कहते हैं, क्योंकि इसमें क्लेश और कर्माशय का पूर्णतः अभाव रहता है । असंप्रज्ञात समाधि के भी दो भेद हैं—भवप्रत्यय तथा उपाय प्रत्यय । भवप्रत्यय में प्रज्ञा के उदय होने पर भी पूर्णज्ञान का उदय नहीं होता; अविद्या बनी रहती है । इसलिये उसमें संसार की ओर प्रवृत्त हो जाने की आशंका रहती है । उपाय प्रत्यय में अविद्या का सम्पूर्ण नाश हो जाता है और चित्त ज्ञान में समग्र रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है; उसके पतन का भय सदा के लिये समाप्त हो जाता है ।

पुराणों में भी समाधि का विवेचन है । गरुडपुराण (अध्याय ४४) में समाधि का निम्नलिखित लक्षण पाया जाता है :

नित्यं शुद्धं बुद्धियुक्तं सत्यमानन्द मद्वयम् ।
तुरीयमक्षरं ब्रह्म अहमस्मि परं पदम् ।।

अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिरिति गीयते ।।

दे० 'योग दर्शन' तथा 'अष्टाङ्ग योग' ।

समालम्भन—एक प्रकार की मांगलिक लेपन क्रिया। अमरकोश में कुङ्कुमादि विलेपन को समालम्भन कहा गया है। पशुवध को भी समालम्भन कहा गया है :

'वृथा पशुसमालम्भं नैव कुर्यान्न कारयेत् ।'
महाभारत, १२.३४.२८

[व्यर्थ में पशुवध न करना चाहिए और न कराना चाहिए ।]

समावर्तन—सोलह संस्कारों में एक। सम्यक् प्रकार से (विद्याध्ययन करके आचार्य गृह से अपने गृह) लौटना। इसका दूसरा नाम है स्नान', क्योंकि इसमें स्नान मुख्य प्रतीकात्मक क्रिया है और 'स्नातक' उच्च शिक्षित को कहते हैं। यह संस्कार आजकल के दीक्षान्त समारोह के समान था। प्राचीन काल में दो प्रकार के ब्रह्मचारी होते थे—उपकुर्वाण और नैष्ठिक। प्रथम वह था जो अपनी विद्या समाप्तकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहता था; दूसरा आजीवन गुरुकुल में रहकर विद्यार्थी जीवन व्यतीत करना चाहता था। प्रथम को आचार्य की आज्ञा लेकर समावर्तन करना आवश्यक होता था। विवाह के लिये यह प्रवेश पत्र था। विद्या अथवा ज्ञान की उपमा सागर से दी जाती थी। उसमें जो स्नान किये हो वह स्नातक था। स्नातक भी तीन प्रकार के होते थे—विद्या स्नातक, व्रतस्नातक और उभयस्नातक। जो केवल विद्या पढ़कर गुरुकुल से घर लौट आता था उसे विद्यास्नातक कहते थे। जो विद्या कम पढ़ता था, किन्तु व्रत (तपस्या और शील) का पालन पूरा करता था, वह व्रतस्नातक कहलाता था। जो पूरी विद्या भी प्राप्त करता था और व्रत का भी पालन करता था, वह उभयस्नातक कहलाता था। गृह्यसूत्रों और पद्धतियों में समावर्तन का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। दे० 'संस्कार'।

समुद्रव्रत—चैत्र शुक्ल प्रतिपद् से आरम्भ कर लगातार सात दिनपर्यन्त इस व्रत का आयोजन होना चाहिए। इस अवसर पर समुद्ररूपी लवण, दुग्ध, घृत, तक्र, सुगन्धित जल, गन्ने के रस तथा मधुर दधि से नारायण का पूजन करना चाहिए। घृत से हवन करना चाहिए। इस का आचरण एक वर्षपर्यन्त होना चाहिए। वर्ष के अन्त में एक गौ का दान विहित है। इस व्रत के आचरण से साधारण राजा चक्रवर्ती सम्राट् हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य, सम्पत्ति तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। दे० वायु०; ४९.१२३। कूर्म० १.४५,४।

समुद्रस्नान—पर्व के दिनों में, जैसे पूर्णिमा और अमावस्या को किन्तु भौमवार और शुक्रवार को छोड़कर समुद्र में स्नान करना चाहिए। व्रती को चाहिए कि वह उक्त दिनों में समुद्र तथा पीपल के वृक्ष का पूजनादि करे किन्तु उनका स्पर्श कदापि न करे। शनिवार को पीपल का स्पर्श किया जा सकता है। सेतुबन्ध (रामेश्वर) में कभी भी स्नान किया जा सकता है, वहाँ स्नान का कभी निषेध नहीं है।

सम्पद्गौरीव्रत—माघ शुक्ल प्रतिपदा (जैसा कि तमिलनाडु के पञ्चाङ्गों में लिखा हुआ है) को समस्त विवाहित नारियों तथा कन्याओं को कुम्भ मास में इस व्रत का आयोजन करना चाहिए।

सम्पुट—सम्यक् प्रकार से पुटित अथवा भावित किया हुआ। एक जातीय उभय पदार्थों के मध्य में अन्य को रखने की विधि सम्पुट है। तन्त्रसार के अनुसार 'सकामः सम्पुटो जाप्यो निष्कामः संपुटं बिना।'

[किसी अभीष्ट सिद्धि के लिए जप करना हो तो सम्पुट विधि से करना चाहिए; यदि निष्काम जप करना हो तो बिना सम्पुट के।]

सम्पूर्णव्रत—यह व्रत प्रत्येक त्रुटिपूर्ण तथा अपूर्ण व्रत को पूर्ण करता है। व्रतकर्त्ता को उस देवविशेष की सुवर्ण अथवा रजत प्रतिमा बनवाकर पूजा करनी चाहिए जिसका व्रत अथवा पूजा किसी कारण से अपूर्ण रह गई हो। जिस दिन से शिल्पी प्रतिमा का निर्माण प्रारम्भ करे उसी दिन से लगातार एक मासपर्यन्त किसी ब्राह्मण द्वारा उस प्रतिमा का दुग्ध, दधि, घृत, तरल पदार्थों तथा शुद्ध जल से स्नान तथा गन्धाक्षत-पुष्पादि से पूजन कराया जाय। उसी देवता का नामोच्चारण करते हुए चन्दन मिश्रित जल का अर्घ्य दिया जाय तथा प्रार्थना की जाय कि हमारा जो व्रत खण्डित हो गया था वह पूर्ण हो तथा स्वाहा बोलते हुए आहुतियाँ दी जाँय। पुरोहित घोषणा करे कि हे यजमान, तुम्हारा अपूर्ण व्रत पूर्ण हो चुका है। पुराण कहता है कि ब्राह्मणों द्वारा घोषित बात को देवगण अपनी सहमति तथा स्वीकृति प्रदान करते हैं।

सम्प्रदाय—गुरुपरम्परागत अथवा आचार्यपरम्परागत संघटित संस्था। भरत के अनुसार शिष्टपरम्परा प्राप्त उपदेश ही सम्प्रदाय है। इसका प्रचलित अर्थ है 'गुरुपरम्परा से सदुपदिष्ट व्यक्तियों का समूह।' पद्मपुराण में वैष्णव सम्प्रदायों की नामावली दी हुई है :

सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः॥
श्रीमध्व-रुद्र-सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः॥

शक्तिसंगम तन्त्र (प्रथम खण्ड, अष्टम पटल) में सम्प्रदायों की सूची इस प्रकार दी हुई है :

वैखानः सामवेदादौ श्री राधावल्लभी तथा।
गोकुलेशो महेशानि तथा वृन्दावनी भवेत्॥
पाञ्चरात्रः पञ्चमः स्यात् षष्ठः श्रीवीरवैष्णवः।
रामानन्दी हविष्याशी निम्बार्कश्च महेश्वरि॥
ततो भागवतो देवि दश भेदाः प्रकीर्तिताः।
शिखी मुण्डी जटी चैव द्विरित्रदण्डी क्रमेण च॥
एकदण्डी महेशानि वीरशैवस्तथैव च।
सप्त पाशुपताः प्रोक्ताः दशधा वैष्णवा मताः॥

सम्भल—उत्तर प्रदेशस्थ मुरादाबाद जिले में विष्णु का अवतार स्थल। कलियुग के अन्त में विष्णुयश ब्राह्मण के यहाँ इसी सम्भल में भगवान् कल्कि का अवतार होगा। सत्ययुग में इस स्थान का नाम सत्यव्रत था, त्रेता में महद्गिरि, द्वापर में पिङ्गल और कलियुग में सम्भलपुर है। इसमें ६८ तीर्थ और १९ कूप हैं। यहाँ एक अतिविशाल और प्राचीन मन्दिर है। इसके अतिरिक्त मुख्य तीन शिवलिङ्ग हैं—पूर्व में चन्द्रेश्वर, उत्तर में भुवनेश्वर तथा दक्षिण में सम्भलेश्वर। प्रतिवर्ष कार्तिक शुक्ल चतुर्थी और पञ्चमी को यहाँ मेला लगता है और यात्री इसकी परिक्रमा करते हैं।

सम्भोगव्रत—दो प्रतिपदाओं तथा पंचमी तिथियों को उपवास का विधान है। व्रती को भगवान् भास्कर में अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। साथ ही वह स्वपत्नी के साथ शयन करते हुए भी प्रणयकेलि तथा अन्य विलासादिक क्रियाओं का एक दम परित्याग कर दे। इस व्रत के आचरण से सहस्रों वर्षों के तप के बराबर पुण्य प्राप्त होता है। दे० कृत्यकल्पतरु ३.८८; हेमाद्रि, २.३९४ एवं रामकृष्ण परमहंस एवं शारदा माता का चरित्र।

सरमा—देवशुनी (देवताओं की कुतिया) का नाम। वैदिक पुराकथा में इसका काम मार्ग निर्देश करना है। इसके पुत्रों को सारमेय कहा गया है। इसकी व्युत्पत्ति है 'रमया शोभया सह वर्तमाना।' विभीषण की पत्नी राक्षसी का नाम भी सरमा है। जो सीता की सेविका थी। कश्यप की एक पत्नी का नाम भी सरमा है जिससे भ्रमर आदि की उत्पत्ति हुई।

सरयू—अवध प्रदेश की एक नदी। इसके किनारे अयोध्या पुरी स्थित है जो सूर्यवंशी राजाओं की राजधानी थी और जहाँ भगवान् राम का जन्म हुआ था। इसलिये वैष्णव-सम्प्रदाय में इसका और भी महत्त्व है। इसके जल का गुण राजनिर्घण्ट मे वर्णित है :

'सरयू सलिलं स्वादु बलपुष्टिप्रदायकम्।'

सरवरिया—कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की एक उपशाखा। पञ्चगौड ब्राह्मणों—गौड, सारस्वत, कान्यकुब्ज, मैथिल और उत्कल में कोई स्वतन्त्र शाखा नहीं है। 'सरवरिया' शब्द 'सरयू पारीण' का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ है 'सरयू-नदी के (उत्तर) पार रहने वाला।' यह शुद्ध भौगोलिक नाम है। मध्य युग में वर्जनशीलता और संकीर्णता के कारण वर्णों और जातियों की छोटी-छोटी क्षेत्रीय शाखाएँ और उपशाखायें बन गयीं। उन्हीं में से सरयूपारीण (सरवरिया) भी एक है। इस समय सरवरिया केवल सरयू-पार में सीमित न रह कर देश के कई प्रान्तों में फैले हुए हैं। मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्र में इनकी बहुत बड़ी संख्या है जो अपने को 'छत्तीसगढ़ी' कहते हैं।

सरस्वती—(१) सर्वप्रथम ऋग्वेद में सरस्वती पवित्र नदी और क्रमशः नदी देवता और वाग्देवता के रूप में वर्णित हुई है। सरस्वती मूलतः शुतुद्रि (सतलज) की एक सहायक नदी थी। जब शुतुद्रि अपना मार्ग बदल कर विपाशा (व्यास) में मिल गयी तो सरस्वती उसके पुराने पेटे से बहती रही। यह राजस्थान के समुद्र में मिलती थी। बड़ी वेगवती नदी के रूप में इसका वर्णन पाया जाता है, जिसके किनारे राजा लोग और जन बसते थे, यज्ञ करते और मन्त्रों का गान करते थे। सरस्वती को आजकल घग्घर कहते है। 'सरस्वती और दृषद्वती के बीच का प्रदेश ब्रह्मावर्त कहलाता था जो वैदिक ज्ञान और कर्मकाण्ड के लिए प्रसिद्ध था। सरस्वती देवी के

रूप में ऋग्वेद में कल्पित की गयी है जो पवित्रता, शुद्धि, समृद्धि और शक्ति प्रदान करती थी। उसका सम्बन्ध अन्य देवताओं—पूषा, इन्द्र, और मरुत् से बतलाया गया है। कई सूक्तों में सरस्वती का सम्बन्ध यज्ञीय देवता इडा और भारती से भी जोड़ा गया है। पीछे भारती सरस्वती से अभिन्न मान ली गयी।

(२) पहले सरस्वती नदी देवता थी। परन्तु ब्राह्मण काल में (दे० शतपथ ब्राह्मण, ३-९-१; ऐतरेय ब्राह्मण, ३.१) उसका वाक् (वाग्देवता) से अभेद मान लिया गया। परवर्ती काल में तो वह विद्या और कला की अधिष्ठात्री देवी हो गयी। पुराणानुसार यह ब्रह्मा की पुत्री मानी गयी है।

सरस्वती का ध्यान निम्नांकित पद्य से प्रायः किया जाता है :

> या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
> या वीणावरधारिणी भगवती या श्वेतपद्मासना।
> या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
> सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा॥

सरस्वती का वाहन हंस है, जो क्षीर-नीर-विवेक का प्रतीक है। कहीं मयूर भी सरस्वती का वाहन बतलाया गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के गणेश खण्ड (४०.६१-६७) में सरस्वतीपूजन की विधि विस्तार के साथ वर्णित है।

सरस्वतीपूजनविधि—आश्विन शुक्ल के मूल नक्षत्र में सरस्वती का आवाहन करना चाहिए। प्रतिदिन सरस्वती की आराधना करते हुए श्रवण नक्षत्र को विसर्जन करना चाहिए (मूल नक्षत्र से चौथा नक्षत्र श्रवण है)। सरस्वती की चार दिन पूजा होती है, जो साधारणतः सप्तमी से दशमी तक चलती है। वर्षकृत्यदीपिका के अनुसार इन दिनों न तो अध्ययन करना चाहिए न अध्यापन और न लेखन।

माघ शुक्ल पंचमी (वसन्तपंचमी) को आगमोक्त विधि से महाशक्ति सरस्वती की वार्षिक पूजा की जाती है।

सरस्वतीस्थापना—आश्विन शुक्ल नवमी को पुस्तकों में सरस्वती की स्थापना करनी चाहिए। दे० वर्ष-कृत्य-दीपिका, ९२-९३ तथा २६८-२६९। तमिलनाडु में आबाल वृद्ध प्रकाशित तथा हस्तलिखित ग्रन्थ एकत्रित कर विशेष प्रकार की सरस्वती पूजा करते हैं। बालिकाएँ तथा विवाहिता महिलाएँ अपनी संगीत सम्बन्धी पुस्तकें तथा वीणा साथ-साथ लाती हैं तथा उनकी सरस्वती के समान ही पूजा करती हैं। शिल्पी तथा दूसरे कारीगर लोग नवमी के दिन अपने-अपने औजार तथा यंत्रों को पूजते हैं।

सर्ग—सृष्टि, जगत् की रचना। पुराणों का प्रथम वर्ण्य विषय यही है। मनु० ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है :

> हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
> यद्यस्य सोऽदधात् सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्॥
> (१.२९)

श्रीमद्भागवत (३,१०.१४-२६) में सर्ग का विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

सर्पविषापहापञ्चमी—श्रावण शुक्ल पंचमी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। व्रती को घर के दरवाजे के दोनों ओर गौ के गोबर से सर्प की आकृतियाँ बनाकर उनकी गेहूँ, दूध, भुने हुए धान्य, दधि, दूर्वाङ्कुरों तथा पुष्पादि से पूजा करनी चाहिए। इससे सर्प जाति सन्तुष्ट रहती है तथा पूजक को सात पीढ़ियों तक उनका भय नहीं रहता।

सर्पसत्र (नागयज्ञ)—सर्पों को नष्ट करने वाला यज्ञ। जनमेजय ने अपने पिता परीक्षित् की सर्पदंश से हुई मृत्यु का बदला लेने के लिए सर्पसत्र किया था। भागवत, १२,६. १६-२८।

सर्वगन्ध—पूजनोपयोगी मुख्य गन्धद्रव्य। सुगन्धित पदार्थों का भिन्न-भिन्न रूप से परिगणन किया गया है। इस सम्बन्ध में हेमाद्रि (१.४४) में वर्णन है। कपूर, चन्दन, कस्तूरी तथा केसर समान भागों में होने पर सर्वगन्ध कहलाती हैं।

सर्वजया—स्त्रियों द्वारा किया जानेवाला एक व्रत। मार्गशीर्ष से प्रारम्भ होकर बारह महीनों तक यह व्रत चलता है।

इसमें सामान्य विधि से नवग्रहपूजन तथा प्रणव से अंगन्यास करके निम्नलिखित प्रकार से ध्यान करना चाहिए :

> "श्वेतवर्णं वृषारूढं व्यालयज्ञोपवीतिनम्।
> विभूतिभूषिताङ्गञ्च व्याघ्रचर्मधरं शुभम्॥
> पञ्चवक्त्रं दशभुजं जटिलं चन्द्रचूडकम्।
> त्रिनेत्रं पार्वतीयुक्तं प्रमथैश्च समन्वितम्॥
> प्रसन्नवदनं देवं वरदं भक्तवत्सलम्।"

इस प्रकार ध्यान करके 'ॐ नमः शिवाय ह्रीं दुर्गायै नमः' मन्त्र से अर्घ्य देकर और पुनः ध्यानकर 'ॐ गौरीसहितरुद्राय नमः' इस मन्त्र से पूजन करना चाहिये।

इसके पश्चात् पाँच पुष्पाञ्जलिदान करके निम्नलिखित मन्त्र से प्रणाम करना चाहिये :

> नमस्ते पार्वतीनाथ नमस्ते शशिशेखर ।
> नमस्ते पार्वतीदेव्यै चण्डिकायै नमोनमः ।।

इस व्रत की कथा स्कन्दपुराण में विस्तार से दी हुई हैं और इसकी पूरी विधि कृत्यचन्द्रिका में ।

सर्वज्ञात्ममुनि—प्रसिद्ध अद्वैत वेदान्ताचार्य संन्यासी । इनका जीवन-काल लगभग नवीं शती था । शृंगेरी के ये मठाधीश थे । इनका अन्य नाम नित्यबोधाचार्य था । अद्वैतमत को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने 'संक्षेप शारीरक' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया । इन्होंने अपने गुरु का नाम देवेश्वराचार्य लिखा है । प्रसिद्ध भाष्यकार मधुसूदन सरस्वती और रामतीर्थ ने देवेश्वराचार्य को सुरेश्वराचार्य से अभिन्न बतलाया है । परन्तु दोनों के काल में पर्याप्त अन्तर होने से ऐसा मानना कठिन है । 'संक्षेपशारीरक' में श्लोक और वार्तिक दोनों का समावेश है । 'शारीरक भाष्य' के समान इसमें भी चार अध्याय हैं और इनके विषयों का क्रम भी उसी प्रकार है । इनमें श्लोक-संख्या क्रमशः ५६३, २४८, ३६५ और ५३ हैं । सर्वज्ञात्ममुनि ने 'संक्षेप शारीरक' को 'प्रकरणवार्तिक' बतलाया है । अद्वैतसम्प्रदाय की परम्परा में यह ग्रन्थ बहुत प्रामाणिक माना जाता है । इस पर मधुसूदन सरस्वती और रामतीर्थ ने टीकाएँ लिखी जो बहुत प्रसिद्ध हैं ।

सर्वतोभद्र—माङ्गलिक अलङ्करण की एक वर्गात्मक विधा । इसके केन्द्र में मुख्य देव और पार्श्ववर्गों में अन्य देवों की स्थापना होती है । अमरकोश (२-२-१०) के अनुसार मन्दिर स्थापत्य का यह एक प्रकार भी है । द्वार-अलिन्दादि भेद से समृद्ध लोगों के आवास का एक प्रकार रूप सर्वतोभद्र कहा जाता है । इसका लक्षण निम्नांकित है :

> स्वस्तिकं प्राङ्मुखं यत् स्यादलिन्दानुगतं भवेत् ।
> तत्पार्श्वानुगतौ चान्यौ तत्पर्यन्तगतोऽपरः ।।
> अनिषिद्धालिन्दभेदं चतुर्द्वारञ्च यद्गृहम् ।
> तद्भवेत्सर्वतोभद्रं चतुरालिन्दशोभितम् ।। (भरत)

ग्रहशान्ति, उपनयन, व्रत-प्रतिष्ठा आदि में पूजा का एक रंगीन आधारमण्डल सर्वतोभद्र नाम से बनाया जाता है । दे० शारदातन्त्र; तन्त्रसार ।

सर्वदर्शन संग्रह—माधवाचार्य द्वारा प्रणीत प्रसिद्ध दर्शन ग्रन्थ । इसमें सभी दर्शनों का सार संगृहीत किया गया है । भारतीय दर्शनों को यहाँ दो भागों में बाँटा गया है । आस्तिक और नास्तिक । आस्तिक के अन्तर्गत न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त) हैं : नास्तिक के अन्तर्गत चार्वाक, आर्हत, बौद्ध आदि की गणना है । यह ग्रन्थ दार्शनिक दृष्टि से समुच्चयवादी है ।

सर्वमङ्गला—दुर्गा का एक पर्याय । ब्रह्मवैवर्तपुराण में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है :

> हर्षे सम्पदि कल्याणे मङ्गलं परिकीर्तनम् ।
> तान् ददाति च या देवी सा एव सर्वमङ्गला ।।

देवीपुराण (अध्याय ४५) में सर्वमङ्गला की व्युत्पत्ति निम्नाङ्कित है :

> सर्वाणि हृदयस्थानि मङ्गलानि शुभानि च ।
> ददाति चेप्सितानि तेन सा सर्वमङ्गला ।।

सर्वमेध—एक प्रकार का यज्ञ । इसमें यजमान अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति यज्ञ और दान में लगा देता था ।

सर्वौषधि—पूजा की सामग्रियों में इनकी गणना है । इस वर्ग में निम्नांकित ओषधियाँ सम्मिलित हैं :

> कुष्ठमांसीहरिद्राभिर्वचाशैलेयचन्दनैः ।
> मुराचन्दनकर्पूरैः मुस्तः सर्वौषधिः स्मृतः ।।

इस सूची में द्वितीय चन्दनपदें रक्तचन्दन के लिये प्रयुक्त हुआ है । सर्वौषधिगण में औषधियों की एक लम्बी सूची पायी जाती है । दे० पद्मपुराण, उत्तरखण्ड अ० १०७; अग्निपुराण, १७७.१७; राजनिर्घण्ट ।

सर्षपसप्तमी—यह तिथिव्रत है । सूर्य इसके देवता हैं । सात सप्तमियों को व्रती सूर्याभिमुख बैठकर अपनी हथेली पर पञ्चगव्य अथवा अन्य कोई वस्तु रखते हुए प्रति सप्तमी को क्रमशः दो से सात तक सरसों के दाने रखकर उनका अवलोकन करता रहे । अवलोकन के समय मन में किसी वस्तु या कार्य की कामना करते हुए दन्त स्पर्श किये बिना पञ्चगव्य सहित सरसों का मन्त्रोच्चारण के साथ पान कर लेना चाहिए । तदनन्तर होम तथा जप का विधान है । इससे पुत्र, धन की प्राप्ति के साथ समस्त इच्छाएँ पूर्ण होती हैं ।

सस्योत्सव—सस्य के पकने के समय का उत्सव । मास के शुक्ल पक्ष में किसी पवित्र तिथि, नक्षत्र तथा मुहूर्त के समय गाजे-बाजे के साथ खेतों की ओर जाना चाहिए तथा वहाँ अग्नि प्रज्वलित करके हवन करना चाहिए ।

तदनन्तर पके हुए धान्य को वैदिकमन्त्रों का उच्चारण करते हुए अभीष्ट देवों तथा पितरों को अर्पित करना चाहिए। व्रती को पके हुए धान्य को दही में मिलाकर खा लेना चाहिए। तदुपरान्त उत्सव का आयोजन होना चाहिए।

सहधर्मिणी—वैदिक विधान से ब्याही हुई पत्नी। इसका शाब्दिक अर्थ है 'साथ धर्मकार्य करनेवाली।'

सहमरण—पति के मरने पर पत्नी द्वारा उसकी चिता पर साथ जल जाना। अङ्गिरा ने सहमरण का बड़ा माहात्म्य बतलाया है (अं० स्मृति)।

सहस्रधारा—देवता को स्नान कराने के लिए सहस्र छिद्र-युक्त पात्र से निकली हुई जलधाराओं को सहस्रधारा कहते हैं। दुर्गोत्सवपद्धति में इसका उल्लेख है।

मान्धाता-माहेश्वर तीर्थ में नर्मदा नदी का नाम भी सहस्रधारा है। कथा है कि सहस्रार्जुन कार्तवीर्य ने अपनी सहस्रभुजाओं से नर्मदा के प्रवाह को रोकना चाहा। नर्मदा उसकी अवहेलना कर सहस्रधाराओं से फूट निकलीं। इसलिए वहाँ उनका नाम सहस्रधारा पड़ा गया।

सहस्रनयन (सहस्रनेत्र)—इन्द्र, जिसके सहस्रनयन हैं। वास्तव में इन्द्र राजा का प्रतीक है और नेत्र उसके मन्त्रियों का। इन्द्र के एक सहस्र मन्त्री थे, अतः उसको सहस्रनयन कहते हैं। परन्तु पुराणकथा में वह शरीरतः सहस्रनयन चित्रित किया गया है।

सहस्र भोजनविधि—एक सहस्र ब्राह्मणों को भोजन कराने की विधि। व्रती इसका आयोजन स्वगृह में अथवा किसी मन्दिर में करे। पक्वान्न से तथा परिष्कृत नवनीत से भगवान् के बारह नामों का उच्चारण करते हुए (जैसे केशव, नारायण आदि) हवन करना चाहिए। ब्रह्म भोज के बाद भिन्न-भिन्न प्रकार की दान-दक्षिणा दी जानी चाहिए।

सहोढ—बारह प्रकार के पुत्रों में से एक जो माता के विवाह के समय गर्भ में रहता है। वह विवाह के पश्चात् जन्म लेने पर विवाह करने वाले पिता का पुत्र होता है। प्राचीन काल में ऐसी विधिक मान्यता थी। मनुस्मृति (अध्याय ८) में सहोढ की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है:

> या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि या सती।
> वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते॥

[जिस गर्भिणी का विवाह-संस्कार होता है, चाहे उसका गर्भ ज्ञात हो अथवा अज्ञात, उससे विवाह करने वाले का ही वह गर्भ होता है। जन्म लेने पर गर्भस्थ बालक उसका सहोढ पुत्र कहलाता है।]

सांवत्सर—वर्ष से सम्बन्ध रखने वाला। वर्ष (काल) सम्बन्धी शास्त्र का जो अध्ययन करता है उसको 'सांवत्सर' (ज्योतिषी अथवा गणक) कहते हैं। बृहत्संता (३.१०-११) में इसकी उपयोगिता के बारे में निम्नलिखित कथन है:

> मुहूर्तं तिथिनक्षत्रमृतवश्चायने तथा।
> सर्वाण्येवाकुलानि स्युर्न स्यात् सांवत्सरो यदि॥
> तस्माद्राज्ञाभिगन्तव्यो विद्वान् सांवत्सरोऽग्रणी।
> जयं यशः श्रियं भोगान् श्रेयश्च समभीप्सता॥

[यदि सांवत्सर (ज्योतिषी) न होवे तो मुहूर्त, तिथि, नक्षत्र, ऋतु तथा अयन सभी व्याकुल हो जाते हैं। इसलिए जय, यश, श्री, भोग और श्रेय की कामना करने वाले राजा को अग्रणी सांवत्सर के पास जाना चाहिए।]

सांवत्सरिक—पितरों के लिये प्रतिवर्ष किया जाता श्राद्ध। हेमाद्रि का कथन है:

> पूर्णे संवत्सरे श्राद्धं षोडशं परिकीर्तितम्।
> तेनैव च सपिण्डत्वं तेनैवाब्दिकमिष्यते॥

साक्षी—(१) आत्मा को साक्षी कहा गया है। वह प्रकृति के धरातल पर घटित होने वाली क्रियाओं को देखता है, इस लिए साक्षी कहलाता है।

(२) धर्मशास्त्र में किसी वाद के निर्णय करने में चार प्रमाण माने गये हैं, जिनमें साक्षी का स्थान तीसरा है—(१) लिखित (२) युक्ति (३) साक्षी और (४) दिव्य। साक्षी वह है जो अपनी आँखों से (अक्ष्णा सह) वादग्रस्त तथ्यों को देख चुका हो। साक्षी के मिथ्याकथन अथवा अकथन में बहुत दोष माना गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण (प्रकृतिखण्ड, ४९ अध्याय) में मिथ्या साक्ष्य के निम्नांकित परिणाम बतलाये गये हैं:

> मिथ्या साक्ष्यं यो ददाति कामात् क्रोधात् तथा भयात्।
> सभायां पाक्षिकं वक्ति स कृतघ्न इति स्मृतः॥
> मिथ्या साक्ष्यं पाक्षिकं वा भारते वक्ति योनृप।
> यावदिन्द्रसहस्रञ्च सर्पकुण्डे वसेद् ध्रुवम्॥
> सन्ततं वेष्टितैः सर्पैर्भीतश्च भक्षितस्तथा।
> भुङ्क्ते त्र सर्पविण्मूत्रं यमदूतेन ताडितः॥

साक्ष्य—साक्षी के कर्म को साक्ष्य कहा गया है। साक्ष्य की सिद्धि के विषय में मनु का कथन है :

समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति।

× × ×

यत्रानिरुद्धो वीक्ष्येत शृणुयाद्वापि किञ्चन।
पृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयात् यथादृष्टं यथा श्रुतम् ।।

सांख्य--षड्दर्शनों में से एक। इसकी व्युत्पत्ति होती है 'सम्यक् प्रकार से ख्यात, ख्याति अथवा विचार'। जिस दर्शन में प्रकृति और पुरुष के भेद के सम्बन्ध में सम्यक् विचार किया गया हो उसको सांख्य कहते हैं। प्रकृति तथा पुरुष के इस पृथक्करण को विवेकख्याति, विवेकज्ञान अथवा प्रकृति-पुरुषविवेक भी कहते हैं। एक मत यह भी है कि मूल प्रकृति से अभिव्यक्त पचीस तत्त्वों की इसमें संख्या (गणना) की गयी है, अतः यह दर्शन सांख्य कहलाता है। परन्तु पहली व्याख्या अधिक युक्तिसंगत है। सांख्य ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा, इसलिए ज्ञानमार्ग को सांख्य कहते हैं।

सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिल थे जिनकी गणना पौराणिकों ने अड़तालीस अवतारों के अन्तर्गत की है। भागवतपुराण में कपिल विष्णु के पञ्चम अवतार माने गये हैं। कपिल के साक्षात् शिष्य आसुरि और आसुरि के पञ्चशिख थे। पञ्चशिख ने सांख्य के ऊपर एक सूत्र ग्रन्थ की रचना की थी। इसके बहुत बाद ईश्वरकृष्ण ने ईसापूर्व दूसरी शती में 'सांख्यकारिका' की रचना की जो सांख्यदर्शन पर सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसपर कई टीकायें लिखी गयी हैं। इनमें माठरवृत्ति, गौडपाद भाष्य, जयमङ्गला, चन्द्रिका, सरलसांख्ययोग, तत्त्वकौमुदी (वाचस्पति मिश्र), युक्तिदीपिका, और सुवर्णसप्तति (चीनी संस्करण) विशेष प्रसिद्ध हैं। इस सम्प्रदाय के दूसरे प्रमुख आचार्य विज्ञानभिक्षु हुए, जिनका काल सोलहवीं शती ई० था। इन्होंने इस समय उपलब्ध 'सांख्यसूत्र' की रचना की और इस पर 'सांख्यप्रवचन भाष्य' भी लिखा। ईश्वरकृष्ण निरीश्वर सांख्य के समर्थक थे और विज्ञानभिक्षु सेश्वर सांख्य के। सांख्यप्रवचन भाष्य में सांख्य और वेदान्त दोनों का समन्वय पाया जाता है।

सांख्य के अनुसार तीन प्रकार के तत्त्व हैं—व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ। 'ज्ञ चेतन है। यही पुरुष है। 'अव्यक्त' को मूल प्रकृति अथवा प्रधान कहते हैं। यह जड़ है। 'व्यक्त' कार्यकारण-परम्परा से मूल प्रकृति (अव्यक्त) का परिणाम है। इसके तेईस भेद हैं। सांख्यदर्शन में ये ही पचीस प्रमेय अथवा तत्त्व हैं। इन्हीं तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान से दुःख की निवृत्ति होती है (व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्)। विवेक, ज्ञान अथवा ख्याति ही सांख्य के अनुसार मोक्ष है। सांख्य सृष्टि प्रक्रिया में ईश्वर का अस्तित्व आवश्यक नहीं मानता। उसका कथन है कि ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। इसी कारण सांख्य को निरीश्वर कहा जाता है।

पुरुष निष्क्रिय, निर्गुण और निर्लिप्त है। किन्तु अन्य दो तत्त्व अव्यक्त और व्यक्त (प्रकृति) त्रिगुण, अविवेकी आदि धर्मों से युक्त हैं। इन तत्त्वों का परस्पर सम्बन्ध समझने के लिए परिणाम और कार्य-कारण-भाव को समझना आवश्यक है। प्रत्येक पदार्थ में कोई न कोई धर्म होता है। यह धर्म परिवर्तनशील है। इसकी परिवर्तनशीलता को ही परिणाम कहते हैं। अर्थात् एक धर्म के बदलने पर उसके स्थान में दूसरे धर्म के आने को परिणाम कहा जाता है। परिणाम व्यक्त और अव्यक्त दोनों तत्त्वों में निरन्तर होता रहता है। संसार का प्रत्येक पदार्थ सत्त्व, रज और तम तीन गुणों से बना हुआ है। गुण का अर्थ है घटक अथवा रस्सी। जिस प्रकार तीन धागों के बटने से रस्सी तैयार होती है उसी प्रकार तीनों गुणों के न्यूनाधिक मात्रा में संवलित होने पर विभिन्न पदार्थ निर्मित होते हैं। सत्त्व का स्वरूप प्रकाश अथवा ज्ञान है। रज का गुण चलन अथवा क्रियाशीलता है। तम का गुण है अवरोध, भारीपन आवरण आदि। इन्हीं तीनों गुणों की स्थिति के कारण पदार्थों में परिणाम होते रहते हैं। परिणाम तीन प्रकार के होते हैं—(१) धर्मपरिणाम (२) लक्षणपरिणाम और (३) अवस्थापरिणाम।

मूल प्रकृति (अव्यक्त) जब साम्यावस्था में रहती है, अर्थात् जब तीनों गुण संतुलित अवस्था में होते हैं तब प्रकृति में परिणाम अथवा परिवर्तन नहीं होता। जब इनका संतुलन भंग होता है तब परिणाम अर्थात् कार्य होने लगता है। अव्यक्त और व्यक्त प्रकृति में कारण-कार्य सम्बन्ध है। अब प्रश्न यह है कि कारण-कार्य सम्बन्ध का अर्थ क्या है। न्याय के अनुसार कार्य कारण से भिन्न है। और कारण में कार्य का अभाव है। कार्य एक विशेष कारण ईश्वरेच्छा से उत्पन्न होता है। परन्तु सांख्य के अनुसार कार्य कारण से भिन्न न होकर उसमें वर्तमान रहता है। कारण से कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है कारण

में अव्यक्त रूप से वर्तमान कार्य का व्यक्त होना। इसी सिद्धान्त को 'सत्कार्यवाद' कहते हैं।

तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। इसमें रजोगुण क्रियाशील है किन्तु तमोगुण की स्थिति के कारण अवरुद्ध रहता है। पूर्वजन्म के कर्मों के फलस्वरूप अदृष्ट जीवों के साथ लगा रहता है। जब वह पाकोन्मुख होता है अर्थात् वह जीव को संसार में सुख-दुःख देने के लिए उन्मुख होता है तब तमोगुण का प्रभाव हट जाता है और प्रकृति में रजोगुण के कारण क्षोभ अथवा चाञ्चल्य उत्पन्न होता है। तब प्रकृति में विकृति अथवा परिणाम उत्पन्न होते हैं और सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। प्रकृति के सात्त्विक अंश से पहले महत्-तत्त्व अर्थात् बुद्धि-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। इससे अहंकार; अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ-पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन; इन्द्रियों से तन्मात्रायें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; और तन्मान्त्राओं से पञ्चभूतों की अभिव्यक्ति होती है।

सांख्यदर्शन प्रकृति और पुरुष के स्वरूप और सम्बन्ध का सूक्ष्म विवेचन करता है। मूल प्रकृति अव्यक्त अथवा अप्रत्यक्ष है। परन्तु इसका अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है।

पुरुष अपरोक्ष है। बुद्धि के द्वारा भी यह प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। यह त्रिगुणातीत और निर्लिप्त है। इसमें कोई लिङ्ग नहीं है, अतः अनुमान के द्वारा भी इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसके अस्तित्व का एक मात्र प्रमाण है शब्द अथवा आगम। पुरुष अथवा ज्ञ अहेतुमान्, सर्वव्यापी और निष्क्रिय है। पुरुष एक है। परन्तु कई टीकाकारों के मत में सांख्य पुरुषबहुत्व के सिद्धान्त को मानता है। वास्तव में बद्धपुरुष में अनेकत्व है, जैसे अन्य दर्शनों के अनुसार जीवात्मा में। सांख्य में पुरुष की तीन स्थितियाँ हैं—बद्ध, मुक्त और ज्ञ। बद्ध पुरुष ही मुक्त होने की चेष्टा करता है।

प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध, बन्धन और कैवल्य पर भी सांख्यदर्शन में सूक्ष्म विचार किया गया है। जैसा कि पहले कहा गया है, पुरुष स्वभावतः निर्लिप्त, त्रिगुणातीत निष्क्रिय और नित्य है। अविद्या भी नित्य है (इन दोनों का सम्पर्क अनादि काल से चला आ रहा है। प्रकृति जड़ और नित्य है। पुरुष का बिम्ब जब प्रकृति पर पड़ता है तब बुद्धि उत्पन्न होती है और प्रकृति अपने को चेतन समझने लगती है। इसी प्रकार बुद्धि (प्रकृति) का प्रतिबिम्ब पुरुष पर भी पड़ता है। इसके कारण निर्लिप्त, त्रिगुणातीत, निष्क्रिय पुरुष अपने को आसक्त कर्त्ता, भोक्ता आदि समझने लगता है। पुरुष और प्रकृति के इसी कल्पित और आरोपित सम्बन्ध को बन्धन कहते हैं। इस कल्पित सम्बन्ध को दूर कर अपने स्वरूप को प्रकृति से पृथक् करके पहचानना ही विवेक-बुद्धि, कैवल्य अथवा मुक्ति है। इसी स्थिति को प्राप्त कर पुरुष अपने को निर्लिप्त और निस्संग समझने लगता है। ज्ञान के अतिरिक्त धर्म और अधर्म आदि बुद्धि के सात भावों का प्रभाव जब लुप्त हो जाता है तब सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रहता। सृष्टि का उद्देश्य (पुरुष की मुक्ति या कैवल्य) पूर्ण हो जाने पर प्रकृति सृष्टि कार्य से विरत हो जाती है और पुरुष कैवल्य को प्राप्त हो जाता है। कैवल्य के पश्चात् भी प्रारब्ध कर्मों और पूर्व जन्मों के संस्कारों के बने रहने के कारण तत्काल शरीर का विनाश नहीं होता। साधक जीवन्मुक्ति की अवस्था में रहता है भोग की पूर्ति होने पर जब शरीर का पतन होता है तब विदेह कैवल्य की उपलब्धियाँ होती हैं।

सांख्यदर्शन के अनुसार जीवन का परमपुरुषार्थ है तीन प्रकार के दुःखों—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक—से अत्यन्त निवृत्ति। सत्य का बोध ही इसका चरम साधन और अत्यन्त लोकहित ही सत्य है।

सात्वत—वासुदेव के भक्त अथवा सत्वत के वंशज यादव। हेमचन्द्र ने इसको बलदेव का पर्याय माना है। महाभारत (१. २१९-१२) में इसको कृष्ण का पर्याय कहा गया है। महाभारत (१. २२२.३) में सम्पूर्ण यादवों के लिए इसका प्रयोग हुआ है।

यह विष्णु का भी पर्याय है (सच्छब्देन सत्त्वमूर्तिर्भगवान्। स उपास्यतया विद्यतेऽस्य इति। मतुप्। ततः स्वार्थे अण्।) पद्मपुराण के उत्तर खण्ड (अध्याय ९९) में सात्वत का अर्थ है विष्णु का भक्त। इसका लक्षण निम्नांकित है:

सत्त्वं सत्त्वाश्रयं सत्त्वगुणं सेवेत् केशवम्।
योऽनन्यत्वेन मनसा सात्वतः समुदाहृतः॥
विहाय काम्यकर्मादीन् भजेदेकाकिनं हरिम्।
सत्यं सत्त्वगुणोपेतो भक्त्या तं सात्व विदुः॥

कूर्मपुराण (पूर्वभाग, यदुवंशानुकीर्तन, २४. ३१-३६) में यदुवंशी सत्वत राजा के पुत्रों का नाम सात्वत है। मनुस्मृति में संकरजातिविशेष का नाम सात्वत आया है। ऐसा लगता है कि भागवत सात्वतों में परम्पराविरोधी प्रवृत्तियाँ अधिक बढ़ गयी थीं, जिनके कारण मनु ने उनको संकर जातियों में परिगणित किया।

सात्त्विक—सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति में तीन गुण होते हैं—सत्त्व, रज और तम। सत्त्व की विशेषता है प्रकाश और ज्ञान। इनसे उत्पन्न या सम्बद्ध भाव सात्त्विक कहलाता है। सर्वदानन्द ने इसकी परिभाषा निम्नांकित प्रकार से की है :

'सत्त्वोत्कटे मनसि ये प्रभवन्ति भावा-
स्ते सात्त्विका इति विदुर्मुनि पुङ्गवास्ते।'

(मनोदशासूचक) सात्त्विक भावों की परिगणना इस प्रकार है :

स्वेदः स्तम्भोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्णमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः॥

भगवद्गीता (अध्याय १७-१८) में सात्त्विक जीवन का विवरण विस्तार से दिया हुआ है।

साधक—धार्मिक अथवा दार्शनिक उपलब्धियों के लिए जो प्रयास करते हैं और अपने इष्ट का सम्पादन करते हैं, वे साधक कहलाते हैं। देवीपुराण के नन्दामाहात्म्य में साधक का निम्नाँकित लक्षण दिया हुआ है :

अतः परं प्रवक्ष्यामि साधकानां तु लक्षणम्।
धर्मशीलास्तपोयुक्ताः सत्यवादिजितेन्द्रियाः॥
मात्सर्येण परित्यक्ताः सर्वसत्त्वहिते रताः।
कर्मशीलास्तथोत्साहा मर्त्यलोकेऽजुगुप्सकाः॥
परस्परसुसन्तुष्टानुकूलाः साधकस्य तु।
इदृशैः साधनं कुर्यात् सुसहायैः सहैव तु॥

शिवसंहिता में और विस्तार से साधक वर्णन पाया जाता है :

(१) चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रकः।
अधिमायतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लङ्घनक्षमः॥
महावीर्यान्वितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि।
शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्ममश्च निराकुलः॥
नवयौवनसम्पन्नो मिताहारी जितेन्द्रियः।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः॥
अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावस्थितः क्षमी।
सुशीलो धर्मचारी च गुप्तचेष्टः प्रियंवदः॥
शास्त्रविश्वाससम्पनो देवतागुरुपूजकः।
अनसङ्गविरक्तश्च महाव्याधिविवर्जितः॥
अणिमाव्रतयोग्यश्च सर्वयोगस्य साधकः।
त्रिभिःसंवत्सरैः सिद्धिरेतस्य स्यान्न संशयः॥
सर्वयोगाधिकारी च नात्र कार्या विचारणा॥

साधन—योगदर्शन के साधन पाद में योग के आठ अङ्ग अथवा साधन बतलाये गये है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

१. यम-मानसिक, वाचिक और कायिक संयम को यम कहते हैं। इसमें निम्नांकित सम्मिलित है।

(क) अहिंसा—सर्वदा तथा सर्वथा जीवमात्र को दुःख न पहुंचाना।

(ख) सत्य—मन और वचन में यथार्थता। जिसको जैसा देखा, सुना और जाना हो, उसको वैसा ही कहना।

(ग) अस्तेय—दूसरे का सत्त्वापहरण न करना और न उसकी कामना ही करना।

(घ) ब्रह्मचर्य—ब्रह्म का आचरण। इन्द्रियों में लोलुपता का अभाव। विशेषकर जननेन्द्रियों का संयम।

(ङ) अपरिग्रह—अनावश्यक संग्रह न करना, दान आदि न लेना।

२. नियम—(क) शौच—मन, वचन और शरीर की पवित्रता (ख) सन्तोष (ग) तप (घ) स्वाध्याय (ङ) ईश्वर प्रणिधान।

३. आसन—जिस प्रकार बैठने से चित्त को स्थिरता और सुख मिले उसे आसन कहते हैं। यथा (क) सुखासन (ख) पद्मासन (ग) भद्रासन (घ) वीरासन।

४. प्राणायाम—(क) रेचक (ख) कुम्भक (ग) पूरक।

५. प्रत्याहार—इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर उनको अन्तर्मुखी करना।

६. धारणा—चित्त को किसी एक स्थान में स्थिर करने का नाम धारणा है।

७. ध्यान—जब किसी एक स्थान में ध्येय वस्तु का ज्ञान देरतक एक प्रवाह में संलग्न होता है तब उसे ध्यान कहते हैं।

८. समाधि—जब ध्यान ध्येय के आकार में भासित होता है और अपना स्वरूप छोड़ देता है तो उस परिस्थिति को समाधि कहते हैं। इसमें ध्यान और ध्यान का ध्येय में लय हो जाता है।

अन्य दर्शनों में भी साधन-क्रम पाया जाता है। प्रत्येक साधन के लिए साधन की आवश्यकता होती है। वेदान्त में मुक्ति साधन से उपलब्ध न होकर अनुभूति का विषय है। किन्तु अनुभूति के लिए जिज्ञासा और ज्ञान आवश्यक हैं। जिज्ञासा और ज्ञान के लिए काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग करना चाहिए। नित्य एवं नैमित्तिक कर्म, प्रायश्चित्त, उपासना आदि चित्तशुद्धि के लिए करना आवश्यक है। विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितीक्षा, मुमुक्षा, श्रद्धा, समाधान (समाधि) आदि वेदान्त में भी जिज्ञासु के लिये आवश्यक साधन माने गये हैं।

साधु—धर्म आदि कार्यों का सम्पादन करने वाला (साधयतिधर्मादिकार्यमिति) अथवा जो दूसरों के कार्यों को सिद्ध करता है (साध्नोति पर कार्याणीति) पद्मपुराण (उत्तरखण्ड, अध्याय ९९) में साधु के निम्नांकित लक्षण बताये गये हैं :

यथालब्धेऽपि सन्तुष्टः समचित्तो जितेन्द्रियः ।
हरिपादाश्रयो लोके विप्रः साधुरनिन्दकः ॥ १
निर्वैरः सदयः शान्तो दम्भाहंकारवर्जितः ।
निरतेक्षो मुनिर्वीतरागः साधुरिहोच्यते ॥ २
लोभमोहमदक्रोधकामादिरहितः सुखी ।
कृष्णाङ्घ्रिशरणः साधुः सहिष्णुः समदर्शनः ॥ ३

गरुडपुराण में साधु का दूसरा लक्षण मिलता है :

न प्रहृष्यति सम्माने नावमाने च कुप्यति ।
न क्रुद्‌धः परुषं ब्रूयादेतत् साधोस्तु लक्षणम् ॥११३.४२

अग्निपुराण (दानावस्थानिर्णयाध्याय) में साधु के स्वभाव का वर्णन इस प्रकार है :

त्यक्तात्मसुखभोगेच्छाः सर्वसत्त्वसुखैषिणः ।
भवन्ति परदुःखेन साधवो नित्यदुःखिताः ॥
परदुःखातुरा नित्यं स्वसुखानि महान्त्यपि ।
नापेक्षन्ते महात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

इस प्रकार के सत्य-न्यायपरायण व्यवहारी वैश्य भी 'साधु' कहे जाते थे, जिनको विश्वासपात्र समझकर लोग धन-सम्पत्ति का लेन-देन करते थे।

साध्य—सामूहिक देवगण। भरत के अनुसार इनकी संख्या बारह है (साध्या द्वादश विख्याता रुद्राश्चैकादश स्मृताः)। अग्निपुराण के गणभेदनामाध्याय में इनके नाम इस प्रकार पाये जाते हैं :

मनो मन्ता तथा प्राणो नरोऽपानश्च वीर्यवान् ।
विनिर्भयो नयश्चैव दंसो नारायणो वृषः ।
प्रभुश्चेति समाख्याता साध्या द्वादश पौर्विकाः ॥

सानन्दूर—एक श्रेष्ठ तीर्थ (कर्नाटक में)। वाराह पुराण के सानन्दूर माहात्म्य में इसका वर्णन पाया जाता है। एक बार पृथ्वी ने विष्णु से पूछा कि क्या द्वारका से भी कोई अन्य तीर्थ उत्तम है ? इसके उत्तर में भगवान् विष्णु ने कहा :

सानन्दूरेति विख्यातं भूमे ! गुह्यं परं मम ।
उत्तरे तु समुद्रस्य मलयस्य च दक्षिणे ।
तत्र तिष्ठामि वसुधे उदीचीदिशिमाश्रितः ॥
प्रतिमा वै मदीयास्ति नात्युच्चा नातिनीचका ।
अत्यसी तां वदन्त्येके अन्ये ताम्रमयी तथा ॥
कांस्यीं रीतिमयीमन्ये केचित् सीसकनिर्मिताम् ।
शिलामयीमित्यपरे महदाश्चर्यरूपिणीम् ॥
तत्र स्थानानि मे भूमे ! कथ्यमानं मया शृणु ।
मनुजा यत्र मुच्यन्ते गताः संसारसागरम् ॥

सान्दीपनि—कृष्ण और बलराम के शिक्षागुरु एक मुनि। सन्दीपन के वंश में ये उत्पन्न हुए थे, अतः इनका नाम सान्दीपनि पड़ा। ब्रह्मवैवर्तपुराण (श्री कृष्ण जन्म खण्ड, अध्याय ९९.३०) में इनका वर्णन मिलता है :

विदिताखिलविज्ञानौ तत्त्वज्ञानमथावपि ।
शिष्याचार्यक्रमं वीरौ ख्यातयन्तौ यदूत्तमौ ॥
ततः सान्दीपनिं काश्यमवन्तिपुरवासिनम् ।
अस्त्रार्थं जग्मतुर्वीरौ बलदेवजनार्दनौ ॥

विष्णुपुराण (५,२१.१८-३०) के अनुसार कृष्ण और और बलराम दोनों भाइयों ने सान्दीपनि से अस्त्र-विद्या पढ़ी और गुरु दक्षिणा में वे उनके मृतपुत्र को पञ्चजन नामक राक्षस को मार कर वापस लाये। भागवतपुराण के अनुसार कृष्ण-बलराम के साथ सुदामा भी सान्दीपनि के शिष्य थे और इन तीनों में बड़ा सौहार्द था। सुदामा की कथा प्रसिद्ध है।

साम—चार वेदों में से तृतीय। भरत के अनुसार इसको साम इसलिए कहते हैं कि यह पाप को छिन्न करता रहता है (स्यति पापं नाम)। जैमिनि ने इसका लक्षण बतलाया है : 'गीतिषु सामाख्या इति'। तिथ्यादितत्त्व में कहा गया है : "गीयमानेषु मन्त्रेषु सामसंज्ञेत्यर्थः"। दे० 'वेद' शब्द।

सामग—सामवेद का गानकर्ता ब्राह्मण । महाभारत (१३. १४९. ७५) में विष्णु को भा सामग कहा गया है) भागवत (१.४.२१) सामवेदज्ञ की ही संज्ञा सामग है :

तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुपामुत ॥

सायुज्य—इसका शाब्दिक अर्थ है सहयोग, सहमिलन अथवा एकत्व (सयुजो सहयोगस्य भावः) । पाँच प्रकार की मुक्तियों के अन्तर्गत एक मुक्ति का नाम सायुज्य है :

सारदा—यह शारदा (सरस्वती) का ही एक पर्याय है । इसकी व्युत्पत्ति है : 'सारं ददातीति' अर्थात् जो 'सार' (ज्ञान, विद्यादि) देती है । 'तिथ्यादितत्त्व' के अनुसार यह व्युत्पत्ति काल्पनिक है ।

सारनाथ—काशी के सात मील पूर्वोत्तर में स्थित बौद्धों का प्रधान तीर्थ । ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश यहीं किया था और यहीं से उन्होंने 'धर्म चक्र प्रवर्तन' प्रारम्भ किया । यहाँ पर सारङ्गनाथ महादेव का मन्दिर भी है जहाँ श्रावण के महीने में हिन्दुओं का मेला लगता है । यह जैन तीर्थ भी है । जैन ग्रन्थों में इसे सिंहपुर कहा गया है । सारनाथ की दर्शनीय वस्तुएँ अशोक का चतुर्मुख सिंहस्तम्भ, भगवान् बुद्ध का मन्दिर, धामेख स्तूप, चौखण्डी स्तूप, राजकीय संग्रहालय, जैनमन्दिर, चीनी मन्दिर, मूलगंधकुटी और नवीन विहार हैं । मुहम्मदगोरी ने इसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था । सन् १९०५ में पुरातत्त्व विभाग ने यहाँ खुदाई का काम प्रारम्भ किया । तब बौद्ध धर्म के अनुयायियों और इतिहास के विद्वानों का ध्यान इधर गया । अब सारनाथ बराबर वृद्धि को प्राप्त हो रहा है ।

सारस्वत—सरस्वती (देवता या नदी) से सम्बन्ध रखनेवाला। सारस्वत प्रदेश हस्तिनापुर के पश्चिमोत्तर में स्थित है । इस देश के निवासी ब्राह्मण भी सारस्वत कहे जाते हैं जो पञ्चगौड ब्राह्मणों की एक शाखा हैं—गौड, सारस्वत, कान्यकुब्ज, मैथिल और उत्कल । एक कल्प विशेष का नाम भी सारस्वत है ।

सारस्वतकल्प—सरस्वती-पूजा का एक विधान । विश्वास है कि इसके अनुष्ठान से अपूर्व विद्या और ज्ञान की उपलब्धि होती है । 'स्वायम्भुव-मातृका-तन्त्र' के सारस्वत पटल में इसका विस्तार से वर्णन पाया जाता है :

मन्त्रोद्धारं प्रवक्ष्यामि साङ्गावरणपूजनैः ।
अनन्तं विन्दुना युक्तं वामगण्डान्तभूषितम् ॥
जपेत् द्वादशलक्षंतु मूकोऽपि वाक्पतिर्भवेत् ।
नाभौ शुभारविन्दञ्च ध्यायेद्दशदलं सुधी ॥
तन्मध्ये भावयेन्मन्त्रो मण्डलानां त्रयं चिरम् ।
रत्नसिंहासनं तत्र वर्णज्योत्स्नामयं पुनः ॥
तस्योपरि पुनर्ध्यायेद्देवीं वागीश्वरी ततः ।
मुक्तां कान्तिमिमां देवीं ज्योत्स्नाजालविकाशिनीम् ॥
मुक्ताहारयुतां शुभ्रां शशिखण्डविमण्डिताम् ।
विभ्रतीं दक्षहस्ताभ्यां व्याख्यां वर्णस्य मालिकाम् ॥
अमृतेन तथा पूर्णं घटं दिव्यञ्च पुस्तकम् ।
दधतीं वामहस्ताभ्यां पीनस्तनभरान्विताम् ॥
मध्ये क्षीणां तथा स्वच्छां नानारत्नविभूषिताम् ।
आत्माभेदेन ध्यात्वैयं ततः संपूजयेत् क्रमात् ॥

मत्स्यपुराण (६६.१-२४) में भी विस्तार से सारस्वतकल्प का वर्णन मिलता है ।

सारस्वतव्रत—यह संवत्सर व्रत है जिसका मत्स्यपुराण (६६.३-१८) में उल्लेख है । इस व्रत के अनुसार व्रती को अपने अभीष्ट देवता की तिथि के दिन अथवा पंचमी, रविवार या सप्ताह के किसी भी पुनीत दिन दोनों सन्ध्या कालों के समय तथा भोजन के अवसर पर मौन धारण करना चाहिए । भगवती सरस्वती देवी का पूजन करके सधवा नारियों को सम्मानित करना चाहिए । लगभग ऐसे हो श्लोक पद्म-पुराण (५.२२.१७८-१९४) तथा भविष्योत्तर-पुराण (३५.३-१९) में उपलब्ध हैं ।

सावर्ण—चौदह मनुओं में से द्वितीय। सावर्ण की व्युत्पत्ति है : सवर्णायाः छायायाः अपत्यं पुमान् । देवीभागवत में कथन है :

छायासंज्ञासुतो योऽसौ द्वितीयः कथितो मनुः ।
पूर्वजस्य सवर्णोऽसौ सावर्णस्तेन कथ्यते ॥
हरिवंश (९.१९) के अनुसार
पूर्वजस्य मनोस्तात सदृशोऽयमिति प्रभुः ।
मनुरेवाभवन्नाम्ना सावर्ण इति चोच्यते ॥

सावर्णि—भागवत पुराण (८.१३.८-१७) के अनुसार सावर्णि अष्टम मनु तथा सूर्य के पुत्र थे :

विवस्वतश्च द्वे जाये विश्वकर्मसुते उभे ।
संज्ञा छाया च राजेन्द्र ये प्रागभिहिते तथा ॥

तृतीयां वडवामेके तासां संज्ञा सुतास्त्रयः ।
यमो यमी श्राद्धदेवश्छायायाश्च सुतान् शृणु ।।
सावर्णिस्तपती कन्या भार्या संवरणस्य या ।
शनैश्चरस्तृतीयोऽभूदश्विनौ वडवात्मजौ ।।
अष्टमेऽन्तरे आयाते सावर्णिर्भविता मनुः ।
निर्मोकविरजस्काद्या सावर्णितनया नृप ।।

सावित्री—(१) सविता (सूर्य) की उपासना जिस वैदिक मन्त्र 'गायत्री' से की जाती है उसका नाम सावित्री है । प्रतीक और रहस्य के विकास से सावित्री की कल्पना का बहुत विस्तार हुआ है ।

(२) मेदिनी के अनुसार यह उमा का एक पर्याय है । देवीपुराण (अध्याय ४४) के अनुसार इसके नामकरण का कारण इस प्रकार है :

त्रिदशैरर्च्चिता देवी वेदयागेषु पूजिता ।
भावशुद्धस्वरूपा तु सावित्री तेन सा स्मृता ।।

अग्नि पुराण (ब्राह्मण प्रशंसानामाध्याय) में उनके नामकरण का कारण निम्नांकित है :

सर्वलोकप्रसवनात् सविता स तु कीर्त्यते ।
यतस्तद्देवता देवी सावित्रीत्युच्यते ततः ।
वेदप्रसवनाच्चापि सावित्री प्रोच्यते बुधैः ।।

मत्स्यपुराण (३.३०-३२) के अनुसार सावित्री ब्रह्मा की पत्नी कही गयी हैं :

ततः संजपतस्तस्य भित्त्वा देहमकल्मषम् ।
स्त्रीरूपमर्द्धमकरोदर्द्धं पुरुषरूपवत् ।।
शतरूपा च सा ख्याता सावित्री च निगद्यते ।
सरस्वत्यथ गायत्री ब्रह्माणी च परन्तप ।।

(३) सावित्री का एक ऐतिहासिक चरित्र भी है । महाभारत (वनपर्व, अध्याय २९२) के अनुसार वह केकय के राजा अश्वपति की कन्या और साल्वदेश के राजा सत्यवान् की पत्नी थी । अपने अल्पायु पति का जब एक बार वरण कर लिया तो आग्रहपूर्वक उसी से विवाह किया । किस प्रकार अपने मृत पति को वह यमराज के पाशों से वापस लाने तथा अपने पिता को सौ पुत्र दिलाने में सफल हुई, यह कथा भारतीय साहित्य में अत्यधिक प्रचलित है । सावित्री पातिव्रत का उच्चतम प्रतीक है ।

सावित्रीव्रत—ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी अमावस्या को स्त्रियों द्वारा यह व्रत किया जाता है । पराशर के अनुसार—

मेषे वा वृषभे वाऽपि सावित्रीं तां विनिर्द्दिशेत् ।
जेष्ठकृष्णचतुर्दश्यां सावित्रीमर्चयन्ति याः ।
वटमूले सोपवासा न ता वैधव्यमाप्नुयुः ।।

सावित्रीसूत्र—उपनयन संस्कार के अवसर पर जो सूत्र धारण किया जाता है उसका नाम सावित्रीसूत्र है । कारण यह है कि वटु सावित्री दीक्षा के समय इसको ग्रहण करता है । दे० 'यज्ञोपवीत' ।

सिंहवाहिनी—दुर्गा देवी । देवीपुराण (अध्याय ४५) के अनुसार—

सिंहमारुह्य कल्पान्ते निहतो महिषो यतः ।
महिषघ्नी ततो देवी कथ्यते सिंहवाहिनी ।।

सिंहस्थ गुरु—जिस समय बृहस्पति ग्रह सिंह राशि पर आता है उस समय विवाह, यज्ञोपवीत, गृह-प्रवेश (प्रथम बार), देव प्रतिष्ठा तथा स्थापना तथा इसी प्रकार के अन्य मांगलिक कार्य निषिद्ध रहते हैं । दे० 'मलमास तत्त्व' पृ० ८२····। ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि जब बृहस्पति सिंह राशि पर आ जाता है उस समय समस्त तीर्थ गोदावरी नदी में जाकर मिल जाते हैं । इसलिए श्रद्धालु व्यक्ति को उस समय गोदावरी में स्नान करना चाहिए । इस विषय में शास्त्रकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं कि सिंहस्थ गुरु के समय विवाह-उपनयनादि का आयोजन हो या न हो । कुछ का मत है कि विवाहादि माङ्गलिक कार्य तभी वर्जित हैं जब बृहस्पति मघा नक्षत्र पर अवस्थित हो (यथा सिंह के प्रथम १३।। अंश) । अन्य शास्त्रकारों का कथन है कि गंगा तथा गोदावरी के मध्यवर्ती प्रदेशों में उस काल तक विवाह तथा उपनयनादि निषिद्ध हैं जब तक बृहस्पति सिंह राशि पर विद्यमान हो, किन्तु अन्य धार्मिक कार्यों का आयोजन हो सकता है । केवल वह उस समय नहीं हो सकता जब बृहस्पति मघा नक्षत्र पर अवस्थित हों । अन्य शास्त्रकारों का कथन है कि यदि सूर्य उस समय मेष राशि पर विद्यमान हो तो सिंहस्थ गुरु होने पर भी धार्मिक कार्यों के लिए कोई निषेध नहीं है । इन सब विवादों के समाधानार्थ दे० स्मृतिकौ०, पृ० ५५७-५५९ । यह तो लोक-प्रसिद्ध विश्वास है ही कि समुद्र मंथन के पश्चात् निकला हुआ अमृतकलश सर्वप्रथम हरिद्वार, तदनन्तर प्रयाग, ततः

उज्जैन और सबके बाद नासिक (त्र्यम्बकेश्वर) में गोदावरीतट पर रखा गया था। इसके अनुसार नासिक-पञ्चवटी में गोदावरीतट पर सिंहस्थस्नान या कुम्भ का पर्व पूरे श्रावण मास तक मनाया जाता है।

सिता सप्तमी—भुवनेश्वर (उड़ीसा) की चौदह यात्राओं में से एक यात्रा की तिथि। माघ शुक्ल सप्तमी को इस यात्रा के अनुष्ठान का नियम है।

सिद्ध—देवताओं का एक विशेष वर्ग, उपदेव। अणिमा महिमादि गुणों से संयुक्त विश्वावसु (गन्धर्व) आदि इसमें सम्मिलित हैं।

सिद्धनक्षत्र—शुक्रवार, प्रतिपदा, षष्ठी, एकादशी तथा त्रयोदशी एवं पूर्वा-फाल्गुनी, उत्तराषाढ़, हस्त, श्रवण तथा रेवती की गणना सिद्ध नक्षत्रों में है। समस्त पुनीत कृत्य इन्हीं उपर्युक्त नक्षत्रादिकों के अवसर पर किये जाने चाहिए।

सिद्धान्त—पूर्वपक्ष का निरास (खण्डन) करके उत्तर पक्ष की स्थापना। सिद्ध = वादि-प्रतिवादिनिर्णीत, अन्त = अर्थ जिसमें हो। ग्रहगति के निर्णायक नवविध ज्योतिष ग्रन्थों को भी सिद्धान्त कहा जाता है—१. ब्रह्म सिद्धान्त २. सूर्य सिद्धान्त ३. सोम सिद्धान्त ४. बृहस्पति सिद्धान्त ५. गर्ग सिद्धान्त ६. नारद सिद्धान्त ७. पराशर सिद्धान्त पुलस्त्य सिद्धान्त और ९. वसिष्ठ सिद्धान्त।

सिद्धार्थ—शाक्य सिंह (गौतम बुद्ध)। जैन तीर्थङ्कर महावीर के पिता का नाम भी सिद्धार्थ था। श्वेत सरसों का भी नाम सिद्धार्थ है, क्योंकि वह मांगलिक तथा सिद्धिदाता मानी जाती है।

सिद्धार्थकादिसप्तमी—-माघ अथवा मार्गशीर्ष मास की सप्तमी को इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है। यदि व्रती रुग्ण हो तो किसी मास की किसी भी सप्तमी को व्रत का आयोजन किया जा सकता है। इसमें सूर्योदय से अर्द्ध प्रहर पूर्व (लगभग चार घड़ी पूर्व तक) निश्चित वृक्षों की दातुन से दन्तशुद्धि करनी चाहिए। जैसे मधूक, अर्जुन, नीम, अश्वत्थ। दाँत साफ करने के बाद दातुन फेंकने के स्थानों से शकुन विचार सम्भव है। सात सप्तमियों को इस व्रत का आयोजन किया जाय। प्रथम सप्तमी को सरसों से, द्वितीय सप्तमी को आक की कलियों से, तृतीय सप्तमी से आगे तक क्रमशः मरिच, नीम, उबले हुए चावलों को छोड़कर अन्य खाद्यान्नों के साथ छः फलों से पूजन तथा अन्य कृत्य किये जायें। इसके अतिरिक्त जप, होम तथा सूर्य के सम्मुख लेटकर गायत्री-मंत्र का जप करना चाहिए। सूर्य प्रतिमा के सम्मुख लेटने के समय कुछ स्वप्नों से पार्थक्य, विभिन्न प्रकार के पुष्पों के समर्पण से उनके फल तथा पुण्य भी विभिन्न मिलते हैं, यथा—कमल पुष्पों से यश, मन्दार पुष्पों से कुष्ठ तथा अगस्त्यके पुष्पों से सफलता। ब्राह्मणों को रंग-विरंगे वस्त्र, इत्र, पुष्प, हविष्यान्न तथा गौ के दान का विधान है।

सिद्धि—अहेतुक अद्भुत सफलता या चमत्कार। मार्कण्डेय पुराण (दत्तात्रेयालर्क संवाद, योगवल्लभ नामक अध्याय) में अष्ट सिद्धियों के नाम और लक्षण बतलाये गये हैं :

अणिमा महिमा चैव लघिमा प्राप्तिरेवच।
प्राकाम्यञ्च तथेशित्वं वशित्वञ्च तथापरम्॥
यत्र कामावसायित्वं गुणानेतानथैश्वरान्।
प्राप्नोत्यष्टौ नरव्याघ्र परनिर्वाणसूचकान्॥
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरोऽणीयान् शीघ्रत्वाल्लघिमा गुणः।
महिमाशेषपूज्यत्वात् प्राप्तिर्नाप्राप्यमस्य यत्॥
प्राकाम्यमस्य व्यापित्वात् ईशित्वो चेश्वरो यतः।
वशित्वात् वशिता नाम योगिनः सप्तमो गुणः॥
यथेच्छास्थानमप्युक्तं यत्र कामावसायिता।
ऐश्वर्यं कारणैरेभिर्योगिनः प्रोक्तमष्टधा॥

ब्रह्मवैवर्तपुराण (१.६.१८-१९) में अठारह सिद्धियों की गणना की गयी है :

अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा।
ईशित्वञ्च वशित्वञ्च सर्वकामावसायिता॥
सर्वज्ञ दूरश्रवणं परकायप्रवेशनम्।
वाक्सिद्धिः कल्पवृक्षत्वं स्रष्टुं संहर्तुमीशता॥
अमरत्वञ्च सर्वाङ्गं सिद्धयोऽष्टादश स्मृताः॥

सिद्धियोगिनी—अग्निपुराण के गणभेद नामक अध्याय में बतलाया गया है कि दक्ष की पचास कन्यायें थीं। वे ही सिद्धियोगिनियों के रूप में विख्यात हुईं।

सिद्धिविनायकव्रत—शुक्ल पक्ष की चतुर्थी के दिन अथवा जिस दिन व्रती के हृदय में धार्मिक प्रवृत्ति का स्फुरण हो उसी दिन इस का अनुष्ठान निहित है। इस दिन तिलमिश्रित जल से स्नान करना चाहिए। इस समय गणेश जी की सुवर्ण अथवा रजत प्रतिमा को पञ्चामृत से स्नान

कराकर गन्धाक्षत-पुष्प, धूप, दीप-नैवेद्यादि से 'गणाध्यक्ष, विनायक, उमासुत, रुद्रप्रिय, विघ्ननाशन' आदि नामोच्चारणपूर्वक पूजन करना चाहिए। पूजन में २१ दूर्वादल तथा २१ लड्डू गणेशप्रतिमा के सम्मुख रखे जाँय जिनमें एक लड्डू गणेश जी के लिए, १० पुरोहित तथा १० व्रती के स्वयं के लिए होंगे। इस आचरण से विद्या प्राप्ति, धनार्जन तथा युद्ध में सफलता (सिद्धि) की उपलब्धि होती है।

सिप्रा (शिप्रा क्षिप्रा)—भारत की एक प्रसिद्ध नदी। यह मालवा में बहती है। इसके तट पर अवन्तिका (महाकाल की मोक्षदायिनी नगरी उज्जैन) स्थित है। कालिका पुराण (अध्याय २३) में इसकी उत्पत्ति का वर्णन पाया जाता है।

सीता—लाङ्गल पद्धति (हल के फल से खेत में बनी हुई रेखा)। राजा जनक की पुत्री का नाम सीता इसलिए था कि वे जनक को हल कर्षित रेखाभूमि से प्राप्त हुई थीं। बाद में उनका विवाह भगवान् राम से हुआ। वाल्मीकिरामायण (१.६६.१३-१४) में जनक जी सीता की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार कहते हैं :

> अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः।
> क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता॥
> भूतलादुत्त्थिता सा तु व्यवर्द्धत ममात्मजा।
> दीर्यशुक्लेति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा॥

यही कथा पद्मपुराण तथा भविष्यपुराण (सीतानवमी व्रत माहात्म्य) में विस्तार के साथ कही गयी है।

(२) सीता एक नदी का नाम है। भागवत (पञ्चमस्कन्ध) के अनुसार वह भद्राश्व वर्ष (चीन) की गंगा है :

"सीता तु ब्रह्मसदनात् केशवाचलादि गिरशिखरेभ्योऽधोऽधः प्रस्रवन्ती गन्धमादनमूर्द्धसु पतित्वाऽन्तरेण भद्राश्वं वर्षं प्राच्यां दिशि क्षारसमुद्रं अभिप्रविशति।"

'शब्दमाला' में सीता के सम्बन्ध में निम्नांकित कथन है :

> गङ्गायान्तु भद्रसोमा महाभद्राथ पाटला।
> तस्याः स्रोतसि सीता च वङ्क्षुर्भद्रा च कीर्तिता॥
> तद्भेदेऽलकनन्दापि शारिणो त्वल्पनिम्नगा॥

सीतापूजा—(१) सीता शब्द का अर्थ है कृषि कार्य में जोती हुई भूमि। ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि नारद के द्वारा आग्रह करने पर दक्ष के पुत्रों ने फाल्गुन कृष्ण अष्टमी को पृथ्वी की नाप-जोख की थी। अतएव देवगण तथा पितृगण इसी दिन अपूपों का श्राद्ध पसन्द करते हैं।

(२) भगवान् राम की धर्मपत्नी सीता का पूजन इस व्रत के दिन होता है, जो फाल्गुन शुक्ल अष्टमी को उत्पन्न हुई थीं।

सीतामढ़ी—सीताजी के प्रकट होने का स्थल। यह प्राचीन मिथिला में (नेपाल राज्य) के अन्तर्गत है। लखनदेई नदी के पश्चिम तट पर सीतामढ़ी बस्ती है। घेरे के भीतर सीता जी का मन्दिर है। पास में ही राम, लक्ष्मण, शिव, हनुमान् तथा गणेश के मन्दिर हैं। यहाँ से एक मील पर पुनउड़ा गाँव के पास पक्का सरोवर है। यहीं जानकी जी पृथ्वी से उत्पन्न हुई थीं। पास में ठाकुरबाड़ी है। निमिवंशज राजा सीरध्वज अकाल पड़ने पर सोने के हल से यज्ञ भूमि जोत रहे थे। तभी हलाग्र के लगने से दिव्य कन्या उत्पन्न हुई। यहाँ उर्विजा नामक प्राचीन कुण्ड है। स्त्रियों में यह तीर्थ बहुत लोकप्रिय है।

सीमन्तोन्नयन—सोलह शरीर-संस्कारों में से एक संस्कार। गर्भाधान के छठे अथवा आठवें महीने में इसका अनुष्ठान किया जाता है। इसमें पति पत्नी के सीमन्त (शिर के ऊपरी भागों के बालों) को सँभाल कर उठाते हुए उसके तथा गर्भस्थ शिशु के स्वास्थ्य की कामना करता है। इस संस्कार के साथ गर्भिणी स्त्री और उसके पति के कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

सुकलत्रप्राप्तिव्रत—कन्याओं, सधवाओं तथा विधवाओं के लिए भी इस व्रत का आचरण विहित है। यह नक्षत्र व्रत है। इसके नारायण देवता हैं। कोई कन्या तीन नक्षत्रों, यथा उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराषाढ़, उत्तराभाद्रपद को जगन्नाथ का पूजन कर माधव के नाम का कीर्तन करे तथा प्रियङ्गु फल (लाल फूल) अर्पित करे, मधु तथा शोधित नवनीत से हवन तथा 'माधवाय नमः' कहते हुए प्रणामाञ्जलि अर्पित करे तो इससे उसे अच्छा पति प्राप्त होता है। भगवान् शिव ने भी पार्वती को उस व्रत का महत्त्व बताया था।

सुकुलत्रिरात्रव्रत—मार्गशीर्ष मास में उस दिन इस व्रत का प्रारम्भ होना चाहिए जिस दिन 'त्र्यहः स्पृक् (तीन दिन वाली तिथि) हो, इस व्रत में तीन दिन उपवास

का विधान है। इस व्रत में त्रिविक्रम (विष्णु) का श्वेत, पीत, रक्त पुष्पों से, तीन अङ्गरागों से, गुग्गुल, कुटुक (कुटकी) तथा राल की धूप से पूजन करना चाहिए। इस अवसर पर उन्हें त्रिमधुर (मिसरी, मधु, मक्खन) अर्पित किए जाँय। तीन ही दीपक प्रज्ज्वलित किए जाँय। यव, तिल तथा सरसों से हवन करना चाहिए। इस व्रत में त्रिलोह (सुवर्ण, रजत तथा ताँबे) का दान करना चाहिए।

सुकृततृतीयाव्रत—हस्त नक्षत्र युक्त श्रावण शुक्ल तृतीया को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। यह तिथिव्रत है। इसमें नारायण तथा लक्ष्मी का पूजन विहित है। तीन वर्षपर्यन्त इसका आचरण होना चाहिए। उस समय 'विष्णोर्नु कम्०' तथा 'सक्तुमिव' आदि ऋग्वेद के मन्त्रों का पाठ होना चाहिए।

सुख—नैयायिकों के अनुसार आत्मवृत्ति विशेष गुण है। वेदान्तियों के अनुसार यह मन का धर्म है। गीता (अ० १८) में सुख के सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकार कहे गये हैं। सुख जगत् के लिए काम्य है और धर्म से उत्पन्न होता है। गरुडपुराण (अध्याय ११३) में सुख के कारण और लक्षण बतलाये गए हैं।

रागद्वेषादियुक्तानां न सुखं कुत्रचिन् द्विज।
विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः॥
यत्र स्नेहो भयं तत्र स्नेहो दुःखस्य भाजनम्।
स्नेहमूलानि दुःखानि तस्मिंस्त्यक्ते महत्सुखम्॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवश सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
सुखं दुःखं मनुष्याणां चक्रवत्परिवर्तते॥

सुखरात्रि अथवा सुखरात्रिका—यह लक्ष्मीपूजन दिवस है (कार्तिक की अमावस्या)। दीवाली के अवसर पर इसे सुखरात्रिका के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

सुखव्रत—शुक्लपक्ष की चतुर्थी को भौमवार पड़े तब यह सुखदा कही जाती है। इस दिन नक्त विधि से आहारादि करना चाहिए। इस प्रकार से चार चतुर्थियों तक इस व्रत की आवृत्ति की जाय। इस अवसर पर मंगल का पूजन होना चाहिए, जिसे उमा का पुत्र समझा जाता है। सिर पर मृत्तिका रखकर फिर उसे सारे शरीर में लगाया जाय, तदनन्तर शुद्ध जल से स्नान करना चाहिए। स्नानोपरान्त दूर्वा, पीपल, शमी तथा गौको स्पर्श किया जाय। १०८ आहुतियों से मंगल ग्रह को निमित्त मानकर हवन करना चाहिए। सुवर्ण अथवा रजत अथवा ताम्र अथवा सरल नामक काष्ठ या चीड़ या चन्दन के बने हुए पात्र में मंगल ग्रह की प्रतिमा स्थापित कर उसका पूजन करना चाहिए।

सुगतिपौषमासीकल्प (पौर्णमासी)—फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। यह तिथिव्रत है। विष्णु इसके देवता हैं। व्रती को नक्त विधि से लवण तथा तैलरहित आहार करना चाहिए। एक वर्ष तक इस व्रत का अनुष्ठान होना चाहिए। वर्ष को चार-चार मासों के तीन भागों में बाँटकर लक्ष्मी सहित केशव का पूजन करना चाहिए। व्रत के दिन अधार्मिकों, नास्तिकों, जघन्य अपराधियों तथा पापात्माओं एवं चाण्डालों से वार्तालाप भी नहीं करना चाहिए। रात्रि के समय भगवान् हरि तथा लक्ष्मी को चन्द्रमा के प्रतिभासित होते हुए देखना चाहिए।

सुतीक्ष्ण आश्रम—यह स्थान मध्य प्रदेश में वीरसिंहपुर से लगभग चौदह मील है। शरभङ्ग आश्रम से सीधे जाने में दस मील पड़ता है। यहाँ भी श्रीराम मन्दिर है। महर्षि अगस्त्य के शिष्य सुतीक्ष्ण मुनि यहाँ रहते थे। भगवान् राम अपने वनवास में यहाँ पर्याप्त समय तक रहे थे।

कुछ विद्वान् वर्तमान सतना (म०प्र०) को ही सुतीक्ष्ण-आश्रम का प्रतिनिधि मानते हैं। चित्रकूट से सतना का सामीप्य इस मत को पुष्ट करता है।

सुदर्शन–विष्णु का चक्र (आयुध)। मत्स्यपुराण (११.२७-३०) में इसकी उत्पत्ति का वर्णन है।

सुदर्शनषष्ठी—राजा या क्षत्रिय इस व्रत का आचरण करते हैं। कमलपुष्पों से एक मण्डल बनाकर चक्र की नाभि पर सुदर्शन चक्र की तथा कमल की पंखुड़ियों पर लोकपालों की स्थापना की जाय। चक्र के सम्मुख अपने स्वयं के अस्त्र-शस्त्र स्थापित्त किये जाँय। तदनन्तर लाल चन्दन के प्रलेप, सरसों, रक्त कमल तथा रक्तिम वस्त्रों से सबकी पूजा की जाय। पूजन के उपरान्त गुड़मिश्रित नैवेद्य समर्पण करना चाहिए। इसके पश्चात् शत्रुओं

के विनाश के लिए, युद्ध में विजय के लिए तथा अपनी सेना की सुरक्षा के लिए मंत्रों के साथ सुदर्शन चक्र की प्रार्थना की जाय। विष्णु के धनुष (शार्ङ्ग), गदा इत्यादि का तथा उनके वाहन गरुड का भी पूजन किया जाय। राजा को सिंहासन पर बैठाकर उसके सम्मुख एक सुसज्जित नारी दीपों से आरती उतारे। किसी पापग्रह अथवा जन्मकालिक क्रूर नक्षत्र का उदय होने पर भी इसी विधि से पूजन करना चाहिए।

सुधर्मा—इन्द्रदेवकी सभा। द्वारकापुरी में यादवों की राज सभा सुधर्मा कहलाती थी।

सुपात्र—किसी कार्य के समुपयुक्त अथवा योग्य व्यक्ति। भागवतपुराण के अनुसार ब्राह्मण को विशेष करके सुपात्र माना गया है :

पुरुषेस्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः।
तपसा विद्यया तुष्टया धत्ते वेदं हरेस्तनुम्॥

दानविधि में सुपात्र का विशेष ध्यान रखा जाता है :

तस्मात् सर्वात्मना पात्रे दद्यात् कनकदक्षिणाम्।
अपात्रे पातयेद्दत्तं सुवर्ण नरकार्णवे॥ (शुद्धितत्त्व)

सुप्रभातम्—प्रातः कालीन मङ्गलपाठ, जिसमें कुछ पुण्यश्लोकों का उच्चारण होता है। वामनपुराण (अध्याय १४) में यह निम्नप्रकार से मिलता है :

ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च।
गुरुः सशुक्रः सह भानुजेन कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्॥
भृगुर्वशिष्ठः क्रतुरङ्गिराश्च मनुः पुलस्त्यः पुलहः सगोतमः।
रैम्यो मरीचिश्च्यवनोऽमलोरुः कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्॥
सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौच।
सप्तस्वरः सप्तरसातलाश्च कुर्वंतु सर्वे मम सुप्रभातम्॥
पृथ्वी सगन्धा सरसास्तथापः सस्पर्शवायुर्ज्वलितञ्च तेजः।
नभः सशब्दं महतः सहैव कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्॥
सप्तार्णवाः सप्तकुलाचलाश्च सप्तर्षयो द्वीपवराश्च सप्त।
भूरादि कृत्स्नं भुवनानि सप्त कुर्वन्ति सर्वे मम सुप्रभातम्॥
इत्थं प्रभाते परमं पवित्रं यं संस्मरेद्वा शृणुयाच्च भक्त्या।
दुःस्वप्ननाशो ननु सुप्रभाते भवेच्च सत्यं भगवत्प्रसादात्॥

सुमेरु—उत्तर दिशा का केन्द्र, भूगोल का सर्वोच्च प्रभाग, जो पर्वत माना गया है। हिन्दुओं के भूगोल और पुरा कथा में इसके महत्त्वपूर्ण उल्लेख पाये जाते हैं। भागवत पुराण (पञ्चम स्कन्ध) में इसका निम्नांकित विवरण पाया जाता है।

"एषां मध्ये इलावृत्तं नामाभ्यन्तरवर्ष यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुर्द्वीपायामसमुन्नाहः कर्णिकाभूतः कुवलयकमलस्य मूर्द्धनि द्वात्रिंशंत्सहस्रयोजनवितो मूले षोडशसहस्रं तावतान्तर्भूम्यां प्रविष्ठः" ॥ ७ ॥

आजकल इसकी स्थिति तिब्बत और पामीर के पठार के मध्य कही जाती है।

सुरभि—देवताओं की गौ कामधेनु, जो समुद्र मन्थनोत्पन्न चौदह रत्नों में है। गौ माता के लिए भी इसका सामान्य प्रयोग होता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण (प्रकृतिखण्ड, ४७ अध्याय) में सुरभि की उत्पत्ति, पूजन आदि का वर्णन पाया जाता है।

सुरसा—(१) तुलसी। किसी-किसी के मत में यह दुर्गा का भी नाम है।

(२) नागमाता का नाम सुरसा है। वाल्मीकिरामायण (सुन्दरकाण्ड, सर्ग १) में सुरसा का उल्लेख हनुमानजी के सागरोल्लघन के सन्दर्भ में हुआ है।

सुरेन्द्र—देवताओं के राजा इन्द्र। एक लोकपात्र का नाम भी सुरेन्द्र है।

सुव्रत—चैत्र शुक्ल अष्टमी से अष्ट वसुओं की जो भगवान् वासुदेव के ही रूप हैं, गन्धाक्षत-पुष्पादि से पूजा की जानी चाहिए। एक वर्षपर्यन्त यह व्रत चलना चाहिए। व्रत के अन्त में गौ का दान करना चाहिए। इससे समस्त संकल्पों की सिद्धि होती है तथा व्रती वसुलोक प्राप्त करता है।

सूक्त—वेदोक्त देवस्तुतियों का निश्चित मन्त्र समूह। इसका अर्थ है 'शोभन उक्ति विशेष। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में

'अग्निमीले इत्यादि अग्नि सूक्त है।
'सहस्रशीर्षे' इत्यादि पुरुष सूक्त है।
'अहं रुद्रेभिरि' इत्यादि देवी सूक्त है।
'हिरण्यवर्णामि' इत्यादि श्रीसूक्त है।

सूत—मनुस्मृति (१०.११) के अनुसार क्षत्रिय पिता और ब्राह्मण कन्या से उत्पन्न सन्तान (वर्णसंकर): "क्षत्रियात् ब्रह्मकन्यायां सूतो भवति जातितः।" इसका व्यवसाय

रथ संचालन बतलाया गया है (वही, १०.४७)। वेदव्यास ऋषि ने रोमहर्षण नामक अपने सूत शिष्य को समस्त पुराण और महाभारत आदि पढ़ाये थे। सूतजी नैमिषारण्य में ऋषियों को ये पुराण कथाएँ सुनाया करते थे।

सूतक—परिवार में किसी शिशु के जन्म से उत्पन्न अशौच। वृद्धमनु के अनुसार यह अशौच दस दिनों तक रहता हैं।

सूतिका—नव प्रसूता स्त्री। इसका सस्पर्श दूषित बतलाया गया है। संस्पर्श होने पर प्रायश्चित्त से शुद्धि होती है। 'प्रायश्चित्ततत्त्व' में कथन है :

चाण्डालान्नं भूमिपान्नमजर्जीविश्वजीविनाम्।
शौण्डिकान्नं सूतिकान्नं भुक्त्वा मासं व्रती भवेत्॥

सूत्र—(१) अत्यन्त सूक्ष्म शैली में लिखे हुए शास्त्रादि-सूचना ग्रन्थ। सूत्र का लक्षण इस प्रकार है :

स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

[अत्यन्त थोड़े अक्षर वाले, सारगर्भित, व्यापक, अस्तोभ (स्तोभ—सामगान के तालस्वर) तथा अनवद्य (वाक्य अथवा वाक्यांश सूत्र) कहा जाता है।]

वेदाङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष सूत्र शैली में ही लिखे गये हैं। षड्दर्शन भी सूत्र शैली में प्रणीत हैं।

(२) ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) को भी सूत्र कहते हैं।

सूना—प्राणियों का वधस्थान। गृहस्थ के घर में पाँच सूना होती हैं :

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते याश्च वाहयन्॥

[चूल्हा, चक्की, सामग्री, ओखली और जलाधार ये पाँच सूना के स्थान है जहाँ गृहस्थ के द्वारा हिंसा होती रहती हैं'।] इसके पापनाशन का उपाय मनु ने इस प्रकार बतलाया है :

पञ्चैतान् यो महायज्ञान् न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥

[पंच महायज्ञ ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ) नित्य करने वाला गृहस्थ पाँच सूना (हिंसा) दोषों से मुक्त रहता है।]

सूर्य—देवमण्डल का एक प्रधान देवता। यह बारह आदित्यों (अदिति के पुत्रों) में से एक है। ऋग्वेद के बारह सूक्तों में सूर्य की स्तुति की गयी है। यह आदित्य वर्ग के देवताओं में सबसे अधिक महत्त्वशाली और दृश्य है। इसका देवत्व सबसे अधिक उस समय विकसित होता है जब यह आकाश के मध्यमें चढ़ जाता है। यह देवताओं का मुख कहा गया है। (ऋ० १.११५.१)। इसको देवताओं का विशेषकर मित्र और वरुण का चक्षु भी कहा है (ऋ० ६.५१.१)। चक्षु और सूर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह विराट् पुरुष का चक्षु स्थानीय है। कई संस्कारों में सूर्य के दर्शन करने की व्यवस्था है। वह मनुष्यों के शुभ और अशुभ कर्मों को देखता, मनुष्यों को निर्दोषित घोषित करता और उन्हें निष्पाप भी बनाता है। स्वास्थ्य से सूर्य का स्वाभाविक सम्बन्ध है। वह रोगों को दूर भगाता है(ऋ०१.५०.११.१२)

वेदों में सूर्य का सजीव चित्रण पाया जाता है जो उसके परवर्ती मूर्ति विज्ञान का आधार है। वह एक घोड़े अथवा बहुसंख्यक घोड़ों (हरितः) से खींचा जाता है। ये घोड़े स्पष्टतः उसकी प्रकाश किरणों के प्रतीक हैं। कहीं कहीं हंस, गरुड, वृषभ, अश्व, आकाशरत्न आदि के रूप में भी उसकी कल्पना की गयी है। वह कहीं उषा का पुत्र (परवर्ती होने के कारण और कहीं उसके पीछे-पीछे चलने वाला उसका प्रणयी कहा गया है। (ऋ० १.११५.२)। वह द्यौ का पुत्र भी कहा गया है (वास्तव में सम्पूर्ण देवमण्डल द्यावापृथ्वी का पुत्र है)।

सूर्य वास्तव में अग्नि तत्त्व का ही आकाशीय रूप है। वह अन्धकार और उसमें रहने वाले राक्षसों का विनाश करता है। वह दिनों की गणना और उनका संवर्द्धन भी करता (ऋ०८.४८.७) है। इसको एक स्थान पर विश्वकर्मा भीकहा गया है। उसके मार्ग का निर्माण देवता, विशेषकर वरुण और आदित्य, करते हैं। यह प्रश्न पूछा गया है कि आकाश से सूर्य का बिम्ब क्यों नहीं गिरता (वही ४.१३.५)। उत्तर है कि सूर्य स्वयं विश्व के विधान का संरक्षक है; उसका चक्र नियमित, अपरिवर्तनीय, सार्वभौम नियम का अनुसरण करता है। विश्व का केन्द्र स्थानीय है। वह जंगम और स्थावर सभी का आत्मा है (ऋग्वेद १.११५.१)।

सूर्य की वैदिक कल्पना का पुराणों और महाभारत

आदि में बड़े विस्तार से वर्णन है, जहाँ सूर्य सम्बन्धी पुरा कथाओं और पूजा विधियों के रूप में विवरण पाया जाता है।

सूर्य के विवाह आदि इतिवृत्त का मनोरंजक वर्णन मार्कण्डेय पुराण में पाया जाता है। इसके अनुसार विश्वकर्मा ने अपनी पुत्री संज्ञा का विवाह विवस्वान् के साथ किया। परन्तु संज्ञा सूर्य का तेज सहन न कर सकी, अतः उनके पास अपनी छाया को छोड़कर पितृगृह लौट गयी। विश्वकर्मा ने खराद पर चढ़ाकर सूर्य के तेज को थोड़ा कम किया जिससे संज्ञा उसको सहन कर सके। सूर्य की चार पत्नियाँ हैं—संज्ञा, राज्ञी, प्रभा और छाया। संज्ञा से मुनि की उत्पत्ति हुई। राज्ञी से यम, यमुना और रेवन्त उत्पन्न हुए। प्रभा से प्रभात, छाया से सावर्णि, शनि और तपती का जन्म हुआ। सूर्य परिवार के अन्य देवताओं और नवग्रहों की उत्पत्ति सूर्य से कैसे हुई, इसका विस्तृत वर्णन पुराणों में मिलता हैं।

उपर्युक्त भावनाओं तथा विश्वासों के कारण धीरे-धीरे सूर्य सम्प्रदाय का उदय हुआ। ईसापूर्व तथा ईसा पश्चात् की शताब्दियों में ईरान के साथ भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से ईरानी मित्र-पूजा (मिथ्र-पूजा) का सूर्य पूजा (मंदिर की मूर्ति पूजा) से समन्वय हो गया। भविष्य पुराण तथा वाराह पुराण में कथा है कि कृष्ण के पुत्र शाम्ब को कुष्ठ रोग हो गया। सूर्य पूजा से ही इस रोग की मुक्ति हो सकती थी। इसलिए सूर्य मन्दिर की स्थापना और मूर्तिपूजा के लिए शकद्वीप (पूर्वी ईरान, सीस्तान) से मग ब्राह्मणों को निमंत्रित किया गया। चन्द्रभागा (चिनाव) के तटपर मूलस्थानपुर (मुलतान) में सूर्य मन्दिर की स्थापना हुई। मूलस्थान (मुलतान) के सूर्य मंदिर का उल्लेख चीनी यात्री ह्वेनसांग तथा अरब लेखक अल्-इद्रिसी, अबूइशाक, अल्-इश्तरवी आदि ने किया है। कुछ पुराणों के अनुसार शाम्ब ने मथुरा में शाम्बादित्य नामक सूर्य मंदिर की स्थापना की थी। इस समय से लेकर तेरहवीं शती ई० तक भारत में सूर्य पूजा का काफी प्रचार था। कुमारगुप्त (प्रथम) के समय में दशपुर (मंदसौर) के बुनकरों की एक श्रेणी (संघ) ने भव्य सूर्य मंदिर का निर्माण किया था। स्कन्दगुप्त का एक स्मारक इन्द्रपुर (इन्दौर, बुलन्दशहर, उ० प्र०) में सूर्य मन्दिर के निर्माण का उल्लेख करता है। मिहिरकुल के ग्वालियर प्रस्तर लेख में मातृचेट द्वारा सूर्य मन्दिर के निर्माण का वर्णन है। वलभी के मैत्रक राजा सूर्योपासक थे। पुष्यभूतिवंश के प्रथम चार राजा आदित्य भक्त थे (बांसखेरा तथा मधुवन ताम्रपत्र)। परवर्ती गुप्त राजा द्वितीय जीवितगुप्त के समय में आरा जिले (मगध) में सूर्यमन्दिर निर्मित हुआ था (फ्लीटः गुप्त अभिलेख पृ० ७०, ८०,१६२,२१८)। बहराइच में बालादित्य का प्रसिद्ध और विशाल सूर्यमंदिर था जिसका ध्वंस सैयद सालार मसऊद गाजी ने किया। सबसे पीछे प्रसिद्ध सूर्यमंदिर चन्द्रभागा तटवर्ती मूलस्थान वाले सूर्यमंदिर की स्मृति में उड़ीसा के चन्द्रभागा तीर्थ कोण्डार्क में बना जो आज भी करवट के बल लेटा हुआ है।

सूर्य पूजा में पहले पूजा के विषय प्रतीक थे, मानवकृति मूर्तियाँ पीछे व्यवहार में आयीं। प्रतीकों में चक्र, वृत्ताकार सुवर्ण थाल, कमल आदि मुख्य थे। व्यवहार में सूर्य मूर्तियों के दो सम्प्रदाय विकसित हुए (१) औदीच्य (२) दाक्षिणात्य। औदीच्य में पश्चिमोत्तरीय देशों का बाह्य प्रभाव विशेषकर वेश में परिलक्षित होता है। दाक्षिणात्य में भारतीयता की प्रधानता है परन्तु मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से दोनों में पूरी भारतीयता है। मूर्तियाँ भी दो प्रकार की हैं। एक रथारूढ़ और दूसरी खड़ी। रथारूढ़ मूर्तियों में एक चक्र वाला रथ होता है जिसको एक से लेकर सात अश्व खींचते हैं। आगे चलकर सात अश्व ही अधिक प्रचलित हो गए। अरुण सारथि (जिसके पाँव नहीं होते) रथ का संचालन करता है। रथ तम के प्रतीक राक्षसों के ऊपर से निकलता हुआ दिखाया जाता है। सूर्य के दोनों पार्श्व से उषा और प्रत्युषा (उषा के दो रूप) धनुष से आकाश पर बाण फेंकती हुई अंकित की जाती हैं। दोनों ओर दो पार्षद दण्डी (दण्ड लिए हुए) और पिङ्गल अथवा कुण्डी (मसि-पात्र और लेखनी लिए हुए) भी दिखाए जाते हैं। किन्हीं-किन्हीं मूर्तियों में सूर्य की पत्नियों और पुत्रों का भी, जो सभी प्रकाश के प्रतीक हैं, अंकन मिलता है। औदीच्य सूर्य मूर्तियों के पाँवों में भरकम ऊँचे जूते (उपानह, चुस्त पाजामा, भारी अंगा; चौड़ी मेखला, किरीट, (मुकुट) और उसके पीछे प्रभामण्डल पाया जाता है। कहीं कहीं कन्धे से दोनों ओर दो पंख भी जुड़े होते हैं जो सूर्य के वैदिक गरुत्मान् रूप के अवशेष हैं। हाथों में—दाहिने में कमल (अथवा कमलदण्ड) और बायें में खड्ग मिलता है। दाक्षिणात्य

मूर्तियों की विशेषता है कमलस्थ नंगा पाँव, धोती और पूर्णतः अभिव्यक्त (खुला) शरीर।

सूर्यनक्तव्रत—व्रतकर्ता को रविवार के दिन नक्त विधि से आहार आदि करना चाहिए। रविवार को हस्त नक्षत्र पड़े तो उस दिन एकभक्त तथा उसके बाद वाले रविवारों को नक्त विधि से आहार करना चाहिए। सूर्यास्त के समय रक्त चन्दन के प्रलेप से द्वादश दलीय कमल बनाकर पूर्व से आठों दिशाओं में भिन्न-भिन्न नामों से (जैसे सूर्य, दिवाकर आदि) न्यास किया जाय। मण्डल के पूर्व में सूर्य के अश्वों का न्यास किया जाय। ऋग्वेद तथा सामवेद के प्रथम मंत्रों तथा तैत्तिरीय संहिता के प्रथम चार शब्दों का उच्चारण करते हुए अर्घ्य दान करना चाहिए। एक वर्षपर्यन्त अथवा द्वादश वर्षपर्यन्त इस व्रत का आचरण होता है। इससे व्रती समस्त रोगों से मुक्त होकर सुख समृद्धि तथा सन्तानादि का सुख भोगकर सूर्य लोक प्राप्त कर लेता है।

सूर्यपूजाप्रशंसा—दे० विष्णु धर्म०, ३.१८१.१-७, जिसमें लिखा है कि वर्ष की समस्त सप्तमी तिथियों को सूर्य का पूजन करने से क्या पुण्य अथवा फल मिलता है; अथवा वर्ष भर प्रति रविवार को नक्त विधि से आहारादि करने से अथवा सूर्योदय के समय सर्वदा सूर्योपासना करने से क्या पुण्य प्राप्त होता है। भविष्य पुराण (१-६८) के श्लोक ८-१४ में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि सूर्योपासना में किन-किन पुष्पों की आवश्यकता पड़ती है तथा उनका प्रयोग करने से क्या पुण्य प्राप्त होते हैं।

सूर्यरथयात्रा माहात्म्य—भविष्यपुराण (१.५८) के अनुसार सूर्य का रथोत्सव माघ मास में आयोजित किया जाता है। यदि प्रति वर्ष इसका आयोजन कठिन हो तो बारहवें वर्ष जिस दिन प्रथम बार हुआ था, उसी दिन आयोजन किया जाना चाहिए। उत्सव के नैरन्तर्य में थोड़े-थोड़े व्यवधानों के बाद इसका आयोजन नहीं किया जाना चाहिए। आषाढ़, कार्तिक तथा माघ मास की पूर्णिमाएँ इसके लिए पवित्रतम हैं। यदि रविवार को षष्ठी या सप्तमी पड़े तो भी रथयात्रा का उत्सव आयोजित हो सकता है।

सृष्टि—संसार की उत्पत्ति या निर्मिति अथवा सर्जना। जो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं उनके अनुसार ईश्वर ने अपनी ही योगमाया से अथवा प्रकृतिरूपी उपादान कारण से इस जगत् का निर्माण किया। श्रीभागवत पुराण में सृष्टि का वर्णन इस प्रकार है :

सृष्टि के पूर्व मन, चक्षु आदि इन्द्रियों से अगोचर भगवान् एकमात्र थे। जब उन्होंने स्वेच्छा से देखने की कामना की तो कोई दृश्य नहीं दिखायी पड़ा। तब उन्होंने त्रिगुणमयी माया का प्रकाश किया। तब भगवान् ने अपने अंश पुरुषरूप करके उस माया में अपने वीर्य चैतन्य का आधान किया। उससे तीन प्रकार का अहङ्कार उत्पन्न हुआ। उनमें से सात्त्विक अहङ्कार से मन इन्द्रिय के अधिष्ठातृदेवता उत्पन्न हुए। राजस अहङ्कार से दस इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। तामस अहङ्कार से पञ्चभूत हुए। उनमें पञ्चगुण उत्पन्न हुए। इस प्रकार प्रकृत्यादि इन चौबीस तत्त्वों से ब्रह्माण्डका निर्माण कर भगवान् ने एक अंश से उसमें प्रवेश कर गर्भोदक संज्ञक जल उत्पन्न किया। उस जल के बीच में योगनिद्रा से सहस्रयुगकाल तक स्थित रहे। उसके अन्त में उठकर अपने अंश से ब्रह्मा होकर सब की सृष्टि कर और (विष्णुरूप से) नानावतारों को धारणकर जगत् का पालन करते हैं। कल्पान्त में रुद्ररूप से जगत् का संहार करते हैं।

विष्णु पुराण (१.५.२७-६५) में विष्णु द्वारा सृष्टि का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में विराट् (विश्व पुरुष) से सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति का रूपकात्मक वर्णन है। न्याय दर्शन के अनुसार सृष्टि के के तीन कारण हैं—(१) उपादान (२) निमित्त और (३) सहकारी। प्रकृति सृष्टि का उपादान कारण और ईश्वर निमित्त कारण है। जिस प्रकार कुम्भकार मृत्तिकाउपादान से अनेक प्रकार के मृद्भाण्डों का निर्माण करता है उसी प्रकार ईश्वर प्रकृति के उपादान से बहुविधि जगत् की सृष्टि करता है।

सृष्टितत्त्व—भारतीय संस्कृति के मौलिक तत्त्वों में आध्यात्मिक चिन्तन की बड़ी विशेषता है। दर्शन शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार बिना तत्व-ज्ञान प्राप्त किये जीव कल्याण का भागी नहीं हो सकता। अतः मानव अध्यात्म की ओर प्रवृत्त होता है। इसके अनन्तर उसे जिज्ञासा होती है कि दृश्य जगत् की उत्पत्ति कहाँ से होती है और यह किस जगह विलीन हो जाता है। इस दिशा में हमारे दर्शन शास्त्र अधिक प्रकाश डालते हैं, यथा—

"प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारः तस्मादगणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ।।"

अर्थात् सर्वप्रथम प्रकृति से महत् तत्त्व (बुद्धि) का आविर्भाव होता है, इसके अनन्तर अहंकार और उससे षोडश गण उत्पन्न होते हैं । षोडश गणों से पंचीकरण द्वारा पञ्चमहाभूत बन जाते हैं, प्रकृति की परिणामधर्मता के अनुसार समस्तसृष्टि आगे चलकर तीन भागों में विभक्त होती है, आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक । इनमें आधिभौतिक सृष्टि स्थावर, जङ्गम, स्वेदज, जरायुज, अण्डज आदि के रूप में सर्जित है । अतः इसे जन्म और मृत्यु नाम से भी व्यवहृत करते हैं ।

आध्यात्मिकी सृष्टि अनादि और अनन्त है । प्रकृति भी आदि और अन्त से रहित है । अतः हम अनाद्यनन्त परमेश्वर की परम महाशक्ति से उद्भूत होने के कारण अनाद्यनन्ता आध्यात्मिकी सृष्टि की नित्य सत्ता को स्वीकार करते हैं । यही आध्यात्मिक सृष्टि अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय विराट् पुरुष का विग्रह है । श्रुति के अनुसार इस ब्रह्माण्ड के चारों ओर इस प्रकार के अनन्त ब्रह्माण्ड प्रकाशित हैं । और उन सभी ब्रह्माण्डों में सत्त्व, रजस्, तमः प्रधान ईश्वरांश स्वरूप अनन्त कोटि ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र वास करते हैं । ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड आकाश में इसी प्रकार भ्रमण करते हैं, जिस प्रकार समुद्र में अनन्त मत्स्य एवं जल बुद्बुद भ्रमणशील रहते हैं ।

इस प्रकार व्यापक परमेश्वर की सत् चित् सत्ता के आश्रय से महाशक्ति प्रकृति की स्वाभाविक त्रिगुणमय आध्यात्मिक सृष्टि का अनन्त विस्तार हो रहा है, जिसकी न उत्पत्ति ही है, और न नाश ही

आधिदैविक सृष्टि आध्यात्मिक सृष्टि से सर्वथा भिन्न है । इसका सम्बन्ध एक एक ब्रह्माड से रहता है । यह सृष्टि अनित्य या नश्वर होती है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय हुआ करते हैं । जिस प्रकार महासागर की तरंगें एक साथ सहसा नष्ट नहीं होतीं, उसी प्रकार आधिदैविक सृष्टि के अन्तर्गत एक एक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, निश्चित समयतक उसकी स्थिति और प्रलय होते हैं ।

सृष्टि के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह क्यों होती है ? ईश्वर ने किसलिए इस दुःखमय संसार का सर्जन किया । इत्यादि अनेक प्रकार के प्रश्न किये जाते हैं, और उनके उत्तर में अनेक मस्तिष्क विभिन्न प्रकार के समाधान प्रस्तुत करते हैं । कोई कहता है, परमेश्वर ने सर्जन द्वारा अपनी विभूति प्रकट की है । किसी के मतमें जिस प्रकार स्वप्न बिना विचारे ही अकस्मात् उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जगत् भी अकस्मांत् आविर्भूत हुआ । अन्य लोग जगत् को परमात्मा का क्रीडनक कहते हैं । किन्तु ये सभी उत्तर भ्रममूलक हैं । क्योंकि आप्तकाम पूर्ण परमात्मा को कोई भी स्पृहा स्पर्श नहीं कर सकती । सृष्टि केवल स्वाभाविक रूप में ही उत्पन्न होती है । जिस प्रकार मकड़ी बिना किसी प्रयोजन के ही तन्तुसमूह को फैलाती है एव सिकोड़ लेती है एवं पृथ्वी पर बिना कारण ही औषधियाँ प्रादुर्भूत होती हैं तथा मनुष्यों के शरीर में निष्कारण ही बाल और रोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उस अक्षर ज्योतिर्मय ब्रह्म से समस्त विश्व उत्पन्न होता है । अतः यह समस्त सृष्टि स्वाभाविक है ।

सेतु—जल के ऊपर से जाने के लिए बनाया गया मार्ग । इसके दान का महत् फल बतलाया गया है :

सेतुप्रदानादिन्द्रस्य लोकमाप्नोति मानवः ।
प्रपाप्रदानाद्वरुणलोकमाप्नोत्यसंशयम् ।।
संक्रमाणान्तु यः कर्ता स स्वर्गं तरते नरः ।
स्वर्गलोके च निवसेदिष्टकासेतुकृत् सदा ।।

(मठादि प्रतिष्ठातत्त्व)

[मानव सेतु-प्रदान से इन्द्रलोक को प्राप्त करता है । प्याऊ की व्यवस्था करने से वह वरुण लोक को जाता है । जो संक्रमणों (बाँध) का निर्माण करता है वह स्वर्ग में निवास करता है ।]

सेवा—सेवा का महत्त्व सभी धर्मों में स्वीकार किया गया है । वैष्णव धर्म में इसको साधना के रूप में माना गया है । वैष्णव संहिताएँ, जो वैष्णव धर्म के कल्पसूत्र हैं, सम्पूर्ण वैष्णव शिक्षा को चार भागों में बाँटती हैं :

१. ज्ञानपाद (दार्शनिक धर्म विज्ञान),
२. योगपाद (मनोवैज्ञानिक अभ्यास)
३. क्रियापाद (लोकोपकारी पूर्त कर्म) और
४. चर्यापाद (धार्मिक कृत्य) ।

क्रियापाद को क्रियायोग भी कहते हैं । क्रियापाद और चर्यापाद के अन्तर्गत सेवा का समावेश है । भक्तिमार्ग में, विशेषकर वल्लभ-सम्प्रदाय में, भगवान् कृष्ण की सेवा का विस्तृत विधान है । आचार्य वल्लभ द्वारा प्रचलित पुष्टिमार्ग का दूसरा नाम ही 'सेवा' है । पुराणों में

भगवान् विष्णु की सेवा का विस्तृत वर्णन है (दे० पद्म-पुराण, क्रियायोगसार, अध्याय ९-१०; वही अध्याय ११-१३) पुराणों में वर्णित सेवा प्रायः कर्मकाण्डीय है। परन्तु पुष्टिमार्ग की सेवा मुख्यतः भावनात्मक है। सेवा के तीन स्थान हैं—(१) गुरु (२) सन्त और (३) प्रभु। प्रथम दो साधन और अंतिम साध्य है। गुरु-सेवा भक्ति का प्रथम सोपान है और अनिवार्य भी। उपनिषदों तक में इसकी महिमा गायी गयी है। निर्गुण और सगुण दोनों भक्तिमार्गों में गुरु की बड़ी महिमा है। नानक ने जिस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, उसमें गुरु प्रथम पूजनीय है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के प्रारम्भ में गुरु की बड़ी महिमा गायी है। सन्त-सेवा भक्ति का दूसरा चरण है। इसका माहात्म्य पुराणों में विस्तार से दिया हुआ है (दे० गरुडपुराण, उत्तरखण्ड, धर्मकाण्ड)।

सेवा का तीसरा और अंतिम चरण है प्रभु-सेवा जो साध्य है। यहाँ सेवा का अर्थ है भगवान् की स्वरूपसेवा। इसके दो प्रकार हैं---(१) क्रियात्मक और भावनात्मक। क्रियात्मक सेवा के भी दो प्रकार हैं—(१) तनुजा तथा (२) वित्तजा। जो सेवा शरीर से की जाती है उसको तनुजा और जो सेवा सम्पत्ति के द्वारा की जाती है उसे वित्तजा कहते हैं। भावात्मक सेवा मानसिक होती है। इसमें सम्पूर्ण भाव से प्रभु के सम्मुख आत्मसमर्पण किया जाता है। इसके भी दो भेद हैं—(१) मर्यादा सेवा और (२) पुष्टिसेवा। प्रथम में ज्ञान, भजन, पूजन, श्रवण आदि साधनों द्वारा भगवान् के सायुज्य की कामना की जाती है। इसमें नियम-उपनियम, विधिनिषेध का पर्याप्त स्थान है। इसीलिए इसको मर्यादा सेवा कहते हैं। इसमें निर्बन्ध अथवा उन्मुक्त समर्पण नहीं। पुष्टिसेवा में प्रभु के सम्मुख विधि निषेध रहित उन्मुक्त समर्पण है। यह सेवा साधनरूपा नहीं, साध्यरूपा है।

सेवापराध—'आचारतत्त्व' में बत्तीस प्रकार के सेवापराध बतलाये गये हैं। भगवान् की पूजा के प्रसंग में इनका परिवर्जन आवश्यक है :

(१) भगवद्भक्तों का क्षत्रिय सिद्धान्न भोजन।

(२) मल-मूत्र त्याग, स्त्री सेवन के बाद बिना स्नान किए विष्णुमूर्ति के पास जाना।

(३) अनिषिद्ध दिन में बिना दन्तधावन किए विष्णु के पास पहुँचना।

(४) मृत मनुष्य को छूकर बिना स्नान किए विष्णु के पास जाना।

(५) रजस्वला को छूकर विष्णु-मंदिर में प्रवेश करना।

(६) मानव शव को स्पर्श कर बिना स्नान किए विष्णु की सन्निधि में बैठना।

(७) विष्णु का स्पर्श करते हुए अपान वायु छोड़ना।

(८) विष्णु कर्म करते हुए पुरीष-त्याग।

(९) विष्णु शास्त्र का अनादर करके दूसरे शास्त्रों की प्रशंसा।

(१०) मलिन वस्त्र पहनकर विष्णु कर्म करना।

(११) अविधान से आचमन कर विष्णु के पास जाना।

(१२) विष्णु अपराध करके विष्णु के पास जाना।

(१३) क्रोध के समय विष्णु का स्पर्श।

(१४) निषिद्ध पुष्प से विष्णु का अर्चन कराना।

(१५) रक्त वस्त्र धारण कर विष्णु के पास जाना।

(१६) अन्धकार में दीपक के बिना विष्णु का स्पर्श।

(१७) काला वस्त्र पहनकर विष्णु पूजाचरण।

(१८) कौआ से अपवित्र वस्त्र पहन कर विष्णु-कर्म करना।

(१९) विष्णु को कुत्ता का उच्छिष्ट अर्पित करना।

(२०) वराह मांस खाकर विष्णु के पास जाना।

(२१) हंसादि का मांस खाकर विष्णु के पास जाना।

(२२) दीपक छूकर बिना हाथ धोये विष्णु का स्पर्श अथवा कर्माचरण।

(२३) श्मशान जाकर बिना स्नान किए विष्णु के पास जाना।

(२४) पिण्याक भोजन कर विष्णु के पास जाना।

(२५) विष्णु को वराह मांस का निवेदन।

(२६) मद्य लाकर, पीकर अथवा छूकर विष्णु मंदिर जाना।

(२७) दूसरे के अशुचि वस्त्र को पहनकर विष्णु कर्माचरण।

(२८) विष्णु को नवान्न न अर्पित कर भोजन करना।

(२९) गन्ध-पुष्प दिए बिना धूपदान करना।

(३०) उपानह पहनकर विष्णु-मंदिर में प्रवेश।

(३१) भेरी शब्द के बिना विष्णु का प्रबोधन।

(३२) अजीर्ण होने पर विष्णु का स्पर्श।

वाराह पुराण के अपराध-प्रायश्चित्त नामक अध्याय में सेवापराधों की लम्बी सूची पायी जाती है।

सोम—सोम वसुवर्ग के देवताओं में हैं। मत्स्यपुराण (५-२१) में आठ वसुओं में सोम की गणना इस प्रकार है—

> आपो ध्रुवश्च सोमश्च धरश्चैवानिलोऽनलः।
> प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः।।

ऋग्वेदीय देवताओं में महत्त्व की दृष्टि से सोम का स्थान अग्नि तथा इन्द्र के पश्चात् तीसरा है। ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवाँ मण्डल सोम की स्तुति से परिपूर्ण है। इसमें सब मिलाकर १२० सूक्तों में सोम का गुणगान है। सोम की कल्पना दो रूपों में की गयी है—(१) स्वर्गीय लता का रस और (२) आकाशीय चन्द्रमा। देव और मानव दोनों को यह रस स्फूर्ति और प्रेरणा देनेवाला था। देवता सोम पीकर प्रसन्न होते थे; इन्द्र अपना पराक्रम सोम पीकर ही दिखलाते थे। काण्व ऋषियों ने मानवों पर सोम का प्रभाव इस प्रकार बतलाया है: "यह शरीर की रक्षा करता है, दुर्घटना से बचाता है; रोग दूर करता है; विपत्तियों को भगाता है; आनन्द और आराम देता है; आयु बढ़ाता है; सम्पत्ति का संवर्द्धन करता है। विद्वेषों से बचाता है; शत्रुओं के क्रोध और द्वेष से रक्षा करता है; उल्लास उत्पन्न करता है; उत्तेजित और प्रकाशित करता है; अच्छे विचार उत्पन्न करता है; पाप करने वाले को समृद्धि का अनुभव कराता है; देवताओं के क्रोध को शान्त करता है और अमर बनाता है (दे० ऋग्वेद ८.४८)। सोम विप्रत्व और ऋषित्व का सहायक है (वही ३.४३.५)

सोम की उत्पत्ति के दो स्थान हैं—(१) स्वर्ग और (२) पार्थिव पर्वत। अग्नि की भाँति सोम भी स्वर्ग से पृथ्वी पर आया। ऋग्वेद (१.९३.६) में कथन है: "मातरिश्वा ने तुम में से एक को स्वर्ग से पृथ्वी पर उतारा; गरुत्मान् ने दूसरे को मेघशिलाओं से।" इसी प्रकार (९.६१.१०) में कहा गया है: "हे सोम, तुम्हारा जन्म उच्च स्थानीय है; तुम स्वर्ग में रहते हो, यद्यपि पृथ्वी तुम्हारा स्वागत करती है। सोम की उत्पत्ति का पार्थिव स्थान मूजवन्त पर्वत (गन्धार-कम्बोज प्रदेश) है (ऋग्वेद १०.३४.१)।

सोम रस बनाने की प्रक्रिया वैदिक यज्ञों में बड़े महत्त्व की है। इसकी तीन अवस्थायें हैं—पेरना. छानना और मिलाना। वैदिक साहित्य में इसका विस्तृत और सजीव वर्णन उपलब्ध है। देवताओं के लिए समर्पण का यह मुख्य पदार्थ था और अनेक यज्ञों में इसका बहुविधि उपयोग होता था। सबसे अधिक सोमरस पीनेवाले इन्द्र और वायु हैं। पूषा आदि को भी यदाकदा सोम अर्पित किया जाता है।

स्वर्गीय सोम की कल्पना चन्द्रमा के रूप में की गयी है। छान्दोग्योपनिषद् (५.१०.४) में सोम राजा को देवताओं का भोज्य कहा गया है। कौषितकि ब्राह्मण (७.१०) में सोम और चन्द्र के अभेद की व्याख्या इस प्रकार की गयी है: "दृश्य चन्द्रमा ही सोम है। सोमलता जब लायी जाती है तो चन्द्रमा उसमें प्रवेश करता है। जब कोई सोम खरीदता हैं तो इस विचार से कि "दृश्य चन्द्र ही सोम है; उसी का रस पेरा जाय।"

सोम का सम्बन्ध अमरत्व से भी है। वह स्वयं अमर तथा अमरत्व प्रदान करनेवाला है। वह पितरों से मिलता है और उनको अमर बनाता है (ऋ० ८.४८.१३)। कहीं कहीं उसको देवों का पिता कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि वह उनको अमरत्व प्रदान करता है। अमरत्व का सम्बन्ध नैतिकता से भी है। वह विधि का अधिष्ठान और ऋत की धारा है। वह सत्य का मित्र है दे० ऋ० ९.९७.१८,७.१०४। सोम का नैतिक स्वरूप उस समय अधिक निखर जाता है जब वह वरुण और आदित्य से से संयुक्त होता है: "हे सोम, तुम राजा वरुण के सनातन विधान हो; तुम्हारा स्वभाव उच्च और गंभीर है; प्रिय मित्र के समान तुम सर्वाङ्ग पवित्र हो; तुम अर्यमा के समान वन्दनीय हो।" (ऋ० १.९१.३)।

वैदिक कल्पना के इन सूत्रों को लेकर पुराणों में सोम-सम्बन्धी बहुत सी पुरा कथाओं का निर्माण हुआ। वाराह-पुराण में सोम की उत्पत्ति का वर्णन पाया जाता है: "ब्रह्मा के मानस पुत्र महातपा अत्रि हुए जो दक्ष के जामाता थे। दक्ष की सताईस कन्यायें थीं; वे ही सोम की पत्नियाँ हुईं। उनमें रोहिणी सबसे बड़ी थी। सोम केवल रोहिणी के साथ रमण करते थे, अन्य के साथ नहीं। औरों ने पिता दक्ष के पास आकर सोम के विषय-व्यवहार के सम्बन्ध में निवेदन किया। दक्ष ने सोम को सम व्यवहार करने के लिये कहा। जब सोम ने ऐसा नहीं किया तो दक्ष ने शाप दिया, "तुम अन्तर्हित (लुप्त)

हो जाओ" । दक्ष के शाप से सोम क्षय को प्राप्त हुआ । सोम के नष्ट होने पर देव, मनुष्य, पशु, वृक्ष और विशेष कर सब औषधियाँ क्षीण हो गयीं ।''''देव लोग चिन्तित होकर विष्णु की शरण में गये । भगवान् ने पूछा, 'कहो क्या करें ?' देवताओं ने कहा, 'दक्ष के शाप से सोम नष्ट हो गया ।' विष्णु ने कहा कि 'समुद्र का मन्थन करो ।' ···"सब ने मिलकर समुद्र का मन्थन किया । उससे सोम पुनः उत्पन्न हुआ । जो यह क्षेत्रसंज्ञक श्रेष्ठ पुरुष इस शरीर में निवास करता है उसे सोम मानना चाहिए; वही देहधारियों का जीवसंज्ञक है । वह परेच्छा से पृथक् सौम्य मूर्ति को धारण करता है । देव, मनुष्य, वृक्ष ओषधी सभी का सोम उपजीव्य है । तब रुद्र ने उसको सकल (कला सहित) अपने सिर में धारण किया ।····।"

सोमतीर्थ—प्रभासतीर्थ का दूसरा नाम (सोमेन कृतं तीर्थं सोमतीर्थम्) । महाभारत (३-८३.१९) में इसके माहात्म्य का वर्णन मिलता है । इस तीर्थ में स्नान करने से राजसूय यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है । वाराह पुराण (सौकर-तीर्थ माहात्म्याध्याय) में इसका विस्तृत वर्णन है ।

सोमयाग—जिस यज्ञ में सोमपान तथा सोमाहुति प्रधान अङ्ग होता है और जिसका सत्र तीन वर्षों तक चलता रहता है उसे सोमयाग कहते हैं । ब्राह्मण ग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों में इसका विस्तार से वर्णन है । ब्रह्मवैवर्त पुराण (श्रीकृष्णजन्मखण्ड, ६०-५४-५८) में इसका वर्णन इस प्रकार है :

ब्रह्महत्याप्रशमनं सोमयागफलं मुने ।
वर्ष सोमलतापानं यतमानः करोति च ।।
वर्षमेकं फलं भुङ्क्ते वर्षमेकं जलं मुदा ।
त्रैवार्षिकमिदं यागं सर्वपापप्रणाशनम् ।।
यस्य त्रैवार्षिकं धान्यं निहितं भूतिवृद्धये ।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ।।
महाराजश्च देवो वा यागं कर्तुमलं मुने ।
न सर्वसाध्यो यज्ञोऽयं बह्वन्नो बहुदक्षिणः ।।

सोमयाजी—सोम याग कर चुकने वाले । सोमयज्ञ संपादन करने के पश्चात् यजमान की यह उपाधि होती थी ।

सोमलता—एक ओषधिविशेष । यज्ञ में इसके रस का पान किया जाता था और आहुति होती थी । आयुर्वेद में भी यह बहुत गुणकारी मानी गयी है । सुश्रुत (चिकित्सा-स्थान, अध्याय २९) में इसका विस्तृत वर्णन है । यह लता कश्मीर के पश्चिमोत्तर हिन्दूकुश की ओर से प्राप्त की जाती थी ।

सोमवंश—पुराणों के अनुसार सोम (चन्द्रमा) से उत्पन्न वंश सोमवंश अथवा चन्द्रवंश कहलाता है । चन्द्रमा के पुत्र बुध और मनु की पुत्री इला के विवाह से पुरूरवा का जन्म हुआ, जिसे ऐल (इला से उत्पन्न) कहते थे । इस उपनाम के कारण सोमवंश ऐलवंश भी कहलाता है ! इस वंश की आदि राजधानी प्रतिष्ठान (प्रयाग के पास झूसी थी) गरुड पुराण (अध्याय १४३-१४४) तथा अन्य कई पुराणों में सोमवंश के राजाओं की सूची पायी जाती है ।

सोमवती अमावस्या—सोमवार के दिन पड़नेवाली अमावस्या बड़ी पवित्र मानी जाती है । इस दिन लोग (विशेष रूप से स्त्री वर्ग) पीपल के वृक्ष के पास जाकर विष्णु भगवान् की पूजा कर वृक्ष की १०८ परिक्रमाएँ करते हैं । 'व्रतार्क' ग्रन्थ के अनुसार यह व्रत बड़े बड़े धर्मग्रन्थों में वर्णित नहीं है, किन्तु व्यवहार रूप में ही इसका प्रचलन है ।

सोमवार व्रत—प्रति सोमवार को उपवासपूर्वक सायंकाल शिव अथवा दुर्गा का पूजन जिस व्रत में किया जाता है उसको सोमवार व्रत कहते हैं । स्कन्दपुराण (ब्रह्मोत्तर-खण्ड, सोमवार व्रत माहात्म्य, अध्याय ८) में इसका विवरण मिलता है :

सोमवारे विशेषेण प्रदोषादिगुणैर्युते ।
केवलं वापि ये कुर्युः सोमवारे शिवार्चनम् ।।
न तेषां विद्यते किञ्चिदिहामुत्र च दुर्लभम् ।।
उपोषितः शुचिर्भूत्वा सोमवारे जितेन्द्रियः ।
वैदिकैर्लौकिकैर्वापि विधिवत्पूजयेच्छिवम् ।।
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा कन्या वावि सभर्तृका ।
विभर्तृका वा संपूज्य लभते वरमभीप्सितम् ।।

सामान्य नियम है कि श्रावण, वैशाख, कार्तिक अथवा मार्गशीर्ष मास के प्रथम सोमवार से व्रत का आरम्भ किया जाय । इसमें शिव की पूजा करते हुए पूर्ण उपवास अथवा नक्त विधि से आहार करना चाहिए । वर्षकृत्य दीपिका में सोमवार व्रत तथा उद्यापन का विशद वर्णन मिलता है । आज भी श्रावण मास के सोमवारों को पवित्रतम माना जाता है ।

सोमविक्रयी—सोमलता अथवा उसके रस को बेंचने वाला। ऐसा करना पाप माना जाता था। सोमविक्रयी को दान देने वाला भी पापी माना जाता है। दे० मनु ३. १८०।

सोमव्रत—(१) यदि मास के किसी भी पक्ष में सोमवार को अष्टमी पड़ जाय तो व्रती को उस दिन शिव की आराधना करनी चाहिए। प्रतिमा का दक्षिण पार्श्व शिव का तथा वाम पार्श्व हरि तथा चन्द्रमा का प्रतिनिधित्व करता है। सर्वप्रथम शिवलिङ्ग को पञ्चामृत से स्नान कराकर चन्दन तथा कपूर दक्षिण पार्श्व में तथा केसर, अगर, उशीर वाम पार्श्व में लगाकर २५ दीपकों से देव तथा देवी की नीराजना करनी चाहिए। तदनन्तर ब्राह्मणों को सपत्नीक बुलाकर भोजन कराना चाहिए। एक वर्ष-पर्यन्त इस व्रत का आचरण होना चाहिए।

(२) माघ शुक्ल चतुर्दशी को उपवास करके पूर्णिमा के दिन शिवजी के ऊपर एक कम्बल में घी भरकर शिखा की ओर से वेदी की ओर टपकाया जाय। तदनन्तर एक जोड़ी श्यामा गौएँ दान में दी जाँय। रात्रि को गीत वाद्यादि रहित नृत्य का आयोजन होना चाहिए।

(३) मार्गशीर्ष मास अथवा चैत्र मास के प्रथम सोमवार को अथवा किसी भी अन्य सोमवार को जब पूजा की तीव्र लालसा उत्पन्न हो, शिवजी की पूजा श्वेत पुष्पों (जैसे मालती, कुन्द इत्यादि) से करनी चाहिए। चन्दन का प्रलेप लगाया जाय। तत्पश्चात् नैवेद्यार्पण होना चाहिए। होम भी विहित है। सोमवार के दिन नक्तविधि से आहारादि करने पर महान् पुण्यफल प्राप्त होता है

सोमायनव्रत—एक मास तक इस व्रत का अनुष्ठान होता है। व्रती सात दिनों तक लगातार गौ के चारों स्तनों के दूध का आहार कर प्राण धारण करता है। तत्पश्चात् सात दिनों तक केवल तीन स्तनों के दूध को पीकर तथा पुनः सात दिन तक केवल एक स्तन का दूध पीने के पश्चात् अन्त में तीन दिनों तक निराहार रहता है। इससे व्रती के समस्त पाप क्षय हो जाते हैं। दे० मार्कण्डेय पुराण।

सोमाष्टमी—यह तिथिव्रत है। शिव तथा उमा इसके देवता हैं। यदि सोमवार के दिन नवमी हो तो शिव तथा उमा का रात्रि को पूजन किया जाय। पञ्चगव्य से प्रतिमाओं को स्नान कराया जाय। शिवजी का वामदेव आदि नामों से पूजन करना चाहिए। प्रतिमा के दक्षिण भाग में चन्दन का प्रलेप तथा कर्पूर तथा वाम भाग में केसर तथा तुरुष्क (लोवान धूप) लगाया जाय। देवीजी के शिरोभाग पर नीलम तथा शिवजी के सिर पर मुक्ता स्थापित किया जाय। ततः श्वेत तथा अरुणाभ पुष्पों से पूजन होना चाहिए। सद्योजात नाम से तिलों का प्रयोग करते हुए होम करना चाहिए। वामदेव, सद्योजात, अघोर, तत्पुरुष और ईशान भगवान् शिव के पाँच मुख या रूप हैं। दे० तैत्तिरीय आरण्यक १०.४३-४७।

सोरों (सूकरक्षेत्र अथवा वाराहक्षेत्र)—उत्तर प्रदेश में एटा कासगंज से नौ मील गङ्गातट पर सोरों तीर्थ है। वाराह क्षेत्र के नाम से भारत में कई स्थान हैं। उनमें से एक स्थान सोरों भी है। प्राचीन समय में यह तीर्थ गङ्गा के तट से लगा हुआ था। कालक्रम से अब गङ्गाधारा कुछ मील दूर हट गयी है। पुराने प्रवाह का स्मारक एक लंबा सरोवर घाटों के किनारे रह गया है जिसे 'बूढ़ी गङ्गा' कहा जाता है। इसके किनारे अनेक घाट और मन्दिर बने हुए हैं। मुख्य मन्दिर में श्वेतवाराह की चतुर्भुज मूर्ति है। सोरों की पवित्र परिक्रमा ५ मील है। यहाँ पुराण प्रसिद्ध चार बटों में 'गृद्धब्रट' नामक वृक्ष स्थित है। उसके नीचे, बटुकनाथ का मन्दिर है। 'हरिपदी गङ्गा' (बूढ़ी गङ्गा) नामक कुण्ड में दूर दूर के कई प्रान्तों से लोग अस्थिविसर्जन करने के लिए यहाँ आते रहते हैं। कुछ लोग इसे तुलसीदासजी की जन्मभूमि मानते हैं ('सो मैं निज गुरु सन सुनी कथा सु सूकर खेत' के अनुसार)। यहीं अष्टछाप के कवि नन्ददास द्वारा स्थापित बलदेव जी का मन्दिर है। योगमार्ग नामक स्थान तथा सूर्यकुण्ड यहाँ के विख्यात तीर्थ हैं। दे० 'शूकर क्षेत्र'।

सौत्रामणी—एक प्रकार का वैदिक यज्ञ। इसके देवता सुत्रामा (इन्द्र) हैं, इस लिए यह सौत्रामणी कहलाता है। यजुर्वेद की काण्वशाखा के तीन अध्यायों (२१,२२,२३) में इसकी प्रक्रिया बतलायी गयी है। इसमें सुरा का सन्धान होता है। इस याग में ब्राह्मण सुरा पीकर पतित नहीं होता।

सौत्रामण्यां कुलाचारे ब्राह्मणः प्रपिबेत् सुराम्।
अन्यत्र कामतः पीत्वा पतितस्तु द्विजो भवेत्॥

कात्यायनसूत्रभाष्य में इसका सविस्तर वर्णन है।

सौदायिक—स्त्रीधन का एक प्रकार। पिता, माता, पति के कुल, सम्बन्धियों से जो धन स्त्री को प्राप्त होता है उसे

सौदायिक कहते हैं। कात्यायन ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है :

ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगृहेऽथवा।
भर्तुसकाशात् पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम् ॥

इस धन के उपयोग में स्त्री स्वतन्त्र होती है :

सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं परिकीर्तितम्।
विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि ॥

सौभाग्य—एक व्रत का नाम। वाराहपुराण (सौभाग्यव्रत-नामाध्याय) में इसका वर्णन मिलता है। यह वार्षिक व्रत है। फाल्गुन शुक्ल तृतीया से इसका आरम्भ होता है। उस दिन नक्त विधि से उपवास करके लक्ष्मीनारायण अथवा उनके दूसरे स्वरूप गौरीशंकर का षोडशोपचार पूजन करना चाहिए। लक्ष्मी-गौरी तथा हरि-हर में अभेद बुद्धि रखकर किसी भी युगल की श्रद्धापूर्वक आराधना करनी चाहिए। फिर "गम्भीराय सुभगाय देवदेवाय त्रिनेत्राय वाचस्पतये रुद्राय स्वाहा" मन्त्रवाक्यों से अंगपूजा करनी चाहिए और तिल, घृत, मधु से होम करना चाहिए। तदनन्तर लवण और घृत से रहित भुने हुए गेहूँ भूमि में रखकर खाने चाहिए। पूजन-व्रत की यह विधि चार मास तक चलती है। इसका पारण करने के बाद पुनः आषाढ शुक्ल तृतीया तथा कार्तिक शुक्ल तृतीया से चार-चार मास का यही क्रम चलता है। इनके मध्य प्रथम जौ, पश्चात् साँवा अन्न खाया जाता है। माघ शुक्ल तृतीया को व्रत का उद्यापन होता है। इसके फलस्वरूप सात जन्मों तक अखण्ड सौभाग्य मिलता है।

सौभाग्यशयनव्रत—चैत्र शुक्ल तृतीया को गौरी तथा शिव की प्रतिमाओं का (प्रसिद्ध है कि चैत्र शुक्ल तृतीया को ही गौरी का शिवजी के साथ विवाह हुआ था) पञ्चगव्य तथा सुगन्धित जल से स्नान कराकर पूजन करना चाहिए। भगवती शिवा तथा भूतभावन शङ्कर की प्रतिमाओं को चरणों से प्रारम्भ कर मस्तक तथा केशों को प्रणामाञ्जलि देनी चाहिए। प्रतिमाओं के सम्मुख सौभाग्याष्टक स्थापित किया जाय। द्वितीय दिवस प्रातः सुवर्ण की प्रतिमाओं का दान कर दिया जाय। एक वर्ष-पर्यन्त प्रति तृतीया को इसी विधि की आवृत्ति की जाय। प्रतिमास भिन्न-भिन्न प्रकार के नैवेद्य, भोज्यादि पदार्थ, भिन्न-भिन्न प्रकार के मन्त्रों का उच्चारण तथा चैत्र से ही भिन्न-भिन्न प्रकार के देवीजी नामों का उल्लेख कर पूजन करना चाहिए। प्रतिमास विशेष प्रकार के पुष्प पूजा में प्रयुक्त हों। व्रती कम से कम एक फल का एक वर्ष के लिए त्याग करे। व्रत के अन्त में पर्यङ्कोपकरण तथा अन्य सज्जा की सामग्री, सुवर्ण की गौ तथा वृषभ का दान करना चाहिए। इससे सौभाग्य, स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा दीर्घायु प्राप्त होती है।

सौभाग्याष्टक—मत्स्यपुराण (६०.८-९) के अनुसार आठ वस्तुएँ ऐसी हैं, जिन्हें सौभाग्य सूचक माना जाता है :—गन्ना, पारद, निष्पाव (गेहूँ का बना खाद्य पदार्थ जिसमें दुग्ध तथा घृत प्रयुक्त किया गया हो), अजाजी (जीरा), धान्यक (धनियाँ), गौ का दधि, कुसुम्भ तथा लवण। कृत्यरत्नाकर के अनुसार यह 'तवराजः' (शकर-कन्द) तथा व्रतराज के अनुसार 'तरुराजः' (खजूर का वृक्ष) है। पद्मपुराण (५.२४-२५१) कुछ अन्तर से इनका परिगणन करता है तथा कहता है : तरुराज कुसुम (कुस्तुम्बुरु) तथा जीरक (जीरा)। सौभाग्याष्टक के लिए देखिए, भविष्योत्तर पुराण (२५.९)।

सौरसम्प्रदाय—सूर्यपूजा करने वाले सम्प्रदाय को सौर सम्प्रदाय कहते हैं। त्रिमूर्तियों-(१) ब्रह्मा (२) विष्णु और (३) शिव—को आधार मानकर तीन मुख्य सम्प्रदायों, ब्राह्म, वैष्णव और शैव का विकास हुआ। पुनः उपसम्प्रदायों का विकास होने लगा। वैष्णव सम्प्रदाय का ही एक उपसम्प्रदाय सौर सम्प्रदाय था। विष्णु और सूर (सूर्य) दोनों ही आदित्य वर्ग के देवता हैं। सूर्योपासक सम्प्रदाय के रूप में कई स्थानों में इसका उल्लेख हुआ है। महानिर्वाण तन्त्र (१ १४०) में अन्य सम्प्रदायों के साथ इसकी गणना हुई है :

शाक्ताः शैवाः वैष्णवाश्च सौरा गाणपतास्तथा।
विप्रा विप्रेतराश्चैव सर्वेऽप्यत्राधिकारिणः ॥

इस सम्प्रदाय के गुरु मध्यम श्रेणी के माने जाते थे :

गौडाः शाल्वोद्भवाः सौरा मागधाः केरलास्तथा।
कौशलाश्च दशार्णाश्च गुरवः सप्त मध्यमाः ॥

इस सम्प्रदाय का उद्गम अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद से प्रकट है कि उस युग में सूर्य की पूजा कई रूपों में होती थी। वह आज भी किसी न किसी रूप में वर्तमान है। वैदिक प्रार्थनाओं में गायत्री (सावित्री) की प्रधानता थी। आज भी नित्य सन्ध्या-वन्दन में उसका स्थान सुरक्षित है। परन्तु सम्प्रदाय के रूप में इसका प्रथम

उल्लेख महाभारत में पाया जाता है। जब युधिष्ठिर प्रातः काल अपने शयन-कक्ष से निकले तो एक सहस्र सूर्योपासक ब्राह्मण उनके सामने आये। इन ब्राह्मणों के आठ सहस्र अनुयायी थे (दे० महाभारत ७.८२.१४-१६)। इस सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्त महाभारत, रामायण, मार्कण्डेय पुराण आदि में पाये जाते हैं। इनके अनुसार सूर्य सनातन ब्रह्म, परमात्मा, स्वयम्भू, अज, सर्वात्मा, सबका मूल कारण और संसार का उद्गम है। मोक्ष की कामना करने वाले तपस्वी उसकी उपासना करते हैं। वह वेदस्वरूप और सर्वदेवमय है। वह ब्रह्मा, विष्णु और शिव का भी प्रभु है। यह सम्पदाय दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवादी परम्परा का भक्तिमार्ग है।

आगे चलकर विष्णुपुराण और भविष्यपुराण में सूर्यपूजा का जो रूप मिलता है, उसमें ईरान की मित्र-पूजा (मिथ्रपूजा) का मिश्रण है। प्राचीन भारत और ईरान दोनों देशों में सूर्यपूजा प्रचलित थी। अतः यह साम्य और सम्मिश्रण स्वाभाविक था। फिर भी सौरसम्प्रदाय मूलतः भारतीय है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं (दे० सूर्य और (सूर्यपूजा)।

पाँचवीं शती से लेकर दसवीं-ग्यारहवीं शती तक सौर सम्प्रदाय, उत्तर भारत में विशेषकर, सशक्त रूप में प्रचलित था। कई सूर्यमन्दिरों का निर्माण हुआ और कई राजवंश सूर्योपासक थे। सूर्यमन्दिरों के पुजारी भोजक, मग और शाकद्वीपीय ब्राह्मण होते थे। इस सम्प्रदाय का एतत्कालीन सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ सौरसंहिता था। इसमें साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड का विस्तृत विधान है। इसकी हस्तलिपि नेपाल में पायी गयी थी जिसका काल ९४१ ई० (१००८ वि०) है। परन्तु ग्रन्थ निश्चय ही पूर्ववर्ती है। दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ सूर्यशतक है। इसका रचयिता बाण का समकालीन हर्ष का राजकवि मयूर था। इसका काल सप्तम शती ई० का पूर्वार्द्ध था। सूर्यशतक में सूर्य की जो कल्पना है वह पूर्ववर्ती कल्पना से मिलती जुलती है। सूर्य ही मोक्ष का उद्गम है, इस पर बहुत बल दिया गया है। बाण ने हर्षचरित के प्रारम्भ मे सूर्य की वन्दना की है। भक्तामरस्तोत्र के रचयिता जैन कवि मानतुङ्ग ने भी सूर्य की अतिरञ्जित स्तुति की है। इसी काल में उत्कल में साम्बपुराण नामक ग्रन्थ लिखा गया। इसमें साम्ब और उनके द्वारा निमंत्रित मग ब्राह्मणों की कथा दी हुई है। इसका उल्लेख अलबीरूनी (१०३० ई०) भी करता है। अग्निपुराण (अध्याय ५१,७३,९९) तथा गरुडपुराण (अध्याय ७,१६,१७,३९) में सूर्यमूर्तियों तथा सूर्यपूजा का विवेचन पाया जाता है।

मध्ययुग में उत्तरोत्तर वैष्णव और शैव सम्प्रदायों के विकास और वैष्णव सम्प्रदाय द्वारा आदित्य वर्ग के देवताओं को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे सौर सम्प्रदाय का ह्रास होने लगा। फिर भी कृष्णमिश्र विरचित प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में सौर सम्प्रदाय का उल्लेख आदर के साथ किया गया है। इसका एतत्कालीन साहित्य उपलब्ध नहीं होता। ब्रह्मपुराण (अध्याय २१-२८) में सौर धर्मविज्ञान के कुछ अंशों का विवेचन तथा उत्कल-औड्र तथा कोण्डार्क में सूर्य मन्दिर का माहात्म्य पाया जाता है। बंगला भाषा में सूर्यदेव की स्तुतियाँ लिखी गयीं, जिनका प्रकाशन श्री दिनेशचन्द्र सेन ने किया (एपिग्राफिया इंडिका, २.३३८)। गया जिले के गोविन्दपुर ग्राम में प्राप्त अभिलेख (११३७ ई०) के रचयिता कवि गङ्गाधर ने सूर्य की सुन्दर प्रशस्ति लिखी है।

स्कन्द—शैव परिवार के एक देवता। ये शिव के पुत्र हैं। स्कन्द कार्तिकेय का पर्याय है। 'स्कन्द' शब्द का अर्थ है उछलकर चलने वाला, अथवा दैत्यों का शोषण करने वाला (स्कन्दते उत्प्लु गच्छति स्कन्दति शोषयति दैत्यान् वा)। स्कन्द का दूसरा प्रसिद्ध नाम कुमार है। कालिदास के कुमारसंभव, महाभारत, वामन पुराण, कालिका पुराण आदि में स्कन्द के जन्म, कार्य, मूर्ति, सम्प्रदाय आदि का विवरण पाया जाता है।

स्कन्द देवसेना के नेता हैं। एक मत में वे सनातन ब्रह्मचारी रहने के कारण कुमार कहलाते हैं। परन्तु आलंकारिक रूप से देवसेना ही उनकी पत्नी थी। देवसेना का नेतृत्व ही उनके प्रादुर्भाव का उद्देश्य था। वे कहीं-कहीं शिव के अवतार कहे गये हैं। उन्होंने संसार को विताडित करनेवाले तारक का संहार किया।

स्कन्द की मूर्ति कुमारावस्था की ही निर्मित होती है। उसके एक अथवा छः शिर होते हैं और इसी क्रम से दो अथवा बारह हाथ। स्कन्द का वस्त्र रक्तवर्ण का होता है। उनके हाथों में धनुष-बाण, खड्ग, शक्ति, वज्र और परशु होते हैं। उनका शक्ति (भाला) अमोघ होता

है। वह शत्रु का वधकर फिर वापस आ जाता है। उनका वाहन मयूर है, उनका लांछन (ध्वजचिह्न) मुर्गा है। ध्वज अग्निप्रदत्त तथा प्रलयाग्नि के समान लाल है, जो उनके रथ के ऊपर प्रज्वलित रूप में फहराता है।

स्कन्द का सम्प्रदाय बहुत प्राचीन है। पतञ्जलि के महाभाष्य में स्कन्द की मूर्तियों का उल्लेख है। कतिपय कुषाण मुद्राओं पर उनका नाम अंकित है। गुप्तकाल में, विशेषकर, उत्तर भारत में, स्कन्द पूजा का बहुत प्रचार था। स्कन्द चालुक्य वंश के इष्टदेव थे। आजकल उत्तर भारत में स्कन्द पूजा का प्रचार कम और दक्षिण भारत में अधिक है। कुमार (ब्रह्मचारी) होने के कारण स्त्रियाँ उनकी पूजा नहीं करतीं। सुदूर दक्षिण के कई देवताओं मुरुगन (बालक), वेलन (शक्तिधर), शेय्यान (रक्तवर्ण) आदि से स्कन्द का अभेद स्थापित किया गया है। भारत में कई नामों से स्कन्द अभिहित होते हैं—कुमार, कार्तिकेय, गुह, रुद्रसूनु, सुब्रह्मण्य (ब्राह्मणत्व की रक्षा करने वाले), महासेन, सेनापति, सिद्धसेन, शक्तिधर, गङ्गापुत्र, शरभू, तारकजित्, षड्मुख, षडानन, पावकि आदि।

योगमार्ग की साधना में स्कन्द पवित्र शक्ति के प्रतीक हैं। तपस्या और ब्रह्मचर्य के द्वारा जिस शक्ति (वीर्य) का संरक्षण होता है वही स्कन्द और कुमार है। योग में जब तक पूर्ण संयम नहीं होता तब तक शक्ति (—कुमार) का जन्म नहीं होता। सृष्टि विज्ञान में स्कन्द सूर्य की वह शक्ति है जो वायुमण्डल के ऊपर स्थित होती है और जिससे संवत्सराग्नि (वर्ष उत्पन्न करनेवाली अग्नि) का उदय होता है।

स्कन्द का प्रथम उल्लेख मैत्रायणी संहिता में मिलता है। छान्दोग्योपनिषद् में स्कन्द को सनत्कुमार से अभिन्न माना गया है। गृह्यसूत्रों में भी स्कन्द का उल्लेख उनके घोर रूप में है। महाभारत और शिवपुराण में जो कथा स्कन्द की पायी जाती है वही कालिदास द्वारा कुमारसंभव में ललित रूप में कही गयी है। तन्त्रों में भी स्कन्द पूजा का विधान है। स्कन्दपुराण स्कन्द के नाम से ही प्रसिद्ध है, जो सबसे बड़ा पुराण है। स्कन्द के उपदेश इसमें वर्णित हैं।

स्कन्द पुराण—कार्तिकेय अथवा स्कन्द ने इस पुराण में शिवतत्त्व का विवेचन किया है। इसीलिए इसको स्कन्द पुराण' कहते हैं। आकार में यह सबसे बड़ा पुराण है। इसमें छः संहितायें (सूत संहिता, २०.१२ के अनुसार), सात खण्ड (नारद पुराण के अनुसार) और ८१००० श्लोक हैं। इसमें निम्नांकित संहितायें हैं :

१. सनत्कुमार संहिता	(३६००० श्लोक)
२. सूत संहिता	(६००० श्लोक)
३. शङ्कर संहिता	(३०००० श्लोक)
४. वैष्णव संहिता	(५००० श्लोक)
५. ब्राह्म संहिता	(३००० श्लोक)
६. सौर संहिता	(१००० श्लोक)

संहिताओं में केवल तीन ही इस समय उपलब्ध हैं—(१) सनत्कुमार संहिता, (२) सूत संहिता (३) शङ्कर-संहिता। शैव उपासना की दृष्टि से सूत संहिता का बड़ा महत्त्व है। इसमें वैदिक तथा तान्त्रिक दोनों प्रकार की पूजाओं का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। इस पर माधवाचार्य की 'तात्पर्यदीपिका' नामक एक विशद व्याख्या है। इस संहिता के चार खण्ड हैं—(१) शिव माहात्म्य, (२) ज्ञानयोग खण्ड, (३) मुक्तिखण्ड और (४) यज्ञवैभव खण्ड। अंतिम खण्ड सबसे बड़ा है। उसके दो भाग हैं—पूर्वभाग और उत्तर भाग। यह खण्ड दार्शनिक दृष्टि से भी महत्त्व का है। इसके उत्तर भाग में दो गीतायें सम्मिलित हैं—ब्रह्म गीता और सूत गीता। इनका विषय भी दार्शनिक है। इसमें यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि मुक्ति और भुक्ति सब कुछ शिव के प्रसाद से ही संभव है। शङ्कर संहिता कई भागों में विभक्त है। इसके प्रथम खण्ड को 'शिवरहस्य' कहते हैं। इसमें सात काण्ड और १३००० श्लोक हैं। इसके सात काण्ड इस प्रकार हैं—(१) संभव काण्ड (२) आसुर काण्ड (३) माहेन्द्रकाण्ड (४) युद्ध काण्ड (५) देवकाण्ड (६) दक्षकाण्ड और (७) उपदेश काण्ड। सनत्कुमार संहिता में केवल बाईस अध्याय हैं।

स्कन्दपुराण के खण्डों का विवरण निम्नांकित है :

१. **माहेश्वर खण्ड** के दो उपखण्ड हैं—केदार खण्ड और कुमारिका खण्ड। इन दोनों में शिव-पार्वती की लीलाओं एवं तीर्थ व्रत, पर्वत आदि के सुन्दर वर्णन हैं।

२. **वैष्णव खण्ड** के अन्तर्गत **उत्कल** खण्ड है जिसमें जगन्नाथ जी के मन्दिर का वर्णन पाया जाता है।

३. **ब्रह्मखण्ड** के दो उपविभाग हैं—(१) ब्रह्माख्य खण्ड और (२) ब्रह्मोत्तर खण्ड। इसके दूसरे उपविभाग में उज्जयिनी और महाकाल का वर्णन है।

४. **काशीखण्ड** में काशी की महिमा तथा शैवधर्म का वर्णन है।

५. (क) **रेवाखण्ड** में नर्मदा की उत्पत्ति और इसके तटवर्ती तीर्थों का वर्णन है। इसी के अन्तर्गत सत्यनारायण व्रत कथा भी मानी जाती है।

५. (ख) **अवन्तीखण्ड में** उज्जयिनी में स्थित विभिन्न शिवलिङ्गों का वर्णन है।

६. **तापीखण्ड** में तापीनदी के तटवर्ती तीर्थों का वर्णन है। इसके षष्ठ उपखण्ड का नाम **नागरखण्ड** है। इसके तीन परिच्छेद हैं—(१) विश्वकर्मा उपाख्यान (२) विश्वकर्मा वंशाख्यान और (३) हाटकेश्वर माहात्म्य। तीसरे खण्ड में **नागर ब्राह्मणों** की उत्पत्ति का वर्णन है।

७. **प्रभास खण्ड** में प्रभास क्षेत्र का सविस्तर वर्णन है। 'सह्याद्रिखंड' आदि इसके प्रकीर्ण कतिपय अंश और भी प्रचलित हैं।

स्कन्दषष्ठी—आश्विन शुक्ल पक्ष की षष्ठी को स्कन्दषष्ठी कहा जाता है। पञ्चमी के दिन उपवास रखते हुए षष्ठी के दिन कुमार (स्वामी कार्तिकेय) की पूजा की जाती है। 'निर्णयामृत' के अनुसार दक्षिणापथ में भाद्र शुक्ल षष्ठी को स्वामी कार्तिकेय की प्रतिमा का दर्शन कर लेने से ब्रह्महत्या जैसे महान् पातकों से मुक्ति मिल जाती है। तमिलनाडु में स्कन्दषष्ठी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जैसा कि सौर वृश्चिक मास (कार्तिक शुक्ल ६) में पञ्चाङ्गों में उल्लिखित रहता है तथा जो देवालयों एवं गृहों में समारोहपूर्वक मनाया जाता है। हेमाद्रि 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' (६२२) में ब्रह्मपुराण से कुछ श्लोक उद्धृत करते हुए बतलाते हैं कि अमावस्या के दिन अग्नि से स्कन्द की उत्पत्ति हुई थी तथा वे चैत्र शुक्ल ६ को प्रकट हुए थे और तत्पश्चात् उन्हें समस्त देवों का सेनाध्यक्ष बनाया गया और उन्होंने तारक नामक राक्षस का बध किया। अतएव दीपों को प्रज्वलित करके, वस्त्रों से, साज-सज्जाओं से ताम्रचूड (क्रीडन सामग्री के रूप में) इत्यादि से उनकी पूजा की जाय अथवा शुक्ल पक्ष की समस्त षष्ठियों को बच्चों के सुस्वास्थ्य की कामना वाले स्कन्द जी का पूजन होना चाहिए।

स्कन्दषष्ठीव्रत—कार्तिक शुक्ल षष्ठी को फलाहार करते हुए दक्षिणाभिमुख होकर स्वामी कार्तिकेय को अर्घ्य प्रदान करके उन्हें दही, घी, जल मन्त्र बोलकर समर्पित किये जाते हैं। व्रती को रात्रि के समय खाली भूमि पर भोजन रखकर उसे ग्रहण करना चाहिए। इससे उसे सफलता, समृद्धि, दीर्घायु, सुस्वास्थ्य तथा खोया हुआ राज्य प्राप्त होता है। व्रती को षष्ठी के दिन (कृष्ण अथवा शुक्ल पक्ष की) तैल-सेवन नहीं करना चाहिए। पंचमी विद्धा स्कन्दषष्ठी को प्राथमिकता देनी चाहिए। 'गदाधर पद्धति' के कालसार भाग (८३-८४) के अनुसार चैत्र कृष्ण पक्ष में स्कन्दषष्ठी होनी चाहिए।

स्तम्भन—अभिचार कर्म द्वारा किसी व्यक्ति के जडीकरण को स्तम्भन कहा जाता है। यह षट्कर्मान्तर्गत एक अभिचार कर्म है। फेत्कारिणीतन्त्र (पञ्चम पटल) में इसका वर्णन इस प्रकार है।

''उलूककाकयोः पक्षौ गृहीत्वा मन्त्रवित्तमः।
आलिख्य वै शरावे निशायाञ्च साध्याक्षरसंपुटितम्॥
मन्त्रं स्थापितवनं (कृतप्राणप्रतिष्ठम्) सहस्रजप्तं चतुष्पथे निखनेत्।
स्तम्भनमेतदवश्यं भविता जगताञ्च नात्र सन्देहः॥
कृत्वा प्रतिकृतिमथवा श्मशानाङ्गारकेशशववसनजाम्।
सम्यगधिष्ठितपवनां हृद्गतनाम्नीं समन्त्रललाटम्॥
वसनाधिष्ठितपवनां सहस्रजप्तां तदुल्कया वसनाम्।
दग्धं कृत्वा निखनेत् श्मशानदेशेः सपदि वाक्स्तम्भः॥

गरुडपुराण (पूर्वखण्ड १८६. ११-१८) में अग्निस्तम्भन का विधान वर्णित है :

माजूरस्य रसं गृह्य जलौका तत्र पेषयेत्।
हस्तौ तु लेपयेत्तेन अग्निस्तम्भनमुत्तमम्॥
शालमलीरसमादाय खरमूत्रे निधाय तम्।
अगत्यागारे क्षिपेत्तेन अग्निस्तम्भनमुत्तमम्॥
वायसीमुदरं गृह्य मण्डूकवसया सह।
गुडिकां कारयेत्तेन ततोऽग्नौ प्रक्षिपेद्वसी॥
एवमेतत्प्रयोगेण अग्निस्तम्भनमुत्तमम्॥
रक्तपाटलमूलंतु अवष्टब्धञ्च मूलकैः।
दिव्यं स्तम्भयते क्षिप्रं पयं पिण्डं जलान्तकम्॥
मुण्डीतकवचाकुष्ठं मरीचं नागरं तथा।
चर्वित्वा च इमं सद्यो जिह्वा ज्वलनं लिहेत्॥

स्तुति—(१) पूजापद्धति का एक अंग। इसका अर्थ है स्तव अथवा प्रशंसागान। इसमें देवताओं के गुणों का

वर्णन होता है और उनसे स्तुतिकर्ता के अथवा संसार के कल्याण की कामना की जाती है।

(२) दुर्गा का एक पर्याय। देवीपुराण (अध्याय ४५) के अनुसार दुर्गा के निम्नांकित नाम हैं :

स्तुति सिद्धिरितिख्याता श्रयाः संश्रयाश्च सा।
लक्ष्मीर्या ललना वापि क्रमात् सा कान्तिरुच्यते ॥

स्तोता—वेदमन्त्र-स्तुतिपाठक था स्तवकर्ता। ऋग्वेद (८. ४४-१८) में कथन है: "स्तोता स्यां तव शर्मणि।" निघण्टु (३. १३) में इसके तेरह पर्याय पाये जाते हैं।

स्तोत्र—स्तुति करने की वचनावली। मत्स्यपुराण (अध्याय १२१) में इसके चार प्रकार बतलाये गये हैं :

ऋचो यजूंषि सामानि तथावत् प्रतिदैवतम्।
विधिहोत्रं तथा स्तोत्रं पूर्ववत् सम्प्रवर्तते ॥
द्रव्यस्तोत्रं कर्मस्तोत्रं विधिस्तोत्रं तथैव च।
तथैवाभिजनस्तोत्रं स्तोत्रमेतच्चतुष्टयम् ॥

स्तोम—साम (गान) के अन्तर्गत गीत और आलाप के पूरक एवं अर्थरहित अक्षरों को स्तोम कहते हैं। छान्दोग्योपनिद् ब्राह्मण (प्रथम प्रपाठक) में इसके त्रयोदश भेद बतलाये गये हैं।

स्त्रीधन—हिन्दू परिवार के पितृसत्तात्मक होने के कारण धर्मशास्त्र के अनुसार पुरुष कुलपति के मरने पर उत्तराधिकार परिवार के पुरुष सदस्यों को प्राप्त होता था। उनके अभाव में ही स्त्री उत्तराधिकारिणी होती थी। इस अवस्था में भी उसका उत्तराधिकार बाधित था। वह सम्पत्ति का केवल उपयोग कर सकती थी; वह उसे बेंच अथवा परिवार से अलग नहीं कर सकती थी। उसके मरने पर पुनः पुरुष को अधिकार मिल जाता था। वह एक प्रकार से सम्पत्ति के उत्तराधिकार का माध्यम मात्र थी। परन्तु पारिवारिक सम्पत्ति को छोड़कर उसके पास एक अन्य प्रकार की सम्पत्ति होती थी जिस पर उसका पूरा अधिकार था। वह परिवार की पैतृक सम्पत्ति से भिन्न थी। उसको स्त्रीधन कहते थे। नारद के अनुसार स्त्रीधन छः प्रकार का होता हैं :

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं भर्तृदायं तथैव च।
भ्रातृदत्तं पितृभ्याञ्च षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥

[विवाह के समय प्राप्त, विदाई के समय प्राप्त, पति से प्राप्त, भाई द्वारा दिया हुआ, माता और पिता से दिया हुआ; यह छः प्रकार का स्त्रीधन कहलाता है।] दूसरे स्रोतों से धनसंग्रह करने में स्त्री के ऊपर प्रतिबन्ध लगा हुआ है। कात्यायन का कथन है :

प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तं प्रीत्या चैव यदन्यतः।
भर्तुः स्वाम्यं भवेत्तत्र शेषंतु स्त्रीधनं स्मृतम् ॥

[जो धन शिल्प से प्राप्त होता है अथवा दूसरे प्रेमोपहार में प्राप्त होता है उसके ऊपर पति का अधिकार होता है; शेष को स्त्रीधन कहते हैं।] काम कर के कमाया हुआ धन परिवार के अन्य सदस्यों की कमाई की भाँति परिवार की सम्पत्ति होता है, जिसका प्रबन्धक पति है। स्त्रियों को अपने सम्बन्धियों के अतिरिक्त अन्य से प्रेमोपहार ग्रहण करने में प्रोत्साहन नहीं दिया जाता है। कारण स्पष्ट है।

मिताक्षरा (अध्याय २) ने स्त्रीधन का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया है और सभी प्रकार के स्त्रीधन पर स्त्री का अधिकार स्वीकार किया है। दायभाग (अध्याय ४) में स्त्रीधन उसी को माना गया है जिस पर स्त्री को दान देने, बेचने का और पूर्णरूप से उपयोग (पति से स्वतन्त्र) करने का अधिकार हो। परन्तु सौदायिक (सम्बन्धियों से प्रेमपूर्वक प्राप्त) पर स्त्री का पूरा अधिकार माना गया है। कात्यायन का कथन है :

ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगृहेऽथवा।
भर्तुः सकाशात् पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम् ॥
सौदायिकं धनं प्राप्य स्त्रीणां स्वातन्त्रमिष्यते।
यस्मात्तदानृशंस्यार्थं तैर्दत्तं तत् प्रजीवनम् ॥
सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं परिकीर्तितम्।
विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि ॥

किन्तु नारद ने स्थावर पर प्रतिबन्ध लगाया है :

भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन् मृतेऽपि तत्।
सा यथा काममश्नीयाद्दद्याद्वा स्थावरादृते ॥

[जो धन प्रीतिपूर्वक पति द्वारा स्त्री को दिया जाता है उस धन को पति के मरने पर भी स्त्री इच्छानुसार उपभोग में ला सकती है, अचल सम्पत्ति को छोड़ कर।] कात्यायन के अनुसार किन्हीं परिस्थितियों में, स्त्री स्त्रीधन से वञ्चित की जा सकती है :

अपकारक्रियायुक्ता निर्लज्जा चार्थनाशिनी।
व्यभिचाररता या च स्त्रीधनं न च सार्हति ॥

[अपकार क्रिया में रत, निर्लज्जा, अर्थ का नाश करनेवाली, व्यभिचारिणी स्त्री स्त्रीधन की अधिकारिणी नहीं होती।] सामान्य स्थिति में पति आदि सम्बन्धियों का

स्त्रीधन के उपयोग में अधिकार नहीं होता। विपत्ति आदि में उपयोग हो सकता है :

न भर्ता नैव च सुतो न पिता भ्रातरो न च ।
आदाने वा विसर्गे वा स्त्रीधनं प्रभविष्णवः ।। कात्यायन
दुर्भिक्षे धर्मकार्ये वा व्याधौ संप्रतिरोधके ।
गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता नाकामी दातुमर्हति ।। याज्ञवल्क्य

मृत स्त्री के स्त्रीधन पर किसका अधिकार होगा, इस पर भी धर्मशास्त्र में विचार हुआ है :

सामान्यं पुत्रकन्यानां मृतायां स्त्रीधनं विदुः ।
अप्रजायां हरेद्भर्ता माता भ्राता पितापि वा ।।—देवल

पुत्र के अभाव में दुहिता और दुहिता के अभाव में दौहित्र को स्त्रीधन प्राप्त होता है :

पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानदर्शनात् । —नारद
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत् । —मनु

गौतम के अनुसार स्त्रीधन अदत्ता (जिसका वाग्दान न हुआ हो), अप्रतिष्ठिता (जिसका वाग्दान हुआ हो परन्तु विवाह न हुआ हो) अथवा विवाहिता कन्या को मिलना चाहिए। माता का यौतुक (विवाह के समय प्राप्त धन) तो निश्चित रूप से कुमारी (कन्या) को मिलना चाहिए (मनु)। निःसन्तान स्त्री के मरने पर उसके स्त्रीधन का उत्तराधिकार उसके विवाह के प्रकार के आधार पर निश्चित होता था। प्रथम चार प्रकार के प्रशस्त विवाहों-ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य--में स्त्रीधन पति अथवा पतिकुल को प्राप्त होता था। अन्तिम चार अप्रशस्त—आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच में पिता अथवा पितृकुल को स्त्रीधन लौट जाता था।

स्त्रीपुत्रकामावाप्तिव्रत—यह मास व्रत है। सूर्य इसके देवता हैं। जो स्त्रियाँ कार्तिक मास में एकभक्त पद्धति से आहार करती हुई अहिंसा आदि नियमों का पालन करती हैं तथा गुड़मिश्रित उबले हुए चावलों का नैवेद्य अर्पण करती हैं एवं षष्ठी या सप्तमी को मास के दोनों पंक्षों में उपवास करती हैं वे सीधी सूर्यलोक सिधारती हैं। जब वे पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में लौटती हैं तो राजा अथवा अभीष्ट पुरुष को पति रूप में प्राप्त करती हैं।

स्त्रीपुंधर्म—स्त्री और पुरुष के पारस्परिक व्यवहार को स्त्रीपुंधर्म कहते हैं। अष्टादश विवादों (मुकदमों) में से एक विवाद का नाम भी स्त्रीपुंधर्म है (मनु अध्याय ८)। इसका पूरा विवरण मनुस्मृति के नवम अध्याय में पाया जाता है।

स्थण्डिल—यज्ञ के लिए परिष्कृत भूमि पर बना हुआ ऊँचा चबूतरा। जहाँ बिना किसी बाधा के बैठा जा सके वह स्थान स्थण्डिल है।

इसके बनाने का तिथ्यादितत्त्व में निम्नांकित विधान है :
नित्यं नैमित्तिके काम्यं स्थण्डिले वा समाचरेत् ।
हस्तमात्रं तु तत्कुर्यात् चतुरस्रं समन्ततः ।।

[नित्य, नैमित्तिक अथवा काम्य कोई भी कर्म हो स्थण्डिल पर ही करना चाहिए। इसका परिमाण चौकोर एक हस्तमात्र है।]

स्थपति—यज्ञमंडप, भवन, देवागार, राजप्रासाद, सभा, सेतु आदि का निर्माता। इसको बृहस्पतिसव नामक यज्ञ करने का अधिकार होता है। मत्स्यपुराण (२१५. ३९) में इसका लक्षण निम्नांकित है :

वास्तुविद्याविधानज्ञो लघुहस्तो जितश्रमः ।
दीर्घदर्शी च शूरश्च स्थपतिः परिकीर्तितः ।।

[वास्तुविद्याविधान का ज्ञाता, हस्तकला में कुशल, कभी न थकने वाला, दीर्घदर्शी तथा शूर को स्थपति कहा जाता है।]

स्थाणु—शिव का एक पर्याय। इसका अर्थ है जो स्थिर रूप से वर्तमान है। वामनपुराण (अध्याय ४६) में पुराकथा के रूप में इसका कारण बतलाया गया है :

समुत्तिष्ठन् जलात्तस्मात् प्रजास्ताः सृष्टवानहम् ।
ततोऽहं ताः प्रजा दृष्ट्वा रहिता एव तेजसा ।।
क्रोधेन महता युक्तो लिङ्गमुत्पाद्य चाक्षिपम् ।
उत्क्षिप्तं सरसो मध्ये ऊर्ध्वमेव यदा स्थितम् ।
तदा प्रभृति लोकेषु स्थाणुरित्येव विश्रुतम् ।।

[मैंने जल से उठकर उन प्रजाओं की उत्पत्ति की। इसके पश्चात् देखा कि वे तेज से रहित हैं। तब महान् क्रोध से युक्त होकर मैंने शिवलिङ्ग की सृष्टि की और उसे जल में फेंक दिया। वह उत्क्षिप्त लिङ्ग जल के बीच में ऊर्ध्व (ऊपर उठा हुआ) स्थित हो गया तब से लोक में वह स्थाणु नाम से प्रसिद्ध है।]

स्थाणु तीर्थ—कुरुक्षेत्र के समीप अम्बाला से २७ मील पर स्थित एक शैव तीर्थ। अब यह थानेश्वर कहलाता है। इसके निकट सान्निहत्य सरोवर था। इसका माहात्म्य वामनपुराण (अध्याय ४३) में दिया हुआ है :

एतत् सन्निहितं प्रोक्तं सरः पुण्यप्रदं महत् ।
स्थाणुलिङ्गस्य माहात्म्यं ब्रह्मन् मेऽवहितः श्रृणु ॥
अचेतनः सचेता वा अज्ञो वा प्राज्ञ एव वा ।
लिङ्गस्य दर्शनादेव मुच्यते सर्वपातकैः ॥
पुष्करादीनि तीर्थानि समुद्रचरणानि च ।
स्थाणुतीर्थे समेष्यन्ति मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ॥
तत्र स्थास्यति यो ब्रह्मन् माञ्च स्तोष्यति भक्तितः ।
तस्याहं सुलभो नित्यं भविष्यामि न संशयः ॥

स्थाण्वीश्वर—कुरुभूमि में अम्बाला के निकट शंकरजी की प्रमुख मूर्ति । पहले यहाँ सरस्वती नदी बहती थी । संप्रति यह स्थल थानेश्वर कहलाता है । बाणभट्ट ने हर्षचरित में इसका वर्णन किया है । वामनपुराण (अध्याय ४२) में इसका माहात्म्य पाया जाता है ।

स्थालीपाक—यज्ञार्थ स्थाली (बटलोई) में पकाया हुआ चरु अथवा खीर । अष्टकाश्राद्ध में अथवा अन्य पशुयागों में स्थालीपाक पशु का प्रतिनिधि होता था । गोभिल ने पशु के विकल्प में स्थालीपाक का विधान किया है :

"अपि वा स्थालीपाकं कुर्वीत" ।

स्थितप्रज्ञ—जिस पुरुष की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं । भगवद्गीता (अध्याय २, श्लोक ५५-५६) में स्थितप्रज्ञ की परिभाषा दी हुई है :

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

[हे पार्थ ! जब पुरुष सभी मनोगत भावों को त्याग देता हैं और अपने आत्मा में अपने आप संतुष्ट रहता है तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं । जिसका मन दुःखों में अनुद्विग्न नहीं होता, जो सुखों में कामना से रहित होता है, जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो चुके हैं उसको स्थितधी (स्थितप्रज्ञ) मुनि कहते हैं ।]

स्थितितत्त्व—प्रकृति के परिणामस्वरूप सृष्टि होने के अनन्तर उस सृष्टि की एक काल सीमा । प्राणतत्त्व की आकर्षण और विकर्षणात्मक दो शक्तियाँ । प्रथम रागात्मिका शक्ति है, जो कामशक्ति में परिणत होकर जीवसृष्टि का कारण बनती है । दूसरी शक्ति विकर्षण तमोगुणात्मिका है, जिसकी सहायता से प्रलय स्थिति का निर्माण होता है । सृष्टि काल में जिस प्रकार ब्रह्माजी की ब्रह्माण्ड-व्यापिनी शक्ति प्रलयान्धकार परिपूर्ण जीवों की सृष्टि-प्रकाश की ओर आकर्षित करती है, उसी प्रकार स्थिति काल में भगवान् विष्णु की व्यापिका शक्ति प्रजापतिसृष्ट प्रजा की स्थिति और रक्षा करती है । इसी प्रकार भगवान् रुद्र की व्यापक शक्ति सृष्टिकाल से ही कार्यकारिणी होकर समस्त जड़-चेतनात्मक विश्व को महाप्रलय की ओर आकर्षित करती है । इन शक्तियों की व्यापकता के कारण इनकी क्रिया एक सूक्ष्म अणु से लेकर देवतापर्यन्त विस्तृत रहती है । जो आकर्षण शक्ति सृष्टि काल में प्रत्येक परमाणु के अन्दर द्व्यणुक त्रसरेणु आदि उत्पन्न करती है यह सब ब्राह्मी व्यापक शक्ति की ही क्रिया-कारिता है । कोई भी जीव अपनी रक्षा के लिए यदि किसी प्रकार क [illegible] क्रिया करता है तो यह वैष्णवी शक्ति की व्यापकता का परिणाम है; जिससे उसे रक्षा करने की प्रेरणा प्राप्त होती है । इसी प्रकार रोग शोकादि द्वारा जब जीव अपने इस पाञ्चभौतिक देह का परित्याग करता है तो यह रौद्री शक्ति का परिणाम है जो सर्वत्र व्याप्त रहने के कारण अपना कार्य करती रहती है ।

इस प्रकार इन तीनों शक्तियों के अधिष्ठाता ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र देव हैं । अतएव स्पष्ट है कि सृष्टि की स्थिति में [illegible] कारणभूत सत्त्वगुण विशिष्ट वैष्णवी शक्ति [illegible] रहकर संसार के स्थितिस्थापकत्व कार्य को पूर्ण करती है ।

स्नात—स्नान किया हुआ । धार्मिक कृत्य करने के पूर्व स्नान करना आवश्यक है । प्रायः प्रत्येक धर्म में जल पवित्र करने वाला माना गया है । 'प्रायश्चित्त तत्त्व' में स्नान की धार्मिक अनिवार्यता इस प्रकार बतलायी गयी है :

स्नातोऽधिकारी भवति दैवे पैत्रे च कर्मणि ।
अस्नातस्य क्रिया सर्वा भवन्ति हि यतोऽफला ॥
प्रातः समाचरेत्स्नानमतो नित्यमतन्द्रितः ॥

[मनुष्य दैव और पैत्र (पितर सम्बन्धी) कर्म में स्नान किये बिना सम्पूर्ण क्रियाएँ निष्फल होती हैं इसलिए आलस्य [illegible] नित्य प्रातः स्नान विधिवत् करना चाहिए ।]

[illegible] जो वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य आश्रम समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की कामना से समावर्तन संस्कार

में स्नान कर लेता है उसको स्नातक कहते हैं। विद्या की उपमा सागर से दी जाती है। जो इस सागर में अवगाहन कर बाहर निकलता है वह स्नातक कहलाता है। स्नातक तीन प्रकार के होते हैं––(१) विद्यास्नातक (२) व्रतस्नातक और (३) उभयस्नातक। जो वेदाध्ययन तो पूरा कर लेता है परन्तु ब्रह्मचर्य आश्रम के सभी नियमों का पूरा पालन किये बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की अनुज्ञा माँगने जाता है उसको विद्यास्नातक कहते हैं। जो ब्रह्मचर्य व्रत का पूरा पालन करता है परन्तु वेदाध्ययन पूरा नहीं कर पाता है वह व्रतस्नातक है। जो विद्या और व्रत दोनों का पूरा पालन करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है वह उभयस्नातक (पूर्णस्नातक) कहलाता है।

स्नान—नित्य, नैमित्तिक, काम्य भेद से स्नान तीन प्रकार का होता है। नैमित्तिक स्नान ग्रहण, अशौच आदि में होता है। तीर्थों का स्नान काम्य कहा जाता है। नित्य स्नान प्रति दिनों का धार्मिक कृत्य माना गया है। ये तीन मुख्य स्नान हैं। इनके अतिरिक्त गौण स्नान भी हैं जो सात प्रकार के हैं, जिनका प्रयोग शरीर के अवस्थाभेद से किया जाता है :

(१) मान्त्र (मन्त्र से स्नान)। 'आपो हिष्ठा' आदि वेद मन्त्रों के द्वारा।

(२) भौम (मिट्टी से स्नान)। सूखी मिट्टी शरीर में मसलना।

(३) आग्नेय (अग्नि से स्नान)। पवित्र भस्म सारे शरीर में लगाना।

(४) वायव्य (वायु से स्नान)। गौओं के खुरों से उड़ी हुई धूल शरीर पर गिरने देना।

(५) दिव्य (आकाश से स्नान)। धूप निकलते समय वर्षा में स्नान करना।

(६) वारुण (जल से स्नान)। नदी-कूप आदि के जल से स्नान करना।

(७) मानस (मानसिक स्नान)। विष्णु भगवान् के नामों का स्मरण करना।

धर्म कार्य के पूर्व स्नान करना अनिवार्य बतलाया गया है।

स्नानयात्रा—ज्येष्ठपूर्णिमा के दिन जगन्नाथपुरी में रूपोत्सव को स्नानयात्रा कहते हैं। ब्रह्मपुराण, स्कन्द पुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण आदि में इसका माहात्म्य पाया जाता है।

स्नापन सप्तमीव्रत—यह व्रत उन महिलाओं के लिए है जिनके बालक शैशव काल में दिवंगत हो जाते हैं। दे० भविष्योत्तर पुराण, ५२.१-४०।

स्नेहव्रत—यह मासव्रत है। भगवान् विष्णु इसके देवता हैं। व्रती को आषाढ़ मास से चार मास तक तैलस्नान का परित्याग कर पायस तथा घी का आहार करना चाहिएं। व्रत के अन्त में तिल के तेल से परिपूर्ण एक कलश दान में देना चाहिए। इस व्रत से व्रती सबका स्नेह-भाजन बन जाता है।

स्पन्द—अङ्गविशेष का हलका कम्पन। विश्वास है कि इसका शुभाशुभ फल होता है। 'मलमासतत्त्व' में कथन है :

चक्षुःस्पन्दं भुजस्पन्दं तथा दुःखप्रदर्शनम्।
शत्रूणाञ्च समुत्थानमश्वत्त्थ शमयाशु मे।

मत्स्य पुराण (२४१.३-१४) में इसके शुभाशुभ फल का विस्तार से वर्णन है।

स्पर्श—धार्मिक क्रियाओं में विविध अङ्गों के स्पर्श का विधान पाया जाता है। सन्ध्योपासना में आचमन के पश्चात् विभिन्न अङ्गों का स्पर्श किया जाता है। इसका उद्देश्य है उनको प्रबुद्ध करना अथवा उनकी ओर ध्यान केन्द्रित करना। उपनयन संस्कार में आचार्य शिष्य के हृदय का स्पर्श कर उसके और अपने बीच में भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इसी प्रकार विवाह-संस्कार में पति पत्नी के हृदय का स्पर्श करता है और कहता है कि मैं तुम्हारे हृदय की बात जानता रहूँगा और तुम्हारा हृदय अपने हृदय में धारण करता हूं। आदि।

बहुत से अभिचार कर्मों में स्पर्श का उपयोग होता है। इसका उद्देश्य स्पृष्ट व्यक्ति को आदिष्ट अथवा आविष्ट करना होता है।

धर्मशास्त्र में शुचिता की दृष्टि से बहुत सी वस्तुओं तथा व्यक्तियों का स्पर्श निषिद्ध बतलाया गया है। यथा, उच्छिष्ट के स्पर्श का बहुधा निषेध है। कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं :

न स्पृशेत् पाणिनोच्छिष्टं विप्रगोब्राह्मणानलान्।
न चानलं पदा वापि न देवप्रतिमां स्पृशेत्॥

(कूर्म पुराण, उपविभाग १६.३५)

पाने मैथुनसंसर्गे तथा मूत्रपुरीषयोः ।
स्पर्शनं यदि गच्छेंत्तु शवोदक्यांत्यगैः सह ।।
दिनमेकं चरेन्मूत्रे पुरीषे तु दिनद्वयम् ।
दिनत्रयं मैथुने स्यात् पाने स्यात्तच्चतुष्टयम् ।।
(दक्षस्मृति)

रजस्वला स्त्री के स्पर्श का तो तीन दिनों तक बहुत निषेध और प्रायश्चित्त है। देवकार्य के लिए रजस्वला पाँचवें दिन शुद्ध होती है।

स्मार्त—स्मृत्तियों में विहित विधि-आचार आदि, अथवा इस व्यवस्था को मानने वाला। मनु (१.१०८) का कथन है :

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ।।

[आचार ही परम धर्म है। यह श्रुति में उक्त और स्मार्त (स्मृतियों के अनुकूल) है। इसलिए आत्मवान् (आत्मज्ञानी) द्विज वही होता है जो सदा इनके अनुसार आचरण करता है।] वैष्णवों में 'स्मार्त' और 'भागवत' दो भेद आचार की दृष्टि से पाये जाते हैं। स्मार्त वैष्णव वे हैं जो परम्परागत स्मृति विहित धर्म का पालन करते हैं। भागवत वैष्णव परम्परा और विधि के स्थान पर भक्ति और आत्मसमर्पण पर बल देते हैं; अतः वे स्मार्त धर्म के प्रति उदासीन हैं।

स्मृति—(१) अनुभूत विषय का ज्ञान अथवा अनुभव-संस्कार जन्य ज्ञान। यह बुद्धि का दूसरा भेद है। इसका पहला भेद अनुभूति है। 'उज्ज्वलनीलमणि' में भक्ति की दृष्टि से स्मृति का निरूपण निम्नांकित प्रकार से है :

अनुभूतप्रियादीनामर्थानां चिन्तनं स्मृतिः ।
तत्र कम्पाङ्गवैवर्ण्यष्वापनिःश्वसितादयः ।।

(२) धर्म के प्रमाणों अथवा स्रोतों में स्मृति की गणना है। मनुस्मृति (२.१२) के अनुसार

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।।

[श्रुति (वेद), स्मृति, सदाचार और अपने आत्मा को प्रिय (आत्मतुष्टि, इन्द्रियतुष्टि नहीं) ये चार प्रकार के साक्षात् धर्म के लक्षण कहे गये हैं।] इन प्रमाणों में श्रुति अथवा वेद स्वतः प्रमाण और स्मृति आदि परतः प्रमाण हैं। परन्तु व्यावहारिक धर्म में स्मृतियों का बहुत महत्त्व है, क्योंकि धर्म की नियमित व्यवस्था स्मृतियों में ही उपलब्ध है।

धर्मशास्त्र में स्मृति का मूल अर्थ केवल मन्वादि प्रणीत स्मृतियाँ ही नहीं हैं। मूलतः इसमें वे सभी आचार-विचार सम्मिलित थे जो वेदविद् आचारवान् पुरुषों की स्मृति और आचरण में पाये जाते थे। इसमें सभी सूत्र-ग्रन्थ—श्रौत, गृह्य और धर्म—महाभारत, पुराण और मनु आदि स्मृतियाँ समाविष्ट हैं। गौतम धर्मसूत्र का कथन है, "वेदो धर्ममूलम्। तद्विदाञ्च स्मृतिशीले।" [वेद धर्म का मूल है और उसको जानने वाले पुरुषों की स्मृति तथा शील भी।] मेधातिथि ने मनुस्मृति के 'स्मृतिशीले च तद्विदाम्' का भाष्य करते हुए लिखा है, "वेदार्थविदाम् इदं कर्तव्यम् इदन्न कर्तव्यम् इति यत् स्मरणं तदपि प्रमाणम्।" परन्तु धी[illegible] विशाल धर्मशास्त्र की सामग्रियों ने संग्रह अथवा स[illegible]का रूप धारण किया और वे स्मृतिग्रन्थों के रूप में प्रसिद्ध हुई और समय समय पर आगे भी स्मृतियाँ आवश्यकतानुसार बनती गयीं। प्राचीन सूत्रग्रन्थों और स्मृतियों में रचना की विद्या की दृष्टि से एक विशेष अन्तर है। सूत्र सभी अत्यन्त सूक्ष्म और सूत्रात्मक हैं। स्मृतियाँ, विष्णुस्मृति को छोड़कर, सभी पद्यात्मक हैं और विवेचन तथा वर्णन की दृष्टि से विस्तृत।

स्मृतियों की संख्या बढ़ते-बढ़ते बहुत बड़ी हो गयी। इनकी सूची कई ग्रन्थों में पायी जाती है। अपरार्क ने अपने भाष्य (पृ० ७) में गौतम धर्मसूत्र से एक सूत्र उद्धृत किया है जिसमें स्मृतिकारों की सूची है। (इस समय मुद्रित गौतम धर्मसूत्र में यह नहीं मिलता है।) यह सूची इस प्रकार है :

"स्मृतिधर्मशास्त्राणि तेषां प्रणेतारो मनु-विष्णु-दक्षाङ्गिरो-अत्रि-बृहस्पति-उशन आपस्तम्बगौतम-संवर्त-आत्रेय-कात्यायन-शङ्ख-लिखित-पराशर-व्यास-शातातप-प्रचेता-याज्ञवल्क्यआदयः ।।.'

दूसरी सूची याज्ञवल्क्य स्मृति (१.४-५) में पायी जाती है, जिसके अनुसार स्मृतियों की संख्या बीस है :

वक्तारो धर्मशास्त्राणां मनु-विष्णु-यमोऽङ्गिरा ।
वसिष्ठ-दक्ष-संवर्त-शातातप-पराशराः ।।
आपस्तम्बोशनो-व्यासाः कात्यायन-बृहस्पती ।
गौतमः शङ्खलिखितौ हारीतोऽत्रिरहं तथा ।।

धर्मशास्त्र के वक्ता १. मनु २. विष्णु ३. यम ४. अङ्गिरा ५. वसिष्ठ ६. दक्ष ७. संवर्त ८. शातातप ९. पराशर १०. आपस्तम्ब ११. उशना १२. व्यास १३. कात्यायन १४. बृहस्पति १५. गौतम १६. शङ्ख १७. लिखित १८. हारीत १९. अत्रि और २०. याज्ञवल्क्य। इस सूची में प्राचीन स्मृतिकार बौधायन का नाम नहीं है। पराशर ने अपने को छोड़कर उन्नीस धर्मशास्त्रकारों का नाम दिया है। किन्तु यह सूची याज्ञवल्क्य से भिन्न है। इसमें बृहस्पति, यम और व्यास के नाम नहीं हैं। नये नाम कश्यप, गार्ग्य और प्रचेता हैं। कुमारिल के तन्त्रवार्तिक (पृ० १२५) में अठारह धर्मसंहिताओं का उल्लेख है। 'चतुर्विंशतिमत' में चौबीस धर्मशास्त्रकार ऋषियों के मतों का संग्रह है। इसमें कात्यायन और लिखित को छोड़कर याज्ञवल्क्य द्वारा परिगणित सभी स्मृतिकार और इनके अतिरिक्त गार्ग्य, नारद, बौधायन, वत्स, विश्वामित्र और शङ्ख, (सांख्यायन) का समावेश है। 'षट्त्रिंशन्मत' (मिताक्षरा में उद्धृत) में छत्तीस स्मृतियों के मतों का संकलन है। पैठीनसि (स्मृतिचन्द्रिका में उद्धृत) ने भी स्मृतियों की संख्या छत्तीस बतलायी है। वृद्ध गौतम स्मृति (जीवानन्द संस्करण, भाग २ पृ० ४९८-९९) में सत्तावन स्मृतियों की सूची दी हुई है। यदि भाष्यकारों और निबन्धकारों द्वारा उद्धृत सभी धर्मशास्त्रकारों को जोड़ा जाय तो उनकी संख्या एक सौ इकतीस पहुँचती है (कमलाकर भट्ट : निर्णय सिन्धु)। एक तो युगपरिवर्तन के कारण नयी स्मृतियाँ स्वयं बनती जाती थीं, दूसरे विभिन्न धर्मशास्त्रीय सम्प्रदाय वाले लघु, बृहत् और वृद्ध जोड़कर अपने साम्प्रदायिक धर्मशास्त्र का विकास करते जाते थे। इनके रचनाकाल के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। परन्तु इनको दूसरी शती ई० पू० और आठवीं शती इ० प० के बीच रखा जा सकता है। (दे० काशी प्रसाद जायसवाल : मनु ऐण्ड याज्ञवल्क्य; म० पाण्डुरंग काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द १)।

स्मृतियों में जिन विषयों का वर्णन है उनके तीन मुख्य वर्ग किए जा सकते हैं—१. आचार २. व्यवहार और ३. प्रायश्चित (दे० याज्ञवल्क्यस्मृति)। आचार वर्ग में साधारण, विशेष, नित्य, नैमित्तिक, आपद्धर्म सभी का वर्णन है। विशेषकर वर्ण और आश्रम-धर्म का विस्तार से वर्णन किया गया है। व्यवहार वर्ग के अन्तर्गत, राजधर्म, प्रशासन, विधि आदि विषयों का समावेश है। प्रायश्चित्त के अन्तर्गत विविध अपराधों और पापों से मुक्त होने के लिए अनेक तप, व्रत, दान आदि कर्मकाण्डों का विधान है। इनके अतिरिक्त धर्म, समाज, राज्य, व्यक्ति सम्बन्धी यथासंभव सभी विषयों का विवेचन स्मृतियों में पाया जाता है।

सभी स्मृतियों के प्रामाण्य का प्रश्न बड़ा पेचीदा है। पुरातनवादी स्मृति-भाष्यकारों और निबन्धकारों का मत है कि सभी स्मृतियाँ समान रूप से मान्य हैं, क्योंकि सभी ऋषिप्रणीत हैं और ऋषियों का मत कभी अमान्य नहीं हो सकता। यदि यह मत स्वीकार किया जाय तो बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाएगी। देखने पर स्पष्ट है कि स्मृतियों में परस्पर बहुत मतभेद है और यदि सभी को छूट मिल जाय कि जो जिस स्मृति को पसन्द करे उसी का पालन करे तो समाज में अराजकता फैल जायेगी। इसलिए यह मत ग्राह्य नहीं हो सकता। दूसरा मत यह है कि मनुस्मृति सबसे अधिक प्रामाणिक है; अतः जो स्मृति उसके अनुकूल है वह मान्य और जो उसके प्रतिकूल है वह अमान्य है :

'मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते'। तब प्रश्न यह उठता है कि वे सभी स्मृतियाँ व्यर्थ ही रची गयीं, जिनका मनु से मतभेद है। यह मानना कि अनेक परवर्ती स्मृतियों की रचना व्यर्थ हुई, बुद्धिसंगत नहीं जान पड़ता। तीसरा मत यह है कि जहाँ स्मृतियों के वाक्यों में विरोध हो वहाँ बहुमत को मानना चाहिए :

विरोधो यत्र वाक्यानां प्रामाण्यं तत्र भूयसाम्।
(गोभिल, ३.१४९)

तस्माद्विरोधे धर्मस्य निश्चित्य गुरुलाघवम्।
यतो भूयः ततो विद्वान् कुर्यात् विनिर्णयम्॥
(स्मृतिचन्द्रिका, संस्कार काण्ड)

[इसलिए धार्मिक वाक्यों के विरोध होने पर उनकी गुरुता (गंभीरता) और लघुता (हलकापन) का विचार कर, जो अधिक गंभीर और बहुसम्मत हो, विद्वान् को उसी के अनुसार निर्णय करना चाहिए।]

चौथा मत है कि विभिन्न स्मृतियाँ विभिन्न युगों में उनकी आवश्यकता के अनुसार लिखी गयी थीं। अतः

विभिन्न स्मृतियाँ विभिन्न युगों के लिए मान्य हैं :

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे ।
अतो कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ मनु. १.८५

[कृतयुग (सतयुग) में अन्य प्रकार के धर्म थे । त्रेता में अन्य । और द्वापर में अन्य (उनसे भिन्न) ! इसलिए कलियुग में मनुष्यों के लिए अन्य धर्म हैं । ये धर्म युगह्रास के अनुरूप हैं ।]

इस सिद्धान्त के अनुसार पराशर स्मृति (१.२४) में मुख्य स्मृतियों को विभिन्न युगों में विभाजित कर दिया गया है :

कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः ।
द्वापरे शङ्खलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः ॥

[कृतयुग में मानव धर्मशास्त्र प्रामाणिक है; त्रेता में गौतम धर्मशास्त्र; द्वापर में शङ्खलिखित और कलि में पाराशर धर्मशास्त्र ।]

सिद्धान्त में युगधर्म स्वीकार किया गया है । परन्तु मनु और याज्ञवल्क्य तथा उनकी टीकाएँ आज भी प्रामाणिक मानी जाती हैं । ये टीकाएँ ही युगधर्म की दिशाप्रवर्तक हैं ।

स्वधर्म—अपने स्वभाव अर्थात् वर्ण और आश्रम के अनुसार जिसका जो धर्म विहित है, वह उसका स्वधर्म है । उसके पालन से ही कल्याण होता है । उसको छोड़कर अपने स्वभाव के प्रतिकूल दूसरे के धर्म के पालन से अनिष्ट होता है । नृसिंह पुराण में कथन है :

यो यस्य विहितो धर्मः स तज्जातिः प्रकीर्तितः ।
तस्मात् स्वधर्मं कुर्वीत द्विजो नित्यमनापदि ॥
चत्वारो वर्णा राजेन्द्र चरेयुश्चापि आश्रमाः ।
ऋते स्वधर्मं विपुलं न ते यान्ति परां गतिम् ॥
स्वधर्मेण यथा नृणां नरसिंहः प्रत्युष्यति ।
न तुष्यति तथान्येन वेदवाक्येन कर्मणा ॥

ब्रह्मवैवर्त पुराण (प्रकृतिखण्ड, ५१.४५-४७) में स्वधर्मत्यागी को कृतघ्न कहा गया है और उसकी निन्दा की गयी है :

स्वधर्मं हन्ति यो विप्रः सन्ध्यात्रयविवर्जितः ।
अतर्पणश्च यत्स्नानं विष्णुनैवेद्यवञ्चितः ॥
विष्णुमन्त्र-विष्णुपूजा-विष्णुभक्तिविहीनकः ।
एकादशीविहीनश्च श्रीकृष्णजन्मवासरे ॥
शिवरात्रौ च यो भुङ्क्ते श्रीरामनवमीदिने ।
पितृकृत्यं देवकृत्यं स कृतघ्न इति स्मृतम् ॥

भगवद्गीता में भी स्वधर्म का माहात्म्य बतलाया गया है :

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

[गुणरहित भी अपना धर्म दूसरे के भलीभाँति अनुष्ठित धर्म से श्रेयस्कर है । अपने धर्म के पालन में मृत्यु श्रेयस्कर है । दूसरे का धर्म भयावह है ।]

स्वधा—(१) स्वादपूर्वक ग्रहण करने की क्रिया । देवताओं के लिए हविर्दान मन्त्र के साथ 'स्वाहा' कहते हैं । स्वधा का प्रयोग पितरों के लिए ही किया जाता है ।

(२) भागवत पुराण के अनुसार स्वधा दक्ष की कन्या थी । वह पितरों की पत्नी थी । उसकी दो कन्याएँ हुईं—यमुना और धारिणी । ये दोनों तपस्विनी थीं । अतः इनकी कोई सन्तान नहीं थी । ब्रह्मवैवर्त पुराण (प्रकृतिखण्ड, अध्याय ४१) के अनुसार स्वधा ब्रह्मा की मानसी कन्या और पितरों की पत्नी थी । इस पुराण में इसकी विस्तृत कथा दी हुई है ।

स्वप्न—इसका एक अर्थ है निद्रा, दूसरा है निद्रा के सोये हुए व्यक्ति का विज्ञान । सुश्रुत (शरीर स्थान, अध्याय ४) ने स्वप्न को निम्नांकित प्रकार से बतलाया है :

पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः ।
रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान् ॥
करणानान्तु वैकल्ये तमसाभिप्रवर्द्धिते ।
अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते ॥

[जीवात्मा सोता हुआ रजोगुण से युक्त मन द्वारा अपने शरीर से पूर्व अनुभूत शुभ तथा अशुभ पदार्थों को ग्रहण करता है । तमोगुण के बढ़ जाने पर न सोता हुआ भी जीवात्मा सोते हुए की भाँति कहा गया है ।]

ब्रह्मवैवर्त पुराण (श्रीकृष्ण जन्म खण्ड, सुस्वप्नदर्शन नामक ७७ अध्याय) में शुभाशुभ स्वप्न-फल का विस्तृत वर्णन है ।

स्वभाव—अपना भाव या मानसिक विचार । उज्ज्वल नीलमणि में स्वभाव की परिभाषा निम्नांकित है :

बहिर्हेत्वनपेक्षी तु स्वभावोऽथ प्रकीर्तितः ।
निसर्गश्च स्वरूपश्चेत्येषोऽपि भवति द्विधा ॥

निसर्गः सुदृढाभ्यासजन्यः संस्कार उच्यते ।
अजत्यस्तु स्वतः सिद्धः स्वरूपः भाव इष्यते ॥

[जो किसी बाहरी हेतु (कारण) की अपेक्षा न रखता हो उसको स्वभाव कहा जाता है। इसके निसर्ग और स्वरूप दो भेद होते हैं। सुदृढ़ अभ्यास से उत्पन्न संस्कार को निसर्ग कहते हैं। जो किसी से उत्पन्न नहीं होता और जो स्वतः सिद्ध है उसको स्वरूप भाव कहते हैं।]

स्वभूरामदेव—निम्बार्क सम्प्रदायाचार्य एवं मध्यकालीन धर्मरक्षक वैष्णव महात्मा, जिन्होंने पंजाब की ओर हिन्दुओं की धार्मिक आस्था को अपनी तपश्चर्या से ओजस्वी बनाया। अखिल भारत में धर्म प्रचार करने वाले आचार्य हरिव्यासदेव (पंद्रहवीं शताब्दी) के द्वादश शिष्यों में ये प्रथम एवं पट्टशिष्य थे। समयानुसार हरिव्यासदेवजी ने व्यापक धर्मप्रचार के उद्देश्य से मठ, मन्दिर द्वारा गद्दी की प्ररम्परा चलायी और अपने शिष्य-प्रशिष्यों को विभिन्न प्रदेशों में इसके लिए भेजा। उस समय गोरखपन्थी नाथ साधु साधनमार्ग से हटकर धार्मिक द्वेष के वश में पड़ गए थे। पंजाब को ओर वैष्णवों से इनका संघर्ष होता रहता था। हरिव्यासदेव ने हिन्दूधर्म के उक्त गृहकलह के शमनार्थ अपने प्रधान विष्य स्वभूरामदेव को मथुरास्थिर नारदटीला स्थान का अध्यक्ष बनाकर पंजाब की ओर भेज दिया। इन्होंने अपने भजन-साधन के बल पर नाथों का हृदय परिवर्तन कर उस दिशा में वैष्णव धर्म का प्रभाव स्थापित किया। जगाधरी जिले के बूड़िया स्थान में यमुनातट पर 'स्वभूरामदेवजी की बनी' नामक तपोभूमि आज भी जनता में सम्मानित है। ये उस समय के प्रभावशाली महात्मा थे और धर्मरक्षा की ओर विशेष दत्तचित्त रहते थे। इसीलिए वैष्णवों के मठ-मन्दिरों में भारत के सुदूर बंगाल, उड़ीसा, बिहार, मध्यप्रदेश, गुजरात, पंजाब, व्रजमण्डल आदि स्थानों में स्वभूरामदेव-शाखा के महत्त्वपूर्ण स्थान अधिक संख्या में पाये जाते हैं। इनकी परंपरा में अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थकार, उपासनारहस्यज्ञ विद्वान् और तपस्वी सन्त होते आये हैं।

स्वर्ग—जिस स्थान अथवा लोक का गान अथवा प्रशंसा की जाय वह स्वर्ग है (स्वृयते स्वर्यते गीयते च इति) देवताओं के निवास स्थान को स्वर्ग कहते हैं। यह अत्यन्त प्राचीन विश्वास है कि पुण्यात्मा मरने के पश्चात् स्वर्ग लोग में जाता है। मीमांसा शास्त्र के अनुसार स्वर्ग वह लोक है जहाँ दुःख का पूर्ण अभाव है और पूर्ण सुख की प्राप्ति होती है। यज्ञानुष्ठान से पुण्य होता है। अतः स्वर्ग की कामना रखने वाले को यज्ञ करना चाहिए नैयायियों के मत में स्वर्ग की परिभाषा है :

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं यत् तत् सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

पद्मपुराण (भूखण्ड, अध्याय ९०) में स्वर्ग के गुणदोष इस प्रकार कहे गये हैं :

नन्दनादीनि दिव्यानि रम्याणि विविधानि च ।
तत्रोद्यानानि पुण्यानि सर्वकामशुभानि च ॥
सर्व कामफलैर्वृक्षैः शोभितानि समन्ततः ।
विमानानि सुदिव्यानि परितान्यप्सरोगणैः ॥
सर्वत्रैव विचित्राणि कामगानि रसानि च ।
तरुणादित्यवर्णानि मुक्ताजालान्तराणि च ॥
चन्द्रमण्डलशुभ्राणि हेमशय्यासनानि च ।
सर्वकामसमृद्धाश्च सुखदुःखविवर्जिताः ॥
नराः सुकृतिनस्ते तु विचरन्ति यथासुखम् ।
न तत्र नास्तिकाः यान्ति न स्तेया नोजितेन्द्रियाः ॥
न नृशंसा न पिशुनाः कृतघ्ना न च मानिनः ।
सत्यास्तपस्थिताः शूरा दयावन्तः क्षमापराः ॥
यज्वानो दानशीलाश्च तत्र गच्छन्ति ते नराः ।
न रोगो न जरा मृत्युर्न शोको न हिंसादयः ॥
न तत्र क्षुत्पिपासा न कस्य ग्लानिर्न दृश्यते ।
एते चान्ये च बहवो गुणाः सन्ति च भूपते ॥
दोषास्तत्रैव ये सन्ति तान् शृणुस्व च साम्प्रतम् ।
शुभस्य कर्मणः कृत्स्नं फलं तत्रैव भुज्यते ॥
न चात्र क्रियते भूयः सोऽत्र दोषो महान् श्रुतः ।
असन्तोषश्च भवति दृष्ट्वा दीप्तां परश्रियम् ॥
सम्प्राप्ते कर्मणामन्ते सहसा पतनं तथा ।
इह यत् क्रियते कर्म फलं तत्रैव भुञ्जते ॥
कर्मभूमिरियं राजन् फलभूमिस्त्वसौ स्मृता ॥

अग्निपुराण, मत्स्यपुराण (१०३.१०४), नृसिंह पुराण (अध्याय ३०), गरुडपुराण (१०९.४४) में भी स्वर्ग का वर्णन पाया जाता है।

स्वर्णगौरीव्रत—भाद्रशुक्ल तृतीया को इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। यह तिथिव्रत है; गौरी देवता हैं। केवल महिलाओं के लिए यह व्रत है। इस अवसर पर गौरी का षोडशोपचार पूजन किया जाय। सन्तानार्थ, स्वास्थ्य

तथा सौभाग्य की प्राप्ति के लिए देवी से प्रार्थना की जाय। उद्यापन के समय सींक से बने हुए पात्रों में १६ प्रकार के खाद्य पदार्थ रखकर उन्हें वस्त्र खण्डों से आच्छादित करके सद्गृहस्थ सपत्नीक ब्राह्मणों को दान कर दिया जाय।

स्वस्ति—कुशल-क्षेम, शुभकामना, कल्याण, आशीर्वाद, पुण्य, पापप्रक्षालन दानस्वीकार के रूप में भी इसका प्रयोग होता है :

"ओभित्युक्त्वा प्रतिगृह्य स्वस्तीस्युक्त्वा सावित्रीं पठित्वा कामस्तुतिं पठेत्।" (शुद्धितत्त्व)

वैदिक संहिताओं में स्वस्तिपाठ के कई सूक्त हैं। प्रत्येक मङ्गलकार्य में उनका पाठ किया जाता है। इसे 'स्वस्ति वाचन' कहते हैं।

स्वस्तिक—एक प्रतीक या चिह्न, जो माङ्गलिक माना जाता है। इसका आकार इस प्रकार है। इसका शाब्दिक अर्थ है, "जो स्वस्ति अथवा क्षेम का कथन करता है।" यह गणेशजी का लिप्यात्मक स्वरूप है। एक प्रकार की गृह रचना को भी स्वस्तिक कहते हैं।

स्वस्तिकव्रत—आषाढ़ की एकादशी या पूर्णिमा से चार मासपर्यन्त इस व्रत का अनुष्ठान होना चाहिए। स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिए यह व्रत विहित है। यह कर्णाटक में बहुत प्रचलित है। पञ्च वर्णों (नील पीतादि) की स्वस्तिका की आकृतियाँ बनाकर उन्हें विष्णु भगवान् को अर्पित किया जाता है। देवालयों अथवा अन्य पवित्र स्थलों में विष्णु का पूजन होता है।

स्वस्तिपुण्याहवाचन—माङ्गलिक कर्मों के प्रारम्भ में मन्त्रोच्चारण के साथ पवित्र तण्डुल-विकिरण। इसकी विधि में आशीर्वादात्मक वेदमन्त्रों का पाठ तथा प्रार्थनात्मक कथनोपकथन होता है।

स्वाधिष्ठान—षट्चक्रों के अन्तर्गत द्वितीय चक्र। वस्ति-प्रदेश के पीछे इसकी स्थिति है। इसमें शिव और अग्नि वर्तमान रहते हैं :

षड्रले वैद्युतनिभे स्वाधिष्ठानेऽनलत्विषि।
ब-भ-पैर्य-र- लैर्युक्ते वर्णैः षड्भिश्च सुव्रत॥
स्वाधिष्ठानाख्यचक्रे तु सबिन्दुं राकिणीं तथा।
वादिलान्तं प्रविन्यस्य नाभौ तु मणिपूरके॥ (तन्त्रसार)

स्वाहा—(१) देवताओं का हविर्दान-मन्त्र। (सुष्ठु आहूयन्ते देवा अनेन इति)। प्रार्थनासमर्पण के अर्थ मे अनेक मन्त्रों में यह 'परसर्ग' के समान प्रयुक्त होता है।

(२) भागवत पुराण के अनुसार स्वाहा दक्ष की कन्या और अग्नि की भार्या है। ब्रह्मवैवर्तपुराण (प्रकृतिखण्ड, स्वाहोपाख्यान नामक अध्याय, ४०-७-५६) में स्वाहा की उत्पत्ति आदि का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है :

स्वाहा देवहविर्दाने प्रशस्ता सर्वकर्मसु।
पिण्डदाने स्वधा शस्ता दक्षिणा सर्वतो वरा॥
प्रकृतेः कलया चैव सर्वशक्तिस्वरूपिणी।
बभूव दाविका शक्तिरग्ने स्वाहा स्वकामिनी॥
ईषद् हास्यप्रसन्नास्या भक्तानुग्रहकातरा।
उवाचेति विधेरग्रे पद्मयोने! वरं श्रुणु॥
विधिस्तद्वचनं श्रुत्वा संभ्रमात् समुवाच ताम्।
त्वमग्नेर्दाहिका शक्तिर्भव पत्नी च सुन्दरि।
दग्धुं न शक्तस्त्वकृती हुताशश्च त्वया विना॥
तन्नामोच्चार्य मन्त्रान्ते यो दास्यति हविर्नरः।
सुरेभ्यस्तत् प्राप्नुवन्ति सुराः स्वानन्दपूर्वकम्॥

ह

ह—ऊष्मवर्णों का चौथा तथा व्यञ्जनों का तैंतीसवाँ अक्षर इसका उच्चारण स्थान कण्ठ है। कामधेनु तन्त्र में इसका वर्णन और उपयोग बतलाया गया है :

हकारं शृणु चार्वङ्गि चतुर्वर्गप्रदायकम्।
कुण्डलीद्वयसंयुक्तं रक्तविद्युल्लतोपमम्॥
रजःसत्त्वतमोयुक्तं पञ्चदेवमयं सदा।
पञ्चप्राणात्मकं वर्णं त्रिशक्तिसहितं सदा॥
त्रिविन्दुसहितं वर्णं हृदि भावय पार्वति॥

वर्णोद्धारतन्त्र में इसका लेखन प्राकार और तान्त्रिक उपयोग इस प्रकार बतलाया है :

ऊर्ध्वादांकुञ्चिता मध्ये कुण्डलीत्वं गता त्वधः।
ऊर्ध्वं गता पुनः सैव तासु ब्रह्मादयः क्रमात्॥
मात्रा च पार्वती ज्ञेया ध्यानमस्य प्रचक्ष्यते।
करीष भूषिताङ्गी च साट्टहासां दिगम्बरीम्॥
अस्थिमाल्यामष्टभुजां वरदामम्बुजेक्षणाम्।
नागेन्द्रहारभूषाढ्यां जटामुकुटमण्डिताम्॥
सर्व्वसिद्धिप्रदां नित्यां धर्मकामार्थमोक्षदाम्।
एवं ध्यात्वा हकारन्तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत्॥

वर्णाभिधान में इसके अनेक नाम गिनाये गये हैं :

हः शिवो गगनं हंसो नागलोकोऽम्बिका पतिः ।
नकुलीशो जगत्प्राणः प्राणेशः कपिलामलः ॥
परमात्मात्मजो जीवो यवाकः शान्तिदोऽङ्गजः ।
श्रृंगो भयोऽरुणा स्थाणुः कूटकूपविरावणः ॥
लक्ष्मीर्मविहरः शम्भुः प्राणशक्तिर्ललाटजः ।
सृकोपवारणः शूली चैतन्यं पादपूरणः ॥
महालक्ष्मी परं शाम्भुः शाखीटः सोममण्डलः ।

बीजवर्णाभिधान में ह के दूसरे तान्त्रिक नामों का उल्लेख है।

शुक्रश्चाथ हकारोंऽशः प्राणः सान्तः शिवो वियत् ।
अकुली नकुलीशश्च हंसः शून्यश्च हाकिनी ॥
अनन्तो नकुली जीवः परमात्मा ललाटजः ।

हंस—साहित्य में नीर-क्षीर विवेक का और धर्म-दर्शन में परमात्म तत्त्व का प्रतीक पक्षी है : योग और तन्त्र में इस प्रतीक का बहुत उपयोग हुआ है। हंस का ध्यान इस प्रकार बतलाया गया है।

आराधयामि मणिसन्निभमात्यलिङ्गं
मायापुरीहृदयपङ्कजसन्निविष्टम् ।
श्रद्धानदीविमलचित्तजलावगाहं
नित्यंसमाधिकुसुभेरपुनर्भवाय ॥

राघवभट्ट धृत दक्षिणामूर्ति संहिता (सप्तम पटल) में हंसज्ञान और हंस माहात्म्य का वर्णन निम्नांकित है।

अजपाधारणं देवि कथयामि तवानघे ।
यस्य विज्ञानमात्रेण परं ब्रह्मैव देशिकः ॥
हंसः पदं परेशानि प्रत्यहं प्रजपेन्नरः ।
मोहरन्धं न जानाति मोक्षस्तस्य न विद्यते ॥
श्रीगुरोः कृपया देवि ज्ञायते जप्यते यदा ।
उच्छ्वासनिश्वासतया तदा बन्धक्षयो भवेत् ॥
उच्छ्वासे चैव विश्वासे हंस इति अक्षरद्वयम् ।
तस्मात् प्राणस्तु हंसात्मा आत्माकारेण संस्थितः ॥
नाभेरुच्छ्वासनिश्वासात् हृदयाग्रे व्यवस्थितिः :

हंसव्रत—पुरुष सूक्त के मंत्रों का उच्चारण करते हुए स्नान करना चाहिए। उन्हीं से तर्पण तथा जप करना चाहिए। अष्टदल कमल के मध्य भाग में पुष्पादिक से भगवान् जनार्दन की, जिन्हें हंस भी कहा जाता है, पूजा करनी चाहिए। पूजन में ऋग्वेद के दशम मण्डल के ९० मंत्रों का उच्चारण किया जाय। पूजन के उपरान्त हवन विहित है। तदनन्तर एक गौ का दान करना चाहिए। एक वर्षपर्यन्त इस व्रत का अनुष्ठान विहित है। इससे व्रती की सम्पूर्ण मनःकामनाएँ पूर्ण होती हैं।

हत्या—हनन के लिए निषिद्ध प्राणियों को मारना। सामान्य रूप से जीव मात्र के मारने को हत्या कहा जाता है। हत्या पातक है। ब्रह्महत्या (मनुष्य वध) की गणना महापातकों में की गयी है।

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥

[ब्रह्म हत्या, सुरापान, स्तेय (चोरी), गुरु पत्नी से समागम—ये महापातक हैं और इनके करने वालों के साथ संसर्ग भी महापातक है।]

हनुमान्—वाल्मीकि रामायण के अनुसार एक वानर वीर। [वास्तव में वानर एक विशेष मानव जाति ही थी, जिसका धार्मिक लांछन (चिन्ह) वानर अथवा उसकी लाङ्गल थी। पुरा कथाओं में यही वानर (पशु) रूप में वर्णित है।] भगवान् राम को हनुमान् ऋष्यमूक पर्वत के पास मिले थे। हनुमान् जी राम के अनन्य मित्र, सहायक और भक्त सिद्ध हुए। सीता का अन्वेषण करने के लिए ये लङ्का गए। राम के दौत्य का इन्होंने अद्भुत निर्वाह किया। राम-रावण युद्ध में भी इनका पराक्रम प्रसिद्ध है। रामावत वैष्णव धर्म के विकास के साथ हनुमान् का भी दैवीकरण हुआ। वे राम के पार्षद और पुनः पूज्य देव रूप में मान्य हो गये। धीरे धीरे हनुमत् अथवा मारुति पूजा का एक सम्प्रदाय ही बन गया है। 'हनुमत्कल्प' में इनके ध्यान और पूजा का विधान पाया जाता है।

हमुमज्जयन्ती—चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को इस उत्सव का आयोजन किया जाता है।

हम्पी—दक्षिण भारत के प्राचीन विजयनगर राज्य की राजधानी, अब हम्पी कही जाती है। इसके मध्य में विरूपाक्ष मन्दिर है। इसे लोग हम्पीश्वर कहते हैं।

हयग्रीव—महाभारत के अनुसार मधु-कैटभ दैत्यों द्वारा हरण किए हुए वेदों का उद्धार करने के लिए विष्णु ने हयग्रीव अवतार धारण किया। इनके विग्रह का वर्णन इस प्रकार है :

सुनासिकेन कायेन भूत्वा चन्द्रप्रभस्तदा ।
कृत्वा हयशिरं शुभं वेदानामालयं प्रभुः ॥

तस्य मूर्द्धा समयवत् द्यौः सनक्षत्रतारका ।
केशाश्चास्याभवद् दीर्घा रवेरंशुसमप्रभा ॥
कर्णाविाकाशेपाताले ललाटं भूतधारिणी ।
गङ्गा सरस्वती श्रोण्यौ भ्रुवावास्तां महोदधी ॥
चक्षुषी सोमसूर्यौ ते नासा सन्ध्या पुनः स्मृता ।
प्रणवस्तस्य संस्कारो विद्युज्जिह्वा च निर्मिता ॥
दन्ताश्च पितरो राजन् सोमपा इति विश्रुता ।
गोलोको ब्रह्मलोकश्च ओष्ठावास्तां महात्मनः ॥
ग्रीवा चास्याभवद्राजन् कालरात्रिर्गुणोत्तरा ।
एतद्हयशिरः कृत्वा नानामूर्तिभिरावृतम् ॥

देवीभागवत (प्रथम स्कन्ध, पञ्चम अध्याय) में हयग्रीवकी दूसरी कथा मिलती है। इसके अनुसार दैत्य का वध करने के लिए ही विष्णु ने हयग्रीव का रूप धारण किया था। हेमचन्द्र ने इस कथा का समर्थन किया है। (विष्णुवध्य दैत्यविशेषः)। किन्तु एक दूसरी परम्परा के अनुसार जब कल्पान्त में ब्रह्मा सो रहे थे तब हयग्रीव नामक दैत्य ने वेद का हरण कर लिया। वेद का उद्धार करने के लिए विष्णु ने मत्स्यावतार धारण किया और उसका वध किया।

विद्या प्राप्ति के लिए वेदोद्धारक हयग्रीव भगवान् की उपासना विशेष चमत्कारकारिणी मानी गयी है।

हयपञ्चमी अथवा हयपूजाव्रत—चैत्र मास की पंचमी को इन्द्र का प्रसिद्ध अश्व, उच्चैःश्रवा समुद्र से आविर्भूत हुआ था। अतएव गन्धर्वों सहित (जैसे चित्ररथ, चित्रसेन जो वस्तुतः उच्चैःश्रवा के बन्धु-बान्धव ही हैं) उच्चैःश्रवा का संगीत, मिष्ठान्न, पोलिकाओं, दही, गुड़, दूध, चावल आदि से पूजन करना चाहिए। इसके फलस्वरूप शक्ति, दीर्घायु, स्वास्थ्य की प्राप्ति तथा युद्धों में सदा विजय होती है।

हर—शिव का एक नाम। इसका अर्थ है पापों तथा सांसारिक तापों का हरण करने वाला (हरति पापान् सांसारिकान् क्लेशाञ्च)।

हरकालीव्रत—माघ शुक्ला तृतीया को इस व्रत का आयोजन करना चाहिए। इसकी दुर्गा जी देवता हैं। यह व्रत केवल महिलाओं के लिए है। व्रती जौ के हरे हरे अंकुरों में रात भर देवी का ध्यान करते हुए खड़ा रहे। द्वितीय दिवस स्नान, ध्यान आदि से निवृत्त होकर देवी का पूजन कर भोजन ग्रहण करे। वर्ष में प्रति मास देवी के भिन्न भिन्न नामों को उच्चारण करते हुए पूजन करना चाहिए तथा भिन्न भिन्न खाद्य पदार्थों का भोग लगाना चाहिए। वर्षान्त में सपत्नीक ब्राह्मण का सम्मान करना चाहिए। इसके परिणाम स्वरूप रोगों से मुक्ति, सात जन्मों तक वैधव्याभाव, सौन्दर्य तथा पुत्र-पौत्रादि की उपलब्धि होती है। पार्वती ने शंकर जी के शरीर में अर्द्ध भाग प्राप्त करने के लिए इस व्रत का आच किया था।

हरगौरी—हर (शिव) के साथ गौरी (पार्वती) की मूर्ति को हरगौरी कहते हैं। यह अर्द्ध नारीश्वर-शिवमूर्ति का नाम है। कालिका पुराण (अध्याय ४४) में इस स्वरूप का विस्तृत वर्णन पाया जाता है :

"देवी ने कहा, हे हर ! जिस प्रकार मैं सदा तुम्हारी छाया के समान अनुगत रहूँ और आप का साहचर्य सदा बना रहे उस प्रकार मेरे लिए आप को करना चाहिए। आपके साथ मैं सभी अङ्गों का संस्पर्श और नित्य आलिङ्गन का पुलक चाहती हूँ। आप को ऐसा ही करना योग्य है।"

भगवान् शिव ने कहा, हे भामिनि : जिसकी तुम इच्छा करती हो वह मुझे भी रुचिकर है। उसका उपाय मैं कहता हूँ। यदि कर सकती हो तो करो। हे सुन्दरी ! मेरे शरीर का आधा तुम ग्रहण कर लो। मेरा आधा शरीर नारी और आधा पुरुष हो जाय। यदि तुम मेरा आधा शरीर नहीं ग्रहण कर सकती हो, तो हे सुन्दर मुखवाली ! तुम्हारा आधा शरीर मैं ही ग्रहण करूँगा। तुम्हारा आधा शरीर नारी और आधा पुरुष हो जाय। ऐसा करने में मेरी शक्ति है। तुम अपनी अनुज्ञा दो।

देवी ने कहा, हे वृषध्वज ! मैं ही आप के शरीर का आधा भाग ग्रहण करूँगी। किन्तु मेरी एक इच्छा है, यदि आप पसन्द करें हे हर ! उस प्रकार मैं जब आप के शरीर का आधा ग्रहण कर के स्थिर रहूँ और आधा शरीर छोड़ दूँ तो दोनों सम्पूर्ण बने रहें। इस प्रकार यदि आधे भाग का हरण आप को पसन्द हो तो आप के शरीर का आधा भाग हे शम्भो ! मैं हरण करती हूँ।

शिव ने कहा, जैसा तुम करना चाहती हो, ऐसा ही नित्य हो। शरीर के आधे भाग का हरण तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही हो।

हरव्रत—अष्टमी के दिन कमल दल की आकृति बनाकर भगवान् हर की पूजा तथा घृत की धारा छोड़ते हुए समिधाओं से हवन करना चाहिए।

हरि—विष्णु का एक पर्याय। इन्द्र, सिंह, घोड़ा, हरे रंग, आदि को भी हरि कहते हैं। हरे (श्याम) वर्ण के कारण विष्णु या कृष्ण भी हरि कहलाते हैं।

हरि, विष्णु और कृष्ण का अभेद स्वीकार कर पुराणों ने हरि भक्ति का विपुल वर्णन किया है। पद्मपुराण (उत्तर खण्ड, अध्याय १११) में कृष्ण-हरि के एक सौ आठ नामों का उल्लेख है :

श्रीकृष्णाष्टोत्तरशतं नाम मङ्गलदायकम् ।
तत् शृणुष्व महाभाग सर्वकलमषनाशनम् ।।
श्री कृष्णः पुण्डरीकाक्षो वासुदेवो जनार्दनः ।
नारायणो हरिर्विष्णुर्माधवः पुरुषोत्तमः ।। आदि०

हरितालिका—पार्वतीजी की आराधना का सौभाग्य व्रत, जो केवल महिलाओं के लिए है और भाद्रपद शुक्ल तृतीया को प्रायः निर्जल किया जाता है। रात्रि में शिव-गौरी की पूजा और जागरण होता है; दूसरे दिन प्रातः विसर्जन के पश्चात् अन्न-जल ग्रहण किया जाता है। 'अलियों'। (सखियों) के द्वारा 'हरित' (अपहृत) होकर पार्वती ने एक कन्दरा में इस व्रत का पालन किया था, इसलिए इसका नाम 'हरितालिका' प्रसिद्ध हो गया।

हरिकालीव्रत—तृतीया को अनाज साफ करने वाले सूपमें सप्त धान्य बोकर उनके उगे हुए अंकुरों पर काली पूजा की जाती है। तदनन्तर सधवा नारियों द्वारा अंकुरों को सिरों पर ले जाकर किसी तडाग या सरिता में विसर्जन कर दिया जाता है। कथा इस प्रकार है : काली दक्ष प्रजापति की पुत्री हैं तथा दक्ष ने उनका महादेव जी के साथ परिणय कर दिया। वर्ण से वे कृष्ण हैं। एक समय देवताओं की सभा में महादेव जी ने काली के शरीर की तुलना काले सुरमें से कर डाली। इससे वे क्रुद्ध होती हुई अपना कृष्ण वर्ण घास वाली भूमि पर छोड़कर स्वयं अग्नि में प्रविष्ट हो गईं। द्वितीय जन्म में गौरी रूप में उनका पुनः आविर्भाव हुआ और उन्होंने महादेव जी को ही पुनः पति रूप में प्राप्त किया। काली जी ने जो कृष्ण वर्ण त्यागा था उससे आगे चलकर कात्यायनी हुईं, जिन्होंने देवताओं के प्रयत्नों में बहुत बड़ी सहायता की थी। देवताओं ने उनको यह वरदान भी दिया था कि जो स्त्री-पुरुष हरी घास पर बैठकर काली की पूजा करेंगे, वे सुख, दीर्घायु तथा सौभाग्य प्राप्त करेंगे। व्रत का नाम हरिकाली है, किन्तु इसका हरि (विष्णु) के के अर्थ में आने का प्रश्न ही नहीं उठता। हरि का यहाँ अर्थ है भूरी या (श्यामा) काली, जो गौरवर्णा नहीं थी।

हरिक्रीडाशयन अथवा हरिक्रीडायन—कार्तिक अथवा वैशाख मास की द्वादशी को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। इसके हरि देवता हैं। एक ताम्रपात्र में मधु भरकर इसके ऊपर नृसिंह भगवान् की चतुर्मुखी प्रतिमा, जिसमें माणिक्य के आयुध लगे, मूँगों के नख बनाये गये हों तथा अन्यान्य रत्नों को वक्ष, चक्षु, सिर तथा स्रोतों पर लगाकर स्थापित किया जाय। तदनन्तर ताम्रपात्र को जल से भर दिया जाय और नृसिंह भगवान् का षोडशोपचार पूजन तथा रात्रि जागरण होना चाहिए। इससे व्रती जंगलों, अरण्यों तथा युद्धस्थलों में संकटमुक्त होकर निर्भीक विचरण करता है। (नृसिंह पुराण से)

हरिद्रागणेश—गणेश जी का एक विग्रह। यह हरिद्रा (हल्दी) के वर्ण का होता है अतः इसे हरिद्रा-गणेश कहते हैं। इनका मन्त्र है :

पञ्चान्तको धरासंस्थो बिन्दुभूषितमस्तकः ।
एकाक्षरो महामन्त्रः सर्वकामफलप्रदः ।।

इसका ध्यान इस प्रकार किया जाता है :

हरिद्राभं चतुर्बाहुं हारिद्रवसनं विभुम् ।
पाशाङ्कुशधरं देवं मोदकं दन्तमेव च ।।

तन्त्रसार में पूजा-विधान का सविस्तर वर्णन है।

हरिद्वार—हरिद्वार अथवा मायापुरी भारत की सात पवित्र पुरियों में से है। इसका अर्थ है 'हरि (विष्णु) का द्वार। जहाँ गङ्गा हिमालय से मैदान में उतरती है, वहाँ यह स्थित है। इसलिए इसका विशेष महत्त्व है। प्रति बारहवें वर्ष जब सूर्य और चन्द्र मेष राशि पर तथा बृहस्पति कुम्भ राशि में स्थित होते हैं तब यहाँ कुम्भ का पर्व होता है। उसके छठे वर्ष अर्द्धकुम्भी होती है। कहा जाता है कि इसी स्थान पर मैत्रेय जी ने विदुर को श्रीमद्भागवत की कथा सुनायी थी और यहीं पर नारद जी ने सप्तर्षियों से श्रीमद्भागवत की सप्ताह कथा सुनी

थी। हरिद्वार मुख्यतः वैष्णवतीर्थ है, परन्तु सभी सम्प्रदाय के लोग इसका आदर करते हैं।

हरिनाम—हरि का नाम अथवा भगवन्नाम। धर्म में नाम-जप का माहात्म्य बराबर रहा है। किन्तु कलि में तो इसका अत्यधिक माहात्म्य है। कारण यह है कि नाम और नामी में भेद नहीं है और नामी की पूजा-अर्चा से नाम-स्मरण सदा सर्वत्र सुलभ और सरल है। पद्मपुराण (उत्तर खण्ड, अध्याय ९८) में नाम की महिमा इस प्रकार दी हुई है :

न कालनियमस्तत्र न देशनियमस्तथा।
नोच्छिष्ठादौ निषेधोऽस्ति हरेर्नामनि लुब्धक ॥
ज्ञानं देवार्चनं ध्यानं धारणा नियमो यमः।
प्रत्याहारः समाधिश्च हरिनामसमं न च ॥

बृहन्नारदीय पुराण (श्री हरिभक्ति विलास, विलास ११ में उद्धृत) में तो हरिनाम कलियुग में एकमात्र गति है।

वैष्णवों के नित्य जप के हरिनाम निम्नांकित हैं :

"हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥"

इस मन्त्र के ऋषि, वासुदेव छन्द गायत्री और देवता त्रिपुरा हैं। इसका विनियोग. महाविद्यासिद्धि में किया जाता है। दे० वासुदेव माहात्म्य; राधातन्त्र के वासुदेव-त्रिपुरा संवाद में द्वितीय पटल।

हरिवंश—हरि अथवा कृष्ण का वंश। इसी नाम के ग्रन्थ में हरिवंश की कथा विस्तार से कही गयी है। यह ग्रन्थ महाभारत का परिशिष्ट या खिलपर्व कहलाता है। इसकी कथा सुनने से संतान प्राप्त होती है। गरुड पुराण (अध्याय १४८।१.६-८,११) में हरिवंश की कथा मिलती है।

हरिवासर—(१) 'तिथ्यादितत्त्व' में एकादशी और द्वादशी तिथियों को हरिवासर (हरि का दिन) कहा गया है।

एकादशी द्वादशी च प्रोक्ता श्रीचक्रपाणिनः।
एकादशीमुपोष्यैव द्वादशीं समुपोजयेत् ॥
न चात्र विधिलोपः स्यादुभयोर्देवता हरिः।
द्वादश्याः प्रथमः पादो हरिवासरसंज्ञकः ॥
समतिक्रम्य कुर्वीत पारणं विष्णुतत्परः।

एकादशीतत्त्व में इस दिन अन्न भोजन का घोर निषेध है।

हरिवासर में जागरण का विशेष माहात्म्य है (दे० स्कन्द पुराण में ब्रह्म-नारद-संवाद तथा श्रीप्रह्लाद-संहिता)। हरिवासर के सम्बन्ध में विचार वैभिन्न्य है। 'वर्षकृत्य कौमुदी' के अनुसार एकादशी ही हरि का दिन है न कि द्वादशी। गरुड पुराण (१.१३७.१२) तथा नारद पुराण (२.२४.६ तथा ९) एकादशी को ही हरि का दिन मानते हैं, किन्तु 'कृत्यसारसमुच्चय' मत्स्य पुराण को उद्धृत करते हुए कहता है : आषाढ़ शुक्ल द्वादशी बुधवार को हो तथा उस दिन अनुराधा नक्षत्र हो एवं भाद्र शुक्ल द्वादशी बुधवार को पड़े तथा उस दिन श्रवण नक्षत्र हो और कार्तिक शुक्ल द्वादशी बुधवार को पड़े तथा उस दिन रेवती नक्षत्र हो तो उपर्युक्त तीनों दिन 'हरिवासर' कहलाते हैं। 'स्मृति कौस्तुभ' के अनुसार भी द्वादशी ही हरि तिथि है। अतएव:

आ-भा-कासितपक्षेषु हस्त-श्रवण-रेवती।
द्वादशी बुधवारश्चेद् हरिवासर इष्यते ॥'

हरिवाहन—हरि (विष्णु) का वाहन गरुड।

हरिव्यासदेव—निम्बार्क सम्प्रदाय के मध्यकालीन वैष्णवाचार्य और ग्रन्थकार। कृष्ण भगवान् की मधुर लीलाओं के चिन्तन के साथ ये तीर्थ यात्रा, धर्म प्रचार और ग्रन्थ रचना में दन्तचित रहते थे। धार्मिक संगठन की भावना इनमें अधिक देखी जाती है, जिसके लिए समग्र देश को व्यापक केन्द्र बनाकर इन्होंने संघबद्ध धर्मयात्राएँ प्रचलित कीं। इनकी उपासना का प्रिय स्थल वृन्दावन और गुरुस्थान मथुरा की एकान्त भूमि ध्रुवघाट पर नारद टीला थी। प्रसिद्ध भक्तिसंगीतकार संत श्रीभट्ट के ये शिष्य थे। राधा-कृष्ण के सरस चिन्तन स्वरूप हरिव्यास जी की पदावली 'महावाणी' कही जाती है और इनका अन्तरङ्ग नाम 'हरिप्रिया'। इसके साथ ही धार्मिक जनों को शक्तिसम्पन्न करने के लिए ये उग्र देवता नृसिंह की पूजा का प्रचार भी करते थे। इसका संकेत 'नृसिंह परिचर्या' नामक लिखित पुस्तक से मिलता है जो काशीस्थ सरस्वती भवन पुस्तकालय में है।

इन्होंने हिमाचल स्थित देवी मन्दिर में अपने तपोबल और साधु मण्डली के उपवास के सहारे पशुबलि प्रथा को बन्द करा दिया था। तबसे उन देवीजी को वैष्णवी देवी कहा जाने लगा है। प्राचीन निम्बार्कीय विद्वान्

पुरुषोत्तमाचार्य की पुस्तक 'वेदान्तरत्नमंजूषा' पर इन्होंने विस्तृत संस्कृत व्याख्या लिखी है। धर्म प्रचार और संगठनार्थ इन्होंने अपने सुयोग्य शिष्य देश के संकटग्रस्त स्थानों में नियुक्त किये थे, जिनमें इनके प्रधान शिष्य स्वभूरामजी पंजाब की ओर सक्रिय रहे और धार्मिक कलह, हिंसा, कदाचार के निवारण में सफल हुए। आगे चलकर मध्य, पूर्व, पश्चिम दिशाओं, तिरुपति, जगन्नाथपुरी, किन्दुविल्व बंगाल, द्वारका आदि स्थानों में इनकी ओर से अनेक मठ-मन्दिर स्थापित किए गए। हरिव्यासजी के एक प्रभावशाली शिष्य परशुरामदेव राजस्थान में मुस्लिम फकीरों के आतंक को शान्त करने में अग्रसर हुए और सलीमशाह सूफी को अपना सेवक बना लिया। हरिव्यासदेव पन्द्रहवीं शती में हुए थे।

हरिव्रत—(१) अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन मनुष्य को एकभक्त रहने का अभ्यास करना चाहिए। इससे कभी नरक में नहीं जाना पड़ता। उपर्युक्त दिवसों को व्रती को चाहिए कि वह भगवान् 'हरि की पुण्याह वाचन तथा 'जय' जैसे शब्दों से पूजाकर ब्राह्मण को प्रणाम करे तथा ब्राह्मणों, अन्धों, अनाथों, दलित पतितों को भोजन कराए।

(२) जो मनुष्य द्वादशी (एकादशी) के दिन भोजन का परित्याग करता है वह सीधा स्वर्ग सिधारता है। (वाराह पुराण)।

हरिशयन—हरि (विष्णु का शयन-निद्रा)। यह आषाढ़ शुक्ल एकादशी को प्रारम्भ और कार्तिक शुक्ल एकादशी को समाप्त होता है। यह चार महीने का समय हरिशयन का काल है। इस काल में व्रत उपवास पूजा आदि का विधान है तथा उपनयन, विवाह आदि का निषेध है।

हरिश्चन्द्र—सूर्यवंश के अड़तीसवें राजा, जो त्रेता युग में हुए थे। ये अपनी सत्यनिष्ठा के लिए प्रसिद्ध थे।

हरिहर—हरि (विष्णु) और हर (शिव) की संयुक्त मूर्ति। इनको वृषाकपी भी कहा जाता है। वामनपुराण (अध्याय ५९) हरिहर मूर्ति का सुन्दर वर्णन है।

हरिहर क्षेत्र—विहार प्रदेश का तीर्थविशेष। हरिहर (विष्णुशिव) का संयुक्त तीर्थस्थान। यह गङ्गा और नारायणी (बड़ी गंडक) के संगम पर पटना के पास सोनपुर में स्थित है। तट पर हरिहरात्मक संयुक्त हरिहरनाथ का मन्दिर है। कार्तिक पूर्णिमा को यहाँ विशाल मेला होता है जिसमें देशदेशान्तर के लाखों लोग सम्मिलित होते हैं। वाराहपुराण में हरिहरक्षेत्र का माहात्म्य पाया जाता है :

ततः स पञ्चरात्राणि स्थित्वा वै विधिपूर्वकम्।
गोधनान्यग्रतः कृत्वा हरिक्षेत्रं जगाम ह॥
हरिणाधिष्ठितं क्षेत्रं हरिक्षेत्रं ततः स्मृतम्।
सदानन्दी शूलपाणिर्गोधनेन पुरस्कृतः॥
स्थितवांस्तद्दिनादेव तत्क्षेत्रं हरिहरात्मकम्।
देवानामटनाच्चैव देवाट इति संज्ञितम्।

हलधर—बलराम अथवा बलदेव का पर्याय। इसका अर्थ है 'हल धारण करने वाला'। इसका दूसरा नाम संकर्षण है, जो पाञ्चरात्र के चतुर्व्यूह के द्वितीय घटक हैं। हलधर और संकर्षण का एक ही भाव है।

हल षष्ठी—भाद्र कृष्ण षष्ठी [निर्णयसिन्धु १२३]।

हवि (हविष्य)—हवनीय द्रव्य को हवि अथवा हविष्य कहते हैं। इसके पर्याय घृत, तिल, चावल, सामान्नादि हैं।

हविष्य—यज्ञोपयोगी खाद्यान्न, जो कुछ निश्चित व्रतों में ग्राह्य हैं। दे० कृत्यरत्नाकर ४००, तिथितत्त्व १०९, निर्णयसिन्धु १०६।

हस्तगौरी व्रत—भाद्र शुक्ल तृतीया को इस व्रत का अनुष्ठान होता है। कृष्ण भगवान् ने कुन्ती को धन-धान्य से परिपूर्ण राज्य की प्राप्ति के लिए इस व्रत को उपयोगी बतलाया था। इसमें निरन्तर १३ वर्षों तक गौरी, हर तथा हेरम्ब (गणेश) में ध्यान केन्द्रित करते रहना तथा चौदहवें वर्ष में उद्यापन करना चाहिए।

हाटकेश्वर (बड़नगर)—गुजरात का प्रसिद्ध तीर्थस्थान। भगवान् शंकर के तीन मुख्य लिङ्गों में एक हाटकेश्वर है। हाटकेश्वर गुर्जर नागर ब्राह्मणों के कुलदेवता हैं।

आनर्तविषये रम्यं सर्वतीर्थमयं शुभम्।
हाटकेश्वरजं क्षेत्रं महापातकनाशनम्॥
तत्रैकमपि मासार्द्धं यो भक्त्य पूजयेद्धरम्।
स सर्वपापयुक्तोऽपि शिवलोके महीयते॥
अत्रान्तरे नरा येच निवसन्ति द्विजोत्तमाः।
कृषिकर्मोद्यताश्चापि यान्ति ते परमां गतिम्॥
(स्कन्द पुराण नागर खं० २७।)

हारीत—धर्मशास्त्रकर्ता एक ऋषि हैं याज्ञवल्क्य (१.४) ने धर्मशास्त्र प्रयोजकों में इनकी गणना की है ।

मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः ।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥

श्रीमद्भागवत में इनको पौराणिक कहा गया है :

त्रय्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः ।
वैशम्पायनहारीतौ षड्वै पौराणिका इमे ॥

हालेविद—कर्णाटक प्रदेश का प्रसिद्ध तीर्थस्थान । मैसूर के तीर्थों में भगवान् होयसालेश्वर का प्रमुख स्थान है । इन्हें राजा विष्णुवर्द्धन ने प्रतिष्ठित किया था । यह मन्दिर दक्षिण के मन्दिरों में कला और संस्कृति की दृष्टि से निराला स्थान रखता है ।

हाहा—देवगन्धर्व विशेष । देवताओं में हाहा, हूहू, विश्वावसु, तुम्वरु, चित्ररथ आदि गन्धर्ववाचक हैं । इनका संगीत से विशेष सम्बन्ध है ।

हिन्दुत्व—भारतवर्ष में वसनेवाली प्राचीन जातियों का सामूहिक नाम 'हिन्दू' तथा उनके समष्टिवादी धर्म का भाव 'हिन्दुत्व' है । जब मुसलमान आक्रमणकारी जातियों ने इस देश में अपना राज्य स्थापित किया और बसना प्रारम्भ किया तब वे मुसलमानों से इतर लोगों को, अपने से पृथक् करने के लिए सामूहिक रूप से 'हिन्दू' तथा उनके धर्म को 'हिन्दू मज़हब (धर्म) कहने लगे । यूरोपीयों और अंग्रेजों ने भी इस परम्परा को जारी रखा । उन्होंने भारतीय जनता को छिन्न-भिन्न रखने के लिए उसको दो भागों में बाँटा—(१) मुस्लिम तथा (२) गैर मुस्लिम अर्थात् 'हिन्दू' । इस प्रकार आधुनिक यात्रावर्णन, इतिहास, राजनीति, धर्म विवरण आदि में भारत की मुस्लिमेतर जनता का नाम 'हिन्दू' तथा उनके धर्म का नाम 'हिन्दू धर्म' प्रसिद्ध हो गया, यद्यपि भारतीय मुसलमान भी पश्चिम एशिया में 'हिन्दी' और अमेरिका में 'हिन्दू' कहलाते रहे । भारतीय जनता ने भी संसार में व्यापक रूप से अपने को अभिहित करनेवाले इन शब्दों को क्रमशः स्वीकार कर लिया ।

इसमें सन्देह नहीं कि 'हिन्दू' शब्द भारतीय इतिहास में अपेक्षाकृत बहुत अर्वाचीन और विदेशी है । प्राचीन संस्कृत साहित्य में इसका प्रयोग नहीं मिलता । एक अत्यन्त परवर्ती तन्त्रग्रन्थ, 'मेरुतन्त्र' में इसका उल्लेख पाया जाता है । इसका सन्दर्भ निम्नाङ्कित है :

पञ्चखाना सप्तमीरा नव साहा महाबलाः ।
हिन्दूधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः ॥
हीनञ्च दूशयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रियं ।
पूर्वाम्नाये नवशतां षडशीतिः प्रकीर्तिताः ॥
(मेरुतन्त्र, ३३ प्रकरण)

उपर्युक्त सन्दर्भ में 'हिन्दू' शब्द की जो व्युत्पत्ति दी गयी है वह है 'हीनं दूषयति स हिन्दू' अर्थात् जो हीन (हीनता अथवा नीचता) को दूषित समझता (उसका त्याग करता) है, वह हिन्दू है । इसमें सन्देह नहीं कि यह यौगिक व्युत्पत्ति अर्वाचीन है, क्योंकि इसका प्रयोग विदेशी आक्रमणकारियों के संदर्भ में किया गया है ।

वास्तव में यह 'हिन्दू' शब्द भौगोलिक है । मुसलमानों को यह शब्द फारस अथवा ईरान से मिला था । फारसी कोषों में 'हिन्द' और इससे व्युत्पन्न अनेक शब्द पाये जाते हैं, जैसे हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुवी, हिन्दुवानी, हिन्दूकुश, हिन्दसा, हिन्दसाँ, हिन्दुवाना, हिन्दूएचर्ख, हिन्दमन्द आदि । इन शब्दों के अस्तित्व से स्पष्ट है कि 'हिन्द' शब्द मूलतः फारसी है और इसका अर्थ 'भारतवर्ष' है । भारत फारस (ईरान) का पड़ोसी देश था । इसलिए वहाँ इसके नाम का बहुत प्रयोग होना स्वाभाविक था । फारसी में बलख-नगर का नाम 'हिन्दवार', इसके पास के पर्वत का नाम 'हिन्दूकुश' और भारतीय भाषा और संस्कृति के लिए 'हिन्दकी' शब्द मिलता है । इन शब्दों के प्रयोग से यह निष्कर्ष निकलता है कि फारसी बोलनेवाले लोग हिन्द (भारत) से भली-भाँति परिचित थे और वे हिन्दूकुश तक के प्रदेश को भारत का भाग समझते थे । निस्सन्देह फारस के पूर्व का देश भारत ही 'हिन्द' था । अब प्रश्न यह है कि 'हिन्दू' शब्द फारसवालों को कैसे मिला । फारस के पूर्व सबसे महत्त्वपूर्ण भौगोलिक अवरोध एवं दृश्य 'सिन्धु नद' और उसकी दक्षिण तथा वामवर्ती सहायक नदियों का जाल है । पूर्व से सिन्धु में सीधे मिलनेवाली तीन नदियाँ वितस्ता (झेलम), परुष्णी (रावी) और शतद्रु (सतलज) (उपनदियों के साथ) और पश्चिम से भी तीन सुवास्तु (स्वात) कुभा (काबुल) और गोमती (गोमल) हैं । इन छः प्रमुख नदियों के साथ सिन्धु द्वारा सिञ्चित प्रदेश का नाम 'हफ्तहेन्दु' (सप्तसिन्धु)

था। यह शब्द सबसे पहले 'जेन्दावस्ता' (छन्दावस्था) पारसी धर्मग्रन्थ में मिलता है। फारसी व्याकरण के अनुसार संस्कृत का 'स' अक्षर 'ह' में परिवर्तित हो जाता है। इसी कारण 'सिन्धु' 'हिन्दु' हो गया। पहले 'हेन्दु' अथवा 'हिन्द' के रहनेवाले 'हैन्दव' अथवा 'हिन्दू' कहलाये। धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत के लिए इसका प्रयोग होने लगा, क्योंकि भारत के पश्चिमोत्तर के देशों के साथ सम्पर्क का यही एकमात्र द्वार था। इसी प्रकार व्यापक रूप में भारत में रहनेवाले लोगों का धर्म हिन्दू धर्म कहलाया।

फारसी भाषा में 'हिन्दू' शब्द के कुछ अन्य घृणासूचक अर्थ भी पाये जाते हैं, यथा डाकू, सेवक; दास, पहरेदार, काफिर (नास्तिक) आदि। ये अर्थ अवश्य ही जातीय द्वेष के परिणाम हैं। पश्चिमोत्तर सीमा के लोग प्रायः बराबर साहसी और लड़ाकू प्रवृत्ति के रहे हैं। अतः वे फारस के आक्रामक, व्यापारी और यात्री सभी को कष्ट देते रहे होंगे। इसीलिए फारसवाले उन्हें डाकू कहते थे और जब फारस ने इस्लाम स्वीकार किया तो नये जोश में उनको काफिर (नास्तिक) भी कहा। परन्तु जैसा पहले लिखा जा चुका है, 'हिन्दू' का तात्पर्य शुद्ध भौगोलिक था।

अब प्रश्न यह है कि आज 'हिन्दू' और 'हिन्दूधर्म' किसे कहना चाहिए। इसका मूल अर्थ भौगोलिक है। इसको स्वीकार किया जाय तो हिन्द (भारत) का रहनेवाला 'हिन्दू' और उसका धर्म 'हिन्दुत्व' है। मुस्लिम आक्रमणों के पूर्व भारत में इस अर्थ की परम्परा बराबर चलती रही। जितनी जातियाँ बाहर से आयीं उन्होंने 'हिन्दू' जाति और 'हिन्दुत्व' धर्म स्वीकार किया। इस देश में बहुत से परम्परावादी और परम्पराविरोधी आन्दोलन भी चले, किन्तु वे सब मिल-जुल कर 'हिन्दुत्व' में ही विलीन हो गये। वैदिक धर्म ही यहाँ का प्राचीनतम सुव्यवस्थित धर्म था जिसने क्रमशः अन्य आर्येतर धर्मों को प्रभावित किया और उनसे स्वयं प्रभावित हुआ। बौद्ध और जैन आदि परम्परा विरोधी धार्मिक तथा दार्शनिक आन्दोलनों का उदय हुआ। किन्तु कुछ ही शताब्दियों में वे मूल स्कन्ध के साथ पुनः मिल गये। सब मिलाकर जो धर्म बना वही हिन्दू धर्म है। यह न तो केवल मूल वैदिक धर्म है और न आर्येतर जातियों की धार्मिक प्रथा अथवा विविध विश्वास, और नहीं बौद्ध अथवा जैन धर्म; यह सभी का पञ्चमेल और समन्वय है। इसमें पौराणिक तथा तान्त्रिक तत्त्व जुटते गये और परवर्ती धार्मिक सम्प्रदायों, संतों, महात्माओं और आचार्यों ने अपने-अपने समय में इसके विस्तार और परिष्कार में योग दिया। 'प्रवर्तक धर्म' होने के कारण इस्लाम और ईसाई धर्म हिन्दू धर्म के महामिलन में सम्मिलित होने के लिए न पहले तैयार थे और न आजकल तैयार हैं। किंतु जहाँ तक हिंदुत्व का प्रश्न है, इसने कई मुहम्मदी और मसीही उप-सम्प्रदायों को 'हिन्दू धर्म' में सम्मिलित कर लिया है। इस प्रकार हिंदुत्व अथवा हिन्दू धर्म वर्द्धमान विकसनशील, उदार और विवेकपूर्ण समन्वयवादी (अनुकरणवादी नहीं) धर्म है।

हिन्दू और हिन्दुत्व की एक परिभाषा लोकमान्य तिलक ने प्रस्तुत की थी, जो निम्नाङ्कित है :

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

[सिन्धु नदी के उद्गम-स्थान से लेकर सिन्धु (हिन्द महासागर) तक सम्पूर्ण भारत भूमि जिसकी पितृभू (अथवा मातृभूमि) तथा पुण्यभू (पवित्र भूमि) है, वह 'हिन्दू' कहलाता है (और उसका धर्म हिन्दुत्व)।]

सम्पूर्ण हिन्दू तो ऐसा मानते ही हैं। यहाँ बसनेवाले मुसलमान और ईसाइयों की पितृभूमि (पूर्वजों की भूमि) भारत है ही। यदि इसे वे पुण्यभूमि भी मान लें तो हिन्द की समस्त जनता हिन्दू और उनका समन्वित धर्म हिन्दुत्व माना जा सकता है। यह सत्य केवल राजनीति की दृष्टि से ही नहीं धर्म और शान्ति की दृष्टि से भी वांछनीय है। भारत की यही धार्मिक साधना रही है। परन्तु इसमें अभी कई अन्तर्द्वन्द्व वर्तमान और संघर्षशील हैं। अभी वांछनीय समन्वय के लिए अधिक समय और अनुभव की अपेक्षा है।

अन्तर्द्वन्द्व तथा अपवादों को छोड़ देने के पश्चात् अपने अपने विविध सम्प्रदायों को मानते हुए भी हिन्दुत्व की सर्वतोनिष्ठ मान्यताएँ हैं, जिनको स्वीकार करनेवाले हिन्दू कहलाते हैं। सर्वप्रथम, हिन्दू को निगम (वेद) और आगम (तर्कमूलक दर्शन) दोनों और कम से कम दोनों

में से किसी एक को अवश्य मानना चाहिए। दूसरे, ईश्वर पर विश्वास रखना हिन्दू के लिए वांछनीय है किन्तु अनिवार्य नहीं; यदि वह कोई धर्म, परमार्थ अथवा दार्शनिक दृष्टिकोण मानता है तो हिन्दू होने के लिए पर्याप्त है। जहाँ तक धार्मिक साधना अथवा व्यक्तिगत मुक्ति का प्रश्न है, हिन्दू के लिए अनन्त विकल्प हैं, यदि वे उसके विकास और चरम उपलब्धि में सहायक होते हैं। नैतिक जीवन में वह जनकल्याण के लिए समान रूप से प्रतिबद्ध है। इष्ट (यज्ञ), पूर्त (लोककल्याणकारी कार्य) कोई भी वह कर सकता है। सदाचार ही धर्म का वास्तविक मूल माना गया है (आचारप्रभवो धर्मः); इसके विना तो वेद भी व्यर्थ हैं :

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दास्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥
(वसिष्ठ स्मृति)

[आचारहीन व्यक्ति को वेद पवित्र नहीं करते चाहे वे छः अङ्गों के साथ ही क्यों न पढ़े गये हों। मृत्युकाल में मनुष्य को वेद वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे पंख उगने पर पक्षी घोंसले को।]

हिमपूजा—पूर्णिमा को चन्द्रमा का, जो भगवान् विष्णु का वाम नेत्र है, पुष्पों, दुग्ध के नैवेद्य से पूजन करना चाहिए। गौओं को लवण दान करना चाहिए। माँ, बहिन तथा पुत्री को रक्त वस्त्र देकर सम्मान करना चाहिए। यदि व्रती हिम (बर्फ) के समीप हो तो उसे अपने पितृ गणों को हिम के साथ मधु, तिल तथा घी का दान करना चाहिए। यदि हिम का अभाव हो तो मुख से केवल 'हिम', 'हिम' शब्द का उच्चारण करते हुए ब्राह्मणों को घृत से परिपूर्ण उरद से बने खाद्य पदार्थ खिलाने चाहिए। नृत्य, गायन, वादन के साथ उत्सव का आयोजन किया जाय तथा श्यामा देवी का पूजन हो।

हिरण्यकशिपु—एक दैत्य का नाम। इसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है। कश्यप का पुत्र हिरण्यकशिपु उसकी दिति पत्नी से उत्पन्न हुआ था। उसका सहोदर हिरण्याक्ष और भार्या कयाधु थी। इसके पुत्रों के नाम संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद और प्रह्लाद थे। इसकी कन्या का नाम सिंहिका था। यह विष्णु का विरोधी था। इसका पुत्र प्रह्लाद विष्णु का भक्त था इसलिये इसने अपने पुत्र को बहुत सताया और विविध प्रकार की यातनायें दीं। इसका वध करने के लिये विष्णु भगवान् ने नृसिंह अवतार धारण किया और अपने भयंकर नाखूनों द्वारा इसके उदर को विदीर्ण कर इसको मार डाला। दे० 'नृसिंहावतार'।

हिरण्य कामधेनु—हिरण्य अथवा स्वर्ण की बनी हुई कामधेनु। षोडश महादानों में इसकी गणना है। मत्स्यपुराण (अध्याय २५३) में इसके दान का विस्तार के साथ वर्णन है।

हिरण्यगर्भ—ब्रह्मा देवता। सृष्टि के आदि में नारायण की प्रेरणा से ब्रह्माण्ड का आरम्भिक रूप सुवर्ण जैसा प्रकाशमान गोलाकार प्रकट हुआ था। उसके फिर ऊर्ध्व और अधः दो भाग हो गये और उनके बीच से ब्रह्माजी प्रकट हुए। दे० भागवत पुराण।

हिरण्याक्ष—दैत्य विशेष का नाम। 'जिसकी आँखें सोने की अथवा सोने की तरह पीली हों' वह हिरण्याक्ष है। यह दिति से उत्पन्न कश्यप का पुत्र था। पुराकथा के अनुसार इसने पृथ्वी का अपहरण कर विष्टा के परकोटे के भीतर रखा था। विष्णु ने वाराह अवतार के रूप में परकोटे का भेदन कर इसका वध तथा पृथ्वी का उद्धार किया।

हिरण्याश्व—तुलापुरुषादि षोडश महादानों में एक विशेष दान। दे० मत्स्य पुराण, (अध्याय २८०)।

हिरण्याश्वरथ—षोडश महादानों में एक विशेष दान। षोडश महादानों की गणना इस प्रकार है :

आद्यन्तु सर्वदानानां तुलापुरुषसंज्ञितम्।
हिरण्यगर्भदानञ्च ब्रह्माण्डं तदनन्तरम्॥
कल्पपादप दानञ्च गोसहस्रञ्च पञ्चमम्।
हिरण्यकाधेनुञ्च हिरण्याश्वस्तथैव च॥
पञ्चलाङ्गलकञ्चैव धरादानं तथैव च।
हिरण्याश्वदथस्तद्वत् हेमहस्तिरथस्तथा॥
द्वादशं विष्णुचक्रञ्च ततः कल्पलतात्मकम्।
सप्तसागरदानञ्च रत्नधेनुस्तथैव च॥
महाभूतघटस्तद्वत् षोडशः परिकीर्तितः॥

हुताश, हुताशन—अग्नि। इसका शाब्दिक अर्थ है 'हुत (हविष्य) है अशन (भोजन) जिसका'।

हुहु—गन्धर्व विशेष। इसका संगीत से सम्बन्ध है। दे० 'हाहा'।

हूँ—तन्त्रशाखा के ग्रन्थों का एक बीजाक्षर, जो उग्रता का सूचक है।

हकारो नाम कर्णाढ्यो नादबिन्दूविभूषितः।
कूर्च क्रोध उग्रदर्पो दीर्घहूङ्कार उच्यते ॥
शिखावषट् च कवचं क्रोधो वर्म हमित्यपि।
क्रोधाख्यो हूँ तनुत्रञ्च शस्त्रादौ रिपुसंज्ञकः ॥

हृदय विधि—सूर्यदेव के सुप्रसिद्ध स्तोत्र 'आदित्यहृदय' के पाठ करने का विधान, जिसमें पूजा, जप, व्रत का भी समावेश है।

हृषीकेश—विष्णु का नाम, हृषीक (इन्द्रियों) के ईश (स्वामी)। शङ्कराचार्य (गीताभाष्य) के अनुसार "क्षेत्रज्ञरूपकत्वात् परमात्मत्वाद्वा इन्द्रियाणि यद्वशे वर्तन्ते स परमात्मा।" पौराणिकों के अनुसार 'हृष्यः जगत्प्रीतिकरा केशाः रश्मयो यस्य स हृषीकेशः' (जगत् को प्रसन्न करने वाली हैं रश्मियाँ जिसकी) अर्थात् सूर्यचन्द्ररूप भगवान्। महाभारत के मोक्षधर्म पर्व में कहा गया है :

सूर्याचन्द्रमसोः शश्वत् अंशुभिः केशसंज्ञितैः।
बोधयत् स्वापयच्चैव जगदुद्भिद्यते पृथक् ॥
बोधनात् स्वापनाच्चैव कर्मभिः पाण्डुनन्दन।
हृषीकेशोऽहमीशानो वरदो लोकभावनः ॥

दे० वाराह पुराण, कुरुक्षेत्र हृषीकेश महिमानाम अध्याय; कूर्म्म पुराण, अध्याय २७।

हेमाद्रि—मध्यकालीन धर्मशास्त्र निबन्धकारों में हेमाद्रि का स्थान बहुत ऊँचा है। ये बहुत बड़े लेखक और शास्त्रकार थे। इन्होंने चतुर्वर्ग चिन्तामणि की रचना की जो धार्मिक क्रियाओं और व्रतों का विश्वकोश है। इस ग्रन्थ के एक उल्लेख से विदित होता है कि इन्होंने इस महाकाव्य ग्रन्थ को पाँच खण्डों में लिखने का निश्चय किया था। ये खण्ड थे व्रत, दान, तीर्थ, मोक्ष और परिशेष। परिशेष भी चार भागों में विभक्त था—देवता, कालनिर्णय, कर्मविपाक और लक्षण समुच्चय। इस महाग्रन्थ का जितना अंश प्रकाशित हो चुका है उसमें व्रत, दान, श्राद्ध और काल का निरूपण है। तीर्थ और मोक्ष सम्बन्धी अंश अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया है।

हेमाद्रि धर्मशास्त्र के अतिरिक्त मीमांसाशास्त्र के भी बहुत बड़े पण्डित थे। अपने ग्रन्थ में इन्होंने धर्म और दर्शन के अवतरणों द्वारा अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। चतुर्वर्गचिन्तामणि के कुछ उल्लेखों से हेमाद्रि के जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। ये वत्सगोत्रीय थे, पिता का नाम कामदेव और पितामह का नाम वासुदेव था। देवगिरि के यादव राजा महादेव के करणाधिकारी (कार्यालय के प्रमुख अध्यक्ष) तथा सम्मान्य मन्त्री थे। इनका जीवन काल तेरहवीं शती का उत्तरार्द्ध और चौदहवीं का पूर्वार्द्ध था। ये बड़े दानी और उदार थे :

लिपिं विधात्रा लिखितां जनस्य
भाले विभूत्या परिमृज्य दुष्टाम्।
कल्याणिनीमेष लिखत्यैनां
चित्रं प्रमाणीकुरुते विधिश्च ॥
(हेमाद्रि, १.१५;३.१.१७)

[विधाता द्वारा दरिद्र जनों के ललाट पर जो दरिद्रता की रेखा लिख गयी थी, उस दुष्ट लेख को अपने दान द्वारा मिटाकर ये कल्याणी रेखा लिखते थे। विचित्र तो यह है कि ब्रह्मा इसका प्रमाणीकरण भी कर देते हैं] चतुर्वर्गचिन्तामणि (दानखण्ड) में इनके सम्बन्ध में ये उदात्त श्लोक पाये जाते हैं :

महादेवस्य हेमाद्रिः सर्वश्रीकरणप्रभुः।
निजोदारतया यस्य सर्वश्रीकरणप्रभुः ॥

अनेन चिन्तामणिकामधेनुकल्पद्रुमानर्थिजनाय दत्तान्।
विलोक्य शङ्के किममुष्य सर्वगीर्वाणनाथोऽपि करप्रदोऽभूत् ॥
अथामुना धर्मकथा दरिद्रं त्रैलोक्यमालोक्य कलेर्बलेन।
तस्यापकारे दधतानुचिन्तां चिन्तामणिः प्रादुरकारि चारु ॥

हेरम्ब—गणेश का पर्याय। इनका मन्त्र निम्नांकित है।

पञ्चान्तको विन्दुयुक्तो वामकर्णविभूषितः।
तारादिहृदयान्तोऽयं हेरम्बमनुदीरितः ॥
चतुर्वर्णात्मको नृणां चतुर्वर्गफलप्रदः ॥

ध्यान इस प्रकार है :

पाशाङ्कुशौ कल्पलतां विषाण दधत्स्वशुण्डाहितबीजपूरः।
रक्तस्त्रिनेत्रस्तरुणेन्दुमौलिर्हारोज्ज्वलो हस्तिमुखोऽवताद्वः॥

हैमवती—पार्वती, हिमवान् (हिमालय) की पुत्री। देवीभागवत (१२.८.५७) में कहा है.

"उमाभिधानां पुरतो देवीं हैमवतीं शिवाम्।"

हैहय—यादवों की एक शाखा। ये लोग कुछ समय तक वीतहव्य (यज्ञ का त्याग करने वाले) थे। भार्गवों से इनका संघर्ष था। इसी वंश के सहस्रार्जुन कार्तवीर्य का परशुराम से युद्ध हुआ था। पीछे हैहयों की एक शाखा ब्राह्मण और वैदिक कर्मकाण्ड की समर्थक बन गयी। दे० अथर्ववेद, ब्रह्मगवीसूक्त।

होता—ऋग्वेद का पाठ करने वाला। अमरकोष (२.७.१७) में इसका अर्थ 'ऋग्वेदवेत्ता' बताया गया है। 'दायभाग' टीका में श्री कृष्णतर्कालंकार ने इसका अर्थ 'होमकर्ता' किया है। उनका कथन है, ''विशिष्टदेशावच्छिन्नप्रक्षेपोपहितहविस्त्यागस्य होमत्वात् प्रक्षेपस्य तदभिधाननिमित्तमित्यर्थः। तेन हुधात्वर्थतावच्छेदकप्रक्षेपानुकूल व्यापारयति ऋत्विजि होता इत्यादि व्यपदेशः।'' होमक्रिया में मुख्यतः ऋग्वेद मन्त्र पढ़कर आहुतियाँ दी जाती हैं। अतः होता ऋग्वेदवेत्ता ही होता है।

होत्र—होम करने की क्रिया अथवा यज्ञ। दे० 'होम'।

होम—अग्नि में देवताओं के लिए किसी वस्तु का विधिपूर्वक प्रक्षेप। यह पञ्च महायज्ञों में से एक यज्ञ है। मनु का कथन है :

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

होमक—होता का पर्याय। मत्स्य पुराण (९३.१२८-१२९) में आठ प्रकार के होता बतलाये गये हैं :

पूर्वद्वारे च संस्थाप्य बह्वृचं वेदपारगम्।
यजुर्विदं तथा याम्ये पश्चिमे सामवेदिनम्॥
अथर्ववेदिनं तद्वदुत्तरे स्थापयेद् बुधः।
अष्टौ तु होमकाः कार्या वेदवेदाङ्गवेदिनः॥

ह्लादिनी—एक विशेष शक्ति। यह भगवान् की ही सुखरूप शक्ति है जो विश्व को आनन्द प्रदान करती है।

■